हिंदी विश्वकोश

आतरगुही (विविध) — बैजनाथ वर्मा

अन्तरगुही प्राणी हैं न कि वनस्पति परतु इनके शरीर के भीतर केवल पोल होती है कोई अवयव नही होता (देखे पृष्ठ ३११)। १ एड्वर्डसिया क्लापरदी, २ पीचिया हस्ताता ३ जाइरैक्टिस पैलिदा ४ गार्गोनिया कैवोलिनि की एक शाखा ५ अनेमोनिया [illegible] ६ फीलिया निमिकोला ७ लेप्टोसामिया प्रवाती ८ आरेलिआना रीगलिस ९ बैलैनाफीलिया रीजिया, १० डेड्राफानिया कानिगरा ११ डैक्टिलक्टिस आर्माटा के डिभ, १२ मीरिगेथम मालिरग्यिम।

हिंदी विश्वकोश

खंड १

अंक से इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी तक

नागरीप्रचारिणी सभा
वाराणसी

स्वतंत्र भारत

के

प्रथम राष्ट्रपति

डा० राजेन्द्र प्रसाद

को

उनकी अनुमति

से

सादर समर्पित

संपादकसमिति

परामर्शमंडल के सदस्य

वर्गीय संपादक

क. मानवशास्त्र (ह्यूमैनिटीज)

ख. भाषा तथा साहित्य

गुजराती और मराठी	श्री लक्ष्मणशास्त्री जोशी, तर्कतीर्थ, प्रधान सपादक, धर्मकोश, वाई, जिला उत्तरी सतारा।
चीनी, जापानी, कोरियाई, मगोल, बर्मी	महापडित श्री राहुल साकृत्यायन, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, विद्यालकार विश्वविद्यालय, केलनिया (सीलोन)।
तमिल, तेलुगू, मलयालम और कन्नड	श्री मो० सत्यनारायण, सदस्य, लोकसभा, मत्री, दक्षिण भारत हिंदीप्रचार सभा, त्यागरायनगर, मद्रास।
पालि, प्राकृत और अपभ्रश	डा० हीरालाल जैन, एम०ए०, एल-एल०बी०, डी०लिट, डाइरेक्टर, प्राकृत जैन इस्टिट्यूट, मुजफ्फरपुर।
बँगला, असमिया और उडिया	डा० रामपूजन तिवारी, लेक्चरर, हिंदी विभाग, विश्वभारती युनिवर्सिटी, शातिनिकेतन।
मिस्री, अक्कादी, असीरी, इब्रानी, क्रीती, खत्ती और मितन्नी	डा० प्राणनाथ, पी-एच०डी०, डी०एस-सी०, लका, वाराणसी, भूतपूर्व अध्यक्ष, मध्यपूर्व पुरातत्व विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
रूसी, पोल, चेक, सर्वियाई और क्रोत	प्रो० पी० बारान्निकोव, स्कॉलर ऑव इडॉलोजी, ओरिएटल इस्टिट्यूट, लेनिनग्राड, भूतपूर्व अटैची, सोवियत दूतावास, नई दिल्ली।
लातीनी, यूनानी, इतालीय और स्पेनी	डा० रामसिंह तोमर, एम०ए०, डी०फिल०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिंदी विभाग, विश्वभारती विश्वविद्यालय, शातिनिकेतन।
सस्कृत	प्रो० बलदेव उपाध्याय, एम०ए०, साहित्याचार्य, भूतपूर्व रीडर, सस्कृत पालि विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
हिंदी, पजाबी और सिधी	डा० धीरेंद्र वर्मा, प्रधान सपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, भूतपूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिंदी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

ग. विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी

इजीनियरिंग (साधारण, भवन-निर्माण, मार्गनिर्माण, बिजली, यत्र तथा सिचाई)	श्री ब्रजमोहनलाल, रायबहादुर, एम०आई०ई०, रिटायर्ड चीफ इजीनियर, ३/१७ ईस्ट पटेल नगर, नई दिल्ली।
उद्योग (छपाई, कपडा तथा अन्य)	श्री महादेवलाल श्राफ, ए०बी० आनर्स (कार्नेल), एम०एस० (एम०आई०टी०), एफ०आई०सी०; प्रोफेसर, सागर विश्वविद्यालय, सागर।
कृषि	डा० सतबहादुर सिंह, एम०एस-सी०, पी-एच०डी० (कैटब), रिटायर्ड डाइरेक्टर ऑव ऐग्रिकल्चर, यू० पी०, एक्स-ऐग्रिकल्चरल कमिश्नर, गवर्नमेंट आव इडिया तथा ऐग्रिकल्चरल ऐडवाइजर टु गवर्नमेंट, यू०पी०, प्रिंसिपल, उदयप्रताप कालेज, वाराणसी।
गणित (अनुप्रयुक्त) और ज्योतिष	डा० चद्रिकाप्रसाद, एम० एस-सी०, डी०फिल० (आक्सफोर्ड), अध्यक्ष, गणित विभाग, रुडकी विश्वविद्यालय, रुडकी।
गणित (शुद्ध)	डा० ब्रजमोहन, एम०ए०, एल-एल०बी०, पी-एच०डी०, रीडर, गणित विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
चिकित्सा विज्ञान	डा० मुकुदस्वरूप वर्मा, बी०एस-सी०, एम०बी०बी०एस०, भूतपूर्व चीफ मेडिकल आफिसर तथा प्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
	मेजर डा० उमाशकर प्रसाद, ए०एम०सी० (आर०), एम०बी०बी०एस०, डी०एम०आर०डी० (इग्लैंड), डी०एम०आर०टी० (इग्लैंड), जबलपुर मेडिकल कालेज, जबलपुर।
प्रौद्योगिकी और अनुप्रयुक्त रसायन	डा० गोपाल त्रिपाठी, एस०एम० (एम०आई०टी०, यू०एस०ए०), एम०एस०ई० (मिशि०, यू०एस०ए०); एस-सी०डी० (मिशि०, यू०एस०ए०), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, केमिकल इजीनियरिंग तथा केमिकल टेक्नॉलॉजी विभाग, प्रिंसिपल, कॉलेज ऑव टेक्नॉलोजी तथा डीन ऑव दि फैकल्टी ऑव टेक्नॉलोजी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
प्राणिविज्ञान	डा० मुरलीधरलाल श्रीवास्तव, डी०एस-सी०, एफ०एन०ए०एस-सी०, प्रोफेसर और अध्यक्ष, प्राणिविज्ञान विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

भूविज्ञान — डा० विद्यासागर दुबे, एम० एस-सी०, पी-एच०डी० (लंदन), डी०ग्राई०सी०; प्रोफेसर ग्रॉव इकॉनॉमिक जिग्रॉलोजी (ग्रानरेरी), काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भूगोल — डा० रामलोचन सिंह, एम०ए०, पी-एच०डी० (लंदन), प्रोफेसर ग्रौर ग्रध्यक्ष, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

डा० मुहम्मद यूनुस, एम०ए०, पी-एच०डी०, एल-एल०बी०, एफ०ग्रार०जी०एस०, पी०ई०एस०; प्रोफेसर ग्रौर ग्रध्यक्ष, भूगोल विभाग, गवर्नमेंट डिग्री कालेज, नैनीताल।

भौतिकी, ऋतुविज्ञान तथा फोटोग्राफी — डा० निहालकरण सेठी, डी०एस-सी०, भूतपूर्व भौतिकी प्रोफेसर तथा प्रिंसिपल, ग्रागरा कालेज, सिविल लाइंस, ग्रागरा।

डा० वाचस्पति, एम० एस-सी०, पी-एच०डी०, रीडर, भौतिकी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

डा० देवेंद्र शर्मा, एम० एस-सी०, डी०फिल०, प्रोफेसर ग्रौर ग्रध्यक्ष, भौतिकी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

रसायन (कार्बनिक, ग्रकार्बनिक तथा भौतिक) — डा० सत्यप्रकाश, डी०एस-सी०, एफ०ए०एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

वनस्पति विज्ञान — डा० शिवकु० पांडेय, एम०एस-सी० (पंजाब), डी०एस-सी० (लखनऊ), एफ०बी०एस०, एफ०एन०ग्राई०, प्रोफेसर तथा ग्रध्यक्ष, वनस्पति विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

सैन्य विज्ञान ग्रौर खेलकूद — लेफ्टिनेंट कर्नल श्री गोविंद तिवारी, एम०ए०, एफ०एन०ए०एस-सी०, ग्रध्यक्ष, सैन्य विज्ञान विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

श्री गोविंदवल्लभ पंत, नैशनल डिफेंस ऐकेडेमी, एम०ए०, एम०एस० (हार्वर्ड), ए०एम०ग्र०इ०ई० (इंडिया), ए०एफ०ग्राइ०ए०एस०, एफ०बी०ग्राइ०एस०, रीडर ग्रौर ग्रध्यक्ष, गणित विभाग।

सहायक

श्री भगवानदास वर्मा, बी०एस-सी०, एल०टी०, भूतपूर्व ग्रध्यापक, डेली (चीफ्स) कालेज, इंदौर; भूतपूर्व सहायक संपादक, इंडियन क्रॉनिकल।

श्री चंद्रचूडमणि, एम०ए०।

श्री प्रभाकर द्विवेदी, एम०ए०, भूतपूर्व सहायक संपादक, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी।

प्राक्कथन

भारतीय वाङ्मय में संदर्भग्रंथों, जैसे कोश, अनुक्रमणिका, निबंध, ज्ञानसंकलन आदि की परंपरा बहुत पुरानी है। किंतु भारतीय भाषाओं में संभवतः पहला आधुनिक विश्वकोश श्री नगेंद्रनाथ वसु द्वारा संपादित बँगला विश्वकोश था जो २२ खंडों में प्रस्तुत हुआ और जिसका प्रकाशन १९११ में पूर्ण हुआ था। अनेक हिंदी विद्वानों के सहयोग से श्री वसु ने १९१६-३२ के बीच २५ भागों में हिंदी विश्वकोश का भी प्रणयन किया जिसका मूलाधार उनका बँगला विश्वकोश था। प्रथम खंड की भूमिका में इस प्रयास के उद्देश्य तथा उपयोगिता के संबंध में उन्होंने लिखा था कि "जिस हिंदी भाषा का प्रचार और विस्तार भारतवर्ष में उत्तरोत्तर बढ़ता और जिसे राष्ट्रभाषा बनाने का उद्योग होता,—ईश्वर यह प्रयास सफल करे—उसी भारत की भावी राष्ट्रभाषा में ऐसे ग्रंथ का न होना बड़े दुःख और लज्जा का विषय है। यद्यपि बहुत दिन से हमारी प्रबल इच्छा थी कि हिंदी विश्वकोश के प्रकाशन में हाथ लगाते, परंतु कई कारण से वह सफल न हुई—हम हिंदीरसिकों की आज्ञा पालन न कर सके। अब बार बार हिंदीप्रेमियों से अनुरुद्ध होने पर हमने इस बहुपरिश्रम और विपुल-व्यय-साध्य कार्य को चलाया है।"

मराठी विश्वकोश की रचना २३ खंडों में श्री श्रीधर व्यंकटेश केतकर द्वारा हुई और उसका प्रकाशन महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश मंडल लिमिटेड, पूना ने किया। इसके प्रारंभिक पाँच खंड एक प्रकार से गैजेटियर स्वरूप हैं। खंड ६ से २२ तक की सामग्री अकारादि क्रम से नियोजित है। खंड २३ में संपूर्ण खंड की अनुक्रमणिका है। महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश का एक गुजराती रूपांतर भी डा० केतकर की देखरेख में ही तैयार होकर प्रकाशित हुआ। इस कोश का हिंदी रूपांतर भी डा० केतकर प्रकाशित करना चाहते थे, किंतु इसके एक या दो खंड ही निकल सके। ये साहित्यिक एवं शास्त्रीय प्रयास वस्तुतः १९वीं सदी में प्रवर्तित सांस्कृतिक पुनरुत्थान के प्रवाह में हुए।

१९४७ में स्वराज्यप्राप्ति के अनंतर भारतीय विद्वानों का ध्यान पुनः आधुनिक भाषाओं के साहित्यों के समस्त अंगों को पूर्ण करने की ओर गया और परिणामस्वरूप आधुनिकतम विश्वकोशों की रचना के लिये कई भारतीय भाषाओं में योजनाएँ निर्मित हुई। उदाहरण के लिये, १९४७ में ही एक तेलुगू भाषासमिति संगठित की गई जिसका प्रमुख उद्देश्य तेलुगू भाषा के विश्वकोश का प्रकाशन था। इसके लिये एक हजार पृष्ठों के १२ खंडों की योजना बनाई गई। तेलुगू विश्वकोश के प्रत्येक खंड का संबंध एक विशिष्ट विषय अथवा विषयसमूह से है। १९५९ तक, अर्थात् गत १२ वर्षों में, इसके चार खंड प्रकाशित हुए हैं। तेलुगू विश्वकोश के साथ ही साथ एक तमिल विश्वकोश की भी योजना बनी थी। अब तक इसके पाँच खंड निकल चुके हैं।

राष्ट्रभाषा हिंदी में भी विश्वकोशप्रणयन की आवश्यकता प्रतीत हुई। हिंदी में एक मौलिक तथा प्रामाणिक विश्वकोश के प्रकाशन की योजना नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी ने १९५४ में प्रस्तुत कर भारत सरकार के विचारार्थ तथा आर्थिक सहायता के लिये भेजी। सभा की योजना संपूर्ण कृति को लगभग एक एक हजार पृष्ठों के ३० खंडों में प्रकाशित करने की थी। प्रस्तावित विश्वकोश के निर्माण तथा प्रकाशन में दस वर्ष का समय तथा २२ लाख रुपया व्यय कूता गया था।

सभा के प्रस्ताव में हिंदी विश्वकोश के निर्माण के उद्देश्य निम्नलिखित शब्दों में बताए गए थे—"कला और विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में ज्ञान और वाङ्मय की सीमाएँ अब अत्यंत विस्तृत हो गई हैं। नए अनुसंधानों, वैज्ञानिक आविष्कारों तथा दूरगामी चिंतनों ने मानवज्ञान के क्षेत्र का विस्तार बहुत बढ़ा दिया है। जीवन के विविध अंगों में व्यावहारिक एवं साहसपूर्ण प्रयोगों द्वारा विचारों और मान्यताओं में असाधारण परिवर्तन हुए हैं। इस महती और वर्धनशील ज्ञानराशि को देश की शिक्षित तथा जिज्ञासु जनता के सामने राष्ट्रभाषा के माध्यम से संक्षिप्त एवं सुबोध रूप में रखने का हमारा विचार पुराना है। प्रस्तावित विश्वकोश का यही ध्येय है।"

इस प्रश्न पर विचार करने के लिये भारत सरकार ने एक विशेषज्ञ समिति नियुक्ति की जिसकी पहली बैठक ११ फरवरी, १९५६ को हुई। पर्याप्त विचारविनिमय के उपरांत विशेषज्ञ समिति ने यह सुझाव दिया कि हिंदी विश्वकोश अभी १० खंडों में प्रकाशित किया जाय तथा प्रत्येक खंड में केवल ५०० पृष्ठ हों। संपूर्ण कार्य पाँच से सात वर्षो के भीतर संपन्न करने का अनुमान किया गया। विशेषज्ञ समिति ने यह भी प्रस्ताव किया कि एक परामर्शमंडल नियुक्त किया जाय जिसके तत्वावधान में समस्त कार्य संपन्न हो, परामर्शमंडल के निरीक्षण में पाँच सदस्यों की संपादकसमिति विश्वकोश के कार्य का संचालन करे तथा भिन्न भिन्न विषयों के संबंध में सहायता प्रदान करने के लिये लगभग ५० वर्गीय संपादक भी नियुक्त किए जायँ।

विशेषज्ञ समिति की उपर्युक्त संस्तुति के परिणामस्वरूप केंद्रीय शिक्षामंत्रालय ने नागरीप्रचारिणी सभा को २४ अगस्त, १९५६ को सूचना भेजी जिसका सार नीचे दिया जाता है :

भारत सरकार ने यह निश्चय किया है कि नागरीप्रचारिणी सभा के तत्वावधान में हिंदी विश्वकोश की योजना को कार्यान्वित किया जाय। योजना वही रहेगी जो विशेषज्ञ समिति द्वारा निश्चित की गई है, किंतु इसमें निम्नलिखित परिवर्तन अपेक्षित हैं :

१. यह कृति भारत सरकार का प्रकाशन होगी। २. इस योजना के लिये सभा को ६॥ लाख रुपए की सहायता दी जायगी। ३. पच्चीस सदस्यों के परामर्शमंडल की रचना विशेषज्ञ समिति की संस्तुति के अनुसार होगी। ४. संपादक-समिति विश्वकोश के संपादन के लिये उत्तरदायी होगी। इस समिति के सदस्य प्रधान संपादक, दोनों संपादक, परामर्श-मंडल के अध्यक्ष तथा मंत्री होंगे। ५. सभा इस विश्वकोश में साधारणतया उस पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करेगी जो भारत सरकार द्वारा स्वीकृत हो चुकी है।

फलस्वरूप नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी में हिंदी विश्वकोश के निर्माणकार्य का प्रारंभ जनवरी, १९५७ में हुआ। प्रथम वर्ष में कार्यालय संगठित हुआ, एक निर्देशपुस्तकालय बना तथा समस्त उपलब्ध विश्वकोशों एवं अन्य प्रमुख संदर्भग्रंथों की सहायता से कार्डो पर शब्दसूची तैयार की गई। १९५८ में शब्दसूची तैयार करने का कार्य समाप्त हुआ। प्रारंभिक शब्दसूची में लगभग ७०,००० शब्द थे। इनकी सम्यक् परीक्षा करने के उपरांत इनमें से केवल ३०,००० शब्दों को विचारार्थ रखा गया। साल भर केवल एक संपादक डा० भगवतशरण उपाध्याय द्वारा यह सारा कार्य संपन्न हुआ। वर्षांत में दूसरे संपादक डा० गोरखप्रसाद की नियुक्ति हुई और उन्होंने विज्ञान तथा भूगोल के अनुभाग का कार्यभार सँभाला। १९५९ के मार्च में प्रधान संपादक डा० धीरेंद्र वर्मा की नियुक्ति हुई जिन्होंने अपने मुख्य कार्य के अतिरिक्त भाषा और साहित्य अनुभाग के कार्य को भी सँभाला। इस प्रकार अत्यंत थोड़े समय में, वस्तुत: डेढ़ साल में, कर्मचारियों की लघुतम संख्या द्वारा विश्वकोश का यह पहला खंड प्रस्तुत हुआ है। इस काल के लगभग अंत में संपादकों के तीन सहायक भी नियुक्त हुए। कार्यालय में संपादकों और उनके तीन सहायकों के अतिरिक्त चार लिपिक भी हैं।

१९५९ के प्रारंभ में यह निश्चय किया गया कि पहले प्रथम खंड की पूरी तैयारी की जाय, अत: स्वरों से प्रारंभ होनेवाले १,४०० लेखों के शीर्षकों को चुन लिया गया। ये समस्त शीर्षक लेखकों को वितरित हो चुके थे। इनमें से अधिकांश लेख हिंदी में प्राप्त हुए, किंतु कुछ अत्यधिक प्राविधिक (टेकनिकल) विषयों से संबंधित लेख अंग्रेजी में भी आए जिनका हिंदी रूपांतर करना आवश्यक हुआ। विश्वकोश का संग्रथन हिंदी वर्णमाला के अक्षरक्रम से हुआ है। विदेशी नामों में जहाँ भ्रम की आशंका है वहाँ उन्हें कोष्ठक में रोमन में भी दे दिया गया है। विदेशी व्यक्तियों और कृतियों के नाम यथासंभव संबंधित विदेशों में उच्चरित विधि से लिखे गए हैं। उस दिशा में प्रमाण वेब्स्टर शब्दकोश को माना गया है। जो नाम इस देश में व्यवहृत होते रहे हैं उनका व्यवहृत उच्चारण ही रखा गया है। वर्तनी साधारणत: नागरीप्रचारणी सभा की स्वीकृत वर्तनी के अनुकूल है।

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना उचित होगा कि प्रस्तुत विश्वकोश के सामने एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका का आदर्श रहा है। अन्य विश्वकोशों से भी हम लोगों को सहायता मिली है। ब्रिटैनिका का प्रथम संस्करण केवल तीन भागों में १७६८ में प्रकाशित हुआ था। गत २०० वर्षों में धीरे धीरे इसने बृहत् रूप धारण कर लिया है। इसके

वर्तमान संस्करण में २४ भाग हैं जिनमें से प्रत्येक में लगभग १००० पृष्ठ हैं। इसकी तुलना में हिंदी विश्वकोश अभी एक प्रारंभिक प्रयास है। वास्तव में विश्वकोश एक संस्था बन जाता है और इसके समुचित विकास के लिये समय तथा स्थायी साधन अपेक्षित है। तो भी एक अर्थ में यह विश्वकोश एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका से अपने प्रयत्न में अधिक आस्थावान् सिद्ध होगा। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में प्राच्य ज्ञान उपेक्षित है; व्यास जैसे महापुरुषों के नाम तक उसमें नहीं हैं। इसका यथासंभव निराकरण नई सामग्री द्वारा कर दिया गया है। उस महाकोश की अनेक भ्रांतियाँ भी शुद्ध कर दी गई हैं। उदाहरणार्थ कराची के प्रायः आठ वर्षों तक नवराष्ट्र पाकिस्तान की राजधानी बने रहने पर भी उस महाकोश में उसे 'भारतीय पश्चिमी तट का नगर' बताया गया है।

संक्षिप्त आकार के कारण हमारी कठिनाई बहुत बढ़ गई है। विषयों के चुनाव का प्रश्न बड़ा विकट था। इस परिस्थिति में प्रमुख विषय ही विश्वकोश के इस संस्करण के लिये चुने जा सके। यद्यपि प्रथम खंड का प्रारंभिक अंश मई, १९५९ में ही प्रेस भेज दिया गया था, किंतु गणित और भौतिकी के विशेष टाइप तथा कागज आदि की अनेक कठिनाइयों के कारण प्रारंभ में मुद्रण का कार्य तीव्र गति से नहीं चल सका। १९६० के प्रारंभ से मुद्रणकार्य में प्रगति हुई और हिंदी विश्वकोश का प्रथम खंड अब प्रकाशित हो रहा है। साथ ही शेष खंडों की सामग्री के चयन और संपादन का कार्य भी चल रहा है। आशा है, प्रथम खंड की तैयारी और मुद्रण के अनुभवों के बाद आगे के खंडों के प्रकाशन का कार्य अधिक शीघ्रता से हो सकेगा।

प्रारंभ से ही नागरीप्रचारिणी सभा के सभापति और विश्वकोश की संपादकसमिति तथा परामर्शमंडल के भी अध्यक्ष महामाननीय पं० गोविंदबल्लभ पंत का इस योजना में व्यक्तिगत रूप से अत्यंत अनुराग रहा है तथा उनसे निरंतर प्रेरणा और प्रोत्साहन मिलता रहा है। भारत सरकार के शिक्षामंत्री डा० कालूलाल श्रीमाली ने भी योजना में बराबर रुचि रखी है तथा सुझाव दिए हैं। शिक्षामंत्रालय ने योजना की प्रगति से अपने को निरंतर अवगत रखा है और यथासमय सहायता दी है। नागरीप्रचारिणी सभा के पदाधिकारी, विशेष रूप से इसके अवैतनिक मंत्री डा० राजबली पांडेय इस योजना की प्रगति में सक्रिय योग देते रहे हैं। भिन्न भिन्न विषयों के विद्वानों ने अपने अपने कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी हमारे अनुरोध से समय निकालकर हिंदी विश्वकोश के लिये लेख लिखने की कृपा की। इन सबके प्रति हम आभारी हैं। प्रथम खंड के मुद्रण में भार्गव भूषण प्रेस ने पूर्ण सहयोग प्रदान किया है जिसके लिये हम उसके संचालक श्री पृथ्वीनाथ भार्गव के विशेष कृतज्ञ हैं।

अनेक अधिकारियों तथा संस्थाओं के माध्यम से होनेवाले विश्वकोश जैसे कार्य से संबंधित कठिनाइयों का अनुभव हम लोगों को गत तीन वर्षों में हुआ। हमें संतोष है कि ये कठिनाइयाँ सफलतापूर्वक पार की जा सकीं और विश्वकोश का मुद्रण और प्रकाशन प्रारंभ हो गया है। राष्ट्रभाषा हिंदी के इस शालीन प्रयास का प्रथम खंड पाठकों को प्रदान करने में हमें अतीव प्रसन्नता है। इस प्रथम प्रयास की त्रुटियों का ज्ञान हम लोगों को सबसे अधिक है। यह सब होते हुए भी हमारा विश्वास है कि हिंदी भाषा और साहित्य के एक विशेष अभाव की पूर्ति इस ग्रंथ से हो सकेगी। इसके आगे के संस्करण निरंतर अधिक पूर्ण और संतोषजनक होते जायँगे, ऐसी हमारी आशा और कामना है।

संपादकगण

संकेताक्षर

अं०	अंग्रेजी
अ०	अक्षांश
ई०	ईसवी
ई० प०	ईसा पश्चात्
ई० पू०	ईसा पूर्व
उ०	उत्तर
उप०	उपनिषद्
किलो०	किलोग्राम
जि०	जिला
द०	दक्षिण
दे०	देशांतर
प०	पश्चात्
पू०	पूर्व
फा०	फारेनहाइट
मनु०	मनुस्मृति
महा०	महाभारत
याज्ञ०	याज्ञवल्क्यस्मृति
सं०	संस्कृत
सं०ग्रं०	संदर्भग्रंथ
सेंटी०	सेंटीग्रेड
सें०मी०	सेंटीमीटर
हिं०	हिंदी
हि०	हिजरी

प्रथम खंड के लेखक

अ० अ०	डा० **अब्दुल अलीम** डाइरेक्टर अरेबिक ऐंड इस्लामिक स्टडीज, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़। (अनलहक)
	डा० **अमजद अली**, एम०ए०, डी०फ़िल०, लेक्चरर, अरबी विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ। (अरबी संस्कृति)
अ० कि० ना०	डा० **अवधकिशोर नारायण**, एम०ए०, पी-एच० डी०, रीडर, पुरातत्व विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
अ० कु० वि०	श्री **अवनींद्रकुमार विद्यालंकार**, पत्रकार, इतिहास सदन, कनाट सर्कस, नई दिल्ली--१।
अ०जु०डि०को०	श्री **अलेक्स जुवेनल डि कोस्टा**, बी०ई०, सेक्रेटरी, इंडियन रोड्स कांग्रेस, जामनगर हाउस, मानसिंह रोड, नई दिल्ली।
अ० ना० अ०	डा० **अमरनारायण अग्रवाल**, एम०ए०, डी० लिट०, डीन, फैकल्टी ऑव कॉमर्स, प्रयाग विश्वविद्यालय।
अ० मो०	डा० **अरविंदमोहन**, एम०एस-सी, डी०फिल०, सहायक प्रोफेसर, भौतिकी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।
अ० ला० लुं०	श्री **अवंतिलाल लुंबा**, एम०ए०, सहायक प्रोफेसर, राजनीति विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।
अ० श० आ०	श्री **अनंतशयनम् आयंगर**, अध्यक्ष, लोकसभा, नई दिल्ली।
आ० प्र० दी०	डा० **आनंदप्रकाश दीक्षित**, एम०ए०, पी-एच०डी०, सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय।
आर० आर० शे०	श्री **रियाजुर्रहमान शेरवानी**, एम०ए०, लेक्चरर, अरेबिक ऐंड इस्लामिक स्टडीज, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।
आ० वे०	श्री **आस्कर वेरकूसे**, एस० जे०, एल० एस० एस०, प्रोफेसर ऑव होली स्क्रिप्चर, सेंट अल्बर्ट्स सेमिनरी, राँची (बिहार)।
आ० सिं० स०	मेजर **आनंदसिंह सजवान**, एम०ए०, सहायक प्रोफेसर, सैन्यविज्ञान विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।
आ० स्व० जौ०	श्री **आनंद स्वरूप जौहरी**, एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।
इ० ह० अ०	डा० **इशरत हसन अनवर**, एम०ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, दर्शन विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।
उ० ना० सिं०	डा० **उदितनारायण सिंह**, एम०ए०, डी०फिल०, डी०एस-सी० (पेरिस), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, गणित विभाग, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा।
उ० शं० प्र०	मेजर डा० **उमाशंकरप्रसाद**, ए०एम०सी० (आर०), एम०बी०बी०एस०, डी०एम० आर०डी० (इंग्लैंड), डी०एम०आर० टी० (इंग्लैंड); रीडर, मेडिकल कालेज, जबलपुर।
उ० शं० श्री०	डा० **उमाशंकर श्रीवास्तव**, एम०एस-सी०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, प्राणिशास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।
उ० सिं०	डा० **उजागर सिंह**, एम०ए०, पी-एच०डी० (लंदन), लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।
ए० हु०	देखिए **सं० ए० हु०**।
ओं० ना० उ०	श्री **ओंकारनाथ उपाध्याय**, एम०ए०, द्वारा डा० भगवतशरण उपाध्याय, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।
क० और स०	**श्रीमती कमला सद्गोपाल**, और **डा० सद्गोपाल**, डी०एस-सी०, एफ०आर०आई०सी०, एफ०आई०सी०, डेप्युटी डायरेक्टर (केमिकल्स), इंडियन स्टैंडर्ड्स इंस्टिट्यूट, नई दिल्ली।
क० गु०	डा० **कुमारी कमला गुप्त**, एम०बी०बी०एस०, एम०एस, रीडर, आब्सटेट्रिक्स तथा गाइनेकॉलोजी, मेडिकल कालेज, जबलपुर।
क० न० उ०	डा० **कटील नरसिंह उडुप**, एम०एस०, एफ० आर०सी०एस०, एफ०ए०सी०एस०, सर्जन तथा सुपरिटेंडेंट, सर सुंदरलाल हॉस्पिटल; सर्जरी प्रोफेसर तथा प्रिंसिपल, आयुर्वेदिक कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।
कां०चं० सौ०, का० सो०	श्री **कांतिचंद्र सौनरेक्सा**, बी०ए०, भूतपूर्व पी० सी०एस, लेखक, चित्रकार तथा पत्रकार, सी० ४।२, रिवरबैंक कालोनी, लखनऊ।
का० ना० सिं०	श्री **काशीनाथ सिंह**, एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।
का० प्र०	श्री **कार्तिकप्रसाद**, बी०एस-सी०, सी०ई०, सुपरिंटेंडिंग इंजीनियर, पी०डब्ल्यू०डी० (उत्तर प्रदेश), मेरठ।
का० बु०	**रेवरेंड कामिल बुल्के**, एस०जे०, एम०ए०, डी० फिल०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सेंट ज़ेवियर्स कालेज, मनरेसा हाउस, राँची।

कृ० द० भा० — **श्री कृष्णदयाल भार्गव,** एम०ए०, डाइरेक्टर ऑव आर्काइव्ज़, भारत सरकार, नई दिल्ली।

कृ० ना० मा० — **डा० कृष्ण नारायण माथुर,** प्रोफेसर, मेडिकल कालेज, आगरा।

कृ० ब० — **डा० कृष्णबहादुर,** एम०एस-सी०, डी०फिल०, डी०एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

के० जॉ० डॉ० — **डा० केडनाड जॉन डॉमिनिक,** एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, लेक्चरर, प्राणिविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

खा० अ० नि० — **श्री खालिक अहमद निजामी,** एम०ए०, एल०-एल०बी०, रीडर, इतिहास विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

गं० प्र० उ० — **श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय,** एम०ए०, कला प्रेस, इलाहाबाद।

ग० प्र० श्री० — **डा० गणेशप्रसाद श्रीवास्तव,** एम०एस-सी०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, भौतिकी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

गि० शं० मि० — **डा० गिरिजाशंकर मिश्र,** एम०ए०, पी-एच० डी०, सहायक प्रोफेसर, पाश्चात्य इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

गो० क० — **महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज,** एम० ए०, डी०लिट० (भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत गवर्नमेंट कालेज, वाराणसी). सिगरा, वाराणसी।

गो० ति० — देखिए **श्री० गो० ति०** ।

गो० ना० ध० — **डा० गोपीनाथ धवन,** एम०ए०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर, राजनीति विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

गो० प्र० — **डा० गोरखप्रसाद,** डी०एस-सी० (एडिन०), (अवकाशप्राप्त रीडर, गणित तथा ज्योतिष, प्रयाग विश्वविद्यालय), संपादक, हिंदी विश्वकोश।

चं० अ० — **श्री चंद्रभान अगरवाला,** एम०ए०, एल-एल० बी०, भूतपूर्व जज, इलाहाबाद हाईकोर्ट, सीनियर ऐडवोकेट, सुप्रीम कोर्ट, नई दिल्ली।

चं० प्र० — **डा० चंद्रिकाप्रसाद,** डी०फिल० (ऑक्सफोर्ड), अध्यक्ष, गणित विभाग, रुड़की विश्वविद्यालय।

चं० ब० सिं० — **श्री चंद्रबली सिंह,** एम०ए०, प्राध्यापक, उदयप्रताप कालेज, वाराणसी, ४७।१ए०, रामापुरा, वाराणसी।

चं० भा० सि० — **डा० चंद्रभान सिंह,** एम०बी०, एफ०आर०सी० एस० (इग्लैंड), पी०एम०एस०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, सर्जरी विभाग, वरिष्ठ अधीक्षक, संबद्ध अस्पताल तथा प्रिंसिपल, जी०एस०वी० एम० मेडिकल कालेज, कानपुर; डीन, फैकल्टी ऑव मेडिसिन, लखनऊ विश्वविद्यालय।

चं० म० — **श्री चंद्रचूड मणि,** एम० ए०, लेखक एवं पुराविद्, साहित्य सहायक, हिंदी विश्वकोश, वाराणसी।

ज० कृ० — **डाक्टर जयकिशन,** बी०एस०-सी०, सी०ई० (ऑनर्स), पी-एच०डी०, (लंदन), एम०आई० ई० (इंडिया), मेंबर साइज्मोलॉजिकल सोसायटी (संयुक्त राज्य, अमरीका), फेलो, अमेरिकन सोसायटी ऑव सिविल इंजीनियर्स, प्रोफेसर, रुड़की विश्वविद्यालय।

ज० चं० जै० — **डा० जगदीशचंद्र जैन,** एम०ए०, पी-एच०डी०, (प्रधान आचार्य, हिंदी विभाग, रामनारायण रुइया कालेज, बंबई,) २८ शिवाजी पार्क, बंबई–२८।

ज० चं० मा० — **श्री जगदीशचंद्र माथुर,** आई०सी०एस०, डाइरेक्टर जनरल, आल इंडिया रेडियो, सूचना और प्रसारमंत्रालय, नई दिल्ली।

ज० ना० रा० — **डा० जगदीश नारायण राय,** एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, लेक्चरर, वनस्पति विज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

ज० बि० ला० — **डा० जगराजबिहारी लाल,** एम०एस-सी०, डी०फिल०, लेक्चरर, हारकोर्ट बटलर टेक्नॉलोजिकल इंस्टिट्यूट, कानपुर।

ज० रा० सिं० — **डा० जयराम सिंह,** एम०एस-सी० (ए-जी०), पी-एच०डी०, लेक्चरर कृषि विद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

झ० ला० श० — **डा० झम्मनलाल शर्मा,** एम०ए०, डी०एस-सी०, (भूतपूर्व प्रिंसिपल, नालंदा कालेज, बिहार शरीफ) प्रिंसिपल, गवर्नमेंट डिग्री कालेज, ज्ञानपुर (वाराणसी)।

ता० चं० — **डा० ताराचंद,** एम०ए०, डी०फिल० आक्सफोर्ड, सदस्य, राज्य सभा, नई दिल्ली।

ता० म० — **श्रीमती तारा मदन,** एम०ए०, अध्यक्षा, राजनीतिशास्त्र विभाग, सावित्री गर्ल्स कालेज, अजमेर।

तु० ना० सिं० — **डा० तुलसीनारायण सिंह,** एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

त्रि० पं० — **श्री त्रिलोचन पंत,** एम० ए०, लेक्चरर, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

द० मा० — **श्री दलसुख डी० मालवणिया,** न्यायतीर्थ, डाइरेक्टर, एल० डी० भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, पाकोर नाका, अहमदाबाद।

द० शं० दु० — **श्री दयाशंकर दुबे,** एम०ए०, एल-एल०बी० (भूतपूर्व लेक्चरर, अर्थशास्त्र विभाग, प्रयाग

विश्वविद्यालय) श्रीदुबे निवास, ८७३, दारागंज, इलाहाबाद ।

द० स्व० — **डा० दयास्वरूप**, पी-एच०डी० (शेफील्ड), एम० आइ०एम०, एम०आइ० ऐंड एस०आइ०, एफ० आइ०एम०; प्रिंसिपल, कालेज ऑव माइनिंग ऐंड मेटलर्जी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय ।

दा० वि० गो० — **डा० दामोदर विनायक गोगटे**, एम०एस-सी०, पी-एच०डी० (लंदन), एफ़०इन्स्ट०पी० (लंदन), एफ़०ए०एस-सी०, वाइस प्रेसिडेंट, इंडियन फिज़िकल सोसायटी, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा ।

दी० चं० — **डा० दीवानचंद**, एम०ए०, डी०लिट० (भूतपूर्व वाइसचांसलर, आगरा विश्वविद्यालय), ६३, छावनी, कानपुर ।

दी० द० गु० — **डा० दीनदयाल गुप्त**, एम०ए०, एल-एल०बी०, डी० लिट०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिंदी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय; ५१७, नया हैदराबाद, लखनऊ।

दे० र० भ० — **डा० देवीदास रघुनाथराव भवालकर**, एम० एस-सी०, पी-एच०डी० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर ।

दे० रा० — **डा० नंदकिशोर देवराज**, एम०ए०, डी०फिल०, डी०लिट०, सहायक प्रोफेसर, दर्शन विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

दे० श० — **डा० देवेंद्र शर्मा**, एम०एस-सी०, डी०फिल०, प्रोफेसर और अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय ।

दे० सिं० — **डा० देवेंद्र सिंह**, बी०एस-सी०, एम०बी०बी०एस०, एम०डी० (मेडिसिन), रीडर, मेडिसिन, गांधी मेडिकल कालेज तथा चिकित्सक, हमीदिया हॉस्पिटल, भूपाल ।

धी० ना० म० — **स्व० डा० धीरेंद्रनाथ मजूमदार**, भूतपूर्व अध्यक्ष, नृतत्वशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

नं० ला० सिं० — **डा० नंदलाल सिंह**, डी०एस-सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, स्पेक्ट्रॉस्कोपी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय ।

न०कि०प्र०सिं० — **श्री नवलकिशोरप्रसाद सिंह**, एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय ।

न० प्र० — **श्री नर्मदेश्वरप्रसाद**, एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय ।

न० ल०, न० ला० — **श्री नन्हेंलाल**, एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय ।

न० ला० गु० — **श्री नरेंद्रलाल गुप्त**, बी०एस-सी० (इंजीनियरिंग), एम०एस०एम०ई० (परड्यू, संयुक्त राज्य, अमरीका), ए०एम०ए०एस०एच०वी०ई०, ए०एम० आइ०ई०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष यांत्रिक इंजीनियरी विभाग, थापर इंजीनियरिंग कालेज, पटियाला ।

ना० सिं० — **डा० नामवर सिंह**, एम०ए०, पी-एच०डी०, भूतपूर्व लेक्चरर, काशी हिंदू विश्वविद्यालय ।

ना० गो० श० — **डा० नारायण गोविंद शब्दे**, डी०एस-सी० (नागपुर), डी०एस-सी० (एडिन०), एफ़०-एन०ए०एस-सी०, एफ़०आइ०ए०एस-सी०, (भूतपूर्व गणित प्रोफेसर तथा प्रिंसिपल, महाकोशल महाविद्यालय, जबलपुर; विदर्भ महाविद्यालय, अमरावती, तथा सायंस कालेज, नागपुर); चेयरमन, एस०एस०सी०, परीक्षा बोर्ड, बबई राज्य ।

ना० सिं० प० — **श्री नारायणसिंह परिहार**, एम०एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, वनस्पति विज्ञान विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय ।

नि० गु० — **डा० नित्यानंद गुप्त**, एम०डी० (मेडिसिन), एम० डी० (पैथॉलोजी), वातूमल स्कालर, संयुक्तराज्य (अमरीका), रॉकफ़ेलर फ़ेलो, संयुक्तराज्य (अमरीका) तथा युनाइटेड किंगडम, रीडर, मेडिसिन तथा फ़िजीशियन, मेडिकल कालेज, लखनऊ ।

नृ० कु० सिं० — **श्री नृपेंद्रकुमार सिंह**, एम०एस-सी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय ।

पं० म० — **डा० पंचानन महेश्वरी**, डी०एस-सी०, एफ़०एन० आइ०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, वनस्पति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय ।

प० उ० — **कुमारी पद्मा उपाध्याय**, एम०ए०, प्रिंसिपल, ए०के०पी० इंटर कालेज, खुर्जा ।

प० च० — **श्री परशुराम चतुर्वेदी**, एम०ए०, एल-एल०बी०, वकील, बलिया (उत्तर प्रदेश) ।

प० व० — **श्री परिपूर्णानंद वर्मा**, शास्त्री, अध्यक्ष, अखिल भारतीय अपराध निरोधक समिति, बिहारी निवास, कानपुर ।

प० श० — **डा० परमात्माशरण**, एम०ए०, पी-एच०डी०, एफ़०आर०एच०एस०, सहायक प्रोफ़ेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय ।

पि० सिं० गि० — **डा० पियारासिंह गिल**, एम०एस०, पी-एच० डी०, एफ०एन०आइ०, एफ०एन०ए०एस-सी०, फ़ेलो, अमेरिकन फिजिकल सोसायटी; प्रोफेसर और अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय तथा डाइरेक्टर, गुलमर्ग रिसर्च ऑब्जर्वेटरी ।

प्र० चं० गु० — **श्री प्रकाशचंद्र गुप्त**, एम०ए०, सहायक प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय ।

प्र० मा० — **डा० प्रभाकर बलवंत माचवे**, एम०ए०, पी-एच०डी०, सहायक मंत्री, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली ।

प्र० कु० स० — **डा० प्रमोदकुमार सक्सेना,** एम०ए०, पी-एच० डी०, सहायक प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

प्री० दा० — **डा० प्रीतम दास,** प्रोफेसर, मेडिकल कालेज, कानपुर।

फी० ई० द० — **डा० फीरोज ईदुलजी दस्तूर,** डी० लिट०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली—८।

फू० स० व० — **श्री फूलदेव सहाय वर्मा,** एम०एस-सी०, ए०आइ० आइ०एस-सी०, (भूतपूर्व औद्योगिक रसायन प्रोफेसर एवं प्रिंसिपल, कालेज ऑव टेक्नॉलोजी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय), बोरिंग रोड, पटना।

ब० उ० — **श्री बलदेव उपाध्याय,** एम०ए०, साहित्याचार्य, भूतपूर्व रीडर, संस्कृत-पालि-विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ब० ना० प्र० — **डा० बद्रीनारायण प्रसाद,** एफ०आर०एस०ई०, पी-एच०डी० (एडिन०), एम०एस-सी०, एम० बी०, डी०टी०एम०, (भूतपूर्व प्रोफेसर फार्माकॉलोजी तथा प्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, पटना, निर्देशक, औषध अनुसंधान प्रतिष्ठान, पटना) अबुल आस लेन, पटना।

ब० पु० — देखिए **बैं० पु०।**

ब०बि०ला०स० — **डा० बलदेवबिहारीलाल सक्सेना,** एम०एस-सी०, डी०फिल०, एफ०एन०ए०एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

ब० ला० कु० — **डा० बनारसीलाल कुलश्रेष्ठ,** एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, विज्ञान विशारद, एसोशिएट प्रोफेसर, भौतिक विज्ञान, बलवंत राजपूत कालेज, आगरा।

ब० सिं० स्या० — **श्री बलवंतसिंह स्याल,** एम० एस-सी०, एल०टी०, ज्वाइंट डाइरेक्टर, एजुकेशन (उ०प्र०), इलाहाबाद।

बा० ना० — **श्री बालेश्वरनाथ,** बी०एस-सी०, सी०ई० (आनर्स), एम०आई०ई०, सेक्रेटरी, सेंट्रल बोर्ड ऑव इरिगेशन ऐंड पावर, कर्जन रोड, नई दिल्ली।

बा० रा० स० — **डा० बाबूराम सक्सेना,** एम०ए०, डी०लिट०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भाषाविज्ञान तथा हिंद ईरानी विभाग, सागर विश्वविद्यालय।

बा० शे० — **श्री बालकृष्ण शेषाद्रि,** बी०एस-सी०, ए०आइ० आइ०एस-सी०, डी०आइ०सी०, एम०एस-सी० (इंग्लैंड), एम०आइ०ई०, सेक्रेटरी, इंस्टिट्यूशन ऑव इंजीनियर्स (इंडिया), कलकत्ता।

बृ० मो० — **श्री बृजमोहनलाल साहनी,** एम०ए०, (भूतपूर्व प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय), प्रोफेसर अंग्रेजी, आर्यमहिला विद्यालय, वाराणसी।

बैं० पु० — **डा० बैजनाथ पुरी,** एम०ए०, बी०लिट०, डी० फिल०, प्राच्य भारतीय इतिहास और पुरातत्व विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

ब्र० दा० — **श्री ब्रजरत्नदास,** बी०ए०, एल-एल०बी०, वकील, सी० के० १५।४ बी०, सुड़िया, वाराणसी।

ब्र० मो० — **डा० ब्रजमोहन,** एम०ए०, एल-एल०बी०, पी-एच०डी०, रीडर, गणित विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

भ० दा० व० — **श्री भगवानदास वर्मा,** बी०एस-सी०, एल०टी०, (भूतपूर्व अध्यापक, डेली (चीफ्स) कालेज, इंदौर, भूतपूर्व सहायक संपादक, इंडियन क्रॉनिकल) विज्ञान सहायक, हिंदी विश्वकोश, वाराणसी।

भ० श० उ० — **डा० भगवतशरण उपाध्याय,** एम०ए०, डी० फिल०, संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

भि० ज० का० — **भिक्षु जगदीश काश्यप,** एम०ए०, त्रिपिटकाचार्य प्रोफेसर और अध्यक्ष, पालि विभाग, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, अवैतनिक संचालक नवनालंद महाविहार एवं प्रधान संपादक, पालि प्रकाशन, बिहार सरकार, ४३, विष्णु भवन, लंका, वाराणसी।

भी० ला० आ० — **डा० भीखनलाल आत्रेय,** एम० ए०, डी०लिट०, दर्शनाचार्य (भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन, मनोविज्ञान, धर्म विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय); लंका, वाराणसी।

भृ० ना० प्र० — **डा० भृगुनाथप्रसाद,** एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, लेक्चरर, प्राणि विज्ञान, सेंट्रल हिंदू कालेज, वाराणसी।

भो० ना० श० — **श्री भोलानाथ शर्मा,** एम० ए०, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, बरेली कालेज, बरेली।

म० कु० गो० — **डा० महेंद्रकुमार गोयल,** एम०एम०, रीडर, आर्थोपीडिक सर्जरी, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

म० गं० भा० — **डा० मधुकर गंगाधर भाटवडेकर,** एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, राजस्थान कालेज, जयपुर।

म० ना० मे० — **श्री महाराजनारायण मेहरोत्रा,** एम०एस-सी०, एफ़०जी०एम०एस०, लेक्चरर, भूविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

म० प्र० श्री० — **स्वर्गीय श्री महावीर प्रसाद श्रीवास्तव,** बी०एस-सी०, एल०टी०, विशारद, सूर्यसिद्धांत के विज्ञानभाष्य पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक विजेता।

म० म० गो० **डा० मदनमोहन मनोहरलाल गोयल,** एम०एस-सी०, पी-एच०डी० (बंबई), एफ०ज़ेड०एस० (लंदन), एफ०आर०एम०एस०, प्रोफेसर, प्राणिविज्ञान, बरेली कालेज।

म० ला० श० **डा० मथुरालाल शर्मा,** एम०ए०, डी०लिट०, प्रोफेसर, इतिहास, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

म० सु० म० श० **डा० महादेव सु० मणि शर्मा,** एम०ए०, डी० एस-सी०, एफ०आर०ई०एम०, एफ०एल० एस०, डेप्युटी डाइरेक्टर, ज़ूओलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, कलकत्ता।

मा० जा० **श्रीमती माधुरी जायसवाल,** बी०ए०, भूतपूर्व संयोजिका, सेंट्रल वेलफ़ेयर बोर्ड, मध्यप्रदेश सरकार।

मु० अ० अं० **डा० मुहम्मद अजहर असगर अंसारी,** एम०ए०, डी०फिल०, सहायक प्रोफेसर, आधुनिक भारतीय इतिहास, प्रयाग विश्वविद्यालय।

मु० न० **मुनिश्री नथ मलजी,** द्वारा, अणुव्रत समिति, ३ पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता।

मु० ला० श्री० **डा० मुरलीधरलाल श्रीवास्तव,** डी०एस-सी०, एफ०एन०ए०एस-सी०, प्रोफेसर और अध्यक्ष, प्राणिविज्ञान विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

मु०सु० **मुनिश्री सुनेरमल जी,** द्वारा अणुव्रत समिति, ३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता।

मु० स्व० व० **डा० मुकुंदस्वरूप वर्मा,** बी०एस-सी०, एम०बी० बी०एस०, भूतपूर्व चीफ़ मेडिकल ऑफिसर तथा प्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

मु० ह० **डा० मुहम्मद हबीब,** बी०ए०, डी०लिट०, भूतपूर्व प्रोफेसर, इतिहास, राजनीति, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, बदरबाग़, अलीगढ़।

मो० अ० अं० देखिए **मु० अ० अं०**।

मो० ला० गु० **डा० मोहनलाल गुजराल,** एम०बी०बी०एस० (पंजाब), एम०आर०सी०पी० (लंदन), डाइरेक्टर प्रोफेसर, उच्चस्तरीय फार्मेकालोजी विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

य० उ० **श्री यदुनंदन उपाध्याय,** बी०ए०, ए०एम०एस०, वासनजी खीमजी चेयर के प्रोफ़ेसर (चरक); रीडर, आयुर्वेद तथा आयुर्विज्ञान; वरिष्ठ चिकित्सक, आयुर्वेदिक कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

यू० वा० भ० **डा० यू० वामन भट्ट,** पी-एच०डी० (शेफ़ील्ड), एम०आइ० ऐंड एस०आइ०, एम०आइ०एम०, (भूतपूर्व प्रोफेसर, भूविज्ञान विभाग) परीक्षा नियंत्रक, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

यू० हु० खाँ० **डा० यूसुफ हुसेन खाँ,** डी० लिट० (पेरिस), प्रोवाइसचांस्लर, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

र० चं० क० **डा० रमेशचंद्र कपूर,** डी०एस-सी०, डी०फिल०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

र० चं० मि० **डा० रमेशचंद्र मिश्र,** एम०एस-सी०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर तथा प्रधान अध्यापक, भूविज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

र० ज० देखिए **र० स० ज०**।

र० जै० **श्री रवींद्र जैन,** एम० ए०, सहायक प्रोफेसर, नृतत्वशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

र० ना० दे० **श्री रवींद्रनाथ देव,** एम०ए०, सहायक प्रोफेसर, प्रयाग विश्वविद्यालय, हार्लैंड हाल, इलाहाबाद।

र० स० ज० **श्रीमती रज़िया सज्जाद ज़हीर,** एम०ए०, (भूतपूर्व लेक्चरर, उर्दू विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) वज़ीर मंज़िल, वज़ीर हसन रोड, लखनऊ।

रा० अ० **डा० राजेंद्र अवस्थी,** एम०ए०, पी-एच०डी०, सहायक प्रोफेसर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

रा० कु० **डा० रामकुमार,** एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, रीडर, गणित विभाग, रुड़की विश्वविद्यालय।

रा० गो० स० **डा० रामगोपाल सरीन,** एम०ए०, पी-एच०डी०, अध्यक्ष, वाणिज्य विभाग, गवर्नमेंट कालेज, अजमेर।

रा० चं० स० **श्री रामचंद्र सक्सेना,** एम०एस-सी०, (भूतपूर्व लेक्चरर, जीवविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय) अस्सी, वाराणसी।

रा०च० **डा० रामाचरण,** बी०एस-सी०टेक० (शेफ़ील्ड, इंग्लैंड), डा०टेकनीक० (प्राहा, चेकोस्लोवेकिया), संयुक्त राज्य (अमरीका) का फुल-ब्राइट-यात्रा-अनुदान-प्राप्तकर्ता (भूतपूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, ग्लास टेकनॉलोजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय)।

रा० च० मे० **डा० रामचरण मेहरोत्रा,** एम०एस-सी०, डी० फिल० (इलाहाबाद), पी-एच०डी० (लंदन), एफ०आर०आई०सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, रसायन विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय।

रा० दा० ति० **डा० रामदास तिवारी,** एम०एस-सी०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

रा० ना० **डा० राजनाथ,** एम०एस-सी०, पी-एच०डी० (लंदन), डी०आइ०सी०, एफ०एन०आई०, एफ०एन०ए०एस-सी०, एफ०जी०एम०एस०, प्रोफेसर और अध्यक्ष, भूविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय। (अतिनूतन युग, अवर प्रवालादि युग।)

रा० ना० **डा० राजेंद्र नागर,** एम०ए०, पी-एच०डी०, रीडर, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्या-

लय। (अफज़ल खाँ, अभोरर्स, अमीचंद, अर्माडा, अहिल्याबाई होल्कर, आईन-ए-अकबरी, आगाखाँ, आल्बुकर्क आल्फोज़ोथ, आल्मेइदा थोम फ्रासिस्कोथ।)

रा० ना० मा०　**डा० राधिकानारायण माथुर,** एम०ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

रा० प्र० त्रि०　**डा० रामप्रसाद त्रिपाठी,** एम० ए०, डी०एस-सी० (लंदन), भूतपूर्व वाइसचांस्लर, सागर विश्वविद्यालय, अध्यक्ष, परामर्शदात्री समिति, जिला गजेटियर तथा हिंदी समिति, उत्तर प्रदेश।

रा० पां०　**डा० रामचंद्र पांडेय,** व्याकरणाचार्य, एम०ए०, पी-एच०डी०, लेक्चरर बौद्ध दर्शन और धर्म विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

रा० ब० पां०　**डा० राजबली पांडेय,** एम०ए०, डी०लिट०, प्रिंसिपल, भारती महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० बि०　**डा० रामबिहारी,** डी०एस-सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, गणित विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

रा० लुं०　**श्री राममूर्ति लुंबा,** एम०ए०, एल-एल०बी०, सहायक प्रोफेसर, मनोविज्ञान तथा दर्शन विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

रा० लो० सि०　**डाक्टर रामलोचन सिंह,** एम०ए०, पी-एच०डी० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

रा० सि० तो०　**डा० रामसिंह तोमर,** एम०ए०, डी०फिल०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिंदी विभाग, विश्वभारती विश्वविद्यालय, शांतिनिकेतन।

रा० स्व० च०　**डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी,** एम०ए०, डी०फिल०, सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

रु० म०　**सर रुस्तम पेस्तनजी मसानी,** भूतपूर्व म्युनिसिपल कमिश्नर, बंबई तथा वाइसचांस्लर, बंबई, विश्वविद्यालय ४९, मेयरवेदर रोड, बंबई–१।

ल०कि०सि०चौ०　**श्री ललितकिशोर सिंह चौधरी,** एम०ए०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भूगोल विभाग, सनातनधर्म कालेज, कानपुर।

ले० रा० सि०, ले० रा० सि० क०　**डा० लेखराज सिंह,** एम०ए०, डी०फिल०, सहायक प्रोफेसर, भूगोल विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

वा०　**डा० वाचस्पति,** एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, रीडर, भौतिकी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

वा० श० अ०　**डा० वासुदेवशरण अग्रवाल,** एम०ए०, पी-एच० डी०, डी०लिट०, अध्यक्ष, ललितकला तथा वास्तु विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

विं० वा० प्र०　**डा० विंध्यवासिनी प्रसाद,** एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, लेक्चरर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

वि० ना० चौ०　**श्री विजयनारायण चौबे,** एम०ए०, एम०एड०, सहायक अध्यापक, राजकीय जुबिली इंटर कालेज, लखनऊ।

वि० ना० पां०　**श्री विश्वंभरनाथ पांडेय,** मेयर, कारपोरेशन, इलाहाबाद।

वि० प्र० सिं०　**डा० विजयप्रताप सिंह,** एम०एस-सी०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, वनस्पति विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

वि० मु०　**श्रीमती विभा मुखर्जी,** एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

वि० रा०　**श्री विक्रमादित्य राय,** एम०ए०, सहायक प्रोफेसर अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

वि० श० पा०　**डा० विश्वंभरशरण पाठक,** एम०ए०, पी-एच० डी०, सहायक प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय।

वि० श्री० न०　**डा० वी० एस० नरवणे,** एम०ए०, डी०लिट०, सहायक प्रोफेसर, दर्शन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

वि० सा० दु०　**डा० विद्यासागर दुबे,** एम०एस-सी०, पी-एच०डी० (लंदन), डी०आई०सी०, प्रोफेसर, भूविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

वी० भा० भा०　**डा० वीरभानु भाटिया,** एम०डी०, एफ०आर० सी०पी० (लंदन), एम० एल० सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, मेडिसिन विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

शं० ना० उ०　**डा० शंभुनाथ उपाध्याय,** एम०ए०, एम०एड०, एड०डी०, सीनियर रिसर्च साइकोलॉजिस्ट, ब्यूरो ऑव साइकोलॉजी, इलाहाबाद।

श० ध० च०　**श्री शशधर चैटर्जी,** एम०एस-सी०, लेक्चरर, प्राणिविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

श० ब० स०　**डा० शमशेर बहादुर समदी,** एम०ए०, पी-एच०डी० (अरबी), डी०लिट० (फारसी); प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, अरबी, एवं संयोजक, बोर्ड ऑव ओरियंटल स्टडीज, अरेबिक ऐंड पर्शियन, लखनऊ विश्वविद्यालय) अख्तर मंजिल, बारोरोड, लखनऊ।

शां० म० शा०　देखिए **स्व० मो० शा०।**

शि० क० ख०　**डा० शिवनाथ खन्ना,** एम०बी०बी०एस०, डी०पी० एच०, आयुर्वेद रत्न, आयुर्वेदिक कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

शि० मं० सिं०　**श्री शिवमंगल सिंह,** एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

शि० श० मि० — डा० शिवशरण मिश्र, एम०डी० (आनर्स), एफ० आर०सी०पी० (लंदन), प्रोफेसर ऑव क्लिनिकल मेडिसिन मेडिकल कालेज, लखनऊ।

श्या० दु० — डा० श्यामाचरण दुबे, एम०ए०, पी-एच०डी०, अध्यक्ष, नृतत्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय।

श्या० ना० मे० — डा० श्यामनारायण मेहरोत्रा, एम०ए०, बी० एड०, डी०फिल०, उपसंचालक, शिक्षा, मेरठ।

श्या० सुं० श० — श्री श्यामसुंदर शर्मा, एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

श्री० अ० — श्री श्रीकृष्ण अग्रवाल, बी०ए०, एल-एल०बी०, साहित्यरत्न, ऐडवोकेट, हाईकोर्ट, इलाहाबाद, ४ बी०, थार्नहिल रोड, इलाहाबाद।

श्री० अ० डां० — श्री श्रीपाद अमृत डांगे, संसदसदस्य, जनरल सेक्रेटरी, अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस, ४, अशोक रोड, नई दिल्ली।

श्री० गो० ति० — लेफ्टिनेंट कर्नल श्रीगोविंद तिवारी, एम०ए०, एफ०एन०ए०एस-सी०, अध्यक्ष, सैन्यविज्ञान विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

श्री० ध० अ० — डा० श्रीधर अग्रवाल, एम०बी०बी०एस०, एम० एस-सी० (पैथॉलोजी), रीडर, मेडिकल कालेज, जबलपुर।

श्री० स० — डा० श्रीकृष्ण सक्सेना, एम०ए०, पी-एच०डी०, अध्यक्ष, दर्शन एवं मनोविज्ञान विभाग, सागर विश्वविद्यालय।

स० — डा० सद्गोपाल, डी०एस-सी०, एफ०आर०आइ० सी०, एफ० आइ० सी०, उपनिर्देशक (रसायन), भारतीय मानक संस्था, मानक भवन, ९ मथुरा रोड, नई दिल्ली।

स० च० — श्रीमती सरोजिनी चतुर्वेदी, एम०ए०, द्वारा श्री सुभाषचंद्र चतुर्वेदी, पी०सी०एस०, डिप्टी कलेक्टर, एटा।

स० ना० प्र० — डा० सत्यनारायणप्रसाद, एम०एस-सी०, डी० फिल०, एफ०एन०ए०एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, वनस्पतिविज्ञान विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

स० पा० गु० — डा० सत्यपाल गुप्त, एम०बी०बी०एस०, एफ़० आर०सी०एस० (एडिन०), डी०ओ०एम०एस० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, ऑप्थैल्मॉलोजी विभाग, चीफ आई सरजन, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

स० प्र० — डा० सत्यप्रकाश, डी०एस-सी०, एफ़०ए०एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय। (आवर्त नियम तथा आसवन)
डा० सरयूप्रसाद, एम०ए०, एम०एस-सी, डी०एस-सी०, एफ़०एन०ए०एस-सी०, एफ़०आइ० सी०, रीडर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय। (आस्मियम तथा इरिडियम)

स० प्र० गु० — डा० सत्यप्रकाश गुप्त, प्रोफेसर, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

स० प्र० चौ० — डा० सरयूप्रसाद चौबे, एम०ए०, एम०एड०, सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

सि० रा० गु० — श्री सियाराम गुप्त, बी०एस-सी०, डेप्युटी सुपरिंटेंडेंट ऑव पुलिस, अंगुलिचिह्न तथा वैज्ञानिक शाखा, सी०आई०डी०, उ०प्र०, लखनऊ।

सी० च० — श्री सीताराम चतुर्वेदी, एम०ए०, बी०टी०, एल-एल०बी०, साहित्याचार्य, प्रिंसिपल, टाउन डिग्री कालेज, बलिया।

सी० रा० जा० — डा० सीताराम जायसवाल, एम०ए०, एम०एड०, पी-एच०डी०, रीडर, शिक्षा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

सी० बा० जो० — श्री सीताराम बालकृष्ण जोशी, इंजीनियर, जोशी बाड़ी, मनमाला टैंक रोड, माहिम, बंबई।

सुं० ला० — श्री सुंदरलाल, सेक्रेटरी, हिंदुस्तानी कल्चर सोसाइटी, ४० ए०, हनुमान लेन, नई दिल्ली।

सै० ए० हु० — श्री सैयद एहतेशाम हुसेन, एम०ए०, सहायक प्रोफेसर, फारसी और उर्दू विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

स्कं० गु० — श्री स्कंदगुप्त, एम०ए०, सहायक प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

स्व० मो० शा० — डा० स्वरूपचंद्र मोहनलाल शाह, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट० (लंदन), एफ०एन० आई०, एफ०ए०एस-सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, गणित विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय।

ह० चं० गु० — डा० हरिश्चंद्र गुप्त, पी-एच०डी० (मैनचेस्टर), पी-एच०डी० (आगरा), रीडर, गणितीय सांख्यिकी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

ह० ब० — डा० हरिवंशराय बच्चन, एम०ए०, पी-एच०डी० (कैंटब), हिंदी विशेषज्ञ, विदेशमंत्रालय, नई दिल्ली।

ह० बा० मा० — डा० हरिबाबू माहेश्वरी, एम०बी०बी०एस०, एम० डी०, पैथॉलोजी विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

ह० ह० सिं० — श्री हरिहर सिंह, एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

हा० गु० मु० — श्री हाफिज गुलाम मुस्तफा, एम०ए०, (अरबी, फारसी, उर्दू), फाजिल और कामिल, लेक्चरर, अरबी और इस्लामी अध्ययन विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

हृ० के० त्रि० — डा० हृषिकेश त्रिवेदी, डी०एस-सी०, डी० आर०ई०, डी०मेट०, प्रिंसिपल, हारकोर्ट बटलर टेक्नोलॉजिकल इंस्टिट्यूट, कानपुर।

हे० जो० — डा० हेमचंद्र जोशी, डी०लिट०, लेखक, भूतपूर्व निरीक्षक संपादक, हिंदी शब्दसागर, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

फलक सूची

संमुख पृष्ठ

मानचित्र

हिंदी विश्वकोश

अंक उन चिह्नों को कहते हैं जिनसे गिनतियाँ सूचित की जाती हैं, जैसे १, २, ३, ... । स्वयं गिनतियों को संख्या कहते है। यह निर्विवाद है कि आदिम सभ्यता में पहले वाणी का विकास हुआ और उसके बहुत काल पश्चात् लेखन कला का प्रादुर्भाव हुआ। इसी प्रकार गिनना सीखने के बहुत समय बाद ही संख्याओं को अंकित करने का ढंग निकाला गया होगा। वर्तमान समय तक बचे हुए अभिलेखों में सबसे प्राचीन अंक मिस्र (ईजिप्ट) और मेसोपोटेमिया के माने जाते हैं। इनका रचनाकाल ३,००० ई० पू० के आसपास रहा होगा। ये अंक चित्रलिपि (हाइरोग्लिफिक्स) के रूप में हैं। इनमें किसी अंक के लिये चिड़िया, किसी के लिये फूल, किसी के लिये कुदाल आदि बनाए जाते थे। केवल अंक ही नहीं, शब्द भी चित्रलिपि में लिखे जाते थे।

कुछ देशों में अंकों के निरूपण के लिये खपच्चियों पर खाँचें बनाई जाती थीं, कहीं खड़िया से बिंदियाँ बनाई जाती थीं, कहीं खड़ी अथवा पड़ी लकीरों से काम लिया जाता था। प्राचीन मेसोपोटेमिया में खड़ी रेखाओं का प्रयोग होता था, जो संभवत: खड़ी अंगुलियों की द्योतक हैं :

| || |||
१   २   ३

ब्राह्मी लिपि में, जो प्राचीन भारत में प्रचलित थी, इन्हीं संख्याओं के लिये बेंड़ी रेखाएँ प्रयुक्त होती थीं।

पंडित सुधाकर द्विवेदी का विचार था कि हमारे अधिकांश नागरी अंकों की आकृतियाँ पुष्पों से ली गई हैं। 'गणित का इतिहास' नामक अपनी पुस्तक में उन्होंने इन अंकों का उद्भव इस प्रकार बताया है जैसा पार्श्व के चित्र में हैं।

कुंद (एक माघी फूल की कली) — १
मुकुंद (एक फूल जिसमें दो कलियाँ होती हैं) — २
नील (तीन कलियों-वाला फूल) — ३
कच्छप (कछुआ) — ४
मगर — ५
खर्व (छोटा कमल) — ६
पद्म (कुछ बड़ा कमल) — ७
महापद्म (सबसे बड़ा कमल) — ८
शंख — ९

पंडित सुधाकर द्विवेदी के अनुसार अंकों की उत्पत्ति

परंतु शिलालेखों में ये रूप कहीं भी नहीं मिले हैं। इसलिये अंकों की यह उत्पत्ति केवल कल्पना ही जान पड़ती है। आगामी पृष्ठ की सारणी में अंकों के वे रूप दिखाए गए हैं जो भारत के विविध शिलालेखों में मिलते हैं। यूनानियों में १ से ६ तक के लिये पहले खड़ी रेखाएँ प्रयुक्त होती थीं। पीछे पाँच, दस आदि गिनतियों के लिये प्रयुक्त शब्दों के प्रथम अक्षर लिखे जाने लगे। तृतीय शताब्दी ई० पू० के लेखों में यह प्रणाली मिलती है। तदनंतर वर्णमाला के क्रम से लिए गए अक्षर ९ तक की क्रमागत संख्याओं के लिये प्रयुक्त होते थे, और १०, २० आदि ९० तक, और फिर १००, २०० आदि ९०० तक के लिये शेष अक्षर प्रयुक्त होते थे।

रोमन पद्धति, जिसमें १, २, ... के लिये I, II, III, IV, V, VI, ... लिखे जाते थे, आज तक भी थोड़ी बहुत प्रचलित है। सन् २६० ई० पू० में यह पद्धति (कुछ हेर फेर के साथ) प्रचलित अवश्य थी, क्योंकि उस समय के शिलालेखों में यह वर्तमान है। रोम का साम्राज्य इतनी दूर तक फैला हुआ था और इतने समय तक शक्तिमान् बना रहा कि उसकी लेखन-पद्धति का प्रभुत्व आश्चर्यजनक नहीं है। अपने समय की अन्य अंकपद्धतियों से रोमन अंकपद्धति अच्छी भी थी, क्योंकि इसमें चार अक्षर V, X, L, और C तथा एक खड़ी रेखा से प्रतिदिन के व्यवहार की सभी संख्याएँ लिखी जा सकती थीं। पीछे D तथा M के उपयोग से पर्याप्त बड़ी संख्याओं का लिखना भी संभव हो गया। एक, दो और तीन के लिये इतनी ही खड़ी रेखाएँ खींची जाती थी। V से पाँच का बोध होता था। मामसेन ने १८५० में बताया कि V वस्तुत: खुले पंजे का चित्रीय प्रतीक है और एक उलटा तथा एक सीधा V मिलाने से दो पाँच अर्थात् दस (X) बना। इस सिद्धांत से अधिकांश विद्वान् सहमत हैं। C सौ के लिये रोमन शब्द सेंटम का पहला अक्षर है और M हजार के लिये रोमन शब्द मिलि का पहला अक्षर है। बड़ी संख्या के बाईं ओर छोटी संख्या लिखकर दोनों का अंतर सूचित किया जाता था, जैसे IV=४। रोमन अंकों से बहुत बड़ी संख्याएँ नहीं लिखी जा सकती थीं। आवश्यकता पड़ने पर (I) से १,०००, ((I)) से १०,०००, (((I)))से १ लाख सूचित कर लिया जाता था, परंतु जब उन्होंने २६० ई०पू० में कार्थेजीय लोगों पर अपनी विजय के लिये कीर्तिस्तंभ बनाया और उसपर २३,००,००० लिखना पड़ा तो उन्हें (((I))) को २३ बार लिखना पड़ा।

युकाटान (मेक्सिको और मध्य अमरीका के प्रायद्वीप) में प्राचीन मय सभ्यता अत्यंत विकसित अवस्था में थी। वहाँ एक, दो, तीन इत्यादि बिंदियों से १, २, ३, ... सूचित किए जाते थे, बेंड़ी रेखा से ५, चक्र से २०, इत्यादि। इस प्रणाली में लिखी गई कुछ संख्याएँ नीचे दिखाई गई हैं :

मय सभ्यता में अंकों का रूप

चीन में प्राचीन काल से ही अंकों के लिये विशेष चिह्न थे।

यूरोप में प्रचलित अंकों 1, 2, 3, ...की उत्पत्ति के लिये कई सिद्धांत बने, परंतु अब पाश्चात्य विद्वान् भी मानते हैं कि उनका मूल प्राचीन भारतीय पद्धति ब्राह्मी है, यद्यपि देशकाल की विभिन्नता से कई अंकों के रूप में कुछ विभिन्नता आ गई है। 2 और 3 स्पष्ट रूप से ब्राह्मी के दो और तीन, अर्थात् = और ≡, के घसीटकर लिखे गए रूप हैं। इसके अतिरिक्त कई अन्य यूरोपीय अंकों के रूप ब्राह्मी अंकों से मिलते हैं। उदाहरणत: 1,4 और 6 अशोक के शिलालेखों के १, ४ और ६ से मिलते जुलते हैं; 2, 4, 6, 7 और 9 नानाघाट के अंकों से बहुत कुछ मिलते हैं; 2, 3, 4, 5, 6, 7 और 9 नासिक की गुफाओं के अंकों के सदृश हैं। परंतु यूरोपीय लोगों ने इन अंकों को सीधे भारतीयों से नहीं पाया। उन्होंने इन्हें अरबवालों से सीखा। इसीलिये ये अंक यूरोप में अरबी (अरेबिक) अंक कहे जाते हैं। पूर्वोक्त प्रमाणों के आधार पर वैज्ञानिक अब उन्हें हिंदू-अरेबिक अंक कहते हैं।

अशोक के शिलालेख तीसरी शताब्दी ई० पू० के हैं और नानाघाट के शिलालेख लगभग १०० वर्ष बाद के हैं। इनमें हमारे अंकों के प्राचीन रूप अब भी देखे जा सकते हैं। इनमें शून्य का प्रयोग नहीं मिलता। आठवीं शताब्दी से भारत में शून्य के प्रयोग का पक्का प्रमाण मिलता है।

आज संसार की अधिकांश भाषाओं में १ से ९ तक के अंकों के लिये स्वतंत्र अंक हैं। फिर १ में ० लगाकर १० बनाया जाता है। बाद के समस्त अंक दस को आधार मानकर बनाए जाते हैं, जैसे

१३=१०+३, १७=१०+७;

इसी तथ्य को हम गणित की भाषा में इस प्रकार कहते हैं कि हमारी संख्यापद्धति दशांशिक है।

हम ऊपर देख चुके हैं कि गिनने की आदिम पद्धति योगात्मक थी। दो लकीरों का अर्थ दो होता था और तीन लकीरों का तीन। किंतु आधुनिक संख्यापद्धति योगात्मक भी है और गुणनात्मक भी। देखिए :

४५= ४×१०+५,
६८= ६×१०+८,
९१= ९×१०+१।

स्पष्ट है कि ४५ में ४ का संख्यात्मक मान तो ४ ही है, किंतु अपनी स्थिति के कारण उसका मान ४० है। इस प्रकार ४० में ५ जोड़ने से ४५ प्राप्त होता है। स्थानों के मान इकाई, दहाई, सैकड़ा आदि प्रसिद्ध हैं। जब किसी स्थान में कोई अंक नहीं रहता तब वहाँ शून्य (०) लिख दिया जाता है। जब तक शून्य का आविष्कार नहीं हुआ था तब तक स्थानिक मानों का प्रयोग भली भाँति नहीं हो पाता था। शून्य का आविष्कार प्राचीन भारतीयों ने ही किया था।

ब्राह्मी अंक

	तीसरी शताब्दी ई० पू०	दूसरी शताब्दी ई० पू०	पहली तथा दूसरी शताब्दी ई०	दूसरी शताब्दी ई०	दूसरी से चौथी शताब्दी ई० तक	चौथी शताब्दी ई०
	अशोक के अभिलेख	नानाघाट अभिलेख	कुषाण अभिलेख	क्षत्रप तथा आंध्र अभिलेख	क्षत्रप मुद्राएँ	जग्गयपेट अभिलेख तथा शिवस्कंद वर्मन ताम्रपत्र
१						
२						
३						
४						
५						
६						
७						
८						
९						

ब्राह्मी लिपि में अंक
विविध अभिलेखों में आए अंकों का सच्चा स्वरूप यहाँ दिखाया गया है।

शून्यरहित प्रणालियों में (जैसे रोमन पद्धति में) बड़ी संख्याओं का लिखना बहुत कठिन होता है, और बड़ी संख्याओं को बड़ी संख्याओं से गुणा करना तो प्रायः असंभव हो जाता है।

सं०ग्रं०—विभूतिभूषण दत्त और अवधेशनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑव हिंदू मैथिमैटिक्स, भाग १ (लाहौर, १९३५) (इस पुस्तक का हिंदी अनुवाद प्रकाशन ब्यूरो, उत्तरप्रदेश सरकार, लखनऊ से छपा है); डी० ई० स्मिथ और एल० सी० कार्पिस्की : दि हिंदू अरेबिक न्यूमरल्स (बोस्टन, १९११); डी० ई० स्मिथ : हिस्ट्री ऑव मैथिमैटिक्स, भाग १,२ (बोस्टन, १९२३, १९५५)। [ब्र० मो०]

अंकगणित

अंकगणित (अँग्रेजी में अरिथमेटिक) गणित की वह शाखा है जिसमें केवल अंकों और संख्याओं से गणना की जाती है। इसमें न संकेताक्षरों का प्रयोग होता है और न ऋण संख्याओं का ही, किंतु अंकगणित के नियमों की व्याख्या में संकेताक्षरों का प्रयोग होने लगा है। बहुधा ऐसा माना गया है कि अंकगणित का विषयविस्तार अभिगणना (काम्प्युटेशन) तक सीमित है और विषय के प्रतिपादन में तर्क की विशेष महत्ता नहीं होती। अंकगणित का तर्कयुक्त विवेचन एक अलग विषय है जिसे संख्यासिद्धांत (थ्योरी ऑव नंबर्स) कहते हैं। कुछ गणितज्ञ अब अंकगणित और संख्यासिद्धांत को समानार्थक मानने लगे हैं।

दो समूहों में वस्तुओं की संख्या तब समान कही जाती है जब एक समूह की प्रत्येक वस्तु के लिये दूसरे समूह में एक जोड़ीदार वस्तु मिल सके। इस प्रकार यदि अनुक्रम १, २, ३, ..., **म** की प्रत्येक संख्या की जोड़ी किसी समूह की एक एक वस्तु से बनाई जा सके तो उस समूह में वस्तुओं की संख्या **म** है। इस संख्या का ज्ञान प्राप्त करना वस्तुओं की गणना करना, अर्थात् गिनना, कहा जाता है। गिनने की विधि से जो संख्याएँ मिलती हैं उन्हें प्राकृतिक संख्याएँ अथवा पूर्ण संख्याएँ कहते हैं।

धन पूर्ण संख्या संबंधी मूल नियम—यदि एक समूह में **क** वस्तुएँ और दूसरे समूह में **ख** वस्तुएँ हैं तो दोनों समूहों में मिलकर **क**+**ख** वस्तुएँ हैं। **क**+**ख** को **क** और **ख** का योगफल, अथवा योग, कहते हैं। योगफल ज्ञात करने को जोड़ना कहते हैं। चिह्न + को धन कहते हैं। गिनने की प्रक्रिया से स्पष्ट है कि योग के लिये निम्नलिखित मूल नियम ठीक हैं :

१. योग का क्रमविनिमेय (कम्युटेटिव) नियम : **क**+**ख**=**ख**+**क** ।
२. योग का साहचर्य (ऐसोशिएटिव) नियम : **क**+(**ख**+**ग**)=(**क**+**ख**)+**ग** ।

यदि **च** कोई ऐसी धन पूर्ण संख्या है कि **क**=**ख**+**च**, तो कहा जाता है कि **क**, **ख** से बड़ी है (और इसे **क** > **ख** लिखते हैं); साथ ही **ख**, **क** से कम है (और इसे **ख** < **क** लिखते हैं)। इस प्रकार यदि **क** और **ख** कोई दो धन पूर्ण संख्याएँ हैं तो या तो **क**=**ख**, या **क** > **ख** या **क** < **ख**।

धन पूर्ण संख्याओं में यह गुण है कि किन्हीं दो या दो से अधिक ऐसी संख्याओं का योग धन पूर्ण संख्या ही होता है, अर्थात् यदि **क** और **ख** दो धन पूर्ण संख्याएँ हैं तो एक ऐसी धन पूर्ण संख्या **ग** अवश्य है कि **क**+**ख**=**ग**। स्पष्ट है कि **ग** > **क**।

यदि **क**+**ख**=**ग**, और संख्याएँ **क** और **ग** दी हुई हैं तो **ख** का मान **ग** से **क** को घटाकर ज्ञात किया जाता है। इस क्रिया को व्यवकलन कहते हैं और लिखते हैं **ख**=**ग**−**क**। चिह्न − को ऋण पढ़ा जाता है।

पूर्वोक्त नियमों से स्पष्ट है कि एक से अधिक संख्याएँ चाहे जिस क्रम से जोड़ी जायँ, उनके योगफल में कोई अंतर नहीं पड़ता। अतएव ४+४+४ के समान पुनरागत योग को ४×३ लिख सकते है, जहाँ संख्या ३ यह बताती है कि ४ कितनी बार लिया गया है। इसे ४ गुणित ३ कहते हैं और इस क्रिया को गुणन, अर्थात् गुणा करना, कहते हैं। ४×३ के परिणाम को गुणनफल कहते हैं। इसमें संख्या ४, जो बार बार जोड़ी गई संख्या है, गुण्य है; और संख्या ३, अर्थात् जितनी बार ४ जोड़ा गया है, गुणक है।

यदि हम संख्याओं को संकेताक्षरों से प्रकट करें तो गुणनफल **क**×**ख** को प्रायः **क**.**ख** या केवल **कख** लिखा जाता है।

योग की भाँति ही गुणन क्रिया के लिये निम्नलिखित नियम ठीक हैं :

१. गुणन का क्रमविनिमेय नियम : **क**×**ख**= **ख**×**क** ;
२. गुणन का साहचर्य नियम : **क**(**ख**×**ग**)=(**क**×**ख**)**ग** ।

पहले नियम की सत्यता की जाँच के लिये **क** पंक्तियों में से प्रत्येक में **ख** गोलियाँ इस प्रकार रखें कि सब पंक्तियों की पहली गोलियाँ एक सीध में रहें, दूसरी गोलियाँ एक सीध में, इत्यादि। इस प्रकार ख स्तभ मिलेंगे, जिनमें से प्रत्येक में **क** गोलियाँ हैं। स्तंभों के हिसाब से कुल गोलियों की संख्या **क**×**ख** है और पंक्तियों के हिसाब से **ख**×**क**; किंतु गोलियाँ कुल मिलकर दोनों बार उतनी ही है; इसलिये **क**×**ख**=**ख**×**क**।

दूसरे नियम की सत्यता की जाँच के लिये **ख** समूहों में से प्रत्येक में **ग** स्तंभ रहें और प्रत्येक स्तंभ में **क** गोलियाँ। ये समूह एक के नीचे एक रखे जायँ। इस प्रकार **ग** स्तंभ बनेंगे और प्रत्येक में **क**×**ख** गोलियाँ रहेंगीं। इससे प्रत्यक्ष है कि कुल गोलियों की सख्या (**क**×**ख**)×**ग** है। अब ये समूह इस प्रकार रखे जायँ कि इनकी पहली पंक्तियाँ सब एक सीध में रहें, उनके नीचे सब समूहों की दूसरी पंक्तियाँ एक सीध में रहें, इत्यादि। इस प्रकार प्रत्येक पंक्ति में सब समूहों को मिलाकर **ख**×**ग** गोलियाँ रहेंगी और उन गोलियों की ऐसी पंक्तियाँ **क** होंगी। इसलिये अब गोलियों की संख्या=**क**×(**ख**×**ग**)। गोलियों की संख्या वही रहती है; इसलिये **क**×(**ख**×**ग**)=(**क**×**ख**)×**ग**।

इन दो नियमों के अतिरिक्त गुणन क्रिया के लिये निम्नांकित नियम भी हैं :

३. वितरण नियम : (**क**+**ख**)**ग** = **कग** + **खग**;

इसकी सत्यता की जाँच गोलियों से पूर्ववत् की जा सकती है। अन्य नियम घात संबंधी है। जिस प्रकार **च** बार पुनरागत योग **क**+**क**+...+**क** को **चक** लिखा जाता है, उसी प्रकार **च** बार पुनरागत गुणनफल **क**×**क**×...×**क** को **क**^{च} लिखा जाता है। **च** को घातांक या केवल घात और **क** को आधार कहते है। परिभाषा से घात संबंधी निम्नलिखित नियमों की सत्यता स्पष्ट है :

४. **क**^{म}×**क**^{स}=**क**$^{म+स}$;

५. (**क**^{म})^{स}=**क**^{मस};

६. **क**^{म}**ख**^{म}=(**कख**)^{म}।

यदि **क** और **ख** कोई दो धन पूर्ण संख्याएँ हैं तो **क**×**ख** भी कोई धन पूर्ण संख्या **ग** होगी। यदि **ग** ऐसी संख्या दी हुई है जो दो संख्याओं के गुणनफल के बराबर है और उनमें से एक संख्या क ऐसी ज्ञात है जो शून्य से भिन्न है, तो दूसरी संख्या **ख** का मान **ग** को **क** से विभाजित करने पर प्राप्त होता है। हम लिखते है :

ख=**ग**÷**क**, अथवा $\frac{ग}{क}$, अथवा **ग**/**क**।

चिह्न ÷ को भाग का चिह्न कहते हैं और भाजित पढ़ते हैं। चिह्न / को बटा या बटे पढ़ते हैं। उदाहरणतः, ८ भाजित ४ (अर्थात् ८÷४)=२ ; अथवा ८ बटे ४ (अर्थात् ८/४)=२।

विभाजन के लिये घात संबंधी नियम यह है :

७. **क**^{म}÷**क**^{स}=**क**$^{म-स}$, जहाँ **म**>**स**।

परिभाषा से इसकी सत्यता की जाँच करना सरल है।

भाजक सिद्धांत—यदि तीन धन पूर्ण संख्याओं **क**, **ख**, **ग** में संबंध **कख**=**ग** है, तो **क** और **ख** को **ग** के भाजक अथवा गुणनखंड कहते हैं। कभी कभी इतना कहना पर्याप्त समझा जाता है कि **क**, **ग** को विभाजित करता है। **ग**, **क** का अपवर्त्य अथवा गुणज कहलाता है, और **क**, **ग** का अपवर्तक। संख्या १ एकक कहलाती है और स्पष्ट है कि यह प्रत्येक पूर्ण संख्या का भाजक है तथा प्रत्येक संख्या स्वयं अपना भाजक है। यदि **ग**=**कख**, और **क** तथा **ख** में से प्रत्येक १ से बड़ी है, तो **ग** को संयुक्त संख्या कहते हैं, अन्यथा अभाज्य संख्या। उदाहरणतः, २, ३, ५, ७, ११, १३, अभाज्य संख्याएँ हैं। यूक्लिड ने एलिमेंट्स, खंड ६, साध्य २०, में सिद्ध कर दिया है कि अभाज्य संख्याएँ गिनती में अनंत हैं। उसने यह भी सिद्ध किया था कि प्रत्येक संयुक्त संख्या को अभाज्य संख्याओं के गुणनफल के रूप में प्रदर्शित करने की, उनके क्रम में हेर फेर को छोड़कर, केवल एक ही विधि है।

धन पूर्ण संख्याओं **क**$_{१}$, **क**$_{२}$, ..., **क**$_{न}$ के समान प्रत्येक परिमित संघ के लिये एक ऐसी सबसे बड़ी पूर्ण संख्या **म** रहती है जिससे संघ की प्रत्येक सख्या पूरी पूरी विभाजित हो सकती है। इस संख्या को महत्तम-समापवर्तक (म० स०) कहते है। यदि **म**=१, तो संख्याएँ एक दूसरे के सापेक्ष अभाज्य कहलाती है। प्रत्येक संख्यासंघ के लिये सबसे छोटी एक ऐसी संख्या भी होती है जो सघ की प्रत्येक संख्या से विभाज्य होती है। इस संख्या को लघुतम समापवर्त्य (ल०स०) कहते है। म०स० और ल०स० ज्ञात करने की एक विधि में संख्याओं को अभाज्य संख्याओं के गुणनफलों के रूप में प्रकट करना होता है (विधि का वर्णन अंकगणित की प्रायः सभी पुस्तकों में मिल जायगा)। उदाहरण के लिये यदि संख्याएँ २५२, ४२०, ११७६ हों, तो २५२=२^{२}.३^{२}.७, ४२०=२^{२}.३.५.७, ११७६=२^{३}.३.७^{२}। इसलिये इनका म०स०=२^{२}.३.७=८४ है और ल०स०=२^{३}.३^{२}.५.७^{२}=१७,६४०। दो संख्याओं का, बिना उनके गुणनखंड किए, म०स० ज्ञात करने की एक विधि विभाजन की है। इसमे पहले छोटी संख्या से बड़ी संख्या को भाग दिया जाता है, फिर शेष से छोटी को, अर्थात् पूर्वगामी भाजक को; यही क्रम तब तक चलता रहता है जब तक शेष शून्य न आ जाय। अंतिम भाजक अभीष्ट म०स० है। इस विधि का आविष्कार भी यूक्लिड ने किया था। उदाहरणार्थ, २५२, ४२० के लिये क्रिया यह होगी :

```
२५२)४२०(१        १६८)२५२(१        ८४)१६८(२
    २५२              १६८             १६८
    ---              ---             ---
    १६८               ८४               ०
```

इस प्रकार अभीष्ट म०स० ८४ है। संक्षिप्त रूप में इसे इस प्रकार लिख सकते है :

२५२	४२०	१
१६८	२५२	१
८४	१६८	२
	१६८	
	×	

अंतिम और प्रथम स्तंभों में क्रमानुसार भागफल और भाजक हैं।

दो संख्याओं का गुणनफल उनके म०स० और ल०स० के गुणनफल के बराबर होता है। म०स० ज्ञात होने पर, इस नियम से, उन संख्याओं का बिना गुणनखंड किए ल०स० ज्ञात किया जा सकता है।

साधारण भिन्न—भिन्न $\frac{१}{क}$ का अर्थ है वह संख्या जिसको क से गुणा करने पर १ प्राप्त होता है। यहाँ **क** कोई धन पूर्ण संख्या है। **ग**×$\frac{१}{क}$ को $\frac{ग}{क}$ अथवा **ग**/**क** भी लिखते हैं। **ग**/**क** को साधारण भिन्न कहते हैं। इसे वह भागफल माना जा सकता है जो ग को **क** से भाग देने पर मिलता है। **ग** और **क** भिन्न के दो अवयव हैं। **ग** को अंश (न्यूमरेटर) और क को हर (डिनामिनेटर) कहते हैं। जब **ग**<**क**, तो **ग**/**क** को उचित भिन्न कहते हैं, अन्यथा अनुचित भिन्न। जब **ग** और **क** परस्पर अभाज्य हों, अर्थात् ऐसी कोई संख्या न हो जो दोनों को विभाजित कर सके, तो भिन्न **ग**/**क** का रूप लघुतम पदोंवाला कहा जाता है। भिन्नों के योग, व्यवकलन, गुणन, भाजन, आदि के लिये **भिन्न** शीर्षक लेख देखें।

अपरिमेय संख्याएँ—पूर्ण संख्याओं और साधारण भिन्नों को परिमेय संख्या कहते हैं। जो संख्या पूर्ण न हो और साधारण भिन्न के रूप में प्रकट न की जा सके वह अपरिमेय संख्या कहलाती है, जैसे $\sqrt{२}$, π। इनका विवेचन **संख्या** नामक लेख में मिलेगा।

दशमलव पद्धति—प्रचलित संख्यापद्धति को, जिसमें एक सौ तेईस को १२३ लिखा जाता है, दशमलव पद्धति कहते हैं। CXXIII दशमलव पद्धति में नहीं है, रोमन पद्धति में है। दशमलव पद्धति अपनाने पर ही अंकगणित की चारों क्रियाओं की सरल विधियाँ प्रयोग में आने लगीं। (इस पद्धति का, तथा अन्य पद्धतियों का, विवरण **संख्यांक पद्धतियाँ** शीर्षक लेख

में मिलेगा।) दशमलव पद्धति में संख्या को वस्तुतः १० के घातों की सहायता से व्यंजित किया जाता है। उदाहरणतः,

$$\cdot ३४६७ = ३.१०^{१} + ४.१०^{२} + ६.१० + ७ ।$$

प्रत्येक घात का गुणांक ० से ९ तक (इन दस संख्याओं) में से कोई भी हो सकता है। बड़ी संख्याओं को एकक स्थान के अंक से आरंभ कर तीन तीन अंकों के आवर्तकों में बाँटने की प्रथा पाश्चात्य है। भारतीय प्रथा में एकक अंक से आरंभ कर पहले तीन अंकों का एक आवर्तक और बाद में दो दो अंकों के आवर्तक बनाए जाते हैं। उदाहरणतः, २३०६४७२ को पाश्चात्य प्रथा के अनुसार २,३०६,४७२ लिखते हैं; भारतीय प्रथा में २३,०६,४७२। ऐसा करने का कारण स्पष्ट है। भारतीय गणना में सौ हजार का एक लाख, सौ लाख का १ करोड़, इत्यादि होता है। पाश्चात्य प्रथा में १० लाख को एक मिलियन कहते हैं।

अमरीका और फ्रांस में हजार मिलियन (एक अरब) को बिलियन कहते हैं, परंतु इंगलैंड में मिलियन मिलियन (=दस खरब) को बिलियन कहते हैं।

इस दशमलव पद्धति के प्रयोग द्वारा वे भिन्नें भी लिखी जा सकती हैं जिनका हर १० का कोई घात हो; यथा :

$$\frac{३५७०६४}{१००००} = ३५\cdot७०६४$$

$$= ३५ + ७ \times १०^{-१} + ० \times १०^{-२} + ६ \times १०^{-३} + ४ \times १०^{-४},$$

अर्थात् दशमलव बिंदु के दाईं ओर के पहले अंक को $१०^{-१}$ से गुणा करके दशमलव के बाईं ओर की पूर्ण संख्या में जोड़ना होता है। दूसरे को $१०^{-२}$ से गुणा कर पहले के योग में जोड़ते हैं और इसी प्रकार अन्य अंकों को भी गुणा करके जोड़ना पड़ता है।

दशमलव में योग और व्यवकलन—दशमलव पद्धति में योग ज्ञात करने की निम्नांकित पद्धति अब प्रायः सर्वमान्य है। संख्याओं को एक के नीचे एक इस प्रकार लिखना चाहिए कि दशमलव बिंदु सब एक स्तंभ में अर्थात् एक के नीचे एक रहें। इस प्रकार एकक के सभी अंक एक स्तंभ में पड़ेंगे, दहाई के स्थानवाले अंक एक अन्य स्तंभ में, इत्यादि; उदाहरणतः ५३·७६, २३६·०८१, ४०८·३४६ का योग यों निकलेगा :

```
  ५३·७६
 २३६·०८१
 ४०८·३४६
 --------
 ६९८·१८७
```

स्पष्ट है कि दशमलवों का योग साधारण जोड़ने के समान ही है। ऊपर की क्रिया वस्तुतः निम्नलिखित का संक्षिप्त रूप है :

$$५ \times १० + ३ + ७ \times १०^{-१} + ६ \times १०^{-२}$$
$$२ \times १०^{२} + ३ \times १० + ६ + ० \times १०^{-१} + ८ \times १०^{-२} + १ \times १०^{-३}$$
$$४ \times १०^{२} + ० \times १० + ८ + ३ \times १०^{-१} + ४ \times १०^{-२} + ६ \times १०^{-३}$$
$$= ६ \times १०^{२} + ८ \times १० + १७ + १० \times १०^{-१} + १८ \times १०^{-२} + ७ \times १०^{-३}$$
$$= ६ \times १०^{२} + ९ \times १० + ८ + १ \times १०^{-१} + ८ \times १०^{-२} + ७ \times १०^{-३}$$

व्यवकलन के लिये पूर्वोक्त क्रिया को उलटना होता है। बड़ी संख्या को ऊपर और छोटी को नीचे इस प्रकार लिखना चाहिए जिसमें दशमलव बिंदु एक दूसरे के नीचे रहें; फिर साधारण रीति से घटाना चाहिए। शेष में दशमलव बिंदु को ऊपर लिखी संख्याओं के दशमलव बिंदुओं के ठीक नीचे रखना चाहिए, जैसा बगल में दिखाया गया है।

```
 ३२७·१
  ८०·२४
 ------
 २४६·८६
```

गुणा करने की विधि वितरण नियम पर आधारित है और अंकगणित की अधिकांश पुस्तकों में इसका वर्णन मिल जायगा।

यदि दो दशमलव संख्याओं का संनिकट गुणनफल, मान लें २ दशमलव स्थानों तक शुद्ध, ज्ञात करना है, तो सुगमता इसमें है कि इनमें से एक संख्या का (जिसे गुणक कहेंगे) दशमलव बाईं ओर या दाहिनी ओर हटाकर उस संख्या को १ और १० के बीच में लाया जाय, फिर उतने ही स्थान विपरीत दिशा में दूसरी संख्या का (जिसे गुण्य कहेंगे) दशमलव भी हटाया जाय तब गुण्य के तीसरे दशमलव स्थान से गुणक के एककवाले अंक का गुणा आरंभ करना चाहिए। गुणक के दशमांशवाले अंक से गुण्य के दशमलव के दूसरे स्थान से गुणा आरंभ करना चाहिए, इत्यादि। जिस अंक से गुणा करना आरंभ किया जाय उसके दाहिनी ओरवाले अंक से गुणा करके हाथ लगनेवाली संख्या ले लेनी चाहिए। यह क्रिया निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी :

४२४·३३६४३ × १२·७३२ = ४२४३·३६४३ × १·२७३२

```
 ४२४३·३६४३   गुण्य
    १·२७३२   गुणक

 ४२४३·३६४
  ८४८·६७३
  २९७·०३५
   १२·७३०
     ·८४९
 --------
 ५४०२·६५
```

दशमलव बिंदु के बाद आनेवाले स्थान में १ हो तो वह वस्तुतः १/१० के बराबर है, उसके बादवाले स्थान में १ हो तो वह वस्तुतः १/१०० के बराबर है, इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि दशमलव अंक के बाद बहुत से अंकों के रखने की आवश्यकता व्यवहार में नहीं पड़ती, क्योंकि अंकों का मान उत्तरोत्तर शीघ्रता से घटता जाता है। इसीलिये बहुधा दशमलव के पश्चात् दूसरे, तीसरे या चौथे स्थान के बाद के सब अंक छोड़ दिए जाते हैं; परंतु यदि छोड़े हुए अंकों में से पहला अंक ५ या ५ से बड़ा हो तो रखे गए अंकों में से अंतिम अंक में १ जोड़ दिया जाता है, क्योंकि तब उत्तर अधिक शुद्ध हो जाता है।

एक पंक्ति में गुणन—जो व्यक्ति मौखिक योग में प्रवीण हो, वह एक पंक्ति में दो संख्याओं का गुणनफल निकाल सकता है। मान लें दशमलव पर ध्यान न देते हुए गुण्य में एकक के स्थान में अंक $क_१$ है, दहाई (दशम) के स्थान में $क_२$, इत्यादि, और गुणक में इन स्थानों के अंक क्रमानुसार $ख_१$, $ख_२$, इत्यादि हैं। मान लें :

$$क_१ ख_१ = १० ह_१ + ग_१,$$
$$क_१ ख_२ + क_२ ख_१ + ह_१ = १० ह_२ + ग_२,$$
$$क_१ ख_३ + क_२ ख_२ + क_३ ख_१ + ह_२ = १० ह_३ + ग_३,$$

इत्यादि, जहाँ $ग_१$, $ग_२$, ... प्रत्येक १० से कम है; तो गुणनफल के एकक के स्थान में $ग_१$, दहाई के स्थान में $ग_२$, सैकड़े के स्थान में $ग_३$ ... होंगे। वास्तविक प्रक्रिया में सुगमता इसमें होती है कि गुणक को उलटकर लिख लिया जाय। तब समांतर रेखाओं में स्थित अंकों के मौखिक गुणनफलों का योग ज्ञात करना होता है :

उदाहरणतः ३४६०८ को ५३८७ से गुणा करने में क्रिया इतनी लिखी जायगी :

```
   ३४६०८
   ७,८,३,५
 ---------
 १८६४३३२९६
```

यहाँ गुणनफल का अंक २ योग ७×६+८×०+३×८+ हासिल के ६ का एककवाला अंक है। अंत में गुणनफल में दशमलव इस प्रकार लगाया जाता है कि उसके दाहिनी ओर उतने ही अंक रहें जितने गुणक और गुण्य में मिलकर हों।

एक दशमलव संख्या में दूसरी संख्या का भाग देने में सुविधा इसमें होती है कि भाजक से दशमलव हटा दिया जाय और भाज्य में दशमलव को भी उतने ही स्थान तक दाईं ओर हटा दिया जाय। इसके बाद साधारण रीति से भाग की क्रिया की जाती है। भागफल में दशमलव उस अंक के बाद लगेगा जो भाज्य में एककवाले स्थान के अंक को उतारकर भाग देने पर मिलता है।

क्रिया निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी :

६३८·०२ ÷ ७३·१ = ६३८० २ ÷ ७३१

स्पष्ट है कि शेष में दशमलव बिंदु को एकक स्थान से उतने ही स्थान बाईं ओर हटकर लगाना चाहिए जितने दशमलव स्थान पर अंतिम उतारा हुआ अंक मूल भाज्य में था। यहाँ अंतिम उतारा हुआ अंक २ मूल भाज्य में दूसरे दशमलव स्थान पर था। अतएव शेष २·०५ है।

```
 ७३१)६३८०·२(८·७
     ५८४८
     -----
      ५३२२
      ५११७
      -----
       २०५
```

उपर्युक्त क्रिया में भाज्य में २ के आगे इच्छानुसार शून्य बढ़ाकर भाग फल इच्छानुसार दशमलवों तक ज्ञात किया जा सकता है।

वर्गमूल—वर्गमूल ज्ञात करने की क्रिया निम्नलिखित सूत्र पर आधारित है :

$$(क+ख)^{२}=(क+२ख)क+ख^{२}$$

दी हुई संख्या के दशमलव स्थान से आरंभ कर बाईं ओर और दाहिनी ओर दो दो अंकों के जोड़े बना लें। अब संख्या के बाएँ सिरे पर प्रथम खंड या तो एक पूरा जोड़ा होगा या केवल एक अंक। १ से ९ तक के वर्गों की सारणी से देखें कि यह खंड किन संख्याओं के वर्गों के बीच में है। छोटी संख्या को वर्गमूल में लिखें। इसके वर्ग को खंड से घटाएँ और शेष के आगे दूसरा खंड उतारें; यह दूसरा भाज्य है। भाजक के लिये अब तक प्राप्त वर्गमूल का दूना लिखें और देखें कि उसके आगे दीर्घतम कौन सा अंक **ब** बढ़ाया जाय कि बढ़ाने पर प्राप्त भाज्य का **ब** गुना दूसरे भाज्य से कम रहे। इस प्रकार वर्गमूल का दूसरा अंक **ब** हुआ। इसी प्रकार अन्य अंक ज्ञात करें। यह क्रिया ऊपर बगल में दिखाए गए उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी जिसमें ३२५.६४९ का वर्गमूल ज्ञात किया गया है।

```
   १)   ३२५६४९०(१८.०४
         १
  २८)   २२५
        २२४
 ३६०)    १६४
          ०
३६०४)   १६४९०
        १४४१६
         २०७४
```

इसके बाद हम २०७४०० को ३६०४ से भाग दे सकते हैं।

वर्गमूल निकालने की रीति से मिलती जुलती रीति द्वारा घनमूल भी ज्ञात किया जा सकता है, किंतु लघुगणकों (लॉगैरिथ्म्स) के प्रयोग से सभी मूल सरलता से ज्ञात हो जाते हैं (नीचे देखें)। लघुगणक सारणी उपलब्ध न होने पर हार्नर या न्यूटन की विधि से भी मूल ज्ञात किए जा सकते हैं (देखें **समीकरण सिद्धांत**)।

लघुगणक—यदि क तथा अ धन संख्याएँ हैं और $अ^{ल}=क$, तो ल को आधार अ के सापेक्ष क का लघुगणक कहते हैं, और क को ल का प्रतिलघुगणक। लिखते हैं : $ल=लघु_{अ}\,क$। जब अ=१० तब साधारण लघुगणक प्राप्त होते हैं, और यदि अ=ई(=२.७१८२८...) तो नेपिरीय लघुगणक मिलते हैं। साधारण लघुगणकों की मुद्रित सारणियाँ बिकती हैं। सूत्र लघु (क×ख)=लघु क+लघु ख के प्रयोग से गुणनक्रिया योगक्रिया में परिवर्तित हो जाती है, क्योंकि यदि गुणनफल **कख** ज्ञात करना है तो लघु **क** और लघु **ख** के योग से लघु (**कख**) प्राप्त होता है और इसका प्रतिलघुगणक अभीष्ट गुणनफल **कख** है। यहाँ सब लघुगणकों का आधार १० है। विशेष जानकारी के लिये **लघुगणक** शीर्षक लेख देखें।

ऐकिक नियम—यदि किसी प्रकार की एक वस्तु के लिये कोई राशि (तौल, मूल्य, आदि) **ख** हो, तो उसी प्रकार की **क** वस्तुओं के लिये यह राशि **ख** को **क** से गुणा करने पर प्राप्त होती है। विलोमतः, इसी नियम से यदि **क** समान वस्तुओं के लिये संमिलित राशि **स** हो तो प्रत्येक के लिये वह राशि **स/क** होगी। इन नियमों के आधार पर **क** वस्तुओं का मूल्य आदि ज्ञात रहने पर हम **ख** वस्तुओं का मूल्य आदि ज्ञात कर सकते हैं। इस क्रिया में लगनेवाले नियमों को ऐकिक नियम कहते हैं। यह नाम इसलिये पड़ा कि इस रीति में पहले एक वस्तु के लिये उपयुक्त राशि ज्ञात करनी होती है।

त्रैराशिक—यदि **क** वस्तुओं का मूल्य **ख** है तो **ग** वस्तुओं का मूल्य कितना होगा, ऐसे प्रश्नों को त्रैराशिक के नियम से भी हल किया जा सकता है। नियम का नाम त्रैराशिक इसलिये पड़ा कि इसमें **क, ख, ग**, ये तीन राशियाँ आती हैं। त्रैराशिक नियम का आविष्कार भारतीयों ने किया। ब्रह्मगुप्त तथा भास्कर ने ही वस्तुतः इसको त्रैराशिक नाम दिया। शताब्दियों तक व्यापारियों के लिये यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण नियम रहा। अंकगणित के यूरोपीय लेखक पहले पर्याप्त विस्तार से इस नियम की व्याख्या करते थे। यह नियम समानुपात के सिद्धांत पर आश्रित है। इसे विस्तारपूर्वक समझाने के लिये यहाँ पर्याप्त स्थान नहीं है। केवल भास्कर की लीलावती से एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है :

यदि ढाई पल केशर का मूल्य ३/७ निष्क है तो ९ निष्क कितनी केशर का मूल्य होगा ? त्रैराशिक नियम से उत्तर $=९\times\frac{५}{२}/\frac{३}{७}=५२\frac{१}{२}$ पल।

भास्कर ने पंचराशिक, सप्तराशिक आदि नियम भी बताए हैं।

अनुपात—भिन्न **क / ख** को **क** और **ख** का अनुपात, अथवा **क** का **ख** से अनुपात भी कह सकते हैं और अनुपात को **क : ख** के रूप में भी लिखते हैं। चार संख्याएँ **क, ख, ग, घ** तब समानुपात में कही जाती हैं जब **क : ख** = **ग : घ**। समानुपात को **क : ख : : ग : घ** भी लिखते हैं। **क, घ** समानुपात के अंतिम पद और **ख, ग** मध्य पद हैं। स्पष्ट है कि **क×घ=ख×ग**। तीन संख्याएँ **क, ख, ग** तब गुणोत्तर अनुपात में कही जाती हैं जब **क : ख : : ख : ग**, अर्थात **कग=ख²**।

गणनायंत्र—अंकगणितीय अभिगणना के लिये अब भाँति भाँति के गणनायंत्र बन गए हैं जिनसे जटिल अभिगणनाएँ भी शीघ्र हो जाती हैं। इनका विस्तृत विवरण **गणनायंत्र** नामक लेख में मिलेगा।

सं०ग्रं०—निकोमेकस ऑव गेरेसा : इंट्रोडक्शन टु अरिथमेटिक, अनुवादक एम० एल० डी'ओग और एफ़० ई० रॉबिंस; एल० सी० कार्पिस्की : स्टडीज़ इन ग्रीक अरिथमेटिक (यूनिवर्सिटी ऑव मिशिगन प्रेस) १९३८; डी० ई० स्मिथ : ए सोर्स-बुक इन मैथिमैटिक्स; विभूतिभूषण दत्त और अवधेशनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑव हिंदू मैथिमैटिक्स; एच० डी० लारसेन : अरिथमेटिक फ़ॉर कॉलेजेज़। [ह० चं० गु०]

अंकारा

अंकारा तुर्की (टर्की) की राजधानी; स्थिति : ३९° ५७' उ० अ० और ३२° ५३' पू० दे०। अंकारा नगर तुर्की के मध्यवर्ती पठार के उत्तरी भाग के मध्य में, निकटवर्ती क्षेत्र से ५०० फुट ऊँची पहाड़ी पर, स्थित है। इस नगर का धरातल समुद्रतल से २,८५४ फुट की ऊँचाई पर है। यह सकरया नदी की सहायक अंकारा नदी के बाएँ किनारे पर इस्तंबूल से २२० मील पूर्व की ओर है। प्राचीन काल में यह मध्य पठार के उत्तरी क्षेत्र की राजधानी था। सन् १९२२ में मुस्तफा कमालपाशा के नेतृत्व में एक क्रांति हुई और राजधानी इस्तंबूल से अंकारा लाई गई जो तुर्की के मध्य में पड़ता है और सुरक्षा की दृष्टि से अपेक्षाकृत उत्तम स्थिति में है। यह तुर्की का दूसरा बड़ा शहर है। १९५० के अंत में यहाँ की जनसंख्या २,८६,७८१ थी। बगदाद-संधि-संगठनवाले देशों का प्रमुख कार्यालय भी अब यहाँ आ गया है।

अंकारा रेलों का केंद्र है। रेल द्वारा यह तुर्की के अन्य प्रमुख नगरों से, उदाहरणतः जान गुलडक, केसरी, अदाना, इस्तंबूल तथा इज़मिर से, मिला है। हवाई मार्ग इसे तेहरान, बेरुत और लंदन से मिलाते हैं।

अंकारा के आसपास के क्षेत्रों में चाँदी, ताँबा, लिगनाइट, कोयला तथा नमक पाया जाता है। यह समीपस्थ जंगलों, चरागाहों और खेतों की उपजों के व्यापार का प्रमुख केंद्र है। यहाँ के पठार का अंगोरा बकरा जगत्प्रसिद्ध है। देश के औद्योगिक विकास के साथ साथ यहाँ भी कई नए कारखाने खुले हैं, जिनमें कपड़े की मिलें, ऊनी कालीन, इंजीनियरिंग के सामान, हथियार, तंबाकू तथा सिगरेट के कारखाने मुख्य हैं। अंकारा एक बड़ा बाजार है। यहाँ ऊन, मोहेअर (अंगोरा बकरे का ऊन), अनाज, फल, शहद, चमड़ा तथा कालीन का व्यापार होता है। [ल० कि० सिं० चौ०]

अंकुशकृमि

अंकुशकृमि (हुकवर्म) बेलनाकार छोटे छोटे भूरे रंग के कृमि होते हैं। ये अधिकतर मनुष्य के क्षुद्र अंत्र (स्माल इंटेस्टाइन) के पहले भाग में रहते हैं। इनके मुँह के पास एक कँटिया सा अवयव होता है; इसी कारण ये अंकुशकृमि कहलाते हैं। इनकी दो जातियाँ होती हैं, नेकटर अमेरिकानस और एन्क्लोस्टोम डुओडिनेल। दोनों ही प्रकार के कृमि सब जगह पाए जाते हैं। नाप में मादा कृमि १० से लेकर १३ मिलीमीटर तक लंबी और लगभग ०.६ मिलीमीटर व्यास की होती है। नर (चित्र ६) थोड़ा छोटा और पतला होता है। मनुष्य के अंत्र में पड़ी मादा कृमि (चित्र ७) अंडे देती है जो विष्ठा के साथ बाहर निकलते हैं। भूमि पर विष्ठा में पड़े हुए अंडे (चित्र १) ढोलों (लार्वी) में परिणत हो जाते हैं (चित्र २), जो केंचुल बदलकर छोटे छोटे कीड़े बन जाते हैं। किसी व्यक्ति का पैर पड़ते ही ये कीड़े उसके पैर की अंगुलियों के बीच की नरम त्वचा को या बाल के सूक्ष्म छिद्र को छेदकर शरीर में प्रवेश कर जाते

हैं। वहाँ रुधिर या लसीका की धारा में पड़कर वे हृदय, फेफड़े और वायुप्रणाली में पहुँचते है और फिर ग्रासनलिका तथा आमाशय में होकर अंतड़ियों में पहुँच जाते है (चित्र ४-५)। गंदा जल पीने अथवा संक्रमित भोजन करने से भी ये कृमि अंत्र में पहुँच जाते है। वहाँ पर तीन या चार सप्ताह के पश्चात् मादा अंडे देने लगती है। ये कृमि अपने अंकुश से अंत्र की भित्ति पर अटके रहते है और रक्त चूसकर अपना भोजन प्राप्त करते है। ये कई महीने तक जीवित रह सकते हैं। परंतु साधारणतः एक व्यक्ति में बारबार नए कृमियों का प्रवेश होता रहता है और इस प्रकार कृमियों का जीवनचक्र और व्यक्ति का रोग दोनों ही चलते रहते है।

अंकुशकृमि का जीवन चक्र

१. मनुष्य की विष्ठा में अंडे; २. प्रत्येक अंडे से छोटा कीड़ा निकलता है; ३. कुछ कीड़े किसी मनुष्य के पैर की अँगुलियों के बीच की कोमल त्वचा को छेदकर उसके शरीर में घुसते है; ४-५. रुधिर या लसीका की धारा में पड़कर वे फेफड़े में पहुँचते है, और वहाँ से आमाशय में; ६-७ नर और मादा अंकुशकृमि; ८. अंडे विष्ठा के साथ बाहर निकलते है। क, ड : रीढ़; ख : ग्रासनली; ग, झ : फुफ्फुस; छ : आमाशय; ज : हृदय; ट, ठ : धमनी।

इस रोग का विशेष लक्षण रक्ताल्पता (ऐनीमिया) होता है। रक्त के नाश से रोगी पीला दिखाई पड़ता है। रक्ताल्पता के कारण रोगी दुर्बल हो जाता है। मुँह पर कुछ सूजन भी आ जाती है। थोड़े परिश्रम से ही वह थक जाता और हाँफने लगता है। यदि कृमियों की संख्या कम होती है तो लक्षण भी हलके होते हैं। रोग बढ़ जाने पर हाथ पैर में भी सूजन आ जाती है। यह सब रक्ताल्पता का परिणाम होता है। रोग का निदान ऊपर लिखित लक्षणों से होता है। रोगी के मल की जाँच करने पर मल में कृमि के अंडे मिलते हैं जिससे निदान का निश्चय हो जाता है।

चिकित्सा—इस रोग के उपचार के लिये निम्नलिखित ओषधियाँ श्रेष्ठ हैं: (१) टेट्राक्लोर एथिलीन और (२) हेक्साइल रिसोर्सिनोल। इसके अतिरिक्त थाइमोल एवं आयल आव् चिनोपोडियम भी दिए जा सकते हैं। ये सब ओषधियाँ जुलाब से पेट खाली कराकर दी जाती हैं। यदि खुजली होती हो और फुंसियाँ हो जायँ तो एथिल क्लोराइड की फुहार (स्प्रे) से लाभ होता है।

हमारे देश के देहातों में लोग मलत्याग के लिये खेतों में जाते हैं और अधिकतर ग्रामीण नंगे पैर रहते हैं। इस कारण इस रोग से बचने के उपायों का भी प्रचार करना आवश्यक है। ये निम्नलिखित हैं:

(१) लोगों को जूता पहनना चाहिए; (२) मलत्याग के लिये गहरे संडास, पूतिकुंड (सेप्टिक टैंक) या मल बहाने के नल का प्रवंध करना चाहिए; (३) रोगग्रस्त व्यक्तियों के पूर्ण उपचार का प्रबंध होना चाहिए और लोगों में रोग उत्पन्न होने तथा फैलने के कारणों का ज्ञान कराना चाहिए।

[ह० बा० मा०]

अंग १. एक प्राचीन जनपद जो बिहार राज्य के वर्तमान भागलपुर और मुंगेर जिलों का समवर्ती था। अंग की राजधानी चंपा थी। आज भी भागलपुर के एक मुहल्ले का नाम चंपानगर है। महाभारत की परंपरा के अनुसार अंग के बृहद्रथ और अन्य राजाओं ने मगध को जीता था, पीछे बिंबिसार और मगध की बढ़ती हुई साम्राज्यलिप्सा का वह स्वयं शिकार हुआ। राजा दशरथ के मित्र लोमपाद और महाभारत के अंगराज कर्ण ने वहाँ राज किया था। बौद्ध ग्रंथ 'अंगुत्तरनिकाय' में भारत के बुद्धपूर्व सोलह जनपदों में अंग की गणना हुई है। [भ० श० उ०]

२. व्युत्पत्ति के अनुसार 'अंग' शब्द का अर्थ उपकारक होता है। अतः जिसके द्वारा किसी वस्तु का स्वरूप जानने में सहायता प्राप्त होती है, उसे भी 'अंग' कहते है। इसीलिये वेद के उच्चारण, अर्थ तथा प्रतिपाद्य कर्मकांड के ज्ञान में सहायक तथा उपयोगी शास्त्रों को वेदांग कहते है। इनकी संख्या छह है। १. शब्दमय मंत्रों के यथावत् उच्चारण की शिक्षा देनेवाला अंग 'शिक्षा' कहलाता है; २. यज्ञों के कर्मकांड का प्रयोजक शास्त्र 'कल्प' माना जाता है जो श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र के भेद से तीन प्रकार का होता है; ३. पद के स्वरूप का निर्देशक 'व्याकरण'; ४. पदों की व्युत्पत्ति बतलाकर उनका अर्थनिर्णायक 'निरुक्त'; ५. छंदों का परिचायक 'छंद'; तथा ६. यज्ञ के उचित काल का समर्थक 'ज्योतिष'। [ब० उ०]

अंगद किष्किंधा के वानरराज बालि और तारा का पुत्र जो रामायण के परंपरानुसार वानर था और राम की ओर से रावण से लड़ा था। उसने रावण की सभा में चरण रोपकर प्रतिज्ञा की थी कि यदि रावण का कोई योद्धा मेरा चरण हटा देगा तो मैं सीता को हार जाऊँगा। बहुत प्रयत्न करने पर भी रावण के योद्धा उसका चरण न हटा सके। इसी कथा से 'अंगद का चरण', न डिगनेवाली प्रतिज्ञा के अर्थ में, मुहावरा बन गया। [भ० श० उ०]

अंगराग शरीर के विविध अंगों का सौंदर्य अथवा मोहकता बढ़ाने के लिये या उनको स्वच्छ रखने के लिये शरीर पर लगानेवाली वस्तुओं को अंगराग (कॉस्मेटिक) कहते हैं, परंतु साबुन की गणना अंगरागों में नहीं की जाती।

इतिहास—सभ्यता के प्रादुर्भाव से ही मनुष्य स्वभावतः अपने शरीर के अंगों को शुद्ध, स्वस्थ, सुडौल और सुंदर तथा त्वचा को सुकोमल, मृदु, दीप्तिमान् और कांतियुक्त रखने के लिये सतत प्रयत्नशील रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि शारीरिक स्वास्थ्य और सौंदर्य प्रायः मनुष्य के आंतरिक स्वास्थ्य और मानसिक शुद्धि पर निर्भर हैं। तथापि यह सत्य है कि किसी के व्यक्तित्व को आकर्षक और सर्वप्रिय बनाने में अंगराग और सुगंध विशेष रूप से सहायक होते हैं। संसार के विविध देशों के साहित्य और सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि भिन्न-भिन्न अवसरों पर प्रगतिशील नागरिकों द्वारा अंगराग और गंधशास्त्र संबंधी कलाओं का उपयोग शारीरिक स्वास्थ्य और त्वचा की सौंदर्यवृद्धि के लिये किया जाता रहा है।

भारत युगयुगांतर से धर्मप्रधान देश रहा है। इसलिये अंगराग और सुगंध की रचना और उपयोग को मनुष्य की तामसिक वासनाओं का उत्तेजक न मानकर समाजकल्याण और धर्मप्रेरणा का साधन समझा जाता रहा। आर्य संस्कृति में अंगराग और गंधशास्त्र का महत्व प्रत्येक सद्गृहस्थ के दैनिक जीवन में उतना ही आवश्यक रहा है जितना पंचमहायज्ञ और वर्णाश्रम

धर्म की मर्यादा का पालन। वैदिक साहित्य, महाभारत, बृहत्संहिता, निघंटु, सुश्रुत, अग्निपुराण, मार्कंडेय पुराण, शुक्रनीति, कौटिल्य-अर्थशास्त्र, शार्ङ्गधर-पद्धति, वात्स्यायन-कामसूत्र, ललितविस्तर, भरत-नाट्यशास्त्र, अमरकोश इत्यादि में नानाविध अंगरागों और गंधद्रव्यों का रचनात्मक और प्रयोगात्मक वर्णन पाया जाता है। सदुगोपाल और पी० के० गोडे के अनुसंधानों के अनुसार इन ग्रंथों में शरीर के विविध प्रसाधनों में से विशेषतया दर्पण की निर्माणकला, अनेक प्रकार के उद्वर्तन, विलेप, धूलन, चूर्ण, पराग, तैल, दीपवर्ति, धूपवर्ति, गंधोदक, स्नानीय चूर्णवास, मुखवास इत्यादि का विस्तृत विधान किया गया है। गंगाधरकृत 'गंधसार' नामक ग्रंथ के अनुसार तत्कालीन भारत में अंगरागों के निर्माण में मुख्यतया निम्निलिखित ६ प्रकार की विधियों का प्रयोग किया जाता था :

१. भावन क्रिया—चूर्ण किए हुए पदार्थों को तरल द्रव्यों से अनुविद्ध करना।

२. पाचन क्रिया—क्वाथन द्वारा विविध पदार्थों को पकाकर संयुक्त करना।

३. बोध क्रिया--गुणवर्धक पदार्थों के संयोग से पुनरुत्तेजित करना।

४. वेध क्रिया—स्वास्थ्यवर्धक और त्वचोपकारक पदार्थों के संयोग से अंगरागों को चिरोपयोगी बनाना।

५. धूपन क्रिया—सौगंधिक द्रव्यों के धुओं से सुवासित करना।

६. वासन क्रिया—सौगंधिक तैलों और तत्सदृश अन्य द्रव्यों के सयोग से सुवासित करना।

रघुवंश, ऋतुसंहार, मालतीमाधव, कुमारसंभव, कादंबरी, हर्षचरित और पालि ग्रंथों में वर्णित विविध अंगरागों में निम्निलिखित द्रव्यो का विस्तृत विधान पाया जाता है :

मुखप्रसाधन के लिये विलेपन और अनुलेपन, उद्वर्तन, रंजकचक्रिका, दीपवर्ति इत्यादि; सिर के बालों के लिये विविध प्रकार के तैल, धूप और केशपटवास इत्यादि; आँखों के लिये काजल, सुरमा और प्रसाधन-शलाकाएँ इत्यादि; ओष्ठों के लिये रंजकशलाकाएँ; हाथ और पाँव के लिये मेंहदी और आलता; शरीर के लिये चंदन, देवदारु और अगुरु इत्यादि के विविध लेप, स्नानीय चूर्णवास और फेनक इत्यादि तथा मुखवास, कक्षवास और गृहवास इत्यादि। इन अंगरागों और सुगंधों की रचना के लिये अनुभवी शास्त्रज्ञों तथा प्रयोगादि के लिये प्रसाधकों तथा प्रसाधिकाओं को विशेषरूप से शिक्षित और अभ्यस्त करना आवश्यक समझा जाता था।

अंगरागशास्त्र की वैज्ञानिक कला द्वारा उन सभी प्रसाधन द्रव्यों का रचनात्मक और प्रयोगात्मक विधान किया जाता है जिनके उपयोग से मनुष्यशरीर के विविध अंगोपांगों और त्वचा को स्वस्थ, निर्दोष, निर्विकार, कांतिमान् और सुंदर रखकर लोककल्याण सिद्ध किया जा सके। भारत में पुरातन काल से अंगराग संबंधी विविध प्रसाधन द्रव्यों का निर्माण प्राकृतिक और मुख्यतया वानस्पतिक संसाधनों द्वारा होता रहा है। किंतु वर्तमान युग में आधुनिक विज्ञान की उन्नति से अंगरागों की रचना और प्रयोग में आनेवाले संसाधनों की संख्या का विस्तार इतना बढ़ गया है कि अन्य वैज्ञानिक विषयों की तरह इस विषय का ज्ञानार्जन भी विशेष प्रयत्न द्वारा ही संभव है।

आधुनिक काल में अंगराग—आधुनिक काल में विशेष प्रकार के साबुनों तथा अंगरागों का विस्तार और प्रचार शारीरिक सौंदर्यवृद्धि के लिये ही नहीं अपितु शारीरिक दोषोपचार के लिये भी बढ़ रहा है। अत: अंगराग के ऐसे औपचारिक प्रसाधनों को ओषधियों से अलग रखने की दृष्टि से अमरीका तथा अन्य विदेशों में इन पदार्थों की रचना और बिक्री पर सरकारी कानूनों द्वारा कड़ा नियंत्रण किया जा रहा है। आजकल के सर्वसंमत सिद्धांत के अनुसार निम्नलिखित पदार्थ ही अंगराग के अंतर्गत रखे जा सकते हैं :

१. वे पदार्थ जिनका उपयोग शरीर की सौंदर्यवृद्धि के लिये हो, न कि इन प्रसाधनों के उपकरण। इस दृष्टि से कंघी, उस्तरा, दाँतों और बालों के बुरुश इत्यादि अंगराग नहीं कहे जा सकते।

२. अंगराग के प्रसाधनों में बाल धोने के तरल फेनक (शैंपू), दाढ़ी बनाने का साबुन, विलेपन (क्रीम) और लोशन इत्यादि तो रखे जा सकते हैं, किंतु नहाने के साबुन नहीं।

३. अंगराग के प्रसाधनों में ऐसे औपचारिक पदार्थों को भी रखा जाता है जो औषध के समान गुणकारक होते हुए भी मुख्यतः शरीरशुद्धि के लिये ही प्रयुक्त होते हैं, जैसे पसीना कम करनेवाले प्रसाधन इत्यादि।

४. वे पदार्थ जो अनिवार्य रूप से मनुष्य के शरीर पर ही प्रयुक्त होते है, वासगृह और आमोद प्रमोद के स्थानों इत्यादि को सुगंधित रखने के लिये नहीं।

वर्गीकरण—ऊपर लिखे आधुनिक सिद्धांत के अनुसार मनुष्यशरीर के अंगोपांग पर प्रयोग की दृष्टि से विविध प्रसाधनों का शास्त्रीय वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से करना चाहिए :

१. त्वचासंबंधी प्रसाधन—चूर्ण (पाउडर); विलेपन (क्रीम); सांद्र और तरल लोशन; गंधहर (डिओडोरैंट); स्नानीय प्रसाधन (बाथ प्रिपेरेशन्स); शृंगार प्रसाधन (मेक-अप) जैसे आकुंकुम (रूज़); काजल, ओष्ठरंजक शलाका (लिपस्टिक) तथा सूर्यसंस्कारक प्रसाधन (सन-टैन प्रिपेरेशन्स) इत्यादि।

२. बालों के प्रसाधन—शैंपू; केशबल्य (हेयर टॉनिक); केशसंभारक (हेयरड्रेसिंग्स) और शुभ्रक (ब्रिलियंटाइन); क्षौरप्रसाधन (शेविंग प्रिपेरेशन्स); विलोमक (डिपिलेटरी) इत्यादि।

३. नखप्रसाधन—नखप्रमार्जक (नेल पॉलिश) और प्रमार्ज अपनयक (पॉलिश रिमूवर); नख-रंजक-प्रसाधन (मैनिक्योर प्रिपेरेशन्स) इत्यादि।

४. मुखप्रसाधन—मुखधावक (माउथ वाश); दंतशाण (डेंटिफ़्रिस); दंतलेपी (टूथपेस्ट) इत्यादि।

५. सुवासित प्रसाधन—सुगंध; गंधोदक (टॉयलेट वाटर और कोलोन वाटर); गंधशलाका (कोलोन स्टिक) इत्यादि।

६. विविध प्रसाधन—हाथ और पाँव के लिये मेंहदी और आलता इत्यादि; कीट प्रत्यपसारी (इन्सेक्ट रिपेलेंट) इत्यादि।

अंगरागों के निर्माण के लिये कुटीर उद्योग और बड़े बड़े कारखानों, दोनों रूपों में निर्माणशाला संगठित की जा सकती है। इस शास्त्र की विविध विरचनाओं की लोकप्रियता और सफलता के लिये निर्माणकर्ता को न केवल रसायन का पंडित होना चाहिए बल्कि शरीरविज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, कीट और कृषिविज्ञान इत्यादि विषयों का भी गहरा अध्ययन होना आवश्यक है।

त्वचा पर अंगरागों का प्रभाव—मनुष्य की त्वचा से एक विशेष प्रकार का स्निग्ध तरल पदार्थ निकला करता है। दिन रात के २४ घंटों में निकले इस स्निग्ध तरल पदार्थ की मात्रा दो ग्राम के लगभग होती है। इसमें वसा, जल, लवण और नाइट्रोजनयुक्त पदार्थ रहते हैं। इसी वसा के प्रभाव से बाल और त्वचा स्निग्ध, मृदु और कांतिवान रहते हैं। यदि त्वग्वसा ग्रंथियों में से पर्याप्त मात्रा में वसा निकलती रहे तो त्वचा स्वस्थ और कोमल प्रतीत होती है। इस वसा के अभाव में त्वचा रूखी सूखी और प्रचुर मात्रा में निकलने से अति स्निग्ध प्रतीत होती है। साधारणतया शीतप्रधान और समशीतोष्ण स्थलों के निवासियों की त्वचाएँ सूखी तथा अयनवृत्त (ट्रॉपिक्स) स्थित निवासियों की त्वचाएँ स्निग्ध पाई जाती हैं। शारीरिक त्वचा को स्वच्छ, स्वस्थ, सुंदर, सुकोमल और कांतियुक्त बनाए रखने के लिये शारीरिक व्यायाम और स्वास्थ्य परम सहायक है। तथापि इस स्वास्थ्य को स्थिर रखने में विविध अंगरागों का सदुपयोग विशेष रूप से लाभप्रद होता है। शारीरिक त्वचा की स्वच्छता और मृत कोशिकाओं का उत्सर्जन, स्वेदग्रंथियों को खुला और दुर्गंधरहित करना, धूप, सरदी और गरमी से शरीर का प्रतिरक्षण, त्वचा के स्वास्थ्य के लिये परमावश्यक वसा को पहुँचाना, उसे मुहाँसे, झुर्रियों और काले तिलों जैसे दागों से बचाना, त्वचा को सुकोमल और कांतियुक्त बनाए रखना, उसे बुढ़ापे के आक्रमणों से बचाना और बालों के सौंदर्य को बनाए रखना इत्यादि अंगरागों के प्रभाव से ही संभव है। शास्त्रीय विधि से निर्मित अंगरागों का सदुपयोग मनुष्यजीवन को सुखी बनाने में अत्यंत लाभप्रद सिद्ध हुआ है।

वैनिशिंग क्रीम—अर्वाचीन अंगरागों में से वैनिशिंग क्रीम नामक मुखराग का व्यवहार बहुत लोकप्रिय हो गया है। मुंह की त्वचा पर

थोड़ा सा ही मलने से इस विलेपन (क्रीम) का अंतर्धान होकर लोप हो जाना ही इसके नामकरण का मूल कारण जान पड़ता है (वैनिशिंग=लुप्त होनेवाला)। यह वास्तव में स्टीयरिक ऐसिड अथवा किसी उपयुक्त स्टीयरेट और जल द्वारा प्रस्तुत पायस (इमलशन) है। सोडियम हाइड्रॉक्साइड, सोडियम कार्बोनेट और सुहागे के योग से जो विलेपन बनता है, वह कड़ा और फीका सा होता है। इसके विपरीत पोटैसियम हाइड्रॉक्साइड और पोटैसियम कार्बोनेट के योग से बने विलेपन नरम और दीप्तिमान् होते हैं। अमोनिया के योग के कारण विलेपन की विशिष्ट गंध और रंग के बिगड़ने की आशंका रहती है। मोनोग्लिसराइडों और ग्लाइकोल स्टीयरेटों के योग से अच्छे विलेपन बनाए जा सकते हैं। एक भाग सोडियम और नौ भाग पोटैसियम हाइड्रॉक्साइड मिश्रित साबुनों की अपेक्षा सोडियम और पोटैसियम हाइड्रॉक्साइड के संमिश्रण में ट्राई-इथेनोलेमाइन के यौगिक भी उपयोगी सिद्ध हुए हैं। कार्बोनेटों के उपयोग के समय अधिक ध्यान देना आवश्यक है क्योंकि कार्बन डाइआक्साइड नामक गैस निकलने से योगरचना के लिये दुगुना बड़ा बर्तन रखना और गैस को पूरी तरह निकाल देना परमावश्यक है। वैनिशिंग-क्रीम की आधारभूत रचना में विशुद्ध स्टीयरिक ऐसिड, क्षार, जल और ग्लिसरीन का ही मुख्यतया प्रयोग किया जाता है। दृष्टांत के लिये दो योगरचनाएँ नीचे दी जाती हैं :

यौगिक पदार्थ	सूत्र १ (भाग)	सूत्र २ (भाग)
१. स्टीयरिक ऐसिड (विशुद्ध)	२०	२५
२. पोटैसियम हाइड्रॉक्साइड (विशुद्ध)	१ (पोटै० कार्बोनेट विशुद्ध)	१·२
३. ग्लिसरीन	५	१०
४. जल	७४	६३·८
५. सुगंध (१०० किलो० क्रीम के लिये)	२५०-४०० ग्राम तक	

योगविधि—(क) यौगिक सं० १ को पिघला लीजिए और (ख) यौगिक सं० २ और ३ को ४ में घोलकर ८५° सेंटीग्रेड तक गरम कर लीजिए। फिर धीरे धीरे लगातार हिलाते हुए (ख) घोल को (क) में छोड़ते जाइए। इस कार्य के लिये काच, ऐल्युमीनियम, इनैमल अथवा स्टेनलेस स्टील के बरतनों और करछुलों का ही उपयोग करना चाहिए। दूसरी योगरचना में गैस को पूरी तरह निकालना आवश्यक है। जब कुल पानी का घोल इस प्रकार स्टीयरिक ऐसिड में मिल जाय तो इस पायस को ठंढा होने के लिये एक दिन तक अलग रख दीजिए। तब इसमें उपयुक्त सुगंध उचित मात्रा में छोड़कर आठ दस दिन तक मिश्रण को परिपक्व होने दिया जाय। फिर एक बार खूब हिलाकर शीशियों में भरकर रख दिया जाय। साधारण जल के स्थान पर विशुद्ध गुलाबजल अथवा अन्य सौगंधिक जलों के उपयोग से और उत्तम क्रीम बनता है।

कोल्ड क्रीम—लोकप्रिय मुखरागों में से कोल्ड क्रीम का उपयोग मुँह की त्वचा को कोमल तथा कांतिवान् रखने के लिये किया जाता है। यह वास्तव में 'तेल-में-जल' का पायस होने से त्वचा में वैनिशिंग क्रीम की तरह अंतर्धान नहीं हो पाता। समांग, कांतिमय, न बहुत मुलायम और न बहुत कड़ा होने के अतिरिक्त यह आवश्यक है कि किसी भी ठीक बने कोल्ड क्रीम में से जलीय और तैलीय पदार्थ विलग न हों और क्रीम फटने न पाए, न सिकुड़ने ही पाए। शीतप्रधान और समशीतोष्ण देशों में उपयोग के लिये नरम कोल्ड क्रीम और उष्णप्रधान देशों में उपयोग के लिये कड़े क्रीम बनाए जाते हैं। दृष्टांत के लिये एक योगरचना निम्नलिखित है :

मधुमक्खी का मोम (विशुद्ध)	१५ भाग
बादाम का तेल अथवा मिनरल आयल (६५/७५)	५५ भाग
जल	२९ भाग
सुहागा	१ भाग

साधारणतया मोम की मात्रा १५-२० प्रति शत रहती है। अन्य मोम को उपयोग में लाते समय मधुमक्खी के मोम का अंश उतना ही कम करना आवश्यक है। कड़ा क्रीम बनाने के लिये सिरेसीन और स्पर्मेसटी के मोम बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। क्रीम बनाते समय सर्वप्रथम तेल में मोम को गरम करके इसे पिघला लिया जाता है। फिर उबलते हुए जल में सुहागे का घोल बनाकर तेल-मोम के गरम मिश्रण में धीरे धीरे हिलाकर मिलाया जाता है। इस समय मिश्रण का ताप लगभग ७०° सेंटी० रहना चाहिए। कुल पदार्थ मिल जाने पर इस पायस को एक दिन तक अलग रख दिया जाता है और फिर लगभग ½ प्रति शत सुगंध मिलाकर श्लेषाभ पेषणी (कोलायड मिल) में दो एक बार पीसकर शीशियों में भर दिया जाता है।

फेस पाउडर का नुसखा—मुखप्रसाधनों में फेस पाउडर, सर्वाधिक लोकप्रिय और सुविधाजनक होने के कारण, अत्यंत महत्वपूर्ण अंगराग हो गया है। अच्छे फेस पाउडर में मनमोहक रंग, अच्छी संरचना, मुखप्रसाधन के लिये सुगमता, संलागिता (चिपकने की क्षमता), सर्पण (स्लिप), विस्तार (बल्क), अवशोषण, मृदुलक (ब्लूम), त्वग्दोष-पूरक-क्षमता और सुगंध इत्यादि गुणों का होना आवश्यक है। इन गुणों के पूरक मुख्य पदार्थ निम्नलिखित है :

१. अवशोषक तथा त्वग्दोषपूरक पदार्थ—जिंक आक्साइड, टाइटेनियम डाइआक्साइड, मैगनीशियम आक्साइड, मैगनीशियम कार्बोनेट, कोलायडल केओलिन, अवक्षिप्त चॉक और स्टार्च इत्यादि।

२. संलागी (चिपकनेवाले)—जिंक, मैगनीशियम और ऐल्युमीनियम के स्टीयरेट।

३. सृप्र (फिसलानेवाले) पदार्थ—टैल्कम।

४. मृदुलक (त्वग्विकासक) पदार्थ—अवक्षिप्त चॉक और बढ़िया स्टार्च।

५. रंग—अविलेय पिगमेंट और लेक रंग। ओकर, कास्मेटिक यलो, कास्मेटिक ब्राउन और अंबर इत्यादि।

६. सुगंध—इसके लिये साधारणतः एक भाग टैल्कम को कृत्रिम ऐंबर्ग्रिस के एक भाग के साथ उचित घोलक द्रव्य, जैसे बेंजिल बेंजोएट, के ३ भाग में मिलाना आवश्यक है। घोलक के मिश्रण को गरम करके ७० भाग हलकी अवक्षिप्त (लाइट प्रेसिपिटेटेड) चॉक मिला दी जाय और फिर टैल्कम मिलाकर कुल तौल १००० भाग कर लिया जाय। इस क्रिया को पूर्वसंस्कार कहते हैं और इस प्रकार से बनाए टैल्कम को साधारण टैल्कम की तरह ही उपयोग में ला सकते हैं।

योगरचना के नुसखे और विधि—फेस पाउडर विविध अवसरों और पसंदों के लिये हलके, साधारण और भारी, कई प्रकार के बनाए जाते हैं। अपेक्षित सभी यौगिक द्रव्यों को खूब अच्छी प्रकार से मिलाकर इंच में १०० छेदवाली चलनी में से छान लेते हैं और अंत में रंग और सुगंध डालकर, फिर अच्छी तरह मिलाकर डिब्बा बंद कर दिया जाता है। दृष्टांत के लिये कुछ नुसखे नीचे दिए जाते हैं :

यौगिक पदार्थ	हलके पाउडर भाग			साधारण पाउडर भाग			भारी पाउडर भाग		
१. जिंक आक्साइड	१५	—	७½	२०	—	१०	३०	—	१५
२. टाइटेनियम डाईआक्साइड	—	५	२½	—	७	३½	—	९	५
३. टैल्कम	७५	८०	७५	६५	७८	७१½	५६	७५	६४
४. जिंक स्टीयरेट	५	७	७	५	७	७	४	६	६
५. अवक्षिप्त चॉक	५	८	८	१०	८	८	१०	१०	१०

लिपस्टिक—किसी सांद्रित और स्निग्ध आधार (पदार्थ) में थोड़े से घुले हुए और मुख्यतया आलंबित (सस्पेंडेड) रंजक द्रव्य की ओष्ठ-रंजक-शलाका का नाम लिपस्टिक है। एक बार प्रयोग में लाने से इसके रंग और स्निग्धता का प्रभाव ६ से ८ घंटे तक बना रहता है। रंग का असमान मिश्रण, शलाका का टूटना या पसीजना इत्यादि दोषों से इसका रहित होना अत्यंत आवश्यक है। लगभग २ ग्राम की एक शलाका २५० से ४०० बार प्रयोग में लाई जा सकती है। साधारणतः लिपस्टिकों की रचना में ब्रोमो ऐसिड २ प्रति शत और रंगीन लेक १० प्रति शत को

किसी उपयुक्त आधारक द्रव्य में मिलाया जाता है। घोलको में से एरड का तेल और ब्यूटिल स्टीयरेट, सलागियो मे से मधुमक्खी का मोम, दीप्ति के लिये २०० श्यानता का मिनरल आयल, कडा करने के लिये ओजोकेराइट ७६°/८०° सेंटी०, सिरेसीन मोम और कारनौबा मोम, सांद्रित आधारक द्रव्य के तौर पर ककाओ बटर और उत्तम आकृति के लिये अडिसाइलिक ऐसिड इत्यादि द्रव्यो का उपयोग किया जाता है। दो योग (नुसखे) निम्नलिखित है.

		भाग
(क)	ट्रफ पेट्रोलेटम	२५
	सिरेसीन ६४°	२५
	मिनरल आयल २१०/२२०	१५
	मधुमक्खी का मोम	१५
	लैनोलीन (अजल)	५
	ब्रोमो ऐसिड	२
	रगीन लेक	१०
	कारनौबा मोम	३
(ख)	अवशोषण आधारक द्रव्य	२८
	सिरेसीन ६४°	२५
	मिनरल आयल २१०/२२०	१५
	कारनौबा मोम	५
	मधुमक्खी का मोम	१५
	ब्रोमो ऐसिड	२
	रगीन लेक	१०

रचनाविधि--सर्वप्रथम ब्रोमो ऐसिड को घोलक द्रव्यो मे मिला लिया जाता है और सभी मोमो को भली भाँति पिघलाकर गरम कर लिया जाता है। बाकी वसायुक्त पदार्थो को पतला करके उनमे रगीन लेक और पिगमेट मिलाकर श्लेषाभ पेषणी (कोलायड मिल) से पीसकर एकरस कर लिया जाता है। तब ब्रोमो ऐसिड के घोल मे सभी पदार्थ धीरे धीरे छोडकर खूब हिलाया जाता है ताकि वे आपस मे ठीक ठीक मिल जायँ। जब जमने के ताप से ५°-१०° सेंटी० ऊँचा ताप रहे तभी इस मिश्रण को मिल मे से निकालकर लिपस्टिक के साँचो मे ढाल लिया जाता है। इन साँचो को एकदम ठढा कर लेना आवश्यक है।

अंगरागों का व्यापार--भारत मे प्रति वर्ष कितने का माल बनता है और कितने का विदेशो से आता है, इस सबध के आँकडे प्राप्त करना सभव नही है। अभी तक अगरागो के सबध मे इस प्रकार के आँकडे एकत्र नही किए जा रहे है। पिछले दो वर्षों (१९५७, १९५८) मे लगाए गए आयात सबधी बधनो के कारण लगभग सभी प्रकार के अगरागो का विदेशो से आना बद सा है। इसलिये स्वदेशी अगरागो का निर्माण और उनकी खपत कई गुना बढ गई है।

इग्लैंड और अमरीका मे अगरागो का व्यापार और उद्योग कितने महत्व का है, यह जानना लाभप्रद होगा। इग्लैंड मे सभी प्रकार के अगरागो के निर्माण और बिक्री के विस्तृत आँकडे सुलभ है। १९५१ मे सभी प्रकार के अगरागो की कुल बिक्री ३,०६,०१,००० पाउड की हुई और इसका मूल्य १९५४ मे बढकर ३,७८,१३,००० पाउड हो गया। इसी प्रकार अमरीका मे अगरागो की बिक्री के आँकडे निम्नलिखित है

अगरागो के प्रकार	१९४७ में	१९५४ मे
	(अमरीकी डालरो मे मूल्य)	
१ केशराग	६,२२,६८,०००	२२,०४,२२,०००
२. दत प्रसाधन	६,३०,८३,०००	१३,०७,८६,०००
३. सौगधिक जल और स्नानीय वास	५,०३,२२,०००	७,७०,४१,०००
४. विविध अगराग	२२,६८,४१,०००	३१,६२,२६,०००
सर्वयोग	४६,५५,४४,०००	७४,४४,८१,०००

ऊपर के विदेशी आँकडो से यह स्पष्ट है कि अगरागो के उद्योग का क्षेत्र भारत मे विशाल है और इसका भविष्य अत्यन्त उज्वल है।

सं०ग्रं०--एडवर्ड सैंगेरिन द्वारा सपादित कॉस्मेटिक्स सायस ऐंड टेकनॉलॉजी, न्यूयार्क, १९५७, मेसन जी० डी० नवर्रे : दि केमिस्ट्री ऐंड मैन्युफैक्चर ऑव कॉस्मेटिक्स, न्यूयार्क, १९४६, ई० जी० टॉमसन . मॉडर्न कॉस्मेटिक्स, न्यूयार्क, १९४७, डब्ल्यू० ए० पोशे · परफ्यूम्स, कॉस्मेटिक्स ऐंड सोप्स, ३ भाग, लदन, १९४१, राल्फ जी० हैरी · मॉडर्न कॉस्मेटिकॉलाजी, दो भाग, लदन, १९४४; ए० ई० हैकल दि ब्यूटी-कल्चर हैंडबुक, १९३५, एवरेट जी० मैकडनफ · ट्रुथ अबाउट कॉस्मेटिक्स, न्यूयार्क, गिल्बर्ट बेल · ए हिस्ट्री ऑव कॉस्मेटिक्स इन अमेरिका न्यूयार्क, १९४७, अज्ञात टेकनीक ऑव ब्यूटी प्रॉडक्टस, लदन, १९४९, हेयर ड्रेसिंग ऐंड ब्यूटी कल्चर, लदन, १९४८।

[क० और स०]

अंगारा प्रदेश

भूविज्ञान के अनुसार एशिया के उत्तरी भाग के प्राचीनतम स्थलखड को अगारा प्रदेश कहते है। इसका राजनैतिक महत्व नही है, परतु भौगोलिक दृष्टि से इसका अध्ययन बहुत उपयोगी है। इस प्रदेश की भूवैज्ञानिक खोज अभी अपेक्षाकृत कम हुई है। रूसी भूवैज्ञानिको ने अपने अन्वेषणात्मक कार्यों द्वारा इसे बहुत अशो मे लारेशिया तथा बाल्टिक प्रदेश के सदृश बताया है। इस प्रदेश की पृष्ठतलीय चट्टाने (फाउडेशन रॉक्स) कैंब्रियनपूर्व की है जिनमे अति प्राचीन गिरि-निर्माण-सरचना प्राप्य है और इनमे प्रचुर मात्रा मे परिवर्तन हुआ है। इन तलीय चट्टानो के ऊपर कैंब्रियन युग से लेकर अतर्युगीन (पैलिओज़ोइक, मेसोजोइक और केनोजोइक) चट्टानो का जमाव मिलता है।

कोबर ने रूसी विद्वानो के सदृश ही इसे यनीसी नदी के मुहाने से क्रासनोयार्स्क को मिलाती हुई रेखा द्वारा दो प्रमुख भागो मे बाँटा है। यनीसी नदी का पश्चिमवर्ती भाग निम्नस्तरीय मैदान है जिसपर अशत तृतीय कल्पिक अवसाद (टर्शियरी सेडिमेंट्स) मिलते है और जो उत्तरी महासागर तल से मिल जाता है। यूराल पर्वत की ओर समुद्री जुरासिक, क्रिटेशस एव पूर्वकालिक तृतीय कल्पिक (टर्शियरी) चट्टाने मिलती है। यनीसी नदी का पूर्वी भाग बहुत अशो मे भिन्न है। इस भाग मे पुराकल्पयुगीन (पैलियोजोइक) चट्टाना का विकास महाद्वीपीय स्तर पर हुआ है। ये चट्टाने प्राय क्षैतिज है तथा इनमे दो प्राचीन उद्वर्ग (हॉर्स्ट), अनाबर और येनीसे, प्रमुख है।

इस प्रदेश की पश्चिमी सीमा का निर्धारण कठिन है, परतु इसका बृहत्तम फैलाव यूराल पर्वतश्रेणियो तक मिलता है। तमिर अतरीप का विरगा नामक पहाड इसकी उत्तरी सीमा निर्धारित करता है और इन पहाडो मे समित भजित (नार्मल फोल्ड) सरचना मिलती है। सभवत ये कैलिडोनियन युग के है। लीना नदी के पूर्व स्थित बरखोयान्स्क पहाड से इसकी पूर्वी सीमा और क्रास्नोयार्स्क से बैकाल झील तथा यार्कुत्स्क को मिलानेवाली रेखा द्वारा इसकी दक्षिणी सीमा निर्धारित होती है। मध्य (मेसोजोइक) तथा तृतीय कल्पिक (टर्शियरी) चट्टानो से आच्छादित होने के कारण दक्षिण-पश्चिम मे इसका सीमानिर्धारण कठिन है।

बैकाल झील के पास चतुर्दिक् पर्वतश्रेणियो से घिरा हुआ इरकुटस्क एक बृहत् रगमडल (ऐंम्फीथिएटर) सा जान पडता है। इसके पश्चिम मे सयान पर्वत और पूरब मे बैकाल झील की श्रेणियाँ फैली हुई है। इस क्षेत्र के विकास के विषय मे विद्वानो मे गहरा मतभेद है। स्वेस के अनुसार यह क्षेत्र साइबेरियन शील्ड का प्राचीनतम स्थल भाग है जिसके चारो ओर अतरकालीन विकास हुआ। रूसी विद्वानो के नए अन्वेषणो ने इस विचार से असहमति प्रकट की है। तात्जो के अनुसार तुरीय युग के प्रारभिक काल मे स्वेस का यह तथाकथित प्राचीनतम स्थल क्षेत्र केवल निम्नस्तरीय परतु दृढ भाग था जिसमे चौडी उथली घाटियाँ और अगणित झीले थी। अत तात्जो ने इस क्षेत्र को नवनिर्मित स्थलीय भाग माना है और वह इसका उद्भवकाल मानवकाल के पूर्व नही मानता। देलाने के विचार से भी कुछ विद्वान् सहमत है। इसके अनुसार यह प्राचीन भाग कैलिडोनियन युग का पुनरुत्थित क्षेत्र है जिसमे कैंब्रियन एव साइलूरियन युगो की भजित चट्टानें मिलती हैं।

साइबेरिया के पूर्वी मैदानी भाग मे परमियन युग की बैसाल्ट चट्टानें पाई जाती हैं। प्रस्तुत लावा प्रवाह तथा पुराकल्पीय एव अतरयुगीन

चट्टानों का अवसाद (सेंडिमेंटेशन) इस प्रदेश के पृष्ठतलीय चट्टानों को ढके हुए है; इस कारण यह प्रदेश स्वजातीय बाल्टिक तथा कनाडियन प्रदेशों से भिन्न प्रतीत होता है। यहाँ अन्य स्वजातीय प्रदेशों के सदृश चारों ओर भंजित (फ़ोल्डेड) श्रेणियाँ फैली हुई हैं। [नृ० कु० सिं०]

अंगिरा दस प्रजापतियों और सप्तर्षियों में गिने जाते हैं। अथर्ववेद का प्रारंभकर्ता होने के कारण इनको अथर्वा भी कहते हैं। अंगिरा की बनाई 'आंगिरसी श्रुति' का महाभारत में उल्लेख हुआ है (महा० ८,६९-८५)। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों के ऋषि अंगिरा हैं। इनकी बनाई एक स्मृति भी प्रसिद्ध है।

[चं० म०]

अंगुइला (द्वीपसमूह) ब्रिटिश वेस्ट इंडीज में है; स्थिति १८° १२' उत्तर अक्षांश तथा ६३° पश्चिम देशांतर। यह द्वीपसमूह वेस्ट इंडीज़ के छोटे ऐंटलीज ग्रूप में लीवर्ड द्वीपसमूह के अंतर्गत और ब्रिटेन के अधिकार में है। ये द्वीप मूँगों की चट्टानों से बने हैं। इस समूह का सबसे बड़ा द्वीप अंगुइला है। इसका क्षेत्रफल ३५ वर्गमील है। शेष द्वीप बहुत ही छोटे हैं। अंगुइला द्वीप में न समुद्रतट के मैदान हैं और न कोई उल्लेखनीय नदी है। कम ढालू तथा चपटे भाग में खेती होती है जिसमें गन्ना, कपास तथा फल पैदा होते हैं। समुद्र के किनारे नारियल के बाग हैं। इस द्वीपसमूह का शासनप्रबंध सेंट क्रिस्टोफर प्रेसीडेंसी के अंतर्गत होता है। १९११ के अंत में अंगुइला द्वीप की जनसंख्या ४०७५ थी और आबादी का घनत्व ११६·४ मनुष्य प्रति वर्ग मील था। [ल० कि० सिं० चौ०]

अंगुत्तरनिकाय बौद्ध पालित्रिपिटक के अंतर्गत सुत्तपिटक का चौथा ग्रंथ है। इसमें ११ निपात हैं, जैसे एककनिपात, दुकनिपात इत्यादि। एक एक बात के विषय में उपदेश दिए गए सुत्तों का संग्रह एककनिपात में, दो दो बातों के विषय में उपदेश दिए गए सुत्तों का संग्रह दुकनिपात में, इसी प्रकार ग्यारह ग्यारह बातों के विषय में उपदेश दिए गए सुत्तों का संग्रह एकादसनिपात में है।

[भि० ज० का०]

अंगुलि छाप हल चलाए खेत की भाँति मनुष्य के हाथों तथा पैरों के तलवों में उभरी तथा गहरी महीन रेखाएँ दृष्टिगत होती हैं। वैसे तो ये रेखाएँ इतनी सूक्ष्म होती है कि सामान्यतः इनकी ओर ध्यान भी नहीं जाता, किंतु इनके विशेष अध्ययन ने एक विज्ञान को जन्म दिया है जिसे अंगुलि-छाप-विज्ञान कहते हैं। इस विज्ञान में अंगुलियों के ऊपरी पोरों की उन्नत रेखाओं का विशेष महत्व है। कुछ सामान्य लक्षणों के आधार पर किए गए विश्लेषण के फलस्वरूप, इनसे बननेवाले आकार चार प्रकार के माने गए हैं : (१) शंख (लूप), (२) चक्र (व्होर्ल), (३) शुक्ति या चाप (आर्च) तथा (४) मिश्रित (कंपोजिट)। इनकी विशेषताएँ बगल के चित्रों से प्रकट होंगी।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि अंगुलि-छाप-विज्ञान का जन्म अत्यंत प्राचीन काल में एशिया में हुआ। भारतीय सामुद्रिक ने उपर्युक्त शंख, चक्र तथा शुक्तियों का विचार भविष्यगणना में किया है। दो हजार वर्ष से भी पहले चीन में अंगुलि छापों का प्रयोग व्यक्ति की पहचान के लिये होता था। किंतु आधुनिक अंगुलि-छाप-विज्ञान का जन्म हम १८२३ ई० से मान सकते हैं, जब ब्रेसला (जर्मनी) विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री परकिंजे ने अंगुलिरेखाओं के स्थायित्व को स्वीकार किया। वर्तमान अंगुलि-छाप-प्रणाली का प्रारंभ १८५८ ई० में इंडियन सिविल सर्विस के सर विलियम हरशेल ने बंगाल के हुगली जिले में किया। १८९२ ई० में प्रसिद्ध अंग्रेज वैज्ञानिक सर फ्रांसिस गाल्टन ने अंगुलि छापों पर अपनी एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें उन्होंने हुगली के सब-रजिस्ट्रार श्री रामगति बंद्योपाध्याय द्वारा दी गई सहायता के लिये कृतज्ञता प्रकट की। उन्होंने उन्नत रेखाओं का स्थायित्व सिद्ध करते हुए अंगुलि छापों के वर्गीकरण तथा उनका अभिलेख रखने की एक प्रणाली बनाई जिससे संदिग्ध व्यक्तियों की ठीक से पहचान हो सके। किंतु यह प्रणाली कुछ कठिन थी। दक्षिण प्रांत (बंगाल) के पुलिस के इंस्पेक्टर जनरल सर ई० आर० हेनरी ने उक्त प्रणाली में सुधार करके अंगुलि छापों के वर्गीकरण की एक सरल प्रणाली निर्धारित की। विश्वास यह किया जाता है कि इसका वास्तविक श्रेय श्री अजीजुल हक, पुलिस सब-इंस्पेक्टर, को है, जिन्हें सरकार ने ५००० रु० का पुरस्कार भी दिया था। इस प्रणाली की अचूकता देखकर भारत सरकार ने १८९७ ई० में अंगुलि छापों द्वारा पूर्वदंडित व्यक्तियों की पहचान के लिये विश्व का प्रथम अंगुलि-छाप-कार्यालय कलकत्ता में स्थापित किया।
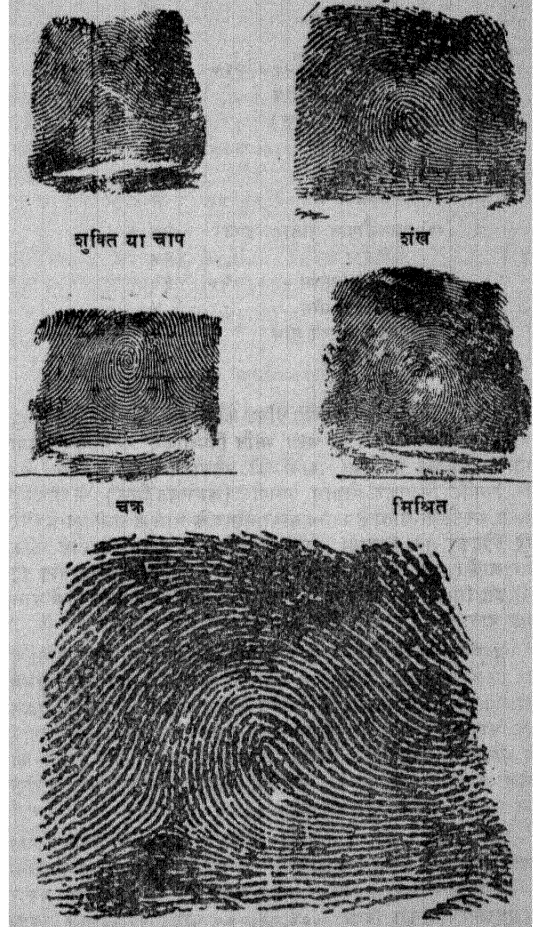
पूर्वोक्त शंख (लूप) का एक विस्तृत फोटो

रेखाओं का ध्यान से निरीक्षण करने पर उनमें निजी विशेषताएँ रेखांत। (एंडिंग) तथा द्विशाखाओं (बाइफ़र्केशन) के रूप में दिखाई देती हैं।

अंगुलि छाप द्वारा पहचान दो सिद्धांतों पर आश्रित है, एक तो यह कि दो भिन्न अंगुलियों की छापें कभी एक सी नहीं हो सकती, और दूसरा यह कि व्यक्तियों की अंगुलि छापें जीवन भर ही नहीं अपितु जीवनोपरांत भी नही बदलतीं। अतः किसी भी विचारणीय अंगुलि छाप की किसी व्यक्ति की अंगुलि छाप से तुलना करके यह निश्चित किया जा सकता है कि विचारणीय अंगुलि छाप उसका है या नहीं। अंगुलि छाप के अभाव में व्यक्ति की पहचान करना कितना कठिन है, यह प्रसिद्ध भवाल संन्यासी वाद (केस) के अनुशीलन से स्पष्ट हो जायगा।

अंगुलि-छाप-विज्ञान तीन कार्यों के लिये विशेष उपयोगी है, यथा :

१. विवादग्रस्त लेखों पर के अंगुलि छापों की तुलना व्यक्तिविशेष की अंगुलि छापों से करके यह निश्चित करना कि विवादग्रस्त अंगुलि छाप उस व्यक्ति की है या नहीं;

२. ठीक नाम और पता न बतानेवाले अभियुक्त की अंगुलि छापों की तुलना दंडित व्यक्तियों की अंगुलि छापों से करके यह निश्चित करना कि वह पूर्वदंडित है अथवा नहीं; और

३. घटनास्थल की विभिन्न वस्तुओं पर अपराधी की अंकित अंगुलि छापों की तुलना संदिग्ध व्यक्ति की अंगुलि छापों से करके यह निश्चित करना कि अपराध किसने किया है।

अनेक अपराधी ऐसे होते हैं जो स्वेच्छा से अपनी अंगुलि छाप नहीं देना चाहते। अत: कैदी पहचान अधिनियम (आइडेंटीफिकेशन ऑव प्रिज़नर्स ऐक्ट, १९२०) द्वारा भारतीय पुलिस को बंदियों की अंगुलियों की छाप लेने का अधिकार दिया गया है। भारत के प्रत्येक राज्य में एक सरकारी अंगुलि-छाप-कार्यालय है जिसमें दंडित व्यक्तियों की अंगुलि छापों के अभिलेख रखे जाते हैं तथा अपेक्षित तुलना के उपरांत आवश्यक सूचना दी जाती है। इलाहाबाद स्थित उत्तरप्रदेश के कार्यालय में ही लगभग तीन लाख ऐसे अभिलेख हैं। १९५६ ई० में कलकत्ता में एक केंद्रीय अंगुलि-छाप-कार्यालय की भी स्थापना की गई है। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे विशेषज्ञ हैं जो अंगुलि छापों के विवादग्रस्त मामलों में अपनी संमतियाँ देने का व्यवसाय करते हैं।

अंगुलि छापों का प्रयोग पुलिस विभाग तक ही सीमित नहीं है, अपितु अनेक सार्वजनिक कार्यों में यह अचूक पहचान के लिये उपयोगी सिद्ध हुआ है। नवजात बच्चों की अदला बदली रोकने के लिये विदेशों के अस्पतालों में प्रारंभ में ही बालकों की पद छाप तथा उनकी माताओं की अंगुलि छाप ले ली जाती है। कोई भी नागरिक समाजसेवा तथा अपनी रक्षा एवं पहचान के लिये अपनी अंगुलि छाप की सिविल रजिस्ट्री कराकर दुर्घटनावश या अन्यथा क्षतविक्षत होने या पागल हो जाने की दशा में अपनी तथा खोए हुए बालकों की पहचान सुनिश्चित कर सकता है। अमरीका में तो यह प्रथा सर्वसाधारण तक में प्रचलित हो रही है। [सि० रा० गु०]

अंगुलिमाल बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार एक सहस्र मनुष्यों को मारकर अपना व्रत पूरा करनेवाला यह ब्राह्मणपुत्र दस्यु था, जिसका उल्लेख बौद्ध त्रिपिटक में आता है। वह जिसे मारता उसकी अँगुली काटकर माला में पिरो लेता था, इसीलिये उसका नाम अंगुलिमाल पड़ा। उसका पूर्वनाम 'अहिंसक' था। बुद्ध ने उसे धर्मोपदेश दिया जिससे उसे धर्मचक्षु उत्पन्न हो गया। उसने बुद्ध से भिक्षु की दीक्षा ग्रहण की। वह क्षीणाश्रव अर्हतों में एक हुआ, ऐसा बौद्ध विश्वास है। [भि० ज० का०]

अंगूर (अंग्रेजी नाम : ग्रेप; वानस्पतिक नाम : वाइटिस विनिफेरा; प्रजाति : वाइटिस; जाति : विनिफेरा; कुल : वाइटेसी) एक लता का फल है। इस कुल में लगभग ४० जातियाँ हैं जो उत्तरी समशीतोष्ण कटिबंध में पाई जाती हैं। अंगूर का परंपरागत इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना मनुष्य का। बाइबिल से ज्ञात होता है कि नोआ ने अंगूर का उद्यान लगाया था। होमर के समय में अंगूरी मदिरा यूनानियों के दैनिक प्रयोग की वस्तु थी। इसका उत्पत्तिस्थान काकेशिया तथा कैस्पियन सागरीय क्षेत्र से लेकर पश्चिमी भारतवर्ष तक था। यहाँ से एशियामाइनर, यूनान तथा सिसिली की ओर इसका प्रसार हुआ। ई० पू० ६०० में यह फ्रांस पहुँचा।

अंगूर बहुत स्वादिष्ट फल है। इसे लोग बहुधा ताजा ही खाते हैं। सुखाकर किशमिश तथा मुनक्का के रूप में भी इसका प्रयोग किया जाता है। रोगियों के लिये ताजा फल अत्यंत लाभदायक है। किशमिश तथा मुनक्के का प्रयोग अनेक प्रकार के पकवान, जैसे खीर, हलवा, चटनी इत्यादि, तथा ओषधियों में भी होता है। अंगूर में चीनी की मात्रा लगभग २२ प्रति शत होती है। इसमें विटामिन बहुत कम होता है, परंतु लोहा आदि खनिज पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं। भारतवर्ष में इसकी खेती नहीं के बराबर है। यहाँ इसकी सबसे उत्तम खेती बंबई राज्य में होती है। अंगूर उपजानेवाले मुख्य देश फ्रांस, इटली, स्पेन, संयुक्त राज्य अमरीका, तुर्की, ग्रीस, ईरान तथा अफगानिस्तान हैं। संसार में अंगूर की जितनी उपज होती है उसका ८० प्रतिशत मदिरा बनाने में प्रयोग किया जाता है।

अंगूर
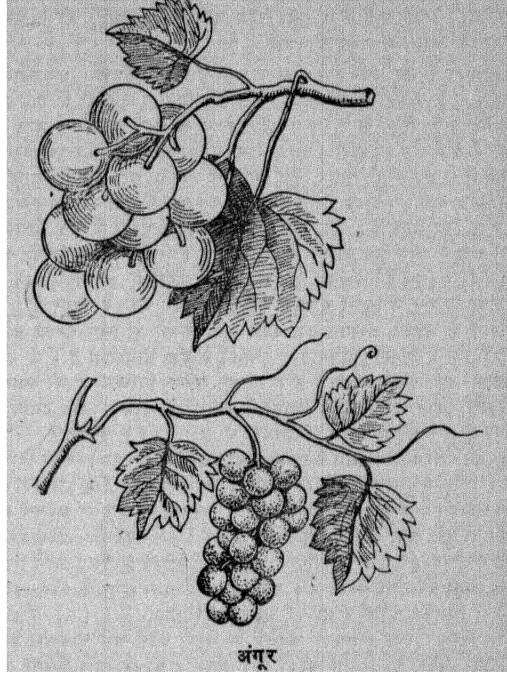
अंगूर प्रधानत: समशीतोष्ण कटिबंध का पौधा है, परंतु उष्णकटिबंधीय प्रदेशों में भी इसकी सफल खेती की जाती है। इसके लिये अधिक दिनों तक मध्यम से लेकर उष्ण तक का ताप और शुष्क जलवायु अत्यंत आवश्यक है। ग्रीष्म ऋतु शुष्क तथा शीतकाल पर्याप्त ठंढा होना चाहिए। फूलने तथा फल पकने के समय वायुमंडल शुष्क तथा गरम रहना चाहिए। इस बीच वर्षा होने से हानि होती है। बलूचिस्तान में ग्रीष्म ऋतु में ताप १००° से ११५° फा० तक पहुँचता है, जो अंगूर के लिये लाभप्रद सिद्ध हुआ है। बंबई में अंगूर जाड़े में होता है। दोनों स्थानों में भिन्न भिन्न जलवायु होते हुए भी फल के समय ऋतु गरम तथा शुष्क रहती है। यही कारण है कि अंगूर की खेती दोनों स्थानों में सफल हुई है, यद्यपि जलवायु में बहुत भिन्नता है। सुषुप्तिकाल में पाले से अंगूर की लता को कोई हानि नहीं होती, परंतु जब फल लगनेवाली डालें बढ़ने लगती हैं उस समय पाला पड़े तो हानि होती है। पौधे के इन जलवायु संबंधी गुणों में अंगूर की किस्मों के अनुसार न्यूनाधिक परिवर्तन हो जाता है। अंगूर की सफल खेती के लिये वही मिट्टी सर्वोत्तम है जिसमें जल निकास (ड्रेनेज) का पूर्ण प्रबंध हो। रेतीली दुमट इसके लिये सबसे उत्तम मिट्टी है।

अंगूर की अनेक किस्में हैं। विभिन्न देशों में सब मिलाकर लगभग २०० किस्में होंगी। व्यावसायिक अभिप्राय के अनुसार इन सबका वर्गीकरण किया गया है। इस आधार पर इन्हें चार भागों में विभाजित करते हैं। (१) सुरा अंगूर : इसमें मध्यम मात्रा में चीनी तथा अधिक अम्ल होता है। इस वर्ग के अंगूर मदिरा बनाने के लिये प्रयुक्त होते हैं। (२) भोज्य अंगूर : इसमें चीनी की मात्रा अधिक तथा अम्ल कम होते हैं। इस वर्ग के अंगूरों के पके फल खाए जाते हैं, इसलिये इसका रंग, रूप तथा आकार चित्ताकर्षक होना आवश्यक है। यदि फल बीजरहित (बेदाना) हों तो अति उत्तम है। (३) शुष्क अंगूर : इनमें चीनी की मात्रा अधिक तथा अम्ल कम होता है। इनका बीजरहित होना विशेष गुण है।

इन्हें सुखाकर किशमिश तथा मुनक्का बनाते हैं। (४) सरस अंगूर : इनमें मध्यम चीनी, अधिक अम्ल तथा सुगंध होती है। इनसे पेय पदार्थ बनाए जाते हैं। भारतवर्ष में कृषि योग्य किस्में अग्रलिखित हैं : 'मोकरी' बंबई में, 'द्रक्षाई' तथा 'पचाई' मद्रास में, 'बंगलोर ब्ल्यू' तथा 'औरंगाबाद' मैसूर में, और 'सहारनपुर नंबर १' या 'बेदाना', 'सहारनपुर नंबर २', 'मोतिया', 'ब्लैक कार्निकान' तथा 'रोज़ ऑव पेन' इत्यादि, जो सहारनपुर राजकीय उद्यान में उपजाई जाती है।

अंगूर के नए पौधे कृत्त (कटिंग) द्वारा प्राप्त होते हैं। व्यावसायिक उद्यान के लिये यही सबसे उत्तम विधि है। दिसंबर जनवरी में काट छाँट की गई डालियों में से परिपक्व टुकड़े कृत्तों के लिये चुन लिए जाते हैं। अंगूर के पौधे दाब (लेयरिंग) तथा कलम (ग्राफ्टिंग) द्वारा भी उत्पन्न किए जा सकते हैं। इस प्रकार तैयार किए गए पौधे एक वर्ष बाद स्थायी स्थान पर लगा दिए जाते है। दो दो फुट के गड्ढे दस दस फुट की दूरी पर अप्रैल या मई में खोद दिए जाते हैं। फिर मिट्टी में बराबर परिमाण में खाद मिलाकर वर्षा ऋतु में इन गड्ढों को भर दिया जाता है। मिट्टी भली भाति बैठ जाने पर जखीरा (नर्सरी) से तैयार पौधे लाकर इन गड्ढों में लगा दिए जाते हैं। ये लता के रूप में किसी आधार के सहारे ऊपर चढ़कर फैलते हैं। इन लताओं के उचित आकार तक बढ़ने तथा फलने के लिये इनकी कटाई छँटाई तथा प्रशिक्षण (प्रूनिंग तथा ट्रेनिंग) अत्यंत आवश्यक है। ये दोनों क्रियाएँ एक दूसरे से संबद्ध हैं। इनकी अनेक विधियाँ है जो स्थानीय जलवायु, किस्म विशेष तथा उद्यान के स्वामी के सुविधानुसार प्रयोग की जाती हैं। व्यवहृत प्रमुख विधियाँ ये हैं : (१) एकस्तंभ विधि : अंगूर की लता को एक स्तंभ के सहारे ऊपर चढ़ाते हैं। (२) शीर्ष विधि : इसमें तथा एकस्तंभ विधि में अंतर केवल इतना है कि इस विधि में तना छोटा (३-४ फुट का) रखा जाता है। लगाने के पाँच या छः वर्ष बाद जब तना पुष्ट तथा बलवान हो जाता है तब किसी सहारे की आवश्यकता नहीं रहती। (३) टीला विधि : पहले खाई खोदते है, फिर उसमें भिन्न-भिन्न स्थान पर टीले बनाते है। इन्हीं टीलों के पास अंगूर के पौधे लगाए जाते हैं जिनकी लताएँ टीलों पर चढ़ती और फैलती हैं। (४) कुंज या पंडाल विधि : एक वृत्ताकार चबूतरे के चारो ओर खंभे गाड़कर उन्हीं के सहारे अंगूर की लताएँ चढाते हैं। ऊपर ढाँचे पर लता फैलती है। (५) जालिका विधि : लकड़ी या लोहे के खंभों में तार बाँधकर जाली-नुमा ढाँचा (ट्रेलिस) बनाते हैं। इसी के ऊपर अंगूर की लताएँ चढ़ाते हैं। (६) निफेन (Kniffen) विधि : लोहे के तार भूमि के समांतर स्तंभों के सहारे तानते है। ये तार एक दूसरे के ऊपर कई पंक्ति में होते हैं। पहला तार भूमि से तीन फुट पर तथा इसके ऊपर के प्रत्येक तार डेढ़ डेढ़ फुट पर रहते है; इन्हीं पर लताएँ चढ़ती हैं।

इन्हीं विधियों के अनुसार आकारविशेष के लिये तदनुरूप कटाई छँटाई की जाती है। प्रति वर्ष जाड़े में, जब लता सुषुप्त अवस्था में रहती है, छँटाई भली प्रकार करनी चाहिए। ऐसा करने से नई डालियाँ निकलती है जो अच्छी फसल के लिये आवश्यक होती हैं।

अंगूर की लता की अच्छी वृद्धि तथा उत्तम फसल के लिये प्रति वर्ष, जनवरी में छँटाई करते समय प्रति पौधा १५-२० सेर गोबर की सड़ी हुई खाद या कंपोस्ट देना चाहिए। यदि मछली की खाद मिल सके तो एक या डेढ सेर पर्याप्त है। परंतु खाद की मात्रा तथा देने का समय भिन्न भिन्न स्थानों में वहाँ की मिट्टी की उर्वरता तथा जलवायु पर निर्भर है। वर्षा के बाद जाड़े में कहीं कहीं लोग सिंचाई की आवश्यकता नहीं समझते, परंतु दो तीन सिंचाई कर देना लाभदायक है, विशेषत: ऐसे स्थानों में जहाँ पाले का भय हो। ग्रीष्म ऋतु में आवश्यकतानुसार प्रति सप्ताह सिंचाई की जाती है, परंतु कुछ लोगों का मत है कि फल लगते तथा पकते समय सिंचाई करने से फल की मिठास कम हो जाती है।

लगाने के चार वर्ष बाद अंगूर की लता फल देना आरंभ कर देती है। यों तो दूसरे ही वर्ष फूल फल आने लगते है, पर वे अच्छे नहीं होते तथा पर्याप्त मात्रा में भी नहीं आते। उत्तरप्रदेश में मार्च अप्रैल में लताएँ फूलने लगती हैं और जून के मध्य से जुलाई तक फल पकते रहते है। वर्षा के कारण जूलाईवाले फल फट जाते हैं और सड़ने लगते है। जलवायु की विभिन्नता के कारण सदैव भारतवर्ष के किसी न किसी भाग में अंगूर अवश्य फूलते फलते रहते है जिससे वर्ष भर फल मिलता रहता है। फल जब पकने लगें तो उचित अवस्था में पहुँचने पर पके हुए फल के गुच्छों को कैंची से काट लेना चाहिए। सड़े गले तथा रोगग्रस्त फलों को गुच्छे से अलग कर देना चाहिए। स्वस्थ फलों के गुच्छों को साधारणतः छोटे छोटे लकड़ी के बक्सों में या टोकरियों में संवेष्टित (पैक) करके विक्रय के लिये भेजा जाता है। अंगूर की उपज प्रति एकड़ १०० मन से २०० मन तक होती है। इसके फल को सुखाकर किशमिश तथा मुनक्का तैयार किया जाता है।

अंगूर की लताओं को निम्नलिखित कीड़ों तथा रोगों से हानि पहुँच सकती है : (१) फाइलाक्सेरा : यह पौधों की जड़ों में लगता है जिससे पौधे मर जाते हैं। जिस क्षेत्र की मिट्टी में इनका संक्रमण (इनफेक्शन) हो जाता है उस क्षेत्र में अंगूर की सफलता असंभव है। ऐसे क्षेत्र के लिये ऐसी किस्मों का चुनाव करना चाहिए जिनपर इनका प्रभाव न पड़ता हो। (२) लता-भृंग (एरीथ्रोनिउरा कोमीज) : यह एक छोटा काले रंग का कीड़ा होता है जो पत्तियों में छेद कर देता है तथा कोमल कलियों को खा जाता है। इनको पकड़कर मार डालना चाहिए अथवा लेड या कैल्सियम आर्सिनेट का छिड़-काव करना चाहिए। (३) काकचेफर : ये पत्तियों पर आक्रमण करते हैं। कभी कभी लता को एकदम पर्णरहित कर देते हैं। लेड आर्सिनेट या बोर्डो मिक्सचर का छिड़काव करने से नियंत्रण होता है। (४) गर्डलिंग कीड़ा : यह डालियों पर घेरा या मेखला सा बनाता है। ऐसी डालियाँ नष्ट हो जाती है। कीड़ों को ढूँढ़कर मार डालना चाहिए तथा सूखी डालियों को जला डालना चाहिए। (५) लीफ रोलर : यह कीड़ा पत्तियों को लपेटकर बेलनाकार बना लेता है तथा पत्ती के हरे पदार्थ को खाता है। लेड आर्सिनेट अथवा डी० डी० टी० का छिड़काव करने से इसका नियंत्रण होता है। (६) ग्रेप थ्रिप्स : ये कीड़े पत्तियों का रस चूमते हैं। इन्हें नष्ट करने के लिये तंबाकू के पत्ते के अर्क का घोल बनाकर छिड़काव करना चाहिए। (७) पाउडरी मिल्ड्यू : यह एक फंगस जनित रोग है जो अंगूर के प्रत्येक भाग पर आक्रमण करता है, यहाँ तक कि फूल तथा फल पर भी। बोर्डो मिक्सचर या गंधक के सूक्ष्म चूर्ण का छिड़-काव करने से इसका नियंत्रण होता है। (८) डाउनी मिल्ड्यू : यह भी फंगस है। इसका आक्रमण, प्रभाव तथा उपचार उसी प्रकार होता है जैसे पाउडरी मिल्ड्यू का।

अंगूर से तैयार होनेवाली वस्तुएँ ये है : किशमिश, मुनक्का, संरक्षित रस, मदिरा, सिरका तथा जेली। प्रथम दोनों वस्तुओं की माँग भारतवर्ष में अधिक है। पके फल अधिक समय तक साधारण ताप पर नहीं टिकते, परंतु ३२° फा० ताप पर शीतक सरक्षण (कोल्ड स्टोरेज) में वे अधिक समय तक ताजे रखे जा सकते है।

सं०ग्रं० पी०—वियाला और वी० वर्मौरे : त्रेत जनरा द वितिकुल्तूर आंपेलोग्रफ़ी (१९०९); कार्ल म्यूलर : वाइनबाउ-लेक्सिकन (१९३०)।

[ज० रा० सिं०]

अंगोला पश्चिमी अफ्रीका के उस भाग में स्थित कुछ प्रदेशों को कहते हैं जो भूमध्यरेखा के दक्षिण में हैं और पहले पुर्तगाल के अधीन थे। स्थिति : ६° ३०' द० अ० से १७° द० अ०, १२° ३०, पू० दे० से २३° पू० दे०; क्षेत्रफल : ४,८१,३५१ वर्गमील; जन-संख्या: ४१,११,७९६ (१९५० में); सीमा : उत्तर में बेलजियम कांगो; पश्चिम में दक्खिनी अंधमहासागर; दक्षिण में दक्षिणी अफ्रीका संघ तथा पूर्व में रोडेशिया। अंगोला पहले पुर्तगाल के अधीन था, पर अब संयुक्त राष्ट्रसंघ की देखरेख में है। अंगोला का अधिकांश भाग पठारी है, जिसकी सागरतल से औसत ऊँचाई ५००० फुट है। यहाँ केवल सागरतट पर ही मैदान है। इनकी चौड़ाई ३० से लेकर १०० मील तक है। यहाँ की मुख्य नदी कोयंजा है। पठारी भाग की जलवायु शीतोष्ण है। सितंबर से लेकर अप्रैल तक के बीच ५० इंच से ६० इंच तक वर्षा होती है। उष्ण कटिबंधीय वनस्पतियाँ यहाँ अपने पूर्ण वैभव में उत्पन्न होती हैं जिनमें से मुख्य नारियल, केला और अनेक अंतर-उष्ण-कटिबंधीय लताएँ हैं। उष्ण कटिबंधीय पशुओं के साथ साथ यहाँ पर आयात किए हुए घोड़े, भेड़ें तथा गाएँ भी पर्याप्त संख्या में हैं। हीरा, कोयला, ताँबा, सोना, चाँदी, गंधक आदि खनिज यहाँ मिलते हैं।

मुख्य कृषीय उपज चीनी, कहवा, सन, मक्का, चावल तथा नारियल है। मास, तबाकू, लकडी तथा मछली सबधी उद्योग यहाँ उन्नति पर है। चूना, कागज तथा रबर सबधी उद्योगो का भविष्य उज्वल है। इस उपनिवेश मे १,४४२ मील लबी रेले तथा २२,७०८ मील लबी सडके है। सन् १६४६ में यह ५ प्रातो तथा १६ प्रशासकीय जनपदो मे बाँटा गया था।

यहाँ के निवासियो में से अधिकतर बतू नीग्रो जाति के है जो कागो जनपद मे शुद्ध नीग्रो लोगो से समिश्रित हैं। [शि० म० सि०]

अंग्कोरथोम, अंग्कोरवात प्राचीन कबुज की राजधानी और उसके मदिरो के भग्नावशेष का विस्तार। अग्कोरथोम और अग्कोरवात सुदूर पूर्व के हिदचीन मे प्राचीन भारतीय सस्कृति के अवशेष है। ईसवी सदियो के पहले से ही सुदूर पूर्व के देशो मे प्रवासी भारतीयो के अनेक उपनिवेश बस चले थे। हिदचीन, सुवर्णद्वीप, यवद्वीप, मलाया आदि मे भारतीयो ने कालातर मे अनेक राज्यो की स्थापना की। वर्तमान कबोडिया के उत्तरी भाग मे स्थित कबुज राज्य ऐसा ही उपनिवेश था जिसको सभवत पूर्व सागरवर्ती प्रवासी भारतीयो ने बसाया था। परतु जैसा 'कबुज' शब्द से व्यक्त होता है, कुछ विद्वान् भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर बसनेवाले कबोजो का सबध भी इस प्राचीन भारतीय उपनिवेश से बताते है। अनुश्रुति के अनुसार इस राज्य का सस्थापक कौडिन्य ब्राह्मण था जिसका नाम वहाँ के एक सस्कृत अभिलेख मे मिला है। नवी शताब्दी ईसवी मे जयवर्मा तृतीय कबुज का राजा हुआ और उसी ने लगभग ८६० ईसवी मे अग्कोरथोम (थोम का अर्थ राजधानी है) नामक अपनी राजधानी की नीव डाली। राजधानी प्राय ४० वर्षो तक बनती रही और ६०० ई० के लगभग तैयार हुई। उसके निर्माण के सबध मे कबुज के साहित्य मे अनेक किवदतिया प्रचलित है।

पश्चिम के समीपवर्ती थाई लाग पहले कबुज के ख्मेर साम्राज्य के अधीन थे परतु १४वी सदी के मध्य उन्हाने कबुज पर आक्रमण करना आरभ किया और अग्कोरथोम को बारबार जीता और लूटा। तब लाचार होकर ख्मेरो को अपनी वह राजधानी छोड देनी पडी। फिर धीरे धीरे बाँस के वनो की बाढ ने नगर को सभ्य जगत् से सर्वथा पृथक् कर दिया और उसकी सत्ता अधकार मे विलीन हो गई। नगर भी अधिकतर टूटकर खडहर हो गया। १६वी सदी के अत मे एक फ्रासीसी वैज्ञानिक ने पाँच दिनो की नौकायात्रा के बाद उस नगर और उसके खडहरो का पुनरुद्धार किया। नगर तोन्ले साप नामक महान् सरोवर के किनारे उत्तर की ओर सदियो से सोया पडा था जहाँ पास ही, दूसरे तट पर, विशाल मदिरो के भग्नावशेष खडे थे।

आज का अग्कोरथोम एक विशाल नगर का खडहर है। उसके चारो ओर ३३० फुट चौडी खाईं दौडती है जो सदा जल से भरी रहती थी। नगर और खाईं के बीच एक विशाल वर्गाकार प्राचीर नगर की रक्षा करती है। प्राचीर मे अनेक भव्य और विशाल महाद्वार बने है। महाद्वारो के ऊँचे शिखरो को त्रिशीर्ष दिग्गज अपने मस्तक पर उठाए खडे है। विभिन्न द्वारो से पाँच विभिन्न राजपथ नगर के मध्य तक पहुँचते है। विभिन्न आकृतियोवाले सरोवरो के खडहर आज अपनी जीर्णावस्था मे भी निर्माणकर्ता की प्रशस्ति गाते है। नगर के ठीक बीचोबीच शिव का एक विशाल मदिर है जिसके तीन भाग है। प्रत्येक भाग मे एक ऊँचा शिखर है। मध्य शिखर की ऊँचाई लगभग १५० फुट है। इन ऊँचे शिखरो के चारो ओर अनेक छोटे छोटे शिखर बने है जो सख्या मे लगभग ५० है। इन शिखरो के चारो ओर समाधिस्थ शिव की मूर्तियाँ स्थापित हैं। मदिर की विशालता और निर्माणकला आश्चर्यजनक है। उसकी दीवारो को पशु, पक्षी, पुष्प एव नृत्यागनाओ जैसी विभिन्न आकृतियो से अलकृत किया गया है। यह मदिर वास्तुकला की दृष्टि से विश्व की एक आश्चर्यजनक वस्तु है और भारत के प्राचीन पौराणिक मदिर के अवशेषो में तो एकाकी है। अग्कोरथोम के मदिर और भवन, उसके प्राचीन राजपथ और सरोवर सभी उस नगर की समृद्धि के सूचक है।

१२वी शताब्दी के लगभग सूर्यवर्मा द्वितीय ने अग्कोरवात में विष्णु का एक विशाल मदिर बनवाया। इस मदिर की रक्षा भी एक चतुर्दिक खाई करती है जिसकी चौड़ाई लगभग ७०० फुट है। दूर से यह खाईं झील के समान दृष्टिगोचर होती है। मदिर के पश्चिम की ओर इस खाई को पार करने के लिये एक पुल बना हुआ है। पुल के पार मदिर मे प्रवेश के लिये एक विशाल द्वार निर्मित है जो लगभग १,००० फुट चौडा है। मदिर बहुत विशाल है। इसकी दीवारो पर समस्त रामायण मूर्तियो मे अकित है। इस मदिर को देखने से ज्ञात होता है कि विदेशो मे जाकर भी प्रवासी कलाकारो ने भारतीय कला को जीवित रखा था। इनसे प्रकट है कि अग्कोरथाम जिस कबुज देश की राजधानी था उसमे विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश आदि देवताओ की पूजा प्रचलित थी। इन मदिरो के निर्माण मे जिस कला का अनुकरण हुआ है वह भारतीय गुप्त कला से प्रभावित जान पडती है। अग्कोरवात के मदिरो, तोरणद्वारो और शिखरो के अलकरण मे गुप्त कला प्रतिबिबित है। इनमे भारतीय सास्कृतिक परपरा जीवित रखी गई थी। एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि यशोधरपुर (अग्कोरथोम का पूर्वनाम) का सस्थापक नरेश यशोवर्मा "अर्जुन और भीम जैसा वीर, सुश्रुत जैसा विद्वान् तथा शिल्प, भाषा, लिपि एव नृत्यकला मे पारगत था।" उसने अग्कोरथोम और अग्कोरवात के अतिरिक्त कबुज के अनेक अन्य स्थानो मे भी आश्रम स्थापित किए जहाँ रामायण, महाभारत, पुराण तथा अन्य भारतीय ग्रथो का अध्ययन अध्यापन होता था। अग्कोरवात के हिंदू मदिरो पर बाद मे बौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव पडा और कालातर मे उनमें बौद्ध भिक्षुओ ने निवास भी किया।

अग्कोरथोम और अग्कोरवात मे २०वी सदी के आरभ मे जो पुरातात्विक खुदाइयाँ हुई है उनसे ख्मेरो के धार्मिक विश्वासो, कलाकृतियो और भारतीय परपराओ की प्रवासगत परिस्थितियो पर बहुत प्रकाश पडा है। कला की दृष्टि से अग्कोरथोम और अग्कोरवात अपने महलो और भवनो तथा मदिरो और देवालयो के खडहरो के कारण ससार के उस दिशा के शीर्षस्थ क्षेत्र बन गए है। जगत् के विविध भागो से हजारो पर्यटक उस प्राचीन हिंदू-बौद्ध-केंद्र के दर्शनो के लिये वहाँ प्रति वर्ष जाते है।

सं० ग्रं०—ई० अमोन्ये ल कबोज, ए० एच० मुहोत ट्रैवेल्स इन इडोचाइना। [प० उ०]

अंग्रेज इग्लैंड अथवा ब्रिटेन मे बसनेवाली जाति साधारणत अग्रेज कहलाती है। जातिशास्त्रीय दृष्टि से इग्लैंड की वर्तमान जनसख्या में पर्याप्त विभिन्नता मिलती है। इस जनसख्या की सरचना एक दूसरे से पृथक् दूरस्थ क्षेत्रो से आए प्रजातीय तत्वो के मिश्रण से हुई है। किंतु इनमे नार्दिक (उत्तरीय जाति) तत्व की प्रधानता है। इग्लैंड की जनता के प्रमुख शारीरिक लक्षणो का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है

उनके रगाण प्रधानत हल्के और मिश्रित है। उनकी त्वचा गौरवर्ण है और वाहिनीयुक्त (वास्क्यूलर) होने के कारण प्रकाश और वायु के प्रभाव से शीघ्र रक्तिम हो जाती है। बालो का रग हलका भूरा है और आँखे नीली या हल्की भूरी है। औसत कद १७२ सें० मी० के लगभग है। जनसख्या में दीर्घकपाल अधिक है और इस लक्षण मे अग्रेजो की तुलना केवल स्कैंडिनेवियाके निवासियो से की जा सकती है। इनकी औसत कापालिकदेशना (सेफैलिक इडेक्स) ७७ और ७६ के बीच है जिसकी निम्न और उच्च सीमाएँ क्रमश ६६ और ८७ है। मुख की चौडाई सामान्य कही जायगी, यद्यपि लबाई औसत यूरोपीय चेहरे से अधिक है। ललाट और जबड़े का व्यास अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण मुखाकृति समातरभुजीय प्रतीत होती है। सब मिलाकर चेहरे का नक्शा नार्दिक ही कहा जायगा।

ब्रिटिश द्वीपसमूह का प्रजातीय इतिहास उतना सरल नही है जितना साधारणत समझा जाता है। जनसख्या की सरचना मे श्वेत प्रजाति की प्राय सभी शाखाओं का योगदान हुआ है। इनमे पुरापाषाणकालीन मानव के एक या अधिक अपरिवर्तित प्रकार, पिगल भूमध्यसागरीय (ब्रूनेट) प्रजाति के दो प्रकार, लौहयुगीन नार्दिक प्रजाति के दो प्रमुख प्रकार, आद्रियातिक (दिनारिक) अथवा आर्मेनी पृथुकपाल (ब्रैकीसेफल) प्रकार तथा प्रागैतिहासिक बीकर (बीकर-प्ररूप मिट्टी के बर्तनो के निर्माता) प्रजातीय प्रकार मुख्य है। वर्तमान ब्रिटिश जनसख्या की शारीरिक सरचना पर अन्य आक्रमणकारियो की अपेक्षा नार्दिक जाति के उन केल्टो का प्रभाव अधिक है जो लौहयुग में बडी सख्या मे इग्लैंड मे आकर बस गए थे। ब्रिटेन पर रोमन आधिपत्य के कारण वहाँ की प्रजातीय सरचना पर विशेष प्रभाव

नहीं पड़ा। अनुवर्ती ऐंगल या सैक्सन, जूट, डेन और नार्वेई आक्रमणकारी मिश्रित जाति के थे, यद्यपि इन सभी में नार्दिक प्रजातीय स्कंध का प्राधान्य था। नार्मन विजय के कारण इंग्लैंड की जनसंख्या में स्कैंडिनेवियाई अभिजात तत्वों का संमिश्रण हुआ। फ्लेमिंग, वालून, जर्मन, उगनो (Huguenot), यहूदी आदि छोटे समूहों के अभियानों का प्रभाव ब्रिटिश जनसंख्या के शारीरिक लक्षणों की अपेक्षा मुख्यतः इस द्वीपसमूह की संस्कृति पर अधिक स्पष्ट हुआ है।

[धी० ना० म०]

अंग्रेजी भाषा अंग्रेजी का इतिहास एक ऐसी भाषा का इतिहास है जिसका आदि अकिंचन है, पर जो विकसित होते होते संसार की किसी भी अन्य भाषा की अपेक्षा विश्वभाषा बन जाने के समीप आ पहुँची है। भारत-यूरोपीय (इंडो-यूरोपियन) भाषा-परिवार की जर्मन शाखा की बोलियों के एक समूह के रूप में इसका जन्म हुआ। आधुनिक डच तथा फ्रीजियाई भाषाओं के अनेक रूपों से इसका घनिष्ट संबंध था। डेनमार्क, नार्वे और स्वीडन में बोली जानेवाली भाषाओं के प्रारंभिक रूप इसके निकट के नातेदार थे और आधुनिक जर्मन के पूर्व रूप से भी इसका दूर का संबंध न था। ऐंगल, सैक्सन तथा जूट नामक जर्मन कबीलों के आक्रमण के साथ यह भाषा ईसा की पाँचवीं तथा छठी शताब्दी में ब्रिटेन पहुँची। इन कबीलों ने ब्रिटेन के आदिवासियों को भगा दिया या गुलाम बना लिया, और वे स्वयं देश में बस गए। मूल ब्रिटेन वासियों की केल्टी बोली को हटाकर विजेताओं की इंग्लिश भाषा स्थानापन्न हुई और उसी के नाम से देश का नाम भी बदलकर इंग्लैंड पड़ गया।

विजेताओं की तीन प्रमुख बोलियों में से पश्चिमी सैक्सन नामक बोली की कालांतर में प्रधानता हो गई। उस युग की अंग्रेजी को हम आज प्राचीन अंग्रेजी (ओल्ड इंग्लिश) अथवा ऐंग्लो-सैक्सन कहते हैं। प्राचीन अंग्रेजी की सभी बोलियाँ आज की अंग्रेजी से दो तीन महत्वपूर्ण बातों में भिन्न थीं। आधुनिक अंग्रेजी की अपेक्षा प्राचीन अंग्रेजी की व्याकरण संबंधी गठन कहीं अधिक जटिल थी। संज्ञा के अनेक रूप बनते थे और कारक भी अनेक होते थे जिनका एक दूसरे से भेद विविध संयोगात्मक रूपों से जाना जाता था। निस्संदेह यह संस्कृत भाषा के रूपविधान की भाँति जटिल नहीं था, फिर भी पर्याप्त क्लिष्ट था। इसके विपरीत आधुनिक अंग्रेजी में रूपात्मक जटिलता बहुत कम पाई जाती है और उसका गठन फारसी की सरलता के समीप है।

प्राचीन और अर्वाचीन अंग्रेजी के रूपों में एक और अंतर है जो भारत-यूरोपीय परिवार की भाषाओं में समानतः प्रतिबिंबित है। भारत-यूरोपीय परिवार की अनेक भाषाओं में आज भी आधुनिक अंग्रेजी के प्राकृतिक लिंगभेद के विपरीत व्याकरणीय लिंगभेद वर्तमान हैं। यह व्याकरणीय लिंगभेद प्राचीन अंग्रेजी में भी विद्यमान था। उदाहरणार्थ प्राचीन अंग्रेजी में लिंग का निर्धारण पुरुषवाचक या स्त्रीवाचक शब्द के आधार पर नहीं किया जाता था, जैसा आज की अंग्रेजी में किया जाता है, बल्कि शब्द के रूप अथवा रूपात्मक प्रत्यय के आधार पर होता था, जैसे आधुनिक अंग्रेजी शब्द 'वाइफ़' (पत्नी) का प्राचीन अंग्रेजी रूप 'विफ़' (wif) नपुंसकलिंग था, जब कि इसी शब्द का पूर्ण रूप 'विफ़मन' (wifman), जिसका आधुनिक अंग्रेजी रूप 'वुमन' (स्त्री) है, पुंलिंग माना जाता था। इसी प्रकार 'मोना' (mona), आधुनिक 'मून' (चंद्रमा), पुंलिग था, लेकिन 'सन्न' (sunne), आधुनिक 'सन' (सूर्य), स्त्रीलिंग था।

प्राचीन अंग्रेजी और उसकी वंशज आधुनिक अंग्रेजी में तीसरा भेद शब्दावली की प्रकृति का है। प्राचीन अंग्रेजी का शब्दभंडार अपेक्षाकृत अमिश्रित था, जब कि आधुनिक का अतिमिश्रित है। यह सच है कि प्राचीन अंग्रेजी में जर्मन शब्दों के अतिरिक्त अन्य उद्गमों के भी कुछ शब्द थे। उदाहरणार्थ ऐंग्लो-सैक्सन जातियों के पूर्वजों ने अपने यूरोपीय निवासकाल में कतिपय लातीनी शब्द ले लिए थे। तदुपरांत ब्रिटेन में बसने पर कुछ और लातीनी शब्द अपना लिए गए थे, क्योंकि चार शताब्दियों तक ब्रिटेन रोमन साम्राज्य के अधीन रह चुका था। ईसाई धर्म स्वीकार कर लेने के बाद तो लातीनी शब्दों की संख्या और भी अधिक बढ़ गई। आदिवासी ब्रिटेनों की बोली के भी लगभग एक दर्जन केल्टी शब्द प्राचीन अंग्रेजी में प्रविष्ट हो गए थे। आठवीं शताब्दी के बाद से ब्रिटेन में स्कैंडिनेवियाइयों की संख्या में यथेष्ट वृद्धि होती रहने के कारण प्राचीन अंग्रेजी के इतिहास के उत्तरार्ध में डेनी तथा नार्वेई भाषाओं के शब्द भी आ मिले थे।

आठवीं शताब्दी के बाद से अंग्रेजों के ही भाई बंधु डेनमार्क तथा नार्वे के निवासियों ने उनकी नवीन मातृभूमि इंग्लैंड पर आक्रमण करना प्रारंभ कर दिया और अंत में सन् १०१७ से १०४२ ई० तक उन्होंने उसपर अपना प्रभुत्व जमा लिया। फिर भी प्राचीन अंग्रेजी के संपूर्ण शब्दकोश में सब मिलाकर भी विशेष योग इन ऐतिहासिक परिवर्तनों के फलस्वरूप नहीं हुआ, क्योंकि आज के जर्मनों की भाँति ऐंग्लो-सैक्सन भी अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करने के प्रतिकूल थे, और अपने आज के वंशजों की अपेक्षा वे कहीं अधिक अपनी भाषा के मूल स्रोतों पर निर्भर रहते थे। जब कभी कोई नवीन विचार अथवा अभिनव अनुभव अभिव्यक्ति की अपेक्षा करता था, तब वे विदेशी शब्द उधार लेने के स्थान पर अधिकतर अपनी ही मूल भाषा की सामग्री के आधार पर शब्द गढ़ लेते थे। इसके विपरीत आधुनिक अंग्रेजी अपने शब्दकोश में विदेशी शब्दों का स्वागत करती है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि इसके फलस्वरूप आज अंग्रेजों के शब्दकोश में प्रति चार शब्दों में लगभग तीन शब्द विदेशी उद्गम के हैं। गणना करने से विदित हुआ है कि आज की अंग्रेजी में लगभग १५ प्रति शत शब्द ही प्राचीन अंग्रेजी के रह गए है।

जिस प्राचीन अंग्रेजी की चर्चा हम करते आए हैं, उसका काल लगभग सन् ४५० से ११०० ई० तक रहा, क्योंकि १०६६ में इंग्लैंड में नार्मन विजयी हुए। इसके फलस्वरूप भाषा के गठन और शब्दभांडार दोनों में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से विलक्षण परिवर्तन हुए। इस भाषा के इतिहास ने अब एक नए युग में प्रवेश किया। यह स्थिति प्रायः १५०० ई० तक रही। सुविधानुसार इसे मध्य अंग्रेजी (मिडिल इंग्लिश) काल कहा जाता है। इसी काल में भाषा में वे विशेषताएँ विकसित हुईं जिनसे अब वह प्राचीन अंग्रेजी से स्पष्ट रूप से भिन्न हो गई।

नार्मन विजय के फलस्वरूप इंग्लैंड पर फ्रांस के राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा भाषा संबंधी प्रभुत्व के एक सुदीर्घ युग का सूत्रपात हुआ। इंग्लिश चैनल पार के विदेशियों द्वारा इंग्लैंड के राजदरबार, गिरजाघर, स्कूल, न्यायालय आदि सभी दीर्घ काल तक शासित रहे। इस विजय का भाषा संबंधी तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी सैक्सन को हटाकर फ्रेंच ही शासन और सभ्यता की भाषा बन बैठी। पराजित तथा तिरस्कृत ऐंग्लो-सैक्सन जाति की मातृभाषा अपनी समस्त बोलियों के साथ इस प्रकार अपदस्थ होकर जनसाधारण की 'वर्नाक्युलर' मानी जाने लगी। बहुत समय तक इसका उपयोग न तो फ्रांसीसी शासकों ने किया और न उनके घनिष्ट संपर्क में रहनेवाले इंग्लैंड निवासियों ने। शासक और शासकीय वर्ग केवल फ्रेंच बोलते थे, फ्रेंच लिखते थे, अथवा इसके उस रूप का प्रयोग करते थे जिसे ऐंग्लो-फ्रेंच अथवा ऐंग्लो-नार्मन कहते हैं। पराजित होने के कारण अंग्रेजी में लिखना पूर्ण रूप में बंद नहीं हुआ, किंतु यह अकिंचन स्वदेशवासियों तक ही सीमित रहा। उनके पाठक भी लेखकों के समान ही अकिंचन थे। इसके अतिरिक्त यह लिखना प्रधानतया पश्चिमी सैक्सन में नहीं होता था, बल्कि प्रत्येक लेखक अपने अपने क्षेत्र की बोली में लिखता था।

किंतु शासकीय अल्पवर्ग की भाषा पर शासित बहुसंख्यक लोगों की स्वदेशी भाषा की विजय देर सबेर अवश्यंभावी थी। १३वीं शताब्दी के प्रारंभ (१२०६) में इंग्लैंड के फ्रांसीसी प्रभु नार्मंडी हार गए, और सन् १२४४ ई० में फ्रांसीसियों की इंग्लैंड स्थित कुल जागीरें और संपत्ति जब्त कर ली गई। इन राजनीतिक घटनाओं के फलस्वरूप देश के स्वदेशी एवं विदेशी दोनों ही वर्ग मिलकर एक हो गए। शीघ्र ही वह समय आ गया जब अंग्रेजी न बोल सकनेवाले हीन और घृणित समझे जाने लगे। यह सही है कि बहुत समय तक फ्रेंच न जाननेवाले को गँवार समझा जाता था और फ्रेंच ही संस्कृति की भाषा बनी रही। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि १४वीं शताब्दी के मध्य तक यह स्थिति आ पहुँची कि अनेक सामंत भी फ्रेंच नहीं जानते थे, किंतु अंग्रेजी सभी जानते थे। लहर धीरे धीरे पलट रही थी। इस शताब्दी के अंत तक, अंग्रेजी फिर से विद्यालयों में अधिकांश शिक्षा का

माध्यम बन गई और संभ्रांत कुलों के बच्चों ने भी फ्रेंच पढ़ना छोड़ दिया। जब यह सब हो रहा था उसी समय एक महान् प्रतिभा ने अंग्रेजी में साहित्य-सृजन आरंभ किया जिसका प्रभाव उसके समकालीन लेखकों पर ही नहीं बल्कि भावी साहित्यकारों पर भी एक शताब्दी तक रहा। इस महान् लेखक का नाम ज्योफ़े चॉसर था जो 'कैंटरबरी टेल्स' के अमर कवि के रूप में सुविख्यात हुआ। यह अमर काव्य अंग्रेजी की पूर्वी मध्यदेशी बोली में लिखा गया जिससे सहज ही इस बोली और अंग्रेजी को अपूर्व गौरव प्राप्त हुआ और इसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई।

जिस पूर्वी मध्यदेशी (मिडलैंड) बोली में चॉसर ने अपने काव्य की सृष्टि की, वही संयोग से लंदन, आक्सफ़र्ड और कैंब्रिज में भी बोली जाती थी। आक्सफर्ड और कैंब्रिज में ही उस समय इंग्लैंड के मात्र दो विश्वविद्यालय थे। अतः कालांतर में यही बोली साहित्यिक अभिव्यक्ति की मान्य भाषा हुई। यह सत्य है कि अगली कई शताब्दियों तक अंग्रेज जनसाधारण अपनी-अपनी स्थानीय बोलियाँ बोलते रहे, और वे इसकी चिंता नहीं करते थे कि उनकी बोली भाषा के किसी मान्य आदर्श के अनुरूप है अथवा नहीं। किंतु १६वीं शताब्दी तक यह मान्यता प्रतिष्ठित हो गई थी कि जो बोली लंदन और उसके पड़ोस में बोली जाती है, वही समस्त साहित्यिक रचना के लिये टकसाली भाषा है। तब से अब तक बहुत थोड़े से हेर फेर के बाद यही बोली अंग्रेजी भाषा का सर्वाधिक प्राजल रूप मानी जाती है। किंतु १४वीं शताब्दी की चॉसर की अंग्रेजी नवीं शताब्दी के राजा अल्फ़्रेड की अंग्रेजी से बहुत भिन्न थी। आधुनिक अंग्रेजी से वह जितनी भिन्न है, उससे कहीं अधिक वह प्राचीन अंग्रेजी से भिन्न थी। निस्संदेह उसका गठन शेक्सपियर अथवा शा की भाषा की तुलना में अधिक संयोगात्मक था, किंतु अल्फ़्रेड, एल्फ़्रिक अथवा प्राचीन अंग्रेजी के अन्य लेखकों की तुलना में कम संयोगात्मक था। उसका शब्दसमूह नार्मन विजय से पूर्व की अंग्रेजी के प्रायः विशुद्ध शब्दभांडार की अपेक्षा आज के ही बहुमिश्रित शब्दकोश की ओर झुकता हुआ था।

अंग्रेजी भाषा के शब्दकोश और गठन के इन परिवर्तनों पर नार्मन विजय का प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव विस्तृत रूप से पड़ा। संयोगात्मक गठन के ह्रास में यह परोक्ष रूप से सहायक हुई और आगे चलकर अधिकांश संयोगात्मक रूपों का लोप हो गया। संयोगात्मक गठन का अंततः विग्रह अवश्यंभावी था, और वास्तव में वह प्राचीन अंग्रेजी के उत्तरार्धकाल में ही प्रारंभ हो चुका था। परंतु यदि नार्मन विजयी न होते तो यह विग्रह न इतना अधिक होता और न इतना शीघ्र। पश्चिमी सैक्सन की सुप्रतिष्ठित साहित्यिक परंपरा का नाश और अंग्रेजी को अपदस्थ कर इस विजय ने उन सभी रूढ़ियों का उन्मूलन कर दिया जो भाषा को उसके प्राचीन रूप के निकट रखती है। भाषा में सरलता तथा एकरूपता लानेवाली प्रवृत्तियों को पूर्ण रूप में विकसित होने का अवसर मिल गया। विजय के फलस्वरूप जो अंतर्जातीय मिश्रण हुआ, उसने भी संयोगात्मक रूपों के उच्छेदन में योग दिया क्योंकि एक ओर तो विजयी विदेशियों द्वारा नई भाषा के प्रयोग में उसके रूप और व्यवहार की पकड़ और समझ में कमी हुई और दूसरी ओर देशवासियों की ओर से प्रयत्न हुआ कि उन्हें अपनी बात समझाने के लिये अपनी भाषा को सरल करें, किंतु केवल इतनी सरल कि उसका अर्थ लुप्त न हो जाय। फलस्वरूप संयोगात्मक रूपों की जटिलता का अधिक से अधिक परित्याग किया गया। उपर्युक्त दोनों कारणों से संयोगात्मक रूप घटते गए, और व्याकरण भी सरल होता गया।

नार्मन विजय ने शीघ्रतापूर्वक अंग्रेजी भाषा के संयोगात्मक रूपों को कम करके उसके गठन को सरल बनाया। साथ ही, इस विजय के बिना भाषा के शब्दकोश में भी क्रांतिकारी परिवर्तन न होता। लगभग दो शताब्दियों तक निरंतर फ्रेंच प्रभुत्व के कारण ही मूल अंग्रेजी के सैकड़ों प्रचलित शब्द निकाल फेंके गए, साथ ही हजारों फ्रेंच शब्द नवीन विचारों को अभिव्यक्त करने और नई नई वस्तुओं तथा वस्तुस्थितियों का नामकरण करने के निमित्त प्रचलित कर दिए गए। आज अंग्रेजी के भाषाभांडार में न्याय, शासन तथा सेना, अभिजात उच्चवर्ग तथा फैशन, कला एवं साहित्य संबंधी जो अनेक प्रचलित शब्द हैं, उनमें से अधिकतर फ्रेंच भाषा के ही हैं। प्रति दिन के व्यवहार में आनेवाले संबंधबोधक तथा अन्य शब्द, जैसे मैडम, मास्टर, सर्वेंट, अंकिल, एयर, सेकंड आदि भी फ्रेंच हैं। गणना के अनुसार ऐसे फ्रांसीसी शब्दों की संख्या लगभग दस हजार है जिनमें साढ़े सात हजार शब्द आज इस प्रकार प्रचलित हो गए हैं कि उनका विदेशी बाना बिलकुल नहीं पहचाना जाता, क्योंकि अंग्रेजी ने उन्हें अपनी बोली और उच्चारण के अनुसार आत्मसात् कर लिया है।

विदेशी शब्दों का यह प्रवेश इतना गहरा और विस्तृत है कि फ्रेंच उद्गम के शब्दों का प्रयोग किए बिना अधिकतर विषयों पर अभिव्यक्ति प्रायः असंभव हो गई है। यही नहीं, अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करना अंग्रेजी का विशेष गुण हो गया। क्योंकि फ्रांसीसी प्रभुत्व काल में गृहीत अधिकांश फ्रेंच शब्दों का मूल लातीनी था, इसलिये सीधे लातीनी से शब्द लेने का द्वार प्रशस्त हो गया। 'ज्ञान के पुनर्जागरण काल' (रिवाइवल ऑव लर्निंग) में अनेक लातीनी तथा यूनानी शब्द अंग्रेजी भाषा में प्रविष्ट हुए। सन् १६६० ई० में इंग्लैंड में राजतंत्र के पुनःस्थापन (दि रेस्टोरेशन) के पश्चात् फ्रेंच शब्दों की दूसरी बाढ़ चार्ल्स द्वितीय के फ्रेंच प्रवास से स्वदेश पुनरागमन के साथ आई, क्योंकि उसने अपने राजदरबार को फ्रांसीसी रंग में रँग दिया। १९वीं शताब्दी में फिर फ्रांसीसी, लातीनी और यूनानी शब्दों के बड़े बड़े समूह अंग्रेजी में आकर मिले। किंतु आधुनिक अंग्रेजी के शब्दभांडार में वृद्धि करनेवाली केवल ये ही भाषाएँ नहीं हैं। यूरोपीय भाषाओं में से शब्द देनेवाली अन्य उल्लेखनीय भाषाएँ डच, जर्मन, इतालीय, स्पेनी और पुर्तगाली हैं। एशिया की भाषाओं में चीनी, जापानी, फारसी, अरबी, मलयालम, संस्कृत तथा उसकी वंशज आधुनिक भारतीय भाषाओं, द्रविड़ तथा पोलीनेशियाई भाषाओं को भी यह गौरव प्राप्त है।

इस बृहत् शब्दकोश से भाषा के मुहावरे की शुद्धता दूषित होने लगी जिसके कारण कितने ही वर्गों की ओर से स्वाभाविक विरोध उठ खड़ा हुआ। पुनर्जागरण काल में (१५वीं शताब्दी के यूरोप में वह युग जिसमें कला तथा साहित्य का पुनर्जन्म हुआ और जिससे मध्ययुगीन यूरोपीय सभ्यता का अंत तथा आधुनिक सभ्यता का आरंभ हुआ) ऐसे भी विशुद्धतावादी थे जो लातीनी शब्दों को भारी संख्या में ग्रहण करने के विरोधी थे। १७वीं सदी के उत्तरार्ध तथा १८वी शताब्दी में निरंतर अनेक आलोचकों तथा साहित्यकारों को शिकायत थी कि शब्दों और भाषा के मुहावरों के साथ खिलवाड़ किया जा रहा है। वास्तव में १८वीं शताब्दी में ही भाषा को प्रांजल तथा परिमार्जित करके उसे अपरिवर्तनशील और टकसाली बनाने के सतत प्रयत्न किए गए। कतिपय संमानित लेखकों ने तो भाषा के विकास पर नजर रखने और उसको नियंत्रित करने के लिये फ्रेंच अकादमी की ही भाँति एक अकादमी स्थापित करने के पक्ष में आवाज उठाई। इस काल में प्रथम बार यथेष्ट संख्या में जो शब्दकोश और व्याकरण प्रकाशित हुए, वे भाषा को नियंत्रित करने में बहुत कुछ सहायक हुए, किंतु उसे अपरिवर्तनशील बनाने के सभी प्रयत्न विफल हुए।

विशेष रूप से १९वीं शताब्दी में ब्रिटिश शक्ति तथा प्रभाव के फलस्वरूप सभी भागों से न केवल अनेक शब्द ही अंग्रेजी में प्रविष्ट हुए, वरन् संसार के विभिन्न भागों में अंग्रेजी के नवीन रूपों का प्रादुर्भाव भी होने लगा। फलस्वरूप आज अंग्रेजी भाषा के इंग्लिश रूप के अतिरिक्त अमरीकी, आस्ट्रेलियाई तथा भारतीय आदि रूप भी हैं।

समस्त संसार की भाषाओं से शब्द लेकर बनी अंग्रेजी की मिश्रित शब्दराशि ने सम्यक् रूप से इस भाषा को अत्यंत संपन्न बना दिया है और इसे वह लोच और शक्ति प्रदान की है जो उसे अन्यथा उपलब्ध नहीं होती। उदाहरणार्थ अंग्रेजी में आज अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं जिनके परस्पर अर्थों में बारीक भेद है, यथा ब्रदरली और फ़्रैटरनल, हार्टी और कॉर्डियल, लोनली और सॉलिटरी। अनेक उदाहरण वर्णसंकर शब्दों के भी हैं जिनका एक अंग अंग्रेजी है तो दूसरा लातीनी या फ्रांसीसी, जैसे ईटेबिल या श्रिंकेज, (shrinkage) जिनमें मूल शब्द देशी हैं, और प्रत्यय विदेशी। इसके विपरीत ब्यूटीफ़ुल या कोर्टली जैसे शब्दों में मूल शब्द विदेशी हैं और प्रत्यय देशी। विशुद्धतावादियों ने समय समय पर इस प्रकार के शब्दनिर्माण का और देशी शब्दों के स्थान पर विदेशी शब्दों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति का भी विरोध किया, जैसे हैंडबुक के स्थान पर मैनुअल अथवा लीचक्राफ़्ट (leachcraft) के स्थान पर मेडिसिन का प्रयोग करना। यद्यपि यह अवश्य सच है कि अंग्रेजी भाषा ने समस्त पद बनाने एवं धातु से शब्द निर्माण करने की अपनी उस सहजता को बहुत कुछ खो दिया जो इसके

जर्मन वंशज होने का एक विशेष गुण थी, तथापि विविध स्रोतों से अपना शब्दकोश संपन्न करने के फलस्वरूप इसे अत्यधिक लाभ भी हुआ है।

चीनी भाषा के बाद आज अंग्रेजी ही दूसरी ऐसी भाषा है जो सर्वाधिक व्यक्तियों द्वारा बोली जाती है। विगत डेढ़ सौ वर्षों में ही इसका प्रयोग दस गुना बढ़ गया है, और विस्तार की दृष्टि से यह संसार में चीनी से भी अधिक भूभागों में बोली जाती है। इस प्रकार अंग्रेजी किसी भी अन्य भाषा की अपेक्षा अंतर्राष्ट्रीय भाषा होने के निकट है। उसका साहित्य संसार में सर्वाधिक सपन्न है, और यह निश्चय ही प्रथम श्रेणी का है। इसका व्याकरण अत्यंत सरल है। इसकी विपुल शब्दराशि विश्वव्यापी है।

साथ ही इसमें भी कोई संदेह नहीं कि यदि कोई विदेशी इस भाषा में पारंगत होना चाहता है तो इसके शब्दों का अराजक वर्णविन्यास, जिसके संबंध में उच्चारण पर कम से कम भरोसा किया जा सकता है, और इसके मुहावरों की बारीकी उसके मार्ग में रोड़े बनकर सामने आती है। फिर भी अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और संपर्क के निमित्त सार्वभौमिक माध्यम के रूप में अधिक से अधिक लोग अंग्रेजी भाषा सीखने के लिये आकर्षित हो रहे हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे।

सं०ग्रं०—एच० ब्रैडले : दि मेकिंग ऑव इंग्लिश (लंदन, १९०४); **ओ०** जेस्पर्सन : ग्रोथ ऐंड स्ट्रक्चर ऑव दि इंग्लिश लैंग्वेज (लाइप्जिग, १९१९); एस० पॉटर : आवर लैंग्वेज (पेंग्विन बुक्स); ए० सी० बी : ए हिस्ट्री ऑव इंग्लिश लिटरेचर (न्यूयार्क, १९३५); ई० क्लेसेन : आउटलाइन ऑव दि हिस्ट्री ऑव दि इंग्लिश लैंग्वेज (मैंचेस्टर, १९१९); एच० सी० वील्ड : ए शार्ट हिस्ट्री ऑव इंग्लिश (लंदन, १९१४); एच० सी० वील्ड : दि ग्रोथ ऑव इंग्लिश (लंदन, १९३४); सी० एल० रेन : दि इंग्लिश लैंग्वेज (लंदन, १९४९); जी० एच० मैकनाइट : इंग्लिश इन दि मेकिंग (न्यूयार्क, १९२८); एस० राबर्टसन और एफ़० जी० कैसिडी : दि डेवेलपमेंट ऑव माडर्न इंग्लिश (न्यूजर्सी, द्वितीय संस्करण, १९५७); बी० ग्रूम : ए शार्ट हिस्ट्री ऑव इंग्लिश वर्ड्स (लंदन, १९२६); मेरी सरजीस्टन : ए हिस्ट्री ऑव दि फ़ारेन वर्ड्स इन इंग्लिश (लंदन, १९३५); जे० ए० शीयर्ड : दि वर्ड्स् वी यूज़ (लंदन, १९५४)
[फ़ी० ई० द०]

अंग्रेजी विधि प्राचीनतम अंग्रेजी कानून कॆंट के राजा एथेलबर्ट के हैं जो सन् ६०० ई० के लगभग प्रकाशित हुए। ऐसा अनुमान है कि एथेलबर्ट के कानून केवल अंग्रेजी में ही नहीं वरन् समस्त ट्यूतनी भाषाओं में लिपिबद्ध किए जानेवाले सर्वप्रथम कानून थे। बेडा के मतानुसार एथेलबर्ट ने अपने कानूनों को रोम के आदर्शों पर ही लिपिबद्ध किया था। धर्म संबंधी प्रनियम ही संभवतः उपर्युक्त कानून के आधार थे। सन् ६८० ई० में ह्लोथर और ईड्रिक ने तथा सन् ७०० ई० के लगभग विदरीड ने उनमें वृद्धि की। सन् ६९० ई० में राजा आइन ने विज्ञजनों की मंत्रणा से कुछ कानून प्रकाशित किए। तदुपरांत दो शताब्दियों तक कोई नया कानून नहीं बना। इस दीर्घ अंतराल के पश्चात् सन् ८९० ई० में अलफ़ेड के कानून का सृजन हुआ। इस समय से कानून की अविच्छिन्न शृंखला का प्रारंभ हुआ जो ११वीं शताब्दी तक बनी रही तथा जिसमें एडवर्ड दि एल्डर, ऐथेल्स्टन, एडमंड, एडगर और एथेलरेड ने योग दिया। कानून की इस परंपरा की इति डेनी राजा कैन्यूट के काल में हुई जिसको कानून का विशद एवं विस्तृत संग्रह प्रस्तुत करने का श्रेय प्राप्त है।

ऐंग्लोसैक्सन कानून निरंतर कई शताब्दियों तक पांडुलिपि के आँचल में छिपे पड़े रहे। १६वीं शताब्दी में उनको खोज निकाला गया और सन् १५६८ ई० में लैंबर्ड ने उनको 'आरकायोनोमिया' नाम से प्रकाशित किया। सन् १८४० में उनका आधुनिक अंग्रेजी भाषा में अनुवाद 'एंशेंट लाज ऐंड इंस्टिट्यूट्स ऑव इंग्लैंड' शीर्षक से प्रकाशित हुआ।

नार्मन विजय अंग्रेजी कानून के इतिहास में सर्वोपरि महत्व की घटना है। १२वीं शताब्दी में अंग्रेजी कानून तीन विभिन्न शाखाओं में विभाजित हो गया—वेस्ट-सैक्सन, अमरीकी तथा डेनी। नार्मन लोगों के पास अपनी कोई सुव्यवस्थित विधिप्रणाली नहीं थी और जो कुछ उनका अपना कहने को था भी वह अंग्रेजी विधिप्रणाली के समक्ष नगण्य था। अतएव नार्मन कानून अंग्रेजी कानून को अवक्रमित न कर सका। फलस्वरूप अंग्रेजी विधिप्रणाली के स्वरूप एवं क्रियाशीलता में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। विजयी विलियम ने अंग्रेजी कानून की पुष्टि की; यही सन् ११०० ई० में हेनरी प्रथम ने किया। विधिज्ञों ने एडवर्ड के कानूनों की समालोचना की जिसके फलस्वरूप कानून के तीन संकलन प्रकाशित हुए। इनमें 'लेंगिस ह्यूरिसाइ प्राइमि' अत्यंत महत्वपूर्ण है। दूसरी महत्व की बात यह थी कि नार्मन विजेताओं ने भूमि के संबंध में उन्हीं विधिनियमों को अपनाया जिनका प्रयोग अंग्रेज भूस्वामी किया करते थे। इसका प्रमाण प्रसिद्ध ग्रंथ 'डूम्सडे बुक' तथा नार्मन सम्राटों के घोषणापत्रों में मिलता है। फिर भी नार्मन विचारधारा का समुचित प्रभाव अंग्रेजी कानून पर पड़ा। न्यायालयों में फ्रेंच भाषा का प्रयोग होने लगा। कानूनी पुस्तकों की रचना तथा विधिप्रतिवेदन भी कई शताब्दियों तक फ्रेंच में ही होता रहा। हेनरी द्वितीय को अंग्रेजी कानून के इतिहास में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। वह महान् शासक और विधाननिर्माता था। उसके कई विधिनियम तथा समयादेश प्राप्त हुए हैं।

ऐंग्लोसैक्सन कानून में धर्म संबंधी मामलों को छोड़कर अन्य किसी दिशा मे रोमन न्यायशास्त्र का प्रभाव देखने में नहीं आता। निस्संदेह रोमन न्यायप्रणाली ब्रिटेन में जड़ नहीं पकड़ सकी परंतु रोमन परंपराओं का समुचित प्रभाव उसपर पड़ा। कानून के विकास में जिस प्रमुख शक्ति ने कार्य किया वह चर्च (धर्म) कैथोलिक मतावलंबी होने के नाते रोमन प्रभाव से आच्छादित था। उदाहरणार्थ इच्छापत्र रोम की देन था जिसका प्रचलन चर्च (धर्म) के प्रभाव से हुआ। इसके अतिरिक्त, धर्म संबंधी न्यायालय केवल धार्मिक मामलों में ही हस्तक्षेप नहीं करते थे वरन् उनका क्षेत्राधिकार विवाह, रिक्थपत्र आदि जीवन के अन्य महत्वपूर्ण अंगों पर भी था।

११वीं शताब्दी में लोगों का ध्यान एक बार पुनः विधिग्रंथों की ओर आकृष्ट हुआ। सन् ११४३ ई० में आर्चबिशप थियोबाल्ड की छत्रछाया में वकेरियस नाम के एक वकील ने इंग्लैंड में रोमन विधिप्रणाली पर व्याख्यान दिए जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव हेनरी के सुधारों में मिलता है। हेनरी के शासनकाल से न्यायाधिकरण का महत्व उत्तरोत्तर क्षीण होता गया और सम्राट् का निजी न्यायालय सभी व्यक्तियों एवं वादों के लिये प्रथम न्यायालय बन गया। इसके परिणामस्वरूप साम्राज्य-विधि-प्रणाली का विकास हुआ।

सन् ११६६ ई० में क्लैरेंडन के निषेधादेश द्वारा, जो सन् ११११६ ई० में संशोधनों सहित पुनः प्रकाशित हुआ, हेनरी ने दंड-प्रक्रिया-प्रणाली में अनेक महत्वपूर्ण सुधार किए तथा न्यायसभ्य द्वारा अन्वेषण प्रणाली का सूत्रपात किया। सन् ११८१ ई० में आयुधनिषेधादेश द्वारा प्राचीन सैनिक शक्ति को मान्यता दी गई। सन् ११८४ ई० में एक अन्य निषेधादेश द्वारा राजा के वन संबंधी अधिकारों की परिभाषा की गई। तदनंतर एक व्यवस्थित करप्रणाली चालू की गई।

हेनरी के काल की विधिक्रियाशीलता के दृष्टांत दो प्रमुख ग्रंथों में मिलते हैं। प्रथम ग्रंथ का नाम है 'दायोलोगस दि स्कैकेरियो' जिसकी रचना रिचर्ड फिट्ज़ नील द्वारा हुई। दूसरा ग्रंथ, जिसकी रचना रैनल्फ़ ग्लानविल ने की, अंग्रेजी न्यायप्रणाली का प्रथम प्राचीन ग्रंथ है जिसमें राजकीय न्यायालय की कार्रवाई का सही चित्रण किया गया।

हेनरी के पश्चात्, रिचर्ड के काल में भी न्याय प्रशासन का कार्य मुख्यतया राजा के निजी न्यायालय द्वारा होता रहा। परंतु राजा की अनुपस्थिति में प्रशासन कार्य न्यायाधीशों द्वारा संपन्न होने लगा और समस्त कार्रवाई के शासकीय अभिलेख रखे जाने लगे। हेनरी तृतीय के समय में महाधिकारपत्र प्रकाशित हुआ जिससे अंग्रेजी अनुविधि प्रणाली का सूत्रपात हुआ। सन् १२२५ ई० के महाधिकारपत्र (मैग्ना कार्टा) को अनुविधि पुस्तक में प्रथम स्थान मिला और हेनरी चतुर्थ के काल तक उसकी निरंतर पुष्टि होती रही।

हेनरी तृतीय के राज्यकाल में सामान्य विधिप्रणाली को निश्चित रूपरेखा मिली और संपूर्ण साम्राज्य में उसका विस्तार हुआ। न्यायाधीशों के समक्ष विभिन्न प्रकार के वाद प्रस्तुत होते थे और उनके निर्णय के लिये नए नए उपायों की खोज होती थी। इस प्रकार वादजनित विधि

का सूत्रपात हुआ। न्यायाधीश निर्मित कानूनों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। ब्रैक्टन की पुस्तक में, जिसकी रचना सन् १२५०-१२६० ई० के मध्य में हुई, प्रायः पाँच सौ निर्णयों का उल्लेख है।

अंग्रेजी कानून के इतिहास में एडवर्ड प्रथम के राज्यकाल का (१२७२-१३०७) अद्वितीय स्थान है। उसके समय में सार्वजनिक कानून में तो अनेक महत्वपूर्ण नियमों का समावेश हुआ ही, साथ साथ निजी कानूनों में भी महान् परिवर्तन हुए। एडवर्ड की दो अनुविधियाँ आज भी भूमि संबंधी कानून का स्तंभ बनी हुई है। इसके अतिरिक्त, उसके राज्यकाल में कानूनी व्यवसाय ने भी निश्चित रूप ग्रहण किया और विधि-निर्माण पर उसका शक्तिशाली प्रभाव पड़ने लगा। १४वीं तथा १५वीं शताब्दी में अंग्रेजी अनुविधि प्रणाली की प्रगति धीमी पड़ गई, परंतु विधि-प्रतिवेदन का कार्य निरंतर होता रहा। 'इयर बुक' तथा 'इंग्र ग्राव कोर्ट' इस काल की प्रमुख देन हैं।

साधारण वादों के निमित्त न्यायालयों के होते हुए भी अवशेष न्यायप्रशासन की शक्ति राजा में निहित रही। उसके अंतर्गत राजा के विचारपति (चांसरी) न्यायप्रार्थी के मामलों का असाधारण रीति से निर्णय करने लगे। विचारपति के समक्ष प्रक्रिया संक्षिप्त होती थी और वह किसी विधि नियम का पालन करने के लिये बाध्य नहीं था; उसका निर्णय केवल आत्मप्रेरणा के आधार पर होता था। [श्री० अ०]

अंग्रेजी साहित्य

आदियुग के अंग्रेजी साहित्य के तीन स्पष्ट आयाम हैं: ऐंग्लो-सैक्सन; नार्मन-विजय से चॉसर तक; चॉसर से पुनर्जागरण काल तक।

ऐंग्लो-सैक्सन—इंग्लैंड में बसने के समय ऐंग्लो-सैक्सन कबीले बर्बरता और सभ्यता के बीच की स्थिति में थे। आखेट, समुद्र और युद्ध के अतिरिक्त उन्हें कृषिजीवन का भी अनुभव था। अपने साथ वे अपने वीरों की कथाएँ भी लेते आए। त्यूतन जाति के सारे कबीलों में ये कथाएँ सामान्य रूप से प्रचलित थीं। वे देशों की सीमाओं में नहीं बँधी थी। इन्ही गाथाओं से सातवीं शताब्दी में कविता के रूप में अंग्रेजी साहित्य का प्रारंभ हुआ। इसलिये डब्ल्यू० पी० कर के शब्दों में "ऐंग्लो-सैक्सन साहित्य पुरानी दुनिया का साहित्य है।" लेकिन इस समय तक ऐंग्लो-सैक्सन लोग ईसाई बन चुके थे। इन गाथाओं के रचयिता भी आम तौर से पुरोहित हुआ करते थे। इसलिये इन गाथाओं में वर्णित शौर्य और पराक्रम पर धार्मिक रहस्य, विनय, करुणा, सेवा इत्यादि के भाव भी आरोपित हुए। ऐंग्लो-सैक्सन कविता का शुद्ध धर्मविषयक अंश भी इन गाथाओं के रूप से प्रभावित है।

इन गाथाओं में शौर्य के साथ शैली का भी अतिरंजन है। ऐंग्लो-सैक्सन भाषा काफी अनगढ़ थी। गाथाओं में कवि उसे अत्यंत कृत्रिम बना देते थे। छंद के आनुप्रासिक आधार के कारण भरती के शब्दों का आ जाना अनिवार्य था। मुखर व्यंजनों की प्रचुरता से संगीत या लय में कठोरता है। विषयों और शैली की संकीर्णता के बीच अंग्रेजी कविता का विकास असंभव था। नार्मन-विजय के बाद इसका ऐसा कायाकल्प हुआ कि अनेक विद्वानों ने इसमें और बाद की कविता में वंशगत संबंध जोड़ना अनुचित कहा है।

दूसरी ओर अंग्रेजी गद्य में, जिसका उदय कविता के बाद हुआ, विकास की क्रमिक और अटूट परंपरा है। ईसाई संसार की भाषा लातीनी थी और इस काल का प्रसिद्ध गद्यलेखक बीड इसी भाषा में लिखता था। ऐंग्लो-सैक्सन में गद्य का प्रारंभ अलफ्रेड के जमाने में लातीनी के अनुवादों तथा उपदेशों और वार्ताओं की रचना से हुआ। गद्य की रचना शिक्षा और ज्ञान के लिये हुई थी। इसलिये इसमें ऐंग्लो-सैक्सन कविता की कृत्रिमता और अन्य शैलीगत दोष नहीं हैं। उसकी भाषा लोकभाषा के अधिक समीप थी। ऐंग्लो-सैक्सन कविता की तरह बादवाले युगों से उसका संबंधविच्छेद करना असंभव है। लेकिन इस युग के पूरे साहित्य में लालित्य का अभाव है।

नार्मन-विजय से चॉसर तक—चॉसर-पूर्व मध्यदेशीय अंग्रेजी काल न केवल इंग्लैंड में ही बल्कि यूरोप के अन्य देशों में भी फ्रांस के साहित्यिक नेतृत्व का काल है। १२वीं से लेकर १४वीं शताब्दी तक फ्रांस ने इन देशों को विचार, संस्कृति, कल्पना, कथाएँ और कविता के रूप दिए। धर्मयुद्धों के इस युग में सारे ईसाई देशों की बौद्धिक एकता स्थापित हुई। यह सामंती व्यवस्था तथा शौर्य और औदार्य की केंद्रीय मान्यताओं के विकास का युग है। नारी के प्रति प्रेम और पूजाभाव, साहस और पराक्रम, धर्म के लिये प्राणोत्सर्ग, असहायों के प्रति करुणा, विनय आदि ईसाई नाइटों (सूरमाओं) के जीवन के अभिन्न अंग माने गए। इसी समय फ्रांस के चारणों ने प्राचीनकालीन पराक्रमगाथाओं (chansons de geste) और प्रेमगीतों की रचना की, तथा लातीनी, त्यूतनी, केल्टी, आयरी, कॉर्नी और फ्रेंच गाथाओं का व्यापक उपयोग हुआ। फ्रांस की गाथाओं में कर्म की, ब्रिटेन की गाथाओं में भावुकता और शृंगार की और लातीनी गाथाओं में इन सभी तत्वों की प्रधानता थी। साहित्य में कोमलता, माधुर्य और गीति पर जोर दिया जाने लगा।

इस युग में अंग्रेजी भाषा ने अपना रूप सँवारा। उसमें रोमांस भाषाओं, विशेषतः फ्रेंच के शब्द आए, उसने कविता में कर्णकटु आनुप्रासिक छंद-रचना की जगह तुकों को अपनाया, उसके विषय व्यापक हुए—संक्षेप में, उसने चॉसर-युग की पूर्वपीठिका तैयार की।

गद्य के लिये भाषा के मँजे मँजाए और स्थिर रूप की आवश्यकता होती है। पुरानी अंग्रेजी के रूप में विघटन के कारण इस युग का गद्य पुराने गद्य जैसा संतुलित और स्वस्थ नहीं है। लेकिन रूपगत अस्थिरता के बावजूद इस युग के धार्मिक और रोमानी गद्य ने विचारों की दृष्टि से ऐंग्लो-सैक्सन गद्य की परंपरा को विकसित किया।

चॉसर से पुनर्जागरण तक—चॉसर ने इस युग की काव्यपरंपरा को आधुनिक युग से समन्वित किया। उसने फ्रेंच कविता से लालित्य और इटली की समकालीन कविता से 'आधुनिक बोध' लिया। कविता में यथार्थवाद को जन्म देकर उसने अंग्रेजी कविता को यूरोप की कविता से भी आगे कर दिया। इसलिये उसे समझने के लिये पुरानी ऐंग्लो-सैक्सन दुनिया और उसकी कविता की जगह मध्ययुगीन फ्रांस और आधुनिक इटली की साहित्यिक हलचल को जान लेना जरूरी है। उसके बाद और एलिज़ाबेथ-युग से पहले कोई बड़ा कवि नहीं हुआ।

इस युग में लातीनी और फ्रेंच साहित्य के अनुवादों और मौलिक रचनाओं के माध्यम से गद्य का रूप निखर चला। लेखकों ने लातीनी और फ्रेंच गद्य की वाक्यरचना और लय को अंग्रेजी गद्य में उतारा। १३५० में अंग्रेजी को राजभाषा का संमान मिला और धर्म के घेरे को तोड़कर गद्य का रुख आम लोगों की ओर हुआ। गद्य ने विज्ञान, दर्शन, धर्म, इतिहास, राजनीति, कथा और यात्रावर्णन के द्वारा विविधता प्राप्त की। १५वीं शताब्दी के अंत तक आते आते मैंडेविल, चॉसर, विक्लिफ, फार्टेस्क्यू, कैक्स्टन और मैलोरी जैसे प्रसिद्ध गद्यनिर्माताओं ने अंग्रेजी गद्य की नींव मजबूत बना दी।

१५वीं शताब्दी अंग्रेजी नाटक का शैशव काल है। धर्मोपदेश और सदाचारशिक्षा की आवश्यकता, नगरों के विकास और शक्तिशाली श्रेणियों (गिल्ड) के उदय के साथ नाटक गिरजाघर के प्राचीरों से निकलकर जनपथ पर आ खड़ा हुआ। इन नाटकों का संबंध बाइबिल की कथाओं (मिस्ट्रीज़), कुमारी मेरी और संतों की जीवनियों (मिरैकिल्स), सदाचार (मॉरैलिटीज़) और मनोरंजक प्रहसनों (इंटरल्यूड्स) से है। धर्म के संकुचित क्षेत्र में रहनेवाले और रूप में अनगढ़ इन नाटकों को एलिज़ाबेथ-युग के महान् नाटकों का पूर्वज कहा जा सकता है।

पुनर्जागरण—विचारों और कल्पना के अविराम मंथन, विधाओं में प्रयोगों की विविधता और कृतित्व की प्रौढ़ता की दृष्टि से पुनर्जागरण काल अंग्रेजी साहित्य का स्वर्ण युग है। सांस्कृतिक दृष्टि से यह युग आधिभौतिकता के विरुद्ध भौतिकता, मध्ययुगीन सामंती अंकुशों के विरुद्ध मननशील व्यक्तिवाद, अंधविश्वास के विरुद्ध विज्ञान के संघर्ष का युग है। पुनर्जागरण ने इंग्लैंड को इटली, फ्रांस, स्पेन और जर्मनी के काफी बाद आंदोलित किया। १५०० से १५८० तक का समय मानवतावाद के विकास और प्राचीन यूनान तथा इटली के साहित्यिक आदर्शों को आत्मसात् करने का है। लेकिन १५८० और १६६० के बीच कविता, नाटक और गद्य में अद्भुत उत्कर्ष हुआ। १५८० के पूर्व महान् व्यक्तित्व केवल चॉसर का है। १५८० के बाद स्पेंसर, शेक्सपियर, बेकन और मिल्टन की महान् प्रतिभाओं से कुछ ही नीचे स्तर पर नाटक में मार्लो, बेन जॉन्सन और वेब्स्टर, गद्य में हूकर, बर्टन और टॉमस

ब्राउन, कविता में बेन जॉन्सन और डन हैं। शैली और वस्तु में चित्र-विचित्रता की दृष्टि से नाटकों में लिली, पील और ग्रीन की 'दरबारी कामेडी', शेक्सपियर की रोमानी कामेडी, बोमांट और फ्लेचर की ट्रेजी-कामेडी और बेन जॉन्सन की यथार्थवादी कामेडी, कविता में अनेक कवियों के प्रेम संबंधी कथाबद्ध सॉनेट, स्पेंसर की रोमानी कविता, डन और अन्य 'आध्यात्मिक' (मेटाफिज़िकल) कवियों की दुरूह कल्पनापूर्ण कविताएँ, बेन जॉन्सन और दरबारी कवियों के प्रांजल गीत तथा मिल्टन के भव्य और उदात्त महाकाव्य, गद्य में इटली और स्पेन से प्रभावित लिली और सिडनी की अलंकृत शैली की रोमानी कथाएँ तथा नैश और डेलोनी के साहसिकतापूर्ण यथार्थवादी उपन्यास, बेकन के निबंध (एसे), बाइबिल का महान् अनुवाद, बर्टन का मनोवैज्ञानिक, सूक्ष्म किंतु सुहृद सा अंतरंग गद्य, सिडनी और बेन जॉन्सन की गद्य आलोचनाएँ, मिल्टन का ओजपूर्ण और आक्रोशपूर्ण प्रलंबित वाक्यों का भव्य गद्य, टॉमस ब्राउन का चिंतनपूर्ण किंतु संगीततरल गद्य इस युग की उल्लेखनीय उपलब्धियाँ हैं। मानव-बुद्धि और कल्पना की तरह ही यह युग अभिव्यक्ति के महत्वाकांक्षी प्रसार का युग है।

१६६० और शताब्दी के अंत के बीचवाले वर्ष बुद्धिवाद के अंकुरण के हैं। पुनर्जागरण का प्रभाव शेष रहता है; उसके अंतिम और महान् कवि मिल्टन के महाकाव्य १६६० के बाद ही लिखे गए; स्वयं ड्राइडन में मानवतावादी प्रवृत्तियाँ है। लेकिन एक नया मोड़ सामने है। बुद्धिवाद के अतिरिक्त यह चार्ल्स द्वितीय के पुनर्राज्यारोहण के बाद फ्रेंच रीतिवाद के उदय का युग है। फ्रेंच रीतिवाद तथा 'प्रेम' और 'संमान' (लव ऐंड ऑनर) के दरबारी मूल्यों से प्रभावित इस युग का नाटक अनुभूति और अभिव्यक्ति में निर्जीव है। दूसरी ओर मध्यवर्गीय यथार्थवाद से प्रभावित विकर्ली और कांग्रीव के सामाजिक प्रहसन अपनी सजीवता, स्वाभाविक किंतु पैनी भाषा और तीखे व्यंग्य में अद्वितीय है। ऊँचे मध्यवर्ग के यांत्रिक बुद्धिवाद और अनैतिकता के विरुद्ध निम्न मध्यवर्गीय नैतिकता और आदर्श का प्रतीक जॉन बन्यन का रूपक उपन्यास 'दि पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस' है। आलोचना में रीतिवाद का प्रभाव शेक्सपियर के रोमानी नाटकों के विरुद्ध राइमर की आलोचना से स्पष्ट है। उस युग की सबसे महत्वपूर्ण आलोचना कृति मानवतावादी स्वतंत्रता और रीतिवाद के समन्वय पर आधारित ड्राइडन का नाटक-काव्य-संबंधी निबंध है। वर्णन में यथार्थवादी गद्य के विकास में सैमुएल पेपीज़ की डायरी की भूमिका भी स्मरणीय है। संक्षेप में, १७वीं शताब्दी के इन अंतिम वर्षों के गद्य और पद्य में स्वच्छता और संतुलन है, लेकिन कुल मिलाकर यह महानता-विरल-युग है।

१८वीं शताब्दी : रीतिवादी युग—यह शताब्दी तर्क और रीति का उत्कर्षकाल है। लायबनीज़, दकार्त और न्यूटन ने कार्य कारण की पद्धति द्वारा तर्कवाद और यांत्रिक भौतिकवाद का विकास किया था। उनके अनुसार सृष्टि और मनुष्य नियमानुशासित थे। इस दृष्टिकोण में व्यक्तिगत रुचि के प्रदर्शन के लिये कम जगह थी। इस युग पर हावी फ्रेंच रीतिकारों ने भी साहित्यिक प्रक्रिया को रीतिबद्ध कर दिया था।

इस युग ने धर्म को धर्म की जगह रखा और मनुष्य के साधारण सामाजिक जीवन, राजनीति, व्यावहारिक नैतिकता इत्यादि पर जोर दिया। इसलिये इसका साहित्य काम की बात का साहित्य है। इस युग ने बात को साफ सुथरे, सीधे, नपे तुले, पैने शब्दों में कहना अधिक पसंद किया। कविता में यह पोप और प्रायर के व्यंग्य का युग है।

तर्क की प्रधानता के कारण १८वीं शताब्दी को गद्ययुग कहा जाता है। सचमुच यह आधुनिक गद्य के विकास का युग है। दलगत संघर्षों, कॉफी-हाउसों और क्लबों में अपनी शक्ति के प्रति जागरूक मध्यवर्ग की नैतिकता ने इस युग में पत्रकारिता को जन्म दिया। साहित्य और पत्रकारिता के समन्वय ने एडिसन, स्टील, डिफो, स्विफ्ट, फील्डिंग, स्मॉलेट, जॉनसन और गोल्डस्मिथ की शैली का निर्माण किया। इससे कविता के व्यामोह से मुक्त, रचना के नियमों में दृढ़, बातचीत की आत्मीयता लिए हुए छोटे छोटे वाक्यों के प्रवाहमय गद्य का जन्म हुआ। जहर में बुझे तीर की तरह स्विफ्ट के गद्य को छोड़कर अधिकांश लेखकों में व्यंग्य की उदार शैली है।

आलोचना में पहली बार चॉसर, स्पेंसर, शेक्सपियर, मिल्टन इत्यादि को विवेक की कसौटी पर कसा गया। रीति और तर्क की पद्धति रोमैंटिक साहित्यकारों के प्रति अनुदार हो जाया करती थी, लेकिन आज भी एडिसन, पोप और जॉन्सन की आलोचनाओं का महत्व है। गद्य में शैली की अनेकरूपता की दृष्टि से इस युग ने ललित पत्रलेखन में चेस्टरफील्ड और वालपोल, संस्मरणों में गिबन, फैनी बर्नी और बॉजवेल, इतिहास में गिबन, दर्शन में बर्कले और ह्यूम, राजनीति में बर्क, और धर्म में बटलर जैसे प्रसिद्ध शैलीकार पैदा किए।

यथार्थवादी दृष्टिकोण के विकास ने आधुनिक अंग्रेजी उपन्यासों को चार प्रसिद्ध धुरियाँ दीं—डिफो, रिचर्ड्सन, फील्डिंग और स्मॉलेट। उपन्यास में यही युग स्विफ्ट, स्टर्न, जेन ऑस्टिन और गोल्डस्मिथ का है। अंग्रेजी कथा साहित्य को यथार्थवाद ने ही, गोल्डस्मिथ और शेरिडन के माध्यम से, कृत्रिम भावुकता के दलदल से उबारा। किंतु यह युग मध्यवर्गीय भावुक नैतिकता से भी अछूता न था। इसके स्पष्ट लक्षण भावुक कामेडी और स्टर्न, जेन ऑस्टिन इत्यादि के उपन्यासों में मौजूद हैं। शताब्दी के अंतिम वर्षों में रोमैंटिक कविता की जमीन तैयार थी। ब्लेक और बर्न्स इस युग की स्थिरता में आँधी की तरह आए।

१९वीं शताब्दी : रोमैंटिक युग—पुनर्जागरण के बाद रोमैंटिक युग में फिर व्यक्ति की आत्मा का उन्मेषपूर्ण और उल्लसित स्वर सुन पड़ता है। प्रायः रोमैंटिक साहित्य को रीतियुग (क्लासिसिज़्म) की प्रतिक्रिया कहा जाता है और उसकी विशेषताओं का इस प्रकार उल्लेख किया जाता है—तर्क की जगह सहज गीतिमय अनुभूति और कल्पना; अभिव्यक्ति में साधारणीकरण की जगह व्यक्तिनिष्ठता; नगरों के कृत्रिम जीवन से प्रकृति और एकांत की ओर मुड़ना; स्थूलता की जगह सूक्ष्म आदर्श और स्वप्न; मध्ययुग और प्राचीन इतिहास का आकर्षण; मनुष्य में आस्था; ललित भाषा की जगह साधारण भाषा का प्रयोग; इत्यादि। निश्चय ही इनमें से अनेक तत्व रोमानी कवियों में मिलते हैं, लेकिन उनकी महान् सांस्कृतिक भूमिका को समझने के लिये आवश्यक है कि १९वीं शताब्दी में जर्मनी, फ्रांस, स्पेन, इटली, इंग्लैंड, रूस और पोलैंड में जनवादी विचारों के उभार को ध्यान में रखा जाय। इस उभार ने सामाजिक और साहित्यिक रूढ़ियों के विरुद्ध व्यक्तिस्वातंत्र्य का नारा लगाया। रूसो और फ्रांसीसी क्रांति उसकी केंद्रीय प्रेरणा थे। इंग्लैंड में १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के कवि—वर्ड्स्वर्थ, कोलरिज, शेली, कीट्स, और बायरन—इसी नए उन्मेष के कवि हैं। लैंब, हंट और हैज़लिट के निबंधों, कीट्स के प्रेमपत्रों, स्कॉट के उपन्यासों, डी क्विंसी के 'कन्फेशंस ऑव ऐन ओपियम' ईटर में गद्य को भी अनुभूति, कल्पना और अभिव्यक्ति का वही उल्लास प्राप्त हुआ। आलोचना में कॉलरिज, लैंब, हैज़लिट और डी क्विंसी ने रीति से मुक्त होकर शेक्सपियर और उसके चरित्रों की आत्मा का उद्घाटन किया। लेकिन व्यक्तित्व आरोपित करने के स्वभाव ने नाटक के विकास में बाधा पहुँचाई।

विक्टोरिया के युग में जहाँ एक ओर जनवादी विचारों और विज्ञान का अटूट विकास हो रहा था, वहाँ अभिजात वर्ग क्रांतिभीरु भी हो उठा। इसलिये इस युग में कुछ साहित्यकारों में यदि स्वस्थ सामाजिक चेतना है तो कुछ में निराशा, संशय, अनास्था, समन्वय, कलावाद, वायवी आशावाद की प्रवृत्तियाँ भी हैं। व्यक्तिवाद शताब्दी के अंतिम दशक तक पहुँचते-पहुँचते कैथॉलिक धर्म, रहस्यवाद, आत्मरति या आत्मपीडन में इस तरह लिप्त हो गया कि इस दशक को 'खल' दशक भी कहते हैं। जनवादी, यथार्थवादी और वैज्ञानिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व मॉरिस ने कविता में, रस्किन ने गद्य में और ब्रांटे बहनों, थैकरे, डिकेन्स, किंग्सली, रीड, जॉर्ज इलियट, टॉमस हार्डी, बटलर आदि ने उपन्यास में किया। निराशा और पीडा के बीच भी इनमें मानव के प्रति गहरी सहानुभूति और विश्वास है। शताब्दी के अंतिम वर्षों में विक्टोरिया युग के रिक्त आदर्शों के विरुद्ध अनेक स्वर उठने लगे थे।

२०वीं शताब्दी—१९वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद के उभरते हुए अंतर्विरोध २०वीं शताब्दी में संकट की स्थिति में पहुँच गए। यह इस शताब्दी के साहित्य का केंद्रीय तथ्य है। इस शताब्दी के साहित्य को समझने के लिये उसके विचारों, भावों और रूपों को प्रभावित करनेवाली शक्तियों को ध्यान में रखना आवश्यक है। वे शक्तियाँ हैं नीत्शे, शॉपेनहार, स्पिनोज़ा, कर्कगार्ड, फ्रायड और मार्क्स; इब्सन, चेखव, फ्रेंच अभिव्यंजनावादी और प्रतीकवादी, गोर्की, सार्त्र और इलियट; दो हो चुके

युद्ध और तीसरे की आशका, फासिज्म, रूस की समाजवादी क्राति,नए देशो मे समाजवाद की स्थापना और पराधीन देशो के स्वातन्त्र्य सग्राम; प्रकृति पर विज्ञान की विजय से सामाजिक विकास की अमित सभावनाएँ और उनके साथ व्यक्ति की सगति की समस्या।

२०वी शताब्दी मे व्यक्तिवादी आदर्श का विघटन तेजी से हुआ है। शा, वेल्स और गाल्सवर्दी ने शताब्दी के प्रारभ मे विक्टोरिया युग के व्यक्तिवादी आदर्शों के प्रति सदेह प्रकट किया और सामाजिक समाधानो पर जोर दिया। हार्डी की कविता मे भी उसके विघटन का चित्र है। लेकिन किसी तरह पहले युद्ध के पहले कविता ने विक्टोरिया युग के पैस्टरल आदर्शों को जीवित रखा। दो युद्धो मे व्यक्तिवाद समाज से बिल्कुल टूटकर अलग हो गया। अपनी ही सीमाओ मे सकुचित साहित्यिक ने प्रयोगो का सहारा लिया। टी० एस० इलियट के 'वेस्टलैंड' मे व्यक्ति की कुठा और दीक्षागम्य कविता का जन्म हुआ और आज भी व्यक्तिवाद से प्रभावित अग्रेजी कवि उसका नेतृत्व स्वीकार करते है। १९३० के बाद मार्क्सवादी विचारधारा और स्पेन के गृहयुद्ध ने अग्रेजी कविता को नई स्फूर्ति दी। लेकिन दूसरे युद्ध के बाद तीव्र सामाजिक सघर्षों के बीच इस काल के अनेक कवि फिर व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के उपासक हो गए। साथ ही, ऐसे कवियो का भी उदय हुआ जा अपनी व्यक्तिगत मानसिक उलझनो के बावजूद युग की मानव आस्था को व्यक्त करते रहे।

आदर्शवाद के टूटने के साथ ही उपन्यासो मे व्यक्ति की मानसिक गुत्थियों, विशेषत यौन कठाओ के विरुद्ध भी आवाज उठी। लॉरेंस, जेम्स ज्वॉयस और वर्जीनिया वुल्फ इसी धारा की प्रतिनिधि है। नाटको के क्षेत्र मे भी यथार्थवादी प्रवृत्तियो का विकास हुआ है। नाटको मे काव्य और रोमानी क्रातिकारी विचारो को व्यक्त करने मे सबसे अधिक सफलता अग्रेजी मे लिखनेवाले आयरलैंड के नाटककारो को मिली है। आलोचना में शोध से लेकर व्याख्या तक का बहुत बडा कार्य हुआ। प्रयोगवादी साहित्यकारो के प्रधान शिक्षक टी० एस० इलियट, रिचर्ड्स, एम्पसन और लिविस है। इन्होने जीवन के मूल्यो से अधिक महत्व कविता की रचना की प्रक्रिया को दिया है। साधारणतया कहा जा सकता है कि २०वी शताब्दी के साहित्य मे विचारो की दृष्टि से चिता, भय और दिशाहीनता की और रूप की दृष्टि से विघटन की प्रधानता है। उसमे स्वस्थ तत्व भी है और उन्ही पर उसका आगे का विकास निर्भर है।

सं०ग्रं०—कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इग्लिश लिटरेचर, लेगुइ ऐड कजामिया हिस्ट्री ऑव इग्लिश लिटरेचर। [च० ब० मि०]

गद्य

अग्रेजी गद्य ने अग्रेजी कविता, नाटक और उपन्यास के समान ही अग्रेजी साहित्य को समृद्ध किया है। बाइबिल के अनेक वाक्य अग्रेजी राष्ट्र के मानस पर सदा के लिये गहरे अकित हो गए है। इसी प्रकार शेक्सपियर, मिल्टन, गिबन, जॉन्सन, न्यूमैन, कार्लाइल और रस्किन के वाक्य अग्रेज जाति की स्मृति मे गूँजते है। अग्रेजी गद्य अनेक साहित्यिक विधाओ द्वारा समृद्ध हुआ है। इनमे उपन्यास, कहानी और नाटक के अतिरिक्त निबध, जीवनी, आत्मकथा, आलोचना, इतिहास, दर्शन और विज्ञान भी समिलित है।

अग्रेजी गद्य का सगीत अनेक शताब्दियो से पाठको को मोहता रहा है। यह सगीत बहुधा रोमासवादी और भावनाप्रधान रहा है। इस गद्य में काव्य का गुण प्रचुर मात्रा मे मिलता है। अग्रेजी गद्य की तुलना मे फ्रेंच गद्य की गति अधिक सतुलित और सयत रही है। एक आलोचक का कहना है कि कविता भावना को भाषा देती है, किंतु गद्य विवेक और बुद्धि की वाणी है।

अग्रेजी गद्य ऐंग्लो-सैक्सन साहित्य की परपरा का ही विकास है। मध्य युग के बीड (६७२-७३५) अग्रेजी गद्य के पितामह कहे जा सकते है। बीड की 'एक्लेजिएस्टिकल हिस्ट्री' जूलियस सीजर के आक्रमण से लेकर ७३१ई०तक के इग्लैंड का प्राय आठ सौ वर्षों का इतिहास प्रस्तुत करती है। अग्रेजी गद्य का सर्वप्रथम महत्वपूर्ण ग्रथ सर जॉन मेडेविल की यात्राएँ है। यात्रावर्णन के रूप मे यह पुस्तक वास्तव में काल्पनिक गाथा है। सन् १३७७ मे मूल फ्रासीसी से अनूदित होकर यह अग्रेजी मे प्रकाशित हुई। अग्रेजी कविता के जनक चॉसर (१३४०-१४००) का गद्य साहित्य भी परिमाण मे काफी है। उनकी 'कैंटरबरी टेल्स' मे दो कहानियाँ गद्य में लिखी है।

अग्रेजी गद्य को विक्लिफ (१३२४-१३८४) की रचनाओ से बहुत प्रेरणा मिली। विक्लिफ अधविश्वासो पर कठोर आघात करता है। उसने सर्वप्रथम बाइबिल का अनुवाद अग्रेजी मे किया। इसी के आधार पर बाद मे बाइबिल का सन् १६११ का विख्यात सस्करण तैयार हुआ। विक्लिफ धर्म के क्षेत्र मे स्वतत्र विचारक था। उसके गद्य मे बडी शक्ति है।

१५वी शताब्दी तक इग्लैंड के लेखक लातीनी गद्य मे ही लिखना पसद करते थे और शक्ति तथा प्रतिभा से सपन्न कम गद्य अग्रेजी मे लिखा गया। ऐसे लेखको मे सर जॉन फॉर्टेस्क्यू (१३९४-१४७६) का नाम उल्लेखनीय है। इन्होने अग्रेजी विधान की प्रशसा मे एक पुस्तक 'दि गवर्नेन्स ऑव इग्लैंड' लिखी। अग्रेजी गद्य के इतिहास मे कैक्सटन (१४२१–९१) का नाम विशेष महत्वपूर्ण है। उन्होने १४७६ मे मुद्रण कार्य आरभ किया और अग्रेजी गद्य को स्थानीय बोलियो के प्रभाव से मुक्त करके एक निश्चित रूप देने मे बडी मदद की। कैक्सटन ने मध्य युग के अनेक रोमास अग्रेजी गद्य मे अनुवाद करके प्रकाशित किए। उन्होने फ्रेंच गद्य को अपना आदर्श बनाया और अग्रेजी गद्य के विकास मे बडा हिस्सा लिया। कैक्सटन के महत्वपूर्ण प्रकाशनो मे सर टॉमस मैलोरी का 'मार्त द' आर्थर' भी था। मैलोरी की पुस्तक अग्रेजी गद्य के इतिहास मे एक स्मरणीय मील-स्तभ है।

अग्रेजी पुनर्जागरण के पहले बडे लेखक सर टॉमस मोर (१४७८-१५३५) है। उनकी पुस्तक 'युटोपिया' विश्वविख्यात है, किंतु दुर्भाग्य से इस पुस्तक को उन्होने लातीनी में लिखा। अग्रेजी मे उनकी केवल कुछ मामूली रचनाएँ है। उन्ही के बाद इलियट, चीक, ऐस्कम और विल्सन ने अपनी शिक्षा-सबधी पुस्तके लिखी।

विलियम टिंडेल (१४८४-१५३६) ने सन् १५२२ से बाइबिल का अनुवाद अग्रेजी में करना शुरू किया। इस प्रशसनीय कार्य के बदले टिंडेल को निर्वासन और मृत्युदड मिला।

एलिजाबेथ के युग का गद्य कविता के स्तर का ही है। इसके उदाहरण लिली (१४५४-१६०६) और सर फिलिप सिडनी (१५५४-८६) की रचनाओं मे हम पाते है। लिली की 'यूफुइस' और सिडनी की 'आर्केडिया' काव्य के गुणो से समन्वित रचनाएँ है। सिडनी की 'डिफेंस आव पोएजी' अग्रेजी आलोचना की पहली महत्वपूर्ण पुस्तक है।

अग्रेजी गद्य के विकास मे अगला कदम ग्रीन, लॉज, नैश, डैलूनी आदि के उपन्यासो का प्रकाशन है। इन लेखको ने आत्मकथाएँ और अनेक विवाद-पूर्ण पुस्तके भी लिखी। उदाहरण के लिये ग्रीन के 'कन्फेशस' का उल्लेख हो सकता है। ओवरबरी और अर्ल नाम के लेखको ने चारित्रिक स्केच लिखे, जिसकी प्रेरणा उन्हे ग्रीक लेखक थियोफ्रॉस्तस से मिली।

अग्रेजी गद्य साहित्य का एक महत्वपूर्ण अश हमे एलिजाबेथ-कालीन नाटको मे मिलता है। भावना के गहरे क्षणो मे शेक्सपियर के पात्र गद्य मे बोलने लगते है। ग्रीन, जॉन्सन, मार्लो आदि के नाम भी अग्रेजी गद्य के इतिहास मे महत्वपूर्ण है।

अग्रेजी गद्य के महान् लेखको मे पहला बडा नाम रिचर्ड हूकर (१५५४-१६००) का है। उनकी पुस्तक 'दि लॉज ऑव एक्लेजिएस्टिकल पॉलिटी' अग्रेजी गद्य की उन्नायक है। इसी समय (१६११) बाइबिल का सुप्रसिद्ध अग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। बाइबिल की भाषा अग्रेजी गद्य को अनुपम साँचो मे ढालती है। वास्तव मे यह गद्य काव्य के सगीत से अनुप्राणित है। फ्रासिस बेकन (१५६१-१६२६) अग्रेजी निबध के जनक तथा इतिहास और दर्शन के गभीर लेखक थे। उनकी रचनाओ मे 'दि ऐडवास्मेट ऑव लर्निंग', 'दि न्यू ऐटलैंटिस', 'हेनरी सेवेंथ', 'दि एसेज नोवम् ओर्गानम' आदि सुप्रसिद्ध है। बेकन की भाषा ठोस, गभीर और सूत्र शैली की है।

रिचर्ड बर्टन (१५७६-१६४०) की पुस्तक 'दि एनाटॉमी ऑव मेलैंकली' अग्रेजी गद्य के इतिहास मे एक विख्यात रचना है। इसका पांडित्य अपूर्व है और एक गहरी उदासी [illegible]

युग के एक महान् गद्य लेखक सर टॉमस ब्राउन (१६०५-८२) हैं। इनके गद्य का संगीत पाठकों को शताब्दियों से मुग्ध करता रहा है। इनकी महत्वपूर्ण रचनाओं में 'रिलीजिओ मेडिसी' और 'हाइड्रोटैफिया' उल्लेखनीय हैं। जेरेमी टेलर (१६१३-७७) प्रसिद्ध धर्मशिक्षक और वक्ता थे। उनकी उपमाएँ बहुत सुंदर होती थी, उनका गद्य कल्पना और भावना से अनुरंजित है। उनकी पुस्तकों में 'होली लिविंग' और 'होली डाइंग' प्रसिद्ध हैं।

इस काल के लेखकों में मिल्टन का नाम अग्रगण्य है। तीस से पचास वर्ष की आयु तक मिल्टन ने केवल गद्य लिखा और तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विवादों में जमकर भाग लिया। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एरोपाजिटिका' में वे विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रश्न को ऊँचे धरातल पर उठाते है और आज भी उनके विचारों में सत्य की गूंज है। मिल्टन के गद्य में शक्ति और ओज का अद्भुत संयोग है। १७वीं शताब्दी के गद्यलेखकों में अन्य उल्लेखनीय नाम फुलर (१६०८-६१) और वाल्टन (१५९३-१६८३) के हैं। फुलर धार्मिक विषयों पर लिखते थे। उनकी पुस्तक, 'दि वर्दीज़ ऑव इंग्लैंड' प्रसिद्ध है। वाल्टन की पुस्तक, 'दि कप्लीट ऐंग्लर' अंग्रेजी साहित्य की अमर रचनाओं में से है।

ड्राइडन (१६३१-१७००) अंग्रेजी के प्रमुख गद्यकारों में थे। उनकी आलोचना शैली सुलझी हुई और सुव्यवस्थित थी। उनकी गद्य शैली भी फ्रेंच परपरा के निकट है। वह चिंतन को सहज और तर्कसंगत अभिव्यक्ति देते है। ड्राइडन की भूमिकाओं के अतिरिक्त उनकी पुस्तक, 'एसे ऑन ड्रमेटिक पोएज़ी' सुप्रसिद्ध है। हॉब्स (१५८८-१६७९) के राजनीतिक विचारों का ऐतिहासिक महत्व है और उनकी पुस्तक 'दि लेवायथान' अंग्रेजी भाषा की एक सुप्रसिद्ध रचना है। पेपीज (१६३२-१७०४) और एवलिन (१६३२-१७०६) की डायरियाँ अंग्रेजी साहित्य की निधि है। हॉब्स के समान ही लॉक (१६२३-१७०४) के राजनीतिक विचारों का भी ऐतिहासिक महत्व बहुत है।

१८वीं शताब्दी में अंग्रेजी गद्य जीवन की गति के सबसे अधिक निकट आया। इसका कारण फ्रेंच साहित्य का बढ़ता हुआ प्रभाव था। स्विफ़्ट (१६६७-१७४५) अपनी अमर कृति 'गुलिवर्स ट्रैवेल्स' में अपने समय के मानवीय व्यापारों पर कठोर व्यंग करते हैं। उनके गद्य में बड़ा ओज और बल है। उनकी अन्य प्रसिद्ध रचनाओं में 'ए टेल ऑव ए टब' और 'दि बैटिल ऑव दि बुक्स' भी उल्लेखनीय हैं। १८वीं शताब्दी का साहित्य उठते हुए मध्यवर्ग की भावनाओं को व्यक्त करता है और इसके गद्य की शैली भी इस वर्ग की आवश्यकताओं के अनुरूप सरल और स्पष्ट है। इस युग के सफल गद्यकारों में डिफो, एडिसन और स्टील है। डिफो (१६६०-१७३१) का उपन्यास 'रॉबिन्सन क्रूसो' अंग्रेजी भाषा की विशेष लोकप्रिय रचनाओं में से है। उनके अन्य उपन्यास 'मॉल फ्लैंडर्स', 'ए जर्नल ऑव दि प्लेग ईयर' आदि यथार्थवादी शैली में ढले हैं। एडिसन (१६७२-१७१९) और स्टील (१६७२-१७२९) मुख्यतः निबधकार हैं। उन्होंने 'दि टैटलर' और 'दि स्पेक्टेटर' नाम के पत्र निकालकर अंग्रेजी साहित्य में उच्च कोटि की पत्रकारिता की भी नीव रखी।

अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में डा० जॉन्सन (१७०९-८४) का नाम अविस्मरणीय रहेगा। वे इतिहासकार, निबंधकार, आलोचक, कवि और उपन्यासकार थे। उन्होंने एक कोश की भी रचना की। इनकी गद्य कृतियों में 'लाइव्ज़ ऑव दि पोएट्स', 'रासेलस' और 'प्रीफ़ेसेज़ टु शेक्सपियर' अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। जॉन्सन की बातचीत भी, जो बॉज़वेल लिखित जीवनी में संकलित है, उनके लेखन से कम महत्व की नहीं होती थी।

१८वीं शताब्दी में अंग्रेजी उपन्यास का अपूर्व विकास हुआ। इस काल के उपन्यासकारों में गोल्डस्मिथ (१७२८-१७७४) भी थे जिन्होंने जल के समान तरल गति का गद्य लिखा और अनेक सुंदर निबंधों की रचना की। इनकी रचनाओं में 'दि सिटिजन ऑव दि वर्ल्ड', 'दि विकार ऑव वेकफील्ड' आदि सुविख्यात हैं। इतिहासकारों में ह्यूम, रॉबर्टसन और गिबन के नाम महत्वपूर्ण हैं। गिबन (१७३७-१७८४) अंग्रेजी गद्य के इतिहास में अमर हैं। शैली और निर्माण शक्ति की दृष्टि से उनका ग्रंथ 'डिक्लाइन ऐंड फ़ाल ऑव दि रोमन एम्पायर' एक स्मरणीय कृति है। इसी श्रेणी में प्रसिद्ध विचारक और वक्ता बर्क (१७२९-१७९७) का नाम भी आता है। उनके गद्य में बड़ी प्रवहमान शक्ति थी। उनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'रिफ्लेक्शंस ऑन दि फ्रेंच रिवल्यूशन' है।

फ्रांसीसी क्रांति से प्रभावित रोमैंटिक साहित्य में मूलतः कविता प्रमुख है। रोमैंटिक कवियों ने अपने कृतित्व के बचाव में भूमिकाएँ आदि लिखीं। उनमें सबसे महत्वपूर्ण वक्तव्य वर्ड्स्वर्थ का 'प्रीफेस टु दि लिरिकल बैलड्स' कोलरिज की 'बायोग्रैफिया लिटरेरिया' और शेली की पुस्तक 'ए डिफ़ेंस ऑव पोएट्री' हैं। रोमैंटिक युग का गद्य भावना और कल्पना से अनुरंजित है।

समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र पर जेरेमी बेंथम, रिकार्डो और ऐडम स्मिथ ने ग्रंथ लिखे। १९वीं शताब्दी में 'एडिनबरा रिव्यू', 'क्वार्टर्ली' और 'ब्लैकवुड' के समान पत्रिकाओं का जन्म हुआ जिन्होंने गद्य साहित्य के बहुमुखी विकास में मदद की। १९वीं शताब्दी के प्रमुख निबंधकारों और आलोचकों में लैंब, हैज़लिट, ली हंट और डी क्विंसी के नाम अग्रगण्य हैं। लैंब (१७७५-१८३४) अंग्रेजी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ निबंधकार हैं। उनके निबंध 'एसेज़ ऑव इलिया' के नाम से प्रकाशित हुए। हैज़लिट (१७७८-१८३०) उच्च कोटि के निबंधकार और आलोचक थे। डी क्विंसी (१७८५-१८५९) की पुस्तक 'कन्फ़ेशंस ऑव ऐन ओपियम-ईटर' अंग्रेजी साहित्य का अनुपम रत्न है।

विक्टोरिया-युग के प्रारंभ से अंग्रेजी साहित्य अधिक संतुलन और संयम की ओर अग्रसर होता है और गद्य की शैली भी अधिक संयत हो जाती है, यद्यपि कार्लाइल और रस्किन के से गद्यकारों की रचना में हम रोमैंटिक शैली का प्रभाव फिर देखते हैं।

मिल (१८०६-१८७३) ने अनेक ग्रंथ लिखकर दार्शनिक गद्य को समृद्ध किया। इतिहासकारों में मैकाले (१८००-१८५९) का गद्य बहुरंगी और सबल था। उनके ऐतिहासिक निबंध बहुत ही लोकप्रिय हैं। साहित्यालोचन के क्षेत्र में मैथ्यू आर्नल्ड (१८२२-८८) का कार्य विशेष महत्व का है। आर्नल्ड का चिंतन सुस्पष्ट था और यही स्पष्टता उनकी गद्य शैली की भी विशेषता है। विचारों के क्षेत्र में भी डारविन, हक्सले और हर्बर्ट स्पेंसर की कृतियाँ अंग्रेजी गद्य को महत्वपूर्ण देन है।

१९वीं शताब्दी के गद्यकारों में कार्लाइल, न्यूमैन और रस्किन का उल्लेख अनिवार्य है। इनके लेखन में हमें अंग्रेजी गद्य की सर्वोच्च उड़ानें मिलती हैं। कार्लाइल (१७९५-१८८१) इतिहासकार और विचारक थे। उनके ग्रंथ 'दि फ्रेंच रिवल्यूशन', 'पास्ट ऐंड प्रेज़ेंट', 'हिरोज़ ऐंड हिरो-वर्शिप' अंग्रेजी साहित्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। उनकी आत्मकथा अंग्रेजी गद्य का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करती है। रस्किन कलात्मक और सामाजिक प्रश्नों पर विचार करते हैं। उनकी कृतियों में 'मॉडर्न पेंटर्स', 'दि सेविन लैंप्स ऑव आर्किटेक्चर', 'दि स्टोन्स ऑव वेनिस', 'अंटू दिस लास्ट', आदि विख्यात हैं।

सन् १८९० के लगभग अंग्रेजी साहित्य एक नया मोड़ लेता है। इस युग के पितामह पेटर (१८३९-९४) थे। उनके शिष्य ऑस्कर वाइल्ड (१८५६-१९००) ने कलावाद के सिद्धांत को विकसित किया। उनका गद्य सुंदर और भड़कीला था और उनके अनेक वाक्य अविस्मरणीय होते थे। इस युग के लेखक इतिहास में ह्रासवादी कहे जाते हैं।

आयरिश गद्य के जनक येट्स (१८६५-१९३९) थे। उनका गद्य अनुपम साँचों में ढला है। उनके अनुगामी सिंज की देन भी महत्वपूर्ण है। नाटक के क्षेत्र में इन दोनों का बड़ा महत्व है। येट्स उच्च कोटि के कवि और चिंतक भी थे।

२०वीं शताब्दी युद्ध, आर्थिक संकट और विद्रोही विचारधाराओं की शताब्दी है। विद्रोही स्वरों में सबसे सशक्त स्वर इस युग के प्रमुख नाटककार बर्नार्ड शा (१८५६-१९५०) का था। शा और वेल्स (१८६६-१९४६) दोनों को ही समाजवादी कहा गया है। इनके विपरीत चेस्टरटन (१८७४-१९३६) और बेलॉक (१८७०-१९५३) वैज्ञानिक दर्शन के विरुद्ध खड़े हुए। ये दोनों ही उच्च कोटि के निबंधकार और आलोचक थे।

आधुनिक अंग्रेजी गद्य अनेक दिशाओं में विकसित हो रहा है। उपन्यास, नाटक, आलोचना, निबंध, जीवनी, विविध साहित्य, विज्ञान और दर्शन, सभी क्षेत्रों में हम जागृति और प्रगति के लक्षण देखते हैं। लिटन

स्ट्रैची (१८८०-१९३२) के समान जीवनीलेखक और टी०एस० इलियट (१८८८-) के समान आलोचक और चिंतक आज अंग्रेजी गद्य को नई तेजस्विता और शक्ति प्रदान कर रहे है। आज के प्रमुख निबधकारो मे ए० जी० गार्डिनर, ई० वी० ल्यूकस और रॉबर्ट लिंड विशेष उल्लेखनीय हैं। अनेक कहानीकार भी आधुनिक अंग्रेजी गद्य को भरा पूरा बना रहे है। अंग्रेजी का आधुनिक गद्य सुस्पष्ट, निर्मल और सुगठित है।

सं० ग्रं०—लेगुई ऐंड कज़ामिया ए हिस्ट्री ऑव इग्लिश लिटरेचर, क्रेक इंग्लिश प्रोज राइटर्स, सेट्सबरी इंग्लिश प्रोज रिद्म। [प्र० च० गु०]

उपन्यास

अंग्रेजी उपन्यास विश्व के महान् साहित्य का विशिष्ट अग है। फील्डिग, जेन ऑस्टिन, जार्ज इलियट, मेरेडिथ, टॉमस हार्डी, हेनरी जेम्स, जॉन गाल्सवर्दी और जेम्स ज्वॉयस के समान उत्कृष्ट कलाकारो की कृतियो ने उसे समृद्ध किया है। अंग्रेजी उपन्यास जीवन पर मर्मभेदी दृष्टि डालता है, उसकी समुचित व्याख्या करता है, सामाजिक अनाचारो पर कठोर आघात करता है और जीवन के मर्म को ग्रहण करने का अप्रतिम प्रयास करता है। अंग्रेजी उपन्यास ने अमर पात्रो की एक लबी पक्ति भी विश्वसाहित्य को दी है। वह इग्लैंड के सामाजिक इतिहास की एक अपूर्व झाँकी प्रस्तुत करता है।

अंग्रेजी उपन्यास की प्रेरणा के स्रोत मध्यकालीन ऐंग्लो-सैक्सन रोमास थे, जिनकी अद्भुत घटनाओ और कथाओ ने परवर्ती कथाकारो की कल्पना को उडने के लिये पख दिए। यह रोमास जीवन की वास्तविकताओ के अतिरजित चित्र थे और अलेक्सादर अथवा ट्रॉय आदि के युद्धो से सबद्ध होते थे। ऐसे प्राचीन रोमास आगे चलकर गद्य रूप मे भी प्रस्तुत हुए। इनमे सर टॉमस मैलरी का 'मौर्त द'आर्थर' (१४८४) विशेष उल्लेखनीय है। गद्य मे कथा कहने का इग्लैंड मे यह पहला प्रयास था। अंग्रेजी उपन्यास के इतिहास मे इसी प्रकार की अन्य कृतियाँ सर टामस मोर की 'यूटोपिया' (१५१६) और सर फिलिप सिडनी की 'आर्केडिया' (१५९०) थी।

कुछ इतिहासकार जॉन लिली (१५५४-१६०६) के उपन्यास 'यूफुइस' (१५८०) को पहला अंग्रेजी उपन्यास कहते है। किस रचना को पहला अंग्रेजी उपन्यास कहा जाय, इस सबध मे बहुत कुछ मतभेद सभव है, किंतु अंग्रेजी उपन्यास के इतिहास मे 'युफुइस' का उल्लेख अनायास ही आता है। इस उपन्यास की भाषा बहुत कुछ कृत्रिम और आलकारिक है तथा अंग्रेजी गद्य के विकास पर इस शैली का बहुत प्रभाव पडा था। अंग्रेजी दरबारी जीवन का इस उपन्यास मे सजीव और यथार्थ चित्रण है।

एलिजाबेथ के युग मे शेक्सपियर के पूर्ववर्ती लेखको ने अनेक उपन्यास लिखे, जिनमे से कुछ ने शेक्सपियर को उनके नाटको के कथानक भी प्रदान किए। ऐसी रचनाओ मे रॉबर्ट ग्रीन (१५६२-९२) की 'पैंडोस्टो' और टॉमस लॉज (१५५८-१६२५) की 'रोजेलिंड' उल्लेखनीय है। टॉमस नैश (१५६७-१६०१) पहले अंग्रेजी कथाकार थे जिन्होने यथार्थवाद और व्यग को अपनाया। उनके उपन्यास 'दि अन्फार्चुनेट ट्रैवेलर ऑर दि लाइफ ऑव जैक विल्टन' मे जीवन के बहुरगी चित्र है। कथा का नायक विल्टन देश विदेशो मे घूमता फिरता है और कथानक घटनाओ के विचित्र जाल मे गुँथा है। एलिजाबेथ-युगीन लेखको मे टॉमस डेलूनी (१५४३-१६००) को भी उपन्यासकार कहा गया है। उनके उपन्यास 'जैक आव न्यूबरी' मे एक तरुण जुलाहे का वर्णन है जो अपने स्वामी की विधवा से विवाह करके समृद्ध जीवन बिताता है।

१७वी शताब्दी मे रोमास का पुनरुत्थान हुआ, ऐसी कथाओ का जिनका उपहास 'डॉन क्विग्ज़ोट' मे किया गया है। अंग्रेजी उपन्यास की इन रचनाओ का कोई विशेष महत्व नही है। अंग्रेजी उपन्यास मे एक महत्वपूर्ण कदम जॉन बनयन (१६२८-१६८८) का उपन्यास 'दि पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' था। यह कथारूपक है जिसमे कथानायक क्रिश्चियन अनेक बाधाओ का सामना करता हुआ अपने लक्ष्य तक पहुँचता है।

डिफो (१६६१-१७३१) की रचनाओ का अंग्रेजी उपन्यास के विकास पर बहुत प्रभाव पडा। उन्होने यथार्थवादी शैली को अपनाया, और जीवन की गति की भाँति ही उनके उपन्यासो की गति थी। उनका उपन्यास 'रॉबिन्सन क्रूसो' अत्यत लोकप्रिय हुआ। इसके अतिरिक्त भी उन्होने अनेक महत्वपूर्ण रचनाओ की सृष्टि की।

स्विफ्ट (१६६७-१७४५) अपने उपन्यास 'गुलिवर्स ट्रैवेल्स' मे मानव जाति पर कठोर व्यगप्रहार करते है, यद्यपि उस व्यग को अनदेखा करके अनेक पीढियो के पाठको ने उनकी कथाओ का रस लिया है।

१८वी शताब्दी मे इग्लैंड मे चार उपन्यासकारो ने अंग्रेजी उपन्यास को प्रगति का मार्ग दिखाया। रिचर्डसन (१६८९-१७६१) ने अपने उपन्यासो से मध्यम वर्ग के नए पाठको को परितोष प्रदान किया। इनके तीन उपन्यासो के नाम है—'पैमेला', 'क्लैरिसा हार्लो' और 'सर चार्ल्स ग्रान्डीसन'। रिचर्डसन की रचनाएँ भावुकता से भरी थी और उनकी नैतिकता निम्न कोटि की थी। इन त्रुटियो की आलोचना के लिये फील्डिग (१७०७-१७५४) ने अपने उपन्यास, 'जोजेफ ऐंड्रूज', 'टाम जोन्स', 'एमिलिया' और 'जोनेथन वाइल्ड' लिखे। इन रचनाओ ने अंग्रेजी उपन्यास को दृढ धरातल और विकास के लिये ठोस परपरा प्रदान की। १८वी शताब्दी में जिन चार उपन्यासकारो ने अंग्रेजी उपन्यास को विशेष समृद्ध किया उनमे दो अन्य नाम स्मॉलेट (१७२१-१७७१) और स्टर्न (१७१३-१७६८) के है। इस शताब्दी का एक और महत्वपूर्ण उपन्यास था गोल्डस्मिथ (१७२८-१७७४) का 'दि विकार ऑव वेकफील्ड'।

सर वाल्टर स्कॉट (१७७१-१८३२) और जेन आस्टिन (१७७५-१८१७) की कृतियाँ अंग्रेजी उपन्यास की निधि है। स्काट ने अंग्रेजी इतिहास का कल्पनारजित और रोमानी चित्रण अपने उपन्यासो मे किया। स्काटलैंड के जनजीवन का अनुपम अकन भी हमे उनकी कृतियो मे मिलता है। स्कॉट इग्लैंड के सबसे सफल ऐतिहासिक उपन्यासकार है। उनकी रचनाओ मे 'आइवानहो', 'केनिलवर्थ' और 'दि टैलिस्मान' की बहुत ख्याति है। जेन आस्टिन मध्यवर्गीय नारीजीवन की कुशल कलाकार है। वे व्यग और निर्ममता से पात्रो को प्रस्तुत करती है। बाह्य जीवन का इतना सजीव अकन साहित्य मे दुर्लभ है। जेन ऑस्टिन की रचनाओ मे 'प्राइड ऐंड प्रेजुडिस', 'एमा' और 'पर्सुएशन' की विशेष ख्याति है।

१९वी शताब्दी मे अंग्रेजी उपन्यास प्रगति के शिखर पर पहुँचा। यह डिकेन्स (१८१२-१८७०) और थैकरे (१८११-१८६३) का युग है। इस युग के अन्य महान् उपन्यासकार जार्ज इलियट, जॉर्ज मेरेडिथ, ट्रौलोप, हेनरी जेम्स आदि है। डिकेन्स इग्लैंड के सबसे अधिक लोकप्रिय उपन्यासकार है। उन्होने पिकविक के समान अमर पात्रो की सृष्टि की जो अंग्रेजी के पाठकवर्ग की स्मृति मे सदा के लिये घर कर चुके हैं। डिकेन्स ने अपने काल की कुरीतियो पर भी अपने साहित्य मे कठोर प्रहार किया। उन्होंने बच्चो की वेदना को अपनी कृतियो मे मार्मिक अभिव्यक्ति दी। कानून की उलझनो, सरकारी दफ्तरो के चक्र, फैक्ट्रियो मे मजदूरो के कष्ट आदि विषयो का भी डिकेन्स की कृतियो मे सशक्त अकन है। उनके उपन्यासो मे 'पिकविक पेपर्स', 'ऑलिवर ट्विस्ट', 'ओल्ड क्यूरिऑसिटी शॉप', 'डेविड कॉपरफील्ड', 'ए टेल ऑव टू सिटीज', 'ग्रेट एक्सपेक्टेशन्स,' आदि विशेष महत्वपूर्ण है।

डिकेन्स के समकालीन थैकरे ने अपने युग के महत्वाकाक्षी और पाखडी लोगो पर अपनी कृतियो मे कठोर प्रहार किए। थैकरे का साहित्य परिमाण मे अपेक्षाकृत कम है, किंतु आधे दर्जन स्मरणीय उपन्यासो मे उन्होने बेकी शार्प और बिट्रिक्स जैसे पात्रो की विफलता का मार्मिक अकन किया। थैकरे के उपन्यासो मे गहरी वेदना छिपी है। ससार उन्हे एक विराट् मेला प्रतीत होता था। उनके उपन्यासो मे 'वैनिटी फेयर,' 'हेनरी एस्मड', 'पेन्डेनिस' तथा 'दि न्यूकम्स' विशेष महत्व के है।

विक्टोरिया-युग मे अनेक महत्वपूर्ण कलाकारो ने अंग्रेजी उपन्यास को समृद्ध किया। डिजरेली (१८०४-१८८१) ने राजनीतिक उपन्यास लिखे, बुलवर लिटन (१८०३-१८७३) ने 'दि लास्ट डेज आव पापेई' के से सफल ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। चार्ल्स किंग्सली (१८१९-१८७५) ने 'वेस्टवर्ड हो' और 'हिपैशिया' के से उत्कृष्ट ऐतिहासिक उपन्यास अंग्रेजी को दिए। इसी प्रकार चार्ल्स रीड (१८१४-१८८४), चार्लेट ब्रौन्टे (१८१६-१८५५), ऐमिली ब्रौन्टे (१८१८-१८४८), मिसेज़ गैस्केल (१८१०-१८६५), विल्की कॉलिन्स (१८२४-१८८९) आदि के नाम अंग्रेजी उपन्यास के इतिहास मे स्मरणीय है।

जॉर्ज इलियट (१८१९-१८८०) की गणना इंग्लैंड के महान् उपन्यासकारों में है, यद्यपि काल के प्रवाह ने आज उनकी कला का मूल्य कम कर दिया है। उनके विशेष सफल उपन्यासों में 'साइलस मार्नर', 'ऐडम बीड', 'दि मिल ऑन दि फ्लास' और 'रामोला' के नाम है। ऐन्टनी ट्रौलोप (१८१५-८२) ने बारसेट नाम के क्षेत्र का अंतरंग चित्रण अपने उपन्यासों में किया और स्थानीय रंग का महत्व उपन्यास साहित्य में प्रतिष्ठित किया। मेरेडिथ (१८२८-१९०९) ने अपने पात्रों की मानसिक उलझनों की विशद व्याख्या अपने उपन्यासों में प्रस्तुत की। इनमें 'इगोइस्ट' की बहुत ख्याति हुई। मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास हेनरी जेम्स (१८४३-१९१६) की कला में उपन्यास को अतर्मुखी रूप देता है। टॉमस हार्डी (१८४०-१९२८) विश्व के विधान पर कठोर आघात करते हैं और मनुष्य को जीवनशक्तियों के असहाय शिकार के रूप में प्रस्तुत करते हैं। हार्डी ने अंग्रेजी उपन्यास को गाढ़े क्षेत्रीय रंग में भी रँगा। उनके उपन्यासों में 'दि रिटर्न ऑव दि नेटिव', 'दि मेयर ऑव कैस्टरब्रिज', 'टेस,' और 'ज्यूड दि आब्सक्योर' महत्वपूर्ण है।

आधुनिक काल में एक ओर तो मनोविश्लेषणवाद का महत्व बढ़ा जिसके कारण अंग्रेजी उपन्यास में 'चेतना के प्रवाह' नाम की प्रवृत्ति का उदय हुआ, दूसरी ओर जीवन के सूक्ष्म किंतु व्यापक रूप को समझने के प्रयास का भी विकास हुआ। जेम्स ज्वॉयस (१८८२-१९४२) रचित 'यूलिसीज़' उपन्यास मन के सूक्ष्म और गहन व्यापारों का अध्ययन प्रस्तुत करता है। उन्ही के समान वर्जिनिया वुल्फ (१८८२-१९४१) और डॉरोथी रिचर्डसन भी 'चेतना के प्रवाह' की शैली को अपनाती हैं। एच० जी० वेल्स (१८६६-१९४६), आर्नल्ड बेनेट (१८६७-१९३१) और जॉन गाल्सवर्दी (१८६७-१९३३) की कृतियाँ अंग्रेजी उपन्यास की आधुनिक शक्ति का अनुभव पाठक को कराती हैं। वेल्स सामाजिक और वैज्ञानिक समस्याओं को अपनी रचनाओं में उठाते हैं। आर्नल्ड बेनेट यथार्थवादी दृष्टि से इंग्लैड के 'पाँच नगर' शीर्षक क्षेत्र का सूक्ष्म चित्रण करते हैं। गाल्सवर्दी इंग्लैड के उच्च मध्यवर्गीय जीवन की व्यापक झाँकी फोर्साइट नाम के परिवार के माध्यम से देते है। डी० एच० लॉरेन्स (१८८५-१९३०) और आल्डस हक्सले (१८९४–) आज के प्रमुख अंग्रेजी उपन्यासकारों में उल्लेखनीय हैं। इसी श्रेणी में ई० एम० फोर्स्टर (१८७९–), ह्यू वालपोल (१८८४-१९४१), जे० बी० प्रीस्टले (१८९४–) और सॉमरसेट मॉम (१८७४-१९५८) भी है।

सं० ग्रं०—सेंट्सबरी : दि इंग्लिश नॉवेल; क्रास : डेवेलपमेंट ऑव दि इंग्लिश नॉवेल। [प्र० चं० गु०]

कहानी

कहानी की जड़ें हजारों वर्ष पूर्व धार्मिक गाथाओं और प्राचीन दंतकथाओं तक जाती हैं, किंतु आज के अर्थ में कहानी का आरंभ कुछ ही समय पूर्व हुआ। अंग्रेजी साहित्य में चॉसर की कहानियाँ अथवा जुलाहों के जीवन से संबंधित डेलूनी की कहानियाँ पहले भी मिलती हैं, किंतु वास्तव में कहानी की लोकप्रियता १९वीं शताब्दी में बढ़ी। पत्रपत्रिकाओं की स्थापना और आधुनिक जीवन की भाग दौड़ के साथ कहानी का विकास हुआ। १८वी शताब्दी में निबंध के साथ हमें कहानी के तत्व लिपटे हुए मिलते हैं। इस प्रकार की रचनाओं में सर रॉजर डि कवर्ली से संबद्ध स्केच उल्लेखनीय हैं। १९वी शताब्दी में हमें पूर्णत: विकसित कहानी मिलती है।

कहानी जीवन की एक झाँकी मात्र हमें देती है। उपन्यास से सर्वथा अलग इसका रूप है। कहानी की सबसे सफल परिभाषा 'जीवन का एक अंश' है। स्कॉट और डिकेन्स ने कहानियाँ लिखी थीं। डिकेन्स ने अपना साहित्यिक जीवन ही 'स्केचेज़ बाइ बौज़' नाम की रचना से शुरू किया था, यद्यपि इनकी वास्तविक देन उपन्यास के क्षेत्र में है। ट्रोलोप और मिसेज गैस्केल ने भी कहानियाँ लिखी थीं, किंतु कहानी के सर्वप्रथम बड़े लेखक वाशिंगटन अरविंग, हॉथॉर्न, ब्रेट हार्ट और पो अमरीका में हमें मिलते है। अरविंग (१७८३-१८५९) की 'स्केच बुक' अपूर्व कहानियों का भांडार है। इनमें सबसे सफल 'रिप वान विंकिल' थी। हॉथॉर्न (१८०४-६४) की कहानियाँ हमें परीलोक के स्वप्न दिखाती हैं। ब्रेट हार्ट (१८३९-१९०२) की कहानियों में अमरीका की पश्चिम की बस्तियों के अव्यवस्थित जीवन का दिग्दर्शन है। पो (१८०९-१८४९) विश्व के सर्वश्रेष्ठ कहानी लेखक कहे जाते हैं। उनकी कहानियाँ भय, आतंक और आश्चर्य से पाठक को अभिभूत कर डालती हैं।

इंग्लैंड में स्टीवेन्सन (१८५०-१८९४) ने कहानी को प्रौढ़ता प्रदान की। उनकी 'मार्खेइम', 'विल ओ' दि मिल' और 'दि बाटल इम्प' आदि कहानियाँ सुप्रसिद्ध हैं। हेनरी जेम्स (१८४३-१९१६) उपन्यासों के अतिरिक्त कहानी लिखने में भी बहुत कुशल थे। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में उनकी सफलता अपूर्व थी। ऐंब्रोज बीयर्स (१८४२-१९१३) कोमल और संश्लिष्ट भावनाओं को व्यक्त करने में अत्यंत कुशल थे। कैथरीन मैन्सफ़ील्ड (१८८९-१९२३) सुकुमार क्षणों का चित्रण ब्रश के हल्के आघातों के समान करती हैं।

२०वीं शताब्दी के सभी बड़े उपन्यासकारों ने कहानी को अपनाया। यह १९वीं सदी की परंपरा में ही एक आगे बढ़ा हुआ कदम था। टॉमस हार्डी की 'वेसेक्स टेल्स' के समान एच० जी० वेल्स, कॉनरड, आर्नल्ड बेनेट, जॉन गाल्सवर्दी, डी०एच० लॉरेन्स, आल्डस हक्स्ले, जेम्स ज्वॉयस, सॉमरसेट मॉम आदि ने अनेक सफल कहानियाँ लिखीं।

एच० जी० वेल्स (१८६६-१९४६) वैज्ञानिक विषयों पर कहानी लिखने में सिद्धहस्त थे। उनकी 'स्टोरीज़ ऑव टाइम ऐंड स्पेस' बहुत ख्याति पा चुकी है। कॉनरड (१८५६-१९२४) पोलैंड निवासी थे, किंतु अंग्रेजी कथासाहित्य को उनकी अद्भुत देन है। आर्नल्ड बेनेट (१८६७-१९३१) पाँच कस्बों के क्षेत्रीय जीवन से संबंधित कहानियाँ जैसे 'टेल्स ऑव दि फ़ाइव टाउन्स' लिखते थे। जॉन गाल्सवर्दी (१८६७-१९३३) की कहानियाँ गहरी मानवीय संवेदना में डूबी हैं। उनका कहानी संग्रह, 'दि कैरवन' अंग्रेजी में कहानी के अत्यंत उच्च स्तर का हमें परिचय देता है। डी० एच० लॉरेन्स (१८८५-१९३०) की कहानियों का प्रवाह धीमा है और वे उलझी मानसिक गुत्थियों के अध्ययन प्रस्तुत करती है। उनका कहानी संग्रह 'दि वूमन हू रोड अवे' सुप्रसिद्ध है। आल्डस हक्सले (१८९४–) अपनी कहानियों में मनुष्य के चरित्र पर व्यंगभरे आघात करते है। उन्हें जीवन में मानो श्रद्धा के योग्य कुछ भी नहीं मिलता। जेम्स ज्वॉयस (१८८२-१९४१) अपनी कहानियों 'डब्लिनर्स' में डब्लिन के नागरिक जीवन की यथार्थवादी झाँकियाँ पाठक को देते हैं। सॉमरसेट मॉम (१८७४–१९५८) अपनी कहानियों में ब्रिटिश साम्राज्य के दूरस्थ उपनिवेशों का जीवन व्यक्त करते है। आज की अंग्रेजी कहानी मानव चरित्र के निकृष्टतम रूपों पर ध्यान केंद्रित करती है। इसके कारण युद्ध का संकट, पाश्चात्य जीवन की विशृंखलता, और मानवीय मूल्यों का विघटन है। शिल्प की दृष्टि से आज कहानी का पर्याप्त परिमार्जन हो चुका है, किंतु साथ ही उसके भीतर निहित मूल्यों का ह्रास भी हुआ है।

सं०ग्र०—लेगुई ऐंड कज़ामिया : ए हिस्ट्री ऑव इंग्लिश लिटरेचर; बार्कर: दि शार्ट स्टोरी। [प्र० चं० गु०]

कविता

आदिकाल (६५०-१३५०ई०)—बहुत समय तक १४वीं सदी के कवि चॉसर को ही अंग्रेजी कविता का जनक माना जाता था। अंग्रेजी कविता की केंद्रीय परंपरा की दृष्टि से यह धारणा सर्वथा निर्मूल भी नहीं है। लेकिन वंशानुगतिकता के आधार पर अब चॉसर के पूर्व की सारी कविता का अध्ययन आदिकाल के अंतर्गत किया जाने लगा है।

नार्मन-विजय ने इंग्लैंड की प्राचीन ऐंग्लो-सैक्सन संस्कृति पर गहरा प्रभाव डाला और उसे नई दिशा दी। इसलिये आदिकाल के भी दो स्पष्ट विभाजन किए जा सकते हैं—उद्भव से नार्मन-विजय तक (६५०-१०६६ ई०), और नार्मन-विजय से चॉसर के उदय तक (१०६६-१३५० ई०)। भाषा की दृष्टि से हम इन्हें क्रमश: ऐंग्लो-सैक्सन या प्राचीन अंग्रेजी काल और प्रारंभिक मध्यदेशीय अंग्रेजी (मिडिल इंग्लिश) काल भी कह सकते हैं।

प्राचीन अंग्रेजी कविता—लगभग ५०० वर्षों तक प्राचीन अंग्रेजी में कविताएँ लिखी जाती रहीं लेकिन आज उनका अधिकांश केवल चार हस्तलिखित प्रतियों में प्राप्त है। उस काल की सारी कविता का ज्ञान इनके अतिरिक्त दो चार और रचनाओं तक ही सीमित है।

ऐंग्लो-सैक्सन कबीले ट्यूतन जाति के थे जो प्रकृति और प्राकृतिक देवी देवताओं के पूजक थे। वे अपने साथ साहसिक जीवन और युद्धों के बीच पैदा हुई कविता की मौखिक परपरा भी इग्लैंड ले आए। छठी शताब्दी के अतिम वर्षों मे उन्होने व्यापक पैमाने पर ईसाइयत की दीक्षा ली। इस प्रकार प्राचीन अग्रेजी कविता सास्कृतिक दृष्टि से बर्बर सभ्यता और ईसाइयत का सगम है। एक ओर 'विडसिथ', 'वाल्डियर', 'बेवुल्फ', 'दि फाइट ऐट फिन्सबर्ग', 'ब्रुननबर' और 'दि बैटिल ऑव माल्डॉन' जैसी पराक्रमपूर्ण अभियानो और युद्धों की गाथाओ मे ईसाई धर्म की सदाशयता, करुणा, रहस्यात्मकता, आध्यात्मिक निराशा और नैतिकता की छाया है तो दूसरी ओर सातवी शताब्दी के कैडमन और आठवी-नवी के सिनउल्फ की बाइबिल की कथाओ और सतो की जीवनियो पर लिखी कविताओ मे पुरानी वीरगाथाओ का रूप अपनाया गया है। उपदेश की प्रवृत्ति के कारण प्राचीन अग्रेजी कविता मे गीतिकाव्य 'डियोर्स लेमेट' जैसे नाटकीय गीतो और 'दि वाडरर', 'दि सीफेयरर', 'दि रुइन', 'दि वाइफ्स कम्प्लेट' जैसे शोकगीतो तक सीमित है। एक छोटा सा अश पहेलियो और हास्यपूर्ण कथोपकथनो का भी है।

प्राचीन अग्रेजी कविताएँ अत्यत अलकृत और अस्वाभाविक भाषा मे लिखी गई है। शब्दक्रीडा इन कवियो का स्वभाव है और एक एक शब्द के कई पर्याय देने मे उन्हे बडा आनद आता है।

प्राचीन अग्रेजी कविता मे पद्यरचना का आधारभूत सिद्धात अनुप्रास है। यह व्यजनमुखर भाषा है और व्यजनो के अनुप्रास पर ही पक्तियो की रचना होती है। प्रत्येक पक्ति के दो भाग होते है जिनमे से पहले मे दो और दूसरे मे एक निकटतम वर्णों मे यह स्वराघातपूर्ण अनुप्रास रहता है। इन कविताओ मे तुका का सर्वथा अभाव है।

प्रारंभिक मध्यदेशीय अंग्रेजी काल—नार्मन-विजय इग्लैड पर फास की सास्कृतिक विजय भी थी। इसके बाद लगभग २०० वर्षों तक फ्रेच भाषा अभिजातो की भाषा बनी रही। पुरानी आनुप्रासिक कविता की परपरा लगभग समाप्त हो गई। दूसरे शब्दो मे यह पुरानी गाथाओ पर रोमानियत की विजय थी। साथ ही अनुप्रासो की जगह अब तुको ने ले ली। १२वी शताब्दी मे इस प्रकार की नई कविता का अद्भुत विकास फ्रास और स्पेन मे हुआ। यह युग इस्लाम के विरुद्ध ईसाइयो के धर्मयुद्धो (क्रुसेडो) का था और प्रत्येक ईसाई सरदार अपने को नाइट (सूरमा) के रूप मे चित्रित देखना चाहता था। फ्रास के वैतालिको और चारणो ने गाथाओ का निर्माण किया। इनके प्रधान तत्व शौर्य, प्रेम, ईश्वरभक्ति, अज्ञात के प्रति आकर्षण और कभी कभी कवि की व्यक्तिगत अनुभूतियो की अभिव्यक्ति थे। फ्रास के रोलाँ और इग्लैड के आर्थर की गाथाओ तथा केल्टी दतकथाओ के अतिरिक्त लातीनी प्रेमगाथाओ ने भी इस काल की कविता को समृद्ध किया। इस तरह १३वी शताब्दी मे लौकिक और धार्मिक दोनो तरह की गीतिप्रधान कविताओ के कुछ उत्कृष्ट नमूने प्रस्तुत हुए। यूरोपीय सगीत, फ्रेच छद और पदरचना तथा वैतालिको और चारणो की उदात्त कल्पना ने मिलकर इस युग की कविता को सँवारा। १२वी और १३वी सदी की कुछ प्रसिद्ध रचनाओ मे 'द आउल ऐड दि नाइटइगेल', 'आरम्यलम', 'कर्सर मडाइ', 'हैवेलाक दि डेन', 'आर्थर ऐड मर्लिन', 'प्रिक ऑव कान्शस', 'डेम सिरिथ', 'ब्रुट' इत्यादि है। लेकिन इसमे सदेह नही कि इस युग की अधिकाश कविता उच्च कोटि की नही है। १४वी सदी के उत्तरार्ध ने पहले पहल चॉसर और उनके अतिरिक्त कुछ और महत्वपूर्ण कवियो का उदय देखा। इस प्रकार मध्यदेशीय अग्रेजी (मिडिल इग्लिश) का प्रारभिक काल उपलब्धियो से अधिक प्रयत्नो का था।

चॉसर से पुनर्जागरण तक—चॉसर (१३४० ?–१४०० ई०) ने मध्यदेशीय अग्रेजी कविता के अनेक तत्व ग्रहण किए। लेकिन उसने उसके रूप और वस्तु मे क्राति कर बाद के अग्रेजी कवियो के लिये एक नई परपरा स्थापित की। उसकी समृद्ध भाषा और शैली को स्पेंसर ने "अग्रेजी का पावन स्रोत" कहा और उसमे काव्य और जीवन की विविधता की ओर सकेत करते हुए ड्राइडन ने कहा . "यहाँ पर ईशप्रदत्त प्रचुरता है।"

चॉसर की कविता रस और अनुभवसिद्ध उदारचेता व्यक्ति की कविता है। उसे दरबार, राजनीति, कूटनीति, युद्ध, धर्म, समाज और इटली तथा फ्रास जैसे सांस्कृतिक केद्रो का व्यापक ज्ञान था। उसने अग्रेजी कविता को ऐकातिकता और सकुचित दृष्टिकोण से मुक्त किया। मध्ययुगीन यूरोप की सामती सस्कृति के दो प्रमुख रोमानी तत्वो, दाक्षिण्य (कर्टसी) और माधुर्य (ग्रेस) का आदर्श फ्रेच, जर्मन और स्पेनी भाषाओ मे प्रस्तुत हो चुका था। इग्लैंड मे चॉसर और उसके समसामयिक कवि गॉवर (१३३०-१४०८) ने उस आदर्श को समान सफलता के साथ अग्रेजी कविता मे प्रतिष्ठित किया।

मध्यदेशीय अग्रेजी को फ्रेच कविता के उदात्त भाव और उसकी अभिव्यक्ति की स्वच्छता, सुघरता और सरसता देने के कारण प्राय चॉसर को 'अग्रेजी मे लिखनेवाला फ्रेच कवि' कहा जाता है। इसमे सदेह नही कि चॉसर ने प्रसिद्ध प्रेमगाथा 'दि रोमास ऑव् दि रोज' और अपने पूर्ववर्ती या समकालीन फ्रेच कवियो, माशो (Machaut), दशॉ (Deschamps), फ्रवासार (Froissart), और ग्राँजो (Granson) से बहुत कुछ सीखा। 'दि बुक ऑव डचेस', 'दि पार्लियामेट ऑव फाउल्स', 'दि हाउस ऑव फेम' आदि उसकी प्रारभिक रचनाओ और 'दि लीजेंड ऑव गुड विमेन' की प्रस्तावना मे यह प्रभाव देखा जा सकता है। इनमे प्रतीक योजना या रूपक (अलेगरी), स्वप्न, आदर्श प्रेम, मधु प्रात, कलरवमग्न पक्षी इत्यादि फ्रेच कविता की अनेक विशेषताओ का समावेश है। चॉसर की छदरचना पर भी उसका व्यापक प्रभाव है।

१३७२ ई० मे चासर की प्रथम इटली-यात्रा के बाद उसकी कविता मे एक और नया तत्व आता है। दाते, पेत्रार्क और बोक्काच्चो ने उसे न केवल नए विषय दिए बल्कि नई दृष्टि भी दी। इनमे से अतिम कवि ने उसे सबसे अधिक प्रभावित किया। बोक्काच्चो से अनेक कथाएँ लेने के अतिरिक्त चॉसर ने वर्णन की निपुणता, आकर्षक चित्रयोजना और आवेगपूर्ण अभिव्यक्ति की कला सीखी। उसकी प्रसिद्ध रचना 'ट्रायलस ऐंड क्रेसिड' पर यह नया प्रभाव स्पष्ट है। लेकिन चॉसर की प्रतिभा केवल ऋण पर जीवित रहनेवाली नही थी, उसने अनेक प्राचीन कथाओ को यथार्थ और नाटकीय चरित्रचित्रण, विनोद और व्यग्य, और उत्साहपूर्ण वर्णन से अत्यत सजीव कर दिया।

चॉसर की अतिम और महान् कृति 'दि कैंटरबरी टेल्स' मे उसकी प्रतिभा अपनी सारी शक्ति के साथ प्रकट हुई। यह रचना उसके समाज का चित्र है और अपने यथार्थवाद के कारण इसने फ्रास और इटली की तत्कालीन कविता को बहुत पीछे छोड दिया। इस रचना मे चॉसर ने अपना सारा ज्ञान और मानव जीवन का अध्ययन उडेल दिया। इसमे यथार्थ चरित्रचित्रण और चरित्रो के पारस्परिक सघर्ष द्वारा चॉसर ने नाटक और उपन्यास के भावी विकास को भी प्रभावित किया। उदार व्यग्य और विद्रूप की परपरा भी इसी कृति से प्रारभ हुई।

चॉसर मे छदो के प्रयोग की अद्भुत क्षमता थी। 'ट्रायलस ऐंड क्रेसिड' मे प्रयुक्त सात पक्तियो का 'राइम रायल' और 'दि कैंटरबरी टेल्स' मे प्रयुक्त दशवर्णी तुकात द्विपदी का व्यापक प्रयोग आगे की अग्रेजी कविता मे हुआ।

चॉसर के समसामयिको मे गॉवर का स्थान भी ऊँचा है। उसकी रचना 'कन्फेसियो अमाटिस' की प्रेम कहानियो पर नैतिकता का गहरा पुट है। इसलिये उसे 'सदाचारी गॉवर' भी कहा गया। उसमे चॉसर की यथार्थवादिता और विनोद प्रियता नही है। वह प्रतिभा से अधिक स्वच्छ शिल्प का कवि है।

विलियम लैंगलैड १४वी शताब्दी की अत्यत प्रसिद्ध रचना 'पियर्स प्लाउमन' का कवि है। उसने अग्रेजी की सानुप्रासिक शैली का व्यवहार किया। लेकिन उसकी कविता उस युग के सामाजिक और धार्मिक पाखडो के विरुद्ध चुनौती है। उसमे जीवन के लिये धर्म और उसकी रहस्यभावना के महत्व की स्थापना है। पूरी रचना रूपक है और उसके अर्थ के कई स्तर है। लेकिन लैंगलैड ने कथा के अशो को सफलता के साथ एकान्वित किया है। लैंगलैड मे चॉसर और गॉवर का माधुर्य नही, वह आक्रोश और ओज का कवि है।

इसी युग मे कुछ और भी सानुप्रासिक रचनाएँ हुई जिनमे 'सर गवाइन ऐंड दि ग्रीन नाइट' और 'पर्ल' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये क्रमश आर्थर

की गाथा और 'दि रोमांस ऑव दि रोज़' पर आधारित है। पहली में चरित्र-चित्रण की सूक्ष्म दृष्टि और प्रकृति के असाधारण रूपों और स्थितियों के प्रति मोह व्यक्त होता है और दूसरी रचना अवसादपूर्ण कोमल भावनाओं और रहस्यानुभूति से ओतप्रोत है।

चॉसर की मृत्यु और पुनर्जागरण के बीच का समय अर्थात् पूरी १५वीं शताब्दी कविता की दृष्टि से अनुर्वर है। चॉसर के अनेक और लैंगलैंड के कुछ अनुयायी इंग्लैंड और स्कॉटलैंड में हुए। लेकिन उनमें से अधिकांश की कविता निर्जीव है। ऑक्लीव, लिडगेट, हॉज़, बार्कले और स्केल्टन जैसे अंग्रेज अनुयायियों से कहीं अधिक शक्तिशाली स्कॉटलैंड के अनुयायी राबर्ट हेनरीसन, विलियम डनबर और जेम्स प्रथम थे, क्योंकि उन्होंने अपनी बोली, अपनी भूमि के प्राकृतिक सौंदर्य और अनुभूतियों की सच्चाई का अधिक ध्यान रखा।

इस शताब्दी की महत्वपूर्ण रचनाओं में धर्म, प्रेम तथा पराक्रम संबंधी गीतों और बैलडों का उल्लेख किया जा सकता है। व्यंग्य और विनोदपूर्ण कविताएँ भी लिखी गईं।

पुनर्जागरण युग—मध्ययुगीन संस्कृति के अवशेषों के बावजूद १६वीं शताब्दी इंग्लैंड में पुनर्जागरण के मानवतावाद का उत्कर्ष काल है। यह मानवतावाद सामंती व्यवस्था के धर्म, समाज, नैतिकता और दर्शन के विरुद्ध व्यापारी पूंजीपतियों के नए वर्ग की विचारधारा था। इसी वर्ग की प्रेरणा से धर्म-सुधार-आंदोलन (रिफार्मेशन) हुआ, ज्योतिष और विज्ञान में क्रांतिकारी अनुसंधान हुए, धन और नए देशों की खोज में साहसिक सामुद्रिक यात्राएँ हुईं। मानवतावाद ने व्यक्ति के ज्ञान और कर्म की अमित संभावनाओं के साथ साथ साहित्य में प्रयोगों और कल्पना की मुक्ति की घोषणा की।

१६वीं शताब्दी—इंग्लैंड में इटली, फ्रांस, स्पेन और जर्मनी के काफी बाद आने के कारण यहाँ का पुनर्जागरण इन देशों, विशेषतः इटली, से अत्यधिक प्रभावित हुआ। पुनर्जागरण के प्रथम दो कवियों में सर टॉमस वायट (१५०३-४२) और अर्ल ऑव् सरे (१५१७-४७) है। वायट ने पेत्रार्क के आधार पर अंग्रेजी में सॉनेट लिखे और इटली से अनेक छंद उधार लिए। सरे ने सॉनेट के अतिरिक्त इटली से अतुकांत छंद लिया। इन कवियों ने प्राचीन यूनानी साहित्य और पेत्रार्क इत्यादि की पैस्टरल कविता की रूढ़ियों को अंग्रेजी में आत्मसात् किया तथा अनेक सुंदर और तरल गीत लिखे।

इस तरह उन्होंने एलिजाबेथ के शासनकाल के अनेक बड़े कवियों के लिये जमीन तैयार की। इनमें सबसे पहले एडमंड स्पेंसर (१५५२-९९) और सर फिलिप सिडनी उल्लेखनीय हैं। मृत्यु के बाद प्रकाशित सिडनी की रचना 'ऐसट्रोफेल ऐंड स्टेला' (१५९१) ने कथाबद्ध सॉनेट की परंपरा को जन्म दिया। इसके पश्चात् तो ऐसे सॉनेटों की एक परंपरा चल निकली और डेनियल, लॉज, ड्रेटन, स्पेंसर, शेक्सपियर और अन्य कवियों ने इसे अपनाया। इनमें रूढ़ियों के कारण वास्तविक और काल्पनिक प्रेमी प्रेमिकाओं का भेद करना आसान नहीं, लेकिन सिडनी और कई अन्य कवियों, जैसे ड्रेटन, स्पेंसर और शेक्सपियर का प्रेम केवल वायवी प्रेम नहीं है। सिडनी ने लिखा : 'फूल', सेड माइ म्यूज टु मी, 'लुक इन दाइ हार्ट ऐंड राइट।'

विचारों में संस्कार तथा चारुता और काव्य में व्यापकता और विविधता की दृष्टि से स्पेंसर को इंग्लैंड में पुनर्जागरण का प्रतिनिधि कवि कहा जा सकता है। उसने प्राचीन यूनान से लेकर आधुनिक यूरोप की साहित्यिक और सांस्कृतिक परंपरा को अपने युग के सांस्कृतिक और साहित्यिक जागरण से समन्वित किया। उदाहरण के लिये, उसकी प्रसिद्ध रचना 'दि फ़ेयरी क्वीन' का कथानक मध्ययुगीन है, लेकिन उसकी आत्मा मानवतावाद की है। गोपगीत (पैस्टरल), मर्सिया (एलेजी), व्यंग्य और विद्रूप, सॉनेट, रूपक, प्रेमकाव्य, महाकाव्य जैसे अनेक रूपों से उसने अंग्रेजी कविता की सीमाओं का विस्तार किया। उसने भाषा को इंद्रियबोध, संगीत और चित्रमयता दी। छंदों के प्रयोग में भी वह अद्वितीय है। इसीलिये उसे 'कवियों का कवि' कहा जाता है।

एलिज़ाबेथ के शासनकाल में गीति की परंपरा और भी विकसित हुई। एक ओर ओविद के अनुकरण पर शृंगारपूर्ण गीतों, जैसे मार्लो के 'हीरो ऐंड लियंडर' और शेक्सपियर के 'वीनस ऐंड अडॉनिस' और 'रेप ऑव लुक्रीस' की रचना हुई, तो दूसरी ओर बैलडों और लोकगीतों की परंपरा में ऐसे गीतों की जिनमें उस काल के अनेक पक्ष—युद्ध और प्रेम से लेकर तंबाकू तक—प्रतिबिंबित हुए। इनपर इटली के संगीत का प्रभाव स्पष्ट है। ऐसे मस्ती भरे, सरल, मधुर और सुघर गीत लिली, पील, ग्रीन, डेकर और शेक्सपियर के नाटकों के अतिरिक्त विलियम बर्ड, टॉमस मार्लो, टॉमस कैंपियन, लॉज, राली, ब्रेटन, वाट्सन, नैश, डन और कांसटेबिल की रचनाओं में बड़ी संख्या में प्राप्त होते हैं। इन कवियों ने अंग्रेजी कविता में 'वैतालिक पखेरुओं का घोंसला' बनाया।

१६वीं शताब्दी की महत्वपूर्ण उपलब्धियों में अतुकांत छंद का विकास भी है। मार्लो और शेक्सपियर ने अरुद्धचरणांत वाक्यों द्वारा इसमें आर्केस्ट्रा के संगीत-अनुच्छेद की शैली का विकास किया। मार्लो ने यदि इसे प्रपात का वेग और उच्चस्वरता दी तो शेक्सपियर ने यतियों की विविधता से इसे सूक्ष्म चिंतन से लेकर साधारण वार्तालाप तक की क्षमता दी। संक्षेप में १६वीं सदी के कवियों में आत्मविश्वास का स्वर है। उनकी कविता निसर्ग ('नेचर') की तरह नियमबद्ध किंतु उन्मेषपूर्ण, शब्दों और चित्रों में उदार और अलंकृत, संगीत, लय और ध्वनि में मुखर, तुकों और छंदों में व्यवस्थित और स्पर्श, रूप, रस और गंध में प्रबुद्ध है।

१७वीं सदी पूर्वार्ध—एलिज़ाबेथ के बाद का समय धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक क्षेत्र में संघर्ष और संशय का था। कवि अपने परिवेश की अतिशय बौद्धिकता और अनुदारता से त्रस्त जान पड़ते हैं। स्पेंसर के शिष्य ड्रमंड, डेनियल, चैपमन और ग्रेविल भी इससे अछूते नहीं हैं। इस सदी के पूर्वार्ध में कविता का नेतृत्व बेन जॉन्सन (१५७२-१६३७) और जॉन डन (१५७२-१६३१) ने किया। उनकी काव्यधाराओं को क्रमशः 'कैवेलियर' (दरबारी) और 'मेटाफ़िज़िकल' (अध्यात्मवादी) कहा जाता है। इस विभाजन के बावजूद उनमें बौद्धिकता, कविताओं और गीतों की लघुता, रति और शृंगार, ईश्वर के प्रति भक्ति और उससे भय इत्यादि समान गुण है। एलिज़ाबेथ युग की कविता के औदार्य के स्थान पर उनमें घनत्व है।

बेन जॉन्सन इंग्लैंड का प्रथम आचार्य कवि है। उसने कविता को यूनानी और लातीनी काव्यशास्त्र के साँचे मे ढाला। उसकी कविता में बुद्धि और अनुभूति के संयम के अनुरूप नागरता, रचनासंतुलन और प्रांजलता है। इसी प्रवृत्ति से बेन जॉन्सन की संतुलित, स्वायत्त और सूक्तिप्रधान दशवर्णी द्विपदी (हिरोइक कपलेट) का जन्म हुआ, जो चॉसर की द्विपदी से बिलकुल भिन्न प्रकार की है और जो १८वी शताब्दी की कविता पर छा गई। उसके प्रसिद्ध 'आत्मजों' में रॉबर्ट हेरिक, टॉमस केरी, जॉन सर्कलिंग और रिचर्ड लवलस है। इनकी कला और अनुभूति में भी मूलतः वही आदर्शवादी और व्यक्तिवाद से पराङ्मुखी स्वर है।

मेटाफ़िज़िकल कविता की प्रवृत्ति व्यक्तिगत अनुभव और अभिव्यक्ति के अन्वेषण की है। डन के शब्दों में यह 'नग्न चिंतनशील हृदय' की कविता है। डा० जॉन्सन के शब्दों में इसकी विशेषताएँ परस्पर विरोधी विचारों और बिंबों का सायास संयोग और बौद्धिक सूक्ष्मता, मौलिकता, व्यक्तीकरण और दीक्षागम्य ज्ञान हैं। लेकिन आधुनिक युग ने उसका अधिक सहानुभूतिपूर्ण मूल्यांकन करते हुए उनकी इन विशेषताओं पर अधिक जोर दिया है—गंभीर चिंतन के साथ कटाक्ष और व्यंग्यपूर्ण कल्पना, विचार और अनुभूति की अन्विति, आंतरिक तनाव और संघर्ष, अलंकृत बिंबों के स्थान पर अनुभूति या विचारप्रसूत मार्मिक बिंबों की योजना और ललित अभिव्यक्ति के स्थान पर यथार्थवादी अभिव्यक्ति।

१७वीं शताब्दी के कवियों में जॉन मिल्टन (१६०८-७४) का व्यक्तित्व ऊँचे शिखर की तरह है। उसके लिये चिंतन और कर्म, कवि और नागरिक अभिन्न थे। पूर्ववर्ती पुनर्जागरण और परवर्ती १८वीं शताब्दी की राजनीतिक और दार्शनिक स्थिरता से वंचित, संक्रांति काल का कवि होते हुए भी मिल्टन ने मानव के प्रति असीम आस्था व्यक्त की। इस तरह वह ईसाई मानवतावादियों में सबसे अंतिम और सबसे बड़ा कवि है। मध्ययुगीन अंकुशों के विरुद्ध नई मान्यताओं के लिये उसने कविता के अतिरिक्त केवल गद्य में लगातार बीस वर्षों तक संघर्ष किया और अपनी आँखें भी खो दीं।

मिल्टन के अनुसार कविता को 'सरल, सरस और आवेगपूर्ण' होना चाहिए। अपनी प्रारंभिक रचनाओं—'आन दि मार्निंग ऑव क्राइस्ट्स

नेटिविटी' 'ल' एले 'इलग्रो, पेन्सेरोसो', 'कोमस' और 'लिसिडास'--में वह बेन जॉन्सन और मुख्य रूप से स्पेंसर से प्रभावित रहा, किंतु लंबे विराम के बाद लिखी हुई तीन अंतिम रचनाओं, 'पैराडाइज़ लॉस्ट', 'पैराडाइज़ रीगेंड' और 'सैम्सन एगनाइस्टीज़' में उसकी चिंतनशक्ति और काव्यप्रतिभा का उत्कर्ष है। अपनी महान् कृति 'पैराडाइज़ लॉस्ट' में उसने अंग्रेजी कविता को होमर, वर्जिल और दांते का उदात्त स्वर दिया। उसमें उसने अंग्रेजी कविता में पहली बार महाकाव्य के लिये अतुकांत छंद का प्रयोग किया और भाषा, लय और उपमा को नई भंगिमा दी।

१६६०ई०से लेकर शताब्दी के अंत की अवधि का सबसे बड़ा कवि जॉन ड्राइडन (१६३१-१७००) है। यह अंग्रेजी कविता में प्रखर कल्पना और अनुभूति की जगह काव्यशास्त्रीय चेतना, तर्क और व्यवहारकुशल सामाजिकता के उदय का युग है। इस नए मोड़ के पीछे काम करनेवाली शक्तियों में उस युग के राजनीतिक दलों के संघर्ष, फ्रांस के रंग में रँगे हुए चार्ल्स द्वितीय का दरबार, फ्रांस के नए रीतिकारों के आदर्श, कॉफ़ी-हाउसों और मनोरंजन-गृहों का उदय और नागरिक जीवन का महत्व इत्यादि हैं। स्वभावतः, इस युग की कविता का आदर्श सरल, स्पष्ट, संतुलित, सूक्तिप्रधान, फलयुक्त अभिव्यक्ति है। ड्राइडन की व्यंग्यपूर्ण कविताओं—'ऐबसेलम ऐंड आर्कीटोफेल', 'मेडल' और 'मैक्फ्लेक्नो' में ये गुण प्रचुरता से है। नीति की कविता में वह अद्वितीय है। ड्राइडन में गीतिकाव्य की परंपरा के भी तत्व हैं। लेकिन कुल मिलाकर उसकी कविता बुद्धिवादी युग की पूर्वपीठिका ही है। ड्राइडन को छोड़कर यह युग छोटे कवियों का है जिनमें सबसे उल्लेखनीय, प्रसिद्ध और लोकप्रिय व्यंग्यकृति 'हुडिब्राज़' का कवि सैमुएल बटलर है।

१८वीं शताब्दी : तर्क या रीतिप्रधान युग—१८वीं शताब्दी अपेक्षाकृत राजनीतिक और सामाजिक स्थिरता का काल है। इसमें इंग्लैंड के साम्राज्य, वैभव और आंतरिक सुव्यवस्था का विस्तार हुआ। इस युग के दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के अनुसार यंत्र की तरह नियमित सृष्टि तर्क और गणितगम्य है और धर्म की 'डीइस्ट' (प्रकृति-देववादी) विचारधारा के अनुसार धर्म श्रुतिसंमत न होकर नैसर्गिक और बुद्धिगम्य है। साहित्य में यह तर्कवाद रीति के आग्रह के रूप में प्रकट हुआ। कवियों ने अपने ढंग से यूनान और रोम के कवियों का अनुकरण करना अनिवार्य समझा। इसका अर्थ था कविता में तर्क, नीर-क्षीर-विवेक और संतुलित बुद्धि की स्थापना। काव्य में शुद्धता को उन्होंने अपना मूलमंत्र बनाया। इस शुद्धता की अभिव्यक्ति विषयवस्तु में सार्वजनीनता (ह्वाट ऑफ्ट वाज़ थॉट बट नेवर सो वेल एक्सप्रेस्ड) भाषा में पदलालित्य, छंद में दशवर्णी द्विपदी में अत्यधिक संतुलन और यतियों में अनुशासन के रूप में हुई।

इस कविता का पौरोहित्य अलेक्जेंडर पोप (१६८८-१७४४) ने किया। उसके आदर्श रोम के जुवेनाल और होरेस, फ्रांस के ब्वालो (Boilcau) और इंग्लैंड के ड्राइडन थे। काव्यसिद्धांतों पर लिखी हुई अपनी पद्यरचना 'एसे ऑन क्रिटिसिज़्म' में उसने प्रतिभा और रुचि तथा इन दोनों को अनुशासित रखने की आवश्यकता बतलाई। उसकी अधिकांश कृतियाँ व्यंग्य और विद्रूपप्रधान हैं और उनमें सबसे प्रसिद्ध 'दि रेप ऑव दि लॉक' और 'डंसियड' हैं जिनमें उसने कृत्रिम उदात्त (मॉक हिरोइक) शैली का अनुसरण किया। उसके काव्यों की समता बरछी की नोक से की जाती है। उसकी रचना 'एसे ऑन मैन' मानव जीवन के नियमों का अध्ययन है। इसपर उसके बुद्धिवादी युग की छाप स्पष्ट है।

उसके युग के अन्य व्यंग्यकारों में प्रायर, गे, स्विफ्ट और पारनेल हैं। इस बुद्धिवादी और व्यंग्यप्रधान युग में ही ऑलिवर गोल्डस्मिथ, लेडी विंचेल्सिया, जेम्स टाम्सन, टॉमस ग्रे; विलियम कॉलिंस, विलियम कूपर, एडवर्ड यंग आदि प्रसिद्ध कवि हुए जिनमें से अनेक ने स्पेंसर और मिल्टन की परंपरा को कायम रखा और प्रकृति, एकांत जीवन, भग्नावशेषों और समाधि-स्थलों के संबंध में अवसाद और चिंतनपूर्ण अनुभूति के साथ लिखा। इन्हें १९वीं शताब्दी की रोमानी कविता का अग्रदूत कहा जाता है। रहस्यवादी कवि विलियम ब्लेक और किसान कवि रॉबर्ट बर्न्स में भी प्रधान तत्व रोमानी प्रवृत्तियाँ और गीति हैं। इन दोनों का स्वर विद्रोह और मुक्ति का है।

रोमैंटिक युग—१८वीं शताब्दी के कुछ कवियों में अनेक रोमानी तत्वों के अंकुरों के बावजूद रोमैंटिक युग का प्रारंभ १७९८ में विलियम वर्ड्स्वर्थ (१७७०-१८५०) और सैमुएल टेलर कोलरिज (१७७२-१८३४) के संयुक्त संग्रह 'लिरिकल बैलड्स' के प्रकाशन से माना जाता है। अंग्रेजी कविता के इस सबसे महान् युग के साथ पर्सी बिशी शेली (१७९२-१८२२), जॉन कीट्स (१७९५-१८२१), जॉर्ज गॉर्डन बायरन (१७८८-१८२४), अलफ्रेड टेनिसन (१८०९-९२), रॉबर्ट ब्राउनिंग (१८१२-८९) और मैथ्यू आर्नल्ड (१८२२-८८) के नाम भी जुड़े हुए है।

पूर्वार्ध—१९वीं सदी के पूर्वार्ध की कविता उस युग की चेतना की उपज है और उसपर फ्रांसीसी दार्शनिक रूसो और फ्रांसीसी क्रांति का गहरा असर है। इसलिये इस कविता की विशेषताएँ मानव में आस्था, प्रकृति से प्रेम और सहज प्रेरणा के महत्व की स्वीकृति हैं। इस युग ने रीति के स्थान पर व्यक्तिगत प्रतिभा, विश्वजनीनता के स्थान पर व्यक्तिगत रुचि तथा अनुभव, तर्क और विकल्प के स्थान पर संकल्पात्मक कल्पना और स्वप्न, अभिव्यक्ति में स्पष्टता के स्थान पर लाक्षणिक वक्रता पर अधिक जोर दिया। इस युग की कविता में गीति का स्वर प्रधान है।

वर्ड्स्वर्थ प्रकृति का कवि है और इस क्षेत्र में वह बेजोड़ है। उसने बड़ी सफलता के साथ साधारण भाषा में साधारण जीवन के चित्र प्रस्तुत किए। प्रकृति के प्रति उसका सर्वात्मवादी दृष्टिकोण अंग्रेजी कविता के लिये नई चीज है। उसके साथी कोलरिज ने प्रकृति के असाधारण पक्षों का चित्र खींचा। वह चिंतनप्रधान, संशय और अवसाद से भरे मन के दिवास्वप्नों का कवि है। शेली मानव जीवन की व्यथा और उसके उज्वल भविष्य का क्रांतिकारी स्वप्नद्रष्टा कवि है। वह अपने संगीत और सूक्ष्म किंतु प्रखर कल्पना के लिये प्रसिद्ध है। कीट्स इस युग का सबसे जागरूक कवि है। उसमें इंद्रियबोध की अद्भुत क्षमता है। इसलिये वह सौंदर्य का कवि माना जाता है और उसके भाव चित्रों के माध्यम से व्यक्त होते हैं। बायरन रोमानी कविता की अवसादपूर्ण और नाटकीय आत्मरति का कवि है। इस प्रवृत्ति से जुड़कर उसके आकर्षक विद्रोही व्यक्तित्व ने यूरोप के अनेक कवियों को प्रभावित किया। किंतु आज उसकी प्रसिद्धि १८वीं शताब्दी से प्रभावित उसके व्यंग्यकाव्य पर टिकी है।

इस काल के अन्य उल्लेखनीय कवियों में रॉबर्ट सदी, टॉमस मूर, टॉमस कैंबेल, टॉमस हुड, सैवेज लैंडर, बेडोज़, ली हंट इत्यादि हैं।

विक्टोरिया-युग—रोमैंटिक कविता का उत्तरार्ध विक्टोरिया के शासनकाल के अंतर्गत आता है। विक्टोरिया के युग में मध्यवर्गीय प्रभुत्व की असंगतियाँ उभरने लगी थीं और उसकी शोषणव्यवस्था के विरुद्ध आंदोलन भी होने लगे। वैज्ञानिक समाजवाद के उदय के अतिरिक्त यह काल डार्विन के विकासवाद का भी है जिसने धर्म की भीतें हिला दीं। इन विषमताओं से बचने के लिये ही मध्यवर्गीय उपयोगितावाद, उदारतावाद और समन्वयवाद का जन्म हुआ। समन्वयवादी टेनिसन इस युग का प्रतिनिधि कवि है। उसकी कविता में अतिरंजित कलावाद है। ब्राउनिंग ने आशावाद की शरण ली। अपनी कविता के अनगढ़पन में वह आज की कविता के समीप है। आर्नल्ड और क्लफ़ संशय और अनास्थाजन्य विषाद के कवि हैं।

इस तरह विक्टोरिया-युग के कवियों में पूर्ववर्ती रोमैंटिक कवियों की क्रांतिकारी चेतना, अदम्य उत्साह और प्रखर कल्पना नहीं मिलती। इस युग में समय बीतने के साथ 'कला कला के लिये' का सिद्धांत जोर पकड़ता गया और कवि अपने अपने घोंसले बनाने लगे। कुछ ने मध्ययुग तथा कीट्स के इंद्रियबोध और अलस संगीत का आश्रय लिया। ऐसे कवियों का दल प्री-रैफ़ेलाइट नाम से पुकारा जाता है। उनमें प्रमुख कवि डी० जी० रॉजेटी, स्विनबर्न, क्रिश्चियाना रॉज़ेटी और फिट्ज़ेराल्ड हैं। विलियम मॉरिस (१८३४-९६) का नाम भी उन्हीं के साथ लिया जाता है, किंतु वास्तव में वह पृथ्वी पर स्वर्ग की कल्पना करनेवाला इंग्लैंड का प्रथम साम्यवादी कवि है। धर्म की रहस्यवादी कल्पना में पलायन करनेवालों में प्रमुख कावेंट्री पैटमोर, एलिस मेनेल और जेरॉर्ड मैनली हॉप्किंस (१८४४-८९) हैं। हॉप्किंस अत्यंत प्रतिभाशाली कवि है और छंद में 'स्प्रंग रिद्म्' का जन्मदाता है। मेरेडिथ (१८२८-१९०९) प्रकृति का सूक्ष्मदर्शी कवि है। शताब्दी के अंतिम दशक में ह्रासशील प्रवृत्तियाँ पराकाष्ठा पर पहुँच गई। इनमें आत्मरति, आत्मपीड़न और सतही भावुकता है। ऐसे कवियों में डेविडसन, डाउसन, जेम्स टाम्सन, साइमंस, ऑस्टिन डॉब्सन, हेनली इत्यादि के नाम लिए जा सकते हैं।

इसी प्रकार किपलिंग की अंध राष्ट्रवादिता और ऊँचे स्वरों के बावजूद १९वीं शताब्दी के अंतिम भाग की कविता व्यक्तिवाद के संकट की कविता है। २०वीं शताब्दी में वह संकट और भी गहरा होता गया।

२०वीं शताब्दी–२०वी शताब्दी का प्रारंभ प्रश्नचिह्नों से हुआ, लेकिन उसकी प्रारंभिक कविता में, जिसे जॉर्जियन कविता कहते है, १९वीं शताब्दी के आदर्शों का ही प्रक्षेपण है। जॉर्जियन कविता में प्रकृतिप्रेम, अनुभवों की सामान्यता और अभिव्यक्ति में स्वच्छता और कोमलता पर अधिक जोर है। इसीलिये उसपर अंतरहीनता का आक्षेप किया जाता है। इस शैली के महत्वपूर्ण कवियों में रॉबर्ट ब्रिजेज़ (१८४४-१९३०), मेसफील्ड (१८७८-) वाल्टर डी ला मेयर, डेवीज़, डी० एच० लारेंस, लारेंस बिन्यन, हॉजसन, रॉबर्ट वेन, रुपर्ट ब्रुक, सैसून, एडमंड ब्लंडन, रॉबर्ट ग्रेव्स, अबरक्रूंबी इत्यादि उल्लेखनीय हैं। निश्चय ही, इनमें से अनेक मे विशिष्ट प्रतिभा है, सभी उथले भावो के कवि नही है।

इस शताब्दी के कवियों मे येट्स (१८६५-१९३९), हार्डी (१८४०-१९२८) और हाउसमन (१८५९-१९३६) का स्थान बहुत ऊँचा है। येट्स में रहस्यभावना, प्रतीकयोजना और सगीत की प्रधानता है। हार्डी में स्वरों की रुक्षता और नियति की दारुण चेतना उसे जॉर्जियन युग से अलग करती है। हाउसमन हार्डी की कोटि का कवि नही, उससे मिलता जुलता कवि है। वह अपनी रचना 'ए श्रॉपशायर लैंड' के लिये प्रसिद्ध है।

आधुनिकता के रंग में रँगी कविता का प्रारंभ १९१३ में इमेजिस्ट (बिंबवादी) आंदोलन से प्रारंभ होता है। इसके पूर्व भी इस तरह की कविताएँ लिखी गई थी, किंतु १९१३ में एफ०एस०फ्लिंट और एज़रा पाउंड (१८८५-) ने उसके सिद्धांतो की स्थापना की। इनके अनुसार कविता का लक्ष्य था 'वस्तु' को कविता मे सीधे उतारना, अभिव्यक्ति में अधिक से अधिक संक्षिप्ति और संगीत-अनुशासित वाक्यरचना। पाउंड के अनुसार "बिंब वह है जो बौद्धिक और भावात्मक सश्लिष्टता को उसकी क्षणिकता में प्रस्तुत करता है।" बिंबवादी कविता कठोर और पारदर्शी अभिव्यक्ति पसंद करती है। इसी के साथ मुक्त छंद की लोकप्रियता भी बढ़ी। इसी शैली के कवियों में सबसे प्रसिद्ध एज़रा पाउंड और एडिथ सिटवेल (१८८७-) है।

प्रथम युद्ध के बाद टी० एस० इलियट (१८८८-) की प्रसिद्ध रचना 'वेस्ट लैंड' ने आधुनिक अंग्रेजी कविता पर गहरा असर डाला। इस रचना में पूँजीवादी सभ्यता की ऊसर भूमि में पथहीन और प्यासे व्यक्ति का चित्र है। इसमें कवि ने रोमानी परंपरा को छोड़कर डन का आँचल पकड़ा। इसमें फ्रेंच प्रतीकवादियों का प्रभाव भी स्पष्ट है। इसने कविता में दीक्षा-गम्यता की नीव रखी। यह केवल अनुभवों की नही बल्कि अभिव्यक्तियों की भी अभिशप्त भूमि है। इस अभिशप्त भूमि से अंग्रेजी कविता को निकालने का प्रयास १९३० के बाद मार्क्सवाद से प्रभावित ऑडेन (१९०७-) लिविस, स्पेंडर सेसिल डे और मेकनीस ने किया।

टी०एस० इलियट के बाद सबसे महत्वपूर्ण कवि डीलन टामस (१९१४-५३) है जो अत्यंत नवीन होते हुए भी अत्यंत मानवीय है। उसमें यौन-प्रतीकों, धार्मिकता तथा जीवन और मृत्यु संबंधी चिंतन का विचित्र योग है। उसकी कविता गीति और बिंबप्रधान है और बहुत अंशों में उसने अंग्रेजी कविता की रोमानी परंपरा का भी निर्वाह किया है।

२०वी शताब्दी के अन्य उल्लेखनीय कवियों में हर्बर्ट रीड, जॉर्ज बार्कर, एडविन म्योर, केज़, अलन लिविस, कीथ डगलस, लारेंस ड्यूरेल, रॉय फुलर, डेविड गैसक्वॉयन, राइडलर, रोजर्स, बर्नर्ड स्पेंसर, टेरेंस टिलर, डी० जे० एनराइट, टॉम गन, किंग्सले आमिस, जॉन वेन और अलबेरीज़ है।

आधुनिक युग को पश्चिम के बुद्धिजीवी चिंता और भय का युग कहते है। इसमें संदेह नही कि भाषा, बिंब और छंद के क्षेत्र में इस युग ने अनेक प्रयोग किए है, किंतु ऐसा जान पड़ता है कि अधिकांश कवियों में जीवन और उसके यथार्थ को समझने की क्षमता नही है।

सं०ग्रं०—डब्ल्यू० जे० कोर्टहोप : हिस्ट्री ऑव इंग्लिश पोएट्री; केंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंग्लिश लिटरेचर; लेगुई ऐंड कज़ामिया : ए हिस्ट्री ऑव इंग्लिश लिटरेचर; डब्ल्यू०पी० कर : इंग्लिश लिटरेचर, मेडीवल; वी० डी० सोलापिंटो : दि इंग्लिश रेनेसाँ, १५१०-१६८८; एस०जे० सी० ग्रियर्सन : क्रॉस करेंट्स् इन इंग्लिश लिटरेचर ऑव दि सेवेन्टीन्थ सेंचुरी; एडमंड गॉस : हिस्ट्री ऑव एट्टीन्थ सेंचुरी लिटरेचर; सी० एच० हरफर्ड : दि एज ऑव वर्ड्स्वर्थ; बी० आइफर इवन्स: इंग्लिश पोएट्री इन दि लेटर नाइन्टीथ सेंचुरी; एफ० आर० लिविस : न्यू बेयरिंग्स इन इंग्लिश पोएट्री। [चं० ब० सि०]

नाटक

उदय—यूनान की तरह इंग्लैंड में भी नाटक धार्मिक कर्मकांडों से अंकुरित हुआ। मध्ययुग में चर्च (धर्म) की भाषा लातीनी थी और पादरियों के उपदेश भी इसी भाषा में होते थे। इस भाषा से अनभिज्ञ साधारण लोगों को बाइबिल और ईसा के जीवन की कथाएँ उपदेशों के साथ अभिनय का भी उपयोग कर समझाने में सुविधा होती थी। बड़े दिन और ईस्टर के पर्वों पर ऐसे अभिनयों का विशेष महत्व था। इससे धर्मशिक्षा के साथ मनोरंजन भी होता था। पहले ये अभिनय मूक हुआ करते थे, लेकिन नवी शताब्दी में लातीनी भाषा में कथोपकथन होने के भी प्रमाण मिलते हैं। कालांतर में बीच बीच में लोकभाषा का भी प्रयोग किया जाने लगा। अंग्रेजी भाषा १३५० में राजभाषा के रूप में स्वीकृत हुई। इस-लिये आगे चलकर केवल लोकभाषा ही प्रयुक्त होने लगी। इस प्रकार आरंभ से ही नाटक का सबंध जनजीवन से था और समय के साथ वह और भी गहरा होता गया। ये सारे अभिनय गिरजाघरों के भीतर ही होते थे और उनमें उनसे संबद्ध साधु, पादरी और गायक ही भाग ले सकते थे। नाटक के विकास के लिये जरूरी था कि उसे कुछ खुली हवा मिले। परिस्थितियों ने इसमें उसकी सहायता की।

१४वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक : मिस्ट्री और मिरैकिल नाटक—विशेष मनोरंजक होने के कारण इन अभिनयो को देखने के लिये लोग गिरजाघरो के भीतर उमड़ने लगे। विवश होकर चर्च के अधिकारियों ने इनका प्रबंध गिरजाघरों के मैदानों में किया। लेकिन सड़कों पर या बाजार मे इन अभिनयों के लिये अनुमति न थी। प्रार्थना भवन से बाहर आते ही अभिनयों का रूप बदलने लगा और उनमें स्वच्छंदता की प्रवृत्ति बढने लगी। इस स्वच्छंदता ने गिरजाघर के भीतर के अभिनयों को भी प्रभावित करना आरंभ किया। इसलिये ईसा के सदेह स्वर्गारोहण के दृश्य के अतिरिक्त प्रार्थना भवन में और अभिनय नियम बनाकर रोक दिए गए। बाजारों में और सड़कों पर ऐसे अभिनय करना 'पाप' घोषित कर दिया गया। पादरियों और चर्च के अन्य सेवकों पर लगे इस नियंत्रण ने अभिनय को गिरजाघरों की चहारदीवारियों से बाहर ला खड़ा किया। नगरों की श्रेणियों (गिल्ड्स) ने इस काम को अपने हाथ में लिया। यहीं से मिस्ट्री और मिरैकिल नाटकों का उदय और विकास हुआ।

मिस्ट्री नाटकों में बाइबिल की कथाओं से विषय चुने जाते थे और मिरैकिल नाटकों में संतों की जीवनियाँ होती थी। फ्रांस में यह भेद स्पष्ट था, लेकिन इंग्लैंड में दोनों में कोई विशेष अंतर नही था। १४वी शताब्दी के प्रारंभ में नाटक मंडलियाँ अपना सामान बैलगाड़ियों पर लादकर अभिनय दिखाने के लिये देश भर में भ्रमण करने लगी। स्पष्ट है कि ऐसे अभिनयों में दृश्यों का प्रबंध नहीं के बराबर होता था। लेकिन वेशभूषा का काफी ध्यान रखा जाता था। अभिनेता प्रायः अस्थायी होते थे और कुछ समय के लिये अपने स्थायी काम धंधों से छुट्टी लेकर इन नाटकों में अभिनय करके पुण्य और पैसा दोनों ही कमाते थे। धीरे धीरे जनरुचि को ध्यान में रखकर गंभीरता के बीच प्रहसन खंड भी अभिनीत होने लगे। यही नही, हजरत नूह की पत्नी, शैतान और क्रूर हेरोद के चरित्रों को हास्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जाने लगा। विभिन्न नगरों की नाटक मंडलियों ने अपनी अपनी विशिष्टताएँ भी विकसित कीं—धार्मिक शिक्षा, प्रहसन, तीव्र अनुभूति और यथार्थवाद विभिन्न अनुपातों में मिश्रित किए जाने लगे। इसमें संदेह नहीं कि इन नाटकों में विषय और रूपगत अनेक दोष थे, लेकिन अंग्रेजी नाटक के भावी विकास की नींव इन्होंने ही रखी।

मोरैलिटी नाटक—इस विकास का अगला कदम था मिस्ट्री और मिरैकिल नाटकों के स्थान पर मोरैलिटी (नैतिक) नाटकों का उदय। ये नाटक सदाचार शिक्षा के लिये लिखे जाते थे। इन नाटकों पर मध्य-युगीन साहित्य के भाववाद और प्रतीक या रूपक की शैली का स्पष्ट प्रभाव है। इनमें उपदेश के अतिरिक्त पात्रों के नाम तक गुणों या दुर्गुणों से लिए

जाते थे, जैसे सिन (पाप), ग्रेस (प्रभुदया), फेलोशिप (सौहार्द), एन्वी (ईर्षा), आइडिलनेस (प्रमाद), रिपेंटेंस (पश्चात्ताप) इत्यादि। इन नाटको की केंद्रीय कथावस्तु थी मानव (एव्रीमैन) का पापो द्वारा पीछा तथा आत्मा और ज्ञान द्वारा उसका उद्धार। इस प्रकार इन नाटको ने मनुष्य के आतरिक सघर्षो के चित्रण की महत्वपूर्ण परपरा को जन्म दिया। ऐसे नाटको मे सबसे प्रसिद्ध 'एव्रीमैन' है जिसकी रचना १५वी शताब्दी के अत मे हुई।

मोरैलिटी नाटक पहलेवाले नाटको से ज्यादा लबे होते थे और पुनर्जागरण के प्रभाव के कारण उनमे से कुछ का विभाजन सेनेका के नाटको के अनुकरण पर अको और दृश्यो मे भी होता था। कुछ नाटक सामतो की हवेलियो मे खेले जाने के लिये भी लिखे जाते थे। इनमे से अधिकाश का अभिनय पेशेवर अभिनेताओ द्वारा होने लगा। इनमें व्यक्तिगत रचना के लक्षण भी दिखाई पडने लगे।

इंटरल्यूड—प्रारभ में मोरैलिटी और इटरल्यूड नाटको की विभाजक रेखा बहुत धुंधली थी। बहुत से मोरैलिटी नाटको को इटरल्यूड शीर्षक से प्रकाशित किया जाता था। कोरे उपदेश से पैदा हुई ऊब को दूर करने के लिये मोरैलिटी नाटको मे प्रहसन के तत्वो का भी समावेश कर दिया जाता था। ऐसे ही खडो को इटरल्यूड कहते थे। बाद मे ये मोरैलिटी नाटको से स्वतत्र हो गए। ऐसे नाटको मे सबसे प्रसिद्ध हेवुड का 'फोर पीज' है। इन नाटको मे आधुनिक भाड (फार्स) और प्रहसन के तत्व थे। इनमे से कुछ ने बेन जॉन्सन की यथार्थवादी कॉमेडी के लिये भी जमीन तैयार की। प्रसिद्ध मानवतावादी चितक सर टामस मोर ने भी ऐसे नाटक लिखे।

इसी युग मे आगे आनेवाली प्रहसन और प्रेमयुक्त दरबारी रोमैंटिक कॉमेडी के तत्व मेडवाल की कृतियो 'फुल्जेस ऐंड लूक्रीस' और 'कैलिस्टो ऐंड मेलेबिया' मे और रोमानी प्रवृत्तियो से सर्वथा मुक्त कॉमेडी के तत्व यूडाल की रचना 'राल्फ रवायस्टर डवायस्टर' और मिस्टर एस की रचना 'गामर गर्टस नीडिल' मे प्रकट हुए। ऐतिहासिक नाटको का भी प्रणयन तभी हुआ।

१६वी शताब्दी के मध्य तक आते आते पुनर्जागरण के मानवतावाद ने अंग्रेजी नाटक को स्पष्ट रूप से प्रभावित करना शुरू किया। १५८१ तक सेनेका अंग्रेजी मे अनूदित हो गया। सैकविल और नॉर्टन कृत अंग्रेजी की पहली ट्रैजेडी 'गॉरबोडक' का अभिनय एलिजाबेथ के सामने १५६२ मे हुआ। कामेडी पर प्लाटस और टेरेस का सबसे गहरा असर पडा। लातीनी भाषा के इन नाटककारो के अध्ययन से अंग्रेजी नाटको के रचना-विधान मे पाँच अको, घटनाओ की इकाई और चरित्रचित्रण मे सगतिपूर्ण विकास का प्रयोग हुआ।

इस विकास की दो दिशाएँ स्पष्ट है। एक ओर कुछ नाटककार देशज परपरा के आधार पर ऐसे नाटको की रचना कर रहे थे जिनमे नैतिकता, हास्य, रोमास इत्यादि के विविध तत्व मिले जुले होते थे। दूसरी ओर लातीनी नाट्यशास्त्र के प्रभाव मे विद्वद्वर्ग के नाटककार कॉमेडी और ट्रैजेडी मे शुद्धतावाद की स्थापना के लिये प्रयत्नशील थे। अंग्रेजी नाटक के स्वर्णयुग के पहले ही अनेक नाटककारो ने इन दोनो तत्वो को मिला दिया और उन्ही के समन्वय से शेक्सपियर और उसके अनेक समकालीनो के महान् नाटको की रचना हुई।

इस स्वर्णयुग की यवनिका उठने के पहले की तैयारी मे एक बात की कमी थी। वह १५७६ मे शोरडिच मे प्रथम सार्वजनिक (पब्लिक) रगशाला की स्थापना से पूरी हुई। उस युग की प्रसिद्ध रगशालाओ मे थियेटर, रोज़, ग्लोब, फार्चुन और स्वॉन है। सार्वजनिक रगशालाएँ लदन नगर के बाहर ही बनाई जा सकती थी। १६वी शताब्दी के अत तक केवल एक रगशाला ब्लैकफ्रायर्स में स्थित थी और वह व्यक्तिगत (प्राइवेट) कहलाती थी। सार्वजनिक रगशालाओ मे नाटको का अभिनय खुले आसमान के नीचे, दिन मे, भिन्न भिन्न वर्गों के सामाजिको द्वारा घिरे हुए प्राय: नग्न रगमच पर होता था। एलिज़ाबेथ और स्टुअर्ट-युग के नाटकों में वर्णनात्मक अशो, कविता के आधिक्य, स्वगत, कभी कभी फूहड मजाक या भँड़ैती, रक्तपात, समसामयिक पुट, यथार्थवाद इत्यादि तत्वो को समझने के लिये इन रगशालाओ की रचना और उनके सामाजिको का ध्यान रखना आवश्यक है। व्यक्तिगत रगशालाओ मे रगमच कक्ष के भीतर होता था जहाँ प्रकाश, दृश्य आदि का अच्छा प्रबध रहता था और उसके सामाजिक अभिजात होते थे। इन्होने भी १७वी शताब्दी मे अंग्रेजी नाटक के रूप को प्रभावित किया। इन रगशालाओ ने नाटको के लिये केवल व्यापक रुचि ही नही पैदा की बल्कि नाटको की कथावस्तु और रचनाविधान को भी प्रभावित किया, क्योकि इस युग के नाटककारो का रगमच से जीवित सबध था और वे उसकी सभावनाओ और सीमाओं को दृष्टि मे रखकर ही नाटक लिखते थे।

एलिज़ाबेथ और जेम्स प्रथम का युग—एलिज़ाबेथ का युग अंग्रेजो के इतिहास मे राष्ट्रीय एकता, अदम्य उत्साह, मानवतावादी जागरूकता के उत्कर्ष और महान् प्रयत्नो का था। इसका प्रभाव साहित्य की अन्य विधाओ की तरह नाटक पर भी पडा। शेक्सपियर समार को उस युग की सबसे बडी साहित्यिक देन है, लेकिन उसके अतिरिक्त यह अनेक बडी प्रतिभाओ का कृतित्वकाल है। उस महान् युग की भूमिका तैयार करने मे विश्वविद्यालयों मे शिक्षित होने और लेखन को व्यवसाय बनाने के कारण 'यूनिवर्सिटी विट्स' कहलानेवाले रॉबर्ट ग्रीन (१५५८-९२), जॉन लिली (१५४२-१६०६), टॉमस किड (१५५८-९४) और टॉमस मार्लो (१५६४-९३) का विशेषत बहुत बडा हाथ है। ग्रीन और लिली ने गीतिमय प्रेम और उदार प्रहसन, किड ने प्रतिहिसात्मक ट्रैजेडी और मार्लो ने महत्वाकाक्षा और नैतिकता के सघर्ष से पैदा हुई विषमता की ट्रैजेडी को जन्म दिया। लातीनी और देशज परपराओ के मिश्रण से उन्होने नाटक को कलात्मकता दी। जॉर्ज पील (१५५७-१५९६) और ग्रीन ने नाटकीय अतुकात कविता का विकास किया और मार्लो ने उनमे आगे बढकर उसे उच्चकठ और वेगवान बनाया। मार्लो के नाटको मे कथासूत्र शिथिल है लेकिन वह भयकर अतर्द्वद्व की गीतिमय अकृत्रिम अभिव्यक्ति और भव्य चित्रयोजना मे शेक्सपियर का योग्य गुरु है। मार्लोकृत 'टैंबरलेन', 'डाक्टर फास्टम्' और 'दि ज्यू ऑव माल्टा' के नायक अपने अबाध व्यक्तिवाद के कारण आध्यात्मिक मूल्यो से टकराते और टूट जाते है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज के बीच सघर्ष को चित्रित कर मार्लो पहले पहल पुनर्जागरण की वह केंद्रीय समस्या प्रस्तुत करता है जो शेक्सपियर और अन्य नाटककारो को भी आदोलित करती रही। मार्लो ने अंग्रेजी नाटक को स्वर्णयुग के द्वार पर खडा कर दिया।

विलियम शेक्सपियर (१५६४-१६१६) का प्रारभिक विकास इन्ही परपराओ की सीमाओ मे हुआ। उसके प्रारभिक नाटको मे कला मे सिद्धहस्तता प्राप्त करने का प्रयत्न है। इस प्रारभिक प्रयत्न के माध्यम से उसने अपने नाटककार के व्यक्तित्व को पुष्ट किया। कथानक, चरित्रचित्रण, भाषा, छद, चित्रयोजना, और जीवन की पकड में उसका विकास उस युग के अन्य नाटककारो की अपेक्षा अधिक श्रमसाध्य था, लेकिन १६वी शताब्दी के अतिम और १७वी शताब्दी के प्रारभिक वर्षों मे उसकी प्रतिभा का असाधारण उत्कर्ष हुआ। इस काल के नाटको मे पुनर्जागरण की सारी सास्कृतिक और रचनात्मक क्षमता प्रतिबिबित हो उठी। इस तरह शेक्सपियर ने हाल और हॉलिनशेड के इतिहास ग्रथो से इग्लैंड और स्कॉटलैंड के राजाओ की और प्लुतार्क से रोम के शासको की कथाएँ ली, लेकिन उनमे उसने मानवतावादी युग का बोध भर दिया। प्रारभिक सुखात नाटको मे उसने लिली और ग्रीन का अनुकरण किया, लेकिन 'ए मिडसमर नाइट्स ड्रीम' (१५९६) और उसके बाद की चार ऐसी ही रचनाओ 'दि मरचेंट ऑव वेनिस', 'मच ऐडो अबाउट नथिंग', 'ट्वेल्फ्थ नाइट' और 'ऐज यू लाइक इट' मे उसने अंग्रेजी साहित्य मे रोमैंटिक कॉमेडी को नया रूप दिया। इनका वातावरण दरबारी कॉमेडी से भिन्न है। वहाँ एक ऐसा लोक है जहाँ स्वप्न और यथार्थ का भेद मिट जाता है और जहाँ हास्य की बौद्धिकता भी हृदय की उदारता से आर्द्र है। 'मेज़र फॉर मेज़र' और 'आल्ज़ वेल दैट एंड्स वेल' मे, जो उसके अतिम सुखात नाटक है, वातावरण घने बादलो के बीच छिपते और उनसे निकलते हुए सूरज का सा है। दुखात नाटको मे प्रारभिक काल की रचना 'रोमियो एंड जूलिएट' मे नायक नायिका की मृत्यु के बावजूद पराजय का स्वर नही है। लेकिन

१६वीं शताब्दी के बाद लिखे गए 'हैमलेट', 'लियर', 'आथेलो', मैकबेथ', 'ऐंटनी ऐंड क्लियोपेट्रा' और 'कोरियोलेनस' में उस युग के षड्यंत्रपूर्ण दूषित वातावरण में मानवतावाद की पराजय का चित्र है। लेकिन उसके बीच भी शेक्सपियर की अप्रतिहत आस्था का स्वर उठता है। अंत में अनुभूतियों से मुक्ति पाने के लिये उसने 'पेरिक्लीज', 'सिबेलीन', 'दि विंटर्स टेल' और 'टेंपेस्ट' लिखे जिनमें प्रारंभिक दुर्घटनाओं के बावजूद अंत सुखद होते हैं। जीवन के विशद ज्ञान और काव्य एवं नाट्य सौंदर्य में शेक्सपियर संसार की इनी गिनी प्रतिभाओं में है।

बेन जॉन्सन (१५७२-१६३७) अंग्रेजी नाटक में 'विकृत' प्रहसन (कामेडी आॅव 'ह्यूमर्स')का जन्मदाता है। उसके दीक्षागुरु प्लाटस और होरेस थे, इसलिये वह आचार्य नाटककार है और उसने शेक्सपियर इत्यादि की रोमैंटिक कॉमेडी में विरोधी तत्वों के समन्वय का विरोध किया। उसकी 'विकृति' का अर्थ था किसी चरित्र के दोषविशेष को अतिरंजित रूप में चित्रित करना। उसकी प्राथमिक रचनाओं 'एव्रीमैन इन हिज़ ह्यूमर' और 'एव्रीमैन आउट आॅव हिज ह्यूमर' में इसी तरह का प्रहसन है। जॉन्सन के अनुसार कॉमेडी का कर्तव्य 'अपने युग का चित्र प्रस्तुत करना' और मानव चरित्र की मूर्खताओं से 'क्रीडा' करना था। इस तरह उसने विद्रूपपूर्ण यथार्थवादी प्रहसन नाटक को भी जन्म दिया जिसमें उसकी प्रसिद्ध रचनाएँ 'वॉल्पोन' और आलकेमिस्ट' हैं। जॉन्सन का प्रहसन गुदगुदाता नहीं, डंक मारता है।

जेम्स प्रथम के शासनकाल में समाज में बढ़ती हुई अस्थिरता और निराशा तथा दरबार में बढ़ती हुई कृत्रिमता ने नाटक को प्रभावित किया। शेक्सपियर के परवर्ती वेब्स्टर, टर्नर, मिडिलटन, मार्स्टन, चैपमैन, मैसिजर और फोर्ड के दुःखांत नाटकों में व्यक्तिवाद अस्वाभाविक महत्वाकांक्षाओं, भयंकर रक्तपात और क्रूरता, आत्मपीड़ा और निराशा में प्रकट हुआ। वेब्स्टर के शब्दों में, इनका केंद्रीय दर्शन 'फूल के पौधों के मूल में नरमुंड' की अनिवार्यता है।

कॉमेडी में मिडिलटन (१५८०-१६२७) और मैसिंजर(१५८३-१६३९)जॉन्सन की परंपरा में थे,लेकिन उनमें स्थूल प्रहसन और अश्लीलता की भी वृद्धि हुई। जॉन फ्लेचर (१५७९-१६२५)और फ्रांसिस बोमांट (१५८४।५-१६१६) में कॉमेडी का पतन स्वस्थ रोमांस या प्रहसन की जगह दुःखपूर्ण घटनाओं, नायक नायिकाओं के काल्पनिक जीवन, अत्यधिक अलंकृत और रूढ़िप्रिय भाषा तथा अस्वाभाविक घटनाओं के रूप में दीख पड़ा। दरबार की प्रेरणा से ही इसी युग में मास्क (Masque) का भी जन्म हुआ जिसमें भव्य दृश्यों और साजसज्जा तथा संगीत की प्रधानता थी। इसी समय भावी विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण पारिवारिक समस्यामूलक दुःखांत नाटकों में सबसे प्रसिद्ध 'आर्डेन आॅव फीवरशैम' (१५९२) है, जो लिखा पहले गया था पर प्रकाशित पीछे हुआ।

इस तरह दरबार के प्रभाव में नाटक जनता से दूर हो रहा था। वास्तव में बोमांट और फ्लेचर की ट्रैजी-कॉमेडी का अभिनय 'प्राइवेट' रंगशालाओं में मुख्यतः अभिजातवर्गीय सामाजिकों के सामने होता था। अगर नाटक का जनता से जीवित संबंध था तो जॉन्सन की शिष्यपरंपरा के नाटकों के द्वारा या शेक्सपियर के परवर्ती दुःखांत नाटकों के द्वारा, जिनका अभिनय 'पब्लिक' रंगशालाओं में होता था।

अंग्रेजी नाटक के विकास की शृंखला सहसा १६४२ में टूट गई जब कामनवेल्थ युग में प्यूरिटन संप्रदाय के दबाव से सारी रंगशालाएँ बंद कर दी गईं। उसका पुनर्जन्म १६६० में चार्ल्स द्वितीय के पुनर्राज्यारोहण के साथ हुआ।

पुनर्राज्यारोहण काल— फ्रांस में लुई चतुर्दश के दरबार में शरणार्थी की तरह रह चुके चार्ल्स द्वितीय के लिये संस्कृति का आदर्श फ्रांस का दरबार था। उसके साथ यह आदर्श भी इंग्लैंड आया। फ्रेंच रीतिकार और नाटककार अंग्रेजी नाटककारों के आदर्श बने। चार्ल्स के लौटने पर ड्रूरी लेन और डॉर्सेट गार्डेन की रंगशालाओं की स्थापना हुई। रंगशालाओं पर स्वयं चार्ल्स और ड्यूक आॅव यॉर्क का नियंत्रण था। इन रंगशालाओं के सामाजिक मुख्यतः दरबारी, उनकी प्रेमिकाएँ, छैल छबीले और कुछ आवारागर्द होते थे। अब नाटक बहुसंख्यकों की जगह अल्पसंख्यकों का था; इसलिये इस युग में दो तरह के नाटकों का उदय और विकास हुआ—एक, ऐसे नाटक जिनकी 'हिरोइक' दुःखांत कथावस्तु दरबारियों की रुचि के अनुकूल 'प्रेम' और 'आत्मसंमान' थी; दूसरे, ऐसे प्रहसन जिनमें चरित्रहीन किंतु कुशाग्रबुद्धि व्यक्तियों के सामाजिक व्यवहारों का चित्रण होता था (कॉमेडी आॅव मैनर्स)। रंगशालाओं में दृश्यों, प्रकाश इत्यादि के प्रबंध के कारण कानों से ज्यादा आँखों के माध्यम से काम लिया जाने लगा, जिससे एलिज़ाबेथ युग के नाटकों की शुद्ध कविता की अनिवार्यता जाती रही। स्त्रियों ने भी रंगमंच पर आना शुरू किया जिसकी वजह से कथानकों में कई कई स्त्री पात्रों को रखना संभव हुआ।

'हिरोइक' ट्रैजेडी का नेतृत्व ड्राइडन (१६३१-१७००) ने किया। ऐसे नाटकों की विशेषताएँ थीं—असाधारण क्षमता और आदर्शवाले नायक, प्रेम में असाधारण रूप से दृढ़ और अत्यंत सुंदर नायिका, प्रेम और आत्मसंमान के बीच आंतरिक संघर्ष, शौर्य, तुकांत कविता, ऊहात्मक भाव एवं अभिव्यक्ति तथा तीव्र और सूक्ष्म अनुभूति की कमी। ड्राइडन का अनुकरण औरों ने भी किया, लेकिन उनको नगण्य सफलता मिली।

इस काल में अतुकांत छंदों में भी दुःखांत नाटक लिखे गए और उनमें हिरोइक ट्रैजेडी की अपेक्षा नाटककारों को अधिक सफलता मिली। ये भी आम तौर पर प्रेम के विषय में थे। लेकिन इनकी दुनिया एलिज़ाबेथ युग के नाटकों के भीषण अंतर्द्वंद्वों से भिन्न थी। यहाँ भी प्रधानता ऊहात्मक भावुकता की ही थी। ड्राइडन के अतिरिक्त ऐसे नाटककारों में केवल टॉमस आॅटवे ही उल्लेखनीय है।

इस युग ने नाटक के रूप को एक नई देन 'आॅपेरा' के रूप में दी, जिसमें कथोपकथन के अतिरिक्त संगीत भी रहता था।

'कॉमेडी आॅव मैनर्स' के विकास ने अंग्रेजी प्रहसन नाटक का पुनरुद्धार किया। इसके प्रसिद्ध लेखकों में विलियम विकर्ली (१६४०-१७१६), विलियम कांग्रीव (१६७०-१७२९), जॉर्ज इथरेज (१६३४-१६९०), जॉन व्हॉनब्रुग (१६६६-१७४६) और जॉर्ज फर्कुहार (१६७८-१७०७) हैं। इन्होंने जॉन्सन के यथार्थवादी ढंग से चार्ल्स द्वितीय के दरबारियों जैसे आमोदप्रिय, प्रमद, प्रेम के लिये अनेक दुरभिसंधियों के रचयिता, नैतिकता और सदाचार के प्रति उदासीन और साफ सुथरी किंतु पैनी बोलीवाले व्यक्तियों का नग्न चित्र तटस्थता के साथ खींचा। उपदेश या समाजसुधार उनका लक्ष्य नहीं था। इसके कारण इन लेखकों पर अश्लीलता का आरोप भी किया जाता है। इन नाटकों में जॉन्सन के चरित्रों की मानसिक विविधता के स्थान पर घटनाओं की विविधता है। इन्होंने जॉन्सन की तरह चरित्रों को अतिरंजन की शैली से एक एक दुर्गुण का प्रतीक न बनाकर उन्हें उनके सामाजिक परिवेश में देखा। उनका सबसे बड़ा काम यह था कि उन्होंने अंग्रेजी कॉमेडी को बोमांट और फ्लेचर की कृत्रिम रोमानी भावुकता से मुक्त कर उसे सच्चे अर्थों में प्रहसन बनाया। साथ ही जॉन्सन की परंपरा भी शैडवेल और हॉवर्ड ने कायम रखी।

१८वीं शताब्दी—यह शताब्दी गैरिक और श्रीमती सिडंस जैसे अभिनेता और अभिनेत्री की शताब्दी थी, लेकिन नाटकरचना की दृष्टि से इस युग में केवल दो बड़े नाटककार हुए : रिचर्ड ब्रिंसले शेरिडन (१७५१-१८१६) और आॅलिवर गोल्डस्मिथ (१७२८-७४)। इस शताब्दी की मध्यवर्गीय नैतिकता ने इस युग में भावुक (सेंटिमेंटल) कॉमेडी को जन्म दिया, जिसमें प्रहसन से अधिक ज़ोर सदाचार पर था। पारिवारिक सुख, आदर्श प्रेम और हृदय की पवित्रता की स्थापना के लिये अक्सर मध्यवर्गीय चरित्रों को ही चुना जाता था। ऐसे नाटककारों में सबसे प्रसिद्ध सिबर, स्टील, केली, और कंबरलैंड हैं। शेरिडन और गोल्डस्मिथ ने ऐसे अश्रुसिंचित सुखांत नाटकों के स्थान पर शुद्ध प्रहसन को अपना लक्ष्य बनाया। इन्होंने रोमानी तत्वों के स्थान पर जॉन्सन और कांग्रीव के यथार्थवाद, व्यंग्य, चुभती हुई भाषा और चरित्रचित्रण में अतिरंजन का अनुसरण किया। गोल्डस्मिथ-कृत 'शी स्टूप्स टु कांकर' और शेरिडन कृत 'दि स्कूल फॉर स्कैंडल' अंग्रेजी प्रहसन नाट्य की सर्वोत्तम कृतियों में गिने जाते हैं।

इस शताब्दी में कईलेखकों ने दुःखांत नाटक लिखे, लेकिन उनमें एडिसन का 'कैटो' ही उल्लेखनीय है। पैंटोमाइम, जो एक तरह से शुद्ध भँड़ैती था,और बैलड-आॅपेरा (गीति नाट्य) भी इस युग में काफी लोकप्रिय थे। गे का गीतिनाट्य 'दि बेगर्स आॅपेरा' तो योरप के कई देशों में अभिनीत

हुआ। एडवर्ड मूर का पारिवारिक समस्यामूलक नाटक 'गेम्सटर' ऐसे नाटकों में सबसे अच्छा है।

१९वीं शताब्दी—रोमैंटिक युग का पूर्वार्ध नाटक की दृष्टि से प्रायः शून्य है। सदी, कोलरिज, वर्ड्स्वर्थ, शेली, कीट्स, बायरन, लैंडर और ब्राउनिंग ने नाटक लिखे, लेकिन अधिकतर वे केवल पढ़ने लायक हैं। शताब्दी के उत्तरार्ध में इब्सन के प्रभाव से अंग्रेजी नाटक को नई प्रेरणा मिली। पारिवारिक जीवन को लेकर रॉबर्टसन, जोन्स और पिनरो ने इब्सन की यथार्थवादी शैली के अनुकरण पर नाटक लिखे। उनमें इब्सन की प्रतिभा नहीं थी, लेकिन नाटकीयता और आधुनिक शैली के द्वारा उन्होने आगे का मार्ग सरल कर दिया।

२०वीं शताब्दी—इब्सन के प्रचार ने अंग्रेजी नाटक को नई दिशा दी। उसके नाटकों की कुछ विशेषताएँ ये थीं—समाज और व्यक्ति की साधारण समस्याएँ; पुरानी नैतिकता की आलोचना; बाहरी संघर्षों के स्थान पर आंतरिक संघर्ष; रंगमंच पर यथार्थवाद; विवरणात्मक साजसज्जा; स्वगत का बहिष्कार; बोलचाल की भाषा से निकटता; प्रतीकवाद। इब्सन के नाटक समस्या नाटक है। २०वीं शताब्दी के प्रारंभिक नाटककारों पर इब्सन के अतिरिक्त चेखव का भी गहरा असर पड़ा। ऐसे नाटककारों में सबसे प्रमुख शॉ और गाल्सवर्दी के अतिरिक्त ग्रैनविल बार्कर, सेंट जॉन हैंकिन, जॉन मेसफील्ड, सेंट जॉन अर्विन, आर्नल्ड बेनेट इत्यादि हैं।

इस युग में कॉमेडी ऑव मैनर्स की परंपरा भी विकसित हुई है। १९वीं शताब्दी के अंत में ऑस्कर वाइल्ड ने इसको पुनरुज्जीवित किया था। २०वी शताब्दी में इसके प्रमुख लेखकों में शॉ, मॉम, लांसडेल, सेट अर्विन, मुनरो, नोएल काअर्ड, ट्रैवर्स, रैटिगन इत्यादि हैं।

समस्या नाटकों की परंपरा भी आगे बढ़ी है। उनके लेखकों में सबसे प्रसिद्ध ओ' कैसी के अतिरिक्त शेरिफ, मिल्न, प्रीस्टले और जॉन व्हॉन ड्रटेन है।

इस युग के ऐतिहासिक नाटककारों में सबसे प्रसिद्ध ड्रिंकवाटर, बैक्स और जेम्स ब्रिडी हैं।

काव्य नाटकों का विकास भी अनेक लेखकों ने किया है। उनमें स्टीफेन फिलिप्स, येट्स, मेसफील्ड, ड्रिंकवाटर, बाम्ली, फ्लेकर, अबरक्रूबी, टी० एस० इलियट, ऑडेन, ईशरवुड, क्रिस्टोफर फ्राई, डंकन, स्पेंडर इत्यादि है।

आधुनिक अंग्रेजी नाटक में आयरलेंड के तीन प्रसिद्ध नाटककारों, येट्स, लेडी ग्रेगरी और सिंज की बहुत बड़ी देन है। यथार्थवादी शैली के युग में उन्होंने नाटक में रोमानी और गीतिमय कल्पना तथा अनुभूति को कायम रखा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि २०वी शताब्दी में अंग्रेजी नाटक का बहुमुखी विकास हुआ है। रंगमंच के विकास के साथ साथ रूपो में भी अनेक परिवर्तन हुए है। समसामयिकता के कारण मूल्यांकन में अतिरंजन हो सकता है, लेकिन जिस युग में शॉ, गाल्सवर्दी, ओ'कैसी, येट्स और सिंज जैसे नाटककार हुए है उसकी उपलब्धियों का स्थायी महत्व है।

सं० ग्रं०—अलरडाइस निकल : दि थियरी ऑव ड्रामा, ब्रिटिश ड्रामा, और दि डेवेलपमेंट ऑव दि थियेटर; ई०के०चैम्बर्स : दि एलिजाबेथन स्टेज; ए० एच० थार्नडाइक : इंग्लिश कॉमेडी; जे० सी० ट्रेविन : दि थियेटर सिंस १९००, और ड्रैमेटिस्ट्स ऑव टुडे; एलिस फर्मर : आयरिश ड्रामा। [चं० ब० सिं०]

अंजन नेत्रों की रोगों से रक्षा अथवा उन्हें सुंदर श्यामल करने के लिये चूर्णद्रव्य, नारियों के सोलह सिंगारों में से एक। प्रोषितपतिका विरहिणियों के लिये इसका उपयोग वर्जित है। 'मेघदूत' में कालिदास ने विरहिणी यक्षी और अन्य प्रोषितपतिकाओं को अंजन से शून्य नेत्रवाली कहा है। अंजन को शलाका या सलाई से लगाते हैं। इसका उपयोग आज भी प्राचीन काल की ही भाँति भारत की नारियों में प्रचलित है। पंजाब, पाकिस्तान के कबीलई इलाकों, अफगानिस्तान तथा बिलोचिस्तान में मर्द भी अंजन का प्रयोग करते हैं। प्राचीन वेदिका स्तंभों (रेलिंगों) पर बनी नारी मूर्तियाँ अनेक बार शलाका से नेत्र में अंजन लगाते हुए उभारी गई हैं।

अंजार एक छोटा नगर है जो कच्छ में बंबई राज्य के अंतर्गत अपने ही नाम के ताल्लुके का प्रधान कार्यालय है (स्थिति २३° १०' उ० अ० और ७०° ४' पू० दे०)। यह कच्छ की खाड़ी से १० मील दूर है। निकटवर्ती क्षेत्र मरुस्थल और सूखा है। पानी की समस्या कुओं से पूरी होती है। पास के क्षेत्र मे बाजरा, गेहूँ, जौ और कपास पैदा होते हैं। बाँधो और कुओ से सिचाई का अच्छा प्रबध है। १९५१ के अत में यहाँ की जनसंख्या १६,३०४ थी।

१६ जून १८१६ में यह नगर भयकर भूचाल से बहुत नष्ट हो गया। धन जन की भी पर्याप्त हानि हुई थी। यह नगर भारत के भूकप के 'बी' ज़ोन में पड़ता है। यहाँ हल्के भूचाल कई बार आ चुके हैं।

अंजार पहले रेल द्वारा टूना, भुज तथा कांडला से मिला था। अक्टूबर १९५२ में राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद ने काडला-दीसा मीटर गेज रेलवे लाइन का उद्घाटन किया। इस प्रकार अब इस नगर का सीधा संबध उत्तरी गुजरात तथा दक्षिणी-पश्चिमी राजपूताना से हो गया है। यह निकटवर्ती क्षेत्र का भौगोलिक केंद्र भी है। [ल० कि० सि० चौ०]

अंजीर (अंग्रेजी नाम : फिग, वानस्पतिक नाम : फ़िकस-कैरिका, प्रजाति : फ़िकस, जाति : कैरिका, कुल : मोरेसी) एक वृक्ष का फल है जो पक जाने पर गिर जाता है। पके फल को लोग खाते हैं। सुखाया फल बिकता है। सूखे फल को टुकडे टुकडे करके या पीसकर दूध और चीनी के साथ खाते हैं। इसका स्वादिष्ट जैम (फल के टुकड़ो का मुरब्बा) भी बनाया जाता है। सूखे फल में चीनी की मात्रा लगभग ६२ प्रति शत तथा ताजे पके फल में २२ प्रति शत होती है। इसमें कैलसियम तथा विटामिन 'ए' और 'बी' काफी मात्रा में पाए जाते है। इसके खाने से कोष्ठबद्धता (कब्जियत) दूर होती है।
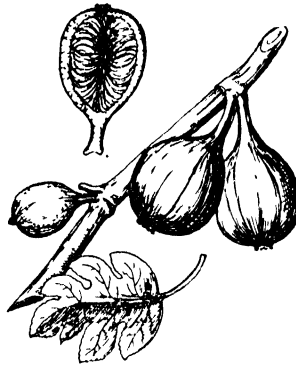
अंजीर

अंजीर का वृक्ष छोटा तथा पर्णपाती (पतझड़ी) प्रकृति का होता है। तुर्किस्तान तथा उत्तरी भारत के बीच का भूखंड इसका उत्पत्तिस्थान माना जाता है। भूमध्यसागरीय तटवाले देश तथा वहाँ की जलवायु में यह अच्छा फलता फूलता है। निस्संदेह यह आदिकाल के वृक्षों में से एक है और प्राचीन समय के लोग भी इसे खूब पसंद करते थे। ग्रीसवासियों ने इसे कैरिया (एशिया माइनर का एक प्रदेश) से प्राप्त किया; इसलिये इसकी जाति का नाम कैरिका पड़ा। रोमवासी इस वृक्ष को भविष्य की समृद्धि का चिह्न मानकर इसका आदर करते थे। स्पेन, अल्जीरिया, इटली, तुर्की, पुर्तगाल तथा ग्रीस में इसकी खेती व्यावसायिक स्तर पर की जाती है।

अंजीर की खेती भिन्न भिन्न जलवायुवाले स्थानों में की जाती है, परंतु भूमध्यसागरीय जलवायु इसके लिये अत्यंत उपयुक्त है। फल के विकास तथा परिपक्वता के समय वायुमंडल का शुष्क रहना अत्यंत आवश्यक है। पर्णपाती वृक्ष होने के कारण पाले का प्रभाव इसपर कम पड़ता है। यों तो सभी प्रकार की मिट्टी में इसका वृक्ष उपजाया जा सकता है, परंतु दोमट अथवा मटियार दोमट, जिसमें उत्तम जलनिकास (ड्रेनेज) हो, इसके लिये सबसे श्रेष्ठ मिट्टी है। इसमें प्राय: खाद नहीं दी जाती; तो भी अच्छी फसल के लिये प्रति वर्ष प्रति वृक्ष २०-३० सेर सड़े हुए गोबर की खाद या कंपोस्ट जनवरी फरवरी में देना लाभदायक है। इसे अधिक सिचाई की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। ग्रीष्म ऋतु में फल की पूर्ण वृद्धि के लिये एक या दो सिचाई कर देना अत्यंत लाभप्रद है।

अंजीर कई प्रकार का होता है, परंतु मुख्य प्रकार चार हैं : (१) कैप्री फिग, जो सबसे प्राचीन है और जिससे अन्य अंजीरों की उत्पत्ति हुई

है, (२) स्माइर्ना, (३) सफेद सैनपेद्रू, और (४) साधारण अंजीर। भारत में मार्सेलीज़, ब्लैक इस्चिया, पूना, बंगलोर तथा ब्राउन टर्की नाम की किस्में प्रसिद्ध हैं। अंजीर के नए पौधे मुख्यतः कृत्तों (कटिंग) द्वारा प्राप्त होते हैं। एक वर्ष की अवस्था की डाल का इस कार्य के लिये प्रयोग किया जाता है। कृत्त जनवरी में लगाए जाते हैं और एक वर्ष बाद इस प्रकार तैयार हुए पौधों को स्थायी स्थान पर पंद्रह पंद्रह फुट की दूरी पर लगाते हैं। प्रति वर्ष सुपुप्ति काल में इनकी कटाई छँटाई करनी चाहिए क्योंकि अच्छे फल पर्याप्ति मात्रा में नई डालियों पर ही आते हैं। फल अप्रैल से जून तक प्राप्त होते हैं। लगाने के तीन वर्ष बाद वृक्ष फल देने लगता है और एक स्वस्थ, प्रौढ़ वृक्ष से लगभग ४०० फल मिलते हैं। पत्तियों के निचले भाग में एक प्रकार का रोग लगता है जिसे मंडूर (रस्ट) कहते हैं, परन्तु यह रोग विशेष हानिकारक नही है।

सं०ग्रं०--आइसन गुस्टाव : दि फिग (यूनाइटेड स्टेट्स डिपार्टमेंट ऑव ऐग्रिकल्चर, १६०१)। [ज० रा० सि०]

अंटार्कटिक महाद्वीप

दक्षिणी ध्रुवप्रदेश में स्थित विशाल भूभाग को अंटार्कटिक महाद्वीप अथवा अंटार्कटिका कहते हैं। इसे अंधमहाद्वीप भी कहते हैं। झंझावातों, हिमशिलाओं तथा ऐल्बैट्रॉस नामक पक्षीवाले भयानक सागरों से घिरा हुआ यह एकांत प्रदेश उत्साही मानव के लिये भी रहस्यमय रहा है। इसी कारण बहुत दिनों तक लोग संयुक्त राज्य अमरीका तथा कैनाडा के संमिलित क्षेत्रफल की बराबरी करनेवाले इस भूभाग को महाद्वीप मानने से भी इनकार करते रहे।

खोजों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि--१७वीं शताब्दी से ही नाविकों ने इसकी खोज के प्रयत्न प्रारंभ किए। १७६६ ई० से १७७३ ई० तक कप्तान कुक ७१° १०′ दक्षिण अक्षांश, १०६° ५४′ प० देशांतर तक जा सके। १८१६ ई० में स्मिथ शेटलैंड तथा १८३३ ई० मे केप ने केपलैंड का पता लगाया। १८४१-४२ ई० मे रॉस ने उच्च सागरतट, उगलते ज्वालामुखी इरेबस तथा शांत माउंट टेरर का पता पाया। तत्पश्चात् गरश्नेल ने १०० द्वीपों का पता लगाया। १६१० ई० में पाँच शोधक दल काम में लगे थे जिनमें कप्तान स्काट तथा अमुंडसेन के दल मुख्य थे। १४ दिसंबर को ३ बजे अमुंडसेन दक्षिणी ध्रुव पर पहुँचा और उस भूभाग का नाम उसने सम्राट् हक्कन सप्तम पठार रखा। ३५ दिनों बाद स्काट भी वहाँ पहुँचा और लौटते समय मार्ग में वीरगति पाई। इसके पश्चात् माउसन शैकल्टन और बियर्ड ने शोधयात्राएँ कीं। १६५० ई० मे ब्रिटेन, नार्वे और स्वीडन के शोधक दलों ने मिलकर तथा १६५०-५२ मे फ्रांसीसी दल ने अकेले शोधकार्य किया। नवंबर, १६५८ ई० में रूसी वैज्ञानिकों ने यहाँ पर लोहे तथा कोयले की खानों का पता लगाया। दक्षिणी ध्रुव १०,००० फुट ऊँचे पठार पर स्थित है जिसका क्षेत्रफल ५०,००,००० वर्ग मील है। इसके अधिकांश भाग पर बर्फ की मोटाई २,००० फुट है और केवल १०० वर्ग मील को छोड़कर शेष भाग वर्ष भर बर्फ से ढका रहता है। समतल शिखरवाली हिमशिलाएँ इस प्रदेश की विशेषता हैं।

यह प्रदेश 'पर्मोकार्बोनिफेरस' समय की प्राचीन चट्टानों से बना है। यहाँ की चट्टानों के समान चट्टानें भारत, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका तथा दक्षिणी अमेरिका में मिलती हैं। यहाँ की उठी हुई बीचियाँ क्वाटरनरी समय में धरती का उभाड़ सिद्ध करती हैं। यहाँ हिमयुगों के भी चिह्न मिलते हैं। एंडीज एवं अंटार्कटिक महाद्वीप में एक सी पाई जानेवाली चट्टानें इनके सुदूर प्राचीन काल के संबध को सिद्ध करती हैं। यहाँ पर 'ग्रेनाइट' तथा 'नीस' नामक शैलों की एक ११०० मील लंबी पर्वतश्रेणी है जिसका धरातल बलुआ पत्थर तथा चूने के पत्थर से बना है। इसकी ऊँचाई ८,००० से लेकर १५,००० फुट तक है।

जलवायु--ग्रीष्म में ६०° दक्षिण अक्षांश से ७८° द० अ० तक ताप २८° फारेनहाइट रहता है। जाड़े में ७१° ३०′ द० अ० में ४५° ताप रहता है और अत्यंत कठोर शीत पड़ती है। ध्रुवीय प्रदेश के ऊपर उच्च वायुभार का क्षेत्र रहता है। यहाँ पर दक्षिण-पूर्व बहनेवाली वायु का प्रति चक्रवात उत्पन्न होता है। महाद्वीप के मध्यभाग का ताप — १००° फा० से भी नीचे चला जाता है। इस महाद्वीप पर अधिकतर बर्फ की वर्षा होती है।

वनस्पति तथा पशु--दक्षिणी ध्रुव महासागर में पौधों तथा छोटी वनस्पतियों की भरमार है। लगभग १५ प्रकार के पौधे इस महाद्वीप में पाए गए हैं जिनमें से तीन मीठे पानी के पौधे हैं, शेष धरती पर होनेवाले पौधे, जैसे काई आदि।

अंध महाद्वीप का सबसे बड़ा दुग्धपायी जीव ह्वेल है। यहाँ तेरह प्रकार के सील नामक जीव भी पाए जाते हैं। उनमें से चार तो उत्तरी प्रशांत महासागर में होनेवाले सीलों के ही समान हैं। ये फ़र-सील हैं तथा इन्हें सागरीय सिंह अथवा सागरीय गज भी कहते हैं। बड़े आकार के किंग पेंगुइन नामक पक्षी भी यहाँ मिलते हैं। यहाँ पर विश्व में अन्यत्र अप्राप्य ११ प्रकार की मछलियाँ होती हैं। दक्षिणी ध्रुवीय प्रदेश में धरती पर रहनेवाले पशु नहीं पाए जाते।

उत्पादन--धरती पर रहनेवाले पशुओं अथवा पुष्पोंवाले पौधों के न होने के कारण इस प्रदेश का आयस्रोत एक प्रकार से नगण्य है। परंतु पेंगुइन पक्षियों, सील, ह्वेल तथा हाल में मिली लोहे एवं कोयले की खानों से यह प्रदेश भविष्य में संपत्तिशाली हो जायगा, इसमें संदेह नही। यहाँ की ह्वेल मछलियों से प्रति वर्ष ४,५०,००,००० रुपए का माल मिलता है। वायुयानों के वर्तमान युग में यह महाद्वीप विशेष महत्व का होता जा रहा है। यहाँ पर मनुष्य नहीं रहते। अंतर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष में संयुक्त राष्ट्र (अमरीका), रूस और ब्रिटेन तीनों की इस महाद्वीप के प्रति विशेष रुचि परिलक्षित हुई है और तीनों ने दक्षिणी ध्रुव पर अपने अपने झंडे गाड़ दिए हैं। [शि० मं० सिं०]

अंडमान द्वीपसमूह

बंगाल की खाड़ी के बीच उत्तर दक्षिण (१०° १३′ उ० अ० से १३° २०′ उ० अ० तक) फैला हुआ कुछ द्वीपों का पुंज है जो भारत सरकार के अंतर्गत है। भारत सरकार इनका शासन केंद्र द्वारा करती है। अंडमान में छोटे बड़े मिलाकर कुल २०४ द्वीप हैं। हुगली नदी के मुहाने से लगभग ५६० मील और बर्मा के नेग्राइस अंतरीप से यह १२० मील की दूरी पर है। इस द्वीपपुंज की पूरी लंबाई २१६ मील है, तथा अधिकतम चौड़ाई ३२ मील और कुल भूभाग का क्षेत्रफल २,५०८ वर्ग मील है। नीकोबार द्वीपपुंज अंडमान के दक्षिण में ७५ मील की दूरी पर स्थित है। इसके द्वीपों की संख्या १६ और कुल भूमि का क्षेत्रफल ७३५ वर्ग मील है।

अंडमान का मुख्य भूभाग पाँच प्रधान द्वीपों से बना है जो एक दूसरे के संनिकट स्थित हैं। इन द्वीपसमूहों को 'बृहत् अंडमान' कहते हैं। बृहत् अंडमान के दक्षिण में लघु अंडमान और पूर्व में रिची द्वीपपुंज स्थित है। दक्षिण के द्वीपों में मैनर्स स्ट्रेट है जो अंडमान के समुद्री व्यवसाय का मुख्य मार्ग है। इसके पूर्व भाग में पोर्ट ब्लेयर नामक नगर स्थित है जो अंडमान की राजधानी और प्रधान बंदरगाह है। अंडमान का समुद्रतट बहुत ही कटा हुआ है जिसके कारण भूभाग के भीतर कई मील तक ज्वारभाटा आता है। इसलिये यहाँ कई प्राकृतिक बंदरगाह हैं। इनमें से पोर्ट ब्लेयर, पोर्ट कार्नवालिस और स्टिवार्ट प्रसिद्ध हैं।

कहा जाता है कि इन द्वीपों की माला बर्मा की आराकान योमा नामक पर्वतश्रेणी का ही विस्तार है जो ईयोसीन युग में बनी थी। इनमें छोटे छोटे सर्पेंटाइन तथा चूना पत्थर के भाग दिखाई देते हैं। संभवतः ये माइओसिन युग की देन हैं। इन द्वीपमालाओं के पूर्वी भाग में स्थित मर्तबान की खाड़ी के भीतर छोटे छोटे आग्नेय द्वीप भी दिखाई देते हैं। इन्हें नारकोनडाम और बैरन द्वीपपुंज कहते हैं। अंडमान के सभी समुद्रतटों पर मूँगे (प्रवाल) की प्राचीरमाला दिखाई देती है।

बृहत् अंडमान का भूभाग कुछ पहाड़ियों से बना है जो अत्यंत संकीर्ण उपत्यकाओं का निर्माण करती हैं। ये पहाड़ियाँ, विशेषकर पूर्वी भाग में, काफी ऊपर तक उठी हुई हैं और पूर्वी ढाल पश्चिमी ढाल की अपेक्षा अधिक खड़ी है। अंडमान की पहाड़ियों का सर्वोच्च शिखर उत्तरी अंडमान में है जो २,४०० फुट ऊँचा है। इसे सैडल पीक कहते हैं। छोटा अंडमान प्रायः समतल है। इन द्वीपों में कहीं भी नदियाँ नहीं हैं, केवल छोटे मौसमी नाले दिखाई देते हैं। अंडमान का प्राकृतिक दृश्य बहुत ही रमणीक है।

अंडमान की जलवायु भारतवर्ष की दक्षिण-पश्चिम मानसूनी जलवायु और पूर्वी द्वीपसमूह की विषुवतरेखीय जलवायु के बीच की है। यहाँ का

ताप सालभर लगभग बराबर रहता है जिसका औसत मान ८५° फा० है। पर्याप्त वर्षा होती है जिसकी औसत मात्रा १००" के ऊपर है। जून से सितबर तक वर्षा अधिक होती है और शेष महीने शुष्क होते हैं। बगाल की खाडी तथा हिंदमहासागर की ऋतु का पूर्वानुमान करने के लिये अडमान की स्थिति बहुत ही लाभदायक है। इस कारण पोर्टब्लेयर में १८६८ में एक बडा ऋतुकेंद्र खोला गया था। यह केंद्र आज भी इन समुद्रो मे चलनेवाले जहाजों को तूफानो की दिशा तथा तीव्रता का ठीक सवाद देता रहता है।

अडमान के कुछ घने आबाद स्थानो को छोडकर शेष भाग अधिकतर उष्णप्रदेशीय जगलो से ढका है। भारत सरकार के निरतर प्रयत्न से जगलो को साफ करके आबादी के योग्य काफी स्थान बना लिया गया है जिसमे पूर्वी बगाल (पाकिस्तान) से आए हुए शरणार्थियो को बसाने का प्रयत्न किया जा रहा है। आशा है, भविष्य मे भारत को इसमे पर्याप्त आर्थिक लाभ होगा।

अडमान की प्रधान उपज यहाँ की जगली लकडियाँ है जिनमे अडमान की लाल लकडियाँ प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त नारियल तथा रबर के पेड भी अच्छी तरह उगते है। आजकल यहाँ मैनिला हेप तथा सीसल हेप नामक सूत्रोत्पादक पौधा को उगाने की चेष्टा हो रही है। आयात सामग्री मे चाय, कहवा, कोको, सन, साल आदि प्रमुख है। यहाँ सुदर पेडोवाले दलदल अधिक है। ये पेड ईधन के काम मे आते है। अडमान के निज जतु अपेक्षाकृत कम है। दुग्धपायी जतुओ की जातियाँ भी बहुत कम है। बडे जतुओ मे सुअर और बनबिलार मुख्य है।

अडमान के प्राचीन निवासी असभ्य थे, जिसके फलस्वरूप यहाँ की सभ्यता बहुत ही पिछडी हुई है। सन् ८५१ के अरबी लेखो मे इन लोगो को नरभक्षक बताया गया है, जो जहाजो को ध्वस किया करते थे। परतु यह पूर्णरूपेण सत्य नही है। यहाँ के आदिवासी हँसमुख, उत्साही तथा क्रीडाप्रिय प्रकृति के है। परतु क्रुद्ध हो जाने पर भयकर रूप धारण कर लेते है और सब प्रकार के कुकृत्य करने पर उतारू हो जाते है। इसलिये इनपर विश्वास करना बहुत ही कठिन है। वैज्ञानिको का मत है कि ये सभवत वामन (पिगमी) जाति के वशज है जो कभी एशिया के दक्षिणी-पूर्वी भागो तथा उसके बाहरी टापुओ मे बसी थी। यद्यपि अडमान के आदिवासी सब एक ही वश के है, परतु इनमे कई जातियाँ तथा उपजातियाँ पाई जाती है जिनकी भाषाएँ, रहन सहन, निवासस्थान तथा आदते भिन्न भिन्न है। भूत प्रेत आदि पर इनका विश्वास है और इनकी धारणा है कि मनुष्य मरने के पश्चात् भूत हो जाते है। इनका प्रधान अस्त्र तीर धनुष है। ये अपना स्थान छोड़कर कही नही जाते। नक्षत्रादि से दिशा निर्णय करने का ज्ञान सभवत इनमे नही है। इनके बाल चमकदार, काले तथा घुघराले होते है। पुरुषो का शरीर सुदर, सुगठित तथा बलिष्ठ होता है, परतु नारियाँ उतनी सुदर नही होती। विवाहादि भी इनमे निर्धारित नियमो के अनुसार सपन्न होते है।

अडमान अग्रेजो के समय मे भारतीय कैदियो के आजीवन या दीर्घकालीन कारावास का स्थान था। भारतीय दडविधान के अनुसार इन कैदियो के देशनिष्कासन की आज्ञा रहती थी। सन् १८५७ मे भारत के स्वतत्रता सग्राम के प्रथम प्रयास के बाद से अडमान भेजे जानेवाले कैदियो की सख्या उत्तरोत्तर बढती गई। सन् १८७२ मे वाइसराय लार्ड मेयो का, जब वे अडमान देखने गए हुए थे, निधन हुआ। इस घटना से अग्रेजो के हृदय में एक गहरी छाप पड गई। अग्रेजो के समय से यहाँ कैदियो के बसाने की पर्याप्त व्यवस्था की गई है। यहाँ की रक्षा के हेतु सेनाएँ भी रखी जाती है। भारत के स्वतत्र होने के पूर्व यहाँ की समस्त व्यवस्था अग्रेज अफसरो द्वारा होती थी। जिन कैदियो का जीवन उचित ढग का प्रतीत होता था उन्हे २०-२५ वर्ष बाद छोड भी दिया जाता था। १९२१ से आजीवन कारावास का दड उठा दिया गया है। तब से यहाँ के कैदियो की सख्या घटती गई है। इसके पूर्व यहाँ की कुल कैदी सख्या १२,००० थी। द्वितीय महायुद्ध में यह जापान द्वारा अधिकृत हो गया था (१९४२) और युद्ध समाप्त होने तक उसी के अधिकार मे रहा।

१९३१ के गणनानुसार यहाँ की जनसख्या १९,२२३ थी (पुरुष १४,२५८ और नारियाँ ४,९६५)। सारे द्वीपो मे सबसे घनी आबादी पोर्ट ब्लेयर मे है। इसका कारण यह है कि पुराने समय से ही पोर्ट ब्लेयर को केंद्र मानकर अडमान की नई आबादी बसनी शुरू हुई थी। १९४१ मे जनसख्या २१,४८३ थी।

अडमान की उन्नति के लिये भारत सरकार विशेष प्रयत्नशील है। उद्देश्य यह है कि पूर्वी पाकिस्तान से आए हुए शरणार्थियो को यहाँ बसाया जाय। भारत के साथ अडमान का सबध यहाँ की साप्ताहिक डाक तथा बेतार द्वारा भली भाति स्थापित है। [रा० लो० सि०]

अंडलूशिया स्पेन का एक प्रदेश है। क्षेत्रफल ३३,७११ वर्ग मील। जनसख्या ५७,३०,८२४ (सन् १९६८ मे)। अडलूशिया अत्यत उपजाऊ, प्राकृतिक सौदर्य से ओतप्रोत, मूर सस्कृति के स्मारको से भरा, दक्षिणी स्पेन का एक विभाग है।

इसके उत्तरी भाग मे लोहे, ताबे, सीसे, कोयले की खानोवाला सियरा-मोरेना पर्वत तथा दक्षिण मे हिमाच्छादित सियरा-नेवादा है। मध्य के उपजाऊ मैदान मे गेहूँ, जौ, शहतूत, नारगी, अगूर और मधु प्रचुर मात्रा मे उत्पन्न होते है। यहाँ घोडे, गाय तथा भेडे पाली जाती है और ऊन, रेशम तथा चमडे का काम होता है। यहाँ मस्जिदो की प्रचुर सख्या प्राचीन काल के ठोस अरब प्रभाव का द्योतक है। अरबो ने सन् ७११ मे सर्वप्रथम इस प्रदेश मे पदार्पण किया था। यहाँ की भाषा, सस्कृति एव जनता पर प्रचुर अरब प्रभाव है। [शि० म० सि०]

अंडा उस गोलाभ वस्तु को कहते है जिसमे से पक्षी, जलचर और सरीसृप आदि अनेक जीवो के बच्चे फूटकर निकलते है। पक्षियो के अडो मे, मादा के शरीर से निकलने के तुरत बाद, भीतर केंद्र पर एक पीला और बहुत गाढा खाद्य पदार्थ होता है जो गोलाकार होता है। इसे 'योक' कहते है। योक पर एक वृत्ताकार, चिपटा, छोटा, बटन सरीखा भाग होता है जो विकसित होकर बच्चा बन जाता है। इन दोनो के ऊपर सफेद अर्धतरल भाग होता है जो ऐल्ब्युमेन कहलाता है। यह भी विकसित हो रहे जीव के लिये आहार है। सबके ऊपर एक कडा खोल होता है जिसका अधिकाश भाग खडिया मिट्टी का होता है। यह खोल रध्रमय होता है जिससे भीतर विकसित होनेवाले जीव को वायु से आक्सिजन मिलता रहता है। बाहरी खोल सफेद, चित्तीदार या रगीन होता है जिससे अडा दूर से स्पष्ट नही दिखाई पडता और अडा खानेवाले जतुओ से उसकी बहुत कुछ रक्षा हो जाती है।

आरभ मे अडा एक प्रकार की कोशिका (सेल) होता है और अन्य कोशिकाओ की तरह यह भी कोशिकाद्रव्य (साइटोप्लाज्म) और केंद्रक (न्यूक्लियस) का बना होता है, परतु उसमे एक विशेषता होती है जो और किसी प्रकार की कोशिका मे नही होती, और वह है प्रजनन की शक्ति। ससेचन के पश्चात्, जिसमे मादा के डिब और नर के शुक्राणु-कोशिका का समेकन होता है, और कुछ जतुओ मे बिना समेचन के ही, डिब विभाजित होता है और बढता है और अत मे जिस जतुविशेष का वह अडा रहता है उसी के रूप, गुण और आकार का एक नया प्राणी बन जाता है।

अडे मे प्रजनन की क्षमता से सबद्ध कुछ विशेष गुण होते है। अधिकाश जतु अपने अडो को शरीर से बाहर निकालने के पश्चात् किसी उपयुक्त स्थान पर रख छोडते है, जहाँ अडो का विकास होता है। ऐसे अडो के कोशिकाद्रव्य योक (पीतक) खाद्य पदार्थ से भरे होते है यह साधारणत पीला होता है। योक के अतिरिक्त और भी बहुत से पदार्थ अडे मे होते है, जैसे वसा (फैट), विटैमिन, एनजाइम इत्यादि। जिन जतुओ के अडो मे योक की मात्रा कम होती है उनमे अडविकास की क्रिया अतिम श्रेणी तक नही पहुँचती। भ्रूण विकास के लिये आवश्यक शक्ति अडे मे निस्सादित (डिपॉज़िटेड) योक की रासायनिक प्रतिक्रिया से उत्पन्न होती है और इस कारण जब अडे मे योक पर्याप्त मात्रा मे नही होता तो शरीर निर्माण की क्रिया बीच ही मे रुक जाती है। कुछ प्राणियो के अडो में ऐसी ही अवस्था होती है तथा इनका अडा बढ़कर डिंभ (लारवा) बनता है। डिभ अपना खाद्य स्वय खोजता और खाता है जिससे इसके शरीर का पोषण तथा वर्धन होता है और अत में डिभ का रूपातरण होता है। परतु जिन जतुओ के अडो में योक पर्याप्त मात्रा

मे उपस्थित होता है उनमे रूपातरण नही होता। कुछ ऐसे भी जतु होते है जिनमे अडविकास शरीर के बाहर नही बल्कि मादा के शरीर के भीतर होता है। ऐसे जतुओ के अडो मे योक नही होता।

अडा प्रोटोजोआ से उच्चवर्गीय शारीरिक सगठनवाले सब जतुसमूहो मे पाया जाता है। निम्न श्रेणी के जतुओ के अडो मे भी योक होता है और अधिकाश मे कडा खोल भी, जिसे कवच कहते है। किरीटिन (रोटिफेरा) के अडा मे एक विचित्रता पाई जाती है। अडे सब एक समान नही, प्रत्युत् तीन प्रकार के होते है। ग्रीष्म ऋतु के अडे दो प्रकार के होते हैं, छोटे तथा बडे। इन अडा का विकास बिना ससेचन के ही होता है। बडे अडा के विकास से मादा उत्पन्न होती है और छोटो से नर। हेमत काल के अडे मोटे कवच से घिरे होते है और इनके विकास के लिये ससेचन आवश्यक होता है। ये अडे हेमत ऋतु के अत मे विकसित होते है।

केचुआ वर्ग (ओलिगोकोटा) मे केचुओ के ससेचित अडे कुछ ऐल्ब्युमेन के साथ (कोकनकोश मे) बद रहते है। ये भूमि मे दिए जाते है और मिट्टी मे ही इनका विकास होता है।

जोको मे भी अडे योक तथा शुक्रपुटी (स्पर्माटोफोर्स) के साथ कोकून-कोश मे बद रहते है। ये कोकूनकोश गीली मिट्टी मे दिए जाते है।

कीटो के अडो मे भी योक एव वसा अधिक मात्रा मे होती है। अडे कई झिल्लियो से घिरे होते है। अधिकाश कीटो के अडे बेलनाकार होते है, परतु किसी किसी के गोलाकार भी होते है।

कठिनिवर्ग (क्रस्टेशिआ) मे से किसी किसी के अडे एकतपीती (एक ओर योकवाले, टीलोलेसिथाल) होते है और कुछ केद्रपीती (बीच में योकवाले, सेट्रोलसिथाल)। कुछ क्लोमपादा (ब्रैकिओपोडा) तथा अखडिताग अनुवर्ग (ऑस्ट्राकोडा) मे अडे बिना ससेचन के विकसित होते है। जलपिशु प्रजाति (डैफ्निआ) मे ग्रीष्म ऋतु के अडे बिना ससेचन के ही विकसित हो जाते है, परतु हेमत काल मे दिए हुए अडो के लिये ससेचन आवश्यक होता है। बिच्छुओ के अडे गोलाकार होते है और इनमे पीतक पर्याप्त मात्रा मे होता है। मकडियो के अडे भी गोलाकार होते है और इनमे भी पीतक होता है। ये कोकून-कोश के भीतर दिए जाते है और वही विकसित होते है।

उदरपाद चूर्णप्रावार (शख-वर्ग, गैस्ट्रोपोडा मोलस्क) ढेरियो मे अडे देते है जो श्लेष्यक (जेली) मे लिपटे रहते है। इन ढेरियो के भाँति भाँति के आकार होते है। अधिकाश लबे, बेलनाकार अथवा पट्टी की तरह के या रस्सी के रूप के होते है। इस प्रकार की कई रस्सियाँ आपस मे मिलकर एक बडी रस्सी भी बन जाती है। अग्रक्लोम-गण (प्रॉसोब्रैकिआ) मे अडे श्वेत द्रव के साथ एक सपुट (कैप्सूल) मे बद होते है। इस प्रकार के बहुत से सपुट इकट्ठा किसी चट्टान अथवा समुद्री घास से सटे पाए जाते है।

ऐसा भी होता है कि सपुट के भीतर के भ्रूणो मे से केवल एक ही विकसित होता है और शेष भ्रूण उसके लिये खाद्य पदार्थ बन जाते है। स्थलचर फुप्फुस-मथर-गण (पलमोनेटा प्राणी) मे प्रत्येक अडा एक चिपचिपे पदार्थ से ढका रहता है और कई अडे एक दूसरे से मिलकर एक शृखला बनाते है जो पृथ्वी पर छिद्रो मे रखे जाते है। निकचुक (वैजिन्युला) मे उस ऐल्ब्युमिनी ढेर का, जिसके भीतर अडा रहता है, ऊपरी तल कुछ समय मे कडा हो जाता है और चूने के कवच के समान प्रतीत होता है।

शीर्षपादा (सेफालोपोडा) के अडे बडी नाप के होते है और इनमे पीतक की मात्रा भी अधिक होती है। प्रत्येक अडा एक अडवेष्ट कला (झिल्ली) से युक्त होता है। अनेक अडे एक श्लेषी पदार्थ अथवा चर्म सदृश पदार्थ मे समावृत होते है और या तो एक शृखला मे क्रम से लगे होते है या एक समूह मे एकत्रित रहते है।

समुद्रतारा (स्टार फिश) के अडो का ऊपरी भाग स्वच्छ काच के समान होता है और केद्र मे पीला अथवा नारगी रग का योक होता है।

हलक्लोम वर्ग (एलास्मोब्राकिआइ) के ससेचित अडे एक आवरण के भीतर बद रहते है जो किरेटिन का बना होता है। ऐसा अडावरण कुठतुड वर्ग (हॉलोसेफालि) मे भी पाया जाता है। स्पृशतुड प्रजाति (कैलोरिकस) मे इनकी लबाई लगभग २५ सेटीमीटर होती है। रश्मिपक्षा (ऐक्टिनोप्टेरिगिआइ) के अडे इन मछलियो के अडो से छोटे होते है और बिरले ही कभी आवरण मे बद होते है। मछलियाँ लाखो की सख्या मे अडे देती है। कुछ के अडे पानी के ऊपर तैरते है, जैसे स्नेहमीनिका (हैडक), कटपृथा (टरबट), चिपिटा (सोल) तथा स्नेहमीन (कॉड) के। कुछ के अडे पानी मे डूबकर पेदी पर पहुँच जाते है, जैसे बहुला (हेरिंग), मृदुपक्षा (सैमन) तथा कर्बुरी (ट्राउट) के। कभी कभी अडे चट्टानो के ऊपर सटा दिए जाते है। फुप्फुस-मत्स्या (डिप्नोइ) के अडे एक श्लेषीय आवरण मे रहते है जो पानी के सपर्क से फूल उठते है।

विपुच्छ गण (ऐन्यूरा) ढेरियो मे अडे देते है। प्रत्येक अडे का ऊपरी भाग काला और नीचे का श्वेत होता है और वह एक ऐल्ब्युमिनी आवरण मे बद रहता है। एक बार दिए गए समस्त अडे एक ऐल्ब्युमिनी ढेर मे लिपटे रहते है। अडे एक ओर योकवाले (टीलोलेसिथाल) होते है।

अधिकाश सरीसृप (रेप्टाइल्स) अडे देते है, यद्यपि कुछ बच्चे भी जनते है। अडे का कवच चर्मपत्र सदृश अथवा कैल्सियममय होता है। अडे अधिकाश भूपृष्ठ के छिद्रा में रखे जाते है और सूर्य के ताप से विकसित होते है। मादा घडियाल अपने अडो के समीप ही रहती और उनकी रक्षा करती है।

पक्षियो के अडे बडे होते है और पीतक से भरे रहते है। जीवद्रव्य (प्रोटोप्लाज्म) पीतक के ऊपर एक छोटे से भ्रूणीय बिब (जरमिनल डिस्क) के रूप मे होता है। अडे का सबसे बाहरी भाग एक कैल्सियममय कवच होता है। इसके भीतर एक चर्मपत्र सदृश कवचकला होती है। यह कला द्विगुण होती है। बाह्य और आतरिक पर्दो के बीच, अडे के चौडे अत पर, एक रिक्त स्थान होता है जिसे वायुकूप कहते है। कवचकला अडे के
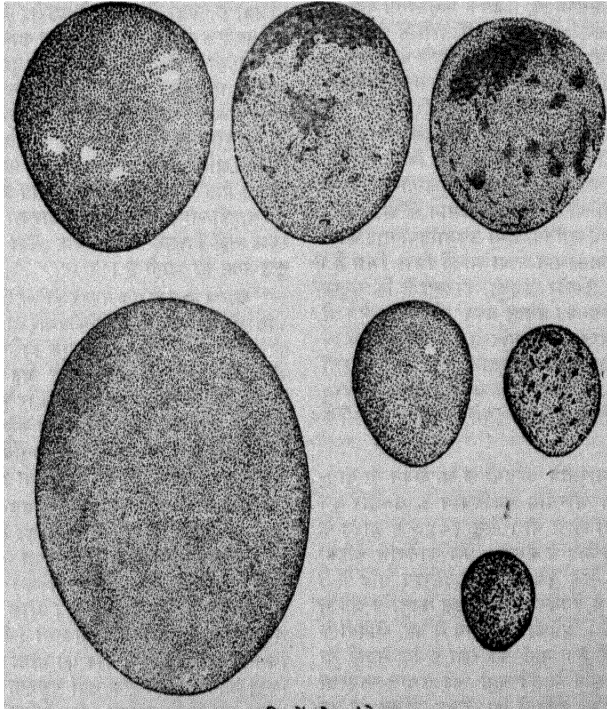
कुछ पक्षियो के अंडे

क्रमानुसार ये निम्नलिखित पक्षियो के अडे है तीतर, बाज, कौआ, बगुला, रॉबिन, अग्रेजी गौरैया और इग्लैड की घरेलू रेन।

आंतरिक तरल भाग को चारो ओर से घेरे रहती है। तरल पदार्थ का बाहरी भाग ऐल्ब्युमेनमय होता है जिसके स्वयं दो भाग होते हैं। इसका बाह्य भाग स्थूल तथा श्यान (विस्कस) होता है और इसके दोनों सिरे रस्सी के समान बटे होते हैं जिन्हे श्वेतक रज्जु (कालेज़ा) कहते है। भीतरी ऐल्ब्युमेन अधिक तरल होता है। जैसा पहले बताया गया है, अंडे का केंद्रीय भाग योक कहलाता है।

कवच तीन स्तरों का बना होता है। इसके बाहरी तल पर एक स्तर होता है जिसे उच्चर्म कहते है। कवच अनेक छिद्रो तथा कुल्यिकाओं से बिद्ध होता है। इन छिद्रों में एक प्रोटीन पदार्थ होता है जो किरेटिन से अधिक कोलाजेन के सदृश होता है। (कोलाजेन सरेस के समान एक पदार्थ है जो शरीर के तंतुओं मे पाया जाता है।)

सबसे छोटे अडे प्रकूज पक्षी (हमिंग बर्ड) के होते है और सबसे बड़े विधावी (मोआ) तथा तुगविहग प्रजाति (ईपिओर्निस) के।

ऊपर कहा जा चुका है कि अडे के ऐल्ब्युमेन के तीन स्तर होते हैं। इनकी रासायनिक संरचना भिन्न भिन्न होती है जैसा निम्नलिखित सारणी से प्रतीत होता है:

अंडे के ऐल्ब्युमेन के प्रोटीन

	आंतरिक सूक्ष्म स्तर	मध्य स्थूल स्तर	बाह्य सूक्ष्म स्तर
अडश्लेष्म (ओवोम्यूसिन)	१.१०	५.११	१.६१
अडावर्तुलि (ओवोग्लोबुलिन)	६.५६	५.५६	३.६६
अंड ऐल्ब्युमेन (ओवोऐल्ब्युमेन)	८६.२६	८६.१६	६४.४३

इन तीनों स्तरों के जल की मात्रा में कोई विभिन्नता नहीं होती। श्यानता में अवश्य विभिन्नता होती है, परंतु यह एक कलिलीय (कलायडल) घटना समझी जाती है। अंड ऐल्ब्युमेन में चार प्रकार के प्रोटीनों का होना तो निश्चित रहता है - अडश्वेति (अंड-ऐल्ब्युमेन), सम-श्वेति (कोनाल्ब्युमेन), अडश्लेष्माभ (ओवोम्यूकॉएड) तथा अंड-श्लेष्मि, परंतु अंडावर्तुलि का होना अनिश्चित है। अडश्वेति में प्रस्तुत भिन्न भिन्न प्रोटीनों की मात्रा निम्नलिखित सारणी में दी गई है:

अंडश्वेति	७७ प्रति शत
समश्वेति	३ ,,
अंडश्लेष्माभ	१३ ,,
अडश्लेष्मि	७ ,,
अंडावर्तुलि	लेशमात्र

कहा जाता है कि अंडश्वेति का कार्बोहाइड्रेट वर्ग क्षीरीधु (मैनोज़) है। अन्य अनुसंधान के अनुसार यह एक बहुशर्करिल (पॉलीसैकाराइड) है जिसमें २ अणु (मॉलेक्यूल) मधुम-तिक्ती (ग्लुकोसामाइन) के हैं, ४ अणु क्षीरीधु के और १ अणु किसी अनिर्धारित नाइट्रोजनमय सघटक का है। अंडश्लेष्माभ में कार्बोहाइड्रेट की मात्रा अधिक होती है (लगभग १० %)। संयुक्त बहुशर्करिल मधुम-तिक्ती तथा क्षीरीधु का समाण्विक (इक्विमॉले-क्यूलर) मिश्रण होता है। किस हद तक ये प्रोटीन जीवित अवस्था में वर्तमान रहते हैं, यह कहना अति कठिन है।

मुर्गी के अंडे का केंद्रीय भाग पीला होता है, उसपर एक पीला स्तर विभिन्न रचना का होता है। इन दोनों पीले भागों के ऊपर श्वेत स्तर होता है जो मुख्यतः ऐल्ब्युमेन होता है। इसके ऊपर कड़ा छिलका होता है। योक का मुख्य प्रोटीन आंडपीति (विटेलिन) है जो एक प्रकार का फास्फोप्रोटीन है। दूसरी श्रेणी का प्रोटीन लिवेटिन है जो एक कूट-आवर्तुलि (स्युडोग्लोबुलिन) है जिसमें ०.०६७ % फासफोरस होता है। तीसरा प्रोटीन आंडपीति-श्लेष्माभ (विटेलोम्युकाएड) है जिसमें १० % कार्बोहाइड्रेट होता है। योक में क्लीव वसा, भास्वीयेय, तथा सांद्रव (स्टेरोल) भी पर्याप्त मात्रा में होते हैं। ५५ ग्राम के एक अंडे में ५.५८ ग्राम क्लीब वसा तथा १.२८ ग्राम फास्फेट होता है, जिसमें ०.६८ ग्राम अंडपीति (लेसिथिन) होता है। अंडपीति के वसाम्ल (फ़ैटी ऐसिड) अधिकांश स-तालिक (आइसोपामिटिक), अक्षिक (ओलेइक), आतसिक (लिनोलेइक), अदंतमीनिक (क्लुपानोडोनिक) तथा ६:१०–षोडशीन्य (हेक्साडेकानोइक) अम्ल हैं। तालिक तथा वसा अम्ल कम मात्रा में होते हैं। अडे में मास्तिष्कि (सेफ़ालिन) भी होती है, तथा १.७५ % पित्तसांद्रव (कोलेस्टेरोल)।

अंडे के पीले तथा श्वेत दोनों ही भागों में विटैमिन पाए जाते है, किंतु पीले भाग में अधिक मात्रा में, जैसा निम्नलिखित सारणी में दिया गया है:

विटैमिन	पीले भाग में	श्वेत भाग में
ए	+	—
बी१	+	—
बी२	+	+
पी-पी	+	—
सी	—	—
डी	+	—
ई	+	—

आहार में अंडे—पक्षियों के अंडे, विशेषकर मुर्गी के अंडे, प्राचीन काल से ही विभिन्न देशों में बड़े चाव से खाए जाते रहे है। भारत में
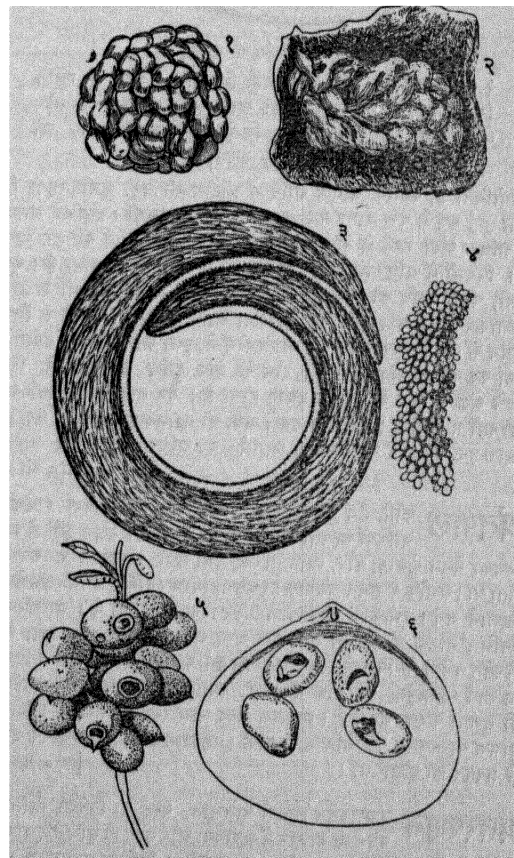
एक साथ दिए जानेवाले अंडों के समूह

१. बुक्सीनम अंडेटम के अंडप्रावर (एग-कैप्स्यूल्स); २. नेप्चूनिया ऐंटीका के अंडप्रावर; ३. नैटिका का अंडौघ (स्पॉन); ४. सामान्य अष्टबाहु (ऑक्टोपस वलगैरिस) के अंडप्रावर; ५. सीपिया एलिगैन्स के अंडप्रावर; ६. वोल्युटा म्यूज़िका का अंडौघ।

अंडों की खपत कम है क्योकि अधिकांश हिंदू अंडा खाना धर्मविरुद्ध समझते हैं। अंडों में उत्तम आहार के अधिकांश अवयव सुपच रूप में विद्यमान रहते हैं, उदाहरणत: कैलसियम और फास्फोरस, जिनकी आवश्यकता शरीर की हड्डियों के पोषण में पड़ती है, लोहा, जो रुधिर के लिये आवश्यक है, अन्य खनिज, प्रोटीन, वसा इत्यादि, अंडे में ये सभी रहते है। कार्बोहाइड्रेट अंडे में नहीं रहता; इसलिये चावल, दाल, रोटी के आहार के साथ अंडो की विशेष
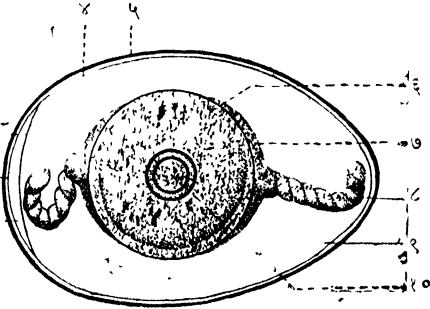
मुर्गी के अंडे की रचना

१. वायुकोष्ठ; २ और ४. चिमड़ी झिल्ली; ३ और ९. श्वेति (ऐल्ब्युमेन); ५. बाहरी कड़ा खोल; ६. पीतक; ७ और ८. निभाग (कालेजा); १०. किरणक (सिकाट्रिकिल), जो बढ़कर भ्रूण बनता है।

उपयोगिता है, क्योंकि चावल आदि में प्रोटीन की बडी कमी रहती है। अंडा पूर्ण रूप से पच जाता है—कुछ सिट्ठी नही बचती। इसलिये आहार में अधिक अंडा रहने से कोष्ठबद्धता (कब्ज) उत्पन्न होने का डर रहता है। विदेशों में अधिकांश प्रकार के भोजनों में अंडा डाला जाता है। सूप, जेली, चीनी आदि को स्वच्छ करने में, कुरकुरी आहार वस्तुओ के ऊपर चित्ताकर्षक तह चढ़ाने के लिये, टिकिया आदि को खस्ता बनाने के लिये, मोयन के रूप में, केक बनाने में, आइसक्रीम में, पूआ और गुलगुला बनाने में अंडों का बहुत प्रयोग होता है। रोग के बाद दुर्बल व्यक्तियों के लिये कच्चे अंडे या अंडे के पेय का प्रयोग होता है। देर तक उबाले कड़े अंडे सब्जियों में पड़ते है। भारत में उबले अडे, घी या मक्खन में आधे तले हुए (हाफ फ़ायड) अंडे और अंडे के आमलेट का अधिक चलन है।

[मु० ला० श्री०]

अंतपाल कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' से हमें अंतपाल नामक राजकर्मचारियों का पता चलता है जो सीमांत के रक्षक होते थे और जिनका वेतन कुमार, पौर, व्यावहारिक, मंत्री तथा राष्ट्रपाल के बराबर होता था। अशोक के समय अतपाल ही अंतमहामात्र (देखिए प्रथम स्तभलेख) कहलाने लगे। गुप्तकाल में अतपाल 'गोप्ता' कहलाने लगे थे। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में वीरसेन तथा एक अन्य अंतपाल का उल्लेख हुआ है। वीरसेन नर्मदा के किनारे स्थित अंतपाल दुर्ग का अधिपति था। अंतपालों का कार्य महत्वपूर्ण था; ग्रीक कर्मचारी 'स्त्रातेगस' से इन पदाधिकारियों की तुलना करना सहज है। अंतपाल शब्द साधारणतया सीमांत प्रदेश के शासक या गवर्नर को निर्दिष्ट करता है। यह शासक सैनिक, असैनिक दोनों ही प्रकार का होता था।

[चं० म०]

अंतरपणन (आर्बिट्रेज) किसी प्रतिभूति, वस्तु या विदेशी विनिमय को सस्ते बाजार मे खरीदना और साथ ही साथ तेज बाजार में बेचना अंतरपणन कहलाता है। इसका उद्देश्य विभिन्न व्यापारिक केंद्रों में प्रचलित मूल्यों के अंतर से लाभ उठाना होता है। अंतरपणन इस कारण संभव होता है कि एक ही समय विभिन्न बाजारो में उसी प्रतिभूति, वस्तु या विदेशी चलन के विभिन्न मूल्य होते है; और इसका परिणाम समस्त बाजारों के मूल्यों में समानता स्थापित करना होता है। अंतरपणन के लिये यह आवश्यक है कि संदेशवहन के शीघ्र साधन विद्यमान हों और संबंधित बाजारों में तुरंत ही आदेशपालन कराने का समुचित प्रबंध हो। अंतरपणनकर्ता चाहे तो प्रतिभूति, वस्तु या विदेशी चलन भेज दे और बदले में आवश्यक धनराशि मँगा ले, चाहे वह उस राशि को बाजार में जमा रहने दे जिससे भविष्य में उस बाजार में क्रय होने पर वह काम आ सके।

सोने का अंतरपणन करने के लिये यह आवश्यक होता है कि विभिन्न देशों के बाजारो में सोने के मूल्य की बराबर जानकारी रखी जाय जिससे वह जहाँ भी सस्ता मिले वहाँ से खरीदकर अधिक मूल्यवाले बाजार में बेच दिया जाय। सोना खरीदते समय क्रयमूल्य में निम्नलिखित व्यय जोड़े जाते हैं: (१) क्रय का कमीशन, (२) सोना विदेश भेजने का किराया, (३) बीमे की किस्त, (४) पैकिंग व्यय, (५) कांसुली बीजक (कांसुलर इनवायस) लेने का व्यय, तथा (६) भुगतान पाने तक का ब्याज। साथ में, सोना बेचकर जो मूल्य मिले उसमें से निम्नलिखित मद घटाए जाते है: (१) सोना गलाने का व्यय (यदि आवश्यक हो), (२) आयात कर और आयात सबंधी अन्य व्यय, तथा (३) बैंक कमीशन। इन समायोजनाओं के पश्चात् यदि विक्रयराशि क्रयराशि से अधिक हुई, तभी लाभ होगा। सामान्यत: लाभ की दर बहुत कम होती है, और उपर्युक्त अनुमानों तथा गणनाओं में तनिक भी त्रुटि होने से लाभ हानि में परिवर्तित हो सकता है। इसके अतिरिक्त दो देशो के चलनपरिवर्तन की दर में, जिसे विनिमय दर कहते हैं, घटबढ़ होती रहती है, और उसमें तनिक भी प्रतिकूल घटबढ़ हानि का कारण बन सकती है। अत: अंतरपणनकर्ता को उपर्युक्त समस्त बातों का ज्ञान होना चाहिए; उसमें तुरंत निर्णय करने की योग्यता और भविष्य का यथार्थ अनुमान लगाने की सामर्थ्य भी होनी चाहिए। इतना होने पर भी कभी कभी जोखिम का सामना करना पड़ता है।

विदेशी चलन तथा प्रतिभूतियों में भी अंतरपणन इसी प्रकार किया जाता है। विदेशी चलन में अतरपणन बहुधा दो से अधिक बाजारों को सम्मिलित करके होता है जिसमे मूल्यो के अतर से पर्याप्त लाभ उठाया जा सके। हाल में ही विभिन्न देशो में विनिमय-समकरण-कोश स्थापित कर दिए गए है और उनके अधिकारी विनिमय दरो को स्थिर कर देते है। फलस्वरूप अंतरपणन से लाभ उपार्जित करने के अवसर प्राय. समाप्त हो जाते है। प्रतिभूतियो में अतरपणन बहुधा विषम होता है और उसमें जोखिम भी अधिक होती है।

अंतरपणन के द्वारा प्रतिभूतियों, वस्तुओं या विदेशी विनिमय के मूल्य संसार भर में लगभग समान हो जाते है। अनेक अंतरपणनकर्ताओ की क्रियाओ के फलस्वरूप अतर्राष्ट्रीय बाजार स्थापित हो जाते है और बने रहते हैं जिससे क्रेताओ तथा विक्रेताओं को बहुत सुविधा होती है। जहाँ तक वस्तुओं का सबध है, अंतरपणन के द्वारा वस्तुओं का निर्यात अधिपूर्ति के देश से अभाव के देशों में होता रहता है जिससे आवश्यक वस्तुओ का यथोचित वितरण संसारव्यापी आधार पर हो जाता है।

[अ० ना० अ०]

अंतराबंध (स्किज़ोफ़ीनीया) कई मानसिक रोगों का समूह है जिनमें बाह्य परिस्थितियों से व्यक्ति का संबंध असाधारण हो जाता है। कुछ समय पूर्व लक्षणो के थोड़ा बहुत विभिन्न होते हुए भी रोग का मौलिक कारण एक ही माना जाता था। किंतु अब प्राय: सभी सहमत हैं कि अंतराबंध जीवन की दशाओं की प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुए कई प्रकार के मानसिक विकारों का समूह है। अंतराबंध को अंग्रेजी में डिमेंशिया प्रीकॉक्स भी कहते है।

इस रोग के प्राय: चार रूप पाए जाते है: (१) सामान्य रूप में व्यक्ति अपनी चारो ओर की परिस्थितियों से अपने को धीरे धीरे खींच लेता है, अर्थात् अपने सुहृदों, मित्रों तथा व्यवसाय से, जिनसे वह पहले प्रेम करता था, उदासीन हो जाता है। (२) दूसरे रूप में, जिसको यौवनमनस्कता (हीबे फ्रीनिक) कहते है, रोगी के विचार तथा कर्म भ्रम पर आधारित होते हैं। यह रोग साधारणत: यौवनावस्था में होता है। (३) तीसरे रूप में उसके मस्तिष्क का अंग-संचालक-मंडल विकृत हो जाता है। या तो उसके अंगों की गति अत्यंत शिथिल हो जाती है, यहाँ तक कि वह मूढ़ और निश्चेष्ट सा पड़ा रहता है, या वह अति प्रचंड हो जाता है और भागने, दौड़ने, लड़ने, आक्रमण करने या हिंसात्मक क्रियाएँ करने लगता है।

(४)चौथा रूप अधिक आयु में प्रकट होता है और विचार संबंधी होता है। रोगी अपने को बहुत बड़ा व्यक्ति मानता है, या समझता है कि वह किसी के द्वारा सताया जा रहा है। कितनी ही बार रोगी में एक से अधिक रूप मिले हुए पाए जाते हैं। न केवल यही, प्रत्युत अन्य मानसिक रोगों के लक्षण भी अंतराबंध के लक्षणों के साथ प्रकट हो जाते हैं।

अंतराबंध की गणना बड़े मनोविकारों में की जाती है। मानसिक रोगों के अस्पतालों में ५५ प्रति शत इस रोग के रोगी पाए जाते हैं और प्रथम बार आनेवालों में ऐसे रोगी २५ प्रति शत से कम नहीं होते। इस रोग की चिकित्सा में बहुत समय लगने से इस रोग के रोगियों की संख्या अस्पतालों में उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। यह अनुमान लगाया गया है कि साधारण जनता में दो से तीन प्रति शत व्यक्ति इस रोग से ग्रस्त होते हैं। पुरुषों में २० से २४ वर्ष तक और स्त्रियों में ३५ से ३९ वर्ष तक की आयु में यह रोग सबसे अधिक होता है। अस्पतालों में भर्ती हुए रोगियों में से ४० प्रति शत शीघ्र ही नीरोग हो जाते हैं। शेष ६० को जीवनपर्यंत या बहुत वर्षों तक अस्पताल ही में रहना पड़ता है।

रोग के कारण के संबंध में बहुत प्रकार के सिद्धांत बनाए गए जो शारीरिक रचना, जीवरसायन अथवा मानसिक विकृतियों पर आश्रित थे। किंतु अब यह सर्वमान्य मत है कि इस रोग का कारण व्यक्ति की अपने को सांसारिक दशाओं तथा चारो ओर की परिस्थितियों के समानुकूल बनाने की असमर्थता है। व्यक्ति में शैशव काल से ही कोई हीनता या दीनता का भाव इस प्रकार व्याप्त हो जाता है कि फिर जीवन भर उसको वह दूर नहीं कर पाता। इसके कारण शारीरिक अथवा मानसिक दोनों होते हैं। बहुतेरे विद्वान् यह मानते हैं कि व्यक्ति के जीवन के आरंभिक वर्षों में पारिवारिक संबंध इस दशा का कारण होते हैं; विशेषकर माता का शिशु के साथ कैसा व्यवहार होता है उसी के अनुसार या तो यह रोग होता है या नहीं होता। शिशु की ऐसी धारणा बनना कि कोई उससे प्रेम नहीं करता या वह अवांछित शिशु है, रोगोत्पत्ति का विशेष कारण होता है। कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि शरीर में उत्पन्न हुए जीवविष (टॉक्सिन) मनोविकार उत्पन्न करने के बहुत बड़े कारण होते हैं। वे शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के कारणों को मौलिक कारण समझते हैं।

पहले रोग की चिकित्सा आशाजनक नहीं समझी जाती थी। किंतु अब मनोविश्लेषण से चिकित्सा में सफलता की आशा होने लगी है। ऐसे रोगियों के लिये विशेष चिकित्सालयों और मनोवैज्ञानिकों की आवश्यकता होती है। ओषधियों का भी प्रयोग होता है। इंस्युलिन तथा विद्युत् द्वारा आक्षेप उत्पन्न करना भी उपयोगी पाया गया है। विशेष आवश्यकता इसकी रहती है कि रोगी को पुरानी परिस्थितियों से हटा दिया जाय। विशेष व्यायाम तथा ऐसे काम धंधों का भी, जिनमें मन लगा रहे, उपयोग किया जाता है। रोग जितने ही कम समय का और हलका होगा उतने ही शीघ्र रोग से मुक्ति की आशा की जा सकती है। चिरकालीन रोगों में रोगमुक्ति कठिन होती है। [मु० स्व० व०]

अंतरा बिन शद्दाद का संबंध कबीलः अबस से था। इसकी माता हब्शी दासी थी इसलिये यह दास के रूप में अपने पिता के ऊँटों को चराया करता था। इसने दाहिस के युद्ध में विशेष ख्याति पाई। यह अपनी चचेरी बहिन अब्लः से प्रेम करता था, जिससे विवाह करने की इसने प्रार्थना की। अरबों के प्रथानुसार सबसे अधिक स्वत्व अब्लः पर इसी का था; परंतु इसके दासीपुत्र होने के कारण वह स्वीकार नहीं किया गया। इसके अनंतर इसके पिता ने इसे स्वतंत्र कर दिया। ९० वर्ष की लंबी आयु पाकर यह अपने पड़ोसी कबीले तैई से हुए एक झगड़े में मारा गया। अंतरा भी उसी अज्ञानयुग के कवियों में है जो असहाब मुअल्लकात कहलाते हैं। उसके दीवान में डेढ़ सहस्र के लगभग शेर हैं। यह बैरूत में कई बार प्रकाशित हो चुका है। इसमें अधिकतर दर्प, वीरता तथा प्रेम के शेर हैं। कुछ शेर प्रशंसा तथा शोक के भी हैं। इसकी कविता बहुत मार्मिक है पर उसमें गंभीरता नहीं है। उसका वातावरण युद्धस्थल का है और युद्धस्थल के ही गीतों का उस पर प्रभाव भी है। इसकी मृत्यु सन् ५१५ हि० तथा सन् ५२५ हि० के बीच हुई। [आर०आर० शे०]

अंतरिक्ष किरणें (कॉस्मिक रेज़) प्रधानतः अत्यधिक ऊर्जा (एनर्जी) वाले आवेशयुक्त कण होती हैं। प्राथमिक अंतरिक्ष किरणें परमाण्वीय नाभिकों (ऐटोमिक न्यूक्लिआई) की धारा हैं, जो बाहरी आकाश से आती हैं। कणों की यह धारा आकाश में लगभग समदिक् (आइसोट्रोपिक) एवं समयाचर (कॉन्स्टैंट इन टाइम) रहती है। पृथ्वी के वायुमंडल के बाहर अंतरिक्ष किरण के प्रायः दो कण ही एक वर्ग सेंटीमीटर पर प्रति मिनट संघात करते हैं। प्राथमिक अंतरिक्ष किरणों की ऊर्जा २×१०^{९} से $१०^{१७}$ अथवा $१०^{१८}$ इलक्ट्रान-वोल्ट प्रति कण तक होती है। भूमध्यरेखा पर आनेवाली अंतरिक्ष किरण की औसत ऊर्जा लगभग ३×१०^{१०} इलेक्ट्रान-वोल्ट प्रति कण होती है। (एक इलेक्ट्रान-वोल्ट उतनी ऊर्जा के बराबर होता है जितनी एक इलेक्ट्रान एक वोल्ट के विभवांतर (पोटेंशियल डिफ़रेंस) को पार करने पर प्राप्त करता है)। इस प्रकार, जितनी ऊर्जा कॉसमोट्रान अथवा बीवाट्रान जैसे प्रयोगशाला के आधुनिक यंत्रों द्वारा एक आवेशयुक्त कण को दी जा सकती है, उसकी लगभग एक करोड़ गुनी ऊर्जा सबसे अधिक ऊर्जावाली अंतरिक्ष किरण के कण की होती है। जितनी ऊर्जा पृथ्वी पर अंतरिक्ष-किरणों से प्राप्त होती है, लगभग उतनी ही ऊर्जा उतने ही समय में तारों के प्रकाश से मिलती है।

अंतरिक्ष किरणों का पता वर्तमान शताब्दी के आरंभ में वायु की चालकता पर सावधानी से किए गए प्रयोगों के फलस्वरूप लगा। जब हवा के कुछ नमूने पर सावधानी के साथ विकिरण का आना बंद कर दिया गया, तो भी वह हवा कुछ न कुछ चालकता दिखाती ही रही। इस हवा के कक्ष को सब ओर सीसे से ढकने पर आयनीकरण कम तो हो गया, किंतु इसका अंत नहीं हुआ। इसका अर्थ यह निकाला गया कि कोई छेदक विकिरण अनुसंधानक यंत्र में प्रवेश कर रहा है। इन विकिरणों का कुछ अंश उन रेडियमधर्मी पदार्थों से आता था जो कक्ष की दीवारों में, हवा में और पृथ्वी में विद्यमान थे। शेष भाग पृथ्वी के वायुमंडल के बाहर से आता हुआ जान पड़ा। यह परिणाम वी० एफ़० हेस के उन प्रयोगों पर आधारित था जिनमें उसने अपने अनुसंधानक यंत्र को गुब्बारों द्वारा पृथ्वी की सतह से ५,००० मीटर की ऊँचाई तक भेजा था। ज्यों ज्यों ऊँचाई बढ़ी, विकिरण की मात्रा भी बढ़ती गई।

प्रारंभ में ऐसी धारणा थी कि अंतरिक्ष किरणें बहुत छोटी तरंग-दैर्घ्यवाली केवल गामा किरणें ही हैं जिनकी छेदन शक्ति अत्यधिक है। छेदन शक्ति में इन नई किरणों की तुलना दूसरे ज्ञात विकिरणों से निम्नांकित प्रकार से की जा सकती है :

साधारण प्रकाश अपारदर्शी पदार्थों की केवल महीन चादर का, जैसे कागज के वर्क का, अथवा उससे कहीं अधिक महीन धातु के आवरण का, छेदन कर सकता है। इसकी अपेक्षा एक्स-रश्मियों की छेदन शक्ति इतनी अधिक होती है कि वे हमारे हाथ अथवा सारे शरीर से भी होकर निकल सकती हैं, जिसके फलस्वरूप शल्यचिकित्सक हमारी हड्डियों का फोटो ले सकता है। किंतु कुछ ही मिलीमीटर मोटी धातु इन एक्स-रश्मियों को पूर्णतया रोक सकती है। गामा-किरणें कुछ सेंटीमीटर मोटी धातु का छेदन कर सकती हैं। किंतु यह नया विकिरण कई मीटर मोटे सीसे (धातु) का छेदन कर सकता है और पानी की एक हजार मीटर गहराई तक घुस सकता है।

मिलिकन के अनुसार अंतरिक्ष किरणों की उत्पत्ति का कारण अंतस्तारकीय आकाश में द्रव्य का नष्ट होना है। मिलिकन की इस कल्पना ने अंतरिक्ष किरणों के अध्ययन को और अधिक प्रोत्साहन दिया।

अंतरिक्ष किरणों की प्रकृति के बारे में जानकारी अक्षांशप्रभाव से प्राप्त हुई। इसका आविष्कार क्ले ने १९२७ ई० में और उसके बाद और अधिक गहनता से कांपटन ने किया था। अक्षांशप्रभाव की व्याख्या हम इस तरह कर सकते हैं कि अंतरिक्ष किरणों के प्राथमिक कण आवेशयुक्त कण हैं जो कई हजार मील तक आकाश में फैले हुए पृथ्वी के चुंबकत्व क्षेत्र से प्रभावित हुए हैं। जितनी कम इन कणों की ऊर्जा होती है उतना ही अधिक उनके पथ चाप के रूप में झुक जाते हैं। अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता भूमध्यरेखा पर सबसे कम है और ध्रुवों की ओर बढ़ती जाती है। समुद्रतल की अपेक्षा अक्षांशप्रभाव ऊँचाई पर बहुत अधिक होता है।

अंतरिक्ष किरणों के बारे में और अधिक जानकारी १९२७ ई० में स्कोबेल्टज़ाइन ने की जब उसने एक मेघकक्ष में उच्च ऊर्जावाले आवेशयुक्त कणों के उर्ध्वाधर पथचिह्न देखे। १९२८ में बोटे और कोलहोयर्स्टर ने अंतरिक्ष किरणों के अनुसंधान की एक नई रीति अपनाई, जिसमें कई गाइगर-म्युलर-गणक एक साथ सबद्ध रहते थे। इस प्रयोग द्वारा उन्होंने सिद्ध किया कि अंतरिक्ष किरणें आवेशयुक्त कण हैं।

जैसे ही अंतरिक्ष किरणों के कण पृथ्वी के वायुमंडल में प्रवेश करते हैं, वैसे ही हवा के नाभिकों के साथ उनकी पारस्परिक क्रिया होती है, जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकार के मूल कण पैदा हो जाते हैं। इनमें से कुछ कण ऐसे होते है जो अन्य किसी रीति से प्रकृति में उत्पन्न नहीं होते। ये कण रेडियमधर्मी होते है, जिनमें से कुछ १०$^{-६}$ सेकेंड में समाप्त हो जाते हैं और कुछ १०$^{-८}$ अथवा १०$^{-१४}$ सेकेंड मे।

आगे दी हुई सारणी में सब स्थायी कणों के नाम, उनका द्रव्यमान (इलेक्ट्रान के द्रव्यमान, द्रइ, को एकक मानकर), उनकी समाप्ति का क्रम और उनके औसत जीवनकाल (सेकेंडों में) दिए गए है :

सारणी

कण का नाम	द्रव्यमान (एकक : इलेक्ट्रान का द्रव्यमान)	समाप्ति-क्रम	औसत जीवनकाल (सेकेंड)
म्यू$^{+}$	२१०	इ$^{+}$ + २ न्यू	२×१०$^{-६}$
म्यू$^{-}$	२१०	इ$^{-}$ + २ न्यू	"
पाई$^{+}$	२७६	म्यू$^{+}$ + न्यू	१०$^{-८}$
पाई$^{-}$	२७६	म्यू$^{-}$ + न्यू	"
पाई$^{\circ}$	२६६	२ गामा	१०$^{-११}$ से कम
हाइपेरॉन			
लैंब्डा$^{\circ}$	२१८१	पी + पाई$^{-}$	३·७×१०$^{-१०}$
सिगमा$^{+}$	२३२७	{ एन + पाई$^{+}$ { पी + पाई$^{\circ}$	१०$^{-१०}$ —
सिगमा$^{\circ}$	२३२३	लैंब्डा$^{\circ}$ + गामा	१०$^{-१०}$ से कम
सिगमा$^{-}$	२३२०	एन + पाई$^{-}$	२×१०$^{-१०}$
एक्साई$^{-}$	२५८१	लैंब्डा$^{\circ}$ + पाई$^{-}$	१०$^{-१०}$
के-मेसॉन			
थीटा$_{१}^{\circ}$	सब कैपा$^{+}$, कैपा$^{\circ}$ के द्रव्यमान लगभग=९६६ ± १० है	पाई$^{+}$ + पाई$^{-}$	१·७×१०$^{-१०}$
थीटा$_{२}^{\circ}$		? + ? + ?	
टा$^{+}$′		२ पाई$^{+}$ + पाई$^{-}$	सब कैपा$^{+}$मेसॉनो का जीवन काल १×१०$^{-८}$+२०% प्रति शत है।
टाउ$^{+}$		२ पाई$^{\circ}$ + पाई$^{+}$	
कैपा$^{+}_{पाई_{२}}$		पाई$^{+}$ + पाई$^{\circ}$	
कैपा$^{+}_{म्यू_{२}}$		म्यू$^{+}$ + न्यू	
कैपा$^{+}_{म्यू_{१}}$		म्यू$^{+}$ + न्यू + पाई$^{\circ}$	
कैपा$^{+}_{इ_{१}}$		इ$^{+}$ + न्यू + पाई$^{\circ}$	

वायुमंडल में अंतरिक्ष किरणों के प्रवेश करने पर जो क्रियाएँ होती हैं उनका सामान्य रूप स्पष्ट है। वायुमंडल की ऊपरी तहो में प्राथमिक अंतरिक्ष किरणो के प्रोटान और अधिक भारी नाभिकों का अवशोषण हो जाता है, जिसके फलस्वरूप द्वितीयक प्रोटान और न्यूट्रान, पाई-मेसान और अधिक भारी मेसान बनते है। आवेशरहित पाई-मेसान के विघटन (डिसोसिएशन) से प्रकाश के दो क्वांटम बनते हैं, जिनसे धनात्मक और ऋणात्मक इलेक्ट्रान पैदा होते है। जैसे ही ये इलेक्ट्रान नाभिकों के पास पहुँचते है, ये फोटान बन जाते है और इस प्रकार यह क्रिया बढ़ती जाती है। इलेक्ट्रानो और फोटानों के कोमल घटक (कॉम्पोनेंट) की तीव्रता पहले वायुमडल में गहराई के साथ तेजी से बढ़ती है और फिर, जैसे जैसे इन बौछार पैदा करनेवाले कणों का अवशोषण होता है, घटती है। समुद्रतल के पास कोमल घटक के इस अश की तीव्रता बहुत कम हो जाती है।

आवेशयुक्त पाई-मेसानों के विघटन से म्यू-मेसान बनते है। म्यू-मेसान की नाभिकों के साथ अधिक क्रिया प्रतिक्रिया नही होती। नाभिकों के साथ अत्यंत दुर्बल क्रिया प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उनमें बहुत अधिक छेदनशक्ति दिखाई पड़ती है। वे पृथ्वी में बड़ी गहराई तक प्रवेश कर सकते है। अतः वे अंतरिक्ष किरणों के तीव्र घटक होते है। म्यू-मेसान नष्ट होने पर इलेक्ट्रान उत्पन्न करते है। टकराने से भी इलेक्ट्रान पैदा होते है। समुद्रतल के पास ये इलेक्ट्रान तथा इनके द्वारा उत्पन्न हुई इलेक्ट्रान-फोटान की बौछारो से कोमल घटक का मुख्य अश बनता है।

पाई-मेसान के कारण नाभिक-विघटन होते है, जिन्हें तारक (स्टार) कहते है। लघु-ऊर्जा-प्रदेश मे तारक न्यूट्रान के कारण उत्पन्न होते है। अत्यधिक ऊर्जावाले कण बड़ी 'वायु-बौछारें' पैदा करते है। एक एक वायु-बौछार मे दस करोड़ मे भी अधिक कण मिले है। कणों के बीच की दूरी एक ही वायु-बौछार मे हजार मीटर से भी अधिक पाई गई है।

अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता में प्रेक्षणस्थल पर की परिस्थितियों से परिवर्तन होता है। उनकी तीव्रता वायु की दाब, ताप एवं पृथ्वी के चुबकत्व-क्षेत्र के साथ बदलती है। प्रेक्षणस्थल के ऊपर हवा की मोटाई और उसकी अवशोषणशक्ति में परिवर्तन को इसका कारण बताया जा सकता है। अतरिक्ष किरणों में सामयिक परिवर्तन भी होते है। जैसे, लंबे समयवाले परिवर्तन, २७ दिनवाले परिवर्तन, सौर समय के अनुसार होनेवाले परिवर्तन, और बहुत कम मात्रा में नाक्षत्र समय के अनुसार होनेवाले परिवर्तन।

ये सामयिक परिवर्तन बहुत कम मात्रा में होते है, प्रति शत के केवल दो-चार दसवें भाग तक। पृथ्वी के वायुमंडल के बाहर अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता और सामयिक परिवर्तनो के बीच संबध जोड़ने के लिये प्रेक्षणों को ताप और दाब के लिये सही करना पड़ता है। सौर समय के अनुसार तीव्रता में दैनिक परिवर्तन होने की खोज बहुतेरे अनुसंधानकर्ताओं ने की है। उनके विश्वविस्तृत स्वरूप को फोरबुश ने सिद्ध किया। परिवर्तन की मात्रा, पश्चात् मध्याह्न दो बजे के आसपास, जो अधिकतम तीव्रता का समय है, लगभग ०·२ प्रति शत होती है।

तीव्रता में सामयिक परिवर्तनो के अतिरिक्त असामयिक प्रभाव भी होते है। सबसे अधिक महत्ववाला प्रभाव चुबकीय तूफानों से संबंधित है, जिसके विश्वविस्तृत रूप को फोरबुश ने अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता का अध्ययन करके दिखाया है। ये विश्वविस्तृत परिवर्तन इस मत का एक और प्रमाण है कि अंतरिक्ष किरणो का उत्पत्तिस्थान पृथ्वी के बाहर है।

समुद्र की सतह पर अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता के पृथ्वी के चुंबकत्व पर निर्भर होने का अर्थ यह है कि पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र में परिवर्तनों के साथ अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता में परिवर्तन होते है। अंतरिक्ष किरणों और पृथ्वी के साधारण चुबकीय उच्चावचन (घट बढ़) में कोई घनिष्ठ संबंध नहीं मिलता; अर्थात् शांत दिनों में पृथ्वी के साधारण चुंबकीय प्रभाव का अंतरिक्ष किरणों से कोई सार्थक संबंध नहीं है। यह देखा गया है कि विश्वविस्तृत अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता का पृथ्वी के चुबकत्व क्षेत्र के क्षैतिज घटक के परिवर्तनों से घनिष्ठ संबंध है। चुंबकीय तूफानों के समय अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता में बहुत स्पष्ट परिवर्तन होता है। कुछ चुबकीय तूफानों का प्रभाव अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता पर नहीं देखा जाता, किंतु जब क्षैतिज चुंबकबल एक प्रति शत कम होता है तो अंतरिक्ष

किरणों की तीव्रता में साधारणतः पाँच प्रति शत से अधिक कमी हो जाती है।

अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता में इन सामयिक परिवर्तनों की समस्या, इन परिवर्तनों की उत्पत्ति, तथा पृथ्वी और ब्रह्मांड के भौतिक तथ्यों के साथ इनका संबंध, ये सभी बड़े जटिल प्रश्न हैं। इन परिवर्तनों के अध्ययन को कुछ वर्षों से नया महत्व मिला है। इन परिवर्तनों द्वारा उन भौतिक अवस्थाओं का अन्वेषण किया जा सकता है जो सूर्य पर तथा अंतर्ग्रहीय माध्यमों में है।

अंतर्राष्ट्रीय भू-भौतिकी वर्ष (१६५८-५६) के अंतर्गत जो न्यास (आँकड़े) इकट्ठे किए जा रहे हैं उनसे इन परिवर्तनों के समझने में सहायता मिलेगी। अंतरिक्ष किरणों और ऋतुविज्ञान के तत्वों, पृथ्वी-भौतिकी, सौर-भौतिकी एवं ब्रह्मांड-भौतिकी के बीच जो संबंध है उसकी स्थापना में इन अध्ययनों से सहयाता मिलेगी।

भौतिकी-वैज्ञानिकों के लिये अंतरिक्ष किरणों के अध्ययन का बहुत ही बड़ा महत्व है, विशेषकर उस ज्ञान के कारण जो इससे प्राप्त होता है।

अधिकतर ज्ञात मूल कणों का आविष्कार अंतरिक्ष किरणों के अध्ययन द्वारा हुआ है, और इसी अध्ययन से नाभिकीय बलों के विषय में भी जानकारी प्राप्त हुई है। उच्चतम ऊर्जावाले कणों की भौतिकी का अध्ययन केवल अंतरिक्ष किरणों द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि इतनी उच्च ऊर्जा के कण प्रयोगशाला में अभी तक उत्पन्न नहीं किए जा सके हैं।

अंतरिक्ष किरणों की उत्पत्ति के विषय में कई मत हैं; नवीन और संभवतः सही मत यह है कि इन उच्च ऊर्जावाले कणों की उत्पत्ति की मुख्य रीति कदाचित् सांख्यिकीय है। इस मत के अनुसार पृथ्वी तक पहुँचनेवाला अंतरिक्ष विकिरण हमारी ही मदाकिनी (गैलैक्सी) में उत्पन्न होता है और इसका कारण छोटे और बड़े तारों के फटने पर तेजी से छूटे अत्यंत त्वरित तारकीय वायुमंडल के कण हैं। लघु ऊर्जावाले कणों का एक बहुत छोटा भाग, लगभग एक प्रति शत, सौर धब्बों से संबद्ध सूर्य की लपटों द्वारा उत्पन्न होता है। [गि० गि० गि०]

अंतर्दर्शन (इंट्रास्पेक्शन)

अंतर्दर्शन का तात्पर्य अंदर देखने से है। इसे आत्मनिरीक्षण या आत्मचेतनता भी कहा जाता है। मनोविज्ञान की यह एक पद्धति है। इसका उद्देश्य मानसिक प्रक्रियाओं का स्वयं अध्ययन कर उनकी व्याख्या करना है। इस पद्धति के सहारे हम अपनी अनुभूतियों के रूप को समझना चाहते हैं। केवल आत्मविचार (सेल्फ-रिफ्लेक्शन) ही अंतर्दर्शन नहीं है। अंतर्दर्शन तो प्रत्यक्ष आत्मचेतनता का एक विकसित रूप है। अंतर्दर्शन के विकास में तीन सीढ़ियों का होना आवश्यक है—(१) किसी बाह्य वस्तु के निरीक्षणक्रम में अपनी ही मानसिक क्रिया पर विचार करना, (२) अपनी ही मानसिक क्रियाओं के कारणों पर विचार करना, और (३) अपनी मानसिक क्रियाओं के सुधार के बारे में सोचना।

इस पद्धति के अनुसार एक ही मानसिक प्रक्रिया के बारे में लोग विभिन्न मत दे सकते हैं। अतः यह पद्धति अवैज्ञानिक है। वैयक्तिक होने के कारण इससे केवल एक ही व्यक्ति की मानसिक दशा का पता चल सकता है।

अंतर्दर्शन की सहायता के लिये बहिर्दर्शन पद्धति आवश्यक है। अंतर्दर्शन पद्धति का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें निरीक्षण की वस्तु सदा हमारे साथ रहती है और हम अपने सुविधानुसार चाहे जब अंतर्दर्शन कर सकते हैं। [स० प्र० चौ०]

अंतर्दह इंजन

ऐसे इंजन को अंतर्दह इंजन (इंटर्नल कंबश्चन एंजिन) कहते हैं जिसमें ऊर्जा-उत्पादक ईंधन इंजन के भीतर (वस्तुतः इंजन के सिलिंडर के भीतर) जलता है। जिन इंजनों में इंजन को चलानेवाला पदार्थ इंजन के बाहर तप्त किया जाता है, जैसे वाष्प इंजनों (स्टीम एंजिन) में, उन्हें बाह्यदह इंजन (एक्स्टर्नल कंबश्चन एंजिन) कहते हैं। मोटरकार, हवाई जहाज आदि में, अपने हलकेपन के कारण, अंतर्दह इंजनों का ही प्रयोग होता है। सुविधा के कारण ऐसे इंजनों का प्रयोग खेतों पर, औद्योगिक कारखानों में, जहाजों आदि में भी बहुत होता है। ईंधनों के लिये पेट्रोल, गाढ़े मिट्टी के तेल (डीज़ल आॅयल), ऐल्कोहल, अथवा प्राकृतिक या कृत्रिम गैस इत्यादि का प्रयोग होता है, परंतु साधारणतः पेट्रोल और गाढ़े मिट्टी के तेल का ही उपयोग होता है।

अंतर्दह इंजन दो सिद्धांतों पर काम करते हैं: चतुर्घात चक्र और द्विघात चक्र।

चतुर्घात चक्र का इंजन—प्रत्येक इंजन में एक खोखला बेलन होता है, जिसे सिलिंडर कहते हैं (चित्र १)। सिलिंडर के भीतर एक पिस्टन चलता है, जिसे हम मुषली कह सकते हैं। इस पिस्टन का काम ठीक वही होता है
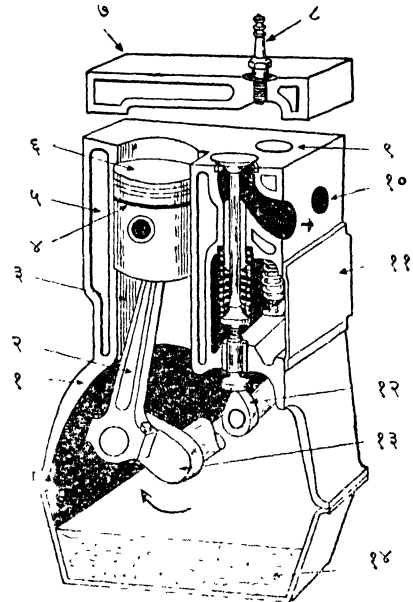
चित्र १. अंतर्दह इंजन के मुख्य भाग

१. इष्टिका (ब्लॉक); २. सबंधक दंड (कनेक्टिंग रॉड); ३. सिलिंडर; ४. पिस्टन का छल्ला (पिस्टन रिंग); ५. ठंढा करने का पानी; ६. पिस्टन; ७. सिलिंडर का माथा (हेड); ८. स्पार्क प्लग; ९. कपाट (वाल्व); १०. निष्कास मार्ग; ११. ढक्कन; १२. कैम; १३. क्रैंक धुरी; १४. तेल का कड़ाहा (ऑयल पैन)।

जो बच्चों की रंग खेलने की पिचकारी के भीतर चलनेवाली डाट का। पिस्टन ऐल्युमिनियम या इस्पात का बनता है और इसमें इस्पात की कमानीदार चूड़ियाँ (रिंग) लगी रहती हैं, जिससे वायु, या गैस, पिस्टन के एक ओर से दूसरी ओर नहीं जा सकती। सिलिंडर का माथा (हेड) बंद रहता है, परंतु इसमें दो कपाट (वाल्व) रहते हैं। एक के खुलने पर वायु, या वायु और पेट्रोल दोनों, भीतर आ सकते हैं। दूसरे के खुलने पर सिलिंडर के भीतर की वायु या गैस बाहर निकल सकती है। माथे में एक स्पार्क प्लग भी लगा रहता है जिसके सिरे पर दो तार होते हैं। उचित समयों पर इन दोनों तारों के बीच बिजली की चिनगारी निकलती है, जिसका नियंत्रण इंजन के चलते रहने पर अपने आप होता रहता है। चिनगारी बिजली के कारण उत्पन्न होती है, जो साधारणतः एक बैटरी या अन्य विद्युत्यंत्र से निकलती है।

पिस्टन इंजन की धुरी से संबंधक-दंड (कनेक्टिंग रॉड) द्वारा संबंधित रहता है। धुरी सीधी न रहकर एक स्थान पर चिमटे की तरह टेढ़ी होती है। इस प्रबंध को क्रैंक कहते हैं। क्रैंक के कारण पिस्टन के आगे पीछे चलने पर इंजन की धुरी घूमती है। ईंधन के बार बार जलने से पिस्टन बहुत गरम न हो जाय इस विचार से सिलिंडर की दीवारें दोहरी होती हैं

और उनके बीच पप द्वारा पानी प्रवाहित होता रहता है। मोटरकार आदि मे एक के बदले चार, छ या आठ सिलिडर रहते है और लोहे की जिस इष्टिका मे ये बने रहते है उसे ब्लॉक कहते है।
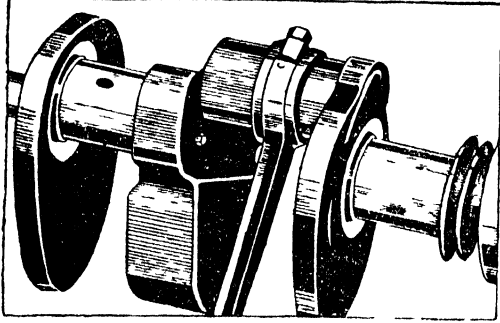
चित्र २. क्रैंक

क्रैंक का काम है पिस्टन के आगे-पीछे चलने की गति को धुरी के अक्षघूर्णन मे बदलना।
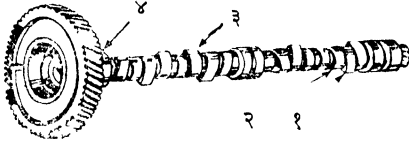
चित्र ३. कैम धुरी

१, २, ३ विविध कैम, ४ सचालक चक्र।

उपर बताए गए वाल्व कमानी के कारण चिपक्कर, वायु आदि के माग को बद रखते है परतु प्रत्येक वाल्व कैम द्वारा उचित समय पर उठ जाता है जिससे वायु या गैस के आने का माग खुल जाता है। कैम जिस धुरी पर जडे रहते हैं उसको कैम-धुरी (कैम-शैफ्ट) कहते है। यह धुरी
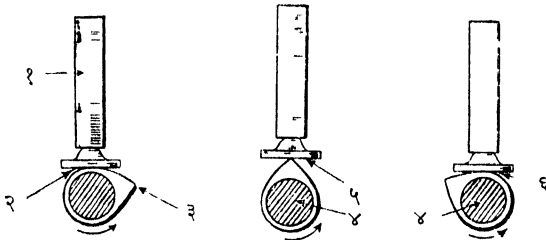
चित्र ४. कैम का कार्य

इन चित्रो मे दिखाया गया है कि कैम किस प्रकार वाल्व उठानेवाले दड को ऊपर नीचे चलाता है। १ दड, २ नीचे पहुँचने पर स्थिति, ३ कैम की नोक, ४ कैमधुरी, ५ ऊँचे पहुँचने पर स्थिति, ६ फिर नीचे पहुँचने पर स्थिति। वक्राकार बाण से कैम के घूमने की दिशा दिखाई गई है।

इजन से ही चलती रहती है और वाल्वो को उचित समयो पर खोलती रहती है। (कैम इस्पात के टुकडे होते है, जिनका रूप कुछ कुछ पान की आकृति का होता है, जब कैम का चौडा भाग वाल्व के तने (स्टेम) के नीचे रहता है तो वाल्व बद रहता है, जब इसका लबा भाग घूमकर वाल्व के तने के नीचे आ जाता है तो वाल्व उठ जाता है।)

इजन की विविध सधियो को, जहाँ एक पुरजा दूसरे पर घूमता या चलता रहता है, बराबर तेल से तर रखना नितात आवश्यक है। इसीलिये सर्वत्र स्नेहक तेल (ल्यूब्रिकेटिंग आॅयल) पहुँचाने का प्रबध रहता है। मोटरकारो मे इजन का निचला हिस्सा बहुधा थाल के रूप मे होता है जिसमें तेल डाल दिया जाता है। प्रत्येक चक्कर मे क्रैंक तेल मे डूब जाता है और छीटे उडाकर सिलिडर को भी तेल से तर कर देता है। अन्य स्थानो मे तेल पहुँचाने के लिये पप लगा रहता है।

चित्र १ मे इजन को काटकर उसके विविध भाग दिखाए गए है।

चतुर्घात-चक्रवाले इजन का कार्यकरण—चतुर्घात-चक्र (फोर स्ट्रोक साइकिल) के अनुसार काम करनेवाले इजनो मे पिस्टन के चार बार चलने पर (दो बार आगे, दो बार पीछे चलने पर) इसके कार्यक्रम का एक चक्र पूरा होता है। ये चार घात निम्नलिखित है

(क) सिलिडर मे पिस्टन माथे से दूर जाता है, इस समय अतर्ग्रहण-वाल्व (इन-टेक वाल्व) खुल जाता है और वायु, तथा साथ मे उचित मात्रा मे पेट्रोल (या अन्य इधन), सिलिडर के भीतर खिच आता है, (चित्र ५)। इसे अतर्ग्रहण-घात कहते है। (ख) जब पिस्टन लौटता है तो अतर्ग्रहण-वाल्व बद हो जाता है, दूसरा वाल्व भी (जिसे निष्कास-वाल्व कहते है) बद रहता है। इसलिये वायु-और-पेट्रोल-मिश्रण को बाहर निकलने के लिये कोई माग नही रहता। अत वह सपीडित (कप्रेस्ड) हो जाता है। इसी कारण इस सपीडन घात (कप्रेशन स्ट्रोक) कहते है।
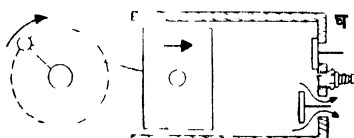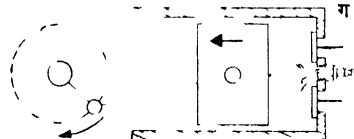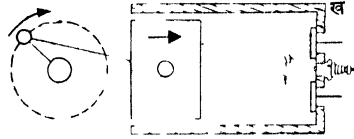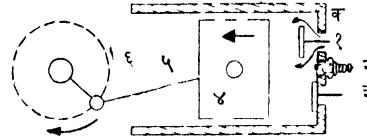
चित्र ५. चतुर्घात अतर्दह इजन का सिद्धात

क अतर्ग्रहण घात, जिससे सिलिडर मे ईधन और हवा आती है, १ अतर्ग्रहण वाल्व, २ स्पार्क प्लग, ३ निष्कास वाल्व, ४ पिस्टन, ५ सबधक दड (कनेक्टिंग रॉड), ६ फ्लाई-व्हील। **ख सपीडन घात,** जिससे ईधन और वायु का मिश्रण सपीडित होता है। **ग शक्ति घात,** जिसमे ईधन जल उठता है और पिस्टन को बलपूर्वक ठेलता है। **घ निष्कास घात,** जिससे जला ईंधन बाहर निकल जाता है।

ज्यो ही पिस्टन लौटने लगता है, स्पार्क प्लग से चिनगारी निकलती है और सघनित पेट्रोल-वायु-मिश्रण जल उठता है। इससे इतनी गरमी और दाब बढती है कि पिस्टन को जोर का धक्का लगता है और पिस्टन हठात्

माथे से हटता है। इस हटने में पिस्टन और उससे संबद्ध प्रधान धुरी (मेन शैफ्ट) भी बलपूर्वक चलते हैं और बहुत सा काम कर सकते हैं। पेट्रोल के जलने की ऊर्जा इसी प्रकार धुरी के घूमने में परिवर्तित होती है। धुरी पर एक भारी चक्का जड़ा रहता है जिसे फ्लाईव्हील कहते हैं। यह भी अब वेग से चलने लगता है।

फ्लाईव्हील की झोंक से पिस्टन जब फिर माथे की ओर चलता है तो दूसरा वाल्व खुल जाता है। इस वाल्व को निष्कास-वाल्व (एग्ज़ॉस्ट वाल्व) कहते हैं। इसके खुले रहने के कारण और पिस्टन के चलने के कारण, पेट्रोल के जलने से उत्पन्न सब गैसें बाहर निकल जाती हैं।

अब फ्लाईव्हील की झोंक से फिर पिस्टन वायु और पेट्रोल चूसता है (चूषण-घात), उसे संपीडित करता है (संपीडन-घात), ईंधन जलकर शक्ति उत्पन्न करता है (शक्ति-घात) और जली गैसें बाहर निकलती हैं (निष्कास-घात)। यही क्रम तब तक चालू रहता है जब तक स्विच बंद करके चिनगारियों को बंद नहीं कर दिया जाता।

इंजन को चालू करने के लिये इसकी प्रधान धुरी में हैंडिल लगाकर घुमाना पड़ता है, या बैटरी द्वारा संचालित विद्युत्मोटर से (जिसे सेल्फ़-स्टार्टर कहते हैं) उसे घुमाना पड़ता है। एक बार फ्लाईव्हील में शक्ति आ जाने पर इंजन चलने लगता है।

डीज़ल इंजनों में चूषण-घात में पिस्टन केवल हवा खींचता है, ईंधन नहीं; ईंधन को शक्ति-घात के आरंभ में सिलिंडर में सूक्ष्म नली द्वारा, पंप की सहायता से, बलपूर्वक छोड़ा जाता है और वह, संपीडित वायु के तप्त रहने के कारण, बिना चिनगारी लगे ही, जल उठता है।

यद्यपि कार्यकरण पदार्थ (ईंधन-वायु-मिश्रण) का घनत्व विभिन्न इंजनों में विभिन्न होता है, तो भी हम दाब **द** और आयतन **आ** का संबंध चित्र ६ के अनुसार निरूपित कर सकते हैं। चूषण-घात में अंतर्ग्रहण वाल्व खुला रहता है। इसलिये हम कल्पना कर सकते हैं कि सिलिंडर में दाब वही है जो वायुमंडल की है। चित्र ६ में रेखा ०-१ इस दशा को निरूपित करती है। संघनन घात में दाब और आयतन का संबंध रेखा १-२ से निरूपित है; आयतन कम होता है और दाब बढ़ती है। संघनन आइसेंट्रॉपिक होता है, अर्थात् संपीडन इतना शीघ्र संपन्न होता है कि हम मान सकते हैं कि कोई गरमी बाहर नहीं जाने पाती और भीतरी गैसों की ऊर्जा में कोई कमी नहीं होने पाती। ईंधन के जलने से दाब एकाएक बढ़ जाती है और यह रेखा २-३ से निरूपित है; आयतन उतना ही रह जाता है। अब शक्ति-घात में जलने से उत्पन्न गैसें पिस्टन को ढकेलती हुई प्रसारित होती हैं। यह रेखा ३-४ से निरूपित है। निष्कास-वाल्व के खुलने पर दाब घटकर वायुमंडलीय दाब के बराबर हो जाती है। यह रेखा ४-१ से निरूपित है। निष्कास-घात में दाब उतनी ही रह जाती है, परंतु आयतन घटता है। यह रेखा १-० से निरूपित है। इसके बाद कार्यचक्र की आवृत्ति होती है।
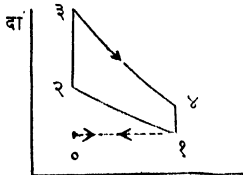
चित्र ६
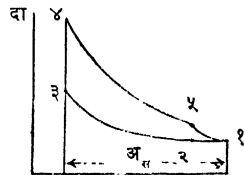
चतुर्घात इंजन में आयतन (आ) और दाब (दा) का संबंध।

चित्र ७

द्विघात इंजन में आयतन और दाब का संबंध।

द्विघात-चक्र—ऊपर बताए गए इंजन में निष्कास-घात का एकमात्र उद्देश्य है सिलिंडर को खाली करना, जिसमें ईंधन और वायु फिर एक बार चूसी जा सके। परंतु शक्ति-घात के अंतिम खंड में ही जली गैसों के निकालने का प्रबंध किया जा सकता है। जली गैसें बाहर निकालने की क्रिया को तब संमार्जन (स्कैवेंजिंग) कहते हैं। इस व्यवस्था से पिस्टन के दो घातों में ही इंजन के कार्यक्रम का एक चक्र पूरा हो जाता है। इसलिये इस चक्र को द्विघातचक्र (टू स्ट्रोक साइकिल) कहते हैं। चित्र ७ में इसकी क्रिया दिखाई गई है। बिंदु ३ पर संपीडन की क्रिया समाप्त हो चुकी है। जलने के कारण दाब बढ़ती है (रेखा ३-४)। अब जली गैसों का प्रसार होता है (जिससे प्रधान धुरी और फ्लाईव्हील में ऊर्जा पहुँचती है)। यह रेखा ४-५ से निरूपित है। पिस्टन के अपनी दौड़ के अंत तक पहुँचने के पहले ही निष्कास-वाल्व खुल जाता है और सिलिंडर में वायु, या वायु तथा ईंधन का मिश्रण, प्रवाहित कर जली गैसें निकाल दी जाती हैं (रेखा ५-१)। अब पिस्टन माथे की ओर लौटता है, परंतु निष्कास-वाल्व तुरंत नहीं बंद होता। इस विलंब का उद्देश्य यह है कि जली गैसों के निकलने के लिये अपेक्षित समय मिल जाय। चित्र के बिंदु २ पर निष्कास-वाल्व बंद होता है। तब दाब बढ़ने लगती है।

चतुर्घात-चक्र में प्रधान धुरी के दो चक्करों में एक शक्ति-घात होता है; द्विघात-चक्र के प्रत्येक चक्कर में एक शक्ति-घात होता है। तो भी नाप में अपने ही बराबर चतुर्घात-इंजन की अपेक्षा दुगुनी ऊर्जा उत्पन्न करने के बदले द्विघात-इंजन केवल ७० % से ९० % तक अधिक ऊर्जा उत्पन्न करता है। कारण ये हैं: (१) अपूर्ण संमार्जन, (२) दी हुई नाप के सिलिंडर में अपेक्षाकृत कम ही ईंधन-वायु-मिश्रण का पहुँच पाना, (३) ईंधन का अधिक मात्रा में बिना जला रह जाना, (४) संमार्जन के लिये वायु को संपीडित करने में कुछ शक्ति का व्यय हो जाना और (५) निष्कास-वाल्व के शीघ्र खुल जाने से दाब का क्षय।

एकदिश और उभयदिश-सक्रिय इंजन—अंतर्दह इंजनों में (और आगे पीछे चलनेवाले पिस्टन युक्त अन्य इंजनों में भी) दो जातियाँ होती हैं, एकदिश-सक्रिय (सिंगल-ऐक्टिंग) इंजन और उभयदिश-सक्रिय (डबल-ऐक्टिंग) इंजन। एकदिश-सक्रिय इंजनों में कार्यकरण पदार्थ (पेट्रोल, डीज़ल तेल, आदि) पिस्टन के केवल एक ओर रहता है; उभयदिश-सक्रिय इंजनों में दोनों ओर। उनमें सिलिंडर लंबा रहता है और पिस्टन के दोनों ओर के भागों में चूषण, संपीडन इत्यादि होता रहता है। अधिकांश अंतर्दह-इंजन एकदिश-सक्रिय होते हैं। उदाहरणतः, मोटरकारों के इंजन इसी प्रकार के होते हैं। परंतु बहुतेरे बड़े इंजन उभयदिश-सक्रिय बनाए जाते हैं। एकदिश-सक्रिय इंजन की अपेक्षा उभयदिश-सक्रिय इंजन में लगभग दुगुनी ऊर्जा उत्पन्न होती है और नाप में नाम-मात्र ही वृद्धि होती है। परंतु उभयदिश-सक्रिय इंजनों के निर्माण में कई यांत्रिक कठिनाइयाँ पड़ती हैं। इसलिये केवल बड़ी नाप के इंजनों में ही उभयदिश-सक्रिय इंजन लाभदायक होते हैं। दूसरी ओर, वाष्प-इंजन और वायु-संपीडक साधारणतः उभयदिश-सक्रिय बनाए जाते हैं, यद्यपि यह अनिवार्य नियम नहीं है।
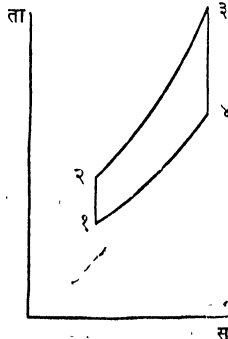
चित्र ८ (क)

आदर्श ओटो चक्र में समऊर्जा और ताप में संबंध
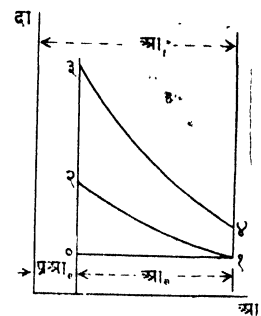
चित्र ८ (ख)

आदर्श ओटो चक्र में आयतन और दाब का संबंध

ओटो चक्र—आज के अधिकांश अंतर्दह इंजन ओटो चक्र (ओटो साइकिल) के सिद्धांत पर बनते हैं। गणना की सरलता के लिये हम कल्पना कर सकते हैं कि चक्र में दो क्रियाएँ समऊर्जिक (आइसेंट्रॉपिक) और दो स्थिर-आयतनिक (ऐट कॉन्स्टैंट वॉल्यूम) होती हैं (चित्र ८)।

कल्पित चक्र के विश्लेषण में सुगमता के लिये मान लिया जाता है कि कार्यकरण पदार्थ केवल वायु है। यह भी मान लिया जाता है कि न तो चूषण-घात होता है और न निष्कास-घात। इस विश्लेषण को वायु-प्रामाणिक विश्लेषण कहते है। वास्तविक इंजन में गैसों का निष्कास होता है। उसके बदले माना जाता है कि स्थिर आयतन पर गैसें ठंढी हो जाती हैं (चित्र ८ में रेखा ४-१)। कर्म का उतना ही होता है (घर्षण की उपेक्षा करने पर), चाहे गैसों का निष्कास किया जाय, चाहे उन्हें ठंढा किया जाय। प्रत्येक दशा में ईंधन के जलने से उत्पन्न उष्मा उतनी ही रहती है, मान लें $उ_{च}$। इसलिये चक्र के ऊर्जा-समीकरण (एनर्जी इक्वेशन), अर्थात्

$$उ_{च} - उ_{ति} = का$$

से स्पष्ट है कि तिरस्कृत ऊर्जा $उ_{ति}$ भी दोनों दशाओं में समान होगी।

विशिष्ट उष्मा (स्पेसिफ़िक हीट) को स्थिर मानने पर हम देखते है कि

$$उ_{च} = क\, वि_{आ} (ता_{३} - ता_{२}) \text{ बी॰ टी॰ यू॰;}$$

$$उ_{ति} = क\, वि_{आ} (ता_{१} - ता_{४})$$

$$= - क\, वि_{आ} (ता_{४} - ता_{१}) \text{ बी॰ टी॰ यू॰,}$$

जहाँ क पिस्टन में घुसे वायु की तौल है, $वि_{आ}$ स्थिर आयतन पर विशिष्ट उष्मा है और $ता_{१}$, $ता_{२}$, ... चित्र के विंदु १, २, ... पर ताप (टेम्परेचर) है। (बी॰ टी॰ यू॰ बोर्ड ऑव ट्रेड यूनिट के लिये लिखा गया है।) विशुद्ध (नेट) कर्म $का = \sum उ$। इसलिये

$$का = क\, वि_{आ} (ता_{३} - ता_{२}) - क\, वि_{आ} (ता_{४} - ता_{१}) \text{ बी॰टी॰ यू॰।}$$

उष्मीय दक्षता (थर्मल एफ़िशेन्सी) $द = का/उ_{च}$

$$= \frac{क\, वि_{आ} (ता_{३} - ता_{२}) - क\, वि_{आ} (ता_{४} - ता_{१})}{क\, वि_{आ} (ता_{३} - ता_{२})},$$

अर्थात्
$$द = १ - \frac{ता_{४} - ता_{१}}{ता_{३} - ता_{२}}।$$

मान लें $वि_{दा}/वि_{आ} = नि$, जहाँ नि स्थिर दाब और स्थिर आयतन पर विशिष्ट उष्माओ की निष्पत्ति है। तो

$$ता_{४}/ता_{३} = (आ_{३}/आ_{४})^{नि-१}$$

$$\text{और } ता_{१}/ता_{२} = (आ_{२}/आ_{१})^{नि-१}।$$

परतु $आ_{३} = आ_{२}$ और $आ_{४} = आ_{१}$। इसलिये

$$ता_{४} = ता_{३} \left(\frac{आ_{३}}{आ_{४}}\right)^{नि-१} = ता_{३} \left(\frac{आ_{२}}{आ_{१}}\right)^{नि-१},$$

$$\text{और } ता_{१} = ता_{२} \left(\frac{आ_{२}}{आ_{१}}\right)^{नि-१}।$$

द के मान में $ता_{४}$ और $ता_{१}$ के इन मानों को रखने पर हम देखते हैं कि

$$द = १ - \frac{ता_{३} (आ_{२}/आ_{१})^{नि-१} - ता_{२} (आ_{२}/आ_{१})^{नि-१}}{ता_{३} - ता_{२}}$$

$$= १ - (आ_{२}/आ_{१})^{नि-१}।$$

मान लें स्थिरोष्म (अडायाबैटिक) संपीडन-अनुपात, अर्थात् $आ_{१}/आ_{२}$ अक्षर ष से निरूपित किया जाता है। तो

द = ओटो चक्र की कल्पित वायु-प्रामाणिक दक्षता

$$= १ - \frac{१}{ष^{नि-१}}।$$

तुलना के लिये काल्पनिक इंजन—ऊपर की गणना से ओटो-चक्र का एक महत्वपूर्ण लक्षण प्रत्यक्ष होता है; अर्थात् नि के दिए हुए मान के लिये इस चक्र की दक्षता केवल संपीडन-अनुपात पर निर्भर है। वास्तविक इंजन में कार्यकरण पदार्थ वायु के बदले एक जटिल मिश्रण होता है और जलने में उसका संघटन बदल जाता है। इस कारण लोगों में इस बात पर मतभेद है कि कार्यकरण पदार्थ को काल्पनिक सरल इंजन में क्या माना जाय। जब नि का मान १·४ समझ लिया जाता है—और साधारण वायु के लिये यही मान उचित है—तो जो परिणाम निकलता है उसे शीतल-वायु-मानक (कोल्ड-एअर स्टैंडर्ड) कहा जाता है।

चित्र ९. संपीडन-अनुपात

परंतु वास्तविक इंजन में $वि_{आ}$, $वि_{दा}$ और नि के मान बहुत अधिक घटते बढ़ते रहते हैं, क्योंकि ताप में कई हजार डिगरी का परिवर्तन होता है। तप्त वायु के लिये नि का मान औसतन १·४ से बहुत कम होता है। जब नि का मान १·४ से कम लिया जाता है तो हमें तप्त-वायु-मानक मिलता है। नि का औसत मान ईंधन, ईंधन-वायु-अनुपात आदि पर निर्भर रहता है।
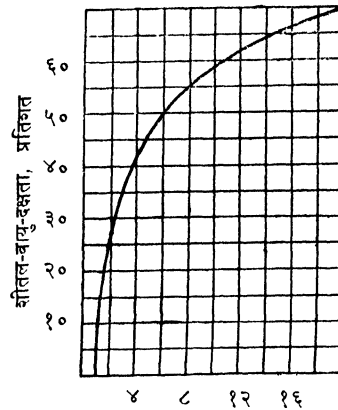
आजकल अंतर्दह इंजन का वास्तविक ईंधन-मिश्रण-प्रमाप के अनुसार विश्लेषण करना कोई असाधारण बात नही है। इस विश्लेषण में ईंधन और वायु का ऐसा मिश्रण लिया जाता है जो वास्तविक मिश्रण से मिलता जुलता है। ताप के अनुसार विशिष्ट उष्मा के घटने बढ़ने पर भी विचार कर लिया जाता है। अधिक सूक्ष्म विश्लेपण में उच्च ताप पर अणुओं के विघटन (डिसोसिएशन) पर भी ध्यान दिया जाता है।

छूट-आयतन—संपीडन-अनुपात को बदलने के लिये सिलिंडर के माथे की ओर के उस भाग की लंबाई को घटाया बढ़ाया जाता है जिसमें पिस्टन पहुँच नही पाता। इस भाग के आयतन को छूट-आयतन (क्लियरैन्स वॉल्यूम) कहते हैं। वस्तुतः, अंतर्दह इंजन में 'छूट-आयतन' दहन-कोष्ठ के उस समय के आयतन को कहते हैं जब पिस्टन माथे की ओर महत्तम दूरी तक पहुँचा रहता है, और इसमें उन सब गलियों (पैसेजेज़) का आयतन भी संमिलित कर लिया जाता है जो दोनो वाल्वो के बंद रहने पर सिलिंडर के माथे की ओर खुली रहती है। ओटो चक्र के चित्र में इसे $आ_{२}$ से सूचित किया गया है (चित्र ८ ख)।

साधारणतः, छूट-आयतन को पिस्टन द्वारा स्थानांतरित आयतन (डिसप्लेसमेण्ट) के प्रति शत के रूप में व्यंजित किया जाता है। इस प्रति शत को हम प्र से सूचित करेंगे और इसे हम प्रतिशत छूट या केवल छूट (क्लियरैंस) कहेंगे।

इस प्रकार यदि स्थानांतरित आयतन $आ_{स}$ है तो छूट $प्रआ_{स}$ होगी। संपीडन-अनुपात ष

$$= \frac{आ_{१}}{आ_{२}} = \frac{आ_{स} + प्रआ_{स}}{प्रआ_{स}} = \frac{१ + प्र}{प्र}।$$

संपीडन-अनुपात ज्ञात रहने पर इस सूत्र द्वारा छूट की गणना हो सकती है, और छूट ज्ञात रहने पर संपीडन-अनुपात की।

चित्र १०(क) डीज़ल इंजन में आयतन और ताप का संबंध।

डीज़ल चक्र—रुडोल्फ़ डीज़ल चाहता था कि वह ऐसा अंतर्दह इंजन बनाए जिसमें कोयला जले। उसने कल्पना की कि सिलिंडर में केवल वायु खींची जाय (चित्र १०(क) में रेखा ०-१); फिर वायु को पूर्णतया या

लगभग पूर्णतया सम-ऊर्जिक रीति से संपीडित किया जाय (रेखा १-२) और इस संपीडन में वायु इतनी तप्त हो जाय कि ईंधन जल उठे। इस प्रकार ईंधन को जलाने के लिये चिनगारी की आवश्यकता न रहेगी। ईंधन इस दर से सिलिंडर में प्रविष्ट किया जाय कि शक्ति-उत्पादक घात में सिलिंडर की दाब लगभग स्थिर रहे (रेखा २-३) और तब जलने से उत्पन्न गैसों को प्रसरित होने दिया जाय (रेखा ३-४) और ओटो चक्र की भाँति इसका निष्कास किया जाय (४-१ और १-०)। डीज़ल इंजन चतुर्घात और द्विघात दोनो प्रकार से चल सकता है। चाहे एक प्रकार का इंजन हो, चाहे दूसरे प्रकार का, पूर्वोक्त विधि से काम करनेवाले इंजन के वायु-प्रमाप (एअर-स्टैंडर्ड) की दक्षता उतनी ही प्राप्त होगी (चित्र ११)। जैसा ओटो चक्र के लिये पहले दिखाया गया है, निष्कासित उष्मा की गणना हम यह मानकर कर सकते
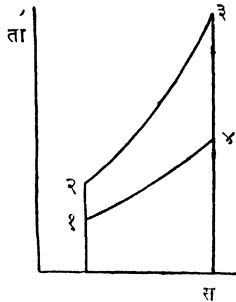
चित्र १० (ख). डीज़ल इंजन में समऊर्जा और ताप में संबंध
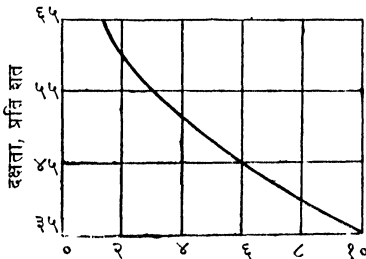
चित्र ११. ईंधन-काट-अनुपात

है कि जली गैसों को स्थिर आयतन पर ठंढा किया जाता है (रेखा ४-१, चित्र १०)। यदि विशिष्ट उष्माओं को स्थिर मानें तो हम देखते है कि

$$\text{उ}_{\text{प}} = \text{कवि}_{\text{दा}}\,(\text{ता}_3 - \text{ता}_2)\ \text{बी० टी० यू०},$$

$$\text{उ}_{\text{श}} = \text{क वि}_{\text{आ}}\,(\text{ता}_1 - \text{ता}_2) = -\text{क वि}_{\text{आ}}\,(\text{ता}_4 - \text{ता}_1)\ \text{बी० टी० यू०}$$

$$\text{का} = \Sigma\,\text{उ} = \text{क वि}_{\text{दा}}(\text{ता}_3 - \text{ता}_2) - \text{क वि}_{\text{आ}}(\text{ता}_4 - \text{ता}_1)\text{बी०टी०यू०}$$

$$\text{द} = \frac{\text{का}}{\text{उ}_{\text{प}}} = 1 - \frac{\text{वि}_{\text{आ}}(\text{ता}_4 - \text{ता}_1)}{\text{वि}_{\text{दा}}(\text{ता}_3 - \text{ता}_2)} = 1 - \frac{\text{ता}_4 - \text{ता}_1}{\text{नि}(\text{ता}_3 - \text{ता}_2)}\ ।$$

यदि ताप का लोप कर दिया जाय तो हमें इससे कहीं अधिक सुविधाजनक और ज्ञानवर्धक सूत्र प्राप्त होता है। यह मानकर कि कार्यकरण पदार्थ आदर्श गैस (पर्फ़ेक्ट गैस) है, हम ऊपर के तापों में से तीन को चौथे के पदों में व्यंजित कर सकते है। उदाहरणतः, रेखा १-२ पर

$$\text{ता}_2/\text{ता}_1 = (\text{आ}_1/\text{आ}_2)^{\text{नि}-1}\ ।$$

परंतु परिभाषा के अनुसार $\text{आ}_1/\text{आ}_2$ स्थिरोष्म संपीडन-अनुपात **ष** है। इसलिये $\text{ता}_2 = \text{ता}_1\,(\text{आ}_1/\text{आ}_2)^{\text{नि}-1} = \text{ता}_1\,\text{ष}^{\text{नि}-1}$ ।

स्थिर दाबवाली रेखा २-३ पर चार्ल्स का नियम लागू होता है और

$$\text{ता}_3/\text{ता}_2 = \text{आ}_3/\text{आ}_2\ ।$$

मान लें कि $\text{आ}_3/\text{आ}_2 = \text{ट}$, तो **ट** एक अनुपात है जिसे "ईंधन-काट-अनुपात" (फ़्युएल कट-ऑफ़ रेशियो) कहते है। अब हम देखते हैं कि

$$\text{ता}_3 = \text{ता}_2(\text{आ}_3/\text{आ}_2) = \text{ता}_1\text{ष}^{\text{नि}-1}\ \text{ट}\ ।$$

समोष्मा-क्रिया (रेखा ३-४) के लिये

$$\text{ता}_4/\text{ता}_3 = (\text{आ}_3/\text{आ}_4)^{\text{नि}-1}\ ।$$

परंतु रेखा २-३ पर $\text{आ}_3 = (\text{ता}_3/\text{ता}_2)\,\text{आ}_2 = \text{ट}\,\text{आ}_1$ ।

इन मानों तथा संपीडन-अनुपात के प्रयोग से हमें निम्नलिखित संबंध मिलता है :

$$\text{ता}_4 = \text{ता}_3(\text{आ}_3/\text{आ}_4)^{\text{नि}-1} = \text{ता}_1\text{ट}^{\text{नि}}\ ।$$

अंत में, इन मानों को दक्षतावाले व्यंजन मे रखने पर, हम देखते है कि

$$\text{द} = 1 - \frac{\text{ता}_1\,\text{ट}^{\text{नि}} - \text{ता}_1}{\text{नि}(\text{ता}_1\text{ष}^{\text{नि}-1}\,\text{ट} - \text{ता}_1\,\text{ष}^{\text{नि}-1})}$$

$$= 1 - \frac{1}{\text{ष}^{\text{नि}-1}}\left\{\frac{\text{ट}^{\text{नि}} - 1}{\text{नि}(\text{ट}-1)}\right\}$$

ध्यान दें कि डीज़ल-चक्र की दक्षता के लिये इस व्यंजक और ओटो-चक्र के लिये पहले प्राप्त व्यंजक में अंतर केवल इतना ही है कि अब वह गुणक भी है जो कोष्ठकों में लिखा हुआ है। यह गुणक सदा १ से बड़ा होता है, क्योंकि **ट** सदा १ से बड़ा होता है। इस प्रकार, किसी विशिष्ट सपीडन-अनुपात **ष** के लिये ओटो-चक्र अधिक दक्ष होता है, परंतु यदि ओटो-इंजन मे संपीडन-अनुपात बहुत अधिक रखा जाय तो इंजन में ठोकर (नॉक) उत्पन्न होने लगती है, जिसका कारण यह है कि ईंधन अपने आप, उचित समय के पहले ही, जल उठता है। दूसरी ओर, डीज़ल इंजन में केवल वायु को संपीडित किया जाता है; इसलिये संपीडन-अनुपात को बहुत बड़ा मान दिया जा सकता है। यह भी देखा जा सकता है कि **ट** के बढ़ने से कोष्ठकोंवाला गुणनखंड बढ़ता है और दक्षता घटती है। इसलिये उत्तम उष्मा-दक्षता के लिये छोटा ईंधन-काट-अनुपात वांछनीय है। ईंधन कटने का क्षण बिरले ही इंजनो में पिस्टन की दौड़ के १० प्रति शत से अधिक बाद में आता है; साधारणतः यह बहुत पहले ही आता है। अंत में, हम देखते है कि ऐसा कार्यकरण पदार्थ लाभदायक होता है जिसके लिये **नि** का मान अधिक हो, क्योंकि **नि** के बढ़ने से दक्षता बढती है। दुर्भाग्य की बात है कि वास्तविक गैसों के लिये ताप बढ़ने पर **नि** का मान घटता है।

जैसा ओटो-चक्र के लिये माना जाता है, उसी तरह डीज़ल-चक्र के लिये भी शीतल-वायु-प्रमाप में माना जाता है कि नि = १.४। तप्त-वायु-मानक के लिये इससे छोटे मान, लगभग १.३५, का प्रयोग किया जाता है। अधिक अच्छा तुलना-मानक वह है जिसमें इंजन में प्रयुक्त वास्तविक मिश्रण का विश्लेषण किया जाय और विशिष्ट ताप के घटने बढ़ने पर भी ध्यान रखा जाय।
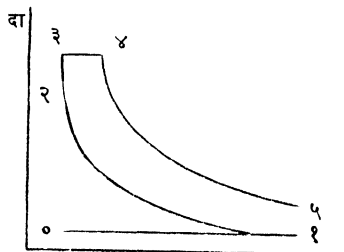
चित्र १२ (क)
द्विदह इंजन में आयतन और दाब का संबध।

द्विदह इंजन—मंद गति से चलनेवाले डीज़ल इंजन में दहन के लिये पर्याप्त समय रहता है। दहन में अनुपेक्षणीय समय लगता है और ऐसा प्रबंध किया जा सकता है कि जलती गैसों का प्रसार स्थिर दाब पर हो। परंतु आधुनिक तीव्रगति डीज़ल इंजन में पिस्टन के अपने घात के उच्चतम बिंदु तक पहुँचने के पहले ही ईंधन-प्रवृष्टि का आरंभ कर देना पड़ता है। अल्प-तीव्र-गति इंजनों में यह काम ७° से १०° पहले आरंभ किया जाता है, अर्थात् ईंधन-प्रवृष्टि आरंभ करने के क्षण से प्रधान धुरी के ७° से १०° तक घूमने के बाद पिस्टन अपनी दौड़ की ऊपरी सीमा तक पहुँचता है। आधुनिक अति-तीव्र-गति इंजनों में ईंधन-प्रवृष्टि का आरंभ ३५° से ४०° पहले तक होता
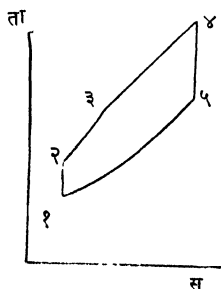
चित्र १२ (ख)
द्विदह इंजन में समऊर्जा और ताप में संबंध।

है। पहले ही ईंधन-प्रवृष्टि करने से पर्याप्त मात्रा में स्थिर आयतन पर दहन होता है, और थोड़ा ऐसा दहन भी होता है जो मोटे हिसाब से स्थिर दाब पर होता है। मंद गति से जलनेवाले ईंधनों से चालित पेट्रोल इंजनों में भी इसी प्रकार के दहन-लक्षण होते हैं। इसलिये स्वाभाविक है कि द्विदहन, (डुअल कंबश्चन) अथवा समिश्रदहन (कंपाउंड कंबश्चन) चक्रवाले इंजन बनाने का प्रस्ताव हो। ऐसे चक्र के सरलतम इंजन का कार्य चित्र १२ में दिखाया गया है। इंजन या तो द्विघात या चतुर्घात हो सकता है।

गणना द्वारा दिखाया जा सकता है कि ऐसे इंजन की दक्षता **द**

$$= १ - \frac{१}{ख^{नि-१}} \left\{ \frac{ठ\, क^{नि} - १}{ठ - १ + ठ\, नि\, (क - १)} \right\},$$

जहाँ **ख** = $वा_{३}/वा_{२}$, अर्थात् दहन के स्थिर आयतन खंड में दाब-अनुपात है। द्विदहन तप्त-वायु-प्रमाप के लिये **नि** का मान १·३४ लेना उचित होगा।

अंतर्दह इंजनों का वर्गीकरण—अंतर्दह इंजनों के वर्गीकरण की कई रीतियाँ हैं। निम्नलिखित रीतियाँ सुझाव मात्र हैं :

(१) वास्तविक इंजन की तुलना में प्रयुक्त काल्पनिक चक्र के अनुसार तीन प्रधान काल्पनिक चक्र हैं : (क) ऑटो-चक्र, (ख) डीज़ल-चक्र, (ग) द्विदह चक्र।

(२) पिस्टन के उन घातों की संख्या के अनुसार जिनसे चक्र पूर्ण होता है। इंजन चतुर्घात अथवा द्विघात हो सकता है।

(३) इंजन की एकदिश सक्रियता अथवा उभयदिश सक्रियता के अनुसार।

(४) ईंधन के अनुसार, जैसे गैस, पेट्रोल या गाढ़ा खनिज तेल।

(५) प्रयोग के अनुसार; उदाहरणतः, मोटरकार, समुद्री, स्थिर अथवा उठौआ इंजन।

(६) सिलिंडरों के क्रम, स्थिति और संख्या के अनुसार। सिलिंडरों के अक्ष ऊर्ध्वाधर, क्षैतिज अथवा तिरछे हो सकते हैं। बहुसंख्यक सिलिंडर-वाले इंजन में सिलिंडर अगल बगल रह सकते हैं; अथवा उनको एक सीध में (छोर से छोर मिलाकर) रखा जा सकता है; अथवा वे त्रिजीय (रेडियल), अर्थात् एक केंद्र से बाहर जाती हुई रश्मियों की तरह, रखे जा सकते हैं (जैसे वायुयान के अधिकांश इंजनों में); अथवा वे दो या अधिक समतलों में रह सकते हैं, जैसे वी-जाति के (V) इंजनों में।

अन्य लक्षण भी हैं जो विविध इंजनों में विभिन्न होते हैं और जिनकी आवश्यकता इंजन के वर्णन में पड़ती है। उदाहरणतः, वेगनियंत्रण की रीति, दहनकोष्ठ में ईंधन प्रविष्ट करने की रीति, दहनकोष्ठ का विशिष्ट आकार, वाल्वों का स्थान, इत्यादि।

सामर्थ्य और कर्म के एकक—जिस दर से ऊर्जा कर्म में रूपांतरित होती है उसे सामर्थ्य कहते हैं; यह समय के एक एकक में कर्म की मात्रा है। वह कर्म जो आगे पीछे चलनेवाले पिस्टन युक्त इंजन के पिस्टन पर किया जाता है, निर्दिष्ट कर्म (इंडिकेटेड वर्क) कहलाता है और निर्दिष्ट कर्म के अनुसार गणना किया हुआ सामर्थ्य निर्दिष्ट अश्व-सामर्थ्य (इंडिकेटेड हॉर्स-पावर) कहलाता है। इंजन की धुरी तक जितना कर्म पहुँचता है वह धुरी-कर्म (शैफ़्ट वर्क) अथवा ब्रेक-कर्म (ब्रेक वर्क) कहलाता है और इस कर्म के अनुसार उत्पन्न सामर्थ्य को ब्रेक-अश्वसामर्थ्य (ब्रेक हॉर्स-पावर) कहते हैं। सामर्थ्य के लिये इस देश में प्रचलित एकक अश्व-सामर्थ्य (संक्षेप में असा, अंग्रेजी में एच०पी०) और किलोवाट (संक्षेप में किल्वा, के०डब्ल्यू०) है। परिभाषा और ऊर्जा तथा समय के एककों के संबंध से

१ असा = ३३,००० फुट–पाउंड/मिनट
= ५५० फुट-पाउंड/सेकंड
= २५४५ बी० टी० यू०/घंटा
= ४२·४२ बी० टी० यू०/मिनट।

निश्चित समय तक एक अश्व-सामर्थ्य का उत्पन्न होते रहना कर्म की एक निश्चित मात्रा निरूपित करता है। उदाहरणतः १ अश्व-सामर्थ्य का १ मिनट तक काम करना = ३३,००० फुट-पाउंड। इसी प्रकार, १ असा-घंटा = २५४८ बी० टी० यू०। असा-मिनट और विशेषकर असा-घंटा बहुधा कर्म अथवा ऊर्जा नापने के लिये सुविधाजनक एकक होते हैं। एक किलोवाट पर्याप्त सूक्ष्मतापूर्वक १·३४१ अश्व-सामर्थ्य के बराबर माना जा सकता है; अथवा १ अश्व-सामर्थ्य = ०·७४६ किलोवाट। इसलिये

१ किल्वा = ३४१३ बी० टी० यू० प्रति घंटा
और १ किल्वा-घंटा = ३४१३ बी० टी० यू०।

उदाहरणतः, ऑटो-चक्र से उत्पन्न सामर्थ्य नापने के लिये हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि प्रति मिनट (अथवा अन्य किसी समय-एकक में) कितने शक्ति-घात होते हैं। मान लें प्रत्येक मिनट में **स** शक्ति-घात पूरे होते हैं (और यह आवश्यक नहीं है कि यह संख्या इंजन के चक्कर प्रति मिनट के बराबर हो)। फिर, मान लें, प्रत्येक घात में **म** फुट-पाउंड कर्म होता है। तब कर्म प्रति मिनट **स म** फुट-पाउंड प्रति मिनट है और

अश्व-सामर्थ्य = **स म**/३३,०००।

निर्धारित सामर्थ्य—किसी अंतर्दह-इंजन से कितना सामर्थ्य प्राप्त हो सकता है इसे निर्धारित करने के लिये कई आधार लिए जा सकते हैं। मोटरकार-इंजन बनानेवाले अपने विज्ञापनों में अपने इंजन का महत्तम सामर्थ्य बताते हैं, जो तब प्राप्त होता है जब समस्त परिस्थितियाँ महत्तम रूप से अनुकूल होती हैं। परंतु औद्योगिक इंजन का निर्माता अपने इंजनों का सामर्थ्य साधारणतः लगभग महत्तम उष्मीय दक्षता पर उत्पन्न होनेवाले सामर्थ्य के अनुसार निर्धारित करता है। औद्योगिक इंजनों का सामर्थ्य इसी प्रकार निर्धारित करना उत्तम भी है। कारण यह है कि यदि इंजन निर्धारित सामर्थ्य पर चलाए जायँगे तो ईंधन का खर्च न्यूनतम होगा और फिर आवश्यकता होने पर कुछ समय तक वे अधिक सामर्थ्य पर भी काम कर सकेंगे।

कर (टैक्स) लगाने के लिये सरकार यह मानकर गणना करती है कि पिस्टन पर प्रति वर्ग इंच ६७·२ पाउंड औसत कार्यकारी दाब (एम० इ० पी०) है, पिस्टन का वेग १००० फुट प्रति मिनट है और इंजन चतुर्घात-चक्र पर चलता है। इन कल्पनाओं के आधार पर अश्व-सामर्थ्य का संनिकट मान निम्नांकित सूत्र से निकाला जा सकता है :

अश्व-सामर्थ्य = $सं \times व्या^{२}/२·५$,

जहाँ **सं** सिलिंडरों की संख्या है, और **व्या** सिलिंडर का व्यास इंचों में है। ध्यान देने योग्य बात है कि इंजन-निर्माता ऐसे इंजन बनाने में सफल हुए हैं जिनका वास्तविक सामर्थ्य सरकारी कर के लिये परिकलित सामर्थ्य के दुगुने से भी अधिक होता है।

सुपरचार्जर—प्रत्येक अंतर्दह इंजन में प्राप्त सामर्थ्य इसपर निर्भर रहता है कि पिस्टन की एक दौड़ में जितना ईंधन-वायु-मिश्रण सिलिंडर में प्रविष्ट होता है उसकी तौल क्या है। इसलिये जिन कारणों से यह तौल घटेगी उनसे इंजन का सामर्थ्य घटेगा। वास्तविक इंजन में ईंधन-वायु-मिश्रण को घटाने बढ़ानेवाले पत्र से, जिसे प्ररोध (थ्रॉटल) कहते हैं, तथा अंतर्ग्रहण और निष्कास-वाल्वों से मिश्रण की गति में कुछ बाधा पड़ती है। इसलिये मिश्रण को चूसते समय सिलिंडर में दाब वायुमंडलीय दाब से कम ही रह जाती है। फलतः उतना मिश्रण नहीं घुस पाता जितना सैद्धांतिक गणना में माना जाता है। सैद्धांतिक गणना में तो मान लिया जाता है कि सिलिंडर के भीतर मिश्रण की दाब वायुमंडलीय दाब के बराबर है। फिर, सिलिंडर का भीतरी पृष्ठ, तथा मिश्रण-मार्ग अपेक्षाकृत तप्त रहते हैं। इसलिये सिलिंडर में पहुँचने पर ईंधन-मिश्रण गरम हो जाता है। आयतन-ताप-दाब नियम के अनुसार ताप बढ़ने के कारण सिलिंडर में मिश्रण की तौल उस तौल की अपेक्षा कम होती है जो ठंढे रहने पर होती। फिर, वास्तविक इंजन में सिलिंडर के छुट-स्थान (क्लियरैंस स्पेस) में, निष्कास-घात के पूर्ण हो जाने पर भी, गैसें आदि वायुमंडलीय दाब से अधिक दाब पर रह जाती हैं और चूषण घात के आरंभ में वे सिलिंडर में फैल जाती हैं। इनकी दाब वायुमंडलीय दाब के बराबर हो जाने के बाद ही चूषण का आरंभ होता है। इससे भी सिद्धांतानुसार निकली मात्रा से कम ही मिश्रण सिलिंडर में प्रवेश करता है। अंत में, इंजन समुद्रतल से जितनी ही अधिक ऊँचाई पर काम करेगा वहाँ वायुमंडलीय दाब उतनी ही कम होगी। इसलिये तौल के अनुसार जितना मिश्रण सिलिंडर में समुद्रतल पर प्रविष्ट हो

सकेगा उससे कम ही मिश्रण ऊँचे स्थलो मे प्रविष्ट हो पाएगा। आयतनीय दक्षता $\text{व}_{\text{आ}}$ के लिये निम्नलिखित सूत्र है . $\text{व}_{\text{आ}}$

$$= \frac{\text{सिलिडर मे वस्तुत प्रविष्ट मिश्रण का भार}}{\text{पिस्टन की दौड के अनुसार } \text{दा}_{\text{वा}} \text{ और } \text{ता}_{\text{वा}} \text{ पर प्रविष्ट मिश्रण का भार}}$$

जहाँ $\text{दा}_{\text{वा}}$ और $\text{ता}_{\text{वा}}$ क्रमानुसार वायुमडलीय दाब और ताप है।

अतर्दह इजन की आयतनीय दक्षता केवल ऊँचाई बढने पर ही नही घटती, वह इजन की चाल (स्पीड) बढने पर भी घटती है। इसलिये दौड-प्रतियोगिता मे प्रयुक्त इजनो और अधिक ऊँचाई पर काम करनेवाले इजनो मे बहुधा सुपरचार्जर लगा दिया जाता है। इस यत्र मे एक छोटा सा सेंट्रीफुगल पखा (ब्लोअर) रहता है जो ईंधन-वायु-मिश्रण को सिलिडर मे वायुमडलीय दाब से कुछ अधिक दाब पर ठूँस देता है। सुपरचार्जर लगाने से आयतनीय दक्षता बढ जाती है, यहाँ तक कि यह १ से अधिक भी हो जा सकती है।

संपीडन-अनुपात और ओटो-इंजनो में अधिस्फोटन—ओटो-चक्र के विश्लेषण मे यह दिखाया जा चुका है कि सपीडन-अनुपात बढाने से दक्षता बढती है। वास्तविक इजनो मे भी यही प्रवृत्ति दिखाई पडती है। ओटो-चक्र के अनुसार काम करनेवाले इजनो मे चूषण-घात मे वायु के साथ ही ईंधन भी घुसता है और इसलिये सपीडन-घात मे भी वह वर्तमान रहता है। जब सपीडन-अनुपात बहुत बडा रखा जाता है तो सपीडन के एक नियत मात्रा से अधिक होते ही ईंधन-मिश्रण मे अधिस्फोट होता है, अर्थात् ईधन स्वय, बिना स्पार्क प्लग से चिनगारी आए, जल उठता है। फिर, यदि ऐसा न भी हुआ, तो स्पार्क-प्लग की चिनगारी से जलना आरभ होने पर सपीडन-लहरे उठती है, जो चिनगारी के पास जलते हुए मिश्रण के आगे आगे चलती है। इन सपीडन-लहरो के कारण चिनगारी से दूर का मिश्रण स्वय जल उठ सकता है, जो अवाछनीय है। फिर, सिलिडर मे कही पेट्रोल आदि के जले अवशेष के दहकते रहने से, अथवा पिस्टन के भीतर बढ़े किसी अवयव की तप्त नोक से भी ईंधन-मिश्रण समय के पहले जल सकता है। जब कभी सपीडित मिश्रण समय से पहले जल उठता है तो उसका यह जलना अधिस्फोटक (डिटोनेटिग) होता है। यह कान से सुनाई पडता है—जान पडता है कि किसी धातु को हथौडे से ठोका जा रहा है। शीघ्रतापूर्वक जलनेवाले ईधनो मे अधिस्फोट की आशका अधिक रहती है। पिछली कुछ दशाब्दियो मे कई नवीन खोजे हुई है, जिनसे बिना अधिस्फोट हुए सपीडन-अनुपात अधिक बडा रखा जा सकता है। उदाहरणत, (१) ऐसे ईधन बनाए गए है जो अधिक धीरे धीरे जलते है, जसे बेजोल और पेट्रोल के मिश्रण, पॉलीमेराइज किया हुआ पेट्रोल और ऐसा पेट्रोल जिसमे थोडी मात्रा मे टेट्रा-एथिल-लेड मिला रहता है, (२) दहन-कक्ष के उस भाग को जो पिस्टन के ऊपर रहता है, ऐसा नवीन रूप दिया गया है कि अधिस्फोट कम हो, (३) दहन-कक्ष से उष्मा के निकलने का वेग बढा दिया गया है। यह काम इजन के माथे को पहले से पतला और अधिक दृढ धातुओ का (जैसे ऐल्युमिनियम की सकर धातु या काँसे का) बनाया गया है, जो उष्मा के अधिक अच्छे चालक (कडक्टर) है। साथ ही पिस्टन भी ऐसे पदार्थों का बनता है जो उष्मा के अच्छे चालक होते है, (४) दहन-कक्ष के भीतरी भाग को अधिक चिकना बनाया जाता है, जिससे कोई ऐसे दाने नही रहने पाते जो तप्त होकर लाल हो जायँ और ईंधन-मिश्रण का जलना आरभ कर दें, तथा दहनकक्ष के आसपास के भागो को (जैसे स्पार्क प्लग, वाल्व-मुड आदि को) अधिक ठढा रखने का प्रबध किया गया है। सन् १९२०-२५ के लगभग मोटरकार के इजनो मे सपीडन-अनुपात लगभग ४ ५ रहता था, कभी कभी तो यह ३ ५ ही रहता था। वर्तमान समय मे यह अनुपात ६ ५ या कुछ अधिक रहता है, कुछ इजनो मे तो यह अनुपात ७ ५ तक होता है।

काँसे (ब्रॉञ्ज) के माथे बनाने से सपीडन-अनुपात के बहुत अधिक रहने पर भी इजन बिना अधिस्फोट के चलते है, इसका कारण यह है कि काँसा उष्मा का बहुत अच्छा चालक है। इसलिये उष्मा सिलिडर से शीघ्रता से दूर होती रहती है। परतु, बहुत शीघ्रता से उष्मा का दूर होना भी अवगुण है, क्योकि इससे अधिक सपीडन के उद्देश्य की पूर्ति नही हो पाती। हमारा उद्देश्य सदा यह रहता है कि उष्मीय दक्षता बढे। परतु कुछ इजनो मे इतनी उष्मा इधर उधर चली जाती है कि उष्मीय दक्षता बढने के बदले घट जाती है। ऐल्युमिनियम के माथे मे भी कभी कभी यही दोष देखा जाता है।

अंतर्दह इंजनों की त्वरा—इजनो की त्वरा (चाल, स्पीड) साधारणत चक्कर प्रति मिनट (च० प्र० मि०, आर० पी० एम०, रेवोल्यूशस पर मिनट) में बताई जाती है। मद-गति, मध्यम-गति, तीव्र-गति इजनो का उल्लेख किया तो जाता है परतु यह निर्धारित नही है कि कितने चक्कर प्रति मिनट रहने पर इजन को इनमे से किस विशेष वर्ग मे रखा जाय। इसके अतिरिक्त तीव्र-गति वाष्प-इजन मे जितने चक्कर प्रति मिनट होते है, वे अत्यत मद-गति अतर्दह इजन के चक्कर प्रति मिनट के बराबर होते है। औद्योगिक मोटरकार इजनो मे प्रति मिनट ४००० या कुछ अधिक चक्कर का वेग रहता है, परतु दौड की प्रतियोगिता के लिये बने इजनो मे चक्कर प्रति मिनट ६००० के आसपास होते है। वे डीजल इजन जिनमे चक्कर प्रति मिनट लगभग १००० होते है तीव्र-गति डीजल कहलाते है। बडी नाप के सिलिडरवाले इजन छोटे सिलिडरोवाले इजनो की अपेक्षा मद गति से चलते है, क्योकि बडे पिस्टन भारी होते है और उनके चलन की दिशा बदलते समय इतना झटका लगता हे कि उसे सँभालना कठिन होता है।

पिस्टन का वेग उसका औसत वेग होता है और उसकी गणना निम्नाकित सूत्र से होती है

पिस्टन का औसत वेग = २ × पिस्टन की दौड × चक्कर प्रति मिनट। पिस्टन का वेग भी इजनो की गति की सीमा निर्धारित करता है, क्योकि पिस्टन का वेग बहुत बढाने से इजन घिसकर शीघ्र नष्ट हो जाता है। मोटरकार के इजनो मे पिस्टन-वेग अब २,८०० फुट प्रति मिनट या इससे भी कुछ अधिक रखा जाता है। डीजल इजनो मे पिस्टन का औसत वेग १,००० और १,२०० फुट प्रति मिनट के बीच रहता है।

इजन की नाप—इजनो की नाप सिलिडर के व्यास और पिस्टन की दौड से बताई जाती है। उदाहरणत, १२ × १८ इच के इजन का अर्थ यह है कि सिलिडर का व्यास १२ इच है और पिस्टन की दौड १८ इच है।

आधुनिक मोटरकार इजनो मे अपने उसी नाप के बीस तीस वर्ष पहले के पूर्वजो की अपेक्षा कही अधिक सामर्थ्य रहता है। सामर्थ्य निम्नलिखित कारणो से बढा है (१) वाल्वो का अधिक ऊँचाई तक उठना और अतर्ग्रहण छिद्र का बडा होना, जिससे ईधन-मिश्रण के आने मे कम द्रव-घर्षण उत्पन्न होता है और इसलिये सिलिडर मे घुसनेवाले मिश्रण की तौल अधिक होती है, (२) निष्कासक-वाल्व का कुछ शीघ्र खुल जाना, जिससे पिस्टन पर उल्टी दाब नही पडती और ऋण कर्म नही करना पडता, (३) निष्कासक वाल्व का कुछ देर मे बद होना, जिसके कारण जली गैसो को बाहर निकलने के लिये पर्याप्त समय मिल जाता है और वे अपने ही झोके से सिलिडर से लगभग पूर्णत निकल जाती है, (४) अतर्ग्रहण-वाल्व का कुछ बाद मे बद होना, जिससे सपीडन-घात के पश्चात् पिस्टन के चल पडने पर भी आनेवाला ईंधन-मिश्रण अपनी झोक (इनशिया) से आता रहता है और इस प्रकार तीव्र-गति इजनो मे पहले की अपेक्षा अब अधिक मिश्रण सिलिडरो मे घुस पाता है, (५) अधिक अच्छी अतर्ग्रहण नलिकाएँ, जिनसे विविध सिलिडरो मे अधिक बराबरी से ईंधन-मिश्रण पहुँचता है और पहले की अपेक्षा प्रत्येक सिलिडर मे अधिक मिश्रण पहुँचता है, (६) चल भागो का बढिया आसजन (फिट) और अधिक अच्छी यात्रिक रचना, जिससे घर्षण और घरघराहट दोनो मे कमी होती है, (७) अधिक तीव्रगति इजन, जिसका बनना अधिक शुद्ध निर्माण और चल भागो के अधिक उत्तम सतुलन से सभव हो सका है।

ओटो-इंजनों में वायु-ईंधन-मिश्रण—सिद्धातत, एक पाउड पेट्रोल को पूर्णतया जलाने के लिये कम से कम लगभग १५ पाउड हवा चाहिए। परतु यदि ठीक १५ पाउड ही हवा दी जाय तो सब पेट्रोल जल नही पाता और कुछ पेट्रोल कच्चा ही या अधजले रूप मे इजन के बाहर निकल जाता है। पूर्ण दहन के लिये अधिक वायु की आवश्यकता होती है। प्रयोगो से देखा गया है कि सिद्धातानुसार आवश्यक मात्रा से अधिक मात्रा मे वायु देने पर एक सीमा तक दक्षता बढती है, फिर घटने लगती है। साधारणत प्रत्येक जाति के पेट्रोल इजन मे एक पाउड पेट्रोल के लिये १६ से १९ पाउड तक वायु देने पर महत्तम दक्षता आती है। जब वायु-ईधन-अनुपात १९ से बढता है तो दक्षता शीघ्रता से घटती है और इजन का सामर्थ्य घटता है। दूसरे शब्दो में, अब मिश्रण बहुत पतला हो गया है। यदि मिश्रण को और पतला किया जाय तो मिश्रण जल ही नही पाता। दूसरी ओर, १५ . १ से

अधिक समृद्ध मिश्रण से अधिक सामर्थ्य प्राप्त होता है। महत्तम सामर्थ्य पेट्रोल में १२ या १३ गुनी वायु मिलाने पर प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि मोटरकार के कारब्युरेटर को महत्तम दक्षता और महत्तम सामर्थ्य के लिये समंजित करना दो विभिन्न बातें हैं। इसके अतिरिक्त, रुकी गाड़ी में इंजन के मंद गति से और बिना झटका खाए चलने के लिये मिश्रण को पर्याप्त समृद्ध होना चाहिए। इसके दो कारण हैं : (१) मंदगति से चलने के लिये पेट्रोल और वायु दोनों को बहुत कुछ रोक दिया जाता है, परंतु पिस्टन पहले के ही समान चूसने की चेष्टा करता रहता है। इसलिये अंतर्ग्रहण तंत्र में लगभग १७ इंच पारे का शून्य रहता है; अतः सूक्ष्म संधियों द्वारा वायु खिंच आती है, जिससे मिश्रण क्षीण हो जाता है; और

चित्र १३. सरल कारब्युरेटर

कारब्युरेटर का काम है पेट्रोल को झीसी के रूप में बदलना और वायु में उचित मात्रा में इस झीसी को मिलाना; १. बाहु, जो अधिक पेट्रोल आने पर पेट्रोल में तैरती हुई डिब्बी के उठने से पेट्रोल के आने का मार्ग बंद कर देती है; २. कारब्युरेटर में पेट्रोल आने का मार्ग; ३. इंजन में पेट्रोल जाने के मार्ग को न्यूनाधिक खोलने का पेच; ४. वायु आने का द्वार; ५. अतिरिक्त वायु आने का मार्ग; ६. इंजन में पेट्रोल-वायु-मिश्रण घुसने का मार्ग; ७. थ्रॉटल-पट्ट (इसी के न्यूनाधिक घूमने से इंजन में न्यूनाधिक मात्रा में पेट्रोल मिश्रण घुसता है और इंजन की चाल बदलती है); ८. तुंड (नॉजल); ९. कारब्युरेटर का उदर (इसी में पेट्रोल नियंत्रित मात्रा में पहले पहल आता है)।
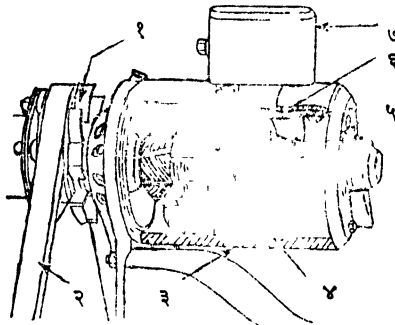
चित्र १४. विद्युज्जनक (जेनरेटर)

१. विद्युज्जनक को ठंढा रखने के लिये वायु खींचनेवाली पंखी; २. पट्टा (बेल्ट); ३. विद्युज्जनक की बाहरी खोल (केसिंग); ४. क्षेत्र कुंडली (फील्ड कॉयल); ५. कॉम्यटेटर; ६. आरमेचर; ७. वोल्टता नियंत्रक।

(२) वायु-ईंधन-मिश्रण इतनी कम मात्रा में आता है कि वह जली गैसों के अवशेष से, जो सिलिंडर में कुछ न कुछ रह ही जाता है, अपेक्षाकृत बहुत क्षीण हो जाता है।

कारब्युरेटर—पेट्रोल आदि उड़नशील ईंधनवाले इंजनों में एक कारब्युरेटर रहता है, जिसका कार्य यह है कि यथासंभव प्रत्येक वेग पर और प्रत्येक भार (लोड) पर वायु और ईंधन का उचित मिश्रण दे। एक से अधिक सिलिंडरवाले इंजनों में यह आवश्यक है कि कारब्युरेटर ईंधन को अत्यंत महीन झीसी (फुहार) के रूप में कर दे और इसे यंत्र में से होकर जानेवाली वायु में खूब अच्छी तरह मिला दे; क्योंकि यदि बहुमुखी नली (मैनीफ़ोल्ड) में किसी मुख पर पहुँचने के पहले ही ईंधन-वायु-मिश्रण
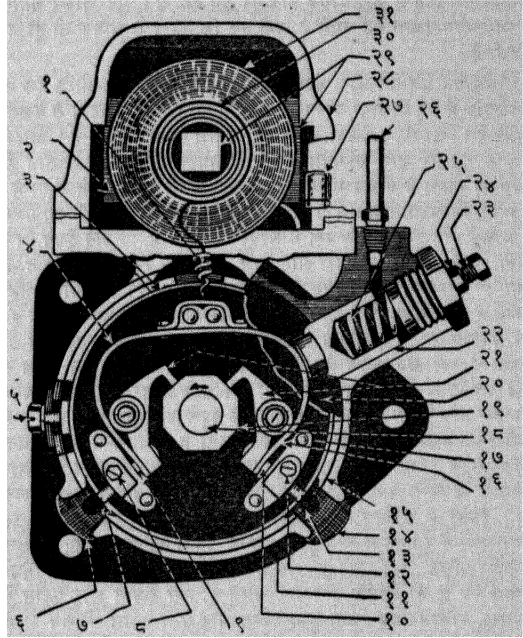
चित्र १५. वितरक (डिस्ट्रिब्यूटर)

वितरक का कार्य है उचित समयों पर विद्युद्धारा को काट देना। इससे स्पार्क-प्लगों में पारी पारी से चिनगारी उत्पन्न होती है। १. प्राथमिक कुंडली (प्राइमरी) का संस्पर्श (कॉनटैक्ट); २. उच्च वोल्टतावाले बुरुश से संबद्ध सिरा; ३. स्थिरकारी छल्ला (लॉकिंग रिंग); ४. धारा तोड़क बाहु की कमानी; ५. चिनगारी का समय बदलनेवाला पेच; ६. रबड़ की डाट; ७. तोड़क बिंदुओं के बीच अंतर घटाने-बढ़ानेवाला पेच; ८. पूर्वोक्त पेच को स्थिर करने का पेच (लॉक स्क्रू); ९. धारातोड़क बिंदु (ब्रेकर प्वाइंट्स); १०. धारातोड़क बिंदु; ११. वितरक-उदर; १२. अग्रोक्त पेच को स्थिर करने का पेच; १३. तोड़क बिंदुओं के बीच अंतर घटाने-बढानेवाला पेच; १४. रबड़ की डाट; १५. चिनगारी का समय बदलनेवाले पेच का घर; १६. तोड़क बाहु से संबद्ध विद्युत्-चालक; १७. तोड़क पट्ट (ब्रेकर प्लेट); १८. वितरक-धुरी; १९. कैम; २०. नियंत्रक पट्ट (गवर्नर प्लेट); २१. तोड़क बाहु; २२. वैक्युअम-ब्रेक का पिस्टन; २३. वैक्युअम-ब्रेक-नियंत्रक पेच; २४. स्थिरकारी ढिबरी; २५. वैक्युअम ब्रेक की कमानी; २६. अंतर्ग्राही बहुमुखी (इनटेक मैनीफोल्ड) को जानेवाली वैक्युअम नली; २७. सिरे की ढिबरी (टर्मिनल नट); २८. ज्वालक कुंडली (इगनिशन कॉयल); २९. कुंडली का हीर (कोर); ३०. प्राथमिक लपेटें (तार); ३१. द्वैतीयिक लपेटें।

सर्वत्र समान न हो जायगा तो उस मुख से संबद्ध सिलिंडर में अन्य सिलिंडरों की अपेक्षा भिन्न मात्रा में और भिन्न मेल का मिश्रण पहुँचेगा।

चित्र १३ में एक सरल कारब्युरेटर दिखाया गया है। इस यंत्र में लगी खोखली डिबिया (जिसे फ़्लोट कहते हैं) पेट्रोल कक्ष में पेट्रोल को सदा एक विशेष ऊँचाई तक ही आने देती है। ज्योंही कुछ पेट्रोल खर्च हो जाता है, त्योंही फ्लोट नीचे गिरता है। इससे पेट्रोल के मार्ग को बंद करनेवाली सुई उठ जाती है और नवीन पेट्रोल घुस आता है। इससे फ्लोट ऊपर उठता है और पेट्रोल का मार्ग बंद हो जाता है। इस प्रकार पेट्रोल का ऊपरी तल सदा बगलवाले कक्ष में लगे तुड (नॉज़ल) के मुहँ की ऊँचाई तक बना रहता है और तुड में मुहँ तक सदा पेट्रोल भरा रहता है। जब पिस्टन अपने चूषण-घात के अवसर पर वायु चूसता है तब वायु बड़े वेग से तुड के चारों ओर से होती हुई सिलिडर में जाती है। इस वेग के कारण वह तुड से पेट्रोल को चूसती हुई जाती है। तुड के पतले मुख से पेट्रोल इस वेग से निकलता है कि वह झींसी के रूप में परिवर्तित होकर वायु में मिल जाता है।

मोटरकारें कभी अत्यंत वेग से चलती हैं, कभी धीरे धीरे। एक ही तुंड रहने से अधिक वेग पर पेट्रोल-वायु-मिश्रण अधिक समृद्ध होने लगता है। इसलिये कारब्युरेटर में एक वाल्व रहता है जो अधिक चूषण से खुल जाता है और उसमें से भी वायु आने लगती है। यह मिश्रण में मिलकर उसे समृद्ध नही होने देती। स्थिर गति से चलनेवाले इंजनों के कारब्युरेटर में इस कपाट (वाल्व) की आवश्यकता नही पड़ती।

ऊपर बताए गए वाल्व के रहने पर भी ईंधन-वायु-मिश्रण सब वेगो पर वांछित रीति का नहीं बन पाता। लोगों ने इस संबंध में हजारो अनुसंधान किए हैं। इन सबमें निम्नलिखित उपायों में से किसी एक या अधिक उपायो का सहारा लिया जाता है: (१) कोई प्रबंध जिससे अधिक वेग से वायुमार्ग में अतिरिक्त वायु घुस सके; (२) कम वेग पर अतिरिक्त ईंधन घुस सके; (३) वायुमार्ग का व्यास घट बढ़ सके, जिससे वायु का वेग बढ़ और घट सके। कई सतोषजनक कारब्युरेटरो में एक से अधिक तुड रहते हैं।

दहन की रीतियाँ—जब पहले गैस इंजन बने तब दहन के लिये उचित समय पर सिलिंडर के संपीडन-खंड और एक ऐसे छोटे से कक्ष के बीच का कपाट खुल जाता था जिसमें खुली लौ (जलती बत्ती) रहती थी। यह रीति यात्रिक दृष्टिकोण से जटिल थी और साथ ही इसमें अन्य अवगुण भी थे। इसलिये यह रीति शीघ्र ही छोड़ दी गई। अन्य रीतियाँ ये है: (१) तप्त-नलिका-दहन; (२) संपीडन की उष्मा से स्वयंदहन (जिसमे चाहे तप्त कक्ष की सहायता ली जाती हो, चाहे नही); (३) विद्युद्दहन।

उन इंजनों में जिनमें पेट्रोल से भारी ईंधनों का उपयोग होता है, संपीडन से उत्पन्न ताप द्वारा स्वयं दहन होता है, परंतु अधिक उड़नशील द्रव ईंधनों और गैसीय ईंधनो के लिये यह रीति काम नही देती, क्योंकि ठीक क्षण पर उन्हे जलाने में कठिनाई पड़ती है। ऐसे ईंधनों के लिये विद्युद्दहन ही सबसे अधिक संतोषजनक होता है।

विद्युद्दहन—सब विद्युद्दहन-प्रणालियो में (संभवत एक-आध को छोड़कर) या तो छू-और-छूट (मेक-ऐंड-ब्रेक), या कूर्दन-स्फुल्लिग (जंप-स्पार्क) रीति अपनाई जाती है। इन शब्दों के बदले बहुधा निम्न आतति (लो टेन्शन) और उच्च आतति (हाई टेन्शन) शब्दों का प्रयोग किया किया जाता है।

छू-और-छूट रीति में दो विद्युदग्रों (एलेक्ट्रोडों) को दहन-कक्ष में इस प्रबंध के साथ रखा जाता है कि वे एक दूसरे को छूते रहें, परंतु उचित समय पर एक दूसरे से एकाएक पृथक् हो जायँ। पृथक् होते समय उनके बीच चिनगारी छूटती है जिससे वायु-ईंधन-मिश्रण जल उठता है।

कूर्दन-स्फुल्लिग (अर्थात् उच्च आतति) रीति में सिलिंडर के भीतर दो तार होते हैं जिनके सिरों के बीच थोड़ा सा ही अंतर रहता है। उचित समय पर इन तारो में उच्च आतति की बिजली आती है और तब एक सिरे से दूसरे तक चिनगारी कूदती है। इस रीति में अग्रलिखित अवयवों की आवश्यकता पड़ती है: कम वोल्ट का विद्युत्-उत्पादक (साधारणतः ६ वोल्ट या १२ वोल्ट की बैटरी, जिसमें बिजली भरी जा सकती है, और एक छोटा डायनमो (चित्र १४) जो पूर्वोक्त बैटरी में बिजली भरा करे); एक घूमता हुआ वितरक (डिस्ट्रिब्यूटर), जो उचित समयों पर (और उचित समयों तक) बिजली को दाहक कुंडली में जाने देता है (चित्र १५); एक विद्युत् संघनित्र (कंडेन्सर); एक प्रज्वलन-कुंडली (इग्निशनकॉयल),
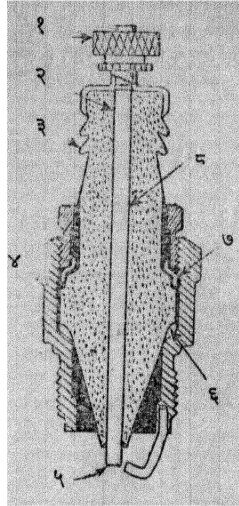
चित्र १६. स्पार्क प्लग

स्पार्क प्लग का काम है उचित क्षणो पर चिनगारी देना, जिससे पेट्रोल-वायु-मिश्रण ठीक समयों पर जल उठे। १. सिरा, जहाँ वितरक से आया तार कसा जाता है; २. केंद्रीय तार; ३. चीनी मिट्टी का विद्युत्-अवरोधक; ४. उदर; ५. केंद्रीय तार का सिरा, जहाँ से चिनगारी निकलती है; ६. ताँबे का छल्ला; ७. ताँबे का छल्ला; ८. चारो ओर से अवरुद्ध केंद्रीय तार।
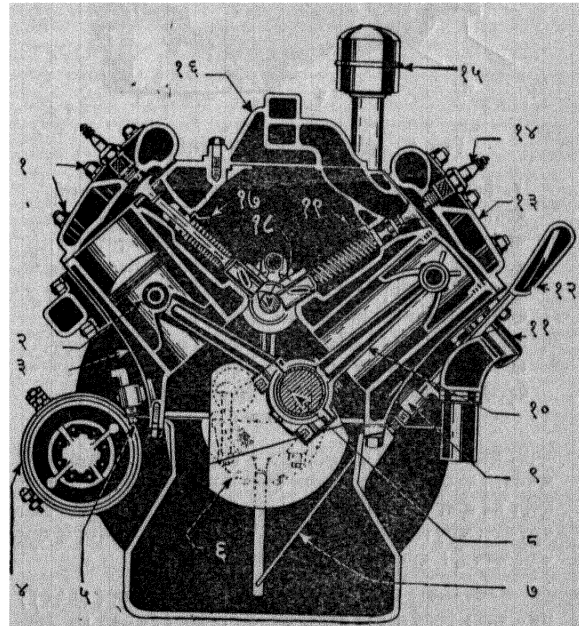
चित्र १७. फ़ोर्ड वी-एट इंजन की अनुप्रस्थ काट

१. ढक्कन कसने की ढिबरी; २. पिस्टन; ३. सिलिंडर की खोल; ४. इंजन चालू करनेवाला मोटर (स्टार्टर); ५. गंदा पानी निकालने की टोंटी; ६. क्रैंक धुरी पर जड़ा संतोलक भार (रकाउंट वेट); ७. तैलमापी; ८. क्रैंक धुरी; ९. गंदा पानी निकालने की टोंटी; १०. संबद्धक दंड; ११. निष्कास बहुमुखी; १२. तैलमापी; १३. इंजन का माथा; १४. स्पार्क प्लग; १५. तेल का छनना; १६. ढक्कन; १७. वाल्व-स्थापक (वाल्व रिटेनर); १८. कैम धुरी १९. वाल्व-स्थापक।

जिसमें प्राथमिक और परवर्ती तार लिपटे रहते हैं (चित्र १५) और प्रत्यक सिलिडर के लिये एक स्पार्क प्लग (चित्र १६)।

उपसंहार—डीज़ल इंजनों के ब्योरे अन्यत्र मिलेंगे (देखें डीज़ल इंजन)। उन उद्योगों में जहाँ इंजन की आवश्यकता केवल विशेष ऋतुओं में पड़ती है, जैसे कपास ओटने, आटा पीसने, ईख पेरने, बर्फ बनाने आदि के लिये, अंतर्दह इंजन विशेष उपयोगी होते हैं, क्योंकि जब ये इंजन बंद रहते हैं तब
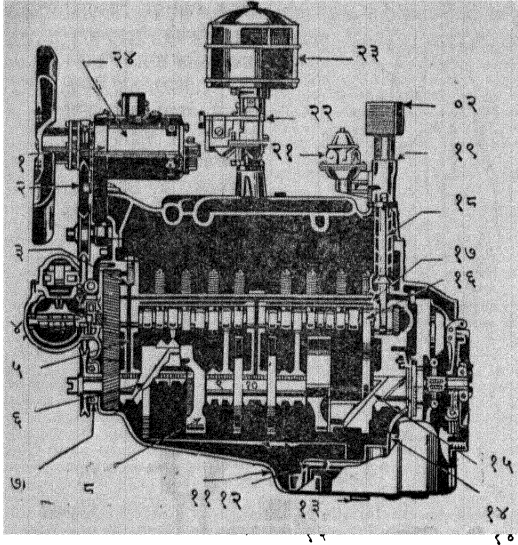
चित्र १८. फ़ोर्ड वी-एट इंजन की अनुदैर्घ्य काट

१. विद्युज्जनक (जेनरेटर) का आधार; २. पंखा चलानेवाला पट्टा (बेल्ट); ३. तैल दाब के अधिक होने पर खुलनेवाला वाल्व; ४. वितरक; ५. प्रधान धुरी तक तेल पहुँचानेवाला मार्ग; ६. संबद्धक दंड तक तेल पहुँचानेवाला मार्ग; ७. पैकिंग; ८. क्रैंक धुरी; ९-१०. तेल; ११. तेल का कड़ाहा; १२. तेल चूसनेवाली नली; १३. गंदा तेल निकालने की डाट; १४. तेल का पंप; १५. तेल का मार्ग; १६. कैमधुरी; १७. प्रधान धुरी; १८. श्वास-नलिका; १९. तेल का छनना; २०. वायु-आवागमन-मुख; २१. पेट्रोल पंप; २२. कारब्युरेटर; २३. वायु-स्वच्छकारी; २४. विद्युज्जनक (जेनरेटर)।

उनकी देखभाल पर बहुत कम व्यय होता है। इसी कारण वाष्प-इंजनों से चलनेवाले कारखानों में बहुधा फालतू इंजन डीज़ल इंजन होते हैं। इनका प्रयोग तब होता है जब वाष्प इंजन कभी बिगड़ जाता है। अंतर्दह इंजन बहुत शीघ्र चालू किए जा सकते हैं और शीघ्र ही अपने पूरे सामर्थ्य से काम करने लगते हैं। वाष्प-इंजनों में ये गुण नहीं होते।

सं०ग्रं०—डी० आर० पाई: दि इंटर्नल कंबश्चन एंजिन (१९३१); एच० आर० रिकर्ड स: दि इंटर्नल कंबश्चन एंजिन (१९२३)।

[न० ला० गु०]

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय

संयुक्त राष्ट्रसंघ का न्याय संबंधी प्रमुख अंग है जिसकी स्थापना संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र के अंतर्गत हुई है। इसका उद्घाटन-अधिवेशन १८ अप्रल, १९४६ ई० को हुआ था। इसके निमित्त एक विशेष संविधि-'स्टैच्यूट ऑव इंटरनेशनल कोर्ट ऑव जस्टिस'-बनाई गई और इस न्यायालय का कार्यसंचालन उसी संविधि के नियमों के अनुसार होता है।

इतिहास—स्थायी अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय की कल्पना उतनी ही सनातन है जितनी अंतर्राष्ट्रीय विधि, परंतु कल्पना के फलीभूत होने का काल वर्तमान शताब्दी से अधिक प्राचीन नहीं है। सन् १८९९ ई० में, हेग में, प्रथम शांतिसंमेलन हुआ और उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप स्थायी विवाचन न्यायालय की स्थापना हुई। सन् १९०७ ई० में द्वितीय शांतिसंमेलन हुआ और अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार न्यायालय (इंटरनेशनल प्राइज़ कोर्ट) का सृजन हुआ जिससे अंतर्राष्ट्रीय न्यायप्रशासन की कार्यप्रणाली तथा गतिविधि में विशेष प्रगति हुई। तदुपरांत ३० जनवरी, १९२२ ई० को लीग ऑव नेशंस के अभिसमय के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का विधिवत् उद्घाटन हुआ जिसका कार्यकाल राष्ट्रसंघ (लीग ऑव नेशंस्) के जीवनकाल तक रहा। अंत में वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना संयुक्त राष्ट्रसंघ की अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय-संविधि के अंतर्गत हुई।

साधारण—अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में न्यायाधीशों की कुल संख्या पंद्रह है, गणपूर्ति संख्या नौ है। न्यायाधीशों की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होती है। पद धारण करने की कालावधि नौ वर्ष है। न्यायालय द्वारा सभापति तथा उपसभापति का निर्वाचन और रजिस्ट्रार की नियुक्ति होती है। न्यायालय का स्थान हेग में है और इसका अधिवेशन छुट्टियों को छोड़ सदा चालू रहता है। न्यायालय के प्रशासनव्यय का भार संयुक्त राष्ट्रसंघ पर है। (देखिए, अंतर्राष्ट्रीय न्यायालयसंविधि-अनुच्छेद २—३३)।

क्षेत्राधिकार—अंतर्राष्ट्रीय न्यायालयसंविधि में संमिलित समस्त राज्य अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में वाद प्रस्तुत कर सकते हैं। इसका क्षेत्राधिकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र अथवा विभिन्न संधियों तथा अभिसमयों में परिगणित समस्त मामलों पर है। अंतर्राष्ट्रीय न्यायालयसंविधि में संमिलित कोई राज्य किसी भी समय बिना किसी विशेष प्रसंविदा के किसी ऐसे अन्य राज्य के संबंध में, जो इसके लिये सहमत हो, यह घोषित कर सकता है कि वह न्यायालय के क्षेत्राधिकार को अनिवार्य रूप में स्वीकार करता है। उसके क्षेत्राधिकार का विस्तार उन समस्त विवादों पर है जिनका संबंध संधिनिर्वचन, अंतर्राष्ट्रीय-विधि-प्रश्न, अंतर्राष्ट्रीय आभार का उल्लंघन तथा उसकी क्षतिपूर्ति के प्रकार एवं सीमा से है। (अंतर्राष्ट्रीय न्यायालयसंविधि, अनुच्छेद ३४—३८)।

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय को परामर्श देने का क्षेत्राधिकार भी प्राप्त है। वह किसी ऐसे पक्ष की प्रार्थना पर, जो इसका अधिकारी है, किसी भी विधिक प्रश्न पर अपनी संमति दे सकता है। (अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय-संविधि, अनुच्छेद ६५—६८)।

प्रक्रिया—अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय की प्राधिकृत भाषाएँ फ्रेंच तथा अंग्रेजी हैं। विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व अभिकर्ता द्वारा होता है; वकीलों की भी सहायता ली जा सकती है। न्यायालय में मामलों की सुनवाई सार्वजनिक रूप से तब तक होती है जब तक न्यायालय का आदेश अन्यथा न हो। सभी प्रश्नों का निर्णय न्यायाधीशों के बहुमत से होता है। सभापति को निर्णायक मत देने का अधिकार है। न्यायालय का निर्णय अंतिम होता है, उससे अपील नहीं हो सकती किंतु कुछ मामलों में पुनर्विचार हो सकता है। (अंतर्राष्ट्रीय न्यायालयसंविधि, अनुच्छेद ३९—६४)।

सं०ग्रं०—जे० डब्ल्यू० गारनर : टैगोर लॉ लेक्चर्स; के० आर० आर० शास्त्री: स्टडीज़ इन इंटरनेशनल लॉ; स्टैच्यूट ऑव इंटरनेशनल कोर्ट ऑव जस्टिस।

[श्री० अ०]

अंतर्राष्ट्रीय विधि, निजी

परिभाषा—निजी अंतर्राष्ट्रीय कानून से तात्पर्य उन नियमों से है जो किसी राज्य द्वारा ऐसे वादों का निर्णय करने के लिये चुने जाते हैं जिनमें कोई विदेशी तत्व होता है। इन नियमों का प्रयोग इस प्रकार के वादविषयों के निर्णय में होता है जिनका प्रभाव किसी ऐसे तथ्य, घटना अथवा संव्यवहार पर पड़ता है जो किसी अन्यदेशीय विधिप्रणाली से इस प्रकार संबद्ध है कि उस प्रणाली का अवलंबन आवश्यक हो जाता है।

अंतर्राष्ट्रीय कानून, निजी एवं सार्वजनिक—"निजी अंतर्राष्ट्रीय कानून" नाम से ऐसा बोध होता है कि यह विषय अंतर्राष्ट्रीय कानून की

ही शाखा है। परतु वस्तुत ऐसा है नही। निजी और सार्वजनिक अतर्राष्ट्रीय कानून में किसी प्रकार की पारस्परिकता नही है।

इतिहास—रोमन साम्राज्य मे वे सभी परिस्थितियाँ विद्यमान थी जिनमे निजी अतर्राष्ट्रीय कानून की आवश्यकता पडती है। परतु पुस्तको से इस बात का पूरा आभास नही मिलता कि रोम-विधि-प्रणाली मे उनका किस प्रकार निर्वाह हुआ। रोम साम्राज्य के पतन के पश्चात् स्वीय विधि (पर्सनल लॉ) का युग आया जो प्राय १०वी शताब्दी के अत तक रहा। तदुपरात पृथक् प्रादेशिक विधिप्रणाली का जन्म हुआ। १३वी शताब्दी मे निजी अतर्राष्ट्रीय कानून को निश्चित रूपरेखा देने के लिये आवश्यक नियम बनाने का भरपूर प्रयत्न इटली में हुआ। १६वी शताब्दी के फ्रासीसी न्यायज्ञो ने सविधि सिद्धात (स्टैच्यूट-थ्योरी) का प्रतिपादन किया और प्रत्येक विधिनियम मे उसका प्रयोग किया। वर्तमान युग मे निजी अतर्राष्ट्रीय कानून तीन प्रमुख प्रणालियो मे विभक्त हो गया—(१) सविधि प्रणाली, (२) अतर्राष्ट्रीय प्रणाली, तथा (३) प्रादेशिक प्रणाली।

साधारण—निजी अतर्राष्ट्रीय कानून इस तत्व पर आधारित है कि ससार मे अलग अलग अनेक विधिप्रणालियाँ है जो जीवन के विभिन्न विधिसबधो को विनियमित करनेवाले नियमो के विषय मे एक दूसरे से अधिकाशत भिन्न है। यद्यपि यह ठीक है कि अपने निजी देश मे प्रत्येक शासक सपूर्ण-प्रभुत्व-सपन्न है और देश के प्रत्येक व्यक्ति तथा वस्तु पर उसका अनन्य क्षेत्राधिकार है, फिर भी सभ्यता के वर्तमान युग मे व्यावहारिक दृष्टि से यह सभव नही है कि अन्यदेशीय कानूनो की अवहेलना की जा सके। बहुधा ऐसे अवसर आते है जब एक क्षेत्राधिकार के न्यायालय को दूसरे देश की न्यायप्रणाली का अवलबन करना अनिवार्य हो जाता है, जिसमे अन्याय न होने पाए तथा निहित अधिकारो की रक्षा हो सके।

अन्यदेशीय कानून तथा विदेशी तत्व—निजी अतर्राष्ट्रीय कानून के प्रयोजन के लिये अन्यदेशीय कानून से तात्पर्य किसी भी ऐसे भौगोलिक क्षेत्र की न्यायप्रणाली से है जिसकी सीमा के बाहर उस क्षेत्र का स्थानीय कानून प्रयोग मे नही लाया जा सकता। यह स्पष्ट है कि अन्यदेशीय कानून की उपेक्षा से न्याय का उद्देश्य अपूर्ण रह जायगा। उदाहरणार्थ, जब किसी देश मे विधि द्वारा प्राप्त अधिकार का विवाद दूसरे देश के न्यायालय मे प्रस्तुत होता है तब वादी को रक्षाप्रदान करने के पूर्व न्यायालय के लिये यह जानना नितात आवश्यक होता है कि अमुक अधिकार किस प्रकार का है। यह तभी जाना जा सकता है जब न्यायालय उस देश की न्यायप्रणाली का परीक्षण करे जिसके अतर्गत वह अधिकार प्राप्त हुआ है।

विवादो मे विदेशी तत्व अनेक रूपो मे प्रकट होते है। कुछ दृष्टात इस प्रकार है (१) जब विभिन्न पक्षो मे से कोई पक्ष अन्य राष्ट्र का हो अथवा उसकी नागरिकता विदेशी हो, (२) जब कोई व्यवसायी किसी एक देश मे दिवालिया करार दिया जाय और उसके ऋणदाता अन्यान्य देशो मे हो, (३) जब वाद किसी ऐसी सपत्ति के विषय मे हो जो उस न्यायालय के प्रदेशीय क्षेत्राधिकार मे न होकर अन्यान्य देशो मे स्थित हो।

एकीकरण—निजी अतर्राष्ट्रीय कानून प्रत्येक देश मे अलग अलग होता है। उदाहरणार्थ फ्रास और इँग्लैंड के निजी अतर्राष्ट्रीय कानूनो में अनेक स्थलो पर विरोध मिलता है। इसी प्रकार अग्रेजी और अमरीकी नियम बहुत कुछ समान होते हुए भी अनेक विषयो मे एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। उपर्युक्त बातो के अतिरिक्त विवाह सबधी प्रश्नो में प्रयोज्य विभिन्न न्यायप्रणालियो के सिद्धातो मे इतनी अधिक विषमता है कि जो स्त्री पुरुष एक प्रदेश मे विवाहित समझे जाते है, वही दूसरे प्रदेश में अविवाहित।

इस विषमता को दो प्रकार से दूर किया जा सकता है। पहला उपाय यह है कि विभिन्न देशो की विधिप्रणालियो मे यथासभव समरूपता स्थापित की जाय, दूसरा यह कि निजी अतर्राष्ट्रीय कानून का एकीकरण हो। इस दिशा मे अनेक प्रयत्न हुए परतु विशेष सफलता नही मिल सकी। सन् १८९३, १८९४, १९०० और १९०४ ई० मे हेग नगर मे इसके निमित्त कई समेलन हुए और छह विभिन्न अभिसमयो द्वारा विवाह, विवाहविच्छेद, अभिभावक, निषेध, व्यवहारप्रक्रिया आदि के सबध में नियम बनाए गए। इसी प्रयोजनपूर्ति के लिये विभिन्न राज्यो मे व्यक्तिगत अभिसमय भी सपादित हुए। निजी अतर्राष्ट्रीय कानून के एकीकरण की दिशा मे अतर्राष्ट्रीय न्यायालय का योग विशेष महत्वपूर्ण है।

सं०ग्रं०—चेशायर प्राइवेट इटरनेशनल लॉ, जॉन वेस्टलेक ए ट्रीटीज आन प्राइवेट इटरनेशनल लॉ। [श्री० अ०]

अंतर्राष्ट्रीय विधि, सार्वजनिक

परिभाषा—अतर्राष्ट्रीय कानून उन विधिनियमो का समूह है जो विभिन्न राज्यो के पारस्परिक सबधो के विषय मे प्रयुक्त होते हैं। यह एक विधिप्रणाली है जिसका सबध व्यक्तियो के समाज से न होकर राज्यो के समाज से है।

इतिहास—अतर्राष्ट्रीय कानून (विधि) के उद्भव तथा विकास का इतिहास निश्चित कालसीमाओ मे नही बाटा जा सकता। प्रोफेसर हालैंड के मतानुसार पुरातन काल मे भी स्वतत्र राज्यो से मान्यताप्राप्त ऐसे नियम थे जो दूतो के विशेषाधिकार, सधि, युद्ध की घोषणा तथा युद्धसचालन से सबध रखते थे (देखिए—"लेक्चर्स ऑन इटरनेशनल लॉ"—हालैंड)। प्राचीन भारत मे भी ऐसे नियमो का उल्लेख मिलता है (रामायण तथा महाभारत)। यहूदी, यूनानी तथा रोम के लोगो मे भी ऐसे नियमो का होना पाया जाता है। १४वी-१३वी सदी ई० पू० मे खत्ती रानी ने मिस्री फराऊन को दोनो राज्यो मे परस्पर शाति और सौजन्य बनाए रखने के लिये जो पत्र लिखे थे वे अतर्राष्ट्रीय दृष्टि से इतिहास के पहले आदर्श माने जाते हैं। वे पत्र खत्ती और फराऊनी दोनो अभिलेखागारो मे सुरक्षित रखे गए जो आज तक सुरक्षित है। मध्य युग मे शायद किसी प्रकार के अतर्राष्ट्रीय कानून की आवश्यकता ही न थी क्योकि समुद्री दस्यु समस्त सागरो पर छाए हुए थे, व्यापार प्राय लुप्त हो चुका था और युद्ध मे किसी प्रकार के नियम का पालन नही होता था। बाद मे जब पुनर्जागरण एव धर्मसुधार का युग आया तब अतर्राष्ट्रीय कानून के विकास मे कुछ प्रगति हुई। कालातर मे मानव सभ्यता के विकास के साथ आचार तथा रीति की परपराएँ बनी जिनके आधार पर अतर्राष्ट्रीय कानून आगे बढा और पनपा। १९वी शताब्दी में उसकी प्रगति विशेष रूप से विभिन्न राष्ट्रो के मध्य होनेवाली सधियो तथा अभिसमयो द्वारा हुई। सन् १८९९ तथा १९०७ ई० मे हेग में होनेवाले शातिसमेलनो ने अतर्राष्ट्रीय कानून के रूप को मुखरित किया और अतर्राष्ट्रीय विवाचन न्यायालय की स्थापना हुई।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् राष्ट्रसघ (लीग ऑव नेशन्स्) ने जन्म लिया। उसके मुख्य उद्देश्य थे शाति तथा सुरक्षा बनाए रखना और अतर्राष्ट्रीय सहयोग मे वृद्धि करना। परतु १९३७ ई० मे जापान तथा इटली ने राष्ट्रसघ के अस्तित्व को भारी धक्का पहुँचाया और अत मे १९ अप्रैल, सन् १९४६ ई० को सघ का अस्तित्व ही मिट गया।

द्वितीय महायुद्ध ने मनुष्यता के नाम पर काला धब्बा लगाया और मानव प्राण शाति तथा सुरक्षा के लिये आकुल हो उठे। द्वितीय महायुद्ध के विजेता राष्ट्र ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका तथा सोवियत रूस का अधिवेशन मास्को नगर मे हुआ और एक छोटा सा घोषणापत्र प्रकाशित किया गया। तदनतर अनेक स्थानो मे अधिवेशन होते रहे और एक अतर्राष्ट्रीय सगठन के विषय मे विचारविनिमय होता रहा। सन् १९४५ ई० मे २५ अप्रैल से २६ जून तक, सैन फ्रासिस्को नगर मे एक समेलन हुआ जिसमे पचास राज्यो के प्रतिनिधि समिलित हुए। २६ जून, १९४५ ई० को सयुक्त राष्ट्रसघ तथा अतर्राष्ट्रीय न्यायालय का घोषणापत्र सर्वसमति से स्वीकृत हुआ, जिसके द्वारा निम्नलिखित उद्देश्यो की घोषणा की गई

(१) अतर्राष्ट्रीय शाति एव सुरक्षा बनाए रखना,

(२) राष्ट्रो मे पारस्परिक मैत्री बढाना,

(३) सभी प्रकार की आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक तथा मानवीय अतर्राष्ट्रीय समस्याओ को हल करने मे अतर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना;

(४) सामान्य उद्देश्यो की पूर्ति के लिये विभिन्न राष्ट्रो के कार्य-कलापो मे सामजस्य स्थापित करना।

इस प्रकार सयुक्त राष्ट्रसघ और विशेषतया अतर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना से अतर्राष्ट्रीय कानून को यथार्थ रूप मे विधि (कानून) का

पद प्राप्त हुआ। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अंतर्राष्ट्रीय-विधि-आयोग की स्थापना की जिसका प्रमुख कार्य अंतर्राष्ट्रीय विधि का विकास करना है।

अंतर्राष्ट्रीय विधि का संहिताकरण—कानून के संहिताकरण से तात्पर्य है समस्त नियमों को एकत्र करना, उनको एक सूत्र में क्रमानुसार बाँधना तथा उनमें सामंजस्य स्थापित करना। १८वीं तथा १९वीं शताब्दी में इस ओर प्रयास किया गया। 'इंस्टिट्यूट ऑव इंटरनेशनल लॉ' ने भी इसमें समुचित योग दिया। हेग संमेलनों ने भी इस कार्य को अपने हाथ में लिया। सन् १९२० ई० में राष्ट्रसंघ ने इसके लिये समिति बनाई। इस प्रकार पिछली तीन शताब्दियों में इस कठिन कार्य को पूरा करने का निरंतर प्रयास होता रहा। अंत में, २१ नवंबर, १९४७ ई० को संयुक्त राष्ट्रसंघ ने इस कार्य के निमित्त संविधि द्वारा अंतर्राष्ट्रीय-विधि-आयोग स्थापित किया।

अंतर्राष्ट्रीय विधि के विषय—अंतर्राष्ट्रीय कानून का विस्तार असीम तथा इसके विषय निरंतर प्रगतिशील हैं। मानव सभ्यता तथा विज्ञान के विकास के साथ इसका भी विकास उत्तरोत्तर हुआ और होता रहेगा। इसके विस्तार को सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। अंतर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख विषय इस प्रकार हैं :

(१) राज्यों की मान्यता, उनके मूल अधिकार तथा कर्तव्य; (२) राज्य तथा शासन का उत्तराधिकार; (३) विदेशी राज्यों पर क्षेत्राधिकार तथा राष्ट्रीय सीमाओं के बाहर किए गए अपराधों के संबंध में क्षेत्राधिकार; (४) महासागर एवं जलप्रांगण की सीमाएँ; (५) राष्ट्रीयता तथा विदेशियों के प्रति व्यवहार; (६) शरणागत अधिकार तथा संधि के नियम; (७) राजकीय एवं वाणिज्यदूतीय समागम तथा उन्मुक्ति के नियम; (८) राज्यों के उत्तरदायित्व संबंधी नियम; तथा (९) विवाचनप्रक्रिया के नियम।

अंतर्राष्ट्रीय विधि के आधार—अंतर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का सूत्रपात विचारकों की कल्पना तथा राष्ट्रों के व्यवहारों में हुआ। व्यवहार ने धीरे धीरे प्रथा का रूप धारण किया और फिर वे प्रथाएँ परंपराएँ बन गईं। अतः अंतर्राष्ट्रीय कानून का मुख्य आधार परंपराएँ ही हैं। अन्य आधारों में प्रथम स्थान विभिन्न राष्ट्रों में होनेवाली संधियों का है जो परंपराओं से किसी भी अर्थ में कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। इनके अतिरिक्त राज्यपत्र, प्रदेशीय संसद द्वारा स्वीकृत संविधि तथा प्रदेशीय न्यायालय के निर्णय अंतर्राष्ट्रीय कानून की अन्य आधारशिलाएँ हैं। बाद में विभिन्न अभिसमयों ने तथा निर्वाचन न्यायालय, अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार न्यायालय एवं अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयों ने अंतर्राष्ट्रीय कानून को उसका वर्तमान रूप दिया।

अंतर्राष्ट्रीय विधि के काल्पनिक तत्व—अंतर्राष्ट्रीय विधि कतिपय काल्पनिक तत्वों पर आधारित है जिनमें प्रमुख ये हैं :

(क) प्रत्येक राज्य का निश्चित राज्यक्षेत्र है और निजी राज्यक्षेत्र में उसको निजी मामलों में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है।

(ख) प्रत्येक राज्य को कानूनी समतुल्यता प्राप्त है।

(ग) अंतर्राष्ट्रीय विधि के अंतर्गत सभी राज्यों का समान दृष्टिकोण है।

(घ) अंतर्राष्ट्रीय विधि की मान्यता राज्यों की संमति पर निर्भर है और उसके समक्ष सभी राज्य एक समान हैं।

अंतर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन—अंतर्राष्ट्रीय विधि की मान्यता सदैव राज्यों की स्वेच्छा पर निर्भर रही है। कोई ऐसी व्यवस्था या शक्ति नहीं थी जो राज्यों को अंतर्राष्ट्रीय नियमों का पालन करने के लिये बाध्य कर सके अथवा नियमभंजन के लिये दंड दे सके। राष्ट्रसंघ की असफलता का प्रमुख कारण यही था। संसार के राजनीतिज्ञ इसके प्रति पूर्णतया सजग थे। अतः संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र में इस प्रकार की व्यवस्था की गई है कि कालांतर में अंतर्राष्ट्रीय कानून को राज्यों की ओर से ठीक वैसा ही संमान प्राप्त हो जैसा किसी देश की विधिप्रणाली को अपने देश में शासकवर्ग अथवा न्यायालयों से प्राप्त है। संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने समस्त सहायक अंगों के साथ इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न करने में प्रयत्नशील है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा समिति को कार्यपालिका शक्ति भी दी गई है।

सं०ग्रं०—जे० डब्ल्यू० गारनर : टैगोर लॉ लेक्चर्स, १९२२; रॉस : ए टेक्स्ट बुक ऑव इंटरनेशनल लॉ; डब्ल्यू० ई० हाल : इंटरनेशनल लॉ; के० आर० आर० शास्त्री : स्टडीज इन इंटरनेशनल लॉ। [श्री० अ०]

अंतर्राष्ट्रीय विवाचन

जब किन्हीं दो राज्यों के विवादग्रस्त मामलों का निपटारा पंचनिर्णय द्वारा होता है तब उसको अंतर्राष्ट्रीय विवाचन कहते हैं। अंतर्राष्ट्रीय विवाद तीन अन्य प्रकार से भी निपटाया जा सकता है—(१) आपसी समझौते से; (२) किसी तीसरे व्यक्ति की सहायता से; तथा (३) मध्यस्थता द्वारा।

इतिहास—प्राचीन यूनान के नगरराज्यों के आपसी संबंधों में मध्यस्थ-निर्णय का विशेष महत्व था। हमें ज्ञात है कि वहाँ सात शताब्दियों के भीतर इस प्रकार अस्सी से अधिक महत्वपूर्ण पंचनिर्णय हुए। मध्ययुग में भी विवाचन के उदाहरण हमें बराबर मिलते हैं। परंतु विवाचन का प्रचलन विशेषतः १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ। सन् १७९४ ई० में संयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन के मध्य एक संधि हुई जो "जे" संधि के नाम से प्रसिद्ध है। उस समय से शांतिपूर्वक निपटारे की भावना निरंतर प्रगति करती गई, यद्यपि अनेकानेक बाधाएँ भी आईं। सन् १७९४ तथा १९१३ ई० के बीच दो सौ से अधिक पंचाट हुए जिनमें सन् १८७२ का "अलबामा" पंचाट मुख्यतः उल्लेखनीय है।

प्रारंभ में विवाचन पक्षों की इच्छा पर निर्भर करता था। किसी विवादग्रस्त मामले में विभिन्न पक्षों द्वारा स्वेच्छापूर्वक किए गए प्रसंविदा पर ही विवाचन आधारित होता था। बाद में यह प्रयास हुआ कि विवाचन अनिवार्य कर दिया जाय और प्रसंविदा इस प्रकार की हो जिसके अंतर्गत विभिन्न पक्ष भविष्य में होनेवाले विवादों का निपटारा विवाचन द्वारा कराने के लिये बाध्य हों। साथ ही यह भी प्रयत्न हुआ कि पहले की अनेक व्यक्तिगत संधियों को हटाकर एक व्यापक सामूहिक संधि हो जो सभी व्यक्तिगत संधियों का स्थान ग्रहण कर ले। सन् १८९९ तथा १९०७ ई० के हेग-संमेलनों में इस दिशा में प्रयत्न हुए। सन् १८९९ ई० के अभिसमय का प्रयोजन था कि समस्त अंतर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा मैत्रीपूर्ण ढंग से हो और इस कार्य के निमित्त विवाचन न्यायालय की एक स्थायी संस्था स्थापित की जाय जो सभी की पहुँच के भीतर हो। इस अभिसमय में ६१ अनुच्छेदों द्वारा मध्यस्थता, अंतर्राष्ट्रीय परिपृच्छा आयोग, स्थायी विवाचन न्यायालय तथा विवाचन प्रक्रिया की व्यवस्था की गई। सन् १९०७ ई० में प्रथम अभिसमय पर पुनर्विचार हुआ और अनुच्छेदों की संख्या ६१ से बढ़कर ९६ हो गई। किंतु अनिवार्य विवाचन की योजना असफल रही और प्रथम महायुद्ध ने इस योजना का अंत कर दिया। फिर भी, व्यक्तिगत संधियों द्वारा विवाचन की परंपरा में विकास हुआ और सन् १९०२ से १९३२ ई० तक हेग विवाचन न्यायालय ने बीस पंचाट दिए।

राष्ट्रसंघ (लीग ऑव नेशंस्) के अभिसमय में ऐसा कोई नियम नहीं था जिससे सदस्य राज्य अनिवार्य विवाचन के लिये बाध्य हों। अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना से अनिवार्य क्षेत्राधिकार की संभावना का मार्ग प्रशस्त हुआ परंतु वास्तविक रूप में विवाचन से इसका प्रयोजन न था। सन् १९२८ ई० में लीग ऑव नेशंस की जेनरल असेंबली ने अंतर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्वक निपटारा करने के लिये जो संविधि बनाई उसमें केवल राजनीतिक विवादों का विवाचन द्वारा निपटारा अनिवार्य था। सन् १९२९ में अमेरिकी राज्यों की एक सामूहिक संधि हुई जिसके द्वारा सर्वांगपूर्ण अमरीकी विवाचन की व्यवस्था की गई। इसके अतिरिक्त विवाचन की संस्था व्यक्तिगत संधियों पर ही आधारित रही।

मध्यस्थ न्यायाधिकरण—प्रारंभ में बहुधा किसी अन्यदेशीय राज्य के प्रमुख को विवाचक चुन लिया जाता था। नियमानुसार राज्यप्रमुख को यह अधिकार था कि वह विवाचन कार्य अन्य किसी के सुपुर्द कर दे। परिणाम यह हुआ कि विवाचन कार्य राज्य के अधिकारीगण करते थे और विवाचन में निर्णय वस्तुतः कानूनी आधार पर न होकर राजनीति के रंग में रँगी हुई मध्यस्थता का रूप ग्रहण करने लगा। अतएव प्रक्रिया के इस रूप का अंत हो गया।

वर्तमान पद्धति में एक न्यायाधिकरण बना दिया जाता है जिसमें प्रत्येक पक्ष द्वारा चुने गए विवाचकों की संख्या बराबर होती है। विवाचक-

गए मुख्य विवाचक का निर्वाचन करते है। न्यायाधिकरण की कारवाई मुख्य विवाचक की अध्यक्षता मे होती है। मुख्य विवाचक के निर्वाचन मे यदि विवाचको मे मतभेद हो जाता है तो निर्वाचन की कारवाई विशेष नियमो के अनुसार होती है।

विवाचको, विशेषकर मुख्य विवाचक, के निर्वाचन मे प्राय कठिनाई होती है जिसके कारण विवाचन के निर्देशन मे विलब हो जाता है और कभी कभी तो निर्देशन हो ही नही पाता। इस कठिनाई को दूर करने के लिये सन् १८९९ ई० मे स्थायी विवाचन न्यायालय (पर्मानेंट कोर्ट ऑव इटरनेशनल जस्टिस) की स्थापना हुई। यह न्यायालय वास्तव मे उन व्यक्तियो की सूची मात्र है जो विवाचन कार्य के योग्य है तथा उसके लिये सहमत है। साथ मे कुछ नियम बने हुए है जिनके अनुसार विभिन्न पक्ष व्यक्तिगत मामलो मे उपर्युक्त सूची से विवाचक चुनकर मध्यस्थ न्यायाधिकरण की रचना कर सकते है। प्रशासन कार्य के लिये न्यायालय से सलग्न एक कार्यालय तथा स्थायी समिति है। सन् १९२० ई० मे स्थायी अतर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना हुई परतु विवाचन न्यायालय बना रहा।

विवाचन प्रक्रिया—जब कोई दो राज्य किसी विवाद का विवाचन के निमित्त निर्देशन करते है तब निर्देशन का प्रविषय तथा शर्तें सधिपत्र अथवा तदनुरूप अन्य लेखपत्र द्वारा निश्चित हो जाती है। यदि सधिपत्र मे किसी नियम या सिद्धात का उल्लेख नही होता तो विवाचन की कारवाई व्यवहार-विधि-नियमो के अनुसार होती है। सन् १८९९ ई० मे प्रक्रिया सबधी बहुत से नियम बना दिए गए थे परतु उनका प्रयोग तभी होता है जब सधिपत्र मे आवश्यक नियम न लिखे हो। इस प्रकार प्रक्रिया सबधी सभी बाते पक्षो द्वारा स्वय निश्चित की जा सकती है।

प्रक्रिया के नियम—(क) विवाचन प्रक्रिया दो भागो मे विभाजित है—लिखित परिप्रश्न तथा मौखिक कारवाई, (ख) परक्रामण की कारवाई नियमित रूप से गुप्त रखी जाती है, (ग) निजी क्षमता सबधी प्रश्नो का निर्णय करने की शक्ति न्यायाधिकरण को प्राप्त है, (घ) न्यायाधिकरण के विमर्श गोपनीय होते है, (ङ) निर्णय बहुमत से होता है, (च) पचाट का उद्देश्यपूर्ण होना आवश्यक है, (छ) पचाट अतिम निर्णय है परतु उससे केवल विवादवाले पक्ष ही बाध्य होते है।

विवाचन तथा कानूनी निर्णय—मध्यस्थ न्यायाधिकरण के निर्णय प्राय कानून के प्रति समान की भावना से प्रेरित नही होते जिस प्रकार न्यायालय के निर्णय होते है। मध्यस्थ न्यायाधिकरण बहुधा पक्षो को सतुष्ट करने की इच्छा से प्रभावित होते है, न कि वस्तुत कानूनी नियमो का पालन करने की उद्भावना से। न्यायाधिकरणो के निर्णय मे प्राय उन युक्तियो का उल्लेख नही होता जिनपर उनके निर्णय आधारित होते है और न वे अपने को पूर्ववर्ती दृष्टात (नजीर) मानने के लिये बाध्य समझते है।

दोषपूर्ण विवाचन—जब न्यायाधिकरण निर्देशन मे दी गई अधिकार-सीमा का उल्लघन करता है या प्रत्यक्ष रूप से न्याय के विपरीत कार्य करता है अथवा यह सिद्ध हो जाता है कि अमुक पचाट छल, कपट या भ्रष्टाचार द्वारा प्राप्त किया गया है या पचाट के निबधन अस्पष्ट है, तब विवाचन निर्णय दोषपूर्ण समझा जाता है और उस दशा मे विभिन्न पक्ष उसको मान्यता देने के लिये बाध्य नही होते। सन् १८३१ ई० में हालैंड के सम्राट् का पचाट इस आधार पर अमान्य ठहराया गया था कि उसमे अधिकारसीमा का उल्लघन हुआ था। इसी प्रकार सन् १९०९ मे बोलीविया ने आरजेंटिना के राष्ट्रपति का पचाट अमान्य ठहराया था।

सं०ग्रं०—जे० डब्ल्यू० गारनर टैगोर लॉ लेक्चर्स, १९२२, रॉस ए टेक्स्ट बुक ऑव इटरनेशनल लॉ, डब्ल्यू० ई० हाल इटरनेशनल लॉ।

[श्री० अ०]

अंतर्राष्ट्रीय श्रमसंघ

(इटरनेशनल लेबर ऑर्गनाइजेशन, आई० एल० ओ०, अ० श्र० स०) एक त्रिदलीय अतर्राष्ट्रीय सस्था है जिसकी स्थापना १९१९ ई० की शातिसधियो द्वारा हुई और जिसका लक्ष्य ससार के श्रमिक वर्ग की श्रम और आवास सबधी अवस्थाओ मे सुधार करना है। यद्यपि अ०श्र०स० की स्थापना १९१९ ई० में हुई, तथापि उसका इतिहास औद्योगिक क्राति के प्रारभिक दिनो से ही आरभ हो गया था, जब नवोत्थित औद्योगिक सर्वहारा वर्ग (प्रोलेतारियत) ने समाजकी उत्क्रातिमूलक शक्तिमान सस्था के रूप मे तत्कालीन समाज के अर्थशास्त्रियो के लिये एक समस्या उत्पन्न कर दी थी। यह औद्योगिक सर्वहारा वर्ग के कारण न केवल तरह तरह के उद्योग धधो के विकास मे अतीव मूल्यवान सिद्ध हो रहा था, बल्कि श्रम की व्यवस्थाओ और व्यवसायो के तीव्र गतिक केंद्रीकरण के कारण असाधारण शक्तिसपन्न होता जा रहा था। फ्रासीसी राज्यक्राति, साम्यवादी घोषणा (कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो) के प्रकाशन, प्रथम और द्वितीय 'इटरनेशनल' की स्थापना और एक नए सघर्षनिरत वर्ग के अभ्युदय ने विरोधी शक्तिया को इस सामाजिक चेतना से लोहा लेने के लिये सगठित प्रयत्न करने को विवश किया। इसके अतिरिक्त कुछ औपनिवेशिक शक्तियो ने, जिन्हे दास श्रमिको की बडी सख्या उपलब्ध थी, अन्य राष्ट्रो से औद्योगिक विकास मे बढ जाने के सकल्प से उनमे अदेशा उत्पन्न कर दिया और ऐसा प्रतीत होने लगा कि ससार के बाजार पर उनका एकाधिकार हो जायगा। ऐसी स्थिति मे अतर्राष्ट्रीय श्रम के विधान की आवश्यकता स्पष्ट हो गई और इस दिशा मे तरह तरह के समझौतो के प्रयत्न समूची १९वी शताब्दी भर होते रहे। १८८९ ई० में जर्मनी के सम्राट् ने बर्लिन-श्रम-समेलन का आयोजन किया। फिर १९०० मे पेरिस मे श्रम के विधान के लिये एक अतर्राष्ट्रीय सघ की स्थापना हुई। इसके तत्वावधान मे बर्न मे १९०५ एव १९०६ मे आयोजित समेलनो ने श्रम सबधी प्रथम नियम बनाए। ये नियम स्त्रियो के रात मे काम करने के और दियासलाई के उद्योग मे श्वेत फास्फोरस के प्रयोग के विरोध मे बनाए गए थे, यद्यपि प्रथम महायुद्ध छिड जाने से १९१३ ई० मे बने समेलन की मान्यताय जोर न पकड सकी।

शक्तिशाली ट्रेड यूनियनो के उदय, यूरोप के व्यावसायिक केंद्रो मे होनेवाली बडी हडतालो और १९१७ की बोल्शेविक क्राति ने श्रम की समस्याओ को विस्फोट की स्थिति तक पहुँचने से रोकने और उन्हे नियत्रित करने की आवश्यकता सिद्ध कर दी। इस सुझाव के परिणामस्वरूप १९१९ के शातिसमेलन ने अतर्राष्ट्रीय श्रमविधान के लिये एक ऐसा जाँच कमीशन बैठाया जो अतर्राष्ट्रीय श्रमसघ तथा विश्व-श्रम-चार्टर का निर्माण सभव कर सके। कमीशन के सुझाव कुछ परिवर्तनो के साथ मान लिए गए और पूंजीवादी जगत् मे श्रम के उत्तरोत्तर बढते हुए झगडो को ध्यान मे रखकर इस सघ को शीघ्रातिशीघ्र अपना कार्य आरभ कर देने का निर्णय कर लिया गया। शीघ्रता यहाँ तक की गई कि अक्तूबर १९१९ में ही वाशिंगटन डी०सी० मे प्रथम श्रमसमेलन की बैठक हो गई जब अभी सधि की शर्तें भी सर्वथा मान्य नही हो पाई थी।

भारत अ० श्र० स० के सस्थापक सदस्य राष्ट्रो मे है और १९२२ से उसकी कार्यकारिणी मे ससार की आठवी औद्योगिक शक्ति के रूप मे वह अवस्थित रहता आ रहा है। १९५९ मे अ० श्र० स० के बजट मे भारत का योगदान ३ ३२ प्रति शत है जो सयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत सघ, फ्रास, जर्मनी के सघ प्रजातत्र तथा कनाडा के बाद सातवे स्थान पर है।

द्वितीय महायुद्ध के परवर्ती काल मे अ० श्र० स० सयुक्त राष्ट्रसघ की एक विशिष्ट सस्था बन गई है—उसकी आर्थिक एव सामाजिक परिषद् के अतर्गत प्राय स्वतत्र।

अतर्राष्ट्रीय श्रम सघ मे तीन सस्थाएँ है—साधारण समेलन (जेनरल कान्फ्रेंस), शासी निकाय (गवर्निंग बॉडी) और अतर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय। साधारण समेलन अतर्राष्ट्रीय श्रम समेलन के नाम से अधिक विख्यात है। शासी निकाय सघ की कार्यकारिणी के रूप मे काम करता है। अतर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय का स्थायी सचिवालय है।

अ० श्र० स० के वर्तमान विधान के अनुसार सयुक्त राष्ट्रसघ का कोई भी सदस्य अ० श्र० स० का सदस्य बन सकता है, उसे केवल सदस्यता के साधारण नियमो का पालन स्वीकार करना होगा। यदि सार्वजनिक समेलन चाहे सयुक्त राष्ट्रसघ की परिधि से बाहर के देश भी इसके सदस्य बन सकते है। आज अ० श्र० स० के सदस्य राष्ट्रो की सख्या ७९ है जिनकी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाएँ विभिन्न प्रकार की है।

अं० श्र० सं० की समूची शक्ति अंतर्राष्ट्रीय श्रमसंमेलन के हाथों में है। उसकी बैठक प्रति वर्ष होती है। इस संमेलन में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र चार प्रतिनिधि भेजता है। परंतु इन प्रतिनिधियों में दो राजकीय प्रतिनिधि सदस्य राष्ट्रों की सरकारों द्वारा नियुक्त होते हैं, तीसरा उद्योगपतियों का और चौथा श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करता है। इनकी नियुक्ति भी सदस्य सरकारें ही करती हैं। सिद्धांततः ये प्रतिनिधि उद्योगपतियों और श्रमिकों की प्रधान प्रतिनिधि संस्थाओं से चुन लिए जाते हैं। उन संस्थाओं के प्रतिनिधित्व का निर्णय भी उनके देश की सरकारें ही करती हैं। परंतु प्रत्येक प्रतिनिधि को व्यक्तिगत मतदान का अधिकार होता है।

संमेलन का काम अंतर्राष्ट्रीय श्रम नियम एवं सुझाव संबंधी मसविदा बनाना है जिसमें अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक और श्रम संबंधी निम्नतम मान आ जायँ। इस प्रकार यह एक ऐसे अंतर्राष्ट्रीय मंच का काम करता है जिसपर आधुनिक औद्योगिक समाज के तीनों प्रमुख अंगों—राज्य, संगठन (व्यवस्था, मैनेजमेंट) और श्रम—के प्रतिनिधि औद्योगिक संबंधों की महत्वपूर्ण समस्याओं पर परस्पर विचारविनिमय करते हैं। दो तिहाई बहुमत द्वारा नियम और बहुमत द्वारा सिफ़ारिश स्वीकृत होती है परंतु स्वीकृत नियमों या सिफ़ारिशों को मान लेना सदस्य राष्ट्रों के लिये आवश्यक नहीं। हाँ, उनसे ऐसी आशा अवश्य की जाती है कि वे अपने देशों की राष्ट्रीय संसदों के समक्ष १८ महीने के भीतर उन विषयों को विचारार्थ प्रस्तुत कर दें। सुझावों के स्वीकरण पर विचार इतना आवश्यक नहीं है जितना नियमों को कानून का रूप देना। संघ राज्यों के विषय में ये नियम सुझाव के रूप में ही ग्रहण करने होते हैं, विधान के रूप में नहीं। जब कोई सरकार नियम को मान लेती है और उसका व्यवहार करना चाहती है उसे अंतर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय में इस संबंध का एक वार्षिक विवरण भेजना पड़ता है।

शासी निकाय (गवर्निंग बॉडी) भी एक तीन अंगों वाली संस्था है। यह ३२ सदस्यों से निर्मित है जिनमें १६ सरकारी तथा आठ आठ उद्योगपतियों और श्रमिकों के प्रतिनिधि होते हैं। इन १६ सरकारी स्थानों में से आठ उन देशों के लिए हैं जो प्रधान औद्योगिक देश मान लिए गए हैं। शेष आठ प्रति तीसरे वर्ष सरकारी प्रतिनिधियों द्वारा निर्वाचित होते हैं जिनके निर्वाचन का अधिकार कार्यकारिणी में संमिलित उन आठ देशों को भी प्राप्त होता है जो प्रधान औद्योगिक देश होने के कारण उसके पहले से ही सदस्य हैं। इसका निर्णय भी कार्यकारिणी परिषद् द्वारा ही होता है कि आठ प्रधान औद्योगिक देश कौन से हों। कार्यकारिणी नीति और कार्यक्रम निर्धारित करती है, अंतर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय का संचालन और संमेलन द्वारा नियुक्त अनेक समितियों और आयोगों (कमीशनों) के कार्यों का निरीक्षण करती है। कार्यालय के प्रमुख संचालक (डाइरेक्टर जेनरल) का निर्वाचन कार्यकारिणी ही करती है और वही संमेलन का कार्यक्रम (एजेंडा) भी प्रस्तुत करती है।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय संमेलन तथा कार्यकारिणी का स्थायी सचिवालय है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के कर्मचारियों की ही भाँति श्रम कार्यालय के कर्मचारी भी अंतर्राष्ट्रीय सिविल सर्विस के कर्मचारी होते हैं जो उस अंतर्राष्ट्रीय संस्था के प्रति उत्तरदायी होते हैं। श्रमकार्यालय का काम अं० श्र० सं० के विविध अंगों के लिये कार्यविवरण, कागज पत्र आदि प्रस्तुत करना है। सचिवालय के इन कार्यों के साथ ही वह कार्यालय अंतर्राष्ट्रीय श्रम अनुसंधान का भी केंद्र है जो जीवन और श्रम की परिस्थितियों को अंतर्राष्ट्रीय ढंग से मान्यता प्रदान करने के लिये उनसे संबंधित सभी विषयों पर मूल्यवान् सामग्री एकत्र करता तथा उनका विश्लेषण और वितरण करता है। सदस्य देशों की सरकारों और श्रमिकों से वह निरंतर संपर्क रखता है। अपने सामयिक पत्रों और प्रकाशनों द्वारा वह श्रम विषयक सूचनाएँ देता रहता है। श्रम कार्यालय बराबर विवरण, सावधि सामाजिक समस्याओं का अध्ययन, प्रधान साधारण संमेलन के अधिवेशनों तथा विविध समितियों और तकनीकी संमेलनों के विवरण, संदर्भ ग्रंथ, श्रम के आँकड़ों की वार्षिक पुस्तकें, संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामने उपस्थित किए गए अं० श्र० सं० के विवरण तथा विशेष पुस्तिकाएँ प्रकाशित करता रहता है। प्रकाशित पत्रों में 'दि इंटर्नेशनल लेबर रिव्यू' संघ विषयक सामान्य व्याख्यात्मक निबंधों और आँकड़ों का मासिक पत्र है; 'इंडस्ट्री ऐंड लेबर' श्रम अनुसंधान का विवरण प्रकाशित करनेवाला पाक्षिक है; 'लेजिस्लेटिव सिरीज़' विभिन्न देशों के श्रम कानूनों का विवरण प्रस्तुत करनेवाला द्विमासिक है; 'ऑक्यूपेशनल सेफ़टी ऐंड हेल्थ' तथा 'दि बिब्लियोग्राफी ऑव इंडस्ट्रियल हाइजिन' त्रैमासिक हैं। इनमें से अधिकांश पत्र विभिन्न भाषाओं में छपते हैं।

तीन प्रमुख अंगों अर्थात् संमेलन, कार्यकारिणी और कार्यालय के अतिरिक्त अं० श्र० सं० के अन्य कई अंग हैं, जैसे प्रादेशिक संमेलन, औद्योगिक समितियाँ तथा विशेष आयोग (कमीशन), जो प्रदेश विशेष अथवा उद्योग विशेष की विशिष्ट समस्याओं पर विचार करते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संमेलन द्वारा कुल स्वीकृत नियम (कन्वेंशन) १९५८ के अंत तक १०९ रहे हैं और विधान के रूप में स्वीकृत विभिन्न देशीय विधानों की संख्या, जो श्रम कार्यालय द्वारा प्राप्त हो चुके थे, १८०८ है। १९५८ के अंत तक भारत ने २३ नियम माने हैं। कुछ देशों ने शर्तों के साथ नियम स्वीकार किए हैं, अधिकांश ने अनेक महत्व के नियम स्वीकृत नहीं किए हैं। नियमों को स्वीकार करने की गति मंद है यद्यपि अधिकतर देशों ने अनेक महत्व के नियम स्वीकृत नहीं किए हैं, तथापि अल्पतम मान स्थापित करने का नैतिक वातावरण अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने उत्पन्न कर दिया है। उसी का यह परिणाम है कि एक ऐसे अंतर्राष्ट्रीय श्रम कानून का विकास हो चला है जिसमें उसके स्वीकृत अनेक नियमों एवं सुझावों का समावेश है। इनमें काम के घंटों, विश्रामकाल, वेतन सहित वार्षिक छुट्टियों, मजदूरी का भाव, उसकी रक्षा, अल्पतप मजदूरी की व्यवस्था, समान कामों का समान पारिश्रमिक, नौकरी पाने की अल्पतम आयु, नौकरी के लिये आवश्यक डाक्टरी परीक्षा, रात के समय स्त्रियों, बच्चों एवं अल्पायु युवक तथा युवतियों की नियुक्ति, जच्चा की रक्षा, औद्योगिक सुरक्षा एवं स्वास्थ्य, औद्योगिक कल्याण, बेकारी का बीमा, कार्यकालिक चोट की क्षतिपूर्ति, चिकित्सा की व्यवस्था, संगठित होने और सामूहिक माँग करने का अधिकार आदि अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न सुलझाए गए हैं और इनके लिये सामान्य अंतर्राष्ट्रीय न्यूनतम मान निर्धारित हो गए हैं। इन अंतर्राष्ट्रीय न्यूनतम मानों का प्रभाव प्रत्यक्ष नियमस्वीकरण द्वारा अथवा अप्रत्यक्ष रूप से नैतिकता के प्रभाव से विभिन्न देशों के श्रमविधान पर पड़ा है, क्योंकि उनमें सतत् परिवर्तनशील समय की आवश्यकताएँ प्रतिबिंबित होती रही हैं। [श्री० अ० डां०]

अंतर्वेद से अभिप्राय गंगा और यमुना के बीच के उस विस्तृत भूखंड से था जो हरद्वार से प्रयाग तक फैला हुआ है। इस द्वाब में वैदिक काल से बहुत पीछे तक निरंतर यज्ञादि होते आए हैं। वैदिक काल में वहाँ उशीनर, पंचाल तथा वत्स अथवा वंश बसते थे। इसी से पूर्व की ओर लगे कोसल तथा काशी जनपद थे। अंतर्वेद की पश्चिमी तथा दक्षिणी सीमाओं पर कुरु, शूरसेन, चेदि आदि का आवास था। ऐतिहासिक युग में इस प्रदेश में कई अश्वमेध हुए जिनमें समुद्रगुप्त का बड़े महत्व का था।

गुप्तकालीन शासनव्यवस्था के अनुसार अंतर्वेद साम्राज्य का 'विषय' या जिला था। स्कंदगुप्त के समय उसका विषयपति शर्वनाग स्वयं सम्राट् द्वारा नियुक्त किया गया था। [चं०म०]

अंतर्वेशन (इंटरपोलेशन) का अर्थ है किसी गणितीय सारणी में दिए हुए मानों के बीचवाले मानों को ज्ञात करना। अंग्रेजी शब्द "इंटरपोलेशन" का शाब्दिक अर्थ है "बीच में शब्द बढ़ाना"।

मान लीजिए, निम्नलिखित सारणी दी हुई है :

य	लघु य	य	लघु य
७·०	०·८४५०९८	७·४	०·८६९२३२
७·१	०·८५१२५८	७·५	०·८७५०६१
७·२	०·८५७३३२	७·६	०·८८०८१४
७·३	०·८६३३२३	७·७	०·८८६४९१

प्रश्न यह है कि य के सारणीबद्ध मानों के बीच के किसी मान के लिये (जैसे य=७·१५२ के लिये) लघु य का मान किस प्रकार निकाला जाय।

इस प्रश्न का उत्तर अंतर्वेशन सिद्धांत द्वारा मिलता है। अंतर्वेशन के विकसित सिद्धांत से किसी सारणी द्वारा निर्दिष्ट फलन का अवकल गुणक (डिफ़रेंशियल कोइफ़िशेंट) अथवा दो सीमाओं के बीच का अनुकल (इनटेग्रल) निकालना भी संभव है। अंतर्वेशन के लिये एक महत्वपूर्ण सूत्र यह है :

$$\text{र} = \text{फ}(\text{क}) + \text{य}\,\text{अ}\,\text{फ}(\text{क}) + \text{य}(\text{य}-१)\,\text{अ}^{२}\,\text{फ}(\text{क}) + \ldots + \frac{\text{य}(\text{य}-१)\ldots(\text{य}-\text{स}+१)\,\text{अ}^{\text{स}}\,\text{फ}(\text{क})}{\text{स}!},$$

जिसमें $\text{अ}\,\text{फ}(\text{क}) = \text{फ}(\text{क}+\text{कि}) - \text{फ}(\text{क})$ प्रथम अंतर है, $\text{अ}^{२}\,\text{फ}(\text{क}) = \text{अ}\,\text{फ}(\text{क}+\text{कि}) - \text{अ}\,\text{फ}(\text{क})$ द्वितीय अंतर है...।

इस सूत्र को ग्रेगरी-न्यूटन सूत्र कहते हैं।

अंतर्वेशन का एक अन्य महत्वपूर्ण सूत्र लैग्रांज सूत्र है :

$$\text{फ}(\text{य}) = \frac{\text{फ}(\text{क}_{०})(\text{य}-\text{क}_{१})(\text{य}-\text{क}_{२})\ldots(\text{य}-\text{क}_{\text{स}})}{(\text{क}_{०}-\text{क}_{१})(\text{क}_{०}-\text{क}_{२})\ldots(\text{क}_{०}-\text{क}_{\text{स}})} + \frac{\text{फ}(\text{क}_{१})(\text{य}-\text{क}_{०})(\text{य}-\text{क}_{२})\ldots(\text{य}-\text{क}_{\text{स}})}{(\text{क}_{१}-\text{क}_{०})(\text{क}_{१}-\text{क}_{२})\ldots(\text{क}-\text{क}_{\text{स}})} + \ldots + \frac{\text{फ}(\text{क}_{\text{स}})(\text{य}-\text{क}_{०})(\text{य}-\text{क}_{१})\ldots(\text{य}-\text{क}_{\text{स}-१})}{(\text{क}_{\text{स}}-\text{क}_{०})(\text{क}_{\text{स}}-\text{क}_{१})\ldots(\text{क}_{\text{स}}-\text{क}_{\text{स}-१})}।$$

स्पष्ट है कि इस सूत्र में फ(य) घात अ के बहुपद से निरूपित है जिसके मान $\text{य} = \text{क}_{०}, \text{क}_{१}, \text{क}_{२}, \ldots \text{क}_{\text{स}}$ के लिये क्रमशः $\text{फ}(\text{क}_{०}), \text{फ}(\text{क}_{१}), \ldots \text{फ}(\text{क}_{\text{स}})$ हैं।

एक प्रकार का प्रश्न यह है :

मान लीजिए निम्नलिखित सारणी दी है :

य	१४	१७	३१	३५
फ(य)	६८·७	६४·०	४४·०	३९·१

यदि य = २७ तो फ(य) का मान निकालो।

उत्तर : फ(२७) = लगभग ४९·३१७।

सं०ग्रं०—व्हिटकर और राबिन्सन : कैलक्युलस ऑव आबज़र्वेशन्स। [ना० गो० श०]

अंतलिखित (अंतलिकिद, अंतिआल्किदस्) तक्षशिला का हिंदू-ग्रीक राजा। बेसनगर (मध्य प्रदेश) के स्तंभलेख के अनुसार इस राजा ने अपने दूत दिय-के-पुत्र हेलियोदोरस को शुगवंश के राजा अथवा भागभद्र के दरबार में भेजा था। यह भागभद्र शुगराज ओद्रक अथवा भागवत में से कोई हो सकता है। इस अभिलेख में अंतलिखित को तक्षशिला का राजा और उसके ग्रीक दूत को विष्णुभक्त 'भागवत' कहा गया है। अंतलिखित के सिक्के भी अन्य हिंदू-ग्रीक राजाओं की भाँति ही ग्रीक और भारतीय दोनों भाषाओं में खुदे मिलते हैं। उसकी मुद्राएँ उसे विजेता भी प्रमाणित करती हैं। अंतलिखित का शासनकाल निश्चित रूप से तो नहीं बताया जा सकता, पर संभवतः वह ईसवी सन् की प्रथम शती में हुआ। वह बाख्त्री के राजा युक्रातिद के राजकुल का अफगानिस्तान और पश्चिमी पंजाब का राजा था। [भ० श० उ०]

अंतश्चेतना शब्द अंग्रेजी के 'इनर कांशसनेस' का पर्यायवाची है। कभी कभी यह सहज ज्ञान या प्रमा (इंट्यूशन) के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। संत जोन या गांधी जी प्रायः अपनी 'भीतरी आवाज' या 'आत्मा की आवाज' का हवाला देते थे। कई रहस्यवादियों में यह अंतश्चेतना अधिक विकसित होती है। परंतु सर्वसाधारण में भी 'मन की आँखें' तो होती ही हैं। यही मनुष्य का नीति अनीति से परे सदसद्विवेक कहलाता है। दार्शनिकों का एक संप्रदाय यह मानता है कि जीव स्वभावतः 'शिव' है और इस कारण किसी अशिक्षित या असंस्कृत कहलानेवाले व्यक्ति में भी अच्छे बुरे को पहचानने की अंतश्चेतना पशु से अधिक विद्यमान रहती है। भौतिकवादी अंतश्चेतना को जन्मतः उपस्थित जैविक गुण नहीं मानते बल्कि सभ्यता के इतिहास से उत्पन्न,चेतना का बाह्य आवरण मानते हैं; जैसे फ्रायड उसे "सुपर ईगो" कहता है। अरविंद के दर्शन में यह शब्द उभरकर आया है। यदि भौतिक जड़ जगत् और मानवी चैतन्य के भीतर एक सी विकासरेखा खोजनी हो, या मृण्मय में चिन्मय बन नेकी संभावनाएँ हों तो इस अंतश्चेतना का किसी न किसी रूप में पूर्व अस्तित्व मनुष्य में मानना ही होगा। योग इसी को आत्मिक उन्नति भी कहता है। योगी अरविंद की परिभाषा में यही चैत्य पुरुष या 'साइकिक बीइंग' कहा गया है। [प्र० मा०]

अंतिओक पश्चिमी एशिया में इस नाम के अनेक नगर लघुएशिया तक बसते चले गए थे। इनमें सबसे महत्व का नगर सीरिया में था, लेबनान और तोरस पर्वतमालाओं के बीच, सागर से प्रायः २० मील दूर ओरोंतीज़ नदी के बाएँ तीर पर बसा। लघुएशिया, फरात की उपरली घाटी, मिस्र और फिलिस्तीन से आनेवाली सारी राहें यहीं मिलती थीं और यहीं उन सबके व्यापार का केंद्र था। यह सिकंदर के साम्राज्य की सेल्यूकस के हिस्से की राजधानी था। सेल्यूकस ने ही इस नगर को वस्तुतः बसाया भी था जिसके निर्माण का आरंभ उसी के शत्रु अंतिगोनस ने किया था। धीरे धीरे नगर का विस्तार होता गया था और चौथी सदी ईसवी में इसकी जनसंख्या प्रायः ढाई लाख हो गई थी। बाद में रोमनों ने इसे जीत लिया। इसका वर्तमान नाम अताक्या है। आज के इस तुर्की नगर की भाषा भी तुर्की है। [भ० श० उ०]

अंतःकरण (कांशंस) यह पारिभाषिक शब्द है। इसका तात्पर्य उस मानसिक शक्ति से है जिससे व्यक्ति उचित और अनुचित का निर्णय करता है। सामान्यतः लोगों की यह धारणा होती है कि व्यक्ति का अंतःकरण किसी कार्य के औचित्य और अनौचित्य का निर्णय करने में उसी प्रकार सहायता कर सकता है जैसे उसके कर्ण सुनने में, अथवा नेत्र देखने में सहायता करते हैं। व्यक्ति में अंतःकरण का निर्माण उसके नैतिक नियमों के आधार पर होता है। अतः अंतःकरण व्यक्ति की आत्मा का वह क्रियात्मक सिद्धांत माना जा सकता है जिसकी सहायता से व्यक्ति द्वंद्वों की उपस्थिति में किसी निर्णय पर पहुँचता है। 'शाकुंतल' (१,१९) में कालिदास कहते हैं :

सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः। [स० प्र० चौ०]

अंतःपुर प्राचीन काल में हिंदू राजाओं का रनिवास अंतःपुर कहलाता था। यही मुगलों के जमाने में जनानखाना या हरम कहलाया। अंतःपुर के अन्य नाम भी थे जो साधारणतः उसके पर्याय की तरह प्रयुक्त होते थे, यथा—'शुद्धांत' और 'अवरोध'। 'शुद्धांत' शब्द से प्रकट है कि राजप्रासाद के उस भाग को, जिसमें नारियाँ रहती थीं, बड़ा पवित्र माना जाता था। दांपत्य वातावरण को आचरण की दृष्टि से नितांत शुद्ध रखने की परंपरा ने ही निःसंदेह अंतःपुर को यह विशिष्ट संज्ञा दी थी। उसके शुद्धांत नाम को सार्थक करने के लिये ही महल के उस भाग को बाहरी लोगों के प्रवेश से मुक्त रखते थे। उस भाग के अवरुद्ध होने के कारण अंतःपुर का यह तीसरा नाम 'अवरोध' पड़ा था। अवरोध के अनेक रक्षक होते थे जिन्हें प्रतीहारी या प्रतीहाररक्षक कहते थे। नाटकों में राजा के अवरोध का अधिकारी अधिकतर वृद्ध ही होता था जिससे अंतःपुर शुद्धांत बना रहे और उसकी पवित्रता में कोई विकार न आने पाए। मुगल और चीनी सम्राटों के हरम या अंतःपुर में मर्द नहीं जा सकते थे और उनकी जगह खोजे या क्लीब रखे जाते थे। इन खोजों की शक्ति चीनी महलों में इतनी बढ़ गई थी कि वे रोमन सम्राटों के प्रीतोरियन शरीररक्षकों और तुर्की जनीसरी शरीररक्षकों की तरह ही चीनी सम्राटों को बनाने बिगाड़ने में समर्थ हो गए थे। वे ही चीनी महलों के सारे षड्यंत्रों के मूल में होते थे। चीनी सम्राटों के समूचे महल को 'अवरोध' अथवा 'अवरुद्ध नगर' कहते थे और उसमें रात में सिवा सम्राट् के कोई पुरुष नहीं सो सकता था। क्लीबों की सत्ता गुप्त राजप्रासादों में भी पर्याप्त थी।

जैसा संस्कृत नाटकों से प्रकट होता है, राजप्रासाद के अंतःपुरवाले भाग में एक नजरबाग भी होता था जिसे प्रमदवन कहते थे और जहाँ राजा अपनी अनेक पत्नियों के साथ विहार करता था। संगीतशाला, चित्रशाला आदि भी वहाँ होती थीं जहाँ राजकुल की नारियाँ ललित कलाएँ सीखती थीं। वहीं उनके लिये क्रीडास्थल भी होता था। संस्कृत नाटकों में वर्णित अधिकतर प्रणयषड्यंत्र अंतःपुर में ही चलते थे।

सं० ग्रं०—शार्ङ्गधरपद्धति, उपवनविनोद; भगवतशरण उपाध्याय : इंडिया इन कालिदास। [भ० श० उ०]

अंतःस्राव विद्या (एंडोक्राइनॉलोजी) आयु-विज्ञान की वह शाखा है जिसमें शरीर में अंतःस्राव या हारमोन उत्पन्न करनेवाली ग्रंथियों का अध्ययन किया जाता है। उत्पन्न होनेवाले हारमोन का अध्ययन भी इसी विद्या का एक अंश है। हारमोन विशिष्ट रासायनिक वस्तुएँ हैं जो शरीर की कई ग्रंथियों में उत्पन्न होती हैं। ये हारमोन अपनी ग्रंथियों से निकलकर रक्त में या अन्य शारीरिक द्रवों में, जैसे लसीका आदि में, मिल जाते हैं और अंगों में पहुँचकर उनसे विशिष्ट क्रियाएँ करवाते हैं। हारमोन शब्द ग्रीक भाषा से लिया गया है। सबसे पहले सन् १६०२ में बेलिस और स्टार्लिंग ने इस शब्द का प्रयोग किया था। सभी अंतःस्रावी ग्रंथियाँ हारमोन उत्पन्न करती हैं।

इतिहास—सबसे पहले कुछ ग्रीक विद्वानों ने शरीर की कई ग्रंथियों का वर्णन किया था। तभी से इस विद्या के विकास का इतिहास प्रारंभ होता है। १६वीं और १७वीं शताब्दी में इटली के शारीरवेत्ता बेजेलियस और ऑक्सफोर्ड के टामस बेजेलियस, टामस व्हार्टन और लोवर नामक विद्वानों ने इस विद्या की अभिवृद्धि की। सूक्ष्मदर्शी द्वारा इन ग्रंथियों की रचना का ज्ञान प्राप्त होने से १६वीं शताब्दी में इस विद्या की असीम उन्नति हुई। अब भी अध्ययन जारी है और अन्य कई विधियों द्वारा अन्वेषण हो रहे हैं।

यकृत और अंडग्रंथियों का ज्ञान प्राचीन काल से था। अरस्तू ने डिंबग्रंथि का वर्णन 'काप्रियाका' नाम से किया था। अवटुका (थाँइरायड) का पहले पहल वर्णन गैलेन ने किया था। टॉमस व्हार्टन (१६१४-१६४५) ने इसका विस्तार किया और प्रथम बार इसे थाइराएड नाम दिया। इसकी सूक्ष्म रचना का पूर्ण ज्ञान १६वीं शताब्दी में हो सका। विषूचिका (पिट्यूटॅरी) ग्रंथि का वर्णन पहले गैलेन और फिर बेजेलियस ने किया। तत्पश्चात् व्हार्टन और टामस विल्ली (१६२१-१६७५) ने इसका पूरा अध्ययन किया। इसकी सूक्ष्म रचना हैनोवर ने १८१४ में ज्ञात की।

अधिवृक्क ग्रंथियों का वर्णन पहले पहल गैलेन ने और फिर सूक्ष्म रूप से बार्थोलियस यूस्टेशियस (१६१४-१६६४) ने किया। सुप्रारीनल कैप्स्यूल शब्द का प्रयोग प्रथम बार जान रियोलान (१५८०-१६५७) ने किया। इसकी सूक्ष्म रचना का अध्ययन ऐकर (१८१६-१८८४) और आर्नाल्ड (१८६६) ने प्रारंभ किया।

पिनियल ग्रंथि का वर्णन गैलेन ने किया और टामस व्हार्टन ने इसकी रचना का अध्ययन किया। थाइमस ग्रंथि का वर्णन प्रथम शताब्दी में रूफास द्वारा मिलता है। अग्न्याशय के अंतःस्रावी भाग का वर्णन लैंगरहैंस ने १८६८ में किया जो उसी के नाम से लैंगरहैंस की द्वीपिकाएँ कहलाती हैं। विक्टर सैंडस्टॉर्म ने १८८० में परा-अवटुका (पैराथाइरॉयड) का वर्णन किया। अब उसकी सूक्ष्म रचना और क्रियाओं का अध्ययन हो रहा है।

यद्यपि इन ग्रंथियों की स्थिति और रचना का पता लग गया था, फिर भी इनकी क्रिया का ज्ञान बहुत पीछे हुआ। हिप्पोक्रेटीज़ और अरस्तू अंडग्रंथियों का पुरुषत्व के साथ संबंध समझते थे और अरस्तू ने डिंबग्रंथियों के छेदन के प्रभाव का उल्लेख भी किया है, किंतु पूर्वोक्त ग्रंथियों की क्रिया के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान उन्हें नहीं हो सका था। इस क्रिया का कुछ अनुमान कर सकनेवाला प्रथम व्यक्ति टामस विलिस था। इसी प्रकार पीयूषिका ग्रंथि का स्राव सीधे रक्त में चले जाने की बात रिचार्ड लोवर ने सर्वप्रथम कही थी। अवटुका के संबंध में इसी प्रकार का मत टामस रूयश ने प्रगट किया।

इस संबंध में जान हंटर (१७२३-६३) के समय से नया युग आरंभ हुआ। अन्वेषण-विधि का उसने रूप ही पलट दिया। ग्रंथि की रचना, उसकी क्रिया (फिज़ियोलॉजी), उसपर प्रयोगों से फल तथा उससे संबद्ध रोग-लक्षणों का समन्वय करके विचार करने के पश्चात् परिणाम पर पहुँचने की विधि का उसने अनुसरण किया। श्री हंटर प्रथम अन्वेषणकर्ता थे जिन्होंने प्रयोग प्रारंभ किए और प्रजनन ग्रंथियों तथा यौन संबंधी लक्षणों—पुरुषों में छाती पर बाल उगना, दाढ़ी मूँछ निकलना, स्वर की मंद्रता आदि—का घनिष्ट संबंध प्रदर्शित किया। सन् १८२७ में ऐस्ले कूपर ने प्रथम अवटुका-छेदन किया। इसके पश्चात् अंतःस्राव के मत को विद्वानों ने स्वीकार कर लिया, और सन् १८५५ में क्लोडबार्ड, टॉमस ऐडिसन और ब्राउन सीकर्ड के प्रयोगों से अंतःस्राव का सिद्धांत सर्वमान्य हो गया। ब्राउन सीकर्ड ने जो प्रयोग यकृत पर किए थे उनके आधार पर उसने यह मत प्रकाशित किया कि शरीर की अनेक ग्रंथियाँ, जैसे यकृत, प्लीहा, लसीका ग्रंथियाँ, पीयूषिका, थाइमस, अवटुका, अधिवृक्क, ये सब दो प्रकार से स्राव बनाती हैं। एक अंतःस्राव, जो सीधा वहीं से शरीर में शोषित हो जाता है, और दूसरा बहिःस्राव, जो ग्रंथि से एक नलिका द्वारा बाहर निकलता है तथा शरीर की आंतरिक दशाओं और क्रियाओं का नियंत्रण करता है। उसने यह भी समझ लिया कि ये ग्रंथियाँ तंत्रिकातंत्र (नर्वस सिस्टम) के अधीन हैं। एक वर्ष के पश्चात् उसने प्रथम अधिवृक्क-छेदन (ऐड्रिनेलैक्टोमी) किया। इसी वर्ष टामस ऐडिसन ने 'अधिवृक्क-संपुट के रोग' नामक लेख प्रकाशित किया जिससे अंतःस्राव के सिद्धांत भली भाँति प्रमाणित हो गए।

यद्यपि हिप्पोक्रेटीज़ के समय से विद्वानों ने इन ग्रंथियों के विकारों से उत्पन्न लक्षणों का वर्णन किया है, तथापि 'ऐडिसन का रोग' प्रथम अंतःस्रावी रोग था जिसकी खोज और विवेचना पूर्णतया की गई। अवटुका के रोगों का वर्णन चार्ल्स हिल्टन, फ़ाग, विलियम गल आदि ने किया। प्रयोगशालाओं मे ग्रंथियों से उनका सत्व तथा हारमोन पृथक् किए गए और उनको मुंह से खिलाकर तथा इंजेक्शन द्वारा देकर उनका प्रभाव देखा गया। सन् १६०१ में अधिवृक्क से ऐड्रिनैलिन पृथक् किया गया। कैंडल ने अवटुका से थाइरॉक्सीन और बैंटिंग तथा बेस्ट ने पक्वाशय से इंस्यूलिन पृथक् किया। ऐलेन ने ईस्ट्रिन और कॉक ने टेस्टोस्टेरोन पृथक् किए। इन रासायनिक प्रयोगों से इन वस्तुओं के रासायनिक संघटन का भी अध्ययन किया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि रसायनज्ञों ने इन वस्तुओं को प्रयोगशालाओं में तैयार कर लिया। इन कृत्रिम प्रकार से बनाए हुए पदार्थों को 'हारमोनॉएड' नाम दिया गया है। आजकल इन्हीं का बहुत प्रयोग होता है।

इन अंतःस्रावी ग्रंथियों को पहले एक दूसरे से पृथक् समझा जाता था, किंतु अब ज्ञात हुआ है कि ये सब एक दूसरे से संबद्ध हैं और पीयूषिका ग्रंथि तथा मस्तिष्क का मैलेमस भाग उनका संबंध स्थापित करते हैं। अतः मस्तिष्क ही अंतःस्रावी तंत्र का केंद्र है।

अंतःस्रावी ग्रंथियाँ

१. पिनियल; २. पिट्यूइटैरी; ३. पैराथाइरॉयड; ४. थाइरॉयड; ५. थाइमस; ६. अधिवृक्क (ऐड्रिनल); ७. अग्न्याशय (पैनक्रियस) ८. (केवल स्त्रियोंमें) डिंबाशय (ओवैरी); ९. (केवल पुरुषों में) वृषण (टेस्टीज़)।

शरीर में निम्नलिखित मुख्य अंतःस्रावी ग्रंथियाँ हैं : पीयूषिका (पिट्यूइटैरी), अधिवृक्क (ऐड्रीनल), अवटुका (थाइरॉयड), उपावटुका (पैराथाइरॉयड), अंडग्रंथि (टेस्टीज़), डिंबग्रंथि (ओवैरी), पिनियल, लैंगरहैंस की द्वीपिकाएँ और थाइमस।

पीयूषिका—मनुष्य के शरीर में यह एक मटर के समान ग्रंथि मस्तिष्क के अग्र भाग के नल से एक वृंत (डंठल) सरीखे भाग द्वारा लगी और नीचे को लटकती रहती है। इसमें तीन भाग हैं—अग्रिम, मध्य और पश्च खंडिकाएँ (लोब)। अग्रिम खंडिका में बननेवाले हारमोनों के नाम ये हैं : (१) बीज-पुटक-उत्तेजक (एफ़० एस० एस०), (२) ल्यूटी-निकारक (एल० एस०), (३) अधिवृक्क-आंतस्था-पोषक (ए० सी० टी० एच०), (४) अवटुकापोषक (टी० एच०), (५) वर्धक (शोथ हारमोन)। मध्यखंडिका मध्यनी (इंटर मिडिल) हारमोन बनाती है। पश्चखंडिका पिट्यूटरीन हारमोन बनाती है। इसमें दो हारमोन होते हैं। एक गर्भाशय का संकोच बढ़ाता है और दूसरे से रक्तवाहिनियाँ संकुचित होती हैं। यदि इस ग्रंथि की क्रिया बढ़ जाती है तो प्रजनन अंगों की अत्यंत वृद्धि होती है और यदि शरीर का वृद्धिकाल समाप्त नहीं हो चुका रहता है तो दीर्घकायता उत्पन्न हो जाती है जिसमें शरीर की अतिवृद्धि होती है। परंतु यदि वृद्धिकाल समाप्त हो चुका रहता है तो पीयूषिका की अतिशय

क्रियाशीलता का परिणाम ऐक्रोमेगैली नामक दशा होती है, जिसमे मुख, अँगुलियो, कठ आदि में सूजन आ जाती है।

अग्रिम खडिका के अर्बुद (ट्यूमर) से कशिंग का रोग उत्पन्न होता है। पीयूषिका के क्रियाह्रास से मथुनी असमर्थता, शिशुता (इनफैंटाइलिज्म), शरीर में वसा की अतिवृद्धि तथा मूत्रबाहुल्य, य सब दशाएँ उत्पन्न होती हैं। पूर्वखडिका की क्रिया के अत्यत ह्रास से रोगी कृश हो जाता है और मैथुनशक्ति नष्ट हो जाती है। इसे साइमड का रोग कहते हैं।

अधिवृक्क (ऐड्रिनल्स)—ये दो त्रिकोणाकार ग्रथियाँ हैं जो उदर के भीतर दाहिनी ओर या बाएँ वृक्क के ऊपरी गोल सिरे पर मुर्गे की कलगी की भाँति स्थित रहती हैं। ग्रथि में दो भाग होते हैं, एक बाहर का भाग, जो बहिस्था (कॉर्टेक्स) कहलाता है और दूसरा इसके भीतर का अतस्था (मैडुला)। बहिस्था भाग जीवन के लिये अत्यत आवश्यक है। लगभग दो दर्जन रासायनिक पदार्थ (रवेदार स्टिग्ररॉइड,) इस भाग से पृथक् किए जा चुके हैं। उनमें से कुछ ही शारीरिक क्रियाओं से सबद्ध पाए गए हैं। बहिस्था भाग का विद्युद्विश्लेष्यो (इलेक्ट्रोलाइट्स) के चयापचय और कारबोहाइड्रेट के चयापचय से घनिष्ठ सबध है। वृक्को की क्रिया, शारीरिक वृद्धि, सहनशक्ति, रक्तचाप और पेशियो का सकोच, ये सब बहुत कुछ बहिस्था भाग पर निर्भर हैं। इस भाग में जो हारमोन बनते हैं उनमें कॉर्टिसोन, हाइड्रोकार्टिसोन, प्रेडनीसोन और प्रेडनीसोलोन का प्रयोग चिकित्सा में बहुत किया जाता है। बहुत से रोगो में उनका अद्भुत प्रभाव पाया गया है और रोगियों की जीवनरक्षा हुई है। विशेष बात यह है कि ये हारमोन अत स्रावी ग्रथियो के रोगो के अतिरिक्त कई अन्य रोगो में भी अत्यत उपयोगी पाए गए हैं। कहा जाता है कि यदि क्षयजन्य मस्तिष्कावरणार्ति (ट्यूबर्क्यूलर मेनिन्जाइटिस) की चिकित्सा में अन्य ओषधियो के साथ कार्टिसोन का भी प्रयोग किया जाय तो लाभ या रोगमुक्ति निश्चित है।

मध्यस्था भाग जीवन के लिये अनिवार्य नही है। उसमे ऐड्रिनैलिन तथा नौर ऐड्रिनैलिन नामक हारमोन बनते है।

बहिस्था की अतिक्रिया से पुरुषो में स्त्रीत्व के से लक्षण प्रगट हो जाते हैं। उसकी क्रिया के ह्रास का परिणाम ऐडिसन का रोग होता है जिसमे रक्तदाब का कम हो जाना, दुर्बलता, दस्त आना और त्वचा मे रग के कणो का एकत्र होना विशेष लक्षण होते हैं।

अवटुका ग्रंथि (थाइरॉयड)—यह ग्रथि गले मे श्वासनाल पर टेटुवे से नीचे घोड़े की काठी के समान स्थित है। इसके दोनो खड नाल के दोनो ओर रहते हैं और बीच का, उन दोनो को जोडनेवाला, भाग नाल के सामने रहता है। इस ग्रथि मे थाइरॉक्सीन नामक हारमोन बनता है। इसको प्रयोगशालाओ में भी तैयार किया गया है। इसका स्राव पीयूषिका के अवटुकापोषक हारमोन द्वारा नियत्रित रहता है। यह वस्तु मौलिक चयापचय गति (बेसल मेटाबोलिक रेट, बी०एम०आर०), नाडीगति तथा रक्तदाब को बढाती है। इस ग्रथि की अतिक्रिया से मौलिक चयापचय गति तथा नाडी की गति बढ जाती है। हृदय की धड़कन भी बढ जाती है। नेत्र बाहर निकलते हुए से दिखाई पडते हैं। ग्रथि मे रक्त का सचार अधिक हो जाता है। ग्रथि की क्रिया के कम होने से बालको में वामनता (क्रेटिनिज्म) की और अधिक आयुवालो मे मिक्सोडीमा की दशा उत्पन्न हो जाती है। वामनता मे शरीर की वृद्धि नही होती। १८-२० वर्ष का व्यक्ति सात आठ वर्ष का सा दिखाई पडता है। बुद्धि का विकास भी नही होता। पेट आगे को बढा हुआ, मुख खुला हुआ और उससे राल चूती हुई तथा बुद्धि मद रहती है। मिक्सोडीमा में हाथ तथा मुख पर वसा (चर्बी) एकत्र हो जाती है, आकृति भारी या मोटी दिखाई देती है। ग्रथि के सत्व (एक्सट्रैक्ट) खिलाने से ये दशाएँ दूर हो जाती हैं।

उपावटुका (पैराथाइरॉयड)—ये चार छोटी छोटी ग्रथियाँ होती हैं। अवटुकाग्रथि के प्रत्येक खड के पृष्ठ पर ऊपर और नीचे के ध्रुवो के पास एक एक ग्रथि स्थित रहती है और उससे उसका निकट सबध रहता है। इन ग्रथियो का हारमोन कैलसियम के चयापचय का नियत्रण करता है। कैलसियम के स्वांगीकरण के लिये यह हारमोन आवश्यक है। इसकी प्रतिक्रिया से कैलसियम, फास्फेट के रूप में, मूत्र द्वारा अधिक मात्रा मे निकलने लगता है जिससे अस्थियाँ विकृत हो जाती हैं और औस्टिग्राइटिस फाइब्रोसा नामक रोग हो जाता है। इसकी क्रिया कम होने पर टेटैनी रोग होता है।

प्रजनन ग्रंथियाँ—प्रजनन ग्रथियाँ दो है, अंडग्रथि (टेस्टीज़) और डिबग्रथि (ओवैरी)। पहली ग्रथि पुरुष में होती है और दूसरी स्त्री में।

अंडग्रंथि—अडकोष मे दोनो ओर एक एक ग्रथि होती है। इस ग्रथि की मुख्य क्रिया शुक्राणु उत्पन्न करना है जिससे सतानोत्पत्ति हो और वश की रक्षा हो। ये वीर्य के साथ एक वाहनी नलिका द्वारा ग्रथि से बाहर निकलकर और स्त्री के डिंब से मिलकर गर्भोत्पत्ति करते हैं। इसी ग्रथि मे दूसरा एक अत स्राव बनता है जो टेस्टॉस्टेरोन कहलाता है। यह स्राव सीधा शरीर में व्याप्त हो जाता है, बाहर नही आता। यह शुक्राणुओ की उत्पत्ति के लिये आवश्यक है। पुरुष में पुरुषत्व के लक्षण यही उत्पन्न करता है। पुरुष की जननेंद्रियो की वृद्धि इसी पर निर्भर रहती है। पीयूषिका के अग्रखंड में का स्राव इस हारमोन की उत्पत्ति को बढाता है।

डिबग्रंथि—डिंबग्रथियाँ स्त्रियो के उदर के निचले भाग मे, जिसे श्रोणि कहते हैं, होती हैं। प्रत्येक ओर एक ग्रथि होती है। इनका मुख्य कार्य डिब उत्पन्न करना है। डिब और शुक्राणु के सयोग से गर्भ की स्थापना होती है। इसमें से जो अत स्राव बनता है वह स्त्रियो मे स्त्रीत्व के लक्षण उत्पन्न करता है। स्त्रियो के रजोधर्म का भी यही कारण होता है। किंतु यह क्रिया निश्चित कालातर से होती है, समय आने पर ग्रथि तथा अन्य जननेंद्रियो के रूप मे तथा उसकी क्रिया मे भी अतर आ जाता है।

लैंगरहैंस की द्वीपिकाएँ—अग्न्याशय ग्रथि मे कोशिकाओ के समूह कई स्थानो मे पाए जाते है। इन समूहो का वर्णन सबसे पहले लैंगरहैंस ने किया था। इसी कारण ये समूह लैंगरहैंस की द्वीपिकाएँ कहलाते हैं। यद्यपि इनकी कोशिकाएँ अग्न्याशय ग्रथि मे स्थित होती है तो भी स्वय ग्रथि की कोशिकाओ से ये आकार तथा रचना मे भिन्न होती हैं। इनके द्वारा उत्पन्न हारमोन इस्यूलीन कहलाता है जो कारबोहाइड्रेट के चयापचय का नियत्रण करता है। इस हारमोन की कमी से मधुमेह रोग (डायाबिटीज़) हो जाता है।

इसी प्रकार अड तथा अग्न्याशय और कुछ अन्य ग्रथियो मे भी अत. तथा बहि दोनो प्रकार के स्राव बनते हैं।

थाइमस—यह ग्रथि वक्ष के अग्र अतराल मे स्थित है। युवावस्था के प्रारभ तक यह ग्रथि बढती रहती है। उसके पश्चात् इसका ह्रास होने लगता है। इस ग्रथि की क्रिया अभी तक नही ज्ञात हो सकी है।

[शि० श० मि०]

अंत्यज 'अत्य' का मूल भौगोलिक अर्थ सीमापरवर्ती (दिशामन्त = दिशा का अत, बृहदारण्यक उप० १।३।१०) था। सीमा के बाहर रहनेवालो को 'अत्यज' कहा जाता था। इनको अत्यावसायी, बाह्य तथा निर्वसित भी कहते थे। अत्यज का सामान्य अर्थ है ऐसे लोग अथवा जनसमूह जो आर्य बस्तियो की सीमा के बाहर रहते थे और सस्कृति अथवा जाति में भी भिन्न होते थे। अधिकाश मे जगली और पर्वतीय जातियाँ इनमे समिलित थी। जब धीरे धीरे वर्णाश्रम व्यवस्था की स्थापना हो गई तब बहुत सी ऐसी जातियाँ जो इस व्यवस्था के अतर्गत नही आईं, वे चतुर्थ और अतिम वर्ण शूद्र के भी परे अत्यज मानी जाने लगी। इनमे पडोसी विदेशियो (म्लेच्छ), चाडाल, पौल्कस, विदलकार, आदि की गणना थी। कुछ शास्त्रकारो ने इनमे क्षत्रि, वैदेहिक, मागध और आयोगव आदि वर्णसकर जातियो को भी समाविष्ट किया है (अगिरस्, याज्ञ० ३।२६५ पर मिताक्षरा द्वारा उद्धृत)। कही कही उनको पचम वर्ण भी माना गया है। परतु कुछ स्मृतियो ने दृढता के साथ कहा है कि पचम वर्ण हो ही नही सकता (चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति पचम। मनु० १०।४), अत्यज के समाजीकरण का क्रम था अतिशूद्र, शूद्र और सच्छूद्र। अत्यजो के साथ सवर्णों के भोजन, विवाह आदि सामाजिक सबध निषिद्ध थे। वास्तव मे अत्यज की परिगणना विभिन्न स्तर की जातियो और समूहो के समिश्रण की प्राथमिक अवस्था थी। परस्पर सपर्क, व्यवहार एव सबध से यह अवस्था प्राय लुप्त हो रही है। शिक्षा, व्यवसाय तथा उन्नयन की समान सुविधा एव विधिक मान्यता से इस अवस्था का अत निश्चित है। अत्यज की कल्पना केवल भारत में ही नही पाई जाती। आज भी यह अमरीका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि देशो मे अपने उग्र रूप में वर्तमान है, यद्यपि इसके विरुद्ध वहाँ भी आदोलन चल रहे हैं (देखिए अस्पृश्य)। [रा० ब० पा०]

अंत्याक्षरी प्राचीन काल से चला आता स्मरण शक्ति का परिचायक एक खेल जिसमें कहे हुए श्लोक या पद्य के अंतिम अक्षर को लेकर दूसरा व्यक्ति उसी अक्षर से आरंभ होनेवाला श्लोक या पद्य कहता है, जिसके उत्तर में फिर पहला व्यक्ति दूसरे के कहे श्लोक या पद्य के अंतिम अक्षर से आरंभ होनेवाला श्लोक या पद्य कहता है। इसी प्रकार यह खेल चलता है और जब अपेक्षित व्यक्ति की स्मरण शक्ति जवाब दे जाती है और उससे पद्यमय उत्तर नहीं बन पाता तब उसकी हार मान ली जाती है। यह खेल दो से अधिक व्यक्तियों के बीच भी वृत्ताकार रूप में खेला जाता है। विद्यार्थियों में यह आज भी प्रचलित है और अनेक संस्थाओं में तो इसकी प्रतियोगिता का आयोजन भी होता है। अंत्याक्षरी के उदाहरणार्थ 'रामचरितमानस' से तीन चौपाइयाँ नीचे दी जाती है जिनमें अगली चौपाई पिछली के अंत्याक्षर से आरंभ होती है :

बोले रामहि देइ निहोरा। बचौ बिचारि बंधु लघु तोरा॥
रामचरितमानस एहि नामा। सुनत स्रवन पाइअ बिस्रामा॥
मातु समीप कहत सकुचाही। बोले समय समुझि मन माहीं॥

[भ० श० उ०]

अंत्याधार (अबटमेंट) पुल के छोरों पर ईट, सीमेंट आदि की बनी उन भारी संरचनाओं को कहते हैं जो पुलों की दाब या प्रतिक्रिया सहन करती हैं। बहुधा चारों ओर दीवारें बनाकर बीच में मिट्टी भर दी जाती है। ऊर्ध्वाधर भार सहने के अतिरिक्त अंत्याधार पुल को आगे पीछे खिसकने से और एक बगल बोझ पड़ने पर पुल की ऐंठने की प्रवृत्ति को भी रोकते हैं। ईटें चुनकर, या सादे कंक्रीट से, या इस्पात की छड़ों से सुदृढ़ किए (रिइन्फ़ोर्स्ड) कंक्रीट से ये बनते हैं। अंत्याधार कई प्रकार के होते हैं, जैसे सीधे अंत्याधार, सुदृढ़ की गई कंक्रीट की दीवारें, सुदृढ़ किए गए सीमेंट के पुश्ते (काउंटरफोर्ट रिटेनिंग वाल्स) और सुदृढ़ किए गए सीमेंट के कोष्ठमय खोखले अंत्याधार (सेलुलर हॉलो अबटमेंट)। बगली दीवारें (विंग वाल्स) और जवाबी दीवारें (रिटर्न वाल्स) कभी अलग बना दी जाती हैं, कभी अंत्याधार में जुड़ी हुई बनाई जाती हैं। संरचना को इतना भारी और दृढ़ होना चाहिए कि पुल की दाब से वह उलट न जाय और ऐसा न हो कि वह अपनी नींव पर या बीच के किसी रद्दे पर खिसक जाय। ध्यान रखना चाहिए कि संरचना अथवा नींव के किसी भी स्थान पर महत्तम स्वीकृत बल से अधिक बल न पड़े। दाब आदि की गणना करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि पुल पर आती जाती गाड़ियों के कारण बल कितना अधिक बढ़ जायगा। जहाँ अगल बगल पक्की दीवारें बनाकर बीच में मिट्टी भरी जाती है, वहाँ ऐसा विश्वास किया जाता है कि लगभग १० फुट लंबी सुदृढ़ किए कंक्रीट की पाटन (स्लैब) डाल देने से मिट्टी के खिसकने का डर नहीं रहता। अगल बगल की दीवारों पर मुक्के (छेद) छोड़ देने चाहिए जिसमें मिट्टी में घुसे पानी को बहने का मार्ग मिल जाय और इस प्रकार मिट्टी की दाब के साथ पानी की अतिरिक्त दाब दीवारों पर न पड़े। साधारणतः समझा जाता है कि दीवार के किसी बिंदु पर तनाव नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि वे केवल संपीडनजनित बल ही सँभाल सकती हैं, परंतु यदि सुदृढ़ीकृत कंक्रीट से तनाव सह सकनेवाली ऐसी दीवार बनाई जाय जिसमें संपीडनजनित बल को केवल कंक्रीट (न कि उसमें पड़ा इस्पात) अपनी पूरी सीमा तक सहन करता है, तो खर्च कम पड़ता है।

अंत्याधार की दीवारों की परिकल्पना (डिज़ाइन) में या तो यह माना जाता है कि ऊपर उनको पुल का पाट सँभाले हुए है और नीचे नींव, या यह माना जाता है कि वे तोड़ा (कैंटिलीवर) हैं। बड़े पुलों के भारी अंत्याधारों की परिकल्पना स्थिर करने के पहले वहाँ की मिट्टी की जाँच सावधानी से करनी चाहिए। यदि आवश्यकता प्रतीत हो तो खूँटे (पाइल) या कूप (खोखले खंभे) गाड़कर उनपर नींव रखनी चाहिए।

पुल बनाने में अंत्याधारों पर भी बहुत खर्च हो जाता है। इस खर्च को कम करने के लिये निम्नलिखित उपायों का उपयोग किया जा सकता है :

(क) पुल पर आनेवाली सड़क की मिट्टी पुल के इतने पास तक डाली जाय कि पुल का अंतिम पाया मिट्टी में डूब जाय और फिर वहाँ से भराव ढालू होता हुआ नदी तल तक पहुँचे। ढालू भराव ढोंके या गिट्टी का हो, या कम से कम ढोंके और गिट्टी की तह से सुरक्षित हो और भूमि के पास नाटी दीवार (टो वाल) बनाई जाय।

(ख) पुल के अंतिम बयाँग (स्पैन) बहुत छोटे हों, जिसमें उनको सँभालने के लिये छिछले अंत्याधारों की आवश्यकता पड़े।

यहाँ उन अंत्याधारों का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा जो पुलों के तोड़ेदार छोरों (कैंटिलीवर एंड्स) को स्थिर करने के लिये प्रयुक्त होते हैं, या झूला पुलों को दृढ़ करनेवाले गर्डरों के सिरों को स्थिर करने के लिये प्रयुक्त होते हैं।

पुलों के पायों में से बीच में पड़नेवाले उन पायों को अंत्याधार पाया कहते हैं जो आसपास के बयाँगों के भारों को सँभाल सकने के अतिरिक्त केवल एक ओर के बयाँग के कुल अचल बोझ को पूर्णतया सँभाल सकते हैं। मेहराबों से बने पुलों में साधारणतः प्रत्येक चौथा या पाँचवाँ पाया अंत्याधार पाया मानकर अधिक दृढ़ बनाया जाता है, जिसका उद्देश्य यह होता है कि एक बयाँग के टूटने पर सारा पुल ही न टूट जाय। [सी० बा० जो०]

अंधक (१) कश्यप और दिति का पुत्र एक दैत्य, जो पौराणिक कथाओं के अनुसार हजार सिर, हजार भुजाओंवाला, दो हजार आँखों और दो हजार पैरोंवाला था। शक्ति के मद में चूर वह आँख रहते अंधे की भाँति चलता था, इसी कारण उसका नाम अंधक पड़ गया था। स्वर्ग से जब वह पारिजात वृक्ष ला रहा था तब शिव द्वारा वह मारा गया, ऐसी पौराणिक अनुश्रुति है।

(२) क्रोष्ट्री नामक यादव का पौत्र और युधाजित का पुत्र, जो यादवों की अंधक शाखा का पूर्वज तथा प्रतिष्ठाता माना जाता है। जैसे अंधक से अंधकों की शाखा हुई, वैसे ही उसके भाई वृष्णि से वृष्णियों की शाखा चली। इन्हीं वृष्णियों में कालांतर में वार्ष्णेय कृष्ण हुए। महाभारत की परंपरा के अनुसार अंधकों और वृष्णियों के अलग अलग गणराज्य भी थे, फिर दोनों ने मिलकर अपना एक संघराज्य (अंधक-वृष्णि-संघ) स्थापित कर लिया था। [भ० श० उ०]

अंधता या अंधापन देख न सकने की दशा का नाम है। जो बालक अपनी पुस्तक के अक्षर नहीं देख सकता, वह इस दशा से ग्रस्त कहा जा सकता है। दृष्टिहीनता भी इसी का नाम है। प्रकाश का अनुभव कर सकने की अशक्यता से लेकर ऐसे कार्य करने तक की अशक्यता जो देखे बिना नहीं किए जा सकते, अंधता कही जाती है।

कारण—अनुमान किया जाता है कि हमारे देश में ३०,००,००० अंधे हैं। इस दशा के निम्नलिखित विशेष कारण होते हैं : (१) पलकों में रोहे या कुकड़े (ट्रैकोमा), (२) चेचक या माता, (३) पोषणहीनता (न्यूट्रिशनल डेफ़ीशिएंसी), (४) रतिज रोग, जैसे प्रमेह (गोनोरिया) और उपदंश (सिफ़िलिस), (५) समलबाई (ग्लॉकोमा), (६) मोतियाबिंद, और (७) कुष्ठ रोग।

हमारे देश के उत्तरी भागों में, जहाँ धूल की अधिकता के कारण रोहे बहुत होते हैं, यह रोग अधिक पाया जाता है। देशवासियों की आर्थिक दशा भी, बहुत बड़ी सीमा तक, इस रोग के लिये उत्तरदायी है। उपयुक्त और पर्याप्त भोजन न मिलने से नेत्रों में रोग हो जाते हैं जिनका परिणाम अंधता होती है।

(१) **रोहे या कुकड़े** (ट्रैकोमा)—यह रोग अति प्राचीन काल से अंधता का विशेष कारण रहा है। हमारे देश के अस्पतालों के नेत्र विभागों में आनेवाले ३३ प्रति शत अंधता के रोगियों में अंधता का यही कारण पाया जाता है। यह रोग उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार तथा बंगाल में अधिक होता है। विशेषकर गाँवों में स्कूल जानेवाले तथा उससे भी पूर्व की आयु के बच्चों में यह रोग बहुत रहता है। इसका प्रारंभ बचपन से भी हो जाता है। गरीब व्यक्तियों के रहने की अस्वास्थ्यकर गंदगीयुक्त परिस्थितियाँ रोग उत्पन्न करने में विशेष सहायक होती हैं। इस रोग के उपद्रव रूप में कार्निया (नेत्रगोलक के ऊपरी स्तर) में व्रण (घाव) हो जाता है जो उचित चिकित्सा न होने पर विदार (छेद, पर्फ़ोरेशन) उत्पन्न कर देता है, जिससे आगे चलकर अंधता हो सकती है।

इस रोग का कारण एक वाइरस है जो रोहों से पृथक् किया जा चुका है।

लक्षण और चिह्न—रोहे पलको के भीतरी पृष्ठो पर हो जाते हैं। प्रत्येक रोहा एक उभरे हुए दाने के समान, लाल, चमकता हुआ, किंतु जीर्ण हो जाने पर कुछ धूसर या श्वेत रग का होता है। ये गोल या चपटे और छोटे बडे कई प्रकार के होते हैं। इनका कोई क्रम नही होता। इनसे पैनस (अपारदर्शक ततु) उत्पन्न होकर कार्निया के मध्य की ओर फैलते हैं। इसका कारण रोगोत्पादक वाइरस का प्रसार है। यह दशा प्राय कार्निया के ऊपरी अर्धभाग में अधिक उत्पन्न होती है।

रोग के सामान्य लक्षण—पलको के भीतर खुजली और दाह होना, नेत्रो से पानी निकलते रहना, प्रकाशासह्यता और पीडा इसके साधारण लक्षण है। सभव है, आरभ मे कोई भी लक्षण न हो, किंतु कुछ समय पश्चात् उपर्युक्त लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। पलक मोटे पड जाते हैं। पलको को उलटकर देखने से उनपर रोहे दिखाई देते हैं।

अवस्थाएँ—इस रोग की चार अवस्थाएँ होती हैं। पहली अवस्था मे श्लेष्मिक कला (कजक्टाइवा) एक समान शोथयुक्त और लाल मखमल के समान दिखाई पडती है, दूसरी अवस्था मे रोहे बन जाते हैं। तीसरी अवस्था मे रोहो के अकुर जाते रहते हैं और उनके स्थान मे सौत्रिक धातु बनकर कला मे सिकुडन पड जाती है। चौथी और अतिम अवस्था मे उपद्रव (काम्प्लिकेशन) उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका कारण कार्निया मे वाइरस का प्रसार और पलको की कला का सिकुड जाना होता है। अन्य रोगा के सक्रमण (सेकडरी इनफेक्शन) का प्रवेश बहुत सरल है और प्राय सदा ही हो जाता है।

इन रोगो के परिणामस्वरूप श्लेष्मकला (कजक्टाइवा), कार्निया तथा पलको मे निम्नलिखित दशाएँ उत्पन्न हो जाती हैं (१) परवाल (एट्रोपियन, ट्रिकिएसिस)—इसमे ऊपरी पलक का उपासिपट्ट (टार्सस) भीतर को मुड जाता है, इसमे पलको के बाल भीतर की ओर मुडकर नेत्रगोलक तथा कार्निया को रगडने लगते हैं जिससे कार्निया पर व्रण बन जाते है, (२) एक्ट्रोपियन—इसमे पलक की छोर बाहर मुड जाती है। यह प्राय नीचे की पलक मे होता है, (३) कार्निया के व्रणो के अच्छे होने मे बने ततु तथा पैनस के कारण कार्निया अपारदर्शी (ओपेक) हो जाती है, (४) कार्निया के व्रणो का विदार, (५) स्टैफीलोमा हो जा सकती है, जिसमे कार्निया बाहर उभड आती है, इससे आशिक या पूर्ण अधता उत्पन्न हो सकती है, (६) जीरोसिस, जिसमे श्लेष्मकला सकुचित और शुष्क हो जाती है एव उसपर शल्क से बनने लगते हैं; (७) यक्ष्मपात (टोसिस), जिसमे पेशी-सूत्रो के आक्रात होने से ऊपर की पलक नीचे झुक आती है और ऊपर नही उठ पाती, जिससे नेत्र बद सा दिखाई पडता है।

हेतुकी (ईटियोलॉजी)—रोहे का सक्रमण रोगग्रस्त बालक या व्यक्ति से अँगुली, अथवा तौलिया, रूमाल आदि वस्त्रो द्वारा स्वस्थ बालक मे पहुँचकर उसको रोगग्रस्त कर देता है। अस्वच्छता, अस्वस्थ परिस्थितियाँ तथा बलवर्धक भोजन के अभाव से रोगोत्पत्ति मे सहायता मिलती है। रोग फैलाने मे धूल विशेष सहायक मानी जाती है। इस कारण गाँवो मे यह रोग अधिक होता है। उपयुक्त चिकित्सा का अभाव रोग के भयकर परिणामो का बहुत कुछ उत्तरदायी है।

चिकित्सा—ओषधियो और शस्त्रकर्म दोनो प्रकार से चिकित्सा की जाती है। ओषधियो मे ये मुख्य है: (१) सल्फोनेमाइड की ६ से ८ टिकिया प्रति दिन खाने को। प्रतिजीवी (ऐंटिबायोटिक्स) ओषधियो का नेत्र मे प्रयोग, नेत्र में डालने के लिये बूंदो के रूप मे तथा लगाने के लिये मरहम के रूप मे, जिसकी क्रिया अधिक समय तक होती रहती है।

पेनिसिलीन से इस रोग मे कोई लाभ नही होता, हाँ, अन्य संक्रमण उससे अवश्य नष्ट हो जाते हैं। इस रोग के लिये ऑरोमायसीन, टेरामायसीन, क्लोरमायसिटीन आदि का बहुत प्रयोग होता है। हमारे अनुभव मे सल्फासिटेमाइड और नियोमायसीन दोनो को मिलाकर प्रयोग करने से संतोषजनक परिणाम होते हैं। आईमाइड-मायसिटीन को, जो इन दोनो का योग है, दिन में चार बार छ से आठ सप्ताह तक, लगाना चाहिए। साथ ही जल मे बोरिक ऐसिड, जिंक और ऐड्रिनेलीन के घोल की बूँदें नेत्र में डालते रहना चाहिए। यदि कार्निया का व्रण भी हो तो इनके साथ ऐट्रोपीन की बूंदे भी दिन मे दो बार डालना और बोरिक घोल से नेत्र को धोना तथा ऊष्म सेक करना उचित है।

शस्त्रोपचार—शस्त्रोपचार केवल उस अवस्था मे करना होता है जब उपर्युक्त चिकित्सा से लाभ नही होता।

श्लेष्मकला को ऐनीथेन से चेतनाहीन करके प्रत्येक रोहे को एक चिमटी (फॉरसेप्स) से दबाकर फोडा जाता है। इस विधि का बहुत समय से प्रयोग होता आ रहा है और यह उपयोगी भी है। श्लेष्मकला का छेदन केवल दीर्घकालीन रोग में कभी कभी किया जाता है। एंट्रोपियन, एक्ट्रोपियन और कार्निया की श्वेताकता की चिकित्सा भी शस्त्रकर्म द्वारा की जाती है। श्वेताक जब मध्यस्थ या इतना विस्तृत होता है कि उसके कारण दृष्टि रुक जाती है तो कार्निया मे एक ओर छेदन करके उसमे से आयरिस के भाग को बाहर खीचकर काट दिया जाता है, जिससे प्रकाश के भीतर जाने का मार्ग बन जाता है। इस कर्म को ऑप्टिकल आइरिडेक्टामी कहते हैं।

पैनस के लिये विटामिन-बी$_2$ (राइबोफ्लेवीन) १० मिलीग्राम, अत-पेशीय मार्ग से छः या सात दिन तक नित्यप्रति देना चाहिए। नेत्र को प्रक्षालन द्वारा स्वच्छ रखना आवश्यक है।

प्रतिषेध—प्रतिषेध, विशेषतया स्कूलो, बोर्डिंग हाउसो तथा बैरको मे, बहुत आवश्यक है। इन सस्थाओ अथवा परिवारो मे किसी के रोगग्रस्त होने पर वहाँ के बालको तथा अन्य रहनेवालो को रोग फैलने के कारणो का ज्ञान करा देना चाहिए। रोगग्रस्त बालक की उपयुक्त चिकित्सा का प्रबध करना तथा सब बालको को स्वच्छता का महत्व समझाना और उसके लिये आवश्यक आयोजनो का ज्ञान कराना अत्यावश्यक है।

रोगग्रस्त बालक का पता लगाने के लिये समय समय पर सब बालको की डाक्टरी परीक्षा आवश्यक है।

(२) **नवजात शिशु का अक्षिकोप** (ऑफ्थैल्मिया नियोनोटेरम)—इस रोग का कारण यह है कि जन्म के अवसर पर माता के सक्रमित जनन-मार्ग द्वारा शिशु का सिर निकलते समय उसके नेत्रो मे सक्रमण पहुँच जाता है और तब जीवाणु श्लेष्मकला मे शोथ उत्पन्न कर देते हैं। इस रोग के कारण हमारे देशवासियो की बहुत बडी सख्या जन्म भर के लिये आँखो से हाथ धो बैठती है। यह अनुमान लगाया गया है कि ३० प्रति शत व्यक्तियों मे गोनोकोक्कस, ३० प्रति शत मे स्टैफिलो या स्ट्रेप्टोकोक्कस और शेष मे बैसिलस तथा वाइरस के सक्रमण से रोग उत्पन्न होता है। पिछले दस वर्षों मे यह रोग पेनिसिलीन और सल्फोनेमाइड के प्रयोग के कारण बहुत कम हो गया है।

लक्षण—जन्म के तीन दिन के भीतर नेत्र सूज जाते हैं और पलको के बीच से श्वेत मटमैले रग का गाढा स्राव निकलने लगता है। यदि यह स्राव चौथे दिन के पश्चात् निकले तो समझना चाहिए कि सक्रमण जन्म के पश्चात् हुआ है। पलको के भीतर की ओर से होनेवाले स्राव की एक बूंद शुद्ध की हुई काच की शलाका से लेकर काच की स्लाइड पर फैलाकर रजित करने के पश्चात् सूक्ष्मदर्शी द्वारा उसकी परीक्षा करवानी चाहिए। किंतु परीक्षा का परिणाम जानने तक चिकित्सा को रोकना उचित नही है। चिकित्सा तुरत प्रारभ कर देनी चाहिए।

प्रतिषेध तथा चिकित्सा—रोग को रोकने के लिये जन्म के पश्चात् ही बोरिक लोशन से नेत्रो को स्वच्छ करके उनमे पेनिसिलीन के एक सी०सी० मे २,५०० एकको (यूनिटो) के घोल की बूंदे डाली जाती है। यह चिकित्सा इतनी सफल हुई है कि सिल्वर नाइट्रेट का दो प्रति शत घोल डालने की पुरानी प्रथा अब बिलकुल उठ गई है। पेनिसिलीन की क्रिया सल्फोनेमाइड से भी तीव्र होती है।

चिकित्सा भी पेनिसिलीन से ही की जाती है। पेनिसिलीन के उपर्युक्त शक्ति के घोल की बूँदे प्रति चार या पाँच मिनट पर नेत्रो मे तब तक डाली जाती है जब तक स्राव निकलना बद नही हो जाता। एक से तीन घटे मे स्राव बद हो जाता है। दूसरी विधि यह है कि १५ मिनट तक एक एक मिनट पर बूँदे डाली जायँ और फिर दो दो मिनट पर, तो आध घटे मे स्राव निकलना रुक जाता है। फिर दो तीन दिनो तक अधिक अतर से बूँदे डालते रहते हैं। यदि कार्निया मे व्रण हो जाय तो ऐट्रोपीन का भी प्रयोग आवश्यक है।

(३) **चेचक** (बडी माता, स्मॉल पॉक्स) इस रोग में कार्निया पर चेचक के दाने उभर आते हैं, जिससे वहाँ व्रण बन जाता है। फिर वे दाने

फूट जाते हैं जिससे अनेक उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं। इनका परिणाम अंधता होती है।

दो बार चेचक का टीका लगवाना रोग से बचने का प्रायः निश्चित उपाय है। कितनी ही चिकित्सा की जाय, इतना लाभ नहीं हो सकता।

(४) **किरेटोमैलेशिया**—यह रोग विटामिन ए की कमी से उत्पन्न होता है। इस कारण निर्धन और अस्वच्छ वातावरण में रहनेवाले व्यक्तियों को यह अधिक होता है। हमारे देश में यह रोग भी अंधता का विशेष कारण है।

यह रोग बच्चों को प्रथम दो वर्षों तक अधिक होता है। नेत्र की श्लेष्मकला (कंजंक्टाइवा) शुष्क हो जाती है। दोनों पलकों के बीच का भाग धुँधला सा हो जाता है और उसपर श्वेत रंग के धब्बे बन जाते हैं जिन्हें बिटौट के धब्बे कहते हैं। कार्निया में व्रण हो जाता है जो आगे चलकर विदार में परिवर्तित हो जाता है। इन उपद्रवों के कारण बच्चा अंधा हो जाता है।

ऐसे बच्चों का पालन पोषण प्रायः उत्तमतापूर्वक नहीं होता, जिसके कारण वे अन्य रोगों के भी शिकार हो जाते हैं और बहुत अधिक संख्या में अपनी जीवनलीला शीघ्र समाप्त कर देते हैं।

चिकित्सा—नेत्र में विटैमिन ए या पेरोलीन डालकर श्लेष्मिका को स्निग्ध रखना चाहिए। कार्निया में व्रण हो जाने पर ऐट्रोपीन डालना आवश्यक है।

रोगी की साधारण चिकित्सा अत्यंत आवश्यक है। दूध, मक्खन, फल, शार्क-लिवर या काड-लिवर तैल द्वारा रोगी को विटामिन ए प्रचुर मात्रा में देना तथा रोग की तीव्र अवस्थाओं में इंजेक्शन द्वारा विटामिन ए के ५०,००० एकक रोगी के शरीर में प्रति दिन या प्रति दूसरे दिन पहुँचाना इसकी मुख्य चिकित्सा है। रोग के आरंभ में ही यदि पूर्ण चिकित्सा प्रारंभ कर दी जाय तो रोगी के रोगमुक्त होने की अत्यधिक संभावना रहती है।

(५) **कुष्ठ**—हमारे देश में कुष्ठ (लेप्रोसी) उत्तर प्रदेश, बंगाल और मद्रास में अधिक होता है और अभी तक यह भी अंधता का एक विशेष कारण था। किंतु इधर सरकार द्वारा रोग के निदान और चिकित्सा के विशेष आयोजनों के कारण इस रोग में अब बहुत कमी हो गई है और इस प्रकार कुष्ठ के कारण हुए अंधे व्यक्तियों की संख्या घट गई है।

कुष्ठ रोग दो प्रकार का होता है। एक वह जिसमें तंत्रिकाएँ (नर्व) आक्रांत होती हैं। दूसरा वह जिसमें चर्म के नीचे गुलिकाएँ या छोटी छोटी गाँठें बन जाती हैं। दोनों प्रकार का रोग अंधता उत्पन्न कर सकता है। पहले प्रकार के रोग में सातवीं या नवीं नाड़ी के आक्रांत होने से ऊपरी पलक की पेशियों की क्रिया नष्ट हो जाती है और पलक बंद नहीं होता। इससे श्लेष्मिका तथा कार्निया का शोथ उत्पन्न होता है, फिर व्रण बनते हैं। उनके उपद्रवों से अंधता हो जाती है। दूसरे प्रकार के रोग में श्लेष्मिका और श्वेतपटल (स्क्लीरा) में शोथ के लक्षण दिखाई देते हैं। भौंह के बाल गिर जाते हैं और उसमें गाँठें सी बन जाती हैं। कार्निया पर श्वेत चूने के समान बिंदु दिखाई देने लगते हैं। पैनस भी बन सकता है। कार्निया में भी शोथ (इंटर्स्टिशियल किरैटाइटिस) हो जाता है और आयरिस भी आक्रांत हो जाता है (जिसे आयराइटिस कहते हैं)। इसके कारण वह अपने सामने तथा पीछे के अवयवों से जुड़ जाता है।

चिकित्सा—कुष्ठ के लिये सल्फोन समूह की विशिष्ट ओषधियाँ हैं। शारीरिक रोग की चिकित्सा के लिये इनको पूर्ण मात्रा में देना आवश्यक है। साथ ही नेत्ररोग की स्थानिक चिकित्सा भी आवश्यक है। जहाँ भी कार्निया या आयरिस आक्रांत हों वहाँ ऐट्रोपीन की बूंदों या मरहम का प्रयोग करना अत्यंत आवश्यक है। आवश्यक होने पर शस्त्रकर्म भी करना पड़ता है।

(६) **उपदंश (सिफ़िलिस)**—इस रोग के कारण नेत्रों में अनेक प्रकार के उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका परिणाम अंधता होती है। निम्नलिखित मुख्य दशाएँ हैं :

क. इंटर्स्टिशियल किरैटाइटिस,

ख. स्क्लीरोज़िंग किरैटाइटिस,

ग. आयराइटिस और आइरोडोसिक्लाइटिस,

घ. सिफिलिटिक कॉरोइडाइटिस,

ङ. सिफिलिटिक रेटिनाइटिस,

च. दृष्टितंत्रिका (ऑप्टिक नर्व) की सिफिलिस। यह दशा निम्नलिखित रूप ले सकती है :

१. दृष्टिनाड़ी का शोथ (ऑप्टिक न्यूराइटिस)
२. पैपिलो-ईडिमा
३. गमा
४. प्राथमिक दृष्टिनाड़ी का क्षय (प्राइमरी ऑप्टिक ऐट्रोफी)

चिकित्सा—सिफिलिस की साधारण चिकित्सा विशेष महत्व की है। (१) पेनिसिलीन इसके लिये विशेष उपयोगी प्रमाणित हुई है। अंतर्पेशीय इंजेक्शन द्वारा १० लाख एकक प्रति दिन १० दिन तक दी जाती है। (२) इसके पश्चात् आर्सेनिक का योग (एन० ए० बी०) के साप्ताहिक अंतपशीय इंजेक्शन ८ सप्ताह तक और उसके बीच बीच में बिस्थम-सोडियम-टारटरेट (बिस्मथ क्रीम) के साप्ताहिक अंतर्पेशीय इंजेक्शन।

स्थानिक—(१) गरम भीगे कपड़े से सेंक; (२) कार्टिसोन, एक प्रति शत की बूंदें या १० मिलीग्राम कार्टिसोन का श्लेष्मकला के नीचे इंजेक्शन; (३) ऐट्रोपीन, १० प्रति शत की बूंदें नेत्र में डालना।

(७) **महामारी जलशोथ (एपिडेमिक ड्रॉप्सी)**—इसको साधारणतया जनता में बेरीबेरी के नाम से पुकारा जाता है। सन् १९३० में यह रोग महामारी के रूप में बंगाल में फैला था और बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, सबको समान रूप से हुआ था। इस रोग का एक विशेष उपद्रव समलबाय (ग्लॉकोमा) था। इस रोग में नेत्र के भीतर दाब (टेंशन), बढ़ जाती है और दृष्टिक्षेत्र (फ़ील्ड ऑव् विज़न) क्षीण होता जाता है, यहाँ तक कि कुछ समय में वह पूर्णतया समाप्त हो जाता है और व्यक्ति दृष्टिहीन हो जाता है। अंत में दृष्टि-नाड़ी-क्षय (ऑप्टिक ऐट्रोफ़ी) भी हो जाता है। बाहर से देखने में नेत्र सामान्य प्रकार के दिखाई पड़ते हैं, किंतु व्यक्ति को कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता।

चिकित्सा—रोग होने पर, नाड़ी-क्षय के पूर्व, महामारी-शोथ की सामान्य चिकित्सा के अतिरिक्त कार्निया और श्वेतपटल के संगम स्थान (कार्नियो-स्क्लीरल जंकशन) पर एक छोटा छेद कर दिया जाता है। इसे ट्रिफाइनिंग कहते हैं। इससे नेत्रगोलक के पूर्वकोष्ठ से द्रव्य बाहर निकलता रहता है और श्वेतकला द्वारा सोख लिया जाता है। इस प्रकार नेत्र की दाब बढ़ने नहीं पाती।

(८) **समलबाय (ग्लॉकोमा)**—अंधता का यह भी बहुत बड़ा कारण है। इस रोग में नेत्र के भीतर की दाब बढ़ जाती है और दृष्टि का क्षय हो जाता है।

यह रोग दो प्रकार का होता है, प्राथमिक (प्राइमरी) और गौण (सेकंडरी)। प्राथमिक को फिर दो प्रकारों में बाँटा जा सकता है, संभरणी (कंजेस्टिव) तथा असंभरणी (नॉन-कंजेस्टिव)। संभरणी प्रकार का रोग उग्र (ऐक्यूट) अथवा जीर्ण (क्रॉनिक) रूप में प्रारभ हो सकता है। इसके विशेष लक्षण नेत्र में पीड़ा, लालिमा, जलीय स्राव, दृष्टि की क्षीणता, आँख के पूर्वकोष्ठ का उथला हो जाना तथा नेत्र की भीतरी दाब का बढ़ना है। अधिकतर, उग्र रूप में पीड़ा और अन्य लक्षणों के तीव्र होने पर ही रोगी डाक्टर की सलाह लेता है। यदि डाक्टर नेत्ररोगों का विशेषज्ञ होता है तो वह रोग को पहचानकर उसकी उपयुक्त चिकित्सा का आयोजन करता है, जिससे रोगी अंधा नहीं होने पाता। किंतु जीर्ण रूप में लक्षणों के तीव्र न होने के कारण रोगी प्रायः डाक्टर को तब तक नहीं दिखाता जब तक दृष्टिक्षय उत्पन्न नहीं हो जाता, परंतु तब लाभप्रद चिकित्सा की आशा नहीं रहती। इस प्रकार के रोग के आक्रमण रह रहकर होते हैं। आक्रमणों के बीच के काल में रोग के कोई लक्षण नही रहते। केवल पूर्वकोष्ठ का उथलापन रह जाता है जिसका पता रोगी को नहीं चलता। इससे रोग के निदान में बहुधा भ्रम हो जाता है।

भ्रम उत्पन्न करनेवाला दूसरा रोग मोतियाबिंद है जो साधारणतः अधिक आयु में होता है। जीर्ण प्राथमिक समलबाय भी इसी अवस्था में होता है। इस कारण धीरे धीरे बढ़ता हुआ दृष्टिह्रास मोतियाबिंद का परिणाम समझा जा सकता है, यद्यपि उसका वास्तविक कारण समलबाय होता है जिसमें शस्त्रकर्म से कोई लाभ नहीं होता।
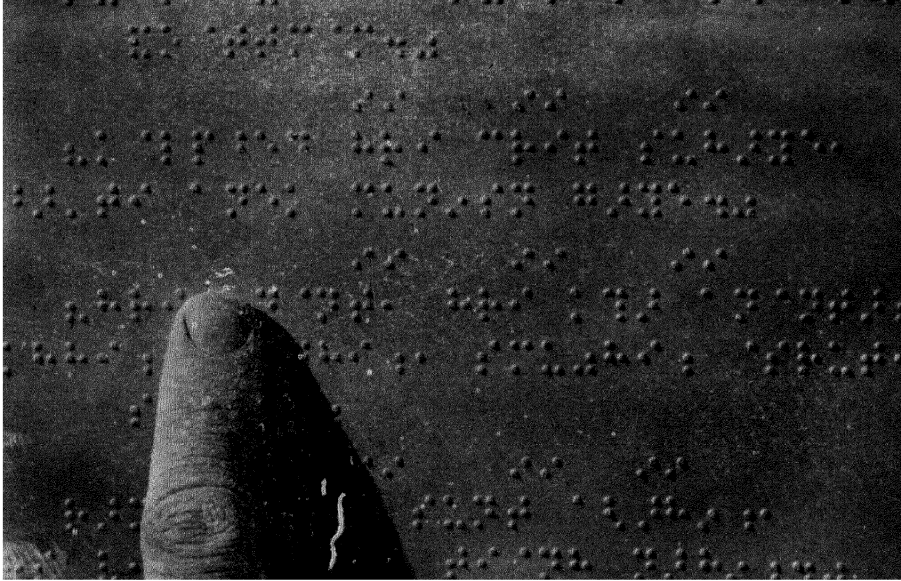
अधो की ब्रेल लिपि में हिंदी पुस्तक और उसे पढने का ढंग

ये अक्षर उभरे बिदुओ से बनते है (देख पृष्ठ ५७)। चित्र मे साकेत नामक पुस्तक के एक पृष्ठ का एक अंश दिखाया गया है। अँगुली के ऊपर की पंक्ति मे लिखा है क ल प भ ए द ह र इ च र इ त स उ ह आ य ए। भ आ त इ अ न ए क म उ न ई स न ग आ य ए, अर्थात् कल्प भेद हरि चरित सुहाये। भाँति अनेक मुनीसन गाये।

अहमदाबाद

दरियाखा का मकबरा (पृष्ठ ३०५)।

फलक ३

जायसवाल स्टूडियो

आम की मजरी

(देखे पृष्ठ ३६९।)

आतिशबाजी
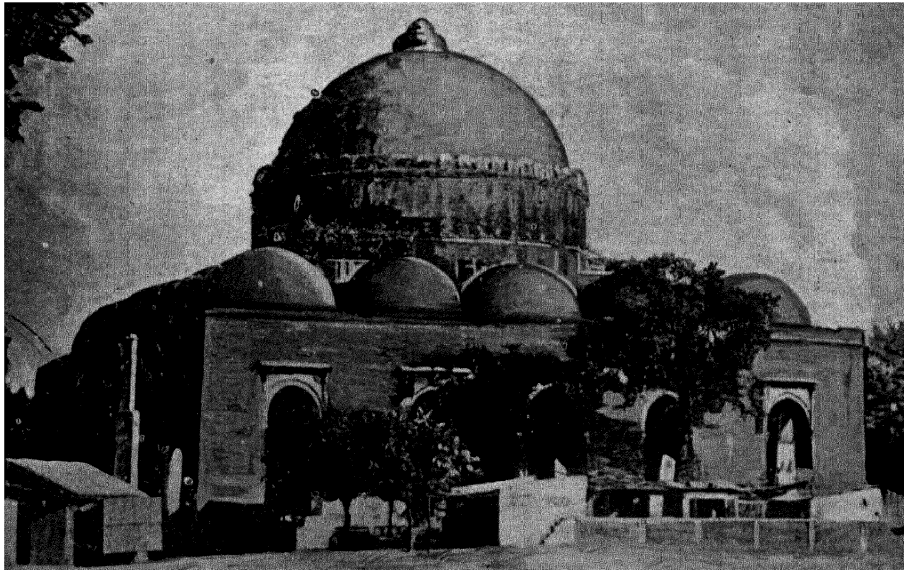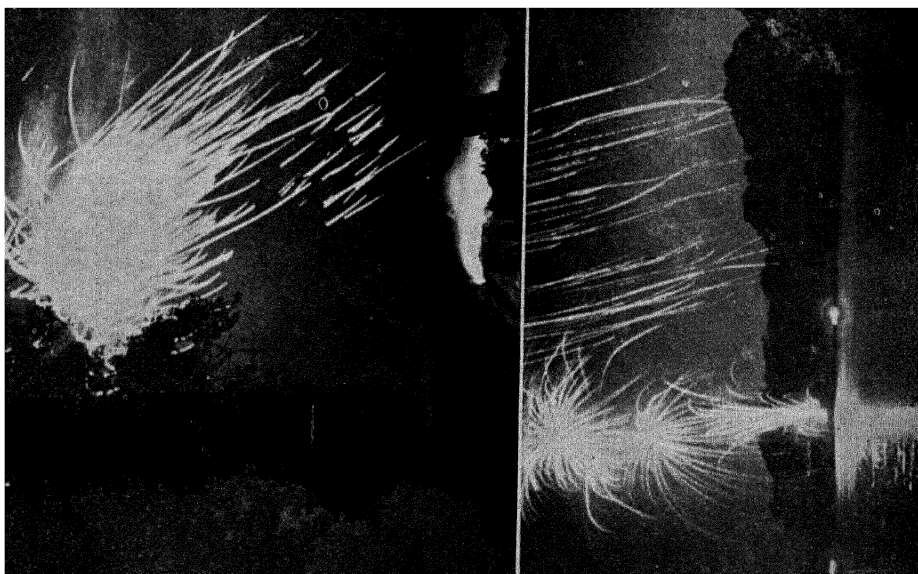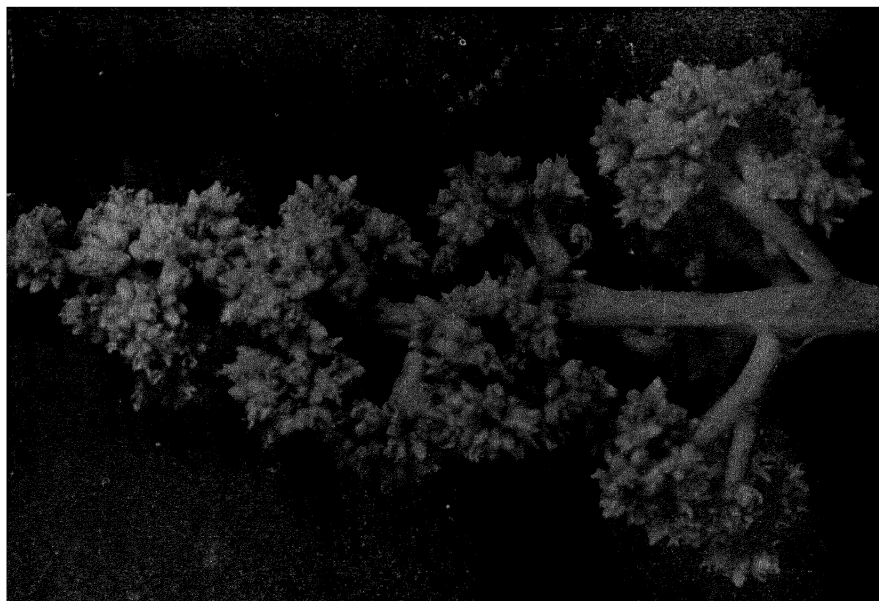
(देखे पृष्ठ ३४५।)

वृद्धावस्था में दृष्टिह्रास होने पर रोगी की परीक्षा सावधानी से करना आवश्यक है। समलबाय के प्रारंभ में ही छेदन करने से दृष्टिक्षय रोका जा सकता है।

(९) **मोतियाबिंद**—यह प्रायः वृद्धावस्था का रोग है। इसमें नेत्र के भीतर आइरिस के पीछे स्थित ताल (लेंस) कड़ा तथा अपारदर्शी हो जाता है (देखें मोतियाबिंद)। [स० पा० गु०]

अंधविश्वास

आदिम मनुष्य अनेक क्रियाओं और घटनाओं के कारणों को नहीं जान पाता था। वह अज्ञानवश समझता था कि इनके पीछे कोई अदृश्य शक्ति है। वर्षा, बिजली, रोग, भूकंप, वृक्षपात, विपत्ति आदि अज्ञात तथा अज्ञेय देव, भूत, प्रेत और पिशाचों के प्रकोप के परिणाम माने जाते थे। ज्ञान का प्रकाश हो जाने पर भी ऐसे विचार विलीन नहीं हुए, प्रत्युत ये अंधविश्वास माने जाने लगे। आदिकाल में मनुष्य का क्रियाक्षेत्र संकुचित था। इसलिये अंधविश्वासों की संख्या भी अल्प थी। ज्यों ज्यों मनुष्य की क्रियाओं का विस्तार हुआ त्यों त्यों अंधविश्वासों का जाल भी फैलता गया और इनके अनेक भेदप्रभेद हो गए। अंधविश्वास सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। विज्ञान के प्रकाश में भी ये छिपे रहते हैं। इनका कभी सर्वथा उच्छेद नहीं होता।

अंधविश्वासों का सर्वसंमत वर्गीकरण संभव नहीं है। इनका नामकरण भी कठिन है। पृथ्वी शेषनाग पर स्थित है, वर्षा, गर्जन और बिजली इंद्र की क्रियाएँ हैं, भूकंप की अधिष्ठात्री एक देवी है, रोगों के कारण प्रेत और पिशाच हैं, इस प्रकार के अंधविश्वासों को प्राग्वैज्ञानिक या धार्मिक अंधविश्वास कहा जा सकता है। अंधविश्वासों का दूसरा बड़ा वर्ग है मंत्र-तंत्र। इस वर्ग के भी अनेक उपभेद हैं। मुख्य भेद हैं रोगनिवारण, वशीकरण, उच्चाटन, मारण आदि। विविध उद्देश्यों के पूर्त्यर्थ मंत्र-प्रयोग प्राचीन तथा मध्य काल में सर्वत्र प्रचलित था। मंत्र द्वारा रोग-निवारण अनेक लोगों का व्यवसाय था। विरोधी और उदासीन व्यक्ति को अपने वश में करना या दूसरों के वश में करवाना मंत्र द्वारा संभव माना जाता था। उच्चाटन और मारण भी मंत्र के विषय थे। मंत्र का व्यवसाय करनेवाले दो प्रकार के होते थे—मंत्र में विश्वास करनेवाले, और दूसरों को ठगने के लिये मंत्रप्रयोग करनेवाले।

जादू, टोना, शकुन, मुहूर्त, मणि, ताबीज आदि अंधविश्वास की संतति हैं। इन सबके अंतस्तल में कुछ धार्मिक भाव हैं, परंतु इन भावों का विश्लेषण नहीं हो सकता। इनमें तर्कशून्य विश्वास है। मध्ययुग में यह विश्वास प्रचलित था कि ऐसा कोई काम नहीं है जो मंत्र द्वारा सिद्ध न हो सकता हो। असफलताएँ अपवाद मानी जाती थीं। इसलिये कृषिरक्षा, दुर्गरक्षा, रोगनिवारण, संततिलाभ, शत्रुविनाश, आयुवृद्धि आदि के हेतु मंत्रप्रयोग, जादू टोना, मुहूर्त और मणि का भी प्रयोग प्रचलित था।

मणि धातु, काष्ठ या पत्ते की बनाई जाती है और उसपर कोई मंत्र लिखकर गले या भुजा पर बाँधी जाती है। इसको मंत्र से सिद्ध किया जाता है और कभी कभी इसका देवता की भाँति आवाहन किया जाता है। इसका उद्देश्य है आत्मरक्षा और अनिष्टनिवारण।

योगिनी, शाकिनी और डाकिनी संबंधी विश्वास भी मंत्रविश्वास का ही विस्तार है। डाकिनी के विषय में इंग्लैंड और यूरोप में १७वीं शताब्दी तक कानून बने हुए थे। योगिनी भूतयोनि में मानी जाती है। ऐसा विश्वास है कि इसको मंत्र द्वारा वश में किया जा सकता है। फिर मंत्र-पुरुष इससे अनेक दुष्कर और विचित्र कार्य करवा सकता है। यही विश्वास प्रेत के विषय में प्रचलित है।

फलित ज्योतिष का आधार गणित भी है। इसलिये यह सर्वांशतः अंधविश्वास नहीं है। शकुन का अंधविश्वास में समावेश हो सकता है। अनेक अंधविश्वासों ने रूढ़ियों का भी रूप धारण कर लिया है।

सं०ग्रं०—अथर्ववेद; मंत्रमहोदधि; मंत्रमहार्णव।

[म० ला० श०]

अंधों का प्रशिक्षण और कल्याण

जिन व्यक्तियों की दृष्टि बिलकुल नष्ट हो जाती है, या इतनी क्षीण हो जाती है कि वे दृष्टि की सहायता से किए जानेवाले कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं, उनको अंधा कहा जाता है।

हमारे देश में अंधों की संख्या तीस लाख के लगभग है। संसार के सब देशों की अपेक्षा, केवल मिस्र देश को छोड़, हमारे देश में अधिक अंधे हैं। किंतु शिक्षा, चिकित्सा के साधन तथा स्वच्छता के प्रचार से इस संख्या में कमी हो रही है। जैसा अन्यत्र वर्णित अंधता के कारणों से ज्ञात होगा (देखें अंधता), ९० प्रति शत अंधता रोकी जा सकती है। जीवन के स्तर की उन्नति, शिक्षाप्रचार, पौष्टिक आहार, रोहे (कुकड़े) नामक रोग की रोकथाम और टीका द्वारा चेचक के उन्मूलन से यह संख्या शीघ्र ही बहुत कम हो सकती है (देखें रोहे)। अंधता कम करने के लिये सरकार की ओर से विशेष आयोजनाएँ की गई हैं। मोतियाबिंद के, जो अंधता का दूसरा बड़ा कारण है, शस्त्रकर्म के लिये विशेष केंद्र खोले गए हैं। नवीन प्रतिजीवी ओषधियों (ऐंटीबायोटिक्स) के प्रयोग से नेत्रसंक्रमण का रोकना भी अब सरल हो गया है। इस प्रकार आशा की जाती है कि शीघ्र ही दृष्टिहीनता की दशा में बहुत कुछ कमी हो जायगी।

अंधों की देखभाल करने तथा उनके जीवन को कष्टरहित और समाज के लिये उपयोगी बनाने का उत्तरदायित्व सरकार पर है। यह दृष्टिहीनों का अधिकार है कि सरकार या समाज की ओर से उनकी देखभाल की जाय, उनको शिक्षित किया जाय, उनके जीवन की आवश्यकताएँ पूरी की जायँ और उनको समाज में उपयुक्त स्थान प्राप्त हो, न कि वे समाज की दया के पात्र बने रहें।

छोटे अंधे बच्चे के लिये उसका घर ही सबसे उत्तम स्थान है जहाँ माता-पिता का प्रेमयुक्त व्यवहार उसको उपलब्ध हो और उसकी देखभाल प्रेमपूर्वक की जा सके। जब बच्चा चलने लगता है तो उसको गिरने या टकरा जाने से बचाने की आवश्यकता होती है। किंतु वह शीघ्र ही अपना रास्ता ज्ञात कर लेता और वहाँ की परिस्थितियों से परिचित हो जाता है। उसके लिये ऐसे खिलौने नहीं चुनने चाहिए जिनमें उभरे हुए कोने या नोकें हों; इनसे उसको चोट लग सकती है। कुछ देशों में ऐसे स्कूल हैं जहाँ दो वर्ष की आयु से अंधे बच्चों को रखा जाता है।

छः वर्ष की आयु प्राप्त करने पर बच्चे की शिक्षा का प्रश्न उठता है। उस समय उसे किसी ऐसे स्कूल में रखना उत्तम है जहाँ उसके रहने का भी प्रबंध हो। ऐसे स्कूलों में प्रत्येक बच्चे के अनुकूल शिक्षा का प्रबंध रहता है और उसे कोई दस्तकारी सिखाई जाती है या उच्चतर शिक्षा के लिये तैयार किया जाता है। वहाँ का वातावरण विशेष रूप से मनोरंजक और चित्ताकर्षक रखा जाता है। संगीत, नृत्य और शारीरिक शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता है। पढ़ने और लिखने के लिये केवल ब्रेल विधि का प्रयोग किया जाता है। इस विधि को ब्रेल नाम के एक फ्रांस-निवासी ने निकाला और उसी के नाम से यह विधि संसार के सभी देशों में प्रचलित हो गई है। इसमें कागज पर उभरे हुए बिंदु बने रहते हैं जिनको उँगलियों से छूकर बालक पढ़ना सीख जाता है। प्रत्येक अक्षर के लिये बिंदुओं की संख्या अथवा उनका क्रम भिन्न होता है। संसार की सभी भाषाओं में इस प्रकार की पुस्तकें छापी गई हैं जिनके द्वारा अंधे बालकों को शिक्षा दी जाती है। जितना ही शीघ्र शिक्षा का आरंभ किया जा सके उतना ही उत्तम है। शीघ्र ही बालक उँगलियों से पुस्तक के पृष्ठ पर उभरे हुए बिंदुओं को स्पर्श करके उसी प्रकार पढ़ने लगता है जैसे अन्य बालक नेत्रों से देखकर पढ़ते हैं। ग्रामोफोन के रेकार्डों तथा टेप-रेकार्डरों में भी ऐसी पुस्तकें उपलब्ध हैं जिनका उपयोग अंधे बालकों की शिक्षा के लिये किया जा सकता है।

दृष्टिहीन बालक के लिये औद्योगिक अथवा व्यावसायिक शिक्षा अत्यंत आवश्यक है। उसमें स्वावलंबी बनने, अपने पावों पर खड़े होने तथा स्वाभिमान उत्पन्न करने के लिये आवश्यक है कि उसे किसी ऐसे व्यवसाय की शिक्षा दी जाय जिससे वह अपना जीविकोपार्जन करने में समर्थ हो। अंध संस्थाओं में ऐसी शिक्षा का, विशेषकर बुनने, जाल बनाने, हाथ करघे (हैंडलूम) पर कपड़ा बुनने, चटाई बुनने, दरी बुनने, तथा ब्रुश बनाने आदि व्यवसायों की शिक्षा का विशेष प्रबंध रहता है। अंधे टाइपिस्ट का काम भी अच्छा कर लेते हैं; मैनेजर चिट्ठी आदि को टेप-रेकार्डर में बोल देता है और तब अंधा टेप-रेकार्डर को सुनता चलता और टाइप करता जाता है। विशेष प्रतिभाशाली बालक, शिक्षा में जिनकी विशेष रुचि होती है, कालेज की उच्च शिक्षा प्राप्त करके बड़ी बड़ी डिग्री ले सकते हैं और शिक्षक अथवा वकील बनकर इन व्यवसायों को जीविको-

पार्जन का साधन बना सकते हैं। हमारे देश में संगीत दृष्टिहीनों का एक अति प्रिय व्यवसाय है। गायन तथा वाद्य संगीत की उत्तम शिक्षा प्राप्त करके वे संगीतज्ञ बन जाते है और यश तथा अर्थ दोनों के भाजन बनते हैं।

व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् अंधों को काम पर लगाने का प्रश्न आता है। यह समाजसेवी संस्थाओं का क्षेत्र है। ऐसी संस्थाएँ होनी चाहिए जो दृष्टिहीन शिक्षित व्यक्तियों को काम पर लगाने में सहायता कर सकें और उनकी बनाई हुई वस्तुओं को बाजार में बिकवाने का प्रबंध कर सकें। अंधे ऐसे कारखानों में काम करने के योग्य नहीं होते जहाँ पग पग पर दुर्घटना का भय रहता है। जहाँ बड़ी बड़ी मशीनें, भट्ठियाँ, खराद या चक्के चलते हों वहाँ तनिक सी भूल से अंधे का जीवन संकट में पड़ सकता है। परंतु खुले हुए कारखानों में, जहाँ चलने फिरने की अधिक स्वतंत्रता रहती है, वे भली प्रकार काम कर सकते हैं। कुछ दृष्टिहीन बड़े मेधावी होते है और शिक्षकों, वकीलों, संगीतज्ञों तथा व्यवसायियों में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करने में सफल होते है। किंतु उनको उनके व्यवसाय स्थान तक ले जाने और वहाँ से लाने के लिये किसी सहायक की आवश्यकता होती है। यह काम कुत्तों से लिया जा सकता है। विदेशों में कुत्तों को इस काम के लिये विशेष रूप से तैयार किया जाता है। वे अपने मालिक को नगर के किसी भी भाग में ले जा सकते और निर्विघ्न लौटा ला सकते हैं।

जो व्यक्ति युवा या प्रौढ़ावस्था में अपने नेत्र गँवा देते है उनका प्रश्न कुछ भिन्न होता है। प्रथम तो उनको इतना मानसिक क्षोभ होता है कि उससे उबरने और चारों ओर की परिस्थितियों के अनुकूल बनने में बहुत समय लगता है। उनको समाजसेवी संस्थाएँ बहुत सहायता पहुँचा सकती है। अंधों को स्वावलंबी बनाने में ये संस्थाएँ बहुत कुछ कर सकती है।

जो वृद्धावस्था में नेत्रों से वंचित हो जाते है उनका प्रश्न सबसे टेढ़ा है। इस अवस्था में अपने को नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बनाना उनके लिये दूभर हो जाता है। जिनके लिये अपने घर पर ही अच्छा प्रबंध नहीं हो सकता उनके लिये समाज और सरकार की ओर से ऐसी संस्थाएँ होनी चाहिए जहाँ इन वृद्धों को संमान और प्रेम सहित, शारीरिक अपूर्णता-जनित कठिनाइयों से मुक्त करके, रखा जा सके और अपने जीवन के अंत तक वे संतोष और आत्मीयता का अनुभव कर सकें। जाति, समाज और सरकार सबका यह कर्तव्य है। [कृ० ना० मा०]

अंध्र, अंध्रभृत्य दक्षिण भारत का प्रसिद्ध राजवंश, जिसका उल्लेख पुराणों—ब्रह्मांड, मत्स्य, विष्णु, वायु तथा श्रीमद्भागवत् में मिलता है। संस्कृत साहित्य में अन्यत्र भी कहीं कहीं पर अंध्रों का विवरण उपलब्ध है। प्रसिद्ध भौगोलिक तालेमी ने भी पुलुमावि और उसके राज्य का उल्लेख किया है। शिलालेखों और मुद्राओं में शातवाहन और शातकर्णि तथा उनके वंशजों के नाम मिलते हैं जो पुराणों की अंध्र-वंशजों की तालिका से मिलते जुलते हैं। इस आधार पर विद्वानों ने अंध्र, आंध्र, शातकर्णि, सातकर्णि तथा सातवाहन, शातवाहन और शालिवाहन को एक ही वंश के भिन्न भिन्न नाम माने हैं। पुराणों ने उस वंश को अंध्र अथवा अंध्रभृत्य संज्ञा देकर विद्वानों के संमुख एक समस्या रख दी है। बारनेट के मतानुसार इनका आदिस्थान वर्तमान तेलंगाना जिला था। सुक्थंकर ने शातवाहनों का मूल स्थान सतहरथ (बेलारी जिला, मैसूर राज्य) माना है। रायचौधरी का कथन है कि शातवाहन सम्राटों के लिये अंध्र वंश का प्रयोग उस समय हुआ जब उत्तरी और पश्चिमी भाग से उनका आधिपत्य जाता रहा।

ऐतरेय ब्राह्मण ने अंध्र, पुंड्र, शबर तथा पुलिंद जातियों को दस्यु श्रेणी में रखा है और उनको विश्वामित्र के परित्यक्त पुत्रों की संतान माना है। बाण ने 'कादंबरी' में शबरों को विंध्य के जंगलों का निवासी बताया है। अशोक ने अपने १३वें शिलालेख में आंध्रों तथा पुलिंदों को अपनी प्रजा माना है। कलिंग के सम्राट् खारवेल के हाथीगुंफा लेख में चेदि सम्राट् द्वारा पश्चिम दिशा में स्थित शातकर्णि के विरुद्ध सेना भेजने का उल्लेख है। इन प्रमाणों से यह प्रतीत होता है कि इस वंश का नामकरण भौगोलिक आधार पर नहीं हुआ और न इसका मूल स्थान अंध्र देश या कृष्णा और गोदावरी के मुहाने पर की विरलभूमि (डेल्टा) थी।

पुराणों के मतानुसार अंध्रवंश के सिमुक अथवा शिशुक ने अंतिम कण्व सम्राट् सुशर्मन् का वध कर राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली। इस प्रकार मौर्यों के बाद क्रम से शुंग, काण्व तथा अंध्र राजाओं ने राज किया। इनमें से कोई भी वंश दूसरे का समकालीन नहीं था। मौर्य वंश का अंत ईसा पूर्व १८५ के लगभग हुआ। फिर अन्य दो वंशों ने क्रमशः ११२ और ४५ (योग १५७) वर्षों तक राज किया। इस आधार पर अंध्रवंश के प्रथम नरेश की तिथि ईसा पूर्व २८ मानी गई है। अन्य विद्वानों ने इसके विपरीत अंध्र वंश के प्रारंभिक राजाओं को अंतिम मौर्य तथा शुंग राजाओं का समकालीन माना है। बारनेट के मतानुसार अशोक की मृत्यु के बाद साम्राज्य में अराजकता फैली और निकटवर्ती राजाओं ने अपने अपने राज्यों की सीमाएँ बढ़ाने का प्रयास किया। उनमें से सिमुक भी एक था और इसने ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी के अंतिम भाग में शातवाहन अथवा शातकर्णि वंश की स्थापना की और तेलगू देश में लगभग पाँच शताब्दियों तक इस वंश ने राज किया। पुराणों के अनुसार इस वंश में ३० राजा हुए और उन्होंने ४५० वर्षों तक राज किया। अभिलेखों में प्रारंभिक सम्राट् सिमुक अथवा शिशुक, उसके भाई कृष्ण तथा पुत्र शातकर्णि और गौतमीपुत्र शातकर्णि, वासिष्ठीपुत्र श्रीपुलुमावि तथा यज्ञश्री के नाम मिलते हैं। इनके सिक्के भी मिले हैं। खारवेल के हाथीगुंफा तथा नानाघाट के लेखों और उनकी लिखावट से प्रतीत होता है कि प्रारंभिक सम्राट् मौर्यकाल के अंतिम समय में रहे होंगे। तीसरा सम्राट् शातकर्णि खारवेल का समकालीन था जिसकी तिथि कुछ विद्वानों ने लगभग ईसा पूर्व १७० रखी है। बाद के तीन सम्राटों की तिथि उषवदात तथा शकक्षत्रप चष्टन और उसके पौत्र रुद्रदामन् के लेखों से ज्ञात होती है। नासिक, कार्ले तथा जूनागढ़ के लेखों से ज्ञात होता है कि ये अंध्र शातवाहन सम्राट् इन क्षत्रपों के केवल समकालीन ही नहीं थे वरन् इनमें संघर्ष भी होता रहा। गौतमीपुत्र ने शक, यवन तथा पहलवों को हराया और क्षहरात वंश का नाश किया। रुद्रदामन् ने पुलुमावि को हराया। यज्ञश्री ने अपने वंश की खोई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त की। रुद्रदामन् की तिथि ईसवी सन् १५० है। अतः इन तीन सम्राटों को ईसवी सन् ११० से १६० तक के अंतर्गत रख सकते हैं।

इस अंध्र वंश के राजाओं का उल्लेख करते हुए पुराणों में लिखा है कि अंध्रवंश के राज्यकाल में ही उनके भृत्य या कर्मचारी वंश के सात राजा राज करेंगे। ('अंध्राणां संस्थिते वंशे तेषां भृत्यान्वये पुनः, सप्तैवांध्रा भविष्यन्ति दशभीरास्ततो नृपाः।—ब्रह्माण्ड)। मत्स्य में 'वंशे' के स्थान पर 'राज्ये' पाठ है। कुछ विद्वानों ने अंध्र वंश और अंध्रभृत्य वंश को एक दूसरे से भिन्न माना है। रामकृष्ण गोपाल भंडारकर के मतानुसार पहले इस वंश के कुमार पाटलिपुत्र सम्राट् के अधीन रहे होंगे, इसीलिये उन्हें 'भृत्य' कहकर संबोधित किया गया। इसके बाद वे स्वतंत्र हो गए। स्मिथ ने अपने इतिहास में अंध्रभृत्य शब्द का प्रयोग ही नहीं किया। रैप्सन ने भी स्पष्ट रूप से अपना मत नहीं प्रगट किया। उनका कथन है कि अंध्रवंश को अंध्रभृत्य और सातवाहन कहकर भी संबोधित किया गया है और चीतलद्रुग में मिले सिक्के कदाचित् उनके अधीन राजाओं द्वारा चलाए गए होंगे जिन्होंने यज्ञश्री के बाद पश्चिम और दक्षिण के प्रांतों पर अपना राज्य स्थापित कर लिया था। भंडारकर ने अंध्रभृत्य को कर्मधारय समास मानकर संपूर्ण अंध्र राजाओं को भृत्य श्रेणी में रखा, किंतु अन्य विद्वानों ने इसे तत्पुरुष समझकर अंध्र राजाओं के दो वंश माने—एक अंध्रों का वंश दूसरा उनके भृत्यों का। वास्तव में समस्त अंध्र सम्राटों को भृत्य की श्रेणी में रखना उचित नहीं। पुराणों में काण्व वंश को शुंगभृत्य कहकर संबोधित किया गया है (चत्वारः शुंगभृत्यास्ते काण्वायणाः द्विजाः—ब्रह्माण्ड)।

ऐसी परिस्थिति में अंध्रसम्राटों को न तो मौर्य अथवा शुंग सम्राटों का भृत्य ही मान सकते हैं और न इन दोनों वंशों का पृथक् अस्तित्व ही दिखा सकते हैं। पुराणों में अंध्रभृत्य सम्राटों का नाम नहीं मिलता। कृष्णराव के मतानुसार अंध्र राजवंश के पतन के पश्चात् दक्षिणापथ में आभीरों और चुटु कुल के राजाओं ने अपना आधिपत्य जमाया और यह चुटु सम्राट् ही पुराणों में उल्लिखित अंध्रभृत्य हैं। अंध्र अथवा अंध्रभृत्य वंश के सम्राटों की तिथि, इतिहास आदि का संपूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये अभी और सामग्री का मिलना आवश्यक है (देखिए 'सातवाहन')।

सं०ग्रं०—बारनेट, एल. डी.: कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, खंड १ (दक्षिण भारत का इतिहास संबंधी अध्याय); बारनेट: सातवाहन और

शातकर्णि (बी० एस० ओ० एस०, खंड ६, भाग २), बोस, जी० एस० : रिकांस्ट्रक्टिंग ऑव आंध्र क्रानालोजी (जे० आर० ए० एस० बी० लेटर्स, खड ५, १९३९), कृष्णराव ए हिस्ट्री ऑव दि अर्ली डाइनेस्टीज ऑव अंध्र देश, श्रीनिवास आयगर, पी०टी० मिसकसेप्शस एबाउट दि अंध्राज, आई० ऐ०, १९१३, सुक्थनकर, वी० एस० होम ऑव दि आंध्र किंग्स, ऐनल्स ऑव भ० ओ० रि० ३०, खड १। [बै० पु०]

अंबपाली बुद्धकालीन वैशाली की लिच्छवि गणिका जो बुद्ध के प्रभाव से उनकी शिष्या हुई और जिसने बौद्ध सघ का अनेक प्रकार के दानो से महत् उपकार किया। महात्मा बुद्ध राजगृह जाते या लौटते समय वैशाली में रुकते थे जहाँ एक बार उन्होंने अबपाली का भी आतिथ्य ग्रहण किया था। बौद्ध ग्रथो मे बुद्ध के जीवनचरित पर प्रकाश डालनेवाली घटनाओ का जो वर्णन मिलता है उन्ही मे से अबपाली के सबध की एक प्रसिद्ध और रुचिकर घटना है। कहते है, जब तथागत एक बार वैशाली मे ठहरे थे तब जहाँ उन्होने देवताओ की तरह दीप्यमान लिच्छवि राजपुत्रो की भोजन के लिये प्रार्थना अस्वीकार कर दी वही उन्होने गणिका अबपाली की निष्ठा से प्रसन्न होकर उसका आतिथ्य स्वीकार किया। इससे गर्विणी अबपाली ने उन राजपुत्रो को लज्जित करते हुए अपने रथ को उनके रथ के बराबर हाँका। उसने सघ को आमो का अपना बगीचा भी दान कर दिया था जिससे वह अपना चौमासा वहाँ बिता सके।

इसमे सदेह नही कि अबपाली ऐतिहासिक व्यक्ति थी, यद्यपि कथा के चमत्कारो ने उसे असाधारण बना दिया है। सभवत वह अभिजात-कुलीना थी और इतनी सुदरी थी कि लिच्छवियो की परपरा के अनुसार उसके पिता को उसे सर्वभोग्या बनाना पडा। सभवत उसने गणिका जीवन भी बिताया था और उसके कृपापात्रो मे शायद मगध का राजा बिबिसार भी था। बिबिसार का उससे एक पुत्र होना भी बताया जाता है। जो भी हो, बाद मे अबपाली बुद्ध और उनके सघ की अनन्य उपासिका हो गई थी और उसने अपने पाप के जीवन से मुख मोडकर अर्हत् का जीवन बिताना स्वीकार किया। [ओ० ना० उ०]

अंबर (वर्तमान आमेर) राजस्थान की एक प्राचीन विध्वस्त नगरी है जो १७२८ ई० तक अबर राज्य की राजधानी थी। यह राजस्थान की वर्तमान राजधानी जयपुर के उत्तर लगभग ५ मील की दूरी पर स्थित है। इसके पुराने इतिहास का ठीक ठीक पता नही चलता। कहा जाता है, इस नगरी की स्थापना मीनाओ द्वारा हुई थी। ९६७ ई० मे यह बहुत समृद्धिशाली थी। मीनाओ ने सुरक्षा की दृष्टि से इस स्थान को उन विपत्तियो के दिनो मे बडी बुद्धिमानी से चुना था। यह नगरी अरावली की एक घाटी मे बसी है जो लगभग चारो ओर से पर्वतो द्वारा घिरी हुई है। कई दिनो की लडाई के पश्चात् राजपूतो ने इसे १०३७ ई० मे मीनाओ के राजा से जीत लिया और अपनी शक्ति को यही केंद्रित किया। तभी से यह राजपूतो की राजधानी बनी और राज्य का नाम भी अबर राज्य पडा। १७२८ मे जब इस राज्य की सत्ता सवाई जयसिह द्वितीय के हाथ मे गई, तो उन्होने राजधानी को जयपुर मे स्थानातरित किया और इस कारण तब से अबर की प्रसिद्धि घटती गई।

अबर का प्राकृतिक सौदर्य बहुत ही उच्च कोटि का है। दर्शनीय स्थानो मे राजपूतो का प्रासाद सुविख्यात है। इस प्रासाद को १६०० ई० मे राजा मार्नासह ने बनवाया था। इसकी ऊँची मजिल से चारो ओर का दृश्य अवर्णनीय रम्य चित्र उपस्थित करता है। यहाँ का दीवानेआम भी दर्शनीय भवन है। इसे मिर्जा राजा जयसिह ने बनवाया था। इसके खभो की शिल्पकला इतिहासप्रसिद्ध है।

वर्तमान अबर नगरी मे कुछ पुराने आकर्षक ऐतिहासिक खडहरो के अतिरिक्त और कुछ उल्लेखनीय नही है। यह नगरी इस समय लगभग उजाड़ हो चुकी है। बड़ी बडी इमारते ध्वसोन्मुख है और काल के कराल ग्रास मे इतिहासप्रसिद्ध अबर अब प्राय एक स्मृति मात्र रह गई है। अबर मे नगरपालिका है। १९५१ मे इसकी जनसख्या ६,४०७ थी। [वि० मु०]

अंबरनाथ (अथवा अमरनाथ) बबई राज्य के थाना जिले के कल्याण तालुका का एक नगर है (१९°१२′ उ० अ० तथा ७३° १०′ पू० दे०) जो बबई नगर से ३८ मील की दूरी पर स्थित है। यह मध्य रेलवे का एक स्टेशन भी है जो नगर से लगभग एक मील पूर्व दिशा मे स्थित है। यहाँ से एक मील से भी कम की दूरी पर पूर्व की ओर एक प्राचीन हिंदू देवालय है जो प्राचीन हिंदू शिल्पविद्या का एक ज्वलत उदाहरण है। परतु अब यह खडहर सा हो गया है। इसके अतर्गत १०६० ई० का एक प्राचीन शिलालेख पाया गया है। यहाँ की मुख्य मूर्तियो मे एक त्रैमस्तकी मूर्ति, जिसके घुटनो पर एक नारी भी उपविष्ट है, मुख्य है। सभवत यह मूर्ति शिव पार्वती को निरूपित करने के हेतु निर्मित की गई थी। यहाँ पर माघ मास (फरवरी-मार्च) मे शिवरात्रि के पर्व पर एक मेला लगता है। यहाँ पर दियासलाई का एक कारखाना भी है। क्षेत्रफल २६ वर्ग मील, जनसख्या ४८५ (१९०१ मे) तथा २१,४९८ (१९५१ मे)। [न० ला०]

अंबरीष इक्ष्वाकु से २८वी पीढी मे हुआ अयोध्या का सूर्यवशी राजा। वह प्रशुश्रक का पुत्र था। पुराणो में उसे परमवैष्णव कहा गया है। इसी के कारण विष्णु के चक्र ने दुर्वासा का पीछा किया था। 'महाभारत', 'भागवत' और 'हरिवश' मे अबरीष को नाभाग का पुत्र माना गया है। 'रामायण' की परपरा उसके विपरीत है। उस कथा के अनुसार जब अबरीष यज्ञ कर रहे थे तब इद्र ने बलिपशु चुरा लिया। पुरोहित ने तब बताया कि अब उस प्रनष्ट यज्ञ का प्रायश्चित्त केवल मनुष्य-बलि से किया जा सकता है। फिर राजा ने ऋषि ऋचीक को बहुत धन देकर बलि के लिये उसके कनिष्ठ पुत्र शुन शेप को खरीद लिया। 'ऋग्वेद' में उस बालक की विनती पर विश्वामित्र द्वारा उसके बधनमोक्ष की कथा सूक्तबद्ध है। [भ० श० उ०]

अंबष्ठ सस्कृत और पालि साहित्य मे अबष्ठ जाति तथा देश का उल्लेख अनेक स्थलो पर मिलता है। इनके अतिरिक्त सिकदर के इतिहास से सबधित कतिपय ग्रीक और रोमन लेखकों की रचनाओमे भी अबष्ठ जाति का वर्णन हुआ है। दिओदोरस, कुर्तियस, जुस्तिन तथा ताॅलेमी ने विभिन्न उच्चारणो के साथ इस शब्द का प्रयोग किया है। प्रारभ मे अबष्ठ जाति युद्धोपजीवी थी। सिकदर के समय (३२७ ई० पू०) उसका एक गणतत्र था और वह चिनाब के दक्षिणी तट पर निवास करती थी। आगे चलकर अबष्ठो ने सभवत चिकित्साशास्त्र को अपना लिया, जिसका परिज्ञान हमे मनुस्मृति से होता है (मनु० १०,१५)। [च० म०]

अंबा काशिराज इद्रद्युम्न की तीन कन्याओ मे सबसे बडी, जिसकी छोटी बहिने अबिका और अबालिका थी। 'महाभारत' की कथा के अनुसार भीष्म ने अपने भाई विचित्रवीर्य के लिये स्वयवर मे तीनो को जीत लिया। अबा राजा शाल्व से विवाह करना चाहती थी इससे भीष्म ने उसे राजा के पास भेज दिया, परतु शाल्व ने उसे ग्रहण नही किया। तब भीष्म से बदला लेने के लिये वह तप करने लगी। शिव को तप द्वारा प्रसन्न कर उसने चितारोहण किया। शिव के वरदान से, उस कथा के अनुसार, अगले जन्म मे वह शिखडी हुई जिसने भीष्म का महाभारतयुद्ध मे बध किया। [भ० श० उ०]

अंबाला भारत के पजाब राज्य का एक जिला तथा उसके प्रधान नगर का नाम है। अबाला जिला अक्षाश २९° ४९′ उ० से ३१° १२′ उ० तक तथा देशातर ७६° २२′ पू० से ७७° ३९′ पू० तक स्थित है। इसका क्षेत्रफल लगभग २,५७० वर्ग मील है और जनसख्या ९,४३,७३४ (१९५१) है। इसके उत्तर-पूर्व में हिमालय, उत्तर मे सतलज नदी, पश्चिम में पटियाला और लुधियाना जिले तथा दक्षिण मे कर्नाल जिला और यमुना नदी है।

अबाला नगर समुद्रतट से १,०४० फुट की ऊँचाई पर, एक खुले मैदान मे, घग्घर नदी से तीन मील दूर, अक्षाश ३०° २१′ २५″ उ०, देशातर ७६° ५२′ १४″ पू० पर, स्थित है। यह शहर लगभग १४वी शताब्दी मे अबा राजपूतो द्वारा बसाया गया था। अग्रेजी अधिकार के पहले इसका कोई विशेष महत्व नही था। १८२३ मे राजा गुरुवर्शासह की पत्नी दयाकौर के देहात के बाद यह नगर अग्रेजो के कब्जे मे आया तथा सतलज के उस पारवाले राज्य का प्रबध करने के लिये पोलिटिकल एजेंट की नियुक्ति हुई। सन् १८४३ मे नगर के दक्षिण की ओर सैनिक छावनी बनी और १८६९ मे, जब पजाब अग्रेजो के राज्य मे समिलित हो गया, यह जिले का केंद्रीय नगर बना।

आधुनिक अंबाला नए तथा पुराने दो भागों में बँटा है। पुराने भाग के रास्ते बहुत ही पतले, टेढ़े मेढ़े और अंधकारमय हैं। नया भाग सैनिक छावनी के आसपास विकसित हुआ है। इसकी सड़कें चौड़ी तथा स्वच्छ हैं और मकान भी अच्छे ढंग से बने हैं।

व्यापार की दृष्टि से अंबाला की स्थिति महत्वपूर्ण है। इसके एक ओर यमुना और दूसरी ओर सतलज बहती है। पंजाब के दिल्ली जानेवाले रेलमार्ग यहाँ से होकर जाते हैं और ग्रैंड ट्रंक रोड भी इस नगर से होकर जाती है। भारत सरकार की ग्रीष्मकालीन राजधानी शिमला के पास होने के कारण इसका महत्व और भी बढ़ गया है। शिमला पहाड़ यहाँ से अस्सी मील दूर है। पहाड़ी अंचल के लिये यह एक प्रधान व्यवसाय केंद्र है। इस जिले में उत्पन्न अनाजों के व्यवसाय के लिये यहाँ एक बड़ा बाजार है। यहाँ रुई, मसाले तथा इमारती लकड़ी का व्यवसाय होता है। उद्योगों में डेयरी उद्योग, आटा पीसना, खाद्य पदार्थ तैयार करना, वस्त्र की सिलाई और लकड़ी तथा बाँस की वस्तुएँ बनाना उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त काच, वैज्ञानिक यंत्र तथा कलपुरजे तैयार करने के कुछ कारखाने भी हैं। कालीन बनाना यहाँ का प्रधान उद्योग है और यह पर्याप्त मात्रा में बाहर भेजा जाता है।

अंबाला नगर की आबादी ५२,६८५ है (१६५१)। [वि० मु०]

अंबालिका काशिराज इंद्रद्युम्न की सबसे छोटी कन्या और अंबा तथा अंबिका की भगिनी। भीष्म ने स्वयंवर में इसे जीतकर अपने भाई विचित्रवीर्य से ब्याह दिया था। विधवा होने पर व्यास ने नियोग द्वारा उससे पांडवों के पिता पांडु को उत्पन्न किया। [भ० श० उ०]

अंबासमुद्रम् मद्रास राज्य के तिरुनेलवेली जिले का एक तालुका तथा नगर है (स्थिति: ८° ४२′ उ० अ० तथा ७७° २७′ पू० दे०) जो ताम्रपर्णी नदी के बाएँ किनारे पर तिरुनेलवेली नगर से २० मील की दूरी पर स्थित है। यह दक्षिणी रेलवे का एक स्टेशन भी है। यहाँ के स्थानीय कार्यों का प्रबंध पंचायत संघ द्वारा होता है। यहाँ पर एक हाई स्कूल है। जनसंख्या : २०,३५६ (१६५१)। [न० ला०]

अंबिका काशिराज की तीन कन्याओं में मँझली जिसे जीतकर भीष्म ने विचित्रवीर्य से ब्याह दिया था। पति के मरने पर उस विधवा से व्यास ने नियोग द्वारा कौरवों के पिता धृतराष्ट्र को उत्पन्न किया। [भ० श० उ०]

अंशशोधन यदि थर्मामीटर की नली का भीतरी व्यास सर्वत्र समान न हो तो बराबर बराबर दूरी पर डिगरी के चिह्न लगाने से त्रुटियाँ उत्पन्न होंगी। फलतः ताप की सच्ची नाप के लिये यह जानना आवश्यक होता है कि प्रत्येक चिह्न पर कितनी त्रुटि है। इसी प्रकार प्रत्येक मापक यंत्र के लिये यह जानना आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक चिह्न (अंश) पर कितनी त्रुटि है। इसी को अंशशोधन (कैलिब्रेशन) कहते हैं। यंत्र चाहे कितनी भी सावधानी से क्यों न बनाए जायँ, बनने पर सूक्ष्म जाँच से अवश्य ही कहीं न कहीं कुछ त्रुटि पाई जाती है। फिर, समय बचाने के लिये यंत्रनिर्माता बहुधा पूर्ण शुद्धता लाने की चेष्टा भी नहीं करते। इसलिये सूक्ष्म नापों में अंशशोधन महत्वपूर्ण होता है।

अंतर्राष्ट्रीय विज्ञान संघ ने मौलिक तथा उद्भूत राशियों की परिभाषाएँ दे रखी हैं और उनकी इकाइयाँ भी निश्चित कर दी हैं। इनके मापन के लिये प्रामाणिक उपकरण बनाए गए हैं। यदि कोई नवीन मापक यंत्र बनाया जाता है तो उसका अंशशोधन उन्हीं प्रामाणिक यंत्रों के अंशों की तुलना से किया जाता है।

उदाहरण—सेंटीग्रेड तापमापक का अधोबिंदु शुद्ध जल का हिमांक माना गया है और ऊर्ध्वबिंदु क्वथनांक। हिमांक और क्वथनांक जल की अशुद्धियों और न्यूनाधिक वायुदाब के कारण बदल जाते हैं। अतः निम्नलिखित भौतिक परिस्थितियाँ भी निर्धारित कर दी गई हैं : जल शुद्ध होना चाहिए और वायुदाब ७६ सें०मी० पारद-स्तंभ के बराबर होना चाहिए। नया तापमापक बनाते समय नली की घुंडी (बल्ब) में पारा भरकर इन दो बिंदुओं का स्थान नली में पहले अंकित किया जाता है। फिर इनके बीच के स्थान को १०० बराबर भागों में बाँट दिया जाता है।

किसी वस्तु का ताप ज्ञात करते समय, मान लीजिए, पारे की सतह ४० अंश पर पहुँची; तो ४०° तभी शुद्ध पाठ होगा जब नली का प्रस्थच्छेद (क्रॉस-सेक्शन) सर्वत्र एक समान हो और ०° से १००° के चिह्न ठीक ठीक दूरी पर लगाए गए हों। किंतु नली का प्रस्थच्छेद आदर्श रूप में सर्वत्र समान नहीं होता और अंशांकन में भी त्रुटियाँ हो सकती हैं। इन्हीं कारणों से अंशशोधन की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिये नए तापमापक के पाठों की तुलना एक प्रामाणिक तापमापक से की जाती है जो उसी के साथ समान परिस्थिति में रखा रहता है,।

प्रस्थच्छेद की समानता की जाँच नली में पारे का लगभग एक इंच लंबा स्तंभ रखकर और उसे विविध स्थानों में खिसकाकर की जा सकती है। यदि प्रस्थच्छेद सर्वत्र समान होगा तो पारे के स्तंभ की लंबाई सर्वत्र समान होगी। इसी प्रकार दो स्थिर दूरसूक्ष्मदर्शियों के बीच पड़नेवाले अंशचिह्नों को कई स्थानों में देखकर स्थिर किया जा सकता है कि नली पर सब चिह्न बराबर दूरियों पर लगे हैं या नहीं। अब यदि प्रस्थच्छेद एक समान है और चिह्न बराबर दूरियों पर हैं तो दूसरा शोधन हमें अधोबिंदु और ऊर्ध्वबिंदु के लिये करना पड़ता है। इनका निशान अप्रामाणिक परिस्थितियों में लगाया गया है। जल में अशुद्धि हो सकती है और वायुदाब भी ठीक ७६ सें०मी० नहीं रहता। इन कारणों से जल का हिमांक और क्वथनांक बदल जाता है। अतः प्रस्तुत परिस्थितियों में तापमापक के अधोबिंदु तथा ऊर्ध्वबिंदु के पाठ लिए जाते हैं और प्रामाणिक तापमापक के पाठों से तुलना कर दोनों बिंदुओं के संशोधन का मान निकाला जाता है। फिर तापमापक के अंश य-रेखा पर और संशोधन र-रेखा पर अंकित कर लेखाचित्र (ग्राफ़) बना लिया जाता है (चित्र १)। इस लेखाचित्र
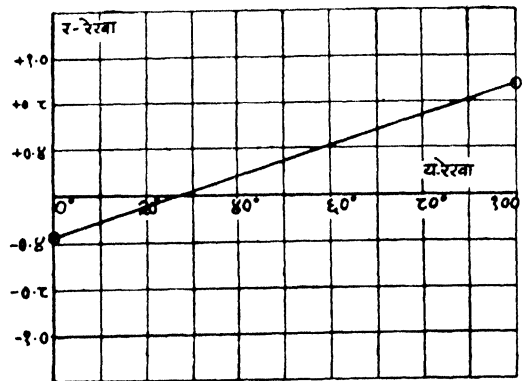
चित्र १. ताप और संशोधन का संबंध
तापमान के पाठ का संशोधन ज्ञात करने में उपयोगी।

द्वारा प्रस्तुत परिस्थितियों में तापमापक के किसी पाठ का संशोधित मान ज्ञात होता है।

स्पेक्ट्रोस्कोप का अंशशोधन—स्पेक्ट्रोस्कोप में प्रायः एक त्रिपार्श्व (प्रिज़्म) होता है। अधिक विस्तरण और विभेदकता के लिये दो अथवा तीन त्रिपार्श्वों का भी उपयोग किया जाता है। स्पेक्ट्रोस्कोप के भागों को साधकर वर्णपट (स्पेक्ट्रम) का निरीक्षण दूरदर्शी (टेलिस्कोप) से किया जाता है और वर्णपट की विभिन्न रेखाओं से संबंधित दूरदर्शी के विभिन्न स्थानों को वृत्ताकार मापनी (स्केल) पर पढ़ा जाता है। हमारा उद्देश्य इन रेखाओं का तरंगदैर्घ्य वृत्ताकार मापनी के पाठ से ज्ञात करना होता है। इसके लिये हम किसी परिचित प्रकाशस्रोत, जैसे सोडियम ज्वालक (फ़्लेम) अथवा पारद आर्क के प्रकाश को स्पेक्ट्रोस्कोप की झिरी (स्लिट) पर फोकस करते हैं। सोडियम की पीली रश्मियों का अथवा पारद की पीली और हरी रश्मियों का तरंगदैर्घ्य हमें ज्ञात रहता है। दूरदर्शी को घुमाकर इन रश्मियों की रेखाओं को स्वस्तिकसूत्र पर लाते हैं और इन परिचित तरंगदैर्घ्यों के अनुकूल वृत्ताकार मापनी पर पाठ पढ़ लेते हैं। अब वृत्ताकार मापनी के पाठों और इन तरंगदैर्घ्य के मानों के बीच संबंध दिखानेवाला

लेखाचित्र बना लेते हैं तथा इस लेखाचित्र द्वारा वृत्ताकार मापनी के सभी अंशों का शोधन तरंगदैर्ध्य में हो जाता है। किसी अपरिचित रश्मि की रेखा को दूरदर्शी के स्वस्तिकसूत्र पर लाकर वृत्ताकार मापनी के तत्संबंधी पाठ से उस रश्मि का तरंगदैर्ध्य हम लखाचित्र से ज्ञात कर सकते हैं।

अंशांकित अमीटर का अंशशोधन :—अमीटर का अंशांकन व्यावहारिक एकक अंपियर में किया रहता है। शुद्ध प्रयोग के लिये अमीटर के पाठों का शोधन कर लेना आवश्यक होता है। इसकी कई विधियाँ हैं; उनमें से केवल एक विधि का विवरण उदाहरण के लिये यहाँ दिया जाता है :

विद्युद्धारा **धा** का मान परम एककों में टैनजेंट गैलवैनोमीटर से निकाला जा सकता है, किंतु टैनजेंट गैलवैनोमीटर सर्वत्र सुविधाजनक नहीं होता। यह ज्ञात है कि टैनजेंट गैलवैनोमीटर में

$$\text{धा (अंपियर)} = \frac{१० \text{ त्रि क्षै}}{२ \pi \text{ सं}} \text{ स्प थ}$$

होता है जिसमें **त्रि** वेष्टन का अर्धव्यास, **सं** वेष्टन में तार के फेरों की संख्या और **क्षै** पृथ्वी के चुबकीय क्षेत्र की क्षैतिज तीव्रता है। अमीटर के अंशशोधन के लिये चित्र २ के अनुसार अमीटर और टैनजेंट गैलवैनोमीटर विद्युत्कुंडली में बैटरी और अवरोधक के साथ श्रेणीक्रम में लगाए जाते हैं। गैलवैनोमीटर के स्थिरांक **क** का मान स्थानीय शुद्ध **क्षै** के मान तथा **त्रि** और **सं** के मान से ज्ञात किया जाता है। धारा प्रवाहित कर अमीटर का पाठ और गैलवैनोमीटर का विक्षेप देखा जाता है। विक्षेप कोण की स्पर्शज्या (टैनजेंट) किसी सारणी से देखकर धारा का यथार्थ मान निकाला जाता है और इसकी तुलना अमीटर के पाठ से की जाती है। फिर अवरोधक से
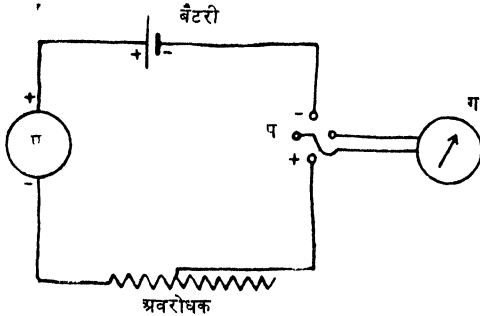
चित्र २. विद्युत्कुंडली
अमीटर के अंशशोधन के लिये।

धारा घटा बढ़ाकर अमीटर के अन्य पाठों की तुलना गैलवैनोमीटर द्वारा ज्ञात किए हुए मानों से करके अमीटर के विभिन्न पाठों के लिये संशोधन ज्ञात किया जाता है और उनके बीच लेखाचित्र बना लिया जाता है। अन्य प्रयोग में जो कुछ पाठ अमीटर में आता है उसमें लेखाचित्र द्वारा प्राप्त संशोधन जोड़कर धारा का शुद्ध मान निकाला जाता है।

सं०ग्रं०—एल० वी० जडसन : कैलिब्रेशन ऑव ए डिवाइडेड स्केल (नैशनल ब्यूरो ऑव स्टैंडर्ड्स, वाशिंगटन, १९२७); ए० टी० पीन्कोस्की: साइंटिफ़िक पेपर, एस ५२७ (नैशनल ब्यूरो ऑव स्टैंडर्ड्स, वाशिंगटन, १९२६)। [नं० ला० सिं०]

अंशुमान अयोध्या के सूर्यवंशी राजा जो सगर के पौत्र और असमंजस के पुत्र थे। पुराणों की कथा के अनुसार सगर के अश्वमेध का जो घोड़ा चोरी हो गया था उसे अंशुमान ही खोज लाए थे और उन्होंने ही महर्षि कपिल के क्रोध से भस्मीभूत सगर के साठ हजार पुत्रों के अवशेष एकत्र किए थे। [भ० श० उ०]

अंशुवर्मन् नेपाल के ठाकुरी राजकुल का प्रतिष्ठाता और पहला नृपति। अंशुवर्मन पहले लिच्छविनरेश शिवदेव का मंत्री था, परंतु जिस प्रकार अभी हाल तक नेपाल में अधिकतर राजनैतिक अधिकार मंत्री के हाथ में रहा है, तब भी उसी प्रकार अंशुवर्मन राज्य का यथार्थतः स्वामी था। शक्ति संपूर्णतः हाथ आ जाने पर उसने राजमुकुट भी धारण कर लिया और पुराने राजकुल का अंत कर उसने ठाकुरी कुल की प्रतिष्ठा की। उसने एक संवत् भी चलाया जिसका प्रारंभ ५९५ ई० से माना जाता है। अंशुवर्मन ने अपनी कन्या का विवाह तिब्बत के प्रसिद्ध सम्राट् सांग-ब्त्सान्-गंपो के साथ किया। हिंदू होते हुए भी उसे इस प्रकार के विवाह से परहेज न था। अंशुवर्मन ने संभवतः ४० वर्ष राज किया। [भ० श० उ०]

अंसारी, मुख्तार अहमद (१८८०-१९३०ई०), यूसुफपुर, जिला गाजीपुर में पैदा हुए। प्रारंभ की शिक्षा गाजीपुर और उच्च शिक्षा देहली में हुई। सन् १८९१ ई० से लेकर १८९६ ई० तक मद्रास मेडिकल कॉलेज में डाक्टरी की शिक्षा ली, फिर विलायत गए। लंदन में चेरिंग क्रास अस्पताल से संबद्ध हुए। आप पहले हिंदुस्तानी थे जिसको चेरिंग क्रास अस्पताल में काम करने का अवसर दिया गया था। सन् १९१२ ई० में ये रेडक्रास मिशन के साथ बालकन गए, फिर स्वदेश लौटकर कांग्रेस में शामिल हो गए और स्वतंत्रता के आंदोलन में हिस्सा लेने लगे। सन् १९२७ ई० में ४२वें कांग्रेस अधिवेशन के सभापति हुए जिसकी बैठक मद्रास में हुई थी। इस अधिवेशन के अवसर पर अध्यक्ष पद से बोलते हुए इन्होंने हिंदू-मुस्लिम-ऐक्ता पर विशेष बल दिया था। १९२८ ई० में लखनऊ में होनेवाले सर्वदलीय संमेलन का इन्होंने सभापतित्व किया था। उसमें 'डोमीनियन स्टेटस' के संबंध में प्रस्तुत 'मोतीलाल नेहरू रिपोर्ट' पासकर अंग्रेज सरकार की भारतीय संमिलित माँग की चुनौती स्वीकार की गई थी। उसी संमेलन में पूर्ण स्वराज्य का एक प्रस्ताव भी पास हुआ था जिसके विशेष समर्थक जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस थे। डॉ० अंसारी अत्यंत सुसंस्कृत व्यक्ति थे। डाक्टरी वे सर्वथा मानवीय दृष्टि से करते थे। [र० ज०]

अ यह संस्कृत तथा भारत की समस्त प्रादेशिक भाषाओं की वर्णमाला का प्रथम अक्षर है। इब्रानी भाषा का अलेफ़्, यूनानी का अल्फ़ा और लातिनी, इतालीय तथा अंग्रेजी का ए इसके समकक्ष है। पाणिनि के अनुसार इसका उच्चारण कंठ से होता है। उच्चारण के अनुसार संस्कृत में इसके अठारह भेद हैं :

१. सानुनासिक	ह्रस्व	उदात्त	अनुदात्त	स्वरित
	दीर्घ	उदात्त	अनुदात्त	स्वरित
	प्लुत	उदात्त	अनुदात्त	स्वरित
२. निरनुनासिक	ह्रस्व	उदात्त	अनुदात्त	स्वरित
	दीर्घ	उदात्त	अनुदात्त	स्वरित
	प्लुत	उदात्त	अनुदात्त	स्वरित

हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अ के प्रायः दो ही उच्चारण ह्रस्व तथा दीर्घ होते हैं। केवल पर्वतीय प्रदेशों में, जहाँ दूर से लोगों को बुलाना या संबोधन करना होता है, प्लुत का प्रयोग होता है। इन उच्चारणों को क्रमशः अ, अ२ तथा अ३ से व्यक्त किया जा सकता है। दीर्घ करने के लिये अ के आगे एक खड़ी रेखा ा जोड़ देते हैं जिससे उसका आकार **आ** हो जाता है। संस्कृत तथा उससे संबद्ध सभी भाषाओं के व्यंजन में अ समाहित होता है और उसकी सहायता से ही उनका पूर्ण उच्चारण होता है। उदाहरण के लिये, क=क्+अ; ख=ख्+अ, आदि। वास्तव में सभी व्यंजनों को व्यक्त करनेवाले अक्षरों की रचना में अ प्रस्तुत रहता है। अ का प्रतीक खड़ी रेखा 'ा' है जो व्यंजन के दक्षिण, मध्य या ऊपरी भाग में वर्तमान रहती है, जैसे क (क+ा) में मध्य में है; ख (ख+ा), ग (ग+ा), घ (घ+ा) में दक्षिण भाग में तथा ङ (ङ+ा), छ (छ+ा), ट (ट+ा) आदि में ऊपरी भाग में है।

अ स्वर की रचना के बारे में 'वर्णोद्धारतंत्र' में उल्लेख है। एक मात्रा से दो रेखाएँ मिलती हैं। एक रेखा दक्षिण ओर से घूम कर ऊपर संकुचित हो जाती है; दूसरी बाईं ओर से आकर दाहिनी ओर होती हुई मात्रा से मिल जाती है। इसका आकार प्रायः इस प्रकार संगठित हो सकता है।

चौथी शती ई०पू० की ब्राह्मी से लेकर नवीं शती ई० की देवनागरी तक इसके निम्नांकित रूप मिलते हैं :

३ शती ई०पू०	१श०प०	१-२श०प०	२-३श०प०
मौर्य	शक	आंध्र	कुषण

२-३श०प०	४श०प०	६श०प०	७-९ श०
जग्गयपेट	आदि गुप्त	उत्तर गुप्त	मध्ययुग

अ का प्रयोग अव्यय के रूप में भी होता है। नञ् तत्पुरुष समास में नकार का लोप होकर केवल अकार रह जाता है; 'अऋणी' को छोड़कर स्वर के पूर्व अ का अन् हो जाता है। नञ् तत्पुरुष में अ का प्रयोग निम्नलिखित छह विभिन्न अर्थों में होता है :

(१)	सादृश्य–	अब्राह्मण	। इसका अर्थ है ब्राह्मण को छोड़कर उसके सदृश दूसरा वर्ण, क्षत्रिय, वैश्य आदि।
(२)	अभाव–	अपाप	। पाप का अभाव।
(३)	अन्यत्व–	अघट	। घट छोड़कर दूसरा पदार्थ, पट, पीठ आदि।
(४)	अल्पता–	अनुदरी	। छोटे पेटवाली।
(५)	अप्राशस्त्य–	अकाल	। बुरा काल, विपत्काल आदि।
(६)	विरोध–	असुर	। सुर का विरोधी, राक्षस आदि।

इसी तरह अ का प्रयोग संबोधन (अ!) विस्मय (अः), अधिक्षेप (तिरस्कार) आदि में होता है।

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥

अ (पु० सं०) अर्थ में विष्णु के लिये प्रयुक्त होता है। कहीं कहीं अकार से ब्रह्मा का भी बोध होता है। तंत्रशास्त्र के अनुसार अ में ब्रह्मा, विष्णु और शिव तथा उनकी शक्तियाँ वर्तमान हैं। तंत्र में अ के पर्याय सृष्टि, श्रीकंठ, मेघ, कीर्ति, निवृत्ति, ब्रह्मा, वामाद्यज, सारस्वत, अमृत, हर, नरकारि, ललाट, एकमात्रिक, कंठ, ब्राह्मण, वागीश तथा प्रणवादि भी पाए जाते हैं। प्रणव के (अ+उ+म) तीन अक्षरों में अ प्रथम है। योगसाधना में प्रणव (ओ३म्) और विशेषतः उसके प्रथम अक्षर अ का विशेष महत्व है। चित्त एकाग्र करने के लिये पहले पूरे ओ३म् का उच्चारण न कर उसके बीजाक्षर अ का ही जप किया जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इसके जप से शरीर के भीतरी तत्व कफ, वायु, पित्त, रक्त तथा शुक्र शुद्ध हो जाते हैं और इससे समाधि की पूर्णावस्था की प्राप्ति होती है।

[रा० ब० पां०]

अइयास यूनानी योद्धा। यह सलामिस (ग्रीस) के राजा तालमान का पुत्र था। यूनान के पौराणिक साहित्य में यह अपने विक्रम के लिये प्रसिद्ध है। त्रोजनों को युद्ध में हराकर इसने एकिलीज का शरीर प्राप्त किया था। सारे सलामिस देश में इसकी पूजा होती थी और 'ऐंतिया' नामक उत्सव इसकी अभ्यर्थना के लिये मनाया जाता था।

[चं० म०]

अकबर तीसरे प्रसिद्ध मुगल सम्राट अकबर का जन्म अमरकोट (सिंध) के किले में १५ अक्टूबर, सन् १५४२ को हुआ। उसकी माता हमीदाबानू बेगम और पिता हुमायूँ था। कंधार तक तो हुमायूँ उसे ले जा सका किंतु वहीं छोड़कर उसे फारस भागना पड़ा। अकबर काबुल के किले में अपने चाचा कामरान की देखरेख में रहा। हुमायूँ ने फारस से लौटकर कंधार और काबुल जीत लिए। उस समय अकबर तीन वर्ष का था। अकबर को पढ़ने लिखने का तो नहीं, किंतु सवारी, अस्त्र शस्त्र चलाने और युद्धकला सीखने का शौक था।

जब हुमायूँ ने भारत पर आक्रमण किया तब अकबर उसके साथ था। पिता की आज्ञा से उसने दो युद्धों में भाग भी लिया। दिल्ली जीतने के छः महीने के पश्चात् हुमायूँ अपने पुस्तकालय की सीढ़ी से गिरकर मर गया (जनवरी २०, सन् १५५६)। अकबर की आयु केवल तेरह वर्ष चार महीने की थी जब वह अपने शिक्षक बैरमखाँ की सहायता से कलानोर के फौजी पड़ाव में सिंहासन पर बिठाया गया। बैरम खाँ अभिभावक और वकील बनकर अकबर के नाम से शासन करने लगा।

मुगलों को अफगान सेना के नेता हेमू (हेमराज) से भय था। अपने स्वामी आदिलशाह के लिये अनेक युद्ध जीतता हुआ हेमू आगरा पहुँचा। पानीपत के मैदान में उसका मुगलों से युद्ध हुआ। उसके दुर्भाग्य से सहसा उसकी आँख में तीर लगा जिससे वह मूर्छित हो गया। फलतः हारती हुई मुगल सेना को विजय प्राप्त हुई (५ नवंबर, १५५६)।

अकबर के सरदार प्रबल थे और शासन की बागडोर बैरम खाँ ने मजबूती से पकड़ रखी थी जिससे वह सर्वेसर्वा हो गया था। अकबर को नाम मात्र के लिये सम्राट् कहलाने से संतोष न हुआ। बैरम खाँ से छुटकारा पाने के लिये आगरा से वह देहली चला गया और वहाँ से उसने उसको पदच्युत कर दिया। बैरम ने युद्ध की ठानी किंतु कैद कर लिया गया। अकबर ने उसको क्षमा करके मक्का जाने की अनुमति दे दी।

अकबर के सामने दो विकट समस्याएँ थीं। एक तो उद्दंड सरदारों का दमन, दूसरी राज्य का संवर्धन। पहली समस्या के हल करने में उसे लगभग सात वर्ष लगे। उसने अदहम खाँ को, जिसने अकबर के वजीर की हत्या की थी, प्राणदंड दिया (१५६२)। इसके बाद उसने सीस्तानी सरदारों का दमन कर उनके नेता खानजमाँ और अब्दुल्ला खाँ को युद्ध में परास्त किया। खानजमाँ तो खेत रहा और अब्दुल्ला का वध कर दिया गया (१५६७)। प्रबल और उद्दंड सरदारों की दुर्दशा देखकर फिर अकबर का सामना करने का साहस किसी को न हुआ।

यद्यपि सरदारों के दमन में अकबर दत्तचित्त था, फिर भी उसकी सेना राजपूताना और मालवा में कुछ सफलता प्राप्त करती रही। सन् १५६१ में मालवा, १५६२ में आमेर, १५६४ में जोधपुर तक उसकी सेनाएँ बढ़ गई थीं और राजपूताने में आतंक फैल गया। अकबर की नीति राजपूतों को हराकर केवल अपना राज्य बढ़ाना मात्र न थी। वह उनसे मित्रता बढ़ाकर उन्हें अपना तथा साम्राज्य का हितैषी भी बनाना चाहता था। उनको उसने वचन दिया कि यदि वे उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लें, साम्राज्य को निश्चित सैनिक सहायता के रूप में उपहार दें, बिना सम्राट् की आज्ञा के आपस में न लड़ें और सम्राट् की आज्ञा लेकर राजगद्दी पर बैठें तो उनके धर्म, राज्य, शासनविधान, सामाजिक जीवन आदि में वह हस्तक्षेप न करेगा। अपनी उदार नीति के प्रमाणस्वरूप अकबर ने युद्ध के कैदियों को गुलाम बनाने की प्रथा (१५६२ ई०), तीर्थों पर यात्रियों से कर लेना और हिंदुओं से जिज़िया लेना गैरकानूनी घोषित कर दिया (१५६३-६४ ई०)।

जयपुर और जोधपुर के राज्यों ने अकबर की शर्तें मान लीं। उन्होंने सम्राट् तथा राजकुमारों से अपने घराने की लड़कियाँ देकर वैवाहिक संबंध भी जोड़ लिए। किंतु अधिकांश राजा इस प्रतीक्षा में थे कि मेवाड़ के महाराणा की, जिनका राजपूताने में सबसे अधिक संमान था, क्या नीति होती है। महाराणा उदयसिंह ने अकबर की ओर रुख करना तो दूर रहा, उसके अफगान शत्रुओं पर वरद कर रख दिया और सम्राट् की अवहेलना की। ऐतिहासिक महत्व के कारण चित्तौड़ के महाराणा राजपूताने पर आधिपत्य अपना जन्मजात अधिकार समझते थे। वे महाराणा कुंभा तथा राणा साँगा के उत्तराधिकारी थे। अकबर भी बाबर का पौत्र होने के कारण अपने को महाराणा या किसी अन्य राज्याधिपति से कम नहीं समझता था। दोनों की लागडाँट बिना युद्ध द्वारा निर्णय के शांत होती न दिखाई दी। अतः सन् १५६७ में अकबर ने चित्तौड़ तथा रणथंभौर के किलों को घेर लिया। कई महीनों की मारकाट के बाद अकबर ने चित्तौड़ और रणथंभौर के किले सर कर लिए। अकबर का महत्व स्पष्ट हो गया जिससे कालिंजर, मारवाड़ और बीकानेर के राज्यों ने भी उसका प्रभुत्व

मान लिया। बगाल के अफगान सुल्तान सुलेमान करीनी ने भी उसका नाम खुतबा और सिक्के मे रख दिया।

चित्तौड पर अधिकार जमने से मालवा पर भी अकबर का पजा कस गया और गुजरात जाने का रास्ता, जो राजनीतिक और व्यापारिक महत्व रखता था, खुल गया। अकबर के पिता हुमायूँ ने मालवा, गुजरात और बगाल पर अपना प्रभुत्व एक बार स्थापित किया था। उसी नाते तथा साम्राज्यविस्तार के आदर्श से प्रेरित होकर अकबर ने गुजरात के सरदारो के एक नेता का वहाँ शातिस्थापन करने का निमत्रण स्वीकार कर लिया और गुजरात पर चढाई कर दी। बगाल और बिहार के अफगान शासक ने जब मुगल सीमा पर आक्रमण किया तब उनपर प्रत्याक्रमण करके उन प्रातो को भी उसने जीत लिया (१५७२-७४)।

साम्राज्य अब इतना बडा हो गया था कि उसके सगठन मे अकबर को सात आठ वर्ष लगे। सारे साम्राज्य की इलाही गज से पैमाइश कराके तथा भूमि की उपज का ध्यान रखकर पैदावार का एक तिहाई लगान निश्चित किया गया। देश के प्रचलित शासन मे बहुत कुछ सुधार किए गए। निष्पक्ष और उदार धार्मिक नीति तथा सामाजिक सुधार के लिये देश के प्रमुख धर्मों का अध्ययन किया गया। विविध धर्मों के विद्वानो को 'इबादतखाने' मे एकत्रित कर अकबर उनके शास्त्रार्थ सुनता। जहाँ तक सभव हो सका, सब धर्मों को सहानुभूति अथवा सहायता दी गई। अत मे उसने 'दीन इलाही' नाम की एक सस्था स्थापित की जिसका किसी भी मत का व्यक्ति सदस्य बनाया जा सकता था। इस सस्था के मुख्य सिद्धात थे (१) ईश्वर मे दृढ विश्वास, (२) सम्राट् की भक्ति, (३) यथासभव हत्या या मासभोजन का त्याग, (४) स्त्रीसहवास में सयम और शुद्धता, (५) समय समय पर भोज और दान। दीक्षित किए हुए सदस्य सम्राट् का एक छोटा चित्र अपनी पगडी मे रखते और आपस मे जब मिलते तो 'अल्लाहो अकबर' और उत्तर मे 'जल्लेजलालहू' कहकर अभिवादन करते। अकबर की धारणा सभवत यह थी कि उसका मत मानने मे किसी धर्मावलबी को आपत्ति न होनी चाहिए। उसके मत के सबध मे लोगो के विभिन्न विचार थे। कोई उसको नया धर्मप्रवर्तक समझता और उसकी नीयत पर सदेह करता और कोई उसे जगद्गुरु कहलाने के लिये उत्सुक समझता। सदस्यो को सम्राट् स्वय चुनता और दीक्षित करता। सदस्य बनाने के लिये लोभ, बलप्रयोग, आग्रह अथवा पदोन्नति का उपयोग सम्राट् ने कभी नही किया।

अकबर ने अरबी और सस्कृत ग्रथो के, जैसे कुरान, मजमउलबल्दान, भगवद्गीता, महाभारत, अथर्ववेद आदि के सरल फारसी मे अनुवाद कराए जिससे हिंदू मुसलमान लोग एक दूसरे के धर्म, इतिहास और सस्कृति को समझ सके। हिंदी को उच्च स्थान देने के लिये उसने 'कविराज' का पद दरबार में प्रचलित किया था। विवाह की आयु अनिवार्यत लडकियो की १४ वर्ष तथा लडको की १६ वर्ष कर दी। जबर्दस्ती तथा डर से सती हो जाने का निषेध करके विधवाविवाह को कानून के अनुकूल घोषित कर दिया।

अकबर की धार्मिक नीति से हिंदू, सिक्ख और उदार मुसलमान तो प्रसन्न थे किंतु कट्टर मुसलमानो मे असतोष और रोष फैला। सेना के सगठन से सैनिको और जागीरदारो मे विरोध की भावना फैली। फलत बगाल, बिहार और मालवा मे विद्रोह की आग भडक उठी। विद्रोहियो ने अकबर के भाई हकीम को, जो अफगानिस्तान मे शासन कर रहा था, आगरे का साम्राज्य लेने के लिये बुलाया। अकबर ने सब कठिनाइयो का धैर्य और वीरता से सामना किया और उनपर पूर्ण विजय पाई। यद्यपि उसे अपने सुधारो मे कुछ हेरफेर तथा उनकी तीव्र गति को कुछ धीमा करना पडा, तथापि उसने अपने आदर्शों, नीति और विधानो को कार्यान्वित करने से मुंह नही मोडा।

अपने भाई मिर्जा हकीम की गतिविधि तथा मध्य एशिया के शासक अब्दुल्लाखाँ उजबक की साम्राज्यविस्तार की नीति के कारण अकबर ने भारत की पश्चिमी सीमाओ को सुदृढ बनाने का सकल्प किया। धीरे धीरे उसने काश्मीर, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान तथा सिंध पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अत मे मुगल साम्राज्य की सीमा हिंदूकुश की पर्वतमाला निश्चित हो गई।

दक्षिण मे भी समस्याएँ उठ खडी हुई। पुर्तगालियो का अरब सागर पर प्रभुत्व होने से व्यापार तथा हजयात्रा में भारतवासियो के लिये अनेक असुविधाएँ पैदा हो गई। उन्होने एक बार सम्राट् की बेगमो की यात्रा मे भी अडचन डाली। इस विदेशी समुद्री शक्ति का तभी दमन हो सकता था जब दक्षिण के राज्य सम्राट् का नेतृत्व स्वीकार कर पूरा सहयोग देते। इसके सिवा वे राज्य आपस मे लडते और धार्मिक झगडो मे दिलचस्पी लेते, जिससे धार्मिक वातावरण दूषित होता था। अकबर ने उनको समझाने और मिलाने के निष्फल प्रयत्न किए। अत मे युद्ध छिड गया जिससे खानदेश और अहमदनगर पर भी कुछ अधिकार स्थापित हो गया।

अकबर जब दक्षिण के युद्ध मे लगा हुआ था तब उसे समाचार मिला कि उसका सबसे बडा पुत्र सलीम लोगो के बहकाने से विद्रोह कर इलाहाबाद मे डटकर राज्य करने लगा है। अकबर दक्षिण से लौटा और सभव था कि बाप बेटे मे युद्ध हो जाता, किंतु सलीम का साहस छूट गया और आगरा आकर उसने क्षमा माँग ली (१६०३)। लगभग ५० वर्ष राज करने के अनतर १६ अक्टूबर, सन् १६०५ को उदररोग से अकबर की मृत्यु हो गई। अकबर भारत के मुसलमान सम्राटो मे सबसे प्रतापी, उदार, गभीर और दूरदर्शी राज्यनिर्माता था।

अकबर का शरीर गठीला और सुडौल था। उसे सवारी, शिकार तथा अस्त्र-शस्त्र-सचालन का शौक था। पहले वह बडे पैमाने पर सामूहिक शिकार करता जिसमे हजारो शिकारी जानवरो को घेरकर सैकडो की सख्या मे मार डालते थे। आगे चलकर उसने उस हत्याकाड का परित्याग कर दिया। यद्यपि वह स्वस्थ और बलिष्ठ था तथापि उसके पेट मे कभी कभी शूल उठा करता था। सभव है, अपने विचारो के बदलने के अलावा उदररोग के कारण भी उसने सुरापान, अफीम सेवन और आहार विहार को परिमित और नियत्रित कर दिया हो। दिन मे एक ही बार वह स्वल्प भोजन करता और, जहाँ तक हो सकता था, मास खाने से बचता था।

सेनासचालन और किलो पर घेरा डालकर उन्हे जीतने की कला मे वह दक्ष था। कठिन से कठिन समस्या उपस्थित होने पर भी वह घबराता न था और उसके समाधान का ढग निकाल लेता था। किसी काम म वह तब तक हाथ न लगाता था जब तक उसकी पूरी तैयारी न कर लेता। आवश्यकता पडने पर लबी लबी यात्रा वह थोडे दिनो मे ही समाप्त कर लेता था। इसी कारण उसका आतक दूर तक फैला रहता था। बदूको और तोपो के निर्माण मे वह असाधारण रुचि रखता जिससे उस कौशल मे उत्तरोत्तर उन्नति होने लगी।

अकबर की स्मरणशक्ति जैसी जबर्दस्त थी वैसी ही उसकी बुद्धि भी सूक्ष्म एव कुशाग्र थी। इसीलिये स्वय पढने लिखने का काम न करने पर भी केवल सुनकर ही उसने आश्चर्यजनक ज्ञानराशि एकत्र कर ली थी जिसके बल पर शासन ही नही, काव्य, दर्शन, इतिहास आदि के सूक्ष्म तत्वो को भी समझने की शक्ति उसने प्राप्त कर ली थी। मितभाषी होने के कारण उसके वाक्य और विचार सारगर्भित होते थे। उसकी मुद्रा गभीर, रोबीली, आदरणीय तथा प्रभावशालिनी थी।

स० ग्र०—वी० ए० स्मिथ अकबर (सशोधित सस्करण), आक्सफोर्ड, १९१९, त्रिपाठी सम ऐस्पेक्ट्स आॅव मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन।

[रा० प्र० त्रि०]

अकबर, सैय्यद अकबर हुसेन

(१८४६-१९२१ ई०) इलाहाबाद (उ० प्र०) के वर्तमान काल के सुप्रसिद्ध उर्दू कवि। थोडी शिक्षा प्राप्त करने के बाद १८६७ मे मुख्तारी की परीक्षा पास की, १८६९ ई० मे नायब तहसीलदार हुए। कुछ समय बाद हाई कोर्ट की वकालत पास की और मुनसिफ हो गए, फिर क्रमश उन्नति करते करते सेशन जज हुए जहाँ से १९३० ई० मे उन्होने अवकाश प्राप्त किया। १९२१ ई० मे प्रयाग मे उनका देहात हुआ।

अकबर ने १८६० ई० के लगभग काव्यरचना आरभ की और अपनी कविताएँ प्रयाग के सूफी कवि 'वहीद' को दिखाने लगे। अधिकतर गजल लिखते थे पर जब लखनऊ से 'अवध पच' निकला तो अकबर ने भी हास्यरस को अपनाया और थोडे ही समय मे इस रग के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाने लगे। इस क्षेत्र मे कोई उनसे ऊँचा न उठ सका। अकबर के काव्य मे व्यग्य भी है और वह व्यंग्य अधिकतर पश्चिमी सभ्यता के आक्रमण के

विरुद्ध है जो भारत और विशेष रूप से मुसलमानों की शिक्षा, संस्कृति, और जीवन को बदल रही थी। व्यंग्य और हास्य की आड़ में वह विदेशी राज्य पर कड़ी चोटें करते थे। वे समाज में हर ऐसे अच्छे बुरे परिवर्तन के विरुद्ध थे जो अंग्रेजी प्रभाव से प्रेरित था। उनकी विशेष रचनाएँ ये हैं : 'कुल्लियाते अकबर' ४ भाग; 'गांधीनामा', पत्रों का संग्रह।

सं०ग्रं०—अकबर : तालिब इलाहाबादी; अकबरनामा, अब्दुल माजिद दरियाबादी। [सै० ए० हु०]

अकलंक जैन न्यायशास्त्र के अनेक मौलिक ग्रंथों के लेखक आचार्य अकलंक का समय ई० ७२०-७८० है। अकलंक ने भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति और उनके अनेक टीकाकारों के मतों की समालोचना करके जैन न्याय को सुप्रतिष्ठित किया है। उनके बाद होनेवाले जैन आचार्यों ने अकलंक का ही अनुगमन किया है। उनके ग्रंथ निम्नलिखित हैं : १. उमास्वाति तत्वार्थ सूत्र की टीका तत्वार्थवार्तिक जो राजवार्तिक के नाम से प्रसिद्ध है। इस वार्तिक के भाष्य की रचना भी स्वयं अकलंक ने की है। २. आप्तमीमांसा की टीका अष्टशती। ३. प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश के संग्रहरूप लघीयस्त्रय। ४. न्यायविनिश्चय और उसकी वृत्ति। ५. सिद्धिविनिश्चय और उसकी वृत्ति। ६. प्रमाण संग्रह। इन सभी ग्रंथों में जैनसंमत अनेकांतवाद के आधार पर प्रमाण और प्रमेय की विवेचना की गई है और जैनों के अनेकांतवाद को सुदृढ़ भूमि पर सुस्थित किया गया है। विशेष विवरण के लिये देखिए, 'सिद्धिविनिश्चय टीका' की प्रस्तावना। [द० मा०]

अकलुष इस्पात (स्टेनलेस स्टील) मिश्रधातुओं के उन समूहों का प्रतिनिधि है जो वायुमंडल तथा कार्बनिक और अकार्बनिक अम्लों से कलुषित (खराब) नहीं होते हैं। साधारण इस्पात की अपेक्षा ये अधिक ताप भी सह सकते हैं। इस्पात में ये गुण क्रोमियम मिलाने से उत्पन्न होते हैं। क्रोमियम इस्पात के बाह्य तल को निष्क्रिय बना देता है। प्रतिरोधी शक्ति की वृद्धि के लिये इसमें निकल भी मिलाया जाता है। निकल के स्थान पर अंशतः या पूर्णतः मैंगनीज़ का भी उपयोग किया जाता है। अकलुष इस्पात के निर्माण में लोहे में कभी कभी ताम्र, कोबाल्ट, टाइटेनियम, नियोबियम, टैंटालियम, कोलंबियम, गंधक और नाइट्रोजन भी मिलाया जाता है। इनकी सहायता से विभिन्न रासायनिक, यांत्रिक और भौतिक गुणों के अकलुष इस्पात बनाए जा सकते है।

सन् १८७२ ई० में वुड्स और क्लार्क ने लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि लौह और क्रोमियम की कुछ मिश्र धातुओं में न तो जंग (मुरचा) लगता है और न अम्ल के प्रभाव से उनपर कोई विकार होता है। पेरिस में आयोजित सन् १९०० ई० की प्रदर्शनी में इस्पात के कुछ नमूने थे जिनकी संरचना आधुनिक अकलुष इस्पात के समान थी। सन् १९०३ ई० में लौह, क्रोमियम और निकल की मिश्र धातुओं को इंग्लैंड में पेटेंट कराया गया। इन मिश्र धातुओं में क्रोमियम की मात्रा २४ से ५७ प्रति शत और निकल की मात्रा ५ से ६० प्रति शत तक थी। संयुक्त राज्य अमरीका में निकल और फेरोक्रोम (अर्थात् क्रोमियम-मिश्रित लोहे) को मूषा (घरिए) में पिघलाकर थर्मोकपल बनाने योग्य इस्पात की रचना की गई। सन् १९०५ ई० में लौह में निकल, क्रोमियम और कोबाल्ट की मिश्र धातु से मोटरकारों के स्पार्क प्लगों में चिनगारी देनेवाले तार बनाए गए। सन् १९१० ई० में उच्चतापमापी नलिकाओं के लिये जर्मनी ने इस्पात, क्रोमियम और निकल की मिश्रधातु का और सन् १९१२ ई० के लगभग इंग्लैंड ने बंदूक की नाल बनाने के लिये क्रोमियम और इस्पात की मिश्रधातु का उपयोग किया और चाकू, छुरी आदि बनाने के लिये इसे पेटेंट कराया। बाद में केवल निकल या निकल और क्रोमियम को इस्पात में मिलाकर बनाई गई मिश्र धातुओं के विभिन्न मिश्रण संयुक्त राज्य अमरीका, इंग्लैंड और जर्मनी में पेटेंट कराए गए। इन प्रारंभिक मिश्रणों के आधार पर ऐल्यूमीनियम, सेलीनियम, मालिबडीनम, सिलिकन, ताम्र, गंधक, टंग्स्टन और कोलंबियम को क्रोमियम और क्रोमियम इस्पात में मिलाकर श्रेष्ठ गुणधर्मवाले अकलुष इस्पात बनाने के आविष्कार हुए। जर्मनी में निकल का अभाव होने के कारण सन् १९३५ ई० में एक ऐसे प्रकार के अकलुष इस्पात का निर्माण हुआ जिसमें निकल के स्थान पर मैंगनीज़ का प्रयोग किया गया और मिश्र धातु बनाने के लिये सहायक के रूप में नाइट्रोजन प्रयुक्त हुआ।

क्षयरोधक और तापरोधक आधुनिक अकलुष इस्पातों को पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(१) जिनमें क्रोमियम का उपयोग मुख्य धातु-मिश्रणकारी के रूप में किया गया हो।

(२) जिनमें क्रोमियम और इस्पात की मिश्र धातु के गुणों में परिवर्तन के लिये पर्याप्त मात्रा में ऐल्यूमीनियम, ताम्र, मोलिबडीनम, गंधक, सिलिकन, सेलीनियम या टंग्स्टन का उपयोग किया गया हो।

(३) जिनमें क्रोमियम, निकल और इस्पात के मिश्रणों में पूर्वोक्त अनुच्छेद में दी गई धातुओं में से दो, एक या अधिक का उपयोग अकलुष इस्पात के गुणों में थोड़ा सा परिवर्तन लाने के लिये किया गया हो।

(४) जिनमें क्रोमियम और निकल का उपयोग प्रमुख धातु-मिश्रणकारी के रूप में किया गया हो।

(५) जिनमें निकल के स्थान पर प्रमुख धातु-मिश्रणकारी के रूप में मैंगनीज़ का उपयोग किया गया हो और वैसा ही अकलुष इस्पात बनाया गया हो जैसा अनुच्छेद (३) और (४) में वर्णित है।

कार्बन की मात्रा या धात्वीय संरचना की दृष्टि से भी इस्पात का वर्गीकरण किया जा सकता है। इनमें से प्रत्येक रीति में इस्पात का तीन वर्गों में विभाजन किया जाता है। कार्बन के अनुसार वर्गीकरण करने पर इस्पात न्यून, मध्यम और उच्च कार्बनवाले इस्पात कहलाते हैं। संरचना की दृष्टि से भी इस्पात को तीन वर्गों में बाँटते हैं :

(१) फेरिटिक इस्पात, जो कड़े किए ही नहीं जा सकते। इनमें १५ प्रति शत से ३० प्रति शत तक क्रोमियम रहता है, और कार्बन की मात्रा बहुत कम (०·०८ से ०·२० प्रति शत तक) रहती है।

(२) मारटेंसिटिक इस्पात, जो तप्त करके पानी में बुझाने पर कड़े हो जाते हैं। इनमें १० प्रति शत से १८ प्रति शत तक क्रोमियम रहता है और ०·०८ प्रति शत से १·१० प्रति शत तक कार्बन।

(३) आस्टेनिटिक इस्पात, जो बिना बुझाए ही कड़ा किया जा सकता है। इसमें १६ प्रति शत से २६ प्रति शत तक क्रोमियम और ६ प्रति शत से २२ प्रति शत तक निकल रहता है।

परलैटिक इस्पात कठोर किया जा सकता है और ऐसा करने पर उसकी संरचना मारटेंसिटिक के समान हो जाती है।

क्रोमियम इस्पात में क्षय-प्रतिरोध-शक्ति बाह्य तल पर लौह-क्रोमियम आक्साइड की पतली स्थायी परत बन जाने के कारण उत्पन्न होती है। यह पतली परत अपने नीचे स्थित इस्पात के क्षय को रोकती है। यदि रासायनिक क्रिया या रगड़ से यह तह नष्ट हो जाती है तो अविलंब उसके नीचे ऐसी ही दूसरी तह का निर्माण हो जाता है। उच्च ताप पर भी यह तह दृढ़ता से चिपकी रह जाती है और आक्सीकरण को रोकती है। लौह को निष्क्रिय बनाने के लिये क्रोमियम की न्यूनतम मात्रा १२ प्रति शत है। धातु-मिश्रणकारी के रूप में क्रोमियम और निकल अथवा क्रोमियम और मैंगनीज़ मिलाकर बने अकलुष इस्पातों के गुण 'फेरिटिक' और साधारण क्रोमियम-इस्पात से भिन्न होते हैं। ये इस्पात तार खींचने योग्य, अचुंबकीय और ठंढी विधि को छोड़ अन्य विधियों से कठोर न होनेवाले वर्ग में आते हैं। संरचना में ये आस्टेनिटिक इस्पात के समान हैं। क्षयनिरोधकता की दृष्टि से क्रोमियम-मैंगनीज़ इस्पात की मिश्र धातु क्रोमियम-निकल-इस्पात की मिश्र धातु से निर्बल, किंतु उतने ही क्रोमियमवाले इस्पात की मिश्र धातु से सबल होती है। भारत में क्रोमियम और मैंगनीज़ की बहुलता की दृष्टि से यह तथ्य औद्योगिक महत्व का है।

प्रयोगात्मक रूप से लगभग संपूर्ण अकलुष इस्पात बिजली की भट्ठी में बनाया जाता है। थोड़ा सा भाग प्रवर्तन भट्ठियों (इंडक्शन फर्नेसेज़) और आर्क-भट्ठियों में बनाया जाता है। कच्चे लोहे के टुकड़े भट्ठी में पिघलाए जाते हैं और आक्सिजन की सहायता से शोधित कर लिए जाते हैं। इसमें क्रोमियम डालने के लिये कार्बन की कम मात्रावाली लौह-क्रोमियम मिश्र धातु पिघले लौह में मिलाई जाती है। फिर उसमें निकल

या मैंगनीज मिलाया जाता है। अन्य धातुएँ भी आवश्यकतानुसार भट्ठी में मिला दी जाती हैं। तब पिघले हुए, शोधित और विधिवत् निर्मित मिश्र धातु की सिलें ढाल ली जाती हैं। इन सिलों को पीटकर या बेलकर छड़ों के रूप में बना लिया जाता है। अन्य प्रकार के इस्पातों की अपेक्षा अकलुष इस्पात में निर्माण की क्रियाएँ, यथा बाह्य तल का नियंत्रण, घिसना, रेतना, बाह्य तल पर आक्सीकरण रोकने के लिये पुनः गरम करना, अर्धनिर्मित वस्तुओं पर रेत की धार मारना और अम्ल से स्वच्छ करना आदि क्रियाएँ, अधिक मात्रा में की जाती हैं। इसके अतिरिक्त अकलुष इस्पात के उपकरणों के ऊपरी पृष्ठ को लोग विभिन्न अवस्थाओं में चाहते हैं, यथा मृदु, कठोर, चमकरहित से लेकर श्रेष्ठ पालिशवाले तक और खुरदुरे से लेकर पूर्णतया सुचिक्कण तक।

जहाँ निम्नलिखित अवस्थाओं में से एक या अधिक अवस्थाओं का निर्वाह सफलतापूर्वक करना पड़ता है वहाँ अकलुष इस्पात की आवश्यकता पड़ती है : प्रतिकूल ऋतु, धूल, खट्टा या नमकीन भोजन, रासायनिक पदार्थ, धातुओं को हानि पहुँचानेवाले जीवाणु, जल, घर्षण, आघात और अग्नि। इसका उपयोग वहाँ भी किया जाता है जहाँ बाह्य तल को स्वास्थ्य की दृष्टि से स्वच्छ, सुंदर या सुचिक्कण रखना होता है। जहाँ मजबूती की आवश्यकता होती है वहाँ भी इसका प्रयोग किया जाता है।

अकलुष इस्पात को चमकदार रखने के लिये साधारण पालिश या बिजली की कलई की आवश्यकता नहीं होती, केवल समय समय पर साधारण सफाई ही पर्याप्त होती है। अकलुष इस्पात की विशेषता उसमें जंग न लगने, क्षय न होने और रंग में विकृति न होने के कारण है। साधारणत: प्रतिरोध शक्ति क्रोमियम अंश के अनुसार बदलती है। "आस्टेनिटिक" १८-८ वाले अकलुष इस्पात में (जिसमें १८ प्रति शत क्रोमियम और ८ प्रति शत निकल रहता है) ऋतुक्षय से बचने और भोजनालय के, कपड़ा धोने के तथा दुग्धशाला के बरतनों और अन्य साधारण उपयोगों के निमित्त उत्तम प्रतिरोध शक्ति रहती है। इसके गुण १४-१८ क्रोमियम-इस्पात के समान होते हैं जिनमें कार्बन की मात्रा ०.१२ प्रति शत से अधिक नहीं होती। निकलवाला अकलुष इस्पात साधारण अकलुष इस्पात से कुछ ही महँगा पड़ता है। क्रोमियम-निकल अकलुष इस्पात में मोलिबडीनम मिलाने से लवणों और तेजाबों के प्रति प्रतिरोध शक्ति बढ जाती है। इससे इसका उपयोग समुद्रतटवर्ती अथवा लवण के संपर्क मे आनेवाले उपादानों में विशेष रूप से होता है।

क्रोमियम-निकल अकलुष इस्पात को ४५०° से ९००° सेंटीग्रेड के तापों के बीच उपयोग करने अथवा पीटने से उसकी प्रतिरोध शक्ति कम हो जाती है। इस दोष को दूर करने के लिये उसे १,०००° से उच्च ताप पर गरम करके पुनः शीघ्रता से शीतल कर लिया जाता है। क्रोमियम-निकल और केवल क्रोमियमवाले अकलुष इस्पात, जिनमें कार्बन की मात्रा ०.०३ प्रति शत से ०.०८ प्रति शत तक होती है और जिनको थोड़ा सा कोलंबियम, नियोबियम या टाइटेनियम मिलाकर स्थायी किया जाता है, इस प्रभाव से मुक्त रहते हैं।

अकलुष इस्पात के रासायनिक शत्रु हैं क्लोराइड, ब्रोमाइड और आयोडाइड। यदि धातु को समय समय पर जल से स्वच्छ कर लिया जाता है और हवा में सूखने दिया जाता है तो वह अच्छा काम देती है। यदि धातु पर धूल अथवा अन्य पदार्थों की तह जम जाती है जिससे धातु से वायु का संपर्क नहीं हो पाता और धूल की तह लवणमय जल से तर हो जाती है तो ऐसे स्थानों पर गड्ढे पड़ जाते हैं। इसे रोकने के लिये निम्नलिखित उपाय करने चाहिए :

(१) बर्तनों की संधियाँ गहरी और तीक्ष्ण न रहें। उन्हें गोल रखा जाय।

(२) क्षयात्मक प्रयोगों में आनेवाले उपादानों को भली भाँति चिकना करके पालिश कर ली जाय, विशेषकर वेल्ड की गई संधियों को।

(३) छनने और जालीदार टोकरियों को विशेष रूप से स्वच्छ किया जाय जिससे जालियों के बीच गर्द न जमने पाए।

(४) निर्माण के समय लगे हुए लौहकण और पपड़ियाँ घिसकर साफ कर दी जायँ।

(५) क्षयकारी वातावरण में गरम किए जानेवाले सामानों के बनाने में इस बात का ध्यान रखा जाय कि उनके विभिन्न अवयवों के प्रसार के लिये पर्याप्त स्थान रहे।

चाप सहनेवाले वाल्व, पंप और नल की फिटिंग, जिन्हें ५५०° सेंटीग्रेड से ऊँचे ताप पर काम में लाना होता है, विश्वसनीय मजबूती के लिये अकलुष इस्पात के बनाए जाते हैं। भट्ठियों के भागों में, दाहक कक्षों में, चिमनियों के अस्तर में और इसी प्रकार के अन्य कार्यों में अकलुष इस्पात का उपयोग किया जाता है। साधारण इस्पात पर जमी आक्साइड की परत सरलता से छूट पड़ती है, पर अकलुष इस्पात की आक्साइड की परत इसकी तुलना में स्थायी होती है और नीचे की धातु की रक्षा करती रहती है।

बहुत ठंढी करने पर अधिकांश धातुएँ भुरभुरी हो जाती हैं, किंतु क्रोमियम-निकलवाले इस्पात द्रव आक्सिजन के ताप तक दृढ, तार खींचने योग्य, और आघातसह बने रहते हैं। इसलिये उद्योगों में इस श्रेणी के निम्न ताप पर इसी धातु का प्रयोग किया जाता है।

अन्य धातुओं की अपेक्षा अकलुष इस्पात को बहुधा कम खर्च में ही सूक्ष्म एवं दृढ़ रूप दिया जा सकता है। इसके तार उसी सुगमता से खींचे जा सकते हैं जिस सुगमता से ताम्र या पीतल के, पर यह साधारण इस्पात से अधिक दृढ़ होते हैं। अपनी इस दृढ़ता के कारण अकलुष इस्पात के उपादानों को रूप देने में अधिक शक्ति, बड़े यंत्रों और अधिक श्रम की आवश्यकता होती है। यदि अत्यधिक दृढ़ उपादान निर्मित करना हो तो इस्पात को बीच बीच में मृदु बनाने की क्रिया करनी पड़ती है। अकलुष इस्पात से विविध सामग्री बनाने में की जानेवाली प्रमुख क्रियाएँ ये हैं : मोड़ना, गोल करना, तार खींचना, पीटना, ऐंठना, तानना और नली बनाना।

यदि सावधानी से कार्य किया जाय तो अकलुष इस्पात के लिये व्यावसायिक वेल्डिंग की सभी प्रचलित रीतियाँ काम में लाई जा सकती हैं। पिघलाकर जोड़ने (वेल्ड करने) में आपसे आप बन जानेवाली गोलियों को घिसकर अत्यंत चिकना कर लिया जाता है जिससे जोड़ देखने में सुंदर लगे और स्वास्थ्य के लिये हितकर रहे। सुनिर्मित, स्वचालित, निष्क्रिय गैसों से संरक्षित, 'आर्क' भट्ठी पर वेल्ड किए हुए अकलुष इस्पात बिजली द्वारा पालिश कर देने से साधारणतः पर्याप्त चिकने हो जाते हैं। सभी प्रकार के क्रोमियम-निकल अकलुष इस्पात वेल्डिंग के ताप पर उत्पन्न होनेवाले विकृतिकारी प्रभावों के होते हुए भी तार खींचने योग्य रहते हैं। वेल्ड करते समय संधि के आसपास बनी गोलियाँ भी मृदु, पुष्ट और पिट सकने योग्य रहती हैं। यदि ऐसिटिलीन वेल्डिंग ठीक से न की जाय तो संधि में कार्बन का समावेश हो जाने से पुष्टता और क्षय-निरोधकता में कमी आ जाती है।

कठोर बनाने योग्य अकलुष इस्पातों की भी वेल्डिंग की जा सकती है, किंतु उन्हें विशेष क्रियाओं द्वारा जोड़ा जाता है, जिससे वे चिटक न जायँ। ऐसे इस्पातों को, जिनमें कार्बन की मात्रा ०.२० प्रति शत से अधिक हो, पहले २६०° सें० तक गरम कर लिया जाता है, फिर उन्हें उसी ताप पर वेल्ड करके मृदु बना लिया जाता है। यदि वेल्डिंग के पश्चात् तुरंत ही धातु को कठोर करना और उसपर पानी चढ़ाना हो तो मृदु बनाने की क्रिया छोड़ी जा सकती है। साधारणतः ऐसे पुरजों को वेल्डिंग द्वारा नहीं जोड़ना चाहिए जिनपर बहुत ठोंक पीट या कटाई करनी हो।

अकलुष इस्पात के टुकड़े साधारणतः टक्करी जोड़ (बट वेल्डिंग) से जोड़े जाते हैं। पतली वस्तुएँ एक के ऊपर एक चढ़ाकर वेल्डिंग द्वारा जोड़ी जाती हैं। टैंक और रेफ्रिजरेटर आदि की जोड़ाई सीम वेल्डिंग से की जाती है।

अकलुष इस्पात को जोड़ने में राँगे-सीसे के टाँके का उपयोग कदापि न करना चाहिए। अकलुष इस्पात को दूसरी धातुओं से जोड़ने के लिये चाँदी का टाँका लगाया जाता है, किंतु यदि यह क्रिया शीघ्र संपन्न न की जा सके तो इसमें मालिबडीनम आदि पड़े सुस्थिर अकलुष का ही उपयोग करना चाहिए।

अधिकांश प्रामाणिक अकलुष इस्पातों को खरादने आदि में बड़ी

कठिनाई पड़ती है। धातु के निकाले गए अंश लंबे लंबे चिमड़े टुकड़ों में निकलते हैं जिनसे परेशानी होती है। गंधक अथवा सेलीनियम की कुछ अधिक मात्रा अकलुष इस्पात में मिलाकर इस दोष से मुक्त संकर धातु का निर्माण किया जा सकता है।

तप्त करके किसी भी प्रकार के अकलुष इस्पात को ठोंक पीटकर इच्छित आकार दिया जा सकता है। यद्यपि अकलुष इस्पात को ढाला जा सकता है, फिर भी पतली या मोटी चादरें जोड़कर ही विभिन्न वस्तुएँ बनाने की प्रथा अधिक प्रचलित है। यदि अकलुष इस्पात से सूक्ष्म यंत्र बनाने हों तो इसके लिये विशेष प्रकार के दाबनेवाले साँचों का उपयोग किया जाता है।

क्षयनिरोधक छनने और इसी प्रकार के अन्य नियंत्रित रंध्रोंवाले यंत्र बनाने के लिये चूर्ण अकलुष इस्पात को विशेष ढंग के साँचों में अत्यंत अधिक दाब से दबाया जाता है।

पेंच, सिटकिनी, रिविट आदि को, जिनका उपयोग अकलुष इस्पात की वस्तुओं के संयोग के लिये किया जाय, अकलुष इस्पात का बनाना चाहिए।

क्रोमियम-निकल अकलुष इस्पात को अत्यधिक कठोर बनाया जा सकता है। मृदु किए गए सब प्रकार के अकलुष इस्पात साधारण इस्पात से अधिक मजबूत होते हैं। कठोर करने पर वे और भी मजबूत हो जाते हैं। ठंढी अवस्था में ही बेलने या तार खीचने से १८-८ वाले अकलुष इस्पात की मजबूती प्रति वर्ग इंच कई सौ टन होती है। ठंढी दशा में तनाव देकर बनाए गए क्रोमियम-निकल अकलुष इस्पात की चद्दरों को स्पॉट-वेल्डिंग द्वारा जोड़कर ऐसी धरनें बनाई जा सकती हैं जिनका उपयोग अन्य हलकी संकर धातुओं के स्थान पर यातायात उद्योग अथवा ऐसे निर्माण कार्यों में लाभ के साथ हो सकता है जहाँ हलकी धातु का उपयोग नितांत आवश्यक होता है।

नीचे दी हुई तालिका विभिन्न प्रकार के अकलुष इस्पात और उनके उपयोगों को व्यक्त करती है :

(१) १२ प्रति शत क्रोमियम	साधारण कामों के लिये; कोयले के क्षेत्र में; प्रयुक्त यंत्रादि में; पंप, वाल्व आदि में।
(२) १७ प्रति शत क्रोमियम	
(क) तप्त करके कठोर हो सकनेवाला	छुरी, काँटा आदि; शस्त्रचिकित्सा के औजार, बाल बेयरिंग आदि में।
(ख) कठोर न हो सकनेवाला	गृहनिर्माण (आंतरिक); मोटरकार; दाहक कक्ष में।
(३) १८-८ क्रोमियम-निकल	भोजन, भोजनागार, गृहों के बाहरी दरवाजों या दीवारों में।
(४) १८-८ क्रोमियम-निकल-मालिबडीनम	लवणमय जल; वस्त्रनिर्माण के यंत्र; कागज निर्माण के यंत्र; या फोटोग्राफी में।
(५) क्रोमियम-मैंगनीज	भोजनागार, गृह के बाहरी उपकरण, और बाह्य दीवारों में।

सुचिक्करण अकलुष इस्पात सबसे अच्छा क्षयनिरोधी है। अकलुष इस्पात के बने पात्रों के भीतरी कोने गोल रखे जाते हैं। सर्वाधिक क्षयप्रतिरोध-शक्ति प्राप्त करने के लिये अकलुष इस्पात को २०-४० प्रति शत शोरे के अम्ल में ५५° सें० से ७०° सें० तक ताप पर कम से कम आधे घंटे तक डुबाकर रखा जाता है।

सं०ग्रं०–जे० एच० जी० मनीपेनी : स्टेनलेस आयरन ऐंड स्टील, २ खंड (लंदन, १९५१)। [हृ० के० त्रि०]

अकशक उत्तरी सुमेर (अब दक्षिण-पूर्वी ईराक) का उत्तरतम नगर (३४° उत्तरी अ० तथा ४४° पूर्व दे०)। अति प्राचीन प्रागैतिहासिक काल में यह नगर दजला के तीर अधेम नदी के मुहाने पर बसा था। इसे साधारणतः ज़ेनोफ़न द्वारा उल्लिखित ओपिस माना जाता है, यद्यपि रॉलिन्सन ने बगदाद के निकट दियाला के दक्षिण एक स्थान को ओपिस माना है। [भ० श० उ०]

अकादमी मूलतः प्राचीन यूनान के एथेंस नगर में स्थित एक स्थानीय वीर अकादेमस के व्यक्तिगत उद्यान का नाम था। कालांतर में यह वहाँ के नागरिकों को जनोद्यान के रूप में भेंट कर दिया गया था और उनके लिये खेल, व्यायाम शिक्षा और चिकित्सा का केंद्र बन गया था। प्रसिद्ध दार्शनिक अफलातून (प्लेटो) ने इसी जनोद्यान में एथेंस के प्रथम दर्शन विद्यापीठ की स्थापना की। आगे चलकर इस विद्यापीठ को ही अकादमी कहा जाने लगा। एथेंस की यह एक ही ऐसी संस्था थी जिसमें नगरवासियों के अतिरिक्त बाहर के लोग भी संमिलित हो सकते थे। इसमें विद्यादेवियों (म्यूजेज) का एक मंदिर था। प्रति मास यहाँ एक सहभोज हुआ करता था। इसमें संगमरमर की एक अर्धवृत्ताकार शिला थी। कदाचित् इसी पर से अफलातून और उनके उत्तराधिकारी अपने सिद्धांतों और विचारों का प्रसार किया करते थे। गंभीर संवाद एवं विचारविनिमय की शैली में वहाँ दर्शन, गणित, नीति, शिक्षा और धर्म की मूल धारणाओं का विश्लेषण होता था। एक, अनेक, संख्या, असीमता, सीमाबद्धता, प्रत्यक्ष, बुद्धि, ज्ञान, संशय, ज्ञेय, अज्ञेय, शुभ, कल्याण, सुख, आनंद, ईश्वर, अमरत्व, सौर मंडल, निस्सरण, सत्य और संभाव्य, ये उदाहरणतः कुछ प्रमुख विषय हैं जिनकी वहाँ व्याख्या होती थी। यह संस्था नौ सौ वर्षों तक जीवित रही और पहले धारणावाद का, फिर संशयवाद का और उसके पश्चात् समन्वयवाद का संदेश देती रही। इसका क्षेत्र भी धीरे धीरे विस्तृत होता गया और इतिहास, राजनीति आदि सभी विद्याओं और सभी कलाओं का पोषण इसमें होने लगा। परंतु साहसपूर्ण मौलिक रचनात्मक चिंतन का प्रवाह लुप्त सा होता गया। ५२९ ई० में सम्राट् जुस्तिनियन ने अकादमी को बंद कर दिया और इसकी संपत्ति जब्त कर ली।

फिर भी कुछ काल पहले से ही यूरोप में इसी के नमूने पर दूसरी अकादमियाँ बनने लग गई थीं। इनमें कुछ नवीनता थी; ये विद्वानों के संघों अथवा संगठनों के रूप में बनीं। इनका उद्देश्य साहित्य, दर्शन, विज्ञान अथवा कला की शुद्ध हेतुरहित अभिवृद्धि था। इनकी सदस्यता थोड़े से चुने हुए विद्वानों तक सीमित होती थी। ये विद्वान् बड़े पैमाने पर ज्ञान अथवा कला के किसी संपूर्ण क्षेत्र पर, अर्थात् संपूर्ण प्राकृतिक विज्ञान, संपूर्ण साहित्य, संपूर्ण दर्शन, संपूर्ण इतिहास, संपूर्ण कला क्षेत्र आदि पर दृष्टि रखते थे। प्रायः यह भी समझा जाने लगा कि प्रत्येक अकादमी को राज्य की ओर से यथासंभव संस्थापन, पूर्ण अथवा आंशिक आर्थिक सहायता, एवं संरक्षण के रूप में मान्यता प्राप्त होनी ही चाहिए। कुछ यह भी विश्वास रहा है कि विद्या के क्षेत्रों में उच्च स्तर की योग्यता बहुत थोड़े व्यक्तियों में हो सकती है, और इसका समाज के धनी और वैभवशाली अंगों से मेल बना रहना स्वाभाविक तथा आवश्यक भी है। पिछले दो सहस्र वर्षों में बहुत से देशों में इन नवीन विचारों के अनुसार बनी हुई कई कई अकादमियाँ रही हैं। अधिकांश अकादमियाँ विज्ञान, साहित्य, दर्शन, इतिहास, चिकित्सा अथवा ललित कला में से किसी एक विशेष क्षेत्र में सेवा करती रही हैं। कुछ की सेवाएँ इनमें से कई क्षेत्रों में फैली रही हैं।

लोकतंत्रवादी विचारों और भावनाओं की प्रगति से अकादमी की इस धारणा में वर्तमान काल में एक नया परिवर्तन आरंभ हुआ है। आज की कुछ अकादमियाँ जनजीवन के निकट रहने का प्रयत्न करने लगी हैं, जनता की रुचियों, विचार धाराओं और कलाओं को अपनाने लगी हैं और अन्य प्रकार से जनप्रिय बनने का प्रयास करने लगी हैं। भारत में राष्ट्रीय संस्कृति ट्रस्ट द्वारा स्थापित ललित कला अकादमी, संगीत नाटक अकादमी और साहित्य अकादमी इस परिवर्तन की प्रतीक हैं। भविष्य ही दिखाएगा कि इस प्रकार की अकादमियाँ अपने क्षेत्रों में कहाँ तक साहसपूर्ण मौलिक रचनाएँ अथवा नवीन उपलब्धियाँ कर सकती हैं। [रा० लुं०]

अकादमी रायल लंडन की दि रॉयल ऍकैडेमी ऑव आर्ट्स जार्ज तृतीय के राजाश्रय में सन् १७६८ में स्थापित हुई। इसके द्वारा समकालीन चित्रकारों की कलाकृतियों की

प्रदर्शनियाँ प्रति वर्ष की जाती हैं। ललित कला का एक विद्यालय भी जनवरी २, १७६८ को इस संस्था द्वारा स्थापित किया गया। पहली बार महिला छात्राएँ १८६० में भरती की गई। उनके द्वारा चित्रकला, शिल्पकला और स्थापत्य की उन्नति इस संस्था का प्रधान उद्देश्य था। पहली चित्रकला की प्रदर्शनी २६ अप्रैल, १७६८ को हुई। सर जोशुआ रेनॉल्ड्स इसके १७६८ से १७६२ ई० तक प्रथम अध्यक्ष (प्रेसिडेंट) थे। आजकल १६४४ से सर अल्फ्रेड मनिंग्ज़ प्रेसिडेंट हैं। इस संस्था में ११,००० ग्रंथों का संग्रहालय है। इनमें कई ग्रंथ बहुत दुर्लभ हैं। इस संस्था द्वारा कई ट्रस्ट फंड चलाए जाते हैं, यथा दि टर्नर फंड, दि क्रेस्विक फंड, लैंडसियर फंड, आर्मिटेज फंड, एडवर्ड स्काट फंड। पहले यह संस्था सामरसेट हाउस में थी, बाद में नैशनल गैलरी में और अब १८६६ ई० से वालिंग्टन हाउस में है। इस अकादमी के सदस्यों की संख्या चालीस होती है। अकादमी द्वारा कष्टपीड़ित कलाकारों को आर्थिक सहायता भी दी जाती है। [प्र० मा०]

अकालकोट बंबई राज्य के शोलापुर जिले का एक नगर है जो १७° ३१′ उ० अक्षांश तथा ७६° १५′ पू० दे० पर स्थित है। यहाँ की जनसंख्या १८,११२ है (१६५१)। इसके समीप खुला तथा वनरहित प्रदेश है। यहाँ की मिट्टी काली, जलवायु ठंढी तथा वर्षा साल में लगभग ३० इंच होती है। मई में ताप ४२·२° सें०, जनवरी में २२·२° सें० तथा औसत ताप २६·४° सें० रहता है। यहाँ की मुख्य उपज बाजरा, ज्वार, चावल, चना, गेहूँ, कपास तथा गन्ना है। यहाँ का मुख्य उद्योग सूती कपड़े तथा साड़ियाँ बुनना है। [न० ला०]

अकाली अकाल शब्द का शब्दार्थ है कालरहित। भूत, भविष्य तथा वर्तमान से परे, पूर्ण अमरज्योति ईश्वर, जो जन्म-मरण के बंधन से मुक्त है और सदा सच्चिदानंद स्वरूप रहता है, उसी का अकाल शब्द द्वारा बोध कराया गया है। उसी परमेश्वर में सदा रमण करनेवाला अकाली कहलाया। कुछ लोग इसका अर्थ काल से भी न डरनेवाला लेते हैं। परंतु तत्वतः दोनों भावों में कोई भेद नहीं है। सिक्ख धर्म में इस शब्द का विशेष महत्व है। सिक्ख धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक देव ने परमपुरुष परमात्मा की आराधना इसी अकालपुरुष की उपासना के रूप में प्रसारित की। उन्होंने उपदेश दिया कि हमें संकीर्ण जातिगत, धर्मगततथा देशगत भावों से ऊपर उठकर विश्व के समस्तधर्मों के माननेवालों से प्रेम करना चाहिए। उनसे विरोध न करके मैत्रीभाव का आचरण करना चाहिए, क्योंकि हम सब उसी अकालपुरुष की संतान हैं। सिक्ख गुरुओं की वाणियों से यह स्पष्ट है कि सभी सिक्ख संतों ने अकालपुरुष की महत्ता को और दृढ़ किया और उसी के प्रति पूर्ण उत्सर्ग की भावना जागृत की। प्रत्येक अकाली के लिये जीवननिर्वाह का एक बलिदानपूर्ण दर्शन बना जिसके कारण वे अन्य सिक्खों में पृथक् दिखाई देने लगे।

इसी परंपरा में सिक्खों के छठे गुरु हरगोविंद ने अकाल बुंगे की स्थापना की। बुंगे का अर्थ है एक बड़ा भवन जिसके ऊपर गुंबज हो। इसके भीतर अकाल तख्त (अमृतसर में स्वर्णमंदिर के संमुख) की रचना की गई और इसी भवन में अकालियों की गुप्त मंत्रणाएँ और गोष्ठियाँ होने लगीं। इनमें जो निर्णय होते थे उन्हें 'गुरुमताँ' अर्थात् गुरु का आदेश नाम दिया गया। धार्मिक समारोह के रूप में ये संमेलन होते थे। मुगलों के अत्याचारों से पीड़ित जनता की रक्षा ही इस धार्मिक संगठन का गुप्त उद्देश्य था। यही कारण था कि अकाली आंदोलन को राजनीतिक गतिविधि मिली। बुंगे से ही 'गुरुमताँ' को आदेश रूप से सब ओर प्रसारित किया जाता था और वे आदेश कार्यरूप में परिणत किए जाते थे। अकाल बुंगे का अकाली वही हो सकता था जो नामवाणी का प्रेमी हो और पूर्ण त्याग और विराग का परिचय दे। ये लोग बड़े शूर वीर, निर्भय, पवित्र और स्वतंत्र होते थे। निर्बलों, बूढ़ों, बच्चों और अबलाओं की रक्षा करना ये अपना धर्म समझते थे। सबके प्रति इनका मैत्रीभाव रहता था। मनुष्य मात्र की सेवा करना इनका कर्तव्य था। अपने सिर को हमेशा ये हथेली पर लिए रहते थे।

३० मार्च, सन् १६६६ को गुरुगोविंद सिंह ने खालसा पंथ की स्थापना की। इस पंथ के अनुयायी अकाली ही थे। औरंगज़ेब के अत्याचारों का मुकाबला करने के लिय अकाली खालसा सेना के रूप में सामने आए। गुरु ने उन्हें नीले वस्त्र पहनने का आदेश दिया और पाँच ककार (कच्छ, कड़ा, कृपाण, केश तथा कंघा) धारण करना भी उनके लिये अनिवार्य हुआ। अकाली सेना की एक शाखा सरदार मानसिंह के नेतृत्व में निहंग सिंहों के नाम से प्रसिद्ध हुई। फारसी भाषा में निहंग का अर्थ मगरमच्छ है जिसका तात्पर्य उस निर्भय व्यक्ति से है जो किसी अत्याचार के समक्ष नहीं झुकता। इसका संस्कृत अर्थ निसर्ग है अर्थात् पूर्ण रूप से अपरिग्रही, पुत्र, कलत्र और संसार से विरक्त पूरा पूरा अनिकेतन। निहंग लोग विवाह नहीं करते थे और साधुओं की वृत्ति धारण करते थे। इनके जत्थे होते थे और उनका एक अगुआ जत्थेदार होता था। पीड़ितों, आर्तों और निर्बलों की रक्षा के साथ साथ सिख धर्म का प्रचार करना इनका पुनीत कर्तव्य था। जहाँ भी ये ठहरते थे, जनता इनका आदर करती थी। जिस घर में ये प्रवेश पाते थे वह अपने को परम सौभाग्यशाली समझता था। ये केवल अपने खाने भर को ही लिया करते थे और यदि न मिला तो उपवास करते थे। ये एक स्थान पर नहीं ठहरते थे। कुछ लोग इनकी पक्षीवृत्ति देखकर इन्हें विहंगम भी कहते थे। सचमुच ही इनका जीवन त्याग और तपस्या का जीवन था। वीर ये इतने थे कि प्रत्येक अकाली अपने को सवा लाख के बराबर समझता था। किसी की मृत्यु की सूचना भी यह कहकर दिया करते थे कि 'वह चढ़ाई कर गया', जैसे मृत्यु लोक में भी मृत प्राणी कहीं युद्ध के लिये गया हो। सूखे चने को ये लोग बदाम कहते थे और रुपए और सोने को ठीकरा कहकर अपनी असंग भावना का परिचय देते थे। पश्चिम से होनेवाले अफगानों के आक्रमणों का मुकाबला करना और हिंदू कन्याओं और तरुणियों को पापी आततायियों के हाथों से उबारना इनका दैनिक कार्य था।

महाराज रणजीतसिंह के समय अकाली सेना अपने चरम उत्कर्ष पर थी। इसमें देशभर के चुने सिपाही होते थे। मुसलमान गाज़ियों का ये डटकर सामना करते थे। मुल्तान, कश्मीर, अटक, नौशेरा, जमशेद, अफगानिस्तान आदि तक इन्हीं के सहारे रणजीतसिंह ने अपना साम्राज्य बढ़ाया। अकाल सेना के पतन का कारण कायरों और पापियों का छद्म वेश में सेना के निहंगों में प्रवेश पाना था। इससे इस पंथ को बहुत धक्का लगा।

अंग्रेजों ने भी अकालियों की वीरता से भयभीत होकर हमेशा उन्ह दबाने का प्रयास किया। इधर अकाली इतिहास में एक नया अध्याहें आरंभ हुआ। जो गुरुद्वारे और धर्मशालाएँ दसों सिक्ख गुरुओं ने धर्म-प्रचार और जनता की सेवा के लिये स्थापित की थीं और जिन्हें सुदृढ़ रखने के लिये महाराज रणजीतसिंह ने बड़ी बड़ी जागीरें लगवा दी थीं वे अंग्रेजी राज्य के समय अनेक नीच आचरणवाले महंतों और पुजारियों के अधिकार में पहुँच गई थीं। उनमें सब प्रकार के दुराचरण होने लगे थे। उनके विरोध में कुछ सिक्ख तरुणों ने गुरुद्वारों के उद्धार के लिये अक्तूबर, सन् १६२० में अकालियों की एक नई सेना एकत्रित की। इसका उद्देश्य अकालियों की पूर्वपरंपरा के अनुसार त्याग और पवित्रता का व्रत लेना था इन्होंने कई नगरों में अत्याचारी महंतों को हटाकर मठों पर अधिकार कर लिया। इस समय गुरुनानक की जन्मभूमि ननकाना साहब (जिला शेखूपुरा, वर्तमान पाकिस्तान में) के गुरुद्वारे पर महंत नारायणदास का अधिकार था। उससे मुक्त करने के लिये भी गुरुमता (प्रस्ताव) पास किया गया। सरदार लक्ष्मणसिंह ने २०० अकालियों के साथ चढ़ाई की; परंतु उनका तथा उनके साथियों का बड़ी निर्दयता के साथ वध कर दिया गया और उन्हें नाना प्रकार की क्रूर यातनाएँ दी गईं। और भी बहुत से मठों को छीनने में अकालियों को अनेक बलिदान करने पड़े। ब्रिटिश सरकार ने पहले महंतों की भरपूर सहायता की परंतु अंत में अकालियों की जीत हुई। सन् १६२५ तक समस्त गुरुद्वारे, शिरोमणि गुरुद्वारा कमेटी के अंतर्गत धारा १६५ के अनुसार आ गए। अकालियों की सहायता में महात्मा गांधी ने बड़ा योग दिया और भारतीय कांग्रेस ने अकाली आंदोलन को पूरा पूरा सहयोग दिया।

सन् १६२५ से गुरुद्वारा ऐक्ट बनने के पश्चात् इसी के अनुसार गुरुद्वारा प्रबंधक समिति का पहला निर्वाचन २ अक्तूबर, १६२६ को हुआ। अब शिरोमणि गुरुद्वारा समिति का निर्वाचन प्रति पाँचवें वर्ष होता है। इस समिति का प्रमुख कार्य गुरुद्वारों की देखभाल, धर्मप्रचार, विद्या का प्रसार इत्यादि है। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक समिति के अतिरिक्त

एक केंद्रीय शिरोमणि अकाली दल भी अमृतसर में स्थापित है। इसके जत्थे हर जिले में यथाशक्ति गुरुद्वारों का प्रबंध और जनता की सेवा करते हैं। [ब० सिं० स्या०]

अकीबा (सन् ५०-१३२ ई०)। फिलस्तीन का यहूदी रब्बी और जाफा के रब्बानी विद्यालय का मुख्य अध्यापक। कहा जाता है, उसके २४ हजार शिष्य थे जिनमें प्रमुख रब्बी मेअर था। सन् १३२ ई० में फिलस्तीन के यहूदियों ने अपने धर्म और अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये जी तोड़ प्रयत्न किया। इस संग्राम का नेता बरकोकबा था। धर्माचार्य अकीबा ने बरकोकबा को यहूदियों का मसीहा घोषित किया। तीन वर्ष के संग्राम के बाद रोमन सेना विजयी हुई। जेरूसलम के एक एक बच्चे का कत्ल हुआ और शहर की समस्त भूमि पर हल चलवाकर उसे बराबर करवा दिया गया। अकीबा की जीवित खाल खिचवा ली गई किंतु उसने हँसते हँसते मृत्यु का आलिंगन किया। यहूदी जिन दस शहीदों को अब तक प्रार्थना के समय याद करते हैं उनमें से एक शहीद अकीबा भी हैं। [वि० ना० पा०]

अकोट बंबई राज्य के अकोला जिले में अकोट ताल्लुके का प्रमुख नगर है (स्थिति : २१° ६' उ० अक्षांश एवं ७७° ६' पूर्वी देशांतर)। इस नगर की स्थिति बागों के बीच होने के कारण अत्यंत सुरम्य है। यह नगर कपास का बड़ा बाजार है जो शेगावँ, अकोला आदि को भेजी जाती है। यहाँ की सूती दरियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं और यहाँ कपास से बिनौले निकालने एवं स्वच्छ करने के कई कारखाने हैं। रस्सी बनाने का उद्योग भी यहाँ महत्वपूर्ण है। यहाँ से इमारती लकड़ी का भी व्यापार होता है। १९०१ ई० में यहाँ की जनसंख्या १८,२५२ थी जो १९२१ ई० में घटकर १६,८८७ रह गई; पर पुनः क्रमशः बढ़ते बढ़ते १९५१ ई० में २४,२५५ हो गई। इस नगर के निकटवर्ती क्षेत्रों में कृषि अधिक होती है और नगर के ५८ % से भी अधिक लोग कृषि कार्यों में लगे हैं। [का० ना० सिं०]

अकोला विदर्भ प्रदेश (बंबई राज्य) का एक जिला तथा नगर है। यह नगर पुरना की सहायक मुरना नदी के पश्चिमी किनारे पर २०° ४२' उ० अ० तथा ७७° २' पू० दे० पर स्थित है। यह बंबई से ३८३ मील तथा नागपुर से १५७ मील दूर है और रुई के व्यापार का मुख्य केंद्र है। यहाँ पर इसकी गाँठें तैयार करने के कई कारखाने हैं। नगर में एक राजकीय कालेज तथा औद्योगिक संस्था भी है। यहाँ की जनसंख्या ८६,६०६ है (१९५१)।

अकोला जिला १९° ५०' उ० अ० से २१° १६' उ० अ० तथा ७६° ४५' पू० दे० से ७७° ५२' पू० दे० रेखाओं के बीच स्थित एक समतल प्रदेश है। इसका क्षेत्रफल ४,०९३ वर्ग मील तथा जनसंख्या ९,५०,९९४ है (१९५१)। यहाँ पर पुरना (ताप्ती की सहायक) नदी अपनी सहायक नदियों के साथ बहती है। इसके उत्तर में सतपुड़ा की पहाड़ियाँ फैली हुई हैं। यहाँ का औसत ताप ३५° सें० है तथा वर्षा साल में लगभग ३० इंच होती है। पुरना घाटी में सब जगह काली चिकनी मिट्टी पाई जाती है। यहाँ के लगभग पूरे भूभाग में खेती होती है और मुख्य फसलें ज्वार, कपास, दाल तथा गेहूँ हैं। २२ लाख एकड़ भूमि में कृषि होती है जिसके $\frac{1}{2}$ भाग में कपास तथा $\frac{1}{3}$ भाग में खरीफ की फसलें बोई जाती हैं। [न० ला०]

अकोस्ता, जोज़ेद (ल० १५३९-१६००) स्पेनी लेखक, जन्म मेदीना देल कांपो में। बड़ी छोटी उम्र में अकोस्ता जेसुइत पादरी हो गया और १५७१ में मिशन की सेवा के लिये पेरू गया। १५८२ में लिमा की परिषद् का वह धार्मिक सलाहकार चुना गया। अगले साल जो पुस्तक उसने प्रकाशित की वह पेरू में छपनेवाली पहली पुस्तक थी। सालामांका के जेसुइत कालेज का वह १५९८ में रेक्टर बना, पर इसके दो साल बाद ही मर गया। [ओं० ना० उ०]

अक्काद ईरान का प्राचीन प्रदेश और नगर; उत्तरी बाबुल (बाबिलोनिया) से अभिन्न; निचले मेसोपोतामिया का वह भाग जो प्राचीन काल में सुमेर और अक्काद कहलाता था। सुमेर-अक्काद संमिलित भूप्रसार का अक्काद वह प्रदेश था जहाँ दजला और फ़रात नदियाँ अपने मुहानों पर एक दूसरे के अत्यंत समीप आ गई हैं। इसी प्रदेश में बाबिलोनिया के प्राचीन नगर कीश, बाबुल, सिप्पर, बोरसिप्पा, कुथा और ओपिस बसे थे।

अक्काद के भग्नावशेषों की सही पहचान में विद्वानों में मतभेद है। सर ई० ए० वालिस बज ने १८९१ में तेल-एल-दीर को खोदकर उसके खंडहरों को अक्काद माना। उधर लैंगडन ने सिप्पर-याखुरू को अक्काद घोषित किया है। उत्तरी बाबुल में अक्काद चाहे जहाँ भी रहा हो, यह प्राचीन काल (ल० २५००-२४०० ई० पू०) का अति ऐश्वर्यशाली नगर था जो अपने नाम के विस्तृत साम्राज्य की राजधानी बन गया। पुराविदों की राय में इतिहास का पहला साम्राज्य इसी अक्काद के राजाओं ने स्थापित किया। पहले वहाँ अशेमी सुमेरियों का राज था, बाद को कीश के एक शेमी परिवार के विजेता सारगोन ने सुमेरी शक्ति नष्ट कर अपना साम्राज्य स्थापित किया। उसने अक्काद को अपनी राजधानी बनाया जिससे बाइबिल की पुरानी पोथी और प्राचीन इतिहास में उसकी 'अक्काद का सारगोन' (अक्कादीय सारगोन) संज्ञा प्रसिद्ध हुई। [भ० श० उ०]

अक्कोरांबोनी वित्तोरिया (१५५७-१५८५) अपने सौंदर्य, गुणों और करुण इतिहास के लिये प्रसिद्ध इटालियन महिला। १५७३ में फ्रांसेस्को पेरेती से विवाह। रोम के अनेक गण्यमान्य पुरुष उसके प्रशंसक थे जिनमें ब्रासियानो का ड्यूक भी था। ड्यूक ने वित्तोरिया के भाई मार्सेलो के साथ मिलकर पेरेती की हत्या कर दी। शीघ्र ही विधवा वित्तोरिया और ड्यूक का विवाह हो गया। ड्यूक पर हत्या का संदेह हुआ। बचने के लिये नवदंपति वेनिस भाग गए। वहीं १५८५ में ड्यूक की मृत्यु हो गई। उसकी अपार संपत्ति की स्वामिनी बनी वित्तोरिया। दुःखिनी विधवा पादुआ में अपना जीवन बिताने लगी पर शीघ्र ही लुदविको ओरसिनो ने धन के लालच में उसका वध कर दिया। [स० च०]

अक्याब बर्मा में अराकान प्रदेश का एक जिला है जो १९° ४७' उ० अक्षांश से २०° २७' उ० अ० तथा ९२° ११' पू० दे० से ९३° ५८' पू० दे० में फैला है। यह बंगाल की खाड़ी के उत्तर-पूर्वी तट पर स्थित है और इसकी जनसंख्या ७,६०,७०५ है (१९५१)। इसका क्षेत्रफल ५,१३६ वर्ग मील है। इस जिले का मुख्य नगर अक्याब (स्थिति : २०° ८' उ० अ०, ९२° ५८' पू० दे०) मियू, कालादान तथा लेमरो नदियों के संगम पर स्थित है। यहाँ का अधिकतम ताप ८६° फा० तथा न्यूनतम ७४° फा० है। वार्षिक वर्षा प्रायः १०० इंच से भी अधिक होती है। तटीय प्रदेश में चावल पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न होता है तथा बाहर भेजा जाता है। मुख्य उद्योग सूती तथा रेशमी कपड़े बुनना, बरतन बनाना, सोने चाँदी का काम तथा जूता तैयार करना है। [न० ला०]

अक्रा गिनी की खाड़ी के तट पर ५° ३१' उ० अ० तथा ०° १२' प० दे० पर स्थित एक मुख्य बंदरगाह तथा घाना की राजधानी है। १९४८ की जनगणना के अनुसार इसकी जनसंख्या १,३३,१९२ थी। जलवायु प्रायः शुष्क है तथा वर्षा साल में लगभग २९ इंच होती है। यहाँ के मुख्य मार्ग, बैंक तथा व्यापारिक केंद्र होली ट्रिनिटी गिरजाघर से आरंभ होकर एक सीधी पंक्ति में चले गए हैं। विक्टोरियावर्ग में मुख्य अफसरों के निवासस्थान हैं। यहाँ पर घुड़दौड़ का एक मैदान है। मत्स्य विभाग का प्रधान कार्यालय भी यहाँ है। नारियल यहाँ का मुख्य निर्यात है। [न० ला०]

अक्रियावाद बुद्ध के समय का एक प्रख्यात दार्शनिक मतवाद। महावीर तथा बुद्ध से पूर्व के युग में भी इस मत का बड़ा बोलबाला था। इसके अनुसार न तो कोई कर्म है, न कोई क्रिया और न कोई प्रयत्न। इसका खंडन जैन तथा बौद्ध धर्मों ने किया, क्योंकि ये दोनों प्रयत्न, कार्य, बल तथा वीर्य की सत्ता में विश्वास रखते हैं। इसी कारण इन्हें कर्मवाद या क्रियावाद के नाम से पुकारते हैं। बुद्ध के समय पूर्णकश्यप नामक आचार्य इस मत के प्रख्यात अनुयायी बतलाए गए हैं (द्रष्टव्य ब्रह्मजालसुत्त)। [ब० उ०]

अक्रूर यादववंशी कृष्णकालीन एक मान्य व्यक्ति। ये सात्वत वंश में उत्पन्न वृष्णि के पौत्र थे। इनके पिता का नाम श्वफल्क था जिनके साथ काशी के राजा ने अपनी पुत्री गांदिनी का विवाह किया था। इन्हीं

दोनो की संतान होने से अक्रूर 'श्वाफल्कि' तथा 'गादिनीनंदन' के नाम से भी प्रसिद्ध थे। मथुरा के राजा कस की सलाह पर ये बलराम तथा कृष्ण को वृदावन से मथुरा लाए (भागवत १०।४०)। स्यमतक मणि से भी इनका बहुत संबध था। अक्रूर तथा कृतवर्मा द्वारा प्रोत्साहित होने पर शतधन्वा ने कृष्ण के श्वसुर तथा सत्यभामा के पिता सत्राजित् का वध कर दिया, फलत क्रुद्ध होकर श्रीकृष्ण ने शतधन्वा को मिथिला तक पीछा कर मार डाला, पर मणि उसके पास नही निकली। वह मणि अक्रूर के ही पास थी जो डरकर द्वारिका से बाहर चले गए थे। उन्हे मनाकर कृष्ण मथुरा लाए तथा अपने बधुवर्गों मे बढ़नेवाले कलह को उन्होने शात किया (भागवत १०।५७)। [ब० उ०]

अक्रे ब्राजील की एक नदी है जो बोलिविया तथा ब्राज़ील को अलग करती है। ८° ४५' द० अ० पर यह पुरुस नदी मे जाकर मिल जाती है।

अक्रे ब्राजील का एक प्रदेश भी है जो उत्तरी बोलिविया तथा दक्षिण-पूर्वी पेरू के बीच मे पडता है। पहले यह बोलिविया के अधीन था तथा यहाँ पर ५६,१३६ वर्ग मील क्षेत्र मे रबर के वृक्षो का बाहुल्य था। बाद मे ब्राजील सरकार ने इसपर आक्रमण किया और अनेक वर्षो तक दोनो देशो मे झगडा चलता रहा। १८९९ ई० मे अक्रे ने अपने को स्वतत्र घोपित कर दिया। १९०३ ई० मे ब्राजील ने बोलिविया को १,००,००,००० डालर की क्षतिपूर्ति देकर अक्रे को अपने मे समिलित कर लिया। अक्रे की राजधानी रिओब्राको है, जिसकी जनसख्या १,१६,१२४ है (१९५०)। [न० ला०]

अक्रोन ओहायो (सयुक्त राज्य, अमरीका) का एक नगर है, जो छोटी कुयाहिगो नदी पर स्थित है। इसकी स्थापना पहले पहल सन् १८१८ मे हुई, १८६५ मे यह नगर हो गया। इसका क्षेत्रफल २५ ३ वर्ग मील तथा जनसख्या २,६६,०६६ है (१९५६)। रबर टायर बनाने का यह बहुत बडा केंद्र है। यहाँ पर रासायनिक पदार्थ, पत्थर के सामान, चीनी मिट्टी के बरतन, सगमरमर के खिलौने, जहाज और मछली फँसाने के उपकरण तैयार किए जाते है। यहाँ का विश्वविद्यालय १९१३ मे बना। लगभग ४७५ एकड भूमि मे यहाँ पर २६ प्रमोदवन (पार्क) है। [न० ला०]

अक्रोपोलिस इसका शाब्दिक अर्थ 'नगर का ऊर्ध्व भाग' है। प्राचीन यूनानियो ने रक्षा की दृष्टि से नगरो की रचना अधिकतर ऊँची खडी पहाडियो पर की थी। कालातर मे ये ही स्थल बडे नगरो के केंद्र बन गए। नगरो का विस्तार उन्ही के चारो ओर और नीचे होता चला गया। पहले इस शब्द का प्रयोग केवल एथेस, अरगोस, थीबिज़, कोरिंथ आदि के लिये होता था, पर बाद मे ऐसे सभी नगरो के लिये होने लगा। इनमे सबसे अधिक ख्याति एथेस के अक्रोपोलिस की है (देखिए, एथेस)। [ओ० ना० उ०]

अक्लूज बबई राज्य के शोलापुर जिले के मलसिरा ताल्लुका का एक प्रसिद्ध नगर है जो नीरा नदी पर मलसिरा से छ मील उत्तर-पूर्व दिशा मे स्थित है। पहले यह नगर सूत के व्यापार के लिये बहुत प्रसिद्ध था, परतु अब यह व्यापार कम हो गया है। यहाँ पर एक डाकघर तथा एक जीर्ण दुर्ग है। प्रति सोमवार को यहाँ साप्ताहिक हाट लगती है। क्षेत्रफल २५२ वर्ग मील है और जनसख्या २०,२६२ (१९५१) है। [न० ला०]

अक्षक्रीड़ा जूए का खेल अक्षक्रीडा या अक्षद्यूत के नाम से विख्यात है। वेद के समय से लेकर आज तक यह भारतीयो का अत्यत लोकप्रिय खेल रहा है। ऋग्वेद के एक प्रख्यात सूक्त (१०।३४) मे कितव (जुआडी) अपनी दुर्दशा का रोचक चित्र खीचता है कि जूए मे हार जाने के कारण उसकी भार्या तक उसे नही पूछती, दूसरो की बात ही क्या ? वह स्वय शिक्षा देता है—अक्षै र्मा दीव्य कृषिमित् कृषस्व (ऋ० १०।३४।१३)। महाभारत जैसा प्रलयकारी युद्ध भी अक्षक्रीडा के परिणामस्वरूप ही हुआ। पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा काशिका के अनुशीलन से अक्षक्रीडा के स्वरूप का पूरा परिचय मिलता है। पाणिनि उसे 'आक्षिक' कहते है (अष्टा० ४।४।२)। पतंजलि ने 'सिद्धहस्त द्यूतकर के लिये 'अक्षकितव' या 'अक्षधूर्त' शब्दो का प्रयोग किया है।

वैदिक काल में द्यूत की साधन सामग्री का निश्चित परिचय नही मिलता, परतु पाणिनि के समय (पचम शती ई० पू०) मे यह खेल 'अक्ष' तथा 'शलाका' से खेला जाता था। अर्थशास्त्र का कथन है कि द्यूताध्यक्ष का यह काम है कि वह जुआडियो को राज्य की ओर से खेलने के लिये अक्ष और शलाका दिया करे (३।२०)। किसी प्राचीन काल मे अक्ष से तात्पर्य बहेडा (बिभीतक) के बीज से था। परतु पाणिनि काल मे अक्ष चौकोनी गोटी और शलाका आयताकार गोटी होती थी। इन गोटियो की सख्या पाँच होती थी, ऐसा अनुमान तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।७।१०) तथा अष्टाध्यायी से भली भाँति लगाया जा सकता है। ब्राह्मणो के ग्रथो मे इनके नाम भी पाँच थे—अक्षराज, कृत, त्रेता, द्वापर तथा कलि। काशिका इसी कारण इस खेल को 'पचिका द्यूत' के नाम से पुकारती है (अष्टा० २।१।१० पर वृत्ति)। पाणिनि के 'अक्षशलाका सख्या परिणा' (२।१।१०) सूत्र मे उन दशाओ का उल्लेख है जिनमे गोटी फेकनेवाले की हार होती थी और इस स्थिति की सूचना के लिये अक्षपरि, शलाकापरि, एकपरि, द्विपरि, त्रिपरि तथा चतुष्परि पदो का प्रयोग सस्कृत मे किया जाता था।

काशिका के वर्णन से स्पष्ट है कि यदि उपर्युक्त पाँचो गोटियाँ चित्त गिरे या पट्ट गिरें, तो दोनो अवस्थाओ मे गोटी फेकनेवाले की जीत होती थी (तत्र यदा सर्वे उत्तान पतन्ति अवाच्यो वा, तदा पातयिता जयति। तस्यैवास्य विद्यातोऽन्यथा पाते जायते—काशिका २।१।१० पर)। अर्थात् यदि एक गोटी अन्य गोटियो की अवस्था से भिन्न होकर चित्त या पट्ट पडे, तो हार होती थी और इसके लिये एकपरि शब्द प्रयुक्त होता था। 'अक्षपरि' तथा 'शलाकापरि' एकपरि के लिये ही प्रयुक्त होते थे। इसी प्रकार दो गोटियो से होनेवाली हार को 'द्विपरि' तीन से 'त्रिपरि' तथा चार की हार को 'चतुष्परि' कहते थे। जीतने का दावँ 'कृत' और हारने का दावँ 'कलि' कहलाता था। बौद्ध ग्रथो मे भी कृत तथा कलि का यह विरोध सकेतित किया गया है (कलि हि धीरान, कट मुगान)।

जूए मे बाजी भी लगाई जाती है और इस द्रव्य के लिये पाणिनि ने 'ग्लह' शब्द की सिद्धि मानी है (अक्षेषु ग्लह, अष्टा० ३।३।७०)। महाभारत के प्रख्यात जुआडी शकुनि का यह कहना ठीक ही है कि बाजी लगाने के करण ही जूआ लोगो मे इतना बदनाम है। महाभारत, अर्थशास्त्र आदिग्रथो सेपता चलता है कि जुआ 'सभा' मे खेला जाता था। स्मृति ग्रथो मे जुआ खेलने के नियमो का पूरा परिचय दिया गया है। अर्थशास्त्र के अनुसार जुआडी को अपने खेल के लिये राज्य को द्रव्य देना पडता था। बाजी लगाए गए धन का पाँच प्रति शत राज्य को कर के रूप मे प्राप्त होता था। राज्य की ओर से इतना नियमन था, फिर भी धोखाधडी करनेवालो की कमी नही थी। पचम शती मे उज्जयिनी मे इसके विपुल प्रचार की सूचना मृच्छकटिक नाटक से हमे उपलब्ध होती है। द्यूतक्रीडा के विविध शब्दो का अध्ययन भाषाशास्त्रीय दृष्टि से विशेष महत्वशाली है।

सं०ग्रं०—वेदिक इडेक्स, भाग १, १९५८, वासुदेवशरण अग्रवाल पाणिनिकालीन भारत, काशी, १९५६। [ब० उ०]

अक्षपाद न्यायसूत्र के रचयिता आचार्य। प्रख्यात न्यायसूत्रो के निर्माता का नाम पद्मपुराण (उत्तर खड, अध्याय २६३), स्कदपुराण (कालिका खड, अ० १७), गाधर्वतत्र, नैषधचरित (१७ सर्ग) तथा विश्वनाथ की न्यायवृत्ति मे महर्षि गोतम (या गौतम) ठहराया गया है। इसके विपरीत न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक, तात्पर्यटीका तथा न्यायमजरी आदि विख्यात न्यायशास्त्रीय ग्रथो मे 'अक्षपाद' इन सूत्रो के लेखक माने गए है। महाकवि भास के अनुसार न्यायशास्त्र के रचयिता का नाम 'मेधातिथि' है (प्रतिमा नाटक, पचम अक)। इन विभिन्न मतो की एकवाक्यता सिद्ध की जा सकती है। महाभारत (शातिपर्व, अ० २६५) के अनुसार 'गौतम मेधातिथि' दो विभिन्न व्यक्ति न होकर एक ही व्यक्ति है (मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थित)। 'गौतम' (या गोतम) स्पष्टत वशबोधक आख्या है तथा 'मेधातिथि' व्यक्तिबोधक सज्ञा है। 'अक्षपाद' का शब्दार्थ है 'पैरो में आँखवाला'। फलत. इस नाम की सार्थकता सिद्ध करने के लिये अनेक कहानियाँ गढ़ ली गई है जो सर्वथा कल्पित, निराधार और प्रमाणशून्य है।

न्यायसूत्रों में पाँच अध्याय हैं और ये ही न्यायदर्शन (या आन्वीक्षिकी) के मूल आधार ग्रंथ हैं। इनकी समीक्षा से पता चलता है कि न्यायदर्शन आरंभ में 'अध्यात्मप्रधान' था अर्थात् आत्मा के स्वरूप का यथार्थ निर्णय करना ही इसका उद्देश्य था। तर्क तथा युक्ति का यह सहारा अवश्य लता था, परंतु आत्मा के स्वरूप का परिचय इन साधनों के द्वारा कराना ही इसका मुख्य तात्पर्य था। उस युग का सिद्धांत था कि जो प्रक्रिया आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त करा सकती है वही ठीक तथा मान्य है। उससे विपरीत मान्य नहीं होती :

यया यया भवेत् प्रंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ।
सा सैव प्रक्रिया साध्वी विपरीता ततोऽन्यथा ॥

परंतु आगे चलकर न्यायदर्शन में उस तर्कप्रणाली की विशेषतः उद्भावना की गई जिसके द्वारा अनात्मा से आत्मा का पृथक् रूप भली भाँति समझा जा सकता है और जिसमें वाद, गल्प, वितंडा, छल, जाति आदि साधनों का प्रयोग होता है। इन तर्कप्रधान न्यायसूत्रों के रचयिता 'अक्षपाद' प्रतीत होते हैं। वर्तमान न्यायसूत्रों में दोनों युगों के चितनों की उपलब्धि का स्पष्ट निर्देश है। न्यायदर्शन के मूल रचयिता गौतम मेधातिथि हैं और उनके प्रतिसंस्कर्ता—नवीन विषयों का समावेश कर मूल ग्रंथ के संशोधक—अक्षपाद हैं। आयुर्वेद का प्रख्यात ग्रंथ 'चरकसंहिता' भी इसी 'संस्कारपद्धति' का परिणत आदर्श है। मूल ग्रंथ के प्रणेता महर्षि अग्निवेश हैं, परंतु इसके प्रतिसंस्कर्ता चरक माने जाते हैं। न्यायसूत्र भी इसी प्रकार अक्षपाद द्वारा प्रतिसंस्कृत ग्रंथ है।

सं०ग्रं०—डॉ० विद्याभूषण : हिस्ट्री ऑव इंडियन लॉजिक, कलकत्ता; तर्कभाषा (आचार्य विश्वेश्वर की व्याख्या और भूमिका), काशी, सं० २०१०। [ब० उ०]

अक्षयकुमार देवसेनानी स्कंद अथवा कार्तिकेय का नाम है। वे महादेव के पुत्र थे; कृत्तिका ने उनका पालन किया था। कालिदास ने 'कुमारसंभव' में पार्वतीपरिणय तथा कुमारोत्पत्ति का विशद वर्णन किया है। [चं० म०]

अक्षयतृतीया वैशाख के शुक्लपक्ष की तृतीया अक्षयतृतीया कहलाती है। हिंदुओं के अनेक धार्मिक पर्वों की तरह इस तिथि का भी स्नान, दान संबंधी माहात्म्य है; परंतु कृषकों के लिये यह एक बड़ा पर्व इसलिये है कि इसी दिन वे विधि पूर्वक बीजारोपण का काम प्रारंभ करते हैं। [चं० म०]

अक्षयनवमी कार्तिक शुक्लपक्ष की नवमी अक्षयनवमी कहलाती है। यों सारे कार्तिक मास में स्नान का माहात्म्य है, परंतु नवमी को स्नान करने से अक्षय पुण्य होता है, ऐसा हिंदुओं का विश्वास है। इस दिन अनेक लोग व्रत भी करते हैं और कथा वार्ता में दिन बिताते हैं। [च० म०]

अक्षयवट पुराणों में वर्णन आता है कि कल्पांत या प्रलय में जब समस्त पृथ्वी जल में डूब जाती है उस समय भी वट का एक वृक्ष बच जाता है जिसके एक पत्ते पर ईश्वर बालरूप में विद्यमान रहकर सृष्टि के अनादि रहस्य का अवलोकन करते हैं। यह वट का वृक्ष प्रयाग में त्रिवेणी के तट पर आज भी अवस्थित कहा जाता है। अक्षयवट के संदर्भ कालिदास के 'रघुवंश' तथा चीनी यात्री युवान्-च्वांग के यात्रा विवरणों में मिलते हैं। [चं० म०]

अक्षर 'अक्षर' शब्द का धात्वर्थ तो "क्षर अथवा क्षय न होनेवाला", "अपरिवर्तनीय" आदि है, किंतु यहाँ इसका प्रयोग लिखित अथवा अंकित ध्वनिसंकेत के अर्थ में किया गया है, संसार की विभिन्न भाषाओं की विविध ध्वनियों को व्यक्त करनेवाले चिह्नों को अक्षर कहते हैं। प्राचीन संस्कृत साहित्य में 'अक्षर' शब्द का प्रयोग ध्वन्यात्मक (उच्चरित) और संकेतात्मक (लिखित) दोनों अर्थों में मिलता है; 'वर्ण' शब्द केवल संकेतात्मक चिह्न के अर्थ में ही मिलता है, क्योंकि वर्ण की व्युत्पत्ति मूल धातु 'वर्ण' (रँगने या बनाने) से है। प्रत्येक अक्षर किसी ध्वनिविशेष का प्रतिनिधित्व करता है। किंतु कोई अक्षर किसी ध्वनि को मोटे तौर पर ही व्यक्त कर सकता है, क्योंकि ध्वनियाँ अनंत हैं और अक्षर सीमित। जिस प्रकार भाषाएँ मानव विचारों और भावों को पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं कर सकतीं उसी प्रकार अक्षर भी भाषा का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। अक्षर बहुत विकसित किंतु कृत्रिम लेखनकला है। अक्षर और ध्वनि का संबंध परंपरागत मान्य है, वास्तविक नहीं।

प्रतीक एवं संकेत

लेखनकला और अक्षर को विकास की कई सीढ़ियों से होकर गुजरना पड़ा है। जब आदिम मनुष्य बर्बरता से सभ्यता की ओर बढ़ा तब उसे अपने ज्ञान को स्थायी रूप देने की आवश्यकता पड़ी। इसके लिये कई उपायों का अवलंबन किया गया। प्राथमिक उपाय प्रतीकात्मक अथवा संकेतात्मक थे। कहा जाता है, शकों ने अपने शत्रु पारसीकों के पास संदेश में "एक पक्षी, एक चूहा, एक मेढक और पाँच बाण" भेजे। इसका अर्थ यह था कि "यदि वे पक्षी की तरह उड़ नहीं सकते, चूहे की तरह छिप नहीं सकते और मेढक की तरह दलदल में उछल नहीं सकते तो उन्हें युद्ध नहीं करना चाहिए, अन्यथा वे बाण से पराजित होंगे।" इसी प्रकार रस्सी या तागे में गाँठों और छड़ी में कटाव आदि से स्मृति को सजीव रखा जाता था। वर्तमान आदिम जातियाँ अभी तक इसका उपयोग करती हैं। वास्तव में ये सब गर्भस्थ लेखनकलाएँ थीं। सचमुच लेखनकला का प्रारंभ मूर्तिलिपि से होता है। इसमें पदार्थों की अर्धखचित प्रतिकृति पाई जाती है, जिससे स्मृति पर स्थायी छाप पड़ती है। विकास का दूसरा चरण-चित्रलिपि थी जिसमें पदार्थों की अस्पष्ट प्रतिकृति मिलती है। पाषाणकालीन गुहाओं में इस प्रकार के अनेक उदाहरण पाए जाते हैं। लिपि के विकास का तीसरा चरण विचारलिपि थी। यह एक प्रकार का चित्रण था जो किसी ध्वनि या शब्द को न प्रकट कर विचार को प्रकट करता था। जैसे, आँख और उससे गिरते हुए आँसू का चित्र "शोक" का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरे शब्दों में, यह चित्रकथानक था; परंतु अभी तक उच्चरित शब्द और खचित चित्र में कोई सीधा संबंध नहीं था। विकास के चौथे चरण में चित्र और अक्षर के बीच का संक्रमण काल आया जिसमें चित्र का अंगविलोप संक्षिप्त होकर किसी पदार्थ के नाम अथवा उसके प्रथम अक्षर की ध्वनि से संयुक्त होने लगा। सुमेर, मिस्र, सिंधुघाटी, चीन, क्रीट आदि के लेखों में इसके उदाहरण मिलते हैं। ध्वन्यात्मक अक्षरों का विकास सबसे अंत में हुआ जिसमें ध्वनिसमूह अथवा एक ध्वनि के लिये एक चिह्न निश्चित रूप से मान लिया गया।

अ—चित्रात्मक अक्षर

संसार में प्रचलित लेखनकला के कई परिवार हैं। उनमें से प्रमुख का परिचय नीचे दिया जा रहा है :

१. **कीलाक्षर (३५०० ई० पू०–१००ई० पू०)**—प्राचीनतम उत्कीर्ण लेख दजला और फरात नदियों के बीच मेसोपोतामिया में पाए जाते हैं। किश से उपलब्ध शिलालेख में, जो इस समय ऐशमोलियन संग्रहालय, आक्सफोर्ड में सुरक्षित है, मानव शिर, हाथ, पावँ, शिश्नादि प्रतीकों और चिह्नों से भाव व्यक्त किए गए हैं। यह एक प्रकार की चित्रलिपि थी। क्योंकि यहाँ पर लेखन का माध्यम नरम मिट्टी की तख्तियाँ थीं अतः लिखने की कठिनाई के कारण चित्रलिपि क्रमशः कीलाक्षरों में परिवर्तित हो गई। ये अक्षर आकार में कील (काँटों) के समान हैं, अतः इन्हें कीलाक्षर कहते हैं। सबसे पहले सुमेर निवासियों ने इस लिपि का उपयोग किया। कहा जाता है, ये लोग सामी जाति से भिन्न थे और अपनी लेखनकला कहीं बाहर समुद्रमार्ग से लाए थे। इनसे बाबुली, असुर, इलामी, कस्सी, खत्ती, मित्तनी, पारसीक आदि लोगों ने कीलाक्षरों को ग्रहण किया, यद्यपि विभिन्न प्रदेशों में इसके विविध रूप थे।

२. **मिस्री अक्षर (३००० ई० पू०–५०० ई०पू०)**—चित्रलिपि से इसका विकास हुआ। इसके तीन विभाग किए जा सकते हैं: (१) (पवित्र) चित्राक्षर (हीरोग्लिफिक)। पदार्थों के चित्र से शब्द अथवा शब्दखंड का बोध इसमें होता था। स्मारकों के ऊपर प्रायः इसका प्रयोग किया जाता था। (२) पुरोहितीय (हीरेटिक) का उपयोग धार्मिक ग्रंथों के लेखन में होता था। (३) लेखकीय (डिमॉटिक) का उपयोग साधारण लेखकों द्वारा सामान्य दैनिक
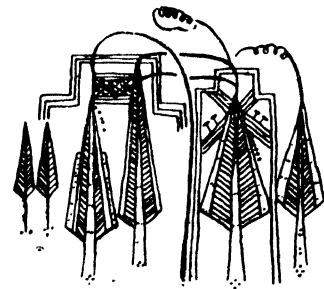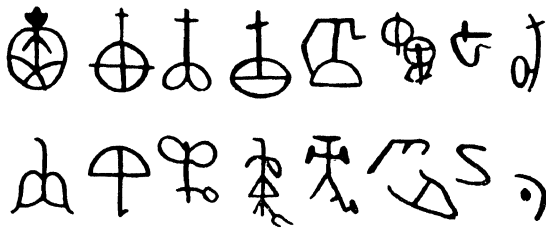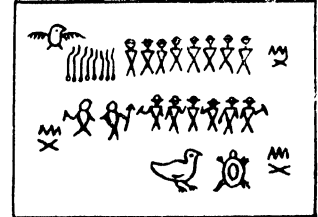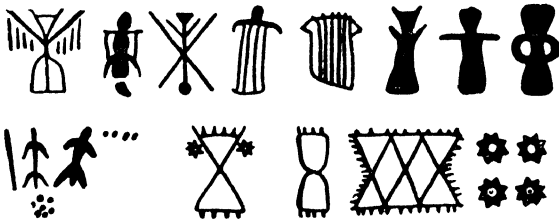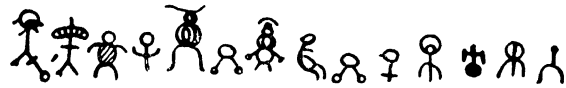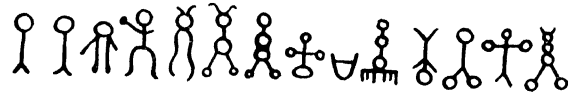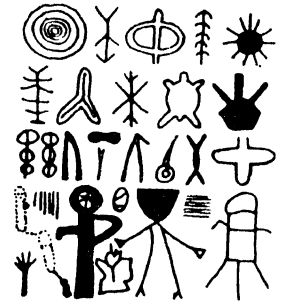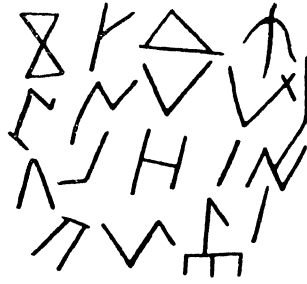
अक्षरों का विकास

१. प्रारंभिक प्रतीक, संकेत, चिह्न आदि (देखें पृष्ठ ७०)

अक्षरों का विकास

२. कीलाक्षर ३. मिस्री चित्रलिपि ४. क्रीटीय ५. मध्य अमरीकी ६. सिंधुघाटी के अक्षर ७. खत्ती (हिताइत) ८. चीनी
९. शब्द खंडात्मक तथा अर्धवर्णात्मक

अक्षरों का विकास

११. भारतीय अक्षर—बाईं ओर प्राचीन (ब्राह्मी तथा खरोष्ठी); मध्य में आधुनिक भारतीय वर्णमाला; दाहिनी ओर बृहत्तर भारतीय

व्यवहार में किया जाता था। अंतिम दो प्रथम के ही घसीट रूप थे। ध्वन्यात्मक दृष्टि से इनके तीन वर्ग किए जा सकते हैं : (१) शब्द-चिह्न (एक पूरे शब्द के लिये एक चिह्न), (२) ध्वन्यंकन तथा ध्वन्यात्मक पूरक चिह्न और (३) निर्धारक चिह्न (पदार्थों के भेद को प्रकट करनेवाले चिह्न)। परवर्ती सामी अक्षरों के ही समान मिस्री अक्षरों में भी केवल व्यंजन होते थे, स्वर नहीं। इनमें एक-व्यंजनात्मक और द्विव्यंजनात्मक दोनों प्रकार के चिह्न थे। द्वि-व्यंजनात्मक चिह्नों की संख्या पचहत्तर थी जिनमें से पचास का उपयोग अधिक होता था।

३. **सिंधुघाटी लिपि (३५०० ई० पू०–२००० ई० पू०)**—हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो के उत्खनन से लगभग आठ सौ मुद्राएँ और तख्तियाँ (पत्थर और ताँबे की) मिली थी जिनपर ये अक्षर अंकित हैं। इनमें विभिन्न कालों के लिपिचिह्न संमिलित हैं। अतः इनमें चित्रलिपि, संक्रमण-लिपि एवं ध्वन्यात्मक लिपि तीनों का समावेश है। चिह्नों की संख्या लगभग ५०० है। परंतु इनमे मूल और व्युत्पन्न सभी चिह्न मिले हुए हैं। विश्लेषण करने पर मूल चिह्नों की संख्या क्रमशः कम होती जा रही है। इस लिपि का सुमेर की लिपि से साम्य है। इन दोनों के पौर्वापर्य के संबंध में निश्चित रूप से कहना कठिन है। परंतु यदि सुमेर में लिपि बाहर से गई तो यह स्रोत सिंधुघाटी भी हो सकती है। परवर्ती भारतीय लिपि ब्राह्मी से सिंधुघाटी की लिपि का संबंध जोड़ने में पहले पुरातत्वज्ञ हिचकते थे। तुलना करने पर ब्राह्मी के आठ अक्षर सिंधुघाटी में अपने स्वतंत्र रूप में वर्तमान हैं। संयुक्त अक्षरों में कई अन्य अक्षरो के रूप दिखाई पड़ते हैं। अतः दोनों का संबंध क्रमशः स्पष्ट होता जा रहा है।

४. **मिनोन की लिपि (२००० ई० पू० १००० ई० पू०)**—यूनान में यवन सभ्यता के उदय के पूर्व क्रीट के निवासियों में एक ऊँची सभ्यता का विकास हो चुका था जिसे ईजियन अथवा 'मिनोन' कहते हैं। क्रीट के निवासियों ने लिपि का भी आविष्कार किया था जो अभी तक पढ़ी नही जा सकी है। परंतु इसका बाह्य अध्ययन इस प्रकार से हो सकता है : (१) चित्रात्मक वर्ग अ, (२) चित्रात्मक वर्ग आ, (३) रेखात्मक वर्ग अ, (४) रेखात्मक वर्ग आ। प्रथम दो स्मारकात्मक और अंतिम दो घसीट हैं। इस लिपि का उद्गम ढूँढ़ना बहुत कठिन है किंतु इसका संबंध मिस्र की प्रारंभिक लिपि से जोड़ा जा सकता है।

५. **खत्ती चित्रलिपि (१५००-७०० ई०पू०)**—खत्ती लोग एशिया माइनर और उत्तरी सीरिया मे रहते थे। ये भारोपीय भाषापरिवार के थे। सुमेर के कीलाक्षरो से मिलती जुलती लिपि के अतिरिक्त ये चित्रलिपि का भी उपयोग करते थे। इस लिपि का मेल मिनोअन लिपि से पाया जाता है।

६. **चीनी विचारलिपि (२०० ई० पू०)**—यह एक प्रकार की विश्लेषणात्मक विचार-ध्वनि-लिपि है। यद्यपि संसार की जनसंख्या का पाँचवाँ भाग इसका उपयोग करता है, तथापि गत चार हजार वर्षों से इसमें कोई आंतरिक एवं मौलिक विकास नही हुआ। इस लिपि में कई हजार चिह्नों का प्रयोग होता था। केवल इनके बाह्य रूपों और वर्गीकरण में थोड़ा बहुत परिवर्तन हुआ। संपूर्ण चिह्नों को छः वर्गों में विभक्त किया जा सकता है : (१) चित्रांकन, (२) भावांकन, (३) सूक्ष्म विचारात्मक, (४) बाह्य विच्छेद और अंतरभेद, (५) समनामांकन तथा (६) ध्वन्यात्मक समास। अंतिम वर्ग के चिह्नों की संख्या सबसे अधिक है। इनके मुख्यतः दो अंग हैं : (१) ध्वन्यात्मक, जिससे शब्द की ध्वनि का ज्ञान होता है और (२) निर्धारणात्मक, जिससे शब्द का अर्थ निर्धारित होता है। यह लिपि ऊपर से नीचे को लंबवत् लिखी जाती है। इसके स्तंभ पृष्ठ के दक्षिण पार्श्व से प्रारंभ होते हैं।

७. **कोलंबसपूर्व अमरीकी लिपि (१००-१२५० ई०)**—मध्य अमेरिका और मेक्सिको में प्रथम सहस्राब्दी के पूर्वार्ध में मय और दूसरी सहस्राब्दी के पूर्वार्ध में ऐजटेक जातियों ने अपना आधिपत्य जमाया और सभ्यता का विकास किया। मय जाति एक सुंदर चित्र-लिपि का प्रयोग करती थी जो अलंकृत स्तंभों, बरतनों, धातु एवं प्रस्तरखंडों और हस्तलिखित ग्रंथों में पाई जाती है। यह लिपि भी अभी असंदिग्ध रूप से पढ़ी नहीं जा सकी है। ऐजटेक जाति मय लिपि के विकृत रूप का प्रयोग करती थी, क्योंकि इसमें विचारलिपि और ध्वन्यात्मक शब्दखंडों का मिश्रण पाया जाता है जो वर्ण के संक्रमण-काल का द्योतक है।

८. **ईस्टर द्वीप लिपि (१५०० ई०)**—प्रशांत महासागर में चिली समुद्र-तट के पश्चिम २५०० मील दूर ईस्टर द्वीप क्षेत्रफल में ७० वर्ग मील है। यहाँ पर प्राचीन सभ्यता के अवशेष पाए गए हैं। इनमें लकड़ी की कुछ तख्तियाँ भी हैं, जिनपर चित्रलिपि में अभिलेख अंकित हैं। इस लिपि में मनुष्य, पशु, पक्षी, मछली आदि की आकृतियाँ पाई जाती हैं। इनमें से कुछ चिह्नों की आकृतियाँ शैलीबद्ध जान पड़ती हैं। ये लख बलीवर्द गति (बाउस्ट्रोफेडन) से लिखे गए हैं।

आ—ध्वन्यात्मक अक्षर

शब्दखंडीय अक्षर और वर्णप्राय अक्षर के कतिपय उदाहरण लेखन-कला के इतिहास में पाए जाते हैं। इस लेखनपद्धति मे एक चिह्न एक ध्वनिसमूह के लिये प्रयुक्त होता है और कई ध्वनिसमूह मिलकर एक शब्द को व्यक्त करते हैं। यदि कोई शब्द स्वयं खंडात्मक है तो उसका बोध एक चिह्न से भी हो सकता है। जिस भाषा के एक शब्दखड में कई व्यंजन पाए जाते है उसमे शब्दखंड लेखनकला बहुत दुरूह हो जाती है। उदाहरण के लिये 'इंद्र' शब्द को इसमे "इ-न-द-र" लिखना पड़ेगा। अंग्रेजी शब्द "स्ट्रेंग्थ" को "से-टे-रे-ने-गे-थ" लिखना होगा।

शब्दखंडीय अक्षर के प्रयोग का प्रमुख उदाहरण जापानी भाषा में मिलता है, यद्यपि इसमे व्यंजनसमूह और बंद शब्दखंड का प्रायः अभाव है। इसका विकास प्राचीन चीनी लिपि से हुआ है। शब्दखंडीय अक्षरो के अन्य प्रमुख उदाहरण निम्नांकित हैं : (१) असीरिया के कीलाक्षर, (२) उत्तरी सीरिया की अर्ध चित्रलिपि, (३) साइप्रस की प्राचीन लिपि और (४) पश्चिमी अफ्रीका, उत्तरी अमरीका, चीन आदि देशो की वर्तमान लिपियाँ। वर्णप्राय अक्षरो के नमूने प्राचीन पारसीक कीलाक्षरों और दक्षिणी मिस्र की मीरोई लिपि मे पाए जाते है।

इ—वर्णात्मक अक्षर

वर्णात्मक अक्षरों का आविष्कार लेखनकला का उच्चतम विकास था। इसमें एक चिह्न अथवा प्रतीक एक ध्वनि को व्यक्त करता है; एक चिह्न कई ध्वनियों को नहीं। इस दृष्टि से अरबी, रोमन अथवा अंग्रेजी अक्षर अभी अपूर्ण हैं। इसके श्रेष्ठतम उदाहरण देवनागरी अक्षर हैं, जिनमें एक अक्षर एक ध्वनि का ही प्रतिनिधित्व करता है। वर्णात्मक अक्षर में ध्वनि और अक्षर के बीच कोई आकृतिमूलक वास्तविक संबंध नहीं होता, केवल परंपरामानित ध्वन्यात्मक मूल्य का बोध चिह्न से होता है। द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० से वर्णात्मक अक्षरों के उदाहरण पाए जाते हैं और अब प्रायः सभी सभ्य देशों में (चीन को छोड़कर) इसी का प्रयोग होता है।

सामी शाखा

वर्णात्मक अक्षरों की उत्पत्ति और मूल उद्गम के संबंध में अभी तक बहुत मतभेद है। यूनानी, रोमन अथवा अंग्रेजी का "अलफाबेट" शब्द स्पष्टतः सामी उद्गम का है। अतः बहुतों की मान्यता है कि इनके अक्षरों का उद्गम भी सामी ही है। वे सामी अक्षरों के मूल में नहीं जाना चाहते। फीनिशियाई और सुमेरी लोगों का उद्गम फीनिशिया और सुमेर के बाहर था जो सिंधुघाटी और भारत की ओर संकेत करता है। अक्षरों का मूल उद्गम मिस्र, सुमेर, क्रीट आदि प्रदेशों में ढूँढ़ा जाता रहा है। इधर बहु-प्रचलित स्थापना के अनुसार उत्तरी सामी अक्षरों से ही सभी वर्णात्मक अक्षर उत्पन्न माने जाते हैं। द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० से इसकी चार शाखाएँ विकसित हुईं : (१) कनानी—(अ) इब्रानी और (आ) फीनिशियाई, (२) आरामाई (उत्तरी सामी), (३) दक्षिणी सामी (अरबी) और (४) यूनानी।

इनमें से सबसे अधिक प्रसार अरबी और यूनानी का हुआ। अरबी अक्षरों का विकास बड़ी शीघ्रता से हुआ। चौथी शती में इसका उदय हुआ और दो शतियों के भीतर ही प्रायः इसके सभी अक्षरों के रूप बदल गए। सातवीं शती में इसके दो रूप थे—(१) कूफी और (२) नसखी। पहला भारी, पुष्ट, सुंदर एवं स्मारकात्मक था। दूसरा गोलाकार और घसीट था। आगे चलकर पहले का प्रचार सीमित और दूसरे का अधिक विस्तृत हो गया। इस्लाम के प्रचार के साथ अरबी अक्षर सीरिया, मिस्र, फारस, तुर्की, बाल्कन प्रायद्वीप, दक्षिणी रूस, मध्य एशिया, उत्तरी अफ्रीका आदि में पहुँचे। ये अधिकांश सामी भाषाओं के माध्यम बने। यूरोपीय भाषाओं में स्लाव, ईरानी, स्पेनिश, हिंदुस्तानी (उर्दू), तातारी, तुर्की आदि के लिये भी इनका प्रयोग होने लगा। मलय-पालीनेशियाई और बर्बर, स्वाहिली, सूदानी आदि अफ्रीकी भाषाओं ने भी अरबी अक्षरों को अपनाया। अरबी अक्षर दाएँ से बाएँ लिखे जाते हैं। ध्वनि की दृष्टि से अरबी अक्षर दुरूह और अधूरे थे, अतः फारस और भारत में आने पर उनमें नई ध्वनियों के लिये नए अक्षर जोड़े गए। छापे की दृष्टि से भी वे दोषपूर्ण हैं।

भारतीय शाखा

भारतीय अक्षरपरिवार बहुत प्राचीन और विस्तृत है। अक्षरों के विकास में इसका विशिष्ट स्थान है। इसका अपना स्वतंत्र और मनोरंजक इतिहास है। इसकी मूल लिपियाँ दो हैं: (१) ब्राह्मी और (२) खरोष्ठी। पहली बाएँ से दाएँ और दूसरी दाएँ से बाएँ लिखी जाती है। इन दोनों के उद्गम और विकास के संबंध में यूरोपीय विद्वानों ने अद्भुत प्रस्थापनाएँ की हैं। ब्यूलर आदि कतिपय पुराविदों ने दोनों की उत्पत्ति आरामाई अक्षरों से मानी है और इनका उद्भवकाल आठवीं शती ई० पू० निश्चित किया है। किंतु प्राचीन वैदिक साहित्य के अध्ययन और सिंधुघाटी की लिपि का पता लग जाने के पश्चात् उपर्युक्त प्रस्थापनाएँ निर्मूल जान पड़ती हैं। ब्राह्मी लिपि शुद्ध भारतीय है जिसका आविष्कार 'ब्रह्म' अथवा वेद आदि पवित्र ग्रंथों को लिखने के लिये ब्राह्मणों ने किया था। इसकी उत्पत्ति सिंधुघाटी के चित्राक्षरों तथा अन्य भारतीय चित्रलिपियों से हुई थी। संस्कृत भाषा की विविध ध्वनियों को व्यक्त करने की इसमें पूर्ण क्षमता है जो किसी भी सामी अथवा अन्य पश्चिमी अक्षरपरिवार में नहीं है। खरोष्ठी अक्षरों का आविष्कार भी भारतीय वर्णमाला लिखने के लिये हुआ था। इसके उदाहरण भारत एवं भारत से प्रभावित पश्चिमोत्तर पड़ोसी प्रदेशों में पाए जाते हैं। खरोष्ठी अक्षर सामी संपर्क के कारण दाहिने से बाएँ लिखे जाते थे।

ब्राह्मी अक्षरों के विकास और भारत में उनके प्रसार एवं व्यवहार में उनकी चार प्रमुख शाखाओं का उल्लेख किया जा सकता है: (१) **प्रारंभिक ब्राह्मी**—इसका उपयोग छठी शती ई० पू० से चौथी शती ई० पू० तक भारत के विभिन्न भागों में होता था। इसकी प्रमुख आठ स्थानीय शैलियाँ थीं: मौर्यपूर्व, पूर्वमौर्य, उत्तरमौर्य, शुंग, कलिंग (द्राविड), शातवाहन (आंध्र), उत्तर भारतीय अक्षरों के पूर्वरूप और दक्षिण भारतीय अक्षरों के पूर्वरूप। (२) **उत्तर भारतीय अक्षरपरिवार**—इसका विकास चौथी शती ई० पू० से १४ वीं शती ई० पू० तक हुआ। इसकी सात प्रमुख शाखाएँ थीं: गुप्त शैली, मध्यएशियाई शैली, तिब्बती, सिद्धमातृका, शारदा, सर्वप्रसिद्ध देवनागरी आदि। (३) **उत्तर भारत का आधुनिक अक्षरपरिवार**—इसका विकास १४ वीं शती के पश्चात् हुआ। इसमें असमिया, बंगाली, उत्कल, हिंदी या देवनागरी (और इसकी उपशाखाएँ-मैथिली, बिहारी, कैथी, महाजनी, मोडी आदि), पश्चिमी हिंदी (टाकरी, लंदा, गुरुमुखी आदि), गुजराती और मराठी संमिलित हैं। (४) **दक्षिण भारतीय अक्षरपरिवार**—चौथी शती के पश्चात् इसका विकास प्रारंभ हो जाता है। इसमें तेलगु, कन्नड, मलयालम, तामिल, तुलु आदि का समावेश है। इस परिवार की कलिंग, ग्रंथ और वट्टेलुटु आदि लिपियाँ लुप्त हो चुकी हैं। सिंहली, मालद्वीपीय आदि अक्षरों की गणना भी इसी परिवार में की जा सकती है।

बृहत्तर भारतीय शाखा—(ल० ३०० ई० पू०—१००० ई० पू०) ई० पू० कुछ शताब्दियों से लेकर प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० तक भारतीय जनता और संस्कृति का प्रसार दक्षिण-पूर्व एशिया, मध्य एवं उत्तर एशिया में हुआ। विशेषकर दक्षिण-पूर्व एशिया में ब्राह्मण और बौद्ध सभी गए और बड़े बड़े उपनिवेशों और राज्यों की स्थापना की। चंपा, कंबुज और जावा तथा बाली में पहले ब्राह्मण गए। पीछे लंका, बर्मा, कंबुज, स्याम, कोचीन–चीन, मलय, सुमात्रा, आदि में ब्राह्मण और बौद्ध दोनों गए। उनके साथ उनकी भाषाएँ (संस्कृत, पाली) और अक्षर (ब्राह्मी), ग्रंथ और उनके विविध रूप भी गए और प्रचलित हुए।

सबसे प्राचीन उत्कीर्ण लेख चंपा में मिले हैं जो तृतीय शती के हैं। इनकी भाषा संस्कृत और अक्षर ग्रंथाक्षर हैं। बर्मा के मोन एवं प्यू अभिलेख १२वीं शती के हैं। इनके अक्षर दाक्षिणात्य ब्राह्मी से लिए गए हैं। इन दोनों के ऊपर बर्मी लोगों का आधिपत्य १२वीं शती में स्थापित हुआ। इन्होंने लंका का पालि बौद्धधर्म अपनाया और उसके माध्यम लंका की ब्राह्मी से उत्पन्न लिपि को भी। स्याम (थाईलैंड) में सबसे पुराना लेख सुखोताई (सुखोदय) में मिला था। इसपर १२१४ शकाब्द अंकित है। जावा की मूल भाषा को भाषा और लिपि को कवि कहा जाता था। यहाँ पर प्राचीनतम उत्कीर्ण लेख दिनय में प्राप्त ६८२ शकाब्द का है। सुमात्रा, मलय, सेलिबीज, बाली, फिलिपाइन आदि में कवि–अक्षरों के विविध रूप प्रयुक्त होते थे। जावा, मलय आदि में आजकल अरबी और रोमन अक्षरों का भी प्रयोग होने लगा है। सबसे पूर्वोत्तर में कोरिया के अक्षर भी भारतीय लिपि से लिए गए हैं।

यूनानी (यूरोपीय) शाखा (प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० से)

अक्षरों के विकास में यूनानी शाखा का बहुत बड़ा महत्व है। यूरोप तथा यूरोप से उपनिवेशित सभी देशों के अक्षर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से यूनानी अक्षरों से उत्पन्न और प्रभावित हैं। यद्यपि यूनानी अक्षर यूनान की मौलिक कृति नहीं है, तथापि यूनानियों ने उनका परिष्कार और विकास कर उनको ज्ञान की अभिव्यक्ति का पुष्ट और सफल माध्यम बनाया जो गत तीन सहस्र वर्षों से सभ्य संसार के बहुत बड़े भाग की सेवा कर रहा है। यूनानी लोगों ने लगभग नवीं शती ई० पू० में फीनिशियाई लोगों से इन अक्षरों को ग्रहण किया, ऐसा अधिकांश विद्वानों का मत है। इस संबंध में एक प्रश्न विचारणीय है। फीनिशियाई अक्षर दाएँ से बाएँ लिखे जाते थे, किंतु यूनानी अक्षर बाएँ से दाएँ लिखे जाने लगे। इसका क्या कारण है? एक दूसरी लिपि जो बाएँ से दाएँ लिखी जाती है, ब्राह्मी है। अतः यूनानी और ब्राह्मी का उद्गम कहीं उभयनिष्ठ होना चाहिए। फीनिशियाई लोग आय में विदेशी थे। इनके मूल स्थान का अभी ठीक निश्चय नहीं हुआ है। क्या ये वैदिक पणि नहीं जो सामी जातियों से घिरे होने के कारण अपनी दक्षिणगामिनी लिपि को दाएँ से बाएँ लिखने लगे, परंतु यूनानियों ने उसे ग्रहण कर आर्यपरंपरा के अनुसार उसे पुनः दक्षिणगामिनी बना लिया?

समय समय पर यूनानी अक्षरों में परिवर्तन होते गए। इसके दो मुख्य उद्देश्य थे: (१) सौंदर्य, और (२) त्वरा। स्मारकात्मक लेखों में बड़े सुंदर अक्षरों का प्रयोग होता था। किंतु धीरे धीरे त्वरा के कारण घसीट अक्षरों का प्रयोग बढ़ता गया जिनसे आठवीं शती में ग्रंथलेखन के लिये उपयुक्त अक्षरों का निर्माण हुआ। यूनानी अक्षरों से एक ओर इत्रुस्की और लातिनी (इटली) में और दूसरी ओर साइरिलिक (पूर्वी यूरोप में) अक्षरों का प्रादुर्भाव हुआ जिनसे आधुनिक यूरोप की सभी लिपियों और अक्षरों का विकास हुआ। यूनानी अक्षरों से ही कोप्ती (अरबपूर्व मिस्र), मेसापियाई (इटली का एड्रियाटिक समुद्रतट) तथा गॉथिक (बलगेरिया) की उत्पत्ति हुई। प्रथम सहस्राब्दी ई० में इत्रुस्की का प्रसार प्रारंभ हुआ। इसी से रूनी (उत्तर जर्मनी: प्रथम शती ई० पू०—७०० ई० प०), आगहैम (ब्रिटिश द्वीपसमूह, प्रथम सहस्राब्दी ई० प०) आदि अक्षर उत्पन्न हुए। वास्तव में इत्रुस्की से ही लातिनी का भी विकास हुआ। ई० पू० से रोमन साम्राज्य के साथ लातिनी लिपि का भी प्रचार हुआ। प्रथम शती ई० पू० में इसकी वर्णमाला स्थिर हुई। इसके पश्चात् व्यक्तिगत लातिनी अक्षरों के बाह्य रूप में ही आवश्यकतानुसार परिवर्तन होते रहे जिसके कारण थे त्वरा, लेखनसामग्री और उपयोगिता। इसी विकासक्रम के मध्ययुग में यूरोपीय साम्राज्य और

ईसाई धर्म के प्रचार द्वारा लातीनी अथवा रोमन अक्षरो का प्रचार ससार के विभिन्न देशो मे हुआ। यूरोपीय व्यापार और विज्ञान भी इसमे सहायक हुए हैं।

अक्षरों के प्रदर्शक फलक :

१—प्रारभिक प्रतीक, सकेत, चिह्न आदि
२—कीलाक्षर
३—मिस्री चित्रलिपि (पुरोहितीय तथा लेखकीय)
४—क्रीटीय
५—मध्य अमरीकी
६—सिंधुघाटी के अक्षर
७—खत्ती (हिताइत)
८—चीनी तथा अन्य विचारलिपिया
९—शब्दखडात्मक तथा अर्धवर्णात्मक
१०—सामी अक्षर (१) प्राचीन
(२) आधुनिक (इब्रानी और अरबी)
११—भारतीय अक्षर (१) प्राचीन (ब्राह्मी तथा खरोष्ठी)
(२) आधुनिक भारतीय वर्णमाला
(३) बृहत्तर भारतीय
१२—यूरोपीय अक्षर (१) यूनानी तथा तद्भव।
(अ) प्राचीन
(आ) आधुनिक
(२) लातीनी (रोमन-इग्लिश)

सं०ग्रं०—एच०एन०हम्रेस दि ओरिजिन ऐंड प्रोग्रेस ऑव दि आर्ट ऑव राइटिंग, लडन १८५३, आइ० टेलर दि अलफाबेट (द्वि० स०) लडन, १८९९, इ क्लाड दि स्टोरी ऑव दि अलफाबेट (द्वि०स०) न्यूयार्क, १९३८, इ० एफ० स्ट्रेंज अलफाबेट्स, लडन १९०७, डब्ल्यू० ए० मेसन ए हिस्ट्री ऑव दि आर्ट ऑव राइटिंग, न्यूयार्क १९२०, टी० थापसन दि ए०बी०सी० ऑव आवर अलफाबेट्स, न्यूयार्क, ए० सी० मूरहाउस राइटिंग ऐंड दि अलफाबेट, लडन, १९४६, डेविड डिरिजर दि अलफाबेट (द्वि० स०) लडन १९४८, ब्यूलर, इडियन पैलियोग्राफी (फ्लीट द्वारा अग्रेजी अनुवाद, इडियन ऐंटिक्वेरी, १९०४), म० म० गौरीशकर हीराचद ओझा. प्राचीन भारतीय लिपिमाला, अजमेर, १९१९, डा० राजबली पाडेय ' इडियन पैलियोग्राफी (भाग-१), बनारस १९५२, ' नागरी अक्षरोंका विकास इसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, अमेरिकाना आदि अन्य ग्रथ। [रा० ब० पा०]

अक्षौहिणी

भारतीय गणना के अनुसार सेना की सबसे बडी इकाई। 'अक्षौहिणी' शब्द का अर्थ है रथो के समूह से युक्त सेना (अक्ष=रथ, ऊहिनी=समूह से युक्त)। परपरा के अनुसार भारतवर्ष मे सेना के चार विभाग या अग माने जाते थे—रथ, हाथी, घोडा और पैदल (पदाति)। इस चतुरगिणी सेना की सबसे छोटी इकाई का नाम था पत्ति, जिसमे एक रथ, एक हाथी, तीन घोडे तथा पाँच पैदल सनिक समिलित माने जाते थे। पत्ति, सेनामुख, गुल्म, वाहिनी, पृतना, चमू, अनीकिनी, अक्षौहिणी सेना के ये ही क्रमश बढनेवाले स्कध थे जिनमे अतिम को छोडकर शेष अपने पूर्व की सख्या से तिगुने होते थे। अर्थात् पत्ति से तिगुना होता था सेनामुख, तीन सेनामुख मिलकर एक गुल्म होता था। तीन गुल्म की एक वाहिनी, तीन वाहिनियो की एक पृतना, तीन पृतनाओ की एक चमू और तीन चमू की एक अनीकिनी होती थी। १० अनीकिनी की एक अक्षौहिणी होती थी जिसमे २१, ८७० रथ तथा इतने ही हाथी (२१, ८७०) होते थे, रथ मे जुते घोडो के अतिरिक्त घोडो की सख्या रथो से तिगुनी होती थी (६५, ६१०), और पैदल सैनिको की सख्या रथ से पँचगुनी (१०९३५०)। इस प्रकार अक्षौहिणी की पूरी सख्या दो लाख, अठारह हजार, सात सौ (२१८७००) होती थी। इस गणना का निर्देश महाभारत के आदिपर्व मे हुआ है। [ब० उ०]

अक्सकोव, सर्जी तिमोफियेविच

सुप्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार और सस्मरणकार। अक्सकोव का जन्म ऊफा (ओरेन्बर्ग) मे २० सितबर, १७९१ को हुआ था और प्रारभ से ही उसे प्राकृतिक दृश्यो के प्रति सहज आकर्षण था। वह कजान विश्वविद्यालय का स्नातक था। साहित्य के क्षेत्र मे उसे गोगोल से अधिक सहायता मिली जिसके विषय मे उसने सस्मरण लिखे हैं। अक्सकोव के कुछ वर्ष यूराल के चरागाहो (स्टेपीज़) मे भी बीते थे जहाँ दस वर्ष तक उसने कृषि कार्य अपना रखा था, किंतु उस क्षेत्र मे उसे सफलता न मिली और आगे चलकर वह मास्को चला आया जहाँ गोगोल से मिलकर (१८२२ई०) उसने एक साहित्यिक सस्था का सगठन किया। अक्सकोव रूसी जीवन का अभिचित्रण करने मे बडा सफल हुआ है। उसके विषय मे एक लेखक ने यहाँ तक लिखा है कि टॉलस्टाय के 'युद्ध और शाति' (वार ऐंड पीस) मे जिस तरह का सुदर चित्रण पाया जाता है उससे किसी प्रकार कम सफलता अक्सकोव का उसकी रचनाओ मे नही मिली है। अक्सकोव की कुछ प्रसिद्ध रचनाएँ इस प्रकार हैं—क्रानिकिल्स ऑव ए रशियन फेमिली (१८५६, एम० सी० बेवर्ली का अग्रेजी रूपातर), रिकलेक्शस ऑव गोगोल। [च० म०]

अक्सब्रिज

अक्सब्रिज इग्लैंड के मिडिलसेक्स जनपद का एक नगर है जो लदन से १५½ मील दूर है। यहाँ लकडी के सामान बनाने के बहुत से कारखाने हैं। आटा पीसने की मिले तथा इजीनियरिंग के सामान बनाने के भी बडे बडे कारखाने हैं। यह व्यवसायी नगर है। यहाँ दो प्रसिद्ध मेले भी लगते हैं। नगर की जनसख्या ४२,८०० है।

अक्सब्रिज अमरीका—सयुक्त राज्य, अमरीका, के मासाचूसेट्स राज्य का एक नगर है। यह नगर २५९ फुट की ऊँचाई पर ब्लैकस्टोन नदी के किनारे बरसेस्टर से १५ मील दक्षिण-पूर्व की ओर स्थित है। रेलवे लाइनो से यह देश के सभी प्रमुख भागो से सबद्ध है। जलविद्युत् के विकास से नगर मे पर्याप्त औद्योगिक उन्नति हुई है। १९३० ई० मे यहाँ की जनसख्या ६,२८५ थी, किंतु १९५० ई० मे ७,००७ हो गई। [हु० ह० सि०]

अखरोट

गधयुक्त विशाल सुदर पतझडीय वृक्ष है जिसकी सुगध अपने ढग की निराली होती है। इसकी ऊँचाई १३-३३ मीटर और तने की परिधि ३-६ मीटर तक होती है। इसका छत्र फैला हुआ होता है। बडे वृक्ष की छाल भूरी, खुरदुरी तथा लबी लबी दरारो से युक्त होती है। जाडो मे पेड पत्रहीन हो जाता है और नई पत्तियाँ फरवरी मे आती हैं। इसकी सयुक्त पत्तियाँ १५ मे ३० सेंटीमीटर तक लबी होती हैं और तने पर एकातरत लगी रहती हैं। अखरोट फरवरी से अप्रैल तक फूलता है। इसके फूल हरे रग के तथा एकलिंगी होते हैं; लेकिन उसी वृक्ष पर नर और मादा दोनो प्रकार के फूल आते हैं। कई नर फूल एक लटकती हुई मजरी (कैटकिन) मे और मादा फूल शाखाओ के सिरो पर १ से ३ तक लगे रहते हैं। इसके फल जुलाई से सितबर तक पकते हैं। इसका गुठलीदार फल (ड्रूप) अडाकार और पाँच सेंटीमीटर तक लबा होता है। इसमे एक हरा, मोटा, मासल छिलका होता है जिसके अदर कडा कठफल (नट) रहता है। फल मे केवल एक बीज होता है। बीज का भक्ष्य भाग या गिरी दो झुर्रीदार बीजपत्रो का बना होता है।

वनस्पतिशास्त्री अखरोट को जूगलैंस रीजिया कहते हैं और इसका समावेश इसी वृक्ष को आदर्श मानकर इसी के नाम पर "अक्षोट कुल" या "जूगलैंडेसी" मे करते हैं। अग्रेजी मे इसे वालनट, हिंदी एव बँगला मे अखरोट, और सस्कृत मे अक्षोट या अक्षोड कहते हैं। इग्लैंड मे बाजार मे बिकनेवाले अखरोट को फारसी अखरोट (पर्शियन वालनट) कहते हैं। उसी को अमरीकावाले कभी फारसी अखरोट और कभी अग्रेजी अखरोट कहते हैं। अखरोट का मूलस्थान हिमालय, हिंदूकुश, उत्तरी ईरान और काकेशिया है। इसके वृक्ष भारत मे हिमालय के उच्च पर्वतीय क्षेत्रो, जैसे काश्मीर, कुमायूँ, नेपाल, भूटान सिक्किम इत्यादि मे समुद्रतल से २,१३५ से ३,०५० मीटर तक की ऊँचाई पर जगली रूप मे उगे हुए पाए जाते हैं, परतु ९१५ से २१३५ मीटर तक ये उत्तम लकडी तथा फलो के लिए उगाए जाते हैं।

अखरोट के वृक्ष को प्रकाश की अधिक आवश्यकता होती है और खाद-

युक्त दोमट मिट्टी इसके लिये सबसे अधिक उपयुक्त है। अमरीका में वृक्षों को प्रति वर्ष हरी खाद दी जाती है और कई बार सींचा भी जाता है। सामान्यत अखरोट के पौधे बीजो से उगाए जाते है। पौद तैयार करने के लिये बीजो को पकने के मौसम मे ताजे पके फलो से एकत्र कर तुरत बो देना चाहिए, क्योंकि बीजों को अधिक दिन रखने पर उनकी अकुरण शक्ति घटती जाती है। एक वर्ष तक गमलो मे लगाकर बाद मे पौधों को निश्चित स्थानों पर लगभग पचास पचास फुट के अतर पर रोपना चाहिए। अमरीका मे अब अच्छी जातियों की कलमे लगाई जाती है या चश्मे (बड) बाँधे जाते है।

अखरोट के पेड की महत्ता उसके बीजों, पत्तियों तथा लकडी के कारण है। इसकी लकडी हलकी परतु मजबूत होती है। यह कलापूर्ण साजसज्जा की सामग्री (फर्नीचर) बनाने, लकडी पर नक्काशी करने और बदूक तथा राइफल के कुदे (गन स्टॉक) के लिये सर्वोत्तम समझी

अखरोट

जाती है। इसका औसत भार २० ५३ किलोग्राम प्रति वर्ग फुट है। इसके फल के बाहरी छिलके से एक प्रकार का रग तैयार किया जाता है जो लकडी रँगने और कच्चा चमडा सिझाने के काम मे आता है। बीज की स्वादिष्ट गिरी बडे चाव से खाई जाती है। गिरी से तेल भी निकाला जाता है जो खाया, जलाया तथा चित्रकारो द्वारा काम मे लाया जाता है। अखरोट के वृक्ष की छाल, पत्तिया, गिरी, फल के छिलके इत्यादि चिकित्सा मे भी काम आते है। आयुर्वेद के अनुसार इसकी गिरी मे कामोद्दीपक गुण होते हैं और यह अम्लपित्त (हार्ट बर्न), उदरशूल (कालिक), पेचिश इत्यादि में लाभकर समझी जाती है। गिरी का तेल रेचक, पित्त के लिये गुणकारी तथा पेट से कृमि निकालने मे भी उत्तम समझा जाता है। पेड की छाल मे कृमिनाशक, स्तभक तथा शोधक गुण होते है। पत्ती एव छाल का क्वाथ त्वचा की अनेक बीमारियो, जैसे अग्नियागन (हरपीज), उकवत (एक्जीमा), गडमाला तथा व्रणो मे लाभ पहुंचाता है। इसकी पत्तियाँ उत्तम चारे का काम देती है।

कैलिफोर्निया (अमरीका) मे अखरोट बहुत अधिक मात्रा मे उगाया जाता है। वहाँ लगभग ५०,००० एकड भूमि में अखरोट की खेती होती है और लगभग दो करोड रुपए का फल प्रति वर्ष पैदा होता है।

[ना० सिं० प०]

अगरतला २३° ५१′ उ० अ० तथा ९१° २१′ पू० दे० रेखाओ पर स्थित त्रिपुरा की राजधानी है। यहाँ का प्राचीन नगर हाओरा नदी के बाएँ तथा नवीन नगर दाहिने किनारे पर बसा हुआ है। प्राचीन नगर मे राजभवन के समीप एक छोटा देवालय है जिसे त्रिपुरानिवासी अत्यंत संमान तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। इसमें स्वर्ण तथा अन्य धातुजटित चतुर्दश देवों की मूर्तियाँ हैं जो यहाँ के निवासियो के सरक्षक माने जाते हैं। १८७४-७५ ई० मे यहाँ नगरपालिका की स्थापना हुई। यहाँ के आर्ट्स कालेज, शिल्प संस्थान, औषधालय तथा बदीगृह प्रसिद्ध हैं। यहाँ के विभिन्न वर्षों की जनगणना देखने से पता चलता है कि यह उन्नतिशील नगर है। जनसंख्या १९०१ मे ६,४१५, १९३१ मे ९,५८०; १९४१ मे १७,६९३ तथा १९५१ मे ४२,५९५ थी। इस नगर का क्षेत्रफल लगभग ४ वर्ग मील है।

[न० ला०]

अगस्तिन, संत (३५४–४३० ई०)। उत्तरी अफ्रिका के हिप्पो नामक बदरगाह के बिशप तथा ईसाई गिरजे के महान् आचार्य। इनका पर्व २८ अगस्त को मनाया जाता है। माता पिता मे से इनकी माता मोनिका ही ईसाई थी; उन्होने अपने पुत्र को यद्यपि कुछ धार्मिक शिक्षा दी थी, फिर भी अगस्तिन ३३ साल की उम्र तक गैर-ईसाई बने रहे। अगस्तिन की आत्मकथा से पता चलता है कि साहित्यशास्त्र का अध्ययन करने के उद्देश्य से कार्थेज पहुँचकर भी इन्होने काफी समय भोगविलास मे बिताया। २० वर्ष की अवस्था के पूर्व ही इनको रखेली से एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। कार्थेज मे ये नौ वर्ष तक गैर-ईसाई मनि सप्रदाय के सदस्य रहे कितु इन्हे उसके सिद्धातो से सतोष नही हुआ और ये पूर्णतया अज्ञेयवादी बन गए। ३८३ ई० मे अगस्तिन रोम आए और एक वर्ष बाद उत्तरी इटली के मिलान शहर मे साहित्य-शास्त्र के अध्यापक नियुक्त हुए। इसी समय इनकी माता विधवा होकर इनके यहाँ चली आई। मिलान मे अगस्तिन वहाँ के बिशप अब्रोस के सपर्क मे आए, इससे इनके मन मे धार्मिक प्रवृत्तियाँ पनपने लगी यद्यपि अभी तक इनकी विषयवासना प्रबल थी। इन्होंने अपनी आत्मकथा मे उस समय के आत्मसघर्ष का मार्मिक वर्णन किया है। अततोगत्वा इन्होंने ३८७ ई० मे बपतिस्मा (ईसाई दीक्षा) ग्रहण किया और नवीन जीवन प्रारभ करने के उद्देश्य से अपनी माता मोनिका, अपने पुत्र और कुछ घनिष्ट मित्रो के साथ अफ्रिका लौटने का सकल्प किया। इस यात्रा मे इनकी माता का देहात हो गया।

अपने जन्मस्थान पहुँचकर अगस्तिन अध्ययन और साधना मे अपना समय बिताने लगे। एक वर्ष बाद इनका पुत्र १७ वर्ष की आयु मे चल बसा। अगस्तिन के तपोमय जीवन तथा उनकी विद्वत्ता की ख्याति धीरे धीरे बढने लगी। ३९१ ई० मे ये पुरोहित बन गए, चार साल बाद इनका बिशप के रूप मे अभिषेक हुआ और ३९६ ई० मे ये हिप्पो के बिशप नियुक्त हुए। मरण पर्यत इसी छोटे से नगर मे रहते हुए भी इन्होने अपने समय के समस्त ईसाई ससार पर गहरा प्रभाव डाला। इनके २२० पत्र, २३० रचनाएँ तथा बहुत से प्रवचन सुरक्षित हैं। ये लातिनी भाषा के महत्तम लेखकों में से हैं। इनकी सूक्तियो में समाहार शैली की पराकाष्ठा है। मानव हृदय को स्पर्श करने तथा उसमे धार्मिक भाव जाग्रत करने की जो शक्ति सत अगस्तिन में है वह अन्यत्र दुर्लभ है। ये दार्शनिक भी थे और धर्मतत्वज्ञ भी। वास्तव मे इन्होने नव-अफलातूनवाद तथा ईसाई धर्मविश्वास का समन्वय करने का प्रयास किया।

इनकी आत्मकथा 'कन्फेशस' (स्वीकारोक्ति) का विश्वसाहित्य मे अपना स्थान है। उसमे इन्होने अपनी युवावस्था तथा धर्मपरिवर्तन का वर्णन किया है। इनकी दो अन्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। एक का शीर्षक दे त्रिनिताते (त्रित्व) है, इसमें ईश्वर के स्वरूप का अध्ययन है। दूसरी दे सिविताते देई (ईश्वर का राज्य) मे सत अगस्तिन ने विश्व इतिहास के रहस्य तथा काथलिक गिरजे के स्वरूप के विषय मे अपने विचार प्रकट किए हैं। इसके लिखने मे १३ वर्ष लगे थे।

स०ग्रं०—जे० जी० पिलकिंगटन: कनफेशंस ऑव सेंट ऑगस्टिन, न्यूयार्क, १९२७, यू० माटगोमरी . सेंट ऑगस्टिन, लंदन १९१४; ओ० बार्डी . सेंट ऑगस्टिन।

[का० बु०]

अगस्तिन, संत कैंटरबरी के प्रथम आर्चबिशप तथा दक्षिण इंग्लैंड में ईसाई धर्म के संस्थापक। अगस्तिन या आगस्तिन बेनेदिक्तिन संघ के सदस्य थे। ५९५ ई० मे पोप ग्रेगोरी प्रथम ने उनको अपने संघ के चालीस मठवासियो के साथ इंग्लैंड भेज

दिया। केंट के राजा इथलबेर्ट ने उनका ५६७ ई० में स्वागत किया तथा उनको धर्मप्रचार करने की आज्ञा दी। राजा स्वयं ईसाई बन गए जिससे अगस्तिन के धर्मप्रचार की सफलता और बढ़ गई। ६०१ ई० में वह कैंटरबरी के प्रथम आर्चबिशप नियुक्त हुए। उनका देहांत संभवत: ६०४ ई० में हुआ। [का० बु०]

अगस्त्य १. प्रख्यात ऋषि। वैदिक साहित्य तथा पुराणों में इनके जीवन की विशिष्ट रूपरेखा अंकित की गई है। मित्र-वरुण ने अपना तेज कुंभ (घड़े) के भीतर डाल रखा था जिससे इनका जन्म हुआ और इसीलिये ये मैत्रावरुणि तथा कुंभयोनि के नाम से भी अभिहित हैं। वसिष्ठ ऋषि इनके अनुज थे। अगस्त्य ने विदर्भ देश की राजकुमारी लोपामुद्रा के साथ विवाह किया था जिनसे इन्हें दो पुत्र उत्पन्न हुए--दृढस्यु और दृढास्य। अगस्त्य के अलौकिक कार्यों में तीन विशेष महत्व रखते हैं--वातापि राक्षस का संहार, समुद्र का पी जाना तथा विंध्याचल की बाढ़ को रोक देना। दक्षिण भारत में आर्य सभ्यता के विस्तार का श्रेय ऋषि अगस्त्य को ही दिया जाता है। बृहत्तर भारत में भी भारतीय संस्कृति और सभ्यता के प्रसार का महनीय कार्य अगस्त्य के ही नेतृत्व में संपन्न हुआ था। इसीलिये जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों में अगस्त्य की अर्चना मूर्ति के रूप में आज भी की जाती है।

२. तमिल भाषा का आद्य वैयाकरण। यह कवि शूद्र जाति में उत्पन्न हुए थे इसलिये यह शूद्र वैयाकरण के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह ऋषि अगस्त्य के ही अवतार माने जाते हैं। ग्रंथकार के नाम पर यह व्याकरण 'अगस्त्य व्याकरण' के नाम से प्रख्यात है। तमिल विद्वानों का कहना है कि यह ग्रंथ पाणिनि की अष्टाध्यायी के समान ही मान्य, प्राचीन तथा स्वतंत्र कृति है जिससे ग्रंथकार की शास्त्रीय विद्वत्ता का पूर्ण परिचय उपलब्ध होता है। [ब० उ०]

अगाथोक्लीज़ यह सिराकूज़ का निरंकुश शासक था। पहले यह ३२५ ई० पू० के गृहयुद्धों के बाद एक जनतांत्रिक नेता बना। ३१७ ई० पू० में निरंकुश हो इसने गरीबों को मिलाने और सेना को मजबूत करने की कोशिश की। अपनी शक्तिसमृद्धि के सिलसिले में इसका संघर्ष सिसली के यूनानियों और कार्थेज से हुआ। प्रारंभ में कुछ सफलता मिली, पर अंतत: कार्थेज के लोगों ने इसे मार भगाया और वह सिराकूज़ में बंद हो गया। बाद में इसने अपनी हार का बदला अफ्रीका में कार्थेज को हराकर लेना चाहा पर उसमें भी इसे विशेष सफलता नहीं मिली। इटली में भी इसने कई लड़ाइयाँ लड़ीं। इसके जीवन का अंतिम काल भयानक पारिवारिक अशांति में बीता। इसने अपनी वसीयत में वंशगत उत्तराधिकार की निंदा कर सिराकूज़ को पुन: स्वतंत्रता दी। पश्चिमी यूनानियों में यही अकेला हेलेनिक राजा था। [अ० कि० ना०]

अगामेम्नान होमरीय वीर जो संभवत: ऐतिहासिक व्यक्ति था। 'इलियद' में उसे यूनान के एकियाई और मिकीनी राज्यों का स्वामी कहा गया है। स्पार्ता में उसकी पूजा ज्यूस अगामेम्नान के नाम से होती थी। यह अत्रियस और इरोप का पुत्र और मेनेलास का भाई था। पिता की हत्या के बाद भाइयों ने स्पार्ता के राजा की शरण ली, फिर वहाँ के राजा की सहायता से अगामेम्नान ने पिता का राज्य पुन: प्राप्त कर उसे बढ़ाया और ग्रीस के राजाओं में प्रधान बन गया। स्पार्ता के राजा तिंदेरस की कन्याएँ इन दोनों भाइयों से ब्याही थीं। पश्चात् मेनेलास तिंदेरस का उत्तराधिकारी हुआ और यह उसका सहायक। भाई की पत्नी हेलेन के त्राय के पेरिस द्वारा अपहरण के प्रतिकार में यूनानी राजाओं को निमंत्रित कर अगामेम्नान ने त्राय के युद्ध का नेतृत्व किया। त्राय विजय के बाद स्वदेश लौटने पर उसकी पत्नी के प्रेमी आगस्तस ने इसकी हत्या कर दी। उसकी कब्र मिकीनी के खंडहरों में दिखाई जाती है, जिसे त्राय का पुनरुद्धार करनेवाले पुराविद् श्लीमान ने खोद निकाली थी। पर उस कब्र की सत्यता प्रमाणित नहीं। [ओं० ना० उ०]

अगेसिलास द्वितीय स्पार्ता का राजा। यह यूरिपोंतिद परिवार का,आर्किदामस् का पुत्र और अगीस का सौतेला भाई था। अगीस को औरस संतान न होने से ४०१ ई० पू० में यह गद्दी पर बैठा। इसका जीवन यूनानी राज्यों और फारस के साथ युद्ध में बीता। ३९६ ई० पू० में इसने पारसीक आक्रमण के विरुद्ध ८००० संमिलित सेना का नेतृत्व किया। फ्रीगिया और लीदिया पर उसने हमले किए, पर इसी बीच गृहयुद्ध की सूचना पा वह वापस लौटा। जलयुद्ध में पारसीकों से उसकी हार हुई पर कोरिंथ का युद्ध जीतकर वह स्पार्ता लौट गया। ई० पू० ३८६ की संधि के बाद बोएतिया पर उसने आक्रमण किया, पर हार गया। ई० पू० ३६१ में मिस्र के विद्रोही क्षत्रप की फारस के विरुद्ध उसने सहायता की। वहाँ से लौटते समय ८४ वर्ष की अवस्था में मार्ग में ही उसकी मृत्यु हो गई। [ओं० ना० उ०]

अगेस्सो, हेनरी फ्रांस्वा, द फ्रांस के चांसलर जो लीमोगीज में २७ नवंबर, १६६८ को पैदा हुए। फ्रांस्वा ने कानून की शिक्षा जाँ दोमा से ली। १७०० से १७१७ तक प्रधान मजिस्ट्रेट (प्रोकूरातो) रहे। इसी पद पर रहकर उन्होंने गैलीकन गिरजा के अधिकार की रोम के गिरजाघर के विरुद्ध सहायता की।

१७१७ में उन्हें चांसलर बनाया गया। परंतु एक वर्ष पश्चात् जांला की आर्थिक नीति का विरोध करने के दंड में उन्हें इस्तीफा देना पड़ा। १७२० में उनको फिर उसी पद पर बिठाया गया। उन्होंने फ्रांस के लिये एक कानून संग्रह तैयार करने का प्रयत्न भी किया। कुछ सुधार करने के कारण उनको फ्रांस के प्रशासकों में सर्वप्रथम स्थान मिला।

फ्रांस्वा के लेखों का एक संग्रह १६ जिल्दों में १८१८ में प्रकाशित हुआ। रूम के अतिरिक्त उन्होंने अपने पिता की जीवनी भी लिखी है जिसमें शिक्षा के संबंध में भी बातें लिखी हैं। [मो० अ० अ०]

अगोरा का शाब्दिक अर्थ है 'एकत्रित होना' या 'आपस में मिलना'। इसका प्रयोग विशेषकर युद्ध या अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये लोगों को एकत्रित करने के अर्थ में होता है। क्लीस्थेनीज़ ने एथेंस की पूरी आबादी को जिन दस जातियों में बाँटा था उनमें से प्रत्येक जाति पुन: कुछ दीमिजों में बँटी थी। 'अगोरा' से तात्पर्य विभिन्न दीमिजों के बाजार से था। यूनान में नागरिकों का आपस में मिलना सदैव अनिवार्य समझा जाता था। ऐसे संमेलन के लिये एक सार्वजनिक स्थान की आवश्यकता थी, इस दृष्टि से नगर का बाजार या अगोरा सबसे उपयुक्त था। बाजार केवल क्रय विक्रय का ही स्थान नहीं था वरन् वह ऐसा मिलनस्थल भी था जहाँ लोग घूमने जाते, नगर के नवीन समाचार प्राप्त करते तथा राजनीतिक समस्याओं पर विचार करते। यहीं जनमत का रूप निर्धारित होता था। इस प्रकार 'अगोरा' सरकार के निर्णयों पर विचार करने के लिये जनता की सर्वांगीण सभा (असेंब्ली) का उपयुक्त स्थल बन गया। ऐसे संमेलनों का नाम भी अगोरा पड़ा, यहाँ तक कि सैन्य शिविरों में भी अगोरा की आवश्यकता रहती थी। त्रोजन युद्ध के समय ऐसा ही एक अगोरा था जहाँ से एकियन युद्धनेता अपनी घोषणाएँ तथा न्याय की व्यवस्था करते थे। अगोरा इतना आवश्यक समझा जाता था कि होमर ने अगोरा का न होना ही कीक्लोप दैत्यों की बर्बरता का प्रमुख लक्षण बताया तथा हेरोदोतस् ने यूनानियों और ईरानियों में सबसे बड़ा अंतर इसी बात में देखा कि ईरानियों के यहाँ कोई अगोरा नहीं था।

सैकड़ों नगरोंवाले यूनान में इस संस्था के विभिन्न स्वरूप थे। थिसाली के जनतंत्रीय नगरों में अगोरा को 'स्वतंत्रता का स्थान' कहते थे। इन नगरों में अगोरा की सदस्यता सभी के लिये न होकर केवल विशिष्ट लोगों के लिये ही थी। जनतंत्रीय नगरों में प्राचीन अगोरा जब जनसंख्या के बढ़ने के कारण सार्वजनिक सभा की बढ़ती हुई सदस्यता के लिये छोटा पड़ने लगा तब लोग अन्य स्थान पर एकत्रित होने लगे। उदाहरणार्थ ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में एथेंस वासियों की सभा प्निक्स की पहाड़ी पर होती थी और केवल कुछ विशिष्ट अवसरों के अतिरिक्त अगोरा या बाजार में एकत्रित होना बंद हो गया। इस स्थानांतरित सभा का नाम भी अगोरा न होकर एक्लेसिया पड़ा। त्राय में अगोरा का अधिवेशन राजभवन और अपोलो तथा एथिनी के मंदिरों के निकट एक्रोपोलिस में होता था। समुद्रतट पर बसे नगरों, यथा पीलोस, स्खेरिया आदि में उसका स्थान पोसिदोन के किसी मंदिर के संमुख बंदरगाह के निकट वृत्ताकार होता था।

चुनाव संबंधी कार्य के अतिरिक्त दीमिज के प्रशासन संबंधी सभी महत्वपूर्ण निर्णय अगोरा में ही होते थे।

सं०ग्रं०—ग्लॉज, जी० . दि ग्रीक सिटी ऐंड इट्स इन्स्टिटयूशंस, लंदन, १९५०; ग्रीनिज, ए० एच० जे० : ए हैंडबुक ग्रॉव ग्रीक कॉस्टिट्यूशनल हिस्ट्री, लंदन, १९२०; मायर्स, जे० एल० : दि पोलिटिकल ग्राइडियाज ग्रॉव दि ग्रीक्स, लदन, १९२७। [रा० अ०]

अगोरानोमी नामक मंडियो के अध्यक्षों के पद ग्रीक नगरों में १२० से भी अधिक विद्यमान थे। सामान्यतया इनका चुनाव पत्रक या गुटिका द्वारा हुआ करता था । एथेंस में इन अध्यक्षो की संख्या १० थी जिनमे से पाँच मुख्य नगर के लिये और पाँच पिरेयस् नामक एथेंस् के बंदरगाह के लिये चुने जाते थे। इनका कर्तव्य हाट बाजार मे व्यवस्था रखना, नापतौल और पण्य वस्तुओं के गुणावगुण की देखभाल और हाटशुल्क संचय करना था। सामान्य नियमो का उल्लंघन करनेवाले अर्थदंड के भागी होते थे तथा इस धन से हाट के भवनो का विस्तार एवं जीर्णोद्धार हुआ करता था। अधिक गंभीर अपराधो के मामलो को यह न्यायालयो मे भेज दिया करते थे और इन अभियोगों की अध्यक्षता भी यही करते थे। [भो० ना० श०]

अग्नि रासायनिक दृष्टि से अग्नि जीवजनित पदार्थो के कार्बन तथा अन्य तत्वों का आक्सिजन से इस प्रकार का संयोग है कि गरमी और प्रकाश उत्पन्न हो। अग्नि की बड़ी उपयोगिता है : जाड़े मे हाथ पैर सेकने से लेकर ऐटम बम द्वारा नगर का नगर भस्म कर देना, सब अग्नि का ही काम है। इसी से हमारा भोजन पकता है, इसी के द्वारा खनिज पदार्थो से धातुएँ निकाली जाती है और इसी से शक्ति-उत्पादक इजन चलते है। भूमि मे दबे अवशेषो से पता चलता है कि प्रायः पृथ्वी पर मनुष्य के प्रादुर्भाव काल से ही उसे अग्नि का ज्ञान था। आज भी पृथ्वी पर बहुत सी जंगली जातियाँ है जिनकी सभ्यता एकदम प्रारंभिक है, परतु ऐसी कोई जाति नही है जिसे अग्नि का ज्ञान न हो।

आदिम मनुष्य ने पत्थरों के टकराने से उत्पन्न चिनगारियों को देखा होगा। अधिकाश विद्वानो का मत है कि मनुष्य ने सर्वप्रथम कड़े पत्थरों को एक दूसरे पर मारकर अग्नि उत्पन्न की होगी।

घर्षण (रगड़ने की) विधि से अग्नि बाद मे निकली होगी। पत्थरों के हथियार बन चुकने के बाद उन्हे सुडौल, चमकीला और तीव्र करने के लिये रगड़ा गया होगा। रगडने पर जो गर्मी उत्पन्न हुई होगी उसी से मनुष्य ने अग्नि उत्पन्न करने की घर्षणविधि निकाली होगी।

घर्षण तथा टक्कर इन दोनों विधियों से अग्नि उत्पन्न करने का ढंग आजकल भी देखने मे आता है। अब भी आवश्यकता पड़ने पर इस्पात और चकमक पत्थर के प्रयोग से अग्नि उत्पन्न की जाती है। एक विशेष प्रकार की सूखी घास या रुई को चकमक के साथ सटाकर पकड़ लेते हैं और इस्पात के टुकडे से चकमक पर तीव्र प्रहार करते हैं। टक्कर से उत्पन्न चिनगारी घास या रुई को पकड़ लेती है और उसी को फूंक फूंककर और फिर पतली लकड़ी तथा सूखी पत्तियों के मध्य रखकर अग्नि का विस्तार कर लिया जाता है।

घर्षणविधि से अग्नि उत्पन्न करने की सबसे सरल और प्रचलित विधि लकड़ी के पटरे पर लकडी की छड़ रगड़ने की है।

एक दूसरी विधि में लकडी के तख्ते में एक छिछला छेद रहता है। इस छेद पर लकडी की छडी को मथनी की तरह वेग से नचाया जाता है। प्राचीन भारत मे भी इस विधि का प्रचलन था। इस यंत्र को "अरणी" कहते थे। छडी के टुकडे को "उत्तरा" और तख्ते को "अधरा" कहा जाता था। इस विधि से अग्नि उत्पन्न करना भारत के अतिरिक्त लंका, सुमात्रा, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका मे भी प्रचलित था। उत्तरी अमरीका के इंडियन तथा मध्य अमरीका के निवासी भी यह विधि काम में लाते थे। एक बार चार्ल्स डारविन ने टाहिटी (दक्षिणी प्रशांत महासागर का एक द्वीप जहाँ स्थानीय आदिवासी ही बसते है) में देखा कि वहाँ के निवासी इस प्रकार कुछ ही सेकेंड में अग्नि उत्पन्न कर लेते हैं, यद्यपि स्वयं उसे इस काम में सफलता बहुत समय तक परिश्रम करने पर मिली। फारसी के प्रसिद्ध ग्रंथ शाहनामा के अनुसार हुसेन ने एक भयंकर सर्पाकार राक्षस से युद्ध किया और उसे मारने के लिये उन्होंने एक बड़ा पत्थर फेंका। वह पत्थर उस राक्षस को न लगकर एक चट्टान से टकराकर चूर हो गया और इस प्रकार सर्वप्रथम अग्नि उत्पन्न हुई।

उत्तरी अमरीका की एक दंतकथा के अनुसार एक विशाल भैंसे के दौड़ने पर उसके खुरों से जो टक्कर पत्थरों पर लगी उससे चिनगारियाँ निकलीं। इन चिनगारियों से भयंकर दावानल भड़क उठा और इसी से मनुष्य ने सर्वप्रथम अग्नि ली।

अग्नि का मनुष्य की सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक उन्नति में बहुत बड़ा भाग रहा है। लैटिन में अग्नि को प्यूरस अर्थात् 'पवित्र' कहा जाता है। संस्कृत मे अग्नि का एक पर्याय 'पावक' भी है जिसका शब्दार्थ है 'पवित्र करनेवाला'। अग्नि को पवित्र मानकर उसकी उपासना का प्रचलन कई जातियों में हुआ और अब भी है।

सतत अग्नि—अग्नि उत्पन्न करने में पहले साधारणतः इतनी कठिनाई पड़ती थी कि आदिकालीन मनुष्य एक बार उत्पन्न की हुई अग्नि को निरंतर प्रज्वलित रखने की चेष्टा करता था। यूनान और फारस के लोग अपने प्रत्येक नगर और गावँ में एक निरंतर प्रज्वलित अग्नि रखते थे। रोम के एक पवित्र मंदिर में अग्नि निरंतर प्रज्वलित रखी जाती थी। यदि कभी किसी कारणवश मंदिर की अग्नि बुझ जाती थी तो बड़ा अपशकुन माना जाता था। तब पुजारी लोग प्राचीन विधि के अनुसार पुन. अग्नि प्रज्वलित करते थे। सन् १८३० के बाद से दियासलाई का आविष्कार हो जाने के कारण अग्नि प्रज्वलित रखने की प्रथा मे शिथिलता आ गई। दियासलाइयों का उपयोग भी घर्षणविधि का ही उदाहरण है; अंतर इतना ही है कि उसमें फास्फोरस, शोरा आदि के शीघ्र जलनेवाले मिश्रण का उपयोग होता है।

प्राचीन मनुष्य जंगली जानवरों को भगाने, या उनसे सुरक्षित रहने के लिये अग्नि का उपयोग बराबर करता रहा होगा। वह जाड़े में अपने को अग्नि से गरम भी रखता था। वस्तुतः जैसे जैसे जनसंख्या बढ़ी, लोग अग्नि के ही सहारे अधिकाधिक ठंढे देशो में जा बसे। अग्नि, गरम कपड़ा और मकानों के कारण मनुष्य ऐसे ठंढे देशो में रह सकता है जहाँ शीत ऋतु में उसे सरदी से कष्ट नही होता और जलवायु अधिक स्वास्थ्यप्रद रहती है।

विद्युत्काल में अग्नि—मोटरकार के इंजनो में पेट्रोल जलाने के लिये बिजली की चिनगारी का उपयोग होता है, क्योकि ऐसी चिनगारी अभीष्ट क्षणों पर उत्पन्न की जा सकती है। मकानो में कभी कभी बिजली के तार में खराबी आ जाने से आग लग जाती है। ताल (लेन्ज) तथा अवतल (कॉनकेव) दर्पण से सूर्य की रश्मियो को एकत्रित करके भी अग्नि उत्पन्न की जा सकती है। ग्रीस तथा चीन के इतिहास में इन विधियों का उल्लेख है।

अग्नि से क्षति—प्रत्येक वर्ष समाचारपत्रों में पढ़ने में आता है कि अग्नि से इतने घर जल गए, या इतने लाख रुपए की क्षति हुई, या इतने व्यक्ति मरे। अग्नि से कभी कभी विशेष विस्तृत क्षेत्र में हानि हो जाती है। सन् १९४४ में बंबई के बंदरगाह में एक जहाज में विस्फोट हुआ जिससे बंदरगाह और पास के मकान जल गए। लगभग ३० करोड़ रुपए की हानि हुई। सन् १६६६ में लंदन में जो आग लगी थी वह लगातार तीन दिन तक जलती ही रह गई और तेरह हजार मकान, सेंट पाल का बड़ा गिरजाघर, ९३ साधारण गिरजाघर, बहुत से सरकारी भवन, अस्पताल, लाइब्रेरी, जेलखाने आदि और चार पत्थर के पुल नष्ट हो गए। सस्ती का समय था, तो भी आँका गया कि १५ करोड़ रुपए की हानि हुई थी। पिछले विश्वयुद्ध में जर्मनी के ऊपर आग लगानेवाले बम बहुत अधिक संख्या में छोड़े गए। जर्मनी के भवन ऐसे बने थे कि एक के जलने पर पड़ोस के भवनों में आग नहीं लगती थी। तो भी १९४३ में २७-२८ जूलाई के बीच अधिक बम छोड़े जाने के कारण हजारों मकान एक साथ जलने लगे और सत्तर अस्सी हजार व्यक्तियों की जानें गई। तीन बार के अग्निबम-आक्रमण में तीन लाख से अधिक मकान जल गए। १९४५ में जर्मनी के ड्रेस्डेन नगर में इसी प्रकार बमों से आग लगाई गई थी। हजारों भवनों के एक साथ जलने से जो लपटें उठीं, उनसे सड़कों की हवा बड़े वेग से खिंच रही थी; जान पड़ता था मानो वेगवती आँधी आ गई है। इस आग से लगभग तीन लाख व्यक्तियों की जानें गई। प्रायः सभी देशों में कभी न कभी अग्नि से भारी क्षति हुई है।

अग्नि से रक्षा--व्यक्तिगत रक्षा के लिये अग्नि से सदा सावधान रहना चाहिए। ऐसा प्रबंध रहना चाहिए कि बच्चे आग तक न पहुँच सकें। दीए और लालटेन आदि को वे छू न सकें। जाड़े में रुईदार कपड़े के बदले ऊनी कपड़ा पहनने से आग लगने की आशंका कम हो जाती है। आँचल से बटलोई या कड़ाही पकड़कर आँच पर से उतारने की आदत कुछ स्त्रियों में रहती है, यह बुरा है। स्टोव या आग की लौ के पास जाते समय साड़ी पर ध्यान रखना चाहिए कि उसमें आग न लग जाय। मकान यथासंभव अग्निसह हों (देखें **अग्निसह भवन**)। यदि फूस की छाजन हो तो उसे काफी ऊँची रहनी चाहिए। यदि रसोई घर में फूस की छाजन या फूस की दीवारें हों तब तो विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। तप्त तेल या घी में तरकारी आदि छौंकते समय बहुधा अचानक लपटें निकल पड़ती हैं। इस प्रकार की लपटों से हजारों अग्निकांड हो चुके हैं। बिजली के तारों की जाँच साल दो साल पर होती रहनी चाहिए और आवश्यक सुधार करते रहना चाहिए। घरों में से भाग सकने के लिये अगवाड़े और पिछवाड़े दोनों ओर प्रबंध रहना चाहिए। कोठे पर से उतरने के लिये दो सीढ़ियाँ हों तो अच्छा है।

बीमा--किसी व्यक्ति के घर या दूकान में आग लग जाने से वह पूर्णतया निर्धन हो जा सकता है। इससे बचने के लिये मकान, विशेष कर दूकान, का बीमा करा लेना अच्छा होता है। वास्तव में बीमा करानेवाला प्रत्येक व्यक्ति अग्नि से उत्पन्न क्षति को थोड़ी थोड़ी मात्रा में सहन करता है और इस प्रकार व्यक्तिविशेष अपनी संपत्ति के विनाश से निर्धन नहीं होने पाता। बीमा कंपनी केवल प्रबंधकर्ता है; लोगों से प्रीमियम (मासिक या वार्षिक धन) एकत्रित करना और उसमें से क्षतिग्रस्त व्यक्ति को धन पहुँचाना ही उसका कार्य है।

आग बुझाना--आग बुझाने के लिये साधारणतः सबसे अच्छी रीति पानी उड़ेलना है। बालू या मिट्टी डालने से भी छोटी आग बुझ सकती
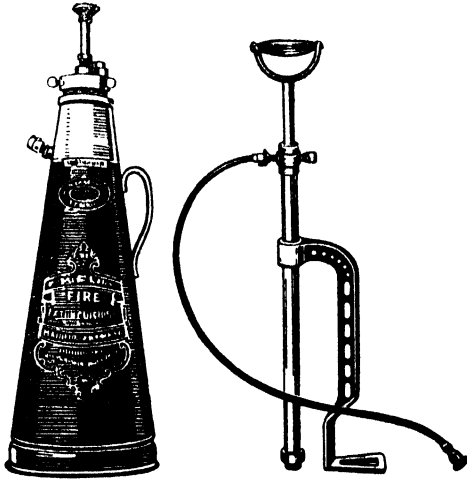
अग्निशामक

ऊपर की घुंडी को ठोंकने से भीतर अम्ल (तेजाब) की शीशी फूट जाती है जो बरतन के भीतर भरे सोडा के घोल से प्रतिक्रिया करके कार्बन डाइऑक्साइड गैस बनाती है। इस गैस की दाब से घोल की वेगवती धार निकलती है।

रकाबदार पंप

इसके मुँह को पानी भरी बालटी में डालकर और रकाब को पैर से दबाकर हैंडल चलाने पर तुंड (टोंटी) से पानी की धार निकलती है जो दूर से ही आग पर डाली जा सकती है।

है। दूर से अग्नि पर पानी डालने के लिये रकाबदार पंप अच्छा होता है। छोटी मोटी आग को थाली या परात से ढककर भी बुझाया जा सकता है। आग लगने पर घबड़ाने से काम बिगड़ जाता है। शांति से, परंतु चटपट, उपाय करना चाहिए। कारखानों में यदि पहल से अभ्यास करा दिया जाय कि आग लगने पर क्या क्या करना चाहिए और किधर से भागना चाहिए तो अच्छा है।

आरंभ में आग बुझाना सरल रहता है। आग बढ़ जाने पर उसे बुझाना कठिन हो जाता है। प्रारंभिक आग को बुझाने के लिये यंत्र मिलते हैं। ये लोहे की चादर के बरतन होते हैं, जिनमें सोडे (सोडियम कारबोनेट) का घोल रहता है। एक शीशी में अम्ल रहता है। बरतन में एक खूँटी रहती है। ठोंकने पर वह भीतर घुसकर अम्ल की शीशी को तोड़ देती है। तब अम्ल सोडे के घोल में पहुँचकर कार्बन डाइआक्साइड गैस उत्पन्न करता है। इसकी दाब से घोल की धार बाहर वेग से निकलती है और आग पर डाली जा सकती है।

अधिक अच्छे आग बुझानेवाले यंत्रों से साबुन के झाग (फेन) की तरह झाग निकलता है जिसमें कारबन डाइआक्साइड गैस के बुलबुले रहते हैं। यह जलती हुई वस्तु पर पहुँचकर उसे इस प्रकार छा लेता है कि आग बुझ जाती है।

गोदाम, दूकान आदि में स्वयंचल सावधानक (ऑटोमैटिक अलार्म) लगा देना उत्तम होता है। आग लगने पर घंटी बजने लगती है। जहाँ टेलीफोन रहता है वहाँ ऐसा प्रबंध हो सकता है कि आग लगते ही अपने आप अग्निदल (फ़ायर ब्रिगेड) को सूचना मिल जाय। इससे भी अच्छा वह यंत्र होता है जिसमें से, आग लगने पर, पानी की फुहार अपने आप छूटने लगती है।

प्रत्येक बड़े शहर में सरकार या म्युनिसिपैलिटी की ओर से एक अग्निदल रहता है। इसमें वैतनिक कर्मचारी नियुक्त रहते हैं जिनका कर्तव्य ही आग बुझाना होता है। सूचना मिलते ही ये लोग मोटर से अग्निस्थान पर पहुँच जाते हैं और अपना कार्य करते हैं। साधारणतः आग बुझाने का सारा सामान उनकी गाड़ी पर ही रहता है; उदाहरणतः पानी से भरी टंकी, पंप, कैनवस का पाइप (होज़), इस पाइप के मुँह पर लगनेवाली टोंटी (नॉज़ल), सीढ़ी (जो बिना दीवार का सहारा लिए ही तिरछी खड़ी रह सकती है और इच्छानुसार ऊँची, नीची या तिरछी की तथा घुमाई जा सकती है), बिजली की तेज रोशनी और लाउडस्पीकर आदि। जहाँ पानी का पाइप नहीं रहता वहाँ एक अन्य लारी पर केवल पानी की बड़ी टंकी रहती है। कई विदेशी शहरों में सरकारी प्रबंध के अतिरिक्त बीमा कंपनियाँ आग बुझाने का अपना निजी प्रबंध भी रखती हैं। जहाँ सरकारी अग्निदल नहीं रहता वहाँ बहुधा स्वयंसेवकों का दल रहता है जो वचनबद्ध रहते हैं कि मुहल्ले में आग लगने पर तुरंत उपस्थित होंगे और उपचार करेंगे। बहुधा सरकार की ओर से उन्हें शिक्षा मिली रहती है और आवश्यक सामान भी उन्हें सरकार से उपलब्ध होता है।

आग लगने पर तुरंत अग्निदल को सूचना भेजनी चाहिए (हो सके तो टेलीफोन से), और तुरंत स्पष्ट शब्दों में बताना चाहिए कि कहाँ आग लगी है। रात के समय देख भाल के लिये चौकीदार रखना अच्छा है।

सं०ग्रं०--राबर्ट एस० मोल्टन (संपादक) : हैंडबुक ऑव फ़ायर प्रोटेक्शन, नैशनल फ़ायर प्रोटेक्शन ऐसोसिएशन (१९४८, इंग्लैंड); जे० डेविडसन : फ़ायर इंश्योरेंस (१९२३)। [आ० सिं० स०]

अग्नि देवता

संसार के मान्य धर्मों में अग्नि की उपासना प्रतिष्ठित देवता के रूप में अत्यंत प्राचीन काल से प्रचलित है। यूनान तथा रोम में भी अग्नि की पूजा राष्ट्रदेवी के रूप में होती थी। रोम में अग्नि 'वेस्ता' देवी के रूप में उपासना का विषय थी। उसकी प्रतिकृति नहीं बनाई जाती थी, क्योंकि रोमन कवि 'ओविद' के कथनानुसार अग्नि इतना सूक्ष्म तथा उदात्त देवता है कि उसकी प्रतिकृति के द्वारा कथमपि बाह्य अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती थी। पवित्र मंदिर में अग्नि सदा प्रज्वलित रखी जाती थी और उसकी उपासना का अधिकार पावनचरित श्वेतांगी कुमारियों को ही था। जरथुस्त्री धर्म में भी अग्नि का पूजन प्रत्येक ईरानी आर्य का मुख्य कर्तव्य था। अवेस्ता में अग्नि दृढ़ तथा विकसित अनुष्ठान का मुख्य केंद्र थी और अग्निपूजक ऋत्विज् 'अथ्रवन्' वैदिक अथर्वण के समान उस धर्म में श्रद्धा और प्रतिष्ठा के पात्र थे। अवेस्ता में अग्निपूजा के प्रकार तथा प्रयुक्त मंत्रों का रूप ऋग्वेद से बहुत अधिक साम्य रखता है। पारसी धर्म में अग्नि इतना पवित्र, विशुद्ध तथा उदात्त

देवता माना जाता है कि कोई अशुद्ध वस्तु अग्नि में नहीं डाली जाती। इस प्रकार वैदिक आर्यो के समान पारसी लोग शवदाह के लिये अग्नि का उपयोग नहीं करते, मरी हुई अशुद्ध वस्तु को वे अग्नि में डालने की कल्पना तक नहीं कर सकते। अवेस्ता के अनुसार आतरो (अग्नि) दिव्य प्रकाश का पार्थिव स्वरूप है। अग्नि 'अहुरमज्द' का ही रूप है जिससे पुत्र रूप में जरथुस्त्र का जन्म हुआ। अवेस्ता में अग्नि पाँच प्रकार का माना जाता है।

परंतु अग्नि की जितनी उदात्त तथा विशद कल्पना भारतीय वैदिक धर्म में है उतनी अन्यत्र नहीं है। वैदिक कर्मकांड का--श्रौत भाग और गृह्य का--मुख्य केंद्र अग्निपूजन ही है। वैदिक देवमंडल में इंद्र के अनंतर अग्नि का ही दूसरा स्थान है जिसकी स्तुति लगभग दो सौ सूक्तों में वर्णित है। अग्नि के वर्णन में उसका पार्थिव रूप ज्वाला, प्रकाश आदि वैदिक ऋषियों के सामने सदा विद्यमान रहता है। अग्नि की तुलना अनेक पशुओं से की गई है। प्रज्वलित अग्नि गर्जनशील वृषभ के समान है। उसकी ज्वाला सौर किरणों के तुल्य, उषा की प्रभा तथा विद्युत् की चमक के समान है। उसकी आवाज आकाश के गर्जन जैसी गंभीर है। 'अग्नि' के लिये विशिष्ट गुणों को लक्ष्य कर अनेक अभिधान प्रयुक्त किए जाते हैं। 'अग्नि' शब्द का संबंध लातीनी 'इग्निस्' और लिथुएनियाई 'उग्निस्' के साथ कुछ अनिश्चित सा है, यद्यपि प्रेरणार्थक अज् धातु के साथ भाषाशास्त्रीय दृष्टि से असंभव नहीं है। प्रज्वलित होने पर धूमशिखा के निकलने के कारण 'धूमकेतु' इस विशिष्टता का द्योतक एक प्रख्यात अभिधान है। अग्नि का ज्ञान सर्वातिशायी है और वह उत्पन्न होनेवाले समस्त प्राणियों को जानता है। इसलिये वह 'जातवेदा' के नाम से विख्यात है। अग्नि कभी द्यावापृथिवी का पुत्र और कभी द्यौ का सूनु (पुत्र) कहा गया है। उसके तीन जन्मों का वर्णन वेदों में मिलता है जिनके स्थान हैं--स्वर्ग, पृथ्वी तथा जल; स्वर्ग, वायु तथा पृथ्वी। अग्नि के तीन सिर, तीन जीभ तथा तीन स्थानों का बहुल निर्देश वेद में उपलब्ध होता है। अग्नि के दो जन्मों का भी उल्लेख मिलता है--भूमि तथा स्वर्ग।

अग्नि के आनयन की एक प्रख्यात वैदिक कथा ग्रीक कहानी से साम्य रखती है। अग्नि का जन्म स्वर्ग में ही मुख्यतः हुआ जहाँ से मातरिश्वा ने मनुष्यों के कल्याणार्थ उसका इस भूतल पर आनयन किया। अग्नि प्रमगतः अन्य समस्त वैदिक देवों में प्रमुख माना गया है। अग्नि का पूजन भारतीय आर्यसंस्कृति का प्रमुख चिह्न है और वह गृहदेवता के रूप में उपासना और पूजा का प्रधान विषय है। इसलिये अग्नि 'गृह्य', 'गृहपति' (घर का स्वामी) तथा 'विश्पति' (जन का रक्षक) कहलाता है। शतपथ ब्राह्मण (१।४।१।१०) में गोतम राहूगण तथा विदेध माथव के नेतृत्व में अग्नि का सारस्वत मंडल से पूरब की ओर जाने का वर्णन मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो आर्य संस्कृति संहिता काल में सरस्वती के तीरस्थ प्रदेशों तक सीमित रही, वह ब्राह्मण युग में पूरबी प्रांतों में भी फैल गई। इस प्रकार अग्नि की उपासना वैदिक धर्म का नितांत आवश्यक अंग है। पुराणों में अग्नि के उदय तथा कार्य विषयक अनेक कथाएँ मिलती हैं। अग्नि की स्त्री का नाम 'स्वाहा' है तथा उसके तीन पुत्रों के नाम 'पावक', 'पवमान' और 'शुचि' है।

सं०ग्रं०--मैकडॉनेल : वैदिक माइथालोजी (स्ट्रासबर्ग); कीथ : रिलीजन ऐंड फिलॉसफी ऑव वेद ऐंड उपनिषद् (हारवर्ड), दो भाग; अरविंद : हिम्स टु दि मिस्टिक फायर (पॉण्डीचेरी); बलदेव उपाध्याय : वैदिक साहित्य और संस्कृति (काशी); मराठी ज्ञानकोश (दूसरा खण्ड, पूना)। [ब० उ०]

अग्निपरीक्षा भारत तथा भारतेतर देशों में अग्नि द्वारा स्त्रियों के सतीत्व का तथा अपराधियों के निर्दोष होने का परीक्षण अत्यंत प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। इसे ही 'अग्निपरीक्षा' कहा जाता है। परीक्षा का मूल हेतु यह है कि अग्नि जैसे तेजस्वी पदार्थ के संपर्क में आने पर जो वस्तु या व्यक्ति किसी प्रकार का विकार नहीं प्राप्त करता, वह वस्तुतः विशुद्ध, दोषरहित तथा पवित्र होता है। भारतवर्ष में भगवती सीता की अग्निपरीक्षा इस विषय का नितांत प्रख्यात दृष्टांत है। स्त्रियों के सतीत्व की अग्निपरीक्षा का प्रकार यह है कि संदिग्ध चरित्रवाली स्त्री को हलका लोहे का फार आग में खूब गरमकर जीभ से चाटने के लिये दिया जाता था। यदि उसका मुहँ जल जाता, तो वह असती, दुष्टा तथा हीनचरित्र मानी जाती थी। यदि उसका मुहँ नहीं जलता, तो वह सती समझी जाती थी। प्राचीन भारत के समान यूरोप में भी चोरों के दोषादोष की परीक्षा आग के द्वारा की जाती थी। अंग्रेजी में इसे 'आरडियल' कहते हैं तथा संस्कृत में 'दिव्य'।

स्मृतियों में दिव्यों के अनेक प्रकार निर्दिष्ट किए गए है जिनमें अग्निपरीक्षा अन्यतम प्रकार है। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है--पश्चिम से पूरब की ओर गाय के गोबर से नौ मंडल बनाना चाहिए जो अग्नि, वरुण, वायु, यम, इंद्र, कुबेर, सोम, सविता तथा विश्वेदेव के निमित्त होते हैं। प्रत्येक चक्र १६ अंगुल के अर्धव्यास का होना चाहिए और दो चक्रों का अंतर १६ अंगुल होना चाहिए। प्रत्येक चक्र को कुश से ढकना चाहिए जिसपर शोध्य व्यक्ति अपना पैर रखे। तब एक लोहार ५० पल वजनवाले तथा आठ अंगुल लंबे लोहे के पिंड को आग में खूब गरम करे। परीक्षक न्यायाधीश शोध्य व्यक्ति के हाथ पर पीपल के सात पत्ते रखे और उनके ऊपर अक्षत तथा दही डोरों से बाँध दे। तदनंतर उसके दोनों हाथों पर तप्त लौह पिंड सँडसी से रखे जायँ और प्रथम मंडल से लेकर अष्टम मंडल तक धीरे धीरे चलने के बाद वह उन्हें नवम मंडल के ऊपर फेंक दे। यदि उसके हाथों पर किसी प्रकार की न तो जलन हो और न फफोला उठे, तो वह निर्दोष घोषित किया जाता था। अग्निपरीक्षा की यही प्रक्रिया सामान्य रूप से स्मृति ग्रंथों में दी गई है। [ब० उ०]

अग्निपुराण पुराण साहित्य में अपनी व्यापक दृष्टि तथा विशाल ज्ञानभांडार के कारण विशिष्ट स्थान रखता है। साधारण रीति से पुराण को 'पंचलक्षण' कहते हैं, क्योंकि इसमें सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (संहार), वंश, मन्वंतर तथा वंशानुचरित का वर्णन अवश्यमेव रहता है, चाहे परिमाण में थोड़ा न्यून ही क्यों न हो। परंतु अग्निपुराण इसका अपवाद है। प्राचीन भारत की परा और अपरा विद्याओं का तथा नाना भौतिक शास्त्रों का इतना व्यवस्थित वर्णन यहाँ किया गया है कि इसे वर्तमान दृष्टि से हम एक विशाल विश्वकोश कह सकते हैं। आनंदाश्रम से प्रकाशित अग्निपुराण में ३८३ अध्याय तथा ११,४५७ श्लोक हैं परंतु नारदपुराण के अनुसार इसमें १५ हजार श्लोकों तथा मत्स्यपुराण के अनुसार १६ हजार श्लोकों का संग्रह बतलाया गया है। बल्लाल सेन द्वारा 'दानसागर' में इस पुराण के दिए गए उद्धरण प्रकाशित प्रति में उपलब्ध नहीं हैं। इस कारण इसके कुछ अंशों के लुप्त और अप्राप्त होने की बात अनुमानतः सिद्ध मानी जा सकती है।

अग्निपुराण में वर्ण्य विषयों पर सामान्य दृष्टि भी डालने पर उनकी विशालता और विविधता पर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। आरंभ में दशावतार (अ० १--१६) तथा सृष्टि की उत्पत्ति (अ० १७-२०) के अनंतर मंत्रशास्त्र तथा वास्तुशास्त्र का सूक्ष्म विवेचन है (अ० २१-१०६) जिसमें मंदिर के निर्माण से लेकर देवता की प्रतिष्ठा तथा उपासना का पुंखानुपुंख विवेचन है। भूगोल (अ० १०७-१२०) ज्योतिःशास्त्र तथा वैद्यक (अ० १२१-१४९) के विवरण के बाद राजनीति का विस्तृत वर्णन किया गया है जिसमें अभिषेक, साहाय्य, संपत्ति, सेवक, दुर्ग, राजधर्म आदि आवश्यक विषय निर्णीत हैं (अ० २१९-२४५)। धनुर्वेद का विवरण बड़ा ही ज्ञानवर्धक है जिसमें प्राचीन अस्त्रशस्त्रों तथा सैनिक शिक्षापद्धति का विवेचन विशेष उपादेय तथा प्रामाणिक है (अ० २४९-२५८)। अंतिम भाग में आयुर्वेद का विशिष्ट वर्णन अनेक अध्यायों में मिलता है (अ० २७९-३०५)। छंदःशास्त्र, अलंकारशास्त्र, व्याकरण तथा कोश विषयक विवरणों के लिये अनेक अध्याय लिखे गए हैं। [ब० उ०]

अग्निमित्र शुंग वंश का दूसरा प्रतापी सम्राट् जो सेनापति पुष्यमित्र का पुत्र था और उसके पश्चात् १५५ ई० पू० में राजसिंहासन पर बैठा। पुष्यमित्र के राजत्वकाल में ही यह विदिशा का गोप्ता बनाया गया था और वहाँ के शासन का सारा कार्य यही देखता था।

अग्निमित्र के विषय में जो कुछ ऐतिहासिक तथ्य सामने आए हैं उनका आधार पुराण तथा कालिदास की सुप्रसिद्ध रचना मालविकाग्निमित्र और उत्तरी पंचाल (रुहेलखंड) तथा उत्तरकोशल आदि से प्राप्त मुद्राएँ हैं।

मालविकाग्निमित्र से पता चलता है कि विदर्भ की राजकुमारी मालविका से अग्निमित्र ने विवाह किया था। यह उसकी तीसरी पत्नी थी। उसकी पहली दो पत्नियाँ धारिणी और इरावती थीं। इस नाटक से यवन शासकों के साथ एक युद्ध का भी पता चलता है जिसका नायकत्व अग्निमित्र के पुत्र वसुमित्र ने किया था।

पुराणों में अग्निमित्र का राज्यकाल आठ वर्ष दिया हुआ है। यह सम्राट् साहित्यप्रेमी एवं कलाविलासी था। कुछ विद्वानों ने कालिदास को अग्निमित्र का समकालीन माना है, यद्यपि यह मत ग्राह्य नहीं है। अग्निमित्र ने विदिशा को अपनी राजधानी बनाया था और इसमें संदेह नहीं कि उसने अपने समय में अधिक से अधिक ललित कलाओं को प्रश्रय दिया।

जिन मुद्राओं में अग्निमित्र का उल्लेख हुआ है वे प्रारंभ में केवल उत्तरी पंचाल में पाई गई थीं जिससे रैप्सन और कनिंघम आदि विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला था कि वे मुद्राएँ शुंगकालीन किसी सामंत नरेश की होंगी, परंतु उत्तर कोशल में भी काफी मात्रा में इन मुद्राओं की प्राप्ति ने यह सिद्ध कर दिया है कि ये मुद्राएँ वस्तुतः अग्निमित्र की ही हैं।

सं०ग्रं०—पार्जिटर: डायनस्टीज़ ऑव दि कलि एज; कनिंघम: एंशेंट इंडियन क्वाइंस; रैप्सन: क्वाइंस ऑव एंशेंट इंडिया; कालिदास: मालविकाग्निमित्रम्; तथा पुराण साहित्य। [चं० म०]

अग्निष्टोम यजुष् और अथर्वन् की यज्ञपद्धति में 'अग्निष्टोम' का 'अग्न्याधान', 'वाजपेय' आदि की तरह ही महत्व है। इसे 'ज्योतिष्टोम' भी कहते हैं। यह पाँच दिनों तक मनाया जाता है। प्रायः राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञों के कर्ता इस यज्ञ का प्रतिपादन आवश्यक समझते थे। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त प्राचीन अभिलेखों (आंध्र) में भी हमें इस यज्ञ का उल्लेख मिलता है। [च० म०]

अग्निसह ईंट (फ़ायर ब्रिक अथवा रिफ़ैक्टरी ब्रिक) ऐसी ईंट को कहते हैं जो तेज आँच में भी नहीं पिघलती, चटकती या विकृत होती। ऐसी ईंटें अग्निसह मिट्टियों से बनाई जाती हैं (देखें **अग्निसह मिट्टी**)। अग्निसह ईंट उसी प्रकार साँचे में डालकर बनाई जाती है जैसे साधारण ईंट। अग्निसह मिट्टी खोदकर बेलनों (रोलरों) द्वारा खूब बारीक पीस ली जाती है, फिर पानी में सानकर साँचे द्वारा उचित रूप में लाकर, सुखाने के बाद, भट्ठी में पका ली जाती है। अग्निसह ईंट चिमनी, अँगीठी, भट्ठी इत्यादि के निर्माण में काम आती है।

अच्छी अग्निसह ईंट करीब २,५०० से ३,००० डिगरी सेंटीग्रेड तक की गर्मी सह सकती है, अतः कारखानों में बड़ी बड़ी भट्ठियों की भीतरी सतह को गर्मी के कारण गलने से बचाने के लिये भट्ठी के भीतर इसकी चुनाई कर दी जाती है। उदाहरण के लिये लोहा बनाने के ब्लास्ट फर्नेस की भीतरी सतह इत्यादि पर इसका प्रयोग किया जाता है।

मामूली ईंट तथा पलस्तर अधिक गरमी अथवा ताप से चिटक जाते हैं, अतः अँगीठियों इत्यादि की रचना में भी, जहाँ आग जलाई जाती है, अग्निसह ईंट अथवा अग्निसह मिट्टी के लेप (पलस्तर) का प्रयोग किया जाता है। [का० प्र०]

अग्निसह भवन ऐसे भवन को कहते हैं जिसके भीतर रखे या आसपास बाहर रखे सामान में आग लगने पर भवन स्वयं जलने नहीं पाता। सौभाग्य की बात है कि भारतवर्ष में अधिकांश घरों की दीवारें अग्निसह होती हैं; कहीं कहीं केवल छत, जब तक विशेष प्रबंध न किया जाय, अग्निसह नहीं होती; परंतु यूरोप आदि ठंढे देशों में, ठंढ से बचने के लिये, फर्श, छत और दीवारें भी बहुधा लकड़ी की बनती हैं या उनपर लकड़ी की तह चढ़ी रहती है। इसलिय वहाँ आग से बहुधा भारी क्षति हो जाती है। जिन भवनों को वे लोग पहले अदह्य (फ़ायरप्रूफ़) कहते थे, उनमें भी आग लग जाने पर गहरी हानि हुई। उदाहरणतः सन् १९४२ में अमरीका के एक नाइटक्लब (मदिरा-पान-गृह) में आग लग जाने पर ४९१ व्यक्तियों की मृत्यु हो गई, यद्यपि भवन अदह्य श्रेणी में गिना जाता था। इसलिये अब अदह्य के बदले अग्निसह (फ़ायर रेज़िस्टैंट) शब्द का अधिक प्रयोग होता है।

किसी भवन को अग्निसह बनाने के लिये उसके निर्माण में ऐसी वस्तुओं का ही प्रयोग करना चाहिए जो अग्निसह हों। वैसे तो संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसपर ताप का घातक प्रभाव न पड़ता हो, तो भी साधारणतः ऐसी वस्तुओं को जो अग्नि अथवा ताप के प्रभाव से सुगमता तथा शीघ्रता से नष्ट नहीं होतीं, हम अग्निसह कहते हैं। देखा गया है कि मकान में आग लगने पर आग का ताप ७०० डिग्री सेंटीग्रेड से ९०० डिग्री सें० तक रहता है। अतः भवननिर्माण में यदि ऐसी वस्तुएँ प्रयोग में लाई जायँ जिनपर इस ताप का घातक प्रभाव न पड़े, तो भवन को हम अग्निसह कह सकते हैं। इस प्रकार ईंट, कंक्रीट तथा पकाई अथवा कच्ची मिट्टी इत्यादि अग्निसह पदार्थों की सूची में आती है।

जलते भवनों में लोहा पिघलता तो नहीं पर फैलता और नरम हो जाता है। अत्यधिक विस्तार (एक्सपैंशन) अथवा नरमी के कारण वह झुक जाता है। इसलिये वह अग्निसह पदार्थों की सूची में नहीं रखा जा सकता, परंतु यदि वह कंक्रीट के भीतर दबा हो, जैसा रिइन्फोर्स्ड कंक्रीट में होता है, तब वह पर्याप्त अग्निसह हो जाता है। अतः अग्निसह भवन के निर्माण के लिये मिट्टी, ईंट तथा कुछ मात्रा में कंक्रीट और रिइन्फोर्स्ड कंक्रीट उपयुक्त हैं।

लकड़ी लगभग २५० सेंटीग्रेड के ताप पर सुगमता से आग पकड़ लेती है। अतः अग्निसह भवन के लिये लकड़ी उपयुक्त नहीं है। कुछ विशेष रासायनिक द्रवों के लेप से लकड़ी भी एक सीमा तक अग्निसह बनाई जा सकती है। इसकी कुछ विधियाँ इस प्रकार हैं:

(१) १०० किलोग्राम अमोनियम फ़ास्फ़ेट, १० किलोग्राम बोरिक ऐसिड और १,००० लिटर पानी के घोल में लकड़ी डुबोने से वह बहुत कुछ अग्निसह हो जाती है।

(२) द्रव सोडियम सिलिकेट (लीक्विड सोडियम सिलिकेट) १,००० भाग, सफेदा (ह्वाइट) ५०० भाग, मरेस १,००० भाग को मिलाने से जो लेप तैयार होता है उसे लकड़ी पर लगाने से वह बहुत कुछ अग्निसह हो जाती है।

(३) क—ऐल्यूमिनियम सल्फ़ेट २० भाग, पानी १,००० भाग;
ख—सोडियम सिलिकेट ५० भाग, पानी १,००० भाग। इन दोनों घोलों को मिलाएँ तथा लकड़ी पर लगाएँ।

(४) सोडियम सल्फेट ३५० भाग, बारीक ऐस्बेस्टस ३५० भाग, पानी १,००० भाग। इन सबको मिलाकर लकड़ी पर कई बार लेप करना चाहिए।

(५) लकड़ी पर चूने की सफेदी कई बार करने से भी वह एक सीमा तक अग्निसह हो जाती है।

लकड़ी की दीवारों पर निम्नलिखित अग्निसह घोल भी लगाया जा सकता है:

खड़िया ९० भाग, सफेद डेक्स्ट्रीन ११ भाग, प्लास्टर ऑव पेरिस ११ भाग, फिटकिरी ४ भाग, खानेवाला सोडा २ भाग। सबको बारीक पीसकर अच्छी तरह मिलाना चाहिए। फिर इसके चार भाग को ३ भाग खौलते पानी में मिलाने पर लेप तैयार होगा जिसको दीवार पर पोतना चाहिए।

यह लेप पानी तथा आग दोनों के प्रभाव को कम करता है।

इसी प्रकार छतों पर पोतने (पेंट करने) के लिये निम्नलिखित अग्निसह योग उपयोगी है:

महीन बालू १ भाग, छानी हुई लकड़ी की राख २ भाग तथा चूना ३ भाग। सबको तेल में फेंटकर बुरुश से पेंट करें। यह योग सस्ता है और लकड़ी की छतों को पर्याप्त सीमा तक अग्निसह बना देता है।

भवनों में जहाँ आग जलाई जानेवाली हो, जैसे अँगीठी, चूल्हे या भट्ठी-वाले स्थानों में, वहाँ अग्निसह मिट्टी या अग्निसह ईंट ही लगानी चाहिए। इसी प्रकार छत और फर्श में मिट्टी या पकी मिट्टी की टाइलों का प्रयोग उपयोगी होता है। फूस, लकड़ी, कपड़ा, कैनवस तथा अन्यान्य ऐसी वस्तुओं का प्रयोग नहीं करना चाहिए जो सुगमता से आग पकड़ लेती हैं। लोहे के गर्डर के बदले रिइन्फोर्स्ड कंक्रीट, अथवा उससे भी अच्छा रिइन्फोर्स्ड ब्रिकवर्क, ईंट या ईंट की डाट का प्रयोग करना चाहिए। पत्थर काफी मात्रा तक अग्निसह है, पर उतना नहीं जितनी ईंटें। अधिक गरम होने के बाद शीघ्रता से ठंढा किये जाने पर पत्थर चिटक जाता है।

ऐस्बेस्टस बहुत ही अच्छी अग्निसह वस्तु है और अग्निसह भवन के निर्माण में इसका प्रयोग प्रचुरता से करना चाहिए। ऐस्बेस्टस सीमेंट की पनालीदार चादरें छत डालने के लिये उपयुक्त होती हैं। इसी प्रकार कुछ कंपनियाँ ऐसबेस्टस पेंट बनाती हैं जिसका प्रयोग लाभदायक है।

एक से अधिक मंजिल के अग्निसह भवन में कम से कम दो सीढ़ियाँ एक दूसरी से पर्याप्त दूरी पर बनानी चाहिए। तब आग लगने पर, यदि मकान का एक हिस्सा आग की लपेट में आ जायगा तो दूसरे सिरे पर आग पहुँचने के पहले उधर की सीढ़ी से ऊपर का मंजिल खाली कराया जा सकेगा।

अग्निसह भवन बनाते समय समस्त खिड़की दरवाजों की स्थितियों पर भी ध्यान देना चाहिए; ऐसा न हो कि अग्नि की लपटें उनमें से निकलकर पास की या कोठे की कोठरियों में आग लगा दें। विशेषकर इसका ध्यान रखना चाहिए कि वे सीढ़ी की ओर न खुलें, नहीं तो भागने का रास्ता ही बंद हो जा सकता है। गोदामों में एक बड़ा कमरा (हॉल) रखने के बदले उन्हें अग्निसह दीवारों और दरवाजों से कई टुकड़ों में बाँट देना अच्छा है। पर्दों का प्रयोग बुरा है, क्योंकि इनमें आग शीघ्र फैलती है। प्लाइवुड भी बहुत शीघ्र जलता है।

अस्पतालों, सिनेमाघरों और कारखानों आदि में, जहाँ बहुत से व्यक्ति एक साथ रहते या काम करते है, आग लगने पर लोगों के भाग निकलने का विशेष प्रबंध रहना चाहिए। बाहर जानेवाले दरवाजों को बाहर की ओर खुलना चाहिए, नहीं तो लोग घबराहट में उनपर ऐसी भीड़ लगा देते है कि वे खुल ही नहीं सकते। भागने के मार्ग (गलियारों) को सदा साफ रखना चाहिए। कम से कम दो ओर दरवाजे रहें, जिसमें एक ओर आग लगने पर दूसरी ओर निकल भागने का मार्ग रहे। बड़े भवनों में दरवाजे इतने चौड़े हों (कम से कम साढ़े तीन फुट) कि दो या तीन व्यक्ति एक साथ निकल सकें। जब लोग भवन के भीतर रहें तो बाहर निकलने के दरवाजों में ताला न बंद रहे।

बिजली के तारों में खराबी आ जाने से भी बहुधा मकान में आग लग जाती है। इसके लिये यह आवश्यक है कि फ्यूज का तार आवश्यकता से अधिक मोटा न हो। यदि दीवार के भीतर छिपाकर बिजली के तार लगाए जायँ तो आग लगने की आशंका कम रहेगी। [का० प्र०]

अग्निसह मिट्टी एक विशेष प्रकार की मिट्टी को, जो बिना पिघले अथवा कोमल हुए अत्यधिक ताप सहन कर सकती है, अग्निसह मिट्टी कहते है।

भिन्न भिन्न स्थानों में पाई जानेवाली अग्निसह मिट्टी की रचना एक दूसरी से थोड़ी बहुत भिन्न होती है, पर मुख्यतः इनकी रासायनिक रचना इस प्रकार की होती है :

सिलिका	५९ से ९६ प्रति शत
ऐल्युमिना	२ से ३६ प्रति शत
लौह आक्साइड	२ से ५ प्रति शत

इनके अतिरिक्त सूक्ष्म मात्रा में चूना, मैगनीशिया, पोटाश तथा सोडा भी पाया जाता है। ऐल्युमिनियम आक्साइड (ऐल्युमिना) और बालू (सिलिका) अनुपात में जितनी अधिक मात्रा में रहेंगे उतनी ही मिश्रण में अग्नि सहने की शक्ति अधिक होगी।

यदि लोहे के आक्साइड अथवा चूना, मैगनीशिया, पोटाश या अन्य क्षारीय पदार्थ की मात्रा अधिक होगी तो ये गरमी पाने पर मिट्टी के पिघलने में सहायता करेंगे, अतः जब ये वस्तुएँ मिट्टी में अधिक मात्रा में रहती है तो मिट्टी अग्निसह नहीं होती। परंतु जब ये वस्तुएँ एक सीमा से कम मात्रा में रहती है तो वे मिट्टी के कणों को आपस में बाँध नहीं पातीं। इसलिये मिट्टी कमजोर हो जाती है।

इसी प्रकार मिट्टी के कणों की मापें भी उसके अग्नि सहने के गुण पर प्रभाव डालती हैं। एक सीमा तक मोटे कणोंवाली मिट्टी अधिक अग्निसह होती है।

अच्छी अग्निसह मिट्टी महीन तथा चिकनी होती है और उसका रंग सफेद होता है। यह कोयले की खानों के पास पाई जाती है।

उपयोग—अग्निसह मिट्टी अँगीठी, भट्ठी तथा चिमनी इत्यादि के भीतर, जहाँ आग की गरमी अत्यधिक होने से साधारण मिट्टी की ईंटें अथवा पलस्तर के चटक जाने की आशंका रहती है, ईंट अथवा लेप के रूप में काम में लाई जाती है। [का० प्र०]

अग्निहोत्र वैदिक काल में अग्निहोत्र का बड़ा महत्व था। प्रातःकालीन, और सायंकालीन संध्याओं के उपरांत अग्निहोत्र करके पूजा से उठने का विधान है। वैदिक समय में यज्ञ के लिये जंगल से समिधा लाकर शुल्वसूत्र (ज्यामिति) के अनुसार यज्ञ की वेदी का निर्माण कर अग्निहोत्र करने की प्रथा थी जो अद्यावधि चली आ रही है। [चं० म०]

अग्न्याशय (पैनक्रिऐस) शरीर की एक बड़े आकार की ग्रंथि है जो उदर में आमाशय के निम्न भाग के पीछे की ओर रहती है। इस कारण स्वाभाविक अवस्था में यह आमाशय और वपा (ओमेंटम) से ढकी रहती है। इसका दाहिना बड़ा भाग, जो सिर कहलाता है, पक्वाशय की मोड़ के भीतर रहता है। इस ग्रंथि का दूसरा लंबा भाग, जो गात्र कहलाता है, सिर से आरंभ होकर पृष्ठवंश (रीढ़) के सामने से होता हुआ दाहिनी ओर से बाईं ओर चला जाता है। वहाँ वह पतला हो जाता है और पुच्छ कहलाता है। बाईं ओर यह प्लीहा तक पहुँच जाता है और उससे लगा रहता है।

इस ग्रंथि का रंग धूसर या मटमैला होता है। उसपर शहतूत के दानों के समान दाने से उठे रहते हैं। इस ग्रंथि में रक्तसंचार अधिक होता है। प्लीहा की धमनी की बहुत सी शाखाएँ इसमें रस पहुँचाती हैं। यदि इसका व्यवच्छेदन किया जाय तो इससे एक मोटी श्वेत रंग की नलिका पुच्छ से आरंभ होकर सिर के दाहिने किनारे तक जाती दिखाई देगी। ग्रंथि के भिन्न भिन्न भागों से अनेक सूक्ष्म नलिकाएँ आकर इस बड़ी
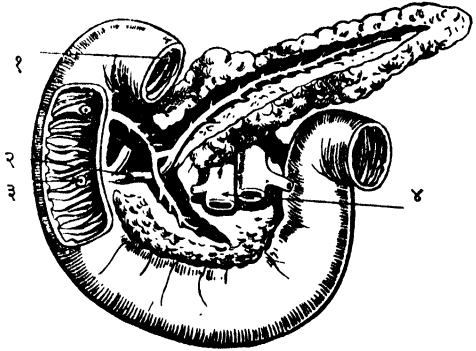
अग्न्याशय

१. पित्ताशय धमनी; २. अग्न्याशय नलिका; ३. पक्वाशय के भीतर नलिकाओं के मुख; ४. आंत्र की धमनी और शिरा।

नलिका में मिल जाती हैं और वहाँ उत्पन्न अग्न्याशयिक रस को नलिका में पहुँचाती हैं। यह नलिका सारी ग्रंथि में होती हुई दाहिने किनारे पर पहुँचती है। फिर यह वहाँ की नलिका से मिल जाती है, जिससे संयुक्त पित्तनलिका बनती है। यह नलिका पक्वाशय की भित्ति को भेदकर उसके भीतर एक छिद्र द्वारा खुलती है। इस छिद्र से होता हुआ, समस्त ग्रंथि में बना हुआ, अग्न्याशयिक रस पक्वाशय में पहुँचता है; वहाँ यह रस आमाशय से आए हुए आहार के साथ मिल जाता है और उसके अवयवों पर प्रबल पाचक क्रिया करता है।

इस ग्रंथि में दो भाग होते हैं। एक भाग पाचक रस बनाता है जो नलिका में होकर पक्वाशय में पहुँच जाता है। दूसरे सूक्ष्म भाग की कोशिकाओं के द्वीप प्रथम भाग की कोशिकाओं के ही बीच में स्थित रहते हैं। ये द्वीप एक वस्तु उत्पन्न करते हैं जिसको इन्स्यूलीन कहते हैं। यह एक रासायनिक पदार्थ अथवा हारमोन है जो सीधा रक्त में चला जाता है, किसी नलिका

द्वारा बाहर नहीं निकलता। यह हारमोन कार्बोहाइड्रेट के चयापचय का नियंत्रण करता है। इसकी उत्पत्ति बंद हो जाने या कम हो जाने से मधुमेह (डायाबिटीज़, वस्तुतः डायाबिटीज़ मेलिटस) उत्पन्न हो जाता है। इन द्वीपों को लैंगरहैंस ने १८७० के लगभग खोज निकाला था। इस कारण ये लैंगरहैंस के द्वीप कहलाते हैं। पशुओं के अग्न्याशय से सन् १९२१ में प्रथम बार बैंटिंग तथा बेस्ट ने इन्स्युलीन तैयार की थी, जो मधुमेह की विशिष्ट ओषधि है और जिससे असंख्य व्यक्तियों की प्राणरक्षा होती है। [मु० स्व० व०]

अग्न्याशय के रोग

अन्य अंगों की भाँति अग्न्याशय में भी दो प्रकार के रोग होते हैं। एक जीवाणुओं के प्रवेश या संक्रमण से उत्पन्न होनेवाले और दूसरे स्वयं ग्रंथि में बाह्य कारणों के बिना ही उत्पन्न होनेवाले। प्रथम प्रकार के रोगों में कई प्रकार की अग्न्याशयार्तियाँ होती हैं। दूसरे प्रकार के रोगों में अश्मरी, पुटी (सिस्ट), अर्बुद और नाड़ीव्रण या फिस्चुला है।

अग्न्याशयार्ति (पैनक्रिएटाइटिस) दो प्रकार की होती है, एक उग्र और दूसरी जीर्ण। उग्र अग्न्याशयार्ति प्रायः पित्ताशय के रोगों या आमाशय के व्रण से उत्पन्न होती है; इसमें सारी ग्रंथि या उसके कुछ भागों में गलन होने लगती है। यह रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है और इसका आरंभ साधारणतः २० और ४० वर्ष के बीच की आयु में होता है। अकस्मात् उदर के ऊपरी भाग में उग्र पीड़ा, अवसाद (उत्साहहीनता) के से लक्षण, नाड़ी का क्षीण हो जाना, ताप अत्यधिक वा अति न्यून, ये प्रारंभिक लक्षण होते हैं। उदर फूल आता है, उदरभित्ति स्थिर हो जाती है, रोगी की दशा विषम हो जाती है। जीर्णरोग के लक्षण उपर्युक्त के ही समान होते हैं किंतु वे तीव्र नहीं होते। अपच के से आक्रमण होते रहते हैं। इसके उपचार में बहुधा शस्त्रकर्म आवश्यक होता है। जीर्ण रूप में औषधोपचार से लाभ हो सकता है। अश्मरी, पुटी, अर्बुद और नाड़ीव्रणों में केवल शस्त्रकर्म ही चिकित्सा का साधन है। अर्बुदों में कैंसर अधिक होता है। [मु० स्व० व०]

अग्रवाल

यह वैश्य वर्ग के अंतर्गत एक वृहत् समुदाय या जातिविशेष की संज्ञा है। लोक में इस शब्द का उच्चारण अगरवाल भी किया जाता है। अग्रवाल जाति का घना संनिवेश दक्षिणपूर्वी पंजाब, उत्तरी राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के भौगोलिक क्षेत्रों में पाया जाता है। व्यापार वाणिज्य या अन्य कारणों से देश के दूसरे भागों में भी इस जाति का प्रसार हुआ है, किंतु प्रसार के इतिहासगत सूत्रों को पीछे की ओर टटोलने से इस बात के स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि पंजाब, राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश से ही इस जाति के विशिष्ट परिवार पिछले एक सहस्र वर्षों में अन्यत्र फैलते गए हैं।

अग्रवालों की जातीय अनुश्रुति भी ऊपर के तथ्य की ओर संकेत करती है। इनके चारण विवाह के अवसर पर जो शाखोच्चार करते हैं एवं उनके पास जो जातीय परंपरा के अनुश्रुतिगत तथ्य सुरक्षित हैं उनसे विदित होता है कि अग्रवाल जाति के मूल पुरुष राजा अग्रसेन थे। उन अग्रसेन के १८ पुत्र थे। उनसे १८ गोत्रों का आरंभ हुआ। अग्रसेन की राजधानी अगरोहा नगरी थी। इस अनुश्रुति के मूल में ऐतिहासिक तथ्य आंशिक रूप से ही खोजा जा सका है और पुरातत्व के अर्वाचीन उत्खनन से इस इतिहास को समर्थन प्राप्त हुआ है। इस इतिहास का निर्विवाद अंश यह है कि अग्रवाल जाति का मूलस्थान अग्रोदक नगर में था जिसे इस समय अगरोहा कहा जाता है। दक्षिण पूर्वी पंजाब के हिसार जिले में फतेहाबाद से सिरसा (शैरीषक) को जानेवाली सड़क पर अगरोहा की बस्ती है जिसके पास ही दूर तक पुराने टीले फैले हुए हैं। भारतीय पुरातत्व विभाग ने वहाँ खुदाई कराई थी। उसमें कुछ पुराने ताँबे के सिक्के मिले थे। उनपर यह लेख पढ़ा गया है—'अगोदके अगाच जनपदस'—अर्थात् अगोदक स्थान में अगाच जनपद की मुद्राएँ। अगोदक स्पष्ट ही संस्कृत अग्रोदक का प्राकृत रूप है। जैसे पंजाब के ही दूसरे स्थान पृथूदक का लोकप्रचलित रूप पीहोवा हो गया वैसे ही अग्रोदक अब अगरोहा कहलाता है। अग्रोदक राजधानी थी और उसके चारों ओर एक जनपद राज्य था। सिक्के पर इस जनपद का नाम अगाच दिया हुआ है। इसका संस्कृत रूप अग्रत्य या अग्र होना चाहिए। अग्र जनपद और अग्रोदक में जो जन निवास करता था उसका राजनैतिक संगठन जनपद के युग में पनपनेवाले अन्य जनपदों के समान ही रहा होगा।

अग्रवाल जाति के मूल पुरुष अग्रसेन के संबंध में निश्चित ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध नहीं है। यह जनपद युग की संमत प्रथा थी कि प्रत्येक जाति अपने नाम के अनुरूप मूल पुरुष की कल्पना कर लेती थी। इन जातियों के राजनैतिक संगठन को श्रेणी कहते थे। श्रेणियाँ मूलतः शस्त्रोपजीवी जातियाँ थीं। अग्र जनपद की श्रेणी भी इसी प्रकार के राजनैतिक संविधान को माननेवाली थी। श्रेणी के संगठन की इकाई कुल था। प्रत्येक कुल में उसका वृद्ध पुरुष मूर्धाभिषिक्त होता था। अग्रश्रेणि के परमश्रेष्ठ कुलपुरुष अग्रसेन के रूप में प्रसिद्ध हुए। शासन की दृष्टि से यह श्रेणी अपने जनपद में उसी प्रकार संघ आदर्श से प्रेरित थी जैसे पाणिनिकालीन अन्य संघराज्य थे। अग्र जनपद के अंकलक्षण और मुद्रा उसके निजी प्रभुत्व की द्योतक थी। अनुश्रुति राजा अग्रसेन को क्षत्रिय मानती है। इसकी संगति यह है कि मूलतः यह श्रेणी शस्त्रोपजीवी थी। कालक्रम से कितनी ही श्रेणियाँ या जातियाँ कृषि, वाणिज्य आदि वृत्तियों में लग गईं। इस कारण उन्हें वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ या श्रेणी कहा जाने लगा था। अर्थशास्त्र में इस प्रकार के संघों का उल्लेख आया है। यह अनुमान संगत जान पड़ता है कि अग्रवाल जाति ने अपने विकास के आरंभ में ही वार्ता अर्थात् कृषि, पशुपालन और वाणिज्य को प्रधान रूप से अपना लिया था। भारतीय इतिहास में अग्रवाल जाति का उल्लेख लगभग १३वीं शताब्दी से मिलने लगता है। इनमें उसे अग्रोतकान्वय अर्थात् अग्रोतकवंशी कहा गया है। अग्रोतक नाम भी प्राचीन अग्रोदक का सूचक है। अग्रोदक से बाहर फैलते हुए जो अग्रवाल राजस्थान की ओर गए वे मारवाड़ी कहलाए और जो मध्यदेश में आ बसे वे देश्य या देसी कहलाए।

सं०ग्रं०—सत्यकेतु विद्यालंकार : अग्रवाल जाति का इतिहास। [वा० श० अ०]

अग्रिकोला, ग्नायस यूलियस,

(३७–९३ ई०) रोमन जेनरल, इतिहासकार तासितस का श्वसुर। सिनेटर पिता की हत्या हो जाने पर मस्सीलिया में माता के संरक्षण में रहा। यहीं से सेना में नियुक्त हो ब्रिटेन गया। ६१ ई० में स्वदेश लौटकर एक संभ्रांत महिला से विवाह किया। इसके बाद के काल में इसने ६३ ई० से, ७० ई० तक, एशिया में क्वेस्तर, त्रिब्यून, पीतर, और ब्रिटेन में २०वीं सेना के सेनापति पद तक उन्नति की। सात वर्ष वह ब्रिटेन का शासक रहा। इसी बीच उसने अपने प्रदेश का रोमनीकरण भी किया जो संदेह की दृष्टि से देखा गया और वापस बुलाकर उसे प्रोकाउंसल का पद दिया गया, पर उसने उसे लेने से इनकार कर अवकाश ग्रहण कर लिया। ९३ ई० में उसकी मृत्यु संभवतः विषपान द्वारा हुई। [ओं० ना० उ०]

अग्रिकोला, जॉर्ज,

जर्मन वैज्ञानिक, का जन्म २४ मार्च, १४९० को सैक्सनी में ग्लाउखाउ स्थान में हुआ। आपकी उच्च शिक्षा लाइपत्सिग विश्वविद्यालय में हुई। १५१७ में आपने यहीं से बी० ए० की डिग्री प्राप्त की। तत्पश्चात् आप स्विकाउ में म्युनिसिपल स्कूल में कार्य करने लगे। १५२४ में आपने ओषधि विज्ञान का अध्ययन आरंभ किया और इटली के विश्वविद्यालय से डिग्री प्राप्त की। सन् १५२७ में आपकी नियुक्ति जोआचिमस्थल (बोहेमिया) में नगर डाक्टर के पद पर हो गई। १५३० में आप केम्नित्स चले आए।

प्रारंभ से ही आपकी रुचि खनिज विज्ञान के अध्ययन की ओर थी। केम्नित्स (जर्मनी) जैसे खनन केंद्र में पहुँचने पर आपको और भी प्रोत्साहन मिला। आपके ग्रंथों में 'दे रि मेतालिका' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह १२ भागों में है। इस ग्रंथ के अंतर्गत भौमिकी, खनन तथा धातवकी तीनों विषय आ जाते हैं। यह ग्रंथ मूलतः लातीनी में प्रकाशित हुआ था, पर इसका अनुवाद अंग्रेजी, जर्मन तथा इटालियन भाषाओं में भी हुआ।

आपकी दूसरी महत्वपूर्ण कृति है 'दे नातुरा फ़ासिलियम'। दस भागों में प्रकाशित इस ग्रंथ में खनिजों तथा उनके वर्गीकरण का वर्णन

है। १५४६ में आपका भौमिकी विषयक ग्रंथ 'दे ओर्तु एत कोसिस सबतेरानिओरम' प्रकाशित हुआ। भौतिक भौमिकी पर यह पहला वैज्ञानिक ग्रंथ है। इनके अतिरिक्त आपकी अन्य महत्वपूर्ण रचनाएँ निम्नलिखित हैं : 'बरमैनस' तथा 'दोमिनातोरेस साक्सोनिकी आ प्रिमा ओरिजिने अद हाउक ईतात्यूर'। केम्नित्स में ही आपकी मृत्यु २१ नवंबर, १५५५ को हुई। [म० ना० मे०]

अग्रिपा संदेहवादी ग्रीक दार्शनिक। इसका समय ठीक प्रकार से ज्ञात नही है, पर संभवतः यह इनेसिदेमस् के पश्चात् हुआ था। इसने निर्भ्रांत सुनिश्चित ज्ञान की संभाव्यता के विरुद्ध उसके विषय में संदेह करने के पाँच आधार या हेतु बतलाए है जो (१) वैमत्य, (२) अनंतविस्तार, (३) सापेक्षिकता, (४) उपकल्पना (हाइपॉथेसिस) और (५) परस्पराश्रित अनुमान हैं। अग्रिपा का उद्देश्य यह था कि उसके ये पाँच हेतु इनेसिदेमस् इत्यादि प्राचीन संदेहवादियों के दस हेतुओं का स्थान ग्रहण कर लें। [भो० ना० श०]

अग्रिपा, मार्कस विप्सानिअस (६३-१२ ई० पू०) यह प्रसिद्ध रोमन सम्राट् ओगुस्तस का परम मित्र और सेनापति था तथा उसका प्रिय सलाहकार भी। इन दोनों का उल्लेख मिस्र की रानी क्लियोपात्रा के संबध में हुआ है। उसमे ओगुस्तस की बेटी भी ब्याही थी, यद्यपि उसकी उम्र सम्राट् के बराबर ही थी और दोनो ने एक साथ ही यूनान मे अध्ययन किया था। अग्रिपा अंत तक अपने मित्र सम्राट् के साथ रहा था और निरंतर उसने उसके कार्य संपन्न किए। ३७ ई० पू० में वह रोम का कौसल हुआ। रोम की नौसेना का अध्यक्ष होने के नाते उसने उस महान् नगर के बंदरगाह का सुदर प्रबंध किया और नौसेना को नए ढंग से संगठित किया। रोम नगर की प्रधान इमारतों का जीर्णोद्धार कराया और नई इमारतें, नालियाँ, स्नानगृह, उद्यान आदि बनवाए। उसने ललित कलाओं को अपना संरक्षण दिया और जो यह कहा जाता है कि "ओगुस्तस ने पाया रोम नगर जो ईट का था, पर छोड़ा उसे संगमरमर का बनाकर" वस्तुतः सम्राट् के पक्ष मे उतना सही नही है जितना अग्रिपा के पक्ष में और उस दिशा में जो कुछ भी सम्राट् कर सका वह अग्रिपा की कार्यशीलता से। मार्क आतोनी के विरुद्ध आक्तियन की लड़ाई सम्राट् के लिये अग्रिपा ने ही जीती थी और परिणामस्वरूप अपनी भतीजी मारसेला का विवाह उसने अग्रिपा से कर दिया था। २३ ई० पू० में अग्रिपा पूर्व का गवर्नर बनाकर भेजा गया। वहाँ से लौटने पर सम्राट् ने अपनी मित्रता उसके साथ दृढ़ करने के लिये उससे पत्नी का तलाक दिलाकर उसे अपनी बेटी ब्याह दी। कुछ काल बाद उसे फिर पूर्व जाना पड़ा और वहाँ उसने अपनी न्यायप्रियता और सुशासन से लोगों का हृदय जीत लिया। पनोनिया का विद्रोह बिना रक्तपात के दबाकर उसने और भी लोकप्रियता अर्जित की। ५१ वर्ष की उम्र मे अग्रिपा की कंपानिया में मृत्यु हुई। वह लेखक भी था। उसने भूगोल पर काफी लिखा है। उसने अपनी आत्मकथा भी लिखी थी जो अब नही मिलती। [ओं० ना० उ०]

अग्रिपा, हेरोद प्रथम (१० ई० पू०-४४ ईस्वी) अरिस्तिबोलुस का पुत्र और हेरोद महान् का पौत्र; लं० १० ई० पू० मे पैदा हुआ। उसका वास्तविक नाम मार्कस यूलिअस अग्रिपा था। अपने शैशव और युवा काल में वह रोम के सम्राट् तिबेरिअस के दरबार में रहा। वहाँ उसके ऊपर काफी ऋण हो गया तो उसके चचा ने उसे 'ऐगोरानोमस' अर्थात् मंडियों का ओवरसियर बनवा दिया और उपहार मे उसे बहुत सा द्रव्य दिया। सन् ३७ ई० में रोम के सम्राट् केलीगुला ने प्रसन्न होकर उसे बतानी और कोनितिस का शासक बनाया। सन् ४१ ईस्वी में जब क्लादिअस रोम का सम्राट् बना तो अग्रिपा हेरोद जूदा का शासक बना दिया गया। यहूदी उसके शासन से बहुत संतुष्ट थे। उसने जुरूसलम की चहारदीवारियों को मजबूत बनाया और अपने सामंत शासकों को अनुशासन में रखा। सन् ४४ ई० में उसकी हत्या कर दी गई। उसकी हत्या के पश्चात् रोम के सम्राट् ने जूदा के राजपद को समाप्त कर दिया। [वि० ना० पां०]

अघोरपंथ अघोर मत या अघोरियों का संप्रदाय जिसके प्रवर्तक स्वयं अघोरनाथ शिव माने जाते हैं। रुद्र की मूर्ति को श्वेताश्वतरोपनिषद् (३-५) में 'अघोरा' वा मंगलमयी कहा गया है और उनका 'अघोर मंत्र' भी प्रसिद्ध है। विदेशों में, विशेषकर ईरान में, भी ऐसे पुराने मतों का पता चलता है तथा पश्चिम के कुछ विद्वानों ने उनकी चर्चा भी की है। हेनरी बालफोर की खोजों से विदित हुआ है कि इस पंथ के अनुयायी अपने मत को गुरु गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित मानते हैं, किंतु इसके प्रमुख प्रचारक मोतीनाथ हुए जिनके विषय में अभी तक अधिक पता नही चल सका है। इसकी तीन शाखाएँ (१) औघड़, (२) सरभंगी एवं (३) घुरे नामों से प्रसिद्ध है जिनमें से पहली में कल्लूसिंह वा कालूराम हुए जो बाबा किनाराम के गुरु थे। कुछ लोग इस पंथ को गुरु गोरखनाथ के भी पहले से प्रचलित बतलाते हैं और इसका संबंध शैव मत के पाशुपत अथवा कालामुख संप्रदाय के साथ जोड़ते हैं। बाबा किनाराम अघोरी वर्तमान बनारस जिले के समगढ़ गावँ में उत्पन्न हुए थे और बाल्यकाल से ही विरक्त भाव में रहते थे। इन्होने पहले बाबा शिवाराम वैष्णव से दीक्षा ली थी, किंतु वे फिर गिरनार के किसी महात्मा द्वारा भी प्रभावित हो गए। उस महात्मा को प्रायः गुरु दत्तात्रेय समझा जाता है जिनकी ओर इन्होंने स्वयं भी कुछ संकेत किए हैं। अंत में ये काशी के बाबा कालूराम के शिष्य हो गए और उनके अनंतर 'क्रमिकुंड' पर रहकर इस पंथ के प्रचार मे समय देने लगे। बाबा किनाराम ने 'विवेकसार', 'गीतावली', 'रामगीता' आदि की रचना की। इनमें से प्रथम को इन्होंने उज्जैन मे शिप्रा के किनारे बैठकर लिखा था। इनका देहांत सं० १८२६ में हुआ।

'विवेकसार' इस पंथ का एक प्रमुख ग्रंथ है जिसमें बाबा किनाराम ने 'आत्माराम' की वंदना और अपने आत्मानुभव की चर्चा की है। उसके अनुसार सत्य पुरुष वा निरंजन है जो सर्वत्र व्यापक और व्याप्य रूपों में वर्तमान है और जिसका अस्तित्व सहज रूप है। ग्रंथ में उन अंगों का भी वर्णन है जिनमें से प्रथम तीन में सृष्टिरहस्य, कायापरिचय, पिंडब्रह्मांड, अनाहतनाद एवं निरंजन का विवरण है; अगले तीन में योगसाधना, निरालंब की स्थिति, आत्मविचार, सहज समाधि आदि की चर्चा की गई है तथा शेष दो में संपूर्ण विश्व के ही आत्मस्वरूप होने और आत्मस्थिति के लिये दया, विवेक आदि के अनुसार चलने के विषय में कहा गया है। बाबा किनाराम ने इस पंथ के प्रचारार्थ रामगढ़, देवल, हरिहरपुर तथा क्रमिकुंड पर क्रमशः चार मठों की स्थापना की जिनमें से चौथा प्रधान केंद्र है। इस पंथ को साधारणतः 'औघड़पंथ' भी कहते हैं। इसके अनुयायियों में सभी जाति के लोग, मुसलमान तक, हैं। विलियम क्रुक ने अघोरपंथ के सर्वप्रथम प्रचलित होने का स्थान राजपुताने के आबू पर्वत को बतलाया है, किंतु इसके प्रचार का पता नेपाल, गुजरात एवं समरकंद जैसे दूर स्थानों तक भी चलता है और इसके अनुयायियों की संख्या भी कम नही है। जो लोग अपने को अघोरी वा औघड़ बतलाकर इस पंथ से अपना संबंध जोड़ते हैं उनमें अधिकतर शवसाधना करना, मुर्दे का मास खाना, उसकी खोपड़ी में मदिरा पान करना तथा घिनौनी वस्तुओं का व्यवहार करना भी दीख पड़ता है जो कदाचित् कापालिकों का प्रभाव हो। इनके मदिरादि सेवन का संबंध गुरु दत्तात्रेय के साथ भी जोड़ा जाता है जिनका मदकलश के साथ उत्पन्न होना भी कहा गया है। अघोरी कुछ बातों में उन कनफटे जोगी 'औघड़ों' से भी मिलते जुलते हैं जो नाथपंथ के प्रारंभिक साधकों में गिने जाते हैं और जिनका अघोर पंथ के साथ कोई भी संबंध नहीं है। इनमें निर्वाणी और गृहस्थ दोनों ही होते हैं और इनकी वेशभूषा में भी सादे अथवा रंगीन कपड़े होने का कोई कड़ा नियम नहीं है। अघोरियों के सिर पर जटा, गले में स्फटिक की माला तथा कमर में घाँघरा और हाथ में त्रिशूल रहता है जिससे दर्शकों को भय लगता है।

इसकी 'घुरे' नाम की शाखा के प्रचारक्षेत्र का पता नहीं चलता किंतु सरभंगी शाखा का अस्तित्व विशेषकर चंपारन जिले में दीखता है जहाँ पर भिनकराम, टेकमनराम, भीखनराम, सदानंद बाबा एवं बालखंडी बाबा जैसे अनेक आचार्य हो चुके हैं। इनमें से कई की रचनाएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं और उनसे इस शाखा की विचारधारा पर भी बहुत प्रकाश पड़ता है।
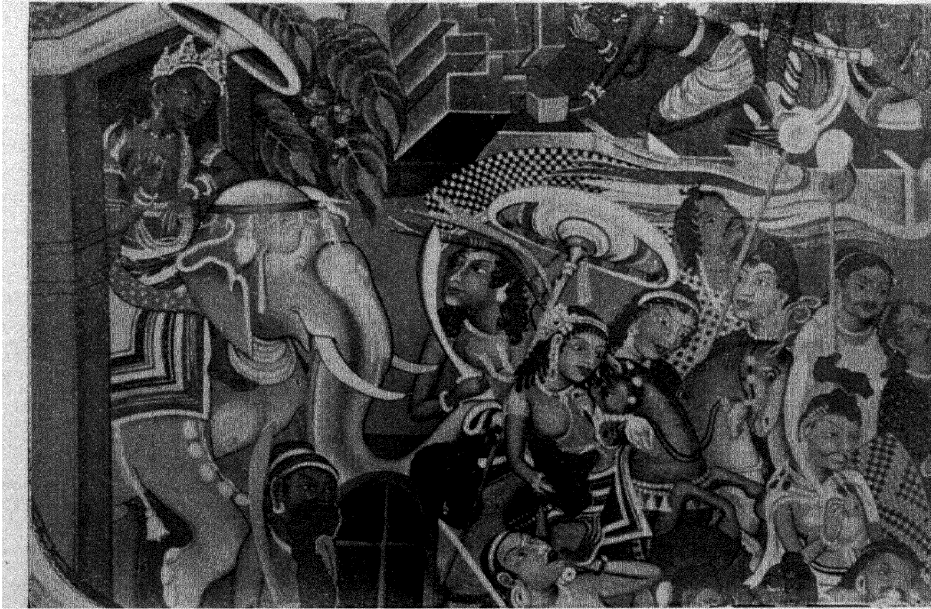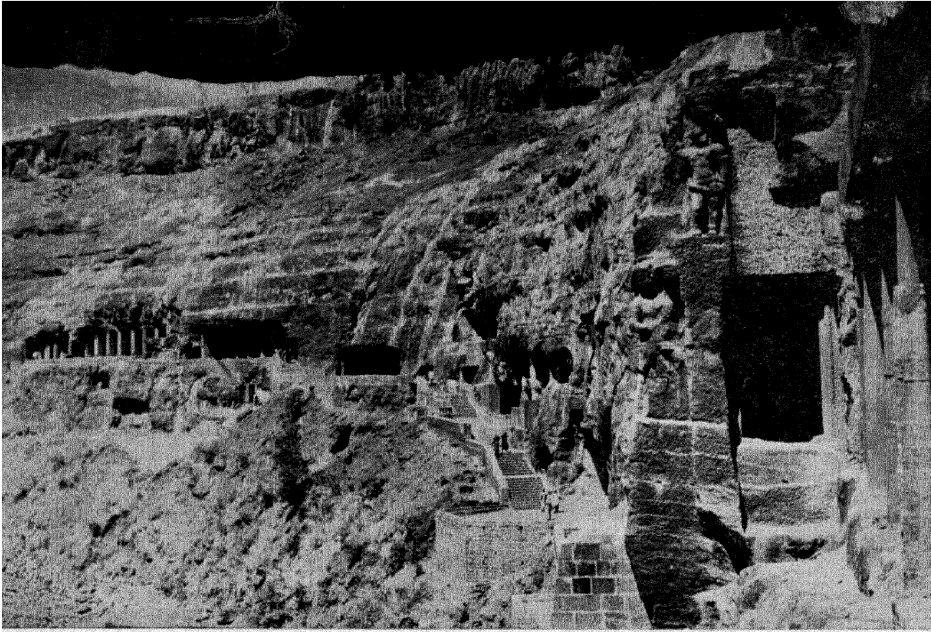
अजंता

ऊपर—अजंता की गुफाओं का विहगम दृश्य (भारत सरकार, पुरातत्व विभाग के सौजन्य से)।
नीचे—राजकीय जुलूस का भित्तिचित्र, देखें पृष्ठ ८३ (भारत सरकार के पब्लिकेशंस डिवीज़न के सौजन्य से)।
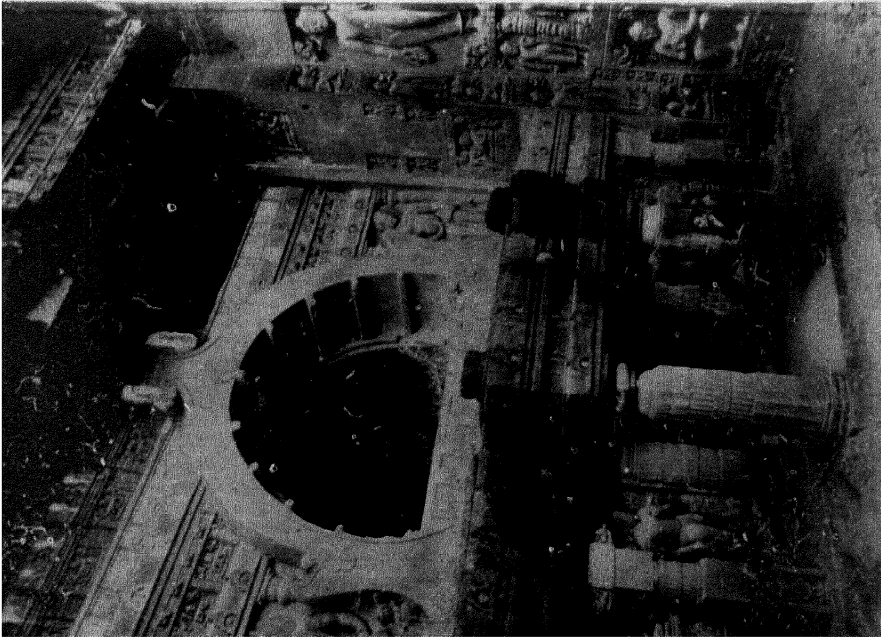
अजता

बाईं ओर : अजता, गुफा म० १९ का चैत्यद्वार , दाहिनी ओर प्रमाधन का भित्तिचित्र, देखे पृष्ठ ८३ (भारत सरकार के पब्लिकेशस डिवीज़न के सौजन्य से)।
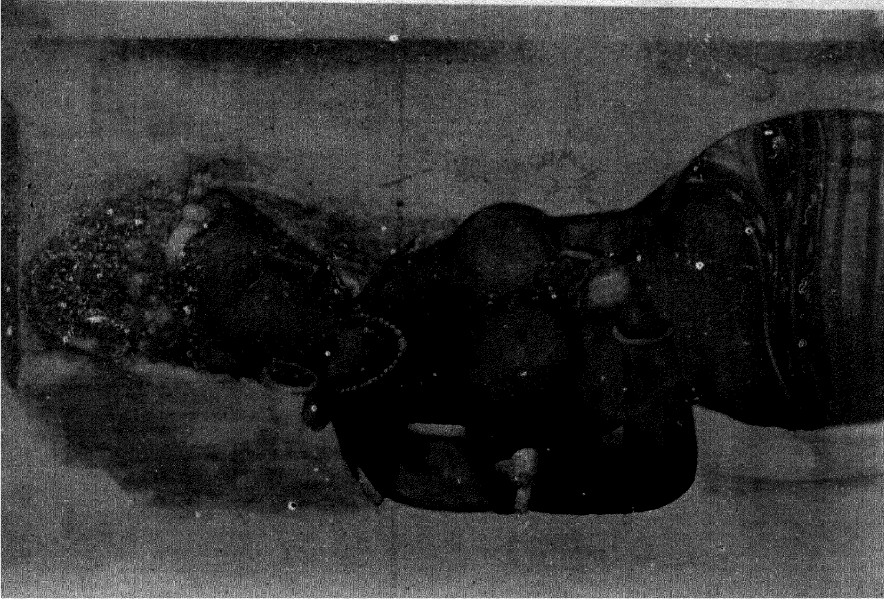
अजंता

बाईं ओर यशोधरा का भित्तिचित्र, दाहिनी ओर. पद्मपाणि अवलोकितेश्वर का भित्तिचित्र, देखें पृष्ठ ८३ (भारत सरकार के पब्लिकेशन्स डिवीज़न के सौजन्य से)।

अजंता

आकाशगामी विद्याधर-विद्याधरियों का रेखांकन, देखें पृष्ठ ८३ (भारत सरकार के पब्लिकेशंस डिवीजन के सौजन्य से)।

सं०ग्रं०—ब्रिग्स : गोरखनाथ ऐंड दि कनफटा योगीज (१९३८ ई०); रामदास गौड़ : 'हिंदुत्व' (सं० १९९५); परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संतपरंपरा (सं० २००८); डा० कल्याणी मल्लिक : संप्रदायेर इतिहास, दर्शन आर साधन प्रणाली (१९५० ई०)। [प० च०]

अचलपुर बंबई राज्य में अमरावती जिले की एक तहसील तथा प्रसिद्ध नगर है जो २१°१६' उ० अ० तथा ७७°३३' पू० दे० रेखाओं पर, समुद्रतट से लगभग १,२०० फुट की ऊँचाई पर और अमरावती से लगभग ३० मील उ० प० दिशा में स्थित है। बरनी के कथनानुसार १३वीं शताब्दी में यह दक्षिण के प्रसिद्ध नगरों में से एक था। १३१८ ई० तक यह हिंदू शासनाधिपत्य मे रहकर मुसलमानों के अधिकार में चला गया था। १८६९ ई० में यहाँ नगरपालिका बनी। पहले यह सूती तथा रेशमी उद्योग का प्रसिद्ध केंद्र था तथा यहाँ सूत एवं वनपदार्थों का प्रचुर मात्रा में व्यापार होता था। अब भी यहाँ का सूत का व्यापार बहुत प्रसिद्ध है। यह अमरावती तथा चिकालदा से अच्छे राजमार्गो द्वारा संबद्ध है। नगर का क्षेत्रफल तीन वर्ग मील तथा जनसंख्या ३५,७१२ (१९५१) है। [न० ला०]

अचेतन जो चेतन न हो। मनोविश्लेषण में अचेतन वह है जिसको दमन (रिप्रेशन) के द्वारा चेतना से हटा दिया जाता है तथा जिसमें दमन की हुई इच्छाएँ और कल्पनाएँ गतिशील रूप में वर्तमान रहती है। चेतना साधारण रीति से यहाँ तक नहीं पहुँच पाती, यद्यपि यह अज्ञात रूप से स्वप्न, लक्षणात्मक कार्यों आदि के द्वारा व्यवहार मे प्रकट होती रहती है और चेतन व्यवहार को निरंतर प्रभावित करती रहती है। [श्या० ना० मे०]

अजंता इटारसी से बंबई जानेवाली रेल लाइन पर जलगावँ स्टेशन से फरदापुर गावँ होकर अजंता जाने का मार्ग है। यहाँ सह्याद्रि पर्वत के उत्संग मे २९ गुफाएँ उत्कीर्ण हैं। नीचे वागुरा नदी की पारिजात वृक्षों से भरी हुई द्रोणी है। ये गुफाएँ अपनी शिल्पसंपत्ति और, विशेषतः, चित्रकला के लिये विख्यात हैं। १–१८ संख्यक गुफाएँ दक्षिणमुखी और शेष पूर्वमखी हैं। गुफा ९,१०,१९,२६ चैत्यमंदिर, शेष विहार हैं। चैत्यगुहा १० और उसके साथ की विहार गुहा १२,१३ सबसे प्राचीन, लगभग दूसरी शती ई० पू० की हैं। उसी वर्ग मे चैत्यगुहाएँ और विहारगुहा ८ आंध्र-सातवाहन-युग की हैं। इसके बाद लगभग दो शती तक अजंता में निर्माण कार्य स्थगित रहकर गुप्त-वाकाटक-युग में यह केंद्र महायान प्रभाव में पुनः वैभव को प्राप्त हुआ। पहली गुफाएँ हीनयान प्रभाव की द्योतक हैं। इस बार बुद्धमूर्ति को केंद्र में रखकर शिल्प और चित्रों का ताना बाना पूरा गया। विहारगुहा ११, ७, ६ का उत्खनन पाँचवीं शती के पूर्वार्ध में हुआ। पाँचवी शती के अंतिम भाग में विहारगुहा १५, १६, १७, १८, २० और चैत्यगुहा १९ का निर्माण हुआ। विहारगुहा १६ वाकाटक नरेश हरिषेण (४७५-५०० ई०) के सचिव वराहदेव ने बनवाई। उसके लेख म गुहा के भीतर यतींद्र बुद्ध के चैत्यमंदिर, एवं गवाड़ा, निर्यूह, वीथि, वेदिका और अप्सराओं के अलंकरणों का वर्णन है। विहारगुहा १७ भी हरिषेण के समय की है। उसके लेख में उसे एकाश्मक मंडपरत और गुहा १९ को गंधकुटी कहा गया है। तदनंतर विहारगुहा २१–२५ और चैत्यगुहा २६ का निर्माण छठी शती के उत्तरार्ध में और विहारगुहा १–२ का निर्माण सप्तम शती के पूर्वार्ध में हुआ ज्ञात होता है। नरसिंहवर्मन पल्लव द्वारा पुलिकेशी द्वितीय की पराजय (६४२ ई०) के बाद चैत्य और विहारों का काम रुक गया और कुछ अधूरे ही रह गए।

चैत्यगुहा १० और ९ का आकार वृत्तायत है, अर्थात् पिछला भाग अर्धवृत्ताकार और अगला आयताकार है। उनके बीच में मंडप और दो ओर प्रदक्षिणा मार्ग है। महायान युग के चैत्यमंदिरों—गुहा १९, २६—का स्थापत्य विन्यास ऐसा ही है, पर उनमें अनेक बुद्धमूर्तियाँ और बुद्ध के जीवन की घटनाएँ उत्कीर्ण हैं। गुहा १९ का मुखपद अति भव्य है। उसका कीर्तिमुख (चैत्यवातायन) अति विशाल और अलंकृत है। गवाक्षजालों से झाँकते हुए स्त्रीपुरुषों के मस्तकों की शोभापट्टियाँ चारों ओर फैली हैं। विहारगुहाएँ बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिये संघाराम थे। उनके बीच में विशाल मंडप और चारों ओर कोठरियां बनी हुई हैं। गुफाओं की छतें विविध अलंकरणों से विभूषित स्तंभों पर टिकी हुई हैं।

अजंता गुफाओं की कीर्ति उनके चित्रों की विशिष्ट समृद्धि और सुंदरता पर आश्रित है। य भित्तिचित्र खुरदुरे पत्थर पर धवलित भूमि तैयार करके धातुराग या गेरू की वर्तिका या लेखनी से आकारजनिका रेखा खींचकर लिखे गए थे। तत्पश्चात् रक्त, पीत, नील, हरित और कृष्ण वर्णों से इनके रंग भरे गए। गुफा १० में छदत की कथा चित्रित है। स्त्रीपुरुषों की आकृतियाँ और सज्जा भरहुत और साँची के शिल्पांकन के सदृश हैं। चित्रों का रेखासौष्ठव उनके आलेखनकौशल का प्रमाण देता है। गुहा की भित्तियों पर अनेक पुरुषों के चित्र लिखे हैं। वास्तविक चित्रसमृद्धि गुप्त-वाकाटक-युग की चैत्यगुहा १९ और विहारगुहा १६,१७ की भित्तियों पर पाई जाती है। इन गुफाओं के विशाल मडप, जो ५० फुट से अधिक लंबे चौड़े हैं, की छतें स्तंभभित्तियों आदि सर्वांग में चित्रों से मंडित थी। छतों में शतपत्र और सहस्रपत्र कमलों के बड़े बड़े फुल्ले शोभा के विशिष्ट उदाहरण हैं। कमलों के चारो ओर फुल्लावली रत्न तथा और भी अलंकरण हैं; जैसे गुहा २ की छत मे फुल्लावली, मणिरत्नखचित वक्तव्य, माया मेघमाला एव पत्रपुष्प की महावल्ली दर्शनीय है। कमल की उडती हुई लतर, हंसों के शावक या उड़ते हुए जोडे, किलोल करती हुई समुद्रधेनु, जलतुरग, जलहस्ती, मालाधारी विद्याधारी, क्रीडा करते हुए माणवक एवं भांति भांति की पत्रावली, अलंकरण के अनेक विधान उपलब्ध होते हैं। अजंता के भित्तिचित्र स्वर्णयुग के सांस्कृतिक जीवन के प्रतिनिधि चित्र हैं। बुद्ध का महान् धर्म उनका मध्यवर्ती प्रेरक बिंदु है जिसके लिये राजकीय अंत.पुरो के जीवन एवं लोक-जीवन की विविध साधनाएँ समर्पित हैं। अनुत्तरज्ञानावाप्त, सर्वसत्वों का हितसुख एवं करुणात्मक कर्मजनित ध्रुवशांति का वातावरण इन चित्रों का विशेष गुण है। भारतीय स्वर्णयुग के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन की अक्षय्य सामग्री इन भित्तिचित्रों में प्राप्त है।

विहारगुहा १६ में बुद्ध के जीवनदृश्य, नंदसुदरी कथानक एवं छदंत कथानक के दृश्य लिखित हैं। गुहा १७ की भित्तियों पर सप्तमानुषी बुद्ध, भवचक्र, सिंहावलोकन और बुद्ध के कपिलवस्तु के प्रत्यावर्तन के दृश्यों के अतिरिक्त कही जातककथाओ के भी चित्र अंकित हैं। इनमें विश्वंतर-जातक, शिविजातक, छदंतजातक और हसजातक के चित्र अपनी अगाध करुणा और अविचल धर्मनिष्ठा की अभिव्यक्ति के कारण स्थायी आकर्षण की वस्तु हैं। इस गुहा मे मानव आकृतियाँ अपेक्षाकृत छोटे परिमाण की हैं। चैत्यगुहा १९ में बुद्ध का कपिलवस्तु प्रत्यावर्तन एवं अनेक बुद्धमूर्तियों के चित्र हैं। विहारगुहा १ की भित्तियों पर पद्मपाणि अवलोकितेश्वर के महान् चित्र हैं जिन्हें एशिया महाद्वीप की कला में सबसे अधिक ख्याति प्राप्त है। इनके अतिरिक्त बुद्ध के मारधर्षण का भी एक अत्यत ओजस्वी चित्र यहाँ है जिससे उस युग की धार्मिक साधना की दुर्धर्ष शक्ति का परिचय मिलता है। इसी गुहा में महाजनक जातक और शिविजातक के विशाल कथात्मक अंकन भी उल्लेखनीय है। वर्णों की आढ्यता और नतोन्नत संपजन या वर्तना की दृष्टि से विहारगुहा २ के चित्र अतिश्रेष्ठ हैं। उनमे शांतिवादी जातक और मैत्रीबल जातक के दृश्यों का आलेखन एवं श्रावस्ती में बुद्ध के सहस्रात्मक स्वरूप के दर्शन का चित्रण भी श्लाघनीय है। वास्तु, शिल्प और चित्र इन तीनों कलाओं का संतुलित विकास अजंता की शिल्पकृतियो में उपलब्ध होता है। यहाँ के चित्रशिल्पी लगभग चौथी से सातवी सदी तक अत्यंत आकर्षक और प्रभविष्णु रूपसत्व का निर्माण करते रहे।

सं०ग्रं०—जे० ग्रिफिथ्स : अजंता के बौद्ध गुहामंदिरों के चित्र, दो भाग, लंदन, १८९६–९७; श्रीमती हैरिंघम : अजंता भित्तिचित्र (अजंता फ्रेस्कोज), लंदन, १९१५; गुलाम यजदानी : अजंता, ४ भाग, टेक्स्ट और प्लेट; बालासाहब पंतप्रतिनिधि : अजंता, १९३२। [वा० श० अ०]

अज उत्तर कोशल के इक्ष्वाकुवंशी काकुत्स्थ राजाओं में रघु के पुत्र अज बड़े प्रतापी थे। उनकी पत्नी का नाम इंदुमती तथा पुत्र का दशरथ था। ऐक्ष्वकु परंपरा के अनुसार उन्होंने मगध, अंग, अनूप, मथुरा आदि के राजाओं को युद्ध में परास्त किया था। कालिदास ने अपने सुप्रसिद्ध काव्य 'रघुवंश' में 'इंदुमती स्वयंवर' तथा 'अजविलाप' प्रसंगों का बड़ा मार्मिक और विशद चित्रण किया है।

[चं० म०]

अजगर अजगर (पाइथॉन) एक जाति का साँप है जो बहुत बडा होता है और गरम देशो मे पाया जाता है। प्राचीन यूनानी ग्रथा मे एक विशालकाय सर्प का उल्लेख मिलता है जिसका वध अपोलो (यवन सूर्यदेवता) ने डेल्फी मे किया था। आधुनिक प्राणिविज्ञान मे यह सर्प बोइडी वश एव पाइथॉनिनी उपवश के अतर्गत परिगणित होता है। इसकी विभिन्न जातियाँ पुरातन जगत् के समस्त उष्णकटिबध प्रदेशो मे पाई जाती हैं। सर्पो के इस वर्ग मे कुछ तो तीस फुट या इससे भी अधिक लबे मिलते हैं। अधिकाश अजगर वृक्षो पर रहते हैं परतु कुछ जल के आसपास पाए जाते हैं, जहाँ वे जल मे डूबे या उतराए पडे रहते हैं।

अजगरो मे पश्चपादो के अवशेष मिलते हैं। इनकी श्रोणिमेखला (पेलविक गर्डिल) की सरचना जटिल होती है तथा वह कछुओ की श्रोणि-मेखला के समान पसलियो के भीतर एक विचित्र स्थिति मे रहती है। पश्चपाद एक छोटी हड्डी के रूप मे दिखाई पडता है जिसे उरु-अस्थि कहते हैं। पश्चपाद के बाहरी भाग उरु-अस्थि के अत मे स्थित एक या दो अस्थिग्रथिकाओ एव अवस्कर (क्लोएका) के दोनो ओर शल्क (स्केल) से बाहर निकले हुए नखर (क्लॉ) के रूप मे, दिखाई पडते हैं। ये नखर लैंगिक भिन्नता के भी सूचक हैं, क्योकि नर मे मादा की अपेक्षा ये अधिक बडे होते हैं। ये पर्याप्त चलिष्णु होते हैं और ऐसा विश्वास किया जाता है कि मैथुन के समय ये मादा को उत्तेजित करते हैं।

समस्त पृष्ठवशी प्राणियो मे कशेरुका (वर्टिब्रे) की सर्वाधिक सख्या अजगरो मे ही पाई जाती है, यहाँ तक कि एक जाति के अजगर मे तो इनकी सख्या ४३५ तक बताई गई है। इनके जबडो के पार्श्ववर्ती शल्को मे सवेदक कोशो (सेसरी पिट्स) की शृखला रहती है। ये कोश तापग्राही

अफ्रीका का राज अजगर

अजगर पेडो पर चुपचाप पडा रहता है और शिकार के पास आते ही उसपर कूद पडता है तथा गला घोटकर उसे निगल जाता है।

माने जाते है, क्योकि रात के समय उष्ण रुधिरवाले जतुओ पर प्रहार करने मे ये सहायक सिद्ध होते हैं। अजगर विषरहित होते हैं। अपने शिकार पर वे वृक्षो पर से गिरकर उसे अपने शरीर के एक या अधिक कुडलो से जकड लेते हैं और फिर अपनी सशक्त मासपेशियो की दाब डालकर उसे कसना आरभ कर देते हैं तथा साथ साथ सिर का प्रहार भी करते जाते हैं। परिणाम यह होता है कि शिकार श्वासरोध से मर जाता है। उसे निगलते समय इसके मुँह से बहुत सी लार निकलती है। अपना मुख काफी फैला

भारतीय अजगर के नखर (पश्चपाद-अवशेष)
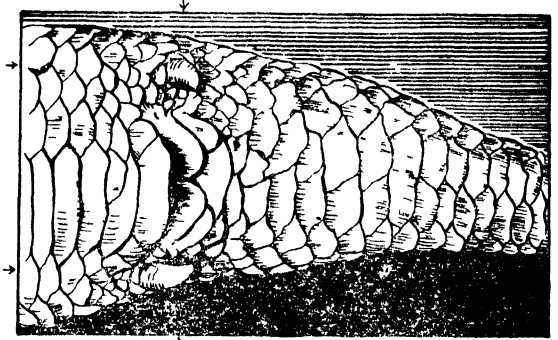
दोनो नखरो की स्थिति तीरो मे बताई गई है। पेडो पर चढने मे ये नखर अजगर को सहायता पहुँचाते हैं।

सकने के कारण ये शिकार को समूचा ही निगल जाते हैं, परतु मुख का फैलाव इतना नही होता कि सामान्य सुअर से अधिक बडे जतु समूचे निगले जा सके। अजगरो द्वारा घोडा या अन्य चौपायो को निगले जाने की कथाएँ विश्वसनीय नही हैं।

ये अपने अडो की देखभाल बहुत सावधानी से करते हैं। मादा अजगर एक समय मे सौ या इससे अधिक अडे देती है और बडी सावधानी से उनकी रक्षा करती है। वह उनके चारो ओर कुडली मारकर बैठ जाती है तथा उन्हे सेती रहती है। यह क्रिया कभी कभी चार महीने या इससे भी अधिक समय तक चलती रहती है जिसके मध्य इसके शरीर का ताप सामान्य ताप से कई अश अधिक हो जाता है।

इसकी सबसे बडी जाति मलय प्रदेश मे पाई जाती है जिसे जालवत् अजगर (पाइथन रेटिक्युलेटस) कहते हैं। यह अजगर कभी कभी तैंतीस फुट से भी अधिक लबा और लगभग सवा दो मन तक भारी होता है। अपने देश मे पाया जानेवाला अजगर (पाइथन मोलूरस) तीस फुट तक लबा होता है। अफ्रीका महाद्वीप का चट्टानी अजगर (पा० सेबी) लगभग पचीस फुट और ऑस्ट्रेलिया का हीरक अजगर (पा० स्पाइलोटिस) बीस फुट लबा होता है। अजगर की दो जातियाँ अमरीका मे भी मिलती हैं, किंतु
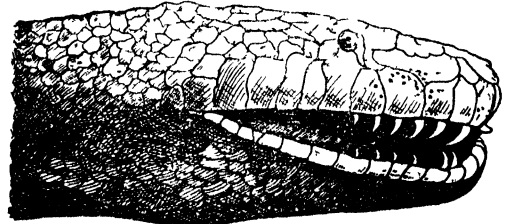
राज अजगर का सिर

अजगर के दाँतो में विष नही होता।

केवल पश्चिमी मेक्सिको मे ही। इतिहास मे एक पचहत्तर फुट लबे रोमन तथा दो सौ फुट लबे ट्यूनीसियाई अजगरो का उल्लेख मिलता है जो केवल दतकथाओ पर ही आधारित प्रतीत होता है।

अजगर कुछ छोटे जानवरो की अत्यधिक वृद्धि रोकने मे उपयोगी सिद्ध होते हैं। पकडकर बदी बनाए जाने पर वे कभी कभी आहार का त्याग भी

करते देखे गए हैं। इनका सामान्य जीवनमान लगभग तेईस वर्ष का होता है। [म० म० गो०]

अजमल खाँ, हकीम, राष्ट्रीय मुस्लिम विचारधारा के समर्थक थे तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ये सन् १८६३ ई० मे दिल्ली मे पैदा हुए। फारसी अरबी के बाद हकीमी पढी। १८९२ ई० मे रामपुर राज्य मे खास हकीम नियुक्त हुए। यहाँ दस साल तक रहने और हकीमी करने से इनकी प्रसिद्धि बहुत बढ गई। सन् १९०२ ई० मे वहाँ से नौकरी छोडकर ये इराक गए। वापसी पर दिल्ली मे रहकर मदरसे तिब्बिया की नीव डाली जो अब तिब्बिया कालेज हो गया है। फिर कांग्रेस मे शामिल हुए। सन् १९२० मे 'जामिया मिल्लिया' नामक सस्था स्थापित करने मे हिस्सा लिया। कांग्रेस के ३३वे अधिवेशन (१९१८ ई०) की स्वागतकारिणी के वे अध्यक्ष थे। १९२१ ई० मे कांग्रेस के अहमदाबाद वाले अधिवेशन के सभापति हुए। इसी साल खिलाफत कानफ्रेंस की भी अध्यक्षता की। १९२४ ई० में ये अरब गए। १९२७ ई० मे यूरोप से दिल्ली वापस आए। २९ दिसबर, १९२७ को इनकी मृत्यु हुई। हकीम साहब का आजीवन प्रयत्न यह रहा कि हिंदू मुसलमानो में मेल रहे। आप स्वभाव के अत्यत कोमल किंतु साथ ही दृढसकल्प व्यक्ति थे। हिकमत का इतना बडा आचार्य और पारगत हिंदुस्तान मे दूसरा नही हुआ। [र० ज०]

अजमेर राजस्थान के अजमेर जिले का मुख्य नगर है, जो अरावली पर्वतश्रेणी की तारागढ पहाडी की ढाल पर स्थित है। यह नगर १४५ ई० मे अजयपाल नामक एक चौहान राजा द्वारा बसाया गया था जिसने चौहान वश की स्थापना की। सन् १३६५ मे मेवाड के शासक, १५५६ मे अकबर और १७७० से १८८० तक मेवाड तथा मारवाड के अनेक शासकों द्वारा शासित होकर अत मे १८८१ मे यह अंग्रेजो के आधिपत्य मे चला गया।

नगर के उत्तर मे अनासागर तथा कुछ आगे फ्वायसागर नामक कृत्रिम झीलें हैं। मुख्य आकर्षक वस्तु प्रसिद्ध मुसलमान फकीर मुइनुद्दीन चिश्ती का मकबरा है जो तारागढ पहाडी की तलहटी म बना है। यह लोगो मे दरगाह के नाम से प्रसिद्ध है। एक प्राचीन जैन मदिर, जो १२०० ई० में मस्जिद मे परिवर्तित कर दिया गया था, तारागढ पहाडी की निचली ढाल पर स्थित है। इसके खडहर अब भी प्राचीन हिंदू कला की प्रगति का स्मरण दिलाते हैं। इसमे कुल ४० स्तभ हैं और सब में नए नए प्रकार की नक्काशी है, कोई भी दो स्तभ नक्काशी मे समान नही है। तारागढ पहाडी की चोटी पर एक दुर्ग भी है।

आधुनिक नगर (जनसख्या १९५१ मे १,९६,६३३) एक प्रसिद्ध रेलवे केंद्र भी है। यहाँ पर नमक का व्यापार होता है जो साँभर झील से लाया जाता है। यहाँ खाद्य, वस्त्र तथा रेलवे के कारखाने हैं। तेल तैयार करना भी यहाँ का एक प्रमुख व्यापार है। [न० ला०]

अजमेर मेरवाड़ा राजस्थान का एक छोटा जिला था जो ब्रिटिश राज्य के अतर्गत था। वस्तुत अजमेर और मेरवाडा अलग अलग थे और उनके बीच कुछ देशी राज्य पडते थे, परतु शासन की सुविधा के लिये उनको एक मे माना जाता था (स्थिति २५°२४' उ० अ०–२६°४२' उत्तर अ० तथा ७३°४५' पू०दे०–७५°२४' पूर्व दे०)। १ नवबर, १९५६ को यह भारत मे मिला लिया गया। यह अजमेर तथा मेरवाडा (क्षेत्रफल २,५९९ वर्ग मील) दो जिलो को मिलाकर बना था। अरावली पर्वतश्रेणी यहाँ की मुख्य भौगोलिक विशेषता है, जो अजमेर तथा नासिराबाद के बीच फैली हुई प्रमुख जलविभाजक है। इसके एक ओर होनेवाली वर्षा चबल नदी में होकर बगाल की खाडी मे तथा दूसरी ओर लूनी नदी से होकर अरब सागर मे चली जाती है। अजमेर एक मैदानी भाग तथा मेरवाडा पहाडियो का समूह है। यहाँ की जलवायु स्वास्थ्यप्रद है। गरमी में बहुत गरमी तथा शुष्कता एव जाडे मे बहुत ठढ रहती है। अधिकतम ताप ३७ ७° सेंटीग्रेड तथा न्यूनतम ४ ४° सेंटीग्रेड है। वर्षा साल भर मे लगभग २० इंच होती है। यहाँ की भूमि मे चट्टानों की तहें पाई जाती हैं। उपजाऊ भूमि तालाबो के किनारे मिलती है। यहाँ की मुख्य फसले ज्वार, बाजरा, कपास, मक्का (भुट्टा), जौ, गेहूँ तथा तेलहन हैं। कृत्रिम तालावो से सिंचाई काफी मात्रा मे होती है। अभी तक हिंदुओ मे राजपूत यहाँ के भूमिस्वामी तथा जाट और गूजर कृषक थे। जैन यहाँ के व्यापारी तथा महाजन हैं। रुई तैयार करने के कई कारखाने यहाँ हैं। बीवर और केकरी यहाँ के मुख्य व्यापारिक केंद्र है। जनसख्या १९५१ मे २,९७,६७४ थी। [न० ला०]

अजमोद अजवायन (कैरम कॉप्टिकम) की जाति का एक पौधा है जो तीन फुट तक ऊँचा होता है। इसके पत्ते सयुत और प्रत्येक भाग कँगूरेदार तथा कटे हुए किनारेवाला होता है। इसमे सफेद रग के छोटे छोटे फूल लगते हैं और इन्ही से दाने मिलते है जिन्हे अजमोद कहते हैं। भारतवर्ष मे इसका पौधा प्राय सभी प्रदेशो में होता है। बगाल, बिहार इत्यादि मे इसकी खेती की जाती है तथा बीज शीतकाल के प्रारभ मे बोए जाते है। इसके बीज तरकारी तथा आहार की अन्य वस्तुओं मे मसाले के काम आते है।

इसकी जड तथा बीज दोनो का आयुर्वेदिक ओषधि मे प्रयोग होता है। दोनो अत्यधिक लार तथा पाचक रस उत्पन्न करनेवाले होते है और पाचन सबधी रोगो मे लाभकारी हैं। इसके तेल और अर्क मे एक ग्लुकोसाइड पदार्थ होता है। अत्यधिक खाने से गर्भस्रावक हो सकता है, इसलिये गर्भवती तथा दूध पिलानेवाली स्त्रियो के लिये हानिकारक समझा जाता है। अजीर्ण, सग्रहणी, शरीर की पीडा इत्यादि को दूर करने मे इसका प्रयोग किया जाता है। [भ० दा० व०]

अजयगढ़ मध्य प्रदेश के पन्ना जिले की एक तहसील तथा नगर है, जो २४° ५४' उत्तर अक्षाश तथा ८०° १८' पूर्व देशातर पर पुराने किले के पास स्थित है। पहले यह एक देशी राज्य था जो दो अलग अलग प्रातो मे बँटा था—एक अजयगढ़ तथा दूसरा मैहर के आसपास। यह विध्याचल पर्वत की मध्यश्रेणियो के बीच पडता है। इसके आसपास सागौन तथा तेंदू के वृक्षो के घने जगल है। यहाँ की मुख्य नदियाँ केन तथा उसकी सहायक बैरमा है। सामान्य वार्षिक वर्षा ४५ इच है। यहाँ की लगभग ४० प्रति शत जनता कृषि पर निर्भर है। गेहूँ, चावल, जौ, चना, कोदो, ज्वार तथा कपास मुख्य उपज है। परिवहन के साधनो की कमी तथा भौगोलिक स्थिति के कारण यहाँ पर कोई व्यापार नही हो पाता। मुख्य बोली बुदेलखडी है तथा निवासियो की जातियाँ बुदेला राजपूत, ब्राह्मण, काछी, चमार, लोधा, अहीर तथा गोंड हैं। यहाँ का किला (जयपुर दुर्ग) समुद्रतल से १,७४४ फुट की ऊँचाई पर केदार पर्वत के ऊपर स्थित है। यह नवी शताब्दी मे बनाया गया था। इसमे अब केवल सुदर नक्काशी के मदिरो के कुछ अश बच गए हैं। इस पहाड़ की चोटी पर स्वच्छ पानी के कई तालाब भी हैं। [न० ला०]

अजयराज यह शाकभरी (साँभर) के अग्निकुलीय चौहान वश के प्रारभिक नरेशो मे से था। राज्यविस्तार के लिये तो अजयराज विशेष प्रसिद्ध नही है, पर उसकी ख्याति अजमेर के निर्माण के कारण काफी है। १२वी सदी के आरभ मे अपने नाम पर उसने अजयमेरु का विशाल नगर निर्मित कराया और उसे सुदर महलो और मदिरो से भर दिया। तभी से चौहान राजा साँभर और अजमेर दोनो के अधिपति माने जाने लगे। उसी आधार से उठकर बाद मे उन्होने गहडवालो से दिल्ली छीन ली थी। [आ० ना० उ०]

अजरबैजान एक प्रदेश है जिसका कुछ भाग ईरान मे और कुछ रूस में। दोनो भाग एक ही नाम से पुकारे जाते हैं। ईरान का यह उत्तर-पश्चिमी प्रात है जिसे रूसी भाग से आरस नदी अलग करती है। यह पठारी प्रदेश है जिसकी ऊँचाई ४,००० फुट से कुछ अधिक और क्षेत्रफल लगभग ३०,००० वर्ग मील है। इसकी घाटियाँ बहुत उपजाऊ हैं और इन्ही में इस प्रदेश की मुख्य बस्तियाँ पाई जाती हैं। गेहूँ, जौ, कपास, फल तथा तबाकू यहाँ की मुख्य फसले है और जस्ता, गधक, ताँबा, मिट्टी का तेल, विभिन्न रग के सगमर्मर इत्यादि खनिज पदार्थ मिलते हैं।

ईरानी प्रात की आबादी लगभग २० लाख है जिसमें ईरानी, तुर्क, कुर्द, असीरी और आर्मीनी मुख्य जातियाँ हैं। तुर्की भाषा साधारणतया बोली जाती है। यहाँ के निवासी अच्छे सैनिक होते हैं। इस प्रदेश का

मुख्य नगर तेब्रिज है। १८,००० फुट ऊँचा ज्वालामुखी पर्वत अराराट इसी प्रदेश में है। इसी प्रदेश मे ऊरुमिदा की खारे पानी की झील की द्रोणी (बेसिन) भी है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अजरबैजान मे विशेष राजनीतिक उथल पुथल हुई। सन् १९४५ में रूसी सेनाओं ने इस ईरानी प्रदेश पर अधिकार कर लिया था, किंतु बाद मे फिर ईरान का अधिकार हो गया।

रूसी अजरबैजान आरस नदी के उत्तर तथा आर्मीनिया और जार्जिआ के पूर्व में स्थित है। उसका क्षेत्रफल ३३,२०० वर्ग मील तथा जनसख्या ३३,७२,८०० है। यहा का जनतत्रीय शासन रूस के जनतत्र के अधीन है। [हि० ह० सि०]

अजवायन तीन भिन्न प्रकार की वनस्पतियों को कहते है। एक केवल अजवायन (कैरम कॉप्टिकम), दूसरी खुरासानी अजवायन तथा तीसरी जगली अजवायन (सेसेली इडिका) कहलाती है।

अजवायन—इसकी खेती समस्त भारतवर्ष मे, विशेषकर बगाल मे होती है। मिस्र, ईरान तथा अफगानिस्तान मे भी यह पौधा होता है। अक्तूबर, नवबर मे यह बोया जाता है और डेढ हाथ तक ऊँचा होता है। सका बीज अजवायन के नाम से बाजार मे बिकता है।

अजवायन को पानी मे भिगोकर आसवन करने पर आसुत (अर्क, डिस्टिलेट) के रूप मे एक प्रकार का तेल मिलता है। अर्क को अंग्रेजी मे, ओमम वाटर कहते है जो ओषधियों मे काम आता है। तेल मे एक सुगधयुक्त, उड़नशील पदार्थ, जिसे अजवायन का सत (अंग्रेजी मे थाइमोल) कहते है, होता है।

अजवायन का पौधा

कुछ पत्तिया स्पष्टता के लिये बडी दिखाई गई है तथा नीचे बाइ ओर इसका बीज चौगुना बड़ा दिखाया गया है।

आयुर्वेद के अनुसार अजवायन पाचक, तीक्ष्ण, गरम, हलकी, पित्तवर्धक और चरपरी होती है। यह शूल, वात, कफ, कृमि, वमन, गुल्म, प्लीहा और बवासीर इत्यादि रोगों मे लाभदायक है। इसमे कटु, वायुनाशक और अग्निदीपक तीनो गुण है। पेट के दर्द, वायुगोला और अफरा मे यह बहुत लाभदायक है।

पिपरमेंट का सत और अजवायन का सत समान मात्रा मे तथा असली कपूर की दूनी मात्रा मिलाकर शीशी मे काग (कार्क) बद कर रख देने पर सब द्रव हो जाता है। वैद्यो के अनुसार इससे अनेक व्याधियों मे लाभ होता है, जैसे हैजा, शूल तथा सिर, डाढ, पसली, छाती और कमर के दर्द तथा सधिवात मे। इस द्रव को बिच्छू, बर्र, भौरा, मधुमक्खी आदि के दश पर रगडने से पीड़ा कम हो जाती है।

अजवायन खुरासानी—इसके वृक्ष काश्मीर से गढवाल तथा कुमायूं तक और पश्चिमी तिब्बत मे ८,००० से ११,००० फुट तक की ऊँचाई पर होते है। यह अजवायन वर्ग का न होकर क्षुप जाति या सालेनेसेई वर्ग का वृक्ष है जिसमे बेलाडोना, धतूरा आदि है। इसमे तीव्र सुगध होती है। पत्ते कटे और कंगूरेदार तथा फूल पीलापन लिए, कही कही बैंगनी रग की धारियोंवाले, होते है।

इसके बीज काम मे आते है। बीज श्वेत, काले और लाल तीन प्रकार के होते है जिनमे श्वेत उत्तम माना जाता है। यह अजवायन उपशामक, विरेचक, पेट के अफरे को दूर करनेवाली तथा निद्राकारक मानी जाती है। श्वास के रोगो मे भी यह लाभदायक है। इसके पत्ते कफ निकालनेवाले होते है तथा इनके जल से कुल्ला करने पर दाँत के दर्द और मसूडो से खून जाने म लाभ होता है।

अजवायन जंगली—इसके पौधे देहरादून से गोरखपुर तक हिमालय की तराई मे तथा बिहार, बगाल, आसाम, इत्यादि मे पाए जाते है। पौधा सीधा, झाडी के समान, बारहमासी होता है। शाखाएँ एक फुट तक लबी, फैली और घनी तथा पत्ते तीन भागो मे विभक्त होते है। प्रत्येक भाग कटा और नोकदार होता है। फूल छत्तेदार, श्वेत या हल्के गुलाबी रग के तथा फल गोल, बारीक, हल्के पीले रग के होते है। इसके बीज विशेषकर चौपायो के रोगो मे काम आते है। आयुर्वेद के अनुसार यह उत्तेजक, शूलनाशक, आँतो को बल देने और पेट के अफरे को दूर करनेवाला तथा आँतो की कृमियो को नष्ट करनेवाला है। मात्रा एक माशे से चार माशे तक है। इस अजवायन के फूल इत्यादि से सैंटोनिन नाम का पदार्थ एक रूसी वैज्ञानिक ने निकाला था जो पेट के कीडे मारने के लिये दिया जाता है। [भ० दा० व०]

अजातशत्रु (प्राय ४९५ ई० पू०) मगध का एक प्रतापी सम्राट् और बिंबिसार का पुत्र जिसने बौद्ध परपरा के अनुसार पिता को मारकर राज्य प्राप्त किया। उसने अग, लिच्छवि, वज्जी, कोसल तथा काशी जनपदो को अपने राज्य मे मिलाकर एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की।

पालि ग्रथो मे अजातशत्रु का नाम अनेक स्थलो पर आया है, क्योकि वह बुद्ध का समकालीन था और तत्कालीन राजनीति मे उसका बडा हाथ था। गगा और सोन के सगम पर पाटलिपुत्र की स्थापना उसी ने की थी। उसका मत्री वस्सकार कुशल राजनीतिज्ञ था जिसने लिच्छवियो मे फूट डालकर साम्राज्य का विस्तार किया था। कोसल के राजा प्रसेनजित् को हराकर अजातशत्रु ने राजकुमारी वजिरा से विवाह किया था जिसमे काशी जनपद स्वत यौतुक रूप मे उसे प्राप्त हो गया था। इस प्रकार उसकी इस 'विजिगीषु नीति' से मगध शक्तिशाली राष्ट्र बन गया। परतु पिता की हत्या करने के कारण इतिहास मे वह सदा अभिशप्त रहा। प्रसेनजित् का राज्य कोसल के राजकुमार विड़ूडभ ने छीन लिया था। उसके राजत्वकाल मे ही विडूडभ ने शाक्य प्रजातत्र का ध्वस किया था।

अजातशत्रु के समय की सबसे महान् घटना बुद्ध का 'महापरिनिर्वाण' थी (४६४ ई०पू०)। उस घटना के अवसर पर बुद्ध की अस्थि प्राप्त करने के लिये अजातशत्रु ने भी प्रयत्न किया था और अपना अश प्राप्त कर उसने राजगृह की पहाडी पर स्तूप बनवाया। आगे चलकर राजगृह मे ही वैभार पर्वत की सप्तपर्णी गुहा मे बौद्ध सघ की प्रथम सगीति हुई जिसमे सुत्तपिटक और विनयपिटक का सपादन हुआ। यह कार्य भी इसी नरेश के समय मे सपादित हुआ। (देखिए 'जनक विदेह')।

सं०ग्रं०—त्रिपिटक (दीघनिकाय, महापरिनिब्बान सुत्तत, सयुत्तनिकाय), जातक, सुमगल विलासिनी, आर्य मजुश्री मूलकल्प, ए डिक्शनरी ऑव पालि प्रॉपर नेम्स (मलालसेकर)। [च० म०]

अजातिवाद गौडपादाचार्य ने माडूक्यकारिका मे सिद्ध किया है कि कोई भी वस्तु कथमपि उत्पन्न नही हो सकती। अनुत्पत्ति के इसी सिद्धात को अजातिवाद कहते है। गौडपादाचार्य के पहले उपनिषदो मे भी इस सिद्धात की ध्वनि मिलती है। माध्यमिक दर्शन मे तो इस सिद्धात का विस्तार से प्रतिपादन हुआ है।

उत्पन्न वस्तु उत्पत्ति के पूर्व यदि नही है तो उस अभावात्मक वस्तु की सत्ता किसी प्रकार सभव नही है क्योकि अभाव से किसी की उत्पत्ति नही होती। यदि उत्पत्ति के पहले वस्तु विद्यमान है तो उत्पत्ति का कोई प्रयोजन नही। जो वस्तु अजात है वह अनत काल से अजात रही है अत उसका स्वभाव कभी परिवर्तित नही हो सकता। अजात वस्तु अमृत है अतः वह जात होकर मृत नही हो सकती। इन्ही कारणो से कार्य-कारण-भाव को भी असिद्ध किया गया है। यदि कार्य और कारण एक है तो कार्य के उत्पन्न होने पर कारण का भी उत्पन्न होना होगा, अत. साख्यानुमोदित नित्य-कारण-भाव सिद्ध नही होता। असत्कारण से असत्कार्य उत्पन्न नही

हो सकता, न तो सत्कार्यज असत्कार्य को उत्पन्न कर सकता है। सत् से असत् की उत्पत्ति नही हो सकती और असत् से सत् की उत्पत्ति नही हो सकती। अतएव कार्य न तो अपने आप उत्पन्न होता है और न किसी कारण द्वारा उत्पन्न होता है।

सं०ग्रं०—गौडपाद माडूक्यकारिका, नागार्जुन मूल माध्यमिक कारिका। [रा० पा०]

अजामिल कान्यकुब्ज का एक ब्राह्मण जो अपनी पापलिप्सा के लिये कुख्यात था। ऐसी पौराणिक कहानी है कि उसने अपने अतिम समय मे अपने पुत्र को, जिसका नाम नारायण था, समीप बुलाया जिससे नामस्मरण मात्र से उसे सद्गति प्राप्त हो गई। [च० म०]

अजाव (एजॉव) दक्षिणी यूरोपीय रूस मे अजाव जनपद का एक नगर है जो रास्टॉव के दक्षिण-पश्चिम डैन्यूब नदी के मुहाने से सात मील पहले स्थित है। पहले यह एक छोटा बदरगाह था, किंतु नदी मे बालू के अधिक अवसाद से यह बदरगाह नही रह सका। अब यह मछली पकडने का एक प्रसिद्ध स्थान है। शहर की स्थापना ई० पूर्व तीसरी शताब्दी मे हुई मानी जाती है। तुर्को ने कुछ काल के लिये यहाँ अपना अधिकार जमा लिया था, किंतु अब यह प्रदेश सोवियत सघ का एक स्वतत्र जनपद है। इस नगर मे सडको तथा रेलो का जकशन है। इसकी जनसख्या १९,००० है।

अजाव सागर—यह कृष्ण सागर (ब्लैक सी) का एक बाहर की ओर निकला हुआ भाग है जो क्रीमिया, पूर्वी यूक्रेन तट तथा उत्तरी काकेशस पहाड से घिरा हुआ है। यह सागर पूर्व से पश्चिम २२६ मील लबा तथा उत्तर से दक्षिण ११० मील चौडा है, इसका क्षेत्रफल १४,५२० वर्ग मील है। सागर छिछला तथा चौरस तलहटी का है। यहाँ प्रति वर्ग मील की गणना से मछलियाँ ससार मे सबसे अधिक पाई जाती हैं। यह रूस का दूसरा सबसे प्रसिद्ध मछली पकडने का केंद्र है। इस सागर की प्रधान व्यापारिक वस्तुएँ कोयला, लोहा, नमक, इमारती सामान तथा मछलियाँ है। जनवरी फरवरी के महीने मे न्यून ताप होने के कारण सागर जम जाता है। कभी कभी तूफान भी आ जाते हैं। इस सागर मे कुछ मछलियाँ कैस्पियन सागर की जाति की है, अत यह अनुमान लगाया जाता है कि पूर्व-ऐतिहासिक काल मे यह कैस्पियन सागर से जुटा हुआ था। [ह०ह०मि०]

अजित केशकंबली भगवान् बुद्ध के समकालीन एव तरह तरह के मतो का प्रतिपादन करनेवाले जो कई धर्माचार्य मडलियो के साथ घूमा करते थे उनमे अजित केशकबली भी एक प्रधान आचार्य थे। इनका नाम था अजित और केश का बना कबल धारण करने के कारण वह केशकबली नाम से विख्यात हुए। उनका सिद्धात घोर उच्छेदवाद का था। भौतिक सत्ता के परे वह किसी तत्व मे विश्वास नही करते थे। उनके मत में न तो कोई कर्म पुण्य था और न पाप। मृत्यु के बाद शरीर जला दिए जाने पर उसका कुछ शेष नही रहता, चार महाभूत अपने तत्व मे मिल जाते है और उसका सर्वथा अत हो जाता है—यही उनकी शिक्षा थी। [भि० ज० का०]

अजीगर्त एक ऋषि, जिन्होने अपने द्वितीय पुत्र शुन शेप को यज्ञ मे बलि के लिये दे डाला था। शुन शेप की कहानी ब्राह्मण ग्रथो मे दी हुई है, जिसका रामायण मे थोडा अवातर पाया जाता है। कहते हैं, शुन शेप ने विश्वामित्र के बतलाए कुछ मत्र सुनाकर यज्ञ मे उपस्थित इद्र और वरुण को प्रसन्न कर अपने को मुक्त कर लिया था। [च० म०]

अजोर्स उत्तरी अटलांटिक महासागर मे लिस्बन से ७५० मील पश्चिम स्थित टापुओ का एक समुदाय है। विस्तार ३६° ५०' उ० अक्षाश से ३९° ४४' उ० अक्षाश तक तथा २५° १०' प० दे० से ३१° १६' पश्चिमी देशातर के बीच मे, क्षेत्रफल सपूर्ण द्वीपसमूह का ८९० वर्ग मील, जनसख्या ३,१८,६८६ (१९५०)। यहाँ की अधिकाश जनता पुर्तगाली है। यहाँ की राजकीय भाषा पुर्तगाली है। पूरा द्वीप-समूह तीन जनपदो में बँटा हुआ है। इनकी राजधानियाँ द्वीपसमूह के तीन प्रसिद्ध बंदरगाह हैं। इनके नाम पाटा देलगादा (जनसख्या २१,०४८), हाटी (८,१८४) तथा अग्राडी हिरोशिमा (९,४३५) है।

शीतोष्ण जलवायु तथा उपजाऊ भूमि होने के कारण यहाँ गेहूँ, मक्का, गन्ना, आलू तथा फल पर्याप्त पैदा होते हैं। मास, दूध, पनीर, अडे तथा शराब पर्याप्त तैयार होती है। यहाँ कपडे बनाने की मिले तथा अन्य छोटे-मोटे बहुत से उद्योग धधे भी होते हैं। इन टापुओ पर १४३२ ई० मे पुर्तगालवालो का अधिकार हुआ, किंतु कुछ टापुओ पर अब अमरीकन लोगो का भी अधिकार है। [ह० ह० मि०]

अज्ञातवास पाडवो के जीवन मे अज्ञातवास का समय बडे महत्व का था। 'अज्ञातवास' का अर्थ है बिना किसी के द्वारा जाने गए किसी अपरिचित स्थान मे रहना। द्यूत में पराजित होने पर पाडवो को बारह वर्ष जगल मे तथा तेरहवाँ वर्ष अज्ञातवास मे बिताना था। अपने असली वेश में रहने पर पाडवो के पहचाने जाने की आशका थी, इसीलिये उन लोगो ने अपना नाम बदलकर मत्स्य जनपद की राजधानी विराटनगर (आधुनिक बैराट) मे विराटनरेश की सेवा करना उचित समझा। युधिष्ठिर ने कक नामधारी ब्राह्मण बनकर राजा की सभा मे द्यूत आदि खेल खिलाने (सभास्तार) का काम स्वीकार किया। भीम ने बल्लव नामधारी रसोइए का, अर्जुन ने बृहन्नला नामधारी नृत्यशिक्षक का, नकुल ने ग्रथिक नाम से अश्वाध्यक्ष का तथा सहदेव ने ततिपाल नाम से गोसख्यक का काम अगीकार किया। द्रौपदी ने रानी सुदेष्णा की सैरध्री बनकर केशसस्कार का काम अपने जिम्मे लिया। पाडवो ने यह अज्ञातवास बडी सफलता से बिताया। राजा का श्यालक कीचक द्रौपदी के साथ दुर्व्यवहार करने के कारण भीम के द्वारा एक सुदर युक्ति से मार डाला गया (महाभारत, विराटपर्व)। [ब० उ०]

अज्ञान वस्तु के ज्ञान का अभाव। अज्ञान दो प्रकार का हो सकता है—एक वस्तु के ज्ञान का अत्यत अभाव, जैसे सामने रखी वस्तु को न देखना, दूसरा वस्तु के वास्तविक स्वरूप के स्थान पर दूसरी वस्तु का ज्ञान। प्रथम अभावात्मक और दूसरा भावात्मक ज्ञान है। इद्रियदोष, प्रकाशादि उपकरण, अनवधानता आदि के कारण अज्ञान उत्पन्न होता है।

न्यायदर्शन मे अज्ञान आत्मा का धर्म माना गया है। सौत्रातिक वस्तु के ऊपर ज्ञानाकार के आरोपण को अज्ञान कहते है। माध्यमिक दर्शन मे ज्ञान मात्र अज्ञानजनित है।

भावात्मक अज्ञान सत्य नही है क्योकि उसका बाध हो जाता है। यह असत्य भी नही है क्योकि रज्जु में सर्पादि ज्ञान से सत्य भय उत्पन्न होता है। अतएव वेदात मे अज्ञान अनिर्वचनीय कहा गया है।

सासारिक जीवन के अज्ञान के अतिरिक्त भारतीय दर्शन मे अज्ञान को सृष्टि का आदिकारण भी माना गया है। यह अज्ञान प्रपच का मूल कारण है। उपनिषदो मे प्रपच को 'इद्र' की 'माया' का नाना 'रूप' माना गया है। माया के आवरण को भेदकर आत्मा या ब्रह्म का सद्ज्ञान प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है। बौद्धदर्शन मे भी अविद्या अथवा अज्ञान से 'प्रतीत्य समुत्पन्न' ससार की उत्पत्ति बतलाई गई है। अद्वैतवेदात मे अज्ञान को आत्मा के प्रकाश का बाधक माना गया है। यह अज्ञान जान बूझकर नही उत्पन्न होता, अपितु बुद्धि का स्वाभाविक रूप है। दिक्, काल और कारण की सीमा में सचरण करनेवाली बुद्धि अज्ञानजनित है, अत बुद्धि के द्वारा उत्पन्न ज्ञान वस्तुत अज्ञान ही है। इस दृष्टि से अज्ञान न केवल वैयक्तिक सत्ता है अपितु यह एक व्यक्तिनिरपेक्ष शक्ति है, जो नामरूपात्मक जगत् तथा सुखदु खादि प्रपच को उत्पन्न करती है। बुद्धि से परे होकर तत्साक्षात्कार करने पर इस अज्ञान का विनाश सभव है।

सं० ग्रं०—ब्रह्मसूत्र, शाकरभाष्य भूमिका। [रा० पा०]

अज्ञेयवाद (एग्नॉस्टिसिज्म) ज्ञानमीमासा का विषय है, यद्यपि उसका कई पद्धतियो मे तत्वदर्शन से भी सबध जोड दिया गया है। इस सिद्धात की मान्यता है कि जहाँ विश्व की कुछ वस्तुओ का निश्चयात्मक ज्ञान सभव है, वहाँ कुछ ऐसे तत्व या पदार्थ भी है जो अज्ञेय हैं, अर्थात् जिनका निश्चयात्मक ज्ञान सभव नही है। अज्ञेयवाद सदेहवाद से भिन्न है, सदेहवाद या सशयवाद के अनुसार विश्व के किसी भी पदार्थ का निश्चयात्मक ज्ञान सभव नही है।

भारतीय दर्शन के सभवत किसी भी सप्रदाय को अज्ञेयवादी नही कहा जा सकता। वस्तुत भारत मे कभी भी सदेहवाद एव अज्ञेयवाद का

व्यवस्थित प्रतिपादन नहीं हुआ। नैयायिक सर्वज्ञेयवादी हैं, और नागार्जुन तथा श्रीहर्ष जसे युक्तिवादी भी पारिभाषिक अर्थ में संशयवादी अथवा अज्ञेयवादी नहीं कहे जा सकते।

यूरोपीय दर्शन में जहाँ संशयवाद का जन्म यूनान में ही हो चुका था, वहाँ अज्ञयवाद आधुनिक युग की विशेषता है। अज्ञेयवादियों में पहला नाम जर्मन दार्शनिक कांट (१७२४-१८०४) का है। कांट की मान्यता है कि जहाँ व्यवहार जगत् (फिनामिनल वर्ल्ड) बुद्धि या प्रज्ञा की धारणाओं (कैटेगोरीज ऑव अंडरस्टैंडिंग) द्वारा निर्धार्य, अतएव ज्ञेय है, वहाँ परमार्थ जगन्, ईश्वर, आत्मा, अमरता, उस प्रकार ज्ञेय नहीं है। तत्वदर्शन द्वारा अतींद्रिय पदार्थो का ज्ञान संभव नहीं है। फ्रेंच विचारक काम्ट (१७९८-१८५७) का भी, जिसने भाववाद (पाजिटिविज्म) का प्रवर्तन किया, यह मत है कि मानव ज्ञान का विषय केवल गोचर जगत् है, अतींद्रिय पदार्थ नहीं। सर विलियम हैमिल्टन (१७८८-१८५६) तथा उनके शिष्य हेनरी लाम्यूविल मैंसेल (१८२०-१८७१) का मत है कि हम केवल सकारण अर्थात् कारणों द्वारा उत्पादित अथवा सीमित एवं सापेक्ष पदार्थों को ही जान सकते हैं, असीम, निरपेक्ष एवं कारणहीन (अनकंडिशंड) तत्वों को नहीं। तात्पर्य यह कि हमारा ज्ञान सापेक्ष है, मानवीय अनुभव द्वारा सीमित है, और इसीलिये निरपेक्ष असीम को पकड़ने में असमर्थ है। ऐसा ही मंतव्य हर्बर्ट स्पेंसर (१८२०-१९०३) ने भी प्रतिपादित किया है। सब प्रकार का ज्ञान संबंधमूलक अथवा सापेक्ष होता है; ज्ञान का विषय भी संबंधोंवाली वस्तुएँ हैं। किसी पदार्थ को जानने का अर्थ है उसे दूसरी वस्तुओं से तथा अपने से संबंधित करना, अथवा उन स्थितियों का निर्देश करना जो उसमें परिवर्तन पैदा करती हैं। ज्ञान सीमित वस्तुओं का ही हो सकता है। चूँकि असीम तत्व संबंधहीन एवं निरपेक्ष है, इसलिये वह अज्ञेय है। तथापि स्पेंसर का एक ऐसी असीम शक्ति में विश्वास है जो गोचर जगत् को हमारे सामने उत्क्षिप्त करती है। सीमा की चेतना ही असीम की सत्ता का प्रमाण है। यद्यपि स्पेंसर असीम तत्व को अज्ञेय घोषित करता है, फिर भी उसे उसकी सत्ता में कोई संदेह नही है। वह यहाँ तक कहता है कि बाह्य वस्तुओं के रूप में कोई अज्ञात सत्ता हमारे संमुख अपनी शक्ति की अभिव्यंजना कर रही है। 'एग्नास्टिसिज्म' शब्द का सर्वप्रथम आविष्कार और प्रयोग सन् १८७० में टॉमस हेनरी हक्सले (१८२५-१८९५) द्वारा हुआ।

सं०ग्रं०—जेम्स वार्ड : नैचुरैलिज्म ऐंड एग्नास्टिसिज्म; आर० फ्लिंट : एग्नास्टिसिज्म; हर्बर्ट स्पेंसर : फर्स्ट प्रिंसिपल्स। [दे० रा०]

अटक पश्चिम पाकिस्तान में पेशावर से ४७ मील दक्षिण-पूर्व स्थित एक नगर है जो अपनी सीमावर्ती स्थिति तथा ऐतिहासिक दुर्ग के लिये प्रसिद्ध है। इस प्राचीन दुर्ग को अकबर महान् ने १५८१ ई० में बनवाया था। यहाँ का प्राकृतिक सौंदर्य अनुपम है। यहाँ पर १८८३ ई० में नदी पर एक लौह पुल बना दिया गया, जिसपर से उत्तर-पश्चिमी रेलवे पेशावर तक जाती है। अफगानिस्तान तथा अन्य प्रदेशों से व्यापार के मार्ग में स्थित यह नगर अवश्य ही निकट भविष्य में उन्नति करेगा। नगर की आबादी १,५७४ है तथा इसी नाम के जनपद की जनसंख्या ६,७५,८७५ (१९४१ ई०) है। [ह० ह० सिं०]

अटलस पर्वत (अंग्रेजी में ऐटलैस) पर्वत कई पहाड़ों का समूह है जो उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर अफ्रीका में है। अटलस नाम यूनान के एक पौराणिक देवता के आधार पर पड़ा जिनका निवासस्थान अनुमानतः इसी पर्वत पर था। यह पर्वत बर्बर जाति के लोगों का वासस्थान है। इसके अगम्य भागों के निवासियों का जीवन सदा स्वतंत्र रहा है।

अटलस पर्वत के अंतर्गत शृंखलाओं की दिशा उत्तर-पश्चिमी अफ्रीका के समुद्रतट के लगभग समानांतर है। ये शृंखलाएँ १,५०० मील लंबी हैं जो पश्चिम में जूबी अंतरीप से आरंभ होकर पूर्व में गेब्स की खाड़ी तक मोरक्को, अलजीरिया और ट्यूनीशीया में फैली है। इनकी उत्तरी और दक्षिणी सीमाएँ क्रमश: रूमसागर और सहारा मरुस्थल है। इनके दो मुख्य उपविभाग हैं: (१) समुद्रतटीय श्रेणी—क्यूटा से बोन अंतरीप तक, (२) अंतरस्थ श्रेणी, जो ग्विर अंतरीप से आरंभ होती है और समुद्रतटीय श्रेणी के दक्षिण ओर फैली हुई है। इन दोनों के बीच शाट्स का उच्च पठारी प्रदेश है।

अटलस पर्वत की अंतरस्थ श्रेणी, जिसे महान् अटलस भी कहते हैं, मोरक्को में स्थित है। यह सबसे लंबी और ऊँची श्रेणी है। इसकी औसत ऊँचाई ११,००० फुट है। इसकी उत्तरी ढाल पर जलसिंचित उपजाऊ घाटियाँ हैं जिनमें छोटे छोटे खेतों में बर्बर लोग खेती करते हैं। यहाँ बाँझ (ओक), चीड़, कार्क, सीडार इत्यादि के घने वन पाए जाते हैं।

भूगर्भविज्ञान—अटलस पर्वत का निर्माण ऐल्प्स पर्वत के लगभग साथ ही हुआ। भूपर्पटी की उन गतियों का आरंभ जिनसे अटलस पर्वत बना महाशरट (जुरैसिक) युग के अंत में हुआ। ये गतियाँ उत्तरखटी (अपर क्रिटेशस) युग में पुनः क्रियाशील हुई और इनका क्रम मध्यनूतन (माइओसीन) युग तक चलता रहा। यहाँ पूर्वकाल में भी भंजनक्रिया के प्रमाण मिलते हैं। [रा० ना० मा०]

अटलांटा संयुक्त राज्य अमरीका में जार्जिया प्रांत का सबसे बड़ा नगर है, जो फुल्टन तथा डीकाल्व विभाग में बर्मिंघम से १६८ मील पूर्व स्थित है। प्रारंभ में नगर का नाम मार्थ्सविल था, किंतु १८४५ ई० में इसका नाम बदलकर अटलांटा हो गया। यह नगर रेलवे का बहुत बड़ा जंकशन है, तथा दक्षिण-पूर्वी संयुक्त राज्य, अमरीका, का सबसे बड़ा व्यापारिक केंद्र है। १८६८ ई० में यह जार्जिया की राजधानी हो गया। सड़कों से यह देश के प्रायः सभी मुख्य स्थानों से संबद्ध है। यहाँ एक बहुत बड़ा हवाई अड्डा भी है। अब यह नगर एक व्यापारिक, व्यावसायिक तथा सांस्कृतिक केंद्र भी हो गया है। १८५० ई० में यहाँ की जनसंख्या केवल २,५७२ थी, किंतु १९५० ई० में यहाँ ३,३१,३१४ लोग रहते थे। [ह० ह० सिं०]

अटलांटिक महासागर अथवा अंध महासागर, उस विशाल जलराशि का नाम है जो यूरोप तथा अफ्रीका महाद्वीपों को नई दुनिया के महाद्वीपों से पृथक् करती है।

इस महासागर का आकार लगभग अंग्रेजी अक्षर S के समान है। लंबाई की अपेक्षा इसकी चौड़ाई बहुत कम है। उत्तर में बेरिंग जलडमरूमध्य से लेकर दक्षिण में कोट्सलैंड तक इसकी लंबाई १२,८१० मील है। आर्कटिक सागर, जो बेरिंग जलडमरूमध्य से उत्तरी ध्रुव होता हुआ स्पिट्सबर्जेन और ग्रीनलैंड तक फैला है, मुख्यतः अंधमहासागर का ही अंग है। इसी प्रकार दक्षिण में दक्षिणी जार्जिया के दक्षिण स्थित वैडल सागर भी इसी महासागर का अंग है। इसका क्षेत्रफल (अंतर्गत समुद्रों को लेकर) ४,१०,८१,०४० वर्ग मील है। अंतर्गत समुद्रों को छोड़कर इसका क्षेत्रफल ३,१८,१४,६४० वर्ग मील है। विशालतम महासागर न होते हुए भी इसके अधीन विश्व का सबसे बड़ा जलप्रवाह क्षेत्र है।

नितल की संरचना—अटलांटिक महासागर के नितल के प्रारंभिक अध्ययन में जलपोत "चैलेंजर" (१८७३-७६) के अन्वेषण-अभियान के ही समान अनेक अन्य वैज्ञानिक महासागरीय अन्वेषणों ने योग दिया था। अटलांटिक महासागरीय विद्युत् केबुलों की स्थापना के हेतु आवश्यक जानकारी की प्राप्ति ने इस प्रकार के अध्ययनों को विशेष प्रोत्साहन दिया।

इसका नितल इस महासागर के एक कूट द्वारा पूर्वी और पश्चिमी द्रोणियों में विभक्त है। इन द्रोणियों में अधिकतम गहराई १६,५०० फुट से भी अधिक है। पूर्वोक्त समुद्रांतर कूट काफी ऊँचा उठा हुआ है और आइसलैंड के समीप से आरंभ होकर ५५° दक्षिण अक्षांश के लगभग स्थित बोवे द्वीप तक फैला है। इस महासागर के उत्तरी भाग में इस कूट को डालफिन कूट और दक्षिण में चैलेंजर कूट कहते हैं। इस कूट का विस्तार लगभग १०,००० फुट की गहराई पर अटूट है और कई स्थानों पर कूट सागर की सतह के भी ऊपर उठा हुआ है। अज़ोर्स, सेंट पॉल, असेंशन, ट्रिस्टाँ द कुन्हा, और बोवे द्वीप इसी कूट पर स्थित हैं। निम्न कूटों में दक्षिणी अटलांटिक महासागर का वालफिश कूट और रियो ग्रैंड कूट, तथा उत्तरी अटलांटिक महासागर का वाइविल-टामसन कूट उल्लेखनीय हैं। ये तीनों निम्न कूट मुख्य कूट से लंब दिशा में फैले हैं।

ई० कोमना (१९२१) के अनुसार इस महासागर की औसत गहराई, अंतर्गत समुद्रों को छोड़कर, ३,९२६ मीटर, अर्थात् १२,८३९ फुट है। इसकी अधिकतम गहराई, जो अभी तक ज्ञात हो सकी है, ८,७५० मीटर अर्थात् २८,६१४ फुट है और यह गिनी स्थली की पोर्टोरिको द्रोणी में स्थित है।

नितल के निक्षेप—(अंतर्गत समुद्रों सहित) अटलांटिक महासागर की मुख्य स्थली का ७४% भाग तलप्लावी निक्षेपों (पेलाजिक डिपाजिट्स) से ढका है, जिसमें नन्हें नन्हें जीवों के शल्क (जैसे ग्लोबिजराइना, टेरोपॉड, डायाटम आदि के शल्क) हैं। २६ प्रति शत भाग पर भूमि पर उत्पन्न हुए अवसादों (सेडिमेंट्स) का निक्षेप है जो मोटे कणों द्वारा निर्मित है।

पृष्ठधाराएँ—अध महासागर की पृष्ठधाराएँ नियतवाही पवनों के अनुरूप बहती हैं। परंतु स्थलखंड की आकृति के प्रभाव से धाराओं के इस क्रम में कुछ अंतर अवश्य आ जाता है। उत्तरी अटलांटिक महासागर की धाराओं में उत्तरी विषुवतीय धारा, गल्फ स्ट्रीम, उत्तरी अटलांटिक प्रवाह, कैनेरी धारा और लैब्राडोर धाराएँ मुख्य हैं। दक्षिणी अटलांटिक महासागर की धाराओं में दक्षिणी विषुवतीय धारा, ब्राजील धारा, फाकलैंड धारा, पछवा प्रवाह और बेंगुला धाराएँ मुख्य हैं।

लवणता—उत्तरी अटलांटिक महासागर के पृष्ठजल की लवणता अन्य समुद्रों की तुलना में पर्याप्त अधिक है। इसकी अधिकतम मात्रा ३.७ प्रति शत है जो २०°-३०° उत्तर अक्षांशों के बीच विद्यमान है। अन्य भागों में लवणता अपेक्षाकृत कम है। [रा० ना० मा०]

अट्टालक (टावर, मीनार) ऐसी संरचना को कहते हैं जिसकी ऊँचाई उसकी लंबाई तथा चौड़ाई के अनुपात में कई गुनी हो, अर्थात् ऊँचाई ही उसकी विशेषता हो। प्राचीन काल में अट्टालकों का निर्माण नगर अथवा गढ़ की सुरक्षा के विचार से किया जाता था, जहाँ से प्रहरी आते हुए शत्रु को दूर से ही देख सकता था। अट्टालकों का निर्माण वास्तुकला की भव्यता तथा प्रदर्शन के विचार से भी किया जाता था। अत इस प्रकार के अट्टालक अधिकतर मंदिरों तथा महलों के मुखद्वार पर बनाए जाते थे। मुखद्वार पर बने अट्टालक 'गोपुर' कहे जाते हैं।

मैसोपोटेमिया में ईसा से २,७७० वर्ष पूर्व सैनिक आवश्यकताओं के लिये अट्टालकों के निर्माण के चिह्न मिलते हैं। मिस्र में भी ऐसे अट्टालकों का आभास मिलता है, परंतु ग्रीस में इसका प्रचलन बहुत कम था। इसके विपरीत रोम में अट्टालकों का निर्माण प्रचुर मात्रा में किया जाता था, जैसा पौंपेई, औरेलियन तथा कुस्तुनतुनिया के ध्वस्त अवशेषों से पता चलता है।

भारतवर्ष में भी अट्टालकों का प्रचलन प्राचीन काल से था। गुप्तकालीन मंदिरों के ऊँचे ऊँचे शिखर एक प्रकार के अट्टालक ही हैं। देवगढ़ के दशावतार मंदिर का शिखर ४० फुट ऊँचा है। नरसिंह गुप्त बालादित्य ने नालंदा में एक बड़ा विशाल तथा सुंदर मंदिर बनवाया जो ३०० फुट ऊँचा था।

चीन में भी ईंट अथवा पत्थर के ऊँचे ऊँचे अट्टालक नगर सीमा के द्वारों पर शोभा तथा सौंदर्य के लिये बनाए जाते थे, जैसे चीन की बृहद्-भित्ति (ग्रेट वाल ऑव चाइना) पर अब भी स्थित हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ के अट्टालक 'पैगोडा' के रूप में भी बनते थे।

गॉथिक काल में जो अट्टालक या मीनारें बनीं वे पहले से भिन्न थीं। पुराने अट्टालकों में एक छोटा सा द्वार होता था और वे कई मंजिल के बनते थे। इनमें छोटी छोटी खिड़कियाँ रहती थीं। गॉथिक काल की मीनारों में खिड़कियाँ लंबी कर दी गईं और साथ में कोने पर के पुश्ते (बटरेस वाल्स) भी खूब ऊँचे अथवा लंबे बनाए जाने लगे, जिनमें छोटे छोटे बहुत से खसके डाल दिए जाते थे। अधिकांश अट्टालकों के ऊपर नुकीले शिखर रखे जाते थे, पर कुछ में ऊपर की छत चिपटी ही रखी जाती थी तथा कुछ का आकार अठपहला भी रख दिया जाता था।

इंग्लैंड का सबसे सुंदर गौथिक नमूने का अट्टालक कैंटरबरी गिरजा है, जो सन् १४९५ में बना था।

अट्टालकों का निर्माण केवल सैनिक उपयोग अथवा धार्मिक भवनों तक ही नहीं सीमित है। बहुत से नगरों में घड़ी लगाने के लिये भी अट्टालक बनाए जाते हैं, जैसा भारत के भी बहुत से नगरों में देखा जा सकता है। दिल्ली के प्रसिद्ध चाँदनी चौक के घंटाघर का अट्टालक अभी हाल में, बनने के लगभग १०० वर्ष बाद, अचानक गिर पड़ा था। एक अन्य प्रसिद्ध मीनार इटली देश में पीसा नगर की झुकी हुई मीनार है जो १२वीं शताब्दी में बनी थी। यह १७९ फुट ऊँची है और एक ओर १६ फुट झुकी हुई है।

मध्यकालीन युग में, अर्थात् १०वीं शताब्दी के लगभग, सैनिक उपयोग के लिये ऊँचे ऊँचे अट्टालकों के बनाने की प्रथा बहुत फैल गई थी, जैसे ११वीं सदी का लंदन टावर। जैसे जैसे बंदूक तथा तोप के गोले का प्रचार बढ़ता गया वैसे वैसे सैनिक काम के लिये अट्टालकों का प्रयोग कम होता गया।

राजपूत तथा मुगलों के समय में भारतवर्ष में ऊँची ऊँची मीनारें बनाने की प्रथा थी। दिल्ली की प्रसिद्ध कुतुबमीनार को १३वीं सदी में कुतुबुद्दीन ने अपने राज्यकाल में बनवाना आरंभ किया था जिसे इल्तुतमिश ने पूरा किया। आगरे के प्रसिद्ध ताजमहल के चारों कोनों पर चार बड़ी बड़ी मीनारें भी बनी हैं जो उसकी शोभा बढ़ाती हैं। इन मीनारों के भीतर ऊपर जाने के लिये सीढ़ियाँ भी बनी हैं। राजपूती वास्तुकला का एक सुंदर नमूना चित्तौड़ का विजयस्तंभ है। इसमें खूबी यह है कि जैसे जैसे ऊँचाई बढ़ती जाती है उसी अनुपात में अट्टालक के खंडों की लंबाई चौड़ाई भी बढ़ती जाती है, परिणामस्वरूप नीचे से देखने पर उसके भागों का आकार छोटा नहीं जान पड़ता।

अधिकांश हिंदू मंदिरों अथवा अन्य अट्टालकों में बहुत सुंदर मूर्तियाँ तथा नक्काशियाँ खुदी हैं। मदुरा (१७वीं शताब्दी) तथा कांजीवरम् के मंदिर इस प्रकार के काम के बहुत सुंदर उदाहरण हैं। विजयस्तंभों में भी मूर्तियाँ खुदी हैं, परंतु इतनी बहुतायत से नहीं जितनी दक्षिण के मंदिरों में।

आधुनिक काल के अट्टालकों में पेरिस का ईफेल टावर है जिसे गस्टोव ईफल नामक इंजीनियर ने सन् १८८९ में निर्मित किया था। यह लोहे का अट्टालक है और ९८४ फुट ऊँचा है। इसपर लोग बिजली के लिफ्ट द्वारा ऊपर जाते हैं। पर्यटकों की सुविधा के लिये ऊपर जलपानगृह (रेस्तराँ) का भी प्रबंध है।

लंदन-स्थित वेस्टमिन्स्टर गिरजे का शिखर २८३ फुट ऊँचा है और संसार के प्रसिद्ध अट्टालकों में से है। यह सन् १८९५-१९०३ में बना था।

रिइन्फोर्स्ड कंक्रीट का बना हुआ नोटरडेम का अट्टालक भी काफी प्रसिद्ध है। यह सन् १९२४ में बना था।

अन्य आधुनिक अट्टालक निम्नलिखित हैं : जर्मनी का आइंस्टाइन टावर, पोट्सडाम वेधशाला, अमरीका का क्लीवलैंड मेमोरियल टावर, प्रिंस्टन विश्वविद्यालय टावर (१९१३) तथा येल विश्वविद्यालय का हार्कनेस मेमोरियल टावर, स्वीडन में स्टॉकहोम नामक शहर के हाल का अट्टालक, इत्यादि।

किसी महान् व्यक्ति अथवा घटना की स्मृति में अट्टालक बनाने की प्रथा भी प्रचलित रही है और बहुत से अट्टालक इसी उद्देश्य से बने हैं। आधुनिक स्थापत्यकला में बड़े बड़े भवनों के निर्माण में इमारत की भव्यता बढ़ाने के विचार से बहुत से स्थानों पर छोटे बड़े अट्टालक लोगों ने बनवा दिए हैं, उदाहरणार्थ हरिद्वार का राजा बिड़ला टावर।

अट्टालकों के निर्माण में नींव को पर्याप्त चौड़ा रखना पड़ता है, जिससे वहाँ की भूमि अट्टालक के पूरे भार को सहन कर सके। इस प्रकार के काम के लिये या तो रिइन्फोर्स्ड कंक्रीट की बेड़ानुमा नींव (रफ्ट फाउंडेशन) दी जा सकती है या जालीदार नींव (ग्रिलेज फाउंडेशन)।

अट्टालक के ऊँचा होने के कारण इसपर वायु की दाब बहुत पड़ती है, इसलिये अट्टालकों की आकल्पना (डिज़ाइन) में आँधी से पड़नेवाली दाब का ध्यान अवश्य रखा जाता है। [का० प्र०]

अट्ठकथा अट्ठकथा (अर्थकथा) पालि ग्रंथों पर लिखे गए भाष्य हैं। मूल पाठ की व्याख्या साफ करने के लिये पहले उससे संबद्ध कथा का उल्लेख कर दिया जाता है, फिर उसके शब्दों के अर्थ बताए जाते

है। त्रिपिटक के प्रत्येक ग्रंथ पर ऐसी अट्ठकथा प्राप्त होती है। अट्ठकथा की परंपरा मूलत: कदाचित् लंका में सिंहल भाषा में प्रचलित हुई थी। आगे चलकर जब भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा तब लंका से अट्ठकथा लाने की आवश्यकता हुई। इसके लिये चौथी शताब्दी में आचार्य रेवत ने अपने प्रतिभाशील शिष्य बुद्धघोष को लंका भेजा। बुद्धघोष ने विसुद्धिमग्ग जैसा प्रौढ ग्रंथ लिखकर लंका के स्थविरों को संतुष्ट किया और सिंहली ग्रंथों के पालि अनुवाद करने में उनका सहयोग प्राप्त किया। आचार्य बुद्धदत्त और धम्मपाल ने भी इसी परंपरा में कतिपय ग्रंथों पर अट्ठकथायें लिखीं। [भि० ज० का०]

अडिलेड नगर दक्षिणी आस्ट्रेलिया की राजधानी है जो टॉरेंस नदी पर समुद्रतट से १४० फुट की ऊँचाई पर अडिलेड बदरगाह से ७ मील दक्षिणपूर्व तथा मेलबोर्न से उत्तर-पश्चिम दिशा में ५०६ मील की दूरी पर स्थित है। यह १८३६ ई० में बसाया गया था। इसके पूर्व एवं दक्षिण की ओर माउंट लाफ्टी की पहाड़ियाँ समुद्रतट तक फैली हुई हैं, परंतु उत्तर की ओर समुद्रतट से होता हुआ उपजाऊ, समतल मैदान इसके पृष्ठप्रदेश में बहुत दूर तक फैला हुआ है। पास की उपजाऊ भूमि, उद्यान, खनिज पदार्थों के बाहुल्य एवं सुहावनी जलवायु के कारण यह नगर अत्यंत उन्नतिशील हो गया है। इसका स्थान अब संसार के सुंदरतम नगरों में है। यहाँ की औसत वार्षिक वर्षा २१.२२ इंच, गर्मी का औसत ताप ७२.९° फारेनहाइट तथा जाड़े का औसत ताप ५३.१° फारेनहाइट है।

अडिलेड नगर उत्तर और दक्षिण दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। उत्तरी भाग में निवासस्थानों का बाहुल्य तथा दक्षिण में औद्योगिक आवासों की अधिकता है। परिवहन की सुलभता के लिये टॉरेंस नदी पर पुल बना दिया गया है। यहाँ के दर्शनीय स्थल संसद-भवन, प्रादेशिक राज्य विभाग, अजायबघर, वनस्पति उद्यान (बोटैनिकल गार्डेन) तथा अडिलेड विश्वविद्यालय हैं।

यहाँ के मुख्य उत्पादन मिट्टी के बरतन, लोहे, चमड़े, तथा लकड़ी के सामान एवं धातु उद्योग हैं। निर्यात की मुख्य वस्तुएँ मक्खन, ताँबा, आटा, फल एवं कच्चा शीशा हैं। चमड़ा, चाँदी, शराब एवं ऊन का भी यह एक वितरण केंद्र है। [वि० मु०]

अड़ूसा के पौधे भारतवर्ष में सर्वत्र होते हैं। ये पौधे ४,००० फुट की ऊँचाई तक पाए जाते हैं और चार से आठ फुट तक ऊँचे होते हैं। पूर्वी भारत में अधिक तथा अन्य भागों में कुछ कम मिलते हैं। कहीं कहीं इनमें वन भरे पड़े हैं और कहीं खाद के काम में लाने के लिये इनकी खेती भी होती है। इनके पत्ते लंबे, अमरूद के पत्तों के सदृश होते हैं। ये पौधे दो प्रकार के, काले और सफेद, होते हैं। श्वेत अड़ूसे के पत्ते हरे और श्वेत धब्बेवाले होते हैं। फूल दोनों के श्वेत होते हैं, जिनमें लाल या बैंगनी धारियाँ होती हैं।

अड़ूसे का पौधा

इसकी जड़, पत्ते और फूल तीनों ही ओषधि के काम आते हैं। प्रामाणिक आयुर्वेद ग्रंथों में खाँसी, श्वास, कफ और क्षय रोग की इसे अनुभूत ओषधि कहा गया है। इसके पत्तों की सिगरेट बनाकर पीने से दमा शांत होता है। रासायनिक विश्लेषण से इसमें वासिसिन नामक ऐल्कालाएड (क्षार) तथा ऐट्होडिक नामक अम्ल पाए गए हैं। [भ० दा० व०]
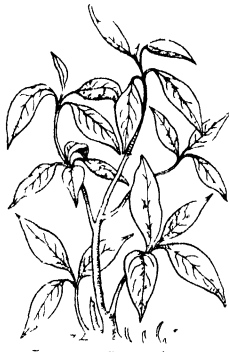
अणु द्रव्य के उस सूक्ष्मतम कण को जो स्वतंत्र अवस्था में रह सकता है और जिसमें द्रव्य के सब गुण विद्यमान रहते हैं अणु (मौलिक्यूल) कहते हैं। अणु में साधारणत: दो या अधिक परमाणु (ऐटम) रहते हैं। अणु की परिकल्पना के पूर्व परमाणु को ही तत्वों तथा यौगिकों दोनों का सूक्ष्मतम कण माना जाता था। डाल्टन और बर्ज़ीलियस ने तब यह कल्पना की थी कि समान ताप तथा दाब पर सब गैसों के एक निश्चित आयतन में उपस्थित परमाणुओं की संख्या समान होती है। इस कल्पना से जब गे-लूसाक के गैस आयतन संबंधी नियम को समझाने का प्रयत्न किया गया तब कठिनाई उपस्थित हुई। इसी कठिनाई को हल करने के लिये इटली के वैज्ञानिक अमीडिओ आवोगाड्रो (१७७६-१८५६) ने अणुओं की कल्पना की।

डाल्टन ने यौगिकों के सूक्ष्मतम कणों को "यौगिक परमाणु" नाम दिया था। इस परिभाषा के अनुसार "यौगिक परमाणु" किसी विशेष यौगिक के गुणों को प्रदर्शित करनेवाला सबसे सूक्ष्म कण तो अवश्य था, परंतु तत्वों के परमाणुओं की भाँति अविभाज्य नहीं था। किसी यौगिक परमाणु के विभाजन पर संयुक्त तत्वों के परमाणु प्राप्त किए जा सकते थे। यौगिक परमाणुओं की विभाज्यता को देखते हुए आवोगाड्रो ने उन्हें 'परमाणु' कहना अनुचित समझा और "यौगिक परमाणुओं" को 'अणु' नाम दिया। आधुनिक विज्ञान में उपर्युक्त प्रकार के अणु को 'भौतिक अणु' कहते हैं। साथ ही, 'रासायनिक अणु' यौगिक के उस सूक्ष्मतम अंश को कहते हैं जो किसी रासायनिक क्रिया में भाग ले सकता है और जिसके द्वारा उस यौगिक की रचना को स्पष्टतया व्यक्त किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, मणिभीय ठोस पोटैसियम क्लोराइड में रासायनिक अणु पोक्लो (KCl) है, परंतु उसके लिये भौतिक अणु का कोई अस्तित्व नहीं है जब तक कि कुल मणिभ को ही एक अणु न मान लिया जाय। इसके विपरीत कार्बन डाइऑक्साइड जैसे गैसीय यौगिकों के लिये रासायनिक तथा भौतिक अणु दोनों ही काऔ$_2$ (CO_2) हैं। इसके अतिरिक्त आवोगाड्रो ने तत्वों के, स्वतंत्र अवस्था में रह सकनेवाले, सूक्ष्मतम कणों को भी 'अणु' नाम दिया। तत्व के अणु उसी तत्व के एक या एक से अधिक परमाणुओं से मिलकर बनते हैं। तत्वों तथा यौगिकों के अणुओं में यही विशेष भेद है कि तत्व के अणुओं में उपस्थित परमाणु एक से होते हैं, परंतु यौगिक के अणुओं में उपस्थित परमाणु एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भौतिक अणु केवल गैसीय पदार्थों के अणु होते हैं। गैसों के गत्यात्मक सिद्धांत का आधार ही अणुओं की उपस्थिति है, इन्हीं के वेग और पारस्परिक तथा अन्य भौतिक पदार्थों के प्रति आकर्षण द्वारा उपर्युक्त सिद्धांत के सब निष्कर्ष निर्धारित होते हैं। अवाष्पशील द्रवों तथा ठोस पदार्थों के लिये द्रव तथा ठोस अवस्था में भौतिक अणुओं का अस्तित्व नहीं होता, परंतु यदि ये पदार्थ किसी वितायक में विलेय हों तो विलीन अवस्था में उपस्थित उनके सूक्ष्मतम कण को अणु कह सकते हैं और ये विलीन अणु अधिकांश गुणों में गैसीय अणुओं से समानता प्रदर्शित करते हैं (वैंट हाफ का तनु विलयनों का सिद्धांत)।

गैसों तथा विलयनों के गुणों को समझने के प्रयास में अणुओं की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ, परंतु दीर्घ काल तक इनका अस्तित्व काल्पनिक ही रहा। १९वीं शताब्दी के अंत में रेडियो-सक्रिय पदार्थों से निश्चित संख्या में सूक्ष्म कणों की प्राप्ति तथा एक्स-रे और इलेक्ट्रान-विकिरण द्वारा द्रव्य की असतत प्रकृति के अध्ययन ने अणुओं की उपस्थिति के विचार की पुष्टि की। परंतु अणुओं तथा उनकी गति का सबसे प्रत्यक्ष प्रमाण ब्राउनीय गति (ब्राउनियन मूवमेंट) में मिलता है। स्वयं अणुओं का आकार तो इतना सूक्ष्म (लगभग 10^{-8} सेंटीमीटर) है कि इनको अच्छे से अच्छे सूक्ष्मदर्शी से भी प्रत्यक्ष देखना संभव नहीं हो पाया है। यदि इनके साथ साथ किसी माध्यम में सूक्ष्मदर्शी द्वारा दिखाई पड़ सकनेवाले इतने सूक्ष्म कण विद्यमान हों, जिनमें इन अति-सूक्ष्म अणुओं की टक्करों से पर्याप्त गति उत्पन्न हो सके, तो इन दृष्टिगोचर सूक्ष्म कणों द्वारा अणुओं की गति तथा उनकी संख्या का अनुमान लगाया जा सकता है। सौभाग्यवश इस श्रेणी के सूक्ष्म कण कोलायड विलयनों के रूप में प्राप्त हैं और इन्हीं की सहायता से पेराँ नामक फ्रांसीसी वैज्ञानिक ने अनेक पदार्थों के एक ग्राम-अणु-भार में उपस्थित अणुओं की संख्या ज्ञात की, जो लगभग 6.06×10^{23} निकली। आवोगाड्रो सिद्धांत के अनुसार भी प्रत्येक गैसीय पदार्थ के एक ग्राम-अणु-भार में उपस्थित अणुओं की संख्या 6.06×10^{23} ही होगी। इस संख्या को 'आवोगाड्रो संख्या' नाम दिया गया है।

[रा० च० मे०]

अणुवाद दर्शन में प्रकृति के अल्पतम अंश को अणु या परमाणु कहते हैं। अणुवाद का दावा है कि प्रत्येक प्राकृत पदार्थ अणुओं से बना है और पदार्थों का बनना तथा टूटना अणुओं के संयोग वियोग का ही दूसरा नाम है। प्राचीन काल में अणुवाद दार्शनिक विवेचन का एक प्रमुख विषय था, परंतु वैज्ञानिकों ने इसे स्वीकार नहीं किया। इसके विपरीत, आधुनिक काल में दार्शनिक इसकी ओर से उदासीन रहे हैं, परंतु भौतिकी के लिये अणु की बनावट और प्रक्रिया अध्ययन का प्रमुख विषय बन गई है (देखें **अणु, परमाणु**)। भारत में वैशेषिक दर्शन ने अणु पर विशेष विचार किया है।

प्राचीन दार्शनिक विचार--प्रकृति के विभाजन में अणु परम या अंत है, विभाजन इससे आगे जा नहीं सकता। दिमाक्रीतस के अनुसार प्रत्येक अणु परिमाण और आकृति रखता है, परंतु इनमें किसी प्रकार का जातिभेद नहीं। यही ल्युसिप्पल का भी मत था। एंपिदोक्लीज़ ने पृथिवी, जल और अग्नि के अणुओं में जातिभेद देखा। अणुओं का संयोग वियोग गति पर निर्भर है, और गति शून्य में ही हो सकती है। अभाज्य अणुओं के साथ प्राचीन अणुवाद ने शून्य के अस्तित्व को भी स्वीकार किया।

आधुनिक विज्ञान और अणु--१९वीं शताब्दी के आरंभ में जॉन डाल्टन ने अणुवाद का सबल समर्थन किया। उसे उचित रूप से आधुनिक अणुवाद का पिता कहा जाता है। अणुवाद की पुष्टि में कई हेतु दिए जाते हैं जिनमें दो ये हैं: (१) प्रत्येक पदार्थ दबाव के नीचे सिकुड़ जाता है और दबाव दूर होने पर फैल जाता है। गैसों की हालत में यह संकोच और फैलाव स्पष्ट दीखते हैं। किसी वस्तु का संकोच उसके अणुओं का एक दूसरे के निकट आना है, उसका फैलना अणुओं के अंतर का अधिक होना ही है। (२) गुणित अनुपात का नियम (लॉ ऑव मल्टिपुल प्रोपोर्शंस) अणुवाद की पुष्टि करता है। जब दो भिन्न अणु रासायनिक संयोग में आते हैं, तो उनमें एक के अचल मात्रा में रहने पर, दूसरा अणु २,३,४... इकाइयों में ही उससे मिलता है, २$\frac{१}{२}$, ३$\frac{३}{४}$ आदि मात्राओं में नहीं मिलता। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि अणु का $\frac{१}{२}$ या $\frac{३}{४}$ अंश कहीं विद्यमान ही नहीं।

वैशेषिक का अणुवाद--वैशेषिक दर्शन का उद्देश्य मौलिक 'पदार्थों' या परतम-जातियों का अध्ययन है। इन पदार्थों में प्रथम स्थान 'द्रव्य' को दिया गया है। नौ द्रव्यों में पहले पाँच द्रव्य पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश हैं। इसका अर्थ यह है कि सभी प्राकृत अणु सजातीय नहीं, अपितु उनमें जातिभेद है। इस विचार में वैशेषिक दिमाक्रीतस से नहीं अपितु एंपिदोक्लीज से मिलता है। अणुओं में जातिभेद प्रत्यक्ष का विषय तो है नहीं, अनुमान ही हो सकता है। ऐसे अनुमान का आधार क्या है? वैशेषिक के अनुसार, कारण के भाव से ही कार्य का भाव होता है। हमारे संवेदनों ('सेंसेशंस्') में मौलिक जातिभेद है—देखना, सुनना, सूंघना, चखना, छूना एक दूसरे में बदल नहीं सकते। इस भेद का कारण यह है कि इन बोधों के साधक अणुओं में भी जातिभेद है।

अणुओं का संयोग वियोग निरंतर होता रहता है। समता की हालत में संयोग का आरंभ 'सृष्टि' है, पूर्ण वियोग 'प्रलय' है। अणु नित्य है, इसलिये सृष्टि, प्रलय का क्रम भी नित्य है। [दी० चं०]

अणुव्रत अणुव्रत का अर्थ है लघुव्रत। जैनधर्म के अनुसार श्रावक अणुव्रतों का पालन करते हैं। महाव्रत साधुओं के लिये बनाए जाते हैं। यही अणुव्रत और महाव्रत में अंतर है, अन्यथा दोनों समान हैं। अणुव्रत इसलिये कहे जाते है कि साधुओं के महाव्रतों की अपेक्षा वे लघु होते हैं। महाव्रतों में सर्वत्याग की अपेक्षा रखते हुए सूक्ष्मता के साथ व्रतों का पालन होता है, जबकि अणुव्रतों में उन्हीं व्रतों का स्थूलता से पालन किया जाता है।

अणुव्रत पाँच होते हैं--(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह। (१) जीवों की स्थूल हिंसा के त्याग को अहिंसा कहते हैं। (२) राग-द्वेष-युक्त स्थूल असत्य भाषण के त्याग को सत्य कहते हैं। (३) बुरे इरादे से स्थूल रूप से दूसरे की वस्तु अपहरण करने के त्याग को अस्तेय कहते हैं। (४) परस्त्री का त्याग कर अपनी स्त्री में संतोषभाव रखने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। (५) धन, धान्य आदि वस्तुओं में इच्छा का परिमाण रखते हुए परिग्रह के त्याग को अपरिग्रह कहते हैं।

सं०ग्रं०--उवासगदसाओ; तत्वार्थसूत्र मूल और टीकाएँ; समंतभद्र: यत्नकरंड श्रावकाचार; अभिधानराजेंद्र कोश, १ (१९१३)। [ज०चं०जै०]

अतिचालकता कुछ विशिष्ट दशाओं में धातुओं की वैद्युत् चालकता (देखें **विद्युत्चालन**) इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वह सामान्य विद्युतीय नियमों का पालन नहीं करती। इस चालकता को अतिचालकता (सुपर कंडक्टिविटी) कहते हैं।

जब कोई धातु किसी उपयुक्त आकार में, जैसे बेलन अथवा तार के रूप में, ली जाती है, तब वह विद्युत् के प्रवाह में कुछ न कुछ प्रतिरोध अवश्य उत्पन्न करती है। किंतु सर्वप्रथम सन् १९११ में केमरलिंग ओन्स ने एक सनसनीपूर्ण खोज की कि यदि पारे को ४° (परम ताप) के नीचे ठंढा कर दिया जाय तो उसका विद्युतीय प्रतिरोध अकस्मात् नष्ट होकर वह पूर्ण सुचालक बन जाता है। लगभग २० धातुओं में, जिनमें राँगा, पारा, सीसा इत्यादि प्रमुख हैं, यह गुण पाया जाता है। जिस ताप के नीचे यह दशा प्राप्त होती है उस ताप को संक्रमण ताप (ट्रैंज़िशन टेंपरेचर) कहते हैं और इस दशा की चालकता को अतिचालकता। संक्रमण ताप न केवल भिन्न भिन्न धातुओं के लिये पृथक् पृथक् होते हैं, अपितु एक ही धातु के विभिन्न समस्थानिकों के लिये भी विभिन्न होते हैं। पैलेडियम-ऐंटीमनी जैसे कई मिश्र धातुओं में भी अतिचालकता गुण पाया जाता है। संक्रमण ताप को साधारणतः **ता**$_{स}$ से सूचित किया जाता है।

परमाणु में इलेक्ट्रान अंडाकार पथ में परिक्रमा करते हैं और इस दृष्टि से वे चुंबक जैसा कार्य करते हैं। बाहरी चुंबकीय क्षेत्र से इन चुंबकों का घूर्ण (मोमेंट) कम हो जाता है। दूसरे शब्दों में, परमाणु विषम चुंबकीय प्रभाव दिखाते हैं। यदि ताप **ता**$_{स}$ पर किसी पदार्थ को उपयुक्त चुंबकीय क्षेत्र में रखा जाय तो उस सुचालक का आंतरिक चुंबकीय क्षेत्र नष्ट हो जाता है—अर्थात् वह एक विषम चुंबकीय पदार्थ जैसा कार्य करने लगता है। तलपृष्ठ पर बहनेवाली विद्युद्धाराओं के कारण आंतरिक क्षेत्र का मान शून्य ही रहता है। इसे माइसनर का प्रभाव कहते हैं। यदि अतिचालक पदार्थ को धीरे धीरे बढ़नेवाले चुंबकीय क्षेत्र में रखा जाय तो क्षेत्र के एक विशेष मान पर (जिसे देहली मान [थ्रेशोल्ड वैल्यू] कहते हैं) इसका प्रतिरोध पुनः अपने पूर्व मान के बराबर हो जाता है।

धातु को एक बंद कुंडली के रूप में लेकर और उसे पहले चुंबकीय क्षेत्र में रखकर तथा बाद में ताप को **ता**$_{स}$ से कम करके और फिर क्षेत्र को बदलने से, उसमें एक प्रेरित विद्युद्धारा का प्रवाह होता है। इस विद्युद्धारा **धा** का मान सर्वसाधारण नियम **धा** **धा**$_{०}$ **ई**$^{[illegible]}$ के अनुसार घटते जाना चाहिए। किंतु जब तक ताप **ता**$_{स}$ से कम रहता है तब तक यह धारा घटती नहीं, निरंतर बढ़ती ही रहती है। यह तभी हो सकता है जब **प्र**, अर्थात् प्रतिरोध, शून्य के बराबर हो। विद्युत् की यह अक्षय धारा उस धातु के गुणों पर निर्भर न होकर चुंबकीय क्षेत्र के परिवर्तन पर निर्भर रहती है।

अतिचालक पदार्थ चुंबकीय परिरक्षण का भी प्रभाव प्रदर्शित करते हैं। इन सबका ताप-वैद्युत्-बल शून्य होता है और टामसन-गुणांक बराबर होता है। संक्रमण-ताप पर इनकी विशिष्ट उष्मा में भी अकस्मात् परिवर्तन हो जाता है।

यह विशेष उल्लेखनीय है कि जिन परमाणुओं में बाह्य इलेक्ट्रानों की संख्या ५ अथवा ७ है उनमें संक्रमण ताप उच्चतम होता है और अतिचालकता का गुण भी उत्कृष्ट होता है।

अतिचालकता के सिद्धांत को समझाने के लिये कई सुझाव दिए गए हैं। किंतु इनमें से अधिकांश को केवल आंशिक सफलता ही प्राप्त हुई है। वर्तमान काल में बार्डीन, कूपर तथा श्रीफर द्वारा दिया गया सिद्धांत पर्याप्त संतोषप्रद है। इस सिद्धांत के अनुसार चालकता के इलेक्ट्रान-सिद्धांत में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। इसका मूल विचार है इलेक्ट्रान तथा परमाणु के कंपनों की पारस्परिक क्रिया। यहाँ यह परिकल्पना बनाई गई है कि कुछ इलेक्ट्रानों की ऐसी जोड़ियाँ बन जाती हैं जिनमें दोनों इलेक्ट्रानों का संवेग तो एक सा होता है, किंतु उनका आभ्रमण (स्पिन) एक दूसरे के विरुद्ध होता है। जब संवेग शून्य नहीं होता तभी धातु में अतिचालकता की सब प्रधान विशेषताएँ (माइसनर का प्रभाव, विशिष्ट उष्मा का परिवर्तन, इत्यादि) प्रकट हो जाती हैं। [म० गं० भा०]

अतिथि अतिथि के प्रति पूज्य भावना की मत्ता वैदिक आर्यों में अत्यंत प्राचीन काल से है। ऋग्वेद में अनेक मंत्रों में अग्नि से अतिथि की उपमा दी गई है (८।७४।३-४)। अतिथि वैश्वानर का रूप माना जाता था (कठ० १।१।७) इसीलिये जल के द्वारा उसकी शांति करने का आदेश दिया गया है। **अतिथिर्नमस्यः** (अतिथि पूज्य है)--भारतीय धर्म का आधारपीठ है जिसका पल्लवन स्मृति ग्रंथों में बड़े विस्तार से किया गया है। उनमें अतिथि के लिये आसन, अर्घ तथा मधुपर्क का विधान हुआ है। महाभारत का कथन है कि जिस घर से अतिथि भग्नमनोरथ होकर लौटता है उसे वह अपना पाप देकर तथा उसका पुण्य लेकर चला जाता है। अतिथि-सत्कार को पंचमहायज्ञों में स्थान दिया गया है। [ब० उ०]

अतिनूतन युग भूवैज्ञानिकों ने पृथ्वी के आदि से आज तक के समय को मोटे हिसाब से पाँच कल्पों (कल्प--ईरा) में बाटा है। इनके नाम हैं आदि (आर्रकियोज़ोइक), सुपुरा (प्रोटेरोज़ोइक), पुरा (पैलियोज़ोइक), मध्य (मेसोज़ोइक) और नूतन (सीनोज़ोइक)। इनमे आदि कल्प सबसे प्राचीन और नूतन कल्प सबसे नवीन है। समय का इन कल्पों में विभाजन भूपृष्ठ पर होनेवाल महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों और अन्य भू-क्रांतियों के आधार पर किया गया है। इन कल्पों

कल्प	युग		अवधि वर्षों में	प्रमुख जीव	लाक्षणिक जीव
नूतन	तुरीय	अभिनव	१०,०००	मनुष्य	
		प्रातिनूतन	१०,००,०००		
	तृतीयक	अतिनूतन	६०,००,०००	स्तनधारी	
		मध्यनूतन	१,२०,००,०००		
		आदिनूतन	१,६०,००,०००		
		प्रादिनूतन	२,००,००,०००		
		पुरानूतन	५०,००,०००		
मध्य	खटीयुत		६,५०,००,०००	उरग	
	महासरट		३,५०,००,०००		
	रक्ताश्म		३,५०,००,०००		
पुरा	गिरि		२,५०,००,०००	जलस्थलचर	
	कार्बनप्रद		८,५०,००,०००		
	मत्स्य		५,००,००,०००	मत्स्य	
	प्रवालादि		४,००,००,०००		
	अवर प्रवालादि		८,५०,००,०००	अपृष्ठवंशी	
	कैंब्रियन		७,००,००,०००		
सुपुरा	उत्तर कैंब्रियन पूर्व		६५,००,००,०००	आदि बहुकोशीय रूप	
आदि	अवर कैंब्रियन पूर्व		६५,००,००,०००	एककोशीय रूप	× ३००

भूवैज्ञानिक कल्प और युग

में आदि कल्प की अवधि पैंसठ करोड़ वर्ष की है। अवधि सुपुरा कल्प को छोड़ अन्य तरुणतर कल्पों में कम होती जाती है, यहाँ तक कि सबसे तरुण नूतनकल्प की अवधि लगभग छः करोड़ वर्ष की है। प्रत्येक कल्प कई युगों (युग--पीरियड) में विभक्त है और प्रत्येक की एक निश्चित अवधि है। कल्पों और युगों के नाम और उनकी अवधि साथ के चित्र में दिखाई गई है।

नूतन कल्प को दो भागों, तृतीयक (टरशिअरी) और तुरीय (क्वाटरनरी) में विभक्त किया गया है। इनमें से तृतीयक क्रमशः पाँच युगों अर्थात् पुरानूतन (पैलियोसीन), प्रादिनूतन (इओसीन), आदिनूतन (आलिगोसीन), मध्यनूतन (मायोसीन) और अतिनूतन (प्लायोसीन) में बाँटा गया है, जिनमें पुरानूतन सबसे प्राचीन और अतिनूतन सबसे नवीन है। प्लायोसीन शब्द की उत्पत्ति ग्रीक धातुओं (प्लाइआन=अधिक, कइनास=नूतन) से हुई है जिसका तात्पर्य यह है कि मध्यनूतन की अपेक्षा, इस युग में पाए जानेवाले जीवों की जातियाँ और प्रजातियाँ आज भी अधिक संख्या में जीवित हैं। सन् १८३३ ई० में प्रसिद्ध भूवैज्ञानिक लायल महोदय ने इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया था।

यूरोप में इस युग के शैल इंग्लैंड, फ्रांस, बेल्जियम, इटली आदि देशों में पाए जाते हैं। अफ्रीका में इस युग के शैल कम मिलते हैं और जो मिलते हैं वे समुद्रतट पर पाए जाते हैं। आस्ट्रेलिया में इस युग के स्तरों का निर्माण मुख्यतः नदियों और झीलों में हुआ। अमरीका में भी इस युग के शैल पाए जाते हैं।

इस युग में कई स्थानों में भूमि समुद्र से बाहर निकली। उत्तरी और दक्षिणी अमरीका, जो इस युग के पहले अलग अलग थे, बीच में भूमि उठ आने के कारण जुट गए। इस युग में उत्तरी अमरीका यूरोप से जुड़ा था। इस युग के आरंभ में भूमध्यसागर (मेडिटरेनियन समुद्र) यूरोप के निचले भागों में चढ़ आया था, परंतु युग के अंत में वह फिर हट गया और भूमि की रूपरेखा बहुत कुछ वैसी हो गई जैसी अब है। आरंभ में लंदन के पड़ोस की भूमि समुद्र के भीतर थी, परंतु इस युग के अंत में समुद्र हट गया। कई अन्य स्थानों में भी थोड़ी बहुत उथल पुथल हुई। इन सबका ब्योरा यहाँ देना संभव नहीं है। कई स्थानों में समुद्र का पेंदा धँम गया, जिससे पानी खिच गया और किनारे की भूमि से समुद्र हट गया।

तृतीयक युग में जो दूसरी मुख्य घटना घटित हुई, वह भारत, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका और दक्षिण अमरीका का पृथक्करण है। मध्य कल्प (मेसोज़ोइक एरा) तक ये सारे देश एक दूसरे से जुडे हुए थे, परंतु जिस समय हिमालय का उत्थान प्रारंभ हुआ उसी समय भूगतियों ने इन देशों को एक दूसरे से पृथक् कर दिया।

भारतवर्ष में अतिनूतन युग का प्रतीक सिवालिक तंत्र (सिस्टम) में मिलता है। उच्च सिवालिक तंत्र के टेट्राट और पिंजर नामक भाग ही अतिनूतन के अधिकांश भाग के ममकालिक हैं। हरिद्वार के समीप प्रसिद्ध सिवालिक पर्वतमाला के ही आधार पर इस तंत्र का नाम सिवालिक तंत्र पड़ा है। अतिनूतन युग के शैल सिंध तथा बलूचिस्तान में, पंजाब, कुमाऊँ तथा आसाम के हिमालय की पाद-मालाओं में और बरमा में पाए जाते हैं।

शैल निर्माण की दृष्टि से हमारे देश में अतिनूतन युग के शैल अधिकांशतः बालुकाश्म हैं जिनकी मोटाई लगभग ६,००० और ९,००० फुट के बीच में है। इन शैलों के देखने से यह पता लग जाता है कि ये ऐसे प्रकार के जलोढ (अलूवियल) अवसाद हैं जिनका निर्माण पर्वतों के अपक्षरण से हुआ। ये अवसाद हिमालय से निकलनेवाली अनेक नदियों द्वारा आकर उसके पाद पर निक्षेपित हुए।

हमारे देश के अतिनूतन युग के शैलों में पृष्ठवंशियों, विशेषतः स्तनधारियों के जीवाश्म प्रचुरता से मिलते हैं। यही कारण है कि वे समस्त विश्व में प्रसिद्ध हो गए हैं। इस युग में बसनेवाले जीव, जिनके जीवाश्म हमको इस युग के शैलों में मिलते हैं, उन जंगलों और महापंकों में रहते थे जो नवनिर्मित हिमालय पर्वत की बाहरी ढाल में थे। इन जीवों की करोटियाँ (खोपड़ियाँ) और जबड़े जैसे अति टिकाऊ भाग पर्वतों से नीचे बहकर आनेवाली नदियों द्वारा बहा लाए गए और अंततोगत्वा अति शीघ्र संचित होनेवाले अवसादों में समाधिस्थ हो गए। इस प्रकार प्रतिरक्षित जीवाश्मों के आधार पर उस समय में रहनेवाले अनेक प्रकार के जीवों के विषय में हमको सुगमता से पता लग जाता है। इनमें से कुछ प्रकार के हाथी, जिराफ, दरियाई घोड़ा, गैंडा आदि उल्लेखनीय हैं।

सं०ग्रं०—डी० एन० वाडिया : रिपोर्ट, एट्टीथ इंटरनैशनल जिऑलॉजिकल कांग्रेस (१९५१); डी० एन० वाडिया : जिऑलॉजी ऑव इंडिया। अन्य सामग्री के लिये देखें भूविज्ञान शीर्षक लेख। [रा० ना०]

अतियथार्थवाद (सर्रियलिज्म), कला और साहित्य के क्षेत्र में प्रथम महायुद्ध के लगभग प्रचलित होनेवाली शैली और आंदोलन। चित्रण और मूर्तिकला में तो (चित्रपट के चित्रों में भी) यह आधुनिकतम शैली और तकनीक है। इसके प्रचारकों और कलाकारों में प्रधान चिरिको, दाली, मीरो, आर्प, ब्रेतों, मासों आदि हैं। कला में इस दृष्टि का दार्शनिक निरूपण १९२४ में आँद्रे ब्रेतों ने अपनी 'अतियथार्थवादी घोषणा' (सर्रियलिस्ट मैनिफ़ेस्टो) में किया।

अति यथार्थवाद का सिद्धांत इसके प्रवर्तकों द्वारा इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ: अतियथार्थ यथार्थ से, दृश्य-श्रव्य-जगत् से परे है। यह वह परम यथार्थ है जो अवचेतन में निहित होता है; सुषुप्त, तंद्रित, स्वप्निल अवस्था में असाधारण कल्पित, अकल्पित, अप्रत्याशित अनुभूतियों के रूप में अनायास आवेगों द्वारा मानस के चित्रपट पर चढ़ता उतरता रहता है। जो विषय अथवा दृश्य साधारणतः तर्कतः परस्पर असंबद्ध लगते हैं वास्तव में उनमें अलक्षित संबंध है जिसे मात्र अतियथार्थवाद प्रकाशित कर सकता है। अतियथार्थवादियों की प्रतिज्ञा है कि हमारे सारे कार्यो का उद्‌गम अवचेतन अंतर है। वही हमारे कार्यों को गति और दिशा भी देता है और उस उद्‌गम से प्रस्फुटित होनेवाले मनोभावों को दृष्टिगम्य, स्थूल, रससिक्त आकृति दी जा सकती है।

अतियथार्थवाद के प्रतीक और मान दैनंदिन जीवन के परिमाणों, प्रतिबोधों से सर्वथा भिन्न होते हैं। अतियथार्थवादियों की अभिरुचि अलौकिक, अद्‌भुत, अकल्पित और असंगत स्थितियों की अभिव्यक्ति में है। ऐसा नहीं कि उस अवचेतन का साहित्य अथवा कला में अस्तित्व पहले न रहा हो। परियों की कहानियाँ, असाधारण की कल्पना, जैसे 'एलिस इन दि वंडर-लैंड' अथवा सिंदबाद की कहानियाँ, बच्चों अथवा अर्धविक्षिप्त व्यक्तियों के चित्रांकन साहित्य और कला दोनों क्षेत्रों में अतियथार्थवाद की इकाइयाँ प्रस्तुत करते हैं। अतियथार्थवादियों की स्थापना है कि हम पार्थिव दृश्य जगत् को भेदकर, उसके तथोक्त यथार्थ का अतिक्रमण करके वास्तविक परमयथार्थ के जगत् में प्रवेश कर सकते हैं। अंकन को आकृतियों के प्रतिनिधान की आवश्यकता नहीं, उसे जीवन के गहन तत्वों को समझना और समझाना है, जीवन के प्रति मानव प्रतिक्रियाओं का आकलन करना है, और ये तथ्य निःसंदेह दृश्य जगत् के परे के हैं। अंकन को मनोरंजन अथवा आनंद का साधन मानना अनुचित है। स्थूल नेत्रों की सीमाएँ और प्रत्यक्ष की रिक्तता तो घनवादी कला ने ही प्रमाणित कर दी थी, इससे आवश्यकता प्रतीत हुई दृष्टि से अतीत परोक्ष से साक्षात्कार की, जो अवचेतन है, युक्तिसंगत यथार्थ के परे का अयुक्तियुक्त अतियथार्थ।

इस प्रकार अतियथार्थवाद मानस के अंतराल को, अवचेतन के तमाविष्ट गह्वरों को आलोकित करता है। घनवाद से भी एक पग आगे दादावाद गया और दादावाद से भी आगे अतियथार्थवाद। अतियथार्थवाद की जड़ें दादावाद की जमीन में ही लगी है। स्वयं दादावाद ने क्रियात्मक कल्पना की भूमि छोड़ निर्बंध अवचेतन की आराधना की थी, अब उसके उत्तरवर्ती अतियथार्थवाद ने अवचेतन और दृश्य जगत् को परस्पर सर्वथा स्वतंत्र और पृथक् माना। मानवीय चेतनता और पार्थिव यथार्थ अथवा कायिक अनुभूति में उसके विचार से कोई संबंध नहीं। उन्होंने आत्माध्ययन, जीवन के परम तथ्य की खोज और दृश्य से भिन्न एक अंतर्जगत् की पहचान को अपना लक्ष्य बनाया। उन्होंने कहा कि सावयवीय संपूर्णता के भीतर स्थूलतः लक्षित होनेवाले परस्पर विरोधी पर वस्तुतः अनुकूल तथ्यों, जैसे 'जीवन और मृत्यु, भूत और भविष्य, सत्य और काल्पनिक' को एकत्र करना होगा। अतियथार्थवादी घोषणाकार आंद्रे ब्रेतों ने लिखा: 'मेरा विश्वास है कि भविष्य में दोनों परस्पर विरोधी लगनेवाली स्वप्न और सत्य की स्थितियाँ परम यथार्थ, अतियथार्थ में लय हो जायँगी।'

चित्रण की प्रगति में अतियथार्थवाद ने परंपरागत कलाशैली को तिलांजलि दे दी। उसके आकलन और अभिप्रायों ने, चित्रादर्शों ने सर्वथा नया मोड़ लिया, परवर्ती से अंतरवर्ती की ओर। अवचेतन की स्वप्निल स्थितियों, विक्षिप्तावस्था तक, को उसने 'शुद्ध प्रज्ञा' का स्वच्छंद रूप माना। साधारणतः अतियथार्थवाद के दो भेद किए जाते हैं: (१) स्वप्नाभिव्यक्ति और (२) आवेगांकन। उनमें पहली शैली का विशिष्ट कलाकार साल्वादोर दाली है और दूसरी का जोआन मीरो। दोनों स्पेन के हैं। अवचेतन के उपासक अतियथार्थवाद को फिर भी आकलन के क्षेत्र में राग और रेखा की दृष्टि से सर्वथा उच्छृंखल भी नहीं समझना चाहिए। यह सही है कि अभिप्राय अथवा अंकित विषय के संबंध में अतियथार्थवाद अप्रत्याशित का आकलन करता है, पर जहाँ तक अंकन की तकनीक की बात है उसके आयाम-परिमाण सर्वथा संयत, स्पष्ट और श्रमसिद्ध होते हैं। दाली के चित्र तो इस दिशा में डच चित्राचार्यों की कला से होड़ करते हैं। अप्रत्याशित यथार्थ का उदाहरण ऐसे चित्र से दिया जा सकता है जिसका सारा वातावरण तो चिकित्सालय के शल्यकक्ष (आपरेशन थियेटर) का हो पर आपरेशन की मेज पर, जहाँ मरीज के होने की आशा की जा सकती है, वहाँ वस्तुतः चित्रित होती है सिलाई की मशीन! या नारी का ऊर्ध्वार्ध अंकित करनेवाले चित्र में जहाँ ऊपर मुहँ होने की अपेक्षा की जाती है वहाँ वस्तुतः मेज की दराज बनी रहती है। अतियथार्थवाद कला की, सामाजिक यथार्थवाद के अतिरिक्त, नवीनतम शैली है और इधर, मनोविज्ञान की प्रगति से प्रभावित, प्रभूत लोकप्रिय हुई है।

सं०ग्रं०—आंद्रे ब्रेतों: सर्रियलिस्ट मैनिफ़ेस्टो, १९२४; स्कीरा: मार्डर्न पेंटिंग। [भ० श० उ०]

अतिवृद्धि किसी भी अंग या आशय की रोगयुक्त वृद्धि को अतिवृद्धि कहा जाता है। जब किसी अवरोध के कारण आशय अपने भीतर की वस्तु को पूर्णतया बाहर नहीं निकाल पाता तो उसकी भित्तियों की वृद्धि हो जाती है। हृदय एक खोखला अंग है। जब कपाटिकाओं के रुग्ण हो जाने से वह रक्त को पूर्णतया बाहर नहीं निकाल पाता तो उसकी अतिवृद्धि होकर उसका आकार बढ़ जाता है और उसके पश्चात् प्रसार होता है। जब किसी अंग को दूसरे अंग का भी कार्य करना पड़ता है (जैसे वृक्क या फुप्फुस को), या एक भाग को दूसरे भाग का, तो उसकी सदा अतिवृद्धि हो जाती है। [गु० स्व० व०]

अतिसार अतिसार (डायरिया) उस दशा का नाम है जिसमें आहार का पक्वावशेष आंत्रनाल में होकर असामान्य द्रुतगति से प्रवाहित होता है। परिणामस्वरूप पतले दस्त, जिनमें जल का भाग अधिक होता है, थोड़े थोड़े समय के अंतर से आते रहते हैं। यह दशा उग्र तथा जीर्ण दोनों प्रकार की पाई जाती है।

उग्र—उग्र (ऐक्यूट) अतिसार का कारण प्रायः आहारजन्य विष, खाद्यविशेष के प्रति असहिष्णुता या संक्रमण होता है। कुछ विषों से भी, जैसे संखिया या पारद के लवण से, दस्त होने लगते हैं।

जीर्ण—जीर्ण (क्रॉनिक) अतिसार बहुत कारणों से हो सकता है। आमाशय अथवा अग्न्याशय ग्रंथि के विकास से पाचन विकृत होकर अतिसार उत्पन्न कर सकता है। आंत्र के रचनात्मक रोग, जैसे अर्बुद, संकिरण (स्ट्रिक्चर) आदि, अतिसार के कारण हो सकते हैं। जीवाणुओं द्वारा संक्रमण तथा जैवविषों (टौक्सिनों) द्वारा भी अतिसार उत्पन्न हो जाता है। इन जैवविषों के उदाहरण हैं रक्तविषाक्तता (सेप्टिसीमिया) तथा रक्तपूरिता (यूरीमिया)। कभी निःस्रावी (एंडोक्राइन) विकार भी अतिसार के रूप में प्रकट होते हैं, जैसे ऐडीसन के रोग और अत्यवटुकता (हाइपर थाइरॉयडिज्म)। भय, चिंता तथा मानसिक व्यथाएँ भी इस दशा को उत्पन्न कर सकती हैं। तब यह मानसिक अतिसार कहा जाता है।

अतिसार का मुख्य लक्षण, और कभी कभी अकेला लक्षण, विकृत दस्तों का बार बार आना होता है। तीव्र दशाओं में उदर के समस्त निचले भाग में पीड़ा तथा बेचैनी प्रतीत होती है अथवा मलत्याग के कुछ समय पूर्व मालूम होती है। धीमे अतिसार के बहुत समय तक बने रहने से, या उग्र दशा में थोड़े ही समय में, रोगी का शरीर कृश हो जाता है और जलह्रास (डिहाइड्रेशन) की भयंकर दशा उत्पन्न हो सकती है। खनिज लवणों के तीव्र ह्रास से रक्तपूरिता तथा मूर्छा (कॉमा) उत्पन्न होकर मृत्यु तक हो सकती है।

चिकित्सा के लिये रोगी के मल की परीक्षा करके रोग के कारण का निश्चय कर लेना अत्यावश्यक है, क्योंकि चिकित्सा उसी पर निर्भर है। कारण को जानकर उसी के अनुसार विशिष्ट चिकित्सा करने से लाभ हो सकता है। रोगी को पूर्ण विश्राम देना तथा क्षोभक आहार बिलकुल रोक

देना आवश्यक है। उपयुक्त चिकित्सा के लिये किसी विशेषज्ञ चिकित्सक का परामर्श उचित है। [शि० श० मि०]

अतिसूक्ष्मदर्शी (अल्ट्रा-माइक्रॉस्कोप) एक ऐसा उपकरण है जिसकी सहायता से बहुत छोटे छोटे कण, जो लगभग अणु के आकार के होते हैं और साधारण सूक्ष्मदर्शी से नहीं दिखाई देते, देखे जा सकते हैं। वास्तव में यह कोई नवीन उपकरण नहीं है, केवल एक अच्छा सूक्ष्मदर्शी ही है, जिसको विशेष रीति से काम में लाया जाता है। जब साधारण सूक्ष्मदर्शी साधकर पारगमित (ट्रैंसमिटेड) प्रकाश से वस्तुओं को हम देखते हैं, तो वे प्रकाश के मार्ग में पड़कर प्रकाश को रोक देती हैं, जिससे वे प्रकाशित पृष्ठभूमि पर काले चित्रों के रूप में दिखाई देती हैं। परंतु बहुत छोटे कणों को पारगमित प्रकाश द्वारा देखना असंभव है, क्योंकि जितना प्रकाश एक छोटा कण रोकता है उससे बहुत अधिक प्रकाश उस कण के चारों ओर के बिंदुओं से आँख में पहुँच जाता है। इससे उत्पन्न चकाचौंध के कारण कण अदृश्य हो जाता है। यदि सूक्ष्मदर्शी का प्रबंध इस प्रकार किया जाय कि कणों को किसी पारदर्शक द्रव में डाल दिया जाय, जिसमें वे घुलें नहीं, और फिर इन कणों पर बगल से प्रकाश डाला जाय तो प्रकाश कणों से टकराकर ऊपर रखे हुए एक सूक्ष्मदर्शी में प्रवेश कर सकता है। यदि इस स्थिति में रखे हुए सूक्ष्मदर्शी से कणों को अब देखा जाय तो वे पूर्णतः काली पृष्ठभूमि पर चमकते हुए बिंदुओं के रूप में दिखाई देने लगते हैं, क्योंकि द्रव के कण पारदर्शी होने के कारण प्रकाशित नहीं हो पाते। यही अतिसूक्ष्मदर्शी का सिद्धांत है।

नीचे दिए हुए चित्रों में साधारण सूक्ष्मदर्शी और अतिसूक्ष्मदर्शी दोनों की रीतियाँ दिखाई गई हैं

साधारण सूक्ष्मदर्शी और अतिसूक्ष्मदर्शी में अंतर
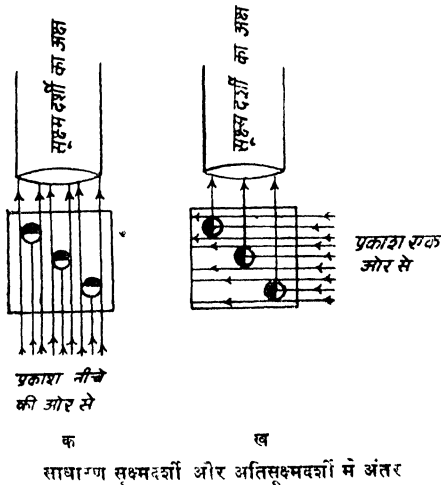
अतिसूक्ष्मदर्शी में कणों को किसी पारदर्शक द्रव में डालकर और प्रकाश को बगल से आने देकर देखा जाता है। (क) साधारण सूक्ष्मदर्शी, (ख) अतिसूक्ष्मदर्शी।

चित्र (क) में प्रकाश की किरणें किसी द्रव में आलंबित (सस्पेंडेड) कणों पर नीचे से पड़ रही हैं और प्रकाश सीधा सूक्ष्मदर्शी में प्रवेश कर रहा है, जिससे द्रष्टा उन कणों को प्रकाशित पृष्ठभूमि पर काले काले बिंदुओं के रूप में देख रहा है। चित्र (ख) में प्रकाश दाहिनी ओर से आकर कणों पर पड़ रहा है और कणों से बिखरकर सूक्ष्मदर्शी में पहुँच रहा है, जिससे द्रष्टा उन कणों को पूर्णतः काली पृष्ठभूमि पर चमकदार बिंदुओं के रूप में देख रहा है।

अतिसूक्ष्मदर्शी द्वारा कणों को देखने की जो रीति प्रारंभ में (सन् १९०० के लगभग) काम में लाई गई थी वह नीचे के चित्र में दी हुई है:
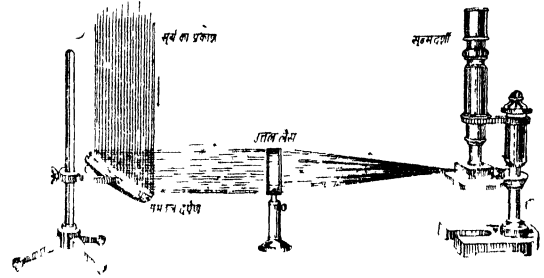
सूर्य से आनेवाला तीव्र प्रकाश एक समतल दर्पण पर पड़ रहा है। वहाँ से परावर्तित होकर प्रकाश की किरणें एक उत्तल ताल (लेंज) पर पड़ती हैं जो उनको एकत्रित करके उन कणों पर डाल देता है जिनकी परीक्षा सूक्ष्मदर्शी से की जा रही है।

आर० जिगमौंडी और एच० सीडेंटौफ ने अतिसूक्ष्मदर्शी की रीति में बहुत सुधार किए जिससे अत्यंत सूक्ष्म कणों का देखना संभव हो गया है। अब सूर्य के प्रकाश के स्थान पर साधारणतः पाइंटोलाइट लैंप का तीव्र प्रकाश काम में लाया जाता है। इस लैंप में धातु का एक सूक्ष्म गोला अति तप्त होकर श्वेत प्रकाश देता है।

प्रकाश की किरणें संघनक (कंडेंसर) स द्वारा एकत्र करके बर्तन ब में भरे हुए द्रव पर डाली जाती हैं और सूक्ष्मदर्शी से उसे देखा जाता है (चित्र देखें)।

सूक्ष्मदर्शी के सिद्धांत के अनुसार सूक्ष्मदर्शी की विभेदन क्षमता (रिजॉल्विंग पावर) की भी एक सीमा है, अर्थात् यदि कणों का आकार हम छोटा करते चले जायँ तो एक ऐसी अवस्था आ जायगी जिससे अधिक छोटा होने पर कण अपने वास्तविक रूप में पृथक् दिखाई नहीं देगा। सूक्ष्मदर्शी के अभिदृश्य ताल (ऑब्जेक्टिव) का मुखव्यास (अपर्चर) जितना ही अधिक होगा और जितने ही कम तरंगदैर्घ्य का प्रकाश कणों को देखने के लिये प्रयुक्त किया जायगा, उतनी ही अधिक विभेदन क्षमता प्राप्त होगी। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि किसी सूक्ष्मदर्शी की विभेदन क्षमता उसके अभिदृश्य ताल के मुखव्यास की समानुपाती और प्रयुक्त प्रकाश के तरंगदैर्घ्य की प्रतिलोमानुपाती होती है। साधारण सूक्ष्मदर्शी चाहे कितना ही बढ़िया बना हो, वह कभी किसी ऐसी वस्तु को वास्तविक रूप में नहीं दिखा सकता जिसका व्यास प्रयुक्त प्रकाश के तरंगदैर्घ्य के लगभग आधे से कम हो। परंतु अतिसूक्ष्मदर्शी की सहायता से, अनुकूल परिस्थितियों में, इतने छोटे छोटे कण देखे जा सकते हैं जिनका व्यास प्रकाश के तरंगदैर्घ्य के १/१० भाग के बराबर हो। इन कणों को अतिसूक्ष्मदर्शीय कण कहते हैं। यदि इन कणों को साधारण रीति से सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखने का प्रयत्न किया जाय तो वे दिखाई नहीं देते, जिसका कारण पहले बताया जा चुका है। दिन के समय आकाश में तारे न दिखाई देने का भी कारण यही है।

यदि पहले बताई गई रीति से अति सूक्ष्म कणों पर एक दिशा से तीव्र प्रकाश डाला जाय और सूक्ष्मदर्शी के अक्ष को उससे लंब रखकर उन कणों को देखा जाय तो अति सूक्ष्म होने के कारण प्रत्येक कण प्रकीर्णन (स्कैटरिंग) द्वारा प्रकाश को आँख में भेज देगा। तब वह चमकती हुई वृत्ताकार विवर्तन धारियों (डिफ्रैक्शन बैंड्स) से घिरा हुआ होने के कारण प्रकाशित गोल चकती की भाँति दिखाई देने लगेगा। इन चकतियों का आभासी व्यास कणों के वास्तविक व्यास से बहुत बड़ा होता है। इसलिये इन चकतियों के व्यास से हम कणों के आकार के विषय में कोई निश्चित ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, परंतु फिर भी उनसे कणों के अस्तित्व को समझ सकते हैं, उनकी संख्या गिन सकते हैं और उनके द्रव्यमानों तथा गतियों का पता लगा सकते हैं।

अतिसूक्ष्मदर्शी जिस सिद्धात पर काम करता है उसका उदाहरण हम अपने दैनिक जीवन मे उस समय देखते है जब सूर्य प्रकाश की किरणे किसी छिद्र से कमरे मे प्रवेश करती है और हवा मे उडते हुए असख्य अतिसूक्ष्म कणो के अस्तित्व का ज्ञान कराती है। यदि आनेवाली किरणो की ओर आँख करके हम देखे तो ये अतिसूक्ष्म कण दिखाई नही देगे।

सन् १८९९ ई० मे लॉर्ड रैले ने गणना से सिद्ध कर दिया कि जो कण अच्छे से अच्छे सूक्ष्मदर्शी द्वारा साधारण रीति से पृथक् पृथक् नही देखे जा सकते उनको अधिक तीव्र प्रकाश से प्रकाशित करके अतिसूक्ष्मदर्शी की रीति से हम देख सकते है, यद्यपि इस रीति से हम उनके वास्तविक आकार का ज्ञान नही प्राप्त कर सकते।

अतिसूक्ष्मदर्शी द्वारा बहुत से विलयनो (सोल्यूशस) की परीक्षा से पता चलता है कि उन विलयनो के भीतर या तो ठोस के छोटे छोटे कण कलिलीय अवस्था (कलॉयडल स्टेट) मे तैरते रहते है या ठोस पूर्णरूप से विलयन मे मिला रहता है। उसकी सहायता से कलिलीय विलयनो मे ब्राउनियन गति का भी अध्ययन किया जाता है।

यदि काच की पट्टी पर थोडा सा कावोज (गैबुज) रगडकर उसपर पानी की दो बूदे डाल दी जायँ और तब अतिसूक्ष्मदर्शी से पानी की परीक्षा की जाय तो असख्य छोटे छोटे कण बडी शीघ्रता से भिन्न भिन्न दिशाओ मे इधर उधर दौडते हुए दिखाई देगे। इस गति को सबसे पहले सन् १८२७ ई० मे आर० ब्राउन ने देखा था, इसलिये उनके नाम पर इसे ब्राउनियन गति कहते है।

यदि बिजली से हवा मे चाँदी का आर्क जलाया जाय तो उससे भी चाँदी के कलिलीय कण प्राप्त होते है, जिनको पानी मे डालकर ब्राउनियन गति देखी जा सकती है। इस गति मे कण आश्चर्यजनक वेग से इधर उधर भागते हुए दिखाई देते है जिनकी तुलना धूप मे भनभनाते हुए एक मच्छर-समुदाय से की जा सकती है।

अतिसूक्ष्मदर्शी द्वारा दिखाई देनेवाले कणो की सूक्ष्मता प्रकाश की तीव्रता पर निर्भर रहती है। प्रकाश की तीव्रता जितनी अधिक होगी उतने ही अधिक सूक्ष्म कण दिखाई देने लगेगे।

सं०ग्रं०—आर० जिग्मौडी "कलॉएड्स ऐड दि अल्ट्रामाइक्रोस्कोप", जे० अलेक्जैडर द्वारा अनुवादित (विली), ई० एफ० बर्टन "फिजिकल प्रॉपर्टीज ऑव कलॉएडल सोलूशन्स" (लॉगमैन्स ग्रीन ऐड क०)।

[ब० ला० कु०]

अतिसूक्ष्म रसायन

(अल्ट्रा-माइक्रोकेमिस्ट्री) उन रासायनिक विधियो को कहते है जिनके द्वारा रासायनिक विश्लेषण तथा अन्य क्रियाएँ पदार्थों की अतिसूक्ष्म मात्रा से सपन्न की जा सकती है। साधारण रासायनिक विश्लेषण मे १/१० ग्राम मात्रा पर्याप्त मानी जाती थी, सूक्ष्म रसायन मे द्रव्य के १/१००० ग्राम से काम चल जाता है और अतिसूक्ष्म रसायन का अवलबन तब करना पडता है जब पदार्थ का केवल माइक्रोग्राम (१/१०,००,००० ग्राम) उपलब्ध रहता है।

अतिसूक्ष्म रसायन का प्रारभ सन् १९३० मे कोपेनहेगेन की कार्ल्सबुर्ग प्रयोगशाला मे हुआ; वहाँ के० लिडरस्ट्रॉम-लैग तथा सहयोगियो ने इसका उपयोग एनजाइमो, जीवप्रेरको और पौधो तथा पशुओ से प्राप्त पदार्थों की अति सूक्ष्म मात्रा के विश्लेषण मे किया। सन् १९३३ से कैलिफोर्निया मे पॉल एल० कर्क ने इन विश्लेषण-विधियो को अधिक उन्नत किया और साथ ही साथ उन्होने अन्य सब प्रकार की भौतिक तथा रासायनिक क्रियाओ का अध्ययन भी अतिसूक्ष्म मात्राओ मे आरभ किया। जीव तथा वनस्पति रसायन के अतिरिक्त तीव्र रेडियोसक्रिय पदार्थों के अध्ययन मे ये विधियाँ विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हुई है। इन रेडियोसक्रिय पदार्थों के अध्ययन मे साधारणतया अतिसूक्ष्म मात्राओ का ही उपयोग किया जाता है। इसका कारण इनकी कम मात्रा मे उपलब्धि के अतिरिक्त यह भी है कि कम मात्रा से निकलनेवाली हानिकारक रेडियो-किरणो की तीव्रता कम रहती है, जिससे कार्य सपन्न करने मे सुविधा रहती है।

अतिसूक्ष्म रसायन में मुख्यत निम्नलिखित विधियो का उपयोग किया जाता है:

(क) द्रवों की अनुमापन विधि—अतिसूक्ष्म रसायन मे सर्वप्रथम आयतनो के मापन पर आधारित विधियो का ही उपयोग हुआ। इन क्रियाओ मे प्रयुक्त सभी उपकरण, जसे परीक्षण नलियाँ, बीकर, पिपेट तथा ब्यूरेट, केश-नलिकाओ (कपिलरीज) से ही बनाए जाते है और इनकी सहायता से $१०^{-४}$ से $१०^{-८}$ लिटर तक के आयतन सुगमता से नापे जा सकते है। इन विधियो का सर्वप्रथम उपयोग जीवरसायन मे हुआ। उदाहरणार्थ, प्राय रोगग्रस्त बालको के रक्त का परीक्षण एक सूक्ष्म बूँद से ही करना पडता है। इसके लिये रक्त के सूक्ष्म आयतन को नापने, उससे प्रोटीन पृथक् करके उबालने तथा अकार्बनिक तत्वो को पृथक् करने की समस्त पद्धतियों को अतिसूक्ष्म परिमाण मे ही करना होता है।

(ख) गैसमितीय विधियाँ—इन विधियो का उपयोग अतिसूक्ष्म रसायन मे मुख्यत जीवकोषो या सूक्ष्म जीवो की श्वासगति या उससे सबधित क्रियाओ के अध्ययन मे होता है। कर्क और कनिघम के बाद द्वितीय महायुद्ध के समय शोलेंदर तथा उसके सहयोगियो ने इस विधि को इतना उन्नत किया कि अब गैसीय मिश्रणो के माइक्रो-लिटर आयतनो को भी पूर्णतया विश्लेषित करना सभव हो गया है।

(ग) भारमापन विधियाँ—यद्यपि २०वी शताब्दी मे बहुत अच्छी भार-तुलाओ का निर्माण हुआ है, तथापि १९४० मे कर्क, रोडरिक क्रेग तथा सलबग नामक वैज्ञानिको द्वारा क्वार्ट्ज तुला की खोज से इस ओर विशेष प्रगति हुई है। इस नई तुला की सहायता से ० ००५ माइक्रोग्राम के अतर सुगमता से नापे जा सकते है।

(घ) अन्य विविध विधियाँ—अतिन्यून मात्राओ के साथ कार्य करने के लिये अन्य सभी कार्यविधियो मे परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। उदाहरणार्थ छानने के स्थान पर अपकेंद्रण (सेंट्रीफ्युगशन) विधि का उपयोग किया जाता है। प्राय सपूर्ण रासायनिक क्रिया सूक्ष्मदर्शी के ही नीचे सपन्न की जाती है, जिसमे सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तन भी देखा जा सके। इन सूक्ष्म मात्राओ के लिये उपयोगी विश्लेषण-पद्धतियो मे वर्णक्रमीय (स्पेक्ट्रास्कोपिक) पद्धतियाँ विशेषतया उल्लेखनीय है और आधुनिक रेडियो-रसायन की पद्धतियो ने तो विश्लेषण की इस चरम सीमा को सहस्रो गुना सूक्ष्म कर दिया है। आज प्रयोगशाला मे सश्लेषित नवीन तत्वो के कुछ इने गिने परमाणुओ को इनके द्वारा पहचानना ही नही वरन् उनके तथा उनके यौगिको के गुणो का अध्ययन भी इन सूक्ष्म मात्राओ से, चाहे कुल उपलब्ध मात्रा लगभग $१०^{-१०}$ ग्राम ही हो, सभव हो रहा है।

[रा० च० मे०]

अत्तिला

(ल० ४०६-४५३ ई०), इतिहासप्रसिद्ध विध्वसक हूण राजा जिसे पश्चात्कालीन इतिहासकारो ने 'भगवान् का कोडा' कहा। उसके पिता का नाम मुदजुक था। उसके जन्म से कुछ पहले ही कास्पियन सागर के उत्तरवर्ती प्रदेशो के हूण दानूब नद की घाटी मे जा बसे थे। अत्तिला के पिता का परिवार भी उन्ही हूणो मे से था। चाचा रुआस के मरने पर अपने भाई ब्लेदा के साथ अत्तिला दानूबतटीय हूणो का सयुक्त राजा बना। रुआस का शासनकाल हूणो के यूरोप मे विशेष उत्कर्ष का था। उसने जर्मन और स्लाव जातियो पर आधिपत्य कर लिया था और उसका दबदबा कुछ ऐसा बढा कि पूर्वी रोमन सम्राट् उसे वार्षिक कर देने लगा। चाचा के ऐश्वर्य का अत्तिला ने प्रभूत प्रसार किया और आठ वर्षों मे वह कास्पियन और बाल्टिक सागर के बीच के समूचे राज्यो का, राइन नदी तक, स्वामी बन गया।

४५०ई० के पश्चात् अत्तिला पूर्वी साम्राज्य को छोड पश्चिमी साम्राज्य की ओर बढा। पश्चिमी साम्राज्य का सम्राट् तब वालेंतीनियन तृतीय था। सम्राट् की भगिनी जुस्ताग्राता होनोरिया ने अपने भाई के विरुद्ध सहायता के अर्थ अत्तिला को अपनी अँगूठी भेजी थी। इसे विवाह का प्रस्ताव मान हूणराज ने सम्राट् से भगिनी के यौतुक मे आधा राज्य माँगा और अपनी सेना लिए वह गाल को रौदता, मेत्स को लूटता, ल्वार नदी के तट पर बसे ओर्लियाँ जा पहुँचा, पर रोमन सेना ने पश्चिमी गोथो और नगरवासियो की सहायता से हूणो को नगर का घेरा उठा लेने को मजबूर किया। फिर दो महीने बाद जून, ४५१ में इतिहास की सबसे भयकर खूनी लडाइयो मे से एक लडी गई, जब दोनो सेनाएँ सेन नदी के तट पर त्रॉय के निकट परस्पर मिली। भीषण युद्ध हुआ और जीवन में बस एक बार हारकर अत्तिला को भागना पड़ा।

पर अत्तिला चुप बैठनेवाला आदमी न था। अगले साल सेना लेकर शक्ति के केंद्र स्वयं इटली पर उसने धावा बोल दिया और देखते देखते उसका उत्तरी लोंबार्दी का प्रांत उजाड़ डाला। उखड़े, भागे हुए लोगों ने आद्रियातिक सागर पहुँच वहाँ के प्रसिद्ध नगर वेनिस की नीव डाली। सम्राट् वालेंती-नियन ने भागकर रावेना में शरण ली। पर पोप लिओ प्रथम ने रोम की रक्षा के लिये मिंचिओ नदी के तीर पड़ाव डाले अत्तिला से प्रार्थना की। कुछ पोप के अनुनय से, कुछ हूणों के बीच प्लेग फूट पड़ने से अत्तिला ने इटली छोड़ देना स्वीकार किया। इटली से लौटकर उसने बर्गंडी की राजकुमारी इल्दिको को ब्याहा पर अपनी सुहागरात को ही वह रक्तचाप से मस्तिष्क की नली फट जाने के कारण पानोनिया में मर गया।

अत्तिला ने पश्चिमी रोमन साम्राज्य की रीढ़ तोड़ दी। उसके और हूणों के नाम से यूरोपीय जनता थरथर काँपने लगी। हंगरी में बसकर तो उन्होंने उस देश को अपना नाम दिया ही, उनका शासन नार्वे और स्वीडेन तक चला। चीन के उत्तर-पूर्वी प्रांत कांसू से उनका निकास हुआ था और वहाँ से यूरोप तक हूणों ने अपना खूनी आधिपत्य कायम किया। उन्हीं की धाराओं पर धाराओं ने दक्षिण बहकर भारत के गुप्त साम्राज्य की भी कमर तोड़ दी।

सं०ग्रं०—ब्रिओन, एम० : अत्तिला, दि स्कोर्ज आँव गॉड, न्यूयार्क १९२९; टाम्सन, ई० ए० : हिस्ट्री आँव अत्तिला ऐंड दि हूंस, न्यूयार्क, १९४८। [भ० श० उ०]

अत्तुर मद्रास राज्य के सलेम जिले का एक ताल्लुका तथा नगर है। नगर ११° ३५′ उ० अक्षांश तथा ७८° ३७′ पू० देशांतर रेखाओं पर वसिष्ठ नदी के किनारे स्थित है। नगर के उत्तर प्राचीन दुर्ग है जहाँ पर ब्रिटिश सेनाएँ रखी गई थीं। सन् १७६८ ई० में अंग्रेजों का इसपर पूरा अधिकार हो गया था। यहाँ पर पहले नील तैयार की जाती थी। यह नगर यहां के बने हुए छकड़ों (बैलगाड़ियों) के लिये भी प्रसिद्ध है। जनसंख्या २२,८४४ है (१९५१)। [न० ला०]

अत्रि दस प्रजापतियों एवं सप्तर्षियों में गिने गए हैं। वे वैदिक मंत्रों के भी रचयिता थे। उनकी बनाई हुई अत्रिसंहिता प्रसिद्ध है। उत्तर वैदिक काल में राम के समय में एक अत्रि का उल्लेख हुआ है जो अनसूया के पति थे और जिन्होंने चित्रकूट के दक्षिण में आश्रम बना रखा था। पुराणों के अनुसार अत्रि सोम (चंद्रमा), दत्तात्रेय और दुर्वासा के पिता थे। [चं० म०]

अथर्वन् निरुक्त (११।२।१७) के अनुसार 'अथर्वन्' शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है चित्तवृत्ति के निरोधरूप समाधि से संपन्न व्यक्ति (थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः)। ऋग्वेद में अथर्वन् शब्द का प्रयोग अनेक मंत्रों में उपलब्ध होता है। भृगु तथा अंगिरा के साथ अथर्वन् वैदिक आर्यों के प्राचीन पूर्वपुरुषों की संज्ञा है। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों (१।८३।५; ६।१५।१७; १०।२१।५) में कहा गया है कि अथर्वन् लोगों ने अग्नि का मंथन कर सर्वप्रथम यज्ञमार्ग का प्रवर्तन किया। इस प्रकार अथर्वन् ऋत्विज् शब्द का ही पर्यायवाची है। अवेस्ता में भी अथर्वन् 'अथ्रवन्' के रूप में व्यवहृत होकर यज्ञकर्ता ऋत्विज् का ही अर्थ व्यक्त करता है और इस प्रकार यह शब्द भारत-पारसीक-धर्म का एक द्युतिमान् प्रतीक है। अंगिरस् ऋषियों के द्वारा दृष्ट मंत्रों के साथ समुच्चित होकर अथर्वदृष्ट मंत्रों का महनीय समुदाय 'अथर्वसंहिता' में उपलब्ध होता है। अथर्वण मंत्रों की प्रमुखता के कारण यह चतुर्थ वेद 'अथर्ववेद' के नाम से प्रख्यात है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार अथर्वन् उन मंत्रों के लिये प्रयुक्त होता है जो सुख उत्पन्न करनेवाले शोभन यातु (जादू टोना) के उत्पादक होते हैं। और इसके विपरीत 'आंगिरस' से उन अभिचार मंत्रों की ओर संकेत है जिनका प्रयोग मारण, मोहन, उच्चाटन आदि अशोभन कृत्यों की सिद्धि के लिये किया जाता है। परंतु इस प्रकार का स्पष्ट पार्थक्य 'अथर्ववेद' की अंतरंग परीक्षा से नहीं सिद्ध होता। [ब० उ०]

अथर्ववेद अथर्ववेद चारों वेदों में से अंतिम है। इस वेद का प्राचीन-तम नाम 'अथर्वांगिरसः' है जो स्वयं अथर्ववेद के पाठ में प्राप्य है और जो हस्तलिपियों के आरंभ में भी लिखा मिला है। इस शब्द में अथर्वन् और अंगिरस् दो प्राचीन ऋषिकुलों के नाम समाविष्ट हैं। इससे कुछ पंडितों का मत है कि इनमें से पहला शब्द अथर्वन् पवित्र दैवी मंत्रों से संबंध रखता है और दूसरा टोना टोटका आदि मोहन मंत्रों से। बहुत दिनों तक वेदों के संबंध में केवल 'त्रयी' शब्द का उपयोग होता रहा और चारों वेदों की एक साथ गणना बहुत पीछे हुई, जिससे विद्वानों का अनुमान है कि अथर्ववेद को अन्य वेदों की अपेक्षा कम पवित्र माना गया। धर्मसूत्रों और स्मृतियों में स्पष्टतः उसका उल्लेख अनादर से किया गया है। आपस्तंब धर्मसूत्र और विष्णुस्मृति दोनों ही इसकी उपेक्षा करती हैं और विष्णुस्मृति में तो अथर्ववेद के मारक मंत्रों के प्रयोक्ताओं को सात हत्यारों में गिना है।

अनुमानतः अथर्ववेद को यह अस्पृहणीय स्थान उसके अभिचारी विषयों के कारण ही मिला। यह सत्य है कि उस वेद का एक बड़ा भाग ऋग्वेद से जैसा का तैसा ले लिया गया है परंतु उसके उस भाग में, जो केवल उसका निजी है, मारण, पुरश्चरण, मोहन, उच्चाटन, जादू, झाड़ फूंक, भूत पिशाच, दानव-रोग-विजय संबंधी मंत्र अनेक हैं। ऐसा नहीं कि उसमें ऋग्वैदिक देवताओं की स्तुति में सूक्त या मंत्र न कहे गए हों, पर निःसंदेह जोर उसके विषयसंकलन का विशेषतः इसी प्रकार के मंत्रों पर है जिनकी साधुता धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों ने अमान्य की है। संभवतः इसी कारण अथर्ववेद की गणना वेदों में दीर्घ काल तक नहीं हो सकी थी। परंतु इसमें संदेह नहीं कि उस दीर्घकाल का अंत भी शतपथ ब्राह्मण के निर्माण के पहले ही हो गया था क्योंकि उस ब्राह्मण के अंतिम खंडों तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण और छांदोग्य उपनिषद् में उसका उल्लेख हुआ है। वैसे अथर्ववेदसंहिता का निर्माण महाभारत की घटना के बाद ही हुआ होगा। यह न केवल इससे ही प्रमाणित है कि उसके प्रधान संपादक भी और तीनों वेदों की ही भाँति वेदव्यास ही हैं, वरन् इस कारण भी कि उसमें परीक्षित, जनमेजय, कृष्ण आदि महाभारत-कालीन व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है।

अथर्ववेद सावधि संस्कृति, धर्म, विश्वास, रोग, ओषधि, उपचार आदि का विश्वकोश है। विषयों की अगणित विविधता उसकी सी अन्य किसी वेद में नहीं है। यह सही है कि उसमें जादू, झाड़ फूंक के मंत्र, शत्रु, दैत्य, रोग आदि के निवारण के लिये प्रभूत मात्रा में संकलित हैं, परंतु इनके अतिरिक्त उसका प्रचुर विस्तार उन सारे विषयों से संबंधित है जिन्हें आज विज्ञान का पद मिला हुआ है। ज्योतिष, गणित और फलित, रोगनिदान और चिकित्सा, स्वास्थ्य विज्ञान, यात्रानिदान, राज्याभिषेक आदि पर तो वह पहला प्रामाणिक ग्रंथ है, न केवल भारत का बल्कि संसार का। शत्रु-दमन और राज्याभिषेक पर उसमें जो मंत्र हैं वे पिछले काल तक हिंदू राजाओं के राजतिलक के समय व्यवहृत होते रहे हैं। उसी वेद में वह प्रसिद्ध पृथिवीसूक्त भी है जिसमें स्वदेश के प्रति मानव ने पहली बार अपने उद्गार व्यक्त किए हैं।

अथर्ववेदसंहिता बीस 'कांडों' में संकलित है। उसमें ७३० सूक्त और लगभग ६,००० मंत्र हैं। इन मंत्रों में से प्रायः १,२०० ऋग्वेद से जैसे के तैसे, अथवा कुछ परिवर्तन के साथ, ले लिए गए हैं। स्वाभाविक ही ऋग्वेद से लिए गए मंत्रों में से अनेक देवस्तुतियों, दानस्तुतियों, कर्मकांड आदि से संबंध रखते हैं। परंतु, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, अथर्ववेद का प्रयास कर्मकांड आदि के व्यवहार में इतना नहीं जितना जीवन के उचित अनुचित, ऊँच नीच, जनविश्वासों और प्रवृत्तियों को प्रकट करने में है। इस दृष्टि से इतिहासकार के लिये संभवतः वह अन्य तीनों वेदों से कहीं अधिक महत्व का है। पुराण, इतिहास, गाथा आदि का पहले पहल उल्लेख उसी में हुआ है और ऐसी अनेक परंपराओं की ओर भी वह वेद संकेत करता है जो न केवल ऋग्वेद के विषयकाल से प्राचीनतर हैं वरन् वस्तुतः अति प्राचीन हैं।

कुछ पंडितों का मत है कि ऋग्वेद की विषयपरिधि से बचे हुए सारे मंत्र अथर्ववेद में एकत्र कर लिए गए; कुछ का कहना है कि विषयों के वितरण के संबंध में दो दृष्टियों का उपयोग किया गया। एक के अनुसार ऋग्वेद आदि तीनों वेदों में कर्मकांड आदि संबंधी उच्चस्तरीय मंत्र एकत्र कर लिए गए और बचे हुए मारण-मोहन-उच्चाटन आदि पार्थिव तथा नीचस्तरीय मंत्र, दूसरी दृष्टि से, अथर्ववेद में संकलित हुए।

यदि शतपथ ब्राह्मण के प्रणयन का काल आठवीं सदी ई० पू० मानें तो प्रमाणतः उसमें उल्लिखित होने के कारण अथर्ववेद का संहिता-निर्माण-काल उससे पहले हुआ। आठवीं सदी ई० पू० उसकी निचली सीमा हुई

और ऊपरी सीमा उससे सौ वर्ष पूर्व के भीतर ही इस कारण रखनी होगी कि उसमें महाभारत के व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है, और कि उसके संहिताकार वेदव्यास हैं, जो स्वयं महाभारतकाल के पूर्वतर पुरुषों में से हैं। यह तो हुआ अथर्ववेद के संहिताकाल का अनुमान, पर उसके मंत्रों का निर्माणकाल तो कुछ अंश में, एक वर्ग के विद्वानों के अनुसार, ऋग्वेद के मंत्रों से भी पहले रखना होगा। वैसे ऋग्वेद के जो मंत्र अथर्ववेद में लिए गए हैं उनका निर्माणकाल तो उस चौथे वेद के उस अंश को ऋग्वेद के समानांश के समवर्ती ही कर देता है। फिर यह भी निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है कि अथर्ववेद के वे मंत्र ऋग्वेद से ही लिए गए। कुछ अजब नहीं कि दोनों के उद्गम वे समान मंत्र रहे हों जो सर्वत्र ऋषिकुलों में प्रचलित थे और जिनमें से कुछ में स्थान-उच्चारण-भेद के कारण संकलन के समय पाठभेद भी हो गए। इन पाठभेदों का प्रमाण स्वयं अथर्ववेद है। अथर्ववेद की दो शाखाएँ आज उपलब्ध हैं। एक का नाम पप्पलाद शाखा है, दूसरी का शौनक।

सं०ग्रं०—एस० पी० पंडित : अथर्ववेद संहिता, १८९५; मैक्सम्यूलर : ए हिस्ट्री ऑव एंशेंट संस्कृत लिटरेचर, १८६०; ए० ए० मैक्डॉनेल : ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर; विंटरनित्स, एफ० ए० : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर। [भ० श० उ०]

अथर्वांगिरस वैदिक ऋषि अथर्वा या अंगिरा के अनुवर्ती अथर्वांगिरस के नाम से विख्यात हैं। उनका कार्य यज्ञ यागादि के अनुष्ठानों में अथर्ववेद के विधिवत् पालन की ओर ध्यान देना था। इनमें से कई मंत्रों के रचयिता या 'मंत्रद्रष्टा' ऋषि भी थे। वैदिक साहित्य से पता चलता है कि स्वर्ग जाने के लिये आदित्यों के साथ इनकी स्पर्धा रहा करती थी। [चं० म०]

अथानासियस महान् (ल० २९५-३७३ ई०)—संत अथानासियस का जन्म संभवतः सिकंदरिया में हुआ था। व्यक्तिगत साधना के अतिरिक्त ये दो अन्य कारणों–(१) आरियस के विरोध तथा (२) सम्राट् के हस्तक्षेप से गिरजे की धार्मिक स्वतंत्रता की रक्षा—से चिरस्मरणीय हैं। ३२५ई० में यह नीकिया की महासभा में उपस्थित थे, जहाँ आरियस की शिक्षा को दूषित ठहराया गया था (दे० आरियस)। ३२८ ई० में ये सिकंदरिया के बिशप नियुक्त हुए, किंतु आरियस तथा उनके अनुयायियों के षड्यंत्रों के फलस्वरूप उनको उस नगर से पाँच बार निर्वासित किया गया। उनकी सौम्यता, उदारता तथा शांतिप्रियता के कारण आरियस के बहुत से अनुयायी काथलिक एकता में लौटे। [का० बु०]

अथाबस्कन भाषा अथाबस्कन (डेने, टिन्नेह अथवा अथापस्कन), उत्तर अमरीकी इंडियन समूहों का एक विशाल भाषापरिवार है। इस महादेश की इंडियन भाषाओं में अथाबस्कन परिवार की भाषाओं का प्रचार सबसे अधिक है। यह उत्तर-पश्चिमी कनाडा, अलास्का, प्रशांत-महासागर-तट के कतिपय भागों, न्यू मेक्सिको, एरीज़ोना और टेक्सासके इंडियन समूहों में प्रचलित है।

यह भाषापरिवार संभवतः चीनी-तिब्बती (साइनिटिक) शाखा से संबंधित है। इस परिवार की विभिन्न उपभाषाओं में अनेक मूलभूत समानताएँ दृष्टिगत होती हैं। अथाबस्कन-भाषी इंडियन समूहों में सामान्यतः अपने क्षेत्र के अन्य परिवारों की भाषाएँ बोलनेवाले इंडियन समूहों की संस्कृति अपना ली गई है, परंतु अन्य संस्कृतियों के स्वीकरण के बाद भी उनकी अपनी भाषा के स्वरूप में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। अथाबस्कन परिवार की भाषाएँ बोलनेवाले इंडियन समूहों में भाषा के अतिरिक्त संस्कृति के अन्य पक्षों में बड़ा अंतर है।

सं०ग्रं०—मेंडलबाम, डेविड जी० (संपादक) : सिलेक्टेड राइटिंग्ज ऑव एडवर्ड सेपिर इन लैंग्वेज, कल्चर ऐंड पर्सनालिटी, बर्कले, युनिवर्सिटी ऑव कैलिफोर्निया प्रेस, १९४९, पृष्ठ १६९-१७८। [श्या० दु०]

अथीना (अथवा अथाना, अथेने या अथेना)—यह अत्तिका प्रदेश एवं बियोतिया प्रदेश में स्थित एथेंस् नामक नगरों की अधिष्ठात्री देवी थी। इसकी माता मेतिस् (सं० मतिः) ज्यूस् की प्रथम पत्नी थी। मेतिस् के गर्भवती होने पर ज्यूस् को यह भय हुआ कि मेतिस् का पुत्र मुझसे अधिक बलवान् होगा और मुझे मेरे पद से च्युत कर देगा, अतएव वह अपनी गर्भवती पत्नी को निगल गया। इसके उपरांत प्रोमेथियस ने कुल्हाड़ी से उसकी खोपड़ी को चीर डाला और उसमें से अथीना पूर्णतया शस्त्रास्त्रों और कवच से सुसज्जित सुपुष्ट अंगांगों सहित निकल पड़ी। अथीना और पोसेइदॉन में अत्तिका प्रदेश की सत्ता प्राप्त करने के लिये द्वंद्व छिड़ गया। देवताओं ने यह निर्णय किया कि उन दोनों में से जनता के लिय जो भी अधिक उपयोगी वस्तु प्रदान करेगा उसको ही इस प्रदेश की सत्ता मिलेगी। पोसेइदॉन् ने अपने त्रिशूल से पृथ्वी पर प्रहार किया और पृथ्वी से घोड़े की उत्पत्ति हुई। दूसरे लोगों का यह कहना है कि भूविवर से खारे जल का स्रोत फूट निकला। अथीना ने जैतून के पेड़ को उत्पन्न किया जिसको देवताओं ने अधिक मूल्यवान् आँका। तभी से एथेंस् में अथीना की पूजा चल पड़ी। इसका नाम पल्लास् अथीने और अथीना पार्थेनॉस् (कुमारी) भी है। एक बार हिफ़ाएस्तस् ने इसके साथ बलात्कार करना चाहा, पर उसको निराश होना पड़ा। उसके स्खलित हुए वीर्य से एरेक्थियस् का जन्म हुआ और उसको अथीना ने पाला।

अथीना को आधुनिक आलोचक प्राक्-हेलेनिक देवी मानते हैं, जिसका संबंध क्रीत और मिकीनी की पुरानी सभ्यता से था। एथेंस् में उसका मंदिर अक्रोपौलिस् में था। अन्य स्थानों पर भी उसके मंदिर और मूर्तियाँ थीं। यद्यपि अथीना को युद्ध की देवी माना जाता है एवं उसके शिरस्त्राण, कवच, ढाल और भाले इत्यादि को भी देखकर यही धारणा पुष्ट होती है, तथापि वह युद्ध में भी क्रूरता नहीं प्रदर्शित करती। इसके अतिरिक्त वह सुमति और सद्बुद्धि की भी देवी है। ग्रीक लोग उसको अनेक कला कौशल की भी अधिष्ठात्री मानते थे। दुर्गासप्तशती में दुर्गा के जैसे विविध गुण वर्णन किए गए हैं वैसे ही विविध गुण अथीना में भी माने जाते थे। अथीना के संबंध में अनेक उत्सव भी मनाए जाते थे। इनमें से पानाथेनाइया सबसे महान् उत्सव होता था, जो देवी का जन्ममहोत्सव था। यह जुलाई अगस्त मास में हुआ करता था। प्रत्येक चौथे वर्ष यह उत्सव अत्यधिक ठाट बाट के साथ मनाया जाता था। अथीना स्वयं कुमारी थी और उसकी पूजा तथा उत्सवों में कुमारियों का महत्वपूर्ण भाग रहता था। उसके वस्त्र भी कुमारियाँ ही बुना करती थीं। ई० पू० ४३८ में एथेंस् के श्रेष्ठ मूर्तिकार फ़िदियास् ने अथीना की एक विशाल मूर्ति कोरी। यह मूर्ति स्वर्ण और हाथीदाँत की थी और ४० फुट ऊँची थी। यह यूनानी मूर्तिकला का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन थी। इसी मूर्तिकार ने अथीना की एक कांस्यमूर्ति भी बनाई जो ३० फुट ऊँची थी।

सं०ग्रं०—फार्नेल : कल्ट्स् ऑव दि ग्रीक स्टेट्स्, १९२१; एडिथ् हैमिल्टन् : माइथॉलॉजी, १९५४; रॉबर्ट ग्रेव्ज् : दि ग्रीक मिथ्स्, १९५५। [भो० ना० श०]

अदन अरब का एक बंदरगाह है (स्थिति: १२° ४५' उत्तरी अक्षांश ४५° ४' पूर्वी देशांतर), जो बाबुलमंदब जलप्रणाली से १०० मील पूर्व एक शांत ज्वालामुखी के मुखद्वार पर बसा हुआ है। यह करमुक्त बंदरगाह (फ़्री पोर्ट) है। जलवायु गरम (औसत वार्षिक ताप १००° फा०) तथा वार्षिक वर्षा २ इंच मात्र है। यहाँ पर दो बंदरगाह हैं—एक बाह्य, जो नगर की ओर मुखांकित और सिरिह द्वीप से सुरक्षित है तथा दूसरा आंतरिक, जो 'अदन बैक बे' या अरबों द्वारा 'बंदर तवाइह' कहलाता है। १८६९ में स्वेज़ नहर के बन जाने से यह एक प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र बन गया है। यह जहाजों के कोयला तथा तेल लेने के लिये ठहरने का प्रमुख स्थान भी है। अदन सिगरेट तथा नमक उत्पन्न करता है। जनसंख्या ९९,२८५ है (१९५५)।

अदन उपनिवेश—क्षेत्रफल १०८ वर्ग मील, जनसंख्या १,३८,४४१ (१९५५)। इसके अंतर्गत पेरिम द्वीप (क्षेत्रफल ५ वर्ग मील, जनसंख्या २,३४६) तथा कुरिया मुरिया द्वीप (क्षेत्रफल २८ वर्ग मील, जनसंख्या २,२००) भी संमिलित हैं। ईसा से १,२०० वर्ष पहले से लेकर ५वीं शताब्दी तक यहाँ यमन का अधिकार रहा। १८३९ से १९३२ तक बंबई सरकार ने यहाँ पर शासन किया। अंत में १९३७ में यह ब्रिटिश कामनवेल्थ का एक अलग उपनिवेश बन गया। मुख्य आयात तेल, खाद्य पदार्थ तथा तैयार वस्त्र और निर्यात नमक, पेट्रोल, जहाजी सामान, कपास तथा कहवा हैं।

अदन प्रोटेक्टोरेट—अदन उपनिवेश के पूर्व, पश्चिम तथा उत्तर में

अदन प्रोटेक्टोरेट स्थित है। यहाँ की भाषा अरबी है और धर्म इसलाम। क्षेत्रफल १,१२,००० वर्ग मील और जनसंख्या ६,५०,००० है (१९५५)। [न० ला०]

अदह (ऐस्बेस्टस) कई प्रकार के खनिज सिलीकेटों के समूह को, जो रेशेदार तथा अदह्य होते हैं, कहते हैं। इसके रेशे चमकदार होते हैं। इकट्ठा रहने पर उनका रंग सफेद, हरा, भूरा या नीला दिखाई पड़ता है, परंतु प्रत्येक अलग रेशे का रंग चमकीला सफेद ही होता है। इस पदार्थ में अनेक गुण हैं, जैसे रेशेदार बनावट, आतनन-बल, कड़ापन, विद्युत् के प्रति असीम रोधशक्ति, अम्ल में न घुलना और अदहता। इन गुणों के कारण यह बहुत से उद्योगों में काम आता है।

रासायनिक गुण तथा प्राप्तिस्थान--अदह को साधारण रूप से निम्नलिखित दो जातियों में बाँटा जा सकता है :

(१) रेशेदार सरपेंटाइन या क्राइसोटाइल;

(२) ऐंफ़ीबोल समूह के रेशेदार खनिज पदार्थ, जैसे क्रोसिडोलाइट, ट्रेमोलाइट, ऐक्टीनोलाइट तथा ऐंथोफिलाइट आदि।

अदह की सबसे अधिक उपयोग होनेवाली जाति क्राइसोटाइल है। यह पदार्थ सर-पेंटाइन की शिलाओं की पतली धमनियों में पाया जाता है और रासायनिक दृष्टि से साधारण मैगनीशियम सिलीकेट होता है। इन धमनियों में सफेद या हरे रंग का मणिभ रेशमी रेशा पाया जाता है। इस प्रकार के अदह का ७० प्रति शत भाग कैनाडा की क्विबेक खदानों से निकाला जाता है। क्राइसोटाइल-युक्त चट्टान में क्राइसोटाइल-अदह की मात्रा भारानुसार ५ से १० प्रति शत होती है। इस मेल के रेशे बहुत अच्छे, मजबूत, लचीले और आतनन बलवाले होते हैं। इनको आसानी से सूत की तरह कपड़ों के रूप में बुना जा सकता है। ऐंफीबोल समूह की अपेक्षा इनकी (क्रोसीडोलाइट को छोड़कर) उष्मारोधी शक्ति कम होती है तथा अम्ल में घुलनशीलता अधिक। भारतवर्ष में उपर्युक्त मेल के अदह हिमाचल प्रदेश (शिमला के पास शाली की पहाड़ियों में), मध्य प्रदेश (नरसिंहपुर), आंध्र प्रदेश (कडप तथा करनूलु) तथा मैसूर (शिनगोरा) में पाए जाते हैं।

रेशों को खदान में से खोदकर और अदहयुक्त पत्थर को मशीन ड्रिलों के द्वारा निकाला जाता है; तत्पश्चात् यांत्रिक विधियों से रेशों को अलग कर लिया जाता है। इसके लिये पत्थर को पहले तोड़ा तथा सुखाया जाता है, फिर क्रमानुसार घूमनेवाली चक्कियों (क्रशर्स), बेलनों (रोलर्स), कुट्टकों (फ़ाइब्राइज़र्स), पंखों तथा अधोपाती कक्षों (सेटलिंग चेंबर्स) में पहुँचाया जाता है और अंत में रेशों को इकट्ठा कर लिया जाता है।

ऐंफ़ीबोल अदह--इस प्रकार का अदह रेशों के पुंज के रूप में पाया जाता है, परंतु रेशे बहुधा अनियमित क्रम के होते हैं।

इन धमनियों की लंबाई कभी कभी कई फुट तक होती है। इस प्रकार के अदह निम्नलिखित उपजातियों के पाए जाते हैं :

(१) ऐंथोफिलाइट--जो लोहे और मैगनीशियम का सिलीकेट होता है। इसमें आतनन बल कम होता है, परंतु यह क्राइसोटाइल की अपेक्षा अम्ल में कम घुलता है और इसकी उष्मारोधक शक्ति अधिक होती है। यह बहुत भंजनशील होता है और इसलिये इसको कातना बहुत कठिन होता है।

(२) क्रोसीडोलाइट--जो लोहे और सोडियम का सिलीकेट है। यह हल्के नीले रंग का और रेशम की तरह चमकीला होता है। इसमें आतनन बल पर्याप्त होता है।

(३) ट्रेमोलाइट--जो कैलसियम मैगनीशियम सिलीकेट होता है।

(४) एकटिनोलाइट--जो मैगनीशियम, कैलसियम और लोहे का मिला हुआ सिलीकेट है।

पिछली दोनों उपजातियों के अदह का रंग सफेद से हल्का हरा तक होता है। रंग का गाढ़ापन लोहे की मात्रा के ऊपर निर्भर है। इनके रेशों में अधिक लोच नहीं होती, अतः ये बुनने के काम में नहीं आ सकते। ये कठिनता से पिघलते और अम्ल में बहुत कम घुलते हैं। इनको अम्ल छानने और विद्युत्-उपकरण बनाने के काम में लाया जाता है।

भारतवर्ष में अदह की ऐकटिनोलाइट तथा ट्रेमोलाइट उपजातियाँ ही बहुतायत से पाई जाती हैं। इनके मिलने की जगहें निम्नलिखित हैं :

उत्तर प्रदेश (कुमाऊँ तथा गढ़वाल), मध्य प्रदेश (सागर तथा भंडारा), बिहार (मुंगेर, बरबाना तथा भानपुर), उड़ीसा (मयूरभंज), सरायकेला, मद्रास (नीलगिरि तथा कोयंबटूर) और मैसूर (बैंगलोर, मैसूर तथा हसान)।

खान से निकालना--अदह की खानें मिट्टी की सतह के नीचे मिलती हैं। ५०० से ६०० फुट नीचे तक पाए जानेवाले अदह को खुली खदान विधि से निकाला जाता है। इससे और अधिक गहराई में पाए जानेवाले अदह के निकालने में वे ही विधियाँ प्रयुक्त होती हैं जो अन्य धातुओं के लिये अपनाई जाती है। भारतवर्ष में अदह हाथ-बरमी से छेदकर और विस्फोटक पदार्थ तथा हथौड़ों द्वारा फोड़कर निकाले जाते हैं, परंतु दूसरे देशों, जैसे दक्षिणी अमरीका और संयुक्त राष्ट्र (अमरीका) में, वायुचालित बरमों का प्रयोग किया जाता है। अदह को छेदते समय जल का प्रयोग नहीं किया जाता, क्योंकि पानी के साथ मिलने पर स्पंजी (बहुछिद्रमय) मिश्रण बन जाता है, जिसमें से इसको अलग निकालना कठिन हो जाता है। कच्चे अदह को छानने के पश्चात् हथौड़ों से खूब पीटा जाता है। इससे अदह के रेशों में लगे हुए पत्थर के टुकड़े तथा अन्य वस्तुएँ दूर हो जाती हैं। इसके बाद इसे कुचलनेवाली चक्की में डाला जाता है। बाद में रेशों को हवा के झोंके से अलग कर लिया जाता है। अंत में हिलते हुए छनने पर डालकर उनके द्वारा शोषक पंपों से हवा चूसकर धूलि पूर्णतया खींच ली जाती है। इसके उपरांत अदह का मूल्यांकन होता है। अदह के निम्नलिखित चार मेल बाजार में भेजे जाते हैं :

(१) एकहरा माल (सिंगिल स्टॉक)

(२) महीन माल (पेपर स्टॉक)

(३) सीमेंट में मिलाने योग्य (सीमेंट स्टॉक)

(४) चूरा (शॉर्ट्स)

अदह का मूल्यांकन इसको जलाने के बाद बची हुई राख के आधार पर किया जाता है।

अदह की उपजाति	जलने के बाद बची हुई राख, प्रति शत
क्रोसिडोलाइट	३·८
ट्रेमोलाइट	२·३
एंथोफिलाइट	२·२३
एकटिनोलाइट	१·९६
क्राइसोटाइल	१४·५

क्षेत्र-परीक्षण--यदि अच्छे अदह को उँगलियों के बीच रगड़ा जाय तो उससे रेशमी डोर जैसी वस्तु बन जाती है जो खींचने पर शीघ्र टूटती नहीं। घटिया मेल के अदह के छोटे छोटे टुकड़े हो जाते हैं; वह कठोर भी होता है।

अच्छे अदह के पतले पुंज को यदि अँगूठे के नख से धीरे धीरे खींचा जाय तो लचीले तथा अच्छे आतननवाले रेशे मिलते हैं अथवा वे महीन रेशों में विभाजित हो जाते हैं, परंतु निम्न कोटि के अदह के रेशे बिलकुल टूट जाते हैं। उत्तम कोटि के अदह के रेशों को मसलने से कोमल गोलियाँ बनाई जा सकती हैं, परंतु घटिया अदह के रेशे टूट जाते हैं।

अदह के उपयोग--अदह को सभी प्रकार के विद्युतरोधक अथवा उष्मा-रोधक (इंस्युलेटर) बनाने के काम में लाया जाता है। इसके अतिरिक्त इन्हें अम्ल छानने, रासायनिक उद्योग तथा रंग बनाने के कारखानों में इस्तेमाल किया जाता है। लंबे रेशों को बुन या बटकर कपड़ा तथा रस्सी आदि बनाई जाती है। इनसे अग्निरक्षक परदे, वस्त्र और ऐसी ही अन्य वस्तुएँ बनाई जाती हैं।

भारत में अदह का मुख्य उपयोग अदहयुक्त सीमेंट तथा तत्संबंधी वस्तुएँ, जैसे स्लेट्, टाइल, पाइप और चादरें बनाने में किया जाता है। १९५२ तथा १९५३ में भारत में अदह का उत्पादन क्रमानुसार ८६५ तथा ७१८ टन था। इस अदह को केवल अवरोधक उपकरण बनाने के काम में ही लाया जा सका, क्योंकि वह भंजनशील तथा दुर्बल था। भारत को अन्य वस्तुएँ बनाने के लिये अदह का आयात करना पड़ता है। १९५५, १९५६ तथा १९५७ में क्रमानुसार १३,००० टन, १५,१६० टन और १३,९२२ टन अदह बाहर से आया था। भारत को इसके लिये प्रति वर्ष लगभग दो करोड़ रुपया देना पड़ता है। [ज० बि० ला०]

अदाद बाबुली-असूरी देवपरिवार का तूफान का देवता रम्मान। 'रम्मान' नाम इस देवता का बाबुल में प्रचलित था और 'अदाद' असूरिया में। अनुकूल रहने पर वह जल बरसाकर भूमि उर्वर करता है, पर साथ ही क्रुद्ध होने पर वह तूफान चलाकर विध्वंस भी करता है। मूर्तियों में उसके हाथ में वज्र या बिजली होती है। अदाद का उल्लेख अभिलेखों में प्राय: सूर्यदेवता शमाश के साथ ही हुआ है। अदाद की पत्नी का नाम शाला है। [भ० श० उ०]

अदालत अरबी भाषा का शब्द जिसका समानार्थवाची हिंदी शब्द 'न्यायालय' है। सामान्यतया अदालत का तात्पर्य उस स्थान से है जहाँ पर न्याय-प्रशासन-कार्य होता है, परंतु बहुधा इसका प्रयोग न्यायाधीश के अर्थ में भी होता है। बोलचाल की भाषा में अदालत को कचहरी भी कहते हैं।

भारतीय न्यायालयों की वर्तमान प्रणाली किसी विशेष प्राचीन परंपरा से संबद्ध नहीं है। मुगल काल में दो प्रमुख न्यायालयों का उल्लेख मिलता है: 'सदर दीवानी अदालत' तथा 'सदर निजाम-ए-अदालत', जहाँ क्रमश: व्यवहारवाद तथा आपराधिक मामलों की सुनवाई होती थी। सन् १८५७ ई० के असफल स्वातंत्र्ययुद्ध के पश्चात् अंग्रेजी न्याय-प्रशासन-प्रणाली के आधार पर विभिन्न न्यायालयों की सृष्टि हुई। इंग्लैंड में स्थित "प्रिवी काउंसिल" भारत की सर्वोच्च न्यायालय थी। सन् १९४७ ई० में देश स्वतंत्र हुआ और तत्पश्चात् भारतीय संविधान के अंतर्गत संपूर्ण-प्रभुत्व-संपन्न गणराज्य की स्थापना हुई। उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) देश का सर्वोच्च न्यायालय बना।

न्यायालयों को उनके भेदानुसार विभिन्न वर्गों में बाँटा जा सकता है, जैसे उच्च तथा निम्न न्यायालय, अभिलेखन्यायालय तथा वे जो अभिलेख-न्यायालय नहीं हैं, व्यावहारिक, राजस्व तथा दंडन्यायालय, प्रथम न्यायालय तथा अपील न्यायालय और सैनिक तथा अन्यान्य न्यायालय।

उच्चतम न्यायालय देश का सर्वोच्च अभिलेखन्यायालय है। प्रत्येक राज्य में एक अभिलेख उच्च न्यायालय है। राज्य के समस्त न्यायालय उसके अधीन हैं। राजस्व पार्षद (बोर्ड ऑव रेवेन्यू) राजस्व संबंधी मामलों का प्रादेशिक सर्वोच्च अभिलेखन्यायालय है। कतिपय मामलों को छोड़कर उपर्युक्त न्यायालयों को अपील संबंधी क्षेत्राधिकार है।

जिले में प्रधान न्यायालय जिला न्यायाधीश का है। अन्य न्यायालय कार्यक्षेत्रानुसार इस प्रकार हैं: (१) व्यावहारिक न्यायालय, जैसे सिविल जज तथा मुंसिफ के न्यायालय और लघुवादन्यायालय (कोर्ट ऑव स्माल काज़ेज़), (२) दंडन्यायालय, जैसे जिलादंडाधिकारी (डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट), अन्य दंडाधिकारियों के न्यायालय तथा सत्रन्यायालय (कोर्ट ऑव सेशंस), (३) राजस्वन्यायालय, जैसे जिलाधीश (कलक्टर) तथा आयुक्त (कमिश्नर) के न्यायालय।

पंचायती अदालतें—ये सीमित क्षेत्राधिकारवाले ग्रामन्यायालय हैं। [श्री० अ०]

अदिति ऋग्वेद की मातृदेवी, जिसकी स्तुति में उस वेद में बीसों मंत्र कहे गए हैं। वह मित्रावरुण, अर्यमन्, रुद्रों, आदित्यों, इंद्र आदि की माता है। इंद्र और आदित्यों को शक्ति अदिति से ही प्राप्त होती है। उसके मातृत्व की ओर संकेत अथर्ववेद (७, ६, २) और वाजसनेयिसंहिता (२१, ५) में भी हुआ है। इस प्रकार उसका स्वाभाविक स्वत्व शिशुओं पर है और ऋग्वैदिक ऋषि अपने देवताओं सहित बार-बार उसकी शरण जाता है एवं कठिनाइयों में उससे रक्षा की अपेक्षा करता है (ऋ० १०, १००; १, ९४, १५)।

अदिति अपने शाब्दिक अर्थ में बंधनहीनता और स्वतंत्रता की द्योतक है। 'दिति' का अर्थ 'बँधकर' और 'दा' का 'बाँधना' होता है। इसी से पाप के बंधन से रहित होना भी अदिति के संपर्क से ही संभव माना गया है। ऋग्वेद (१, १६२, २२) में उससे पापों से मुक्त करने की प्रार्थना की गई है। कुछ अर्थों में उसे 'गो' का भी पर्याय माना गया है। ऋग्वेद का वह प्रसिद्ध मंत्र (८, १०१, १५)—"मा गां अनागां अदितिं वधिष्ट"—गाय रूपी अदिति को न मारो!—जिसमें गोहत्या का निषेध माना जाता है—इसी अदिति से संबंध रखता है। इसी मातृदेवी की उपासना के लिये किसी न किसी रूप में बनाई मृण्मूर्तियाँ प्राचीन काल में सिंधुनद से भूमध्यसागर तक बनी थीं। [भ० श० उ०]

अदीस अबाबा (ऐडिस अबाबा) समुद्रतल से ८,००० फुट की ऊँचाई पर (९°१' उत्तर अ०,३८° ५६' पूर्व दे०) स्थित इथिओपिया की राजधानी है। यहाँ पर अधिकतम तथा न्यूनतम ताप का औसत अंतर ७·३° फा० तथा औसत वार्षिक वर्षा ५० इंच है। यह रेल (लंबाई ४८६·५ मील) द्वारा जीबुती से संबद्ध है। यहाँ की अनुमानित जनसंख्या लगभग ४,००,००० है (१९५५)।

इसकी मुख्य दूकानें, कार्यालय तथा कारखाने नगर के मध्य में स्थित हैं। यहाँ का राजप्रासाद 'गेबी' नाम से प्रसिद्ध है। इस नगर की स्थापना मेनेलिक द्वितीय द्वारा १८८७ में अबिसीनिया की नई राजधानी के रूप में हुई, जिसका अदीस अबाबा (अर्थ 'नया फूल') नामकरण उसकी पत्नी ने किया। इटली देश के अधिकारकाल (१९३६-४१) में यहाँ पर अनेक मोटर मार्ग बनाए गए।

यहाँ पर दस माध्यमिक विद्यालय हैं, जिनमें एक महिलाओं के लिये है। इनके अतिरिक्त औद्योगिक, व्यावसायिक तथा शिल्प संस्थाएँ एवं इंजीनियरिंग कालेज भी हैं। विश्वविद्यालय की स्थापना १९५० ई० में हुई थी। इसके समीप ही होलेटा में सैनिक कालेज है।

इथिओपिया देश में जो थोड़े बहुत उद्योग धंधे हैं उनमें से अधिकांश इस नगर में या इसके निकट ही पाए जाते हैं। यहाँ पर आटा, रुई, बर्फ तथा मशीनें तैयार करने के कारखाने हैं। [न० ला०]

अदोनी आंध्र प्रदेश के कर्नूलु जिले का एक ताल्लुका तथा नगर है। नगर १५°३८' उ० अक्षांश तथा ७७°१७' पूर्वी देशांतर पर, मद्रास से ३०७ मील दूर, बैंगलोर से सिकंदराबाद जानेवाले राजमार्ग पर स्थित है तथा गुटकल जंकशन से रेलमार्ग द्वारा संबद्ध है। यहाँ पर १४वीं शताब्दी के विजयनगर नरेशों का एक प्रसिद्ध दुर्ग चट्टानी पहाड़ों के ऊपर स्थित है। १५६८ ई० में बीजापुर के सुलतान ने इसको अपने अधीन कर लिया। तब से यह मुसलमानों के आधिपत्य में रहा तथा सन् १८०० ई० में अंग्रेजों के अधिकार में चला गया। इस प्रसिद्ध दुर्ग के अवशेष पाँच पहाड़ियों पर स्थित हैं तथा पर्याप्त क्षेत्रफल घेरे हुए हैं। इन पाँच में से दो पहाड़ियों के नाम क्रमश: बाराखिला तथा तालीबंदा है। बाराखिला के शिखर पर प्राचीन शस्त्रों के रखने का स्थान तथा एक अद्भुत शिलातोप है। इस दुर्ग के नीचे अदोनी नगर बसा हुआ है। यह एक औद्योगिक केंद्र है तथा यहाँ पर कपास-अन्वेषण-शाला भी है।

अदोनी अपने जिले में कपास के व्यापार का प्रधान केंद्र है। यहाँ रुई तैयार करने के पाँच कारखाने हैं। सूत कातने तथा रेशम बुनने के भी प्रसिद्ध उद्योग यहाँ हैं। यहाँ के सूती कालीन अपने रंग तथा टिकाऊपन के लिये बहुत प्रसिद्ध हैं। १८६७ ई० में यहाँ नगरपालिका स्थापित हुई। यह दक्षिणी रेलवे पर एक स्टेशन भी है। जनसंख्या ५३,५८३ है (१९५१)। [न० ला०]

अदृष्ट नैयायिकों के अनुसार कर्मों द्वारा उत्पन्न फल दो प्रकार का होता है। अच्छे कार्यों के करने से एक प्रकार की शोभन योग्यता उत्पन्न होती है जिसे 'पुण्य' कहते हैं। बुरे कामों के करने से एक प्रकार की अशोभन योग्यता उत्पन्न होती है जिसे 'पाप' कहते हैं। पुण्य और पाप को ही 'अदृष्ट' कहते हैं, क्योंकि यह इंद्रियों के द्वारा देखा नहीं जा सकता। इसी अदृष्ट के माध्यम से कर्मफल का उदय होता है। जड़ अदृष्ट का प्रेरक होने से न्यायमत में ईश्वर की सिद्धि माना जाता है। [ब० उ०]

अद्वय द्वित्व भाव से रहित। महायान बौद्ध दर्शन में भाव और अभाव की दृष्टि से परे ज्ञान को 'अद्वय' कहते हैं। इसमें अभेद का वस्थान नहीं होता। इसके विपरीत अद्वैत भेदरहित सत्ता का बोध कराता है। 'अद्वैत' में ज्ञान सत्ता की प्रधानता होती है और 'अद्वय' में 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' ज्ञान की प्रधानता मानी जाती है। माध्यमिक दर्शन अद्वयवादी और शांकर वेदांत तथा विज्ञानवाद अद्वैतवादी दर्शन माने जाते हैं।

सं०ग्रं०—भट्टाचार्य, विधुशेखर: आगमशास्त्र; मूर्ति, टी० आर० वी०: सेंट्रल फ़िलासफ़ी ऑव बुद्धिज़्म'। [ग० पां०]

अद्वैतवाद (ऐब्सोल्यूटिज़्म) दर्शन की वह धारा जिसमें एक तत्व को ही मूल माना जाता है। वेद तथा उपनिषदों में एक पुरुष या एक ब्रह्म का सर्वप्रथम प्रतिपादन मिलता है। गीता तथा पुराणों में इस सिद्धांत का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। बादरायणकृत ब्रह्मसूत्र में भी कुछ व्याख्याताओं के अनुसार अद्वैतवाद प्रतिपादित है। बौद्धदर्शन का महायान प्रस्थान यद्यपि अद्वयवादी कहा जाता है, किंतु अद्वयवाद और अद्वैतवाद में भेद नगण्य है। गौड़पाद (७ वीं शताब्दी) अद्वैतवाद के सर्वप्रथम ज्ञानप्रतिपादक हैं, जिन्होंने तार्किक दृष्टि से अद्वैतसिद्धांत का प्रतिपादन किया। भर्तृहरि तथा मंडन मिश्र ने भी गौड़पाद का अनुसरण किया। अद्वैतवाद के इतिहास में शंकराचार्य का नाम सर्वोच्च माना जाता है। उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखकर आचार्य शंकर ने अद्वैतवाद को अत्यंत दृढ़ भूमिका प्रदान की। शंकर के बाद वार्तिककार सुरेश्वर, भामतीकार वाचस्पति, पद्मपाद, अप्पय्य दीक्षित, श्रीहर्ष, मधुसूदन सरस्वती आदि ने शांकर अद्वैतवाद की अनेक कारिकाएँ प्रस्तुत कीं। केवल वैदिक परंपरा में ही नहीं, अवैदिक परंपरा में भी अद्वैतवाद का विकास हुआ। शैव और शाक्त तंत्रों में से अनेक तंत्र अद्वैतवादी हैं। महायान दर्शन को आधार मानकर चलनेवाले सिद्ध योगी सरहपाद आदि अद्वैतवादी ही हैं।

पश्चिम में अद्वैतवाद का आभास सर्वप्रथम सुकरात के दर्शन में मिलता है। अफ़लातून (प्लेटो) के दर्शन में अद्वैतवाद बहुत स्पष्ट हो जाता है। मध्ययुगीन नव्य अफलातूनी दर्शन तथा ईसाई संतों के विचारों से परिपुष्ट होता हुआ अद्वैतवाद इमानुएल कांट के दर्शन के रूप में विकसित होता है। कांट ने ही अद्वैतदर्शन को वैज्ञानिक तर्क से पुष्ट किया और हीगेल ने कांट द्वारा निर्मित भूमिका पर अद्वैतवाद का सुदृढ़ भवन खड़ा किया। हीगेल के बाद ब्रैडले, बोसांके, ग्रीन आदि ने अद्वैत को अनेक दृष्टियों से परखा। अब भी पश्चिम में अद्वैतवादी विचारक विद्यमान हैं।

वर्तमान युग के भारतीय विचारकों में स्वामी विवेकानंद, श्री अरविंद घोष प्रभृति चिंतकों ने अद्वैतवाद का ही परिपोषण किया है।

यद्यपि देश काल के भेद से तथा मनोवैज्ञानिक कारणों से अद्वैतवाद के नाना रूप मिलते हैं, तथापि उनमें प्रायः गौण विवरणों के सिवाय बाकी सारी बातें समान हैं। यहाँ विभिन्न अद्वैतवादों में पाई जानेवाली समान विशेषताओं का ही उल्लेख संभव है।

अनुभव से हम नाना रूपात्मक जगत् का ज्ञान करते हैं। हमारा अनुभव सर्वदा सत्य नहीं होता। उसमें भ्रम की संभावना बनी रहती है। भ्रम सर्वदा दोष से उत्पन्न होता है। यह दोष ज्ञाता और ज्ञेय दोनों में से किसी में रह सकता है। ज्ञातागत दोष या अज्ञान विषय के वास्तविक ज्ञान का बाधक है। हमारे अनुभव का प्रसार दिक्काल की परिधि में ही होता है। दिक्काल से परे वस्तु का ज्ञान संभव नहीं है। अतः ज्ञाता वस्तु को दिक्कालसापेक्ष देखता है, वस्तु को अपने आपमें (थिंग-इन-इटसेल्फ) वह नहीं देख पाता। इस दृष्टि से सारा ज्ञान अपूर्ण है। ज्ञेय वस्तु भी सर्वदा स्वतंत्र रूप से नहीं रह सकती। एक वस्तु दूसरी वस्तु पर आधारित है, अतः वस्तु की निरपेक्ष सत्ता संभव नहीं। सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, अतः वे अपनी सत्ता के लिये अपने कारणों पर निर्भर करती हैं और वे कारण अपने उत्पादकों पर निर्भर हैं। इसलिये वस्तु का ज्ञान भी ज्ञेय की दृष्टि से अधूरा है।

सापेक्ष तत्व एक दूसरे के सहारे नहीं रह सकते। उनकी स्थिति के लिये एक निरपेक्ष आधार की आवश्यकता है। ज्ञाता की दृष्टि से यह आधार दिक्काल की परिधि से परे हो और ज्ञेय की दृष्टि से कारणातीत हो। यदि ऐसा कोई आधार संभव है तो उसे हम जान नहीं सकते, क्योंकि हमारा ज्ञान दिक्काल तक ही सीमित है। साथ ही वह आधार कारणातीत है, वह स्वयं वस्तु का कारण बनकर कार्यसापेक्ष नहीं हो सकता। अतः उससे किसी कार्य की उत्पत्ति भी नहीं होगी। ऐसे निरपेक्ष तत्व अनेक नहीं हो सकते, क्योंकि अनेकता भी एकसापेक्ष है, अतः अनेकता मानने पर निरपेक्षता नष्ट हो जायगी।

यदि हम तर्क के द्वारा ऐसे तत्व की कल्पना तक पहुँचते हैं जो अज्ञेय और कारणातीत है तो उस तत्व का इस संसार से कोई संबंध न होना चाहिए। किंतु कारणातीत होते हुए भी उस तत्व को संसार का मूल इसलिये माना गया है कि वही तो एक निरपेक्ष आधार है जिसपर सापेक्ष संसार की सृष्टि होती है। उस आधार के बिना संसार का अस्तित्व असंभव है। ज्ञाता और ज्ञेय उस एक तत्व के ही सीमित से दिखलाई देनेवाले रूप हैं। इनसे यदि ससीमता हटा दी जाय तो ये परस्पर भेदरहित होकर एकाकार हो जायँगे। इनकी ससीमता ही इनके उत्पादन और विनाश का कारण है। सीमा का यह आवरण भी कोई सत्य आवरण नहीं है। यह 'अंधों के हाथ' की तरह एकदेशीय और असत् है। इस सीमा में आग्रह का विनाश होना ही तत्व के आवरण का नाश होना है।

आवरण का नाश सत्कर्मों के अनुष्ठान से, योग द्वारा चित्तशुद्धि से अथवा ज्ञानमात्र से होता है। इस दृष्टि से अनेक मार्ग प्रचलित होते हैं। इन मार्गों का उद्देश्य एक है और वह है वस्तु की ससीमता में आग्रह का विनाश। आग्रह के नाश के बाद वस्तु वस्तु के रूप में नहीं रहेगी और ज्ञाता ज्ञाता के रूप में नहीं होगा। सब एक तत्व होगा जिसमें ज्ञाता ज्ञेय, स्व पर का भेद किसी प्रकार संभव नहीं है। इस अभेद के कारण ही उस अवस्था को वाणी और मन से परे कहा गया है। 'नेति नेति' कहने से केवल ससीम वस्तुओं की ससीमता का अभावप्रख्यापन मात्र संभव है।

इस तत्व को सत्ता, ज्ञान या आनंद की दृष्टि से देखने के कारण सत्, चित् या आनंदात्मक ब्रह्म या शिव कहते हैं। सकल प्रपंच की आधारभूता शक्ति की दृष्टि से देखने पर यही शिवा या शक्ति नाम से अभिहित है। मन वाणी से परे होने के कारण शून्य, ज्ञान का चरम आधार होने के कारण विज्ञप्ति, वाक् और अर्थ का प्रतिष्ठापक होने के कारण स्फोट या शब्दतत्व, समग्र प्रपंच में अनुस्यूत होकर निवास करने के कारण पूर्ण (ऐब्सोल्यूट) इसी एक तत्व के दृष्टिभेद से अनेक नाम हैं। यह भी विडंबना ही है कि नाम-रूप-जाति से परे वर्तमान तत्व को भी नाम दिया जाता है। किंतु यह नाम भी शब्दव्यवहार का सहायक होने के कारण सापेक्ष अतः मिथ्या है। अद्वैतवाद का चरम दर्शन मौन है।

सं०ग्रं०—उपनिषद् ब्रह्मसूत्र; शांकर भाष्य; नागार्जुन : मूलमाध्यमिक कारिका; भर्तृहरि : वाक्यपदीय; अभिनवगुप्त : परमार्थसार; प्लेटो : पारमेनाइडीज़; कांट : क्रिटीक ऑव प्योर रीज़न; हीगल : कंप्लीट वर्क्स ऑव हीगेल; ब्रैडले : अपियरेंस ऐंड रियलिटी; डा० राधाकृष्णन् : वेदांत ऑव शंकर ऐंड रामानुज; अरविंद : लाइफ़ डिवाइन। [रा० पां०]

अधःशैल पृथ्वी का अभ्यंतर पिघले हुए पाषाणों का आगार है। ताप एवं ऊर्जा का संकेंद्रण कभी कभी इतना उग्र हो उठता है कि पिघला हुआ पदार्थ (मैग्मा) पृथ्वी की पपड़ी फाड़कर दरारों के मार्ग से बाहर निकल आता है। दरारों में जमे मैग्मा के इन शैलपिंडों को 'नितुन्न शैल' (इंट्रूसिव) कहते हैं। उन विराट् पर्वताकार नितुन्न शैलों को, जिनका आकार गहराई के साथ साथ बढ़ता चला जाता है और जिनके आधार का पता ही नहीं चल पाता है, अधःशैल (बैथोलिथ) कहते हैं।

पर्वतनिर्माण की घटनाओं से अधःशैलों का गंभीर संबंध है। विशाल पर्वतशृंखलाओं के मध्यवर्ती अक्षीय भाग में अधःशैल ही अवस्थित होते हैं। हिमालय की केंद्रीय उच्चतम श्रेणियाँ ग्रेनाइट के अधःशैलों से ही निर्मित हैं।

अधःशैलों का विकास दो प्रकार से होता है। ये पूर्वस्थित शैलों के पूर्ण रासायनिक प्रतिस्थापन (रिप्लेसमेंट) एवं पुनःस्फाटन (री-क्रिस्टैलाइज़ेशन) से निर्मित होते हैं और इसके अतिरिक्त अधिकांश छोटे मोटे नितुन्न शैल पृथ्वी की पपड़ी फाड़कर मैग्मा के जमने से बनते हैं।

अधःशैलों की उत्पत्ति के विषय में स्थान का प्रश्न अति महत्वपूर्ण है। क्लूस, इडिंग्स आदि विशेषज्ञों का मत है कि पूर्वस्थित शैल आरोही मैग्मा द्वारा ऊपर एवं पार्श्व की ओर विस्थापित कर दिए गए हैं, परंतु डेली, कोल एवं बैरल जैसे विद्वानों का मत है कि आरोही मैग्मा ने पूर्वस्थित शैलों को सशरीर घोलकर आत्मसात् कर लिया या क्रमशः कुतर कुतरकर संरदन (कोरोज़न) द्वारा अपने लिये मार्ग बनाया। [र० चं० मि०]

अधिकार अधिनियम, अधिकारपत्र अंग्रेजी संविधान के विकास में 'मैग्ना कार्टा' के बाद सबसे अधिक महत्व की मंजिल। यह अधिनियम

ब्रिटिश पार्ल्यमेंट (संसद) द्वारा १६ दिसंबर, १६८६ को पास हुआ और विलियम तथा मेरी ने तत्काल इसे अपनी राजकीय स्वीकृति देकर संविधान का अधिनियम बना दिया। इस अधिनियम का पूरा शीर्षक मूल में इस प्रकार दिया हुआ है—प्रजा के अधिकारों और स्वतंत्रता की घोषणा तथा सिंहासन का उत्तराधिकार व्यवस्थित करनेवाला अधिनियम। ब्रिटिश लोकसभा द्वारा नियुक्त एक समिति ने 'अधिकार की घोषणा' नामक जो पत्रक प्रस्तुत किया था और जिसे राजदंपति ने १६ फरवरी, १६८६ को अपनी स्वीकृति दी थी वही घोषणा इस अधिनियम की पूर्ववर्ती थी और इसकी धाराएँ प्राय: पूर्णत: उसके अनुरूप थीं। 'अधिकार की घोषणा' में उन शर्तों का भी परिगणन था जिनके अनुसार राजदंपति को उत्तराधिकार मिला था और जिन्हें पालन करने की उन्होंने शपथ ली थी। इन दोनों अधिनियमों का प्रधान महत्व अंग्रेजी संविधान में राजकीय उत्तराधिकार निश्चित करने में है।

अधिकार अधिनियम वस्तुत: उन अधिकारों का परिगणन करता है जिनकी अभिप्राप्ति के लिये अंग्रेज जनता मैग्ना कार्टा (१२१५ ई०) की घोषणा के पहले से ही संघर्ष करती आई थी। इस अधिनियम की धाराएँ इस प्रकार हैं :

पार्लमेंट (संसद) की अनुमति के बिना विधिनियमों या कानून का निलंबन अथवा अनुपयोग अवैध होगा।

पार्लमेंट की अनुमति के बिना आयोग न्यायालयों का निर्माण, परंपराधिकार अथवा राजा की आवश्यकता के नाम पर कर लगाना और शांतिकाल में स्थायी सेना की भरती के कार्य अवैध होंगे।

प्रजा को राजा के यहाँ आवेदन करने और, यदि वह प्रोटेस्टेंट हुई तो स्वरक्षा के लिये, उसे हथियार बाँधने का अधिकार होगा।

पार्लमेंट के सदस्यों का निर्वाचन निर्वाध होगा तथा संसद में उन्हें भाषण की स्वतंत्रता होगी और उस भाषण के संबंध में पार्लमेंट के बाहर कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकेगा, न वक्ता पर किसी प्रकार का मुकदमा चलाया जा सकेगा।

इस अधिनियम ने जमानत और जुरमाने के बोझ को कम किया और इस संबंध की अत्यधिक रकम को अनुचित ठहराया। साथ ही इसने क्रूर दंडों की निंदा की और घोषित किया कि प्रस्तुत सूची में दर्ज नामवाले जूरर ही जूरी के सदस्य हो सकेंगे और देशद्रोह के निर्णय में भाग लेनेवाले सदस्यों के लिये तो भूमि का 'कापीराइट' (स्वामित्व) होना भी अनिवार्य होगा।

इस अधिनियम ने अपराध सिद्ध होने के पूर्व जुरमाने की रीति को अवैध करार दिया और कानून की रक्षा तथा राजनीतिक कष्टों के निवारण के लिये पार्लमेंट के त्वरित अधिवेशन की व्यवस्था की।

अधिकार अधिनियम अथवा अधिकारपत्र शब्द का प्रयोग संयुक्त राज्य, अमरीका के संविधान में भी हुआ है। यह उन नियमों की ओर संकेत करता है जिनका संबंध जनता के आधारभूत अधिकारों से है और जो व्यक्ति-राज्य तथा संघ दोनों को समान रूप से प्रतिबंधित करते हैं।

सं०ग्रं०—डब्ल्यू० स्टब्स : दि कांस्टिट्यूशनल हिस्ट्री ऑव इंग्लैंड, १६२६; जी० एन० क्लार्क : दि लेटर स्टुअर्ट्स, १६६०-१७१४, १६३४; डी० एल० कीर : कांस्टिट्यूशनल हिस्ट्री ऑव माडर्न ब्रिटेन, १४८५–१६३७, १६५०। [भ० श० उ०]

अधिरथ अंग का राजा था जिसने कर्ण का पालन किया था; उसके जाति का सूत (रथकार) होने के कारण कर्ण भी अपने को सूतपुत्र समझता था। महाभारत के एक संस्करण के अनुसार वह धृतराष्ट्र का सारथि था। ऐसा अनुमान होता है कि वह धृतराष्ट्र का सामंत था। [चं० म०]

अधिराजेंद्र चोड यह चोड राजा वीरराजेंद्र चोड का पुत्र था, जो ल० १०७० ई० के उसके मरने पर चोडमंडल का राजा हुआ। तीन वर्ष वह युवराज के पद पर रहा था और युवराज का पद चोडों में बड़ी कार्यशीलता का था। वह राजा का निजी सचिव भी होता था और सर्वत्र उसका प्रतिनिधान करता था। अधिराजेंद्र चोड का शासनकाल बहुत थोड़ा रहा। राज्य में काफी उथल पुथल थी और अपने संबंधी (बहनोई) विक्रमादित्य षष्ठ की सहायता के बावजूद वह राज्य की स्थिति न सँभाल सका और मारा गया। [भ० श० उ०]

अधिवक्ता (ऐडवोकेट)—ऐडवोकेट के अनेक अर्थ हैं, परंतु हिंदी में उसका प्रयोग 'अधिवक्ता' के लिये होता है। ऐडवोकेट का तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जिसको न्यायालय में किसी अन्य व्यक्ति की ओर से उसके हेतु या वाद का प्रतिपादन करने का अधिकार प्राप्त हो। भारतीय न्यायप्रणाली में ऐसे व्यक्तियों की दो श्रेणियाँ हैं : (१) ऐडवोकेट तथा (२) वकील। ऐडवोकेट के नामांकन के लिये भारतीय 'बार काउंसिल' अधिनियम के अंतर्गत प्रत्येक प्रादेशिक उच्च न्यायालय के अपने अपने नियम हैं। उच्चतम न्यायालय में नामांकित ऐडवोकेट देश के किसी भी न्यायालय के समक्ष प्रतिपादन कर सकता है। वकील उच्चतम या उच्च न्यायालय के समक्ष प्रतिपादन नहीं कर सकता। ऐडवोकेट जेनरल अर्थात् महाधिवक्ता शासकीय पक्ष का प्रतिपादन करने के लिये प्रमुखतम अधिकारी है। [श्री० अ०]

अधिहृषता (ऐलर्जी) शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग वान पिरकेट ने बाह्य पदार्थ से शरीर की प्रतिक्रिया करने की शक्ति में हुए परिवर्तन के लिये किया था। कुछ लेखक इस पारिभाषिक शब्द को हर प्रकार की अधिहृषता से संबंधित करते हैं, किंतु दूसरे लेखक इसका प्रयोग केवल संक्रामक रोगों से संबंधित अधिहृषता के लिये ही करते हैं। प्रत्येक अधिहृषता का मूलभूत आधार एक ही है; इसलिये अधिहृषता शब्द का प्रयोग विस्तृत क्षेत्र में ही करना चाहिए।

यदि किसी गिनीपिग की अधस्त्वचा में घोड़े का सीरम (रुधिर का द्रव भाग, जो जमनेवाले भागों के जम जाने पर अलग हो जाता है) प्रविष्ट किया जाय और दस दिन बाद उसी गिनीपिग को उसी सीरम की पहले से बड़ी मात्रा दी जाय, तो उसके अंगों में कंपन उत्पन्न हो जाता है (अर्थात् उसे पेशी-तंतु-संकुचन की बीमारी अकस्मात् हो जाती है)। यह साधारण प्रयोग यह सिद्ध करता है कि गिनीपिग की ऊतियों (टिशू) में पहले इंजेक्शन के बाद घोड़े के सीरम के लिये अधिहृषता उत्पन्न हो जाती है। सीरम उतनी ही मात्रा में यदि एक अहर्षित गिनीपिग को दिया जाय तो उसपर कुछ भी कुप्रभाव नहीं पड़ेगा। संक्रामक जीवाणुओं के प्रति विशेष अधिहृषता अनेक रोगों का लक्षण है। प्रतिक्रिया की तीव्रता के अनुसार मनुष्यों की अधिहृषता तात्कालिक और विलंबित दो प्रकार की होती है। तात्कालिक प्रकार में उद्दीप्त करनेवाले कारकों (फ़ैक्टर्स) के संपर्क में आने के कुछ ही क्षणों बाद प्रतिक्रिया होने लगती है। सीरम में बहते हुए प्रतिजीव (ऐंटीबॉडीज़) दर्शाए भी जा सकते हैं। यह क्रिया संभवत: हिस्टैमाइन नामक पदार्थ के बनने से होती है।

विलंबित प्रकार में प्रतिक्रियाएँ विलंब से होती हैं। प्रतिजीव सीरम में दर्शाए नहीं जा सकते। इन प्रतिक्रियाओं में कोशिकाओं को हानि पहुँचती है और हिस्टैमाइन उत्पन्न होने से उसका संबंध नहीं होता। विलंबित प्रकार की अधिहृषता संस्पर्श त्वचार्ति (छूत से उत्पन्न त्वक्प्रदाह) और तपेदिक जैसे रोगों में होती है।

कुछ व्यक्तियों में संभवत: जननिक कारकों (जेनेटिक फ़ैक्टर्स) के फलस्वरूप कई प्रोटीन पदार्थों के प्रति अधिहृषता हो जाती है। इस प्रकार की अधिहृषता ऐटोपी कहलाती है। इसके कारण परागज ज्वर (हे फीवर) और दमा जैसे रोग होने हैं (देखें **दमा**)। [श्री० ध० अ०]

अध्यक्ष आधुनिक रूप में अध्यक्ष (स्पीकर) के पद का प्रादुर्भाव मध्य युग (१३वीं और १४वीं शताब्दी) में इंग्लैंड में हुआ था। उन दिनों अध्यक्ष राजा के अधीन हुआ करते थे। सम्राट् के मुकाबले में अपने पद की स्वतंत्र सत्ता का प्रयोग तो उन्होंने धीरे धीरे १७वीं शताब्दी के बाद ही आरंभ किया और तब से ब्रिटिश लोकसभा (हाउस ऑव कामन्स) के मुख्य प्रतिनिधि और प्रवक्ता के रूप में इस पद की प्रतिष्ठा और गरिमा बढ़ने लगी। इस प्रकार ब्रिटिश संसद् में अध्यक्ष के मुख्य कृत्य (क) सभा की बैठकों का सभापतित्व करना, (ख) सम्राट् और लार्ड सभा ('हाउस ऑव लार्ड्स') इत्यादि के प्रति इसके प्रवक्ता और प्रतिनिधि का काम करना और (ग) इसके अधिकारों और विशेषाधिकारों की रक्षा करना है।

अन्य देशों ने भी ग्रेट ब्रिटेन के नमूने पर संसदीय प्रणाली अपनाई और उन सबमें थोड़ा बहुत ब्रिटिश अध्यक्ष के ढंग पर ही अध्यक्ष पद कायम किया

गया। भारत ने भी स्वतंत्र होने पर ससदीय शासनपद्धति अपनाई और अपने सविधान में अध्यक्षपद की व्यवस्था की। किंतु भारत मे अध्यक्ष का पद वस्तुत बहुत पुराना है और यह १९२१ से चला आ रहा है। उस समय अधिष्ठाता (प्रिसाइडिंग ऑफिसर) विधानसभा का 'प्रधान' (प्रेसिडेंट) कहलाता था। १९१९ के सविधान के अतर्गत पुरानी केंद्रीय विधानसभा का सबसे पहला प्रधान सर फ्रेडरिक ह्वाइट को, ससदीय प्रक्रिया और पद्धति में उनके विशेष ज्ञान के कारण, मनोनीत किया गया था, किंतु उसके बाद श्री विट्ठलभाई पटेल और उनके बाद के सब 'प्रधान' सभा द्वारा निर्वाचित किए गए थे। इन अधिष्ठाताओ ने भारत मे ससदीय प्रक्रिया और कार्य-सचालन की नीव डाली, जो अनुभव के अनुसार बढती गई और जिसे वर्तमान ससद् ने अपनाया।

लोकसभा (भारतीय समद् का अवर सदन, 'लोअर हाउस') का अध्यक्ष सामान्य निर्वाचनो के बाद प्रत्येक नई ससद् के आरभ मे सदस्यों द्वारा अपने में से निर्वाचित किया जाता है। वह दुबारा निर्वाचन के लिये खडा हो सकता है। सभा के अधिष्ठाता के रूप में उसकी स्थिति बहुत ही अधिकारपूर्ण, गौरवमयी और निष्पक्ष होती है। वह सभा की कार्रवाई को विनियमित करता है और प्रक्रिया सबधी नियमो के अनुसार इसके विचार-विमर्श को आगे बढाता है। वह उन सदस्यों के नाम पुकारता है जो बोलना चाहते हो और भाषणो का क्रम निश्चित करता है। वह औचित्य प्रश्नो (पाइट्स ऑव आर्डर) का निर्णय करता है और आवश्यकता पडने पर उनके बारे मे विनिर्णय (रूलिग्स) देता है। ये निर्णय अतिम होते हैं और कोई भी सदस्य उनको चुनौती नही दे सकता। वह प्रश्नों, प्रस्तावो और सकल्पो, वस्तुत उन सभी विषया की ग्राह्यता का भी निर्णय करता है जो सदस्यों द्वारा सभा के समुख लाए जाते हैं। उसे वादविवाद में असगत और अवाछनीय बातो को रोकने की शक्ति है और वह अव्यवस्थापूर्ण आचरण के लिये किसी सदस्य का 'नाम' ले सकता है। वह सभा और उसके सदस्यों के अधिकारो तथा विशेषाधिकारो का भी रक्षक है और उसे इसके विशेषाधिकारो को भग करनेवाले किसी भी व्यक्ति को दड देने की शक्ति है। वह विभिन्न ससदीय समितियो के कार्य की देखभाल करता है और आवश्यकता पडने पर उन्हें निर्देश देता है। सभा की शक्ति, कार्रवाई और गरिमा के सबध मे वह सभा का प्रतिनिधि होता है और उससे यह आशा की जाती है कि वह सब प्रकार की दलबदी और राजनीति से अलग रहे। सभा मे अध्यक्ष सर्वोच्च अधिकारी होता है। किंतु उसे लोकसभा के तत्कालीन समस्त सदस्यो के बहुमत से पारित सकल्प द्वारा अपने पद से हटाया जा सकता है।

राज्यसभा (उत्तर सदन, अपर हाउस) के अधिष्ठाता को सभापति कहते हैं, किंतु वह उसका सदस्य नही होता। अध्यक्ष और सभापति के कार्य मे उनकी सहायता करने के लिये क्रमश उपाध्यक्ष और उपसभापति होते हैं। भारत मे राज्य-विधान-मडल भी थोडे बहुत इसी ढग पर बनाए गए हैं; उनमे अतर केवल यह है कि उत्तर सदन के सभापति उनके सदस्यो में से निर्वाचित किए जाते हैं। [अ० श० आ०]

अध्यात्मरामायण वेदात दर्शन पर आधारित रामभक्ति का प्रतिपादन करनेवाला रामचरितविषयक सस्कृत ग्रंथ। इसे 'अध्यात्मरामचरित' (१-२-४) तथा 'आध्यात्मिक रामसहिता' (६-१६-३३) भी कहा गया है। यह उमा-महेश्वर-सवाद के रूप मे है और इसमे सात काड एव ६५ अध्याय हैं जिन्हे प्राय व्यासरचित और 'ब्रह्माडपुराण' के 'उत्तरखड' का एक अश भी बतलाया जाता है, किंतु यह उसके किसी भी उपलब्ध संस्करण मे नही पाया जाता। 'भविष्यपुराण' (प्रतिसर्ग पर्व) के अनुसार इसे किसी शिवोपासक राम शर्मन् ने रचा जिसे कुछ लोग स्वामी रामानद भी समझते हैं, किंतु यह मत सर्वसमत नही है। इसका रचनाकाल ईस्वी १४वी सदी से पहले का नही माना जाता और साधारणत. वह १५वी सदी ठहराया जाता है। इसपर अद्वैत मत के अतिरिक्त योगसाधना एवं तंत्रो का भी प्रभाव लक्षित होता है। इसे रामभक्तो के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण कहा गया है। इसमें राम, विष्णु के अवतार होने के साथ ही, परब्रह्म या निर्गुण ब्रह्म भी माने गए हैं और सीता को योगमाया कहा गया है। तुलसीदास का 'रामचरितमानम' इसके द्वारा बहुत प्रभावित है। [प० च०]

अध्यात्मवाद उस विचारधारा का नाम है जिसमें आत्मा को ही सबका मूल माना जाता है। उपनिषदो तथा महाभारत मे अध्यात्म शब्द का प्रयोग 'शरीर' के अर्थ में हुआ है, किंतु कालातर मे चैतन्य आत्मतत्व के अर्थ मे यह शब्द रूढ हो गया। पश्चिम मे ग्रीक दार्शनिक अफलातून ने सर्वप्रथम इस विषय पर विचार किया। उसने ससार के मूल मे अभौतिक तत्व की स्थिति मानी और उसे 'ईदिया' (आइडिया) नाम दिया। उसके बाद उन सभी दर्शनो के लिये आइडियलिज़्म शब्द का व्यवहार होने लगा जिनके अनुसार भौतिक जगत् का मूल अभौतिक तत्व है। अध्यात्मवाद और आइडियलिज़्म समानार्थक शब्द हैं।

ज्ञान जीव को जड से पृथक् करता है। ज्ञान के लिये ज्ञान का विषय, ज्ञाता और विषय तथा ज्ञाता का सबध (ज्ञान) होना आवश्यक है। इनमे से एक के भी अभाव मे ज्ञान सभव नही है। फिर भी तीनो मे से ज्ञाता का स्थान महत्वपूर्ण है, क्योंकि ज्ञाता के अभाव मे विषय और सबध का कोई अर्थ नही। यथार्थवादी दार्शनिक ज्ञान को विषय और ज्ञाता के सबध से उत्पन्न गुण मानते हैं। किंतु जब विषय जड है और ज्ञाता (आत्मा) चेतन है तब इन दोनो मे स्वभावभेद होने के कारण कार्य-कारण-भाव सबध कैसे हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर मे कुछ दार्शनिक आत्मा को भी पृथ्वी, जल आदि की तरह द्रव्य मान लेते हैं और कुछ आत्मा की चेतनता की रक्षा करने के लिये विषय को आत्मा से अभिन्न मानते हैं। किंतु ज्ञाता यदि पृथ्वी आदि की तरह एक पदार्थ है तथा ज्ञान उसका गुण मात्र है तो वह ज्ञाता अपने आपमें पत्थर की तरह चेतनाशून्य तत्व होगा। साथ ही यह भी प्रश्न उठता है कि ज्ञाता स्वय ज्ञान का विषय होता है या नही। ज्ञाता को भी ज्ञान का विषय मान लेने पर ज्ञाता को जाननेवाले एक अलग ज्ञाता की स्थिति माननी पडेगी। इस तरह अलग ज्ञाता मानने का कोई अत न होगा। यदि ज्ञाता स्वय को नही जानता तो 'मैं जानता हूँ', इस अनुभव का क्या होगा? इसलिये ज्ञाता को चेतनस्वरूप मानना चाहिए, चेतना और ज्ञाता मे गुणगुणी-सबध तर्क की दृष्टि से असगत है।

चेतन आत्मा सभी ज्ञान का मूलाधार है। पर इस आत्मा का जड विषय के साथ सबध कैसे सभव है? अध्यात्मवाद मे इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये विषय को ज्ञाता से अपृथक् माना गया है। ज्ञान मे प्रतिभासित विषय सर्वदा बौद्धिक होता है, पदार्थ अपने भौतिक रूप मे ज्ञान के विषय नही होते। मानो एक ही आत्मा ज्ञाता और ज्ञेय के रूप मे द्विधा विभक्त होकर ज्ञान की उत्पत्ति करती है।

विषय और ज्ञाता को एक तत्व के ही दो रूप मान लेने पर स्वभावत बाह्य जगत् का अस्तित्व स्वप्नवत् मानना पडेगा। किंतु स्वप्न और जाग्रत् का अतर सर्वानुभवसिद्ध है। योगाचार बौद्ध दर्शन तथा गौडवाद के मत मे स्वप्न और जगत् के अनुभव मे वास्तविक भेद नही है। अतएव अध्यात्मवाद के मूल सिद्धातों मे सत्ता के दो या तीन स्तर स्वीकार किए गए हैं। व्यावहारिक रूप से हम जाग्रत् अवस्था के अनुभवो को स्वप्नावस्था से पृथक् मानते हैं। इस भेद का मूल कारण है स्वप्न का मिथ्यात्व। वस्तु का जो रूप अनुभूत होता है, कालातर मे उसका अपलाप हो जाता है इसलिय उसका अनुभवगम्य रूप ही मिलता है। स्वप्न मे अनुभूत विषय इसी कारण जाग्रत् अवस्था में मिथ्या कहे जाते हैं। अतएव स्वप्न के विषयो को पारमार्थिक दृष्टि से 'स्वभावशून्य' कहा जा सकता है। मिथ्यात्व के इस लक्षण को जाग्रत अनुभव में आनेवाले विषयो पर भी लागू किया गया है। इसीलिये माध्यमिक दर्शन तथा परवर्ती अद्वैत वेदात मे विशद रूप से जाग्रत् अनुभव के विषयो को उनकी नश्वरता के कारण स्वप्न के विषयो की तरह मिथ्या माना गया है।

मिथ्यात्व के इस लक्षण के आधार पर यह भी कहा गया है कि जो तत्व अपने आपमे पूर्ण होगा, जिसे अपनी स्थिति के लिये दूसरे की आवश्यकता न होगी, वही तत्व सत्य है। अनुभवगम्य विषय सापेक्ष होते हैं अत वे पूर्ण सत्य की परिभाषा मे नही आ सकते। साथ ही, पूर्णता और असीमता पर्यायवाची शब्द हैं। सापेक्षता या द्वैत भावना पूर्णता का विनाश करती है। अत चरम तत्व नित्य, अनत और द्वितीयरहित अद्वय तत्व ही हो सकता है। यह अद्वय तत्व चेतन है, क्योकि चेतन के बिना जड की स्थिति, संसार का निर्माण, असभव है। अत अध्यात्मवाद में आत्मा को ही परात्पर एक तत्व माना गया है।

यदि आत्मा ही तत्व है तो उसका इस जगत् से कैसा संबंध हो सकता है ? अध्यात्मवाद में इसी प्रश्न को लेकर कई अवांतर वाद उत्पन्न हुए हैं। अद्वैत वेदांत में 'माया' को आत्मा और जगत् के बीच की कड़ी माना गया है। माया के कारण ही एक आत्मा जड़ और चेतन के रूप में प्रकट होती है अतः संसार मायानिर्मित एवं आत्मा की दृष्टि से असत् कहा जाता है। किंतु आत्मा इस संसार के मूल में है इसलिये यह आत्मा से अलग भी नहीं है। इस दृष्टि से यद्यपि संसार की वस्तुएँ पृथक् पृथक् आत्मा का वास्तविक रूप नहीं प्रकट कर पातीं, फिर भी वे किसी हद तक आत्मा का अपूर्ण प्रतीक हैं। ब्रैडले और हीगेल जैसे पाश्चात्य दार्शनिक तत्व के समग्र रूप में स्तर का भेद मानते हैं।

यदि वस्तु आत्मा का अपूर्ण रूप और सापेक्ष सत्ता है तो वस्तु को अपने आपमें नहीं जाना जा सकता। चूंकि असत् से सत् की उत्पत्ति संभव नहीं है अतः संसार के मूल में किसी सत्ता की स्थिति भी आवश्यक है। इन दोनों दृष्टियों को मिलाने पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि यद्यपि वस्तु अपने आपमें क्या है, यह नहीं कहा जा सकता (अनिर्वचनीयतावाद), तथापि वस्तु का मूल सत्य में निहित है। ज्ञान की सीमाओं (कैटेगरीज़) के भीतर पड़नेवाली सापेक्ष, अनित्य, दिक्कालावच्छिन्न वस्तुओं का परिशीलन करनेवाली प्रज्ञा विषयनिरपेक्ष, दिक्कालातीत तत्व का साक्षात्कार करने में असमर्थ है अतः उस तत्व का आभास मात्र होता है। तत्व का वास्तविक ज्ञान साक्षात्कार के बिना संभव नहीं। और साक्षात्कार ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान की 'त्रिपुटी' से परे होने पर भी संभव है; अतः सत्य के साक्षात्कार का अर्थ है सत्यमय हो जाना।

सं०ग्रं०—(भारतीय) उपनिषद्; ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य; भामती; वेदांतपरिभाषा; खंडन-खंड-खाद्य (श्रीहर्ष); चित्सुखी, विज्ञप्ति-मात्रता-सिद्धि, मूल माध्यमिक कारिका, बौद्ध दर्शन और वेदांत (डा० चंद्रधर शर्मा)। (पाश्चात्य)—प्लेटो के ग्रंथ: ए क्रिटीक ऑव प्योर रीजन; कांट, हीगल के ग्रंथ: अपियरेंस ऐंड रियलिटी–ब्रैडले; आइडियलिज़्म : ए क्रिटिकल सर्वे ईविंग; कंटेंपररी आइडियलिज़्म इन अमेरिका (बैरेट); प्लेटोनिक ट्रैडिशन इन ऐंग्लो सक्सन फिलासफी (मूरहेड)। [रा० पां०]

अध्यारोपापवाद अद्वैत वेदांत में आत्मतत्व के उपदेश की वैज्ञानिक विधि। ब्रह्म के यथार्थ रूप का उपदेश देना अद्वैत मत के आचार्य का प्रधान लक्ष्य है। ब्रह्म है स्वयं निष्प्रपंच और इसका ज्ञान बिना प्रपंच की सहायता के किसी प्रकार भी नहीं कराया जा सकता। इसलिये आत्मा के ऊपर देहधर्मों का आरोप प्रथमतः करना चाहिए अर्थात् आत्मा ही मन, बुद्धि, इंद्रिय आदि समस्त पदार्थ है। यह प्राथमिक विधि **अध्यारोप** के नाम से प्रसिद्ध है। अब युक्ति तथा तर्क के सहारे यह दिखलाना पड़ता है कि आत्मा न तो बुद्धि है, न संकल्प विकल्परूप मन है, न बाहरी विषयों को ग्रहण करनेवाली इंद्रिय है और न भोग का आयतन यह शरीर है। इस प्रकार आरोपित धर्मों को एक एक कर आत्मा से हटाते जाने पर अंतिम कोटि में उसका जो शुद्ध सच्चिदानंद रूप बच जाता है वही उसका सच्चा रूप होता है। इसका नाम है **अपवाद** विधि (अपवाद=दूर हटाना)। ये दोनों एक ही पद्धति के दो अंश हैं। किसी अज्ञात तत्व के मूल्य और रूप जानने के लिये इस पद्धति का उपयोग आज का बीजगणित भी निश्चित रूप से करता है। उदाहरणार्थ यदि $क^{२}+२क=२४$ इस समीकरण में अज्ञात क का मूल्य जानना होगा, तो प्रथमतः दोनों ओर संख्या १ जोड़ देते हैं (अध्यारोप) जिससे दोनों पक्ष पूर्ण वर्ग का रूप धारण कर लेते हैं और अंत में आरोपित संख्या को दोनों ओर से निकाल देना पड़ता है, तब अज्ञात क का मूल्य ४ निकल आता है

समीकरण की पूरी प्रक्रिया इस प्रकार होगी : ।

$$क^{२}+२क=२४$$

इसलिये $क^{२}+२क+१=२४+१$ (अध्यारोप)

अर्थात् $(क+१)^{२}=(५)^{२}$

अतः $(क+१)=५$

अतएव $(क+१)-१=(५)-१$ (अपवाद)

इसलिये $क=४$ [ब० उ०]

अध्यास अद्वैत वेदांत का पारिभाषिक शब्द है। एक वस्तु में दूसरी वस्तु का ज्ञान अध्यास कहलाता है। रस्सी को देखकर सर्प का ज्ञान इसका उदाहरण है। यहाँ पर रस्सी सत्य है, किंतु उसमें सर्प का ज्ञान मिथ्या है। मिथ्या ज्ञान बिना सत्य आधार के संभव नहीं है, अतः अध्यास के दो पक्ष माने जाते हैं। सत्य और अनृत या मिथ्या का 'मिथुनीकरण' अध्यास का मूल कारण है। ब्रह्म सत्य है, प्रपंच मिथ्या है, इन दोनों का संबंध होने पर 'यह मेरा है' ऐसा लोकव्यवहार चलता है।

इस मिथुनीकरण में एक के धर्मों का दूसरे में आरोप होता है। रस्सी की वक्रता का सर्प में आरोप होता है, अतः सर्प का ज्ञान संभव है। साथ ही यह धर्मारोप कोई व्यक्ति जान बूझकर नहीं करता। वस्तुतः अनजाने में ही यह आरोप हो जाता है, इसलिये सत्य और अनृत में अध्यासावस्था में परस्पर विवेक नहीं हो पाता। विवेक होते ही अध्यास का नाश हो जाता है। जिन दो वस्तुओं के धर्मों का परस्पर अध्यास होता है वे वस्तुतः एक दूसरी से अत्यंत भिन्न होती हैं। उनमें तात्विक साम्य नहीं होता किंतु औपचारिक धर्मसाम्य के आधार पर यथाकथंचित् दोनों का मिथुनीकरण होता है।

शांकर भाष्य में अध्यास का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि एक वस्तु में तत्सदृश किसी पूर्वदृष्ट वस्तु का स्मरण होता है। यह स्मृतिरूप ज्ञान ही अध्यास कहलाता है। परंतु पूर्वदृष्ट वस्तु का स्मरण मिथ्या नहीं होता। किसी को देखकर, 'यह वही व्यक्ति है', ऐसा उत्पन्न ज्ञान सत्य है। इसलिये 'स्मृतिरूप' शब्द का विशेष अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। स्मृत वस्तु के रूप की तरह जिसका रूप हो उस वस्तु का उससे भिन्न स्थान पर ज्ञान होना अध्यास का सर्वमान्य लक्षण माना गया है। रस्सी को देखकर सर्प का स्मरण होता है और तदनंतर सर्प का ज्ञान होता है। यह सर्पज्ञानस्मृति सर्प से भिन्न वस्तु है। वाचस्पति मिश्र ने 'भामती' में कहा है—'सर्पादिभाव से रस्सी आदि का अथवा रक्तादि गुण से युक्त स्फटिक आदि का ज्ञान न होता हो, ऐसी बात नहीं है, किंतु इस ज्ञान से रस्सी आदि सर्प हो जाते हैं या उसमें सर्प का गुण उत्पन्न होता है, यह भी असंगत है। यदि ऐसा होता तो मरुप्रदेश में किरणों को देखकर "उछलती तरंगों की माला से सुशोभित मंदाकिनी आ गई है" ऐसा ज्ञान होता और लोग उसके जल से अपनी पिपासा शांत करते। इसलिये अध्यास से यद्यपि वस्तु सत् जैसी लगती है, फिर भी उसमें वास्तविक सत्यत्व की स्थिति मानना मूर्खता है।

यह अध्यास यदि सत्यता से रहित हो तो बंध्यापुत्र आदि की तरह इसका ज्ञान नहीं होना चाहिए। किंतु सर्पज्ञान होता है, अतः यह अत्यंत असत् नहीं है। साथ ही अध्यास ज्ञान को सत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि सर्प का ज्ञान कथमपि सत्य नहीं है। सत् और असत् परस्पर विरोधी हैं अतः अध्यास सदसत् भी नहीं है। अंततः अध्यास को सदसत् से विलक्षण अनिर्वचनीय कहा गया है। "इस क्रम से अध्यस्त जल वास्तविक जल की तरह है, इसीलिये वह पूर्वदृष्ट है। यह तो मिथ्याभूत अनिर्वचनीय (शब्दव्यापार से परे) है।"

अध्यास दो प्रकार का होता है। **अर्थाध्यास** में एक वस्तु का दूसरी वस्तु में ज्ञान होता है—जैसे, मैं मनुष्य हूँ। यहाँ मैं आत्मतत्व है और मनुष्यत्व जाति है। इन दोनों का 'मिथुनीकरण' हुआ है। **ज्ञानाध्यास** अर्थाध्यास से प्रेरित अभिमान का नाम है।

सं०ग्रं०—ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य (अध्यासभाष्य); वाचस्पति : भामती, १,१,१,। [रा० पां०]

अध्वर्यु वैदिक कर्मकांड के चार मुख्य ऋत्विजों में अन्यतम ऋत्विज्। 'अध्वर्यु' का अर्थ ही है 'यज्ञ करनेवाला'। वह अपने मुख से तो यज्ञमंत्रों का उच्चारण करता जाता है और अपने हाथ से यज्ञ की सब विधियों का संपादन भी करता चलता है। अध्वर्यु का अपना वेद 'यजुर्वेद' है, जिसमें गद्यात्मक मंत्रों का विशेष संग्रह किया गया है और यज्ञ के विधानक्रम को दृष्टि में रखकर उन मंत्रों का वही क्रम निर्दिष्ट किया गया है। [ब० उ०]

अध्वा जगत् या सृष्टि की तांत्रिकी संज्ञा। तंत्रों के अनुसार अध्वा दो प्रकार का होता है—शुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध अध्वा से सात्विक जगत् का तात्पर्य है, जिसका उपादान कारण महामाया है। शिव की

परिग्रह शक्ति अचेतन और परिणामशालिनी मानी जाती है। वही 'बिंदु' कहलाती है। शुद्ध बिंदु का नाम 'महामाया' है जो सत्वमय जगत् की उत्पत्ति में उपादान कारण बनती है। अशुद्ध बिंदु का नाम 'माया' है जो प्राकृत जगत् का उपादान कारण होती है। महामाया के क्षोभ से शुद्ध जगत् (शुद्धाध्वा) की सृष्टि होती है और माया के क्षोभ से अशुद्ध प्राकृत जगत् (मायाध्वा) की उत्पत्ति होती है। [ब० उ०]

अनंत

अनंत शब्द का अंग्रेजी पर्याय 'इनफ़िनिटी' लैटिन भाषा के इन् (अन्) और फ़िनिस (अंत) की संधि है। यह शब्द उन राशियों के लिये प्रयुक्त किया जाता है जिनकी माप अथवा गणना उनके परिमित न रहने के कारण असंभव है। अपरिमित सरल रेखा की लंबाई सीमाविहीन और इसलिये अनंत होती है।

गणितीय विश्लेषण में प्रचलित 'अनंत', जिसे ∞ द्वारा निरूपित करते हैं, इस प्रकार व्यक्त किया गया है :

यदि **य** कोई चर है और **फ**(**य**) कोई य का फलन है, और यदि जब चर **य** किसी संख्या **क** की ओर अग्रसर होता है तब **फ**(**य**) इस प्रकार बढ़ता ही चला जाता है कि वह प्रत्येक दी हुई संख्या **ण** से बड़ा हो जाता है और बड़ा ही बना रहता है, चाहे **ण** कितना भी बड़ा हो, तो कहा जाता है कि **य**=**क** के लिय **फ**(**य**) की सीमा अनंत है।

भिन्नों की परिभाषा से (देखें **संख्या**) स्पष्ट है कि भिन्न **व**/**स** वह संख्या है जो **स** से गुणा करने पर गुणनफल **व** देती है। यदि **व**, **स** में से कोई भी शून्य न हो तो **व**/**स** एक अद्वितीय राशि का निरूपण करता है। फिर स्पष्ट है कि ०/**स** सदैव समान रहता है, चाहे स कोई भी सांत संख्या हो। इसे परिमेय (रशनल) संख्याओं का शून्य कहा जाता है और गणनात्मक (कार्डिनल) संख्या ० के समान है। विपरीततः, **व**/० एक अर्थहीन पद है। इसे अनंत समझना भूल है। यदि **क**/**य** में **क** अचर रहता है, और **य** घटता जाता है, और **क**, **य** दोनों धनात्मक हैं, तो **क**/**य** का मान बढ़ता जायगा। यदि **य** शून्य की ओर अग्रसर होता है तो अंततोगत्वा **क**/**य** किसी बड़ी से बड़ी संख्या से भी बड़ा हो जायगा। हम इस बात को निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त करते हैं :

$$\lim_{\text{य}\to \text{०}} \frac{\text{क}}{\text{य}} = \infty \text{ ।}$$

इसी परिणाम के आधार पर अवैज्ञानिक रीति से लोग कहते हैं कि **क**/०=∞ ।

कैंटर (१८४५-१९१८) ने अनंत की समस्या को दूसरे ढंग से व्यक्त किया है। कैंटरीय संख्याएँ, जो अनंत और सांत के विपरीत होने के कारण कभी कभी अतीत (ट्रैंसफ़ाइनाइट) संख्याएँ कही जाती है, ज्यामिति और सीमा सिद्धांत में प्रचलित अनंत की परिभाषा से भिन्न प्रकार की हैं। कैंटर ने लघुतम अतीत गणनात्मक संख्या (ट्रैंसफ़ाइनाइट कार्डिनल* नंबर) **अ**$_{\text{०}}$ (अकार शून्य, अलिफ़-जीरो) की व्याख्या प्राकृतिक संख्याओं १, २, ३, ... के संघ (सेट) की गणनात्मक संख्या से की है। यह सिद्ध हो चुका है कि **अ**$_{\text{०}}$+**स**=**अ**$_{\text{०}}$, जिसमें **स** कोई सांत पूर्ण संख्या है। कैंटर ने केवल अकार शून्य के ही नहीं, अनेक अकार संख्याओं, **अ**$_{\text{०}}$, **अ**$_{\text{१}}$, ... के सिद्धांत को भी विकसित किया है। हार्डी ने गणनात्मक संख्या **अ**$_{\text{१}}$ वाले बिंदुओं के संघ की रचना करने की विधि बताई है। संख्या **सं** (= २**अ**$_{\text{०}}$) प्रतान (कंटिनुअम) की, अर्थात् वास्तविक संख्याओं के संघ की, गणनात्मक संख्या है। एकैकी रूपांतर (वन टु वन ट्रैंसफ़ॉर्मेशन) द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि अंतराल (इंटरवल) (०, १) में भी बिंदुओं के संघ की गणनात्मक संख्या **सं** होती है।

वास्तविक संख्याओं १, २, ३, ... के संघ से संबद्ध अतीत क्रमिक संख्या को **औ** (ऑमेगा, ω) लिखते हैं और इसे प्रथम अतीत क्रमिक संख्या (ट्रैंसफ़ाइनाइट ऑर्डिनल नंबर) कहते हैं। किसी दिए हुए अंतराल **का खा** में **बा**$_{\text{१}}$, **बा**$_{\text{२}}$, **बा**$_{\text{३}}$, ... बिंदुओं के एक अनुक्रम पर, जो वृद्धिमय

का | बा$_{\text{१}}$ बा$_{\text{२}}$ बा$_{\text{३}}$ बा$_{\text{स}}$ ... बा$_{\text{औ}}$ ... बा$_{\text{औ}+\text{१}}$ ... बा$_{\text{औ}+\text{२}}$ ... बा$_{\text{औ}.\text{२}}$ | खा

संख्याओं **क**$_{\text{१}}$, **क**$_{\text{२}}$, **क**$_{\text{३}}$, ... के अनुक्रम को व्यक्त करता है, विचार करें। इस अनुक्रम का एक सीमाबिंदु (लिमिटिंग पॉइंट) होगा जो इन समस्त बिंदुओं के दाहिनी ओर होगा; इसे हम **बा**$_{\text{औ}}$ द्वारा निरूपित कर सकते हैं। अब कल्पना करें कि बिंदु **बा**$_{\text{औ}}$ के उपरांत अन्य बिंदु ऐसे भी हैं जिन्हें हम **बा**$_{\text{१}}$, ... **बा**$_{\text{२}}$, ... **बा**$_{\text{स}}$, ... **बा**$_{\text{औ}}$ वाले संघ से संबद्ध मानना चाहेंगे, तब इन बिंदुओं को हम **बा**$_{\text{औ}+\text{१}}$, **बा**$_{\text{औ}+\text{२}}$, ... द्वारा व्यक्त करेंगे। यदि **बा**$_{\text{औ}}$, **बा**$_{\text{औ}+\text{१}}$, **बा**$_{\text{औ}+\text{२}}$, ... नामक बिंदुओं के संघ का कोई अंतिम बिंदु न हो और ये सब **का खा** के अंतर्गत स्थित हों तो इस संघ का एक सीमाबिंदु होगा जिसे हम **बा**$_{\text{औ}+\text{औ}}$ या **बा**$_{\text{औ}.\text{२}}$ द्वारा व्यक्त कर सकते हैं; इत्यादि। अतः हमें क्रम संख्याएँ १, २, ३, ..., **औ**, **औ**+१, **औ**+२क ...**औ**.२, **औ**.२+१, ..., **औ**.३, ... **औ**$^{\text{२}}$, ... प्राप्त होती हैं।

गणितीय विश्लेषण में हम बहुधा अनंत की ओर अग्रसर होनेवाले अनुक्रमों (या फलनों) की वृद्धि की तुलना करते हैं। लांडाऊ ने O, o, ~ नामक संकेतलिपि प्रचलित की है, जिसकी व्याख्या इस प्रकार है : यदि **फ**(**य**) और **फा**(**य**) अऋणात्मक हों और यदि समस्त **य** > **य**$_{\text{०}}$ के लिये **फ**(**य**)/**फा**(**य**) < एक अचल राशि **त** हो, तो **य** के अनंत की ओर अग्रसर होने पर **फ**(**य**) = O{**फा**(**य**)} होता है। यदि समस्त **य** > **य**$_{\text{०}}$ के लिये **फा**(**य**)/**फा**(**य**) < **ट** हो, जिसमें **ट** कोई इच्छानुसार छोटी संख्या है, तो **य** के अनंत की ओर अग्रसर होने पर **फ**(**य**) = o{**फा**(**य**)} होता है, और यदि **य** के अनंत की ओर अग्रसर होने पर **फ**(**य**)/**फा**(**य**) $\to$ १ अथवा कोई अन्य सांत संख्या, तो हम **य** $\to \infty$ पर **फ**(**य**) ~ **फा**(**य**) लिखते हैं। अतः जब $\text{स} \to \infty$ तो $\text{स}^{\text{२}} + \text{२०स} + \text{१०००} \sim \text{स}^{\text{२}}$। सामान्यतया दोनों अनुक्रम अनंत की ओर अग्रसर होते हैं और उनकी वृद्धि लगभग समान रहती है। पॉल दू बोइस-रैमों और जी० एच० हार्डी ने फलनों के अनुक्रमों की वृद्धि में तुलना करने के लिये 'अनंत मापनियों' (स्केल्स ऑव इनफ़िनिटी) की व्याख्या की है।

सं० ग्रं०—ए० एन० व्हाइटहेड : प्रिंसिपिल्स ऑव नैचुरल नॉलेज, भाग ३ (१९१९); बर्ट्रड रसेल : इंट्रोडक्शन टु मैथमैटिकल फ़िलॉसफ़ी (१९१९); ई० डब्ल्यू० हॉब्सन : थ्योरी ऑव फ़ंकशंस ऑव ए रियल वेरिएबिल, खंड १ (१९२७); जी० एच० हार्डी : ऑर्डर्स ऑव इनफ़िनिटी (१९२४)। [शां० म० शा०]

अनंत गुणनफल

अनंत गुणनफल **फ**$_{\text{१}}$, **फ**$_{\text{२}}$, **फ**$_{\text{३}}$, ... को एक विशेष क्रम में गुणा करने पर जो व्यंजक **फ**$_{\text{१}}$**फ**$_{\text{२}}$**फ**$_{\text{३}}$ ... बनता है उसे अनंत गुणनफल (इनफ़िनिट प्रॉडक्ट) कहते हैं। यदि **फ**$_{\text{१}}$, **फ**$_{\text{२}}$, फ$_{\text{३}}$, ... इन खंडों में से कोई खंड, मान लें **फ**$_{\text{स}}$, शून्य हो तो गुणनफल का मान शून्य होगा। अतः हम मान लेंगे कि कोई भी खंड शून्य नहीं है। अब हम **फ**$_{\text{१}}$ **फ**$_{\text{२}}$ **फ**$_{\text{३}}$ ... **फ**$_{\text{स}}$ के लिये **गु**$_{\text{स}}$ लिखा करेंगे। यदि जब **स** $\to \infty$, तब **गु**$_{\text{स}}$ किसी ऐसी सीमा के लिये अग्रसर होता है जो न तो अनंत (∞) है और न शून्य, तो कहा जाता है कि अनंत गुणनफल **फ**$_{\text{१}}$**फ**$_{\text{२}}$**फ**$_{\text{३}}$... अभिसारी (कॉनवर्जेंट) है; अन्यथा उसे अनभिसारी (नॉन-कॉनवर्जेंट) अथवा अपसारी (डाइवर्जेंट) कहा जाता है। उदाहरणार्थ,

$$\left(\text{१}+\frac{\text{१}}{\text{२}}\right)\left(\text{१}+\frac{\text{१}}{\text{२}^{\text{२}}}\right)\left(\text{१}+\frac{\text{१}}{\text{२}^{\text{३}}}\right)\ldots \text{ अनंत तक}$$

एक अभिसारी गुणनफल है, क्योंकि यहाँ **गु**$_{\text{स}}$ की सीमा न अनंत है और न शून्य; परंतु गुणनफल

$$\left(\frac{\text{१}}{\text{२}^{\text{१}}}\right)\left(\frac{\text{२}^{\text{१}}}{\text{३}^{\text{२}}}\right)\left(\frac{\text{३}^{\text{१}}}{\text{४}^{\text{२}}}\right)\left(\frac{\text{४}^{\text{१}}}{\text{५}^{\text{२}}}\right)\ldots \text{ अनंत तक}$$

* एक, दो, तीन इत्यादि कार्डिनल संख्याएँ हैं; प्रथम, द्वितीय, तृतीय इत्यादि आर्डिनल संख्याएँ हैं।

एक अपसारी गुणनफल है, क्योंकि यहाँ प्रथम स खंडों का गुणनफल $१/(स+१)^२$ है, जो स के अनंत की ओर अग्रसर होने पर शून्य की ओर अग्रसर होता है। कोशी के अभिसरण नियम के अनुसार, गुणनफल के अभिसरण के लिये यह आवश्यक और पर्याप्त है कि किसी इच्छानुसार छोटी संख्या इ के दिए रहने पर, हम सदा एसी संख्या $स_०(इ)$ पा सकें कि $स > स_०(इ)$ के लिये और श=१, २, ३,... के लिये,

$$| फ_{स+१} फ_{स+२} \ldots फ_{स+श} - १ | < इ ।$$

विशेषतः, यह आवश्यक है कि $सीमा_{स \to \infty}\ फ_स = १$ ।

अतः, यदि हम $फ_स$ के बदले $१ + क_स$ लिखा करें तो अनंत गुणनफल का सामान्य रूप

$$(१+क_१)(१+क_२)(१+क_३)\ldots$$

होगा, और यदि गुणनफल अभिसारी होगा तो

$$सीमा_{स \to \infty}\ क_स = ० ।$$

अभिसरण की जाँच—अनंत गुणनफल के अभिसरण की जाँच की दो सरल विधियाँ निम्नलिखित हैं :

(क) यदि प्रत्येक स के लिये $क_स > ०$ तो गुणनफल

$$\prod (१+क_स)$$

तभी अभिसारी होगा जब श्रेणी $\Sigma क_स$ अभिसारी होगी, क्योंकि अनुक्रम (सीक्वेन्स)

$$\prod_१^स (१+क_ट)$$

एकस्विनी वृद्धिमय (मोनोटोनिक इनक्रीज़िंग) है और

$$\sum_{ट=१}^{स} क_ट < \prod_{ट=१}^{स} (१+क_ट)$$

$$= \prod_{ट=१}^{स} घात\ लघु\ (१+क_ट)$$

$$= घात \sum_{ट=१}^{स} लघु\ (१+क_ट)$$

$$< घात \sum_{ट=१}^{स} क_ट ।$$

अतः, यदि अ > ० तो अनंत गुणनफल

$$\prod_१^\infty \left(१ + \frac{१}{स^अ}\right)$$

अभिसारी होगा; यदि अ ⩽ १, तो पूर्वोक्त गुणनफल अपसारी होगा।

(ख) यदि प्रत्येक स के लिये $० \leqslant क_स < १$, तो गुणनफल

$$\prod_१^\infty (१ - क_स)$$

तभी अभिसारी होगा जब अनंत श्रेणी

$$\sum_१^\infty क_स$$

अभिसारी होगी।

निरपेक्ष अभिसरण—गुणनफल $\Pi(१+क_स)$ को निरपेक्षतः अभिसारी (ऐब्सोल्यूटली कॉनवर्जेंट) तब कहा जाता है जब गुणनफल $\Pi(१+|क_स|)$ अभिसारी होता है। अतः उपरिलिखित नियम (क) से यह निष्कर्ष निकलता है कि गुणनफल $\Pi(१+क_स)$ तभी निरपेक्षतः अभिसारी होगा जब $\Sigma क_स$ निरपेक्षतः अभिसारी होगा।

यदि कोई श्रेणी $\Sigma क_स$ निरपेक्षतः अभिसारी हो तो अवश्य ही वह अभिसारी भी होगी, और ऐसी श्रेणीका अभिसरण अपने पदों के क्रमपर निर्भर नहीं रहेगा। इसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि यदि $\Pi(१+क_स)$ निरपेक्षतः अभिसारी हो, तो गुणनफल अभिसारी होगा और गुणनफल एक ऐसे मान की ओर अभिसारी होगा जो गुणनखंडों के क्रम पर निर्भर नहीं है। फिर, यदि कोई श्रेणी अनिरपेक्षतः अभिसारी हो तो हम जानते हैं कि उपयुक्त पुनर्विन्यास (रिअरेंजमेंट) द्वारा वह किसी भी योग की ओर अभिसारी होनेवाली अथवा अपसारी अथवा प्रदोली (ऑसिलेटिंग) बनाई जा सकती है। इसी प्रकार प्रत्येक अनिरपेक्षतः अभिसारी अनंत गुणनफल भी, खंडों के क्रम में परिवर्तन करने से, किसी निश्चित मान की ओर अभिसारी या अपसारी या प्रदोली बनाया जा सकता है।

अभिसरण संबंधी अन्य नियम—अब हम $\Pi(१+क_स)$ की संसृति पर विचार करेंगे, जिसमें $क_स$ कोई वास्तविक संख्या है। अनंत गुणनफल के अभिसरण के निमित्त $क_स$ को, स के अनंत की ओर अग्रसर होने पर, शून्य की ओर प्रवृत्त होना चाहिए; अतः हम कल्पना कर सकते हैं कि आवश्यकतानुकूल खंडों की एक परिमित संख्या को छोड़कर, $स \geqslant १$ के लिये, $|क_स| < १$ है। अब यदि व धनात्मक है तो

$$० < व - लघु(१+व) < \tfrac{१}{२}व^२,$$

और यदि $० > व > -१$, तो

$$० < व - लघु(१+व) < \tfrac{१}{२}व^२/(१+व) ।$$

अतः हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकालते हैं :

(ग) यदि श्रेणी $\Sigma क_स^२$ अभिसारी हो तो अनंत गुणनफल $\Pi(१+क_स)$ तभी अभिसारी होगा, जब श्रेणी $\Sigma क_स$ अभिसारी होगी; अथवा अनंत की ओर अपसारी होगा, जब $\Sigma क_स$ अनंत की ओर अपसारी होगी; अथवा शून्य की ओर अपसारी होगा, जब $\Sigma क_स$ ऋण अनंत की ओर अपसारी होगी; अथवा दोलित होगा, जब $\Sigma क_स$ दोलित होगी।

यदि $\Sigma क_स^२$ अपसारी हो और $\Sigma क_स$ अभिसारी हो या परिमित रूपसे दोलित हो, तो गुणनफल $\Pi(१+क_स)$ शून्य की ओर अपसारी होगा।

इस उपयोगी नियम का अपवाद तब उत्पन्न होता है, जब $\Sigma क_स^२$ अपसारी रहता है और $\Sigma क_स$ भी अपसारी रहता है, या अनंत रूपसे दोलित रहता है। ऐसी दशामें गुणनफल अपसारी अथवा अभिसारी हो सकता है।

सामान्यतः अनंत गुणनफल की अभिसरणसमस्या सदैव अनंत श्रेणी की अभिसरणसमस्या से निम्नलिखित साध्य द्वारा संबद्ध की जा सकती है :

(घ) अनंत गुणनफल $\Pi(१+क_स)$ तभी अभिसारी होगा जब श्रेणी Σ लघु$(१+क_स)$ अभिसारी होगी। यदि हम समस्त लघुगणकों के मुख्य मानों (प्रिंसिपल वैल्यूज़) को ही लें तो यह साध्य संकर (कॉम्प्लेक्स) $क_स$ के लिये भी ठीक है।

फलनों के गुणनफल—अनंत गुणनफल

$$\prod_{स=१}^{\infty} \{१ + क_स(ल)\}$$

के एकरूप (यूनीफ़ॉर्म) अभिसरण की व्याख्या, जब इसके पद वास्तविक चलराशि के या संकर चलराशि ल के फलन हों, श्रेणी $\Sigma क_स(ल)$ की भाँति की जा सकती है। ऐसे गुणनफल का एकरूप अभिसरण तभी संभव है जब

$$\prod_{स=१}^{स} \{१ + क_स(ल)\},$$

ल के मानों के किसी क्षेत्रविशेष में, एकरूपतः ऐसी सीमा की ओर अभिसारी हो जो कभी शून्य नहीं होती।

कुछ विशेष गुणनफल—हम ज्या πल को निम्नलिखित गुणनफल से व्यक्त कर सकते हैं :

$$\left\{\left(१-\frac{ल}{\pi}\right)ई^{ल/\pi}\right\}\left\{\left(१+\frac{ल}{\pi}\right)ई^{ल/\pi}\right\}\left\{\left(१-\frac{ल}{२\pi}\right)ई^{ल/२\pi}\right\}\times$$
$$\left\{\left(१+\frac{ल}{\pi}\right)ई^{ल/२\pi}\right\}\ldots।$$

विशेषत:, यदि $ल=\frac{१}{२}$, तो हमें वैलिस का सूत्र प्राप्त होता है, जो निम्नलिखित है :

$$\frac{१}{२}\pi=\frac{२\times२\times४\times४\times६\times६\times\ldots}{१\times३\times३\times५\times५\times७\times७\times\ldots}।$$

गामा फलन $\Gamma(ल)$ भी एक ऐसा फलन है जो सरलता से अनंत गुणनफल द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। यदि स कोई धनात्मक पूर्ण संख्या हो तो **स!** का अर्थ सभी जानते हैं। परंतु यदि **स** धनात्मक पूर्ण संख्या न हो तो स! की परिभाषा हम यह दे सकते हैं कि

$$स!=\Gamma(स+१)।$$

ल=०, −१, −२, ...को छोड़ ल के समस्त मानों के लिये $\Gamma(ल)$ को हम निम्नलिखित सूत्र से परिभाषित कर सकते हैं :

$$\Gamma(ल)=\frac{ई^{-आल}}{ल\prod_{१}^{\infty}\left\{\left(१+\frac{ल}{स}\right)ई^{-ल/स}\right\}}$$

जिसमें आ एक अचर है जिसे आयलर अचर (ऑयलर कॉन्स्टैंट) कहते है। इस सूत्र द्वारा हम सिद्ध कर सकते हैं कि

$$\Gamma(ल+१)=ल\Gamma(ल),\ \Gamma(१)=१,$$
$$\Gamma(ल)\Gamma(१-ल)=\pi\ व्युज्या\ \pi ल।$$

संख्या-विभाजन-सिद्धांत के अंतर्गत हमें निम्नलिखित प्रकार के गुणनफल मिलते हैं :

$$\left(१-य^{स_१}\right)\left(१-य^{स_२}\right)\left(१-य^{स_३}\right)\ldots,$$

$$\left(१+य^{स_१}\right)\left(१+य^{स_२}\right)\left(१+य^{स_३}\right)\ldots,$$

जिनमें $स_१<स_२<स_३<\ldots$। यदि स की विभाजन-संख्या **गु**(स) से निरूपित की जाय तो **गु**(स) का जनक फलन, आयलर के अनुसार, फा(य) होगा, जहाँ

$$फा(य)=\frac{१}{(१-य)(१-य^२)(१-य^३)\ldots}$$
$$=१+\sum_{१}^{\infty} गु_स\, य^स।$$

यदि **फी**(स) उन धनात्मक पूर्ण संख्याओं की संख्या को व्यक्त करे जो **स** से कम और स के प्रति रूढ़ (प्राइम) हैं तो

$$फी(स)=स\prod_{ग|स}\left(१-\frac{१}{ग}\right)$$

जिसमें ग|स का अर्थ है स के रूढ़ खंडों से बना गुणनफल।

यदि **जी**(**ष**) रीमान का ज़ीटा फलन है तो **ष**>१ के लिये

$$जी(ष)=\prod_{ग}\left(१-ग^{-ष}\right)^{-१},$$

जिसमें ग समस्त रूढ़ संख्याओं पर व्याप्त है।

सं०ग्रं०—टी० जे० ब्रॉमविच : ऐन इंट्रोडक्शन टु दि थ्योरी ऑव इनफ़िनिट सीरीज़ (१९२६); के० क्नॉप : थ्योरी ऐंड ऐप्लिकेशन ऑव इनफ़िनिट सीरीज़ (१९२८)। वायर्स्ट्रास के खंड-साध्य, गामा फलन, रीमान के ज़ीटा फलन, संख्या-विभाजन-सिद्धांत और अंकगणितीय फलनों के लिये ई० सी० टिशमार्श : थ्योरी ऑव फ़ंकशंस (१९३९) देखें; ई० टी० कॉप्सन : थ्योरी ऑव फ़ंकशंस ऑव ए कंप्लेक्स वेरिएबल (१९३५) और हार्डी तथा राइट : थ्योरी ऑव नंबर्स (१९४५) भी द्रष्टव्य हैं। [स्व० मो० शा०]

अनंतचतुर्दशी भादों शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी अनंतचतुर्दशी कहलाती है। इसमें अनंत (विष्णु) की पूजा का विधान है। कट्टर वैष्णवों के लिये इससे बड़ा अन्य पर्व नहीं है। व्रत तथा स्नान के अतिरिक्त इस दिन 'विष्णुपुराण' और 'भागवत' का पाठ किया जाता है तथा हल्दी में रँगकर कच्चे सूत का अनंत पहनते हैं। [चं० म०]

अनंतपुर भारतीय संघ में स्थित मद्रास प्रांत के अनंतपुर जनपद का एक नगर है। यह नगर बेलारी से ६२ मील दक्षिण-पूर्व दिशा में स्थित है। अनंतपुर जिले का क्षेत्रफल ६,७३४ वर्ग मील है। इसका दक्षिणी भाग पर्वतीय तथा शेष पठारी है। नगर में दाल, चावल तथा आटा की मिलें, कपास के गट्ठे बनाने के कारखाने एवं तेल तथा चमड़े के व्यवसाय मुख्य हैं। अनंतपुर दक्षिण रेलवे का स्टेशन है तथा सड़कों द्वारा अन्य स्थानों से संबद्ध है। नगर की जनसंख्या ३१,९५२ है (१९५१ ई०) जिसमें १७,०२५ पुरुष तथा १४,९२७ स्त्रियाँ हैं। [ह० ह० सिं०]

अनंतमूल को संस्कृत में सारिवा, गुजराती में उपलसरि, कावरवेल इत्यादि, हिंदी, बँगला और मराठी में अनंतमूल तथा अंग्रेजी में इंडियन सार्सापरिला कहते हैं।

यह एक बेल है जो लगभग सारे भारतवर्ष में पाई जाती है। लता का रंग कालामिश्रित लाल तथा इसके पत्ते ३-४ अंगुल लंबे, जामुन के पत्तों के आकार के, पर श्वेत लकीरोंवाले होते हैं। इनके तोड़ने पर एक प्रकार का दूध सा द्रव निकलता है। फूल छोटे और श्वेत होते हैं। इनपर फलियाँ लगती हैं। इसकी जड़ गहरी लाल तथा सुगंधवाली होती है। यह सुगंध एक उड़नशील सुगंधित द्रव्य के कारण होती है, जिसपर इस ओषधि के समस्त गुण अवलंबित प्रतीत होते हैं। ओषधि के काम में जड़ ही आती है।

आयुर्वेदिक रक्तशोधक ओषधियों में इसी का प्रयोग किया जाता है। काढ़े या पाक के रूप में अनंतमूल दिया जाता है। आयुर्वेद के मतानुसार यह सूजन कम करती है, मूत्ररेचक है, अग्निमांद्य, ज्वर, रक्तदोष, उपदंश, कुष्ठ, गठिया, सर्पदंश, वृश्चिकदंश इत्यादि में उपयोगी है। [भ० दा० व०]

अनंतवर्मन् चोड गंग कलिंग के गंग राजकुल का प्रधान नरेश था। उसने अपने कुल का यश दूरदूर तक फैलाया। उसकी माता राजसुंदरी चोडनरेश राजेंद्र चोड की कन्या थी। अनंतवर्मन् ने संभवत: १०७७ से ११४७ ई० तक, लगभग ७० वर्ष, राज्य किया। उसने उत्कलों को जीतकर गोदावरी और गंगा के बीच के देशों से कर ग्रहण किया, परंतु पालनरेश रामपाल के सामने संभवत: उसे एक बार झुकना पड़ा। अनंतवर्मन् ने ही पुरी के विख्यात जगन्नाथ जी के मंदिर का निर्माण कराया था, जो, यद्यपि कला की दृष्टि से तो विशेष महत्वपूर्ण नहीं है, तथापि भारत के आज के समृद्धतम मंदिरों में से है। सेनराज विजयसेन ने उसके पुत्रों के समय कलिंग पर आक्रमण किया था। [भ० श० उ०]

अनंत श्रेणियाँ एक ऐसी श्रेणी, जिसके पदों की संख्या परिमित न हो, **अनंत श्रेणी** (इनफ़िनिट सीरीज़) कहलाती है। जैसे—

$$१-\frac{१}{२}+\frac{१}{३}-\frac{१}{४}+\ldots$$

एक अनंत श्रेणी है। अनंत श्रेणियाँ परिमित संख्याओं के बराबर होती है कि नहीं, और यदि होती है तो अनंत श्रेणियों के साथ जोड़ने, घटाने, गुणन तथा विभाजन आदि की क्रियाएँ किस प्रकार की जा सकती हैं और अनंत श्रेणियों का क्या महत्व एवं उपयोग है, इन प्रश्नों के समुचित उत्तर देने के लिये हमें गणित के कुछ संकेतों तथा विशेष धारणाओं की आवश्यकता होगी। इनका पहले उल्लेख कर देना ठीक है।

अनुक्रम—गिनती गिनने के क्रम में जो संख्याएँ आती हैं, जैसे १, २, ३, ..., उनको **प्राकृतिक संख्याएँ** कहते हैं। प्राकृतिक संख्याओं के समुदाय में कोई अंतिम अथवा सबसे बड़ी संख्या नहीं है, क्योंकि किसी भी

प्राकृतिक संख्या में १ जोड़ने से पहली से बड़ी एक दूसरी प्राकृतिक संख्या प्राप्त की जा सकती है। अतः प्राकृतिक संख्याओं की संख्या परिमित नहीं है; दूसरे शब्दों में, उनकी संख्या **अनंत** है। गिनने के क्रम में क्रमागत संख्याओं का परिमाण भी पूर्वागत संख्याओं के परिमाण से अधिक होता जाता है और उनके परिमाण के इस प्रकार बढ़ने के प्रक्रम का कहीं अंत नहीं है। इस परिस्थिति को यह कहकर व्यक्त किया जाता है कि "प्राकृतिक संख्याओं का परिमाण अनंत की ओर बढ़ता जाता है।" अनंत का प्रतीक ∞ है। एक अनिर्धारित प्राकृतिक संख्या को हम अक्षर **प** से व्यक्त करेंगे। यदि **प** का मान इस तरह परिवर्तित हो रहा हो कि वह किसी भी प्राकृतिक संख्या से अधिक हो सकता है तो हम कहते हैं कि '**प** अनंत की ओर अग्रसर है।' प्रतीकों में इसे प $\rightarrow \infty$ से व्यक्त करते हैं (देखिए **सीमा** तथा **अनंत**)। $|प|$ से किसी भी संख्या **प** का निरपेक्ष मान व्यक्त किया जाता है जैसे $|-२|=|२|=२$। यदि **प** का मान इस तरह परिवर्तित हो रहा हो कि वह किसी भी ऋण संख्या से कम हो सकता है तो हम कहते हैं कि प $\rightarrow -\infty$। $-\infty <$ **ल** $< \infty$ का अर्थ है कि ल एक परिमित संख्या है।

यदि संख्याओं (वास्तविक या संकर) का एक समूह इस प्रकार नियोजित हो कि प्रत्येक प्राकृतिक संख्या उस समूह की एक, और एक ही, संख्या की संगति में लगाई जा सके तो संख्याओं के उस समूह को **संख्या-अनुक्रम** या केवल **अनुक्रम** (सीक्वेंस) कहते हैं। जैसे, १, $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{३}$, ..., १/**प**, ... एक अनुक्रम है। इस अनुक्रम का **प**वाँ पद १/**प** है। $क_१, क_२, क_३, \ldots, क_प, \ldots$ एक सामान्य अनुक्रम है जिसका **प**वाँ पद $क_प$ है। संक्षेप में, इसको संकेत $\{क_प\}_१^\infty$ अथवा $\{क_प\}$ या केवल $क_प$ से व्यक्त करते हैं। अनुक्रम के लिये यह आवश्यक नहीं है कि उसका **प**वाँ पद सूत्र रूप में लिखा जा सके; पर यह आवश्यक है कि उसका प्रत्येक पद ज्ञेय हो। अभाज्य संख्याओं से एक अनुक्रम बनता है, किंतु **प**वीं अभाज्य संख्या को सूत्र रूप में नहीं लिखा जा सकता। अनुक्रम में एक ही संख्या बार बार भी आ सकती है; जैसे, १, २, १, २, १, २, ... एक अनुक्रम है। $क_प \rightarrow ०$ का अर्थ है कि $क_प$ ह्रासमान है, तथा जब प $\rightarrow \infty$ तो इसकी सीमा ० है।

अनंत श्रेणियाँ, उनका अभिसरण तथा अपसरण—यदि $क_१, क_२, \ldots, क_प, \ldots$ कोई अनुक्रम हो तो, जैसा ऊपर बताया गया है, $क_१+क_२+\ldots+क_प+\ldots$ को अनंत श्रेणी कहते हैं। इस अनंत श्रेणी का सामान्य पद अथवा **प**वाँ पद $क_प$ है। संक्षेप में इस श्रेणी को इस प्रकार लिखते हैं :

$$\sum_{प=१}^{\infty} क_प \text{ या } \sum क_प।$$

यदि कुछ दी हुई संख्याओं की संख्या परिमित हो तो उनका योगफल भी एक परिमित संख्या होती है, पर अनंत श्रेणियों के योगफल का क्या अर्थ है? कुछ अनंत श्रेणियों का भी योगफल अवश्य होता है और उनके योगफल निकालने की विधि इस प्रकार है। यदि किसी अनंत श्रेणी के प्रथम **प** पदों का योगफल $ज_प$ से व्यक्त करें, अर्थात्

$$ज_प = क_१+क_२+\ldots+क_प \equiv \sum_{र=१}^{प} क_र$$

तो $ज_१, ज_२, \ldots, ज_प, \ldots$ एक अनुक्रम बन जाता है। यदि **प** के ∞ की ओर अग्रसर होने पर अनुक्रम $ज_प$ की सीमा एक परिमित संख्या **ज** है, अर्थात् यदि

$$\text{सीमा}_{प\rightarrow\infty} ज_प = ज,$$

तो ऐसी अनंत श्रेणी को **अभिसारी श्रेणी** (कॉनवर्जेंट सीरीज़) कहते हैं और उसका योगफल संख्या **ज** के बराबर माना जाता है। ऐसी श्रेणियाँ जो अभिसारी नहीं होतीं **अनभिसारी** अथवा अपसारी (नॉन-कॉनवर्जेंट) होती हैं। जैसे

$$\frac{१}{२}+\frac{१}{२^२}+\frac{१}{२^३}+\ldots$$

अभिसारी है और इसका योगफल १ है, क्योंकि

$$ज_प = \frac{१}{२}+\frac{१}{२^२}+\frac{१}{२^३}+\ldots+\frac{१}{२^प} = \frac{१/२-१/२^प}{१/२} \rightarrow १।$$

फिर, $$१+२+२^२+\ldots$$

अपसारी है, क्योंकि $ज_प = \frac{२^प - १}{१} \rightarrow \infty$।

अपसारी श्रेणियाँ दो प्रकार की होती हैं। यदि $ज_प \rightarrow \pm\infty$, तो श्रेणी **पूर्ण अपसारी** होती है और यदि $ज_प$ का मान दो संख्याओं (परिमित अथवा अनंत) के बीच दोलित होता रहता है तो श्रेणी **प्रदोली** (ऑसिलेटरी) कहलाती है। $१-१+१-१+१-\ldots$ प्रदोली श्रेणी है।

जसा हम आगे चलकर देखेंगे, अभिसारी श्रेणियों के साथ ही गणित की प्रधान क्रियाएँ संभव हैं। अतः किसी दी हुई अनंत श्रेणी के संबंध में सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक हो जाता है कि वह अभिसारी है या नहीं। इसके लिये एक आवश्यक और पर्याप्त प्रतिबंध यह है कि सीमा $(ज_प - ज_फ) = ०$, जब एक दूसरे से स्वतंत्र रहकर प $\rightarrow \infty$, फ $\rightarrow \infty$। यह प्रतिबंध व्यवहार में बहुत लाभकर नहीं सिद्ध होता, किंतु इसके आधार पर कई उपयोगी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं; जैसे प्रत्येक अभिसारी श्रेणी के लिये यह आवश्यक है कि $क_प \rightarrow ०$। इस परीक्षा के अनुसार $\sum$ कोज्या (१/प) अभिसारी श्रेणी नहीं है।

धन श्रेणियाँ—ऐसी श्रेणी जिसके सभी पद धन संख्याएँ हों धन श्रेणी कहलाती है। यदि **न** एक से बड़ी कोई संख्या है तो श्रेणी

$$१+\frac{१}{२^न}+\frac{१}{३^न}+\ldots+\frac{१}{प^न}+\ldots$$

अभिसारी होती है और यदि न $\leqslant$ १ तो श्रेणी अपसारी होती है। इस प्रकार श्रेणी $१+\frac{१}{४}+\frac{१}{९}+\frac{१}{१६}+\ldots$ अभिसारी है। इसका योगफल $\frac{१}{६}\pi^२$, जहाँ $\pi = ३\cdot१४\ldots$। $१+\frac{१}{२}+\frac{१}{३}+\ldots$ अपसारी है। धन श्रेणियों के अभिसरण तथा अपसरण की कुछ परीक्षाएँ नीचे दी जाती हैं। जिन श्रेणियों का उल्लेख यहाँ होगा वे सभी धन श्रेणियाँ हैं।

१. यदि $क_प \leqslant ग_प$ और $\sum ग_प$ अभिसारी है, तो $\sum क_प$ भी अभिसारी है। यदि $क_प \geqslant ग_प$ और $\sum ग_प$ अपसारी है तो $\sum क_प$ भी अपसारी है।

२. **तुलना परीक्षा**—यदि सीमा $क_प/ग_प = ल$, $० < ल < \infty$, तो $\sum क_प$ और $\sum ग_प$ साथ साथ ही अभिसारी अथवा अपसारी होंगी।

३. **अनुपात परीक्षा** (दलाँबेर की) – मान लें कि सीमा $क_प/क_{प+१} = ल$। यदि ल $>$ १ तो $\sum क_प$ अभिसारी होगी और यदि **ल** $<$ १ तो अपसारी होगी। यदि **ल**$=$१ तो कुछ नहीं कहा जा सकता और नीचे की परीक्षा का प्रयोग करना चाहिए।

४. **राबे की परीक्षा**—यदि सीमा $प(क_प/क_{प+१} - १) = ल$ और **ल** $>$ १, तो श्रेणी अभिसारी है और यदि **ल** $<$ १ तो अपसारी है। यदि **ल**$=$१, तो नीचे की परीक्षा का उपयोग करना चाहिए।

५. मान लें, जब प $\rightarrow \infty$, तब

$$\text{लघु}\left\{प\left(\frac{क_प}{क_{प+१}} - १\right) - १\right\} \rightarrow ल।$$

यदि **ल** $>$ १, तो श्रेणी अभिसारी होगी और यदि **ल** $<$ १, तो अपसारी होगी।

६. **कोशी की मूल परीक्षा**—मान लें $(क_प)^{१/प} \rightarrow ल$। यदि **ल** $<$ १, तो श्रेणी अभिसारी होगी और यदि **ल** $>$ १ तो, अपसारी होगी। मूल परीक्षा सिद्धांततः अनुपातपरीक्षा से अधिक शक्तिपूर्ण है, किंतु व्यवहार में अनपात परीक्षा अधिक उपयोगी है।

७. **समाकल परीक्षा** (मैक्लारिन की)—यदि $म_प$ ह्रासमान हो और $क_प = फ(प)$, तो

$$ज_प - \int_1^प फ(य)तय$$

की सीमा एक परिमित संख्या होती है और परिणामस्वरूप समाकल

$$\int_1^\infty फ(य)तय \text{ तथा श्रेणी } \sum क_प$$

एक साथ ही अभिसारी तथा अपसारी होते हैं। इस परीक्षा से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि $(१+\frac{१}{२}+\frac{१}{३}+\ldots+१/प - \text{लघु } प)$ की सीमा एक परिमित संख्या है। इस संख्या को ऑयलर का अचर कहते हैं और इसका मान ०.५७७२१५६६... है।

इनके अतिरिक्त कोशी की संघननपरीक्षा तथा गाउस की परीक्षा आदि भी हैं। स्थानाभाव से उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है (देखें संदर्भ ग्रंथ)।

सामान्य श्रेणियाँ और परम अभिसरण—ऐसी श्रेणी, जिसके कोई दो क्रमिक पद भिन्न चिह्नों के हों (एक + और दूसरा —), **एकांतर श्रेणी** कहलाती है। यदि $क_प \to ०$ तो श्रेणी $क_१ - क_२ + क_३ - क_४ + \ldots$ अभिसारी होती है। जैसे $१-\frac{१}{२}+\frac{१}{३}-\frac{१}{४}+\ldots$ अभिसारी है; इसका योग लघु २ है।

यदि धन और ऋण दोनों प्रकार के पदोंवाली श्रेणी $\sum क_प$ ऐसी हो कि श्रेणी $\sum |क_प|$ अभिसारी है, तो यह कहा जाता है कि श्रेणी $\sum क_प$ **परम अभिसारी** है। जैसे, $१-\frac{१}{४}+\frac{१}{९}-\frac{१}{१६}+\ldots$ परम अभिसारी है; किंतु $१-\frac{१}{२}+\frac{१}{३}-\frac{१}{४}+\ldots$ परम अभिसारी नहीं है। प्रत्येक परम अभिसारी श्रेणी अवश्यमेव अभिसारी होती है, किंतु प्रत्येक अभिसारी श्रेणी परम अभिसारी नहीं होती। $१-\frac{१}{२}+\frac{१}{३}-\frac{१}{४}+\ldots$ अभिसारी है, किंतु परम अभिसारी नहीं है। एसी श्रेणी को **सप्रतिबंध अभिसारी** (कंडिशनली कॉनवर्जेंट) कहते हैं। स्पष्ट है कि प्रत्येक अभिसारी धन श्रेणी परम अभिसारी होती है। परम अभिसारी श्रेणी के पदों के क्रम में किसी भी प्रकार का परिवर्तन करने से श्रेणी के योगफल में अंतर नहीं पड़ता और वह परम अभिसारी बनी रहती है। इसके विपरीत, सप्रतिबंध अभिसारी श्रेणी के पदों के क्रम में हेर फेर करने से श्रेणी के आचरण और उसके योग दोनों में अंतर पड़ सकता है। जसे $१-\frac{१}{२}+\frac{१}{३}-\frac{१}{४}+\ldots = \text{लघु } २$, किंतु $१+\frac{१}{३}-\frac{१}{२}+\frac{१}{५}+\frac{१}{७}-\frac{१}{४}+\ldots = \frac{३}{२} \text{ लघु } २$।

जर्मन गणितज्ञ रीमान (१८२६-१८६६) ने यह सिद्ध किया है कि किसी सप्रतिबंध अभिसारी श्रेणी के पदों के क्रम में उचित हेरफेर करके उसका योग किसी भी संख्या के बराबर किया जा सकता है अथवा उसको हर प्रकार की अपसारी श्रेणी का रूप दिया जा सकता है। परम अभिसारी श्रेणियों तथा सप्रतिबंध अभिसारी श्रेणियों के आचरण के इस मौलिक अतर का मूल कारण यह है कि परम अभिसारी श्रेणी के धन पदों और ऋण पदों द्वारा अलग अलग दो अभिसारी श्रेणियाँ बनती हैं तथा इसके विपरीत सप्रतिबंध अभिसारी श्रेणी के धनपदों और ऋणपदों द्वारा अलग अलग दो अपसारी श्रेणियाँ बनती है।

अनंत श्रेणियाँ और प्रधान क्रियाएँ—यदि $क = \sum क_प$ और $ग = \sum ग_प$ दो अभिसारी श्रेणियाँ हों, तो $\sum (क_प \pm ग_प)$ भी अभिसारी होती है और इसका योग $= क \pm ग$, अर्थात् दो अभिसारी श्रेणियो के संगत पद जोड़ने और घटाने से बनी श्रेणियाँ भी अभिसारी होती हैं, किंतु गुणनफल के संबंध में यह बात सर्वथा ठीक नहीं है। दो श्रेणियों $\sum क_प$ और $\sum ग_प$ का गुणनफल श्रेणी

$$\sum क_प ग_र, \quad \begin{matrix} प=१,\ २,\ ३,\ \ldots \\ र=१,\ २,\ ३,\ \ldots \end{matrix}$$

से व्यक्त किया जाता है। परम अभिसरण की धारणा का महत्व दो श्रेणियों के गुणनफल के संबंध में अत्यंत स्पष्ट हो जाता है। यदि $क = \sum क_प$ और $ग = \sum ग_प$ परम अभिसारी हों, तो $\sum क_प ग_प$ प्रत्येक दशा में परम अभिसारी होती है तथा इसका योग $कग$ होता है। श्रेणियों $\sum क_प$ और $\sum ग_प$ का एक विशेष गुणनफल, जिसको कोशी गुणनफल कहते हैं, श्रेणी $\sum ख_प$ से व्यक्त किया जाता है, जिसमें $ख_प = क_१ ग_प + क_२ ग_{प-१} + \ldots + क_प ग_१$। कोशी गुणनफल के संबंध में कुछ महत्वपूर्ण प्रमेय निम्नलिखित हैं :

१. **कोशी प्रमेय**—यदि $क = \sum क_प$ तथा $ग = \sum ग_प$ दो परम अभिसारी श्रेणियाँ हों तो श्रेणी $\sum ख_प$ भी परम अभिसारी होगी और इसका योग $कग$ होगा।

२. **मर्टन प्रमेय**—यदि $क = \sum क_प$ परम अभिसारी हो तथा $ग = \sum ग_प$ केवल अभिसारी हो, तो $\sum ख_प$ भी अभिसारी होगी और इसका योग $कग$ होगा।

३. **आबेल प्रमेय**—यदि $क = \sum क_प$ और $ग = \sum ग_प$ ये दोनों श्रेणियाँ केवल अभिसारी हों और $\sum ख_प$ भी अभिसारी हो, तो $\sum ख_प = कग$।

एकसमान अभिसरण—अभी तक हमने अचर पदोंवाली श्रेणियों की ही चर्चा की है। मान लीजिए कि श्रेणी

$$\sum_{प=१}^{\infty} क_प(य),$$

जिसका प्रत्येक पद $क_प(य)$ अंतराल $(त, थ)$ में चर $य$ का फलन है, $य$ के प्रत्येक मान के लिये अभिसारी है। श्रेणी का योगफल $क(य)$ भी $य$ का एक फलन होगा। यदि $घ$ कोई स्वेच्छ धन अचर हो और $य_१, य_२, य_३, \ldots$ अंतराल $(त, थ)$ की संख्याएँ हों, तो इनसे संगत क्रमशः $प_१, प_२, प_३$ ऐसी प्राकृतिक संख्याएँ होंगी कि $|क_प(य_१) - क(य_१)| < घ$, जहाँ $प > प_१$; $|क_प(य_२) - क(य_२)| < घ$, जहाँ $प > प_२$; आदि। यदि $य$ के सभी मानों के लिये एक ही प्राकृतिक संख्या $म$ ऐसी हो कि $|क_प(य) - क(य)| < घ$ जब $प \geqslant म$, तो हम कहते हैं कि श्रेणी $\sum क_प(य)$ अंतराल $(त, थ)$ में एकसमानतः अभिसारी (यूनिफ़ॉर्मली कॉनवर्जेंट) है। स्पष्ट है कि **एकसमानतः अभिसारी** श्रेणी अवश्यमेव अभिसारी होती है।

एकसमान अभिसरण के लिये कई परीक्षाएँ हैं, किंतु उनमें सबसे सरल और अत्यंत उपयोगी परीक्षा, जिसको जर्मन गणितज्ञ वायर्स्ट्रास ने सिद्ध किया था, इस प्रकार है : यदि $\sum म_प$ धन अचर पदों की एक ऐसी अभिसारी श्रेणी हो कि $य$ के सभी मानों के लिये $|क_प(य)| \leqslant म_प$, $प = १, २, \ldots$, तो श्रेणी $\sum क_प(य)$ एकसमानतः अभिसारी होगी। जैसे, श्रेणी $१ + य + य^२ + \ldots$ अंतराल $(०, ग)$, $० \leqslant ग < १$, में एकसमानतः अभिसारी है। श्रेणी

$$ज्या(य) + \frac{ज्या(२य)}{४} + \frac{ज्या(३य)}{९} + \ldots$$

$य$ के सभी मानों के लिये एकसमानतः अभिसारी है। एकसमान अभिसरण का महत्व नीचे के प्रमेयों से स्पष्ट हो जाता है :

१. यदि किसी एकसमानतः अभिसारी श्रेणी का प्रत्येक पद $य$ का सतत फलन हो, तो एकसमान अभिसरण के अंतराल में उस श्रेणी का योगफल भी $य$ का सतत फलन होगा।

२. यदि $\sum क_प(य)$ अंतराल $(त, थ)$ में एकसमानतः अभिसारी हो तथा उसका योग $ज(य)$ हो, तो

$$\int_त^य ज(य)तय = \sum \int_त^य क_प(य)\, तय \text{ ।}$$

३. यदि $ज(य) = \sum क_प(य)$ एकसमानतः अभिसारी हो और अवकलित श्रेणी $\sum क_प'(य)$ भी सतत पदों की एकसमानतः अभिसारी श्रेणी हो, तो $ज'(य) = \sum क_प'(य)$। यहाँ प्रास अवकलन का द्योतक है।

संमिश्र श्रेणियाँ—ऐसी श्रेणी $\sum क_प$ जिसका प्रत्येक पद $क_प = ग_प + अ व_प$, $अ = \sqrt{(-१)}$ (**देखें संमिश्र संख्याएँ**), एक संमिश्र संख्या

हो, **संमिश्र श्रेणी** कहलाती है। श्रेणी $\sum क_प$ तब, और केवल तब, अभिसारी कही जाती है जब दोनों श्रेणियाँ ग$=\sum ग_प$ और द$=\sum द_प$ अभिसारी हों। $\sum क_प$ का योग ग+अद माना जाता है। यदि

$$\sum क_प = \sum \sqrt{(ग_प^2 + द_प^2)}$$

भी अभिसारी हो, तो कहा जाता है कि $\sum क_प$ परम अभिसारी है। $\sum क_प$ के परम अभिसरण के लिये यह आवश्यक और पर्याप्त है कि प्रत्येक श्रेणी $\sum ग_प$ और $\sum द_प$ परम अभिसारी हो। इस प्रकार संमिश्र श्रेणियों का अध्ययन वास्तविक श्रेणियों के अध्ययन में रूपांतरित किया जा सकता है, किंतु स्वतंत्र रूप में उनका अध्ययन पर्याप्त सरल और शिक्षाप्रद होता है।

घात श्रेणियाँ—श्रेणी

$$\sum_{प=0}^{\infty} क_प (य - त)^प,$$

जिसमें $क_प$ तथा त अचर है, और य चर (वास्तविक अथवा संमिश्र), **घात श्रेणी** कहलाती है। यदि त को शून्य मान लें तो श्रेणी का रूप होगा $\sum क_प य^प$। घात श्रेणियों से परम अभिसरण तथा एकसमान अभिसरण के बहुत सुंदर उदाहरण मिल सकते हैं। प्रत्येक घात श्रेणी $\sum क_प य^प$ के लिये एक ऐसी अद्वितीय वास्तविक धनसंख्या अ होती है, $0 \leqslant अ \leqslant \infty$, कि य के ऐसे सभी मानों के लिये जिनके लिये $|य| < अ$, श्रेणी अभिसारी होती है; और उन मानों के लिये श्रेणी अपसारी होती है जिनके लिये $|य| > अ$। अ को श्रेणी की **अभिसरण-त्रिज्या** कहते हैं और वृत्त (अथवा अंतराल) $|य| < अ$ को श्रेणी का **अभिसरण वृत्त** (अथवा अंतराल) कहते हैं।

प्रत्येक घात श्रेणी के लिये

$$अ = (\text{सीमा } |क_प|^{1/प})^{-1}।$$

यदि सीमा $|क_प|/|क_{प+1}|$ एक निश्चित संख्या है तो अ का मान उसके बराबर होता है। श्रेणियो

$$1 + य + 2^2 य^2 + 3^3 य^3 + \ldots, \quad 1 + य + य^2 + \ldots,$$

तथा

$$1 + य + \frac{य^2}{2!} + \frac{य^3}{3!} + \ldots$$

की अभिसरण त्रिज्याएँ क्रमशः 0, 1 और ∞ हैं। प्रत्येक घात श्रेणी अभिसरण वृत्त के भीतर परम अभिसारी तथा एकसमानतः अभिसारी होती है, और उसका योग अभिसरण वृत्त के भीतर एक वैश्लेषिक फलन होता है (देखें **फलन** तथा **टेलर श्रेणी**)।

अनंत श्रेणियों की संकलनीयता—कुछ ऐसी विधियाँ हैं जिनकी सहायता से कतिपय अपसारी श्रेणियों के साथ भी योगफल की धारणा का संनिवेश किया जा सकता है। 18वीं शताब्दी के जर्मन गणितज्ञ ऑयलर ने अपसारी श्रेणी $1 - 1 + 1 - 1 + \ldots$ का योग $\frac{1}{2}$ माना था और इसका सफलतापूर्वक उपयोग भी किया था। किंतु अपसारी श्रेणियों के उपयोग से प्रायः परस्पर विरोधी निष्कर्ष निकलने लगे। इसलिये कोशी, आबेल आदि ने उपपत्तियों में अपसारी श्रेणियों के प्रयोग को अनुचित बताया। 19वीं शताब्दी में चेज़ारो, बोरेल आदि ने संकलन की ऐसी विधियाँ निकाली जिनके द्वारा संकलनीय अपसारी श्रेणियों को भी वही प्रतिष्ठा मिली जो अभिसारी श्रेणियों को मिली थी। स्थानाभाव से यहाँ केवल चेज़ारो की एक विधि का उल्लेख किया जाता है। यदि $ज_प$ श्रेणी $\sum क_प$ के प पदों का जोड़ है तो मान लें

$$स_प = \frac{ज_1 + ज_2 + \ldots + ज_प}{प}।$$

यदि सीमा $स_प$ एक निश्चित परिमित संख्या स के बराबर है तो यह कहा जाता है कि श्रेणी $\sum क_प$ चेज़ारो की विधि से संकलनीय है और उसका योगफल स है। इस प्रकार $1 - 1 + 1 - 1 + \ldots$ संकलनीय है और इसका योगफल $\frac{1}{2}$ है। प्रत्येक अभिसारी श्रेणी इस विधि से संकलनीय होती है और उसका योगफल बदलता नहीं।

सं॰ग्रं॰—ब्रॉमविच : ऐन इंट्रोडक्शन टु दि थ्योरी ऑव इनफ़िनिट सीरीज़; क्नॉप : थ्योरी ऐंड ऐप्लिकेशन आँव इनफ़िनिट सीरीज़; हार्डी : डाइवर्जेंट सीरीज़। [उ॰ ना॰ सिं॰]

अनईकट्टू अंग्रेजी शब्द 'ऐनीकट' तमिल भाषा के मूल शब्द 'अनई-कट्टू' का अपभ्रंश है। इसका मूल अर्थ बाँध है। ऐसे बाँध नदी के मार्ग के अनुप्रस्थ (आरपार) बना दिए जाते हैं, जिससे बाँध के पूर्व नदी तल ऊँचा हो जाता है। तब इसकी बगल में बनी नहरों में पानी
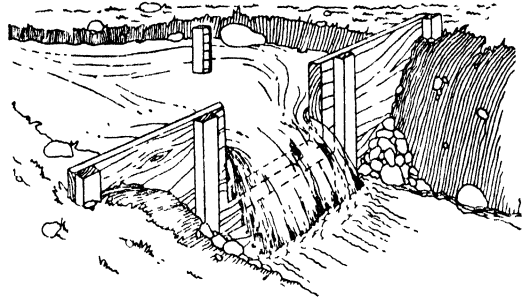
छोटा अनईकट्टू (उद्रोध)

नदी नालों में जल के मार्ग को बाँध से छोटा कर देने पर बाँध के पूर्व जल का स्तर ऊँचा हो जाता है, जिससे कई प्रकार की सुविधाएँ होती हैं।

भेजा जा सकता है। उत्तर भारत में 'अनईकट्टू' या 'ऐनीकट' शब्द का प्रयोग नहीं होता (देखें उद्रोध)। कभी कभी जलाशयों के ऊपर, अतिरिक्त जल की निकासी के लिये, जो बाँध या पक्की दीवार बनाई जाती है उसे भी अनईकट्टू कहते हैं। अनईकट्टू बहुधा पत्थर या ईंट की पक्की
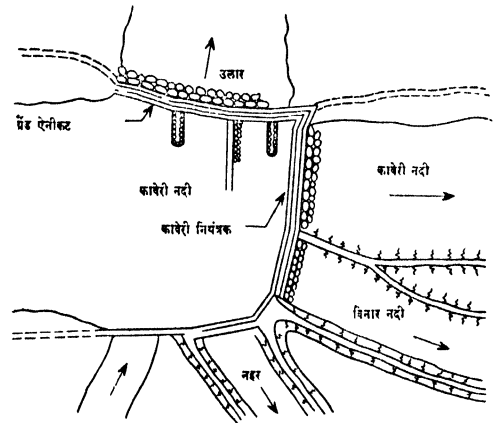
कावेरी नदी पर बना ग्रैंड ऐनीकट

चुनाई में बनाए जाते हैं और इसकी मोटाई की गणना इंजीनियरी के सिद्धांतों पर की जाती है, क्योंकि दुर्बल अनईकट्टू पानी के अधिक वेग अथवा बाढ़ से टूट जाते हैं और आवश्यकता से अधिक दृढ़ बनाने में व्यर्थ अधिक धन लगता है। सबसे महत्वपूर्ण अनईकट्टू दक्षिण भारत में "ग्रैंड ऐनीकट" है जो कावेरी नदी पर शताब्दियों पूर्व चोला राजाओं के समय का बना हुआ है। इससे कई नहरें निकाली गई हैं। [बा॰ ना॰]

अनकापल्लि आंध्र प्रदेश के विशाखपत्तनम जिले का एक नगर है, जो 17° 42' उ॰ अक्षांश तथा 83° 2' पू॰ देशांतर रेखाओं पर शारदा नदी के किनारे विशाखपत्तनम से लगभग 20 मील पश्चिम, एक उपजाऊ क्षेत्र में स्थित है। यह एक उन्नतिशील कृषिकेंद्र है तथा ताँबे

और लोहे के पात्रों के लिये प्रसिद्ध है। १८७८ ई० में यहाँ नगरपालिका बनी। मद्रास से यह स्थान ४८४ मील दूर है। यहाँ एक रेलवे स्टेशन भी है। जनसंख्या ४०,१०२ है (१९५१)। [न० ला०]

अनक्सागोरस एक यूनानी दार्शनिक जो एशिया-माइनर के क्लेंजोमिनया नामक स्थान में ५००ई०पू० में पैदा हुआ, किंतु जिसकी ज्ञानपिपासा उसे यूनान खींच लाई। वह प्रसिद्ध यूनानी राजनीतिज्ञ पेरीक्लीज़ तथा कवि यूरिपिदिज़ का अन्यतम मित्र था। कुछ विद्वान् उसे सुकरात का शिक्षक बताते हैं, किंतु यह कथन पर्याप्त प्रामाणिक नहीं है।

इयोनिया से दर्शन और प्राकृतिक विज्ञान को यूनान लाने का श्रेय अनक्सागोरस को ही है। वह स्वयं अनक्ज़ामिनस, इमपिदोक्लीज़ तथा यूनानी अणुवादियों से प्रभावित था, अतः उसके दर्शन की प्रमुख विशेषता विश्व की यांत्रिक भौतिकवादी व्याख्या है। उसने इस तत्कालीन यूनानी आस्था का कि सूर्य चंद्रादि देवगण हैं, खंडन कर यह प्रस्थापित किया कि सूर्य एक तप्त लौह द्रव्य एवं चंद्र तारागण पाषाणसमूह हैं जो पृथ्वी की तेज गति के कारण उससे छिटककर दूर जा पड़े हैं। वह इस विचारधारा का भी विरोधी था कि वस्तुएँ 'उत्पन्न' तथा 'विनष्ट' होती हैं। उसके अनुसार प्रत्येक वस्तु प्रागैतिहासिक अति सूक्ष्म द्रव्यों के—जिन्हें वह 'बीज' कहता है और जो मूलतः अगणित एवं स्वविभाजित थे—'संयोग' तथा 'विभाजन' का परिणाम है। वस्तुओं की परस्पर भिन्नता 'बीजों' के विभिन्न परिमाण में 'संयोग' के फलस्वरूप है। अनक्सागोरस के अनुसार इन मूल 'बीजों' का ज्ञान तभी संभव है जब उन्हें जटिल संपृक्त समूहों से "बुद्धि" की क्रिया द्वारा पृथक् किया जाय। 'बुद्धि' स्वयं सर्वत्र सम, स्वतंत्र एवं विशुद्ध है।

तत्कालीन यूनानी धार्मिक दृष्टिकोण से मतभेद तथा पेराक्लीज की मित्रता अनक्सागोरस को महँगी पड़ी। पेराक्लीज़ के प्रतिद्वंद्वियों ने उसपर 'अधार्मिकता' और 'असत्य प्रचार' का आरोप लगाया, जिसके कारण उसे केवल ३० वर्ष बाद ही एथेंस छोड़कर एशिया-माइनर लौट जाना पड़ा, जहाँ ७२ वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हो गई।

सं०ग्रं०—अनक्सागोरस के बिखरे विचारों का संकलन शोबाक् तथा शोर्न द्वारा (क्रमशः लाइपज़िग, १८२७ एवं बॉन, १८२९ में); गोमपर्ज़ : ग्रीक थिंकर्ज़, जिल्द १; विंडलबेंड : 'हिस्ट्री ऑव फिलॉसफी'; बरनेट : ईजी ग्रीक फिलॉसफी; स्टेस : क्रिटिकल हिस्ट्री ऑव ग्रीक फिलॉसफी। [श्री० स०]

अनग्रदंत (ईडेंटेटा), जैसा नाम से ही स्पष्ट है, वे जंतु हैं जिनके अग्रदंत नहीं होते। हिंदी का 'अनग्रदंत' शब्द अंग्रेजी के ईडेंटेटा का समानार्थक माना गया है। अंग्रेजी के 'ईडेंटेटा' शब्द का अर्थ है 'जंतु जिनको दाँत होते ही नहीं'। अंग्रेजी का ईडेंटेटा नाम कुवियर ने उन जरायुज, स्तनधारी जंतुओं के समुदाय को दिया था जिनके सामने के दाँत (कर्तनक दंत) अथवा जबड़े के दाँत नहीं होते। इस समुदाय के अंतर्गत दक्षिण अमरीका के चींटीखोर (ऐंटईटर्स), शाखालंबी (स्लॉथ), वर्मी (आर्माडिलोज़) और पुरानी दुनिया के आर्डवार्क तथा वज्रकीट (पैंगोलिन) आते हैं। इनमें वज्रकीट तथा चींटीखोर बिलकुल दंतविहीन होते हैं। अन्यों में केवल सामने के कर्तनक दंत नहीं होते, परंतु शेष दाँत ह्रास की अवस्था में, बिना दंतवल्क (इनैमल) तथा मूल (रूट) के, होते हैं और किसी किसी में दाँतों के पतनशील पूर्वज पाए जाते हैं।

स्तनधारी प्राणियों के वर्गीकरण में पहले अनग्रदंतों का एक वर्ग (ऑर्डर) माना गया था और इसके तीन उपवर्ग थे : (क) जिनार्थ्रा, (ख) फ़ोलिडोटा तथा (ग) ट्यूबुलीडेंटेटा, किंतु अब ये तीनों उपवर्ग स्वयं अलग अलग वर्ग बन गए हैं। इस प्रकार ईडेंटेटा वर्ग का पृथक् अस्तित्व विलीन होकर उपर्युक्त तीन वर्गों में समाहित हो गया है।

वर्ग जिनार्थ्रा—यह प्रायः दक्षिण तथा मध्य अमरीकी प्राणियों का समुदाय है, यद्यपि इसके कुछ सदस्य उत्तरी अमरीका में भी प्रवेश कर गए हैं। प्रारूपिक (टिपिकल) अमरीकी अनग्रदंत अथवा जिनार्थ्रा की विशेषता यह है कि अंतिम पृष्ठीय तथा सभी कटिकशेरुकाओं में अतिरिक्त संधिमुखिकाएँ (फ़ैसेट) अथवा असामान्य संधियाँ पाई जाती हैं। इनमें दाँत हो भी सकते हैं और नहीं भी। जब होते हैं तब सभी दाँत बराबर होते हैं अथवा एक सीमा तक विभिन्न होते हैं। शरीर का आवरण मोटे बालों अथवा अस्थिल पट्टियों का रूप ले लेता है अथवा छोटे या बड़े बालों का संमिश्रण होता है।

यह वर्ग तीन कुलों में विभक्त है। इनमें पहला है ब्रैडीपोडिडी, जिसके उदाहरण त्रि-अंगुलक शाखालंबी (स्लॉथ) तथा द्वि-अंगुलक शाखालंबी हैं। दूसरा है मिरमेकोफेजिडी, जिसके उदाहरण हैं बृहत्काय चींटीखोर (जाएंट ऐंटईटर्स) तथा त्रि-अंगुलक चींटीखोर (थ्री टोड ऐंट ईटर्स)। तीसरा है डेसीपोडाइडी, जिसके उदाहरण हैं : टेक्सास के वर्मी (आर्माडिलोज़) तथा बृहत्काय वर्मी (जाएंट आर्माडिलोज़)।

शाखालंबी—शाखालंबी का सिर गोल और लघु, कान का लोर छोटा, पावँ लंबे एवं पतले होते हैं। स्तनपायी जानवरों में अन्य किसी भी समुदाय के अंग वृक्षवासिजीवन के इतने अनुकूल नहीं हैं जितने शाखालंबियों में। इनमें अग्रपाद पश्चपादों की अपेक्षा अधिक बड़े होते हैं। अँगुलियाँ लंबी, भीतर की ओर मुड़ी हुई और अंकुश सदृश होती है, जिनसे उनको वृक्षों पर चढ़ने तथा उनकी शाखाओं को पकड़कर लटके रहने में सुविधा होती है। त्रि-अंगुलक शाखालंबी के अग्र तथा पश्च दोनों ही पादों में तीन तीन अँगुलियाँ होती हैं, किंतु द्वि-अंगुलक शाखालंबी के अग्रपाद में दो और पश्चपाद में तीन अंगुलियाँ होती हैं। इनकी पूँछ प्राथमिक अवस्था में अथवा अल्पविकसित होती है। इनका शरीर लंबे तथा मोटे बालों से आच्छादित रहता है। आर्द्र जलवायु के कारण इन बालों पर एक प्रकार की हरी काई जैसी वस्तु 'ऐल्जी' उत्पन्न होती है जिससे इन जानवरों के रोम हरे प्रतीत होते हैं। इसी से जब ये जानवर हरी हरी डालियों पर लटके रहते हैं तब ऐसा भ्रम होता है कि ये उस वृक्ष की शाखा ही हैं। उस समय ध्यान से देखने पर ही इन जंतुओं का अलग अस्तित्व ज्ञात होता है।

शाखालंबी
यह जंतु वृक्षों की शाखाओं से लटका हुआ चलता है। मंदगामी होने के कारण इसे अंग्रेज़ी में स्लॉथ कहते हैं (स्लॉथ=आलस्य)।

शाखालंबियों के शरीर की लंबाई २० इंच से २८ इंच तक और पूँछ लगभग २ इंच लंबी होती है। ये अपना जीवन वृक्षों पर बिताते हैं, भूमि पर उतरते नहीं; यदि कभी उतरते भी हैं तो अग्रपाद तथा पश्चपादों की लंबाई की असमता के कारण बड़ी कठिनाई से चल पाते हैं। ये बंदर की भाँति उछलकर एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर नहीं जाते, बल्कि हवा के झोंके से झुकी डालियों को पकड़कर जाते हैं। ये अपना जीवननिर्वाह पत्तियों, कोमल टहनियों तथा फलों पर करते हैं। इनके अग्रपाद डालियों को खींचकर मुख की पहुँच के भीतर लाने में सहायक होते हैं, किंतु पत्तियों को मुख में ले जाने का काम नहीं करते। सोते समय शाखालंबी अपने शरीर को गेंद की भाँति लपेट लेते हैं। ये निशिचर, शांत प्रकृति के, अनाक्रामक एवं एकांतवासी होते हैं। इनकी मादा एक बार में प्रायः एक ही बच्चा जनती है।

चींटीखोर (ऐंटइटर)—यह मिरमेकोफेजिडी कुल का सदस्य है। इसका थूथन नुकीला होता है, जिसके छोर पर छिद्र के समान एक मुखद्वार होता है। आँखें छोटी तथा कान का लोर किसी में छोटा और किसी में बड़ा होता है। प्रत्येक अग्रपाद में पाँच अँगुलियाँ होती हैं। इनमें तीसरी अँगुली में प्रायः बड़ा, मुड़ा हुआ और नोकीला नख होता ह, जिससे हाथ कार्यक्षम तथा निपुण खोदनेवाला अवयव सिद्ध होता है। पश्चपादों में ४-५ छोटी बड़ी अँगुलियाँ होती हैं, जिनमें साधारण आकार के नख होते हैं। अग्रपाद की अँगुलियाँ भीतर की ओर मुड़ी होती हैं, जिससे चलते समय शरीर का भार अग्रपाद की दूसरी, तीसरी तथा चौथी अँगुलियों की ऊपरी सतह पर तथा पाँचवीं की छोर की एक गद्दी पर और पश्चपादों के पूरे पंजों पर पड़ता है। सभी चींटीखोरों में पूँछ बहुत लंबी होती है। किसी किसी की पूँछ परिग्राही होती है। शरीर लंबे बालों से

आच्छादित होता है। द्वि-अंगुलक चींटीखोर (माइक्लोटुरस) में थूथन छोटा होता है और अग्रपाद में चार अँगुलियाँ होती हैं जिनमें केवल दूसरी तथा तीसरी में ही नख होते हैं। तीसरी का नख बड़ा होता है। पश्चपाद
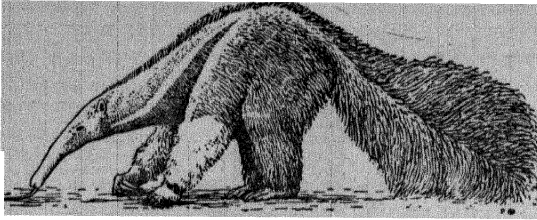
बृहत्काय चींटीखोर

इसका मुख्य भोजन दीमक है।

में चार असम नखयुक्त अँगुलियाँ होती हैं जो शाखालंबी के पैर की भाँति अंकुश सदृश होती हैं।

चींटीखोर चूहे की नाप से लेकर २ फुट की उँचाई तक के होते हैं और दक्षिण तथा मध्य अमरीका में नदी किनारे तथा नम स्थानों में पाए जाते हैं। इनका मुख्य भोजन दीमक है। ये वर्मी (आर्माडिलोज़) की भाँति माँद बनाकर नहीं रहते। ये स्वयं किसी पर आक्रमण नहीं करते, किंतु आक्रमण किए जाने पर अपनी रक्षा नखों द्वारा करते हैं। मादा एक बार में एक ही बच्चा देती है।

वर्मी (आर्माडिलोज़)—यह डेसीपोडाइडी कुल का सदस्य है। इसका सिर छोटा, चौड़ा तथा दबा हुआ होता है। प्रत्येक अग्रपाद में तीन से पाँच तक अँगुलियाँ होती हैं और इनमें पुष्ट नख होते हैं, जो एक प्रकार के खोदनेवाले हथियार का काम देते हैं। पश्चपाद में सदा पाँच छोटी छोटी नखयुक्त अँगुलियाँ होती हैं। पूँछ प्रायः भली भाँति विकसित होती है। वर्मी का शरीर अस्थिल त्वचीय पट्टियों से ढका रहता है। ये पट्टियाँ शरीर
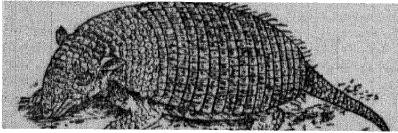
वर्मी (आर्माडिलो)

इसका सारा शरीर हड्डी की छोटी पट्टियों से ढँका रहता है।
इसी से इसे वर्मी कहते हैं (वर्म=कवच)।

के लिये कवच का काम करती है। वर्मी (आर्माडिलोज़) में अंसफलकीय ढाल (स्कैपुलर शील्ड) घनी संयुक्त पट्टियों की बनी होती है और शरीर का अग्रभाग पट्टियों से ढका होता है। इसके बाद अनुप्रस्थ धारियाँ होती हैं, जिनके बीच बीच में रोमयुक्त त्वचा होती है। पिछले भाग में एक पश्चश्रोणि ढाल (पेल्विक शील्ड) होती है। टोलीप्युटस जीनस में ये धारियाँ चलायमान होती हैं, जिससे यह जानवर अपने शरीर को लपेटकर गेंद जैसा बना लेता है। पूँछ भी अस्थिल पट्टियों के छल्लों से ढकी होती है और इसी प्रकार की पट्टियाँ सिर की भी रक्षा करती हैं।

वर्मी लंबाई में ६ इंच से लेकर ३ फुट तक होते हैं। ये सर्वभक्षी होते हैं। जड़, मूल, कीड़े, पतंगे, छिपकलियाँ तथा मृत पशुओं का मांस इत्यादि सब कुछ इनका भोज्य है। यह जीव अधिकतर निशिचर होता है। कभी कभी दिन में भी दिखाई पड़ता है। यह अनाक्रामक होता है और अन्य जंतुओं को हानि नहीं पहुँचाता; यहाँ तक कि यदि पकड़ लिया जाय तो स्वतंत्र होने के लिये प्रयत्न भी नहीं करता। इसकी रक्षा का एकमात्र साधन भूमि खोदकर छिप जाना है। पैर छोटे होते हैं, फिर भी यह बड़ी तेजी से दौड़ता है। यह खुले मैदानों या जंगलों में रहता है।

वर्ग फ़ोलिडोटा—इस वर्ग के अंतर्गत आनेवाले प्राणियों की प्रमुख विशेषता यह है कि उनके सिर, धड़ तथा पूँछ शृंगशल्कों (सींग जैसी पट्टियों) से ढके होते हैं। शल्कों के बीच बीच में यत्र तत्र बाल पाए जाते हैं। दाँत बिलकुल ही नहीं होते। जूगल चाप (जूगुलर आर्च) तथा अक्षक (क्लैविकल) भी नहीं होते। खोपड़ी लंबी और बेलनाकार होती है। नेत्रगुहीय तथा शंखक खातों (टेंपोरल फ़ोसा) के बीच कुछ विभाजन नहीं होता। जीभ बहुत लंबी होती है।

इस वर्ग के उदाहरण एशिया तथा अफ्रीका के वज्रकीट अथवा पैंगोलिन हैं। इस वर्ग में केवल एक जाति (जीनस) मेनीस है। इस जाति के अंतर्गत सात उपजातियाँ (स्पीशीज़) हैं, जिनमें से तीन उपजातियाँ बनरोहू (मेनीस पेंटाडेक्टाइला), पहाड़ी वज्रकीट अथवा लोरधारी वज्रकीट (मेनीस आरिटा) तथा मलायी वज्रकीट (मेनीस जावानिका) भारत में पाए जाते हैं।

बनरोहू हिमालय प्रदेश को छोड़कर शेष भारत तथा लंका में पाया जाता है। भारत के विभिन्न प्रदेशों में इसके विभिन्न नाम हैं: वज्रकीट, वज्रकपटा, सालसालू, कौली मा, बनरोहू, खेतमाछ, इत्यादि। लोरधारी वज्रकीट (मेनीस) सिक्कम और नेपाल के पूर्व हिमालय की साधारण ऊँचाई में, आसाम और उत्तरी भागों की पहाड़ियों से लेकर करेन्नी, दक्षिण चीन, हैनान तथा फारमोसा में पाया जाता है। मलाया का वज्रकीट मलाया के पूर्ववर्ती देशों से लेकर सिलेबीज़ तक, कोचीन चीन, कंबोडिया के दक्षिण, सिलहट और टिपरा के पश्चिम में पाया जाता है।

सभी वज्रकीट दंतविहीन होते हैं और अन्य स्तनधारियों से भिन्न, बड़ी छिपकली की भाँति दिखाई देते हैं। लगभग ये सभी बिना कानवाले तथा लंबी पूँछवाले होते हैं। पूँछ जड़ में मोटी होती है। केवल पेट तथा शाखांगों (हाथ, पाँव, कान, नाक इत्यादि) के अतिरिक्त संपूर्ण शरीर शल्कों से आच्छादित होता है। शल्कों के बीच बीच में कुछ मोटे बाल भी होते हैं। पूँछ का तल भाग भी शल्कों से ढका होता है। जिन स्थानों पर शल्क नहीं होते उन स्थानों पर अल्प बाल होते हैं। सिर छोटा और नुकीला, थूथुन संकीर्ण तथा मुखविवर छोटा होता है। जिह्वा लंबी, दूर तक बाहर निकलनेवाली तथा कृमि सदृश होती है। आमाशय चिड़ियों के पेषणी (गिज़र्ड) की भाँति पेशीय होता है। शाखांग छोटे तथा पुष्ट होते हैं। प्रत्येक पैर में पाँच अँगुलियाँ होती हैं, जिनमें पुष्ट नख लगे होते हैं। अग्रपादों के नख पश्चपादों की अपेक्षा बड़े होते हैं। सभी पादों के मध्यनख बहुत बड़े होते हैं। अग्रपादों के नख विशेष रूप से मिट्टी खोदने के उपयुक्त बने होते हैं। चलने से उनकी नोंक कुंठित न हो जाय, इसलिये वे भीतर की ओर मुड़े होते हैं। उनकी ऊपरी सतह ही धरातल को स्पर्श करती है, क्योंकि ये जंतु हथेली के बल नहीं चलते, बल्कि चलते समय शरीर का भार चौथी तथा पाँचवीं अँगुलियों की बाह्य तथा ऊपरी सतह पर डालते हैं। पश्चपाद साधारणतः पंजे के बल चलनेवाले होते हैं। चलते समय
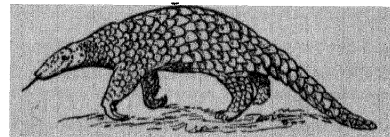
वज्रकीट

शरीर के ऊपर लगे, एक के ऊपर एक चढ़े, कड़े शल्कों के कारण यह वज्रकीट कहलाता है। यह भारत के प्रायः सभी स्थानों में पाया जाता है और इसके विविध स्थानीय नाम हैं, यथा वज्रकीट, वज्रकपटा, सालसालू, कौली मा, बनरोहू, खेतमाछ, इत्यादि।

ये जानवर तलवे के बल पग रखते हैं और उस समय इनकी पीठ धनुषाकार हो जाती है।

जब कभी वज्रकीट (पैंगोलिन) पर किसी प्रकार का आक्रमण होता है तो वह अपने शरीर को लपेटकर गेंद के आकार का हो जाता है और शरीर पर लगे, एक के ऊपर एक चढ़ शल्कों के कोर आक्रमण से रक्षा करने

तथा स्वयं प्रहार करने के काम आते हैं। यह जीव मंद गति से किंतु परिपुष्ट माँद निर्मित करता है। चीटियों तथा दीमकों के घरों को खोदकर यह अपनी लार से तर, चिकनी, लसीली और बड़ी जीभ की सहायता से उन क्षुद्र जंतुओं को खा जाता है। वज्रकीट के आमाशयों में प्राय: पत्थर के टुकड़े पाए गए हैं। ये पत्थर या तो चिड़ियों की भाँति पाचन के हेतु निगले जाते हैं अथवा कीटभोजन के साथ संयोगवश निगल लिए जाते हैं। नियमत: वज्रकीट निशिचर होता है और दिन में या तो चट्टानों की दरारों में अथवा स्वयं-निर्मित माँदों में छिपा रहता है। यह एकपत्नीधारी होता है और इसकी मादा एक बार में केवल एक या दो बच्चे ही पैदा करती है।

वज्रकीट को कारावास (बंदी अवस्था) में भी पाला जा सकता है और यह शीघ्र पालतू भी हो जाता है, किंतु इसे भोजन खिलाना कठिन होता है। इसमें अपने शरीर को झुका रखकर पिछले पैरों पर खड़े होने की विचित्र आदत होती है।

वर्ग ट्यूबुलीडेंटाटा—इस वर्ग के अंतर्गत दक्षिण अफ्रीका का भूशूकर (आर्डवार्क या ऑरिक्टिरोपस) आता है। भूशूकर का शरीर मोटी खाल से ढका होता है और उसपर यत्र तत्र बाल होते हैं। इसके सिर के आगे थूथन होता है, परंतु सिर और थूथन इस प्रकार मिले होते हैं कि पता नही चलता कि कहाँ सिर का अंत और थूथन का आरंभ है। मुख छोटा और जीभ लंबी होती है। मुख में खूँटी के समान चार या पाँच दाँत होते हैं, जिनकी बनावट विचित्र होती है। दाँतो में दंतवलक नही होता, वैसोडेंटीन होता है, जिसपर एक प्रकार के सीमेंट का आवरण होता है। वसोडेंटीन की मज्जागुहा (पल्प कैविटी) नलिकाओं द्वारा छिद्रित होती है, जिसके कारण इस वर्ग का नाम नलीदार दंतधारी (ट्यूबुलीडेंटाटा) पड़ा है।

भूशूकर के अग्रपाद छोटे तथा मजबूत होते हैं और प्रत्येक में चार अँगुलियाँ होती हैं। चलते समय इनकी हथेलियाँ और पैर के तलवे पृथ्वी का स्पर्श करते हैं। पश्चपादों में पाँच पाँच अँगुलियाँ होती है। लंबाई में ये जीव छ: फुट तक पहुँच जाते हैं।

भूशूकर का जीवननिर्वाह दीमकों से होता है।

भूशूकर (आर्डवार्क)

अफ्रीका में पाया जानेवाला जंतु जो पूँछ लेकर पाँच फुट तक लंबा होता है और दीमक खाकर जीवननिर्वाह करता है।

सं०ग्रं०—आर० ए० स्टर्नडेल : नैचुरल हिस्ट्री ऑव इंडियन मैमेलिया (१८८४); फ्रैंकफिन : स्टर्नडेल्स मैमेलिया ऑव इंडिया (१९२९); पार्कर ऐंड हैसवेल : टेक्स्टबुक ऑव जूलाजी (१९५१); फ़ैंकाइ वोर लिरे : दि नैचुरल हिस्ट्री ऑव मैमल्स (१९५५)। [भृ० ना० प्र०]

अनन्नास

अनन्नास का अंग्रेजी नाम पाइनऐपल, वानस्पतिक नाम अनानास कॉस्मॉस, प्रजाति अनानास, जाति कॉस्मॉस और कुल ब्रोमेलिएसी है। इसका उत्पत्तिस्थान दक्षिणी अमेरिका का ब्राजील प्रांत है। यह एक-बीजपत्री कुल का पौधा है तथा स्वादिष्ट फलों में इसका विशेष स्थान है। इसकी खेती के लिये हवाई द्वीप, क्वींसलैंड तथा मलाया विशेष प्रसिद्ध हैं। भारत में इसकी खेती मद्रास, मैसूर, ट्रावनकोर, आसाम, बंगाल तथा उत्तर प्रदेश के तराईवाले भागों मे होती है। इस फल में चीनी १२ प्रति शत तथा अम्लत्व ०·६ प्रति शत होता है। विटामिन ए, बी तथा सी भी इसमें अच्छी मात्रा में पाए जाते हैं। इसमें कैल्सियम, फास्फोरम, लोहा इत्यादि पर्याप्त मात्रा में रहता है तथा ब्रोमेलीन नामक किण्वज (एनजाइम) भी होता है जो प्रोटीन को पचाता है। इसका शरबत, कैंडी तथा मार्मलेड बनता है। इसे डिब्बों में बंद करके संरक्षित भी करते हैं।
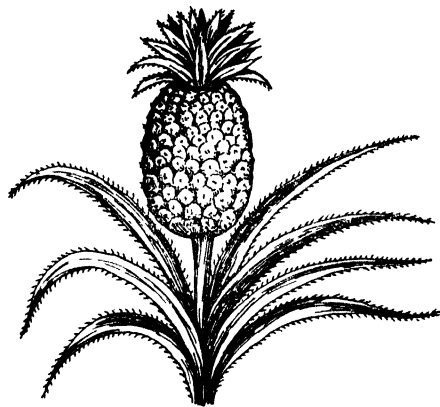
अनन्नास

फल अति स्वादिष्ट, सुगंधमय और कुछ खट्टापन लिए हुए मीठा होता है।

अनन्नास उष्ण कटिबंधीय पौधा है। इसकी सफल खेती उस स्थान में हो सकती है जहाँ ताप ६०° और ९०° फा० के बीच हो। इसके लिये आर्द्र वातावरण चाहिए। तीक्ष्ण धूप तथा घनी छाया हानिप्रद है। बलुई दोमट मिट्टी में यह सुखी रहता है। जलोत्सारण का प्रबंध अच्छा होना अनिवार्य है। यह आम्लिक मिट्टी में अच्छा पनपता है। इसकी अनेक जातियाँ होती हैं, पर क्वीन, मारीशस तथा स्मूथकेयने प्रमुख हैं। इसका प्रसारण वानस्पतिक विधियों (क्राउन, डिस्क तथा स्लिप्स) द्वारा होता है, परंतु मुख्य साधन भूस्तारी (सकर्स) हैं, अर्थात् पुरान पौधों की जड़ों से निकले छोटे छोटे पौधों को अलग कर अन्यत्र रोपने से नए पौधे तैयार किए जाते हैं। वर्षा ऋतु में पेड़ों पर २×५ फुट की दूरी पर भूस्तारी लगाते हैं। एक बार का लगाया पौधा २०-२५ वर्ष तक फल देता है, परंतु तीन या चार फसल लेने के बाद नए पौधे लगाना ही अच्छा होता है। प्रति वर्ष लगभग ४०० मन प्रति एकड़ सड़े गोबर की खाद या कंपोस्ट अवश्य देना चाहिए। जाड़े में तीन चार बार तथा ग्रीष्म ऋतु में प्रति सप्ताह सिंचाई करनी चाहिए। एक एकड़ में लगभग १०० से २०० मन तक फल पैदा होता है। [ज० रा० सि०]

अनवरी, औहदुद्दीन अबीवर्दी

अनवरी का जन्म खुरासान के अंतर्गत खावराँ जंगल के पास अबीवर्द स्थान में हुआ था। इसने तूस के जाम: मंसूरिय: में शिक्षा प्राप्त की और अपने समय की बहुत सी विद्याओं का विद्वान् हो गया। शिक्षा पूरी होने पर यह कविता करने लगा और इसे सेलजुकी सुलतान खंजर के दरबार में प्रश्रय मिल गया। आरंभ में खावराँ के संबंध से पहले इसने 'खावरी' उपनाम रखा, फिर 'अनवरी'। जीवन का अंतिम समय इसने एकांत में विद्याध्ययन करने में बलख में व्यतीत किया। इसकी मृत्यु के सन् के संबंध में विभिन्न मत पाए जाते है, पर रूसी विद्वान् जुकोव्स्की की खोज से इसका प्रामाणिक मृत्युकाल सन् ५८५ हि० तथा सन् ५८७ हि० (सन् ११८९ ई० तथा सन् ११९१ ई०) के बीच जान पड़ता है।

अनवरी की प्रसिद्धि विशेषकर इसके कसीदों ही पर है, पर इसने दूसरे प्रकार की कविताएँ, जैसे ग़ज़ल, रुबाई, हजो आदि की भी रचना की है। इसकी काव्यशैली बहुत क्लिष्ट समझी जाती है। इसकी कुछ कविताओं का अंग्रेजी में अनुवाद भी हुआ है। [आर० आर० शे०]

अनलहक यह सूफियों की एक इत्तला (सूचना) है जिसके द्वारा वे आत्मा को परमात्मा की स्थिति में लय कर देते हैं। सूफियों के यहाँ खुदा तक पहुँचने के चार दर्जे हैं। जो व्यक्ति सूफियों के विचार को मानता है उसे पहले दर्जे से क्रमशः चलना पड़ता है—शरीयत, तरीकत, मारफत और हक़ीकत। पहले सोपान में नमाज, रोजा और दूसरे कामों पर अमल करना होता है। दूसरे सोपान में उसे एक पीर की जरूरत पड़ती है—पीर से प्यार करने की और पीर का कहा मानने की। फिर तरीकत की राह में उसका मस्तिष्क आलोकित हो जाता है और उसका ज्ञान बढ़ जाता है; मनुष्य ज्ञानी हो जाता है (मारफत)। अंतिम सोपान पर वह सत्य की प्राप्ति कर लेता है और खुद को खुदा में फना कर देता है। फिर 'दुई' का भाव मिट जाता है, 'मैं' और 'तुम' में अंतर नहीं रह जाता। जो अपने को नहीं सँभाल पाते वे 'अनलहक' अर्थात् 'मैं खुदा हूँ' पुकार उठते हैं। इस प्रकार का पहला व्यक्ति जिसने 'अनलहक' का नारा दिया वह मंसूर-बिन-हल्लाज था। इस अधीरता का परिणाम प्राण दंड हुआ। मुल्लाओं ने उसे खुदाई का दावेदार समझा और सूली पर लटका दिया। [अ० अ०]

अनसूया दक्ष की कन्या तथा अत्रि की पत्नी, जिन्होंने राम, सीता और लक्ष्मण का अपने आश्रम में स्वागत किया था। उन्होंने सीता को उपदेश दिया था और उन्हें अखंड सौंदर्य की एक ओषधि भी दी थी। सतियों में उनकी गणना सबसे पहले होती है। कालिदास के 'शाकुंतलम्' में अनसूया नाम की शकुंतला की एक सखी भी कही गई है। [चं० म०]

अनाक्रिओन (जन्म, लगभग ५६० ई० पू०), एशिया माइनर के तिओस नगर का निवासी। ईरानी सम्राट् कुरुष् के आक्रमण से अन्य नगरवासियों के साथ थ्रेस भागा। फिर वह सामोस के राजा पोलिक्रातिज् का अध्यापक बना। वह प्राचीन ग्रीक भाषा का महान् गेय (लिरिक) कवि था। उसने अपने इस सामोस के संरक्षक पर अनेक कविताएँ लिखीं। अपने संरक्षक की मृत्यु के बाद एथेंस के राजा हिपार्चस् के आवाहन पर वह वहाँ पहुँचा। वहाँ अपने संरक्षक की हत्या के बाद वह मित्रकवि सिमोनीदिज़ के साथ नगर नगर घूमता अपने जन्म के नगर तिओस पहुँचा जहाँ प्रायः ८५ वर्ष की आयु में वह मरा। वह लोकप्रिय जनकवि था और एथेंस में उसकी मूर्ति स्थापित हुई। हाथ में तंत्री लिए सिंहासन पर बैठी उसकी संगमरमर की एक मूर्ति १८३५ ई० में पाई गई थी। तिओस नगर के अनेक सिक्कों पर उसकी तंत्रीधारिणी आकृति ढली मिली है।

अनाक्रिओन मधुर गायक था, ऐसा लिरिक कवि जिसे प्रसिद्ध लातीनी कवि होरेस ने अपना आदर्श माना है। अनाक्रिओन की अनेक पूर्ण-अपूर्ण कविताएँ संकलित हुई जिनकी सत्यता की संदिग्धता उसके गौरव को बढ़ा देती है। उसने अधिकतर कविताएँ सुरा, दियोनिसस् आदि पर लिखीं। [भ० श० उ०]

अनागामी निर्वाण के पथ पर अर्हत् पद के पहले की भूमि अनागामी की होती है। जब योगी समाधि में सत्ता के अनित्य-अनात्म-दुःख स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है तब उसके भवबंधन एक एक कर टूटने लगते हैं। जब सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रतपराभास, कामछंद और व्यापाद्—ये पाँच बंधन नष्ट हो जाते हैं तब वह अनागामी हो जाता है। मरने के बाद वह ऊपर की भूमि में उत्पन्न होता है। वहीं उत्तरोत्तर उन्नत होते हुए अविद्या का नाश कर अर्हत् पद का लाभ करता है। वह इस लोक में फिर जन्म नहीं ग्रहण करता। इसीलिये वह अनागामी कहा जाता है। [भि० ज० का०]

अनात्मवाद दर्शन में दो विचारधाराएँ होती हैं: (१) आत्मवाद, जो आत्मा का अस्तित्व मानती है; (२) अनात्मवाद, जो आत्मा का अस्तित्व नहीं मानती। एक तीसरी विचारधारा नैरात्मवाद की भी है, जो आत्म अनात्म से परे नैरात्मा को देवता की तरह मानती है (दे० महायान, शून्यवाद आदि)। कुछ दर्शनों में आत्मवाद और अनात्मवाद का समन्वय भी पाया जाता है; यथा जैन दर्शन में। आत्मवाद ब्राह्मण परंपरा या श्रौतदर्शन माना जाता है; अनात्मवाद के अंतर्गत चार्वाक के लोकायत और श्रमण परंपरा के बौद्ध दर्शन का समावेश होता है। पुद्गल प्रतिषेधवाद और पुद्गल नैरात्मवाद भी इसके निकटतम दर्शनाम्नाय हैं।

चार्वाक दर्शन में परमात्म तथा आत्म दोनों तत्वों का निषेध है। वह विशुद्ध भौतिकवादी दर्शन है। किंतु समन्वयार्थी बुद्ध ने कहा कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान ये पाँच स्कंध आत्मा नहीं हैं। पाश्चात्य दर्शन में ह्यूम की स्थिति प्रायः इसी प्रकार की है; वहाँ कार्य-कारण-पद्धति का प्रतिबंध है और अंततः सब क्षणिक संवेदनाओं का समन्वय ही अनुभव का आधार माना गया है। आत्मा स्कंधों से भिन्न होकर भी आत्मा के ये सब अंग कैसे होते हैं, यह सिद्ध करने में बुद्ध और परवर्ती बौद्ध नैयायिकों ने बहुत से तर्क प्रस्तुत किए हैं। बुद्ध कई अंतिम प्रश्नों पर मौन रहे। उनके शिष्यों ने उस मौन के कई प्रकार के अर्थ लगाए। थेरवादी नागसेन के अनुसार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का संघात मात्र आत्मा है। उसका उपयोग प्रज्ञप्ति के लिये किया जाता है। अन्यथा वह अवस्तु है। आत्मा चूँकि नित्य परिवर्तनशील स्कंध है, अतः आत्मा इन स्कंधों की संतानमात्र है। दूसरी ओर वात्सीपुत्रीय बौद्ध पुद्गलवादी हैं, इन्होंने आत्मा को पुद्गल या द्रव्य का पर्याय माना है। वसुबंधु ने 'अभिधर्मकोश' में इस तर्क का खंडन किया और यह प्रमाण दिया कि पुद्गलवाद अंततः पुनः शाश्वतवाद की ओर हमें घसीट ले जाता है, जो एक दोष है। केवल हेतु प्रत्यय से जनित धर्म है, स्कंध, आयतन और धातु हैं, आत्मा नहीं है। सर्वास्तिवादी बौद्ध संतानवाद को मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा एक क्षण-क्षण-परिवर्ती वस्तु है। हेराक्लीतस के अग्नितत्व की भाँति यह निरंतर नवीन होती जाती है। विज्ञानवादी बौद्धों ने आत्मा को आत्मविज्ञान माना। उनके अनुसार बुद्ध ने, एक ओर आत्मा की चिर स्थिरता और दूसरी ओर उसका सर्वथा उच्छेद, इन दो अतिरेकी स्थितियों से भिन्न मध्य का मार्ग माना। योगाचारियों के मत से आत्मा केवल विज्ञान है। यह आत्म-विज्ञान विज्ञप्ति मात्रता को मानकर वेदांत की स्थिति तक पहुँच जाता है। सौत्रांतिकों ने—दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने—आत्मविज्ञान को ही गत् और ध्रुव माना, किंतु नित्य नहीं।

पाश्चात्य दार्शनिकों में अनात्मवाद का अधिक तटस्थता से विचार हुआ, क्योंकि दर्शन और धर्म वहाँ भिन्न वस्तुएँ थीं। लाक के संवेदनावाद से शुरू करके कांट और हेगेल के आदर्शवादी परा-कोटि-वाद तक कई रूप अनात्मवादी दर्शन ने लिए। परंतु हेगेल के बाद मार्क्स, एंगेल्स आदि ने भौतिकवादी दृष्टिकोण से अनात्मवाद की नई व्याख्या प्रस्तुत की। परमात्म या अंशी आत्मतत्व के अस्तित्व को न मानने पर भी जीवजगत् की समस्याओं का समाधान प्राप्त हो सकता है। आत्म अनात्म भी युग के अनुसार एक सार्वजनिक अवचेतन पूर्वग्रह तो नहीं? यह संशयवादी दर्शन तार्किक स्वीकारवाद तक हमें ले आया है।

सं०ग्रं०—राहुल सांकृत्यायन : दर्शनदिग्दर्शन; आचार्य नरेंद्रदेव : बौद्धधर्म दर्शन; भरतसिंह उपाध्याय : बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन; डा० देवराज : भारतीय दर्शन; बर्ट्रेंड रसेल : हिस्ट्री ऑव वेस्टर्न फ़िलासफ़ी; एम० एन० राय : हिस्ट्री ऑव वेस्टर्न मटीरियालिज्म। [प्र० मा०]

अनादिर रूस राज्य के सुदूर प्राच्य प्रदेश की एक नदी, पहाड़, बंदरगाह तथा खाड़ी का नाम है। अनादिर खाड़ी उत्तर के चूकची अंतरीप से दक्षिण के नावारिन अंतरीप तक विस्तृत है। यह लगभग २५० मील चौड़ी है और बेरिंग सागर का एक भाग है। अनादिर नदी कोलाइमा, अनादिर तथा कमचटका पर्वतश्रेणियों के मध्य से लगभग ६७° उ० अक्षांश तथा १७३° पू० देशांतर से निकली है। यहाँ पर इसे इवाश्की अथवा इवाशनो नाम से पुकारते हैं। आगे चलकर यह चूकची प्रदेश में पहुँचती है तथा पहले दक्षिण-पश्चिम की ओर और फिर पूर्व की ओर मुड़कर लगभग ५०० मील आगे चलकर अनादिर की खाड़ी में गिरती है। चूकची प्रदेश टुंड्रा के अंचल में है, अतः यह गर्मी में दलदली हो जाता है।

बेहरिंग जलडमरूमध्य (स्ट्रेट) के पास एस्किमो जाति के लोग बसते हैं, परंतु इनके अलावा चूकची जाति के लोग भी यहाँ पाए जाते हैं। चूकची जाति के लोग रेनडियर नामक हरिण पालते हैं और गर्मी के दिनों में इन्हें साथ लेकर समुद्र उपकूल के पास चले जाते हैं। इन स्थानों में रेनडियर के चमड़े का व्यवसाय प्रमुख है। यह कहा जाता है कि कमचटका तथा अनादिर खाड़ी के संलग्न प्रदेशों में पाए जानेवाले हरिणों की संख्या सोवियत राज्य के कुल हरिणों की संख्या की आधी है। जाड़े के दिनों में अनादिर खाड़ी का पानी जम जाता है जिसके कारण समुद्री मार्ग पूर्णतया

बंद हो जाता है। गर्मी के दिनों में बर्फ के पिघलने से खाड़ियाँ खुल जाती हैं और जहाज आयात की भिन्न भिन्न वस्तुओं को लेकर यहाँ आते हैं तथा हरिण के चमड़े यहा से ले जाते हैं। चूकची जाति में से कुछ लोग घर बनाकर भी बसते है तथा जाड़े के दिनों में शिकार करके और गर्मी के दिनों में मछली पकड़कर जीवननिर्वाह करते है। यहाँ पर सामन मछली प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। इन लोगों में कुत्ते भारवाही पशु के रूप में काम आते है।

बेरिंग जलडमरूमध्य के पास सोना, चाँदी, जस्ता, सीसा तथा कृष्ण सीस (ग्रेफाइट) की खानें है। अनादिर नदी की घाटी में तथा अनादिर बंदरगाह के दक्षिण में कोयला भी निकाला जाता है जो उत्तरी सागर में आने जानेवाले जहाजों के काम में आता है। [वि० मु०]

अनाम (अनैम, ऐनैम) दक्षिण-पूर्वी एशिया में फ्रेंच इंडोचीन प्रोटेक्टरेट के भीतर एक देश था। इसके उत्तर में टॉनकिन, पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व मे चीन सागर, दक्षिण-पश्चिम में कोचीन चीन और पश्चिम में कंबोडिया एवं लाओस प्रदेश है। अनाम की लंबाई लगभग ७५०-८०० मील तथा क्षेत्रफल लगभग ५६,००० वर्ग मील है।

यहाँ के आदिवासी अनामी टांगकिंग तथा दक्षिणी चीन की गायोची जाति को अपना पूर्वपुरुष मानते है। कुछ औरों के विचार से ये अनामी आदिवासी चीन राजवंश के उत्तराधिकारी है। इनके राज्य के बाद एक दूसरा वंश यहाँ आकर जमा जिसके समय मे चीन राज्य ने अनाम पर आक्रमण किया। बाद में डिन-बो-लान्ह के वंशधरों ने यहाँ राज्य किया। उनके समय में चाम नामक एक जाति बड़े पैमाने मे यहा आ पहुँची। ये लोग हिंदू थे और इनके द्वारा बनी कई अट्टालिकाएँ आज भी इसका प्रमाण है। सन् १४०७ ई० में अनाम पर चीनी लोगों का पुनः आक्रमण हुआ, परंतु १४२८ में लीलोयी नामक एक अनामी सेनाध्यक्ष ने इसे चीनियों के हाथ से मुक्त किया। लीलोयी के बाद गुयेन नामक एक परिवार ने इसपर १८वीं शताब्दी तक राज्य किया। इसके पश्चात् अनाम फ्रांसीसियों के अधिकार में चला गया। वे पिनो द बहें नामक एक पादरी (बिशप) की सहायता से इस देश में आए थे। गुयेन परिवार के गियालंग नामक एक विद्रोही ने इस पादरी के साथ मिलकर फ्रांसीसी सेना को अनाम मे बुलाया था। सन् १७८७ ई० में गियालंग ने फ्रांस के राजा १६वें लूई के साथ संधि कर ली और उसके वंशज कुछ समय तक राज्य करते रहे। टु डच्‌ अनाम का अंतिम स्वाधीन राजा था। १८५६ में फ्रांस तथा स्पेन ने अनाम पर आक्रमण किए। अनाम के राजा ने चीन सम्राट् के पास सहायता के लिये प्रार्थना की परंतु चीन के साथ फ्रांसीसियों ने समझौता कर लिया। सन् १८८४ में अनाम फ्रेंच प्रोटेक्टरेट हो गया और एक रेजिडेंट सुपीरियर अनाम के राजकार्य-परिदर्शन के लिये रखे गए। इस प्रबंध मे बाओ दाई यहाँ के अंतिम राजा रहे।

द्वितीय महायुद्ध के समय १९४१ में विची सरकार पर जापानी सेना ने आक्रमण किया और १९४५ में फ्रांसीसी अफसरों को पदच्युत करके बाओ डाई को वियेतनाम (अर्थात् टोनकिन, अनाम, कोचीन चीन) का शासनकर्ता बनाया। इसके बाद से वियेतनाम की राजनीतिक परिस्थिति बहुत दिनों तक ढीली ढाली रही। १९५१ के आसपास साम्यवादी प्रभाव प्रबल हो उठा और झगड़ा उत्तरोत्तर बढ़ता गया। अंत में यह देश १७° अक्षांश रेखा के द्वारा दो भागों में विभाजित किया गया—उत्तरी भाग 'वियेत मिन' तथा दक्षिणी भाग 'वियेत नाम' प्रसिद्ध हुआ। प्रधान मंत्री गो डिन डियेम ने बाउ दाई को पदच्युत करके दक्षिणी वियेतनाम जनतंत्र स्थापित किया तथा स्वयं इसका पहला राष्ट्रपति बना।

अनाम के उत्तर से दक्षिण तक अनामीज कारडिलेरा पर्वतश्रेणी फैली हुई है। यह श्रेणी लाओस के पार्वत्य भाग से दक्षिण की ओर आकर पूर्वी ओर ठीक वैसे ही मुड़ जाती है जैसे बर्मा का पहाड़ पश्चिम की ओर मुड़ता है। इन दोनों पहाड़ों ने अपने बीच मे कंबोडिया के पठार को घेर रखा है। इस पार्वत्य प्रदेश की रीढ़ प्रधानतः ग्रैनाइट शिला से बनी हुई है जिसके आसपास अपक्षरण से पुरानी शिलाएँ निकल पड़ी हैं। कही कहीं पर अपेक्षाकृत बाद में बनी हुई शिलाएँ, जैसे कार्बोनिफेरस युग के चूने के पत्थर, भी दिखाई पड़ते है। ये शिलाएँ विशेषकर पूर्वी किनारों पर ही मिलती है। यह रीढ़ नदियों द्वारा कटी फटी है; इसलिये किनारे के पास पहाड़ तथा घाटी एक के बाद एक पड़ते है। इस क्षेत्र का उत्तरी भाग पहाड़ी तथा दक्षिणी भाग पठारी है और पहाड़ों में पूहक (६,५६० फुट), पूअटवट (८,२०० फुट), मदर ऐंड चाइल्ड (६,८८८ फुट) आदि पर्वतशिखर हैं। पश्चिम की अपेक्षा पूर्व की ओर की ढाल अधिक खड़ी है। कई दर्रों द्वारा उपकूल भाग देश के भीतरी भाग से मिला हुआ है, जिनमें से उत्तर का आसाम गेट (३६० फुट), बीच का को द नुआग (१,५४० फुट) तथा दक्षिण का डियोका (१,३१० फुट) विशेष महत्व के है। इस उपकूल भाग मे टूरेन की खाड़ी सबसे अच्छा और एकमात्र पोताश्रय (बंदरगाह) है।

यहाँ की जलवायु मानसूनी है। दक्षिण-पश्चिम मानसून मध्य अप्रैल से अगस्त के अंत तक चला करता है, परंतु यह स्थल के ऊपर से होकर चलने के कारण शुष्क रहता है। इस समय का ताप ८२°-८६° फा० रहता है। यहाँ की वर्षा सितंबर से अप्रैल तक चलनेवाली उत्तर-पूर्वी मानसूनी वायु द्वारा होती है, जो चीन सागर के ऊपर से बहती है। इस समय का ताप लगभग ७३° फा० रहता है। समुद्र के तूफान यहाँ प्रायः आते रहते है।

चावल यहाँ की मुख्य उपज है जो उपकूल प्रदेश में तथा छोटी छोटी नदियों के मुहानों पर पर्याप्त परिमाण में पैदा होता है। चावल के अतिरिक्त मक्का, चाय, तंबाकू, रुई, मसाले और गन्ना आदि यहाँ उपजाए जाते हैं। दक्षिण की ओर कुछ भूभाग मे रबड़ की खेती होती है और पहाड़ी क्षेत्रों में शहतूत के पेड़ों पर रेशम के कीड़े पाले जाते है। रेशम तैयार करना यहाँ का पुराना कारबार है और पुराने ढग से ही चलता है। अनाम पर्याप्त परिमाण में रेशम बाहर भेजता है। अन्य पुराने व्यवसायो में नमक बनाना तथा मछली पकड़ना यहाँ बहुत प्रचलित है। बंगालियों की भाँति मछली और चावल इनके मुख्य खाद्य है। परिवहन (यातायात) की असुविधा के कारण इस देश का आभ्यंतरीय व्यवसाय नही के बराबर है। उपकूल भाग का १,२०० किलोमीटर लंबा रास्ता यहाँ के यातायात का मुख्य साधन है जो बड़े बड़े शहरो को मिलाता है। रेल की लाइन इसी सड़क के समांतर है और अनाम की सारी लंबाई पार करती है। यह पहाड़ों को छोड़ती हुई बहुधा समुद्रतट के पास से जाती है।

टूरेन यहाँ का सबसे बड़ा शहर तथा सबसे बड़ा बंदरगाह है। यह बंदरगाह सूत, चाय, खनिज तेल तथा तंबाकू आयात करता है। इसका निर्यात चीनी, चावल, रुई, रेशम तथा दारचीनी है। टूरेन के पास नंगमन नामक स्थान पर कोयले की खान है। पहाडी इलाके में सोना, चाँदी, ताँबा, जस्ता, सीसा, लोहा तथा दूसरे खनिज पदार्थ पर्याप्त मात्रा में मिलते है। [वि० मु०]

अनामलाई पहाड़ियाँ दक्षिण भारत के मद्रास प्रांत के कोयंबटूर जिले तथा केरल राज्य में स्थित एक पर्वतश्रेणी है जो अक्षांश १०° १३′ उ० से १०° ३१′ उ० तथा देशांतर ७६°५२′ पू० से ७७° २३′ पू० तक फैली है। 'अनामलाई' शब्द का अर्थ है 'हाथियों का पहाड़', क्योंकि यहाँ पर पर्याप्त संख्या में जंगली हाथी पाए जाते है। पर्वतों की यह श्रेणी पालघाट दर्रे के दक्षिण में पश्चिमी घाट का ही एक भाग है। अनाईमुडी इसका सर्वोच्च भाग है (८,८५० फुट)। इसके शिखरों में तंगाची (८,१४७ फुट), काठुमलाई (८,४०० फुट), कुमारिकल (८,२०० फुट) और करिनकोला (८,४८० फुट) उल्लेखनीय हैं। इन शिखरों को छोड़कर इस पर्वतमाला को ऊँचाई की दृष्टि से हम दो भागों में बाँट सकते हैं—उच्च श्रेणी और निम्न श्रेणी। उच्च श्रेणी की पहाड़ियाँ ६,००० से लेकर ८,००० फुट तक ऊँची हैं और अधिकतर घासों से ढकी हैं। निम्न श्रेणी की पहाड़ियाँ लगभग २,००० फुट ऊँची हैं जिनपर मूल्यवान् इमारती लकड़ियाँ, जैसे सागौन (टीक), काली लकड़ी, (आबनूस, डलबर्गिया लैटिफ़ोलिया) और बाँस पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं। इमारती लकड़ियों का सरकारी जंगल ८० वर्ग मील में है। इन लकड़ियों को हाथी तथा नदी के सहारे मैदान पर लाया जाता है। कोयंबटूर तथा पोतनूर जंकशनों से रेलमार्ग द्वारा काफी मात्रा में ये लकड़ियाँ अन्यत्र भेजी जाती हैं। अनामलाई शहर में भी इसका एक बड़ा बाजार है। इन लकड़ियों को ढोने के लिये इन पहाड़ों पर पाए जानेवाले हाथी तथा पालघाट के रहनेवाले मलयाली महावत बड़े काम के हैं। इन हाथियों को बड़ी चतुरता से ये लोग इस कार्य के लिये शिक्षित करते हैं। इस पर्वतश्रेणी से बहनेवाली तीन नदियाँ—खुनडाली, तोराकदावु और कोनालार भी लकड़ी नीचे लाने के

लिये बडी उपयोगी है। लकडियों के अतिरिक्त इन पर्वतों से प्राप्त पत्थर मकान बनाने में काम आते हैं।

यहाँ की जलवायु अच्छी है और पाश्चात्य लोगों ने इसकी बडी प्रशंसा की है। यहाँ की जलवायु तथा मिट्टी मे उगनेवाले असख्य पौधो का प्राकृतिक सौदय विश्वविख्यात है।

भूगर्भ शास्त्र की दृष्टि से अनामलाई पर्वत नीलगिरि पर्वत से मिलता जुलता है। ये परिवर्तित नाइम चट्टानो से बने हैं जिनमे फेल्स्पार और स्फटिक (क्वार्ट्ज) की पतली धारियाँ यत्रतत्र मिलती हैं और बीच बीच मे लाल पॉरफोराइट दिखाई पडते हैं।

इन पहाडियो मे आबादी नाममात्र की है। उत्तर तथा दक्षिण मे कादेर तथा मालासर लोगों की बस्ती है। इसके अचल के कई स्थानो पर पुलियार और मारावार लोग मिलते हैं। इनमे से कादेर जाति के लोगों को पहाडो का मालिक कहा जाता है। ये लोग नीच काम नही करते और बडे विश्वासी तथा विनीत स्वभाव के हैं। अन्य पहाडी जातियों पर इनका प्रभाव भी बहुत है। मोलासर जाति के लोग कुछ सभ्य हैं और कृषि कार्य करके अपना जीवननिर्वाह करते है। मारावार जाति अभी भी घूमने-फिरनेवाली जातियो मे परिगणित होती है। ये सभी लोग अच्छे शिकारी हैं और जगल की वस्तुओं को बेचकर कुछ न कुछ अर्थलाभ कर लेते हैं। वर्तमान समय में कहवा (काफी) की खेती यहाँ पर शुरू हुई है। [वि० मु०]

अनार का अग्रेजी नाम पॉमग्रैनिट, वानस्पतिक नाम प्यूनिका ग्रेनेटम, प्रजाति प्यूनिका, जाति ग्रेनेटम और कुल प्यूनिकेसी है।

इसका उत्पत्ति-स्थान ईरान है। यह भारतवर्ष के प्रत्येक राज्य मे पैदा होता है। बबई प्रात मे इसकी खेती सबमे अधिक होती है। इसमे चीनी की मात्रा १२ से १५ प्रति शत तक होती है। इसका रस सरक्षण विधि से सुरक्षित रखा जा सकता है। पौधे के लिये जाडे मे विशेष सर्दी तथा ग्रीष्म ऋतु मे विशेष गर्मी चाहिए। अधिक वर्षा हानिकारक है। शुष्क वातावरण मे यह अधिक प्रफुल्लित तथा स्वस्थ रहता है। अच्छी उपज तथा वृद्धि के लिये दोमट मिट्टी सर्वोत्तम है। क्षारीय मिट्टी भी उपयुक्त होती है। प्रत्येक जाति के वृक्षो मे कुछ न कुछ नपुसक पुष्प लगा ही करते हैं। मस्केट रेड, कधारी, स्पैनिश रूबी, ढोलका तथा पेपरशेल भारत मे प्रचलित किस्मे हैं। प्रसारण कृतन (कटिंग) द्वारा होता है। गूटी तथा दाब कलम (लेयरिंग) से भी पौधे तैयार होते हैं। ये १० से १२ फुट तक की दूरी पर लगाए जाते हैं। ग्रीष्म ऋतु मे तीन तथा जाडे मे एक सिचाई कर देना पर्याप्त है। एक मन खाद (सड़ा गोबर), एक सेर अमोनियम सल्फेट, चार सेर राख तथा एक सेर चूना मिलाकर प्रति वर्ष, प्रति वृक्ष के हिसाब मे जनवरी या फरवरी मास मे देना चाहिए। एक वृक्ष से ६० से ८० तक फल मिलते हैं। [ज० ग० सि०]

अनार

यह एक प्रसिद्ध मीठा फल है। इसके दाना से दाँतो की उपमा दी जाती है।

अनार
कली, फूल और फल

अनार्तव उस दशा का नाम है जिसमे स्त्रियो को उनके प्रजनन काल मे, अर्थात् १४-१५ और ४५ या ४८ वर्ष के बीच की आयु मे, आर्तव या मासिक स्राव नही होता। यह दशा शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार के कारणो से उत्पन्न हो सकती है। अत स्रावी ग्रथियाँ तथा प्रजनन अगो के विकार और अन्य शारीरिक रोग भी इस दशा को उत्पन्न कर सकते हैं। चिकित्सा से यह दशा सुधर सकती है, परतु इसके लिये इस दशा के कारण का पूर्ण अन्वेषण आवश्यक है। [मु० स्व० व०]

अनार्य इसका प्रयोग प्रजातीय और नैतिक दोनो अर्थों मे होता है। ऐसा व्यक्ति जो आर्य प्रजाति का न हो, अनार्य कहलाता है। आर्येतर अर्थात् किरात (मगोल), हब्शी (निग्रो), सामी, हामी, आग्नेय (आस्ट्रिक) आदि किसी मानव प्रजाति का व्यक्ति। ऐसे प्रदेश का भी अनार्य कहते हैं जहाँ आर्य न बसते हो। इसलिये म्लेच्छ को भी कभी कभी अनार्य कहा जाता है। अनार्य प्रजाति की भाँति अनार्य भाषा, अनार्य धर्म अथवा अनार्य सस्कृति का प्रयोग भी मिलता है। नैतिक अर्थ मे अनार्य का प्रयोग असमान्य, ग्राम्य, नीच, आर्य के लिये अयोग्य, अनार्य के लिये ही अनुरूप आदि के अर्थ मे होता है। (अनार्य के विलाम के लिये दे० 'आर्य')। [रा० ब० पा०]

अनाहत (१) हठयोग के अनुसार शरीर के भीतर रीढ मे अवस्थित षट् चक्रों मे से एक चक्र का नाम अनाहत है। इसका स्थान हृदयप्रदेश है। यह लाल पीले मिश्रित रगवाले द्वादश दलो के कमल जैसा वर्तमान है और उनपर 'क' से लेकर 'ठ' तक अक्षर हैं। इसके देवता रुद्र हैं। (२) वह शब्दब्रह्म जो व्यापक नाद के रूप मे सारे ब्रह्माड मे व्याप्त है और जिसकी ध्वनि मधुर सगीत जैसी है। यूरोप के प्राचीन दार्शनिको का भी इसके अस्तित्व मे विश्वास था और यह वहाँ 'म्यूजिक ऑव दि स्फियर्स' (विश्व का मधुर सगीत) कहलाता था। (३) वह शब्द वा नाद जो दोनो हाथो के अँगूठों से दोनों कानो को बद करके ध्यान करने से सुनाई देता है। अनहद शब्द वा सबद।

विशेष—नाद के लिये कहा गया है कि वह अव्यक्त परमतत्व के व्यक्तीकरण का सूचक आदि शब्द है जो पहले 'परा' शब्द के सूक्ष्म रूप मे रहा करता है और फिर क्रमश 'अपरा' शब्द बनकर अनुभवगम्य हो जाता है। वही ब्रह्माड वा सृष्टि का मूल तत्व प्रणव अथवा ॐकार है जिसका मानव शरीर में अवस्थित अथवा पिड शब्द प्रतिनिधित्व करता है और जिसे, मन की वृत्ति बहिर्मुख रहने के कारण, हम कभी सुन नही पाते। इसका अनुभव केवल वही कर पाता है जिसकी कुडलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है और प्राणवायु सुषुम्ना नाडी मे प्रवेश कर जाती है। सुषुम्ना के मार्गवाले छहों चक्र नीच से ऊपर की ओर क्रमश मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध एव आज्ञा के नामो से अभिहित किए गए हैं और उनके स्थान भी क्रमश गुदा के पास, मेरु के पास, नाभिदेश, हृदयदेश, कठदेश एव भ्रूमध्य माने गए हैं। ये क्रमश चार, छ, दस, बारह, सोलह एव दो दलोवाले कमलपुष्पो के रूप मे दिखलाई पडते हैं और इन्ही में से अनाहत मे 'ब्रह्मग्रथि', विशुद्ध मे 'विष्णुग्रथि' तथा आज्ञा मे 'रुद्रग्रथि' के अवस्थान भी स्थिर किए गए हैं। प्राणायाम द्वारा इन चक्रो का भेदन कर प्राणवायु का ऊर्ध्वगमन करते समय जब अनाहत चक्र की ब्रह्मग्रथि तक पहुँचते हैं तब नाद की आरभावस्था ही रहती है, किंतु योगी का हृदय उससे पूर्ण हो जाता है और साधक मे रूप, लावण्य एव तेजोवृद्धि आ जाती है और वह 'नानाविध भूषण ध्वनि' की आनदध्वनि सुनता है। फिर जब आगे प्राणवायु के साथ अपान वायु एव नादबिंदु के अभिमिलन की दशा आ जाती है तब विष्णुग्रथि मे ब्रह्मानद की भेरी सुनाई पडने लगती है और नाद की वह स्थिति हो जाती है जिसे 'घटावस्था' कहते हैं। इसी प्रकार तीसरे क्रमानुसार आज्ञाचक्र की रुद्रग्रथि मे जाने तक, मर्दल की ध्वनि का अनुभव होने लगता है, अष्टसिद्धियों की उपलब्धि हो जाती है और 'परिचयावस्था' की दशा प्राप्त होती है। अत मे ब्रह्मरध्र तक प्राणवायु के पहुँचने पर चतुर्थ अवस्था 'निष्पत्ति' आती है और वशी या वीणा की मधुर ध्वनि का अनुभव होता है। नाद की यही 'लयावस्था' है जिसमे सारी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं और आत्मा का अवस्थान निज स्वरूप में हो जाता है।

ऐसे वर्णन, हठयोग के ग्रंथों में, प्रायः न्यूनाधिक विस्तार के साथ मिलते हैं। परंतु गोरखनाथ एवं संत कबीर की कुछ बानियों में इसका वर्णन किंचित् भिन्न रूप में भी मिलता है जो इस प्रकार है—ब्रह्मरंध्र से उलटी ओर विकसित सहस्रार के मध्य स्थित किसी चंद्राकार विंदु से एक मंद स्राव हुआ करता है जिसे 'अमृत' कहते हैं और जो ऊपर से निम्न स्थान की ओर प्रवाहित होता हुआ मूलाधार के सूर्याकार स्थान तक आकर सूख जाता है। किंतु यदि इसे अभ्यास द्वारा ऊपर ही रोक लिया जाय और उसका रसास्वादन किया जाय तो उससे अमरत्व मिल सकता है। यह रुकावट तब हो पाती है जब निम्नस्थित सूर्य का ही चंद्र के साथ मिलन करा दिया जाय जिसे दूसरे शब्दों में नाद एवं विंदु का मिलन भी कहा जाता है और ऐसी स्थिति के आते ही, सूर्य के साथ चंद्रमा पूर्णिमा जैसा बन जाता है तथा आनंद की तुरही बजने लगती है। जैसे,

अमावस के घरि झिलमिलि चंदा, पूनिम के घरि सूर।
नाद कै घरि व्यंद गरजै, बाजत अनहद तूर —'गोरखबानी', ५४।
ससिहर सूर मिलावा, तब अनहद बजावा।
जब अनहद बाजा बाजै, तब साईं संगि बिराजै—क० ग्रं०।

और यही वस्तुतः आत्मा द्वारा स्वस्वरूप की उपलब्धि भी कही जायगी। नाद एवं विंदु का इस प्रकार मिलन ही शिव एवं शक्ति का मिलन भी कहा जा सकता है जो परमतत्व की स्थिति का सूचक है, जिसके कारण अनाहत नाद की अनुभूति ऐसी साधना की चरम परिणति का द्योतक भी कही जा सकती है। अनाहत नाद के श्रवण की एक प्रक्रिया 'सुरत शब्द योग' द्वारा भी प्रकट की जाती है जिसमें सुरति वा शब्दोन्मुख चित्र अपने को क्रमशः नाद में लीन कर आत्मस्वरूप बन जाता है। एक ही नाद प्रणव के रूप में जहाँ निरुपाधि समझा जाता है वहाँ उपाधिमुक्त होकर वही सात स्वरों में विभाजित भी हो जाया करता है।

सं०ग्रं०—शिवसंहिता; हठयोग प्रदीपिका; नादविंदूपनिषत्; हंसोपनिषत्; योगतारावलि; गोरक्षसिद्धांतसंग्रह; शारदातिलक; आदि।

[प० च०]

अनिद्रा या उन्निद्र रोग (इनसॉम्निया) में रोगी को पर्याप्त और अटूट नींद नहीं आती, जिससे रोगी को आवश्यकतानुसार विश्राम नहीं मिल पाता और स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। बहुधा थोड़ी सी अनिद्रा से रोगी के मन में चिंता उत्पन्न हो जाती है, जिससे रोग और भी बढ़ जाता है। अनिद्रा चार प्रकार की होती है: (१) बहुत देर तक नींद न आना, (२) सोते समय बार बार निद्राभंग होना और फिर कुछ देर तक न सो पाना, (३) थोड़ा सोने के पश्चात् शीघ्र ही नींद उचट जाना और फिर न आना, तथा (४) बिल्कुल ही नींद न आना।

अनिद्रा रोग के कारण दो वर्गों के हो सकते हैं: शारीरिक और मानसिक। पहले में आसपास के वातावरण का कोलाहल, बहुमूत्रता, खुजलाहट, खाँसी तथा कुछ अन्य शारीरिक व्याधियाँ, शारीरिक पीड़ा और प्रतिकूल ऋतु (अत्यंत गरमी, अत्यंत शीत, इत्यादि) हैं। दूसरे प्रकार के कारणों में आवेग, जैसे क्रोध, मनस्ताप, अवसाद, उत्सुकता, निराशा, परीक्षा, नूतन प्रेम, अतिहर्ष और अतिखेद आदि हैं। ये अवस्थाएँ अल्पकालिक होती हैं और साधारणतः इनके लिये चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती। घोर संताप या खिन्नता का उन्माद, मनोवैकल्य, संभ्रमात्मक विक्षिप्तता तथा उन्मत्तता भी अनिद्रा उत्पन्न करती हैं। वृद्धावस्था या अधेड़ अवस्था में मानसिक अवसाद के अवसरों पर, कुछ लोगों की, नींद बहुत पहले ही खुल जाती है और फिर नहीं आती, जिससे व्यक्ति चिंतित और अधीर हो जाता है। ऐसी अवस्थाओं में विद्युत् झटकों (इलेक्ट्रोशॉक) की चिकित्सा बहुत उपयोगी होती है। इससे किसी प्रकार की हानि होने की कोई आशंका नहीं रहती। पीड़ा अथवा किसी रोग से उत्पन्न अनिद्रा के लिये अवश्य ही मूल कारण को ठीक करना आवश्यक है। अन्य प्रकार की अनिद्रा की चिकित्सा संमोहक और शामक (सेडेटिव) ओषधियों से अथवा मनोवैज्ञानिक और शारीरिक सुविधाओं के अनुसार की जाती है।

विकृत चेतना और उन्माद के रोगियों में एक विशेष लक्षण यह होता है कि अकारण ही उन्हें चिंता बनी रहती है। बुढ़ापे तथा अन्य कारणों से मस्तिष्क-अवनति में, अच्छी नींद आने पर भी लोग बहुधा शिकायत करते हैं कि नींद आई ही नहीं। [दि० सिं०]

अनिरुद्ध वृष्णिवंशीय कृष्ण के नाती और प्रद्युम्न के पुत्र। इनके रूप पर मोहित होकर असुरों की राजकुमारी उषा, जो बाण की कन्या थी, इन्हें अपनी राजधानी शोणितपुर उठा ले गई। कृष्ण और बलराम बाण को युद्ध में परास्त कर अनिरुद्ध को उषा सहित द्वारिका ले आए।

[चं० म०]

अनिर्धार्यता अनिर्धार्यता सिद्धांत बताता है कि किसी कण की स्थिति और वेग को एक साथ ही इच्छानुसार सूक्ष्मता से बताना असंभव है। यह अवश्य ठीक है कि इन दोनों में से किसी एक को हम जितनी भी सूक्ष्मता से चाहें उतनी सूक्ष्मता से व्यक्त कर सकते हैं, परंतु एक में जितनी ही अधिक सूक्ष्मता रहेगी, दूसरे में उतनी ही कम। इस सिद्धांत को वर्नर हाइसनबर्ग ने १९२७ में उपस्थित किया। क्वांटम यांत्रिकी (क्वांटम मिकैनिक्स) में यह अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्धांत है। इसे अधिक विस्तार से यों समझाया जा सकता है:

क्वांटम सिद्धांत के अनुसार द्रव्य के गंभीर वर्णन के लिये उसको कण तथा तरंग दोनों मानना आवश्यक है (**क्वांटम यांत्रिकी** देखें)। साधारणतया ये दोनों वर्णन एक दूसरे से मेल नहीं खाते, इसलिये क्वांटमवाद में इन दोनों विपरीत चित्रों के एक साथ उपयोग के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि पुरातन विचारशैली में कुछ परिवर्तन किया जाय। एक दिशा, जिसमें परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है, नाप-प्रक्रम (मेज़हरमेंट प्रोसेस) का सिद्धांत है। पुरातनवाद के आधार पर हम किन्हीं भी दो गति-चरों (डाइनैमिकल वेरिएबुल्स) को असीमित यथार्थता (ऐक्युरेसी) से नाप सकते हैं। क्वांटम यांत्रिकी में इस बात को त्याग देना पड़ता है; केवल वही चर एक साथ असीमित यथार्थता से नापे जा सकते हैं जिनको निरूपित करनेवाले कारक आपस में दिक्परिवर्तित होते हों; यदि वे दिक्परिवर्तित नहीं हो सकते तो उनको एक साथ नापने पर दोनों के परिमाण में अनिश्चितता आ जायगी।

कणों का विशिष्ट लक्षण एक छोटे से आयतन में स्थित होना है, और तरंग के विवरण के लिये उसका तरंगदैर्घ्य (वेव लेंग्थ) जानना आवश्यक है। तरंगदैर्घ्य जितना ही अधिक निर्धारित होगा तरंग आकाश में उतनी ही अधिक फैली हुई होगी। यदि तरंगदैर्घ्य बिल्कुल यथार्थ दिया हुआ हो तो तरंग सारे आकाश में एक समान विस्तृत होगी। तब कण समस्त आकाश में एक सी प्रायिकता (प्रॉबेबिलिटी) से कहीं भी हो सकता है, क्योंकि तरंगदैर्घ्य का ज्ञान कणसंवेग (मोमेंटम) के ज्ञान के तुल्य है ['क्वांटम यांत्रिकी', समी० (३)]। उपर्युक्त तर्क से विदित है कि यदि किसी कण का संवेग पूर्णतया निर्धारित हो तो उसकी स्थिति पूर्णतया अनिश्चित हो जायगी। विलोमतः, यदि कण एक बिंदु पर स्थित है तो उसका तरंगों द्वारा विवरण देने के लिये ऋण अनंत से लेकर धन अनंत तक सारे तरंगदैर्घ्यों का एक ही भार गुणनखंड के साथ प्रयोग करना पड़ेगा; तदनुसार कण का तरंगदैर्घ्य, अथवा तुल्यतया संवेग, बिल्कुल अनिश्चित हो जायगा। अतः यदि कण की निश्चित स्थिति ज्ञात हो तो उसके संवेग का ज्ञान संभव नहीं है।

कण की निश्चित स्थिति की अवस्था और उसकी निश्चित संवेग की अवस्था के बीच और भी अनेक अवस्थाएँ चित्रित की जा सकती हैं, जिनमें ये बातें कुछ अनिश्चितता के साथ दी हुई हों। हाइसनबर्ग ने दिखाया कि यदि किसी कण की स्थिति में "अनिश्चितता" $\triangle$**य** हो और उसके संवेग में "अनिश्चितता" $\triangle$**व** हो, तो दोनों में सदा यह संबंध होगा:

$$\triangle य \triangle व \gtrsim ह;$$

यहाँ ह = हा/२π; हा प्लांक का अचर है जिसका संख्यामान ६.६×१०^{-२७} अर्ग-सेकंड है। जिस प्रकार आपेक्षिकता (रिलेटिविटी) सिद्धांत ने घटनाओं के एककालीन होने की धारणा को बदल दिया, उसी प्रकार क्वांटम-वाद ने दो चरों को एक साथ नाप सकने की धारणा में परिवर्तन कर दिया।

अनिश्चितता सिद्धांत सब नियमानुसार संबद्ध (**कैनॉनिकैली कॉनजुगेट**) चरों के बीच लागू होता है। क्वांटम यांत्रिकी के व्यापक सिद्धांत के अनुसार दो राशियाँ तभी साथ साथ नापी जा सकती हैं, जब उन्हें निरूपित करनेवाले

कारक आपस में दिक्परिवर्तित होते हों। यदि वे दिक्परिवर्तित नहीं होते तो उनकी प्रबंधिनियाँ (मैट्रिसेज) एक साथ विकर्ण नहीं बनाई जा सकतीं ["क्वांटम यांत्रिकी", समी० (४३) के बाद का परिच्छेद देखें]। इसका भौतिक अर्थ यह है कि एक राशि की नाप दूसरी राशि की नाप के साथ व्यतिक्रम (इंटरफ़ियर) करेगी। किसी कण की स्थिति, **य**, और उसके संवेग, **व**, को निरूपित करनेवाले कारकों का दिक्परिवर्तन नियम यह होता है:

$$यव - वय = अह, \qquad (२)$$

जहाँ $अ = \sqrt{(-१)}$ [देखें 'क्वांटम यांत्रिकी', समी० (४२ ग)]

इससे स्पष्ट है कि **य** और **व** को एक साथ नाप सकना संभव नहीं है।

उपर्युक्त विचारपद्धति पर क्वांटम यांत्रिकी के गहन प्रभाव का विश्लेषण नील्स बोर ने अपने बहुत से लेखों और व्याख्यानों में किया है (संदर्भ ग्रंथ देखें)। उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि अनिश्चितता सिद्धांत का रूढ़ कारण परमाणु जगत् के पदार्थों और नापने के यंत्रों के बीच अंतर-प्रभाव (इंटरैक्शन) को दूर कर सकने की असंभवता है। इसके बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं। यदि हम **य**-अक्ष पर किसी इलेक्ट्रान की स्थिति सूक्ष्मदर्शी से जानना चाहें तो उसे देखने के लिये हमें प्रकाश का प्रयोग करना पड़ेगा। विवर्तन (डिफ़्रैक्शन) के प्रभावों के कारण हम इस इलेक्ट्रान की स्थिति को

$$\triangle य \approx \frac{दं}{ज्या\ अ}$$

त्रुटि के साथ ही जान सकते हैं। यहाँ **दं** प्रकाश का तरंगदैर्घ्य है और इलेक्ट्रान **प** पर ताल (लेंज) के संमुख कोण २**अ** बनता है (चित्र देखें)। प्रकाशकण का संवेग ह/**दं** है और, यदि वह इलेक्ट्रान से प्रकीर्णित (स्कैटर) होकर अपनी आदि दशा से कोण **आ** बनाए तो वह काम्प्टन प्रभाव के अनुसार इलेक्ट्रान को संवेग $व_य \approx ह/दं$ ज्या **आ** देगा। ताल-व्यास की सीमा तक प्रकाश कहीं से भी सूक्ष्मदर्शी के भीतर आ सकता है; अतः **आ** का मान कोण **अ** की सीमा तक कुछ भी हो सकता है। फलस्वरूप इलेक्ट्रान का संवेग भी

$$\triangle व_य \approx (ह/दं)\ ज्या\ अ \qquad (४)$$

के भीतर अनिश्चित हो जायगा। (३) और (४) का गुणनफल अनिश्चितता-सिद्धांत (१) के अनुकूल है।

आइनस्टाइन द्वारा क्वांटम यांत्रिकी में प्रायिकता के उपयोग की तीव्र आलोचना ने नाप-प्रक्रम के सिद्धांत का स्पष्टीकरण करने में बहुत प्रेरणा दी है (संदर्भ ग्रंथ देखें)। इन वादविवादों ने भौतिकी में विचार-प्रयोगों (थॉट एक्सपेरिमेंट) को एक विशेष स्थान दिया है। पर नाप-प्रक्रम के सिद्धांत अब भी पूर्णतया संतोषजनक नहीं हैं और उनके गंभीर अध्ययन की अभी बहुत आवश्यकता है।

अनिर्धार्यता सिद्धांत का यह सूत्र निरंतर स्मरणीय है कि नए अनुभवों के आधार पर हमें अपनी विचारपद्धति बदलने को सदा तैयार रहना चाहिए। नील्स बोर ने कई बार बताया है कि संसार में अनिर्धार्यता की स्थिति केवल भौतिकी में ही नहीं, मनुष्य के अन्यान्य अनुभवक्षेत्रों में भी पाई जाती है; जैसे मनोविज्ञान में। इसलिये इन क्षेत्रों की व्याख्या करते समय क्वांटम और अनिर्धार्यता सिद्धांतों का अनुकरण फलदायी हो सकता है।

सं०ग्रं०—एन० बोर : लेक्चर ऐट दि इंटरनैशनल फ़िज़िकल कांग्रेस, कोमो, १९२७, पुनः प्रकाशित, 'नेचर' में, **१२१**, ७८ और ५८० (१९२८); सॉल्वे फ़िज़िक्स कांग्रेसेज़, ब्रुसेल्ज़, १९२७, १९३०, १९३३; इंटरनैशनल कांग्रेस ऑन लाइट थेरापी, कोपेनहेगेन, १९३२, पुनः प्रकाशित, 'नेचर' में, **१३१**, ४२१, ४५७ (१९३३); फ़ि० रि०, **४८**, ६९६ (१९३५); एरकेंटनिस, **६**, २९३ (१९३७); फ़िलॉसॉफ़ी ऑव साएंस, **४**, २८९ (१९३७); न्यू थियोरीज़ इन फ़िज़िक्स, पैरिस (१९३८); ऐड्रेस ऐट दि न्यूटन टरसेंटेनरी सेलिब्रेशन, दि रॉयल सोसायटी, लंदन (जुलाई, १९४६); लेक्चर ऐट दि फ़िलाडेलफ़िया सिंपोज़ियम ऑव दि नैशनल अकैडेमी ऑव साएंसेज़, अक्टूबर २१, १९४६, पुनः प्रकाशित प्रो० ऐ० फ़िल० सो०, **९१**, १३७ (१९४७); डाएलेक्टिका, **१**, ३१२ (१९४८); साएंस, **१११**, ५१ (१९५०); प्रो० रिडबर्ग सेंटे नियल कॉन्फ़रेन्स ऑव ऐटॉमिक स्पेक्ट्रॉस्कोपी, क्यूनिगलिखे फ़िज़िओग्रैफ़िस्का साल्सकैपेट्स हैंडलिगर, एन० एफ़०, जिल्द ६५, सं० २१; यूनिवर्सिटाज़, **६**, ५४७ (१९५१); डिस्कशन्स विद आइन्स्टाइन ऑन एपिस्टमॉलॉजिकल प्रॉब्लेम्स इन ऐटॉमिक फ़िज़िक्स; ऐल्बर्ट आइन्स्टाइन, फ़िलॉसॉफ़र साएंटिस्ट; पी० ए० शिल्प (संपादक), ट्यूडर पब्लिशिंग कं०, न्यूयार्क, द्वितीय संस्करण (१९५१); इंजेनिरेन, संख्या ४१, ८१० (अक्टूबर, १९५५); साएंटिफ़िक मंथली, **८२**, ८५ (१९५६); डेडालस, प्रोसीडिंग्स ऑव दि अकडमी ऑव आर्ट्स ऐंड साएंसेज़, **८७**, १६४ (१९५८); ऐल्बर्ट आइन्सटाइन, बी० पोडोल्स्की तथा एन० रोज़ेन, फ़ि० रि०, **४७**, ७७७ (१९३५); ऐल्बर्ट आइन्सटाइन, जरनल फ़्रैंकलिन इन्स्टिट्यूट, **२२१**, ३४९ (१९३६); डब्ल्यू० हाइसेनबर्ग, ज़ेड० फ़िज़ीक, **४३**, १७२ (१९२७); दि फ़िज़िकल प्रिन्सिपल्स ऑव क्वांटम मिकैनिक्स (यूनिवर्सिटी ऑव शिकागो, १९३०)। [वा०]

अनिवार्य भरती राष्ट्र के एक विशेष आयुवर्ग के व्यक्तियों को किसी भी निश्चित संख्या में विधान के बल पर सैनिक बनाने के लिये बाध्य करना अनिवार्य भरती (अंग्रेजी में कॉन्स-क्रिप्शन) कहलाता है। जब किसी राष्ट्र को युद्ध की आशंका या इच्छा होती है तो उसे शीघ्रातिशीघ्र अपनी सैन्य शक्ति बढ़ानी होती है। यदि स्वेच्छा से लोग पर्याप्त मात्रा में भरती न हुए तो विशेष राजकीय आज्ञा से राष्ट्र के युवावर्ग को भरती के लिये बाध्य किया जाता है। साधारणतः ऐसी परिस्थिति कम जनसंख्यावाले राष्ट्रों में ही उत्पन्न होती है। अधिक जनसख्यावाले राष्ट्रों में स्वेच्छा से ही अधिक संख्या में लोग भरती हो जाते हैं और अनिवार्य भरती के साधनों का प्रयोग नहीं करना पड़ता।

अनिवार्य भरती का सिद्धांत अति प्राचीन है। भारतवर्ष में क्षत्रिय वर्ग अवसर पड़ने पर अस्त्रशस्त्र धारण करने के लिये धर्मबद्ध था। यूनान तथा रोम के सभी स्वस्थ व्यक्ति युद्ध के लिये कर्त्तव्यबद्ध समझे जाते थे। "अनिवार्य भरती" की प्रथा सर्वप्रथम फ्रांस में सन् १७९८ ई० में चली। इसी वर्ष फ्रांस में अनिवार्य भरती का सिद्धांत विधान के बल पर स्थायी रूप से लागू हुआ। इसका श्रेय जनरल कोनारडिन को है। इस कानून के प्रचलित होने से फ्रांसीसी राज्य के पास एक ऐसी शक्ति आ गई जिससे वह इच्छानुसार अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ा सकता था। नेपोलियन की विजयों का अधिकांश श्रेय इसी नीति को है। फ्रांस की इस क्षमता से प्रेरित होकर उसने सन् १८०५ ई० में गर्व से कहा था : "मैं तीस हजार नवीन सैनिकों को प्रति मास युद्धक्षेत्र में झोंक सकता हूँ।" आवश्यकतावश और फ्रांस की क्षमता से प्रभावित होकर पश्चिम के सभी राष्ट्रों ने धीरे धीरे इस नीति को अपना लिया।

अनिवार्य भरती का प्रचलन फ्रांस में सर्वप्रथम अधिकांश लोगों की इच्छा के विरुद्ध हुआ था। फिर भी यह सफल रहा और धीरे धीरे कानून के रूप में परिणत हो गया, क्योंकि परिस्थिति और वातावरण इसके अनुकूल थे। अनिवार्य भरती संबंधी विधान बनने के पहले सैनिक जीवन के लिये आकर्षण कम था और सन् १७८९ की फ्रांसीसी क्रांति के समय तक पश्चिमी देशों की सेनाओं का काफी पतन हो चुका था। इस क्रांति में राजकीय सेनाएँ कट पिट गई और प्रश्न उठा कि राष्ट्र की रक्षा कैसे हो। इस क्रांति का सिद्धांत था कि राष्ट्र के सभी व्यक्ति बराबर है, इसलिये नियम बनाया गया कि जो स्वेच्छा से सेना में भरती होंगे वे तो होंगे ही, उनके अतिरिक्त १८ और ४० वर्ष के बीच की आयु के सभी अविवाहित पुरुष सेना में अनिवार्य रूप से भरती किए जा सकेंगे। शेष व्यक्ति सेना में तो नहीं भरती किए जायँगे, परंतु वे अपने अपने नगरों की रक्षा के लिये राष्ट्रीय संरक्षक का कार्य करेंगे। प्रारंभ में अधिकांश जनमत के विरुद्ध होने के कारण इसमें किसी प्रकार की सख्ती नहीं की गई। इसका परिणाम यह हुआ कि जितने सैनिक अपेक्षित

थे उतने भरती नहीं किए जा सके। इसलिये जुलाई, सन् १७९२ में "फ्रांस खतरे में" का नारा उठाए जाने पर प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति के लिये सेना में भरती होना अनिवार्य हो गया। किंतु यह केवल सैद्धांतिक विचार ही बना रहा, क्योंकि तब तक इस कानून को लागू करने की कोई सुचारु व्यवस्था नहीं बन सकी थी। जितने सैनिकों की आवश्यकता थी उनके आधे ही भरती हुए।

तब फ्रांस के युद्धमंत्री श्री कारनो ने अनिवार्य भरती की एक व्यवस्था बनाई जिसके अनुसार १८ वर्ष से २५ वर्ष की आयु तक के युवा व्यक्ति ही भरती किए गए। यह व्यवस्था उसी वर्ष कानून बना दी गई। इससे अत्यधिक सफलता मिली। इस सफलता का मुख्य कारण यह था कि इस आयुवर्ग के युवक न तो अधिक थे और न वे राजनीतिक वा सामाजिक क्षेत्र में इतने प्रभावशाली ही थे कि कानून के विरुद्ध कुछ कर सकते। इसके अतिरिक्त कुछ परिस्थितियां और भी थीं जिनसे सैनिक जीवन महत्व पा गया था। देश में अकाल पड़ा हुआ था, राजनीतिक अत्याचार और हत्याएँ बढ़ रही थीं। इनसे बचने का सरल उपाय सेना में भरती हो जाना ही था। फलतः सन् १७९४ ई० में फ्रांस की सैनिक संख्या ७,७०,००० से भी ऊपर हो गई। नेपोलियन की सन् १७९६ की सफलता का प्रमुख कारण यही कानून था।

क्रांति और बाह्य आक्रमण का भय दोनों ऐसी परिस्थितियाँ थीं जो फ्रांस के उत्साह को बनाए रहीं। किंतु नेपोलियन के इटलीवाले सफल युद्धों के बाद शांति का कुछ अवसर मिला और तब लोगों को अनिवार्य भरती की कठोरता का आभास होने लगा। इस प्रथा के विरुद्ध युक्तिसंगत आलोचनाएँ प्रारंभ होने लगी। कुछ लोगों का कहना था कि इस प्रथा द्वारा मानव शक्ति का, जो राष्ट्र की धनवृद्धि का प्रमुख साधन है, दुरुपयोग होता है। कुछ लोगों का कहना था कि किसी मनुष्य की प्रकृति तथा रुचि के अनुसार ही उसका व्यवसाय होना चाहिए। अनिवार्य भरती से रुचि और प्रकृति के विरुद्ध होते हुए भी मनुष्य सैनिक कार्य के लिये बाध्य किया जाता है। दूसरों का कहना था कि कानून की सहायता से सेना की वृद्धि तो की जा सकती है, पर सैनिकों को पूर्ण मनोयोग और शक्ति से लड़ने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता। इन सब विरोधपूर्ण बातों के होते हुए भी, सन् १७९८ में अनिवार्य भरती का कानून स्थायी रूप से मान लिया गया और "अनिवार्य भरती" शब्द का प्रथम बार निर्माण हुआ। जनमत को देखते हुए कानून में कुछ संशोधन कर दिए गए, जिसके फलस्वरूप पहले से कम सख्ती से काम लेना प्रारंभ हुआ। धन देकर, या अपने स्थान पर दूसरे व्यक्ति को नियुक्त कर देने से, अनिवार्य भरती से छुटकारा पाया जा सकता था।

नेपोलियन के हारने के बाद प्रशिया (जरमनी) में अनिवार्य भरती का नियम अधिक दृढ़ता से लागू किया गया। सबके लिये तीन वर्षों तक सैनिक शिक्षा लेना अनिवार्य हो गया। इनमें से कुशाग्र बुद्धिवाले व्यक्ति अफसर बनते थे। इस प्रकार वहाँ साधारण सैनिक और कुशल नायकों तथा सेनापतियों का अतुलित भांडार सदा तैयार रहता था। परंतु पीछे सभी देशों में अनिवार्य भरती का मूल्य घटने लगा, क्योंकि युद्ध के नए नए यंत्र निकलन लग और बड़ी सेनाओं के बदले यंत्रों से सुसज्जित छोटी सेनाएँ अधिक वांछनीय हो गई।

१९१४-१८ के प्रथम विश्वयुद्ध में दोनों ओर अनिवार्य भरती चल रही थी। इस युद्ध में एक करोड़ से अधिक व्यक्ति मारे गए। सबने अनुभव किया कि कुशल कारीगरों अथवा बुद्धिमान वैज्ञानिकों को साधारण सैनिकों के समान युद्ध में झोंक देना मूर्खता है। वे कारखानों और प्रयोगशालाओं में रहकर विजयप्राप्ति में अधिक सहायता पहुँचा सकते थे।

द्वितीय विश्वयुद्ध में तो यह अनुभव हुआ कि बच्चे, बूढ़े सभी पर बम पड़ सकते हैं, और प्रायः सभी किसी न किसी रूप में युद्ध की अनुकूल प्रगति में हाथ बँटा सकते हैं। इस युद्ध के पहले से ही इंग्लैंड में सब युवकों को छः महीने की अनिवार्य सैनिक शिक्षा लेनी पड़ती थी। इस युद्ध में अपने यांत्रिक बल से जर्मनी ने पोलैंड को तीन सप्ताह में, नारवे को प्रायः दो दिन में, हालैंड को पाँच दिन में, बेल्जियम को १८ दिन में और क्रीट को १० दिन में जीता। यह सब टैंक, वायुयान, मोटर लारी आदि के कारण संभव हो सका। अंत में इंग्लैंड तथा उसके मित्रराष्ट्रों की विजय का श्रेय सेना में अनिवार्य भरती को मिलना चाहिए।

अमरीका में १७७२ में और फिर १८१२ में अनिवार्य भरती आरंभ की गई, परंतु विशेष सफलता नहीं मिली। उन दिनों इसकी बहुल आवश्यकता भी नहीं थी। १८६२ के घरेलू युद्ध में भी अनिवार्य भरती सफल ही रही। प्रथम विश्वयुद्ध में अनिवार्य भरती के लिये १९१७ में विधान बना, जिससे २१ से लेकर ३० वर्ष तक के पुरुषों में से कोई भी अनिवार्य रूप से भरती किया जा सकता था। इस प्रकार लगभग १३ लाख व्यक्ति भरती किए गए। उन्हीं लोगों को छट थी जो विधान सभा के सदस्य या प्रांतों तथा जिलों आदि के अधिशासक या न्यायाधीश अथवा गिरजाघरों के पुरोहित थे। जिन लोगों को अपने अंतःकरण के कारण आपत्ति थी, उनको लड़ाई पर न भेजकर युद्ध संबंधी कोई अन्य काम दिया जाता था। द्वितीय विश्वयुद्ध में भी लगभग इसी प्रकार की अनिवार्य भरती हुई थी और १९४२ के अंत तक चार पाँच लाख व्यक्ति हर महीने भरती किए जाते थे।

सं०ग्रं०—एफ़० एन० मॉड : वालंटरी वर्सस कंपल्सरी सर्विस (१८९१); ई० एम० अर्ल इत्यादि (संपादक) : मेकर्स ऑव माडर्न स्ट्रैटेजी (१९४३); अमेरिकन अकैडेमी ऑव पॉलिटिक्स ऐंड सायंस : यूनिवर्सल मिलिटरी ट्रेनिंग ऐंड नेशनल सिक्योरिटी (१९४५)। [आ० सिं० स०]

अनिषेक जनन अधिकांश जंतुओं में प्रजनन की क्रिया के लिये संसेचन (वीर्य का अंड से मिलना) अनिवार्य है, परंतु कुछ ऐसे भी जंतु हैं जिनमें बिना संसेचन के प्रजनन हो जाता है, इसको अनिषेक जनन कहते हैं। कुछ मछलियों को छोड़कर किसी भी पृष्ठवंशी में अनिषेक जनन नहीं पाया जाता और न कुछ बड़े बड़े कीटगण, जैसे व्याधपतंगगण (ओडोनेटा) तथा भिन्नपक्षानुगण (हेटरोप्टरा) में। कुछ ऐसे भी जंतु हैं जिनमें प्रजनन सर्वथा (अथवा लगभग सर्वथा) अनिषेक जनन द्वारा ही होता है, जैसे द्विजननिक विद्धपत्रा (डाइजनेटिक ट्रेमैडोड्स), किरीट-वर्ग (रोटिफर्स), जल-पिशु (वाटर फ़्ली) तथा द्रुयूका (ऐफ़िड) मे। शल्किपक्षा (लेपिडोप्टरा) में अनिषेक जनन बिरले ही मिलता है, किंतु स्यूनशलभ-वंश (सिकिड्स) की कई एक जातियों में पाया जाता है। घुनों के कुछ अनुवंशों में भी अनिषेक जनन प्रायः पाया जाता है।

प्रजनन, लिंगनिश्चयन, तथा कोशिकातत्व (साइटॉलोजी) की दृष्टि से कई प्रकार के अनिषेक जननतंत्र पहचाने जा सकते हैं। प्रजनन की दृष्टि से अनिषेक जनन का निम्नलिखित वर्गीकरण हो सकता है :

अ. आकस्मिक अनिषेक जनन में असंसिक्त अंडा कभी कभी विकसित हो जाता है।

आ. सामान्य अनिषेक जनन निम्नलिखित प्रकारों का होता है :

१. अनिवार्य अनिषेक जनन में अंडा सर्वदा बिना संसेचन के विकसित होता है :

क. पूर्ण अनिषेक जनन में सब पीढ़ी के व्यक्तियों में अनिषेक जनन पाया जाता है।

ख. चक्रिक अनिषेक जनन में एक अथवा अधिक अनिषेक जनित पीढ़ियों के बाद एक द्विलिंग पीढ़ी आती रहती है।

२. वैकल्पिक अनिषेक जनन में अंडा या तो संसिक्त होकर विकसित होता है या अनिषेक जनन द्वारा।

लिंगनिश्चय के विचार से अनिषेक जनन तीन प्रकार के होते हैं :

क. पुंजनन (ऐर्निनॉटोकी) में असंसिक्त अंडे अनिषेक जनन द्वारा विकसित होकर नर जंतु बनते हैं। संसिक्त अंडे मादा जंतु बनते हैं।

ख. स्त्रीजनन (थेलिओटोकी) में असंसिक्त अंडे विकसित होकर मादा जंतु बनते हैं।

ग. उभयजनन (डेंटरोटोकी, ऐंफ़िटोकी) में असंसिक्त अंडे विकसित होकर कुछ नर और कुछ मादा बनते हैं।

कोशिकातत्व की दृष्टि से अनिषेक जनन कई प्रकार का होता है :

क. अर्धक अनिषेक जनन में अनिषेक जनन द्वारा उत्पन्न जंतु उन अंडोंसे विकसित होते हैं जिनमें केंद्रक सूत्रों (क्रोमोसोमों) का ह्रास होता है और केंद्रक सूत्रों की मात्रा आधी हो जाती है।

ख तनू अनिषेक जनन मे अनिषेक जनन द्वारा उत्पन्न जतुओ मे केंद्रकसूत्रों की सख्या द्विगुण अथवा बहुगुण होती है। यह दो विधि से होता है

(१) **स्वतस्संसेचक** (ऑटोमिक्टिक) अनिषेक जनन मे नियमित रूप से केंद्रक सूत्रों का युग्मानुबध (सिनैप्सिस) तथा ह्रास होता है और केंद्रक सूत्रों की सख्या अडो मे आधी हो जाती है। परतु केंद्रक सूत्रों की मात्रा, दो अर्धकेंद्रको (न्यूक्लिआई) के समेलन (फ्यूज़्हन) से, पुन स्थापित (रेस्टिट्यूटेड) केंद्रक के निर्माण अथवा अतर्भाजन (एडोमाइटोसिस) द्वारा, पुन बढ जाती है।

(२) **अमैथुनी** (एपोमिक्टिक) अनिषेक जनन मे न तो केंद्रक सूत्रों की मात्रा में ह्रास होता है और न अर्धक अनिषेक जनन मे अडो मे केंद्रक सूत्रों का युग्मानुबध और ह्रास होता है। ऐसे अडो का यदि ससेचन होता है तो वे विकसित होकर मादा बन जाते है और यदि ससेचन नही होता तो वे नर बनते है। इस कारण एक ही मादा के अडे विकसित होकर नर भी बन सकते है और मादा भी। अर्धक अनिषेक जनन का फल इस कारण सदा ही वैकल्पिक एव पुजन न (एरिनॉटोकस) होता है।

[मु० ला० श्री०]

अनीश्वरवाद

दर्शन का वह सिद्वात जो जगत् की सृष्टि करने-वाले, उसका सचालन और नियत्रण करनेवाले किसी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नही करता (दे० ईश्वरवाद)। अनीश्वरवाद के अनुसार जगत् स्वयसचालित और स्वयशासित है। ईश्वरवादी ईश्वर के अस्तित्व के लिये जो प्रमाण देते है अनीश्वरवादी उन सबकी आलोचना करके उनको काट देते है और ससारगत दोषो को बतलाकर निम्नलिखित प्रकार के तर्कों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते है कि ऐसे ससार का रचनेवाला ईश्वर नही हो सकता।

ईश्वरवादी कहते है कि मनुष्य के मन मे ईश्वरप्रत्यय जन्म से ही है और वह स्वयसिद्ध एव अनिवार्य है। यह ईश्वर के अस्तित्व का द्योतक है। इसके उत्तर मे अनीश्वरवादी कहते है कि ईश्वरभावना सभी मनुष्यो मे अनिवार्य रूप से नही पाई जाती और यदि पाई भी जाती हो तो केवल मन की भावना से बाहरी वस्तुओ का अस्तित्व सिद्ध नही होता। मन की बहुत सी धारणाओ को विज्ञान ने असिद्ध प्रमाणित कर दिया है।

जगत् मे सभी वस्तुओं का कारण होता है। बिना कारण के कोई कार्य नही होता। कारण दो प्रकार के होते है—एक उपादान, जिसके द्वारा कोई वस्तु बनती है, और दूसरा निमित्त, जो उसको बनाता है। ईश्वरवादी कहते है कि घट, पट और घडी की भाँति समस्त जगत् भी एक कार्य (कृत घटना) है अतएव इसके भी उपादान और निमित्त कारण होने चाहिए। कुछ लोग ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण और कुछ लोग निमित्त और उपादान दोनो ही कारण मानते है। इस युक्ति के उत्तर मे अनीश्वरवादी कहते है कि इसका हमारे पास कोई प्रमाण नही है कि घट, पट और घडी की भाँति समस्त जगत् भी किसी समय उत्पन्न और आरभ हुआ था। इसका प्रवाह अनादि है, अत इसके स्रष्टा और उपादान कारण को ढूँढने की आवश्यकता नही है। यदि जगत् का स्रष्टा कोई ईश्वर मान लिया जाय तो अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडेगा, यथा, उसका सृष्टि करने मे क्या प्रयोजन था? भौतिक सृष्टि केवल मानसिक अथवा आध्यात्मिक सत्ता कैसे कर सकती है—कैसे इसका उपादान हो सकती है? यदि इसका उपादान कोई भौतिक पदार्थ मान भी लिया जाय तो वह उसका नियत्रण कैसे कर सकता है? वह स्वय भौतिक शरीर अथवा उपकरणो की सहायता से कार्य करता है अथवा बिना उसकी सहायता के? सृष्टि के हुए बिना वे उपकरण और वह भौतिक शरीर कहाँ से आए? ऐसी सृष्टि रचने से ईश्वर का, जिसको उसके भक्त सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और कल्याणकारी मानते है, क्या प्रयोजन है, जिसमे जीवन का अत मरण में, सुख का अत दुख मे, सयोग का वियोग मे और उन्नति का अवनति मे हो? इस दुखमय सृष्टि को बनाकर, जहाँ जीव को खाकर जीव जीता है और जहाँ सब प्राणी एक दूसरे के शत्रु है और आपस मे सब प्राणियो मे संघर्ष होता है भला क्या लाभ हुआ है? इस जगत् की दुर्दशा का वर्णन योगवासिष्ठ के एक श्लोक मे भली भाँति मिलता है, जिसका आशय निम्नलिखित है—

कौन सा ऐसा ज्ञान है जिसमे त्रुटियाँ न हो, कौन सी ऐसी दिशा है जहाँ दुखो की अग्नि प्रज्वलित न हो, कौन सी ऐसी वस्तु उत्पन्न होती है जो नष्ट होनेवाली न हो, कौन सा ऐसा व्यवहार है जो छलकपट से रहित हो? ऐसे ससार का रचनेवाला सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और कल्याणकारी ईश्वर कैसे हो सकता है?

ईश्वरवादी एक युक्ति यह दिया करते है कि इस भौतिक ससार मे सभी वस्तुओ के अतर्गत, और समस्त सृष्टि मे, नियम और उद्देश्यसार्थकता पाई जाती है। यह बात इसकी द्योतक है कि इसका सचालन करनेवाला कोई बुद्धिमान् ईश्वर है। इस युक्ति का अनीश्वरवाद इस प्रकार खडन करता है कि ससार मे बहुत सी घटनाएँ ऐसी भी होती है जिनका कोई उद्देश्य, अथवा कल्याणकारी उद्देश्य नही जान पडता, यथा अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल, बाढ, आग लग जाना, अकालमृत्यु, जरा, व्याधियाँ और बहुत से हिसक और दुष्ट प्राणी। ससार मे जितने नियम और ऐक्य दृष्टिगोचर होते है उतनी ही अनियमितता और विरोध भी दिखाई पडते है। इनका कारण ढूँढना उतना ही आवश्यक है जितना नियमो और ऐक्य का। जैसे, समाज मे सभी लोगो को राजा या राज्यप्रबध एक दूसरे के प्रति व्यवहार मे नियत्रित रखता है वैसे ही ससार के सभी प्राणियो के ऊपर शासन करनेवाला और उनको पाप और पुण्य के लिये यातना, दड और पुरस्कार देनेवाले ईश्वर की आवश्यकता है। इसके उत्तर मे अनीश्वरवादी यह कहता है कि ससार मे प्राकृतिक नियमो के अतिरिक्त और कोई नियम नही दिखाई पडते। पाप और पुण्य का भेद मिथ्या है जो मनुष्य ने अपने मन मे बना लिया है। यहा पर सब क्रियाओ की प्रतिक्रियाएँ होती रहती है और सब कामो का लेखा बराबर हो जाता है। इसके लिये किसी और नियामक तथा शासक की आवश्यकता नही है। यदि पाप और पुण्य के लिये दड और पुरस्कार का प्रबध होता तथा उनको रोकने और करानेवाला कोई ईश्वर होता, और पुण्यात्माओ की रक्षा हुआ करती तथा पापात्माओ को दड मिला करता तो ईसामसीह और गाधी जैसे पुण्यात्माओं की नृशस हत्या न हो पाती।

इस प्रकार अनीश्वरवाद ईश्वरवादी युक्तियो का खडन करता है और यहाँ तक कह देता है कि ऐसे ससार की सृष्टि करनेवाला यदि कोई माना जाय तो बुद्धिमान् और कल्याणकारी ईश्वर को नही, दुष्ट और मूर्ख शैतान को ही मानना पडेगा।

पाश्चात्य दार्शनिको मे अनेक अनीश्वरवादी हो गए है, और है। भारत मे जैन, बौद्ध, चार्वाक, साख्य और पूर्वमीमासा दर्शन अनीश्वरवादी दर्शन है। इन दर्शनो मे दी गई युक्तियो का सुदर सकलन हरिभद्र सूरि लिखित षड्दर्शन समुच्चय के ऊपर गुणरत्न के लिखे हुए भाष्य, कुमारिलभट्ट के श्लोकवार्तिक, और रामानुजाचार्य के ब्रह्मसूत्र पर लिखे गए श्रीभाष्य मे पाया जाता है।

सं०ग्रं०—हरिभद्र सूरि षड्दर्शन समुच्चय (गुणरत्न, की टीका), रामानुज श्रीभाष्य वेदातसूत्री (सूत्र प्रथम, १-३), हैकेल दि रिडिल ऑव दि यूनिवर्स, हॉकिंग टाइप्स ऑफ फिलासफी, नेचुरलिज्म, इसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐड एथिक्स (हेस्टिग्ज द्वारा सपादित) मे 'अथीज़म' पर लेख। [भी० ला० आ०]

अनीस, मीर बबर अली

(१८०३-१८७४)—फैजाबाद मे जन्म लिया। इनके पूर्वजो मे छ सात पीढियो से अच्छे कवि होते आए थे। अनीस ने आरभ मे गजले लिखी और अपने पिता से सलाह लिया। पिता प्रसन्न तो हुए, पर कहने लगे कि ऐसी कविता तो सब करते है, तुम ऐसे विषयो पर लिखो कि ईश्वर भी प्रसन्न हो। अनीस ने तभी से कर्बला की दुर्घटना और इमाम हुसैन के बलिदान पर लिखना आरभ कर दिया। उस समय अवध मे शिया नवाबो का राज था, इसलिये शोकपूर्ण कविताओ (मरसियो) की उन्नति हो रही थी। अनीस भी फैजाबाद से लखनऊ आए और मरसिया लिखने लगे। मीर अनीस ने अच्छे अच्छे विद्वानो से अरबी और फारसी पढी थी और घुडसवारी, शस्त्रविद्या, व्यायाम आदि का भी अभ्यास किया था। इससे उनको मरसिया लिखने मे बडी सुविधा हुई। उन्होने मरसिया को (वीरकाव्य, एपिक) 'ट्रेजेडी' के और निकट पहुँचा दिया। उनकी कविता राजनीतिक और सास्कृतिक पतन के उस युग मे वीररस,

नैतिकता और जीवन के उदार भावों से भरी हुई है। उनकी कल्पना शक्ति बहुत प्रबल थी। भाषा के प्रयोग में वह निपुण थे। उनका विषय नैतिक महत्व रखता था इसलिये उनकी कविता में वे सब विशेषताएँ पाई जाती है जो एक महान् कलाकार के लिये आवश्यक कही जा सकती है। मरसिया उनके हाथ में मात्र शोकपूर्ण धार्मिक रचना से आगे बढ़कर महाकाव्य का रूप धारण कर गया जिसके समान अरबी फारसी और दूसरी भाषाओं में भी कोई शोकमयी रचना नहीं पाई जाती।

मीर अनीस उस समय तक लखनऊ के बाहर कहीं नहीं गए जब तक कि १८५७ ई० में वहाँ पूर्णतया तबाही नहीं आ गई। अपनी मृत्यु से कुछ वर्ष पहले वे इलाहाबाद, पटना, बनारस और हैदराबाद गए जहाँ उनका बड़ा संमान हुआ। इस महाकवि का १८७४ में लखनऊ में देहांत हुआ। उनके मरसिए पांच संग्रहों में प्रकाशित हुए हैं जिनमें उनकी सारी रचनाएँ संमिलित नही है। इनके अतिरिक्त "अनीस के कलाम" और "अनीस की रुबाइयाँ" भी प्रकाशित हो चुकी है।

सं०ग्रं०—रूहे अनीस, स० मसूद हसन रिज़वी; यादगारे अनीस, अमीर अहमद अलवी; वाकिआते अनीस, अहसान लखनवी; हालाते अनीस, अशहरी; अनीस की मरसिया निगारी, अमर लखनवी। [ए० हु०]

अनुकंपी तंत्रिका तंत्र

मनुष्य के विविध अंगों और मस्तिष्क के बीच संबंध स्थापित करने के लिये तागे से भी पतले अनेक स्नायुतंतु (नर्व फाइबर) होते है। स्नायुतंतुओं की लच्छियाँ अलग अलग बँधी रहती है। इनमें से प्रत्येक को तंत्रिका (नर्व) कहते है। प्रत्येक तंत्रिका में कई एक तंतु रहते है। तंत्रिकाओं के समुदाय को तंत्रिकातंत्र (नर्वस सिस्टम) कहते है। ये तंत्र तीन प्रकार के होते है: (१) स्वायत्तनियंत्री (ऑटोनोमिक), (२) संवेदी (सेंसरी) और (३) चालक (मोटर) तंत्र। उन तंत्रिकाओं को स्वायत्त-नियंत्री (ऑटोनोमिक) तंत्रिकाएँ कहते है जो मस्तिष्क में पहुँचकर एक दूसरे से संबद्ध होती है और हृदय, फेफड़े, आमाशय, अँतड़ी, गुर्दे आदि की क्रिया को नियंत्रित करती है। बाह्य जगत् से मस्तिष्क तक सूचना पहुँचानेवाली तंत्रिकाएँ संवेदी तंत्रिकाएँ (सेंसरी नर्व्ज़) तथा मस्तिष्क से अंगों तक चलने की आज्ञा पहुँचानेवाली तंत्रिकाएँ चालक तंत्रिकाएँ (मोटर नर्व्ज़) कहलाती है। इनमें से स्वायत्तनियंत्री तंत्रिकाओं को दो समूहों में विभाजित किया गया है: (१) अनुकंपी तंत्रिकातंत्र (सिंपैथेटिक नर्वस सिस्टम) और परानुकंपी तंत्रिकातंत्र (परासिंपैथेटिक नर्वस सिस्टम)। भय, क्रोध, उत्तेजना, आदि का शरीर पर प्रभाव मस्तिष्क द्वारा अनुकंपी तंत्रिकातंत्र के नियंत्रण से पड़ता है। यह नियंत्रण अधिकतर शरीर के भीतर एड्रिनैलिन नामक रासायनिक पदार्थ के उत्पन्न होने से होता है। परानुकंपी तंत्रिकातंत्र का कार्य साधारणतः अनुकंपी का उलटा होता है, जैसा आगे चलकर दिखाया गया है।

संरचना—कशेरुक दंड के सामने दोनों ओर गुच्छिकाओं (गैंग्लियन) की एक शृंखला प्रथम वक्षीय कशेरुका से लेकर अंतिम कटिकशेरुका तक स्थित है। ये कशेरुका गंडिका (वर्टीब्रल गैंग्लियन) कहलाती है। सुषुम्ना के पार्श्व प्रांत से, सौषुम्निक तंत्रिका की पश्चिम गुच्छिका द्वारा, एक सूक्ष्म तंतु निकलकर गुच्छिकाओं में जाता है, जहाँ से दूसरा तंतु प्रारंभ होता है, जो अंगों या आशयों के समीप अधिकशेरुकी गुच्छिकाओं (प्रीवर्टीब्रल गैंग्लियन) में समाप्त होता है। इन सूत्रों को गुच्छिकोत्तरी (पोस्ट गैंग्लियनिक) तंतु कहा जाता है। पहला तंतु (प्रीगैंग्लियनिक) सुषुम्ना के भीतर स्थित कोशिका का लांगूल (ऐक्सन) है, जो अधिकशेरुकी गच्छिका की कोशिका के चारों ओर समाप्त हो जाता है। इस कोशिका का लांगूल गुच्छिकोत्तरी तंतु के रूप में अधिकशेरुकी गुच्छिका में जाकर समाप्त होता है, अथवा सीधा अंगों या आशयों की भित्तियों में चला जाता है। प्रथम तंतु पर मेदस पिधान (मायलीन शीथ) चढ़ा रहता है, दूसरे तंतु पर नहीं होता। इस प्रकार उत्तेजना के जाने के लिये सुषुम्ना से अंग तक एक मार्ग बन जाता है, जिसमें कम से कम दो तंतु होते है जिनका संगम (सिनैप्स) गुच्छिकाओं में होता है।

सौषुम्नीय और अनुकंपी तंत्रिकाओं में यही विशेष भेद है कि प्रथम प्रकार की तंत्रिकाओं में एक ही न्यूरोन होता है जो उत्तेजना को सुषुम्ना से अंतिम स्थान तक पहुँचाता है। दूसरे प्रकार की नाड़ियों में कम से कम दो न्यूरोन द्वारा उत्तेजना का संवहन होता है। दूसरा भेद यह है कि सौषुम्नीय तंत्रिकाएँ विशेषतया ऐच्छिक पेशियों में जाती है। अनुकंपी तंतु अनैच्छिक पेशियों और उद्रेचक ग्रंथियों में जाते है। तीसरा भेद संवहन संबंधी है। सौषुम्नीय नाड़ियों में उत्तेजना का संवहन केंद्रों की ओर अधिक होता है, अर्थात् उनमें संवेदक तंतु अधिक होते है। अनुकंपी तंतुओं में संवहन केवल अंगों की ओर होता है।

अनुकंपी तंत्र के अतिरिक्त भी कुछ अन्य तंत्रिकाओं में ऐसी ही रचना होती है, अर्थात् दो न्यूरोन पाए जाते है, जो अनुकंपी की ही भाँति उत्तेजना का संवहन और वितरण करते है। उनको परानुकंपी (पैरासिंपैथेटिक) तंतु कहते है। इन दोनों को आत्मग (ऑटोनोमिक) तंत्र भी कहा जाता है। अनुकंपी तंत्र के दो भाग है, एक कपाल (क्रेनियल) भाग और दूसरा त्रिक् (सैक्रल) भाग। कपाल भाग के पुनः दो विभाग है। एक विभाग मध्यमस्तिष्क (मिडब्रेन) से निकलता है और दूसरा पश्च-मस्तिष्क (हाइंडब्रेन) से जिसका पूर्वगुच्छिका तंतु वागस, जिह्वाग्रस-निका और मौखिकी तंत्रिकाओं में शाखाएँ भेजता है। पश्चगुच्छिका तंतु की शाखाएँ पाचनप्रणाली और ग्रासनलिका से लेकर बृहदांत्र तक के सारे पेशीस्तर, श्वासनाल, फुफ्फुस, और हृदय की पेशियों तथा मुख और गले की श्लैष्मिक कला की रक्तवाहिनियों में जाती है। त्रिक् भाग के तंतु श्रोणि की तीन बड़ी तंत्रिकाओं द्वारा, श्रोणिगुहा के भीतर स्थित अंगों, बृहदांत्र, मलाशय, मूत्राशय, जनन अंगों आदि, में वितरित हो जाते है।

कार्यप्रणाली—इसको आत्मग तंत्र इसलिये कहा जाता है कि इसकी क्रिया द्वारा भीतरी अंगों का सारा काम होता रहता है। यह स्वतः हमारे नियंत्रण से विमुक्त रहकर अंगों का संचालन करता रहता है। यद्यपि इसके तंतु मस्तिष्क और सुषुम्ना के केंद्रों से निकलते है, तथापि इनसे सौषुम्निक नाड़ियों का कोई संबंध नहीं होता। फिर भी उनमें उत्तेजनाएँ मस्तिष्क और सुषुम्ना से ही आती है।

जैसा ऊपर बताया गया है, अनुकंपी और परानुकंपी विभागों की क्रियाएँ एक दूसरे से विरुद्ध है। एक क्रिया को घटाता और दूसरा क्रिया को बढ़ाता है। पाचकनली के पेशीसमूह के संकोच (आत्रगति) अनुकंपी से कम होते है और परानुकंपी से बढ़ते है। रक्तवाहनियाँ अनुकंपी की क्रिया से संकुचित होती है और परानुकंपी से विस्तृत होती है। परानुकंपी के तंतु वागस द्वारा पहुँचकर हृदय को रोकते है, अनुकंपी से हृदय की गति बढ़ती है। इससे नेत्र का तारा प्रभवित होता है, परानुकंपी से संकुचित होता है। वायुनाल और प्रणालिकाओं की पेशियों में परानुकंपी के सूत्र मस्तिष्क से आते है।

सब अंगों में आत्मगतंत्र के इन दोनों विभागों के सूत्र फैले हुए है।

[मु० स्व० व०]

अनुक्रमणी

वेदों की रक्षा के लिये कालांतर में आचार्यों ने ऐसे ग्रंथों का निर्माण किया जिनमें वेदों के प्रत्येक मंत्र के ऋषि, देवता, छंद, आख्यान आदि का विशेष विवरण प्रस्तुत किया गया है। ये ग्रंथ '**अनुक्रमणी**' (सूची) के नाम से प्रख्यात है और प्रत्येक वेद से संबद्ध है। अनुक्रमणी के रचयिताओं में **शौनक** तथा **कात्यायन** विशेष विख्यात आचार्य है। षड्गुरुशिष्य के अनुसार शौनक ने ऋग्वेद की रक्षा के लिये दस ग्रंथों का निर्माण किया था जिनमें 'बृहद्देवता' तथा 'ऋक्प्रातिशाख्य' प्रख्यात तथा प्रकाशित है। बृहद्देवता में ऋग्वेदीय प्रत्येक मंत्र के वर्ण्य देवता का विस्तृत विवेचन है, साथ ही मंत्रों से संबद्ध रोचक आख्यानों का भी। कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणी' ऋग्वेद की प्रख्यात अनुक्रमणी है जिस-पर 'षड्गुरुशिष्य' का भाष्य बहुत ही उपयोगी व्याख्यान है। माधव भट्ट ने भी 'ऋग्वेदानुक्रमणी' का प्रणयन किया था जिसके दो खंड उपलब्ध और मद्रास से प्रकाशित है। यजुर्वेद की अनुक्रमणी 'शुक्लयजुः सर्वानुक्रम-सूत्र' में दी गई है जिसकी रचना का श्रेय कात्यायन (वार्तिककार कात्यायन से भिन्न व्यक्ति) को दिया जाता है। इसके ऊपर महायाज्ञिक प्रजापति के पुत्र महायाज्ञिक श्रीदेव का उपयोगी भाष्य भी प्रकाशित है। सामवेद से संबद्ध अनुक्रमणी ग्रंथों की संख्या पर्याप्त रूप से बड़ी है जिनमें उपग्रंथ सूत्र, निदान सूत्र, पंचविधान सूत्र, लघु ऋक्तंत्रसंग्रह, तथा सामसप्तलक्षण भिन्न भिन्न स्थानों से प्रकाशित है, परंतु कल्पानुपद सूत्र, अनुपद सूत्र तथा

उपनिदान सूत्र अभी तक प्रकाश में नहीं आए हैं। इन ग्रंथों में सामवेद के ऋषि, छंद तथा सामविधान का विवरण प्रस्तुत किया गया है। अथर्ववेद की 'बृहत् सर्वानुक्रमणी' प्रत्येक कांड के मंत्र, ऋषि, देवता, तथा छंद का पूर्ण विवरण देती है और सर्वाधिक महत्वशाली मानी जाती है। 'पंचपटलिका' तथा 'दंत्योष्ठविधि' पूर्वग्रंथ के पूरक माने जा सकते हैं। शौनक रचित 'चरणव्यूह सूत्र' भी वेदों की शाखा, चरण आदि की जानकारी के लिये विशेष उपादेय है। [ब० उ०]

अनुदार दल

अनुदार दल अथवा कांजरवेटिव पार्टी इंग्लैंड का एक प्रमुख राजनीतिक दल है। कैथोलिक धर्मावलंबी जेम्स द्वितीय के उत्तराधिकार के समर्थन और विरोध में टोरी और ह्विग दो राजनीतिक दलों का आविर्भाव चार्ल्स द्वितीय (१६६०-१६८५ ई०) के समय हुआ था। इनमें से टोरी दल कांजरवेटिव पार्टी का मूल पूर्वज है। टोरी दल राजपद के वंशानुगत और विशेष अधिकार तथा केवल एंग्लिकन धर्मव्यवस्था का समर्थक था। ह्विग दल ने नियंत्रित राजतंत्र पार्लमेंट की सर्वशक्तिमत्ता तथा धर्मव्यवस्था में सहिष्णुता के सिद्धात को मान्यता दी थी। जार्ज तृतीय (१७६०-१८२० ई०) के राज्यारोहण तक देश की राजनीति में ह्विग दल की प्रधानता रही। जॉर्ज के शासन काल में टोरी दल सत्तारूढ हुआ। इस दल के लॉर्ड नॉर्थ के बारह वर्षो (१७७०-८२८०) के प्रधान मंत्रित्व काल में शासन मे राजा के व्यक्तिगत प्रभाव की वृद्धि हुई। इसी दल का विलियम पिट (छोटा पिट) १७८४ से १८०१ तक प्रधान मंत्री रहा। फ्रांस की राज्यक्रांति और नेपोलियन (१७८६-१८१५ ई०) के युग तथा बाद के पंद्रह वर्षो मे टोरी दल ने उद्धार और लोकतांत्रिक आंदोलनों के दमन और इंग्लैंड के साम्राज्य के विस्तार की नीति अपनाई। किंतु युद्ध और औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न नई परिस्थितियों का निर्वाह दल की नीति से संभव न था। १८३० में पार्लमेंट के निर्वाचन में सुधारवादी ह्विग दल की विजय हुई। दल ने १८३२ मे पहला सुधार कानून (रिफार्म ऐक्ट) पारित किया। टोरी दल ने सुधार के प्रस्तावों का विरोध किया। सुधार कानून के बाद ह्विग दल ने कुछ प्रचलित व्यवस्थाओं में जो अपेक्षित सुधार किए उनका समर्थन टोरी दल ने नहीं किया।

इस काल टोरीदल का कांजरवेटिव पार्टी (अनुदार दल) नाम पड़ गया। १८२४ में एक भोज के अवसर पर जॉर्ज केनिंग ने टोरी पार्टी के लिये पहले पहल इस शब्द का उपयोग किया था। दल के नेता रॉबर्ट पील ने दल की नीति की जो घोषणा टेम्नवर्थ के मतदाताओं के समक्ष १८३५ ई० में की थी उसमें दल के लिये कांजरवेटिव शब्द को अपना लिया था। शीघ्र ही टोरी दल के लिये यह नया नाम प्रचलित हो गया।

१८३४-३५ और १८४१-४६ में पील के नेतृत्व में शासनसूत्र अनुदार दलके हाथ में रहा। **अनाज के आयात** से प्रतिबंध उठा लेने के प्रश्न पर संरक्षण नीति के समर्थक दल के सदस्यों ने पील का विरोध किया और इस संबंध का कानून पारित होने पर उन्होंने पील का साथ छोड़ दिया। पील के अनुयायी उदार दल में संमिलित हो गए। सुधारों के संबंध में उदार नीति को कार्यान्वित करने के कारण ह्विग दल लिबरल पार्टी (उदार दल) कहा जाने लगा था। १८६७ में बेंजामिन डिज़रेली ने अनुदार दल का पुनर्गठन किया। कांज़रवेटिव और सांवैधानिक सभाओं का एक संघ स्थापित हुआ। इस वर्ष टोरी दल की सरकार थी। दल ने दूसरा सुधार कानून पारित कर मताधिकार का विस्तार किया। दल के संगठन को पुष्ट करने के लिये डिज़रेली ने १८७० में दल का केंद्रीय कार्यालय खोला और दल के उद्देश्य और कार्यों की पूर्ति के लिये १८८० में एक केंद्रीय समिति भी बना दी। दल के क्षेत्र और कार्यों का विस्तार इस समिति का मुख्य कार्य है।

विक्टोरिया (१८३७-१९०१) के राज्यकाल में दल की स्थिति काफी दृढ़ हो गई थी। आयरलैंड को स्वराज्य देने के संबंध में उदार दल के नेता विलियम इवार्ट ग्लैडस्टन के प्रस्तावों का प्रत्येक अवसर पर दल ने तीव्र विरोध किया था। उदार दल के कुछ सदस्य भी इस प्रश्न पर दल के नेता की नीति से सहमत न थे। वे अनुदार दल में संमिलित हो गए और दोनों यूनियनिस्ट (एकतावादी) कहे जाने लगे। बहुत समय तक अनुदार दल के लिये इस नाम का ही उपयोग होता रहा।

१८९५ से १९०५ तक अनुदार दल के हाथ में देश का शासन रहा। अगले दस वर्ष उदार दल सत्तारूढ़ रहा किंतु प्रथम विश्वमहायुद्ध की अवधि (१९१४-१८) में उदार और अनुदार दल दोनों की संयुक्त सरकार रही। वर्तमान शताब्दी में लेबर पार्टी (मजदूर दल) के उदय और विस्तार के बाद उदार दल देश की राजनीति में पिछड़ गया। प्रथम विश्वमहायुद्ध के बाद समय समय पर अनुदार और मजदूर दलों की प्रधानता देश की राजनीति में रही है। द्वितीय विश्वमहायुद्ध की अवधि (१९३९-४४) में भी दोनों दलों की संयुक्त सरकार रही जो १९५० तक बनी रही। १९५० के चुनाव में मजदूर दल के केवल १७ अधिक सदस्य आए। दल का मंत्रिमंडल एक वर्ष भी न टिक सका। नए चुनाव में अनुदार दल को बहुमत प्राप्त हुआ। १९५१ से अनुदार दल के हाथ में देश का शासनसूत्र है।

अनुदार दल साधारणतया प्रचलित व्यवस्थाओं म परिवर्तन के पक्ष मे नही रहा है। उग्र और क्रातिकारी व्यवस्थाओं का वह घोर विरोधी है। अनिवार्य परिस्थितियों में परंपरागत संस्थाओं और व्यवस्थाओं में सुधार दल ने स्वीकार किया है किंतु उनका समूल नाश उसको अभीष्ट नहीं है। दल की यह नीति रही है कि किसी भी व्यवस्था में क्रमशः इस प्रकार परिवर्तन किया जाय कि परंपरागत स्थिति से उसका संबंध बना रहे। यह दल राजपद, लार्ड सभा, ऐंग्लिकन धर्मव्यवस्था और जमींदारों के अधिकारों का समर्थक रहा है। व्यक्तिगत संपत्ति की रक्षा मे दल सदा सचेष्ट रहा है। समाजवाद के आंदोलन और राष्ट्रीयकरण की योजनाओं को दल ने क्षमा की दृष्टि से देखा है और यथासंभव उनका विरोध किया है। व्यवसाय और व्यापार के हित में दल ने संरक्षण नीति का समर्थन किया है। राज्य की सबल और सुदृढ़ वैदेशिक नीति तथा अन्य देशों में इंग्लैंड की प्रतिष्ठा की मान्यता दल को अभीष्ट है। साम्राज्यवाद का दल की नीति में प्रमुख स्थान है। अधीनस्थ देशों को स्वाधीनता देकर साम्राज्य के अंगभंग का यह दल विरोधी है। द्वितीय महायुद्ध के बाद के आम चुनाव में विंस्टन चर्चिल ने अंतर्राष्ट्रीय और साम्राज्य संबंधी समस्याओं को महत्व दिया था।

देश का समृद्ध और कुलीन वर्ग अनुदार दल का समर्थक है। बड़े बड़े जमींदार, व्यवसायी, पूँजीपति, वकील, डाक्टर और विश्वविद्यालय के प्राध्यापक अधिकांश में अनुदार दल के सदस्य हैं। अनुदार दल की नीति के समर्थन में ही देश के हितों की वे रक्षा संभव समझते हैं।

सं०ग्रं०—फ्रेडरिख आस्टिन ओग : इंग्लिश गवर्नमेंट ऐंड पॉलिटिक्स (संशोधित संस्करण), मैकमिलन, न्यूयार्क; एस० वी० पुणतांबेकर : कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑव इंग्लैंड, १४८५-१९३१, नंदकिशोर ब्रदर्स, वाराणसी; ब्रेंडन, जे०ए० द्वारा संपादित, दि डिक्शनरी ऑव ब्रिटिश हिस्ट्री, एडवर्ड आर्नल्ड ऐंड कंपनी, लंदन; महादेवप्रसाद शर्मा : ब्रिटिश संविधान, किताबमहल, इलाहाबाद; त्रि० पंत : इंग्लैंड का सांविधानिक इतिहास, नंदकिशोर ब्रदर्स, वाराणसी। [त्रि० पं०]

अनुनाद

किसी वस्तु में ध्वनि के कारण अनुकूल कंपन उत्पन्न होने तथा उसके स्वर आदि में वृद्धि होने को अनुनाद (रेज़ोनैंस) कहते हैं। भौतिक जगत् की क्रियाओं में हम यांत्रिक अनुनाद और वैद्युत् अनुनाद पाते हैं। द्रव्य और ऊर्जा के बीच भी अनुनाद होता है, जिसके द्वारा हमें द्रव्य के अनुनादी विकिरण का पता लगता है।

यांत्रिक अनुनाद—प्रत्येक वस्तु की एक कंपनसंख्या होती है जो उसकी बनावट, प्रत्यास्थता और भार पर निर्भर रहती है। तनिक ठुनका देने पर घंटे, घंटियाँ, थाली तथा अन्य बर्तन प्रत्येक सेकंड में इसी संख्या के बराबर कंपन करने लगते हैं और तब उनके संपर्क मे वायु में ध्वनि उत्पन्न होती है। यदि कंपन संख्या ३० से कम होती है तो ध्वनि नही सुनाई पड़ती, जैसे पेंडुलम आदि के दोलन में। यदि कंपन संख्या ३० से अधिक और ३०,००० से कम होती है तो स्वर सुनाई पड़ता है, जैसे सितार के तार,
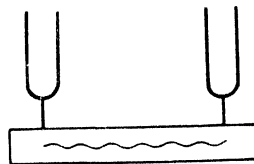
चित्र १—यदि दोनों स्वरित्रों की कंपन-संख्याएँ बराबर हैं तो उनके बीच अनुनाद होता है।

धातु के छड़ अथवा घड़े की हवा आदि के कंपन से निकले स्वर। कंपन के ३०,००० प्रति सेकंड से अधिक होने पर स्वर नहीं सुनाई पड़ता।

किसी दोलक (पेंडुलम) की कंपनसंख्या उसकी लंबाई पर निर्भर रहती है। यदि एक ही लंबाई के दो दोलक **क** और **ख** किसी तनी हुई रस्सी में लटकाए गए हों तो **क** को दोलित करने से थोड़ी देर बाद **ख** भी रस्सी द्वारा शक्ति पाकर दोलित हो जाता है। दोनों में शक्ति का आदान प्रदान होता है। यह तभी संभव है जब दोनों की कंपन संख्याएँ बराबर हों।

यदि दो स्वरित्र (ट्यूनिंग फोर्क) लकड़ी के तख्ते पर जड़े हुए हों और प्रत्येक की कंपन संख्या २५६ हो, तो उनमें से एक को ठनका देने पर दूसरा स्वत: कंपित हो जाता है। इसी प्रकार किन्हीं दो तारों में अनुनाद होता है। यदि **क** कंपन-संख्या प्रति सेकंड है, तार की लंबाई **ल** सेंटीमीटर है, **त** ग्राम-भार में तार का तनाव है और **भ** तार का भार प्रति सेंटीमीटर है तो यदि दोनों तार ताने गए हों तो अनुनाद के लिये
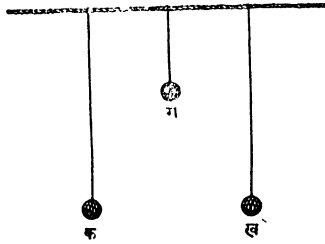
चित्र २ क और ख में अनुनाद होता है, ग में नहीं।

$\sqrt{(त')}/२ल'\sqrt{भ'}$ और $\sqrt{(त'')}/२ल''\sqrt{भ''}$

को बराबर होना चाहिए, जहाँ एक प्राम (डैश) लगे अक्षर एक तार से संबंध रखते हैं, और दो प्राम लगे अक्षर दूसरे तार से।

वैद्युतिक अनुनाद—दो कंपनशील विद्युत्-परिपथों में भी अनुनाद होता है। विद्युत्-परिपथ का कंपन उसकी विद्युद्धारिता (कपैसिटी) **धा** और उपपादन **उ** पर निर्भर रहता है और दोलन संख्या **क** = $१/२\pi\sqrt{उ\ धा}$ होती है। यदि दो परिपथों की कंपन संख्याएँ बराबर हों, अर्थात् **क'** = **क''**, तो दोनों में अनुनाद होता है।

वैद्युतिक अनुनाद की ओर सर्वप्रथम सर ऑलिवर लॉज का ध्यान आकृष्ट हुआ। उन्होंने एक ही विद्युद्धारिता के दो लाइडन जारों को समान विद्युत् विभव का बनाया। एक परिपथ के लाइडन जार को प्रेरण कुंडली (इंडक्शन कॉएल) अथवा विम्जहर्ट मशीन से आविष्ट किया। देखा कि ज्योंही इस कुंडली की झिरी में विद्युत् स्फुलिंग विसर्जित होता है त्योंही दूसरी कुंडली की झिरी में भी स्फुलिंग उत्पन्न होता है। इस भाँति वैद्युतिक अनुनाद का प्रदर्शन कर सर ऑलिवर लॉज ने विद्युत् शक्ति प्रेषण का सिद्धांत स्थापित किया। दोनों कंपनशील परिपथों में पहले को प्रेषी (ट्रैंसमिटर) और दूसरे को संग्राही (रिसीवर) कहते हैं। स्पष्ट है कि वैद्युतिक अनुनाद के लिये $२\pi\sqrt{(उ'धा')} = २\pi\sqrt{(उ''धा'')}$, अर्थात् **उ''धा = उ''धा''**।

एक परिपथ के कंपन को निश्चित कर दूसरी में **उ''** अथवा **धा''** को अदल बदलकर इसकी कंपनसंख्या को पहली की कंपनसंख्या से मिलाया जाता है। इस क्रिया को समस्वरण (ट्यूनिंग) कहते हैं। दोनों के मेल खाने पर अनुनाद उत्पन्न होता है।

रेडियो तरंगों का प्रेषण और ग्रहण इसी सिद्धांत पर संभव हुआ। हाइनरिक रुडोल्फ हर्ट्ज, गुग्लिमो मारकोनी, ब्रैनली, जगदीशचंद्र बोस आदि वैज्ञानिकों ने इसी सिद्धांत पर परिपथ की शक्ति बढ़ाकर तथा अन्य उपयोगी साधनों का प्रयोग कर विभिन्न दोलनसंख्याओं के प्रेषक और ग्राहक यंत्र बनाए थे।

टामस आर्थर एडिसन और ओ० डब्ल्यू० रिचार्डसन ने तापायनिक वाल्व का आविष्कार किया। उसी सिद्धांत पर द्विध्रुवी, त्रिध्रुवी, फिर चतुर्ध्रुवी और पंचध्रुवी वाल्वों का निर्माण हुआ। इनके द्वारा निश्चित कंपनसंख्या और प्रबल शक्ति के वैद्युत् परिपथ बनाए गए और विशाल प्रेषकों से रेडियो की तरंगों द्वारा समाचार, गाने और खबरें प्रेषित होने लगीं। इन सबकी क्रियाविधि वैद्युत् अनुनाद पर आधारित है।

द्रव्य और ऊर्जा संबंधी अनुनाद—आधुनिक वैज्ञानिक साधनों से हमें पदार्थरचना और तत्संबंधी विकीर्ण शक्तियों की जानकारी सुलभ है। अणु तथा परमाणु के विशिष्ट वर्णक्रम होते हैं। नील्स बोर के अनुसार अणु एवं परमाणु में शक्ति की कई स्थितियाँ होती हैं। बाहरी शक्ति की प्रेरणा से उत्तेजित होकर अणु तथा परमाणु साधारण स्थिति से अन्य उत्तेजित स्थितियों में जाते हैं और वहाँ से लौटती बार विभिन्न तरंगदैर्घ्यों की रश्मियाँ विकीर्ण करते हैं। प्रथम उत्तेजित स्थिति से साधारण स्थिति में लौटती बार उनकी मुख्य रश्मियाँ निकलती हैं। यदि कोई परमाणु साधारण स्थिति में हो और उसकी मुख्य रेखा की ऊर्जा उसपर लगाई जाय, तो परमाणु और ऊर्जा में अनुनाद होता है और परमाणु की अनुनादी रश्मि उत्सर्जित होती है। यदि आपतित रश्मिसमूह में सभी रश्मियाँ हों तो परमाणु अपनी अनुनादी रश्मियों को ग्रहण कर लेता है और अविच्छिन्न वर्णक्रम में काली रेखा उसी स्थान पर पाई जाती है। इस अनुनादी सिद्धांत की खोज किर्शाफ ने की थी और उसी के आधार पर सौर स्पेक्ट्रम की काली रेखाओं की व्याख्या दी थी। इन रेखाओं का पता फ्राउनहोफर ने लगाया था, अत: इन रेखाओं को फ्राउनहोफर रेखाएँ भी कहते हैं। अनुनादी रश्मियों पर आर० डब्ल्यू० वुड ने बड़ी खोज की है।
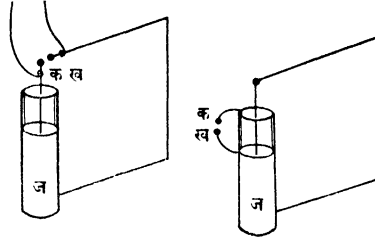
चित्र ३. सर आलिवर लॉज का प्रयोग
जब बाईं ओर के यंत्र की झिरी क ख में स्फुलिंग विसर्जित की जाती है तब दाहिनी ओर के यंत्र में भी झिरी क ख में स्फुलिंग अपने आप विसर्जित होती है।

परमाणु विस्फोट में न्यूट्रान की ऊर्जा का अनुनाद यूरेनियम २३५ के नाभिक (न्यूक्लिअस) में होता है। इसी कारण विघटन शृंखला स्थापित होती है और द्रव्य का परिवर्तन ऊर्जा में होता है और अपार ऊर्जा निकलती है। [नि० ला० सि०]

अनुनाद और आयनीकरण विभव

इस शताब्दी के अनुसंधानों के फलस्वरूप हमारे १९वीं शताब्दी के परमाणु संबंधी विचारों में भारी परिवर्तन हुआ—परमाणु अभाज्य न होकर अनेक अवयवों का समुदाय हो गया। हमारे आज के ज्ञान के अनुसार (देखे **परमाणु**) परमाणु के दो मुख्य भाग हैं—एक है नाभिक (न्यूक्लिअस) और दूसरा है ऋणाणु (इलेक्ट्रॉन) मेघ। सरलतम प्रतिमा के अनुसार धनावेशयुक्त नाभिक के परितः ऋणाणु उसी प्रकार प्रदक्षिणा करते हैं जैसे ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं। नाभिक पर उतनी ही इकाइयाँ धन आवेश की होती हैं जितना ऋण आवेश परिक्रमा करनेवाले ऋणाणुओं पर होता है। हाँ, ऋणाणु चाहे जिस कक्षा में नहीं रह सकते। उनकी कक्षाएँ निर्धारित होती हैं, जिन्हें स्थायी कक्षाएँ (स्टेशनरी ऑर्बिट्स) कहते हैं। प्रत्येक कक्षा में अधिक से अधिक कितने ऋणाणु रहेंगे, यह संख्या भी निश्चित है। यह सरलता से देखा जा सकता है कि जैसे जैसे इलेक्ट्रॉन भीतरी कक्षा से बाहरी कक्षाओं में जाता है परमाणु की ऊर्जा में वृद्धि होती है। जब सब ऋणाणु अपनी निम्नतम कक्षाओं में रहते हैं तब परमाणु की ऊर्जा न्यूनतम होती है और कहा जाता है कि परमाणु अपनी सामान्य अवस्था में है। परंतु जब परमाणु को कहीं से इतनी ऊर्जा मिले कि उसके शोषण से सबसे बाहरी ऋणाणु अगली कक्षा में पहुँच जायँ तो कहते हैं कि परमाणु उत्तेजित हो गया है, और यह ऊर्जा अनुनाद-ऊर्जा कहलाती है। स्पष्ट है कि यदि ऊर्जा कुछ कम हो तो ऋणाणु अगली कक्षा में न जा सकेगा। जिस प्रकार ध्वनि के दो उत्पादकों के आवर्तन भिन्न होने पर शक्ति का आदान-

प्रदान नहीं होता, परंतु जब आवर्तन अनुकूल (समान या दुगुने, तिगुने आदि) होते हैं तब यह आदान प्रदान होता है, उसी प्रकार परमाणु में भी ऊर्जा का आदान-प्रदान तभी होता है जब आनेवाली ऊर्जा परमाणु की दो अवस्थाओं के अंतर की ऊर्जा के बराबर हो। जब कोई ऋणाणु बाहरी कक्षा से भीतरी कक्षा में आता है तो परमाणु की ऊर्जा में कमी होती है और यह ऊर्जा विकिरण के रूप में प्रकट होती है। इसके विपरीत जब परमाणु ऊर्जा का अवशोषण करता है तब ऋणाणु भीतरी कक्षा से बाहरी कक्षाओं में जाते हैं। वर्णपट में प्रकाश की रेखाओं का विकिरण में देखा जाना, या उनका अवशोषण होना, इन दोनों क्रियाओं के अस्तित्व की पुष्टि करता है। प्रायः सभी रेखाओं का अस्तित्व परमाणु की दो ऊर्जा-अवस्थाओं के भेद के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। इस प्रकार, यदि रेखा की आवर्तन संख्या **सं** और दो अवस्थाओं में परमाणु की ऊर्जा क्रमशः $ऊ_1$ और $ऊ_2$ हैं तब

$$\text{प्ल सं} = ऊ_2 - ऊ_1, \qquad (१)$$

जहाँ **प्ल** प्लांक का स्थिरांक है।

प्रश्न उठता है कि क्या वर्णपट की रेखाओं के अतिरिक्त भी परमाणु में ऊर्जा-अवस्थाओं के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई और अधिक सीधा प्रमाण है। इसका उत्तर फ्रैंक और हर्ट्ज के प्रयोगों से मिलता है। यदि किसी परमाणु पर ऊर्जित कणों की बौछार की जाय तो दो फल हो सकते हैं: (१) टक्कर प्रत्यास्थ (इलैस्टिक) हो और कण तथा परमाणु प्रत्यास्थ टक्कर के नियमों के अनुसार भिन्न भिन्न वेग से दूर हो जायँ; (२) कण अपनी ऊर्जा परमाणु को दे दे और फलस्वरूप परमाणु का बाहरी ऋणाणु किसी और बाहरी कक्षा में पहुंच जाय और परमाणु की ऊर्जा में वृद्धि हो जाय। ऊर्जायुक्त कण सरलता से उपलब्ध किए जा सकते हैं। यदि ऋणाणु, जिनका आवेश **आ** है, विभवांतर **वि** से गुजरें तो उनकी ऊर्जा **आ वि** होगी (जहाँ **आ** और **वि** दोनों एक ही इकाई में मापे गए हैं)। यदि ये ऋणाणु परमाणु को एक अवस्था से दूसरी में पहुँचाने में सफल होते हैं तो प्रत्यक्ष है कि

$$\text{आ वि} = \tfrac{1}{2}\, \text{द्र वे}^2 = ऊ_2 - ऊ_1, \qquad (२)$$

जहाँ **द्र** ऋणाणु का द्रव्यमान और **वे** विभव के कारण उत्पन्न उसका वेग है। अब हम परमाणु के अवस्था-भेदों को ऋणाणु के विभव के रूप में व्यक्त कर सकते हैं, समीकरण (२)। ऊपर की व्याख्या के अनुसार जब परमाणु सामान्य अवस्था से केवल अगली अवस्था में जाता है, तो हम उस ऊर्जा को परमाणु का अनुनाद विभव कहते हैं। अन्य अवस्थाओं में जाने के लिये जो ऊर्जा आवश्यक है वह उत्तेजना-विभव कहलाएगी। परमाणु की एक और विशेष अवस्था हो सकती है—जब सबसे बाहरी ऋणाणु इतनी दूर चला जाय कि सामान्यतः वह बचे हुए परमाणु या आयन के क्षेत्र (या पहुँच) के बाहर हो। इसको संपन्न करने के लिये प्रायः अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होगी (मौलिक रूप से ऋणाणु अनंत कक्षा में पहुँचता है)। इस ऊर्जा को परमाणु का आयनीकरण-विभव कहते हैं। यह कहा जा सकता है कि अनुनाद-विभव और आयनीकरण-विभव उत्तेजना-विभव के विशेष रूप मात्र हैं।

मूल रूप में इन विभवों को निम्नलिखित रीति से हम ज्ञात कर सकते हैं। एक वायुहीन नली में उस तत्व के परमाणु भर देते हैं जिनके उत्तेजना विभवों को ज्ञात करना है (चित्र देखें)।
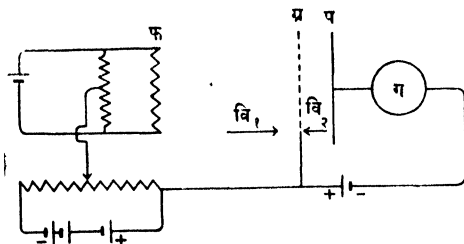
फ़िलामेंट **फ** से निकलते हुए ऋणाणु फ़िलामेंट और ग्रिड **ग्र** के बीच विभवांतर **$वि_1$** के कारण त्वरित होते हैं। विभव **$वि_2$** विभव **$वि_1$** से बहुत कम परंतु विपरीत दिशा में **ग्र** और प्लेट **प** के बीच लगाया जाता है। **$वि_1$** को धीरे धीरे बढ़ाया जाता है और फलतः गैल्वैनोमापी **ग** में विद्युद्धारा की वृद्धि होती है, क्योंकि द्रुतगामी ऋणाणु सरलता से प्लेट **प** तक पहुँचने में सफल होते हैं। परंतु, ज्यों ही ऋणाणुओं की ऊर्जा **फ** और **प** के बीच के स्थान में स्थित परमाणुओं की ऊर्जा-अवस्था के अंतर के बराबर होगी, वे अपनी यह ऊर्जा परमाणुओं को दे देंगे और स्वयं **प** तक पहुँचने में असमर्थ होंगे। अतः **$वि_1$** के उचित मूल्य का होने पर गैल्वैनोमापी धारा में ह्रास दिखलाएगा। परंतु **$वि_1$** को और अधिक बढ़ाने पर, ऋणाणुओं की आवश्यक ऊर्जा परमाणुओं को मिल जाने के बाद भी, उनमें इतनी ऊर्जा रह जायगी कि वे फिर **प** तक पहुँचने में समर्थ हों। इस प्रकार **ग** की विद्युद्धारा बढ़ती घटती रहेगी और धारा के मूल्य के दो उतारों से संबंधित विभवों का अंतर परमाणु की दो अवस्थाओं की ऊर्जा के अंतर के बराबर होगा।

सामान्यतः इस सरल रीति में कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। अधिक विस्तार के लिये देखें रूआर्क और यूरी : ऐटम्स, मॉलीक्यूल्स ऐंड क्वांटा, तथा आर्नोट : कलीजन प्रोसेसेज इन गैसेज (मेथुयन)। [दे० श०]

अनुबंध चतुष्टय

किसी ग्रंथ का प्रारंभ करने के पहले प्राचीन भारतीय परंपरा में भूमिका रूप से चार बातों का उल्लेख होता था, जिन्हें अनुबंध कहते थे—(१) ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय, (२) विषय के प्रतिपादन का प्रयोजन, (३) किसके लिये वह विषय प्रतिपादित किया गया है (अधिकारी), और (४) अधिकारी के साथ विषय का क्या संबंध है। अनुबंध शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है 'पीछे बाँधा हुआ', किंतु ग्रंथनिर्माण के बाद लिखे जाने पर भी इन अनुबंधों का ग्रंथ के प्रारंभ में ही उल्लेख रहता है। कभी कभी मंगलाचरण में ही अनुबंधों का निर्देश कर दिया जाता है। ये अनुबंध आज की भूमिका के पूर्वरूप माने जा सकते हैं। [रा० पां०]

अनुभव

प्रयोग अथवा परीक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान। प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा बोध। स्मृति से भिन्न ज्ञान। तर्कसंग्रह के अनुसार ज्ञान के दो भेद हैं—स्मृति और अनुभव। संस्कार मात्र से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति और उससे भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते हैं। अनुभव के दो भेद हैं—यथार्थ अनुभव तथा अयथार्थ अनुभव। प्रथम को प्रमा तथा द्वितीय को अप्रमा कहते हैं। यथार्थ अनुभव के चार भेद हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमिति, (३) उपमिति, तथा (४) शाब्द।

इनके अतिरिक्त मीमांसा के प्रसिद्ध आचार्य प्रभाकर के अनुयायी **अर्थापत्ति**, भाट्टमतानुयायी **अनुपलब्धि**, पौराणिक **संभविका** और **ऐतिह्यका** तथा तांत्रिक **चेष्टिका** को भी यथार्थ अनुभव के भेद मानते हैं। इन्हें क्रम से प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव, ऐतिह्य तथा चेष्टा से प्राप्त किया जा सकता है।

अयथार्थ अनुभव के तीन भेद हैं—(१) संशय, (२) विपर्यय तथा (३) तर्क। संदिग्ध ज्ञान को संशय, मिथ्या ज्ञान को विपर्यय एवं ऊह (संभावना) को तर्क कहते हैं। [वि० ना० चौ०]

अनुमान

दर्शन और तर्कशास्त्र का पारिभाषिक शब्द। भारतीय दर्शन में ज्ञानप्राप्ति के साधनों का नाम प्रमाण है। अनुमान भी एक प्रमाण है। चार्वाक दर्शन को छोड़कर प्रायः सभी दर्शन अनुमान को ज्ञानप्राप्ति का एक साधन मानते हैं। अनुमान के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसका नाम अनुमिति है।

प्रत्यक्ष (इंद्रिय संनिकर्ष) द्वारा जिस वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान नहीं हो रहा है उसका ज्ञान किसी ऐसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर, जो उस अप्रत्यक्ष वस्तु के अस्तित्व का संकेत इस कारण से करती है कि हमारे पूर्वकालीन प्रत्यक्ष अनुभव में अनेक बार वे दोनों साथ साथ ही दिखाई पड़ी हैं, अनुमिति कहलाता है और इस ज्ञान पर पहुँचने की प्रक्रिया का नाम अनुमान है। इस प्रक्रिया का सरलतम उदाहरण इस प्रकार है—किसी पर्वत के उस पार धुआँ उठता हुआ देखकर वहाँ पर आग के अस्तित्व का ज्ञान अनुमिति है और यह ज्ञान जिस प्रक्रिया से उत्पन्न होता है उसका नाम अनुमान है। यहाँ आग प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, केवल धुएँ का प्रत्यक्ष

ज्ञान होता है। पर पूर्वकाल मे अनेक बार कई स्थानो पर आग और धुएँ का साथ साथ प्रत्यक्ष ज्ञान होने से मन मे यह धारणा बन गई है कि जहाँ जहाँ धुआँ होता है वही वही आग भी होती है। अब जब हम केवल धुएँ का प्रत्यक्ष अनुभव करते है और हमको यह स्मरण होता है कि जहाँ जहाँ धुआ है वहाँ वहा आग होती है, तो हम सोचते है कि अब हमको जहाँ धुआँ दिखाई दे रहा है वहाँ आग अवश्य होगी, अतएव पर्वत के उस पार जहाँ हमे इस समय धुएँ का प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है अवश्य ही आग वर्तमान होगी।

इस प्रकार की प्रक्रिया के मुख्य अगो के पारिभाषिक शब्द ये है जिस वस्तु का हमको प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है और जिस ज्ञान के आधार पर हम अप्रत्यक्ष वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त करते है उसे **लिग** कहते है। जिस वस्तु के अस्तित्व का नया ज्ञान होता है उसे साध्य कहते है। पूर्व-प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर उन दोनो के सहअस्तित्व अथवा साहचर्य के ज्ञान को, जो अब स्मृति के रूप मे हमारे मन मे है, **व्याप्ति** कहते है। जिस स्थान या विषय मे लिग का प्रत्यक्ष हो रहा हो उसे **पक्ष** कहते है। ऐसे स्थान या विषय जिनमे लिग और साध्य पूर्वकालीन प्रत्यक्ष अनुभव मे साथ साथ देखे गए हो **सपक्ष** उदाहरण कहलाते है। और, ऐसे उदाहरण जहाँ पूर्वकालीन अनुभव मे साध्य के अभाव के साथ लिग का भी अभाव देखा गया हो, विपक्ष उदाहरण कहलाते है। पक्ष मे लिग की उपस्थिति का नाम है **पक्षधर्मता** और उसका प्रत्यक्ष होना **पक्षधर्मता** ज्ञान कहलाता है। पक्ष-धर्मता ज्ञान जब व्याप्ति के स्मरण के साथ होता है तब उस परिस्थिति को **परामर्श** कहते है। इसी को **लिगपरामर्श** भी कहते है क्योकि पक्षधर्मता का अर्थ है लिग का पक्ष मे उपस्थित होना। इसके कारण और इसी के आधार पर पक्ष मे साध्य के अस्तित्व का जो ज्ञान होता है उसी का नाम अनुमिति है। साध्य को लिगी भी कहते है क्योकि उसका अस्तित्व लिग के अस्तित्व के आधार पर अनुमित किया जाता है। लिग को **हेतु** भी कहते है क्योकि इसके कारण ही हमको लिगी (साध्य) के अस्तित्व का अनुमान होता है। इसलिये तर्कशास्त्र मे अनुमान की यह परिभाषा की गई है—लिगपरामर्श का नाम अनुमान है और व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान परामर्श है।

अनुमान दो प्रकार का होता है—स्वार्थ अनुमान और परार्थ अनुमान, स्वार्थ अनुमान अपनी वह मानसिक प्रक्रिया है जिसमे बार बार के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर अपने मन मे व्याप्ति का निश्चय हो गया हो और फिर कभी पक्षधर्मता ज्ञान के आधार पर अपने मन मे पक्ष मे साध्य के अस्तित्व की अनुमिति का उदय हो गया है जैसा कि ऊपर पर्वत पर अग्नि के अनुमिति ज्ञान मे दिखलाया गया है। यह समस्त प्रक्रिया अपने को समझाने के लिये अपने ही मन की है।

किंतु जब हमको किसी दूसरे व्यक्ति को पक्ष मे साध्य के अस्तित्व का नि शक निश्चय कराना हो तो हम अपने मनोगत को पाच अगो मे, जिनको अवयव कहते है, प्रकट करते है। वे पाच अवयव ये है

प्रतिज्ञा—अर्थात् जो बात सिद्ध करनी हो उसका कथन। उदाहरण . पर्वत के उस पार आग है।

हेतु—क्यो ऐसा अनुमान किया जाता है, इसका कारण अर्थात् पक्ष मे लिग की उपस्थिति का ज्ञान कराना। उदाहरण क्योकि वहाँ पर धुआँ है।

उदाहरण—सपक्ष और विपक्ष दृष्टातो द्वारा व्याप्ति का कथन करना, उदाहरण : जहा जहा धुआ होता है, वहाँ वहाँ आग होती है, जैसे चूल्हे मे, और जहा जहा आग नही होती, वहाँ वहाँ धुआँ भी नही होता, जैसे तालाब मे।

उपनय—यह बतलाना कि यहाँ पर पक्ष मे ऐसा ही लिग उपस्थित है जो साध्य के अस्तित्व का सकेत करता है। उदाहरण यहाँ भी धुआँ मौजूद है।

निगमन—यह सिद्ध हुआ कि पर्वत के उस पार आग है।

भारत मे यह परार्थ अनुमान दार्शनिक और अन्य सभी प्रकार के वाद-विवादो और शास्त्रार्थों मे काम आता है। यह यूनान देश मे भी प्रचलित था और यूक्लिद ने ज्यामिति लिखने मे इसका भली भाँति प्रयोग किया था। अरस्तू को भी इसका ज्ञान था। भारत के दार्शनिको और अरस्तू ने भी पाँच अवयवो के स्थान पर केवल तीन को ही आवश्यक समझा क्योकि प्रथम (प्रतिज्ञा) और पचम (निगमन) अवयव प्राय एक ही है। उपनय तो मानसिक क्रिया है जो व्याप्ति और पक्षधर्मता के साथ सामने होने पर मन मे अपने आप उदय हो जाती है। यदि सुननेवाला बहुत मदबुद्धि न हो, बल्कि बुद्धिमान हो, तो केवल प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवो के कथन मात्र की आवश्यकता है। इसलिये वेदात और नव्य न्याय के ग्रथो मे केवल दो ही अवयवो का प्रयोग पाया जाता है।

भारतीय अनुमान मे आगमन और निगमन दोनो ही अंग है। सामान्य व्याप्ति के आधार पर विशेष परिस्थिति मे साध्य के अस्तित्व का ज्ञान निगमन है और विशेष परिस्थितियो के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर व्याप्ति की स्थापना आगमन है। पूर्व प्रक्रिया को पाश्चात्य देशो मे 'डिडक्शन' और उत्तर प्रक्रिया को 'इडक्शन' कहते है। अरस्तू आदि पाश्चात्य तर्क-शास्त्रियो ने निगमन पर बहुत विचार किया और मिल आदि आधुनिक तर्कशास्त्रियो ने आगमन का विशेष मनन किया।

भारत मे व्याप्ति की स्थापनाय (आगमन) तीन या तीनो मे से किसी एक प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर होती थी। वे ये है (१) केवलान्वय, जब लिग और साध्य का साहचर्य मात्र अनुभव मे आता है, जब उनका सहअभाव न देखा जा सकता हो। (२) केवल व्यतिरेक—जब साध्य और लिग दोनो का सहअभाव ही अनुभव मे आता है, साहचर्य नही। (३) अन्वय व्यतिरेक—जब लिग और साध्य का सहअस्तित्व और सहअभाव दोनो ही अनुभव मे आते हो। आँग्ल तर्क शास्त्री जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपने ग्रथो मे आगमन की पाच प्रक्रियाओ का विशद वर्णन किया है। आजकल की वैज्ञानिक खोजो मे उन सबका उपयोग होता है।

पाश्चात्य तर्कशास्त्र मे अनुमान (इनफरेन्स) का अर्थ भारतीय तर्कशास्त्र मे प्रयुक्त अर्थ से कुछ भिन्न और विस्तृत है। वहाँ पर किसी एक वाक्य अथवा एक से अधिक वाक्यो की सत्यता को मानकर उसके आधार पर अन्य क्या क्या वाक्य सत्य हो सकते है, इसको निश्चित करने की प्रक्रिया का नाम अनुमान है और विशेष परिस्थितियो के अनुभव के आधार पर सामान्य व्याप्तियो का निर्माण भी अनुमान ही है।

सं० ग्रं०—अन्नम् भट्ट तर्कसग्रह, केशव मिश्र भाषापरिच्छेद, भी० ला० आत्रेय दि एलिमेट्स आव इडियन लॉजिक।

[भी० ला० आ०]

अनुराधा

भारतीय ज्योतिर्विदो ने कुल २७ नक्षत्र माने है, जिनमे अनुराधा सत्रहवाँ है। इसकी गिनती ज्योतिष मे देवगण तथा मध्य नाडीवर्ग मे की जाती है जिसपर विवाह स्थिर करने मे गणक विशेष ध्यान देते है। 'अनुराधा नक्षत्र मे जन्म' का पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' मे उल्लेख किया है।

[च० म०]

अनुराधापुर

लका का एक प्राचीन नगर है जो कोलबो के बाद सबसे बडा है। यह लका के उत्तरी मध्यप्रात की राजधानी तथा बौद्धो का प्रसिद्ध तीर्थ है। नगर का स्थापनाकाल ईसा से ५०० वर्ष पूर्व बताया जाता है। जब अशोक के पुत्र महेद्र ने लका के शासको तथा प्रजा को बौद्ध बनाया था, तब भी अनुराधापुर देश की राज-धानी था। नगर मे दो बहुत पुराने रम्य तालाब तथा एक बहुत बडा बौद्ध स्तूप है, जो बौद्धकालीन प्रगति के प्रतीक है। यहाँ एक वृक्ष है जो लोकोक्ति के अनुसार भारतस्थित बोधिगया के वृक्ष की शाखा से उगाया गया था। यह प्राचीन नगर देश का व्यापारिक तथा व्यावसायिक केंद्र है। यहाँ आटा पीसने की चक्कियाँ तथा अन्य बहुत से छोटे मोटे उद्योग धधे है। यहाँ की जनसख्या ३१,६५२ है (१६५१ ई०)। [हि० ह० सिं०]

अनुरूपी निरूपण

एक तल पर बनी किसी आकृति को दूसरे तल पर इस प्रकार चित्रित करने को कि एक आकृति के प्रत्येक बिंदु के लिये दूसरी आकृति मे एक ही संगत बिंदु हो, और इसके अतिरिक्त, दोनो आकृतियो के संगतकोण बराबर हो, **अनुरूपी निरूपण** (कन्फॉर्मल रिप्रेजेंटेशन) कहते है, क्योकि इसमें एक

आकृति का दूसरी आकृति में इस प्रकार निरूपण होता है कि दोनों आकृतियों के छोटे छोटे भाग अनुरूप (सिमिलर) बने रहते हैं।

मान लीजिए कि एक तल में **क ख ग** एक त्रिभुज है और दूसरे तल में **कि, खि, गि** संगत त्रिभुज है। यह आवश्यक नहीं है कि त्रिभुजों की
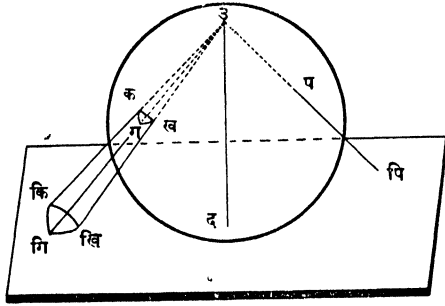
भुजाएँ ऋजु रेखाएँ ही हों। परंतु स्मरण रखना चाहिए कि यदि भुजाएँ वक्र रेखाएँ हों तो भी, जब त्रिभुजों के आकार बहुत छोटे हो जायँगे, हम उन्हें ऋजु रेखाओं के सदृश ही मान सकते हैं।

जब बिंदु **ख, ग** बिंदु **क** की ओर प्रवृत्त होंगे, तब संगत बिंदु **खि, गि** बिंदु कि की ओर प्रवृत्त होंगे। यदि निरूपण अनुरूपी हो तो अंत में त्रिभुज **क ख ग** और **कि खि गि** के संगत कोण समान हो जायँगे और संगत भुजाएँ अनुपाती हो जायँगी। अतः जो दो वक्र क पर मिलते हैं, उनका मध्यस्थ कोण उन दो वक्रों के मध्यस्थ कोण के बराबर होगा जो **कि** पर मिलते हैं।

अनुरूपी निरूपण का सबसे प्रसिद्ध प्रयोग **मर्केटर प्रक्षेप** कहलाता है जिसके द्वारा भूमंडल की आकृतियों का चित्रण समतल पर किया जाता है (देखिए 'मर्केटर प्रक्षेप')।

लैंबर्ट ने सन् १७७२ में उक्त प्रश्न का अधिक व्यापक रूप से अध्ययन किया। पीछे लैग्रांज ने बताया कि इस विषय का संमिश्र चर के फलनों (फंकशंस ऑव ए कंप्लेक्स वेरिएबुल) से क्या संबंध है। सन् १८२२ में कोपिनहैगन की विज्ञान परिषद् ने एक पुरस्कार के लिये यह विषय प्रस्तावित किया कि "एक तल के विभिन्न भाग दूसरे तल पर इस प्रकार कैसे चित्रित किए जायँ कि प्रतिबिंब के छोटे से छोटे भाग मौलिक तल के संगत भागों के अनुरूप हों?" गाउस ने सन् १८२५ में इस समस्या का हल निकाला और वहीं से इस विषय के व्यापक सिद्धांत का आरंभ हुआ। पिछले ५० वर्षों में इस क्षेत्र के अन्य कार्यकर्ताओं में रीमान, श्वार्ज़ और क्लाइन उल्लेखनीय हैं।

मान लीजिए कि **स**=**श**(य, र)+**श्र ष**(य, र) संमिश्र राशि **ल**=**य**+**श्र** र का एक वैश्लेषिक फलन है, जिसमें श्र=$\sqrt{(-१)}$। यह सरलता से सिद्ध किया जा सकता है कि फलन की वैश्लेषिकता के लिये आवश्यक और पर्याप्त शर्तें ये हैं :—

$$\frac{त श}{त य}=\frac{त ष}{त र},\quad \frac{त श}{त र}=-\frac{त ष}{त य}।$$

इन समीकरणों को **कोशी-रीमान समीकरण** कहते हैं। जब ये समीकरण संतुष्ट हो जाते हैं तब, यदि हम **य, र** समतल की किसी आकृति का निरूपण **श, ष** समतल पर करें, तो निरूपण अनुरूपी होगा और कोणों में कोई परिवर्तन नहीं होगा। इसके लिये यह आवश्यक है कि दोनों फलन **श** तथा **ष** सतत हों और उनके चारों आंशिक अवकल गुणक

$$\frac{त श}{त य},\ \frac{त श}{त र},\ \frac{त ष}{त य},\ \frac{त ष}{त र}$$

भी सतत हों। आकृतियों की अनुरूपता केवल उन बिंदुओं पर टूटेगी जहाँ उपरिलिखित चारों अवकल गुणक शून्य हो जायँगे।

उदाहरण के लिये हम कोई भी वैश्लेषिक फलन स=फ(ल) ले सकते हैं, जैसे $ल^२$, कोज्या ल अथवा ज्या ल। यदि हम स=$ल^२$=$(य+श्र र)^२$ लें तो श=$य^२-र^२$ और **ष**=२ य र।

फिर $$श=य^२-\frac{ष^२}{४य^२},\quad श=\frac{ष^२}{४र^२}-र^२।$$

यदि हम **य**, **र** समतल में ऋजु रेखाओं की दो संहतियाँ **य**=**क**, **र**=**ख** लें, जो परस्पर लंब हों, तो श, **ष** समतल में उनकी संगत आकृतियाँ परवलय होंगी : $ष^२=४क^२(क^२-श)$ और $ष^२=४ख^२(ख^२+श)$ जो सम-नाभि और समकोणीय हैं। स्पष्ट है कि य, र समतल के समकोण श, ष समतल में भी समकोणों से ही निरूपित होते हैं।

इसी प्रकार यदि हम **श**, ष समतल में दो रेखापुंज लें : श=ग, ष=**घ**, जो समकोणीय है, तो **य**, र समतल पर आयताकार अतिपरवलय $य^२-र^२$= ग और २ **य र**=**घ** उनकी संगत आकृतियाँ होंगी। स्पष्ट है कि इस निरूपण में भी आकृतियों के कोण-गुण अक्षुण्ण बने रहते हैं।

सं०ग्रं०—ए० आर० फ़ोरसाइथ : थ्योरी ऑव फ़ंक्शंस; डब्लू० एफ़० ऑसगुड : कनफ़ार्मल रिप्रेज़ेंटेशन ऑव वन सर्फ़ेस अपॉन अनदर।

[बृ० मो०]

अनुर्वरता

संतानोत्पत्ति की असमर्थता को अनुर्वरता कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, उस अवस्था को अनुर्वरता कहते हैं जिसमें पुरुष के शुक्राणु और स्त्री के डिंब का संयोग नहीं हो पाता, जिससे उत्पत्ति-क्रम प्रारंभ नहीं होता। यह दशा स्त्री और पुरुष दोनों के या किसी एक के दोष से उत्पन्न हो सकती है। संतानोत्पत्ति के लिये आवश्यक है कि स्वस्थ शुक्राणु अंडग्रंथि में उत्पन्न होकर मूत्रमार्ग में होते हुए मैथुन क्रिया द्वारा योनि में गर्भाशय के मुख के पास पहुँच जाय और वहाँ से स्वस्थ गर्भाशय की ग्रीवा में होता हुआ डिंबवाहनी में पहुँचकर स्वस्थ डिंब का, जो डिंबग्रंथि से निकलकर वाहनी के झालरदार मुख में आ गया है, संसेचन करे। इसी के पश्चात् उत्पत्तिक्रम प्रारंभ होता है। यदि स्वस्थ शुक्राणु और डिंब की उत्पत्ति नहीं होती, या उनके निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचने में कोई बाधा उपस्थित होती है, तो डिंब और शुक्राणु का संयोग नहीं हो पाएगा और उसका परिणाम अनुर्वरता होगा। मानसिक दशा भी कभी कभी इसका कारण हो जाती है। यह अनुमान किया गया है कि प्रायः दस प्रति शत विवाह अनुर्वर होते हैं।

कारण—पुरुष में अनुर्वरता के दो प्रकार के कारण हो सकते हैं :

(१) अंडग्रंथि में बनकर शुक्राणु के निकलने पर योनि तक पहुँचने के मार्ग में कोई रुकावट।

(२) अंडग्रंथियों की शुक्राणुओं को उत्पन्न करने में असमर्थता।

रुकावट का मुख्य स्थान मूत्रमार्ग है जहाँ गोनोमेह (सूज़ाक, गनोरिया) रोग के कारण ऐसा संकोच (स्टेनोसिस) उत्पन्न हो जाता है कि वीर्य उसके द्वारा प्रवाहनलिका की यात्रा पूरी नहीं कर पाता। स्खलन-नलिका, शुक्र-वाहनी-नलिका, अथवा उपांड या शुक्राशय की नलिकाओं में भी ऐसा ही संकोच उत्पन्न हो सकता है। जिन व्यक्तियों में इस रोग में दोनों ओर के उपांड आक्रांत हुए रहते हैं उनमें से ३० प्रति शत व्यक्ति अनुर्वर पाए जाते हैं। अन्य संक्रमणों से भी यही परिणाम हो सकता है, किंतु ऐसा अधिकतर गोनोमेह से ही होता है। अंडग्रंथियों में शुक्राणुउत्पत्ति पर एक्स-रे का बहुत हानिकारक प्रभाव पड़ता है, यद्यपि ग्रंथियों में अन्य स्राव पूर्ववत् ही बने रहते हैं। इसी प्रकार अन्य संक्रामक रोगों में भी, जैसे न्यूमोनिया, टाइफ़ाइड आदि में, शुक्राणु उत्पत्ति रुक जाती है। अंडग्रंथि में शोथ या पूयोत्पादन होने से (जिसका कारण प्रायः गोनोमेह होता है) शुक्राणु-उत्पत्ति सदा के लिये नष्ट हो जा सकती है। अन्य अंतःस्रावी ग्रंथियों से भी, विशेषकर पिट्युटरी के अग्रभाग से, इस क्रिया का बहुत संबंध है। आहार पर भी कुछ सीमा तक शुक्राणुउत्पत्ति निर्भर रहती है। विटामिन ई इसके लिये आवश्यक माना जाता है।

पुरुषों की भाँति स्त्रियों में भी एक्स-रे और संक्रमण से डिंबग्रंथि की डिंबोत्पादन क्रिया कम या नष्ट हो सकती है। गोनोमेह के परिणाम

स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा अधिक भयंकर होते हैं। डिंब के मार्ग में वाहनी के मुख पर, या उसके भीतर, शोथ के परिणामस्वरूप संकोच बनकर अवरोध उत्पन्न कर देते हैं। गर्भाशय की अंतर्कला में शोथ होकर और उसके पश्चात् सौत्रिक-ऊतक बनकर कला को गर्भधारण के अयोग्य बना देते हैं। गर्भाशय की ग्रीवा तथा योनि की कला में शोथ होने से शुक्राणु का गर्भाशय में प्रवेश करना कठिन होता है।

कुछ रोगियों में डिंबग्रंथि तथा गर्भाशय अविकसित दशा में रह जाते हैं। तब डिंबग्रंथि डिंब उत्पन्न नहीं कर पाती और गर्भाशय गर्भ धारण नहीं करता।

दशा के कारणों का अन्वेषण करके उन्हीं के अनुसार चिकित्सा की जाती है। [मु० स्व० व०]

अनुलोम विवाह के अर्थ में 'अनुलोम' एवं 'प्रतिलोम' शब्दों का व्यवहार वैदिक साहित्य में नहीं पाया जाता। पाणिनि (चतुर्थ, ४.२८) ने इन शब्दों से व्युत्पन्न शब्द अष्टाध्यायी में गिनाए हैं और इसके बाद स्मृतिग्रंथों में इन शब्दों का बहुतायत से प्रयोग होता दिखाई देता है (दे०, गौतम धर्मसूत्र, चतुर्थ १४-१५; मनु०, दशम, १३; याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रथम, ६५, वशिष्ठ०; १८.७), जिससे अनुमान होता है कि उत्तर वैदिक काल के समाज में अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाहों का प्रचार बढ़ा।

अनुलोम विवाह का सामान्य अर्थ है अपने वर्ण से निम्नतर वर्ण में विवाह करना। इसके विपरीत किसी निम्नतर वर्ण के पुरुष और उच्चतर वर्ण की कन्या के बीच संबंध का स्थापित होना प्रतिलोम कहलाता है (दे० प्रतिलोम)। प्रायः धर्मशास्त्रों की परीक्षा इसी सिद्धांत का प्रतिपादन करती हैं कि अनुलोम विवाह ही शास्त्रकारों को मान्य थे, यद्यपि दोनों प्रकार के दृष्टांत स्मृतिग्रंथों में मिलते हैं। अनुलोम विवाह से उत्पन्न संतान के विषय में ऐसा सामान्य मत जान पड़ता है कि उसे माता के वर्ण के अनुरूप मानते थे। इसका एक विपरीत उदाहरण बौद्ध जातकों में फ़िक ने 'भद्दसाल जातक' में ढूँढ़ा है; जिसके अनुसार माता का कुल नहीं देखा जाता, पिता का ही कुल देखा जाता है। अनुलोम से उत्पन्न संतानों और प्रजातियों के संबंध में विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न मत पाए जाते हैं जिन सबका यहाँ उल्लेख करना कठिन है। मनु के अनुसार अंबष्ठ, निषाद और उग्र अनुलोम विवाहों से उत्पन्न जातियाँ थीं।

ऐसे अनुलोम विवाहों के उदाहरण भारत में मध्यकाल तक काफी पाए जाते हैं। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' से पता चलता है कि अग्निमित्र ने, जो ब्राह्मण था, क्षत्राणी मालविका से विवाह किया था। चंद्रगुप्त द्वितीय की राजकन्या प्रभावती गुप्ता ने वाकाटक 'ब्राह्मण' रुद्रसेन द्वितीय से विवाह किया और उसकी पट्टमहिषी बनी। कदंबकुल के सम्राट् काकुत्स्थवर्मा (एपि० इंडिका, भाग ८, पृष्ठ २४) के तालगुंड अभिलेख से विदित होता है कि कदंबकुल के संस्थापक मयूर शर्मा ब्राह्मण थे, उन्होंने कांची के पल्लवों के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण किया। अभिलेख से पता चलता है कि काकुत्स्थ वर्मा (मयूर शर्मा के चतुर्थ वंशज) ने अपनी कन्याएँ गुप्तों तथा अन्य नरेशों में ब्याहीं थीं। आगे चलकर ऐसे विवाहों पर प्रतिबंध लगने आरंभ हो गए। (दे० प्रतिलोम)। [चं० म०]

सं० ग्रं०—काणे : हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीटयूट पूना, १९४१।

अनुशासन १. वह विधान जो किसी संस्था, वर्ग अथवा समुदाय के सब सदस्यों को उसके अनुसार सम्यक् रूप से कार्य अथवा आचरण करने के लिये विवश करे। २. नियम, यथा ऋण के संबंध में मनु का अनुशासन, शब्दों के संबंध में पाणिनि का शब्दानुशासन तथा लिंगानुशासन। ३. महाभारत का १३वाँ पर्व—अनुशासन पर्व (इसमें उपदेशों का वर्णन है, इसलिये इसका नाम अनुशासन पर्व रखा गया है)। ४. विनय (डिसिप्लिन) (मनु० २, १५९, टीका—शिष्याणां प्रकरणात् श्रेयोऽर्थम् अनुशासनम्)। [वि० ना० चौ०]

अनुशय बौद्ध परिभाषा के अनुसार संसार का मूल अनुशय है। (१) राग-तृष्णा, (२) प्रतिध-द्वेष, (३) मान, (४) अविद्या-विद्या का विरोधी तत्व, (५) दृष्टिविशेष प्रकार की मान्यता या दर्शन, जैसे सत्कायदृष्टि, मिथ्यादृष्टि आदि, और (६) विचिकित्सा-संशय, ये छः 'अनुशय' हैं। ये ही अनुशय संयोजन, बंधन, ओघ, आस्रव आदि शब्दों द्वारा भी व्यक्त किए गए हैं। अन्य दर्शनों में वासना, कर्म, अपूर्व, अदृष्ट, संस्कार आदि नाम से जिस तत्व का बोध होता है उसे बौद्धों ने अनुशय कहा है। अनुशय की हानि का उपाय विशेष रूप से बौद्धों ने बताया है।

सं० ग्रं०—अभिधर्मकोष, पंचम कोषस्थान। [द० मा०]

अनुहरण (नकल करना) उस बाहरी समानता को कहते हैं जो कुछ जीवों तथा अन्य जीवों या आसपास की प्राकृतिक वस्तुओं के बीच पाई जाती है, जिससे जीव को छिपने में सुगमता, सुरक्षा अथवा अन्य कोई लाभ प्राप्त होता है। अंग्रेजी में इसे मिमिकरी कहा जाता है। ऐसा बहुधा पाया जाता है कि कोई जंतु किसी प्राकृतिक वस्तु के इतना सदृश होता है कि भ्रम से वह वही वस्तु समझ लिया जाता है। भ्रम के कारण उस जंतु की अपने शत्रुओं से रक्षा हो जाती है। इस प्रकार के रक्षक सादृश्य के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इसमें मुख्य भाव निगोपन का होता है। एक जंतु अपने पर्यावरण (एनवायरनमेंट) के सदृश होने के कारण छिप जाता है। गुप्तपाषाण (क्रिप्टोलिथोड्स) जाति का केकड़ा ऐसा चिकना, चमकीला, गोल तथा श्वेत होता है कि उसका प्रभेद समुद्र के किनारे के स्फटिक के रोड़ों से, जिनके बीच वह पाया जाता है, नहीं किया जा सकता। ज्यामितीय शलभ (जिऑमेट्रिकल माथ्स) की इल्लियों (कैटरपिलरों) का रूपरंग उन पौधों की शाखाओं और पल्लवों के सदृश होता है, जिनपर वे रहते हैं (चित्र देखें)।
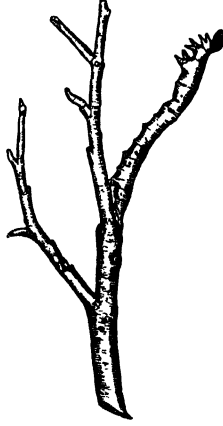
ज्यामितीय शलभ की इल्ली
डंठल की आकृति की होने के कारण बहुधा इसके शत्रु धोखे में पड़े रहते हैं।

यह सादृश्य इस सीमा तक पहुँच जाता है कि मनुष्य की आँखों को भी भ्रम हो जाता है। रक्षक सादृश्य छद्मिन नामक प्राणियों में प्रचुरता से पाया जाता है। ये इतने हरे और पर्ण सदृश होते हैं कि पत्तियों के बीच वे पहचाने नहीं जा सकते। इसका एक सुंदर उदाहरण पत्रकीट (फ़िलियम, वाकिंग लीफ़) है। इसी प्रकार अनेक तितलियाँ भी पत्ता के सदृश होती हैं। पर्णचित्र पतंग (कैलिमा पैरालेक्टा) एक भारतीय तितली है। जब यह कहीं बैठती है और अपने परों को मोड़ लेती है, तो उसका पर एक सूखा पत्ता जैसा मालूम होता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक पर के ऊपर (तितली के बैठने पर परों की मुड़ी हुई अवस्था में) एक मुख्य शिरा (वेन) दिखाई पड़ती है जिससे कई एक पार्श्वीय लघु शिराएँ निकलती हैं। यह पत्तों की मध्यनाड़ी तथा पार्श्वीय लघुनाड़ियों के सदृश होते हैं। परों पर एक काला धब्बा भी होता है, जो किसी कृमि के खाने से बना हुआ छिद्र जान पड़ता है। कुछ भूरे रंग के और भी धब्बे होते हैं जिनसे पत्ती के उपक्षय का आभास होता है।

पर्ण-चित्र पतंग
पत्ती की आकृति की होने के कारण इसकी जान बहुधा बच जाती है।

उपरिलिखित उदाहरणों में निगोपन का उद्देश्य शत्रुओं से बचने अर्थात् रक्षा का है। किंतु निगोपन का प्रयोजन आक्रमण भी होता है। ऐसे अभ्याक्रामी सादृश्य के उदाहरण मांसाहारी जंतुओं में मिलते हैं। कुछ
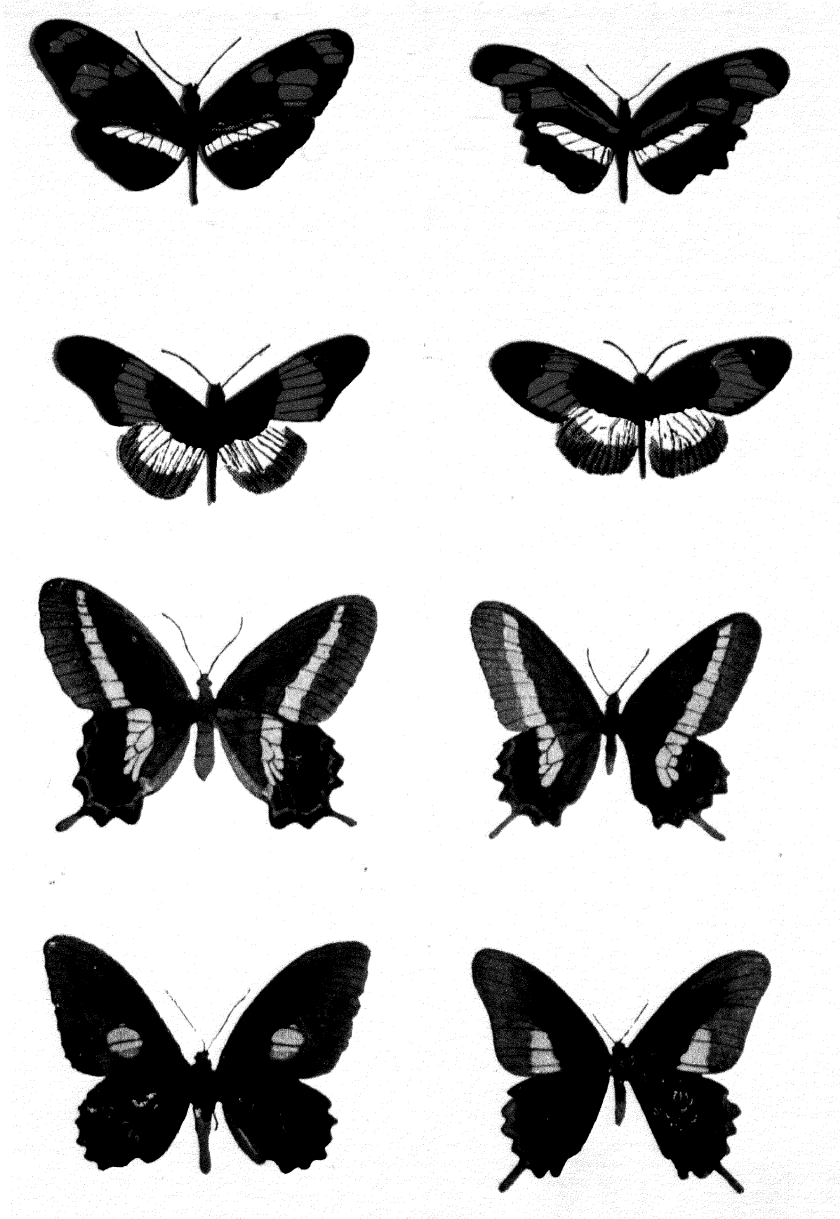
अनुहरण

प्रत्येक पक्ति में बाईं ओर प्रारूप और दाहिनी ओर अनुहारी रूप है (देखे पृष्ठ १२६)। क्रमानुसार इनके नाम ये है हेलिकोनियम टेलिसिफे और कोलीनिस टेलिसिफे, प्लैनेमा मैकारिस्टा (नर) और स्यूडाक्रेइया होलिलाइ (नर), पैपीलियो नेफालियन और पैपीलियो लिसिथस लिसिथस, पैपीलियो चैमिस्मोनिया और पपीलियो लिसिथस रूरिक।

मांसाहारी जंतु अपने पर्यावरण के सदृश होने के कारण पार्श्वभूमि में लुप्त हो जाते हैं और इस कारण अपने भक्ष्य जंतुओं को दिखाई नहीं पड़ते। कई एक मकड़े ऐसे होते हैं जो फूलों पर रहते हैं और जिनके शरीर का रंग फूलों के रंग से इतना मिलता जुलता है कि वे उनके मध्य बड़ी सुगमता से लुप्त हो जाते हैं। वे कीट जो उन पुष्पों पर जाते हैं, इन मकड़ों को पहचान नहीं पाते और इनके भोज्य बन जाते हैं।

प्राकृतिक वस्तुओं, जैसे जड़ों तथा पत्तों, से जंतुओं के सादृश्य को भी कुछ प्राणिविज्ञ अनुहरण ही समझते हैं, किंतु अधिकांश जीववैज्ञानिक अनुहरण को एक पृथक् घटना समझते हैं। वे किसी जंतुजाति के कुछ सदस्यों के एक भिन्न जंतुजाति के सदृश होने को ही अनुहरण कहते हैं। कई एक ऐसे जंतु जो खाने में अरुचिकर अथवा विषैले होते हैं और छेड़ने पर हानिकारक हो सकते हैं, चटक रंग के होते हैं तथा उनके शरीर पर विशेष चिह्न रहते हैं। इसलिये उनके शत्रु उनको तुरंत पहचान लेते हैं और उन्हें नहीं छेड़ते। कुछ ऐसे जंतु, जिनके पास रक्षा का कोई विशेष साधन नहीं होता इन हानिकारक और अभ्याक्रामी जंतुओं के समान ही चटक रंग के होते हैं तथा उनके शरीर पर भी वैसे ही चिह्न होते हैं और धोखे में उनसे भी शत्रु भागते हैं। उदाहरणतः, कई एक अहानिकर जाति के सर्प प्रवाल-सर्पो (कोरल स्नेक्स) की भाँति रंजित तथा चिह्नित होते हैं; इसी प्रकार कुछ अहानिकर भृंग (बीटल) देखने में बर्रें (ततैया, वास्प) के सदृश होते हैं और कुछ शलभ मधुमक्खी के सदृश होते हैं और इस प्रकार उनके शत्रु उन्हें नहीं पकड़ते।

अरुचिकर और विषैले जंतुओं के शरीर पर के चिह्न तथा रंगों की शैली और उनके चटक रंग का उद्देश्य चेतावनी देना है। उनके शत्रु कुछ अनुभव के पश्चात् उनपर आक्रमण करना छोड़ देते हैं। अन्य जातियों के सदस्य जो ऐसी हानिकर जातियों के रंग रूप की नकल करते हैं, हानिकर समझकर छोड़ दिए जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि अनुहरण और रक्षक-सादृश्य में आमूल भेद है। रक्षकसादृश्य किसी जंतु का किसी ऐसी प्राकृतिक वस्तु या फल अथवा पत्ते के सदृश होना है, जिनमें उनके शत्रुओं का किसी प्रकार का आकर्षण नहीं होता। इसका संबंध निगोपन से है। इसके विपरीत प्राबोधी अनुहरण एक जंतु का किसी ऐसी भिन्न जाति के सदृश होना है जो अपने हानिकर होने की चेतावनी अपने अभिदृश्य चिह्नों द्वारा शत्रुओं को देती है। अनुहरण करनेवाले जंतु छिपते नहीं, प्रत्युत वे चेतावनीसूचक रंग रूप धारण कर लेते हैं।

यद्यपि अनुहरण अनेक श्रेणी के जंतुओं में पाया जाता है, जैसे मत्स्य (पिसीज़); सरीसृप (रेप्टिलिआ); पक्षिवर्ग (एवीज); स्तनधारी (मैमेलिआ) इत्यादि में, तो भी इसका अनुसंधान अधिकतर कीटों में ही हुआ है।

बेट्सियन अनुहरण—प्राणिविज्ञ बेट्स को अमेज़न नदी के प्रदेशों में शाकतितील-वंश (पाइरिनी) की कुछ ऐसी तितलियाँ मिलीं जो इथोमिइनी-वंश की तितलियों के सदृश थी। वालेस को पूर्वी प्रदेशों की कुछ तितलियों के संबंध में भी ऐसा ही अनुभव हुआ। पैपिलियो पौलीटैस तितली की मादाएँ तीन प्रकार की होती हैं। कुछ तो नर तितली के ही रंग-रूप की होती हैं, कुछ पैपिलियो अरिस्टोलोकिआई के सदृश होती हैं, और कुछ पैपिलिओ हैक्टर के सदृश होती हैं। इसी प्रकार ट्राइमेन ने ज्ञात किया कि मलाया की तितली, पैपिलियो डारडैनस, की मादाएँ उस जाति के नरों से भिन्न रूप की होती हैं और उसी देश में पाई जानेवाली अनेक प्रकार की विभिन्न तितलियों से मिलती जुलती है। इन घटनाओं से यह ज्ञात होता है कि वे तितलियाँ जो अपने हिंसकों के लिये अरुचिकर भोजन नहीं हैं (जैसे शाक-तितील-वंश की तितलियाँ, पैपिलियो पौलीटैस, पैपिलियो डारडैनस, इत्यादि), उन तितलियों का रंगरूप धारण कर लेती हैं जो अपने शत्रुओं को खाने में अरुचिकर ज्ञात होती हैं (जैसे इथोमिइनी वंश की तितलियाँ, पैपिलियो अरिस्टोलाकिआई, पैपिलियो हैक्टर, इत्यादि)।

प्राणिविज्ञों का कहना है कि अरुचिकर तितलियों के पंखों का चटक रंग अभिदृश्य चिह्न तथा विशेष चित्रकारी उनके पित्रैकों (जीन्स) पर प्राकृतिक चुनाव के प्रभाव के कारण विकसित हुई है। उनके चिह्न ऐसे हैं कि उनके शत्रु उनको सहज में ही पहचान लेते हैं और अनुभव के पश्चात् इन तितलियों को अरुचिकर जानकर इन्हें मारना बंद कर देते हैं। जीवनसंघर्ष में इन आकृतियों का सदैव ही विशेष मूल्य रहा है, क्योंकि ये इस संघर्ष में रक्षा के साधन थे। इसी कारण ये विकसित हुए। रुचिकर तितलियों के पंखों पर भी अरुचिकर तितलियों के पंखों के सदृश चिह्नों और चित्रकारी का विकास प्राकृतिक चुनाव के प्रभाव के कारण ही हुआ, क्योंकि रंग रूप की यह अनुकृति जीवन संघर्ष में उनकी रक्षा का साधन हो सकती थी। सारांश यह कि अनुहरण के विकास का कारण प्राकृतिक चुनाव है।

तितलियों के कुछ अनुवंश ऐसे हैं जिनका अन्य वंश की तितलियाँ अनुहरण करती हैं। ये हैं राजपतंगानुवंश (डैनेआइनी) तथा ऐक्रिआइनी पुरानी दुनिया में और इथोमिइनी तथा हेलीकोनिनी नई दुनिया में। नई दुनिया में कुछ राजपतंगानुवंश की और अनेक ऐक्रिआइनी अनुवंश की तितलियाँ भी ऐसी ही हैं। फिलिपाइन टापुओं की तितली हैस्टिया लिडकोनो श्वेत और श्याम रंग की होती है और इसके पंख कागज के समान होते हैं। फिलिपाइन की एक दूसरी तितली पैलिलियो ईडियाइडीज़ इसका रूप धारण करती है। इसी प्रकार तितली ऊप्लीआज़ मिडैमस का अनुहरण पैपिलियो पैराडौक्सस करती है। अफ्रीका में राजपतंगानुवंश की तितलियाँ कम होती हैं, तब भी वे तितलियाँ, जिनका अन्य तितलियाँ अनुहरण करती हैं, इसी अनुवंश की हैं। ये ऐमोरिस प्रजाति की होती हैं। ये तितलियाँ काली होती है और काली पृष्ठभूमि पर श्वेत और पीले चिह्न होते हैं। डैनेअस प्लैक्सीप्पस का अनुहरण बैसिलार्किया आरकिप्पस करती है। डैनेअस प्लैक्सीप्पस और उसका अनुहरण करनेवाले उत्तरी अमरीका में मिलते हैं। डैनेआइनी अनुवंश की तितलियाँ पूर्वी प्रदेशों की रहनेवाली हैं और यहाँ से ही वे अफ्रीका और अमेरिका पहुँची हैं। इन प्रवाजी तितलियों का रूप तथा आकार पूर्वी डैनेआइनी अनुवंश की तितलियों का सा होता है और उत्तरी अमरीका और अफ्रीका की तितलियों की कुछ जातियाँ उनका अनुहरण करती हैं।

यह देखा गया है कि नर की अपेक्षा मादा अधिक अनुहरण करती है। जब नर और मादा दोनों ही अनुहरण करते हैं तो मादा नर की अपेक्षा अनुकृत के अधिक समान होती है (अनुकृत=वह जिसका अनुहरण किया जाय)। इस संबंध में यह स्मरण रखने योग्य बात है कि मादा तितली में नर की अपेक्षा परिवर्तनशक्यता अधिक पाई जाती है। स्पष्ट है कि मादा में परिवर्तनशक्यता अधिक होने के कारण, प्राकृतिक चुनाव का कार्य अधिक सुगम हो जाता है और परिणाम अधिक संतोषजनक होता है, अर्थात् अनुकारी अधिक मात्रा में अनुकृत के समान होता है।

मुलेरियन अनुहरण—उपरिलिखित उदाहरण बेट्सियन अनुहरण के हैं। यह नाम इसलिय पड़ा है कि इसे सर्वप्रथम बेट्स ने ज्ञात किया था। परंतु इस अन्वेषण के पश्चात् इसीसे संबंधित एक और विचित्र घटना का ज्ञान प्राणिविज्ञों को हुआ। यह देखा गया कि कुछ भिन्न भिन्न, अरुचिकर तथा हानिकर जातियों की तितलियों के रंग, रूप, आकार भी एक समान हैं। यह स्पष्ट है कि जो जातियाँ स्वयं अरुचिकर और हानिकर हैं उन्हें किसी दूसरी हानिकर जाति की नकल करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह देखा गया कि इथोमिइनी और हेलिकोनिनी अनुवंश की तितलियाँ, जो दोनों ही अरुचिकर हैं, समान आकृति की होती हैं। इस घटना को मुलेरियन अनुहरण कहते हैं, क्योंकि इसकी संतोषजनक व्याख्या फ्रिट्ज़ मुलर ने की। मुलर ने बताया कि इस प्रकार के अनुहरण में जितनी जातियों की तितलियाँ भाग लेती हैं उन सबको जीवनसंघर्ष में लाभ होता है। यह स्पष्ट है कि तितलियों के शत्रुओं द्वारा इस बात का अनुभव प्राप्त करने में कि अमुक रूप रंग की तितलियाँ हानिकर हैं, बहुत सी तितलियों की जान जाती है। जब कई एक अरुचिकर जाति की तितलियाँ एक समान रंग या रूप धारण कर लेती हैं तो शत्रुओं की शिक्षा के लिये अनिवार्य जीवनाश कई जातियों में बँट जाता है और किसी एक जाति के लिये जीवनहानि की मात्रा कम होती है।

वालेस के अनुसार प्रत्येक अनुहरण में पाँच बातें होनी चाहिए। ये निम्नलिखित हैं :

(१) अनुकरण करनेवाली जाति उसी क्षेत्र में और उसी स्थान पर पाई जाय जहाँ अनुकृत जाति पाई जाती है।

(२) अनुकरण करनेवाले अनुकृत से अधिक असुरक्षित हों।

(३) अनुकरण करनेवाले अनुकृत से संख्या में कम हों।

(४) अनुकरण करनेवाले अपने निकट के संबंधियों से भिन्न हों।

(५) अनुकरण सदैव बाह्य हो। यह कभी आंतरिक संरचनाओं तक न पहुँचे।

पहली बात की अधिकांश स्थितियों में पूर्ति हो जाती है, परंतु सदैव नहीं। ऐग्रेलिस हाइपोलिमनस नामक तितली डानाइस प्लैक्सिप्पस का रूप धारण करती है। दोनों ही लंका में मिलती हैं, किंतु भिन्न भिन्न स्थानों पर। यह कहा जाता है कि इसका कारण यह है कि इनके शत्रु प्रव्राजी पक्षी हैं, जो एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते रहते हैं और एक जगह प्राप्त अनुभव का प्रयोग दूसरी जगह कर सकते हैं। इसी प्रकार हाइपोलिम्नस मिसिप्पस नामक तितली अफ्रीका, भारत और मलाया में मिलती है। इसके नर का अनुहरण अथाइमा पैकटेटा और लिमेनाइटिस ऐल्बोमैकुलाटा करती हैं, किंतु ये दोनों जातियाँ चीन में पाई जाती हैं। इसकी व्याख्या भी इसी बात पर आश्रित है कि इनके शत्रु प्रव्राजी पक्षी हैं। दूसरे नियम की भी लगभग सभी स्थितियों में पूर्ति होती है।

तीसरे नियम की पूर्ति कुछ स्थितियों में ही होती है, सदैव नहीं। पैपिलियो पौलीटैस अपने अनुकृत की दोनों जातियों की अपेक्षा संख्या में अधिक होती है। इसी प्रकार आरकोनिआस टेरिआस नामक तितली और आरकोनिआस टिटिआस अपने अनुकृत से संख्या में अधिक होती हैं। इस स्थिति की व्याख्या इस आधार पर की जाती है कि ये घटनाएँ बेट्सियन अनुहरण की नहीं, मुलेरियन अनुहरण की हैं।

अनुहरण करनेवाली तितलियों पर जनन संबंधी कुछ प्रयोग भी किए गए हैं। पैपिलियो पौलीटैस का अनुकारी रूप एक जोड़ा पित्रैक (जीन) के कारण विकसित होता है, जो साधारण पित्रैकों को दबा देता है। यह नर में भी वर्तमान रहता है, किंतु इसका प्रभाव नर में विद्यमान एक अन्य दमनकारी पित्रैक के कारण दब जाता है। कुछ लोगों की धारणा यह भी है कि सादृश्य का कारण अनुहरण नहीं है। उनके मतानुसार ऐसा सादृश्य एक स्थान के रहनेवाले वंशों में पर्यावरण (एनवायरनमेंट) या लैंगिक चुनाव के प्रभाव से, अथवा मानसिक अनुभव के प्रतिचार (रेसपौंस) के कारण उत्पन्न हो जाता है। पर इन आधारों पर अंतर्वंशीय सादृश्य की सब घटनाओं की व्याख्या नहीं की जा सकती। [मु० ला० श्री०]

अनुयोग जैन आगमों की व्याख्या का नाम अनुयोग है। प्राचीन काल में आगम के प्रत्येक वाक्य की व्याख्या नयों के आधार पर होती थी किंतु आगे चलकर मंदबुद्धि पुरुषों की अपेक्षा से आर्यरक्षित ने शास्त्रों के अनुयोग को चार प्रकार से विभक्त किया, यथा १ द्रव्यानुयोग, अर्थात् तत्वविचारणा, २ गणितानुयोग, अर्थात् लोकसंबंधी गणित की विचारणा, ३ चरणकरणानुयोग, अर्थात् साधु के आचार की विचारणा, और ४ धर्मकथानुयोग, अर्थात् धर्मबाधक कथाएँ। इन अनुयोगों के आधार पर तत्तद्विषयों के प्राधान्य को लेकर शास्त्रों का भी विभाग किया जाने लगा, जैसे आचारांग आदि को चरणकरणानुयोग में, उवासग दसा आदि को धमकथानुयोग में, जंबूदीव पण्णत्ति आदि को गणितानुयोग में और पन्नवणा आदि को द्रव्यानुयोग में शामिल किया गया। अनुयोग की प्रक्रिया का वर्णन करनेवाला प्राचीन ग्रंथ अनुयोगद्वार है जिसमें आवश्यक सूत्र के सामयिक अध्ययन की व्याख्या की गई है। उसी प्रक्रिया से व्याख्याकारों ने अन्य शास्त्रों की भी व्याख्या की है।

सं०ग्रं०—अनुयोगद्वार सूत्र, विशेषत उसके ५९वें सूत्र की व्याख्या। [द० मा०]

अनुविधि राज्य की प्रभुत्वसंपन्न शक्ति द्वारा निर्मित कानून को अनुविधि कहते हैं। अन्यान्य देशों में अनुविधिनिर्माण की पृथक् पृथक् प्रणालियाँ हैं जो वस्तुत उस राज्य की शासनप्रणाली के अनुरूप होती हैं।

अंग्रेजी अनुविधि—अंग्रेजी कानून में जो अनुविधि है उसमें सन् १२३५ ई० का 'स्टैट्यूट ऑव मर्टन' सबसे प्राचीन है। प्रारंभ में सभी अनुविधियाँ सार्वजनिक हुआ करती थीं। रिचर्ड तृतीय के काल में इसकी दो शाखाएँ हो गईं—सार्वजनिक अनुविधि तथा निजी अनुविधि। वर्तमान अनुविधियाँ चार श्रेणियों में विभक्त हैं —१ सार्वजनिक साधारण अधिनियम, २ सार्वजनिक स्थानीय तथा व्यक्तिगत अधिनियम, ३ निजी अधिनियम जो सम्राट् के मुद्रक द्वारा मुद्रित होते हैं, ४ निजी अधिनियम जो इस प्रकार मुद्रित नहीं होते। निजी अधिनियमों का अब व्यवहार रूप में लोप होता जा रहा है।

भारतीय अनुविधि—प्राचीन भारत में कोई अनुविधि प्रणाली नहीं थी। न्याय सिद्धांत एवं नियमों का उल्लेख मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, व्यास, बृहस्पति, कात्यायन आदि स्मृतिकारों के ग्रंथों में तथा बाद में उनके भाष्यों में मिलता है। मुस्लिम विधि प्रणाली में भी अनुविधियाँ नहीं पाई जातीं। अंग्रेजी राज्य के प्रारंभ में कुछ अनुविधियाँ 'विनियम' के रूप में आईं। बाद में अनेक प्रमुख अधिनियमों का निर्माण हुआ, जैसे 'इंडियन पेनल कोड', 'सिविल प्रोसीजर कोड', 'क्रिमिनल प्रोसीजर कोड', 'एविडेंस ऐक्ट', आदि। सन् १९३५ ई० के 'गवर्नमेंट ऑव इंडिया ऐक्ट' के द्वारा महत्वपूर्ण वैधानिक परिवर्तन हुए। १५ अगस्त, सन् १९४७ ई० को भारत स्वतंत्र हुआ और सन् १९५० ई० में स्वनिर्मित संविधान के अंतर्गत संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य बन गया। इसके पूर्ववर्ती अधिनियमों को मुख्य रूप में अपना लिया गया। तदुपरांत संसद् तथा राज्यों के विधानमंडलों द्वारा अनेक अत्यंत महत्वपूर्ण अधिनियमों का निर्माण हुआ जिनसे देश के राजनीतिक, वैधानिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद २४६ के अंतर्गत संसद् तथा राज्यों के विधानमंडलों की विधि बनाने की शक्ति का विषय के आधार पर तीन विभिन्न सूचियों में वर्गीकरण किया गया है—(१) संघसूची, (२) समवर्ती सूची तथा (३) राज्यसूची। संसद् द्वारा निर्मित अधिनियमों में राष्ट्रपति तथा राज्य के विधानमंडल द्वारा निर्मित अधिनियमों में राज्यपाल की स्वीकृति आवश्यक है। समवर्ती सूची में प्रगणित विषयों के संबंध में यदि कोई अधिनियम राज्य के विधानमंडल द्वारा बनाया जाता है तो उसमें राष्ट्रपति की स्वीकृति अपेक्षित है (दे० भारत का संविधान, अनुच्छेद २४५–२५५)।

साधारण

(१) सार्वजनिक अधिनियम, जब तक विधि द्वारा अन्यथा उपबंध न हो, देश की समस्त प्रजा पर लागू होते हैं। भारत में निजी अधिनियम नहीं होते।

(२) प्रत्येक अधिनियम स्वीकृतिप्राप्ति की तिथि से चालू होता है, जब तक किसी अधिनियम में अन्य किसी तिथि का उल्लेख न हो।

(३) कोई अधिनियम प्रयोग के अभाव में अप्रयुक्त नहीं समझा जाता, जब तक उसका निरसन न हो।

(४) अनुविधि का शीर्षक, प्रस्तावना अथवा पार्श्वलेख उसका अंग नहीं होता, यद्यपि निर्वचन में उनकी सहायता ली जा सकती है।

(५) प्राय अधिनियमों का वर्गीकरण विषयवस्तु के आधार पर किया जाता है, जैसे, शाश्वत तथा अस्थायी, दंडनीय तथा लोकहितकारी, आज्ञापक तथा निदेशात्मक और सक्षमकारी तथा अयोग्यकारी।

(६) अस्थायी अधिनियम स्वयं उसी में निर्धारित तिथि को समाप्त हो जाता है।

(७) कतिपय अधिनियम प्रति वर्ष पारित होते हैं।

अधिनियम का निर्वचन :

किसी अधिनियम के निर्वचन के लिये हमें सामान्य विधि तथा उस अधिनियम का आश्रय लेना होता है। निर्वचन के मुख्य नियम इस प्रकार हैं

(१) अधिनियम का निर्वचन उसकी शब्दावली की अपेक्षा उसके अभिप्राय तथा उद्देश्य के आधार पर करना चाहिए।

(२) अधिनियम का देश की सामान्य विधि से जो संबंध है उसे ध्यान में रखना चाहिए। [श्री० अ०]

अनेकांतवाद जैनमत के अनुसार सत्यज्ञान पूर्ण ज्ञान है; ऐसा ज्ञान उन लोगों के लिये ही संभव है जिन्होंने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया है। प्रत्येक वस्तु में असंख्य धर्म होते हैं। साधारण मनुष्य, विशेष दृष्टिकोण से देखने के कारण, अपूर्ण और सापेक्ष ज्ञान ही प्राप्त कर सकता है। ऐसे ज्ञान में सत्य और असत्य दोनों अंश विद्यमान होते हैं। प्रत्येक को यह कहने का अधिकार है कि उसे अपने दृष्टिकोण से क्या दीखता है, परंतु यह अधिकार नहीं कि जो कुछ किसी अन्य मनुष्य को उसके दृष्टिकोण से दीखता है, उसे असत्य कहें। अनेकांतवाद अहिंसा के लिये एक दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है। [दी० चं०]

अनेकांतिकहेतु हेत्वाभास का एक भेद जिसे सव्यभिचार भी कहते हैं। अनुमान में हेतु को साध्य की अपेक्षा कम स्थानों पर किंतु साध्य के साथ रहना चाहिए। यदि हेतु ऐसा नहीं है तो वह अनेकांतिक है। इस अवस्था में हेतु या तो साध्य से अलग रहता है, या केवल उस स्थान पर रहता है जहाँ साध्य की सिद्धि करनी है या उस हेतु का कोई दृष्टांत नही होता। इसलिये इसके तीन भेद होते हैं :

१. साधारण अनेकांतिक में हेतु साध्य से अन्यत्र भी रहता है; जैसे, पर्वत में आग है क्योंकि बुद्धिगम्य है। यहाँ बुद्धिगम्यता आग के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी रहती है।

२. असाधारण अनेकांतिक में हेतु केवल उस स्थान पर रहता है जहाँ साध्य की सिद्धि करनी है; जैसे, शब्द नित्य है क्योंकि वह शब्द है। यहाँ शब्द रूप हेतु केवल शब्द में रहता है जहाँ नित्यत्व की सिद्धि इष्ट है।

३. अनुपसंहारी अनेकांतिक में हेतु साध्य के संबंध का कोई दृष्टांत नही होता; जैसे, सब अनित्य हैं क्योंकि सब ज्ञेय हैं। यहाँ ज्ञेयता और अनित्यता के परस्पर संबंध का पक्ष के अतिरिक्त कोई दृष्टांत नहीं है क्योंकि यहाँ 'सब' से अलग कुछ भी नहीं है जिसको दृष्टात रूप में उपस्थित किया जा सके।

सं०ग्रं०—न्यायसिद्धांत मुक्तावली; तर्क संग्रह २-१। [रा० पां०]

अन्नकूट यह कृषि एवं धन संबंधी पर्व कार्तिक प्रतिपदा को पड़ता है, जो दीपावली के दूसरे दिन मनाया जाता है। इसमें कुछ अन्नों के कूटने का विधान है जो वस्तुतः प्राचीन गोवर्धन पूजा की तरह है। स्थान भेद से अन्नकूट मनाने की प्रक्रिया में अंतर अवश्य पाया जाता है, परंतु 'गोधन' की पूजा के रूप में यह पर्व इस देश में सर्वत्र मनाया जाता है। [चं० म०]

अन्नपूर्णा धन, धान्य से पूर्ण कर देनेवाली दानशीला देवी। यह दुर्गा की मृदु रूप हैं और इनका भांडार अक्षय है। पुराणों में इनका बड़ा माहात्म्य है। इस देवी की तुलना रोमन 'अन्ना पेरेन्ना' से की गई है जिनके नामों में भी विचित्र ध्वनिव्यंजना है। [चं०म०]

अन्यथानुपपत्ति किसी अत्यावश्यक कारण के बिना किसी तथ्य की सिद्धि न होना अन्यथानुपपत्ति कहलाता है। कार्य की उत्पत्ति में अनेक कारण होते हैं किंतु उनमें से कोई एक कारण सर्वप्रधान होता है। अन्य कारणों के रहते हुए भी इस प्रधान कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति संभव नही होती। इस प्रधान कारण को 'असाधारण कारण' अथवा 'कारण' कहते हैं। इस कारण के अभाव में जब कार्य की उत्पत्ति असंभव होती है तब उस कार्य की असाधारण कारण के बिना 'अन्यथानुपपत्ति' कही जाती है। [रा० पां०]

अन्यथासिद्धि कार्य की उत्पत्ति में अनावश्यकता। कार्य की उत्पत्ति में साक्षात् सहायक कारण कहलाता है, किंतु जो किसी के माध्यम से कार्य की उत्पत्ति में सहायक होता है उसे अन्यथासिद्धि कहते हैं। ऐसे कारणों के रहने या न रहने से कार्य की उत्पत्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। न्याय दर्शन में पाँच प्रकार की अन्यथासिद्धियों का वर्णन मिलता है। घड़े की उत्पत्ति में दंडत्व, दंड का रूप, आकाश, कुम्हार का पिता और मिट्टी लानेवाला गधा, ये अन्यथासिद्ध कारण हैं। अन्यथासिद्धि की यह कल्पना न्यायशास्त्र में सर्वप्रथम गंगेशोपाध्याय (१३वीं शताब्दी) से प्रारंभ हुई। [रा० पां०]

अन्यदेशी नकारात्मक ढंग से, अन्यदेशी वह है जिसे उस देश की, जिसमें वह आकर बसा है, नागरिकता न प्राप्त हो। अन्यदेशी के प्रति सामान्य दृष्टिकोण दो प्रकार के परस्पर विरोधी व्यवहारों का प्रतीक है : एक का आधार वर्ग की आत्मचेतना है जिसके कारण उस वर्ग के लोग अपने से अपरिचितों या विदेशियों के प्रति अविश्वास, भय तथा घृणा के भाव रखते हैं, दूसरे प्रकार का व्यवहार मानवता के प्रति आदर की उस भावना से संबधित है जो आगंतुक या अतिथि के आदर सत्कार के लिये प्रेरित करती है। इन दोनों परस्पर विरोधी व्यवहारों के कारण विश्व के सामाजिक और आर्थिक इतिहास में अन्यदेशी की स्थिति भी दुहरी रही है।

प्राचीन काल की सभ्यता ने अनुमानतः पहली बार किसी निश्चित भूभाग पर एक साथ रहनेवाले लोगों की वर्गचेतना को श्रेष्ठ सांस्कृतिक मूल्य माना, और इस प्रकार अन्यदेशी को (अर्थात् जो उस भूभाग का नहीं है) 'बर्बर' ठहराया। मध्ययुग के अंत में यूरोपीय राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना के पूर्व तक अन्यदेशी के विरुद्ध स्थानीयता की प्राकृतिक संसक्ति थी। संसक्ति की इन इकाइयों में हुए परिवर्तनों के अनुरूप अन्यदेशी के विचार में भी परिवर्तन होते गए। प्राचीन काल के ग्रामसमाज में एक ग्राम के लिये पड़ोसी ग्राम का भूमिपति अन्यदेशी था, और इसलिये उसे स्थानीय संपत्ति के संबंध में सीमित अधिकार ही प्राप्त हो सकते थे। मध्ययुगीन नगरों में 'अन्यदेशी' का प्रयोग विदेशी व्यवसायियों के लिये होता था जिनपर एक विशेष प्रकार का अतिथिविधान लागू होता था।

स्थानीयता के बाद सांस्कृतिक एकता ने अन्यदेशी के सिद्धांत को निश्चित किया। एक प्रकार की संस्कृति के लोगों के लिये दूसरे प्रकार की संस्कृति के लोग 'बर्बर' या 'म्लेच्छ' थे। फिर, सभ्यता के विकास के साथ साथ आवागमन के साधनों की वृद्धि तथा विकास के कारण एक संस्कृति अपने आपको अपनी निश्चित सीमाओं में न बाँधे रख सकी और एक संस्कृति पर दूसरी संस्कृति का प्रभाव पड़ता रहा। फलतः सांस्कृतिक संसक्ति इतनी प्रभावशाली नही रह सकी कि उसके आधार पर दूसरी संस्कृति के लोगों को अन्यदेशी की संज्ञा दी जाय। आधुनिक युग में अब सांस्कृतिक एकता के बजाय वैचारिक एकता अन्यदेशी के विचार को स्पष्ट करने के लिये अधिक उपयुक्त है। आज विश्व के राष्ट्रों को साधारणतः दो गुटों में बाँटा जाता है : अमरीकी और रूसी गुट; दूसरे शब्दों में, पूंजीवादी विचारधारा के पोषक तथा साम्यवादी सिद्धांत के अनुयायी। इस वैचारिक विभिन्नता के कारण रूस में एक ही महाद्वीप के निवासी होने के बावजूद एक अमरीकी दूसरे महाद्वीप के निवासी चीनी की तुलना में अधिक अन्यदेशी समझा जायगा।

भविष्य में, कदाचित् अन्यदेशी के विचार में एक नया परिवर्तन तब आएगा जब विज्ञान धरती के मनुष्य के लिये अन्य नक्षत्रों में भी पहुँचना सुगम कर देगा। तब अनुमानतः नक्षत्र की संसक्ति अन्यदेशी को निश्चित करने का आधार होगी।

अन्यदेशी एक नए, अपरिचित विदेशी वातावरण से घिरा रहता है, या यदि यह किसी अन्यदेशी वर्ग का अंग है तो उस वर्ग के साथ अपने तथा वहाँ के नागरिकों के बीच एक गहरी खाई का अनुभव करता है। इसीलिये साधारणतः उस देश की रीतियों और परंपराओं से स्वतंत्र रहना उसका एक प्रमुख लक्षण माना जाता है। परंपराओं से स्वतंत्र रहने के कारण अन्यदेशी वहाँ की सामाजिक परिस्थितियों के प्रति वस्तुगत (ऑब्जेक्टिव) दृष्टिकोण अपनाने में सफल होता है, जिसके आधार पर वह उस देश के नागरिकों की तुलना में वहाँ की सामाजिक परिस्थितियों के संबंध में अधिक न्यायसंगत निर्णय दे सकता है। परंतु साथ ही, अपने तथा वहाँ के नागरिकों के बीच विभिन्नताओं की खाईं का अनुभव कर, वहाँ के सामाजिक जीवन को विदेशी मान, वह स्वभावतः उस देश के अल्पसंख्यक विरोधी दलों का साथ देने के लिये इच्छुक रहता है। [रा० अ०]

अन्यूरिन ब्रिटिश चारण जो ७वीं सदी ई० के आरंभ में हुआ। उसने गोडोडिन नाम की एक पुस्तक लिखी। गोडोडिन वेल्स की एक जाति थी जिसका सरदार अन्यूरिन का पिता था। इस प्रकार गोडोडिन अन्यूरिन की अपनी जाति के संबंध का महाकाव्य है। इसमें सैक्सनों

द्वारा ब्रिटनो की पराजय का वर्णन है। स्वयं अन्यूरिन उस युद्ध मे कैद हो गया था। [भ० श० उ०]

अन्वयव्यतिरेक अनुमान मे हेतु (धुआँ) और साध्य (आग) के संबंध का ज्ञान (व्याप्ति) आवश्यक है। जब तक धुएँ और आग के साहचर्य का ज्ञान नही है तब तक धुएँ से आग का अनुमान नही हो सकता। अनेक उदाहरणो मे दोनो के एक साथ रहने से तथा दूसरे उदाहरणो मे दोनो का एक साथ अभाव होने से ही हेतुसाध्य का संबंध स्थिर होता है। हेतु और साध्य का एक साथ किसी उदाहरण (रसोईघर) मे मिलना अन्वय तथा दोनो का एक साथ अभाव (तालाब मे) व्यतिरेक कहलाता है। जिन दो वस्तुओ को एक साथ नही देखा गया है उनमे से एक को देखकर दूसरे का अनुमान नही किया जा सकता, अत अन्वय ज्ञान की आवश्यकता है। किंतु धुएँ और आग के अन्वय ज्ञान के बाद यदि आग को देखकर धुएँ का अनुमान किया जाय तो वह गलत होगा क्योकि आग बिना धुएँ के भी हो सकती है। इस दोष को दूर करने के लिये यह भी आवश्यक है कि हेतुसाध्य के एक साथ अभाव का ज्ञान हो। धुआँ जहाँ नही रहता वहाँ भी आग रह सकती है, अत आग से धुएँ का ज्ञान करना गलत होगा। किंतु जहाँ आग नही होती वहाँ धुआँ भी नही होता। चूँकि धुआँ आग के साथ रहता है (अन्वय), और जहाँ आग नही रहती वहाँ धुआँ भी नही रहता (व्यतिरेक), इसलिये धुएँ को देखकर आग का निर्दोष अनुमान किया जा सकता है। [रा० पा०]

अन्विताभिधानवाद 'प्रभाकर मीमांसा' मे माना गया है कि अर्थ का ज्ञान केवल शब्द से नही, किंतु वाक्य से होता है। जो शब्द किसी आज्ञापरक वाक्य मे आया हो उसी शब्द की सार्थकता है। वाक्य से बहिष्कृत शब्द का कोई अर्थ नही। घड़ा शब्द का तब तक कोई अर्थ नही है जब तक इसका ('घड़ा लाओ' जैसे आज्ञार्थक') वाक्य मे प्रयोग नही हुआ है। इसी सिद्धांत को अन्विताभिधानवाद कहते है। इस सिद्धांत के अनुसार जब शब्द आज्ञार्थक वाक्य मे अन्य शब्दो से अन्वित (संबंधित) होता है तभी वह अर्थविशेष का अभिधान करता है। प्रत्येक शब्द प्रत्येक अर्थ का बोध कराने मे सक्षम है किंतु व्यवहार के कारण शब्द का अर्थ सीमित हो जाता है। शब्दार्थ की इस सीमा का ज्ञान व्यवहार से ही होगा और भाषा मे व्यवहार वाक्य के माध्यम से ही व्यक्त होता है, अत शब्द का अर्थ वाक्य पर अवलंबित रहता है। इस सिद्धांत के अनुसार वाक्य ही भाषा की इकाई है। न्याय मे इसके विपरीत अभिहितान्वयवाद का प्रतिपादन किया गया है। [रा० पा०]

अन्हिलवाड़ या अन्हिलपाटन गुजरात की सोलंकी राजधानी वर्तमान पाटन था। उस प्रसिद्ध सोलंकी चालुक्य मूलराज ने बसाया था और वह महमूद गजनी के हमले तक बराबर सोलंकियो की राजधानी बना रहा। वहाँ सोमनाथ का प्रसिद्ध शिवमंदिर था जिसे गजनी के महमूद ने अपने १०२४-२५ ई० के आक्रमण मे नष्ट कर दिया। उसके बाद भी सोलंकी चालुक्य लौटे और अन्हिलवाड मे उन्होने पर्याप्त काल तक राज किया। बाद मे वघेला ने उसे जीतकर वहाँ अपना राजकुल प्रतिष्ठित किया, और १३वी सदी के अंत मे अलाउद्दीन खिलजी ने जब गुजरात जीता तब अन्हिलवाड़ भी उसी के साम्राज्य का नगर बन गया। [भ० श० उ०]

अपकृति (टार्ट,) इसका प्रयोग कानून मे किसी ऐसे अपकार अथवा क्षति के अर्थ मे होता है जिसकी अपनी निश्चित विशेषताएँ होती है। मुख्य विशेषता यह है कि उसका प्रतिकार क्षतिपूर्ति के द्वारा संभव हो।

अपकृति की विशेषताएँ निम्नलिखित है—(१) अपकृति किसी व्यक्ति के अधिकार का अतिक्रमण अथवा उसके प्रति किसी अन्य व्यक्ति के कर्तव्य का उल्लघन है, (२) इसका प्रतिकार व्यवहारवाद द्वारा हो सकता है, (३) इंग्लैंड मे सन् १८९५ ई० के पूर्व अपकृति का प्रतिकार सामान्य कानून के अंतर्गत हुआ करता था।

अंग्रेजी विधिप्रणाली मे 'टार्ट' शब्द का प्रयोग नार्मन तथा रंगेविन सम्राटो के राज्यकाल मे प्रारंभ हुआ। सन् १८९६ ई० के पूर्व प्राय पाँच शताब्दियो तक अपकृति का प्रतिकार सम्राट् के लेख पर निर्भर रहा। अपकृति संबंधी अंग्रेजी कानून अधिकाश मे वादजनित-विधि के रूप मे मिलता है यद्यपि गत शताब्दी के प्रारंभ मे कुछ अनुविधि भी बनाए गए। अतएव सारभूत विधि के रूप मे अपकृति कानून का विकास आधुनिक काल मे हुआ।

भारतवर्ष मे अंग्रेजी विधि प्रणाली अपनाई जाने के बहुत पहले, सुदूर अतीत मे, अपकृति संबंधी कानून के प्रमाण मिलते है। मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, व्यास, बृहस्पति तथा कात्यायन की स्मृतियो मे अपकृति संबंधी हिंदू विधिप्रणाली का आधार हमे मिलता है। हिंदू तथा अंग्रेजी अपकृति-विधि-प्रणाली मे एक महत्वपूर्ण अंतर यह है कि हिंदू प्रणाली मे क्षतिपूर्ति द्वारा प्रतिकार केवल तभी संभव है जब आर्थिक क्षति हुई हो न कि आक्रमण या मानहानि या परस्त्रीगमन के मामलो मे। मुस्लिम विधिप्रणाली मे अपकृति कानून का क्षेत्र और भी अधिक संकीर्ण हो गया। उसमे हिंसात्मक कार्यो मे दंड दिया जाता था, केवल संपत्ति के बलाद्ग्रहण के मामलो मे क्षतिपूर्ति के नियम थे।

अपकृति तथा अपराध के सिद्धांत एवं प्रक्रिया दोनो मे अंतर है। अपकृति अधिकार या कर्तव्य का वह उल्लंघन है जिसका संबंध व्यक्ति से होता है और वह व्यक्ति अपकारी द्वारा क्षतिपूर्ति का अधिकारी होता है। परंतु अपराध सामाजिक कर्तव्य का उल्लंघन समझा जाता है और उसके लिये समाज अथवा राज्य अपराधी को दंड देता है। क्षति के कई दृष्टांत ऐसे है जो अपकृति तथा अपराध दोनो श्रेणियो के अंतर्गत आते है, जैसे आक्रमण, अपमानलेख या चोरी। कभी कभी कोई क्षति केवल अपराध की श्रेणी मे रखी जा सकती है, जैसे सार्वजनिक बाधा, और इसके ठीक विपरीत कतिपय क्षतियाँ केवल अपकृति की श्रेणी मे आती है, जैसे अनधिकार प्रवेश। अपकृति तथा अपराध संबंधी प्रक्रिया मे यह अंतर है कि अपकृति के मामले का वाद व्यवहार न्यायालय मे प्रस्तुत किया जाता है परंतु आपराधिक मामला का अभियोग दंड न्यायालय मे चलता है।

अपकृति मे वादी का अधिकार साधारण विधि के अंतर्गत प्राप्य अधिकार है परंतु संविदाभंग के मामलो मे पक्षो के अधिकार एवं कर्तव्य संविदा के उपबंधो के आधार ही होते है। संविदा मे प्राय क्षतिपूर्ति की राशि भी निश्चित होती है और क्षतिपूर्ति सिद्धांत रूप से दंड न होकर केवल संविदा के उपबंध का पालन मात्र है।

अपकृति के अनेक रूप है। मूल शब्द 'टार्ट' का सार्वजनिक रूप मे अर्थ यही है कि सीधे एवं सरल मार्ग का अतिक्रमण। अपकृति के प्रमुख रूप ये है शारीरिक क्षति, जैसे आघात, आक्रमण या मिथ्या कारावास, संपत्ति संबंधी अपकार, जैसे अनधिकार प्रवेश, सार्वजनिक बाधा, मानहानि, द्वेषपूर्ण अभियोजन, धोखा अथवा छल तथा विविध अधिकारो की क्षति।

सं०ग्रं०—सामंड आन टार्ट्स, १२वाँ संस्करण, एस० रामस्वामी अय्यर दि लाव आव टार्ट्स, [श्री० अ०]

अपद्रव्यीकरण (मिलावट) धनलोलुप और भ्रष्टाचारी व्यवसायियो द्वारा खाद्य पदार्थों मे अशुद्ध, सस्ती अथवा अनावश्यक वस्तुओ के मिश्रण को कहते है। छोटे बड़े अनेक खाद्य व्यापारी अधिक लाभ के लोभवश नाना प्रकार की युक्तियो से घटिया वस्तु का बढ़िया बनाकर ऊँचे दाम पर बेचने का प्रयास करते है। इस प्रकार का कुत्सित व्यापार समाज के सभी वर्गों मे न्यूनाधिक मात्रा मे व्याप्त है, जिससे जनता को उचित मूल्य देने पर भी घटिया खाद्य सामग्री मिलती है और उससे स्वास्थ्य की हानि भी होती है।

खाद्य व्यवसायियो का यह अनैतिक एवं समाजविरोधी आचरण संसार के सभी देशो मे पाया जाता है, किंतु अशिक्षित, निर्धन और अल्पविकसित देशो मे यह अधिक देखने मे आता है। दूध, घी, तेल, अन्न, आटा, चाय, काफी, शर्बत आदि महँगे तथा देहरक्षी पदार्थों (प्रोटेक्टिव फूड्स) मे अधिकतर अपद्रव्यीकरण किया जाता है जिससे उनकी उपयोगिता कम हो जाती है। इससे जनता की जो स्वास्थ्यहानि होती है उसको रोकना परमावश्यक है। सदाचारपूर्ण नैतिक शिक्षा, अत्यंत उपयोगी साधन होते हुए भी, अपद्रव्यीकरण रोकने मे किसी देश मे भी सफल सिद्ध नही हुई है।

मानव-स्वभावगत दोषों का अध्ययन करनेवाले न्यायशास्त्रियों का मत है है कि खाद्य का अपद्रव्यीकरण रोकने के लिये कठोर दडनीति अपनाना आवश्यक है। साधारण धनदड सर्वथा अपर्याप्त है। भोजन को विषाक्त करनेवाला आततायी कहलाता है और 'नाततायी वधे दोष' के अनुसार उसको कठोर दड देना ही उचित है। इसी कारण ऐसे अपराधी के लिये धनदड के अतिरिक्त अब कारादड का भी विधान है। परतु केवल दडनीति से भी काम नहीं चलता। जनमत जागरण की भी आवश्यकता है।

दूध में जल, घी में वनस्पति घी अथवा चर्बी, महँगे और श्रेष्ठतर अन्नों में सस्ते और घटिया अन्नों आदि के मिश्रण को साधारणत मिलावट या अपमिश्रण कहते है। किंतु मिश्रण के बिना भी शुद्ध खाद्य को विकृत अथवा हानिकर किया जा सकता है और उसके पौष्टिक मान (फूड वैल्यू) को गिराया जा सकता है। दूध से मक्खन का कुछ अश निकालकर उसे शुद्ध दूध के रूप में बेचना, अथवा एक बार प्रयुक्त चाय की साररहित पत्तियों को सुखाकर पुन बेचना मिश्रणरहित अपद्रव्यीकरण के उदाहरण है। इसी प्रकार बिना किसी मिलावट के घटिया वस्तु का शुद्ध एव विशेष गुणकारी घोषित कर झूठे दावे सहित आकर्षक नाम देकर जनता को ठगा जा सकता है। इस कारण 'मिलावट' अथवा 'मिश्रण' जैसे शब्द खाद्यविकारी कार्यों के लिये पूर्ण रूप से सार्थक नहीं है। खाद्य पदार्थ के उत्पादन, निर्माण, सचय, वितरण, वेष्टन, विक्रय आदि से सबधित वे सभी कुत्सित कार्य, जो उसके स्वाभाविक गुण, सारतत्व अथवा श्रेष्ठता का ह्रास करनेवाले हैं, अथवा जिनसे ग्राहक के स्वास्थ्य की हानि और उसके ठगे जाने की सभावना रहती है, अपद्रव्यीकरण या अपनामकरण (मिसब्रैडिंग) द्वारा सूचित किए जाते है। जनस्वास्थ्य तथा न्यायविधान की दृष्टि में ये शब्द बहुत व्यापक अर्थ के द्योतक है।

खाद्य पदार्थ के अपद्रव्यीकरण द्वारा जनता की स्वास्थ्यहानि को रोकने के लिये प्रत्येक देश में आवश्यक कानून बनाए गए है। भारत के प्रत्येक प्रदेश में शुद्ध खाद्य सबधी आवश्यक कानून थे, किंतु भारत सरकार ने सभी प्रादेशिक कानूनों में एकरूपता लाने की आवश्यकता का अनुभव कर, देश-विदेश मे प्रचलित कानूनों का समुचित अध्ययन कर, सन् १९५४ में खाद्य-अपद्रव्यीकरण-निवारक अधिनियम (प्रिवेंशन आव फूड ऐडल्टरेशन ऐक्ट) समस्त देश में लागू किया और सन् १९५५ में इसके अतर्गत आवश्यक नियम बनाकर जारी किए। इस कानून द्वारा अपद्रव्यीकरण तथा झूठे नाम से खाद्यों का बेचना दडनीय है। वैधानिक दृष्टि से निम्नलिखित दशाओं में खाद्य अपद्रव्यीकृत माना जाता है

वह पदार्थ जिसका स्वाभाविक गुण, सार तत्व, या श्रेष्ठतास्तर ग्राहक द्वारा अपेक्षित पदार्थ से अथवा सामान्यत बोध होनेवाले पदार्थ से भिन्न हो और जिसके व्यवहार से ग्राहक के हित की हानि होती हो।

वह पदार्थ जिसमें कोई ऐसा अन्य पदार्थ मिला हो जो पूर्णत अथवा आशिक रूप से किसी घटिया या सस्ती वस्तु से बदल दिया गया हो अथवा जिसमें से कोई ऐसा सघटक निकाल लिया गया हो जिससे उसके स्वाभाविक गुण, सारतत्व या श्रेष्ठतास्तर में अतर हो जाय।

वह पदार्थ जो दूषित या स्वास्थ्य के लिये हानिकर हो, जिसमें गदा, पूतियुक्त, सड़ा, विघटित या रोगयुक्त प्राणिद्रव्य या वानस्पतिक वस्तु मिलाई गई हो, जिसमें कीट या कीड़े पड गए हो, अथवा जो मनुष्य के आहार के अनुपयुक्त हो।

वह पदार्थ जो किसी रोगी पशु से प्राप्त किया गया हो, जो विषैले या स्वास्थ्य-हानिकारक सघटकयुक्त हो, या जिसका पात्र किसी दूषित या विषैले वस्तु का बना हो।

वह पदार्थ जिसमे स्वीकृत रजक द्रव्य (कलरिंग मैटर) के अतिरिक्त कोई ऐसा अन्य रजक मिला हो। जिसमें कोई निषिद्ध रासायनिक परिरक्षी हो, अथवा स्वीकृत रजक या परिरक्षी द्रव्य की मात्रा निर्धारित सीमा से अधिक हो।

वह पदार्थ जिसकी श्रेष्ठता अथवा शुद्धता निर्धारित मानक से कम हो, अथवा उसके सघटक निर्धारित सीमा से अधिक हो।

इसी प्रकार निम्नलिखित दशा में खाद्य को अपनामांकित (मिसब्रैडेड) कहा जाता है :

वह पदार्थ जिसका बिक्री का नाम अन्य पदार्थ के नाम की नकल हो, या इस प्रकार मिलता जुलता हो कि धोखे की सभावना हो और उसके वास्तविक गुणधर्म प्रकट करने के लिये उसपर कोई स्पष्ट और व्यक्त नामपत्र (लेबिल) न हो।

वह पदार्थ जो असत्य रूप में किसी देशविशेष का बना बताया जाय, जो किसी अन्य वस्तु के नाम से बेचा जाय, जिसके सबध में नामपत्र पर, या अन्य रीति से झूठे दावे किए जायँ और जो इस प्रकार रजित, स्वादित, लेपित, चूर्णित या शोधित हो, जिससे उसके विकृत होने का भाव छिप जाय, अथवा जो अपनी वास्तविक दशा से उत्तम या मूल्यवान् दिखाया जाय।

वह पदार्थ जो बद बेठनों में बेचा जाय और उसके बाहरी भाग पर उसमें रखे हुए पदार्थ की निर्धारित घट बढ की सीमा के अनुसार ठीक उल्लेख न हो।

वह पदार्थ जिसके नामपत्र पर कोई ऐसा उल्लेख, चित्र या उक्ति हो जो असत्य, भ्रामक या छलपूर्ण हो, जो किसी कल्पित व्यक्ति द्वारा निर्मित बताया जाय और जिसमें प्रयुक्त कृत्रिम रजक, वासक (फ्लेवरिंग एजेंट), या परिरक्षी वस्तु का उल्लेख न हो।

वह पदार्थ जो किसी विशिष्ट आहार के उपयुक्त बताया जाय, परतु उसके नामपत्र पर उसकी उपयोगिता के सूचक, उसके खनिज, विटामिन अथवा आहार विषयक सघटकों की सूचना न हो।

इस अधिनियम द्वारा केवल पूर्वोक्त प्रकार के अपद्रव्यीकरण अथवा अपनामाकन का ही निवारण नहीं किया जाता, परतु भोजन की शुद्धता और स्वच्छता, भोजन के पात्रों, पाकशाला और भाडार की स्वच्छता और परिशोधन तथा खाद्य का मक्खी, धूल, मलीनता आदि से रक्षण इत्यादि स्वास्थ्योचित नियमों का भी यथोचित पालन आवश्यक कर दिया गया है। सक्रामक, सासर्गिक अथवा घृणित रोग से ग्रस्त मनुष्यों द्वारा खाद्य पदार्थ का बनाना या बेचना वर्जित है। किसी सक्रामक रोग का प्रसार रोकने के लिये अस्थायी आदेश द्वारा किसी खाद्य का विक्रय स्थगित किया जा सकता है। जग लगे पात्र, बिना कलई के ताँबे अथवा पीतल के पात्र, सीसा मिश्रित ऐल्युमिनियम के पात्र, अथवा जर्जरित एनामेलवाले तामचीनी के पात्रों का प्रयोग वर्जित है।

कोई भी व्यवसायी निम्नलिखित अपद्रव्यीकृत पदार्थों का व्यापार नहीं कर सकता

(१) क्रीम (मलाई) जो केवल दूध से न बनी हो और जिसमें दुग्ध-स्नेह (मिल्क फैट) ४०% से कम हो, (२) दूध जिसमें जल मिलाया गया हो, (३) घी जिसमें दूध से निकले घी से भिन्न कोई पदार्थ हो, (४) मथित दूध (मक्खनरहित दूध) शुद्ध दूध के नाम से, (५) दो या अधिक तेलों का मिश्रण खाद्य तेल के नाम से, (६) घी जिसमें वनस्पति घी मिला हो, (७) कृत्रिम मिष्टकर (स्वीटनिंग एजेंट) युक्त पदार्थ, (८) हलदी जिसमें कोई अन्य पदार्थ मिला हो।

अपद्रव्यीकरण के निवारण हेतु जो अन्य महत्वपूर्ण नियम लागू किए गए हैं, इस प्रकार है —

(१) शहद के समान रूप रगवाला पदार्थ जो शुद्ध शहद नहीं है, शहद नहीं कहा जा सकता, (२) सैकरीन किसी भी खाद्य में मिलाया जा सकता है, परतु नामपत्र पर इसका स्पष्ट उल्लेख आवश्यक है, (३) प्राकृतिक मृत्यु से मृत पशु का मास नहीं बेचा जा सकता और न कोई खाद्य बनाने में प्रयुक्त हो सकता है, (४) अनधिकृत रूप में किसी खाद्य में कोई रजक नहीं मिलाया जा सकता। रजक का उपयोग करने पर नामपत्र पर "कृत्रिम रीति से रजित" लिखना आवश्यक है, (५) पनीर (चीज), आइसक्रीम (मलाई की बर्फ या कुल्फी), बर्फीली शर्करा (आइसकैंडी) और श्लेषामिष्ठान्न (जिलेटीन डेजर्ट) में स्वीकृत रजक का तथा कैरमेल का प्रयोग बिना उल्लेख के किया जा सकता है, (६) अकार्बनिक रजक तथा वर्णक (पिगमेट) सर्वथा वर्जित है। स्वीकृत रजक का प्रयोग केवल शुद्ध रूप में तथा एक ग्रेन प्रति पाउड तक के अनुपात में किया जा सकता है। (७) मलाई की बर्फ (कुल्फी), धूमित (स्मोक्ड) मछली, अडा-निर्मित खाद्य, मिठाई, फलों से बने शर्बत तथा अन्य पदार्थ एव सुरारहित वातित या फेनिल (एअरेटेड) पेयों में ही रंजक प्रयुक्त हो सकते हैं। दूध,

दही, मक्खन, घी, छेना, संघनित (कंडेंस्ड) दूध, क्रीम (मलाई), चाय, काफी और कोको में रंजक का प्रयोग वर्जित है। (८) आहार को स्वादिष्ट, रुचिकर, सुवासपूर्ण, सुपाच्य, पौष्टिक और अधिक काल तक सुरक्षित रखने के लिये वासक (फ़्लेवरिंग), रंजक, विरंजक, गंधनाशक, तथा परिरक्षी पदार्थों की नियमानुकूल की गई मिलावट न्यायसंगत है, परंतु केवल वैध पदार्थ ही स्वीकृत खाद्यों में प्रयुक्त किए जायँ और नामपत्र पर उनका स्पष्ट उल्लेख हो। (९) कोचिनियल या कारमाइन, कैरोटीन या कैरोटिनोइड्स, क्लोरोफिल, लेक्टोफ्लेवीन, कैरामेल, अनोटो, रतनजोत, केसर और करक्यूमिन प्रकृतिप्रदत्त रंजक हैं, जो प्राकृतिक या संश्लेषित रीति से प्राप्त कर प्रयोग में लाए जा सकते हैं। (१०) तारकोल या अलकतरे से प्राप्त रंजक प्रायः कैंसरजनक होते हैं, परंतु तारकोल से प्राप्त ११ प्रकार के लाल, पीले, नीले और काले रंजक केंद्रीय समिति द्वारा इस समय खाद्य में प्रयुक्त करने के लिये स्वीकृत हैं। (११) बेंजोइक अम्ल तथा बेंज़ोएट और गंधक डाइ ऑक्साइड तथा सल्फाइट खाद्य परिरक्षक के रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं। इनका प्रयोग फलों के रस, शर्बत तथा संरक्षित फल, मुरब्बा आदि तक ही सीमित है। (१२) नमक, चीनी, सिरका, लैक्टिक अम्ल, साइट्रिक अम्ल, ग्लिसरीन, ऐलकोहल, ममाले तथा मसालों से प्राप्त सगंध तेल आदि स्वादकर पदार्थ परिरक्षक भी हैं, किंतु इनके प्रयोग के लिये कोई विशेष नियम नहीं है। (१३) टार्टरिक अम्ल, फॉस्फ़ोरिक अम्ल अथवा किसी खनिज (मिनरल) अम्ल का प्रयोग खाद्य या पेय में वर्जित है।

निम्नलिखित खाद्य पदार्थों के निर्माण, संचय, वितरण, विक्रय आदि के लिये अनुज्ञापत्र प्राप्त करना आवश्यक है और उसके नियमों का पालन अनिवार्य है :

(१) दूध तथा मथित दूध (मक्खनरहित दूध); (२) दूधजन्य पदार्थ (खोआ, क्रीम, रबड़ी, दही आदि); (३) घी; (४) मक्खन; (५) चर्बी; (६) खाद्य तेल; (७) निकम्मा (वेस्ट) घी; (८) मिठाई; (९) वातित या फेनिल पेय (एअरेटेड वाटर); (१०) मैदा के बने पदार्थ (बिस्कुट, केक, डबल रोटी आदि); तथा (११) फलोत्पन्न पदार्थ (फ्रूट प्रॉडक्ट्स) के अतिरिक्त अन्य पदार्थ जो प्रादेशिक सरकार निश्चय करे। फलोत्पन्न पदार्थ का नियंत्रण केंद्रीय सरकार के फ्रूट प्रॉडक्ट्स आर्डर के अनुसार किया जाता है।

यदि अनुज्ञापत्र द्वारा नियंत्रित कोई व्यापार एक से अधिक स्थान में किया जाता है तो व्यापारी को प्रत्येक स्थान के लिये पृथक् अनुज्ञापत्र प्राप्त करना होगा। अनुज्ञापत्र उसी स्थान के लिये दिया जा सकता है जो अस्वास्थ्यकारी दुर्गुणों से रहित हो। घी के व्यापारी को निकम्मा घी, वनस्पति तथा चरबी के व्यापार की अनुमति नहीं मिलती। होटल और भोजनालय के प्रबंधकों को घी, तेल, वनस्पति, चर्बी आदि में पके पदार्थों की अलग अलग सूची ग्राहकों की जानकारी के लिये विज्ञापित करना आवश्यक है। घी, मक्खन, वनस्पति, खाद्य तेल तथा चर्बी के निर्माता और थोक व्यापारियों को इन पदार्थों के निर्माण, आयात, निर्यात संबंधी विवरण रखने पड़ते हैं जिनका आवश्यकतानुसार निरीक्षण किया जा सकता है। फेरीवालों को भी अनुज्ञापत्र लेना पड़ता है और एक धातु का बिल्ला धारण करना पड़ता है जिसपर आवश्यक सूचना होती है। किसी पदार्थ का आपत्तियोग्य, संदिग्ध या भ्रामक व्यापारिक नाम स्वीकार नहीं किया जाता।

खाद्यशुद्धता संबंधी एक केंद्रीय समिति तथा एक केंद्रीय प्रयोगशाला की स्थापना की गई है। इनके द्वारा भारतीय खाद्य का रासायनिक विश्लेषण करने की सर्वमान्य रीति तथा शुद्धता के मानक (स्टैंडर्ड) स्थिर किए जाते हैं। इसी प्रकार प्रदेशों में खाद्यविश्लेषक तथा अनेक खाद्यनिरीक्षक नियुक्त हैं। खाद्यनिरीक्षक विक्रेताओं से संदिग्ध खाद्य का नमूना मोल लेकर विश्लेषक से परीक्षा कराता है और यदि नमूना अपद्रव्यित सिद्ध होता है तो स्वास्थ्याधिकारी की अनुमति से अपद्रव्यित खाद्य के विक्रेता को न्यायालय से उचित दंड दिलाता है। खाद्यविश्लेषक के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह रासायनिक विश्लेषण द्वारा अपद्रव्यकारी पदार्थ तथा उसकी मात्रा का पता लगाए। अपराध सिद्ध करने के लिये शुद्धता का अभाव ही प्रमाणित करना पर्याप्त है। खाद्यनिरीक्षक समय समय पर प्रत्येक अनुज्ञापत्र प्राप्त विक्रेता की खाद्य सामग्री का निरीक्षण करता रहता है और अनुज्ञापत्र में उल्लिखित नियमों का उल्लंघन होने पर स्वास्थ्याधिकारी द्वारा अनुज्ञापत्र अस्वीकृत कराता है या न्यायालय द्वारा विक्रेता को दंड दिलाता है। खाद्यनिरीक्षक अस्थायी रूप से संदिग्ध खाद्य की बिक्री रुकवा सकता है और आवश्यक समझे तो उसे अपने अधिकार में ले सकता है। इसके औचित्य का निपटारा अंत में न्यायालय द्वारा होता है।

अपद्रव्यीकरण सिद्ध करने के लिये खाद्य की रासायनिक परीक्षा आवश्यक है। खाद्य का नमूना प्राप्त करने के पूर्व स्वास्थ्य-निरीक्षक विक्रेता को सूचना देता है और उचित मूल्य चुकाकर आवश्यक मात्रा मोल लेता है। इसके तीन भाग कर अलग अलग तीन बोतलों में बंद कर सब पर मुहर लगा देता है और नामपत्र लगाकर सब ज्ञातव्य तथ्य लिख देता है। एक बोतल विक्रेता को दूसरी खाद्यविश्लेषक और तीसरी खाद्यनिरीक्षक के लिये होती है। खाद्य विश्लेषक बोतल पाने पर उसकी परीक्षा करता है। परीक्षाफल से अपद्रव्यण सिद्ध होने पर विक्रेता पर स्वास्थ्याधिकारी द्वारा अभियोग लगाया जाता है और न्यायालय द्वारा उचित धनदंड या कारादंड अथवा दोनों दिलाए जाते हैं। यदि खाद्यविश्लेषक की परीक्षा पर अभियोगी या अभियुक्त किसी को संदेह हो और पुनः परीक्षा की आवश्यकता जान पड़े तो उनके पास की सुरक्षित बोतल आवश्यक शुल्क सहित केंद्रीय खाद्यप्रयोगशाला में भेजी जाती है और उसकी परीक्षा का फल सर्वथा आपत्तिरहित माना जाता है। साधारण ग्राहक भी आवश्यक शुल्क देकर किसी विक्रेता से प्राप्त खाद्य की परीक्षा करा सकता है, परंतु उसे अपनी इस इच्छा की पूर्वसूचना विक्रेता को देनी आवश्यक है और खाद्य-निरीक्षक द्वारा प्रयुक्त ढंग से ही नमूना मोल लेना होगा। परीक्षाफल से अपद्रव्यीकरण सिद्ध होने पर ग्राहक को शुल्क का धन वापस प्राप्त करने का अधिकार होगा।

स्वास्थ्यरक्षा की दृष्टि से प्रत्येक खाद्य पदार्थ की उपादेयता उससे प्राप्त पोषक सारों की मात्रा पर निर्भर है। पोषक सारों की मात्रा बढ़ाने के हेतु या भोजन पकाने से उनकी मात्रा कम न होने देने के लिये खाद्य की गुणवृद्धि अथवा समृद्धि की जाती है। यह कार्य वैज्ञानिक रीति से जनता में व्याप्त कुपोषण दूर करने के सदुद्देश्य से करना प्रशंसनीय है। विदेशों में मैदा, डबलरोटी, बिस्कुट, मार्गरीन, काफी, कोको, चाकलेट, चाय, लवण आदि अनेक खाद्य और पेय पदार्थों में विटामिन और खनिज द्रव्य द्वारा नियमानुसार गुणवृद्धि करने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। भारत में भी आटे में कैलसियम कार्बोनेट (चाक, खड़िया), मैदा और चावल में बी-विटामिन और कैलसियम कार्बोनेट, समंजित (टोन्ड) और पुनस्संयोजित दूध तथा वनस्पति में ए-विटामिन और गलगंड (गॉयटर) के स्थानिक रोगवाले क्षेत्रों में लवण में आयोडीन की मिलावट द्वारा गुणवृद्धि अथवा समृद्धि करने का प्रस्ताव है और कुछ अंशों में यह किया भी जा रहा है। रक्षा मंत्रालय के आदेशानुसार सन् १९४६ से भारतीय सेना में कैलसियम कार्बोनेट द्वारा प्रबलित आटे का व्यवहार हो रहा है। बंबई सरकार ने भी यही किया और ६४० पाउंड आटे में एक पाउंड कैलसियम कार्बोनेट मिलाना जारी किया, किंतु कुछ अड़चनों के कारण इस प्रयोग को सन् १९४९ में बंद कर दिया गया। वनस्पति घी में ७०० अंतर्राष्ट्रीय मात्रक (आई० यू०) विटामिन-ए प्रति आउंस मिलाने का चलन हो गया है। लवण में सोडियम आयोडेट मिलाकर गलगंडीय क्षेत्रों में भेजा जाता है। ग्राहक की जानकारी के लिये नामपत्र पर गुणवृद्धिकारी पदार्थ का नाम और मात्रा की आवश्यक सूचना होती है, जिससे किसी प्रकार के भ्रम की संभावना नहीं रहती। अब संश्लिष्ट विटामिन बनने लगे हैं और भारत में भी जब विटामिन का उत्पादन होने लगेगा तो पोषक द्रव्यों द्वारा खाद्य की गुणवृद्धि कर जनता में व्याप्त कुपोषण दूर करना सुगम हो जायगा।

प्रत्येक खाद्य के अपद्रव्यीकरण के संबंध में प्रचलित कुरीतियाँ, उसके निरीक्षण और परीक्षण की विधियाँ तथा उसकी शुद्धता के मानक (स्टैंडर्ड) का विवरण देना संभव नहीं है, किंतु संकेत रूप में नित्यप्रति के व्यवहार में आनेवाले खाद्य के अपमिश्रण के विषय में कुछ ज्ञातव्य तथ्यों का उल्लेख संक्षेप में किया जाता है :

१. **खाद्यान्न**—खाद्यान्न में धूल, कंकड़, तृण, भूसा आदि के अतिरिक्त अन्य सस्ते अन्न मिलावट के रूप में प्रायः नित्य ही देखने में आते हैं। जौ,

ज्वार, मक्का, चना, मटर तथा अन्य निम्न श्रेणी के अन्नों के दाने कुछ तो खेत में, या कृषक के भंडार में अनायास मिल जाते हैं, पर बहुधा इन्हें भ्रष्टाचारी व्यापारी जान बूझकर मिलाते हैं। कुछ प्रदेशों में इस प्रकार की मिलावट रोकने के लिये मानक निर्धारित हैं, किंतु भारत सरकार ने समस्त देश के लिये अभी लागू नहीं किए हैं। साधारणतः अन्न में धूल, कंकड़, तृण आदि ४%, बाहरी अन्न के दाने १०% (चावल में केवल ३%), टूटे दाने १०%, फफूंदीयुक्त दाने १·५% तथा कीटभुक्त दाने ६% से अधिक नहीं होने चाहिए। सब मिलाकर अच्छे दाने ८०% से कम न हों और जल की मात्रा गेहूँ में १२% तथा अन्य में १५% से अधिक किसी भी ऋतु में नहीं होनी चाहिए। खाद्यान्न में की गई मिलावट का पता ग्राहक को सहज ही चल जाता है और मिलावट के अनुसार दाम भी घट जाता है। इस कारण सावधान ग्राहक को धोखे की आशंका नहीं रहती, किंतु यह बात पिसे हुए अन्न (आटा, मैदा, सूजी, बेसन, दलिया आदि) के संबंध में नहीं कही जा सकती।

गेहूँ में ग्ल्यूटीन नामक चिपचिपा प्रोटीन होता है, जो अन्य अन्नों में नहीं होता। यदि आटे में गेहूँ के अतिरिक्त किसी अन्य सस्ते अन्न का मेल है तो ग्ल्यूटीन का अनुपात कम हो जाता है। प्रायः ८% से कम ग्ल्यूटीन-वाला आटा अपमिश्रित समझा जाता है। अन्नों के स्टार्च के कणों की आकृति सूक्ष्मदर्शी यंत्र (माइक्रॉस्कोप) द्वारा देखने से मिलावटी अन्न का पता चल सकता है।

खेसारी की दाल (लेथिरस सेटाइवा) के उपयोग से लैथिरिज्म नामक रोग (एक प्रकार की पंगुता) होने की आशंका रहती है। इस कारण इस दाल का सेवन नहीं करना चाहिए। अकालपीड़ित जनता जब इस दाल को खाती है तो कुछ मनुष्यों को लैथिरिज्म रोग हो जाता है और पैरों की निबलता के कारण खड़ा होना या चलना कठिन हो जाता है। रोग बढ़ने पर रोगी पंगु हो जाता है। अतः खाद्यान्न में खेसारी की दाल की मिलावट नहीं होनी चाहिए।

२. **दूध दही**—स्वस्थ गाय, भैंस, भेड़ और बकरी के दूध को नवदुग्ध (फेनुस, कोलोस्ट्रम) रहित होना चाहिए। दूध में जल मिलाने से उसका विशिष्ट गुरुत्व कम हो जाता है और मक्खन या क्रीम (मलाई) निकाल लेने से बढ़ जाता है। कुछ मक्खन निकालकर और निश्चित मात्रा में जल मिलाने से दूध का विशिष्ट गुरुत्व शुद्ध दूध के अनुकूल किया जा सकता है। ऐसी अवस्था में दुग्धमापी (लैक्टोमीटर) से केवल विशिष्ट गुरुत्व के आधार पर दूध के अपद्रव्यीकरण का पता नहीं चल सकता। विभिन्न पशुओं से प्राप्त दूध के सारभूत पोषक द्रव्यों की मात्रा एक सी नहीं होती। इस कारण उनके दूध की शुद्धता के मानक (स्टैंडर्ड) भी भिन्न होते हैं। दुग्धस्नेह (मिल्क फ़ैट) तथा स्नेहातिरिक्त-ठोस-द्रव्य की मात्राओं के आधार पर दूध के अपमिश्रण का पता चल जाता है। गाय के दूध में दुग्धस्नेह की मात्रा उड़ीसा में ३%, पंजाब में ४% और भारत के अन्य प्रदेशों में ३·५% से कम न होनी चाहिए और स्नेहातिरिक्त-ठोस-द्रव्य की अधिकतम मात्रा ८·५% होनी चाहिए। भैंस के दूध में दुग्धस्नेह की मात्रा दिल्ली, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, आसाम तथा बंबई में ६% तथा शेष भारत में ५% है और स्नेहातिरिक्त ठोस द्रव्य की अधिकतम सीमा ९% है। भेड़ बकरी के दूध में दुग्धस्नेह की निम्नतम सीमा मध्य प्रदेश, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बंबई तथा केरल राज्य में ३·५% तथा शेष भारत में ३% है और स्नेहातिरिक्त-ठोस-द्रव्य की अधिकतम सीमा ९% है। पशु की जाति अज्ञात होने की अवस्था में दूध भैंस का माना जाता है। दही में भी दुग्धेतर कोई बाहरी पदार्थ नहीं होना चाहिए। इसका मानक दूध के समान ही है।

जल मिलाकर दूध बेचना वर्जित है। दूध में कोई रंजक या परिरक्षक पदार्थ नहीं मिलाया जा सकता। दूध का खट्टा होना कुछ काल के लिये रोकने, या खट्टापन दबाने के लिये सोडा मिलाना अनुचित है। अधिक उबालने से दूध में बहुत भौतिक और रासायनिक परिवर्तन हो जाते हैं। उसका खाद्यमान (फूड वैल्यू) भी कम हो जाता है। लैक्टोज नामक दुग्ध-शर्करा कैरामेल में परिणत हो जाती है, जिससे उसके स्वाद और रंग में अंतर हो जाता है। इस कारण दूध या किसी शर्करायुक्त पक्वान्न में कैरामेल का पाया जाना अपद्रव्यीकरण नहीं कहा जाता। दूध में अनेक प्रकार के कीटाणु पाए जाते हैं, जिनमें कुछ भयंकर रोगकारक होते हैं और इसी कारण अशुद्ध और अस्वच्छ रीति से दूध का प्रयोग अनेक रोगों का कारण है। दूध का उबालना या पास्च्युरीकरण रोगकारी कीटाणुओं का नाशक है। यद्यपि उबालने अथवा पास्च्युरीकरण से दूध में बहुत परिवर्तन हो जाता है, तथापि स्वास्थ्यरक्षार्थ यह अत्यंत आवश्यक कार्य है और इसलिये यह दूध का अपद्रव्यीकरण नहीं समझा जाता।

३. **मक्खन तथा घी**—मक्खन या घी केवल गाय या भैंस के दूध से ही प्राप्त पदार्थ हैं। दुग्धेतर कोई पदार्थ मक्खन या घी में नहीं होना चाहिए। मक्खन में कम से कम ८०% दुग्धस्नेह होना आवश्यक है और जल की मात्रा १६% से अधिक नहीं होनी चाहिए। उसमें नमक तथा अनोटो नामक पीला रंजक पदार्थ मिलाया जा सकता है। घी में जल की मात्रा ०·५% से अधिक नहीं होनी चाहिए और रंजक या परिरक्षक पदार्थ का मेल वर्जित है।

४. **क्रीम** (मलाई)—जो केवल दूध से ही न बनाई गई हो और जिसमें ४०% से कम दुग्धस्नेह हो उस क्रीम का बेचना वर्जित है। इसमें कोई दुग्धेतर वस्तु नहीं मिलाई जा सकती, किंतु मलाई की बर्फ़ या कुल्फ़ी (आइसक्रीम) में क्रीम के साथ दूध, चीनी, शहद, अंडा, मेवा, फल, चाकलेट तथा स्वीकृत रंजक या वासक पदार्थ नियमानुकूल मिलाए जा सकते हैं। क्रीम में ठोस द्रव्य की मात्रा ३६% और दुग्धस्नेह की १०% से कम नहीं होनी चाहिए। आइसक्रीम में किसी फल या मेवे का उपयोग करने की अवस्था में दुग्धस्नेह १०% के स्थान में ८% से कम न हो। क्रीम में स्टार्च, कृत्रिम मिष्टकर अथवा इस प्रकार का कोई अन्य पदार्थ नहीं होना चाहिए, किंतु मिश्रित आइसक्रीम में स्टार्च या अन्य निर्दोष भरण का उपयोग किया जा सकता है। परंतु दुग्धस्नेह की मात्रा क्रीम के समान ही होनी चाहिए।

५. **खोआ**—इसमें कोई दुग्धेतर पदार्थ नहीं होना चाहिए और दुग्ध-स्नेह की मात्रा २०% से कम न रहनी चाहिए।

६. **वनस्पति घी**—यह रूप रंग और स्वाद में घी से मिलता जुलता स्नेह है, परंतु घी नहीं है। यह केवल शोधित और जमाया हुआ तेल है। वनस्पति घी का निर्माण उत्प्रेरक (कैटेलिस्ट) निकल की सहायता से शोधित, उदासीनीकृत (न्यूट्रैलाइज़्ड) और प्रक्षालित वानस्पतिक तेल के हाइड्रोजनीकरण द्वारा किया जाता है। उसे निर्गंध कर कोई वासक (फ़्लेवरिंग) पदार्थ मिलाया जाता है। वनस्पति घी में स्नेह-विलेय (फ़ैट सोल्युबल) और ए तथा डी विटामिन मिलाए जा सकते हैं। इसमें कम से कम ५% तिल का तेल मिलाना अनिवार्य है। खाद्यमूल्य की दृष्टि से वनस्पति घी के गुण दोष का विवेचन असंगत है, परंतु वनस्पति घी का सबसे अधिक दुरुपयोग घी के अपद्रव्यीकरण में होता है। वनस्पति घी में कोई उपयुक्त रंजक मिलाकर घी के अपद्रव्यीकरण को रोकना अभी तक संभव नहीं हुआ है। वनस्पति में तिल के तेल का मिश्रण इस हेतु करना अनिवार्य है कि बोदोइन द्वारा सुझाई गई फ़रफ़रोल परीक्षा द्वारा घी में वनस्पति का अपमिश्रण सुगमता से जाना जा सके। सांद्रित हाइड्रोक्लोरिक अम्ल और शर्करा के संयोग से प्राप्त फ़रफ़रोल तिल के तेल में गुलाबी रंग उत्पन्न कर देता है। शुद्ध घी में वनस्पति घी मिश्रित कर बचना वर्जित है और एक ही व्यापारी घी तथा वनस्पति घी दोनों का व्यापार नहीं कर सकता।

७. **मार्गरीन**—यह पदार्थ भी घी या मक्खन से मिलता जुलता है, जिसमें १०% से अधिक दुग्धस्नेह नहीं होता। इसमें वानस्पतिक अथवा जांतव स्नेह ८०% से कम और जल की मात्रा १६% से अधिक न होनी चाहिए। वनस्पति घी के समान मार्गरीन में भी ५% तिल का तेल मिलाना अनिवार्य है।

८. **खाद्य तेल**—खाद्य तेल के निर्माता तथा विक्रेता को अनुज्ञापत्र लेना आवश्यक है। कोई दो या दो से अधिक तेल मिलाकर नहीं बेचे जा सकते। सरसों के तेल का एक विशेष रूप से अपद्रव्यीकरण होता है। भटकटैया नामक एक जंगली कँटीली झाड़ी के बीज काली सरसों के दाने से मिलते जुलते हैं। इस झाड़ी का वैज्ञानिक नाम आर्गीमनी मेक्सिकाना है और उत्तर भारत में इसे भटकटैया, सियाल काँटा, मखार, भरभंड, भरभरवा, घमोया, पीली कटाई, बंग, सत्यानासी, कुटीला आदि

कहते हैं। सरसों के साथ इसके बीज की मिलावट कर तेल पेर लिया जाता है। इस प्रकार अपमिश्रित सरसों का तेल बेचने से व्यापारी को आर्थिक लाभ होता है। यह तस्कर व्यापार बहुत बढ गया है। इस अपमिश्रित तेल के सेवन से बेरीबेरी से मिलती जुलती, परतु सर्वथा भिन्न, महामारी जलशोथ (एपीडेमिक ड्रॉप्सी) नामक रोग हो जाता है। आर्गीमनी मेक्सिकाना मे पाया जानेवाला सेग्यूनेरीन नामक विषैला ऐलकैलॉयड सभवत इस रोग का कारण है। यह रोग कभी कभी बहुत व्यापक हो जाता है और उत्तर प्रदेश, बिहार, बगाल में इसके प्रकोप यदा-कदा होते रहे हैं। पूरी छानबीन कर आर्गीमनी मेक्सिकाना को अब विष घोषित कर दिया गया है और अफीम, सखिया, कुचला आदि की तरह कोई इसे अनधिकृत रूप से अपने पास नही रख सकता। इस उपाय से यह विषैला अपमिश्रण बहुत कुछ नियत्रित हो गया प्रतीत होता है।

६ **वातित या फेनिल पेय** (एअरेटेड वाटर)—अशुद्ध जल अथवा अशुद्ध बर्फ के योग से बना पेय शुद्ध नही माना जाता। शर्करा, साइट्रिक अम्ल तथा स्वीकृति रजक का नियमित मात्रा मे प्रयोग वैध है। टार्टरिक अम्ल, फास्फोरिक अम्ल तथा खनिज अम्ल का प्रयोग और सीसा आदि विषैली धातुओं के लवणों का मिश्रण निषिद्ध है।

भारत से मसालों का निर्यात-व्यापार बहुत होता है। अपमिश्रित मसाला के निर्यात से इस विदेशी व्यापार को बहुत हानि पहुँचने की आशका है। इस कारण मसालों की शुद्धता के मानक स्थिर कर दिए गए हैं। काफी, चाय, चीनी, शहद आदि के मानक भी स्थिर हो गए हैं। शेष पदार्थों के मानक देश के प्रत्येक भाग से नमूनों की परीक्षा कर समय समय पर स्थिर किए जा रहे हैं। केंद्रीय खाद्य मानक समिति यह कार्य बराबर कर रही है। कुछ प्रदेशों ने अखिल भारतीय मानक के अभाव मे अपने मानक लागू कर रखे हैं।

स०ग्र०—प्रिवेशन ऑव फूड ऐडल्टरेशन ऐक्ट, १९५४, प्रिवेशन ऑव फुड ऐडल्टरेशन रूल्स, १९५५, मॉडेल पब्लिक हेल्थ ऐक्ट (रिपोर्ट, १९५५), एनवाइरन्मेटल हाइजीन कमेटी रिपोर्ट, १९४९, (ये सभी स्वास्थ्य मत्रालय के प्रकाशन हैं)। आहार और आहार विद्या, पोषण, हाइड्रोजनीकरण, फेनिल पेय, दूध, घी तथा गेहूँ शीर्षक लेख भी देखें। [भ० श० या०]

अपभ्रंश आधुनिक भाषाओं के उदय से पहले उत्तर भारत मे बोलचाल और साहित्य रचना की सबसे जीवत और प्रमुख भाषा (समय लगभग छठी से १२वी शताब्दी)। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से अपभ्रश भारतीय आर्यभाषा के मध्यकाल की अतिम अवस्था है जो प्राकृत और आधुनिक भाषाओं के बीच की स्थिति है।

अपभ्रश के कवियों ने अपनी भाषा को केवल 'भासा', 'देसी भासा' अथवा 'गामेल्ल भासा' (ग्रामीण भाषा) कहा है, परतु सस्कृत के व्याकरणों और अलकारग्रथो मे उस भाषा के लिये प्राय 'अपभ्रश' तथा कही कही 'अपभ्रष्ट' सज्ञा का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार अपभ्रश नाम सस्कृत के आचार्यो का दिया हुआ है, जो आपातत तिरस्कारसूचक प्रतीत होता है। महाभाष्यकार पतजलि ने जिस प्रकार 'अपभ्रश' शब्द का प्रयोग किया है उससे पता चलता है कि सस्कृत या साधु शब्द के लोकप्रचलित विविध रूप अपभ्रश या अपशब्द कहलाते थे। इस प्रकार प्रतिमान से च्युत, स्खलित, भ्रष्ट अथवा विकृत शब्दों को अपभ्रश सज्ञा दी गई और आगे चलकर यह सज्ञा पूरी भाषा के लिये स्वीकृत हो गई। दडी (सातवी शती) के कथन से इस तथ्य की पुष्टि होती है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि शास्त्र अर्थात् व्याकरण शास्त्र मे सस्कृत से इतर शब्दों को अपभ्रश कहा जाता है, इस प्रकार पालि-प्राकृत-अपभ्रश सभी के शब्द 'अपभ्रश' सज्ञा के अतर्गत आ जाते हैं, फिर भी पालि-प्राकृत को 'अपभ्रश' नाम नही दिया गया।

दडी ने इस बात को स्पष्ट करते हुए आगे कहा है कि काव्य मे आभीर आदि बोलियों को अपभ्रश नाम से स्मरण किया जाता है, इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अपभ्रश नाम उसी भाषा के लिये रूढ हुआ जिसके शब्द सस्कृतेतर थे और साथ ही जिसका व्याकरण भी मुख्यत आभीरादि लोक बोलियों पर आधारित था। इसी अर्थ मे अपभ्रश पालि-प्राकृत आदि से विशेष भिन्न थी।

अपभ्रंश के सबध मे प्राचीन अलकार ग्रथों मे दो प्रकार के परस्पर विरोधी मत मिलते हैं। एक ओर रुद्रट के काव्यालकार (२-१२) के टीकाकार नमिसाधु (१०६९ ई०) अपभ्रश को प्राकृत कहते हैं तो दूसरी ओर भामह (छठी शती), दडी (सातवी शती) आदि आचार्य अपभ्रंश का उल्लेख प्राकृत से भिन्न स्वतत्र काव्यभाषा के रूप मे करते हैं। इन विरोधी मतों का समाधान करते हुए याकोबी (भविस्सयत्त कहा की जर्मन भूमिका, अग्रेजी अनुवाद, बड़ौदा ओरिएटल इस्टीट्यूट जर्नल, जून १९५५) ने कहा है कि शब्दसमूह की दृष्टि से अपभ्रश प्राकृत के निकट है और व्याकरण की दृष्टि से प्राकृत से भिन्न भाषा है।

इस प्रकार अपभ्रश के शब्दकोश का अधिकाश, यहा तक कि नब्बे प्रति शत, प्राकृत से गृहीत है और व्याकरणिक गठन प्राकृत रूपों से अधिक विकसित तथा आधुनिक भाषाओं के निकट है। प्राचीन व्याकरणों के अपभ्रश सबधी विचारों के क्रमबद्ध अध्ययन से पता चलता है कि छ सौ वर्षों मे अपभ्रश का क्रमश विकास हुआ। भरत (तीसरी शती) ने इसे शाबर, आभीर, गुर्जर आदि की भाषा बताया है। चड (छठी शती) ने 'प्राकृतलक्षणम्' में इसे विभाषा कहा है और उसी के आसपास वलभी के राजा ध्रुवसेन द्वितीय ने एक ताम्रपट्ट मे अपने पिता का गुणगान करते हुए उन्हें सस्कृत और प्राकृत के साथ ही अपभ्रश प्रबधरचना मे निपुण बताया है। अपभ्रश के काव्यसमर्थ भाषा होने की पुष्टि भामह और दडी जैसे आचार्यों द्वारा आगे चलकर सातवी शती मे हो गई। काव्यमीमासाकार राजशेखर (दसवी शती) ने अपभ्रश कवियो को राजसभा मे सम्मान-पूर्ण स्थान देकर अपभ्रश के राजसम्मान की ओर सकेत किया तो टीका-कार पुरुषोत्तम (११वी शती) ने इसे शिष्टवर्ग की भाषा बतलाया। इसी समय आचार्य हेमचद्र ने अपभ्रश का विस्तृत और सोदाहरण व्या-करण लिखकर अपभ्रश भाषा के गौरवपूर्ण पद की प्रतिष्ठा कर दी। इस प्रकार जो भाषा तीसरी शती मे आभीर आदि जातियो की लोक बोली थी वह छठी शती मे साहित्यिक भाषा बन गई और ११वी शती तक जाते जाते शिष्टवर्ग की भाषा तथा राजभाषा हो गई।

अपभ्रश के क्रमश भौगोलिक विस्तारसूचक उल्लेख भी प्राचीन ग्रथों मे मिलते हैं। भरत के समय (तीसरी शती) तक यह पश्चिमोत्तर भारत की बोली थी, परतु राजशेखर के समय (दसवी शती) तक पजाब, राजस्थान और गुजरात अर्थात् समूचे पश्चिमी भारत की भाषा हो गई। साथ ही स्वयभू, पुष्पदत, धनपाल, कनकामर, सरहपा, कन्हपा आदि की अपभ्रश रचनाओं से प्रमाणित होता है कि उस समय यह समूचे उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा हो गई थी।

वैयाकरणों ने अपभ्रश के भेदों की भी चर्चा की है। मार्कंडेय (१७वी शती) के अनुसार इसके नागर, उपनागर और ब्राचड तीन भेद थे और नमिसाधु (११वी शती) के अनुसार उपनागर, आभीर और ग्राम्य। इन नामों से किसी प्रकार के क्षेत्रीय भेद का पता नही चलता। विद्वानों ने आभीरों को व्रात्य कहा है, इस प्रकार 'ब्राचड' का सबध 'व्रात्य' से माना जा सकता है। ऐसी स्थिति मे आभीरी और ब्राचड एक ही बोली के दो नाम हुए। क्रमदीश्वर (१३वी शती) ने नागर अपभ्रश और रासक छद का सबध स्थापित किया है। रासक छदों की रचना प्राय पश्चिमी प्रदेशों मे ही हुई है। इस प्रकार अपभ्रश के सभी भेदोपभेद पश्चिमी भारत मे ही सबद्ध दिखाई पडते हैं। वस्तुत साहित्यिक अपभ्रश अपने परिनिष्ठित रूप मे पश्चिमी भारत की ही भाषा थी, परतु अन्य प्रदेशों मे प्रसार के साथ साथ उसमे स्वभावत क्षेत्रीय विशेषताएँ भी जुड गई। प्राप्त रचनाओं के आधार पर विद्वानों ने पूर्वी और दक्षिणी दो अन्य क्षेत्रीय अपभ्रशो के प्रचलन का अनुमान लगाया है।

अपभ्रश भाषा का ढाँचा लगभग वही है जिसका विवरण हेमचंद्र के 'सिद्धहेमशब्दानुशासनम्' के आठवें अध्याय के चतुर्थ पाद मे मिलता है। ध्वनिपरिवर्तन की जिन प्रवृत्तियो के द्वारा सस्कृत शब्दों के तद्भव रूप प्राकृत मे प्रचलित थे, वही प्रवृत्तियाँ अधिकाशत अपभ्रंश शब्दसमूह मे भी दिखाई पडती है, जैसे अनादि और असयुक्त क, ग, च, ज, त, द, प, य, और व का लोप तथा इनके स्थान पर उद्वृत्त स्वर अ अथवा य श्रुति का प्रयोग। इसी प्रकार प्राकृत की तरह ('क्त', 'क्व', 'द्व' आदि संयुक्त

व्यंजनों के स्थान पर अपभ्रंश में भी 'क्त', 'क्क', 'ट्ट' आदि द्वित्तव्यंजन होते थे। परंतु अपभ्रंश में क्रमशः समीपवर्ती उद्वृत्त स्वरों को मिलाकर एक स्वर करने और द्वित्तव्यंजन को सरल करके एक व्यंजन सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति बढ़ती गई। इसी प्रकार अपभ्रंश में प्राकृत से कुछ और विशिष्ट ध्वनिपरिवर्तन हुए। अपभ्रंश कारकरचना में विभक्तियाँ प्राकृत की अपेक्षा अधिक घिसी हुई मिलती हैं, जैसे तृतीया एकवचन में 'एण' की जगह 'ए' और षष्ठी एकवचन में 'स्स' के स्थान पर 'ह'। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश निर्विभक्तिक मूल रूपों से भी कारकरचना की गई। सहुं, केहि, तेहि, देसि, तणेण, केरअ, मज्झि आदि परसर्ग भी प्रयुक्त हुए। कृदंतज क्रियाओं के प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ी और संयुक्त क्रियाओं के निर्माण का आरंभ हुआ। संक्षेप में "अपभ्रंश ने नए सुबंतों और तिङंतों की सृष्टि की"। अपभ्रंश साहित्य की प्राप्त रचनाओं का अधिकांश जैन काव्य है अर्थात् रचनाकार जैन थे और प्रबंध तथा मुक्तक सभी काव्यों की वस्तु जैन दर्शन तथा पुराणों से प्रेरित है। सबसे प्राचीन और श्रेष्ठ कवि स्वयंभू (नवीं शती) हैं जिन्होंने राम की कथा को लेकर 'पउमचरिउ' तथा 'महाभारत' की रचना की है। दूसरे महाकवि पुष्पदंत (दसवीं शती) हैं जिन्होंने जैन परंपरा के त्रिषष्ठि शलाकापुरुषों का चरित 'महापुराण' नामक विशाल काव्य में चित्रित किया है। इसमें राम और कृष्ण की भी कथा समिलित है। इसके अतिरिक्त पुष्पदंत ने 'णायकुमारचरिउ' और 'जसहरचरिउ' जैसे छोटे छोटे दो चरितकाव्यों की भी रचना की है। तीसरे लोकप्रिय कवि धनपाल (दसवीं शती) हैं जिनकी 'भविस्सयत्तकहा' श्रुतपंचमी के अवसर पर कही जानेवाली लोकप्रचलित प्राचीन कथा है। कनकामर मुनि (११वीं शती) का 'करकंडुचरिउ' भी उल्लेखनीय चरितकाव्य है।

अपभ्रंश का अपना दुलारा छंद दोहा है। जिस प्रकार प्राकृत को 'गाथा' के कारण 'गाहाबंध' कहा जाता है, उसी प्रकार अपभ्रंश को 'दोहाबंध'। फुटकल दोहा में अनेक ललित अपभ्रंश रचनाएँ हुई हैं, जो इंदु (आठवीं शती) का 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार', रामसिंह (दसवीं शती) का 'पाहुड दोहा,' देवसेन (दसवीं शती) का 'सावयधम्म दोहा' आदि जैन मुनियों की ज्ञानोपदेशपरक रचनाएँ अधिकांशतः दोहा में हैं। प्रबंधचिंतामणि तथा हेमचंद्ररचित व्याकरण के अपभ्रंश दोहों से पता चलता है कि शृंगार और शौर्य के ऐहिक मुक्तक भी काफी संख्या में लिखे गए हैं। कुछ रासक काव्य भी लिखे गए हैं जिनमें कुछ तो 'उपदेशरसायन रास' की तरह नितांत धार्मिक हैं, परंतु अद्दहमाण (१३वीं शती) के संदेशरासक की तरह शृंगार के सरस रोमांस काव्य भी लिखे गए हैं।

जैनों के अतिरिक्त बौद्ध सिद्धों ने भी अपभ्रंश में रचना की है जिनमें सरहपा, कन्हपा आदि के दोहाकोश महत्वपूर्ण हैं। अपभ्रंश गद्य के भी नमूने मिलते हैं। गद्य के टुकड़े उद्योतन सूरि (सातवीं शती) की 'कुवलयमाला कहा' में यत्रतत्र बिखरे हुए हैं।

नवीन खोजों से जो सामग्री सामने आ रही है, उससे पता चलता है कि अपभ्रंश का साहित्य अत्यंत समृद्ध है। डेढ़ सौ के आसपास अपभ्रंश ग्रंथ प्राप्त हो चुके हैं जिनमें से लगभग पचास प्रकाशित हैं।

सं०ग्रं०—नामवर सिंह हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग (१९५४), हरिवंश कोछड़ अपभ्रंश साहित्य (१९५६)। [ना० सिं०]

अपरांत भारतवर्ष की पश्चिम दिशा का देशविशेष। 'अपरांत' (अपर + अंत) का अर्थ है पश्चिम का अंत। आजकल यह बंबई प्रांत का 'कोंकण' प्रदेश माना जाता है। तालेमी नामक भूगोलवेत्ता ने इस प्रदेश को, जिसे वह 'अरिआके' या 'अबरातिके' के नाम से पुकारता है, चार भागों में विभक्त बतलाया है। समुद्रतट से लगा हुआ उत्तरी भाग थाणा और कोलाबा जिलों से मिलता है तथा दक्षिणी भाग रत्नागिरि और उत्तरी कनारा जिलों से। इसी प्रकार समुद्र से भीतरी प्रदेश के भी दो भाग हैं। उत्तरी भाग में गोदावरी नदी बहती है और दक्षिणी में कन्नड भाषा-भाषियों का निवास है। महाभारत (आदिपर्व) तथा मार्कंडेय पुराण के अनुसार यह समस्त प्रदेश 'अपरांत' के अंतर्गत है। बृहत्संहिता (१४।२०) ने इस प्रदेश के निवासियों का 'अपरांतक' नाम से उल्लेख किया है जिनका निर्देश रुद्रदामन् के जूनागढ़ शिलालेखों में भी है। रघुवंश (४।५३) से भी स्पष्ट है कि अपरांत सह्य पर्वत तथा पश्चिम सागर के बीच का वह सँकरा भूभाग है जिसे परशुराम ने पुराणानुसार समुद्र को दूर हटाकर अपने निवास के लिये प्रस्तुत किया था। [ब० उ०]

अपरा उपनिषद् की दृष्टि से अपरा विद्या निम्न श्रेणी का ज्ञान मानी जाती है। मुंडक उपनिषद् (१।१।४) के अनुसार विद्या दो प्रकार की होती है—(१) परा विद्या (श्रेष्ठ ज्ञान) जिसके द्वारा अविनाशी ब्रह्मतत्व का ज्ञान प्राप्त होता है (अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते), (२) अपरा विद्या के अंतर्गत वेद तथा वेदांगों के ज्ञान की गणना की जाती है। उपनिषद् का आग्रह परा विद्या के उपार्जन पर ही है। ऋग्वेद आदि चारों वेदों तथा शिक्षा, व्याकरण आदि छहों अंगों के अनुशीलन का फल क्या है? केवल बाहरी, नश्वर, विनाशी वस्तुओं का ज्ञान, जो आत्मतत्व की जानकारी में किसी तरह सहायक नहीं होता। छांदोग्य उपनिषद् (७।१।२-३) में नारद-सनत्कुमार-संवाद में भी इसी पार्थक्य का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। नारद अध्यात्मशास्त्र के जिज्ञासु शिष्य हैं। सनत्कुमार तत्वशास्त्र के महान् आचार्य हैं जिनके पास नारद तत्वज्ञान सीखने जाते हैं। मंत्रविद् नारद सकल शास्त्रों के पंडित हैं, परंतु आत्मविद् न होने से वे शोकग्रस्त हैं। "मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित् तरति शोकमात्मवित्।" अतः उपनिषदों का स्पष्ट मंतव्य है कि अपरा विद्या को छोड़कर परा विद्या का अभ्यास करना चाहिए जिससे इसी जन्म में, इसी शरीर से आत्मा का साक्षात्कार हो जाय (केन २।२३)। यूनानी तत्वज्ञ भी इसी प्रकार का भेद—दोक्सा तथा एपिस्टेमी—मानते थे जिनमें से प्रथम साधारण विचार का तथा द्वितीय सत्य का संकेतक माना जाता था।

[ब० उ०]

अपराजितवर्मन् इस पल्लव राजा ने पल्लवों की विचलित कुललक्ष्मी को कुछ काल तक अचल रखा। वह ८७६ ई० के लगभग गद्दी पर बैठा और ८९५ ई० के लगभग उसकी मृत्यु हुई। उसने पांड्यराज वरगुण द्वितीय को परास्त किया, परंतु चोडों की सर्वग्रासी शक्ति ने पल्लवों को जीतकर तोंडमंडलम् पर अधिकार कर लिया और पल्लवों के स्वतंत्र शासन का अंत हो गया। अपराजितवर्मन् अंतिम पल्लव राजा था। [भ० श० उ०]

अपराजिता दुर्गा का पर्यायवाची नाम, जो उनके रौद्र रूप का द्योतक है। इसी रूप से उन्होंने अनेक असुरों का संहार किया था। 'देवीपुराण' तथा 'चंडीपाठ' में इस स्वरूप का विस्तृत वर्णन मिलता है और तंत्र साहित्य में अपराजिता की पूजा का विधान है। इसके अतिरिक्त अपराजिता नाम की विद्या का कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीय' में उल्लेख किया है। [च० म०]

अपराध जिस समय मानव समाज की रचना हुई अर्थात् मनुष्य ने अपना सामाजिक संगठन प्रारंभ किया, उसी समय से उसने अपने संगठन की रक्षा के लिये नैतिक, सामाजिक आदेश बनाए। उन आदेशों का पालन मनुष्य का 'धर्म' बतलाया गया। किंतु, जिस समय से मानव समाज बना है, उसी समय से उसके आदेशों के विरुद्ध काम करनेवाले भी पैदा हो गए हैं, और जब तक मनुष्य प्रवृत्ति ही न बदल जाय, ऐसे व्यक्ति बराबर होते रहेंगे।

युगों से अपराध की व्याख्या करने का प्रयास हो रहा है। डा० पी० के० सेन ने अपराध की सत्ता इतिहास काल के भी पूर्व से मानी है। अतएव इसकी व्याख्या कठिन है। पूर्वी तथा पश्चिमी देशों के प्रारंभिक विधानों के नैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक नियमों को तोड़ना समान रूप से अपराध था। सारजेंट स्टीफन ने लिखा है कि समुदाय का बहुमत जिसे सही बात समझे, उसके विपरीत काम करना अपराध है। ब्लैकस्टन कहते हैं कि समूचे समुदाय के प्रति जो व्यक्ति का कर्तव्य है तथा उसके जो अधिकार हैं उनकी अवज्ञा अपराध है। किसी दूसरे के अधिकार पर आघात पहुंचाना या समाज के प्रति कर्तव्य का पालन न करना, दोनों ही अपराध हैं। रोम में अपराध का निर्णय नगर की समूची जनता करती थी। तभी से अपराध को 'सार्वजनिक' भूल कहा जाने लगा है। आज के कानून में अपराध 'सार्वजनिक हानि' की वस्तु समझा जाता है।

दो सौ वर्ष पूर्व तक संसार के सभी देशों की यह निश्चित नीति थी कि जिसने समाज के आदेशों की अवज्ञा की है, उससे बदला लेना चाहिए। इसीलिये अपराधी को घोर यातना दी जाती थी। जेलों में उसके साथ पशु से भी बुरा व्यवहार होता था। यह भावना अब बदल गई है। आज समाज की निश्चित धारणा है कि अपराध शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार का रोग है, इसलिये अपराधी की चिकित्सा करनी चाहिए। उसे समाज में वापस करते समय शिष्ट, सभ्य, नैतिक नागरिक बनाकर वापस करना है। अतएव कारागार यातना के लिये नहीं, सुधार के लिये हैं। वे बंदीगृह नहीं, सुधारगृह हैं।

यह तो स्पष्ट हो गया कि अपराध यदि नैतिक तथा सामाजिक आदेशों की अवज्ञा का नाम है तो इस शब्द का कोई निश्चित अर्थ नहीं बतलाया जा सकता। फ्रायड वर्ग के विद्वान् प्रत्येक अपराध को कामवासना का परिणाम बतलाते हैं तथा हीली ऐसे शास्त्री उसे सामाजिक वातावरण का परिणाम कहते हैं, किंतु ये दोनों मत मान्य नहीं हैं। अब कोई लाब्राजो की यह बात भी नहीं मानता कि अपराधी व्यक्ति के शरीर की विशेष बनावट होती है। कुछ विद्वान् इसे पारिवारिक देन कहते थे, किंतु यह विचार भी अब अग्राह्य है। एक देश में एक ही प्रकार का धर्म नहीं है। हर एक देश में एक ही प्रकार का सामाजिक संगठन भी नहीं है, रहन सहन में भेद है, आचार विचार में भेद है, अतएव एक प्रकार का आदेश भी नहीं है। ऐसी स्थिति में एक देश का अपराध दूसरे देश में सर्वथा उचित आचार बन सकता है। कहीं पर स्त्री को तलाक देना वैध बात है, कहीं पर सर्वथा वर्जित है। कहीं पर संयुक्त परिवार का जीवन उचित है, कहीं पर पारिवारिक जीवन का कोई कानूनी नियम नहीं है। सन् १९४६-४७ में इंग्लैंड में चोरबाजारी करनेवाले को कड़ा दंड मिलता था, फ्रांस में उसे एक 'साधारण' बात समझा जाता था। कई देश धार्मिक रूप से किया गया विवाह ही वैध मानते हैं। पूर्वी यूरोप तथा अन्य अनेक साम्यवादी देशों में धार्मिक प्रथा से किए गए विवाह का कोई कानूनी महत्व ही नहीं होता।

इसीलिये प्राचीन भारतीय शास्त्रकारों ने जिन बातों को जीवन की मौलिक नैतिकता मान लिया था उन्हीं की अवज्ञा को भारतीय दृष्टिकोण से अपराध कहना उचित होगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने भी अपराध की व्याख्या करने की चेष्टा की है और उसने भी केवल 'असामाजिक' अथवा 'समाजविरोधी' कार्यों को अपराध स्वीकार किया है। पर इसमें विश्वव्यापी नैतिक तथा अपराध संबंधी विधान नहीं बन सकता। ब्लेक ने तो यहाँ तक लिखा है कि "न्याय के पत्थरों से कारागार की दीवारें बनीं, धर्म के पत्थरों से वेश्यालय बने।" कटनर इसके आगे बढ़ गए। उनके अनुसार "बहुत अधिक धार्मिक भक्ति दबी हुई कामुक वासना का परिणाम हो सकती है।" इसलिये मोटे तौर पर सच बोलना, चोरी न करना, दूसरे के धन या जीवन का अपहरण न करना, पिता, माता तथा गुरुजनों का आदर, कामवासना पर नियंत्रण, यही मौलिक नैतिकता है जिसका हर समाज में पालन होता है और जिसके विपरीत काम करना अपराध है।

इटली के डा० लाब्रोजो पहले शास्त्री थे जिन्होंने अपराध के बजाय 'अपराधी' को पहचानने का प्रयत्न किया। फेरी समाजविज्ञान द्वारा अपराध और अपराधी को पहचानना चाहते थे। फेरी कहते थे कि कोई भी अपराध हो, चाहे कोई भी करे, किसी भी परिस्थिति में करे, उसका और कोई कारण नहीं, केवल यही कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत स्वतंत्र इच्छा से किया गया है या प्राकृतिक या स्वाभाविक कारणों का परिणाम है। गैरोफालो अपराध को मनोविज्ञान का विषय मानते थे; उनके अनुसार चार प्रकार के अपराधी होते हैं—हत्यारे, उग्र अपराधी, संपत्ति के विरुद्ध अपराधी, तथा कामुक वासना के अपराधी। गैरोफालो के मत से प्राणदंड, आजन्म कारागार या देशनिकाला यही तीन सजाएँ होनी चाहिएँ। फॉन हामेल ने पहली बार अपराधी के सुधार की चर्चा उठाई। फ्रांस के पंडित तार्दे ने नैतिक जिमेदारी, 'व्यक्तिगत विशिष्टता' की चर्चा की। उनके अनुसार मनुष्य अपनी चेतना तथा अंतश्चेतना का समुच्चय मात्र है। उसके कार्यों से जिसे दुःख पहुँचे यानी जिसके प्रति अपराध किया जाय उसको भी समान रूप से सामाजिक एकता के प्रति सचेत करना चाहिए।

फ्रांस की राज्यक्रांति ने 'मानव के अधिकार' की घोषणा की। अपराधी भी मनुष्य है। उसका भी कुछ नैसर्गिक अधिकार है। इसलिये अपराधी भी अपराध की व्याख्या चाहते हैं। इसकी सबसे स्पष्ट व्याख्या सन् १९३४ के फ्रांसीसी दंडविधान ने की। अपराध वही है जिसे कानूनन मना किया गया हो। भारतवर्ष में भ्रूणहत्या अपराध है। अल्बानिया में ३० रुपया सरकारी फीस देकर कोई भी गर्भपात करा सकता है। अतएव जिस चीज को तत्कालीन वातावरण में मना कर दिया गया है, उसी का नाम अपराध है। किंतु, कानूनन नाजायज काम करना ही अपराध नहीं रह गया है। डा० गुतनर ने जो बात उठाई थी वही आज हर एक न्यायालय के लिये महान् विषय बन गई है। उन्होंने कहा था कि जिस आदेश की अवज्ञा जान बूझकर की गई हो, वही अपराध है। यदि छत पर पतंग उड़ाते समय किसी लड़के के पैर से एक पत्थर नीचे सड़क पर आ जाय और किसी दूसरे के सिर पर गिरकर प्राण ले ले तो वह लड़का हत्या का अपराधी नहीं है। अतएव महत्व की वस्तु नीयत है। अपराध और उसके करने की नीयत—इन दोनों को मिला देने से ही वास्तविक न्याय हो सकता है।

किंतु समाजशास्त्र के पंडितों के सामने यह समस्या भी थी और है कि समाज की हानि करनेवाले के साथ व्यवहार कैसा हो। अफलातून का मत था कि हानि पहुँचानेवाले की हानि करना अनुचित है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री सिजविक ने स्पष्ट कहा था कि न्याय कभी नहीं चाहता कि भूल करनेवाले यानी अपराध करनेवाले को पीड़ा पहुँचाई जाय। लार्ड हाल्डेन ने भी अपराध का विचार न कर अपराधी व्यक्ति, उसकी समस्याएँ, उसके वातावरण पर विचार करने की सलाह दी है। ब्रिटेन के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ तथा कई बार प्रधान मंत्री बननेवाले विंस्टन चर्चिल का कथन है कि "अपराध तथा अपराधी के प्रति जनता की कैसी भावना तथा दृष्टि है, उसीसे उस देश की सभ्यता का वास्तविक अनुमान लग सकता है। बृटिश कानून उसी काम को अपराध समझती है जो दुर्भाव से, स्वेच्छया, धूर्ततापूर्वक किया, कराया, करने दिया या होने दिया गया हो।" बहुत से अपराध ऐसे होते हैं जो अपराध होने के कारण ही अपराध नहीं समझे जाते। जैसे, ब्रिटेन में तीन प्रकार के विवाह नाजायज हैं अतः यदि विवाह हो भी गया तो वह विवाह नहीं समझा जायगा, जैसे १६ वर्ष से कम उम्र की लड़की से विवाह करना इत्यादि।

आज अपराध के बारे में धारणाएँ बदल गई हैं। प्रोफेसर विनफील्ड का मत आज अकाट्य है कि हरएक अपराध मनुष्य के उस आचरण का परिणाम है जिसे कानून रोकना चाहता है। इसलिए अपराध केवल एक भौतिक घटना है। वकीलों को केवल इतना ही साबित करना है कि अपराधी ने ऐसा काम किया जिसे करने की कानून द्वारा मनाही थी। पर, ऐसा काम कोई करता ही क्यों है? विलियम टकर इसे मन का रोग मानते हैं। फ्रांक रौस इसे उस वातावरण का परिणाम कहते हैं जिसमें मनुष्य अपने बचपन से पलता है। प्रो० स्नीदर का कथन है कि मन, शरीर, विद्या किसी मामले में अपराधी गैर-अपराधी से पीछे नहीं है। उसमें कमी इतनी ही है कि वह घटनाओं तथा परिस्थितियों से विवश हो गया। फिर यह भी सिद्ध किया गया कि बहुत से लोगों का मन रोगी होता है। उन्हें एकदम पागल भी नहीं कह सकते, फिर भी वे मानसिक रोग से पीड़ित हैं। वे भी अपराधी नहीं कहे जा सकते। बचपन में कुसंगति में पड़ा हुआ बालक या बालिका, पारिवारिक उपेक्षा अथवा कलह का शिकार बच्चा यदि अपराध की शिक्षा प्राप्त कर ले तो इसका दोषी समाज स्वयं है। यह मत अब मान्य नहीं है कि गरीबी अथवा अभाव के कारण अपराध होता है।

नवीन औद्योगिक सभ्यता में अपराध का रूप तथा प्रकार भी बदल गया है। नए किस्म के अपराध होने लगे हैं जिनकी कल्पना करना भी कठिन है। इसलिये अपराध की पहचान अब इस समय यही है कि कानून ने जिस काम को मना किया है, वह अपराध है। जिसने मना किया हुआ काम किया है, वह अपराधी है। किंतु, अपराधी परिस्थिति का दास हो सकता है, विवश हो सकता है, इसलिये उसे पहचानने का प्रयत्न करना होगा। आज का अपराध शास्त्र इसमें विश्वास नहीं करता कि कोई पेट से सीख कर अपराधी बना है या कोई जान-बूझ कर उसे अपना 'जीवन' बना रहा है। हर एक अपराध का तथा हर एक अपराधी का अध्ययन होना चाहिए।

इसीलिये आज प्रत्येक अपराध तथा प्रत्येक अपराधी व्यक्तिगत अध्ययन, व्यक्तिगत निदान तथा व्यक्तिगत चिकित्सा का विषय बन गया है।

[प० व०]

अपरिणत प्रसव जब गर्भ २८ से ४० सप्ताह के बीच बाहर आ जाता है तब उसे अपरिणत प्रसव (प्रिमैच्योर लेबर) कहते हैं। अट्ठाईस सप्ताह और उससे अधिक समय तक गर्भाशय में स्थित भ्रूण में जीवित रहने की क्षमता मानी जाती है। अमरीकन ऐकैडेमी ऑव पीड्रियेट्रिक्स ने सन् १९३५ में यह नियम बनाया था कि साढ़े पाँच पाउंड या उससे कम भार का नवजात शिशु अपरिणत शिशु माना जाय,चाहे गर्भकाल कितने ही समय का क्यों न हो। दि लीग ऑव नेशंस की इंटरनैशनल मेडिकल कमिटी ने भी यह नियम स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार के प्रसव लगभग दस प्रति शत होते हैं।

अपरिणत प्रसव के कारण—(१) वे रोग जो गर्भावस्था में माता के स्वास्थ्य के लिये आपत्तिजनक हैं, जैसे जीर्ण वृक्क-कोप (क्रॉनिक नेफ्राइटिस), गुर्दे की बीमारी, उच्च रक्तचाप (हाई ब्लड प्रेशर), मधुमेह (डायाबिटीज़) और उपदंश (सिफ़लिस); (२) गर्भावस्था के कुछ विशेष रोग, जैसे गर्भावस्थीय विपाक्तता (टॉक्सीमिया ऑव प्रेगनैन्सी), प्रसवपूर्व रुधिरस्राव; (३) संक्रामक रोग, जैसे गोणिकार्ति (पाइलाइटीज़), इंफ्लुएंज़ा, न्यूमोनिया, उंडुकार्ति (ऐपेंडिसाइटिस), पित्ताशयार्ति (कोलिसिस्टाइटिस), माता की विकृत मनोस्थिति, शरीर में रक्त की अत्यधिक कमी, इत्यादि; (४) गर्भाशय में कई भ्रूणों का होना और जलात्यय (हाइड्रेम्नियास); (५) लगभग ५० प्रति शत अपरिणत प्रसवों में कोई विशेष कारण विदित नहीं होता।

प्रबंध—पूर्वोक्त कारणों के अनुसार प्रसववेदना प्रारंभ होते ही उपयुक्त चिकित्सा होनी चाहिए, और निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए :

(१) गर्भकाल में समय समय पर डाक्टरी परीक्षा करानी चाहिए और कोई रोग होने पर उसका उचित उपचार होना चाहिए; (२) रक्तस्राव होने पर उपयुक्त उपचार से अपरिणत प्रसव रोका जा सकता है; (३) प्रसव ऐसे चिकित्सालयों में होना चाहिए जहाँ अपरिणत शिशु के पालन का उचित प्रबंध हो; (४) प्रसवकाल में उचित चिकित्सा न मिलने से बहुत से बालक जन्म के समय, या जन्मते ही मर जाते हैं। इसलिये प्रसवकाल में कुछ उचित नियमों का पालन आवश्यक है, जैसे गर्भाशय की झिल्ली को अधिक से अधिक काल तक फूटने से बचाना, झिल्ली फूटने पर नाल को गर्भाशय के बाहर निकलने से रोकना; ऐसी ओषधियों का प्रयोग न करना जो बालक के लिये हानिप्रद हों, जैसे अफीम या वारबिट्युरेट्स; (५) प्रसव काल में माता को विटामिन 'के' १० मिलीग्राम चार चार घंटे पर देते रहना और बालक को जन्मते ही विटामिन 'के' १० मिलीग्राम सूई द्वारा पेशी में लगाना; (६) प्रसव के समय बालक का सिर बाहर निकालने के लिये किसी प्रकार के अस्त्र का उपयोग न करना; (७) बच्चे के सिर की रक्षा के हेतु संधानिका छेदन (एपीज़ियांटोमी) करना। कुछ रोगों में, जहाँ माता की रक्षा के लिये गर्भ का अंत करना आवश्यक समझा जाता है, अपरिणत प्रसव करवाना आवश्यक होता है।

अपरिणत-प्रसव-वेदना उत्पन्न करने की विधियां दो प्रकार की हैं : (१) ओषधियों का प्रयोग; (२) गर्भाशय की झिल्ली को फोड़ना या गर्भाशय की ग्रीवा को लेमिनेरिया टेन्टस द्वारा फैलाना; (३) संध्या समय दो आउंस अंडी का तेल (कैस्टर ऑयल) पिलाकर तीन घंटे बाद इनीमा लगाना; (४) यदि प्रातःकाल तक पीड़ा आरंभ न हो तो पिट्टियूअरी के दो दो यूनिट की सूई पेशी में आधे आधे घंटे पर ६ बार लगाना।

कुनैन (क्विनीन) आदि का प्रयोग अब नहीं किया जाता।

[क० गु०]

अपलेशियन पर्वत उत्तरी अमरीका की एक पर्वतश्रेणी है जिसका कुछ भाग कैनाडा में और अधिकांश संयुक्त राज्य में है। यह उत्तर में न्यूफाउंडलैंड से गैस्पे प्रायद्वीप और न्यू ब्रंजविक होकर दक्षिण-पश्चिम की ओर मध्य अलाबामा तक १,५०० मील की लंबाई में फैला है। इस पर्वतमाला की चौड़ाई उत्तर में २५० मील से लेकर दक्षिण में १५० मील तक है। इसकी समुद्रतल से औसत ऊँचाई साधारण है और इसका उच्चतम शिखर ब्लैक पर्वत पर स्थित माउंट माइकेल (६,७११ फुट) है। अपलेशियन के शिखर साधारणतः गुबदाकार हैं, जिनमें रॉकी पर्वत या पश्चिमी संयुक्त राज्य के अन्य नवीन पर्वतों की भाँति नोकीलेपन का अभाव है।

इस प्रणाली का भूवैज्ञानिक इतिहास अत्यंत जटिल है। इसके मौलिक उत्थान (अपलिफ़्ट) और भंजन (फ़ोल्डिग) की क्रिया पुराकल्प (पैलिओज़ोइक) में, विशेषकर गिरियुग (परमियन युग) में, आरंभ हुई। भंजनक्रिया तीव्रतापूर्वक पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ती गई, जिसके फलस्वरूप पूर्वी क्षेत्र भंजन तथा विभंजन (फ़ॉल्टिग) द्वारा अधिक प्रभावित हुए हैं।

इस महत्वपूर्ण गिरि-निर्माण-काल के पश्चात् अपलेशियन प्रदेश क्रमशः अपक्षरण और उत्थान-कालों से प्रभावित होता रहा है। निकट पूर्वकाल में, संभवतः तृतीयक कल्प (टर्शियरी एरा) के अंत में, इस प्रदेश ने एक निम्नस्तरीय प्राचीन अपक्षरित मैदान (लो ओल्ड-एज एरोज़हनल प्लेन) का रूप धारण कर लिया। इसके पश्चात् पुनरुत्थान के कारण समुद्रतल से ऊँचाई में वृद्धि हुई और फलस्वरूप नदियों में महत्वपूर्ण ऊर्ध्वाधर अपक्षरण हुआ। धरातलीय शिलाओं की कठोरता सर्वत्र समान न होने के कारण यह अपक्षरण असमान गति से होता रहा और परिणामस्वरूप वर्तमान काल में दृष्टिगोचर विविध भूदृश्यों की उत्पत्ति हुई।

भूम्याकारीय दृष्टि से अपलेशियन श्रेणी तीन समांतर भागों में विभक्त हो जाती है जो क्रमानुसार पश्चिम से पूर्व की ओर इस प्रकार हैं :

(१) अलघनी-कंबरलैंड क्षेत्र अथवा अपलेशियन पठार, जो मुख्यतः क्षैतिज जलज शिलाओं द्वारा निर्मित एक बहु-शाखा-युक्त अपक्षरित पहाड़ी प्रदेश है। इसका उत्तरी भाग हिमनदियों द्वारा प्रभावित हुआ है। (२) मध्यस्थ 'रीढ़ तथा घाटी खंड' (रिज ऐंड वैली सेक्शन), जहाँ शृंखलाओं और घाटियों का समांतर क्रम अत्यधिक भंजित शिलाओं पर स्थित है। यहाँ घाटियों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण 'महान घाटी' (ग्रेट वैली) है जो न्यूयार्क से अलाबामा तक फैली है। (३) ब्लू रिज क्षेत्र जो आग्नेय और परिवर्तित-मिश्रित मणिभीय शिलाओं की अपक्षरित पहाड़ियों और नीचे पर्वतों का क्रम है। इसके अंतर्गत पीडमॉण्ट पठार भी आता है।

अपलेशियन प्रणाली के पूर्व में अटलांटिक समुद्रतटीय मैदान स्थित है। अपलेशियन से पूर्व की ओर प्रवाहित नदियाँ पीडमॉण्ट पठार से प्रपातों के रूप में इस मैदान में उतरती हैं। इन प्रपातों को मिलानेवाली कल्पित रेखा को प्रपातरेखा कहते हैं। जलशक्ति की विशेष सुविधा के कारण प्रपातरेखा के नगर महत्वपूर्ण औद्योगिक केंद्र हैं, जैसे फिलाडलफिया, बाल्टीमोर, इत्यादि।

भूविज्ञान—अपलेशियन प्रदेश की शिलाएँ दो प्राकृतिक भागों में विभक्त हो जाती हैं : (क) प्राचीन (कैंब्रियन-पूर्व) मणिभीय शिलाएँ; जैसे, संगमरमर, शिस्ट, नाइस, ग्रैनाइट, इत्यादि और (ख) पुराकल्पीय अवसादों (पैलियोज़ोइक सेडिमेंट्स) का एक विशाल क्रम जिसके अंतर्गत कैंब्रियन से लेकर गिरियुग (पर्मियन युग) तक की शिलाएँ आती हैं, जैसे बालुकाश्म (सैंडस्टोन), शेल, चूने का पत्थर और कोयला। ये शिलाएँ कैंब्रियनपूर्व शिलाओं के समान अधिक परिवर्तित नहीं हैं। परंतु स्थानीय परिवर्तनों के कारण शेल स्लेट में, और बिटूमिनस कोयला ऐंथ्रासाइट में (जैसे उत्तरी पेनसिलवेनियाँ में), या ग्रैफाइट में (जैसे रोड द्वीप में), परिवर्तित हो गया है। अपलेशियन के मुख्य खनिज कोयला और लोहा हैं।

[रा० ना० मा०]

अपस्फीत शिरा शरीर के विविध अंगों से हृदय तक रुधिर ले जानेवाली वाहिनियों के फूल जाने और टेढ़ी मेढ़ी हो जाने को अपस्फीत शिरा (वैरिकोज़ वेन्स) कहते हैं। इस रोग का कारण यह है : शिराएँ ऊतकों से रक्त को हृदय की ओर ले जाती हैं। शिराओं को गुरुत्वाकर्षण के विपरीत रक्त को टाँगों से हृदय में ले जाना पड़ता है। ऊपर की ओर के इस प्रवाह की सहायता करने के लिये शिराओं के भीतर कितनी ही कपाटिकाएँ बनी हुई हैं। ये कपाटिकाएँ रक्त को केवल ऊपर की ही ओर जाने देती हैं। जब कपाटिकाएँ दुर्बल हो जाती हैं, या कहीं कहीं

नही होतीं, तो रक्त भली भाति ऊपर को चढ नही पाता और कभी कभी नीचे की ओर बहने लगता है। ऐसी दशा मे शिराएँ फूल जाती है और लबाई बढ जाने से टेढी मेढी भी हो जाती है। ये ही अपस्फीत शिराएँ कहलाती है।

अपस्फीत शिरा उन व्यक्तियों मे पाई जाती है जिनको बहुत समय तक खडे होकर काम करना या चलना पडता है। बहुत बार एक ही परिवार के कई व्यक्तियो मे यह दशा पाई जाती है। अपस्फीत शिरा मे रोगी के चर्म के नीचे नीले रग की फूली हुई वाहिनिया के गुच्छे दिखाई पडते है। रोगी के लेट जाने पर वे मिट जाते है और उसके खडे होने पर वे फिर उभड आते है। उनके कारण रोगी के पैरो मे भारीपन और थकावट प्रतीत होती है। कभी कभी खजली भी होती है और चर्म पर व्रण या पामा (एकजेमा) उत्पन्न हो जाता है।

ऐसी शिराओं को कम करने के लिये रबड की लचीली पट्टियाँ पावो की ओर से आरभ करके ऊपर की ओर को जघे तक बाधी जाती है। दशा उग्र न होने पर शिराओं के भीतर इजेक्शन देने से लाभ होता है। जब शिराएँ अधिक विस्तृत हो जाती है तो शल्यकर्म द्वारा उनको निकालना आवश्यक होता है। बहुत बार इजेक्शन चिकित्सा और शल्यकर्म दोनो करने पडते है।

जिन मुख्य शिराओं मे अपस्फीत शिराओं मे रक्त जाता है उनका शल्यकर्म द्वारा बधन कर दिया जाता है। बहुत बार शिराओं के आक्रात भाग को निकाल देना पडता है। यदि गहरी शिराओं मे घनास्रता (थ्रौबासिस) होती है तो इजेक्शन चिकित्सा या शल्यकर्म नही किया जाता। [प्री०दा०]

अपस्मार को साधारण लोग मृगी या मिरगी कहते है और अग्रेजी मे इसे एपिलेप्सी कहते है। अपस्मार की कई परिभाषाएँ दी गई है। एक परिभाषा के अनुसार कभी कभी बेहोशी का दौरा आने की स्थायी प्रवृत्ति को अपस्मार कहते है। एक दूसरी परिभाषा के अनुसार यह मस्तिष्क के लय का अभाव अर्थात् असतुलन (डिसरिथिमिया) है। एक प्रकार से यह रोग मस्तिष्क की कोशिकाओं की वैद्युत् क्रियाशीलता मे क्षणभगुर आँधी है। मस्तिष्क मे किसी प्रकार के क्षत से, अथवा उसके किसी प्रकार विषाक्त हो जाने से यह रोग होता है।

यदि मस्तिष्क के किसी एक स्थान मे क्षत होता है, उदाहरणत अर्बुद (ट्यूमर) अथवा व्रणचिह्न (स्कार) तो मस्तिष्क के इस भाग से सबद्ध अग से ही गति (मरोड और क्षेप) का आरभ होता है, या केवल उसी अग मे गति होती है और रोगी चेतना नही खोता। ऐसे अपस्मार को जैकसनीय अपस्मार कहते है। इस प्रकार के कुछ रोगी शल्यकर्म से अच्छे हो जाते है।

अपस्मार व्यापक शब्द है और साधारणत रोग की उन जातियों के लिये प्रयुक्त होता है जिनके किसी विशेष कारण का पता नही चलता। दौरे हलके हो सकते है, तब रोग को लघु अपस्मार (पेटि माल) कहते है। इस रोग मे अचेतनता क्षणिक होती है, परतु बार बार हो सकती है। दौरे गहरे भी हो सकते है। तब रोग को महा अपस्मार (ग्रैंड माल) कहते है। इसमे सारे शरीर मे आक्षेप (छटपटाहट और मरोड) उत्पन्न होता है, बहुधा दाता से जीभ कट जाती है और मूत्र निकल पडता है। ये दौरे दो से पाच मिनट तक रहते है और उसके बाद नीद आ जाती है या चेतना मद हो जाती है। कुछ रोगियो मे स्मरण शक्ति और बुद्धि का धीरे धीरे नाश हो जाता है।

अपस्मार लगभग ० ५ प्रति शत व्यक्तियों मे पाया जाता है। अपस्मार के दो प्रधान कारण है (१) जननिक, अर्थात् पुश्तैनी, (२) अवाप्त अर्थात् अन्य कारणो से प्राप्त।

आजकल मस्तिष्क की सूक्ष्म तरगो को वैद्युत् रीतियों से अकित करके उनकी परीक्षा की जा सकती है जिससे निदान मे बडी सहायता मिलती है। उपचार के लिये ओषधियों के अतिरिक्त शल्यकर्म भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

स०ग्र०—जे० एच० जैकसन सिलेक्टेड राइटिंग्स, खड १ (ऑन एपिलेप्सी ऐंड एपिलेप्टीफार्म कनवल्शस), लदन (१९३१), पेन-फील्ड तथा जसपर एपिलेप्सी ऐंड दि फकशनल ऐनाटोमी ऑव दि ह्यूमन ब्रेन, लदन (१९५४), डी० विलियम्स न्यू ओरियटेशस इन एपिलेप्सी, ब्रिटिश मेडिकल जरनल, खड १, पृष्ठ ६८५। [दि० सि०]

अपील 'अपील' शब्द मूलत अग्रेजी का है जिसमे यद्यपि उसके कई अर्थ है तथापि हिंदी मे उसका प्रयोग आवेदनपत्र के आशय मे होता है, जो किसी हेतु या वाद को नीचे के न्यायाधीश या न्यायाधिकरण से हटाकर उच्चतर न्यायाधीश या न्यायाधिकरण के समक्ष नीचे के न्यायाधीश या न्यायाधिकरण के निर्णय पर पुनर्विचार के लिये प्रस्तुत किया जाता है। किसी हेतु या वाद को नीचे के न्यायाधीश या न्यायाधिकरण से हटाकर उच्चतर न्यायाधीश या न्यायाधिकरण के समक्ष प्रस्तुत करना चार विभिन्न प्रणालियो द्वारा होता है—(१) अपील द्वारा, (२) पुनरीक्षण द्वारा, (३) लेख द्वारा, तथा (४) निर्देश की कारवाई द्वारा। पुनर्विलोकन की कारवाई द्वारा किसी न्यायाधीश या न्यायाधिकरण के निर्णय का पुनर्विचार उसी न्यायाधीश या न्यायाधिकरण द्वारा भी हो सकता है।

अपील और पुनरीक्षण मे अतर यह है कि पुनरीक्षण उच्चतर न्यायालय के स्वविवेक पर सदैव निर्भर रहता है और अधिकार या स्वत्व के रूप मे उसकी माग नही की जा सकती। उच्चतर न्यायालय पुनरीक्षण इसी आधार पर वियुक्त कर सकता है कि नीचे के न्यायालय द्वारा सार रूप मे न्याय हो चुका है चाहे वह निर्णय विधि के प्रतिकूल हो हुआ हो। परतु अपील ऐसे किसी आधार पर वियुक्त नही की जा सकती क्योकि अपील का, एक बार स्वीकार हो जाने पर, निर्णय विधि के अनुसार किया जाना तब तक अनिवार्य है जब तक अपील करने का अधिकार देनेवाले ममविधि मे कोई विपरीत उपबध न हो।

अपील भारत की लेखप्रणाली मे अनेक रूपों मे भिन्न है। लेख की कारवाई केवल उच्च न्यायालयो तथा उच्चतम न्यायालय मे हो सकती है जब कि अपील उच्च न्यायालयो तथा उच्चतम न्यायालय के अतिरिक्त अन्य न्यायालयो या न्यायाधिकरण मे भी हो सकती है। लेख उच्च न्यायालय की अधीक्षण शक्ति के अतर्गत इस हेतु निकाला जाता है कि नीचे के न्यायालय, न्यायाधिकरण, शासन या उसके अधिकारीगण अपने क्षेत्राधिकार के बाहर काम न करे या सार्वजनिक प्रयोजन के लिये दिए हुए क्षेत्राधिकार का प्रयोग करना अस्वीकार न करे, अथवा उनके निर्णय प्रत्यक्ष रूप से देश की विधि के प्रतिकूल न होने पावे तथा वे अपना कर्तव्यपालन उचित रीति से करे। अपील इस प्रकार सीमाबद्ध नही है। अपील सभी प्रश्नो को लेकर हो सकती है—प्रश्न चाहे तथ्य का हो चाहे विधि का। द्वितीय अपील केवल विधि के प्रश्नो तक ही सीमित रहती है।

अपील और निर्देश मे यह भेद है कि निर्देश की याचना नीचे के न्यायालय द्वारा उच्चतर न्यायालय से की जाती है ताकि विधि या प्रथा के किसी ऐसे प्रश्न का, जिसके सबध मे नीचे के न्यायालय का युक्तियुक्त सदेह हो, उच्चतर न्यायालय द्वारा निर्णय करा लिया जाय।

इतिहास—अग्रेजी सामान्य विधि मे अपील के लिये कोई उपबध नही था। परतु सामान्य विधि न्यायालयो की गलतियां त्रुटिलेख के माध्यम से किग्स बेंच न्यायालय द्वारा सुधारी जा सकती थी। त्रुटिलेख केवल विधि के प्रश्न पर होता था, तथ्य के प्रश्न पर नही।

परतु रोमन विधि मे अपील के लिये उपबध था। इगलैंड मे अपील की कारवाई रोमन विधि से ली गई और अग्रेजी विधि मे उसका समावेश उन वादो मे हुआ जिनका निर्णय सुनीति क्षेत्राधिकार के अतर्गत लार्ड चासलर द्वारा अथवा धर्म या नौकाधिकरण न्यायालयो द्वारा होता था। बाद मे, समविधि ने अपील के अधिकार को, सामान्य विधि तथा अन्य क्षेत्राधिकार के अतर्गत होनेवाले दोनो प्रकार के वादो मे, नियमित रूप दिया।

प्राचीन भारत मे, जब विवाद कम होते थे, राजा स्वय प्रजा के विवादो का निपटारा करता था। उस समय अपील का प्रश्न नही था क्योकि राजा न्याय का स्रोत था। परतु राजा के न्यायालय के साथ साथ लोकप्रिय न्यायालय हुआ करते थे, बाद मे राजा ने स्वय नीचे के न्यायालयो की स्थापना की। लोकप्रिय न्यायालय या नीचे के न्यायालयो के निर्णय के विरुद्ध अपील

राजा के समक्ष हो सकती थी (दे०—'इवोल्यूशन ऑव इंग्लिश लॉ'—लेखक, एन० सी० सेन गुप्ता, पृष्ठ ४५)।

मुगल काल मे व्यवहारवादो की अपील सदर दीवानी अदालत मे तथा दंडवादों की अपील निजाम-ए-अदालत में होती थी। परतु सन् १८५७ ई० के असफल स्वातंत्र्य युद्ध के पश्चात् जब ब्रिटिश राज्य ने भारत का शासन ईस्ट इंडिया कपनी से अपने हाथ मे लिया, सदर दीवानी अदालत तथा निजाम-ए-अदालत का उन्मूलन हो गया और उनका क्षेत्राधिकार कलकत्ता, बबई तथा मद्रास स्थित महानगर-उच्च-न्यायालयों को दे दिया गया। बाद में भारत के विभिन्न प्रातों मे उच्च न्यायालयो की स्थापना हुई।

अपील के प्रकार—अपील सामान्यत दो प्रकार की होती है—प्रथम अपील या द्वितीय। कतिपय वादो मे तृतीय अपील भी हो सकती है। प्रथम अपील आरंभिक न्यायालय के निर्णय के सबध मे उच्चतर न्यायालय मे होती है। द्वितीय अपील अपील-न्यायालय के निर्णय के सबध मे श्रेष्ठतम अधिकारी के समक्ष होती है।

व्यवहार अपील—व्यवहार वादो मे न्यायालय के समस्त आदेश दो भागो मे विभाजित होते हैं—'आज्ञप्ति' तथा 'आदेश'। आज्ञप्ति से तात्पर्य उस अभिनिर्णयन से है जिसके द्वारा, जहा तक अभिनिर्णयन देनेवाले न्यायालय का सबध है, वाद या वादानुरूप अन्य आरंभिक कार्रवाई मे निहित विवादग्रस्त सब या किसी एक विषय के सबध मे, विभिन्न पक्षो के अधिकारों का अंतिम रूप से निवारण होता है (धारा २ (२) व्यवहार-प्रक्रिया-सहिता)। आदेश से तात्पर्य व्यवहार न्यायालय के ऐसे प्रत्येक विनिश्चय से है जो आज्ञप्ति की श्रेणी मे नही आता (धारा २ (१४), व्यवहार-प्रक्रिया-सहिता)। आदेश के विरुद्ध केवल एक अपील हो सकती है।

प्रथम अपील व्यवहार प्रक्रिया-सहिता की धारा ९६ के अंतर्गत किसी आज्ञप्ति के विरुद्ध वाद के मूल्यानुसार उच्च न्यायालय या जिला न्यायाधीश के समक्ष होती है। प्रथम अपील में तथ्य तथा विधि के सभी प्रश्नो पर विचार हो सकता है। प्रथम अपील-न्यायालय को परीक्षण-न्यायालय की समस्त शक्तिया प्राप्त हैं। द्वितीय अपील, व्यवहार-प्रक्रिया-सहिता की धारा १०० के अंतर्गत व्यवहारवादो मे आज्ञप्ति के विरुद्ध केवल विधि सबधी प्रश्न पर, न कि तथ्य के प्रश्न पर, उच्च न्यायालय में होती है। जब द्वितीय अपील की सुनवाई उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश द्वारा होती है तब वह न्यायाधीश 'लेटर्स पेटेंट' या उच्च न्यायालय विधानीय अधिनियम के अंतर्गत, उसी न्यायालय के दो न्यायाधीशो के खड के समक्ष एक और अपील की अनुमति दे सकता है।

दंड अपील—दड अपील सबधी विधि दड-प्रक्रिया-सहिता की धारा ४०४ से लेकर ४३१ तक में दी हुई है। दड सबधी वादो मे केवल एक अपील हो सकती है। इसका एक ही अपवाद है। जब अपील-न्यायालय अभियुक्त को निर्मुक्त कर देता है तब दड-प्रक्रिया-सहिता की धारा ४१७ के अंतर्गत विमुक्ति आदेश के विरुद्ध द्वितीय अपील उच्च न्यायालय में हो सकती है।

जब जिलाधीश के अतिरिक्त कोई अन्य दडनायक दड-प्रक्रिया-सहिता की धारा १२२ के अंतर्गत किसी वाद को स्वीकार या विमुक्त करना अस्वीकार कर दे तब उसके आदेश के विरुद्ध अपील जिलाधीश के समक्ष हो सकती है (धारा ४०६ (अ) दड-प्रक्रिया-सहिता)। उत्तर प्रदेश राज्य ने जिलाधीश के समक्ष होनेवाली इस अपील का भी उन्मूलन कर दिया है और अपील जिलाधीश के समक्ष न होकर सत्रन्यायालय में होती है।

ऐसे मामलो को छोडकर, जिनमे परीक्षण न्यायालय द्वारा होता है, दड अपील तथ्य तथा विधि, दोनों प्रश्नो पर हो सकती है। मृत्युदडादेश के विरुद्ध की जानेवाली अथवा मृत्यु-दड-प्राप्त व्यक्ति के साथ परीक्षित व्यक्ति की ओर से की जानेवाली अपीलो को छोडकर, न्यायसभ्य द्वारा परीक्षित समस्त वादो की अपील केवल विधि विषयक प्रश्नों के सबध में ही हो सकती है। अपील-न्यायालय परीक्षण-न्यायालय द्वारा दिए गए दडादेश की पुष्टि कर सकता है अथवा उसको उलट सकता है, अभियुक्त को विमुक्त कर सकता है, सिद्धदोष ठहरा सकता है या उस अभियोग से मुक्त कर सकता है जिसके लिये उसका परीक्षण हुआ था अथवा दडादेश यथास्थित रखते हुए समति बदल सकता है, परतु दडादेश की वृद्धि नही कर सकता। वह पुन परीक्षण अथवा परीक्षणार्थ समर्पण का आदेश भी दे सकता है (धारा ४२३, दड-प्रक्रिया-सहिता)।

सविधान के अनुच्छेद १३२ से १३६ तक के उपबधो के अनुसार किसी उच्च न्यायालय या अंतिम क्षेत्राधिकारवाले किसी न्यायाधिकरण के निर्णय के विरुद्ध, उच्चतम न्यायालय में अपील हो सकती है। अनुच्छेद १३२ के अंतर्गत किसी भी निर्णय, आज्ञप्ति अथवा दडादेश के विरुद्ध अपील उच्चतम न्यायालय में हो सकती है यदि उच्च न्यायालय प्रमाणित कर दे कि उस मामले में सविधान के निर्वचन का कोई सारवान विधिप्रश्न अंतर्ग्रस्त है। यदि उच्च न्यायालय ऐसा प्रमाणपत्र देना अस्वीकार कर दे तो उच्चतम न्यायालय अपील के लिये विशेष इजाजत दे सकता है। जहाँ उच्च न्यायालय ऐसा प्रमाणपत्र दे देता है अथवा उच्चतम न्यायालय विशेष इजाजत दे देता है वहाँ उच्चतम न्यायालय की अनुज्ञा से सविधान के निर्वचन सबधी प्रश्न के अतिरिक्त अन्य प्रश्न भी उठाए जा सकते हैं।

उच्च न्यायालय के किसी अंतिम निर्णय, आज्ञप्ति या आदेश की अपील उच्चतम न्यायालय में हो सकती है यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि (क) विवादविषय की राशि या मूल्य प्रथम बार के न्यायालय मे बीस हजार रुपए या किसी ऐसी अन्य राशि से, जो इस बारे में उल्लिखित की जाय, कम नही है, अथवा (ख) उसमे उतनी राशि या मूल्य की सपत्ति से सबद्ध कोई वाद या प्रश्न प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे अंतर्ग्रस्त है, अथवा (ग) मामला उच्चतम न्यायालय में अपील के योग्य है। यदि उच्च न्यायालय का निर्णय पूर्ववत् नीचे के न्यायालय के निश्चय की पुष्टि करता है तब उच्च न्यायालय को यह और प्रमाणित करना होता है कि अपील मे कोई सारवान् विधिप्रश्न अंतर्ग्रस्त है (अनुच्छेद १३३)।

उच्च न्यायालय की किसी दड कार्रवाई में दिए हुए निर्णय या अंतिम आदेश की अपील उच्चतम न्यायालय मे होती है यदि उच्च न्यायालय ने अपील मे अभियुक्त व्यक्ति को मृत्यु-दडादेश दिया है, अथवा उच्च न्यायालय प्रमाणित करता है कि मामला उच्चतम न्यायालय मे अपील करने योग्य है।

अनुच्छेद १३६ के अंतर्गत उच्चतम न्यायालय की विशेष अनुमति मे अपील हो सकती है।

प्रति-आपत्ति—जब व्यवहारवाद में किसी पक्ष की ओर से अपील होती है तब उत्तरवादी को आज्ञप्ति के उस भाग के विरुद्ध, जो उसके विपरीत है, प्रति-आपत्ति प्रस्तुत करने का अधिकार होता है। वह अपनी निजी अपील भी कर सकता है परतु प्रति-अपील तथा प्रति-आपत्ति में यह अंतर होता है कि प्रति-अपील तो अपील के लिये निर्धारित अवधि के भीतर होनी चाहिए तथा अपीलसबधी समस्त नियमों का पालन आवश्यक है, किंतु प्रति-आपत्ति, व्यवहार-प्रक्रिया-सहिता की क्रमसख्या ४१, नियम २३ के अंतर्गत, अपील की सुनवाई की सूचना उत्तरवादी द्वारा प्राप्त की जाने की तिथि से ३० दिन के अंदर प्रस्तुत की जा सकती है। उच्चतम न्यायालय में होनेवाली अथवा दडविषयक अपीलो में कोई प्रति-आपत्ति नही होती।

अवधि—कलकत्ता, मद्रास तथा बबई के उच्च न्यायालयों द्वारा, आरंभिक क्षेत्राधिकार के प्रयोग के अंतर्गत दी गई आज्ञप्ति या आदेश से अपील करने की अवधि २० दिन है।

व्यवहारवादो में अपील जिला-न्यायाधीश के समक्ष आज्ञप्ति या आदेश की तिथि से ३० दिन के अंदर की जा सकती है। उच्च न्यायालय में अपील करने की अवधि ३० दिन है और एक न्यायाधीश की आज्ञप्ति या आदेश से दो न्यायाधीशों के समक्ष अपील करने की अवधि ९० दिन है।

मृत्युदडादेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील करने की अवधि मृत्युदडादेश की तिथि से ७ दिन है।

उच्च न्यायालय के अतिरिक्त अन्य किसी न्यायालय में अपील करने की अवधि ३० दिन है। विमुक्ति के आदेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील करने की अवधि ३ मास है। शेष मामलों में अपील करने की अवधि ६० दिन है।

उच्चतम न्यायालय में अपील करने की अनुमति के लिये आवेदनपत्र उच्च न्यायालय में प्रस्तुत करने की अवधि ६० दिन है। यदि उच्च-न्यायालय वह प्रमाणपत्र देना अस्वीकार कर दे जिसके लिये प्रार्थना की गई है, तो अस्वीकार किए जाने की तिथि से ६० दिन के अंदर, उच्च न्यायालय में भारतीय संविधान के अनुच्छेद १३२ या १३६ के अंतर्गत प्रमाणपत्र के लिये आवेदनपत्र दिया जा सकता है।

ऐसे मामलों मे जिनमे उच्च न्यायालय को उच्चतम न्यायालय में अपील करने की अनुमति का प्रमाणपत्र देने की शक्ति है, उच्चतम न्यायालय अपील करने की इजाजत के लिये किसी ऐसे आवेदनपत्र को अंगीकार नहीं करता जो उच्च न्यायालय में न दिया जाकर सीधे उसको दिया जाता है। अपवाद रूप कुछ मामलों को छोड़ एतदर्थ केवल कुछ ऐसे मामले ही अपवाद समझे जाते हैं जिनमें इस आधार पर आवेदनपत्र अस्वीकार करने से घोर अन्याय होने की आशंका रहती है। जहाँ उच्च न्यायालय में आवेदनपत्र देने का कोई उपबंध विधि में नहीं है वहाँ संविधान के अनुच्छेद १३६ के अंतर्गत आवेदन-पत्र देने की अवधि संबद्ध आदेश (जिसके विरुद्ध अपील होनी है) की तिथि से ८० दिन है।

साधारण सिद्धांत—अपील में प्रयुक्त होनेवाले साधारण सिद्धांत इस प्रकार हैं :

(१) अपील की कार्रवाई समविधि से उत्पन्न हुई है अतः जब तक विधि में कोई उपबंध न हो, अपील नहीं हो सकती।

(२) अपील वाद या अन्य कार्रवाई की शृंखला है और अपील-न्यायालय का निर्णय प्राथमिक रूप से उन्हीं परिस्थितियों पर आधारित होता है जो नीचे के न्यायालय के विनिश्चय की तिथि पर वर्तमान थी। किंतु अपील-न्यायालय वाद की घटनाओं पर भी ध्यान दे सकता है और नीचे के न्यायालय की आज्ञप्ति या आदेश में वादविषय के अनुसार न्यायोचित संशोधन कर सकता या उसे हटा सकता है।

(३) अपील प्रक्रिया का विषय न होकर मौलिक अधिकार का विषय समझी जाती है और यह मान लिया जाता है कि अपील के अधिकार का अपहरण करनेवाली किसी विधि का प्रयोग चालू अपील या वाद में तब तक नहीं होगा जब तक आवश्यक रूप से उसको अनुदर्शी प्रभाव न दिया गया हो। यदि ऐसा कोई अनुदर्शी प्रभाव नहीं दिया गया है तो चाहे नीचे के न्यायालय के निर्णय के पूर्व ही वह विधि लागू हो चुकी हो, अपील का निर्णय उस विधि के अनुसार होगा जो वाद या अन्य कार्रवाई के आरंभ की तिथि पर लागू था।

(४) साधारणतया अपील का निर्णय नीचे के न्यायालय में प्रस्तुत किए गए साक्ष्य के आधार पर किया जाता है। केवल वही नया साक्ष्य अपील-न्यायालय द्वारा स्वीकार किया जा सकता है जो किसी पक्ष को समुचित खोज तथा प्रयत्न करने पर भी उस समय प्राप्त नहीं हो सका था जिस समय आरंभ के न्यायालय में वाद का परीक्षण चल रहा था।

(५) नीचे के न्यायालय की आज्ञप्ति का अपील-न्यायालय की आज्ञप्ति या आदेश में समावेश तभी होता है जब वह आज्ञप्ति या आदेश अपील के सभी मामलों की पूरी सुनवाई के बाद दिया जाता है, परंतु जब अपील किसी दोष के कारण अथवा किसी प्रारंभिक आपत्ति के आधार पर, जैसे न्यायालय-शुल्क न देने पर या अवधि-समाप्ति के कारण, वियुक्त कर दी जाती है तब ऐसा नहीं किया जा सकता। किंतु अपील-न्यायालय की आज्ञप्ति में परीक्षण-न्यायालय की आज्ञप्ति का समावेश हो जाने से वाद या अन्य कार्रवाई उपस्थित करने के अवधिकाल की गति नहीं रुकती जब तक कि वाद-हेतु नीचे के न्यायालय के विनिश्चय से उत्पन्न हुआ है।

(६) दंड संबंधी उन मामलों को छोड़कर जिनमें अपील-न्यायालय दंडादेश में वृद्धि नहीं कर सकता, अपील-न्यायालय को ऐसा कोई भी आदेश देने की शक्ति रहती है जो आरंभ के न्यायालय द्वारा दिया जा सकता है।

सं०ग्रं०—कारपस जूरिस सेकंडम का 'अपील' शीर्षक लेख; व्यवहार-प्रक्रिया-संहिता; दंड-प्रक्रिया-संहिता। [चं० अ०]

अपृष्ठवंशी भ्रूणतत्व जिन प्राणियों में रीढ़ नहीं होती उन्हें अपृष्ठवंशी कहते हैं। विज्ञान का वह विभाग अपृष्ठवंशी भ्रूणतत्व कहलाता है जिसमें ऐसे प्राणियों में बच्चों के जन्म के आरंभ पर विचार होता है। अधिकतर प्राणियों में नर और मादा पृथक् होते हैं। नर शुक्राणु (स्पर्मैटोज़ोआ) सृजन करते हैं तथा मादा अंडे देती है। इन दोनों के संयोग से बच्चा पैदा होता है। परंतु निम्न श्रेणी के बहुत से प्राणी ऐसे भी होते हैं जिनमें नर और मादा में कोई प्रभेद नहीं होता और वे शुक्राणु अथवा अंडे नहीं देते। इनकी वृद्धि इनके सारे शरीर के द्विविभाजन (बाइनरी फिशन), या अंकुरण (बडिंग), या बीजाणु (स्पोर)-निर्माण द्वारा होती है। इनसे कुछ अधिक उन्नत प्राणियों में दो ऐसे प्राणी थोड़े समय के लिये संयुक्त होते हैं और उसके पश्चात् पुनः विभाजन द्वारा वंश की वृद्धि करते हैं। इनसे भी अधिक उन्नत प्राणियों में देखा जाता है कि दो पृथक् प्राणी एक दूसरे से संपूर्ण रूप से संयुक्त हो जाते हैं और उनकी पृथक् सत्ता नहीं रह जाती। ऐसे संयोग के पश्चात् फिर विभाजन तथा खंडन द्वारा वंश की वृद्धि होती है। ऐसे प्राणी एककोशिन (प्रोटोज़ोआ) श्रेणी के हैं जिनका सारा शरीर केवल एक ही कोश (सेल) का बना होता है। पर इनमें कुछ ऐसे भी होते हैं जो उच्च श्रेणी के प्राणियों की भाँति शुक्राणु तथा अंडों का आकार ग्रहण कर लेते हैं और इन दोनों के संयोग के पश्चात् पुनः खंडन तथा विभाजन क्रिया प्रचलित होती है। एककोशिन (प्रोटोज़ोआ) के शरीर की, एक ही कोश होने के कारण, वृद्धि में केवल कोश के आयतन में वृद्धि होती है। परंतु नैककोशिन (मेटाज़ोआ) प्राणियों में शरीर की वृद्धि क्रमशील होती है। इस प्रारंभिक वर्धनशील अवस्था में ये भ्रूण कहलाते हैं और पूर्णता प्राप्त करने के पूर्व उनमें बहुत परिवर्तन होता है। भ्रूण भी प्रारंभिक अवस्था में एक ही कोश का होता है, यद्यपि यह दो विभिन्न कोशों, शुक्राणु तथा अंडे, की संयुक्तावस्था है, जिसे युग्मज (ज़ाइगोट) कहते हैं। यह युग्मज क्रमशः भेदन (क्लीवेज) द्वारा बहुकोशी बनता है, परंतु एककोशिनों से इसकी भिन्नता इसी में है कि विभाजित कोश पृथक् नहीं हो जाते।

इन नए कोशों की प्रगति और निरूपण दो भिन्न पद्धतियों पर होते हैं। कुछ प्राणियों में इन नए कोशों का भविष्य बहुत ही प्रारंभिक काल में निर्धारित हो जाता है, जिससे यह निश्चित हो जाता है कि वे किन किन अंगों की सृष्टि करेंगे। इस पद्धति को विशेषित विभिन्नता अथवा कुट्टिम-चित्र (मोज़ेइक) विकास कहते हैं। ऐसे एक विभाजनशील अंडे को दो समान भागों में विभक्त करने पर प्रत्येक खंड उस प्राणी का केवल अर्धांग ही बना सकता है। दूसरी पद्धति में अंगों का निर्धारण प्रथमावस्था में नहीं होता और ऐसे अंडों का दो भागों में विभाजन करने से यद्यपि वे आयतन में छोटे हो जाते हैं, परंतु प्रत्येक भाग संपूर्ण प्राणी को बनाता है। ऐसी विभाजन प्रणाली को अनिश्चित (इंडिटर्मिनेट) अथवा विनियामक (रेगुलेटिव) भेदन कहते हैं। परंतु कुछ अवधि के पश्चात् इनमें भी कोशों का भविष्य प्रथम पद्धति की भाँति निर्धारित हो जाता है और उस समय अंडों का विभाजन करने पर प्राणी पूर्णांग नहीं बनता।

साधारणतया अंडों के अंदर खाद्यपदार्थ पीतक (योक) के रूप में संचित रहता है। वर्धनशील भ्रूण की पुष्टि पीतक से होती रहती है। अंडे के भीतर पीतक का वितरण मुख्यतः तीन प्रकार का होता है। प्रथम में पीतक की मात्रा बहुत कम होती है और वह सारे अंडे में समान रूप से विस्तृत रहता है। ऐसे अंडे को अपीती (ऐलेसिथैल, आइसो-लेसिथैल अथवा होमोलेसिथैल) कहते हैं। दूसरे प्रकार में पीतक की मात्रा बहुत अधिक होती है और वह अंडे के निम्नभाग में एकत्रित रहता है। ऐसे अंडे को एकतःपीती (टेलोलेसिथैल) कहते हैं। तीसरे प्रकार में पीतक अंडे के मध्य भाग में स्थित रहता है। ऐसे अंडे को केंद्रपीती (सेंट्रोलेसिथैल) कहते हैं।

पीतक की मात्रा तथा उसकी स्थिति के अनुसार अंडे का विभाजन भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। पीतक विभाजन क्रिया में बाधक होता है। अपीती अंडे संपूर्ण रूप से विभाजित होते हैं। ऐसी विभाजन प्रणाली को पूर्णभेदन (होलोब्लैस्टिक क्लीवेज) कहते हैं। परंतु एकतःपीती अंडों में पीतक के नीचे की ओर एकत्रित होने के कारण अंडे का ऊपरी भाग शुद्ध तथा सक्रिय रहता है और विभाजन क्रिया केवल ऊपरी भाग में आबद्ध रहती

है। नीचे का भाग प्रारंभिक काल में विभाजित नहीं होता। ऐसी आंशिक विभाजन प्रणाली को अपूर्ण भेदन (मेरोब्लैस्टिक अथवा डिस्कॉयडल क्लीवेज) कहते हैं। जहाँ पीतक अंडे के केंद्रस्थल में रहता है वहाँ विभाजन क्रिया केवल परिधि पर आबद्ध रहती है। ऐसी विभाजन प्रणाली को उपरिष्ठभेदन (सुपरफीशियल क्लीवेज) कहते हैं। अधिकतर अंडों में सक्रिय ऊपरी भाग और अपेक्षाकृत निष्क्रिय निम्न भाग पहले से ही प्रत्यक्ष हो जाता है—ऊपरी भाग को प्राणिध्रुव (ऐनिमल पोल) कहते हैं और नीचे के भाग को वर्धीध्रुव (वेजिटेटिव अथवा वेजिटल पोल) कहते हैं।

प्राणियों की सममिति (सिमेट्री) तीन भिन्न प्रकार की मानी गई है। अधिकांश प्राणियों में दक्षिण और वाम पार्श्व, पृष्ठतल (डॉर्सल) और प्रतिपृष्ठ (वेंट्रल), तथा अग्रभाग (ऐंटीरियर) एवं पश्चभाग (पॉस्टीरियर) निर्धारित होते हैं। ऐसी सममिति को द्विपार्श्व (बाइलैटरल) सममिति कहा जाता है। इन प्राणियों के दक्षिण और वाम पार्श्व समतुल्य होते हैं। यह सममिति प्रथम प्रकार की हुई। दूसरे प्रकार में प्राणी का शरीर एक उर्ध्वाधर बेलन की तरह होता है। ऐसे प्राणी में दक्षिण और वाम पार्श्व का निर्धारण नहीं होता। उनके गोलाकार शरीर को अनेक समतुल्य भागों में विभाजित किया जा सकता है। ऐसी सममिति को त्रिज्य (रेडियल) सममिति कहते हैं। तीसरे प्रकार में प्रथम अवस्था में द्विपार्श्व सममिति दिखाई पड़ती है, पर इसके पश्चात् दोनों पार्श्वों में पुन: त्रिज्य सममिति स्थापित हो जाती है। ऐसी सममिति को द्वयर (बाइरेडियल) सममिति कहते हैं।

अंडों का विभाजन विभिन्न प्रकार की सममितियों के अनुसार विभिन्न होता है। द्विपार्श्व सममिति में प्रथम विभाजन रेखा खरबूजे की धारी की तरह (मेरिडोनियल) होती है, जिसके फलस्वरूप दो कोश बनते हैं। इन्हीं दोनों कोशों से शरीर के दक्षिण और वाम पार्श्व की सृष्टि होती है। दोनों पार्श्वों में समान रूप से विभाजन होता रहता है। त्रिज्य सममिति की विशेषता यह है कि विभाजन रेखाएँ सदा एक दूसरे को ऊर्ध्वाधर रेखाओं द्वारा काटती हैं और अक्ष के चारों ओर समान रूप से कोशों की वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त एक तीसरी रीति भी होती है जिसमें विभाजन रेखा वक्र होती है, और क्रम से एक बार दाहिनी ओर को और दूसरी बार बाईं ओर को झुकी रहती है। ऐसी प्रणाली को कुतल-भेदन (स्पाइरल क्लीवेज) कहते हैं, पर इनका अंतिम परिणाम द्विपार्श्व सममिति होती है। द्वयर सममिति में प्रथम विभाजन द्विपार्श्व होता है, पर इसके पश्चात् दोनों पार्श्वों में त्रिज्य सममिति की प्रथा प्रचलित होती है।
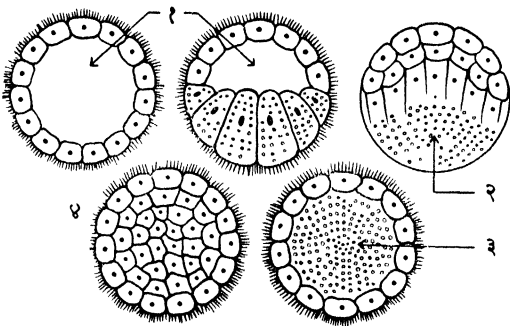
चित्र १. एकभित्तिका

ऊपर बाईं ओर के दो चित्रों में पोली एकभित्तिका (सीलोब्लैस्चुला) की अनुप्रस्थ काट दिखाई गई है तथा दाहिनी ओर बिंबकभित्तिका (डिस्कोब्लैस्चुला) है। नीचे बाईं ओर सार्द्रकभित्तिका (स्टीरिओब्लैस्चुला) और दाहिनी ओर पर्यकभित्तिका (पेरिब्लैस्चुला) की अनुप्रस्थ काटें दिखाई गई हैं। १ एकभित्तिका-गुहा (ब्लैस्टोसील); २. पीतक (योक); ३. पीतक ४. सार्द्रकभित्तिका।

विभाजन क्रिया तीव्र गति से होती है—कोशों की संख्या बढ़ती जाती है, पर आयतन में वे छोटे होते जाते हैं। अंत में बहुकोशवाला एक गोलाकार भ्रूण बनता है जिसको एकभित्तिका (ब्लैस्चुला) कहा जाता है। नए कोश सब इस गोले की परिधि पर होते हैं और बीच में लसिका (लिंफ) से भरा एक विवर रहता है। इस विवर को एकभित्तिका गुहा (ब्लैस्टोसील) कहते हैं। ऐसी खोखली एकभित्तिका को गुहीय एकभित्तिका (सीलोब्लैस्चुला) कहते हैं। इसकी बाहरी दीवार में केवल एक ही कोश की गहराई होती है। एकत पीती अंडों में नीचे की ओर पीतक के संचय के कारण एकभित्तिका गुहा ऊपर की ओर बनती है। विभाजन केवल अंडे के ऊपर ही, जहाँ पीतक की मात्रा अत्यधिक होती है, आबद्ध रहता है और एकभित्तिका गुहा बहुत ही संक्षिप्त रूप में बनती है। इस प्रकार की एकभित्तिका को बिंबकभित्तिका (डिस्कोब्लैस्चुला) कहते हैं। जिन अंडों में पीतक मध्यस्थल में रहता है उनमें विभाजन केवल परिधि में होता है। ऐसी एकभित्तिका को पर्यकभित्तिका (पेरिब्लैस्चुला अथवा सुपरफिशियल ब्लैस्चुला) कहते हैं। कुछ प्राणियों में एकभित्तिका ठोस होती है और गोलाई के भीतर भी कोश भरे रहते हैं। ऐसी स्थिति में एकभित्तिका को सार्द्रकभित्तिका (स्टिरिओ-ब्लैस्चुला) अथवा तूत (मोरूला) कहते हैं।

छिद्रिष्ठों (स्पंजों) में एकभित्तिका अवस्था में मुखद्वार बनता है, इस कारण ऐसी एकभित्तिका को मुखैकभित्तिका (स्टोमोब्लैस्चुला) कहते हैं। अन्य श्रेणी के प्राणियों में ऐसा नहीं होता।

जब तक एक पर्तवाली एकभित्तिका क्रमश: दो पर्तवाली बनती है तब तक भ्रूण को स्यूतिभ्रूण कहते हैं। दूसरी पर्त कई विभिन्न पद्धतियों से बनती है। सबसे सरल प्रणाली अपीती अंडों में होती है। इसमें एकभित्तिका का निम्न भाग, वर्धीध्रुव, क्रमश: एकभित्तिका गुहा के अंदर प्रवेश करता है और अंत में भीतरी पर्त बाहरी पर्त से मिल जाती है। एकभित्तिका गुहा का अस्तित्व नहीं रह जाता और उसके स्थान में एक दूसरा विवर बनता है जो अब दो पर्तों से ढका रहता है। इस विवर में नीचे की ओर एक छिद्र होने के कारण यह खुला रहता है। इस छिद्र को आद्यत्रमुख (ब्लैस्टोपोर) कहते हैं। स्यूतिभ्रूण बनने की इस प्रणाली को अंतर्गमन (इनवैजिनेशन) अथवा एबोली की प्रथा कहते हैं। बाहरी पर्त को बहिस्तर (एक्टोडर्म) अथवा एपिब्लास्ट और भीतरी पर्त को अंतस्तर (एंडोडर्म अथवा हाइपोब्लास्ट) कहते हैं। अंतस्तर से इन प्राणियों की पाचकनाल (ऐलिमैंटरी कैनाल) तथा उससे उत्पन्न सभी अंगों का विकास होता है। इस कारण अंतस्तर से वेष्टित विवर को आद्यांत्र (आरकेंटरॉन) कहते हैं। अधिकतर अपृष्ठवंशी प्राणियों में आद्यत्रमुख उनके अग्रभाग का निर्देशक होता है और उससे या उसके निकट उनका मुखद्वार बनता है। ऐसे प्राणियों को आद्यमुखी (प्रोटोस्टोमियन) कहते हैं। इसके विपरीत सभी पृष्ठवंशी (वर्टिब्रेट्स) और कुछ अपृष्ठवंशी प्राणियों में आद्यत्रमुख प्राणी के पश्चाद्भाग का निर्देशक होता है जहाँ मलद्वार बनता है। ऐसे विपरीतपंथी प्राणियों को द्वितीयमुखी (ड्यूटेरो-स्टोमियन) कहते हैं।

जिन अंडों में पीतक अधिक मात्रा में रहता है और एकभित्तिका गुहा बहुत संक्षिप्त होती है, उनमें ऊपर के कोश तीव्र गति से विभाजित होते रहते हैं और क्रमश: बढ़ते हुए नीचे के पीतक से भरे स्थान के ऊपर प्रसारित होते हैं। इस तरह नीचे की ओर दो पर्तें बनती हैं। इस प्रणाली को अध्यावृद्धि (एपिबोली) कहते हैं। बिंबकभित्तिका में पीतक अत्यधिक होने के कारण नए कोश केवल ऊपरी भाग में बनते हैं और उनमें से कुछ कोश अलग होकर पहली पर्त के नीचे आ जाते हैं। इस तरह दूसरी पर्त अंडे के ऊपरी भाग में ही आबद्ध रह जाती है। ऐसी प्रणाली को पृथक्स्तरण (डिलैमिनेशन) कहते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ प्राणियों में ऊपरी पर्त प्रसारित न होकर भीतर की ओर मुड़ जाती है और संक्षिप्त एकभित्तिका गुहा के नीचे दूसरी पर्त बनाती है। इस प्रथा को अंतर्वलन (इनवोल्यूशन) कहते हैं।

बहुकोशविशिष्ट निम्न श्रेणी के प्राणियों में, जैसे छिद्रिण (पोरिफेरा), आंतरगुही (सिलेंटरेटा) और कंकतिवर्ग (टिनाफोरा) में केवल दो ही पर्तें बनते हैं। इस कारण इनको द्विस्तरप्राणी (डिप्लोब्लास्टिक) कहते हैं। इन्हीं दो पर्तों से इनका सारा शरीर और उसके विभिन्न अंग बनते हैं। इनमें विशेषता यह होती है कि शरीर का बाहरी आवरण तथा भीतरी पाचक-नाल एक दूसरे से केवल एक कोशविहीन तंतु द्वारा संलग्न रहते हैं

जिसे मध्यश्लेष (मेसोग्लीया) कहते हैं। उन तीन श्रेणी के प्राणियों के अतिरिक्त बहुकोशविशिष्ट सभी प्राणियों में एक तीसरा पर्त बनता है जो
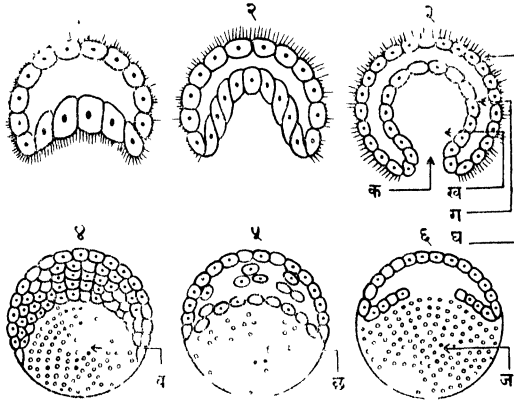
चित्र २. स्फीतिभ्रूण (गैस्ट्रुला)

१, २ और ३ में अंतर्वर्धन (एंबोली) दिखाया है, क आद्यत्रमुख (ब्लैस्टोपोर), ख आद्यंत्र (आरकेंटरान), ग अधःस्तर (हाइपोब्लास्ट), घ बहिःस्तर (एपिब्लास्ट), ४ में अध्यावृद्धि (एपिबोली) दिखाई गई है; च पीतक (योक), ५ में पृथक्स्तरण (डिलैमिनेशन) दिखाया गया है, छ. पीतक, तथा ६ में अंतर्वलन (इन्वाल्यूशन) दिखाया गया है, ज पीतक।

बहिःस्तर (एपिब्लास्ट) तथा अधःस्तर (हाइपोब्लास्ट) के बीच में स्थित रहता है। इसको मध्यस्तर (मेसोडर्म अथवा मेसोब्लास्ट) कहते हैं, एवं ऐसे प्राणियों को त्रिस्तरी (ट्रिप्लोब्लैस्टिक) कहते हैं। इस मध्यस्तर का प्रवर्तन या तो बहिःस्तर तथा अंतःस्तर दोनों संस्थाओं से होता है, अथवा केवल अंतःस्तर से होता है। प्रथम अवस्था में इस मध्यस्तर को बहिर्मध्यस्तर (एक्टोमेसोडर्म) और द्वितीय अवस्था में अंतर्मध्यस्तर (एंडोमेसोडर्म) कहते हैं। ऐसा द्विजातीय मध्यस्तर केवल आद्यमुखी श्रेणी के प्राणियों में होता है। द्वितीयमुखी प्राणियों में केवल अंतःमध्यस्तर होता है। अपृष्ठवंशी प्राणियों में केवल शरहनुवर्ग (किटोग्नाथा) और शल्यचर्म (इकाइनोडर्म) द्वितीयमुखी होते हैं, और शेष सब आद्यमुखी होते हैं। त्रिस्तरी प्राणियों की विशेषता यह है कि मध्यस्तर में बाहरी आवरण और पाचननाल के बीच एक लसिका से भरा विवर बनता है, जिसको देह-गुहा (सीलोम अथवा बाडी कैविटी) कहते हैं। इस देहगुहा की बाहरी और भीतरी दोनों दीवारें मध्यस्तर की पर्तों से ही ढकी होती हैं। इसके अतिरिक्त मध्यस्तर से मांसपेशी (मसल), अस्थि, रक्त, प्रजननतंत्र तथा उत्सर्गी अंग बनते हैं।

कुछ त्रिस्तरी जीव ऐसे भी हैं जिनमें देहगुहा नहीं रहती और उसके स्थान पर एक विशेष ततु भरा रहता है जिसे मृलोति (पारेंकिमा) कहते हैं। इस कारण त्रिस्तरी को फिर दो भागों में बाँटा जाता है—एक तो सदेहगुहा (सीलोमाटा), जिनमें देहगुहा वर्तमान रहती है, और दूसरी अदेहगुहा, जिनमें देहगुहा की जगह केवल मृलोति रहता है।

मध्यस्तर की एक और विशेषता होती है जिसके कारण अधिकतर त्रिस्तरी जीवों में शरीर बाह्य टुकड़ों में विभाजन होता है, अथवा केवल भीतर के अंगों में ही देखा जाता है।

आद्यमुखी और द्वितीयमुखी में देहगुहा का प्रवर्तन भिन्न प्रकार से होता है। आद्यमुखी में बहिर्मध्यस्तर से भ्रूण की मांसपेशी तथा योजी ऊती (कनेक्टिव टिशूज) बनते हैं। अंतर्मध्यस्तर के कोश भ्रूण के पीछे की ओर रहते हैं। इन कोशों से शरीर के अंदर प्रथमतः कोशों का एक ठोस समूह होता है जो बाद में दो पर्तों में विभाजित हो जाता है। बीच का विवर देहगुहा बनता है। इस प्रकार से बनी देहगुहा को विपाटगुहा (स्किज़ोसील) कहते हैं। द्वितीयमुखी में अंतर्मध्यस्तर पहले से ही आद्यंत्र (आरकेंटरॉन) की ऊपरी दीवार के दोनों पार्श्वों में सन्निहित रहता है। क्रमशः यह आद्यंत्र से अलग होकर देहगुहा का विवर बनाता है। इस प्रकार से बनी देहगुहा को आंत्रगुहा (एंटरोसील) कहते हैं।

भिन्न भिन्न अंगों का विकास क्रमशः बहिःस्तर, अंतःस्तर तथा मध्यस्तर तीनों पर्तों से होता है। भ्रूणावस्था में यद्यपि अंगों का विकास होता है, तथापि वे क्रियाशील नहीं होते। संचित पीतक की अधिकता अथवा पुष्टि का अन्य प्रबंध रहने पर भ्रूण वर्धित अवस्था में जन्म लेता है और अपना जीवननिर्वाह स्वाधीन रूप से कर सकता है। परंतु पीतक की मात्रा कम होने पर बहुधा भ्रूण अल्पविकसित अवस्था में ही जन्म लेकर स्वावलंबी हो जाता है। इस समय इसका शरीर पूर्ण विकसित अवस्था से भिन्न रूप का होता है जिसे डिंभ (लार्वा) कहते हैं। डिंभ दो प्रकार से पूर्णता प्राप्त करते हैं। एक में तो वे क्रमशः बढ़ते हुए पूर्ण रूप ग्रहण करते हैं। इस प्रथा को सीधा अथवा ऋजु विकास कहते हैं। दूसरी प्रथा में डिंभ कुछ अवधि के पश्चात् प्रायः स्थिर या निष्क्रिय हो जाते हैं, अथवा आहार बंद कर देते हैं। इस अंतरिम काल में वे शंखी (प्यूपा) कहलाते हैं, और इनके शरीर के भीतर द्रुत गति से परिवर्तन होता है, जिसके पश्चात् वे प्रौढ़ रूप के हो जाते हैं। ऐसे द्रुत परिवर्तन को रूपांतरण (मेटामॉर्फोसिस) अथवा अप्रत्यक्ष विकास (इंडिरेक्ट डिवेलपमेंट) कहते हैं।

जल में अंडा देनेवाले सभी जीवों के शरीर पर, एकभित्तिका (ब्लैस्टुला) और स्फीतिभ्रूण (गैस्ट्रुला) अवस्था में जीवद्रव्य (प्रोटोप्लाज्म) की बनी बाल की तरह रोमिकाएँ (सिलिया) होती हैं, जिनके द्वारा वे जल में प्रगति करते हैं।

छिद्रिण (पॉरिफेरा) प्राणियों का मुखद्वार एकभित्तिका अवस्था में बनता है। इनके एकभित्तिका के अग्रभाग के भीतर जीवद्रव्य की बनी कशाएँ (फ्लैजेला—चाबुक जैसे अंग जो जीव को तैरकर चलने में सहायता देते हैं) होती हैं। स्फीतिभ्रूण बनने के समय यह भाग उलटकर मुखद्वार से बाहर हो जाता है। इसके पश्चात् एकभित्तिका अग्रभाग द्वारा किसी वस्तु से संलग्न हो जाती है। उस समय विपरीत अंश के कोश बढ़ते हुए अग्रभाग के ऊपर प्रसारित होकर दो पर्त बनाते हैं जिनको द्विधाभित्ति (ऐंफिब्लास्टुला) कहते हैं। द्विधाभित्ति क्रमशः पूर्ण रूप धारण कर लेता है।

आंतरगुहियों (सिलेंटरेटा) में एकभित्तिका की दीवार से कोश अलग होकर एकभित्तिका-गुहा के भीतर भर जाते हैं। एकभित्तिका अब ठोस रूप धारण करती है। इस स्थिति में इनको चिपिटक (प्लेनुला) डिंभ कहते हैं। भीतर के कोश से क्रमशः दूसरी पर्त बनती है और उसके बीच विवर बनता है। श्रेणियों की विभिन्नता के अनुसार इनमें कई प्रकार के डिंभ होते हैं। जलीयकवर्ग (हाइड्रोजोआ) में डिंभ एक छोटे बेलन की तरह होता है जिसके मुख को वेष्टित करते हुए उँगलियों की तरह कई अंग होते हैं जिनको स्पर्शिका (टेंटेकल) कहते हैं। इस रूप के डिंभ को पुरुपाद (पालीपेड) डिंभ कहते हैं। यह डिंभ क्रमशः पूर्ण रूप ग्रहण करता है। छत्रिक वर्ग (सिफोजोआ) में भी पुरुपाद डिंभ बनता है, जिसको हाइड्रोट्यूबा

चित्र ३. आंतरगुही
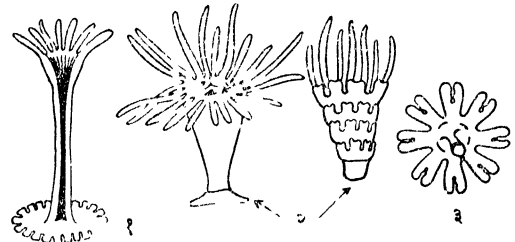
१ रश्मिका (ऐक्टिन्यूला); २ चपमुख (साइफिस्टोमा); ३ षोडशार (एफिरा)।

अथवा चषमुख (मिफिस्टोमा) कहते है। पर यह डिभ पुन खडित होकर षोडशार (एफिरा) नामक डिभ बनाता है जिससे पूर्ण रूप छत्रिक बनता है। पुष्पजीववर्ग (ऐंथोजोआ) की श्रेणी में भी पुरुपाद डिभ बनता है। पुरुपाद डिभ और चषमुख दोनो प्रारभिक अवस्था मे रश्मिका (ऐक्टिनुला) कहलाते है।

पथुकृमि (प्लैटिहेल्मेथीज, फ्लैटवर्म्स) सर्वप्रथम त्रिस्तरी प्राणी है। इनमे पहले देहगुहा-एकभित्तिका (सीलोब्लैस्टुला) बनती है। इस श्रेणी मे विद्धपत्र (ट्रेमाटोडा) और अनात्र (सेस्टोडा—बिना आँतवाले कीडे) के पराश्रयी होने के कारण, इनका जीवन इतिहास परिवर्तनो से भरा होता है। परतु पर्णचिपिट वर्ग (टर्बेलेरिआ) स्वाधीन जीव है, इस कारण इनके जीवन मे विशेष परिवर्तन नही होते। स्यूतिभ्रूण बनने के बाद इनके डिभ के शरीर से आठ उभडे हुए रोमिकायुक्त पिडक (सिलिएटेड लोब्स) बनते है। इस डिभ को मुलर का डिभ कहते है।
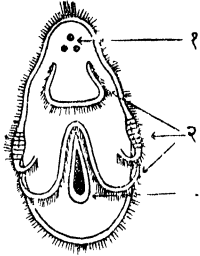
चित्र ४. शीर्षांडल (मुलर्स लारवा)

१ चक्षु, २. रोमिकायुक्त खड, ३. मुख।
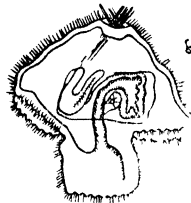
चित्र ५. टोपीडिभ (पाइलिडियम)

विखडकृमि (नेमेरटिनि) श्रेणी के प्राणियो के डिभ टोपी की आकृति के होने के कारण उन्हे टोपीडिभ (पिलिडियम) कहते है। इनमे विशेषता यह है कि डिभ मे मलद्वार का आरभ यहा होता है। टोपीडिभ का आकार वलयिन (ऐनेलिडा) श्रेणी के पक्ष्मवलय-डिभ (ट्राकोफोर लार्वा) से मिलता है। अधिक उन्नतिशील प्राणियो का विकास यहा से होता है।

वलयिन (ऐनेलिडा) श्रेणी के जीवो मे डिभ मुख्यत पक्ष्मवलय होता है। इसकी विशेपता यह है कि मुखद्वार के आगे सारे शरीर को वेष्टित करती हुई एक रोमिकायुक्त पट्टी होती है जिसको पूर्वपक्ष्मवलय (प्रोटोट्रॉक) कहते है। यह रोमिकायुक्त पट्टी कुछ प्राणियो मे एक से अधिक भी होती है। पक्ष्मवलय डिभ का आकार चित्र ६ मे दिखाया गया है।

चित्र ६. ट्रोकोफ़ोर
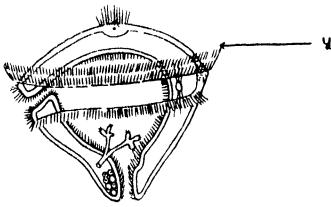
५. पक्ष्मवलय (प्रोटोट्रॉक)

चूर्णप्रावार (मोलस्का) श्रेणी के प्राणियो मे डिभ साधारणत. पक्ष्मवलय के आकार का होता है। परतु क्रमश इसके आकार मे परिवर्तन होता है और इसके पश्चात् वह पटिकाडिभ (वीलिजर) कहलाता है। इसमे विशेषता यह होती है कि पूर्वपक्ष्मवलय वर्धित होकर दो अथवा दो से अधिक ऐसे पिडक बनाते है जो रोमिकायुक्त होते है। इन पिडको को पटिका (वीलम) और डिभ को पटिकाडिभ कहते है। इसके अतिरिक्त पटिकाडिभ के पृष्ठ पर प्रकवच (शेल) बनता है और मुखद्वार के पीछे इन जीवो का पैर बनता है। पटिका प्रगति का अग है।

चूर्णप्रावार श्रेणी के मुक्तिकावंश (यूनियनिडी फैमिली) में डिभ पराश्रयी होता है। इस कारण इसके शरीर की गठन भिन्न रूप की होती है, जो चित्र ७ मे दाहिनी ओर दिखाई गई है। ये डिभ मछलियो की त्वचा तथा जलश्वसनिकाओ (गिल्स) मे चिपक जाते है और पूर्णता प्राप्त करने के पश्चात् स्वावलबी हो जाते है। चिपकने के लिये इनमे लागाशु (बिसस थ्रेड्स) होते है और प्रकवच नुकीले होते है। डिभ की अवस्था मे इनमे पाचकनली नही होती। ये मछली के शरीर मे अपना खाद्य रस के रूप मे शोषित करते है। पूर्णता प्राप्त करने पर लागाशु नही रह जाते और प्रकवच का आकार भी बदल जाता है। इस डिभ को लागाशुडिभ (ग्लाकिडियम) कहते है।
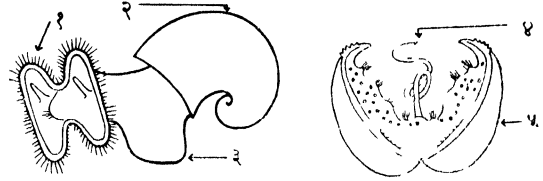
चित्र ७. पटिकाडिभ (वीलिजर) तथा लागांशुडिभ (ग्लॉकिडियम)

बाईं ओर उदरपाद (गैस्ट्रोपोडा) के प्रगत पटिका-डिभ (वीलिजर), दाहिनी ओर लागाशुडिभ (ग्लाकिडियम), १ पटिका, २ प्रकवच, ३. पाद (पैर), ४ लागाशुसूत्र (बिसस थ्रेड), ५. प्रकवच।

सधिपादो (आरथ्रोपोडा) की श्रेणी को कई भागो मे बाटा गया है, यथा, नखरिण (आनिकोफोरा), कठिनिवर्ग (क्रस्टेशिआ), अयुतपाद (मिरिआपोडा), कीट (इसेक्टा) और अष्टपाद (ऐरैक्निडा)। इन सभी मे अडे केद्रपीती होते है, और विभाजन (भेदन) उपरिष्ठ होता है। इनमे अष्टपाद तथा नखरिण मे बच्चे पूर्ण विकसित अवस्था मे ही अडे के बाहर आते है। भ्रूणावस्था का कोई विशेष महत्व नही होता।

कठिनिवर्ग (क्रस्टेशिया) मे डिभ कई प्रकार के होते है, और इनके एक दूसरे से सबध के बारे मे बहुत मतभेद है। इनमे त्र्युपाग (नॉप्लिअस) डिभ सबसे निम्न श्रेणी का माना जाता है। इसके शरीर मे खडन का कोई चिह्न नही होता। आँख सरल (सिपुल) और केवल एक होती है। उपाग (अपेडेजेज) केवल तीन जोडे और द्विशाख (बाइरैमस—दो शाखाओ मे विभाजित) होते है। उच्च श्रेणी के कठिनिवर्ग मे यह अवस्था अडे के अदर ही व्यतीत होती है।

दो अन्य उपाग उत्पन्न होने पर त्र्युपाग क्रमश उत्तर-त्र्युपाग (मेटानॉप्लिअस) हो जाता है और तब इसके शरीर का खडन आरभ हो जाता है। आख केवल एक और सरल होती है। उत्तर-त्र्युपाग, जब दो और उपाग बनते है, प्रजीव (प्रोटोजोइआ) बन जाता है। इसका शरीर क्रमश लबा होता जाता है, और आँखे दो हो जाती है, पर सरल रहती है। जब एक और उपाग बनता है तब प्रजीव जीवक (जोइआ) हो जाता है। इसकी आँखे दो होती है, पर वे डडियो पर स्थित रहती है और वृताक्षि कहलाती है। इसके पश्चात् जीवक से चलदडाक्ष-प्रजाति (माइसिस) बनता है, जिसमे खडन सपूर्ण हो जाता है। सभी खडो मे उपाग होते है पर विशेषता यह है कि इसके चलने के पैर द्विशाखी (बाइरैमस) होते है। पूर्णता प्राप्त करने पर पैर एकशाखी (युनिरैमस) हो जाते है।
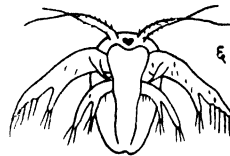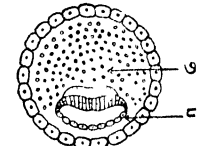
चित्र ८. त्र्युपांग डिभ (नॉप्लिअस लारवा)

चित्र ९. कीट भ्रूण (इन्सेक्ट एब्रिओ)

७. पीतक (योक), ८. उल्व (एम्निओन)

इनके अतिरिक्त कठिनिवर्ग में और कई प्रकार के डिंभ होते हैं, यथा पूर्णपुच्छक-प्रजाति (साइप्रिस), इरिक्थस, ऐलिमा, काचकर्क प्रजाति (फ़िलोसोमा), महाक्ष (मेगालोपा), इत्यादि; परंतु इन सबमें केवल आकार का ही परिवर्तन होता है।

कीटों में भ्रूण अंडे के नीचे की ओर बनता है और इनमें उरगों, पक्षियों तथा स्तनधारियों की भाँति तरल द्रव्य से भरी एक थैली, जिसे उल्ब (एम्निश्रोन) कहते हैं, भ्रूण को वेष्टित किए रहती हैं।

कीट तीन प्रकार के माने जाते हैं। प्रथम प्रकार में बच्चा अंडे के भीतर ही पूर्णता प्राप्त कर लेता है। ऐसे कीट को अरचनांतरी (ऐमेटाबोला) कहते हैं। दूसरे प्रकार में बच्चा यद्यपि छोटा होता है, तथापि उसका रूप प्रौढ़ावस्था का होता है। केवल पंख और जननेंद्रिय क्रमशः बनते हैं। ऐसे कीट को अपूर्णरचनांतरी (हेटेरोमेटाबोला) और उसके बच्चों को कीटशिशु (निंफ) कहते हैं। तीसरे प्रकार में बच्चा प्रथम अवस्था में एक ढोले के आकार का होता है, जो प्रौढ़ावस्था से पूर्णतया भिन्न होता है। ये रूपांतरण (मेटामार्फोसिस) के पश्चात् पूर्ण रूप धारण करते हैं। इनको पूर्णरचनांतरी (होलोमेटाबोला) कहते हैं।

अयुतपाद (मीरिआपोडा) में भी बच्चा प्रायः पूर्ण रूप का होता है, पर प्रथम अवस्था में कीटों की तरह इसके भी केवल तीन पैर होते हैं।

आद्यमुखी (प्रोटोस्टोमिअन) का भ्रूणतत्व यहीं समाप्त होता है। अपृष्ठवंशी प्राणियों में केवल शरकृमिवर्ग (किटोग्नाथा) और शल्यचर्म (एकिनोडर्माटा) द्वितीयमुखी होते हैं। शरकृमिवर्ग कुछ विषयों में द्वितीयमुखी से भिन्न होते हैं। इनमें मुखद्वार आद्यंत्रमुखी (ब्लैस्टोपोर) से ही बनता है, पर बहिर्मध्यस्तर नहीं होता और देहगुहा आंत्रगुही होती है।

शल्यचर्मवर्ग में द्वितीयमुखियों की सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं। मलद्वार आद्यंत्रमुख से अथवा उसके निकट बनता है। मुखद्वार विपरीत दिशा में अलग से बनता है। इसके डिंभ चार मुख्य प्रकार के होते हैं; यथा, लघुवर्ध (आरिकुलेरिआ), अभितोवर्ध (बिपिन्नेरिआ), प्लवडिंभ (प्लूटिअस), अहिप्लवडिंभ (ओफ़िप्लूटिअस) एवं पंचकोण-वृंताभ (पेंटाक्रिनॉयड)। इनमें पंचकोण-वृंताभ-डिंभ पूर्णावस्था से बहुत मिलता है, केवल इसमें धरातल से संलग्न रहने के लिये एक डंडी रहती है, जो पूर्णावस्था में नहीं रह जाती।

अन्य सभी डिंभों में दो रोमिका-पट्टियाँ होती हैं, पर प्रत्येक डिंभ में ये भिन्न रूप धारण करती हैं। एक रोमिका-पट्टी मुखद्वार को चतुर्दिक् घेरे रहती है जिसे अभिमुख (ऐडोरल) रोमिका-पट्टी कहते हैं और दूसरी उसके बाहर शरीर को घेरे रहती है जिसे परिमुख (पेरिओरल) रोमिका-पट्टी
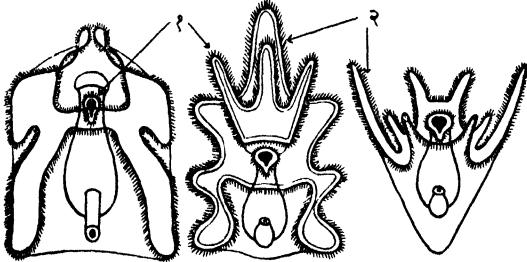
चित्र १०. शल्य चर्मों (एकिनोडर्म्स) के डिंभ

बाईं ओर लघुवर्ध (ओरिक्युलेरिया); मध्य में : अभितोवर्ध (बिपिन्नेरिया); दाहिनी ओर : कंदुक डिंभ (प्लुटिअस)। १. अभिमुख (ऐडोरल, मुख के समीप); २. परिमुख (पेरिओरल)।

कहते हैं। चित्र १० में इन दोनों रोमिका-पट्टियों की विशेषताएँ दिखाई गई हैं, जिससे इनका अंतर ज्ञात होगा।

अपृष्ठवंशी प्राणियों का यह भ्रूणतत्व संक्षेप में लिखा गया है। यद्यपि इन प्राणियों को १५–१६ श्रेणियों में बाँटा गया है, पर इनके भ्रूणतत्व से यही सिद्ध होता है कि यह विभाग केवल बाह्यिक है और प्राणियों में, विशेषकर भ्रूणों में, एक अंतर्निहित परस्पर संबंध है जिसके द्वारा विकासवाद की पुष्टि होती है। प्राणियों की विभिन्नता उनके वातावरण और तदनुसार उनकी जीवन-पद्धति के कारण होती है। इस सिद्धांत के अनुसार सभी प्राणियों को केवल दो विभागों में बाँटा जा सकता है। एक तो आद्यमुखी और दूसरा द्वितीयमुखी। इन दोनों शाखाओं को शरकृमिवर्ग संबंधित करता है। इससे यही सिद्ध होता है कि प्राणियों के विकास में आद्यमुखी पहले बने, और उसके पश्चात् द्वितीयमुखी। द्वितीयमुखी से सभी पृष्ठवंशियों (वर्टेब्रेटा) का विकास हुआ। [शा० ध० च०]

सं०ग्रं०—हांस स्पेमान : एमब्रियॉनिक डेवेलपमेंट ऐंड इंडक्शन; ड'आर्सी डब्ल्यू० टॉमसन : ऑन ग्रोथ ऐंड फ़ॉर्म।

अपेनाइंस एक पर्वत श्रेणी है जो इटली प्रायद्वीप के बीच एक ओर से दूसरे छोर तक रीढ़ के समान फैली हुई है। कुल लंबाई लगभग ८०० मील और चौड़ाई ७० से ८० मील तक है। इसके सामान्यतः तीन विभाग हो जाते हैं, उत्तरी केंद्रीय और दक्षिणी अपेनाइंस। उत्तरी अपेनाइंस के अंतर्गत पश्चिम में लइगूरियन अपेनाइंस और पूर्व में इट्रस्कन अपेनाइंस है। ये दोनों मौसमी क्षति द्वारा अधिक प्रभावित हुए हैं और इस प्रकार इनमें कम ऊँचाई के ही दर्रे बन गये हैं जिससे आवागमन सुलभ हो गया है। इट्रस्कन अपेनाइंस मुख्यतः बालुकाश्म, मृत्तिका और चूने की चट्टान द्वारा निर्मित है। यहाँ औसत ऊँचाई ३,००० फुट है। मांटी निमोने नामक शिखर ७,०९७ फुट ऊँचा है। उत्तरी अपेनाइंस की मुख्य नदियाँ स्क्रिविय, ट्रेबिया, टारो और रीनो हैं। इनमें से पहली तीन पो नदी से जा मिलती हैं जब कि रीनो नदी ऐड्रिऐटिक सागर में गिरती है। इस पर्वतीय प्रदेश की दक्षिण उपजाऊ ढाल पर जैतून इत्यादि की उपज होती है। यहाँ करारा की प्रसिद्ध संगमरमर की खानें स्थित हैं। समीपवर्ती समुद्रतटीय प्रदेश को रिवियेरा कहते हैं; यहाँ कई एक रमणीक स्थल हैं जो महत्त्वपूर्ण पर्यटक केंद्र बन गये हैं।

केंद्रीय अपेनाइंस इट्रस्कन अपेनाइंस के दक्षिण से आरम्भ होते हैं। यहाँ चूने की शिलाओं द्वारा निर्मित श्रेणियों की अधिकता है। इस प्रदेश की मुख्य नदी टाइबर है। अनेक अन्य छोटी छोटी नदियाँ पूर्व की ओर बहकर ऐड्रिऐटिक सागर में गिरती हैं। ऐड्रिऐटिक सागरीय ढाल पर कृषि महत्त्वपूर्ण है। केंद्रीय अपेनाइंस का उच्चतम शिखर मांटी कार्नो ९,५८४ फुट ऊँचा है। कुछ और पश्चिम की ओर अन्य कई खनिजों की खानें हैं परंतु स्वयं अपेनाइंस से कोई उपयोगी खनिज नहीं प्राप्त होता है।

दक्षिण अपेनाइंस में अन्य भागों से कुछ विभिन्नतायें पाई जाती हैं; उदाहरणतः, यहाँ समान्तर श्रृंखलाओं का अभाव और विच्छिन्न पर्वत-खंडों की अधिकता है। इस प्रदेश की औसत ऊँचाई मध्य अपेनाइंस से अपेक्षाकृत कम है और उच्चतम शिखर सिरा डोल्सीडोर्मे ७,४५१ फुट ऊँचा है। पश्चिम की ओर ज्वालामुखी पर्वत स्थित हैं जो मुख्य अपेनाइंस से पृथक् हैं। इनमें नेपुल्स नगर के समीप स्थित विसुविअस अधिक प्रसिद्ध है। यह एक जागृत ज्वालामुखी है। समीपवर्ती क्षेत्र की लावा द्वारा निर्मित मिट्टी खूब उपजाऊ है। समुद्रवर्ती ढाल पर जैतून की उपज महत्त्वपूर्ण है।

अपेनाइंस के आर पार कई एक रेल और सड़क मार्ग हैं। कई स्थानों पर घने वन हैं जिनकी सुरक्षा का प्रबंध सरकार द्वारा होता है। अपेनाइंस के अधिक ऊँचे भाग शीत ऋतु में हिमआच्छादित रहते हैं।

भूविज्ञान—अपेनाइंस ऐल्प्स-हिमालय-पर्वत-समूह से संबद्ध है। ठीक संबंध का अब भी ब्योरेवार पता नहीं है और वैज्ञानिकों में कुछ मतभेद है। अपेनाइंस में रक्ताश्म (ट्राइऐसिक), महासरट (जूरैसिक), खटी (क्रिटेशियस), प्राक्नूतन (इयोसीन) और मध्यनूतन (मायोसीन) युगों के प्रस्तरों की तहें हैं। कहीं कहीं इनसे भी प्राचीन पत्थर दिखाई पड़ते हैं। प्राक्नूतन युग के अंत में पृथ्वी की पर्पटी इस प्रकार दोहरी होने लगी कि अपेनाइंस का जन्म हुआ। सारे मध्यनूतन युग तक यह पर्वत बढ़ता रहा। अतिनूतन (प्लाइओसीन) युग में अपेनाइंस लगभग वर्तमान ऊँचाई तक पहुँच गया, यद्यपि ऊँचा होने की क्रिया और ज्वालामुखियों का सक्रिय होना दोनों आज तक कहीं कहीं जारी हैं। अपेनाइंस में अब हिमानियाँ (ग्लेशियर) नहीं हैं, परंतु कहीं कहीं अतिनूतन युग के पश्चात् वे विद्यमान थीं।

सं०ग्रं०—सी० एस० डु रिचे प्रेलर इटैलियन माउटेन जिम्रॉलोजी (१६२४)। [रा० ना० मा०]

अपोलो ग्रीस के प्रधान देवताग्रो मे से एक । सौदर्य, तारुण्य, युद्ध और भविष्यकथन का देवता । प्राचीन ग्रीक नारी देल्फी का विशेष आराध्य। अपोलो का जन्म, ग्रीक पौराणिक कथाओ के अनुसार, पिता देवराज ज्यूस् और माता लेतो से हुआ। ज्यूस् भारतीय इद्र की भाँति अपत्नीगामी था और उसने जो लेतो से प्रणय किया तो उसकी पत्नी हीरा ने लेतो का सर्वनाश करने की ठानी। उसने उस गर्भिणी पतिप्रिया को नाना प्रकार के दु ख दिए और लेतो को दर दर की ठोकर खानी पडी। अन्त मे समुद्र मे बहते हुए शिलाद्वीप पर उसने उस पुत्ररत्न का प्रसव किया जो पौरुष और सौदर्य का प्रतीक अपोलो नाम से ग्रीक और रोमन कथाओ मे प्रसिद्ध हुआ। शक्ति, सत्य, न्याय, पवित्रता आदि नैतिक गुणो का वह प्रतिष्ठाता बना और उसकी कथाओ से ग्रीको के पुराण भर गए।

वैसे तो ग्रीस और आयोनिया के अतिरिक्त द्वीपो और प्रधान भूमि पर जहाँ जहाँ ग्रीक जातियो की बस्तियाँ थी वहाँ वहाँ सर्वत्र ही, पीछे रोम आदि के नगरो में भी, अपोलो के मदिर बने, परतु उसकी विशेष पूजा देल्फी के नगर मे प्रतिष्ठित हुई जहाँ प्राचीन काल मे उसका सबसे प्रसिद्ध मदिर खडा हुआ। ग्रीक इतिहास मे विख्यात देल्फी के भविष्यकथन, जिनका अतुल अधिकार छठी से चौथी शती ई० पू० के एथेस् पर था, विशेषत इसी देवता से सबध रखते हैं। ग्रीको का विश्वास था कि स्वय अपोलो समसामयिक समस्याओ पर भविष्यवाणी पवित्र पुजारिणी के मुह से कराता है और उनकी राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याओ को अपनी वाणी से सुलझा देता है। देल्फी में अपोलो के त्योहार से सबधित कई दिनो तक चलनेवाले खेलो का सत्र हुआ करता था जो प्रसिद्ध ओलिपियाई खेलो से किसी प्रकार घटकर न था।

दिम्रोनिसस् को छोडकर अपोलो के बराबर कोई दूसरा लोकप्रिय देवता ग्रीका का उपास्य नही हुआ। और वह दियोनिसस् अथवा अफ्रोदीती की भाँति पौर्वात्य विश्वासो के आयात से भी उत्पन्न नही था,बल्कि ग्रीको का निजी देवता था, उनके देवराज ज्यूस् का पुत्र और भगिनी आतमिस् का जुडवाँ भाई, जो ग्रीको की ही भाँति बाण द्वारा लक्ष्यवेध मे अनुपम कुशल था। अपोलो की प्राचीन काल मे हजारो मूर्तियाँ बनी। ग्रीक जहाँ जहाँ गए—सिसली मे, सीरिया मे, पजाब मे—सर्वत्र उन्होने अपने इस प्रिय देवता अपोलो की मूर्तियाँ बनाई। भारत के प्राचीन गधार प्रदेश मे भी—जहाँ पहली शती ई० की हिंदू-यवन अथवा गाधार कला का जन्म हुआ—ग्रीक कलावतो की छेनी के स्पर्श से पत्थर मे जीवन फूटा और अपोलो की अनेक मूर्तियाँ निर्मित हुई। परतु उस देवता की अभिराम, समोहक और सर्वोत्तम मूर्तियाँ आज रोम और वातिकन के सग्रहालयो मे सुरक्षित हैं। इन मूर्तियो मे अपोलो का अत्यत आकर्षक छरहरा तन, लगता है, साँचे मे ढाल दिया गया हो, पत्थर का नही, धातु का बना हो। [भ० श० उ०]

अपोलोदोरस् का जन्म ई० पू० १८० के ल० हुआ था। इसने सिकदरिया मे अरिस्ताकस् से शिक्षा ग्रहण की थी। तत्पश्चात् यह पर्गामम् होता हुआ एथेस् मे आकर बस गया और वही इसका शरीर छूटा। यह विविध विषयो मे रुचि रखनेवाला प्रकाड विद्वान् था। क्रौनिका नामक पुस्तक मे इसने त्राय के पतन से लेकर अपने समय तक का इतिहास लिखा था। पैरीथियोन् नामक पुस्तक मे गद्य मे ग्रीक लोगो के धर्म का बौद्धिक विवेचन है। पैरोगेस् इसकी भूगोल सबधी रचना है। एक पुस्तक इसने निरुक्तियो पर भी लिखी थी। इसके अतिरिक्त प्राचीन लेखको की रचनाओ पर इसने टीकाएँ भी रची थी। [भो० ना० श०]

अपोलोनियस् (त्याना का) नव-पिथागोरस् सप्रदाय का दार्शनिक और सिद्ध पुरुष, जिसका जन्म ई० सन् के आरभ से थोडे ही पूर्व हुआ था। इसने तार्सस् और इगाए में अस्क्लेपियस् (यूनान के धन्वतरि) के मदिर में शिक्षा प्राप्त की थी और तत्पश्चात् निनेवे, बाबुल और भारत की यात्रा की। यह योगियो के वेश मे रहता था। कोई इसको सिद्ध मानते थे, कोई ऐंद्रजालिक। सिद्ध के रूप में इसने ग्रीस, इटली और स्पेन की भी यात्रा की थी। नीरो और दोमीतियान् दोनो ने इसपर राजद्रोह का आरोप लगाया पर यह बच गया। इसने एफेसस् में एक विद्यालय स्थापित किया जहाँ यह शतायु होकर परलोक सिधारा। इसकी तुलना ईसामसीह तक के साथ की गई है। [भो० ना० श०]

अपोलोनियस् (रोदस् का) (ई०पू० तीसरी शताब्दी), सभवतया सिकदरिया अथवा नौक्रातिस् का निवासी था पर चूँकि अपने जीवन के अतिम दिनो में वह रोदस् मे बस गया था, वही का रहनेवाला कहा जाने लगा। इसने कल्लीमाकस् से शिक्षा प्राप्त की थी पर आगे चलकर दोना मे महान् कलह हो गया। यह जेनोदोतस् और ऐरातोस्थेनेस् के मध्यवर्ती काल मे सिकदरिया के सुविख्यात पुस्तकालय का अध्यक्ष रहा। इसने गद्य और पद्य दोनो मे बहुत कुछ लिखा था। पद्य मे नगरो की स्थापना की पुस्तक तथा आर्गोनाउतिका अधिक प्रसिद्ध है। आर्गोनाउतिका मे यासन् और मीदिया के प्रेम का वर्णन अभिराम हुआ है। इसकी उपमाएँ कालिदास की उपमाओ के समान विख्यात हैं। परवर्ती रोमन कवियो (विशेष कर वर्जिल) पर इसका गहरा प्रभाव पडा है। [भो० ना० श०]

अपोहवाद बौद्ध दर्शन मे सामान्य का खडन करके नामजात्याद्यसयुत अर्थ को ही शब्दार्थ माना गया है। न्यायमीमासा दर्शनो मे कहा गया है कि भाषा सामान्य या जाति के बिना नही रह सकती। प्रत्येक व्यक्ति के लिये अलग शब्द हो तो भाषा का व्यवहार नष्ट हो जायगा। अनेकता मे एकत्व व्यवहार भाषा की प्रवृत्ति का मूल है और इसी को तात्विक दृष्टि से सामान्य कहा जाता है। भाषा ही नही, ज्ञान के क्षेत्र में भी सामान्य का महत्व है क्योकि यदि एक ज्ञान को दूसरे ज्ञान से पृथक् माना जाय तो एक ही वस्तु के अनेक ज्ञानो मे परस्पर कोई सबध नही हो सकेगा। अतएव सामान्य या जाति को अनेक व्यक्तियो मे रहनेवाली एक नित्य सत्ता माना गया है। यही सत्ता भाषा के व्यवहार का कारण है और भाषा का भी यही अर्थ है। बौद्धो के अनुसार सभी पदार्थ क्षणिक हैं अत वे सामान्य की सत्ता नही मानते। यदि सामान्य एक है तो वह अनेक व्यक्तियो मे कसे रहता है? यदि सामान्य नित्य है तो नष्ट पदार्थ में रहनेवाले सामान्य का क्या होता है? अत सामान्य नामक नित्यसत्ता वस्तुओ मे नही होती। वस्तु क्षणिक है अत वह किसी अन्य वस्तु से सबधित न होकर अपने आप मे ही विशिष्ट एक सत्ता है जिसे स्वलक्षण कहा जाता है। अनेक स्वलक्षण पदार्थों मे ही अज्ञान के कारण एकता की मिथ्या प्रतीति होती है और चूंकि लोकव्यवहार के लिये ऐसी प्रतीति की आवश्यकता है इसलिये सामान्य लक्षण पदार्थ व्यावहारिक सत्य तो हैं किंतु परमार्थत वे असत् हैं। शब्दो का अर्थ परमार्थत सामान्य के सबध से रहित होकर ही भासित होता है। इसी को अन्यापोह या अपोह कहते हैं। अपोह सिद्धात के विकास के तीन स्तर माने जाते हैं। दिङ्नाग के अनुसार शब्दो का अर्थ अन्याभाव मात्र होता है। शातरक्षित ने कहा कि शब्द भावात्मक अर्थ का बोध कराता है, उसका अन्य से भेद ऊहा से मालूम होता है। रत्नकीर्ति ने अन्य के भेद से युक्त शब्दार्थ माना। ये तीन सिद्धात कम से कम अन्य से भेद को शब्दार्थ अवश्य मानते हैं। यही अपोहवाद की विशेषता है। [रा० पा०]

अपौरुषेयतावाद वेद के आविर्भाव के विषय मे नैयायिको और तद्भिन्न दार्शनिको के, विशेषत मीमासको के, मत मे बडा पार्थक्य है। न्याय का मत है कि ईश्वर द्वारा रचित होने के कारण वेद 'पौरुषेय' है, परतु साख्य, वेदात और मीमासा मत में वेद का उन्मेष स्वत ही होता है, उसके लिये किसी भी व्यक्ति का, यहाँ तक कि सर्वज्ञ ईश्वर का भी प्रयत्न कार्यसाधक नही है। पुरुष द्वारा उच्चरितमात्र होने से भी कोई वस्तु पौरुषेय नही होती, प्रत्युत दृष्ट के समान अदृष्ट मे भी बुद्धिपूर्वक निर्माण होने पर ही 'पौरुषेयता' आती है (यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत् पौरुषेयम्—साख्य सूत्र५।५०)।

श्रुति के अनुसार ऋग्वेद आदि वेद 'उस महाभूत के नि श्वास' हैं। श्वास-प्रश्वास तो स्वत आविर्भूत होते हैं। उनके उत्पादन मे पुरुष की कोई

बुद्धि नहीं होती। अतः उस महाभूत के निःश्वास रूप ये वेद अदृष्टवशात् अबुद्धिपूर्वक स्वयं आविर्भूत होते हैं। मीमांसा मत में शब्द नित्य होता है। शब्द अश्रुत होने पर भी लुप्त नहीं होता; क्रमशः विकीर्ण होने पर, बहुत स्थानों में फैल जाने पर, वह लघु और अश्रुत हो जाता है, परंतु कथमपि लुप्त नहीं होता। 'शब्द करो' कहते हीआ काश में अंतर्हित शब्द तालु और जिह्वा के संयोग से आविर्भूत मात्र हो जाता है, उत्पन्न नहीं होता (मीमांसा सूत्र १।१।१४)। वेद नित्य शब्द की राशि होने से नित्य है, किसी भी प्रकार उत्पाद्य या कार्य नहीं है। तैत्तिरीय, काठक आदि नामों का संबंध भिन्न-भिन्न वैदिक संहिताओं के साथ अवश्य मिलता है, परंतु यह आख्या प्रवचन के कारण ही है, ग्रंथ रचना के कारण नहीं (मी० सू० १।१।३०)। वेदों में स्थान स्थान पर उपलब्ध बबर प्रावाहणि आदि के समान शब्द किसी व्यक्तिविशेष के वाचक न होकर नित्य पदार्थ के निर्देशक हैं (मी० सू० १।१।३१)। आध्यात्मिक ज्ञान के प्रतिपादक होनेवाले वेदों में लौकिक इतिहास खोजने का प्रयत्न एकदम व्यर्थ है। इस प्रकार स्वतः आविर्भूत वेद किसी पुरुष की रचना न होने से 'अपौरुषेय' हैं। इसी सिद्धांत का नाम 'अपौरुषेयतावाद' है। [ब० उ०]

अप्पय दीक्षित (ज० ल० १५५० ई०) वेदांत दर्शन के विद्वान्। इनके पौत्र नीलकंठ दीक्षित के अनुसार ये ७२ वर्ष जीवित रहे थे। १६२६ में शैवों और वैष्णवों का झगड़ा निपटाने ये पांड्य देश गए बताए जाते हैं। सुप्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजि दीक्षित इनके शिष्य थे। इनके करीब ४०० ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। शंकरानुसारी अद्वैत वेदांत का प्रतिपादन करने के अलावा इन्होंने ब्रह्मसूत्र के शैव भाष्य पर भी शिव की मणिदीपिका नामक शैव संप्रदायानुसारी टीका लिखी। अद्वैतवादी होते हुए भी शैवमत की ओर इनका विशेष झुकाव था। [रा० पां०]

अप्पर स्वामिगल, जिनका माता पिता द्वारा प्रदत्त नाम पहले 'मरूल नीकिअर' था। इन्हें प्राचीन चार तमिल समयाचार्यों या शैवाचार्यों में गिना जाता है जिनमें से अन्य तीन तिरुज्ञान संबंधर, सुंदरर तथा माणिक्क वाचकर हैं और ये चारों दक्षिणी 'शैव सिद्धांत' संप्रदाय के मूल प्रवर्तकों के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। अप्पर का जन्म दक्षिण आर्काट के तिरुवामुर गावँ (जि० कुड्डलुर) में हुआ था और इनकी जाति वल्लाल नामक अब्राह्मणों की थी। इनके पिता का नाम युगलनर था और माता का मतिनिअर। इनकी एक बड़ी बहन भी थी जिसका नाम तिलतवदिअर (तिलकवती) था और जिसने माता पिता का देहांत हो जाने पर इनका सस्नेह लालन पालन किया। अपने जीवन के अंतिम समय में इन्हें युंपुकलुर गावँ (जि० तंजोर) में रहना पड़ा था जहाँ प्रसिद्ध है कि लगभग ८० वर्ष की वृद्धावस्था में इन्होंने अपना शरीरत्याग किया। इनका जीवनकाल, ईसवी सन् की छठी शती के तृतीय चरण से लेकर सातवीं शती के मध्य भाग तक माना जाता है। अप्पर तमिल, संस्कृत एवं प्राकृत के प्रकांड विद्वान् थे और अपनी वाक्शक्ति पर पूर्ण अधिकार होने के कारण इनका एक नाम 'तिरुनावुक्करशु' भी प्रसिद्ध था। इन्हें वैदिक धर्म एवं जैनधर्म के गूढ़तम सिद्धांतों का भी पूरा ज्ञान था और ये सिद्ध हस्त कवि भी थे।

अप्पर की प्रवृत्ति पहले शैव धर्म की ओर ही रही, किंतु तिरुप्पतिरि पुलियुर (जि० कुड्डलुर) अथवा जनश्रुति के अनुसार प्रसिद्ध पाटलिपुत्र नगर जाकर इन्होंने जैनधर्म स्वीकार कर लिया और वहाँ आचार्य भी बन गए परंतु उस दशा में जब एक बार इन्हें घोर उदरशूल के कारण अधीरता हो गई तो इन्होंने अपनी बड़ी बहन की शरण ली और उसकी प्रेरणा से पुनः शैव धर्म ग्रहण कर लिया। फलतः बहुत से जैनियों द्वारा इस बात की निंदा की जाने पर, जैनी राजा केडव ने इन्हें अनेक बार महान् कष्ट पहुँचाया। फिर भी इन्हें कोई विचलित नहीं कर सका और इनसे प्रभावित होकर स्वयं वह राजा तक शैव बन गया। तब से इन्होंने प्रसिद्ध शैव तीर्थों और मंदिरों में जाकर प्रचार करना आरंभ कर दिया और राजा महेंद्रवर्मन् (प्रथम) को भी शैव बनाया। मंदिरों में पहुँचकर ये वहाँ की भूमि को स्वच्छ तथा सुंदर बनाते और वहाँ की जनता को गाकर उपदेश दिया करते थे। अपनी इन यात्राओं के सिलसिले में ये चिदंबरम्, शियली, वेदारण्यम् आदि अनेक पवित्र स्थलों पर गए और, कहा जाता है, कहीं कहीं इन्होंने कई चमत्कार भी प्रदर्शित किए जिनका सर्वसाधारण पर बहुत प्रभाव पड़ा। जैन धर्म में प्रतिष्ठा पा लेने पर इनका नाम 'क्षुल्लक धर्मसेन' पड़ गया था। परंतु जब शैव धर्म का प्रचार करते समय इनकी तिरुज्ञान संबंधर से मैत्री हुई तब उन्होंने इन्हें अप्पर (पिता) कहना आरंभ कर दिया।

अप्पर परिश्रमी किसान का आचरण करनेवाले शैव भक्त थे। इनकी उपलब्ध रचनाओं में इनके इष्टदेव शिव का रूप एक निर्विशेष, सर्वातीत, किंतु सर्वांतर्गत परमतत्व सा प्रतीत होता है और उसे एक अनुपम व्यक्तित्व प्रदान करते हुए ये उसके प्रति विरहनिवेदन तथा पश्चात्ताप के भाव प्रदर्शित करते हैं। इनकी भक्ति दास्य भाव की है जिसमें करुण एवं दैन्य भाव की मात्रा भी कम नहीं जान पड़ती।

सं०ग्रं०—पेरिय पुराणम्; सी० वी० एन० अप्पर: ऑरिजिन ऐंड अर्ली हिस्ट्री ऑव शैविज़्म इन साउथ इंडिया, मद्रास यूनिवर्सिटी प्रकाशन (जी० ए० नटेसन, मद्रास)। [प० च०]

अप्पियन (ई० ल० ११६-१७० तक) एक यूनानी-रोमन इतिहासकार जिसका जन्म सिकंद्रिया (मिस्र) में हुआ था। सम्राट् त्राजन के समय वह रोम गया और आंतोनियस पीयस के समय तक वहाँ रहा। इस बीच उसने वकालत की तथा सरकारी वकील और राजकोषाध्यक्ष के पदों को सुशोभित किया। उसने अपने ढंग से रोम का इतिहास २४ भागों में लिखा जिसमें रोम का आधिपत्य स्वीकार करनेवालों का आदिकाल से रोम साम्राज्य में मिलने तक का इतिहास है। इनमें से केवल ११ भाग और कुछ अंश उपलब्ध हैं। यह ग्रंथ यूनानी भाषा में है। साहित्यिक दृष्टिकोण से यह उच्च स्तर का नहीं है, पर इसका ऐतिहासिक मूल्य कम नहीं है। [बैं० पु०]

अप्रमा न्यायमत में ज्ञान दो प्रकार का होता है। संस्कार मात्र से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान 'स्मृति' कहलाता है तथा स्मृति से भिन्न ज्ञान 'अनुभव' कहा जाता है। यह अनुभव दो प्रकार का होता है—यथार्थ अनुभव तथा अयथार्थ अनुभव। जो वस्तु जैसी हो उसका उसी रूप में अनुभव होना यथार्थ अनुभव है (यथाभूतोऽर्थो यस्मिन् सः)। घट का घट रूप में अनुभव होना यथार्थ कहलाएगा। यथार्थ अनुभव की ही अपर संज्ञा 'प्रमा' है। 'अयं घटः' (=यह घड़ा है) इस प्रमा में हमारे अनुभव का विषय है घट (विशेष्य) जिसमें 'घटत्व' द्वारा सूचित विशेषण की सत्ता वर्तमान रहती है तथा यही घटत्व घट ज्ञान का विशिष्ट चिह्न है। और इसीलिये इसे 'प्रकार' कहते हैं। जब घटत्व से विशिष्ट घट का अनुभव यही होता है कि वह कोई घटत्व से युक्त घट है, तब यह प्रमा होती है। न्याय की शास्त्रीय परिभाषा में 'अय घटः' का अर्थ होता है—घटत्ववद् घटविशेष्यक—घटत्वप्रकारक अनुभव। प्रमा से विपरीत अनुभव को 'अप्रमा' कहते हैं अर्थात् किसी वस्तु में किसी गुण का अनुभव जिसमें वह गुण विद्यमान ही नहीं रहता। रजत में 'रजतत्व' का ज्ञान प्रमा है, परंतु रजत से भिन्न होनेवाली शुक्ति में रजतत्व का ज्ञान अप्रमा है। प्रमा के दृष्टांत में 'घटत्व' घट का विशेषण है और घट ज्ञान का प्रकार है। फलतः 'विशेषण' किसी भौतिक द्रव्य का गुण होता है, परंतु 'प्रकार' ज्ञान का गुण होता है। [ब० उ०]

अप्सरा प्रत्येक धर्म का यह विश्वास है कि स्वर्ग में पुण्यवान् लोगों को दिव्य सुख, समृद्धि तथा भोगविलास प्राप्त होते हैं और इनके साधन में अन्यतम है अप्सरा जो काल्पनिक, परंतु नितांत रूपवती स्त्री के रूप में चित्रित की गई है। यूनानी ग्रंथों में अप्सराओं को सामान्यतः 'निंफ' नाम दिया गया है। ये तरुण, सुंदर, अविवाहित, कमर तक वस्त्र से आच्छादित, और हाथ में पानी से भरा हुआ पात्र लिए स्त्री के रूप में चित्रित की गई हैं जिनका नग्न रूप देखनेवाले को पागल बना डालता है और इसलिये नितांत अनिष्टकारक माना जाता है। जल तथा स्थल पर निवास के कारण इनके दो वर्ग होते हैं।

भारतवर्ष में अप्सरा और गंधर्व का साहचर्य नितांत घनिष्ठ है। अपनी व्युत्पत्ति के अनुसार ही अप्सरा (अप्सु सरत्ति गच्छतीति अप्सराः) जल में रहनेवाली मानी जाती है। अथर्व तथा यजुर्वेद के अनुसार ये पानी में रहती हैं इसलिये कहीं कहीं मनुष्यों को छोड़कर नदियों और जलतटों पर जाने के लिये इनसे कहा गया है। यह इनके बुरे प्रभाव की ओर

संकेत है। शतपथ ब्राह्मण मे (११।५।१।४) ये तालाबो मे पक्षियो के रूप मे तैरनेवाली चित्रित की गई है और पिछले साहित्य मे ये निश्चित रूप से जगली जलाशयो मे, नदियो मे, समुद्र के भीतर वरुण के महलो मे भी रहनेवाली मानी गई हैं। जल के अतिरिक्त इनका सबध वृक्षो से भी है। अथर्ववेद (४।३७।४) के अनुसार ये अश्वत्थ तथा न्यग्रोध वृक्षो पर रहती हैं जहाँ ये झूले मे झूला करती हैं और इनके मधुर वाद्यो (कर्करी) की मीठी ध्वनि सुनी जाती है। ये नाचगान तथा खेलकूद मे निरत होकर अपना मनोविनोद करती हैं। ऋग्वेद मे उर्वशी प्रसिद्ध अप्सरा मानी गई है (१०।९५)।

पुराणो के अनुसार तपस्या मे लगे हुए तापस मुनियो को समाधि से हटाने के लिये इद्र अप्सरा को अपना सुकुमार, परतु मोहक प्रहरण बनाते हैं। इद्र की सभा मे अप्सराओ का नृत्य और गायन सतत आह्लाद का साधन है। घृताची, रभा, उर्वशी, तिलोत्तमा, मेनका, कुडा आदि अप्सराएँ अपने सौदर्य और प्रभाव के लिये पुराणो मे काफी प्रसिद्ध हैं। इस्लाम मे भी स्वर्ग मे इनकी स्थिति मानी जाती है। फारसी का 'हूरी' शब्द अरबी 'हवरा' (कृष्णलोचना कुमारी) के साथ सबद्ध बतलाया जाता है। [ब० उ०]

अफगान वे सब जात्योपजातियाँ जो प्राय आधुनिक अफगानिस्तान, बलोचिस्तान के उत्तरी भाग तथा भारत के उत्तर-पश्चिमी पर्वतखडो मे बसती हैं। वश अथवा प्राकृतिक दृष्टि से ये प्राय तुर्क-ईरानी हैं और भारत के निवासियो का भी काफी मिश्रण इनमे हुआ है।

कुछ विद्वानो का मत है कि केवल दुर्रानी वर्ग के लोग ही सच्चे 'अफगान' हैं और वे उन बनी इसराइल फिरको के वशज हैं जिनको बादशाह नबूकद-नज़ार फिलस्तीन से पकडकर बाबुल ले गया था। अफगानो के यहूदी फिरका के वशधर होने का आधार केवल यह है कि खाँजहाँ लोदी ने अपने इतिहास '**अमखज़ने अफगानी**' मे १६वी सदी मे इसका पहले पहल उल्लेख किया था। यह ग्रथ बादशाह जहागीर के राज्यकाल मे लिखा गया था। इससे पहले इसका कही उल्लेख नही पाया जाता। अफगान शब्द का प्रयोग अलबरूनी एव उत्बी के समय, अर्थात् १०वी शती के अत से होना शुरू हुआ। दुर्रानी अफगानो के बनी इसराईल के वशधर होने का दावा तो उसी परिपाटी का एक उदाहरण है जिसका प्रचलन मुसलमानो मे अपने को मुहम्मद के परिवार का अथवा अन्य किसी महान् व्यक्ति का वशज बतलाने के लिये हो गया था।

यद्यपि अफगानिस्तान के दुर्रानी एव अन्य निवासी अपने ही को वास्तविक अफगान मानते हैं तथा अन्य प्रदेशो के पठानो को अपने से भिन्न बतलाते है, तथापि यह धारणा असत्य एव निस्सार है। वास्तव मे 'पठान' शब्द ही इस जाति का सामूहिक जातिवाचक शब्द है। 'अफगान' शब्द तो केवल उन शिक्षित तथा सभ्य वर्गों मे प्रयुक्त होने लगा है, जो अन्य पठानो की अपेक्षा उत्कृष्ट होने पर बडा गौरव करते हैं।

पठान शब्द 'पख्तान' (ऋग्वैदिक पक्थान्) या 'पश्तान' शब्द का हिंदी रूपातर है। 'पठान' उन समस्त वर्गों के लिये प्रयुक्त होता है, जो 'पश्तो' भाषाभाषी हैं। पठान शब्द का प्रयोग पहले पहल १६वी शती मे 'मखज़ने अफगानी' के रचयिता नियामतुल्ला ने किया था। परतु, जैसा कहा जा चुका है, अफगान शब्द का प्रयोग बहुत पहले से होता आया था।

अफगान जाति के लोगो के उत्तर-पश्चिम के पहाडी प्रदेशो तथा आसपास की भूमि पर फैले होने के कारण, उनके चेहरे मोहरे और शरीर की बनावट मे स्थानीय विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। तथापि सामान्य रूप से वे ऊँचे कद के, हृष्ट पुष्ट तथा प्राय गोरे होते हैं। उनकी नाक लबी एव नोकदार, बाल भूरे और कभी कभी आँखे कजी पाई जाती है।

थोड़े समय से ऊँचे वर्ग के पठान या अफगान सब फारसी बोलने लगे है। साधारण पठान 'पश्तो' भाषा भाषी हैं। अफगानिस्तान मे उनका प्राबल्य १८वी सदी के मध्य से हुआ है जब अहमदशाह अब्दाली (दुर्रानी) ने उस देश पर अधिकार करके उसे 'दुर्रानी' साम्राज्य घोषित किया था।

इन अफगानो या पठानो के विभिन्न वर्गों को एक सूत्र में बाँधनेवाली इनकी भाषा 'पश्तो' है। इस बोली के समस्त बोलनेवाले, चाहे वे किसी कुल या जाति के हो, पठान कहलाते हैं।

समस्त अफगान एक सर्वमान्य अलिखित किंतु प्राचीन परपरागत विधान के अनुयायी हैं। इस विधान का आदि स्रोत 'इब्रानी' है। परतु उसपर मुस्लिम तथा भारतीय रीत्याचार का काफी प्रभाव पडा है। पठानो के कुछ नियम तथा सामाजिक प्रचलन राजपूतो से बहुत मिलते हैं। सभी अफगानो का जीवन सैनिको का सा होता है। एक ओर अतिथिसत्कार, और दूसरी ओर शत्रु से भीषण प्रतिशोध, उनके जीवन के अग हो गए हैं। ऊसर और सूखे पहाडी प्रदेशो के निवासी होने के कारण उनका जीवन सदैव सघर्षपूर्ण रहा है। इसी मे वे निर्भीक और निर्दय हो गए हैं। उनकी हिंस्र प्रवृत्ति धर्मांधता के कारण और भी उग्र हो गई है। किंतु उनके चरित्र मे सौदर्य तथा सद्गुणो की भी कमी नही है। वे बडे वाक्चतुर, सामान्य परिस्थितियो मे बडे विनम्र और समझदार होते हैं। शायद उनके इन्ही गुणो के कारण भारतीय स्वाधीनता सग्राम मे महात्मा-गाधी के प्रभाव से उनके महामान्य नेता अब्दुलगफ्फार खाँ के नेतृत्व में समस्त पठान जनता के चरित्र मे ऐसा मौलिक एव आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ कि वह 'अहिंसा' की सच्ची व्रती बन गई। इन अफगानो मे ऐसा परिवर्तन होना इतिहास की एक अपूर्व एव अनुपम घटना है।

सं०ग्रं०—नियामतुल्ला मखज़ने अफगानी, बी० डॉर्न हिस्ट्री ऑव अफगान्स, उत्बी तारीखे यामिनी, मिहाजुद्दीन बिनसिराजुद्दीन: तबकातेनासिरी, बाबर नामा, मिर्जा मुहम्मद तारीखे सुल्तानी, (बबई से प्रकाशित)। [प० श०]

अफगानिस्तान दक्षिण-पश्चिम एशिया का एक स्वतत्र मुसलमानी राज्य है, जो पामीर पठार के दक्षिण-पश्चिम में लगभग ७०० मील तक फैला है। इसके उत्तर मे रूसी तुर्किस्तान, पश्चिम मे फारस, दक्षिण एव दक्षिण-पूर्व मे पाकिस्तान, तथा पूर्व मे चीन का सिक्याग एव भारत का काश्मीर प्रदेश स्थित हैं। अत्यत शक्तिशाली राज्यो से घिरा होने के कारण यह एक अत स्थ (बफर) राज्य है जिसकी सीमा पिछले १०० वर्षो मे अनेक बार सधियो द्वारा निर्धारित होती रही है। अतिम बार इसकी सीमा २२ नवम्बर, १९२१ ई० मे अफगानिस्तान और ब्रिटेन की सधि द्वारा निर्धारित की गई, जिसके पश्चात् इसे जर्मनी, फ्रास, रूस, इटली आदि राज्यो की मान्यता प्राप्त हो गई।

स्थिति २९° उत्तर से ३८° ३५′ उत्तर अक्षाश, ६०° ५०′ पूर्व से ७५° पूर्व देशातर। क्षेत्रफल . २,५०,००० वर्गमील। जनसख्या : १,३०,००,००० (सन् १९५३ ई०) पठान, ६०%, ताजिक, ३०, ७%, उज़बेक, ५%, हज़ारा (मुगल), ३%। अफगानिस्तान मे जातीय एकता का अभाव है। पाकिस्तान की सीमा के निकट वज़ीरी, अफ्रीदी एव मागल आदि पठान जातियाँ रहती हैं जो बडी ही स्वेच्छाचारी है।

इन दिनो अफगानिस्तान एक सवैधानिक राजतत्र है जिसके मुहम्मद जहीर शाह राजा हैं। यह सात बडे और चार छोटे प्रातो मे बँटा है। बड़े प्रातो के नाम है काबुल, मजार, कधार, हेरात, कटाधम, सम्त-ए-मशरिकी और 'सम्त-ए-जनूबी'। बदख्शाँ, फराह, गजनी और परवाँ नामक चार छोटे प्रात है। यहाँ सुन्नी मुसलमानो की प्रधानता है। शीया मुसलमानो की जनसख्या देश की जनसख्या का केवल आठ प्रतिशत है। काबुल अफगानिस्तान की राजधानी एव प्रमुख नगर है, इसकी जनसख्या ३,१०,००० है (सन् १९५३)। कधार (जनसख्या, १,९५,०००), हेरात (जनसख्या, १,५०,०००), मजार-ए-शरीफ (जनसख्या, १,००,०००) और जलालाबाद आदि अन्य मुख्य नगर है। राज्यभाषाएँ पश्तो और फारसी है।

उत्तर मे तुर्किस्तान के मैदानी खड को छोडकर अफगानिस्तान गगनचुबी पर्वतो एव ऊँचे पठारो का देश है, जो जबशिला (शेल) और चूने के पत्थरो के बने हैं। इनके तल मे ग्रैनाइट तथा साईएनाइट पत्थर मिलते हैं। मत्स्य (डेवोनियन) और कार्बनप्रद (कार्बनिफेरस) युगो के पहले यह क्षेत्र टेथिस सागर का एक अग था। बाद मे यह ऊपर उठने लगा तथा यहाँ के पठारो एव पर्वतो का निर्माण तृतीय कल्प (टर्शियरी ईरा) मे हिमालय और आल्प्स के निर्माण के साथ हुआ।

अफगानिस्तान की मुख्य पर्वतश्रेणी हिंदूकुश है। यह पामीर पठार से दक्षिण-पश्चिम तथा पश्चिम की ओर लगभग ६०० मील तक चलकर हेरात प्रात मे लुप्त हो जाती है। कोह-ए-बाबा, फिरोज़ कोह, और कोह-

ए-सफ़ेद इसके अन्य भागों के नाम हैं। इसकी दक्षिणी शाखा सुलेमान पर्वत है जो पूर्व में टोरघर तथा स्याह कोह और पश्चिम में स्पिनघर तथा सफ़ेद कोह कही जाती है। हिंदूकुश पर्वत के प्रमुख दर्रे खावक, सलंग, बामियाँ एवं शिकारी-शेबर हैं। सुलेमान के दर्रे खैबर, गोमल एवं बोलन हैं। ये दर्रे वाणिज्यपथ का काम देते हैं। प्राचीन काल में इन्हीं दर्रों से होकर सर्वप्रथम आर्य लोग तथा बाद में मुसलमान, मुगल तथा अन्य विदेशी भारत में पहुँचे।

अफगानिस्तान छः प्राकृतिक भागों में बाँटा जा सकता है :

(१) बैक्ट्रिया अथवा अफगानी तुर्किस्तान, जो हिंदूकुश पर्वत के उत्तर आमू तथा उसकी सहायक कुंदज तथा कोक्चा नदियों का मैदानी भाग है।

(२) हिंदूकुश पर्वत, जिसकी औसत ऊँचाई १५,००० फुट से अधिक है। इसकी चोटियाँ, जो १८,००० फुट से भी ऊँची हैं, सर्वदा हिमाच्छादित रहती हैं।

(३) बदख्शाँ, जो उत्तरी-पूर्वी अफगानिस्तान में, तुर्किस्तान के पूर्व, एक रमणीक प्रदेश है। इसी के अंतर्गत 'छोटा पामीर' पर्वत है।

(४) काबुलिस्तान, जिसके अंतर्गत काबुल का पठार और चारदेह तथा कोह-ए-दमन की समृद्ध घाटियाँ हैं। काबुल के पठार की ऊँचाई ५,००० से ६,००० फुट है, यह काबुल नदी तथा उसकी सहायक लोगर, पंजशीर एवं कुनार से सिंचित, समृद्ध एवं घनी आबादी का क्षेत्र है।

(५) हजारा, जो मध्य अफगानिस्तान का पर्वतीय एवं विरल आबादी का प्रदेश है।

(६) दक्षिणी मरुस्थल, जिसके पश्चिमी भाग में सिरतान एवं पूर्व में रेगस्तान नामक मरुस्थल हैं। ये मरुस्थल देश का चौथाई भाग छेंके हुए हैं। इस क्षेत्र का जल-परिवाह (ड्रेनेज) हमुन-ए-हेलमाँद तथा गौद-ए-जिर्रेह नामक झीलों में जमा होता है।

आमू, हरी रूद, मुर्घाब, हेलमाँद, काबुल आदि अफगानिस्तान की प्रमुख नदियाँ हैं। आमू तथा काबुल के अतिरिक्त अन्य नदियाँ अंतःस्थल परिवाही (इनलैंड ड्रेनेज वाली) हैं। आमू नदी रोशन एवं दरवाज़ नामक पर्वत-श्रेणियों से निकलकर लगभग ४८० मील तक अफगानिस्तान की उत्तरी सीमा निर्धारित करती है। हेलमाँद अफगामिस्तान की सर्वाधिक लंबी नदी है जो ६०० मील तक हजारा एवं दक्षिणी-पश्चिमी मरुस्थल से होती हुई सिस्तान क्षेत्र में गिरती है।

अफगानिस्तान खनिज पदार्थों में धनी है, परंतु उनका विकास अभी तक नहीं हो सका है। निम्न कोटि का कोयला घोरबंद की घाटी में और लटाबाद के समीप मिलता है। इसकी संचित निधि १,५०,००,००० टन कूती जाती है, किंतु वार्षिक उत्पादन केवल १०,००० टन है। नमक कटाघम प्रांत में मिलता है। इसका वार्षिक उत्पादन २५,००० टन है, जिसका कुछ अंश पाकिस्तान को निर्यात होता है। अन्य खनिज पदार्थों में ताँबा हिंदूकुश में, सीसा हजारा में, चाँदी हज़ाराजत एवं पंजशीर की घाटी
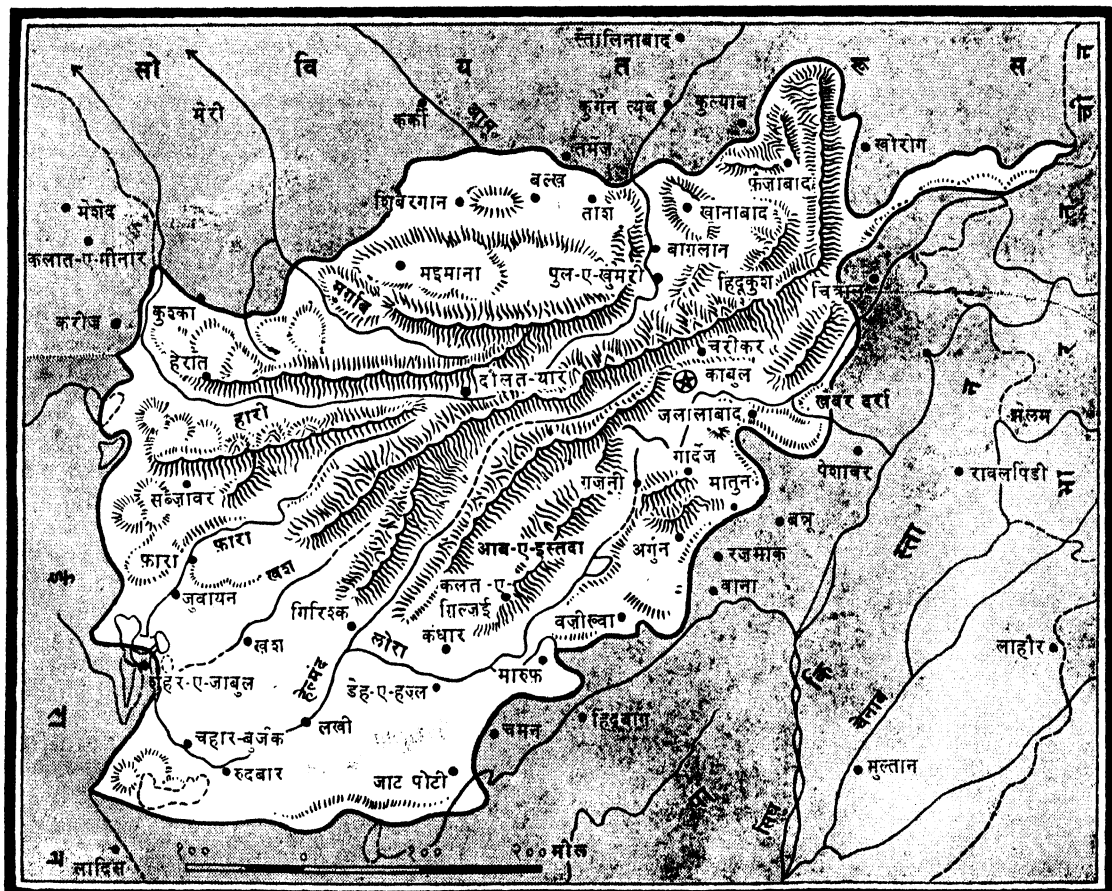
में, लोहा घोरबंद की घाटी एव काफिरिस्तान मे, गधक मयमाना प्रांत एव कामार्द की घाटी में, अभ्रक पजशीर की घाटी मे, ऐस्बेस्टास जिद्रा जिले में, क्रोमियम लोगर की घाटी मे तथा सोना, माणिक, फीरोजा, वैदूर्य (लैपिस लैजूली) एव अन्य बहुमूल्य पत्थर बदखशाँ मे मिलते है। हाल मे खनिज तेल उत्तरी अफगानिस्तान के हेरात प्रात मे प्राप्त हुआ है।

अफगानिस्तान की जलवायु अति शुष्क है। यहाँ दैनिक तथा वार्षिक तापातर अधिक तथा वायुवेग अत्यत तीव्र रहता है। ग्रीष्म ऋतु मे घाटियाँ तथा कम ऊँचे पठार उष्ण हो जाते हैं। आमू की घाटी, कधार एव जलालाबाद मे ताप ११०° से ११५° फारेनहाइट तक चढ जाता है तथा दक्षिण-पश्चिम के मरुस्थल मे धूल एव बालुकायुक्त प्रचड हवाएँ १०० मील प्रति घटे से भी अधिक वेग से चलती हैं। जाडे की ऋतु मे बहुत ठढी और वेगवती हवाएँ चलती हैं। काबुल, गजनी, हजारा आदि ३,००० फुट से अधिक ऊँचे क्षेत्रो मे ताप ०° फा० से भी कम हो जाता है। यहाँ जनवरी तथा फरवरी के महीनो मे तुषारपात और मार्च तथा अप्रैल में वर्षा होती है। अफगानिस्तान की औसत वर्षा ११ इच है। इसके अधिकाश मे वर्षा अपर्याप्त होती है। दक्षिण-पश्चिम के मरुस्थल विशेष रूप से शुष्क है, जहाँ वर्षा ४ इच से भी कम होती है। ६,००० फुट से ऊँचे स्थलो मे वसत तथा शरद ऋतुएँ अति प्रिय और मनमोहक होती हैं।

जगल ६,००० से १०,००० फुट की ऊँचाई तक मिलते हैं। इन जगलो में कोणधारी (चीड आदि) वृक्ष तथा श्रीदारु (लार्च) की प्रचुरता है। इन वृक्षो की छाया मे गुलाब एव अन्य सुदर फूल उगते हैं। ३,००० से ६,००० फुट की ऊँचाई मे बाज (ओक) एव अखरोट के वृक्ष मिलते हैं। ३,००० फुट से नीचे जगली जैतून (ऑलिव), गुलाब, बेर तथा बबूल पाए जाते हैं।

अफगानिस्तान पशुपालक एव कृषिप्रधान देश है। इसका अधिकाश पर्वतीय एव शुष्क होने के कारण कृषि के लिये उपयुक्त नही है। फिर भी यहाँ के मैदानो एव अनेक उर्वर घाटियो मे नहरो आदि द्वारा सिचाई करके फल, सब्जियाँ एव अन्न उपजाए जाते है। कुछ भागो मे बिना सिंचाई की कृषि भी प्रचलित है। जाडे मे गेहूँ, जौ तथा मटर और गरमी मे धान, मक्का, ज्वार, बाजरा की फसले होती है। थोडे परिमाण मे रुई, तबाकू तथा गाँजा भी पैदा किया जाता है। कुछ वर्षों से हेलमांद तथा अर्गंदाब नदियो पर जल-सग्रह-तडाग और हरी रूद पर बाँध बनाकर कृषि को विकसित किया जा रहा है। यहाँ ग्रीष्मकाल की शुष्क जलवायु फल उपजान के लिये उपयुक्त है। अगूर, शहतूत और अखरोट के अतिरिक्त सेब, नाशपाती, बादाम, बेर, अजीर, खूबानी, सतालू आदि फल भी उपजाए जाते हैं। अगूर विशेषत भारत को निर्यात किया जाता है।

यहाँ की मुख्य सपत्ति भेडे तथा अन्य पशुसमुदाय है और प्रधान उद्यम पशुपालन है। कटाघम और मजार के क्षेत्रों में सर्वोत्कृष्ट जाति के घोडे पाले जाते हैं। अदखुई के निकट भेड का सर्वोत्तम चमडा मिलता है। मोटी पूँछ की भेडे, जो दक्षिण मे मिलती है, ऊन, मास तथा चर्बी के लिये प्रसिद्ध हैं। ऊन का वार्षिक उत्पादन लगभग ७,००० टन है।

अफगानिस्तान मे केवल छोटे उद्योगो का विकास हो पाया है। काबुल नगर मे दियासलाई, बटन, जूता, सगमरमर तथा लकडी के सामान बनाए जाते है। कुदज मे रूई धुनने और जिबेल-उस-सिराज, पुल-ए-खुमरी तथा गुलबहार मे सूती कपडे बुनने के कारखाने है। बघलन एव जलालाबाद मे चीनी के कारखाने हैं। हाल मे जिबेल-उस-सिराज मे सीमेंट उद्योग का विकास हुआ है।

इस राज्य मे आवागमन की समस्या जटिल है। यहाँ रेलो का सर्वथा अभाव है और सडको की स्थिति अच्छी नही है। अत आवागमन के सामान्य साधन ऊँट, गधा, खच्चर तथा बैल है। परतु मोटरगाडियो का प्रयोग दिनोदिन बढता जा रहा है।

चारो ओर अन्य देशो से घिरे होने के कारण अफगानिस्तान का ९०% वैदेशिक व्यापार पहले पाकिस्तान द्वारा होता था, किंतु २ जून, १९५५ ई० को अफगानिस्तान तथा रूस के बीच पचवर्षीय पारवहन सधि होने के बाद अफगानिस्तान का व्यापार विशेष रूप से रूस द्वारा होने लगा है। मुख्य आयात सूती कपडा, चीनी, धातु की बनी सामग्री, पशु, चाय, कागज, पेट्रोल, सीमेंट आदि हैं, जो विशेषत भारत, रूस तथा पाकिस्तान से प्राप्त होते हैं। सूखे एवं रसदार फल, मसाले, कराकुल नामक चर्म, दरियाँ, रुई एव कच्चा ऊन यहाँ के मुख्य निर्यात है, जो प्रधानत भारत, रूस, सयुक्त राज्य (अमरीका) तथा ब्रिटेन को भेजे जाते हैं। [न० कि० प्र० सि०]

इतिहास १८ वी शताब्दी के मध्य तक अफगानिस्तान नाम से विहित राज्य की कोई पृथक् सत्ता नही थी अत अफगानिस्तान की भौगोलिक सज्ञा का उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ उपयोग बहुत कुछ १७४७ के पूर्व तक आनुवशिक था। इसके एक सगठित राष्ट्रीय एकतत्र के रूप मे उदय होने के पूर्व इस देश का इतिहास अत्यत वैविध्यपूर्ण है।

आर्यों के आगमनकाल (ई० पू० द्वितीय तथा प्रथम सहस्राब्दी) मे ये राज्य ईरानी जातियो द्वारा अधिकृत थे। बाद मे कुरुष् ने इन राज्यो को हखमनी साम्राज्य मे समिलित कर लिया। ई० पू० चौथी शताब्दी मे सिकदर ने इन राज्यो को विजित कर लिया। सिकदर के पश्चात् परवर्ती यूनानी शासक शको और पार्थवो द्वारा हटा दिए गए। ई० पू० प्रथम शताब्दी में उनपर कुषाणवश के शासको का आधिपत्य रहा जो कुजुल कदफीसिस तथा कनिष्क के काल मे अपने पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त हुआ। कनिष्क की मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य अधिक समय तक नही टिक सका, किंतु कुषाण शासक हिंदूकुश की दक्षिणी पूर्वी घाटियो मे तब तक बने रहे जब तक श्वेत हूणो ने उनपर अधिकार नही जमा लिया। इन हूणो ने ईसा की पाँचवीं और छठी शताब्दी में अफगानिस्तान के उत्तरी एव पूर्वी भागो पर अधिकार कर लिया था। ७वी शताब्दी ईस्वी के मध्य पूर्वी अफगानिस्तान की राजनीतिक अवस्था का सम्यक् वर्णन ह्वेनत्साग ने किया है।

७वी शताब्दी में अरब विजय का ज्वार अफगानिस्तान पहुँचा। इस आक्रमण की एक लहर सिजिस्तान होकर गुजरी, किंतु प्रथम तीन शताब्दियो मे यहाँ से होनेवाले काबुल-विजय के प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए। काबुली प्रात, अन्य पूर्वी प्रातो की अपेक्षा इस्लामीकरण का प्रतिरोध अधिक समय तक करता रहा। सुलतान महमूद गजनवी (९९७–१०३०) के काल मे अफगानिस्तान एक महान् किंतु अल्पजीवी साम्राज्य का प्रधान केंद्र बना जिसके अतर्गत ईराक तथा कैस्पियन सागर से रावी नदी तक के विस्तृत भूभाग थे। महमूद के उत्तराधिकारी गुरीदो द्वारा ११८६ ई० मे पराजित हुए। तत्पश्चात् अफगानिस्तान अल्प समय के लिये ख्वारिजमी शाहो के हाथो आया। १३वी शताब्दी में इसपर मगोलो ने अधिकार जमा लिया जो हिंदूकुश के उत्तर जम गए थे। उगुदे की मृत्यु के बाद मगोल साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया और अफगानिस्तान फारस के इल्खामो के हिस्से पडा। इन्ही के प्रभुत्व मे ताजिकिस्तान का 'कार्त' नामक एक राजवश शासनारूढ हुआ और देश के अधिकाश पर प्राय दो शताब्दियो तक शासन करता रहा। अत मे तैमूर ने आकर इस वश का अत कर डाला तथा हिरात-विजय के पश्चात् उत्तरी अफगानिस्तान मे अपने को दृढ कर लिया।

१६वी शताब्दी के आरभ मे, बाबर के समय, ये राज्य काबुल और कधार मे केंद्रित हो गए थे, जो भारतीय मुगल साम्राज्य के प्रात बन गए। किंतु, हिरात फारस के शाहो के अधिकार मे चला गया। एक बार अफगानिस्तान पुन विभाजित हुआ, फलत बल्ख उजबेको और कधार ईरानियो के बाँट पडा। १७०८ में कधार के गिलजाइयो ने ईरानियो को निकाल भगाया और १७२२ में फारस पर आक्रमण कर उसपर अपना अस्थायी शासन स्थापित कर लिया। १७३७-३८ मे नादिरशाह ने, जो फारस के महत्तम शासको मे से था, कधार दखल कर काबुल जीत लिया।

१७४७ में नादिरशाह के मरने पर कधार के अफगान सरदारो ने अहमद खाँ (बाद मे अहमदशाह अब्दाली के नाम से विख्यात) को अपना मुखिया चुना और उसके नेतृत्व मे अफगानिस्तान ने इतिहास में प्रथम बार एक स्वाधीन शासनसत्ता द्वारा शासित, अपना राजनीतिक अस्तित्व प्राप्त किया। अहमदशाह ने दुर्रानी राजवश की नीव डाली और अपने राज्य का विस्तार पश्चिम मे लगभग कैस्पियन सागर, पूर्व में पजाब और कश्मीर तथा उत्तर मे आमू दरिया तक किया।

१९वी शताब्दी मे अफगानिस्तान दोतरफा दबाया गया, एक ओर रूस आमू दरिया तक बढ़ आया और दूसरी ओर ब्रिटेन उत्तर-पश्चिम मे खैबर क्षेत्र तक चढ आया। १८३९ मे एक भारतीय ब्रिटिश सेना ने कधार, गजनी और काबुल पर अधिकार कर लिया। दोस्तमुहम्मद को हटाकर

शाहशुजा नामक एक परवर्ती असफल शासक को अमीर बना दिया गया। इस परिवर्तन के विरुद्ध वहाँ भीषण प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई, फलतः शाहशुजा और कई ब्रिटिश अधिकारी तलवार के घाट उतार दिए गए। १८४२ के दिसंबर में ब्रिटिश सरकार ने अफगानिस्तान को खाली कर दिया और दोस्तमुहम्मद को फिर से अमीर होने की स्वीकृति दे दी। १८४६ में दोस्तमुहम्मद ने सिक्खों की ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध उनकी लड़ाई में सहायता की, फलतः पेशावर का क्षेत्र हाथ से निकल गया जो ब्रिटिश भारत में मिला लिया गया। १८६३ में दोस्त मुहम्मद ने हिरात को ईरानियों से पुनः छीन लिया। उसके बेटे शेरअली खाँ ने रूसियों को स्वीकृति तो दे दी, किंतु ब्रिटिश एजेंटों को रखने से इन्कार कर दिया। इससे द्वितीय अफगान युद्ध (१८७८–८१) छिड़ गया, फलतः शेरअली खाँ भागा और उसकी मृत्यु हो गई। उसके बेटे याकूब खाँ ने ब्रिटिश सरकार से एक संधि की। उसने खैबर दर्रे के साथ सीमा के कई प्रदेशों को छोड़ दिया और ब्रिटेन को अफगानिस्तान के वैदेशिक संबंधों को नियंत्रित करने की स्वीकृति दे दी। इस प्रबंध के विरुद्ध भड़कनेवाले जनद्वेष और क्रोध के परिणामस्वरूप ब्रिटिश रेजिडेंट की हत्या हुई और याकूब खाँ गद्दी से उतार दिया गया। तत्पश्चात् दोस्त मुहम्मद का पोता अब्दुर्रहमान खाँ अमीर के रूप में मान्य हुआ। अब्दुर्रहमान ने अपना प्रभुत्व कंधार और हिरात तथा बाद में काफिरिस्तान तक बढ़ा लिया। उसने स्थानीय जातीय सरदारों द्वारा नियंत्रित एक सशक्त केंद्रीय शासन स्थापित करने, अच्छी प्रकार से शिक्षित एक स्थायी सेना को संगठित करने, विद्रोहों को कुचलने और कर व्यवस्था को दुरुस्त करने के लिये अफगानिस्तान को आधुनिक राष्ट्र की भाँति तैयार करने की आवश्यकता का पथ प्रशस्त किया। अब्दुर्रहमान के बेटे हबीबुल्ला खाँ ने, जो १९०१ में गद्दी पर बैठा, मोटरकारों, टेलीफोनों, समाचारपत्रों और काबुल के लिये प्रकाशयुक्त विद्युत् व्यवस्था का समारंभ किया।

१९१९ में हबीबुल्ला के एक भतीजे अमानल्ला खाँ ने गद्दी सँभाली। उसने तुरंत अफगानिस्तान के पूर्ण स्वराज्य की घोषणा की और ग्रेट ब्रिटेन से लड़ाई छेड़ दी जो शीघ्र ही एक संधि से समाप्त हो गई। उसके अनुसार ग्रेट-ब्रिटेन ने अफगानिस्तान के पूर्ण स्वातंत्र्य को मान्यता दी और अफगानिस्तान ने वर्तमान ऐंग्लो-अफगानिस्तान सीमा स्वीकार कर ली।

अमानुल्ला ने अमीर का पद समाप्त कर दिया और उसके स्थान पर 'बादशाह' उपाधि निर्धारित की तथा सरकार को एक केंद्रित प्रतिनिधि राजतंत्र के अंतर्गत मान्यता दी। उसने अफगानिस्तान को आधुनिक बनाने के लिये वहाँ वेगवान तथा द्रुत सुधारों की बाढ़ ला दी। मुल्लाओं के धार्मिक और खानों (सामंतों) तथा कबायली सरदारों के लौकिक अधिकारों के प्रति उसकी चुनौती ने उनके प्रबल प्रतिरोध को जन्म दिया जिसके परिणामस्वरूप १९२९ का विद्रोह हुआ और अमानुल्ला को गद्दी छोड़ विदेश भाग जाना पड़ा। वर्ष के भीतर ही पिछली लड़ाइयों के एक योद्धा मुहम्मद नादिर खाँ ने पुनः शक्ति अर्जित की और नादिरशाह के रूप में राज्यप्रमुख बना। १९३३ में काबुल में उसकी हत्या कर दी गई और उसका उत्तराधिकारी मुहम्मद ज़हीरशाह हुआ जो अफगानिस्तान का वर्तमान अधिनायक है।

भाषा तथा साहित्य—अफगानिस्तान की प्रधान भाषाएँ पश्तो और फारसी हैं। पश्तो सामान्यतः अफगानी जातियों की भाषा है जो अफगानिस्तान के उत्तरी-पूर्वी भाग में बोली जाती है। काबुल का क्षेत्र और गजनी मुख्य रूप से फारसी-भाषा-भाषी हैं। राष्ट्रीय एकता को बढ़ाने तथा शिक्षा के विस्तार को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से सरकार ने पश्तो को राष्ट्रीय भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है।

यद्यपि विस्तृत रूप से पश्तो भारतीय आर्यभाषा से निकली है, फिर भी अपने स्रोत और गठन में यह ईरानी भाषा है। ध्वनिपरिवर्तनों और बाह्यग्रहण ने पश्तो को एक स्वरव्यवस्था दी है जिसके अंतर्गत ऐसे बहुत से शब्द हैं जिनकी ध्वन्यात्मकता फारसी भाषा के लिये अपरिचित है। पश्तो के तीन अक्षर उसके लिये विलक्षण लगते हैं जो फारसी में नहीं प्रयुक्त होते।

सन् १९४०-४१ में अब्दुल हई हबीबी ने सुलेमा मकू द्वारा विरचित 'तज़किरातुलउलिया' नामक काव्यसंग्रह के कुछ अंश प्रकाशित किए जो ११वीं शताब्दी के रचे बताए गए हैं। किंतु उनकी प्रामाणिकता अभी पूर्णतः स्थापित नहीं हो सकी है। रावर्ती के अनुसार पश्तो में लिखी गई प्राचीनतम कृति खोज निकाली गई है जो १४१७ में लिखित शेखमाली की यूसुफ़ज़ायज़ नामक इतिहास पुस्तक है। अकबर के शासनकाल में रौशनिया आंदोलन के पुरस्कर्ता बयाजिद अंसारी (ल० १५८५) ने पश्तो में कई पुस्तकें लिखीं। उसका खैरुल-बयान अत्यंत प्रसिद्ध कृति है। उसके समसामयिक अखुंद दरवेज़ ने भी पश्तो में कई पुस्तकें लिखी हैं। खुशाल खाँ खत्तक (ल० १६९४) ने, जो आधुनिक अफगानिस्तान का राष्ट्रीय कवि है, लगभग सौ कृतियों का फ़ारसी से पश्तो में अनुवाद किया है। उसके पोते अफज़ल खाँ ने तारीखी-मुरस्सा नामक अफगानों का इतिहास लिखा। १८वीं शताब्दी में अब्दुर्रहमान और अब्दुल हामिद नामक पश्तो के दो लोकप्रिय कवि हो गए हैं। १८७२ में विद्यार्थियों के उपयोग के लिये कालिद अफगानी नामक एक रचना रची गई थी जिसमें पश्तो गद्य और पद्य के नमूने प्राप्त होते हैं। १८२९ में खारकोव के राजकीय रूसी विश्वविद्यालय के प्रोफेसर बी० दोर्न ने पश्तो का अंग्रेजी व्याकरण लिखा। पश्तो अकादमी ने अभी हाल में ही अनेक साहित्यिक कृतियों का प्रकाशन किया है।

सं०ग्रं०—साइक्स : ए हिस्ट्री ऑव अफगानिस्तान, (१९४०); फेरियर : हिस्ट्री ऑव दि अफगान्स (१८५४); मेलिसन : हिस्ट्री ऑव अफगानिस्तान (१८७४); अफगानिस्तान ऐंड दि अफगान्स (१८७९); सुल्तान मुहम्मद खाँ : कांस्टीच्यूशन ऐंड लॉज़ ऑव अफगानिस्तान (१९१०); लॉकहर्ट : नादिरशाह (१९३८); यीट : नार्दर्न अफगानिस्तान (१८८८); मुहम्मदअली : प्रॉग्रेसिव अफगानिस्तान (१९३३); टेट : दि किंगडम ऑव अफगानिस्तान, ए हिस्टारिकल स्केच (१९११); मुहम्मद हयात खाँ : हयाती-अफगानी (उर्दू में अफगानिस्तान का इतिहास, १८३७); मुहम्मद हुसेन खाँ : इन्कलाबी अफगानिस्तान (उर्दू में, १९३१); ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया, १०; रावर्टी : ग्रामर (१८६७); व्याकरण (१८६७); मॉर; रिपोर्ट ऑव ए लिंग्विस्टिक मिशन टू अफगानिस्तान (१९२०); एनसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम (संशोधित संस्करण), खंड १, फैसिकुलस ४।

[खा० अ० नि०]

अफ़ज़ल खाँ

अफ़ज़ल खाँ (मृत्यु १६५९), यह मोहम्मदशाह का, एक शाही बावर्चिन के कुक्ष से उत्पन्न अवैध पुत्र कहा जाता है। उसकी गणना बीजापुर राज्य के श्रेष्ठतम सामंतों और सेनानायकों में थी। १६४९ में वाई का राज्यपाल बनाया गया था और १६५४ में कनकगिरि का। मुगलों के विरुद्ध तथा कर्नाटक युद्ध में उसने बड़ी वीरता का प्रदर्शन किया था, किंतु शीरा के कस्तूरीरंग को सुरक्षा का आश्वासन देकर भी उसका वध कर देने से उसके विश्वासघात की कुख्याति फैल गई थी। पतनोन्मुख बीजापुर एक ओर मुगलों से आतंकित था, दूसरी ओर शिवाजी के उत्थान ने परिस्थिति गंभीर बना दी थी। अफ़ज़ल खाँ स्वयं शाहजी तथा उनके पुत्रों से तीव्र वैमनस्य रखता था। अघा खाँ के विद्रोह से शाहजी को जान बूझकर समयोचित सहायता न देने से, उसके पुत्र शंभूजी की युद्धक्षेत्र में मृत्यु हो गई। शिवाजी को दबाने के लिये राजाज्ञा से अफ़ज़ल ने शाहजी को बंदी बनाया।

शिवाजी के उत्थान के साथ साथ बीजापुर की स्थिति बड़ी संकटाकीर्ण हो गई। राज्य की सुरक्षा के लिये शिवाजी को कुचलना अनिवार्य हो गया। अफ़ज़ल खाँ ने शिवाजी को सर करने का बीड़ा उठाया। उसने घमंड में कहा कि अपने घोड़े से उतरे बगैर वह शिवाजी को बंदी बना लेगा। प्रस्थान के पूर्व बीजापुर की राजमाता बड़ी साहिबा ने उसे गुप्त संदेश भेजा कि संमुख युद्ध की अपेक्षा वह शिवाजी से मैत्री का बहाना कर धोखे से उसे जीवित या मृत बंदी बना ले। १२,००० सेना के साथ उसने शिवाजी के विरुद्ध प्रस्थान किया। कहते हैं कि अभियान के पूर्व उसने अपने गाँव अफ़ज़लपुरा में अपनी तिरसठ पत्नियों की हत्या कर दी थी। मराठों को आतंकित करने के लिये मार्ग में अत्यंत क्रूरता प्रदर्शित कर अनेक मंदिरों को ध्वस्त करता हुआ अफ़ज़ल खाँ प्रतापगढ़ के संनिकट पहुँच गया जहाँ शिवाजी सुरक्षित थे। जब प्रतापगढ़ पर आक्रमण करने की सामर्थ्य नहीं हुई तब अफ़ज़ल ने अपने प्रतिनिधि कृष्णजी भास्कर को कृत्रिम मैत्रीपूर्ण संधि का प्रस्ताव लेकर भेजा। अंततः प्रतापगढ़ के निकट दोनों में भेंट

होना तय हुआ। शिवाजी दो सेवको के साथ एक हाथ मे बिछुआ और दूसरे में बघनखा छिपाए अफजल खाँ से भेंट करने गए। अफजल खाँ ने आलिंगन करते समय एक हाथ से शिवाजी का गला घोटने का प्रयत्न किया, दूसरे से छूरे का वार किया, किंतु वस्त्रो के नीचे लोहे की जाली पहिने रहने के कारण वार खाली गया और शिवाजी ने अफजल खाँ का वध कर डाला। [रा० ना०]

अफ़लातून (प्लेटो) यूनान देश का सुविख्यात दार्शनिक। उसका मूल ग्रीक भाषा का नाम प्लातोन् है, इसी का अंग्रेजी रूपातर प्लेटो और अरबी रूपातर अफलातून है। उसका जन्मकाल ४२६ ई० पू०-४२७ ई० पू० माना जाता है। उसके पिता का नाम अरिस्तोन् और माता का पेरिक्तियोने था। वे दोनो ही एथेस् के अत्यत उच्च कुलो मे उत्पन्न हुए थे। आरभ मे अफलातून की प्रवृत्ति काव्यरचना की ओर थी, पर लगभग २० वर्ष की अवस्था मे सोक्रातेस (सुकरात) के प्रभाव से वह कवि से विचारक बन गया। यद्यपि अपनी कुलपरपरा के अनुसार उसको राजनीति मे सक्रिय भाग लेना चाहिए था, पर समसामयिक राजनीति की दुर्दशा ने उसको इस दिशा मे प्रवृत्त होने से रोक दिया। ई० पू० ३६६ मे सुकरात के मृत्युदड के पश्चात् वह एथेस् छोडकर चला गया और उसने दूर देशो की (कुछ के मत मे भारतवर्ष तक की) यात्रा की। ई० पू० ३८६ मे वह इटली और सिसिली गया। इसी यात्रा मे उसकी भेंट सिराकूस के शासक दियोनिसियुस् प्रथम से हुई तथा दियोन् और पिथागोरस् के अनुयायी आर्कितास् के साथ आजीवन मित्रता का सूत्रपात हुआ। इस यात्रा से लौटते समय सभवत वह ईगिना मे बदी बना लिया गया। पर धन देकर उसको छुडा लिया गया।

एथेंस् लौटने पर उसने अकादेमी नामक स्थान पर यूरोप के प्रथम विश्वविद्यालय का बीजारोपण किया। यह उसके जीवन का मध्याह्न-काल था। उसने अपने जीवन के उत्तरार्ध को इसी विद्यालय के विकास-कार्य मे लगा दिया। ई० पू० ३६७ मे सिराकूस के दियोनिसियुस् प्रथम की मृत्यु के उपरात दियोन् ने अफलातून को दियोनिसियुस् द्वितीय को दार्शनिक राजा बनाने के लिये आमत्रित किया। अफलातून ने अपनी शिक्षा का प्रयोग करने के लिये इस निमत्रण को स्वीकार कर लिया। पर यह प्रयोग असफल रहा। ईर्ष्या से प्रेरित होकर दियोनिसियुस् द्वितीय ने दियोन् को निर्वासित कर दिया। अफलातून ने सिराकूस की तीसरी यात्रा ई० पू० ३६१ मे की, पर वह इस बार भी वहाँ के राजनीतिक जीवन के उलझे हुए सूत्रो को सुलझा नही सका और कुछ समय के लिये स्वय बदी बना लिया गया। यहाँ से उसको आर्कितास् के प्रभाव से मुक्ति मिली। इसके पश्चात् उसका जीवन अकादेमी में ही व्यतीत हुआ और ई० पू० ३४८ मे ८० वर्ष की आयु मे उसका शरीरात हुआ।

सुदर स्वस्थ शरीर, दीर्घ जीवन, आर्थिक चिताओ का अभाव, उच्च कुल मे जन्म, सद्गुरु सुकरात की प्राप्ति, कुशाग्र बुद्धि इत्यादि अपरि-मित वरदान अफलातून को प्राप्त थे। उसने इन सबका सदुपयोग किया तथा अपने और अपने गुरु के नाम को अमर बना दिया। उसकी इस अमर ख्याति का आधार है उसकी रचनाओ का साहित्यिक सौष्ठव और उसके विचारो की अतल गभीरता।

अफलातून की रचनाओ की तालिका प्राचीन काल में बहुत लबी थी, परतु आधुनिक आलोचको ने अनेक प्रकार की कसौटियो पर उनकी प्रामाणिकता का परीक्षण करके उनमे से अनेक को अप्रामाणिक सिद्ध कर दिया है। परतु यह सौभाग्य की बात है कि अफलातून की समग्र प्रामाणिक रचनाएँ अद्यावधि उपलब्ध है। कुल मिलाकर अफलातून की रचनाओ मे आजकल २५ सवाद, १ सुकरात का आत्मनिवेदन तथा कुछ उसके पत्र प्रामाणिक माने जाते है। इनके नाम निम्नलिखित है :—(१) अपो-लोगिया, (२) क्रितो(न्), (३) यूथीफ्रो(न्), (४) प्रोतागोरस्, (५) हिप्पियास् लघु, (६) हिप्पियास् बडा, (७) लारवेस्, (८) लीसिस्, (९) खर्मिदीस्, (१०) गौर्गियास्, (११) मैनैक्सैनस्, (१२) मैनो(न्), (१३) यूथीदीमस्, (१४) क्रातीलस्, (१५) सिम्पौसियौन्, (१६) फएदो-(न्), (१७) पौलितेइया अर्थात् रिपब्लिक, (१८) फएद्रस्, (१९) थियै-तैतस्, (२०) पार्मेनिदीस्, (२१) सौफिस्त, (२२) पौलितिकस्, (२३) क्रितियास्, (२४) तिमाइयस्, (२५) फिलिबस्, (२६) नौमोई अर्थात् लॉज, (२७) ऐपिस्तोलाए अर्थात् १३ पत्रो का सग्रह। सवादात्मक रचनाओ मे प्रमुख वक्ता सुकरात है तथा रचना का नाम सुकरात के अतिरिक्त अन्य प्रमुख वक्ता के नाम पर पडा है। केवल १, १५, १७, २१, २२, २६ और २७ सख्यावाली रचनाएँ इसका अपवाद है। इनके नाम का सबध विषय से है। यह सब ग्रथ आकार मे तुलसीदास की रचनाओ से प्राय दो गुने होगे।

अफलातून की रचनाओ मे विषयो की आश्चर्यजनक विविधता है। सुकरात का जीवनवृत्त, गणतत्व का विवेचन, शब्दतत्व, सौदर्य-तत्व, शिक्षाशास्त्र, राजनीति, आत्मा की अमरता, काव्यालोचन, सगीत-समीक्षा, सृष्टितत्व आदि न जाने कितने गूढ विषयो पर अफलातून ने अपने विचारो को व्यक्त किया है। पर उसका मुख्य दार्शनिक सिद्धात 'थियरी ऑव् आइडियाज' नाम से विख्यात है। मूल ग्रीक भाषा मे 'अइदस्' और "इदिया" शब्दो का प्रयोग इस सिद्धात के सबध मे किया गया है। ये शब्द भाषाशास्त्र की दृष्टि से सस्कृत की 'विद्' धातु से सबद्ध है, पर अर्थ की दृष्टि से इनका सबध महाभाष्यकार पतजलि और आचार्य शकर द्वारा प्रयुक्त 'आकृति' शब्द से अधिक है। इद्रियग्राह्य जगत् के परिदृश्यमान पदार्थों के मूल मे रहनेवाले बुद्धिग्राह्य और अतीद्रिय तत्व को, जो स्थायी है और परिदृश्यमान पदार्थों का कारण है, अफलातून ने 'इदिया' कहा है। इन 'इदिया' का अपना स्वतत्र स्थायी अस्तित्व है। दृश्यजगत् के पदार्थों मे जो कुछ यथार्थ सत्य है वह अपने 'इदिया' के अस्तित्व मे भागीदार होने के कारण है। ससार की समस्त पुस्तके 'इदिया' की अपूर्ण अनुकृतियाँ मात्र है। 'इदिया' मे भी ऊँच नीच का कोटि क्रम पाया जाता है। इनमे सर्वोच्च 'इदिया' सत् (अगाथॅन्) का इदिया है। यह समग्र सत्ता का मूल कारण है, प्रकाशस्वरूप है, पर इसके पूर्ण वर्णन में वाणी मूक हो जाती है। 'इदिया' दृश्य पदार्थों से पृथक् और अपृथक् दोनो ही है। सत् के 'इदिया' और विश्वात्मा का परस्पर क्या सबध है इस बात को अफलातून ने अस्पष्ट ही छोड दिया है।

वास्तविक, अव्यभिचारी, स्थायी, स्पष्ट ज्ञान की प्राप्ति 'इदिया' के अवधारण से ही सभव है, दृश्य पदार्थों मे भटकने से केवल 'मत' या 'राय' की ही प्राप्ति हो सकती है जो परिवर्तनशील और अविश्वसनीय है। ज्ञान की प्राप्ति के लिये शिक्षा और पूर्वस्मृति का उद्बोधन आवश्यक है। अफलातून के मत मे शरीर की कारा मे आबद्ध होने के पूर्व मानवीय आत्मा अपने शुद्ध रूप मे 'इदिया' का चिंतन किया करती थी। उस अवस्था के पुन स्मरण से ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है।

ज्ञान की प्राप्ति से ही सामाजिक और राजनीतिक कर्तव्यो का सम्यक् अवबोध और पालन सभव है। अफलातून का विश्वास था कि पूर्ण ज्ञानी दार्शनिक ही निर्विकार भाव से शासन का कार्य कर सकते है। इन ज्ञानी शासको मे अनासक्ति की भावना को बद्धमूल करने के लिये उसने उनके मध्य मे सपत्ति, सतान और स्त्रियो के ऊपर समानाधिकार के सिद्धात का प्रति-पादन किया था। पर यह साम्यवाद केवल शासको तक ही सीमित रहा।

नगरो के सुशासन के लिये शासको मे सत्यज्ञान का होना अनिवार्य है। परतु अनेक कलाएँ और विशेष कर नाटक और कविताएँ तो सत्य की अनुकृति की भी अनुकृति है—क्योकि दृश्यजगत् के पदार्थ 'इदियाओ' की अनुकृति है और कलाएँ इन दृश्य जगत् के पदार्थों का अनुकरण करती है। अत इन कलाओ को आदर्श नगर मे कोई प्रश्रय नही मिलना चाहिए। कवियो को आदर्श नगर से बहिष्कृत कर दिया जाना चाहिए।

परतु इससे हमको यह निष्कर्ष कदापि नही निकालना चाहिए कि अफलातून नीरस दार्शनिक था। उसने अपने "सिंपोसियोन्" नामक सवाद में सौंदर्य के स्वरूप का अविस्मरणीय प्रतिपादन किया है। इस सवाद मे प्रेम और सौदर्य के स्वरूप का ऐसा उद्घाटन किया गया है कि अफलातून की प्रतिभा का लोहा मानना पडता है। बाह्य कायिक सौदर्य से सपन्न अल् किबियादीस् को कुरूपतासपन्न सुकरात के आतरिक सौदर्य के समक्ष मत्रमुग्ध हुआ देखकर हमको स्वर्गिक सौदर्य की झलक दिखाई देने लगती है।

पर जैसे जैसे समय बीतता गया, अफलातून के विचारो मे परिवर्तन होता गया। उसके अतिम ग्रथ नोमोई (लाज) मे, जिसको अफलातून-स्मृति का नाम दिया जा सकता है—हमको यथार्थवादी अफलातून के दर्शन

होते हैं। यहाँ पर वह ५०४० नागरिकों के एक दूसरे ही प्रकार के नगर की व्यवस्था उपस्थित करता है। इस नगर का शासन सभा, परिषद्, विधानरक्षकों, परीक्षकों और रात्रिपरिषद् के द्वारा संवैधानिक पद्धति से करने का सुझाव है। इस नगर में दर्शन की अपेक्षा धर्म की चर्चा अधिक और नास्तिकों का मतपरिवर्तन करने अथवा मार डालने तक का विधान किया गया है।

यूरोप में अफ़लातून का प्रभाव सभी विचारकों से अधिक गहरा रहा है। ह्वाइटहेड के अनुसार समस्त पाश्चात्य दर्शन अफ़लातून की रचनाओं की पादटिप्पणियों की परंपरा है। आधुनिक काल के कुछ विचारकों ने उसको अधिनायकवाद के समर्थकों में गिना है, पर यह उनकी भ्रांति है। उर्विक नामक विद्वान् ने अफ़लातून की आदर्श नगरव्यवस्था में भारतीय समाज का प्रभाव सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। गिलबर्ट मरे के मत में अफ़लातून के समान गद्यलेखक न दूसरा हुआ है और न होगा ही। रिटर के अनुसार "वह सर्वदा अविस्मरणीय रहेगा; वह उन आध्यात्मिक शक्तियों को उन्मुक्त करनेवाला है जो बहुतों के लिये वरदान सिद्ध हुई हैं और सर्वदा वरदान बनी रहेंगी।"

अफ़लातून संबंधी साहित्य सभी सभ्य देशों की भाषा में विपुल मात्रा में पाया जाता है। अतः यहाँ केवल प्रमुख रचनाओं का नामोल्लेख किया जाता है।

मूल रचना के संबंध में बर्नेट् (आक्सफोर्ड), बेकर, स्टालबोम् (जर्मनी) के संस्करण अत्यंत प्रामाणिक माने जाते हैं। अफ़लातून की रचनाओं के अनुवाद समस्त प्रसिद्ध यूरोपीय भाषाओं में उपलब्ध हैं।

अंग्रेजी में जोवेट का अनुवाद अधिक प्रसिद्ध है, पर बहुत सही नहीं है, यद्यपि इसकी शैली अत्यंत आकर्षक है। लोएब् क्लासीकल लाइब्रेरी में अफ़लातून की समस्त रचनाएँ—मूल और अनुवाद—१२ जिल्दों में प्रकाशित हो चुकी हैं। कॉर्नफ़ोर्ड के अनुवाद अधिक विश्वसनीय हैं। हाल में कई ग्रंथों के सुलभ अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। हिंदी में स्वर्गीय डा० बेनीप्रसाद ने सुकरात के जीवन से संबंध रखनेवाली कुछ छोटी रचनाओं का अंग्रजी से अनुवाद किया था जो नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा 'सुकरात' नाम से प्रकाशित हुआ था। भोलानाथ शर्मा ने 'रिपब्लिक' का मूल ग्रीक भाषा से हिंदी में अनुवाद किया है जो 'आदर्श नगरव्यवस्था' नाम से हिंदी समिति द्वारा प्रकाशित किया गया है।

अफ़लातून से संबंधित आलोचनात्मक साहित्य में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—बर्नेट : ग्रीक फिलासफी फ्रॉम थालैस् टू प्लेटो; टेलर : प्लेटो; फील्ड् : दी फिलॉसफ़ी ऑव प्लेटो और प्लेटो, ऐण्ड हिज़् कंटेंपोरेरीज़्; त्सैलर : प्लेटो ऐंड द ओल्डर अकाडेमी; गौंपर्त्स : ग्रीक थिंकर्स् जिल्द २ और ३; शोरी : ह्वाट् प्लटो सेड, और यूनिटी ऑव प्लेटोज़ थॉट्; रिट्टर : द एसेंस ऑव प्लेटोज़ फिलासफी, और प्लातोन, ज़ाइन् लबन्, ज़ाइने श्रिफ्टैन्, ज़ाइने लीरे (जर्मन भाषा में) (रिट्टर आधुनिक समय में प्लेटो का सर्वश्रेष्ठ विशेषज्ञ माना जाता है।); ग्रूब् : प्लेटोज़ थॉट्; वैनर याएगर : पाइडेइया, जिल्द २ और ३; फ्रीड्लांडर : प्लातोन्; उर्विक : मेसेज ऑव प्लेटो; विलामोवित्स् मेम्रोलैन्डॉर्फ् : प्लातोन् भाग १, २ (जर्मन भाषा); लियॉन् रोबिन : ग्रीक थॉट्; लूतॉस्लास्की : द ऑरिजिन ऐंड ग्रोथ् ऑव प्लेटोज़ लॉजिक्; स्टयुआर्ट : दी मिथ्स् ऑव प्लेटो; क्रॉसमैन् : प्लेटो टुडे; पौपर : द ओपन् सोसाइटी ऐंड इट्स् एनीमीज़; लॉज : फिलासफ़ी ऑव प्लेटो; तामसकर : अफ़लातून की सामाजिक व्यवस्था (हिंदी)। [भो० ना० श०]

अफार अफ्रीका में हैमितिक वंश की एक जाति है जो अबिसीनिया तथा समुद्र के बीच के शुष्क भूभाग में निवास करती है। ये लोग गैला तथा सोमाली जाति की प्रकृति से बहुत मिलते जुलते हैं। इनके दो समूह ह—एक वह जो पशुपालकों का जीवन व्यतीत करता है तथा दूसरा वह जो समुद्र के किनारे निवास करता है। इन लोगों का मुख्य धर्म वृक्षपूजा है; ये नाममात्र के लिये मुसलमान हैं। इनकी नाक सकरी तथा सीधी, ओठ पतले, ठुड्डी छोटी तथा नुकीली होती है। ये सरलतम वस्त्र के अतिरिक्त अन्य कोई वस्त्र नहीं धारण करते। [न० ला०]

अफीम एक पौधे से प्राप्त होती है जिसका लैटिन नाम पैपावेर सौम्नीफ़ेरम है। यह पौधा तीन से पाँच फुट तक ऊँचा होता है। इसकी ढोंढ़ी (फल) को पेड़ में ही कच्ची अवस्था में छिछला चीर दिया जाता है (नश्तर लगा दिया जाता है) और उससे जो रस निकलता है उसी को सुखाने और साफ करने से अफीम बनती है।

उपज—सबसे अधिक अफीम भारत में उत्पन्न होती है। अन्य देश, जहाँ अफीम उत्पन्न होती है, तुर्की (टर्की), ग्रीस, ईरान और चीन हैं। भारत में साधारणतः सफेद फूलवाला पौधा बोया जाता है। बीज नवंबर में बोया जाता है, फूल लगभग जनवरी के अंत में लगता है और प्रायः एक महीने बाद ढोंढ़ी लगभग मुर्गी के अंडे के बराबर हो जाती है। तब इसको पाछा जाता है, अर्थात् नश्तर लगाया जाता है। यह काम तीसरे पहर से लेकर अँधेरा होने तक किया जाता है और दूसरे दिन सबेरे निकले हुए दूधिया रस को काछ लिया जाता है। इस रस को हवा में तीन चार सप्ताह तक सूखने दिया जाता है और तब कारखाने में शुद्ध करने के लिये भेज दिया जाता है। गाजीपुर (उत्तर प्रदेश) में इसके लिये एक सरकारी बड़ा कारखाना है। कारखाने में बड़े बर्तनों में डालकर अफीम को गूँधा जाता है और तब गोला या ईंट बनाकर बेचा जाता है।

भारत की अफीम अधिकतर विदेश ही जाती है, क्योंकि यहाँ के लोग अफीम खाना या तंबाकू की तरह पीना बहुत बुरा समझते हैं। यूरोप में अफीम से इसके रासायनिक पदार्थों को अलग करके मॉरफ़ीन, कोडीन इत्यादि ओषधियाँ बनाते हैं।

अफीम का पौधा
पत्तियाँ, फूल और ढोंढ़ी।

गुण—अफीम का स्वाद कड़ुआ होता है और खाने से मिचली आती है। इसकी गध बड़ी लाक्षणिक होती है—मादक और भारी। चौथाई से तीन ग्रेन तक अफीम औषध के रूप में एक मात्रा (खुराक) समझी जाती है। इसके खाने से पीड़ा का अनुभव मिट जाता है, गहरी नींद आती है और आँख की पुतलियाँ छोटी हो जाती हैं। नींद खुलने पर भूख मिट जाती है, कुछ मिचली आती है, कोष्ठबद्धता (कब्ज) होती है, सर भारी जान पड़ता या दुखता है। परंतु यदि बहुत कम मात्रा में अफीम खाई जाय तो इसका प्रभाव उत्तेजक और कल्पना-शक्तिवर्धक होता है। बार बार अफीम खाने से अफीम का प्रभाव घटने लगता है। पहले की तरह उत्तेजना आदि उत्पन्न करने के लिये अधिक अफीम की आवश्यकता होती है। अधिक खाने पर दिनों दिन और अधिक की आवश्यकता पड़ती जाती है। फिर ऐसी लत लग जाती है कि अफीम छोड़ना कठिन हो जाता है। ऐसे व्यक्ति भी देखे गए है जो एक छटाँक अफीम रोज खाते थे।

अधिकतर लोग अफीम की गोली खाते हैं या उसे घोलकर पीते हैं, परंतु विदेश में कुछ लोग मॉरफ़ीन (अफीम से निकले रसायन) का इंजेक्शन लेते हैं। कुछ लोग तो अफीम से उत्पन्न आह्लाद के लिये इसका सेवन करते हैं, परंतु अधिकतर लोग पीड़ा से छटकारा पाने के लिये, डाक्टर की राय से या स्वयं अपने से, इसका सेवन आरंभ करते हैं और महीने बीस दिन के पश्चात् इसे छोड़ नहीं पाते। डाक्टर चोपड़ा ने इस विषय पर बहुत अध्ययन किया है। उनके अनुसार इसका सेवन करनेवालों में से लगभग ५० प्रति शत लोग शारीरिक पीड़ा से छुटकारा पाने के लिये अफीम खाते हैं, बीस पचीस प्रति शत मानसिक क्लेश या चिंता से छटकारा पाने के लिये और केवल पंद्रह बीस प्रति शत शौक के लिये।

चंडू—कुछ लोग अफीम को तंबाकू की तरह आँच पर तपाकर पीते हैं। इस काम के लिये बनाई गई अफीम को चंडू कहते हैं। इसके लिये अफीम पानी में उबालते हैं और ऊपर से मैल काछकर फेंक देते हैं। फिर उसे सुखाकर रखते हैं। पीने के लिये लोहे की तीली पर जरा सा निकालकर उसे दीप शिखा में गरम करते हैं (भूनते हैं) और तब विशेष नली में रखकर तुरंत लेटे लेटे पीते हैं। एक फूंक में पीना समाप्त हो जाता है। नशा तुरंत होता है। अधिक आवश्यकता होती है तो फिर सब काम दोहराया जाता है।

उत्तरी अंध महासागर
पेरिस
बारसेलोना
मद्रिद
लिस्बन
रोम
नेपुल्स
बुडापेस्ट
ओडेसा
आस्ट्राखां
सोफिया
अंकारा
एथेंस
अल्जियर्स
बोन
ट्यूनिस
कॉन्स्टेनटाइन
ओरान
फेज
रबात
मराकश
कैसाब्लांका
मदीरा द्वीप
कनैरी द्वीप
तिजनित
ट्रिपोली
बेनगाजी
तोब्रुक
तेलअवीव
बेरूत
दमिश्क
जेरूसलम
बगदाद
सीरिया
इराक
ईरान
कुवैत
काहिरा
अलेक्जेंड्रिया
अलमिनया
अस्युत
अस्वान
मिस्र
लीबिया
अलजीरिया
लिबियन
स
हा
रा
ताउदेनी
पोर्ट एत्ये
फ्रेंच पश्चिमी अफ्रीका
बरदाइ
अरब
मक्का
सेंट लुइ
डाकर
बाथर्स्ट
बिस्साउ
फ्रेंच सूडान
तिम्बक्तू
बामाको
नियामे
कोनाक्री
फ्रीटाउन
मॉनरोविया
आबिदजान
अक्रा
लोम
लागोस
इबादान
सिकोंडी
सान्ता इसाबेल
नाइजीरिया
किदाल
ताहूआ
जिंदर
फोर्ट लामी
एंगोला
खार्तूम
सूडान
अल ओबेद
पोर्ट सूडान
अस्मारा
आदिस अबाबा
इथियोपिया
अदन की खाड़ी
मोगादिशिओ
सोमालीलैंड
फोर्ट सिबुत
याउंडे
लिबरविल
कांगो नदी
स्टेनलीविल
बेल्जियन
रुआन्दा-उरुन्दी
लियोपोल्डविल
कोंगो
नैरोबी
केनिया
मोम्बासा
ज़ंज़िबार
दार-एस्स-सलाम
टैंगानियका
दक्षिण अंध महासागर
असेनशन द्वीप
हिंद
महासागर
लुआंडा
मोलांग
बनगेला
नोवा लिस्बोआ
सा दा बान्दीरा
सेंट हेलेना द्वीप
उत्तरी
सेलिसबरी
दक्षिणी रोडेशिया
नामपुला
तानानारिव
मिआरिलारिवो
मानकारा
सेंट मेरी
काबो देलागादो
दीगो सुआरेज
विन्दोक
फ्रांसिसटाउन
दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका
प्रिटोरिया
जोहान्सबर्ग
लोरेन्जू मकेंश
तुलेआर
कीटमेनशप
ब्लूमफ़ोन्टेन
डरबन
अफ्रीका संघ
केपटाउन
पोर्ट एलिज़बेथ
सदाशा (गुड होप) अंतरीप
अफ्रीका
मील
२०० ० २०० ४०० ६०० ८०० १०००

अलजीरिया
ट्यूनीशिया
१९५६
मोरक्को
१९५६
इफनी प्रदेश
सहारा मरु भूमि
सहारा प्रदेश
लीबिया
१९५१
मिस्र
१९२२
मॉरिटेनिया
सूडानी प्रजातंत्र
नाइजर
चाड
सूडान
१९५६
सेनेगाल
माली संघ
गैम्बिया
पोर्चुगीज गिनी
गिनी
१९५८
सिरालिओन
आइवरी कोस्ट
लाइबीरिया १८४७
घाना स्वतंत्र १९५७ प्रजातंत्र १९६०
उच्च वोल्टा
नाइजीरिया
ब्रिटिश कैमरून
दाहोमी
मध्य अफ्रीका प्रजातंत्र
फ्रेंच सोमालीलैंड
ईथियोपिया
टोगोलैंड प्रजातंत्र
गिनी
कैमरून
गैबॉन
कांगो प्रजातंत्र
यूगांडा
सोमालिया
केनिया
रुआंडा-उरुंडी
कांगो
टैंगेन्यिका
अंगोला
रोडेशिया तथा न्यासा लैंड संघ
मोज़ाबिक
मालागासी प्रजातंत्र
फ्रेंच (सस्वामित्व)
दक्षिणी पश्चिमी अफ्रीका
दक्षिणी अफ्रीका के शासन में
बेचुआना लैंड
स्वाज़ी लैंड
बासुतोलैंड
दक्षिणी अफ्रीका संघ
१९१०
परतंत्र देश
स्वतंत्र देश
१९६० में स्वतंत्र हुए देश
स्वतंत्रता के निकट
आन्तरिक स्वशासन के निकट
फ्रेंच सस्वामित्व में स्वशासित गणतंत्र
मील
२०० ० २०० ४०० ६०० ८०० १०००

नवोदित अफ्रीका

अफीम के ऐलकलायड—अफीम की संरचना बड़ी जटिल है। इसमें से लगभग १६ विभिन्न रासायनिक पदार्थ पृथक् किए गए हैं जिनमें मॉरफ़ीन कोडीन, नार्सीन और थीबेन मुख्य हैं। मनुष्य शरीर पर मॉरफ़ीन का प्रभाव लगभग वही होता है जो अशोधित अफीम का। इसलिये मारफीन को शोधित अफीम समझा जा सकता है। ६ प्रति शत से कम मॉरफ़ीनवाली अफीम को अमरीका में दवा के लिये बेकार समझा जाता है। युवा पुरुष के लिये ओषधि के रूप में मॉरफ़ीन की एक मात्रा (खुराक) १/८ से १/४ ग्रेन तक होती है। कोडीन का प्रभाव बहुत कुछ मॉरफ़ीन की तरह का ही होता है परंतु उतना तीव्र नहीं। थीबेन प्रबल विष है। यह मेरुकेंद्रों को उत्तेजित तथा विषाक्त करता है तथा हाथ पैर में ऐंठन और छटपटाहट उत्पन्न करता है।

सरकारी नियंत्रण—अफीमची के आचरण का स्तर इतना गिर जाता है कि प्रत्येक भला आदमी चाहता है कि संसार से अफीम का सेवन उठ जाय। भारत में तो लोग इसे घृणा की दृष्टि से देखते ही हैं, इंग्लैंड में भी सन् १८४३ में एक प्रस्ताव पार्लियामेंट में उपस्थित किया गया था कि सरकार अफीम के व्यापार का त्याग करे, क्योंकि "यह ईसाई सरकार के संमान और कर्तव्य के पूर्णतया विरुद्ध है"। परंतु यह प्रस्ताव स्वीकृत न न हो सका। सन् १८४० में चीन सरकार ने अफीम के आयात पर रोक लगा दी और इस कारण चीन तथा ग्रेट ब्रिटेन में युद्ध छिड़ गया। १५ वर्ष बाद इसी बात को लेकर फिर इन दोनों राज्यों में लड़ाई लगी और उसमें फ्रांस भी ग्रेट ब्रिटेन की ओर से संमिलित हुआ। चीनवाले हार अवश्य गए, परंतु यह प्रश्न दब न सका। १९०७ में भारत की ब्रिटिश सरकार और चीन की सरकार में समझौता हुआ कि दस वर्ष में अफीम का भेजना भारत बंद कर देगा। इस समझौते के अनुसार कुछ वर्षों तक तो चीन में अफीम जाना कम होता रहा; परंतु अंत तक समझौते का निर्वाह न हो सका। १९०९ में अमरीका के प्रेसिडेंट रूजवेल्ट ने एक आयोग (कमिशन) बैठाया। फिर १९१३, १९१४, १९१९, १९२४, १९२५, १९३० में कई राज्यों के प्रतिनिधियों की सभाएँ हुईं। परंतु यह समस्या कभी हल न हो पाई। अब तो चीन में साम्यवादी गणतंत्र राज्य होने के बाद से इस विषय में बड़ी कड़ाई बरती जा रही है और अफीमचियों की संख्या नगण्य हो गई है। भारत सरकार ने अपने देश में अफीम की खपत कम करने के लिये यह आज्ञा निकाल दी है कि अफीमची लोग डाक्टरी जाँच के बाद पंजीकृत किए जायँगे (उनका नाम रजिस्टर में लिखा जायगा)। उनको न्यूनतम आवश्यक मात्रा में अफीम मिला करेगी और यह मात्रा धीरे धीरे कम कर दी जायगी।

अफीम का उपचार—६ ग्रेन या अधिक अफीम खाने से व्यक्ति मर जा सकता है। अफीम खाने के आरंभिक लक्षण वे ही होते हैं जो अधिक मदिरा पीने के, मस्तिष्क में रक्तस्राव के अथवा कुछ अन्य रोगों के। परंतु इन सभी के लक्षणों में सूक्ष्म भेद होते हैं, जिन्हें डाक्टर पहचान सकता है। अफीम के कारण चेतनाहीन व्यक्ति की त्वचा ठंढी और पसीने से चिपचिपी हो जाती है। आँख की पुतलियाँ (तारे) सुई के छेद की तरह छोटी हो जाती हैं और होंठ नीले पड़ जाते हैं। साँस धीरे धीरे चलती है और नाड़ी भी मंद तथा अनियमित हो जाती है। साँस रुकने से मृत्यु हो जाती है। उपचार के लिये पेट में आधे आधे घंटे पर पानी चढ़ाकर धोया जाता है। दवा देकर उलटी (वमन) कराई जाती है। कहवा पिलाना लाभदायक है। डाक्टर कहवा में पाए जानेवाले रासायनिक पदार्थ को गुदामार्ग से भीतर चढ़ाते हैं। साँस को उत्तेजित करने के लिये ऐट्रोपीन सल्फेट के इंजेक्शन लगाए जाते हैं। रोगी को जाग्रत रखने के लिये सब उपाय करना चाहिए। उसे चलाना चाहिए, अमोनिया सुँघानी चाहिए या बिजली का हल्का झटका (शॉक) लगाना चाहिए। साँस के रुकते ही कृत्रिम श्वसन चालू करना चाहिए। जब तक हृदय धड़कता रहे तब तक निराश न होना चाहिए और कृत्रिम श्वसन जारी रखना चाहिए। [भ० दा० व०]

अफ्रानियस लूसियस

रोमन कामिक कवि। इसका काल ९४ ई० पू० के लगभग माना जाता है। इसने रोमन मध्यमवर्गीय जीवन को अपनी कविता का विषय बनाया। मीनांदर आदि कवियों की कृतियों का इसने अपनी कविताओं में भरपूर उपयोग किया। [भ० श० उ०]

अफ्रीका

(अंग्रेजी में ऐफ़्रिका) एक महाद्वीप का नाम है जो पृथ्वी के पूर्वी गोलार्ध में एशिया के दक्षिण-पश्चिम में है।

स्थिति तथा विस्तार—क्षेत्रफल की दृष्टि से महाद्वीपों में अफ्रीका का द्वितीय स्थान है। तटवर्ती द्वीपसमूह सहित इसका क्षेत्रफल लगभग १,१६,३५,००० वर्ग मील है। इस प्रकार यह महाद्वीप क्षेत्रफल में भारतगणतंत्र के नौ गुने से भी बड़ा है। अक्षांशीय विस्तार की दृष्टि से यह महाद्वीप अद्वितीय है। यह उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों ही गोलार्धों के कटिबंधों में लगभग समान दूरी तक विस्तृत है। ३७° २०' उत्तरी अक्षांश से ३४° ५१' दक्षिणी अक्षांश तक तथा १७° २०' पश्चिमी देशांतर से ५१° १२' पूर्वी देशांतर तक यह फैला हुआ है। इसकी अधिकतम लंबाई उत्तर में रासबेन सक्का से दक्षिण में अगुलहास अंतरीप तक, लगभग ५,००० मील तथा अधिकतम चौड़ाई पश्चिम में वर्ड अंतरीप से ग्वाडीफुई अंतरीप तक, लगभग ४,५०० मील है। विषुवत रेखा इस महाद्वीप के मध्य से जाती है। इसलिये इसका अधिकांश, लगभग ९० लाख वर्ग मील, अयनवृत्तीय कटिबंध में पड़ता है। दक्षिण की अपेक्षा यह उत्तर में अधिक चौड़ा है। इसके क्षेत्रफल का लगभग दो-तिहाई भाग उत्तरी गोलार्ध में तथा एक-तिहाई भाग दक्षिणी गोलार्ध के अंतर्गत आता है।

सीमा—अफ्रीका के पूर्व में हिंद महासागर तथा पश्चिम में अंध (अटलांटिक) महासागर स्थित है। उत्तर में भूमध्यसागर है, जिसकी लंबाई जिब्राल्टर के मुहाने से सीरिया के तट तक लगभग २,३०० मील है। जिब्राल्टर का मुहाना १५ से २४ मील तक चौड़ा है। सईद बंदरगाह से स्वेज़ बंदरगाह तक लगभग १०० मील लंबी स्वेज़ नहर भूमध्यसागर को लालसागर से मिलाती है। इस नहर का उद्घाटन १८६९ ई० में हुआ था। युद्धकालिक तथा आर्थिक दृष्टि से यह नहर बड़े महत्व की है। हाल में मिस्र ने इस नहर का राष्ट्रीयकरण कर लिया है। इसके निर्माण के पश्चात् भारत से यूरोपीय बंदरगाहों की दूरी चार पाँच हजार मील कम हो गई है; जब यह नहीं बना था तब अफ्रीका के दक्षिण से होकर जहाजों को जाना पड़ता था। उत्तर-पूर्व में लालसागर बीच में रहने के कारण अफ्रीका एशिया महाद्वीप से पृथक् हो गया है। स्वेज बंदरगाह से दक्षिण-पूर्व की ओर लगभग १,६०० मील की दूरी पर यह सागर संकीर्ण हो जाता है। यही संकीर्ण भाग 'बाबुल मंडब' का मुहाना है, जिसका अर्थ अरबी भाषा के अनुसार 'आँसू का द्वार' है। इस स्थान पर नाविकों को सशंक एवं सावधान रहना पड़ता है। इसकी चौड़ाई लगभग २० मील है और पेरिम नामक द्वीप द्वारा यहाँ जलमार्ग दो भागों में विभक्त हो जाता है।

समुद्रतट—अफ्रीका का समुद्रतट अधिक कटा छँटा नहीं है। पश्चिमी तट पर गायना की खाड़ी के रूप में एक बहुत बड़ा घुमाव है जिसके अंतर्गत बेनिन की खाड़ी स्थित है। अंगोला राज्य में लोबिटो की खाड़ी है। दक्षिणी तट पर अलगोजा तथा डेलागोआ की खाड़ियाँ हैं। दक्षिण-पूर्व में मोज़ांबिक का मुहाना मडागास्कर द्वीप को अफ्रीका से पृथक् करता है। पूर्वी तट पर एक चौड़ा नतोदर घुमाव है। इस घुमाव के उत्तर-पूर्व में शुमालीलैंड का प्रायद्वीप है जिसे अफ्रीका का सींग भी कहते हैं।

खोज—अफ्रीका का घनिष्ठ संबंध भूमध्यसागरीय देशों के साथ अधिक होना स्वाभाविक है। यह संबंध वंशानुगत, सांस्कृतिक तथा विशुद्ध भौगोलिक रूप में मिलता है। हेरोडोटस के वर्णन से ज्ञात होता है कि मिस्र देश के राजा नेको ने यूनानी दार्शनिकों के इस प्रश्न को हल करने की चेष्टा की कि यह महाद्वीप दक्षिण में सागर द्वारा घिरा है या नहीं। उसने पहले स्वेज स्थल-डमरूमध्य पर नहर खुदवाने का असफल प्रयत्न किया। इसके पश्चात् उसने लालसागर में युद्धपोतों का एक बेड़ा तैयार कराया और चुने हुए फीनीशियन नाविकों को इस महाद्वीप की परिक्रमा कर जिब्राल्टर के मार्ग से वापस लौटने की आज्ञा दी। द्वितीय शताब्दी में सिकंदरिया में लिखित अपनी भूगोल की पुस्तक में क्लॉडिअस टॉलिमी ने इस महाद्वीप के उत्तरी भाग का विस्तृत वर्णन किया है। अरब के प्रमुख भूगोलवेत्ता इद्रीसी (११००-११६५ ई०) ने भी पूरे महाद्वीप का सविस्तार वर्णन किया है, जिसमें नील नदी के उद्गम स्थान तथा समीपस्थ बड़ी झीलों का भी वर्णन मिलता है। १४वीं तथा १५वीं शताब्दियों में पुर्तगाल-निवासियों ने इस महाद्वीप में अनेक अन्वेषण किए और इस महाद्वीप की लगभग ठीक ठीक रूप-रेखा अंकित की। उस मानचित्र में बड़ी झीलें भी दिखलाई गई हैं।

आधुनिक युग में मुंगोपार्क, बर्टन, स्पेक तथा लिविंग्स्टन सदृश अनेक साहसी युवकों ने पर्याप्त खोज की है। केप अंतरीप (केप ऑव गुड होप) के निकट से पार होने का सर्वप्रथम श्रेय १४८७ ई० में बार्थोलोमिउ डिआश को प्राप्त हुआ, जिन्होंने अलगोआ की खाड़ी भी देखी थी। इसके दस वर्ष पश्चात् वास्को द गामा और आगे बढ़े तथा अरबसागर पार कर भारत पहुँचने में सफल हुए। उस समय से १९वीं शताब्दी तक नाविकों द्वारा महाद्वीप के तटवर्ती भागों की परिक्रमा होती रही, किंतु इसका अधिकतर भीतरी भाग गुप्त रहस्य ही बना रहा। इसके अनेक भौगोलिक कारण थे। अतः यह महाद्वीप पिछली शताब्दी तक अंध महाद्वीप कहा जाता था।

प्राकृतिक बनावट—इस महाद्वीप की भूरचना तथा प्राकृतिक संरचना अन्य महाद्वीपों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट एवं सरल है। इसका अधिकांश पठारी है, जिसपर भौमिक गतियों (अर्थ मूवमेंट्स) का प्रभाव बहुत कम पड़ा है। पिछले कई युगों से यह एक अचल भूखंड के रूप मे स्थित रहा है। इसकी महाद्वीपीय छज्जा (शेल्फ) एवं महाद्वीपीय ढाल (स्लोप) के किनारे प्रायः इसके समुद्रतट के समांतर हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इसका निर्माण पृथ्वी की बाहरी परत के टूटने से हुआ है। इसके धरातल की लगभग एक तिहाई पर कैंब्रियन-पूर्व चट्टानें वर्तमान हैं। इस महाद्वीप के पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा दक्षिण के अंतरीपीय भाग को छोड़कर प्रायः सर्वत्र मुड़ने से बने पर्वतों की श्रेणियों का अभाव है। पश्चिमोत्तर भाग में ऐटलस पर्वत यूरोप के आल्प्स पर्वत का ही एक बढ़ा हुआ भाग है। दक्षिण में अनेक छोटी छोटी श्रेणियाँ हैं; उदाहरणार्थ गॉगवडबर्ग, निउवेल्ड बर्ग, स्निउबर्ग, ड्राकेंसबर्ग, स्वार्तबर्ग, लॉन्जबर्ग इत्यादि। अफ्रीका के पश्चिमी तट पर स्थित बेंगेला को यदि लालसागर के तट पर स्थित स्वाकिन से एक कल्पित रेखा द्वारा मिलाया जाय, तो यह रेखा इस महाद्वीप को प्राकृतिक बनावट की दृष्टि से दो असमान भागों में बाँट देगी। उत्तरी भाग की औसत ऊँचाई ३,००० फुट से बहुत कम तथा दक्षिणी भाग की औसत ऊँचाई ३,००० फुट से बहुत अधिक है। उत्तरी भाग में अनेक पठार हैं जो कैंब्रियन-पूर्व या आग्नेय चट्टानों से निर्मित हैं। इनमें अहगर, तसिली, तिबेस्ती तथा दारफर पठार मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त इस भाग में अनेक उच्च प्रदेश भी हैं जिनमें कांगो की घाटी का उत्तरी भाग तथा गायना तट के पृष्ठभाग में स्थित उच्च भूमि उल्लेखनीय है। कैमरून की चोटी (१३,३५० फुट) एक प्रमुख ज्वालामुखी शिखर है। गायना की खाड़ी में फर्नांदो पो, प्रिंसिप, साओथोम आदि अनेक द्वीप ज्वालामुखी द्वारा निर्मित हैं। इस उत्तरी भाग में कई प्राकृतिक द्रोणियाँ (बेसिन) भी हैं जिनमें पहुँचकर नदियों का पानी या तो सूख जाता है या उससे छोटी तथा छिछली झीलें बन जाती हैं। मुख्य खात शॉटेल जेरिद, शाद झील, देबो झील, बहरेल गजल आदि हैं। दक्षिणी भाग में भी गामी तथा कारू नामक दो प्राकृतिक द्रोणियाँ हैं।

पूर्वी अफ्रीका में स्थित एक बहुत लंबी निभंग उपत्यका (रिफ्ट वैली) है जो महान् निभंग उपत्यका (दि ग्रेट रिफ्ट वेली) के नाम से विश्वविख्यात है। यह विश्व की सबसे लंबी निभंग उपत्यका है। इसका उत्तरी भाग एशिया में स्थित है तथा बीच के भाग में अकाबा की खाड़ी एवं लालसागर हैं। अफ्रीका में पूर्वी अबिसीनिया की खड़ी ढाल तथा सुमालीलैंड के बीच स्थित निम्न भूमि, रुडॉल्फ झील, केनिया देश की नैवास्का झील तथा अन्य छोटी झीलों की श्रृंखला, न्यासा झील और शायेर नदी की घाटी इसी महान् निभंग उपत्यका के छिन्नावशेष हैं। इस निभंग उपत्यका की एक शाखा न्यासा झील के उत्तरी छोर के पास से निकलती है, जिसे पश्चिमी निभंग उपत्यका कहते हैं। इसमें टैंगेन्यिका, किवू, एडवर्ड, अलबर्ट आदि झीलें स्थित हैं। पूर्वी अफ्रीका में पठार की ऊँचाई कई जगह ज्वालामुखी चट्टानों के जमा होने से बढ़ गई है। प्रमुख चोटियाँ किलिमैंजारो (१९,५९० फुट), केनिया (१७,०४० फुट), एल्गन (१४,१४० फुट) तथा रास दाशान (१५,००० फुट) हैं। इस भाग में रुबेंजोरी नामक एक १६,७९० फुट ऊँची चोटी है जो ज्वालामुखी द्वारा निर्मित नहीं है। पठार की बाहरी ढाल खड़ी है और वह एक दूसरे उपकूलीय मैदान से घिरी है।

झीलें—अफ्रीका की सबसे बड़ी झील विक्टोरिया न्यांजा है जो नील नदी के उद्गम स्थान के समीप है। इस झील का क्षेत्रफल २६,००० वर्ग मील, अधिकतम लंबाई २५० मील, चौड़ाई २०० मील तथा गहराई २७० फुट है। इसके निकट ही अल्बर्ट न्यांजा नामक झील है जो १०० मील लंबी, २२ मील चौड़ी और ५५ फुट गहरी है। टैंगैन्यिका ४५० मील लंबी और ४० मील चौड़ी झील है इसकी अधिकतम गहराई ४,७०८ फुट है। दूसरी लंबी एवं सँकरी झील न्यासा है। (३५० मील लंबी, ४५ मील चौड़ी)। किवू झील ५५ मील लंबी तथा ३० मील चौड़ी है। यह झील पुरातन ज्वालामुखी प्रदेश में स्थित है। अबिसीनिया पठार के उत्तरी भाग में ५,६९० फुट की ऊँचाई पर स्थित टाना झील आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। रुडोल्फ झील पूर्वोत्तर अफ्रीका में स्थित है। इसकी लंबाई १८५ मील तथा चौड़ाई ३७ मील है। रुडोल्फ झील के पूर्व में स्टेफनी झील ४० मील लंबी और १५ मील चौड़ी है। पश्चिमोत्तर मध्य अफ्रीका में चाउ तथा रोडेशिया में बैंगविऊलू नामक छिछली झीलें हैं। इनके क्षेत्रफल में ऋतुओं के अनुसार ह्रास तथा वृद्धि हुआ करती है। बैंगविऊलू झील की अधिकतम माप ६०मील×४० मील×१५ फुट है। चाउ झील में शारी नदी गिरती है। वर्षाऋतु में इस झील की गहराई २४ फुट हो जाती है।

नदियाँ—अफ्रीका में पाँच मुख्य नदियाँ हैं: नील (४,००० मील), नाइजर (२,६०० मील), कांगो (३,००० मील), जाबेजी (१,६०० मील) तथा ऑरेंज (१,३०० मील) है। इनमे नील नदी प्रमुख है। सभ्यता के ऊषाकाल (लगभग ४,००० ई० पू०) से ही इस नदी का ऐतिहासिक महत्व प्रकट होता है। ईसा से लगभग चार शताब्दी पूर्व यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने नील नदी की वार्षिक बाढ का संबंध अबिसीनिया की ग्रीष्मकालीन वर्षा एवं हिम के द्रवीभूत होने से बताया था। नील नदी में छः प्राकृतिक जलप्रपात हैं। सबसे निचला प्रपात असवान के समीप है। इस नदी पर कई बाँध बनाए गए हैं जिनमें असवान बाँध सर्वोच्च और जगत्प्रसिद्ध है। सोबत, नीली नील तथा अतवरा नदियाँ नील नदी की मुख्य सहायक हैं। नीली नील नदी पर बाँधा गया सेनार बाँध उल्लेखनीय है। कांगो नदी नील नदी से लगभग १,००० मील छोटी है, किंतु इसमें अपेक्षाकृत जलराशि का वहन अत्यधिक होता है। अपनी सहायक नदियों के साथ कांगो नदी अफ्रीका के मध्य में यातायात का उत्तम साधन है। पश्चिमी अफ्रीका में नाइजर नदी तथा उसकी सहायक वेनू के कारण प्रशस्त जलमार्ग उपलब्ध है। पश्चिमी भाग की छोटी नदियों में सेनेगाल तथा गैंबिया उल्लेखनीय हैं। जांबेजी और आरेंज दक्षिणी अफ्रीका की मुख्य नदियाँ हैं। इस महाद्वीप की अधिकांश नदियाँ विशालकाय होते हुए भी यातायात के लिये उपयुक्त नहीं हैं। कांगो नदी का एल्लाला प्रपात जांबेजी का विक्टोरिया प्रपात, नाइजर का बुसा प्रपात तथा नील नदी के अनेक प्रपात आवागमन में बाधक होते हैं।

जलवायु—अफ्रीका की जलवायु पर समीपस्थ महासागरों तथा महाद्वीपों का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। एशिया महाद्वीप का प्रभाव इसपर अपेक्षाकृत अधिक पड़ता है। समुद्री जलधाराएँ भी उपकूलीय प्रदेशों में अपना प्रभाव डालती हैं। पश्चिमी तट पर उत्तर में कैनरी तथा दक्षिण में बेंगुएला नामक ठंढी जलधाराएँ बहती हैं। इन दोनों धाराओं के मध्य गायना तट के निकट गायना नामक उष्ण धारा बहती है। दक्षिणपूर्व में मोजांबिक धारा उल्लेखनीय है। इस महाद्वीप को जलवायु के विचार से अनेक भागों में विभक्त किया जा सकता है। अफ्रीका की निजी विशेषता यह है कि उत्तरी अफ्रीका की जलवायु के अनुरूप ही दक्षिणी अफ्रीका में भी जलवायु पाई जाती है। मुख्यतः पाँच प्रकार की जलवायु यहाँ पाई जाती हैं—विषुवतीय जलवायु, सूडान सदृश उष्ण जलवायु, उष्ण मरुस्थलीय जलवायु, भूमध्य सागरीय जलवायु और चीन सदृश जलवायु। अफ्रीका में विषुवतीय जलवायु के भी तीन प्रभेद पाए जाते हैं—मध्य अफ्रीका सदृश, गायना सदृश तथा पूर्व अफ्रीका सदृश। मध्य अफ्रीका सदृश जलवायु कांगो क्षेत्र में ५° दक्षिणी अक्षांश के उत्तर में पाई जाती है। ताप वर्ष भर लगभग ८०° फा० रहता है। वर्षा साल भर होती रहती है, पर अप्रैल तथा अक्टूबर में वर्षा अधिक होती है। इस क्षेत्र की वर्षा का वार्षिक योग ५०″ से ६०″ है। आपेक्षिक आर्द्रता बारहों महीने ऊँची रहती है। कांगो नदी के मुहाने के समीप शीत जलधारा तथा स्थलीय वायु के कारण वर्षा लगभग ३०″ ही होती है। गायना सदृश जलवायु गायना के उपकूलीय भाग तथा उसके पृष्ठभाग में पाई जाती है। यह जलवायु प्रदेश सियेरा

अफ्रीका के जंतु

ऊपर ज़ेबरा नीचे ओकापी (दि अमेरिकन म्यूज़ियम आव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।
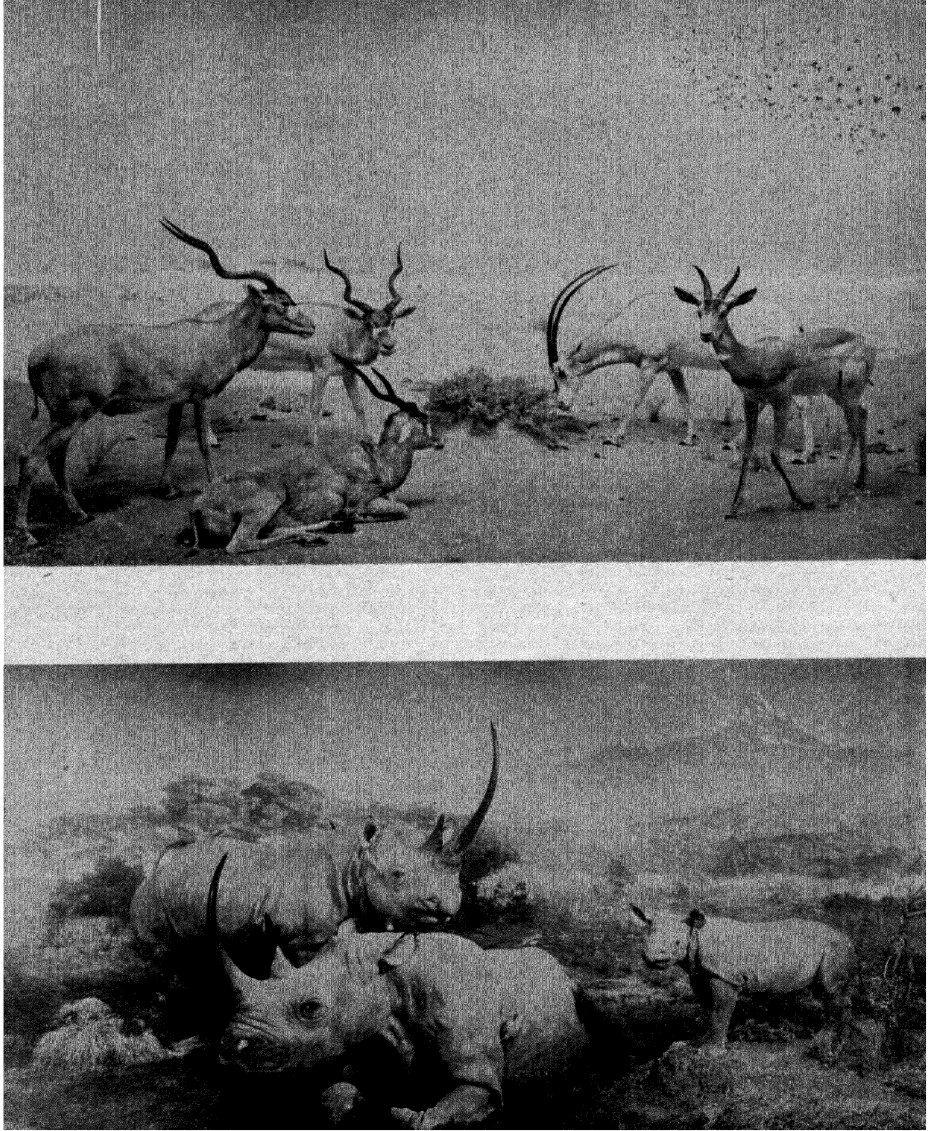
अफ्रीका के जंतु

उपर हिरन, नीचे गैंडा (दि अमेरिकन म्यूजियम आव नेचरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।
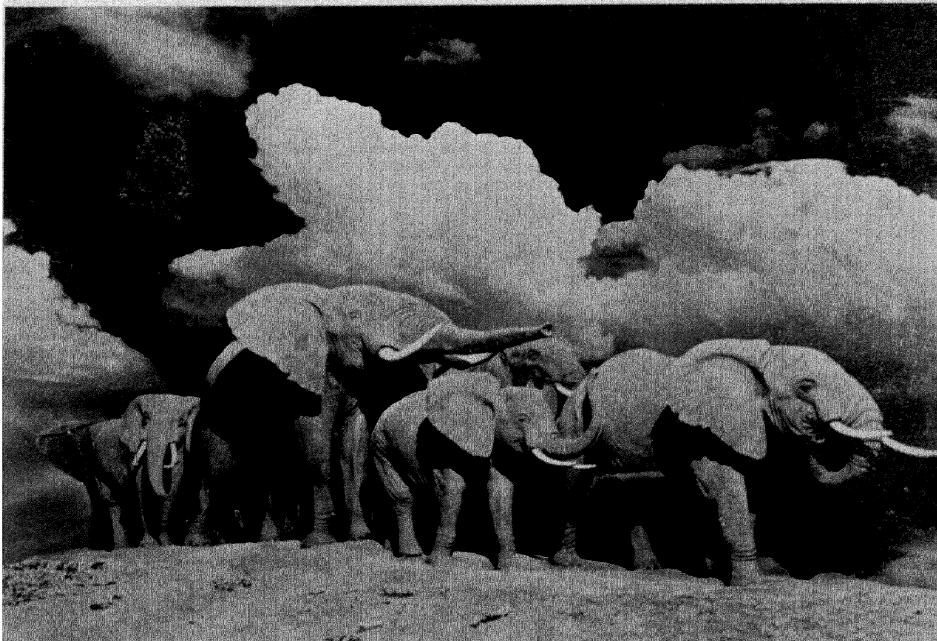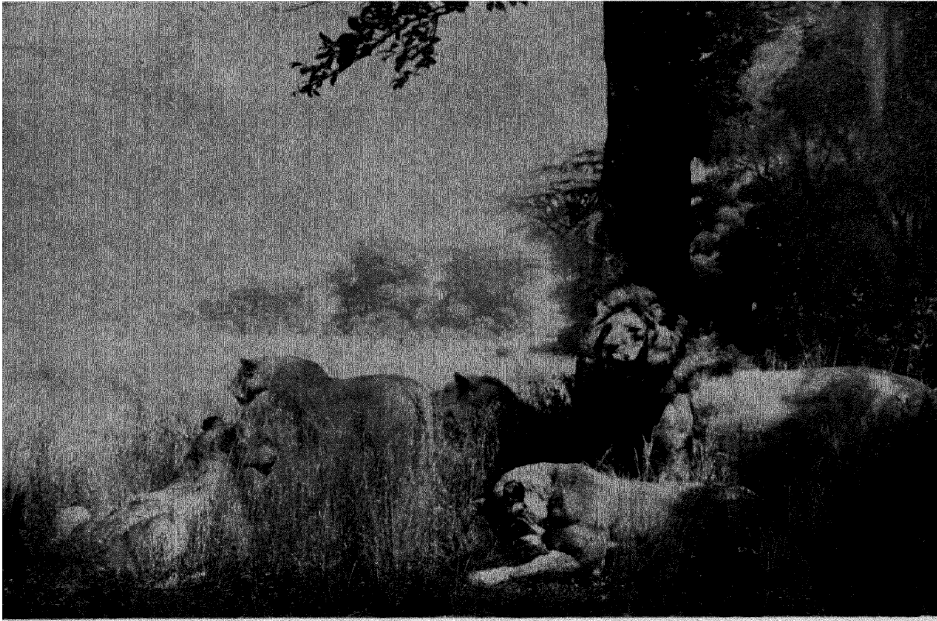
अफ्रीका के जतु

ऊपर मिह नीच हाथी (दि अमरिकन म्यूज़ियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य स)।
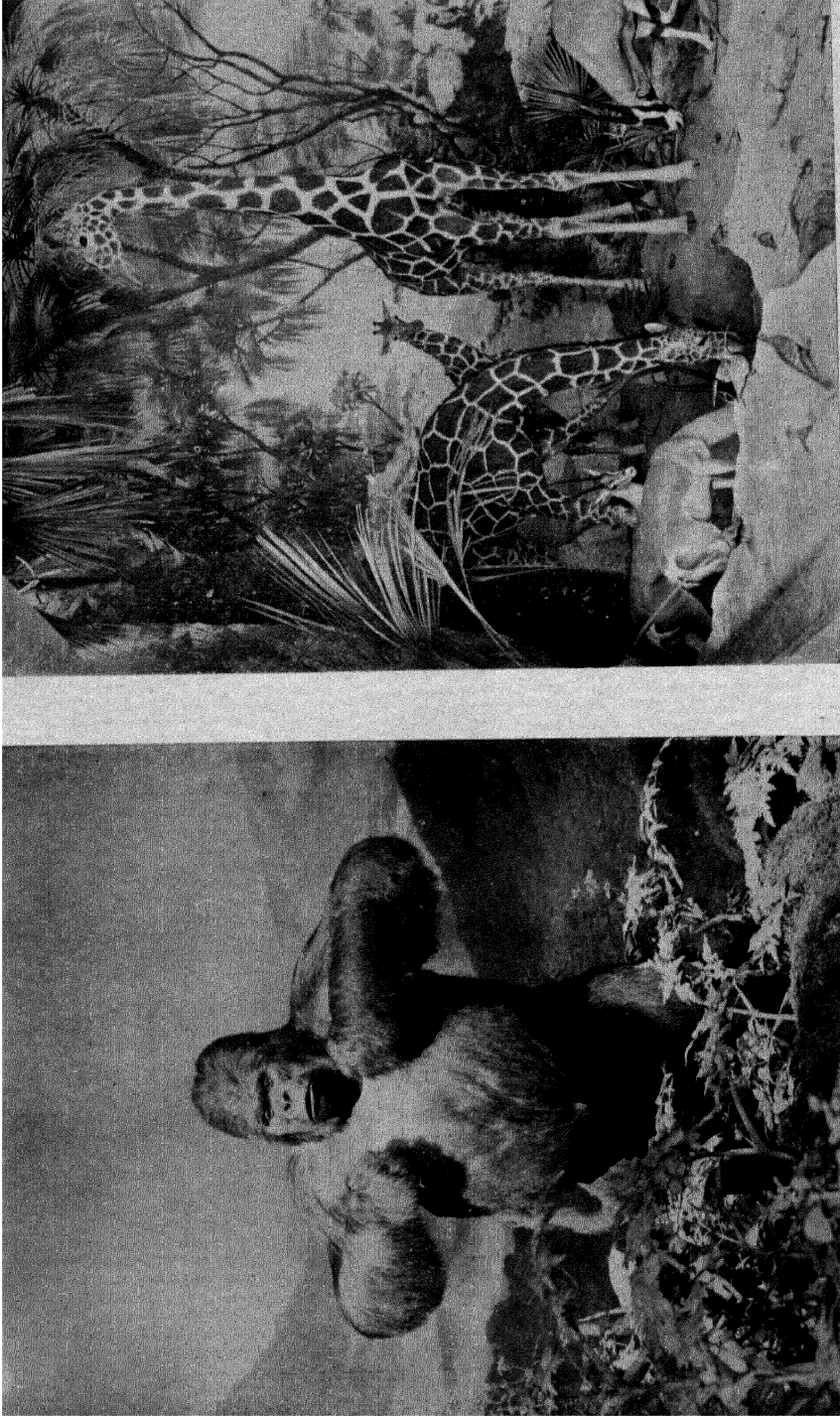
अफ्रीका के जंतु

बाईं ओर गोरिल्ला और दाहिनी ओर जिराफ (दि अमेरिकन म्यूज़ियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।

लियोन से लेकर कैमरून तक ८° उत्तरी अक्षांश के दक्षिण में है। इस जलवायु में कुछ मानसूनी लक्षण पाए जाते हैं। वर्ष भर ताप ७५° फा० से ऊँचा रहता है। आपेक्षिक आर्द्रता भी ऊँची रहती है। वर्षा अधिक होती है। ग्रीष्मकाल में वायु कूलोन्मुख चलती है और शीतकाल में इसकी गति विपरीत हो जाती है। फलतः ग्रीष्मकाल में ही वर्षा अधिक होती है। उदाहरणार्थ, फ्रीटाउन में पूरे वर्ष की वर्षा १७०'' है, किंतु दिसंबर से लेकर फरवरी तक केवल ३'' ही वर्षा होती है। सबसे अधिक वर्षा (४००'') कैमरून पर्वत के पश्चिमी ढाल पर होती है। शीतकाल में बहनेवाली ठंढी एवं अपेक्षाकृत शुष्क वायु स्वास्थ्यवर्धक होती है। पूर्व अफ्रीका सदृश जलवायु पूर्वी पठारी भाग में ३° उत्तरी अक्षांश से ५° दक्षिणी अक्षांश तक मिलती है। पठार की ऊँचाई अधिक (लगभग ४,००० फुट) होने के कारण तापमान कम रहता है। वार्षिक तापांतर भी कम रहता है। दैनिक तापांतर अधिक होता है। वर्षा का वार्षिक योग लगभग ४५'' है। प्रतिवाती ढालों पर वर्षा ६०'' से ७०'' तक होती है, किंतु अनुवाती ढालों पर अपेक्षाकृत कम (लगभग २०'') होती है। निभंग उपत्यका में वर्षा ३०'' से अधिक नहीं होती।

सूडान सदृश जलवायु विषुवतीय भाग के उत्तर में लगभग ६०० मील चौड़े कटिबंध में पाई जाती है। इसका अधिकतम ताप लगभग ६०° फा० है। मासिक ताप का मध्यम मान ७०° फा० से कम नहीं रहता। वार्षिक तापांतर १५° फा० से २०° फा० तथा दैनिक तापांतर अत्यधिक होता है। शीतकाल में उ० पू० वाणिज्य वायु तथा ग्रीष्मकाल में द० प० मानसूनी वायु बहती है। वर्षा मानसूनी वायु से होती है। इस पेटी के दक्षिणी भाग में वर्षा ४०'' से ५०'' तथा उत्तरी भाग में ८'' से १०'' होती है। दक्षिण से उत्तर की ओर वर्षा की मात्रा, अवधि तथा निर्भरता का क्रमिक ह्रास होता जाता है। शीतकाल में हरमटन नामक शुष्क वायु बहती है, जिसके परिणामस्वरूप आपेक्षिक आर्द्रता लगभग २५ प्रति शत हो जाती है। वाष्पीकरण की तीव्रता के कारण पर्याप्त मात्रा में होनेवाली वर्षा का भी मूल्य मनुष्य के लिये घट जाता है। अबिसीनिया में ऊँचाई अधिक होने से ताप कम रहता है। वर्षा, गायना की खाड़ी तथा हिंद महासागर, दोनों से आनेवाली आर्द्र हवा से होती है। दक्षिणी तथा दक्षिण-पश्चिमी भागों में वर्षा ६०'' से अधिक होती है, किंतु उत्तरी तथा पूर्वी भागों की दशा मरुभूमि तुल्य है। दक्षिणी अफ्रीका में सूडान सदृश जलवायु कांगो-क्षेत्र से दक्षिण तथा मकर रेखा से उत्तर पाई जाती है। प्रायद्वीपीय भाग के कारण यहाँ महासागरीय प्रभाव अधिक है। ऊँचाई का भी प्रभाव पड़ता है। ग्रीष्मकाल में औसत तापमान ८२° फा० तथा शीतकाल में ६०° फा० रहता है। शीतकाल में आकाश स्वच्छ रहता है तथा आर्द्रता कम होती है। वर्षा ग्रीष्मकाल में होती है। वर्षा की मात्रा पूर्व से पश्चिम की ओर घटती जाती है। पूर्वी उपकूलीय भाग में मोज़ांबिक जलधारा का प्रभाव उपेक्षणीय नहीं है।

उष्ण मरुस्थलीय जलवायु का क्षेत्र १८° उत्तरी अक्षांश के उत्तर में अंध महासागर से लालसागर तक विस्तृत है। इसके भी दो विभाग हैं—सहारा सदृश तथा उपकूलीय मरुभूमि सदृश। सहारा सदृश जलवायु समुद्र से दूरस्थ भागों में पाई जाती है। ग्रीष्मकाल के अपराह्ण में ताप १२०° फा० हो जाता है। शीतकाल में औसत ताप ६०° फा० रहता है। आकाश निर्भेद्य रहने के कारण दैनिक तापांतर वर्ष भर लगभग ५०° फा० रहता है। आपेक्षिक आर्द्रता ३०% से ५०% तक रहती है। वर्षा अत्यल्प होती है। उपकूलीय मरुभूमि सदृश जलवायु उत्तरी अफ्रीका के पश्चिमी उपकूलीय भाग में, दक्षिण अफ्रीका के कालाहारी प्रदेश में तथा शुमालीलैंड के उपकूलीय भाग में पाई जाती है। इन प्रदेशों में समुद्री प्रभाव के कारण ताप घट जाता है। दैनिक तापांतर कम तथा आपेक्षिक आर्द्रता अधिक रहती है। वर्षा लगभग ५'' होती है।

भूमध्य-सागरीय जलवायु पश्चिमोत्तर अफ्रीका तथा प्रायद्वीपीय अफ्रीका के दक्षिणी छोर पर लगभग ३५° अक्षांश के बाहर पाई जाती है। इस जलवायु की मुख्य विशेषता यह है कि वर्षा शीतकाल में होती है और ग्रीष्मकाल शुष्क होता है। ताप ग्रीष्म में लगभग ७५° फा० तथा शीतकाल में ४५° फा० से ऊपर रहता है। वर्षा की मात्रा स्थल की प्राकृतिक बनावट पर निर्भर रहती है। चीन सदृश जलवायु अफ्रीका के दक्षिण-पूर्व में पाई जाती है। समुद्री प्रभाव के कारण जलवायु समोष्ण बनी रहती है। वार्षिक तापांतर अधिक नहीं हो पाता। पर्वतीय भागों में ताप अपेक्षाकृत कम रहता है। वर्षा ग्रीष्मकाल में होती है और उसकी मात्रा पूर्व से पश्चिम की ओर क्रमशः घटती जाती है। आपेक्षिक आर्द्रता अधिक रहती है।

मिट्टी—अफ्रीका की मिट्टी का अध्ययन अभी तक पर्याप्त रूप से नहीं हो पाया है। अमरीका के श्री सी० एफ़० मार्बट ने पहले पहल अफ्रीका की मिट्टियों के प्रकार तथा उनका वितरण बताने की चेष्टा की। १९२३ ई० में उनके निश्चयों का सारांश प्रकाशित हुआ। अफ्रीका के अयनवृत्तीय भाग में प्रायः सर्वत्र लाल दोमट पाई जाती है। उष्ण मरुस्थलीय भाग की मिट्टी में जीवांश (ह्यूमस) कम पाया जाता है और मिट्टी का रंग फीका होता है। कहीं कहीं क्षारमिश्रित ऊसर भी मिलता है। ट्रांसवाल की निम्न-भूमि तथा दक्षिणी रोडेशिया में चर्नोज़ेम नामक काली मटियार मिट्टी पाई जाती है। इसमें जीवांश की मात्रा अधिक होती है। इस मिट्टी की एक मेखला उत्तरी अफ्रीका के सूडान राज्य के मध्य में भी मिलती है। ऑरेंज फ्री स्टेट तथा ट्रांसवाल के निकटवर्ती उच्च प्रदेशों में गाढ़े भूरे रंग की उपजाऊ मिट्टी पाई जाती है। उत्तर में सूडान के अधिकांश भाग में यही मिट्टी मिलती है। शीतकालीन वर्षावाले क्षेत्रों (केप प्रांत के पश्चिमी भाग तथा ऐटलस पर्वतीय प्रदेश) में भूरे रंग की दोमट अधिक है। नेटाल तथा केप प्रांत के पूर्वी ढालों पर लाल दोमट पाई जाती है। नील नदी की घाटी की मिट्टी अत्यधिक उपजाऊ है।

प्राकृतिक वनस्पति—प्राकृतिक वनस्पतियों की संख्या में अफ्रीका संसार में अद्वितीय है। विषुवतीय प्रदेश, अधिक ताप तथा वर्षा के कारण, सदाहरित घने जंगलों से आच्छादित है। इनका विस्तार अव्यवस्थित रूप में गैंबिया के मुहाने से लेकर कांगो क्षेत्र तक मिलता है। गायना तट के मध्य भाग तथा कांगो की घाटी के निचले भाग में इन वनों का अभाव उल्लेखनीय है। पूर्वी अफ्रीका के अयनवृत्तीय भाग तथा मैडागैस्कर द्वीप के पूर्वी, उपकूलीय भाग में भी ऐसे वन पाए जाते हैं। इन वनों के वृक्ष अधिक ऊँचे और घने होते हैं। इनके नीचे छोटे छोटे पौधे भूमि को पूर्णतः ढँक लेते हैं। महोगनी, नारियल तथा रबर मुख्य वृक्ष हैं।

विषुवतीय वनस्थली के उत्तर तथा दक्षिण में घास का सावैना नामक विस्तृत क्षेत्र है। यहाँ अधिक वर्षावाले भाग में लंबी घास के साथ साथ, वृक्ष भी उग आते हैं, किंतु वर्षा की कमी के साथ वृक्षों की संख्या भी घटने लगती है। मरुस्थल के निकट बबूल तथा अन्य काँटेदार झाड़ियाँ अधिक मिलती हैं और घास भी लंबी नहीं होती। सावैना मंडल में मुख्य वृक्ष बाओबब है। दक्षिण-पूर्व अफ्रीका में घास का वेल्ड नामक समशीतोष्ण मैदान पाया जाता है। यहाँ घास सावैना के घास की अपेक्षा छोटी होती है। अबिसीनिया, मैडागैस्कर तथा पूर्वी अफ्रीका के ऊँचे पठारों पर भी घास के मैदान पाए जाते हैं। भूमध्य-सागरीय जलवायुवाले प्रदेशों में जैतून (ऑलिव) और रसीले फलों के वृक्ष तथा कुछ झाड़ियाँ मिलती हैं। मरुस्थली भाग वनस्पति से प्रायः शून्य है। मरुद्यानों में कुछ काँटेदार झाड़ियाँ और खजूर के वृक्ष दिखाई पड़ते हैं।

वनजंतु—विषुवतीय वन कीड़े मकोड़ों तथा पक्षियों से भरा है। बृहत्काय जंतु नदियों, दलदलों तथा घने वनों के अंचल में अधिक हैं। इनमें हाथी, दरियाई घोड़े, गैंडे, मगर, घड़ियाल इत्यादि मुख्य हैं। पेड़ की डालियों पर वास करनेवाले बैबून, गोरिल्ला, चिंपैंजी आदि नाना जाति के बंदर यहाँ पाए जाते हैं। सावैना मंडल वन्य पशुओं का भांडार है। घास के इस खुले मैदान में जिराफ, ज़ेबरा, बारहसिंगा आदि तीव्रगामी पशु स्वच्छंद बिहार करते हैं। इन अहिंसक पशुओं पर जीनेवाले सिंह, चीते, तेंदुए, लकड़बग्घे, बनैले सूअर आदि शिकारी जंतु भी पाए जाते हैं। शुतुर्मुर्ग नाम का एक विचित्र पक्षी भी मिलता है। जंगली जीवों से उपलब्ध होनेवाली वस्तुओं में शुतुर्मुर्ग का पर तथा हाथीदाँत मुख्य हैं। हाथीदाँत के लाभदायक व्यापार के लालच से ही अरब के व्यापारी इधर अधिक आकर्षित होकर प्रविष्ट हुए थे। जंगलों में अजगर भी मिलते हैं। अफ्रीका का अजगर विषैला होता है। इन जंतुओं के अतिरिक्त मलेरिया तथा पीला ज्वर सदृश भयानक रोग फैलानेवाले मच्छड़, ट्सेट्सी मक्खी और अनेक प्रकार के जहरीले कीड़ों तथा चींटियों के लिये अफ्रीका कुख्यात है।

खनिज संपत्ति—अफ्रीका के कुछ भाग खनिज संपत्ति से संपन्न हैं। यूरोप निवासियों तथा अफ्रीका के आदिवासियों के बीच संबंध स्थापित करने में बेलजियन कांगो स्थित कटंगा की ताँबेवाली खान तथा दक्षिणी अफ्रीका की सोने और हीरे की खानों का प्रमुख हाथ रहा है। सहारा मरुभूमि में ऊँटों का लंबा कारवाँ वहाँ पाए जानेवाले नमक के व्यापार के लिये ही जाता था। अफ्रीका में कोयले, पेट्रोलियम, सीसे तथा जस्ते की कमी है, किंतु हीरा, सोना, मैंगनीज, ऐल्युमीनियम, प्लैटिनम तथा राँगा प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं। संसार का प्रमुख ताँबा उत्पादक क्षेत्र अफ्रीका में ही है। यह बेलजियन कांगो से रोडेशिया तक, २०० मील लंबी मेखला के रूप में, फैला हुआ है। लोहा उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों भागों में पाया जाता है। अलजीरिया, मोरक्को तथा ट्यूनीशिया की खानें उत्तरी भाग में लौह के उत्पादन के लिये अधिक प्रसिद्ध हैं। मैडागैस्कर द्वीप में कोयले के अविकसित क्षेत्र हैं। यहाँ अभ्रक, सोना तथा रत्न भी निकलते हैं। संयुक्त राज्य (अमरीका) द्वारा उत्पादित लोहे के १८वें भाग के बराबर लोहा अफ्रीका में निकाला जाता है। संसार का २० प्रतिशत मैंगनीज तथा १६ प्रतिशत ताँबा इस महाद्वीप में उत्पन्न होता है। मैंगनीज की मुख्य खान घाना देश के सिकंडी बंदरगाह से ३४ मील दूर स्थित है। पूर्वी भाग के नेटाल राज्य में कोयले की खानें हैं। अफ्रीका संसार में कोबाल्ट का सबसे बड़ा उत्पादक है।

सिंचाई—विषुवतीय प्रदेश तथा उसके समीपस्थ सावैना मंडल के पर्याप्त वृष्टिवाले भाग को छोड़कर अफ्रीका के अधिकांश भाग में सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है। जहाँ सिंचाई की व्यवस्था नहीं है, वहाँ कृषि का विकास पूर्ण रूप से नहीं हो पाया है। अल्प वृष्टिवाले प्रदेशों में पशुपालन भी जल की सुलभता पर ही आश्रित है। नील नदी की घाटी में सिंचाई का समुचित प्रबंध किया गया है। असवान तथा सेनार सदृश विशाल बाँध इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। ऐंग्लो-ईजिप्शियन सूडान के प्रायद्वीप में तथा मिस्र देश के निचले भाग में सिंचाई के बिना रुई की खेती कदापि संभव नहीं थी। दक्षिणी अफ्रीका में भी सिंचाई की आवश्यकता अधिक थी और इस बात पर अधिक ध्यान दिया गया है। इस भाग में स्थित वालबैंक जलाशय, जिससे लगभग एक लाख एकड़ जमीन सींची जाती है, दक्षिणी गोलार्ध का सबसे बड़ा सिंचाई का साधन माना जाता है। पश्चिमोत्तर अफ्रीका में फ्रांसीसी सरकार ने सिंचाई की व्यवस्था पर अधिक ध्यान दिया है। अलजीरिया तथा ट्यूनीशिया के दक्षिणी भागों में पातालतोड़ कूपों का निर्माण हुआ है। अलजीरिया की शेलिफ नदी की घाटी में दो सिंचाई योजनाएँ बनी हैं। नाइजेरिया के उत्तरी भाग में कुओं से सिंचाई होती है। नाइजर की घाटी के मध्य भाग में सिंचाई का विकास संभव है। मोरक्को देश में इस दिशा में कुछ विकास हुआ है। पूर्वोत्तर अफ्रीका के इरीट्रिया देश के अंतर्गत भी नदियों का पानी सिंचाई के काम में लाया जाता है।

कृषि—अफ्रीका के अधिकांश में कृषि प्राचीन ढंग से की जाती है। वहाँ के आदिवासी अपने आवश्यकतानुसार अन्न उपजाते हैं। मक्का, ज्वार तथा बाजरा उनके मुख्य खाद्यान्न हैं। उनके खेतों में स्त्रियाँ पुरुषों की भाँति कठोर परिश्रम करती हैं। ये लोग कृषि के आधुनिक ढंग से प्रायः अनभिज्ञ हैं। वे खेतों में बाजारू खाद का प्रयोग नहीं करते। जहाँ विदेशी भूमिपतियों की देखरेख में खेती की जाती है, वहाँ अफ्रीका के आदिवासी मजदूरों के रूप में परिश्रम करते हैं। ये भूमिपति लाभप्रद शस्यों को उपजाने पर विशेष और मोटे अन्न पर अपेक्षाकृत कम ध्यान देते हैं।

अफ्रीका में पैदा होनेवाले कुछ पौधे तो वहाँ अनादि काल से पाए जाते हैं, उदाहरणार्थ नील, रेंड़ी तथा कहवा; किंतु कुछ पौधे विदेशियों द्वारा बाहर से लाकर भी लगाए गए हैं। केला, कटहल, नारियल, खजूर, अंजीर, सन, जैतून, ज्वार, बाजरा, गन्ना तथा धान संभवतः यहाँ एशिया महाद्वीप से लाए गए और मक्का, कसावा, मूँगफली, शकरकंद, अरुई, सेम, पपीता तथा अमरूद व्यापारियों द्वारा अमरीका से लाकर पश्चिमी अफ्रीका में लगाए गए। तंबाकू भी अमरीका से ही लाया गया।

विषुवतीय प्रदेश में जंगल को स्वच्छ कर कहीं कहीं धान, गन्ना, अरुई, शकरकंद, मूँगफली, केला, कोको तथा कसावा नामक कंद की खेती की जाती है। सावना मंडल की मुख्य उपजें मक्का, ज्वार तथा बाजरा हैं। शीतकाल में गेहूँ तथा जौ की खेती होती है। इसके अतिरिक्त कहीं कहीं मूँगफली और रुई भी उपजाई जाती है। वेल्डवाले भाग में मक्का, तंबाकू, गेहूँ, जौ तथा जई की खेती होती है। सिंचाई की सहायता से रसदार फलों के वृक्ष भी लगाए जाते हैं। मरुस्थलीय भागों में बिना सिंचाई के कुछ भी पैदा नहीं होता। मरूद्यानों की मुख्य उपज खजूर तथा गेहूँ है। नील नदी की घाटी रुई की खेती के लिये विश्वविख्यात है। भूमध्य सागरीय प्रदेशों में गेहूँ की खेती होती है और अंगूर, सतालू, संतरा सदृश रसदार फल तथा जैतून के वृक्ष लगाए जाते हैं।

पशुपालन—मिस्र देशवासियों को संभवतः ३,५०० ईसवी पूर्व से ही ऊँटों की जानकारी है, किंतु लगभग ३२५ ईसवी पूर्व तक वे ऊँटों का व्यवहार नहीं करते थे। परंतु घोड़ों का व्यवहार वे लगभग ढाई हजार ईसवी पूर्व से जानते हैं। जंगल तथा मरुस्थल के मध्यस्थ खुले भागों में घोड़ों का व्यवहार लड़ाई के काम में किया जाता था। गोपालन दूध, मांस और चमड़े के उत्पादन के लिये तथा कहीं कहीं धार्मिक विचार से अधिक महत्वपूर्ण है। उत्तरी तथा पश्चिमोत्तर अफ्रीका में खच्चरों का व्यवहार अधिक होता है। मुसलमानों को छोड़कर अन्य सभी धर्मावलंबी सूअर पालते हैं। बकरियाँ प्रायः सभी गाँवों में पाई जाती हैं। भेड़ें विशेषकर दक्षिणी अफ्रीका में पाली जाती हैं। बेल्जियन कांगो में अपि के पास जंगलों में काम करने के लिये हाथी भी पाले गए हैं।

सावैना मंडल, वेल्ड क्षेत्र तथा उच्च पठारी घास के मैदान पशुपालन के लिये उपयुक्त हैं। कहीं कहीं जल की समस्या उत्पन्न होती है, किंतु कुओं तथा कृत्रिम जलाशयों का निर्माण करके यह समस्या अधिकांश भाग में हल की जा चुकी है। मरुस्थलों के अंचलीय भागों में अभी यह समस्या वर्तमान है और व्यावसायिक पशुपालन में बाधक सिद्ध होती है। मरुस्थलीय भागों में ऊँट, उत्तर के सावैना मंडल में गाय और घोड़े तथा पूर्वी, दक्षिणी और पश्चिमोत्तर अफ्रीका में भेड़ तथा बकरियाँ मुख्य पालित पशु हैं।

उद्योग धंधे—उद्योग धंधों की दृष्टि से अफ्रीका पिछड़ा हुआ महाद्वीप है। आधुनिक युग के उद्योगों का विकास अभी यहाँ नहीं हो पाया है। इसके मुख्य कारण हैं आवागमन के साधनों की असुविधा, कुशल कारीगरों की कमी तथा कोयला जैसे ईंधन का असमान वितरण। इस महाद्वीप में जलविद्युत् की संभावना बहुत अधिक है (संसार की लगभग ४० प्रतिशत), किंतु इसका विकास पर्याप्त रूप से नहीं हो पाया है। अब धीरे धीरे अफ्रीका के विभिन्न भागों में कल कारखानें खुल रहे हैं और इस दिशा में विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

मिस्र देश में सूती-वस्त्र-उद्योग का विकास हुआ है। यहाँ सूत कातने तथा सूती कपड़े बुनने के अनेक कारखाने हैं। इसके अतिरिक्त आटा, तेल, चीनी, सिगरेट, सीमेंट तथा चमड़े के भी कई कारखाने हैं। खजूर का फल डब्बों में बंद करके बाहर भेजना यहाँ का एक मुख्य धंधा है। दक्षिणी अफ्रीका में ईंधन सस्ता है। यहाँ औद्योगिक विकास अन्य भागों की अपेक्षा अधिक हुआ है। प्रिटोरिया में लोहा तथा इस्पात का एक आधुनिक कारखाना है। दक्षिणी अफ्रीका में सीमेंट, साबुन, सिगरेट, वस्त्र, रेल संबंधी सामग्री तथा विस्फोटक पदार्थ बनाने के अनेक कारखाने हैं। इस भाग के बंदरगाहों में मछली मारने का उद्योग भी उल्लेखनीय है। युगांडा में ओवेन-प्रपात-बाँध के उद्घाटन के साथ ही उस देश के औद्योगिक विकास का मार्ग खुल गया। वस्त्र तथा सीमेंट के उद्योग आरंभ हो गए हैं। बेल्जियन कांगो में भी औद्योगिक विकास हो रहा है। वहाँ नारियल के तेल के अनेक कारखाने हैं। इनके अतिरिक्त वस्त्र, साबुन, चीनी तथा जूते बनाने के कारखाने भी खुले हैं। इस औद्योगिक विकास का मुख्य कारण उस क्षेत्र में जलविद्युत् का विकास है। विषुवतीय प्रदेश में लकड़ी चीरने का उद्योग तीव्रता से बढ़ रहा है।

परिवहन के साधन—अफ्रीका में परिवहन के सुगम साधनों का प्रायः अभाव है। कुछ ही भागों में इनका विकास हो पाया है। अधिकांश में सामान ढोने के प्राचीन साधनों का ही व्यवहार होता रहा है। नील नदी में नाव, मध्य अफ्रीका में डोंगी तथा मजदूर, मरुस्थलों में ऊँट, ऐटलस प्रदेश में खच्चर तथा दक्षिणी अफ्रीका में बैलगाड़ी से बोझ ढोने का काम लिया जाता था। इन साधनों से वर्तमान युग की आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं। अतः पक्की सड़कें तथा रेलमार्ग बनाने पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। रेलमार्ग बनाने में इस महाद्वीप में अनेक प्राकृतिक बाधाएँ
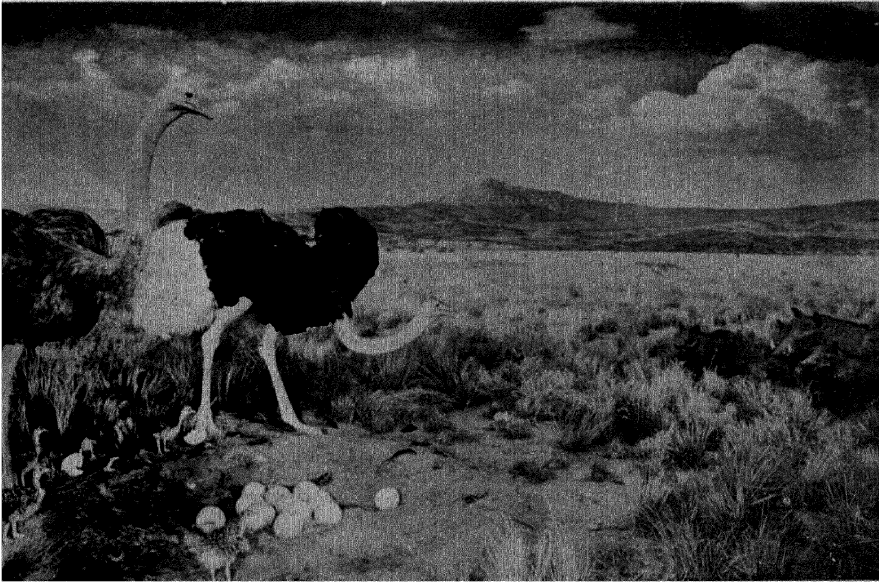
अफ्रीका के जंतु

ऊपर बदर, नीचे शुतुर्मुर्ग (दि अमेरिकन म्युजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।

फलक १८
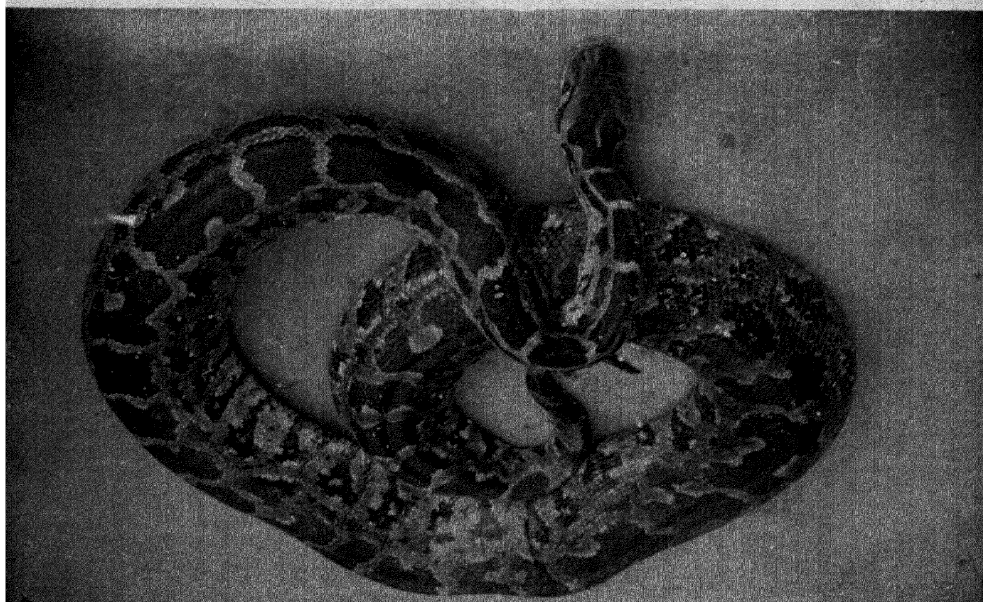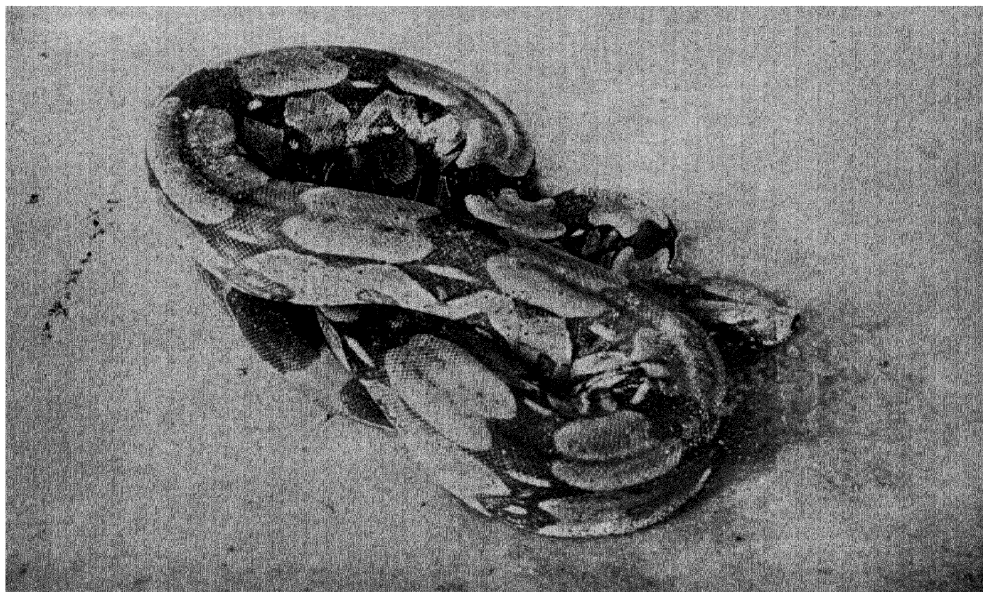
अफ्रीका तथा भारत के अजगर

ऊपर अफ्रीका का बाआ नीच भारतीय अजगर देखे पष्ठ ८४ (दि अमग्किन म्यृज़ियम
आव नैचुग्ल हिस्ट्री के सौजन्य म) ।

उपस्थित होती हैं। अब तक अफ्रीका में रेलमार्ग का एक क्रमहीन ढाँचा मात्र खड़ा हुआ है, अन्यान्य देशों की भाँति इसका जाल नहीं बिछ पाया है। दक्षिणी तथा पश्चिमोत्तर अफ्रीका, विषुवतीय प्रदेश तथा नील नदी की निचली घाटी में रेल की कई लाइनें बिछ गई हैं। सबसे अधिक विकास दक्षिणी अफ्रीका में हुआ है। केप ऑव गुड होप से जो लाइन पूर्वी पठारी प्रदेश को पार करती हुई उत्तर की ओर बढ़ गई है वह केप-कैरो लाइन के नाम से विख्यात है, किंतु मिस्र तथा सूडान की मध्यस्थ सीमा के पास विच्छिन्न होने के कारण इसका नाम सार्थक नहीं है। बड़ी नदियाँ, जिनमें सैकड़ों मील तक छोटे जहाज चलते हैं, इस महाद्वीप के भीतरी भागों के लिये सुगम जलमार्ग हैं। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में स्वेज नहर का अद्वितीय महत्व है। उपकूलीय भागों में समुद्री मार्ग से व्यापार होता है। अफ्रीका के समुद्री कूल पर कुछ महत्वपूर्ण बंदरगाह स्थित हैं, जिनमें पोर्ट सईद, सिकंद्रिया, त्रिपोली, अल्जियर्स, डकार, अक्रा, मोसामेद्स, केपटाउन, पोर्ट एलिजाबेथ, डरबन, लॉरेंसो मार्क्स, जंजीबार, मोंबासा, स्वेज इत्यादि मुख्य हैं। इस महाद्वीप में वायुमार्ग की व्यवस्था अच्छी है। लंबी दूरी तथा अन्य सुगम साधनों के अभाव के कारण ही इसका इतना विकास हुआ है। कैरो, खार्तूम, नैरोबी, जोहान्सबर्ग, एलिज़ाबेथविल, लियोपोल्दविल, कानो, डकार, अल्जियर्स इत्यादि वायुमार्ग के मुख्य केंद्र हैं।

व्यापार—अफ्रीका का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार मुख्यतः यूरोप के औद्योगिक देशों के साथ है। पिछली शताब्दियों में यह महाद्वीप गुलामों की बिक्री के लिये प्रसिद्ध था। इसके गुलामों का मुख्य ग्राहक संयुक्त राज्य (अमरीका) था। इस समय अफ्रीका विशेषकर कच्चा पदार्थ विभिन्न देशों को निर्यात करता तथा विदेशों में निर्मित पदार्थों का आयात करता है। यहाँ से निर्यात होनेवाले पदार्थों में सोना, मैंगनीज, कोबाल्ट, ताँबा, निकल, फॉस्फेट, रबर, कोको, नारियल का तेल, कपास, फल, गोंद, ऊन, हाथीदाँत, शुतुर्मुर्ग के पर इत्यादि मुख्य हैं। विदेशों से कल पुर्जे, मोटर गाड़ियाँ, रेल के इंजन, दवाएँ, कृत्रिम खाद, छोटे जहाज, वायुयान, लड़ाई के हथियार इत्यादि आयात किए जाते हैं।

निवासी—इस महाद्वीप की कुल अनुमानित जनसंख्या लगभग बाइस करोड़ है। प्राकृतिक वातावरण की विभिन्नताओं के कारण जनसंख्या का वितरण भी असमान है। मिस्र देश के कुछ भाग में घनत्व ६८४ व्यक्ति प्रति वर्ग मील है, किंतु सहारा मरुस्थल में विशाल क्षेत्र जनशून्य हैं।

अफ्रीका के निवासियों में प्रमुख स्थान यहाँ के आदिवासियों का है। इनमें हबशी, हमाइट, शामी (सेमाइट), बौने, बुशमेन, हॉटेंटॉट तथा मसानी मुख्य जातियाँ हैं।

शारीरिक बनावट तथा मुखाकृति की दृष्टि से हबशियों की कई उपजातियाँ मानी जाती हैं, किंतु पश्चिमी अफ्रीका का हबशी पूरे समुदाय का प्रतिरूप माना जाता है। उसका शरीर भरकम, कद साधारण या ऊँचा, सिर लंबा, नाक चौड़ी, होंठ मोटे, निचला जबड़ा कुछ आगे निकला हुआ, रंग गाढ़ा भूरा (करीब करीब काला) और बाल काला तथा घुंघराला होता है। मध्य-कांगो क्षेत्र के हबशी का कद साधारण या छोटा तथा सिर चौड़ा होता है। नील नदी के उद्गम के आसपास बसनेवाले नीलोटिक हबशी लंबे कद (लगभग ६'६'') के होते हैं।

हमाइट जाति के लोगों का शरीर दुर्बल, रंग हल्का, बाल सीधे या घुंघराले, नाक पतली तथा होठ पतले होते हैं। इस जाति के लोग सहारा तथा पूर्वोत्तर अफ्रीका में पाए जाते हैं। जहाँ इनका संबंध हबशियों के साथ हो गया है वहाँ हबशी जाति के कुछ लक्षण इनमें भी स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं।

अफ्रीका के उत्तरी तथा पूर्वी भाग में रहनेवाले लोग शामी जाति के हैं। इनका रंग हल्का भूरा, हमाइटों की तरह ही नाक और होठ पतले होते हैं। साँवले रंग के अतिरिक्त इनके अन्य सभी लक्षण काकेशस की गोरी जाति के समान ही हैं। हमाइट तथा शामी दोनों जातियों के मनुष्य हबशी गुलामों को बेचने का व्यापार करते थे।

बेल्जियन कांगो क्षेत्र के पूर्वोत्तर प्रदेश में बौने निवास करते हैं। इनका शरीर सुगठित होता है और ये चतुर शिकारी होते हैं। इनका सिर बड़ा, गर्दन छोटी, धड़ लंबा, पैर छोटे तथा हाथ पावँ पतले होते हैं। इनकी चाल में डगमगाहट रहती है। इनकी औसत ऊँचाई ४'६'' होती है। स्त्रियाँ इससे भी छोटी होती हैं। इनकी नाक अधिक चौड़ी होती है। ये चौकन्ने दिखाई पड़ते हैं। इनका रंग हबशियों की तरह काला नहीं होता, बल्कि पीलापन लिए हुए कुछ भूरा होता है।

बुशमेन दक्षिणी अफ्रीका में कालाहारी में रहते हैं। इनका कद छोटा और शरीर की बनावट हबशियों से भिन्न होती है। इनका सिर लंबा, हाथ-पैर धड़ की अपेक्षा छोटे तथा बाल घुंघराले होते हैं। हॉटेंटॉट के शरीर की बनावट भी बुशमैन की तरह होती है किंतु बुशमैन की अपेक्षा इनकी ऊँचाई अधिक, सिर लंबा और सिर के ऊपरी भाग का चपटापन कम होता है। इनके जबड़े आगे की ओर अधिक निकले रहते हैं। पूर्वी अफ्रीका के पठारी प्रदेश में मसाबी लोग पशुपालन द्वारा अपनी जीविका अर्जित करते हैं।

उपर्युक्त निवासियों के अतिरिक्त भारतीय लोग तथा कई स्वार्थसाधक विदेशी भी यहाँ अधिक संख्या में आ बसे हैं।

अफ्रीका के देश—अफ्रीका का राजनीतिक मानचित्र रंगबिरंगा दिखाई पड़ता है। देशों की इतनी अधिक संख्या किसी अन्य महाद्वीप में नहीं मिलती। इसका मुख्य कारण है यूरोपीय राष्ट्रों की स्वार्थपरता, जिन्होंने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये इस महादेश के टुकड़े कर आपस में बाँट लिया है और इसकी प्राकृतिक संपत्ति का उपयोग कर स्वयं समृद्धिशाली बन गए हैं। अफ्रीका के देशों की सूची निम्नलिखित है :

मोरक्को, स्पैनिश मोरक्को, अल्जीरिया, ट्युनीशिया, स्पैनिश वेस्ट अफ्रीका, फ्रेंच वेस्ट अफ्रीका, गैंबिया, पुर्तगीज गायना, सियरा लियोन, लाइबेरिया, घाना, नाइजेरिया, फ्रेंच विषुवतीय अफ्रीका, स्पैनिश गायना, लीबिया, मिस्र, सूडान, इथिओपिया, शुमालीलैंड प्रोटेक्टोरेट, शुमालिया, बेल्जियन कांगो, यूगांडा, केनिया, टांगनीका, अंगोला, दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका, उत्तरी रोडेशिया, दक्षिणी रोडेशिया, बेचुआनालैंड प्रोटेक्टोरेट, यूनियन ऑव साउथ अफ्रीका, मोजांबीक, मैडागैस्कर, न्यासालैंड, बासूटोलैंड, स्वाजीलैंड, इत्यादि।

विदेशी आधिपत्य—यह महाद्वीप उपनिवेशवाद का ज्वलंत उदाहरण है। यहाँ मिस्र, इथिओपिया, लाइबेरिया और घाना को छोड़कर अन्य देशों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किसी न किसी विदेशी सरकार का आधिपत्य है। अफ्रीका के विभिन्न देशों पर अपना आधिपत्य जमानेवाल राष्ट्रों में यूरोप के ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, पुर्तगाल, स्पेन तथा बेल्जियम मुख्य राष्ट्र हैं। अब एशिया के लोगों की भाँति अफ्रीकी जनता भी उपनिवेशवाद के विरुद्ध जागरित हो रही है और वहाँ स्वतंत्रता के नारे बुलंद किए जा रहे हैं। विशेषकर दक्षिणी अफ्रीका में प्रचलित साम्राज्यवादियों की रंग-भेद-नीति के विरुद्ध जनता सक्रिय आंदोलन कर रही है। [न० प्र०]

अफ्रीकी भाषाएँ

अफ्रीका महाद्वीप में बुशमैन (गुल्मनिवासी), बांटू, सूडान तथा सामी-हामी परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। अफ्रीका के समस्त उत्तरी भाग में सामी भाषाओं का आधिपत्य प्रायः दो हजार वर्षों से रहा है। इधर दो तीन शताब्दियों से दक्षिण के कोने पर और समस्त पश्चिमी किनारे पर यूरोपीय जातियों ने कब्जा करके मूल निवासियों को महाद्वीप के भीतरी भागों की ओर हटा दिया। किंतु अब अफ्रीकी निवासियों में जागृति हो चली है और फलस्वरूप उनकी निजी भाषाएँ अपना अधिकार प्राप्त कर रही हैं।

बुशमैन परिवार—इस जाति के लोग दक्षिणी अफ्रीका के मूल निवासी समझे जाते हैं। इनकी बहुत सी बोलियाँ हैं। ग्रामगीतों और ग्रामकथाओं को छोड़कर इन बोलियों में कोई अन्य साहित्य नहीं है। रूप की दृष्टि से ये भाषाएँ अंत में प्रत्यय जोड़नेवाली योगात्मक अश्लिष्ट अवस्था में हैं। इनके कुछ लक्षण सूडान परिवार की भाषाओं से मिलते हैं और कुछ बांटू परिवार की ज़ुलू भाषा से। संभव है, ज़ुलू की ध्वनियों पर इस परिवार की भाषाओं का प्रभाव पड़ा हो। बुशमैन में छः 'क्लिक' ध्वनियाँ भी हैं। लिंग पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर निर्भर न होकर प्राणिवर्ग और अप्राणिवर्ग पर अवलंबित है और इस बात में द्राविड़ भाषाओं के चेतन और अचेतन लिंग से समता रखता है। बहुवचन बनाने के कई ढंग हैं जिनमें अभ्यास मुख्य है। हॉटेंटाट भाषाएँ भी बुशमैन के अंतर्गत समझी जाती हैं।

होटेंटाट शब्द प्रायः एकाक्षर होते हैं। तीन वचन (एक, द्वि, बहु) होते हैं। उत्तम पुरुष के द्विवचन और बहुवचन के सर्वनाम के दो रूप (वाच्यसमावेशक और व्यतिरिक्त) पाए जाते हैं। सुर का भी अस्तित्व है।

बांटू परिवार—ये भाषाएँ प्रायः समस्त दक्षिणी अफ्रीका में, भूमध्यरेखा के नीचे के भागों में बोली जाती हैं। इनके दक्षिण-पश्चिम में होटेंटाट और बुशमन हैं और उत्तर में सूडान परिवार की विभिन्न भाषाएँ। इस परिवार में करीब एक सौ पचास भाषाएँ हैं जो तीन (पूर्वी, मध्यवर्ती, पश्चिमी) समूहों में बाँटी जाती हैं। इन भाषाओं में कोई साहित्य नहीं है। प्रधान भाषाएँ काफिर, जुलू, सेसुतो, कांगो और स्वहीली हैं।

बांटू भाषाएँ योगात्मक अश्लिष्ट आकृति की हैं और परस्पर सुसंबद्ध हैं। इनका प्रधान लक्षण उपसर्ग जोड़कर पद बनाने का है। अंत में प्रत्यय जोड़कर भी पद बनाए जाते हैं, पर उपसर्ग की अपेक्षा कम। उदाहरण के लिये संप्रदान कारक का अर्थ 'कु' उपसर्ग से निकलता है, यथा कुति (हमको), कुनि (उनको), कुजे (उसको)। बहुवचन—अबंतु (बहुत से आदमी), अमुंतु (एक आदमी)। बांटू भाषाओं का दूसरा प्रधान लक्षण ध्वनिसामंजस्य है। ये भाषाएँ सुनने में मधुर होती हैं। सभी शब्द स्वरांत होते हैं और संयुक्त व्यंजनों का अभाव सा है।

सूडान परिवार—ये भाषाएँ भूमध्यरेखा के उत्तर में पश्चिम से पूर्व तक फैली हुई हैं। इनके उत्तर में हामी परिवार की भाषाएँ हैं। कुल ४३५ भाषाओं में से केवल पाँच छः ही लिपिबद्ध पाई जाती हैं। इनमें वाई, मोम, कनूरी-हाउसा तथा प्यूल मुख्य हैं। नूबी में चौथी से सातवीं सदी ईसवी के कोप्ती लिपि में लिखे लेख मिलते हैं।

इन भाषाओं की आकृति मुख्य रूप से अयोगात्मक है। एकाक्षर धातुओं के अस्तित्व और उपसर्ग तथा प्रत्ययों के नितांत अभाव के कारण चीनी भाषाओं की तरह यहाँ भी अर्थ का भेद सुरों पर आधारित है। शब्दों में लिंग नहीं होता। आवश्यकता पड़ने पर नर और मादा के बोधक शब्दों द्वारा लिंग दिखाया जाता है। बहुवचन का भाव साफ साफ इन भाषाओं में नहीं झलकता। वाक्य अधिकांशतः छोटे छोटे, एक संज्ञा और एक क्रिया के होते हैं। सूडानी भाषाओं में एक तरह के मुहावरे होते हैं जिन्हें ध्वनिचित्र, शब्दचित्र या वर्णनात्मक क्रियाविशेषण कह सकते हैं; जैसे, ईव भाषा में 'जो' धातु का अर्थ चलना होता है और इससे कई दर्जन मुहावरे बनते हैं जिनका अर्थ सीधे चलना, जल्दी जल्दी चलना, छोटे छोटे कदम रखकर चलना, लंबे आदमी की चाल चलना, चूहे आदि छोटे जानवरों की तरह चलना, इत्यादि अर्थ प्रकट होते हैं।

सूडान परिवार में चार समूह हैं—सेनेगल भाषाएँ, ईव भाषाएँ, मध्य अफ्रीका समूह और नील नदी के ऊपरी हिस्से की बोलियाँ।

सूडान और बांटू दोनों परिवारों में कुछ समान लक्षण पाए जाते हैं। दोनों में संज्ञाओं को विभिन्न गणों में विभक्त करते हैं। इस विभाग के अभाव में संज्ञा और क्रिया का भेद केवल वाक्य में शब्द के स्थान से ही प्रकट होता है। सुर भी दोनों में प्रायः मिलते हैं।

सामी-हामी-परिवार—हामी भाग की भाषाएँ समस्त उत्तरी अफ्रीका में फैली हुई हैं और इनको बोलनेवाली कुछ जातियाँ दक्षिण और मध्यवर्ती अफ्रीका में घुसती चली गई हैं। सामी भाग की भाषाएँ मुख्य रूप से एशिया में बोली जाती हैं पर उनकी प्रधान भाषा अरबी ने सारे उत्तरी अफ्रीका में भी घर कर लिया है। पश्चिम में मोरक्को से लेकर पूरब में स्वेज तक तथा समस्त मिस्र में यही शासन तथा साहित्य की मुख्य भाषा है। अल्जीरिया और मोरक्को की राजभाषा अरबी है ही। हब्शी राजभाषा सामी है।

सामी-हामी-परिवार के हामी भाग के पाँच मुख्य लक्षण हैं :—(१) पद बनाने के लिये संज्ञाओं में उपसर्ग और क्रियाओं में प्रत्यय लगाए जाते हैं, (२) क्रिया के काल का बोध उतना नहीं होता जितना क्रिया के पूर्ण हो जाने या अपूर्ण रहने का, (३) लिंगभेद पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर अवलंबित न होकर आधार पर है। बड़े और शक्तिशाली जीव और पदार्थ (तलवार, बड़ी मोटी घास, बड़ी चट्टान, हाथी चाहे नर हो या मादा, आदि के बोधक शब्द) स्त्रीलिंग में होते हैं, (४) हामी की केवल एक भाषा (नामा) में द्विवचन मिलता है, अन्यों में नहीं। बहुवचन बनाने के कई ढंग हैं। अनाज, बालू, घास आदि छोटी चीजों को समूहस्वरूप बहुवचन में ही रखा जाता है और यदि एकत्व का विचार करना होता है तो प्रत्यय जुड़ता है जैसे लिस् (बहुत से आँसू), लिस (एक आँसू), बिल् (पतिंगे), बिल (एक पतिंगा), (५) हामी भाषाओं का एक विचित्र लक्षण बहुवचन में लिंगभेद कर देना है। इस नियम को ध्रुवाभिमुख कहते हैं। जैसे सोमाली भाषा में लिबि हिद्‌दू (शेर पु०), लिबिहह्योदि (बहुत से शेर, स्त्री०), होयोदि (मा, स्त्री०) (होयो इंकि) (माताएँ, पु०)। बहुत से शेर स्त्रीलिंग में और बहुतसी माताएँ पुल्लिंग में हैं।

हामी भाषाओं में विभक्तिसूचक प्रत्यय नहीं पाए जाते। ये भाषाएँ परस्पर काफी भिन्न हैं पर सर्वनाम—त् प्रत्ययांत स्त्रीलिंग आदि एकतासूचक लक्षण हैं। हामी की मुख्य प्राचीन भाषाएँ मिस्री और कोप्ती थीं। मिस्री भाषा के लेख छः हजार वर्ष पूर्व तक के मिलते हैं। इसके दो रूप थे—एक धर्मग्रंथों का और दूसरा जनसाधारण का। जनसाधारण की मिस्री की ही एक भाषा कोप्ती है जिसके ईसवी दूसरी सदी से आठवीं सदी तक के ग्रंथ मिलते हैं। यह १६वीं सदी तक की बोलचाल की भाषा थी। वर्तमान भाषाओं में हब्श देश की खमीर, पूर्वी अफ्रीका के कुशी समूह की, सोमालीलैंड की सोमाली और लीबिया की लीबी (या बबर) प्रसिद्ध हैं। वर्तमान काल की मिस्री भाषा गठन में बहुत सरल और सीधी है। उसकी धातुएँ (मूल शब्द) कुछ एकाक्षर हैं और कुछ अनेकाक्षर।

सं०ग्रं०—मेइए (Meillet) : ले लांग दु मांद (पेरिस); बाबूराम सक्सेना : सामान्य भाषाविज्ञान (प्रयाग)। [बा० रा० स०]

अफ्रीदी पठानों की एक महाशक्तिशाली जाति जो उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रदेश (पश्चिमी पाकिस्तान) में सफेद कोहकी पूर्वी ढालपर रहती है। अफ्रीदी जाति की उत्पत्ति अज्ञात है। ये लोग अपने उपद्रवों के लिये कुख्यात हैं। इनका केंद्र समुद्रतल से ६,००० से ७,००० फुट तक की ऊँचाई पर स्थित एक ऊँचा प्रदेश 'तिराह' है, जिसके दक्षिणी भाग में ओरकजाई लोग रहते हैं। लगभग १५वीं शताब्दी में अफ्रीदियों ने तिराहियों को भगा दिया, परंतु थोड़े ही समय में विजित प्रदेश के अधिक भूभाग पर पड़ोसियों ने अधिकार जमा लिया। आगे चलकर जहाँगीर के शासनकाल में ओरकजाइयों से तिराह का अर्धभाग अफ्रीदियों ने फिर ले लिया। अकबर के काल में इनमें से बहुत से लोग मुगल सेना में भरती हो गए। ब्रिटिश शासनकाल में खैबर से गुजरनेवाले व्यापारिक काफिलों की रक्षा के लिये इस जाति के लोग नियुक्त किए गए, परंतु आंतरिक कलह के कारण सुरक्षा नहीं स्थापित हो सकी। १८९७ में उन अफ्रीदियों ने जो ब्रिटिश खैबर सेना में भरती हो गए थे शेष अफ्रीदियों के आक्रमण का सामना किया और लंदी कोतल की अत्यंत वीरतापूर्वक रक्षा की, परंतु अंत में उन्हें आत्मसमर्पण करना पड़ा। तब अंग्रेजों ने एक बड़ी सेना भेजकर सब आक्रमणकारियों को दंड दिया और शांति स्थापित की।

अफ्रीदी अत्यंत स्वतंत्रताप्रिय हैं। इसलिये इनके गोत्रस्वामी का अधिकार भी बहुत कम होता है। यद्यपि ये बहुत वीर तथा पुष्ट होते हैं, तथापि यह जाति अपनी निर्दयता तथा अविश्वास के लिये कुख्यात है। अंग्रेजों के समय में भारतीय सेना में इनका बहुत बड़ा सहयोग था।

[न० ला०]

अबगर मेसोपोतामिया के राजाओं का एक वंश जिसने ईसा के एक सदी पहले से एक सदी बाद तक एदेस्सा को राजधानी बनाकर ओस्रोईन में राज किया था। प्राचीन ईसाई परंपरा की किंवदंती है कि अबगर पंचम उक्कामा ने कुष्ठ से पीड़ित होने पर उससे रक्षा के लिये ईसा से पत्रव्यवहार किया था। कहते हैं कि ईसा ने स्वयं वहाँ न जाकर अपने शिष्य जुदास को भेजा था। अबगरराज ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था। प्रोटेस्टेंट लोग तो इस कथा की सत्यता में संदेह करते ही हैं, रोमन कैथोलिक विद्वानों में भी इस संबंध में मतभेद है। संभवतः ईसाई धर्म के प्रचार के लिये यह किंवदंती गढ़ ली गई थी। अबगर राजाओं के नगण्य राजवंश का महत्व अधिकतर इसी किंवदंती के कारण है।

[ओं० ना० उ०]

अबट्टाबाद उत्तरी पश्चिमी सीमांत प्रदेश (पश्चिमी पाकिस्तान) के हजारा जिले की एक तहसील (३३° ४९' से ३४° २२' उत्तर अक्षांश, ७२° ५५' से ७३° ३१' पूर्व देशांतर)। यह पूर्व में झेलम नदी द्वारा घिरी हुई है। इसका क्षेत्रफल ७१५ वर्गमील है। यह एक वनयुक्त पर्वतीय देश है। वर्षा बहुत कम होने के कारण केवल ज्वार और बाजरा यहाँ के मुख्य उत्पादन और खाद्यान्न हैं। इसका मुख्य नगर अबट्टाबाद (स्थिति: ३४°९' उ० अ०, ७३° १३' पूर्व दे०) समुद्रतट से ४,१२० फुट की ऊँचाई पर है। इसका नाम इसके स्थापक सर जेम्स अबट्ट (ऐबट) के नाम पर पड़ा। यहाँ एक प्रमुख सैनिक छावनी तथा क्षयचिकित्सालय है। यह अशोक के शिलालेखों के लिये प्रसिद्ध है। [न० ला०]

अबरडीन उत्तरी सागर के तट पर डी और डोन नदियों के मुहानों के बीच स्थित उत्तरी स्काटलैंड का एक प्रमुख बंदरगाह तथा अबरडीनशायर की राजधानी है। भौतिक दृष्टि से इसकी उत्पत्ति १३वीं शताब्दी में हुई। १३३६ में एडवर्ड तृतीय ने इस नगर को जला डाला था। पुनः निर्मित होने पर इसका नाम नवीन अबरडीन पड़ा। यहाँ की मुख्य दूकानें तथा नवनिर्मित आधुनिक ढंग की इमारतें यूनियन स्ट्रीट के किनारे स्थित हैं जो ७० फुट चौड़ी है। स्कूलहिल की चित्रशाला एवं कौतुकालय तथा मैकडोनल्ड हाल में आधुनिक कलाकारों के चित्रों का संग्रह बहुत महत्वपूर्ण हैं। डूथी (४५ एकड़), विक्टोरिया (१३ एकड़), वेस्ट बर्न (१३ एकड़), स्टीवर्ट (११ एकड़) तथा हेजेलफेल्ड यहाँ के मुख्य प्रमदवन (पार्क) हैं।

यहाँ का विश्वविद्यालय, जिसमें किंग कालेज (स्थापित १४९४) तथा मारिशल कालेज (१५९३) हैं, १८६० ई० में बना। १९१३ में अनुसंधान के लिये रोवेट इंस्टिट्यूट खोला गया। माध्यमिक तथा औद्योगिक शिक्षाओं के लिये १८८१ में राबर्ट गॉर्डन कालेज स्थापित किया गया।

अबरडीन स्काटलैंड के मत्स्यव्यापार का मुख्य केंद्र है। अन्यान्य व्यवसायों के अंतर्गत जूट, कागज, यांत्रिक इंजीनियरी, रासायनिक इंजीनियरी, जहाज, कृषि संबंधी औजार, साबुन तथा मोमबत्ती बनाना मुख्य हैं। क्षेत्रफल ६,३१६ एकड़ है और जनसंख्या १,८२,७२९ (१९५१)। [न० ला०]

अबरडीनशायर स्काटलैंड का उत्तर-पूर्वी प्रादेशिक भाग है जिसमें डी, डोन, थान, युगे तथा डेवरोन नदियाँ बहती हैं। बेन मैकडूई (४,२९६ फुट) मुख्य पर्वतश्रेणी है। भूमि प्रायः उर्वरा तथा जलवायु शुष्क है। बबूल और देवदार मुख्य प्राकृतिक वनस्पतियाँ हैं। कृषि तथा मछली मारना प्रमुख उद्यम हैं। मुख्य उपज गेहूँ, जौ तथा जई है। यह प्रदेश पशु, भेंड़ तथा दुग्ध-व्यापार के लिये प्रसिद्ध है। परिवहन (यातायात) के साधनों में रेल, सड़कें तथा समुद्री मार्ग सभी उपलब्ध हैं। मुख्य नगर अबरडीन (राजधानी), पीटरहेड तथा फ्रेजरबर्ग हैं। क्षेत्रफल १,९७० वर्ग मील है, जनसंख्या ३,०८,००८ (१९५१)। [न० ला०]

अबादान शत्तुलअरब (ईरान) के डेल्टा में अबादान नामक द्वीप तथा इसी नाम का एक नगर भी है (स्थिति: ३०° २१' उत्तर अ०, ४८° १७' पूर्व दे०)। अबादान द्वीप अरबों में जजिरतुलखिधर के नाम से प्रसिद्ध है। बाहमिशिर नदी के किनारे इस नाम के फकीर का एक मकबरा बना है। १९०९ में ऐंग्लो-ईरानियन ऑयल कंपनी लिमिटेड ने इस द्वीप के बारिम तथा बबरदाह गाँवों में अपने तेल की पाइप लाइन का स्टेशन स्थापित किया जो अब अबादान के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ से तेल का निर्यात तथा मशीनों का आयात होता है। यहाँ से मोहमेरा (९ मील) तक और यहीं से अहवाज (७८ मील) तथा उसके आगे ६८ मील पर स्थित मस्जिद सुलेमान तक सड़क गई है। जनसंख्या २,२६,१०३ है (१९५६)। [न० ला०]

अबाध इच्छा दर्शन, नीति, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान का एक जटिल विवादग्रस्त विषय। प्रत्येक क्षेत्र में प्रश्न यही होता है कि मनुष्य जो चाहे करने या न करने को स्वाधीन है कि नहीं। प्रायः इसे इच्छास्वातंत्र्य की समस्या कहा जाता है। परंतु मनुष्य जिस इच्छा को चाहे उसी को मन में नहीं उत्पन्न कर सकता। वह उठी हुई इच्छाओं में से जिसको चाहे कार्यान्वित करने को स्वतंत्र है कि नहीं, यही प्रश्न है। इसलिये इसे संकल्पस्वातंत्र्य की समस्या कहना अधिक यथार्थ होगा। पश्चिम से प्राचीन दर्शन में मानसिक-शक्ति-तत्वों की धारणा के प्रचार के कारण वहाँ के स्पिनोज़ा जैसे बुद्धिवादी और लॉक जैसे अनुभववादी दोनों प्रकार के विचारकों ने संकल्प के कोई वास्तविक मानसिक-शक्ति-सत्ता न होने के पक्ष में बहुत तर्क किए हैं। यह ठीक ही है कि कोई संकल्प-शक्ति-तत्व नहीं। व्यक्ति अथवा व्यक्तित्व ही संकल्प किया करता है, और उसके ही स्वातंत्र्य का प्रश्न है। परंतु इसे व्यक्तिस्वातंत्र्य अथवा मनुष्य-स्वातंत्र्य का प्रश्न कहने से व्यक्ति एवं राज्य अथवा समाज के परस्पर अधिकारों के इससे भिन्न प्रश्नों को इस प्रश्न से अलग रखना कठिन हो जाने की आशंका है।

इस प्रश्न का प्रथम निश्चित उत्तर प्राचीन भारत में प्रतिपादित कर्मवाद के सिद्धांत में मिलता है। कर्मविपाक की दृष्टि से मनुष्य कर्म के अभेद्य बंधनों से जकड़ा हुआ है और उसे किसी प्रकार का प्रवृत्तिस्वातंत्र्य भी प्राप्त नहीं है। इस संदर्भ में, धर्म द्वारा इन बंधनों से मोक्षप्राप्ति के आश्वासन को और संकल्प के स्वातंत्र्य-अनुभव को सार्थक करने के लिये, वेदांत एवं सांख्य ने संचित कर्म के अंतर्गत प्रारब्ध तथा अनारब्ध कर्म में भेद किया है। प्रारब्ध वे संचित कर्म हैं जिनके फल का भोगना आरंभ हो गया है; उनको तो भोगना ही पड़ेगा। परंतु कुछ संचित कर्म अनारब्ध होते हैं, अर्थात् उनका भोगना अभी आरंभ नहीं हुआ है। इनका ज्ञान से पूर्णतया नाश किया जा सकता है। मीमांसा दर्शन ने नित्य और नैमित्तिक कर्मों को शास्त्रोक्त विधि से करते रहने तथा काम्य एवं निषिद्ध कर्मों को त्याग देने से कर्मबंधन से मुक्ति अर्थात् नैष्कर्म्यप्राप्ति को संभव बताया है। गीता, महाभारत और उपनिषदों में किसी प्रकार के कर्म को सर्वथा छोड़ देना असंभव माना गया है। इसलिये ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान द्वारा मोक्ष का उपदेश दिया गया है और इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये पातंजलयोग, अध्यात्म विचार, भक्ति और कर्मफलासक्ति-त्याग अर्थात् निष्काम कर्मयोग आदि मार्ग बताए गए हैं। परंतु यदि प्राणिमात्र अपनी कर्मनिर्धारित प्रकृति के अनुसार ही चलें तो मनुष्य ज्ञान प्राप्त करने के लिये स्वतंत्र कैसे होगा? भारतीय अध्यात्मशास्त्र का उत्तर यह है कि मनुष्य में देह भी है और आत्मा भी। आत्मा मूल में ब्रह्म से अभिन्न है। नामरूपात्मक कर्म अनित्य और परब्रह्म की ही लीला होने से उसी को पूर्णतया आच्छादित कर बाध्य करने में असमर्थ हैं। फिर, जो आत्मा कर्मव्यापारों का एकीकरण करके सृष्टि-ज्ञान उत्पन्न करता है उसे स्वयं उस सृष्टि से भिन्न एवं स्वतंत्र होना ही चाहिए। यह स्वातंत्र्य व्यवहार में तब प्रगट होता है जब परमात्मा का ही अंशभूत जीव पूर्वकर्मार्जित प्रकृति के बंधनों में बँध जाता है और इस बद्धावस्था से उसको मुक्त करने के लिये मोक्षानुकूल कर्म करने की प्रवृत्ति इंद्रियों में होने लगती है। परंतु यह स्वातंत्र्य वास्तव में आत्मा के इच्छारहित अकर्तापद को प्राप्त करने की प्रेरणा का है, साधारण इच्छा, बुद्धि, मन अथवा व्यक्तित्व का नहीं। वही स्वतंत्र रीति से व्यक्तित्व, मन, बुद्धि, अथवा इच्छा को प्रेरणा दिया करता है। जीव-ब्रह्म-अद्वैत को न माननेवाले, भक्तिहतु द्वैत में विश्वास करनेवाले विचारकों ने भी जीव के स्वातंत्र्य को उसका अपना व्यक्तिगत नहीं वरन् स्वप्रयास करनेवालों को परमेश्वर की दैवी कृपा से प्राप्य माना है। बौद्धों को प्रायः आत्मा अथवा ईश्वर में विश्वास नहीं होता, परंतु उन्होंने भी स्वप्रयास, स्वातंत्र्य, सामर्थ्य एवं उत्तर-दायित्व का उपदेश दिया है।

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में कभी प्रकृतिबंधन से मुक्ति को स्वातंत्र्य माना गया है और कभी प्रत्येक प्राकृतिक इच्छा की पूर्ति की स्वतंत्रता का प्रश्न उठाया गया है। अफ़लातून ने संकल्प को ज्ञान द्वारा निर्धारित स्वीकार किया, परंतु अपने ज्ञान की सीमाओं के अंदर मनुष्य को स्वतंत्र एवं उत्तर-दायी माना। अरस्तू ने भी कहा कि मनुष्य अंशतः स्वतंत्र है। वह अपने अनैच्छिक कर्मों के लिये उत्तरदायी नहीं, परंतु अपने संकल्प से किए हुए अच्छे बुरे सभी कर्मों के लिये अवश्य उत्तरदायी है, और राज्य का इन्हीं से प्रयोजन है। स्तोइक विचारकों का सभी कुछ का नियंत्रण करनेवाली एक विश्वात्मा में विश्वास था, और इस प्रकार वे नियतिवादी थे। परंतु इनमें क्रिसिपस मनुष्य के अपने चरित्र को ही उसके आचरण का मुख्य कारण

मानता था, और इसलिये मनुष्य को अपने कर्मों के लिये उत्तरदायी कहता था। एपिक्यूरियन दार्शनिक भौतिकवादी थे, फिर भी किसी विश्वनियंत्रण में विश्वास न करने के कारण संयोग एवं स्वातंत्र्य के समर्थक थे। ईसाई दार्शनिकों में संत आगस्तिन का विचार था कि आदिमानव आदि में स्वतंत्र था, परंतु उसके पतन से मनुष्य जाति के लिये दुष्कर्म अवश्यंभावी हो गया, केवल कुछ व्यक्ति भगवत्कृपा से भाग्य में अच्छाई लेकर आते हैं। पर थोमस आक्विनस और डन्स स्कोट्स ने ईश्वर की सर्वज्ञता को स्वीकार करते हुए भी मनुष्य के संकल्प में आत्मनिर्धारण की पूर्ण शक्ति मानी है। हॉब्स भौतिकवादी तथा पूर्ण नियतिवादी था। उसने मानसिक अवस्थाओं को मस्तिष्क के अणुओं की सूक्ष्म गतियाँ कहा और मनुष्य के कर्म को इन्हीं से और बाह्य भौतिक कारणों द्वारा निर्धारित बताया। देकार्त बुद्धिवादी था। उसने संकल्प में आत्मनिर्धारण का पूर्ण स्वातंत्र्य और ज्ञान एवं विश्वास का भी संकल्प द्वारा ही निर्धारण माना। स्पिनोज़ा ने बौद्धिक नियतिवाद का प्रतिपादन किया। उसने कहा कि मनुष्य का कर्म अधिकांश उसके स्वभाव एवं चरित्र द्वारा निर्धारित होता है। इस आंतरिक बाध्यता का अर्थ है कि वह स्वयंनिर्धारित अर्थात् स्वतंत्र है। अनुभववादी लॉक ने संकल्प को अनुभवगत तत्व स्वीकार नहीं किया, परंतु मनुष्य को स्वतंत्र माना। कांट संकल्प स्वातंत्र्य का मुख्य पाश्चात्य प्रतिपादक समझा जाता है। उसने स्वातंत्र्य को नीति का आवश्यक आधार कहा है। उसकी दृष्टि में मनुष्य अंशतः आभासरूप प्रकृति का अंग है, और इस नाते प्राकृतिक नियमों की नियति के अधीन है। परंतु अंशतः वह सत्य मूलजगत् का अंग भी है, और इसलिये वह अपनी अंतरात्मा से निकले हुए निरपेक्ष आदेशों के पालन में सर्वथा स्वतंत्र है। चेतनावादी ग्रीन ने भी प्रकृति के ज्ञान के लिये उससे ऊपर एक नियममुक्त स्वतंत्र ज्ञाता का होना आवश्यक माना है। फ्रांसीसी दार्शनिक बर्गसाँ के मत के अनुसार आत्मा का बाह्य,व्यावहारिक, देशात्मक तथा सामाजिक रूप प्रकृतिबद्ध लगता है, परतु इसका वास्तविक आंतरिक स्वरूप गहन अंतर्दर्शन से अनुभूति में आ सकता है। आत्मा के इस वास्तविक स्वरूप का लक्षण जीवन, परिवर्तन, अमाप्यता, अंतःप्रवेश, अदेशिकता, सृजनात्मक सक्रियता एवं स्वातंत्र्य है। जर्मन दार्शनिक औयकन ने यही अनुभूति महान् आदर्शों के पालन द्वारा भी प्राप्य मानी है।

नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र की कई विचारधाराओं ने भी मनुष्य-स्वातंत्र्य में विश्वास की माँग की है, क्योंकि यदि मनुष्य स्वतंत्र नहीं है तो वह अपने अपराधों के लिये उत्तरदायी नहीं कहा जा सकता। फिर अपराध करनेवालों को अपराधी कैसे ठहराया जाय और दंड कैसे दिया जाय? स्वातंत्र्य में विश्वास के बिना कर्तव्याकर्तव्य, धर्माधर्म, शुद्धि, सुधार, क्रांति, प्रयास, अभ्यास, साधना सबका विवेचन अर्थहीन हो जाता है। यदि सभी कुछ कर्म अथवा नियमबद्ध है तो जो होना है, वही होगा; क्या होना चाहिए इसका प्रश्न ही नहीं रह जाता और मनुष्य के भाग्य में प्रकृति का दासत्व ही रह जाता है।

आधुनिक विज्ञान पर आधारित आधिभौतिकवाद और प्रकृतिवाद सिद्धांत की दृष्टि से नियतिवादी हैं। इस नियतिवाद के अनुसार मनुष्य, उसकी इच्छाएँ और उसके संकल्प सभी प्रकृति के नियमों द्वारा पूर्वनिश्चित होते हैं। परंतु व्यवहार में प्रकृतिवादी भी प्रबल पुरुषार्थवादी अर्थात् स्वातंत्र्यवादी हुआ करते हैं। सिद्धांत की दृष्टि से भी देखा जाय तो प्रकृतिवाद का मूल अनुभववाद है, और मानव अनुभव मनुष्य के संकल्प के स्वातंत्र्य का साक्षी है। मनुष्य बाह्य परिस्थितियों का नियंत्रण कर पाए चाहे न कर पाए, परंतु उसका अंतःकरण इस मनोवैज्ञानिक अनुभवसत्य का साक्षी है कि वह अपने संकल्पों और कार्यों में, पाप पुण्य, धर्म अधर्म में, पूर्णतया स्वतंत्र है। यही नहीं, अनुभव तो सभी जीवों में और कदाचित् जड़ प्रकृति में भी कुछ स्वचालन एवं स्वातंत्र्य का प्रमाण पाता है, और आज प्राकृतिक विज्ञान ने इन प्रमाणों को मान्यता प्रदान की है। विचार करने पर यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि विज्ञान, नियमवाद और प्रकृतिवाद स्वयं मनुष्य के स्वतंत्र बौद्धिक प्रयास की उपज हैं। पूर्णतया नियमबद्ध प्रकृति में तो मनुष्य अपने अनुभवों के आधार पर अपने निष्कर्ष निकालने में स्वतंत्र नहीं होगा। फिर विज्ञान सत्य का दावा कैसे कर सकेगा? वह भी व्यक्तियों का परिस्थितियों द्वारा निर्धारित मत भर रह जायगा।

फिर भी पूर्ण स्वातंत्र्यवाद ठीक नहीं हो सकता। उसका तो अर्थ यह होगा कि व्यक्ति का पूर्व इतिहास कुछ भी हो, वर्तमान स्वभाव एवं चरित्र कैसा भी हो, वह हर समय संभव मार्गों में से किसी को भी अपना लेने में सर्वथा स्वतंत्र है। इस मत के अनुसार तो जीवन में कोई तारतम्य नहीं रह जाता। संचित अनुभव और प्राप्त शिक्षाएँ महत्वहीन हो जाती हैं। वंशानुक्रम भी प्रभावहीन हो जाता है। जीवन जादू का पिटारा सा बन जाता है जिसमें कोई जब चाहे, जो कुछ चाहे, निकाल दिखाए; नियमों की कोई सत्ता नहीं रहती; विज्ञान असंभव हो जाता है।

इसलिये आधुनिक विद्वान् मुख्य प्राचीन विचारधाराओं का पदानुसरण करते हुए मनुष्य को अंशतः स्वतंत्र और अंशतः बाध्य मानते हैं। जहाँ तक मनुष्य अपने सामने कई मार्ग देख पाता है, वहाँ तक उनमें से कोई एक चुन लेने में वह पूर्णतः स्वतंत्र है। यह बात दूसरी है कि किसी एक परिस्थिति में कोई व्यक्ति अपने लिये अधिक संभावनाएँ देख पाता है और कोई कम। यह व्यक्तिगत अंतर अवश्य ही उनके बाह्य और आंतरिक पूर्व और वर्तमान से नियत होते हैं। यही नहीं, इस पूर्ण संकल्प-स्वतंत्रता के उपयोग में व्यक्ति अपने वश के बाहर की सभी परिस्थितियों से कुछ न कुछ अवश्य प्रभावित होता है। वास्तव में कोई व्यक्ति उसी कार्य के लिए उत्तरदायी हो सकता है जो उसका अपना हो, अर्थात् जो उसके चरित्र, स्वभाव अथवा व्यक्तित्व से निस्सरित हुआ हो। उत्तरदायित्व के लिये जिस स्वातंत्र्य की आवश्यकता है वह यही आत्मनिर्धारण है। इस दृष्टि से मनुष्य वास्तव में अपने कर्मों का स्वतंत्र कर्ता ही है।

सं०ग्रं०—ऋग्वेद; उपनिषद् ग्रंथ; श्रीमद्भगवद्गीता; योगवासिष्ठ; पातंजल योगसूत्र; सांख्यकारिका; जैमिनी मीमांसासूत्र; वेदांतसूत्र; शांकर भाष्य; महाभारत; धम्मपद; महापरिनिब्बान सुत्तंत; प्लेटो: रिपब्लिक; अरस्तू: एथिक्स; ज़ेलर: स्टोइकस्, एपीक्योरियंस ऐंड सेप्टिक्स; सैकयोन: सेलेक्शंस फ्राम मेडीवल फिलॉसफर्स, उसेकार्त्तस्: मेडिटेशंस; लॉक: एसे ऑन दि ह्यमन अंडरस्टैंडिग; स्पिनोज़ा: एथिक्स; हॉब्स्: लेबिलायन; कांट: क्रिटिक ऑव प्रैक्टिकल रीज़न; ग्रीन: प्रोलेग्मेना टू एथिक्स; बर्गसाँ: टाइम ऐंड फ्री विल; यूकेन: प्रेसेंट डे एथिक्स इन देयर रिलेशंस टू दि स्पिरिचुअल लाइफ; बन: दि इमोशंस ऐंड दि विल; टर्नर, विश ऐंड विल; क्रौचे: फिलॉसफी ऑव दी प्रैक्टिकल; सोली: फ्रीविल ऐंड डिटरमिनिज्म; पिलर: दि बेसिस ऑव फ्रीडम; पेरन; दि गुडविल; लॉस्की: फ्रीडम ऑव दि विल; बर्दमेव: फ्रीडम ऐंड दि स्पिरिट।

[रा० लुं०]

अबाध व्यापार (फ्री ट्रेड)

इसका सरल अर्थ है किसी देश के अदर या किन्ही दो देशों के बीच बिना किसी बाधा के या बेरोक-टोक वस्तुओं का क्रय-विक्रय। अबाध व्यापार की इस नीति में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रखा जाता। इसलिये न तो विदेशी वस्तुओं के आयात पर विशेष कर लगाए जाते हैं और न स्वदेशी उद्योग को कोई विशेष सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि अबाध व्यापार के अंतर्गत वस्तुओं पर किसी प्रकार के कर ही नहीं लगाए जाते, किंतु जो भी कर लगाए जाते हैं वे केवल सरकारी आय के लिए ही होते हैं, किसी उद्योग को संरक्षण देने के लिये नहीं। जब किसी विशेष लाभ के हेतु कोई दो राष्ट्र परस्पर व्यापार करना प्रारंभ करते हैं तो उसके स्वतंत्र व्यापारिक आदान प्रदान में किसी प्रकार का हस्तक्षेप उनको इस लाभ से वंचित कर देता है। व्यापार में वस्तुओं का अदल बदल होता है और इस अदल बदल में क्रेता तथा विक्रेता दोनों को लाभ होता है। जैसे जैसे व्यापार की मात्रा बढ़ती जाती है वैसे वैसे लाभ भी बढ़ता जाता है।

देशी व्यापार में सबसे बड़ी बाधा यातायात की असुविधा है। पहाड़ी क्षेत्रों में, सड़कों के अभाव से और ग्रामीण क्षेत्रों में पक्की सड़कें बहुत कम होने के कारण व्यापार बहुत नहीं बढ़ पाता। यह बाधा सरकार के प्रयत्नों द्वारा ही दूर होती है तथा संसार का प्रत्येक देश अपने देशी व्यापार को बढ़ाने के लिये उचित सड़कों का प्रबंध करता है।

विदेशी व्यापार अधिकांश में समुद्री जहाजों द्वारा ही होता है। बड़े बड़े जहाजों को चलाने में जब से भाप के इंजनों का उपयोग होने लगा है,

जहाज द्वारा माल ले जाने का खर्च पहले से बहुत कम हो गया है। इससे संसार के भिन्न भिन्न देशों के विदेशी व्यापार में बहुत उन्नति हुई है। स्वेज नहर बन जाने से अंग्रेजों के विदेशी व्यापार में बहुत वृद्धि हुई है।

विदेशी व्यापार में प्रायः उन्हीं वस्तुओं का आयात किया जाता है जो अन्य देशों में सस्ती तैयार की जाती हैं और उनसे आयात के व्यापारियों के अतिरिक्त उन वस्तुओं के उपभोक्ताओं को भी लाभ होता है। विदेशी व्यापार में प्रायः वे ही वस्तुएँ निर्यात की जाती हैं जो दूसरे देशों की तुलना में सस्ती तैयार होती हैं। इससे निर्यात के व्यापारियों के साथ ही साथ उन वस्तुओं के विदेशी उपभोक्ताओं को भी लाभ होता है। अबाध व्यापार में वस्तुओं के उत्पादकों में पारस्परिक प्रतियोगिता अधिक होने के कारण देशों के उद्योगों में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आ पाती और वे अधिक से अधिक वस्तुओं का उत्पादन करने का प्रयत्न करते हैं।

अबाध व्यापार से अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में तनाव की संभावना कम होती है तथा प्रत्येक देश अपनी वस्तुओं का विक्रय दूसरे देशों में करके अधिक से अधिक आर्थिक लाभ प्राप्त करते हैं।

अबाध व्यापार की एक विशेषता यह है कि इसमें अंतर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन में कठिनाइयाँ उपस्थित नही होने पातीं। किसी देश के लोग अपने लाभ के लिये उस उद्योग में लगते हैं जिसमें उन्हें अपने पड़ोसियों की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। अबाध व्यापार की नीति हर देश को उन उद्योगों को विकसित करने के लिये प्रोत्साहित करती है जो उसके लिये अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल होते हैं।

अबाध व्यापार से कतिपय हानियाँ भी होती हैं। जो वस्तुएँ अन्य देशों से सस्ते मूल्य पर आती हैं उन वस्तुओं के उत्पादकों को देश के अंदर भारी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है और यदि वे अपना लागत खर्च कम करके उतने ही सस्ते मूल्य पर वैसी वस्तुएँ देश के अंदर तैयार नहीं कर पाते तो उन वस्तुओं के कारखानों को बंद कर देना पड़ता है। इससे देश के कुछ उद्योग-धंधों को बहुत हानि होती है और साथ ही बेरोजगारी भी बढ़ती है।

अबाध व्यापार से दूसरी बड़ी हानि यह होती है कि उन नए उद्योग-धंधों को, जो किसी देश में आरंभ किए जाते हैं, चलाने का अवसर ही नहीं मिल पाता। आरंभिक अवस्था में उनका लागत खर्च अधिक होता है और वे अपने कारखानों में उतनी सस्ती लागत पर वस्तुएँ तैयार नहीं कर पाते जितने लागत खर्च पर दूसरे देशों में पहले से स्थापित बड़े बड़े कारखाने तैयार कर लेते हैं। इन नवीन उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि देश की सरकार उन वस्तुओं के आयात पर ऐसा भारी कर लगा दे जिससे वे नए उद्योग द्वारा बनी वस्तुओं से प्रतियोगिता न कर सकें। नए उद्योग-धंधों को संरक्षण द्वारा सरकार को सहायता देना आवश्यक हो जाता है।

जो देश औद्योगिक विकास में अन्य देशों से आगे रहता है वह अबाध व्यापार में अपने यहाँ से तैयार माल अधिक मात्रा में दूसरे देशों में भेजने का प्रयत्न करता है। परिणामतः औद्योगिक विकास में पिछड़े हुए देशों को जीवनरक्षक पदार्थ देकर विलासिता के या दिखावटी सस्ते पदार्थ बदले में लेने पड़ते हैं। इससे उनका विदेशी व्यापार बढ़ने पर उनको स्थायी लाभ नहीं हो पाता और उन्हें अपने उद्योग धंधों को बढ़ाने का अवसर भी नहीं मिल पाता। इस प्रकार की हानि से बचने के लिये पिछड़े हुए देश अपने उद्योग-धंधों के संरक्षण के लिये आयातों पर भारी कर लगाते हैं और ऐसी वस्तुओं के आयात का नियंत्रण करते हैं जो हानिकारक होती हैं; जैसे, मादक पदार्थ तथा अन्य विलासिता की दिखावटी वस्तुएँ।

अबाध व्यापार का आरंभ सर्वप्रथम इंग्लैंड में हुआ। १९वीं शताब्दी के आरंभ में इंग्लैंड में खाद्य-पदार्थ, जैसे—गेहूँ, जौ, मक्खन, अंडा, जई तथा रेशमी और ऊनी वस्तुओं के आयात पर भारी कर लगाए गए थे। इन करों के कारण वस्तुओं की कीमतें बहुत बढ़ गई थीं और इससे इंग्लैंड की जनता को बड़ी हानि होती थी। इंग्लैंड के कुछ अर्थशास्त्रियों ने और संसद के सदस्यों ने खाद्य-पदार्थों पर से कर हटाने का आंदोलन आरंभ किया। सन् १८३९ में राष्ट्रीय अन्नकर विरोध संघ (ऐंटी कार्न ला लीग) की स्थापना हुई। इस संघ को अपने कार्य में संघर्ष का सामना करना पड़ा। इंग्लैंड की पार्लियामेंट में कई बार इस प्रश्न पर विचार हुआ। अंत में सन् १८४६ में पील महोदय का अन्नकर हटने का प्रस्ताव लोकसभा (हाउस ऑवकामन्स) में स्वीकृत हुआ और लार्ड सभा ने भी उसे बहुमत से स्वीकार कर लिया। इस प्रकार अन्न पर से आयात कर हटा दिया गया। अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर लेने पर राष्ट्रीय अन्नकर विरोधी संघ भंग कर दिया गया। धीरे धीरे अन्य वस्तुओं के आयात कर भी हटा दिए गए और १८६० तक इंग्लैंड में अबाध व्यापार पूर्ण रूप से जारी हो गया।

उसी समय इंग्लैड में औद्योगिक क्रांति हो रही थी। १९वीं सदी के आरंभ में इंग्लैड की अधिकांश जनता ग्रामों में ही निवास करती थी और खेती के साथ साथ घरेलू उद्योग-धंधे भी उन्नत दशा में थे। इंग्लैंड-वासियों ने संसार में भिन्न भिन्न भागों में उपनिवेश बसाकर या राज्य स्थापित कर ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना कर ली और इन देशों से अपना व्यापार भी खूब बढ़ाया था। देश में साहसी पुरुषों और पूँजी की कमी नहीं थी। इसी समय कुछ ऐसी मशीनों का आविष्कार किया गया जो भाप की सहायता से चलाई जाती थी और जिनके द्वारा कपड़े तैयार करने का खर्च बहुत कम होता था। बड़े बड़े कारखाने खुले और नए नगरों का निर्माण हुआ तथा पुराने नगरों की बढ़ती हुई। लोहे और कोयले के उद्योग को भी बहुत प्रोत्साहन मिला। बड़े बड़े जहाजों का निर्माण होने लगा। उनके चलाने में भाप का उपयोग होने से उनकी गति भी बढ़ गई और सामान ले जाने का खर्च कम हो गया।

बड़े बड़े कारखानों में वस्तुओं की उत्पत्ति बड़ी मात्रा में होने लगी। इन कारखानो को चलाने के लिये कच्चे माल की अधिक परिमाण में आवश्यकता थी। अबाध व्यापार की नीति के कारण इंग्लैंड को अन्य देशों से कच्चा माल सस्ते दामों पर प्राप्त करने की बड़ी सुविधा मिली। तैयार माल को बाहर दूसरे देशों में सस्ते मूल्य पर भेजने में भी अबाध व्यापार की नीति से इंग्लैड के व्यापारियों को बहुत प्रोत्साहन मिला। इसका परिणाम यह हुआ कि इंग्लैड का विदेशी व्यापार खूब बढ़ा और १९वीं सदी के अंत तक संसार के सब देशों के संपूर्ण विदेशी व्यापार का चौथाई भाग इंग्लैड निवासियों के हाथ में आ गया। औद्योगिक क्रांति और अबाध व्यापार की नीति के कारण इंग्लैड की खूब आर्थिक उन्नति हुई और संसार के राष्ट्रों में उसका प्रथम स्थान हो गया।

अंग्रेजी शासन के पूर्व भारत के घरेलू उद्योग-धंधे खूब उन्नत दशा में थे। भारतवासी अपने घरेलू उद्योग-धंधों द्वारा सुंदर वस्तुओं का निर्माण कर अन्य देशों से खूब व्यापार करते थे। भारत की मलमल संसार के सब देशों में प्रसिद्ध थी। उत्साही अंग्रेजों के दिलों में भारत के साथ सीधा व्यापार करने की लालसा जाग्रत हुई। धीरे धीरे इसी उद्देश्य से ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना हुई। अंग्रेजों ने शनैः शनैः अपने पैर भारतवर्ष में मजबूत किए तथा यहाँ अपना राज्य स्थापित किया। औद्योगिक क्रांति के कारण इंग्लैड में बड़े बड़े कारखाने स्थापित हुए और इन कारखानों के लिये अधिक परिमाण में कच्चा माल प्राप्त करने की और तैयार माल को आसानी से बेचने की भी आवश्यकता हुई। इस कार्य में अबाध व्यापार नीति से इंग्लैंड को बहुत लाभ हो रहा था। इसलिये अँगरेजों ने उसी नीति का पालन भारत में भी किया। इस नीति का परिणाम भारत में यह हुआ कि इंग्लैंड के कारखानों में बने हुए सस्ते तैयार माल भारत में बिना किसी रोक टोक के बड़े परिमाणों में आने लगे। इंग्लैंड से सस्ते सूती कपड़ों के आयात में खूब वृद्धि हुई और भारत के जुलाहों को इस प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। वे उतनी कम कीमत पर कपड़ा तैयार करने में असमर्थ रहे और इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में करोड़ों जुलाहों को अपना काम बंद करके खेती की शरण लेनी पड़ी। भारत का सूती कपड़ों का प्रधान घरेलू उद्योग चौपट हो गया और करोड़ों कारीगरों को भूख और बेकारी का शिकार होना पड़ा।

इस अबाध व्यापार की नीति का दूसरा परिणाम यह हुआ कि भारत से कच्चा माल, विशेषकर रुई, तिलहन और अनाज अधिक परिमाण में अन्य देशों को जाने लगा। इससे देश में अनाज की कमी होने लगी और अच्छी फसल के दिनों में भी केवल आधा पेट भोजन पानेवालों की संख्या करोड़ों तक पहुँच गई। जिस वर्ष फसल खराब होती थी उस वर्ष तो दशा और भी खराब हो जाती थी। इन्हीं दिनों देश में कई अकाल पड़े।

इस अबाध व्यापार की नीति का तीसरा परिणाम यह हुआ कि भारत में नए उद्योग नहीं पनपने पाए। भारत में सूती कपड़े के कुछ कारखाने अवश्य स्थापित हुए परंतु उनको इंग्लैंड के कारखानों की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा और उनकी विशेष उन्नति न हो सकी। अबाध व्यापार की नीति के अनुसार भारत सरकार ने भारत में बने सूती कपड़ों के उत्पादन पर कर लगा दिया, इसके कारण भी इस उद्योग की उन्नति में रुकावट हुई। जिस अबाध व्यापारनीति के कारण इंग्लैंड की बहुत आर्थिक उन्नति हुई उसी नीति के कारण भारत के उद्योग-धंधे चौपट हो गए और भारतवासी अधिक गरीब हो गए।

भारतवासियों ने अबाध व्यापारनीति की हानियों का अनुभव किया और भारतीय नेताओं ने इस नीति को बदलने के लिये भारी आंदोलन किया। सन् १९२० में भारत सरकार द्वारा एक आर्थिक कमीशन नियुक्त हुआ जिसने भारत में देशी उद्योगों के लिये संरक्षण नीति स्वीकार करने की सिफारिश की। इस कमीशन की सिफारिशों के अनुसार भारत सरकार को अपनी अबाध व्यापार की नीति बदलनी पड़ी और सन् १९२० के बाद से भारत में अबाध व्यापार की नीति का पालन नहीं हो रहा है।

इंग्लैंड में भी आजकल अबाध व्यापार नीति का पालन नहीं हो रहा है। ब्रिटिश साम्राज्य के देशों ने अनुभव किया कि इंग्लैंड की इस नीति से उनको भी हानियाँ होती हैं, इसीलिये उन्होंने इंग्लैंड को अपनी यह नीति बदलने के लिये राजी कर लिया। अब इंग्लैंड में साम्राज्यातंर्गत रियायत की नीति का पालन किया जाता है। इस नीति के अनुसार जो माल इंग्लैंड में ब्रिटिश साम्राज्य के देशों से आता है उन पर आयात कर कम दर से लिया जाता है और अन्य देशों से उन्हीं वस्तुओं के आयात पर कर की दर अधिक रहती है। इसी प्रकार साम्राज्य के अन्य देश इंग्लैंड की वस्तुओं पर कर की दर कम रखते हैं। अबाध व्यापार की हानियों का अनुभव कर आजकल संसार का कोई भी देश इस नीति का पालन नहीं कर रहा है। यदि संसार के सब देश आर्थिक दृष्टि से विकसित दशा में हों और सब देश इस नीति का पालन करना स्वीकार कर लें तब संसार के सब देशों को इस अबाध व्यापार-नीति से बहुत लाभ हो सकता है। आजकल तो संसार के कई देशों में विदेशी व्यापार पर बहुत अधिक नियंत्रण है। भारत विदेशी विनिमय की बचत करने के लिये अपने आयातों का कठोरतापूर्वक नियंत्रण कर रहा है। उसने अपने उद्योग-धंधों को प्रोत्साहित करने के लिये बहुत सी वस्तुओं के आयात पर संरक्षण कर लगा दिया है। अमेरिका का व्यापार चीन से हो ही नहीं रहा है। संसार में बड़े बड़े देशों के दो गुट हो गए हैं। एक गुट के देशों का व्यापार अन्य गुट के देशों के साथ नियंत्रित रूप से ही हो पाता है। नियंत्रणों और संरक्षण करों के कारण संसार के राष्ट्रों का विदेशी व्यापार जितना होना चाहिए उतना नहीं हो पाता, इसलिए प्रायः सब देश विदेशी व्यापार से पूरा लाभ नहीं उठा पा रहे हैं। अभी कुछ वर्ष हुए एक अंतर्राष्ट्रीय व्यापार-संगठन की स्थापना हुई है। इसमें ५० से अधिक राष्ट्र संमिलित हुए हैं। इस संगठन का उद्देश्य जनता की रहन सहन का स्तर ऊँचा करना तथा व्यापारिक प्रतिबंधों को यथासाध्य कम कर संसार को समृद्ध बनाना है। इस संगठन के सदस्य अपने अपने देशों में व्यापारिक प्रतिबंधों को कम करने का प्रयत्न करते हैं और अपने पारस्परिक झगड़े संगठन के सामने उपस्थित कर उसके निर्णय स्वीकार करते हैं।

जब यह संगठन विश्वव्यापी हो जायगा, संसार के सब राष्ट्र इसके सदस्य हो जायँगे और जब इस संगठन के उद्देश्यानुसार सब व्यापारिक प्रतिबंध हट जायँगे तब संसार में अबाध व्यापार की नीति का पालन होने लगेगा और उसके द्वारा व्यापार का लाभ सब देशों को समान रूप से होने लगेगा और किसी राष्ट्र को उसके द्वारा हानि नहीं पहुँचेगी।

सं०ग्रं०—कृष्णदत्त वाजपेयीः भारतीय व्यापार का इतिहास।

[द० शं० दु०]

अबितिबी ओंटेरिओ (कैनाडा) में एक भील तथा नदी है। अबितिबी भील (४९° उत्तर अ०, ८०° पश्चिम दे०) ६० मील लंबी (क्षेत्रफल ३५६ वर्ग मील) तथा छिछली है और इसमें अनेक द्वीप हैं। इसके किनारे वृक्षों से सुशोभित हैं। इसके आसपास लकड़ी काटी जाती है तथा रोएँदार पशुओं का शिकार किया जाता है। ग्रैंड टंक पैसिफिक (अब, कैनेडियन नैशनल) रेलवे इस प्रदेश से होकर गुजरती है। इस भील में से अबितिबी नदी निकलकर २०० मील बहने के पश्चात् मूसे नदी में मिल जाती है। [न० ला०]

अबिसीनिया उत्तरपूर्व अफ्रीका का एक स्वतंत्र साम्राज्य है जो राजकीय स्तर पर इथिओपिया कहलाता है। स्थिति : ५° उत्तर अ० से १५° उत्तर अ०; ३५° पूर्व दे० से ४२° पूर्व दे०; क्षेत्रफल : ३,९५,८०० वर्गमील; जनसंख्याः १,६०,००,००० (१९५४ ई०)। यह टिग्रे, अम्हारा, गोज्जम, गोंडार, शोआ तथा अन्य स्वतंत्र राज्यों के संयोग से बना है। सन् १९५२ ई० में, जब इरिट्रिया राज्य अबिसीनिया का एक स्वायत्त (ऑटोनोमस) प्रांत बन गया, इस साम्राज्य की सीमा पूर्व में लाल सागर तक बढ़ गई। इसके पश्चिम मे सूडान, उ० पू० में सोमालीलैंड, द०-प० में यूगांडा तथा द० में केनिया आदि राज्य स्थित हैं। सन् १९३५ ई० मे इटली ने अबिसीनिया पर आक्रमण कर इसे अंशतः अधीन कर लिया, किंतु सन् १९४१ ई० मे अंग्रेज सैनिकों की सहायता से यह पुनः स्वतंत्र हो गया। अदिस अबाबा (जनसंख्या ४,००,०००) इसकी राजधानी है, तथा अस्मारा (१,१७,०००), हरार (४५,०००), देसी (३५,०००), दीरे दावा (३०,०००) आदि अन्य मुख्य नगर हैं।

अबिसीनिया एक विशाल पठारी क्षेत्र है जो अनेक स्थलों पर १३,००० फुट से भी अधिक ऊँचा है। रास दसहन इसका सर्वोच्च शिखर है, जिसकी ऊँचाई १५,१५३ फुट है। इसके प्राकृतिक निर्माण का संबंध 'ग्रेट रिफ्ट घाटी' तथा उससे उद्गारित लावा से है। ग्रेट रिफ्ट घाटी की मुख्य शाखा, जो रूडोल्फ भील से उत्तरपूर्व मे लाल सागर की ओर अग्रसर होती है, अबिसीनिया के पठार को दो भागों मे विभक्त करती है: (१) इथिओपिया का बृहत् पठार, जो रिफ्ट घाटी के उत्तरपश्चिम में स्थित है तथा जिसके अंतर्गत टिग्रे, अम्हारा, शोआ एवं काफा के प्रांत हैं। (२) हरार का संकीर्ण पठार, जो रिफ्ट घाटी के दक्षिण-पूर्व में स्थित है तथा उ० पू० से द० प० को फैला है। ये दोनों क्षेत्र बैसाल्ट एवं ट्रैचाइट नामक पत्थरों के बने हैं जो शोआ के प्रांत में ६,००० फुट की मोटाई तक मिलते हैं। अबिसीनिया के पूर्वोत्तर भाग तथा इरिट्रिया में कम ऊँचे एवं शुष्क पठार मिलते हैं जो आद्यकल्पिक (आर्कियन) पत्थरों से बने हैं। इनकी ऊँचाई १,५०० से ५,००० फुट तक है।

अबिसीनिया की मुख्य नदी सेतित है जो लास्टा नामक पर्वत से निकलती है तथा आगे चलकर अतबारा के नाम से नील नदी की सहायक हो जाती है। अन्य नदियों में अब्बाई प्रमुख है, जो टाना भील से होकर बहती है और ब्लू नील के नाम से प्रसिद्ध है। पूर्व की ओर प्रवाहित होनेवाली नदियों में अवास मुख्य है।

इथिओपिया के पठार पर ऊँचाई के अनुसार जलवायु के तीन प्रकार मिलते हैं: (१) कोल्ला, ५,५०० फुट की ऊँचाई तक, जहाँ प्रत्येक महीने का औसत ताप ६८° फा० से अधिक होता है; (२) वाइनाडेगा, ५,५०० से ८,००० फुट तक, जहाँ जाड़े में ठंढी रातें (४१°-५०° फा०) होती हैं तथा वार्षिक तापांतर ९° फा० से कम होता है। अदिस अबाबा (८,००० फुट) का औसत मासिक ताप ५८° फा० से ६६° फा० तक घटता बढ़ता रहता है; (३) डेगा, ८,००० फुट से ऊपर, जहाँ सदैव सर्दी पड़ती है तथा गर्मी के तीन महीनों (मार्च से मई तक) का औसत ताप ६०° फा० रहता है।

हरार, शोआ, अम्हारा तथा टिग्रे के पठारों पर वर्षा गर्मी में होती है, किंतु इथिओपिया के पठार पर वर्षा प्रत्येक महीने में होती है। अदिस अबाबा की वार्षिक वर्षा ४५ इंच है, जिसका अधिकांश जून से अक्टूबर तक होता है। हरार पठार पर वर्षा २० इंच से ३५ इंच तक होती है। कम ऊँचे स्थलों में वर्षा का अभाव है। दक्षिणपूर्व में वर्षा केवल ५ इंच के लगभग होती है। इथिओपिया के पठार के पश्चिमी भाग में सघन वन तथा कहीं कहीं सावैना के घास के मैदान मिलते हैं। कम ऊँचे पठारों पर सावैना की वनस्पति तथा नीचे स्थलों में झाड़ियाँ पाई जाती हैं।

इस राज्य में सोना, लोहा, कोयला तथा प्लैटिनम इत्यादि खनिज विशेष रूप से मिलते हैं। इनके अतिरिक्त बाक्साइट, चाँदी, गंधक, ताँबा

भी प्राप्त होते हैं। यहाँ जलविद्युत् की संभावी क्षमता ४०,००,००० अश्व-सामर्थ्य है।

इथिओपियावासी चौथी शताब्दी से ही ईसाई हैं। ये हेमाइट जाति के बताए जाते हैं। गल्ला लोगों में, जो कृषक एवं चरवाहे हैं, कुछ ईसाई तथा कुछ मुसलमान हैं। इनकी जनसंख्या ८५,००,००० है, जो देश की कुल जनसंख्या की दो तिहाई है। इनके अतिरिक्त कुछ सोमाली, डानाकिल तथा हब्शी जातियाँ भी बसी हैं।

यहाँ की मुख्य फसल दुर्रा है, यद्यपि गेहूँ, जौ, मक्का, आलू तथा मिर्च भी होती है। हरार, जिम्मा तथा शीडामों जिलों में उत्कृष्ट कोटि का कहवा उत्पन्न किया जाता है। जंगली कहवा अन्य स्थानों में उपजता है। अन्य फसलों में रुई, ईख, खजूर, केला इत्यादि मुख्य हैं। पशुपालन यहाँ का मुख्य उद्यम है।

मसावा तथा असाब, जो इरिट्रिया के स्वायत्त प्रांत के अंतर्गत हैं, अबिसीनिया के मुख्य बंदरगाह हैं। ये अदिस अबाबा एवं अन्य स्थानों से पक्की सड़कों द्वारा संबद्ध हैं। अदिस अबाबा से एक रेलवे लाइन जिबुटी बंदरगाह को जाती है जो फ्रेंच सोमालीलैंड के अंतर्गत है। [न० कि० प्र० सिं०]

इतिहास—प्राचीन यूनानी कवि होमर के काव्य में अबिसीनिया के निवासियों की चर्चा में लिखा है—"सब देशों से दूर उनका देश है। देवता उनके राजभोजों में सम्मिलित होते हैं और सूर्य संभवतः उनके देश में अस्त होता है।" इब्रानी ग्रंथों में उन्हें 'कुश', 'केश' या 'इकोश' कहकर संबोधित किया गया है। अरब ग्रंथों में अबिसीनिया को 'हब्सीनिया' कहा गया है।

अबिसीनिया के उत्तरी प्रदेश इथियोपिया के प्राचीन इतिहास के अनुसार उस देश पर ११वीं शताब्दी ई० पू० तक मिस्री सम्राटों का आधिपत्य था। जब तब विद्रोह करके अबिसीनिया स्वतन्त्र हो जाता था, किन्तु फिर मिस्री सेनाए आकर उसे वश में कर लेती थीं। ११वी शताब्दी ई० पू० में अबिसीनिया पूर्ण स्वाधीन हो गया। नपाता नए स्वाधीन राज्य की राजधानी बना। धीरे धीरे नया राज्य इतना शक्तिशाली हो गया कि उसने ८वीं शताब्दी ई० पू० के मध्य स्वयं मिस्र को अपन अधीन कर लिया। मिस्र का पच्चीसवाँ राजकुल अबिसीनिया का इथियोपी राजकुल ही था। इथियोपी राजकुल का जब ६६० ई० पू० में मिस्र से अंत हुआ तब भी अबिसीनिया स्वतन्त्र राज्य बना रहा। ईरानी विजेता कम्बुजीय न मिस्र विजय करने के बाद अबिसीनिया पर आक्रमण करने के लिए अपना जहाजी बेड़ा भेजा किंतु वह नष्ट कर दिया गया। इस युद्ध के परिणामस्वरूप राजधानी नपाता से हटाकर मेरो में कर दी गई। २४ ई० पू० में रोमी सेना ने अबिसीनिया पर आक्रमण किया और उसके एक भाग पर अधिकार कर लिया, किन्तु रोमी सम्राट् ओगुस्तस ने रोमी सेना को वापस बुला लिया। इस काल के अबिसीनिया के राजाओं में नेतेकामने और रानियों में कानदेस के नाम प्रमुख हैं। कुछ अबिसीनी परंपराओं के अनुसार सम्राज्ञी शेबा अबिसीनिया की ही थी।

भारत और अबिसीनिया का संबंध लगभग ढाई हजार वर्ष पुराना है। कल्याण, धेनुकाकट, सुपारा आदि भारत के पश्चिमी तट के बंदरगाहों से तिजारती जहाज सुपारी, हड़, चावल, वैदूर्य, केसर, अगर, चोया-कस्तूरी, ईंगुर, शंख और सूती कपड़ा लेकर अबिसीनिया जाते थे। 'कथाकोश' नामक ग्रंथ के अनुसार भारत में कपड़ा रंगने के लिए जिस कृमिराज का प्रयोग होता था वह अबिसीनिया से ही जाता था। एक लेख के अनुसार अबिसीनिया की पर्वतकन्दराओं में दूसरी शताब्दी ई० पू० में सकड़ों दिगम्बर जैन साधु रहा करते थे। ईसा की तीसरी शताब्दी में ईसाई धर्म अबिसीनिया पहुँचा और विगत सोलह सौ वर्षों से वह वहाँ का राजधर्म रहा है। सन् ६१५ ई० में अबिसीनिया के सम्राट् नजाशी ने सैकड़ों मुसलमान अरब शरणार्थियों को अपने देश में आश्रय दिया।

सन् ५२५ ई० में अबिसीनिया के राजा अल असबाहा ने अरब के यमन प्रांत पर अधिकार कर लिया। लगभग ५० वर्षों तक यमन अबिसीनिया के आधिपत्य में रहा। छठी सदी ई० से १८वीं सदी ई० तक अबिसीनिया अनेकों छोटी छोटी रियासतों में बँट गया। इन रियासतों की आए दिन की लड़ाइयों ने अबिसीनिया को एक निर्बल राष्ट्र बना दिया। १९वीं शताब्दी में अबिसीनिया को अपने संरक्षण में लेने के लिए यूरोपीय शक्तियों में प्रतिस्पर्द्धा होने लगी। इटली ने सेनाएँ भेजकर अबिसीनिया को अपने अधिकार में लेना चाहा, किंतु अडोवा के मदान में अबिसीनिया के हाथों इटली की सेनाओं को गहरी हार खाकर पीछे हटना पड़ा। चालीस वर्ष बाद अक्तूबर सन् १९३५ में मुसोलिनी की सेनाओं ने अबिसीनिया पर आक्रमण किया और कई महीनों के युद्ध के बाद मई सन् १९३६ में उसे इटालीय साम्राज्य का अंग बना लिया।

अपने देश की स्वतंत्रता के इस अपहरण पर राष्ट्रसंघ से अपील करते हुए अबिसीनिया के सम्राट् हेल सिलासी के शब्द थे: "ईश्वर के राज्य को छोड़कर संसार का कोई राज्य किसी दूसरे राज्य से ऊँचा नहीं। अगर कोई शक्तिशाली राष्ट्र किसी शक्तिहीन देश को सैनिक बल से दबाकर जीवित रह सकता है तो विश्वास मानिए, निर्बल देशों की अंतिम घड़ी आ पहुँची। आप स्वतंत्रता के साथ मेरे देश के इस अपहरण पर अपना निर्णय दें। ईश्वर और इतिहास आपके निर्णय को याद रखेगा।"

दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान में अप्रैल, १९४१ में सम्राट् हेल सिलासी ने फिर बन्धनमुक्त अबिसीनिया की राजधानी अदीस में प्रवेश किया। उसके बाद से वैधानिक दृष्टि से अबिसीनिया में अनेकों शासन सुधार हुए हैं। जनता को वयस्क मताधिकार प्राप्त है। पार्लियामेण्ट में 'चैम्बर ऑव डेपुटीज़' (लोकसभा) और उच्च सभा ये दो सदन हैं। मंत्रिमंडल के हाथों में सत्ता है। अबिसीनिया संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में वह पंचशील का समर्थक है।

सं०ग्रं०—जे० एच० ब्रेस्टेड : ए हिस्ट्री ऑव ईजिप्ट फ्राम दी अर्लिएस्ट टाइम्स टु दी पर्शियन कांक्वेस्ट; रिकार्ड्स ऑव ईजिप्ट; ए हिस्ट्री ऑव ईजिप्ट; जी० ए० रीज़नर : आर्कियालाजिकल सर्वे ऑव नूबिया; ग्रिफ़िथ : एक्सकवेशंस इन नूबिया; ई० सी० लुई : हिस्ट्री ऑव सिविलिज़ेशंस; सर आर्थर वीगल : ए हिस्ट्री ऑव दी फ़ैरोआज़; ए० बी० विल्ड : माडर्न अबिसीनिया (१९०१); सर ई० डब्लू बज : ए हिस्ट्री ऑव इथियोपिया; इथियोपियन् दूतावास द्वारा प्रसारित हैंडआउट्स।

[वि० ना० पां०]

अबीअथार

(पुरानी पोथी के अनुसार अहीमेलक का बेटा)—नाव का पुरोहित। दोएग़ा के हत्याकांड में अबीअथार अकेले जान बचाकर भागा। भागकर वह दाऊद के पास गया। दाऊद की खानाबदोशी में और उसके शासनकाल में अबीअथार बराबर उसके साथ रहा। अब्सलोम के विद्रोह के समय वह दाऊद के प्रति वफादार रहा, किंतु सुलेमान के विरुद्ध उसने अदोनीजा का समर्थन किया। इसी अपराध में वह निर्वासित कर दिया गया। जुरूसलम के राजपुरोहित परिवार जादोक का अबीअथार प्रतिस्पर्द्धी प्रतीत होता है। [वि० ना० पां०]

अबीगैल

(पुरानी पोथी में नबाल की पत्नी)—दाऊद की प्रारंभिक पत्नियों में से एक। अबीगैल दाऊद की पत्नी बनने से पूर्व दक्षिणी जूदा में कारमेल के शासक नबाल की पत्नी थी। बाइबिल की पुस्तक 'साम' में दाऊद और अबीगैल के संबंधों की चर्चा आती है। अबीगैल अपने को दाऊद की 'दासी' या सेविका कहा करती थी, इसी कारण १६वीं और १७वीं शताब्दी के अंग्रेजी साहित्य में अबीगैल शब्द दासी के अर्थों में प्रयुक्त होने लगा था। [वि० ना० पां०]

अबीजाह

(पुरानी पोथी का एक नाम)—बाइबिल के पुराने अहदनामे में अबीजाह नाम के नौ विविध व्यक्तियों का उल्लेख आता है। इनमें प्रमुख हैं :

(१) जूदा के राजा रिहोबेस का पुत्र और उत्तराधिकारी (९१८-९१५ ई० पू०) तथा (२) सैमुअल का दूसरा पुत्र। अबीजाह और उसका भाई जोयल दुराचरण के अपराध में बीरशेवा में दंडित हुए थे। [वि० ना० पां०]

अबीमेलेख

बाइबिल की पुरानी पोथी में अबीमेलेख नाम के दो व्यक्तियों का वर्णन आता है। (१) अबीमेलेख दक्षिणी फिलस्तीन में गेदार का राजा और पैगंबर इसहाक का मित्र

था। पैगंबर इसहाक कुछ काल तक अबीमेलेख का अतिथि रहा। अपने गेराज अधिवास में इसहाक ने अबीमेलेख को बताया कि उसकी (इसहाक की) पत्नी रेबेकाह उसकी (इसहाक की) अपनी बहन है। अबीमेलेख ने इसहाक को फटकारा और कहा कि किस तरह अनजान में ही इसहाक व्यभिचार का दोषी हो जाता। इस घटना से उस समय के प्रचलित नैतिक विचारों की प्रगति का पता चलता है।

(२) शेखेमी दासी से उत्पन्न अबीमेलेख जेरूब्बाल अथवा गिदियन का बेटा था। गिदियन की मृत्यु के बाद अबीमेलेख ने शेखेम के नागरिकों पर अपने पिता के ही समान शासन करने का दावा किया। अपने पिता की सत्तर अन्य संतानों की हत्या करके अबीमेलेख ने मध्य फिलस्तीन पर अपने राज्य का विस्तार कर लिया, किंतु उसकी सफलता क्षणस्थायी रही। [वि० ना० पां०]

अबुल् अतहियः अबू इसहाक इस्माइल बिन कासिम अनबार के पास एक गाँव एनुल्तमर में पैदा हुआ और कूफ़ा में इसका पालन हुआ। युवावस्था में मिट्टी के बर्तन बेचकर यह कालयापन करता था। आरंभ से ही इसकी रुचि कविता की ओर थी। कुछ समय के अनंतर बगदाद पहुँचकर इसने खलीफा मेहदी की प्रशंसा की और पुरस्कृत हुआ। खलीफा हारुँरशीद के काल में यह और भी सम्मानित हुआ। बगदाद में खलीफा मेहदी की दासी उत्बः पर इसका प्रेम हो गया और यह अपने कसीदों में उसके सौंदर्य तथा गुणों का गायन करने लगा। किंतु उत्बः ने इसके प्रति कुछ ध्यान नहीं दिया जिससे यह संसार से मन हटाकर धर्म और सूफी विचारों की ओर झुक पड़ा। अब इसकी कविता में सदाचार की बातें बढ़ गई जिसे इसके देशवालों ने बहुत पसंद किया। परंतु कुछ लोगों ने उस पर यह आपत्ति की है कि इसकी रचना इस्लाम के सिद्धातों तथा तत्वों के अनुसार नहीं है। धन-दौलत का लोभ इसे अंत तक बना रहा। बगदाद में मरा और वहीं दफ़नाया गया।

अबुल् अतहिय : का दीवान सन् १८८६ ई० में प्रकाशित हुआ, जिसके दो भाग हैं। एक भाग में सदाचार की प्रशस्ति और दूसरे भाग में अन्य प्रकार की कविताएँ संगृहीत हैं। इसकी कविता में निराशावाद अधिक है, पर इसकी काव्यशैली सरल तथा सुगम है। इसका समय सन् ७४८ ई० तथा सन् ८२५ ई० (सन् १३० हि० तथा सन् २१० हि०) के बीच है। [आर० आर० शे०]

अबुल् अला मुअर्री अबुल् अला का जन्म मुअर्रतुल् नोअमान में हुआ था, जो हलब से बीस मील दूर शाम का एक कस्बा है। यह अभी बच्चा ही था कि इस पर शीतला का प्रकोप हुआ और इसकी दृष्टि जाती रही। प्रकृति ने इस हानि की किसी सीमा तक पूर्ति इस प्रकार कर दी कि इसकी स्मरणशक्ति बहुत तीव्र हो गई। प्रारंभिक शिक्षा अपने पिता से पाकर यह हलब चला गया और वहाँ के विद्वानों से उच्च शिक्षा प्राप्त की। हलब के अनंतर यूसाने इन्ताकियः (अन्तियर) तथा तिराबुलिस (त्रिपोली) की यात्रा की और सन् ९९३ ई० में मुअर्री लौट आया। यह पंद्रह वर्ष तक बहुत थोड़ी आय पर कालयापन करता हुआ अरबी कविता तथा भाषाविज्ञान पर व्याख्यान देता रहा। इस बीच इसकी प्रसिद्धि दूर दूर तक फैल गई जिससे इसने बगदाद जाकर अपने भाग्य की परीक्षा करने का निश्चय किया। यहाँ इसकी भेंट बहुत से प्रतिष्ठित साहित्यकारों तथा विद्वानों से हुई, जिन्होंने इसका अच्छा स्वागत किया। यद्यपि यह यहाँ केवल डेढ़ वर्ष रहा, पर इसी बीच इसके विचारों तथा सिद्धान्तों में परिपक्वता आ गई और बाकी समय के लिए इसने अपना मार्ग निश्चित कर लिया। मुअर्री लौटने पर यह एकांतवास करने लगा, मांस खाना छोड़ दिया और विरक्तों के आचार को ग्रहण कर लिया। इस स्वभाव-परिवर्तन का विशिष्ट कारण इसकी माता की बीमारी तथा मृत्यु हुई। साथ ही बगदाद में किसी निश्चित आय का प्रबंध न हो सकने का भी इस पर प्रभाव पड़ा था।

अबुल् अला की कृतियों में इसकी कविताओं के दो संग्रह सक्तुलज़नद (दियासलाई की लपट) तथा लुज़ूमियात बहुत प्रसिद्ध हैं। पहले में बगदाद जाने से पहले की कविताओं का संकलन है। इसमें इसने अपने पूर्ववर्तियों के दिखलाए मार्ग से बाहर जाने का प्रयास नहीं किया है। बगदाद से लौटने के बाद की कविताएँ लुज़ूमियात में संगृहीत हैं और इनसे अबुल् अला के साहस, दृढ़ता तथा गंभीरता का पता लगता है। पश्चिम के आलोचकों ने इसकी स्वच्छंद शैली को विशेष रूप से पसंद किया पर पूर्व में इसकी कविता बहुत पसंद की जाती है। [आर० आर० शे०]

अबुल फज़्ल अकबर के दरबार के प्रसिद्ध इतिहासकार और विद्वान्। १४ जनवरी, १५५१ ई० को आगरा में पैदा हुए। अपने पिता शेख मुबारक की देखरेख में इन्होंने अध्ययन किया। इनके पिता उदार विचारों के विद्वान् थे और इसी कारण इन्हें कट्टर मुल्लाओं के दुर्व्यवहार सहने पड़े। अबुल फज़्ल अत्यधिक मेधावी बालक थे। १५ वर्ष की उम्र में इन्होंने उस जमाने का समस्त परंपरागत ज्ञान प्राप्त कर लिया। १५७४ ई० के आरंभ में उनके बड़े भाई फ़ैज़ी ने उन्हें अकबर के सामने पेश किया। साल भर बाद जब अकबर ने **इबादतखाना** (पूजागृह) में धार्मिक विचार विमर्श आरंभ किया तब अबुल फज़्ल ने अपने प्रकांड पांडित्य, दार्शनिक रुझान और उदार विचारों से सम्राट् का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने अपने पिता के सहयोग से मशहूर **महज़र** तैयार किया जिसने अकबर को **मुज्तहिद** से भी ऊँचा दर्जा दिया और उन्हें वह शक्ति प्रदान की जिससे मुल्लाओं के आपसी मतभेद पर वे निर्णय करने योग्य हो सके। क्रमशः वे अकबर के प्रियपात्र बन गए और एक दिन सम्राट् ने उन्हें अपना निजी सचिव बना लिया। अधिकांश कूटनीतिक पत्रव्यवहार उन्हीं को करने पड़ते थे और विदेशी शासकों तथा अमीरों को पत्र भी वे ही लिखते थे। १५८५ ई० में उन्हें एकहजारी मनसब मिला। पाँचहजारी मनसब तक पहुँचने में उन्हें अट्ठारह साल लगे। सन् १५९९ में उनकी नियुक्ति दक्षिण में हुई जहाँ उन्हें अपनी शासकीय योग्यता भी प्रमाणित करने का अवसर मिला। जब शाहजादा सलीम ने विद्रोह किया तब अकबर ने उन्हें दकन से बुला लिया। जब वे राजधानी जा रहे थे और रास्ते में थे तब २२ अगस्त, १६०२ ई० को शाहजादा सलीम के इशारे पर राजा वीरसिंह बुंदेला ने उनकी हत्या कर दी। उनका सिर इलाहाबाद में सलीम के पास भेजा गया और शरीर ग्वालियर के समीप अंतरी ले जाकर दफना दिया गया।

अबुल फज़्ल ने बहुत लिखा है। उनकी रचनाओं में मुख्य हैं, **अकबरनामा, आईन-ए-अकबरी**, कुरान की टीका, बाइबिल का फारसी अनुवाद (अप्राप्य), **इयार-ए-दानिश** (**अनवर-ए-सुहैली** का आधनिक रूपांतर); **तारीख-ए-अल्फ़ी** की भूमिका (अप्राप्य) और महाभारत का फारसी अनुवाद। उनके पत्रों और फुटकल रचनाओं का संपादन उनके भतीजे अब्दुस् समद ने मक्तबात-ए-अल्लामी (पुष्पिका में इसकी समाप्ति की तिथि १०१५ हिजरी=१६०६ ई० दी हुई है) शीर्षक से किया है। यह संग्रह इंशा-ए-अबुल फज़्ल नाम से मशहूर है। उनके निजी पत्रों का दूसरा संग्रह रुक्कात-ए-अबुल फज़्ल नाम से विख्यात है। इसका संपादन उनके भतीजे नूरुद्दीन मुहम्मद ने किया था।

अबुल फज़्ल का महत्व उनके **अकबर नामा** के कारण अधिक है। उसमें अकबर के शासन का विस्तृत इतिहास है और साथ ही तीन **दफ्तरों** में उसके पूर्वजों का भी उल्लेख है। प्रथम दो दफ्तर एशियाटिक सोसाइटी (तीन भागों में) से प्रकाशित हुए थे। तीसरा दफ्तर, जिसका **स्वतंत्र** शीर्षक **आईन-ए-अकबरी** है, साम्राज्य के शासन और सांख्यकी से **संबद्ध** है। इससे भारत की भौगोलिक परिस्थिति तथा सामाजिक और धार्मिक जीवन के संबंध में महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं। **आईन-ए-अकबरी** का वास्तविक महत्व कुछ दूसरी ही बात में है। उससे अल्बेरूनी के बाद के मुस्लिम कालीन भारत तथा हिंदू दर्शन और हिंदुओं के तौर तरीकों की सम्यक् जानकारी होती है।

अबुल फज़्ल का सुलह-ए-कुल (शांति) की नीति में पूरा विश्वास था। धार्मिक मामलों के प्रति उनके दृष्टिकोण बहुत ही उदार थे। उन्होंने मुल्लाओं के प्रभाव को दूर करने में अकबर का पूरा नैतिक समर्थन तो किया ही, साथ ही उनकी राज्य-नीतियों के निर्माण के लिये व्यापक और अधिक उदार आधार प्रस्तुत किया।

अबुल फज़्ल का फारसी गद्य पर पूरा अधिकार था। उनकी शैली यद्यपि अत्यधिक अलंकृत है, फिर भी उनकी अपनी है।

सं०ग्रं०—आईन-ए-अकबरी इंशा-ए-अबुल फज़्ल (III); तबक़ात-ए-अकबरीनिजामुद्दीन (जिल्द, २, पृ० ४५८); मुंतखाब-उल्-तवारीख (बदायुनी-जिल्द २, पृ० १७३, १९८–२०० आदि); म-आसेरुल-उमरा (जिल्द २, पृ० ६०८-२२); दरबार-ए-अकबरी, मुहम्मद हुसैन आजाद (लाहौर, १९१०, उर्दू, पृ० ४६३-५०८); ए हिस्ट्री ऑव परसियन लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर ऐट द मुग़ल कोर्ट (अकबर पर लिखा गया भाग) एम० ए० ग़नी (इलाहाबाद, १९३०, पृ० २३०-२४६)। [यू० हु० खाँ]

अबुल् फर्ज अली अलइस्फहानी

यद्यपि अबुल् फर्ज अली का जन्म इस्फहान (ईरान) में हुआ था, पर वह वास्तव में अरब था और कुरेश कबीला से संबंधित था। आरंभिक अवस्था में यह इस्फहान से बग़दाद चला गया और वहाँ रहकर अरबी विद्याओं, विषयों तथा ज्ञान-विज्ञान में योग्यता प्राप्त की। इसने हलब तथा अन्य ईरानी नगरों की यात्रा भी की। अपनी अवस्था का अंतिम भाग इसने खलीफ़ा मुइज्जुद्दौला के मंत्री अल्मुहल्लबी के आश्रय में व्यतीत किया।

इसकी रचनाओं में सबसे अधिक प्रसिद्ध तथा जनप्रिय ग्रंथ 'किताबुल एग़ानी' है। इसमें लेखक के समय तक की वह कुल अरबी कविताएँ संगृहीत की गई हैं, जिन्हें गेय रूप में ढाल दिया गया है। लेखक ने इन सब कवियों तथा गीतिकारों का जीवन-परिचय भी इस ग्रंथ में संकलित किया है, जिन्होंने यह कार्य पूरा किया था। इसके साथ ही विस्तृत ऐतिहासिक बातों तथा आकर्षक घटनाओं का वर्णन दिया है जिससे यह ग्रंथ इस्लामी ज्ञान विज्ञान का नादिर तथा बहुमूल्य कोष बन गया है। 'किताबुल् एग़ानी' बीस जिल्दों में मिस्र से प्रकाशित हो चुका है। इस विशद ग्रंथ का संक्षिप्त संस्करण 'रन्नातुल् मसालिस व अल्मसानी' है, जिसे अंतून सालिहानी अलीसवी ने टिप्पणियों के साथ बेरूत से प्रकाशित किया है। [आर० आर० शे०]

इसका समय सन् २८४ हि० से सन् ३४६ हि० (सन् ८९७ ई० से सन् ९६७ ई०) तक है।

अबुल फ़िदा

सीरिया के प्रसिद्ध इतिहासकार तथा भूगोलवेत्ता; जन्म दमिश्क, नवंबर, १२७३। अबुल फ़िदा का संबंध अय्युबिद शासक परिवार से है। उन्होंने अपने चाचा हामा के शाहज़ादे मलिक मंसूर के अनुशासन में रहकर हमलावरों के खिलाफ हुए युद्ध में मुख्य भाग लिया। सन् १२९९ ई० में अपने निःसंतान भतीजे, महमूद द्वितीय के मरने के बाद अबुल फ़िदा को आशा थी कि वे हामा के राज्यप्रमुख पद के अधिकारी होंगे, किंतु उन्हें निराश होना पड़ा और यह पद सांकर नामक एक अमीर को दिया गया। अबुल फ़िदा ने मामलुक सुल्तानों के यहाँ नौकरी कर ली। अपनी नौकरी के बारह वर्षों के बाद १४ अक्तूबर, १३१० ई० को वे हामा के जागीरदार हो गए। दो साल बाद उनका सामंत पद प्रादेशिक शासक के जीवन में बदल गया। सन् १३१९ ई० में उन्होंने सुल्तान मुहम्मद के साथ हज की तीर्थयात्रा की। पुनः काहिरा लौटने पर सुल्तान ने अबुल फ़िदा को **अल-मलिक अल मुअय्यिद** की उपाधि दी और सुल्तान पद के सिरोपा से भूषित किया। इस प्रतिष्ठा के अतिरिक्त उन्हें सीरिया के सभी गवर्नरों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया। २७ अक्तूबर, १३३१ ई० को उनकी मृत्यु हो गई।

अबुल फ़िदा साहित्यिक रुचि और परिष्कृत विचारोंवाले शाहज़ादा थे। उन्होंने अनेक विद्वानों तथा साहित्यकारों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया, धार्मिक और साहित्यिक विषयों पर गद्य और पद्य में कई पुस्तकें लिखीं, किंतु लगभग सभी रचनाएँ नष्ट हो गईं। केवल दो पुस्तकें ही, जो इतिहास और भूगोल पर लिखी गई हैं, प्राप्त हैं जिनपर उनकी ख्याति आधारित है। **मुख्तसर तारीख-इल-बशर** (मानव का संक्षिप्त इतिहास) एक सार्वभौम इतिहास है जिसमें सन् १३२९ ई० तक का वर्णन है। इसका प्रारंभिक भाग मुख्यतः इब्नी असीर की कृति पर आधारित है। इसका प्रकाशन १८६९ ई० में हुआ।

तकवीम-इल-बुलदान गणित और भौतिक आँकड़ों से युक्त एक वर्णनात्मक भूगोल है जिसका अबुल फ़िदा के बाद के लेखकों ने पर्याप्त मात्रा में अनुसरण किया। इसका संपादन जे० टी० रीनानुद और मकगुकिन द स्लेन ने किया और १८४० ई० में यह पेरिस से प्रकाशित हुआ।

सं०ग्रं०—अबुल फ़िदा के ग्रंथों में आए हुए आत्मचरितात्मक उद्धरणों के अतिरिक्त निम्नलिखित पुस्तकों से उनके विषय में सूचनाएँ मिलती हैं :

कुतुबी फवात : (कैरो, १९५१) भाग १, पृ० ७०; अलदुहार अल-नमीना, इब्न ज़जर अस्क़लानी (हैदराबाद, १९२९), भाग १, पृ० ३७१–३७३; तबाकत-उश-शफीयह सुबकी, भाग ६, पृ० ८४-८५; इंट्रोडक्शन टु दि हिस्ट्री ऑव साइंस; जी सार्टन (बाल्टीमोर, १९४७) भाग ३, पृ० २००, ३०८, ७९३-९। [यू० हु० खाँ]

अबुल फ़ैज़, फ़ैज़ी या फ़ैयाज़ी

सन् १५४७ में आगरे में जन्म। अबुल फज़्ल के बड़े भाई और अकबरी दरबार के कविसम्राट्। वे कम उम्र में ही अरबी साहित्य, काव्य और ओषधियों की जानकारी के कारण मशहूर हो गए थे। २० वर्ष की आयु में ही उनकी काव्यरचना की ख्याति अकबर के कानों में पड़ी और तभी उन्हें अकबर के दरबारी कवियों में स्थान मिल गया। ३० वर्ष की आयु में वे **मलिक-उश-शुअरा** (कविसम्राट्) के पद पर नियुक्त हुए। अपने भाई अबुल फ़ज्ल के ही समान वे स्वतंत्र विचारक थे और उन्होंने अकबर के धार्मिक विचारों और नीतियों का समर्थन किया। सन् १५७९ ई० में उन्होंने अकबर के लिये पद्यात्मक **खुतबा** तैयार किया। उसी साल अकबर के द्वितीय पुत्र मुराद के शिक्षक के पद पर उनकी नियुक्ति हुई। **अकबरनामा** में उद्धृत पद्यों में उन्होंने अपने को तीनों शाहजादों का शिक्षक बतलाया है। जब १५८० ई० में सम्राट् अकबर काश्मीर गए तब अपने साथ फ़ैज़ी को भी लेते गए थे। १५९१ ई० में सम्राट् ने दकन के राज्यों के लिये 'मिशन' भेजने का निश्चय किया। फ़ैज़ी बुरहानपुर के राजदूत चुने गए। १५ अक्टूबर, १५९५ ई० को आगरे में उनकी मृत्यु हुई। उनकी मृत्यु के बाद उनकी पुस्तकों का महत्वपूर्ण संग्रह जो ४,६०० भागों में है, राजकीय पुस्तकालय में भेज दिया गया। इस संग्रह में दर्शन, संगीत, ज्योतिष, गणित, कविता, ओषधि, इतिहास, धर्म आदि अनेक विषयों पर लिखी गई रचनाएँ हैं।

फ़ैज़ी को अमीर खुसरो के बाद द्वितीय महान् भारत-ईरानी कवि माना जाता है। शाह अब्बास के दरबारी कवियों ने भी उनकी उत्कृष्ट काव्य-रचना, उदात्त विचारों, और अधिकारपूर्ण लेखनशैली की प्रशंसा की है। बदायूनी का कथन है कि काव्य, पहेली, छंदशास्त्र, इतिहास, भाषाविज्ञान और ओषधियों के विषय में फ़ैज़ी अपने समय में अद्वितीय थे। अरबी और फ़ारसी के अतिरिक्त वे संस्कृत के भी अगाध पंडित थे।

बदायूनी और बख्तावर खाँ (मिरत-उल-आलब) के अनुसार फ़ैज़ी की १०१ रचनाएँ हैं। कहा जाता है कि उन्होंने ५०,००० कविताएँ लिखी हैं। उनकी अनेक रचनाएँ अप्राप्य हैं। महत्वपूर्ण पुस्तकों में निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं : (१) **सवती-उल-इहाम** अरबी में लिखित कुरान की टीका (मुद्रित)। (२) **नल-दमन** नल-दमयंती की प्रेमकथा (मुद्रित)। (३) **लीलावती**, अंकगणित की एक संस्कृत रचना का फारसी अनुवाद (मुद्रित)। (४) **मरकाज-ए-अदवार**, निजाम लिखित **मखज़न-उल-असरार** के अनुकरण पर एक **मसनवी** (मुद्रित)। (५) **ज़फ़र-नामा-ए-अहमदाबाद**, अकबर की अहमदाबाद विजय पर एक मसनवी (ब्रिटिश म्यूजियम में रखी हस्तलिखित प्रति)। (६) **शारीक-उल-मारीफ़त**; संस्कृत ग्रंथों के आधार पर वेदांत दर्शन पर एक समीक्षा (इंडिया आफिस कैटलॉग, १९५७, हस्तलिखित प्रति)। (७) **महाभारत** के द्वितीय पर्व का अनुवाद, (इंडिया ऑफिस कैटलॉग, नं० २९२२)। (८) **लतीफ़-ए फ़ैयाज़ी** सम्राट्, फ़ैयाज़ी के रिश्तेदारों, समसामयिक विद्वानों, संतों, वैद्यों आदि को लिखे गए फ़ैयाज़ी के पत्रों का संग्रह, फ़ैयाज़ी के भतीजे नूरुद्दीन मुहम्मद द्वारा संपादित (इंडिया आफिस, अलीगढ़, रामपुर तथा अन्य पुस्तकालयों में प्राप्य हस्तलिखित प्रतियाँ)।

सं०ग्रं०—आईन-ए-अकबरी, पृ० २३५-२४२; मुंतखाब-उल्-तवारीख, भाग २, पृ० ४०५-६; मआसिर-उल्-उमरा, भाग २, पृ०

५८४-९०; शीर-उल्-आजम शिब्ली (आजमगढ़, १९४५, उर्दू में लिखित) भाग ३, पृ० २८-७२; मुहम्मद हुसेन आजाद: दरबार-ए-अकबरी (लाहौर, १९२२, उर्दू में लिखित), पृ० १००-१०६; एम० ए० ग़नी: ए हिस्ट्री ऑव रशियन लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर ऐट मुग़ल कोर्ट (अकबर) (इलाहाबाद, १९३०) पृ. ३९-६७. [यू० हु० खाँ]

अबू उबैदः, मउमर बिन बिल् मसन्नी

अबू उबैदः का जन्म बसरा में हुआ था। यह यहूदी-ईरानी नसल का था। इसने अपने लेखों में दयालु अरबों के विरुद्ध शुऊबी आंदोलन का साथ दिया। इस कारण कुछ लोग भूल से इसे 'खारिजी' (त्यक्त) कहते है। इसके अध्ययन का विशेष विषय अरबी भाषा की बारीकियाँ, अरबी के अर्थ तथा वर्णन में नवीन योजनाएँ, अरबों का बीता हुआ इतिहास तथा उनकी आपसी विभिन्नताएँ एवं विरोध है। यह पहला आदमी है जिसने नई विद्या पर पुस्तक लिखी। इसकी रचना 'मजाज़ुलकुरान' प्रसिद्ध है। यह व्यंग्य तथा हास्य में भी अद्वितीय था। इतनी विद्वत्ता के रहते हुए भी यह अरबी शेरों तथा कुरान की आयतों को शुद्धरूप में नहीं पढ़ सकता था। इसने लगभग दो सौ पुस्तकें लिखी है, जिनकी केवल अधूरी सूची मिलती है। खलीफ़ा हारूँअल्रशीद के बुलाने पर यह बग़दाद गया था, जहाँ असमई से इसकी खूब नोक झोंक रही। इसकी मृत्यु सन् २०९ हि०, सन् ८२४ ई० में हुई। [आर० आर० शे०]

अबूतमाम, हबीब बिन औसुत्ताई

दमिश्क के पास जासिम गाँव में इसका जन्म हुआ। यह गाँव से दमिश्क जाकर वस्त्र बुनने का काम करने लगा। दमिश्क से हम्स जाकर इसने शिक्षा प्राप्त की। फिर मिस्र चला गया, जहाँ जामेअ अमरू में लोगों को पानी पिलाने लगा। वहाँ यह विद्वानों की सभाओं में जाता आता था। कुछ समय बाद यह बगदाद गया। खलीफा मुअतसिम ने इसकी कविता की ख्याति सुनकर इसे अपने दरबार में रख लिया। खलीफा के अतिरिक्त मंत्रियो तथा सरदारों पर भी कविता करता था और उनके प्रसाद तथा पुरस्कारों से संतुष्ट था। इसकी अवस्था अभी अधिक नही हुई थी कि मौसल में इसकी मृत्यु हो गई।

अबूतमाम के दीवान में प्रशस्ति, मरसिया, ग़ज़ल, आत्मप्रशंसा आदि सभी प्रकार की कविताएँ मिलती हैं। काव्यशैली वैज्ञानिक तथा दार्शनिक है। यदि हमें एक ओर उसमें उच्च विचार तथा सुकुमार भाव मिलते हैं, तो दूसरी ओर अप्रचलित शब्द और उलझी कल्पनाएँ भी मिलती हैं। इमकी शैली क्लिष्ट हो गई है। अबूतमाम की एक और कृति है, जिस पर इसकी प्रसिद्धि विशेष रूप से आधारित है। यह अरब के कवियों की रचनाओं का संकलन है, जो विभिन्न भागों में बँटा है। इसमें एक भाग हमासः (वीरता) भी है और इसी संबंध से इसने इस संग्रह का नाम 'दीवान अल् हमासः' रखा है। इसका काल सन् १८० हि० से सन् २२८ हि० (सन् ७९६ ई० से सन् ८४३ ई०) तक है। [आर० आर० शे०]

अबूनुवास हसन बिन हामी

अबूनुवास का जन्म खूजिस्तान की राजधानी अहवाज़ में हुआ। इसके माता-पिता साधारण वित्त के थे। यह शुद्ध अरब नहीं था प्रत्युत ईरानी रक्त का मेल था। इसके बाल बहुत बड़े बड़े थे, जो कधों पर लटकते रहते थे। इसी कारण इसने अबूनुवास पदवी ग्रहण की। इसने बसरा तथा कूफा में शिक्षा प्राप्त की और वहाँ से बगदाद पहुँचा। वहाँ यह पहले बरमकों के यहाँ रहा, जिन्होंने इसे बहुत धन दिया। फिर यह हारूँअल्रशीद के दरबार का आश्रित हुआ। स्वभाव से यह ऐय्याश था और मदिरापान की भी इसकी बहुत कमजोरी थी। इस कारण खलीफा ने इससे अप्रसन्न होकर इसे कैद कर लिया। इसे इस कारण बार बार कैद भुगतनी पड़ी। हारूँअल्रशीद की मृत्यु पर खलीफा अमीन ने इसे अपना विशिष्ट कवि नियत कर लिया। इसकी मृत्यु ५४ वर्ष की अवस्था में हुई। मरने से पहले इसने कुकर्मों से तोबा कर लिया था और भक्तिपूर्ण कविता करने लगा था।

अबूनुवास के दीवान में हर प्रकार की कविता के नमूने मिलते हैं, पर इसकी वास्तविक रुचि मदिरा तथा प्रेमवर्णन में है और इस क्षेत्र में यह अपने अन्य समसामयिकों से बहुत आगे बढ़ गया है। उसने पूर्ववर्तियों का अनुगमन बहुत प्रयत्न तथा परिश्रम से किया है, पर उसका वास्तविक रुझान नवीनता की ही ओर है। उसका समय सन् (७६२ ई० से सन् ८१३ ई०) १४५ हि० से १९८ हि० तक है। [आर० आर० श०]

अबू बक्र

उस्मान के पुत्र जिनके उपनाम 'सिद्दीक' और 'अतीक' भी थे। सुन्नी मुसलमान इनको चार प्रमुख पवित्र खलीफाओं में अग्रणी मानते हैं। ये पैगंबर मुहम्मद के प्रारंभिक अनुयायियों में से थे और इनकी पुत्री आयशा पैगंबर की चहेती पत्नी थी। उन्होंने ४०,००० दिरहम की पूंजी से व्यापार आरंभ किया था जो उस समय घटकर ५००० दिरहम रह गई थी जब उन्होंने पैगंबर के साथ मदीना को प्रस्थान किया। पैगंबर की मृत्यु (जून ८, ६३२ ई०) के पश्चात् मदीना के आदिवासियों ने एक सभा में लंबे विवाद के पश्चात् अबू बक्र को पगंबर का खलीफा (उत्तराधिकारी) स्वीकार किया। ये उस समय ६० वर्ष के, इकहरे शरीर, किंतु प्रबल साहस और शक्तिवाले विनम्र व्यक्ति थे। उन्हें देखकर गुमान भी नहीं होता था कि वह अपनी दो वर्ष और तीन मास की खिलाफत की छोटी सी अवधि में इस्लाम को इतिहास के सबसे बड़े खतरों से बचा सकेंगे।

पैगंबर की मृत्यु होते ही मक्का, मदीना और ताइफ़ नामक तीन नगरों के अतिरिक्त समस्त अरब प्रदेश इस्लाम विमुख हो गया। पगंबर द्वारा लगाए गए करों और नियुक्त किए गए कर्मचारियों का लोगों ने बहिष्कार कर दिया। तीन अप्रामाणिक पुरुष पैगंबर तथा एक अप्रामाणिक स्त्री पैगंबर अपना पृथक् प्रचार करने लगे। अपने घनिष्ठतम मित्रों के परामर्श के विरुद्ध अबू बक्र ने विद्रोही आदिवासियों से समझौता नहीं किया। ११ सैनिक दस्तों की सहायता से उन्होंने समस्त अरब प्रदेश को एक वर्ष में नियंत्रित किया। मुसलमान न्यायपंडितों ने धर्मपरिवर्तन के अपराध के लिये मृत्युदंड निश्चित किया है, किंतु अबू बक्र ने उन सब जातियों को क्षमा कर दिया जिन्होंने इस्लाम और उसकी केंद्रीय शक्ति को पुनः स्वीकार कर लिया।

पदारोहण के एक वर्ष के भीतर ही अबू बक्र ने खालिद (पुत्र वलीद) को, जो संसार के सर्वोत्तम सेनापतियों में से था, आज्ञा दी कि वह मुसन्ना नामक सेनापति के साथ १८,००० सैनिक लेकर इराक पर चढ़ाई करे। इस सेना ने ईरानी शक्ति को अनेक लड़ाइयों में नष्ट करके बाबुल तक, जो ईरानी साम्राज्य की राजधानी मदाइन के निकट था, अपना आधिपत्य स्थापित किया। इसके बाद खालिद ने अबू बक्र के आज्ञानुसार इराक से सीरिया की ओर कूच किया और वहाँ मरुस्थल को पार करके वह ३०,००० अरब सैनिकों से जा मिला और १००, ००० बिजंतीनी सेना को फिलस्तीन के अजन दैइन नामक स्थान पर परास्त किया (३१ जुलाई, ६३४ ई०)। कुछ ही दिनों बाद अबू बक्र का देहांत हो गया (२३ अगस्त, ६३४)।

शासनव्यवस्था में अबू बक्र ने पैगंबर द्वारा प्रतिपादित गरीबी और आसानी के सिद्धांतों का अनुकरण किया। उनका कोई सचिवालय और राजकीय कोष नहीं था। कर प्राप्त होते ही व्यय कर दिया जाता था। वह ५००० दिरहम सालाना स्वयं लिया करते थे, किंतु अपनी मृत्यु से पूर्व उन्होंने इस धन को भी अपनी निजी संपत्ति बेचकर वापस कर दिया।

सं० ग्रं०—म्योर: कैलिफेट; उर्दू-तबरी के इतिहासों का अनुवाद, जैसे इब्ने अहसीर (हैदराबाद में मुद्रित) तथा इब्ने खलदून। [मु० ह०]

अबू सिंबेल, इप्संबुल

नूबिया में नील नद के तट पर कोरोस्को के दक्षिण प्राचीन मिस्री फराऊन रामेसेज़ द्वितीय द्वारा ई० पू० १३वीं सदी के मध्य निर्मित मंदिरों का परिवार। इन मंदिरों की संख्या तीन है जिनमें से प्रधान फराऊन सेती के समय बनना आरंभ हुआ था और उसके पुत्र के शासन में समाप्त हुआ। तीनों मंदिर चट्टानों को काटकर बनाए गए है और इनमें से कम से कम प्रधान मंदिर तो प्राचीन जगत् में अनुपम है। मंदिरों के सामने रामेसेज़ की चार विशालकाय बैठी युग्म मूर्तियाँ द्वार के दोनों ओर बनी हुई हैं; ये प्रायः ६५ फुट ऊँची हैं। रामेसेज़ की मूर्तियों के साथ उसकी रानी और पुत्र पुत्रियों की भी मूर्तियाँ कोरकर बनी हैं। मंदिर सूर्यदेव आमेनरा की आराधना के लिये बने थे। मंदिर के भीतर चट्टानों में ही कटे अनेक बड़े

बड़े पौने दो दो सौ फुट लंबे चौड़े हाल हैं जिनमें ठोस चट्टानों से ही काटकर अनेक मूर्तियाँ बना दी गई हैं। उनमें राजा की कीर्ति और विजयों की वार्ताएँ दृश्यों में खोदकर प्रस्तुत की गई हैं। अबू सिंबेल के ये मंदिर संसार के प्राचीन मंदिरों में असाधारण महत्व के हैं। [ग्रां० ना० उ०]

अबू हनीफा अननुमान (६९९-७७६ ई०) अबू हनीफा अननुमान (साबित के बेटे) सुन्नी न्यायशास्त्र (फ़िक़) की प्रारंभिक चार पद्धतियों—हनफी, मालिकी, शाफ़ई और हंबली—में से हनफी के प्रवर्तक, इमामे-आजम के नाम से प्रसिद्ध थे। हनफी न्यायपद्धति लगभग सभी अरबेतर सुन्नी मुसलमानों में प्रचलित है।

इमाम के पितामह दास के रूप में ईरान से कूफ़ा लाए गए और वे वहाँ स्वतंत्र कर दिए गए। इमाम के पिता कपड़े के प्रसिद्ध व्यापारी थे और इमाम ने अपने जीवन को पठन-पाठन में व्यतीत करते हुए पिता के पेशे को ही अपनाया। वे हम्माद के शिष्य थे। ७३८ ई० में हम्माद की मृत्यु के बाद उनके पद पर आसीन हुए और शीघ्र ही मुसलमानी न्यायशास्त्र के सबसे महान् पंडित के रूप में विख्यात हुए। उनके शिष्य दूर दूर तक मुस्लिम जगत् में फैले और न्याय के चोटी के पदों पर नियुक्त हुए। इमाम की मृत्यु पर ५०,००० से भी अधिक शिष्य आखिरी नमाज में संमिलित हुए।

अबू हनीफा की महत्ता उन सिद्धांतों और प्रणालियों में परिलक्षित होती है जिनको स्वीकार करके उन्होंने एक ऐसी न्यायपद्धति की व्यवस्था की जिसमें धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष दोनों ही प्रकार के सार्वभौम मुसलमानी नियमों का समावेश था। उनकी पद्धति मक्का तथा मदीना की रूढ़िवादी पद्धति (रवायात) से भिन्न थी। जहाँ कुरान या पैगंबर का मत (हदीस) स्पष्ट था, इमाम ने उसे स्वीकार किया, और जहाँ वह स्पष्ट नहीं था, वे साम्य (क़यास) स्थापित करते थे। किंतु यदि हदीस अप्रामाणिक, अशक्त या अविश्वसनीय हो तो युक्ति पर भरोसा करने की उन्होंने सलाह दी। इमाम ने धार्मिक तथा धर्मनिरपेक्ष मामलों को पृथक्पृथक् कर दिया। धर्मनिरपेक्ष मामलों में पैगंबर के मत को न माना। पैगंबर ने कहा था कि "यदि मैं धार्मिक मामलों में आज्ञा दूँ तो मानो, किंतु यदि मैं और मामलों में आज्ञा दूँ तो मैं भी तुम्हारी ही तरह मात्र मनुष्य हूँ"। अबू हनीफा ने कोई किताब नहीं लिखी, किंतु लगभग ३० वर्षों तक अनुयायियों के साथ किए न्याय के आधार पर उनके १२,९०,००० कानूनी नियमों का संकलन उपलब्ध है। मूल ग्रंथ लुप्त हो चुका है, किंतु उसके आधार पर इमाम के शिष्यों द्वारा लिखी गई पुस्तकें हनीफ़ा न्यायपद्धति के आधार हैं। खेद की बात है कि इमाम के अनुयायियों ने उनके इस प्रमुख सिद्धांत की अवज्ञा की और कानून को देश तथा काल के अनुकूल ढालने का उनका कलाम न माना। अबू हनीफा को दो बार काजी का पद अस्वीकार करने के अपराध में कारावास का दंड दिया गया। पहली बार कूफा के शासक यजीद द्वारा और दूसरी बार खलीफा मंसूर द्वारा। आध्यात्मिक स्वतंत्रता की रक्षा अविचल रहकर कारावास में भी उन्होंने अपने प्राणत्याग तक की।

सं०ग्रं०—मौलाना शिबली: सीरतुन-नौमान (१८९३)। [मु० ह०]

अबे, एडविन, आस्टिन (१८५२-१९११), संयुक्त राज्य अमरीका का चित्रकार जो फ़िलाडेल्फिया में उत्पन्न हुआ था। ललित कलाओं की पेंसिलवेनिया अकादमी से चित्रणकला सीखकर उसने पुस्तकों को सचित्र करने का कार्य शुरू किया। राबर्ट हेरिक, गोल्डस्मिथ, शेक्स्पियर आदि की कृतियों को सचित्र करने से उसकी खासी ख्याति हुई। उसके जलचित्र और पेस्टल-चित्र भी बड़े सफल हुए। १८९८ ई० में वह आर० ए० (रायल अकादमी का सदस्य) हो गया। उसके जलचित्रों में प्रधान 'टोनहिन आँख', 'अक्तूबर का गुलाब,' 'पुराना गीत' हैं; वैसे ही पेस्टल-चित्रों में प्रधान 'बीट्रिस' और 'फिलिस' हैं। उसके तैलचित्रों में सुंदरतम शायद 'मई की एक सुबह' है। उसने भित्तिचित्रण भी किए। बोस्टन संग्रहालय में सुरक्षित उसके चित्र 'पवित्र ग्रेल की खोज' तो प्रभूत सुंदर बन पड़ा है।

[भ० श० उ०]

अबेग रिचार्ड अबेग (१८६९-१९१०) ब्रेस्लाव में प्रोफेसर तथा प्रसिद्ध वैज्ञानिक थे। इनका जन्म डैनजिग तथा प्रशिक्षण बर्लिन में हुआ था। थोड़ी आयु से ही वैज्ञानिक कार्यों में इनकी बहुत रुचि थी और अपने घर में इन्होंने एक छोटी सी प्रयोगशाला भी बना ली थी, जिसको इनकी माँ, रासायनिक पदार्थों की दुर्गंध के कारण, पसंद नहीं करती थी। आगे चलकर बड़े बड़े वैज्ञानिकों, जैसे ओस्टवाल्ड तथा अरेंहिनियस, के संपर्क में आने का इनको अवसर मिला। इन्होंने अपनी सैनिक शिक्षा के अवसर पर गुब्बारे की उड़ान में भाग लिया, जो इन्हें अति रुचिकर प्रतीत हुई। बाद में भी इस तरह की उड़ानों में ये भाग लेते रहे; इसी में इन्हें अपनी जान भी गँवानी पड़ी।

भौतिक रसायन के कई विषयों पर इन्होंने अनुसंधान किया। अबेग विख्यात लेखक भी थे। ये 'हैंडबुक डर एनार्गेनिशेन् केमी' तथा 'साइट्स-श्रिफ़्ट फ़ूर इलेक्ट्रोकेमी' नामक पत्रिका के संपादक थे।

सं०ग्रं०—हेनरी मॉन माउथ स्मिथ : टॉर्च बेअरर्स ऑव केमिस्ट्री; डब्लू० रैमज़े : जर्नल ऑव केमिकल सोसाइटी (१९११)।

[वि० वा० प्र०]

अबेनेज्रा अबेनेज्रा का वास्तविक नाम इब्न एजरा और पूरा नाम अब्राहम बिनमेअर इब्न एजरा था। उसका जन्म सन् १०९३ ईसवी में हुआ और मृत्यु सन् ११६७ में हुई। वह तोलेदो (स्पेन) में पैदा हुआ था। अपने समय का वह प्रसिद्ध यहूदी कवि और विद्वान् माना जाता है। अपनी जन्मभूमि में यथेष्ट कीर्ति उपार्जित कर सन् ११४० में वह भ्रमण के लिये निकला। सबसे पहले वह उत्तरी अफ्रीका के देशों में गया। कुछ वर्षों तक वहाँ ठहरने के पश्चात् वह इटली, फ्रांस और इंग्लैंड भी गया। लगभग २५ वर्ष तक विदेशों में रहकर उसने अपनी विद्वत्ता की कीर्तिध्वजा फहराई। वह उच्च कोटि का विचारक और जनप्रिय कवि था। आधुनिक इब्रानी व्याकरण के जनक हय्यूज की पुस्तकों का उसने अरबी से इब्रानी भाषा में अनुवाद किया और स्वयं उनपर टीकाएँ लिखीं। अबेनेज्रा की रचनाओं में दर्शन, गणित, ज्योतिष आदि विषयों के ग्रंथ हैं। किंतु उसकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण यहूदी धर्मग्रंथों पर लिखी उसकी टीकाएँ है। पुराने अहदनामे के प्रमुख यहूदी पैगंबरों की पुस्तकों पर अबनेज्रा के भाष्य बड़े चाव से पढ़े जाते हैं।

सं०ग्रं०—जे० जैकस : जूइश कांट्रीब्यूशन टु सिविलिज़ेशन।

[वि० ना० पां०]

अबोर की पहाड़ियाँ हिमालय पर्वत के अंश हैं जो आसाम की उत्तरी सीमा पर पश्चिम में सिग्रोम नदी तथा पूर्व में डिबंग के बीच फैली हुई हैं। यहाँ पर अबोर (जिसका अर्थ आसामी भाषा में 'असभ्य' होता है) जाति निवास करती है। भूमि प्रायः घने जंगलों से ढकी है जिनके बीच से होकर नदियाँ बहती हैं। अबोर लोग दो समूहों में विभाजित किए जा सकते हैं—(१) पासीमेआँग, जो पश्चिम में मिरी पहाड़ियों तथा पूर्व में डिहंग नदी से घिरे हुए भागों में रहते हैं और (२) बोर अबोर, जो डिहंग तथा डिबंग के बीच में रहते हैं। अबोर नाटे कद के तथा पुष्ट होते हैं। [न० ला०]

अबोहर पंजाब राज्य के फिरोजपुर जिले की फाजिल्का तहसील का एक प्रसिद्ध तथा प्राचीन ऐतिहासिक नगर है, जो ३०°९' उ० अक्षांश तथा ७४°१६' पू० देशांतर रेखाओं पर दिल्ली से मुल्तान जानेवाले मार्ग पर स्थित है। इब्नबतूता यहाँ सन् १३४१ ई० में आया था, जिसने इसे हिंदुस्तान का प्रथम नगर बताया था। यहाँ एक विशाल दुर्ग के कुछ अवशेष हैं, जिनसे ऐसा प्रकट होता है कि किसी काल में यह नगर पर्याप्त विख्यात रहा होगा। सरहिंद नहर द्वारा सिंचाई का साधन उपलब्ध हो जाने तथा सन् १८९७ ई० में दक्षिण-पंजाब रेलवे खुल जाने से यह नगर बहुत उन्नति कर गया है। यहाँ अन्न तथा ऊन की बहुत बड़ी मंडी है। यहाँ एक आरोग्यशाला तथा हाई स्कूल है। यहाँ का हिंदी साहित्य सदन पुस्तकालय तथा जलकार्यालय दर्शनीय हैं। कपास से बिनौला निकालने तथा कपास दबाने के कारखाने भी यहाँ हैं। क्षेत्रफल १·०८८ वर्गमील, जनसंख्या २५,४७६ (१९५१)। [न० ला०]

अब्दुर्रहीम खाँ खानखानाँ, नवाब जन्म लाहौर में १४ सफर, सन् ९६४ हि०, १७ दिसंबर, सन् १५५६ ई०। पिता बैराम खाँ के गुजरात में मारे जाने पर यह दिल्ली लाए गये और सम्राट् अकबर ने इनकी रक्षा का भार स्वयं ग्रहण कर लिया। वह स्वयं प्रतिभाशाली थे इसलिए अति शीघ्र तुर्की, फारसी, संस्कृत, हिंदी आदि कई भाषाओं के ज्ञाता हो गए। यह फारसी, हिंदी तथा संस्कृत के सुकवि और साहित्य-मर्मज्ञ भी हो गए। तीनों भाषाओं में इनकी प्रचुर कविता मिलती है। तुर्की से फारसी में बाबरनामा का अनुवाद भी इन्होंने किया है। यह बीस वर्ष की अवस्था में अपनी योग्यता के कारण गुजरात के शासक नियत हुए, जिस पद पर पाँच वर्ष रहे। इसके अनंतर मीर अर्ज तथा सुलतान सलीम के अभिभावक नियुक्त किए गए। सन् १५८३ ई० में गुजरात में सरखेज के युद्ध में शत्रु की चौगुनी सेना को पूर्णतया परास्त कर दिया, जिससे इन्हें पाँचहजारी मंसब तथा खानखानाँ की पदवी मिली। सन् १५९२ ई० में यह मुल्तान के प्रांताध्यक्ष नियत हुए और इन्होंने सिंध तथा ठट्टा विजय किया। सन् १५९५ ई० में ये दक्षिण भेजे गए, जहाँ इन्होंने अहमदनगर घेरा। सन् १५९७ ई० की फरवरी में सुहेल खाँ के अधीन दक्षिण के तीन सुलतानों की सम्मिलित सेनाओं को आष्टी के मैदान में घोर युद्ध करके परास्त किया। सन् १६०० ई० में अहमदनगर विजय किया और बरार के प्रांताध्यक्ष नियत हुए। जहाँगीर के राज्यकाल में प्रायः ये अंत तक दक्षिण ही में नियत रहे, पर शाहजादों तथा अन्य सरदारों के विरोध से कोई अच्छा कार्य नहीं कर सके। शाहजहाँ के विद्रोह करने पर इन्होंने एक प्रकार से उन्हीं का पक्ष लिया, पर इस दुरंगी चाल का यही फल निकला कि इनके कई पुत्र-पौत्र मार डाले गए। महावत खाँ के विद्रोह पर उसका पीछा करने के लिए यह नियत हुए, पर दिल्ली में बीमार होकर सन् १०३६ हि०, सन् १६२७ ई० में मर गए।

यह बड़े सच्चरित्र, उदार तथा गुणग्राहक थे और इनके संबंध में इनकी बहुत-सी कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। दोहावली, नगरशोभा, मदनाष्टक आदि हिंदी रचनाएँ विख्यात हैं। रहीम कवि के नीतिपरक दोहे प्रसिद्ध हैं तथा इन्होंने कृष्णभक्ति संबंधी कुछ पदों की भी रचना की थी जो अत्यंत भावपूर्ण हैं। अवधी में उनकी बरवै नायिकाभेद नामक रचना प्रसिद्ध है। अपनी उक्तियों के वैचित्र्य से उन्होंने बिहारी जैसे कवि को प्रभावित किया।

सं० ग्रं०—१. मआसिरे रहीमी, २. मुगल दरबार भाग २, ३, रहिमन विलास। [ब्र० दा०]

अब्दुल हक़ हापुड़ में जन्म १८६९ ई० में, शिक्षा अधिकतर अलीगढ़ में प्राप्त की और वहीं से १८९४ ई० में बी० ए० पास किया। १८९६ ई० में हैदराबाद राज में नौकरी मिल गई। लिखने की रुचि विद्यार्थी जीवन से ही थी। १८९६ ई० में एक पत्रिका "अफ़सर" निकाली। दक्षिण भारत में रहने के कारण इसका अवसर मिला कि वह प्रारंभिक "दक्खिनी उर्दू" की खोज करें। इसमें उनको बड़ी सफलता मिली। जब वह १९११ ई० में अंजुमने तरक्की उर्दू के मंत्री बनाए गए तब उनके गवेषणापूर्ण कामों में और उन्नति हुई। उसमानिया विश्व-विद्यालय में अनुवाद का जो विभाग बना उसकी देखरेख भी अब्दुल हक़ के ही हाथ में दी गई। १९२१ ई० से उन्होंने 'उर्दू' नाम से एक बहुत ही उच्च कोटि की आलोचनात्मक और खोजपूर्ण पत्रिका निकाली जो आज भी निकल रही है। कुछ समय तक वह उसमानिया विश्वविद्यालय में उर्दू विभाग के अध्यक्ष भी रहे।

१९३६ ई० में वह देहली चले आए। कुछ समय तक महात्मा गांधी के हिंदुस्तानी आंदोलन के साथ भी रहे। १९३७ ई० में इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से उन्हें आनरेरी डाक्ट्रेट मिली। भारतवर्ष का बँटवारा होने के बाद मौलाना अब्दुल हक़ (जिनको कुछ लोग "बाबा-ए-उर्दू" भी कहने लगे थे) पाकिस्तान चले गए। वहाँ भी "अंजुमने-तरक्की उर्दू" का संचालन यही कर रहे हैं।

उनकी रचनाओं में मरहूम देहली कालेज, मरहठी पर फारसी का असर, उर्दू नशव व नुमा में सूफियाए किराम का थाम, नुसरती, कवायदे उर्दू, मुकद्दमाते अब्दुल हक़ और खुतबाते अब्दुल हक़ प्रसिद्ध हैं।

सं० ग्रं०—अब्दुल लतीफ़: जौहरे अब्दुल हक़; रामबाबू सक्सेना: तारीखे-अदबे उर्दू; डा० एजाज हुसेन: मुख्तसर तारीख अदबे उर्दू। [सै० ए० हु०]

अब्बादीदी अरबों का वह खानदान जिसने सेविल में सन् १०२३ ई० में एक स्वतंत्र राज्य कायम किया। उस घराने के संस्थापक सेविल के काजी अबुलकासिम मोहम्मद बिन इस्माइल थ। इनके पुरखे शाम देश से स्पेन आए थे। इनका राज्य बड़ा तो न था, फिर भी आसपास की रियासतों में सबसे शक्तिशाली था। अबुल कासिम ने स्पेन और अरब के मुसलमानों को बर्बरों के विरुद्ध संगठित कर दिया। उनका पुत्र ऐबाद स्पेन के मुसलमान खानदानों के इतिहास में बहुत प्रसिद्ध हो गया है। वह स्वयं कवि और विद्वानों का संरक्षक था, पर वह जालिम और कठोरहृदय भी था। वह अपने विरोधियों को निर्दयता से कुचल दिया करता था। वह शत्रुओं की खोपड़ियाँ जमा किया करता था। प्रसिद्ध लोगों की खोपड़ियाँ वह बक्सों में सुरक्षित रखता और साधारण लोगों की खोपड़ियों के दीवट या गुलदान बनवाया करता था। उसका सारा बल अपने समय के लोगों से लड़ने में खर्च हुआ। उसकी मौत (१०६९ ई०) के बाद से इस घराने का विनाश आरंभ हुआ। इस कुल के अंतिम राजा अलमोतमिद को ईसाई राजा अलफान्सो चतुर्थ ने पराजित किया और उसकी मौत मराकश में कैद में हुई। [मु० अ० अं०]

अब्बासी इस नाम से तीन घराने इतिहास में विख्यात हैं। अब्बासी खलीफा, ईरान के शफवी बादशाह और सूदान का एक राज-कुल। अब्बासी खलीफाओं ने बगदाद को अपनी राजधानी बनाया था। वे अब्बास बिन अब्दुल मुत्तलिब बिन हाशिम की संतान थे। अल अब्बास की औलाद ने खोरासान को अपना ठिकाना बनाया और उनके पौत्र मोहम्मद बिन अली ने बनी ओमय्या को जड़ से उखाड़ फेंकने की पूरी तैयारियाँ कर ली थीं। वह अपने प्रयत्न में सफल रहे और ७४७ ई० में खोरासान में विद्रोह हुआ। बनी ओमय्या की सेना पराजित हुई। ७४९ में अबुल अब्बास ने खिलाफत का दावा किया और अलसफ्फाह यानी खूनी का नाम धारण करके बनी ओमय्या के एक एक आदमी को तलवार के घाट उतार दिया। इस कुटुंब का एक व्यक्ति अब्दुल रहमान बिन मोआविया अपनी जान बचाकर स्पेन भाग गया और करतबा में बनी ओमय्या का राज स्थापित कर लिया। अबू जाफरिल मंसूर ने बगदाद को अपनी राजधानी बनाकर राजनैतिक केंद्र को पूर्व की ओर हटा दिया। इस नए घराने ने ज्ञान-विज्ञान की रक्षा में बड़ा हिस्सा लिया परंतु इतने बड़े राज्य में एकता को केंद्रित करना आसान काम न था। ७८८ ई० में इद्रीस बिन अब्दुल्लाह ने मराकश में एक अलग स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। खैरवान को भी स्वतंत्रता मिल गई। खोरासान में वहाँ के शासक ताहिर जुल मनन ने ८१० ई० में खलीफा की अधीनता मानने से इनकार कर दिया और ८६८ ई० में मिस्र के शासक ने भी अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी।

खलीफा अल् मोत्तसिम (८३३-४२) ने तुर्क दासों की एक शरीर-रक्षक सेना बनाई और इस अब्बासी घराने की अवनति शुरू हो गई। तुर्क दासों का बल राजनीतिक कार्यों में धीरे धीरे बढ़ता गया। खलीफा अल मुक्तदर ने ९०८ ई० में मुनिस को, जो तुर्क शरीररक्षक सेना का अध्यक्ष था, अमीरुल उमरा की उपाधि दी और उसी के साथ साथ सारे राजनीतिक अधिकार उसे सौंप दिए। जब फातमी खानदान मिस्र में अपनी शक्ति बढ़ा रहा था, तब अब्बासी खलीफाओं के धार्मिक कार्यों को भी बड़ा धक्का पहुँचा। अब्बासी खिलाफत के पूर्वी क्षेत्र में कई स्वतंत्र राज्य बन गए जिनमें प्रधान तुर्किस्तान में सल्जुको का था। जब तुर्की का प्रभाव बढ़ा तब खलीफा के राज्य की हद बगदाद नगर और उसके निकटवर्ती क्षेत्र में सीमित हो गई।

बगदाद पर १२५८ ई० में हलाकू ने आक्रमण कर अल् मोतसिम का वध कर दिया। अब्बासियों का कुटुंब तितर बितर हो गया और लोगों ने भागकर मिस्र में शरण ली। फातिमी सुलतानों ने उन्हें खलीफा अवश्य मान लिया, मगर उनका राजनीतिक या धार्मिक मामलों में कुछ भी प्रभाव न रहा। १५१७ ई० में उस्मानी तुर्क सलीम प्रथम की अधीनता में मिस्र पर आक्रमण करके शाही खानदान का अंत कर दिया गया। वह आखिरी

अब्बासी खलीफा अल् मोतवक्किल को कुस्तुंतुनिया ले गया और उससे एक एकरारनामे पर हस्ताक्षर कराए जिसमें उसने समस्त राजनीतिक और धार्मिक अधिकार त्याग देने की घोषणा की। सलीम ने अल् मोतवक्किल को फिर मिस्र लौट जाने की आज्ञा दे दी, जहाँ पहुँचकर वह १५३८ ई० में मर गया। इस कुटुंब में २७ खलीफा हुए, जिनमें हारूँनूरशीद और मामूनूरशीद के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। [मु० अ० अं०]

अब्राबानेल, इसहाक यह प्रसिद्ध यहूदी राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, धर्मशास्त्री और भाष्यकार सन् १४३७ ई० में लिस्बन में पैदा हुआ। उसके परिवार की ओर से यह दावा किया जाता था कि वे लोग प्रसिद्ध यहूदी पैगंबर दाऊद के उत्तराधिकारी हैं। अब्राबानेल की मृत्यु सन् १५०८ ई० में हुई। अब्राबानेल जितना योग्य विद्वान् था उतना ही योग्य राजनीतिज्ञ भी था। शीघ्र ही वह पुर्तगाल के राजा अलफेंजो पंचम का कृपापात्र बन गया। शासन के महत्वपूर्ण कार्य उसे सौंपे जाते थे। अलफेंजो की मृत्यु के बाद उसे पुर्तगाल त्यागकर स्पेन भाग जाना पड़ा, जहाँ वह आठ वर्षों (१४८४-९२) तक स्पेन के राजा फर्दीनांद और सम्राज्ञी इसाबेला के अधीन गृहमंत्री रहा। सन् १४९२ ई० में जब यहूदियों को स्पेन से निकाला गया तो अब्राबानेल नेपुल्स, कोर्फ और मोनोपोली में रहा। सन् १५०३ ई० में वह वेनिस चला गया जहाँ मृत्युपर्यंत, अर्थात् सन् १५०८ तक, वह गृहमंत्री रहा। अब्राबानेल की यह विशेषता थी कि उसने बाइबिल की सामाजिक पृष्ठभूमि का गहरा अध्ययन किया था और चतुराई के साथ अपनी राजनीति में उसको व्यावहारिक रूप देने का गंभीर प्रयत्न किया था। [वि० ना० पां०]

अब्राहम (लगभग १८०० ई० पू०) इब्रानी अर्थात् यहूदी जाति के पितामह। बाइबल में अब्राहम का अर्थ 'बहुत सी जातियों का जनक' माना गया है। ये याहंवेह (या ईश्वर) के आदेश से मेसोपोतेमिया के ऊर तथा हाराम नामक शहरों को छोड़कर कानान और मिस्र चले गए। बाइबल में अब्राहम का जो वृत्तांत मिलता है (उत्पत्ति ग्रंथ, अध्याय ११-२५), उसकी रचना लगभग ६०० ई० पू० में अनेक परंपराओं के आधार पर हुई थी। इसमें संस्कृति और रीति रिवाजों का जो वर्णन है वह हम्मुराबी (ल० १७२८-१६८६ ई० पू०) से बहुत कुछ मिलता जुलता है। इब्रानी तथा हम्मुराबी के बहुत से कानून एक जैसे हैं। आधुनिक खुदाई द्वारा हम्मुराबी का अच्छा परिचय प्राप्त हुआ है।

सारी बाइबिल में अब्राहम का महत्व स्वीकृत है—(१) ये स्वयं यहूदी जाति के प्रवर्तक थे। बाइबिल के अनुसार ईश्वर ने उनको कानान देश दिलाने की प्रतिज्ञा की थी। इनके साथ ईश्वर का जो व्याख्यान हुआ था उसकी स्मृति में यहूदी खतना करते हैं। ईसा अब्राहम के सबसे महान् वंशज हैं। (२) अब्राहम को ईश्वर का दास और मित्र कहा गया है। ईश्वर के आदेश पर ये अपने एकमात्र पुत्र यिशहाक का बलिदान करने के लिये तैयार थे। अब्राहम के द्वारा समस्त जातियों को ईश्वर का आशीर्वाद मिलनेवाला था। वस्तुतः अब्राहम उन समस्त लोगों के आध्यात्मिक पिता माने जाते हैं, जो ईश्वर पर आस्था रखते हैं।

सं० ग्रं०—एच० एच० राउली : रीसेंट डिस्कवरी ऐंड दि पैट्रिआर्कल एज, बुलेटिन ऑव दि जान राइलेनोल्स लाइब्रेरी, सितंबर, १९४९; ई० दोर्मे : अब्राहम दा लि केदर दि ला हिस्तोएर। [वि० ना० पां०]

अब्सलोम दाऊद का तीसरा पुत्र अब्सलोम अपने पिता का अत्यंत दुलारा था। पुरानी पोथी की दूसरी पुस्तक में उसका वर्णन आता है। उसके व्यक्तित्व में अद्भुत आकर्षण था, किंतु वह बेहद अभिमानी और उच्छृंखल था। इसीलिये उसके जीवन का अंत दुखःभरा हुआ। बाइबिल में उसका पहला उल्लेख उस समय का मिलता है जब उसने अपने पिता के ज्येष्ठ पुत्र और अपने सौतेले भाई अमनान की इसलिये हत्या की कि उसने अब्सलोम की सगी बहन तमर के साथ बलात्कार किया था। हत्या के अपराध में उसे निष्कासित भी कर दिया गया था, किंतु अंत में जोब के अनुरोध पर उसे दंडमुक्त कर दिया गया। दाऊद की मृत्यु से पूर्व जब उत्तराधिकार का प्रश्न उठा तो अब्सलोम ने विद्रोह कर दिया। दाऊद को अपने थोड़े से अनुयायियों और अंगरक्षकों के साथ जॉर्डन के पार भाग जाना पड़ा। जुरूसमल के नगर और राज्य के मुख्य भाग पर अब्सलोम का अधिकार हो गया। अब्सलोम ने दाऊद का पीछा किया, किंतु संग्राम में वह बुरी तरह हार गया। स्वयं जोब ने उसका वध किया। ऐसे निकम्मे और विश्वासघाती पुत्र की मृत्यु पर भी दाऊद का प्रेमातुर हृदय शोक से भर गया। [वि० ना० पां०]

अभाव किसी वस्तु का न होना। कुमारिल के अनुसार अभावज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं होता क्योंकि वहाँ विषयेंद्रिय-संबंध नहीं है। अभाव के साथ लिंग की व्याप्ति नहीं होती, अतः अनुमान भी नहीं हो सकता। अभावज्ञान के लिये मीमांसा में अनुपलब्धि नामक अलग प्रमाण माना गया है। न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष से भाव की तरह अभाव का भी ज्ञान होता है। अभावज्ञान के लिये इंद्रियसंबंध की आवश्यकता नहीं होती। जहाँ वस्तु का अभाव होता है वहाँ वस्तु का अभाव उस स्थान का विशेषण बन जाता है। यह अभाव विशिष्ट आधार का ज्ञान प्रत्यक्ष जैसा ही, किंतु विशेष्य-विशेषण-भाव नामक एक अलग संनिकर्ष से, होता है। अतः घर के अभाव का ज्ञान सर्वदा भूतलज्ञान के कारण होता है। बौद्ध दर्शन में अभाव को दिक्कालसापेक्ष कहा गया है। वस्तुतः भावात्मक वस्तु का अभाव के साथ कोई संबंध नहीं है। इसलिये अभावज्ञान संभव नहीं है। जहाँ अभावज्ञान होता है वहाँ किसी न किसी प्रकार का भावात्मक ज्ञान ही होता है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में भावात्मक और अभावात्मक दो प्रकार के पदार्थ माने गए हैं। अभाव उतना ही सत्य है जितना वस्तु का सद्भाव। वैशेषिक दर्शन में चार प्रकार के अभावों का उल्लेख है—(१) प्रागभाव—उत्पत्ति के पूर्व वस्तु का अभाव, (२) प्रध्वंसाभाव—विनाश के बाद वस्तु का अभाव, (३) अन्योन्याभाव—एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव, और (४) अत्यंताभाव—वह अभाव जो सर्वदा वर्तमान हो। [रा० पां०]

अभिकर्ता (व्यापार) वह व्यक्ति है जो किसी अन्य व्यक्ति की ओर से व्यापार संबंधी कार्य करे। अधिकांशतः तो उसका कार्य माल के क्रय, विक्रय अथवा वितरण में अपने प्रधान की सहायता करना है और प्रायः उसका पारिश्रमिक वर्तन (कमीशन) के रूप में होता है। कार्यानुसार अभिकर्ता विभिन्न नामों से पुकारे जाते हैं। क्रेता और विक्रेता के बीच सौदा तय करानेवाला अभिकर्ता दलाल कहलाता है। अपने प्रधान की ओर से माल का क्रय अथवा विक्रय करनेवाले अभिकर्ता को कमीशन एजेंट कहते हैं क्योंकि माल के मूल्य पर कमीशन ही उसका पारिश्रमिक होता है। कभी कभी निर्माता अपने माल का विक्रय बढ़ाने के लिये विभिन्न क्षेत्रों में अभिकर्ता नियुक्त कर देते हैं जो अपने प्रधान के माल के विक्रय की समुचित व्यवस्था करके उसे विक्रय संबंधी समस्याओं से मुक्त कर देते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अभिकर्ताओं का कार्य नीलाम द्वारा माल का विक्रय करना है।

कुछ अभिकर्ता क्रय-विक्रय तो नहीं करते परंतु उनकी क्रियाएँ व्यापारवृद्धि में बहुत सहायक होती हैं और उन्हें पारिश्रमिक वर्तन के रूप में नहीं मिलता। विज्ञापन करनेवाले आयात किए माल को बंदरगाह पर छुड़ानेवाले तथा विदेशों को माल का निर्यात करने में सहायता देनेवाले अभिकर्ता इस श्रेणी में आते हैं।

स्पष्ट है कि अभिकर्ता अपनी विभिन्न सेवाओं से व्यापारी की बहुत सहायता करता है। अपने अधिकारों की सीमा में जो भी कार्य अभिकर्ता अपन प्रधान की ओर से करता है वह प्रधान द्वारा ही किया हुआ समझा जाता है। [रा० गो० स०]

अभिकल्पना किसी पूर्वनिश्चित ध्येय की उपलब्धि के लिये तत्संबंधी विचारों एवं अन्य सभी सहायक वस्तुओं को क्रमबद्ध रूप से सुव्यवस्थित कर देना ही 'अभिकल्पना' (डिज़ाइन) है। वास्तुविद (आर्किटेक्ट) किसी भवन के निर्माण की योजना बनाते हुए रेखाओं का विभिन्न रूपों में अंकन किसी एक लक्ष्य की पूर्ति को सोचकर करता है। कलाकार भी रेखाओं के संयोजन से चित्र में एक

विशेष प्रभाव या विचार उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार इमारती इंजीनियर किसी इमारत में सुनिश्चित टिकाऊपन और दृढ़ता लाने के लिये उसकी विविध मापों को नियत करता है। ये सभी बातें अभिकल्पना के अंतर्गत है।

वास्तुविद का कर्तव्य है कि वह ऐसी व्यवहार्य अभिकल्पना प्रस्तुत करे जो भवननिर्माण की लक्ष्यपूर्ति में सुविधाजनक एवं मितव्ययी हो। साथ ही उसे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इमारत का आकार उस क्षेत्र के पड़ोस के अनुकूल हो और अपने इर्द गिर्द खड़ी पुरानी इमारतों के साथ भी उसका ठीक मेल बैठ सके। मान लीजिए, इर्द गिर्द के सभी मकान मेहराबदार दरवाजेवाले हैं, तो उनके बीच एक सपाट डाट के दरों का, सादे ढंग के सामनावाला मकान शोभा नहीं देगा। इसी तरह यदि आसपास के मकानों के बाहरी भाग नंगी ईंटों के हों, तो उनके बीच पलस्तर किया हुआ मकान अनुपयुक्त सिद्ध होगा। इसी तरह और भी कई बातें हैं जिनका विचार पार्श्ववर्ती वातावरण को दृष्टि में रखते हुए किया जाना चाहिए। दूसरी विशेष बात जो वास्तुविद के लिये विचारणीय है, वह है भवन के बाहरी आकार के विषय में एक स्थिर मत का निर्णय। वह ऐसा होना चाहिए कि एक राह चलता व्यक्ति भी भवन को देखकर बिना पूछे यह समझ ले कि वह भवन किसलिये बना है। जैसे, एक कालेज को अस्पताल सरीखा नहीं लगना चाहिए और न अस्पताल की ही आकृति कालेज सरीखी होनी चाहिए। बंक का भवन देखने में पुष्ट और सुरक्षित लगना चाहिए और नाटकघर या सिनेमाभवन का बाहरी दृश्य शोभनीय होना चाहिए। वास्तुविद को यह सुनिश्चित होना चाहिए कि उसने उस पूरे क्षेत्र का भरपूर उपयोग किया है जिसपर उसे भवन निर्मित करना है।

कलापूर्ण अभिकल्पनाओं के अंतर्गत मनोरंजन अथवा रंगमंच के लिये पर्दे रँगना, अलंकरण के लिये विभिन्न प्रकार के चित्रांकन, किसी विशेष विचार को अभिव्यक्त करने के लिये भित्तिचित्र बनाना आदि कार्य भी आते है। कलाकार की खूबी इसी में है कि वह अपनी अभिकल्पना को यथार्थ आकार दे। चित्र को कलाकार के विचारों की सजीव अभिव्यक्ति का प्रतीक होना चाहिए। चित्र की आवश्यकता के अनुसार कलाकार पेंसिल के रेखाचित्र, तैलचित्र, पानी के रंगों के चित्र आदि बनाए।

इमारतों के इंजीनियर को वास्तुविद की अभिकल्पना के अनुसार ही अपनी अभिकल्पना ऐसी बनानी होती है कि इमारत अपने पर पड़नेवाले सब भारों को सँभालने के लिये यथेष्ट पुष्ट हो। इस दृष्टि से वह निर्माण के लिये विशिष्ट उपकरणों का चुनाव करता है और ऐसे निर्माण-पदार्थ लगाने का आदेश देता है जिनसे इमारत सस्ती तथा टिकाऊ बन सके। इसके लिये इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि निर्माण के लिये सुझाए गए विशिष्ट पदार्थ बाजार में उपलब्ध हैं या नहीं, अथवा सुझाई गई विशिष्ट कार्यशैली को कार्यान्वित करने के लिये अभीष्ट दक्षता का अभाव तो नहीं है। भार का अनुमान करने में स्वयं इमारत का भार, बनते समय या उसके उपयोग में आने पर उसका चल भार, चल भारों के आघात का प्रभाव, हवा की दाब, भूकंप के धक्कों का परिणाम, ताप, संकोच, नींव के बैठने आदि अनेक बातों को ध्यान में रखना पड़ता है।

इनमें से कुछ भारों की गणना तो सूक्ष्मता से की जा सकती है, किंतु कई ऐसे भी हैं जिन्हें विगत अनुभवों के आधार पर केवल अनुमानित किया जा सकता है। जैसे, भूकंप के बल को लें—इसका अनुमान बड़ा कठिन है और इस बात की कोई पूर्वकल्पना नहीं हो सकती कि भूकंप कितने बल का और कहाँ पर होगा। तथापि सौभाग्यवश अधिकतर चल और अचल भारों के प्रभाव की गणना बहुत कुछ ठीक ठीक की जा सकती है।

ताप एवं संकोचजनित दाबों का भी पर्याप्त सही अनुमान पूरे ऋतुचक्र के तापों में होनेवाले व्यतिक्रमों के अध्ययन तथा कंक्रीट के ज्ञात गुणों द्वारा किया जा सकता है। हवा एवं भूकंप के कारण पड़नेवाले बल अंततोगत्वा अनिश्चित ही होते है, परंतु उनकी मात्रा के अनुमान में थोड़ी त्रुटि रहने से प्रायः कोई हानि नहीं होती। निर्माणसामग्री साधारणतः इतनी पुष्ट लगाई जाती है कि दाब आदि बलों में ३३ प्रति शत वृद्धि होने पर भी किसी प्रकार की हानि की आशंका न रहे। नींव के धँसने का अच्छा अनुमान नीचे की भूमि की उपयुक्त जांच से हो जाता है। प्रत्येक अभिकल्पक को कुछ अज्ञात तथ्यों को भी ध्यान में रखना होता है, यथा कारीगरों की अक्षमता, किसी समय लोगों की अकल्पित भीड़ का भार, इस्तेमाल में लाए गए पदार्थों की छिपी संभाव्य कमजोरियाँ इत्यादि। इन तथ्यों को "सुरक्षागुणक" (फ़ैक्टर ऑव सेफ़्टी) के अंतर्गत रखा जाता है, जो इस्पात के लिये २ से २½ तक और कंक्रीट, शहतीर तथा अन्य उपकरणों केलिये ३ से ४ तक माना जाता है। सुरक्षा-गुणक को भवन पर अतिरिक्त भार लादने का बहाना नहीं बनाना चाहिए। यह केवल अज्ञात कारणों (फ़ैक्टर्स) के लिये है और एक सीमा तक ह्रास के लिये भी, जो भविष्य में भवन को धक्के, जर्जरता एवं मौसम की अनिश्चितताएँ सहन करने के लिये सहायक सिद्ध हो सकता है। [ज० कृ०]

अभिजाततंत्र

अभिजाततंत्र अभिजाततंत्र (अरिस्टॉक्रेसी) वह शासनतंत्र है जिसमें राजनीतिक सत्ता अभिजन के हाथ में हो। इस संदर्भ में 'अभिजन' का अर्थ है कुलीन, विद्वान्, बुद्धिमान्, सद्गुणी, उत्कृष्ट। पश्चिम में 'अरिस्टॉक्रेसी' का अर्थ भी लगभग यही है। अफ़लातून और उसके शिष्य अरस्तू ने अपनी पुस्तकों में अरिस्टॉक्रेसी को बुद्धिमान्, सद्गुणी व्यक्तियों का शासनतंत्र माना है।

अभिजाततंत्र का उल्लेख प्रायः अनेक देशों के इतिहास में मिलता है। विद्वानों का मत है कि भारत में भी प्राचीन काल में कुछ अभिजाततंत्र थे। अफ़लातून की सुविख्यात पुस्तक 'रिपब्लिक' में वर्णित आदर्श नगरव्यवस्था सर्वज्ञ दार्शनिकों का अभिजाततंत्र है। इन दार्शनिकों के लिये अफ़लातून ने कौटुंबिक और संपत्ति संबंधी साम्यवाद की व्यवस्था की है।

राज्यदर्शन के इतिहास में धनिकतंत्र को भी कभी कभी अभिजाततंत्र माना गया है। इसके दो कारण हैं। प्रथम, दोनों में शासनसत्ता एक व्यक्ति या समस्त वयस्क नागरिकों के हाथ में न होकर थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में होती है। दूसरे, कुछ का मत है कि धनसंचय चरित्रवान् ही कर सकते हैं और इस प्रकार वह सद्गुण की अभिव्यक्ति है। अनेक आधुनिक समाजशास्त्रियों का मत है कि राजतंत्र और जनतंत्र में भी वास्तव में संप्रभुता थोड़े से व्यक्तियों के ही हाथ में होती है। राजा को शासनसंचालन के लिये चतुर राजनीतिज्ञों की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है। जनतंत्र में भी प्रायः सामान्य जनता को राजनीति में रुचि नहीं होती, वह अनुगामी होती है। शासन की बागडोर जनतंत्र में भी चतुर राजनीतिज्ञों के ही हाथ में होती है और वे धनी होते हैं। वास्तविक राजनीतिक प्रक्रिया में जो संपन्न हैं, वही चतुर हैं, वही राजनीतिज्ञ हैं, प्रशासन और राजनीतिक दलबंदी में उन्हीं का सिक्का चलता है।

किंतु अभिजन की नियुक्ति कैसे हो? यदि जननिर्वाचन द्वारा, तो वह एक प्रकार का जनतंत्र है। यदि अन्य किसी प्रकार से, तो अभिजन शासक संकीर्ण, स्वार्थी, दुर्विनीत और धनप्रिय हो जाते हैं और अपनी क्षमता को परिवर्तित परिस्थिति के अनुरूप नहीं रख पाते।

आज जनतंत्र और अभिजाततंत्र की प्रमुख समस्या यही है कि किसी प्रकार राज्य में धन के वृद्धिशील प्रभाव का निराकरण हो और जनसाधारण बुद्धिमान् सेवापरायण व्यक्तियों को अपना शासक निर्वाचित करें।

सं०ग्रं०—अरस्तू : राजनीति (भोलानाथ शर्मा द्वारा अनुवाद); जायसवाल, के० पी० :'हिंदूपालिटी'; अफलातून : आदर्श नगर व्यवस्था (भोलानाथ शर्मा द्वारा अनुवाद); लुडोवीसी, ए० एम० : दि डिफेंस ऑव अरिस्टॉक्रेसी। [गो० ना० ध०]

अभिधम्म साहित्य

अभिधम्म साहित्य बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके शिष्यों ने उनके उपदिष्ट 'धर्म' और 'विनय' का संग्रह कर लिया। अट्ठकथा की एक परंपरा से पता चलता है कि 'धर्म' से दीघनिकाय आदि चार निकायग्रंथ समझे जाते थे; और धम्मपद सुत्तनिपात आदि छोटे छोटे ग्रंथों का एक अलग संग्रह बना दिया गया था, जिसे 'अभिधर्म' (=अतिरिक्त धर्म) कहते थे। जब धम्मसंगणि आदि जैसे विशिष्ट ग्रंथों का भी समावेश इसी संग्रह में हुआ, जो अतिरिक्त छोटे ग्रंथों से अत्यंत भिन्न प्रकार के थे, तब उनका अपना एक स्वतंत्र पिटक—

अभिधर्मपिटक बना दिया गया और उन अतिरिक्त छोटे ग्रंथों के संग्रह का 'खुद्दक निकाय' के नाम से पाँचवाँ निकाय बना।

'अभिधम्मपिटक' में सात ग्रंथ हैं—धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपंञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान। विद्वानों में इनकी रचना के काल के विषय में मतभेद है। प्रारंभिक समय में स्वयं भिक्षुसंघ में इसपर विवाद चलता था कि क्या अभिधम्मपिटक बुद्धवचन है।

पाँचवें ग्रंथ कथावत्थु की रचना अशोक के गुरु मोग्गलिपुत्त तिस्स ने की, जिसमें उन्होंने संघ के अंतर्गत उत्पन्न हो गई मिथ्या धारणाओं का निराकरण किया। बाद के आचार्यों ने इसे 'अभिधम्मपिटक' में संगृहीत कर इसे बुद्धवचन का गौरव प्रदान किया।

शेष छः ग्रंथों में प्रतिपादित विषय समान हैं। पहले ग्रंथ धम्मसंगणि में अभिधर्म के सारे मूलभूत सिद्धांतों का संकलन कर दिया गया है। अन्य ग्रंथों में विभिन्न शैलियों से उन्हीं का स्पष्टीकरण किया गया है।

सिद्धांत—तेल, बत्ती से प्रदीप्त दीपशिखा की भाँति तृष्णा, अहंकार के ऊपर प्राणी का चित्त (=मन=विज्ञान=काँशसनेस) धाराशील प्रवाहित हो रहा है। इसी में उसका व्यक्तित्व निहित है। इसके परे कोई 'एक तत्व' नहीं है।

सारी अनुभूतियाँ उत्पन्न हो संस्काररूप से चित्त के निचले स्तर में काम करने लगती हैं। इस स्तर की धारा को 'भवंग' कहते हैं, जो किसी योनि के एक प्राणी के व्यक्तित्व का रूप होता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान के 'सबकांशस' की कल्पना से 'भवंग' का साम्य है। लोभ-द्वेष-मोह की प्रबलता से 'भवंग' की धारा पाशविक और त्याग-प्रेम-ज्ञान के प्राबल्य से वह मानवी (और दैवी भी) हो जाती है। इन्हीं की विभिन्नता के आधार पर संसार के प्राणियों की विभिन्न योनियाँ हैं। एक ही योनि के अनेक व्यक्तियों के स्वभाव में जो विभिन्नता देखी जाती है उसका भी कारण इन्हीं के प्राबल्य की विभिन्नता है।

जब तक तृष्णा, अहंकार बना है, चित्त की धारा जन्म जन्मांतरों में अविच्छिन्न प्रवाहित होती रहती है। जब योगी समाधि में वस्तुसत्ता के अनित्य-अनात्म-दुःखस्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है, तब उसकी तृष्णा का अंत हो जाता है। वह अर्हत् हो जाता है। शरीरपात के उपरांत बुझ गई दीपशिखा की भाँति वह निवृत हो जाता है। [भि० ज० का०]

अभिधर्मकोश आचार्य असंग के छोटे भाई आचार्य वसुबंधु ने अपने जीवन के प्रथम भाग में सर्वास्तिवाद सिद्धांत के अनुसार कारिकाबद्ध अभिधर्मकोश ग्रंथ की रचना की। यह इतना प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुआ कि कवि बाण ने लिखा है कि तोते-मैने भी अभिधर्मकोश के श्लोकों का उच्चारण करते थे। अपने सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने यथास्थान अन्य दर्शनों की समीक्षा भी की है। ग्रंथ पर आचार्य ने स्वयं एक विस्तृत भाष्य की भी रचना की, जिसपर कई टीकाएँ लिखी गईं। प्रसिद्ध यात्री-विद्वान् हुएन्सांग ने चीनी भाषा में इसका अनुवाद किया था जो आज भी प्राप्त है। [भि० ज० का०]

अभिनय जब प्रसिद्ध या कल्पित कथा के आधार पर नाटयकार द्वारा रचित रूपक में निर्दिष्ट संवाद और क्रिया के अनुसार नाटयप्रयोक्ता द्वारा सिखाए जाने पर या स्वयं नट अपनी वाणी, शारीरिक चेष्टा, भावभंगी, मुखमुद्रा तथा वेशभूषा के द्वारा दर्शकों को शब्दों के भावों का परिज्ञान और रस की अनुभूति कराते हैं तब उस संपूर्ण समन्वित व्यापार को अभिनय कहते हैं। भरत ने अपने नाटयशास्त्र में अभिनय शब्द की निरुक्ति करते हुए कहा है : "अभिनय शब्द 'णीञ्' धातु में 'अभि' उपसर्ग लगाकर बना है जिसका अर्थ है पद या शब्द के भाव को मुख्य अर्थ तक पहुँचाना अर्थात् दर्शकों के हृदय में अनेक अर्थ या भाव भरना।" साधारण अर्थ में किसी व्यक्ति या अवस्था का अनुकरण ही अभिनय कहलाता है। इस दृष्टि से किसी की वाणी या क्रिया का अनुकरण करना, उसके अनुसार रूप, आकृति या वेश बनाना सब कुछ अभिनय कहलाता है। भरत ने चार प्रकार का अभिनय माना है—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। आंगिक अभिनय का अर्थ है शरीर, मुख और चेष्टाओं से कोई भाव या अर्थ प्रकट करना। सिर, हाथ, कटि, वक्ष, पार्श्व और चरण द्वारा किया जानेवाला अभिनय शारीर अभिनय या आंगिक अभिनय कहलाता है और आँख, भौंह, नाक, अधर, कपोल और ठोढ़ी से किया हुआ मुखज अभिनय, उपांग अभिनय कहलाता है। चेष्टाकृत अभिनय उसे कहते हैं जिसमें पूरे शरीर की विशेष चेष्टा के द्वारा अभिनय किया जाता है जैसे लँगड़े, कुबड़े या बूढ़े की चेष्टाएँ दिखाकर अभिनय करना। ये सभी प्रकार के अभिनय विशेष रस, भाव तथा संचारी भाव के अनुसार किए जाते हैं।

शारीर अथवा आंगिक अभिनय में सिर के तेरह, दृष्टि के छत्तीस, आँख के तारों के नौ, पुट के नौ, भौंहों के सात, नाक के छः, कपोल के छः, अधर के छः और ठोढ़ी के आठ अभिनय होते हैं। व्यापक रूप से मुखज चेष्टाओं में अभिनय छः प्रकार के होते हैं। भरत ने कहा है कि मुखराग से युक्त शारीरिक अभिनय थोड़ा भी हो तो उससे अभिनय की शोभा दूनी हो जाती है। यह मुखराग चार प्रकार का होता है—स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त और श्याम। ग्रीवा का अभिनय भी विभिन्न भावों के अनुसार नौ प्रकार का होता है।

आंगिक अभिनय में तेरह प्रकार का संयुक्त हस्त अभिनय, चौबीस प्रकार का असंयुक्त हस्त अभिनय, चौंसठ प्रकार का नृत्त हस्त का अभिनय और चार प्रकार का हाथ के करण का अभिनय बताया गया है। इसके अतिरिक्त वक्ष के पाँच, पार्श्व के पाँच, उदर के तीन, कटि के पाँच, उरु के पाँच, जंघा के पाँच और पैर के पाँच प्रकार के अभिनय बताए गए हैं। भरत ने सोलह भूमिचारियों और सोलह आकाशचारियों का वर्णन करके दस आकाश मंडल और दस भौम मंडल के अभिनय का परिचय देते हुए गति के अभिनय का विस्तार से वर्णन किया है कि किस भूमिका के व्यक्ति की मंच पर किस रस में, कैसी गति होनी चाहिए, किस जाति, आश्रम, वर्ण और व्यवसायवाले को रंगमंच पर कैसे चलना चाहिए तथा रथ, विमान, आरोहण, अवरोहण, आकाशगमन आदि का अभिनय किस गति से करना चाहिए। गति के ही समान आसन या बैठने की विधि भी भरत ने विस्तार से समझाई है। जिस प्रकार यूरोप में घनवादियों (क्यूबिस्ट्स) ने अभिनयकौशल के लिये व्यायाम का विधान किया है वैसे ही भरत ने भी अभिनय के लिये व्यायाम, नस्य और आहार के नियम बताए हैं। इस प्रकार भरत ने अपने नाटयशास्त्र में अत्यंत सूक्ष्मता के साथ आंगिक अभिनय का ऐसा विस्तृत विवरण दिया है कि अभिनय के संबंध में संसार के किसी देश में अभिनय-कला का वैसा सांगोपांग निरूपण नहीं हुआ।

सात्विक अभिनय तो उन भावों का वास्तविक और हार्दिक अभिनय है जिन्हें रस सिद्धांतवाले सात्विक भाव कहते हैं और जिसके अंतर्गत, स्वेद, स्तंभ, कंप, अश्रु, वैवर्ण्य, रोमांच, स्वरभंग और प्रलय की गणना होती है। इनमें से स्वेद और रोमांच को छोड़कर शेष सबका सात्विक अभिनय किया जा सकता है। अश्रु के लिये तो विशेष साधना आवश्यक है, क्योंकि भावमग्न होने पर ही उसकी सिद्धि हो सकती है।

अभिनेता रंगमंच पर जो कुछ मुख से कहता है वह सबका सब वाचिक अभिनय कहलाता है। साहित्य में तो हम लोग व्याकृता वाणी ही ग्रहण करते हैं, किंतु नाटक में अव्याकृता वाणी का भी प्रयोग किया जा सकता है। चिड़ियों की बोली, सीटी देना या ढोरों को हाँकते हुए चटकारी देना आदि सब प्रकार की ध्वनियों को मुख से निकालना वाचिक अभिनय के अंतर्गत आता है। भरत ने वाचिक अभिनय के लिये ६३ लक्षणों का और उनके दोष-गुण का भी विवेचन किया है। वाचिक अभिनय का सबसे बड़ा गुण है अपनी वाणी के आरोह-अवरोह को इस प्रकार साध लेना कि कहा हुआ शब्द या वाक्य अपने भाव और प्रभाव को बनाए रखे। वाचिक अभिनय की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि यदि कोई जवनिका के पीछे से भी बोलता हो तो केवल उसकी वाणी सुनकर ही उसकी मुखमुद्रा, भावभंगिमा और आकांक्षा का ज्ञान किया जा सके।

आहार्य अभिनय वास्तव में अभिनय का अंग न होकर नेपथ्यकर्म का अंग है और उसका संबंध अभिनेता से उतना नहीं है जितना नेपथ्यसज्जा करनेवाले से। किंतु आज के सभी प्रमुख अभिनेता और नाटयप्रयोक्ता यह मानने लगे हैं कि प्रत्येक अभिनेता को अपनी मुखसज्जा और रूपसज्जा स्वयं करनी चाहिए।

भरत के नाट्यशास्त्र में सबसे विचित्र प्रकरण है चित्राभिनय का, जिसमें उन्होंने ऋतुओं, भावों, अनेक प्रकार के जीवों, देवताओं, पर्वत, नदी, सागर

आदि का, अनेक अवस्थाओं तथा प्रातः, सायं, चंद्रज्योत्स्ना आदि के अभिनय का विवरण दिया है। यह समूचा अभिनयविधान प्रतीकात्मक ही है, किंतु ये प्रतीक उस प्रकार के नहीं हैं जिस प्रकार के यूरोपीय प्रतीकाभिनयवादियों ने ग्रहण किए हैं।

अभिनय करने की प्रवृत्ति बचपन से ही मनुष्य में तथा अन्य अनेक जीवों में होती है। हाथ, पैर, आँख, मुँह, सिर चलाकर अपने भाव प्रकट करने की प्रवृत्ति सभ्य और असभ्य जातियों में समान रूप से पाई जाती है। उनके अनुकरण कृत्यों का एक उद्देश्य तो यह रहता है कि इससे उन्हें वास्तविक अनुभव जैसा आनंद मिलता है और दूसरा यह कि इससे उन्हें दूसरों को अपना भाव बताने में सहायता मिलती है। इसी दूसरे उद्देश्य के कारण शारीरिक या आंगिक चेष्टाओं और मुखमुद्राओं का विकास हुआ जो जंगली जातियों में बोली हुई भाषा के बदले या उसकी सहायक होकर आज भी प्रयोग में आती हैं।

यूनान में देवताओं की पूजा के साथ जो नृत्य प्रारंभ हुआ वही वहाँ की अभिनयकला का प्रथम रूप था जिसमें नृत्य के द्वारा कथा के भाव की अभिव्यक्ति की जाती थी। यूनान में प्रारंभ में धार्मिक वेदी के चारों ओर जो नाटकीय नृत्य होते थे उनमें सभी लोग समान रूप से भाग लेते थे, किंतु पीछे चलकर समवेत गायकों में से कुछ चुने हुए समर्थ अभिनेता ही मुख्य भूमिकाओं के लिये चुन लिए जाते थे जो एक का ही नहीं, कई कई भूमिकाओं का अभिनय करते थे क्योंकि मुखौटा पहनने की रीति के कारण यह संभव हो गया था। इस मुखौटे के प्रयोग के कारण वहाँ वाचिक अभिनय तो बहुत समुन्नत हुआ किंतु मुखमुद्राओं से अभिनय करने की रीति पल्लवित न हो सकी।

इटलीवासियों में अभिनय की रुचि बड़ी स्वाभाविक है। नाटक लिखे जाने से बहुत पहले से ही वहाँ यह साधारण प्रवृत्ति रही है कि किसी दल को जहाँ कोई विषय दिया गया कि वह झट उसका अभिनय प्रस्तुत कर देता था। संगीत, नृत्य और दृश्य के इस प्रेम ने ही वहाँ के राजनीतिक और धार्मिक संघर्ष में भी अभिनयकला को जीवित रखने में बड़ी सहायता दी है।

यूरोप म अभिनयकला को सबसे अधिक महत्त्व दिया शेक्सपियर ने। उसने स्वयं मानव स्वभाव के सभी प्रतिनिधि चरित्रों का चित्रण किया है। उसने हैमलेट के संवाद में श्रेष्ठ अभिनय के मूल तत्वों का समावेश करते हुए बताया है कि अभिनय में वाणी और शरीर के अंगों का प्रयोग स्वाभाविक रूप से करना चाहिए, अतिरंजित रूप से नहीं।

१८वीं शताब्दी में ही यूरोप में अभिनय के संबंध में विभिन्न सिद्धांतों और प्रणालियों का प्रादुर्भाव हुआ। फ्रांसीसी विश्वकोशकार देनी दिदरो ने उदात्तवादी (क्लासिकल) फ्रांसीसी नाटक और उसकी रूढ़ अभिनयपद्धति से ऊबकर वास्तविक जीवन के नाटक का सिद्धांत प्रतिपादित किया और बताया कि नाटक को फ्रांस के बुर्जुवा (मध्यवर्गीय) जीवन की वास्तविकतर प्रतिच्छाया बनना चाहिए। उसने अभिनेता को यह सुझाया है कि प्रयोग के समय अपने पर ध्यान देना चाहिए, अपनी वाणी सुननी चाहिए और अपने आवेगों की स्मृतियाँ ही प्रस्तुत करनी चाहिए। किंतु 'मास्को स्टेज ऐंड इंपीरियल थिएटर' के भूतपूर्व प्रयोक्ता और कलासंचालक थियोदोर कौमिसारजेवस्की ने इस सिद्धांत का खंडन करते हुए लिखा था : 'अब यह सिद्ध हो चुका है कि यदि अभिनेता अपने अभिनय पर सावधानी से ध्यान रखता रहे तो वह न दर्शकों को प्रभावित कर सकता है और न रंगमंच पर किसी भी प्रकार की रचनात्मक सृष्टि कर सकता है, क्योंकि उसे अपने आंतरिक स्वात्म पर जो प्रतिबिंब प्रस्तुत करने हैं उनपर एकाग्र होने के बदले वह अपने बाह्य स्वात्म पर एकाग्र हो जाता है जिससे वह इतना अधिक आत्मचेतन हो जाता है कि उसकी अपनी कल्पना शक्ति नष्ट हो जाती है। अतः, श्रेष्ठतर उपाय यह है कि वह कल्पना के आश्रय पर अभिनय करे, नवनिर्माण करे, नयापन लाए और केवल अपने जीवन के अनुभवों का अनुकरण या प्रतिरूपण न करे। जब कोई अभिनेता किसी भूमिकाका अभिनय करते हुए अपनी स्वयं की उत्पादित कल्पना के विश्व में विचरण करने लगता है उस समय उसे न तो अपने ऊपर ध्यान देना चाहिए, न नियंत्रण रखना चाहिए और न तो वह ऐसा कर ही सकता है, क्योंकि अभिनेता की अपनी भावना से उद्भूत और उसकी आज्ञा के अनुसार काम करनेवाली कल्पना अभिनय के समय उसके आवेग और अभिनय को नियंत्रित करती, पथ दिखलाती और संचालन करती है।

२०वीं शताब्दी में अनेक नाट्यविद्यालयों, नाट्यसंस्थाओं और रंगशालाओं ने अभिनय के संबंध में अनेक नए और स्पष्ट सिद्धांत प्रतिपादित किए। माक्स रीनहार्ट ने जर्मनी में और फ़िर्मी गेमिए ने पेरिस में उस प्रकृतिवादी नाट्यपद्धति का प्रचलन किया जिसका प्रतिपादन फ्रांस में आंदे आंत्वाँ ने और जर्मनी में क्रोनेग ने किया था और जिसका विकास बर्लिन में ओटो ब्राह्म ने और मास्को में स्तानिस्लवस्की ने किया। इन प्रयोक्ताओं ने बीच बीच में प्रकृतिवादी अभिनय में या तो रीतिवादी (फोर्मेलिस्ट्स) लोगों के विचारों का संनिवेश किया या सन् १९१० के पश्चात् कोमिसारजेवस्की ने अभिनय के संश्लेषणात्मक सिद्धांतों का जो प्रवर्तन किया था उनका भी थोड़ा-बहुत समावेश किया; किंतु अधिकांश फ्रांसीसी अभिनेता १८वीं शताब्दी की प्राचीन स्वैरवादी (रोमांटिक) पद्धति या अर्धोदात्त (सूडो-क्लासिकल) अभिनयपद्धति का ही प्रयोग करते रहे।

सन् १९१० के पश्चात् जितने अभिनयसिद्धांत प्रसिद्ध हुए उनमें सर्वप्रसिद्ध मास्को आर्ट थिएटर के प्रयोक्ता स्तानिसलवस्की की प्रणाली है जिसका सिद्धांत यह है कि कोई भी अभिनेता रंगमंच पर तभी स्वाभाविक और सच्चा हो सकता है जब वह उन आवेगों का प्रदर्शन करे जिनका उसने अपने जीवन में कभी अनुभव किया हो। अभिनय में यह आंतरिक प्रकृतिवाद स्तानिसलवस्की की कोई नई सूझ नहीं थी क्योंकि कुछ फ्रांसीसी नाट्यज्ञों ने १८वीं शताब्दी में इन्हीं विचारों के आधार पर अपनी अभिनयपद्धतियाँ प्रवर्तित की थीं। स्तानिसलवस्की के अनुसार वे ही अभिनेता प्रेम के दृश्य का प्रदर्शन भली भाँति कर सकते हैं जो वास्तविक जीवन में भी प्रेम कर रहे हों।

स्तानिसलवस्की के सिद्धांत के विरुद्ध प्रतीकवादियों (सिंबोलिस्ट्स), रीतिवादियों (फ़ौर्मेलिस्ट्स) और अभिव्यंजनावादियों (एक्स्प्रेशनिस्ट्स) ने नई रीति चलाई जिसमें सत्यता और जीवनतुल्यता का पूर्ण बहिष्कार करके कहा गया कि अभिनय जितना ही कम, वास्तविक और कम जीवनतुल्य होगा उतना ही अच्छा होगा। अभिनेता को निश्चित चरित्रनिर्माण करने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे गूढ़ विचारों को रुढ रीति से अपनी वाणी, अपनी चेष्टा और मुद्राओं द्वारा प्रस्तुत करना चाहिए और वह अभिनय रूढ़, जीवन-साम्य-हीन, चित्रमय और कठपुतली-नृत्य-शैली में प्रस्तुत करना चाहिए।

रूढ़िवादी लोग आगे चलकर मेयरहोल्द, तायरोफ़ और अरविन पिस्काटर के नेतृत्व में अभिनय में इतनी उछल कूद, नटविद्या और लयगति का प्रयोग करने लगे कि रंगमंच पर उनका अभिनय ऐसा प्रतीत होने लगा मानो कोई सरकस हो रहा हो जिसमें उछल कूद, शरीर का कलात्मक संतुलन और इसी प्रकार की गतियों की प्रधानता हो। यह अभिनय ही घनवादी (क्यूबिस्टिक) अभिनय कहलाने लगा। इन लयवादियों में से मेयरहोल्द तो आगे चलकर कुछ प्रकृतिवादी हो गया, किंतु लियोपोल्ड जेस्सवर, निकोलस ऐवरेनोव आदि अभिव्यंजनावादी, या यों कहिए कि अतिरंजित अभिनयवादी लोग कुछ तो रूढ़िवादियों की प्रणालियों का अनुसरण करते रहे और कुछ मनोवैज्ञानिक प्रकृतिवादी पद्धति का।

इस प्रकार अभिनय की दृष्टि से यूरोप में पाँच प्रकार की अभिनय पद्धतियाँ चलीं : (१) रुढ़िवादी या स्थिर रीतिवादी, (फोर्मेलिस्ट) (२) प्रकृतिवादी (नेचुरलिस्ट), (३) अभिव्यंजनावादी (एक्स्प्रेशनिस्ट) जो अतिरंजित अभिनय करते थे, (४) घनवादी, (क्यूबिस्ट) जो संतुलित व्यायामपूर्ण गतियों द्वारा यंत्रात्मक अभिनय करते थे और (५) प्रतीकवादी (सिंबोलिस्ट्स), जिन्होंने अपने अभिनय में प्रत्येक भाव के अनुसार कुछ निश्चित मुखमुद्राएँ और आंगिक गतियाँ प्रतीक के रूप में मान ली थीं और उन सब भावों की अवस्थाओं में वे लोग उन्हीं प्रतीकों का अभिनय करते थे। किंतु ये प्रतीक भारतीय मुद्राप्रतीकों से पूर्णतः भिन्न थे। यह प्रतीकवाद यूरोप में सफल नहीं हो सका।

२०वीं शताब्दी के चौथे दशक से, अर्थात् द्वितीय महायुद्ध के आसपास, यूरोप की अभिनयप्रणाली में परिवर्तन हुआ और प्रायः सभी यूरोपीय तथा
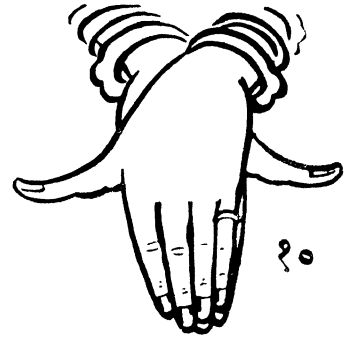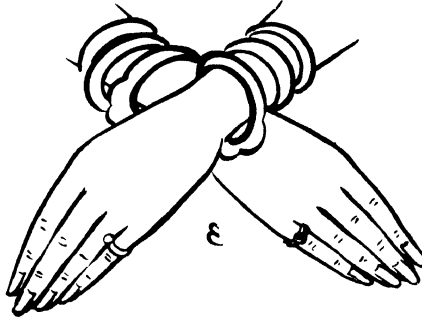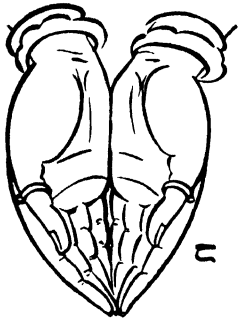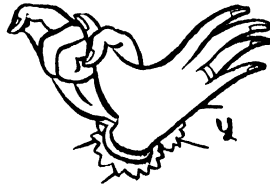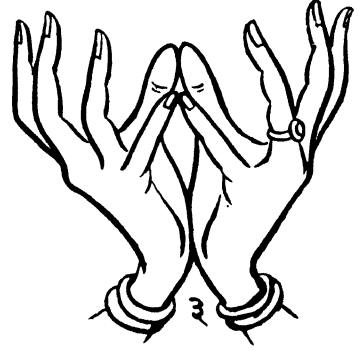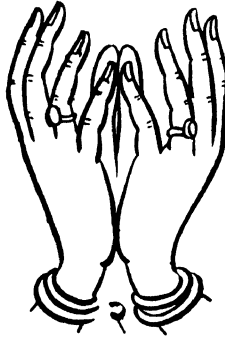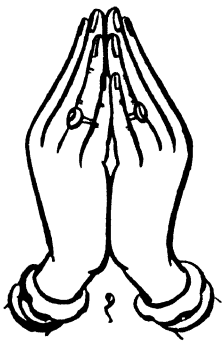
हाथ की अँगुलियों द्वारा भावप्रकाश

(१) संपुट कमल, (२) अर्धविकसित कमल, (३) फुल्ल कमल, (४-५) मयूर, (६) पताक, (७) त्रिपताक, (८) अंजलि मुद्रा, (९) स्वस्तिक मुद्रा, (१०) मत्स्य मुद्रा, (११-१२) मृग मुद्रा, (१३) हंसास्य, (१४) शंख मुद्रा, (१५) गरुड़ मुद्रा (देखें '**अभिनय**', पृष्ठ १७१)।

अमुरनज़ीरपाल (८८४-८५९ ई० पू०);
(देखें, असुरनज़ीरपाल, पृष्ठ २९५)।

असुर राजा, बलिकर्म-परिधान में;
(देखें, असुर, पृष्ठ २९१)।

अमरीकी रंगशालाओं में प्रत्येक अभिनेता से यह आशा की जाने लगी कि वह अपने अभिनय में कोई नवीनता और मौलिकता दिखाकर अत्यंत अप्रत्याशित ढंग का अभिनय करके लोगों को संतुष्ट करे। आजकल अभिनेता के लिये यह आवश्यक माना जाने लगा है कि वह अपनी कल्पना का प्रयोग करके नाटक के भाव की प्रत्येक परिस्थिति में अपने अभिनय का ऐसा संश्लिष्ट संयोजन करे कि उससे नाटक में कुछ विशेष चेतना और सजीवता उत्पन्न हो। उसका धर्म है कि वह रंगशाला के व्यावहारिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर अपनी प्रतिभा के बल से नाटककार की भावना का उचित और स्पष्ट संरक्षण करता हुआ नाटक का प्रवाह और प्रभाव बनाए रखे।

आजकल के प्रसिद्ध अभिनेताओं का कथन है कि अभिनेता को किसी विशेष पद्धति का अनुसरण नहीं करना चाहिए और न किसी अभिनेता का अनुसरण करना चाहिए। श्रीमती पैट्रिक कैंबल तो अभिनय की पद्धति चलाने के ही विरुद्ध हैं और उस अभिनेता से बहुत चिढ़ती हैं जो उनका या किसी दूसरे अभिनेता का अनुसरण करके अभिनय करता हो। वास्तव में अभिनय का कोई एक सिद्धांत नहीं है, जो दो नाटकों के लिये या दो अभिनेताओं के लिये किसी एक परिस्थिति में समान कहा जा सके। आजकल के अभिनेता-संचालक (ऐक्टर-मैनेजर) इसी मत के हैं कि अच्छे अभिनेता को संसार के सब नाटकों की सब भूमिकाओं के लिये सिद्ध होना चाहिए और यदि यह न हो तो अपनी प्रकृति के अनुसार भूमिकाओं के लिये कोई निश्चित प्रणाली ढूँढ निकालनी चाहिए और तदनुसार अपने को स्वयं शिक्षित करते चलना चाहिए। आजकल के अधिकांश नाट्याचार्यों का मत है कि नाटक को प्रभावशाली बनाने के लिये अभिनेता को न तो बहुत अधिक प्रकृतिवादी होना चाहिए और न अधिक अभिव्यंजनावादी या लयवादी। अतिरंजित अभिनय तो कभी करना ही नहीं चाहिए।

आजकल की अभिनयप्रणाली में एक चरित्राभिनय (कैरेक्टर ऐक्टिंग) की रीति चली है जिसमें एक अभिनेता किसी विशेष प्रकार के चरित्र में विशेषता प्राप्त करके सदा सब नाटकों में उसी प्रकार की भूमिका ग्रहण करता है। चलचित्रों के कारण इस प्रकार के चरित्र-अभिनेता बहुत बढ़ते जा रहे हैं किंतु कला की दृष्टि से यह चरित्राभिनय अत्यंत हेय है क्योंकि इससे कला की परिधि संकुचित हो जाती है।

भूमिका में स्वीकृत पद, अवस्था, प्रकृति, रस और भाव के अनुसार छह प्रकार की गतियों में अभिनय होता है—अत्यंत करुण में स्तब्ध गति, शांत में मंद गति, शृंगार, हास और बीभत्स में साधारण गति, वीर में द्रुत गति, रौद्र में वेगपूर्ण गति और भय में अतिवेगपूर्ण गति। इन सबका विधान विभिन्न भावों, व्यक्तियों, अवस्थाओं और परिस्थितियों पर अवलंबित होता है। अभिनय का क्षेत्र बहुत व्यापक है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि अभिनेता को मौलिक होना चाहिए और किसी पद्धति का अनुसरण न करके यह प्रयत्न करना चाहिए कि अपनी रचना के द्वारा नाटककार जो प्रभाव अपने दर्शकों पर डालना चाहता है उसका उचित विभाजन हो सके।

सं०ग्रं०—भरत नाट्यशास्त्र, के० ऐंब्रोस क्लैसिकल डान्सेज ऐंड कॉस्ट्यूम्स ऑव इंडिया (१९५२), नंदिकेश्वर अभिनयदर्पण (१९३४), सीताराम चतुर्वेदी अभिनव नाट्यशास्त्र (१९५०), शारदातनय : भावप्रकाशन (१९३०), लार्डिस निकल वर्ल्ड ड्रामा (१९५१), सिडनी डब्ल्यू० कैरोल ऐक्टिंग ग्रान दि स्टेज (१९४७), एन० डिंडसे दि थिएटर (१९४८), एन० चेरकासोव नोट्स ऑव ए सोवियत ऐक्टर (१९५६), सारा बर्नहार्ट दि आर्ट ऑव दि थिएटर (१९३०)। [सी० च०]

अभिनवगुप्त तंत्र तथा साहित्यशास्त्र के मूर्धन्य आचार्य। जन्म कश्मीर में दशम शताब्दी के मध्य भाग में हुआ था (लगभग ९५० ई०—९६० ई० के बीच)। इनका कुल अपनी विद्या, विद्वत्ता तथा तांत्रिक साधना के लिये कश्मीर में नितांत प्रख्यात था। इनके पितामह का नाम था वराह गुप्त तथा पिता का नरसिंह गुप्त जो लोगों में 'चुखुल' या 'चुखुलक' के घरेलू नाम से भी प्रसिद्ध थे। अभिनव में ज्ञान की इतनी तीव्र पिपासा विद्यमान थी कि इसकी तृप्ति के लिये इन्होंने कश्मीर के बाहर जालंधर की यात्रा की और वहाँ अर्धत्र्यंबक मत के प्रधान आचार्य शंभुनाथ से कौलिक मत के सिद्धांतों और उपासनातत्वों का प्रगाढ़ अनुशीलन किया। इन्होंने अपने गुरुओं के नाम ही नहीं दिए हैं, प्रत्युत उनसे अधीत शास्त्रों का भी निर्देश किया है। इन्होंने व्याकरण का अध्ययन अपने पिता नरसिंह गुप्त से, ब्रह्मविद्या का भूतिराज से, क्रम और त्रिक् दर्शनों का लक्ष्मण गुप्त से, ध्वनि का भट्टेंदुराज से तथा नाट्यशास्त्र का अध्ययन भट्ट तोत (या तौत) से किया। इनके गुरुओं की संख्या बीस तक पहुँचती है। अभिनव ने कौलिक साधना की शिक्षा कौलाचार्य शंभुनाथ से प्राप्त की तथा उन्हीं के कथनानुसार उन्हें इस साधना से पूर्ण शांति तथा सिद्धि प्राप्त हुई।

अभिनव गुप्त के आविर्भावकाल का पता उन्हीं के ग्रंथों के समयनिर्देश से भली भाँति लगता है। इनके आरंभिक ग्रंथों में क्रमस्तोत्र की रचना ६६ लौकिक संवत् (=९९१ ई०) में और भैरवस्तोत्र की ६८ सं० (=९९३ ई०) में हुई। इनकी 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्षिणी' का रचनाकाल ९० लौकिक सं० (=१०१५ ई०) है। फलत इनकी साहित्यिक रचनाओं का काल ९९० ई० से लेकर १०२० ई० तक माना जा सकता है। इस प्रकार इनका समय दशम शती का उत्तरार्ध तथा एकादश शती का आरंभिक काल स्वीकार किया जा सकता है।

ग्रंथरचना—अभिनव गुप्त तंत्रशास्त्र, साहित्य और दर्शन के प्रौढ़ आचार्य थे और इन तीनों विषयों पर इन्होंने ५० से ऊपर मौलिक ग्रंथों, टीकाओं तथा स्तोत्रों का निर्माण किया है। अभिरुचि के आधार पर इनका सुदीर्घ जीवन तीन कालविभागों में विभक्त किया जा सकता है

(क) **तांत्रिक काल**—जीवन के आरंभ में अभिनव गुप्त ने तंत्रशास्त्रों का गाढ़ अनुशीलन किया तथा उपलब्ध प्राचीन तंत्रग्रंथों पर इन्होंने अद्वैतपरक व्याख्याएँ लिखकर लोगों में व्याप्त भ्रांत सिद्धांतों का सफल निराकरण किया। क्रम, त्रिक तथा कुल तंत्रों का अभिनव ने क्रमश अध्ययन कर तद्विषयक ग्रंथों का निर्माण इसी क्रम से संपन्न किया। इस युग की प्रधान रचनाएँ ये हैं—**बोधपंचदशिका, मालिनीविजय वार्तिक, परात्रिंशिकाविवरण, तंत्रालोक, तंत्रसार, तंत्रोच्चय, तंत्रवटधानिका। तंत्रालोक** त्रिक तथा कुल तंत्रों का विशाल विश्वकोश ही है जिसमें तंत्रशास्त्र के सिद्धांतों, प्रक्रियाओं तथा तत्संबद्ध नाना मतों का पूर्ण, प्रामाणिक तथा प्रांजल विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यह ३७ परिच्छेदों में विभक्त विराट् ग्रंथराज है जिसमें बंध का कारण, मोक्षविषयक नाना मत, प्रपंच का अभिव्यक्तिप्रकार तथा सत्ता, परमार्थ के साधक उपाय, मोक्ष के स्वरूप, शैवाचार की विविध प्रक्रिया आदि विषयों का सुंदर प्रामाणिक विवरण देकर अभिनव ने तंत्र के गंभीर तत्वों को वस्तुत आलोकित कर दिया है। अंतिम तीनों ग्रंथ इसी के क्रमश संक्षिप्त रूप हैं जिनमें संक्षेप पूर्वापेक्षया ह्रस्व होता गया है।

(ख) **आलंकारिक काल**—अलंकारग्रंथों का अनुशीलन तथा प्रणयन इस काल की विशिष्टता है। इस युग से संबद्ध तीन प्रौढ़ रचनाओं का परिचय प्राप्त है—**काव्य-कौतुक-विवरण, ध्वन्यालोकलोचन** तथा **अभिनवभारती। काव्यकौतुक** अभिनव के नाट्यशास्त्र के गुरु भट्ट तौत की अनुपलब्ध प्रख्यात कृति है जिसपर इनका 'विवरण' अन्यत्र संकेतित ही है, उपलब्ध नहीं। **लोचन** आनंदवर्धन के 'ध्वन्यालोक' का प्रौढ़ व्याख्यानग्रंथ है तथा **अभिनवभारती** भरत-नाट्य-शास्त्र के पूर्ण ग्रंथ की पांडित्यपूर्ण प्रमेयबहुल व्याख्या है।

(ग) **दार्शनिक काल**—अभिनव गुप्त के जीवन में यह काल उनके पांडित्य की प्रौढ़ि और उत्कर्ष का युग है। परमत का तर्कपद्धति से खंडन और स्वमत का प्रौढ़ प्रतिपादन इस काल की विशिष्टता है। इस काल की प्रौढ़ रचनाओं में ये नितांत प्रसिद्ध हैं—**भगवद्गीतार्थसंग्रह, परमार्थसार, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिणी** तथा **ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिणी।** अंतिम दोनों ग्रंथ अभिनव गुप्त के प्रौढ़ पांडित्य के निकसग्रावा हैं। ये उत्पलाचार्य द्वारा रचित 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' के व्याख्यान हैं। पहले में तो केवल कारिकाओं की व्याख्या है और दूसरे में उत्पल की ही स्वोपज्ञ वृत्ति (आजकल अनुपलब्ध) 'विवृति' की प्रांजल टीका है। प्राचीन गणनानुसार चार सहस्र श्लोकों से संपन्न होने के कारण पहली टीका 'चतु सहस्री' (लघ्वी) तथा दूसरी 'अष्टादशसहस्री' (अथवा बृहती) के नाम से भी प्रसिद्ध है जिनमें अंतिम टीका अब तक अप्रकाशित ही है।

वैशिष्टय—अभिनव गुप्त का व्यक्तित्व बड़ा ही रहस्यमय है। महाभाष्य के रचयिता पतंजलि को व्याकरण के इतिहास में तथा भामतीकार वाचस्पति मिश्र को अद्वैत वेदांत के इतिहास में जो गौरव तथा आदरणीय उत्कर्ष प्राप्त है वही गौरव अभिनव को भी तंत्र तथा अलंकारशास्त्र के इतिहास में प्राप्त है। इन्होंने रस सिद्धांत की मनोवैज्ञानिक व्याख्या (अभिव्यंजनावाद) कर अलंकारशास्त्र को दर्शन के उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित किया तथा प्रत्यभिज्ञा और त्रिक दर्शनों को प्रौढ़ भाष्य प्रदान कर इन्हें तर्क की कसौटी पर व्यवस्थित किया। ये कोरे शुष्क तार्किक ही नहीं थे, प्रत्युत साधना जगत् के गुह्य रहस्यों के मर्मज्ञ साधक भी थे।

सं०ग्रं०—जगदीश चटर्जी : काश्मीर शैविज़म (श्रीनगर, १९१४); कांतिचंद्र पांडेय : अभिनव गुप्त—ऐन हिस्टारिकल ऐंड फिलासोफिकल स्टडी (काशी, १९३५)। [ब० उ०]

अभिप्रेरक विधि प्रणाली का शब्द है जिसका तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जो किसी अन्य व्यक्ति को कोई अपराध या ऐसे कार्य के लिये प्रोत्साहित करता है जो संपादित होने पर अपराध होता है। यह आवश्यक है कि वह दूसरा व्यक्ति विधि के समक्ष अपराध करने के योग्य हो तथा उसका उद्देश्य या मनोभाव अभिप्रेरक के उद्देश्य या मनोभाव के सदृश हो। अपराध के संपादन में योग देने के निमित्त किया गया कोई भी कार्य, चाहे वह अपराध के पूर्व किया गया हो अथवा बाद में, अपराध करने के तुल्य समझा जाता है। भारतीय दंडविधान मे अभिप्रेरक तथा वास्तविक अपराधी को समान रूप से दड दिया जाता है (भारतीय दंडविधान, धारा १०८)। [श्री० अ०]

अभिप्रेरण (मोटिवेशन) हमारे व्यवहार किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये होते हैं। हम जो कुछ करते हैं उनके पीछे कोई न कोई प्रयोजन होता है। अभिप्रेरण हमारे सभी कार्यों का आवश्यक आधार है। हमारी शारीरिक और मानसिक आवश्यकताएँ अभिप्रेरण के रूप मे हमारे विभिन्न प्रकार के व्यवहारों को प्रेरित करती है।

अभिप्रेरण के विकास में मूल कारण हमारी शारीरिक आवश्यकताएँ, जैसे भूख और प्यास, होती हैं। लेकिन आयु और अनुभव में वृद्धि के साथ साथ हमारी शारीरिक आवश्यकताएँ सामाजिक और सांस्कृतिक अर्थ ग्रहण कर लेती है। इनके साथ हमारे भावों और विचारो, रुचियों और अभिवृत्तियों का संबध हो जाता है। इस प्रकार अभिप्रेरण का आरंभ में जो पार्थिव आधार था वह कालातर मे आयु और अनुभव में वृद्धि के फलस्वरूप सामाजिक और सांस्कृतिक रूप धारण कर लेता है। पशुजगत् में अभिप्रेरण का मूल आधार शारीरिक आवश्यकताएँ होती है। लेकिन मानवजगत् मे सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ अभिप्रेरण का स्रोत बन जाती है।

अभिप्रेरण का आवश्यक अंग प्रयोजन (मोटिव) है। वस्तुतः प्रयोजन के क्रियात्मक रूप (फ़ेनामेनन) को ही अभिप्रेरण कहते है। प्रयोजन कई प्रकार के होते हैं, लेकिन स्थूल रूप से उन्हे शारीरिक और मनोवैज्ञानिक कोटियों मे बाँट सकते हैं। अवगम (लर्निंग) द्वारा प्रयोजन में संशोधन होता है। बालक की शिक्षा दीक्षा उसके शारीरिक प्रयोजनों को वांछित सामाजिक और सांस्कृतिक प्रयोजनों का रूप प्रदान करती है। इन्हीं प्रयोजनों के आधार पर किसी व्यक्ति का अभिप्रेरण बनता है। यह कथन ठीक है कि बिना प्रयोजनो के अभिप्रेरण का अस्तित्व ही नहीं होता। व्यक्ति किस दिशा मे, किस सीमा तक, कितनी शक्ति के साथ प्रयास करेगा, रुचि लेगा और प्रेरित होगा यह उसके प्रयोजनों पर निर्भर है। अभिप्रेरण में व्यक्ति के विभिन्न प्रयोजन क्रियाशील होकर उसके कार्यों और व्यवहारों को दिशा प्रदान करते हैं। अभिप्रेरण का संबंध व्यक्ति के जीवनमूल्यों और विश्वासों से भी होता है। व्यक्ति ज्यों ज्यो विकसित होता है त्यों त्यों वह अपने जीवनमूल्यो और विश्वासो से अभिप्रेरित होता है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति में वांछित जीवनमूल्यों और विश्वासों के प्रति संमान पैदा किया जाता है। यही जीवनमूल्य और विश्वास व्यक्ति के अभिप्रेरण के आवश्यक अंग बन जाते हैं। इस प्रकार अभिप्रेरण शारीरिक और मानसिक प्रयोजनों का क्रियाशील रूप है। इसका सामाजिक और सांस्कृतिक आधार होता है और इसमें व्यक्ति के जीवनमूल्यों और विश्वासों का महत्वपूर्ण स्थान है।

सं०ग्रं०—यंग : मोटिवेशन ऑव बिहेवियर; मैक्लैंड : स्टडीज इन मोटिवेशन; मैसलो : मोटिवेशन ऐंड पर्सनालिटी। [सी० रा० जा०]

अभिमन्यु अर्जुन और सुभद्रा का पुत्र, जिसने महाभारत युद्ध में चक्रव्यूह भेदकर अपनी वीरता का परिचय दिया था। युद्ध मे १३वें दिन अर्जुन जिस समय संशप्तकों से लड़ने चले गए थे उस समय अवसर देखकर कौरवों ने चक्रव्यूह की रचना की जिसे भेदना अर्जुन के अतिरिक्त किसी को न आता था। अभिमन्यु ने सुभद्रा के गर्भ में ही चक्रव्यूह में प्रवेश करना अपने पिता के मुख से सुन रखा था परंतु उससे निकलना उसे नहीं आता था। फिर भी चक्रव्यूह मे प्रवेश कर वीरता का परिचय देकर उसने सद्गति प्राप्त की। [चं० म०]

अभियांत्रिकी का अंग्रेजी भाषा मे पर्यायवाची शब्द "इंजीनियरिंग" है, जो लैटिन शब्द "इंजेनियम" से निकला है; इसका अर्थ स्वाभाविक निपुणता है। कलाविद की सहज प्रतिभा से अभियांत्रिकी धीरे धीरे एक विज्ञान में परिणत हो गई। निकट भूतकाल मे अभियांत्रिकी शब्द का जो अर्थ कोश में मिलता था वह संक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है कि "अभियांत्रिकी एक कला और विज्ञान है, जिसकी सहायता से पदार्थ के गुणों को उन संरचनाओ और यंत्रों के बनाने में, जिनके लिये यांत्रिकी (मिकैनिक्स) के सिद्धात और उपयोग आवश्यक है, मनुष्योपयोगी बनाया जाता है।" किंतु यह सीमित परिभाषा अब नही चल सकती। अभियांत्रिकी शब्द का अर्थ अब एक ओर नाभिकीय अभियांत्रिकी (न्यूक्लियर इंजीनियरिंग) के उच्च वैज्ञानिक और प्राविधिक क्षेत्र से लेकर मानवीय गुणो से संबंधित विषयों, जैसे श्रमिक नियंत्रण, प्रबंधीय कार्यक्षमता, समय और गति का अध्ययन इत्यादि, अनेक प्रायोगिक विज्ञानो के विस्तृत क्षेत्र को घेरे हुए है। अतः अभियांत्रिकी की इस प्रकार परिभाषा करना अधिक उपयुक्त होगा कि 'यह मनुष्य की भौतिक सेवा के निमित्त प्राकृतिक साधनों के दक्ष उपयोग का विज्ञान और कला है'।

अभियांत्रिकी की अनेक शाखाओं में, जैसे वास्तुनिर्माण (सिविल), यांत्रिक, विद्युतीय, सामुद्र, खनिसंबंधी, रासायनिक, कृषीय, नाभिकीय आदि में, कुछ महत्वपूर्ण कार्य अन्वेषण, प्ररचन, उत्पादन, प्रचलन, निर्माण, विक्रय, प्रबंध, शिक्षा, अनुसंधान इत्यादि है। अभियांत्रिकी शब्द ने कितना विस्तृत क्षेत्र छेंक लिया है, इसका समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिये दृष्टांतस्वरूप उसकी विभिन्न शाखाओ के अंतर्गत आनेवाले विषयों के नाम दे देना ज्ञानवर्धक होगा।

वास्तुनिर्माण अभियांत्रिकी (सिविल इंजीनियरिंग) के अंतर्गत अग्रलिखित विषय है : सड़कें, रेल, नौतरण मार्ग, सामुद्र अभियांत्रिकी, बाँध, अपक्षरण-निरोध, बाढ़-नियंत्रण, नौनिवेश, पत्तन, जलवाहिकी, जलविद्युत्शक्ति, जलविज्ञान, सिचाई, भूमिसुधार, नदी-नियंत्रण, नगरपालिका अभियांत्रिकी, स्थावर संपदा, मूल्यांकन, शिल्पाभियांत्रिकी (वास्तुकला), पूर्वनिर्मित भवन, ध्वनि-विज्ञान, संवातन, नगर तथा ग्राम अधियोजना, जलसंग्रहण और वितरण, जलोत्सारण, मलापवहन, कूड़े कचड़े का अपवहन, सांरचनिक अभियांत्रिकी, पुल, कंक्रीट, धात्विक संरचनाएँ, पूर्वप्रतिबलित कंक्रीट (प्रिस्ट्रेस्ड कंक्रीट), नींव, संधान (वेल्डिंग), भूसर्वेक्षण, सामुद्रपरीक्षण, फोटोग्राफीय सर्वेक्षण (फ़ोटोग्राफिक सर्वेयिंग), परिवहन, भूविज्ञान, द्रवयांत्रिकी, प्रतिकृति, विश्लेषण, मृदायांत्रिकी (सॉयल इंजीनियरिंग), जलस्रावी स्तरों में चिकनी मिट्टी प्रविष्ट करना, शैलपूरित बाँध, मृत्तिका बाँध, पूरण (भरना, ग्राउटिंग) की रीतियाँ, जलाशयों से जल रसना (सीपेज) के अध्ययन के लिये विकिरणशील समस्थानिकों (आइसोटोप्स) का प्रयोग, अवसाद की घनता के लिये गामा किरणों का प्रयोग।

यांत्रिकी इंजीनियरिंग में उष्मागतिकी, जलवाष्प, डीजेल तथा क्षिपप्रणोदन (जेट प्रोपलशन), यंत्रप्ररचना, ऋतुविज्ञान, यंत्रोपकरण, जलचालित यंत्र, धातुकर्मविज्ञान, वैमानिकी, मोटरकार आदि (ऑटोमोबाइल)

संबंधी अभियांत्रिकी, कंपन, पोतनिर्माण, उष्मा स्थानांतरण, प्रशीतन (रेफ़ीजरेशन) हैं।

विद्युत् अभियांत्रिकी में विद्युद्यंत्र, विद्युत्-शक्ति-उत्पादन, संचरण तथा वितरण, जलविद्युत्, रेडियोसंपर्क, विद्युत्मापन, विद्युदधिष्ठापन, अत्युच्चावृत्ति कार्य, नाभिकीय अभियांत्रिकी, वैद्युदाण्विकी (इलेक्ट्रॉनिक्स) हैं।

रासायनिक अभियांत्रिकी में चीनी मिट्टी संबंधी अभियांत्रिकी, दहन, विद्युत् रसायन, गैस अभियांत्रिकी, धात्वीय तथा पेट्रोलियम अभियांत्रिकी, उपकरण तथा स्वयंचल नियंत्रण, चूर्णन, मिश्रण तथा विलगन, प्रसृति (डिफ़्यूज़न) विद्या, रासायनिक यंत्रों का आकल्पन तथा निर्माण, विद्युत् रसायन हैं।

कृषीय अभियांत्रिकी में औद्योगिक प्रबंध, खनि अभियांत्रिकी, इत्यादि, इत्यादि हैं।

अभियांत्रिकी को संकीर्ण परिमित शाखाओं में विभाजित नहीं किया जा सकता। वे परस्परावलंबी हैं। अभियंता का अपनी समस्याओं को हल करने के लिये बुद्धि का मार्ग पकड़ना अभियांत्रिकी की सब शाखाओं में पाया जाता है। प्रायोगिक और प्राकृतिक दोनों प्रकार की घटनाओं का निरपेक्ष निरीक्षण तथा इस प्रकार के निरीक्षण के फलों का अभियांत्रिक समस्याओं पर ऐसी सावधानी से प्रयोग, जिससे समय और धन के न्यूनतम व्यय से समाज को अधिकतम सेवा मिले, अभियांत्रिकी की प्रमुख पद्धति है। शुद्ध वैज्ञानिक अभियांत्रिकी की उलझनों को सुलझाने की रीति वैज्ञानिक चाहे खोज पाए हों या न पाए हों, अभियंता को तो अपना कार्य पूरा करना ही होगा। ऐसी अवस्था में अभियंता कुछ सीमा तक प्रायोगिक विश्लेषण का सहारा लेता है और कार्यरूप में परिणत होनेवाला ऐसा हल ढूंढ़ निकालता है जो, रक्षा का समुचित प्रबंध रखते हुए, उसकी प्रतिदिन की समस्याओं को सुलझाने योग्य बना सकता है। जैसे जैसे संबंधित वैज्ञानिक अंश का उसका ज्ञान अधिक अचूक होता जाता है, वह रक्षा के प्रबंध में कमी करके व्यय भी घटा सकता है। समस्याओं के बौद्धिक और क्रियात्मक विचार ने ही अभियंता को उन क्षेत्रों में भी प्रवेश करने योग्य बनाया है जो आरंभ से ही वैज्ञानिक, आयुर्वैज्ञानिक (डाक्टर), अर्थशास्त्री, प्रबंधक, मानवीय-शास्त्र-वेत्ता इत्यादि से सरोकार रखते समझे जाते हैं।

विश्व का इतिहास अभियांत्रिकी के रोमांस की कहानी से भरा पड़ा है। भारत और विदेशों में दूरदर्शी तथा निश्चित संकल्पवाले मनुष्यों ने अपने स्वप्नों के अनुसरण में सब कुछ दावँ पर लगाकर महत्वपूर्ण कार्य संपादित किए हैं। प्रत्येक अभियांत्रिक अभियान में तत्संबंधी विशेष समस्याएँ रहती हैं और इनको हल करने में छोटी तथा बड़ी दोनों प्रकार की प्रतिभाओं को अवसर मिलता है। अभियांत्रिकी का आधिपत्य मनुष्य जाति पर तब तक बना रहेगा जब तक हम ऐसे अभियंता तैयार करते जायँगे जिनके गुणों का सुदर वर्णन मयमत में निम्नलिखित शब्दों में किया गया है:

स्थपतिः स्थापनार्हः स्यात् सर्वशास्त्रविशारदः।
न हीनांगोऽतिरिक्तांगो धार्मिकश्च दयापरः॥
अमात्सर्योऽनसूयश्चातंद्रितस्त्वभिजातवान्।
गणितज्ञः पुराणज्ञः सत्यवादी जितेंद्रियः॥
चित्रज्ञो देशकालज्ञश्चान्नदश्चात्यलुब्धकः।
अरोगी चाप्रमादी च सप्तव्यसनवर्जितः॥
[मयमत, अ० ५]

अर्थात्, उस अभियंता (स्थपति) को निर्माण करने का अधिकार है जो सब विज्ञानों में विशारद है, जिसका ज्ञान न तो अपूर्ण और न अनावश्यक है; जो न्यायी, दयालु तथा द्वेष और ईर्ष्यारहित है; अध्यवसाय में निरंतर रत और अपने व्यवसाय के परंपरागत उच्च आदर्शों तथा प्रथाओं का अनुगत है; जो गणित और अपने विषय के इतिहास का जाननेवाला, सत्यवादी और जितेंद्रिय है; जिसे अपने कार्य के रूप, देश तथा काल का ज्ञान है; जो दूसरों का पालन करनेवाला तथा निर्लोभी है; जो निरोगी, अपने निर्णय में कभी भी भूल न करनेवाला तथा सातों प्रकार के व्यसनों से निर्लिप्त है।

[सी० बा० जो०]

अभियांत्रिकी तथा प्राविधिक शिक्षा

किसी वाणिज्य या व्यवसाय में, विशेषकर अभियांत्रिकी (इंजीनियरी) के कार्यों की आधारभूत कलाओं और विज्ञानों में व्यक्तियों को प्रशिक्षित करना प्राविधिक शिक्षा कहलाता है। अभियांत्रिक शिक्षा में आज अभियांत्रिकी की केवल पुरानी शाखाएँ—नागरिक (सिविल), यांत्रिक (मिकैनिकल), खनिज (माइनिंग) और वैद्युत (इलेक्ट्रिकल) अभियांत्रिकी और उसके विभाग, जैसे सड़क अभियांत्रिकी, पत्तन अभियांत्रिकी, मोटरकार (ऑटोमोबाइल) अभियांत्रिकी, यंत्र-निर्माण अभियांत्रिकी, भवन अभियांत्रिकी, प्रभासन (इल्यूमिनेटिंग) अभियांत्रिकी इत्यादि—ही संमिलित नहीं हैं, प्रत्युत ऐसी संगत शाखाएँ भी संमिलित हैं, जैसे रासायनिक अभियांत्रिकी और धातुकार्मिक (मेटालर्जिकल) अभियांत्रिकी।

आधुनिक विशेषीकरण के होते हुए भी अभियांत्रिकी की सब शाखाओं के लिये सामान्य विज्ञान तथा गणित की पक्की नींव पहले से डाल रखने की नितांत आवश्यकता रहती है।

अभियांत्रिकी शिक्षा के उद्देश्य और स्तर—अभियांत्रिकी शिक्षा के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित होने चाहिए:

(१) उनको प्रशिक्षित करना जो भविष्य में उद्योग के नायक होंगे;

(२) औद्योगिक कार्यकर्ताओं को इस प्रकार प्रशिक्षित करना कि वे बताया हुआ अपना काम अधिक दक्षता और लगन से कर सकें;

(३) उन व्यक्तियों को प्रशिक्षित करना जो सरकार के भवन तथा सड़क निर्माण, नहर तथा सिंचाई और अन्य अभियांत्रिकी विभागों की देखभाल करेंगे।

प्रारंभिक सामान्य शिक्षा—औद्योगिक श्रमिक सेना के अधिकांश व्यक्तियों के लिये अच्छी प्राथमिक शिक्षा, जिसमें विज्ञान, गणित और प्रकृतिअध्ययन का समावेश हो, व्यावसायिक पाठशालाओं में भरती होने के लिये पर्याप्त होगी।

अभियांत्रिकी शिक्षा में उपाधिपत्र (डिप्लोमा अथवा सर्टिफ़िकेट) उन लोगों के लिये उपयुक्त होता है जो अभियांत्रिकी विश्वविद्यालयों में नहीं अध्ययन कर सकते। ऐसे व्यक्तियों के लिये हाई स्कूल तक विज्ञान और गणित का ज्ञान न्यूनतम योग्यता समझी जानी चाहिए। उपाधिपत्र का पाठ्यक्रम तीन वर्षों का होना चाहिए और उसके बाद लगभग दो वर्षों तक किसी कारखाने अथवा सरकारी निर्माण विभाग में क्रियात्मक प्रशिक्षण लेना चाहिए। भारत में ऐसी कई उपाधिपत्र पाठशालाएँ सरकार ने अथवा गैरसरकारी संस्थाओं ने हाल में खोली हैं।

अभियांत्रिकी में विश्वविद्यालय तक की शिक्षा—इस शिक्षा के लिये न्यूनतम योग्यता विज्ञान सहित इंटरमीडिएट समझी जानी चाहिए। विश्वविद्यालय में अथवा किसी प्रौद्योगिक संस्थान (टेकनॉलॉजिकल इंस्टिट्यूट) में चार वर्षों का पाठ्यक्रम होना चाहिए और उसके बाद एक वर्ष तक अपरेंटिसी (शिक्षा)।

विद्यार्थियों के लिये सुझाव—(१) विद्यार्थियों को अपने स्वास्थ्य, व्यायाम और सामाजिक मिलनसारी पर पूरा ध्यान रखना चाहिए। अच्छा स्वास्थ्य और अच्छी नागरिकता अमूल्य हैं, (२) अभियांत्रिकी शिक्षा के प्रत्येक स्तर में आधारभूत सिद्धांतों पर अधिकतम बल लगाना चाहिए। ज्ञान तभी बहुमूल्य होता है जब उसका उपयोग हो सके। इसलिये सीखना चाहिए कि निर्देशक ग्रंथ, अभियांत्रिकी परिषदों के संमुख पढ़े गए खोजपत्र आदि से सहायता कैसे ली जा सकती है। सिद्धांतों के प्रयोग से फल निकालना विशिष्ट फलों को रट लेने से कहीं अच्छा है। उनको जो उच्चतम पदों पर पहुँचना चाहते हैं, या पहुँच जाते हैं, न केवल समुचित और विस्तृत सामान्य शिक्षा का अधिकारी होना चाहिए, वरन् अपने क्रियाशील जीवन भर अध्ययन और खोजों को जारी रखना चाहिए।

भारत में अभियांत्रिकी शिक्षा का इतिहास—भारत में अभियांत्रिकी का सबसे पुराना विद्यालय टौमसन कालेज है जो रुड़की (उत्तर प्रदेश) में सन् १८४७ ई० में स्थापित किया गया था। सन् १९४९ में इसे रुड़की इंजीनियरिंग विश्वविद्यालय में रूपांतरित कर दिया गया। अब अधिकांश

भारतीय विश्वविद्यालयों में अभियांत्रिकी शिक्षण विभाग है। इनके अतिरिक्त हाल में कई प्रौद्योगिक संस्थान खोले गए हैं, उदाहरणतः खड़गपुर और बंबई में।

भविष्य—अभियांत्रिकी शिक्षा की अभिवृद्धि के लिये भारत में अच्छा भविष्य है। ऐसी शिक्षा शीघ्रता से बढ़ रही है और आशा है, शीघ्र पर्याप्त हो जायगी। निम्नलिखित कठिनाइयों और उपायों पर ध्यान देना चाहिए :

(क) **एक ही काम करते रहने से जी ऊबना**—औद्योगिक कार्यकर्ताओं में से अधिकांश को अपनी बेंच, मशीन अथवा भट्ठी पर दिन भर, प्रति दिन, आजीवन बैठना पड़ता है। ऐसे कार्यकर्ताओं को सायंकालीन कक्षाओं और रोचक पाठ्यक्रम से बहुत लाभ हो सकता है।

(ख) **अवरुद्ध मार्गवाली नौकरी**—स्वयंचालित और अर्ध-स्वयंचालित मशीनों के कारण इन दिनों अनेक कार्यकर्ताओं को विशेष हस्त-कौशल सीखने का कोई अवसर नहीं मिलता, जिससे वे किसी अन्य अधिक अच्छी नौकरी में नहीं जा सकते। इसलिये अधिकांश जिलों में व्यवसाय संबंधी शिक्षा देनेवाली पाठशालाएँ रहें, जिनमें युवा पुरुष क्रियात्मक रीति से नए नए व्यवसाय अपनी उन्नति के लिये सीख सकें और उन्हें अपना जीवन भार सरीखा न जान पड़े।

(ग) **गवेषणा में व्यक्तित्व**—अभियांत्रिकी विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में शिक्षकगण साधारणतः केवल विशुद्ध विज्ञान में गवेषणा कर सकते है, क्योंकि औद्योगिक गवेषणा के लिये उनके पास पर्याप्त साधन नहीं रहता। औद्योगिक कारखानों में समस्याओं को हल करने के लिये कर्मचारी और यंत्रादि बहुत बड़े पैमाने पर मिलते है और शिक्षकों का उनसे होड़ लगाना कठिन है।

(घ) **स्वामियों द्वारा सहायता**—नवयवकों में प्राविधिक शिक्षा के प्रसार के लिये कारखानों के स्वामी बहुत कुछ कर सकते है। उदाहरणतः शेफील्ड की 'दि हार्ड फील्ड्स लिमिटेड' नामक कंपनी कई वर्षों से एक योजना चला रही है। इसके अनुसार २१ वर्ष से कम आयुवाले उन विद्यार्थियों का प्रवेशशुल्क कंपनी अपने पास से लौटा देती है जो कुछ चुनी हुई प्राविधिक पाठशालाओं में भरती होते हैं और ७५ प्रति शत से अधिक दिनों तक वहाँ उपस्थित रहते हैं।

शिक्षकों का प्रशिक्षण—प्रत्यक्ष है कि शिक्षण अच्छा तभी हो सकता है जब अच्छे शिक्षक मिलें। इसलिये अभियांत्रिकी पाठशालाओं के शिक्षकों को लंबी छुट्टियों में व्याख्यान आदि द्वारा प्रशिक्षित होने का अवसर मिलना चाहिए और वहाँ कक्षा में उठनेवाली अधिकांश समस्याओं पर विचार होना चाहिए।

सामान्य—बहुत से लोगों में शंका बनी रहती है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अभियांत्रिकी के लिये समुचित और पर्याप्त है या नहीं। अभियांत्रिकी की प्रकृति ही ऐसी है कि इस प्रकार की शंका उठती है। मौलिक रूप से अभियांत्रिकी ही उपयोगी परिणामों के निमित्त, उपयोगी रीति से सामग्री और शक्ति लगान का वैज्ञानिक ज्ञान देती है। परंतु वैज्ञानिक खोजों से सदा नवीन रीतियाँ निकलती रहती हैं और नवीन उद्योग खड़े होते रहते है। इस प्रकार परिस्थितियों में निरंतर परिवर्तन, वैज्ञानिक तथा प्राविधिक उन्नति, नवीन रीतियों, नवीन उद्योगों और नवीन आर्थिक परिस्थितियों के कारण यांत्रिकी शिक्षा में परिवर्तन की अपेक्षा सदा बनी रहती है।

शिक्षा-संस्थाएँ—अभियांत्रिकी तथा प्रौद्योगिकी की स्नातक स्तर तक शिक्षा की सुविधा अब भारत के सभी राज्यों में उपलब्ध है। उदाहरणार्थ—पंजाब इंजीनियरिंग कॉलेज, चंडीगढ़; गुरु नानक इंजीनियरिंग कॉलेज, लुधियाना; थापर इंजीनियरिंग कॉलेज, पटियाला; रुड़की यूनिवर्सिटी, रुड़की; दयालबाग इंजीनियरिंग कालेज, दयालबाग, आगरा; इंजीनियरिंग कॉलेज मुस्लिम युनिवर्सिटी, अलीगढ़; इंजीनियरिंग कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी; डेलही पॉलिटेक्नीक, दिल्ली; बिड़ला इंजीनियरिंग कॉलेज, पिलानी; जोधपुर इंजीनियरिंग कॉलेज, जोधपुर; गवर्नमेंट इंजीनियरिंग कॉलेज, जबलपुर; माधव इंजीनियरिंग कालेज, ग्वालियर; सेकसरिया इंजीनियरिंग कॉलेज, इंदौर; पटना इंजीनियरिंग कॉलेज, पटना; मेस्रा इंस्टिट्यूट ऑव टेकनॉलोजी, राँची; सिंधरी इंस्टिट्यूट ऑव टेकनॉलोजी, सिंधरी; इंजीनियरिंग कॉलेज, मुजफ्फरपुर; स्कूल ऑव माइनिंग, धनबाद; शिबपुर इंजीनियरिंग कॉलेज, शिबपुर (कलकत्ता); जादवपुर यूनिवर्सिटी, जादवपुर, कलकत्ता; इंस्टिट्यूट ऑव टेकनालाजी, खड्गपुर; इंजीनियरिंग कॉलेज, आंध्र यूनिवर्सिटी; इंजीनियरिंग कॉलेज, अन्नामलई यूनिवर्सिटी; गुइंडी कॉलेज, मद्रास; हायर इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नॉलोजी, मद्रास; मद्रास इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नोलॉजी, मद्रास; इंस्टिट्यूट ऑव सायंस, बंगलोर; इंजीनियरिंग कॉलेज, मैसूर; इंजीनियरिंग कॉलेज ट्रावनकोर; इंजीनियरिंग कॉलेज, ओस्मानिया यूनिवर्सिटी, हैदराबाद; विक्टोरिया जुबली टेक्निकल इंस्टिट्यूट, बंबई; हायर इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नोलॉजी, बंबई; इंजीनियरिंग कॉलेज, पूना; इंजीनियरिंग कॉलेज, नागपुर; इंजीनियरिंग कॉलेज, बड़ोदा यूनिवर्सिटी, बड़ोदा; इंजीनियरिंग कॉलेज, आनंद।

वर्तमान पंचवर्षीय योजना में अनेक नए कॉलेज खोलने की व्यवस्था है। भारत सरकार द्वारा स्थापित सभी उच्च प्रौद्योगिक संस्थानों में और उपर्युक्त कई संस्थाओं में स्नातकोत्तर शिक्षा की सुविधा है।

डिप्लोमा स्तर तक प्राविधिक शिक्षा की सुविधा के संबंध में जानकारी भारत सरकार द्वारा स्थापित और नियोजित प्रादेशिक प्राविधिक शिक्षा कार्यालयों और परामर्शदाताओं से प्राप्त की जा सकती है।

[न० ला० गु०]

अभिरंजित काच

अभिरंजित काच (अंग्रेजी में स्टेंड ग्लास) से साधारणतः वही काच (शीशा) समझा जाता है जो खिड़कियों में लगता है, विशेषकर जब विविध रंगों के काच के टुकड़ों को जोड़कर कोई चित्र प्रस्तुत कर दिया जाता है। यूरोप के विभिन्न विख्यात गिर्जाघरों में बहुमूल्य अभिरंजित काच लगे है।

अभिरंजित काच के निर्माण में तीन प्रकार के काच प्रयोग में आते हैं : (१) काच जो द्रवण के समय ही सर्वत्र रंगीन हो जाता है। (२) इनैमल द्वारा पृष्ठ पर रँगा काच। (३) रजत लवण द्वारा पीला रँगा काच।

प्रारंभ—अभिरंजित काच का कहाँ और कब प्रथम निर्माण हुआ, यह अस्पष्ट है। अधिकतर संभावना यही है कि अभिरंजित काच का आविष्कार भी काच के आविष्कार के सदृश पश्चिमी एशिया और मिस्र में हुआ। इस कला की उन्नति एवं विस्तार १२वीं शताब्दी से आरंभ होकर १४वीं शताब्दी में शिखर पर पहुँचे। १६वीं शताब्दी में भी बहुत से कलायुक्त अभिरंजित काच बने, परंतु इसी शताब्दी के अंत में इस कला का ह्रास आरंभ हुआ और १७वीं शताब्दी के पश्चात् इस कला का प्रायः लोप हो गया। इस समय कुछ ही संस्थाएँ हैं जो अभिरंजित काच विशेष रूप से बनाती हैं।

अभिरंजित काच का प्रयोग विशेषकर ऐसी खिड़कियों में होता है जो खुलती नहीं, केवल प्रकाश आने के लिये लगाई जाती हैं। इसी उद्देश्य से गिर्जाघरों के विशाल कमरों में विशाल अभिरंजित काच, केवल प्रकाश आने के लिये दीवारों में लगाए जाते हैं। इन काचों पर अधिकतर ईसाई धर्म से संबंधित चित्र, जैसे ईसा का जन्म, बचपन, धर्मप्रचार, सूली अथवा माता मरियम के चित्र अंकित रहते है और इन काचों में से होकर जो प्रकाश भीतर आता है उससे शांति और धार्मिक वातावरण उत्पन्न होने में बहुत कुछ सहायता मिलती है। कुछ अभिरंजित काचों में प्राकृतिक एवं पौराणिक दृश्य और महान् पुरुषों के चित्र भी अंकित रहते हैं।

प्रविधि—आरंभ में उपयुक्त रंगीन काच के टुकड़े एक नकशे के अनुसार काट लिए जाते हैं और चौरस सतह पर उन्हें नकशे के अनुसार रखा जाता है। तब जोड़ की रेखाओं में द्रवित सीसा धातु भर दी जाती है। इस प्रकार काच के विविध टुकड़े संबंधित होकर एक पट्टिका में परिणत हो जाते हैं। सीसा भी रेखा की तरह पट्टिका पर अंकित हो जाता है और आकर्षक लगता है।

यदि किसी विशिष्ट रंग का काच उपलब्ध नहीं रहता तो काच पर इनैमल लगाकर और फिर काच को तप्त करके अनेक प्रकार का एकरंगा काच अथवा चित्रकारी उत्पन्न की जा सकती है। आरंभ में तप्त करने के पूर्व इनैमल को खुरचकर चित्र अंकित किया जाता था, पर बाद में

इनैमल द्वारा ही विभिन्न प्रकार के चित्र अंकित किए जाने लगे। इनैमल लगाने की क्रिया एक से अधिक बार भी की जा सकती है और इस प्रकार रंग को अपेक्षित स्थान पर गहरा किया जा सकता है अथवा उस पर दूसरा रंग चढ़ाकर उसका रंग बदला जा सकता है।

रंगरहित काच पर रजत लवण का लेप लगाकर और तदुपरांत काच को तप्त करने से काच की सतह पीली से नारंगी रंग तक की हो जाती है। यह रंग स्थायी और अति आकर्षक होता है। इस प्रकार के काच को भी अभिरंजित काच और इस क्रिया को "पीत अभिरंजकी" कहा जाता है। नीले काच पर इस क्रिया से काच हरा दिखाई पड़ता है। इस प्रकार का काच भी अभिरंजित काच-चित्रों के प्रयोग में आता है। पीत अभिरंजित काच का आविष्कार सन् १३२० में हुआ।

भारत में अभिरंजित काच की माँग प्रायः शून्य के बराबर है, अतः यहाँ पर यह उद्योग कहीं नहीं है। [रा० च०]

अभिलेख १. **परिभाषा और सीमा**—किसी विशेष महत्व अथवा प्रयोजन के लेख को अभिलेख कहा जाता है। यह सामान्य व्यावहारिक लेखों से भिन्न होता है। प्रस्तर, धातु अथवा किसी अन्य कठोर और स्थायी पदार्थ पर विज्ञप्ति, प्रचार, स्मृति आदि के लिये उत्कीर्ण लेखों की गणना प्रायः अभिलेख के अंतर्गत होती है। कागज, कपड़े, पत्ते आदि कोमल पदार्थों पर मसि अथवा अन्य किसी रंग से अंकित लेख हस्तलेख के अंतर्गत आते हैं। कड़े पत्तों (ताडपत्रादि) पर लौहशलाका से खचित लेख अभिलेख तथा हस्तलेख के बीच में रखे जा सकते हैं। मिट्टी की तख्तियों तथा बर्तनों और दीवारों पर उत्खचित लेख अभिलेख की सीमा में आते हैं। सामान्यतः किसी अभिलेख की मुख्य पहचान उसका महत्व और उसके माध्यम का स्थायित्व है।

२. **अभिलेखन सामग्री और यांत्रिक उपकरण**—जैसा ऊपर उल्लिखित है, अभिलेखन के लिये कड़े माध्यम की आवश्यकता होती थी, इसलिये पत्थर, धातु, ईंट, मिट्टी की तख्ती, काष्ठ, ताडपत्र का उपयोग किया जाता था, यद्यपि अंतिम दो की आयु अधिक नहीं होती थी। भारत, सुमेर, मिस्र, यूनान, इटली आदि सभी प्राचीन देशों में पत्थर का उपयोग किया गया। अशोक ने तो अपने स्तंभलेख (सं० २, तोपरा) में स्पष्ट लिखा है कि वह अपने धर्मलेख के लिये प्रस्तर का प्रयोग इसलिये कर रहा था कि वे चिरस्थायी हो सकें। किंतु इसके बहुत पूर्व आदिम मनुष्य ने अपने गुहाजीवन में ही गुहा की दीवारों पर अपने चिह्नों को स्थायी बनाया था। भारत में प्रस्तर का उपयोग अभिलेखन के लिये कई प्रकार से हुआ है—गुहा की दीवारें, पत्थर की चट्टानें (चिकनी और कभी कभी खुरदरी), स्तंभ, शिलाखंड, मूर्तियों की पीठ अथवा चरणपीठ, प्रस्तरभांड अथवा प्रस्तरमंजूषा के किनारे या ढक्कन, पत्थर की तख्तियाँ, मुद्रा, कवच आदि, मंदिर की दीवारें, स्तंभ, फर्श आदि। मिस्र में अभिलेख के लिये बहुत ही कठोर पत्थर का उपयोग किया जाता था। यूनान में प्रायः संगमरमर का उपयोग होता था, यद्यपि मौसम के प्रभाव से इसपर उत्कीर्ण लेख घिस जाते थे। विशेषकर सुमेर, बाबुल, क्रीट आदि में मिट्टी की तख्तियों का अधिक उपयोग होता था। भारत में भी अभिलेख के लिये ईंट का प्रयोग यज्ञ तथा मंदिर के संबंध में हुआ है। धातुओं में सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल, काँसा, लोहा, जस्ते का उपयोग किया जाता था। भारत में ताम्रपत्र अधिकता से पाए जाते हैं। काठ का उपयोग भी हुआ है, किंतु इसके उदाहरण मिस्र के अतिरिक्त अन्य कहीं अवशिष्ट नहीं हैं। ताडपत्र के उदाहरण भी बहुत प्राचीन नहीं मिलते।

अभिलेख में अक्षर अथवा चिह्नों की खोदाई के लिये रुखानी, छेनी, हथौड़े (नुकीले), लौहशलाका अथवा लौहवर्तिका आदि का उपयोग होता था। अभिलेख तैयार करने के लिये व्यावसायिक कारीगर होते थे। साधारण हस्तलेख तैयार करनेवालों को लेखक, लिपिकर, दिविर, कायस्थ, करण, करणिक, कर्णिन् आदि कहते थे; अभिलेख तैयार करनेवालों की संज्ञा शिल्पी, रूपकार, सूत्रधर, शिलाकूट आदि होती थी। प्रारंभिक अभिलेख बहुत सुंदर नहीं होते थे, परंतु धीरे धीरे स्थायित्व और आकर्षण की दृष्टि से बहुत सुंदर और अलंकृत अक्षर लिखे जाने लगे और अभिलेख की कई शैलियाँ विकसित हुईं। अक्षरों की आकृति और शैलियों से अभिलेखों के तिथिक्रम को निश्चित करने में सहायता मिलती है।

३. **चित्र, प्रतिकृति, प्रतीक तथा अक्षर**—तिथिक्रम से अभिलेखों में इनका उपयोग किया गया है। (इस संबंध में विस्तृत विवेचन के लिये **अक्षर** दे०) विभिन्न देशों में विभिन्न लिपियों और अक्षरों का प्रयोग किया गया है। इनमें चित्रात्मक, भावात्मक और ध्वन्यात्मक सभी प्रकार की लिपियाँ हैं। ध्वन्यात्मक लिपियों में भी अंकों के लिये जिन चिह्नों का प्रयोग किया जाता है वे ध्वन्यात्मक नहीं हैं। ब्राह्मी और देवनागरी दोनों के प्राचीन और अर्वाचीन अंक १ से ९ तक ध्वन्यात्मक नहीं हैं। प्राचीन अक्षरात्मक तथा चित्रात्मक अंकों की भी यही अवस्था है। सामी, यूनानी और रोमन लिपियों के भी अंक ध्वन्यात्मक नहीं हैं। यूनानी में अंकों के प्रथम अक्षर ही अंकों के लिये प्रयुक्त होते थे, जैसा एम (M), डी (D), सी (C), वी (V) और आइ (I) का प्रयोग अब तक १०००, ५००, १००, ५०, १०, (V को ही उलटा जोड़कर), ५ और १ के लिये होता है। इसी प्रकार विराम और गणित के बहुत से चिह्न ध्वन्यात्मक नहीं होते।

४. **लेखनपद्धति**—लेखनपद्धति में सबसे पहले प्रश्न आता है व्यक्तिगत अक्षरों की दिशा का। अत्यंत प्राचीन काल से अब तक अक्षरों की बनावट और अंकन में प्रायः एकरूपता पाई जाती है। अक्षर ऊपर से नीचे लंबवत् खचित अथवा उत्कीर्ण होते हैं मानो किसी कल्पित रेखा से वे लटकते हों। आधुनिक कन्नड के आड़े अक्षर भी उसी कल्पित रेखा के नीचे सँजोए जाते हैं। अक्षरों का ग्रथन प्रायः एक सीधी आधारवत् रेखा के ऊपर होता है। इस पद्धति के अपवाद चीनी और जापानी अभिलेख हैं, जिनमें पंक्तियाँ लंबवत् ऊपर से नीचे लिखी जाती हैं। लेखन पद्धति का दूसरा प्रश्न है लेखन की दिशा। भारोपीय लिपियों की लेखनदिशा बाएँ से दाएँ तथा सामी और हामी लिपियों की दाएँ से बाएँ मिलती है। कुछ प्राचीन यूनानी अभिलेखों और बहुत थोड़े भारतीय अभिलेखों में लेखनदिशा गोमूत्रिका सदृश (पहली पंक्ति में दाएँ से बाएँ, दूसरी पंक्ति में बाएँ से दाएँ और आगे क्रमशः इसी प्रकार) पाई जाती है। चीनी और जापानी अभिलेखों में पंक्तियाँ ऊपर से नीचे और लेखनदिशा दाएँ से बाएँ होती है। प्रारंभिक काल में अक्षरों के ऊपर की रेखा काल्पनिक थी अथवा किसी अस्थायी पदार्थ से लिखकर मिटा दी जाती थी। आगे चलकर वह वास्तविक हो गई, यद्यपि यूनानी और रोमन अभिलेखों में वह अक्षरों के नीचे आ गई। भारतीय अक्षरों में क्रमशः शिरोरेखा बनाने की प्रथा चल गई जो कल्पित (पुनः वास्तविक) रेखा पर बनाई जाती थी। प्राचीन अभिलेखों में एक शब्द के अक्षरों का समूहीकरण और शब्दों के पृथक्करण पर ध्यान कम दिया जाता था, यहाँ तक कि वाक्यों को अलग करने के लिये भी किसी चिह्न का प्रयोग नहीं होता था। जिन भाषाओं का व्याकरण नियमित था उनके अभिलेख पढ़ने और समझने में कठिनाई नहीं होती, शेष में कठिनाई उठानी पड़ती है। विरामचिह्नों का प्रयोग भी पीछे चलकर प्रचलित हुआ। भारतीय अभिलेखों में पूर्ण विराम के लिये दंडवत् एक रेखा (।), दो रेखा (॥) अथवा शिरोरेखा के साथ एक दंडवत् रेखा (ा) का प्रयोग होता था। किसी अभिलेख के अंत में तीन दंडवत् रेखाओं (।।।) का भी प्रयोग होता था। सामी तथा यूरोपीय अभिलेखों में वाक्य के अंत में एक बिंदु (·), दो बिंदु (:) अथवा शून्य (०) लगाने की प्रथा थी। इसी प्रकार अभिलेखों में पृष्ठीकरण, संशोधन, संक्षिप्तीकरण तथा छूट की पूर्ति करने की पद्धति और चिह्नों का विकास हुआ। प्रायः सभी देशों में मांगलिक चिह्नों, प्रतीकों और अलंकरणों का प्रयोग अभिलेखों में होता था। भारत में स्वस्तिक, सूर्य, चंद्र, त्रिरत्न, बुद्धमंगल, चैत्य, बोधिवृक्ष, धर्मचक्र, वृत्त, ओ३म् का आलंकारिक रूप, शंख, पद्म, नंदी, मत्स्य, तारा, शस्त्र, कवच आदि इस प्रयोजन के लिये काम में आते थे। सामी देशों में चंद्र और तारा, ईसाई देशों में स्वस्तिक, क्रास आदि मांगलिक चिह्न प्रयुक्त होते थे। अभिलेख के ऊपर, नीचे या अन्य किसी उपयुक्त स्थान पर लांछन अथवा अंक प्रामाणिकता के लिये लगाए जाते थे।

५. **अभिलेख के प्रकार**—यदि अत्यंत प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के अभिलेखों का वर्गीकरण किया जाय तो उनके प्रकार इस भाँति पाए जाते हैं: (१) व्यापारिक तथा व्यावहारिक, (२) आभिचारिक (जादू टोना से संबद्ध), (३) धार्मिक और कर्मकांडीय, (४) उपदेशात्मक अथवा नैतिक, (५) समर्पण तथा चढ़ावा संबंधी, (६) दान संबंधी, (७) प्रशासकीय (८) प्रशस्तिपरक (९) स्मारक तथा (१०) साहित्यिक।

(१) **व्यापारिक तथा व्यावहारिक**—भारत, पश्चिमी एशिया, मिस्र, क्रीट, यूनान आदि सभी प्राचीन देशों में व्यापारियों की मुद्राओं पर और उनके लेखे जोखे से संबंध रखनेवाले अभिलेख पाए गए हैं। प्राचीन भारत के निगमों और श्रेणियों की मुद्राएँ अभिलेखांकित होती थी और वे व्यापारिक एवं व्यावहारिक कार्यों के लिये भी स्थायी और कड़ी सामग्री का उपयोग करती थीं। कभी कभी तो अन्य प्रकार के अभिलेखों में भी व्यापारिक विज्ञापन पाया जाता है। कुमारगुप्त तथा बंधुवर्मनकालीन मालव सं० ५२९ के अभिलेख में वहाँ के तंतुवायों (जुलाहों) के कपड़ों का विज्ञापन इस प्रकार दिया हुआ है: "तारुण्य और सौंदर्य से युक्त, सुवर्णहार, तांबूल, पुष्प आदि से सुशोभित स्त्री तब तक अपने प्रियतम से मिलने नहीं जाती, जब तक कि वह दशपुर के बने पट्टमय (रेशम) वस्त्रों के जोड़े को नहीं धारण करती। इस प्रकार स्पर्श करने में कोमल, विभिन्न रंगों से चित्रित, नयनाभिराम रेशमी वस्त्रों से संपूर्ण पृथ्वीतल अलंकृत है।"

(२) **आभिचारिक**—सिंधुघाटी (हरप्पा और मोहेंजोदड़ो) में प्राप्त बहुत सी तख्तियों पर आभिचारिक यंत्र हैं। इनमें विभिन्न पशुओं द्वारा प्रतिनिहित संभवतः देवताओं की स्तुतियाँ हैं। प्रायः कवचों पर ये अभिलेख मिलते हैं। सुमेर, मिस्र, यूनान आदि में भी आभिचारिक अभिलेख पाए जाते हैं।

(३) **धार्मिक और कर्मकांडीय**—मंदिर, यज्ञ, हवन, पूजापाठ आदि से संबंध रखनेवाले बहुसंख्यक अभिलेख पाए जाते हैं। इनमें धार्मिक विधिनिषेध, हवनप्रक्रिया, पूजापद्धति, हवन तथा पूजा की सामग्री, यज्ञ-दक्षिणा आदि का उल्लेख मिलता है। अशोक ने तो अपने अभिलेखों को 'धर्मलिपि' ही कहा है जिनमें बौद्ध धर्म के सर्वमान्य तत्वों का विवरण है। यूनानी अभिलेखों में मंदिर, कर्मकांड, पुरोहित तथा धार्मिक संघों के बारे में प्रचुर सामग्री मिलती है।

(४) **उपदेशात्मक**—धार्मिक प्रयोजन की तरह अभिलेखों का नैतिक उपयोग भी होता था। अशोक के धर्मलेखों में उपदेशात्मक अंश बहुत अधिक मात्रा में पाया जाता है। बेसनगर (विदिशा) के छोटे गरुडध्वज अभिलेख में भी उपदेश है: "तीन अमृत पद हैं। यदि इनका सुंदर अनुष्ठान हो तो ये स्वर्ग को प्राप्त कराते हैं। ये हैं—दम, त्याग और अप्रमाद।" चीन और यूनान में भी उपदेशात्मक अभिलेख मिलते हैं।

(५) **समर्पण अथवा चढ़ावा**—धार्मिक स्थापत्यों, विधियों और अन्य प्रकार की संपत्ति का किसी देवता अथवा धार्मिक संस्थान को स्थायी रूप से समर्पण अंकित करने के लिये इस प्रकार के अभिलेख प्रस्तुत किए जाते थे।

(६) **दान संबंधी**—प्राचीन धार्मिक और नैतिक जीवन में दान का बहुत ऊँचा स्थान था। प्रत्येक देश और धर्म में दान को संस्था का रूप प्राप्त था। स्थायी दान को अंकित करने के लिये पहले पत्थर और फिर ताम्रपत्र का प्रयोग होता था।

(७) **प्रशासकीय**—प्रशासकीय अभिलेखों में विधि (कानून), नियम, राजाज्ञा, जयपत्र, राजाओं और राजपुरुषों के पत्र, राजकीय लेखा-जोखा, कोष के प्रकार और विवरण, सामंतों से प्राप्त कर एवं उपहार, राजकीय संमान और शिष्टाचार, ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख, समाधि-लेख आदि की गणना है। पत्थर के स्तंभ पर लिखी हुई बाबुली सम्राट् हम्मुराबी की विधिसंहिता प्रसिद्ध है। अशोक के धर्मलेखों में उसका राजकीय शासन (आज्ञा) भरा पड़ा है।

(८) **प्रशस्ति**—राजाओं द्वारा विजयों और कीर्ति का वर्णन स्थायी रूप से शिलाखंडों और प्रस्तरस्तंभों पर लिखवाने की प्रथा बहुत प्रचलित रही है। भारत में राजाओं की दिग्विजय के वर्णन बड़ी संख्या में पाए जाते हैं। मिस्री सम्राट् रामसेज़ तृतीय, ईरानी सम्राट् दारा, भारतीय राजाओं में खारवेल, गौतमीपुत्र शातकर्णी, रुद्रदामन्, समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त (द्वितीय), स्कंदगुप्त, द्वितीय पुलकेशिन् आदि की प्रशस्तियाँ प्रसिद्ध हैं। अन्य प्रकार के अभिलेखों में भी समसामयिक राजाओं की प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं।

(९) **स्मारक**—चूँकि अभिलेखों का मुख्य कार्य अंकन को स्थायी बनाना था, अतः घटनाओं, व्यक्तियों तथा कृतियों के स्मारकरूप में अगणित अभिलेख पाए गए हैं।

(१०) **साहित्यिक**—अभिलेखों में सर्वमान्य धार्मिक ग्रंथों अथवा उनके अवतरण और कभी-कभी समूचे नवीन काव्य, नाटक आदि ग्रंथ अभिलिखित पाए जाते हैं।

६. **अभिलेख सिद्धांत**—अभिलेख तैयार करने के लिये सामान्य रूप से कुछ सिद्धांत और नियम प्रचलित थे। अभिलेख का **प्रारंभ** किसी धार्मिक अथवा मांगलिक चिह्न या शब्द से किया जाता था। **इसके** पश्चात् किसी इष्ट देवता की **स्तुति अथवा आमंत्रण** होता था। तत्पश्चात् **आशीर्वादात्मक** वाक्य आता था। पुनः **दान** अथवा **कीर्तिविशेष की प्रशंसा** होती थी। फिर दान अथवा **कीर्ति भंग करनेवाले की निंदा** की जाती थी। अंत में **उपसंहार** होता था। अभिलेख के अंत में लेखक और उत्कीर्ण करनेवाले का नाम और मांगलिक चिह्न होता था। भारत में यह नियम प्रायः सर्वप्रचलित था। अन्य देशों में इन सिद्धांतों के पालन में दृढ़ता नहीं थी।

७. **तिथिक्रम और संवत् का प्रयोग**—अभिलेखों में तिथि और संवत् लिखने की प्रथा धीरे धीरे प्रचलित हुई। प्रारंभ में भारत में स्थायी एवं क्रमबद्ध संवतों के अभाव में राजाओं के शासनवर्ष से तिथि गिनी जाती थी। फिर कतिपय महत्वाकांक्षी राजाओं और शासकों ने अपनी कीर्ति स्थायी करने के लिये अपने पदासीन होने के समय से संवत् चलाया जो उनके बाद भी प्रचलित रहा। फिर महान् घटनाओं और धर्मप्रवर्तकों एवं संत महात्माओं के जन्म अथवा निधनकाल से भी संवतों का प्रवर्तन हुआ। फलस्वरूप अभिलेखों में इनका प्रयोग होने लगा। तिथियों के अंकन में दिन, वार, पक्ष, मास और संवत् का उल्लेख पाया जाता है।

८. **ऐतिहासिक अभिलेख**—तिथिक्रम से प्राचीन अभिलेख मिस्र की चित्रलिपि के माने जाते हैं। फिर प्राचीन इराक के अभिलेखों का स्थान है, जो पहले अर्धचित्रलिपि और पुनः कीलाक्षरों में अंकित हैं। सिंधुघाटी के अभिलेख इराकी अभिलेखों के प्रायः समकालीन हैं। इनके पश्चात् क्रीट, यूनान और रोम के अभिलेखों की गणना की जा सकती है। ईरान के कीलाक्षर और **आरामाई** लिपि के लेख भी प्रसिद्ध हैं। चीन में चित्र एवं भावलिपि के लेख बहुत प्राचीन काल से पाए जाते हैं। भारत में सिंधुघाटी के परवर्ती अभिलेखों का मोटे तौर पर निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है: (१) मौर्यपूर्व, (२) मौर्य, (३) शुंग, (४) भारत-बाख्त्री, (५) शक, (६) कुषण, (७) आंध्र-शातवाहन, (८) गुप्त, (९) मध्यकालीन (इसमें विविध प्रादेशिक शैलियों का समावेश है) तथा (१०) आधुनिक। भारतीय शैली के अभिलेख संपूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया में पाए जाते हैं।

सं० ग्रं०—दे० 'अक्षर' के संदर्भ ग्रंथों के अतिरिक्त, हिक्स् ऐंड हिल: ग्रीक हिस्टॉरिकल इंस्क्रिप्शन्स (द्वि० सं०), १९०१; ई० एस० राबर्ट्स: इंट्रोडक्शन टु ग्रीक एपिग्राफ़ी, १८८७; कार्पस इंस्क्रिप्शनम् लटिनेरम्, बर्लिन; कॉर्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्, जिल्द १, २ और ३; एपिग्राफ़िया इंडिका की विविध जिल्दें। [रा० ब० पां०]

अभिलेखागार सार्वजनिक अथवा वैयक्तिक, राजकीय अथवा अन्य संस्था संबंधी अभिलेखों, मानचित्रों, पुस्तकों आदि का व्यवस्थित निकाय और उसका संरक्षागार। अधिकतर ये अभिलेख राज्यों, साम्राज्यों, स्वतंत्र नगरों, संस्थाओं अथवा विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा महत्वपूर्ण कार्यों के संपादनार्थ प्रस्तुत किए जाते रहे हैं, कालांतर ने जिन्हें ऐतिहासिक महत्व प्रदान कर दिया है। प्रशासन की घोषणाएँ, फर्मान, संविधानों की मूल प्रतियाँ, संधियों-सुलहनामों के अहदनामे, राष्ट्रों के पारस्परिक संबंधों के मान और सीमाओं के उल्लेख आदि सभी प्रकार के अभिलेख इस श्रेणी में आते हैं और राष्ट्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय अभिलेखागारों में संरक्षित और सुरक्षित किए जाते हैं। पहले इनका उपयोग प्रायः संबंधित संस्थाओं का निजी था, पर अब ये ऐतिहासिक अध्ययन के लिये प्रयुक्त अथवा वादप्रतिवादों के संदर्भ में भी प्रमाणार्थ उपस्थित किए जा सकते हैं। संधियाँ तो राष्ट्रों को अपने पूर्वव्यवहारों और अहदनामों के अनुकूल आचरण करने को बाध्य करती हैं।

अभिलेखागार अथवा अभिलेखनिकाय की राष्ट्रीय अथवा प्रशासन-विभागीय व्यवस्था निःसंदेह आधुनिक है जो वस्तुतः नियोजित रूप में

फ्रांसीसी राज्यक्रांति के बाद और मुख्यतः उसके परिणामस्वरूप संगठित हुई है। किंतु अभिलेखागारों की संस्था प्राचीन काल में भी सर्वथा अनजानी न थी। ईसा से सैकड़ों साल पहले राजाओं-सम्राटों की दिग्विजयों, राजकीय-प्रशासकीय घोषणाओं-फर्मानों, पारस्परिक आचरण-व्यवहारों के संबंध में जो उनके अभिलेख मंदिरों-मक़बरों की दीवारों, शिलाओं, स्तंभों, ताम्रपत्रों आदि पर खुदे मिलते हैं वे भी अभिलेखागार की व्यवस्था की ओर संकेत करते हैं। इस प्रकार के महत्व के अभिलेख प्राचीन काल में खोज में अभिरुचि रखनेवाले अनेक पुराविद सम्राटों द्वारा एकत्र कर उनके अभिलेखागारों में सदियों-सहस्राब्दियों संरक्षित रहे हैं। ईसा से पहले सातवीं सदी (६६८-३३ ई० पू०) में सम्राट् असुरबनिपाल ने अपनी राजधानी निनेवे में लाखों ईंटों पर कीलनुमा अक्षरों में खुदे अभिलेखों को एकत्र कर अपना इतिहासप्रसिद्ध अभिलेखागार संगठित किया था जिसकी संप्राप्ति और अध्ययन से प्राचीन जगत् के इतिहास पर प्रभूत प्रकाश पड़ा है। इसी अभिलेखागार में प्रायः तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० लिखे संसार के पहले महाकाव्य 'गिल्गमेश' की मूल प्रति उपलब्ध हुई है। खत्ती रानी का मिस्र के फ़राऊन के साथ युद्धविरोधी पत्रव्यवहार आज भी उपलब्ध है जो प्राचीनतम संरक्षित अभिलेख के रूप में पुराकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंध का प्रमाण प्रस्तुत करता है और ई० पू० ल० द्वितीय सहस्राब्दी के मध्य का है।

अभिलेखों के राष्ट्रीय अभिलेखागारों में आधुनिक ढंग से प्रशासकीय संरक्षण की व्यवस्था पहली बार फ्रांसीसी राज्यक्रांति के समय हुई जब फ्रांस में (१) राष्ट्रीय और (२) विभागीय ('नात्सिओन' तथा 'दपार्तमाँ') अभिलेखागार (आर्कीव) क्रमशः १७८६ और १७९६ में संगठित हुए। बाद में इसी संगठन के आधार पर बेल्जियम, हालैंड, प्रशा, इंग्लैंड आदि ने भी अपने अपने अभिलेखागार व्यवस्थित किए। इंग्लैंड और ब्रिटिश राष्ट्रसंघ में अभिलेखों और अभिलेखागारों की लाक्षणिक संज्ञा 'रेकर्ड' तथा 'रेकर्ड आफ़िस' है।

इंग्लैंड ने १८३८ में ऐक्ट बनाकर देश के विविध स्वतंत्र अभिलेखसंग्रहों का केंद्रीकरण कर उनको लंदन में एकत्र कर दिया। इस दिशा में विशेषतः दो प्रकार की व्यवस्था विविध राष्ट्रों में प्रचलित है। कुछ ने तो सारे प्रदेशीय अभिलेखागारों के अभिलेखों को राजधानी में सुरक्षित कर उन्हें बंद कर दिया है और कुछ ने केंद्रीकरण की नीति अपनाकर स्थानीय दृष्टि से महत्वपूर्ण अध्ययन और उपयोग के निमित्त अभिलेखों को यथास्थान प्रदेश में ही सुरक्षित रखा है। इसके अतिरिक्त उन्होंने ऐसे केंद्रीय अभिलेखों को भी प्रदेश में भेज दिया है जिनका संबंध उन प्रदेशों के इतिहास, राजनीति या व्यापारव्यवस्था से रहा है। कुछ राष्ट्रों ने एक तीसरी नीति अपनाकर केंद्र और प्रदेशों के अभिलेखागारों में तत्संबंधी महत्व की दृष्टि से अभिलेखों को बाँटकर सुरक्षित किया है। अनेक अभिलेखों की प्रतिलिपियाँ बनाकर यथावश्यक स्थानों में रखने की व्यवस्था है। यह व्यवस्था विशेषकर दो अथवा अधिक राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार संबंधी अभिलेखों की रक्षा के लिये होती है। इस संबंध में अंतर्राष्ट्रीय अभिलेखागार भी संगठित किए गए हैं।

ब्रिटिश शासनकाल में भारत में भी महत्व के 'रेकर्ड' संगृहीत और संरक्षित करने की योजना स्वीकृत हुई और आज इस देश में भी राष्ट्रीय अभिलेखागार दिल्ली में संगठित है।

देशविभाजन के बाद जिन अभिलेखों का संबंध भारत और पाकिस्तान दोनों से है उनकी प्रतिलिपियाँ पाकिस्तान ने बनवा ली हैं। विस्तृत विवरण के लिये दे० 'अभिलेखालय'।

अभिलेखागारों की व्यवस्था और अभिलेखों की सुरक्षा विशेष विधि से की जाती है। इसके लिये सर्वत्र विशेषज्ञ नियुक्त हैं। अभिलेखों का नियमन, उनका विभाजन और वर्गीकरण आज एक विशिष्ट विज्ञान ही बन गया है। इस दिशा में अमरीकी संयुक्त राज्य ने विशेष प्रगति की है। राज्य अथवा संस्था अभिलेखों की सुरक्षा की उत्तरदायी होती है। अध्ययनादि के लिये उनके उत्तरोत्तर सार्वजनिक उपयोग की व्यवस्था आधुनिक अभिलेखागार-आंदोलन का प्रधान लक्ष्य है।

सं० ग्रं०—ए० एफ़० कूलमान द्वारा संपादित : आर्काइव्ज़ ऐंड लाइब्रेरिज, १९३९-४०; जी बूर्गें : ले आर्कीव नासिओनाल द फ़ांस, १९३९; यूरोपियन आर्काइवल प्रैक्टिसेज इन अरेंजिंग रेकर्ड्स (यू० एस० नेशनल आर्कीव्ज़), १९३९; सोवियत एंसाइक्लोपीडिया : आर्काइव; एंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका : आर्काइव्ज़। [भ० श० उ०]

अभिलेखालय, भारतीय राष्ट्रीय

स्वतंत्रता के बाद भारत में भी अपना अभिलेखागार स्थापित हुआ। उसे भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखालय कहते हैं। इससे पूर्व इसका नाम इंपीरियल रेकर्ड डिपार्टमेंट (साम्राज्य-अभिलेख विभाग) था। यह अभिलेखालय प्रथमोक्त नाम से नई दिल्ली के जनपथ और राजपथ के चौक के पास लाल और सफ़ेद पत्थरों के एक भव्य भवन में स्थित है। प्राकृतिक संकटों से अभिलेखों की रक्षा के लिये आधुनिक वैज्ञानिक साधन प्रस्तुत कर लिए गए हैं।

इस विभाग को सन् १८९१ में ईस्ट इंडिया कंपनी के समय से इकट्ठे हुए सरकारी अभिलेखों को लेकर रखने का काम सौंपा गया था। उस समय इसके अधिकारी लोग स्पष्ट रूप से यह नहीं जानते थे कि इसका क्या काम होगा। अभिलेख-समूह अव्यवस्थित अवस्था में पड़ा था। भारत सरकार का ध्यान इस ओर तब गया जब इंग्लैंड और वेल्ज़ के अभिलेखों के संबंध में नियुक्त राजकीय आयोग ने सन् १९१४ में भारतीय अभिलेखों की अव्यवस्थित अवस्था पर टिप्पणी की। फलतः सन् १९१९ में भारत सरकार ने भारतीय अभिलेखों के संबंध में अपनी (अभिस्ताव) सिफारिशें भेजने के लिये एक भारतीय ऐतिहासिक अभिलेख आयोग नियुक्त किया। उस आयोग की सिफारिशों के फलस्वरूप अभिलेखों की अवस्था में धीरे धीरे सुधार होता गया और अभिलेखालय का काम अधिकाधिक स्पष्ट होता गया। अब इसका मुख्य काम है सरकार के स्थायी अभिलेखों को सँभालकर रखना और प्राशासनिक उपयोग के लिये माँगने पर सरकार के विभिन्न कार्यालयों को देना। इसके साथ ही इसको एक और काम भी सौंपा गया है। वह है सरकार द्वारा निश्चित अवधि तक के अभिलेख गवेषणार्थियों को गवेषणाकार्य के लिये देना। गवेषणार्थी अभिलेखालय के गवेषणाकोष्ठ (रिसर्च रूम) में बैठकर गवेषणाकार्य करते हैं। उपर्युक्त दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ही इस विभाग का सब कार्यकलाप हो रहा है।

सरकार के वे सभी अभिलेख यहाँ समय समय पर अभिरक्षा के लिए भेजे जाते हैं जो अब अपने अपने विभागों, कार्यालयों, मंत्रालयों आदि में तो प्रचलित (करेंट) नहीं हैं किंतु सरकार के स्थायी उपयोग के हैं। इनके अतिरिक्त भूतपूर्व (वासामात्य भवनों=रेज़िडेंसियों), विलीन राज्यों तथा राजनीतिक अभिकरणों के भी अभिलेख यहाँ भेजे जाते हैं। इस अभिलेखालय के इस्पात के ताकों पर इस समय लगभग १,०३,६२५ जिल्दें और ५१,१३,००० बिना जिल्द बँधे प्रलेख (डाक्युमेंट) हैं। कुल मिलाकर १३ करोड़ (फ़ोलियो) पृष्ठयुग्म हैं। इनके अतिरिक्त भारत भूमितिविभाग (सर्वे ऑव् इंडिया) से ११,५०० पांडुलिपि-मानचित्र और विभिन्न अभिकरणों के ४,१५० मुद्रित मानचित्र प्राप्त हुए हैं। मुख्य अभिलेखमाला सन् १७४८ से आरंभ होती है। इससे पूर्व के वर्षों के भी हितकारी अभिलेखसग्रहों की प्रतिलिपियाँ इंडिया आफिस, लंदन से मँगाकर रखी गई हैं। इन जिल्दों में सन् १७०७ और १७४८ में ईस्ट इंडिया कंपनी और उसके कर्मचारियों के बीच किए गए पत्रव्यवहार के संक्षेप भी हैं। बाद के वर्षों का पत्रव्यवहार यहाँ पर मूल में एक अटूट माला के रूप में मिलता है और वह ब्रिटिश भारत के इतिहास का एक अनुपम स्रोत है। इसी प्रकार मूल कंसल्टेशंस भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। इनमें ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रशासकों द्वारा लिखे गए वृत्त (मिनिट्स), ज्ञापन (मेमोरंडा), प्रस्ताव और सारे देश में विद्यमान कंपनी के अभिकर्ताओं (एजेंटों) के साथ किया गया पत्रव्यवहार है। इस देश की रहन सहन और प्रशासन का लगभग प्रत्येक पहलू इनमें मिलता है। अभिलेखों में विदेशी हित की सामग्री और पूर्वी चिट्ठियों का एक संग्रह भी है। इन चिट्ठियों में अधिकतर चिट्ठियाँ फारसी भाषा में हैं। परंतु बहुत सी संस्कृत, अरबी, हिंदी, बँगला, उड़िया, मराठी, तमिल, तेलुगु, पंजाबी, बर्मी, चीनी, स्यामी और तिब्बती भाषाओं में भी हैं। हाल के वर्षों में इंग्लैंड, फ्रांस, हालैंड, डेनमार्क और अमरीका से भारत के लिये हितकारी सामग्रियों की अणुचित्र-प्रतिलिपियाँ (माइक्रोफ़िल्म कापीज़) भी प्राप्त की गई हैं।

माँगे जाने पर सुगमता से निकालकर देने के लिये इन अभिलेखों को बहुत सावधानी से ताकों पर वर्गीकरण, परीक्षण और क्रमबद्ध करके रखा जाता है और उनकी सूचियाँ तैयार की जाती हैं।

जो कार्यालय अपने अभिलेख यहाँ भेजते हैं वे पहले उनमें से अनुपयोगी अभिलेखों को निकालकर नष्ट कर देते हैं। नष्ट करते समय कहीं वे प्राशासनिक और ऐतिहासिक मूल्य के अभिलेखों को भी न नष्ट कर दें इसलिये यह अभिलेखालय उनको अभिलेखसंचयन के संबंध में सलाह देता है और इस काम में उनका पथप्रदर्शन करता है। संचयन के संबंध में विषमता दूर करने के लिये इस अभिलेखालय ने विभिन्न मंत्रालयों से आए हुए प्रतिवेदनों के आधार पर अभिलेखसंचयन का एकविध (यूनिफ़ार्म) नियम तैयार किया है।

बाहर से आनेवाले अभिलेखों का पहले वायुशोधन (एअर क्लीनिंग) तथा धूमन (फ़्यूमिगेशन) किया जाता है। वायुशोधन के द्वारा अभिलेखों में से धूल हटा दी जाती है और धूमन के द्वारा हानिकारक कीड़ों को नष्ट कर दिया जाता है।

अभिलेखों का परिरक्षण (सँभाल) इस अभिलेखालय के सबसे महत्वपूर्ण कामों में से एक है। यह काम अभिलेख-प्रतिसंस्कार (मरम्मत) की विभिन्न विधाओं द्वारा प्रलेखों, उनके कागजों तथा स्याहियों आदि की अवस्थाओं को ध्यान में रखकर यथोचित रीति से किया जाता है। इस काम को सुचारु रूप से करने के लिये अभिलेखालय ने अपनी ही प्रयोगशाला (रिसर्च लैबोरेटरी) बना रखी है। इसमें कागजों तथा स्याहियों आदि के नमूनों का, अभिलेख-प्रतिसंस्कार के लिये उनकी उपयुक्तता आदि जानने के संबध में परीक्षणकार्य किया जाता है। प्रयोगशाला में ऐसे साधनों तथा रीतियों आदि की खोज भी की जाती है जिससे अभिलेखों को अधिक से अधिक दीर्घजीवी बनाया जा सके।

अभिलेखपरिरक्षण (सँभाल) में भा-प्रतिलिपिकरण (फोटोडुप्लिकेशन) विधा से भी सहायता ली जाती है। अणुचित्रण विधा (माइक्रोफिल्मिग प्रोसेस) द्वारा पुराने और भिदुर अभिलेखों का लगातार अणुचित्रण किया जा रहा है ताकि यदि कभी मूल अभिलेख उपहत या नष्ट हो जायँ तो उनकी प्रतिलिपियाँ सँभालकर रखी जा सकें। इसके अतिरिक्त अणुचित्र-प्रतिलिपियों को उपयोग में लाने से जहाँ मूल अभिलेखों की आयु अधिक लंबी हो सकती है वहाँ भारत के विभिन्न भागों में स्थित गवेषणार्थियों को गवेषणार्थ सस्ते मूल्य पर अभिलेखों की प्रतिलिपियाँ मिल सकती हैं।

यह अभिलेखालय इस समय संसार के सबसे बड़े अभिलेखालयों में से एक है। इसके कार्यकलापों के प्रशासन, अभिलेख, प्रकाशन, प्राच्य अभिलेख और शैक्षणिक अभिलेख तथा परिरक्षण आदि नामों से छः संभाग (डिवीजन) हैं। प्रत्येक शाखा अपने शाखाप्रभारी (सेक्शन इन्चार्ज) तथा संभाग अधिकारी (डिवीजन आफ़िसर) के द्वारा अपना कार्यकलाप निर्देशक को भेजती है। [कृ० द० भा०]

अभिवृत्ति

अभिवृत्ति (ऐटिच्यूड) मनुष्य की वह सामान्य प्रतिक्रिया है जिसके द्वारा वस्तु का मनोवैज्ञानिक ज्ञान होता है। इसी आधार पर व्यक्ति वस्तुओं का मूल्यांकन करता है। कुछ पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने अभिवृत्ति को मनुष्य की वह अवस्था माना है जिसके द्वारा मानसिक तथा नाड़ी-व्यापार-संबंधी अनुभवों का ज्ञान होता है। इस विचारधारा के प्रमुख प्रवर्तक आलपार्ट हैं। उनके सिद्धांतों के अनुसार अभिवृत्ति जीवन में वस्तुबोधन का मुख्य कारण है। इस परिभाषा के द्वारा अभिवृत्ति वह सामान्य प्रत्यक्ष है जिसके द्वारा मनुष्य भिन्न भिन्न अनुभवों का समन्वय करता है। यह वह मापदंड है जिसके द्वारा व्यक्तित्व के निर्माण में सामाजिक तथा बौद्धिक गुणों का समावेश होता है। मनोवैज्ञानिकों ने अभिवृत्तियों का विभाजन, उनके वस्तु-आधार, उनकी गहनता तथा उनकी प्रतिक्रिया के आधार पर किया है। इसका घनिष्ठ संबंध व्यक्ति के अमूर्त विचार तथा कल्पना से ही है। अभिवृत्ति का जन्म प्रायः चार साधनों से होता हुआ देखा गया है—प्रथम समन्वय द्वारा, द्वितीय आघात द्वारा, तृतीय भेद द्वारा तथा चतुर्थ स्वीकरण द्वारा। यह आवश्यक नहीं है कि ये यंत्र स्वतंत्र रूप से ही कार्य करें; ऐसा भी देखा गया है कि इनमें एक या दो कारण भी मिलकर अभिवृत्ति को जन्म देते हैं। इस दिशा में अमेरिका के दो मनोवैज्ञानिकों—जे० डेविस तथा आर० बी० ब्लेक ने विशेष रूप से अनुसंधान किया है। प्रयोगों द्वारा यह भी देखा गया है कि अभिवृत्ति के निर्माण में माता-पिता, समुदाय, शिक्षा-प्रणाली, सिनेमा, संवेगात्मक परिस्थितियों तथा सूच्यता (सजेस्टिबिलिटी) का विशेष हाथ होता है। अभिवृत्ति को नापने का प्रश्न सदा से मनोवैज्ञानिकों के लिये कठिन रहा है, लेकिन आज के युग में इस दिशा में भी पर्याप्त कार्य हुआ है। एल० थर्सटन ने इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है। उनके विचारों द्वारा अभिवृत्ति को नापने का प्रयत्न किया गया है। उन्होंने 'ओपीनियन स्केल' विधि को ही प्रधानता दी है। प्रक्षेपिक विधि (प्रोजेक्शन टेकनीक) आजकल विशेष रूप से प्रयोग में लाई जा रही है। ई० एस० बोगारडस ने अपने अनुसंधानों द्वारा 'सोशल डिस्टैन्स टेकनीक' के द्वारा व्यक्तियो के विचारों को नापने का प्रयत्न किया है। इस दिशा में अभी विशेष कार्य होने की आवश्यकता है। भारतीय मनोविज्ञान-शालायें भी इस दिशा में कार्य कर रही हैं। मनोविज्ञान-शाला, इलाहाबाद, ने कुछ विधियों का भारतीयकरण किया है। [शं० ना० उ०]

अभिव्यंजनावाद

अभिव्यंजनावाद जर्मनी और आस्ट्रिया से प्रादुर्भूत प्रधानतः मध्य यूरोप की एक चित्र-मूर्ति-शैली जिसका प्रयोग साहित्य, नृत्य और सिनेमा के क्षेत्र में भी हुआ है। यह शैली वर्णनात्मक अथवा चाक्षुष न होकर विश्लेषणात्मक और आभ्यंतरिक होती है, उस भाववादी (इंप्रेशनिस्टिक) शैली के विपरीत जिसमें कलाकार की अभिरुचि प्रकाश और गति मे ही केंद्रित होती है, उन्ही तक सीमित अभिव्यंजनावादी प्रकाश का प्रयोग बाह्य रूप को भेद भीतर का तथ्य प्राप्त कर लेने, आंतरिक सत्य से साक्षात्कार करने और गति के भाव-प्रक्षेपण आत्मान्वेषण के लिये करता है। वह रूप, रंगादि के विरूपण द्वारा वस्तुओं का स्वाभाविक आकार नष्ट कर अनेक आंतरिक आवेगात्मक सत्य को ढूँढ़ता है। अभिव्यंजनावाद के प्रधानतः तीन प्रकार हैं, (१) विरूपित, यद्यपि सर्वथा अमूर्त नही, (२) अमूर्त और (३) नव-वस्तुवादी। इनमें से पहले वर्ग के कलाकारों में प्रधान हैं किर्चनर नोल्डे, पेख्स्टीन, मूलर; दूसरे में मार्क, कांडिस्की, क्ली, जालेस्की और तीसरे में ग्रोटो, डिक्स, जार्ज ग्रोस्स आदि। जर्मनी से बाहर के अभिव्यंजनावादियों में प्रधान रूआल, सूतें और एदवार मंक हैं। अभिव्यंजनावाद ललित कलाओं के माध्यम से साहित्य में आया। यही आंदोलन इटली में भविष्यद्वाद (फ़्यूच्यूरिस्ट) और क्रांतिपूर्व रूप में 'क्यूबोफ़्यूचरिज्म' कहलाया। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग फ्रांसीसी चित्रकार हेव ने १९०१ में किया, इसे साहित्यालोचन में प्रयुक्त किया आस्ट्रिया के लेखक हेरमान बाहर ने १९१४ ई० में। इसका मूल उद्देश्य था यांत्रिकता के विरुद्ध विद्रोह। यथार्थवाद की परिणति प्रकृतिवाद और नव्य रोमांसवाद तथा बिंबवाद आदि से ऊबकर उसकी प्रतिक्रिया में अभिव्यंजनावाद चला। इसमें आँरी बेर्गसां नामक फ्रांसीसी दार्शनिक के 'जीवनोत्प्लव' और 'जीवनीशक्ति' (एलां विताल) सिद्धांत ने और परिपुष्टि दी। यह वाद बाद में हुस्सिर्ल सहजज्ञानाश्रित क्षणिकवाद दस्ताफ़एव्स्की और स्ट्रिंडवर्ग के मानवात्मा के आविष्कार आदि के रूप में दार्शनिक प्रतिष्ठा पाता रहा। फ्रायड के मनोविश्लेषण और चित्तविकलन के सिद्धांतों ने, स्वप्न तथा अर्धचेतना के प्रतीकात्मक अर्थाभिव्यंजन पद्धति ने अभिव्यंजनावाद का और समर्थन किया। अभिव्यंजनावादी लेखकों की अपनी विस्फोटक शैली होती है, वह सीधे वर्णनों के विरुद्ध है। उनकी भाषा तार (टेलीग्राम) की भाषा की तरह होती है, कभी कभी अधूरे वाक्यों, तुतलाहट आदि के रूपों में असामाजिक अभिव्यक्तियों में भी वह अपना आश्रय खोजती है। अभिव्यंजनावादी बेजान चीजों को जिंदा बनाकर बुलवाते हैं। यथा—'गंगा के घाट यदि बोलें', या 'बुर्जियों ने कहा' या 'गली के मोड़ पर लेटर बक्स, दीवार या म्युनिस्पल लालटेन की बातचीत' आदि। उन्हें जीवन के वर्तमान से बेहद असंतोष होता है, जीवित को वे मृत मानकर चलते हैं, मृत को जीवित बनाने का यत्न करते हैं। अभिव्यंजनावादियों में भी कई प्रकार हैं; कुछ केवल अंध आवेग या चालनाशक्ति पर जोर देते हैं, कुछ बौद्धिकता पर, कुछ लेखकों ने मनुष्य और प्रकृति की समस्या को प्रधानता दी, कुछ ने मनुष्य और परमेश्वर की समस्या को। इस विचारपद्धति का सबसे अधिक प्रभाव यूरोप के नाट्य साहित्य और मंच पर पड़ा। १९१२

ई० में सीर्जे के 'दि बेगर' या कैसर के 'फ्राम मार्निंग टिल मिडनाइट' ऐसे ही नाटक थे। अधिकतर अभिव्यंजनावादी लेखक हिटलर के अभ्युदय के साथ जर्मनी से निष्कासित कर दिए गए, यथा अर्नेस्ट टालर; अन्य कुछ लेखक, यथा जोहर्ट, हैनिके, लेर्श आदि, नात्सी बन गए।

सं०ग्रं०—एच० कार्टर : दि न्यू स्पिरिट इन दि यूरोपियन थियेटर १९१४–२४(१९२६); आर० सैमुएल ऐंड आर० एच० थामस: 'एक्सप्रेशन इन जर्मन लाइफ, लिटरेचर ऐंड दि थियेटर, १९१०-२४ (१९३९); सी० ब्लैकबर्न : 'कांटिनेंटल इन्फ्लुएन्सेज ऑन यूजीन ओ' नील्स एक्सप्रेसिव ड्रामाज; सी० ई० डब्ल्यू० ए० देहल्स्त्रोम: स्किडबर्ग्स ड्रामैटिक एक्स्प्रेसिज़्म (१९३०)। [प्र० मा०]

अभिव्यक्ति का अर्थ विचारों के प्रकाशन से है। व्यक्तित्व के समायोजन के लिये मनोवैज्ञानिकों ने अभिव्यक्ति को मुख्य साधन माना है। इसके द्वारा मनुष्य अपने मनोभावों को प्रकाशित करता तथा अपनी भावनाओं को रूप देता है। वर्तमान युग में मनोविश्लेषण शास्त्र के विद्वानों ने व्यक्ति की अतृप्त इच्छाओं की अभिव्यक्ति के लिये कई विधियाँ बताई हैं। उनका कहना है कि विकृत मन को शांति देने के लिये सर्वप्रथम आवश्यक है कि किसी भी प्रकार की कोई क्षति उसे ऐसा करने से रोके नही। इस कार्य के लिये आज पाश्चात्य देशों में एक नवीन मानसशास्त्र का जन्म हो गया है तथा उसका प्रशिक्षण प्राप्त करने के पश्चात् लोग व्यक्ति की समस्याओं को वैज्ञानिक ढंग से सुधारने में प्रयत्नशील हैं। [शं० ना० उ०]

अभिश्लेषण (एग्लूटिनेशन) दो वस्तुओं का मिलाना। भाषा-विज्ञान में शब्दों के संमेलन को अभिश्लेषण कहते हैं। भाषा में पदों के द्वारा अर्थ का तथा परसर्ग आदि के द्वारा संबंध का बोध होता है। 'मेरे' शब्द में 'मै' (अर्थ तत्व) और 'का' (संबंध तत्व) का अभिश्लेषण करके 'मेरे' शब्द बनाया गया है। इस अभिश्लेषण के आधार पर ही भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण किया जाता है। चीनी भाषा में अभिश्लेषण नही है किंतु तुर्की भाषा अभिश्लेषण का अच्छा उदाहरण है।

इसके तीन मुख्य भेद हैं—(१) प्रश्लिष्ट अभिश्लेषण (इनकारपोरेशन), इसमें दोनों तत्वों को अलग नही किया जा सकता। (२) अभिश्लिष्ट अभिश्लेषण (सिंपुल एग्लूटिनेशन) में अभिश्लिष्ट तत्व पृथक् दिखाई देते है। (३) श्लिष्ट अभिश्लेषण (इनफ्लेक्शन) में यद्यपि अर्थतत्व में विकार हो जाता है फिर भी संबंध तत्व अलग मालूम होता है।

संस्कृत व्याकरण में अभिश्लेषण की प्रक्रिया को सामर्थ्य कहते हैं। वहाँ इसके एकार्थी भाव और व्यपेक्षा में दो भेद माने गए हैं।

प्राचीन पाश्चात्य दर्शन में दो विचारों के समन्वय के लिये इसका प्रयोग हुआ है।

चिकित्साशास्त्र में द्रव पदार्थ में बैक्टीरिया, सेल या जीवाणुओं के परस्पर संयोग के लिये इस शब्द का प्रयोग होता है। [रा०पां०]

अभिषेक राजतिलक का स्नान जो राज्यारोहण को वैध करता था। कालांतर में राज्याभिषेक राजतिलक का पर्याय बन गया। अथर्ववेद में अभिषेक शब्द कई स्थलों पर आया है और इसका संस्कारगत विवरण भी वहाँ उपलब्ध है। कृष्ण यजुर्वेद तथा श्रौत सूत्रों में हम प्रायः सर्वत्र 'अभिषेचनीय' संज्ञा का प्रयोग पाते हैं जो वस्तुतः राजसूय का ही एक अंग था, यद्यपि ऐतरेय ब्राह्मण को यह मत संभवतः स्वीकार नहीं। उसके अनुसार अभिषेक ही प्रधान विषय है।

ऐतरेय ब्राह्मण ने अभिषेक के दो प्रकार बतलाए हैं: (१) पुनरभिषेक (अष्टम ५–११); (२) ऐंद्र महाभिषेक (अष्टम, १२–२०)। इनमें से प्रथम का राजसूय से संबंध जान पड़ता है, न कि यौवराज्य अथवा सिंहासनग्रहण से। ऐंद्र महाभिषेक अवश्य इंद्र के राज्याभिषेक से संबंधित है। उक्त ब्राह्मण ग्रंथ में ऐसे सम्राटों की सूची भी दी हुई है जिनका अभिषेक वैदिक नियम से हुआ था। ये हैं: (१) जन्मेजय पारीक्षित, तुर कावशेय द्वारा अभिषिक्त, (२) शार्यात मानव, च्यवन भार्गव द्वारा अभिषिक्त, (३) शतानीक सात्राजित, सोम शष्मण वाजरत्नायन द्वारा अभिषिक्त, (४) आंबष्ठ्य, पर्वत और नारद द्वारा अभिषिक्त, (५) युधांश्रुष्ठि औग्रसैन्य, पर्वत और नारद द्वारा अभिषिक्त, (६) विश्वकर्मा च्यवन, कश्यप द्वारा अभिषिक्त, (७) सुदास पैजवन, वसिष्ठ द्वारा अभिषिक्त, (८) मरुत्त आविक्षित्त, संवर्त आंगिरस द्वारा अभिषिक्त, (९) अंग उद्मय आत्रेय, (१०) भरत दौष्यंत, दीर्घतमस मामतेय। निम्नांकित राजा केवल संस्कार के ज्ञान से जयी हुए : (१) दुर्मख पांचाल, बृहसुक्थ से ज्ञान पाकर, (२) अत्यराति जानंतपि (सम्राट् नहीं) वसिष्ठ सातहव्य से ज्ञान पाकर।

इन सूचियों के अतिरिक्त कुछ अन्य सूचियाँ प्रसिद्ध पाश्चात्य तत्वज्ञ गोल्डस्टकर ने दी हैं (दे०, ऐतरेय ब्राह्मण, गोल्डस्टकर द्वारा संपादित; गोल्डस्टूकर, डिक्शनरी–संस्कृत–इंग्लिश, बर्लिन, लंदन १८५६)।

आगे चलकर महाभारत में युधिष्ठिर के दो बार अभिषिक्त होने का उल्लेख मिलता है, एक सभापर्व (२००,३३,४५) और दूसरा शांतिपर्व, १००,४०) में।

मौर्य सम्राट् अशोक के संबंध में हम यह जानते हैं कि उसे यौवराज्य के पश्चात् चार वर्ष अभिषेक की प्रतीक्षा करनी पड़ी थी और इसी प्रकार हर्ष शीलादित्य को भी, जैसा कि 'महावंश' एवं युवान च्वांग के 'सि-यू की' नामक ग्रंथों से ज्ञात होता है। कालिदास ने भी रघुवंश के द्वितीय सर्ग में अभिषेक का निर्देश किया है।

ऐतिहासिक वृत्तांतों से ज्ञात होता है कि आगे चलकर राजसचिवों के भी अभिषेक होने लगे थे। हर्षचरित में 'मूर्धाभिषिक्ता अमात्या राजानः' इस प्रकार का संकेत पाया जाता है। आगे चलकर अनेक ऐतिहासिक सम्राटों ने प्रायः वैदिक विधान का आश्रय लेकर अभिषेक क्रिया संपादित की, क्योंकि उसके बिना सम्राट् नहीं माना जाता था।

अभिषेक के कतिपय अन्य सामान्य प्रयोगों में प्रतिमाप्रतिष्ठा के अवसर पर उसका आधान एक साधारण प्रक्रिया थी जो आजकल भी हिंदुओं में भारत एवं नेपाल में प्रचलित है।

एक विशिष्ट अर्थ में अभिषेक का प्रयोग बौद्ध 'महावस्तु' (प्रथम १२४. २०) में हुआ है जहाँ साधना की परिणति दस भूमियों में अंतिम 'अभिषेक भूमि' में बतलाई गई है।

वैदिक एवं उत्तर वैदिक साहित्य में अभिषेक का जो विधान दिया गया है वह निम्नलिखित है। प्रायः अभिषेक के समय, उसके कुछ पहले, अथवा उसके बीच में सचिवों की नियुक्ति होती थी और इसी प्रकार अन्य राजरत्नों का निर्वाचन भी संपन्न होता था जिनमें साम्राज्ञी, हस्ति, श्वेतवाजि, श्वेतवृषभ मुख्य थे। उपकरणों में श्वेतछत्र, श्वेतचामर, आसन (भद्रासन), सिंहासन, भद्रपीठ, परमासन स्वर्णविरचित एवं अजिन-आवृत तथा मांगलिक द्रव्यों में स्वर्णपात्र (अनेक स्थानों से लाए गए जल से भरे), मधु, दुग्ध, दधि, उदुंबरदंड एवं अन्य वस्तुएँ रखी जाती थीं। भारतीय अभिषेकविधान में जिस उच्च कोटि के मांगलिक द्रव्य और उपकरण प्रयुक्त होते थे वैसे प्राचीन ईसाइयों अथवा सामी (सेमेटिक) राज्यारोहण की क्रियाओं में नहीं होते थे।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि अभिषेक एक सिद्धांत प्रक्रिया के रूप में केवल इसी देश की स्थायी संपत्ति है, अन्य देशों में इस प्रकार के सिद्धांत इतने अस्पष्ट और उलझे हुए हैं कि उनका निश्चयात्मक सिद्धांत-स्वरूप नही बन पाया है; यद्यपि शक्तिसाधना और ऐश्वर्य की कामना रखनेवाले सभी सम्राटों ने किसी न किसी रूप में स्नान, विलेपन को प्रतीक का रूप देकर इस संस्कार का आश्रय लिया है।

सं०ग्रं०—ऐतरेय ब्राह्मण; गोल्डस्टूकर डिक्शनरी ऑव संस्कृत ऐंड इंग्लिश, बर्लिन ऐंड लंदन, १८५६, इंसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐंड एथिक्स, भाग प्रथम, एडिन०, १९५५। [चं० म०]

अभिसमय बौद्ध स्थविरवाद के सिद्धांतों का वर्णन 'अभिधर्म' के नाम से प्रसिद्ध है किंतु महायान के शून्यवादी माध्यमिक विकास के साथ ही प्रज्ञापारमिता को महत्व मिला और अभिधर्म के स्थान में 'अभि-

समय' शब्द का व्यवहार, विशेषतः मैत्रेयनाथ के बाद, होने लगा। मैत्रेयनाथ ने 'प्रज्ञापारमिता' शास्त्र के आधार पर 'अभिसमयालंकार' शास्त्र लिखा जो प्रज्ञापारमिता अथवा निर्वाण प्राप्त करने के मार्ग का उपदेश देता है। महायान में इस शास्त्र का अत्यधिक महत्व होना स्वाभाविक था क्योंकि उस संप्रदाय के अनुसार प्रज्ञापारमिता की साधना इसमें बताई गई है। प्रज्ञापारमिता शब्द का प्रयोग निर्वाण और निर्वाण का मार्ग इन दोनों अर्थों में होता है। तदनुसार 'अभिसमय' के भी ये दो अर्थ हैं। किंतु साध्य की अपेक्षा साधना, जो साध्य तक ले जाती है, साधकों के लिये विशेष महत्व की वस्तु होती है; अतएव 'निर्वाण की साधना का मार्ग' अर्थ में ही विशेष रूप से 'अभिसमय' शब्द प्रचलित हो गया है। 'अभिसमय' के नाम से प्रसिद्ध ग्रंथों में साधनमार्ग का ही विशेष रूप से वर्णन मिलता है।

सं०ग्रं०—अभिसमयालंकार के विविध संपादन तथा अनुवाद; ग्रोवर मिलर; ऐक्टा ओरिएंटालिया, खंड ११; कलकत्ता ओरिएंटल सिरीज, सं० २७। [द० मा०]

अभिसार भारतीय साहित्यशास्त्र का एक मान्य पारिभाषिक शब्द जिसका अर्थ है नायिका का नायक के पास स्वयं जाना अथवा दूती या सखी के द्वारा नायक को अपने पास बुलाना। अभिसार में प्रवृत्त होनेवाली नायिका को 'अभिसारिका' कहते हैं। दशरूपक के अनुसार जो नायिका या तो स्वयं नायक के पास अभिसरण करे (अभिसरेत्) अथवा नायक को अपने पास बुलावे (अभिसारयेत्) वह 'अभिसारिका' कहलाती है—कामार्ताऽभिसरेत् कांतं सारयेद्वाऽभिसारिका (दशरूपक २।२७)। कुछ आचार्य अभिसारण का कार्य वासकसज्जा का ही निजी विशिष्ट व्यापार मानकर इसे अभिसारिका का आवश्यक लक्षण नहीं मानते, परंतु प्राचीन आचार्यों के मत के यह सर्वथा विरुद्ध है। भरत मुनि ने तो कांत के अभिसारण को ही अभिसारिका का प्रधान लक्षण अंगीकार किया है (अभिसारयते कांतं सा भवेदभिसारिका।—नाट्यशास्त्र २४।२१२)। भावप्रकाश का भी यही मत है (चतुर्थ अधिकार, पृष्ठ १००-१०१)। कवियों की दृष्टि में अभिसारिका ही समस्त नायिकाओं में अत्यंत मधुर, आकर्षक तथा प्रेमाभिव्यंजिका होती है (सर्वतश्चाभिसारिका)।

अभिसारिका के भावों का विश्लेषण आचार्यों ने बड़ी सूक्ष्मता से किया है। मद अथवा मदन, सौंदर्य का अभिमान अथवा राग का उत्कर्ष ही अभिसारिका के व्यापार की मुख्य प्रेरक शक्ति है। प्रियतम से मिलने के लिये बेचैनी तथा उतावलेपन की मूर्ति बनी हुई यह नायिका सिंह से डरी हरिणी के समान अपनी चंचल दृष्टि इधर उधर फेंकती हुई मार्ग में अग्रसर होती है। वह अपने अंगों को समेटकर इस ढब से पैर रखती है कि तनिक भी आहट नहीं होती (निःशब्दपदसंचरा)। हर डग पर शंकित होकर अपने पैरों को पीछे लौटाती है। जोरों से काँपती हुई पसीने से भीग उठती है। यह उसकी मानसिक दशा का जीता जागता चित्र है। वह अकेले सन्नाटे में पैर रखते कभी नहीं डरती। निःशब्द संचरण भी एक अभ्यस्त कला के समान अभ्यास की अपेक्षा रखता है। कोई भी प्रवीण नायिका इसे अनायास नहीं कर सकती। घर में ही भविष्यत् अभिसारिका को इसकी शिक्षा लेनी पड़ती है। वह अपने नूपुरों को जानुभाग तक ऊपर उठा लेती है (आजानूद्धृतनूपुरा) तथा आँखों को अपने करतल से बंद कर लेती है जिससे 'रजनी तिमिरावगुंठित' मार्ग में वह बंद आँखों से भी भली भाँति आसानी से जा सके। अभिसार काली रात के समय ही अधिकतर माना जाता है इसलिये यह नायिका अपने अंगों को नीले दुकूल से ढक लेती है (मूर्तिर्नीलदुकूलिनी) तथा प्रत्येक अंग में कस्तूरी से पत्रावलि बना डालती है। उसकी भुजाओं में नीले रत्न के बने कंकण रहते हैं। कंठ में 'अंबुसार' (प्राचीन आभूषणविशेष) की पंक्ति रहती है और ललाट पर केश की मंजरी सी लटकती रहती है। अभिसारिका का यही सुभग वेश कवियों की सरस लेखनी द्वारा बहुशः चित्रित किया गया है।

अभिसारिका के अनेक प्रकार साहित्य में वर्णित हैं। भावप्रकाश (पृष्ठ १०१) में स्वभावानुसार तीन भेद बतलाए गए हैं : परांगना, वेश्या तथा प्रेष्या (दासी)। अभिसारिका का लोकप्रिय विभाजन पाँच श्रेणी में बहुशः किया गया है : (१) ज्योत्स्नाभिसारिका, जो छिटकी चाँदनी में अपने प्रियतम से निर्दिष्ट स्थान पर मिलने जाती है। इसके वस्त्र, आभूषण, अंगराग आदि समस्त प्रयुक्त वस्तुएँ उजले रंग की होती हैं और इसीलिये यह 'शुक्लाभिसारिका' भी कही जाती है। (२) तमोऽभिसारिका (या कृष्णाभिसारिका)—अँधेरी रात में अभिसरण करनेवाली नायिका। (३) दिवाभिसारिका—दिन के धवल प्रकाश में अभिसरण के निमित्त इसके आभूषण सुवर्ण के बने होते हैं तथा पीली साड़ी इसके शरीर को सूरज के धूप में अदृश्य सी बनाती है। (४) गर्वाभिसारिका तथा (५) कामाभिसारिका में समय का निर्देश न होकर नायिका के स्वभाव की ओर स्पष्ट संकेत है।

अभिसार के मंजुल वर्णन कवियों की लेखनी से तथा रोचक चित्रण चित्रकारों की तूलिका के द्वारा अत्यंत सुंदरता से प्रस्तुत किए गए हैं। राधिका का लीलाभिसार वैष्णव कवियों का लोकप्रिय विषय रहा है जिसका वर्णन गीतगोविंद जैसे संस्कृत काव्य में तथा सूरदास, विद्यापति और ज्ञानदास के पदों में अत्यंत आकर्षक शैली में हुआ है। राजपूत तथा काँगड़ा शैली के चित्रकारों ने भी अभिसार का अंकन अपने चित्रों में किया है।

[ब० उ०]

अभिहितान्वयवाद कुमारिल मीमांसा और न्याय दर्शन में स्वीकार किया गया है कि शब्द का अपना स्वतंत्र अर्थ होता है। एक शब्द स्वार्थबोधन के लिये दूसरे शब्द की अपेक्षा नहीं करता। वाक्य स्वतंत्र अर्थबोधन करनेवाले शब्दों का समूह होता है। स्वार्थबोधन करने के बाद शब्द वाक्य में अन्वित होते हैं। यह सिद्धांत अन्विताभिधानवाद का ठीक उल्टा है। इसके अनुसार भाषा की इकाई शब्द ही है, वाक्य इकाइयों का समुदाय मात्र है। प्रकृति और प्रत्यय का पृथक् अर्थ होता है। चूँकि प्रकृति व्यवहार में प्रचलित है अतः वह स्वतंत्र रूप से अर्थबोधन करती है। प्रत्यय लोकप्रचलित नहीं है अतः उससे लोक में स्वतंत्र अर्थबोधन नहीं होता। फिर भी व्याकरण में प्रत्यय का वैसा ही स्वतंत्र अर्थ है जैसा प्रकृति का। प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ का पारस्परिक संबंध विशेषण-विशेष्य-भाव के रूप में होता है और इसको प्रकारतावाद कहते हैं। [रा० पां०]

अभोरर्स प्रोटेस्टेंट मतावलंबी लार्ड चांसलर शैफ्ट्सबरी ने कैथोलिक मत के प्रसार का अवरोध करने तथा यार्क के ड्यूक जेम्स का उत्तराधिकार अवैध घोषित करने के लिये आंदोलन संगठित किया। जेम्स को सिंहासन से वंचित करने के लिये पार्लियामेंट में एक्स्क्लूज़न बिल प्रस्तुत किया गया। बिल को विफल करने के लिये चार्ल्स द्वितीय ने १६७९ में पार्लियामेंट भंग कर दी, फिर उसी वर्ष अक्टूबर में नई निर्वाचित पार्लियामेंट भी वर्ष भर के लिये स्थगित कर दी। शैफ्ट्सबरी के आंदोलन के फलस्वरूप अनेक व्यक्तियों ने पार्लियामेंट फिर से बुलाने के लिये सम्राट् के संमुख प्रार्थनापत्र भेजे। प्रतिकार रूप में सर जार्ज जेफ्री और फ्रांसिस विथेंस ने सम्राट् के समक्ष इस कार्य का घृणात्मक विरोध प्रदर्शित करते हुए निवेदनपत्र भेजा। इस समय चार्ल्स की लोकप्रियता में वृद्धि तथा शैफ्ट्सबरी के अनुचित कार्यों के कारण जनता में से भी अनेक व्यक्तियों ने प्रार्थियों के विरुद्ध आवेदन किया। जिन व्यक्तियों ने इस प्रकार के घृणात्मक विरोध का प्रदर्शन किया था उन्हें अभोरर्स कहा गया। बाद में इन्हें व्यंग रूप में टोरी संज्ञा प्राप्त हुई, तथा प्रार्थी दल को ह्विग संज्ञा। [रा० ना०]

अभ्युदय सांसारिक सौख्य तथा समृद्धि की प्राप्ति। महर्षि कणाद ने धर्म की परिभाषा में अभ्युदय की सिद्धि को भी परिगणित किया है (यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः; वैशेषिक सूत्र १।१।२।)। भारतीय धर्म की उदार भावना के अनुसार धर्म केवल मोक्ष की सिद्धि का ही उपाय नहीं, प्रत्युत ऐहिक सुख तथा उन्नति का भी साधन है। इसलिये वैदिक धर्म में अभ्युदय काल में श्राद्ध का विधान विहित है। रघुनंदन भट्टाचार्य ने अभ्युदय श्राद्ध को दो प्रकार का माना है : भूत जो पुत्रजन्मादि के समय होता है और भविष्यत् जो विवाहादि के अवसर पर होता है। सारांश यह है कि वैदिक धर्म केवल परलोक की ही शिक्षा नहीं देता, प्रत्युत वह इस लोक को भी व्यवहार की सिद्धि के लिये किसी भी तरह उपेक्षणीय नहीं मानता। [ब० उ०]

अभ्रक (अंग्रेजी में माइका) एक खनिज है जिसे बहुत पतली पतली परतों में चीरा जा सकता है। यह रंगरहित या हलके पीले, हरे या काले रंग का होता है। यह शिलानिर्माणकारी खनिज है। अभ्रक को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है : (१) मस्कोवाइट वर्ग, (२) बायोटाइट वर्ग।

१. मस्कोवाइट वर्ग में तीन जातियाँ हैं :
मस्कोवाइट : हा$_{२}$पोऐ$_{३}$(सिऔ$_{४}$)$_{३}$
पैरागोनाइट : हा$_{२}$सोऐ$_{३}$(सिऔ$_{४}$)$_{३}$
लैपिडोलाइट : पोलि[ऐ(औहा, फ्लो)$_{२}$]ऐ(सिऔ$_{४}$)$_{३}$

२. बायोटाइट वर्ग में भी तीन जातियाँ हैं :
बायोटाइट : (हापो)$_{२}$(मै$_{ग}$लो)$_{२}$ (ऐलो$_{२}$) (सिऔ$_{४}$)$_{३}$
फ्लोगोपाइट : [हापो(मै$_{ग}$फ्लो]$_{३}$मै$_{३}$ऐ(सिऔ$_{४}$)$_{३}$
जिनवल्डाइट : (पोलि)$_{३}$[ऐ(औहा,फ्लो)$_{२}$]लोऐ$_{२}$सि$_{५}$औ$_{१६}$

[हा=हाइड्रोजन, पो=पोटैसियम, ऐ=ऐल्यूमिनियम, सि=सिलिकन, औ=अक्सिजन, सो=सोडियम, लि=लिथियम, फ्लो=फ्लोरीन, मै$_{ग}$=मैगनीशियम, लो=लोह]।

इन दोनों जातियों के मुख्य खनिज क्रमशः श्वेताभ्रक तथा कृष्णाभ्रक हैं।

खनिजात्मक गुण—पूर्वोक्त दोनों प्रकार के खनिजों के गुण लगभग एक से ही हैं। रासायनिक संगठन में थोड़ा सा भेद होने के कारण इनके रंग में अंतर पाया जाता है। श्वेताभ्रक को पोटैसियम अभ्रक तथा कृष्णाभ्रक को मैगनीशियम और लौह अभ्रक कहते हैं। श्वेताभ्रक में जल की मात्रा ४ से ६ प्रति शत तक विद्यमान रहती है।

अभ्रक वर्ग के सभी खनिज मोनोक्लिनिक समुदाय में स्फुटीय होते हैं। अधिकतर ये परतदार आकृति में पाए जाते हैं। श्वेताभ्रक की परतें रंगहीन, अथवा हल्के कत्थई या हरे रंग की होती हैं। लोहे की विद्यमानता के कारण कृष्णाभ्रक का रंग कालापन लिए होता है। इन खनिजों की सतह चिकनी तथा मोती के समान चमकदार होती है। एक दिशा में इन खनिजों की पर्तों को बड़ी सुविधा से अलग किया जा सकता है। ये परतें बहुत नम्य (फ़्लेक्सिबुल) तथा प्रत्यस्थ (इलैस्टिक) होती हैं। इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि यदि हम एक इंच के हजारवें भाग के बराबर मोटाई की परत लें और उसे एक चौथाई इंच व्यास के बेलन के आकार में मोड़ डालें तो अपनी प्रत्यास्थता के कारण वह पुनः फैलकर समतल हो जायगी। इन खनिजों की कठोरता २ से ३ तक है। थोड़े से दबाव से यह नाखून से खुरचे जा सकते हैं। इनका आपेक्षिक घनत्व २·७ से ३·१ तक होता है।

अभ्रक वर्ग के खनिजों पर अम्लों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अभ्रक ऐल्यूमिनियम तथा पोटैसियम के जटिल सिलिकेट हैं, जिनमें विभिन्न मात्रा में मैगनीशियम तथा लौह एवं सोडियम, कैलसियम, लीथियम, टाइटेनियम, क्रोमियम तथा अन्य तत्व भी प्रायः विद्यमान रहते हैं। मस्कोवाइट सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभ्रक है। यद्यपि मस्कोवाइट सर्वाधिक सामान्य शिलानिर्माता (रॉक-फॉर्मिंग) खनिज है तथापि इसके निक्षेप, जिनसे उपयोगी अभ्रक प्राप्त होता है, केवल भारत तथा ब्राजील के कुछ सीमित क्षेत्रों में पिगमेटाइट पट्टिकाओं (वेंस) में ही विद्यमान हैं। संपूर्ण संसार की आवश्यकता का ८० प्रति शत अभ्रक भारत में ही मिलता है।

प्राप्तिस्थान—अभ्रक के उत्पादन में भारत अग्रगण्य देश है, यद्यपि यह कैनाडा, ब्राजील आदि देशों में भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है, किंतु वहाँ का अभ्रक अधिकांशतः छोटे आकार की परतों में अथवा चूरे के रूप में मिलता है। बड़ी स्तरोंवाले अभ्रक के उत्पादन में भारत को ही एकाधिकार प्राप्त है।

अभ्रक की पतली पतली परतों में भी विद्युत् रोकने की शक्ति होती है और इसी प्राकृतिक गुण के कारण इसका उपयोग अनेक विद्युत्यंत्रों में अनिवार्य रूप से होता है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य उद्योगों में भी अभ्रक का प्रयोग होता है। बायोटाइट अभ्रक कतिपय ओषधियों के निर्माण में प्रयुक्त होता है।

बिहार की अभ्रकपेटिका पश्चिम में गया जिले से हजारीबाग तथा मुंगेर होती हुई पूरब में भागलपुर जिले तक लगभग ९० मील की लंबाई और १२-१६ मील की चौड़ाई में फैली हुई है। इसका सर्वाधिक उत्पादक क्षेत्र कोडर्मा तथा आसपास के क्षेत्रों में सीमित है। भारतीय अभ्रकशिलाएँ सुभाजा (शिस्ट) हैं, जिनमें अनेक परिवर्तन हुए हैं। अभ्रक मुख्यतः पुस्तक के रूप में प्राप्त होता है। इस समय बिहार क्षेत्र में ६०० से भी अधिक छोटी बड़ी अभ्रक की खानें हैं। इन खानों में अनेक की गहराई ७०० फुट तक चली गई है। बिहार में अत्युत्तम जाति का लाल (रूबी) अभ्रक पाया जाता है जिसके लिये यह प्रदेश संपूर्ण संसार में प्रसिद्ध है।

आंध्र में नेल्लोर जिले की अभ्रकपेटिका दुर तथा संगम के मध्य स्थित है। इसकी लंबाई ६० तथा चौड़ाई ८-१० मील है। इस पेटिका में अनेक स्थानों पर अभ्रक का खनन होता है। यद्यपि अधिकांश अभ्रक का वर्ण हरा होता है, तथापि कुछ स्थानों पर 'बंगाल रूबी' के समान लाल वर्णका कुछ अभ्रक भी प्राप्त होता है।

भारतीय अभ्रक के उत्पादन में राजस्थान का द्वितीय स्थान है। राजस्थान की अभ्रकमय पेटिका जयपुर से उदयपुर तक फैली है तथा उसमें पिगमेटाइट मिलते हैं। कुछ अल्प महत्व के निक्षेप अलवर, भरतपुर, भीमत तथा डूँगरपुर में भी मिले हैं। राजस्थान से प्राप्त अभ्रक में से केवल अल्पांश ही उच्च कोटि का होता है; अधिकांश में या तो धब्बे होते हैं अथवा परतें टूटी या मुड़ी होती हैं।

बिहार, राजस्थान और आंध्र के विशाल अभ्रकक्षेत्रों के अतिरिक्त कुछ मस्कोवाइट बिहार के मानभूम, सिंहभूम तथा पालामऊ जिलों में भी मिलता है। इसी प्रकार अधोवर्ग का कुछ अभ्रक उड़ीसा के संबलपुर, आँगुल तथा ढेंकानल में पाया गया है। आंध्र में कुडप्पा, तथा मद्रास में सलेम, मालाबार तथा नीलगिरि जिलों में भी अभ्रक के निक्षेप हैं, किंतु ये अधिक महत्व के नहीं। मैसूर के हसन तथा मैसूर और पश्चिम बंगाल के मिदनापुर तथा बाँकुड़ा जिलों में भी अल्प मात्रा में अभ्रक पाया गया है।

उपयोगिता—यद्यपि देश में अभ्रक अति प्रचुर मात्रा में पाया जाता है, तथापि इसका अधिकांश कच्चे माल के रूप में विदेशों को भेज दिया जाता है। हमारे अपने उद्योग में इसकी खपत प्रायः नहीं के बराबर है। इसमें संदेह नहीं कि अधिक मात्रा में निर्यात के कारण इस खनिज द्वारा विदेशी मुद्रा का उपार्जन यथेष्ट हो जाता है, किंतु यदि इसको देश में ही परिष्कृत पदार्थ का रूप दिया जा सके तो और भी अधिक आय होने की संभावना है।

व्यापार की दृष्टि से अभ्रक के दो खनिज श्वेताभ्रक और फ्लोगोपाइट अधिक महत्वपूर्ण हैं। अभ्रक का प्रयोग बड़ी बड़ी चादरों के रूप में तथा छोटे छोटे टुकड़ों या चूर्ण के रूप में होता है। बड़ी बड़ी परतोंवाला अभ्रक मुख्यतया विद्युत् उद्योग में काम आता है। विद्युत् का असंवाहक होने के कारण इसका उपयोग कंडेंसर, कम्यूटेटर, टेलीफोन, डायनेमो आदि के काम में होता है। पारदर्शक तथा तापरोधक होने के कारण यह लैंप की चिमनी, स्टोव, भट्ठियों आदि में प्रयुक्त होता है। अभ्रक के छोटे छोटे टुकड़ों को चिपकाकर माइकानाइट बनाया जाता है। अभ्रक के छोटे छोटे टुकड़े रबड़ उद्योग में, रंग बनाने में, मशीनों में चिकनाई देने के लिये तथा मानपत्रों आदि की सजावट के काम आते हैं।

सन् १९५३ से १९५७ तक का उत्पादन इस प्रकार है :

वर्ष	मात्रा (उत्पादन, हंड्रेडवेट में)	मूल्य, रुपयों में
१९५३	२,४५,४००	८,४७,५३,२६४
१९५४	३,३४,७९३	६,५८,०३,०००
१९५५	४,६५,०१४	२,९५,७०,०००
१९५६	५,६०,६८५	२,०८,१७,०००
१९५७	६,०७,०००	२,२५,७७,०००

सं० ग्रं०—एच० एच० रीड : रटलीज़ एलिमेंट्स ऑव मिनरालॉजी (१९४२); जे० कागिन ब्राउन तथा ए० के० दे : इंडियाज़ मिनरल

वेल्थ (१६५५); टी० एच० हॉलैंड : दि माइका डिपॉज़िट्स ऑव इंडिया (मेमॉयर्स, जिम्रालोजिकल सरवे ऑव इंडिया, खंड ३४, सन् १६०२)। [म० मा० मे०]

आयुर्वेद में अभ्रक—संस्कृत में जिसे अभ्रक कहते हैं वही हिंदी में अबरक, बँगला में अभ्र, फारसी में सितारा ज़मीन तथा लैटिन और अंग्रेजी में माइका कहलाता है। काले रंग का अभ्रक आयुर्वेदिक ओषधि के काम में लेने का आदेश है। साधारणतः अग्नि का इसपर प्रभाव नहीं होता, फिर भी आयुर्वेद में इसका भस्म बनाने की रीतियाँ हैं। यह भस्म शीतल, धातुवर्धक और त्रिदोष, विषविकार तथा कृमि दोष को नष्ट करनेवाला, देह को दृढ़ करनेवाला तथा अपूर्व शक्तिदायक कहा गया है। क्षय, प्रमेह, बवासीर, पथरी, मूत्राघात इत्यादि रोगों में यह भस्म लाभदायक कहा गया है। [भ० दा० व०]

अमरकंटक

अमरकंटक पहाड तथा नगर मध्य प्रदेश में स्थित है। समुद्रतल से नगर की ऊँचाई ३,४६३ फुट है तथा स्थिति अक्षांश २२° ४०′१५″ उ० और देशांतर ८१° ४८′१५″ पू० है।

अमरकंटक पहाड़ सतपुड़ा श्रेणी का ही एक अंश है तथा इसका ऊपरी भाग एक विस्तृत पठार सा है। इस पहाड़ पर कई मंदिर हैं जो पुण्यसलिला नर्मदा के उद्गमस्थल के चारों ओर स्थित हैं। इसके आसपास बहुत से निर्झर हैं। नर्मदा के उद्गमस्थल के पास एक कुंड है। शोण नदी भी इसी के पास से निकली है। इन नदियों का उद्गमस्थल होने के कारण यह हिंदुओं के लिये प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है और प्रति वर्ष लाखों यात्री यहाँ दर्शन करने आते हैं। इसका प्राकृतिक सौंदर्य बहुत ही मनोरम है और जलवायु भी अच्छी है। इस कारण कई पर्यटक तथा जलवायु परिवर्तन के इच्छुक भी यहाँ प्रतिवर्ष आते हैं। [वि० मु०]

अमरकोश

संस्कृत के कोशों में अमरकोश अति लोकप्रिय और प्रसिद्ध है। अन्य संस्कृत कोशों की भाँति अमरकोश भी छंदोबद्ध रचना है। इसका कारण यह है कि भारत के प्राचीन पंडित 'पुस्तकस्था' विद्या को कम महत्व देते थे। उनके लिये कोश का उचित उपयोग वही विद्वान् कर पाता है जिसे वह कंठस्थ हो। श्लोक शीघ्र कंठस्थ हो जाते हैं। इसलिये संस्कृत के सभी मध्यकालीन कोश पद्य में हैं। इतालीय पंडित पावोलोनी ने सत्तर वर्ष पहले यह सिद्ध किया था कि संस्कृत के ये कोश कवियों के लिये महत्वपूर्ण तथा काम में कम आनेवाले शब्दों के संग्रह हैं। अमरकोश ऐसा ही एक कोश है। इसका वास्तविक नाम अमरसिंह के अनुसार 'नामलिंगानुशासन' है। नाम का अर्थ यहाँ संज्ञा शब्द है। अमरकोश में संज्ञा और उसके लिंगभेद का अनुशासन या शिक्षा है। अव्यय भी दिए गए हैं, किंतु धातु नहीं हैं। धातुओं के कोश भिन्न होते थे (दे० काव्यप्रकाश, काव्यानुशासन आदि)। हलायुध ने अपना कोश लिखने का प्रयोजन 'कविकंठविभूषणार्थम्' बताया है। धनंजय ने अपने कोश के विषय में लिखा है, 'मैं इसे कवियों के लाभ के लिये लिख रहा हूँ, (कवीनां हितकाम्यया)। अमरसिंह इस विषय पर मौन हैं, किंतु उनका उद्देश्य भी यही रहा होगा। अमरकोश में साधारण संस्कृत शब्दों के साथ साथ असाधारण नामों की भरमार है। आरंभ ही देखिए—देवताओं के नामों में लेखा शब्द का प्रयोग अमरसिंह ने कहाँ देखा, पता नहीं। ऐसे भारी भरकम और नाममात्र के लिये प्रयोग में आए शब्द इस कोश में संगृहीत हैं, जैसे—देवद्र्यंग या विश्वद्र्यंग (३,३४)। कठिन, दुर्लभ और विचित्र शब्द ढूँढ़ ढूँढ़कर रखना कोशकारों का एक कर्तव्य माना जाता था। नमस्या (नमाज या प्रार्थना) ऋग्वेद का शब्द है (२,७,३४)। द्विवचन में नासत्या, ऐसा ही शब्द है। अमरकोश में कतिपय प्राकृत शब्द भी संस्कृत समझकर रख दिए गए हैं। मध्यकाल के इन कोशों में, उस समय प्राकृत शब्दों के अत्यधिक प्रयोग के कारण, कई प्राकृत शब्द संस्कृत माने गए हैं; जैसे—छुरिका, ढक्का, गर्गरी (दे० प्रा० गग्गरी), डुलि, आदि हैं। बौद्ध-विकृत-संस्कृत का प्रभाव भी स्पष्ट है, जैसे—बुद्ध का एक नामपर्याय अर्कबंधु। बौद्ध-विकृत-संस्कृत में बताया गया है कि अर्क किसी पहले जन्म में बुद्ध का नाम था। अतः न मालूम कैसे अमरसिंह ने अर्कबंधु नाम भी कोश में दे दिया। बुद्ध के 'सुगत' आदि अन्य नामपर्याय ऐसे ही हैं। इस कोश में प्रायः दस हजार नाम हैं, जहाँ मेदिनी में केवल साढ़े चार हजार और हलायुध में आठ हजार हैं। इसी कारण पंडितों ने इसका आदर किया और इसकी लोकप्रियता बढ़ती गई है। [हि० जो०]

अमरत्व

दर्शन और धर्म में प्रयुक्त शब्द। भौतिक और दृष्ट जगत् में सभी वस्तुएँ उत्पन्न होकर, कुछ काल रहकर, नष्ट हो जानेवाली दिखाई पड़ती हैं। दार्शनिकों का मत है कि जगत् के अंतर्गत सभी वस्तुओं में छः विकार होते हैं—उत्पत्ति, अस्तित्व, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय और विनाश। ऐसा चारों ओर अनुभव होने पर भी मनुष्य यह समझता है कि उसमें कोई एक ऐसा आत्मतत्व है जो इन छः भावविकारों से रहित है; अर्थात् जो अजन्मा, अजर और अमर है। भारतीय दर्शनों में चार्वाक दर्शन को छोड़कर प्रायः सभी दर्शनों में आत्मा के अमरत्व की कल्पना हुई है। बौद्ध दर्शन भी, जो आत्मा को कोई विशेष पदार्थ नहीं मानता, मृत्यु के पश्चात् जीवन, पुनर्जन्म और निर्वाण को मानता है।

अमरत्व (अर्थात् मृत्युरहितता) की कल्पना के अंतर्गत दो बातें आती हैं :

(१) भौतिक शरीर की मृत्यु (नाश) हो जाने पर भी आत्मतत्व का किसी न किसी रूप में कहीं न कहीं अस्तित्व, एवं (२) आत्मा का षड्भावविकारों से सदैव मुक्त रहना और कभी भी मृत्यु का अनुभव न करना।

अमरत्व सिद्ध करने के लिये जो अनेक प्रकार की युक्तियाँ दी जाती हैं उनमें से कुछ ये हैं—(१) **धार्मिक युक्ति** : प्रायः सभी धर्मों के आदिग्रंथ आत्मा को अमर बतलाते हैं और मृत्यु के पश्चात् भौतिक शरीर से छुटकारा पाने पर आत्मा के किसी दूसरे लोक—स्वर्ग, नरक, ईश्वर के धाम अथवा फिर इसी लोक के दूसरे स्थान में जाने का संकेत करते हैं। हिंदू, बौद्ध, जैन आदि सभी भारतीय धर्मों में आत्मा के पुनर्जन्म की कल्पना मिलती है।

(२) **दार्शनिक युक्ति**—कुछ वैज्ञानिकों और दार्शनिकों ने मानव व्यक्तित्व का विश्लेषण और विचार करके यह निश्चित किया है कि क्षण क्षण बदलनेवाले इस भौतिक शरीर में और इससे अतिरिक्त अस्तित्व और स्वरूपवाला एक ऐसा तत्व है जो षड्भावविकारों से परे, इन सब विकारों का द्रष्टा, सदा वहीं का वहीं रहनेवाला, शरीर को अपने प्रयोग में लानेवाला और शरीर के द्वारा भौतिक जगत् में कार्य करनेवाला है जिसे आत्मा कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति अपने फटे पुराने कपड़ों को त्यागकर नए कपड़े पहन लेता है, वैसे ही आत्मा जीर्ण शरीर को त्यागकर दूसरे नवीन शरीर को अपना लेती है। वह आत्मा अमर है।

(३) **परामनोवैज्ञानिक युक्ति**—आजकल के वैज्ञानिक युग में वैज्ञानिक रीति और साधनों द्वारा मानव व्यक्तित्व की अद्भुत शक्तियों का विशेष अध्ययन किया जा रहा है। इसके लिये सन् १८८२ में एक विशेष संस्था साइकिकल रिसर्च सोसाइटी का निर्माण हुआ था। उसने बहुत सी विचित्र खोजें कीं और आज इस प्रकार की खोजों के आधार पर एक नया विज्ञान, जिसको परामनोविज्ञान (पैरासाइकोलॉजी) कहते हैं, उत्पन्न हो गया है, जिसका निर्णय यह है कि मनुष्य में अद्भुत और अतुल मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं जिनका शरीर से बहुत कम संबंध है और जो इस बात की द्योतक हैं कि मानव में कोई 'मन' अथवा 'आत्मा' नामक ऐसा तत्व है जो शरीर की सीमाओं में बद्ध न रहकर भी कार्य करता है और जो देश और काल के बंधनों से मुक्त है तथा जो शरीर से अलग हो सकता है और उसके बिना भी कार्य कर सकता है। शरीर के नष्ट हो जाने पर उस तत्व के अस्तित्व का प्रमाण भी मिलता है। यदि शरीर के अतिरिक्त और शरीर से अलग होकर भी आत्मतत्व जैसा कोई पदार्थ वर्तमान रहता है और कार्य कर सकता है तो उसके अमर होने में बहुत कम संदेह रह जाता है।

(४) **नैतिक और मूल्यात्मक युक्ति**—भारतीय दर्शनों में आत्मा के अमरत्व की यह एक प्रबल युक्ति दी जाती है कि यदि हम केवल मरणशील और जन्मजात शरीर मात्र हैं तो हमारे किए हुए पाप और पुण्य का हमको कोई बुरा भला फल नहीं चखना पड़ेगा क्योंकि मरने पर सब

कुछ नष्ट हो जायगा, फल भोगनेवाला रहने का ही नहीं (कृतनाश)। बचपन में हमको जो सुख दुःख होते हैं वे हमारे किए हुए बुरे भले कामों के फल नहीं होते (अकृयोपभोग)। और संसार में किसी प्रकार का न्याय नहीं होगा। एक जीवन में सब कर्मों का फल नहीं मिल सकता और न सब भोगों के कारण भूतकर्म ही होते हैं, अतएव यदि संसार में न्याय है और भले कामों का फल भला और बुरे कामों का फल बुरा होता है तो जन्म से पहले और मृत्यु के पश्चात् कर्म करनेवाली और फल भोगनेवाली आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करना ही होगा। इस संसार में यह भी देखने में आता है कि पापी लोग सुखी और पुण्यात्मा लोग दुखी रहते हैं। यदि आत्मा अमर है तो इस स्थिति का प्रतिकार दूसरे जन्म में अथवा परलोक (स्वर्ग, नरक) में हो सकता है।

एक सांसारिक जीवन में कोई भी व्यक्ति जीवन के उच्चतम मूल्यों—सत्य, कल्याण और सौंदर्य—को प्राप्त नहीं कर सकता। इनकी प्राप्ति की सबमें उत्कट इच्छा रहती है, अतएव आत्मा जन्मजन्मांतरों में प्रयत्न करके इनकी प्राप्ति कर सकेगा। यह मानना पड़ेगा या यह कहना होगा कि शिव और सुंदर की पिपासा मृगतृष्णा मात्र है।

(५) **पूर्वजन्म स्मरण की युक्ति**—कभी कभी छोटे बच्चों को अपने पूर्वजन्म और उसकी विशेष परिस्थितियों की याद आ जाती है और खोज करने पर वे सत्य पाई जाती हैं, भारत और यूरोप में ऐमी कई घटनाओं की खोज की गई है। यदि ऐसी एक भी घटना सच्ची है तो यह निश्चय है कि मृत्यु और जन्म आत्मा पर आघात नहीं कर सकते। आत्मा अमर है।

आत्मा के अमरत्व के विरोध में भी अनेक युक्तियाँ दी जाती हैं। विशेषतः यह कि उस अमरत्व से क्या लाभ है और उसका क्या अर्थ है जिसका हमको स्वयं ज्ञान नहीं है। कर्म के भले बुरे फल मिलने से हमारा लाभ तभी हो सकता है जब हमको यह ज्ञान रहे कि हमको अमुक कर्म करने का अमुक फल मिल रहा है।

मानव अमर है अथवा नश्वर, वस्तुतः यह एक ऐसी समस्या है जिसके खंडन और मंडन पक्षों में बहुत कुछ कहा जा सकता है और जिसका निर्भ्रांत निर्णय करना कठिन है।

सं०ग्रं०—जेम्स मर्चेंट द्वारा संपादित : इम्मॉर्टेलिटी; मर्चेंट द्वारा संपादित : सर्वाइवल; अर्नेस्ट हंट : 'डू वि सरवाइव डेथ ?'; इंसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐंड एथिक्स, हेस्टिंग्ज द्वारा संपादित, में 'इम्मॉर्टेलिटी' विषयक लेख। [भी० ला० आ०]

अमरसिंह अमरकोश के रचयिता अमरसिंह का जीवनवृत्त अंधकार में है। विद्वानों के बहुत श्रम के बाद भी उसपर नाममात्र का ही प्रकाश पड़ा है। इस तथ्य का प्रमाण अमरकोश के भीतर ही मिलता है कि अमरसिंह बौद्ध थे। अमरकोश के मंगलाचरण में प्रच्छन्न रूप से बुद्ध की स्तुति की गई है, किसी हिंदू देवी देवता की नहीं। यह पुरानी किंवदंती है कि शंकराचार्य के समय (आठवीं शताब्दी) अमरसिंह के ग्रंथ जहाँ जहाँ मिले, जला दिए गए। उसके बौद्ध होने का एक प्रमाण यह भी है कि अमरकोश में ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं के नामों से पहले, बुद्ध के नाम दिए गए हैं; क्योंकि बौद्धों के अनुसार सब देवी देवता भगवान् बुद्ध से छोटे हैं। अमरसिंह नाम से अनुमान होता है कि उसके पूर्वज क्षत्रिय रहे होंगे। अमरसिंह का निश्चित समय बताना असंभव ही है क्योंकि अमरसिंह ने अपने से पहले के कोशकारों के नाम ही नहीं दिए हैं। लिखा है : 'समाहृत्यान्यतंत्राणि' अर्थात् मैंने अन्य कोशों से सामग्री ली है, किंतु किससे ली है, इसका उल्लेख नहीं किया। कर्न और पिशल का अनुमान था कि अमरसिंह का समय ५५० ई० के आसपास होगा क्योंकि वह विक्रमादित्य के नवरत्नों में गिना जाता है जिनमें से एक रत्न वराहमिहिर का निश्चित समय ५५० ई० है। ब्यूलर अमरसिंह को लक्ष्मणसेन की सभा का रत्न मानते हैं। विलमट साहब को गया में एक शिलालेख मिला जो ९४८ ई० का है। इसमें खुदा है कि विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से एक रत्न अमरदेव ने गया में बुद्ध की मूर्ति स्थापित की और एक मंदिर बनाया। यह अमरदेव अमरसिंह ही था, इसका प्रमाण नहीं मिलता; महत्व की बात है कि प्रायः अस्सी पचासी वर्ष से उक्त शिलालेख और उसके अनुवाद लुप्त हैं। हलायुध ने भी अपने कोश में एक प्राचीन कोशकार अमरदत्त का नाम गिनाया है। यूरोप के विद्वान् इस अमरदत्त को अमरसिंह नहीं मानते। [हि० जो०]

अमरावती दक्षिण के पठार पर बंबई राज्य में स्थित एक जिला तथा उसका प्रधान नगर है। अमरावती जिला, अक्षांश २१° ४६' उ० से २०° ३२' उ० तथा देशांतर ७६° ३८' पू० से ७८° २७' पू० तक फैला हुआ, बरार के उत्तरी तथा उत्तर-पूर्वी भाग में बसा है। इसे दो पृथक् भागों में विभाजित किया जा सकता है : (१) पैनघाट की उर्वरा तथा समतल घाटी जो पूर्व की ओर निकली हुई मोर्सी ताल्क को छोड़कर लगभग चौकोर है। समुद्रतल से इस समतल भाग की ऊँचाई लगभग ८०० फुट है। (२) उत्तरी बरार का पहाड़ी भाग जो सतपुड़ा पहाड़ी का एक अंश है और भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न नामों से प्रसिद्ध था; जैसे, बाँडा, गांगरा मेलघाट। इसके उत्तर-पश्चिम की ओर ताप्ती, पूर्व की ओर वारधा और बीच से पूर्णा नदी बहती है। जिले की प्रधान उपज रुई है और कुल कृष्य भूमि का ५० प्रति शत इसी के उत्पादन में लगा है। जिले का क्षेत्रफल लगभग ४,७१५ वर्ग मील है तथा १९५१ की गणनानुसार जनसंख्या १०,३१,१६० है।

अमरावती जिले का प्रधान नगर अमरावती समुद्रतल से १,११८ फुट की ऊँचाई पर (अक्षांश २०° ५६' उ० और देशांतर ७७° ४७' पू०) स्थित है। इसकी आबादी १६,६४३ है (१९५१ ई०)। रघुजी भोंसला ने १८वीं शताब्दी में इसकी स्थापना की थी। वास्तुकला के सौंदर्य के दो प्रतीक अभी भी अमरावती में मिलते हैं—एक कुख्यात राजा विसेनचंदा की हवेली और दूसरा शहर के चारों ओर की दीवार। यह चहारदीवारी पत्थर की बनी, २० से २६ फुट ऊँची तथा सवा दो मील लंबी है। इसे निज़ाम सरकार ने पिंडारियों से धनी सौदागरों को बचाने के लिये सन् १८०४ में बनाया था। इसमें पाँच फाटक तथा चार खिड़कियाँ हैं। इसमें से एक खिड़की खूनखारी नाम से कुख्यात है जिसके पास १८१६ में मुहर्रम के दिन ७०० व्यक्तियों की हत्या हुई थी। अमरावती नगर दो भागों में विभाजित है—पुरानी अमरावती तथा नई अमरावती। पुरानी अमरावती दीवार के भीतर बसी है और इसके रास्ते संकीर्ण, आबादी घनी तथा जलनिकासी की व्यवस्था निकृष्ट है। नई अमरावती दीवार के बाहर वर्तमान समय में बनी है और इसकी जलनिकासी-व्यवस्था, मकानों के ढंग आदि अपेक्षाकृत अच्छे हैं। अमरावती नगर के अनेक घरों में आज भी पच्चीकारी की हुई काली लकड़ी के बारजे (बरामदे) मिलते हैं जो प्राचीन काल की एक विशेषता थी।

अमरावती में हिंदुओं के तथा जैनियों के कई मंदिर हैं। इनमें से अंबादेवी का मंदिर सबसे महत्वपूर्ण है। लोग कहते हैं कि इस मंदिर को बने लगभग एक हजार वर्ष हो गए और संभवतः अमरावती का नाम भी इसी से प्रचलित हुआ, यद्यपि इससे कतिपय विद्वान् सहमत नहीं हैं। अमरावती में मालटेकरी नामक एक पहाड़ है जो इस समय चाँदमारी के रूप में व्यवहृत होता है। किंवदंती है कि यहाँ पिंडारी लोगों ने बहुत धन दौलत गाड़ रखा है। अमरावती का जल यहाँ के वाडाली तालाब से आता है। यह तालाब लगभग दो वर्गमील की भूमि से पानी एकत्रित करता है और १५० लाख घन फुट पानी धारण कर सकता है। अमरावती रुई के व्यापार के लिये प्रसिद्ध है। यहाँ रुई के तथा तेल निकालने के कई कारखाने भी हैं।

हिंदुओं की पौराणिक किंवदंती के अनुसार अमरावती सुमेरु पर्वत पर स्थित देवताओं की नगरी है जहाँ जरा, मृत्यु, शोक, ताप कुछ भी नहीं होता। इस अमरावती और बरारवाली अमरावती में कोई संबंध नहीं है। किसी किसी का यह अनुमान है कि ऐसी अमरावती मध्य एशिया की आमू (ऑक्सस) नदी के आसपास बसी थी।

मद्रास के गुंटूर जिले में भी अमरावती नामक एक प्राचीन नगर है। कृष्णा नदी के दक्षिण तट पर (अक्षांश १६° ३५' उ० तथा देशांतर ८०° २४' पू०) स्थित है। इसका स्तूप तथा संगमरमर पत्थर की रेलिंग की मूर्तियाँ भारतीय शिल्पकला के उत्तम प्रतीक हैं। शिलालेख के अनुसार इस अमरावती का प्रथम स्तूप ई० पू० २०० वर्ष पहले बना था और अन्य स्तूप

पीछे कुषाणों के समय में तैयार हुए। इन स्तूपों की कई सुंदर मूर्तियाँ ब्रिटिश म्यूजियम तथा मद्रास के अजायबघर में रखी गई हैं। [वि० मु०]

अमरीका पश्चिमी गोलार्ध अथवा 'नई दुनिया' का भूभाग जो साधारणतया इसी नाम से सुविख्यात है। प्रस्तुत भूभाग का नामकरण अमेरिगो वेस्पूसिओ नामक नाविक की स्मृति में मार्टिन वाल्डसेम्यूलर नामक भूगोलवेत्ता ने किया था। अमेरिगो ने १४९९ ई० में लिखी अपनी पुस्तक में इस देश को नई दुनिया कहा था। १५०७ ई० के एक मानचित्र में अमरीका नाम उस भूभाग के लिये प्रयुक्त हुआ जिसे आज दक्षिणी अमरीका कहते हैं। संपूर्ण भूभाग का पता लगने पर धीरे धीरे यही नाम सारे अमरीकी भूभाग के लिये प्रयुक्त होने लगा।

जेनोआ-निवासी क्रिस्तोफर कोलंबस ने १२ अक्टूबर, १४९२ ई० को अमरीका का पता लगाया। सर्वप्रथम वह पश्चिमी द्वीपसमूह के आधुनिक बहामा द्वीपों में से वैटलिंग द्वीप पहुँचा। कोलंबस का विश्वास था कि वह मार्को पोलो द्वारा वर्णित एशिया के पूर्वी छोर पर पहुँच गया है और तदनुसार इन द्वीपों को उसने 'इंडीज़' कहा। इनका ला इंडियाज़ नाम स्पेन में बहुत समय तक खब प्रचलित था। कोलंबस ने १४९२ ई० से लेकर १५०४ ई० तक की अपनी तीन यात्राओं में लगभग संपूर्ण पश्चिमी द्वीपसमूह का भ्रमण किया और ओरीनिको नदी के मुहाने तक पहुँचा था। विश्वास है कि इंग्लैंड की सहायता से जॉन कैबट नामक दूसरा जेनोआ-निवासी न्यूफाउंडलैंड तथा समीपवर्ती महाद्वीपीय भाग पर भी १४९७ ई० के लगभग पहुँचा। १५००-१५०३ ई० के मध्य कोर्टेरियल नामक पुर्तगीज़ परिवार ने उत्तरी अमरीका के पूर्वी समुद्रतट की यात्रा की। तदनंतर विभिन्न लोगों ने इस भूभाग के विभिन्न भागों का भ्रमण किया। १५०६ ई० तक महाद्वीपीय क्षेत्र पर स्पैनिश बस्तियों का प्रारंभ हो गया था। नवंबर १५२० ई० के लगभग फर्डिनैंड मैगलेन ने दक्षिणी अमरीका के दक्षिण होते हुए प्रशांत महासागर को पार किया। इस प्रकार एशिया से सर्वथा अलग विशाल महाद्वीपीय अमरीकी भूभाग की संस्थिति और दोनों महाद्वीपों के मध्य स्थित प्रशांत महासागर का पता सारे संसार को लग गया। सर्वप्रथम स्पेनी एवं पुर्तगाली और तदनंतर फ्रांसीसी, अँगरेज, डच आदि जातियों ने महाद्वीप के विभिन्न भागों में बसना प्रारंभ किया और इस प्रकार औपनिवेशिक संघर्षों का क्रम बहुत समय तक चलता रहा। इनके अतिरिक्त यूरोप महाद्वीप के विभिन्न देशों के निवासी यहाँ आने लगे और इस प्रकार जनसंख्या बढ़ती गई।

अमरीकी भूभाग दो महाद्वीपों में बँटा है—एक उत्तरी अमरीका (उसे देखें) जो दक्षिण में पनामा तक फैला है और जिसमें तथाकथित मध्य अमरीका का भूभाग भी संमिलित है और दूसरा दक्षिणी अमरीका (उसे देखें) जो पनामा के दक्षिण से हार्न अंतरीप तक विस्तृत है। इस प्रकार संपूर्ण अमरीकी भूभाग की उत्तर दक्षिण लंबाई पृथ्वी पर सर्वाधिक है। इसकी आकृति पृथ्वी के चतुष्फलकीय विरूपण (टेट्राहेड्रल डिफ़ॉर्मेशन) का प्रतिफल मानी जाती है। यह उत्तर में अत्यधिक चौड़ा एवं दक्षिण में शीर्षबिंदु की तरह नुकीला है।

न केवल आकृति प्रत्युत भूतात्विक विकास एवं संरचना में भी दोनों अमरीकी महाद्वीपों में साम्य है। दोनों महाद्वीपों के उत्तर-पूर्व में प्राचीनतम भूतात्विक आधार (लारेंशिया एवं गायना के पठार) हैं, दोनों में ही इन पठारों के दक्षिण पर्वतीय ऊँचाइयाँ (अपलेशियन एवं ब्राज़ील) स्थित हैं जिनमें मणिभीय (रवेदार) चट्टानें समुद्र की ओर तथा कैंब्रियनपूर्व शिलाएँ महाद्वीपों के अंदर की ओर फैली हैं। दोनों भागों की आधुनिक ऊँचाइयाँ नवयुगीन भू-उत्थानों का प्रतिफल हैं। दोनों महाद्वीपों के पश्चिम में उत्तर से दक्षिण नवनिर्मित विषम पर्वतश्रेणियाँ स्थित हैं। इन पर्वतों एवं पठारों के बीच बीच विभिन्न प्रवाह-प्रणालियाँ (सेंट लॉरेंस, अमेज़न, मैकेंजी, ओरीनिको, मिसीसिपि, लाप्लाटा आदि) विकसित हैं। परंतु दोनों महाद्वीपों में स्थिति, जलवायु, वनस्पति, जीवजंतु, रहन सहन में प्रचुर अंतर भी है।

[का० ना० सिं०]

अमरीका, संयुक्त राज्य, वर्तमान संयुक्त राज्य अमरीका (यूनाइटेड स्टेट्स्) की सृष्टि दो कारणों से हुई। यूरोपवासियों का १७वीं शताब्दी से इस द्वीप में अपने विचार, वाणी तथा संस्कृति सहित आना, और यहाँ रहकर उनके यूरोपीय स्वरूप का बदल जाना। उत्तरी अमरीका की खोज १५वीं-१६वीं शताब्दियों में हुई थी, पर लगभग शताधिक वर्ष बाद आगंतुकों ने इस देश में प्रवेश किया और उसे अपना लिया। धार्मिक स्वतंत्रता का अपहरण, इंग्लैंड में सम्राट् और पार्लियामेंट के बीच संघर्ष, औपनिवेशिक व्यापार का आकर्षण, सोना प्राप्त करने का लोभ तथा बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये नया स्थान ढूँढ़ने की अभिलाषा ने लोगों को नए देश में बसने के लिये प्रेरित किया। १६०६ ई० में तीन छोटे अंग्रेजी जहाज १२० व्यक्तियों को लेकर कैप्टेन न्यूपोर्ट के नेतृत्व में अमेरिका के लिये चले। चार महीने की सामुद्रिक यात्रा के पश्चात् इनमें से १०४ व्यक्ति सकुशल जेम्स नदी के मुहाने पर उतरे। वर्जीनिया कंपनी ने ५६४९ व्यक्ति भेजे जिनमें से १६२४ ई० तक कोई १०९५ व्यक्ति जीवित थे। इस कंपनी के बंद हो जाने पर ये उपनिवेश सम्राट् के अधिकार में चले गए और वही इनका गवर्नर नियुक्त करने लगा। वर्जीनिया उपनिवेश में तंबाकू की खेती होने लगी जो क्रमशः उसके विकास का मुख्य साधन बनी। इसके उत्तर में १६३२ ई० में मेरीलैंड नामक दूसरा राजकीय उपनिवेश स्थापित किया गया, जिसका पट्टा सम्राट् ने जार्ज कल्वर्ट था लार्ड बाल्टीमोर को दिया। इस वंश का इसपर कई पीढ़ियों तक अधिकार रहा। यहाँ रोमन कैथोलिकों को धार्मिक स्वतंत्रता थी। यह उपनिवेश भी तंबाकू की खेती के लिये प्रसिद्ध हो गया।

औपनिवेशिक युग : धनप्राप्ति की इच्छा, धार्मिक स्वतंत्रता की अभिलाषा, राजनीतिक अत्याचार से मुक्त होने का संकल्प और नए साहसिक कार्य के प्रलोभन ने यूरोप के और देशों से भी लोगों को यहाँ आने के लिये बाध्य किया। १६२४ ई० में डचों ने न्यू नेदरलैंड्स का उपनिवेश बसाया, पर चालीस वर्ष बाद इसपर अंग्रेजों का अधिकार हो गया और उन्होंने इसका नाम न्यूयार्क रखा। १६वीं-१७वीं शताब्दियों के धार्मिक क्रांतिकाल में प्यूरिटन नामक एक दल उठ खड़ा हुआ जो अंग्रेजी ईसाई धर्म में सुधारों का आंदोलन करने लगा। इसका एक जत्था इंग्लैंड छोड़कर हालैंड में जा बसा। इनमें से कुछ लोग १६२० ई० में इंग्लैंड होते हुए अमरीका जा पहुँचे। वहाँ इन्होंने न्यू प्लीमथ की पिलग्रिम कालोनी बसाई। चार्ल्स प्रथम के समय भी जिन पादरियों को उपदेश देने से वंचित कर दिया गया था, वे पूर्ववर्ती पिलग्रिमों का अनुकरण करते हुए अमरीका आए। उन्होंने १६३० ई० में मसाच्यूसेट्स उपनिवेश की स्थापना की। पेनसिलवेनिया और नार्थ कैरोलाइना के अनेक आगंतुक जर्मनी और आयरलैंड से अधिक धार्मिक स्वतंत्रता और आर्थिक उन्नति की आशा में इधर आए थे।

१७वीं शताब्दी के प्रथम तीन चौथाई भाग में जो विदेशी अमरीका में आकर बसे उनमें अंग्रेजों की संख्या बहुत अधिक थी। कुछ डच, स्वीड और जर्मन साउथ कैरोलाइना में और उसके आस पास कुछ फ्रेंच उगनों और कहीं कहीं स्पेनी इटालीय और पुर्तगाली भी बस गए थे। १६८० ई० के पश्चात् इंग्लैंड इनका आगमन स्रोत नहीं रहा। इन सब औपनिवेशिकों ने वहाँ जाकर अंग्रेजी भाषा, कानून, रीतिरिवाज और विचारधारा को अपना लिया। १७०० ई० में अंग्रेजी बस्तियाँ न्यू हैंपसर, मसाच्यूसेट्स, कनेक्टिकट, न्यू हैवेन, रोड आइलैंड, न्यूयार्क, न्यू जर्सी, पेनसिलवेनिया, डिलावेयर, मेरिलैंड, वर्जीनिया, नार्थ कैरोलाइना और साउथ कैरोलाइना में स्थापित हो चुकी थीं। सबसे अंतिम बस्ती जार्जिया १७५३ ई० में स्थापित हुई।

इन उपनिवेशों में उत्तरी भाग के निवासी व्यवसाय तथा व्यापार में संलग्न थे पर दक्षिणवालों का पेशा केवल कृषि ही था। इन विविधताओं का कारण भौगोलिक परिस्थिति थी। बंदरगाहों के निकट गाँवों और नगरों में बसकर न्यू इंग्लैंडवासियों ने शीघ्र ही अपना जीवन शहरी बना लिया, तथा लाभदायक व्यवसाय ढूँढ़ निकाले। इससे उनकी आर्थिक नींव मजबूत हो गई। उत्तर उपनिवेशों की अपेक्षा मध्यवर्ती उपनिवेशवालों की आबादी अधिक मिली जुली थी। इनके विपरीत वर्जीनिया, मेरिलैंड, कैरोलाइना तथा जार्जिया नामक दक्षिणी बस्तियाँ प्रधानतया ग्रामीण थीं। वर्जीनिया अपनी तंबाकू के लिये यूरोप में प्रसिद्ध हो चुका था। १७वीं शताब्दी के अंत और १८वीं के आरंभ में मेरिलैंड और वर्जीनिया की सामाजिक व्यवस्था में वे लक्षण आ चुके थे जो गृहयुद्ध तक रहे। अधिकतर राजनीतिक अधिकार
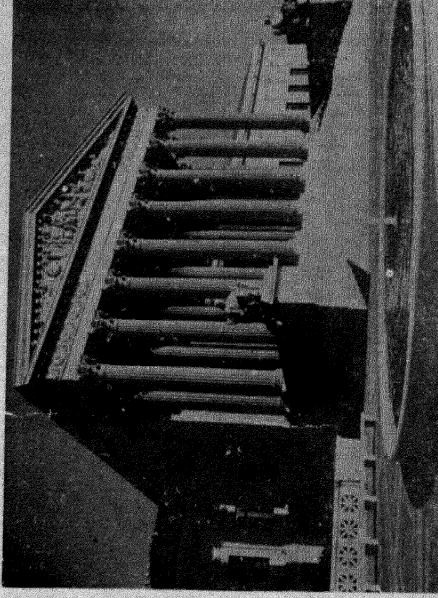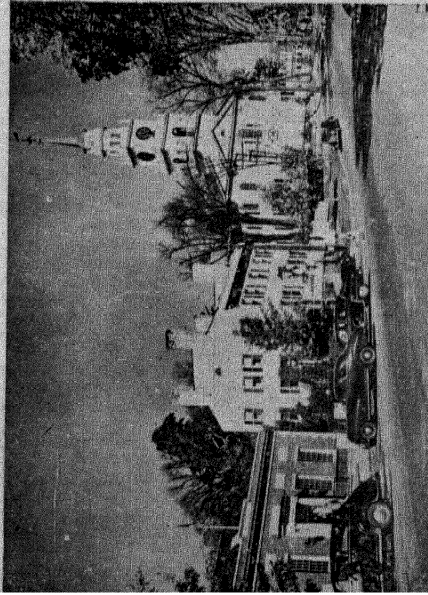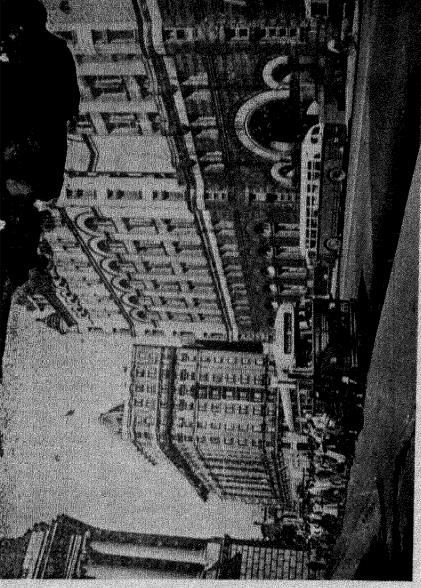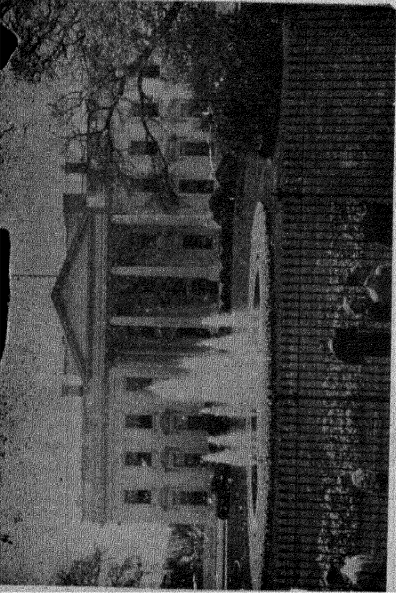
संयुक्तराज्य (अमरीका) के कुछ प्रसिद्ध भवन

ऊपर बाईं ओर 'ह्वाइट हाउस'—संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति का निवास स्थान, ऊपर दाहिनी ओर वाशिंगटन (कालंबिया) की एक सड़क पर वर्जीनिया की सैर के लिये जाने वाले बस यात्रियों की भीड़, नीचे बाईं ओर वरमॉण्ट राज्य के मिडिलबरी नामक एक छोटे नगर की मुख्य सड़क, नीचे दाहिनी ओर वाशिंगटन (कालंबिया) में उच्चतम न्यायालय का भवन (अमरीकी दूतावास के सौजन्य से)।
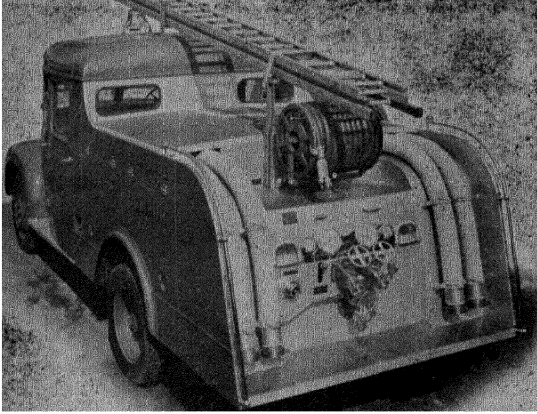
बमकल

अग्नि बुझाने का यत्र (देखे पृष्ठ ७६)।

अमरीका मे समाचारपत्र-विक्रेता

सयुक्त राज्य (अमरीका) मे समाचारपत्रो की बडी खपत है (सौजन्य, अ० दूतावास)।
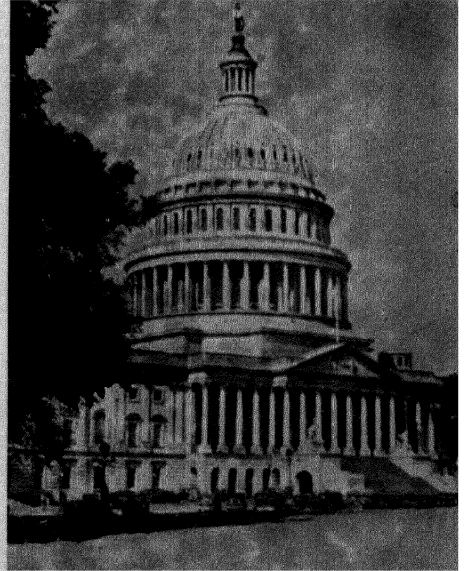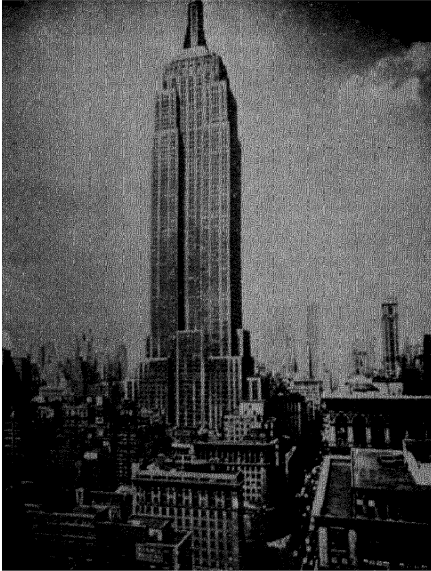
अमरीका का एम्पायर बिल्डिग

न्यूयॉर्क मे कई अति उत्तुग भवन है। उनमे से यह भी एक है। यह १,२५० फुट ऊँचा है और इसमे १०२ मजिल है (सौजन्य, अ० दूतावाम)।

'दि कैपिटल'

मयुक्त राज्य (अमरीका) की राजधानी वाशिगटन में कैपिटल नामक भवन, जिसमे राज्य की प्रतिनिधि तथा नियामक सभाएँ होती है।
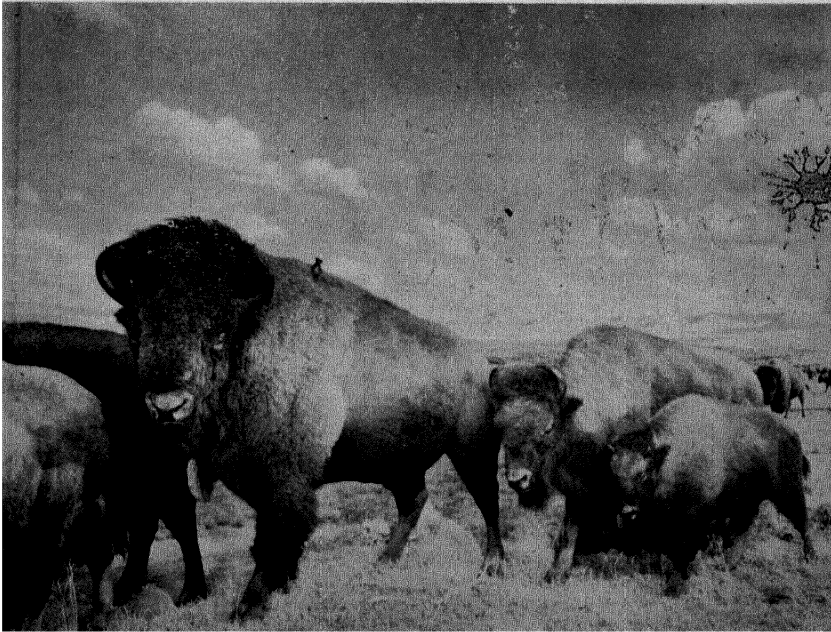
अमरीका (उत्तरी) के दो जंतु

ऊपर बारहसिंगा (कैरिबू), नीचे साँड (बाइसन) (दि अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।
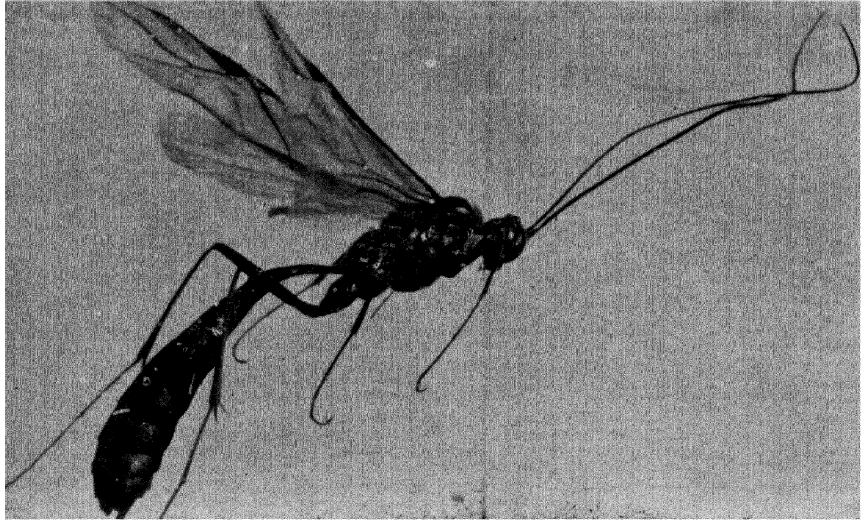
आखेटि पतंग

वास्तविक से बडे पैमाने पर फोटोग्राफ। यह कीट कृषि के हानिकारक कीडो के शरीर में अपना अंडा दे देता है, जिससे थोडे ही समय मे उनका नाश हो जाता है, देखे पृष्ठ ३३२ (दि अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।
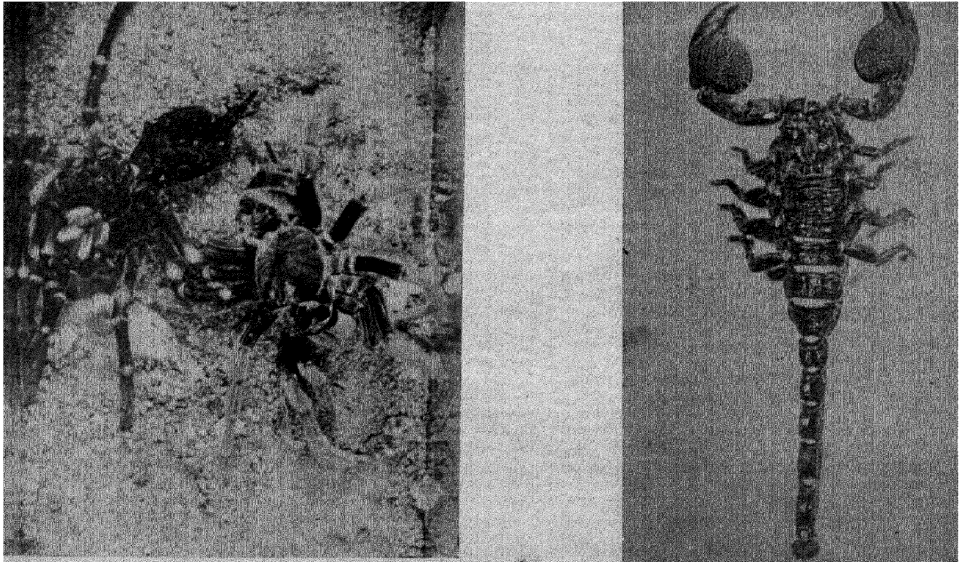
मकडी और बिच्छू

ये दोनो अष्टपाद वंश के सदस्य है, देखे पृष्ठ २७६ (दि अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।

और बढ़िया भूमि प्लांटरों ने अपने अधिकार में कर रखी थी। वे बड़ी शान से रहते थे और उनका सारा कार्य दास करते थे। यह दास प्रथा, जिसका दक्षिणी उपनिवेशों में बड़ा जोर था और जिसे हटाने के लिये दक्षिण के लोग तैयार न थे, आगे चलकर गृहयुद्ध का एक बड़ा कारण बनी।

इन तीन क्षेत्रों के उपनिवेशों में भौगोलिक और आर्थिक पृथक्ता होते हुए भी एक विशेषता यह थी कि इनपर इंग्लैंड की सरकार के प्रभाव का अभाव रहा और सभी अपने को पूर्णतया स्वतंत्र समझते रहे। इंग्लैंड की सरकार ने नई दुनिया पर अपने स्थानीय शासनाधिकार कंपनियों और उनके मालिकों को सौंप दिए थे। परिणाम यह हुआ कि वे इंग्लैंड से दूर होते गए। इंग्लैंड की सरकार इनपर अपना नियंत्रण रखना चाहती थी और १६५१ ई० के पश्चात् समय समय पर उसने ऐसे कानून बनाना आरंभ किया जिनमें उपनिवेशों के व्यापारिक और साधारण जीवन पर नियंत्रण रखने का प्रयास था।

स्वतंत्रता की ओर : यूरोप की राजनीतिक परिस्थितियों का अमरीका पर बराबर प्रभाव पड़ता रहा। यूट्रेक्ट की संधि के अनुसार अकेडिया, न्यूफाउंडलैंड और हडसन की खाड़ी फ्रांसीसियों से अंग्रेजों को मिली। कनाडा और अंग्रेजी उपनिवेशों के बीच कोई सीमा निर्धारित नहीं थी और यूरोप में आस्ट्रिया के राजकीय युद्ध में अंग्रेज और फ्रांसीसी विपक्षी थे। अतः अमेरिका में भी फ्रांसीसियों, जिनका कनाडा पर अधिकार था, और अंग्रेजों के बीच १७५४ ई० में युद्ध छिड़ गया। १७५६ में क्यूबेक का पतन होते ही फ्रांसीसियों का पासा पलट गया। १७६३ ई० की संधि में फ्रांस ने इंग्लैंड को सेंट लारेंस की खाड़ी के दो द्वीपों को छोड़कर, ओहायो घाटी और कनाडा भी दे दिया। युद्ध के कारण अमेरिका की १३ बस्तियाँ राजनीतिक एकता के सूत्र में बँध गईं और उनको अपनी शक्ति और संगठन का पता चला। अमरीका में बने माल के आयात पर इंग्लैंड में नियंत्रण तथा यूरोप में अमरीका के निर्यात माल पर लगी चुंगी से व्यापार को बड़ा धक्का पहुँचा। इंग्लैंड केवल कच्चा माल और अन्न लेना चाहता था और अमरीका में अपने बने हुए माल की खपत चाहता था। ग्रेनविल ने उन उपनिवेशों में अंग्रेजी सेना रखने का सुझाव दिया जिसके खर्च का बोझ अमरीका की जनता पर पड़ता था। इंग्लैंड ने कानून द्वारा कर लगाकर अमरीका को सर करना चाहा। इन्हीं करों में स्टैंप कर भी था। इसका वहाँ कड़ा विरोध हुआ और न्यूयार्क की एक सभा में अमरीकनों ने ऐलान किया कि जब तक उनका प्रतिनिधान इंग्लैंड की पार्लियामेंट में न होगा तब तक उसका लगाया कर भी उन्हें मान्य न होगा। अंग्रेजी सरकार को झुकना पड़ा और वह कर वापस ले लिया गया।

१६६७ ई० में चाय, शीशे तथा अन्य चीजों पर कर लगाने का प्रस्ताव हुआ जिससे अमरीकी उपनिवेशों में इसका भी विरोध हुआ और चाय को छोड़कर बाकी सब पर चगी की छूट दे दी गई। उन्होंने अंग्रेजी चाय का बहिष्कार किया। बोस्टन में कुछ अमरीकनों ने रेड इंडियन के वेश में अंग्रेजी जहाजों पर चढ़कर उनकी चाय समुद्र में फेंक दी। ब्रिटिश पार्लियामेंट में इस घटना से बड़ी उत्तेजना हुई और जार्ज तृतीय ने कड़ी नीति अपनाने का आदेश दिया। मसाच्यूसेट्स के प्रस्ताव को लेकर फिलाडेल्फिया में ५ सितंबर, १७७४ ई० को एक सभा हुई जिसमें सम्राट् तथा इंग्लैड और कनाडा की जनता के नाम संदेश भेजना स्वीकार किया गया। इसमें स्वतंत्रता का प्रश्न नहीं उठाया गया था। जनरल गेज द्वारा मसाच्यूसेट्स में अमरीकन नेताओं को पकड़ने और गोली चलाने से आग भड़क उठी और युद्ध आरंभ हो गया। फिलाडेल्फिया की दूसरी सभा में जार्ज वाशिंगटन को नेता चुना गया। उस समय अंग्रेजी सेना की संख्या १०,००० तक पहुँच चुकी थी। ४ जुलाई, १७७६ ई० को टामस जेफरसन द्वारा लिखित अमरीकी स्वतंत्रता का घोषणापत्र कांटिनेंटल सभा में पास हुआ।

अंग्रेजी सेना को आरंभ में कुछ सफलताएँ मिलीं और वाशिंगटन को निरंतर पीछे हटना पड़ा। क्रांति का युद्ध छः वर्ष से अधिक काल तक चलता रहा जिस बीच अनेक महत्वपूर्ण युद्ध हुए। ट्रेंटन और प्रिंस्टन की जीतों ने उपनिवेशों में आशा जागृत कर दी। सितंबर, १७७७ ई० में हाव ने फिलाडेल्फिया पर अधिकार कर लिया, पर शरद् में अमरीकनों की युद्ध में सबसे बड़ी जीत हुई। १७ अक्तूबर, १७७७ ई० को ब्रिटिश सेनापति बरगोइन ने अपनी ५ हजार सेना सहित आत्मसमर्पण कर दिया। फ्रांस ने, जो अपनी पुरानी दुश्मनी के कारण इंग्लैंड के विपक्ष में था, अमरीका के साथ व्यापारिक और मित्रता की संधियाँ कर लीं जिसमें बेंजामिन फ्रैंकलिन का बड़ा हाथ था। १६वें लुई ने जनरल शेशांबो की अध्यक्षता में ६००० जवानों की एक प्रबल सेना भेजी और फ्रेंच समुद्री बेड़े ने ब्रिटिश सेनाओं को सामान भेजने में कठिनाई डाल दी। १७७८ ई० में अंग्रेजों को फिलाडेल्फिया खाली कर देना पड़ा। वाशिंगटन और शेशांबो की सेनाओं के प्रयास से लार्ड कार्नवालिस को १७ अक्तूबर, १७८१ ई० में यार्कटाउन में आत्मसमर्पण करना पड़ा। इंग्लैंड में प्रधान मंत्री लार्ड नार्थ थे जिन्होंने त्यागपत्र दे दिया और अप्रैल, १७८२ ई० में नया मंत्रिमंडल बनाया गया। १७८३ ई० में पेरिस के संधिपत्र पर हस्ताक्षर हुए। १३ अमरीकन राज्यों को पूर्णतया स्वतंत्रता मिली। केवल कनाडा अंग्रेजों के पास रह गया और मिसीसिपी नदी उत्तर की सीमा मान ली गई। १७८७ ई० में फिलाडेल्फिया में एक कन्वेंशन हुआ जिसमें देश का विधान बनाने और केंद्रीय शासनव्यवस्था के लिये सरकार बनाने का निश्चय किया गया। १७ सितंबर, १७८७ ई० को प्रस्तुत संविधान पर उपस्थित राज्यों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर कर दिए। २१ जून, १७८८ ई० को संविधान अंतिम रूप में सब राज्यों द्वारा स्वीकृत हो गया। राष्ट्रीय संघ की कांग्रेस ने राष्ट्रपति के प्रथम चुनाव की व्यवस्था की और ३० अप्रैल, १७८९ ई० को वाशिंगटन ने अपने पद की शपथ ली।

गृहयुद्ध तक : विधान के अंतर्गत १३ राष्ट्रों ने एक समझौता किया और अपने कुछ अधिकार केंद्र को सौंप दिए, पर आंतरिक मामलों में वे पूर्णतया स्वतंत्र थे। संयुक्त राज्य की सीमा बढ़ाने के लिये यह आवश्यक हो गया कि अमरीका के और भागों पर अधिकार किया जाय। १८६१ ई० के गृहयुद्ध के पहले का युग वास्तव में संयुक्त-राज्य-क्षेत्र-विस्तार-युग कहलाने योग्य है। १७८७ ई० में उत्तरीपश्चिमी प्रदेश, जिनमें बाद में चलकर छ नए राज्य बने, और १८०३ ई० में लूईजियाना प्रदेश डेढ़ करोड़ डालर में फ्रांस से खरीद लिये गये। उस समय जेफरसन राष्ट्रपति था। संयुक्त राज्य को १० लाख वर्गमील से अधिक भूमि और न्यूआर्लीस का बंदरगाह मिल गया। अमरीका महाद्वीप के दो तिहाई भाग पर इसका अधिकार हो गया। बाकी एक तिहाई भाग १८४५-५० ई० के बीच अधिकार में आया। देश की समस्त नदियों पर केंद्रीय नियंत्रण हो गया। १९वीं शताब्दी के प्रथम भाग में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच हुए युद्ध में अमरीकी व्यवस्था की नीति बहुत समय तक कायम न रह सकी और उसके व्यापार को बड़ी क्षति पहुँची। १८१२ में ब्रिटेन के विरुद्ध अमरीका को युद्धक्षेत्र में उतरना पड़ा। स्थल पर तो संयुक्त राज्य को असफलता मिली पर समुद्र में उसे विजय प्राप्त हुई। युद्ध की समाप्ति घेंट की संधि से हुई जिसे १८१५ ई० में संयुक्त राज्य ने स्वीकार कर लिया। इस युद्ध में अमरीकी जनसंख्या को बड़ी क्षति पहुँची थी, पर इसका महत्वपूर्ण परिणाम राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना का उद्गार हुआ। संयुक्त राज्य अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अब समानता का पद प्राप्त कर चुका था। इस युग में जेफरसन और मनरो के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। जो नए राज्य बने उनमें १८०३ ई० में ओहायो, १८१२ ई० में लूइजियाना, १८१६ ई० में इंडियाना, १८१७ ई० में मिसीसिपी, १८१८ ई० में इलिनाय, १८१९ ई० में अलाबामा, १८२० ई० में मेन और १८२१ ई० में मिसौरी के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी समय मनरो डाक्ट्रिन (नीति) की घोषणा की गई जिससे अमरीका का यूरोप के घरेलू मामलों तथा यूरोपीयन उपनिवेशों और दोनों अमरीकी द्वीपों में यूरोपीय शक्तियों का हस्तक्षेप करना अवैध हो गया। रूस ने इसे मानकर अलास्का में ५४.४० पर अपनी दक्षिणी सीमा निर्धारित की। अंत में १८६१ में रूस ने इसे १५ लाख डालर पर अमरीका के हाथ बेच दिया।

इस काल उत्तरी और दक्षिणी राज्यों में दासप्रथा को लेकर वैमनस्य की भावना तीव्र हो उठी जो अमरीकी गृहयुद्ध का एक बड़ा कारण बनी। उत्तरी राज्यों में दासप्रथा को हटा दिया गया था पर दक्षिणी राज्य अपनी आर्थिक और भौगोलिक परिस्थितियों के कारण उसे बनाए रखना चाहते थे। वे उसे घरेलू मामला समझते थे जिसमें उनके मत से, कांग्रेस को हस्तक्षेप करने का अधिकार न था। अमरीकी राजनीति में भी दासप्रथा को लेकर

राजनीतिक दलों में फूट पड़ गई। दासप्रथा के विरोधियों और पक्षपातियों के बीच संघर्ष का जोर बढ़ता जा रहा था। १८५७ ई० में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा बहुमत से किए गए ड्रेक स्काट के फैसले ने आग में घी का काम किया। ८ फरवरी, १८६५ ई० को 'कानफेडरेट स्टेट ऑव अमेरिका' का संगठन हुआ जिसका लिंकन ने विरोध किया। १२ अप्रैल को चार्ल्सटन (साउथ कैरोलाइना) के फोर्ट सुमटर पर गोलाबारी हुई और गृहयुद्ध आरंभ हो गया। यह ४ वर्ष चला और अंत में ८ अप्रैल, १८६५ ई० को दक्षिणी सेना ने हथियार डाल दिए।

विस्तार और सुधार का युग : गृहयुद्ध और प्रथम विश्वयुद्ध के ५० वर्षो के मध्यकाल में संयुक्त राज्य में भारी परिवर्तन हुए। बड़े बड़े कारखाने खुले, महाद्वीप के आर पार रेल द्वारा यातायात सुगम हो गया तथा समुद्र, नगरों और हरे भरे खेतों ने देश की आर्थिक उन्नति में योग दिया। लोहे, भाप, बिजली के उत्पादन और वैज्ञानिक आविष्कारों ने राष्ट्र में नए प्राण फूंके। संयुक्त राज्य बड़ी तेजी से प्रगति कर चला। १९१४ ई० के यूरोपीय महायुद्ध के समाचार से इसे भारी धक्का पहुँचा पर अमरीकी उद्योग पश्चिमी राष्ट्रों की युद्धसामग्री की माँग के कारण फूलने फलने लगा। १९१५ ई० में जर्मनी के सैनिक नेताओं ने घोषणा की कि वे ब्रिटिश द्वीपों के आसपास के समुद्र में किसी भी व्यापारिक जहाज को नष्ट कर देंगे। राष्ट्रपति विल्सन ने अपनी नीति घोषित की कि अमरीकी जहाजों अथवा जन के नाश करने का जर्मनी उत्तरदायी होगा। जर्मन पनडुबियों ने अमरीका के कई जहाज डुबा दिए। अत: २ अप्रैल, १९१७ ई० में अमरीका ने विश्वयुद्ध में प्रवेश किया और उसके सैनिक और जहाज फ्रांस पहुँच गए। जनवरी, १९१८ ई० में विल्सन ने न्याययुक्त शांति के आधार पर अपने सुप्रसिद्ध १४ सूत्र रचे। इनके अंतर्गत राष्ट्रसंघ का निर्माण और छोटे बड़े राज्यों को समान राजनीतिक स्वतंत्रता और राष्ट्र की अखंडता का आश्वासन दिलाना था। उन्हीं सूत्रों के आधार पर ११ नवंबर, १९१८ ई० को जर्मनी ने अस्थायी संधिपत्र पर हस्ताक्षर कर दिए। विल्सन के सूत्रों का और राष्ट्रों में स्थायी संधि का पूर्णतया पालन नहीं किया गया, अतः संयुक्त राज्य राष्ट्रसंघ (लीग ऑव नेशंस) का सदस्य नही बना।

२०वीं शताब्दी के तीसरे दशक में अमरीका मे आर्थिक संकट उत्पन्न हुआ। कृषि क्षेत्र में मंदी आ गई और संसार के बाजार धीरे धीरे अमरीका के लिये बंद हो गए। १९२९ की पतझड़ में शेयर बाजार के भाव गिरे और लाखों व्यक्तियों की जीवन भर की संचित पूँजी नष्ट हो गई। कारखाने बंद हो गए और लाखों आदमी बेकार हो गए। १९३२ ई० के चुनाव में डेमोक्रेट फ्रैंकलिन रूजवेल्ट की जीत हुई। उसने न्यू डील नामक व्यापारिक नीति से अमरीका की आर्थिक स्थिति सुधारने का प्रयास किया और उसमें वह सफल भी हुआ। १९३९ ई० में द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। अमरीका ने पहले तो तटस्थता की नीति अपनाई, पर १९४१ ई० में उसे भी युद्ध में आना पड़ा। लगभग ४ वर्षो के युद्धकाल में अमरीका ने सैनिकों और युद्ध सामग्री से मित्रराष्ट्रों की बड़ी सहायता की। ८ मई, १९४५ ई० को जर्मनी की सेना ने आत्मसमर्पण किया और जापान के हीरोशिमा और नागासाकी द्वीपों पर परमाणु बम गिरने के फलस्वरूप २ सितंबर, १९४५ ई० को उसने भी आत्मसमर्पण किया और विश्वयुद्ध का अंत हुआ। २६ जून, १९४५ ई० को ५१ राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्रीय घोषणापत्र स्वीकार किया जिसमें एक नए अंतर्राष्ट्रीय संघ का संविधान था। अमरीका के इतिहास में भी एक नया अध्याय आरंभ हुआ। इसने विश्व की अन्य शक्तियों के साथ गुटबंदी शुरू की। उत्तर अटलांटिक (नैटो) और दक्षिण-पूर्वी एशियाई (सीटो) समझौते तथा बगदाद पैक्ट से अमरीका का बहुत से राज्यों के साथ सैनिक गठबंधन हो गया, पर इसके जवाब में रूस और उसके साथी देशों ने भी अपने गुट बना लिए। १९५६ ई० के चुनाव में रिपब्लिकन पार्टी के जनरल आइजनहावर दोबारा राष्ट्रपति चुने गए।

सं०ग्रं०—हेनरी विलियम एलमन : हिस्ट्री ऑव दि युनाइटेड स्टेट्स ऑव अमेरिका, न्यूयार्क, १९४९; हैरोल्ड फाकनर : शार्ट हिस्ट्री ऑव दि अमेरिकन पीपुल, लंदन, १९३८; डी० सी० सोमरवेल : हिस्ट्री ऑव दि यूनाइटेड स्टेट्स, लंदन, १९४२; अमेरिकन इतिहास की रूपरेखा (यूनाइटेड स्टेट्स इन्फार्मेशन सर्विस द्वारा वितरित)। [बैं० पु०]

अमरीका का गृहयुद्ध

१८६१-६५ ई० के बीच संयुक्त राज्य अमरीका और दक्षिण के ग्यारह राज्यों के बीच गृहयुद्ध हुआ। यह कहना सर्वथा उचित न होगा कि यह युद्ध केवल दासप्रथा को लेकर हुआ। वास्तव में इस संघर्ष का बीज बहुत पहले ही बोया जा चुका था और यह विभिन्न विचारधाराओं में पारस्परिक विरोध का परिणाम था। उत्तर के निवासी भौगोलिक परिस्थिति, यातायात के साधन तथा व्यापारिक सफलता के फलस्वरूप संतुष्ट, संपन्न तथा अधिक सभ्य थे। दक्षिणी राज्यों की अपनी अलग समस्या थी। १७वीं और १८वीं शताब्दियों में अफ्रीका से बहुत से हबशी दास यहाँ लाए गए थे और वे ही कृषि उत्पादन के आधार थे। इसलिये दक्षिणी राज्य इन हबशी दासों को मुक्त करने में असमर्थ थे और वे कृषि तथा अन्य उद्योगों में स्वतंत्र श्रम से काम नहीं ले सकते थे। अमेरिका के उत्तरी राज्य के निवासी शीतल जलवायु के कारण अपना कार्य सरलता से कर लेते थे और वह दासों पर निर्भर नहीं करते थे। इसीलिये वहाँ दासप्रथा धीरे धीरे लुप्त हो गई। मशीन युग ने समस्या को और भी जटिल बना दिया और उत्तर तथा दक्षिण के बीच की खाईं बढ़ने लगी। उत्तरी निवासी मशीन के प्रयोग से आर्थिक क्षेत्र में प्रगति करने लगे। उनका कोयले और लोहे का उत्पादन बढ़ा और वहाँ बहुत से कारखाने काम करने लगे। वहाँ की जनसंख्या भी तेजी से बढ़ने लगी। दक्षिणी अभी तक केवल कृषि पर आधारित थे और वे युग के साथ प्रगति नहीं कर सके। यहाँ की जनसंख्या भी अधिक तेजी से नहीं बढ़ी। संयुक्त राष्ट्र की व्यापारिक नीति उत्तर राज्यों के लिये लाभदायक थी पर दक्षिणवाले उससे लाभ नहीं उठा सकते थे। व्यापारिक नीति का दक्षिण में विरोध हुआ और दक्षिणी इसे अवैध ठहराने लगे। वे स्वतंत्र व्यापार के अनुयायी थे, जिससे वे अपना कच्चा माल बिना नियंत्रण के विदेश भेज सकें और अपने आवश्यकतानुसार बनी हुई चीजें खरीदें। दक्षिण कैरोलाइना के जान कूल्हन के मतानुसार प्रत्येक राज्य को संयुक्त राज्य की किसी भी नीति को मानने या न मानने का पूर्ण अधिकार था। संघर्ष के बीज ने अब वृक्ष का रूप धारण कर लिया था। संविधान की आड़ में उत्तर और दक्षिण के राज्य अपने अपने मत की पुष्टि का पूर्णतया प्रयास करने लगे।

व्यापारिक नियंत्रण के अतिरिक्त दासप्रथा को लेकर यह विरोध और बढ़ा। ऐंड्र जैकसन के समय दासप्रथा के विरोध में किया गया उत्तरी राज्यों में प्रदर्शन और दक्षिणी राज्यों में इसको कायम रखने का प्रयास गृहयुद्ध का दूसरा मूल कारण हुआ। दक्षिणी कहने लगे कि टैक्सस पर अधिकार और मैक्सिको से युद्ध करना अनिवार्य है। वे सेनेट में बराबरी की संख्या कायम रखना चाहते थे। १८४४ ई० में मसाच्युसेट्स की धारासभा ने यह प्रस्ताव पास किया कि संयुक्त राष्ट्र का संविधान अपरिवर्तनीय है और टैक्सस पर अधिकार अमान्य है। दक्षिणियों ने और जोर से कहा कि यदि दासप्रथा बंद की गई तो वे संयुक्त राज्य से अलग हो जायँगे। दासप्रथा का प्रश्न राजनीतिक क्षेत्र के अतिरिक्त अब धार्मिक क्षेत्र में भी घुस आया। इसको लेकर मेथडिस्ट चर्च में भी उत्तरी और दक्षिणी दो दल हो गए। दोनों ने धार्मिक संस्थाओं को अपनी ओर खींचा। यद्यपि विग और डेमोक्रेट दलों ने १८४८ ई० के राष्ट्रपति के चुनाव में इस समस्या को अलग रखना चाहा, पर इस चुनाव ने जनता को दो भागों में बाँट दिया जो मूलतः भौगोलिक आधार पर बँटी थी।

संघर्ष और भी घना होता गया। मेक्सिको से युद्ध में प्राप्त भूमि में दासप्रथा को रखने अथवा हटाने का प्रश्न जटिल था। दक्षिणवाले इसे रखना चाहते थे क्योंकि यह उनके क्षेत्र में था, पर उत्तर के निवासी सिद्धांत रूप से दासप्रथा के पूर्ण विरोधी थे और नए स्थान में इसे रखने को तैयार न थे। उत्तरी राज्यों की धारासभाओं ने इसका विरोध किया, पर इसके विपरीत दक्षिण में दासप्रथा के समर्थन में सार्वजनिक सभाएँ हुई। वर्जिनिया की धारासभा ने उत्तरी राज्यों की सभा में पास किए गए प्रस्ताव का कड़ा विरोध किया और वहाँ की जनता ने संयुक्त राज्य से लोहा लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया। १८५० ई० में एक समझौता हुआ जिसके अंतर्गत कैलिफोर्निया स्वतंत्र राज्य के रूप में संयुक्त राज्य में शामिल हो गया और कोलंबिया में दासप्रथा हटा दी गई। टेक्सस को एक करोड़ डालर दिए गए और भागे हुए दासों को वापिस करने का एक नया कानून पास हुआ। इसका पालन नहीं हुआ। उत्तर के राज्य भागे हुए दासों को उनके मालिकों

के पास नही लौटाते थे । इससे परिस्थिति गभीर हो गई । प्रसिद्ध ड्रेडस्काट केस मे न्यायाधीश टानी ने बहुमत से निर्णय किया कि विधान के अतर्गत न तो राष्ट्रीय ससद (सेनेट) और न किसी राज्य की धारासभा किसी क्षेत्र से दासप्रथा को हटा सकती है । इसके ठीक विपरीत लिकन ने कहा कि कोई भी राज्य अपनी सीमा के अदर दासप्रथा को हटा सकता है । इन प्रश्नो को लेकर राजनीतिक दलो मे आतरिक विरोध हो गया । १८६० ई० मे लिकन राष्ट्रपति चुन लिए गए । लिकन का कहना था कि यदि किसी घर मे फूट है तो वह घर अधिक दिन नही चल सकता । इस सयुक्त राज्य को आधे स्वतत्र और आधे दासो मे नही बाँटा जा सकता । राष्ट्रपति के चुनाव की घोषणा के बाद दक्षिण कैरोलाइना ने एक समेलन बुलाया जिसमे सयुक्त राज्य से अलग होने का प्रस्ताव सर्वसमति से पास हुआ । १८६१ ई० के फरवरी तक जार्जिया, फ्लोरिडा, अलाबामा, मिसीसिपी, लूइसियाना और टेक्सस ने इस नीति का पालन किया । इस प्रकार नवबर, १८६० ई० से मार्च, १८६१ ई० तक, वाशिगटन मे केंद्रीय शासन शिथिल हो गया । १८६१ ई० के फरवरी मास मे वाशिगटन मे शातिसमेलन हुआ, किंतु थोडे समय बाद, १२ अप्रैल, १८६१ ई० को अनुसघीय राज्यो की तोपो ने चार्ल्स्टन बदरगाह की शाति भग कर दी । यहाँ प्रदर्शित फोर्ट सुमटर पर गोलाबारी करके "कानफ़ेडरेता" ने गृहयुद्ध छेड दिया ।

युद्ध के मोर्चे मुख्यत तीन थे—समुद्र, मिसीसिपी घाटी और पूर्वी समुद्रतट के राज्य । युद्ध के आरभ मे प्राय समग्र जलसेना सयुक्त राज्य के हाथ मे थी, किंतु वह बिखरी हुई और निर्बल थी । दक्षिणी तट की घेराबदी से यूरोप को रुई का निर्यात और वहाँ से बारूद, वस्त्र और ओषधि आदि दक्षिण के लिये अत्यत आवश्यक आयात की चीजे पूर्णतया रुक गई । सक्युत राज्य के बेडे ने दक्षिण के सबसे बडे नगर न्यूआर्लीस से आत्मसमर्पण करा लिया । मिसीसिपी की घाटी मे भी सयुक्त राज्य की सेना की अनेक जीतें हुई । वर्जिनिया कानफेडरेतो को बराबर सफलताएँ मिली । १८६३ ई० मे युद्ध का आरभ उत्तर के लिये अच्छा नही हुआ, पर जुलाई मे युद्ध की बाजी पलट गई । १८६४ ई० मे युद्ध का अत स्पष्ट दीखने लगा । १७ फरवरी को कानफेडरेतो ने दक्षिण कैरोलाइना की राजधानी कोलबिया को खाली कर दिया । चार्ल्स्टन सयुक्त राज्य के हाथ आ गया । दक्षिण के निर्विवाद नेता राबर्ट ई० ली द्वारा आत्मसमर्पण किए जाने पर १३ अप्रैल को वाशिगटन मे उत्सव मनाया गया । गृहयुद्ध की समाप्ति के बाद दक्षिणी राज्यो के प्रति कठोरता की नीति नही अपनाई गई, वरन् काग्रेस ने सविधान मे १३वाँ सशोधन प्रस्तुत करके दासो की स्वतत्रता पर कानूनी छाप लगा दी ।

स०ग्र०—डी० सी० सोमरवेल हिस्ट्री ऑव यूनाइटेड स्टेट्स (१६४१), एलसन् हिस्ट्री ऑव दि यूनाइटेड स्टेट्स ऑव अमेरिका (मैकमिलन, १६०६), रोड्स हिस्ट्री ऑव दि सिविल वार ।

[बै० पु०]

अमरीकी भाषाएँ

इनके अतर्गत अमरीका महाद्वीप के सभी (उत्तरी, दक्षिणी और मध्य) भागो के मूल निवासियो द्वारा बोली जानेवाली भाषाएँ आती है । ईसवी १५वी सदी के अत में यूरोप से एक जहाज भारतवर्ष की खोज करता हुआ, भ्रम से चक्कर खाकर अमरीका पहुँच गया और तभी से यहाँ के मूल निवासियो का नाम "इडियन" पड गया । अनुमान है कि कोलबस के समय अमरीका के समस्त मूल निवासियो की सख्या चार पाँच करोड रही होगी, जो अब घटते घटते डेढ़ करोड रह गई है । इन लोगो में लिखने का कोई रिवाज नही था । विशेष घटनाओ की याद, रग बिरगी रस्सियो में गाँठें बाँधकर रखी जाती थी । पत्थरो, घोघो तथा चमडे आदि पर भी भाँति भाँति के चित्र और निशान बने मिलते है पर इनका कोई अर्थ नही निकलता, और यदि निकलता भी है तो उसे मूल निवासी बताते नही । तथापि **नहुअल्ल** और **मय** भाषाओ में अब लिपि मिलती है । मय भाषा की पुस्तको में साथ ही साथ स्पेनी भाषा में अनुवाद भी मिलता है ।

तुलनात्मक व्याकरण के और बहुधा अन्य ब्योरेवार ग्रथो के अभाव मे इन भाषाओ के विषय में विशेष विवरण नही दिया जा सकता । इनमें क्लिक और महाप्राण ध्वनियाँ मिलती हैं । ऐसा अनुमान किया जाता है कि इन मूल निवासियो की जातियाँ इधर उधर आती जाती और एक दूसरे पर आधिपत्य जमाती रही है, इसीलिये भाषा सबधी सामान्य लक्षणो के साथ विशेषताओ और अपवादो का बडा भारी मिश्रण मिलता है । कभी कभी कोई कोई बोली इतनी अधिक प्रभावशाली रही कि उसने विजित जातियो की बोलियो को बिलकुल नष्ट ही कर दिया । कोलबस के आगमन के पहले दक्षिणी अमरीका मे इका नाम के साम्राज्य की राजभाषा **कुइचुआ** थी । स्पेनी विजेताओ ने इसी का प्रयोग मूल निवासियो के बीच ईसाई धर्म के प्रचार के निमित्त किया । इसी प्रकार विस्तृत क्षेत्र मे होने के कारण, **गुअर्नी तुपी** का भी प्रयोग ईसाई पादरियो ने धर्मप्रचार के लिये किया । **करीब** और **अरोवक** भाषाएँ भी पारस्परिक जयपराजय से प्रभावित है । अरोवक जाति पर करीब जाति ने विजय प्राप्त कर ली और उसके पुरुष वर्ग को या तो बीन बीन कर मार डाला या दूर भगा दिया । स्त्रियो को रख लिया । ये बराबर अरोवक ही बोलती रही । बाद की पीढियाँ भी इसी प्रकार दोनो भाषाएँ आज तक बोलती चली आ रही है और पुरुष वर्ग की **करीब** भाषा पर स्त्री वर्ग की **अरोवक** भाषा का प्रभाव पडता दिखाई देता है ।

यद्यपि इन भाषाओ के बारे में अभी विशेष अनुसधान नही हो पाया है, तब भी मोटे तौर पर इनको कई परिवारो मे बाँटा जा सकता है । अनुमान है कि इन परिवारो की सख्या सौ सवा सौ के लगभग है । प्राय इन सभी भाषाओ मे एक सामान्य लक्षण प्रश्लिष्ट योगात्मक के रूप मे पाया जाता है । इनमें बहुधा पूरा पूरा वाक्य ही एक लबे शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है । यह सस्कृत की तरह विभिन्न पदो को जोडकर समास के रूप मे नही होता, बल्कि प्रत्येक पद का एक एक प्रधान अक्षर या ध्वनि लेकर, सबको एक साथ मिला दिया जाता है । **चेरोकी** भाषा के पद **नधोलिनिन** (हमारे लिये डोगी लाओ) में इसी प्रकार तीन शब्द **नतेन** (लाओ), **अमोरतोल** (नाव, डोगी), और **निन** (हमको) मिले हुए हैं । कभी कभी इस प्रकार के एक दर्जन शब्दो तक के ध्वनि या वर्णसकलन एक पद के रूप मे सगठित मिलते है और उन सभी शब्दो का पदार्थ एक साथ वाक्यार्थ के रूप मे श्रोता को मालूम हो जाता है । स्वतत्र शब्दो का प्रयोग इन भाषाओ में बहुत कम है ।

ये सभी जातियाँ जगली नही है । इन जातियो मे से कुछ ने साम्राज्य स्थापित किए । मेक्सिको के साम्राज्य का अत १६वी सदी मे यूरोपवालो ने वहाँ पहुँचकर किया । वहाँ की **मय** और **नहुअल्ल** भाषाएँ सुसस्कृत है और उनमें साहित्य भी मिलता है । इन भाषाओ का वर्गीकरण प्राय भौगोलिक आधार पर किया जाता है जो शास्त्रीय भले ही न हो, सुविधाजनक अवश्य है

	देशनाम	**भाषानाम**
	ग्रीनलैंड	**एस्किमो**
उत्तरी अमरीका	कनाडा	**अथबस्की** (समूह)
	सयुक्त राज्य	**अल्गोनकी** (आदि)
		नहुअल्ल (प्राचीन)
	मेक्सिको	**अज़तेक** (वर्तमान)
	युकतन	**मय**
	उत्तरी प्रदेश	**करीब, अरोवक**
	मध्यप्रदेश	**गुअर्नी तुपी**
दक्षिणी अमरीका	पश्चिमी प्रदेश (पेरू और चिली)	**अरौकन, कुइचुआ**
दक्षिणी प्रदेश		**चको, तियरा देलफूगो**

दक्षिणी प्रदेश पेरू और चिली की भाषा चको, तियरादेलफूगो है । इनमे से **तियरा देलफ़ूगो** भाषा और उसके बोलनेवाले लोग ससार मे सबसे अधिक सस्कृतिहीन माने जाते है । **एस्किमो** के बारे में कुछ विद्वानो का मत है कि यह उराल-अल्ताई परिवार की है ।

स०ग्र०—बाबूराम सक्सेना सामान्य भाषाविज्ञान, मेइए ले लाग दु माद (पेरिस) ।

[बा० रा० स०]

अमरीकी साहित्य

अमरीका से यहाँ तात्पर्य सयुक्त राज्य अमरीका से है जहाँ की भाषा अंग्रेजी है । अमरीका की तरह उसका साहित्य भी नया है ।

आदिकाल: १७वीं सदी में अमरीका में शरण लेनेवाले पिल्ग्रिम फादर अपने साथ इंग्लैंड की सांस्कृतिक परंपरा भी लेते आए। इसलिये लगभग दो सदियों तक अमरीकी साहित्य अंग्रेजी साहित्य की लीक पर चलता रहा। १९वीं सदी में जाकर उसे अपना व्यक्तित्व मिला।

नवागंतुकों के सामने जीवननिर्वाह की कठिनता, कला और साहित्य के प्रति प्यूरिटन संप्रदाय की अनुदारता और प्रतिभा की न्यूनता के कारण अमरीकी साहित्य का आदिकाल उपलब्धिविरल है। इस काल में वर्जीनिया और मसाचूसेट्स साहित्यरचना के प्रधान केंद्र थे, जिनमें वर्जीनिया पर सामंती और मसाचूसेट्स पर मध्यवर्गीय इंग्लैंड का गहरा असर था। किंतु दोनों ही केंद्रों में प्यूरिटनों का प्रभुत्व था। साहित्यरचना का काम पादरियों के हाथ में था, क्योंकि औरों की अपेक्षा उन्हें अधिक अवकाश था। इसलिये इस युग के साहित्य का अधिकांश धर्मप्रधान है। मुख्य रूप से यह युग पत्रों, डायरी, इतिहास और धार्मिक तथा नीतिपरक कविताओं का है।

नए उपनिवेश और उनके विकास की अमित संभावनाओं का वर्णन, शासन में धर्म और राज्य के पारस्परिक संबंधों के विषय में विचारसंघर्ष, आत्मकथा, जीवनचरित, साहसिक यात्राएँ तथा अभियान और धार्मिक उपदेश गद्यलेखकों के मुख्य विषय बने। रुक्ष और सरल किंतु सशक्त वर्णनात्मक गद्यरचना में वर्जीनिया के कैप्टेन जॉन स्मिथ और उनकी रोमांचकारी कृतियाँ, ए ट्रू रिलेशन (१६०८) और ए मैप ऑव वर्जीनिया, (१६१२) विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी तरह का वर्णनात्मक गद्य जॉन हैमंड, डेनियल डेंटन, विलियम पेन, टॉमस ऐश, विलियम वुड, मेरी रोलैंडसन और जॉन मेसन ने भी लिखा।

धार्मिक वादविवाद को लेकर लिखी गई नैथेनियल वार्ड की रचना, द सिंपिल कॉब्लर ऑव अग्गवाम (१६४७) अपने व्यंग्य और विद्रूप में उस युग की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। वार्ड की तरह ही टॉमस मार्टन ने दि न्यू इंग्लिश कैनन (१६३७) में प्यूरिटनों का व्यंग्यात्मक चित्र प्रस्तुत किया था। दूसरी ओर स्टर्न जान विथ्रॉप ने अपने जर्नल (१६३०-४९) और इंक्रिस मेदर और उसके पुत्र कॉटन मेदर ने अपनी रचनाओं में प्यूरिटन आदर्शों और धर्मप्रधान राजसत्ता का समर्थन किया। कॉटन की मैगनेलिया क्रिस्टी अमेरिकाना तत्कालीन प्यूरिटन संप्रदाय की सबसे प्रतिनिधि और समृद्ध रचना है। उस युग के अन्य गद्यकारों में विलियम बैडफर्ड, सैमुएल सेवाल, टॉमस शेपर्ड, जान कॉटन, रोजर विलियम्स और जॉन वाइज़ के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से अनेक १८वीं सदी में भी लिखते रहे।

१७वीं सदी की कविता अनुभूति से अधिक उपदेश की है और उसका रूप अनगढ़ है। दि बे साम बुक (१६४०) इसका उदाहरण है। कवियों में तीन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—माइकेल विगिल्सवर्थ, ऐनी ब्रैडस्ट्रीट और एडवर्ड टेलर। दिव्य आनंद और वेदना, ईशभक्ति, प्रकृतिवर्णन और जीवन के साधारण सुख दुःख उनकी कविताओं के मुख्य विषय हैं। निष्कपट अनुभूति के बावजूद इनकी कविता में कलात्मक सौंदर्य की कमी है। ब्रैडस्ट्रीट की कविता में स्पेंसर, सिडनी और सिलवेस्टर तथा टेलर की कविता में डन, क्रैशा, हर्बर्ट इत्यादि अंग्रेजी कवियों की प्रतिध्वनियाँ स्पष्ट हैं।

नाटक और आलोचना का जन्म आगे चलकर हुआ।

१८वीं सदी—१७वीं सदी के यथार्थवादी और कल्पनाप्रधान गद्य तथा धार्मिक कविता की परंपरा १८वीं सदी में न केवल पुराने बल्कि नए लेखकों में भी जीवित रही। उदाहरणार्थ, विलियम बिर्ड और जोनैथन एडवर्ड्स ने क्रमशः कैप्टेन स्मिथ और मेदर का अनुसरण किया। एडवर्ड्स की रचनाओं में उसकी तीव्र प्यूरिटन भावना, गहन चिंतन, अद्भुत तर्कशक्ति और रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ दीख पड़ती हैं। लेकिन प्यूरिटन कट्टरपंथ के स्थान पर धार्मिक उदारता का भी उदय हो रहा था, जिसे जोनैथन मेह्यू और सेवाल की रचनाओं ने व्यक्त किया। सेवाल ने अपनी डायरी में 'धर्म की व्यावसायिक परिकल्पना' का आग्रह किया। बिर्ड की दि हिस्ट्री ऑव दि डिवाइडिंग लाइन (१७२९) और सेरा नाइट के जर्नल (१७०४) में सत्रहवीं सदी के पुराने प्रभावों के बावजूद इंग्लैंड के १८वीं सदी के साहित्य की लौकिकता, मानसिक संतुलन, व्यंग्य और विनोदप्रियता, जीवन और व्यक्तियों का यथार्थ चित्रण और उक्ति लाघव तथा स्वच्छता के आदर्श की छाप है। वास्तव में इस सदी के अमरीकी साहित्यमंदिर की प्रतिमाएँ अंग्रेजी के प्रसिद्ध गद्यकार और कवि ऐडिसन, स्विफ्ट और गोल्डस्मिथ हैं। सदी के मध्य तक आते आते धार्मिक, आध्यात्मिक और सामाजिक चिंतन में प्यूरिटन सहजानुभूति, रहस्यवाद और अलौकिकता को तर्क और विज्ञान ने पीछे ढकेल दिया। इंग्लैंड और उसके उपनिवेश के बीच बढ़ते हुए संघर्षों और अमरीकी राज्यक्रांति ने नई चेतना को और भी वेग तथा बल दिया। उसके सबसे समर्थ अग्रणी बेंजामिन फ्रैंकलिन (१७०६-९०) और टॉमस पेन (१७३७-१८०९) थे। अमरीका की आधुनिक संस्कृति के निर्माण में इसका महान् योग है।

व्यवसायी, वैज्ञानिक, अन्वेषक, राजनीतिज्ञ और पत्रकार फ्रैंकलिन के साहित्य का आकर्षण उसके असाधारण किंतु व्यावहारिक, संस्कृत, संयमित और उदार व्यक्तित्व में है। उसकी आटोबायोग्राफी अत्यंत लोकप्रिय रचना है। उसके पत्रों और 'डूगुड' शीर्षक तथा 'बिज़ीबडी' नाम से लिखे गए निबंधों में सदाचार और जीवन की साधारण समस्याओं की सरल, आत्मीय और विनोदप्रिय अभिव्यक्ति है, लेकिन उसकी रचना रूल्स फॉर रिड्यूसिंग ए ग्रेट एंपायर टु ए स्माल वन (१७९३) से उसकी प्रखर व्यंग्य और कटाक्षशक्ति का भी पता चलता है।

टॉमस पेन का साहित्य उसके क्रांतिकारी जीवन का अविभाज्य अंग है। फ्रैंकलिन की सलाह से वह १७७४ ई० में इंग्लैंड छोड़कर अमरीका आया और दो वर्ष बाद ही उसने अमरीका की पूर्ण स्वतंत्रता के समर्थन में कामनसेंस की रचना की। दी एज ऑव रीज़न (१७९४-९६) में उसने ईसाई धर्म पर गहरी चोट कर डीइज़्म का समर्थन किया। बर्क के विरुद्ध फ्रांसीसी क्रांति के पक्ष में लिखी गई उसकी रचना दि राइट्स ऑव मैन ने उस युग में हर देश के क्रांतिकारियों का पथप्रदर्शन किया। उसके गद्य में क्रांतिकारी विचारों की ऋजु ओजस्विता है।

सैमुएल ऐडम्स, जॉन डिकिन्सन, जोजेफ़ गैलोवे इत्यादि ने भी उस युग की राजनीतिक हलचल को अपनी रचनाओं से प्रभावित किया। लेकिन उनसे अधिक महत्वपूर्ण गद्यलेखक हेक्टर सेंट जान दी क्रेवेकूर है जिसने लेटर्स फ्रॉम ऐन अमेरिकन फार्मर (१७८२) और स्केचेज़ ऑव एटींथ सेंचुरी अमेरिका में अमरीकी किसान और प्रकृति का आदर्श रोमानी चित्र प्रस्तुत किया। दास-प्रथा-विरोधी जॉन वूलमैन (१७२०-७२) की विशेषता उसकी सरलता और माधुर्य है।

स्वतंत्रता के बाद शासन में केंद्रीकरण के पक्ष और विपक्ष में होनेवाले वादविवाद के संबंध में अलैक्जैंडर हैमिल्टन, जॉन जे और टॉमस जेफर्सन के नाम उल्लेखनीय हैं। जेफर्सन द्वारा लिखित विश्वविख्यात दि डिक्लरेशन ऑव इंडिपेंडेंस का गद्य अपनी सरल भव्यता में अद्वितीय है।

१८वीं सदी की कविता का एक अंश उन गीतों का है जो युद्धकाल में लिखे गए और जिनमें यांकी डूडिल, नैथन हेल और एपिलोग बहुत प्रसिद्ध हैं। इस सदी के कुछ कवियों, जैसे ओडेल, हॉप्किन्सन, रॉबर्ट ट्रीट पेन, इवान्स और क्लिफ्टन ने अत्यंत कृत्रिम शैली की रचनाएँ कीं। इनसे भिन्न प्रकार के कवि कानेक्टिकट या हार्टफर्ड विट्स के नाम से पुकारे जानेवाले डेविड हंफ्रेज, टिमोथी ड्वाइट, जोएल् बार्लो, जॉन ट्रंबुल, डाक्टर सैमुएल हाप्किंस, रिचर्ड ऐल्सप और थियोडोर ड्वाइट थे जिन्होंने पोप को आदर्श मानकर व्यंग्यप्रधान द्विपदियाँ और महाकाव्य लिखे। इनके लिये रीतिसंमत शुद्धता कविता का सबसे बड़ा गुण थी। इन कवियों में टिमोथी ड्वाइट, ट्रंबुल और बार्लो में अपेक्षाकृत अधिक मौलिकता थी। लेकिन इस सदी का सबसे बड़ा कवि फिलिप फ्रेनो (१७५२-१८३२) है जो एक ओर अत्यंत तिक्त विद्रूप दि ब्रिटिश प्रिज़नशिप (१७८१) का तो दूसरी ओर दि वाइल्ड हनीसकल् जैसे तरल गीतिकाव्य का स्रष्टा है। उसकी कविताओं ने १९वीं सदी की रोमानी कविता की जमीन तैयार की।

इस सदी के अंतिम भाग में उपन्यास और नाटक का भी उदय हुआ। टॉमस गॉडफ्रे द्वारा लिखित दि प्रिंस ऑव पार्थिया (१७५९) अमरीका का पहला नाटक है, जिसे १७६७ में व्यावसायिक रंगमंच पर खेला गया। इसी प्रकार रायल टाइलर रचित दि कंट्रास्ट (१७८७) अमरीका का पहला प्रहसन है, हालाँकि उसमें शेरिडन और गोल्डस्मिथ की प्रतिध्वनियाँ

स्थान स्थान पर हैं। विलियम डन्लप इस युग का एक और उल्लेखनीय नाटककार है।

अमरीका का पहला उपन्यासकार चार्ल्स ब्रॉकडेन ब्राउन (१७७२-१८१०) है जिसके प्रसिद्ध उपन्यास वाइलैंड (१७९८), आरमंड (१७९९), आर्थर मर्विन (१७९९) और एडगर हंटली (१७९९) असंभावित कथानकों और बोझिल शैली के बावजूद अपनी भावप्रवणता और रोमानी चरित्रों के कारण रोचक हैं। इस समय के एक अन्य प्रमुख उपन्यासकार ब्रैकेनरिज ने माडर्न शिवैलरी (१७९२-१८१५) में सेवांते और स्मालेट के आदर्श पर अति-साहसिकतापूर्ण उपन्यास की रचना की। रिचर्डसन के अनुकरण पर भावुकतापूर्ण उपन्यास और कथाएँ भी विलियम हिल ब्राउन, श्रीमती राउसन और श्रीमती फास्टर द्वारा लिखी गईं।

१९वीं सदी—इस सदी के प्रारंभिक वर्षों में न्यूयार्क में 'निकर-बॉकर' नाम से पुकारे जानेवाले लेखकों का उदय हुआ जो साहित्य में अर्विंग की व्यंग्यकृति डीदरिख निकरबॉकर्स ए हिस्ट्री ऑव न्यूयार्क (१८१०) की मनोरंजक वार्तालाप की शैली को अपना आदर्श मानते थे। ऐसे लेखकों में उपन्यासकार जेम्स कर्क पाल्डिंग, नाटककार डन्लप, कवि सैमुएल वुडवर्थ और जॉर्ज पी० पारिस थे। फिट्ज़-ग्रीन हैलेक और जोज़ेफ राउमन ड्रेक नीचे स्तर पर बायरन और कीट्स से मिलते जुलते कवि थे। न्यूयार्क में दो अच्छे समझे जानेवाले किंतु वास्तव में साधारण गीतकार हुए—जॉन हावर्ड पेन और जेम्स गेट पर्सीवाल। पत्रिकाओं में सतही आलोचनाओं का भी उदय हुआ। दक्षिण में तीन काफी अच्छे उपन्यासकार हुए—जॉन पेंडिलटन केनेडी, विलियम गिलमोर सिम्स और जॉन इस्टेन कुक।

इन लेखकों के बीच १९वीं सदी के पूर्वार्ध में चार ऐसे लेखकों का उदय हुआ जिन्होंने अमरीकी साहित्य को मेरुदंड दिया और जो इसलिये अमरीका के प्रथम शुद्ध साहित्यिक समझे जाते हैं: वाशिंगटन अर्विंग (१७८३–१८५९), विलियम कलेन ब्रायंट (१७९४–१८७८), जेम्स फेनिमोर कूपर (१७८९-१८५१) और एडगर एलेन पो (१८०९-४९)।

अर्विंग की शैली ऐडिसन, स्टील, गोल्डस्मिथ और स्विफ्ट की तरह मँजी हुई, चपल, अद्भुत किंतु मोहक कल्पनायुक्त और आत्मव्यंजक है। उसकी क्रीड़ाप्रिय कल्पना का पुत्र रिप वान विंकिल संसार के अविस्मरणीय चरित्रों में है। उसके प्रसिद्ध रेखाचित्रों, निबंधों, कथाओं और अन्य कृतियों में वेस्टमिंस्टर अबे, स्ट्रैटफर्ड-आन-ऐवन, दि स्केच बुक, रिप वान विंकिल, दि म्यूटेबिलिटी ऑव लिटरेचर, दि स्पेक्टर ब्राइडग्रूम, दि स्लीपिंग हालो इत्यादि हैं। उसके विचारों में स्नायु और गहनता की कमी और भावुकता की अतिशयता है, किंतु अभिव्यक्ति के स्वच्छ लालित्य में वह अद्वितीय है।

ब्रायंट अमरीका का प्रकृतिकवि है। वह वर्डस्वर्थ के स्तर का नहीं किंतु उसी तरह का कवि है और उसमें वर्डस्वर्थ की चिंतनशीलता, संयम और नैतिकता है। उसने पहली बार कविता में अमरीका के दृश्यों, पेड़ पौधों और चिड़ियों का वर्णन किया। उसकी कविता में रोमानी तत्वों के साथ स्पष्टता भी है। अतुकांत छंद उसका प्रिय माध्यम था और उसमें उसे काफी दक्षता प्राप्त थी। थैनेटॉप्सिस कविता उसका उदाहरण है। वह अमरीका का पहला कवि है जिसमें केवल कौशल ही नहीं बल्कि उच्च कोटि की प्रतिभा के भी दर्शन होते हैं।

कूपर जनवाद, प्रकृतिसौंदर्य और निश्छल जीवन का रोमानी उपन्यासकार है। उसकी कल्पना जंगलों, घास के मैदानों और समुद्रों के ऊपर मँडराती है तथा साहस और पराक्रम पर मुग्ध हो उठती है। सभ्यता से अछूते रेड इंडियनों का चित्रण वह अत्यंत सहानुभूति और सूक्ष्म अंतर्दृष्टि के साथ करता है; नैटी बंपो और लेदर स्टॉकिंग उसके महान् चरित्र हैं। देशप्रेम के बावजूद वह अमरीकी समाज के जनविरोधी, आडंबरपूर्ण, क्रूर और स्वार्थप्रिय रूप का तीव्र आलोचक है। उसकी प्रसिद्ध रचनाओं में लेदर-स्टॉकिंग टेल्स माला की ये कथाएँ हैं: दि पायोनियर्स (१८२३), दि लास्ट ऑव दि मोहिकंस (१८२६); दि प्रेयरी (१८२७); दि पाथफाइंडर (१८४०); दि डीयर स्लेयर (१८४१)। उसे सर वाल्टर स्काट के समकक्ष रखा जा सकता है।

पो अत्यद्भुत जीवन का कवि और कथाकार है। उसकी रचनाओं में मनोवैज्ञानिक आग्रहों का समावेश है। स्वयं अमरीका ने उसके कवि-रूप की उपेक्षा की, किंतु दि रैवेन (१८४५) आदि कविताओं ने फ्रांस के प्रतीकवादियों और आधुनिक यूरोपीय कविता को बहुत प्रभावित किया। उसकी कविताओं में सर्वथा मौलिक रचनाकौशल है और वे अपने संगीत की शुद्धता, सूक्ष्मता, सरल माधुर्य और विविधता के लिये प्रसिद्ध हैं। आलोचक के रूप में भी उसका महत्व है। पो जासूसी कहानियों के स्थापकों में है, किंतु उसकी ख्याति टेल्स ऑव दि ग्रोटेस्क ऐंड अराबेस्क (१८४०) की रोमांचकारी वेदना और रहस्यात्मक वातावरणपूर्ण कथाओं पर अधिक निर्भर है।

नवजागरण काल—प्रेसिडेंट जैक्सन के शासन से लेकर पुनर्निर्माण तक का समय (१८२९-१८७०) औद्योगिक विकास और जनवादी आस्था के समानांतर अमरीकी साहित्य में नवजागरण का युग है। धर्म और राजनीति की तरह इस युग का साहित्य भी उदार और रोमानी मानवतावादी दृष्टिकोण से संपृक्त है।

हास्यसाहित्य पर भी इस जनवादी प्रवृत्ति की स्पष्ट छाप है। न्यू इंग्लैंड के हास्यकारों में सेबा स्मिथ (१७७२-१८६८) ने जैक डार्उनिंग और जेम्स रसेल लॉवेल (१८१९-९१) ने होसिया बिगलो और बर्डोफ्रेडम साविन, और बेंजामिन पी० शिलैबर (१८१४-९०) ने मिसेज़ पार्टिंगटन और उनके भतीजे आइक जैसे साधारण यांकी चरित्रों के माध्यम से राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं की यथार्थ और विनोदपूर्ण समीक्षा की। डेवी क्रॉकेट (१७८६-१८३६), आगस्टस वाल्विन लांगस्ट्रीट (१७९०-१८७०), जॉन्सन जे० हूपर (१८१५-६३), टॉमस बैंग्स थॉर्प (१८१५-७८), जोज़ेफ जी० बाल्डविन (१८१५-६४) और जॉर्ज हैरिस (१८१४-६४) जैसे दक्षिण-पश्चिम के हास्यकार उनसे भी अधिक विनोदप्रिय थे।

नवजागरण काल के प्रारंभ के कवियों में अमरीका के लोकप्रिय कवि हेनरी वड्स्वर्थ लांगफेलो (१८०७-८२) के अतिरिक्त आलिवर वेंडेल होम्स (१८०९-९४) और जेम्स रसेल लॉवेल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विश्वविद्यालयों में आचार्य पद पर काम करने के कारण इन्हें यूरोपीय सांस्कृतिक और साहित्यिक परंपराओं का गहरा ज्ञान था, लेकिन अमरीकी जीवन ही उनकी कविता का मूल स्रोत है। नैसर्गिक सरल प्रवाह के साथ कथा कहने या वर्णन करने में लांगफेलो अत्यंत सफल कवि है। उपदेश की प्रवृत्ति के बावजूद उसकी कविताएँ मर्मस्पर्शी हैं। उसकी प्रसिद्ध कविताओं में दि स्लेव्स ड्रीम और हायावाथा हैं। होम्स और लॉवेल की कविताओं की विशेषताएँ क्रमशः नागर विनोदप्रियता और भावों की उदात्तता हैं।

कवियों में अमरीकी जनवाद की सबसे महान् और मौलिक उपज वाल्ट ह्विटमन (१८१९-९२) है। साधारण व्यक्ति की असाधारणता के विश्वास से भरे हुए इस स्वप्नद्रष्टा कवि में आदिकवियों का उन्नतवक्ष, साहसिक, उन्मादपूर्ण और वज्रतुमुल स्वर है। वह मुक्तछंद का जन्मदाता भी है। पहली बार १८५५ में प्रकाशित और समय के साथ परिवर्धित उसके काव्यसंग्रह लीव्स ऑव ग्रास ने फ्रांस के प्रतीकवादी कवियों और यूरोप की आधुनिक कविता पर गहरा असर डाला।

दक्षिण के कवियों में उल्लेखनीय नाम हेनरी टिमरॉड, पाल हैमिल्टन हेन और विलियम जे० ग्रेसन के हैं। इनमें से अधिकतर दासस्वामियों के जनविरोधी दृष्टिकोण के समर्थक थे। प्राकृतिक सौंदर्य के चित्रण, काव्य-संगीत और छंदप्रयोगों की दृष्टि से इनसे अधिक प्रतिभासंपन्न कवि सिडनी लैनियर था।

इसी युग ने लोकोत्तरवादी कहे जानेवाले चिंतनशील गद्यकारों को उत्पन्न किया जिनमें राल्फ वाल्डो इमर्सन (१८०३-८२) और हेनरी डेविड थोरो (१८१७-६२) सबसे प्रसिद्ध हैं। ये मसाचुसेट्स के कांकॉर्ड नामक गाँव में रहते थे और इनकी रचनाओं पर न्यू इंग्लैंड के यूनिटेरियन संप्रदाय की धार्मिक उदारता और रहस्यवादी अंतर्दृष्टि का स्पष्ट प्रभाव है। इमर्सन के अनुसार धर्म का तत्व नैतिक आचरण है। इसलिये उसका रहस्यवाद लोकजीवन के प्रति उदासीन नहीं है। सरल, चित्रमय शब्द, सूक्तिप्रियता, गहन किंतु कविसुलभ अनुभूतिमय चिंतन और शांत, स्निग्ध व्यक्तित्व उसके साहित्य की विशेषताएँ हैं। एसेज़ (१८४१, १८४४), रिप्रेजेंटेटिव

मेन (१८५०) और इंग्लिश ट्रेज (१८५६) उसकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

थोरो ने पश्चिम और पूर्व के ग्रंथों का अध्ययन किया था। उसमें इमर्सन की तुलना में अधिक व्यावहारिकता और विनोदप्रियता है। उसकी प्रसिद्ध रचना वाल्डेन (१८५४) जीवन में नैसर्गिकता की ओर लौटने के दर्शन का प्रतिपादन है। अपनी दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक सिविल डिस्ओबिडिएंस (१८४९) में उसने शासन में अराजकतावाद के सिद्धांत की स्थापना की। उसकी रचनाओं में अमरीकी व्यक्तिवाद की चरमावस्था व्यक्त हुई।

एमास ब्रांसन एलकॉट, जॉर्ज रिपले, ओरेस्टेस ब्राउंसन, मार्गरेट फुलर और जोन्स वेरी उस युग के अन्य महत्वपूर्ण लोकोत्तरवादियों में हैं। लोकोत्तरवादियों में से अनेक १८४८ की क्रांति से प्रभावित हुए थे और उन्होंने तरह-तरह की अराजकतावादी, समाजवादी या साम्यवादी योजनाओं का प्रयोग किया और स्त्रियों के लिये मताधिकार, मजदूरों की स्थिति में सुधार और वेशभूषा तथा खानपान में संयम का आंदोलन चलाया।

सुधार के इस युग में अनेक लेखकों ने दासों की मुक्ति के लिये भी आंदोलन किया। इस संघर्ष का नेतृत्व विलियम एल० गैरिसन (१८०५-७९) ने किया। उसने दि लिबरेटर नामक साप्ताहिक निकाला जिसके प्रसिद्ध लेखकों में गद्यकार वेंडेल फिलिप्स (१८११-८४) और कवि जॉन ग्रीनलीफ ह्विटिएर (१८०७-९२) थे। ह्विटिएर की कविताएँ सरल किंतु पददलितों के लिये अपार करुणा और स्नेह से पूर्ण हैं। पोएम्स रिटेन ड्यूरिंग दि प्रोग्रेस ऑव् दि एबालिशन क्वेश्चन्, वॉयसेज़ ऑव् फ्रीडम, सांग्ज़ ऑव लेबर आदि उसके काव्यसंग्रहों के नाम से ही उसकी काव्य-वस्तु का पता चल जाता है। उसकी कविता अन्याय के विरुद्ध अस्त्र है। वह ग्राम-कवि है और उसकी कविता की भाषा और छंद पर भी ग्रामीण प्रभाव है। १९वीं सदी की सबसे प्रसिद्ध नीग्रो कवयित्री फ्रांसिस एलेन वाट्‌किस हार्पर (१८२५-१९११) है, जिसकी कविताओं में बैलडों की सरलता है।

दास-प्रथा-विरोधी आंदोलन ने अमरीका के विश्वविख्यात उपन्यास अंकिल टॉम्स केबिन (१८५२) की लेखिका हैरिएट बीचर स्टोवे (१८११-९६) को उत्पन्न किया। उसके उपन्यास में विनोद, तीव्र अनुभूति और दारुण यथार्थ का दुर्लभ मिश्रण है।

इतिहास के क्षेत्र में भी इस काल में कुछ प्रसिद्ध लेखक हुए जिनमें प्रमुख जॉर्ज बैंक्रॉफ्ट, जॉन लोथ्रॉप मॉटले और फ्रांसिस पार्कमैन हैं।

अमरीका के दो महान् उपन्यासकार, नथेनियल हाथॉर्न (१८०४-६४) और हर्मन मेलविल (१८१९-९१) इसी युग की देन हैं। हाथॉर्न की कथाओं का ढाँचा इतिहास और रोमांस के संमिश्रण से तैयार होता है, लेकिन उनकी आत्मा यथार्थवाद है। समाज और व्यक्ति के संघर्ष और उससे आविर्भूत अनेक नैतिक समस्याओं को सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि, कथा-रूपकों और प्रतीकों के सहारे प्रस्तुत करने में हाथॉर्न अद्वितीय है। उसकी सबसे प्रसिद्ध रचना दि स्कारलेट लेटर (१८५०) इसका प्रमाण है।

मेलविल आकर्षक किंतु पापमय संसार में मानव के अनवरत किंतु दृढ़ संघर्ष का उपन्यासकार है। नाविक जीवन के व्यापक अनुभव के आधार पर उसने इस दार्शनिक दृष्टिकोण को अपने महान् उपन्यास मोबी डिक आर दि ह्वाइट ह्वेल में अहाब नामक नाविक और सफेद ह्वेल के रोमांचकारी संघर्ष में व्यक्त किया। रूपक और प्रतीक, उद्दाम चरित, भाव और भाषा, विराट और रहस्यमय दृश्य, अंतर्दृष्टि के तड़ित् आलोक में जीवन का उद्घाटन—ये मेलविल के उपन्यासों और कथाओं की विशेषताएँ हैं।

इस काल में डैनियल वेब्सटर, रेंडॉल्फ ऑव रोआनोक, हेनरी क्ले और जॉन सी० कैल्हाउन ने गद्य में वक्तृत्व शैली का विकास किया। वेब्स्टर ने दासप्रथा का विरोध किया। अंतिम तीन दक्षिण में प्रचलित दासप्रथा के समर्थक थे। प्रेसिडेंट अब्राहम लिंकन का स्थान इनमें सबसे ऊँचा है। फेयर-वेल टु स्प्रिंगफील्ड (१८६१), दि फर्स्ट इनागरल ऐड्रेस (१८६१), दि गेटिसबर्ग स्पीच (१८६३) और दि सेकंड इनागरल ऐड्रेस (१८६५) भाषण में उपयुक्त शब्दों, चित्रों और लयों के प्रयोग की अद्भुत क्षमता के परिचायक हैं। लिंकन के गद्य पर बाइबिल और शेक्सपियर की स्पष्ट छाप है।

गृहयुद्ध से १९१४ तक—गृहयुद्ध और उसके बाद का समय विज्ञान की उन्नति के साथ अमरीका में नए उद्योगों और नगरों के उदय का है। १९वीं सदी के अंत तक जंगलों के कट जाने के कारण देश की सीमा अतलांतक से प्रशांत महासागर तक फैल गई। इस नई स्थिति में अपने व्यक्तित्व के प्रति सजग और आत्मविश्वास से भरे हुए आधुनिक अमरीका का उदय हुआ।

आत्मविश्वास का यह स्वर इस युग के अमरीकी हास्य साहित्य में मौजूद है। चार्ल्स फेरर्स ब्राउन, डेविड रॉस लॉक, चार्ल्स हेनरी स्मिथ, हेनरी ह्वीलर शा और एडगर डब्ल्यू० नाई ने क्रमशः आर्टेमस वार्ड, पेट्रोलियम बी (वेसूवियस) नैज़्बी, बिल आर्प, जॉश विलिंग्ज़ और बिल नाई के कल्पित नाम धारण कर अपनी समकालीन घटनाओं और समस्याओं पर जान बूझकर गँवारू, व्याकरण के दोषों से भरी हुई, रसभंगपूर्ण और लातीनी या विद्वत्तापूर्ण संदर्भों से लदी भाषा में विनोदपूर्ण विचारविमर्श किया। उन्होंने साहित्य में 'रंजनकारी मूर्खों' के वेश में अमरीकी हास्य को विकसित किया।

कथासाहित्य में स्थानीय वातावरण या आंचलिकता का व्यापक ढंग से इस्तेमाल हुआ। ऐसे कथाकारों में, समय और स्थान दोनों ही दृष्टियों से, फ्रांसिस ब्रेट हार्ट प्रथम है। उसने प्रशांत महासागर के तटीय जीवन के चित्र अंकित किए। दि लक ऑव रोरिंग कैंप ऐंड अदर स्केचेज़ (१८७०) में उसने कैलिफोर्निया के खदान मजदूरों के जीवन की विनोद और भावुकतापूर्ण झाँकी प्रस्तुत की। इसी तरह स्टोवे ने ओल्ड टाउन फोक्स (१८६९) और सैम लाउसंस ओल्डटाउन फायरसाइड स्टोरीज़ (१८७१) में न्यू इंग्लैंड के जीवन के मनोरंजक चित्र अंकित किए। एडवर्ड एगिल्स्टन का उपन्यास दि हूज़िएर स्कूल मास्टर (१८७१) इंडियाना के प्रारंभिक दिनों के जीवन पर आधारित है। विलियम सिडनी पोर्टर (ओ' हेनरी: १८६२-१९१०) ऐसी कथाओं के लिये प्रसिद्ध है। अतीत इतिहास में स्थित किंतु यथार्थ से प्रेरित इन कथाओं में भावुकता, विनोद, चित्रात्मकता और विलक्षणता की प्रधानता है। ऐसी कथाओं के रचनाकारों में जॉर्ज वाशिंगटन केबिल, टॉमस नेल्सन पेज, जोएल चैंडलर हैरिस, मेरी नोआइलिस मार्फी, सारा ओर्न जिवेट, हैनरी काइलर और मेरी विल्किंस फ्रीमैन भी महत्त्वपूर्ण हैं।

इन कथाकारों से अमरीका के महान् साहित्यकार सैमुएल लैंघार्न क्लेमेंस (मार्क ट्वेन: १८३५-१९१०) का निकट का संबंध है। मार्क ट्वेन के अनेक उपन्यासों पर उसके भ्रमणशील जीवन का असंदिग्ध प्रभाव है। दि ऐडवेंचर्स ऑव टॉम सायर (१८७६), लाइफ आन दि मिसिसिपी (१८८३) और दि ऐडवेंचर्स ऑव हक्लबेरी फिन (१८८४) मार्क ट्वेन के व्यापक अनुभव, चरित्रों के निर्माण की उसकी अद्वितीय प्रतिभा और काव्यमय किंतु पौरुषेय शैली की क्षमता के प्रमाण हैं। व्यंग्य और भांड के निर्माण में भी कम ही लेखक उसके समतुल्य हैं।

विलियम डीन हॉवेल्स ने जीवन के साधारण पक्षों के यथार्थ चित्रण पर जोर दिया। उसके समक्ष कला से अधिक महत्व मानवता का था। स्वाभाविक चित्रण पर जोर देनेवालों में ई० डब्ल्यू० होवे, जोजेफ़ कर्कलैंड और जॉन विलियम दि फारेस्ट भी उल्लेखनीय हैं। हैमलिन गारलैंड ने किसानों के जीवन और यौन संबंधों के कटु यथार्थ को चित्रित किया।

अमरीका की यथार्थवादी परंपरा के महान् लेखकों में थियोडोर ड्रेज़र (१८७१-१९४५) का निर्विवाद स्थान है। ड्रेज़र ने साहस के साथ अमरीका के पूंजीवादी समाज की क्रूरता और पतनशीलता का नग्न चित्र प्रस्तुत किया, जिससे कुछ लोग उसे अश्लील भी कहते हैं। किंतु सिस्टर कैरी, जेनी गरहार्ड्ट, दि फाइनेंसियर, दि टाइटन और ऐन अमेरिकन ट्रेजेडी जैसे उसके प्रसिद्ध उपन्यासों से स्पष्ट है कि जीवन के कटु यथार्थ के तीव्र बोध के बावजूद मूलतः वह सुंदर जीवन और मानवीय नैतिकता की तृषा से आकुल है।

फ्रैंक नॉरिस और स्टीफेन क्रेन (१८७०-१९००) प्रभाववादी कथाकार हैं। उनमें चमत्कारिक भाषा की असाधारण क्षमता है। हैरल्ड फ्रेडरिक (१८५६-१८९८) में व्यंग्यपूर्ण चरित्रचित्रण की असाधारण क्षमता है।

हेनरी जेम्स (१८४३-१९१६) चरित्रों के सूक्ष्म और यथार्थ मनोवैज्ञानिक अध्ययन के साथ साथ कला के प्रति जागरूकता के लिये प्रसिद्ध

है। कहानी के सुगठन की दृष्टि से वह संसार के इने गिने लेखकों में है। आलोचक के रूप में वह दि आर्ट ऑव फिक्शन (१८८४) जैसी महत्वपूर्ण पुस्तक का प्रणेता है। अमरीकी और यूरोपीय संस्कृतियों को टकराहट प्रस्तुत करने में उसके उपन्यास बेजोड़ हैं।

रोमानी वातावरण में जीवन के यथार्थ को रूपायित करनेवाले उपन्यासकारों में जैक लंडन और अप्टन सिंक्लेयर प्रथम कोटि के है। जैक लंडन का दि काल ऑव दि वाइल्ड (१९०३) और सिंक्लेयर का दि जंगल (१९०६) इसके उदाहरण हैं। रोमानी और विलक्षण उपन्यासों तथा कहानियों के सफल लेखकों में फ्रांसिस मैरियन क्रॉफर्ड, ऐंब्रोज बीयर्स और लैफकैडियो हार्न हैं।

हेनरी ऐडम्स ने अपनी आत्मकथा 'दि एजुकेशन ऑव हेनरी ऐडम्स' (१९०६) में आधुनिक अमरीकी जीवन का निराशापूर्ण चित्र अंकित किया। अमरीका की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था की शल्य-क्रिया इडा एम० टारवेल ने हिस्ट्री ऑव दि स्टैंडर्ड आयल कंपनी और लिंकन स्टीफेंस ने दि शेम ऑव दि सिटीज में किया। चार्ल्स डडले वार्नर और एडवर्ड बेलामी ने भी पूँजी की बढ़ती हुई शक्ति और नौकरशाही के भ्रष्टाचार पर आक्रमण किया।

एडविन मार्खम और विलियम व्हॉन मूडी की कविताओं में भी आलोचना का वही स्वर है।

इस प्रकार प्रथम महायुद्ध के पूर्व ही अमरीका की पूंजीवादी व्यवस्था की आलोचना होने लगी थी। अनेक लेखकों ने समाजवाद को मुक्ति के मार्ग के रूप में अपनाया। ऐसे लेखकों के अग्रणी थियोडोर ड्रेज़र, जैक लंडन और अप्टन सिक्लेयर थे।

वाल्ट ह्विटमन को छोड़कर १९वीं सदी के अंतिम और २०वीं सदी के प्रारंभ के वर्ष कविता में साधारण उपलब्धि से आगे न जा सके। अपवाद-स्वरूप एमिली डिकिन्सन (१८३०-१८८६) है जो निश्चय ही अमरीका की सबसे बड़ी कवयित्री है। उसकी कविताओं का स्वर आत्मपरक है और उनमें उसके ग्रामीण जीवन और असफल प्रेम के अनुभव तथा रहस्यात्मक अनुभूतियाँ अभिव्यक्त हुई हैं। डिकिन्सन की कविता में यथार्थ, विनोद, व्यंग्य और कटाक्ष, वेदना और उल्लास की विविधता है। चित्रयोजना, सरल और क्षिप्र भाषा, खंडित पंक्तियों और कल्पना की बौद्धिक विचित्रता में वह आधुनिक कविता के अत्यंत निकट है।

प्रथम महायुद्ध के बाद—यूरोप की तरह अमरीका में भी यह काल नाटक, उपन्यास, कविता और साहित्य की अन्य विधाओं में प्रयोग का है।

नाटक के क्षेत्र में गृहयुद्ध के पहले रॉबर्ट मांटगोमरी बर्ड और जॉर्ज हेनरी बोकर अतुकांत दु:खात नाटकों के लिये और डियन बूसीकॉल्ट अति-रंजित घटनाओं से पूर्ण नाटकों के लिये साधारण रूप में उल्लेखनीय है। गृहयुद्ध के बाद भी नाटकों का विकास बहुत संतोषजनक न रहा। जेम्स ए० हर्न, ब्रांसन हॉवर्ड, आगस्टस टॉमस और क्लाइड फिट्श में रंगमंच की समझ है, लेकिन उनके नाटकों में भावों और विचारों का सतहीपन है। प्रथम महायुद्ध के बाद नाटक के क्षेत्र में अनेक प्रयोग होने लगे और यूरोप का गहरा असर पड़ा। नाटक में गंभीर स्वर का उदय हुआ। इस आंदोलन का उत्कर्ष यूजीन ओ' नील (१८८८–) के नाटकों में प्रकट हुआ। ओ' नील के नाटकों में यथार्थवाद, अभिव्यंजनावाद और चेतना के स्तरों के उद्‌घाटन के अनेक प्रयोग हैं। किंतु इन प्रयोगों के बावजूद ओ' नील कवि-सुलभ कल्पना और भावावेग के साथ जीवन के प्रति अपने दु:खांत दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति पर अधिक बल देता है।

मार्क कॉनेली, जॉर्ज एस० कॉफमैन, एलमर राइस, मैक्सवेल ऐंडर्सन, रॉबर्ट शेरउड, क्लीफर्ड ओडेट्स, थॉर्नटन वाइल्डर, टेनैसी विलियम्स और आर्थर मिलर ने भी नाटक में यथार्थवाद, प्रहसन, संगीतप्रहसन, काव्य और अभिव्यंजना के प्रयोग किए। यूरोप के आधुनिक नाट्यसाहित्य और अमरीका में 'लघु' और ललित रंगमंचों के उदय ने उन्हें शक्ति और प्रेरणा दी।

आधुनिक अमरीकी कविता का प्रारंभ एडविन आर्लिंगटन रॉबिंसन (१८६९-१९३५) और राबर्ट फ्रास्ट (१८७५) से होता है। परंपरागत तुकांत और अतुकांत छंदों के बावजूद उनका दृष्टिकोण और विषयवस्तु आधुनिक हैं; दोनों में अवसादपूर्ण जीवन के चित्र है। रॉबिंसन में अनास्था का मुखर स्वर है। फ्रॉस्ट की कविता की विशेषताएँ अंतरंग शैली में साधारण अनुभव की अभिव्यक्ति, संयमित, संक्षिप्त और स्वच्छ वक्तव्य, नाटकीयता और हास्य तथा चिंतन का संमिश्रण हैं। पो और डिकिन्सन की रूपवादी शैली से प्रभावित अन्य उल्लेखनीय कवि वैलेस स्टीवेंस (१८७९-), एलिनार वाइली (१८८५-१९२८), जॉन गोल्ड फ्लेचर (१८८६-१९५०) और मेरियन मूर (१८८-७) है।

हैरियट मुनरो (१८६०–१९३६) द्वारा शिकागो में स्थापित पोएट्री : ए मैगज़ीन ऑव वर्स अमरीकी कविता में प्रयोगवाद का केंद्र बन गई। इसके माध्यम से ध्यान आकर्षित करनेवाले कवियों में वैचेल लिंडसे (१८७९–१९३१), कार्ल सैंडबर्ग (१८७८-) और एडगर ली मास्टर्स (१८६९–१९५०) प्रमुख हैं। ये ग्रामों, नगरों और चरागाहों के कवि हैं। मास्टर्स की कविता में गहरा विषाद है, लेकिन सैंडबर्ग की प्रारंभिक कविताओं में मनुष्य में आस्था का स्वर ही प्रधान है। हार्ट क्रेन (१८९९–१९३२) में ह्विटमन का रोमानी दृष्टिकोण है। यह रोमानी दृष्टिकोण नाओमी रेप्लांस्की, जॉन गार्डन, जॉन हाल ह्विलॉक, आइवर विंटर्स और थियोडोर रोथेश्क की कविताओं में भी है। आर्किबाल्ड मैक्लीश (१८९२-) की कविताओं में सर्वहारा के संघर्षों का चित्र है। स्टीफेन विंसेट बेने (१८९८-१९४३) व्यापक मानव सहानुभूति का कवि है। उसके बैलड अत्यंत सफल हैं। होरेस ग्रेगरी (१८९८-) और केनेथ पैचेन (१९११-) की कविताओं पर भी ह्विटमन का प्रभाव स्पष्ट है। दूसरी ओर रॉबिं-सन जेफर्स (१८८७-) है जो अपनी कविताओं में मनुष्य के प्रति आक्रोशपूर्ण घृणा और प्रकृति के दारुण दृश्यों से प्रेम के लिये प्रसिद्ध है।

एमी लॉवेल (१८७४-१९२५) और एच० डी० (हिल्डा डूलिटिल : १८८६–) ने इमेजिस्ट काव्यधारा का नेतृत्व किया। एज़रा पाउंड (१८८५–) और टी० एस० इलियट (१८८८–) ने आधुनिक अमरीकी कविता में प्रयोगवाद पर गहरा असर डाला। उनसे और 'मेटाफिज़िकल' शैली के रूपवाद से प्रभावित कवियों में जान क्रोवे रैंसम (१८८८–), कॉनरॉड आइकेन (१८८९–), रॉबर्ट पेन वैरेन (१९०५–), अलेन टेट (१८९९–), पीटर वाइरेक (१९१६–), कार्ल शैपीरो (१९१३–), रिचर्ड विल्बर (१९२१–), आर० पी० ब्लैकमूर (१९०४–) तथा अनेक अन्य कवि हैं। अभिव्यक्ति में घनत्व, चमत्कार और दीक्षागम्यता उनकी विशेषताएँ हैं। इनके अनुसार "कविता का अर्थ नहीं, अस्तित्व होना चाहिए।"

प्रयोगवादियों में ई० ई० कमिंग्ज़ (१८९४–) पंक्तियों के प्रारंभ में बड़े अक्षरों को हटाने तथा विरामों और पंक्तियों के विभाजन में प्रयोगों के लिये प्रसिद्ध हैं।

२०वीं सदी की कवयित्रियों में सारा टीज़डेल (१८८४–१९३३) और एड्ना सेंट विंसेंट मिले (१८९२–१९५०) अपने सानेटों और आत्मपरक गीतों की स्पष्टोक्तियों के लिये प्रसिद्ध हैं। मिले में प्रखर सामाजिक चेतना है। जेम्स वेल्डेन जॉन्सन (१८७१–१९३८), लैंगस्टेन ह्यूजेज (१९०२–) और काउंटी कलेन (१९०३–४६) नीग्रो कवि हैं जिन्होंने नीग्रो जाति की समस्याओं पर ध्यान केंद्रित किया।

२०वीं सदी के अन्य प्रयोगवादियों में मार्क ह्वॉन डोरेन, लियोनी ऐडम्स, रॉबर्ट लॉवेल, हॉबर्ट होरन, जेम्स मेरिल, डब्ल्यू० एस० मर्विन, डलमोर श्वार्ट्ज़, म्यूरिएल रुकेसर, विनफील्ड टाउनले स्कॉट, एलिज़ाबेथ बिशप, मेरिल मूर, ऑगडेन नैश, पीटर वाइरेक, जान कियार्डी आदि ऐसे कवि हैं जिनपर वाल्ट ह्विटमन की कविता का आंशिक प्रभाव है। अपेक्षाकृत नए प्रयोगवादियों में जॉन पील बिशप, रैंडाल जेरेल, रिचर्ड एबरहार्ट, जॉन बैरिमैन जॉन, फ्रेडरिक निम्स, जॉन मल्काम ब्रिनिन और हॉवर्ड नेमेरोव है। सामाजिक यथार्थ और स्वस्थ जनवादी चेतना कोम हत्व देनेवाले आधुनिक कवियों में वाल्टर लोवेनफेल्स, मार्था मिलेट, मेरिडेल ले स्यूर, टॉमस मैक्ग्राथ, ईव मेरियम, केनेथ रेक्सरॉथ इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

प्रथम महायुद्ध के बाद की मुख्य प्रवृत्तियों को संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—सामाजिक यथार्थ के प्रति जागरूकता, उसकी विषम-

ताओं से टकराकर टूटते हुए स्वप्नों का बोध, पूंजीवादी समाज और उसकी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक मान्यताओं से विद्रोह और नई सामाजिक व्यवस्था और जीवन के नए मूल्यों की खोज।

इस विद्रोह में कथाकारों ने फ्रायड के मनोविज्ञान और मार्क्स के दर्शन का सहारा लिया। जेम्स ब्रांच कैबेल ने जर्गेन (१९१९) में फ्रायडवादी प्रतीकों के माध्यम से अमरीकी समाज और यौन संबंधी उसके रूढ़िगत दृष्टिकोण की आलोचना की। जोना गेल (१८७४-१९३८) और रूथ सच्चो (१८९२-) ने गाँवों के जीवन पर से रोमानी आवरण हटा दिया। गाँवों के संकुचित जीवन और कुंठित यौन संबंधों का सबसे बड़ा चित्रकार शेरवुड ऐंडर्सन है।

यथार्थवाद को प्रबल बनाने में ड्रेज़र के अतिरिक्त एफ० स्काट फिट्जेराल्ड और सिंक्लेयर लिविस का बहुत बड़ा हाथ था। फिट्जेराल्ड के दिस साइड ऑव पराडाइज़ (१९२०) और दि ग्रेट गैट्ज़्बी (१९२५) में अमरीका के भग्न स्वप्नों और नैतिक ह्रास का चित्र है। लिविस ने मेन स्ट्रीट (१९२०) में गाँवों, बैबिट (१९२२) में व्यवसाय, ऐरोस्मिथ (१९२५) में पूँजीवादी विज्ञान, एल्मर गैंट्री (१९२७) में धर्म, इट कांट हैपेन हियर (१९३५) में फासिज़्म की प्रवृत्तियों और किंग्ज़ब्लड रॉयल (१९४७) में नीग्रो जाति के प्रति अन्याय के चित्र प्रस्तुत कर अमरीकी समाज में व्यापक ह्रास के लक्षण दिखलाए। लेकिन इनमें लिविस का स्वर पराजय का नहीं बल्कि समाजवाद की स्थापना द्वारा समस्याओं पर अंतिम विजय का था। जेम्स टी० फेरेल ने तीन खंडों में लिखे गए उपन्यास स्टड्स लांजियन (१९३२-३५) में सामाजिक विषमताओं को चित्रित किया। रिचर्ड राइट के उपन्यासों में नीग्रो जाति के जीवन का चित्र है। अलबर्ट हाल्पर मजदूरों के संघर्षों का उपन्यासकार है। जे० पी० मारक्वाँ ने न्यू इंग्लैंड के संभ्रांत परिवारों पर व्यंग्य और कटाक्ष किया। एच० एल० मेंकेन ने प्रेजुडीसेज़ (१९१९-२७) में सामाजिक अंधविश्वासों और अन्यायों पर आक्रमण किया। राबर्ट पेन वारेन ने आल दि किंग्ज़ मेन में व्यंग्य और आक्रोश के साथ फासिज्म को धिक्कारा। जॉन डॉस पसॉस की ख्याति युद्धविरोधी उपन्यास थ्री सोल्जर्स से हुई और दूसरे युद्ध तक उसने मनहटन ट्रांसफर और फॉर्टी-सेकंड पैरेलेल, १९१९ और दि बिग मनी नामक तीन खंडों के उपन्यास में आधुनिक अमरीकी समाज की कटु आलोचना की।

अर्नेस्ट हेमिंग्वे (१८९८-), विलियम फॉकनर (१८९८-) और जान स्टाइनबेक (१९०२-) की गणना आधुनिक काल के तीन बड़े उपन्यासकारों में है। इन्होंने निराशा से प्रारंभ किया, लेकिन बाद में आस्था की ओर लौटे। स्पेन के गृहयुद्ध ने हेमिंग्वे को जनता की शक्ति का बोध कराया और उसके दो प्रसिद्ध उपन्यास टु हैव ऐंड हैव नॉट (१९३७) और फॉर हूम दि बेल टॉल्स (१९४०) इसी विश्वास की उपज हैं। हेमिंग्वे बुल-फाइट में प्रदर्शित मानव के अपार पराक्रम और उसमें मनुष्य या पशु के अनिवार्य अंत से उत्पन्न करुणा का कथाकार भी है। हेमिंग्वे की शैली में बाइबिल से मिलती जुलती सरलता, स्नायविकता और माधुर्य है।

फॉकनर 'चेतना-की-अंतर्धारा' शैली का उपन्यासकार है। उसके उपन्यासों में दासप्रथा के गढ़ दक्षिण के सामाजिक और सांस्कृतिक क्षय के चित्र हैं। दक्षिण के जीवन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरणों के ज्ञान के कारण वह अमरीका का सबसे बड़ा आंचलिक उपन्यासकार माना जाता है। उसके उपन्यासों में दीक्षागम्यता की प्रवृत्ति भी है। स्टाइनबेक ने ऐतिहासिक उपन्यासों में समाजविरोधी और अराजकतावादी दृष्टिकोण से प्रारंभ किया। बाद में उसने मार्क्सवादी दर्शन अपनाया और इस प्रभाव के युग में लिखे गए उसके दो उपन्यास इन डुबियस बैटिल (१९३६) और दि ग्रेप्स ऑव राथ अत्यंत प्रसिद्ध हैं।

चरित्रों के रागात्मक पक्ष, प्रतीकों और वाक्यरचना में लय पर बल देनेवाले उपन्यासकारों में विला केदर, कैथरीन ऐनी पोर्टर और टॉमस वुल्फ का प्रमुख स्थान है। नए प्रयोगों से प्रभावित किंतु मुख्यतः उपन्यास के परंपरागत रूप को सुरक्षित रखनेवाले उपन्यासकारों में तीन महिलाएँ उल्लेखनीय हैं—एडिथ ह्वार्टन, एलेन ग्लास्गो और पर्ल एस० बक। मार्क्सवादी या अमरीका की स्वस्थ जनतांत्रिक परंपरा के प्रति सचेत समकालीन उपन्यासकारों में इरा बुल्फर्ट, मेलर, हेनरी राथ, डब्ल्यू० ई० बी० डुबॉय, जान सैंफर्ड, बार्बरा गाइल्स, हॉवर्ड फास्ट, रिंग लार्डनर जूनियर, डाल्टन ट्रंबो, फ़िलिप बोनोस्की, लॉयड एल० ब्राउन, वी० जे० जेरोम और बेन फील्ड ने भी महत्वपूर्ण कार्य किया है। गद्य शैली की मौलिकता की दृष्टि से गर्ट्रूड स्टीन अमरीका का अद्वितीय लेखक है।

२०वीं सदी का पूर्वार्ध आलोचना साहित्य में अत्यंत समृद्ध है। इसका प्रारंभ 'मानवतावादी' इर्विंग बैबिट और उसके सहयोगियों, पाल एल्मर मोर, नार्मन फारेस्टर और स्टुअर्ट शेरमन द्वारा मानव में आस्था के नाम पर यथार्थवाद के विरोध के रूप में हुआ। दूसरी ओर एच० एल० मेंकेन ने यथार्थवाद का समर्थन किया। साहित्य में स्वस्थ सामाजिक दृष्टिकोण पर जोर देनेवाले आलोचकों में वानविक ब्रुक और वी० एल० पैरिंगटन का बहुत ऊँचा स्थान है।

आलोचना में मार्क्सवादी दृष्टिकोण का सूत्रपात करनेवालों में वी० एफ० कैलवर्टन, ग्रैनविल हिक्स और माइक गोल्ड थे। इसका पुट एडमंड विल्सन, केनेथ बर्क, और जेम्स टी० फेरेल की आलोचनाओं में भी है। आज भी अनेक आलोचक इस दृष्टिकोण से लिखते हैं और उनमें प्रमुख सिडनी फिंकेलस्टीन, सैमुएल सिलेन, लूई हैरप, फिलिप बोनोस्की, अलबर्ट माल्ट्ज़, वी० जे० जेरोम, चार्ल्स हंम्बोल्ड्ट और हर्बर्ट ऐप्थेकर हैं।

मार्टन डी० ज़ैबेल, एज़रा पाउंड, हुल्म, आई० ए० रिचर्ड्स और टी० एस० इलियट की आलोचनाओं ने अमरीका की 'नई आलोचना' को जन्म दिया है। 'नई आलोचना' मुख्यतः रूपवादी आलोचना है जो वस्तु और दृष्टिकोण के स्थान पर रचना की प्रक्रियाओं पर जोर देती है। इसके प्रधान प्रचारकों में दक्षिण के रूढ़िवादी साहित्यकार और आलोचक आर० पी० ब्लैकमूर, अलेन टेट, जान क्रोवे रैंसम, क्लिंथ ब्रुक्स और राबर्ट पेन वैरेन हैं।

नग्न यौन चित्रण और पाशविक प्रवृत्तियों के जोर पकड़ने से दूसरे महायुद्ध के बाद अमरीकी साहित्य का संकट बहुत गहरा हुआ है। लिविस, डास पैसॉस, स्टाइन बेक, सैंडबर्ग, हिक्स, हॉवर्ड फास्ट आदि अनेक लेखकों ने समाजवादी देवता के कूच कर जाने की बात कही है। लेकिन समाजवाद के साथ साथ अमरीकी साहित्य और संस्कृति की महान् जनवादी परंपराओं का विसर्जन आधुनिक अमरीकी साहित्य के विकास में बाधक है।

सं०ग्रं०—ब्लेयर तथा अन्य : दि लिटरेचर ऑव यूनाइटेड स्टेट्स; आर० ई० स्पिलर तथा अन्य : लिट्‌री हिस्ट्री ऑव दि यूनाइटेड स्टेट्स; कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव अमेरिकन लिटरेचर; डब्ल्यू० एफ० टेलर : ए० हिस्ट्री ऑव अमेरिकन लेटर्स; एस० टी० विलियम्स तथा एन० एफ० ऐडकिंस : कोर्सेज़ ऑव रीडिंग इन अमेरिकन लिट्‌रेचर; वी० एल० पैरिंगटन : मेन करेंट्स इन अमेरिकन थाट; एफ० ओ० मैथिसन : अमेरिकन रेनैसाँ। [चं० ब० सिं०]

अमरुक संस्कृत के प्रख्यात गीतिकार कवि। उनकी कविता जितनी विख्यात है, उनका व्यक्तित्व उतना ही अप्रसिद्ध है। उनके देश और काल का अभी तक ठीक निर्णय नहीं हो पाया है। रविचंद्र ने 'अमरुशतक' की अपनी टीका के उपोद्घात में आद्य शंकराचार्य को अमरुक से अभिन्न व्यक्ति माना है, परंतु यह किंवदंती नितांत निराधार है। आद्य शंकराचार्य के द्वारा किसी 'अमरुक' नामक राजा के मृत शरीर में प्रवेश तथा कामतंत्र विषयक किसी ग्रंथ की रचना का उल्लेख शंकर-दिग्विजय में अवश्य किया गया है, परंतु विषय की भिन्नता के कारण 'अमरुशतक' को शंकराचार्य की रचना मानना नितांत भ्रांत है। आनंदवर्धन (९वीं सदी का मध्यकाल) ने अमरुक के मुक्तकों की चमत्कृति तथा प्रसिद्धि का उल्लेख किया है (ध्वन्यालोक का तृतीय उद्योत)। इससे इनका समय ९वीं सदी के पहले ही सिद्ध होता है। [ब० उ०]

अमरुशतक यह महाकवि अमरुक (या अमरु) के पद्यों का संग्रह है। नाम से यह शतक है, परंतु इसके पद्यों की संख्या एक सौ से कहीं अधिक है। सूक्तिसंग्रहों में अमरुक के नाम से निर्दिष्ट पद्यों को मिलाकर समस्त श्लोकों की संख्या १६३ है। इस शतक की प्रसिद्धि का कुछ परिचय इसकी विपुल टीकाओं से लग सकता है। इसके ऊपर दस व्याख्याओं की रचना विभिन्न शताब्दियों में की गई जिनमें अर्जुन वर्मदेव

(१३वीं सदी का पूर्वार्ध) की 'रसिक सजीवनी' अपनी विद्वत्ता तथा मार्मिकता के लिये प्रसिद्ध है। आनदवर्धन की समति मे अमरुक के मुक्तक इतने सरस तथा भावपूर्ण हैं कि अल्पकाय होने पर भी वे प्रबधकाव्य की समता रखते है। सस्कृत के आलकारिको ने ध्वनिकाव्य के उदाहरण के लिये इसके बहुत से पद्य उद्धृत कर इनकी साहित्यिक सुषमा का परिचय दिया है। अमरुक शब्दकवि नही है, प्रत्युत रसकवि है जिनका मुख्य लक्ष्य काव्य में रस का प्रचुर उन्मेष है। अमरुशतक के पद्य शृगार रस से पूर्ण है तथा प्रेम के जीते जागते चटकीले चित्र खीचने मे विशेष समर्थ है। प्रेमी और प्रेमिकाओ की विभिन्न अवस्थाओ में विद्यमान शृगारी मनोवृत्तियो का अतीव सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इन सरस श्लोको की प्रधान विशिष्टता है। कही पति को परदेश जाने की तैयारी करते देखकर कामिनी की हृदयविह्वलता का चित्र है, तो कही पति के आगमन का समाचार सुनकर सुदरी की हर्ष से छलकती हुई आँखो और विकसित स्मित का रुचिर चित्रण है। हिंदी के महाकवि बिहारी तथा पद्माकर ने अमरुक के अनेक पद्यो का सरस अनुवाद प्रस्तुत किया है।

स०ग्र०—बलदेव उपाध्याय सस्कृत साहित्य का इतिहास, काशी, पचम स०, १९५८, दासगुप्त तथा दे हिस्ट्री आव क्लासिकल लिटरेचर, कलकत्ता, १९३५। [ब० उ०]

अमरूद का अग्रेजी नाम ग्वावा है, वानस्पतिक नाम सीडियम ग्वायवा, प्रजाति सीडियम, जाति ग्वायवा, कुल मिर्टेसी। वैज्ञानिको का विचार है कि अमरूद की उत्पत्ति अमरीका के उष्ण कटिबधीय भाग तथा वेस्ट इडीज से हुई है। भारत की जलवायु मे यह इतना घुल मिल गया है
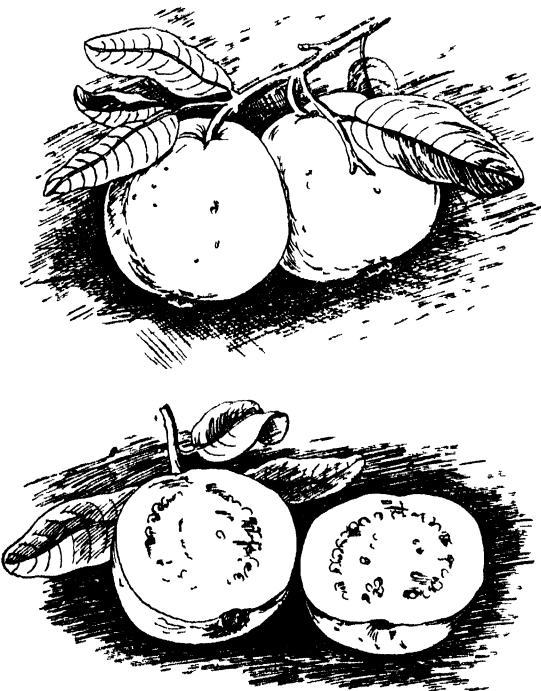
अमरूद
ऊपर बाह्य आकृति और नीचे काट दिखाई गई है।

कि इसकी खेती यहाँ अत्यंत सफलतापूर्वक की जाती है। पता चलता है कि १७वीं शताब्दी में यह भारतवर्ष मे लाया गया। अधिक सहिष्णु होने के कारण इसकी सफल खेती अनेक प्रकार की मिट्टी तथा जलवायु मे की जा सकती है। जाडे की ऋतु मे यह इतना अधिक तथा सस्ता प्राप्त होता है कि लोग इसे निर्धन जनता का एक प्रमुख फल कहते है। यह स्वास्थ्य के लिये अत्यत लाभदायक फल है। इसमें विटामिन 'सी' अधिक मात्रा में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त विटामिन 'ए' तथा 'बी' भी पाए जाते है। इसमे लोहा, चूना तथा फास्फोरस अच्छी मात्रा मे होते है। अमरूद की जेली तथा बर्फी (चीज़) बनाई जाती है। इसे डिब्बा मे बद करके सुरक्षित भी रखा जा सकता है।

अमरूद के लिये गर्म तथा शुष्क जलवायु सबसे अधिक उपयुक्त है। यह सूखा तथा पाला दोनो सहन कर सकता है। केवल छोटे पौधे ही पाले से प्रभावित होते है। यह हर प्रकार की मिट्टी मे उपजाया जा सकता है, परतु बलुई-दोमट इसके लिये आदर्श मिट्टी है। भारत में अमरूद की प्रसिद्ध किस्मे इलाहाबादी सफेदा, लाल गूदेवाला, चित्तीदार, करेला, बेदाना तथा अमरुद-सेब है।

अमरूद का प्रसारण अधिकतर बीज द्वारा किया जाता है, परतु अच्छी जातियो के गुणो को सुरक्षित रखने के लिये आम की भाति भेटकलम (इनार्चिंग) द्वारा नए पौधे तैयार करना सबसे अच्छी रीति है। बीज मार्च या जुलाई मे बो देना चाहिए। वानस्पतिक प्रसारण के लिये सबसे उत्तम समय जुलाई-अगस्त है। पौधे २० फुट की दूरी पर लगाए जाते है। अच्छी उपज के लिये दो सिचाई जाडे मे तथा तीन सिंचाई गर्मी के दिना में करनी चाहिए। गोबर की सडी हुई खाद या कपोस्ट, १५ गाडी प्रति एकड देने से अत्यत लाभ होता है। स्वस्थ तथा सुदर आकार का पड प्राप्त करने के लिये आरभ से ही डालियो की उचित छँटाई (प्रूनिंग) करनी चाहिए। पुरानी डालियो मे जो नई डालियाँ निकलती है उन्ही पर फूल और फल आते है। वर्षा ऋतु मे अमरूद के पेड फूलते है और जाड मे फल प्राप्त होते है। एक पेड लगभग ३० वर्ष तक भली भाँति फल देता है और प्रति पेड ५००-६०० फल प्राप्त होते है। कीडे तथा रोग से वृक्ष का साधारणत कोई विशेष हानि नही होती। [ज० रा० सि०]

अमरू बिन कुलसूम अमरू इस्लाम से लगभग डेढ सौ वर्ष पहले पैदा हुए थे। इनका सबध तुगलिब कबीले से था। इनकी माता प्रसिद्ध कवि मुहलहिल की पुत्री थी। ये पद्रह वर्ष की छोटी अवस्था में ही अपने कबीले के सरदार हो गए। तुगलिब तथा बकर कबीलो में बहुधा लडाइयाँ हुआ करती थी जिनमे ये भी अपने कबीले की ओर से भाग लिया करते थे। एक बार इन दोना कबीलो ने सधि करने के लिये हीर के बादशाह अमरू बिन हिंद से प्रार्थना की। बादशाह ने नब्बू तुगलिब के विरुद्ध निर्णय किया जिसपर अमरू बिन कुलसूम रुष्ट होकर लौट आए। इसके अनतर बादशाह ने किमी बहाने इनका अपमान करना चाहा पर इन्होने बादशाह को मार डाला। यह पैंगबर-पूर्व के उन कवियो में से थ जो 'असहाब मुअल्लकात' कहलाते है। इनका वर्ण्य विषय वीरता, आत्मविश्वास तथा उत्साह और उल्लास के भावा से भरा है। अवश्य ही अपनी और अपने कबीले की प्रशसा तथा शत्रु की बुराई करने मे इन्होने बडी अतिशयोक्ति की है। इनकी रचना मे प्रवाह, सुगमता तथा गेयता बहुत है। इन्ही गुणो के कारण इनकी कृतियाँ अरब मे बहुत प्रचलित हुई और बहुत समय तक बच्चे बच्चे की जबान पर रही। इनकी मृत्यु सन् ६०० ई० के लगभग हुई। [आर० आर० शे०]

अमरेली बबई राज्य में बडोदा से १३९ मील तथा अहमदाबाद से १३२ मील दक्षिण-पश्चिम मे थेबी नामक एक छोटी नदी पर स्थित इसी नाम के जिले का प्रमुख नगर है (स्थिति २१°३६' उ० अक्षाश एव ७१°१५' पूर्वी देशातर)। यह ऐतिहासिक महत्व का स्थान है जो प्राचीन काल मे अमरवल्ली कहलाता था। इसके चतुर्दिक निर्मित प्राचीर अब विनष्टप्राय है। भावनगर-पोरबदर-रेलवे के चितल स्टेशन से दस मील दूर होने के कारण यातायात की असुविधा है, परतु अब पक्की सडको द्वारा चारो ओर से सबध स्थापित हो गया है। यहाँ पहले हाथ-करघे से बने वस्त्रो का व्यवसाय प्रमुख था, परतु कारखानो की प्रतिद्वद्विता के कारण दिन-प्रति-दिन घट रहा है। रगाई एव चाँदी का काम भी यहाँ

होता है। यह नगर काठियावाड़ की कपास तथा बिनौले की बड़ी मंडियों में से एक है। यहाँ बिनौले निकालने के कारखाने, बिनौले के तेल की मिलें तथा इंजीनियरिंग के छोटे मोटे सामान बनाने के कारखाने हैं। १९०१ ई० में इसकी जनसंख्या १७,९७७ थी जो १९५१ ई० में बढ़कर २७,८२६ हो गई। यह जिले का प्रमुख प्रशासनिक एवं शैक्षिक केंद्र है। [का० ना० सिं०]

अमरोहा भारतवर्ष के संयुक्त प्रांत की एक तहसील तथा पुराना नगर है। यह तहसील तथा नगर मुरादाबाद जिले के अंतर्गत है। अमरोहा तहसील समतल मैदान है। इसमें से तीन छोटी छोटी नदियाँ बहती हैं। पूर्वी सीमा पर रामगंगा है।

अमरोहा नगर मुरादाबाद के उत्तर-पश्चिम में लगभग २३ मील की दूरी पर और बान नदी के दक्षिण-पश्चिम में लगभग ४ मील पर है। यह अक्षांश २८° ४५' ४०'' उ० तथा देशांतर ७८° ३१' ५'' पू० पर स्थित है। यहाँ नगरपालिका है। १९५१ की जनगणना में इसकी आबादी ५८,१०५ थी। भारतविभाजन के बाद यहाँ से काफी मुसलमान पाकिस्तान चले गए। नगर का वर्तमान क्षेत्रफल लगभग ३९७ एकड़ है।

अमरोहा नगर की स्थापना आज से लगभग ३,००० वर्ष पूर्व हस्तिनापुर के राजा अमरोहा ने की थी और उन्हीं के नाम पर संभवतः इस नगर का नाम भी अमरोहा पड़ा। कुछ औरों के विचार से पृथ्वीराज की भगिनी अंबीरानी के नाम पर ऐसा नाम पड़ा। हिंदुओं के बाद अमरोहा मुसलमानों के हाथ में गया और तब से मुसलमानों के इतिहास में इसका उल्लेख बराबर मिलता है। अलाउद्दीन (१२९५-१३१५ ई०) के समय में चंगेज खाँ ने इसपर आक्रमण किया था।

ऐतिहासिक अवशेषों की दृष्टि से अमरोहा मुरादाबाद जिले में सर्वप्रथम है। यहाँ १०० से भी अधिक मस्जिदें तथा लगभग ४० मंदिर हैं। पुराने जमाने के हिंदू राजाओं के बनवाए हुए कुएँ, तालाब, सेतु, किले आदि के अवशेष अभी भी दिखाई पड़ते हैं। नगर में यत्रतत्र मुसलमानी जमाने की बड़ी बड़ी इमारतें ध्वंसोन्मुख अवस्था में खड़ी दिखाई देती हैं।

अमरोहा मुसलमानों का तीर्थस्थान है। शेख सद्दू की मसजिद यहाँ की सबसे पुरानी इमारत है जो कभी हिंदुओं का मंदिर थी। आज की मस्जिद की दीवारों पर कहीं कहीं हिंदू कला दिखाई देती है। हिंदू से मुस्लिम कला में परिवर्तन १२८६ से १२८८ के बीच कैकोबाद की राजसत्ता में हुआ। शेख सद्दू की अलौकिक शक्ति के बारे में कई किंवदंतियाँ हैं, जिनपर विश्वास रखनेवाले लोग रोगों से छुटकारा पाने के लिये यहाँ आते हैं। वर्तमान समय की बनी शाह वालियत की दर्गाह भी मशहूर है जो उस फकीर की कब्र पर बनी है। इस दर्गाह पर हिंदू-मुसलमान दोनों धर्मावलंबियों की श्रद्धा है और प्रति वर्ष लाखों यात्री इसका दर्शन करने के लिये दूर दूर से आते हैं। इसके अतिरिक्त और कई फकीरों की दर्गाहें भी यहाँ हैं।

अमरोहा के निजी उद्योगों में चीनी मिट्टी के बर्तन का निर्माण बहुत ही प्रसिद्ध है। गृह-उद्योग प्रतियोगिता में बने कप, प्लेट, फूलदानी, खाने की थाली इत्यादि कई बार राज्य सरकार द्वारा पुरस्कृत हुई हैं। इनके अतिरिक्त लकड़ी के छोटे मोटे काम तथा कपड़ा बुनने का उद्योग भी यहाँ विकसित है। यहाँ साल में दो बड़े मेले लगते हैं। [वि० मु०]

अमलतास को संस्कृत में व्याधिघात, नृपद्रुम इत्यादि, गुजराती में गरमाष्ठो, बँगला में सोनालू तथा लैटिन में कैसिया फ़िस्चुला कहते हैं। शब्दसागर के अनुसार हिंदी शब्द अमलतास संस्कृत अम्ल (खट्टा) से निकला है।

भारत में इसके वृक्ष प्रायः सब प्रदेशों में मिलते हैं। तने की परिधि तीन से पाँच फुट तक होती है, किंतु वृक्ष बहुत ऊँचे नहीं होते। शीतकाल में इसमें लगनेवाली, हाथ सवा हाथ लंबी, बेलनाकार काले रंग की फलियाँ पकती हैं। इन फलियों के अंदर कई कक्ष होते हैं जिनमें काला, लसदार पदार्थ भरा रहता है। वृक्ष की शाखाओं को छीलने से उनमें से भी लाल रस निकलता है जो जमकर गोंद के समान हो जाता है। फलियों से मधुर, गंधयुक्त, पीले कलझवें रंग का उड़नशील तेल मिलता है।

गुण—आयुर्वेद में इस वृक्ष के सब भाग ओषधि के काम में आते हैं। कहा गया है कि इसके पत्ते मल को ढीला और कफ को दूर करते हैं। फूल कफ और पित्त को नष्ट करते हैं फली और उसमें का गूदा पित्तनिवारक,

अमलतास

१. पत्तियाँ तथा फूल; २. पत्ती; ३. बीज; ४. फली; ५. फली के भीतर के खाने तथा बीज।

कफनाशक, विरेचक तथा वातनाशक हैं। फली के गूदे का आमाशय के ऊपर मृदु प्रभाव ही होता है, इसलिये दुर्बल मनुष्यों तथा गर्भवती स्त्रियों को भी विरेचक ओषधि के रूप में यह दिया जा सकता है। [भ० दा० व०]

अमलनेर बंबई राज्य के पूर्वी खानदेश जिले में ताप्ती की सहायक बोरी नदी के बाएँ तट पर स्थित इसी नाम के तालुके का प्रमुख नगर है (स्थिति : २१°२' उ० अक्षांश, ७५°४' पू० देशांतर)। यह ताप्ती-घाटी-रेलवे एवं जलगाँव-अमलनेर-रेलवे लाइनों का जंकशन होने के कारण शीघ्रता से उन्नति कर गया है। यह गल्ले का प्रमुख बाजार तथा जिले की कपास की सबसे बड़ी मंडी है। यहाँ बिनौले निकालने के दो कारखाने, एक सूती कपड़े की मिल तथा दो प्रमुख छापेखाने हैं। यहाँ एक स्नातकोत्तर महाविद्यालय भी है। १९०१ ई० में इसकी जनसंख्या १०,२९४ थी, जो १९५१ ई० में बढ़कर ४४,६४६ हो गई। इस नगर में ४०% से अधिक लोग उद्योग धंधों में लगे हैं। नगर का प्रशासन नगरपालिका द्वारा होता है। [का० ना० सिं०]

अमलसुंथा आस्त्रोगाथों की रानी जो उनके राजा थियोदोरिक की बेटी थी और मूथारिक से ब्याही थी। उसके विवाह के कुछ ही काल बाद उसके पति का देहांत हो गया। पिता के मरने पर अमलसुंथा ने अपने पुत्र की अभिभाविका के रूप में रावेना में राज करना शुरू किया। ५३४ ई० में उसका पुत्र मर गया और वह आस्त्रोगाथों की रानी बनी। अनेक उच्चपदीय और संभ्रांत आस्त्रोगाथों को उसे उनके षड्यंत्र के लिये दंडित करना पड़ा था। अंत में उसके चाचा ने उनसे मिलकर उसे बोलसेना झील के एक द्वीप में कैद कर दिया जहाँ उसकी ५३५ ई० में हत्या कर दी गई। [भ० श० उ०]

अमलापुरम् आंध्र प्रदेश के पूर्वी गोदावरी जिले में सेंट्रल डेल्टा सिस्टम की प्रमुख नहर पर, राजमुंद्री से ३८ मील दक्षिण-पूर्व स्थित, इसी नाम के तालुके का प्रमुख केंद्र है (स्थिति : १६°३४' उत्तर अक्षांश, ८२°१' पूर्वी देशांतर)। किंवदंतियों के अनुसार यह नगरी पांडवों के श्वशुर पांचालनरेश की राजधानी थी। सीमांत पर स्थित होने के कारण इसका दूसरा नाम कोणसीमा भी

था। यहाँ वेंकटस्वामी तथा सुब्बारायडू (नागराज) के दो प्रसिद्ध हिंदू मंदिर हैं। यहाँ लकड़ी का गोदाम, चावल की मिलें और कपड़ा बुनने, काष्ठशिल्प तथा शीशे एवं चाँदी के बर्तन बनाने के उद्योग हैं। १९०१ ई० में इसकी जनसंख्या ६,१५० थी जो १९५१ ई० में बढ़कर २१,११७ हो गई। यहाँ तालुके के प्राशासनिक कार्यालय तथा प्रथम श्रेणी का महाविद्यालय भी है। पंचायत नगर का प्रशासन करती है। [का० ना० सिं०]

अमात्य भारतीय राजनीति के अनुसार राज्य के सात अंगों में दूसरा अंग है जिसका अर्थ है मंत्री। राजा के परामर्शदाताओं के लिये अमात्य, सचिव तथा मंत्री इन तीनों शब्दों का प्रयोग प्रायः किया जाता है। इनमें अमात्य निःसंदेह प्राचीनतम है। ऋग्वेद के एक मंत्र (४।४।१) में 'अमवान्' शब्द का यास्क द्वारा निर्दिष्ट अर्थ 'अमात्ययुक्त' ही है (निरुक्त ६।१२)। व्युत्पत्ति के अनुसार 'अमात्य' का अर्थ है सर्वदा साथ रहनेवाला व्यक्ति (अमा=साथ)। आपस्तंब धर्मसूत्र में अमात्य का अर्थ निःसंदेह मंत्री है, जहाँ राजा को आदेश है कि वह अपने गुरुओं तथा मंत्रियों से बढ़कर ऐश्वर्य का जीवन न बिताए (२।१०।२५।१०)। 'सचिव' शब्द का प्रथम प्रयोग ऐतरेय ब्राह्मण (१२।६) में मिलता है जहाँ मरुत इंद्र के 'सचिव' (सहायक या बंधु) बतलाए गए हैं। मंत्रियों की सलाह लेना राजा के लिये नितांत आवश्यक होता है। इस विषय में कौटिल्य, मनु (७।५५) तथा मत्स्यपुराण (२१५।३) के वचन बहुत ही स्पष्ट हैं। अमात्य, सचिव तथा मंत्री शब्दों का पर्याय रूप में प्रयोग बहुलता से उपलब्ध होता है जिससे इनके परस्पर पार्थक्य का पता ठीक ठीक नहीं चलता।

रुद्रदामन् के जूनागढ़वाले शिलालेख में सचिव शब्द अमात्य का पर्यायवाची माना गया है। सचिवों के दो प्रकार यहाँ बतलाए गए हैं: (१) मतिसचिव (=राजा को परामर्श देनेवाला मंत्री) तथा (२) कर्मसचिव (=निश्चित किए गए कार्यों का संपादन करनेवाला)। अमर के अनुसार भी सचिव (=मतिसचिव) अमात्य मंत्री कहलाता है और उससे भिन्न अमात्य 'कर्मसचिव' कहलाते हैं। परंतु यह पार्थक्य अन्य ग्रंथों में नहीं पाया जाता। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार मंत्रियों का पद ऊँचा होता था और अमात्य का साधारण कोटि का। कौटिल्य का कहना है अमात्यों का परीक्षण धर्म, अर्थ, काम और भय के विषय में अच्छे ढंग से करने पर यदि वे ईमानदार और शुद्ध चरित्रवाले सिद्ध हों, तब उनको नियुक्त करना चाहिए; परंतु मंत्रियों के विषय में उनका आग्रह है कि जो व्यक्ति समस्त परीक्षणों के द्वारा परीक्षित होने पर राज्यभक्त तथा विशुद्धाशय प्रमाणित किया जाय, वही मंत्री के पद के लिये योग्य समझा जाता है। (अर्थशास्त्र १।१०)। परीक्षा के उपाय के निमित्त प्रयुक्त प्रधान शब्द है—**उपधा** जिसकी व्याख्या 'नीतिवाक्यामृत' के अनुसार है—धर्मार्थकामभयेषु व्याजेन परचित्तपरीक्षणम् उपधा। राजा को मंत्रणा (मंत्र) देने का कार्य ब्राह्मण का निजी अधिकार था इसीलिये कालिदास ने ब्राह्मण मंत्री के द्वारा अनुशासित राजन्य की शक्ति के उपचय की समता 'पवनाग्निसमागम' से दी है (रघुवंश ८।४)। अमात्य का प्रधान कार्य राजा को बुरे मार्ग में जाने से बचाना था। और केवल राजनीतिक बातों में ही नहीं, प्रत्युत अन्य आवश्यक विषयों में भी राजा का मंत्रियों से परामर्श करना अनिवार्य था। वह अपने मंत्रियों से मंत्रणा बड़े गुप्त स्थान में करता था, अन्यथा मंत्र और करणीय का भेद खुल जाने से राष्ट्र के अनिष्ट की आशंका बनी रहती थी।

अमात्यपरिषद् (अथवा मंत्रिपरिषद्) के सदस्यों की संख्या के विषय म प्राचीन काल से मतभिन्नता दिखलाई पड़ती है। किसी आचार्य का आग्रह मंत्रियों की संख्या तीन चार तक सीमित रखने के ऊपर है, किंतु कुछ आचार्य उसे सात आठ तक बढ़ाने के पक्ष में हैं। रामायण (बालकांड, ७।२-३) में दशरथ के मंत्रियों की संख्या आठ दी गई है और इसी के तथा शुक्रनीतिसार (२।७१।७२) के आधार पर छत्रपति शिवाजी ने अपनी मंत्रिपरिषद् अष्टप्रधानों की बनाई थी। शांतिपर्व, कौटिल्य तथा नीतिवाक्यामृत के वचनों की परीक्षा से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राचीन काल में मंत्रिसभा तीन प्रकार की होती थी: (क) तीन या चार मंत्रियों का अंतरंग मंत्रिमंडल सबसे अधिक महत्वशाली था। (ख) मंत्रियों की परिषद् जिसमें मंत्रियों की संख्या सात या आठ रहती थी। (ग) अमात्यों या सचिवों की एक बड़ी सभा जिसमें राज्य के विभिन्न विभागों के उच्च अधिकारी भी संमिलित होते थे। अमात्यों के लिये आवश्यक गुणों तथा योग्यता का विशेष वर्णन धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में किया गया है।

सं०ग्रं०—कौटिलीय अर्थशास्त्र; शुक्रनीति; कामंदकनीतिसार; काशीप्रसाद जायसवाल : हिंदू पॉलिटी। [ब० उ०]

अमानसता (ऐमनीज़िहआ) का अर्थ है स्मरणशक्ति का खो जाना। या तो यह मनोवैज्ञानिक कारणों से उत्पन्न होती है या शारीरिक विकार से (उदाहरणतः, सिर में चोट लगने से)। बुढ़ापे में और मस्तिष्क की धमनियों के पथरा जाने पर (आर्टीरियोस्क्लिरोसिस में) अमानसता बहुधा होती है। बुढ़ापे के कारण उत्पन्न अमानसता में स्मरणशक्ति का ह्रास धीरे धीरे होता है। पहले रोगी यह बता नहीं पाता कि सबेरे क्या खाया था या कल क्या हुआ था। फिर स्मरणनाश बढ़ता जाता है और सुदूर भूतकाल की बातें भी सब भूल जाती हैं। धमनियों के पथराने में स्मरणशक्ति विचित्र ढंग से मिटती है। विशेष जाति की बातें भूल जाती हैं, अन्य बातें अच्छी तरह स्मरण रहती हैं। कभी कभी दो चार दिन या एक दो सप्ताह के लिये बातें भूल जाती हैं और फिर वे अच्छी तरह याद हो आती हैं। कोई पुरानी बातें भूलता है, कोई नवीन बातें भूलता है।

मिरगी (देखें **अपस्मार**) आदि रोगों में स्मरणशक्ति धीरे धीरे नष्ट होती है। अंतराबंध में (उसे देखें) सदा ही स्मरणशक्ति क्षीण रहती है। मनोवैज्ञानिक कारणों से उत्पन्न अमानसता में, उदाहरणतः किसी प्रिय व्यक्ति के मरण से उत्पन्न अमानसता में, बहुधा केवल उसी प्रिय व्यक्ति से संबंध रखनेवाली बातें भूल जाती हैं।

युद्धकाल में नकली अमानसता बहुत देखने में आती थी। लड़ाई पर भेजे जाने से छुट्टी पाने के लिये अमानसता का बहाना करना बचने की सरल रीति थी। इन दशाओं में इसकी जाँच की जाती थी कि कोई उत्पादक कारण —जैसे मदिरापान, मिरगी, हिस्टीरिया, विषण्णता, पागलपन आदि—तो नहीं विद्यमान है। पीछे कुछ अन्य रीतियाँ निकलीं (उदाहरणतः, रोरशाप की रीति) जिससे अधिक अच्छी तरह पता चलता है कि अमानसता असली है या नकली।

अमानसता सीसा धातु के विषाक्त लवणों, कारबन मोनोआक्साइड नामक विषाक्त गैस तथा अन्य मादक विषों से अथवा मूत्ररक्तता, विटैमिन बी की कमी, मस्तिष्क का उपदंश आदि से भी उत्पन्न होती है।

मनोवैज्ञानिक कारणों से उत्पन्न अमानसता के उपचार के लिये **मनोविकार विज्ञान** शीर्षक लेख देखें। [दे० सिं०]

अमानुल्ला खाँ अफ़गानिस्तान का अमीर, अमीर हबीबुल्ला खाँ का पुत्र, जन्म १८९२। हबीबुल्ला के हत्यारे नसरुल्ला खाँ से १९१९ में अमारत छीन ली। उसी साल ब्रिटिश सेना से मुठभेड़ के बाद संधि के नियमों के अनुसार अमानुल्ला खाँ की अमारत में अफ़गानिस्तान की स्वतंत्रता घोषित हुई। नए अमीर ने अनेक सामाजिक सुधार किए जिनके परिणामस्वरूप अफ़गानिस्तान में अनेक विद्रोह हुए। इनमें से अंतिम बच्चा सक्का के विद्रोह के बाद १९२९ में अमीर को गद्दी छोड़कर इटली की शरण लेनी पड़ी। किस प्रकार धार्मिक कट्टरता सामाजिक सुधार के आड़े आ सकती है, अमानुल्ला खाँ का पतन इसका ज्वलंत उदाहरण है। [भ० श० उ०]

अमिताभ बौद्धों के महायान संप्रदाय के अनुसार वर्तमान जगत् के अभिभावक तथा अधीश्वर बुद्ध का नाम। इस संप्रदाय का यह मंतव्य है कि स्वयंभू आदिबुद्ध की ध्यानशक्ति की पाँच क्रियाओं के द्वारा पाँच ध्यानी बुद्धों की उत्पत्ति होती है। उन्हीं में अन्यतम ध्यानी बुद्ध अमिताभ हैं। अन्य ध्यानी बुद्धों के नाम हैं—वैरोचन, अक्षोभ्य, रत्नसंभव तथा अमोघसिद्धि। आदिबुद्ध के समान इनके भी मंदिर नेपाल में उपलब्ध हैं। बौद्धों के अनुसार तीन जगत् तो नष्ट हो चुके हैं और आजकल चतुर्थ जगत् चल रहा है। अमिताभ ही इस वर्तमान जगत् के विशिष्ट बुद्ध हैं जो इसके अधिपति (नाथ) तथा विजेता (जित) माने गए हैं। 'अमिताभ' का शाब्दिक अर्थ है अनंत प्रकाश से संपन्न देव (अमिताः

आभा यस्य असौ)। उनके द्वारा अधिष्ठित स्वर्ग लोक पश्चिम में माना जाता है जिसे सुखावती (विष्णुपुराण में 'सुखा') के नाम से पुकारते है। उस स्वर्ग में सुख की अनत सत्ता विद्यमान है। उस लोक (सुखावती लोकधातु) के जीव हमारे देवा के समान सौदर्य तथा सौख्यपूर्ण होते है। वहाँ प्रधानतया बोधिसत्वा का ही निवास है, तथापि कतिपय अर्हतो की भी सत्ता वहाँ मानी जाती है। वहाँ के जीव अमिताभ के सामने कमल से उत्पन्न होते है। वे भगवान् बुद्ध के प्रभाभासुर शरीर का स्वत अपने नेत्रो से दर्शन करते है तथा अपने कानो से उनके वचना और उपदेशो का श्रवण करते है। सुखावती अनश्वर लोक नही है, क्योकि वहाँ के निवासी जीव अग्रिम जन्म में बुद्धरूप से उत्पन्न होते है। इस प्रकार अमिताभ का स्वर्ग केवल भोगभूमि ही नही है, प्रत्युत वह एक आनददायक शिक्षणकेंद्र है जहाँ जीव अपने पापो का प्रायश्चित्त कर अपने आपको सद्गुणसपन्न बनाता है। जापान मे अमिताभ जापानी नाम 'अमिदो' से विख्यात है। पूर्वोक्त स्वर्ग का वर्णनपरक सस्कृत ग्रथ '**सुखावती व्यूह**' नाम से प्रसिद्ध है जिसके दो सस्करण आजकल मिलते है। बृहत् सस्करण के चीनी भाषा में बारह अनुवाद मिलते है जिनमे सबसे प्राचीन अनुवाद १४७-१८६ ई० के बीच किया गया था। लघु सस्करण का अनुवाद कुमारजीव ने चीनी भाषा मे पाँचवी शताब्दी मे किया था और ह्वेनत्साग ने सप्तम शताब्दी मे। इससे इस ग्रथ की प्रख्याति का पूर्ण परिचय मिलता है।

सं०ग्र०—विटरनित्स हिस्ट्री आँव इडियन लिटरेचर, भाग २, कलकत्ता, १६२५। [ब० उ०]

अमीचंद

(मृत्यु १७६७ ई०), सभवत वास्तविक नाम अमीरचद का बगाली उच्चारण। सामयिक अँगरेजो न तथा उन्ही के आधार पर इतिहासकार मेकाले ने उसे बगाली बताया है, किंतु वस्तुत वह अमृतसर का रहनेवाला सिक्ख व्यवसायी था और दीर्घ काल से कलकत्ते मे बस गया था। अँगरेजो के प्रभुत्व का प्रसार सर्वप्रथम दक्षिण मे हुआ, किंतु अगरेजी साम्राज्य के सस्थापन की नीव बगाल मे ही पडी। बगाल मे, व्यवसायलाभ की भावना से प्रेरित होकर अँगरेजो के सर्वप्रथम सपर्क मे आनेवाले भारतीय व्यवसायी ही थे। अलीवर्दी खाँ के कठोर नियत्रण मे तो अँगरेज अपने प्रभत्व का विस्तार करने मे असमर्थ रहे, किंतु अल्पवयस्क, अपरिपक्व तथा उद्धतप्रकृति सिराजद्दौला के राज्यारोहण से यह सभव हो सका। नितात स्वार्थलाभ से प्रेरित होकर अमीचद ने अँगरेजो की यथेष्ट सहायता की, किंतु, इतिहास मे उसका नाम अपरिचित ही रहता यदि प्लासी युद्ध के पूर्व क्लाइव और मीरजाफर में जो सधियोजना हुई उसमे अमीचद से सबधित क्लाइव के अनैतिक आचरण से इगलैंड की पालियामेट मे तथा अँगरेज इतिहासकारो द्वारा क्लाइव के कार्य की कटु आलोचना न हुई होती। अमीचद ने अँगरेजो के व्यावसायिक सपर्क में आकर यथेष्ट धन अर्जन कर लिया था।

कूटनीतिज्ञता के दृष्टिकोण से, वैध या अवैध उपायो से, अँगरेजो के सामूहिक तथा व्यक्तिगत लाभ की अभिवृद्धि के लिये, सिराजुद्दौला के राज्यारोहण के बाद सिराजुद्दौला के प्रभुत्व का दमन कर अव्यवस्थित शासन का और भी अव्यवस्थित बनाना तत्कालीन अँगरेजा की दृष्टि से वाछनीय था। इस घटनाक्रम मे सिराजुद्दौला ने अँगरेजो के मुख्य व्यावसायिक केंद्र कलकत्ते पर आक्रमण करने का निश्चय किया। इस आक्रमण के पूर्व अँगरेजो ने केवल सदेह के आधार पर अमीचद को बदी बनाने के लिये सिपाही भेजे। सिपाहियो ने अमीचद के अत पुर पर आक्रमण कर दिया। अपमानित होने से बचने के लिये अत पुर की तेरह स्त्रियो की हत्या कर दी गई। ऐसे मर्मांतक अपमान के होने पर भी अमीचद ने अँगरेजो का साथ दिया। कलकत्ता पतन के बाद उसने अनेक अँगरेज शरणार्थियो को आश्रय दिया तथा अन्य प्रकारो से भी सहायता प्रदान की। क्लाइव ने अमीचद को वाट्स का दूत बनाकर नवाब की राजधानी मुर्शिदाबाद भेजा। इस स्थिति मे उसने अँगरेजो को अमूल्य सहायता प्रदान की। सभवत, चद्रनगर पर अँगरेजा के आक्रमण के लिये नवाब से अनुमति दिलवाने मे अमीचद का ही हाथ था। उसी ने नवाब के प्रमुख अधिकारी महाराज नदकुमार को सिराजुद्दौला से विमुख कर अँगरेजो का तरफदार बनाया।

नवाब के विरुद्ध जगत्सेठ तथा मीरजाफर के साथ अँगरेजो ने जिस गुप्त षड्यत्र का आयोजन किया था उसमें भी अमीचद का बहुत बडा हाथ था। बाद मे, जब क्लाइव के साथ मीरजाफर की सधिवार्ता चल रही थी, अमीचद ने अँगरेजो को धमकी दी कि यदि सिराजुद्दौला की पदच्युति के बाद प्राप्त खजाने का पाँच प्रतिशत उसे न दिया जायगा तो वह सब भेद नवाब पर प्रकट कर देगा। अमीचद को विफलप्रयत्न करने के लिये दो सधिपत्र तैयार किए गए। एक नकली, जिसमे अमीचद को पाँच प्रतिशत भाग देना स्वीकार किया गया था, दूसरा असली, जिसमे यह अश छोड दिया गया था। ऐडमिरल वाट्सन ने नकली सधिपत्र पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। तब क्लाइव ने उसपर वाट्सन के हस्ताक्षर नकल कर, वह नकली सधिपत्र अमीचद को दिखा, उसे आश्वस्त कर दिया। सामयिक इतिहासकार ओर्मी का कथन है कि सिराजुद्दौला की पदच्युति के बाद जब वास्तविक स्थिति अमीचद को बताई गई तो इस आघात से उसका मस्तिष्क विकृत हो गया तथा कुछ समय उपरात उसकी मृत्यु हो गई। किंतु, इतिहासकार बेवरिज के मतानुसार वह दस वर्ष और जीवित रहा। अँगरेजो से उसके सपर्क बने रहे जिसका प्रमाण यह है कि उसने फाउड्लिंग अस्पताल को दो हजार पाउड दान दिए जिसकी भित्ति पर 'कलकत्ते के काले व्यवसायी' की सहायता स्वीकृत है। उसने लदन के मेग्डालेन अस्पताल को भी दान दिया था। [रा० ना०]

अमीबा

अत्यत सरल प्रकार का एक प्रजीव (प्रोटोजोआ) है जिसकी अधिकाश जातियाँ नदियो, तालाबो, मीठे पानी की भीलो, पोखरो, पानी के गड्ढो आदि मे पाई जाती है। कुछ सबधित जातियाँ महत्वपूर्ण परजीवी और रोगकारी है।

जीवित अमीबा बहुत सूक्ष्म प्राणी है, यद्यपि इसकी कुछ जातियो के सदस्य ½ मिलीमीटर से अधिक व्यास के हो सकते है। सरचना में यह जीवरस (प्रोटोप्लाज्म) के छोटे ढेर जैसा होता है, जिसका आकार निरतर धीरे धीरे बदलता रहता है। कोशिकारस बाहर की ओर अत्यत सूक्ष्म कोशाकला (प्लाज्मालेमा) के आवरण से सुरक्षित रहता है। स्वय कोशारस के दो स्पष्ट स्तर पहिचाने जा सकते है—बाहर की ओर का स्वच्छ, कणरहित, काच-जैसा, गाढा बाह्य रस तथा उसके भीतर का अधिक तरल, धूसरित, कणयुक्त भाग जिसे आतर रस कहते है। आतर रस में ही एक बडा केंद्रक भी होता है। सपूर्ण आतर रस अनेक छोटी बडी अन्नधानियो तथा एक या दो सकोची रसधानियो से भरा होता है। प्रत्येक अन्नधानी मे भोजनपदार्थ तथा कुछ तरल पदार्थ होता है। इनके भीतर ही पाचन की क्रिया होती है। सकोचिरसधानी में केवल तरल पदार्थ होता है। इसका निर्माण एक छोटी धानी के रूप में होता है, किंतु धीरे धीरे यह बढती है और अत मे फट जाती है तथा इसका तरल बाहर निकल जाता है।

अमीबा
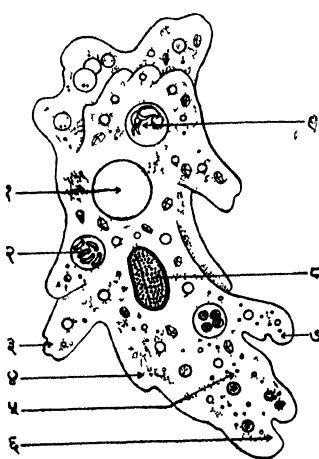
१ सकोची रसधानी, २ अन्नधानी, ३ कूटपाद, ४ कूटपाद, ५ आतर रस, ६ स्वच्छ बाह्य रस, ७ कूटपाद, ८ केंद्रक ९ अन्नधानी।

अमीबा की चलनक्रिया बडी रोचक है। इसके शरीर से कुछ अस्थायी प्रवर्ध निकलते है जिनको कूटपाद (नकली पैर) कहते है। पहले चलन की दिशा में एक कूटपाद निकलता है, फिर उसी कूटपाद में धीरे धीरे सभी कोशारस बहकर समा जाता है। इसके बाद ही, या साथ साथ, नया कूटपाद

बनने लगता है। हाइमन, मास्ट आदि के अनुसार कूटपादों का निर्माण कोशारस में कुछ भौतिक परिवर्तनों के कारण होता है। शरीर के पिछले भाग में कोशारस गाढे गोद की अवस्था (जेल स्थिति) से तरल स्थिति मे परिवर्तित होता है और इसके विपरीत अगले भाग में तरल स्थिति से जेल स्थिति में। अधिक गाढा होने के कारण आगे बननेवाला जेल कोशिकारस को अपनी ओर खीचता है।

अमीबा जीवित प्राणियों की तरह अपना भोजन ग्रहण करता है। वह हर प्रकार के कार्बनिक कणों—जीवित अथवा निर्जीव—का भक्षण करता है। इन भोजन-कणों को वह कई कूटपादों से घेर लेता है; फिर कूटपादो के एक दूसरे से मिल जाने से भोजन का कण कुछ तरल के साथ अन्नधानी के रूप में कोशारस में पहुँच जाता है। कोशारस से अन्नधानी में पहले आम्ल, फिर क्षारीय पाचक यूषो का स्राव होता है, जिससे प्रोटीन तो निश्चय ही पच जाते है। कुछ लोगो के अनुसार मंड (स्टार्च) तथा वसा का पाचन भी कुछ जातियो में होता है। पाचन के बाद पचित भोजन
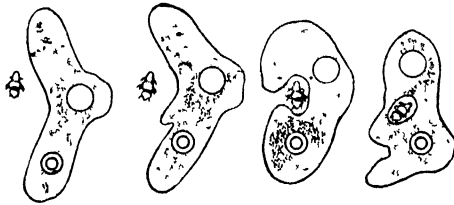
अमीबा का आहारग्रहण

इस चित्र मे दिखाया गया है कि अमीबा आहार कैसे ग्रहण करता है। सब से बाएँ चित्र मे अमीबा आहार के पास पहुँच गया है। बाद के चित्रो मे उसे घेरता हुआ और अतिम चित्र मे अपने भीतर लेकर पचाता हुआ दिखाया गया है।

का शोषण हो जाता है और अपाच्य भाग चलनक्रिया के बीच क्रमश शरीर के पिछले भाग मे पहुँचता है और फिर उसका परित्याग हो जाता है। परित्याग के लिये कोई विशेष अंग नही होता।

श्वसन तथा उत्सर्जन (मलत्याग) की क्रियाएँ अमीबा के बाह्य तल पर प्राय सभी स्थानो पर होती है। इनके लिये विशेष अगो की आवश्यकता इसलिये नही होती कि शरीर बहुत सूक्ष्म और पानी से घिरा होता है।

कोशिकारस की रसाकर्षण दाब (ऑसमोटिक प्रेशर) बाहर के जल की अपेक्षा अधिक होने के कारण जल बराबर कोशाकला को पार करता हुआ कोशारस में जमा होता है। इसके फलस्वरूप शरीर फूलकर अत मे फट जा सकता है। अत. जल का यह आधिक्य एक दो छोटी धानियो में एकत्र होता है। यह धानी धीरे धीरे बढ़ती जाती है तथा एक सीमा तक बढ़ जाने पर फट जाती है और सारा जल निकल जाता है। इसीलिये इसको संकोची धानी कहते है। इस प्रकार अमीबा में रसाकर्षण नियंत्रण होता है।

प्रजनन के पहले अमीबा गोलाकार हो जाता है, इसका केंद्रक दो केंद्रको में बँट जाता है और फिर जीवरस भी बीच से खिचकर बँट जाता है। इस प्रकार एक अमीबा से विभाजन द्वारा दो छोटे अमीबे बन जाते है। संपूर्ण क्रिया एक घंटे से कम में ही पूर्ण हो जाती है।

प्रतिकूल ऋतु आने के पहले अमीबा अन्नधानियों और संकोची धानी का परित्याग कर देता है और उसके चारों ओर एक कठिन पुटी (सिस्ट) का आवेष्टन तैयार हो जाता है जिसके भीतर वह गरमी या सर्दी में सुरक्षित रहता है। पानी सूख जाने पर भी पुटी के भीतर का अमीबा जीवित बना रहता है। हाँ, इस बीच उसकी सभी जीवनक्रियाएँ लगभग नहीं के बराबर रहती हैं। इस स्थिति को बहुधा स्थगित प्राणिक्रम कहते है। उबलता पानी डालने पर भी पुटी के भीतर का अमीबा मरता नही। बहुधा पुटी के भीतर अनुकूल ऋतु आने पर कोशारस तथा केंद्रक का विभाजन हो जाता है और जब पुटी नष्ट होती है तो उसमें से दो या चार नन्हें अमीबे निकलते हैं।

मनुष्य की अँतड़ी में छ: प्रकार के अमीबे रह सकते है। उनमें से एक के कारण प्रवाहिका (पेचिश) उत्पन्न होती है जिसे अमीबाजन्य प्रवाहिका कहते है। यह अमीबा अँतड़ी के ऊपरी स्तर को छेदकर भीतर घुस जाता है। इस प्रकार अँतड़ी मे घाव हो जाते है। कभी कभी ये अमीबे यकृत (लिवर) तक पहुँच जाते है और वहाँ घाव कर देते है।

[उ० शं० श्री०]

अमीर खुसरो फारसी का श्रेष्ठतम भारतीय कवि जो उत्तरप्रदेश के एटा जिले के पटियाली नामक स्थान मे १२५३ ई० मे उत्पन्न हुआ था। इसका पिता सैफुद्दीन महमूद लाची तुर्कों के सरदारों मे से था और अल्तमश के शासनकाल में भारत आकार बस गया था। इसकी माता इमादुल मुल्क (राज्यस्वामी) की कन्या थी। अमीर खुसरो की केवल १० वर्ष की अवस्था में ही सैफुद्दीन का देहांत हो गया इससे इसके नाना ने इसका पालन पोषण किया। बाल्यकाल में ही अमीर खुसरो शेख निज़ामुद्दीन औलिया का शिष्य हो गया और उनके प्रति उसने महान् प्रेम और आदर बढाया। अत्यत प्रारभिक अवस्था में ही उसने काव्यरचना आरभ की। बलबन के शासनकाल मे वह श्रेष्ठ कुलीनो और शाही परिवार के सदस्यो—अलाउद्दीन किशलू खाँ, बुगरा खा, बादशाह मुहम्मद तथा मलिक अली सरजंदर हातिम खाँ—के संपर्क मे आया। कैकुबाद दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने उसे अपने दरबार मे आमत्रित किया और प्रधान दरबारियो मे उसे समिलित कर लिया। उसी समय से जीवन भर वह सुल्तान की सेवा में रहा। १३२४ मे वह गयासुद्दीन तुगलक के साथ बगाल की चढाई पर गया। जब वह लखनौती में ठहरा था उसी समय उसके आध्यात्मिक गुरु शेख निज़ामुद्दीन औलिया दिल्ली मे चल बसे। इससे खुसरो को मार्मिक शोक हुआ। अपने गुरु की मृत्यु के छ. महीने पश्चात् १३२५ मे दिल्ली मे खुसरो ने भी आखिरी साँस ली। वह शेख निज़ामुद्दीन औलिया के मकबरे के पैताने दफनाया गया।

अमीर खुसरो बहुमुखी प्रतिभा का व्यक्ति था। वह कवि, भाषाशास्त्री, गायक, विद्वान्, दरबारी और रहस्यवादी, सभी कुछ था। वस्तुत: वह मध्यकालीन सस्कृति का विशिष्ट प्रतिनिधि था। कवि की हैसियत से वह फारसी कविता की महती प्रतिभाओ—फिरदौसी, सादी, अनवरी, हाफिज, उर्फी आदि की कोटि मे था। उसने हिंदी में एक 'दीवान' भी रचा था। (दुर्भाग्यवश अमीर खुसरो की हिदी रचनाओ का कोई प्रामाणिक सस्करण उपलब्ध नही)। इसके अतिरिक्त खुसरो सगीत में भी अत्यधिक रुचि रखता था और इस कला को उसने अपनी महत्वपूर्ण देनो से अलंकृत किया।

भारत के लिये खुसरो के मन मे अगाध प्रेम था और उसकी संश्लिष्ट संस्कृति का महान् प्रशसक था। अपने नूह सिपेहत में उसने ज्ञान और विद्या के क्षेत्र में अन्य सभी देशो के ऊपर भारत की महत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया।

अमीर खुसरो की निम्नाकित कृतियाँ उपलब्ध है :

(१) पाँच दीवान : (क) तुहकातुस सिगार (किशोरावस्था की रची हुई कविताएँ), (ख) वस्तुल हयात (मध्य जीवन की कविताएँ), (ग) गुर्रतुल कमाल (परिपक्वावस्था की कविताएँ), (घ) बकिया-नकिया, (ङ) निहायततुल कमाल।

(२) पाँच मसनवियाँ : (क) मतलाउल अनवर, (ख) शिरिन-उ खुसरो, (ग) ऐनाई सिकदरी, (घ) हश्त-बहिश्त, (ङ) मजनूनुल लैला।

(३) तीन गद्य कृतियाँ : (क) खाजा इन-उल फुतूह (अलाउद्दीन खिलजी के युद्धों का विवरण), (ख) अफजलुल फवाइद (शेख निजामुद्दीन औलिया की उक्तियो का संकलन, (ग) इजाजी (खुसरवी ललित गद्य के नमूने)।

(४) पाँच ऐतिहासिक कविताएँ : (क) किरानुस-सादेइन कैकुबाद के उसके पिता बुगरा खाँ से मिलने पर, (ख) मिकताहुल फुतूह (जलालुद्दीन खिलजी के सैन्य संचालनो का विवरण), (ग) दुवाल रानी खिज्र खाँ और

दुवालदी की प्रणयकथा, (घ) नूह सिपिह (मुबारक खिलजी के शासन का विवरण), (ङ) तुग़लकनामा (खुसरो खाँ से ग़यासुद्दीन तुगलक के युद्ध का विवरण)।

सं०ग्रं०—जीवनी संबंधी विवरणों के लिये देखिए: ग़ुर्रातुल कमाल की भूमिका, समसामयिक विवरणों के लिये देखिए : बरानी, तारीख़ी-फिरोज़-शाही मीरखुर्द, सियासुल औलिया शिबली भी देखिए, शीरुल आजम (उर्दू में, आज़मगढ़ १९४७) खंड दो, पृष्ठ ९६-१७५ सैयद अहमद महराहर्वी: हयाती खुसरो (उर्दू में, लाहौर, १९०९); मुहम्मद हबीब : हजरत अमीरखुसरो ऑव डेलही (बंबई, १९२७); वाहिद मिर्ज़ा : लाइफ ऐंड टाइम्स ऑव अमीर खुसरो (कलकत्ता, १९३५)।

[खा० अ० नि०]

अमुर्री बाइबिल के अनुसार अमुर्री यहूदियों से भिन्न एक अन्य जाति थी जो कानान की निवासिनी थी। उत्खनन से प्राचीन मिस्र की सभ्यता को प्रकाश में लानेवाली जो सामग्री प्राप्त हुई है उसमें पेपिरस् पर अंकित कुछ अमुर्री लोगों के चित्र भी हैं। इन चित्रों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि अमुर्री जाति किसी आर्य जाति या भारोपीय जाति की एक शाखा रही होगी। बाबुली साहित्य के अनुसार अमुर्री जाति के लोग बाबुल से पश्चिम के भूभाग के निवासी थे। कुछ विद्वानों के अनुसार अमुर्री जाति ही आधुनिक अर्मनी जाति की पूर्वज थी।

बाबुल के राजकुलों की सूची के अनुसार २९०० ई० पू० में बाबुल पर अमुर्री जाति के राजकुल का शासन था। उसपर इनकी राजसत्ता का दूसरा उल्लेख उस समय मिलता है जब अमुर्री राजकुलों ने बाबुल पर २१०५ ई० पू० से १९२५ ई० पू० तक शासन किया। तेल अलअमर्ना और बोगाज़ कुई की उत्खननसामग्री से पता चलता है कि लेबनान और कादेश के राजघराने भी अमुर्री थे जिन्होंने १४०० ई० पू० से लेकर १२०० ई० पू० तक इन देशों पर राज किया। कुछ विद्वानों के अनुसार अमुर्री भाषा ही इब्रानी का प्राथमिक रूप थी।

सं०ग्रं०—ए० टी० ले : दि एंपाएर आव दि एमोराइट्स (१९१९)।

[वि० ना० पां०]

अमुल ईरान के मजाऊदेरान प्रांत का एक नगर है जो बरफुरूश से २३ मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। इसकी जनसंख्या २२,००० है। यह हेराज़ नदी के दोनों तटों पर बसा है तथा एलबुर्ज़ पर्वत एवं कैस्पियन सागर के तटीय प्रदेश के मध्य में एक प्रमुख नगर है। नगर के निकट ही स्थित प्राचीन स्मारकों के भग्नावशेष अमुल की प्राचीन गौरवगरिमा की कहानी सुनाते हैं। यहाँ पर सम्राट् सैयद कव्वामुद्दीन (मृत्यु १३७९ ई०) तथा १४वीं शताब्दी के दूसरे प्रसिद्ध लोगों के मकबरों के अवशेष दर्शनीय हैं। चावल एवं फल यहाँ की मुख्य उपज है। [शि० मं० सिं०]

अमृत ऐसा कोई तत्व या पदार्थविशेष जिसकी प्राप्ति से मृत्यु का निवारण हो सके। इसकी कल्पना ऋग्वेद से ही आरंभ होती है और ब्राह्मण, पुराण एवं आयुर्वैदिक साहित्य में उसकी अनेक प्रकार से व्याख्याएँ मिलती हैं। सृष्टि में मुख्यतः दो ही तत्व हैं—एक देव और दूसरे पंचभूत। देवतत्व अमृत और पंचभूत मर्त्य हैं। ऋग्वेद में देवतत्व के आवाहन के साथ अनेक बार अमृत की कल्पना प्राप्त होती है। देवों को अमृत कहा गया है (अमृता देवा, शतपथ २।१।३।४)। प्राणी के शरीर में जो प्राणतत्व है वह अमृत का ही रूप माना गया है (अमृतं उ वै प्राणाः, श० ९।३।३।१३)। मनुष्य को जितनी आयुष्य मिली है उसमें शत-प्रति-शत प्राणशक्ति का उपभोग अमृतत्व का ही लक्षण है। इस दृष्टि से सूर्य की रश्मियों में, उन्मुक्त वायु और जलधारा में, जहाँ जहाँ प्राणशक्ति का अधिक प्रवाह हो, वहीं अमृत का अधिष्ठान समझना चाहिए। इसी कारण 'आदित्यो अमृतम्'—यह परिभाषा बनी। इसी दृष्टि से १०० वर्ष की पूर्ण आयु की उपलब्धि को मानव के लिये अमृतत्व कहा गया है। (एतद् व मनुष्यस्यामृतत्वं यत्सर्वमायुरेति)। और भी, मन अमृत, शरीर मर्त्य है। अनंत और रोग मृत्यु के रूप हैं। अप्रमाद अमृत और प्रमाद मृत्यु का रूप कहा गया है।

प्रजातंतु या संतान के रूप में भी मनुष्य अमरता का अनुभव करता है। ब्रह्मचर्य अमृत का रूप और आत्मविनाश मृत्यु है। पुराणों के अनुसार देव और असुरों ने समुद्रमंथन द्वारा अमृत को प्राप्त किया। अमृत देवों को ही मिला, असुरों को नहीं। प्रतिवेव का प्रतिपक्षी तत्व असुर है। अमृत, ज्योति और सत्य की संज्ञा देव है। मृत्यु, अनृत और तम की संज्ञा असुर है। देवासुर-संग्राम सृष्टि के अमृत-मृत्यु-संघर्ष का ही प्रतीक है। विश्व-रचना के मूल में जो शक्ति है वही अपार समुद्र है। उसी के मंथन से अमृत और विष का जन्म माना गया है। देवों में सबसे बड़े महादेव का एक रूप मृत्युंजय है। उस स्वरूप से उन्होंने विष, मृत्यु या सर्प को अपने वश में कर लिया है। अमृत की उपलब्धि के लिये विष या मृत्यु को वश में करना आवश्यक है। आयुर्वद के अनुसार जीवनतत्व की संज्ञा अमृत है। प्राकृतिक सदाचार से उसकी रक्षा होती है। रोग अमृत के प्रतिपक्षी हैं। नाना प्रकार की ओषधियों के द्वारा अमृतत्व या जीवन की पुनःप्राप्ति ही आयुर्वेदोक्त अमृत है।

[वा० श० अ०]

अमृतसर पंजाब का एक जिला है और इसी नाम का वहाँ एक प्रसिद्ध नगर भी है। जिले की स्थिति : ३१°४′ से ३२°३′ अ० उ० तक, ७४°२९′ से ७५°२४′ दे० पू० तक; क्षेत्रफल : १,९९२ वर्ग मील; जनसंख्या : १३,४४,४२७ (१९५१ ई०)।

अमृतसर जिला नए पंजाब प्रांत के पश्चिमोत्तर में जालंधर कमिश्नरी के सारे जिलों में प्रमुख है। लगभग संपूर्ण भाग मैदान है। रावी और व्यास नदियाँ इसकी पश्चिमोत्तर और दक्षिण-पूर्व सीमा क्रम से बनाती हैं। इनके अतिरिक्त साकी नदी जो जिला गुरदासपुर से आती है, इसके उत्तर-पश्चिम भाग में बहती हुई रावी नदी में मिल जाती है। इस नदी में पूरे वर्ष जल रहता है। यहाँ की जलवायु शीतकाल में अधिक ठंढी तथा ग्रीष्मऋतु में गरम रहती है। औसत वार्षिक वर्षा लगभग २१ इंच होती है। लोगों का मुख्य धंधा खेती बारी है और अपर बारी दोआब नहर द्वारा सिंचाई की अच्छी सुविधा प्राप्त है। गेहूँ, मक्का, ज्वार, बाजरा, दाल, कपास और गन्ना यहाँ की मुख्य उपज हैं।

अमृतसर (नगर)—स्थिति : ३१°३८′ उ० अक्षांश तथा ७४°५३′ पू० देशांतर; जनसंख्या : ३,२५,७४७ (१९५१ ई०)। यह सिक्खों का प्रमुख नगर तथा तीर्थस्थान है। एक प्रकार से इसकी नीव सिक्खों के चौथे गुरु रामदास ने सन् १५७७ ई० में डाली। उनकी इच्छा थी कि सिक्ख जाति के लिये एक सुंदर मंदिर का निर्माण किया जाय। मंदिर का निर्माणकार्य आरंभ होने से पूर्व उसके चारों ओर उन्होंने एक ताल खुदवाना आरंभ किया। परंतु उनकी मृत्यु हो जाने के कारण यह कार्य उनके पुत्र तथा पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने स्वर्णमंदिर बनवाकर पूर्ण किया। धीरे धीरे इसी मंदिर के चारों ओर अमृतसर नगर बस गया। महाराजा रणजीतसिंह ने मंदिर की शोभा बढ़ाने में बहुत धन व्यय किया और उसी समय से यह नगर एक मुख्य व्यापारिक केंद्र बन गया। आज भी व्यापार और उद्योग की दृष्टि से अमृतसर बहुत आगे बढ़ा हुआ है। सूती, ऊनी और रेशमी कपड़ा बुनने एवं दरी और शाल बनाने के उद्योग मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त कपड़े की रँगाई, छपाई और कढ़ाई के उद्योग भी अधिक उन्नति कर गए हैं। बिजली के पंखे, कलें, रासायनिक वस्तुएँ, लोहे की चादरें, प्लास्टिक का सामान तथा नाना प्रकार की वस्तुएँ बनाने का भी यह एक प्रमुख केंद्र बनता जा रहा है। यहाँ खालसा कालेज १८९३ ई० में खोला गया। यह नगर रेल द्वारा कलकत्ता से १२३२ मील, बंबई से १२६० मील और दिल्ली से २७८ मील पर है। ऐतिहासिक दृष्टि से अमृतसर विशेष महत्व का है। दरबार साहिब (स्वर्णमंदिर) से लगभग दो फर्लांग की दूरी पर ही विख्यात जलियाँवाला बाग है जहाँ जनरल डायर ने १३ अप्रैल, सन् १९१९ ई० को एक सार्वजनिक सभा पर गोली चलवाई थी, जिसमें लगभग डेढ़ हजार व्यक्ति घायल हुए एवं मारे गए थे। १९४७ ई० में पंजाब प्रांत के बँटवारे से नगर की उन्नति को विशेष ठेस लगी; पर अब भी यह पंजाब राज्य का सबसे बड़ा नगर है। [आ० स्व० जौ०]

अमेज़न प्राचीन पश्चिमी जनविश्वास के अनुसार नारी-योद्धा जिनका युक्सीन सागर के निकट पोंतस में आवास बताया जाता है। कहते हैं कि इन नारी-योद्धाओं का अपना स्वतंत्र राज्य था और उसपर उनकी रानी थर्मोदोन नदी के तट पर अपनी अपनी राजधानी थेमि-

अमृतसर का स्वर्णमंदिर

यह सिक्खों का गुरुद्वारा है (देखें पृष्ठ २००)।

आगरे का विश्वप्रसिद्ध ताजमहल
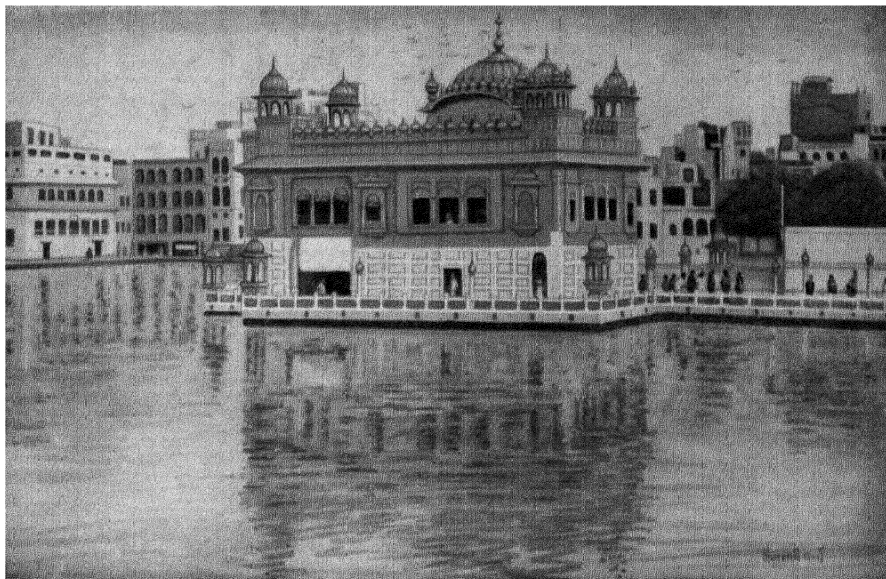
(देखें पृष्ठ २३५)
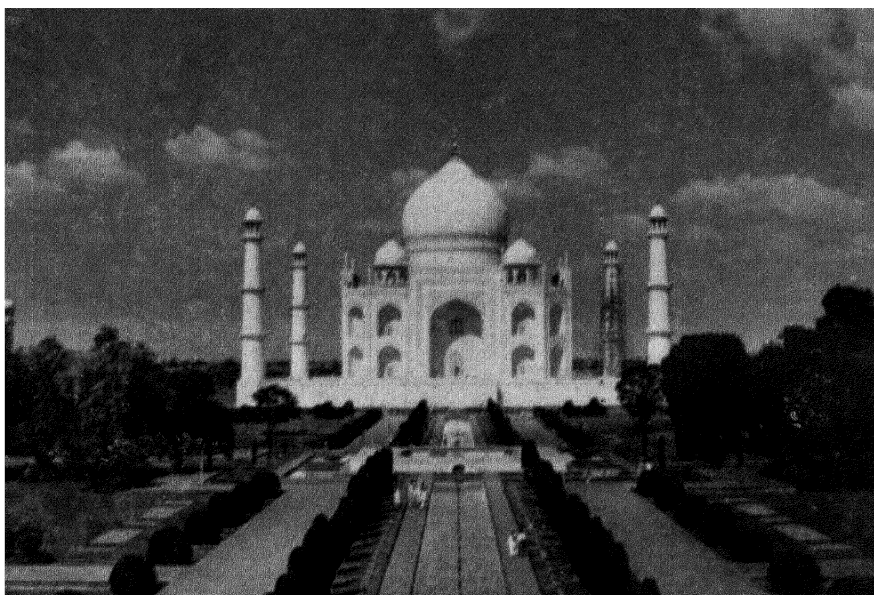
स्कीरा से राज्य करती थी। आनुश्रुतिक विश्वास के अनुसार इन योद्धाओं ने इस्कीदिया, थ्रेस, लघु एशिया और ईजियन सागर के अनेक द्वीपों पर हमले किए थे और एक समय तो उनकी सेनाएँ अरब, सीरिया और मिस्र तक पहुँच गई थीं। उनके देश में मर्द को बसने का अधिकार न था, परंतु वे अपनी अद्‌भुत जाति को लुप्त होने से बचाने के लिये अपनी पड़ोसी जाति के पुरुषों में जाकर कुछ दिन रह आती थीं। इस संबंध से जो पुत्र होते थे वे या तो मार डाले जाते थे या अपने पिताओं के पास भेज दिए जाते थे और कन्याएँ रख ली जाती थीं जिन्हें उनकी माताएँ कृषिकर्म, आखेट और युद्ध करना सिखाती थीं। ग्रीकों का विश्वास था कि अमेज़न-योद्धाओं के दाहिना स्तन नहीं होता था जिससे वे अस्त्र शस्त्र आसानी से चला सकती थीं। ग्रीक किंवदंतियों में तो अनेक ग्रीक वीरों का इन नारी-योद्धाओं से युद्ध हुआ है जिसके दृश्य ग्रीक कलावंतों ने बार बार अपने देवताओं की चौखटों पर उभारे हैं। ग्रीक कला में अमेज़न—नारी-योद्धा का आकलन पर्याप्त हुआ है। एक अमेज़न (मात्तेई) की अत्यंत सुंदर मूर्ति वातिकन के संग्रहालय में आज भी सुरक्षित है। [भ० श० उ०]

अमेज़न द० अमरीका की एक प्रसिद्ध नदी है जो जल की मात्रा के विचार से संसार की सबसे बड़ी तथा सर्वाधिक लंबी नदियों में दूसरी नदी है। इस नदी की संपूर्ण द्रोणी विषुवतरेखीय क्षेत्र में पड़ती है। पेरूवियन ऐंडीज़ पर्वत के पूर्वांचल में १२,००० फुट की ऊँचाई पर स्थित लागो लारीकोचा नामक झील से निकलकर पेरू तथा ब्राज़ील में लगभग ४,००० मील पूर्व-उत्तर-पूर्व प्रवाह के अनंतर भूमध्यरेखा पर अंध-महासागर (ऐटलांटिक ओशन) में गिरती है। यह मुहाने से (६० मील पर स्थित) पारा तक बड़े सामुद्रिक पोतों, (२,३०० मील पर स्थित) इकीटोस तक छोटे सामुद्रिक पोतों और (२,७८६ मील पर स्थित) आचुअल प्वाइंट तक छोटे जहाजों के लिये नौकागम्य है। धारा की औसत गति तीन मील प्रति घंटा है जो सँकरे स्थानों में पाँच मील तक हो जाती है। नवंबर से जून तक नदी बढ़ाव पर रहती है। सुदूर तक यह प्रमुख दो धाराओं में विभक्त होकर बहती है, पर मुहाने से ४०० मील अंतःस्थित ओवीडोज के बाद एकीबद्ध होकर लगभग एक मील चौड़ी तथा २०० फुट गहरी नदी के रूप में विशाल जलराशि लाती है, जो समुद्र में मुहाने से २०० मील दूर तक स्पष्ट पहचानी जा सकती है। बाढ़ में घाटी का न केवल निचला मैदान ही (इगापो) प्रत्युत् ऊपरी मैदान (वारगेम) के लाखों वर्ग मील का क्षेत्र भी झील सा हो जाता है।

अमेज़न में २७,२२,००० वर्ग मील क्षेत्र से लगभग दो सौ नदियों का जल आता है। अधिकांश सहायक नदियाँ दक्षिण से आती हैं जिनमें हुआल्गा, उकायली, जावारी, जुटाई, जुरुआ, तेभी, कोआरी, मैडिरा, तापाजोज, ज़िंगु आदि प्रमुख हैं। सैंटियागो, मोरोना, जापुरा, रायो निग्रो, औतुमा, ट्रांबेटा आदि उत्तरी सहायक नदियाँ हैं। भूगोलवेत्ताओं के अनुसार अमेज़न का निचला भाग सामुद्रिक खाड़ी था जिसकी लहरों के अपक्षरण से ओवीडोज के पास का पर्वतीय स्थल कटकर बह गया। नदी के मुहाने पर विशाल भित्तिज्वार (बोर) आता है जिसके कारण नदी के जल के साथ विशाल परिमाण में मिट्टी आने पर भी डेल्टा नहीं बन पाता।

नदीतट पर स्थित पारा (जनसंख्या ३,५०,०००), मनाओज (ज०सं० १,००,०००), इक्वीटोस (ज०सं० ३०,०००) और संतारम (ज०सं० ७,०००) आदि बंदरगाहों द्वारा रबर, कहवा, चमड़ा, तंबाकू, लकड़ी, कपास, सुपारी, काकाओ, नारंगी, मांस, मछली तथा अन्य उष्णकटिबंधीय वस्तुओं का निर्यात होता है। अमेज़न द्रोणी में अनेक प्रकार के पेड़ पौधे, झाड़ियाँ, लताएँ तथा जीवजंतु, कीट पतंग, मछलियाँ आदि पाई जाती हैं जिनके बीच कटुतम जीवनसंघर्ष है। अतः यहाँ विभिन्न औद्योगिक, परिवाहनिक, मानवशास्त्रीय, भौगोलिक, वैज्ञानिक एवं खनिज संबंधी अन्वेषण एवं सर्वेक्षण कार्य हो रहे हैं। १९२७ एवं १९२८ में अमरीकी भौगोलिक परिषद् ने भी हिस्पानिक अमरीका (लैटिन अमरीका) के मानचित्र (मापक १ : १०,००,०००) की सामग्री के कल्पनार्थ विशेषज्ञों के दो दल भेजे थे।

यूरोपियनों में से स्पेन निवासी बिसेंट यानेज पिंजन ने सर्वप्रथम सन् १५०० ई० में अमेज़न का पता लगाया और मुहाने से ५० मील अंतर्देश तक यात्रा की। फ्रांसिस्को डी आरलेना ने इसका अमेज़ोनाज़ नाम रखा और १५४१ में ऐंडीज़ पर्वत से लेकर समुद्र तक इसकी यात्रा की। [का० ना० सिं०]

अमोघवर्ष राष्ट्रकूट राजा जो ल० ८१४ ई० में गद्दी पर बैठा और ६४ साल राज करने के बाद संभवतः ८७८ ई० में मरा। वह गोविंद तृतीय का पुत्र था। उसके किशोर होने के कारण पिता ने मृत्यु के समय करकराज को शासन का कार्य सँभालने को सहायक नियुक्त किया था। किंतु मंत्री और सामंत धीरे धीरे विद्रोही और असहिष्णु होते गए। साम्राज्य का गंगवाडी प्रांत स्वतंत्र हो गया और वेंगी के चालुक्य-राज विजयादित्य द्वितीय ने आक्रमण कर अमोघवर्ष को गद्दी से उतार तक दिया। परंतु अमोघवर्ष भी साहस छोड़नेवाला व्यक्ति न था और करकराज की सहायता से उसने राष्ट्रकूटों का सिंहासन फिर स्वायत्त कर लिया। राष्ट्रकूटों की शक्ति फिर भी लौटी नहीं और उन्हें बार बार चोट खानी पड़ी।

अमोघवर्ष के संजन-ताम्रपत्र के अभिलेख से समकालीन भारतीय राजनीति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, यद्यपि उसमें स्वयं उसकी विजयों का वर्णन अतिरंजित है। वास्तव में उसके युद्ध प्रायः उसके विपरीत ही गए थे। अमोघवर्ष धार्मिक और विद्याव्यसनी था, महालक्ष्मी का परम भक्त। जैनाचार्य के उपदेश से उसकी प्रवृत्ति जैन हो गई थी। 'कविराजमार्ग' और 'प्रश्नोत्तरमालिका' का वह रचयिता माना जाता है। उसी ने मान्यखेट राजधानी बनाई थी। अपने अंतिम दिनों में राजकार्य मंत्रियों और युवराज पर छोड़ वह विरक्त रहने लगा था। [ओं० ना० उ०]

अमोनिया तीव्र तथा विशेष प्रकार की तीक्ष्ण गंधवाली गैस है। इसके कुछ यौगिक, विशेषकर नौसादर (साल अमोनिऐक, या अमोनियम क्लोराइड), बहुत पहले ही ज्ञात थे। परंतु स्वतंत्र अमोनिया गैस के अस्तित्व के बारे में ठीक ज्ञान १७७४ ई० में जे० प्रीस्टली द्वारा इसे तैयार किए जाने पर हुआ। इस गैस का नाम उन्होंने 'ऐल्कलाइन एयर' रखा। १७७७ ई० में सी० डब्ल्यू० शेले ने इस गैस में नाइट्रोजन की उपस्थिति बताई; १७८५ में सी० एल० बेरटोले ने विद्युत् चिनगारी द्वारा इसे विघटित कर इसमें हाइड्रोजन तथा नाइट्रोजन की मात्राएँ ज्ञात कीं।

अमोनिया कई विधियों से स्वतः बनती है और बनाई जा सकती है। अल्प मात्रा में अमोनिया हवा तथा वर्षा के जल में पाई जाती है; नदी, तालाब और समुद्र के जल में भी (समुद्र-जल में लगभग ०.१ मिलीग्राम प्रति लिटर की मात्रा में) यह मिलती है। पशुओं के शारीरिक भाग एवं पौधों के सड़ने से (नाइट्रोजन युक्त कार्बनिक पदार्थों के विघटन द्वारा) अमोनिया तथा इसके लवण बनते हैं। अमोनिया के कुछ यौगिक खनिजों में, मिट्टी में और फलों के रस या पौधों के अन्य भागों में भी पाए जाते हैं।

अमोनिया बनाने की विधियाँ विशेषतः दो प्रकार की हैं—नाइट्रोजन और हाइड्रोजन तत्व के सीधे संयोग से अथवा नाइट्रोजन या अमोनिया के यौगिकों से। नाइट्रोजन और हाइड्रोजन के गैसीय मिश्रण में विद्युत् चिनगारी, या डिस्चार्ज, उत्पन्न करने से अमोनिया बनती है, जिसका समीकरण यह है : $ना_2 + ३\ हा_2 \rightleftharpoons २\ नाहा_3$ (ना=नाइट्रोजन, हा=हाइड्रोजन)। यह क्रिया उत्प्रेरक (कैटालिस्ट) की अनुपस्थिति में न्यून मात्रा में होती है। इस प्रत्यावर्ती क्रिया के रासायनिक संतुलन के विशेष अध्ययन से हाबर ने ज्ञात किया कि अमोनिया की मात्रा गैसीय मिश्रण की दाब तथा ताप पर विशेष रूप से निर्भर है।

अमोनिया के औद्योगिक उत्पादन के लिये हाबर की तथा कई अन्य संशोधित विधियाँ हैं (जैसे कैसले, क्लाउड इत्यादि की)। इनमें विशेषकर गैस की दाब, ताप, उत्प्रेरक के चुनाव तथा तैयार अमोनिया के अलग करने के ढंग में भिन्नता है। साधारणतया २००-१००० वायुमंडल (ऐटमॉस्फियर) की दाब, ४००-६००° सेंटीग्रेड का ताप, लोहा, आस्मियम, मोलिब्डिनम, यूरेनियम, टाइटेनियम, टंग्स्टन इत्यादि जैसे उत्प्रेरक तथा अल्कलाइन आक्साइड (जैसे सोडियम या पोटैसियम आक्साइड) के साथ उसके समर्थक (प्रोमोटर), जैसे ऐल्यूमिनियम, सिलिकन, जिरकोनियम आदि के आक्साइड का उपयोग होता है। हाइड्रोजन प्राप्त करने के स्रोत, नाइट्रोजन प्राप्त

करने के लिये हवा से ऑक्सिजन अलग करने की विधि तथा इनको शुद्ध करने की रीति में भी अंतर है।

नाइट्रोजन के ऑक्साइड, नाइट्रिक अम्ल एवं नाइट्रेट के अवकरण से अमोनिया प्राप्त की जा सकती है। उदाहरणत:, हाइड्रोजन के साथ नाइट्रिक ऑक्साइड गरम प्लैटिनम-स्पांज अथवा प्लैटिनाइज्ड-ऐस्बेस्टस पर प्रवाहित करने से अमोनिया प्राप्त होती है। इसी प्रकार नाइट्रिक अम्ल से भी अमोनिया बनती है। इसमें गरम नली में रंध्रमय पत्थर (जैसे प्यूमिस स्टोन) की सतह की उपस्थिति तथा ताँबा, जस्ता, राँगा के ऑक्साइड या फेरिक ऑक्साइड आदि उत्प्रेरक की आवश्यकता पड़ती है। नाइट्रस तथा नाइट्रिक अम्ल पर हाइड्रोजन सल्फाइड, राँगा, लोहा या जस्ता की क्रिया से भी अमोनिया मिलती है। नाइट्रेट या नाइट्राइट लवण के क्षारसहित घोल में जस्ता, जस्ता तथा प्लैटिनम, ऐल्यूमिनियम या सोडियम अमैल्गम की क्रिया से भी अमोनिया बनती है (इन लवणों की मात्रा ज्ञात करने के विचार से यह क्रिया महत्वपूर्ण है)। नाइट्रेट तथा नाइट्राइट का अवकरण जीवाणुओं द्वारा भी होता है।

नाइट्रोजन के कुछ यौगिक जैसे फास्फाइड, सल्फाइड, आयोडाइड या क्लोराइड पर और कुछ धातुओं (जैसे लिथियम, कैल्सियम, मैग्नीशियम) के नाइट्राइड पर पानी की क्रिया से अमोनिया बनती है। कई साइनाइड भी अतितप्त (सुपरहीटेड) भाप द्वारा अमोनिया बनाते हैं। कैल्सियम साइनामाइड तथा पानी की क्रिया द्वारा हवा का नाइट्रोजन अमोनिया जैसे उपयोगी रासायनिक यौगिक में परिवर्तित किया जा सकता है। यह फ्रैंक तथा कैरो की विधि है।

नाइट्रोजन युक्त कुछ कार्बनिक यौगिकों से भी अमोनिया प्राप्त होती है। प्रारंभ में इसका मूल स्रोत मूत्र तथा पशुओं का सींग, खुर इत्यादि था। साधारण मूत्र में २० से २५ ग्राम प्रति लीटर यूरिया होता है जो सड़ने पर अमोनियम कारबोनेट बनाता है। चमड़ा, सींग, बाल तथा पशुओं के अन्य भागों को बंद बर्तनों में गरम करने से अमोनिया तथा काला तेल सा पदार्थ, जिसे डिपेल ऑयल कहते हैं, प्राप्त होता है और जांतव कोयला (ऐनिमल चारकोल) बच रहता है।

पत्थर के कोयले को गरम करने पर (कोयले के संयुत नाइट्रोजन से) अमोनिया प्राप्त होती है। अत: कोल गैस, जलाने योग्य कोयला (कोक) बनाने में प्राप्त गैस, प्रोड्यूसर गैस और ब्लास्ट फरनेस गैस से अमोनिया उपजात (बाइप्रॉडक्ट) के रूप में मिलती है।

प्रयोगशाला में साधारणतया नौसादर को तीव्र या बुझाए सूखे चूने के साथ गरम करके अमोनिया गैस तैयार की जाती है।

अमोनिया के घोल के कई बार आसवन से, अथवा द्रव अमोनिया से प्रभाजित आसवन (फ्रैक्शनल डिस्टिलेशन) द्वारा प्राप्त गैस को पिघलाए हुए ऐल्कैली हाइड्राक्साइड में सुखाने से शुद्ध अमोनिया मिलती है। अमोनिया से क्रिया करने के कारण इस कार्य के लिये सामान्य सुखानेवाली वस्तुएँ, जैसे कल्सियम क्लोराइड, गंधक का अम्ल तथा फास्फोरस पेंटाक्साइड, प्रयुक्त नहीं की जा सकती हैं।

गुण—अमोनिया रंगहीन गैस है। इसे सहसा सूंघने पर आँख में आँसू आ जाता है। अधिक मात्रा से घुटन उत्पन्न होती है तथा इस गैस में बंद करने से जानवरों की मृत्यु हो जाती है। गैस का घनत्व ०.५९६३ (वायु =१), या ०.५३९५ (ऑक्सिजन=१), या ०.७७१० ग्राम प्रति लीटर (०° सेंटीग्रेड, ७६० मिलीमीटर दाब पर) होता है। अमोनिया गैस सरलता से रंगहीन तरल तथा बर्फ सदृश ठोस में परिवर्तित की जा सकती है। क्रांतिक (क्रिटिकल) ताप १३२.४° सें०, दाब १११.५ वायुमंडल तथा तरल का घनत्व ०.२३५ ग्राम प्रति घन सेंटीमीटर है। अमोनिया का द्रवणांक — ७७.७ सें० तथा क्वथनांक — ३३.३५° सें० है, संगलन उष्मा (—७५° सें० पर) १०८.१ तथा वाष्पायन उष्मा —३३.४°, —२०°, —१०° तथा ०° सें० पर क्रमानुसार ३२७.१, ३१७.६, ३०९.७ और ३०१.६ कैलोरी प्रति ग्राम है। (इस लेख में सर्वत्र कैलोरी से ग्राम-कैलोरी (१५° सें०) समझना चाहिए।)

पानी, ऐल्कोहल तथा बहुत से अन्य द्रवों में अमोनिया घुलनशील है। पानी में इसकी घुलनशीलता अत्यधिक है। ०° सें० तथा ७६० मिलीमीटर पर पानी अपने आयतन के हजार गुने से भी अधिक अमोनिया घोल लेता है। इस क्रिया में ताप उत्पन्न होता है। ठंढे घोल को गरम करके अमोनिया अंशत: या पूर्णत: बाहर निकाली जा सकती है।

अमोनिया का वाष्प दबाव विभिन्न तापों पर इस प्रकार हैं:—

१	१०	४०	१००	४००	७६० मिली०मि०
—१०९.१	—९१.९	—७९.२	—६८.४	—४५.४	—३६.६सें०

अमोनिया का विशिष्ट ताप ठोस के लिये (—१०३° सें० से —१८८° सें० तक ताप पर) ०.५०२ है, द्रव के लिये (—६०° सें० पर) १.०४७ है, तथा गैस के लिये (१५° सें० और एक वायुमंडल की स्थिर दाब पर) ०.५२३२ (कैलोरी/ग्राम/डिग्री सें०) है; स्थिर दाब तथा स्थिर आयतन के विशिष्ट ताप का अनुपात (अर्थात् γ)=१.३१० है। गैस तथा द्रव अमोनिया की निर्माण उष्मा (१८° सें० तथा १ वायुमंडल दाब पर) क्रमानुसार १०.९४ तथा १५.८४ किलो-कैलोरी है।

ऑक्सिजन में अमोनिया गैस जलती है, जिससे नाइट्रोजन, जल एवं अल्प मात्रा में अमोनियम नाइट्रेट और नाइट्रोजन पराक्साइड बनते हैं। गरम नली में ऑक्सिजन के साथ अमोनिया प्रवाहित करने से नाइट्रोजन के ऑक्साइड बनते हैं। यह क्रिया उत्प्रेरक (जैसे लोहा, ताँबा, निकल और विशेषकर प्लैटिनम) की उपस्थिति में भी होती है। अमोनिया से शोरे का अम्ल बनाने की ऑस्टवाल्ट-विधि इसी पर आधारित है।

गरम करने अथवा विद्युत् चिनगारी या डिस्चार्ज से अमोनिया स्वत: नाइट्रोजन तथा हाइड्रोजन में विघटित होती है। इस क्रिया की गति (अथवा विघटित अमोनिया की मात्रा) ताप, स्पर्श पृष्ठ की प्रकृति एवं उत्प्रेरक की उपस्थिति पर निर्भर है। अल्ट्रावायलेट या रेडियम के ऐल्फा किरण से भी अमोनिया का विघटन होता है।

क्लोरीन में यह गैस शीघ्रता से जलती है। इस क्रिया में अमोनियम क्लोराइड तथा नाइट्रोजन बनते हैं। ब्रोमीन तथा आयोडीन के साथ भी यौगिक बनते हैं। वाष्पीय गंधक को अमोनिया के साथ गरम नली में प्रवाहित करने पर अमोनियम मोनो तथा पॉली-सल्फाइड प्राप्त होते हैं। गरम कार्बन पर अमोनिया की क्रिया से साइनाइड बनता है। कुछ धातुओं को (जैसे मैग्नीशियम, जस्ता, टाइटेनियम, इत्यादि को) अमोनिया में गरम करने पर नाइट्राइड बनते हैं। इसी तरह गरम ऐल्कली धातु सूखी अमोनिया से अमाइड बनाते हैं, जैसे सोडियम अमाइड या सोडामाइड, पोटैशामाइड इत्यादि।

बहुत से लवण अमोनिया के संयोग से नए यौगिक बनाते हैं, जैसे कैल्सियम, जस्ता या चाँदी के क्लोराइड से उनके अमीनो-क्लोराइड प्राप्त होते हैं। इस तरह के कुछ यौगिक (जैसे मैंगनीज़ अमीनो-सल्फेट) हवा में रखने से और कुछ यौगिक (जैसे ज़िंक अमीनो सल्फेट) गरम करने से अमोनिया देते हैं। द्रव में रूपांतरण के लिये फैराडे ने इसी विधि द्वारा अमोनिया गैस प्राप्त की थी।

निम्न तापक्रम पर अध्ययन से ज्ञात हुआ कि पानी के साथ अमोनिया के दो हाइड्रेट, नाहा$_3$. हा$_2$औ (औ=ऑक्सिजन) (छोटे रंगहीन रवेवाला) और नाहा$_3$, $\frac{1}{2}$ हा$_2$औ (सुई के आकार के रवेवाला), बनते हैं। अमोनिया का पानी में घोल क्षारीय है और अम्ल के साथ क्रिया करने पर अमोनियम लवण बनता है; जैसे अमोनियम क्लोराइड, अमोनियम नाइट्रेट, अमोनियम सल्फेट इत्यादि। अमोनिया के घोल में कुछ ऑक्साइड, हाइड्राक्साइड तथा लवण भी घुल जाते हैं, जैसे सिल्वर ऑक्साइड, कापर हाइड्राक्साइड, सिल्वर क्लोराइड। इस प्रकार के कापर हाइड्राक्साइड का घोल नकली रेशम (रेयन) बनाने में उपयुक्त होने के कारण औद्योगिक महत्व की वस्तु है।

द्रव अमोनिया अच्छा घोलक है। इसमें बहुत सी धातुएँ, लवण और अन्य यौगिक घुल जाते हैं। कुछ लवण, जो पानी में सूक्ष्म मात्रा में ही घुल सकते हैं, अमोनिया में अच्छी तरह घुल जाते हैं, जैसे सिलवर आयोडाइड। बहुत से कार्बनिक यौगिक भी अमोनिया में घुलते हैं। अमोनिया के घोल में यौगिकों की संगत (ऐसोसिएशन) करने अथवा घोलक के साथ यौगिक बनाने की प्रवृत्ति है।

कुछ अम्ल अमोनियम लवण के रूप में द्रव अमोनिया में घुल जाते हैं तथा पोटैसियम, सोडियम और मैगनीशियम धातु की क्रिया से हाइड्रोजन देते हैं, जैसे ऐसिटामाइड, सोडियम अमाइड तथा पोटैसियम ऐसिटामाइड।

अमोनिया के घोल में भी इनसे विभक्त आयन क्रिया करते हैं और अम्ल तथा क्षार मिलकर लवण बनाते हैं।

अमोनिया की पहचान उसकी विशेष गंध या गीले लाल लिटमस को नीला करने या हल्दी के कागज को भूरा लाल करने अथवा नेसलर के रीएजेंट में भूरा रंग उत्पन्न करने से की जाती है। किसी मंद क्षारसूचक, जैसे मिथाइल ऑरेंज या मिथाइल रेड की उपस्थिति में प्रामाणिक अम्ल से अनुमापन (टाइट्रेशन) करके अथवा क्लोरोप्लैटिनिक अम्ल से प्राप्त अवक्षेप को तौलकर (या जलाने पर प्राप्त प्लैटिनम को तौलकर) घोल में अमोनिया की मात्रा ज्ञात की जाती है।

सं०ग्रं०–जे० एफ़० थॉर्प और एम० ए० व्हाइटले : थॉर्प्स डिक्शनरी ऑव ऐप्लाइड केमिस्ट्री; जे० आर० पारटिंगटन : एटेक्स्टबुक ऑव इनआर्गेनिक केमिस्ट्री (१९५०)। [विं० वा० प्र०]

अम्मन, मीर इनके पुरखे हुमायूँ के समय से मुग़ल दरबार में थे। सूरजमल जाट ने जब दिल्ली की तबाही की तो वे कलकत्ते चले गए, यों खास रहनेवाले देहली के थे। मीर अम्मन ने कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज में सन् १८०१ ई० में फारसी से 'चहार दर्वेश' का सलीस उर्दू में अनुवाद किया। इनको फ़ारसी मिली हुई मुश्किल उर्दू की जगह सलीस उर्दू लिखने का बानी कहा जाता है। चहार दर्वेश में जबान के बारे में इन्होंने लिखा है, "जो शख्स सब आफ़तें सहकर दिल्ली का रोड़ा होकर रहा, दस पाँच पुश्तें इस शहर में गुज़रीं...दरबार उमराओं के और मेले ठेले, सैर तमाशा लोगों का देखा और कूचागर्दी की, उसका बोलना अलबत्ता ठीक है।" उन्होंने 'अनुवार सुहेली' का भी अनुवाद उर्दू में किया और उसका नाम 'गंजेखूबी' रखा। 'चहार दर्वेश' की वजह से ये अमर हैं। [र० स० ज०]

अम्र बिन आस अल सहमी इस्लाम के पैगंबर के सहाबी। इस्लाम के इतिहास में इनका बहुत बड़ा भाग है। उनके धर्म का सिलसिला ६२९-३० ई० में इस्लाम धर्म ग्रहण कर लेने से आरंभ होता है। जब वे अभी केवल ९-१० वर्ष की अवस्था के थे, उनको महत्व का राजनीतिज्ञ माना गया है।

अम्र को हजरत मोहम्मद ने उम्मान भेजा जहाँ के राजाओं ने उनके प्रभाव से इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया। वह उम्मान में थे, जब पैगंबर की मृत्यु का समाचार मिला। वे मदीने लौट आए, पर वहाँ वे ज्यादा दिन न ठहर सके क्योंकि हजरत अबू बकर ने शाम और फिलिस्तीन देशों की सेना के साथ उन्हें भेज दिया। वह यारमुक्के के युद्ध में और दमिश्क की विजय के समय भी उपस्थित थे। इस्लामी इतिहास में उनकी सबसे बड़ी विजय मिस्र में हुई। कहा जाता है कि मिस्र को उन्होंने अपनी जिम्मेदारी पर जीता था। मिस्र को उन्होंने जीता ही नहीं, बल्कि वहाँ का शासनप्रबंध भी ठीक किया। उन्होंने न्याय और कर विभाग की नीति में सुधार किया और फुस्तात की नींव डाली जो १०वीं सदी में अलकाहिरा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हजरत उस्मान की मृत्यु के बाद वे हजरत अली और मोआविया के झगड़े में पंच बनाए गए। जीवन भर वे मिस्र के राज्यपाल रहे। ६६१ ई० में एक व्यक्ति ने उनकी हत्या के लिये उनपर वार किया। उसके खंजर से वे बच गए और उनकी जगह दूसरा व्यक्ति मारा गया। [मो० अ० अं०]

अम्ल और समाक्षार मोटे हिसाब से अम्ल (ऐसिड) उन पदार्थों को कहते हैं जो पानी में घुलने पर खट्टे स्वाद के होते हैं (अम्ल=खट्टा), हल्दी से बनी रोली (कुंकुम) को पीला कर देते हैं, अधिकांश धातुओं पर (जैसे जस्ते पर) अभिक्रिया करके हाइड्रोजन गैस उत्पन्न करते हैं और समाक्षारों को उदासीन (न्यूट्रल) कर देते हैं। मोटे हिसाब से समाक्षार (बेस) उन पदार्थों को कहते हैं जिनका विलयन चिकना चिकना सा लगता है (जैसे बाजारू सोडे का विलयन), स्वाद कड़ुआ होता है, हल्दी को लाल कर देते हैं और अम्लों को उदासीन करते हैं। उदासीन करने का अर्थ है ऐसे पदार्थ (लवण) का बनाना जिसमें न अम्ल के गुण होते हैं, न समाक्षार के। वैज्ञानिक परिभाषाएँ आगे दी जायँगी।

लावाज़िए ने (१७७० ई० में) आक्सिजन के गुणों का अध्ययन करते समय देखा कि कार्बन, गंधक और फास्फरस सदृश तत्व जब आक्सिजन में जलते हैं तब उनसे बने आक्साइड जल के साथ मिलकर अम्ल बनाते हैं। वे इस परिणाम पर पहुँचे कि अम्लों में आक्सिजन रहता है और अम्लों की अम्लीयता का कारण आक्सिजन है। इसी कारण इस गैस का नाम 'आक्सिजन' पड़ा, जिसका अर्थ होता है 'अम्ल बनानेवाला पदार्थ' तथा इसी कारण जर्मन भाषा में आक्सिजन को 'सायर स्टफ़' अर्थात् अम्ल पदार्थ कहते हैं।

लवाज़िए ने ही अम्लों को दो वर्गों, अकार्बनिक अम्लों और कार्बनिक अम्लों में, विभक्त किया था। पीछे देखा गया कि कुछ तत्वों के आक्साइड पानी में घुलकर अम्ल नहीं बल्कि क्षार बनाते हैं और कुछ अम्लों में आक्सिजन बिलकुल नहीं होता। बर्टोले ने सन् १७८७ में हाइड्रोसाइएनिक अम्ल, डेवी ने सन् १८१०-११ में हाइड्रोक्लोरिक अम्ल और सन् १८१३ में हाइड्रियोडिक अम्ल का आविष्कार किया। इनमें से किसी में आक्सिजन नहीं है।

आगे चलकर देखा गया कि जो पदार्थ बिलकुल सूखे होते हैं, उनमें कोई अम्लीय अभिक्रिया नहीं होती। तब लोगों ने अम्लों को दो वर्गों में विभक्त किया, एक हाइड्रो-अम्ल और दूसरा आक्सी-अम्ल। पीछे सन् १८१५ में डेवी ने सुझाव रखा कि अम्लों की अम्लीयता आक्सिजन के कारण नहीं, वरन् हाइड्रोजन के कारण है। डूलांग ने सन् १८१५ में आक्सैलिक अम्ल का अध्ययन किया और इस परिणाम पर पहुँचे कि आक्सिजनवाले और बिना आक्सिजनवाले अम्लों में कोई भेद नहीं है।

अम्लों में कोई ऐसा गुण नहीं है जिसे हम अम्लों का विशिष्ट लक्षण कह सकें। साधारण गुण ऊपर बताए जा चुके हैं। अम्ल और धातु की अभिक्रिया में अम्ल के अणु का एक, या एक से अधिक, हाइड्रोजन परमाणु धातुओं, धातुओं के आक्साइडों, हाइड्राक्साइडों अथवा कार्बोनेटों से विस्थापित हो जाता है।

ऐसे भी कुछ अम्ल हैं जो खट्टे होने के बदले मीठे होते हैं। ऐसा एक अम्ल ऐमिडो-फास्फरिक अम्ल है। कुछ ऐसे भी अम्ल हैं जो क्षारहर नहीं होते। कुछ ऐसे भी क्षार हैं जिनका हाइड्रोजन धातुओं से विस्थापित हो जाता है। फिटकिरी अम्ल नहीं है। इसमें विस्थापित होनेवाला कोई हाइड्रोजन भी नहीं है। पर यह स्वाद में खट्टा और क्रिया में क्षारहर होता है। यह नीले लिटमस को लाल भी करता है। इसी प्रकार सोडियम बाईसल्फाइट खट्टा और क्षारहर होता है। यह नीले लिटमस को लाल करता है। इसमें विस्थापित होनेवाला हाइड्रोजन भी है, पर यह अम्ल नहीं है। मिथेन अम्ल नहीं है, पर इसका हाइड्रोजन जस्ते से विस्थापित हो जाता है और इस प्रकार जिंक डाइमेथिल बनता है जो लवण नहीं है।

अतः अम्ल की कोई संतोषप्रद परिभाषा अब तक नहीं दी जा सकी है। आयोनिक सिद्धांत के आधार पर यदि हम अम्लों की परिभाषा देना चाहें तो कह सकते हैं कि अम्लों में हाइड्रोजन आयनों का रहना अत्यावश्यक है।

सिलवियस ने सन् १६५९ में पहले पहल अम्लों और समाक्षारों में बिभेद किया था। रूल ने सन् १७७४ में समाक्षार नाम उस पदार्थ को दिया जो अम्लों के साथ मिलकर लवण बनाता है। आजकल समाक्षार उन आक्सिजनवाले पदार्थों को कहते हैं जो अम्लों के पूरक होते हैं। क्षार-धातुओं, क्षारीयमृदा धातुओं और अन्य धातुओं के आक्साइड और वे सभी वस्तुएँ समाक्षार हैं जो अम्लों के साथ मिलकर लवण बनाती हैं। आरंभ में समाक्षार केवल उन धातुओं अथवा धातुओं के आक्साइडों के लिये व्यवहृत होता था जो लवणों के 'बेस' या आधार थे। लवणों के समाक्षार आवश्यक अवयव हैं।

समाक्षार वास्तव में वे पदार्थ हैं जो अम्ल के साथ मिलकर लवण और जल बनाते हैं। उदाहरणतः, जिंक आक्साइड सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ मिलकर जिंक सल्फेट और जल बनाता है। दाहक सोडा सल्फ़्यूरिक अम्ल के साथ मिलकर सोडियम सल्फेट और जल बनाता है। धातुओं के आक्साइड सामान्यतः समाक्षार हैं। पर इसके अपवाद भी हैं।

समाक्षारों में धातुओं के आक्साइड और हाइड्राक्साइड हैं, पर सुविधा के लिये तत्वों के कुछ ऐसे समूह भी रखे गये हैं जो अम्लों के साथ मिलकर बिना जल बने ही लवण बनाते हैं। ऐसे समाक्षारों में अमोनिया, हाइड्राक्सीलेमिन

और फास्फीन हैं। द्रव अमोनिया घुल जाता है पर फीनोल्फथैलीनसे कोई रंग नहीं देता। अतः कहाँ तक यह समाक्षार कहा जा सकता है, यह बात संदिग्ध है।

यद्यपि ऊपर की समाक्षार की परिभाषा बड़ी असंतोषप्रद है, पर इससे अच्छी परिभाषा नहीं दी जा सकी है। समाक्षार (बेस) और क्षार (ऐल्कैली) पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। सब क्षार समाक्षार हैं पर सब समाक्षार क्षार नहीं हैं। क्षार-धातुओं के आक्साइड, जैसे सोडियम आक्साइड, जल में घुलकर हाइड्राक्साइड बनाते हैं। ये प्रबल समाक्षारीय होते हैं। क्षारीय-मृदा-धातुओं के आक्साइड जैसे कैल्सियम आक्साइड, जल में अल्प विलेय और अल्प क्षारीय होते हैं। अन्य धातुओं के आक्साइड जल में घुलते नहीं और उनके हाइड्राक्साइड परोक्ष रीतियों से ही बनाए जाते हैं।

धातुओं के आक्साइड और हाइड्राक्साइड समाक्षार होते हैं। क्षार-धातुओं के आक्साइड जल में शीघ्र घुल जाते हैं। कुछ धातुओं के आक्साइड जल में कम विलेय होते हैं और कुछ धातुओं के आक्साइड जल में तनिक भी विलेय नहीं हैं। कुछ अधातुओं के हाइड्राइड, जैसे नाइट्रोजन और फास्फरस के हाइड्राइड (क्रमशः अमोनिया और फास्फीन) भी भस्म होते हैं।
[फू० स० व०]

अम्लाट गार्गीसंहिता के युगपुराणवाले स्कंध में एक शक आक्रमण का उल्लेख है जो मगध पर ल० ३५ ई० पू० में हुआ था। इस आक्रमण का नेता शक अम्लाट था। अम्लाट संभवतः शकराज अयस् (ल० ५८-११ ई० पू०) का प्रांतीय शासक था और उत्तर-पश्चिम के भारतीय सीमाप्रांत से चलकर सीधा मगध तक जा पहुँचा। यह शक आक्रमण इतना प्रबल और भयानक था कि मगध को इसने अपूर्व संकट में डाल दिया। युगपुराण में लिखा है कि अम्लाट ने इतना नरसंहार किया कि मगध में रक्षा करने और हल चलाने के लिये एक पुरुष भी न बचा और हल आदि चलाने का कार्य भी स्त्रियाँ ही करने लगीं; वही शासन भी करती थीं।
[ओं० ना० उ०]

अयथार्थ घट का पटरूप से अनुभव होना अयथार्थ कहलाएगा, क्योंकि घट में जिस पटत्व का अनुभव हम कर रहे हैं, वह (पटत्व) उस पदार्थ (घट) में कभी विद्यमान नहीं रहता। फलतः 'अतद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः' अयथार्थ अनुभव का शास्त्रीय लक्षण है। न्यायशास्त्र में यह तीन प्रकार का माना गया है : (१) संशय, (२) विपर्यय, (३) तर्क। एकधर्मी (धर्म से युक्त पदार्थ) में जब अनेक विरुद्ध धर्मों का अवगाही ज्ञान होता है, तब वह संशय (या संदेह) कहलाता है। सामने खड़ा हुआ पदार्थ वृक्ष का स्थाणु (ठूँठ) है या पुरुष ? यह संशय है, क्योंकि एक ही धर्मी में स्थाणुत्व तथा पुरुषत्व जैसे दो विरुद्ध धर्मों का समभाव से ज्ञान होता है। विपर्यय मिथ्या ज्ञान को कहते हैं, जैसे सीप (शुक्ति) में चाँदी का ज्ञान। दोनों का रंग सफेद होने से दर्शक को यह मिथ्या अनुभव होता है।

'तर्क' न्यायशास्त्र का एक विशेष पारिभाषिक शब्द है। अविज्ञात-स्वरूप वस्तु के तत्वज्ञान के लिये उपपादक प्रमाण का जो सहकारी ऊह (संभावना) होता है उसे ही 'तर्क' कहते हैं। प्राचीन न्यायशास्त्र में तर्क के ग्यारह भेद माने जाते थे जिनमें से केवल पाँच भेद नव्य नैयायिकों को मान्य हैं। उनके नाम हैं : (१) आत्माश्रय, (२) अन्योन्याश्रय, (३) चक्रक, (४) अनवस्था तथा (५) प्रमाणबाधितार्थ प्रसंग। इनमें अंतिम प्रकार ही विशेष प्रसिद्ध है जिसका दृष्टांत इस प्रकार होगा : कोई व्यक्ति पर्वत से निकलनेवाली धूमशिखा को देखकर 'पर्वत वह्निमान् है'—यह प्रतिज्ञा करता है और तदनुकूल व्याप्ति भी स्थिर करता है—"जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है"। इसपर कोई प्रतिपक्षी व्याप्ति का विरोध करता है। अनुमानकर्ता इसके विरोध को स्वीकार कर उसमें दोष दिखलाता है। यदि पर्वत पर आग नहीं है, तो उसमें धूम भी नहीं होगा। परंतु धूम तो स्पष्टतः दिखाई देता है। अतः प्रतिपक्षी का पक्ष मान्य नहीं। यहाँ वक्ता प्रथमतः व्याप्य (वह्न्यभाव) की सत्ता पर्वत के ऊपर मानता है और इस आरोप से व्यापक (धूमाभाव) की सत्ता वहाँ सिद्ध करता है। ये दोनों मिथ्या होने के कारण 'आरोप' ही हैं। यहाँ प्रत्यक्षविरुद्ध अनुमान 'तर्क' कहलाएगा।
[ब० उ०]

अयन आधे वर्ष तक सूर्य आकाश के उत्तर गोलार्ध में रहता है, आधे वर्ष तक दक्षिण गोलार्ध में। दक्षिण गोलार्ध से उत्तर गोलार्ध में जाते समय सूर्य का केंद्र आकाश के जिस विंदु पर रहता है उसे वसंत-विषुव कहते हैं। यह विंदु तारों के सापेक्ष स्थिर नहीं है; यह धीरे धीरे खिसकता रहता है। इस खिसकने को विषुव-अयन या संक्षेप में केवल अयन (प्रिसेशन) कहते हैं (अयन=चलना)। वसंत-विषुव से चलकर और एक चक्कर लगाकर जितने काल में सूर्य फिर वहीं लौटता है उतने को एक सायन वर्ष कहते हैं। किसी तारे से चलकर सूर्य के वहीं लौटने को नाक्षत्र वर्ष कहते हैं। यदि विषुव चलता न होता तो सायन और नाक्षत्र वर्ष बराबर होते। अयन के कारण दोनों वर्षों में कुछ मिनटों का अंतर पड़ता है। आधुनिक नापों के अनुसार औसत नाक्षत्र वर्ष का मान=३६५ दिन ६ घंटा ९ मिनट ९.६ सेकंड, लगभग, और औसत सायन वर्ष का मान=३६५ दिन ५ घंटा ४८ मिनट ४६.०५४ सेकंड, लगभग। सायन वर्ष के अनुसार ही व्यावहारिक वर्ष रखना चाहिए, अन्यथा वर्ष का आरंभ सदा एक ऋतु में न पड़ेगा। हिंदुओं में जो वर्ष अभी तक प्रचलित था वह सायन वर्ष से कुछ मिनट बड़ा था। इसलिये वर्ष का आरंभ आगे की ओर खिसकता जा रहा था। उदाहरणतः पिछले ढाई हजार वर्षों में २१ या २२ दिन का अंतर पड़ गया है। ठीक ठीक बताना संभव नहीं है, क्योंकि सूर्य-सिद्धांत, ब्रह्मसिद्धांत, आर्यभटीय इत्यादि में वर्षमान थोड़ा बहुत भिन्न है। यदि हम लोग दो चार हजार वर्षों तक पुराने वर्षमान का ही प्रयोग करें तो सावन भादों के महीने उस ऋतु में पड़ेंगे जब कड़ाके का जाड़ा पड़ता रहेगा। इसीलिये भारत सरकार ने अब अपने राष्ट्रीय पंचांग में ३६५.२४२२ दिनों का सायन वर्ष अपनाया है।

अयन का एक परिणाम यह होता है कि आकाशीय ध्रुव, अर्थात् आकाश का वह विंदु जो पृथ्वी के अक्ष की सीध में है, तारों के बीच चलता रहता है। वह एक चक्कर लगभग २६,००० वर्षों में लगाता है। जब कभी उत्तर आकाशीय ध्रुव किसी चमकीले तारे के पास आ जाता है तो वह तारा पृथ्वी के उत्तर गोलार्ध में ध्रुवतारा कहलाने लगता है। इस समय उत्तर आकाशीय ध्रुव प्रथम लघु सप्तर्षि (ऐल्फ़ा अरसी मैजोरिस) के पास है। इसीलिये इस तारे को हम ध्रुवतारा कहते हैं। अभी आकाशीय ध्रुव ध्रुवतारे के पास जा रहा है, इसलिये अभी सैकड़ों वर्षों तक पूर्वोक्त तारा ध्रुवतारा कहला सकेगा। लगभग ५००० वर्ष पहले प्रथम कालिय (ऐल्फ़ा ड्रैकोनिस) नामक तारा ध्रुवतारा कहलाने योग्य था। बीच में कोई तारा ऐसा नहीं था जो ध्रुवतारा कहलाता। आज से १५,००० वर्ष पहले अभिजित (वेगा) नामक तारा ध्रुवतारा था। हमारे गृह्य सूत्रों में विवाह के अवसर पर ध्रुवदर्शन करने का आदेश है। प्रत्यक्ष है कि उस समय कोई न कोई ध्रुवतारा अवश्य था। इससे अनुमान किया गया है कि यह प्रथा आज से लगभग ५,००० वर्ष पहले चली होगी।

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि कृत्तिकाएँ पूर्व में उदय होती हैं। इससे शतपथ लगभग ३,००० ई० पू० का ग्रंथ जान पड़ता है, क्योंकि अयन के कारण कृत्तिकाएँ उसके पहले और बाद में पूर्व में नहीं उदय होती थीं।

अयन का कारण—लट्टू को नचाकर भूमि पर इस प्रकार रख देने से कि लट्टू का अक्ष खड़ा न रहकर कुछ तिरछा रहे, लट्टू का अक्ष धीरे-धीरे मँडराता रहता है और वह एक शंकु (कोन) परिलिखित करता है। ठीक इसी तरह पृथ्वी का अक्ष एक शंकु परिलिखित करता है जिसका अर्ध शीर्षकोण लगभग $23\frac{1}{2}°$ होता है। कारण यह है कि पृथ्वी ठीक ठीक गोलाकार नहीं है। भूमध्य पर व्यास अधिक है। मोटे हिसाब से हम यह मान सकते हैं कि केंद्रीय भाग शुद्ध रूप से गोलाकार है और उसके बाहर निकला भाग भूमध्यरेखा पर चिपका हुआ एक वलय है। सूर्य सदा रविमार्ग के समतल में रहकर पृथ्वी को आकर्षित करता है। यह आकर्षण पृथ्वी के केंद्र से होकर नहीं जाता, क्योंकि पूर्वकल्पित वलय का एक खंड अपेक्षाकृत सूर्य के कुछ निकट रहता है, दूसरा कुछ दूर (चित्र देखें)। निकटस्थ भाग पर आकर्षण अधिक पड़ता है, दूरस्थ पर कम। इसलिये इन आकर्षणों की यह प्रवृत्ति होती है कि पृथ्वी को घुमाकर उसके अक्ष को रविमार्ग-धरातल पर लंब कर दें। यह घूर्णन जब पृथ्वी के अपने अक्ष के

परितः घूर्णन के साथ संश्लिष्ट (कॉम्बाइन) किया जाता है तो परिणामी घूर्णन-अक्ष की दिशा निकलती है जो पृथ्वी के अक्ष की
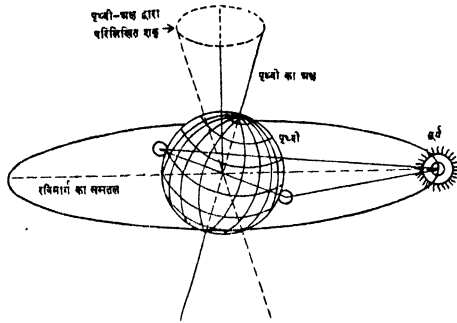
अयन का कारण

पृथ्वी की मध्यरेखा के फूले द्रव्य पर सूर्य के असम आकर्षण से पृथ्वी-अक्ष एक शंकु परिलिखित करता है।

पुरानी दिशा से जरा सी भिन्न होती है, अर्थात् पृथ्वी का अक्ष अपनी पुरानी स्थिति से इस नवीन स्थिति में आ जाता है। दूसरे शब्दों में, पृथ्वी का अक्ष घूमता रहता है। अक्ष के इस प्रकार घमने में चंद्रमा भी सहायता करता है। वस्तुतः चंद्रमा का प्रभाव सूर्य की अपेक्षा दूना पड़ता है। सूक्ष्म गणना करने पर सब बातें ठीक वही निकलती हैं जो बेध द्वारा देखी जाती हैं।

चंद्रमार्ग का समतल रविमार्ग के समतल से ५° का कोण बनाता है। इस कारण चंद्रमा पृथ्वी को कभी रविमार्ग के ऊपर से खींचता है, कभी नीचे से। फलतः, भूमध्यरेखा तथा रविमार्ग के धरातलों के बीच का कोण भी थोड़ा बहुत बदलता रहता है जिसे विदोलन (न्यूटेशन) कहते हैं। पृथ्वी-अक्ष के चलने से वसंत और शरद विषुव दोनों चलते रहते हैं।

ऊपर बताए गए अयन को चांद्र-सौर अयन (लूनि-सोलर प्रिसेशन) कहते हैं। इसमें भूमध्य का धरातल बदलता रहता है। परंतु ग्रहों के आकर्षण के कारण स्वयं रविमार्ग थोड़ा विचलित होता है। इससे भी विषुव की स्थिति में अंतर पड़ता है। इसे ग्रहीय अयन (प्लैनेटरी प्रिसेशन) कहते हैं।

सं०ग्रं०—न्यूकॉम्ब : स्फ़ेरिकल ऐस्ट्रॉनोमी; गोरखप्रसाद : स्फ़ेरिकल एस्ट्रॉनोमी। [गो० प्र०]

अयस्कनिक्षेप

अयस्कनिक्षेप भूमि से खोदकर निकाले गए अजैव पदार्थ को खनिज (मिनरल) कहते हैं, विशेषकर जब उसकी विशेष रासायनिक संरचना हो और नियमित गुण हों। यदि किसी खनिज से कोई धातु निकल सकती है तो उसे अयस्क (अंग्रेजी में ओर) कहते हैं। रासायनिक दृष्टि से तो प्रायः सभी पदार्थों में कोई धातु पर्याप्त मात्रा में अथवा नाम मात्र रहती ही है, जैसे नमक में सोडियम धातु है, या समुद्र के जल में सोना; परंतु अयस्क कहलाने के लिये साधारणतः यह आवश्यक है कि (१) उस पदार्थ में कोई धातु अवश्य हो, (२) पदार्थ प्राकृतिक वस्तु हो और (३) उससे धातु निकालने में इतना व्यय न पड़े कि वह धातु आर्थिक दृष्टि से महँगी पड़े। अयस्क के ढेर को अयस्कनिक्षेप कहते हैं।

२०वीं शताब्दी के पहले अयस्कों को उनकी प्रमुख धातु के अनुसार नाम दिया जाता था, जैसे लोहे का अयस्क, सोने का अयस्क, इत्यादि। परंतु बहुत से अयस्कों में एक से अधिक धातुएँ रहती हैं। फिर, यदि किसी अयस्क से कोई बहुमूल्य धातु निकाली जाय तो इस निकालने की क्रिया में थोड़ा काम बढ़ाने से बहुधा अन्य कोई धातु भी पृथक् की जा सकती है और इस अतिरिक्त कार्य में नाम मात्र ही लागत लग सकती है। इस प्रकार यद्यपि अयस्क का नाम मूल्यवान् धातु के नाम पर रखा जाता था, तो भी वह दूसरी सस्ती धातु के लिये बहुमूल्य स्रोत हो जाता था।

इन सब झंझटों से बचने के लिये धीरे धीरे अयस्कों की उत्पत्ति के अनुसार उनका नाम पड़ने लगा। उनकी रासायनिक उत्पत्ति कई प्रकार से हो सकती है (देखें **खनिजनिर्माण**), परंतु उत्पत्ति की भौतिक दशाएँ भी बड़ी विभिन्न होती हैं। उदाहरणार्थ, धातुवाले कई अयस्क पृथ्वी की अधिक गहराई से निकले, पहाड़ों की दरारों में से ऊपर उठे, पिघले पदार्थ हैं; अथवा प्राचीन काल में पिघले पत्थरों में से पिघला अयस्क उसी प्रकार अलग हो गया जैसे तेल पानी से अलग होता है और तब दोनों जम गए। प्लैटिनम, क्रोमियम और निकल के सल्फाइड तथा आक्साइड अधिकतर इसी प्रकार बने जान पड़ते हैं। कुछ अयस्क तह पर तह जमे हुए रूप में मिलते हैं, जैसे पूर्वी ब्रिटेन तथा भारत के लोहे के अयस्क। अवश्य ही ये गरमी, सरदी से धरातल की चट्टानों के चूर होने पर बने होंगे, यह चूर वर्षा से बहकर समुद्र में पहुँचा होगा और वहाँ तह पर तह जम गया होगा, या घोलों के सूखने पर परत पर परत निक्षिप्त हुआ होगा। ट्रावंकोर के टाइटेनियमवाले अयस्क और अफ्रीका के स्वर्णनिक्षेप इन धातुओं या पदार्थों के ज्यों के त्यों बहकर पहुँचने से उत्पन्न हुए हैं। पिघलने से बने अयस्कों की उत्पत्ति में ताप (तापक्रम) का विशेष प्रभाव पड़ता है। सभी बातों पर विचार कर अयस्कों का वर्गीकरण किया जा रहा है, परंतु अभी वैज्ञानिक इस विषय में एकमत नहीं हो सके हैं।

अयस्कनिक्षेपों की खोज—अयस्कों की खोज तीन प्रकार से की जाती है: भूवैज्ञानिक, भूभौतिक तथा भूरासायनिक। भूवैज्ञानिक रीति में देश के भूविज्ञान (जिऑलोजी) पर ध्यान रखा जाता है और उससे यह परिणाम निकाला जाता है कि किस प्रकार के शैलों में कैसे अयस्क हो सकते हैं। भूभौतिकी (जिओफ़िज़िक्स) में नित्य नई रीतियाँ निकल रही हैं जो अधिकाधिक उपयोगी सिद्ध हो रही हैं। दिक्सूचक और चुंबकीय नतिसूचक का तो सैकड़ों वर्षों से उपयोग होता रहा है; अब ऐसा चुंबकत्वमापी बना है जो हवाई जहाज पर से काम कर सकता है। इनसे लोहे तथा कुछ अन्य धातुओं के अयस्कों का पता चलता है। जब अयस्क और आक्सिजन का संयोजन होता है तो बिजली उत्पन्न होती है जिसे नापकर अयस्क के महत्व का पता लगाया जाता है। विद्युच्चालकता नापने से भी अयस्क का पता चलता है, क्योंकि अयस्कों की चालकता अधिक होती है। स्थानीय गुरुत्वाकर्षण के न्यूनाधिक होने से भी अयस्क का पता चलता है, क्योंकि अयस्क बहुधा भारी होते हैं। गाइगर गणक (गाइगर काउंटर) से यूरेनियम का पता चलता है और अँधेरे में चमकने के गुण से टंग्स्टन आदि का। भूकंपमापी यंत्रों द्वारा भी अयस्कों की खोज में सहायता मिलती है।

शैल, मिट्टी, उस मिट्टी में उगनेवाले पौधों और उस प्रदेश में बहनेवाले स्रोतों के पानी के रासायनिक विश्लेषण से भी अयस्कों का पता लगाया जाता है।

पूर्वोक्त रीतियों से जब अयस्क का पता मोटे हिसाब से चल जाता है तब इस्पात, टंग्स्टन कारबाइड या हीरे के बरमे से बहुत गहरा छेद करके, या कुआँ खोदकर, या काफी दूरी तक इधर उधर खोदकर, देखा जाता है कि कैसा अयस्क है, कितना है और लाभ के साथ उससे धातु निकाली जा सकती है या नहीं।

सं०ग्रं०—एच० ई० मैकिंस्ट्री : माइनिंग जिऑलोजी (न्यूयॉर्क, १६४८); ए० एम० बेटमैन : इकानोमिक मिनरल डिपाजिट्स (न्यूयार्क, १६५०)। [वि० सा० दु०]

अयस्कप्रसाधन

अयस्कप्रसाधन अधिकांश खनिज जिनसे धातु निस्सारित की जाती है, रासायनिक यौगिक, जैसे आक्साइड, सल्फाइड, कारबोनेट, सल्फेट और सिलिकेट के रूप में होते हैं। खनिज में मिश्रित अनुपयोगी पदार्थ को "विधातु" (गैंग) कहते हैं। उस खनिज को जिसमें धातु की मात्रा लाभदायक होती है "अयस्क" (ओर) कहते हैं। खनिज से धातुनिस्सार के पूर्व अनेक क्रियाएँ अनिवार्य होती हैं जिन्हें सामूहिक रूप से अयस्कप्रसाधन (ओर ड्रेसिंग) कहते हैं। इसके द्वारा अयस्क में धातु की मात्रा का समृद्धीकरण करते हैं। इसमें दलना, पीसना और सांद्रण की क्रियाएँ संमिलित हैं। अयस्क का समृद्धीकरण उसमें निहित धातुओं के भिन्न भिन्न भौतिक गुणों, जैसे रंग और द्युति,

ग्रापेक्षित घनत्व, तलऊर्जा (सर्फ़ेस एनर्जी), ग्रतिबेध्यता (पर्मिएबिलिटी) ग्रौर विद्युच्चालकता, की सहायता से किया जाता है।

हाथ से चुनना—ग्रयस्क की भिन्न भिन्न इकाइयों को उनके रंग या द्युति की सहायता से चुन लेते हैं। इस क्रिया द्वारा ग्रयस्क के वे टुकड़े पृथक् हो जाते हैं जो तत्क्षण धातुकर्म के योग्य होते हैं, उदाहरणार्थ गेलीना ग्रौर कैलको-पाइराइट में से भिन्न खनिज इसी रीति से ग्रलग किए जाते हैं।
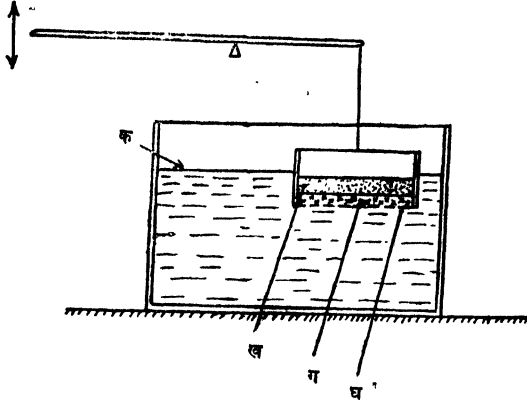
चित्र १—**हस्तचालित जिग**

इससे हलके ग्रौर भारी पदार्थ ग्रलग किए जाते हैं; क. जल की सतह; ख. हलका पदार्थ; ग. भारी पदार्थ; घ. चलनी।

गुरुत्व सांद्रण—यह क्रिया सल्फाइट रहित ग्रयस्कों, जैसे केसिटेराइट, क्रोमाइट ग्रौर वूलफ़ेमाइट के लिये व्यवहार में लाई जाती है। यह क्रिया खनिजों ग्रौर विधातुग्रों के ग्रापेक्षिक घनत्वों में ग्रंतर होने के फलस्वरूप
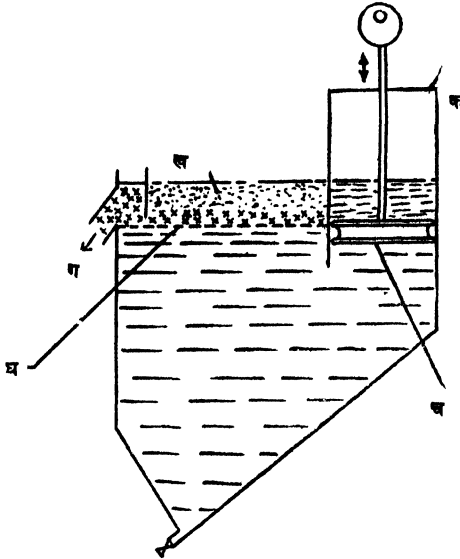
चित्र २—**हार्ज़ जिग**

इस मशीन से हलके ग्रौर भारी पदार्थ ग्रलग किए जाते हैं। क. जल ग्रंदर जाने का स्थान; ख. हलके द्रव्य; ग. भारी द्रव्य; घ. चलनी; च. विचालक (पानी को हिलानेवाला)।

कार्यान्वित होती है। पात्रधावन (पैनिंग) गुरुत्व-सांद्रण की सबसे सरल विधि है। इसमें चूर्ण को पानी में झकझोरकर निथरने दिया जाता है। इस प्रकार स्थूल, हलके कणों से बहुमूल्य धातु के भारी कण ग्रलग हो जाते हैं। यह रीति ग्रब भी जलोढ मिट्टी (ग्रलूवियम) से सोने के कण निकालन के काम में लाई जाती है। जिगिंग वस्तुतः स्तरण (स्ट्रैटिफिकेशन) की एक विधि है जिससे क्रमानुसार ऊपर नीचे शीघ्र चलते पानी में कणों को उनके ग्रापेक्षिक घनत्वानुसार विस्तृत किया जाता है। पुराने जिग-पृथक्कारक हस्तचालित होते थे (चित्र १)। इस साधारण जिग-

चित्र ३—हलके ग्रौर भारी पदार्थों को ग्रलग करने की मेज
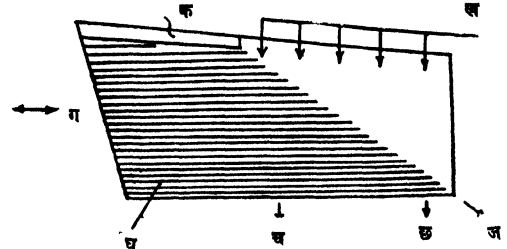
क. पदार्थ को डालने का स्थान; ख. धोने का पानी; ग. सिरे की गति; घ. पट्टियों से बनी नाली; च. हलका पदार्थ; छ. मध्यम पदार्थ; ज. भारी पदार्थ।

पृथक्कारक के विकास से दूसरे यांत्रिक पृथक्कारक बने हैं जो या तो चलायमान चलनीयुक्त होते हैं जिसमें ग्रयस्क पानी में डुबाया जाता है या स्थिर चलनीयुक्त (चित्र २), जिसमें पानी हुलता है ग्रौर ग्रयस्क चलनी में रखा रहता है। टेब्लिंग पदार्थों को ग्रापेक्षिक घनत्वानुसार पृथक् करने की उत्तम विधि है। यह विधि सूक्ष्म पदार्थों के लिये उपयोगी है। इसमें पदार्थ के बहुत गाढ़े घोल का निरंतर मंथन होता रहता है ग्रौर ऊपर से पानी बहता रहता है, जिससे हल्के कण पानी में मिलकर बह जाते हैं तथा भारी कण कुछ दूर पर एकत्र हो जाते हैं। विल्फले टेबुल (चित्र ३) में पदाथ एक एसे टेबुल पर रखा जाता है जो एक ग्रोर चौड़ा ग्रौर दूसरी ग्रोर सँकरा रहता है ग्रौर जो एक छोर से दूसरे छोर की ग्रोर झुका रहता है। ऊँचे सिरे की ग्रोर ग्रयस्क का गाढ़ा घोल झिरीदार बक्स से गिराया जाता है। मशीन से मेज का इधरवाला सिरा झटके से ऊपर नीचे चलता रहता है। मेज पर पट्टियाँ जड़ी रहती हैं। झटका लगने पर ग्रौर मेज के ढाल रहन के कारण भारी माल रुक रुककर ग्रागे बढ़ता है ग्रौर ग्रंत
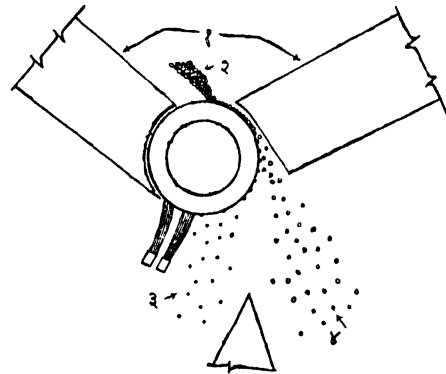
चित्र ४—स्थैतिक विद्युत् से पृथक्करण

१. विद्युच्चुंबक; २. गिरता हुग्रा ग्रयस्क; ३. चुंबकीय ग्रयस्क; ४. ग्रचुंबकीय ग्रयस्क।

में एक बड़े बरतन में एकत्रित हो जाता है। ऊपर से बहे पानी को एक बार फिर नए अयस्क पर छोड़ते हैं। इस प्रकार बचा खुचा माल भी निकल आता है।

चुंबकीय पृथक्करण—जब खनिज का एक अंश लौहचुंबकीय होता है और प्रायः पूर्ण रूप से पृथक् किया जा सकता है, तो विद्युच्चुंबकीय पृथक्करण की रीति प्रयुक्त की जाती है। इस विधि की उपयोगिता मुख्यतः मैगनेटाइट समृद्धीकरण में और समुद्ररेणु के रुटाइल से इल्मेनाइट पृथक् करने में है। इन पृथक्कारकों का सरल सिद्धांत चित्र ४ और ५ में दिखाया गया है। चुंबकीय क्षेत्र को प्रबल या दुर्बल बनाकर चुंबकीय पदार्थ को अचुंबकीय से या मंद चुंबकीय को प्रबल चुंबकीय पदार्थ से पृथक् किया जा सकता है।

स्थैतिक विद्युत् (इलेक्ट्रोस्टैटिक पृथक्करण—किसी खनिज का पारद्युतिक (डाइइलेक्ट्रिक) स्थिरांक उसकी किसी सतह के वैद्युत् आवेश के विसर्जन की दर को नियंत्रित करता है और यही स्थैतिक विद्युत् पृथक्करण का मूल सिद्धांत है। इस विधि में खनिज के कण उच्च विभव के समीप भेजे जाते हैं, जिससे खनिज के विभिन्न अवयव भिन्न भिन्न मात्रा में अपने मार्ग से विचलित होते हैं और इस प्रकार भिन्न भिन्न स्थानों पर गिरते हैं। आजकल समुद्ररेणु से उच्च कोटि का रुटाइल नामक खनिज प्राप्त करने में चुंबकीय और स्थैतिक-विद्युत् दोनों विधियों के सहयोग से काम होता है।

चित्र ५—चुंबकीय पृथक्करण

क. अयस्क से भरा बर्तन; ख. चुंबक; ग. लौह चुंबकीय अयस्क; घ. अयस्क का अचुंबकीय भाग।

प्लवन (फ़्लोटेशन)—अयस्कप्रसाधन के इतिहास में प्लवनपद्धति का प्रारंभ एक स्वर्णिम अवसर था, क्योंकि इस पद्धति ने करोड़ों टन निम्न श्रेणी के और मिश्र अयस्कों को, जिनके प्रसाधन के लिये गुरुत्वाकर्षण रीतियाँ अनुपयुक्त थीं, प्रसाधन योग्य बना दिया है। अयस्क के उत्प्लवन (उतराने) का कारण यह है कि ऊपर उठा फेन विशेष खनिजों को लेकर ऊपर उठता है और शेष पदार्थ नीचे बैठे रह जाते हैं। इस रीति में खनिज की पृष्ठतलीय शक्तियों का उपयोग किया जाता है। साधारणतः धातु की तरह चमकनेवाले खनिज (विशेषतः सल्फाइड) भीगते नहीं, और इसलिये तैरते रहते हैं, जब कि अधातु द्युतिवाले खनिज फेन में नहीं फँसते और डूब जाते हैं। उपयुक्त रासायनिक पदार्थों के घोलों के प्रयोग से खनिजों के विभिन्न अवयवों की उत्प्लाविता में इस प्रकार अंतर डाला जा सकता है कि एक अवयव दूसरे की अपेक्षा शीघ्र प्लवित हो सके (तैरने लगे) या एक के प्लवित होने के बाद दूसरा प्लवित हो और तीसरा नीचे ही बैठा रह जाय।

विविध प्रकार के रासायनिक पदार्थों को उनके कार्य के अनुसार वर्गीकृत किया जाता है, जैसे फेनक (फ़ाथर्स), एकत्रक (कलेक्टर्स), प्रावसादक (डिप्रेसैंट्स), कर्मण्यक (ऐक्टिवेटर्स) और नियामक (रेगुलेटर्स)।

फेनक खनिज में मिश्रित जल का तल-तनाव (सर्फ़ेस टेनशन) घटा देते हैं और खनिज के प्लवन के लिये फेन बनाने योग्य वायु के बुलबुलों का स्थायीकरण कर देते हैं। पाइन का तेल और क्रेसिलिक अम्ल साधारण फेनक हैं।

एकत्रक खनिज को जलप्रत्यपसारी (रिपेलेंट) बनाकर उत्प्लवन बढ़ा देते हैं। सल्फाइड खनिजों के लिये डाइ-थायो-कार्बोनेट (ज़ैंथेट्स) और डाइ-थायो-फास्फेट्स (एयरोफ़्लोट्स) साधारण एकत्रक हैं।

प्रावसादक एकत्रकों के प्रभाव को रोकने का कार्य करते हैं। ताम्र-लौह-सल्फाइड अयस्कों में चूने के संयोजन से लौह अयस्क डूब जाता है और ताम्र अयस्क (कैल्कोपाइराइट) तैरता रहता है।

कर्मण्यक का कार्य प्रावसादक के विपरीत होता है। वे उन खनिजों को उत्प्लवित करते हैं जिनका उत्प्लवन या तो अस्थायी रूप से दबा दिया गया हो, या जो बिना कर्मण्यक की सहायता के उत्प्लवित न हों। उदाहरण, थैसायानाइड से यदि ज़िंक सल्फाइड का अवसाद कर दिया गया हो जिससे वह डूबने लगे, तो कापर सल्फेट के प्रयोग से उसे फिर तैरने योग्य बना सकते हैं।

नियामक क्षारीयता और अम्लीयता अर्थात् अयस्क के पी० एच० में परिवर्तन कर देते हैं जिससे उत्प्लवन के प्रतिकर्मकों के कार्य पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। व्यवहार में उत्प्लवन-प्रतिकर्मक बहुत थोड़े परिमाण में उपयोग किए जाते हैं, जैसे प्रति टन अयस्क में फेनक तथा एकत्रक ०·०३ से ०·२ पाउंड तक और प्रावसादक तथा कर्मण्यक ०·३ से १ पाउंड तक प्रयुक्त किए जाते हैं। य सब रासायनिक पदार्थ उत्प्लवनवाले बर्तनों में ही साधारणतः उत्प्लवन के समय या थोड़ा पहले डाले जाते हैं। कुछ पदार्थों
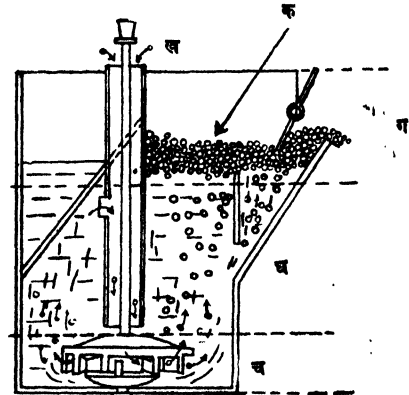
चित्र ६—उत्प्लावक

अयस्क को पानी में पीसकर और उचित रासायनिक पदार्थ मिलाकर इस मशीन की टंकी घ में डाल दिया जाता है। चर्खी च मे नली ख से हवा आती रहती है। चरखी के नाचने से बहुत फेन (क) उठता है जिसे एक घूमती हुई पटरी काछकर मुँह ग से बाहर निकाल देती है।

को अपना काम करने में पर्याप्त समय लगता है। इसलिये ऐसे पदार्थों को अलग टैंक में खनिज और पानी के साथ मिलाकर नियत समय तक छोड़ देते हैं।

संक्षेप में, उत्प्लवन की क्रिया में पानी के साथ पिसे अयस्क को, विशेष रूप से इसी काम के लिये बनी मशीन में, वायु के साथ फेटते हैं (चित्र ६)। पिसे अयस्क के उचित रासायनिक पदार्थों के साथ मिलने के पश्चात् मिश्रण उत्प्लवन-कोष्ठों में जाता है और वहाँ घूमती हुई चरखी पर गिरता है। चरखी की धुरी को चारों ओर से घेरे हुए एक नली रहती है जिसमें से हवा आती रहती है। इससे बहुत फेन बनता है और वांछित खनिज फेन में लिपटकर ऊपर उठ आता है (चित्र ६)। इस फेन को घूमती हुई पटरियाँ काछ लेती हैं। तब इस खनिजमय फेन को गाढ़ा किया जाता है और छानकर पानी से अलग कर लिया जाता है। खनिजरहित अवशेष उत्प्लवनकक्ष के नीचे बने एक छेद से बहा दिया जाता है।

चाँदी और सोना के अतिरिक्त अन्य धातुओं के खनिजों को आजकल अधिकतर उत्प्लवन की रीति से ही अलग किया जाता है। चयनमय उत्प्लवन (सिलेक्टिव फ़्लोटेशन) द्वारा, जिसमें उचित प्रावसादकों और कर्मण्यकों का प्रयोग किया जाता है, सीसा, जस्ता और ताँबा के मिश्रित खनिजों से इन तीनों को बड़ी सफलता से अलग अलग किया जाता है। सोडियम सल्फाइड को कर्मण्यक की तरह प्रयोग करके सीसे के आक्सिजनमय खनिजों को दिन पर दिन अधिक मात्रा में उत्प्लवन विधि से निकाला जाता है, क्योंकि इस प्रकार खनिज पर सल्फाइड की पतली परत जम जाती है और खनिज ऊपर उतराने लगता है। [यू० वा० भ०]

अयोध्या भारतवर्ष का एक अति प्राचीन नगर है जो घाघरा (सरयू) नदी के दाहिने किनारे पर उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जिले में २६° ४८' उत्तर अ० तथा ८२°१२' पूर्व दे० रेखाओं पर स्थित है। इसका महत्व इसके प्राचीन इतिहास में ही निहित है। पहले यह कोसल जनपद की राजधानी था। प्राचीन उल्लेखों के अनुसार तब इसका क्षेत्रफल ९६ वर्ग मील था। यहाँ पर सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेनत्सांग आया था। उसके अनुसार यहाँ २० बौद्ध मंदिर थे तथा ३,००० भिक्षु रहते थे। इस प्राचीन नगर के अवशेष अब खंडहर के रूप में रह गए हैं जिसमें कहीं कहीं कुछ अच्छे मंदिर भी हैं। वर्तमान अयोध्या के प्राचीन मंदिरों में सीतारसोई तथा हनुमानगढ़ी मुख्य हैं। कुछ मंदिर १८वीं तथा १९वीं शताब्दी में बने जिनमें कनकभवन, नागेश्वरनाथ तथा दर्शनसिंह-मंदिर दर्शनीय हैं। कुछ जैन मंदिर भी हैं। यहाँ पर वर्ष में तीन मेल लगते हैं—मार्च-अप्रैल, जुलाई-अगस्त तथा अक्तूबर-नवंबर के महीनों में। इन अवसरों पर यहाँ लाखों यात्री आते हैं। अब यह एक तीर्थ-स्थान के रूप में ही रह गया है। इसका प्रशासन फैजाबाद नगरपालिका से होता है। इसकी जनसंख्या ७६,५८२ है (१९५१)। [न० ला०]

अरकट (आर्काड्) मद्रास प्रांत के एक नगर और दो जिलों का नाम है। इन जिलों में से एक उत्तर अरकट और एक दक्षिण अरकट कहलाता है। अरकट नगर उत्तर अरकट का प्रधान नगर है। अंग्रेजों की विजय के पहले यह नगर बहुत समृद्धिशाली था, परंतु अब यहाँ कुछ मसजिदों, मकबरों और किलों के खँडहर ही रह गए हैं। क्लाइव का नाम अरकट की विजय और रक्षा से हुआ। १८वीं शताब्दी में कर्नाटक की गद्दी के लिये मुहम्मद अली और फ्रांसीसियों की सहायता से चाँदा साहब अंग्रेजों से लड़ रहे थे। चाँदा साहब को परेशान करने के लिये क्लाइव ने अरकट पर चढ़ाई कर दी और सुगमता से उसे जीत लिया। तब चाँदा साहब को १०,००० सिपाहियों की सेना अरकट भेजनी पड़ी और इस प्रकार त्रिचनापली में घिरे हुए अंग्रेजों की विपत्ति कम हुई।

अरकट फिर क्रमानुसार फ्रांसीसियों, अंग्रेजों और हैदरअली के हाथ में गया, परंतु अंत में १८०१ में अंग्रेजों के अधीन हो गया। तब से भारत की स्वतंत्रता तक यह ब्रिटिश अधिकार में ही रहा।

उत्तर अरकट जिले के उत्तर में चित्तूर, पूर्व में चिंगलपट, दक्षिण में दक्षिण अरकट तथा सलेम और पश्चिम में मैसूर राज्य है। इसका क्षेत्रफल ४,६४८ वर्ग मील है और जनसंख्या लगभग ३० लाख। भूमि अधिकतर सपाट है, परंतु पश्चिम की ओर पहाड़ी है। इस भाग की जलवायु शीतल है। समुद्रतल से इधर की ऊँचाई लगभग २,००० फुट है। अधिक भागों में भूमि पथरीली है और खेती बारी नहीं हो पाती, परंतु घाटियाँ बहुत उपजाऊ हैं। वेलोर नगर इस जिले का मुख्य नगर है और तिरुपति प्रसिद्ध तीर्थस्थान है।

दक्षिण अरकट के उत्तर में उत्तर अरकट और चेंगलपट्टु हैं, पूर्व में बंगाल की खाड़ी और पांडीचेरी जिला, दक्षिण में तंजोर तथा त्रिचनापली जिले और पश्चिम में सलेम जिला। क्षेत्रफल ४,२०७ वर्ग मील है और जनसंख्या लगभग ३० लाख। समुद्र की ओर भूमि रेतीली और नीची है, परंतु पश्चिम की ओर देश पहाड़ी है और कहीं कहीं ऊँचाई ५,००० फुट तक पहुँच जाती है। प्रधान नदी कोलरून है; तीन अन्य छोटी नदियाँ भी हैं। इस जिले में कड्डालोर एक छोटा बंदरगाह है।

दोनों जिलों में चावल, ज्वार आदि और मूँगफली की खेती होती है। [नृ० कु० सिं०]

अरक्कोणम् मद्रास राज्य के उत्तर आर्काड् जिले में इसी नाम के ताल्लुके का प्रमुख केंद्र है (स्थिति : १३°५' उत्तर अक्षांश एवं ७९° ४०' पूर्वी देशांतर)। रेलवे जंकशन होने के कारण यह नगर तीव्र गति से उन्नति कर गया है। यह मद्रास रेलवे की उत्तर-पश्चिमी एवं दक्षिण-पश्चिमी लाइनों का केंद्र तथा दक्षिणी रेलवे की प्रमुख लाइन के चेंगलपट्टु नामक स्थान से निकलनेवाले शाखा-रेल-मार्ग का अंतिम स्थान भी है। १९०१ ई० में इसकी जनसंख्या ५,३१३ थी, जिसमें अधिकांश रेलवे कर्मचारी थे। १९४१ ई० में यह १५,४८४ थी, जो सन् १९५१ तक के दशक में बढ़कर २३,०३२ हो गई। इसमें लगभग २५% लोग यातायात के धंधे में लगे थे। नगर का प्रशासन पंचायत द्वारा होता है। [का० ना० सिं०]

अरण्यतुलसी का पौधा ऊँचाई में ८ फुट तक, सीधा और डालियों से भरा होता है। छाल खाकी, पत्ते ४ इंच तक लंबे और दोनों ओर चिकने होते हैं। यह बंगाल, नैपाल, आसाम की पहाड़ियों, पूर्वी नैपाल और सिंध में मिलता है। यह श्वेत (ऐल्बम) और काला (ग्रैटिसिमम) दो प्रकार का होता है। इसके पत्तों को हाथ से मलने पर तेज सुगंध निकलती है।

आयुर्वेद में इसके पत्तों को वात, कफ, नेत्ररोग, वमन, मूर्छा अग्निविसर्प (एरिसिपलस), प्रदाह (जलन) और पथरी रोग में लाभदायक कहा गया है। ये पत्ते सुखपूर्वक प्रसव करानेवाले तथा हृदय को भी हितकारक माने गए हैं।

इन्हें पेट के फूलने को दूर करनेवाला, उत्तेजक, शांतिदायक तथा मूत्र-निस्सारक समझा जाता है।

रासायनिक विश्लेषण से इनमें थायमोल, यूगेनल तथा एक अन्य उड़नशील (एसेंशियल) तेल मिले हैं। [भ० दा० व०]

अरण्यानी ऋग्वेद की वनदेवी। यह समस्त जगत् की कल्याणकारिणी है। इसे मधुर गंध से सुरभित कहा गया है। यह समस्त वन्य जगत् की धात्री है (मृगाणां मातरम्)। बिना उपजाए ही प्राणियों के लिये आहार उत्पन्न करनेवाली है। ऋग्वेद में एक पूरा सूक्त (१०,१४६) उसकी स्तुति में कहा गया है। [ओं०ना०उ०]

अरब एशिया के दक्षिण-पश्चिम में एक प्रायद्वीपीय पठार है, जो १२° उ० अ० से ३२° उ० अक्षांश तक तथा ३५° पू० दे० से ६६° पू० देशांतर तक फैला है। इसकी औसत चौड़ाई ७०० मील तथा लंबाई १,२०० मील है। क्षेत्रफल : १०,००,००० वर्गमील; जनसंख्या : लगभग १,००,००,००० (अनुमानित)। इसके पश्चिम में लालसागर, दक्षिण में अरबसागर एवं अदन की खाड़ी, पूर्व में ओमान एवं फारस की खाड़ियाँ तथा उत्तर में जॉर्डन एवं इराक के मरुस्थल हैं। इसका लाल-सागरीय तट अकाबा की खाड़ी से अदन तक फैला है और १,४०० मील लंबा है। दक्षिण में इसके तट की लंबाई १,२५० मील है।

पठार में आद्यकल्पिक (आर्कियन) पत्थर हैं जिनपर मध्यकल्पिक (मेसोज़ोइक) बालू एवं चूने के पत्थरों का जमाव मिलता है। इसकी ढाल

पश्चिम से पूर्व को है। पश्चिमी तट पर लावानिर्मित ऊँची पर्वतश्रेणियाँ मिलती हैं जिनकी औसत ऊँचाई ५,००० फुट है। इनकी सर्वाधिक ऊँचाई यमन राज्य में १२,३३६ फुट है। अरब के मध्य भाग की ऊँचाई २,००० से ३,००० फुट है।

यह संसार की अति उष्ण पट्टी में पड़ता है। यमन, असीर, एवं ओमान की पहाड़ियों को छोड़ अरब का संपूर्ण भाग शुष्क एवं उष्ण है, जहाँ वर्षा साल भर में ५ इंच से भी कम होती है। सततप्रवाहिनी नदियों का सर्वथा अभाव है। अरब में तीन प्रकार के क्षेत्र मिलते हैं : (१) कठिन मरुस्थल; (२) शुष्क प्रशोपस्थली (स्टेप्स); (३) मरूद्यान एवं कृषिक्षेत्र। कठिन मरुस्थलों में न जल है, न किसी प्रकार की वनस्पति। इसके अंतर्गत नफ़ूद, दहना एवं रुब-अल-खाली के बलुए ढेर एवं कंकड़ के क्षेत्र हैं। नफ़ूद में बद्दू लोग, जाड़े में थोड़ी वर्षा होने पर, ऊँट तथा भेड़ चराते हैं। रुब-अल-खाली के पूर्वी भाग में अलमुर्रा एवं अन्य जातियाँ प्रसिद्ध ओमानी ऊँट पालती हैं।

स्टेप्स के अंतर्गत हमाद, हेजाज़ एवं मिदियाँ के क्षेत्र हैं। यहाँ कहीं कहीं प्राकृतिक जलछिद्र तथा कँटीली झाड़ियाँ मिलती हैं। मरूद्यान एवं कृषिक्षेत्र मध्य भाग (जिसे नज्द कहते हैं) तथा तटीय भागों में मिलते हैं। नज्द में तीन मरूद्यान एक दूसरे से जुड़े हैं, जिनके बीच में रियाध नगर है। रियाध सऊदी अरब राज्य की राजधानी है। तटीय उर्वर क्षेत्रों में यमन, हासा, ओमान का बटीनाह् तट तथा वादी हद्रेमौत प्रमुख हैं। यमन जगत्प्रसिद्ध मोच्चा कहवा की जन्मभूमि है।

अरब प्रायद्वीप खनिज तेल का भांडार है, जिसकी संचित निधि ९ अरब (९०० करोड़) बैरल बताई जाती है। सोना, चाँदी, गंधक तथा नमक अन्य प्रमुख खनिज हैं।

यहाँ का मुख्य उद्यम घोड़ा, ऊँट, गदहा, भेड़ तथा बकरा पालना है। खजूर एवं ऊँट का दूध अरब लोगों का मुख्य भोजन है। मरूद्यान में गेहूँ, जौ, ज्वार बाजरे के अतिरिक्त अंगूर, अखरोट, अनार, अंजीर तथा खजूर आदि फल उपजाए जाते हैं। पठारों पर सेब तथा घाटियों में केला पैदा किया जाता है।

मुसलमानों के तीर्थस्थान मक्का (जनसंख्या ६०,०००) एवं मदीना प्रायद्वीप के पश्चिमी भाग (हेजाज़) में स्थित हैं। ९०% तीर्थयात्री जिद्दा बंदरगाह से होकर इन तीर्थस्थानों में जाते हैं। [न० कि० प्र० सि०]

अरब का इतिहास

अरब के अंतर्गत विविध प्रादेशिक इकाइयों में यमन, हेजाज़, ओमान, हज्रमौत, नज्द, हसा और हिरा मुख्य हैं। १९वीं शताब्दी में दक्षिणी अरब से जो प्राचीन शिलालेख प्राप्त हुए हैं उनके अनुसार हज़रत ईसा से कम से कम एक हजार वर्ष पहले अरब में एक ऊँचे दरजे की सभ्यता विद्यमान थी। प्राचीन असूरी शिलालेखों, इंजील के पुराने अहदनामे और प्राचीन ग्रंथों से भी इसकी पुष्टि होती है। अरब इतिहास के सभी विशेषज्ञ इस बात से सहमत हैं कि नवीं शताब्दी ई० पू० में अरब में चार सुसभ्य राज्यों का अस्तित्व मिलता है। ये राज्य थे—माइन, सबा, हज्रमौत और कताबानू।

इन चारों में सबा राज्य के संबंध में विद्वानों का लगभग एक मत है। तौरेत के अनुसार सबा की राजमहिषी 'सम्राज्ञी शेबा' ने लगभग ९५० ई० पू० में सम्राट् सुलेमान से भेंट की थी। छठी सदी ई० पू० तक सबा राजकुल की राजधानी सिरवाह थी। उसके पश्चात् राजकुल बदला और मारिब राजधानी बनी। सबा के राजकुलों के हाथों में ११५ ई० पू० तक शासन की बागडोर रही। सबा राजकुलों के अंतर्गत अरब का दक्षिण-पश्चिमी भाग समृद्धि की चरम सीमा पर पहुँचा। भारत के साथ मिस्र का समस्त व्यापार अरब के इसी भाग के माध्यम से होता था। भारत से तिजारती बेड़े माल लेकर यहीं आते थे और यहाँ से स्थलमार्ग द्वारा यह माल मिस्र जाता था। मिस्र के तोलेमी सम्राटों ने जब सीधे स्थलमार्ग से भारत के साथ व्यापार प्रारंभ किया तब सबा का महत्व समाप्त हो गया।

प्राचीन अरब के दूसरे राजकुल माइन का प्रभाव अरब के दक्षिणी भाग पर पूरी तरह फैला हुआ था। प्राचीन आलेखों के अनुसार माइन राजकुल के २५ राजाओं का पता चलता है। निस्संदेह इस राजकुल का कई सदियों तक प्रभाव रहा होगा। यह संभव है कि माइन और सबा के राजकुल समकालीन रहे हों।

११५ ई० पू० में दक्षिण-पश्चिम अरब में शासन की बागडोर साबियों के हाथों से हज्रमौत के हिमयारितो के हाथों में चली गई। लगभग इसी समय कताबानू राजकुल का भी अंत हो गया। कताबानू राजकुल के संबंध में बहुत कम ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त है। हिमयार राजकुल ने अपने को 'सबा और रायदान राजकुल' के नाम से पुकारना शुरू किया। यह वह समय था जब रोम की सत्ता ने अरब की राजनीति में हस्तक्षेप करना प्रारंभ किया। रोमी सत्ता ने एलिअस गालस नामक सेनापति के नेतृत्व में एक बड़ी रोमी सेना अरब पर आक्रमण करने के लिये भेजी; किंतु अरब मार्गदर्शकों ने इस सेना को मरुस्थल में ऐसा भटकाया कि वह पानी की तलाश करते करते समाप्त हो गई। हिमयारितों की सत्ता चौथी सदी ईसवी तक अरब के दक्षिण-पश्चिमी भाग पर एकछत्र शासन करती रही।

चौथी सदी ई० में इथियोपिया की सेनाओं ने दक्षिण-पश्चिमी अरब के एक भाग पर अधिकार कर लिया। लगभग एक सदी तक प्रभुत्व के लिये हिमयारितों के साथ उनका संघर्ष चलता रहा। सन् ५२५ ई० में रोमी सत्ता की सहायता से इथियोपिया की सेना ने अरब के इस भाग पर पूर्ण अधिकार कर लिया; किंतु इथियोपिया की यह एकछत्र सत्ता केवल ५० वर्ष तक ही अरब के इस भाग पर रह सकी। सन् ५७५ ई० में ईरानी सम्राट् की सेनाओं ने इथियोपिया के हाथों से यहाँ के शासन की बागडोर छीन ली। इसके बाद दक्षिण-पश्चिमी अरब के इस भाग के यमन प्रांत का शासन ईरानी सम्राट् के क्षत्रप द्वारा होने लगा।

इन राजकुलों के अतिरिक्त हिरा, ग़स्सान और किंदा की रियासतें भी पूर्वोत्तर और मध्य अरब में उभरीं। तीसरी सदी ई० से लकर छठी सदी ई० तक इन रियासतों का अस्तित्व कायम रहा। छठी सदी ई० में इन रियासतों ने रोम या ईरान की अधीनता स्वीकार कर ली।

हज़रत मोहम्मद के जन्म के समय छठी सदी ई० में अरब का अधिकतर भाग विदेशी शासन के अधीन था। साम और ईरान की सरहद से मिले हुए भाग अलग अलग कुस्तुनतुनिया के रोमन सम्राटों और ईरान के खुसरो के अधीन थे। लालसागर के किनारे का भाग इथियोपिया के ईसाई बादशाह के अधीन था। केवल हेजाज़ का प्रांत, जिसमें मक्का और मदीना शहर हैं, नज्द, ओमान और हज्रमौत के कुछ हिस्से ही संपूर्ण अरब में अपने को स्वतंत्र कह सकते थे।

अरबों में वीरता की कमी न थी। उन्हें स्वतंत्रता बहुत प्यारी थी। त्याग और बलिदान के लिये वे सदा तत्पर रहते थे। अतिथियों का सत्कार करना और अपनी जान पर मर मिटना उन्हें खूब आता था, किंतु वे झूठे वहमों और कुरीतियों में डूबे हुए थे। सारा देश सकड़ों कबीलों में बँटा हुआ था और हर कबीला सैकड़ों शाखाओं और उपशाखाओं में। कबील के एक व्यक्ति का अपमान समस्त कबीले का अपमान समझा जाता था। इन कबीलों में नित्यप्रति लड़ाइयाँ होती रहती थीं और परिणामस्वरूप भयंकर रक्तपात होता रहता था और नित्य युद्ध के हजारों कैदी गुलामों की तरह बाजारों में बिकते रहते थे।

थोड़े से क़बीलों को छोड़कर, जिन्होंने यहूदी या ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था, शेष सब अरब अपने पुराने धर्म को ही मानते थे। असंख्य देवी-देवताओं की पूजा उनमें प्रचलित थी। हर कबीले का अपना अलग देवता होता था। देवताओं के सामने पशुओं की बलि चढ़ाई जाती थी। कोई कोई तो अपने देवताओं के आगे अपने बेटों को काटकर चढ़ा देते थे। कुछ अरब एक सर्वोपरि परमात्मा को भी मानते थे जिसे वे 'अल्लाह ताला' कहते थे। अधिकांश अरब हज़रत इब्राहीम के बेटे इस्माइल से अपना निकास बताते थे।

सारे देश में जुए और शराब का बेहद प्रचार था। लड़कियों को जिंदा दफन कर देने का आम रिवाज था। अरबों में एक कहावत प्रसिद्ध

थी—"सबसे अच्छा दामाद कब्र है।" इस तरह के देश और इस तरह के समाज में मक्के के प्रतिष्ठित कुरैश कबीले के एक बड़े घराने, बनी हाशिम में तारीख़ ६ रबीउल अव्वल, सोमवार, २० अप्रैल, सन् ५७१ ई० को सूर्योदय के समय मोहम्मद साहब का जन्म हुआ।

मोहम्मद साहब की वृत्ति सदा से ही गंभीर थी। अपनी कौम के अध:पतन का उनके दिल पर बड़ा बोझ था। उन्होंने यह अनुभव कर लिया कि अरब के अलग अलग कबीलों और संप्रदायों के अलग अलग देवी-देवताओं को पूजना ही उनके अंदर फूट और भेदभाव के बढ़ने का मुख्य कारण है। उन्होंने एक सर्वोपरि और अखंड परमेश्वर की पूजा द्वारा उन सबको पूरी तरह मिलाकर एक कौम बना देने का दृढ़ निश्चय किया। चालीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने ईश्वर के संदेशवाहक पैगंबर के रूप में ईश्वर की अखंडता और एकता का प्रचार शुरू किया। ये ईश्वरीय संदेश 'कुरान' में संग्रहीत हैं।

जो बुराइयाँ मोहम्मद साहब के समय में अरब में सबसे अधिक फैली हुई थीं, कुरान में उनकी तीव्र निंदा की गई। शराबखोरी, वेश्यागमन, असीमित बहुपत्नीवाद, कन्याओं की हत्या, जुआ, सूदखोरी और जादू टोने में अंधविश्वास आदि का कुरान ने सर्वथा निषेध किया। मोहम्मद साहब एक ऐसे देश में पैदा हुए थे जहाँ राजनीतिक संगठन, राष्ट्रीय एकता, विवेक-सिद्ध धार्मिक विश्वास और सदाचार का पता न था। अपनी अनुपम धी-शक्ति के केवल एक आक्रमण में उन्होंने अपने देशवासियों की राजनीतिक अवस्था, उनके धार्मिक विश्वास और सदाचार—तीनों को एक साथ सुधार दिया। स्वतंत्र कबीलों की जगह उन्होंने एक राष्ट्र का निर्माण किया। अनेक देवी देवताओं में अंधविश्वास की जगह उन्होंने एक अनन्य सर्वशक्तिमान किंतु दयालु परमात्मा में विवेकपूर्ण विश्वास पैदा कर दिया। सन् ६३२ ई० में अपनी मृत्यु से पूर्व मोहम्मद साहब को एक साथ अरब में तीनों चीजों की स्थापना का सौभाग्य प्राप्त हुआ—एक राष्ट्र, एक साम्राज्य और एक धर्म।

मोहम्मद साहब की मृत्यु के बाद अबूबक्र (६३२-६३४) स्वाधीन अरब रियासत के पहले खलीफ़ा (शासक) चुने गए। पैगंबर की मृत्यु के बाद एक बार अरब में विद्रोह की बाढ़ सी आ गई किंतु असीम धैर्य और दूरदर्शिता के साथ अबूबक्र ने विद्रोह को शांत किया। मोहम्मद साहब की अंतिम इच्छा के अनुरूप अबूबक्र ने रोमी सेना से उत्तरी अरब की सुरक्षा के लिये एक सैन्य दल भेजा। अगले ही वर्ष अरब की सीमाओं से ईरानी और रोमी हुकूमतों का अंत करने के लिये एक बड़ी सेना अपने महान् सेनापति खालिद इब्न वलीद के सेनापतित्व में रवाना की। दो वर्ष के अल्प शासन के बाद ही अबूबक्र की मृत्यु हो गई किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि अत्यंत संकट के काल में अबूबक्र ने न केवल अरब की स्वाधीनता की रक्षा की वरन् इसलाम धर्म को भी खतरे से बचाया।

अबूबक्र के बाद उमर (६३४-६४४) ने खिलाफ़त की बागडोर सँभाली। उमर के शासनकाल में ईरान, फ़िलिस्तीन, इराक़, साम (सीरिया) और मिस्र को अरबों ने अपने अधीन कर लिया। उमर ने बनी उमैया कुल के एक योग्य व्यक्ति मुआविया को साम का और अम्र को मिस्र का सूबेदार नियुक्त किया। उमर के शासनकाल में ही, सन् ६३५ ई० में, इराक़ में कूफ़ा और बसरा के प्रसिद्ध शहर आबाद हुए। अम्र ने सन् ६४१ में मिस्र में एक नए शहर फ़ोस्तात की नींव डाली। इसी फ़ोस्तात का बाद में क़ाहिरा नाम पड़ा। उमर के दस वर्षों के शासन में अरब सत्ता का न केवल अभूतपूर्व विस्तार हुआ वरन् शासनव्यवस्था में नए नए सुधार किए गए।

तीसरे खलीफ़ा उस्मान (६४४-६५६) ने उमर के उत्तराधिकारी की हैसियत से शासन की बागडोर सँभाली। उस्मान के शासनकाल में एक ओर मुसलिम सेनाएँ उत्तर में आर्मीनिया और एशिया कोचक और पश्चिम में कार्थेज (उत्तरी अफ्रीका) तक पहुँचीं, दूसरी ओर अरब में आंतरिक गृहकलह ने भीषण रूप धारण कर लिया। उस्मान इस गृहकलह को शांत कर सकने में असफल रहे। कूफ़ा, बसरा और फ़ोस्तात से विद्रोहियों के दल राजधानी मदीना पर चढ़ आए। उस्मान ने अपने सूबेदारों को कुमक भेजने के लिये संदेश भेजा किंतु सैनिक सहायता पहुँचने के पूर्व ही विद्रोहियों ने खलीफ़ा उस्मान की हत्या कर डाली।

उस्मान की मृत्यु के बाद अली (६५६-६६१) खलीफ़ा की गद्दी पर बैठा। उस्मान की हत्या ने गृहकलह की जिस भावना को तीव्र कर दिया था, अली का शासन उसे शांत न कर सका। साम के सूबेदार मुआविया ने अली की सत्ता को स्वीकार करने से इनकार कर दिया। बसरा के सूबे ने भी अली की वफ़ादारी की सौगंध खाने से इनकार किया। अली ने बसरा पर आक्रमण किया और भयंकर युद्ध के बाद, जिसमें दस हजार योद्धा काम आए, बसरा पर अधिकार किया। बसरा विजय के पश्चात् अली ने कूफ़ा को अपनी राजधानी बनाया और वहाँ से मुआविया को वफ़ादारी प्रकट करने का आदेश भेजा। मुआविया के इनकार करने पर पचास हजार सेना लेकर अली दमिश्क की ओर बढ़े। सन् ६५७ ई० में सिफ़िन के मैदान में दोनों ओर की सेनाओं में संघर्ष हुआ। भयंकर रक्तपात के बाद दोनों दल अनिर्णीत स्थिति में अपनी अपनी राजधानियों को लौट गए।

सन् ६५८ में मुआविया ने अपने को प्रतिद्वंद्वी खलीफ़ा घोषित कर दिया। इसी वर्ष मुआविया ने अम्र के द्वारा मिस्र पर भी अधिकार कर लिया। स्वयं अरब के भीतर खारिजिओं का एक नया संप्रदाय विद्रोह का झंडा लेकर उठ खड़ा हुआ। खारिजिओं के अनुसार मुसलमान केवल एक अल्लाह ताला के प्रति स्वामिभक्ति की शपथ खा सकते थे, खलीफ़ा के प्रति नहीं। सन् ६५८ में खारिजिओं के साथ नेहरवान में अली का सैनिक संघर्ष हुआ। अगणित खार्जी कत्ल कर दिए गए किंतु उनका उत्साह ठंडा नहीं हुआ। अपने प्रचार द्वारा वे अली के विरुद्ध विद्रोह की भावना को तेज करते रहे। अंत में इन्हीं खारिजिओं ने षड्यंत्र करके अली, मुआविया और अम्र की हत्या की योजना बनाई। अम्र और मुआविया इस षड्यंत्र से बच गए किंतु एक खार्जी षड्यंत्रकारी के हाथों अली की मृत्यु हुई।

अली की मृत्यु के बाद उनके पुत्र हसन को खलीफ़ा घोषित किया गया किंतु हसन ने खिलाफ़त की गद्दी पाँच या छ: महीने बाद त्याग दी। मुआविया से सुलहकर हसन ने मदीने में अपने जीवन के अंतिम आठ वर्ष बिताए। हसन के आत्मसमर्पण के बाद मुआविया अरब साम्राज्य का एकछत्र अधिकारी रह गए।

मुआविया ने अपनी मृत्यु से पूर्व इस्लामी परंपरा के विपरीत अपने बेटे यजीद को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया। अप्रैल, सन् ६८० ई० में मुआविया की मृत्यु हुई। उनकी मृत्यु पर यजीद दमिश्क के सिंहासन पर बैठे। इधर कूफ़ा के नागरिकों ने हजरत मोहम्मद के नाती और अली के बेटे हुसैन से प्रार्थना की कि वह कूफ़ा आकर खिलाफ़त की बागडोर सँभालें। हुसैन अपने समस्त परिवार के साथ मक्के से कूफ़ा के लिये रवाना हुए। यजीद के सूबेदार अब्दुल्ला की सेना ने कर्बला के मैदान में हुसैन का रास्ता रोक दिया। नौ दिन तक प्यास से तड़पने के बाद हुसैन ने यजीद की सेना का सामना किया। १० अक्तूबर, सन् ६८० ई० अथवा मोहर्रम की दसवीं तारीख़ को कर्बला के मैदान में हुसैन अपने समस्त परिवार के साथ शहीद हुए, केवल हुसैन की बहिन, उसके दो बेटे और दो बेटियाँ बच सकीं। कर्बला की यह शोकजनक घटना आज भी हर साल इस्लामी दुनिया के शियों में दु:ख के साथ मनाई जाती है।

कर्बला की शोकांत घटना के बाद अब्दुल्ला इब्नजुबैर ने मक्के में घोषणा की कि यजीद से कर्बला का बदला लेना चाहिए। मक्का और मदीना के नागरिकों ने अब्दुल्ला के प्रस्ताव का समर्थन किया। खलीफ़ा यजीद की सेना ने सन् ६८२ ई० में मदीने पर आक्रमण कर उसे लूट लिया और विद्रोहियों को तलवार के घाट उतारा। दूसरे वर्ष जाकर मक्का को घेर लिया। तीन महीने के बाद यजीद की मृत्यु का समाचार पाकर खलीफ़ा की सेना वापस लौट गई, किंतु जाने से पूर्व वह पवित्र काबे तक को नष्ट करती गई। यजीद के बाद मर्वान और मर्वान के बाद अब्दुल मलिक खलीफ़ा बना। इस बीच अब्दुल्ला इब्नजुबैर मक्के में प्रतिद्वंद्वी खलीफ़ा के रूप में शासन कर रहा था। साम के एक भाग और मिस्र ने भी उसकी खिलाफ़त स्वीकार कर ली थी। मार्च, सन् ६९२ में अब्दुल मलिक के सेनापति हज्जाज ने मक्के का घेरा शुरू किया और उसी वर्ष अक्तूबर में मक्के पर अधिकार कर लिया। अब्दुल्ला इब्नजुबैर ७२ वर्ष की आयु में भी बहादुरी के साथ लड़ते हुए खेत रहे। अब्दुल्ला की मृत्यु के बाद अब्दुल मलिक के हाथों में खिलाफ़त का एकछत्र शासन आ गया।

सन् ७५० ई० तक मुआविया के खानदानवाले, जिन्हें बनी उमैया कहा जाता है, खलीफ़ा की गद्दी पर आसीन रहे। इस काल अरब सेनाओं ने एक ओर सिंध को जीता, दूसरी ओर स्पेन को अपने अधीन किया। खुरासान को भी अरब झंडे के नीचे शामिल किया गया और अफ्रीका महाद्वीप में अरब सत्ता का सफलतापूर्वक विस्तार हुआ। उमैया खानदान के अंतिम खलीफ़ा मर्वान द्वितीय का वध करके बनी हाशिम खानदान के अब्बासी खलीफ़ाओं का शासन प्रारंभ हुआ। अब्बासियों का पहला खलीफ़ा था अबुल अब्बास और अंतिम मुतास्सिम। पाँच शताब्दियों तक अब्बासी खलीफ़ा अरब संसार के ऊपर हुकूमत करते रहे। अंत में सन् १२५८ ई० में मंगोल विजेता हुलाकू के आक्रमण ने अंतिम अब्बासी खलीफ़ा के साथ साथ अब्बासी राजकुल का सदा के लिये अंत कर दिया।

अब्बासी खलीफ़ाओं में सबसे चमकते हुए नाम हारूँ अल रशीद और उसके बेटे मामू का है। हारूँ वीर योद्धा, कुशल सेनापति और चतुर शासक के अतिरिक्त विद्वानों का संमान करनेवाला था। उसके शासनकाल में ज्ञान विज्ञान का एक नया युग प्रारंभ हुआ। उसके दरबार में देश विदेश के विद्वान् आकर एकत्रित होते थे और शायरी, वक्तृत्वकला, इतिहास, कानून, विज्ञान, आयुर्वेद, संगीत और कला आदि विषयों पर चर्चा करते थे। इसी प्रकार खलीफ़ा मामूं के शासनकाल में भी साहित्य, विज्ञान और दर्शन शास्त्र की अभूतपूर्व उन्नति हुई। अपने दरबार में वह साहित्यकारों, दार्शनिकों, हकीमों, कवियों, वैज्ञानिकों, कलाकारों और इतिहासज्ञों का खूब आदर संमान करता था। भाषाविज्ञान और व्याकरण शास्त्र ने भी उसके समय में यथेष्ट उन्नति की। उसने अनुवाद के काम को भी प्रोत्साहन दिया और संस्कृत तथा यूनानी भाषाओं के महत्वपूर्ण ग्रंथों का अरबी में अनुवाद करवाया। ज्योतिष और नक्षत्रविज्ञान की उन्नति में भी उसने काफी रुचि दिखाई।

अब्बासी खलीफ़ाओं के पतन के बाद अरबों की सत्ता और उनका महत्व समाप्त हो गया। मक्के पर मिस्र की ओर से एक अमीर शासन करने लगा। मक्के और मदीने के बाहर पूरी अराजकता फैल गई। बद्दुओं की लूट मार के कारण हज की यात्रा तक सुरक्षित नहीं रह गई। सन् १५१७ ई० में जब तुर्की के सुलतान सलीम ने मिस्र पर अधिकार कर लिया तब मक्के के शरीफ ने शहर की तालियाँ तुर्क सुलतान के हवाले करके उसे हेजाज का अधिराज स्वीकार कर लिया। लगभग एक शताब्दी के बाद सन् १६३० ई० में यमन के एक सरदार क़ासिम ने तुर्कों को निकालने के बाद अरब पर अपनी इमामत की घोषणा की। अरब के एक भाग पर इस कुल की इमामत सन् १८७१ तक कायम रही।

अरब का आधुनिक इतिहास १८वीं शताब्दी के आरंभ में वहाबी आंदोलन से प्रारंभ होता है। उस समय अरब अनेक स्वतंत्र रियासतों में बँटा हुआ था जिनके सरदारों में आए दिन लड़ाइयाँ होती रहती थीं। इन्हीं में एक सरदार मोहम्मद इब्न सऊद था। उसने मध्य और पूर्वी अरब पर अपना शासन कायम कर लिया। उसने मुहम्मद इब्न अब्दुल वहाब नामक धार्मिक सुधारक की शिक्षाओं को अपनाकर शासन प्रारंभ किया। सन् १८०४ में सऊद के वंशजों ने मक्के और मदीने पर अधिकार कर लिया। इसी समय के लगभग यूरोपीय शक्तियों ने भी तेल की खानों के लालच में अरब की राजनीति में दखल देना शुरू किया। प्रथम विश्वयुद्ध का लाभ उठाकर सऊद राजकुल के उत्तराधिकारी इब्न सऊद ने अरब प्रायद्वीप के एक बड़े भाग पर और विशेषकर हेजाज पर अपना आधिपत्य जमा लिया। सऊद ने अपने राज्य का नया नाम "सऊदी अरब" रखा। तब से अब तक इब्न सऊद ही सऊदी अरब के अधिराज हैं। सऊदी अरब के मुख्य नगरों में मक्का, जिद्दा, रियाज और मदीना शामिल हैं। अरब की अन्य स्वतंत्र रियासतों में यमन, ओमान और बहरैन हैं। अरब के बंदरगाह अदन पर अंग्रेजों की हुकूमत आज भी कायम है।

इब्न सऊद के शासन में सऊदी अरब में कई सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक सुधार हुए। इस संबंध में स्वयं इब्न सऊद के शब्द हैं— "हम वहाबियों को पहले पवित्र काबे में जाने तक की अनुमति न थी। इसके बाद हमारी दुआओं को स्वीकार करके अल्लाह ने हमें मक्का और मदीना के पवित्र नगरों की खिदमत बख्शी। जिस समय से शासन हमारे हाथों में आया है उस समय से हमने कड़ाई के साथ शराब पीना, जुआ खेलना, कब्रों की पूजा करना और लूटमार करना बंद कर दिया है। हमने अरब कौम की आत्मा को विदेशी एजेंटों के हाथों से मुक्त किया है। हम चाहते हैं कि अरब की नीम आजाद रियासतें भी पूरी तरह आजाद होकर समस्त अरब कौम के साथ एकता के धागे में बँधें। इस दिशा में हम निरंतर प्रयत्न करते रहेंगे।"

सं०ग्रं० : सर विलियम म्यूर : लाइफ़ ऑव मोहेमट (१८७८); दी कैलीफ़ेट, इट्स राइज़, डिक्लाइन ऐंड फाल (१८९१); एम० ए० फ़ज्ल : लाइफ़ ऑव मोहम्मद (१९२८); महमूद पाशा फ़लकी : सीरतुन्नबी (१९२४); ए० जी० लिओनार्ड : इस्लाम, हर मारेल ऐंड स्पिरिचुअल वैल्यू (१८९२); टी० डब्ल्यू० आर्नल्ड : दी प्रीचिंग ऑव इस्लाम (१८९६); लेनपूल : मोहम्मडन डायेनस्टीज (१८९४); अली अमीर : ए शार्ट हिस्ट्री ऑव सेरासेंस (१८९९); साइमन ओक्ले : हिस्ट्री ऑव दी सैरासेंस (१७०८); फ़ंज़ान : ओम यदस ऐंड अब्बासीज़; पालग्रेव : सेंट्रल ऐंड ईस्टर्न अरेबिया (१८६५); मैकेंज़ी : दि खिलाफ़त ऑव दी वेस्ट; रेनाल्ड ए० निकलसन : दी मिस्टिक्स ऑव इस्लाम; ज़ाकी अली : इस्लाम इन दी वर्ल्ड (१९३८); पंडित सुदरलाल : हज़रत मोहम्मद और इस्लाम (१९४१)। [वि० ना० पां०]

अरबगिर तुर्की राज्य में मलाटिया प्रांत का एक नगर है जो पूर्वी तथा पश्चिमी फरात नदियों के संगम से कुछ दूर, संयुक्त नदी के दाहिने किनारे से थोड़ी दूरी पर स्थित है। एक सड़क द्वारा यह सिवास नगर से संबद्ध है। यहाँ के अधिकांश लोग वाणिज्य तथा अन्य व्यवसायों में लगे हुए हैं। फलों तथा तरकारियों की खेती करना यहाँ का दूसरा मुख्य धंधा है। रेशमी, सूती तथा ऊनी कपड़े भी यहाँ तैयार किए जाते हैं। वर्तमान नगर बहुत पुराना नहीं है, किंतु दो मील पर पुराना नगर है जिसे अस्कीशहर कहते हैं। नगर की जनसंख्या ५०,००० है (१९५१)। [ह० ह० सिं०]

अरब सागर हिंद महासागर का उत्तरी-पश्चिमी भाग है। इसकी सीमाएँ पूर्व में भारत, उत्तर में पाकिस्तान तथा दक्षिणी ईरान और पश्चिम में अरब तथा अफ्रीका के सोमाली प्रायद्वीप द्वारा निर्धारित होती हैं। इस सागर की दो मुख्य शाखाएँ हैं। पहली शाखा अदन की खाड़ी है जो लाल सागर और अरब सागर को बाबलमंदब के जलसंयोजक द्वारा मिलाती है। दूसरी शाखा ओमान की खाड़ी है जो आगे चलकर फारस की खाड़ी कहलाती है। अरब सागर का क्षेत्रफल (अंतर्गत समुद्रों सहित) लगभग १७,१५,००० वर्ग मील है। यह सागर प्राचीन काल में समुद्रतटीय व्यापार का केंद्र था और इस समय यूरोप और भारत के बीच के प्रधान समुद्र मार्ग का एक अंग है।

अरब सागर में द्वीपों की संख्या न्यून है और वे अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं। इन द्वीपों में कुरिया मुरिया, सोकोत्रा और लकादिव द्वीपसमूह उल्लेखनीय हैं। लकादिव द्वीपसमह समुद्रांतर (सबमैरीन) पर्वत श्रेणियों के द्योतक हैं। इन द्वीपों का क्रम दक्षिण की ओर हिंद-महासागर के मालदिव और चागोज द्वीपसमूहों तक चला जाता है। यह समुद्रांतर श्रेणी संभवतः अरावली पर्वत का ही दक्षिणी क्रम है जो तृतीयक (टर्शियरी) युग में, गोंडवाना प्रदेश के खंडन और भारत के पश्चिमी तट के विभंजन के साथ ही मुख्य पर्वत से विच्छिन्न हो गया। लकादिव-मालदिव-चागोज शृंखला पूर्णतः प्रवाल (कोरल) द्वारा रचित है और विश्व की कुछ सर्वोत्कृष्ट प्रवाल्याएँ (ऐटॉल) एवं उपह्रद (लैगून, समुद्री ताल) यहाँ विद्यमान हैं। बंबई और कराची के बीच की तटरेखा को छोड़कर इस सागर में महाद्वीपीय निधाय (कांटिनेंटल शेल्फ़) अत्यंत संकीर्ण है और महाद्वीपीय ढाल (स्लोप) बड़ी तेज है। [उस लगभग चौरस भूमि को महाद्वीपीय निधाय कहते हैं जो समुद्र के तट पर जल के नीचे रहता है और जिसकी गहराई ६०० फुट से कम होती है। इसके बाद गहराई बड़ी तेजी से बढ़ती है। इस

प्रकार गहराई बढ़ने से उत्पन्न ढाल को महाद्वीपीय ढाल (कॉन्टिनेंटल स्लोप) कहते हैं।]

अरब सागर के अन्य समुद्रांतर कूटों (सबमैरीन रिजेज़) में मरे कूट है, जो उत्तर-दक्षिण फैला है। अपनी लंबाई के अधिकांश में यह दोहरा है, अर्थात् दो ऊँची श्रेणियों के मध्य एक घाटी स्थित है। यह मध्यवर्ती घाटी लगभग १२,००० फुट गहरी है। पूर्वोक्त कूट संभवतः सिंध की किरथर श्रेणी का समुद्रांतर विस्तार है। कुछ समय पूर्व एक तीसरी गिरिशृंखला का पता चला जो बलूचिस्तान और ईरान के तट पर पूर्व-पश्चिम दिशा में विद्यमान है। यह संभवतः जेग्रोस पर्वतमाला का समुद्रांतर अंश है। समुद्रांतर कूटों के अतिरिक्त अरब सागर में एक महत्वपूर्ण समुद्रांतर नाली है। यह पश्चिम में सिंध नदी के मुहाने पर इंडस स्वाच के नाम से प्रसिद्ध है। यह महाद्वीपीय निधाय के सिरे पर लगभग १०० फुट गहरी है, परंतु क्रमशः आगे चलकर सिंध नदी के मुहाने पर ३,७२० फुट गहरी हो गई है। इस समुद्रांतर नाली के दोनों ओर ६५६ फुट ऊँची दीवारें हैं।

अरब सागर के वितल में विद्यमान शिलाओं के विषय में हमारा ज्ञान अभी अपूर्ण एवं नगण्य है। इन शिलाओं पर एकत्र निक्षेपों का ही साधारण ज्ञान प्राप्त हो सका है। इस सागर के महाद्वीपीय निधाय का अधिकांश भूजात पंक (टेरीजेनस मड) द्वारा आच्छादित है। यह पंक नदियों द्वारा परिवहित अवसाद है। अधिक गहराई पर ग्लोबीजरीना का निकर्दम (कीचड़) तथा टेरोपाड का निर्कदम है और अगाधसागरीय भागों में लाल मिट्टी विद्यमान है।

अरब सागर के जलपृष्ठ का ताप उत्तर में २६° सेंटीग्रेड से लेकर दक्षिण में २७·५° सें० तक है। इस सागर की लवणता ३६ से लेकर ३७ प्रति सहस्र है।

अरब सागर की धाराएँ पावस (मानसून हवाओं) के दिशापरिवर्तन के साथ साथ अपना दिशापरिवर्तन करती रहती हैं। शीतकाल में पावस (मानसून हवाएँ) उत्तरपूर्व से चलता है, जिसके फलस्वरूप अरब सागरीय तटरेखा के अनुरूप प्रवाहित जलधारा पश्चिम की ओर मुड़ जाती है। इसे उत्तर-पूर्वी पावसप्रवाह (नॉर्थ-ईस्ट मानसून ड्रिफ़्ट) कहते हैं। ग्रीष्मकाल में दक्षिण-पश्चिमी पावसप्रवाह अरब सागरीय तट के अनुरूप पूर्व की ओर प्रवाहित होता है। [रा० ना० मा०]

अरबी दर्शन

अरबी दर्शन का विकास चार मंजिलों से होकर गुजरा है : (१) यूनानी ग्रंथों का सामी तथा मुसलमानों द्वारा किया अनुवाद तथा विवेचन, यह युग अनुवादों का है; (२) बुद्धिपरक हेतुवादी युग; (३) धर्मपरक हेतुवादी युग; और इन सबके अंत में, (४) शुद्ध दार्शनिक युग। प्रत्येक युग का विवरण इस प्रकार है :

१. **अनुवाद युग**—जब अरबों का साम पर अधिकार हो गया तब उन्हें उन यूनानी ग्रंथों के अध्ययन का अवकाश मिला जिनका सामियों द्वारा सामी अथवा अरबी भाषा में अनुवाद हो चुका था। प्रसिद्ध सामी टीकाकार निम्नलिखित हैं :

(अ) प्रोबस (५वीं शताब्दी के आरंभ में) जिन्हें सबसे पहला टीकाकार माना गया है। इन्होंने अरस्तू के तार्किक ग्रंथों तथा पारफरे के 'इसागाग' की व्याख्या की।

(आ) रैसेन के निवासी सर्गियस (मृत्यु ५३६) जिन्होंने धर्म, नीतिशास्त्र, स्थूल पदार्थ विज्ञान, चिकित्सा तथा दर्शन संबंधी यूनानी ग्रंथों का अनुवाद किया।

(इ) एदीसा के निवासी याकोब (६६०-७०८), यह मुस्लिम शासन के पश्चात् भी यूनानी धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रंथों का अनुवाद करने में व्यस्त रहे। विशेषतः मंसूर के शासन में मुसलमानों ने भी अरबी भाषा में उन यूनानी शास्त्रों का अनुवाद करना आरंभ किया जिनका मुख्यतः संबंध पदार्थविज्ञान तथा तर्क अथवा चिकित्साशास्त्र से था।

९वीं शताब्दी में अधिकतर चिकित्सा संबंधी ग्रंथों के अनुवाद हुए परंतु दार्शनिक ग्रंथों के अनुवाद भी होते रहे। याहिया इब्ने बितृया ने अफलातून की 'तीयास' तथा अरस्तू के 'प्राणिग्रंथ', 'मनोविज्ञान', 'संसार' का अरबी भाषा में अनुवाद किया। अब्दुल्ला नईमा अलहिमसा ने अरस्तू के 'आभासात्मक' का तथा 'फिज़िक्स' और 'थियालॉजी' पर जान फिलोपोनस कृत व्याख्या का अनुवाद किया। कोस्ता इब्ने लूक़ा (८३५) ने अरस्तू की 'फिजिक्स' पर सिकंदरिया के अफरोदियस तथा फ़िलोपोनस लिखित व्याख्या का अनुवाद किया। इस समय के सर्वोत्तम अनुवादक अबूज़ैद हुसेन इब्ने, उनके पुत्र इसहाक़ बिन हुसेन (९१०) और उनके भतीजे हुबैश इब्नुल हसन थे। ये सब लोग वैज्ञानिक तथा दार्शनिक ग्रंथों का अनुवाद करने में व्यस्त थे।

१०वीं शताब्दी में भी यूनानी ग्रंथों के अनुवाद का काम गतिशील रहा। इस समय के प्रसिद्ध अनुवादक अबू बिश्र मत्ता (९७०), अबू ज़करिया याहिया इब्ने अलगंतिक़ी (९७४), अबू अली ईसा इब्ने इसहाक इब्ने ज़ूरा (१००८), अबुलखैर अल हसन इब्नुल खम्मार (जन्म ९४२) आदि हैं। संक्षेप में मुसलमानों ने ग्रीक शास्त्रों का सामी अथवा अरबी भाषा में अध्ययन किया अथवा स्वयं इन ग्रंथों का अरबी में अनुवाद किया। यूनानी विचारधारा और दार्शनिक दृष्टि सामियों द्वारा सिकंदरिया तथा अंतिओक से पूरब की ओर एदीसा, निसिबिस, हर्रान तथा गांदेशपुर में विकासमान हुई थी और मुसलमान जब विजेताधिकार से वहाँ पहुँचे तब उन्होंने, जो कुछ यूनानी दर्शन तथा शास्त्रज्ञान उपलब्ध था, उसको ग्रहण किया और धीरे धीरे भिन्न भिन्न समस्याओं के प्रभाव से दार्शनिक चिंतन का आरंभ हुआ।

२. **मोतज़ेला अर्थात् बुद्धिपरक हेतुवाद युग**—इस्लाम में सबसे प्रथम विचारविमर्श पारमार्थिक स्वच्छंदता का था। बसरा में, जो उस समय विद्याभ्यास तथा पांडित्य का एक विशिष्ट केंद्र था, एक दिन उस युग के महान् विद्वान् **इमाम हसन बसरी** एक मस्जिद में विद्यादान कर रहे थे कि उनसे किसी ने पूछा कि वह व्यक्ति (उमय्या शासकों की ओर संकेत था), जो घोर अपराध करे, मुस्लिम है अथवा नास्तिक। इमाम हसन बसरी कोई उत्तर देने को ही थे कि उनका एक शिष्य वासिल बिन अता बोल उठा कि ऐसा व्यक्ति न मुस्लिम है और न इस्लाम के विरुद्ध है। यह कहकर वह मस्जिद के एक दूसरे भाग में जा बैठा और अपने विचार की व्याख्या करने लगा जिसपर गुरु ने लोगों को बताया कि शिष्य ने 'हमें छोड़ दिया है' (एतज़िला अन्ना)। इस वाक्य पर इस विचारशाखा की स्थापना हुई।

चूंकि उमय्या शासक घोर पाप कर रहे थे और अपने आपको यह कहकर कि हम कुछ नहीं करते, सब कुछ खुदा करता है, निर्दोष बताते थे, इससे स्वच्छंदता का प्रश्न इस्लाम में बड़े वेग से उठा। हेतुवादियों ने इस प्रश्न तथा इसी प्रश्न की संनिकट शाखाओं का विशेष अनुसंधान किया।

अबुल हुज़ैल की मृत्यु ९वीं शताब्दी के मध्य हुई। इन्होंने एक ओर मनुष्य को स्वच्छंदता प्रदान की और दूसरी ओर खुदा को भी सर्वशक्ति (तथा गुण) संपन्न सिद्ध किया। मनुष्य की स्वेच्छा तो इसी बात से सिद्ध है कि सब धर्म कुछ विधिनिषेध बताते हैं जो बिना स्वच्छंदता के संभव नहीं। दूसरी दलील है कि प्रत्येक धर्म स्वर्ग को प्राप्य तथा नरक को त्याज्य बताते हैं जिससे प्रमाणित है कि मनुष्य को स्वेच्छा प्राप्त है। तीसरी दलील है कि मनुष्य की स्वच्छंदता खुदा के सर्वशक्तिमान और सर्वगुणसंपन्न होने में किसी प्रकार से बाधक नहीं है।

खुदा और उसके गुणों में विशेषण विशेष्य भाव नहीं है बल्कि सारूपत्व है। उदाहरणार्थ, खुदा सर्वज्ञ है; तो इसका अर्थ यह है कि वह ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान अथवा शक्ति अथवा अन्य गुण उससे भिन्न नहीं है। वह सर्वगुणसंपन्न है, परंतु खुदा की अपेक्षा यह अनेकानेक गुणों का संबंध गुण तथा गुणी जैसा नहीं हो सकता, क्योंकि खुदा सर्वव्यापी है और उससे कोई वस्तु, गुण या विशेषण बाहर नहीं है। इसके अतिरिक्त दैवी गुणों का साधारण अर्थ नहीं लिया जा सकता तथा उन्हें मनुष्यारोपित नहीं कह सकते। अतः ईश्वरेच्छा मानुषिक स्वच्छंदता के विरुद्ध नहीं है। ईश्वरेच्छा तो सृष्टि के लिये संकेत मात्र है। इसका किंचित् यह अर्थ नहीं है कि संसार अथवा मनुष्य सर्वशः ईश्वराधीन है। चरित्रनिर्माण के लिये मानुषिक

स्वतंत्रता ही आवश्यक है परंतु जीवनोद्धार के प्रति ईश्वरप्रत्यादेश निस्संदेह उपयोगी है।

अल नज्जाम (मृत्यु ८४५) अबुल हुजैल के शिष्य थे, एमपीदाक्लिज़ तथा अनक्सागोरस की विचारधारा से प्रभावित। इनके मतानुसार खुदा कोई अशुभ कर्म नहीं कर सकता। वह वही करता है जो उसके दास तथा भक्तों के लिये अत्यंत शुभ है। खुदा के संबंध में 'इच्छा' शब्द को विशेष अर्थ में लेना आवश्यक है। इस संबंध में इस शब्द से कोई कमी अथवा आवश्यकता प्रदर्शित नहीं होती, बल्कि 'इच्छा' खुदा के सर्वकर्तृत्व का ही एक पर्याय है। सृष्टि की क्रिया आदिकाल में संपूर्णतया समाप्त हो चुकी है और अब कालानुसार अन्य पदार्थ, वृक्ष तथा पशु अथवा मनुष्य आदि उत्पन्न होते रहते हैं।

नज्जाम दृश्य अणु की सत्ता न मानकर दृश्य पदार्थों को एक अप्राकृतिक गुण समूह ख्याल करते हैं। सब द्रव्य पदार्थ दैवगतिक गुणसमूह होनेके कारण भूतात्मक नहीं हैं परंतु अनात्म्यता प्रधान विषय है।

जाहिज़ के कथनानुसार यद्यपि विषय प्रकृतिशील है तथापि ईश्वरीय प्रभाव से कोई वस्तु भी विहीन नहीं है।

मुअम्मर का कथन है कि खुदा सत्तास्वरूप होने के कारण गुणविहीन है। उसको निराकार समझना ही उचित है। उसको गुणविशिष्ट समझने से विपरीत धर्मत्व का आक्षप इसलिये आता है कि विपरीत गुण भी उससे किसी प्रकार बहिर्गत नही समझे जा सकते।

३. **आशारिया अर्थात् धर्मपरक हेतुवादी युग**—नवीं शताब्दी में बुद्धिपरक हेतुवादियों के विरुद्ध कई विचारधाराएँ उत्पन्न हुईं। इन्हीं में एक अशरी चलन है जिसके संचालक **अलअशरी** (८७२–९३४ ई०) हैं जिनकी विचारधारा धीरे धीरे सब इस्लामी देशों में शास्त्रवत् समझी गई। इन्होंने मंदबुद्धि सत्यधर्मानुयायियों की साकार उपासना के विरोधी होते हुए भी एक ओर तो खुदा को संपूर्ण ऐश्वर्य प्रदान किया और दूसरी ओर उपासक की स्वच्छंदता (जो उसके मनुष्यत्व का सर्वोत्तम आधार है) स्थापित की। उनके कथनानुसार प्रकृति की बिना खुदा के प्रभाव के स्वतः कोई सामर्थ्य नहीं है। सामान्यतः मनुष्य भो सर्वथा खुदा पर ही आश्रित है। परंतु ऐसा होते हुए भी वह सर्वथा स्वच्छंद है।

धर्मज्ञान का मूल विषय खुदा चूँकि परोक्ष है अतः पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिये कुरान अथवा कोई अन्य ईश्वरीय प्रत्यादेश मनुष्य जाति के लिये अनिवार्य है।

४. **दार्शनिक युग—अबू याकूब बिन इसहाक अलकिंदी** (मृ० ८७५) को अरब होने से सर्वोत्तम अरब दार्शनिक माना गया है। ये दार्शनिक होने के अतिरिक्त अत्यंत सुयोग्य व्यक्ति और अन्यान्य कलाओं में भी सिद्धहस्त थे। यूनानी दार्शनिकों के महत्वपूर्ण ग्रंथों के टीकाकार के रूप में अत्यंत प्रसिद्ध हैं। इन्होंने या तो स्वयं अरबी भाषा में यूनानी ग्रंथ के अनुवाद किए हैं अथवा अपनी अध्यक्षता में और लोगों से अनुवाद कराए हैं, फिर उन्हें स्वयं संशोधित किया है। अरस्तू के धर्मतत्व का अरबी अनुवाद उन्हीं की अध्यक्षता में तयार हुआ था। किंदी ने अन्य धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया था और इस अध्ययन के अनुसार उनका विश्वास था कि सब धर्म एक पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार करते हैं जो सृष्टि का मूल कारण है और सब धर्मज्ञाताओं ने उसी को पूज्य तथा माननीय बताया है।

सृष्टिकर्ता होने के कारण अल्लाह का प्रभाव संसार में व्याप्त है, परंतु उसका प्रभाव तथा प्रकाश संसार में वस्तुतः अधोगति से पहुँचता है और प्रथम उद्भाव का प्रभाव अग्राम्य उत्पत्ति और उसका उससे अगली स्थिति पर उद्भावित होता है। प्रथम उद्भव बुद्धि है और प्रकृति उसी के अनुसार नियुक्त है। अल्लाह् (ईश्वर) तथा प्रकृति के मध्य में विश्वात्मा है जिससे जीवात्मा निर्गत हुआ है।

किंदी संभवतः विश्व का सबसे प्रथम दार्शनिक है जिसने यह बताया कि उद्दीपन तथा वेदना एक दूसरे के प्रमाणानुसार कल्पित हैं। इस सिद्धांत का प्रवर्तन करने के कारण काफडन किंदी की गणना विश्व के सर्वोत्तम बारह दार्शनिकों में करता है।

फ़राबी (मृ० ९५०) ने अरस्तू का विशेष अध्ययन किया था और इसी लिये उन्हें एशिया में लोग गुरु नंबर दो के नाम से याद करते हैं। फ़राबी के कथनानुसार तर्कशास्त्र के दो मुख्य भाग हैं। प्रथम भाग में संकल्प तथा मनोगत पदों का विवेचन करना आवश्यक है। द्वितीय भाग में अनुमान तथा प्रमाणों का वर्णन आता है। इंद्रियग्राह्य उत्तमोत्तम साधारण चेतना भी संकल्पों के अंतर्गत गिनी जानी चाहिए। इसी प्रकार स्वभावजन्य भाव भी संकल्पों के ही अंतर्गत आते हैं। उन संकल्पों के मिलान से निर्णय की उत्पत्ति होती है जो सदसत् होते हैं। इस सदसत्-निर्णय-क्रिया की उत्पत्ति के लिये यह अनिवार्य है कि बुद्धि में कुछ भाव अथवा विचार स्वजात हों जिनकी अग्रतर सत्याकृति अनावश्यक हो। इस प्रकार की मूल प्रतिज्ञाएँ गणित, आत्मविद्या तथा नीतिशास्त्र में विद्यमान हैं।

तर्कशास्त्र में जो सिद्धांत निर्दिष्ट हैं वे ही आत्मविद्या में भी सर्वशः प्रत्यक्ष हैं। जो कुछ विद्यमान है वह या तो संभावित है अथवा अन्यथासिद्ध है। संसार चूँकि स्वयंसिद्ध नहीं है, अतः उसका कोई अन्योन्य भावरहित कारण मानना आवश्यक है। इसका हम खुदा अथवा अल्लाह (किंवा ईश्वर) के नाम से संकेत कर सकते हैं। यह परम सत्ता जिसे अल्लाह कहते हैं, इतरेतर भावों से पुकारे जाने के कारण भिन्न भिन्न नामों से अनुचिंतित होती है। उनमें से कुछ नाम उसकी आत्मसत्ता को निर्दिष्ट करते हैं अथवा कुछ उसकी संसार-समासक्ति-विषयक हैं। परंतु यह बात स्वयंसिद्ध है कि उसकी पारमार्थिक सत्ता इन नामों तथा उपाधियों द्वारा अगम्य है।

इब्ने मसकवे (मृत्यु १०३०) के कथनानुसार जीवात्मा एक शरीरी द्रव्य है जिसे अपनी सत्ता तथा ज्ञान का बोध रहता है। अतः जीवात्मा का ज्ञान तथा आत्मिक उद्योग प्रच्छन्न शरीर की सीमा से परे हैं। यही कारण है कि उसकी इंद्रियग्राह्यता संसार के विषयभोगों से लेशमात्र भी तृप्त नहीं होती। मनुष्य अपने अंतर्जात ज्ञान के द्वारा अधर्म से बचता हुआ हित की ओर प्रोत्साहित है। हित दो प्रकार का होता है : सामान्य और विशेष। सामान्य हित सबके लिये पुरुषार्थ है जो परमज्ञान के द्वारा प्राप्त होता है। साधारणतः मनुष्य प्रीतिपरक जरूर है परंतु यह व्यक्तिगत हित मनुष्यत्व के विरुद्ध होने से पुरुषार्थ का बाधक है। वास्तविक सुख तो मनुष्यत्व के अनुसार काम करने में है और मनुष्यत्व के आदर्श की प्राप्ति संसर्ग में ही संभव है, अन्यथा नहीं। इस संलापप्रियता की हज्ज तथा नमाज़ से भी पुष्टि होती है। यही प्रतिभावना सब धर्मों का आदेश है।

इब्नेसिना (मृत्यु १०३७) की राय में संसार संभावी होने के हेतु अवश्यप्राप्य नहीं है। अवश्यप्राप्य की खोज अंत में हक़ (ब्रह्म) को सिद्ध करती है जिसको यद्यपि बहुत से नाम तथा विशेषण दिए जाते हैं, परंतु उसकी पारमार्थिक सत्ता इन सबके द्वारा अगम्य है। ऐसा भी नहीं कि वह केवल निर्गुणी है। उसे तो सब गुणों तथा विषयों का आधार होने के कारण निर्गुणी गुणी कहना ही उपयुक्त है।

उस पारमार्थिक सत्ता से विश्वात्मा (वैश्वानर) का उद्भव होता है और यह अनेकत्व का आश्रय है। विश्वात्मा जब अपने कारण का चिंतन करती है तब आकाशमंडल चैतन्य विकृत होता है जिससे परिच्छन्न आत्मा का स्पष्टीकरण होकर अन्य स्थूल विकार तथा शरीर विकसित होते हैं। शरीर का आत्मा से वस्तुतः कोई संपर्क नहीं है। शरीर की उत्पत्ति तो चार सूक्ष्म तत्वों (पृथ्वी, आप, तेजस्, वायु) के संमिश्रण से है, परंतु शरीर की उत्पत्ति चतुर्विध गुणों से नहीं है, वह तो विश्वात्मा से विकसित होने के कारण स्वतः परममूलक है। आदि से ही शरीरी एक स्वतःसिद्ध सूक्ष्म द्रव्य है जो अन्य शरीरों में स्थित होकर अहमत्व के भान का कारण है।

इब्ने अल-हशीम के कथनानुसार दृश्य पदार्थ कुछ विशेष गुणों का समूह है और इन सब सामूहिक गुणों के हेतु से ही कोई पदार्थ अपनी विशेष संज्ञा से पुकारा जाता है। अब बाह्य प्रत्यक्ष स्वयं अन्य क्षणों का समूह है जिनके द्वारा अमुक पदार्थ के अमुक अमुक गुण प्रदीप्त होते हैं। अतः एक साधारण प्रत्यक्ष के अंतर्गत अनेकानेक गुण प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं। प्रत्येक प्रत्यक्ष स्थूलभूत पदार्थ के किसी एक गुण अथवा भाव को प्रकाशित करता है जिन्हें स्मृतिभाव से कुछ क्षण पश्चात् सामूहिक प्रतिज्ञा से स्थूल पदार्थ की संज्ञा दी जाती है।

अलग़िज़ाली (मृत्यु ११११) के समय तक मुस्लिम दार्शनिकों द्वारा दर्शनशास्त्र की विशेष उन्नति हो चुकी थी परंतु वह दर्शनविकास मनुष्य

(मुस्लिम) की हार्दिक (धार्मिक) तृष्णा की तृप्ति कर सकता था अथवा नहीं, यह कोई भी नहीं समझ सका था।

ग़िज़ाली प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने इस प्रश्न पर गंभीर विचार किया। इनको कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि वह सब तत्व-विचार-धारा जो इस्लाम में किंदी से आरंभ हुई थी और फ़राबी द्वारा इब्नेसिना तक पहुँची थी और जिसका आश्रय मुख्यतः ग्रीक तत्व-विचार-धारा थी, सर्वथा धार्मिक चेष्टाओं और हार्दिक रसिकता के विरुद्ध है। इनके लिये एक ओर तो हृदयग्राही धार्मिक भावनाएँ थीं, जिनकी तृप्ति ईश्वरप्रत्यादेश से होती है, परंतु दूसरी ओर बुद्धिपरक विचार थे जो इसके प्रतिकूल हैं। यही बुद्धिपरक विचार अन्य दर्शनों (यहाँ ग्रीक तथा मुस्लिम) का मूल आधार है, उदाहरणार्थ कारणकार्य का विचार।

अपने आपको इस संकल्प विकल्प में अनुभव करके ग़िज़ाली कुछ समय के लिये संशयकारी हो गए। वह किसी बात को सत्य स्वीकार करने के लिये राजी न हो सके। उन्होंने सब विचारधाराओं तथा सत्यप्राप्ति के अन्य मार्गों का विश्लेषण किया। दार्शनिकों के वाक्यघात के लिये उन्होंने विश्व-प्रसिद्ध ग्रंथ 'दर्शनखंडन' लिखा जिसमें सब दार्शनिक रीतियों का खंडन किया। इस अवस्था में उन्होंने एक स्वयंसिद्ध यथार्थ विचार की चेष्टा की। ईश्वर, संसार, धर्म, तत्वज्ञान तथा परंपरागत विचारधारा सब असत्य हो सकते है, परंतु संशय का आश्रय होना आवश्यक है। अतः संशयकारक स्वतः-सिद्ध है। "अहम् संशयं करोमि अतः अहमस्मि" यह निश्चय भी संशयात्मक हो सकता है। क्योंकि संशय से संशयकर्ता के वास्तविक अस्तित्व की सिद्धि नहीं है, केवल तार्किक सत्ता सिद्ध है। अतः अहमत्व की प्राप्ति विचार-शक्ति से नहीं, केवल निश्चयात्मक शक्ति से इस प्रकार होती है कि "मैं करता हूँ अतः मैं हूँ" (अहम् करोमि अतोऽहमस्मि)।

अहमत्व की सिद्धि के पश्चात् अहमत्व के मूलाधार की खोज अनिवार्य है। यहाँ पर कारण-कार्य-भाव का समझना जरूरी है। वैज्ञानिक तथा दार्शनिक दृष्टि से कारण की परिभाषा सर्वदा दूषित ही रही है। कारण-कार्य-भाव केवल अनुक्रम को नहीं कह सकते। कारण का महत्व तो व्यक्तिगत रूप से ही स्पष्ट होता है। किसी की सिद्धि में जो प्रयत्न किया जाता है उसके अंतर्गत ही कारण का विकास होता है। आत्मा का कारण भी एक सर्वशील सर्वोत्तम परमपुरुष (खुदा, ईश्वर) ही हो सकता है जिसमें निश्चयात्मक शक्ति का बाहुल्य हो, अन्यथा नहीं। इस प्रकार धर्म (इस्लाम) सिद्ध होता है और परंपरागत धार्मिक विचारधारा तत्वज्ञान की सहायक बनती है।

साम में उमय्या शासन के क्षीण होने के पश्चात् मुस्लिम शासन की अब्दुर्रहमान द्वारा स्पेन में स्थापना हुई। विद्यासेवन तथा सभ्यता की दृष्टि से स्पेन को १०वीं शताब्दी में वही महत्व प्राप्त था जो इससे पहले ६वीं शताब्दी में पूर्वी देशों को प्राप्त था। स्पेन में कई विश्वख्यात दार्शनिक हुए जिनमें से यहाँ केवल तीन इब्नेबाजा, इब्नेतुफ़ैल, इब्नेरुब्द का वर्णन किया जाता है :

इब्नेबाजा—इनका विशेष दार्शनिक उद्गार आत्मा, जीवात्मा के प्रकरण में है। सत्ता दो भागों में विभाजित है। प्रथम वह जो निश्चल है, द्वितीय वह जो गतिशील है। जो गतिशील है वह साकार होने के कारण सीमित है। परंतु गतिशील होने के लिये एक निराकार सत्ता की आवश्यकता है। यह निराकार सत्ता खुदा (परमात्मा) है जो सब देहधारियों के लिये संचालक है।

इब्नेतुफ़ैल की 'हयि इब्ने यक़ज़ान' एक दार्शनिक उपाख्यान है जिसके द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि धर्म तथा दर्शन परस्पर संबद्ध हैं। जो पारमार्थिक ज्ञान कठोर दार्शनिक अध्ययन से प्राप्त होता है वही परमज्ञान धर्ममूलक स्वाभाविक अनुभव से भी स्वतः ग्रहण हो सकता है। चूँकि प्रत्येक मनुष्य अज्ञानी होने के कारण स्वयं स्वानुभव में शक्त नहीं है, अतः धर्म, जो साधारण जनता के लिये श्रद्धा तथा परविश्वास पर आधारित है, सर्वदा लाभदायक रहेगा। दार्शनिक अध्ययन तथा पारमार्थिक सूक्ष्म दृष्टि साधारण लोगों के लिये अप्राप्य है, अतःसामान्य मनुष्य दर्शनपरक होने की अपेक्षा धर्मपरक ही रहेगा।

इब्नेरुब्द (मृत्यु ११९८) ने अरस्तू की वह व्याख्या की जो अभी तक कोई न कर सका था। अतएव उन्हें 'प्रवक्ता' कहते हैं। उनकी दृष्टि में संसार गतिशील है और क्रमानुसार जो होना शक्य है वह होकर रहता है। आधिभौतिक शक्तियाँ अनेकानेक परिणामों का कारण हैं और संसार कारण-कार्य-भाव से विशिष्ट होने से सामान्य रूप से कभी भी नष्ट नहीं हो सकता, परंतु पृथक् पृथक् व्यक्ति होते रहेंगे। सारांशतः इनके यहाँ तीन नास्तिक विचार हैं : प्रथम यह कि संसार अनादि अनंत है, द्वितीय यह कि कारण-कार्य-भाव से विशिष्ट होने से संसार में दैवी चमत्कार संभव नहीं, तृतीय यह कि व्यक्तिगत के लिये अवकाश नहीं।

सं०ग्रं०—(१) डी० बोर : हिस्ट्री ऑव फ़िलासफ़ी इन इस्लाम; (२) ओलीरी : अरैबिक थाट ऐंड इट्स प्लेस इन हिस्ट्री; (३) इक़बाल : डेवलपमेंट ऑव मेटाफिज़िक्स इन परशिया; (४) डोज़ी : स्पेनिश इस्लाम; (५) शुस्त्री : आउटलाइन ऑव इस्लामिक कल्चर; (६) मैकडानल्ड: डेवलपमेंट ऑव मुस्लिम थियोलॉजी, जूरिसप्रूडेंस ऐंड कांस्टिट्यूशनल थियरी; (७) लैवी: सोशियोलॉजी ऑव इस्लाम।

[इ० ह० अ०]

अरबी भाषा मुसलमानों के धर्मग्रंथ कुरान की भाषा अरबी है जो संसार की प्राचीन भाषाओं में से एक है। संसार में जहाँ कहीं भी मुसलमान रहते हैं वहाँ कुछ न कुछ यह भाषा बोली और समझी जाती है। इस्लामी धर्मशास्त्र, दर्शन और विज्ञान की भाषा भी अरबी ही है। इतिहास के मध्य युग में अरब व्यापारी उस समय तक ज्ञात संसार के प्रायः सभी भागों में आया जाया करते थे, अतः अरबी भाषा का बड़ा महत्व था। पश्चिमी एशिया के देशों में पेट्रोलियम बड़ी मात्रा में होने के कारण वर्तमान युग में भी अरबी भाषा का बड़ा महत्व है।

अरबी भाषा का जन्म सऊदी अरब के मैदान में हुआ। अरबी सामी भाषाओं के परिवार में है। यह भाषा बाबुली, इब्रानी (यहूदियों की भाषा), फोनीशियन, हब्शी (इथियोपियाई), आरामी, नबती, सबाई और हिमयरी भाषाओं से मिलती जुलती है।

अरबी का प्रारंभिक रूप हमें प्रागिस्लामकालीन कविताओं में मिलता है। इसके बाद मुसलमानों की धर्मपुस्तक कुरान अरबी भाषा में मिलती है, जैसा ऊपर कहा जा चुका है। इस समय से अरबी की उन्नति का दूसरा अध्याय प्रारंभ होता है। मुसलमानों ने कुरान का गहरा अध्ययन किया और जहाँ भी वे गए, इस भाषा को ले गए। इस प्रकार धार्मिक भाषा होने के कारण अरबी की बड़ी उन्नति हुई। इस्लाम के प्रसार और मुसलमानों की विजय के साथ इसका महत्व बराबर बढ़ता गया। ८वीं से लेकर १३वीं शताब्दी तक अरबी संपूर्ण सभ्य संसार में प्रचलित थी। अरब लोग जहाँ जहाँ गए और जिन देशों में उन लोगों ने विजय की वहाँ वहाँ अरबी का बड़ा प्रचार हुआ। कुछ देशों में तो अरबी मातृभाषा हो गई, जैसे मिस्र के निवासी अपनी प्राचीन भाषा कुप्ती को छोड़कर अरबी का प्रयोग मातृभाषा के समान करने लगे। प्राचीन फारस में अरबी सभ्य लोगों की भाषा मानी जाती थी।

आधुनिक अरबी का विकास नैपोलियन की विजयों के पश्चात् प्रारंभ हुआ। नैपोलियन की विजयों के कारण अरब लोग यूरोप के संपर्क में विशेष रूप से आए। फलतः अरबी भाषा में नए नए शब्दों और विचारों का समावेश हुआ और अरबी भाषा उस रूप में आई जिस रूप में हम आज उसे पाते हैं।

अरबी भाषा के तीन भाग किए जा सकते हैं :

१. प्राचीन अरबी
२. साहित्यिक अरबी
३. बोलचाल की अरबी; इसके दो भाग हैं : १. पूर्वी और २. पश्चिमी।

अपने प्रसार के कारण रोमन लिपि के पश्चात् अरबी लिपि का ही स्थान है। पहले अरबी भाषा आरामी अक्षरों में लिखी जाती थी, परंतु अब अरबी गोल अक्षरोंवाली नसख़ी लिपि में लिखी जाती है। इस लिपि में २८ अक्षर होते हैं जिनमें केवल तीन स्वर हैं तथा शेष व्यंजन हैं। यह सामी अक्षर कहलाते हैं और इनका संबंध उत्तरी अफ्रीका और मध्य एशिया

की सभी भाषाओं से है। कुछ लोगों के अनुसार अरबी अक्षर कूफिक लिपि के ही विकसित रूप हैं। ऐसा कहा जाता है कि छठी शताब्दी तक इस लिपि को जाननेवाले मक्के में केवल १७ ही मनुष्य थे जिससे ज्ञात होता है कि उनमें पढ़ने लिखने का रिवाज कम था। उमय्यद खलीफाओं (६६१-७४९) के समय में हज्जाज बिन यूसुफ के पथप्रदर्शन में अक्षरों पर स्वर तथा बिंदियाँ लगाने की विधि निकाली गई और शीघ्र ही इराक में बसरा और कूफा अरबी भाषा और साहित्य के केंद्र हो गए। वहाँ अरबी व्याकरण की बहुत उन्नति और प्रसार हुआ तथा बड़े बड़े विद्वान् हुए।

सभी सामी भाषाओं की भाँति अरबी भाषा की भी तीन विशेषताएँ हैं। अरबी भाषा का स्वरविधान बड़ा जटिल है और इसमें यौगिक शब्द नहीं होते। इसमें प्रत्येक शब्द मूलत: तीन व्यंजनों का बना होता है। स्वरों के हेर फेर तथा एक आध व्यंजन और जोड़कर तरह तरह के शब्द बना लिए जाते हैं। उदाहरण के लिये क+त+ब, व्यंजनों से विभिन्न प्रकार के शब्द (पुंल्लिग, स्त्रीलिंग, एकवचन, बहुवचन, भूत, भविष्य काल की क्रियाएँ आदि) बना लेते हैं। जैसे कतबा (उसने लिखा), कतबू (उन्होंने लिखा), कातिब (लेखक), मकतूब (लेख या पत्र), मकतब (लिखने का स्थान आदि)। इस प्रकार हम देखते हैं कि अरबी भाषा में स्वरों का बड़ा महत्व है और असंख्य शब्द ऐसे हैं जिनका स्वरविधान बिलकुल एक सा है। इसी कारण अरबी भाषा के गद्य और पद्य दोनों में यमक तथा अनुप्रास का बड़ा महत्व है।

स्वरों के हेर फेर से शब्दों के रूपपरिवर्तन तथा साथ साथ अर्थपरिवर्तन के कारण अरबी में विचारों को बहुत संक्षेप से व्यक्त किया जाता है। कदाचित् ही कोई कहावत ऐसी होगी जिसमें चार शब्द से अधिक हों। अरबी भाषा में पर्यायवाची शब्दों का भी बड़ा बाहुल्य है।

अरबी की क्रियाओं का काल उतना विस्तृत नहीं है जितना कि अन्य आर्य भाषाओं की क्रियाओं का। 'यकतुबो' के अर्थ न केवल वह लिखता है, वह लिखेगा, वह लिख रहा है वरन् वह लिख सकता है, वह लिख सकेगा आदि भी है। शब्द का ठीक ठीक अर्थ प्रसंग द्वारा ज्ञात होता है।

अरबी में संस्कृत के ही समान संज्ञा और क्रिया में भी द्विवचन होता है। विशेषणों में स्त्रीलिंग तथा पुंल्लिग एवं द्विवचन के रूप होते हैं। परंतु इस भाषा में नपुंसक लिंग नहीं होता।

सं०ग्रं०—इंसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम, अ. प्रथम संस्करण, १९१३, लंदन, संपादक होत्समा, आरनल्ट, बैसे तथा हार्ट मैन भाग (१) लेख 'अरेबिया', पृष्ठ ३६७-४१५। ब. द्वितीय नवीन संस्करण, १९५७, लंदन संपादक लुई, पेला तथा साक्ट पृष्ठ ५६१-५७६ लेख 'अरेबिया,' भाग (१) फ़ेसीकूल (९); २. अरेबिक लिटरेचर, लेखक गिब, एच० ए० आर, संस्करण १९२६, लंदन; ३. ए लिटररी हिस्ट्री ऑव दि अरबस, लेखक निकलसन, आर० ए०, संस्करण १९३०, कैंब्रिज। ४. हिस्ट्री ऑव दि अरबस, लेखक, हिट्टी, पी० के०, संस्करण, १९५३, लंदन।

[श० ब० स०]

अरबी शैली

वास्तु, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत आदि में प्रयुक्त एक शैली। इसका नाम 'अराबेस्क' अथवा अरबी शैली इस कारण पड़ा कि इसका संबंध अरबों,' सरासानों और मूरों (स्पेनी अरबी) की कला से है। इस्लाम सदा से कला में मानव अथवा पाशविक आकृतियों के रूपायन का विरोधी रहा है और उसने वास्तु में इनका आकलन वर्जित किया है। पर वास्तु और चित्रण में अलंकरण इतना अनिवार्य होता है कि इस्लाम को उस क्षेत्र में पशु-मानव-आकृतियों के स्थान पर लतापत्रों अथवा ज्यामितिक रेखाओं का गुंफित आलेखन अपनी इमारतों पर स्वीकार करना ही पड़ा। यही आलेखन अरबी शैली कहलाता है। वास्तु के अतिरिक्त इस अलंकरणशैली का उपयोग पुस्तकों के हाशियों आदि के लिये स्वतंत्र रूप से अथवा अलकूफ़ी अक्षरों के साथ हुआ है। इस प्रकार के अलंकरण के उदाहरण यूरोपीय देशों में अलहम्रा (स्पेन) और सिसिली की इमारतों पर अवशिष्ट हैं। इसका सुंदरतम रूप काहिरा में तूलुन की मस्जिद (निर्माण ८७६ ई०) पर उत्कीर्ण है।

पर कला के इतिहास में अरबी शैली यह नाम वस्तुत: एक कालविरुद्ध दूषण (अनाक्रानिज्म) है, क्योंकि इसके लाक्षणिक शब्द 'अराबेस्क' का उपयोग उन संदर्भों में होने लगा है जो अरबी कला से संबंधित शैली से बहुत पूर्व के हैं। दोनों के अलंकरणों के 'अभिप्राय' (मोटिफ़) समान होने के कारण अरबी-सरासानी-मूरी इमारतों से अति प्राचीन रोमन राजप्रासादों और पहली सदी ईसवी में विध्वस्त पांपेई नगर के भवनों में मूर्त अर्धचित्रों और उत्कीर्णनों को भी अरबी शली में आलिखित संज्ञा दी गई है। कालांतर में तो अरबी से सर्वथा भिन्न इटली के पुनर्जागरणकाल के कलालंकरणों तक ही इस संकेत शब्द का उपयोग परिमित हो गया है। इटली के मात्र १५वीं सदी (सिंकेसेंतो) के वास्तु अलंकरणों के लिये जब कलासमीक्षकों ने इस शब्द का उपयोग सीमित कर अन्य (मूल अरबी संदर्भों तक में) संदर्भों में वर्जित कर दिया तब यह केवल समसामयिक अथवा प्राचीन क्लासिकल समान अलंकरणों को व्यक्त करने लगा।

संगीत में पहले पहल पियानो संबंधी एक प्रकार के गीत के लिये जर्मन गीतिकार शूमान ने 'अराबेस्क' का उपयोग किया। बाद में गेय विषय के अलंकरण को अभिव्यक्त करने के लिये भी यह प्रयुक्त होन लगा। नर्तन में भी एक मुद्रा को अरबी शली व्यक्त करती है। इस मुद्रा में नर्तक एक पैर पर खड़ा होकर दूसरा पैर पीछे फला समूचे शरीर का भार उस एक ही पैर पर डालता है, फिर एक भुजा अपने पीछे फैले पैर के समानांतर कर दूसरी को आगे फैला देता है। [भ० श० उ०]

अरबी संस्कृति

अरब देश दक्षिणी-पश्चिमी एशिया का सबसे बड़ा प्रायद्वीप है जो क्षेत्रफल में यूरोप के चतुर्थ तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के तृतीय भाग के बराबर है। देश के अधिकतर भाग मरुस्थल तथा पर्वतीय हैं, केवल कहीं कहीं छोटे छोटे स्रोत तथा खजूर के झुरमुट दीख जाते हैं। दक्षिणी-पश्चिमी भाग तथा समुद्रवर्ती भूखंड उपजाऊ हैं जहाँ अन्नादि वस्तुओं की खेती होती है। क्षेत्रफल की तुलना में अरब की जनसंख्या न्यूनतम है।

वहाँ के निवासियों को अरब कहते हैं जिनका संबंध सामी वंश से है। इसी वंश से संबंधित अन्य सभ्य जातियाँ, जैसे बाबुली (बाबिलोनियन) असूरी (असीरियन), किल्दानी, अमूरी, कनानी, फिनीकी तथा यहूदी हैं।

अरब निवासियों की संस्कृति को दो कालों में विभाजित किया जाता है: प्राग्इस्लाम काल तथा इस्लामोत्तर काल। पहले को ऐतिहासिक परिभाषा में जहालत या अज्ञान का काल और दूसरे को इस्लामी काल भी कहते हैं। प्रथम काल ६१० ई० के पूर्व का है तथा द्वितीय उसके पश्चात् का। ६१० ई० वह शुभ वर्ष है जिसमें मुहम्मद साहब को, जिनका जन्म ५७५ ई० में मक्का में हुआ था, ईशदौत्य (नुबुव्वत) मिला। इसी वर्ष से उनके जीवन में परिवर्तन प्रारंभ हुआ और वे नबी के नाम से पुकारे जाने लगे। इसी वर्ष से अरबों के जीवन के प्रत्येक भाग में प्रभावशाली क्रांति आई और जाहिली सभ्यता इस्लामी संस्कृति में परिवर्तित हो गई।

दक्षिणी अरब की प्राचीन सभ्यता—प्राचीन काल में ईसा से तीन शताब्दी पूर्व तीन प्रकार की सभ्यताओं के नाम इतिहास में मिलते हैं: (१) बाबुली सभ्यता, दजला और फरात की घाटी की, (२) नील घाटी की सभ्यता, प्राचीन मिस्र की, तथा (३) सिंध घाटी की सभ्यता जिसको भारत के प्राचीन निवासी द्राविड़ों ने उन्नति के शिखर पर पहुँचाया था। चूंकि दक्षिणी अरब दो प्राचीन सभ्यताओं के केंद्र बाबुल तथा मिस्र के मध्य में स्थित था तथा उसके तटवर्ती भूखंड उपजाऊ भी थे, वहाँ के निवासियों की अपनी सभ्यता थी जिसकी समानता प्राचीन बाबुली अथवा मिस्री सभ्यता से तो नहीं की जा सकती, फिर भी उसका अपना महत्व है। उपर्युक्त सभ्यताओं से वह न केवल प्रभावित थी, अपितु घनिष्ठ संबंध भी रखती थी। वहाँ के निवासी तटवर्ती भूखंड में बसने के कारण जलयान चलाने में दक्ष थे। अत: व्यापारी अपनी सामग्री तथा सांस्कृतिक संपत्ति जल थल के मार्ग द्वारा स्थानांतरित करते थे। संभव है, इसी कारण इन्हीं प्राचीन अरबों ने इसको अरब सागर की संज्ञा दी हो। अत: इस सभ्यता को यदि समुद्री सभ्यता कहा जाय तो अनुचित न होगा।

दक्षिणी अरब में सबाई सर्वप्रथम अरब थे जो सभ्यता के क्षेत्र में आए। इनका देश यमन था और इनका व्यवसाय जलयान चलाना तथा व्यापार करना था। ये मुख्यत: देशी वस्तुओं, मसाले तथा सुगंधित वस्तुओं का व्यापार करते थे। इसके अतिरिक्त फारस की खाड़ी के मणि, भारत

की तलवारें, कपड़े, चीन का रेशम, हाथीदाँत, सीमुर्ग के पर, स्वर्ण तथा अन्य बहुमूल्य एवं अद्भुत वस्तुएँ वे पूरब से पश्चिम की मंडियों में व्यापार के हेतु ले जाते थे। इस समय यह जाति समुद्री व्यापार में अग्रणी थी। उस भूखंड में छोटी छोटी बस्तियाँ थी जिनकी जीवनव्यवस्था कबाइली थी।

दक्षिणी अरब में सर्वप्रथम स्थापित होनेवाला राज्य मिनाई था। यह नज़रान तथा हज़्रमौत के मध्य जौफ़ुलयमन में था। उसका उत्कर्ष काल १,३०० ई० पूर्व से ६५० ई० पू० तक है। इस राज्य में लगभग २६ राजा हुए। राज्यारोहण का नियम पैतृक था। इस राज्य का उत्थान बहुत कुछ व्यापार के कारण ही हुआ। मिनाई राज्य के पश्चात् सबाई राज्य स्थापित हुआ जो ६५० ई० पू० से ११५ ई० पू० तक रहा। सबाई राज्य पूरे दक्षिणी अरब में फैला हुआ था। उनका प्रथम काल ६५० ई० पू० म समाप्त हो जाता है। इस काल में राजा धार्मिक नेता भी होता था और उसकी उपाधि 'मुकर्रिब सबा' थी। द्वितीय काल ११५ ई० पू० में समाप्त हो जाता है। इस काल में राजा 'मलिक सबा' के नाम से पुकारा जाता था। इसकी राजधानी मारिब थी। ये लोग वास्तु-निर्माण-कला में दक्ष थे। इन्होंने अनेक गढ़ बनाए थे जिनके खंडहर अब भी पाए जाते हैं। इन्होंने एक भव्य बाँध भी बाँधा था जो 'सद्दमारिब' के नाम से प्रसिद्ध था। ११५ ई० पू० के पश्चात् दक्षिणी अरब का राज्य हिम्यरी जाति के हाथ में आया। इसका प्रथम काल ३०० ई० तक रहा। हिम्यरी, सबाई तथा मिनाई संस्कृति तथा व्यापार के अधिकारी थे। वे कृषि में दक्ष थे। सिंचाई के लिये उन्होंने कुएँ, तालाब तथा बाँध निर्मित किए थे। इनकी राजधानी ज़फ़ार थी जो सांस्कृतिक दृष्टि से समुन्नत थी। इस काल में निर्माण-कला की अधिक उन्नति हुई। यमन प्रासादभूमि के नाम से पुकारा जाने लगा। इन प्रासादों में गुमदान का प्रासाद बहुत प्रसिद्ध था जो विश्व-इतिहास में प्रथम गगनचुंबी था। उसकी छत ऐसे पत्थर से बनाई गई थी कि अंदर से बाहर का आकाश दीखता था। सबाई तथा हिम्यरी राज्य का शासन बड़ा अद्भुत था जिसमें जातीय, वर्गीय तथा साम्राज्यवादी शासन सभी के अंश मिलते हैं। हिम्यरी राज्य के इसी प्रथम युग में अरबों का पतन हो गया। इसका मुख्य कारण रूमियों की शक्ति का आविर्भाव था। जैसे जैसे रूमियों के जलयान अरब सागर तथा कुल्जुम सागर में आने लगे तथा रूमी व्यापारी यमन के व्यापार पर अधिकार करने लगे वैसे वैसे दक्षिणी अरब की आर्थिक दशा जीर्ण होती गई। आर्थिक दुर्दशा से राजनीतिक पतन का आविर्भाव हुआ। हिम्यरी राज्य का द्वितीय काल ३०० ई० से प्रारंभ होता है। इसी काल में हबशह (अबीसीनिया) के राजा ने यमन पर आक्रमण करके ३४० ई० से ३७८ ई० तक राज्य किया परंतु पुनः हिम्यरी राज्य ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस काल में हिम्यरी राजाओं की उपाधि तुब्बा थी जिन्होंने दक्षिणी अरब पर ५२५ ई० तक राज किया और अपनी सभ्यता को कायम रखा। ५२५ ई० में पुनः हब्शह निवासियों ने यमन पर आक्रमण करके उसकी स्वाधीनता को समाप्त कर दिया। अब्रहह दक्षिणी अरब का शासक था। उसने ५७० ई० में मक्का पर भी आक्रमण किया परंतु असफल रहा। ५७५ ई० में ईरानियों ने यमन पर आक्रमण करके हब्शह के राज्य को नष्ट कर दिया और कुछ दिनों पश्चात् ईरानियों का पूर्णरूप से यमन पर अधिकार हो गया। ६२८ ई० में यमन के पाँचवें शासक ने इस्लाम स्वीकार किया जिस कारण यमन मुसलमानों के अधिकार में आ गया। इस्लाम के पूर्व दक्षिणी अरब का धर्म नक्षत्रों पर आधारित था। इसी नाम के देवी देवताओं की पूजा की जाती थी। दक्षिणी अरब में यहूदीपन और ईसाईपन अधिक मात्रा में आ गया था। नज़रान में ईसाइयों की संख्या अधिक थी।

उत्तरी तथा मध्य अरब की प्राचीन सभ्यता—दक्षिणी अरब के समान उत्तरी अरब में भी अनेक स्वाधीन राज्य स्थापित हुए जिनकी शक्ति तथा वैभव व्यापार पर आधारित था। उनकी सभ्यता भी ईरानी अथवा रूमी सभ्यता से प्रभावित थी। यहाँ सर्वप्रथम राज नबीतियों का था जो ईसा से ६०० वर्ष पूर्व आए थे और कुछ दिनों पश्चात् पेत्रा पर अधिकार कर लिया था। ये लोग वास्तुशिल्प में दक्ष थे। इन्होंने पर्वतों को काटकर सुंदर भवन बनाए। ईसा से प्रायः चार सौ वर्ष पूर्व तक यह नगर सबा तथा रूमसागर के कारवानी मार्ग में महत्वपूर्ण स्थान रखता था। यह राज्य रूमियों के अधिकार में था परंतु १०५ ई० में रूमियों ने इसपर आक्रमण करके इसे अपने साम्राज्य का एक प्रांत बना लिया। इसी प्रकार का दूसरा राज्य तद्मुर (Palmyra) के नाम से प्रसिद्ध था। उसका वैभवकाल १३० ई० से २७० ई० तक था। इसका व्यापार चीन तक फैला हुआ था। रूमियों ने २७० ई० में इसे भी नष्ट कर दिया। तद्मुर की सभ्यता यूनान, साम और मिस्र की सभ्यता का अद्भुत मिश्रण थी। इन दोनों स्वाधीन राज्यों के पश्चात् दो राज्य और कायम हुए—एक गस्सानी, जो बीजंतीनी (Byzantine) राज्य के अधीन था, तथा दूसरा लख्मी, जो ईरानी राज्य के अधीन था। प्रथम राज्य की संस्कृति रूमियों से प्रभावित थी तथा द्वितीय की ईरानियों से। लख्मी तथा गस्सानी दोनों ने वास्तु में अधिक उन्नति कर ली थी। खवर्नक तथा सदीर दो भव्य प्रासाद उन्हीं के महान् कार्य हैं जिनका वर्णन प्राचीन अरबी साहित्य में भी मिलता है। गस्सानियों ने भी अपने भूखंड को सुंदर प्रासादों, जलकुंडों, स्नानागारों तथा क्रीडास्थलों से सुसज्जित किया था। इन दोनों राज्यों का उन्नतिकाल छठी शताब्दी ई० है। इसी प्रकार का एक राज्य मध्य अरब में किंदा के नाम से प्रसिद्ध था जो यमन के तुब्बा वंश के राजाओं के अधीन था। किंदा की सभ्यता यमनी सभ्यता थी। वह इसलिये महत्वपूर्ण है कि उसने अरब के अनेक वंशों को एक शासक के अधीन करने का प्रथम प्रयत्न किया था।

नज्द तथा हिजाज में खानाबदोश रहा करते थे। इसमें तीन नगर थे—मक्का, यस्रिब तथा ताएफ। इन नगरों में बदवी जीवन के तत्व अधिक मात्रा में पाए जाते थे, यद्यपि अनेक वंश के लोग व्यापार किया करते थे। मध्य अरब के निवासियों का जीवन तथा सभ्यता बदवियाना थी और उनकी जीवनव्यवस्था गोत्रीय (कबीलाई) थी। इसी कारण युद्ध खूब हुआ करते थे। बदवियों का धर्म मूर्तिपूजा था। यस्रिब में कुछ यहूदी भी रहा करते थे। मक्का में काबा था जो जाहिल अरब के धार्मिक विश्वासों का स्रोत था।

इस्लामी सभ्यता—६१० ई० में, जैसा उपर्युक्त पंक्तियों में वर्णित है, ईशदूत हजरत मुहम्मद ने एक नवीन धर्म, नवीन समाज, तथा नवीन सभ्यता की नींव रखी। जब वह ६२२ ई० में मक्का से हिजरत कर (छोड़कर) मदीना गए तब वहाँ एक नवीन प्रकार के राज्य की स्थापना की। इस नवीन धर्म की प्रारंभिक शिक्षा का स्रोत कुरान है। उसकी आरंभिक तथा महत्वपूर्ण शिक्षाएँ तीन हैं : १. तौहीद (एक ईश्वर की उपासना करना); २. रिसालत (हजरत मुहम्मद साहब को ईशदूत मानना); ३. प्रलोक (मआद) अर्थात् इस नश्वर संसार का एक अंतिम दिवस होगा और उस दिन प्रत्येक मनुष्य ईश्वर के समक्ष अपने कर्मों का उत्तर देगा। इस धर्म के महत्वपूर्ण संस्कारों में पाँच समय नमाज़ पढ़ना और वर्ष में एक बार हज करना, यदि हज करने में समर्थ हो, था। आर्थिक संतुलन कायम रखने के लिये प्रत्येक धनी मुसलमान का यह कर्तव्य माना गया कि अपनी वर्ष भर की बची हुई पूंजी में से २½ प्रति शत वह दीन दुखियों की आर्थिक दशा के सुधार के लिये दे दे। नवीन समाज की रचना इस प्रकार की गई कि वे जाहिली अरब जो अनेकानेक जातियों में विभाजित थे सब एकबद्ध हो गए और उन्होंने पहली बार राष्ट्रीयता की कल्पना की। जाहिली समाज में केवल रक्तसंबंध जाति के प्रत्येक व्यक्ति को एकत्र रखता था परंतु इस्लामी समाज में धर्म तथा भ्रातृत्व का संबंध प्रत्येक मुसलमान को एक ही झंडे के नीचे एकत्रित करता था। इसके अतिरिक्त इस्लामी समाज की नींव बिना किसी भेदभाव के धर्म, भ्रातृत्व तथा न्याय पर आधारित थी। नैतिक तथा सामाजिक बुराइयों से बचने की प्रेरणा मिली तथा सदाचार और परोपकार को प्रोत्साहन मिला। अतएव इस नवीन धर्म तथा समाज की नींव पर एक समुन्नत सभ्यता के भवन का निर्माण हुआ। ईशदूत (पैगंबर नबी) ने मदीना में एक नए ढंग के राज्य की स्थापना की जो गणतंत्रीय नियमों पर आधारित था। ऐसे शासन से उन्होंने केवल दस वर्ष में पूरे अरब देश पर अधिकार कर लिया।

जब ६३२ ई० में मुहम्मद साहब का देहांत हुआ तो लगभग पूरे अरब के निवासी मुसलमान हो चुके थे। उनके देहांत के पश्चात् ६६१ ई० तक यह गणतंत्रीय शासन स्थापित रहा। तदनंतर मुहम्मद साहब के खलीफ़ा (प्रतिनिधि) अबूबक्र, उमर, उस्मान और अली ने उन्हीं के ढंग पर शासन किया और गणतंत्र के तत्वों को कायम रखा। शासक तथा प्रजा के भेदभावों को समाप्त कर दिया गया तथा न्याय और भ्रातृत्व के आधार पर देश संघटित हुआ। राज्य की महत्वपूर्ण समस्याएँ परामर्श समिति द्वारा

निश्चित की जाती थीं। इसी कारण इस काल को 'खुल्फ़ाएराशिदीन' का काल कहते हैं। ६६१ ई० से उमवी काल प्रारंभ होता है। उमवी राज्य के संस्थापक अमीर मुआविया थे। उनके राज्यारोहण से राज्य की परिस्थितियों में कई परिवर्तन हुए। खिलाफ़त (प्रतिनिधान) सल्तनत में परिवर्तित हो गया तथा गणतंत्र स्वाधीनता में। खलीफ़ा या राजा जातीय तथा पैतृक होने लगे। खलीफा के निर्वाचन की प्रथा समाप्त हो गई। यह राज्य ७५० ई० तक कायम रहा। इसकी राजधानी दमिश्क थी। खुलफ़ाएराशिदीन तथा उमवी काल इस्लामी विजयों का काल है। इन दोनों युगों में इस्लामी विजयों की प्रधानता रही। उमवी राज्य यूरोप में बिस्के की खाड़ी तथा उत्तरी अफ्रीका से पूर्व में सिंधु नदी तथा चीन की सीमा तक, उत्तर में अरब सागर से दक्षिण में नील नद के झरनों तक फैल गया था। सन् ७५० ई० में यह राज्य अब्बासी खलीफ़ाओं के अधिकार में आ गया। इस राज्य का संस्थापक अबुलअब्बास सफ्फ़ाह था। अब्बासी राज्य की राजधानी बग़दाद थी जो उन्हीं का बसाया हुआ एक नवीन नगर था। इसी समय स्पेन की खिलाफ़त अब्बासी खिलाफ़त से पृथक् हो गई। स्पेन के राज्य का संस्थापक ७५६ ई० में अब्दुर्रहमान उमवी था। अब्बासी राज्य का पतन १२५८ ई० में हलाकू खाँ द्वारा हुआ और स्पेन का राज्य १४९२ ई० में मिट गया।

सांस्कृतिक दृष्टि से खुल्फ़ाएराशिदीन का काल प्रारंभिक है। अरब अपने साथ विजित देशों में ज्ञान तथा संस्कृति नहीं ले गए थे। साम, मिस्र, इराक तथा ईरान में विजित जातियों के समक्ष उनको झुकना पड़ा और उनका सांस्कृतिक नेतृत्व उन्हें स्वीकार करना पड़ा। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उमवी काल जाहिली काल से अधिक दूर न था, फिर भी ज्ञान का बीजारोपण उसी काल में हुआ। दमिश्क, कूफ़ा, बसरा, मक्का, मदीना प्रारंभिक ज्ञान तथा ज्ञानियों के महत्वपूर्ण केंद्र थे। अब्बासी काल में ज्ञान और विद्या की जो उन्नति राजधानी बग़दाद में हुई उसका प्रारंभ उमवी काल में ही हो चुका था, जब यूनानी, सामी तथा भारतीय संस्कृति अरब निवासियों को प्रभावित कर रही थी। अतः सर्वांगीण रूप से हम उमवीकाल को ज्ञानरूपी बालक के पालन पोषण का काल कह सकते हैं।

अरब सभ्यता का विकास उमवी खलीफ़ा अब्दुलमलिक-बिन-मरवान (६८५-७०५) के काल से प्रारंभ होता है। उसने कार्यालयों की भाषा लातीनी, यूनानी तथा पह्लवी की जगह अरबी कर दी। विजित जातियों ने अरबी सीखना आरंभ कर दिया; यहाँ तक कि धीरे धीरे पश्चिमी एशिया के अधिकतर देशों तथा उत्तरी अफ्रीका की भाषा अरबी हो गई। यह सत्य है कि अरबों के पास अपनी संस्कृति नहीं थी, परंतु उन्होंने विजित जातियों को अपना धर्म तथा अपनी भाषा सिखाई और उनको ऐसे अवसर दिए कि वे अपना कृतित्व दिखला सकें। अरबों का सबसे महान् कार्य यह है कि उन्होंने विजित जातियों की सांस्कृतिक संभावनाओं को उभाड़ा और अपना धर्म तथा अपनी भाषा प्रचलित करके उनको भी अरब शब्द के अर्थ में संमिलित कर लिया और विजेता तथा विजित का अंतर समाप्त हो गया। उनमें शासन की योग्यता पूर्ण रूप से विद्यमान थी। उन्होंने न केवल शासनव्यवस्था में बीजंतीनी तथा सासानी राज्य के नियमों का अनुसरण किया, अपितु उनमें संशोधन करके उनको सुंदर बनाया। अरबों ने अनेक प्राचीन सभ्यताओं के मिटते हुए ज्ञान मूल से अनूदित और संरक्षित किए और उनका प्रचार, जहाँ जहाँ वे गए, यूरोप आदि देशों में उन्होंने किया।

ज्ञानविज्ञान तथा साहित्यिक दृष्टिकोण से अब्बासी काल बहुत महत्व रखता है। यह उन्नति, एक सीमा तक भारतीय, यूनानी, ईरानी प्रभाव के कारण हुई। ज्ञान विज्ञान की उन्नति का प्रारंभ अधिकतर अनुवादों से हुआ जो ईरानी संस्कृति, सुर्यानी (सीरियक) तथा यूनानी भाषा से किए गए थे। थोड़े समय में अरस्तू तथा अफ़लातून की दर्शन की पुस्तकें, नव-अफ़लातूनी टीकाकारों की व्याख्याएँ, जालीनूस (गालेन) की चिकित्सा संबंधी पुस्तकें, गणित विद्या में निपुण उकलैदिस (युक्लिद) तथा बतलीमूस (प्तोलेमी) की पुस्तकें तथा ईरान और भारत की वैज्ञानिक तथा साहित्यिक पुस्तकें अनुवादों द्वारा अरबों के अधिकार में आ गईं। अतएव जिन शास्त्रों, विज्ञानों को सीखने में यूनानियों को शताब्दियाँ लग गई थीं उनको अरबों ने वर्षों में सीख लिया और केवल सीखा ही नहीं, उनमें महत्व के संशोधन भी किए। इसी कारण मध्यकालीन इतिहास में अरब वैज्ञानिक साहित्यिक दृष्टि से उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके थे। यह सत्य है कि इस सभ्यता का स्रोत प्राचीन मिस्री, बाबुली, फिनीकी तथा यहूदी सभ्यताएँ थीं और उन्हीं से ये धाराएँ बहकर यूनान आई थीं और इस काल में पुनः यूनानी ज्ञान विज्ञान तथा सभ्यता के रूप में उलटी बहकर पूर्वी देशों में आ रही थीं। इसके पश्चात् ये ही सिकिलिया (सिसिली) तथा स्पेन पहुँचीं और वहाँ के अरबों ने फिर इन धाराओं को यूरोप पहुँचाया।

अरबों के वैज्ञानिक जागरण, विशेषतः नैतिक साहित्य तथा गणित में, भारत ने भी प्रारंभ में भाग लिया था। ज्योतिष विद्या के एक ग्रंथ पत्रिका-सिद्धांत का अनुवाद मुहम्मद बिन इब्राहीम फ़ज़ारी ने (मृ० ७९६–८०६ के बीच कभी) किया और वही मुसलमानों में प्रथम ज्योतिषी कहलाया। उसके पश्चात् ख्वारिज़मी (मृ० ७५०) ने ज्योतिष विद्याओं में बहुत परिवर्धन किया तथा यूनानी व भारतीय ज्योतिष में अनुकूलता लाने का प्रयत्न किया। इसके पश्चात् अरबों ने गणित के अंकों तथा दशमलव भिन्न के नियम भी भारतीयों से ग्रहण किए। अरबी भाषा में सर्वप्रथम साहित्यिक पुस्तक 'क़लीला व दिमना' है जिसका अब्दुल्ला बिन मुकफ्फ़ा (मृ० ७५०) ने पह्लवी से अनुवाद किया था। इस पुस्तक की पहलवी प्रति का नौशेरवाँ के समय संस्कृत से अनुवाद किया गया था। इस पुस्तक का महत्व इस कारण है कि पह्लवी प्रति की प्राप्ति संस्कृत प्रति के समान ही दुर्लभ है, परंतु अब भी ये कहानियाँ पंचतंत्र में विस्तारपूर्वक मिल सकती हैं। इस बीच अब्बासी खलीफ़ा मामून (८१३–८४४) ने बग़दाद में बैतुल हिकमत की स्थापना की जो वाचनालय तथा अनुवादभवन था, ज्ञान-संस्थान। इस अकादमी द्वारा यूनानी वैद्यक शास्त्र, गणित तथा यूनानी दर्शन का परिचय मुसलमानों को हुआ। इस समय के अरबी अनुवादकों में प्रसिद्ध हुनैन बिन इस्हाक (८०९–७३) तथा साबित बिन कुर्रा (८३६–९०) हैं।

अनुवादकाल लगभग एक शताब्दी तक रहा। उसके पश्चात् स्वयं अरबों में उच्च कोटि के लेखकों ने जन्म लिया जिन्होंने विज्ञान तथा साहित्य के भांडार में परिवर्धन किया। उनमें से अपने विषय में दक्ष लेखकों के नाम निम्नलिखित हैं :

वैद्यक में राज़ी (८५०–९२३) तथा इब्नसिना (९८०–१०३७); ज्योतिष तथा गणित में बत्तानी (८७७–९१८), अलबरूनी (९७३–१०४८) तथा उमर खैयाम (मृ० ११२३–४); रसायनशास्त्र में जाबिर बिन हय्याम (८ वीं शताब्दी); भूगोल में इब्न खुर्दादबेह (मृ० ९१२), याकूबी (९ वीं शताब्दी के अंत में), इस्तखरी (१० वी शताब्दी में), इब्न हौक़ल (१० वीं शताब्दी), मक़्दसी (१० वी शताब्दी में), हम्दानी (मृ० ९४५) तथा याकूत (१०७९–१२२९); इतिहास में इब्न हिशाम (मृ० ८३४), वाकिदी (मृ० ८२३), बलाजुरी (मृ० ८९२), इब्न कुबैता (मृ० ८८९), तबरी (८३८–९२३), ससूदी (१० वीं शताब्दी में), अबुल असीर (११६०–१२३४) तथा इब्न खल्दून (१३३२–१४०६); धर्मशास्त्र में बुखारी (८१०–७०); मुस्लिम (मृ० ८७५), विशेषतः फ़िक़ह (इस्लामी धार्मिक विधान) में अबूहनीफ़ा (मृ० ७६७), इमाम मालिक (७१५–७९५), हमाम शाफ़ई (७६७–८२०) तथा इब्न हंबल (मृ० ८५५)।

अरबों ने साहित्यिक सेवाओं के साथ साथ ललित कलाओं में न केवल अभिरुचि दिखलाई, अपितु विश्व के सांस्कृतिक इतिहास में अरबी कला का महत्वपूर्ण अध्याय खोल दिया। जिस प्रकार अरबी साहित्य पर बाह्य प्रभाव पड़ा उसी प्रकार वास्तु, संगीत तथा चित्रकला पर भी पड़ा। अतएव विजित जातियों के मेलजोल से वास्तुकला की नींव पड़ी और शनैः शनैः इस कला में अनेकानेक शैलियाँ निकलीं, जैसे **सामी-मिस्री**, जिसमें यूनानी, रूमी तथा तत्कालीन कला का अनुसरण किया जाता था, **इराक़ी-ईरानी** जिसकी नींव सासानी, किल्दानी तथा असूरी शैली पर पड़ी थी, उंदुलुसी **उत्तरी अफ्रीकी**, जो तत्कालीन ईसाई तथा विज़ीगोथिक से प्रभावित हुई और जिसे मोरिश की संज्ञा दी गई, **हिंदी**, जिसपर भारतीय शैली का गहरा प्रभाव है। इन सभी शैलियों के प्रतिनिधि भवनों में निम्नलिखित विख्यात हुए : कुब्बतुस्सखरा (बैतुल मुक़द्दस), जामे दमिश्क, मस्जिद नबवी, दमिश्क के राजकीय प्रासाद (जो अलखज़रा के नाम से प्रसिद्ध थे), बग़दाद के शाही प्रासाद, मस्जिदें, पाठशालाएँ तथा चिकित्सालय, कर्तुबा (कोर्दोवा) के शाही प्रासाद (जो अलहंबा के नाम से प्रसिद्ध थे) तथा वहाँ की जामे

मस्जिद। चित्रकला में अरबों ने नवीन प्रणाली प्रारंभ की जिसको यूरोपीय भाषा में अरबेस्क कहते हैं। इस काल मनुष्य तथा पशुओं के चित्रों के स्थान पर सजावट का काम सुंदर फूलपत्तियों तथा बेलबूटों से लिया गया। इसी प्रकार सुलेख (कैलीग्राफ़ी) को भी एक कला समझा जाने लगा। संगीतकला में भी बाह्य प्रभाव से नवीन प्रणाली की नींव पड़ी। अरबों के प्रागिस्लामी गीत मनमोहक तथा सरल होते थे परंतु विशेषतः ईरानी तथा रूमी संगीत के प्रभाव से अरबी संगीत से राग रागिनियों का आविर्भाव हुआ और इसमें इतनी उन्नति हुई कि अब्बासी काल में अबुलफ़र्ज़ इस्फ़हानी (८६७–६६७) ने एक पुस्तक की रचना की जिसका नाम किताबुलअग़ानी है। यह पुस्तक संगीत के सौ राग एकत्र करती है तथा तत्कालीन साहित्यिक एवं सांस्कृतिक ज्ञान का भांडार है।

सं०ग्रं०—एन्साइक्लोपीडिया इस्लाम; एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका; हिस्ट्री ऑव अरब; अरब इन हिस्ट्री। [अ० अ०]

अरबी साहित्य

अरबी साहित्य की सर्वप्रथम विशेषता उसकी चिरकालिकता है। उसने अपने दीर्घ जीवन में विभिन्न प्रकार के उतार चढ़ाव देखे और उन्नति एवं अवनति की विभिन्न अवस्थाओं का अनुभव किया, तथापि इस बीच श्रृंखलाएँ अविच्छिन्न तथा परस्पर संबद्ध रहीं और उसकी शक्ति एवं सामर्थ्य में अभी तक कोई अंतर नहीं आया।

(अ) पूर्व-पैगंबर काल (आरंभ से सन् ६२२ ई० तक) सबसे पहला मोड़, जिससे अरबी साहित्य प्रभावित हुआ, इस्लामी क्रांति है। इस आधार पर सन् ६२२ ई० से उसके जीवन का एक नया युग प्रारंभ हुआ जब ईश्वर के संदेशवाहक (रसूलुल्लाह) मक्का छोड़कर मदीना चले गए। इससे पहले का काल इस्लाम की परिभाषा में 'जहालत' का युग कहलाता है और आज हमें अरबी साहित्य की जो प्राचीनतम पूंजी उपलब्ध है वह इसी युग की है। यह लगभग समस्त पूँजी पद्यों के रूप में ही है जो ५ वीं और अधिकतर छठी शताब्दी ईसवी के अरबी कवियों द्वारा प्रस्तुत की गई है। चूँकि उन दिनों अरबी के लिखित रूप का प्रचलन नहीं था, अतः वे पद्य शताब्दियों तक रावियों के कंठों में ही सुरक्षित रहे और वंश की परंपरागत मौखिक निधि बने रहे। तत्पश्चात् ८ वीं तथा ६ वीं शताब्दियों में जब विद्या तथा कला का प्रारंभ हुआ, इनको विभिन्न प्रकार से पुस्तकों में एकत्रित कर लिया गया।

ये ही कविताएँ अरबी साहित्य के प्रारंभिक उदाहरण हैं। फिर भी ये उसकी बाल्यावस्था की परिचायक नहीं बल्कि उसकी प्रौढ़ता की सूचक हैं, गंभीर और स्वस्थ। जब विद्वान् उस युग की कविता के बाँकपन पर दृष्टिपात करते हैं, तब चकित रह जाते हैं और उनको मानना पड़ता है कि उनकी यह सफाई और रौनक शताब्दियों के अभ्यास एवं प्रयास के बिना प्राप्त नहीं हुई होगी। परंतु यह सब हुआ किस प्रकार, इसका वास्तविक ज्ञान अभी हमको नहीं है। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि मुहम्मदपूर्व की कविता प्रौढ़ है। अतः प्रत्येक युग में उसके सौंदर्य, गुणों तथा विशेषताओं को स्वीकार किया गया है और आज भी उसका मान तथा गौरव मान्य है।

इस्लाम के अभ्युदय से पूर्व अरब में कविता अपनी जवानी पर थी। मेलों तथा बाजारों में कविसंमेलन प्रायः हुआ करते थे। समाज में कवियों को बड़ा आदर प्राप्त था। अतः जब कोई नया कवि प्रसिद्ध होता था तब उसके कबीले की स्त्रियाँ इकट्ठी होकर उत्सव मनाती और मंगलगीत गाती थीं। दूसरे कबीले के लोग उस कवि के कबीलेवालों को बधाई देते थे, क्योंकि कवि ही कबीले के महान् कार्यों का रक्षक तथा उसकी मानमर्यादा का निरीक्षक होता था। यही कारण है कि प्रायः कवि ही कबीले का अध्यक्ष हुआ करता था। संधि एवं युद्ध और प्रसिद्धि एवं कलंक कवि के ही हाथ में होते थे। उसकी ओजपूर्ण कविताएँ मुरझाए हृदयों में उत्साह भर देती थीं और मधुर गीत आवेशपूर्ण मस्तिष्कों को सांत्वना देते थे। वह जिसकी प्रशंसा कर देता था उसकी प्रसिद्धि बढ़ जाती थी और जिसकी बुराई कर देता था उसको कहीं मुँह छिपाने को भी स्थान नहीं मिलता था।

कविता का प्रधान एवं प्रचलित रूप क़सीदा था। इसी क्षेत्र में कविगण अपना कौशलप्रदर्शन करते थे। इसका आरंभ प्रायः इस प्रकार होता है मानो कवि किसी यात्रा में कुछ पुराने भग्नावशेषों (खंडहरों) के सामने खड़ा है जहाँ उसने पहले कभी निवास किया था। यह ढंग अरब के कवियों के लिये समस्तरूपेण वास्तविक तथा समीचीन है क्योंकि अरबनिवासी सदैव खानाबदोशों की भाँति चरागाहों की खोज में चलते फिरते रहते थे। कुछ दिनों तक एक स्थान पर निवास कर चुकने के बाद वे वहाँ से कूच कर देते थे। इस अस्थायी निवासकाल में विभिन्न कबीलों से मित्रता तथा शत्रुता की असंख्य घटनाएँ घटित होती थीं। अतः जब कभी दूसरी बार उस जगह से होकर वह गुजरते थे तब पूर्वस्मृतियों का सिंहावलोकन स्वाभाविक हो जाता था। अतः उन भग्नावशेषों को देखते ही कवि की आँखों के सामने पिछली घटनाओं के चित्र आ जाते थे और वह अपनी प्रेम की घटनाओं तथा वियोग की अवस्थाओं का वर्णन स्वतः करने लगता था। इस संबंध में वह अपनी प्रेमिका के सौंदर्य तथा स्वभाव संबंधी विशेषताओं का मनोहर चित्र उपस्थित करता था। फिर मानो वह अपनी यात्रा दोबारा आरंभ कर देता था और रेतीली पहाड़ियों, टीलों तथा अन्य प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में लीन हो जाता था। उस समय वह अपने घोड़े या अपनी ऊँटनी की चाल, डीलडौल तथा सहनशीलता की विशुद्ध प्रशंसा करता था। उसकी शुतुरमुर्ग, जंगली बैल या दूसरे पशु से उपमा देता था और अपनी यात्रा एवं भ्रमण तथा युद्ध एवं मारकाट का वर्णन करता था। उसके बाद अपने और कबीले के महान् कार्यों और उच्चादर्शों का वर्णन बड़े गौरव के साथ करता था। तत्पश्चात् यदि कोई विशेष उद्देश्य उसके समक्ष होता था तो वह उसका भी वर्णन करता था। इस प्रकार क़सीदा अपनी चरमसीमा तक पहुँच जाता है। सामान्य रूप से क़सीदे के यही अंग होते हैं जिनमें परस्पर कोई गहरा लगाव और दृढ़ संबंध नहीं होता। वह विभिन्न प्रकार के छोटे बड़े मोतियों के हार के समान होता है जिसमें से कुछ मोती बड़ी सुगमता से निकालकर दूसरे हारों में पिरोए जा सकते हैं।

इस युग की कविता की प्रमुख विशेषता यह है कि वह वास्तविकता के बहुत निकट है। कवियों ने जो कुछ वर्णन किया है वह उनका यथार्थ अनुभव तथा निरीक्षण है। इसीलिये इस संबंध में यह किंवदंती है कि 'अल-शेर दीवानुल अरब' अर्थात् कविता अरब का भांडार है। प्रकट है कि इस कविता का अरब के प्राचीन इतिहास के निर्माण में महत्वपूर्ण योग रहा है। उस काल के कुछ विशेष प्रसिद्ध कवियों के नाम हैं—इम्रोउल-क़ैस, जुहैर, तरफ़ह, लबीद, अम्र-बिन-कुल्सूम, अंतरह, नाबिग़ह, हारिस बिन हिल्लिज्ज़ा और आयशा।

(आ) पैगंबर का युग—उचित उत्तराधिकारीकाल तथा उमैय्याकाल (सन् ६२२ ई० से ७५० तक)। इस्लाम के अभ्युदय के पश्चात् कुछ समय तक कविता के क्षेत्र में बहुत शिथिलता रही, क्योंकि अरबों का ध्यान पूर्णरूपेण इस्लामी क्रांति पर केंद्रित रहा। उनका उत्साह धर्म के प्रचार तथा देशों की विजय में लग गया। कविता के प्रति उनकी उपेक्षा का एक बड़ा कारण यह भी हुआ कि अब तक जो वस्तुएँ उनको विशेष रूप से प्रेरित करनेवाली थीं—जैसे जातीय पक्षपात, गोत्रीय गौरव, दोषारोपण एवं घृणा, अहंकार, मारकाट, मद्यपान, द्यूतक्रीडा इत्यादि—उन सबको इस्लाम ने निषिद्ध घोषित कर दिया था। इसी से इस्लाम के प्रारंभिक समय की जो संक्षिप्त कविताएँ मिलती हैं उनका विषय 'जहालत के युग' की कविताओं से भिन्न है। इनमें इस्लाम के विरोधियों की बुराई की गई है और रसूलुल्लाह की प्रशंसा तथा इस्लाम का समर्थन हुआ है। इस्लाम के सिद्धांतों एवं विचारधाराओं का प्रतिबिंब भी इनपर पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। इस काल के कवियों में हस्सान-बिन-साबित (मृ० सन् ६७३ ई०) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रसूलुल्लाह के पश्चात् उचित-उत्तराधिकारी-काल में भी कविता की यही अवस्था रही। आपके चारों उत्तराधिकारी (खलीफ़ा), विद्वान् एवं समस्त महानुभाव इस्लाम धर्म के सिद्धांतों के प्रचार तथा जनसाधारण के आचरणसुधार में जुटे रहे। उन्होंने कविता की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया।

फिर जब सन् ६६१ ई० में उमैय्या वंश का राज दमिश्क में स्थापित हुआ तो कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हुईं कि पुराना जातीय पक्षपात फिर जाग्रत हो गया। असंख्य राजनीतिक दल उठ खड़े हुए और एक दूसरे से बुरी तरह से उलझ गए। प्रत्येक दल ने कविता के शस्त्र का प्रयोग किया और कवियों को अपनी इच्छापूर्ति का साधन बनाया। फलस्वरूप कविता का बाजार एक बार फिर गरम हो गया। परंतु इसकी सामान्य शैली लगभग

वही थी जो जहालत के युग की कविताओं की थी। इतना अवश्य है कि भाषा एवं वर्णन में कुछ मिठास और शिष्टता की झलक दिखाई जाती है। इस काल का प्रत्येक कवि किसी न किसी दल का समर्थक था जिसकी प्रशंसा में वह अपनी पूरी कवित्वशक्ति अर्पित कर देता था। साथ ही विरोधियोंपर दोषारोपण करने में भी वह कोई कसर नहीं रखता था। इसीलिये इस काल की अधिकांश कविताओं के वर्ण्य विषय प्रशंसा एवं दोषारोपण पर आधारित हैं। अख़्तल (मृ० सन् ७१३ ई०) की गणना प्रथम कोटि के कवियों में होती है। इस युग की एक विचित्रता फ़रज़दक़ और जरीर की पारस्परिक कविता-प्रतिद्वंद्विता भी है जो इतनी प्रसिद्ध थी कि युद्धक्षेत्र में सैनिक भी इन्हीं दिनों की कविता से संबंधित वादविवाद किया करते थे।

दूसरी ओर अरब में विशेष रूप से ग़ज़लिया शायरी (प्रेमकविताओं) का प्रचलन था जिसमें उमर-बिन-अबी रबीआ (मृ० सन् ७१६ ई०) का नाम बहुत प्रसिद्ध है। कुछ प्रेमी कवि भी बहुत प्रसिद्ध थे; जैसे जमील (मृ० सन् ७०१), जो बुसैना का प्रेमी था और मजनूं जो लैला का प्रेमी था। इनकी कविताएँ सौंदर्य तथा प्रेम की संवेदनाओं एवं घटनाओं और संयोग वियोग के अनुभवों तथा अवस्थाओं से परिपूर्ण हैं और उनमें संवेदन, प्रभाव, सौंदर्य, मधुरता, मनोहारिता एवं मनोरंजकता भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है।

(इ) अब्बासी युग (७५० ई० से १२५८ ई० तक)—यह काल प्रत्येक दृष्टिकोण से स्वर्णयुग कहलाने का अधिकारी है। इसमें हर प्रकार की उन्नति अपनी चरम सीमा को पहुँच गई थी। खलीफा से लेकर जनसाधारण तक सब विद्या तथा कलाकौशल को उन्नत बनाने में तन मन से लगे हुए थे। बग़दाद राजधानी के अतिरिक्त विस्तृत इस्लामी राज्य में असंख्य शिक्षाकेंद्र स्थापित थे जो विद्या तथा कलाकौशल की उन्नति के लिये एक दूसरे से आगे बढ़ जाने की होड़ कर रहे थे। इस समुपयुक्त वातावरण के फलस्वरूप कविता का उद्यान भी लहलहाने लगा। सभ्यता तथा संस्कृति की उन्नति और अन्य जातियों तथा भाषाओं के मेल से नवीन विचारधाराएँ और नए शब्द एवं वाक्यांश कविता में स्थान पाने लगे। विचारों में गंभीरता एवं बारीकी और शब्दों में प्रवाह एवं माधुर्य आने लगा। विभिन्न वर्णन-शैलियाँ निकाली गई और प्रशंसा एवं दोषारोपण के विभिन्न ढंग निकाले गए जिनमें अतिशयोक्ति को चरम सीमा तक पहुँचा दिया गया। इस क्षेत्र के योद्धाओं में अबू तम्माम (मृ० ८४३ ई०), बहुतुरी (मृ० सन् ८९६ ई०) और मुतनब्बी (मृ० सन् ९६५ ई०) अग्रणी थे। इसके अतिरिक्त पूर्वसीमाओं तथा प्रतिबंधों को तोड़कर कविताक्षेत्र को और भी विस्तृत किया गया तथा उसमें विभिन्न राहें निकाली गईं। एक ओर प्रेम और आसक्ति की घटनाओं और फाकामस्तों के वर्णन निस्संकोच किए गए। इस दिशा का प्रतिनिधि कवि अबूनुवास (मृ० सन् ८१० ई०) था। दूसरी ओर विरक्ति, पवित्रता और उपदेश की धाराएँ प्रवाहित हुई। इस क्षेत्र में अबुल अताहिया (मृ० ८५० ई०) सर्वप्रथम था। इसी प्रकार अबुल अला अलमअर्री (मृ० सन् १०५७ ई०) ने मानवता के विभिन्न अंगों पर दार्शनिक ढंग से प्रकाश डाला और इब्नुल फारिज़ (मृ०१२३५ ई०) ने आध्यात्मिकता के वायुमंडल में उड़ान भरी।

यहाँ स्पेन की अरबी कविता का वर्णन भी विशेष रूप से अभीष्ट है। वहाँ मुसलमानों का राज लगभग ८०० वर्ष रहा। इस बीच विद्या तथा कलाकौशल ने वहाँ ऐसी उन्नति की कि उसे देखकर यूरोप शताब्दियों तक आश्चर्यचकित रहा। यहाँ की अरबी कविता भी प्रारंभ में प्राचीन मुहम्मद पूर्व युग की कविता के ढंग पर चली, परंतु शीघ्र ही स्थानीय जलवायु ने उसे अपने रंग में रंगना शुरू किया और अंत में उसको एक नया रूप और सौंदर्य प्राप्त हुआ। इसकी दो विशेषताएँ हैं: एक तो प्राकृतिक दृश्यों का चित्ताकर्षक वर्णन; दूसरी प्रेमभावनाओं की मनोहारिणी कहानी। इसके अतिरिक्त एक विशेष बात यह है कि यहाँ लोकभाषा में एक नई प्रकार की कविता ने प्रौढ़ता प्राप्त कर राजा रंक सबका मन हर लिया। स्पेन का कण कण उसके रागों से द्रवित हो गया। वहाँ के प्रसिद्ध कवियों में इब्ने हानी (मृ० ९७३ ई०) और इब्ने जदून (मृ० १०७१ ई०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस काल में अरबी गद्य ने भी बहुत उन्नति की। प्रारंभ में इब्नुल मुक़फ़्फ़ा (मृ० ७६० ई०) ने दूसरी भाषाओं की कुछ पुस्तकों का अरबी में अनुवाद किया जिनमें कलीलह व दिमना (मूल संस्कृत 'पंचतंत्र') बहुत प्रसिद्ध हैं। फिर प्राचीन कथा कहानियों को बड़ी शीघ्रता के साथ पुस्तकों में संकलित किया जाने लगा। एक ओर तो कथा कहानियों पर लेखनशक्ति का प्रयोग किया गया और मनोरंजक ज्ञान को चित्ताकर्षक शली में प्रस्तुत किया गया। इस संबंध में अलिफलैला का नाम बहुत प्रसिद्ध है जो विभिन्न प्रकार की सैकड़ों कहानियों का संग्रह है। दूसरी ओर खलीफाओं, महापुरुषों, कवियों, साहित्यकारों और विद्वानों के परिचय, सदाचार, शिष्टाचार, दंतकथाओं, कलाकौशल आदि के वर्णन एकत्र किए गए। इस क्षेत्र के मीर प्रसिद्ध महानुभाव जाहिज़ (मृ० ८६९ ई०) थे। इनके पश्चात् इस क्षेत्र में सक्रिय भाग लेनेवालों में इब्ने क़ुतैबह (मृ० ८८९ ई०), इब्ने अब्दे रब्बी (मृ० ९३९ ई०) और अबुल फरज अस्फ़हानी (मृ० ९६७ ई०) अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी पुस्तकों को अरबी साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है।

इस काल के साहित्यिक लेखों में तुकांत गद्य को भी अधिक ख्याति प्राप्त हुई और उसका महत्व इतना बढ़ गया कि उसे उच्च कोटि के गद्य का अत्यावश्यक अंग माना जाने लगा। अंत में इसकी उन्नति मक़ामात के रूप में अपनी चरम सीमा पर पहुँची और वास्तविकता यह है कि बहुतेरे साहित्यमर्मज्ञों की राय में इससे अधिक उच्च स्तर का साहित्य अब तक अस्तित्व में नहीं आया था। मक़ामात का केंद्र विदूषक-नायक होता है और उसकी शैली नाटकीय होती है। प्रत्येक मक़ामह साहित्यिक संग्रह होता है जिसमें नायक अपने ज्ञान संबंधी वर्णनों तथा साहित्यिक हास परिहास एवं योग्यता के द्वारा अपने समस्त प्रतिद्वंद्वियों को पूर्णरूपेण हराकर सब दर्शकों को आश्चर्य में डाल देता है। उसमें कथावस्तु कुछ नहीं होती, केवल साहित्यिक अतिशयोक्ति तथा वर्णनशैली का चमत्कार ही सब कुछ होता है। बदीउज्ज़माँ हमदानी (मृ० १००७ ई०) और बाद हरीरी (मृ० सन् ११२२ ई०) अरबी साहित्य के इस काल के आकाश में चंद्र सूर्य की भाँति चमकते हैं।

इसके अतिरिक्त असंख्य विद्याओं एवं कलाओं, जैसे तफ़सीर (कुरान की व्याख्या) हदीस, फ़िक़ह (कानून), इतिहास, निरुक्त, मंतिक़, दर्शन, ज्योतिष, भूमिति, गणित इत्यादि के क्षेत्र में सहस्रों ऐसे विद्वानों ने कार्य किया। इनकी असंख्य कृतियों में ज्ञान का बहुमूल्य संग्रह एकत्र है और इनमें से सैकड़ों पुस्तकों की गणना उच्च कोटि की ज्ञान संबंधी तथा साहित्यिक कृतियों में होती है। इन से आज तक विद्वान् लाभ उठाते और उनके समुद्र में डुबकी लगाकर बहुमूल्य मोती निकालते रहे हैं। फिर भी, उनके भांडार का बहुत बड़ा भाग अभी तक अज्ञात और संसार की दृष्टि से ओझल है जो विद्या एवं कला के जिज्ञासुओं को खोज और निरंतर परिश्रम के लिये आमंत्रित करता है।

(व) मुसलमानों तथा तुर्कों का शासनकाल (सन् १२५८ ई० से १७९८ ई० तक)—बग़दाद का राज्य अब्बासी राजत्वकाल से ही पतनोन्मुख हो चुका था। अब इस युग में उसके टुकड़े टुकड़े हो गए। मुग़लों, तुर्कों और दूसरी जातियों में प्रभुता विभाजित हो गई। राजनीतिक क्रांति का प्रभाव ज्ञानजगत् पर भी पड़ना अनिवार्य था। अतः इस लंबे समय में ज्ञान एवं साहित्य में कोई प्रगति नहीं हुई। कविता तो वास्तव में बिलकुल निष्प्राण हो चुकी थी। कवि केवल शाब्दिक क्रीडा में लीन थे। मौलिकता का पता नहीं था। प्राचीन विषयों तथा विचारों का पिष्टपेषण हो रहा था। अल-बूसीरी (मृ० १२९६ ई०) की निस्संदेह कविता में बहुत प्रसिद्धि हुई जिसका आधार विशेष रूप से वह क़सीदा है जो उसने रसूलुल्लाह के संमान में लिखा था। इसके अतिरिक्त सफीउद्दीन हिल्ली (मृ० १३५० ई०) का नाम भी बहुत विख्यात है जिसे इस काल का सबसे बड़ा कवि कहा जा सकता है।

निस्संदेह इतिहासलेखन ने इस काल में उत्तरोत्तर उन्नति की। इस काल के ऐतिहासिक कार्यों में विस्तृत दृष्टिकोण और यथार्थप्रियता के चिह्न पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इस संबंध में इब्ने खल्दून (मृ०१४०६ई०) का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है जिसने इतिहासलेखन में एक नई शैली का सूत्रपात किया। उसने अपने इतिहास की भूमिका में बहुत सी ज्ञान संबंधी, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं का बहुत सुंदर वर्णन

किया है और इतिहास का एक विस्तृत दार्शनिक दृष्टिकोण उपस्थित किया है। अतः उस भूमिका का महत्व स्वतंत्र पुस्तक से भी अधिक है। बाद के यूरोपीय इतिहासकार मैकियावली, वीको और गिबन इत्यादि वास्तव में इब्ने खल्दून के ही अनुयायी हैं।

इस काल में कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जो अनेक विद्याओं तथा कलाओं में समान दक्षता रखते थे। इसलिये उनके व्यक्तित्व को किसी एक क्षेत्र में सीमित नहीं किया जा सकता। इब्ने तैमीयह (मृ० १२३८ ई०), जहबी (मृ० १३४७ ई०), इब्नेहज्र अस्क़लानी (मृ० १४४९ ई०) और जलालुद्दीन सुयूती (मृ० १५०५ ई०) ऐसे ही विद्वान् हैं। यह मंडल इस काल के प्रकाशहीन आकाश में जुगनू की भाँति चमक रहा है। इनकी सैकड़ों कृतियों में समस्त प्रकार की विद्याओं और कलाओं का कोष भरा हुआ है। इनके अतिरिक्त इब्ने मंजूर (मृ० १३११ ई०) व्याकरण, निरुक्त और साहित्य का बहुत बड़ा विद्वान् और अन्वेषक हुआ है। 'निसानुल अरब' उसकी विशाल कृति है जिसकी गणना शब्दकोश तथा साहित्य की चोटी की पुस्तकों में होती है।

(उ) आधुनिक काल (सन् १७९८ ई० से अबतक)—यह अरबी साहित्य का पुनर्जागरणकाल है जिसका प्रारंभ मिस्र पर नैपोलियन के आक्रमण से होता है। इस काल में कुछ ऐसे कारण और परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई कि अरबी साहित्य में जीवन की एक नई लहर दौड़ी और उसमें नई नई शाखाएँ फूट निकलीं। पश्चिमी संस्कृति एवं सभ्यता, ज्ञान एवं साहित्य और विचारधारा एवं दृष्टिकोण ने अरब देश को बहुत प्रभावित किया। आधुनिक ढंग के विद्यालयों का श्रीगणेश हुआ, मुद्रणकला का आविष्कार तथा पत्रिकाओं एवं समाचारपत्रों का प्रचार हुआ। ज्ञान संबंधी साहित्यिक संस्थाएँ स्थापित हुईं। इस प्रकार अरब जाति नवीन प्रवृत्तियों और दृष्टिकोणों से परिचित हुई। स्वतंत्रता, देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता की भावनाएँ जाग्रत हुईं। राजनीतिक एवं सामाजिक विचारधाराओं में भी परिवर्तन हुआ। फलस्वरूप अरबी साहित्य में एक क्रांति का जन्म हुआ।

कविता ने करवट बदली। उसमें जीवन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। शाब्दिक चमत्कार के स्थान पर अब वर्ण्य विषय की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। राजनीतिक कविताएँ एवं राष्ट्रीय गान लिखे जाने लगे। अन्य भाषाओं की कविताओं के अरबी में पद्यानुवाद किए गए। अतः उर्दू के गौरवान्वित कवि अल्लामा इक़बाल की कविताओं का भी अनुवाद हुआ। इसके अतिरिक्त कविता के मापदंड (छंद) भी बदल गए। कुछ कवियों ने स्वच्छंद कविताएँ भी लिखीं और प्राचीन शैली के विरुद्ध एक एक विषय पर ठोस कविताओं की रचना हुई। इस काल के विशिष्ट कवियों के नाम ये हैं: अल बारूदी (मृ० १९०४ ई०), हाफिज इब्राहीम (मृ० १९३२ ई०), शौक़ी (मृ० १९३२ ई०), रुसाफी (मृ० १९४५ ई०), खलील मतरान (मृ० १९४९ ई०), अबूशादी (मृ० १९५५ ई०), अब्दुर्रहमान सिद्क़ी, अब्दुर्रहमान बदवी और सुलेमान अल ईसा इत्यादि।

आधुनिक युग में पद्य की अपेक्षा गद्य पर अधिक जोर दिया गया और उसमें साहित्य के अन्य अंगों की अभिवृद्धि की गई। मारून नक्काश (मृ० १८५५ ई०) ने अरबी साहित्य में नाटक का श्रीगणेश किया। कुछ समय पश्चात् अब्दुल्ला नदीम (मृ० १८९६ ई०) और नजीब-अल-हद्दाद (मृ० १८९९ ई०) ने इस ओर ध्यान दिया। फिर शीघ्र ही नाटककला ने इतनी अधिक उन्नति की कि आजकल उसकी गणना उच्च साहित्य के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में होती है। इसी प्रकार उपन्यासों और संक्षिप्त कहानियों को भी मान्यता प्राप्त हुई। पहले यूरोप की भाषाओं से हर प्रकार की ऐतिहासिक, सामाजिक, प्रेम संबंधी तथा हास्यरस की कथाएँ अरबी में रूपांतरित की गईं। तत्पश्चात् इस विषय की मौलिक रचनाएँ भी साहित्यक्षेत्र में आने लगीं जिनसे प्राचीन अरबी सभ्यता को प्राणवान् बनाने और राष्ट्रीय भावनाओं को जाग्रत करने का काम लिया गया। इस क्षेत्र के विशिष्ट व्यक्ति ये हैं—अब्दुलक़ादिर माज़िनी (मृ० १९४९ ई०), मुहम्मदहुसेन हैकल (मृ० १९५६ ई०), महमूद तैमूर, तौफ़ीक़-अल-हकीम, मुहम्मद फरीद, अबू हदीद, एहसान अब्दुल कुद्दूस और अज़ीज अबाज़ह।

उच्च कोटि के साहित्यकारों में अल मनफ़लूती (मृ० १९२४ ई०) का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वह एक विशिष्ट शैली का एकमात्र अधिष्ठाता है। समाज की अव्यवस्थित दशाओं और जीवन के अप्रिय कटु अनुभवों का उसने जो सुंदर चित्रण किया है वह उसी का भाग है। खलील जिब्रान (मृ० १९३१ ई०) ने भी सुंदर साहित्य का उच्चादर्श प्रस्तुत किया है। इस काल का सबसे बड़ा लेखक निस्संदेह मुस्तफा सादिक़ राफ़ई (मृ० १९३७ ई०) है जिसकी पुस्तक वह्युलक़लम अत्यंत महत्वपूर्ण कृति है। आधुनिक काल में इतिहास और समालोचना की ओर भी विशेष रूप से ध्यान दिया गया। प्राचीन ज्ञान संबंधी और साहित्यिक पूँजी का वर्तमान सिद्धांतों के प्रकाश में परीक्षण करने का काम शीघ्रतापूर्वक हो रहा है। डाक्टर ताहा हुसेन, अल-ज़ैयाद और अल-अक़्क़ाद इत्यादि अत्यंत उच्च कोटि के साहित्यकार, विचारक और आलोचक हैं। इन लोगों ने इस्लामी सभ्यता, साहित्य के इतिहास एवं ज्ञान और साहित्य के अन्य अंगों से संबंधित वर्तमान शैली के अनुकरणस्वरूप बहुत सुंदर कृतियाँ प्रस्तुत कीं।

वर्तमान काल के साहित्यकारों और आलोचकों में दो दृष्टिकोण प्रत्यक्ष रूप से मिलते हैं। कुछ तो प्राचीन शैली के पक्ष में हैं। वे पश्चिम की समस्त ज्ञान संबंधी एवं साहित्यिक धनराशि और आधुनिक प्रवृत्तियों एवं दृष्टिकोणों से पूरा पूरा लाभ उठाने के साथ साथ अपने प्राचीन सिद्धांतों, जातीय परंपराओं तथा मानमर्यादा को भी स्थिर रखना चाहते हैं और इसके विपरीत कुछ अरबी साहित्य को बिलकुल पश्चिमी विचारधारा और वर्णनशैली में ढाल देना चाहते हैं। वे किसी प्राचीन बात को उस समय तक मानने के लिये तयार नहीं हैं जब तक कि वह वर्तमान विचारधारा के मापदंड पर पूरी न उतर जाये। इस प्रकार विभिन्न चिंतनसंस्थाओं के उदय और पारस्परिक प्रतिस्पर्धा एवं संघर्षों से अरबी साहित्य विभिन्न प्रकार से लाभान्वित हुआ है। अतः वह अपने क्षेत्र को उत्तरोत्तर विस्तृत करता हुआ शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ता जा रहा है और प्रतिदिन महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत कर रहा है जिससे उसकी महिमा और स्थायी अस्तित्व के लक्षण परिलक्षित हैं।

सं०ग्रं० :—जुर्जी जैदान : अरबी भाषा के साहित्य का इतिहास (अरबी); हन्ना-अल-फ़ाखूरी : अरबी साहित्य का इतिहास (अरबी); आर० ए० निकल्सन : अरबों का साहित्यिक इतिहास (अंग्रेजी); इंसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम (अरबी-अंग्रेजी); इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (अंग्रेजी)।

[हा० गु० मु०]

अरस्तू ३२३ ई० पू० में चंद्रगुप्त मौर्य राजसिंहासन पर बैठा। इसी साल जगद्विजेता सिकंदर की मृत्यु हुई। इसके एक साल बाद सिकंदर के गुरु अरस्तू ने शरीर त्यागा। उस समय अरस्तू की उमर ६२ साल की थी।

अरस्तू ने ३८४ ई० पू० में यूनान के उत्तर-पूर्वी प्रायद्वीप कैल्सीदिसि (खल्किदिकि) के शहर स्तैजाईरा में जन्म लिया। उसके पिता का नाम नाईकोमेकस था जो वैद्य था। वह मक़दूनिया के बादशाह अमिंतास के दरबार में रहता था। अरस्तू का बचपन वैद्यक के वातावरण में बीता। और संभव है, अरस्तू को जो जीवनशास्त्र से लगाव था, वह इन्हीं संस्कारों का फल हो। अरस्तू १८ बरस का था जब वह एथेंस आया और अफ़लातून का शिष्य बना। उसने बीस बरस अपने गुरु के साथ बिताए और जब ३४७ ई० पू० में अफ़लातून का देहांत हुआ तो अरस्तू ने एथेंस छोड़ा। फिर तीन बरस वह अपने सहपाठी हर्मियस के पास रहा जो एशिया के समुंदर के किनारे एक छोटे से राज (एतार्नियस) का मालिक था। वहीं अरस्तू ने हर्मियस की भतीजी से ब्याह कर लिया। यहाँ से वह लेजबोस द्वीप गया और मितिलीन नगर में रहा। इन स्थानों में जीवनशास्त्र के अध्ययन और समुद्री जंतुओं की देखभाल का उसे अच्छा अवसर मिला। इन निरीक्षणों के नतीजों पर बाद की पुस्तकों का आधार रखा है।

३४३ ई० पू० में मक़दूनिया के बादशाह फ़िलिप ने अरस्तू को अपने बेटे का शिक्षक नियुक्त किया और सात साल मक़दूनिया में रहने के बाद, जब फ़िलिप की मौत हो गई और सिकंदर ने राजपाट सँभाला तब अरस्तू दोबारा एथेंस आया। यहाँ उसने पठन पाठन का काम शुरू किया। एक बाग खरीदा जिसमें अपोलो देवता का स्थान था और जिसे लाईसीयम कहते थे। यहाँ उसने हस्तलिखित ग्रंथों का पुस्तकालय बनाया और एक संग्र-

हालय स्थापित किया। इसके बनाने में सिकंदर ने रुपए पैसे से उसकी मदद की और जंतुओं के नमूने एकत्र कराकर भेजे।

अरस्तू का बारह बरस तक पढ़ाने और किताबें लिखने का काम चलता रहा। पर ३२३ ई० पू० में सिकंदर के मरने पर अरस्तू को एथेंस छोड़ना पड़ा। एथेंसनिवासी मक़दूनिया की अधीनता से खुश नहीं थे और अरस्तू का मक़दूनिया से गहरा संबंध था। इसलिये डर था कि कहीं लोग उसके विरुद्ध उपद्रव न करें। उसने भागकर यूबोआ द्वीप में शरण ली, पर एक ही साल में उसका देहांत हो गया।

अरस्तू ने अध्ययन और अध्यापन के समय बहुत सी पुस्तकें लिखीं। इन्हें तीन श्रेणियों में बाँटा जाता है। पहली श्रेणी में वे पुस्तकें हैं जिन्हें उसने साधारण जनता के लिये लिखा था, दूसरी में वे हैं जिनमें वैज्ञानिक ग्रंथों की सामग्री संगृहीत है और तीसरी श्रेणी में वे वैज्ञानिक ग्रंथ हैं जिनमें विविध शास्त्रों के सिद्धांतों का विवरण है। पहली श्रेणी की सब पुस्तकें नष्ट हो गईं, दूसरी में से केवल एक बची है जिसमें यूनान के विधानों का संकलन है। तीसरी श्रेणी की पुस्तकों के नामों की कई पुरानी तालिकाएँ मिलती हैं। इन तालिकाओं और उन पुस्तकों में, जो अरस्तू की लिखी मानी जाती हैं, भेद है। बात यह है कि दो सौ बरस तक किसी ने इनको लाइसीयम की चारदीवारी के बाहर नहीं निकाला। फिर ई० पू० पहली सदी में एँड्रौनिकस नाम के विद्वान् ने इन्हें प्रकाशित किया। इसी से इन ग्रंथों की गिनती और लेखक के बारे में मतभेद है।

प्रामाणिक पुस्तकों को छः या आठ भागों में बाँटा जाता है जिनका ब्योरा यों है :

१. लौजिक अर्थात् तर्कशास्त्र, २. फ़िज़िक्स अर्थात् भौतिकशास्त्र, ३. बायोलोजी अर्थात् जीवशास्त्र, ४. साईकोलॉजी अर्थात् मनःशास्त्र, ५. मेटाफ़िज़िक्स अर्थात् परमतत्वशास्त्र, दर्शनशास्त्र, ६. एथिक्स अर्थात् नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र, ७. पॉलिटिक्स अर्थात् राजनीतिशास्त्र, शासनशास्त्र, ८. ईस्थेटिक्स अर्थात् सौंदर्यशास्त्र, रस या कलाशास्त्र।

यदि २, ३ और ४ विषयों को एक विज्ञान के भाग मान लें तो छः विभाग रह जाते हैं। इस तालिका से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अरस्तू के ज्ञान की परिधि कितनी विस्तृत थी। प्रायः सभी विज्ञानों पर उसका अधिकार था। पर अरस्तू की विशेषता यही नहीं है कि वह उक्त सभी विद्याओं को जाननेवाला था। इससे बढ़कर दो और विशेषताएँ हैं : एक यह कि वह मार्गप्रदर्शक और आविष्कारक था, और दूसरी यह कि वह सब विद्याओं को एक सूत्र में बाँधनेवाला उच्चतम कोटि का दार्शनिक था।

चौथी सदी ई० पू० अरस्तू की जीवनयात्रा का काल है। यह गहरी क्रांति का समय था। जो सामाजिक व्यवस्था चार सौ बरसों से विकसित होती चली आ रही थी, जिसने वैभव के ऊँचे शिखर पर पहुँचकर अपनी अनुपम कृतियों से जगत् को चकित कर दिया था, जिसकी नीति, कला-कौशल, साहित्य, इतिहास और विज्ञान ने आदमी के माथे पर ऐसा ठप्पा लगाया था कि आज ढाई हजार बरस बीतने पर भी उसकी छाप मिटी नहीं, वह व्यवस्था तेजी के साथ छिन्नभिन्न हो रही थी। इस व्यवस्था की विशेषता यह थी कि समाज और नगर का एक ही अर्थ था। समाज से अभिप्राय वह जनसमूह था जो एक खास नगर में निवास करता हो। समाज के सदस्य एक नगर के रहनेवाले ही हो सकते थे। जो जन नगर से बाहर थे वे समाज से बाहर थे। नगर के समाज की नींव पर नगर के राज संगठित होते थे। इस राज के कामों में, इसकी विधानसभा में, इसके कर्मचारियों में, नगर के नागरिक ही हिस्सा ले सकते थे। हर नागरिक के अपने नगरराज के प्रति कर्तव्य और अधिकार थे।

इस व्यवस्था की अधोगति से प्रभावित हो यूनान के विचारवानों के हृदय विह्वल हो रहे थे। सोचने की बात थी कि क्यों पुरानी परंपरा बदल रही थी, किन कारणों से नगरसमाज में कमजोरी आई थी, किस प्रकार इसका प्रतिरोध हो सकता था, कौन सी व्यवस्था मनुष्यसंघ के लिये सबसे लाभकारी थी?

पहले पहल इन प्रश्नों की ओर सुकरात का ध्यान गया। वह इसी खोज में रहता था कि परमार्थ क्या है? आचरण का ध्येय क्या होना चाहिए? सच क्या है? ज्ञान क्या है, आत्मा को कैसे पहचानें? शुभ और अशुभ, सुंदर और कुरूप, गुण और अवगुण में क्या भेद है? विवेक का साधन और अंत क्या है? ज्ञान पर विवेक का आधार है इसलिये ज्ञान का मार्ग और ज्ञान की मंजिल जानने से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

सुकरात के विचारों ने एथेंस् में खलबली डाल दी। पुरानी रीतियों के माननेवालों, देवी देवताओं के उपासकों, कर्मकांडियों को भय हुआ कि इन विचारों के फैलने से युवक अपने सनातन धर्म से विमुख हो जायँगे, समाज का क्रम नष्टभ्रष्ट हो जायगा। उन्होंने सुकरात के विरुद्ध अदालत में मुकदमा चलाया और सुकरात पर आक्षेप लगाया कि वह देवताओं का निरादर करता है और नौजवानों की चालचलन को बिगाड़ता है। जजों ने सुकरात के खिलाफ फैसला सुनाया और मौत की सजा का हुक्म दिया। सुकरात ने जहर का प्याला पिया और नगर के न्याय के आगे सिर झुकाया।

सुकरात का प्रिय शिष्य था अफ़लातून। इसने गुरु की शिक्षाओं को रूपकों, कथानकों और संवादों के रूप में ऐसी उत्कृष्ट सुंदरता के साथ संपादित किया कि सुकरात अमर हो गया। अफ़लातून ने आचारनीति और राजनीति दोनों पर गहरा विचार किया और नागरिक, समाज और राज के सिद्धांतों पर अनोखा प्रकाश डाला। इन सिद्धांतों के खंडन मंडन में उसने दर्शन के बुनियादी उसूलों पर बहस की और ज्ञान के प्रमाणों, सच और झूठ, वस्तु और भ्रम के अंतर का स्पष्ट किया।

अफ़लातून की अकादमी में अरस्तू ने बीस साल अध्ययन किया और अफ़लातून से बहुत कुछ सीखा था। अफ़लातून से पहले यूनानी विद्वानों की दृष्टि बहिर्मुखी थी। जगत् क्या है? पचभूतों से बना यह प्रपंच, जिसे हम पाँच ज्ञानेंद्रियां द्वारा अनुभव करते हैं, जैसा दीख पड़ता है वैसा ही नानाविध है या एकविध? अगर इसमें एकता है तो एकतत्व क्या है? जगत् में सब वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं; फिर इसमें क्या चीज स्थायी है? यदि सभी कुछ चल है, जंगम है, तो ज्ञान कैसे हो सकता है? बढ़ती नदी के पानी का कोई कण स्थिर नहीं रहता; फिर नदी किसका नाम है?

अफ़लातून और अरस्तू दोनों ने इन समस्याओं पर गौर किया। दोनों ने बाहर से अंदर की तरफ देखा। जाननेवाला तत्व क्या है? जानने का क्या क्रम है, क्या वस्तु है जिसे जानते हैं, यह कैसे जानें कि जो कुछ जाना है वही तथ्य है। अफ़लातून और अरस्तू के जवाबों में अंतर है। शिष्य होते हुए भी उसके अपने स्वतंत्र विचार थे और उसने उन्हीं का प्रचार किया। अफ़लातून और अरस्तू ने जो दो पंथ चलाए उन्हीं पर यूरोपीय दर्शन का कारवाँ चलता चला आ रहा है। इनसे शाखा प्रशाखाएँ अवश्य निकली हैं और नई राहें फूटीं और फैली हैं, लेकिन इन दो जगद्गुरुओं के प्रभाव से सभी दार्शनिको की विचारशैलियों ने उत्तेजन और प्रोत्साहन पाया है।

अरस्तू ने विद्याओं को तीन वर्गों में बाँटा था। पहले वर्ग में वे विद्याएँ हैं जिनका मुख्य ध्येय सिद्धांतों की स्थापना है, शुद्ध ज्ञान का उपार्जन है। दूसरे वर्ग में वे हैं जिनमें व्यवहार पर ज्यादा जोर है और जो कामों में सहायक हैं। और तीसरे वर्ग में वे विद्याएँ हैं जो उत्पादन के लिये लाभदायक हैं और जिनकी सहायता से उपयोगी और सुंदर वस्तुएँ बन सकती हैं।

पहले वर्ग में दर्शन, विज्ञान और गणित हैं। इस वर्ग में परमतत्व-शास्त्र (मेटाफ़िज़िक्स), भौतिक शास्त्र (फ़िज़िक्स), जीवशास्त्र (बायो-लोजी) और मनश्शास्त्र (साईकोलॉजी) संमिलित हैं। दूसरे वर्ग में राजनीतिशास्त्र प्रमुख है और आचारशास्त्र इसी के अंतर्गत है। तीसरे वर्ग के भाग हैं—साहित्य और कलाशास्त्र (काव्य और अलंकारशास्त्र, ईस्थेटिक्स)।

तर्कशास्त्र (लॉजिक) इनसे पृथक् है। तर्कशास्त्र को विद्याओं की विद्या कहा है। तर्क सब विद्या की कुंजी है, ज्ञान का साधन है। अरस्तू का सबसे महत्वपूर्ण कार्य तर्कशास्त्र की रचना है। अरस्तू के समय से आज तक प्रायः ढाई हजार बरस हो चुके, परंतु तर्कशास्त्र का जो ढाँचा अरस्तू ने बनाया था वही आज भी कायम है। बुनियादें वही हैं, कहीं कहीं एक दो कोठे अटारियाँ बढ़ी हैं। अब कुछ दिनों से अरस्तू के तर्कशास्त्र के मुकाबले में कुछ नए तर्कशास्त्र निर्मित हुए हैं जो अरस्तू से आगे बढ़ गए

हैं। पर अचरज और गौरव की बात यह है कि अरस्तू का संगठित शास्त्र इतने दिनों पंडितसमाज में संमान का पात्र बना रहा और आज भी शिक्षा-क्रम में इसका ऊँचा मूल्य है।

अरस्तू ने तर्कशास्त्र में तीन विषयों पर विचार किया है। एक, सब प्रकार की बोधविधियां (रीज़निंग) में कौन सी चीज समान है और इन विधियों के कितने भेद हैं। अर्थात् युक्ति (सिलॉजिज्म) के कौन कौन से रूप हैं। तर्क की इस शाखा का संबंध केवल युक्तियों के रूप अथवा आकार से है, युक्ति के अर्थ से नहीं। इसका उद्देश्य यह देखना है कि युक्ति असंगत तो नहीं, इसके अवयवों में अनुरूपता है या नहीं। दूसरा, इस बात की जाँच कि युक्ति और तथ्य में सामंजस्य है या नहीं, युक्ति ज्ञानसंपन्न है अथवा नहीं। तीसरा, यह विचार करना कि यद्यपि युक्ति रूप से तो दोषरहित है परंतु सत्य की वाहक भी है या नहीं। उसमें मिथ्याहेतु या आभास (फैलेसीज़) तो नहीं है।

चूँकि युक्ति का आश्रय वाक्य (प्रोपोज़ीशन) है और वाक्य पदों (टर्म्स) से मिलकर बनते हैं, तर्कशास्त्र में पहला सवाल यह उठता है कि पद और वाक्य कितने प्रकार के हैं। यहीं से पदार्थ (कैटेगरीज़) की चर्चा शुरू होती है अर्थात् भाव के हिसाब से पदों को किन गुणों में विभाजित कर सकते हैं। अरस्तू ने पदार्थों की गिनती निश्चित रूप से स्थिर नहीं की, पर उसकी पुस्तकों में दस के नाम मिलते हैं। इनमें सत्य (सब्स्टैंस) मूल पदार्थ है, क्योंकि यह सबका आधार है। बाकी ये हैं :

गुण (क्वालिटी), मात्रा (क्वांटिटी), अन्वय (रिलेशन), देश (प्लेस), काल (टाइम), स्थिति (स्टेट), दशा (पोज़ीशन), कर्तृभाव (सेक्शन), कर्मभाव (पैसीविटी)।

वाक्यों के कई गुण हैं। भावसूचक (अफर्मेटिव) और अभावसूचक (निगेटिव), व्यापक (युनिवर्सल), अव्यापक (नॉन-युनिवर्सल) और व्यक्तिगत (इंडिवीजुअल), आवश्यक (नेससरी), अनावश्यक (नाट-नेसेसरी) और शक्य (पॉसिबिल)।

वाक्य तीन अंगों के मेल से बनता है—वाचक (सब्जेक्ट), वाच्य (प्रेडीकेट) और जोड़ (कपुल)।

जब वाक्यों को क्रमानुसार रखते हैं तो युक्ति का रूप उत्पन्न होता है।

युक्ति वैज्ञानिक विद्याओं का साधन है। युक्ति के द्वारा ही ठीक नतीजों पर पहुँच सकते हैं। अरस्तू ने युक्ति के तीन अवयव माने हैं। (१) प्रतिज्ञा (मेजर प्रेमिस), (२) हेतु (माइनर प्रेमिस), (३) निगमन (कंक्लूज़न)। हिंदुस्तान में गौतम के न्यायशास्त्र के अनुसार दो अवयव और हैं—उदाहरण (एक्ज़ांपुल) तथा उपनय (ऐप्लीकेशन)। (दे० अनुमान लेख)

मिथ्याहेतु को दो भागों में विभाजित किया है। एक भाग उन आभासों का है जो शब्दों के दुरुपयोग के परिणाम हैं और दूसरे भाग में वे मिथ्या हेतु हैं जो ज्ञान के अभाव से या युक्ति में छिद्रों के कारण उपजते हैं। युक्तियों के अनेक रूप (फिगर्स) हैं। इन रूपों द्वारा सामान्य (जनरल) वाक्यों से विशेष (पर्टिकुलर) की ओर और विशेष से सामान्य की ओर बुद्धि की प्रगति होती है और विज्ञान के निष्कर्ष निकलते हैं।

तर्कशास्त्र का आधार यही क्रम या प्रगति है। एक तरफ ज्ञान इंद्रियों द्वारा संचित प्रलंभन (पर्सेप्ट्स) मात्र है, दूसरी तरफ बुद्धि प्रलंभनों की समानताओं का अनुभव कर उपलब्धियों (कांसेप्ट) की सृष्टि करती है। इसका अर्थ यह है कि बोधधारा प्रलंभन से उपलब्धि की ओर बहती है और उपलब्धि से प्रलंभन की ओर लौटती है।

जैसा क्रम तर्क में प्रलंभन और उपलब्धि में दिखाई देता है, अर्थात् जैसा विकास हमारे अंतर्जगत् मन में दिखाई देता है, अरस्तू का विचार है कि वैसा ही क्रम बाहरी जगत् में भी जारी है। बाहरी जगत् सचमुच जगत् है, चलनात्मक है, परिवर्तनशील है। जगत् वस्तुओं का समुदाय है। समस्त जगत् और प्रत्येक वस्तु प्रगति में बँधी है। वस्तु के दो अंग हैं—एक द्रव्य (मटर) और दूसरा रूप (फॉर्म)। द्रव्य जड़ है, यह वस्तु का आधार है परंतु इसमें गति नहीं। द्रव्य में शक्यता (पॉसिबिलिटी, पोटेंशियालिटी) है, तथ्यता (रियलिटी) नहीं। तथ्य तो ज्ञान की भित्ति, चेतन का अंग है। जड़ माया के समान है, बोधविहीन है। द्रव्य में रूप के मेल से वस्तुएँ व्यक्त होती हैं। इसलिये प्रत्येक वस्तु द्रव्य और रूप का संगम है। परंतु प्रत्येक वस्तु धारावाहिनी (कन्टिन्यूइटी) है और जगत् भी स्वभाव से निरंतर समन्वय है। जगत् सीढ़ी के समान है जिसमें वस्तुओं के डंडे लगे हुए हैं। सबसे नीचे के डंडों में रूप का अंश थोड़ा है। इससे ऊपर के डंडों में रूप की मात्रा बढ़ती जाती है। निर्जीव वस्तुओं, जैसे हवा, पानी, पत्थर, धातु इत्यादि, में चेतन के विकारों अर्थात् रूपों की कमी है। वनस्पतियों में यह निर्जीवों से अधिक है, जंतुओं में और भी अधिक तथा मनुष्य में सबसे अधिक। केवल रूपहीन द्रव्य नेति (नीगेशन) के तट पर विराजता है। केवल द्रव्यहीन रूप ज्ञानमय आत्मा है, जिसे ईश्वर का नाम दे सकते हैं। नेति और ईश्वर के बीच में नानाविध जगत् का प्रसार है जिसमें वस्तुएँ और उनके गुण (स्पेसीज़) हिलोरें लेते हैं। जगत् एक सत्ता है जिसमें प्रगति निहित है। प्रगति बिना कारण के संभव नहीं। अरस्तू के अनुसार कारण चार तरह के होते हैं। प्रत्येक वस्तु के बनने में द्रव्य और रूप आवश्यक हैं। इन दो को अरस्तू उपादान (मैटीरियल) और उद्देश्य (फाइनल) कारण कहता है, क्योंकि द्रव्य की निष्ठा रूप को ग्रहण करना है। इसीलिये रूप को द्रव्य का उद्देश्य कहा है। कम रूप की वस्तु अधिक रूप की वस्तु का द्रव्य है, जैसे पत्थर द्रव्य है मूर्ति के लिये, मिट्टी घड़े के लिये।

मूर्ति का उपादान कारण पत्थर है। पत्थर में रूप उपजानेवाले मूर्तिकार का व्यवसायकौशल मूर्ति का निमित्त (एफिशेंट) कारण है। मूर्तिकार जिन विधियों और निष्ठाओं के अधीन मूर्ति का निर्माण करता है वे विहित (फॉर्मल) कारण हैं। मूर्ति का अंतिम रूप उद्देश्य कारण है।

यही चार कारण समस्त सृष्टि में काम करते हैं। सृष्टि को प्रकृति-सोपान कहना चाहिए।

मनुष्य इस सोपान का ऊँचा डंडा है। इसके नीचे के डंडे मनुष्यरूप के लिये द्रव्य का काम देते हैं। शरीर और जीवात्मा के मेल से मनुष्य बनता है। जीवात्मा के शरीर में समेटने से व्यक्ति तैयार होता है। शरीर का जीवात्मा से अटूट संबंध है। एक को दूसरे से अलग कर दें तो मानव व्यक्ति नष्ट हो जाय। जीवात्मा और शरीर का संयोग व्यक्ति-विशेष कहलाता है। अरस्तू का विचार था कि मृत्यु के बाद मनुष्य व्यक्ति छिन्न भिन्न हो जाता है, क्योंकि शरीरविशेष के न रहने पर जीवात्मा, जो शरीर से विशेष संबंध रखती है, कायम नहीं रह सकती।

मनुष्य, जो जीवात्मा और शरीर का गठन है, प्रकृतिसोपान के बहुत ऊँचे डंडे पर स्थित है। सृष्ट भूतों में उसका दर्जा सबसे ऊपर है। उसके नीचे जितने भूत हैं, उसकी जीवात्मा में अंतर्हित हैं। वह द्रव्य है जिसकी नींव पर मनुष्यरूप प्रकट हुआ है। जीवात्मा, जो मनुष्य की सब चेष्टाओं की प्रेरक है, अपने भीतर सब जीवजंतुओं की प्रेरक आत्माओं को लिए हुए है। इस कारण मानव-आत्मा में वनस्पति और जंतु दोनों की आत्माओं के गुण हैं। और इनसे बढ़कर चेतन बुद्धि (रीज़न) है जो मनुष्य को समस्त वनस्पतियों और जीवजंतुओं से उत्कृष्ट बनाती है।

जीवात्मा के वानस्पतिक अंग का व्यापार (फंक्शन) पुष्टि है, अर्थात् उन तत्वों का ग्रहण जिनसे व्यक्ति जीवित रहता और अपने समान जीवों को उत्पन्न करता है। वानस्पतिक आत्मा (वेजिटेबुल सोल) पुष्टि और उत्पादन की शक्ति का नाम है। जंतुओं में एक और गुण है—इंद्रियों द्वारा विषयों की जानकारी। इसे इंद्रियग्रहण (सेंसेशन) कह सकते हैं। जैसे पुष्टि शक्ति का काम भोजन का ग्रहण है, वैसे ही जंतु की आत्मा (एनिमल सोल) का व्यापार देखना, सुनना, सूँघना, छूना और चखना है। यह तो मूल कृतियाँ हैं। इनके सिवा वस्तुओं का प्रलंभन (पर्सेप्शन) है, जिसके द्वारा इंद्रियग्रहणों का योग वस्तु व्यक्ति के पूरे रूप का बोध कराता है और एक वस्तु को दूसरी से पृथक् करता है। प्रलंभन पर कल्पना (इमैजिनेशन), स्मरण और स्वप्न (का आसरा) है। इन सबका जांतव आत्मा से संबंध है।

जांतव आत्मा के दो कार्य हैं—एक प्रलंभन अर्थात् इंद्रियों द्वारा बाह्य जगत् के विशेषणों की सूचनाएँ जमा करना। दूसरे, इन विशेषणों से उत्पन्न होनेवाले भावों अर्थात् सुख दुःख और सुख दुःख के आकर्षण और प्रतिकार से जो इच्छाएँ मन में उभरती हैं उनका अनुभव करना।

कर्म की चेष्टा इन्हीं अनुभूतियों से पैदा होती है।

जीवात्मा का सबसे ऊँचा अंग मन और चित्त है जिसे बोधात्मा (रैशनल सोल) कहते हैं। अरस्तू का मत है कि मन और चित्त (पैसिव ऐंड ऐक्टिव) बोधात्मा के दो भाग हैं। मन को उपादान (मैटीरियल काज़) का और चित्त को निमित्त (एफिटें काज़) का निकटवर्ती माना है। मन का कार्य विषयों का ग्रहण (अप्रीहेंशन) है, चित्त का सृजन (क्रिएशन); शक्य को तथ्य में बदलना, अव्यक्त को व्यक्त बनाना। जैसे सूर्य का उजाला वस्तुओं के रूप को उजागर करता है, वैसे ही चित्त मन के विकारों को बुद्धिगम्य बनाता है। चित्त की असलीयत क्या है? अरस्तू के टीकाकारों का मत है कि चित्त द्रव्यविहीन शुद्ध आत्मा का अंश है और शुद्ध आत्मा ईश्वर का पर्याय है।

प्रकृति के विषयों की व्याख्या और शास्त्रीय सिद्धांतों का उल्लेख भौतिक शास्त्रों के अंतर्गत है। मनोविज्ञान के पश्चात् मनुष्य के आचरण के संबंध में विचार आरंभ होता है। यह दो विद्याओं में समाप्त होता है, राजनीतिशास्त्र और आचार या नीतिशास्त्र।

राजनीतिशास्त्र का विषय समाज और राज है। प्रश्न यह है कि समाज किसे कहते हैं? यह कैसे बनता है? समाज और इसके व्यक्तियों में क्या संबंध है? समाज और व्यक्ति के क्या कर्तव्य हैं? ये ही प्रश्न राज्य के बारे में उठते हैं। राज के क्या क्या रूप हैं, कैसे ये रूप बदलते हैं और इनमें कौन से अच्छे और कौन से बुरे हैं?

अरस्तू बतलाता है कि समाज और राज की व्यवस्था स्वाभाविक (नेचुरल) है। समाज और राज को जीवात्मा के उद्रेकों का बाहरी स्पष्ट स्वरूप समझना चाहिए। जीवात्मा का पहला अंग वानस्पतिक आत्मा है। वानस्पतिक आत्मा का व्यापार जीवन का पालन पोषण और जाति का वर्धन है। मनुष्य इन दोनों कामों का अकेले नहीं, दूसरों की सहायता से ही संपादन कर सकता है। इसीलिये मनुष्यों का मनुष्यों के साथ संघात अनिवार्य है। मनुष्य की वानस्पतिक आत्मा की तृप्ति इसी मनुष्यसंघात के जरिए होती है, जिसे कुटुंब कहते हैं। कुटुंब की सृष्टि प्रकृतिगत है।

जीवात्मा का दूसरा अंग जांतव आत्मा है। जांतव आत्मा का व्यापार प्रलंभन का कार्य है। ज्ञानेंद्रियों के संबंध से मनुष्य बाहरी जगत् को अपनाता है। मन विषयों का ध्यान करता है। विषयों से राग उत्पन्न होता है। इच्छाएँ मन को विषयों की ओर खींचती हैं। हमें मनोरथों की दुनिया में घेरती हैं। इनकी पूर्ति के लिये कुटुंब से बड़े मनुष्यसमाज की आवश्यकता होती है। इसे आर्थिक समाज कहते हैं, अर्थात् वह समाज जो अर्थों को पूरा करे। जीवात्मा की तृप्ति की यह दूसरी मंजिल है।

जीवात्मा का उत्तम अंग बोधात्मा है। बुद्धि का व्यापार प्रलंभनों को एक सूत्र में बाँधना है। इंद्रियों द्वारा जो अनुभव होते हैं उनकी समानताओं को एकत्रित करने पर व्यापक विचार उत्पन्न होते हैं। विषयों के संयोग से भाव उभरते हैं, मन में खींचतान होती है। किसे अपनाएँ, किसे दुराएँ, ऐसी दुविधा हृदय को विह्वल करती है। हमारी बुद्धि इस स्थिति में निर्णय करती है। यदि भाव इसकी अधीनता को मान लेते हैं तो हम अपनी मानवी पात्रता का प्रमाण देते हैं और नहीं तो जानवर के पद से ऊपर नहीं उठते। बोधात्मा व्यापक विचारों को संगठित करती है और भावों को आदेश देती है। बोधात्मा की पूर्ति मनुष्य संगठन की ही पूर्ति और संगठन में आदेश का अनुष्ठान है। जिस संगठन में व्यापकता और आदेश हो उसे राज्य कहते हैं। इसके द्वारा मनुष्य अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं से ऊपर उठता है, व्यापकता में समा जाता है और विषयों की आसक्ति पर काबू पाता है। वानस्पतिक और जांतव आत्मा का बोधात्मा के अधीन हो जाना स्वराज्य है। वह विधान सबसे उत्तम है जिसके द्वारा स्वराज्य प्राप्त हो।

नीतिशास्त्र का विषय आचरण का अध्ययन है। स्वभाव से समाज का व्यक्ति राज्य का सदस्य है। राज्य का ध्येय मनुष्य की आत्मा की तृप्ति है। तृप्त आत्मा का बाहरी रूप स्वराज्य है। इसका भीतरी रूप नियम और संयम है। मानव प्रकृति मानव श्रेय (गुड) की प्राप्ति से ही आनंद पाती है। इसलिये आचरण या नीति का आदर्श मानवकल्याण की प्राप्ति ही हो सकता है।

श्रेय का क्या अर्थ है? श्रेय को सुख अर्थात् शारीरिक तुष्टि नहीं समझना चाहिए। न तो श्रेय धन के पीछे भागने का नाम है, और न ही यह मान और सत्कार का स्नेह है। श्रेय वास्तव में आनंद (हैपिनेस) का पर्याय है। आनंद उस अवस्था को कहते हैं जिसमें मनुष्य अपनी सच्ची मानवता का संपादन करता रहता है। सच्ची मानवता बोधात्मा की तुष्टि है। बोधात्मा का कार्य जीवनयोजना को तैयार करना और इस योजना को व्यवहार में सफल करना है। इस योजना का आधार सदाचार है और इसका विस्तार पूरी जीवनयात्रा है।

सदाचार सुव्यवस्थित स्वभाव का नाम है। सुव्यवस्थित स्वभाव ऐसा स्वभाव है जो अतिशयों से बचता हुआ बीच का मार्ग ग्रहण करता है। अरस्तू मध्यवर्ती आचरण को सद्गुण कहता है। उदाहरण के लिये वीरता (करेज) को लें। यह दुःसाहस (रैशनेस) और कायरता (कार्वर्डिस) के बीच का गुण है। दुःसाहस और कायरता अतिशयी होने के कारण अवगुण हैं और वीरता इनके मध्य में होने के कारण सद्गुण है। ऐसे ही न्याय, दान, सत्य, मैत्री इत्यादि अतिशयों को छोड़ बीच के रास्ते पर चलने के नाम हैं इसीलिये ये सदाचार के अंश हैं। सदाचार से श्रेय जीवन प्राप्त होता है और श्रेय आनंद प्रदान करता है। अरस्तू के अनुसार आनंद संन्यास, वैराग्य और त्याग से नहीं मिल सकता; न आनंद धन की अधिकता और भोगविलास की प्रचुरता से प्राप्त हो सकता है। त्याग और भोग दोनों ही अतिशयता के लक्षण हैं। धन, स्वास्थ्य, सौंदर्य, यश, मित्र इत्यादि श्रेयमय जीवन के साधन हैं। इनके बिना जीवन का ध्येय, आनंद प्राप्त नहीं हो सकता। सदाचार की आदत, जो संयम से पैदा होती है, श्रेयदायी है।

परंतु पूर्ण आनंद के लिये एक बात की और आवश्यकता है, जिसका दर्जा सदाचार से ऊपर है। वह है सत्य की धारणा और ध्यान। अरस्तू का कहना है "जिन्हें स्वतंत्र आनंद की इच्छा हो उन्हें चाहिए, इसे दर्शन के अध्ययन में खोजें, क्योंकि और सब प्रकार के सुखों के लिये मनुष्य दूसरों की सहायता के अधीन है।"

अरस्तू ने कलाशास्त्र में अलंकार और काव्य की व्याख्या की है।

कई सौ वर्षों तक अरस्तू की पुस्तकें अंधकार में रहीं; फिर रोम साम्राज्य के पतन के बाद जब रोमन कैथलिक चर्च का अधिकार बढ़ा तो मध्यकालीन यूरोप की संस्कृति और विचारों पर अरस्तू की छाप पड़ने लगी। इस कार्य में अरबों ने बड़ा भाग लिया। ८ वीं सदी के आरंभ में उन्होंने स्पेन जीता और वहाँ विश्वविद्यालय कायम किए। यहाँ मुसलमान विद्वानों ने अरस्तू की रचनाओं का पठन पाठन जारी किया। इन विद्यालयों में जिन ईसाई विद्यार्थियों ने विद्योपार्जन किया उन्होंने अरस्तू के विचारों को ईसाई समाज में फैलाया। मध्यकाल के अंत तक अरस्तू का सिक्का जमा रहा। फिर आधुनिक काल के आरंभ में अफ़लातून के सिद्धांतों का अनुकरण हुआ और नई चिंतनधाराओं का विकास हुआ। पर आज भी यद्यपि यूरोप के विद्वान् अपने अपने दर्शनों की रचना में नए नए सिद्धांतों का प्रचार और पुराने सिद्धांतो का खंडन मंडन करते हैं, तथापि वे अरस्तू के दायरे से बहुत परे नहीं जा पाते।

सं०ग्रं०—(क) अनुवाद और भाष्य—जे० आर० स्मिथ तथा डब्ल्यू० डी० रोज द्वारा संपादित, आक्सफोर्ड अनुवाद, क्लैरेंडन प्रेस, आक्सफोर्ड।

(ख) सामान्य कृतियाँ—ग्रोट, जी०,: अरिस्टॉटल, तृतीय संस्करण, लंदन, १८६३; टेलर, ए० ई०: अरिस्टॉटल, द्वितीय संस्करण; रॉस, डब्ल्यू० डी०: अरिस्टॉटल, लंदन १९२३।

(ग) स्वतंत्र ग्रंथ—बर्नेट, जे०: एथिक्स, टेक्स्ट ऐंड कमेंटरी, लंदन; पीटर्स, एफ० एच०: एथिक्स, टेक्स्ट ऐंड ट्रांसलेशन ऐंड कमेंटरी, लंदन; न्यूमैन, डब्ल्यू०एल०: पॉलिटिक्स, टेक्स्ट ऐंड कमेंटरी, ४ खंड, आक्सफोर्ड, १८८७–१९०२; बार्कर, ई०: पोलिटिकल थॉट ऑव प्लेटो ऐंड अरिस्टॉटल; रॉस, डब्ल्यू० डी०: अरिस्टॉटल्स मेटाफिज़िक्स, आक्सफोर्ड, १९२४।

(घ) इतिहास तथा दर्शन—जोंपर्ज, टी०: ग्रीक थिंकर्स (अंग्रेजी अनुवाद), ४ खंड, लंदन, १९१२; जैलर, ई०: ग्रीक फिलॉसफी', (अंग्रेजी अनुवाद, कॉस्टेलो तथा म्योरहेड द्वारा), २ खंड; लंदन; ओबरवेग, एफ०: हिस्ट्री ऑव फिलॉसफी, अंग्रेजी अनुवाद स्मिथ और शैफ़ द्वारा; बर्नेट, जे०: ग्रीक फिलॉसफी; बेट्रेंड रसेल: हिस्ट्री ऑव वेस्टर्न फिलॉसफी।

[ता० चं०]

अराकान बरमा का एक प्रदेश है (देखें बरमा)। बंगाल की खाड़ी के पूर्वी तट पर चटगाँव (चिटागॉङ्ग) से नेग्रेस अंतरीप तक यह विस्तृत है। इस प्रकार इसकी लंबाई लगभग ४०० मील है। चौड़ाई उत्तर में ६० मील है, परंतु अराकान योमा पर्वत के कारण दक्षिण की ओर अराकान की चौड़ाई धीरे धीरे कम होते होते १५ मील हो जाती है। तट पर अनेक टापू हैं। इस प्रदेश का प्रधान नगर अकयाब है। प्रांत चार जिलों में विभक्त है। क्षेत्रफल लगभग १६,००० वर्ग मील है और जनसंख्या लगभग १२ लाख (सन् १९४१)।

चार मुख्य नदियाँ नाफ, मायू, कलदन, और लेमरो हैं। कलदन गहरी है और इसमें छोटे जहाज ५० मील भीतर तक जा सकते हैं। अन्य नदियाँ बहुत छोटी हैं, क्योंकि वे पहाड़ जिनसे ये निकली हैं, समुद्रतट के निकट हैं। योमा पर्वत को पार करने के लिये कई दर्रे (पास) हैं।

प्रदेश पहाड़ी है और केवल दशम भूभाग में खेती हो पाती है। मुख्य शस्य धान है। फल, तंबाकू, मिरचा आदि भी उत्पन्न किए जाते हैं। जंगल भी हैं, परंतु वर्षा इतनी अधिक होती है कि सागवान यहाँ नहीं हो पाता।

अराकानवासियों की सभ्यता अति प्राचीन है। लोकोक्ति के अनुसार २,६६६ ई० पू० से आज तक के सभी राजाओं के नाम ज्ञात हैं। कभी मुगल और कभी पुर्तगाली लोगों ने कुछ भागों पर अधिकार जमा लिया था, परंतु वे शीघ्र मार भगाए गए। सन् १८२६ से यहाँ अँग्रेजी राज्य रहा। जनवरी, सन् १९४८ से बरमा पुनः स्वतंत्र हो गया है और अब वहाँ गणतंत्र राज्य है। अराकान का प्रधान नगर पहले अराकान था, परंतु अस्वास्थ्यप्रद होने के कारण अब अकयाब प्रधान नगर हो गया है।

यद्यपि अराकाननिवासी भी बर्मी ही हैं, तो भी उनकी देशी भाषा और रस्मरिवाजों में अन्य बरमानिवासियों से पर्याप्त भिन्नता है, परंतु ये भी बौद्धधर्म के ही अनुयायी हैं। [न० ला०]

अराजकता, अराजकतावाद अराजकता एक आदर्श है, जिसका सिद्धांत अराजकतावाद है। अराजकतावाद राज्य को समाप्त कर व्यक्तियों, समूहों और राष्ट्रों के बीच स्वतंत्र और सहज सहयोग द्वारा समस्त मानवीय सबंधों में न्याय स्थापित करने के प्रयत्नों का सिद्धांत है। अराजकतावाद के अनुसार कार्यस्वातंत्र्य जीवन का गत्यात्मक नियम है, और इसीलिये उसका मतव्य है कि सामाजिक संगठन व्यक्तियों के कार्यस्वातंत्र्य के लिये अधिकतम अवसर प्रदान करे। मानवीय प्रकृति में आत्मनियमन की ऐसी शक्ति है जो बाह्य नियंत्रण से मुक्त रहने पर सहज ही सुव्यवस्था स्थापित कर सकती है। मनुष्य पर अनुशासन का आरोपण ही सामाजिक और नैतिक बुराइयों का जनक है। इसलिये हिंसा पर आश्रित राज्य तथा उसकी अन्य संस्थाएँ इन बुराइयों को नहीं दूर कर सकतीं। मनुष्य स्वभावतः अच्छा है, किंतु ये संस्थाएँ मनुष्य को भ्रष्ट कर देती हैं। बाह्य नियंत्रण से मुक्त, वास्तविक स्वतंत्रता का सहयोगी सामूहिक जीवन प्रमुख रीति से छोटे समूहों में संभव है; इसलिये सामाजिक संगठन का आदर्श संघवादी है।

सुव्यवस्थित रूप में अराजकतावाद के सिद्धांत को सर्वप्रथम प्रतिपादित करने का श्रेय स्तोइक विचारधारा के प्रवर्तक जेनो को है। उसने राज्यरहित ऐसे समाज की स्थापना पर जोर दिया जहाँ निरपेक्ष समानता एवं स्वतंत्रता मानवीय प्रकृति की सत्प्रवृत्तियों को सुविकसित कर सार्वभौम सामंजस्य स्थापित कर सके। दूसरी शताब्दी के मध्य में अराजकतावाद के साम्यवादी स्वरूप के प्रवर्तक कार्पोक्रेतीज ने राज्य के अतिरिक्त निजी संपत्ति के भी उन्मूलन की बात कही। मध्ययुग के उत्तरार्ध में ईसाई दार्शनिकों तथा समुदायों के विचारों और संगठन में भी कुछ स्पष्ट अराजकतावादी प्रवृत्तियाँ व्यक्त हुईं जिनका मुख्य आधार यह दावा था कि व्यक्ति ईश्वर से सीधा रहस्यात्मक संबंध स्थापित कर पापमुक्त हो सकता है।

आधुनिक अर्थ में व्यवस्थित ढंग से अराजकतावादी सिद्धांत का प्रतिपादन विलियम गॉडविन ने किया जिसके अनुसार सरकार और निजी संपत्ति वे दो बुराइयाँ हैं जो मानव जाति की प्राकृतिक पूर्णता की प्राप्ति में बाधक हैं। दूसरों को अधीनस्थ करने का साधन होने के कारण सरकार निरंकुशता का स्वरूप है, और शोषण का साधन होने के कारण निजी संपत्ति क्रूर अन्याय। परंतु गॉडविन ने सभी संपत्ति को नहीं, केवल उसी संपत्ति को बुरा बताया जो शोषण में सहायक होती है। आदर्श सामाजिक संगठन की स्थापना के लिये उसने हिंसात्मक क्रांतिकारी साधनों को अनुचित ठहराया। न्याय के आदर्श के प्रचार से ही व्यक्ति में वह चेतना लाई जा सकती है जिससे वह छोटी स्थानीय इकाइयों की आदर्श अराजकतावादी प्रसंविदात्मक व्यवस्था स्थापित करने में सहयोग दे सके।

इसके बाद दो विचारधाराओं ने विशेष रूप से अराजकतावादी सिद्धांत के विकास में योग दिया। एक थी चरम व्यक्तिवाद की विचारधारा, जिसका प्रतिनिधित्व हर्बर्ट स्पेंसर करते हैं। इन विचारकों के अनुसार स्वतंत्रता और सत्ता में विरोध है और राज्य अशुभ ही नहीं, अनावश्यक भी है। किंतु ये विचारक निश्चित रूप से निजी संपत्ति के उन्मूलन के पक्ष में नहीं थे और न संगठित धर्म के ही विरुद्ध थे।

दूसरी विचारधारा फ़ुअरबाख़ (Feuerbach) के दर्शन से संबंधित थी जिसने संगठित धर्म तथा राज्य के पारभौतिक आधार का विरोध किया। फ़ुअरबाख़ के क्रांतिकारी विचारों के अनुकूल मैक्स स्टर्नर ने समाज को केवल एक मरीचिका बताया तथा दृढ़ता से कहा कि मनुष्य का अपना व्यक्तित्व ही एक ऐसी वास्तविकता है जिसे जाना जा सकता है। वैयक्तिकता पर सीमाएँ निर्धारित करनेवाले सभी नियम अहं के स्वस्थ विकास में बाधक हैं। राज्य के स्थान पर 'अहंवादियों का संघ' (ऐसोसिएशन ऑव इगोइस्ट्स) हो तो आदर्श व्यवस्था में आर्थिक शोषण का उन्मूलन हो जायगा, क्योंकि समाज का प्रमुख उत्पादन स्वतंत्र सहयोग का प्रतिफल होगा। क्रांति के संबंध में उसका यह मत था कि हिंसा पर आश्रित राज्य का उन्मूलन हिंसा द्वारा ही हो सकता है।

अराजकतावाद को जागरूक जन-आंदोलन बनाने का श्रेय प्रूधों (Proudhon) को है। उसने संपत्ति के एकाधिकार तथा उसके अनुचित स्वामित्व का विरोध किया। आदर्श सामाजिक संगठन वह है जो 'व्यवस्था में स्वतंत्रता तथा एकता में स्वाधीनता' प्रदान करे। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये दो मौलिक क्रांतियाँ आवश्यक हैं: एक का संचालन वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध तथा दूसरे का वर्तमान राज्य के विरुद्ध हो। परंतु किसी भी दशा में क्रांति हिंसात्मक न हो, वरन् व्यक्ति की आर्थिक स्वतंत्रता तथा उसके नैतिक विकास पर जोर दिया जाय। अंततः प्रूधों ने स्वीकार किया कि राज्य को पूर्णरूपेण समाप्त नहीं किया जा सकता, इसलिये अराजकतावाद का मुख्य उद्देश्य राज्य के कार्यों को विकेंद्रित करना तथा स्वतंत्र सामूहिक जीवन द्वारा उसे जहाँ तक संभव हो, कम करना होना चाहिए।

बाकूनिन ने आधुनिक अराजकतावाद में केवल कुछ नई प्रवृत्तियाँ ही नहीं जोड़ीं, वरन् उसे समष्टिवादी स्वरूप भी प्रदान किया। उसने भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधनों के सामूहिक स्वामित्व पर जोर देने के साथ साथ उपभोग की वस्तुओं के निजी स्वामित्व को भी स्वीकार किया। उसके विचार के तीन मूलाधार हैं: अराजकतावाद, अनीश्वरवाद तथा स्वतंत्र वर्गों के बीच स्वेच्छा पर आधारित सहयोगिता का सिद्धांत। फलतः वह राज्य, चर्च और निजी संपत्ति, इन तीनों संस्थाओं का विरोधी है। उसके अनुसार वर्तमान समाज दो वर्गों में विभाजित है: संपन्न वर्ग, जिसके हाथ में राजसत्ता रहती है, तथा विपन्न वर्ग जो भूमि, पूँजी और शिक्षा से वंचित रहकर पहले वर्ग की निरंकुशता के अधीन रहता है, इसलिये स्वतंत्रता से भी वंचित रहता है। समाज में प्रत्येक के लिये स्वतंत्रता की प्राप्ति अनिवार्य है। इसके लिये दूसरों को अधीन रखनेवाली हर प्रकार की सत्ता का बहिष्कार करना होगा। ईश्वर और राज्य ऐसी ही दो सत्ताएँ हैं। एक पारलौकिक जगत् में तथा दूसरी लौकिक जगत् में उच्चतम सत्ता के सिद्धांत पर आधारित है। चर्च पहले सिद्धांत का मूर्त रूप है। इसलिये राज्यविरोधी क्रांति चर्चविरोधी भी हो। साथ ही, राज्य सदैव निजी संपत्ति का पोषक है, इसलिये यह क्रांति निजी संपत्तिविरोधी भी हो। क्रांति के संबंध में बाकूनिन ने हिंसात्मक साधनों पर अपना विश्वास प्रकट किया। क्रांति का प्रमुख उद्देश्य इन तीनों संस्थाओं का विनाश बताया गया है, परंतु नए समाज की रचना के विषय में कुछ नहीं कहा गया। मनुष्य की सहयोगिता की प्रवृत्ति में असीम विश्वास होने के कारण बाकूनिन का यह विचार था कि मानव समाज ईश्वर के अंधविश्वास, राज्य के भ्रष्टाचार तथा निजी संपत्ति के शोषण से मुक्त होकर अपना स्वस्थ संगठन स्वयं कर लेगा। क्रांति के संबंध

में उसका विचार था कि उसे जनसाधारण की सहज क्रियाओं का प्रतिफल होना चाहिए। साथ ही, हिंसा पर अत्यधिक बल देकर उसने अराजकतावाद में आतंकवादी सिद्धांत जोड़ा।

पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में अराजकतावाद ने अधिक से अधिक साम्यवादी रूप अपनाया है। इस आंदोलन के नेता क्रोपाट्किन ने पूर्ण साम्यवाद पर बल दिया। परंतु साथ ही उसने जनक्रांति द्वारा राज्य को विनष्ट करने की बात कहकर सत्तारूढ़ साम्यवाद को अमान्य ठहराया। क्रांति के लिये उसने भी हिंसात्मक साधनों का प्रयोग उचित बताया। आदर्श समाज में कोई राजनीतिक संगठन न होगा, व्यक्ति और समाज की क्रियाओं पर जनमत का नियंत्रण होगा। जनमत आबादी की छोटी छोटी इकाइयों में प्रभावोत्पादक होता है, इसलिये आदर्श समाज ग्रामों का समाज होगा। आरोपित संगठन की कोई आवश्यकता न होगी क्योंकि ऐसा समाज पूर्णरूपेण नैतिक विधान के अनुरूप होगा। हिंसा पर आश्रित राज्य की संस्था के स्थान पर आदर्श समाज के आधार ऐच्छिक संघ और समुदाय होंगे और उनका संगठन नीचे से विकसित होगा। सबसे नीचे स्वतंत्र व्यक्तियों के समुदाय, कम्यून होंगे, कम्यून के संघ प्रांत, और प्रांत के संघ राष्ट्र होंगे। राष्ट्रों के संघ यूरोपीय संयुक्त राष्ट्र की ओर अंततः विश्व संयुक्त राष्ट्र की स्थापना होगी।

सं०ग्रं०—कोकर, एफ० डब्ल्यू० : रीसेंट पोलिटिकल थॉट, न्यूयॉर्क, १९३४; क्रोपॉट्किन, पी० : एनार्किज्म—इट्स फ़िलासफ़ी ऐंड आइडियल, १९०४; ग्रे, एलेक्जैंडर : दि सोशलिस्ट ट्रैडिशन, लंदन, १९४६; रीड, हर्बर्ट : दि फ़िलॉसाफ़ी ऑव एनार्किज्म, लंदन, १९४७; लोह्र फ्रेडरिक : एनार्किज्म; विल्सन, सी० : एनार्किज्म। [रा० अ०]

अरानी, जानोस (१८१७–१८८२) हंगरी के कवि। नागीज़ालोंता में अभिजात, पर गरीब परिवार में जन्म। पहले अध्यापक हुए। फिर यात्री-अभिनता। तोल्दी नामक महाकाव्य से उन्होंने यश अर्जित किया। १८४८ में ज़ालोंता की जनता न उन्हें हंगरी की लोकसभा के लिये अपना प्रतिनिधि चुना। अगले साल उन्होने क्रांतिवादी सरकार की नौकरी कर ली जिसे सरकार के पतन पर छोड़कर उन्हें अपने घर लौट जाना पड़ा। एक साल बाद हंगरी में भाषा और साहित्य के प्राध्यापक नियुक्त हुए।

अब उन्होंने अपने देश और जनता के दीन जीवन पर विचार करना शुरू किया। तत्काल उनकी कविताओं में पिछले राजनीतिक प्रयत्नों की असफलता के कारण देश के नेताओं और परिस्थितियों के प्रति व्यंग्यात्मक हास्यजनक धारा फूट पड़ी। इसी चित्तवृत्ति और व्यंग्यात्मक शैली में उन्होंने अपना 'बोलोंद इस्तोक' लिखा (१८५०)। अगले अनेक वर्ष उन्होंने हंगरी के अपने मगयार (जातीय) मधुर बलड लिखे। १८५८ में वे हंगरी की अकादमी के सदस्य चुने गए और दो साल बाद किस्फ़ालूदी सोसाइती के संचालक। अरानी ने अपनी कविताओं द्वारा अनेक राष्ट्रीय पुरस्कार जीते। उनका हंगरी के साहित्य, विशेषकर कविता के क्षेत्र में अपना स्थान है। उन्होंने उसे एक नई तथा राष्ट्रीय दिशा दी। कविता यथार्थ जीवन और प्रकृति के संपर्क में आई। साहित्य को परंपरा की भूमि पर रखते हुए भी उन्होंने उसे जनता के धरातल पर खींचा। मगयार कवियों में वे सर्वाधिक जनप्रिय और कलाप्राण हैं। [ओं० ना० उ०]

अरारूट अथवा अरारोट (अंग्रेजी में ऐरोरूट) एक प्रकार का स्टार्च या मंड है जो कुछ पौधों की कंदिल (ट्यूबरस) जड़ों से प्राप्त होता है। इनमें मरेंटेसी कुल का सामान्य शिशुमूल (मरंटा अरंडिनेसिया) नामक पौधा मुख्य है। यह दीर्घजीवी शाकीय पौधा है जो मुख्यतः उष्ण देशों में पाया जाता है। इसकी जड़ों में स्टार्च के रूप में खाद्य पदार्थ संचित रहता है। १० से १२ महीने तक के, पूर्ण वृद्धि-प्राप्त पौधे की जड़ में प्रायः २६ प्रति शत स्टार्च, ६५ प्रति शत जल और शेष ९ प्रति शत में अन्य खनिज लवण, रेशे, इत्यादि होते हैं। मरंटा अरंडिनेसिया के अतिरिक्त, मैनीहार यूटिलिस्मा, कुरकुमा अंगुस्टीफोलिया, लेसिया पिनेटीफ़िडा और ऐरम मैकुलेटम से भी अरारूट प्राप्त होता है।

अरारूट निकालने की विधि—कंदिल जड़ों को निकालकर अच्छी तरह धोने के पश्चात् उनका छिलका निकाल दिया जाता है। फिर उन्हें अच्छी तरह पीसकर दूधिया लुगदी बना ली जाती है। तब लुगदी को अच्छी तरह धोया जाता है, जिससे जड़ का रेशदार भाग अलग हो जाता है। यह फेंक दिया जाता है। बचे हुए दूधिया भाग को, जिसमें मुख्यतया स्टार्च रहता है, महीन चलनी या मोटे कपड़े पर डालकर उसमें का पानी निकाल दिया जाता है। बचा हुआ सफेद भाग स्टार्च होता है जिसे पानी से फिर भली भाँति धो तथा सुखाकर अंत में पीस लिया जाता है। इसी रूप में अरारूट बाजार में बिकता है।

अरारूट का स्टार्च बहुत छोटे दानों का और सुगमता से पचनेवाला होता है। इस गुण के कारण इसका उपयोग बच्चों तथा रोगियों के भोजन के लिये विशेष रूप से होता है।

अरारूट के नाम पर बाजार में बिकनेवाले पदार्थ बहुधा या तो कृत्रिम होते हैं या उनमें अनक प्रकार की मिलावटें होती हैं। कभी कभी आलू, चावल, साबूदाना या ऐसी ही अन्य वस्तुओं के महीन पिसे हुए आटे अरारूट के नाम पर बिकते हैं या इन्हें शुद्ध अरारूट के साथ विभिन्न मात्रा में मिलाकर बेचा जाता है। कृत्रिम या मिलावटी अरारूट को सूक्ष्मदर्शी द्वारा निरीक्षण करके पहचाना जा सकता है। [ज० ना० रा०]

अराल सागर पश्चिमी एशिया की एक झील अथवा अंतर्देशीय सागर है। इसका नामकरण खिरगीज़ शब्द अरालडेंगिज़ के आधार पर हुआ है, जिसका अर्थ है द्वीपों का सागर। विश्व के अंतर्देशीय सागरों में, क्षेत्रफल के अनुसार, इसका स्थान चौथा है। इसकी लंबाई लगभग २८० मील और चौड़ाई १३० मील है। इसकी औसत गहराई ५२ फुट है और अधिकतम गहराई पश्चिमी तट की समांतर द्रोणी में २२३ फुट है। इस सागर में जिहुन अथवा आमू नदी (ऑक्सस) और सिहुन अथवा सर नदी (याक्सार्टिज़) गिरती हैं, जिनसे बड़ी मात्रा में अवसाद (सेडिमेंट) का निक्षेप होता है। इस सागर के पूर्वी तट के समांतर अनेक छोटे छोटे द्वीपपुंज विद्यमान हैं। आँधियों की बहुलता और सुरक्षित स्थानों की कमी के कारण अराल सागर में जलयातायात सुविधाजनक नहीं है। सागरपृष्ठ का शीतकालीन ताप लगभग ३२° फा० रहता है, यद्यपि अधिकांश तटीय भाग हिमाच्छादित हो जाता है। गर्मी में ताप लगभग ८०° फा० रहता है। सागर-समतल की घट बढ़ महत्वपूर्ण है, परंतु ब्रीकनर के ३५ वर्षीय चक्र से इसका कोई संबंध नहीं है। यह प्राचीन धारणा कि यह सागर कभी कभी लुप्त हो जाया करता है, पूर्णतया निराधार है। अराल सागर में मीठे पानीवाली मछलियाँ पाई जाती हैं। यहाँ मछली उद्योग कैस्पियन सागर की तुलना में कम महत्व का है। अराल सागर के तटवर्ती प्रदेश प्रायः निर्जन है। [रा० ना० मा०]

अरावली वस्तुतः एक भंजित पर्वत है जो पृथ्वी के इतिहास के आरंभिक काल में ऊपर उठा था। यह पर्वतश्रेणी राजस्थान में लगभग ४०० मील की लंबाई में उत्तर-पूर्व से लेकर दक्षिण-पश्चिम तक फैली है। इसकी औसत ऊँचाई समुद्रतल से १,०००फुट से लेकर ३,०००फुट तक है और उच्चतम शिखर दक्षिणी भाग में स्थित आबू पर्वत है (ऊँचाई ५,६५० फुट)। यह श्रेणी दक्षिण की ओर अधिक चौड़ी है और अधिकतम चौड़ाई ६० मील है। इस पर्वत का अधिकांश वनस्पतिहीन है। आबादी विरल है। इसके विस्तृत क्षेत्र, विशेषकर मध्यस्थ घाटियाँ, बालू के मरुस्थल हैं। इस पर्वत की शाखाएँ पथरीली श्रेणियों के रूप में जयपुर और अलवर होकर उत्तर-पूर्व में फैली हैं। उत्तर-पूर्व की ओर इनका क्रम दिल्ली के समीप तक चला गया है, जहाँ ये क्वार्टज़ाइट की नीची, विच्छिन्न पहाड़ियों के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं।

राजस्थान में आदिकल्प (आर्कियोज़ोइक) के धारवार (ह्यूरोनियन) काल में अवसादों (सेडिमेंट्स) का निक्षेपण हुआ और धारवार युग के अंत में पर्वतकारक शक्तियों द्वारा विशाल अरावली पर्वत का निर्माण हुआ। ये संभवतः विश्व के ऐसे प्राचीनतम भंजित पर्वत हैं जिनमें शृंखलाओं के बनने का क्रम इस समय भी विद्यमान है।

अरावली पर्वत का उत्थान पुनः पुराकल्प (पैलिओज़ोइक एरा) में प्रारंभ हुआ। पूर्वकाल में ये पर्वत दक्षिण के पठार से लेकर उत्तर में हिमालय तक फैले थे और अधिक ऊँचे उठे हुए थे। परंतु अपक्षरण द्वारा मध्यकल्प (मेसोज़ोइक एरा) के अंत में इन्होंने स्थलीयप्राय रूप धारण कर लिया।

इसके पश्चात् तृतीयक कल्प (टर्शियरी एरा) के आरंभ में विकुंचन (वार्पिंग) द्वारा इस पर्वत ने वर्तमान रूप धारण किया और इसमें अपक्षरण द्वारा अनेक समांतर विच्छिन्न शृंखलाएँ भी बन गईं। इन शृंखलाओं की ढाल तीव्र है और इनके शिखर समतल हैं। यहाँ पाई जानेवाली शिलाओं में स्लेट, शिस्ट, नाइस, संगमरमर, क्वार्टज़ाईट, शेल और ग्रैनाइट मुख्य हैं। [रा० ना० मा०]

अरिकेसरी मारवर्मन् मदुरा के पांड्यों की शक्ति प्रतिष्ठित करनेवाले प्रारंभिक राजाओं में प्रधान। लगभग ७वीं सदी ई० के मध्य हुआ। उसकी ख्याति पांड्य अनुश्रुतियों में पर्याप्त है और उनका नेडुमरन् अथवा कुन पांड्य संभवतः वही है। पहले वह जैन था पर बाद में संत तिरुज्ञानसंबंदर के उपदेश से परम शैव हो गया। उसके शासनकाल में पांड्यों का पर्याप्त उत्कर्ष हुआ। [ओं० ना० उ०]

अरित्रपाद (कोपेपोडा) कठिनि (क्रस्टेशिआ) वर्ग का एक अनुवर्ग (सबक्लास) है। इस अनुवर्ग के सदस्य जल में रहनेवाले तथा कवच से ढके प्राणी हैं। अरित्रपाद का अर्थ है अरित्र (नाव खेने के डाँड़े) के सदृश पैरवाले जीव। "कोपेपॉड" का भी ठीक यही अर्थ है। इस अनुवर्ग में कई जातियाँ हैं। अधिकांश इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे केवल सूक्ष्मदर्शी से देखे जा सकते हैं। खारे और मीठे दोनों प्रकार के पानी में ये मिलते हैं। संसार के सागरों में कहीं भी
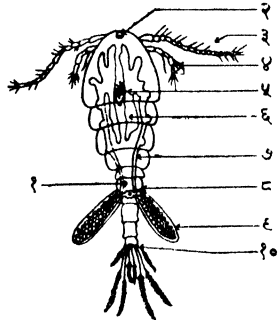
(स्त्री) मध्याक्ष (पृष्ठ दृश्य)

१. संयुत तनूखंडक (कंपाउंड सोमाइट); २. मध्यचक्षु; ३. स्पर्शसूत्रक; ४. स्पर्शसूत्र; ५. अंडाशय; ६. गर्भाशय; ७. अंड प्रणाली; ८. शुक्रधान; ९. अंडस्यून; १०. उच्छाखा (रैमस)।
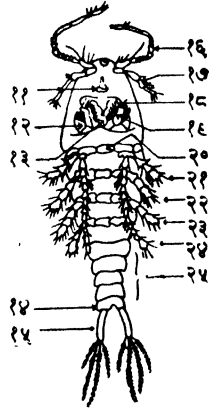
नर मध्याक्ष (अधर दृश्य)

११. उदोष्ठ (लैब्रम); १२. उपजंभ (मैक्सिला); १३. हनुपाद (मैक्सिलिपीड); १४. पुच्छखंड (टेलसन); १५. पुच्छ द्विशाख की उच्छाखाएँ; १६. स्पर्शसूत्रक; १७. स्पर्शसूत्र; १८. जंभ; १९. उपजंभक; २०. सेतुक (कॉपुला); २१, २२, २३ और २४. औरसपाद; २५. उदर

महीन जाल डालकर खींचने से इस अनुवर्ग के प्राणी अवश्य मिलते हैं। अमरीका के एक बंदरगाह के पास १ गज के जाल को १५ मिनट तक घसीटने पर लगभग २५,००,००० जीव अरित्रपाद अनुवंश के मिले। मछलियों के आहार में ये मुख्य अवयव हैं। अधिकांश अरित्रपाद स्वच्छंद विचरते रहते हैं और अपने से छोटे प्राणी और कण खाकर जीवित रहते हैं, परंतु कुछ जाति के अरित्रपाद मछलियों के शरीर में चिपके रहते हैं और उनका रुधिर चूसते रहते हैं। स्वतंत्र रूप से मीठे या खारे पानी में तैरती हुई पाई जानेवाली जातियों के अच्छे उदाहरण मध्याक्ष (साइक्लॉप्स—सिर के बीच में आँखवाले) तथा कैलानस हैं। पत्रनाड़ी का शरीर खंडदार होता है; शीर्ष और वक्ष एक में (जिसे शीर्षोरस, सेफ़ालोथोरैक्स, कहते हैं), उदर (ऐब्डोमेन) प्रायः पृथक् तथा आकार एक लंबी, पतली, बीच में सँकरी, विलायती नाशपाती की तरह होता है। शीर्षोरस का ऊपरी आवरण उत्कवच (कैरापेस) कहलाता है। इसके अगले सिर के पृष्ठ पर बीच में एक चक्षु होता है जो मध्यचक्षु (मीडिअन आइ) कहलाता है। अंतिम उदर-तनूखंडक (ऐब्डॉमिनल सोमाइट=उदर के लंबे खंड) से दो घूआयुक्त पुच्छ-कटिका (प्लूम्ड कॉडल स्टाइल्स) जुड़ी रहती हैं। स्पर्शसूत्रक (ऐंटेन्यूल्स) बहुत लंबे, एकशाखी (युनिरैमस) तथा संवेदक होते हैं और प्रचलन के काम आते हैं। तीन या चार औरस द्विशाखी पैर भी होते हैं, जो पानी में तेज चलने के काम आते हैं।

इस अनुवर्ग के सदस्य खाद्य वस्तुओं को, जो पानी में मिलती हैं, अपने मुख की ओर स्पर्शसूत्र (ऐंटेनी) तथा जंभों (मैंडिबल्स, जबड़ों) से परिचालित करके और उपजंभ (मैक्सिली) से छानकर मुख में लेते हैं।

मादा मध्याक्षों (साइक्लॉप्स) में शुक्रधान (स्पर्माथीका=शुक्र रखने की थैली) छठे औरस खंड (थोरेसिक सेग्मेंट) में होता है। दोनों तरफ की अंडप्रणाली अंडस्यून (एग सैक) में खुलती है और शुक्रधान से भी संबंधित रहती है। नर शुक्रभर (स्पर्माटोफ़ोर) मादा के शरीर में प्रवेश करता है और निषेचन के बाद मादा निषिक्त अंडकोश, जबतक बच्चे अंडे के बाहर नहीं निकलते, अंडस्यून में ही लिए फिरती है। बच्चे अंडे से निकलने पर त्र्युपांग (नाप्लिअस) कहलाते हैं। धीरे धीरे और अधिक तनूखंडक तथा अपांग बनते हैं और इस तरह पाँच लगातार पदों में त्र्युपांग प्रौढ़ अवस्था (मध्याक्ष) को प्राप्त होता है।

मध्याक्ष का (बच्चा) त्र्युपांग (अधर दृश्य)

१. स्पर्शसूत्र; २. स्पर्शसूत्रक; ३. उदोष्ठ (लेब्रम); ४. जंभ (मैंडिबल)।

परजीवी अरित्रपाद—इसमें नर अधिकांश में मादा से बहुत छोटे होते हैं। वे या तो स्वतंत्र रूप से रहते हैं या मादा से चिपटे रहते हैं। उनके शरीर का आकार और रचना मादा के शरीर की रचना से उच्च स्तर की होती है। जीवनचक्र बहुत ही जटिल एवं मनोरंजक होता है। मुख्य परजीवी अरित्रपाद निम्नलिखित हैं :

(१) **अंकुशसूत्र** (अर्गासिलस)—यह पर्च मछली (मॉरोना लैब्राक्स) के गलफड़ों से चिपका रहता है। इसके उपांग बहुत छोटे होते हैं। स्पर्शसूत्र
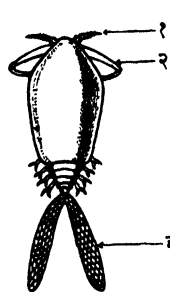
अंकुशसूत्र (अर्गासिलस)
१. स्पर्शसूत्रक; २. स्पर्शसूत्र, ३. अंडस्यून

विरूपा (निकोथी)
४. अंडस्यून

कृमिकाय
५. अंडस्यून

पालिकाय (ऐंथोसोमा)

पोषिता (होस्ट) को पकड़ने के लिये अंकुश (हुक) या काँटों में परिणत हो जाते हैं।

(२) **पालिकाय-प्रजाति** (ऐंथोसोमा)—यह शार्क मछलियो (लैम्ना कारनुबिका) के मुख में पाया जाता है। इसके शरीर का आकार अनेक अतिच्छादी पिडको के रहने से अन्य जातियो से बहुत भिन्न होता है।

(३) **विरूपा प्रजाति** (निकोथी)—यह बडे झीगे (लाब्स्टर) की जल-श्वसनिकाओ (गिल्स) में पाया जाता है। इसके स्पर्शसूत्र और मुखाग शोषण करनेवाले अगो में परिवर्तित हो जाते हैं। वक्ष (उरस) से बडे बडे पिडक निकलने के कारण इसका रूप बहुत भद्दा लगता है।

(४) **काष्ठिजीविप्रजाति** (काड्राकैथस)—यह अस्थिमत्स्य (बोनी फिश) की जलश्वसनिका में चिपटे हुए मिलते हैं। लबाई में नर मादा का बारहवाँ भाग होता है। इसका शरीर अखडित और चपटा होता है, जिससे बहुत से झुर्रीदार पिडक निकले रहते हैं। नर सदा मादा से जननेद्रिय के निकट चिपटा रहता है। इसका शरीर इतना भद्दा और कुरूप होता है कि यदि इसमें अडस्यून न होते तो इसे अरित्रपाद नही कहा जा सकता।
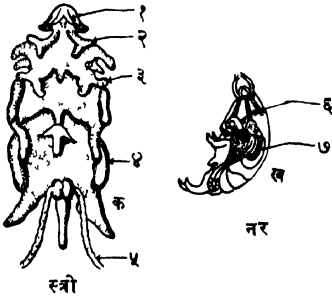
काष्ठिजीवी (कांड्राकैथस)

१ स्पर्शसूत्र द्वितीय, २ औरसपाद प्रथम, ३ औरसपाद द्वितीय, ५ अडस्यून, ६ मध्याक्ष, ७ वृषण

(५) **कृमिकाय प्रजाति** (लरनीआ)—यह कीडे के आकार का होता है। इसके शरीर के अगले सिरे पर पिडक होते हैं। उपजभ से यह पोषिता के चमडे को छेदकर उसके शरीर से रस चूसता है।

(६) **हूनशिर प्रजाति** (लेसटीरा)—यह जेनिप्टेरेस ब्लैकोड्स नामक मछली में पाया जाता है। मादा की लबाई अडस्यून को छोडकर ७० मिलीमीटर होती है। इसका सिर फूला हुआ होता है जो अपनी पोषिता मछली के चमडे और मासपेशियो के बीच में रहता है तथा बाकी धड पानी मे लटकता रहता है।

(७) **लंबकाय प्रजाति** (ट्रेकेलिऐस्टिज़)—यह अपने दूसरे उपजभ द्वारा पोषिता से चिपटा रहता है।
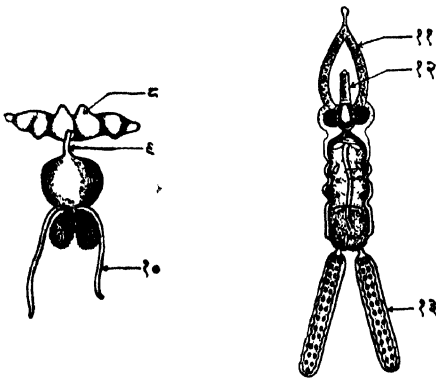
हूनशिर (लेसटीरा) ८ सिर, ९ ग्रीवा; १० अंडस्यून।

लंबकाय (ट्रेकेलिएस्टिज़) ११. उपजभ, १२ स्पर्शसूत्र, १३. अडस्यून

(८) **मांस्ट्रिला**—यह प्रायः पुरुरोमिणो (पॉलिकीटा) में रहते है। इनका जीवनचक्र बडा जटिल होता है। नर एव मादा तथा अडे से निकले हुए श्रूपाग चलते फिरते हैं। किंतु प्रौढ होने तक के बीच की अवस्थाओ में अपना आहार कई तरह से पुरुरोमिणो मे परजीवी रहकर स्पर्शसूत्र द्वारा प्राप्त करते है।

(९) **कैलिगस**—ये चलनशील बहिःपरजीवी (एक्टोपैरासाइट) मछली के जल-श्वसनिका-वेश्म (चेंबर) में रहते हैं। इनके शरीर की रचना बहुत भद्दी होती है, रस चूसने के लिये शोषणनलिकाएँ होती हैं।

(१०) **हर्पिल्लोबिग्रस**—ये परजीवी वलयी (ऐनेलिड्स) में पाए जाते हैं। मादा एक थैली की तरह होती है, जो पोषिता के शरीर से मूलको (रूटलेट्स) द्वारा आहार खींचती है। नर भी छोटी थैली के आकार के होते हैं। [रा० च० स०]

अरियाद्ने

अरियाद्ने यूनान की पौराणिक कथाओ मे क्रीत के राजा मिनोस् एव सूर्य की पुत्री पासीफाए की कन्या। जब थेसियस् और उसके साथी वार्षिक बलि के रूप मे क्रीत पहुँचे और नगर में उनकी यात्रा निकली तब राजकन्या अरियाद्ने थेसियस् के रूप पर मुग्ध हो गई। उसने भूलभुलइयो मे रहनेवाले मिनोतौर (मिनोस् के नर+वृषभ) को मारने और वहाँ से डोरी के सहारे निकल आने मे थेसियस् को सहायता की। इसके उपरात वह थेसियस् के साथ भाग आई। एथेस् लौटते समय थेसियस् ने या तो नाक्सौस् द्वीप मे उसकी हत्या कर दी, अथवा उसका परित्याग कर दिया। इसके उपरात दियोनीसस् ने उसके साथ विवाह किया और उसके अनेक पुत्र उत्पन्न हुए। कुछ आलोचक इसकी कथा को शीतकाल की (सुप्त या मृत) और वसत काल की (जाग्रत्) प्रकृति का रूपक मानते है। अरियाद्ने (अथवा अरियाग्ने) का अर्थ "अत्यत पूज्य" है।

सं०ग्रं०—रोज़ हैंड्बुक् ऑव ग्रीक माइथॉलॉजी, एडिथ् हैमिल्टन् माइथॉलाजी, १९५४, रॉबर्ट् ग्रेव्ज़् दि ग्रीक मिथ्स् १९५५।

[भो० ना० श०]

अरिष्टनेमि

अरिष्टनेमि १ यह एक बडा प्रतापी दैत्य था जिसने बैल का रूप धारण कर कृष्ण का सामना किया था। यह बलि का पुत्र था। २ इक्ष्वाकुवशी निमि (मिथिला-शाखा) की वशपरपरा में एक राजा अरिष्टनेमि का नाम आता है। यह राजा सूर्यवशी था।

[च० म०]

अरिस्तोफ़ानिज़

अरिस्तोफ़ानिज़ (ल० ई० पू० ४५० से ई० पू० ३८५) यूनानी प्रहसनकार। इसके पिता का नाम फिलिप्पस् और माता का जेनोदोरा था तथा इसकी कुछ स्थावर सपत्ति इगिना मे भी थी, जिसके कारण इसके मूल एथेस निवासी होने मे सदेह किया गया है। अरिस्तोफानिज ने १८ वर्ष की आयु से ही नाटकरचना आरभ कर दी थी। आरभिक नाटको में उसने अपना नाम नही दिया था। कहते हैं, इसने ५४ नाटक लिखे थे जिनमें से इस समय केवल ११ मिलते हैं। लगभग मार्च मास में दियोनीसस् की रगस्थली मे एथेस में जो नाटच प्रतियोगिताएँ हुआ करती थी उनमे अरिस्तोफानिज़ को ४ प्रथम, ३ द्वितीय तथा १ तृतीय पुरस्कार भिन्न भिन्न अवसरो पर प्राप्त हुए थे। अपने प्रहसनो में अरिस्तोफानिज़ ने एथेस के बडे से बडे नेताओ की हँसी उडाई है अतएव उसको एक नेता क्लिओन् का कोपभाजन भी बनना पडा, पर अपने स्वतत्र स्वभाव को उसने नही छोडा। सुकरात और यूरीपीदिस् जैसे दार्शनिको और नाटककारो को भी उसके परिहास का पात्र बनना पडा, तथापि उसके चित्त मे किसी प्रकार की दुर्भावना नही थी। इसी कारण सुकरात का अनन्य भक्त अफलातून (प्लातोन्) अरिस्तोफानिज़ से प्रेम करता था।

यूनान के प्रहसनात्मक नाटको का इतिहास तीन युगो मे विभक्त है जो प्राचीन प्रहसन, मध्य प्रहसन और नवीन प्रहसन के युग कहलाते हैं। प्राचीन प्रहसन युग और मध्य प्रहसन युग के प्रहसनो मे से केवल अरिस्तोफानिज़ के प्रहसन ही आजकल मिलते हैं। उसके आजकल मिलनेवाले नाटको के नाम और परिचय निम्नलिखित हैं। अकानस् (ई० पू० ४२५ में प्रस्तुत) जिसमें एथेंस के युद्धसमर्थक दल और सेनानायको का परिहास किया गया था। इसपर प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था। हिप्पेस् (शूर सामत) की

रचना लगभग ४२४ ई० पू० में हुई और इसमें कवि ने क्लिओन तथा उस समय के जनतंत्र पर कटु आक्रमण किया। इसपर लेखक को प्रथम पुरस्कार और क्लिओन् का कोप प्राप्त हुआ। नैफ़ैलाइ (मेघ) का समय ई० पू० ४२३ है। इसमें सुकरात की हँसी उड़ाई गई है। इसपर कवि को तृतीय पुरस्कार मिला था। स्फ़ेकैस् (बर्रे) लगभग ई० पू० ४२२, में दो पीढ़ियों के विचारभेद और न्यायालयों को परिहास का विषय बनाया गया है। एक दृश्य में दो कुत्तों को जूरी महोदय के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। आईरीना (शांति) ई० पू० ४२१ में प्रस्तुत किया गया था। इसमें युद्ध से व्यथित एक कृषक गुबरैले पर सवार होकर शांति की खोज में ओलिंपस् की यात्रा करता है। इसपर कवि को द्वितीय पुरस्कार प्राप्त हुआ। ओर्‌नीथैस् (चिड़ियाँ) का अभिनय ई० पू० ४१४ में हुआ था। इसमें दो महत्वाकांक्षी व्यक्ति चिड़ियों द्वारा अपने लिये आकाश में एक साम्राज्य-स्थापन का प्रयत्न करते हैं। इस सुंदर कल्पना पर कवि को द्वितीय पुरस्कार मिला था। लीसिस्त्राता का समय ई० पू० ४११ है। पैलोपोनीशिय युद्ध कुछ समय के लिये रुककर पुनः भड़क उठा था। अरिस्तोफ़ानिज़ इस युद्ध का विरोधी था। इस नाटक में स्त्रियों के द्वारा अपने पतियों को रत्यधिकार से वंचित करके शांति प्राप्त करने का वर्णन किया गया है। इसमें कवि के राजनीतिक विचारों की झलक मिलती है। थैस्मोफोरियाज़ूसाई ई० पू० ४११ में प्रस्तुत किया गया था। इसमें महाकवि यूरीपीदिज़ को प्रहसन का लक्ष्य बनाया गया है। बात्रकोई (मांडूक) ई० पू० ४०५ में प्रस्तुत किया गया था। यह प्रहसन के रूप में इस्किलस् और यूरीपीदिज़ की आलोचना है और अरिस्तोफ़ानिज़ की श्रेष्ठ रचना है। इसपर प्रथम पुरस्कार मिलना ही था। ऐक्लेसियाज़ूसाइ (ई० पू० ३९१) संभवतया अंतिस्थैनेस् अथवा अफ़लातून के साम्यवाद (विशेषकर स्त्री-पुरुषों की समानता के पोषक साम्यवाद) की आलोचना है। अपेक्षाकृत यह एक शिथिल प्रहसन है। अंतिम उपलब्ध रचना प्लूतस् का समय ई० पू० ३८८ है। इसमें परंपरा के प्रतिकूल धन के देवता को नेत्रवान् बनाया गया है जो सब सज्जनों को धनवान् बना देता है।

अरिस्तोफ़ानिज़ का प्रहसन किसी को नहीं छोड़ता। उसकी भाषा नितांत उच्छृंखल है। नग्न अश्लीलता की भी उसकी रचनाओं में कमी नहीं है। पर गीतों में कोमलता और माधुर्य भी पर्याप्त है। जिस प्रकार के प्रहसन उसने लिखे हैं उसके पूर्व और पश्चात् दूसरा कोई वैसे प्रहसन नहीं लिख सका।

सं० ग्रं०—ओट्स एंड नील : दि कंप्लीट ग्रीक ड्रामा २ जिल्द, रैंडम हाउस, न्यूयॉर्क, १९३८; मरे : ए हिस्ट्री ऑव एन्शेंट ग्रीक लिटरेचर १९३७; नौर्वुड-राइटर्स ऑव ग्रीस, १९३५; बाउरा : एन्शेंट ग्रीक लिटरेचर, १९४५। [भो० ना० श०]

अरिस्तोफ़ानिज़

(बीज़ांतियम् का) ई० पू० १९५ के आसपास सिकंदरिया के सुविख्यात पुस्तकालय का प्रधान अध्यक्ष। इस प्रकांड विद्वान् ने प्रायः सभी प्रमुख ग्रीक कवियों, नाटककारों और दार्शनिकों के ग्रंथों का संपादन किया था। कोशकार एवं वैयाकरण के रूप में भी इसकी विशेष ख्याति है। कुछ लोगों के मत में इसने ग्रीक भाषा के स्वरों (ऐक्सेंट्स) का आविष्कार किया था पर अन्य लोगों के मत में यह केवल उनका सुव्यवस्थापक था। प्राणिशास्त्र पर भी इसने एक पुस्तक लिखी थी। इसका जीवनकाल ई० पू० २५७ से १८० तक माना जाता है।

सं०ग्रं०—जे० ई० सैंडीज़ : ए हिस्ट्री ऑव क्लासिकल स्कॉलरशिप, ३ जिल्द, १९०८। [भो०ना०श०]

अरीठा

यह वृक्ष लगभग सारे भारतवर्ष में पाया जाता है। इसके पत्ते गूलर के पत्तों से बड़े, छाल भूरी तथा फल गुच्छों में होते हैं। इसकी दो जातियाँ हैं। प्रथम जाति के वृक्ष के फलों को पानी में भिगोने और मथने से फेन उत्पन्न होता है और इससे सूती, ऊनी तथा रेशमी सब प्रकार के कपड़े तथा बाल धोए जा सकते हैं। आयुर्वेद के मत से यह फल त्रिदोषनाशक, गरम, भारी, गर्भपातक, वमनकारक, गर्भाशय को निश्चेष्ट करनेवाला तथा अनेक विषों का प्रभाव नष्ट करनेवाला है। संभवतः वमनकारक होने के कारण ही यह विषनाशक भी है। वमन के लिये इसकी मात्रा २ से ४ माशे तक बताई जाती है। फल के चूर्ण के गाढ़े घोल की बूँदों को नाक में डालने से अर्धकपारी, मिर्गी और वातोन्माद में लाभ होना बताया गया है।

दूसरे प्रकार के वृक्ष से प्राप्त बीजों से तेल निकाला जाता है, जो ओषधि के काम आता है। इस वृक्ष से गोंद भी मिलता है। [भ० दा० व०]

अरुंधती

सप्तर्षिमंडल के साथ वसिष्ठपत्नी अरुंधती का नाम संलग्न है। यह छोटा सा नक्षत्र जिसे पाश्चात्य ज्योतिर्विद 'मॉर्निंग स्टार' अथवा 'नॉर्दर्न क्राउन' कहते हैं, पातिव्रत का प्रतीक माना जाता है। विल्सन प्रभृति पाश्चात्य कोशकारों की यह धारणा कि अरुंधती शायद सप्तर्षियों की पत्नी थीं सभी, भ्रामक है। [चं० म०]

अरुण

पूर्वाकाश की प्रातःकालीन ललाई अथवा बालसूर्य। विशेषतः सूर्य का सारथि अरुण जो अथक रूप से सूर्य के रथ का संचालन करता है। पुराणों के अनुसार अरुण के कटिभाग के नीचे का शरीर नहीं था, जिससे वह सूर्य की मूर्तियों में सदा कटिभाग तक ही उत्कीर्ण होता है। उसकी सूर्यमंदिरों में अथवा विष्णुमंदिरों की चौखट पर घोड़ों की रास पकड़े रथ का संचालन करती हुई मूर्ति मध्यकालीन कला में बहुधा कोरी गई थी। [ओं० ना० उ०]

अरुपुक़ोट्टै

मद्रास राज्य में रामनाथपुरम् (रामनद) जिले के इसी नाम के तालुके का प्रमुख नगर है (स्थिति : ९°३१' उ० अक्षांश, ७८°६' पूर्वी देशांतर)। यह जिले के प्रमुख, उन्नतिशील, व्यावसायिक एवं व्यापारिक केंद्रों में से एक है। यहाँ के निवासियों में सेदान नामक जाति के जुलाहे एवं शानान नामक व्यापारिक लोग प्रमुख हैं। सूती कपड़ा बुनने एवं रँगने का धंधा यहाँ प्रमुख है, जिसका तैयार माल कोलंबो, सिंगापुर एवं पेनांग को निर्यात होता है। १९०१ ई० में इसकी जनसंख्या २३,६३३ थी, जो सन् १८८१ की जनसंख्या की तुलना में दूनी थी। पिछले दशक में जनसंख्या ३५,००१ से बढ़कर ४८,५५४ हो गई। इस नगर को, निकटतम रेलवे स्टेशन विरुद्वनगर से १३ मील दूर होने के कारण, यातायात की कठिनाई थी, लेकिन अब पक्की सड़कों द्वारा चतुर्दिक् संबंध स्थापित हो गया है। [का० ना० सिं०]

अरोड़ा

एक जाति का नाम जो अपने को अरोड़े या अरोड़वंशी भी कहते हैं। इस जाति में प्रचलित अनुश्रुति के अनुसार इसका मूलस्थान उत्तरी सिंध के अरोड़ नामक स्थान में था। उसका प्राचीन नाम अरूटकोट भी कहा जाता है। अरोड़ को जब ७१२ ई० में मुहम्मद बिन कासिम ने लूटा और राजा दाहर को, जो अरोड़वंशी थे, नष्ट कर दिया तो अरोड़ जाति सिंध को छोड़कर पंजाब की ओर फैल गई और अधिकांश लोग पंजाब के सिंध, झेलम, चनाब और रावी तट के शहरों में बस गए। तब से ये अपने तीन भेद मानते हैं। जो उत्तर की ओर आए वे उतराधी, जो दक्षिण दिशा की ओर गए वे दक्षिने और जो पश्चिम दिशा में ही बसे वे दाहरे कहलाने लगे। इनमें से प्रत्येक उपजाति में एक जैसे अल्ल या अवटंक पाए जाते हैं। इन दिशावाची भेदों के अतिरिक्त स्थानिक भेद भी उत्पन्न हो गए जैसे लाहौरी, मुलतानी, पोठोहारी, जोधपुरी, नागौरी, राजपूतानी आदि। कहा जाता है कि १००० ई० के ल० पंजाब पर भी मुसलमानी अधिकार हो जाने के बाद ये फिर उजड़कर कई दिशाओं में चले गए और फलस्वरूप कच्छी, गुजराती, काठी, लोहाने आदि भेद अरोड़ों में उत्पन्न हो गए। ये अपना गोत्र काश्यप या कश्यप मानते हैं।

अरोड़ों में अनेक प्रकार के 'अल्ल' या जातीय उपनाम प्रचलित हैं जो पारिवारिक नाम, पैतृक नाम अथवा व्यापार, पेशों और पदों के अनुसार उत्पन्न हुए। अहूजे, मनूचे, कालड़े, चोपे, बलूजे, बत्तरे, बवेजे आदि कुछ अल्लों के नाम हैं। इस प्रकार के लगभग ८०० अल्लों की सूची इनके इतिहास में संगृहीत है। ऐतिहासिक दृष्टि से इनमें से बहुत से नाम पंजाब की प्राचीन जातियों और उपजातियों से आए हैं जिन्हें प्राचीन काल में क्षत्रिय श्रेणि कहते थे। ये एक प्रकार के छोटे छोटे स्वायत्त संघ राज्य थे, जिनमें से अनेक

नामों का उल्लेख पाणिनि की ग्रामसूचियों में हुआ है, जैसे वालिज्यक (४।२।५४) से बलूजे और चौपयत (४।२।५४) से चोपे। कुछ ऐतिहासिकों का मत है कि पंजाब की पाँच नदियों के बीच के वाहीक प्रदेश का प्राचीन नाम आरट्ट था जिसका उल्लेख महाभारत (कर्णपर्व) में मिलता है (आरट्टा नाम वाहीका वर्जनीया विपश्चिता, कर्णपर्व ३०।४०)। इन्हें वाहीक निवासी होने के कारण नष्टधर्म और विकुत्सित कहा गया है। वस्तुतः देश की अपेक्षा आरट्ट जाति का नाम अधिक था जो प्राचीन सिंधु जनपद (वर्तमान सिंध सागर दोआब) से लेकर मुलतान और अरोर या रोरी सक्खर तक फैली हुई थी। पंजाब में जब वाह्लीक के यवनों का शासन हुआ तो उस प्रदेश के निवासियों के आचार व्यवहार को कुत्सित माना जाने लगा। मूलतः यही समीचीन विदित होता है कि पंजाब की अन्य जातियों के समान अरोड़े भी प्राचीन क्षत्रिय जातियों में से थे, जिनमें अनेक संघराज्यों के रूप में संगठित थे। राजस्थान की ओर फैले हुए अरोड़े भी पंजाब से ही छिटपुट हुए।

सं०ग्रं०—डा० हरनाम सिंह भोंगा : अरोड़वंश जातीय इतिहास, १९३८ ई०। [वा० श० अ०]

अर्गट एक दवा है जिससे अनैच्छिक मांसपेशियों में संकोच होता है और इसलिये प्रसव के बाद असामान्य रक्तस्राव रोकने के लिये स्त्रियों को दिया जाता है। अधिक मात्रा मे खाने पर यह तीव्र विष का गुण दिखाता है। नीवारिका (अंग्रेजी में राई) नाम के निकृष्ट अन्न में बहुधा एक विशेष प्रकार की फफूंदी (भुकड़ी) लग जाती है जिससे वह अन्न विषाक्त हो जाता है। इसी फफूंदी (लैटिन नाम क्लैवीसेप्स परप्यूरिया) से अर्गट निकाला जाता है।

जीर्ण विषाक्तता (क्रोनिक पॉयज़निंग) पहले अकसर हुआ करती थी, जो पूर्वोक्त फफूंदी लगी नीवारिका खाने से होती थी; अब भी यह रोग यदाकदा हो जाता है। ऐसी विषाक्तता में या तो मांसपेशियों के संकोच से शरीर के विविध अंगों में रक्त पहुँचना बंद हो जाता है, जिससे उन अंगों में कोथ (गैंग्रीन) उत्पन्न हो जाता है या हाथ पैर में खुजली, झुनझुनी, चुनचुनाहट तथा चेतनाहीनता, दृष्टिनाश, बहरापन, मानसिक अक्रियता, दुर्बलता तथा कंपन उत्पन्न होता है और अंत में श्वसन अंगों के बेकाम हो जाने से मृत्यु हो जाया करती है। [भ० दा० व०]

अर्जुन महाभारत के वीर। उस परंपरा के अनुसार महाराज पांडु की ज्येष्ठ पत्नी, और वासुदेव कृष्ण की बूआ कुंती के, इंद्र से उत्पन्न तृतीय पुत्र अर्जुन थे। कुंती का दूसरा नाम 'पृथा' था जिससे ये 'पार्थ' के नाम से भी अभिहित किए जाते थे। पांडु के पाँचों पुत्रों में अर्जुन के समान धनुर्धारी तथा वीर दूसरा नहीं था। ये अपना गांडीव धनुष बाएँ हाथ से भी चलाया करते थे, इससे इनका नाम 'सव्यसाची' भी पड़ गया। द्रोणाचार्य अस्त्रविद्या में इनके प्रख्यात आचार्य थे जिनसे धनुर्विद्या सीखकर इन्होंने महाभारत में वर्णित द्रौपदीस्वयंवर के समय अपना अद्भुत शस्त्रकौशल दिखलाया और द्रौपदी को जीता। महाभारत में उनके द्वारा भारत के उत्तरीय प्रदेशों की दिग्विजय तथा अतुल संपत्ति की प्राप्ति का वर्णन है। इसीसे संभवतः इनका नाम 'धनंजय' प्रसिद्ध हुआ। शकुनि के द्वारा कूटद्यूत में पराजित होने पर अपने भाइयों के साथ इन्होंने भी द्वैतवन में वास किया और एक साल का अज्ञातवास विराटनगर में बिताया। विराटनगर में बृहन्नला नाम से उन्होंने राजकुमारी उत्तरा को नृत्यकला की शिक्षा दी। अस्त्रविद्या के साथ ललित कला का ज्ञान इनके व्यापक व्यक्तित्व का परिचायक है। कृष्ण की बहिन सुभद्रा का इन्होंने हरण कर उससे विवाह किया जिससे इन्हें 'अभिमन्यु' नामक वीर पुत्र उत्पन्न हुआ।

महाभारत युद्ध के आरंभ में कुरुक्षेत्र के मैदान में एकत्र हुए अपने सगे-संबंधियों को देखकर इन्हें युद्ध से विरक्ति हो गई थी और तब वासुदेव कृष्ण ने 'श्रीमद्भगवद्गीता' का उपदेश देकर इनका व्यामोह दूर किया था। अंग देश का राजा तथा दुर्योधन का परम सुहृद् पराक्रमी कर्ण इनका प्रधान प्रतिद्वंद्वी था जिसे मारकर इन्होंने विजय प्राप्त की। भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य आदि प्रख्यात वीरों के ऊपर विजय पाना अर्जुन की असाधारण वीरता, अदम्य उत्साह तथा विलक्षण अस्त्रचातुर्य का परिचायक था। ये श्रीकृष्ण के घनिष्ठ सखा तथा संबंधी थे। उनके स्वर्गवासी होने पर भी ये जीवित थे तथा यादवों की स्त्रियों को जब ये द्वारिका पहुँचा रहे थे, तब आभीरों ने रास्ते में ही इन्हें लूट लिया (भागवत, प्रथम स्कंध, ५ अ०)। महाभारत युद्ध के अनंतर अपने पौत्र परीक्षित को राज्य सौंप अपने भाइयों के साथ ये हिमालय में गलने के लिये चले गए। [ब० उ०]

अर्जुन एक वृक्ष है जिसका नाम संस्कृत तथा बँगला में भी यही है। संस्कृत में अर्जुन शब्द का अर्थ श्वेत है।

इसके वृक्ष जंगलों में ६० से ८० फुट तक ऊँचे, नदियों के किनारे, दक्षिण भारत से अवध तक तथा ब्रह्म देश और लंका में भी पाए जाते हैं। इसके पत्ते ५ अंगुल तक चौड़े और एक बित्ता तक लंबे होते हैं तथा इनके पीछे दो गाँठें सी होती हैं। इन पत्तों को टसर के कीडों को खिलाया जाता है। फूल बहुत छोटे और हरी झाँई लिए श्वेत होते हैं। इसका गोंद श्वेत होता है और खाने तथा ओषधि के काम आता है। परंतु इसकी छाल ही विशेष गुणकारी कही गई है।

छाल में लगभग १५ प्रति शत टैनिन होता है। आयुर्वेदिक चिकित्सा में इसके क्वाथ से नासूर तथा जला हुआ स्थान धोने का और हृदयरोग में दूध के साथ पिलाने का विधान है। छाल का चूर्ण दूध और राब के साथ अस्थिभंग में और चोट से विस्तृत नील पड़ जाने पर खिलाया जाता है।

आयुर्वेद में अर्जुन को कसैला, गरम, कफनाशक, व्रणशोधक, पित्त, श्रम और तृषा निवारक तथा मूत्रकृच्छ्र रोग में हितकारी कहा गया है। प्रायः सब आयुर्वेदशास्त्रियों ने इसे हृदयरोग में लाभकारी माना है।

अर्जुन की लकड़ी से नाव, गाड़ी, खेती के औजार, इत्यादि बनते हैं, और छाल रँगने के काम में आती है। [भ० दा० व०]

अर्थक्रिया वह क्रिया जिसके द्वारा किसी प्रयोजन (अर्थ) की सिद्धि हो। माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में बौद्धदर्शन के प्रसंग में अर्थक्रिया के सिद्धांत का विस्तृत विवेचन किया है। बौद्धों का मान्य सिद्धांत है—अर्थक्रियाकारित्वं सत्वम् अर्थात् वही पदार्थ या द्रव्य सत्व कहा जा सकता है जो हमारे किसी प्रयोजन की सिद्धि करता है। घट को हम पदार्थ इसीलिये कहते हैं कि उसके द्वारा पानी लाने का हमारा तात्पर्य सिद्ध होता है। उस प्रयोजन के सिद्ध होते ही वह द्रव्य नष्ट हो जाता है। इसलिये बौद्ध लोग क्षणिकवाद को अर्थात् 'सब पदार्थ क्षणिक हैं' इस सिद्धांत को प्रामाणिक मानते हैं। इसके लिये उन्होंने बड़ी युक्तियाँ दी हैं (सर्वदर्शनसंग्रह का पूर्वनिर्दिष्ट प्रसंग)। न्याय भी इसके रूप को मानता है। प्रामाण्यवाद के अवसर पर इसकी चर्चा न्यायग्रंथों में है। न्यायमत में प्रामाण्य 'परतः' माना जाता है और इसके लिये अर्थक्रिया का सिद्धांत प्रधान हेतु स्वीकार किया गया है। घड़ा पानी को लाकर हमारी प्यास बुझाने में समर्थ होता है, इसलिये वह निश्चित रूप से घड़ा ही सिद्ध होता है। परंतु न्यायमत में इस सिद्धांत के मानने पर भी क्षणिकवाद की सिद्धि नहीं होती। [ब० उ०]

अर्थवाद भारतीय पूर्वमीमांसा दर्शन का विशेष परिभाषिक शब्द, जिसका अर्थ है प्रशंसा, स्तुति अथवा किसी कार्यात्मक उद्देश्य को सिद्ध कराने के लिये इधर उधर की बातें जो कार्य संपन्न करने में प्रेरक हों। पूर्वमीमांसा दर्शन में वेदों के—जिनको वह अपौरुषेय, अनादि और नित्य मानता है—सभी वाक्यों का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है, और समस्त वेदवाक्यों का मुख्य प्रयोजन मनुष्य को यज्ञादि धार्मिक क्रियाओं में प्रवृत्त कराना माना है। क्रिया-विधानात्मक-वाक्यों के अतिरिक्त वेदों में और जो वाक्य वर्णनात्मक रूप से मिलते हैं उनको मीमांसा ने क्रिया में प्रवृत्त कराने का साधन मात्र माना है, किसी विशेष,वास्तविक वस्तु का वर्णन नहीं माना। विधि, निषध, मंत्र, नामधेय—क्रियात्मक वाक्यों—को छोड़कर और सब वाक्य अर्थवाद के अंतर्गत हैं। यज्ञ से, जो वेदों का मुख्य विधान है, उनका केवल इतना ही संबंध है कि वे बच्चों की लिखी हुई सत्या-

सत्यनिरपेक्ष कहानियों की नाईं, मनुष्यों को यज्ञ करने की प्रेरणा करते हैं तथा न करने से हानि का संकेत करते हैं। समस्त अर्थवादात्मक वाक्य तीन प्रकार के हैं: (१) गुणवाद, जिसमें मनुष्यों के साधारण ज्ञान के विरुद्ध वस्तुओं के गुणों का वर्णन मिलता है; (२) भूतार्थवाद, जिसमें वे वाक्य आते हैं जो मनुष्यों को ऐसी बातें बतलाते हैं जिनका ज्ञान वेदवाक्यों के अतिरिक्त और किसी प्रमाण द्वारा नहीं हो सकता; (३) अनुवाद, वे वाक्य जिनमें उन वाक्यों का वर्णन है जिनका ज्ञान मनुष्यों को पहले से है। मीमांसकों के अनुसार वेदवाङमय में आए हुए ब्रह्म, ईश्वर, जीव, देवता, लोक और परलोक आदि संबंधी सभी वर्णन अर्थवाद मात्र हैं। उनका उद्देश्य हमको इन वस्तुओं का ज्ञान देना नहीं है, केवल क्रिया (यज्ञ) में प्रवृत्त कराना है। इस सिद्धांत का उत्तरमीमांसा (वेदांत) के आचार्यों ने, विशेषतः श्री शंकराचार्य ने, खंडन किया है। साधारण बोलचाल में अर्थवाद का अभिप्राय झूठी सच्ची बातें कहकर अपना मतलब सिद्ध करना हो गया है।

[भी० ला० आ०]

अर्थशास्त्र अर्थशास्त्र दो शब्दों से बना है, अर्थ और शास्त्र; इसलिये इसकी सबसे सरल परिभाषा यह है कि वह ऐसा शास्त्र है जिसमें मनुष्य के अर्थसंबंधी प्रयत्नों का विवेचन हो। किसी विषय के संबंध में मनुष्यों के कार्यों के क्रमबद्ध ज्ञान को उस विषय का शास्त्र कहते हैं, इसलिये अर्थशास्त्र में मनुष्यों के अर्थसंबंधी कार्यों का क्रमबद्ध ज्ञान होना आवश्यक है। अर्थशास्त्र में अर्थसंबंधी बातों की प्रधानता होना स्वाभाविक है। परंतु हमको यह न भूल जाना चाहिए कि ज्ञान का उद्देश्य अर्थ प्राप्त करना ही नहीं है, सत्य की खोज द्वारा विश्व के लिये कल्याण, सुख और शांति प्राप्त करना भी है। अर्थशास्त्र भी यह बतलाता है कि मनुष्यों के आर्थिक प्रयत्नों द्वारा विश्व में सुख और शांति कैसे प्राप्त हो सकती है। सब शास्त्रों के समान अर्थशास्त्र का उद्देश्य भी विश्वकल्याण है। अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण अंतर्राष्ट्रीय है, यद्यपि उसमें व्यक्तिगत और राष्ट्रीय हितों का भी विवेचन रहता है। यह संभव है कि इस शास्त्र का अध्ययन कर कुछ व्यक्ति या राष्ट्र धनवान् हो जायँ और अधिक धनवान् होने की चिंता में दूसरे व्यक्ति या राष्ट्रों का शोषण करने लगें, जिससे विश्व की शांति भंग हो जाय। परंतु उनके शोषण संबंधी ये सब कार्य अर्थशास्त्र के अनुरूप या उचित नहीं कहे जा सकते, क्योंकि अर्थशास्त्र तो उन्हीं कार्यों का समर्थन कर सकता है, जिनके द्वारा विश्वकल्याण की वृद्धि हो। इस विवेचन से स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र की सरल परिभाषा इस प्रकार होनी चाहिए—अर्थशास्त्र में मनुष्यों के अर्थसंबंधी सब कार्यों का क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है। उसका ध्येय विश्वकल्याण है और उसका दृष्टिकोण अंतर्राष्ट्रीय है।

भारत में अर्थशास्त्र—अर्थशास्त्र बहुत प्राचीन विद्या है। चार उपवेद अति प्राचीन काल में बनाए गए थे। इन चारों उपवेदों में अर्थवेद भी एक उपवेद माना जाता है। परंतु अब यह उपलब्ध नहीं है। विष्णुपुराण म भारत की प्राचीन तथा प्रधान अठारह विद्याओं में अर्थशास्त्र भी परिगणित है। इस समय बार्हस्पत्य तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र उपलब्ध हैं। अर्थशास्त्र के सर्वप्रथम आचार्य बृहस्पति थे। उनका अर्थशास्त्र सूत्रों के रूप में प्राप्त है, परंतु उसमें अर्थशास्त्र संबंधी सब बातों का समावेश नहीं है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र ही एक ऐसा ग्रंथ है जो अर्थशास्त्र के विषय पर उपलब्ध क्रमबद्ध ग्रंथ है, इसलिये इसका महत्व सबसे अधिक है। आचाय कौटिल्य चाणक्य के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। ये चंद्रगुप्त मौर्य (३२१-२९७ ई० पू०) के महामंत्री थे। इनका ग्रंथ 'अर्थशास्त्र' पंडितों की राय में प्रायः २३०० वर्ष पुराना है। आचार्य कौटिल्य के मतानुसार अर्थशास्त्र का क्षेत्र पृथ्वी को प्राप्त करने और उसकी रक्षा करने के उपायों का विचार करना है। उन्होंने अपने अर्थशास्त्र में ब्रह्मचर्य की दीक्षा से लेकर देशों की विजय करने की अनेक बातों का समावेश किया है। शहरों का बसाना, गुप्तचरों का प्रबंध, फौज की रचना, न्यायालयों की स्थापना, विवाह संबंधी नियम, दायभाग, शत्रुओं पर चढ़ाई के तरीके, किलाबंदी, संधियों के भेद, व्यूहरचना इत्यादि बातों का विस्ताररूप से विचार आचार्य कौटिल्य अपने ग्रंथ में करते हैं। प्रमाणतः इस ग्रंथ की कितनी ही बातें अर्थशास्त्र के आधुनिक काल में निर्दिष्ट क्षेत्र से बाहर की हैं। उसमें राजनीति, दंडनीति, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र इत्यादि विषयों पर भी विचार हुआ है।

पाश्चात्य अर्थशास्त्र—अर्थशास्त्र का वर्तमान रूप में विकास पाश्चात्य देशों में, विशेषकर इंग्लैंड में, हुआ। ऐडम स्मिथ वर्तमान अर्थशास्त्र के जन्मदाता माने जाते हैं। आपने 'राष्ट्रों की संपत्ति' (वेल्थ ऑव नेशन्स) नामक ग्रंथ लिखा। यह सन् १७७६ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होंने यह बतलाया है कि प्रत्येक देश के अर्थशास्त्र का उद्देश्य उस देश की संपत्ति और शक्ति बढ़ाना है। उनके बाद मालथस, रिकार्डो, मिल, जेवंस, कार्ल मार्क्स, सिजविक, मार्शल, वाकर, टासिग और राबिंस ने अर्थशास्त्र संबंधी विषयों पर सुंदर रचनाएँ कीं। परंतु अर्थशास्त्र को एक निश्चित रूप देने का श्रेय प्रोफेसर अलफ्रेड मार्शल को प्राप्त है, यद्यपि प्रोफेसर राबिंस का अभी भी प्रोफेसर मार्शल से अर्थशास्त्र के क्षत्र के संबंध में मतभेद है। पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों में अर्थशास्त्र के क्षेत्र के संबंध में तीन दल निश्चित रूप से दिखाई पड़ते हैं। पहला दल प्रोफेसर राबिंस का है जो अर्थशास्त्र को केवल विज्ञान मानकर यह स्वीकार नहीं करता कि अर्थशास्त्र में ऐसी बातों पर विचार किया जाय जिनके द्वारा आर्थिक सुधारों के लिये मार्गदर्शन हो। दूसरा दल प्रोफेसर मार्शल, प्रोफेसर पीगू इत्यादि का है, जो अर्थशास्त्र को विज्ञान मानते हुए भी यह स्वीकार करता है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का मुख्य विषय मनुष्य है और उसकी आर्थिक उन्नति के लिये जिन जिन बातों की आवश्यकता है, उन सबका विचार अर्थशास्त्र में किया जाना आवश्यक है। परंतु इस दल के अर्थशास्त्री राजनीति से अर्थशास्त्र को अलग रखना चाहते हैं। तीसरा दल कार्ल मार्क्स के समान समाजवादियों का है, जो मनुष्य के श्रम को ही उत्पत्ति का साधन मानता है और पूँजीपतियों तथा जमींदारों का नाश करके मजदूरों की उन्नति चाहता है। वह मजदूरों का राज भी चाहता है। तीनों दलों में अर्थशास्त्र के क्षेत्र के संबंध में बहुत मतभेद है। इसलिये इस प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक है :

अर्थशास्त्र का क्षेत्र—प्रो० राबिंस के अनुसार अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के उन कार्यों का अध्ययन करता है जो इच्छित वस्तु और उसके परिमित साधनों के रूप में उपस्थित होते हैं, जिनका उपयोग वैकल्पिक या कम से कम दो प्रकार से किया जाता है। अर्थशास्त्र की इस परिभाषा से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—(१) अर्थशास्त्र विज्ञान है; (२) अर्थशास्त्र में मनुष्य के कार्यों के संबंध में विचार होता है; (३) अर्थशास्त्र में उन्हीं कार्यों के संबंध में विचार होता है जिनमें—

(अ) इच्छित वस्तु प्राप्त करने के साधन परिमित रहते हैं और,

(ब) इन साधनों का उपयोग वैकल्पिक रूप से कम से कम दो प्रकार से किया जाता है।

मनुष्य अपनी इच्छाओं की तृप्ति से सुख का अनुभव करता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छाओं को तृप्त करना चाहता है। इच्छाओं की तृप्ति के लिये उसके पास जो साधन, द्रव्य इत्यादि हैं वे परिमित हैं। व्यक्ति कितना भी धनवान् क्यों न हो, उसके धन की मात्रा अवश्य परिमित रहती है; फिर वह इस परिमित साधन द्रव्य का उपयोग कई तरह से कर सकता है। इसलिये उपयुक्त परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र में मनुष्यों के उन सब कार्यों के संबंध में विचार किया जाता है जो वह परिमित साधनों द्वारा अपनी इच्छाओं को तृप्त करने के लिये करता है। इस प्रकार उसके उपभोग संबंधी सब कार्यों का विवेचन अर्थशास्त्र में किया जाना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य को बाजार में अनेक वस्तुएँ खरीदने की आवश्यकता रहती है और उसके पास खरीदने का साधन द्रव्य परिमित रहता है। इस परिमित साधन द्वारा वह अपनी आवश्यक वस्तुएँ किस प्रकार खरीदता है, वह कौनसी वस्तु किस दर से, किस परिमाण में, खरीद ताया बेचता है, अर्थात् वह विनिमय किस प्रकार करता है, इन सब बातों का विचार अर्थशास्त्र में किया जाता है। मनुष्य जब कोई वस्तु तैयार करता है, उसके तैयार करने के साधन परिमित रहते हैं और उन साधनों का उपयोग वह कई तरह से कर सकता है। इसलिये उत्पत्ति संबंधी सब कार्यों का विवेचन अर्थशास्त्र में होना स्वाभाविक है।

मनुष्य को अपने समय का उपयोग करने की अनेक इच्छाएँ होती हैं। परंतु समय हमेशा परिमित रहता है और उसका उपयोग कई तरह से किया जा सकता है। मान लीजिए, कोई मनुष्य सो रहा है, पूजा कर रहा है या कोई खेल खेल रहा है। प्रोफेसर राबिंस की परिभाषा के अनुसार इन कार्यों का विवेचन अर्थशास्त्र में होना चाहिए, क्योंकि जो समय सोने में,

पूजा में या खेल में लगाया गया है, वह अन्य किसी कार्य में लगाया जा सकता था। मनुष्य कोई भी काम करे, उसमें समय की आवश्यकता अवश्य पड़ती है और इस परिमित साधन समय के उपयोग का विवेचन अर्थशास्त्र में अवश्य होना चाहिए। प्रोफेसर राबिंस की अर्थशास्त्र की परिभाषा इतनी व्यापक है कि इसके अनुसार मनुष्य के प्रत्येक कार्य का विवेचन, चाहे वह धार्मिक, राजनीतिक या सामाजिक ही क्यों न हो, अर्थशास्त्र के अंदर आ जाता है। इस परिभाषा को मान लेने से अर्थशास्त्र, राजनीति, धर्मशास्त्र और समाजशास्त्र की सीमाओं का स्पष्टीकरण बराबर नहीं हो पाता है।

प्रोफेसर राबिंस के अनुयायियों का मत है कि परिमित साधनों के अनुसार मनुष्य के प्रत्येक कार्य का आर्थिक पहलू रहता है और इसी पहलू पर अर्थशास्त्र में विचार किया जाता है। वे कहते हैं कि यदि किसी कार्य का संबंध राज्य से हो तो उसका उस पहलू से विचार राजनीतिशास्त्र में किया जाय और यदि उस कार्य का संबंध धर्म से भी हो तो उस पहलू से उसका विचार धर्मशास्त्र में किया जाय।

मान लें, एक मनुष्य चोरबाजार द्वारा एक वस्तु को बहुत अधिक मूल्य में बेच रहा है। साधन परिमित होने के कारण वह जो कार्य कर रहा है और उसका प्रभाव वस्तु की उत्पत्ति या पूर्ति पर क्या पड़ रहा है, इसका विचार तो अर्थशास्त्र में होगा; चोरबाजार करनेवाले के संबंध में राज्य का क्या कर्तव्य है, इसका विचार राजनीतिशास्त्र या दंडनीति में होगा। यह कार्य अच्छा है या बुरा, इसका विचार समाजशास्त्र, आचारशास्त्र या धर्मशास्त्र में होगा। और, यह कैसे रोका जा सकता है, इसका विचार शायद किसी भी शास्त्र में न हो। किसी भी कार्य का केवल एक ही पहलू से विचार करना उसके उचित अध्ययन के लिये कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय है।

प्रोफेसर राबिंस की अर्थशास्त्र की परिभाषा की दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि वह अर्थशास्त्र को केवल विज्ञान ही मानता है। उसमें केवल ऐसे नियमों का विवेचन रहता है जो किसी समय में कार्य-कारण का संबंध बतलाते हैं। परिस्थितियों में किस प्रकार के परिवर्तन होने चाहिए और परिस्थितियों के बदलने के क्या तरीके हैं, इन गंभीर प्रश्नों पर उसमें विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये सब कार्य विज्ञान के बाहर हैं। मान लें, किसी समय किसी देश में शराब पीनेवाले व्यक्तियों की संख्या बढ़ रही है। प्रोफेसर राबिंस की परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र में केवल यही विचार किया जायगा कि शराब पीनेवालों की संख्या बढ़ने से शराब की कीमत, शराब पैदा करनेवालों और स्वयं शराबियों पर क्या असर पड़ेगा। परंतु उनके अर्थशास्त्र में इस प्रश्न पर विचार करने के लिये गुंजाइश नहीं है कि शराब पीना अच्छा है या बुरा और शराब पीने की आदत सरकार द्वारा कैसे बंद की जा सकती है। उनके अर्थशास्त्र म मागदशन का अभाव है। प्रत्येक शास्त्र में मार्गदर्शन उसका एक महत्वपूर्ण भाग माना जाता है और इसी भाग का प्रोफेसर राबिंस के अर्थशास्त्र की परिभाषा में अभाव है। इस कमी के कारण अर्थशास्त्र का अध्ययन जनता के लिये लाभकारी नहीं हो सकता।

समाजवादी चाहते हैं कि पूँजीपतियों और जमींदारों का अस्तित्व न रहने पाए, सरकार मजदूरों की हो और देश की आर्थिक दशा पर सरकार का पूर्ण नियंत्रण हो। वे अपनी अथशास्त्र संबंधी पुस्तकों म इन प्रश्नों पर भी विचार करते हैं कि मजदूर सरकार किस प्रकार स्थापित होनी चाहिए। जमींदारों और पूँजीपतियों का अस्तित्व कैसे मिटाया जाय। मजदूर सरकार का संगठन किस प्रकार का हो और उनका संगठन संसार-व्यापी किस प्रकार किया जा सकता है। इस प्रकार समाजवादी लेखक अर्थशास्त्र का क्षेत्र इतना व्यापक बना देते हैं कि उसमें राजनीतिशास्त्र की बहुत सी बातें आ जाती हैं। हमको अर्थशास्त्र का क्षेत्र इस प्रकार निर्धारित करना चाहिए जिससे उसमें राजनीतिशास्त्र या अन्य किसी शास्त्र की बातों का समावेश न होने पाए।

अर्थशास्त्र के क्षेत्र के संबंध में प्रोफेसर मार्शल की अर्थशास्त्र की परिभाषा पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। प्रोफेसर मार्शल के मतानुसार अर्थशास्त्र मनुष्य के जीवन संबंधी साधारण कार्यों का अध्ययन करता है। वह मनुष्यों के ऐसे व्यक्तिगत और सामाजिक कार्यों की जाँच करता है जिनका घनिष्ठ संबंध उनके कल्याण के निमित्त भौतिक साधन प्राप्त करने और उनका उपयोग करने से रहता है।

प्रोफेसर मार्शल ने मनुष्य के कल्याण को अर्थशास्त्र की परिभाषा में स्थान देकर अर्थशास्त्र के क्षेत्र को कुछ बढ़ा दिया है। परंतु इस अर्थशास्त्री ने भी अर्थशास्त्र के ध्येय के संबंध में अपनी पुस्तक में कुछ विचार नहीं किया। वर्तमान काल में पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र का क्षेत्र तो बढ़ा दिया है, परंतु आज भी वे अर्थशास्त्र के ध्येय के संबंध में विचार करना अर्थशास्त्र के क्षेत्र के अंदर स्वीकार नहीं करते। अब तो अर्थशास्त्र को कला का रूप दिया जा रहा है। संसार में सर्वत्र आर्थिक योजनाओं की चर्चा है। आर्थिक योजना तैयार करना एक कला है। बिना ध्येय के कोई योजना तैयार ही नहीं की जा सकती। अर्थशास्त्र का कोई भी सर्वसफल निश्चित ध्येय न होने के कारण इन योजना तयार करनेवालों का भी कोई एक ध्येय नहीं है। प्रत्येक योजना का एक अलग ही ध्येय मान लिया जाता है। अर्थशास्त्र में अब देशवासियों की दशा सुधारने के तरीकों पर भी विचार किया जाता है, परंतु इस दशा सुधारने का अंतिम लक्ष्य अभी तक निश्चित नहीं हो पाया है। सर्वमान्य ध्येय के अभाव में अर्थशास्त्रियों में मतभिन्नता इतनी बढ़ गई है कि किसी विषय पर दो अर्थशास्त्रियों का एक मत कठिनता से हो पाता है। इस मतभिन्नता के कारण अर्थशास्त्र के अध्ययन में एक बड़ी बाधा उपस्थित हो गई है। इस बाधा को दूर करने के लिये पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों को अपने ग्रंथों में अर्थशास्त्र के ध्येय के संबंध में गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए और जहाँ तक संभव हो, अर्थशास्त्र का एक सर्वमान्य ध्येय शीघ्र निश्चित कर लेना चाहिए।

अर्थशास्त्र का ध्येय—संसार में प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक सुखी होना और दुःख से बचना चाहता है। वह जानता है कि अपनी इच्छा जब तृप्त होती है तब सुख प्राप्त होता है और जब इच्छा की पूर्ति नहीं होती तब दुःख का अनुभव होता है। धन द्वारा इच्छित वस्तु प्राप्त करने में सहायता मिलती है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति धन प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। वह समझता है कि संसार में धन द्वारा ही सुख की प्राप्ति होती है। अधिक से अधिक सुख प्राप्त करने के लिये वह अधिक से अधिक धन प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस धन को प्राप्त करने की चिंता में वह प्रायः यह विचार नहीं करता कि धन किस प्रकार से प्राप्त हो रहा है। इसका परिणाम यह होता है कि धन ऐसे साधनों द्वारा भी प्राप्त किया जाता है जिनसे दूसरों का शोषण होता है, दूसरों को दुःख पहुँचता है। इस प्रकार धन प्राप्त करने के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। पूँजीपति अधिक धन प्राप्त करने की चिंता में अपने मजदूरों को उचित मजदूरी नहीं देता। इससे मजदूरों की दशा बिगड़ने लगती है। दूकानदार खाद्य पदार्थों में मिलावट करके अपने ग्राहकों के स्वास्थ्य को नष्ट करता है। चोरबाजारी द्वारा अनेक सरल व्यक्ति ठगे जाते हैं, महाजन कर्जदारों से अत्यधिक सूद लेकर और जमींदार किसानों से अत्यधिक लगान लेकर असंख्य व्यक्तियों के परिवारों को बरबाद कर देते हैं। प्रकृति का यह अटल नियम है कि जो जैसा बोता है उसको वैसा ही काटना पड़ता है। दूसरों का शोषण कर या दुःख पहुँचाकर धन प्राप्त करनेवाले इस नियम को शायद भूल जाते हैं। जो धन दूसरों को दुःख पहुँचाकर प्राप्त होता है उससे अंत में दुःख ही मिलता है। उससे सुख की आशा करना व्यर्थ है। यह सत्य है कि दूसरों को दुःख पहुँचाकर जो धन प्राप्त किया जाता है उससे इच्छित वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं और इन वस्तुओं को प्राप्त करने से सुख मिल सकता है। परंतु यह सुख अस्थायी है और अंत में दुःख का कारण हो जाता है। संसार में ऐसी कई वस्तुएँ हैं जिनका उपयोग करने से तत्काल तो सुख मिलता है, परंतु दीर्घकाल में उनसे दुःख की प्राप्ति होती है। उदाहरणार्थ मादक वस्तुओं के सेवन से तत्काल तो सुख मिलता है, परंतु जब उनकी आदत पड़ जाती है तब उनका सेवन अत्यधिक मात्रा में होने लगता है, जिसका स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे अंत में दुःखी होना पड़ता है। दूसरों को हानि पहुँचाकर जो धन प्राप्त होता है वह निश्चित रूप से बुरी आदतों को बढ़ाता है और कुछ समय तक अस्थायी सुख देकर वह दुःख बढ़ाने का साधन बन जाता है। दूसरों को दुःख देकर प्राप्त किया हुआ धन कभी भी स्थायी सुख और शांति का साधक नहीं हो सकता।

सुख दो प्रकार के हैं। कुछ सुख तो ऐसे हैं जो दूसरों को दुःख पहुँचाकर प्राप्त होते हैं। इनके उदाहरण ऊपर दिए जा चुके हैं। कुछ सुख ऐसे हैं जो दूसरों को सुखी बनाकर प्राप्त होते हैं। वे मनुष्य के मन में शांति उत्पन्न

करते हैं। अपना कर्तव्य पालन करने से जो सुख प्राप्त होता है वह भी शांतिप्रद होता है। कर्तव्यपालन करते समय जो श्रम करना पड़ता है उससे कुछ कष्ट अवश्य मालूम होता है, परंतु कार्य पूरा होन पर वह दुःख सुख म परिणत हो जाता है और उससे मन में शांति उत्पन्न होती है। इस प्रकार का सुख भविष्य मे दु ख का साधन नहीं होता और इस प्रकार के सुख को आनंद कहते हैं। जब आनंद ही आनंद प्राप्त होता है तब दुःख का लेशमात्र भी नहीं रह जाता। एसी दशा को परमानंद कहते हैं। परमानंद प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का सर्वोत्तम ध्यय है। वही आत्मकल्याण की चरम सीमा है। प्रत्येक मनुष्य का कल्याण इसी में है कि वह परमानंद प्राप्त करने का हमेशा प्रयत्न करता रहे। वह हमेशा ऐसा सुख प्राप्त करता रहे जो भविष्य मे दु ख का कारण या साधन न बन जाय और वह शांति और संतोष का अनुभव करने लगे।

जब हम अपने प्रयत्नों द्वारा दूसरों को सुख पहुँचाते हैं और उनके कल्याण के साधन बन जाते हैं तब प्रकृति के अटल नियम के अनुसार इन्हीं प्रयत्नों द्वारा हमारे कल्याण में भी वृद्धि होने लगती है। आत्मकल्याण प्राप्त करने का सरल उपाय दूसरों के कल्याण का साधन बनना है। इसी प्रकार अपने कार्यों द्वारा किसी को भी दुःख न पहुँचाना अपने दुःख से बचने का सबसे सरल तरीका है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि उसका सच्चा हितसाधन दूसरो के हितसाधन या परमार्थ द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि दूसरो का सुख अर्थात् विश्वकल्याण ही अपने स्थायी सुख और शांति अर्थात् आत्मकल्याण का एकमात्र साधन है। जब प्रत्येक व्यक्ति अपना कल्याण करने के लिये दूसरों के कल्याण का हमेशा प्रयत्न करने लगेगा तब किसी भी तरह से स्वार्थों का विरोध न होगा, संसार में सब प्रकार का संघर्ष दूर हो जायगा और सर्वत्र सुख और शांति स्थायी रूप से स्थापित हो जायगी।

आत्मकल्याण के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरो के स्वार्थों को उतना ही महत्व दे जितना वह अपने स्वार्थ को देता है। जैसे वह अपने सुखो को बढ़ाने का प्रयत्न करता है, वैसे ही उसे दूसरों के सुखों को बढ़ान का भी प्रयत्न करना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि ऐसे कार्य बंद हो जायँगे जिनके कारण दूसरो के दुःखो की वृद्धि होती है। इससे विश्व के जीवों में सुख की निरंतर वृद्धि होने लगेगी और विश्व का कल्याण बढ़ते बढ़ते चरम सीमा तक पहुँच जायगा। बिना विश्वकल्याण के किसी भी व्यक्ति का आत्मकल्याण नही हो सकता। सच्चा आत्मकल्याण विश्वकल्याण द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। आत्मकल्याण ही प्रत्यक व्यक्ति का सर्वोत्तम ध्येय है और जब अर्थशास्त्र मनुष्य के आर्थिक प्रयत्नों का अध्ययन करता है तब उसका ध्येय भी आत्मकल्याण ही होना चाहिए। परंतु, जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, सच्चा आत्मकल्याण विश्वकल्याण द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इसलिये अथशास्त्र का ध्येय विश्वकल्याण ही होना चाहिए।

हम यह पहले ही बता चुके हैं कि जब किसी इच्छा की पूर्ति नहीं होती तब दुःख का अनुभव होता है। इसलिये यदि किसी वस्तु की इच्छा ही न की जाय तो दुःख प्राप्त करने का अवसर ही न प्राप्त हो। कुछ सज्जनों का मत है कि सपूर्ण इच्छाओं की निवृत्ति द्वारा दुःख का अभाव और स्थायी सुख तथा शांति प्राप्त हो सकती है। इसलिये इस दृष्टि से देखा जाय तब तो सब इच्छाओ का अभाव ही अर्थशास्त्र का ध्येय होना चाहिए। यह ठीक है कि अभ्यास द्वारा इच्छाओं का नियंत्रण अवश्य किया जा सकता है, परंतु ऐसी दशा प्राप्त कर लेना जब किसी भी प्रकार की इच्छा उत्पन्न ही न होने पाए,साधारण मनुष्य के लिये असंभव नहीं तो अत्यंत कठिन अवश्य है। समाधि या स्थितप्रज्ञ दशा में ही यह संभव है। परंतु इस दशा को प्राप्त करना लाखों मनुष्यो में से एक के लिये भी व्यावहारिक नहीं है। अस्तु, अर्थशास्त्र का ध्येय संपूर्ण इच्छाओं के अभाव को मान लेने से थोड़े से व्यक्तियों का ही कल्याण हो सकेगा और जनता का उससे कुछ भी लाभ न होगा, इसलिये इस ध्येय को मान लेना उचित न होगा।

कुछ व्यक्ति मानवकल्याण ही अर्थशास्त्र का ध्येय मानते हैं। वे जीवजंतुओं तथा पशुपक्षियों के हितों का ध्यान रखना आवश्यक नहीं समझते। वे शायद यह मानते हैं कि जीवजंतुओं और पशुपक्षियों को ईश्वर ने मनुष्य के सुख के लिये ही उत्पन्न किया है। इसलिये उनको दुःख पहुँचाकर या वध करके यदि मनुष्यों की इच्छाओं की पूर्ति हो सकती हो तो उनको दुःख पहुँचाने में कुछ भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। किंतु धर्मशास्त्र और महात्मा गांधी का तो यह मत है कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा ही कार्य करना चाहिए जिससे 'सार्वभौम हित' अर्थात् सब जीवधारियों का हित हो, किसी की भी हानि न होने पाए। जब मनुष्य प्रत्येक जीवधारी के हित को अपने निजी हित के समान मानने लगता है तभी उसको स्थायी सुख और शांति प्राप्त होती है। महात्मा गांधी ने इस मार्ग को 'सर्वोदय' नाम दिया है। इस सर्वोदय मार्ग द्वारा ही संसार में प्रत्येक प्रकार का संघर्ष दूर हो सकता है, शोषण का अंत हो सकता है और विश्वशांति स्थापित हो सकती है। सर्वोदय का मार्ग प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण और विश्वकल्याण की वृद्धि करने का उत्तम साधन है। इसलिये उनके अनुसार अर्थशास्त्र का ध्येय मानवकल्याण न मानकर विश्वकल्याण ही मानना चाहिए।

सं०ग्रं०—श्री उदयवीर शास्त्री : कौटिल्य का अर्थशास्त्र (हिंदी अनुवाद); ए० ई० मनरो : अर्ली एकानॉमिक थॉट (१९२४); एडमंड ह्विटेकर : ए हिस्ट्री ऑव एकॉनॉमिक आइडियाज़; टी० डब्ल्यू० हचिसन : दि सिग्निफिकेंस ऐंड बेसिक पास्कुलेट्स ऑव एकानॉमिक थियरी; बेनहम : अर्थशास्त्र (अंग्रेजी पुस्तक का अनुवाद); श्री जे० के० मेहता और अन्य अध्यापक : अर्थशास्त्र की रूपरेखा; श्री दयाशंकर दुबे : अर्थशास्त्र के मूलाधार; श्री भगवानदास केला : सर्वोदय अर्थशास्त्र।

[द० शं० दु०]

अर्थशास्त्र, कौटिलीय यह प्राचीन भारतीय राजनीति का प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसका पूरा नाम 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' है। लेखक का व्यक्तिनाम विष्णुगुप्त, गोत्रनाम कौटिल्य (कुटिल से व्युत्पन्न) और स्थानीय नाम चाणक्य (तक्षशिला के पास चणक नामक स्थान का रहनेवाला) था। अर्थशास्त्र (१५.४३१) में लेखक का स्पष्ट कथन है : "इस ग्रंथ की रचना उन आचार्य ने की जिन्होंने अन्याय तथा कुशासन से क्रुद्ध होकर नांदों के हाथ में गए हुए शास्त्र, शस्त्र एवं पृथ्वी का शीघ्रता से उद्धार किया था।" चाणक्य सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य (३२१-२९८ ई० पू०) के महामंत्री थे। उन्होंने चंद्रगुप्त के प्रशासकीय उपयोग के लिये इस ग्रंथ की रचना की थी। यह मुख्यतः सूत्रशैली में लिखा हुआ है और संस्कृत के सूत्रसाहित्य के काल और परंपरा में रखा जा सकता है। "यह शास्त्र अनावश्यक विस्तार से रहित, समझने और ग्रहण करने में सरल एवं कौटिल्य द्वारा ऐसे शब्दों में रचा गया है जिनका अर्थ सुनिश्चित हो चुका है।" (अर्थशास्त्र, १५.६) यद्यपि कतिपय प्राचीन लेखकों ने अपने ग्रंथों में अर्थशास्त्र से अवतरण दिए हैं और कौटिल्य का उल्लेख किया है, तथापि यह ग्रंथ लुप्त हो चुका था। १९०४ ई० में तंजोर के एक पंडित ने भट्टस्वामी के अपूर्ण भाष्य के साथ अर्थशास्त्र का हस्तलेख मैसूर राज्य पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री आर० शाम शास्त्री को दिया। श्री शास्त्री ने पहले इसका अंशतः अंग्रेजी भाषांतर १९०५ ई० में 'इंडियन ऐंटिक्वेरी' तथा 'मैसूर रिव्यू' (१९०६–१९०९ ई०) में प्रकाशित किया। इसके पश्चात् इस ग्रंथ के दो हस्तलेख म्यूनिख लाइब्रेरी में प्राप्त हुए और एक संभवतः कलकत्ता में। तदनंतर शाम शास्त्री, गणपति शास्त्री, यदुवीर शास्त्री आदि द्वारा अर्थशास्त्र के कई संस्करण प्रकाशित हुए। शाम शास्त्री द्वारा अंग्रेजी भाषांतर का चतुर्थ संस्करण (१९२९ ई०) प्रामाणिक माना जाता है।

ग्रंथ के अंत में दिए चाणक्यसूत्र (१५.१) में अर्थशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार हुई है : "मनुष्यों की वृत्ति को अर्थ कहते हैं। मनुष्यों से संयुक्त भूमि ही अर्थ है। उसकी प्राप्ति तथा पालन के उपायों की विवेचना करनेवाले शास्त्र को अर्थशास्त्र कहते हैं। इसके मुख्य विभाग हैं : (१) विनयाधिकरण, (२) अध्यक्षप्रचार, (३) धर्मस्थीयाधिकरण, (४) कंटकशोधन, (५) वृत्ताधिकरण, (६) योन्यधिकरण, (७) षाड्गुण्य, (८) व्यसनाधिकरण, (९) अभियास्यत्कर्माधिकरण, (१०) संग्रामाधिकरण, (११) संघवृत्ताधिकरण, (१२) आबलीयसाधिकरण, (१३) दुर्गलम्भोपायाधिकरण, (१४) औपनिषदिकाधिकरण और (१५) तंत्रयुक्त्यधिकरण। इन अधिकरणों के अनेक उपविभाग (१५ अधिकरण, १५० अध्याय, १८० उपविभाग तथा ६००० श्लोक) हैं। अर्थशास्त्र से समसामयिक राजनीति, अर्थनीति, विधि, समाजनीति तथा धर्मादि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

इस विषय के जितने ग्रंथ अभी तक उपलब्ध हैं उनमें से वास्तविक जीवन का चित्रण करने के कारण यह सबसे अधिक मूल्यवान् है।" इस शास्त्र के प्रकाश में न केवल धर्म, अर्थ और काम का प्रणयन और पालन होता है, अपितु अधर्म, अनर्थ तथा अवांछनीय का शमन भी होता है (अर्थशास्त्र, १५·४३१)।

इस ग्रंथ की महत्ता को देखते हुए कई विद्वानों ने इसके पाठ, भाषांतर, व्याख्या और विवेचन पर बड़े परिश्रम के साथ बहुमूल्य कार्य किया है। शाम शास्त्री और गणपति शास्त्री का उल्लेख किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त यूरोपीय विद्वानों में हर्मान जाकोबी (ऑन दि अथॉरिटी ऑव कौटिलीय–ई०ऍ० १९१८),ए० हिलेब्रांड्ट, डॉ० जॉली, प्रो०ए०बी० कीथ (ज० रा० ए० सो०) आदि के नाम आदर के साथ लिए जा सकते हैं। अन्य भारतीय विद्वानों में डा० नरेंद्रनाथ ला (स्टडीज इन ऐंशेंट हिंदू पॉलिटी, १९१४), श्री प्रमथनाथ बनर्जी (पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन ऐंशेंट इंडिया), डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल (हिंदू पॉलिटी), प्रो० विनयकुमार सरकार, (दि पाज़िटिव बैकग्राउंड ऑव् हिंदू सोशियोलॉजी), प्रो० नारायण चंद्र बंद्योपाध्याय, डा० प्राणनाथ विद्यालंकार आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

सं० ग्रं०—वेबर : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर (ट्रबनर), पृ०२१०; आर०शाम शास्त्री : कौटिल्य अर्थशास्त्र (अंग्रेजी भाषांतर) चतुर्थ संस्करण, मैसूर, १९२९; डॉ०जॉली : अर्थशास्त्र ऐंड धर्मशास्त्र (ज़ड०डी०एम०जी०, १९१३, पृ० ४९–९६)। [रा० ब० पा०]

अर्थापत्ति मीमांसा दर्शन में अर्थापत्ति एक प्रमाण माना गया है। यदि कोई व्यक्ति जीवित है किंतु घर में नहीं है तो अर्थापत्ति के द्वारा ही यह ज्ञात होता है कि वह बाहर है। प्रभाकर के अनुसार अर्थापत्ति से तभी ज्ञान संभव है जब घर में अनुपस्थित व्यक्ति के संबंध में संदेह हो। कुमारिल के मत में उस व्यक्ति के जीवन के बारे में निश्चय तथा घर में अनुपस्थिति दोनों को मिलाकर ही उस व्यक्ति के बाहर होने का ज्ञान होता है। न्यायशास्त्र के अनुसार अर्थापत्ति अनुमान के अंतर्गत है। विशेष विवरण के लिये दे० 'प्रमाण'। [रा० पां०]

अर्दशिर अर्दशिर, अर्तशिर एवं अर्तक्षथ्र आदि नामों से भी विहित, अभिलेखों में अपने को अर्त्तजरसीज (२२६-२४१ ई०) के नाम से पुकारता है। वह पायक (बाबेक) का द्वितीय पुत्र था जो ससन का लड़का था और जिसने अंतिम पार्थ व सम्राट् अर्दवन् को हराया और नवागत पारसी अथवा ससानी साम्राज्य की स्थापना की। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में मीड लोग अथवा पश्चिमी पारसी; जिनका उल्लेख ११०० ई० पू० तक के असीरियन-अभिलेखों में हुआ है, अखमीनियनों के दक्षिणी पारसीक राजवंश द्वारा परास्त हुए। अखमीनियनों को सिकंदर तथा उसके यूनानी सैनिकों ने चौथी सदी ई० पू० में हराया। यूनानी सत्ता को विस्थापित करनेवाले पार्थियन थे जो तीसरी शती ई० में ससानियनों की बढ़ती हुई शक्ति के आगे नतमस्तक हुए। अर्दशिर, जो अहुरमज़्द का परम भक्त था, माजी संप्रदाय के संतों के प्रभाव में आया और उसने रोम एवं आर्मीनिया के साथ सफलतापूर्वक युद्ध कर पुरातन ज़रथुस्त्र मत की प्रतिष्ठा की और न केवल उसे राजधर्म घोषित किया बल्कि उसके अभ्युदय के लिये अथक चेष्टाएँ कीं। ईरान के विभिन्न राज्यों को एक सुगठित केंद्रीय राजसत्ता के अंतर्गत ले आकर उसने शासन की व्यवस्था चलाई जिसका आधार ज़रथुस्त्र के सिद्धांत थे। उसने अपने प्रधान पुरोहित को धार्मिक ग्रंथों के संकलन का आदेश दिया। इन ग्रंथों की खोज उसके अनुवर्ती शासक शापुर प्रथम के राज्यकाल में चलती ही रही, संकलन का कार्य शापुर द्वितीय (३०९-३७९ ई०) के राज्यकाल में जाकर समाप्त हुआ। धार्मिक संगठन और राज्य की एकता के सिद्धांत में पूरा विश्वास रखनेवाला सम्राट् अपने पुत्र शापुर प्रथम को दी गई अपनी अनुज्ञा (टेस्टामेंट) में कहता है—"धर्म और राज्य दोनों सगी बहनों के समान हैं जो एक दूसरी के बिना नहीं रह सकतीं। धर्म राज्य की शिला है और राज्य धर्म का रक्षक।" [र० म०]

अर्धनारीश्वर शिव के अर्धनारीश्वर स्वरूप का सृष्टिप्रक्रिया में महत्वपूर्ण स्थान है। इस प्रतीकात्मक स्वरूप की व्यंजना स्पष्ट है। इसका मूल वैदिक भाव यह था कि यह जो द्यावा पृथिवी लोकों की मध्यवर्ती सृष्टि है वह माता पिता, योषा-वृषा-प्राण है, अग्नि सोम, पुरुष स्त्री, पति पत्नी के द्वंद्व से ही उत्पन्न होती है। प्रजापति आरंभ में एक था। उसके मन में सृष्टि की इच्छा हुई तब उसने अपने शरीर के दो खंड करके आधे में पुरुष और आधे में स्त्रीभाव का निर्माण किया :

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥

सृष्टि के लिये पुरुषतत्व और स्त्रीतत्व दोनों के मैथुनधर्म की आवश्यकता है। वृक्ष वनस्पति के प्रत्येक पुष्प में एवं कीट, पतंग, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि में जहाँ तक प्राणसमन्वित भूतसृष्टि का विस्तार है वहाँ तक पिता द्वारा माता के गर्भधारण से प्रजा की उत्पत्ति होती है। सृष्टि के इस आदिभूत मातृतत्व और पितृतत्व को ही पुराणों की प्रतीक भाषा में पार्वती परमेश्वर कहा जाता है। ये ही शिव पार्वती हैं। वैदिक साहित्य के अनुसार शिव पार्वती ही रुद्र और अंबिका हैं—अग्निर्वै रुद्रः(शतपथ ५।३।१।१०);एष रुद्रः यदग्निः (तैत्तिरीय १।१।५।८-९)। जहाँ अग्नि है उसी का अंशभूत सोम है। सोम अग्नि का, उसके अधीन रहनेवाला,सखा है (अग्निजागार्तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः, ऋग्वेद ५।४४।१५)। अग्नि अन्नाद कहलाता है और सोम उसका अन्नरूप में संभरण करता है। अग्नि और सोम ही विश्व के मूलभूत माता पिता हैं। वेद की कल्पना है कि प्रत्येक केंद्र में जहाँ जहाँ अग्नि है, वहीं वहीं आधा भाग सोम का भी है। पुरुष में अग्नितत्व प्रधान और स्त्री में सोम प्रधान होता है, किंतु जो स्त्री है उसके अभ्यंतर में अर्धभाग पुरुष का विद्यमान रहता है। इसी के लिये ऋग्वेद में कहा है,स्त्रियः सतीस्वा उ मे पुंस आहुः (ऋग्वेद १।१६४।१६)। स्त्री का शोणित आग्नेय और पुरुष का शुक्र सौम्य भाव से युक्त रहता है। शुक्र और शोणित ही विज्ञान की भाषा में वृषा और योषा या नर और मादा कहे जाते हैं।

पुरुष द्वारा नारी में जो बीजवपन होता है उस आहित गर्भ को सृष्टि की वैज्ञानिक भाषा में विराज कहा जाता है। उत्पन्न होनेवाली प्रत्येक प्रजा विराट् का ही रूप है। अग्नि मे सोम का समन्वय पारस्परिक अंतर्याम संबंध से निष्पन्न होता है। अर्थात् अग्नि लक्षणांतर सोम लक्षण नारी को गर्भित करता है। नारी उस अग्निकण को अपने गर्भ में लेकर अपनी मात्रा से उसका संवर्धन करती है और उसी से वह बीज विराट्-भाव प्राप्त करता है। उसी की संज्ञा प्रजा होती है। जो बीज की शक्ति के अनुसार मात्रा का आधान करती है वही माता है। पिता और माता शिव और शक्ति के ही रूप हैं। शक्ति के बिना शिव का स्वरूप घोर होता है और शक्ति के साथ वही शिव कहा जाता है। अर्थात् जिस अग्नि को सोमरूपी अन्न प्राप्त नहीं होता वह जिस वस्तु में रहती है उसी को भस्म कर डालती है। अग्नि में सोम की आहुति ही याग है। यज्ञ का स्वस्तिभाव शिव और शक्ति या अग्नि और सोम के समन्वय पर ही निर्भर है। यह समन्वित रूप ही शिव का अर्धनारीश्वर स्वरूप है। इस प्राचीन वैदिक भाव को पुराणों में अर्धनारीश्वर शिव के प्रतीक द्वारा प्रकट किया गया। कथा है कि ब्रह्मा ने सृष्टि करनी चाही। केवल पुरुषभाव से उन्हें सफलता नहीं मिली। तब उन्होंने शिव की आराधना की। शिव ने उन्हें अर्धनारीश्वर रूप में दर्शन दिया और तब ब्रह्मा को सृष्टिविधान की ठीक युक्ति ज्ञात हुई। अर्थात् स्त्री और पुरुष का समन्वय ही सृष्टि की सच्ची विधि है।

भारतीय कला में शिव के अर्धनारीश्वर स्वरूप की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। एलोरा के कैलासमंदिर में अर्धनारीश्वर शिव की प्रभावशाली मूर्ति है। किंतु इन सबमें प्राचीनतम मूर्ति मथुरा की कुषाणकालीन कला में प्रथम शती ई० के लगभग निर्मित हुई। इस मूर्ति का आधा भाग पुरुष जैसा है और वामार्ध भाग स्त्री के व्यंजनों से युक्त है।

सं०ग्रं०—गोपीनाथ राव : भारतीय मूर्तिशास्त्र, मद्रास, १९१४-१५, भाग २, पृ० ३२१-३२; अंशुमध्येदागम, ६९ पटल; उत्तर कामिकागम, ९० पटल; शिल्परत्न, २२ पटल। [वा० श० अ०]

अर्धमागधी प्राचीन काल में मगध की भाषा थी। जैन धर्म के प्रतिष्ठाता महावीर ने इसी भाषा में अपने धर्मोपदेश किये थे। लोकभाषा होने के कारण यह आसानी से स्त्री, बालक, वृद्ध और अनपढ़ लोगों की समझ में आ सकती थी। आगे चलकर महावीर के शिष्यों ने अर्धमागधी में महावीर के उपदेशों का संग्रह किया जो आगम नाम से प्रसिद्ध हुए। समय समय पर जैन आगमों की तीन वाचनाएँ हुईं। अंतिम वाचना महावीरनिर्वाण के १,००० वर्ष बाद, ईसवी सन् की छठी शताब्दी के आरंभ में, देवर्धिगणि क्षमाक्षमण के अधिनायकत्व में वलभी (वला, काठियावाड़) में हुई जब जैन आगम वर्तमान रूप में लिपिबद्ध किए गए। इस बीच जैन आगमों में भाषा और विषय की दृष्टि से अनेक परिवर्तन हुए, जो स्वाभाविक था। इन परिवर्तनों के होने पर भी आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि जैन आगम पर्याप्त प्राचीन और महत्वपूर्ण हैं। ये आगम श्वेतांबर जैन परंपरा द्वारा ही मान्य है, दिगंबर जैनों के अनुसार ये लुप्त हो गए हैं।

हेमचंद्र आचार्य ने अर्धमागधी को आर्ष प्राकृत कहा है। अर्धमागधी शब्द का कई तरह से अर्थ किया जाता है: (क) जो भाषा मगध के आधे भाग में बोली जाती हो, (ख) जिसमें मागधी भाषा के कुछ लक्षण पाए जाते हों, जैसे पुंलिंग में प्रथमा के एकवचन मे एकारात रूप का होना (जैसे धम्मे)। आगमों के उत्तरकालीन जैन साहित्य की भाषा को अर्धमागधी न कहकर प्राकृत कहा गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि उस समय मगध के बाहर भी जैन धर्म का प्रचार हो गया था। भाषा-विज्ञान की परिभाषा में अर्धमागधी मध्य भारतीय आर्य परिवार की भाषा है; इस परिवार की भाषाएँ प्राकृत कही जाती हैं। मध्य भारतीय आर्य परिवार की भाषा होने के कारण अर्धमागधी संस्कृत और आधुनिक भारतीय भाषाओं के बीच की एक महत्वपूर्ण कड़ी है।

सं० ग्रं०—ए० एम० घाटगे: इंट्रोडक्शन टु अर्धमागधी (१९४१); बेचरदास जीवराज दोशी: प्राकृत व्याकरण (१९२५)।

[ज० चं० जै०]

अर्बुद शरीर के किसी भी अंग में उत्पन्न हुई गाँठ है। इसको साधारण बोलचाल में ट्यूमर भी कहा जाता है। विकृतिविज्ञान में अर्बुद की परिभाषा कठिन है, परंतु सरल, यद्यपि अपूर्ण, परिभाषा यह है कि अर्बुद एक स्वतंत्र और नई उत्पत्ति है अथवा अप्राकृतिक ऊतक पिंड है जिसकी वृद्धि प्राकृतिक ऊतक पिंडों की नियमित वृद्धि से भिन्न होती है।

छद्म अर्बुद—कुछ अर्बुद केवल देखने में अर्बुद के समान होते हैं; वे वास्तविक अर्बुद नहीं होते, उदाहरणतः चोट लगने से शरीर के किसी भाग का सूज आना (उसमें शोथ उत्पन्न होना), टूटी हड्डियों के ठीक ठीक न जुड़ने पर संधिस्थल पर गाँठ बन जाना, फोड़ा (संस्कृत में स्फोटक) निकलना, कौड़ी (इन्फ़्लेम्ड लिफैटिक ग्लैंड) उभड़ आना और क्षय, उपदंश (सिफ़लिस), कुष्ठ आदि के कारण गाँठ बनना अर्बुद नहीं है। अतिश्रम से मांसपेशियों की वृद्धि, जैसे नर्तकियों में टाँग की पिंडलियों की वृद्धि, गर्भाधान में स्तनों और उदर की वृद्धि आदि सामान्य शारीरिक क्रियाएँ हैं और इनको रोग नहीं कहा जाता। बाहर से शरीर के भीतर विशेष जीवाणुओं या कीटाणुओं के घुस आने पर और चारों ओर से शरीर की कोशिकाओं से उनके घिर जाने पर जलमय पुटी (सिस्ट) बन जाना भी यथार्थ अर्बुद नहीं है। इसी प्रकार मुँहासे, अंडकोश में जल उतर आने से अंडकोशवृद्धि आदि भी अर्बुद नहीं हैं। **अपस्फीत शिरा** (उसे देखें) और उसी प्रकार से शरीर के भीतर द्रव भरे अंगों की भित्तियों का दुर्बलता के कारण फूल आना भी अर्बुद नहीं है। **हिस्टीरिया** में (उसे देखें), रोगिणी की इस धारणा से कि मैं गर्भवती हूँ, पेट फूल आना भी अर्बुद नहीं है।

वास्तविक अर्बुद—वास्तविक अर्बुद में शरीर की कोशिकाएँ अनियमित रूप से बढ़ने लगती हैं। शरीर की रचना (देखें **शरीर-रचना-विज्ञान**) कोशिकामय है। चमड़ी कोशिकाओं से बनी है, मांस भी कोशिकाओं से बना है, परंतु विभिन्न प्रकार की कोशिकाओं से; हड्डियाँ, दाँत, इत्यादि सभी अंग विशेष प्रकार की कोशिकाओं से बने हैं। इन्हीं कोशिकाओं में से किसी जाति की कोशिकाओं के, या उनसे मिलती जुलती परंतु विकृत कोशिकाओं के, अनावश्यक मात्रा में बढ़ना आरंभ करने से अर्बुद उत्पन्न होता है। इस बढ़ने का कारण अभी तक अज्ञात है। यों तो स्वस्थ शरीर में कोशिकाओं की संख्या सदा बढ़ती ही रहती है। परंतु प्रत्येक कोशिका की आयु सीमित होती है; आयु पूरी होने पर उसके बदले में नई कोशिका आ जाती है। नई कोशिकाओं के बनने का ढंग यह है कि कोई स्वस्थ कोशिका दो भागों में विभक्त हो जाती है और प्रत्येक भाग बढ़कर पूरी कोशिका के बराबर हो जाता है। जब शरीर का थोड़ा सा मांस निकल जाता है, जैसे कट जाने से या जल जाने से, तो पड़ोस की कोशिकाएँ बढ़ने लगती हैं और थोड़े समय में क्षति की पूर्ति कर देती हैं। क्षतिपूर्ति के बाद कोशिकाओं की वृद्धि अपने आप बंद हो जाती है। हम कोशिकाओं की वृद्धि का उद्देश्य समझ सकते हैं, उनका रुकना भी उचित ही है, यद्यपि अभी तक यह पता नहीं लग सका है कि उनका बढ़ना किस प्रकार नियंत्रित होता है।

अर्बुदों की उत्पत्ति शरीर की कोशिकाओं की अकारण वृद्धि से होती है और वृद्धि रुकती नहीं। नवजात कोशिकाएँ बहुधा कुछ विकृत (साधारण से अधिक सरल) होती हैं।

कुछ व्यवसायों में लगे व्यक्तियों में अर्बुद अधिक उत्पन्न होते हैं, संभवतः उस व्यवसाय में प्रयुक्त रासायनिक पदार्थों द्वारा उत्पन्न उत्तेजना के कारण। कुछ परिवारों में अर्बुद अधिक देखे जाते हैं, संभवतः आनुवंशिक (हेरिडिटैरी) शारीरिक लक्षणों के कारण। जीवाणुओं को शरीर में प्रविष्ट कराकर अर्बुद उत्पन्न करने का प्रयोग विफल रहा है। चोट से अर्बुद उत्पन्न होने का पक्का प्रमाण नहीं मिल सका है।

वास्तविक अर्बुदों में कोशिकावृद्धि बहुधा तभी रुकती है जब रोगी की मृत्यु हो जाती है। नई कोशिकाओं के बनने का पता साधारणतः शरीर के किसी अंग के फूल आने से चलता है। परंतु अधिक गहराई में बने अर्बुदों का पता शरीर के ऊपरी भाग को टटोलने से नहीं चल पाता। कभी कभी ऐसा भी होता है कि अर्बुद में बनी नई कोशिकाएँ शरीर की साधारण कोशिकाओं को मारती चलती हैं। ऐसी अवस्था में भी शरीर का कोई अंग नहीं फूलता। साधारण कोशिकाओं के अधिक संख्या में मरने के कारण फूलने के बदले अंग पिचक भी जा सकता है। ऐसा स्तनों और आंत्रों के कर्कट (कैंसर) रोग से हो सकता है। शरीर की नलिकाओं में, जैसे अँतड़ी, पित्तनलिका तथा मूत्रनलिका में, अर्बुद के कारण रुकावट उत्पन्न हो सकती है। वहाँ घाव हो जाने से रक्तवमन और रक्तमिश्रित मूत्र आ सकता है। अर्बुद पक जा सकता है और तब पीब (मवाद) शरीर के बाहर मूत्र आदि के साथ निकल सकती है। खोपड़ी, छाती आदि हड्डियों से घिरे स्थानों में भीतर अर्बुद बनने से शरीर के अन्य अंग (जैसे मस्तिष्क, हृदय आदि) भीतर ही भीतर दबने लगते हैं और तब नवीन उपद्रव उत्पन्न होते हैं। हड्डी के भीतर अर्बुद उत्पन्न होने से हड्डी दुर्बल होकर टूट जा सकती है। अन्यत्र बने अर्बुद से दृष्टिहीनता इत्यादि उत्पन्न हो सकती है।

मृदु और घातक अर्बुद—अर्बुद में कभी पीड़ा होती है, कभी नहीं। जब अर्बुदों से शरीर के अन्य अंग दबने लगते हैं तब अवश्य पीड़ा होती है। जैसा अंत में बताया गया है, अर्बुदों के वर्गीकरण में कुछ कठिनाई पड़ती है। पुराने लोग मोटे हिसाब से अर्बुदों को दो जातियों में विभक्त करते थे, एक घातक (मैलिग्नैंट) और दूसरा मृदु (बिनाइन)। घातक वे होते हैं जो उचित चिकित्सा न करने पर रोगी की जान ले लेते हैं। मृदु अर्बुदों से साधारणतः जान नहीं जाती, परंतु यदि वे किसी बेढब स्थान में हुए तो शरीर के किसी अन्य अंग को दबाकर जान ले सकते हैं। घातक अर्बुदों में आरंभ से यह प्रवृत्ति रहती है कि वे शरीर की अन्य कोशिकाओं पर आक्रमण करके उन्हें नष्ट करते रहते हैं। उनमें एक विशेष लक्षण यह भी होता है कि वे अपने उद्गम स्थान से हटकर शरीर के विविध भागों में विचरण करते रहते हैं और अनेक स्थानों में उनकी बस्ती बढ़ने लगती है। यदि शरीर के सब अंगों से घातक अर्बुद की कोशिकाएँ निकाल न दी जायँ तो एक स्थान को स्वच्छ करने पर दूसरे स्थान से रोग का आरंभ हो जाता है। मृदु अर्बुद अपने उद्गम स्थान पर ही टिके रहते हैं। उन्हें काटकर पूर्णतया निकाल देने पर रोग से छुटकारा मिल जाता है। मृदु अर्बुद कभी कभी घातक अर्बुद में बदल जाता है, परंतु इस परिवर्तन का कारण अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है।

मृदु अर्बुद : वसा (चरबी) की कोशिकाओं की वृद्धि से बने अर्बुद को लिपोमा कहते हैं। इन कोशिकाओं और स्वस्थ शरीर की वसा-कोशिकाओं में कोई भी अंतर सूक्ष्मदर्शी में नहीं दिखाई पड़ता। अर्बुद की वसा एक पतली पारदर्शी झिल्ली के भीतर रहती है। ये अर्बुद साधारणतः वहीं बनते हैं जहाँ स्वस्थ शरीर में वसा रहती है। अधिकतर वे त्वचा के नीचे बनते हैं और मटर से लेकर फुटबाल तक के बराबर हो सकते हैं।

रक्तवाहिनियों और लसीकावाहिनियों के अर्बुद साधारणत. मृदु होते हैं, परंतु कभी कभी वाहिनी के फट जाने से इतना रक्तस्राव हो सकता है कि रोगी मर जाय।

नरम हड्डियों (उपास्थि, कार्टिलेज) के अर्बुद कभी कभी नारियल के बराबर तक हो सकते हैं। हड्डियों के अर्बुद या तो भीतरी गूदे के बढ़ने से या बाहरी कड़ी खोल के बढ़ने से उत्पन्न होते हैं। स्त्रियो मे गर्भाशय का
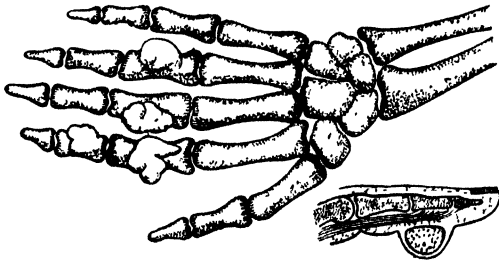
अर्बुद

ऊपर के चित्र में हाथ की हड्डी में उत्पन्न अर्बुद तथा नीचे के चित्र में अँगुली का मृदु अर्बुद दिखाया गया है।

अर्बुद बहुत बड़े आकार तक पहुँच सकता है और इसमें मृदु से घातक में बदलने की प्रवृत्ति रहती है। बहुधा समूचे गर्भाशय को ही निकालने पर रोग से छुटकारा मिलता है। अँगुलियो में बहुत छोटा अर्बुद हो सकता है, जो छूने से बहुत दुखता है। जल भरी पुटिका (सिस्ट) भी किसी अँगुली मे निकल सकती है। दाँत की कोशिकाएँ कभी कभी जन्म के समय जबड़े के किसी असाधारण स्थान मे पड़ जाती है और उनके बढ़ने से भी अर्बुद हो सकता है। तब जबड़े में शोथ और बड़ी पीडा होती है। स्तन का नरम अर्बुद फुटबाल के बराबर तक हो जाता है। वहाँ का कड़ा अर्बुद नारंगी से बड़ा नही होता।

घातक अर्बुद—जिस प्रकार मृदु तथा घातक अर्बुद की कोशरचना में पृथक्ता होती है, प्रायः उसी प्रकार इन कोशों के जीवनक्रम में भी पृथक् गुण मिलते हैं। प्रायः मृदु अर्बुदकोश में उद्गमकोश की भाँति क्रिया करने की प्रवृत्ति का अधिक अंश पाया जाता है। उदाहरणतः, चुल्लिकाग्रंथि के अर्बुद रोग में इन कोशों द्वारा चुल्लिका रस का कुछ अंश बनता है तथा यकृत-अर्बुद में पित्त बनाने की क्रिया का कुछ अंश मिलता है। इसके विपरीत, घातक अर्बुद या कर्कट में कोशरचना की विभिन्नता के साथ ही क्रिया में भी विभिन्नता होती है, जिससे कोश का पूर्व जीवन-क्रम नही अथवा अल्प मात्रा में रह जाता है।

घातक वर्ग के कोश में उद्गम या मूल कोष की रचना की तुलना में अनेक रचनात्मक विभिन्नताएँ मिलती हैं, जैसे केंद्रक का आकार, नाप, विशेष रासायनिक रंगों का आकर्षण, कोश के रासायनिक तथा भौतिक गुणों में उद्गमकोश से भिन्नता, प्रसर, पिव्यसूत्र तथा प्ररंज्यतर्कु की विभिन्नता, सूत्रिभाजन में विचित्रता, असूत्रिभाजन, कोशविभाजन तथा विभेदन में असंनियमित गुण आदि विशेषताएँ प्रकट होती है, जिनसे उनके घातक वर्ग की पहचान हो जाती है (**कर्कट** शीर्षक लेख देखिए)।

अघातक अर्बुद में अर्बुदकोश केवल उद्गम-ऊति के उसी अंग में सीमित रहते हैं जहाँ उनकी उत्पत्ति होती है तथा इनमें अंतस्संचरण शक्ति नहीं होती। घातक अर्बुद की मुख्य विशेषताओं में वृद्धि की द्रुतगति, अरूपिकता (विपर्ययण, ऐनाप्लेजिया), अंतस्सचरण शक्ति (विप्रवेशन, इन्फ़िल्ट्रेशन), दूर के अंगों में शिराओं तथा लसिकातंत्रों द्वारा विस्तारित होने की शक्ति (स्थानांतरण, मेटास्टैसिस), शल्यक्रिया से काटकर निकालने के बाद स्थानीय पुनरुत्पत्ति (प्रत्यावर्तन, रिकरेंस), व्रण, असंतुलित, असंनियमित कोशिकाभाजन तथा वृद्धि मुख्य है।

उत्पत्ति—अर्बुद की उत्पत्ति के कारण के विषय में कई मत है। इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। आयु, योनि, जाति, अंग, सामाजिक रीति रस्म, जल वायु तथा भौगोलिक परिस्थितियाँ, आनुवंशिकता, चोट, व्यावसायिक विशेषता, कतिपय रासायनिक वस्तुएँ, परजीवी, संक्रमण, वाइरस, हारमोनअसंतुलन इत्यादि का अर्बुद-उत्पत्ति से संबंध है (**कर्कट** शीर्षक लेख देखिए)। घातक अर्बुद के कोश पड़ोसी अंगों में अंतस्संचरण गुण से प्रवेश कर जाते है तथा दूर दूर के अनेक अंगो में शिराओ तथा लसिकातंत्रों से विस्तारित होकर वहाँ भी विकसित होने लगते हैं, जिसके कारण रोग के आरंभ मे तो लक्षण उद्गम अंग तक ही सीमित रहते हैं, परंतु शीघ्र ही शरीर के जिन जिन अंगो में उनका अंतस्संचरण तथा विस्तरण हुआ है उन सभी अंगो की प्राकृतिक क्रियाओं की रुकावट द्वारा उत्पन्न रोग के लक्षण मिलेंगे तथा नित्य बढते जायँगे। साथ ही दुर्बलता, चिड़चिड़ापन, अनिद्रा, मानसिक चचलता, पीड़ा, रक्तक्षीणता, धीरे धीरे शरीरभार गिरना आदि दिन प्रति दिन बढते जायँगे।

निदान—चतुर चिकित्सक बाह्य लक्षणो से अर्बुदो का पता लगा लेता है, परंतु सच्चे रोगनिदान के लिये साधारण परीक्षा के अतिरिक्त आधुनिक विशेष परीक्षणविधियाँ जैसे मल-मूत्र-परीक्षा, एक्स-रे-परीक्षा, ऊतकपरीक्षा, रक्तपरीक्षा, समस्थानिक (आइसोटोप) रोगपरीक्षा आदि कई प्रकार की रीतियाँ है। चिकित्सा के लिये शल्य, एक्स-रे तथा समस्थानिक चिकित्साविधियाँ अब उपलब्ध है। रोग के आरंभ में ही पारिवारिक चिकित्सक तथा विशेषज्ञ चिकित्सक की राय शीघ्र लेनी चाहिए।

वर्गीकरण—अर्बुदों के वर्गीकरण की पृथक् पृथक् रीतियाँ है। वर्गीकरण में नामकरण की प्रथा भी समय समय पर बदलती रहती है। विलियम बॉयड ने अर्बुदों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है :

अर्बुद की जाति	रोग का नाम
१. संयोजी-ऊतक-अर्बुद (कनेक्टिव टिशू ट्यूमर्स)	
क—मृदु (इन्नोसेंट)	फाइब्रोमा
	लिपोमा
	मिक्सोमा
	कौड्रोमा
	ऑस्टिओमा
ख—घातक (मैलिग्नैंट)	सार्कोमा
	कौर्डोमा
२. पेशी ऊतक अर्बुद (मसल टिशू ट्यूमर)	लाइओमिओमा
	रहैब्डोमिओमा
३. वाहिन्यर्बुद (ऐंजिओमा)	हीमैंगिओमा
	लिफैंगिओमा
४. अंतश्छदीय अर्बुद (एंडोथेलिओमा)	
५. हीमोपोएटिक-ऊतक-अर्बुद (ट्यूमर्स ऑव हीमोपोएटिक टिशू) :	
क—मृदु लसीकार्बुद (बिनाइन लिंफोमा)	लिंफोसार्कोमा
ख—घातक लसीकार्बुद (मैलिग्नैंट लिंफ़ोमा)	हॉडकिंस डिसीज़
	ल्युकीमिआ
	मल्टिपुल मिएलोमा
६. मसा (पिग्मेंटेड ट्यूमर्स)	नेवस
	मेलानोमा
७. तंतु-ऊतक-अर्बुद (नर्वटिशू अर्बुद)	ग्लाइओमा
	निउरो ब्लास्टोमा
	रेटिनो ब्लास्टोमा
	गैंग्लिओ निउरोमा

अर्बुद की जाति	रोग का नाम
८. धारिच्छद अर्बुद (एपिथीलिअल ट्यूमर्स)	
क—मृदु (इन्नोसेंट)	पैपिलोमा
	ऐडिनोमा
ख—घातक (मैलिग्नैंट)	कारसिनोमा
९. विशेष प्रकार के धारिच्छद अर्बुद (स्पेशल फॉर्म्स ऑव एपिथीलियल ट्यूमर्स)	हाइपरनेफ्रोमा
	कोरिओ एपिथीलिओमा
	ऐडामैंटिनोमा
१०. टेराटोमा	

सं०ग्रं०—आर० ए० विलिस : पैथॉलोजी ऑव ट्यूमर्स (लंदन, १९४८); केटल: पैथॉलोजी ऑव ट्यूमर्स। [उ० शं० प्र०]

अर्माडा प्रोटेस्टेंट मतावलंबी इंग्लैंड को, जिसे पोप सेक्स्तस् पंचम ने स्पेन को प्रदान कर दिया था, नतमस्तक करने तथा, संभवत: रानी एलिज़ाबेथ के विवाहप्रस्ताव अस्वीकार कर देने पर अपना रोष शांत करने के लिये कैथोलिक मतावलंबी स्पेन सम्राट् फिलिप द्वितीय ने इंग्लैंड पर आक्रमण करने का विशाल आयोजन किया। ऐडमिरल सांताक्रूज़ के अधिनायकत्व में १२९ जहाज, ८०० नाविक तथा २१,००० सैनिकों के विशाल बेड़े का निर्माण हुआ। इसे इन्विसिबुल (अजेय) अर्माडा की संज्ञा प्रदान की गई। इसके अतिरिक्त अर्माडा के सहायतार्थ फ्लैंडर्स में पार्मा के ड्यूक के नेतृत्व मे ३०,००० सैनिक नियुक्त किए गए। अंग्रेजी बेड़ा जहाजों और सैनिकों की संख्या में कम होते हुए भी, हॉवर्ड, ड्रेक, हाकिंस तथा फ्रोबिशिर ऐसे दक्ष अनुभवी नेताओं से संचालित था; उसके नाविक भी अधिक सक्षम और अनुभवी थे। अंग्रेजी जहाज छोटे होने के कारण स्पेनी जहाजों की अपेक्षा अधिक सुगमता और दक्षता से संचालित किए जा सकते थे। ड्रेक ने आरंभ में ही असीम साहस का परिचय दे कादिज़ बंदरगाह में घुस अर्माडा पर आक्रमण कर 'स्पेन के राजा की दाढ़ी झुलस दी।' ऐडमिरल सांताक्रूज़ की भी मृत्यु हो गई। इससे अर्माडा का अभियान स्थगित हो गया। नवीन अधिनायक मदोना सीदोनिया अनुभवहीन नाविक था। प्रस्थान करने पर आँधी के कारण और भी व्याघात पड़ा। मदोना सीदोनिया ने पार्मा के ड्यूक की सहायता लिए बिना ही प्लाइमथ की ओर बढ़ने का निश्चय किया। सात मील चौड़ा व्यूह रचकर अर्धचंद्राकार अर्माडा जब प्लाइमथ के निकट आया तब ऐडमिरल हॉवर्ड ने प्लाइमथ से निकल अर्माडा के पृष्ठ पर दूर से ही आक्रमण कर एक के बाद एक जहाजों को ध्वस्त करना प्रारंभ कर दिया। 'उसने स्पेनियों के एक एक करके सारे पर उखाड़ डाले।' जैसे जैसे अर्माडा चैनेल में बढ़ता गया वैसे वैसे हफ्ते भर उसपर आग बरसती रही और उसे कैले में आश्रय लेने के लिये बाध्य होना पड़ा। तब आधी रात बीतने पर ड्रेक ने आठ जहाजों में बारूद आदि लाद, उनमें आग लगा बंदरगाह में छोड़ दिया। आतंकित होकर अर्माडा को बाहर निकलना पड़ा। ग्रेवलाइस के निकट छः घंटे के भीषण संघर्ष के फलस्वरूप अर्माडा को मैदान छोड़ भागना पड़ा। गोला बारूद की कमी के कारण अंग्रेजी जहाज अधिक पीछा न कर सके। किंतु रहा सहा काम प्रकृति ने पूरा कर दिया। उत्तरी समुद्रों में बवंडर के कारण अर्माडा की बची खुची शक्ति भी नष्ट हो गई। ध्वस्त दशा मे केवल ५४ जहाज ही स्पेन पहुँच सके। 'इनविसिबुल' (अजेय) शब्द का ऐसा उपहास इतिहास में कम ही हुआ होगा।

सं०ग्रं०—जे० ए० फ्रांडी : दि स्पेनिश स्टोरी ऑव दि अर्माडा ऐंड अदर एसेज़; सर जे० के० लाफ्टन : स्टेट पेपर्स रिलेटिंग टु दि डिफीट ऑव दि स्पेनिश अर्माडा; सर जे० कार्बेट: ड्रेक ऐंड दि ट्यूडर नेवी; क्रीज़ी : फिफ्टीन डिसाइसिव बैटिल्स; जे० आर० हेल्स : ग्रेट अर्माडा। [रा० ना०]

अर्मीनियस जर्मन वीर। युवावस्था में उसने रोम की सेना में काम किया। जर्मनी लौटकर देशवासियों को रोम के गवर्नर के पाशविक शासन मे पिसते देख उसने विद्रोह का झंडा खड़ा किया और १५ ई० में रोम के शासक को हराकर भगा दिया। २१ ई० में उसकी हत्या कर दी गई। [स० च०]

अर्ल मार्क्विस और वाइकाउंट के बीच का पद जो अंग्रेज अमीरों (पियर्स) को दिया जाता है। इस पद का इतिहास प्राचीन है और १३३७ई० तक यह सबसे ऊँचा समझा जाता रहा है। एडवर्ड तृतीय ने अपने पुत्र को इसी से संमानित किया था। यह पैतृक होता है और पिता के बाद पुत्र को प्राप्त होता है। संभवतः सम्राट् कन्यूट के समय यह स्कैंडिनेविया से इंग्लैंड में प्रचलित किया गया था। इसका संबंध पहले राज्य-शासन से था और अर्ल पहिले काउंटी के न्यायाधीश होते थे। ११४०ई० में सर्वप्रथम जेफ्री० डे० मैंडविल को इसेक्स का अर्ल बनाया गया। पैतृक होने के नाते, पुत्र के न होने पर यह पद पुत्री को मिलता था। कई पुत्रियों के होने पर, सम्राट् एक के पक्ष में अपना निर्णय देता था। विवाहिता पुत्री के पति को पार्लियामेंट में स्थान प्राप्त करने का अधिकार मिलता था। १३३७ई० में बहुत से अर्ल बनाए गए और उनको जागीरें भी दी गईं। उनका किसी एक काउंटी से संबंध न था। १३८३ ई० में इस पद को केवल पुत्र तक ही सीमित रखने का प्रतिबंध लगाया गया। केवल जीवन पर्यंत इस पद को धारण करने का भी प्रयास हुआ। इसके साथ तलवार बाँधना तथा एडवर्ड के समय से कढ़ी हुई सुनहरी टोपी और कालर बाँधना भी अनिवार्य हो गया। आगे के इतिहास में यह पद साधारण व्यक्तियों को भी दिया जाने लगा। स्काटलैंड में सर्वप्रथम १३९८ई० में लिंड्जे को क्राफर्ड का अर्ल बनाया गया। आयरलैंड में किल्डेर का अर्ल सबसे बड़ा समझा जाता था। अर्ल का संबोधन 'राइट आनरेबुल' और 'लार्ड' है। उसके ज्येष्ठ पुत्र 'वाइकाउंट' और कनिष्ठ पुत्र केवल 'आनरेबुल' कहे जाते हैं। उसकी सब पुत्रियाँ 'लेडीज़' कहलाती हैं। [बै० पु०]

अर्विंग, वाशिंगटन (१७८३-१८५९), निबंधकार और कथाकार। इनका जन्म न्यूयार्क में हुआ। बचपन से ही इन्होंने अपने पिता विलियम अर्विंग (जो स्काटलैंड से अमरीका आए थे) के निजी पुस्तकालय में विद्योपार्जन किया। १७९९ में इन्होंने वकालत का काम आरंभ किया, परंतु क्षय रोग से ग्रस्त होने के कारण १८०४ में स्वास्थ्यलाभ के लिये ये यूरोप चले गए। १८०६ में स्वदेश लौटने पर अपने भाइयों के व्यवसाय में हाथ बटाया और साहित्य पर अपनी दृष्टि केंद्रित की। १८०७ मे इन्होंने 'सालमागुंडी' नाम की एक मनोरंजन मिसलेनी और १८०९ में न्यूयार्क का इतिहास प्रकाशित किया। १८१५ में पुन: यूरोप भ्रमण के बाद १८१९ में इन्होंने 'दि स्केच बुक' प्रकाशित की, जिसे विदेशों में बहुत सफलता और ख्याति मिली। १८२२ में यह पेरिस गए और दो किताबें 'ब्रेसब्रिज हाल' और 'टेल्स ऑव ए ट्रैवेलर' लिखीं। १८२६ में ये स्पेन चले गए जिसके फलस्वरूप इन्होंने अनेक सुंदर इतिहास लिखे : 'कोलंबस की जीवनी और उनकी यात्राओं का इतिहास' १८२८; 'ग्रेनाडा की विजय' १८२९; 'कोलंबस के साथियों की यात्राएँ' १८३१, 'अलहंब्रा' १८३२; 'स्पेन पर विजय की कथाएँ' १८३५, और 'मुहम्मद और उनके उत्तराधिकारी' १८४९। सन् १८३२ में वे अमरीका लौट चुके थे। १८४२ में वे स्पेन में अमरीका के राजदूत नियुक्त हुए, और १८४६ में स्वदेश लौट आए। इसी वर्ष इन्होंने 'गोल्डस्मिथ की जीवनी' प्रकाशित की और १८५५-५९ के बीच में 'वाशिंगटन की जीवनी' नामक अपनी महान् कृति प्रकाशित की। १८५५ में ही इनकी कथाओं और निबंधों का एक संकलन 'वुल्फर्ट्स रूस्ट' के नाम से प्रकाशित हो चुका था। १८५९ की २८ नवंबर को एकाएक इनकी मृत्यु हो गई। इनकी लेखनी आकर्षक थी और अमरीका के साहित्य में इनका ऊँचा स्थान है। [स्कं० गु०]

अर्विंग, सर हेनरी (१८३८-१९०५), अंग्रेज अभिनेता, मूल नाम जान ब्राड्रिब। पहली बार बुलवर लिटन के नाटक 'रिशेल्यू' में आर्लीन्स के ड्यूक की भूमिका में रंगमंच पर आए। अगले दस वर्षों में उन्होंने ५०० भूमिकाएँ खेलीं। वे शेक्सपियर के प्रधान नाटकों में प्रधान पात्र बने और १८७४ में जो उन्होंने २०० रातों तक लगातार हैम्लेट का पार्ट किया उससे अंग्रेज जनता ने उन्हें देश का रुचिरतम अभिनेता स्वीकार किया। १८९५ में 'नाइट' बने। दशकों

उन्होंने बड़े सफलतापूर्वक अभिनय, नाटकों के निर्देशन और रंगमंचीय प्रकाशन किए। [ओं० ना० उ०]

अर्श अथवा बवासीर (अंग्रेजी में हेमोरॉयड अथवा पाइल्स) एक रोग है जिसमें मलाशय की शिरा गुदा के अंत में या गुदा के भीतर फूल जाती है और विवर्ण हो जाती है। इसमें पीड़ा होती है और कभी कभी रुधिर बहता है। यदि मलद्वार पर या उससे बाहर की शिराएँ फूल जाती हैं तो यह बाह्य अर्श कहलाता है और मलद्वार के बाहर फूले फूले पिंड से दिखाई पड़ते हैं। गुदा के भीतर शिरा के फूलने पर फूले पिंड आंतरिक अर्श कहे जाते हैं। परीक्षा करने पर ये टटोले जा सकते हैं या गुददर्शक (प्रोक्टॉस्कोप) द्वारा देखे जा सकते हैं।

यहाँ की शिराओं में विशेषता यह होती है कि वे मलाशय की लंबाई की दिशा में मलाशय के समांतर स्थित होती हैं। उनमें कपाटिकाएँ (वाल्व) नहीं होतीं। इस कारण ऊपर से दबाव पड़ने पर उनके अंतिम भाग फूल जाते हैं और बहुधा यह दशा चिरस्थायी सी हो जाती है। अतएव कोष्ठबद्धता (कब्ज) तथा यकृत के विकारों के कारण इनमें रक्त जमा होने लगता है और कुछ समय में अर्श बन जाते हैं, जिनको मस्सा भी कहा जाता है। आंतरिक अर्श भी दो प्रकार के होते हैं। एक को खूनी कहा जाता है, जिसमें समय समय पर रक्त निकला करता है। दूसरा बादी कहलाता है। इसके मसे अधिक फूले हुए होते हैं।

अर्श बहुत बार दूरस्थ रोग के लक्षण होते हैं। चिकित्सा में इसका विचार करना आवश्यक है। चालीस साल से ऊपर की आयु में वे कैंसर के द्योतक हो सकते हैं। उच्च रुधिरचाप (हाई ब्लड प्रेशर) में वे समय समय पर रक्त को निकालकर रोगी की रक्षा के हेतु होते हैं। रोग का निश्चय करते समय गुदा से रक्तप्रवाह के अन्य कारणों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

सामान्य दशाओं में कारण को दूर करके औषधोपचार से चिकित्सा की जा सकती है। इंजेक्शन विधि में बादाम के तेल में ५० प्रति शत फिनोल द्रव का योग प्रत्येक अर्श में प्रति सप्ताह इंजेक्शन से तब तक दिया जाता है जब तक वे सूख नहीं जाते। शस्त्र-चिकित्सा-विधि में प्रत्येक अर्श का बंधन और छेदन कर दिया जाता है। [मु० स्व० व०]

अर्शक यह पहला पार्थव राजा था। यूनानियों ने इसे अर्सेकीज़ लिखा है। २४८ ई० पू० के लगभग सीरियक साम्राज्य के दो प्रांतों ने सफल विद्रोह का झंडा उठाया, उनमें से एक बाख्त्री का ग्रीक शासित प्रांत था, दूसरा ईरानियों का पार्थिया। पार्थिया का विद्रोह राष्ट्रीय था और जब पार्थव ग्रीक शासन का जुआ अधिक न ढो सके तो उसे उन्होंने उतार फेंका। उनके जनविद्रोह का नेता अर्शक साधारण कुल में जन्मा था और उसके नेतृत्व में पार्थिया का प्रांत सिल्यूकस के साम्राज्य से अलग हो गया। [ओं० ना० उ०]

अर्हत् और अरिहंत पर्यायवाची शब्द हैं। अतिशय पूजासत्कार के योग्य होने से इन्हें अर्हत् (अर्ह=योग्य होना) कहा गया है। मोहरूपी शत्रु (अरि) का अथवा आठ कर्मों का नाश करने के कारण ये अरिहंत (अरि को नाश करनेवाला) कहे जाते हैं। जैनों के णमोकार मंत्र में पंचपरमेष्ठियों में सर्वप्रथम अरिहंतों को नमस्कार किया गया है। सिद्ध परमात्मा हैं लेकिन अरिहंत भगवान् लोक के परम उपकारक हैं, इसलिये उन्हें सर्वोत्तम कहा गया है। एक काल में एक ही अरिहंत जन्म लेते हैं। जैन आगमों को अर्हत् द्वारा भाषित कहा गया है। अरिहंत तीर्थंकर, केवली और सर्वज्ञ होते हैं। महावीर जैन धर्म के चौबीसवें (अंतिम) तीर्थंकर माने जाते हैं। बुरे कर्मों का नाश होने पर केवल ज्ञान द्वारा वे समस्त पदार्थों को जानते हैं इसलिये उन्हें केवली कहा है। सर्वज्ञ भी उसे ही कहते हैं।

सं०ग्रं०—अभिधान राजेंद्र कोश १ (१६१३); षट्खंडागम, धवला टीका १ (१६३६)। [ज० चं० जै०]

अलंकार अलंकृति : अलंकार : अलम् अर्थात् भूषण। जो भूषित करे वह अलंकार है। इस कारण व्युत्पत्ति से उपमा आदि अलंकार कहलाते हैं। उपमा आदि के लिये अलंकार शब्द का संकुचित अर्थ में प्रयोग किया गया है। व्यापक रूप में सौंदर्य मात्र को अलंकार कहते हैं और उसी से काव्य ग्रहण किया जाता है। (काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौंदर्यमलंकारः—वामन)। चारुत्व को भी अलंकार कहते हैं। (टीका, व्यक्तिविवेक)। भामह के विचार से वक्रार्थविधायक शब्दोक्ति अथवा शब्दार्थवैचित्र्य का नाम अलंकार है (वक्राभिधेत-शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।) रुद्रट अभिधानप्रकारविशेष को ही अलंकार मानते हैं (अभिधानप्रकारविशेषा एव चालंकाराः)। दंडी के लिये अलंकार काव्य के शोभाकर धर्म हैं (काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते)। सौंदर्य, चारुत्व, काव्यशोभाकर धर्म इन तीन रूपों में अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है और शेष में शब्द तथा अर्थ के अनुप्रासोपमादि अलंकारों के संकुचित अर्थ में। एक में अलंकार काव्य के प्राणभूत तत्व के रूप में ग्रहीत हैं और दूसरे में सुसज्जितकर्ता के रूप में।

आधार : सामान्यतः कथनीय वस्तु को अच्छे से अच्छे रूप में अभिव्यक्ति देने के विचार से अलंकार प्रयुक्त होते हैं। इनके द्वारा या तो भावों को उत्कर्ष प्रदान किया जाता है या रूप, गुण तथा क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराया जाता है। अतः मन का ओज ही अलंकारों का वास्तविक कारण है। रुचिभेद से आडंबर और चमत्कारप्रिय व्यक्ति शब्दालंकारों का और भावुक व्यक्ति अर्थालंकारों का प्रयोग करता है। शब्दालंकारों के प्रयोग में पुनरुक्ति, प्रयत्नलाघव तथा उच्चारण या ध्वनिसाम्य मुख्य आधारभूत सिद्धांत माने जाते हैं और पुनरुक्ति को ही आवृत्ति कहकर इसके वर्ण, शब्द तथा पद के क्रम से तीन भेद माने जाते हैं, जिनमें क्रमशः अनुप्रास और छेक एवं यमक, पुनरुक्तवदाभास तथा लाटानुप्रास को ग्रहण किया जाता है। वृत्यनुप्रास प्रयत्नलाघव का उदाहरण है। वृत्तियों और रीतियों का आविष्कार इसी प्रयत्नलाघव के कारण हुआ है। श्रुत्यनुप्रास में ध्वनिसाम्य स्पष्ट है ही। इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त चित्रालंकारों की रचना में कौतूहलप्रियता, वक्रोक्ति, अन्योक्ति तथा विभावनादि अर्थालंकारों की रचना में वैचित्र्य में आनंद मानने की वृत्ति कार्यरत रहती हैं। भावाभिव्यंजन, न्यूनाधिकारिणी तथा तर्कना नामक मनोवृत्तियों के आधार पर अर्थालंकारों का गठन होता है। ज्ञान के सभी क्षेत्रों से अलंकारों की सामग्री ली जाती है, जैसे व्याकरण के आधार पर क्रियामूलक भाविक और विशेष्य-विशेषण-मूलक अलंकारों का प्रयोग होता है। मनोविज्ञान से स्मरण, भ्रम, संदेह तथा उत्प्रेक्षा की सामग्री ली जाती है, दर्शन से कार्य-कारण-संबंधी असंगति, हेतु तथा प्रमाण आदि अलंकार लिए जाते हैं और न्यायशास्त्र के क्रमशः वाक्यन्याय, तर्कन्याय तथा लोकन्याय भेद करके अनेक अलंकार गठित होते हैं। उपमा जैसे कुछ अलंकार भौतिक विज्ञान से संबंधित हैं और रसालंकार, भावालंकार तथा क्रियाचातुरीवाले अलंकार नाटयशास्त्र से ग्रहण किए जाते हैं (दे० अलंकारपीयूष, १)।

स्थान और महत्व : आचार्यों ने काव्यशरीर, उसके नित्यधर्म तथा बहिरंग उपकारक का विचार करते हुए काव्य में अलंकार के स्थान और महत्व का व्याख्यान किया है। इस संबंध में इनका विचार गुण, रस, ध्वनि तथा स्वयं वस्तु के प्रसंग में किया जाता है। शोभास्रष्टा के रूप में अलंकार स्वयं अलंकार्य ही मान लिए जाते हैं और शोभा के वृद्धिकारक के रूप में वे आभूषण के समान उपकारक मात्र माने जाते हैं। पहले रूप में वे काव्य के नित्यधर्म और दूसरे रूप में वे अनित्यधर्म कहलाते हैं। इस प्रकार के विचारों से अलंकारशास्त्र में दो पक्षों की नीव पड़ गई। एक पक्ष ने, जो रस को ही काव्य की आत्मा मानता है, अलंकारों को गौण मानकर उन्हें अस्थिरधर्म माना और दूसरे पक्ष ने उन्हें गुणों के स्थान पर नित्यधर्म स्वीकार कर लिया। काव्य के शरीर की कल्पना करके उनका निरूपण किया जाने लगा। आचार्य वामन ने व्यापक अर्थ को ग्रहण करते हुए भी संकीर्ण अर्थ की चर्चा के समय अलंकारों को काव्य का शोभाकर धर्म न मानकर उन्हें केवल गुणों में अतिशयता लानेवाला हेतु माना (काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।—का० सू०)। आचार्य आनंदवर्धन ने इन्हें काव्यशरीर पर कटककुंडल आदि के सदृश मात्र माना है (तमर्थमवलंबंते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः। अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्।—ध्वन्यालोक)। आचार्य मम्मट ने गुणों को शौर्यादिक अंगी धर्मों के समान तथा अलंकारों को उन गुणों

का अंगद्वार से उपकार करनेवाला बताकर उन्हीं का अनुसरण किया है (ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः। उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः॥ उपकुर्वंति तं संतं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्। हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।) उन्होंने गुणों को नित्य तथा अलंकारों को अनित्य मानकर काव्य में उनके न रहने पर भी कोई हानि नहीं मानी (तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि—का० प्र०)। आचार्य हेमचंद्र तथा आचार्य विश्वनाथ दोनों ने उन्हें अंगाश्रित ही माना है। हेमचंद्र ने तो 'अंगाश्रितास्त्वलंकाराः' कहा ही है और विश्वनाथ ने उन्हें अस्थिर धर्म बताकर काव्य में गुणों के समान आवश्यक नहीं माना है (शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः। रसादीनुपकुर्वंतोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्।—सा० द०) इसी प्रकार यद्यपि अग्निपुराणकार ने 'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रसएवात्रजीवितम्' कहकर काव्य में रस की प्रधानता स्वीकार की है, तथापि अलंकारों को नितांत अनावश्यक न मानकर उन्हें शोभातिशायी कारण मान लिया है (अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती)।

इन मतों के विरोध में १३वीं शती में जयदेव ने अलंकारों को काव्यधर्म के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए उन्हें अनिवार्य स्थान दिया है। जो व्यक्ति अग्नि में उष्णता न मानता हो, उसी की बुद्धिवाला व्यक्ति वह होगा जो काव्य में अलंकार न मानता हो। अलंकार काव्य के नित्यधर्म हैं (अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती। असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।—चन्द्रालोक)।

इस विवाद के रहते हुए भी आनंदवर्धन जैसे समन्वयवादियों ने अलंकारों का महत्व प्रतिपादित करते हुए उन्हें आंतर मानने में हिचक नहीं दिखाई है। रसों की अभिव्यंजना वाच्यविशेष से ही होती है और वाच्यविशेष के प्रतिपादक शब्दों से रसादि के प्रकाशक अलंकार, रूपक आदि भी वाच्यविशेष ही हैं, अतएव उन्हें अंतरंग रसादि ही मानना चाहिए। बहिरंगता केवल प्रयत्नसाध्य यमक आदि के संबंध में मानी जायगी (यतो रसा वाच्यविशेषैरेवाक्षेप्तव्याः। तस्मान्न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ। यमकदुष्करमार्गेषु तु तत् स्थितमेव।—ध्वन्यालोक)। अभिनवगुप्त के विचार से भी यद्यपि रसहीन काव्य में अलंकारों की योजना करना शव को सजाने के समान है (तथाहि अचेतनं शवशरीरं कुंडलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात्—लोचन), तथापि यदि उनका प्रयोग अलंकार्य के सहायक के रूप में किया जायगा तो वे कटकवत् न रहकर कुंकुम के समान शरीर को सुख और सौंदर्य प्रदान करते हुए अद्भुत सौंदर्य से मंडित करेंगे। यहाँ तक कि वे काव्यात्मा ही बन जायँगे। जैसे खेलता हुआ बालक राजा का रूप बनाकर अपने को सचमुच राजा ही समझता है और उसके साथी भी उसे वैसा ही समझते हैं, वैसे ही रस के पोषक अलंकार भी प्रधान हो सकते हैं (सुकविः विदग्धपुरंध्रीवत् भूषणं यद्यपि श्लिष्टं योजयति, तथापि शरीरतापत्तिरेवास्य कष्टसंपाद्या, कुंकुमपीतिकाया इव। बालक्रीडायामपि राजत्वमिवेत्थममुमर्थं मनसि कृत्वाह।—लोचन)।

वामन से पहले के आचार्यों ने अलंकार तथा गुणों में भेद नहीं माना है। भामह 'भाविक' अलंकार के लिये गुण शब्द का प्रयोग करते हैं। दंडी दोनों के लिये 'मार्ग' शब्द का प्रयोग करते हैं और यदि अग्निपुराणकार काव्य में अनुपम शोभा के आधायक को गुण मानते हैं (यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः) तो दंडी भी काव्य के शोभाकर धर्म को अलंकार की संज्ञा देते हैं। वामन ने ही गुणों की उपमा युवती के सहज सौंदर्य से और शालीनता आदि उसके सहज गुणों से देकर गुणरहित किंतु अलंकारमयी रचना को काव्य नहीं माना है। इसी के पश्चात् इस प्रकार के विवेचन की परंपरा प्रचलित हुई।

वर्गीकरण : ध्वन्यालोक में 'अनन्ता हि वाग्विकल्पाः' कहकर अलंकारों की अगणेयता की ओर संकेत किया गया है। दंडी ने 'ते चाद्यापि विकल्प्यंते' कहकर इनकी नित्य संख्यवृद्धि का ही निर्देश किया है। तथापि विचारकों ने अलंकारों को शब्दालंकार, अर्थालंकार, रसालंकार, भावालंकार, मिश्रालंकार, उभयालंकार तथा संसृष्टि और संकर नामक भेदों में बाँटा है। इनमें प्रमुख शब्द तथा अर्थ के आश्रित अलंकार हैं। यह विभाग अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर किया जाता है। जब किसी शब्द के पर्यायवाची का प्रयोग करने से पंक्ति में ध्वनि का वही चारुत्व न रहे तब मूल शब्द के प्रयोग में शब्दालंकार होता है और जब शब्द के पर्यायवाची के प्रयोग से भी अर्थ की चारुता में अंतर न आता हो तब अर्थालंकार होता है। सादृश्य आदि को अलंकारों के मूल में पाकर पहले-पहल उद्भट ने विषयानुसार कुल ४४ अलंकारों को छः वर्गों में विभाजित किया था, किंतु इनसे अलंकारों के विकास की भिन्न अवस्थाओं पर प्रकाश पड़ने की अपेक्षा भिन्न प्रवृत्तियों का ही पता चलता है। वैज्ञानिक वर्गीकरण की दृष्टि से तो रुद्रट ने ही पहली बार सफलता प्राप्त की है। उन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष को आधार मानकर उनके चार वर्ग किए हैं। वस्तु के स्वरूप का वर्णन वास्तव है। इसके अंतर्गत २३ अलंकार आते हैं। किसी वस्तु के स्वरूप की किसी अप्रस्तुत से तुलना करके स्पष्टतापूर्वक उसे उपस्थित करने पर औपम्यमूलक २१ अलंकार माने जाते हैं। अर्थ तथा धर्म के नियमों के विपर्यय में अतिशयमूलक १२ अलंकार और अनेक अर्थोंवाले पदों से एक ही अर्थ का बोध करानेवाले श्लेषमूलक १० अलंकार होते हैं।

विभाजन : अलंकार के मुख्यतः तीन भेद माने जाते हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार। शब्द के परिवृत्तिसह स्थलों में अर्थालंकार और शब्दों की परिवृत्ति न सहनेवाले स्थलों में शब्दालंकार होता है। दोनों की विशिष्टता रहने पर उभयालंकार होता है। अलंकारों की स्थिति दो रूपों में हो सकती है—केवल रूप और मिश्रित रूप। मिश्रण की द्विविधता के कारण 'संकर' तथा 'संसृष्टि' अलंकारों का उदय होता है। शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक तथा वक्रोक्ति का प्रामुख्य है। अर्थालंकारों की संख्या लगभग एक सौ पचीस तक पहुँच गई है (कुवलयानंद)।

सब अर्थालंकारों की मूलभूत विशेषताओं को ध्यान में रखकर आचार्यों ने इन्हें मुख्यतः पाँच वर्गों में विभाजित किया है : १. सादृश्यमूलक—उपमा, रूपक आदि; २. विरोधमूलक—विषय, विरोधाभास आदि; ३. शृंखलाबंध—सार, एकावली आदि; ४. तर्क, वाक्य, लोकन्यायमूलक काव्यलिंग तथा यथासंख्य आदि; ५. गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक—सूक्ष्म, पिहित, गूढ़ोक्ति आदि। [आ० प्र० दी०]

अलंकारशास्त्र

संस्कृत आलोचना के अनेक अभिधानों में 'अलंकारशास्त्र' ही नितांत लोकप्रिय अभिधान है। इसके प्राचीन नामों में **क्रियाकल्प** (क्रिया=काव्य ग्रंथ; कल्प=विधान) वात्स्यायन द्वारा निर्दिष्ट ६४ कलाओं में से अन्यतम है। राजशेखरद्वारा उल्लिखित **'साहित्य विद्या'** नामकरण काव्य की भारतीय कल्पना के ऊपर आश्रित है, परंतु ये नामकरण प्रसिद्ध नहीं हो सके। 'अलंकारशास्त्र' में अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक तथा संकीर्ण दोनों अर्थों में समझना चाहिए। अलंकार के दो अर्थ मान्य हैं—(१) 'अलंक्रियते अनेन' इति अलंकारः (=काव्य में शोभा के आधायक उपमा रूपक आदि; संकीर्ण अर्थ); (२) अलंक्रियते इति अलंकारः=काव्य की शोभा (व्यापक अर्थ)। व्यापक अर्थ स्वीकार करने पर अलंकारशास्त्र काव्यशोभा के आधायक समस्त तत्वों—गुण, रीति, रस, वृत्ति, ध्वनि आदि—का विधायक शास्त्र है जिसमें इन तत्वों के स्वरूप तथा महत्व का रुचिर विवरण प्रस्तुत किया गया है। संकीर्ण अर्थ में ग्रहण करने पर यह नाम अपने ऐतिहासिक महत्व को अभिव्यक्त करता है। साहित्यशास्त्र के आरंभिक युग में 'अलंकार' (उपमा, रूपक, अनुप्रास आदि) ही काव्य का सर्वस्व माना जाता था जिसके अभाव में काव्य उष्णताहीन अग्नि के समान निष्प्राण और निर्जीव होता है। 'अलंकार' के गंभीर विश्लेषण से एक ओर 'वक्रोक्ति' का तत्व उद्भूत हुआ और दूसरी ओर दीपक, तुल्ययोगिता, पर्यायोक्त आदि अलंकारों में विद्यमान प्रतीयमान अर्थ की समीक्षा करने पर 'ध्वनि' के सिद्धांत का स्पष्ट संकेत मिला। इसलिये रस, ध्वनि, गुण आदि काव्यतत्वों का प्रतिपादक होने पर भी, अलंकार की प्राधान्य दृष्टि के कारण ही, आलोचनाशास्त्र का नाम 'अलंकारशास्त्र' पड़ा और वह लोकप्रिय भी हुआ।

प्राचीनता : अलंकारों की, विशेषतः उपमा, रूपक, स्वभावोक्ति तथा अतिशयोक्ति की, उपलब्धि ऋग्वेद के मंत्रों में निश्चित रूप से होती है, परंतु वैदिक युग में इस शास्त्र के आविर्भाव का प्रमाण नहीं मिलता। निरुक्त के अनुशीलन से 'उपमा' का साहित्यिक विश्लेषण यास्क से पूर्ववर्ती युग की आलोचना का परिणत फल प्रतीत होता है। यास्क ने किसी प्राचीन गार्ग्य आचार्य के उपमालक्षण का निर्देश ही नहीं किया है, प्रत्युत

कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा, अर्थोपमा (लुप्तोपमा) जैसे मौलिक उपमाप्रकारों का भी दृष्टांतपुरःसर वर्णन किया है (निरुक्त ३।१३-१८)। इससे स्पष्ट है कि अलंकारशास्त्र का उदय यास्क (सप्तम शती ई० पू०) से भी पूर्व हो चुका था। काश्यप तथा वररुचि, ब्रह्मदत्त तथा नंदिस्वामी के नाम तरुणवाचस्पति ने आद्य आलंकारिकों में अवश्य लिए हैं, परंतु इनके ग्रंथ और मत का परिचय नहीं मिलता। राजशेखर द्वारा 'काव्यमीमांसा' में निर्दिष्ट बृहस्पति, उपमन्यु, सुवर्णनाभ, प्रचेतायन, शेष, पुलस्त्य, पाराशर, उतथ्य आदि अष्टादश आचार्यों में से केवल भरत का 'नाट्यशास्त्र' ही आजकल उपलब्ध है। अन्य आचार्य केवल काल्पनिक सत्ता धारण करते हैं। इतना तो निश्चित है कि यूनानी आलोचना के उदय से शताब्दियों पूर्व 'अलंकारशास्त्र' प्रामाणिक शास्त्रपद्धति के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था।

संप्रदाय : 'अलंकारसर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबंध ने इस शास्त्र के अनेक संप्रदायों की विशिष्टता का सुंदर विवरण प्रस्तुत किया है। काव्य के विभिन्न अंगों पर महत्व तथा बल देने से विभिन्न संप्रदायों की विभिन्न शताब्दियों में उत्पत्ति हुई। मुख्य संप्रदायों की संख्या छः मानी जा सकती है—(१) रस संप्रदाय, (२) अलंकार संप्रदाय, (३) रीति या गुण संप्रदाय, (४) वक्रोक्ति संप्रदाय, (५) ध्वनि संप्रदाय तथा (६) औचित्य संप्रदाय। इन संप्रदायों में अपने नामानुसार तत्तत् तत्व काव्य की आत्मा अर्थात् मुख्य प्राणाधायक स्वीकृत किए जाते हैं। (१) **रस संप्रदाय** के मुख्य आचार्य भरत मुनि हैं (द्वितीय शताब्दी) जिन्होंने **नाट्यरस** का ही मुख्यतः विश्लेषण किया और उस विवरण को अवांतर आचार्यों ने काव्य-रस के लिये भी प्रामाणिक माना। (२) **अलंकार संप्रदाय** के प्रमुख आचार्य भामह (छठी शताब्दी का पूर्वार्ध), दंडी (सातवीं शताब्दी), उद्भट (आठवीं शताब्दी) तथा रुद्रट (नवीं शताब्दी का पूर्वार्ध) हैं। इस मत में अलंकार ही काव्य की आत्मा माना जाता है। इस शास्त्र के इतिहास में यही संप्रदाय प्राचीनतम तथा व्यापक प्रभावपूर्ण अंगीकृत किया जाता है। (३) **रीति संप्रदाय** के प्रमुख आचार्य **वामन** (अष्टम शताब्दी का उत्तरार्ध) हैं जिन्होंने अपने 'काव्यालंकारसूत्र' में रीति को स्पष्ट शब्दों में काव्य की आत्मा माना है (**रीतिरात्मा काव्यस्य**)। दंडी ने भी रीति के उभय प्रकार—वैदर्भी तथा गौडी—की अपने 'काव्यादर्श' में बड़ी मार्मिक समीक्षा की थी, परंतु उनकी दृष्टि में काव्य में अलंकार की ही प्रमुखता रहती है। (४) **वक्रोक्ति संप्रदाय** की उद्भावना का श्रेय आचार्य कुंतक को (१०वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) है जिन्होंने अपने 'वक्रोक्ति जीवित' में 'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा (जीवित) स्वीकार किया है। (५) **ध्वनि संप्रदाय** का प्रवर्तन आनंदवर्धन (नवम शताब्दी का उत्तरार्ध) ने अपने युगांतरकारी ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' में किया तथा इसका प्रतिष्ठापन अभिनव गुप्त (१०वीं शताब्दी) ने ध्वन्यालोक की लोचन टीका में किया। मम्मट (११वीं शताब्दी का उत्तरार्ध), रुय्यक (१२श० का पूर्वार्ध), हेमचंद्र (१२वीं श० का उत्तरार्ध), पीयूषवर्ष जयदेव (१३ श० का उत्तरार्ध), विश्वनाथ कविराज (१४ श० का पूर्वार्ध), पंडितराज जगन्नाथ (१७ श०का मध्यकाल)—इसी संप्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्य हैं। (६) **औचित्य संप्रदाय** के प्रतिष्ठाता क्षेमेंद्र (११वीं शती का मध्यकाल) ने भरत, आनंदवर्धन आदि प्राचीन आचार्यों के मत को ग्रहण कर काव्य में औचित्य तत्व को प्रमुख तत्व अंगीकार किया तथा इसे स्वतंत्र संप्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित किया। अलंकारशास्त्र इस प्रकार लगभग दो सहस्र वर्षों से काव्यतत्वों की समीक्षा करता आ रहा है।

महत्व : यह शास्त्र अत्यंत प्राचीन काल से काव्य की समीक्षा और काव्य की रचना में आलोचकों तथा कवियों का मार्गनिर्देश करता आया है। यह काव्य के अंतरंग और बहिरंग दोनों का विश्लेषण बड़ी मार्मिकता से प्रस्तुत करता है। समीक्षासंसार के लिये अलंकारशास्त्र की काव्यतत्वों की चार अत्यंत महत्वपूर्ण देन है जिनका सर्वांग विवेचन, अंतरंग परीक्षण तथा व्यावहारिक उपयोग भारतीय साहित्यिक मनीषियों ने बड़ी सूक्ष्मता से अनेक ग्रंथों में प्रतिपादित किया है। ये महनीय काव्य-तत्व हैं—औचित्य, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा रस। **औचित्य** का तत्व लोक-व्यवहार में और काव्यकला में नितांत व्यापक सिद्धांत है। औचित्य के आधार पर ही रसमीमांसा का प्रासाद खड़ा होता है। आनंदवर्धन की यह उक्ति समीक्षाजगत् में मौलिक तथ्य का उपन्यास करती है कि अनौचित्य को छोड़कर रसभंग का कोई दूसरा कारण नहीं है और औचित्य का उपनिबंधन रस का रहस्यभूत उपनिषत् है—अनौचित्यादृते नान्यत् रस-भंगस्य कारणम्। औचित्योपनिबंधस्तु रसस्योपनिषत् परा (ध्वन्यालोक)। **वक्रोक्ति** लोकातिक्रांत गोचर वचन के विन्यास की साहित्यिक संज्ञा है। वक्रोक्ति के माहात्म्य से ही कोई भी उक्ति काव्य की रसपेशल सूक्ति के रूप में परिणत होती है। यूरोप में क्रोचे द्वारा निर्दिष्ट 'अभि-व्यंजनावाद' (एक्सप्रेशनिज्म) वक्रोक्ति को बहुत कुछ स्पर्श करनेवाला काव्यतत्व है। **ध्वनि** का तत्व संस्कृत आलोचना की तीसरी महती देन है। हमारे आलोचकों का कहना है कि काव्य उतना ही नहीं प्रकट करता जितना हमारे कानों को प्रतीत होता है, प्रत्युत वह नितांत गूढ़ अर्थों को भी हमारे हृदय तक पहुँचाने की क्षमता रखता है। यह सुंदर मनोरम अर्थ 'व्यंजना' नामक एक विशिष्ट शब्दव्यापार के द्वारा प्रकट होता है और इस प्रकार व्यंजक शब्दार्थ को ध्वनिकाव्य के नाम से पुकारते हैं। सौभाग्य की बात है कि अंग्रेजी के मान्य आलोचक एबरक्रांबी तथा रिचर्ड्स की दृष्टि इस तत्व की ओर अभी अभी आकृष्ट हुई है। **रसतत्व** की मीमांसा भारतीय आलोचकों के मनोवैज्ञानिक समीक्षापद्धति के अनुशीलन का मनोरम फल है। काव्य अलौकिक आनंद के उन्मीलन में ही चरितार्थ होता है चाहे वह काव्य श्रव्य हो या दृश्य। हृदयपक्ष ही काव्य का कलापक्ष की अपेक्षा नितांत मधुरतर तथा शोभन पक्ष है; इस तथ्य पर भारतीय आलोचना का नितांत आग्रह है। भारतीय आलोचना जीवन की समस्या को सुलझाने-वाले दर्शन की छानबीन से कथमपि पराङ्मुख नहीं होती और इस प्रकार यह पाश्चात्य जगत् के तीन शास्त्रों—'पोएटिक्स', 'रेटारिक्स' तथा 'ऐस्थेटिक्स'—का प्रतिनिधित्व अकेले ही अपने आप करती है। प्राचीनता, गंभीरता तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में यह पश्चिमी आलोचना से कहीं अधिक महत्वशाली है; इस विषय में दो मत नहीं हो सकते।

सं०ग्रं०—काणे : हिस्ट्री ऑव अलंकारशास्त्र (बंबई, १९५५); एस० के० दे : संस्कृत पोएटिक्स (लंदन, १९२५); बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र (दो खंड) काशी, १९५०। [ब० उ०]

अल-उतबी

तारीख-यामीनी अथवा किताबुल-यामीनी के लेखक, अबु-नसर-मोहम्मद इब्न मोहम्मद जब्बरुल उतबी सुलतान महमूद का मंत्री था। इसके पूर्वजों ने शमानी राजाओं के शासनकाल में उच्च पदों को सुशोभित किया। नसिरुद्दीन सुबुक्तगीन और महमूद के शासनकाल का वृत्तांत इसकी पुस्तक में मिलता है, पर गजनी सम्राट् के राज्यकाल में ४१० हिजरी (१०२० ई०) के बाद का विस्तृत ब्योरा इसके ग्रंथ में नहीं है। इसकी मृत्यु की तिथि निश्चित नहीं; पर ४२० हिजरी (१०३० ई०) तक यह जीवित था। इसका ग्रंथ अरबी में है जिसका अनुवाद फारसी में 'तर्जुमाए यामीनी' के नाम से अबुल शराक अर्वादकानी ने ५२८ हिजरी (११६२ ई०) में किया।

सं० ग्रं०—इलियट और डाउसन : भारत का इतिहास।

[बै० पु०]

अलकतरा

लकड़ी, पत्थर का कोयला तथा कच्चे खनिज तेल (पेट्रोलियम) आदि कार्बनिक पदार्थों का जब शुष्क आसवन (ड्राइ डिस्टिलेशन) किया जाता है तो कई प्रकार के पदार्थ प्राप्त होते हैं। इन्हीं पदार्थों में एक गहरे काले रंग का गाढ़ा द्रव पदार्थ भी प्राप्त होता है जिसे अलकतरा (अंगारराल, विराल, अंग्रेजी में टार अथवा कोलटार) कहते हैं। उदाहरणार्थ पत्थर के कोयले के शुष्क आसवन में निम्नांकित पदार्थ प्राप्त होते हैं :

(१) **कोयले की गैस** (१७%)—इसमें कई गैसें मिश्रित रहती हैं जिनमें प्रमुख हाइड्रोजन (५२%), मेथेन (३२%), कार्बन मोनो-आक्साइड (६%), नाइट्रोजन (४%), कार्बन डाइ-आक्साइड (२%), तथा एथिलीन और अन्य ओलीफीन (४%) हैं। इनके अतिरिक्त बेंजीन तथा अन्य ऐरोमैटिक हाइड्रोकार्बन के वाष्प भी इसमें रहते हैं। इसका मुख्य उपयोग ईंधन के रूप में होता है।

(२) **अमोनिया विलयन** (८%)—इससे अमोनिया प्राप्त की जाती है।

(३) **अलकतरा** (५%)।

(४) **कोक** (७०%)—यह भभके (रिटॉर्ट) में बचा ठोस पदार्थ है। इसका उपयोग ईंधन के रूप में तथा लोहे के कारखानों में अवकारक (रिड्यूसिंग एजेंट) के रूप में होता है।

आजकल अधिक अलकतरा कोयले से ही प्राप्त होता है, क्योंकि कोयले की गैस तथा कोक प्राप्त करने के लिये कोयले का शुष्क आसवन अधिक परिमाण में किया जाता है। लंदन, न्यूयार्क, बंबई, कलकत्ता आदि शहरों में घरों में ईंधन के रूप में प्रयुक्त होने के लिये कोयले की गैस का उत्पादन बहुत होता है, और फलस्वरूप अलकतरा बड़ी मात्रा में प्राप्त होता है।

कोयले की गैस प्राप्त करने के लिये कोयले का बृहत् परिमाण में शुष्क आसवन सर्वप्रथम लंदन में १८वीं शताब्दी के अंत में आरंभ हुआ था। धीरे धीरे कोयले की गैस की माँग बढ़ती गई और फलस्वरूप उसका उत्पादन भी बढ़ता गया और उसी के अनुसार अलकतरे की मात्रा भी बढ़ती गई। आरंभ में अलकतरे का कोई उपयोग ज्ञात नहीं था और बेकार पदार्थ समझकर इसे फेंक दिया जाता था। लगभग सन् १८५० से अलकतरे का उपयोग विभिन्न कार्यों में होने लगा। आरंभ में अलकतरे का उपयोग लकड़ी की रक्षा करने, लकड़ी तथा पत्थर पर काला रंग चढ़ाने तथा काजल (लैंप ब्लैक) बनाने में होता था। आजकल अलकतरा विभिन्न ऐरोमैटिक पदार्थों की प्राप्ति का एक मूल्यवान् स्रोत है।

गुण—अलकतरा गहरे काले रंग का एक गाढ़ा द्रव है और इसमें एक विशेष प्रकार की तीव्र गंध होती है। अलकतरे में अनेक प्रकार के पदार्थ विद्यमान रहते हैं। लगभग २०० विभिन्न रासायनिक कार्बनिक यौगिक अब तक इसमें पहचाने जा चुके हैं। अलकतरे में विद्यमान सब पदार्थों को उनकी रासायनिक प्रतिक्रिया के आधार पर तीन प्रकारों में बाँटा जाता है—उदासीन, आम्लिक तथा भास्मिक। उदासीन पदार्थों में ऐरोमैटिक हाइड्रोकार्बन मुख्य हैं। आम्लिक पदार्थों में फीनोल (कार्बोलिक अम्ल) तथा क्रिसोल हैं। भास्मिक पदार्थों में मुख्य पिरीडीन और कुनोलीन हैं। अलकतरे में साधारणतः २ से ५ प्रति शत तक पानी भी रहता है।

अलकतरे से प्राप्त होनेवाले कुछ मुख्य पदार्थों की सूची नीचे दी जाती है :—

हाइड्रोकार्बन : बेंजीन, डाइ-फिनाइल, फिनैंथ्रीन, टालुईन, फ्लोरीन, ऐंथ्रासीन, आर्थो, मेटा और पैरा ज़ाइलीन, नैफ्थलीन, क्राइसीन, इंडीन, मेथिल नैफ्थलीन।

नाइट्रोजनवाले पदार्थ : पिरीडीन, इंडोल, पिकोलीन, ऐक्रीडीन, कुनोलीन, कार्बेजोल, आइसो-कुनोलीन।

आक्सिजनवाले पदार्थ : फीनोल, नैफ्थाल, क्रिसोल, डाइ-फिनाइलीन आक्साइड।

अलकतरे का आसवन : अलकतरे से विभिन्न पदार्थ प्रभाजित आसवन (फ्रैक्शनल डिस्टिलेशन) द्वारा प्राप्त किए जाते हैं। निर्जलीकरण करने के बाद प्रभाजित आसवन द्वारा पहले कुछ मुख्य अंश पृथक् किए जाते हैं और फिर प्रत्येक अंश से रासायनिक विधि द्वारा, अथवा पुनः प्रभाजित आसवन द्वारा, पृथक् पृथक् उपयोगी पदार्थ प्राप्त किए जाते हैं।

आसवन के लिये मुख्यतः दो प्रकार के उपकरण (यंत्र) उपयोग में आते हैं। एक प्रकार में अलकतरे की एक निश्चित मात्रा उपकरण में ली जाती है और जब इसका आसवन समाप्त हो जाता है तो उपकरण को साफ कर पुनः नई मात्रा लेकर आसवन आरंभ किया जाता है। दूसरे प्रकार में आसवनक्रिया को बिना रोके अलकतरे को बीच बीच में उपकरण में डालते रहने का प्रबंध रहता है और इस प्रकार आसवन बराबर होता रहता है। आसवन की विधि तथा उपकरण के प्रकार के अनुसार अलकतरे से प्राप्त होनेवाले पदार्थों के स्वभाव तथा मात्रा में अंतर होता है।

संरचना : साधारण ताप पर अंगारराल (अलकतरा) श्यान (विस्कस) होता है और साधारणतः इसका आपेक्षिक भार जल से अधिक होता है। अलकतरा कार्बनिक यौगिकों, मुख्यतः हाइड्रोकार्बनों का अत्यंत जटिल मिश्रण होता है। जिन यौगिकों द्वारा अलकतरे का निर्माण होता है उनका विस्तार हल्के तैल के निर्माण में प्रयुक्त यौगिकों से लेकर डामर (पिच) के निर्माण में प्रयुक्त अत्यधिक जटिल पदार्थों तक होता है। अधिकांश अलकतरे में ठोस पदार्थ अपकीर्ण रहता है। अधिकतर यह कलिल (कोलॉयडल) रूप में होता है, परंतु इसका विस्तार मोटे (स्थूल) कणों तक पाया जाता है। स्थूल कार्बनीय पदार्थ शायद वकभांड (भभका, रिटॉर्ट) से निकलनेवाली गैस के साथ आते हैं, परंतु कलिल भाग उच्च अणुभार युक्त जटिल हाइड्रोकार्बन होता है। ठोस पदार्थ को, जो बेंजोल में अविलेय होता है, 'मुक्त कार्बन' कहते हैं। कार्बनिक संघटकों के अतिरिक्त अलकतरे में एक प्रति शत का कुछ भाग राख तथा कई प्रति शत जल भी होता है।

अलकतरे की संरचना मुख्यतः कार्बनीकरण के ताप पर निर्भर रहती है, परंतु कुछ अंशों में इसपर कोकित कोयले की प्रकृति का भी प्रभाव पड़ता है। तापीय अलकतरे में अधिक भाग 'सुरभि यौगिकों' (ऐरोमैटिक कंपाउंड) यथा फीनोल, क्रीसोल, नैफ्थलीन, बेंजीन तथा इसके सजातीय एवं ऐंथ्रेसीन का होता है। उच्च तापीय अलकतरा प्रारंभिक अलकतरे के अपदलन (क्रैकिंग) से निर्मित किया जाता है जो स्वयं कोयले के विन्यास (कोल स्ट्रक्चर) का त्रोटन होने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है। अलकतरे की प्रारंभिक संरचना उन कोयलों पर निर्भर रहती है जिनसे उसका उत्पादन होता है, परंतु अधिक गर्म करने के पश्चात् दोनों की भिन्नता समाप्त हो जाती है और अंतिम संरचना मुख्यतः विच्छेदन की स्थिति पर निर्भर रहती है। [सं०प्र०टं०]

निम्नताप कार्बनीकरण ऐसा अलकतरा उत्पन्न करता है जो कम परिवर्तित होता है और जिसमें क्रीसोल और जाइलेनोल, उच्चतर फीनोल और क्षारक, नैफ्थलीन के अतिरिक्त पराफिन तथा कुछ डाइहाइड्राक्सी फीनोल भी रहते हैं। इस अलकतरे की संरचना में उच्च ताप पर निर्मित अलकतरे की अपेक्षा विभेद अधिक होता है। इसका कारण प्रारंभिक यौगिकों की अपदलनांशता की भिन्नता है।

उच्चतापीय अलकतरा में कई सौ यौगिक होते हैं। इनमें से बहुत थोड़े से यौगिक ऐसे हैं जिन्हें पहचाना और अलग किया जा सका है। व्यावसायिक स्तर पर तो अपेक्षाकृत बहुत ही कम यौगिकों को निकाला जा सका है। अलकतरा से जो यौगिक निकाले जा सके हैं उनको तथा प्रत्येक के संकेंद्रण एवं प्रभाग को सारणी १ में दिखाया गया है :

सारणी १

व्यावहारिक दशा में साधारण अलकतरे से प्राप्य आसुत तथा उनसे व्युत्पन्न उत्पाद

(प्रति शत मौलिक अलकतरे पर आधारित है)

अलकतरा			
हल्का तैल, २००° सें० (३९२° फा०) तक	५·०	—	—
बेंजीन	—	०·१	—
टालुईन	—	०·२	—
जाइलीन	—	१·०	—
भारी विलायक नैफ्था	—	१·५	—
मध्य तैल, २००-२५०° सें० (३९२-४८२° फा०)	१७·०	—	—
अलकतरा (टार)-अम्ल	—	२·५	—
फीनाल	—	—	०·७
क्रीसोल	—	—	१·१
जाइलेनाल	—	—	०·२
उच्चतर अलकतरा अम्ल	—	—	०·५
अलकतरा (टार)-भस्म	—	२·०	—
पायरिडीन	—	—	०·१
भारी भस्म	—	—	१·९
नैफ्थलीन	—	१०·९	—

अभिज्ञ	—	१·७	—
भारी तैल, २५०-३००° सें० (४८२-५७२° फा०)	७·०	—	—
मेथिल नैफ्थलीन	—	२·५	—
डाइमेथिल नैफ्थलीन	—	३·४	—
एसी नैफ्थलीन	—	१·४	—
अभिज्ञ	—	१·०	—
ऐंथ्रैसीन तैल, ३००-३५०° सें० (५७२-६६२° फा०)	६·०	—	—
फ्लोरीन	—	१·६	—
फेनेनथ्रेन	—	४·०	—
ऐंथ्रैमीन	—	१·१	—
कारबेजोल	—	१·१	—
अभिज्ञ	—	१·२	—
डामर	६२·०	—	—
गैस	—	२·०	—
भारी तैल	—	२१·८	—
रक्त मोम	—	७·०	—
कार्बन	—	३२·०	—

ऊपर यह कहा जा चुका है कि अलकतरे के गुण कार्बनीकरण की विधियों पर निर्भर रहते हैं। सारणी २ में विभिन्न कार्बनीकरण विधियों से प्राप्त अलकतरे के गुण अंकित हैं :

सारणी २

विभिन्न अलकतरों के गुण :

	अनुप्रस्थ वकभांड (उच्चताप)	बोक कंडु	उदग्र वकभांड	निम्नताप कार्बनीकरण
१५·५° सें० पर आपेक्षिक भार	१.१६	१.१७	१.११	१·०३
आसवन, शुष्क डामर का भार, प्रति शत				
२००° सें० (३९२° फा०) तक	५	२	५	९
२००°-२३०° सें० (४४६° फा०)	७	३	११	१६
२३०°-२७०° सें० (५१८° फा०)	११	७	१४	१३
२७०°-३००° सें० (५७२° फा०)	४.५	६	७	९
३००°-मध्य डामर	१२.५	११	१२	१८
मध्य डामर	६०	७१	५१	३५
अशोधित डामर अम्ल, २००°-२७०° सें० वाले प्रभाग में				
प्रभाग का आयतन प्रति शत	२०-२५	२०२५	२०-५०	३५-४०
शुष्क अलकतरे का आयतन प्रति शत	४-५	४-५	६-१२	८-१०
नैफ्थलीन, २००°-२७०° सें० प्रभाग में शुष्क अलकतरे का भार प्रति शत	४	४-६	लेशमात्र	शून्य
मुक्त कार्बन, भार प्रति शत	१५	१५	४	१

'उपजात प्रत्यादान उपकरण' (बाई-प्रॉडक्ट रिकवरी ऐपरेटस) में विभिन्न स्थानों पर अवक्षिप्त अलकतरे के गुणों में बहुत अंतर होता है। जिन अलकतरों में उच्च-क्वथनांक यौगिक अधिक मात्रा में होते हैं वे 'संग्रहण नल' (कलेक्टिंग मेन) में एकत्र होते हैं। परंतु प्रारंभिक शीतक (प्राइमरी कूलर) से प्राप्त अलकतरे में अधिक अनुपात निम्न-क्वथनांक यौगिकों का होता है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि अलकतरे के आसवन से आजकल कई प्रकार के रासायनिक एवं रंजक पदार्थ तैयार किए जाते हैं। एक टन अलकतरे के आसवन से औसत मात्रा में निम्नलिखित विभिन्न पदार्थ प्राप्त होते हैं :

		आसवन ताप ° सेंटीग्रेड
लघु तैल	१२ गैलन	१७०° सें० तक
कार्बोलिक तैल	२० गैलन	१७०° सें० से २३०° सें० तक
क्रियोसोट तैल	१७ ,,	२३०° स० से २७०° सें० तक
ऐंथ्रैमीन तैल	३८ ,,	२७०° सें० से ४००° स० तक
डामर	११ हंड्रेडवेट	अवशेष

उपर्युक्त पदार्थों के शोधन और रासायनिक उपचार के पश्चात् निम्नलिखित शुद्ध पदार्थों की प्राप्ति होती है :

बेंजीन तथा टॉलुईन	२५ पाउंड
फीनोल	११ ,,
क्रीसोल	५० ,,
नैफ्थलीन	१८० ,,
क्रिओसोट	२०० ,,
ऐंथ्रैमीन	६ ,,

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि अलकतरा न केवल एक तरल ईंधन है, वरन् उससे नाना प्रकार के रासायनिक विस्फोटक पदार्थ, ओषधियाँ, सुंदर रंजक, संश्लिष्ट रबर, प्लास्टिक, मक्खन तथा अन्य कई वस्तुएँ बनाई जा रही है। वास्तव में यह एक बहुमूल्य निधि है जिसमें सहस्रों रत्न छिपे पड़े हैं।

सं०ग्रं०—नैशनल रिसर्च काउंसिल, अमरीका (सभापति एच० एच० लौव्री) : दि केमिस्ट्री ऑव कोल यूटिलाइज़ेशन, २ खंड (१९४५)।

[द० स्व०]

अलकनंदा गंगा की एक प्रधान शाखा अथवा सहायक है। यह हिमालय से निकलकर संयुक्त प्रांत के गढ़वाल जिले के ऊपरी भाग में बहती हुई टिहरी गढ़वाल जिले के देवप्रयाग नामक स्थान पर बाईं ओर से आनेवाली भागीरथी से मिलकर गंगा का निर्माण करती है। अलकनंदा भी भारत की पवित्र नदियों में गिनी जाती है। माउंट कैमेट (२५,४४७ फुट) के पार्श्वद्वय से धौली तथा सरस्वती नदियाँ आती हैं और गंगोत्तरी-केदारनाथ-बदरीनाथ शिखरसमूह (२२,०००-२३,००० फुट) के पूर्वी पार्श्व में उनके मिलने से अलकनंदा नदी बन जाती है। इस शिखरसमूह के पश्चिमी अंचलों से भागीरथी निकलती है और टिहरी गढ़वाल जिले के देवप्रयाग नामक स्थान में अलकनंदा के संगम से पुण्य-सलिला गंगा का निर्माण होता है। भागीरथीसंगम के पूर्व अलकनंदा नदी म पिंदर, नंदाकिनी एवं मंदाकिनी नदियाँ मिलती हैं और इन संगमों पर क्रमानुसार कर्णप्रयाग, नंदप्रयाग और रुद्रप्रयाग नामक तीर्थस्थान हैं।

बदरीनाथ से थोड़ी दूर ऊपर अलकनंदा नदी की चौड़ाई १८ या २० फुट है, पथ उथला एवं धारा तीव्र है। इसके ऊपर नदी का मार्ग हिमपुंजों के भीतर ढँका रहता है। शास्त्रों में उल्लिखित 'अलकापुरी'—कुबेर की महानगरी—इसके उत्तरांचल में स्थित है। देवप्रयाग में नदी की चौड़ाई १४०-१५० फुट हो जाती है। नदी के पार्श्व में ७,००० फुट की ऊँचाई तक हिमोढ़ (मोरेंस) पाए जाते हैं जब कि आज की हिमनदियाँ १३,००० फुट से नीचे नहीं मिलतीं। अलकनंदा के तट पर श्रीनगर (जनसंख्या २,३८५ : सन् १९५१) नामक नगर सुशोभित है। [का० ना० सिं०]

अलकपाद (सिरिपीडिया) कठिनिवर्ग (क्रस्टेशिया) के अंतर्गत एक अनुवर्ग के जीव हैं। इनमें कई जातियाँ हैं। सभी केवल समद्र में रहते हैं। कुछ अलकपाद खाड़ियों तथा नदियों के मुहानों में भी मिलते हैं। कुछ अलकपाद परजीवी जीवन व्यतीत करते हैं। अधिकांश अलकपाद प्रौढ़ अवस्था में चट्टानों या बहते हुए पदार्थों से अपने अग्र भाग (गरदन) द्वारा चिपके रहते हैं। साधारणतया ये तीन इंच लंबे होते हैं, किंतु एक जाति के सदस्य लगभग नौ इंच लंबे और सवा इंच मोटी गरदन के होते हैं। जहाजों पर कभी कभी अलकपाद इतनी संख्या में चिपक जाते हैं कि जहाज का वेग आधा हो जाता है, इंजनों में तेल या कोयला बहुत खर्च होता है और मशीनों पर अनुचित बल पड़ता है। इसलिये

जहाजों को नौनिवेश (डॉक) में रखकर बार बार साफ करना पड़ता है। अनुमान किया गया है कि इस सफाई में प्रति वर्ष पचास करोड़ रुपए से अधिक ही खर्च होता होगा। कुछ जंगली मनुष्यजातियाँ बड़े अलकपादों का मांस खाती हैं। जापान के लोग समुद्र में बाँस बाँध देते हैं और जब उनपर पर्याप्त अलकपाद चिपक जाते हैं तो उनको खुरचकर छुड़ा लेते हैं और खेतों में खाद की तरह डालते हैं। अलकपादों के शरीर अपूर्ण, उदर अविकसित, उर से निकली तीन जोड़ी द्विशाखी टाँगें और एक जोड़ी पुच्छकंटिका (कॉडल स्टाइल्स) होती है। आँख नहीं होती और डिंभ (छोटा बच्चा, लार्वा) स्पर्शसूत्रकों (ऐंटेन्यूल्स) द्वारा चिपकता है, परंतु प्रौढ़ अवस्था में इन सूत्रों के चिह्न मात्र रह जाते हैं। स्पर्शसूत्र (ऐंटेनी) बिलकुल नहीं होते। बारनेकल और सीपीनुमा अलकपाद अलकपादों के परिचित उदाहरण है। बारनेकल अपने डंडीनुमा अग्रभाग से, जिसे ऊपर गरदन कहा गया है और जिसे अंग्रेजी में पेडंकल (छोटा पैर) कहते हैं (चित्र देखें), समुद्र में बहते हुए पदार्थों से चिपके रहते हैं। सीपीनुमा जातियों में डंडीवाला भाग नही होता, ये सिर के अग्रभाग से चट्टानों में चिपके पाए जाते है और चारों तरफ कड़े पट्टों से घिरे रहते हैं (चित्र देखें)। जंतु का सारा शरीर, जो मुंडक (कैपिटुलम) कहलाता है, द्विपुट चर्म के खोल से ढँका रहता है और यह खोल पाँच कड़े पट्टों से सुरक्षित रहता है। द्विपुट खोल नीचे की ओर खुला रहता है, जिनसे द्विशाखी टाँगें निकली रहती हैं। खोल के पिछले भाग की ओर मुँह रहता है। खाने के समय यह जीव अपनी टाँगें जल्दी जल्दी बाहर भीतर इस प्रकार निकालता है और खीचता है कि खाद्य वस्तुएँ, जो पानी में रहती है, मुंह में चली जाती है। इस तरह वह अपना पेट भरता है। छेड़ने से टाँगों का चलना बंद हो जाता है और खोल के पुट बंद हो जाते हैं। टाँगें रोएँदार पर की तरह होती है और वे नन्हे समुद्री जीवों को पकड़ने में जाल का काम देती हैं। इन्हीं केश के समान टाँगों के कारण इन प्राणियों का नाम अलकपाद पड़ा है। अंग्रजी शब्द सिरिपीडिया का अर्थ भी ठीक यही है—केश के समान पैरवाले प्राणी। अधिकांश प्रौढ़ अलकपाद उभयलिंगी होते है। एक का निषेचन दूसरे से, या अपने से ही, होता है। कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जिनमें यौन संरचना तीन प्रकार की होती है। स्कैल्पेलम् जाति में कुछ प्राणी उभयलिंगी, कुछ मादा और कुछ केवल नर ही होते हैं। मादा माप और आकार में तो उभयलिंगी प्राणी के सदृश होती है, परंतु इनमें वृषणकोष (टेस्टीज) नहीं होते। नर उभयलिंगी और मादा की अपेक्षा बहुत ही छोटे होते हैं। इनको वामन (ड्वार्फ) या पूरक नर (कंप्लिमेंटल मेल्स) कहते है। ये या तो मादा के संरक्षक पट्टों के भीतर या उसके मुँह के पास रहते हैं। इनका कार्य एकांतवासी मादाओं का निषेचन करना होता है।

अलकपाद की शरीररचना

१. वरुथ (कड़ा पट्ट); २. उपचालक पेशी; ३. गला; ४. पाचक ग्रंथि; ५. चेप निकालनेवाली ग्रंथि; ६. पृष्ठ पट्ट; ७. उर से निकली टाँगें; ८. शिश्न; ९. गुदा; १०. वृषण; ११. कटिका (नाव के पेंदे के रूप का कड़ा भाग), १२. आमाशय; १३. अंडाशय; १४. पेडंकल (गरदन सदृश अंग); १५. स्पर्शसूत्रक।

अलकपाद का बाह्य रूप

१६. पृष्ठपट्ट; १७. कूटिका; १८. पेडंकल।

शैलखंडावर नामक अलकपाद : बाह्य दृश्य

अलकपादों का जीवन-इतिहास अंडे से निकले नन्हे डिंभ (छोटे बच्चे) से प्रारंभ होता है। तब उनमें हाथ पाँव के बदले तीन जोड़ी अंग होते हैं (चित्र देखें)। कई बार केंचुल बदलने के बाद वे एकाएक ऐसे रूप में आ जाते है जिसमें उनका शरीर दो कड़े खोलों (प्रकवच) से ढँका रहता है। इस अवस्था में ये पूर्णपुच्छक (साइप्रिस) कहलाते हैं (चित्र देखें)। ये अपने छोटे स्पर्शसूत्रकों (ऐंटेन्यूल्स) के चूषकों से पत्थर, जहाज, लकड़ी या जानवर (जैसे केकड़े) के शरीर पर चिपक जाते हैं। फिर वे अपने भीतर से निकलनेवाले चेप से अपने सर को बड़ी दृढ़ता से उस पत्थर आदि पर चिपका लेते हैं। तब दोनों प्रकवच झड़ जाते है और पाँच खंडों का नया प्रकवच उग आता है। पहले के तीन जोड़ी अंग अब रोएँदार पैर हो जाते हैं, आँख मिट जाती है, गरदन बहुत लंबी हो जाती है और इस प्रकार अलकपाद अपनी युवावस्था में आ जाता है।

परजीवी अलकपाद में दो जातियाँ, कर्कटोदर स्यूनिका (सैक्युलिना कार्सिनी) तथा शंखकर्कजीवी (पेल्टोगैस्टर), विशेषकर उल्लेखनीय हैं। कर्कटोदर स्यूनिका परजीवी जीवन से शारीरिक अधोगति का ज्वलंत उदाहरण है। प्रौढ़ अवस्था में एक विषम मांसतंत्र के ढेर की तरह यह केकड़े के उदरतल से चिपकी रहती है। इसकी जीवनकहानी बड़ी विचित्र है और तीन जोड़ी अंगवाले डिंभ से आरंभ होती है। इस डिंभ में ललाट-शृंग होते हैं, किंतु मुंह या अन्नस्रोतस नहीं होता। पूर्णपुच्छक (साइप्रिस) अवस्था में यह किसी केकड़े की टाँग के एक दृढ़ रोम से अपने स्पर्शसूत्रकों द्वारा चिपट जाती है। इस अवस्था में थोड़े समय के बाद पूर्णपुच्छक का सारा धड़, मांसपेशियाँ, टाँगें, आँख और मलोत्सर्ग के अंग शरीर से बिलकुल पृथक् होकर गिर पड़ते हैं। थोड़ा सा भाग, जिसमें केवल डिंभाणु ही रहते हैं, केकड़े के दृढ़रोम से जुड़ा रह जाता है। तब डिंभ

स्यूनिका का डिंभ

कर्कटोदर स्यूनिका (केकड़े के पेट से चिपकी हुई स्यूनिका)

पूर्णपुच्छक नामक अलकपाद

१. आधार कला; २. परजीवी (कर्कटोदर स्यूनिका) का शरीर; ३. उदर; ४. अग्र शृंग; ५. स्पर्शसूत्रक; ६. अग्र स्पर्शिकाएँ; ७. अभिश्रित कोशिकाएँ; ८. स्पर्शसूत्र; ९. जंभ; १०. स्पर्शसूत्रक; ११. ग्रंथि कोशिकाएँ; १२. उदर।

का यह बचा हुआ भाग केकड़े की देहगुहा में चला जाता है। रक्तपरिवहन द्वारा फिर यह केकड़े के अन्नस्रोतस तक पहुँचकर उसके अधरतल में चिपक जाता है। तब इससे छोटी छोटी शाखाएँ निकलती हैं जो आपस में मिलकर एक जाल सा केकड़े के सारे शरीर में बना लेती हैं। यह जाल टाँगों तक पहुँचता है। इसी बीच इसके अधरतल से फिर एक गाँठ सी निकलती है जिसमें प्रजनन ग्रंथि तथा प्रगंड होता है। जैसे जैसे यह गाँठ बढ़ती है वैसे वैसे यह केकड़े के उदर के अधरतल पर दबाव डालती है। केकड़ा जब केंचुल बदलता है तो स्यूनिका पूर्ण विकसित रूप से बाहर आकर केकड़े के उदर के अधरतल से चिपककर लटक जाती है (चित्र देखें)।

स्यूनिका का परजीवी जीवन केवल उसका शारीरिक अधःपतन नहीं करता, वरन् अपने पोषक (केकड़े) के लिये भी बहुत हानिकारक सिद्ध होता है। मुख्य हानिकारक प्रभाव ये हैं : जब स्यूनिका किसी नर केकड़े के बाहर आ जाती है तो केकड़े का केचुल छोड़ना बिलकुल बंद हो जाता है और उसकी प्रजनन ग्रंथियाँ धीरे धीरे बिलकुल दुबली और दुर्बल हो जाती हैं। गौण लैंगिक अवयव, जैसे मैथुन कंटिका (कॉपुलेटरी स्टाइल्स) तथा नखर (कीली) नाप में बहुत छोटे हो जाते हैं। तब नर केकड़ा उभयलिंगी या मादा हो जाता है। उसका उदर विस्तीर्ण तथा चौड़ा हो जाता है। इसी तरह मादा के भी गौण लैंगिक अवयव (अंडवाही उपांग) नाप में छोटे हो जाते हैं।

शंखकर्कजीवी नामक अलकपाद भी एक अन्य जाति के केकड़े के लिये उसी प्रकार हानिकारक है जिस प्रकार स्यूनिका नर केकड़े के लिये, किंतु कुछ अधिक मात्रा में। [रा० चं० स०]

अलका मेरु पर्वत पर यक्षगंधर्वों की नगरी और यक्षराज कुबेर की राजधानी। कालिदास ने अलका को अपने मेघदूत में यक्षों की नगरी कहा है और उसे कैलास पर्वत की ढाल पर बसी बताया है। उसी नगरी का अभिशप्त यक्ष मेघदूत का नायक है जिसकी प्रिया का उस अलका में प्रोषितपतिका विरहिणी के रूप में कवि ने बड़ा विशद, भावुक, आर्द्र और मार्मिक वर्णन किया है। प्रकट है कि अलका भौगोलिक जगत् की नगरी न होकर काव्यजगत् की नगरी है, सर्वथा पौराणिक। [भो० ना० उ०]

अलख वि० (सं० अलक्ष्य), जो दिखाई न पड़े, अदृश्य, अप्रत्यक्ष, उ० 'अलख न लखिया जाई'—कबीर। अगोचर, इंद्रियातीत, परमात्मा का एक विशेषण। 'अलख अरूप अवरन सो करता'—जायसी।

(१) शून्य, परमात्मा, अविनश्वर नाम जिसका स्मरण गूदरपंथी और नाथ जोगी साधु, घर घर भिक्षा माँगते समय, 'अलख अलख' पुकार-कर दिलाया करते हैं। (२) नाथपंथी जोगियों का वह गीत जो भिक्षा माँगते समय, प्रायः चिकारों पर गाया जाता है और जिसमें अधिकतर गोपीचंद, भरथरी, गोरख, पूरन भगत या मैनावती की कथाएँ अथवा निर्गुण मत की भावनाएँ पाई जाती हैं; निरगुनियाँ गीत।

इसी से 'अलख जगाना' एक मुहावरा ही बन गया।

'अलखदरीबा' वह स्थान जहाँ पर संत दादूदयाल अपने अनुयायियों के साथ बैठकर आध्यात्मिक चर्चा किया करते थे। अलख शब्द से संबंधित कुछ और संप्रदाय भी हैं, यथा 'अलखधारी' भारत के पश्चि-मोत्तर प्रदेशों का एक संप्रदाय जिसके अनुयायी अलख अगोचर तत्व का ध्यान करते हैं। 'अलखनामी' संप्रदाय (देखिए 'अलखनामी')। 'अलख निरंजन' परमात्मा का एक नाम जो, उसके शून्यवत् अदृश्य रहने के कारण पड़ा। 'अलखवाला', जोगियों का एक उपसंप्रदाय। [प० च०]

अलखनामी १—एक प्रकार के गोरखपंथी साधु जिनके सिर पर जटा और शरीर पर भस्म व गेरुआ वस्त्र हो तथा जो ऊन की सेली बाँधते हों जिसमें प्रायः घुंघुरू अथवा घंटी लगी हो। भिक्षा माँगते समय ये लोग बहुधा दरियाई खप्पर फैलाकर 'अलख अलख' पुकारा करते हैं और एक द्वार पर अधिक नहीं अड़ा करते (अलखिया)। २—भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों, विशेषकर बीकानेर तथा अंबाला जिले के एक प्रकार के साधु जो अपने को अलखनामी, अलखधारी या अलखगीर कहा करते हैं और किसी लालबेग का अनुयायी भी बतलाते हैं जिसे वे शिव का अवतार मानते हैं। ये अधिकतर ढेढ़ जाति के होते हैं, मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करते और अलख अगोचर तत्व का ध्यान करते हैं। इनके लिये दृश्यमान संसार के अतिरिक्त परलोक जैसा कोई स्थान नहीं और यहीं रहकर ये अहिंसा परोपकारादि का जीवनयापन करना श्रेयस्कर मानते हैं। इनके आडंबरहीन जीवन में ऊँच नीच का सामाजिक भेद नहीं है और न पूजा की कोई विस्तृत, व्यवस्थित विधि ही है। ये टोपी और मोटे कपड़े धारण करते हैं और एक दूसरे से मिलने पर 'अलख कहो' कहा करते हैं तथा विशुद्ध योगियों के रूप में समादृत होते हैं। ३—१९वीं शताब्दी के एक साधु जो अयोध्या, नेपाल और हिमालय की तराइयों में कोपीन बाँधे तथा चिमटा लिए भ्रमण करते और बीच बीच में आकाश की ओर देखकर चिल्लाते हुए 'अलक्ष्य अलक्ष्य' कहते रहते थे। इन्हें अलक्ष्य स्वामी भी कहा जाता था और ये अंत तक कटक के निकटवर्ती पर्वतीय कुंभपत्री जातियों में धर्म-प्रचारकस्वरूप प्रसिद्ध थे।

सं०ग्रं०—क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टीसिज़्म (लंदन, १९३५ ई०); परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संतपरंपरा (प्रयाग, सं० २००८); हिंदी शब्दसागर, बँगला विश्वकोश। [प० च०]

अलबरूनी अबू-रिहान-मुहम्मद बिन अहमद अलबरूनी ख्वारिज्मी का जन्म हिजरी सन् ३६० (९७०-७१ ई०) में हुआ था। 'तवारीख़ हुकमा' के लेखक शहरज़ूरी, जिसने इनकी जीवनी लिखी है, के मतानुसार यह सिंध के बिरून नामक स्थान में पैदा हुए थे और इसी से इनका नाम बरूनी या बिरूनी पड़ा। अलबरूनी न स्वयं अपने जन्मस्थान का कहीं उल्लेख नहीं किया है। 'किताबुल अन्सान' के लेखक समानी का, जिसने अपना ग्रंथ हिजरी सन् ५६२ (११६६ ई०) में लिखा, कहना है कि फारसी शब्द 'बिरूनी' से बाहर पैदा होनेवाल का संकेत होता है। इस अरबी विद्वान् के प्रारंभिक जीवनकाल का कहीं विवरण नहीं मिलता; किंतु शमसुद्दीन मोहम्मद शहरज़ूरी का कथन है कि कभी भी उनके हाथ से न लेखनी अलग हुई, न उनके नेत्र पुस्तक से हटे। केवल एक ही दो बार वे कार्य से वर्ष भर में अवकाश लेते थे। उनका ध्यान हर समय पुस्तक पढ़ने पर ही लगा रहता था। अबुलफज़ल बैहाकी का, जो बरूनी की मृत्यु के पचास वर्ष बाद हुआ, कहना है कि अपने समय के वे अद्वितीय विद्वान् थे और दर्शन, गणित तथा ज्यामिति में पारंगत थे। उनकी नियुक्ति गज़नी के मुहम्मद बिन सुबुक्तगीन के यहाँ हुई और उन्हें भारत आने और यहाँ बहुत काल तक रहने का अवसर मिला। इसी बीच बिरूनी ने यहाँ पर संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने यहाँ के कई प्रांतों का भ्रमण किया और इसमें वे प्रमुख व्यक्तियों के संपर्क में आए। उन्होंने भारतीय दर्शन और धर्म की पुस्तकों का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। साथ ही कला और विज्ञान के क्षेत्रों में भी प्रवेश किया। शेख रैस जबु-अल इब्न सिना (अवीचेन्ना) की पुस्तक 'बातकल' का इन्होंने अरबी में अनुवाद किया। गणित और ज्यामिति की अपनी पुस्तक 'कानून मसूदी' में इन्होंने उपर्युक्त ग्रंथ से बहुत कुछ उद्धृत किया। अंकों, युग और संवत् के विषय में भारतीय विद्वानों ने जो कुछ भी लिखा है उसका उल्लेख अलबरूनी ने 'बातकल' के अनुवाद में किया है। अलबरूनी और इब्नसिना का बहुत विषयों में मतभेद था, पर इब्नसिना ने कभी भी बरूनी से वाद-विवाद नहीं किया। बरूनी भारत में लगभग ४० वर्ष रहे पर इनके भारतीय भौगोलिक ज्ञान में त्रुटियाँ मिलती हैं। हिजरी सन् ४३० (१०३८-३९) में इनकी मृत्यु हो गई।

इन्होंने बहुत से ग्रंथ लिखे जिनमें से कुछ का यूनानी भाषा में अनुवाद किया। कहा जाता है कि इनके लिखे ग्रंथों से एक ऊँट का बोझा हो सकता है। मुख्यतया इनके नक्षत्रों की तालिका, बहुमूल्य पत्थरों का विवरण, औषधि पदार्थ, ज्योतिष, ऐतिहासिक तालिका और कनून-मसूदी नामक नक्षत्रों और भूगोल से संबंधित ग्रंथ हैं। अंतिम ग्रंथ के लिये सुल्तान मसूद ने एक हाथी के बोझ भर चाँदी के टुकड़े इन्हें भेंट में दिए पर इन्होंने उन्हें लौटा दिया।

सं॰ग्रं॰—अलबरूनी; इलियट और डाउसन : हिस्ट्री ऑव इंडिया, भाग २; संतराम : अलबरूनी की भारतयात्रा। [बैं॰ पु॰]

अल बलाजुरी अहमद बिनय हिया बिन जाबिर अल बलाजुरी। जन्मतिथि अज्ञात; मृत्यु ८६२ ई॰। प्रसिद्ध मुसलमान इतिहासकार। खलीफ़ा मुतवक्किल का मित्र। जनश्रुति के अनुसार 'बलाजुरी' फल (भिलावा) का रस भूल से पी लेने से मरे। किंतु यह निश्चय नहीं है कि यह घटना उनके दादा से संबंधित है या स्वयं उन्ही से। तात्पर्य यह है कि बलाजुरी के जीवन का वृत्तांत बहुत कुछ अज्ञात है। वह फारसी के प्रकांड पंडित थे और फारसी ग्रंथों के अरबी में अनुवादक नियुक्त किए गए थे। शायद इसी कारण उन्हें अरबी न मानकर फारसी या ईरानी माना गया है। किंतु उनके पितामह मिस्र की खिलाफत में उच्च पदाधिकारी थे। बलाजुरी की शिक्षा दमिश्क, अमीसा तथा ईराक में हुई थी। इब्नसाद उनके गुरु थे।

बलाजुरी के लिखे दो बृहत् ग्रंथ हैं : (१) फुतूह-उल-बल्दान, देगेज द्वारा संपादित तथा १८६६ई॰ में लाइडन से प्रकाशित, द्वितीय प्रकाशन कैरो से १३१८ हि॰ (१६०० ई॰) में। इस ग्रंथ में मुहम्मद और यहूदी लोगों के युद्ध से आरंभ करके उनके अन्य सामरिक कृत्यों तथा सीरिया, मिस्र और आरमीनिया आदि की विजय का इतिहास वर्णित है। जहाँ तहाँ ऐसे स्थल भी बिखरे पड़े हैं जिनसे तत्कालीन सांस्कृतिक एवं सामाजिक दशा पर प्रकाश पड़ता है। राजनीतिक शब्दावली तथा संस्थाओं,राजकर,मुद्रा तथा शासन संबंधी अन्य बातों के भी बहुमूल्य उल्लेख इस पुस्तक में पाए जाते हैं। अरब राजनीतिक इतिहास पर यह एक अत्यंत मूल्यवान् एवं प्रामाणिक ग्रंथ है। (२) बलाजुरी का दूसरा ग्रंथ है 'अन्साब-अल-अशराफ'—इस ग्रंथ के लेखक ने बड़ी बृहदाकार योजना बनाई थी, पर वह उसे पूरा न कर पाया। इसमें अरबों का वंशानुगत इतिहास दिया गया है।

सं॰ग्रं॰—एनसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम। [प॰ श॰]

अलबैहाकी ख्वाजा अबुलफजल बिन अल हसन-अलबैहाकी ने 'तारीखमुबुक्तगीन' अथवा तारीख-बैहाकी नामक विस्तृत ग्रंथ लिखा जिसके अब केवल कुछ अंश ही उपलब्ध हैं। ४०२ हिजरी (१०११ ई॰) में य सोलह वर्ष के थे, और ४५१ हिजरी (१०६० ई॰) में वृद्धावस्था में अपना ग्रंथ लिखते रहे। खाकी शिराजी के अनुसार इनकी मृत्यु ४७० हिजरी (१०८० ई॰) के लगभग हुई। पहले ग्रंथों में सुबुक्तगीन के शासनकाल का इतिहास है और 'तारीख-मसूदी' में मसूद के राज्यकाल का उल्लेख है। महमूद के विषय में उन्होंने 'ताजुल-फुबूह' में लिखा। हाजी खलीफा के मतानुसार बैहाकी ने गज़नी के सम्राटों का विस्तृत इतिहास लिखा।

सं॰ग्रं॰—इलियट और डाउसन : इतिहास। [बैं॰ पु॰]

अलवर भारत के राजस्थान राज्य का एक मुख्य नगर तथा जिला है। यह नगर क्वार्ट्‌स तथा स्लेट से बनी हुई पहाड़ी के नीचे, दिल्ली से ८० मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। पहले अलवर एक देशी राज्य था और अलवर नगर उसकी राजधानी था, परंतु १९४७ में भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् जब छोटी छोटी रियासतें भारत सरकार में संमिलित हो गईं, राज्य पुनर्गठन के अनुसार, अलवर राजस्थान राज्य में मिला दिया गया और तब से इस नगर का राजधानी रहने का श्रेय चला गया। अलवर की स्थिति अक्षांश २७° ३४' उ॰ तथा देशांतर ७६° ३६' पू॰ पर है। अलवर राज्य का क्षेत्रफल राजस्थान में मिलने के पूर्व ३,१५८ वर्ग मील था और जनसंख्या ८,२३,०५५ (१९४१) थी। सन् १९५१ में अलवर जिले का क्षेत्रफल ३,२४५ वर्ग मील तथा जनसंख्या ८,६१,९९३ हो गई। अलवर नगर की आबादी १९४१ में ५४,१४३ थी और १९५१ में ५७,८६८ हो गई।

अलवर नाम की उत्पत्ति के बारे में मतभेद है। कुछ लोगों का कहना है कि इसके पूर्व नाम आलपुर, अर्थात् सुदृढ़ नगरी, से वर्तमान नाम अलवर आया; कुछ औरों के विचार से इस नाम का मूल अरवलपुर अर्थात् अरावली पर्वत का शहर है, क्योंकि अलवर की पहाड़ियाँ अरावली पर्वतमाला का ही एक भाग हैं। वर्तमान समय में कुछ विद्वानों के मत से अलवर का नाम सालवास जाति के लोगों के नाम से निकला जो यहाँ पहले पहल बसे थे और इसका पुराना नाम सालवायरा था, जिससे सालवर, हलवर और फिर अलवर नाम प्रसिद्ध हुआ। राजपूत वीर प्रतापसिंह ने इस राज्य की स्थापना की (सन् १७४०–९१ ई॰) और बख्तावरसिंह को इन्होंने गोद लिया। बख्तावरसिंह के समय में इस नगर की खूब उन्नति हुई। बाद में अंग्रेजों के साथ हाथ मिलाकर मराठों के साथ इन्होंने लड़ाई की तथा १८०३ ई॰ में अंग्रेजो से संधि की। १८९२ ई॰ में १० साल की अवस्था में महाराजा जयसिंह सिंहासन पर बैठे तथा उन्होंने १९२३ में लंदन के इंपीरियल कानफरेंस में भारत का प्रतिनिधित्व किया। अंग्रेजों के सिक्के को अलवर राज ने सर्वप्रथम मान लिया था। भारत के स्वतंत्र होने के पूर्व अंग्रेजों की पदातिक तथा अश्वारोही सेना का कुछ भाग यहाँ रहता था।

अलवर नगरी एक घाटी के पास करीब १००० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। पुराने जमाने की लड़ाई के समय यह बड़ी ही सुरक्षित थी। इसके एक ओर अखंड पहाड़ी है ही, अन्य ओर सुदृढ़ भीत, प्रशस्त खाई तथा एक गहरे नाल द्वारा घिरी हुई है। ऊँचाई पर स्थित इसके किले का दृश्य एक मुकुट के समान प्रतीत होता है। शहर में प्रवेश के लिये ५ तोरण हैं तथा भीतर मनोरम राजभवन, मंदिर और समाधि आदि बने हैं।

राज्य की अधिकतम लंबाई उत्तर से दक्षिण की ओर लगभग ८० मील तथा चौड़ाई पूरब से पश्चिम की ओर ६० मील है। इसका कुल क्षत्रफल ३,१५८ वर्ग मील है। इस राज्य के पूर्वी भाग में खुला मैदान है जो खेती के लिये उपयुक्त है। अरावली पर्वतमाला के कुछ अंश पश्चिम सीमा पर हैं। इनकी लंबाई लगभग १२ से २० मील है। ये पथरीली सीधी पर्वतमालाएँ समातर रूप से फैली हुई हैं तथा स्थान स्थान पर इनकी ऊँचाई २,२०० फुट तक चली गई है। दो महत्वपूर्ण नदियाँ साभी तथा रूपारेल इसी के पास से बहती हैं। रूपारेल नदी पर महाराव राजा बन्नीसिंह ने १८४४ ई॰ में एक बाँध बनवाया जिस कारण यहाँ एक सुंदर झील बन गई है। इसे सीली सेढ़ झील कहते हैं। यह अलवर के दक्षिण-पश्चिम में लगभग ९ मील की दूरी पर स्थित है। इससे दो नहरें सिंचाई के लिये निकाली गई हैं।

विशेष दर्शनीय स्थानों में १९वीं शताब्दी का बना राजा बन्नीसिंह का राजमहल, १३९३ की बनी तारंग सुलतान की दर्गाह (जो कुछ लोगों के विचार से फ़ीरोज़शाह तुगलक का भाई था और कुछ लोगों के विचार से नाहर खाँ मेवाती का पौत्र था), फतेजंग की दर्गाह, जिसपर अभी भी हिंदुओं की कलाओं का निदर्शन मिलता है, और महाराव राजा बख्तावरसिंह का स्मृतिस्तंभ आदि सुविख्यात हैं। इनके अतिरिक्त कई मस्जिदें भी हैं जिसमें दैरा की मस्जिद विशेष महत्वपूर्ण है। यह १५७९ ई॰ में इस रास्ते से अकबर के गुजरते समय बनी थी। आधुनिक समय में बना लेडी डफरिन का महिला अस्पताल (सन् १८८९) भी दर्शनीय है। शहर के उत्तर-पश्चिम में नगर की अपेक्षा लगभग १००० फुट अधिक ऊँचाई पर निकुंभ राजपूतों का बना किला है जो खानजादे का अधिकार होने के पूर्व यहाँ राज्य करते थे। इसकी दीवारें पहाड़ों के ऊपर उपत्यकाओं में होती हुई लगभग दो मील तक फैली हैं। शहर के बाहर दो और दर्शनीय महल हैं, एक बन्नी-विलास-प्रासाद और दूसरा लैंसडाउन कोठी।

अलवर इस समय पर्याप्त उन्नतशील नगर है। यहाँ पर उच्च शिक्षालय, अस्पताल, महिला विद्यालय आदि हैं। महारानी विक्टोरिया की हीरक जयंती के अवसर पर राजाओं के बच्चों के पढ़ने के लिये एक विशिष्ट विद्यालय खोला गया। अलवर के निजी उद्योगों में रुई ओटना, कालीन बनाना, कंबल बनाना आदि कुछ छोटे मोटे गृहउद्योगों के अतिरिक्त कोई बड़ा उद्योग नही है। [वि॰ मु॰]

अलसी या तीसी को संस्कृत में अलसी के सिवाय क्षुमा भी कहते हैं। गुजराती में इसका नाम अलशी, मराठी में जवस अलशी, अंग्रेजी में लिनसीड तथा लैटिन में लाइनम यूसिटैटिसिमम है।

इस पौधे की फसल समस्त भारतवर्ष में होती है। लाल, श्वेत तथा धूसर रंग के भेद से इसकी तीन उपजातियाँ हैं। इसके पौधे दो या ढाई फुट ऊँचे, डालियाँ २ या ३, पत्तियाँ छोटी तथा फूल नीले होते हैं। फूल झड़ने पर घुंडियाँ बँधती हैं, जिनमें बीज रहता है। इन बीजों से तेल निकलता है,

जिसमें यह गुण होता है कि वायु के संपर्क में रहने से कुछ समय में यह ठोस अवस्था मे परिवर्तित हो जाता है। विशेषकर जब इसे विशेष रासायनिक पदार्थों के साथ उबाल दिया जाता है तब यह क्रिया बहुत शीघ्र पूरी होती है। इसी कारण अलसी का तेल रंग, वारनिश, और छापने की स्याही बनाने के काम आता है। इस पौधे के डंठलो से एक प्रकार का रेशा प्राप्त होता है जिसको निरंगकर लिनेन (एक प्रकार का कपडा) बनाया जाता है। तेल निकालने के बाद बची हुई सीठी को खली कहते है जो गाय तथा भैंस को बड़ी प्रिय होती है। इससे बहुधा पुल्टिस बनाई जाती है।

आयुर्वेद में अलसी को मंदगंधयुक्त, मधर, बलकारक, किंचित् कफ-वात-कारक, पित्तनाशक, स्निग्ध, पचने मे भारी, गरम, पौष्टिक, कामोद्दीपक, पीठ के दर्द और सूजन को मिटानेवाली कहा गया है। गरम पानी में डालकर केवल बीजो का या इसके साथ एक तिहाई भाग मुलेठी का चूर्ण मिलाकर, क्वाथ (काढ़ा) बनाया जाता है, जो रक्तातिसार और मूत्र संबंधी रोग मे उपयोगी कहा गया है। [भ० दा० व०]

अलहंब्रा दुर्ग और राजप्रासाद, मूरी ग्रानडा (स्पेन) मे पश्चिमी इस्लामी स्थापत्य और वास्तुकला का एक उत्कृष्ट नमूना। शहर की सीमा पर डारो नदी के किनारे पहाडी पर यह राजभवन बना हुआ है। इस 'कालग्रत अल हमरा' अर्थात् लाल किले को यूसुफ (१३५४) और मोहम्मद पचम (१३३४-१३९१) ने बनवाया था। अब इस समय पुराने दुर्ग की भारी दीवारे और बुर्जे ही बच रही है। इसके परे 'अलहब्रा आल्ता' (दरबारियो का निवासस्थान) है। दीवारे लाल ईंटो की बनी है और उनपर ऊँची ऊँची—बुर्जियाँ है। महल के चारो ओर परकोटा दौड़ता है। चार्ल्स पचम ने अपना राजभवन बनाने के विचार से मूर नरेशो का राजमहल नष्ट कर दिया था, किंतु उसका राजभवन कभी बन न सका। इसकी सजावट मे गाढे और भड़कीले रगो का उपयोग किया गया है। इसका सौदर्य विशेषकर उस समय प्रकट होता है जब सूर्यरश्मियाँ मूरी स्तभो और मेहराबो से छन छनकर दीवारो पर पड़ती है।

इसके आकर्षण के केंद्र दो आयताकार आँगन है। यूसुफ का बनवाया हुआ १३४ × ७४ फुट बड़ा अलबोको मत्स्यपूर्ण तडाग है। इसके एक ओर एंबाजादोरेज (दूतभवन) है जहाँ ३० वर्ग फुट ऊँचा सिहासन बना हुआ है। इमका गुबज ५० फुट ऊँचा है। दूसरा आँगन केसरीगृह के नाम से प्रसिद्ध है। इसे मोहम्मद पंचम ने बनवाया था। इसमें एक १५ × ६६फुट ऊँचा फव्वारा सिह के मुख से बह रहता है। यह आँगन के मध्य बारह श्वेत सिंहों के सहारे टिका हुआ अस्वस्तस का पात्र है। इनकी दीवारो पर नीचे से पाँच फुट ऊँचे तक पीले नीले रंग की विभिन्न प्रकार की टाइले लगी हुई है। फर्श संगमरमर का है। इसके एक ओर स्थित 'अमेंसेरंजिस' नामक एक वर्गाकार कमरे की ऊँची गुबज नीली, लाल, सुनहरी और भूरे रंग की है। इसके सामने 'साला-लास-रोस हरमानस' (दो बहनों का हाल) है। इसमे भी सुदर फव्वारा और गुबज है।

१८१२ में नेपोलियन के समय जब फ्रास की सेना ने स्पेन पर आक्रमण किया, इसकी बुर्जे उड़ा दी गईं। १८२१ के भूकंप से भी इसको भारी हानि पहुँची। १८२८ मे इसके पुनर्निर्माण का कार्य प्रारंभ हुआ और इटली के प्रसिद्ध शिल्पी कानट्रेरास, उसके पुत्र राफेल पौत्रे और प्रपौत्र मरिआए ने इसे तीन पीढ़ियो में पूरा किया। [अ० कु० वि०]

अलागोआस समुद्र तट पर स्थित ब्राजील का एक राज्य है जो उत्तर और पश्चिम मे पर्नांबुको, दक्षिण तथा पश्चिम में सरजिए राज्य और पूर्व मे अंधमहासागर से घिरा हुआ है। जलवायु उष्ण तथा आर्द्र है। इसका पश्चिमी भूभाग शुष्क तथा अर्ध-बंजर पठार है जो केवल चरागाह के लिये उपयुक्त है। तटवर्ती भूमि उर्वरा है और वहाँ वनयुक्त पर्वत पाए जाते है। नदियों की उर्वरा घाटियों में गन्ना, कपास, तंबाकू, ज्वार, मक्का, धान तथा फल उपजाए जाते है। चमड़े, खाल, रबर, लकड़ी तथा ईख की मदिरा का निर्यात होता है। पशु भी पाले जाते है।

१७वीं शताब्दी में यह डच शासन के अंतर्गत रहा। बाद में पुर्तगाली यहाँ आए और उन्होने गन्ने की खेती में बड़ी प्रगति की। १८वी शताब्दी के मध्य में यह पर्याप्त धनी क्षेत्र हो गया। १८९९ ई० से यह स्वतंत्र राज्य बन गया है।

मेसियो राजधानी तथा प्रमुख व्यावसायिक नगर है। जरागुआ बंदरगाह से पर्याप्त व्यापार होता है। यहाँ के अन्य नगरों में अलागोआस, जो पहले यहाँ की राजधानी था, मेसियो से १५ मील दक्षिण-पश्चिम मंगुआबा झील पर स्थित है। दूसरा नगर पेनेडो, सैनफ्रांसिस्को नदी के मुहाने से २६ मील ऊपर स्थित है। क्षेत्रफल ११,०३१ वर्ग मील तथा जनसंख्या १०,९३,१३७ है (१९५०)। [न० ला०]

अलातशांति लकड़ी आदि को प्रज्वलित कर चक्राकार घुमाने पर अग्नि के चक्र का भ्रम होता है। यदि लकडी की गति को रोक दिया जाय तो चक्राकार अग्नि का अपने आप नाश हो जाता है। बौद्ध दर्शन और वेदात मे इस उपमा का उपयोग मायाविनाश के प्रतिपादन के लिये किया गया है। माया के कारण का नाश होने पर माया से उत्पन्न कार्य का भी नाश हो जाता है। यही अलातचक्र के दृष्टांत से सिद्ध किया जाता है। [रा० पा०]

अलारिक (ल० ३७०-४१० ई०) पश्चिमी गोथो का प्रसिद्ध सरदार विजेता जो ३७० ई० के लगभग दानूब के मुहाने के एक द्वीप मे तब उत्पन्न हुआ जब उसकी जाति के लोग हूणो से भागकर उसी द्वीप में छिपे हुए थे।

युवावस्था में अलारिक रोमन सम्राट् की वीजीगोथ सेना का सेनापति नियत हुआ और एक दिन उस सेना ने उसकी शक्ति और शौर्य से चमत्कृत होकर उसे अपना राजा घोषित कर दिया। बस तभी से अलारिक का दिग्विजयी जीवन शुरू हुआ। पहले उसने पूर्वी रोमन साम्राज्य पर आक्रमण किया। कुस्तुतुनिया से दक्षिण चल उसने प्राय: समूचे ग्रीस को रौद डाला, फिर स्तिलिचो से हार, लूट का माल लिए वह एपिरस जा पहुँचा। रोम के सम्राट् ने उसकी विजयो से डरकर उसे इलिरिकम का राज्य सौप दिया। ४०० ई० के लगभग उसने इटली पर आक्रमण किया और साल भर के भीतर वह उत्तरी इटली का स्वामी हो गया। पर अगले साल सम्राट् से धन लेकर वह लौट गया।

४०८ ई० मे अलारिक इटली लौटा और बढता हुआ सीधा रोम की प्राचीरो के सामने जा खडा हुआ। उसने रोम का ऐसा सफल घेरा डाला कि रोम के सम्राट्, सिनेट और नागरिक त्राहि त्राहि कर उठे और उन्होने अलारिक से प्राणदान का मूल्य पूछा। अलारिक ने अपार धन, बहुमूल्य वस्तुएँ और प्राय साढ़े सैंतीस मन भारतीय काली मिर्च माँगी। यह सब मिल जाने के बाद उसने रोम को प्राणदान दिया। यह रोम पर उसका पहला घेरा था। जाते जाते उसने सम्राट् से दानूब नद और वेनिस की खाड़ी के बीच २०० मील लंबी और १५० मील चौडी भूमि का राज्य माँगा। उसके न मिलने पर उसने अगले साल रोम पर दूसरा घेरा डाला। उससे डरकर रोमन सिनेट ने अलारिक की बात मानकर उसके विश्वासपात्र एक ग्रीक को भी राजदंड दे दिया और इस प्रकार रोम के दो दो सम्राट् हो गए। इसका परिणाम यह हुआ कि पूर्वी और पश्चिमी दोनो सम्राटों ने अलारिक पर दोहरी चोट की और अफ्रीका से इटली को अन्न जाना बंद कर दिया। इसके उत्तर में अलारिक ने रोम की प्राचीरें तोड़ नगर में प्रवेश किया। राजधानी का सर्वथा विनाश तो नही हुआ पर उसकी हानि अत्यधिक हुई। रोम ने हानिबल के बाद पहली बार विदेशी विजेता के प्रति आत्मसमर्पण किया था।

अलारिक ने अब रोम के दक्षिण हो अफ्रीका की राह ली जिससे वह इटली के खलिहान मिस्र पर अधिकार कर ले। पर तूफान ने उसके बेड़े को नष्ट कर दिया। अलारिक ज्वर से मरा और उसका शव बुसेंतो नदी की धारा हटाकर उसकी तलहटी में गाड़ दिया गया। शव और धन वहाँ गाड़ दिए जाने के बाद नदी की धारा फिर पूर्ववत् कर दी गई और उस कार्य में भाग लेनेवाले मजदूरो का वध कर दिया गया जिससे शव और संपत्ति का सुराग न लगे। [भ० श० उ०]

अलास्का उत्तरी अमरीका के पश्चिमोत्तर भाग में स्थित, संयुक्त राज्य का बृहत्तम और सर्वाधिक विरल बसा हुआ, ४९ वाँ राज्य है। स्थिति : ५१° ४०' उ० से ७०° ५०' उ० अ० तथा १३०° ०' प० से १७३° ०' प० दे०; क्षेत्रफल: ५,८६,४०० वर्ग मील; जनसंख्या : २,०६,०००, अर्थात् पौने तीन वर्ग मील पर एक मनुष्य। अधिकांश निवासी गोरी जाति के हैं और आदिवासियों की संख्या केवल ३६,६५० है (१७,५०० एस्किमो, १६,००० रेड इंडियन, ४,५०० ऐल्यूट तथा शेष अन्य)। ऐंकरेज (जनसंख्या ४०,०००), फेयरबैंक्स (१२,०००), जुन्यू (६,०००; राजधानी), केचिकन (५,३०५), ईस्टचेस्टर (३,०६६), माउंटेनव्यू (२,८८०) आधुनिक सुविधाप्राप्त नगर हैं।

संयुक्त राज्य ने ७२ लाख डालर, यानी २ सेंट से भी कम प्रति एकड़, पर अलास्का को रूस से १८६७ ई० में ३० मार्च को खरीदा। रूस (सन् १७४१-१८६७) और फिर संयुक्त राज्य की अनेक वर्षों की अधिकारावधि में अलास्का सर्वविधिशोष्य और औपनिवेशिक क्षेत्र के रूप में अविकसित रहा है। इधर कुछ वर्षों से संयुक्त राज्य इसकी अत्यंत महत्वपूर्ण सामरिक महत्ता एवं प्रचुर सपत्ति को ध्यान में रखकर इसके विकास की ओर अग्रसर हुआ है। १९५७ में इसे वैधानिक राज्य का अधिकार प्राप्त हुआ।

अलास्का का धरातल अत्यंत विषम है। यहाँ संयुक्त राज्य के अन्य राज्यों में स्थित सर्वोच्च शिखर (माउंट ह्विटनी : १४,५०१ फुट) से अधिक ऊँचे ग्यारह शिखर विद्यमान हैं जिनमे माउंट मैकिन्ले (२०, ३०० फुट) उत्तरी अमरीका का सर्वोच्च शिखर है। धरातल, जलवायु, वनस्पति आदि की विशेषताओं एवं विकास की संभावनाओं को दृष्टि में रखकर अलास्का के तीन प्रमुख भौगोलिक विभाग किए जा सकते हैं : (१) प्रशांत महासागर तटीय क्षेत्र (५०''–१२०" वार्षिक वर्षा) जिसमें संपूर्ण दक्षिणी-पूर्वी भाग संमिलित है, लगभग ३,००० मील की लंबाई में फैला है। इस क्षेत्र का अधिकांश पर्वतीय है जिसमें बीसों हिमशिखर, घाटियाँ एवं हिमनदियाँ हैं। निचली ढालों पर श्रीसरल (हेमलॉक), सरो एवं देवदारु के घने वन हैं। अन्य भागों की अपेक्षा इस भाग में शीत ऋतु में न कड़ाके की सर्दी, न ग्रीष्म में अधिकतम गर्मी पड़ती है। (२) मध्य का पठार (वर्षा: ६"–१६") दो लाख वर्ग मील का उच्च भूमिवाला क्षेत्र है, जिसमें यूकन तथा कुस्कोविग नदियाँ बहती हैं। यहाँ अत्यंत विषम जलवायु है पर कृषि एवं चरागाह योग्य सर्वाधिक भूमि यही है। वन अपेक्षाकृत निम्न कोटि के एवं अधिक खुले हैं। (३) उत्तरी मैदानी क्षेत्र में, जो ब्रुक्स पर्वतश्रेणियों द्वारा पठार से पृथक् होता है, टुड्रा की जलवायु एवं वनस्पति मिलती हैं। रेनडियर (बड़ा बारहसिंगा), कैरीबू (बारहसिंगे की एक विशेष जाति) तथा सील मछलियाँ यहाँ जीवननिर्वाह का मुख्य साधन हैं। कोयला एवं तेल भी यहाँ प्राप्त होता है।

अलास्का में सोना, चाँदी, ताँबा, पारा, कोयला, तेल, प्लैटिनम, राँगा, टंग्स्टेन, सीसा, जस्ता, संगमरमर तथा अन्य खनिज प्रचुर मात्रा में हैं, जिनका अधिकांश पर्वतीय भाग एवं पठार में है। मत्स्य (आय : ८,८५,३४, ४८६ डालर), खनिज (आय : २,७८,६०,००० डा०) तथा ऊर्णाजिन (फर) (आय: ५०,००,००० डालर) यहाँ के प्रमुख उद्योग हैं। कृषि एवं चरागाहों की भी वृद्धि हो रही है। वनों से बहुमूल्य लकड़ियाँ प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त अलास्का के मनोरम दृश्यों तथा आखेटक्रीड़ा संबंधी सुविधाओं के कारण यात्रीउद्योग (टुरिज्म) बढ़ रहा है। यहाँ ६४८ मील रेल, ३,५०० मील सड़क तथा वायुयान के छोटे बड़े ४०० संस्थान हैं। वस्तुओं का आयात निर्यात मुख्यतः समुद्र द्वारा होता है। कुल वार्षिक व्यापार लगभग २३,००,००,००० डालर का होता है। [का० ना० सिं०]

अलिराजपुर मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले की एक तहसील है। पहले यह मध्यभारत के दक्षिण एजेंसी में मध्यभारत का एक राज्य था। उसके पहले यह भील या भोपावर एजेंसी का एक देशी राज्य था। उस समय इसका क्षेत्रफल ८३६ वर्ग मील तथा जनसंख्या १,०१,६६३ थी (१६३१)।

अलिराजपुर एक पहाड़ी प्रदेश है तथा यहाँ के आदिवासी 'भील' नाम से पुकारे जाते हैं। इसका अधिकतर भाग जंगल से ढका है और बाजरा तथा मक्का के अतिरिक्त विशेष रूप से और कुछ पैदा नहीं होता। अलिराजपुर नगर पहले अलिराजपुर राज्य की राजधानी था, परंतु इस समय झाबुआ जिले का प्रधान नगर है। अक्षांश २२° ११' उ० तथा देशांतर ७४° २४' पू० पर यह स्थित है। यहाँ नगरपालिका (म्युनिसिपैलिटी) है और इसकी आबादी ७,७३६ (सन् १९५१) है।

इस नगर के पुराने इतिहास का ठीक पता नहीं चलता और कब किसके द्वारा यह स्थापित हुआ है इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। पहाड़ों तथा जंगलों से घिरा होने के कारण इसपर आक्रमण कम हुए और इसलिये मराठों ने जब मालवा पर आक्रमण किया तब इस पर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ा। अंग्रेजों के अधीनस्थ होने के पूर्व मालवा के राणा प्रतापसिंह अलिराजपुर के प्रधान थे। इनके देहांत के पश्चात् मुसाफिर नामक इनके एक विश्वासी नौकर ने राज्य को सँभाला तथा प्रतापसिंह के मरणोत्तर उत्पन्न पुत्र यशवंतसिंह को सिंहासन पर बैठाया गया। यशवंतसिंह का सन् १८६२ में देहांत हुआ। मरने के पूर्व उन्होंने अपने दो पुत्रों को राज्य बाँट देने का निर्देश दिया; परंतु अंग्रेजों ने आसपास के कुछ प्रधानों से परामर्श करके इनके बड़े पुत्र गंगदेव को संपूर्ण राज्य का मालिक बनाया। गंगदेव योग्य राजा नहीं था और वह ठीक से राज्य नही चला सका। कुछ ही दिनों में देश में विद्रोह की भावना प्रज्वलित हुई और अराजकता छा गई। इस कारण अंग्रेज सरकार ने कुछ दिनों के लिये इसे अपने हाथ में ले लिया। गंगदेव के देहांत के बाद (१८७१ में) इनके भाई आदि ने इसपर राज्य किया। भारत स्वतंत्र होने के बाद यह राज्य भारतीय गणतंत्र मे मिल गया और इस समय मध्यप्रदेश का एक भाग है। अलिराजपुर पर राज्य करनेवाले प्रधान राठौर राजपूतों के वंशज थे और महाराणा पद के अधिकारी थे। इनके संमानार्थ पहले ९ तोपों की सलामी दी जाती थी।

अलिराजपुर नगर का सबसे आकर्षक भवन इसका भव्य राजप्रासाद है जो इसके मुख्य बाजार के निकट ही बना है। राज्यव्यवस्था करनेवाले अधिकारियों के निवासस्थान भी इसी में हैं। [वि० मु०]

अली (अबू तालिब के पुत्र) पैगंबर मुहम्मद के चचेरे भाई और उनकी पुत्री फ़ातिमा के पति। सुन्नी मुसलमानो के चौथे पवित्र खलीफ़ा। विरोधियों को संदेह न हो, इसलिये पैगंबर के मदीना प्रस्थान (हिज़रत) के समय अली को घर पर छोड़ दिया गया था। पैगंबर के शासनकाल में अली का आचरण अत्यंत उदात्त रहा, इस तथ्य पर सभी विद्वान् सहमत हैं। बद्र ओहोद तथा अलखंदक की लड़ाइयों में उनका युद्धलाघव असाधारण था। पैगंबर ने फ़त्राक की ओर कूच करते समय अली को मदीना का शासक नियुक्त कर दिया। अली ने यमन पर भी सफल आक्रमण किया (६३१–६३२)।

अली के पहले दो ख़लीफ़ाओं (अबू बक्र और उमर) से मैत्रीपूर्ण संबंध थे। उमर ने मृत्यु से पूर्व अपने उत्तराधिकारी (खलीफ़ा) का निर्वाचन छ: निर्वाचकों पर छोड़ा था। उन्होंने उस्मान को खलीफ़ा निर्वाचित किया। इसमें अली की भी सहमति थी (६४४)। सन् ६५६ ई० में कूफ़ा, बसरा तथा फुस्तान (मिस्र) के विद्रोहियों ने अली के प्रयत्नों को विफल कर उस्मान की हत्या कर दी।

विद्रोहियों ने मदीना छोड़ने से पूर्व यह माँग की कि मदीना की जनता एक ख़लीफ़ा निर्वाचित करे। अली ने काफी पसोपेश के बाद इस पद को ग्रहण किया। सीरिया के प्रशासक मुआविया के अतिरिक्त समस्त मुसलमान जगत् ने उन्हें ख़लीफ़ा स्वीकार किया। किंतु अली की वास्तविक कठिनाई उनके अनुयायियों का पिछड़ापन थी। पैगंबर के दो साथी (सहाबा) तलहा और जुबैर, जिन्होंने पहले अली को ख़लीफ़ा स्वीकार कर लिया था, पैगंबर की पत्नी आयशा के साथ बसरा पहुँचे और उस्मान के घातकों को दंड देने की माँग की। विवश होकर अली ने बसरा के निकट 'ऊँटों की लड़ाई' में उन्हें परास्त किया।

कूफ़ा में अपनी राजधानी स्थापित करने के बाद अली ने सीरिया को कूच किया। सिफ़्फ़ीन में सेनाओं की मुठभेड़ हुई और ११० दिनों तक युद्ध और कलह चलता रहा (जून-अगस्त, ६५७)। अंत में झगड़े को पंचायत से सुलझाने का निश्चय हुआ। अली के प्रतिनिधि अबू मूसा अशीरी को मुआविया के प्रतिनिधि मिस्रविजयी अम्र-इब्नुल-आस ने धोखा दिया।

फलस्वरूप अबू मूसा ने अली और मुआविया दोनों की सत्ताओं को जनसाधारण के संमुख अस्वीकार कर दिया, किंतु अम्र ने उसके पश्चात् अपनी वक्तृता में अली में अविश्वास तथा मुआविया के प्रति अपने विश्वास की घोषणा की। अम्र की सूझ के द्वारा मुआविया की रक्षा हुई और पुरस्कारस्वरूप मुआविया ने अम्र को मिस्रविजय करने में सहायता दी। अली के कुछ अत्यंत अंधविश्वासी 'खारिजी' नामधारी मुसलमान अनुयायी, जो पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य चाहते थे, नहरवान में एकत्र हुए और अली की विचारविनिमय की चेष्टा के विपरीत उनमें से १८०० ने लड़कर प्राण देने का ही निर्णय किया।

सन् ६६० में अली ने मुआविया से पारस्परिक राज्यसीमाओं की सुरक्षा के लिये एक संधि की। उधर मुआविया ने अपने को खलीफ़ा घोषित कर दिया। अली इसके लिये उसपर आक्रमण करना चाहते थे, किंतु तभी इब्ने मुलजम नामक एक खारिजी ने उनकी हत्या कर दी। (जून २४, ६६१)।

मुसलमानों में हज़रत अली के महत्व के संबंध में बड़ा मतभेद है। अस्ना अशरीशिया उन्हें एकमात्र न्यायसंगत खलीफ़ा, पैगंबर के पश्चात् सबसे बड़ा मुसलमान तथा इस्लाम के बारह महान् नेताओं में प्रथम मानते हैं। इस्माइली शियाओं के अनुसार अली अवतार तथा इमामों के पूर्वज हैं जो कुरान के नियमों में संशोधन और परिवर्तन भी कर सकते हैं। [मु० ह०]

अलीगढ़ उत्तर प्रदेश का एक जिला है और इसी नाम का एक प्रसिद्ध नगर भी उस जिले में है।

अलीगढ़ (जिला)—स्थिति : २७°२९' से २८°११' अ० उ०, तथा ७७°२९' से ७८°३८' दे० पू०; क्षेत्रफल : १,९४६ वर्ग मील; जनसंख्या : १५,४३,५०६ (१९५१ ई०)।

अलीगढ़ उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में, गंगा यमुना के दोआबे में आगरा कमिश्नरी का एक जिला है। इस जिले की पूर्वोत्तर सीमा गंगा नदी से तथा पश्चिमोत्तर सीमा यमुना नदी से बनती है। इनके अतिरिक्त इस जिले में दो और मुख्य नदियाँ हैं—प्रथम काली नदी जो पूर्वी भाग में तथा द्वितीय करवान नदी जो पश्चिमी भाग में बहती है। दोआबे के अधिकांश में दोमट मिट्टी है जो बहुत उपजाऊ है। गंगा तथा यमुना के निकट का भाग नीचा है और खादर कहलाता है। गंगा खादर उपजाऊ है, परंतु यमुना खादर की मिट्टी कड़ी और कृषि के लिये अयोग्य है। गेहूँ, चना, जौ, ज्वार, बाजरा, मक्का, कपास तथा थोड़ा बहुत गन्ना यहाँ की मुख्य फसलें हैं। इस जिले में कंकड़ भी निकलता है, जो सड़कें बनाने के काम आता है। इस जिले में कोल (अलीगढ़), खैर, हाथरस, सिकंदराराऊ, इगलास और अतरौली तहसीलें हैं। इस जिले की ८१ प्रति शत जनता ग्रामीण है।

अलीगढ़ (नगर)—स्थिति : २७°५४' उ० अक्षांश तथा ७८°६' पू० देशांतर; जनसंख्या : १,४१,६१८ (१९५१ ई०)।

अलीगढ़ एक प्राचीन नगर है, जिसका पुराना नाम कोयल अथवा कोल है। ११९४ ई० में कुतुबुद्दीन ने इस नगर को अपने अधिकार में कर लिया। १६वीं शताब्दी में इसका नाम मुहम्मदगढ़ तथा १७१७ ई० में साबितगढ़ हो गया। लगभग १७५७ ई० में जाटों ने इसका नाम रामगढ़ रखा। तत्पश्चात् नजफ़ खाँ ने इसका वर्तमान नाम अलीगढ़ रखा। ग्रैंड ट्रंक रोड पर स्थित अलीगढ़ का दुर्ग १७५९ ई० में सिंधिया का प्रमुख गढ़ बन गया। पीछे, १८०३ में, लार्ड लेक की सेना ने इसपर अधिकार कर लिया। इस नगर की आर्थिक तथा सामाजिक दशा पर मुस्लिम संस्कृति का यथेष्ट प्रभाव है। प्राचीन रामगढ़ दुर्ग के मध्य में जामामस्जिद की विशाल इमारत है, जो अधिक ऊँचाई पर होने के कारण दूर से दिखाई देती है। इस प्राचीन बस्ती से आबादी उत्तर तथा पूर्व की ओर बढ़ गई है। अधिकारियों का महाल (सिविल स्टेशन) उत्तर की ओर है और वहीं पर अलीगढ़ विश्वविद्यालय स्थित है। १८७५ में सर सयद अहमद खाँ ने इसकी नींव एक स्कूल के रूप में डाली, जो १९२० में विकसित होकर विश्वविद्यालय बन गया।

अलीगढ़ उत्तर रेलवे का एक प्रमुख स्टेशन है जो कलकत्ते से ८७६ मील पर, बंबई से ९०४ मील पर और दिल्ली से केवल ७९ मील पर है। अलीगढ़ रुई तथा अनाज की बड़ी मंडी है और प्रमुख व्यापारिक केंद्र है। ताले तथा पीतल का इमारती सामान बनाना इस नगर का मुख्य उद्योग है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर सरसों का तेल निकालने, रुई की गाँठ बनाने, बर्फ बनाने तथा नाम के इस्पाती ठप्पे (डाई) और इसी प्रकार की बहुत सी धातु की छोटी मोटी वस्तुएँ बनाने के उद्योग उन्नति पर हैं। शरदऋतु की प्रदर्शनी के लिये एक विशाल मैदान में पक्की दूकानें बनी हुई हैं। इस प्रदर्शनी में दूर दूर के व्यापारी आते हैं। [आ० स्व० जौ०]

अली पाशा यह वह उपाधि है जो उस्मानी तुर्क अपने सरदारों को दिया करते थे। इस तरह की उपाधिवाले ओहदेदार कुल ९ हुए हैं।

इसी नाम की दूसरी यह ऐतिहासिक उपाधि मिस्र के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों को दी जाती है जिनको, 'अलीपाशा मुबारक' के नाम से पुकारा जाता है। यह १८२३-२४ ई० में पैदा हुए। यह एक साधारण वंश के व्यक्ति थे। पहले ये मिस्री तोपखाने में एक अधिकारी हुए और धीरे धीरे उन्नति करके मंत्री के पद पर पहुँचे। १८४४ ई० में फ्रांस गए और मेट्ज के तोपखाने के स्कूल में शिक्षा ग्रहण की। अली पाशा मुबारक ने मिस्र सरकार के प्रत्येक विभाग में बहुत ज्यादा सुधार किए। इन्हीं के मंत्रित्व में छापेखाने खुले और स्कूलों के लिये पढ़ाई जानेवाली पुस्तकें तैयार की गईं। रेलवे लाइन बनी। सिंचाई का कार्य आरंभ हुआ। विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। १८९१ ई० में उन्होंने सर अलफ्रेड मिलनर के हस्तक्षेप के कारण त्यागपत्र दे दिया और राजनीति से अलग होकर एक साधारण व्यक्ति की तरह जीवन व्यतीत करने लगे। १४ नवंबर, १८९३ को उनकी मृत्यु काहिरा में हो गई।

एक और अली पाशा मुहम्मद अमीन तुर्क राजनीतिज्ञ १८१५ ई० में कुस्तुतुनियाँ में पैदा हुए। यह रशीद पाशा के शिष्य थे। लंदन में १८४१ ई० में तुर्की राजदूत रहे। पेरिस के सुलहनामे में तुर्की के प्रतिनिधि बनाकर भेजे गए। १८५६-६१ ई० तक उस्मानिया सल्तनत के मुख्य मंत्री रहे। इन्होंने बहुत सी नई बातें लागू की। इनकी मृत्यु १८ सितंबर, १८७१ को हुई। [मु० अ० अं०]

अलीपुर द्वार पश्चिमी बंगाल के जलपाइगुड़ी जिले में इसी नाम के सब डिवीजन का प्रमुख नगर है (स्थिति २६°२९' उ० अक्षांश, ८९°३२' पू० देशांतर)। यह काटजानी नदी के उत्तरी तट पर बसा है और कूचबिहार रेलवे का स्टेशन है। जलपाइगुड़ी एवं बक्सा नगरों से भी यह पक्की सड़कों द्वारा जुड़ा है। आवागमन की सुविधाओं के कारण यह अपने क्षेत्र का उन्नतिशील व्यापारिक केंद्र हो गया है। यहाँ काटजानी नदी के पुराने छोड़े हुए मार्गों में झीलें बन गई हैं। यह स्थान अस्वास्थ्यकर है और यहाँ मलेरिया का भयानक प्रकोप है। इस कस्बे का नाम कर्नल हिदायत अली खाँ के नाम पर पड़ा है। १९०१ ई० में यह केवल ५७१ मनुष्यों का ग्राम था, पर १९५१ ई० में इसकी जनसंख्या २४,८८६ हो गई। [का० ना० सिं०]

अली, मुहम्मद मौलाना मुहम्मद अली सन् १८७८ ई० में नजीबाबाद, जिला बिजनौर में पैदा हुए। दो साल के थे कि पिता का देहावसान हो गया। माँ ने, जो 'बी अम्मा' कहलाती थीं और बड़े किर्दार की बीबी थीं, शिक्षा की व्यवस्था की। अलीगढ़ में ऊँची तालीम हासिल की, फिर आक्सफ़र्ड गए। वापसी पर खिलाफत तहरीक और कांग्रेस में शामिल हुए। कांग्रेस के ३८वें अधिवेशन (काकीनाडा) के सभापति हुए। मुहम्मद अली ने अध्यक्ष की हैसियत से खास तौर पर मुसलमान और कांग्रेस, औरतों की तनजीम, खादी का काम, सिक्खों का मसला और स्वराज्य के रूप आदि पर जोर दिया। फिर ये गोलमेज कांफ्रेंस में भी शामिल होने लंदन गए और उसके एक अधिवेशन में बड़ा पुरजोश व्याख्यान दिया। स्वास्थ्य खराब था, व्याख्यान के बाद से हालत गिरनी शुरू हो गई और ५ जनवरी, १९३२ ई० को लंदन में ही उनकी मृत्यु

हो गई। जनाज़ा जुरूसलम ले जाया गया और वहाँ मसजिदे अकसा में दफन हुए।

मौलाना मुहम्मद अली जबरदस्त रहबर होते हुए बड़े अदीब और शायर भी थे। आपका उपनाम 'जौहर' था। उर्दू पत्रकारिता को आपन एक नई दिशा दी। आपकी ही दिखाई राह पर बाद में आनेवाले तमाम उर्दू अखबारों ने कदम रखा। आप कलकत्ते से एक अखबार 'कामरेड' निकालते थे और एक दैनिक अखबार भी जिसका नाम 'हमदर्द' था। यह दैनिक एक सफे पर छपता था। मौलाना का पूरा जीवन जाति तथा देश के लिये अनेक त्याग करने में बीता। [र० ज०]

अलीवर्दी खाँ बंगाल में औरंगजेब के नियुक्त किए हुए हाकिम मुर्शिद कुलीखाँ की मृत्यु के बाद १७२७ ई० में उनके दामाद शुजाउद्दीन खाँ हाकिम नियुक्त किए गए। अलीवर्दी खाँ उनके नायब नाज़िम थे। मिर्जा मुहम्मद के बेटे अलीवर्दी का असली नाम मिर्जा मुहम्मद अली था, बाद को 'अलीवर्दी खाँ' और 'महावत जंग' के खिताब देहली से मिले। शुजाउद्दीन खाँ की मृत्यु के बाद उनके बेटे सर्फराज खाँ हाकिम हुए लेकिन अलीवर्दी खाँ ने उनके भाई के साथ मिलकर साजिश की जिसमें आलमचंद और सेठ फतेहचंद भी शरीक थे। १० अप्रैल, सन् १७४० ई० को अलीवर्दी ने बिहार की तरफ से हमला किया और गीरिया नामक स्थान पर सर्फराज खाँ को मार दिया। फिर वह स्वयं बंगाल के हाकिम बन बैठे और देहली के शाहनशाह से अपनी हुकूमत की सनद मनवा ली। सन् १७५१ ई० में उन्होंने मरहठों से एक समझौता किया, क्योंकि एक तरफ उन्हें बंगाल पर मरहठो के हमलो का खतरा था और दूसरी तरफ उनके अपने पठान सरदार बगावत करने पर उतारू रहते थे। इस समझौते में उन्होंने मरहठों को बारह लाख रुपया सालाना चौथ के रूप में देना मंजूर किया। उड़ीसा के एक हिस्से का पूरा लगान इसमें जाता था। लेकिन इस बात का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता कि अलीवर्दी खाँ ने देहली को कोई खिराज दिया हो या अंग्रेजों को कोई टैक्स अदा किया हो। सन् १७५६ ई० में ८० साल की उम्र में मुर्शिदाबाद में अलीवर्दी खाँ की मृत्यु हुई और वहीं खुशबाग के एक कोने में अपनी माँ के पास दफनाए गए। अलीवर्दी खाँ अत्यंत बहादुर सिपाही और बहुत समझदार हाकिम थे। [र० ज०]

अली, शौकत मौलाना शौकत अली मौलाना मुहम्मद अली के बड़े भाई थे। आप सन् १८७६ में पैदा हुए। धार्मिक शिक्षा के बाद अलीगढ़ में पढ़ा। खिलाफत और कांग्रेस के आंदोलन में सन् १९१९ से लेकर सन् १९२१ तक भाग लेते रहे। भाई के साथ जेल भी गए। अंतिम समय में आप मुस्लिम लीग में शामिल हो गए थे। ४ जनवरी, सन् १९३९ को देहांत हुआ। [र०ज०]

अलूचा (अंग्रेजी नाम : प्लम; वानस्पतिक नाम : प्रूनस डोमेस्टिका; प्रजाति : प्रूनस; जाति : डोमेस्टिका; कुल : रोजेसी) एक पर्णपाती वृक्ष है। इसके फल को भी अलूचा या प्लम कहते हैं। फल लीची के बराबर या कुछ बड़ा होता है और छिलका नरम तथा साधारणतः गाढ़े बैंगनी रंग का होता है। गूदा पीला और खटमिट्ठे स्वाद का होता है। भारत में इसकी खेती नहीं के समान है; परंतु अमरीका आदि देशों में यह महत्वपूर्ण फल है। केवल कैलिफोर्निया में लगभग एक लाख पेटी माल प्रति वर्ष बाहर भेजा जाता है। आलूबुखारा (प्रूनस बुखारेंसिस) भी एक प्रकार का अलूचा है, जिसकी खेती बहुधा अफगानिस्तान में होती है। अलूचा का उत्पत्तिस्थान दक्षिण-पूर्व यूरोप अथवा पश्चिमी एशिया में काकेशिया तथा कस्पियन सागरीय प्रांत है। इसकी एक जाति प्रूनस सैल्सिना की उत्पत्ति चीन से हुई है। इसका जैम बनता है।
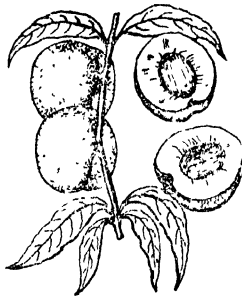
अलूचा या आलूबुखारा
यह खटमिट्ठा फल भारत के पहाड़ी प्रदेशों में होता है।

अलूचा के सफल उत्पादन के लिये ठंढी जलवायु आवश्यक है। देखा गया है कि उत्तरी भारत की पर्वतीय जलवायु में इसकी उपज अच्छी हो सकती है। मटियार, दोमट मिट्टी अत्यंत उपयुक्त है, परंतु इस मिट्टी का जलोत्सारण (ड्रेनेज) उच्च कोटि का होना चाहिए। इसके लिये ३०-४० सेर सड़े गोबर की खाद या कंपोस्ट प्रति वर्ष, प्रति वृक्ष के हिसाब से देना चाहिए। इसकी सिंचाई आड़ू की भाँति करनी चाहिए। अलूचा का वर्गीकरण फल पकने के समयानुसार होता है : (१) शीघ्र पकनेवाला, जैसे अलूचा लाल, अलूचा पीला, अलूचा काला तथा अलूचा ड्वार्फ; (२) मध्यम समय में पकनेवाला, जैसे अलूचा लाल बड़ा, अलूचा जर्द, तथा आलूबुखारा; (३) विलंब से पकनेवाला, जैसे अलूचा ऐल्फा, अलूचा लेट, अलूचा एक्सेल्सियर तथा केल्सीज जापान।

अलूचा का प्रसारण आँख बाँधकर (बडिंग द्वारा) किया जाता है। आड़ू या अलूचा के मूल वृंत पर आँख बाँधी जाती है। दिसंबर या जनवरी में १५-१५ फुट की दूरी पर इसके पौधे लगाए जाते हैं। आरंभ के कुछ वर्षों तक इसकी काट छाँट विशेष सावधानी से करनी पड़ती है। फरवरी के आरंभ में फूल लगते हैं। शीघ्र पकनेवाली किस्मों के फल मई में मिलने लगते हैं। अधिकांश फल जून जुलाई में मिलते हैं। लगभग एक मन फल प्रति वृक्ष पैदा होता है। [ज० रा० सिं०]

अलेक्जैंडर द्वीपसमूह संयुक्त राज्य अमरीका के अधीन अलास्का राज्य के दक्षिणी-पश्चिमी समुद्रतट के संनिकट अक्षांश ५४° ४०' उ० से ५८° ३०' उ० में स्थित है। विद्वानों का कहना है कि ये द्वीप निमज्जित पहाड़ियों की अवशिष्ट चोटियाँ हैं जो समुद्रतल से ३,००० फुट से लेकर ५,००० फुट की ऊँचाई तक उठ गई हैं। इनका ऊपरी भाग घने जंगलों से आवृत है और सीधे खड़े किनारों पर हिमनद की क्रियाओं के स्पष्ट चिह्न दिखाई देते हैं।

अलेक्जैंडर द्वीपपुंज के अंतर्गत लगभग १,१०० छोटे बड़े द्वीप हैं जो आपस में एक जाल-सा बनाते हैं और उपकूल के निकट १३,००० वर्गमील के क्षेत्र में फैले हैं। इनका वृत्ताकार घेरा उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व तक फैला हुआ है। इनमें क्रमश: शिकागोफ, बारानोफ, ऐडमिरैल्टी, कुपरिनोफ, कुईन, प्रिंस ऑव वेल्स, इटोलिन तथा रेविलाजिगेडो प्रधान हैं। प्रिंस ऑव वेल्स इनमें से सबसे बड़ा द्वीप है जो १४० मील लंबा तथा ४० मील चौड़ा है। बारनोफ के पश्चिमी तट पर इसकी पुरानी राजधानी सिटका स्थित है। द्वीपों द्वारा बनी हुई खाड़ी प्रशांत महासागर के तूफानों से मुक्त है; इस कारण यह खाड़ी उपयोगी जलपोत पथ है। [वि० मु०]

अलेक्सांदर प्रथम (पावलोविच) रूस का ज़ार, पाल प्रथम का पुत्र, जन्म २३, दिसंबर १७७७ को सेंट पीटर्सबर्ग में। २४ मार्च, १८०१ को राजगद्दी पर बैठा। पिता से दूर रहने और पाल तथा कैथरीन में मतभेद रहने के कारण इसको अपने आंतरिक भाव सदा छिपाए रखने पड़े। इस कारण इसके व्यवहार में सदा सचाई का अभाव रहा। नेपोलियन इसको उत्तर का स्फिंक्स कहा करता था।

पिता की हत्या होने पर यह सिंहासन पर बैठा। गद्दी पर बैठते ही इंग्लैंड के साथ संधि (१५ जून, १८०१) और फ्रांस तथा स्पेन के साथ मैत्री की। शासन के पहले चार साल उसने राज्य के आंतरिक सुधार में लगाए। रूस को एक संविधान देने का उसने प्रयत्न किया। करों को हटाया, कर्जदारों को ऋणमुक्त किया, कोड़े मारने की सजा का अंत किया और इस रीति से अर्धदासता को दूर करने का रास्ता बनाया। साथ ही उसने 'सीनेट' के कार्य और अधिकार निर्धारित किए, मंत्रालय का पुनः संगठन किया और नौसेना, परराष्ट्र, गृह, न्याय, वित्त, उद्योग, वाणिज्य, शिक्षा आदि के विभाग स्थापित किए। सेंट पीटर्सबर्ग में विज्ञान अकादमी की और कजान और खारकोव में विश्वविद्यालयों की भी उसने स्थापना की। शांतिकाल में शिक्षा, साहित्य और संस्कृति को प्रोत्साहन दिया।

अलेक्सांदर ने फ्रांस के विरुद्ध इंग्लैंड से संधि की (अप्रैल, १८०५)। पीटर के प्रभाव में आकर आस्ट्रिया, इंग्लैंड और प्रशा के साथ मिलकर इसने भी फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। परिणामस्वरूप अनेक

युद्धों में रूस को फ्रांस से हारना पड़ा। टिलसिट की संधि द्वारा दोनों फिर मित्र बने और नैपोलियन ने वालाचिया और मोलदोविया पर रूस का अधिकार स्वीकार किया।

यूरोप का सार्वभौम सम्राट् होने की भावना से नैपोलियन ने रूस पर आक्रमण किया। वोरोदिनो (७ सितंबर, १८१२) में रूसी सेना हारी। पर शीघ्र पासा पलट गया। रूसी मास्को को अग्निसमर्पित कर पीछे हट गए।,१५ सितंबर, १८१२ को नैपोलियन ने आग में जलते मास्को में प्रवेश किया। निराश, निस्सहाय, सर्दी भूख से संतप्त फ्रेंच सेना वापस लौटी और थकी माँदी सेना को वीयाजमा में रूसी सेनापति मिचेल ऐडेसचिव मिलोरोगोचिव ने पराजित कर उसका पीछा किया।

अलेक्सांदर ने अब यूरोप में स्थायी शांति स्थापित करने का यत्न किया। अब प्रशा, रूस और आस्ट्रिया की संमिलित सेना ने फ्रेंच सेना का लाइपजिग (१६-१६ अक्टूबर १८१३) में मुकाबिला किया। 'सब राष्ट्रों का युद्ध' नाम से प्रसिद्ध इस संग्राम में नैपोलियन पराजित हुआ और वह बंदी कर लिया गया। फ्रांस के नए राजा १८वें लुई को 'जार' ने फ्रांस को उदार संविधान देने के लिये बाध्य किया।

सौ दिनों के बाद नैपोलियन कैद से फ्रांस लौटा और वाटरलू के संग्राम में पुनः पराजित हुआ। वीएना कांग्रेस के निर्णय से रूस को वारसा के साथ पोलैंड का एक बड़ा भाग मिला। रूस ने आस्ट्रिया और प्रशा से संधि की जो इतिहास में 'पवित्र संधि' (होली एलायंस) के नाम से प्रसिद्ध है।

पुराने और नए झगड़ों के कारण तुर्की और रूस के मध्य छिड़ती लड़ाई अलेक्सांदर की बुद्धिमत्ता के कारण रुक गई। जार १६ नवंबर, १८२५ को अज़ोव सागर के तट पर मरा। [अ० कु० वि०]

अलेक्सांदर द्वितीय

(१८१२-१८८१) रूस का ज़ार, (१८-५५-८१), निकोलस प्रथम का ज्येष्ठ पुत्र। २ मार्च, १८५५ को निकोलस प्रथम की जब सेवेस्तोपल में भारी पराजय के बाद मृत्यु हुई और जब क्रीमिया का युद्ध अभी चल ही रहा था, यह रूस के सिंहासन पर बैठा। तुर्की से मिली पराजय ने सेना के संगठन और राज्य में आंतरिक सुधार की आवश्यकता को अनिवार्य कर दिया था। यद्यपि अलेक्सांदर स्वभाव से कोमल था, पर कम सहिष्णु और प्रतिगामी था। इतिहास में यह 'मुक्तिदाता' और महान् सुधारों का युगप्रवर्तक के नाम से प्रसिद्ध है। मुक्ति कानून द्वारा उसने एक करोड़ भू-दासों को स्वाधीन कर दिया, काश्तकारों को बिना मुआवजा दिए वैयक्तिक स्वाधीनता दे दी। १८६४ में जिला और प्रांतिक कौसिलों (जेम्सहस) की और १८७० में निर्वाचित नगरपालिकाओं की स्थापना हुई। इसी काल स्थानीय स्वायत्तशासन का विकास, न्याय के कानूनों में संशोधन, जूरीप्रणाली का प्रारंभ और शिक्षाप्रणाली में संशोधन हुआ। सैनिक शिक्षा अनिवार्य की गई।

रूस की औद्योगिक क्रांति का आरंभ अलेक्सांदर के शासनकाल में ही हुआ। व्यवसाय और रेलवे का विस्तार हुआ। काकेशस पर अधिकार जम गया। मध्य एशिया में रूस के राज्यविस्तार से रूस और ब्रिटेन के संबंधों में तनाव आ गया।

किंतु अलेक्सांदर के शासनसुधार प्यासे के लिये ओस के समान थे। क्रांतिकारी दल इससे संतुष्ट नहीं था। उसकी शक्ति बराबर बढ़ती गई। उसी मात्रा में ज़ार भी प्रतिक्रियावादी होता गया और जीवन के पिछले सालों में उसका प्रयत्न अपने ही सुधारों को व्यर्थ करने में लगा। १८६३ में पोलैंड से विद्रोह हुआ जो क्रूरतापूर्वक कुचल दिया गया। तुर्की से १८७७ में पुनः युद्ध छिड़ गया। सुदूर पूर्व में आमूर नदी की घाटी का प्रदेश व्लादीवोस्तक तक (१८६०) और जापान से सखालिन तक (१८७५) लेने में ज़ार फिर भी सफल हुआ।

१३ मार्च, १८८१ को सेंट पीटर्सबर्ग में जमीन के नीचे बम रखकर ज़ार अलेक्सांदर की हत्या कर दी गई। [अ० कु० वि०]

अलेक्सांदर तृतीय

(१८४५-९४) रूस का ज़ार, ज्येष्ठ भ्राता निकोलस की १८६५ में मृत्यु हो जाने पर राज्य का उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ और पिता की हत्या के बाद गद्दी पर बैठा।

यह सुशिक्षित नहीं था अतः इसका दृष्टिकोण सीमित था। किंतु था यह ईमानदार, साहसी और दृढ़ विचारों का। पोवोदोनोस्त्सोव इसका परामर्शदाता था जो धार्मिक स्वतंत्रता, लोकतंत्र और संसदीय शासन-प्रणाली को अनर्थों की जड़ मानता था। अतः गद्दी पर बैठते ही पिता द्वारा बनाया गया संविधान इसने वापस ले लिया जो उसी दिन प्रकाशित होनेवाला था जिस दिन इसके पिता की हत्या हुई थी।

अलेक्सांदर का विश्वास था कि विशाल रूसी साम्राज्य में एक देश (रूस), एक धर्म, एक संस्कृति और एक सम्राट् रहना चाहिए। अतः साम्राज्य के गैर रूसी प्रदेशों में रूसी भाषा को थोपा गया। यहूदियों को सताया गया और कठोर दमन द्वारा निहलिस्ट पार्टी के षड्यंत्रों को कुचला गया।

इसके शासनकाल में रेलवे का विस्तार हुआ, उद्योग व्यापार को प्रोत्साहन मिला, मुद्रा में सुधार हुआ, फ्रांस के साथ मत्री की संधि की गई और मध्य एशिया में रूस की स्थिति सुदृढ़ हुई। इसके कारण ब्रिटेन की अपने भारतीय साम्राज्य के लिये चिंता बढ़ गई। [अ० कु० वि०]

अलेक्सांदर प्रथम (एपिरस का राजा)

एपिरस में मोलोसिया का राजा था। मकदूनिया के फिलिप द्वितीय की सहायता से इसे गद्दी मिली थी। इसने सिकंदर महान् की बहन क्लियोपात्रा से विवाह किया था। इसने ३४२ से ३३० ई० पू० तक राज किया। रोम के साथ इसकी मैत्री थी और दक्षिण इटली के अधिकांश पर इसका अधिकार था। इसके राज्यकाल में एपिरस की शक्ति प्रसिद्ध हुई। इसने सोने और चाँदी के सिक्के भी चलाए थे। [अ० कि० ना०]

अलेक्सांदर सेवेरस

(२०८-२३५ ई०), जिसका पूरा नाम, मार्कस ओरेलियस सेवेरस अलेग्जांदर था। वह सम्राट् का पुत्र तो न था पर सम्राट् हेलियो गैबलस की हत्या के बाद प्रभावशाली शरीररक्षक सेना ने उसे सम्राट् बना दिया। उस समय वह निरा बालक ही था। परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य में सर्वत्र विद्रोह होने लगे। स्वयं सम्राट् को फ़ारस के सस्सानी राजा से लड़ने के लिये पूर्व जाना पड़ा। वहाँ से तो वह विशेष प्रतिष्ठापूर्वक नहीं ही लौटा, उधर लौटते ही जो उसे पच्छिम में गॉल के जर्मनों से लोहा लेना पड़ा तो उसी मोर्चे पर वह मारा गया। [ओं० ना० उ०]

अलेक्सियस तृतीय

पूर्वी रोमन साम्राज्य का सम्राट्। ११९५ में जब उसका भाई इसाक द्वितीय थ्रेस में शिकार खेल रहा था, अलेक्सियस को सम्राट् घोषित कर दिया गया। फिर उसने अलेक्सियस को पकड़कर उसकी आँखें निकलवा लीं और कैद कर लिया। बाद में उसे मुक्त कर अनंत धनदान से सेना का मुँह बंद करना पड़ा। पूर्व में तुर्कों ने साम्राज्य रौंद डाला और उत्तर के बलगरों ने मकदूनिया और थ्रेस को उजाड़ डाला। उधर उसने स्वयं खजाने का धन अपने महलों के निर्माण पर खर्च कर दिया। सिंहासनच्युत और कैद इसाक के बेटे अलेक्सियस ने तब वियना में तुर्कों के विरुद्ध परामर्श करके पश्चिमी राजाओं से सहायता की प्रार्थना की और उसकी सहायता से उसने अलेक्सियस तृतीय को साम्राज्य के बाहर भगा दिया। तब से अलेक्सियस पूर्वी साम्राज्य के विरुद्ध षड्यंत्र करता, लड़ता और बार बार हारता, दर दर फिरता रहा। अंत में एक मठ में उसकी मृत्यु हुई। [ओं० ना० उ०]

अलेक्सियस मिखाइलोविच

(१६२९-७६), रोमनोव राजवंश का दूसरा 'ज़ार'। इसकी शिक्षा धर्म के आधार पर मास्को में हुई। प्रसिद्ध विद्वान् वोरिस

मोरोजीव इसका शिक्षक था। इस कारण इसकी शिक्षा में आधुनिक साधनों का भी उपयोग किया गया। जर्मनी के नक्शे और चित्र भी बरते गए। प्राचीन रूसी संस्कृति के साथ दृढ़ अनुराग रखता हुआ भी यह पश्चिमी सभ्यता से आकृष्ट हुआ। विदेशी भाषाओं की पुस्तकों का रूसी भाषा में इसने अनुवाद कराया। रूस में सर्वप्रथम नाट्य रंगमंच (थियेटर) की स्थापना की। १६४५ ई० में यह राजसिंहासन पर बैठा।

रूस इस समय संक्रमण की स्थिति में था। १६वीं शताब्दी आधुनिक युग के साथ रूस में आई। रूस में परिवर्तन वांछनीय है, यह माननेवाला वह अकेला था। रूसी दरबार के कुछ लोग कट्टर रूढ़िवादी और पश्चिमी सभ्यता के विरोधी थे। इसने अपने सलाहकार प्रगतिशील विचारों के लोगों में से चुने, जैसे मोरोजोव ओरडिन, माशखोकिन माखेयो।

अनुभव न होने से राज्य में पहले अशांति रही। लेकिन १६५५ मे शांति स्थापित हो गई। १६५५-१६५६ और १६६०-१६६७ में पोलैंड से उसने युद्ध किया, स्मोलेंस्क जीता, लिथुएनिया के अनेक प्रांतों पर अधिकार कर लिया। १६५५-१६६१ तक उसकास्वीडन से युद्ध हुआ। कज्जाकों को उसने रूस से निकाल दिया। विधिसंहिताओं में उसने संशोधन किया और आधुनिक विज्ञान का अनुवाद कराया। उसने अनेक धार्मिक सुधार भी किए।

अलेक्सियस स्वभाव से नरम, दयालु और न्यायप्रिय शासक था। वह अपने उत्तरदायित्व को भली भाँति समझता था। भविष्य की ओर देखते हुए भी उसने रूस का अतीत से संबंध सहसा नहीं तोड़ा। महान् पीटर का यह पिता था। उसका निजी जीवन लांछनरहित था।

[अ० कु० वि०]

अलेघनी पर्वत से पहले पूरे अपलेचियन पर्वत का बोध होता था, परंतु अब यह नाम केवल अमरीका की हडसन नदी के दक्षिण तथा पश्चिम में स्थित पर्वतांचल के लिये प्रयुक्त होता है। यह अंचल अपलेचियन पर्वत का उत्तर-पश्चिम भाग है। पेनसिलवानिया स्टेट में यह पर्वतश्रेणी सीधी हो गई है तथा पर्वतशिखर नुकीले हो गये हैं। इसकी ऊँचाई यहाँ पर १,५०० से १,८०० फुट तक है। मेरीलैंड, वर्जीनिया तथा पश्चिमी वर्जीनिया स्टेट में ४,८०० फुट तक की ऊँचाई पाई जाती है तथा इन स्थानों पर पर्वतशिखर अपेक्षाकृत चौड़ा है। ब्लू पर्वतश्रेणी के समांतर जानेवाली पर्वतमाला की गणना भी अलेघनी पर्वतश्रेणी में की जाती है और इस पहाड़ी भाग के उत्तर-पश्चिम अंचल को अलेघनी-अग्र (फ्रंट) कहते हैं। इस पहाड़ी के दक्षिण-पूर्व ओर का किनारा प्रायः खड़ा है, परंतु पश्चिम ओर कुछ ढालुआ सा है।

पूर्वी किनारे को छोड़कर, जहाँ यह भंजित (फोल्डेड) रूप ले लेती है, सभी जगह परतें क्षैतिज हैं और यह अंचल वास्तविक पर्वतश्रेणी का आकार न लेकर गहरी कटी घाटी का रूप ले लेता है। इसमें कैंब्रियन से कार्बनप्रद युग तक के अंतर्गत बने चूने के पत्थर, बलुआ पत्थर और कांग्लोमरेट ही मुख्यतः मिलते हैं। इस श्रेणी के ऊँचे भागों पर बड़ी बड़ी कोयले की खानें पाई जाती हैं। अलेघनी-अग्र तथा ब्लू पर्वतश्रेणी के बीच में ५० से १०० मील तक चौड़ी एक घाटी है। पश्चिम की ओर कंबरलैंड से मोहावक तक इसकी ढाल कम है। मेक्सिको की खाड़ी तथा अटलांटिक में गिरनेवाली नदियों का यह जलविभाजक है।

अलेघनी पर्वत न्यूयार्क स्टेट के कैटस्किल अंचल से लेकर टेनेसी स्टेट के कंबरलैंड पठार तक फैला हुआ है। इस कारण संयुक्त राष्ट्र अमरीका के अटलांटिक समुद्रोपकूल से पश्चिम की ओर देश के भीतर आने जाने के लिये एक बाधा स्वरूप था; परंतु अब इसपर कई रेलमार्ग बन गए हैं जो इस पर्वतश्रेणी को, इसकी नदियों की घाटी के सहारे, आर पार करते हैं।

[वि० मु०]

अलेप्पि अथवा अंबलापुल्ला दक्षिण भारत के केरल राज्य का प्रमुख बंदरगाह एवं इसी नाम के जिले का प्रमुख नगर है (स्थिति ९°३०′ उत्तर अक्षांश एवं ७६°२०′ पूर्वी देशांतर)। यह क्वीलन से ४६ मील उत्तर एवं एर्णाकुलम् से ३५ मील तथा कोचीन से ३२ मील दक्षिण स्थित है। १८वीं सदी के अंत तक यह क्षेत्र जंगलों से ढका रेतीला मैदान था। महाराज रामवर्मा ने उत्तरी ट्रावंकोर-कोचीन-क्षेत्र में डचों की व्यापारिक महत्ता एवं व्यावसायिक एकाधिकार को समाप्त करने के उद्देश्य से यहाँ बंदरगाह बनवाया था। सुविधा पाकर यहाँ देशी विदेशी व्यापारी बस गए और विदेशों से इस बंदरगाह द्वारा आयात निर्यात होने लगा। व्यापार की वृद्धि के लिये पृष्ठक्षेत्र से नहर द्वारा बंदरगाह का संबंध जोड़ा गया। १८वीं सदी के अंत में बड़े बड़े गोदाम एवं दूकानें राज्य की ओर से बनवाई गईं। अतः १९वी सदी की प्रथम तीन दशाब्दियों तक यह ट्रावंकोर का प्रमुख बंदरगाह हो गया था। साल के अधिकांश में यह बंदरगाह जहाजों के ठहरने के लिये सुरक्षित रहता है।

उद्योगों की दृष्टि से अलेप्पि नारियल की जटाओं से बनी चटाइयों के लिये सुप्रसिद्ध है। यहाँ से गरी, नारियल, नारियल की जटा, चटाइयाँ, इलायची, काली मिर्च, अदरक आदि का निर्यात होता है। आयात की वस्तुओं में चावल, बंबइया नमक, तंबाकू, धातु एवं कपड़े आदि प्रमुख हैं।

१९०१ ई० में नगर की जनसंख्या केवल २४,९१८ थी जो १९५१ ई० में बढ़कर १,१६,२७८ हो गई। पिछली दशाब्दियों में यह दूनी से अधिक हो गई। अलेपि बंदरगाह का महत्व अब घट गया है, परंतु यह अब भी अनुतटीय एवं नदियो के विमुखीय प्रवाह द्वारा होनेवाले व्यापार के लिये प्रसिद्ध है। १९५६-५७ मे इस बंदरगाह द्वारा २,९२० टन का आयात एवं २३,५२५ टन का निर्यात हुआ था। [का० ना० सिं०]

अलेप्पो कुवेक नदी की घाटी में स्थित सीरिया का एक नगर है जिसकी स्थापना ईसा से २,००० वर्ष पहले हुई थी। अलेप्पो पूर्वकाल में यूरोप तथा फारस और भारत के बीच व्यापारमार्ग पर होने के कारण बहुत विख्यात था, किंतु बाद में स्वेज नहर तथा अन्य मार्गों के खुल जाने के कारण इसके व्यापार को बहुत धक्का पहुँचा। साबुन बनाना, सूती, ऊनी तथा रेशमी वस्त्र तैयार करना, दरी बुनना और रंगसाजी का काम करना यहाँ के मुख्य उद्योग हैं। इन वस्तुओं के अतिरिक्त यहाँ से अनाज, तंबाकू, ऊन तथा रुई का निर्यात होता है। जनसंख्या ३,९८,४६१ है (१९५४)। [न० ला०]

अलोंप्रा, अलाउंग पहाउरा (१७११-१७६०) बर्मा का राजा, जिसने १७५३ से १७६० तक उस देश के कुछ प्रदेशों पर राज किया। बर्मा के मध्य में स्थित अवानगर के समीप शिकारियों के एक छोटे गाँव स्वेबो में १७११ में उसका जन्म हुआ था। वयस्क होने पर पिता की जमींदारी और शिकारियों के सरदार का वंशानुगत पद उसको मिला। १७५० के लगभग तेलंगों ने अवा और उसके समीप के कुछ प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। अलोंप्रा ने एक सेना संगठित की और दो वर्ष में ही तेलंगों को अधिकृत प्रदेश से निकालकर १७५३ में अवा पर अधिकार कर लिया और अपने आपको देश का राजा घोषित किया। उसने अपने राज्य का विस्तार किया और दक्षिण में स्थित बर्मा की राजधानी पेगू पर भी अधिकार कर लिया। १७६० में स्यामविजय के अभियान में वह अस्वस्थ हो गया और मई मास में उसकी मृत्यु हो गई। अलोंप्रा सैनिकप्रतिभासंपन्न वीर और कुशल राजनीतिज्ञ था। उसने न्यायव्यवस्था में भी सुधार किया। उसके वंशज १८८५ तक बर्मा में राज करते रहे।

[त्रि० पं०]

अल्जीयर्स नगर अल्जीरिया राज्य की राजधानी है। यह अल्जीयर्स की खाड़ी के पश्चिमी तट पर बुजारी पर्वत से सटी हुई और समुद्रतट के समांतर जानेवाली साहिल पहाड़ियों की ढाल पर बसा हुआ है (स्थिति; अक्षांश ३६°४४′ उ० तथा देशांतर ३°७′ पू०)। यह नगर राज्यपाल के निवासस्थान, विधानसभा, उच्च न्यायालय, सैनिक अड्डा तथा आर्चबिशप का केंद्रस्थल है। यहाँ की समुद्र की लहरों को स्पर्श करती हुई पहाड़ियों की खड़ी ढाल सैनिक अड्डे की दृष्टि से अत्यंत

महत्वपूर्ण है। तुर्कों का बसाया हुआ अल्जीयर्स त्रिभुजाकार था जिसके शीर्ष पर कस्बा नामक मुहल्ला था, आधार पर रिपब्लिक वीथी (बूलवर्द दि रिपब्लिक) और भुजाओं के दोनों ओर खाई तक जानेवाले सोपान थे। फ्रांसीसी अल्जीयर्स अलग अलग छोटे छोटे टुकड़ों में बसा हुआ था। आधुनिक अल्जीयर्स पाश्चात्य ढंग का नगर है। मस्जिदें, सैन्य आवास तथा मूर लोगों के बनवाए सुंदर भवन; अब सब ध्वस्त हो गए हैं, केवल उनके खँडहर अभी तक विद्यमान हैं।

इस बंदरगाह का तटीय प्रदेश रिपब्लिक वीथी के नाम से परिचित है। इसके उत्तरी भाग को फ्रांस वीथी (बूलवर्द द ला फ्रांस) और दक्षिणी भाग को कार्नो वीथी कहते हैं। इस नगर के मुख्य कार्यालय तथा व्यवसायकेंद्र इन वीथियों पर स्थित हैं।

रिपब्लिक वीथी पर राजभवन स्थित है जो बहुत दिनों तक इस नगर का केंद्र था। समुद्रतट के समांतर जानेवाली बाब-अल-अऊद नामक संकीर्ण सड़क पर अल्जीयर्स का सबसे पुराना भाग बसा है। अल्जीयर्स की देशज विशेषता इसके सबसे ऊँचे भाग, पहाड़ियों की ढाल पर दिखाई पड़ती है। ११८ मीटर की ऊँचाई पर कस्बा बसा हुआ है। मुस्तफा क्षेत्र, जो पहले इस नगर का एक उपनगर था, आजकल नगर में संमिलित हो गया है।

पुराने समय में खैरुद्दीन ने पेनोन नामक छोटे टापू को मुख्य भूभाग से मिलाकर तुर्कों का बंदरगाह बनाया था और आज भी इस टापू पर नाविक-सेना-कार्यालय, दिशासूचक प्रकाशस्तंभ और विभिन्न तुर्की भवन दिखाई देते हैं। फ्रांसीसियों का उन्नत वर्तमान बंदरगाह इससे कुछ दूर पर बना है, जिसका स्थान फ्रांसीसी बंदरगाहों में महत्व की दृष्टि से केवल मारसेल के बाद पड़ता है। [वि० मु०]

अल्जीरिया उत्तरी-पश्चिमी अफ्रीका में फ्रांस का एक औपनिवेशिक राज्य है। देश के पूर्व में ट्यूनीशिया तथा लीबिया, दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम में फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीका, पश्चिम में मौरिटेनिआ तथा रिओ-डी-ओरो तथा उत्तर-पश्चिम में मोरक्को राज्य हैं। देश का क्षेत्रफल ८,५१,०७८ वर्ग मील है तथा जनसंख्या ६५,२६,७२६ है (१९५४ ई०)।

ऐटलस पहाड़ की दो श्रेणियाँ उत्तरी अल्जीरिया में समुद्र के समांतर फैली हुई हैं। इन पहाड़ी श्रेणियों तथा तट-पर्वतीय टेल नामक प्रांत के बीच में एक शुष्क पेटी है। उत्तरी भाग में चेलिफ (४०५ मील) देश की सबसे लंबी नदी है। इसके अतिरिक्त अन्य बहुत से सोते, नाले तथा छोटी पहाड़ी नदियाँ हैं। दक्षिणी अल्जीरिया उजाड़ तथा रेगिस्तानी है, किंतु क्षेत्रफल में उत्तरी भाग से आठ गुना बड़ा है। विस्तार और ऊँचाई की विभिन्नता के कारण यहाँ की जलवायु में पर्याप्त विषमता पाई जाती है। उत्तरी भाग में जाड़े में वर्षा होती है। गर्मी के महीने उष्ण तथा आर्द्र रहते हैं। दक्षिणी भाग में कुछ वर्षा गर्मी में होती है तथा कभी कभी सिरक्को नामक जलता हुआ गर्म तूफान चलता है।

अल्जीरिया के समुद्रतटीय उपजाऊ भाग में यूरोपीय लोग बसे हैं, अतः इस छोटे क्षेत्र में वैज्ञानिक ढंग से खेती होती है, किंतु देश का अधिकांश खेती के लिये अनुपयुक्त है। उत्तरी पर्वतीय भाग में जंगल तथा चरागाह अधिक हैं। दक्षिणी भाग उजाड़ है। कहीं कहीं मरूद्यान (नखलिस्तान) हैं तथा अन्य भागों में, जहाँ संभव है, भेड़ें पाली जाती हैं। पहाड़ी क्षेत्रों में पहुँचना कठिन है। यहाँ के आदिवासी गरीब हैं। कुल खेती की जानेवाली भूमि १,५६,००,००० एकड़ है, जिसमें ५०,००,००० यूरोपवासियों के अधिकार में है। मुख्य फसलें गेहूँ, जौ, चुकंदर, मक्का, आलू तथा तंबाकू हैं; अंजीर, अंगूर, अखरोट, जैतून आदि फल, कपास तथा खजूर भी पैदा होते हैं। ऐल्फैल्फा नामक घास भी पर्याप्त पैदा होती है। जंगलों में चीड़, देवदार तथा बाँझ (ओक) के वृक्ष प्रधान हैं। यहाँ घोड़े, खच्चर, गदहे, ऊँट, भेड़ें तथा बकरियाँ पाई जाती हैं। यहाँ मछलियाँ पकड़ने का व्यवसाय भी होता है। १९५५ ई० में २३,८०० टन मछलियाँ पकड़ी गईं। देश में लोहा, फासफेट, जस्ता, पारा, राँगा तथा ऐंटीमनी आदि खनिज पदार्थ उपलब्ध हैं।

यहाँ के आदिवासी केबिलस जाति के हैं, बरबरस भाषा बोलते हैं तथा अरबी लिपि का प्रयोग करते हैं। मैदानों तथा घाटियों में अरब लोग तथा पहाड़ी उजाड़ भागों में केबिलस की पिछड़ी हुई जातियाँ रहती हैं। ये लोग खेती करते तथा बंजारों का जीवन व्यतीत करते हैं। सभी लोग मुसलमान धर्म के अनुयायी हैं। इन आदिवासियों की संख्या १८वीं शताब्दी के मध्य में १०,००,००० थी, किंतु आज ७०,००,००० है। १९४३ ई० से इन लोगों को नागरिकता के सभी अधिकार प्राप्त हैं।

उत्तरी अल्जीरिया तीन विभागों तथा बारह उपविभागों में विभक्त है, जिनकी संमिलित जनसंख्या ७८,५९,०२३ है। दक्षिणी अल्जीरिया दो विभागों तथा चार उपविभागों में बँटा है; जनसंख्या ८,१६,९९३ है। यहाँ का प्रमुख नगर तथा देश की राजधानी अल्जीयर्स है, जिसकी जनसंख्या ३,६१,२८५ है (१९५४)। अन्य नगर ओरान (२,९९,००८), कांस्टेंटाइन (१,४८,७२५) तथा बोन (१,१४,०६८) हैं। सातवीं-आठवीं शताब्दी में अरब लोगों ने, जो मूर कहलाते थे, यहाँ पूर्वी सभ्यता फैलाई। मूर लोगों के पश्चात् यहाँ बारबरी लोगों ने १८३० ई० तक राज्य किया। १८३० ई० में फ्रांसीसियों ने यहाँ अपना आधिपत्य जमा लिया। तुर्कों के शासन के बाद यहाँ का शासन ट्यूनीशिया तथा मोरक्को के साथ होता रहा है। आज भी अन्यत्र जागृति तथा प्रगति होते हुए भी यह देश फ्रांसीसियों का औपनिवेशिक राज्य बना हुआ है। [ह० ह० सिं०]

अल्टाई क्षेत्र दक्षिणी मध्य साइबेरिया में रूसी प्रजातंत्र का एक प्रशासनिक क्षेत्र है। कुछ भाग पर्वतीय तथा शेष काली मिट्टी का उपजाऊ प्रदेश है। यहाँ गेहूँ, चुकंदर आदि की कृषि तथा दूध, मक्खन आदि उद्योग विकसित हैं। वनों से बहुमूल्य लकड़ियाँ प्राप्त होती हैं। सीसा, जस्ता, टंग्स्टेन तथा सोना आदि खनिज यहाँ पाए जाते हैं। यहाँ की राजधानी बरनउल है जहाँ कपड़े तथा खाद्य उद्योग के कारखाने हैं। रूब्टेस्सोव्सक में कृषि संबंधी यंत्र बनते हैं। [का० ना० सिं०]

अल्टाई पर्वत मध्य एशिया में रूस, चीन तथा मुख्यतः पश्चिमी मंगोलिया में स्थित पर्वतश्रेणियों का एक समूह है, जो इरतिश नदी और जुंगारियन तलहटी से लेकर उत्तर में साइबेरियन रेलवे और सयान पर्वतों तक फैला है। प्रधान अल्टाई पर्वत (एकताघ श्रेणियाँ) उत्तर में कोब्डो द्रोणी (बेसिन) और दक्षिण में हरतिश द्रोणी को पृथक् करता है। ९४° पूर्व देशांतर के पास इसकी दो निम्न समांतरगामी श्रेणियाँ पूर्व की ओर जाती हैं और वनों से आच्छादित हैं (६५००'-८१५०' वृक्षपंक्ति), जब कि पश्चिमी श्रेणी हिमानी शिखरों से पूरित है। इन पर्वतों में मुख्यतः सीसा, जस्ता, चाँदी, थोड़ा लोहा, कोयला एवं ताँबा पाया जाता है। अल्पाइन क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के पेड़ पौधे तथा जीवजंतु विद्यमान हैं। [का० ना० सिं०]

अल्डबरा द्वीप हिंद महासागर में ९° ३०' दक्षिण अ०, ४६°-०' पूर्व दे० पर मैडागास्कर से २६५ मील उत्तर-पश्चिम तथा माही (सेशल्स द्वीपसमूह) से ६९० मील दक्षिण-पश्चिम पर स्थित है। इसका क्षेत्रफल ६० वर्ग मील तथा जनसंख्या १५० है (१९५१)। यहाँ उपजाऊ मिट्टी बहुत कम है, अधिकतर बालू ही है। वनस्पतियों में घनी झाड़ियाँ, बबूल के वृक्ष, मंजिष्ठाकुल (रुबियेसिई) और मधूककुल (सैपोटेसिई) मुख्य हैं। यहाँ के बृहत्काय स्थलीय कछुए, जो लुप्त हो चले थे, अब सावधानी से पाले जाते हैं। इसके अतिरिक्त पेडुकी, घोंघे और केकड़े भी अधिक संख्या में मिलते हैं। यहाँ बकरियाँ पाली जाती हैं तथा नारियल पैदा किया जाता है। मछली मारना यहाँ का प्रमुख उद्योग है। [न० ला०]

अल्पबुद्धिता अल्पबुद्धिता संबंधी कानून ने यह परिभाषा दी है कि "अल्पबुद्धिता मस्तिष्क का वह अवरुद्ध अथवा अपूर्ण विकास है जो १८ वर्ष की आयु के पूर्व पाया जाय, चाहे वह जन्मजात कारणों से उत्पन्न हो चाहे रोग अथवा आघात (चोट) से", परंतु वास्तविकता यह है कि अल्पबुद्धिता साधारण से कम मानसिक विकास और जन्म से ही अज्ञात कारणों द्वारा उत्पन्न सीमित बुद्धि का फल है। अन्य सब प्रकार की अल्पबुद्धिता को गौण मानसिक न्यूनता कहना चाहिए। बिनेट-

परीक्षण में व्यक्ति की योग्यता देखी जाती है और अनुमान किया जाता है कि उतनी योग्यता कितने वर्ष के बच्चे में होती है। इसको उस व्यक्ति की मानसिक आयु कहते हैं। उदाहरणतः, यदि शरीर के अंगों के स्वस्थ रहने पर भी कोई बालक अल्पबुद्धिता के कारण अपने हाथ से स्वच्छता से नहीं खा सकता, तो उसकी मानसिक आयु ४ वर्ष मानी जा सकती है। यदि उस व्यक्ति की साधारण आयु १६ वर्ष है तो उसका बुद्धि-गुणांक (इनटेलिजेंस कोशेंट, स्टैनफ़ोर्ड-बेनेट) $\frac{४}{१६} \times १००$, अर्थात् २५, माना जायगा। इस गुणांक के आधार पर अल्पबुद्धिता को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है। यदि यह गुणांक २० से कम है तो व्यक्ति को मूढ़ (अंग्रेजी में इडियट) कहा जाता है; २० और ५० के बीच-वाले व्यक्ति को न्यूनबुद्धि (इबेसाइल) कहा जाता है और ५० तथा ७० के बीच दुर्बलबुद्धि (फ़ीबुल माइंडेड), परंतु यह वर्गीकरण अनियमित है, क्योंकि अल्पबुद्धिता अटूट रीति से उत्तरोत्तर बढती है। सामान्य बुद्धि, दुर्बल बुद्धि, इतनी मूढ़ता कि डाक्टर उसका प्रमाणपत्र दे सके और उससे भी अधिक अल्पबुद्धिता के बीच भेद व्यक्ति के सामाजिक आचरण पर निर्भर है; कोई नहीं कह सकता कि मूर्खता का कहाँ अंत होता है और मूढ़ता का कहाँ आरंभ। जिनका बुद्धिता-गुणांक ७० से ७५ के बीच पड़ता है उन्हें लोग मंदबुद्धि कह देते हैं, परंतु मंदबुद्धिता भी उत्तरोत्तर कम होकर सामान्यबुद्धिता में मिल जाती है। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनमें केवल प्रयासशक्ति और आवेगशक्ति (कोनेटिव और इमोशनल फंक्शंस) के संबध में बुद्धि कम रहती है।

भारत में अल्पबुद्धिता संबंधी आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। यूरोप में सारी जनसंख्या का लगभग २ प्रति शत अल्पबुद्धि पाया जाता है, परंतु यदि मंदबुद्धि और पिछड़ी बुद्धिवालों को भी संमिलित कर लिया जाय तो अल्पबुद्धिवालों की संख्या कम से कम ६ प्रति शत होगी। सौभाग्य की बात है कि मूढ़ और न्यूनबुद्धिवाले कम होते हैं ($\frac{१}{२}$ प्रति शत से भी कम)। इनका अनुपात यों रहता है : मूढ, १ : न्यूनबुद्धि, ४ : दुर्बल-बुद्धि, २०।

अल्पबुद्धिता के कारणों का पता नहीं है। आनुवंशिकता (हेरेडिटी) तथा गर्भावस्था अथवा जन्म के समय अथवा पूर्वशैशवकाल में रोग अथवा चोट संभव कारण समझे जाते हैं।

अल्पबुद्धिता जितनी ही अधिक रहती है उतना ही कम उसमें आनुवंशिकता का प्रभाव रहता है, केवल कुछ विशेष प्रकार की अल्प-बुद्धिता, जो कभी कभी ही देखने में आती है और जिसमें दृष्टि भी हीन हो जाती है, खानदानी होती है। संतान में पहुँच जाने की संभावना, मूढ़ता अथवा न्यूनबुद्धिता की अपेक्षा, दुर्बलबुद्धिता में अधिक रहती है। गर्भावस्था में माता को जर्मन मीज़ल्स, नीरमयी छोटी माता (चिकन पॉक्स), वायरस के कारण मस्तिष्कार्ति (वायरस एनसेफ़ैलाइटिज़) इत्यादि होना और माता पिता के रुधिरों में परस्पर विषमता (इन-कॉम्पैटिबिलिटी), माता पिता में उपदंश (सिफलिस) और जन्म के समय चोट अथवा अन्य क्षति महत्वपूर्ण कारण समझे जाते हैं। जन्म के समय की क्षतियों में बच्चे में रक्त की कमी से विवर्णता (पैलर), जमुआ (तीव्र श्वासरोध, इतना गला घुट जाना कि शरीर नीला पड़ जाय, ब्लू अस्फ़िक्सिया), दुग्ध पीने की शक्ति न रहना अथवा जन्म के बाद आक्षेप (छटपटाने के साथ बेहोशी का दौरा) है।

बाल्यकाल के आरंभ में मस्तिष्क में पानी बढ़ जाने (जलशीर्ष, हाइड्रोसेफ़लस) और मस्तिष्कार्ति (मस्तिष्क का प्रदाह, एनसेफ़ैलाइटिज़) से मस्तिष्क बहुत कुछ खराब हो जाता है और इस प्रकार गौण अल्प-बुद्धिता उत्पन्न होती है। खोपड़ी की हड्डी में कुछ प्रकार की त्रुटियों से भी, जिनके कारण खोपड़ी बढ़ने नहीं पाती, मानसिक त्रुटियाँ उत्पन्न होती हैं। ये रोग मस्तिष्क को वास्तविक भौतिक क्षति पहुँचाते हैं और इस क्षति के कारण विविध अंगों में भी विकृति उत्पन्न हो सकती है।

अल्पबुद्धि बच्चों में विकास के साधारण पद, जैसे बैठना, खड़ा होना, चलना, बोलना, स्वच्छता (विशेषकर मूत्र को वश में रखना), देर से विकसित होते हैं। एक वर्ष की आयु के पहले इन सब त्रुटियों का पता पाना कठिन होता है, परंतु चतुर माताएँ, विशेषकर वे जो इसके पहले स्वस्थ बच्चे पाल चुकी हैं, कुछ त्रुटियों को शीघ्र भाँप लेती हैं, जैसे दूध पीने में विभिन्नता, न रोना और बच्चे का माता के प्रति न्यून आकर्षण, बच्चे का बहुत शांत और चुप रहना इत्यादि।

साधारणतः, मूढ़ सामान्य भौतिक विपत्तियों से, जैसे आग से या सड़क पर गाड़ी से, अपने को नहीं बचा सकता। मूढ़ों को अपने हाथ खाना या अपने को स्वच्छ रखना नहीं सिखाया जा सकता। उनमें से कुछ अपने साथियों को पहचान सकते हैं और अपनी सरल आवश्यकताएँ बता सकते हैं; वस्तुतः वे पशुओं से भी कम बुद्धिवाले होते हैं। जो कुछ वे पाते हैं उसे मुँह में डाल लेते हैं, जैसे मिट्टी, घास, कपड़ा, चमड़ा; कुछ मूढ़ अपना सिर हिलाते रहते हैं या झूमते रहते हैं।

न्यून बुद्धिवालों की भी देखभाल दूसरों को करनी पड़ती है और उनको खिलाना पड़ता है। वे जीविकोपार्जन नहीं कर सकते। सरलतम बातों को छोड़कर अन्य बातें स्मरण रखने या गुण ढंग सीखने में वे असमर्थ होते हैं। परंतु यह संभव है कि वे स्वयंचालित यंत्र की तरह, बिना समझे, सिखाया गया कार्य करते रहें। कभी कभी वे कुछ दिनांक या घटनाएँ भी स्मरण रख सकते हैं, परंतु जो कुछ भी वे किसी न किसी प्रकार सीख लेते हैं उसका वे यथोचित उपयोग नहीं कर पाते। न्यूनबुद्धि-वालों का व्यक्तित्व विविध होता है; कुछ तो दयावान और आज्ञाकारी होते हैं; दूसरे क्रूर, धोखेबाज और कुनही (बदला लेनेवाले)। इनसे भी अधिक अल्पबुद्धितावाले बहुधा जिद्दी, शीघ्र धोखा खानेवाले और खुशामद-पसंद होते हैं। वे शीघ्र ही समाजद्रोही मार्गों में उतर पड़ते हैं; जसे वेश्यावृत्ति, चोरी, डकैती और भारी अपराध। वे बिना अपराध की महत्ता को समझे हत्या तक कर सकते हैं।

दुर्बल बुद्धिवाले, जिन्हें अंग्रेजी में मोरन भी कहते हैं, विशेष शिक्षा से इतना सीख सकते हैं कि यंत्रवत् श्रम द्वारा वे अपना जीविकोपार्जन कर सकें। ऐसे व्यक्तियों को जीविकोपार्जन के लिये अवश्य उत्साहित करना चाहिए। खेती, बरतन आदि माँजने की नौकरी और मजदूरी आदि का काम वे कर सकते हैं। प्रयोगशाला में काच के बरतन धोना और मेज साफ करना भी कुछ ऐसे व्यक्ति सँभाल लेते हैं।

पाठशाला जाने की आयु के पहले, दुर्बल बुद्धिवाले बच्चों में अन्य बच्चों की तरह जिज्ञासा नहीं होती। अपने मन से काम करने की शक्ति भी उनमें नहीं होती और न उनमें खल कूद आदि के प्रति रुचि होती है; वे बड़े शांत और निष्क्रिय रहते हैं। उनकी स्मरणशक्ति पर्याप्त अच्छी हो सकती है। बहुधा वे देर में बोलना आरंभ करते हैं; बोली साफ नहीं होती और व्यंजना भी अच्छी नहीं होती। ऐसे बच्चों को विशेष पाठशालाओं में शिक्षा दी जाय तो अच्छा है। उनकी काम-प्रवृत्ति (सेक्स इंस्टिंक्ट) न्यूनविकसित होती है, परंतु स्त्रियों में दुर्बल-बुद्धिवालियों का वेश्यावृत्ति अपनाना असाधारण नहीं है। दुर्बलबुद्धि-वाली माता निर्दय होती है, बच्चों की ठीक देखभाल नहीं करती और गृहस्थी भी ठीक से नहीं चलाती, जिससे गार्हस्थ्य जीवन दुःखमय हो जाता है। बहुधा दुर्बल बुद्धिवाले लड़के अपना अलग समह बनाकर चोरी करते हैं या आवेशयक्त अपराध करते हैं, उदाहरणतः, यदि मालिक के प्रति क्रोध है तो उसके घर में आग लगा सकते हैं। पैसे के प्रलोभन से हत्या इत्यादि अपराधों के लिये उन्हें सुगमता से राजी किया जा सकता है, परंतु वे योजना नहीं बना पाते और बहुधा पकड़ लिए जाते हैं, क्योंकि वे बचने की चेष्टा ही नहीं करते। ये लोग बिना यह समझ कि परिणाम क्या होगा, अपराध कर बैठते हैं।

ऐसे भी लोग हैं जो पाठशाला में मंदबुद्धि समझे जाते थे, परंतु पीछे अपने ही प्रयत्न से ऊँची स्थितियों में पहुँचे हैं।

कुछ विशेष प्रकार की अल्पबुद्धिताएँ भी हैं जिनमें मानसिक त्रुटियों के साथ शारीरिक विकृति भी रहती है, जैसे मौद्गल्याभ मूढ़ता (मॉङ्गोलॉयड इडिओसी, जिसमें आर्यवंश के लोगों का चेहरा विकृत होकर मंगोल लोगों की तरह हो जाता है), क्रेटिनिज़्म (एक रोग जिसमें बचपन से ही शारीरिक वृद्धि रुक जाती है और विकृति, घेघा, थायरायडहीनता, खुरखुरी कड़ी त्वचा और मूढ़ता आदि लक्षण

उत्पन्न हो जाते हैं; यह बहुधा थायरायड-रस के कारण उत्पन्न होता है), कदाकारता (गॉरगॉयलिज्म) इत्यादि।

अल्पबुद्धिवाले बच्चों की देखभाल साधारण पाठशालाएँ नहीं कर सकतीं और उनमें ऐसे बच्चों को भरती करना और उनको किसी न किसी प्रकार पास कराने की चेष्टा करना भूल है। संयुक्त राज्य (अमरीका) आदि कतिपय देशों में अल्पबुद्धि और दुर्बलबुद्धि बच्चों की पृथक् बस्तियाँ होती है जहाँ उनकी विशेष देखभाल की जाती है और इस उद्देश्य से विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है कि जहाँ तक हो सके, उनका विकास कर दिया जाय। इन अभागे बच्चों की सामाजिक समस्याओं का और परिवार के लोगों को छुटकारा देने का यही सबसे अच्छा हल है। [नि० गु०]

अल्पाका दक्षिण अमरीका के ऐंडीज पर्वतों के उच्च अंचलों में (१४,०००-१६,००० फुट पर) पाए जानेवाले दो जाति के चतुष्पद जानवर हैं। इनका वैज्ञानिक नाम "लामा हुआनाको", जाति "पाका" है। इनकी गणना ऊँट की श्रेणी में की जाती है, क्योंकि इनमें ऊँट जैसा जल-आमाशय (वाटर स्टमक) पाया जाता है, परंतु कूबड़ नहीं होता। अल्पाका देखने मे भेड़ से मिलता जुलता है। इसका सर लंबा और गर्दन आकाश की ओर उठी रहती है। शरीर घने बालो से ढका रहता है जो इसे वहाँ के अत्यधिक शीत से बचाता है। इन देशों के निवासी इसे भेड़ की भाँति मुख्यतः ऊन के लिये पालते हैं। इसका मांस भी स्वादिष्ट होता है। इसके बाल चमकदार, लचीले, हल्के और अधिक गर्मी पहुँचानेवाले होते हैं। अल्पाका के शरीर से पाए जाने-वाले ऊन की मात्रा भी पर्याप्त होती है।
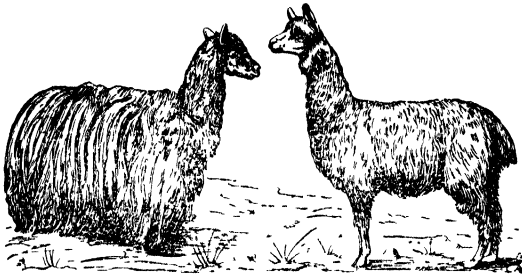
अल्पाका

यह ऊँट की श्रेणी का पशु है; इसके बाल घने और लंबे होते हैं। बाईं ओर यह बाल सहित तथा दाहिनी ओर बाल काटने पर दिखाया गया है।

अल्पाका के ऊन की पूरी लंबाई लगभग १२ इंच तक होती है, जिसमें से केवल ८ इंच वार्षिक कटाव मे काटा जाता है। ऊन का प्राकृतिक रंग मुख्यतः काला, घना धूसर या हल्के रंग का होता है। काटने के बाद रंग तथा गुण के अनुसार इसकी छँटाई होती है, जिसे इन देशो की औरतें बड़ी चतुरता से संपन्न करती हैं। इसके मुलायम और बारीक रेशे बड़ी आसानी से बुने जा सकते हैं। पहले पहल अल्पाका कोट बनाने के काम में लाया जाता था, परंतु अब इसका उपयोग अधिकतर अस्तर के रूप में होता है।

दक्षिण अमरीका के लामा, गोयेनाको और विक्युना नामक ऊनवाले अन्य तीन पशु अल्पाका की ही जाति में परिगणित होते हैं। इनमें से अल्पाका और विक्युना का ऊन सबसे मूल्यवान् माना जाता है। विक्युना अल्पाका से बड़ा एक जंगली जंतु है। लामा और अल्पाका दोनों पालतू जानवर हैं।

पहले अल्पाका के ऊन को मशीन से बुनने में बड़ी कठिनाई पड़ी, क्योंकि अल्पाका का ऊन बहुत कुछ बाल की तरह होता है, परंतु शीघ्र ही पूरी सफलता मिल गई। अल्पाका अब एक जाति के ऊनी वस्त्र को कहते हैं जिसमें विशेष चमक रहती है, चाहे उसका ऊन अल्पाका नामक पशु से मिला हो चाहे अन्य पशुओं से। [वि० मु०]

अल्फियेरी वित्तोरियो काउंट (१७४६-१८०३)—इटली का प्रसिद्ध दु:खांत नाटककार, जिसका जन्म पीदमोंत प्रांत के अस्ती नगर में हुआ था। उसे १४ वर्ष की अवस्था में ही पिता और चाचा की अनंत संपत्ति विरासत में मिली। सात वर्ष तक वह पर्यटक के रूप में यूरोप के विविध देशों में भ्रमण करता रहा जिसका वृत्तांत उसने अपनी आत्मकथा में अंकित किया है। यद्यपि उसका भ्रमण उसकी विलासिता से विकृत था, उसने उसे प्रभावित भी प्रभूत किया और इंग्लैंड की राजनीतिक स्वतंत्रता तथा फ्रांस के साहित्य का लाभ उसने भरपूर उठाया। वे ही दोनों उसके जीवन के आदर्श बन गए। वोल्तेयर, रूसो और मोतेस्क का अध्ययन उसने गहरा किया, फलतः राजनीतिक अत्याचार का वह शत्रु बन गया।

अल्फियेरी के नाटको में प्रधान 'साउल' है। स्वाभाविक ही अपनी आदर्श चेतना के अनुसार अपना एक दु:खांत नाटक 'मारिया स्तुआरदा', लिखकर उसने अपनी प्रिय चहेती काउंटेस को समर्पित किया जिसके साथ रहकर उसने अपना शेष जीवन बिता दिया। उसके पिछले नाटकों में प्रधान 'मिर्रा' था जिसे अनेक समालोचकों ने 'साउल' से भी सुदर माना है।

अल्फियेरी अमरीकी और फ्रांसीसी दोनों राज्यक्रांतियों का समकालीन था और दोनो पर उसने सुदर कविताएँ लिखी। फ्रांसीसी राज्यक्राति के समय वह पेरिस में ही था। वहाँ के रक्तपात से घबड़ाकर वह काउंटेस के साथ अपनी संपत्ति छोड़ फ्रांस से भाग निकला। उसे आँखोंदेखी मारकाट से जो घृणा हुई तो उसने उसके विरुद्ध 'मिसोगालो' नाम के अपने गद्यसंग्रह में कुछ बडे सशक्त निबंध प्रकाशित किए और इस प्रकार उसने न केवल राजाओ और महंतों के विरुद्ध, बल्कि राज्यक्रांति के अत्याचार के विरुद्ध भी अपनी आवाज उठाई।

इन निबंधों के अतिरिक्त उसका यश उसकी कविताओं, प्रधानतः उसके १६ नाटको, पर अवलंबित है। १६ सदी के आरंभ में उसकी रचनाओ के संग्रह बाईस खंडों में फ्लोरेस में प्रकाशित हुए। उसी नगर में उसका देहांत भी हुआ। [ओ० ना० उ०]

अल्फ्रेड (ल० ८४८-६०० ई०) प्राचीन इंग्लैंड के राजाओं में अपने पराक्रम और तप के कारण यह राजा 'महान्' की उपाधि से विभूषित हुआ है। उस काल के इंग्लैंड के राजाओं का डेनों से महान् संघर्ष हुआ। डेनो के दल के दल सागर पार से द्वीप में उतर आते और उसे लूट खसोटकर स्वदेश लौट जाते। उनकी मार से इंग्लैंड जर्जर हो उठा और उसके राजाओं को बार बार पराजय का शिकार होना पड़ा। उन्ही के प्रतिकार में अल्फ्रेड ने जीवन भर संघर्ष किया और अनेक बार तो उसकी स्थिति सामान्य भगोड़े जैसी हो गई। देश की रोमांचक ऐतिहासिक लोकस्मृतियो में अल्फ्रेड की कहानी बड़ी प्रिय हो गई है और उसकी जनप्रियता का परिणाम यह हुआ कि उसके संबंध में सच भूठ दोनों प्रकार की अनुश्रुतियाँ प्रचलित हो गई हैं। एक का तो यहाँ तक कहना है कि अल्फ्रेड को एक बार डेनो से हारकर गड़ेरिए के घर मे शरण लेनी पड़ी थी जहाँ गड़ेरिए की पत्नी ने उसे अनजाने कड़ी कड़ी बातें कही थी। राणा प्रताप सा वीर जीवन बितानेवाले अल्फ्रेड का चरित सचमुच इतिहास की प्रिय कथा बन गया है।

अल्फ्रेड का जन्म वांटेज में हुआ। वह राजा ईथेन बुल्क का पाँचवाँ बेटा था। उसके पिता के मरने पर उसके दो बड़े भाइयों, ईथेल बाल्ट और ईथेल बर्ट ने बारी बारी से राज किया। फिर उनसे छोटा भाई इंग्लैंड की गद्दी पर बैठा और तभी से अल्फ्रेड राजनीति के क्षेत्र में उतरा। ६६८ ई० में दोनों भाइयों ने पहली बार मरसिया में डेनों का सामना किया, पर उन्हें वे जीत न सके। दो साल बाद डेनों के विरुद्ध संघर्ष और घना हो गया और ८७१ में अल्फ्रेड ने उनसे नौ नौ लड़ाइयाँ लड़ी। हार और जीत का जैसे ताँता बँध गया और इन्ही के बीच जब बड़ा भाई ईथेल रेड मरा तब अल्फ्रेड इंग्लैड की गद्दी पर बैठा। अभी वह भाई की लाश दफनाने में ही लगा था

कि उसे उनसे फिर लड़ना पड़ा। पर जो संधि हुई उसके अनुसार अल्फ्रेड को दम लेने के लिये करीब पाँच साल मिल गए। डेन इंग्लैंड के अन्य भागों में तब व्यस्त थे और ८७६ ई० में वे फिर उनकी ओर लौटे। उन्होंने एग्ज़ीटर छीन लिया, पर शीघ्र ही अल्फ्रेड की चोट और अपना जहाजी बेड़ा तूफान से उड़ जाने के कारण उन्हें हारकर मरसिया लौटना पड़ा। अगले साल डेन फिर लौटे और अल्फ्रेड को गिने चुने आदमियों के साथ जंगल और दलदल लाँघ अथेलनी में शरण लेनी पड़ी। इसी शरण की कहानी गड़ेरिए की किवदंती से संबंध रखती है। राजा गाँव में वहाँ छिपा जरूर था, पर वस्तुतः वह वहाँ अपनी जीत की तैयारी कर रहा था।

८७८ ई० की मई में वह अपने आश्रय से बाहर निकला और राह में मिलती जाती सेनाओं के साथ डेनों से लोहा लेने चला। विल्टशायर के एडिंग्टर नगर के पास दोनों की मुठभेड़ हुई और अल्फ्रेड पूर्ण विजयी हुआ। डेनों के राजा गुथ्रम ने आत्मसमर्पण कर ईसाई धर्म स्वीकार किया। अगले साल वेसेक्स और मर्रासया से वेडमोर की सुलह के मुताबिक डेन सेनाएँ बाहर निकल गईं, यद्यपि लंदन और इंग्लैंड के उत्तर-पूर्वी भाग अब भी उन्हीं के कब्जे में बने रहे। कुछ साल शांति रही, पर ८८५ में जो संघर्ष हुआ उससे लंदन भी अल्फ्रेड के हाथ आ गया। उसके बाद डेनों के जो दल आए उनके साथ उनके बीबी बच्चे भी थे जिससे प्रकट हो गया कि इस बार वे जमकर इंग्लैंड जीतने आए हैं। डेनों की देशी और विदेशी फौजें मिलकर इंग्लैंड जीतने का प्रयास करने लगी। पहले फार्नहम में उनकी हार हुई फिर घने मोर्चे के बाद एग्ज़ीटर में। लड़ाई पर लड़ाई होती गई, पर अल्फ्रेड ने न स्वयं दम लिया, न डेनों को लेने दिया। अंत में मजबूर होकर उन्होंने लड़ाई से हाथ खीच लिया। कुछ इंग्लैंड में बस गए, कुछ सागर पार उतर गए।

अल्फ्रेड ने डेनों की शक्ति तोड़ देने के बाद देश के शांतिमय शासन में चित्त लगाया। राज्य को सुशासन के लिये उसने अनेक 'शायरों', 'हंड्रेडो', 'बुर्गों' में बाँटा और वहाँ न्याय की प्रतिष्ठा की। स्थल और नौसेनाओं को भी उसने बढ़ाया और किलों को मजबूत किया, उनमें रक्षक सेनाएँ रखीं। अल्फ्रेड का नाम जिस आदर से देशसेवा के संबंध में लिया जाता है उसी आदर से उसके पांडित्य का उल्लेख भी इतिहास में होता है। उसने अनेक ग्रंथों का लातीनी से स्वयं अंग्रेजी में अनुवाद किया। प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक बीड उसका समकालीन था और उसका प्रसिद्ध ग्रंथ 'एक्लेसियस्टिकल हिस्ट्री ऑव दी इंग्लिश पीपुल' भी अल्फ्रेड का ही अनुवाद माना जाता है, यद्यपि इधर कुछ दिनों से कुछ लोगों को इसमें संदेह होने लगा है। [ओं० ना० उ०]

अल्बम प्राचीन रोम में इस शब्द का प्रयोग लकड़ी के एक तख्ते के लिये होता था जिसपर सफेद खड़िया से लेप लगाकर काले अक्षरों में जनसूचनाएँ लिख दी जाती थीं। मजिस्ट्रेटों की वार्षिक घोषणाएँ, सिनेटरो और न्यायालय के अधिकारियों आदि की नामसूचियाँ भी इसी प्रकार प्रकाशित की जाती थीं। परंतु आजकल 'अल्बम' शब्द का व्यवहार एक दूसरे अर्थ में होता है, उन जिल्दों के अर्थ में जिनमें मोटी दफ्तियों के बीच मोटे सादे कागज बँधे रहते हैं, जिनपर चित्र चिपका लिए जाते हैं, अथवा संभ्रांत या महान् व्यक्तियों के हस्ताक्षर लिए जाते हैं। [ओं० ना० उ०]

अल्बर्ट झील अफ्रीका महादेश के यूगांडा राज्य में अक्षांश १°-९' से २°-१७' द० तथा देशांतर ३०°-३०' से ३१°-३५' पू० तक विस्तृत एक बृहत् जलाशय है। यूरोपियनों को इसका पता सन् १८६४ में चला। इसका क्षेत्रफल १,६४० वर्गमील है; अधिकतम लंबाई १०० मील, चौड़ाई २२ मील तथा गहराई ५५ फुट है। इसकी सतह की औसत ऊँचाई समुद्रतल से २,०३० फुट है जो ऋतु के अनुसार बदलती रहती है। पैलेस्टाइन की जार्डन नदी की घाटी से लेकर लालसागर होती हुई अबिसीनिया के भीतर से केनिया कालोनी तक विस्तृत एक विशाल निभंग उपत्यका है (ग्रेट रिफ्ट वैली) और अल्बर्ट झील यूगांडा राज्य की इसी उपत्यका के पश्चिमी भाग के उत्तरी सिरे पर स्थित है। इसके आसपास कई गर्म सोते पाए जाते हैं। किबीरो के पास लवणमय जल का भी एक सोता है जिससे नमक एकत्र करना यहाँ का एक प्रमुख व्यवसाय है।

अल्बर्ट झील के पूर्वी तथा पश्चिमी किनारे पर स्थित निभंग उपत्यका की पहाड़ी सीधी खड़ी है तथा इसका पाददेश झील की सतह को स्थान स्थान पर छूता है। झील का सँकरा उपकूल कई स्थानों पर घने जंगलों से आवृत है और चारों ओर पठार पर कहीं सँकरी, कहीं चौड़ी सीढ़ियाँ धीरे धीरे ऊपर तक चली गई हैं। पूर्वी किनारे की पहाड़ियाँ लगभग १,००० से २,००० फुट तक ऊँची हैं और पश्चिम तट की पहाड़ियों में कई नुकीली चोटियाँ हैं जिनमें से अनेक ८,००० फुट तक ऊँची हैं। इन दोनों किनारों में स्थान स्थान पर गहरी खाइयाँ दिखाई पड़ती हैं। इन खाइयों पर से तथा पठारों के किनारों से बहनेवाली नदियों में कई सुंदर जलप्रपात हैं जो इस झील के सौंदर्य को और बढ़ा देते हैं। झील के दक्षिण में सेमलिकी नदी की प्रशस्त घाटी है और एडवर्ड झील का पानी इस नदी द्वारा अल्बर्ट झील में आकर गिरता है। पानी के अतिरिक्त सेमलिकी नदी द्वारा प्रचुर जलोढक (तलछट) भी अल्बर्ट में आ पहुँचता है। झील के उत्तर में पूर्वी किनारे पर विक्टोरिया नाइल नदी आकर इसमें मिलती है जो झील के समांतर दक्षिण दिशा से बहती हुई आती है। उत्तर में अल्बर्ट झील सँकरी होती गई है और आगे चलकर एक संकीर्ण पहाड़ी के बीच से बहर-अल-जाबेल नामक एक छोटी नदी के रूप में निकली है।

अल्बर्ट झील धीरे धीरे छोटी होती जा रही है। यह अनुमान किया जाता है कि इसकी पुरानी सतह से वर्तमान सतह लगभग १,००० फुट नीचे है। वैज्ञानिकों की धारणा है कि भूचाल अथवा अपक्षरण के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है। इसमें गिरनेवाली नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी से भी यह कुछ अंश तक पटती जा रही है। [वि० मु०]

अल्बर्ट प्रथम (१८७५-१९३४), बेल्जियम का राजा। संसार का भ्रमण कर अल्बर्ट १९०९ ई० में बेल्जियम की राजगद्दी पर बैठा। उसने अध्ययन विदेशों में जा जाकर किया था, और साहित्य और कला को अपनी संरक्षा दी। अनेक साहित्यकार और कलावंत उसके मित्र थे। सन् १९१४ के महायुद्ध में उसने सालों जर्मनी से मोर्चा लिया। बाद, विध्वस्त बेल्जियम के पुनर्निर्माण में वह दत्तचित्त हुआ। नमूर मे चट्टान से गिर जाने से उसकी आकस्मिक मृत्यु हुई। [ओं० ना० उ०]

अल्बर्टा कैनाडा राज्य का एक प्रांत है जो ४९° उत्तर से ६०° उत्तर अक्षांश तथा ११०° पश्चिम से १२०° पश्चिम देशांतर रेखाओं के बीच स्थित है। इसके दक्षिण में संयुक्त राज्य अमरीका, पूर्व में ससकेचवान, उत्तर में उत्तर-पश्चिम प्रदेश तथा पश्चिम में राकी पर्वत है। इसके मुख्य तीन प्राकृतिक भाग किए जा सकते हैं: दक्षिण-पश्चिम में राकी पर्वतीय प्रदेश, उत्तर-पूर्व मे अथबस्का झील के निकट 'लारेंशियन शील्ड' नामक एक छोटा पठारी क्षेत्र तथा तीसरा, मध्य का बड़ा मैदान। यहाँ पर राकी पर्वत ८,००० से ९,००० फुट तक ऊँचा है। अल्बर्टा का अधिकतर भूभाग चीड़ आदि कोणधारी वृक्षों के वनों से भरा पड़ा है। अधिकतर आबादी दक्षिण के प्रेयरीज क्षेत्र में पाई जाती है। मुख्य नदियाँ ससकेचवान, अथबस्का, मिल्क तथा पीस हैं। जाड़े में ठंढक (औसत ताप १५° फा०) तथा गर्मी में पर्याप्त गर्मी (८०° फा०) पड़ती है। वर्ष भर में लगभग २० इंच वर्षा होती है।

इस प्रांत में २,४८,८०० वर्ग मील भूमि तथा ६,४८५ वर्गमील जल है। भूक्षेत्रफल में ८५,५६० वर्गमील कृषि योग्य तथा ५१,०८० वर्गमील वनप्रदेश है जिसे काटकर कृषि की जा सकती है। कैनाडा का ६७ प्रति शत पेट्रोल यहाँ पर मिलता है। यहाँ जलशक्ति से लगभग १०,४९-५०० अश्वसामर्थ्य चौबीसों घंटे प्राप्त हो सकती है। झीलों तथा नदियों में मछली मारने का काम होता है। कृषि यहाँ का मुख्य उद्यम है। शुष्क क्षेत्रों में सिंचाई के साधन भी उपलब्ध हैं। जौ, गेहूँ, जई, मटर तथा चुकंदर मुख्य उपज हैं। यहाँ पर पशुपालन भी होता है। १९५६ की पशुगणना के अनुसार यहाँ पर घोड़े १,५४,६७२; गाएँ २,८२,२००; अन्य पशु १४,५२,५८६; भेड़ें ४,०४,८२०; सूअर १२,११,५०८ तथा मुर्गियाँ इत्यादि १,०४,४९,००० हैं।

परिवहन (यातायात) के प्रचुर साधन उपलब्ध हैं। १९५६ में रेलमार्ग की पूरी लंबाई ५,७८२ मील थी। कैनेडियन पैसिफिक रेलवे

यहाँ का प्रथम रेलमार्ग है जो देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाता है। कालगरी इसका मुख्य जंकशन है। ग्रैंड ट्रंक पैसिफिक (अब कैनेडियन नैशनल) का बनना १९०३ में प्रारंभ और १९१५ में पूरा हुआ। यह दक्षिणी ससकेचवान के उर्वरा मैदान से होकर जाता है। तीसरा, एक छोटा रेल मार्ग क्राउन नेस्ट से होता हुआ राकी क्षेत्र में जाता है। जलमार्ग, वायुमार्ग तथा सड़कों का विस्तार भी यहाँ यथेष्ट है। जनसंख्या ११,२३,११६ है (१९५६), जिसमें ४,८७,२९२ व्यक्ति गाँवों में तथा ६,३५,८२४ व्यक्ति नगरों में रहते हैं। यहाँ के प्रमुख नगर एडमांटन (२,२६,००२), कालगरी (१,८१,७८०), लेथब्रिज (२९,४६२) तथा मेडिसिनहट (२०,८६२) हैं (जनसंख्या १९५६ के अनुसार)। [न० ल०]

अल्बानी संयुक्त राज्य, अमरीका, के न्यूयार्क प्रांत की राजधानी तथा बंदरगाह है, जो न्यूयार्क नगर से १४५ मील उत्तर हडसन नदी के पश्चिमी किनारे पर स्थित है। इसका क्षेत्रफल १९.६ वर्गमील तथा जनसंख्या १,३४,९९५ है (१९५०)। न्यूयार्क सेंट्रल, डेलावरे तथा हडसन, वेस्टशोर तथा बोस्टन और अल्बानी रेलवे लाइनें यहाँ से होकर जाती हैं। यहाँ पर एक राजकीय संग्रहालय तथा सन् १८९८ में स्थापित एक राजकीय पुस्तकालय है जिसमें ६,३०,००० पुस्तकें हैं। न्यूयार्क स्टेट नैशनल बैंक की इमारत संभवतः अमरीका का सबसे पुराना भवन है जिसमें प्रारंभ से ही बैंक का कार्य होता रहा है। यहाँ २० प्रमदवन (पार्क) हैं जिनमें वाशिंगटन तथा लिंकन सबसे बड़े हैं। यहाँ नगरपालिका, हवाई अड्डा और एक व्यस्त बंदरगाह है। विभिन्न उद्योग धंधे भी यहाँ होते हैं जिनमें रासायनिक पदार्थ, वस्त्र, कागज, स्टोव तथा पिन इत्यादि बनाना मुख्य हैं। अल्बानी प्रमुख शिक्षाकेंद्र है। यहाँ पर विभिन्न स्कूल, कालेज तथा व्यावसायिक संस्थाएँ हैं जिनमें नेशनल विश्वविद्यालय, अल्बानी फारमेसी कालेज (स्थापित १८८१), अल्बानी लॉ स्कूल (स्थापित १८५१) तथा अल्बानी मेडिकल स्कूल (स्थापित १८३९) प्रमुख हैं। यहाँ से दो दैनिक पत्र निकलते हैं: निकरबोकर न्यूज़ सन् १८४२ से और टाइम्स यूनियन सन् १८५३ से। रेलमार्ग, जलमार्ग तथा सड़कों का जाल बिछा होने के कारण अल्बानी एक प्रमुख माल-वितरण-केंद्र बन गया है। [न० ला०]

अल्बुकर्क न्यू मेक्सिको (संयुक्त राज्य, अमरीका) का सबसे बड़ा नगर है, जो समुद्रतल से १९६ फुट की ऊँचाई पर रिओग्रांडे नदी के पूर्वी किनारे पर स्थित है। इसकी स्थापना १७०६ ई० में प्रांत के गवर्नर डॉन फ्रांसिसको कुअरवो वाइ वाल्डेस द्वारा हुई। यहाँ पर अनेक क्षयचिकित्सालय हैं। पशुपालन तथा काष्ठउद्योग मुख्य धंधे हैं। लकड़ी, लोहे तथा मशीन की दूकानें, ऊन, रेलवे तथा कृषि संबंधी सामान बनाने के कई कारखाने हैं। यहाँ पर न्यू मेक्सिको का विश्वविद्यालय १८९२ ई० में स्थापित हुआ। जनसंख्या ९६,८१५ है (१९५०)। १९५७ की अनुमित जनसंख्या १,९५,००० है। [न० ला०]

अल्बुला स्विट्ज़रलैंड के ग्रिसन नामक पहाड़ी भाग का एक प्रसिद्ध गिरिपथ है। उत्तर से एनगाडाइन नदी के उत्तरी भाग में पहुँचने के लिये यही मुख्य मार्ग है। इसके उच्चतम भाग की ऊँचाई समुद्रतल से ७,५९५ फुट है। इस कारण पहले ७,५०४ फुट पर स्थित जूलियर गिरिपथ अधिक सुगम तथा सरल पड़ता था और उसका महत्व बहुत दिनों तक अल्बुला गिरिपथ से अधिक था। १३वीं शताब्दी से ही अल्बुला गिरिपथ चालू हो गया था, परंतु १८६५ ई० में इसमें घोड़ागाड़ी जाने के लिये रास्ता बनाया गया और १९०३ में इसमें रेलमार्ग बना। तब इसका महत्व कई गुना बढ़ गया। इस गिरिपथ द्वारा राईन तथा हिंटर राईन उपत्यकाओं की सबसे सीधी सड़क बन गई है।

अल्बुला गिरिपथ के भीतर से जानेवाला रेलपथ कोयर नगर से रोचिनाऊ नगर तक राइन नदी के साथ साथ चलता है और फिर हिंटर राइन से होते हुए थूसिस तक पहुँचता है। इसके बाद शिन खड्ड के अंदर यह अल्बुला नामक पहाड़ी नदी को काटता हुआ टिफेन कास्टेल तक आता है। इस जगह से दक्षिण की ओर जूलियर पथ को छोड़कर अल्बुला नदी के साथ चलना शुरू करता है तथा आगे चलकर एक सुरंग से गुजरता है जिसका प्रवेशपथ ५,८७९ फुट पर और सर्वोच्च भाग ५,९८७ फुट पर स्थित है। यह सुरंग गिरिपथ के ठीक नीचे काटी गई है। रेलमार्ग इसके अंदर से निकलकर बीवर घाटी पर पहुँचता है तथा एनगाडाइन नदी की घाटी के ऊपरी भाग पर उतर आता है। इस गिरिपथ के कारण सेंट मोरीट्स से कोयर का रास्ता छोटा होकर केवल ५६ मील रह गया। [वि० मु०]

अल्बे फिलीपीन द्वीपसमूह में अल्बे प्रांत का मुख्य नगर तथा राजधानी है। अल्बे तथा लिगास्पी नगरपालिकाएँ १९०७ में एक दूसरे में मिला दी गईं तथा इस संयुक्त नगरपालिका का नाम १९२५ में केवल लिगास्पी रखा गया। इसके आसपास की भूमि समतल तथा जलवायु अच्छी है। कोई भी ऋतु यहाँ शुष्क नहीं रहती। पटुआ यहाँ की मुख्य उपज है। अन्य फसलों में गरी का गोला, चीनी, चावल, अनाज, मीठे आलू तथा तंबाकू मुख्य हैं। यहाँ की भाषा बीकल है। अल्बे सड़कों, रेलों तथा जलमार्गों द्वारा विभिन्न स्थानों से संबद्ध है। यहाँ की जनसंख्या ४१,४६८ है (१९३९)। [न० ला०]

अल्बेर्ती, लियोन बतिस्ता (१४०४-१४७२) इटली का कवि, गायक, दार्शनिक, चित्रकार और वास्तुकार। अल्बेर्ती वैसे तो पुनर्जागरण काल के विशिष्ट कलाविदों में से था, पर कवि भी वह असाधारण था। उसने २० वर्ष की आयु में इतने सुंदर लातीनी पद लिखे कि भ्रमवश उसे लोगों ने लपिदस् की रचना मानकर छापा। उसने अनेक प्रधान गिरजाघरों की डिज़ाइनें प्रस्तुत कीं और वास्तु पर एक प्रसिद्ध ग्रंथ 'दे रे ईदिफिकातोरिया' लिखा जिसके इतालीय, फ्रेंच, स्पेनी और अंग्रेजी में अनुवाद हुए। [भ० श० उ०]

अल्बेनिया बालकन प्रायद्वीप में एक प्रजातंत्र राज्य है। क्षेत्रफल : १०,६२९ वर्ग मील; जनसंख्या : १२,००,००० (१९५१ ई० में) ७० प्रति शत मुसलमान, २० प्रति शत आर्थोडाक्स ईसाई तथा १० प्रति शत रोमन कैथोलिक।

इस राज्य के उत्तर तथा पूर्व में यूगोस्लाविया, दक्षिण-पूर्व में यूनान (ग्रीस) और पश्चिम में ऐड्रियाटिक तथा आयोनियन सागर हैं।

अल्बेनिया एक पर्वतीय देश है, जिसका अधिकतर भाग सागरतल से ३,००० फुट ऊँचा है। इसकी पूर्वी सीमा पर एक पहाड़ी है, जिसका सर्वोच्च शिखर ८,८५८ फुट ऊँचा है। इसका उपजाऊ तटीय प्रदेश मलेरियावाले दलदलों के कारण अभी भी अविकसित पड़ा है।

विविध प्रकार के धरातलों के कारण यहाँ विविध प्रकार की जलवायु और अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ मिलती हैं। दक्षिणी तटीय मैदानों में भूमध्य सागरीय जलवायु पाई जाती है। इसमें शीत ऋतु में वर्षा होती है और ग्रीष्म ऋतु शुष्क रहती है। मध्य तथा उत्तरी भाग में वर्षा अधिक और लगभग बारहों मास होती है। उच्च पर्वतीय भागों में पर्वतीय जलवायु पाई जाती है जिसमें शीत ऋतु में हिम गिरता है।

अल्बेनिया के मुख्य खनिज क्रोम, ताँबा, खनिज तेल आदि हैं। इस देश की अपार जलशक्ति का अभी तक सम्यक् उपयोग नहीं हो पाया है।

कृषि—अल्बेनिया की ९० प्रति शत जनता का मुख्य उद्यम कृषि अथवा पशुपालन है। यहाँ की धरती का ६० प्रति शत भाग वनों अथवा दलदलों से ढका है, ३० प्रति शत भाग पर चरागाह हैं। अतएव केवल १० प्रति शत भाग पर ही कृषिकार्य होता है। यहाँ के मैदानों में अंगूर, संतरे, नीबू आदि भूमध्यसागरीय फल पैदा होते हैं। दलदली भागों में चावल उत्पन्न किया जाता है। तंबाकू यहाँ का एक मुख्य उत्पादन है। भेड़ पालने का उद्योग यह खूब उन्नति पर है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् यहाँ पर जनवादी कृषिप्रणाली लागू की गई। पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत सन् १९५० ई० की तुलना में कृषि-उत्पादन १९५२ में ७१ प्रति शत तथा युद्धपूर्व वर्षों से २५ गुना बढ़ गया।

उद्योग धंधे—द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले अल्बेनिया में उद्योग धंधे नगण्य थे। वहाँ मुख्यतया खाद्य वस्तुएँ ही उत्पन्न की जाती थीं। सन् १९५५ ई० में यहाँ का औद्योगिक उत्पादन १९५० की अपेक्षा ३.४ गुना तथा युद्धपूर्व वर्षों की अपेक्षा १२ गुना हो गया। लेनिन जलविद्युत् स्टेशन,

मलिक चीनी मिल, श्कोदर तंबाकू मिल तथा स्टालिन वस्त्र मिल, नवीन जनवादी सरकार के प्रथम औद्योगिक कदम हैं।

पहले अल्बेनिया एक आयात करनेवाला देश था। आयात की मुख्य वस्तुएँ कपड़े, धातु के सामान, मशीनें आदि थीं, जो मुख्यतया इटली, ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य (अमरीका) से आती थीं। यहाँ के मुख्य निर्यात कच्चे माल थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् श्री होक्सा के नेतृत्व में अल्बेनिया का जनवादीकरण होने पर इसने अपना व्यापार केवल सोवियत संघ से ही करना प्रारंभ किया।

वर्तमान जनवादी सरकार के नेतृत्व में अब अल्बेनिया में कोई राज्य-धर्म नही रहा। यातायात के साधन, उद्योग, शिक्षा इत्यादि अब यहाँ खूब उन्नति कर रहे हैं। [शि० मं० सि०]

अल्बेनियाई भाषा भारतीय यूरोपीय परिवार की यह प्राचीन भाषा अपने प्रायः मौलिक रूप में अल्बेनियाई जनता की प्राचीन प्रथाओं की भाँति आज भी विद्यमान है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग दस लाख है। उत्तरी और दक्षिणी दो बोलियों के रूप में यह प्रचलित है। उत्तरी बोली को 'ग्वेगुइ' कहते हैं और दक्षिणी को 'तोस्क'। इनके संज्ञा रूपों में किंचित् भेद है: ग्वेगुई में स्वरो के मध्य का 'न' तोस्क में 'रा' हो जाता है। इन बोलियों का भारतीय यूरोपीय रूप इनके सर्वनामो तथा क्रियापदों में आज भी सुरक्षित है। यथा: ती(दाऊ–अंग्रेजी; तू—हिंदी) ना (वी—अंग्रेजी. हम हिंदी); और जू (यू—अंग्रेजी; तुम–हिंदी) तथा क्रियापदों में रूपविधान: दोम (मैं कहता हूँ); दोती (वह कहता है); दोमी (हम कहते हैं); और दोनी (वे कहते हैं)।

इसकी अधिकांश शब्दावली विदेशी शब्दों से मिलकर बनी है, यद्यपि भारतीय यूरोपीय परिवार के अनेक मौलिक शब्द इसमें आज भी विद्यमान हैं। प्राचीन ग्रीक भाषा से बहुत ही कम शब्द इसमें आए प्रतीत होते ह, किंतु मध्यकालीन तथा आधुनिक ग्रीक से अवश्य कुछ शब्द घूम फिरकर (और कभी कभी वेश बदलकर भी) इस भाषा में आ गए हैं। जैसे 'लिपसेत' (यह आवश्यक है) शब्द सर्बियन भाषा से अल्बेनियाई में आया, किंतु उससे पहले सर्बिया ने इसे ग्रीक से लिया था। स्लाव भाषाओं से भी अनेक शब्द लिए गए हैं। क्लासिकी युग में प्राचीन ग्रीक का प्रभाव अल्बेनिया तक नहीं पहुँच पाया, जबकि लातीनी प्रभाव बहुत पहले से ही वहाँ तक पहुँच चुका था। अल्बेनियाई अंकावली में चार के लिये 'कत्रे' तथा शत के लिये 'क्विद्' शब्द अवश्य ही लातीनी भाषा के हैं। जबकि 'पेस' (पांच) और दहेत (दश) मूल भारतीय-यूरोपीय-परिवार के है। इसी प्रकार लातीनी 'अमीकस' (दूध) अल्बेनियाई में 'मीक' रह गया है।

शक्तिशाली रोमन साम्राज्य के प्रभुत्वकाल में अल्बेनियाई नागरिक शब्दावली पर यथानुसार प्रबल लातीनी प्रभाव भी पड़ा, किंतु ग्रामीण जनता ने अपनी भाषा को आज तक सर्वथा 'शुद्ध' रखा है। इसका उच्चारण और व्याकरण आज भी अपने मौलिक रूप में अक्षुण्ण है। यह भाषा जिस पर्वतीय प्रदेश में बोली जाती है, वह ऐपीरस के उत्तर में, माटीनीग्रो के दक्षिण मे और अद्रियातिक सागर के पूर्वस्थ है। यह कब और कैसे इस क्षेत्र में आई, यह अभी तक अनिश्चित है। इस भाषा के १५वी शताब्दी के ही उपलब्ध साहित्य को सबसे प्राचीन कहा जा सकता है, किंतु अन्य अधिकांश प्राचीन साहित्य १६वीं और १७वी शताब्दी का ही मिलता है। आधुनिक अल्बेनियाई साहित्य जिस भाषा में लिखा गया है वह वर्तमान भाषा से बहुत भिन्न नहीं है और वर्तमान भाषा प्राचीन बोलियों का ही प्रायः अपरिवर्तित रूप है। [कां० चं० सौ०]

अल्मोड़ा अल्मोड़ा भारत के उत्तर प्रदेश के उत्तर में पहाड़ी इलाके में स्थित एक जिला तथा उसका प्रधान नगर है। वर्तमान अल्मोड़ा जिले का (१९५१ ई०) क्षेत्रफल (रानीखेत को लेकर) ४,१३६ वर्ग मील है और जनसंख्या २,८०,९२८ है। अल्मोड़ा नगर हिमालय प्रदेश की एक पर्वतश्रेणी पर, समुद्रतट से ५,४९४ फुट की ऊँचाई पर स्थित है (अक्षांश २९°३५' १६" उ० तथा देशांतर ७९° ४१' १६" पू०)। पर्वतश्रेणी की ऊँचाई ५,२०० फुट से ५,५०० फुट तक है। अल्मोड़ा के उत्तर से एक अन्य छोटी सी पर्वतश्रेणी निकलकर सीधी पश्चिम की ओर चली गई है। इन पर्वतश्रेणियों के बीच के भाग में पुरान ढंग के घरों की बस्तियाँ मिलती हैं। यहाँ कुछ खेती भी होती है। यहाँ अनेक प्राचीन दुर्गों के खँडहर मिलते हैं। अल्मोड़ा चंद्रवंशी राजाओं की राजधानी थी। इसने अनेक राजवंशों का उत्थान और पतन देखा है। किंवदंतियों के अनुसार अल्मोड़ा एक तिवारी ब्राह्मण के परिवार के अधीन था। इस समय इनके वंशजों के हाथ में अल्मोड़ा जेल के पास थोड़ी सी जमीन रह गई है। कहा जाता है कि इन लोगों के साथ यह शर्त थी कि ये सूर्यपूजा के लिये आँवला भेजा करेंगे। आँवला को यहाँ लामोरा कहा जाता है। अल्मोड़ा लामोरा शब्द का ही अपभ्रंश रूप माना जाता है। १९३१ में इस नगर की जनसंख्या ९,६८८ थी, परंतु १९५१ में १२,७५७ हो गई थी। नगर का वर्तमान क्षेत्रफल ८ वर्ग मील है।

अल्मोड़ा में सैनिकों का एक बड़ा अड्डा तथा कई विद्यालय हैं। प्रधान कालेज सर हेनरी रामज़े के नाम से है। यहाँ की जलवायु बहुत अच्छी है जो विशेषकर क्षय रोगियों के लिये बहुत ही लाभप्रद है। इसके निकटवर्ती रानीखेत में सैनिको के वायुपरिवर्तन का भी एक स्थान है। सन् १७९० में गोरखा सेना ने इस नगर पर अधिकार कर उसके पूर्वी किनारे पर एक किला बनवाया। मोइरा का किला इसके दूसरे भाग में स्थित है। इसे लालमंडी भी कहते हैं। सन् १८१५ में अंग्रेजों तथा गोरखो की लड़ाई अल्मोड़ा में ही हुई थी।

अल्मोड़ा जिला सन् १८९१ में नैनीताल, कुमायूँ तथा तराई प्रांतो के पुर्नविन्यास द्वारा बना। यह जिला गंगा तथा घाघरा के शिलामय अंचल के बीच में स्थित है। घाघरा का स्थानीय नाम यहा पर 'काली' है। यह जिला अक्षांश २८° ५९' उ० से ३०° ४९' उ० तथा देशांतर ७९° २' पू० से ८१° ३१' पू० के बीच मे फैला हुआ है। यह अंचल हिमालय के पर्वतीय प्रदेश के अंतर्गत है तथा एक के बाद एक हिमाच्छादित पर्वतश्रेणियां दक्षिण से उत्तर की ओर विस्तृत है। इस हिमाच्छादित तथा जंगलो से ढके हुए पार्वत्य प्रदेश के क्षेत्रफल का ठीक पता अभी तक नही लगाया जा सका है।

अल्मोड़ा, विशेषकर इसकी सिलेटी पर्वतश्रेणी, चाय के लिये प्रसिद्ध है। चीड़, देवदार, तून आदि के वृक्ष इस पार्वत्य अंचल की शोभा बढ़ाते हैं। [वि० मु०]

अल्-मोहदी अल्-मोहदी शासन की स्थापना इब्न तुर्मत (महदी पदवीधारी) और उनके मित्र अब्दुल मोमिन (अमीरुल-मोमिनीन पदवीधारी) नामक दो धार्मिक व्यक्तियों द्वारा हुई। अल्-मोहदी वंश ने समस्त पूर्वी अफ्रीका तथा मुसलमानी स्पेन पर ११२८ से १२६९ ई० तक शासन किया। इब्न तुर्मत को संभवतः कोई पुत्र नहीं था अतः अब्दुल मोमिन के बाद के ग्यारह शासक उसकी संतान न होकर उसके परिवार से चुने गए।

इब्न तुर्मत अरब में इमान गज़ाली तथा मदीना की परंपराओं से प्रभावित हुआ। अफ्रीका लौटने पर उन्होने अपने विरोधियों को काफ़िर घोषित किया और अलमोरावीद दल से अनवरत युद्ध प्रारंभ कर दिया। अलमोरावीद (१०६१–११४५) मालिकी परंपरा के अनुयायी थे। वे कुरान के शाब्दिक अर्थ और खुदा के सशरीर व्यक्तित्व (मुज्जसमिया) में, जो वस्तुतः एक आध्यात्मिक निरर्थकता है, विश्वास रखते थे। अल-तुर्मत अफ्रीका के सुदूर बीहड़ प्रदेश में एक छोटे से राज्य की स्थापना कर सके, किंतु उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके मित्र अब्दुल मोमिन ने पहले मोरक्को पर और सात वर्ष के अथक प्रयत्न के पश्चात् समस्त पूर्वी अफ्रीका और मुसलमानी स्पेन पर अधिकार कर लिया। अल्-मुराबी मान्यता के विरुद्ध अल्-मोहदी स्वयं को खलीफ़ा घोषित करते थे और बगदाद के खलीफ़ा को स्वीकार नहीं करते थे। [मु० ह०]

अल्यूशियन द्वीपपुंज लगभग १४ बड़े और ५५ छोटे द्वीपों तथा अनेक चोटियों से बना है। यह पहले कैथेरिन द्वीपपुंज के नाम से प्रसिद्ध था। यह कमचटका प्रायद्वीप के पूर्व से अलास्का प्रायद्वीप के पश्चिम तक लगभग ९०० मील के विस्तार में फैला हुआ है। इसकी स्थिति अक्षांश ५२° उ० से ५५° उ० तक और देशांतर १७२° प० से १६३° प० तक है। यह संयुक्त राज्य (अमरीका)

के अलास्का राज्य का एक भाग है। इसकी जनसंख्या १,४३,७३४ (१९५१) है।

१७४१ ई० में रूस सरकार की प्रेरणा से डेनमार्क के वाइटस् बेरिंग तथा रूस के अलेक्सी चिरीकोव दोनों ने सेंट पीटर तथा सेंट पाल नामक जहाजों से उत्तरी महासागर की ओर यात्रा की। रास्ते में सामुद्रिक तूफानों से ये बिछुड़ गए। चिरीकौव अल्यूशियन द्वीपों पर आ पहुँचे और बेरिंग कमचटका होते हुए कमांडर द्वीपपुंज पर आए। तभी से इन द्वीपों का ज्ञान यूरोपवालों को हुआ। यहाँ इनका देहांत हो गया। १८६७ ई० तक अल्यूशियन द्वीपपुंज रूसियों के हाथ में था, परंतु बाद में अमरीका के हाथ में आया।

अल्यूशियन द्वीपपुंज के चार प्रथम द्वीपसमूह फाक्स, अंड्रियानफ, रैट और निकट द्वीप (नियर आइलैंड्स) कहलाते हैं। फाक्स और अंड्रियानफ के बीच में चतुःपर्वतीय द्वीप (आइलैंड्स ऑव फ़ोर माउंटेंस) स्थित हैं। फाक्स द्वीपसमूह सबसे पूर्व में है और इसके प्रथम द्वीपों के नाम युनिमाक, उनलस्का और उमनाक हैं। चतुःपर्वतीय द्वीपों में चुगिनाडाक्, हर्बर्ट, कारलाइल, कागामिल तथा उलिअागा प्रधान हैं। अंड्रियानफ द्वीपसमूह का नाम रूसी पर्यटक अंड्रियन टोलस्टिक पर पड़ा है। इसमें अमलिया, आट्का, ग्रेट सिटकिन्, आदाक, कनागा तथा तनागा संमिलित हैं। रैट द्वीपसमूह का नाम इसमें पाए जानेवाले चूहों की अधिकता के कारण पड़ा। निकट द्वीपसमूह का नाम रूस के सबसे समीप रहने के कारण पड़ा। सेमीसोपोच-नोय, अमचिट्का, किस्का तथा बुल्डीर रैट द्वीपसमूह में हैं और सेमीचि द्वीप, आगाटू तथा आटू निकट द्वीपसमूह में हैं।

अल्यूशियन द्वीपपुंज का नाम अलास्का स्थित अल्यूशियन पहाड़ से पड़ा है। इन द्वीपों की रीढ़ अलास्का के पास दक्षिण-पश्चिम की ओर झुकी है, परंतु १७९° प० देशांतर के बाद इसकी दिशा बदल जाती है। वैज्ञानिकों के मत से यह द्वीपसमूह ज्वालामुखी उद्गार के कारण बना है और इसलिये आग्नेय दरारों की दिशा के अनुसार इसकी रीढ़ की दिशा बनी हुई है। इनमें से अधिकतर द्वीपों पर अग्निउद्गार के चिह्न स्पष्ट हैं तथा कई एक द्वीपों पर सक्रिय ज्वालामुखी विद्यमान हैं, जैसे उनिमक में माउंट शिशाल्डिन या स्मोकिंग मोजज़, इसके पास इसानोटस्की पीक (८,०८८ फुट) और माउंट राउंडटाप (६,१५५ फुट)। इनके अतिरिक्त उमनाक में माउंट सीवीडोफ (७,२३६ फुट), उनलस्का में माउंट माकुशिन (५,००० फुट) और चूकिनाडाक में माउंट क्लीवलैंड, ये सब आग्नेय गिरि हैं। इनमें से अधिकतर पहाड़ों पर हिमनदी प्रवाहित हो रही है। यह अंचल अधिकांश स्थानों में आग्नेय चट्टानों से बना है। फिर भी रवादार चट्टानें, परतदार चट्टानें तथा लिगनाइट पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इनके उपकूल कटे फटे हैं और इसलिये इनपर पहुँचने का मार्ग भयावह है। देखने से लगता है कि ये पहाड़ियाँ समुद्र के ऊपर सीधी खड़ी हैं।

इस द्वीपपुंज के इतना उत्तर में होते हुए भी यहाँ की जलवायु सामुद्रिक प्रभाव के कारण समशीतोष्ण है तथा वर्षा अधिक होती है। अलास्का की तुलना में इसका शीतकालीन ताप लगभग एक सा रहता है, परंतु ग्रीष्मकालीन तापक्रम में पर्याप्त अंतर हो जाता है, अर्थात् अलास्का की अपेक्षा यहाँ गर्मी कम पड़ती है। यहाँ प्रायः साल भर कुहरा रहता है। यहाँ की खेती में कुछ सब्जियाँ उगाई जाती हैं। कृषि का कार्य मई से सितंबर तक (लगभग १३५ दिन) होता है। यहाँ पर वृक्ष कहीं कहीं दिखाई देते हैं। प्राकृतिक वनस्पति में प्रायः घास की जाति के पौधे ही अधिक हैं।

यहाँ के लोगों का मुख्य व्यवसाय समुद्री मछली पकड़ना तथा आखेट है। आजकल भेड़ तथा रेनडियर (हरिण) पालने का भी प्रयत्न चल-रहा है। यहाँ पर रहनेवाली मेरुप्रदेशीय नीली लोमड़ी के शिकार के लिये १८वीं शताब्दी में रूस के ऊर्णाजिनविक्रेता (फर डीलर्स) यहाँ आकर जमे थे, परंतु जबसे यह अमरीका के हाथ में गया, आदिवासियों को छोड़कर इन्हें मारने की आज्ञा किसी को नहीं है। इन व्यवसायों के अतिरिक्त यहाँ की स्त्रियों की बनाई हुई टोकरियाँ तथा उनपर बने सूक्ष्म कढ़ाई के कार्य प्रसिद्ध हैं। ये लोग सिलाई करने तथा कपड़ा बुनने में भी चतुर हैं।

अल्यूशियन द्वीपपुंज के आदिवासी एसक्वीमावन जाति के हैं। इनकी भाषा, रहन सहन, कार्य करने की शक्ति आदि एस्किमो से मिलती जुलती है। इनके गाँव उपकूल के समीप बसे हैं, क्योंकि उपकूल के पास इन्हें पक्षी, मछली, समुद्री जंतु आदि सुगमता से उपलब्ध हो जाते हैं तथा जलाने की लकड़ी भी प्राप्त हो जाती है। पहले ये लोग जमीन के नीचे घर बनाकर रहते थ और कभी कभी सामूहिक गृह भी बनाया करते थे। इनकी शारीरिक गठन में बलिष्ठ देह, छोटी गर्दन, छोटा कद, काला मुखमंडल, काली आँखें तथा काले केश प्रत्येक विदेशी की दृष्टि अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। ईसाई धर्म का प्रचार यहाँ पूर्ण रूप से हुआ और यहाँ के निवासियों की वर्तमान रहन सहन पाश्चात्य सभ्यता से पर्याप्त प्रभावित हुई है।

सन् १९३० की जनगणना में इन द्वीपों की जनसंख्या १,११६ थी। आबादी अधिकतर अलास्का द्वीपों पर केंद्रित है। ये द्वीप काफी उन्नति पर हैं। संयुक्त राज्य (अमरीका) के पहरेवाले जहाजों का यह एक अड्डा है। सन् १९४६ तक अलास्का में एक डच बंदरगाह भी था। इस समय यह बंद हो गया है और आटू में एक छोटा सा बंदरगाह चालू रखा गया है। [वि० मु०]

अल्लाह इस शब्द का मूल अरबी भाषा का 'अल् इलाह' है। कुछ लोगों का विचार है कि इसका मूल आरामी भाषा का 'इलाहा' है। इसलाम से पाँच शताब्दी पहले की सफा की इमारतों पर यह शब्द 'हल्लाह' के रूप में खुदा हुआ था। छः शताब्दी पहले की ईसाइयों की इमारतों पर भी यह शब्द खुदा हुआ मिलता है।

इसलाम से पहले भी अरब में लोग इस शब्द से परिचित थे। मक्का की मूर्तियों में एक अल्लाह की भी थी। यह मूर्ति कुरेश कबीले को विशेष मान्य थी। मूर्तियों में इसकी प्रतिष्ठा सबसे अधिक थी और सृष्टि-कार्य इसीसे संबंधित माना जाता था। परंतु अरबों का दृष्टिकोण इसके संबंध में निश्चित नहीं था और इसकी शक्तियों तथा कार्यों का उन्हें स्पष्ट ज्ञान न था।

इसलाम के उदय के अनंतर इसके अर्थ में बड़ा परिवर्तन हुआ। कुरान के जिस अंश का सबसे पहले इलहाम हुआ उसमें अल्लाह के गुण सृष्टि करना तथा शिक्षा देना बताए गए हैं। कुरान में अल्लाह के और भी बहुत से गुण वर्णित हैं, जैसे दया, न्याय, पोषण, शासन आदि। इसलाम ने सबसे अधिक बल अल्लाह की एकता पर दिया है अर्थात् उसके कामों तथा गुणों में कोई उसका साझीदार नहीं है। यह इसलाम का मौलिक सिद्धांत है, जिसे स्वीकार किए बिना कोई मुसलमान नहीं हो सकता। [आर० आर० शे०]

अलस्टर आयरलैंड के उत्तर में एक प्रांत है। सन् १९२० में आयरलैंड में छः काउंटियों को एक में संमिलित करके उन्हें अलस्टर कहा गया और उनका शासन अलग कर दिया गया जो उत्तर आयरलैंड की सरकार के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अलस्टर आयरलैंड की भाषा में उलध कहलाता था। इसका इतिहास बहुत प्राचीन है। पहले यह आयरलैंड का एक प्रांत था, परंतु सन् ४०० ई० में यह तीन भागों में विभक्त और अलग अलग व्यक्तियों के अधीन हो गया। पीछे सब भाग ओ'नील परिवार के शासन में आ गए। नॉर्मन आक्रमण के बाद यहाँ का शासन विदेशियों के हाथ में चला गया, परंतु १५वीं शताब्दी के बाद अलस्टर के ही दो व्यक्तियों का प्रभुत्व सारे अलस्टर में स्थापित हो गया। सन् १६०३-१६०७ में यहाँ अंग्रेजों का शासन हो गया और तब बहुत से अंग्रेज और स्काट यहाँ आ बसे (देखिए 'आयरलैंड')। [ह० ह० सिं०]

अवंतिवर्धन अवंती के प्रद्योतकुल का अंतिम राजा जो संभवतः मगधराज शिशुनाग का समकालीन था। वैसे पुराणों के अनुसार शैशुनाग वंश का प्रवर्तक शिशुनाग इस काल के पर्याप्त पहले हुआ, परंतु सिंहली इतिहास के अनुसार, जो संभवतः अधिक सही है, वह बिंबिसार से कई पीढ़ियों बाद हुआ। मगध और अवंती के बीच वत्सों का राज्य था और दीर्घ काल तक मगध-कोशल-वत्स-अवंती का परस्पर संघर्ष चला था। फिर जब वत्स को अवंती ने जीत लिया तब मगध

और अवंती प्रकृत्यमित्र हो गए थे। और अब मगध और अवंती के संघर्ष में अवंती को अपने मुँह की खानी पड़ी। उसी संघर्ष के अंत में मगध की सेनाओं द्वारा अवंतिवर्धन पराजित हुआ और मध्यप्रदेश का यह भाग भी मगध के हाथ आ गया। [ओं० ना० उ०]

अवंतिवर्मन् (ल० ८५५ ई०–८८३ ई०) यह उत्पल राजकुल का पहला राजा जब कश्मीर की गद्दी पर बैठा तब कश्मीर गृहयुद्ध से लहूलुहान हो रहा था और उसपर दरिद्रता की छाया डोल रही थी। करकोटक राजाओं की कमजोरी से गाँवों के डायर जमीदार सशक्त हो गए थे और उनके कारण प्रजा तबाह थी। न जीवन की रक्षा हो पाती थी, न धन की। देश की उपज इतनी कम हो गई थी कि अन्न सोने के भाव बिकने लगा था। अवंतिवर्मन् ने देश में शांति स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया। डायरों को दबाकर उसने अपने मंत्री सुय्य (सूर्य) की सहायता से देश की आर्थिक स्थिति सँभाली, नहरें निकलवाकर सिंचाई का प्रबंध किया और झेलम की धारा बदल दी। एक खिरनी चावल का मूल्य, जो पहले २०० दीनार हुआ करता था, अब ३६ दीनार हो गया। अवंतिवर्मन् ने अवंतिपुर नाम का नगर बसाया जो वंतपोर के नाम से आज भी मौजूद है। उसने अनेक मंदिर बनवाकर उन्हें देवोत्तर संपत्ति से समृद्ध किया। वह पंडितों का आदर करता था और उसी की संरक्षा में प्रसिद्ध साहित्यकार आलोचक आनंदवर्धन ने अपना 'ध्वन्यालोक' रचा। [ओं० ना० उ०]

अवंती मालव जनपद का प्राचीन नाम, जिसका उल्लेख महाभारत में भी हुआ है। अवंतिनरेश न युद्ध में कौरवों की सहायता की थी। वस्तुतः यह आधुनिक मालवा का पश्चिमी भाग है जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी, जिस राजधानी का दूसरा नाम स्वयं अवंती भी था। पौराणिक हैहयों ने उसी जनपद की दक्षिणी राजधानी माहिष्मती (मांधाता) में राज किया था। सहस्रबाहु अर्जुन वहीं का राजा बताया जाता है। बुद्ध के जीवनकाल में अवंती विशाल राज्य बन गया और वहाँ प्रद्योतों का कुल राज करने लगा। उस कुल का सबसे शक्तिमान् राजा चंड प्रद्योत महासेन था जिसने पहले तो वत्स के राजा उदयन को कपटगज द्वारा बंदी कर लिया, पर जिसकी कन्या वासवदत्ता का उदयन ने हरण किया। अवंती ने वत्स को जीत लिया था, परंतु बाद उसे स्वयं मगध की बढ़ती सीमाओं में समा जाना पड़ा। बिंदुसार और अशोक के समय अवंती साम्राज्य का प्रधान मध्यवर्ती प्रांत था जिसकी राजधानी उज्जयिनी में मगध का प्रांतीय शासक रहता था। अशोक स्वयं वहाँ अपनी कुमारावस्था में रह चुका था। उसी जनपद में विदिशा में शुंगों की भी एक राजधानी थी जहाँ सेनापति पुष्यमित्र शुंग का पुत्र राजा अग्निमित्र शासन करता था। जब मालव संभवतः सिकंदर और चंद्रगुप्त की चोटों से रावी के तट से उखड़कर जयपुर की राह दक्षिण की ओर चले थे, तब अंत में अनुमानतः शकों को हराकर अवंती में ही बस गए थे और उन्हीं के नाम से बाद में अवंती का नाम मालवा पड़ा। [ओं० ना० उ०]

अवकल ज्यामिति (*प्रक्षेपीय*) विक्षेपात्मक अवकल ज्यामिति (प्रोजेक्टिव डिफ़रेंशियल ज्योमेट्री) में हम किसी ज्यामितीय आकृति के किसी सार्विक अल्पांश (जेनरल एलिमेंट) के समीप उसके उन गुणों का अध्ययन करते है जिनमें किसी सार्विक विक्षेपात्मक रूपांतर (ट्रैंसफ़ॉर्मेशन) से कोई विकार नहीं होता। जैसे किसी वक्र के ये गुण कि उसके किसी बिंदु पर स्पर्श रेखा अथवा आश्लेषण समतल (ऑस्क्युलेटिंग प्लेन) का अस्तित्व है अथवा नहीं, विक्षेपात्मक अवकलीय गुण हैं, किंतु किसी तल का यह गुण कि उसपर अल्पांतरी (जिओडेसिक) का अस्तित्व है या नहीं, विक्षेपात्मक नहीं है, क्योंकि इसमें लंबाई का भाव निहित है जो विक्षेपात्मक नहीं है।

आकृतियों के विक्षेपात्मक अवकल गुणों के अध्ययन की कम से कम तीन विधियाँ निकल चुकी हैं जो इस प्रकार हैं: (१) अवकल समीकरण, (२) घात-श्रेणी-प्रसार (पावर सीरीज एक्सपैंशन) और (३) किसी बिंदु के विक्षेप निर्देशांकों (प्रोजेक्टिव कोऑर्डिनेट्स) का एक प्राचल (पैरामीटर) अथवा अवकल रूपों (डिफ़रेंशियल फ़ॉर्म्स) के पदों में प्रसार। पहली और तीसरी विधियों में प्रदिश कलन (टेंसर कैल्क्युलस) का प्रयोग किया जा सकता है।

उपयुक्त निर्देश त्रिभुज (ट्राइऐंगिल ऑव रेफ़रेंस) चुनने से, जिसके चुनाव का ढंग अद्वितीय होगा, किसी समतल वक्र का समीकरण इस रूप में ढाला जा सकता है:

$$र = य^2 + क\,य^5 + ख\,य^6 + (ख + 2क^2)\,य^7 + \dots ।$$

इस घात श्रेणी के समस्त गुणांक (कोइफ़िशेंट) सार्विक विक्षेप रूपांतर के अंतर्गत, वक्र के परम निश्चल (ऐबसोल्यूट इनवेरियंट) हैं, अतः वे मूलबिंदु पर वक्र के समस्त विक्षेपात्मक अवकल गुणों को व्यक्त करते हैं। किसी वक्र के किसी बिंदु पर के स्पर्शी का भाव सुपरिचित है। मान लीजिए कि हम किसी वक्र के बिंदु पा के समीप चार अन्य बिंदु लेते हैं। जब ये चारों बिंदु पा की ओर अग्रसर होते है, तब इन पाँचों बिंदुओं द्वारा खींचे गए शांकव (कॉनिक) की जो सीमास्थिति होगी, उसे वक्र के बिंदु पा पर, आश्लेषण शांकव (ऑस्क्युलेटिंग कॉनिक) कहते हैं। इसी प्रकार एक समतल त्रिघाती (प्लेन क्यूबिक) के इस गुण की सहायता से कि उसका निर्धारण नौ स्वेच्छा (आर्बिट्रेरी) बिंदुओं से होता है, हम आश्लेषण त्रिघाती (ऑस्क्युलेटिंग क्यूबिक) की परिभाषा दे सकते हैं। इस अध्ययन में, सीमा (लिमिट) के प्रयोग के कारण, कलन (कैल्क्युलस) बहुत काम में आता है।

साधारणतया त्रिविस्तारी विक्षेपात्मक अवकाश (थ्री-डाइमेंशनल प्रोजेक्टिव स्पेस) में अनंतस्पर्शी वक्रों (ऐसिम्पटोटिक कर्व्ज़) के दो एकप्राचल परिवार (वन-पैरामीटर फ़ैमिलीज़) होते हैं। यदि दो से कम परिवार हों तो तल (सफ़स) विकास्य (डिवेलपेबुल) होगा। यदि दो से अधिक हों तो तल एक समतल (प्लेन) होगा। यदि विकास्य तलों और समतलों को छोड़ दिया जाय और अनंतस्पर्शी रेखाओं को तल के प्राचलीय वक्र मान लिया जाय तो समघात निर्देशांक (होमोजीनियस कोऑर्डिनेट्स) इस प्रकार चुने जा सकते है कि वे अवकल समीकरणों की निम्नलिखित संहति (सिस्टम) को संतुष्ट करें:

$$\frac{त^2 य}{तष^2} = \frac{तक्ष}{तष}\frac{तय}{तष} + उ\frac{तय}{तस} + प\,य,$$

$$\frac{त^2 य}{तस^2} = ऊ\frac{तय}{तष} + \frac{तक्ष}{तस}\frac{तय}{तस} + फ\,र,$$

$$क्ष = लघु\ (उ\,ऊ); \quad [त = \partial]$$

इन्हें फ़्यूबिन के अवकल समीकरण (डिफ़रेंशियल इक्वेशंस) कहते है। इनके गुणांक उ, ऊ, प, फ तल के निश्चल है।

किसी तल के विक्षेपात्मक गुणों में से एक गुण होता है उसका किसी अन्य तल से स्पर्शक्रम (ऑर्डर ऑव कॉनटैक्ट)। विशेषकर, द्विघात तलों का एक त्रिप्राचल परिवार होता है जिसका तल (पृष्ठ) पृ से किसी बिंदु मू पर द्वितीय क्रम का स्पर्श होता है। यदि द्विघाती (क्वॉड्रिक्स) इस प्रकार चुने जायँ कि मू पर, प्रतिच्छेद वक्र के स्पर्शी, मू के अनंतस्पर्शियों के प्रति अभिध्रुवी (ऐपोलर) हों तो द्विघातियों को डार्बो द्विघाती (क्वॉड्रिक्स) और ३-बिंदु स्पर्शियों को डार्बो स्पर्शी कहते हैं। पृ के प्रत्येक बिंदु पर डार्बो द्विघातियों का एक एकप्राचल परिवार होता है। इनमें से बहुत से विशेष प्रकार के द्विघाती होते हैं। कदाचित् ली द्विघाती (क्वॉड्रिक्स) सबसे रोचक होते हैं। इनका विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है: मू के अनंतस्पर्शी वक्र व पर दो समीपस्थ बिंदु $पा_1$ और $पा_2$ लेकर तीनों बिंदुओं पर अनंतस्पर्शी वक्र के स्पर्शी खींचो। ये तीन स्पर्शी एक द्विघाती का निर्धारण करते हैं। जब $पा_1$ और $पा_2$ वक्र व के अनुदिश मू की ओर अग्रसर होते हैं, तब उक्त द्विघाती की सीमास्थिति को ली द्विघाती कहते हैं।

रेखाओं के किसी द्विप्राचल परिवार को सर्वांगसमता (कॉनग्रुएंस) कहते हैं। उदाहरणतः किसी तल के मापात्मक अभिलंब (मेट्रिक नार्मल्स) एक सर्वांगसमता बनाते हैं। यदि पृ के किसी बिंदु मू का साहचर्य (ऐसोसिएशन) एक रेखा से है जिसकी स्थिति मू के साथ साथ बदलती रहती है तो ऐसी रेखाओं के संग्रह से एक सर्वांगसमता का निर्माण होता है। जब मू तल पृ के किसी उपयुक्त वक्र पर चलता है तब सर्वांगसमता की सहचर

रेखा वक्र को स्पर्श करती है, और इस प्रकार एक विकास्य तल का सृजन करती है। साधारणतः किसी तल पर ऐसे वक्रों के दो एकप्राचल परिवार होते हैं। सर्वांगसमता के विकास्य तलों से इनकी संगति बैठती है। अब मान लीजिए कि एक सर्वांगसमता का निर्माण तल पृ के बिंदुओं के मध्य से जानेवाली ऐसी रेखाओं से होता है जो उन बिंदुओं पर खींचे गए पृ के स्पर्शतलों पर स्थित नहीं हैं, तो किसी भी डार्बो द्विघाती के प्रति इन रेखाओं की व्युत्क्रम ध्रुवियाँ (रेसिप्रोकल पोलर्स) एक सर्वांगसमता का निर्माण करती हैं जिसकी रेखाएँ पृ के स्पर्शसमतलों पर स्थित होती हैं, किंतु उनके स्पर्शबिंदुओं में से होकर नहीं जातीं। सर्वांगसमताओं के ऐसे जोड़ों को व्युत्क्रम सर्वांगसमताएँ (रेसिप्रोकल कॉनग्रुएंसेज) कहते हैं। आज तक व्युत्क्रम सर्वांगसमताओं के बहुत से जोड़ों का अध्ययन हो चुका है। इन्हीं में से एक युग्म विल्ज़िस्की की नियत सर्वांगसमताओं (डाइरेक्ट्रिस कॉनग्रुएंसेज़) का है। इनकी परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है: यदि त की व्युत्क्रम सर्वांगसमताओं की एक जोड़ी के विकास्यों के संगत वक्रों के दो कुलक (सेट्स) अभिन्न (कोइंसिडेंट) हो जायँ तो उक्त सर्वांगसमताओं को विल्ज़िस्की की नियत सर्वांगसमताएँ कहते हैं।

यह जानने के लिये कि विक्षेप ज्यामिति में सर्वांगसमताओं का क्या महत्व है, संयुग्मी जालों (कॉनजुगेट नेट्स) की कल्पना को भी समझ लेना आवश्यक है। इनकी परिभाषा हम इस प्रकार दे सकते हैं:

मान लीजिए, किसी तल पृ के किसी बिंदु के मध्य से अनंतस्पर्शी वक्र खींचे गए हैं, तो इस बिंदु का स्पर्शी, और उक्त वक्रों पर उस बिंदु पर खींचे गए स्पर्शियों के प्रति उसका हरात्मक संयुग्मी (हार्मोनिक कॉनजुगेट), ये दोनों मिलकर संयुग्मी स्पर्शी कहलाते हैं। यदि संयुग्मी स्पर्शियों के किसी जोड़े में से एक को किसी एकप्राचल वक्रपरिवार के एक वक्र का स्पर्शी मान लिया जाय तो जोड़े का दूसरा स्पर्शी एक अन्य एकप्राचल वक्रपरिवार का स्पर्शी हो जायगा। वक्रों के ऐसे दो कुलकों से संयुग्मी जाल का निर्माण होता है। संयुग्मी जालों का एक अन्य लाक्षणिक गुण (कैरेक्टरिस्टिक प्रॉपर्टी) इन शब्दों में व्यक्त हो सकता है: जब कोई बिंदु मू संयुग्मी जाल के एक वक्र पर चलता है तब जाल के दूसरे वक्र पर बिंदु मू पर खींचे गए स्पर्शी एक विकास्य तल का सृजन करते हैं। जब एक बिंदु तल त के किसी वक्र पर चलता है, तो उसका मापात्मक अभिलंब एक ऋजुरेखज (रूल्ड) तल का सृजन करता है। यदि वक्र के स्थान में वक्रतारेखा (लाइन ऑव कर्वेचर) लें तो यह ऋजुरेखज तल विकास्य हो जाता है। वक्रतारेखाओं द्वारा निर्मित जाल एक संयुग्मी जाल होता है और मापात्मक अभिलंब सर्वांगसमता (मेट्रिकनॉर्मल कॉनग्रुएंस) से उसकी संगति (कॉरेसपॉण्डेंस) बैठती है। हम इसी बात को इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि मापात्मक अभिलंब सर्वांगसमता तल से संयुग्मी है।

विक्षेपात्मक अवकल ज्यामिति में बहुत सी सर्वांगसमताएँ ऐसी हैं जो सार्वीकृत अभिलंब सर्वांगसमताएँ (जेनरैलाइज्ड नॉर्मल कॉनग्रुएंसेज़) कहला सकती हैं, क्योंकि सर्वांगसमता का निर्धारण तल से होता है और वह तल से संयुग्मी रहती है। इन्हीं में से एक यथाकथित ग्रीन-फ़्यूबिनी विक्षेप अभिलंब (प्रोजेक्टिव नॉर्मल) भी है।

वह वक्र जिसके स्पर्शी एक विकास्य तल का निर्माण करते हैं, तल की निशित कोर (कस्पिडल एज्) कहलाता है। मू के संयुग्मी स्पर्शियों के लाक्षणिक गुण से यह निष्कर्ष निकलता है कि जोड़े में से प्रत्येक स्पर्शी रश्मिबिंदु (रे पॉइंट) पर निशित कोर का स्पर्शी होता है। इस प्रकार जो दो रश्मिबिंदु प्राप्त होते हैं वे मू के जाल की एक रश्मि का निर्धारण करते हैं। जाल के वक्रों के बिंदु मू पर के आश्लेषण समतलों की प्रतिच्छेद रेखा जाल का अक्ष होती है। रश्मि तथा अक्ष और उनके द्वारा जनित सर्वांगसमताओं का अध्ययन बहुत से व्यक्तियों ने किया है।

कुछ लोगों ने अल्पांतरियों की कल्पना का, यह देखकर कि इनका मापात्मक अवकल ज्यामिति में कितना महत्व है, विक्षेप ज्यामिति में प्रयोग करने का प्रयत्न किया है। प्रथम तो निश्चल अनुकल

$$\int \sqrt{(इ\ उ)}\ ताय\ तास$$

के बाह्यजों (एक्स्ट्रीमल्स) को विक्षेप अल्पांतरी कहते हैं। समस्त विक्षेप अल्पांतरियों के आश्लेषण समतल कक्षा ३ का एक शंकु (कोन) बनाते हैं। उक्त शंकु का निशित अक्ष ग्रीन और फ़्यूबिनी का विक्षेप अभिलंब होता है। अल्पिकाओं का एक अन्य सार्वीकरण सर्वांगसमता के संयोग वक्र (यूनियन कर्व) में मिलता है। उक्त वक्र तल पृ का एक ऐसा वक्र होता है जिसके प्रत्येक बिंदु का आश्लेषण समतल उस बिंदु की सर्वांगसमता रेखा (लाइन ऑव कॉनग्रुएंस) के मध्य से जाता है।

सं०ग्रं०—जी० दारबूस : लेसों सुर ला थिओरी ज़ेनेराल दे सुरफ़ास, ४ खंड (पेरिस १८८७-९६); लेन, ई० पी० : १. प्रोजक्टिव डिफरेंशिअल जिऑमेट्री ऑव कर्व्ज़ ऐंड सर्फेसेज़ (शिकागो, १९३२); २. ए ट्रीटीज़ ऑन प्रोजेक्टिव डिफरेंशिअल जिऑमेट्री (शिकागो, १९४२); जी० फ़्यूबिनी और सेख : जिओमेत्रिआ प्रोइएत्तिवा दिफ़रेंस्सिआल, २ खंड (बोलोन्या, १९२६-२७); विल्ज़िस्की, ई० जी० : प्रोजेक्टिव डिफरेंशिअल जिऑमेट्री ऑव कर्व्ज़ ऐंड रूल्ड सर्फेसेज़ (लाइपज़िग, १९०६)।
[रा० बि०]

अवकल ज्यामिति (मापीय)

अवकल ज्यामिति में उन तलों और बहुगुणों (मैनीफ़ोल्ड्स) के गुणों का अध्ययन किया जाता है जो अपने किसी अल्पांश (एलिमेंट) के समीप स्थित हों, जैसे किसी वक्र अथवा तल के गुणों का अध्ययन, उसके किसी बिंदु के पड़ोस में। मापीय अवकल ज्यामिति का संबंध उन गुणों से है जिनमें नापने की क्रिया निहित हो।

शास्त्रीय अवकल ज्यामिति में ऐसे वक्रों और तलों का अध्ययन किया जाता है जो त्रिविस्तारी यूक्लिडीय अवकाश (स्पेस) में स्थित हों। इसमें अवकल कलन (डिफ़रेन्शियल कैल्क्युलस) और अनुकल कलन (इनटेग्रल कैल्क्युलस) की विधियों का प्रयोग होता है; या यों कहिए कि इस विद्या में हम वक्रों और तलों के उन गुणों का अध्ययन करते हैं जो त्रिविस्तारी गतियों में भी निश्चल (इनवेरियंट) रहते हैं। मान लीजिए, दो बिंदु एक दूसरे के समीप स्थित हैं। यदि उनके समकोणीय कार्तीय निर्देशांक (य, र, ल) और (य+ताय, र+तार, ल+ताल) हों (ता$\equiv d$) तो उनकी मध्यस्थ दूरी ताद के लिये यह सूत्र होगा:

$$(ताद)^2 = (ताय)^2 + (तार)^2 + (ताल)^2 । \qquad (१)$$

हम किसी वक्र बा की इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि वह एक ऐसे बिंदु का बिंदुपथ है जिसके निर्देशांक एक ही प्राचल (पैरामीटर) के पदों में व्यक्त हो सकें। ऐसे वक्र के समीकरण इस प्रकार के होंगे:

$$य = फ_1(ट),\ र = फ_2(ट),\ ल = फ_3(ट), \qquad (२)$$

जिनमें ट प्राचल है। इन समीकरणों से अवकलों (डिफ़रेंशियलों) ताय, तार, ताल की गणना करके (१) में प्रतिस्थापित करने से इस प्रकार का संबंध प्राप्त होगा:

$$ताद = फा(ट) ताट । \qquad (३)$$

इसके अनुकलन से बा के किसी भी चाप का मान निकाला जा सकता है।

मान लीजिए कि पा, फा पूर्वोक्त वक्र पर दो समीपस्थ बिंदु हैं जिनपर प्राचल के संगत मान ट और ट+ताट हैं। जब ताट शून्य की ओर अग्रसर हो तब रेखा पा फा की जो सीमास्थिति होगी, उसे वक्र के बिंदु पा पर खींची गई स्पर्शी कहते हैं। यदि किसी वक्र के समस्त बिंदु एक समतल में स्थित हों तो वक्र को समतल वक्र कहते हैं, अन्यथा उसे विषमतली (स्क्यु), कुटिल (टार्चुअस) अथवा व्यावृत (ट्विस्टेड) कहते हैं। मान लीजिए कि पा के समीप दो बिंदु फा, बा स्थित हैं। जब बिंदु बा बिंदु पा की ओर अग्रसर होता है तब समतल पाफाबा की सीमास्थिति को वक्र बा का, बिंदु पा पर, आश्लेषण समतल (प्लेन ऑव ऑस्क्युलेशन) कहते हैं। इसी प्रकार, जब बा, पा की ओर अग्रसर होता है, तब वृत्त पाफाबा की सीमास्थिति को वक्र बा का, बिंदु पा पर, आश्लेषण वृत्त कहते हैं। बिंदु पा के आश्लेषण वृत्त के केंद्र को पा का वक्रताकेंद्र और उसकी त्रिज्या को वृतीय वक्रतात्रिज्या अथवा केवल वक्रतात्रिज्या कहते हैं। जब बिंदु फा, बा, भा बिंदु पा की ओर अग्रसर होते हैं तब गोले पाफाबाभा की सीमास्थिति को बिंदु पा का आश्लेषण गोला कहते हैं। उक्त गोले का केंद्रबिंदु पा का गोलीय वक्रताकेंद्र और उसकी त्रिज्या गोलीय

वक्रतात्रिज्या कहलाती है। बिंदु **पा** पर वक्र के जितने भी अभिलब खीचे जा सकते है, सब **पा** की स्पर्शी पर लब होते है, अत वे एक ऐसे समतल में स्थित होते है जो उस स्पर्शी पर लब होता है। उक्त समतल को बिंदु **पा** पर, वक्र **बा** का, अभिलब समतल कहते है। **पा** के उस अभिलब को जो आश्लेषण समतल मे स्थित होता है, **पा** का मुख्य अभिलब (प्रिंसिपल नॉर्मल) कहते है, और जो अभिलब आश्लेषण समतल पर लब होता है, **पा** का द्विलब (बाइ-नॉर्मल) कहलाता है।

जो कोण स्पर्शी और द्विलब एक नियत दिशा से बनाते है उनके परिवर्तन की चाप-दरे (आर्क-रेट) वक्र **बा** की बिंदु **पा** पर क्रमानुसार वक्रता और कुटिलता (टॉर्शन) कहलाती है और उन्हें **ड** और **ढ** से निरूपित किया जाता है। किसी भी सरल रेखा की वक्रता और कुटिलता प्रत्येक बिंदु पर शून्य होती है और किसी भी समतल वक्र की केवल कुटिलता प्रत्येक बिंदु पर शून्य होती है।

वक्र के किसी बिंदु **पा** पर की वक्रता **ड** उसके आश्लेषण वृत्त की त्रिज्या का व्युत्क्रम होती है। इसीलिये उक्त वृत्त को बिंदु **पा** का वक्रतावृत्त भी कहते हैं। राशियो **ड**, **ढ** और **द** का वक्र से घनिष्ठ सबध होता है। यदि **ड**, **ढ** दिए हो तो वक्र केवल स्थिति और अनुन्यास (ओरियटेशन) छोडकर, पूर्ण रूप से निश्चित हो जाता है। जैसे, यदि वक्रता और कुटिलता दोनो प्रत्येक बिंदु पर शून्य हो तो वक्र एक ऋजु रेखा होगा। यदि वक्रता अचर और कुटिलता शून्य हो तो वक्र एक वृत्त होगा। यदि वक्रता और कुटिलता दोनो शून्येतर हो तो वक्र एक वर्तुल भ्रमी (सर्क्युलर हेलिक्स) होगा।

किसी तल **पृ** की परिभाषा हम इस प्रकार दे सकते है कि वह एक ऐसे बिदुपरिवार का बिदुपथ होता है जिसमे दो प्राचल हो। यदि प्राचल **ष**, **स** हो तो तल के प्राचलीय समीकरण इस प्रकार के होंगे

$$\text{य} = \text{फ}_1(\text{ष}, \text{स}),\ \text{र} = \text{फ}_2(\text{ष}, \text{स}),\ \text{ल} = \text{फ}_3(\text{ष}, \text{स}) \qquad (४)$$

इनको वक्रीय निर्देशाक (कर्विलिनियर कोआर्डिनेट्स) भी कहते है। किसी तल के इस प्रकार के निरूपण का ढग पहले पहल गाउस ने निकाला था।

यदि कोई वक्र **बा** तल **त** पर स्थित है तो उसका समीकरण ऐसा होगा.

$$\text{फ}(\text{ष}, \text{स}) = ०, \qquad (५)$$

क्योकि यदि हम इस समीकरण मे से **ष** के पदो (टर्म्स) मे स का मान निकालकर (४) मे रख दे तो **य**, **र**, **ल** एक ही प्राचल **ष** के फलन बन जायंगे। अत बिंदु (**य**, **र**, **ल**) का बिदुपथ एक वक्र हो जायगा। वक्र की दिशा **ताष/तास** पर निर्भर होगी।

यदि **पा** तल **पृ** पर कोई बिदु है तो तल पर **पा** से होकर जितने भी वक्र खीचे जा सकते है, उन सबकी स्पर्शरेखाएँ एक तल पर स्थित होगी जिसे बिदु **पा** का स्पर्श समतल कहते है। जो रेखा **पा** से होकर उक्त समतल पर लबवत् खीची जाय, वह **पृ** की, बिंदु **पा** पर, अभिलब कहलाती है।

जिस तल का सृजन किसी ऋजु रेखा की गति से होता है, वह ऋजुरेखज तल (रूल्ड सरफेस) कहलाता है। इस प्रकार उक्त तल पर जो अनत ऋजु रेखाएँ स्थित होती है, तल के जनक (जेनेरेटर) कहलाती है। यदि तल का स्पर्श समतल एक ही प्राचल पर निर्भर हो तो तल को खोलकर एक समतल पर फैलाया जा सकता है। अत उसे विकास्य तल (डेवेलपेबुल सरफेस) कहते है। शकु (कोन) और बेलन (सिलिडर) ऐसे तलो के सरल उदाहरण है। वह ऋजुरेखज तल जो विकास्य न हो, विषमतली कहलाता है। जो ऋजुरेखज तल किसी विषमतली वक्र के स्पर्शियो से बनता है, विकास्य होता है, किंतु जिन ऋजुरेखज तलो का सृजन किसी विषमतलीय वक्र के मुख्य अभिलबो अथवा द्विलबो द्वारा होता है, वे विषमतलीय होते है।

यदि (४) से अवकलो **ताय**, **तार**, **ताल** के मान निकालकर (१) मे रख दिए जायँ तो इस प्रकार का सबध प्राप्त होगा :

$$\text{ताव}^2 = \text{चा}\,\text{ताष}^2 + \text{छा}\,\text{ताष}\,\text{तास} + \text{जा}\,\text{तास}^2\text{।} \qquad (६)$$

इस समीकरण के दाहिने पक्ष मे अवकलो का जो वर्ग व्यंजक है, **पृ** का प्रथम मूलभूत रूप (फडामेटल फॉर्म) कहलाता है और गुणाक **चा**, **छा**, **जा** तल के प्रथम क्रम (ऑर्डर) के मूलभूत परिमाण (फडामेटल मैग्निट्यूड्स) कहलाते है। इनमें **ष**, **स** के प्रति **य**, **र**, **ल** के केवल प्रथम आशिक अवकलजो (डेरिवेटिव्ज़) का समावेश होता है। **पृ** पर स्थित वक्रो की चाप-लबाइयाँ, वक्रो के मध्यस्थ कोण और **पृ** के विभिन्न भागो के क्षेत्रफल, इन सबमें केवल **चा**, **छा**, **जा** का ही समावेश होता है।

यदि तल **पृ** का, **पा** के अभिलब से होकर किसी दिशा में खीचे गए समतल द्वारा, काट (सेक्शन) लिया जाय तो उसे अभिलब काट (नॉर्मल सेक्शन) कहते है और यदि इस अभिलब काट की वक्रता निकाली जाय, तो वह उस दिशा में **पा** की अभिलबवक्रता कहलाती है। **ताष/तास** की दिशा मे बिंदु (**ष**, **स**) की अभिलबवक्रता का सूत्र यह है :

$$\text{ड}_{\text{व}} = \frac{\text{टा}\,\text{ताष}^2 + २\,\text{ठा}\,\text{ताष}\,\text{तास} + \text{डा}\,\text{तास}^2}{\text{चा}\,\text{ताष}^2 + २\,\text{छा}\,\text{ताष}\,\text{तास} + \text{जा}\,\text{तास}^2}, \qquad (७)$$

जिसमे दक्षिण पक्ष के व्यजक के अश को **पृ** का द्वितीय मूलभूत रूप कहते है और **टा**, **ठा**, **डा** तल के द्वितीय क्रम के मूलभूत परिमाण कहलाते है। इनमे **य**, **र**, **ल** के, **ष**, **स** के प्रति, द्वितीय क्रम के अवकलजो का समावेश होता है। छ गुणाको **चा**, **छा**, **जा**, **टा**, **ठा**, **डा** मे परस्पर तीन स्वतत्र सबध होते है जिन्हे गाउस और मैनार्डी कोडाजी समीकरण कहते है। तल सिद्धात मे इन छ गुणाको का उतना ही महत्व है जितना वक्र सिद्धात मे वक्रता और कुटिलता का। यदि ये छ गुणाक **ष**, **स** के फलनो के रूप मे दिए हो तो स्थिति और अनुन्यास को छोडकर, तल पूर्ण रूप से निश्चित हो जाता है। वह तल जिसके प्रत्येक बिदु पर **टा**, **ठा**, **डा** शून्य हो, समतल होता है। वह तल जिसके लिये

$$\frac{\text{टा}}{\text{चा}} = \frac{\text{ठा}}{\text{छा}} = \frac{\text{डा}}{\text{जा}},$$

या तो गोला होगा या समतल। किसी बिदु की अभिलब-वक्रता **ताष/तास** पर निर्भर रहती है। यदि यह किसी बिंदु की प्रत्येक दिशा मे एक समान हो तो बिंदु को नाभिज (अबिलिक) कहते है। यदि किसी तल का प्रत्येक बिदु नाभिज हो तो तल एक गोला होगा। यदि किसी तल का कोई बिदु **पा** नाभिज न हो तो **पा** पर दो परस्पर लब दिशाएँ ऐसी होगी जिनकी अभिलबवक्रताएँ चरम (एक्स्ट्रीमम) होगी। ये दिशाएँ मुख्य दिशाएँ, और इन दिशाओ की अभिलबवक्रताएँ मुख्य वक्रताएँ कहलाती है। किसी बिंदु की मुख्य वक्रताओ का जोड माध्य वक्रता (मीन कर्वेचर) कहलाता है और उसे **जा** से निरूपित करते है। इसी प्रकार, मुख्य वक्रताओ का गुणनफल गाउसी वक्रता कहलाता है और **झा** से निरूपित होता है। यदि किसी तल के प्रत्येक बिदु की माध्य वक्रता शून्य हो तो उसे लघुतमी तल (मिनिमल सर्फस) कहते है। रज्जुज (कैटेनॉयड) और लाबिक सर्पिलज (राइट हेलिकॉयड) लघुतमी तलो के उदाहरण है। ऋजुरेखज लघुतमी तल केवल लाबिक सर्पिलज ही होता है और लघुतमी परिक्रमण तल केवल रज्जुज ही होता है। यदि किसी तल के प्रत्येक बिंदु की गाउसी वक्रता शून्य हो तो तल एक छद्मगोला (सूडो-स्फियर) होगा। गाउसी वक्रता की ज्यामितीय परिभाषा इस प्रकार भी दी जा सकती है :

मान लीजिए, **पृ** का एक छोटा सा भाग **प्री** है जिसका पर्यंत वक्र **बा** है। एक एकक (यूनिट) त्रिज्या का एक गोला लेकर केंद्र से **बा** के बिदुओ पर **पृ** के अभिलबो के समातर रेखाएँ खीचें। ये रेखाएँ गोले के तल को जिन बिंदुओ पर काटती है, मान लीजिए, उनसे वक्र **बी** का सृजन होता है। जब क्षेत्र **प्री** सिकुडकर बिंदु **पा** से अभिन्न हो जाता है तब अनुपात

$$\frac{\text{बी से समावृत क्षेत्र}}{\text{बा से समावृत क्षेत्र}}$$

की सीमा को बिंदु **पा** पर **पृ** की गाउसी वक्रता कहते है जिसका सूत्र यह है :

$$\text{झा} = \frac{\text{टा}\,\text{डा} - \text{ठा}^2}{\text{चा}\,\text{जा} - \text{छा}^2}\text{।} \qquad (८)$$

पृ पर स्थित वे वक्र, प्रत्येक बिंदु पर जिनकी दिशाएँ मुख्य दिशाएँ होती हैं, **पृ** की वक्रतारेखाएँ कहलाती हैं। गोले और समतल को छोड़कर शेष

प्रत्येक तल पर वक्रतारेखाओं के दो परिवार होते हैं जो परस्पर लंबवत् काटते हैं। किसी परिक्रमण तल की वक्रतारेखाएँ अक्षांश (लैटीट्यूड) रेखाएँ और देशांतर (लांजीट्यूड) रेखाएँ होती हैं। किसी सकेंद्र द्विघाती तल की वक्रतारेखाएँ वे वक्र होती हैं जिनमें वे अपने संनाकियों (कॉन-फ़ोकल्स) को काटती हैं।

यदि **पृ** पर कोई वक्र **वा** ऐसा हो कि प्रत्येक बिंदु पर **वा** की दिशा में अभिलंबवक्रता शून्य हो तो **वा** को **पृ** की अनंतस्पर्शी रेखा (ऐसिंपटोटिक लाइन) कहते हैं। साधारणतया, प्रत्येक तल पर अनंतस्पर्शी रेखाओं के दो परिवार होते हैं जिनका समीकरण यह होता है :

$$\text{टा ताय}^2 + 2\,\text{ठा ताय तास} + \text{डा तास}^2 = 0 \qquad (९)$$

लांबिक सर्पिलज की अनंतस्पर्शी रेखाएँ उसके जनक और भ्रमी होती हैं। किसी लघुतमी तल पर उसकी अनंतस्पर्शी रेखाएँ एक समकोणीय जाल बनाती हैं। अनंतस्पर्शी रेखाओं का अध्ययन हम एक अन्य दृष्टिकोण से भी कर सकते हैं। मान लीजिए कि **पा, फा** तल **पृ** पर दो समीपस्थ बिंदु हैं। मान लीजिए कि **पा** से होती हुई, **पा** और **फा** के स्पर्श समतलों की प्रतिच्छेद रेखा के समांतर, रेखा **पा बा** खींची गई है। जब **फा, पा** की ओर अग्रसर होता है, तब **पा फा** और **पा बा** की दिशाएँ परस्पर संयुग्मी (कॉन्जुगेट) कहलाती हैं। वक्रों के दो कुलक (सेट्स) जो **त** पर स्थित हों और जिनके किसी भी बिंदु पर खींचे गए स्पर्शी संयुग्मी हों, एक संयुग्मी जाल का निर्माण करते हैं। जो वक्र संयुग्मी (सेल्फ़-कॉन्जुगेट) हो, अनंतस्पर्शी रेखा कहलाता है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि **वा** के किसी भी बिंदु की अनंतस्पर्शी रेखा **पृ** के उसी बिंदु के द्विलंब से अभिन्न होती है और किसी अनंतस्पर्शी रेखा के किसी बिंदु पर खींची गई स्पर्शी की दिशा वही होती है जो तल के उसी बिंदु पर खींची गई दो नतिपरिवर्तन स्पर्शियों (इनफ़्लेक्शनल टैनजेंट्स) में से एक होती है।

पृ पर, अनंतस्पर्शी रेखाओं और वक्रतारेखाओं के अतिरिक्त, एक अन्य महत्वपूर्ण वक्र होता है जिसे अल्पांतरी (जिओडेसिक) कहते हैं। **पृ** के प्रत्येक बिंदु **पा** से होकर, और प्रत्येक दिशा में, एक वक्र ऐसा होता है जिसका **पा** वाला आश्लेषण समतल, **पृ** के बिंदु **पा** पर खींचे गए अभिलंब, से होकर जाता है। अतः उक्त वक्र के प्रत्येक बिंदु का मुख्य अभिलंब, उस बिंदु पर खींचे गए **पृ** के अभिलंब से अभिन्न होता है। ऐसे वक्र को अल्पांतरी कहते हैं। अल्पांतरी तल के किन्हीं दो बिंदुओं के मध्यस्थ सबसे छोटा मार्ग अल्पांतरी होता है। किसी तल के अल्पांतरियों के अवकल समीकरण में केवल **चा, छा, जा** और इनके प्रथम आंशिक अवकलजों का समावेश होता है। किसी गोले के अल्पांतरी बृहत् वृत्त (ग्रेट सर्किल्स) होते हैं। यदि **पा**, वक्र **वा** का कोई बिंदु है तो **पा** का वह अल्पांतरी जो **वा** के **पा** पर खींचे गए स्पर्शी की दिशा में खींचा जाय, वक्र **वा** का, बिंदु **पा** पर, अल्पांतरी स्पर्शी (जिओडेसिक टैनजेंट) कहलाता है। किसी वक्र के किसी बिंदु पर के अल्पांतरी स्पर्शी की संगत वक्रता को उस बिंदु की अल्पांतरी वक्रता कहते हैं। यह सिद्ध किया जा सकता है कि वक्र **वा** के किसी बिंदु **पा** की अल्पांतरी वक्रता बिंदु के उस वक्रता सदिश (कर्वेचर वेक्टर) का विघटित भाग (रिज़ॉल्व्ड पार्ट) होती है जो उस बिंदु के स्पर्शी समतल में स्थित हो। किसी अल्पांतरी की अल्पांतरी वक्रता उसके प्रत्येक बिंदु पर शून्य होती है। विलोमतः, यदि किसी वक्र के प्रत्येक बिंदु पर उसकी अल्पांतरी वक्रता शून्य हो तो वक्र स्वयं एक अल्पांतरी होगा।

वक्र **वा** के किसी बिंदु **पा** के अल्पांतरी स्पर्शी की कुटिलता उस बिंदु पर वक्र की कुटिलता कहलाती है। जितने वक्र एक दूसरे को **पा** पर स्पर्श करते हैं, उन सबकी अल्पांतरी कुटिलता एक सी होती है। किसी भी तल **पृ** के प्रत्येक बिंदु **पा** पर दो दिशाएँ होती हैं जिनमें अल्पांतरी कुटिलता चरम होती है। **पृ** पर स्थित वे वक्र अल्पांतरी कुटिलता रेखाएँ (लाइन्स ऑव जिओडेसिक टॉर्शन) कहलाते हैं जिनके प्रत्येक बिंदु पर खींचा गया स्पर्शी चरम अल्पांतरी कुटिलता की दिशा में होता है। किसी बिंदु पर अल्पांतरी कुटिलता रेखा की दिशा में दो मुख्य वक्रताएँ होती हैं, जिनके माध्य को उस बिंदु की अभिलंब वक्रता (नॉर्मल कर्वेचर) कहते हैं। **पृ** पर वे वक्र लक्षण रेखाएँ (कैरिक्टरस्टिक लाइन्स) कहलाते हैं जिनके प्रत्येक बिंदु का स्पर्शी उस दिशा में होता है जिस दिशा में अल्पांतरी कुटिलता और अभिलंब वक्रता का अनुपात चरम हो। किसी तल पर स्थित वे वक्र जिनका समीकरण

$$\text{चा ताय}^2 + 2\,\text{छा ताय तास} + \text{जा तास}^2 = 0 \qquad (१०)$$

हो, मोघ रेखाएँ (नल लाइन्स) कहलाती हैं। किसी तल पर स्थित वक्रों के ये पाँच परिवार—मोघ रेखाएँ, अनंतस्पर्शी रेखाएँ, वक्रता रेखाएँ, अल्पांतरी कुटिलता रेखाएँ और लक्षण रेखाएँ—एक बंद संहति (क्लोज्ड सिस्टम) का निर्माण करते हैं। इसका अर्थ यह है कि यदि कोई भी दो समीकरण इस रूप में लिए जायँ :

$$\text{फ} = 0, \qquad \text{फि} = 0,$$

और इनके जैकोबियनों को शून्य के बराबर रखा जाय तो उपर्युक्त पाँच संहतियों के अतिरिक्त और कोई संहति प्राप्त नहीं होगी।

किंतु शास्त्रीय अवकल ज्यामिति की भाँति यह मानना आवश्यक नहीं है कि कोई तल यूक्लिडीय अवकाश में ही स्थित होगा।

आधुनिक दृष्टिकोण में किसी बिंदु को **स** संख्याओं

$$(\text{य}_1, \text{य}_2, \ldots, \text{य}_\text{स})$$

का क्रमित कुलक (आर्डर्ड सेट) माना जाता है। इस बिंदु से इसके समीपस्थ बिंदु

$$(\text{य}_1 + \text{ताय}_1, \text{य}_2 + \text{ताय}_2, \ldots, \text{य}_\text{स} + \text{ताय}_\text{स})$$

की दूरी **ताद** के लिये सूत्र यह है :

$$\text{ताद}^2 = \text{घ}_{\text{तथ}}\,\text{ताय}^\text{त}\,\text{ताय}^\text{थ}, \qquad (११)$$

जिसमें दक्षिण पक्ष का वर्ग-अवकल-रूप एक धनात्मक-निश्चित रूप (पॉज़िटिव-डेफ़िनिट फ़ॉर्म) है। कोई अवकाश जिसमें **ताद** का सूत्र (११) हो, **स** विस्तारों का रीमानीय अवकाश (रीमानियन स्पेस) कहलाता है। जिस प्रकार हम यूक्लिडीय त्रिविस्तारी अवकाश में वक्रों और तलों का अध्ययन करते हैं, उसी प्रकार हम रीमानीय अवकाश $\text{आ}_\text{स}$ में भी वक्रों और उपावकाशों (सब-स्पेसेज़) का अध्ययन करते हैं। $\text{आ}_\text{स}$ के किसी बिंदु का बिंदुपथ, जिसके निर्देशांक एक ही प्राचल **ष** के पदों में व्यक्त किए जा सकें, $\text{आ}_\text{स}$ का वक्र कहलाता है। $\text{आ}_\text{स}$ के उन बिंदुओं का बिंदुपथ जिनके निर्देशांक म प्राचलों $(\text{र}^1, \text{र}^2, \ldots, \text{र}^\text{म})$ के पदों में रखे जा सकें, $\text{आ}_\text{स}$ में स्थित **म**-विस्तारी उपावकाश कहलाता है। यदि **म** = **स**–१ तो उपावकाश को $\text{आ}_\text{स}$ का परावकाश (हाइपर-स्पेस) कहते हैं। उपावकाश **म** = १ ही एक साधारण वक्र होता है। जैसे यूक्लिडीय मापज (मेट्रिक) (१) से तल पर मापज (६) प्राप्त होता है, वैसे ही मापज (११) से उपावकाश

$$\text{य}^\text{त} = \text{फ}^\text{त}(\text{र}^1, \text{र}^2, \ldots, \text{र}^\text{म}), \quad \text{त} = 1, 2, \ldots, \text{स}$$

में निम्नलिखित मापज प्राप्त होता है :

$$\text{ताद}^2 = \text{क}_{\text{१क}}\,\text{तार}^1\,\text{तार}^\text{क}\,। \qquad (१२)$$

रीमानीय ज्यामिति का अध्ययन प्रदिश कलन (टेन्सर कैल्क्युलस) की सहायता से किया जाता है। पिछले कतिपय दशकों में रीमानीय ज्यामिति के कई सार्वीकरण (जेनरलाइज़ेशन) निकल आए हैं। इनमें से एक महत्वपूर्ण सार्वीकरण फ़िन्स्लर ज्यामिति अथवा सार्वमापज ज्यामिति (ज्योमेट्री ऑव दि जेनरल मेट्रिक) है जिसमें रीमानीय मापज का स्थान निर्देशांकों और अवकलों का एक अधिक सार्विक फलन **फा (य, ताय)** ले लेता है।

सं०ग्रं०—फोरसाइथ : लेक्चर्स ऑन डिफ़रेंशियल ज्योमेट्री ऑव कर्व्ज़ ऐंड सरफ़ेसेज़; आइज़ेनहार्ट : डिफ़रेंशियल ज्योमेट्री; आइज़ेनहार्ट : इंट्रोडक्शन टु डिफ़रेंशियल ज्योमेट्री विद एड ऑव दि टेंसर कैल्क्युलस; वेदरबर्न : डिफ़रेंशियल ज्योमेट्री, २ खंड; वेदरबर्न : रीमानियन ज्योमेट्री ऐंड टेंसर कैल्क्युलस; डुशेक और मेयर : लेरबुख डर डिफ़रेंशियल ज्योमेट्री, २ खंड; ई० पी० लेन : मेट्रिक डिफ़रेंशियल ज्योमेट्री ऑव कर्व्ज़ ऐंड सरफ़ेसेज़ (१९४०)। [रा० बि०]

अवकल समीकरण

अवकल समीकरण (डिफरेंशियल ईक्वेशंस) उन संबंधों को कहते हैं जिनमें स्वतंत्र चल तथा अज्ञात परतंत्र चल के साथ साथ उस परतंत्र चल के एक या अधिक अवकल गुणक

(डिफ़रेंशियल कोइफ़िशेंट्स) हो। यदि परतंत्र चल एक तथा स्वतंत्र चल भी एक ही हो तो संबंध को **साधारण** (ऑर्डिनरी) **अवकल समीकरण** कहते हैं। जब परतंत्र चल तो एक परंतु स्वतंत्र चल अनेक हों तो परतंत्र चल के खंडावकल गुणक होते हैं। जब ये उपस्थित रहते हैं तब संबंध को **आंशिक** (पाशियल) **अवकल समीकरण** कहते हैं। परतंत्र चल को स्वतंत्र चल के पदों में व्यंजित करने को अवकल समीकरण का हल करना कहा जाता है।

यदि अवकल समीकरण में **च**-वीं कक्षा का (ऑर्डर) अवकल गुणक हो, और अधिक का नही, तो अवकल समीकरण **च**-वीं कक्षा का कहलाता है। उच्चतम कक्षा के अवकल गुणक का घात (पॉवर) ही अवकल समीकरण का घात कहलाता है। घात ज्ञात करने के पहले समीकरण को भिन्न तथा करणी चिह्नों से इस प्रकार मुक्त कर लेना चाहिए कि उसमें अवकल गुणकों पर कोई भिन्नात्मक घात न हो। उदाहरणतः

$$\frac{\text{तार}}{\text{ताय}} = \frac{\text{प}(\text{य})}{\text{फ}(\text{र})}, \qquad (१)$$

$$(१-\text{य}^२)\frac{\text{ता}^२\text{र}}{\text{ताय}^२} = २\text{य}\frac{\text{तार}}{\text{ताय}} + २\,\text{र} = ०, \qquad (२)$$

$$\left(\frac{\text{ता}^४\text{र}}{\text{ताय}^४}\right)^५ + \text{फ}(\text{य})\left(\frac{\text{तार}}{\text{ताय}}\right)^६ + \text{प}(\text{य})\text{र} = \text{ब}(\text{य}), \qquad (३)$$

$$\text{फ}(\text{य}) = \frac{\text{तार}}{\text{ताय}} \Big/ \sqrt{\left\{१ + \left(\frac{\text{ता}^२\text{र}}{\text{ताय}^२}\right)^२\right\}}, \qquad (४)$$

में, अवकल समीकरण (१) पहली कक्षा तथा एक घात का है; (२) की कक्षा दो परंतु घात एक है; (३) की कक्षा चार तथा घात पाँच है; और (४) की कक्षा दो और घात तीन (जैसा भिन्न और करणी चिह्नों से मुक्त करने पर स्पष्ट हो जाता है)।

यदि $\text{च}_१, \text{च}_२, \text{च}_३, \ldots, \text{च}_\text{म}$ स्वेच्छ अचल हों और

$$\text{फ}(\text{य}, \text{र}, \text{च}_१, \text{च}_२, \text{च}_३, \ldots, \ldots, \text{च}_\text{म}) = ० \qquad (५)$$

में **फ** चलों **य**, **र** का कोई फलन, तो इसे **म**-बार अवकलन करने से **म** अन्य समीकरण प्राप्त होते हैं। इन **म**+१ समीकरणों द्वारा सभी अचलो के लुप्तीकरण से संबंध

$$\text{प}\left(\text{य}, \text{र}, \frac{\text{तार}}{\text{ताय}}, \frac{\text{ता}^२\text{र}}{\text{ताय}^२}, \ldots, \frac{\text{ता}^\text{म}\text{र}}{\text{ताय}^\text{म}}\right) = ० \qquad (६)$$

प्राप्त होता है। यह (५) का अवकल समीकरण है, जो **म**-वीं कक्षा का है। संबंध (५) को अवकल समीकरण (६) का **पूर्ण पूर्वग** कहते हैं। इसे **व्यापक अनुकल** या **व्यापक हल** भी कहते हैं। यह आवश्यक नहीं कि पूर्वग **य** का स्पष्ट फलन हो। वास्तव में **य**, **र** के वे सभी संबंध अवकल समीकरण के अनकल कहलाते हैं जिनसे प्राप्त **र** तथा **र** के अन्य अवकल गुणकों के मान अवकल समीकरण को संतुष्ट कर सकते हैं। (५) और (६) से यह स्पष्ट है कि पूर्ण पूर्वग में स्वेच्छ अचलों की संख्या अवकल समीकरण की कक्षा के बराबर होती है। यदि पूर्ण पूर्वग में कुछ या सब अचलों को विशेष मान दे दिए जायँ तो वह **विशिष्ट अनुकल** कहलाता है।

यदि संबंध (५) का लेखाचित्र खींचा जाय तो स्वेच्छ अचलों को भिन्न भिन्न मान देने से अनंत वक्र मिलेंगे। वक्रों के इस समुदाय में एक ऐसी विशेषता है जो इसके प्रत्येक वक्र में पाई जाती है और जो स्वतंत्र अचलों पर निर्भर नहीं है। इसी विशेषता को अवकल समीकरण प्रकट करता है और वक्रों का यह समुदाय अवकल समीकरण का **वक्रपरिवार** कहलाता है।

अवकल समीकरण का अनुकलन सरल नहीं है। अभी तक प्रथम कक्षा के अवकल समीकरण भी पूर्ण रूप से हल नहीं हो पाए हैं। कुछ अवस्थाओं में अनुकलन संभव है, जिनका ज्ञान इस विषय की भिन्न भिन्न पुस्तकों से प्राप्त हो सकता है। अनुकलन करने की विधियाँ सांकेतिक रूप में यहाँ दी जाती हैं।

प्रथम कक्षा और एक घात के अवकल समीकरण—इनके हल करने की बहुत विधियाँ हैं। उदाहरणतः

(अ) चलों को पृथक् करके अनुकलन करते हैं; उदाहरणतः, अवकल समीकरण (१) को निम्नांकित प्रकार से लिख सकते हैं :

$$\text{फ}(\text{र})\,\text{तार} = \text{प}(\text{य})\,\text{ताय}।$$

अतः अनुकलन करके

$$\int \text{फ}(\text{र})\,\text{तार} = \int \text{प}(\text{य})\,\text{ताय} + \text{च},$$

जो अवकल समीकरण (१) का पूर्ण पूर्वग है।

(आ) समघाती समीकरण, जैसे

$$\frac{\text{तार}}{\text{ताय}} = \frac{\text{यर}+\text{य}^२+\text{र}^२}{३\text{र}^२+\text{य}^२}।$$

इसमे र= पय लिखने से चल पृथक् हो जाते हैं; फिर (अ) की तरह अनुकलन कर लेते हैं।

(इ) **एकघात अवकल समीकरण**—जब अवकल समीकरण में **र** तथा **र** के सभी अवकल गुणक एक घात के हों तो वह **एकघात अवकल समीकरण** कहलाता है। पहली कक्षा के एकघात समीकरण का उदाहरण

$$\frac{\text{तार}}{\text{ताय}} + \text{प}(\text{य})\text{र} = \text{ब}(\text{य})$$

है। इसको हल करने के लिये दोनों पक्षों को

$$\text{ई}^{\int \text{प}(\text{य})\,\text{ताय}}$$

से गुणा कर देते हैं [जहाँ ई ($=e$) प्राकृतिक लघुगुणकों का आधार है]। इससे बायाँ पक्ष $\text{र}\,\text{ई}^{\int \text{प}(\text{य})\,\text{ताय}}$ का अवकल गुणक हो जाता है। दोनों पक्षों का अनुकलन करने से

$$\text{र}\,\text{ई}^{\int \text{प}(\text{य})\,\text{ताय}} = \int \text{ब}(\text{य})\,\text{ई}^{\int \text{प}(\text{य})\,\text{ताय}}\,\text{ताय} + \text{च}$$

प्राप्त होता है जो अवकल समीकरण का पूर्ण पूर्वग है।

(ई) **शुद्ध अवकल समीकरण**—ऊपर बता चुके हैं कि पूर्वग से स्वेच्छ अचलों को हटा देने से अवकल समीकरण प्राप्त होता है। यदि स्वेच्छ अचलों का लुप्तीकरण गुणा, भाग तथा अन्य बीजगणितीय क्रियाओं के बिना ही केवल अवकलन द्वारा हो जाय तो इस प्रकार प्राप्त समीकरण को शुद्ध अवकल समीकरण कहते हैं। कभी कभी अवकल समीकरण किसी फलन से गुणा करने पर शुद्ध अवकल समीकरण बन जाता है। ऐसे गुणक को **अनुकलन गुणक** कहते हैं। जैसे (इ) में $\text{ई}^{\int \text{प}(\text{य})\,\text{ताय}}$ अनुकलन गुणक है। प्रथम कक्षा का अवकल समीकरण

$$\text{फ}(\text{य}, \text{र})\,\text{तार} + \text{प}(\text{य}, \text{र})\,\text{ताय} = ०$$

तब शुद्ध होता है जब $\dfrac{\text{तफ}}{\text{तय}} = \dfrac{\text{तप}}{\text{तर}}$।

यहाँ **तफ/तय** का अर्थ है **फ** (**य**, **र**) का **य** के अनुसार आंशिक अवकल गुणक।

कुछ अवकल समीकरण ऐसे होते हैं जो वैसे तो उपर्युक्त रूपों में नही होते परंतु स्वतंत्र और परतंत्र चलों की उचित स्थानापत्ति (सब्स्टिट्यूशन) से इन रूपों में लाए जा सकते हैं तथा उनकी तरह हल किए जा सकते हैं। इस विधि को स्वतंत्र चल परिवर्तन तथा परतंत्र चल परिवर्तन कहते हैं।

प्रथम कक्षा परंतु एक से उच्च घात के अवकल समीकरण—प्रथम कक्षा परंतु एक से उच्च घात के अवकल समीकरण से **तार/ताय** का मान बीजगणितीय रीतियों से निकालकर उपर्युक्त विधियों से हल कर लेते हैं। इसके हल में स्वेच्छ अचल होता तो एक है, परंतु उसका घात अवकल गुणक के घात के बराबर होता है।

अवकल समीकरण के वक्रपरिवार का अवगुंठन (एनवलप) उस परिवार के प्रत्येक सदस्य को स्पर्श करता है। अतः स्पर्शबिंदु के नियामक तथा संगत सदस्य के **तार/ताय** का मान ही उस बिंदु पर अवगुंठन के **तार/ताय** का मान होता है। अतः अवगुंठन का समीकरण अवकल समीकरण को संतुष्ट करता है। अवगुंठन इस परिवार का सदस्य नहीं है, न पूर्वग में स्वेच्छ अचलों को विशेष मान देने से ही प्राप्त होता है। अतः यह हल **अपूर्व अनुकल** (सिंगुलर सोल्यूशन) कहलाता है, जो वास्तव में परिवार के अवगुंठन का समीकरण होता है।

एक से उच्च कक्षा के एकघात अवकल समीकरण—यदि एकघात अवकल समीकरण

$$प_0(य)\frac{ता^च र}{ताय^च}+प_1(य)\frac{ता^{च-1}र}{ताय^{च-1}}+\ldots+प_{च-1}(य)\frac{तार}{ताय}+प_च र=0 \quad (७)$$

पर विचार करें तो स्थानापत्ति से यह स्पष्ट है कि यदि $र=फ_1(य)$ इसका एक हल है तो $र=क_1 फ_1(य)$, भी हल होगा जहाँ $क_1$ कोई स्वेच्छ अचल है। यदि $र=फ_1(य), र=फ_2(य), र=फ_3(य),\ldots,र=फ_च(य)$ सभी हल हों तो

$$र=क_1फ_1(य)+क_2फ_2(य)+\ldots+क_चफ_च(य) \quad (८)$$

भी (७) का हल होगा जहाँ $क_1, क_2,\ldots, क_च$ स्वेच्छ अचल हैं। यदि ये सब फलन स्वतंत्र हों तो मान (८) अवकल समीकरण (७) का पूर्ण पूर्वग होगा, क्योंकि इसमें स्वेच्छ अचलों की संख्या अवकल समीकरण की कक्षा के बराबर है।

समीकरण

$$प_0(य)\frac{ता^च र}{ताय^च}+प_1(य)\frac{ता^{च-1}र}{ताय^{च-1}}+\ldots+प_{च-1}(य)\frac{तार}{ताय}+प_च र=ब(य) \quad (९)$$

समीकरण (७) की सहायता से हल होता है। यदि $फ_1, फ_2,\ldots,फ_च$ अवकल समीकरण (७) के हल हों और $फा(य)$ समीकरण (९) का एक विशिष्ट हल हो तो

$$र=क_1फ_1(य)+क_2फ_2(य)+\ldots+क_चफ_च(य)+फा(य) \quad (१०)$$

समीकरण (९) का पूर्ण पूर्वग होगा।

अवकल गुणकों के गुणक (कोइफिशेंट) यदि अचल हों, अर्थात् समीकरण निम्नांकित प्रकार का हो

$$क_0\frac{ता^च र}{ताय^च}+क_1\frac{ता^{च-1}र}{ताय^{च-1}}+\ldots+क_{च-1}\frac{तार}{ताय}+क_च र=0, \quad (११)$$

जिसमें $क_0, क_1\ldots, क_च$ अचल हैं तो इसमें $र=ई^{मय}$ लिखने से [जहाँ ई($=e$) प्राकृतिक लघुगुणकों का आधार है], संबंध

$$क_0म^च+क_1म^{च-1}+क_2म^{च-2}+\ldots+क_{च-1}म+क_च=0 \quad (१२)$$

प्राप्त होता है। इस समीकरण को हल करने से म के च मान प्राप्त होते हैं। यदि वे $म_1, म_2, \ldots, म_च$ हों तो संबंध

$$र=ख_1ई^{म_1य}+ख_2ई^{म_2य}+\ldots+ख_चई^{म_चय} \quad (१३)$$

समीकरण (११) को संतुष्ट करता है। मान (१३) अवकल समीकरण (११) का पूर्ण पूर्वग है। समीकरण (१२) को अवकल समीकरण (७) का **सहायक समीकरण** (ऑक्ज़िलियरी इक्वेशन) कहते हैं।

समीकरण

$$क_0\frac{ता^च र}{ताय^च}+क_1\frac{ता^{च-1}र}{ताय^{च-1}}+\ldots+क_{च-1}\frac{तार}{ताय}+क_च र=ब(य) \quad (१४)$$

का हल संबंध (१३) के दाएँ पक्ष में य का एक विशेष फलन जोड़ने से प्राप्त होता है, जिसे समीकरण (१४) का **विशिष्ट अनुकल** कहते हैं तथा (१३) को अवकल समीकरण (१४) का **पूरक फलन** कहते हैं।

विज्ञान में अधिकतर द्वितीय कक्षा के अवकल समीकरणों का ही प्रयोग होता है। इनके हल बहुत महत्व रखते हैं। एक एक समीकरण पर बड़े बड़े ग्रंथ लिखे जा चुके हैं जैसे लीजेंडर के अवकल समीकरण

$$(1-य^2)\frac{ता^2र}{ताय^2}-2य\frac{तार}{ताय}+म(म+1)र=0$$

तथा बेसल के अवकल समीकरण

$$य^2\frac{ता^2र}{ताय^2}+य\frac{तार}{ताय}+(य^2-म^2)र=0$$

इत्यादि पर।

श्रेणी में हल—यदि हम अवकल समीकरण (२) का हल एक अनंत परंतु संसृत श्रेणी

$$र=य^च(क_0+क_1य+क_2य^2+\ldots) \quad (१५)$$

मान लें, तथा इससे प्राप्त तार/ताय, $ता^2र/ताय^2$ के मान अवकल समीकरण में स्थानापत्ति करें, तो सरल करने पर तादात्म्य

$$(1-य^2)\ [-क_0च(च-1)य^{च-2}+क_1(च+1)च\,य^{च-1}+क_2(च+2)(च+1)य^च+\ldots]$$
$$-2य[क_0च\,य^{च-1}+क_1(च+1)य^च+क_2(च+2)य^{च+1}+\ldots]$$
$$+2[क_0य^च+क_1य^{च+1}+क_2य^{च+2}+\ldots]=0$$

प्राप्त होता है।

इसको सरल करके य के प्रत्येक घात के गुणक को शून्य के बराबर लिखने से समीकरण

$$\left.\begin{array}{l}क_0च(च-1)=0\\ क_1(च+1)च=0\\ क_2(च+2)(च+1)-क_0च(च-1)-2क_0च+2क_0=0\end{array}\right\}(१६)$$

प्राप्त होते हैं। समीकरण (१६) से च = १ या ०; अन्य समीकरणों से $क_1, क_2, क_3, \ldots$ के मान च के पदों में ज्ञात कर लेते हैं। इनमें च के प्रत्येक मान को स्थानापन्न करके दो फलन

$$रा=य,\ री=1-य^2-\tfrac{1}{3}य^4-\tfrac{1}{5}य^6\ \ldots$$

प्राप्त होते हैं जिनसे (२) का पूर्ण पूर्वग

$$र=क_0रा+ख_1री$$

प्राप्त होता है। समीकरण (१६) समीकरण (२) का **घातीय समीकरण** (इंडिशियल इक्वेशन) कहलाता है। इसी प्रकार अन्य समीकरण भी हल किए जाते हैं। साधारणतः घातीय समीकरण के मूलों की संख्या अवकल समीकरण की कक्षा के बराबर होती है।

युगपत अवकल समीकरण—यदि परतंत्र चल एक से अधिक हों तो पूर्वग ज्ञात करने के लिये साधारणतः उतने ही अवकल समीकरण होने चाहिए जितने परतंत्र चल। जैसे

$$\frac{ता^2र}{ताय^2}+ल=य,$$

$$\frac{तार}{ताय}+\frac{ताल}{ताय}=य^2।$$

यहाँ ल और र परतंत्र चल हैं। इन समीकरणों द्वारा ल का लुप्तीकरण करने पर एक साधारण अवकल समीकरण प्राप्त होता है, जिसे हल करके र का मान प्राप्त करते हैं। फिर दिए हुए समीकरणों में र की स्थानापत्ति करके या तो ल का मान ज्ञात हो जाता है, अन्यथा ऐसा अवकल समीकरण प्राप्त होता है जिसे हल करके ल का मान ज्ञात कर सकते हैं।

यदि परतंत्र चल दो हों और केवल एक ही संबंध ज्ञात हो तो पूर्वग प्रत्येक अवस्था में ज्ञात नहीं हो सकता।

प्रथम कक्षा और एक घात का समीकरण निम्नांकित रूप में लिखा जा सकता है :

$$प(य,र,ल)ताय+फ(य,र,ल)तार+ब(य,र,ल)ताल=0।$$

इसे तभी हल कर सकते हैं जब फलन प, फ, ब समीकरण

$$प\left(\frac{तफ}{तल}-\frac{तब}{तर}\right)+फ\left(\frac{तब}{तय}-\frac{तप}{तल}\right)+ब\left(\frac{तप}{तर}-\frac{तफ}{तय}\right)=0$$

को संतुष्ट करें। इसे **अनुकलन की शर्त** (कंडिशन ऑव इंटीग्रेबिलिटी) कहते हैं।

यदि **प, फ, ब** यह शर्त पूरी नहीं करते तो इसे हल करने के हेतु हम **य, र, ल** में दूसरा स्वेच्छ संबंध मान लेते हैं, जिसकी सहायता से पूर्वोक्त विधि या अन्य विधियों से समीकरण को हल करते हैं।

आंशिक अवकल समीकरण—ये समीकरण दो प्रकार से प्राप्त होते हैं। पूर्वग को स्वेच्छ अचलों से मुक्त करके या इसे स्वेच्छ फलन से मुक्त करके।

यदि **ल** परतंत्र चल तथा **य, र** स्वतंत्र चल हों और

$$प(य, र, ल, क, ख) = ० \qquad (१७)$$

में **फ** चलों **य, र, ल** का कोई फलन हो तो इस संबंध तथा संबंध तप/तय=०, तप/तर=० से **क, ख** का लोप करके आंशिक अवकल समीकरण

$$फ(य, र, ल, पा, फा) = ० \qquad (१८)$$

प्राप्त होता है। यहाँ

$$पा = \frac{तल}{तय}, \quad फा = \frac{तल}{तर}।$$

संबंध (१७) समीकरण (१८) का **पूर्ण अनुकल** कहलाता है।

इस प्रकार यदि

$$व(श, ष) = ० \qquad (१९)$$

जहाँ **श, ष** स्वतंत्र चल **य, र, ल** के ज्ञात फलन हैं और **व** चलों **श, ष** का कोई स्वेच्छ फलन है और यदि (१९) का **य, र** के अनुसार क्रमश: आंशिक अवकलन करके **तव/तश, तव/तष** का लोप करें तो प्राप्त आंशिक अवकल समीकरण का रूप

$$पी\ पा + फी\ फा = ब \qquad (२०)$$

हो जाता है जहाँ **पी, फी** और **ब** चलों **य, र, ल** के फलन हैं।

(१९) को (२०) का **पूर्ण अनुकल** कहते हैं। **क, ख** को विशेष मान देने से या **व** को विशेष रूप देने से प्राप्त संबंधों को **विशिष्ट अनुकल** कहते हैं।

यदि (१७) का लेखाचित्र खींचें तो तलों का एक परिवार मिलता है। इस तलपरिवार का अवगुंठन भी आंशिक अवकल समीकरण (१८) को संतुष्ट करता है। परंतु यह हल (१७) से प्राप्त नहीं होता। अत: इसे **अपूर्व अनुकल** कहते हैं।

यदि (१७) में **ख** को **क** का कोई स्वेच्छ फलन **फ(क)** मान लें तो हम देखते हैं कि

$$प[य, र, ल; क, फ(क)] = ०।$$

अब यदि हम इसका लेखाचित्र **क** के भिन्न मानों के लिये खींचें तो तलों का एक परिवार मिलता है। इस परिवार के आसन्न तलों के कटान वक्रों को लाक्षणिक (कैरेक्टरिस्टिक) कहते हैं। इन वक्रों का अवगुंठन भी अवकल समीकरण (१४) को संतुष्ट करता है। इस अनुकल को **व्यापक अनुकल** कहते हैं।

प्रयुक्त गणित, भौतिक विज्ञान तथा विज्ञान की अन्य शाखाओं में भौतिक राशियों को समय, स्थान, ताप इत्यादि स्वतंत्र चलों के फलनों में तुरंत प्रकट करना प्राय: कठिन हो जाता है। परंतु हम उनकी वृद्धि की दर तथा उसके अवकल गुणकों में कोई न कोई संबंध बहुधा बड़ी सुगमता से पा सकते हैं। इस प्रकार ऐसे अवकल समीकरण प्राप्त होते हैं जिन्हें पूर्वोक्त राशियाँ संतुष्ट करती हैं। इन्हें हल करना उन राशियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये आवश्यक होता है। इसलिये विज्ञान की उन्नति बहुत अंश तक अवकल समीकरण की प्रगति पर निर्भर है।

सं०ग्रं०—गोरखप्रसाद : प्रारंभिक अवकल समीकरण; मरे, प्यागो, फ़ोरसाइथ, बेटमैन, इंस इत्यादि के अवकल समीकरण।

[क्र० ला० श०]

अवचेतन (सब-कांशस) जो चेतना में न होने पर भी थोड़ा प्रयास करने से चेतना म लाया जा सके। उन भावनाओं, इच्छाओं तथा कल्पनाओं का संगठित नाम जो मानव के व्यवहार को अचेतन की भाँति अज्ञात रूप से प्रभावित करती रहने पर भी चेतना की पहुँच के बाहर नहीं हैं और जिनको वह अपनी भावनाओं, इच्छाओं तथा कल्पनाओं के रूप में स्वीकार कर सकता है। मानसिक जगत् में इसका स्थान अहम् तथा अचेतन के बीच माना गया है।

[शां० ना० उ०]

अवतारवाद संसार के भिन्न भिन्न देशों तथा धर्मों में अवतारवाद धार्मिक नियम के समान आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। पूरबी और पश्चिमी धर्मों में यह सामान्यत: मान्य तथ्य के रूप में स्वीकृत किया गया है।

हिंदू : अवतारवाद की हिंदू धर्म में विशेष प्रतिष्ठा है। अत्यंत प्राचीन काल से वर्तमान काल तक यह उस धर्म के आधारभूत मौलिक सिद्धांतों में अन्यतम है। 'अवतार' का शाब्दिक अर्थ है भगवान् का अपनी स्वातंत्र्य-शक्ति के द्वारा भौतिक जगत् में मूर्तरूप से आविर्भाव होना, प्रकट होना। 'अवतार' तत्व का द्योतक प्राचीनतम शब्द 'प्रादुर्भाव' है। श्रीमद्भागवत में 'व्यक्ति' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (१०।२९।१४)। वैष्णव धर्म में अवतार का तथ्य विशेष रूप से महत्वशाली माना जाता है, क्योंकि विष्णु (या नारायण) के पर, व्यूह, विभव, अंतर्यामी तथा अर्चा नामक पंचरूपधारण का सिद्धांत पांचरात्र का मौलिक तत्व है। इसीलिये वैष्णवजन भगवान् के इन नाना रूपों की उपासना अपनी रुचि तथा प्रीति के अनुसार अधिकतर करते हैं। शैवमत में भगवान् शंकर की नाना लीलाओं का वर्णन मिलता है (द्रष्टव्य, नीलकंठ दीक्षित का 'शिवलीलार्णव' काव्य), परंतु भगवान् शंकर तथा भगवती पार्वती के मूल रूप की उपासना ही इस मत में सर्वत्र प्रचलित है।

नैतिक संतुलन—'ऋत' की स्थिति रहने पर ही जगत् की प्रतिष्ठा बनी रहती है और इस संतुलन के अभाव में जगत् का विनाश अवश्यंभावी है। सृष्टि के रक्षक भगवान् इस संतुलन की सुव्यवस्था में सदैव दत्तचित्त रहते हैं। 'ऋत' के स्थान पर 'अनृत' की, धर्म के स्थान पर अधर्म की जब कभी प्रबलता होती है, तब भगवान् का अवतार होता है। साधु का परित्राण, दुर्जन का विनाश, अधर्म का नाश तथा धर्म की स्थापना—इन महनीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भगवान् अवतार धारण करते हैं। गीता का यह श्लोक अवतारवाद का महामंत्र माना जाता है (४।८) :

> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

परंतु ये उद्देश्य भी अवतार के लिये गौण रूप ही माने जाते हैं। अवतार का मुख्य प्रयोजन इससे सर्वथा भिन्न है। सर्वैश्वर्यसंपन्न, अपराधीन, कर्मकालादिकों के नियामक तथा सर्वनिरपेक्ष भगवान् के लिये दुष्टदलन और शिष्टरक्षण का कार्य तो इतर साधनों से भी सिद्ध हो सकता है, तब भगवान् के अवतार का मुख्य प्रयोजन श्रीमद्भागवत (१०।२९।१४) के अनुसार कुछ दूसरा ही है :

> नृणां नि:श्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो भुवि।
> अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मन:॥

मानवों को साधननिरपेक्ष मुक्ति का दान ही भगवान् के प्राकट्य का जागरूक प्रयोजन है। भगवान् स्वत: अपने लीलाविलास से, अपने अनुग्रह से, साधकों को बिना किसी साधना की अपेक्षा रखते हुए, मुक्ति प्रदान करते हैं—अवतार का यही मौलिक तथा प्रधान उद्देश्य है।

पुराणों में अवतारवाद का हम विस्तृत तथा व्यापक वर्णन पाते हैं। इस कारण इस तत्व की उद्भावना पुराणों की देन मानना किसी भी तरह न्याय्य नहीं है। वेदों में हमें अवतारवाद का मौलिक तथा प्राचीनतम आधार उपलब्ध होता है। वेदों के अनुसार प्रजापति ने जीवों की रक्षा के लिये तथा सृष्टि के कल्याण के लिये नाना रूपों को धारण किया। मत्स्यरूप धारण का संकेत मिलता है शतपथ ब्राह्मण में (१।८।१।१), कूर्म का शतपथ (७।५।१।५) तथा जैमिनीय ब्राह्मण (३।२७२) में, वराह का तैत्तिरीय

संहिता (७।१।५।१) तथा शतपथ (१४।१।२।११) में, नृसिंह का तैत्तिरीय आरण्यक में तथा वामन का तैत्तिरीय संहिता (२।१।३।१) में शब्दतः तथा ऋग्वेद में विष्णुसूत्रों में अर्थतः संकेत मिलता है। ऋग्वेद में त्रिविक्रम विष्णु को तीन डगों द्वारा समग्र विश्व के नापने का बहुशः श्रेय दिया गया है (एको विममे त्रिभिरित् पदेभिः ऋग्वेद १।१५४।३)। आगे चलकर प्रजापति के स्थान पर जब विष्णु की प्रमुखता हुई, तब ये विष्णु के अवतार माने जाने लगे। पुराणों में इस प्रकार अवतारों के रूप, लीला तथा घटनावैचित्र्य का वर्णन वेद के ऊपर ही बहुशः आश्रित है।

भागवत के अनुसार सत्वनिधि हरि के अवतारों की गणना नहीं की जा सकती। जिस प्रकार न सूखनेवाले (अविदासी) तालाब से हजारों छोटी छोटी नदियाँ (कुल्या) निकलती हैं, उसी प्रकार अक्षय्य सत्वाश्रय हरि से भी नाना अवतार उत्पन्न होते हैं—अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्वनिधेर्द्विजाः। यथाऽविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥ पांचरात्र मत में अवतार प्रधानतः चार प्रकार के होते हैं—**व्यूह** (संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध), **विभव, अंतर्यामी** तथा **अर्चावतार**। विष्णु के अवतारों की संख्या २४ मानी जाती है (श्रीमद्भागवत २।६), परंतु दशावतार की कल्पना नितांत लोकप्रिय है जिनकी प्रख्यात संज्ञा इस प्रकार है—दो पानीवाले जीव (वनजौ, मत्स्य तथा कच्छप), दो जलथलचारी (वनजौ, वराह तथा नृसिंह), वामन (खर्व), तीन राम (परशुराम, दाशरथि राम तथा बलराम), बुद्ध (सकृपः) तथा कल्कि (अकृपः)—

वनजौ वनजौ खर्वस्त्रिरामी सकृपोऽकृपः।
अवतारा दशैवेते कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्॥

महाभारत में दशावतार में 'बुद्ध' को छोड़ दिया गया है और 'हंस' को अवतार मानकर संख्या की पूर्ति की गई है। भागवत के अनुसार 'बलराम' की दशावतार में गणना है, क्योंकि श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान ठहरे। वे अवतार नहीं, अवतारी हैं; अंश नहीं, अंशी हैं। इस प्रकार अवतारों की संख्या तथा संज्ञा में पर्याप्त विकास हुआ है।

सं० ग्रं०—भांडारकर : वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड माइनर-सेक्ट्स, पूना १९२८; गोपीनाथ कविराज : भक्तिरहस्य नामक लेख ('कल्याण'–हिंदू संस्कृति अंक); बलदेव उपाध्याय : भागवत संप्रदाय, काशी, १९५३; मुंशीराम शर्मा : भक्ति का विकास, काशी, १९५८।
[ब० उ०]

बौद्ध तथा अन्य धर्म (पारसी, सामी, मिस्री, यहूदी, यूनानी, इसलाम): बौद्ध धर्म के महायान पंथ में अवतार की कल्पना दृढ़मूल है। 'बोधिसत्व' कर्मफल की पूर्णता होने पर बुद्ध के रूप में अवतरित होते हैं तथा निर्वाण की प्राप्ति के अनंतर बुद्ध भी भविष्य में अवतार धारण करते हैं—यह महायानियों की मान्यता है। बोधिसत्व तुषित नामक स्वर्ग में निवास करते हुए अपने कर्मफल की परिपक्वता की प्रतीक्षा करते हैं और उचित अवसर आने पर वह मानव जगत् में अवतीर्ण होते हैं। थेरवादियों में यह मान्यता नहीं है। बौद्ध अवतारतत्व का पूर्ण निदर्शन हमें तिब्बत में दलाईलामा की कल्पना में उपलब्ध होता है। तिब्बत में दलाईलामा अवलोकितेश्वर बुद्ध के अवतार माने जाते हैं। तिब्बती परंपरा के अनुसार **ग्रेवेन द्रुप** (१४७३ ई०) नामक लामा ने इस कल्पना का प्रथम प्रादुर्भाव किया जिसके अनुसार दलाईलामा धार्मिक गुरु तथा राजा के रूप में प्रतिष्ठित किए गए। ऐतिहासिक दृष्टि से **लोजंग-ग्या-मत्सो** (१६१५–१६८२ ई०) नामक लामा ने ही इस परंपरा को जन्म दिया। तिब्बती लोगों का दृढ़ विश्वास है कि दलाईलामा के मरने पर उनकी आत्मा किसी बालक में प्रवेश करती है जो उस मठ के आसपास ही जन्म लेता है। इस मत का प्रचार मंगोलिया के मठों में भी विशेष रूप से है। परंतु चीन में अवतार की कल्पना मान्य नहीं थी। चीनी लोगों का पहला राजा शांगती सदाचार और सद्गुण का आदर्श माना जाता था, परंतु उसके ऊपर देवत्व का आरोप कहीं भी नहीं मिलता।

पारसी धर्म में अनेक सिद्धांत हिंदुओं, और विशेषतः वैदिक आर्यों के समान हैं, परंतु यहाँ अवतार की कल्पना उपलब्ध नहीं है। पारसी धर्मानुयायियों का कथन है कि इस धर्म के प्रौढ़ प्रचारक या प्रतिष्ठापक ज़रथुस्त्र अहुरमज़्द के कहीं भी अवतार नहीं माने गए हैं। तथापि ये लोग राजा को पवित्र तथा दैवी शक्ति से संपन्न मानते थे। 'ह्वरेनाह' नामक अद्भुत तेज की सत्ता मान्य थी जिसका निवास पीछे अर्दशिर राजा में तथा सस्सनवंशी राजाओं में था, ऐसी कल्पना पारसी ग्रंथों में बहुशः उपलब्ध है। सामी (सेमेटिक) लोगों में भी अवतारवाद की कल्पना न्यूनाधिक रूप में विद्यमान है। इन लोगों में राजा भौतिक शक्ति का जिस प्रकार चूड़ांत निवास था उसी प्रकार वह दैवी शक्ति का पूर्ण प्रतीक माना जाता था। इसलिये राजा को देवता का अवतार मानना यहाँ स्वभावतः सिद्ध सिद्धांत माना जाता था। प्राचीन बाबुल (बेबिलोनिया) में हमें इस मान्यता का पूर्ण विकास दिखाई देता है। किश का राजा 'उरुमुश' अपने जीवनकाल में ही ईश्वर का अवतार माना जाता था। नरामसिन नामक राजा अपने में देवता का रक्त प्रवाहित मानता था इसलिये उसने अपने मस्तक पर सींग से युक्त चित्र अंकित करवा रखा था। वह 'अक्काद का देवता' नाम से विशेष प्रख्यात था।

मिस्री मान्यता भी कुछ ऐसी ही थी। वहाँ के राजा 'फ़राऊन' नाम से विख्यात थे जिन्हें मिस्री लोग दैवी शक्ति से संपन्न मानते थे। मिस्र-निवासी यह भी मानते थे कि 'रा' नामक देवता रानी के साथ सहवास कर राजपुत्र को उत्पन्न करता है, इसीलिये वह अलौकिक शक्तिसंपन्न होता है। **यहूदी** भी ईश्वर के अवतार मानने के पक्ष में हैं। बाइबिल में स्पष्टतः उल्लेख है कि ईश्वर ही मनुष्य का रूप धारण करता है और इसके पर्याप्त उदाहरण भी वहाँ उपलब्ध होते हैं। यूनानियों में अवतार की कल्पना आर्यों के समान नहीं थी परंतु वीर पुरुष विभिन्न देवों के पुत्ररूप माने जाते थे। प्रख्यात योद्धा हरक्यूलीज़ ज़्यूस का पुत्र माना जाता था, लेकिन देवता के मनुष्य रूप में पृथ्वी पर जन्म लेने की बात यूनान में मान्य नहीं थी।

इसलाम के शिया संप्रदाय में अवतार के समान सिद्धांत का प्रचार है। शिया लोगों की यह मान्यता कि अली (मुहम्मद साहब के चचेरे भाई) तथा फ़ातिमा (मुहम्मद साहब की पुत्री) के वंशजों में ही धर्मगुरु (खलीफ़ा) बनने की योग्यता विद्यमान है, अवतार के पास तक पहुँचती है। 'इमा' की कल्पना में भी यह तथ्य जागरूक माना जा सकता है। वे मुहम्मद साहब के वंशज ही नहीं है, प्रत्युत उनमें दिव्य ज्योति की भी सत्ता है और उनकी श्रेष्ठता का यही कारण है।

सं० ग्रं०—बार्थ : रिलिजन्स ऑव इंडिया, लंदन, १८९१; वोडेल : बुद्धिज्म ऑव तिब्बत; वीडेमन : दी एनशैंट इजिप्शियन डॉक्ट्रिन ऑव दि इम्मार्टलिटी ऑव सोल। [ब० उ०]

ईसाई धर्म : आधारभूत विश्वास है कि ईश्वर मनुष्य जाति के पापों का प्रायश्चित्त करने तथा मनुष्यों को मुक्ति के उपाय बताने के उद्देश्य से ईसा में अवतरित हुआ (ईसा की संक्षिप्त जीवनी के लिये दे० ईसा)।

बाइबल के निरीक्षण से पता चलता है कि किस प्रकार ईसा के शिष्य उनके जीवनकाल में ही धीरे धीरे उनके ईश्वरत्व पर विश्वास करने लगे। इतिहास इसका साक्षी है कि ईसा के मरण के पश्चात् अर्थात् ईसाई धर्म के प्रारंभ से ही ईसा को पूर्ण रूप से ईश्वर तथा पूर्ण रूप से मनुष्य भी माना गया है। इस प्रारंभिक अवतारवादी विश्वास के सूत्रीकरण में उत्तरोत्तर स्पष्टता आती गई है। वास्तव में अवतारवाद का निरूपण विभिन्न भ्रांत धारणाओं के विरोध से विकसित हुआ। उस विकास के सोपान निम्नलिखित हैं :

(१) बाइबल में अवतारवाद का सुव्यवस्थित प्रतिपादन नहीं मिलता, फिर भी इसमें ईसाई अवतारवाद के मूलभूत तत्व विद्यमान हैं। एक ओर, ईसा का वास्तविक मनुष्य के रूप में चित्रण हुआ है—उनका जन्म और बचपन, तीस वर्ष की उम्र तक बढ़ई की जीविका, दुःखभोग और मरण, यह सब ऐसे शब्दों में वर्णित है कि पाठक के मन में ईसा के मनुष्य होने के विषय में संदेह नहीं रह जाता। दूसरी ओर, ईसा ईश्वर के अवतार के रूप में भी चित्रित हैं। तत्संबंधी शिक्षा समझने के लिये ईश्वर के स्वरूप के विषय में बाइबल की धारणा का परिचय आवश्यक है। इसके अनुसार एक ही ईश्वर में, एक ही ईश्वरीय तत्व में तीन व्यक्ति हैं—पिता, पुत्र और आत्मा; तीनों समान रूप से अनादि और अनंत हैं (विशेष विवरण के लिये दे० त्रित्व)। बाइबल में इसका अनेक स्थलों पर स्पष्ट शब्दों

में उल्लेख हुआ है कि ईसा ईश्वर के पुत्र हैं, जो पिता की भाँति पूर्ण रूप से ईश्वरीय हैं।

(२) प्रथम तीन शताब्दियों में बाइबल के इस अवतारवाद के विरुद्ध कोई महत्वपूर्ण आंदोलन उत्पन्न नहीं हुआ। अनेक भ्रांत धारणाओं का प्रवर्तन अवश्य हुआ था, किंतु उनमें से कोई भी धारणा अधिक समय तक प्रचलित नहीं रह सकी। प्रथम शताब्दी में दो परस्पर विरोधी वादों का प्रतिपादन किया गया था—एबियोनितिस्म के अनुसार ईसा ईश्वर नहीं थे और दोसेतिस्म के अनुसार वह मनुष्य नहीं थे। दोसेतिस्म का अर्थ है प्रतीयमानवाद, क्योंकि इस वाद के अनुसार ईसा मनुष्य के रूप में दिखाई तो पड़े, किंतु उनकी मानवता वास्तविक न होकर प्रतीयमान मात्र थी। उक्त मतों के विरोध में काथलिक धर्मतत्वज्ञ बाइबल के उद्धरण देकर प्रमाणित करते थे कि ईसाई धर्म के सही विश्वास के अनुसार ईसा में ईश्वरत्व तथा मनुष्यत्व दोनों ही विद्यमान थे।

(३) चौथी शताब्दी ई० में आरियस ने त्रित्व और अवतारवाद के विषय में एक नया मत प्रचलित करने का सफल प्रयास किया जिससे बहुत समय तक समस्त ईसाई संसार में अशांति व्याप्त रही। आरियस के अनुसार ईश्वर का पुत्र तो ईसा में अवतरित हुआ किंतु पुत्र ईश्वरीय न होकर पिता की सृष्टि मात्र है (दे० आरियस)। इस शिक्षा के विरोध में ईसाई गिरजे की प्रथम महासभा ने घोषित किया—"पिता और पुत्र तत्वतः एक हैं", अर्थात् दोनों समान रूप से ईश्वर हैं। इस महासभा का आयोजन ३२५ ई० में निसेया नामक नगर में हुआ था।

(४) आरियस के बाद अपोलिनारिस ने ईसा के अपूर्ण मनुष्यत्व का सिद्धांत प्रतिपादित किया। उनके अनुसार ईसा के मानव शरीर तथा प्राणधारी जीव (एनिमल सोल) था, किंतु उनके बुद्धिसंपन्न आत्मा (रैशनल सोल) नहीं थी; ईश्वर का पुत्र मानवीय आत्मा का स्थान लेता था। कुस्तुनतुनिया की महासभा ने ३८१ ई० में अपोलिनारिस के विरुद्ध घोषित किया कि ईसा के वास्तविक मानव शरीर में एक बुद्धिसंपन्न वास्तविक मानवीय आत्मा विद्यमान थी।

(५) पाँचवीं शताब्दी में कुस्तुनतुनिया के बिशप नेस्तोरियस ने अवतारवाद संबंधी एक नई धारणा का प्रचार किया जिसके फलस्वरूप काथलिक गिरजे की तृतीय महासभा का आयोजन एफेसस में ४३१ ई० में हुआ था। नेस्तोरियस के अनुसार ईसा में दो व्यक्ति विद्यमान थे—एक मानव व्यक्ति जो पूर्ण मानवीय स्वभाव अर्थात् शरीर और आत्मा से संपन्न था और एक ईश्वरीय व्यक्ति (ईश्वर का पुत्र) जो ईश्वरीय स्वभाव से संपन्न था। अतः ईश्वर मनुष्य नहीं बना प्रत्युत उसने एक स्वतः पूर्ण मनुष्य में निवास किया है। एफेसस की महासभा ने नेस्तोरियस को पदच्युत किया तथा उनकी शिक्षा के विरोध में घोषित किया कि ईसा में केवल एक ही व्यक्ति अर्थात् ईश्वर का पुत्र विद्यमान है। अनादिकाल से ईश्वरीय स्वभाव से संपन्न होकर ईश्वर के पुत्र ने मानवीय स्वभाव (शरीर और आत्मा) को अपना लिया और इस प्रकार एक ही व्यक्ति में ईश्वरत्व तथा मनुष्यत्व दोनों का संयोग हुआ।

(६) नेस्तोरियस के मत के प्रतिक्रियास्वरूप कुछ विद्वानों ने ईसा में न केवल एक ही व्यक्ति प्रत्युत एक ही स्वभाव भी मान लिया है। इस वाद का नाम मोनोफिसितिस्म अर्थात् एकस्वभाववाद है; युतिकेस इसका प्रवर्तक माना जाता है। इस वाद के अनुसार अवतरित होने के पश्चात् ईसा का ईश्वरत्व तथा मनुष्यत्व दोनों इस प्रकार एक हो गए कि एक नया स्वभाव, एक नवीन तत्व उत्पन्न हुआ, जो न पूर्ण रूप से ईश्वरीय और न पूर्ण रूप से मानवीय था। दूसरों के अनुसार ईसा का मनुष्यत्व उनके ईश्वरत्व में पूर्णतया लीन हो गया जिससे ईसा में ईश्वरीय स्वभाव मात्र शेष रहा। इस एकस्वभाववाद के विरुद्ध चतुर्थ महासभा (कालसेदोन—४५१ ई०) ने परंपरागत अवतारवाद की पूर्ण रक्षा करते हुए ठहराया कि ईसा में ईश्वरत्व और मनुष्यत्व दोनों अक्षुण्ण और पृथक् हैं।

(७) बाद में एकस्वभाववाद का परिवर्तित रूप प्रचलित हुआ। यह नया वाद ईसा का ईश्वरत्व तथा मनुष्यत्व दोनों को स्वीकार करते हुए भी मानता था कि उनका मनुष्यत्व पूर्णतया निष्क्रिय था, यहाँ तक कि उनमें मानवीय इच्छाशक्ति का भी अभाव था। ईसा का समस्त कार्यकलाप उनकी ईश्वरीय इच्छाशक्ति से प्रेरित था। इस मत के विरोध में कुस्तुंतुनिया की एक नई महासभा ने ६८० ई० में ईसा का पूर्ण मनुष्यत्व प्रतिपादित करते हुए घोषित किया कि ईसा में ईश्वरीय इच्छाशक्ति तथा कार्यकलाप के अतिरिक्त एक मानवीय इच्छाशक्ति तथा कार्यकलाप का पृथक् अस्तित्व था।

(८) इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारंभिक अवतारवादी विश्वास की पूर्ण रक्षा करते हुए इसके सैद्धांतिक सूत्रीकरण का शताब्दियों तक विकास होता रहा। अंततोगत्वा यह माना गया कि ईश्वर के पुत्र ने पूर्णतया ईश्वर रहते हुए मनुष्यत्व अपना लिया है, अतः एक ही ईश्वरीय व्यक्ति में दो स्वभावों का—ईश्वरत्व और मनुष्यत्व का—संयोग हुआ। उनका मनुष्यत्व वास्तविक और पूर्ण था—एक ओर उनका शरीर और उसका सुख दुःख वास्तविक था, दूसरी ओर उनकी मानवीय आत्मा की अपनी बुद्धि तथा इच्छाशक्ति का पृथक् अस्तित्व और सक्रियता थी। ईसाई अवतारवाद को प्रायः इन्कार्नेशन कहा जाता है; वास्तव में यह ईश्वर द्वारा मनुष्यत्व का ग्रहण ही है, उसका मानव रूप में प्रादुर्भाव।

सं०ग्रं०—डब्ल्यू० ड्रम : क्रिस्टोलाजी (एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना); दि बिगिनिंग्ज ऑव क्रिश्चियानिटी, १९१६; एस० माइकेल : इनकार्नेशन (डिक्शनरी ऑव थियोलाजी कैथोलिन)। [का० बु०]

अवदान साहित्य

अवदान साहित्य बौद्धों का संस्कृत भाषा में निबद्ध चरितप्रधान साहित्य। 'अवदान' (प्राकृत अपदान) का अमरकोश के अनुसार अर्थ है—प्राचीन चरित, पुरातन वृत्त (अवदानं कर्मवृत्तं स्यात्)। 'अवदान' से तात्पर्य उन प्राचीन कथाओं से है जिनके द्वारा किसी व्यक्ति की गुणगरिमा तथा श्लाघनीय चरित्र का परिचय मिलता है। कालिदास ने इसी अर्थ में 'अवदान' शब्द का प्रयोग किया है (रघुवंश ११।२१)। बौद्ध साहित्य में इसी अर्थ में 'जातक' शब्द भी बहुशः प्रचलित है, परंतु अवदान जातक से कतिपय विषयों में भिन्न है। 'जातक' भगवान् बुद्ध की पूर्वजन्म की कथाओं से सर्वथा संबद्ध होते हैं जिनमें बुद्ध ही पूर्वजन्म में प्रधान पात्र के रूप में चित्रित किए गए रहते हैं। 'अवदान' में यह बात नहीं पाई जाती। अवदान प्रायः बुद्धोपासक व्यक्तिविशेष का आदर्श चरित होता है। बौद्धों ने जनसाधारण में अपने धर्म के तत्वों के प्रचार के निमित्त सुबोध संस्कृत गद्य पद्य में इस सुंदर साहित्य की रचना की है।

इस साहित्य का प्रख्यात ग्रंथ 'अवदानशतक' है जो दस वर्गों में विभक्त है तथा प्रत्येक वर्ग में दस दस कथाएँ हैं। इन कथाओं का रूप थेरवादी (हीनयानी) है। महायान धर्म के विशिष्ट लक्षणों का यहाँ विशेष अभाव दृष्टिगोचर होता है। यहाँ बोधिसत्व संप्रदाय की बातें बहुत कम हैं। बुद्ध की उपासना पर आग्रह करना ही इन कथाओं का उद्देश्य है। इन कथाओं का वर्गीकरण एक सिद्धांत के आधार पर किया गया है। प्रथम वर्ग की कथाओं में बुद्ध की उपासना करने से विभिन्न दशा के मनुष्यों (जैसे ब्राह्मण, व्यापारी, राजकन्या, सेठ आदि) के जीवन में चमत्कार उत्पन्न होता है तथा वे अगले जन्म में बुद्धत्व पाते हैं। प्रेत की वर्तमान दशा को देखकर कहीं उसके पूर्वजन्म का वर्णन है, तो कहीं अर्हत् बननेवाले व्यक्तियों के शुभ जीवन का रोचक विवरण। अवदानशतक का चीनी भाषा में अनुवाद तृतीय शताब्दी के पूर्वार्ध में हुआ था। फलतः इसका समय द्वितीय शताब्दी माना जाता है।

दिव्यावदान—महायानी सिद्धांतों पर आश्रित कथानकों का रोचक वर्णन इस लोकप्रिय ग्रंथ का प्रधान उद्देश्य है। इसका ३४वाँ प्रकरण 'महायानसूत्र' के नाम से अभिहित किया गया है। यह उल्लेख ग्रंथ के मौलिक सिद्धांतों की दिशा प्रदर्शित करने में उपयोगी माना जा सकता है। दिव्यावदान अवदानशतक के कथानक तथा काव्यशैली से विशेषतः प्रभावित हुआ है। इसकी आधी कथाएँ विनयपिटक से और बाकी सूत्रालंकार से संगृहीत की गई हैं। समग्र ग्रंथ का तो नहीं, परंतु कतिपय कथाओं का अनुवाद चीनी भाषा में तृतीय शतक में किया गया था। शुंग वंश के राजा पुष्यमित्र (१७८ ई० पू०) तक का उल्लेख यहाँ उपलब्ध होता है। फलतः इसके कतिपय अंशों का रचनाकाल द्वितीय शताब्दी मानना उचित होगा, परंतु समग्र ग्रंथ का भी निर्माणकाल तृतीय शताब्दी के बाद नहीं है।

अशोकावदान—दिव्यावदान के ही कतिपय अवदान (२६-२६ अवदान) महाराज प्रियदर्शी अशोक से संबद्ध होने के कारण 'अशोकावदान' के नाम से पुकारे जाते हैं। इन कथाओं का, जो ऐतिहासिक दृष्टि से नितांत महत्वपूर्ण हैं, केंद्रबिंदु प्रियदर्शी अशोक ही हैं जिनके व्यक्तिगत घरेलू जीवन, धार्मिक निष्ठा तथा धर्मप्रचार के अदम्य उत्साह की जानकारी के लिये ये कथाएँ अभिप्रेत हैं। इस अवदान में दो कथाएँ अपनी रोचकता के कारण विशेष महत्व रखती हैं। अशोक के पुत्र कुणाल की करुण कथा बौद्धयुग की रोमांचक कथाओं में बड़ी प्रख्यात है। बुद्ध का रूप धारण कर मार का आचार्य उपगुप्त से शिक्षा के लिये प्रार्थना करना भी बड़ा ही रोचक आख्यान है, नाटक के समान हृदयावर्जक है।

कालांतर में अवदानशतक की कथाओं का ही श्लोकबद्ध संक्षिप्त रूप अनेक ग्रंथों में मिलता है। 'अवदानशतक' के ऊपर आश्रित ग्रंथों में कल्पद्रुमावदानमाला प्राचीनतम प्रतीत होता है। इसकी प्रथम तथा अवदानशतक की अंतिम कथा एक ही है। आचार्य उपगुप्त ने इन कथाओं को अशोक के उपदेश के लिये कहा है। यहाँ अवदानशतक के प्रत्येक वर्ग की प्रथम तथा द्वितीय कथाओं का ही शब्दांतर से वर्णन है। रत्नावदानमाला में इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग की तीसरी और चौथी कथाओं का संक्षेप है। अशोकावदानमाला, द्वाविंशत्यवदान, भद्रकल्पावदान, व्रतावदानमाला, विचित्रकर्णिकावदान तथा सुमोगधावदान इस साहित्य के अन्य ग्रंथ हैं। काश्मीरी कवि क्षेमेंद्र (११वीं शताब्दी) रचित तथा उनके पुत्र सोमेंद्र द्वारा संपूरित अवदानकल्पलता इस साहित्य का सचमुच एक बहुमूल्य रत्न है जिसकी आभा तिब्बती अनुवाद में भी किसी प्रकार फीकी नहीं होने पाई है।

सं०ग्रं०—विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, भाग २, कलकत्ता १६३२; स्पेयर द्वारा संपादित अवदानशतक की भूमिका (सेंटपीटर्सबर्ग, १६०२-६); बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पंचम सं०, काशी १६५८। [ब० उ०]

अवध

उत्तर प्रदेश के एक भाग का नाम जो प्राचीन काल में कोशल कहलाता था। इसकी राजधानी अयोध्या थी (दे० अयोध्या)। अवध शब्द अयोध्या से ही निकला है। अवध की राजधानी प्रारंभ में फैजाबाद थी किंतु बाद को लखनऊ उठ आई थी। अवध पर नवाबों का आधिपत्य था जो प्रायः स्वतंत्र थे। क्योंकि अवध के नवाब शिया मुसलमान थे अतः अवध में इसलाम के इस संप्रदाय को विशेष संरक्षण मिला। लखनऊ उर्दू कविता का भी प्रसिद्ध केंद्र रहा। दिल्ली केंद्र के नष्ट होने पर बहुत से दिल्ली के भी प्रसिद्ध उर्दू कवि लखनऊ चले आए थे।

सन् १७६५ ई० में बक्सर की लड़ाई में अवध के नवाब हार गए, परंतु लार्ड क्लाइव ने अवध उनको लौटा दिया, केवल इलाहाबाद और कड़ा जिलों को क्लाइव ने मुगल सम्राट् शाहआलम को दे दिया। वारेन हेस्टिंग्स ने पीछे नवाब की सहायता करके रुहेलखंड को भी अवध में संमिलित करा दिया और शाह आलम से अप्रसन्न होकर इलाहाबाद और कड़ा को अवध के नवाब के सिपुर्द कर दिया। १७७५ ई० में अंग्रेजों ने अवध के नवाब से बनारस का जिला ले लिया और १८०१ में रुहेलखंड भी ले लिया। इस प्रकार अवध कभी बड़ा, कभी छोटा होता रहा।

१८५६ में अंग्रेजों ने अवध को अपने अधिकार में कर लिया। १८५७ के विद्रोह में अवध अंग्रेजों के हाथ से निकल गया था परंतु डेढ़ वर्ष की लड़ाई में अंतिम विजय अंग्रेजों की हुई। १६०२ में आगरा और अवध के प्रांतों को एक में मिलाकर नया प्रांत बनाया गया जिसका नाम आगरा और अवध का 'संयुक्त प्रांत' रखा गया, जिसे संक्षेप में 'संयुक्त प्रांत' अथवा अंग्रेजी में केवल 'यू० पी०' कहा जाता था। इसी प्रांत का नामकरण उत्तर प्रदेश हो गया है जिसे अंग्रेजी में लिखे नाम के आदि अक्षरों के आधार पर अब भी 'यू० पी०' कहा जाता है। (दे० उत्तर प्रदेश)

अवधिज्ञान

जैनसंमत आत्ममात्र सापेक्ष प्रत्यक्ष ज्ञान का एक प्रकार अवधिज्ञान है। परमाणुपर्यंतरूपी पदार्थ इस ज्ञान का विषय है। इसका विपर्यय विभंगज्ञान है। इसकी लब्धि जन्म से ही नारकों और देवों को होती है। अतएव उनका अवधिज्ञान भवप्रत्यय और शेष पंचेंद्रियतिर्यंच और मनुष्यों का क्षायोपशमिक अथवा गुण प्रत्यय है, अर्थात् तपस्या आदि गुणों के निमित्त से उन्हें प्राप्त होनेवाली यह एक ऋद्धि है। अणगार को उनके गुणों के अनुसार प्राप्त होनेवाले अवधिज्ञान के ये छः भेद हैं—आनुगामिक, अनानुगामिक, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित।

सं०ग्रं०—नंदीसूत्र का हिंदी अनुवाद, सूत्र ६ से; तत्वार्थसूत्र, अ० १, सू० २१-२४। [द० मा०]

अवधी भाषा तथा साहित्य

अवधी भाषा हिंदी क्षेत्रकी एक उपभाषा है। यह उत्तरप्रदेश में अवध के जिलों में तथा फतेहपुर, मिरजापुर, जौनपुर आदि कुछ अन्य जिलों में भी बोली जाती है। इसके अतिरिक्त इसकी एक शाखा बघेलखंड में बघेली नाम से प्रचलित है। अवध शब्द की व्युत्पत्ति 'अयोध्या' से है। इस नाम का एक सूबा मुगलों के राज्यकाल में था। तुलसीदास ने अपने 'मानस' में अयोध्या को अवधपुरी कहा है। इसी क्षेत्र का पुराना नाम कोसल भी था जिसकी महत्ता प्राचीन काल से चली आ रही है। गठन की दृष्टि से हिंदी क्षेत्र की उपभाषाओं को दो वर्गों—पश्चिमी और पूर्वी—में विभाजित किया जाता है। अवधी पूर्वी के अंतर्गत है। पूर्वी की दूसरी उपभाषा छत्तीसगढ़ी है। अवधी को कभी कभी बैसवाड़ी भी कहते हैं। परंतु बैसवाड़ी अवधी की एक बोली मात्र है जो उन्नाव, लखनऊ, रायबरेली और फतेहपुर जिले के कुछ भागों में बोली जाती है।

अवधी के पश्चिम में पश्चिमी वर्ग की बुंदेली और ब्रज का, दक्षिण में छत्तीसगढ़ी का और पूर्व में भोजपुरी बोली का क्षेत्र है। इसके उत्तर में नेपाल की तराई है जिसमें थारू आदि आदिवासियों की बस्तियाँ हैं जिनकी भाषा अवधी से बिलकुल अलग है।

हिंदी खड़ी बोली से अवधी की विभिन्नता मुख्य रूप से व्याकरणात्मक है। इसमें कर्ता कारक के परसर्ग (विभक्ति) 'ने' का नितांत अभाव है। अन्य परसर्गों के प्रायः दो रूप मिलते हैं— ह्रस्व और दीर्घ। (कर्म-संप्रदान-संबंध—क, का; करण-अपादान—स-त, से-ते; अधिकरण—म, मा)।

संज्ञाओं की खड़ी बोली की तरह दो विभक्तियाँ होती हैं—विकारी और अविकारी। अविकारी विभक्ति में संज्ञा का मूल रूप (राम, लरिका, बिटिया, मेहरारू) रहता है और विकारी में बहुवचन के लिये 'न' प्रत्यय जोड़ दिया जाता है (यथा रामन, लरिकन, बिटियन, मेहरारुन)। कर्ता और कर्म के अविकारी रूप में व्यंजनांत संज्ञाओं के अंत में कुछ बोलियों में एक ह्रस्व 'उ' की श्रुति होती है (यथा रामु, पूतु, चोरु)। किंतु निश्चय ही यह पूर्ण स्वर नहीं है और भाषाविज्ञानी इसे फुसफुसाहट का एक स्वर मानते हैं। इसी प्रकार के दो और फुसफुसाहट के स्वर— ह्रस्व 'इ' और ह्रस्व 'ए' (यथा साँझि, खानि, ठेलुआ, पेहँटा) मिलते हैं।

संज्ञाओं के बहुधा दो रूप ह्रस्व और दीर्घ (यथा नद्दी नदिया, घोड़ा घोड़वा, नाऊ नउआ, कुत्ता कुतवा) मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अवधी क्षेत्र के पूर्वी भाग में एक और रूप—दीर्घतर मिलता है (यथा कुतउना)। अवधी में कहीं कहीं खड़ी बोली का ह्रस्व रूप बिलकुल लुप्त हो गया है; यथा बिल्ली, डिब्बी आदि रूप नहीं मिलते बेलइया, डेबिया आदि ही प्रचलित हैं।

सर्वनाम में खड़ी बोली और ब्रज के 'मेरा तेरा' और 'मेरो तेरो' रूप के लिये अवधी में 'मोर तोर' रूप हैं। इनके अतिरिक्त पूर्वी अवधी में पश्चिमी अवधी के 'सो' 'जो' 'को' के समानांतर 'से' 'जे' 'के' रूप प्राप्त हैं।

क्रिया में भविष्यत्काल के रूपों की प्रक्रिया खड़ी बोली से बिलकुल भिन्न है। खड़ी बोली में प्रायः प्राचीन वर्तमान (लट्) के तद्भव रूपों में —गा-गी-गे जोड़कर (यथा होगा, होगी, होंगे आदि) रूप बनाए जाते हैं। ब्रज में भविष्यत् के रूप प्राचीन भविष्यत्काल (लट्) के रूपों पर आधारित हैं। (यथा होइहैं=भविष्यति, होइहौं=भविष्यामि)। अवधी में प्रायः भविष्यत् के रूप तव्यत् प्रत्ययांत प्राचीन रूपों पर आश्रित है (होइबा=भवितव्यम्)। अवधी की पश्चिमी बोलियों में केवल उत्तमपुरुष बहुवचन के रूप तव्यतांत रूपों पर निर्भर हैं। शेष ब्रज की तरह प्राचीन भविष्यत् पर। किंतु मध्यवर्ती और पूर्वी बोलियों में क्रमशः तव्यतांत रूपों की प्रचु-

रता बढ़ती गई है। क्रियार्थक संज्ञा के लिये खड़ी बोली में 'ना' प्रत्यय है (यथा होना, करना, चलना) और ब्रज में 'नो' (यथा होनो, करनो, चलनो)। परंतु अवधी में इसके लिये 'ब' प्रत्यय है (यथा होब, करब, चलब)। अवधी में निष्ठा एकवचन के रूप का 'वा' में अंत होता है (यथा भवा, गवा, खावा)। भोजपुरी में इसके स्थान पर 'ल' में अंत होनेवाले रूप मिलते है (यथा भइल, गइल)। अवधी का एक मुख्य भेदक लक्षण है अन्यपुरुष एकवचन की सकर्मक क्रिया के भूतकाल का रूप (यथा करिसि, खाइसि, मारिसि)। ये '–सि' में अंत होनेवाले रूप अवधी को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलते। अवधी की सहायक क्रिया के रूप 'ह' (यथा हइ, हईं), 'अह' (अहइ, अहई) और 'बाटइ' (यथा बाटइ, बाटईं) पर आधारित है।

ऊपर लिखे लक्षणों के अनुसार अवधी की बोलियों के तीन वर्ग माने गए हैं: पश्चिमी, मध्यवर्ती और पूर्वी। पश्चिमी बोली पर निकटता के कारण ब्रज का और पूर्वी पर भोजपुरी का प्रभाव है। इनके अतिरिक्त बघेली बोली का अपना अलग अस्तित्व है।

विकास की दृष्टि से अवधी का स्थान ब्रज और भोजपुरी के बीच में पड़ता है। ब्रज की व्युत्पत्ति निश्चय ही शौरसेनी से तथा भोजपुरी की मागधी प्राकृत से हुई है। अवधी की स्थिति इन दोनों के बीच में होने के कारण इसका अर्धमागधी से निकलना मानना उचित होगा। खेद है कि अर्धमागधी का हमें जो प्राचीनतम रूप मिलता है वह पाँचवीं शताब्दी ईसवी का है और उससे अवधी के रूप निकालने में कठिनाई होती है। पालि भाषा में बहुधा ऐसे रूप मिलते है जिनमे अवधी के रूपों का विकास सिद्ध किया जा सकता है। संभवतः ये रूप प्राचीन अर्धमागधी के भी रहे होंगे।

सं०ग्रं०—बाबूराम सक्सेना . इवल्यूशन ऑव अवधी।

[बा० रा० स०]

अवधी साहित्य

प्राचीन अवधी साहित्य की दो शाखाएँ हैं: एक भक्तिकाव्य और दूसरी प्रेमाख्यान काव्य। भक्तिकाव्य में गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरितमानस' (सं० १६३१) अवधी साहित्य की प्रमुख कृति है। इसकी भाषा संस्कृत शब्दावली से भरी है। 'रामचरितमानस' के अतिरिक्त तुलसीदास ने अन्य कई ग्रंथ अवधी में लिखे हैं। इसी भक्ति साहित्य के अंतर्गत लालदास का 'अवधबिलास' आता है। इसकी रचना संवत् १७०० में हुई। इनके अतिरिक्त कई और भक्त कवियों ने रामभक्ति विषयक ग्रंथ लिखे।

संत कवियों में बाबा मलूकदास भी अवधी क्षेत्र के थे। इनकी बानी का अधिकांश अवधी में है। इनके शिष्य बाबा मथुरादास की बानी भी अधिकतर अवधी में है। बाबा धरनीदास यद्यपि छपरा जिले के थे तथापि उनकी बानी अवधी में प्रकाशित हुई। कई अन्य संत कवियों ने भी अपने उपदेश के लिये अवधी को अपनाया है।

प्रेमाख्यान काव्य में सर्वप्रसिद्ध ग्रंथ मलिक मुहम्मद जायसी रचित 'पद्मावत' है जिसकी रचना 'रामचरितमानस' से चौंतीस वर्ष पूर्व हुई। दोहे चौपाई का जो क्रम 'पद्मावत' में है प्रायः वही 'मानस' में मिलता है। प्रेमाख्यान काव्य में मुसलमान लेखकों ने सूफी मत का रहस्य प्रकट किया है। इस काव्य की परंपरा कई सौ वर्षों तक चलती रही। मंझन की 'मधुमालती', उसमान की 'चित्रावली', आलम की 'माधवानल कामकंदला', नूरमुहम्मद की 'इंद्रावती' और शेख निसार की 'यसुफ जुलेखा' इसी परंपरा की रचनाएँ हैं। शब्दावली की दृष्टि से ये रचनाएँ हिंदू कवियों के ग्रंथों से इस बात में भिन्न हैं कि इनमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की उतनी प्रचुरता नहीं है।

प्राचीन अवधी साहित्य के अंतर्गत अकबर के दरबार के सुप्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानखाना 'रहिमन' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका एक ग्रंथ 'बरवै-नायिका-भेद' अवधी में है जिसकी भाषा अत्यंत मधुर और शृंगारभावोत्तेजक है।

आधुनिक अवधी साहित्य में अधिकतर रचनाएँ देशप्रेम, समाजसुधार आदि विषयों पर और मुख्य रूप से व्यंग्यात्मक हैं। कवियों में प्रतापनारायण मिश्र, बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस', वंशीधर शुक्ल, चंद्रभूषण द्विवेदी 'रमई काका' और शारदाप्रसाद 'भुशुंडि' विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रबंध की परंपरा में 'रामचरितमानस' के ढंग का एक महत्वपूर्ण आधुनिक ग्रंथ द्वारिकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' है। इसकी भाषा और शैली 'मानस' के ही समान है और ग्रंथकार ने कृष्णचरित प्रायः उसी तन्मयता और विस्तार से लिखा है जिस तन्मयता और विस्तार से तुलसीदास ने रामचरित अंकित किया है। मिश्र जी ने इस ग्रंथ की रचना द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि प्रबंध काव्य के लिये अवधी की प्रकृति आज भी वैसी ही उपादेय है जसी तुलसीदास के समय में थी।

सं०ग्रं०—बाबूराम सक्सेना, त्रि० ना० दीक्षित : अवधी और उसका साहित्य (दिल्ली)।

[बा० रा० स०]

अवधूत साधुओं का एक भेद। उ० खेवरा, सेवरा पारधी, सिव साधक, अवधूत। आसन मारे बैठ सब पाँच आत्मा भूत—जायसी। 'महानिर्वाणतंत्र' में प्रधानतः चार प्रकार के अवधूत कहे गए हैं: (१) 'ब्रह्मावधूत' जो किसी भी वर्ण का ब्रह्मोपासक हो और किसी भी आश्रम में हो; (२) 'शैवावधूत' जो विधिपूर्वक संन्यास ले चुका हो; (३) 'वीरावधूत' जिसके सिर के बाल दीर्घ तथा बिखरेहों, गले में हाड़ या रुद्राक्ष की माला पड़ी हो, कटि में कौपीन हो, शरीर पर भस्म या रक्तचंदन हो, हाथ में काष्ठदंड, परशु एवं डमरू हो और साथ में मृगचर्म हो; (४) 'कुलावधूत' जो कुलाचार में अभिषिक्त होकर भी गृहस्थाश्रम में रहे। वैष्णव संप्रदाय के अंतर्गत रामानंद के शिष्यों में भी अवधूत कहलानेवाले साधु पाए जाते हैं। इनके सिर पर बड़े बड़े बाल रहते है, गले में स्फटिक की माला रहती है और शरीर पर कंथा एवं हाथ में दरियाई खप्पर दीख पड़ते हैं। बंगाल में इनके पृथक् पृथक् अखाड़े है और इनमें सभी जातियों के लोग समाविष्ट होते है। भिक्षा के लिये जब ये गृहस्थों के द्वार पर जाते है तब 'बीर अवधूत' नाम का स्मरण करके एकतारा या अन्य वाद्ययंत्र बजाकर गाने लग जाते हैं। ये लोग प्रायः अव्यवस्थित रूप में ही रहा करते है। इन्हें बंगाल में कभी कभी बाउल नाम से भी अभिहित करते है जो सर्वथा इनसे भिन्न वर्ग के कुछ अन्य लोगों की ही वास्तविक संज्ञा है। नाथपंथ में अवधूत की स्थिति अत्यंत उच्च मानी जाती है और 'गोरक्ष-सिद्धांत-संग्रह' के अनुसार वह सभी प्रकार के प्रकृतिविकारों से रहित हुआ करता है। वह कैवल्य की उपलब्धि के लिये आत्मस्वरूप के अनुसंधान में निरत रहा करता है और उसकी अनुभूति निर्गुण एवं सगुण से परे की होती है। गुरु दत्तात्रेय को भी अवधूत कहा जाता है और दत्त संप्रदाय (अवधूत मत) में अवधूत मत को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। उसके मान्य ग्रंथ 'अवधूतगीता' में इसका पूर्ण विवेचन है। पश्चिमोत्तर प्रदेश में उन स्त्रियों को 'अवधूती' कहते हैं जो पुरुष संन्यासी के वेश में रहकर भस्म, रुद्राक्षादि धारण करती हैं तथा जो साधारणतः किसी गंगागिरि नाम की वैसी ही संन्यासिन या अवधूतनी की परंपरा की समझी जाती है। सुषुम्ना नाड़ी का भी एक नाम अवधूती है जिस कारण उसके मार्ग को भी अवधूती मार्ग या अवधूतिका का नाम दिया जाता है।

सं०ग्रं०—बँगला विश्वकोश, प्रथम खंड; उपासक संप्रदाय (द्वितीय-भाग), अभिधान राजेंद्र; कल्याणी मल्लिक : नाथसंप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओर साधनप्रणाली (कलकत्ता, १९५० ई०) मोकाशी : 'महाराष्ट्रांतील पाँच संप्रदाय' (पुणें, १९५४ ई०)।

[प० च०]

अवयव-अवयवी 'अवयव' का अर्थ है अंग और 'अवयवी' का अर्थ है अंगी। बौद्धों और नैयायिकों में इस विषय को लेकर गहरा मतभेद चलता है। बौद्धों के मत में द्रव्य (घट आदि) अपने उत्पादक परमाणुओं का समूहमात्र है अर्थात् वह अवयवों का पुंज है। न्याय मत में अवयवों से उत्पन्न होनेवाला अवयवी एक स्वतंत्र पदार्थ है, अवयवों का संघात मात्र नहीं। बौद्धों की मान्यता है कि परमाणुपुंज होने पर घट को प्रत्यक्ष असिद्ध नहीं माना जा सकता। अकेला परमाणु अप्रत्यक्ष भले ही हो, परंतु उसका समूह कथमपि अप्रत्यक्ष नहीं हो सकता। जैसे दूर पर स्थित एक केश भले ही प्रत्यक्ष न हो, परंतु जब केशों का समूह हमारे नेत्रों के सामने प्रस्तुत होता है, तब उसका प्रत्यक्ष अवश्यमेव सिद्ध है। व्यवहार में इसका प्रत्यक्ष दृष्टांत मिलता है। न्याय इसका जोरदार खंडन करता है। उसकी युक्ति है कि केश और परमाणु को हम एक कोटि में

नहीं रख सकते। परमाणु अतींद्रिय है इसलिये उसका संघात भी उसी प्रकार अतींद्रिय अतएव प्रत्यक्ष के अयोग्य है। केश तो अतींद्रिय नहीं है, क्योंकि समीप लाने पर एक केश का भी प्रत्यक्ष हो सकता है। अदृश्य परमाणुपुंज से दृश्य परमाणुपुंज का उदय मानना भी एकदम युक्तिहीन है, क्योंकि अदृश्य दृश्य का उत्पादक कभी नहीं हो सकता। इस प्रकार यदि घड़ा परमाणुओं अर्थात् अवयवों का ही समूह होता (जैसा बौद्ध मानते हैं), तो उसका प्रत्यक्ष कभी हो ही नहीं सकता। परंतु घट का प्रत्यक्ष तो होता ही है। अतएव अवयवों से भिन्न तथा स्वतंत्र अवयवी का अस्तित्व मानना ही युक्तियुक्त मत है। [ब० उ०]

अवर प्रवालादि युग पुराकल्प जिन छः युगों में विभक्त किया गया है उनमें से दूसरे प्राचीनतम युग को अवर प्रवालादि युग कहते हैं। इसी को अंग्रेजी में ऑर्डोवीशियन पीरियड कहते हैं। सन् १८७९ ई० में लैपवर्थ महोदय ने इस अवर प्रवालादि युग का प्रतिपादन करके मरचीसन तथा सेजविक महोदयों के बीच प्रवालादि (साइल्यूरियन) और त्रिखंड (कैंब्रियन) युगों की सीमा के विषय में चल रहे प्रतिद्वंद्व को समाप्त कर दिया। इस युग के प्रस्तरों का सर्वप्रथम अध्ययन वेल्स प्रांत में किया गया था और ऑर्डोवीशियन नाम वहाँ बसनेवाली प्राचीन जाति ऑर्डोविशाई पर पड़ा है।

भारतवर्ष में इस युग के स्तर बिरले स्थानों में ही मिलते हैं। दक्षिण भारत में इस युग का कोई स्तर नहीं है। हिमालय में जो स्तर मिलते हैं, वे भी केवल कुछ ही स्थानों में सीमित हैं, यथा स्पिटी, कुमाऊँ, गढ़वाल और नेपाल। विश्व के अन्य भागों में इस युग के प्रस्तर अधिक मिलते हैं।

ऑर्डोवीशियन युग के प्राणियों के अवशेष कैंब्रियन युग के सदृश हैं। इस युग के प्रस्तरों में ग्रैप्टोलाइट नामक जीवों के अवशेषों की प्रचुरता है। ट्राइलोबाइट और ब्रैकियोपॉड जीवों के अवशेष भी अधिक मात्रा में मिलते हैं। कशेरुदंडी जीवों में मछली का प्रादुर्भाव इसी युग में हुआ। अमरीका के बिग हॉर्न पर्वत और ब्लक पर्वत के ऑर्डोवीशियन बालुकाश्मों में प्राथमिक मछलियों के अवशेष पाए गए हैं। [रा० ना०]

अवलोकितेश्वर महायान बौद्ध ग्रंथ सद्धर्मपुंडरीक में अवलोकितेश्वर बोधिसत्व के माहात्म्य का चमत्कारपूर्ण वर्णन मिलता है। अनंत करुणा के अवतार बोधिसत्व अवलोकितेश्वर का व्रत है कि बिना संसार के अनंत प्राणियों का उद्धार किए वे स्वयं निर्वाणलाभ नहीं करेंगे। जब चीनी यात्री फाहियान ३९९ ई० में भारत आया था तब उसने सभी जगह अवलोकितेश्वर की पूजा होते देखा।

भगवान् बुद्ध ने बराबर अपने को मानव के रूप में प्रकट किया और लोगों को प्रेरित किया कि वे उन्हीं के मार्ग का अनुसरण करें। किंतु उसपर भी ब्राह्मणधर्म की छाप पड़े बिना नहीं रही। बोधिसत्व अवलोकितेश्वर की कल्पना उसी का परिणाम है। ब्रह्मा के समान ही अवलोकितेश्वर के विषय में लिखा है :

'अवलोकितेश्वर की आँखों से सूरज और चाँद, भ्रू से महेश्वर, स्कंधों से देवगण, हृदय से नारायण, दाँतों से सरस्वती, मुख से वायु, पैरों से पृथ्वी और उदर से वरुण उत्पन्न हुए।' अवलोकितेश्वरों में महत्वपूर्ण सिंहनाद की उत्तर मध्यकालीन (ल० ११वीं सदी) असाधारण सुंदर प्रस्तरमूर्ति लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित है। [भि० ज० का०]

अवसाद शैल वायु, जल और हिम के चिरंतन आघातों से पूर्वस्थित शैलों का निरंतर अपक्षय एवं विदारण होता रहता है। इस प्रकार के अपक्षरण से उपलब्ध पदार्थ कंकड़, पत्थर, रेत, मिट्टी इत्यादि, जलधाराओं, वायु या हिमनदों द्वारा परिवाहित होकर प्रायः निचले प्रदेशों, सागर, झील अथवा नदी की घाटियों में एकत्र हो जाते हैं। कालांतर में संघनित होकर वे स्तरीभूत हो जाते हैं। इन स्तरीभूत शैलों को अवसाद शैल (सेडिमेंटरी रॉक्स) कहते हैं।

अवसाद शैलों के प्रकार—अवसाद शैलों का निर्माण तीन प्रकार से होता है। पहले प्रकार के शैलों का निर्माण विभिन्न खनिजों और शिलाखंडों के भौतिक कारणों से टूटकर इकट्ठा होने से होता है। विभिन्न प्राकृतिक आघातों से विदीर्ण रेत एवं मिट्टी नदियों या वायु के झोंकों द्वारा परिवाहित होकर उपयुक्त स्थलों में एकत्र हो जाती है और पहली प्रकार की शिलाओं को जन्म देती है। ऐसी शिलाओं को व्यपघर्षण (डेट्राइटल) या एपिक्लास्टिक शैल कहते हैं। बलुआ पत्थर या शैल इसी प्रकार की शिलाएँ हैं। दूसरे प्रकार के शैल जल में घुले पदार्थों के रासायनिक निस्सादन (प्रेसिपिटेशन) से निर्मित होते हैं। निस्सादन दो प्रकार से होता है, या तो जल में घुले पदार्थों की पारस्परिक प्रतिक्रियाओं से या जल के वाष्पीकरण से। ऐसी शिलाओं को रासायनिक शैल कहते हैं। विभिन्न कार्बोनेट, जैसे चूने का पत्थर, डोलोमाइट आदि फास्फेट एवं विविध लवण इसी वर्ग में आते हैं। तीसरे प्रकार के शैलों के विकास में जीवों का हाथ है। मृत्यु के उपरांत प्रवाल (मूँगा), शैवाल (ऐल्जी), खोलधारी जलचर, युक्ताप्य (डाइऐटोम) आदि के कठोर अवशेष एकत्रित होकर शैलों का निर्माण करते हैं। मृत वनस्पतियों के संचयन से कोयला इसी प्रकार बना है। रासायनिक शिलाओं के निर्माण में जीवाणुओं का सहयोग उल्लेखनीय है। सूक्ष्म जीवाणुओं की उत्प्रेरणाओं से जल में घुले पदार्थों का निस्सादन तीव्र हो जाता है।

इतिहास—अवसाद शैलों के इतिहास में अवयवों के उद्गमस्थान, उनका परिवहन, संचयन और स्तरीभवन महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। किसी अवसाद शैल की खनिजसंरचना उस पूर्वस्थित शैल की संरचना पर निर्भर रहती है जिसके अपक्षय से वह निर्मित हुआ है। उदाहरण के लिये, बिहार के कोयला उत्पादक क्षेत्र में गहराई पर पाए जानेवाले बलुआ पत्थरों के जनक शैल हैं पुरातन 'ग्रेनाइट' एवं 'नाइस', जिनकी संरचना के अभिन्न और आवश्यक संघटक हैं 'क्वार्ट्ज़' एवं 'फ़ेल्सपार'। उपर्युक्त बलुआ पत्थर में भी इन दो खनिजों की प्रचुरता है। यहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि जनक शैल और अवसाद शैल की खनिजसंरचना में पूर्ण सादृश्य होता है। वस्तुतः ऋतुक्षरण एवं परिवहन की अवधि में वे ही खनिज बच पाते हैं जिनकी आंतरिक रचना सुदृढ़ होती है और कलेवर कठोर होता है। अधिक गर्मी और वर्षावाले प्रदेशों में रासायनिक क्रियाओं की उग्रता के कारण बहुत कम खनिज अपरिवर्तित रह पाते हैं; अतः मूल जनक शैल एवं अवसाद शैल में केवल दूरस्थ सादृश्य ही होगा।

परिवहन की अवधि में कणों का यांत्रिक (मिकैनिकल) घर्षण पर्याप्त प्रखर होता है। फलतः कणों का परिमाण छोटा और आकार गोल हो जाता है। कणों की गोलाई से अवसादों की यात्रा की लंबाई का अच्छा पता लगता है। अवसादों के निर्माण में पृथक्करण (सॉर्टिंग) एक महत्वपूर्ण कार्य है। इस पृथक्करण का आधार कणों का परिमाण एवं उनका घनत्व रहता है। फलस्वरूप छोटे छोटे कण एक साथ एकत्र होते हैं और बड़े बड़े कण उनसे अलग। यह पृथक्करण परिवहन की अवधि में ही कार्यान्वित होता रहता है और इस क्रिया में परिवहन के साधन जल या वायु या हिम का महत्व स्वाभाविक रूप से सर्वाधिक होता है। पृथक्करण एवं घर्षण की सामर्थ्य में वायु का स्थान प्रथम, जल का द्वितीय और हिम का तृतीय है।

अवसादों के संचयन का सर्वाधिक विस्तृत एवं स्थायी क्षेत्र है सागर। सागर के अतिरिक्त झील, दलदल, नदियों की घाटियों और उनके बाढ़ग्रस्त मैदान आदि भी संचयन के क्षेत्र हैं, किंतु ये अस्थायी होते हैं। पूर्णतः रासायनिक एवं जैविक अवसादन केवल ऐसे वातावरण में होते हैं जहाँ जल गँदला न हो। उष्ण एवं उथले सागरों में रासायनिक निस्सादन अपेक्षाकृत तीव्र होता है। ऐसी बंद खाड़ियों में जहाँ जल का वाष्पीकरण उग्र रूप में होता है, लवणों के निक्षेप निर्मित होते हैं।

अवसाद शैल और जीवाश्म : अवसाद शैलों में प्रायः जीवों के अवशेष समाधिस्थ रहते हैं। उनसे न केवल तत्कालीन वातावरण का ज्ञान होता है, अपितु वे शैलों की आयु के भी परिचायक होते हैं। त्रिखंडी (ट्राइलोबाइट), केकड़े के पुरातन पूर्वज, शीर्षपादा (सेफ़ालोपोडा) और कुछ सीप (पेलेसिपोडा) आदि सर्वदा सामुद्रिक वातावरण के द्योतक हैं। कुछ प्रकार के घोंघे (गैस्ट्रोपॉड), कुछ पादछिद्रिगण (फ़ोरामिनिफ़ेरा) मीठे पानीवाले असामुद्रिक वातावरण के परिचायक हैं।

कुछ विशिष्ट खनिजों की उपस्थिति भी बड़ी महत्वपूर्ण होती है। उदाहरणस्वरूप हरे रंग के खनिज आहरितिज (ग्लॉकोनाइट) से गहरे पानी में शैल के उद्भव का संकेत मिलता है। शैलों का लाल रंग लोहे के

आक्साइड के कारण होता है। यह रंग शुष्क मरुस्थलीय वातावरण का सूचक है।

अवसाद शैल एवं अयस्क निक्षेप—कोयला, ऐल्यूमिनियम का अयस्क बाक्साइट, लोहे का अयस्क लैटेराइट, नमक, जिप्सम, फास्फेट, मैगनेसाइट, सीमेंट का अयस्क, चूने का पत्थर, इत्यादि कई महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ अवसाद शैलों में उपलब्ध होते हैं। [र० चं० मि०]

अवाप्ति (अटेनमेंट) विज्ञान की प्रगति से शिक्षाप्रणाली में भी नवीन विचारधाराओं का जन्म हुआ है। इसमें परीक्षा संबंधी परिवर्तन उल्लेखनीय है। वैज्ञानिकों की धारणा रही है कि लेखपरीक्षा द्वारा हम परीक्षार्थी के उन गुणों तथा वस्तुओं को नापते हैं जिन्हें नापना हमारा ध्येय होता है। इसके अतिरिक्त इस परीक्षा में परीक्षक की निजी भावनाएँ अंक प्रदान करने में विशेष कार्य करती है। इन दोनों से रक्षा करने के लिये यह उचित समझा गया कि विषयनिष्ठ परीक्षा ही परीक्षार्थी के मूल्यांकन में सहायक हो सकेगी। इस विचारधारा के फलस्वरूप अमरीका में ई० एल० थार्नडाइक ने सर्वप्रथम अवाप्ति परीक्षा (अटेनमेंट टेस्ट) के पक्ष में १९०४ में एक पुस्तक लिखी। उसके पश्चात् भिन्न भिन्न देशों के शिक्षाविदों ने भी अपने देश में इसका प्रचार किया। उन लोगों का विचार है कि प्रमाणित परीक्षा के लिये अवाप्तिपरीक्षा एक मुख्य साधन है। इस प्रकार की कुछ परीक्षाएँ अध्याय के द्वारा अपने विषय के ज्ञान को नापने के लिये बनाई जाती हैं तथा कुछ विषयनिष्ठ परीक्षाएँ प्रमाणीकृत की जाती हैं और उनके द्वारा एक क्षेत्र के परीक्षार्थियों की योग्यता तुलनात्मक रूप में आसानी से नापी जा सकती है। अवाप्ति परीक्षा बनाने के पहले परीक्षक को यह स्वयं समझ लेना चाहिये कि वह किस वस्तु को नापना चाहता है। उसे यह भी जान लेना है कि अवाप्तिपरीक्षा परीक्षार्थी के अर्जित ज्ञान को ही नापती है। अवाप्तिपरीक्षा बनाने में आइटम के चुनाव में विशेष ध्यान देना चाहिए। इन्हीं के ऊपर उस परीक्षा की मान्यता निर्भर करती है। किस तरह के आइटम होने चाहिए इसका ज्ञान 'शैक्षिक संख्याशास्त्र' (एजुकेशनल स्टटिस्टिक्स) से पूर्ण परिचय होने पर ही हो सकता है। आजकल हमारे देश में इस दिशा में कार्य हो रहा है और आॅल इंडिया कौंसिल फॉर सेकंडरी एजुकेशन ने विदेशी विशेषज्ञों द्वारा अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिये सुविधाएँ दी हैं। [शं० ना० उ०]

अवेस्ता जिस भाषा के माध्यम का आश्रय लेकर ज़रथुस्त्र धर्म का विशाल साहित्य निर्मित हुआ है उसे 'अवेस्ता' कहते हैं। अवेस्ता या 'ज़ेंद अवेस्ता' नाम से भी धार्मिक भाषा और धर्मग्रंथों का बोध होता है। उपलब्ध साहित्य मे इसका प्रमाण नहीं मिलता कि पैगंबर अथवा उनके समकालीन अनुयायियों के लेखन अथवा बोलचाल की भाषा का नाम क्या था। परंतु परंपरा से यह सिद्ध है कि उस भाषा और साहित्य का भी नाम 'अविस्तक' था। अनुमान है कि इस शब्द के मूल में 'विद्' (जानना) धातु है जिसका अभिप्राय ज्ञान अथवा बुद्धि है।

बहुत प्राचीन काल में आर्य जाति अपने प्राचीन आवास 'आर्य वजेह' (आर्यों की आदिभूमि) में रहा करती थी जो सुदूर उत्तरी प्रदेश में अवस्थित था 'जहाँ का वर्ष एक दिन के बराबर' होता था। उस स्थान को निश्चयात्मक रूप से बतला पाना कठिन है। बाल गंगाधर तिलक ने अपने ग्रंथ 'दि आर्कटिक होम' में इस भूमि को उत्तरी ध्रुव प्रदेश में बतलाया है जहाँ से आर्यों ने पामीर की श्रृंखला में प्रवास किया। बहुत समय पर्यंत एक सुगठित जन के रूप में वे एक स्थान में रहे, एक ही भाषा बोलते, विश्वासों, रीतियों और परंपराओं का समान रूप से पालन करते रहे। जनसंख्या में वृद्धि तथा उत्तरी प्रदेश के शीत तथा अन्य कारणों ने उनकी श्रृंखला छिन्न भिन्न कर दी। आर्यजन के विविध कुलों में दो कुलों के लोग, जो आगे चलकर भारतीय (इंडियन) और ईरानी शाखाओं के नाम से विख्यात हुए, पूर्वी ईरान में दीर्घ काल तक और निकटतम संपर्क में रहे। आगे चलकर एक जत्थे ने हिंदूकुश की पर्वतमाला पारकर पंजाब में लगभग २००० ई० पू० प्रवेश किया। शेष जन आर्यों की आदिभूमि की परंपरा का निर्वाह करते हुए ईरान में ही रह गए। अवेस्ता, विशेषत: अवेस्ता के गाथासाहित्य और वैदिक संस्कृत में निकटतम समानता वर्तमान है। भेद केवल ध्वन्यात्मक (फ़ोनेटिक) और निरुक्तगत (लेक्सिकांग्राफ़िकल) है। दो बहन भाषाओं के व्याकरण और रचना-क्रम (सिंटैक्स) में भी निकट साम्य है।

ईरान और भारत दोनों ही देशों में लेखन के आविष्कार के पूर्व मौखिक परंपरा विद्यमान थी। अवेस्ता ग्रंथों में मौखिक शब्दों, छंदों, स्वरों, भाष्यों एवं प्रश्नों और उत्तरों का उल्लेख हुआ है। एक ग्रंथ (यस्न, २९.८) में अहुरमज़्द अपने संदेशवाहक ज़रथुस्त्र को वाणी की संपत्ति प्रदान करते हैं क्योंकि 'मानव जाति में केवल उन्होंने ही दैवी संदेश प्राप्त किया था जिसे उन्हें मानवों के बीच ले जाना था।' ज्ञान के देवता ने 'उन्हें सच्चा 'अथ्रवन' (पुरोहित) कहा है जो सारी रात ध्यानावस्थित रहकर और अध्ययन में समय बिताकर सीखे गए पाठ को जनता के बीच ले जाते हैं।' प्राचीन भारत के ब्राह्मणों की तरह अथ्रवन ही प्राचीन ईरान में शिक्षा तथा धर्मोपदेश के एक मात्र अधिकारी समझे जाते थे। इन पुरोहितों में वंशानुगत रूप से धर्मग्रंथों की मौखिक परंपरा चली आया करती थी।

पैगंबर के स्तवन—"गाथाएँ" गाथा में, जो बोलचाल की भाषा थी, पाए जाते हैं और जनश्रुति तथा शास्त्रीय साहित्य के अनुसार ज़रथुस्त्र को अनेक ग्रंथों का रचयिता बतलाया जाता है। अरब इतिहासकारों का कथन है कि ये ग्रंथ १२००० गाय के चर्मों पर अंकित थे। प्राचीन ईरानी तथा आधुनिक पारसी लेखकों के अनुसार पैगंबर न इक्कीस 'नस्क' अथवा ग्रंथ लिखे थे। ऐसा कहा जाता है कि सम्राट् विश्तास्प ने दो यथातथ्य अनुलेख इन ग्रंथों का कराकर दो पुस्तकालयों में संगृहीत किया था। एक अनुलेखवाली सामग्री अग्नि में भस्म हो गई जब पर्सीपोलिस का राजप्रासाद सिकंदर ने जला दिया और दूसरी अनुलेख की सामग्री साहित्यिक विवरणों के आधार पर विजेता सैनिक अपने देश को लेते गए जहाँ उसका अनुवाद यूनानी भाषा में हुआ। प्रारंभिक ससानी काल में संग्रहीत ये बिखरे हुए ग्रंथ फिर सातवीं शती में ईरानी साम्राज्य के ह्रास के कारण विलुप्त होकर कुल साहित्य वर्तमान समय में केवल लगभग ८३,००० पद्यों में उपलब्ध रह गया है जब कि मौलिक पद्यों की संख्या २०,००,००० थी, जिसके बारे में प्लिनी का कथन है कि महान् दार्शनिक हर्मिप्पस ने ईसा की शताब्दी के प्रारंभ से तीन शती पूर्व अध्ययन कर डाला था।

अवेस्ता भाषा का धीरे धीरे अखामनी साम्राज्य के ह्रास के कारण उत्पन्न हुए ईरान में उथल पुथल के कारण ह्रास प्रारंभ हो गया। जब उसका प्रचार बिलकुल लुप्त हो गया, अवेस्ता ग्रंथों के अनुवाद और भाष्य 'पहलवी' भाषा में प्रस्तुत किए जाने लगे। इस भाषा की उत्पत्ति इसी काल में हुई जो ससानीयों की राजभाषा बन गई। उन भाष्यों को पहलवी में ज़ेंद कहा जाता है और व्याख्याएँ अब 'अवेस्तक-उ-ज़ेंद' अथवा अवेस्ता तथा उसके भाष्य के नाम से विख्यात है। विपर्यय से इसी को 'ज़ेन्द-अवेस्ता' कहा गया। अनुमान किया गया है कि धार्मिक विषयों पर रचित पहलवी ग्रंथ, जो विनाश से बच रहे उनकी शब्दसंख्या ४४,६०,०० के लगभग होगी।

पहलवी का प्रचार आधुनिक पारसी वर्णमाला के प्रारंभ से बिलकुल कम हो गया। उसका लिखित स्वरूप आर्य एवं सामी बनावट का मिश्रण था। सामी शब्दों को हटाकर उनके स्थानों में उनका ईरानी पर्यायवाची शब्द रखकर उसका साधारणीकरण किया गया था। कालांतर में पहलवी ग्रंथों को जब समझाने की आवश्यकता का अनुभव किया गया, हुज़वर शब्दों को हटाकर उनके स्थान पर ईरानी पर्यायवाची रखकर दुरूह पहलवी भाषा भी सीधी बनाई गई। अपेक्षाकृत सरल की गई भाषा और आगे रचित भाष्य एवं व्याख्याएँ 'पज़ंद' (अवेस्ता की पैंती—ज़ैंती) के नाम से विख्यात हुई। पज़ंद के ग्रंथ अवेस्ता वर्ण-मालाओं में अंकित हुए जिस प्रकार ईरान में अरबी वर्णमाला के साथ पहलवी लिपि का ह्रास हुआ।

पज़ंद भाषा ही आगे चलकर पहलवी तथा आधुनिक फारसी के बीच की कड़ी बनी। अंतिम ज़रथुस्त्र साम्राज्य के ह्रास के अनंतर विजेताओं की अरबी लिपि ने अवेस्ता की पहलवी लिपि को उत्क्षिप्त कर दिया। अरबी अक्षर आधुनिक फारसी वर्णमाला के अक्षर मान लिए गए जिसका प्रचार

हुआ। ग्रंथरचना जब अवेस्ता में होती थी उसे 'पजंद' कहते थे और जब पुस्तक अरबी अक्षरों में लिपिबद्ध होने लगी उसे 'पारसी' कहने लग गए।

अवेस्ता के ग्रंथ जो पैगंबर के अनुयायियों के पास अवशिष्ट हैं अपने सामी रूप में पाए जाते हैं। वे ऐसे अक्षरों में मिलते हैं जो ससानी पहलवी से लिए गए हैं जिसका मूल आधार संभवतः प्राचीन अरमेक वर्णमाला का कोई न कोई प्रकार है। यह लिपि दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती है और इसमें प्रायः पचास भिन्न चिह्नों (Signs) का समावेश पाया जाता है।

जरथुस्त्र मतावलंबी ईरान लगभग पाँच शती पर्यंत सिल्यूसिड और पार्थियन शासनों के अंतर्गत रहा। धार्मिक ग्रंथों की मौखिक वंशक्रमानुगत परंपरा ने लुप्तप्राय ग्रंथों के पुनरुद्धार के कार्य को सरल कर दिया। ससानी साम्राज्य के संस्थापक अर्देशिर ने विद्वान् पुरोहित तनसर के बिखरे हुए सूत्रों को, जो मौखिक रूप से प्रचलित थे, एक प्रामाणिक संग्रह में निबद्ध करने का आदेश किया था। ग्रंथों की खोज शापुर द्वितीय (३०९–३७९ ई०) के राजत्वकाल पर्यंत होती रही जिसमें प्रसिद्ध दस्तूर अदरबाद महरस्पंद की सहायता सराहनीय है। [रु० म०]

अवेस्ता साहित्य—अवेस्ता युग की रचनाओं में प्रारंभ से लेकर २०० ई० तक तिथिक्रम से आनेवाली सर्वप्रथम रचनाएँ 'गाथाएँ' हैं जिनकी संख्या पाँच है। अवेस्ता साहित्य के वे ही मूल ग्रंथ हैं जो पैगंबर के भक्तिसूत्र हैं और जिनमें उनका मानव का तथा ऐतिहासिक रूप प्रतिबिंबित है, न कि काल्पनिक व्यक्ति का, जैसा कि बाद के कुछ लेखकों ने अपने अज्ञान के कारण उन्हें अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है। उनकी भाषा बाद के साहित्य की अपेक्षा अधिक आर्ष है और उससे वाक्यविन्यास (सिंटैक्स), शैली एवं छंद में भी भिन्न है क्योंकि उनकी रचना का काल विद्वानों ने प्राचीनतम वैदिक मंत्रों की रचना का समय निर्धारित किया है। नपे तुले स्वरों में रचे होने के कारण वे सस्वर पाठ के लिये ही हैं। उनमें न केवल गूढ़ आध्यात्मिक रहस्यानुभूतियाँ वर्तमान हैं, वे विषयप्रधान ही न होकर व्यक्तिप्रधान भी हैं जिनमें पैगंबर के व्यक्तित्व की विशेष रूप से चर्चा की गई है, उनके ईश्वर के साथ तादात्म्य स्थापित करने और उस विशेष अवस्था के परिज्ञान के लिये वांछनीय आशा, निराशा, हर्ष, विषाद, भय, उत्साह तथा अपने मतानुयायियों के प्रति स्नेह और शत्रुओं से संघर्ष आदि भावों का भी समावेश पाया जाता है। यद्यपि पृथ्वी पर मनुष्य का जीवन वासना से घिरा हुआ है, पैगंबर ने इस प्रकार शिक्षा दी है कि यदि मनुष्य वासना का निरोध कर सात्विक जीवन व्यतीत करे तो उसका कल्याण अवश्यंभावी है।

गाथाओं के बाद 'यस्न' आते हैं जिनमें ७२ अध्याय हैं जो 'कुश्ती' के ७२ सूत्रों के प्रतीक हैं। कुश्ती कमरबंद के रूप में बुनी जाती है जिसे प्रत्येक जरथुस्त्र मतावलंबी 'सूद्र' अथवा पवित्र कुर्ता के साथ धारण करता है जो धर्म का बाह्य प्रतीक है। यस्न उत्सव के अवसर पर पूजा संबंधी 'विस्पारद' नामक तेईस अध्याय का ग्रंथ पढ़ा जाता है। इसके बाद संख्या में तेईस 'यश्तों' का संगायन किया जाता है जो स्तुति के गान हैं और जिनके विषय अहुरमज्द तथा अमेष–स्पेंत, जो दैवी ज्ञान एवं ईश्वर के विशेषण हैं और 'यजता', पूज्य व्यक्ति जिनका स्थान अमेष स्पेंत के बाद हैं।

अवेस्ता काल के धार्मिक ग्रंथों की सूची में अंत में वेंदीडाड', 'विदेवो दाता' (राक्षसों के विरुद्ध कानून) का उल्लेख हुआ है। यह कानून विषयक एक धर्मपुस्तक है जिसमें बाईस 'फरगरद' या अध्याय हैं। इसके प्रधान वर्ण्य विषय इस तरह हैं—अहुरमज्द की रचना तथा अंग्र मैन्यु की प्रतिरचनाएँ, कृषि, समय, शपथ, युद्ध, वासना, अपवित्रता, शुद्धि एवं दाहसंस्कार।

प्राचीन पारसी रचनाकाल (८०० ई० पू० से लगभग २०० ई०) के बीच लिखित साहित्य का सर्वथा अभाव था। उस समय केवल कीलाक्षर क्यूनीफ़ॉर्म अभिलेख भर थे जिनमें हखामनी सम्राटों ने अपने आदेश अंकित कर रखे थे। उनकी भाषा अवेस्ता से मिलती है, परंतु लिपि से बाबुली और असीरियन उत्पत्ति का अनुमान होता है।

पहलवी युग (ईसा की प्रथम शती से लेकर ९वीं शती तक) में कई प्रसिद्ध पुस्तकें लिखी गईं जैसे 'बुंदहिश्न' जिसमें सृष्टि की उत्पत्ति दी हुई है, 'दिनकर्द' जिसमें बहुत से नैतिक और सामाजिक प्रश्नों की मीमांसा की गई है, 'शायस्त–ल–शायस्त' जो सामाजिक और धार्मिक रीतियों एवं संस्कारों का वर्णन करता है, 'श्कंद–गुमानिक विजर' (संदेहनिवारणार्थक मंजूषा) जिसमें वासना की उत्पत्ति की समस्या का विवेचन किया गया है तथा 'सद दर' जिसमें विविध धार्मिक और सामाजिक प्रश्नों की व्याख्या की गई है।

आधुनिक पारसी वर्णमाला के आविष्कार से पहलवी का प्रचार लुप्त हो गया। जरथुस्त्र मत के ग्रंथ भी अब प्रायः आधुनिक फारसी में लिखे जाने लग गए। [रु० म०]

अशांती अफ्रीका में गोल्डकोस्ट राज्य का एक प्रशासकीय विभाग है (क्षेत्रफल २४,५६० वर्गमील)। इसका अधिकांश पर्वतीय है और जंगलों से ढका है। साल के अधिकांश महीनों में पानी पर्याप्त बरसता है। जलवायु स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है। बबूल, ताड़, तथा कपास के पर्याप्त वृक्ष हैं। यहाँ की मुख्य फसलें मक्का, केला, नारियल तथा सकरकंद हैं। यहाँ कण के रूप में प्रतिवर्ष १,००,००० आउंस सोना निकाला जाता है। अँगरेजों ने १८९६ ई० में यहाँ अपना शासन स्थापित किया, किंतु १९३५ में यहाँ एक स्वतंत्र सांघिक राज्य की स्थापना हुई। यहाँ की जनसंख्या ८,१८,९४४ है (१९४८)। [हि० ह० सिं०]

अशोक यह प्राचीन भारत के मौर्यवंश का तीसरा राजा था। इसके पिता का नाम बिंदुसार और माता का जनपदकल्याणी, प्रियदर्शना अथवा धर्मा था। ल० २९७ ई० पू० इसका जन्म हुआ। परंपरा के अनुसार बिंदुसार के १०१ पुत्र थे, जिनमें ९९ अन्य रानियों से तथा अशोक और तिष्य प्रियदर्शना से थे। ९९ भाइयों में सबसे बड़ा सुसीम था। अशोक देखने में असुंदर, किंतु योग्यतम था। कुमारावस्था में वह अवंति राष्ट्र तथा गांधार का राज्यपाल बनाया गया था। राजकुल एवं मंत्रियों के षड्यंत्र से उत्तराधिकार के लिये सुसीम एवं अशोक में गृहयुद्ध हुआ। अंत में अशोक विजयी हुआ। बौद्ध साहित्य की यह कथा कि अशोक अपने ९९ भाइयों को मारकर सिंहासन पर बैठा, विश्वसनीय नहीं जान पड़ती, यद्यपि यह बहुत संभव है कि उत्तराधिकार के लिये युद्ध में कुछ भाई मारे गए हों। अशोक लगभग २७२ ई० पू० सिंहासन पर बैठा और २३२ ई० पू० तक उसने राज किया। उसने अपने शासन के प्रारंभ में अपने और पितामह चंद्रगुप्त एवं पिता बिंदुसार की साम्राज्यवादिनी नीति का अवलंबन किया। काश्मीर, कलिंग एवं कतिपय अन्य प्रदेशों को, जो मौर्य साम्राज्य में नहीं थे, उसने विजित बनाया। अशोक का साम्राज्य प्रायः संपूर्ण भारत और पश्चिमोत्तर में हिंदूकुश एवं ईरान की सीमा तक था। कलिंग के भीषण युद्ध से उसके हृदय पर बड़ा आघात पहुँचा और उसने अपनी शस्त्र और हिंसा पर आधारित दिग्विजय की नीति को छोड़कर धर्मविजय की नीति को अपनाया। संभवतः इसी समय उसने बौद्ध धर्म ग्रहण किया और अपने साम्राज्य के सभी साधनों को लोकमंगल के कार्यों में लगाया।

अशोक में सम्राट् और संत का अद्भुत मिश्रण था। उसकी राजनीति धर्म और नीति से पूर्णतः प्रभावित थी। उसका आदर्श था : "लोकहित से बढ़कर दूसरा कोई कर्म नहीं। जो कुछ भी मैं पुरुषार्थ करता हूँ वह लोगों पर उपकार नहीं, अपितु इसलिये कि मैं उनसे उऋण हो जाऊँ और उनको इहलौकिक सुख और परमार्थ प्राप्त कराऊँ।" अपनी प्रजा से वह अपनी संतान के समान स्नेह करता था। उसकी हितचिंता में वह परिभ्रमण भी करता था, जिससे वह जनता के संपर्क में आकर उसके सुख दुःख को समझे। वह अपनी प्रजा की भौतिक तथा नैतिक दोनों प्रकार की उन्नति करना चाहता था। अपने शासन को नैतिक मोड़ देने के लिये उसने कई प्रकार के धर्ममहामात्यों की नियुक्ति की। उसके शासन के विभागों में लोकोपकारी कार्यों की प्रमुखता थी।

शासन से कहीं अधिक अपने धर्म और उसके प्रचार के लिये अशोक प्रसिद्ध था। इसमें कोई संदेह नहीं कि अशोक धर्मतः बौद्ध था जो भाबू

धर्मलेख और धर्मपर्यायों के उल्लेख से स्पष्ट है। किंतु अपने प्रचार में वह सर्वमान्य नैतिक सिद्धांतों पर ही जोर देता था, जिनका सभी धर्मों से मेल हो सकता था। इसके विधि और निषेध दो अंग थे। अपने द्वितीय तथा सप्तम स्तंभलेख में उसने साधुता (बहुकल्याण), अल्पपाप, दया, दान, सत्य, शौच, मार्दव आदि को विधेयात्मक धर्म का गुण माना है। व्यवहार में इनका कार्यान्वय प्राणियों के अवध, भूतों के प्रति अहिंसा, माता पिता की शुश्रूषा, स्थविरों की शुश्रूषा, गुरुओं के प्रति आदरभाव, मित्र-परिचित-जाति तथा ब्राह्मण-श्रमणों को दान तथा उनके साथ सुष्ठु व्यवहार, दास तथा भृत्य के साथ सुंदर बर्ताव, अल्पभांडता (कम संग्रह) और अल्प-व्ययता के द्वारा अशोक ने बतलाया। इसी को वह धर्ममंगल, धर्मदान और धर्मविजय कहता है। तृतीय स्तंभलेख में धर्म के निषेधात्मक अंग का वर्णन करते हुए चंडता, निष्ठुरता, क्रोध, अभिमान, ईर्षा आदि के परित्याग का उपदेश किया गया है। धार्मिक जीवन के विकास के लिये प्रत्यवेक्षा (आत्म-निरीक्षण) की आवश्यकता बतलाई गई है। सप्तम तथा द्वादश शिलालेखों में अशोक ने धार्मिक सहअस्तित्व तथा धार्मिक समता का उपदेश किया है और वाक्संयम एवं भावशुद्धि पर जोर दिया है। अशोक के धर्म की विशेषताओं में नैतिकता, सारवत्ता, सार्वजनीनता, उदारता एवं समता मुख्य हैं।

इसी नैतिक धर्म के प्रचार को धर्मविजय कहा गया है। यह धर्मविजय परंपरागत धर्मविजय से भिन्न था। परंपरागत धर्मविजय का अर्थ था भूमि एवं धन के लोभ के बिना अपनी सैनिक शक्ति से चक्रवर्तित्व अथवा देश-व्यापी साम्राज्य के लिये अन्य राज्यों के ऊपर विजय प्राप्त करना; इसमें बल और हिंसा का प्रयोग होता था। अशोक की धर्मविजय वास्तव में रण-विजय नही, भारत तथा दूसरे देशों और राज्यों पर नीति, शांति और सेवा के द्वारा धर्म की विजय थी।

धर्मविजय की प्राप्ति के लिये कई साधनों का अवलंबन किया गया। नैतिक शिक्षाओं को स्थायी रूप से प्रजा के पास पहुँचाने के लिये धर्मलेखों का प्रवर्तन हुआ जो पर्वतशिलाओं, प्रस्तरस्तंभों और गुहाओं में अंकित किए गए। धर्मलेखों की गणना इस प्रकार है : १० शिलालेख—(अ) चौदह प्रमुख, (आ) पृथक् कलिंग अभिलेख, (इ) लघु शिलालेख (सहसराम, रूपनाथ, बैराट, सिद्धपुर, जातिंग-रामेश्वर, ब्रह्मगिरि, मास्की); २० स्तंभलेख—(अ) सात प्रमुख, (आ) लघु स्तंभलेख (प्रयाग, साँची, सार-नाथ, रुम्मिनदेई तथा निगलीव); ३० गुहालेख—(बराबर तथा नागार्जुनी की पहाड़ियों में)। धर्मप्रचार का दूसरा साधन 'अनुसंधान' था। नियमित रूप से अशोक और उसके मुख्य अधिकारी विविध जनपदों में जनता से संपर्क स्थापित करने के लिये यात्रा करते थे। इसका उद्देश्य उसी के शब्दों में "जनस्य जानपदस्य दर्शनम्" (जनपदों तथा जनता का दर्शन) था। तीसरा साधन 'श्रावण' था। इसके अंतर्गत धार्मिक तथा नैतिक विषयों पर कथावार्ता का आयोजन किया जाता था। इसके अतिरिक्त विहारयात्रा के स्थान पर धर्मयात्रा (तीर्थस्थानों और धार्मिक कार्यक्रम के लिये) और विलासपूर्ण समाजों के स्थान पर धर्मसमाज (संतों अथवा धार्मिक प्रयोजन के लिये) व्यवस्था हुई। हस्तिस्कंध तथा ज्योतिस्कंध आदि स्वर्गीय दृश्यों का प्रदर्शन जनता का ध्यान धार्मिक जीवन से उत्पन्न पुण्यों की ओर आकृष्ट करने के लिये किया जाता था। लोकोपकारी कार्यों का समावेश भी धर्म-विजय में किया गया। सड़कों का निर्माण, उनके किनारे वृक्षों का आरोपण, पांथशालाओं और प्याउओं का आयोजन, सुरक्षा आदि का समुचित प्रबंध था। मनुष्यचिकित्सा एवं पशुचिकित्सा की व्यवस्था भी राज्य की ओर से थी। ओषधियों के उद्यान लगाए गए। जो ओषधियाँ अपने देश में नहीं होती थीं, वे विदेशों से मँगाकर लगाई गईं। अनेक स्तूपों, चैत्यों, बिहारों और स्तंभों का निर्माण भी धर्म की स्थापना के लिये किया गया।

धर्मविजय के लिये प्रचारकसंघ का भी संगठन हुआ। धर्मविजय की कोई भौगोलिक सीमा नहीं थी। इसलिये धर्मचक्र का प्रवर्तन देश विदेश दोनों में हुआ। अशोक की लोकसेवा का क्षेत्र अपने राज्य तक ही संकुचित नहीं था। उसके प्रचार के क्षेत्रों को निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है : (१) साम्राज्य के अंतर्गत विभिन्न प्रदेश, (२) साम्राज्य के सीमांत प्रदेश और जातियाँ—यवन, कांबोज, गांधार, राष्ट्रिक, पितनिक, भोज, आंध्र, पुलिंद, (३) साम्राज्य की जंगली और पिछड़ी हुई जातियाँ, (४) दक्षिण भारत के अर्धस्वाधीन राज्य, (५) लंका (ताम्रपर्णि), (६) सीरिया, मिस्र, साइरीनी, मकदूनियाँ और एपिरस आदि यवन देश। इतने बड़े पैमाने पर पहले कभी नीति और धर्म का प्रचार नहीं हुआ था।

अशोक के धार्मिक प्रचार से कला को बहुत ही प्रोत्साहन मिला। अपने धर्मलेखों के अंकन के लिये उसने ब्राह्मी और खरोष्ठी दो लिपियों का उपयोग किया और संपूर्ण देश में व्यापक रूप से लेखनकला का प्रचार हुआ। धार्मिक स्थापत्य और मूर्तिकला का अभूतपूर्व विकास अशोक के समय में हुआ। परंपरा के अनुसार उसने तीन वर्ष के अंतर्गत चौरासी हजार स्तूपों का निर्माण कराया। इनमें से ऋषिपत्तन (सारनाथ) में उसके द्वारा निर्मित धर्म-राजिका स्तूप का भग्नावशेष अब भी द्रष्टव्य है। इसी प्रकार उसने अगणित चैत्यों और विहारों का निर्माण कराया। अशोक ने देश के विभिन्न भागों में प्रमुख राजपथों और मार्गों पर धर्मस्तंभ स्थापित किया। अपनी मूर्तिकला के कारण ये स्तंभ बहुत ही महत्व के हैं। इनमें सारनाथ का सिंहशीर्ष स्तंभ सबसे अधिक प्रसिद्ध है। स्तंभनिर्माण की कला पुष्ट नियोजन, सूक्ष्म अनुपात, संतुलित कल्पना, निश्चित उद्देश्य की सफलता, सौंदर्यशास्त्रीय उच्चता तथा धार्मिक प्रतीकत्व के लिये अशोक के समय अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। इन स्तंभों का उपयोग स्थापत्यात्मक न होकर स्मारकात्मक था। सारनाथ का स्तंभ धर्मचक्रप्रवर्तन की घटना का स्मारक था और धर्मसंघ की अक्षुण्णता बनाए रखने के लिये इसकी स्थापना हुई थी। यह चुनार के बलुआ पत्थर के लगभग ४५ फुट लंबे प्रस्तरखंड का बना हुआ है। धरती में गड़े हुए आधार को छोड़कर इसका दंड गोलाकार है, जो ऊपर की ओर क्रमशः पतला होता जाता है। दंड के ऊपर इसका कंठ और कंठ के ऊपर शीर्ष है। कंठ के नीचे प्रलंबित दलोंवाला उलटा कमल है। गोलाकार कंठ चक्र से चार भागों में विभक्त है। उनमें क्रमशः हाथी, घोड़ा, बैल तथा सिंह की सजीव प्रतिकृतियाँ उभरी हुई हैं। कंठ के ऊपर शीर्ष में चार सिंह-मूर्तियाँ हैं जो पृष्ठतः एक दूसरी से जुड़ी हुई हैं। इन चारों के बीच में एक छोटा दंड था जो धर्मचक्र को धारण करता था। अपने मूर्तन और पालिश की दृष्टि से यह स्तंभ अद्भुत है। इस समय स्तंभ का निचला भाग अपने मूल स्थान में है। शेष संग्रहालय में रखा है। धर्मचक्र के केवल कुछ टुकड़े उपलब्ध हुए। चक्ररहित सिंहशीर्ष ही आज भारत गणतंत्र का राज्यचिह्न है। चक्र वैदिक ऋत से विकसित धर्म की कल्पना का प्रतीक है, जो संपूर्ण आकाश में गतिशील रहता है। उसका सिंहनाद चारों दिशाओं में चारों सिंह करते हैं। कंठ पर उभारे गतिशील चारों पशु धर्मप्रवर्तन के प्रतीक हैं। प्रलंबित कमल भारत के दार्शनिक रहस्यवाद का आधार है।

अशोक की धार्मिक नीति के प्रभाव के संबंध में इतिहासकारों में काफी मतभेद है। परंतु इस नीति के लाभ और हानि दोनों पक्षों की तुलना बहुत ही महत्वपूर्ण एवं मनोरंजक है। अशोक की धर्मविजय की नीति के द्वारा संपूर्ण देश तथा पड़ोसी अन्य देशों में समाजिक प्रवृत्तियों को पूरा प्रोत्साहन मिला। एक लिपि ब्राह्मी तथा एक भाषा पालि का आजकल की हिंदी की भाँति एकीकरण के माध्यम के रूप में सर्वत्र प्रचार हुआ। धर्म के माध्यम के रूप में स्थापत्य तथा मूर्तिकला विकसित, समृद्ध एवं प्रसारित हुई। धार्मिक सहअस्तित्व, सहिष्णुता, उदारता, और समता का प्रचार हुआ। नैतिकता, विश्वबंधुत्व और अंतर्राष्ट्रीयता को प्रश्रय मिला और इनके द्वारा भारत को अंतर्राष्ट्रीय जगत् में ऊँचा पद प्राप्त हुआ। अशोक की धार्मिक नीति से य प्रभूत लाभ हुए। राजनीतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से कई इतिहासकारों के मतों में कई हानियाँ हुईं। इसके द्वारा भारत का राजनीतिक विस्तार रुक गया; यदि उसने चंद्रगुप्त की नीति का अवलंबन किया होता तो मकदूनी या रोमन साम्राज्य के समान एक विशाल भारतीय साम्राज्य की स्थापना हुई होती। राजनीति का विस्तार रुक जाने से राजनीतिक चिंतन भी शिथिल हो गया, अतः चाणक्य के बाद राजनीति शास्त्र में कोई प्रौढ़ आचार्य नहीं मिलता। दिग्विजयिनी मौर्य सेना स्कंधावारों में पड़ी पड़ी निष्क्रिय हो गई थी—इसीलिये यवन (यूनानी) आक्रमणों के सामने वह पुनः ठहर न सकी। अशोक की नीति ने भारतीयों के स्वभाव को कोमल बना दिया और उन्हें इहलौकिक और

भौतिक उन्नति के मार्ग से विमुख किया। कल्पित महत्तावाली अंतर्राष्ट्रीयता ने राष्ट्रीयता की भावनाओं का तिरस्कार कर उन्हें दुर्बल बना दिया, आदि। यदि नैतिक तुला पर उपर्युक्त लाभ और हानि रखी जायँ तो मानव मूल्यों की दृष्टि से अशोक की धार्मिक नीति के लाभ अधिक भारी सिद्ध होते हैं।

अपनी आदर्शवादिता, नीतिमत्ता तथा लोकहित-चिंता के कारण संसार के इतिहास में अशोक का बहुत ही ऊँचा स्थान है। वास्तव में अभी तक संसार का इतिहास बर्बर कृत्यों के वर्णन से भरा पड़ा है। पृथ्वी को रक्तप्लावित करनेवाले असंख्य विजेताओं की सूची में नीति और प्रेम का उपदेश करनेवाला शासक अशोक प्रायः अकेला है। एक इतिहासकार के मत में "बर्बरता के महासागर में शांति और संस्कृति का वह एकमात्र द्वीप है।" यदि किसी शासक की महत्ता का मापदंड राजनीतिक और सैनिक सफलता न होकर लोकहित हो तो संसार का कोई दूसरा शासक अशोक की समता नहीं कर सकता। वह केवल जनसुखवाद और मानवतावाद का ही समर्थक नहीं था, वह मानव की नैतिक और पारमार्थिक उन्नति के लिये भी प्रयत्नशील था और न केवल मानव, संपूर्ण जीवमात्र की हितचिंता में रत। सिकंदर, सीजर, कोंस्तांतीन, अकबर, नैपोलियन, आदि अपने में विशाल और विराट् थे, किंतु वे अशोक की महत्ता और उच्चता को नहीं पहुँच सकते। यदि किसी व्यक्ति के यश और प्रसिद्धि को मापने का मापदंड असंख्य लोगों का हृदय है, जो उसकी पवित्र स्मृति को सजीव रखता है और अगणित मनुष्यों की जिह्वा है, जो उसकी कीर्ति का गान करती है, तो अशोक की समता इतिहास के थोड़े से महापुरुष ही कर सकते हैं।

सं०ग्रं०—दत्तात्रेय रामकृष्ण भांडारकर : अशोक; राधाकुमुद मुकर्जी : अशोक; वेणीमाधव बरुआ : अशोक और उसके अभिलेख; वी० ए० स्मिथ : अशोक; सत्यकेतु विद्यालंकार : मौर्य साम्राज्य का इतिहास; हुल्त्श : कार्पस इंस्क्रिपशनम इंडिकेरम्, भाग १, इंस्क्रिप्शंस ऑव अशोक।

[रा० ब० पां०]

अशोक यह वृक्ष संस्कृत, बँगला, मराठी, मलयालम, तेलुगु और अंग्रेजी में भी यही कहलाता है। लैटिन में (१) जोनेसिया असोका तथा (२) सैरका इंडिका, ये दो नाम हैं।

यह यूफ़ॉरबीएसी (दुग्धी) जाति का वृक्ष है; देखने में सुंदर होता है। इस वृक्ष के, जैसा इसके दो लैटिन नामों से प्रत्यक्ष है, दो भेद होते हैं। दोनों में वसंत ऋतु में फूल लगते हैं। पहले में ये नारंगी रंग के और दूसरे में श्वेत रंग के होते हैं। पहले प्रकार की पत्तियाँ रामफल के वृक्ष की पत्तियों जैसी तथा दूसरे की आम की पत्तियों जैसी लंबी परंतु किनारे पर लहरदार होती हैं। इसमें श्वेत मंजरियाँ लगती हैं, जिनके झड़ने पर छोटे, गोल फल लगते हैं, जो पकने पर लाल हो जाते हैं पर खाए नहीं जाते।

यह वृक्ष समस्त भारतवर्ष में पाया जाता है। इसकी छाल आयुर्वेद में कटु, तिक्त, ज्वर एवं तृषानाशक, घाव को भरनेवाली, अँतड़ियों को सिकोड़नेवाली, कृमिनाशक तथा पाचक कही गई है। रक्तविकार, थकावट, शूल, बवासीर, अस्थिभंग तथा मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है। देशी वैद्य इसको स्त्री रोगों में, जैसे गर्भाशय के रोग, रक्तप्रदर, रक्तस्राव इत्यादि में रामबाण मानते हैं। [भ० दा० व०]

अश्ताबुला संयुक्त राज्य, अमरीका, के ओहायो राज्य का एक नगर है जो ईरी झील तथा ईरी नदी के मुहाने पर, समुद्रतल से ७०३ फुट की ऊँचाई पर, क्लीवलैंड से ५६ मील उत्तर-पूर्व में बसा है। यह राष्ट्रीय तथा राजकीय सड़कों और रेलों द्वारा अन्य स्थानों से संबंधित है तथा औद्योगिक, व्यावसायिक और जहाजों का केंद्र है। यह कच्चा लोहा, कोयला तथा कृषि के लिये प्रसिद्ध है। यहाँ मछली मारना, तैलशोधन, चमड़ा सिझाना इत्यादि, प्रमुख उद्योग हैं। अश्ताबुला रेड इंडियन शब्द है जिसका अर्थ है मछली की नदी। गोरी जातियों ने इसे पहले पहल १८०१ में आबाद किया। १८३१ में यहाँ निगम बना और १८९१ में नगर। १९४० में जनसंख्या २१, ४०५ थी और १९५० में २३, ६९६। [नृ० कु० सिं०]

अश्मरी या पथरी शरीर में, विशेषकर मूत्राशय, वृक्क तथा पित्ताशय में, जमे ठोस द्रव्य को कहते हैं। यह लाला ग्रंथियों में तथा कई अन्य अंगों में भी बन जाती है, जिसका नीचे संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। वृक्क और मूत्राशय की अश्मरियाँ कैलसियम फ़ॉस्फ़ेट, ऑक्ज़लेट तथा सोडियम-ऐमोनियम यूरेट की होती हैं। वे ज़ैंथीन सिस्टीन से भी बन सकती हैं। पित्ताशय की अश्मरी कोलस्टरीन की बनी होती है, जिसमें बहुधा चूना भी मिला रहता है।

अश्मरी में एक केंद्र होता है जिसके चारों ओर चूने आदि के स्तर एक पर एक एकत्र होते रहते हैं। केंद्र रक्त के थक्के, श्लेष्मिक कला के टुकड़े, जीवाणु, श्वेतकणिकाओं आदि से बन सकता है। इसके चारों ओर लवणों के स्तर जमा हो जाते हैं। इस कारण अश्मरी को काटने पर स्तरित रचना दिखाई देती है।

मूत्राशय की अश्मरी—हमारे देश में राजस्थान में तथा पर्वतीय प्रांतों में यह रोग अधिक पाया जाता है। वहाँ पीने के जल में लवणों की अधिकता रोग का कारण प्रतीत होती है। चर्म से अधिक वाष्पीभवन होने के कारण मूत्राशय की अतिसांद्रता भी अश्मरीनिर्माण का कारण हो सकती है। अश्मरी यूरिक अम्ल, ऐमोनिया के यूरेट लवण, चूने के फ़ॉस्फ़ेट तथा ऑक्ज़लेट लवणों से बनती है। सिस्टीन (विषाणिन—सींग, बाल इत्यादि में पाया जानेवाला एक पदार्थ) और ज़ैंथीन (पीत-श्वेत, रवेदार पदार्थ, जिससे अनेक पीले रंग के यौगिक बनते हैं) की अश्मरी भी पाई जाती है। फ़ॉस्फ़ेट की अश्मरी चिकनी और भुरभुरी होती है जो दबाने से ही टूट जाती है। यूरेट की इससे कड़ी होती है। ऑक्ज़लेट की अश्मरी सबसे कड़ी होती है। उसपर दाने या कँगूरे से उठे होते हैं जिनके कारण मूत्राशय की श्लेष्मिक कला से रक्तस्राव होता रहता है। इस कारण अश्मरी का रंग रक्त के मिल जाने से गहरा लाल होता है। ऐसी अश्मरी से रोगी को पीड़ा अधिक होती है।

जब अश्मरी मूत्रमार्ग के अंतर्द्वार पर, जिससे मूत्राशय से मूत्र निकलता है, स्थित होकर मूत्रप्रवाह को रोक देती है तब रोगी को पीड़ा होती है। किंतु यदि रोगी अपनी स्थिति बदल दे, पार्श्व से लेट जाय, तो बहुधा अश्मरी के स्थानांतरित हो जाने से मूत्रमार्ग खुल जाता है और मूत्र निकल जाता है जिससे रोगी की पीड़ा जाती रहती है। मूत्र का रुकना ही रोग का विशेष लक्षण है।

यह रोग बच्चों में अधिक होता है और स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक पाया जाता है। साधारणतः एक अश्मरी बनी रहती है। जब अधिक अश्मरियाँ रहती हैं तो आपस में रगड़ने से उनपर चिह्न बन जाते हैं। एक्स-रे फोटो में अश्मरी की छाया दिखाई देती है। इस कारण एक्स-रे चित्र लेने से निदान निश्चित हो जाता है।
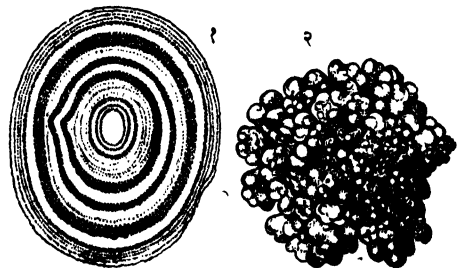
दो अश्मरियाँ

१. मूत्राशय की अश्मरी का काट; यह अश्मरी १·५" चौड़ी और १·९" लंबी थी। २. वृक्क की अश्मरी; यह मुख्यतः कैलसियम ऑक्ज़लेट की बनी है।

चिकित्सा—(१) **अश्मरीभंजन** कर्म में भंजक (लिथोट्राइट) से मूत्राशय के भीतर की अश्मरी को तोड़कर चूर्ण कर दिया जाता है और चूषकयंत्र (ईवैकुएटर) द्वारा उसको बाहर खींच लिया जाता है। (२) शल्यकर्म

द्वारा उदर के निचले भाग में भगसंधानिका के ऊपर मध्यरेखा में तीन इंच लंबा छेदन करके मूत्राशय के स्पष्ट हो जाने पर उसका भी छेदन करके अश्मरी को संदंश से पकड़कर निकाल लेते हैं और फिर मूत्राशय तथा उदर के छिन्न भागों को सी देते हैं।

वृक्क की अश्मरी—वृक्क के प्रांतस्थ भाग में या श्रोणि (पेल्विस) में स्थित, बड़े आकार की अश्मरी से, जिसके कुछ भाग वृक्कवस्तु में धँसे हों, कोई लक्षण नहीं उत्पन्न होते। ऐसी अश्मरियाँ शांत अश्मरियाँ कहलाती हैं। छोटी चलायमान अश्मरियाँ दारुण पीड़ा का कारण होती हैं।

अश्मरी के निर्माण के कारणों का अभी तक पूर्ण ज्ञान नहीं हो सका है, किंतु पिछले कुछ वर्षों के अनुसंधान से अश्मरीनिर्माण का संबंध भोजन से प्रतीत होता है। आहार में चूने के यौगिकों की अधिकता और विटामिन ए की कमी अश्मरीनिर्माण में सहायक होती है। विटामिन ए की कमी में वृक्कप्रणालिकाओं की श्लेष्मिक कला क्षत हो जाती है। उसके कुछ भाग गल से जाते है जो अश्मरीनिर्माण के लिये केंद्र का काम करते हैं। फिर संक्रमण भी सहायक कारण होता है जिससे श्लेष्मिक कला की कोशिकाएँ शोथयुक्त हो जाती हैं और उनकी पारगम्यता (पर्मिएबिलिटी) बदल जाती है। शारीरिक, भौतिक तथा रासायनिक दशाओं का भी प्रभाव पड़ता है। शरीर के प्रत्येक भाग में अश्मरीनिर्माण के संबंध में ये ही दशाएँ लागू हैं। जिन रोगों में अस्थि, क्षय होने से, कैलसियम मुक्त होता है उनमें अश्मरी बनने के लिये चूना उपलब्ध हो जाता है। परावटुका (पैराथाइराइड) की अतिवृद्धि या अर्बुदों से भी यही परिणाम होता है। जिन दशाओं में मूत्र रुक जाता है उनमें भी ऐसा ही होता है।

रोग के साधारण लक्षण—कटिपार्श्व और वृक्क के पीछे के प्रांत में हलका सा दर्द सदा बना रहता है। मूत्र में रक्त आता है जो इतना थोड़ा हो सकता है कि वह केवल अणुवीक्षक द्वारा दिखाई दे। छोटी चलायमान अश्मरी से तीव्र पीड़ा हो सकती है जो पीठ से प्रारंभ होकर सामने से होती हुई नीचे पेड़ू और शिश्न में जाती हुई प्रतीत होती है। यदि अश्मरी श्रोणी (गोणिका) या कलिसों में भरकर मूत्र-प्रणालिकाओं के मुखों को बंद कर देती है और मूत्र का प्रवाह रुक जाता है तो कैलिसों का, जिनमें मूत्र एकत्र रहता है, आकार विस्तृत हो जाता है और उनके विस्तार से वृक्कवस्तु नष्टप्राय हो जाती है। इस दशा को जलातिवृक्कविस्तार (हाइड्रोनेफ़ोसिस) कहते हैं। यदि किसी प्रकार वहाँ संक्रमण पहुँच जाता है तो वहाँ पूय (पस) बनकर एकत्र होती है। यह पूतिवृक्क विस्तार (पायोनेफ़ोसिस) कहा जाता है।

निदान—निदान लक्षणों और एक्स-रे द्वारा किया जाता है। मूत्र-परीक्षा तथा अन्य परीक्षाएँ भी आवश्यक हैं।

चिकित्सा—यदि एक ही अश्मरी है तो शल्यकर्म करके उसको गोणिका द्वारा निकाल दिया जाता है। एक से अधिक अश्मरियाँ होने पर तथा प्रांतस्था में स्थित होने पर और वृक्कवस्तु के नष्ट हो जाने पर संपूर्ण वृक्क का ही छेदन (नैफ़ैक्टोमी) करना पड़ता है।

पित्ताशय की अश्मरी—पित्ताशय की अश्मरियाँ शुद्ध कॉलेस्टरीन की या बिलिरूबिन-कैलसियम की बनी होती हैं। एक्स-रे से इनकी कोई छाया नहीं बनती। उनकी हलकी सी छाया केवल उस समय बनती है जब उनपर कैलसियम चढ़ा रहता है। एक से लेकर कई सौ अश्मरियाँ पित्ताशय में उपस्थित हो सकती हैं। एक अश्मरी बड़ी और गोल या लंबोतरी सी होती है। अधिक अश्मरियों के होने पर वे एक दूसरे को रगड़कर चौपहल या अठपहल हो जा सकती हैं। किंतु प्रायः इनके कारण पित्ताशय की भित्तियों में शोथ उत्पन्न हो जाता है जिसको पित्ताशयार्ति (कॉलीसिस्टाइटिस) कहते हैं। इसके उग्र और जीर्ण दो रूप होते हैं। उग्र रूप में लक्षण तीव्र होते हैं। रोग भयंकर होता है। जीर्णरूप में लक्षण मंद होते हैं और बहुत काल तक बने रहते हैं। इस दशा का संबंध अश्मरी की उत्पत्ति के साथ विशेष रूप से है। इससे अश्मरी उत्पन्न होती है और अश्मरी से जीर्ण शोथ उत्पन्न होता है। इसी के कारण रोग के लक्षण उत्पन्न होते हैं। स्वयं अश्मरी लक्षण नहीं उत्पन्न करती। जब कोई छोटी अश्मरी पित्ताशय से पित्तनलिका अथवा संयुक्ता पित्तवाहिनी (कॉमन बाइल डक्ट) में चली जाती है तो नलिका में आकुंचन होने लगता है जिससे दारुण पीड़ा होती है। इसको पित्तशूल (बिलियरी कॉलिक) कहते हैं। रोगी पीड़ा को उदर में दाहिनी ओर नवीं पर्शुका के अग्र प्रांत से उरोस्थि के अग्रपत्रक (जिफ़ाइड प्रोसेस) तक और पीछे पीठ में अंसफलक के अधोकोण तक अनुभव करता है। यह पीड़ा अत्यंत दारुण तथा असह्य होती है। रोगी छटपटाता है। इससे मृत्यु तक होती देखी गई है।

चिकित्सा—अश्मरी को शल्यकर्म द्वारा निकालना आवश्यक है। यदि रोग बहुत समय से है और जीर्ण शोथ भी है तो पित्ताशय का संपूर्ण छेदन उचित है। वेदना के समय, जिसको रोग का आक्रमण कहा जाता है, शामक ओषधियाँ, विशेषकर मॉर्फ़िन या उसी के समान अन्य ओषधियाँ, देकर पीड़ा दूर करना अत्यंत आवश्यक है।

अन्य स्थानों की अश्मरी—मूत्रप्रवाहिनी (यूरेटर) में अश्मरी—मूत्रप्रवाहिनी में अश्मरी बनती नहीं। छोटे आकार की अश्मरियाँ वृक्क से मूत्रप्रवाह के साथ आ जाती हैं, जो बहुत छोटी होती हैं (वे रेत के कण के समान हो सकती हैं)। वे मूत्रप्रवाहिनी (गवीनी) में होती हुई मूत्राशय में चली जाती हैं। जब मूत्रप्रवाहिनी के व्यास के बराबर की कोई अश्मरी वहाँ फँस जाती है, जिससे मूत्रप्रवाहिनी में आक्षेप होने लगते हैं, तो उससे दारुण वेदना होती है और जब तक अश्मरी निकल नहीं जाती, निरंतर होती रहती है। इससे मृत्यु तक हो जाती है।

लालाग्रंथियों में अश्मरी—ऊर्ध्वहन्वाधर ग्रंथि (सब्मैग्ज़लरी ग्लैंड) और उसकी नलिका में अश्मरियाँ अधिक बनती हैं। ये कर्णमूलग्रंथि (पैरोटिड) की नलिका में भी पाई जाती हैं। नलिकाओं के अवरुद्ध हो जाने से ग्रंथि का स्राव मुख में नहीं पहुँच सकता। ग्रंथि में अश्मरी के स्थित होने के कारण ग्रंथि बार बार सूज जाती है जिससे बहुत पीड़ा होती है। ग्रंथि को निकाल देना आवश्यक होता है। लेखक ने एक रोगी में दोनों ओर की ऊर्ध्वहन्वाधर ग्रंथियों में तीन और चार अश्मरियाँ निकालीं, जिनकी रासायनिक परीक्षा करने पर वे कैलसियम कार्बोनेट और फ़ॉस्फ़ेट की बनी पाई गईं।

अग्न्याशय में अश्मरी (पैंक्रिऐटिक)—ये कैलसियम कार्बोनेट और मैगनीसियम फ़ॉस्फ़ेट की बनी होती हैं। ये असाधारण हैं और अग्न्याशय की नलिका में मिलती हैं। इनके कोई विशिष्ट लक्षण नहीं होते। प्रायः उदर का एक्स-रे लेने से अकस्मात् इस प्रकार की अश्मरी की छाया दिखाई दे जाती है।

आंत्र की अश्मरी—(एंटरोलिथ) आंत्र में मल के शुष्क होने से कड़े पिंड बनते हैं जो कभी कभी बद्धांत्र की दशा उत्पन्न कर देते हैं।

पुरःस्थ (प्रॉस्टेट) की अश्मरी—पुरःस्थ में भी कैलसियम के कार्बोनेट और फ़ॉस्फ़ेट लवणों के एकत्र होने से अश्मरी बन जाती है। इसके लक्षण मूलाधार प्रांत में भारीपन, पीड़ा तथा मूत्रत्याग में पीड़ा होते हैं। गुद-परीक्षा तथा एक्स-रे से इनका निदान किया जाता है।

शिश्न में अश्मरी—कभी कभी मूत्राशय से आकर अश्मरी शिश्न में अटक जाती है। उचित साधनों द्वारा उसको निकालना आवश्यक है।

सं०ग्रं०—हैंडफ़ील्ड जोन्स : सर्जरी; नेल्सन : ऐन्सायक्लोपीडिया ऑव सर्जरी। [मु० स्व० व०]

अश्वगंधा एक पौधा है जो खानदेश, बरार, पश्चिमीघाट एवं अन्य अनेक स्थानों में मिलता है। हिंदी में इसे साधारणतया असगंध कहते हैं। लैटिन में इसका नाम वाइथनिया सोम्निफ़ेरा है। यह पौधा दो हाथ तक ऊँचा होता है और विशेषकर वर्षा ऋतु में पैदा होता है, किंतु कई स्थानों पर बारहों मास उगता है। इसकी अनेक शाखाएँ निकलती हैं और घुंघची जैसे लाल रंग के फल बरसात के अंत या जाड़े के प्रारंभ में मिलते हैं। इसकी जड़ लगभग एक फुट लंबी, दृढ़, चेपदार और कड़वी होती है। बाजार में गंधी जिसे असगंध या असगंध की जड़ कहकर बेचते हैं, वह इसकी जड़ नहीं, वरन् अन्य वर्ग की लता की जड़ होती है, जिसे लैटिन भाषा में कॉन्वॉल्वुलस असगंधा कहते हैं। यह जड़ जहरीली नहीं होती किंतु अश्वगंधा की जड़ जहरीली होती है। अश्वगंधा

का पौधा ४-५ वर्ष जीवित रहता है। इसी की जड़ से असगंध मिलती है, जो बहुत पुष्टिकारक है।

राजनिघंटु के मतानुसार अश्वगंधा चरपरी, गरम, कड़वी, मादक गंध-युक्त, बलकारक, वातनाशक और खाँसी, श्वास, क्षय तथा व्रण को नष्ट करने-वाली है; इसकी जड़ पौष्टिक, धातु-परिवर्तक और कामोद्दीपक है; क्षयरोग, बुढ़ापे की दुर्बलता तथा गठिया में भी यह लाभदायक है। यह वातनाशक तथा शुक्रवृद्धिकर आयुर्वेदिक ओषधियों में प्रमुख है; शुक्रवृद्धिकारक होने के कारण इसको शुक्रला भी कहते हैं।

अश्वगंधा

रासायनिक विश्लेषण से इसमें सोम्निफ़ेरिन और एक क्षारतत्व तथा राल और रंजक पदार्थ पाए गए हैं। इसमें निद्रा लानेवाले और मूत्र बढ़ाने-वाले पदार्थ भी प्रचुर मात्रा में होते हैं।
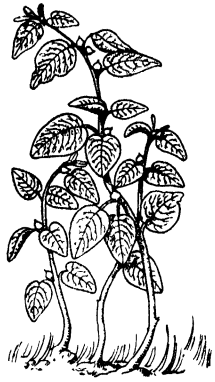
उपयोग—इसका ताजा तथा सूखा फल ओषधि के काम में आता है, किंतु सिंध, पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिमी सरहदी प्रांत, अफगानिस्तान तथा बलूचिस्तान में इसे रेनेट के स्थान पर दूध जमाने के काम में लाते हैं। इसका पाचक द्रव नमक के पानी में जल्दी आ जाता है (१०० भाग पानी में ५ भाग नमक होना चाहिए)। इस पानी के उपयोग से दही शीघ्र जमता है, जो पेट में पाचक अम्ल के समान लाभ पहुँचाता है। कुछ वैद्यों ने इस वनस्पति की जड़ को प्लेग में उपयोगी पाया है।

वैद्य असगंध से चूर्ण, घृत, पाक इत्यादि बनाते हैं और ओषधि के रूप में इसका उपयोग गठिया, क्षय, बंध्यत्व, कटिशूल, नारू नामक कृमि, वातरक्त इत्यादि रोगों में भी करते हैं। इस प्रकार असगंध के अनेक और विविध उपयोग हैं।

सं०ग्रं०—चंद्रराज भंडारी : वनौषधि चंद्रोदय; हरिदास वैद्य : चिकित्सा चंद्रोदय (हरिदास ऐंड कंपनी, कलकत्ता) [भ० दा० व०]

अश्वघोष बौद्ध महाकवि तथा दार्शनिक। कुषाणनरेश कनिष्क के समकालीन महाकवि अश्वघोष का समय ईसवी प्रथम शताब्दी का अंत और द्वितीय का आरंभ है। ये साकेत (अयोध्या) के निवासी तथा सुवर्णाक्षी के पुत्र थे। चीनी परंपरा के अनुसार महाराज कनिष्क पाटलिपुत्र के अधिपति को परास्त कर वहाँ से अश्वघोष को अपनी राजधानी पुरुषपुर (वर्तमान पेशावर) ले गए थे। कनिष्क द्वारा बुलाई गई चतुर्थ बौद्ध संगीति की अध्यक्षता का गौरव एक परंपरा महा-स्थविर पार्श्व को और दूसरी परंपरा महावादी अश्वघोष को प्रदान करती है। ये सर्वास्तिवादी बौद्ध आचार्य थे जिसका संकेत सर्वास्तिवादी 'विभाषा' की रचना में प्रयोजक होने से भी हमें मिलता है। ये प्रथमतः परमत को परास्त करनेवाले 'महावादी' दार्शनिक थे। इसके अतिरिक्त साधारण जनता को बौद्धधर्म के प्रति 'काव्योपचार' से आकृष्ट करनेवाले महाकवि थे।

इनके नाम से प्रख्यात अनेक ग्रंथ हैं, परंतु प्रामाणिक रूप से अश्वघोष की साहित्यिक कृतियाँ केवल चार हैं : (१) बुद्धचरित, (२) सौंदरनंद, (३) गंडीस्तोत्रगाथा तथा (४) शारिपुत्रप्रकरण। 'सूत्रालंकार' के रचयिता संभवतः ये नहीं हैं। बुद्धचरित चीनी तथा तिब्बती अनुवादों में पूरे २८ सर्गों में उपलब्ध है, परंतु मूल संस्कृत में केवल १८ सर्गों में ही मिलता है। इसमें तथागत का जीवनचरित और उपदेश बड़ी ही रोचक वैदर्भी रीति में नाना छंदों में निबद्ध किया गया है। सौंदरनंद (१८ सर्ग) सिद्धार्थ के भ्राता नंद को उद्दाम काम से हटाकर संघ में दीक्षित होने का भव्य वर्णन करता है। काव्यदृष्टि से बुद्धचरित की अपेक्षा यह कहीं अधिक स्निग्ध तथा सुंदर है। गंडीस्तोत्रगाथा गीतकाव्य की सुषमा से मंडित है। शारिपुत्रप्रकरण अधूरा होने पर भी महनीय रूपक का रम्य प्रतिनिधि है। अनेक आलोचक अश्वघोष को कालिदास की काव्यकला का प्रेरक मानते हैं।

सं०ग्रं०—बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, काशी १९५८; दासगुप्त तथा दे : हिस्ट्री ऑव क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, कलकत्ता। [ब० उ०]

अश्वत्थामा आचार्य द्रोण का पुत्र जिसने महाभारत के युद्ध में बड़ी वीरता से पांडवों का सामना किया। उसकी माता कृपी थी। कहीं कहीं पितृमूलक द्रौणायन का भी प्रयोग अश्वत्थामा के लिये हुआ है। उसने द्रोण की हत्या का प्रतिशोध द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न और द्रौपदी के पाँच पुत्रों को मारकर लिया था। [चं० म०]

अश्वधावन अथवा घुड़दौड़ घोड़ों के वेग की प्रतियोगिता है। ऐसी प्रतियोगिता मुख्यतः दुलकी, सरपट और क्षेत्रगामी (क्रॉस-कंट्री) या अवरोधयुक्त (ऑब्स्टेकल) दौड़ों में होती है।

अश्वधावन की प्रथा अति प्राचीन है, परंतु प्रथम अश्वधावन प्रति-योगिता, जिसका उल्लेख दिनांक सहित प्राप्त है, ६८४ ई० पूर्व की है जो २३वीं ओलिंपिक प्रतियोगिता में हुई। यह यथार्थ में चार अश्वों द्वारा खिंचे रथों की प्रतियोगिता थी। चालीस वर्ष बाद प्रथम बार ३३वें ओलिंपिक में अश्वारोही प्रतियोगिता हुई। यूनान में अश्वधावन सर्वप्रिय खेलों में से था और राष्ट्रीय खेल माना जाता था।

यूनान के समान रोम में भी अश्वधावन प्रचलित था और लोकप्रिय खेलों में समझा जाता था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ग्रेट ब्रिटेन में रोमन आधिपत्य काल में ही अश्वधावन का प्रचलन प्रतियोगिता के रूप में हुआ। प्रारंभ में इस प्रकार के खेल कूद ईसाई धर्म के विरुद्ध समझ जाते थे। पर धर्म इस खेल के आकर्षण को न दबा सका। जर्मनी में सर्वप्रथम ऐसे खेलों को धार्मिक समारोहों में भी स्थान मिला। कुछ काल में अश्वधावन इतना लोकप्रिय हो गया कि राजकुल से भी इसे उत्साह मिलने लगा। सन् १५१२ में चेस्टर में सर्वसाधारण के लिये अश्वधावन प्रतियोगिता प्रारंभ हुई। यह प्रतियोगिता नगराध्यक्ष (मेयर) के सभा-पतित्व में होती थी। इंग्लैंड के जेम्स प्रथम ने इंग्लैंड में अश्वधावन स्थल स्थापित किए और साथ ही घोड़ों की नस्ल सुधारने की भी चेष्टा की। अश्वधावन प्रतियोगिताओं में इंग्लैंड के राजाओं की रुचि बढ़ती गई और पारितोषिक भी उसी अनुपात में बढ़ते गए। सन् १७२१ ई० में जार्ज प्रथम ने जीतनेवाले अश्व को १०० गिनी पारितोषिक में दी। अश्वधावन के प्रबंध को सुचारु रूप से चलाने के लिये सन् १७५० में अश्वारोही समिति (जॉकी क्लब) की स्थापना हुई। इस सभा को इंग्लैंड में अश्वधावन संबंधी सभी बातों के अंतिम निर्णय का अधिकार दिया गया।

ग्रेट ब्रिटेन में अश्वधावन एक राष्ट्रीय खेल समझा जाता है और बड़े समारोह के साथ विभिन्न स्थानों में साल में इसकी अनेक बड़ी बड़ी प्रति-योगिताएँ होती हैं। इनमें से ये पाँच प्रतियोगिताएँ परंपरागत, प्राचीन और सर्वोत्तम मानी जाती हैं : (१) सेंट लेजर अश्वधावन प्रतियोगिता, जिसका प्रारंभ १७७६ ई० में हुआ। यह डॉनकास्टर में सितंबर मास के मध्य में होती है। (२) ओक्स प्रतियोगिता, जिसका प्रारंभ १७७९ ई० में हुआ और जो इप्सम में, मई के अंत में, सुप्रसिद्ध डर्बी प्रतियोगिता के तुरंत बाद पड़नेवाले शुक्रवार को होती है। (३) डर्बी प्रतियोगिता, जो सन् १७८० ई० में आरंभ हुई। यह भी इप्सम में दौड़ी जाती है। इप्सम तीव्र मोड़ों और कठिन उतार और चढ़ाव के लिये प्रसिद्ध है। इस प्रतियोगिता को विशेष महत्व दिया जाता है। (४) न्यू मार्केट में दौड़ी जानेवाली "दो हजार गिनी" की दौड़, जो १८०९ ई० में प्रारंभ हुई। (५) "एक हजार गिनी की दौड़" भी इसी न्यू मार्केट स्थल में दौड़ी जाती है। इसकी स्थापना सन् १८१४ ई० में हुई। इन पाँच दौड़ों के अतिरिक्त बहुत सी दौड़ें ऐसकट, गुडवुड आदि क्षेत्रों में दौड़ी जाती हैं और ये भी पर्याप्त महत्व-पूर्ण हैं।

सन् १८३९ ई० में न्यू मार्केट क्षेत्र में "हैंडीकैप" घुड़दौड़ प्रारंभ की गई। इस दौड़ का उद्देश्य सर्वोत्तम अश्वों के विरुद्ध अन्य अश्वों को भी दौड़ में सफलता प्राप्त करने का अवसर देना था। हैंडीकैप के नियमानुसार अश्वों की ख्याति, धावनशक्ति एवं आयु को ध्यान में रखते हुए उनके सवारों

का भार निश्चित किया जाता है। सर्वोत्तम अश्व को भारी तथा निम्न श्रेणी के अश्व को हल्का अश्वारोही दिया जाता है। किस अश्व को इस प्रकार कितनी सुविधा अथवा असुविधा दी जाय इसका निर्णय अश्वारोही समिति (जॉकी क्लब) करती है। सवार के भार के लिये प्रतिबंध रहते हैं। अश्वारोही का अपने भार को आठ नौ स्टोन (स्टोन=लगभग ७ सेर) तक बनाए रखना अति आवश्यक है। भारी घुड़सवार अनुत्तीर्ण कर दिए जाते हैं।

सन् १८८४ में सैन डाउन के प्रबंधकर्ताओं ने एक नई १०,००० पाउंड की प्रतियोगिता की योजना निकाली। यह दौड़ इक्लिप्स के नाम से प्रसिद्ध हुई।

सन् १८३९ में "द ग्रैंड नैशनल" नामक एक और लोकप्रिय घुड़दौड़ का प्रचलन हुआ। यह साढ़े चार मील लंबी दौड़ लिवरपुल में होती है। यथार्थ में यह ग्रेट ब्रिटेन की पुरानी स्टीपलचेज प्रथा का आधुनिक रूप है। पुराने समय में स्टीपलचेज सुसंपन्न लोगों के आखेट अश्वो की प्रतियोगिता थी। इसमें बिना मार्ग के, ऊँची नीची भूमि तथा छोटे बड़े अवरोधों को लाँघते हुए, किसी दूरस्थ चर्च की नुकीली मीनार को लक्ष्य मान अश्वारोही एक दूसरे से होड़ लेते थे। परंतु अब विभिन्न प्रकार की बाधाएँ निर्धारित रूप से खड़ी करके यह प्रतियोगिता एक निश्चित क्षेत्र में दौड़ी जाने लगी है।

अश्वधावन अमरीका में भी अति लोकप्रिय है। १७वीं सदी के मध्य से ही इसका प्रचलन वरजीनिया और मेरीलैंड में था।

अमरीका में दुलकी चाल की दौड़ (ट्रॉटिंग रेस) उतनी ही प्रिय है जितनी सरपट दौड़। दुलकी दौड़ दो प्रकार से दौड़ी जाती है: (१) घुड़सवार घोड़े की काठी पर रहता है। (२) एक छोटी दो पहियोंवाली गाड़ी घोड़े में जोतकर अश्वारोही इसी गाड़ी पर बैठता है।

फ्रांस में आधुनिक ढंग से अश्वधावन सन् १८३३ से प्रचलित हुआ। प्रिक्स ड ओरलिओ, प्रिक्स डू जॉकी, प्रिक्स डू प्रिंस इंपीरियल और द ग्रैंड प्रिक्स डी पेरिस यहाँ की मुख्य और महत्वपूर्ण दौड़ों में हैं। ग्रैंड प्रिक्स डी पेरिस एक अंतर्राष्ट्रीय दौड़ मानी जाती है और अन्य देशों के घोड़े भी इसमें भाग लेने आते हैं। स्टीपलचेज़ की दौड़ में पेरिस ग्रैंड स्टीपलचेज़ प्रमुख है।

आस्ट्रेलिया, जर्मनी, इटली तथा अन्य देशों में अश्वधावन मूलतः इंग्लैंड की ही प्रथा तथा नियमों के अनुसार होता है।

अश्वजनन—इसका उद्देश्य उत्तमोत्तम अश्वों की वृद्धि करना है। यह नियंत्रित रूप से केवल चुने हुए उत्तम जाति के घोड़े घोड़ियों द्वारा ही बच्चे उत्पन्न करके संपादित किया जाता है।

अश्व पुरातन काल से ही इतना तीव्रगामी और शक्तिशाली नहीं था जितना वह आज है। नियंत्रित सुप्रजनन द्वारा अनेक अच्छे घोड़े संभव हो सके हैं। अश्वप्रजनन (ब्रीडिंग) आनुवंशिकता के सिद्धांत पर आधारित है। देश विदेश के अश्वों में अपनी अपनी विशेषताएँ होती हैं। इन्हीं गुणविशेषों को ध्यान में रखते हुए घोड़े तथा घोड़ी का जोड़ा बनाया जाता है और इस प्रकार इनके बच्चों में माता और पिता दोनों के विशेष गुणों में से कुछ गुण आ जाते हैं। यदि बच्चा दौड़ने में तेज निकला और उसके गुण उसके बच्चों में भी आने लगे तो उसकी संतान से एक नवीन नस्ल आरंभ हो जाती है। इंग्लैंड में अश्वप्रजनन की ओर प्रथम बार विशेष ध्यान हेनरी अष्टम ने दिया। अश्वों की नस्ल सुधारने के लिये उसने राजनियम बनाए। इनके अंतर्गत ऐसे घोड़ों को, जो दो वर्ष से ऊपर की आयु पर भी ऊँचाई में ६० इंच से कम रहते थे, संतानोत्पत्ति से वंचित रखा जाता था। पीछे दूर दूर देशों से उच्च जाति के अश्व इंग्लैंड में लाए गए और प्रजनन की रीतियों से और भी अच्छे घोड़े उत्पन्न किए गए।

अश्वजनन के लिये घोड़ों का चयन उनके उच्च वंश, सुदृढ़ शरीररचना, सौम्य स्वभाव, अत्यधिक साहस और दृढ़ निश्चय की दृष्टि से किया जाता है। गर्भवती घोड़ी को हल्का परंतु पर्याप्त व्यायाम कराना आवश्यक है। घोड़े का बच्चा ग्यारह मास तक गर्भ में रहता है। नवजात बछड़े को पर्याप्त मात्रा में माँ का दूध मिलना चाहिए। इसके लिये घोड़ी को अच्छा आहार देना आवश्यक है। बच्चे को पाँच छः मास तक ही माँ का दूध पिलाना चाहिए। पीछे उसके आहार और दिनचर्या पर यथेष्ट सतर्कता बरती जाती है।

[आ० सिं० स०]

अश्वपति वैदिक तथा पौराणिक युग के प्रख्यात महीपति। इस नाम के अनेक राजाओं का परिचय वैदिक ग्रंथों तथा पुराणों में उपलब्ध होता है :

(१) छांदोग्य उपनिषद् (५।११) के अनुसार अश्वपति कैकेय केकय देश के तत्ववेत्ता राजा थे जिनसे सत्ययज्ञ आदि अनेक महाशाल तथा महाश्रोत्रिय ऋषियों ने आत्मा की मीमांसा के विषय में प्रश्न कर उपदेश पाया था। इनके राज्य में सर्वत्र सौख्य, समृद्धि तथा सुचारित्र्य की प्रतिष्ठा थी। अश्वपति के जनपद में न कोई चोर था, न शराबी, न मूर्ख और न कोई अग्निहोत्र से विरहित। स्वैर आचरण (दुराचार) करनेवाला कोई पुरुष न था फलतः कोई दुराचारिणी स्त्री न थी। इनकी तात्विक दृष्टि परमात्मा को वैश्वानर के रूप में मानने के पक्ष में थी। इनके अनुसार यह समग्र विश्व, इसके नाना पदार्थ तथा पंचमहाभूत इसी वैश्वानर के विभिन्न अंग प्रत्यंग हैं। आकाश परमात्मा का मस्तक है, सूर्य चक्षु है, वायु प्राण है, पृथ्वी पैर है। इस समष्टिवाद के सिद्धांत का पोषक होने से छांदोग्य उपनिषद् में अश्वपति महनीय दार्शनिक चित्रित किए गए हैं। (छांदोग्य० ५।१८)।

(२) महाभारत के अनुसार सावित्री के पिता और मद्रदेश के अधिपति थे। इनकी पुत्री सावित्री सत्यवान् नामक राजकुमार से ब्याही थी। परंपरा के अनुसार सावित्री अपने पातिव्रत तथा तपस्या के कारण अपने गतप्राण पति को जिलाने में समर्थ हुई थी। इसलिये वह आर्यललनाओं में पातिव्रत धर्म का प्रतीक मानी जाती है।

(३) वाल्मीकि रामायण (अयोध्याकांड, सर्ग १) के अनुसार अश्वपति केकय देश के राजा थे। इनके पुत्र का नाम युधाजित तथा पुत्री का नाम कैकेयी था जो अयोध्या के इक्ष्वाकुनरेश दशरथ से ब्याही थी। रामायण (अयोध्या०, सर्ग ३५) में एक विशिष्ट कथा का उल्लेख कर अश्वपति का पक्षियों की भाषा का पंडित होना कहा गया है। [ब० उ०]

अश्वमेध भारतवर्ष का एक प्रख्यात यज्ञ। सार्वभौम राजा अर्थात् चक्रवर्ती नरेश ही अश्वमेध का अधिकारी माना जाता था, परंतु ऐतरेय ब्राह्मण (८ पंचिका) के अनुसार अन्य महत्वशाली राजन्यों का भी इसके विधान में अधिकार था। आश्वलायन श्रौत सूत्र (१०।६।१) का कथन है कि जो सब पदार्थों को प्राप्त करना चाहता है, सब विजयों का इच्छुक होता है और समस्त समृद्धि पाने की कामना करता है वह इस यज्ञ का अधिकारी है। इसलिये सार्वभौम के अतिरिक्त भी मूर्धाभिषिक्त राजा अश्वमेध कर सकता था (आप० श्रौत० २०।१।१; लाट्यायन ९।१०।१७)। यह अति प्राचीन यज्ञ प्रतीत होता है, क्योंकि ऋग्वेद के दो सूक्तों में (१।१६२; १।१६३) अश्वमेधीय अश्व तथा उसके हवन का विशेष विवरण दिया गया है। शतपथ (१३।१-५) तथा तैत्तिरीय ब्राह्मणों (३।८-९) में इसका बड़ा ही विशद वर्णन उपलब्ध है जिसका अनुसरण श्रौत सूत्रों, वाल्मीकीय रामायण (१।१३), महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में तथा जैमिनीय अश्वमेध में किया गया है।

अनुष्ठान—अश्वमेध का आरंभ फाल्गुन शुक्ल अष्टमी या नवमी से अथवा ज्येष्ठ (या आषाढ़) मास की शुक्लाष्टमी से किया जाता था। आपस्तंब न चैत्र पूर्णिमा इसके लिये उचित तिथि मानी है। मूर्धाभिषिक्त राजा यजमान के रूप में मंडप में प्रवेश करता था और उसके पीछे उसकी चारों पत्नियाँ सुसज्जित वेश में गले में सुनहला निष्क पहनकर अनेक दासियों तथा राजपुत्रियों के साथ आती थीं। इनके पदनाम थे : (क) महिषी (राजा के साथ अभिषिक्त पटरानी), (ख) वावाता (राजा की प्रियतमा), (ग) परिवृक्त्री (परित्यक्ता भार्या) तथा (घ) पालागली (हीन जाति की रानी)। अश्वमेध का घोड़ा बड़ा ही सुडौल, सुंदर तथा दर्शनीय चुना जाता था। उसके शरीर पर श्याम रंग की चौरी होती थी। पास के तालाब में उसे विधिवत् स्नान कराकर इस पावन कर्म के लिये अभिषिक्त किया जाता। तब वह सौ राजकुमारों के संरक्षण में वर्ष भर स्वच्छंद घूमने के लिये छोड़ दिया जाता था। अश्व की अनुपस्थिति में तीन इष्टियाँ प्रतिदिन सवितृदेव के निमित्त दी जाती थीं और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जाति के वीणावादक स्वरचित पद्य प्रतिदिन राजा की स्तुति में वीणा बजाकर गाते थे। प्रतिदिन पारिप्लव (विशिष्ट आख्यान) का

पारायण किया जाता था। एक साल तक निर्विघ्न घूमने के बाद जब घोड़ा सकुशल लौट आता था तब राजा दीक्षा ग्रहण करता था। अश्वमेध तीन सुत्या दिवसों का अहीन याग था। 'सुत्या' से अभिप्राय सोमलता को कूटकर सोम रस चुलाने से था (सवन, अभिषव)। इसमें बारह दीक्षाएँ, बारह उपसद और तीन सुत्याएँ होती थीं। इक्कीस अरत्नि ऊँचे इक्कीस यूप प्रस्तुत किए जाते थे।

दूसरा सुत्यादिवस प्रधान और विशेष महत्वशाली होता था। उस दिन अश्वमेधीय अश्व को अन्य तीन घोड़ों के साथ रथ में जोतकर तालाब में स्नान कराया जाता था। रानियाँ उसके शरीर में घी मलती थीं। तब वह अश्व विषप्रयोग से मारा जाता था। रानियाँ बाईं से दाहिनी और दाहिनी से बाईं ओर उसकी प्रदक्षिणा करती थीं। शव के पास अभिषिक्त रानी लेटती थी। अध्वर्यु दोनों को कपड़े से ढक देता और रानी घोड़े के साथ संभोग करती सी दर्शायी जाती। इस अवसर पर चारों ऋत्विज् रानियों के साथ अश्लील कथोपकथन में प्रवृत्त होते थे। अश्व की वसा निकालकर अग्नि में हवन करते थे और **ब्रह्मोद्य** की चर्चा होती थी। ब्रह्मोद्य से तात्पर्य गूढ़ पहेलियों का पूछना और बूझना होता है। तब राजा व्याघ्रचर्म या सिंहचर्म पर बैठता था। तीसरे दिन उपांग याग होते थे और ऋत्विजों को भूरि दक्षिणा दी जाती थी। होता, ब्रह्मा, अध्वर्यु तथा उद्गाता को पूरब, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशाओं में विजित देशों की संपत्ति क्रमशः दक्षिणा में दी जाती थी और अश्वमेध समाप्त हो जाता था।

महत्व—अश्वमेध एक प्रतीकात्मक याग है जिसके प्रत्येक अंश का गूढ़ रहस्य है। ऐतरेय ब्राह्मण में अश्वमेधयागी प्राचीन चक्रवर्ती नरेशों का बड़ा ही महत्वशाली ऐतिहासिक निर्देश है। ऐतिहासिक काल में भी ब्राह्मण राजाओं ने या वैदिकधर्मानुयायी राजाओं ने अश्वमेध का विधान बड़े ही उत्साह के साथ किया। राजा दशरथ तथा युधिष्ठिर के अश्वमेध प्राचीन काल में संपन्न हुए कहे जाते हैं। द्वितीय शती ई० पू० में ब्राह्मण पुनर्जागृति के समय शुंगवंशी ब्राह्मणनरेश पुष्यमित्र ने दो बार अश्वमेध किया था, जिसमें महाभाष्यकार पतंजलि स्वयं उपस्थित थे (इह पुष्यमित्रं याजयामः)। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने भी चौथी सदी ई० में अश्वमेध किया था जिसका परिचय उनकी अश्वमेधीय मुद्राओं से मिलता है। दक्षिण के चालुक्य और यादव नरेशों ने भी यह परंपरा जारी रखी। इस परंपरा के पोषक सबसे अंतिम राजा, जयपुर के महाराज सवाई जयसिंह प्रतीत होते हैं, जिनके यज्ञ का वर्णन कृष्ण कवि ने 'ईश्वरविलास काव्य' में तथा महानंद पाठक ने अपनी 'अश्वमेधपद्धति' में (जो किसी राजेंद्र वर्मा की आज्ञा से संकलित अपने विषय की अत्यंत विस्तृत पुस्तक है) किया है। युधिष्ठिर के अश्वमेध का विस्तृत रोचक वर्णन 'जैमिनि अश्वमेध' में मिलता है।

सं० ग्रं०—डा० कीथ : रिलिजन ऐंड फिलॉसफी ऑव वेद ऐंड उपनिषद् (द्वितीय भाग), लंदन, १९२५; काणे : हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, (खंड २, भाग २), पूना, १९४१। [ब० उ०]

अश्ववंश खुरवाले चौपायों का एक वंश है जिसे लैटिन में इक्विडी कहते हैं। इस वंश के सब सदस्यों में खुरों की संख्या विषम (ताक)—एक अथवा तीन—रहने से इनको विषमांगुल (पेरिसोडैक्टिल) कहते हैं। अश्ववंश में केवल एक प्रजाति (जीनस) है, जिसमें घोड़े, गदहे और जेबरा हैं। इनके अतिरिक्त इस प्रजाति में वे सब लुप्त जंतु भी हैं जो घोड़े के पूर्वज माने जाते हैं। अन्य विषमांगुल जीवों—गैंडों और टेपिरों—की अपेक्षा अश्ववंश के जंतु अधिक छरहरे और फुर्तीले शरीर के होते हैं। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि आरंभ में घोड़े भी मंदगामी और पत्ती खानेवाले जीव थे। जैसे जैसे नीची पत्तियों की कमी पड़ती गई वैसे वैसे घोड़े अधिकाधिक घास खाने लगे। तब उनके दाँतों का विकास इस प्रकार हुआ कि वे कड़ी कड़ी घासें अच्छी तरह चबा सकें। इधर भेड़िये आदि हिंसक जीवों से बचने के लिये उनके चारों पैरों की अंगुलियों का तथा टाँग और सारे शरीर का ऐसा विकास हुआ कि वे वेग से भागकर अपने को बचा सकें। इस प्रकार उनके पैरों की अगल बगलवाली अंगुलियाँ छोटी होती गईं और बीच की अंगुली एकल खुर में परिणत हो गई। भूमि में मिले जीवाश्मों से इस सिद्धांत का पूरा समर्थन होता है। घोड़े की प्राचीनतम ठटरी जीवाश्म (फ़ॉसिल) के रूप में प्रादिनूतन युग के आरंभ के पत्थरों में मिलती है। तब घोड़े आजकल की लोमड़ी के बराबर होते थे, उनके अगले पैरों में पाँच अंगुलियाँ होती थीं, पिछले में तीन। चौभड़ शरीर के आकार के अनुपात में छोटे क्षेत्रफल के होते थे और सामने के दाँत भी छोटे और सरल होते थे। प्रादिनूतन काल के आरंभ से आज तक लगभग साढ़े पाँच करोड़ वर्ष बीत चुके हैं (देखें **अतिनूतन युग** शीर्षक लेख का चित्र)। इस दीर्घकाल में घोड़ों के अनेक जीवाश्म मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि घोड़ों
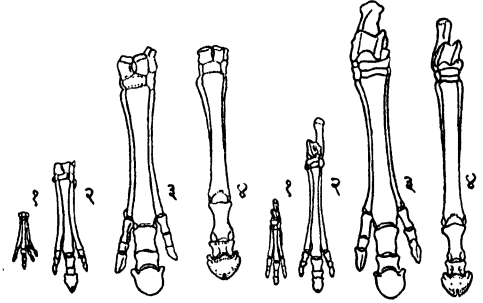
घोड़े के खुरों का उद्भव

बाईं ओर अगले और दाहिनी ओर पिछले पैरों का क्रमिक विकास दिखाया गया है।

के दातों में और टाँगों में तथा खुरों में किस प्रकार क्रमिक विकास होकर आज का सुंदर, पुष्ट, तीव्रगामी और घास चरनेवाला घोड़ा उत्पन्न हुआ है। मध्यप्रादिनूतन युग में अगले पैर की पाँचवीं अंगुली बेकार नहीं हुई थी, परंतु चौभड़ कुछ चौड़े अवश्य हो गए थे। आदिनूतन युग में चौभड़ के बगलवाले दाँत भी चौभड़ की तरह चौड़े हो चले थे। सामने के टाँग की अंगुलियों में केवल तीन ही अंगुलियाँ काम कर पाती थीं, अगल बगल की अंगुलियाँ इतनी छोटी हो गई थीं कि वे भूमि को छू भी नहीं पाती थीं। बीच की अंगुली बहुत मोटी और पुष्ट हो गई थी। मध्यनूतनयुग में दाँत पहले से बड़े हो गए और चौभड़ के बगलवाले दाँत चौभड़ की तरह हो गए। सामने के पैर की बीचवाली अंगुली खुर में बदल गई और अगल बगल की कोई अंगुली भूमि को नहीं छू पाती थी।

आदिनूतन युग में दाँत और लंबे हो गए और उनकी आकृति आधुनिक घोड़ों के दाँतों की तरह हो गई। सामने का खुर और भी बड़ा हो गया और अगल बगल की अंगुलियाँ अधिक छोटी और बेकार हो गईं।

प्रादिनूतन युग में घोड़ा आधुनिक घोड़े की तरह हो गया। उसके जीवाश्म उस युग के पत्थरों में अमरीका में मिले हैं। इस काल से पीछे के पत्थरों में घोड़े के जीवाश्म भारत तथा एशिया के अन्य भागों और अफ्रीका में बहुतायत से मिले हैं।
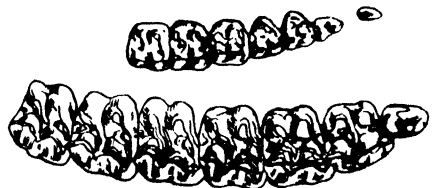
घोड़े के दाँतों का विकास

ऊपर के चित्र में प्राचीन घोड़े के छोटे तथा सीमेंट विहीन चौभड़ दिखाए गए हैं। नीचे आधुनिक घोड़े के पूर्ण विकसित तथा सीमेंट से आवृत चौभड़ दिखाए गए हैं।

जब तक दाँतों और खुरों का विकास होता रहा तब तक शरीर के आकार में भी वृद्धि होती रही। ग्रीवा की कशेरुका (रीढ़) और मुख की ओर की खोपड़ी भी बढ़ती गई; इसलिये घोड़े की आकृति भी बदलती गई।

ऊपर के वर्णन में सर्वत्र घोड़ा शब्द प्रयुक्त हुआ है, परंतु वैज्ञानिकों ने प्रत्येक युग, या युग के प्रमुख खंड, के अश्ववंशीय जंतु को विशेष नाम दे रखा है। विकास के क्रम में कुछ नाम ये हैं : इयोहिपस, ग्रोरोहिपस, एपिहिपस, मेसोहिपस, मायोहिपस, पैराहिपस, मेरीकिपस, प्रोटोहिपस, प्लायोहिपस, प्लेसिपल और ईक्वस। ये नाम विकासक्रम की सरल वंशावली के हैं, जिसके सब सदस्य उत्तरी अमरीका में पाए गए हैं। प्रोटोहिपस की एक शाखा दक्षिण अमरीका पहुँची और दूसरी शाखा एशिया में पहुँची। ये शाखाएँ कुछ समय में समाप्त हो गईं। ईक्वस की एक शाखा एशिया में पहुँची जिससे जेबरा, गदहा और घोड़ा विकसित हुए। अमरीका के मूल ईक्वस लुप्त हो गए। [श० ध० च०]

अश्विनीकुमार अश्वदेव, प्रभात के जुड़वें देवता द्यौस के पुत्र, युवा और सुदर। इनके लिये 'नासत्यौ' विशेषण भी प्रयुक्त होता है। इनके रथ पर पत्नी सूर्या विराजती है और रथ की गति से सूर्या की उत्पत्ति होती है। ये देवचिकित्सक और रोगमुक्त करनेवाले हैं। इनकी उत्पत्ति निश्चित नहीं कि वह प्रभात और संध्या के तारों से है या गोधूली या अर्ध प्रकाश से। परंतु उनका संबंध रात्रि और दिवस के संधिकाल से ऋग्वेद ने किया है। उनकी स्तुति ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में की गई है। वे कुमारियों को पति, वृद्धों को तारुण्य, अंधों को नेत्र देनेवाले कहे गए हैं। महाभारत के अनुसार नकुल और सहदेव उन्हीं के पुत्र थे। [ओ० ना० उ०]

अष्टछाप हिंदी साहित्य के निम्नलिखित आठ कृष्णभक्त कवियों का वर्ग 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध है : कुंभनदास (गोरवा क्षत्रिय, जन्मस्थान जमुनावतो, गोवर्धन), सूरदास (सारस्वत ब्राह्मण, जन्मस्थान सीही), परमानंददास (कान्यकुब्ज ब्राह्मण, जन्मस्थान कन्नौज) कृष्णदास अधिकारी (कुनबी शूद्र), जन्मस्थान चिलोतरा, अहमदाबाद, गुजरात), नंददास (सनाढ्य ब्राह्मण, जन्मस्थान रामपुर, एटा), चतुर्भुजदास (गोरवा क्षत्रिय, कुंभनदास जी के पुत्र), गोविंद स्वामी (सनाढ्य ब्राह्मण, जन्मस्थान आँतरी, भरतपुर), छीतस्वामी (चौबे मथुरिया ब्राह्मण, जन्मस्थान मथुरा)। इनमें से प्रथम चार कवि श्री वल्लभाचार्य (सं० १५३५ से सं० १५८७ वि० तक) के शिष्य थे और अंतिम चार आचार्य वल्लभ के उत्तराधिकारी पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ (सं० १५७२ से सं० १६४२ तक) के। ये आठों भक्तकवि गो० विट्ठलनाथ के सहवास में (लगभग सं० १६०६ वि० से सं० १६३५ वि० तक) एक दूसरे के समकालीन रहे और ब्रज में गोवर्धन पर स्थित श्रीनाथ जी के मंदिर में कीर्तनसेवा और भगवद्भक्ति विषयक पद रचा करते थे। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपने संप्रदाय के परम भक्त, उत्कृष्ट कवि और उच्च कोटि के संगीतज्ञ इन आठ महानुभावों पर प्रशंसा और वैशिष्ट्य की मौखिक छाप लगाई। तभी से आठों भक्तों का वर्ग 'अष्टछाप' कहलाने लगा। इस बात का प्रमाण वल्लभ संप्रदायी वार्ता साहित्य में मिलता है। ये आठों कवि श्रीकृष्ण के आठ सखाओं की अनुरूपता में अष्टसखा भी कहलाते हैं। ब्रजभाषा को समृद्ध काव्यभाषा का रूप देने का श्रेय इन्हीं आठ कवियों को है। इनके काव्य का मुख्य विषय श्रीकृष्ण की भावपूर्ण लीलाओं का चित्रण है। सूरदास ने यद्यपि भागवत की संपूर्ण कथा का अनुसरण किया है, परंतु इन्होंने आनंदरूप व्रजकृष्ण के चरित्रों का तन्मयता से चित्रण किया है। मानव जीवन में बाल्य और किशोर, दो ही अवस्थाएँ आनंद और उल्लास से पूर्ण होती है। इसलिये इन अष्टभक्तों ने कृष्णजीवन के आधार पर जीवन के इन्हीं दो पहलुओं पर अधिक लिखा है। सौंदर्य और प्रेम की रसमयी धारा समान रूप से इनके संपूर्ण काव्य में प्रवाहित है। परंतु सूर के काव्य में हृदयग्राहिणी शक्ति अधिक है, उसमें सार्वजनिक प्रेमानुभूतियों का सजीव और स्वाभाविक रसपूर्ण चित्रण है।

सांसारिक प्रेम की मनोवृत्तियों को संसार के आलंबनों से समेटकर इन भक्तों ने अलौकिक नायक परब्रह्म श्रीकृष्ण को अर्पित किया है। चित्त की बहुमुखी वृत्ति को रसरूप कृष्ण में लगाकर उसका निरोध किया है, यही इनकी आध्यात्मिक साधना है। दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य, इन चार भावो के प्रीतिसंबंधों में से एक न एक के द्वारा उन्होंने ईश्वर की आराधना की है। सूरदास ने इन चारों भावों को अपने प्रेम-भक्ति-काव्य में प्रमुखता दी है। परमानंददास ने वात्सल्य, सख्य और कांता भावों को लिया है, अन्य छः कवि कांता भाव के प्रेम में विभोर थे और इसी का उनके काव्य में अधिक चित्रण है।

अष्टछाप भक्त केवल पदरचयिता कवि ही न थे, वे उच्च कोटि के संगीतकार भी थे, संगीत इनका एक आध्यात्मिक साधन था। साधनस्वरूप नवधा भक्ति के प्रकारों में कीर्तन भी भक्ति का एक प्रकार है। अष्टछाप के कृष्णभक्तों ने मन की तल्लीनता और चित्त की एकाग्रता के लिये संगीत की स्वरलहरी में अपने चित्त की वृत्तियों को रमाया है। अष्टछाप कवियों की रचनाओं में संगीत के साथ, साहित्य और अध्यात्म दोनों का समन्वय है। अकबरी दरबार के प्रसिद्ध गवैए तानसेन, बैजू, रामदास, मानसिंह आदि अष्टछाप के समकालीन थे। उस समय अष्टछाप के कुंभनदास 'ध्रुपद' गायकी के लिये और गोविंदस्वामी 'धमार' गायकी के लिये प्रसिद्ध थे। '२५२ वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है कि तानसेन ने धमार गायन गोविंदस्वामी से सीखा था।

सूरदास और परमानंददास के काव्य में प्रेम की व्यंजना सत्य और सौंदर्य की चरम सीमा तक पहुँची हुई है। उनके भावों में सार्वजनीनता है। ब्रह्मानंद सहोदर काव्यानंद की रसप्रवाहिनी शक्ति अंधे सूरदास में अद्वितीय है। बालमनोविज्ञान और मातृहृदय का पारखी जैसा कवि सूरदास है वैसा आधुनिक भारतीय भाषाओं में कोई कवि नहीं हुआ। सूरदास के वात्सल्य और विरह के पद अनुपम हैं। जैसा ऊपर कहा गया है, अष्टछाप काव्य ब्रजभाषा में रचा गया है। उसमें भावमयता, सजीवता और स्वाभाविक अलंकारिता है। सजीव शब्दचित्र के अंकन में सूरदास, परमानंददास और नंददास की कला अधिक कुशल है। इनकी भाषा में चित्रमयता के गुण के साथ साथ, सरसता, सुकुमार प्रभावात्मकता और संगीतात्मक लयता है। भावानुकूल शब्दो के प्रयोग के लिये नंददास बहुत प्रसिद्ध हैं। भाषा के लालित्य के कारण नंददास के विषय में कथन प्रसिद्ध है :

और सब गढ़िया, नंददास जड़िया।

अष्टछाप के सभी कवि भक्तिपद्धति की दृष्टि से पुष्टिमार्गीय तथा दार्शनिक विचारधारा की दृष्टि से शुद्धाद्वैतवादी थे। अष्टछाप के प्रत्येक भक्त कवि की प्रामाणिक रचनाओं के नाम निम्नलिखित हैं :

१. सूरदास : सूरसागर, सूरसारावली, दृष्टकूट के पद (साहित्यलहरी); २. परमानंददास : परमानंदसागर; ३. कुंभनदास : पद-संग्रह; ४. कृष्णदास : पदसंग्रह; ५. नंददास : रसमंजरी, अनेकार्थमंजरी, मानमंजरी (अथवा नाममाला), रूपमंजरी, विरहमंजरी, श्यामसगाई, दशम स्कंध भाषा, गोवर्धनलीला, सुदामाचरित, रुक्मिणीमंगल, रासपंचाध्यायी, सिद्धांतपंचाध्यायी, भँवरगीत, पदावली; ६. चतुर्भुजदास : पदसंग्रह; ७. गोविंदस्वामी : पदसंग्रह; ८. छीतस्वामी : पदसंग्रह।

सं० ग्रं०—चौरासी वैष्णवन की वार्ता (गोकुलनाथ जी तथा हरिराय जी), दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (गोकुलनाथ जी तथा हरिराय जी), अष्टसखान की वार्ता, भक्तमाल (नाभादास), अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय (दीनदयालु गुप्त), अष्टछाप (धीरेंद्र वर्मा)।

[दी० द० गु०]

अष्टधातु आठ धातुओं का संप्रदाय जिसमें सोना, चाँदी, ताँबा, राँगा, जस्ता, सीसा, लोहा तथा पारा (रस) की गणना की जाती है। एक प्राचीन श्लोक में इनका निर्देश यों किया गया है :

स्वर्णं रूप्यं ताम्रं च रंगं यशदमेव च।
शीसं लौहं रसश्चेति धातवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः।

सुश्रुतसंहिता में केवल प्रथम सात धातुओं का ही निर्देश देखकर आपाततः प्रतीत होता है कि सुश्रुत पारा (पारद, रस) को धातु मानने के पक्ष में नहीं हैं, पर यह कल्पना ठीक नहीं। उन्होंने रस को धातु भी अन्यत्र माना है (ततो रस इति प्रोक्तः स च धातुरपि स्मृतः)। अष्टधातु का उपयोग प्रतिमा के निर्माण के लिये भी किया जाता था, तब रस के स्थान पर पीतल

का ग्रहण समझना चाहिए; भविष्यपुराण के एक वचन के आधार पर हेमाद्रि का ऐसा निर्णय है। [ब० उ०]

अष्टपाद (ऐरैकनिडा) संधिपदा (आर्थोपोडा) प्राणि समुदाय (फ़ाइलम) की एक श्रेणी है जिसके अंतर्गत नृप केकड़ा, मकड़ी, बिच्छू, अलिपिकाएँ (माइट) तथा किलनी या चिचड़ियाँ (टिक) आती हैं। इनमें चलने के लिये आठ टाँगें होती हैं, इसीलिये ये अष्टपाद कहलाते हैं। अष्टपाद श्रेणी के सदस्य कीट श्रेणी के सदस्यों से भिन्न होते हैं। अष्टपादों की निम्नलिखित रचनात्मक विशेषताएँ हैं :

शरीर दो मुख्य भागों में विभक्त होता है। शिर तथा वक्ष दोनों के विलीयमान होने से अग्रभाग शिरोर (सेफ़ालोथोरैक्स) तथा पश्चभाग उदर कहलाता है, आँखें सरल होती हैं जिनकी संख्या २ से १२ तक होती है, शिरोर में छः जोड़े अनुबंध (शरीर से जुड़े अंश) होते हैं, जिनमें प्रथम दो जोड़े ग्राहिका (केलिसेरा) और पादस्पर्शश्रृंग (पेडिपैल्पस) के होते हैं। ये शिकार को घेरने तथा पकड़ने के काम आते हैं और अन्य शेष चार जोड़े चलनेवाली टाँगें होती हैं। सभी अष्टपाद भोजन को चूसकर खानेवाले प्राणी होते हैं, अतएव उनमें हन्विकाएँ (मैंडिबुल्स अथवा जबड़े) विद्यमान नहीं होतीं, स्पर्शक (ऐंटेनी) का अभाव होता है तथा अधिकांश में उदर पर कोई अनुबंध नहीं होता।

श्वास प्रायः पुस्तक फुफ्फुस (बुक लंग्स) द्वारा लिया जाता है (पुस्तक फुफ्फुस एक प्रकार का कोष्ठकमय श्वासपथ है। ये कोष्ठक औदरिक तल पर गड्ढों में स्थित रहते हैं; उनमें पुस्तक के पृष्ठों की भाँति कई पतले पत्रक होते हैं जिनमें होकर रक्त का परिभ्रमण होता रहता है)। इस समुदाय के सदस्य प्रायः मांसाहारी होते हैं। बिच्छू में विषग्रंथियाँ होती हैं, जो एक खोखले डंक से संबद्ध रहती हैं।

अष्टपादों की कई जातियाँ अत्यंत प्राचीन शिलाओं में जीवाश्म के रूप में पाई गई हैं। वे निःसंदेह प्रवालादि युग (सिल्यूरियन पीरियड) में प्रायः आज की सी ही आकृति में विद्यमान थीं। अष्टपादों की लगभग ६०,००० जातियाँ (स्पीशीज़) हैं।

अष्टपाद श्रेणी निम्नलिखित नौ मुख्य वर्गों में विभाजित की जा सकती है : (१) स्कॉर्पियोनाइडिया (बिच्छू वर्ग); (२) पेडीपालपाइडा (ह्विप स्कॉर्पियन, चाबुकदार बिच्छू); (३) ऐरेनिडा अथवा मकड़ियाँ; (४) पाल्पीग्रेडी अथवा कीनेनिया; (५) सोलीफ़्यूगी अथवा केलोनेथी अर्थात् वायुबिच्छू; (६) स्युडोस्कॉर्पियोनाइडिया या मिथ्या बिच्छू या पुस्तक बिच्छू; (७) रिसिन्युलिआइ या क्रिप्टोसिलस; (८) फैलेनजाइडिया या लवन मकड़ियाँ; (९) ऐकैरीना (अलिपिकाएँ, किलनियाँ या चिचड़ियाँ)। इनके अतिरिक्त दो अन्य संदेहात्मक वर्ग (१०) ज़िफोसुरा या नृप केकड़ा (किंग क्रैब) और (११) इउरीटेरिडा हैं।

चित्र १. बिच्छू

वर्ग (१). स्कॉर्पियोनाइडिया (बिच्छू वर्ग)—इस वर्ग के अंतर्गत वे अष्टपाद आते हैं जिनका शरीर दो भागों, एक निरंतर शिरोर तथा दूसरा उदर, में बँटा होता है। उदर का अग्रभाग सात चौड़े खंडों का तथा पश्चभाग पाँच संकीर्ण खंडों का और अंतिम पुच्छीय खंड डंक या पुच्छकंटकयुक्त होता है। ग्राहिकाएँ छोटी और नखरी (कीलेट, नख की तरह) होती हैं; पादस्पर्शश्रृंग बड़े तथा नखरयुक्त होते हैं। अग्र उदर के दूसरे खंड के पृष्ठभाग में एक जोड़े कंघी के सदृश कंकतांग (पेक्टिस) होते हैं। श्वसनकार्य चार जोड़े पुस्तक फुफ्फुसों द्वारा होता है। पुस्तक फुफ्फुस अग्र उदर के तीसरे, चौथे, पाँचवें तथा छठे खंडों में स्थित रहते हैं।
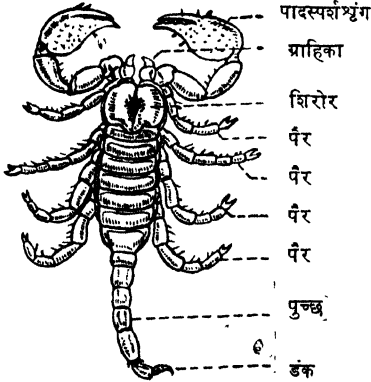
इस वर्ग के अंतर्गत बिच्छू आते हैं जिनका वर्णन अन्यत्र किया गया है (देखें **बिच्छू**)।

वर्ग (२). पेडीपालपीडा—ये वे अष्टपाद हैं जिनका शरीर प्रायः अखंड शिरोर तथा नौ से लेकर बारह चिपटे उदर खंडों तक का बना होता है; उदर शिरोर से एक संकीर्ण ग्रीवा द्वारा जुड़ा रहता है; ग्राहिकाएँ सरल और पादस्पर्शश्रृंग भी सरल एवं नखरी होते हैं। प्रथम जोड़े पाद के अंतिम सिरे पर बहुसंधित कषा (चाबुक या कोड़ा) होती है। उदर के दूसरे तथा तीसरे खंडों में स्थित दो जोड़े पुस्तक फुफ्फुस ही श्वसन के अवयव होते हैं।

चित्र २. मकड़ी
(एरेनिया डायेडिमाटा)
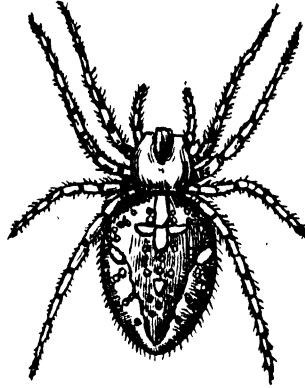
इस वर्ग के अंतर्गत फ़ाइनिकस (बिच्छू-मकड़ियाँ) आती हैं।

वर्ग (३). ऐरेनिडा—इस वर्ग के उदाहरण मकड़ियाँ हैं, जिनका वर्णन अन्यत्र किया गया है (देखें **मकड़ी**)।

वर्ग (४). पाल्पीग्रेडी—ये वे अष्टपाद हैं जिनके शिरोर के अंतिम दो खंड स्वतंत्र होते हैं, उदर दस खंडों में विभक्त होता है और शिरोर से ग्रीवा द्वारा जुड़ा होता है; पुच्छ-कंटक लंबे संधित कषा (फ़्लगेलम) के आकार का होता है। ग्राहिकाएँ नखरी तथा पादस्पर्शश्रृंग पाद के सदृश होते हैं। श्वसन अवयव तीन जुड़े पुस्तक फुफ्फुसों का होता है।

इस वर्ग के अंतर्गत कोनेनिया आता है।

वर्ग (५). सोलिफ्यूजी—ये वे अष्टपाद हैं जिनका शरीर तीन भागों में, सिर, वक्ष (तीन खंडों का) तथा उदर (दस खंडों) में बँटा रहता है। ग्राहिका नखरी होती है; पादस्पर्शश्रृंग लंबे तथा पाद जैसे होते हैं। श्वसन अंग श्वासप्रणाल (ट्रैकिई) ही होता है।

चित्र ३. मकड़ी और उसका जाला

इसी वर्ग के अंतर्गत गेलियोडिस आता है।
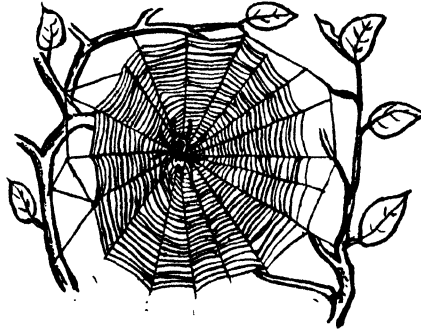
वर्ग (६). स्युडोस्कॉर्पियोनाइडा (मिथ्या बिच्छू [अथवा कैलोनेथी)—वे अष्टपाद हैं जिनमें शिरोर लगातार (अटूट) होता है, परंतु कभी कभी पृष्ठ भाग में दो अनुप्रस्थ कुल्या (ग्रूव्ज़) द्वारा विभाजित होता है। उदर बारह खंडों में विभाजित रहता है, किंतु वह अग्र तथा पश्च उदर में बँटा नहीं रहता और डंक रहित होता है। ग्राहिकाएँ बहुत छोटी और पादस्पर्शश्रृंग बिच्छू जैसे होते हैं।

श्वसन कार्य श्वासप्रणाली द्वारा होता है। एक जोड़ा कातनेवाली ग्रंथियाँ वर्तमान रहती हैं।

इस वर्ग के अंतर्गत पुस्तक-बिच्छू अथवा केलीफ़र आते हैं।

खाद के ढेरों, लकड़ी की दरारों तथा इसी प्रकार के स्थानों में एक विस्तृत तथा रोचक, छोटी मकड़ियों का वर्ग मिलता है। ये मिथ्या-बिच्छू हैं जो अपने को छिपाए रहते हैं और फलस्वरूप बहुत कम लोगों के देखने में आते हैं। इनमें स्पर्शश्रृंग बड़े होते हैं जो आक्रमण के अस्त्र का काम देते हैं। इनके कारण ही य बिच्छू जैसे प्रतीत होते हैं। इनका उदर वलयी होता है और ये कीटों तथा अल्पिकाओं का आहार कर अपना जीवनयापन करते हैं। अंडे तथा बच्चों को माँ साथ लिए फिरती है। शरद् ऋतु में वयस्क मिथ्या बिच्छू रेशम का घोंसला बनाकर उसी में आश्रय लेता है (देखिए चित्र ५)।
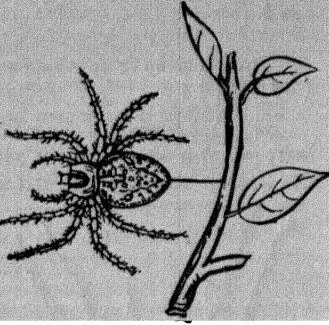
चित्र ४. मकड़ी

वर्ग (७). रिसिन्यूलिआइ—इस वर्ग के अंतर्गत वे अष्टपाद आते हैं जिनका शिरोर अटूट प्रकार का होता है। इनके अग्रभाग में एक चलायमान प्रलंब अंग होता है जिसे कुकुलस कहते हैं; उदर ग्रीवा द्वारा शिरोर से जुड़ा रहता है; उदर में यद्यपि चार ही खंड प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं, तो भी यथार्थ में नौ होते हैं। ग्राहिकाएँ तथा पादस्पर्श शृंग नखर होते हैं। श्वासोच्छ्वास श्वासप्रणाल द्वारा होता है।

इस वर्ग के उदाहरण क्रिप्टोसिलस हैं।

वर्ग (८). फ़ैलेनजाइडा—ये वे अष्टपाद हैं जिनका शिरोर अखंडित होता है और उदर दस खंडों का तथा शिरोर से सीधा जुड़ा रहता है। इनकी ग्राहिकाएँ नखर होती हैं और पादस्पर्शशृंग पाद जैसे होते हैं। श्वसन अवयव श्वासप्रणाल का बना होता है। इनमें कताई की किसी प्रकार की ग्रंथियाँ विकसित नहीं होतीं।
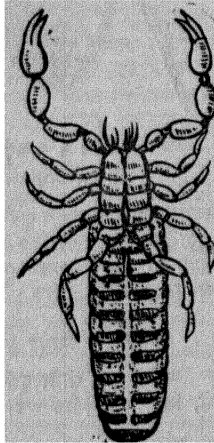
चित्र ५. मिथ्या बिच्छू
(केलीफ़र लेट्रीलाई)

इस वर्ग के अंतर्गत लवन मकड़ियाँ (हार्वेस्टर स्पाइडर्स) आती हैं।

हार्वेस्टर, हार्वेस्टमेन अथवा लवन-मकड़ियाँ लंबी टाँगोंवाले, बहुत ही व्यापक, मकड़ी के आकार के प्राणी हैं। वे केवल खेतों में पाए जाते हैं। वे अपने शिकार कीट, मकड़ी तथा अल्पिकाओं का पीछा करते हैं, इसलिये वे जाल का निर्माण नहीं करते। इनका शरीर मकड़ियों से भिन्न और ठोस गोलाकार होता है। मैथुन ऋतु में मादा के लिये नर आपस में लड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। मादा पत्थरों के नीचे अथवा जमीन में बिल के भीतर अंडे देती है। बच्चे उत्पन्न होने पर वे माँ बाप की आकृति के होते हैं।

वर्ग (९). एकेराइना—ये वे अष्टपाद हैं जिनका शरीर खंडों में विभाजित दृष्टिगोचर नहीं होता। मुखांग काटने अथवा छेदने और चूसने के उपयुक्त बना रहता है। श्वसन अवयव जब वर्तमान रहता है तब श्वासप्रणाल के रूप में होता है।

इस वर्ग के उदाहरण अल्पिकाएँ (माइट) तथा चिचड़ियाँ या किलनियाँ (टिक) हैं।

अल्पिकाएँ—अल्पिकाएँ सारे संसार में विपुल संख्या में पाई जाती हैं। आर्थिक दृष्टि से इनका भी उतना ही महत्व है जितना मकड़ियों का। साधारणतः अल्पिकाएँ बहुत ही सूक्ष्म प्राणी होती हैं और इनका अध्ययन अणुवीक्षण यंत्र द्वारा ही हो सकता है। अनेक अल्पिकाओं के शरीर के विभिन्न खंडों में बहुत कम अंतर रहता है। अल्पिकाओं का शरीर कीटों की भाँति अलग अलग खंडों में विभक्त नहीं होता। मुखांग चबाने, काटने तथा चूसनेवाले होते हैं। अल्पिकाएँ किलनियों से छोटी होती हैं। ये स्वतंत्र रूप से रहनेवाली और परोपजीवी, दोनों प्रकार की होती है। अल्पिकाएँ ताजे या गले सड़े काबनिक पदार्थों को खाती हैं। खुजली की अल्पिकाएँ मनुष्य में खुजली उत्पन्न कर देती हैं (देखें चित्र ६, जो वास्तविक से लगभग २००गुने पैमाने पर बना है)। इन्हीं से संबंधित एक जाति कुत्तों में खुजली उत्पन्न करती है। अल्पिकाओं का स्वभाव एक दूसरे से भिन्न होता है और स्वभाव के अनुकूल इनके शरीर की रचना में भी प्रायः बहुत भिन्नता होती है। भोजन के अनुसार मुखांग विशेष रूप से भिन्न होते हैं। वासस्थान के अनुसार इनके पैर की रचना में भी विशेषता रहती है। पैरों के अंतिम सिरे पर छोटे छोटे रोम या अंकुश चूषक होते हैं। अल्पिकाएँ या तो नेत्रहीन होती हैं, या एक या अनेक आँखोंवाली। इनके जीवन-इतिहास म प्रायः रूपांतरण होता है: प्रथम अंडा, बाद में डिंभ (लार्वा), जिसमें पैरों की संख्या कम होती है। पोतक (निंफ़) की अवस्था हो सकती है या नहीं भी। उसके बाद वयस्क अवस्था होती है। अल्पिकाएँ या तो स्वतंत्र बिचरनेवाली होती हैं और मिट्टी में, समुद्र में तथा नदियों और तालाबों में पाई जाती हैं अथवा दूसरे प्राणियों पर जीवननिर्वाह करनेवाली होती है।

थूथनयुक्त अल्पिकाओं (स्नाउट माइट्स) का शरीर मुलायम होता है। इनके पैर लंबे होते हैं और ये कीटों की तलाश में बड़ी तेजी से दौड़ती हैं। ये शीतल तथा आर्द्र स्थानों में रहती हैं और शरद ऋतु में गिरे पत्तों के नीचे पाई जाती हैं। कुछ अल्पिकाएँ, जैसे कर्तनक (कताईवाली) अल्पिकाएँ, रेशम की तरह तागा उत्पन्न करती हैं; कुछ अल्पिकाओं में चोंच होती है, जो सुई जैसी हन्विकाओं (मैंडिबुल्स) की बनी होती है। बड़े अनुबंध (अंग), जिनमें कंधे के समान नखर होते हैं, शिकार को पकड़ने के काम में लाए जाते हैं। कृषक किलनियाँ (हार्वेस्ट माइट) मनुष्य पर आक्रमण करती हैं। उनके काटने से त्वचा में बड़े जोर की खुजलाहट और जलन होती है। कटनी के दिनों में खेतों में कटनी करनेवाले प्रायः इनके शिकार हो जाते हैं। बगीचों में पाई जानेवाली लाल मकड़ी (बीरबहूटी) वस्तुतः बुननेवाली एक अल्पिका है। ये अधिक संख्या में होने पर पौधों की कोमल कलियों को क्षति पहुँचाती हैं। एक दूसरे प्रकार की बुनकर अल्पिकाएँ (वीवर माइट) चिड़ियों पर निर्वाह करनेवाली होती हैं।
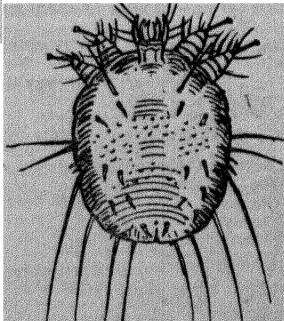
चित्र ६. खुजली की अल्पिका

ये उँगलियों के बीच घर कर लेती हैं। अंडे देने के लिये जब ये त्वचा में सुरंगें बनाती हैं, तो बड़ी खुजली होती है।

प्रायः सभी जल-अल्पिकाएँ मीठे जल में पाई जाती हैं, यद्यपि कुछ खारे जल में तथा कुछ समुद्र में भी पाई जाती हैं। वयस्क जल-अल्पिकाएँ प्रायः स्वतंत्र बिचरनेवाली होती हैं, किंतु एक प्रकार की जल-अल्पिका पराश्रयी होती है और शुक्तियों (सितुहियों) के गलफड़ों में पाई जाती है। ये अल्पिकाएँ हरे, नीले, पीले आदि अनेक सुंदर रंगों की होती हैं। अधिकांश में काले और पीले का संमिश्रण होता है। वे अन्य अल्पिकाओं की अपेक्षा बड़ी होती हैं। उनमें बहुत सी जल की तीव्र धारा में रहती हैं। कुछ अल्पिकाएँ सामाजिक होती हैं (अर्थात् समूहों में रहती हैं) और तालाबों के घास-पात के बीच पाई जाती हैं। ये मांसाहारी होती हैं। खुजलीवाली अल्पिकाएँ सारकोप्टिज़ स्केबीज़ कहलाती हैं और वे बहुधा अंगुलियों के बीच की कोमल त्वचा में रहती हैं। वे शरीर

के अन्य भागों में भी रह सकती हैं। मादा अल्पिकाएँ त्वचा में घुस जाती हैं और उन्हीं में अंडे देती हैं, किंतु नर त्वचा में घुसता नहीं और ऊपरी सतह पर स्वतंत्र होकर विचरण करता है। खुजली के प्रसार का कारण किसी एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में अल्पिकाओं का संक्रमण होता है। बहुधा हाथ मिलाकर अभिवादन करन से यह एक से दूसरे व्यक्ति में पहुँच जाती हैं (देखिए चित्र ६)।

डिमोडेक्स फ़ॉलिकुलेरम नामक अल्पिका मनुष्य के चेहरे में स्थित त्वग्वसा ग्रंथियों पर आश्रित रहती है। यह प्रायः कुत्तों की त्वचा में भी पाई जाती है। एकेरिश की एक जाति कुचला में, जो बड़े जानवरों के लिये बहुत ही विषैला सिद्ध होता है, पाई जाती है।

चित्र ७. गॉल-माइट (एरियो-फ़ाइस सिल्विकोला)।

भेड़ों में खुजली, सारकोटिस ओविस नामक अल्पिका द्वारा होती है। रोगग्रस्त भेड़ को किसी विषैले घोल में डुबोकर बाहर निकाल लेने से इस बीमारी से छुटकारा मिल सकता है।

कुछ अल्पिकाएँ पौधों पर रहती हैं और उनमें एक बीमारी, जिसे अंग्रेजी में गॉल कहते हैं, पैदा करती हैं (देखिए चित्र ७)।

किलनियाँ अथवा चिचड़ियाँ (**टिक्स**)—इनका अध्ययन मनुष्य के लिये बहुत ही रोचक है, क्योंकि ये सभी पराश्रयी होती हैं और पोषक (होस्ट) के रक्त पर निर्वाह करती हैं। ये रेतीले स्थानों में छोटी छोटी झाड़ियों तथा छोटे छोटे पौधों पर रहती हैं। इन स्थानों पर प्रत्येक किलनी छोटी किंतु बहुत क्रियाशील होती है। यह वहाँ बठनेवाली चिड़ियों के परों तथा स्तनधारियों की टाँगों के बालों में लग जाती है और अपने पैने मुखांगों से उनकी त्वचा को बेधकर रक्त चूसती है। संसार में अनेक प्रकार की किलनियाँ होती है, जो मुर्गों, गाय भैंसों, कुत्तों तथा मनुष्यों पर आश्रयी होती हैं। कई देशों में वे अनेक प्रकार के छोटे छोटे प्राणियों, जैसे गिलहरियों, पर भी निर्वाह करनेवाली होती हैं। किलनियाँ बीमारी के जीवाणुओं का प्रसार भी करती हैं, जैसे मनुष्य में टिक ज्वर तथा गाय भसों में एक विशेष प्रकार का ज्वर। वे खेतों में मिट्टी के भीतर हजारों की संख्या में अंडे देती हैं, जिनसे षट्पदधारी डिंभ (लार्वा) उत्पन्न होते है। ये घास पर चढ़कर, जमकर बैठ जाते हैं और तब तक बैठे रहते हैं जब तक कोई मनोनुकूल प्राणी उधर से नहीं निकलता। जब इस प्रकार का कोई प्राणी दिखाई पड़ता है तब वे उत्तेजित हो जाते हैं और प्राणी जब अधिक समीप पहुँच जाता है, ये घास छोड़कर उसकी त्वचा से चिपट जाते हैं। इस प्रकार पैर जमा लेने पर ये अपनी पैनी चोंच (चंचु) पोषक के मांस में घुसेड़ देते हैं और उसका रक्त चूसकर अपने शरीर की वास्तविक नाप से दुगुना फूल उठते हैं। जब भूख मिट जाती है तब ये पोषक से पृथक् होकर भूमि पर गिर जाते हैं। रक्त से फूले हुए होने के कारण ये चल फिर नहीं सकते, इसीलिये कई सप्ताहों तक इसी अवस्था में पड़े रहते है या भूमि के भीतर घुस जाते हैं। वहाँ विश्राम के साथ रक्त का पाचन करते हैं।

बाद म डिंभ (लार्वा) त्वचा (केंचुल) छोड़ देता है और तब वह पोतक (निंफ़) अवस्था में पदार्पण करता है। पोतक बन जाने पर एक बार फिर घास पर चढ़ जाता है और मनोनुकूल पोषक की प्रतीक्षा की पुनरावृत्ति करता है। पोषक के उपलब्ध हो जाने पर उससे चिपक और रक्त चूसकर पुनः पृथ्वी पर गिर पड़ता है। पुनः एक बार त्वचा छोड़ता है। पोतक के त्वचा छोड़ने के बाद वयस्क नर या मादा किलनी उत्पन्न होती है। ऐसी किलनियाँ किसी ऐसे तीसरे प्राणी की प्रतीक्षा करती है जिसके रक्त का वे शोषण कर सकें और जिसके ऊपर रहकर मैथुन कर सकें। मैथुन कर चुकने के बाद मादा पुनः धरातल पर गिर जाती है और अंडे देती है।

चित्र ८. किलनी या चीचड़ी

किलनियों का यह जीवन इतिहास जटिल है और उनके मरने की संभावना बहुत अधिक रहती है। वंश की संरक्षा मादा द्वारा बहुत बड़ी संख्या में अंडे दिए जाने से होता है (चित्र ८)।

वर्ग (१०) जिफ़ोस्यूरा—ये वे अष्टपाद हैं जिनका शिरोर एक चौड़े वर्म (कार्पेस) से ढका रहता है और उदर छः मध्यकाय (मेसोसोमैटिक) खंडों का तथा एक लंबे संकीर्ण पुच्छखंड अथवा डंकयुक्त पश्चकाय (मेटासोमा) का होता है। शिरोर भाग में एक जोड़ी ग्राहिका तथा पाँच जोड़े पाद होते हैं। उदर के अग्रभाग में जुड़े पट्ट (प्लेट) जैसे अनुबंध होते है जो गलफड़ पटल (ओपरक्युलम) है। इसके पीछे चिपटे तथा एक दूसरे पर चढ़े पाँच जोड़े अनुबंध होते हैं। श्वसन के अवयव परतों के आकार के गलफड़ (गिल्स) होते हैं, जो उदरीय अनुबंधों से जुड़े होते हैं।

इस वर्ग के अंतर्गत नृप केकड़े (किंग क्रैब) आते है। इन्हें लीमुलस अथवा अश्व-खुर केकड़ा (हॉर्स-शू क्रैब) भी कहते हैं।

नृप केकड़ा—इसका शरीर दो भागों में विभक्त होता है : शिरोर तथा उदर। शिरोर की आकृति घोड़े के खुर जैसी होती है और वह चौड़े वर्म से ढका रहता है। उदर कुछ कुछ षट्कोणाकार होता है जो एक लंबे पुच्छकंटक (कॉडल स्पाइन) में समाप्त होता है।

इसके अग्रखंड अथवा शिरोर में छः जोड़े अनुबंध लगे रहते हैं जिनमें प्रथम जोड़ा ग्राहिकाएँ होती हैं और अन्य पाँच जोड़े चलने के काम आते हैं। उदर पर सामने की ओर एक जोड़ा थाली जैसा अनुबंध लगा रहता है, जिससे मिलकर गलफड़-पटल बनता है। यह उत्तरी अमरीका, वेस्ट इंडीज तथा ईस्ट इंडीज़ में नदियों के मुहाने पर अथवा छिछली खाड़ियों में पाया जाता है। यह बालू में बिल बनाकर रहता है, किंतु पानी के नीचे कुछ चल भी सकता है और समुद्र के तल पर से कुछ दूर ऊपर तक भी उठ सकता है। इसका आहार समुद्री वलयी जंतु होते है (चित्र ९)।

चित्र ९. नृप केकड़ा

(प्रतिपृष्ठ दृश्य)

नृप केकड़े में कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो एक ओर तो अष्टपाद श्रेणी और दूसरी ओर कठिनि (क्रस्टेशिया) श्रेणी की शारीरिक रचना से मिलती जुलती हैं। कठिनि श्रेणी के सदृश इसके भी उदरीय खंड में पाँच जोड़े पट्ट (प्लेट) के समान बंधक (अपेंडेजेज़) होने हैं। जीवन-चक्र के विकास में एक अवस्था डिंभ की होती है। इसके डिंभ को

त्रिखंड डिंभ (ट्राइलोबाइट लार्वा) कहते हैं। इसका डिंभ कठिनि के डिंभ से मिलता जुलता है। नृप केकड़ा कठिनि तथा अष्टपाद श्रेणियों के बीच एक प्रकार की योजक कड़ी है। साधारण नृप केकड़े (पैरालिथोडीज़ कैमशैटिका) का मांस लोग खाते हैं। जापान और रूस में इनकी डिब्बाबंदी होती है और डिब्बाबंद मांस दूर दूर तक जाता है। ये केकड़े टाँग फैलाकर नापे जाने पर चार फुट तक के होते हैं।

वर्ग (११) इउरीटेरिडा—ये वे अष्टपाद हैं जिनमें अपेक्षाकृत शिरोर छोटा होता है। इसके पश्चात् बारह स्वतंत्र खंड और एक लंबा तथा संकीर्ण अंतिम खंड होता है। शिरोर में पाद सदृश एक जोड़ी ग्राहिकाएँ तथा पाँच जोडे पाद सदृश अन्य अनुबंध होते हैं, जिनमें चार जोड़े चलने के लिये होते हैं। बाह्य त्वचा पर विलक्षण प्रकार की नक्काशी होती है।

इस वर्ग के अंतर्गत प्राथमिक युग के बड़े बड़े इउरीटिरस नामक प्राणी आते हैं, जो अब लुप्त हो गए हैं।

सं०ग्रं०—टी० जे० पार्कर ऐंड विलियम ए हैसवेल : ए टेक्स्टबुक ऑव ज़ूऑलोजी, भाग १, ऑक्सफर्ड प्रेस, लिमिटेड, लंदन, (१९५१); जॉन हेनरी कॉम्सटाक : दि सायंस ऑव लिविंग थिंग्स; चंपतस्वरूप गुप्त : जंतुविज्ञान; डी० आर० पुरी : माध्यमिक प्राणिशास्त्र; रघुबीर : माध्यमिक प्राणिकी। [भृ० ना० प्र०]

अष्टबाहु (ऑक्टोपस) चूर्णप्रावार (मोलस्क) प्रसृष्टि (समूह) के जीव हैं। चूर्णप्रावार का अर्थ है चूने (कैल्सियम) से बने कड़े खोलवाले प्राणी। इसी प्रसृष्टि में घोघा, सीप, शंख इत्यादि जीव भी हैं। अष्टबाहुओं की गणना शीर्षपाद वर्ग में की जाती है। शीर्षपाद वर्ग के जीवों की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जो अन्य चूर्णप्रावारों में नहीं पाई जाती। मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं : उनके शरीर की रचना तथा संगठन अन्य जातियों से उच्च कोटि की होती है। वे आकार में बड़े सुडौल, बहुत तेज चलनेवाले, मांसाहारी, बड़े भयानक तथा क्रूर स्वभाव के होते हैं। बहुतों में प्रकवच (बाहरी कड़ा खोल) नहीं होता। ये पृथ्वी के प्रायः सभी उष्ण समुद्रों में पाए जाते हैं।

मसिक्षेपी (कटल फिश), कालक्षेपी (लोलाइगो), सामान्य अष्टबाहु, स्क्विड तथा मृदुनाविक (आर्गोनॉट) अष्टबाहुओं के उदाहरण हैं। पूर्ण वयस्क भीम (जाएंट) स्क्विड की लंबाई ५० फुट, नीचे के जबड़े ४ इंच तक लंबे और आँखों का व्यास १५ इंच तक होता है।

सामान्य अष्टबाहु को समुद्र का भयंकर जीव भी कहते हैं। यह उत्तरी समुद्रों के तल पर अधिकतर रहता है। इसमें आठ लंबी लंबी मांसल बाहुएँ होती हैं। इसी से इस प्राणी का नाम अष्टबाहु पडा है। सामान्य अष्टबाहु की दो विपरीत बाहुओं के सिरों के बीच की दूरी १२ फुट और प्रशांत सागरीय भीम अष्टबाहु की ३० फुट तक होती है। इसके मुख के चारों ओर एक बहुत बड़ी कीप (फ़नेल) के समान गड्ढा होता है जिसका मुख प्रावार के भीतर तक चला जाता है। बाहुएँ आपस में झिल्ली से जुड़ी होती हैं। इनके भीतर तल पर बहुत से वृत्ताकार चूषकों की दो पंक्तियाँ होती हैं। इन चूषकों द्वारा अष्टबाहु चट्टानों से बड़ी मजबूती से चिपका रहता है और अन्य समुद्री जंतुओं को एक या अधिक बाहुओं से प्रबलता से पकड़ लेता है। जुड़ी हुई बाहुएँ भी पकड़ने का काम करती हैं। मुख में एक दँतीली जिह्वा भी होती है।

सामान्य अष्टबाहु
क: जल में गतिवान (१. कीप अर्थात् फ़नेल); ख : चट्टान पर विश्राम करता हुआ।

अष्टबाहु मांसाहारी होते हैं। बहुत से अष्टबाहु एक साथ रहते हैं और अपने लिये पत्थरों या चट्टानों का एक आश्रयस्थल बना लेते हैं। वे एकसाथ रात को खाने की खोज में निकलते हैं और फिर अपने आश्रयस्थल पर लौट आते हैं। मोती के लिये डुबकी लगानेवाले गोताखोर, या समुद्र में नहानेवाले, बहुधा इनकी शक्तिशाली बाहुओं और चूषकों के फंदों में पड़कर घायल हो जाते हैं। यूरोप के दक्षिणी किनारे की बहुत सी मछलियाँ इनके कारण नष्ट हो जाती हैं। अष्टबाहु जब अपनी आठ बाहुओं को फैलाकर समुद्र तल पर रेंगता सा तैरता है तो एक बड़े मकड़े के सदृश दिखाई देता है। इसका पानी में तैरकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना भी बड़े विचित्र ढंग से होता है। तैरते समय अष्टबाहु अपने कीप के मुँह से बड़े बल से पानी को बाहर फेंकता है और इसी से जेट विमान की तरह पीछे की ओर चल पाता है। साथ ही उसकी आठों बाहुएँ भी, जो अब पाँव का कार्य करती हैं, उसे उसी तरफ बढने में सहायता पहुँचाती हैं। इस प्रकार वह सामने देखता रहता है और पीछे हटता रहता है। इसका तंत्रिकातंत्र और आँखें इसी वर्ग के अन्य प्राणियों की तुलना में अधिक विकसित होती हैं। संतुलन तथा दिशा बतानेवाले अंग, उपलकोष्ठ (स्टैटोसिस्ट) और घ्राणतंत्रिका भी सिर पर पाई जाती हैं। इसकी त्वचा में रंग भरी कोशिकाएँ होती हैं, जिनकी सहायता से यह अपनी परिस्थिति के अनुसार रंग बदलता है। इस विशेषता से इसको बहुधा अपने शत्रुओं से बचने में सहायता मिलती है।

मृदुनाविक (मादा)
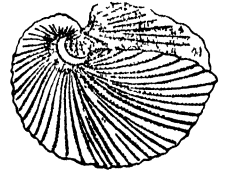
मृदुनाविक का प्रकवच

मृदुनाविक (आर्गोनॉट) भी अष्टबाहु जाति का प्राणी है जो खुले समुद्र के ऊपरी तल पर तैरता पाया जाता है। मादा मृदुनाविक में एक बाह्य प्रकवच होता है, जो बहुत सुंदर, कोमल और कुंतलाकार होता है। यह प्रकवच इस जंतु की दो बाहुओं के बहुत चौड़े और चिपटे सिरों की त्वचा के रस से बनता है, और ये बाहुएँ उसको बड़ी सुंदरता से उठाए रहती हैं। जब तक अंडे परिपक्व होकर फूटते नहीं तब तक मादा इसी बाह्य प्रकवच में रखकर अंडे को सेती है। नर मृदुनाविक में, जो स्त्री मृदुनाविक से छोटा होता है, बाह्य प्रकवच नहीं होता।

प्रजनन एवं विकास—अष्टबाहु नर तथा स्त्री (मादा) दोनों ही प्रकार के होते हैं, परंतु नर स्त्री से आकार में छोटा होता है और उसकी पिछली एक बाहु के रूप में कुछ भेद होता है। इसको निषेचांगीय (हेक्टोकौटिलाइज्ड) बाहु कहते हैं। यह बाहु प्रजनन के लिये अंडों के निषेचन (फ़र्टिलाइजेशन) में काम आती है। नर में दो प्रजननग्रंथियाँ और मादा में दो प्रजनन नलियाँ होती हैं। सहवास में नर अपनी निषेचांगीय बाहु को, जिसमें शुक्रभर (स्पर्मैटोफ़ोर्स) होते हैं, स्त्री की प्रावार-गुहा (मैंटल कैविटी) में डालकर अपने शरीर से उस बाहु का पूर्ण विच्छेद कर देता है। बाहु में के शुक्राणुओं से अंडे तब निषिक्त हो जाते हैं। मादा अपने अंडों को या तो छोटे छोटे समूहों में या एक से एक लिपटे एक डोरे के रूप में देती है और किसी बाहरी पदार्थ से लटका देती है।
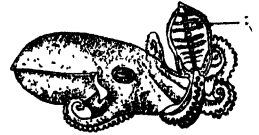
नर अष्टबाहु
२. निषेचांगीय बाहु

अंडे खाद्य पदार्थ से भरे होते हैं। इनमें विभाजन अपूर्ण होता है और जंतु के विकास में डिंभ नहीं बनता (देखें **अपृष्ठवंशी भ्रूणतत्व**)। [रा० चं० स०]

अष्टमंगल अष्टमांगलिक चिह्नों के समुदाय को अष्टमंगल कहा गया है। साँची के स्तूप के तोरणस्तंभ पर उत्कीर्ण शिल्प में मांगलिक चिह्नों से बनी हुई दो मालाएँ अंकित हैं। एक में ११ चिह्न हैं—

सूर्य, चक्र, पद्मसर, अंकुश, वैजयंती, कमल, दर्पण, परशु, श्रीवत्स, मीन-मिथुन और श्रीवृक्ष। दूसरी माला में कमल, अंकुश, कल्पवृक्ष, दर्पण, श्रीवत्स, वैजयंती, मीनयुगल, परशु, पुष्पदाम, तालवृक्ष तथा श्रीवृक्ष हैं। इनसे ज्ञात होता है कि लोक में अनेक प्रकार के मांगलिक चिह्नों की मान्यता थी। विक्रम संवत् के आरंभ के लगभग मथुरा की जैन कला में अष्टमांगलिक चिह्नों की संख्या और स्वरूप निश्चित हो गए। कुषाणकालीन आयागपटों पर अंकित ये चिह्न इस प्रकार हैं : मीनमिथुन, देवविमानगृह, श्रीवत्स, वर्धमान या शराव, संपुट, त्रिरत्न, पुष्पदाम, इंद्रयष्टि या वैजयंती और पूर्णघट। इन आठ मांगलिक चिह्नों की आकृति के ठीकरों से बना आभूषण अष्टमांगलिक माला कहलाता था। कुषाणकालीन जैन ग्रंथ अंगविज्जा, गुप्तकालीन बौद्धग्रंथ महाव्युत्पत्ति और बाणकृत हर्षचरित में अष्टमांगलिक माला आभूषण का उल्लेख हुआ है। बाद के साहित्य और लोकजीवन में भी इन चिह्नों की मान्यता और पूजा सुरक्षित रही, किंतु इनके नामों में परिवर्तन भी देखा जाता है। शब्दकल्पद्रुम में उद्धृत एक प्रमाण के अनुसार सिंह, वृषभ, गज, कलश, व्यजन, वैजयंती, दीपक और दुंदुभी, ये अष्टमंगल थे। [वा० श० अ०]

अष्टमूर्ति शिव का नाम। भविष्यपुराण में शिव की आठ मूर्तियाँ बतलाई गई हैं : पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, यजमान, सोम और सूर्य। कालिदास न अभिज्ञान शाकुंतल के नांदीश्लोक में इनका उल्लेख किया है। शैव सिद्धांत में पंच महातत्वों से बने महासाकार पिंड से शिव की निम्नलिखित आठ मूर्तियों की उत्पत्ति मानी गई है : शिव, भैरव, श्रीकंठ, सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा।

उपनिषदों के अनुसार निराकार ब्रह्म ही जड़-चेतनात्मक प्रपंच में साकार होकर प्रतिभासित होता है। विराट् ब्रह्मांड को पंचतत्व, काल के प्रतीक सूर्य चंद्र तथा आत्मा के प्रतीक यजमान के रूप में विभाजित किया गया है। गीता में यजमान, सोम और सूर्य के स्थान पर मन, बुद्धि, अहंकार की गणना हुई है। इस गणना में कालतत्व का समावेश नहीं होता। अतः काल के प्रतीक सूर्य चंद्र का ग्रहण करना आवश्यक हो गया। मन, बुद्धि, अहंकार ये जीव के धर्म हैं अतः जीव के प्रतीक यजमान में इनका अंतर्भाव हो जाता है। इन तत्वों के अतिरिक्त ब्रह्मांड कुछ भी नहीं है और ब्रह्मांड का ब्रह्म से अभेद है, इसलिये शैवों ने निराकार शिव को इन आठ तत्वों की मूर्ति धारण करनेवाला परमतत्व माना है।

सं०ग्रं०—गीता ७.४; अभिज्ञान शाकुंतलम् १.१; सिद्ध-सिद्धांत-संग्रह; मुंडकोपनिषद् २.१.। [रा० पां०]

अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता आठ हजार श्लोकोंवाला यह महायान बौद्ध ग्रंथ प्रज्ञा की पारमिता (पराकाष्ठा) के माहात्म्य का वर्णन करता है। प्रज्ञापारमिता को मूर्त रूप में अवतरित कर उसके चमत्कार दिखाए गए हैं। इसमें ३२ परिच्छेद हैं जिनमें प्रायः गृद्धकूट पर्वत पर भगवान् बुद्ध अपने सुभूति, सारिपुत्र, पूर्ण मैत्रायणीपुत्र जैसे शिष्यों को उपदेश देते हुए उपस्थित होते हैं। आगे चलकर इस ग्रंथ के कई छोटे और बड़े संस्करण बने। [भि० ज० का०]

अष्टांग योग महर्षि पतंजलि के अनुसार चित्तवृत्ति के निरोध का नाम योग है (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः)। इसकी स्थिति और सिद्धि के निमित्त कतिपय उपाय आवश्यक होते हैं जिन्हें 'अंग' कहते हैं और जो संख्या में आठ माने जाते हैं। अष्टांग योग के अंतर्गत प्रथम पाँच अंग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार) 'बहिरंग' और शेष तीन अंग (धारणा, ध्यान, समाधि) 'अंतरंग' नाम से प्रसिद्ध हैं। बहिरंग साधना यथार्थ रूप से अनुष्ठित होने पर ही साधक को अंतरंग साधना का अधिकार प्राप्त होता है। 'यम' और 'नियम' वस्तुतः शील और तपस्या के द्योतक हैं। **यम** का अर्थ है संयम जो पाँच प्रकार का माना जाता है : (क) अहिंसा, (ख) सत्य, (ग) अस्तेय (चोरी न करना अर्थात् दूसरे के द्रव्य के लिये स्पृहा न रखना), (घ) ब्रह्मचर्य तथा (ङ) अपरिग्रह (विषयों को स्वीकार न करना)। इसी भाँति **नियम** के भी पाँच प्रकार होते हैं : शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय (मोक्षशास्त्र का अनुशीलन या प्रणव का जप) तथा ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर में भक्तिपूर्वक सब कर्मों का समर्पण करना)। **आसन** से तात्पर्य है स्थिर और सुख देनेवाले बैठने के प्रकार (स्थिर सुखमासनम्) जो देहस्थिरता की साधना है। आसन जप होने पर श्वास प्रश्वास की गति के विच्छेद का नाम **प्राणायाम** है। बाहरी वायु का लेना श्वास और भीतरी वायु का बाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है। प्राणायाम प्राणस्थैर्य की साधना है। इसके अभ्यास से प्राण में स्थिरता आती है और साधक अपने मन की स्थिरता के लिये अग्रसर होता है। अंतिम तीनों अंग मनःस्थैर्य की साधना है। प्राणस्थैर्य और मनःस्थैर्य की मध्यवर्ती साधना का नाम 'प्रत्याहार' है। प्राणायाम द्वारा प्राण के अपेक्षाकृत शांत होने पर मन का बहिर्मुख भाव स्वभावतः कम हो जाता है। फल यह होता है कि इंद्रियाँ अपने बाहरी विषयों से हटकर अंतर्मुखी हो जाती हैं। इसी का नाम प्रत्याहार है (प्रति=प्रतिकूल, आहार=वृत्ति।

अब मन की बहिर्मुखी गति निरुद्ध हो जाती है और वह अंतर्मुख होकर स्थिर होने की चेष्टा करता है। इसी चेष्टा की आरंभिक दशा का नाम धारणा है। देह के किसी अंग पर (जैसे हृदय में, नासिका के अग्रभाग पर, जिह्वा के अग्रभाग पर) अथवा बाह्यपदार्थ पर (जैसे इष्टदेवता की मूर्ति आदि पर) चित्त को लगाना 'धारणा' कहलाता है (देशबन्धश्चित्तस्य धारणा; योगसूत्र ३।१)। ध्यान इसके आगे की दशा है। जब उस देशविशेष में ध्येय वस्तु का ज्ञान एकाकार रूप से प्रवाहित होता है, तब उसे 'ध्यान' कहते हैं। धारणा और ध्यान दोनों दशाओं में वृत्तिप्रवाह विद्यमान रहता है, परंतु अंतर यह है कि धारणा में एक वृत्ति से विरुद्ध वृत्ति का भी उदय होता है, परंतु ध्यान में सदृशवृत्ति का ही प्रवाह रहता है, विसदृश का नहीं। ध्यान की परिपक्वावस्था का नाम ही समाधि है। तब चित्त आलंबन के आकार में प्रतिभासित होता है, अपना स्वरूप शून्यवत् हो जाता है और एकमात्र आलंबन ही प्रकाशित होता है। यही समाधि की दशा कहलाती है। अंतिम तीनों अंगों का सामूहिक नाम 'संयम' है जिसके जीतने का फल है विवेक ख्याति का आलोक या प्रकाश। समाधि के बाद प्रज्ञा का उदय होता है और यही योग का अंतिम लक्ष्य है।

सं०ग्रं०—स्वामी ओमानंद : पातंजल योगरहस्य; बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन (शारदामंदिर, काशी, १९५७)। [ब० उ०]

अष्टाध्यायी पाणिनिविरचित व्याकरण का ग्रंथ। यह छः वेदांगों में मुख्य माना जाता है। अष्टाध्यायी में ३९८१ सूत्र और आरंभ में वर्णसमाम्नाय के १४ प्रत्याहार सूत्र हैं। अष्टाध्यायी का परिमाण एक सहस्र अनुष्टुप श्लोक के बराबर है। अष्टाध्यायी के कर्ता पाणिनि कब हुए, इस विषय में कई मत हैं। श्री भंडारकर और गोल्डस्टकर इनका समय ७वीं शताब्दी ई० पू० मानते हैं। मैकडानेल, कीथ आदि कितने ही विद्वानों ने इन्हें चौथी शताब्दी ई० पू० माना है। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार पाणिनि नंदों के समकालीन थे और यह समय ५वीं शताब्दी ई० पू० होना चाहिए। पाणिनि में शतमान, विंशतिक और कार्षापण आदि जिन मुद्राओं का एक साथ उल्लेख है उनके आधार पर एवं अन्य कई कारणों से हमें पाणिनि का काल यही समीचीन जान पड़ता है।

महाभाष्य में अष्टाध्यायी को सर्ववेद-परिषद्-शास्त्र कहा गया है। अर्थात् अष्टाध्यायी का संबंध किसी वेदविशेष तक सीमित न होकर सभी वदिक संहिताओं से था और सभी के प्रातिशाख्य अभिमतों का पाणिनि ने समादर किया था। अष्टाध्यायी में अनेक पूर्वाचार्यों के मतों और सूत्रों का संनिवेश किया गया। उनमें से शाकटायन, शाकल्य, आभिशाली, गार्ग्य, गालव, भारद्वाज काश्यप, शौनक, स्फोटायन, चाक्रवर्मण का उल्लेख पाणिनि ने किया है।

अष्टाध्यायी में आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। पहले दूसरे अध्यायों में संज्ञा और परिभाषा संबंधी सूत्र हैं एवं वाक्य में आए हुए क्रिया और संज्ञा शब्दों के पारस्परिक संबंध के नियामक प्रकरण भी हैं, जैसे क्रिया के लिये आत्मनेपद-परस्मैपद-प्रकरण, एवं संज्ञाओं के लिय विभक्ति, समास आदि। तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्यायों में सब प्रकार के प्रत्ययों का विधान है। तीसरे अध्याय में धातुओं में प्रत्यय लगाकर कृदंत शब्दों का निर्वचन है और चौथे तथा पाँचवें अध्यायों में संज्ञा शब्दों में प्रत्यय जोड़कर बने नए संज्ञा शब्दों का विस्तृत निर्वचन बताया गया है। ये प्रत्यय जिन अर्थविशेषों को प्रकट करते हैं उन्हें व्याकरण की परिभाषा में

वृत्ति कहते हैं, जैसे वर्षा में होनेवाले इंद्रधनु को वार्षिक इंद्रधनु कहेंगे। वर्षा में होनेवाले इस विशेष अर्थ को प्रकट करनेवाला 'इक' प्रत्यय तद्धित प्रत्यय है। तद्धित प्रकरण में ११९० सूत्र हैं और कृदंत प्रकरण में ६३१। इस प्रकार कृदंत, तद्धित प्रत्ययों के विधान के लिये अष्टाध्यायी के १८२१, अर्थात् आधे से कुछ ही कम सूत्र विनियुक्त हुए हैं। छठे, सातवें और आठवें अध्यायों में उन परिवर्तनों का उल्लेख है जो शब्द के अक्षरों में होते हैं। ये परिवर्तन या तो मूल शब्द में जुड़नेवाले प्रत्ययों के कारण या संधि के कारण होते हैं। द्वित्व, संप्रसारण, संधि, स्वर, आगम, लोप, दीर्घ आदि के विधायक सूत्र छठे अध्याय में आए हैं। छठे अध्याय के चौथे पाद से ७वें अध्याय के अंत तक अंगाधिकार नामक एक विशिष्ट प्रकरण है जिसमें उन परिवर्तनों का वर्णन है जो प्रत्यय के कारण मूल शब्द में या मूल शब्द के कारण प्रत्यय में होते हैं। ये परिवर्तन भी दीर्घ, ह्रस्व, लोप, आगम, आदेश, गुण, वृद्धि आदि के विधान के रूप में ही देखे जाते हैं। अष्टम अध्याय में वाक्यगत शब्दों के द्वित्वविधान, प्लुतविधान एवं षत्व और णत्वविधान का विशेषतः उपदेश है।

अष्टाध्यायी के अतिरिक्त उसी से संबंधित गणपाठ और धातुपाठ नामक दो प्रकरण भी निश्चित रूप से पाणिनि निर्मित थे। उनकी परंपरा आज तक अक्षुण्ण चली आती है, यद्यपि गणपाठ में कुछ नए शब्द भी पुरानी सूचियों में कालांतर में जोड़ दिए गए हैं। वर्तमान उणादि सूत्रों के पाणिनिकृत होने में संदेह है और उन्हें अष्टाध्यायी के गणपाठ के समान अभिन्न अंग नहीं माना जा सकता। वर्तमान उणादि सूत्र शाकटायन व्याकरण के ज्ञात होते हैं।

अष्टाध्यायी के साथ आरंभ से ही अर्थों की व्याख्यापूरक कोई वृत्ति भी थी जिसके कारण अष्टाध्यायी का एक नाम, जैसा पतंजलि ने लिखा है, वृत्तिसूत्र भी था। और भी, माथुरीवृत्ति, पुण्यवृत्ति आदि वृत्तियाँ थीं जिनकी परंपरा में वर्तमान काशिकावृत्ति है। अष्टाध्यायी की रचना के लगभग दो शताब्दी के भीतर कात्यायन ने सूत्रों की बहुमुखी समीक्षा करते हुए लगभग चार सहस्र वार्तिकों की रचना की जो सूत्रशैली में ही हैं। वार्तिकसूत्र और कुछ वृत्तिसूत्रों को लेकर पतंजलि ने महाभाष्य का निर्माण किया जो पाणिनीय सूत्रों पर अर्थ, उदाहरण और प्रक्रिया की दृष्टि से सर्वोपरि ग्रंथ है।

अष्टाध्यायी में वैदिक संस्कृत और पाणिनि की समकालीन शिष्ट भाषा में प्रयुक्त संस्कृत का सर्वांगपूर्ण विचार किया गया है। वैदिक भाषा का व्याकरण अपेक्षाकृत और भी परिपूर्ण हो सकता था। पाणिनि ने अपनी समकालीन संस्कृत भाषा का बहुत अच्छा सर्वेक्षण किया था। इनके शब्दसंग्रह में तीन प्रकार की विशेष सूचियाँ आई हैं : (१) जनपद और ग्रामों के नाम, (२) गोत्रों के नाम, (३) वैदिक शाखाओं और चरणों के नाम। इतिहास की दृष्टि से और भी अनेक प्रकार की सांस्कृतिक सामग्री, शब्दों और संस्थाओं का संनिवेश सूत्रों में हो गया है।

सं०ग्रं०—वासुदेवशरण अग्रवाल : पाणिनिकालीन भारतवर्ष; सदाशिव कृष्ण बेलवेलकर : सिस्टम्स आंव संस्कृत ग्रामर; युधिष्ठिर मीमांसक; संस्कृत व्याकरण का इतिहास। [वा० श० अ०]

अष्टावक्र कहोड़ के पुत्र जिनकी कहानी महाभारत में दी गई है। कहते हैं कि कहोड़ यज्ञ में अधिक ध्यान देने के कारण अपनी पत्नी पर विशेष ध्यान न दे पाते थे जिससे गर्भ में ही अष्टावक्र ने उनकी भर्त्सना करनी आरंभ कर दी। कहोड़ के शाप से वे अष्टांग से वक्र हो गए थे, किंतु बाद में अपने ज्ञान और पितृभक्ति से वे बहुत सौम्य हो गए। [चं० म०]

असंग बौद्ध आचार्य असंग का जन्म गांधार प्रदेश के पुष्पपुर नगर, वर्तमान पेशावर, में दूसरी शताब्दी के आसपास हुआ था। आचार्य असंग योगाचार परंपरा के आदिप्रवर्तक माने जाते हैं। महायान सूत्रालंकार जैसा प्रौढ़ ग्रंथ लिखकर इन्होंने महायान संप्रदाय की नींव डाली और यह पुराने हीनयान संप्रदाय से किस प्रकार उच्च कोटि का है इसपर जोर दिया। आचार्य असंग धार्मिक प्रवर्तक होते हुए बौद्ध न्याय के भी आदि गुरु माने जाते हैं। इन्होंने न्याय के अध्यापन की एक मौलिक परंपरा चलाई जिसमें प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग की दीक्षा हुई। प्रसिद्ध है कि आचार्य असंग के भाई वसुबंधु पहले सर्वास्तिवाद के पोषक थे, किंतु बाद में असंग के प्रभाव में आकर वे योगाचार विज्ञानवादी हो गए। दोनों भाइयों ने मिलकर इसके पक्ष को बड़ा प्रबल बनाया। [भि० ज० का०]

असंशयवाद (ऐग्नास्टीसिज्म) एक धार्मिक आंदोलन, जो दूसरी सदी के आरंभ में प्रारंभ हुआ, उस सदी के मध्यकाल में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा और फिर क्षीण हो चला। वैसे इसकी विभिन्न शाखा प्रशाखाएँ चतुर्थ शताब्दी तक जड़ जमाए रहीं। यह बात भी स्मरणीय है कि कई महत्वपूर्ण असंशयवादी मान्यताएँ ईसाई मत का आरंभ होने के पूर्व ही विकसित हो चुकी थीं।

'असंशय' शब्द के प्रयोग से असंशयवादियों को बुद्धिवाद का समर्थक नहीं समझना चाहिए। वे बुद्धिवादी नहीं, दैवी अनुभूतिवादी थे। असंशयवादी संप्रदाय अपने को एक ऐसे रहस्यमय ज्ञान से युक्त समझता था जो कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं तथा जिसकी प्राप्ति वैज्ञानिक विचार विमर्श द्वारा नहीं वरन् दैवी अनुभूति से ही संभव है। उनका कहना है कि यह ज्ञान स्वयं मुक्ति प्रदान करनेवाला है और उसके सच्चे अनुयायियों से ही किसी रहस्यमय ढंग से प्राप्त होता है। संक्षेप में, सभी असंशयवादी अपन समस्त आचार विचार और प्रकार में धार्मिक रहस्यवादियों की श्रेणी में आते हैं। वे सभी गूढ़ तत्वज्ञान का दावा करते हैं। वे मृत्यूपरांत जीव की सद्गति में विश्वास करते हैं और उस मुक्ति प्रदान करनेवाले प्रभु की उपासना करते हैं जो अपने उपासकों के लिये स्वयं मानव रूप में एक आदर्श मार्ग बता गया है।

अन्य रहस्यवादी धर्मों की भाँति असंशयवाद में भी मंत्रतंत्र, विधि-संस्कारादि का महत्वपूर्ण स्थान है। पवित्र चिह्नों, नामों तथा सूत्रों का स्थान सर्वोच्च है। असंशयवादी संप्रदायों के अनुसार मृत्यूपरांत जीव जब सर्वोच्च स्वर्ग के मार्ग पर अग्रसर होता है तो निम्न कोटि के देव एवं शैतान बाधा उपस्थित करते हैं जिनसे छुटकारा तभी संभव है जब वह शैतानों के नाम स्मरण रखे, पवित्र मंत्रों का सही उच्चारण करे, शुभ चिह्नों का प्रयोग करे या पवित्र तैलों से अभिषिक्त हो। मृत्यूपरांत सद्गति के लिये असंशयवादियों के अनुसार ये अत्यंत महत्वपूर्ण आवश्यकताएँ हैं। मानव शरीर में अवतरित स्वयं मुक्तिप्रदाता को भी पुनः स्वर्गारोहण के लिये इन मंत्रादि की आवश्यकता हुई थी।

असंशयवाद एक विशेष प्रकार के द्वैत सिद्धांत पर आधारित है। अच्छाई और बुराई दोनों एक दूसरे के प्रतिपक्षी हैं। प्रथम दैवी जगत् का और द्वितीय भौतिक जगत् का प्रतिनिधि है। भौतिक जगत् बुराइयों की जड़, विरोधी शक्तियों का संघर्षस्थल है। असंशयवादी भौतिक जगत् का निर्माण उन सात शक्तियों द्वारा मानते हैं जो उनपर शासन करती हैं। इन सात शक्तियों के स्रोत सूर्य, चंद्र और पाँच नक्षत्र हैं।

असंशयवादियों की यह दृढ़ धारणा रही है कि वे ईश्वराधीन स्वर्ग का प्रकाश प्राप्त करेंगे। इसके लिये उन्होंने केवल मंत्र एवं चिह्नादि को ही आवश्यक नहीं माना वरन् भौतिक जगत् की क्रियाओं से उदासीनता तथा उसकी शक्तियों से निर्लिप्तता को भी ईश्वरीय प्रकाश की प्राप्ति में अनिवार्य बताया।

असंशयवादियों की यह प्रमुख मान्यता है कि जगत् की सृष्टि के पूर्व एक आदिपुरुष था, परम साधु पुरुष, जो संसार में विभिन्न रूपों में विचरता और अपने को किसी एक असंशयवादी में व्यक्त करता है। वह उस दैवी शक्ति का प्रतीक है जो सबकी उन्नति के लिये भौतिक जगत् के अंधकार में उतरकर विश्वविकास का नाटकीय दृश्य प्रस्तुत करती है।

सं०ग्रं०—ई० एफ० स्काट : नास्टिसिज्म ऐंड वैलेंशिऐनिज्म इन हेस्टिंग्ज; एनसाइक्लोपीडिया आॅव रेलिजन ऐंड एथिक्स; एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में 'नास्टिसिज्म' शीर्षक निबंध। [श्री० स०]

असत्कार्यवाद कारणवाद का न्यायदर्शनसंमत सिद्धांत जिसके अनुसार कार्य उत्पत्ति के पहले नहीं रहता। न्याय के अनुसार उपादान और निमित्त कारण में अलग अलग कार्य उत्पन्न करने की पूर्ण शक्ति नहीं है किंतु जब ये कारण मिलकर व्यापारशील होते हैं तब इनकी संमिलित शक्ति से एक ऐसा कार्य उत्पन्न होता है जो इन कारणों से विलक्षण होता है। अतः कार्य सर्वथा नवीन होता है, उत्पत्ति के पहले

इसका अस्तित्व नहीं होता। कारण केवल उत्पत्ति में सहायक होते हैं। सांख्यदर्शन इसके विपरीत कार्य को उत्पत्ति के पहले कारण में स्थित मानता है, अतः उसका सिद्धांत सत्कार्यवाद कहलाता है। न्यायदर्शन भाववादी और यथार्थवादी है। इसके अनुसार उत्पत्ति के पूर्व कार्य की स्थिति मानना अनुभवविरुद्ध है। न्याय के इस सिद्धांत पर आक्षेप किया जाता है कि यदि असत् कार्य उत्पन्न होता है तो शशशृंग जैसे असत् कार्य भी उत्पन्न होने चाहिए। किंतु न्यायमंजरी में कहा गया है कि असत्कार्यवाद के अनुसार असत् की उत्पत्ति नहीं मानी जाती। अपितु जो उत्पन्न हुआ है उसे उत्पत्ति के पहले असत् माना जाता है। [रा० पां०]

असमिया भाषा और साहित्य

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की शृंखला में पूर्वी सीमा पर अवस्थित आसाम की भाषा को असमी, असमिया अथवा आसामी कहा जाता है। ग्रियर्सन के वर्गीकरण की दृष्टि से यह बाहरी उपशाखा के पूर्वी समुदाय की भाषा है, पर सुनीतिकुमार चटर्जी के वर्गीकरण में प्राच्य समुदाय में इसका स्थान है। १९५१ ई० की जनगणना के अनुसार असम प्रदेश के नब्बे लाख निवासियों में से साढ़े उनचास लाख असमी बोलनेवाले हैं और प्रायः दस लाख घरेलू व्यवहार के अतिरिक्त अन्य सभी दैनिक कार्यों में इसका प्रयोग करते हैं।' उड़िया तथा बँगला की भाँति असमी की भी उत्पत्ति प्राच्य प्राकृत तथा अपभ्रंश से हुई है।

असमिया भाषा का व्यवस्थित रूप १३वीं तथा १४वीं शताब्दी से मिलने पर भी उसका पूर्वरूप बौद्ध सिद्धों के 'चर्यापद' में देखा जा सकता है। 'चर्यापद' का समय विद्वानों ने ईसवी सन् ६०० से १००० के बीच स्थिर किया है। इन दोहों के लेखक सिद्धों में से कुछ का तो कामरूप प्रदेश से घनिष्ठ संबंध था। 'चर्यापद' के समय से १२वीं शताब्दी तक असमी भाषा में कई प्रकार के मौखिक साहित्य का सृजन हुआ था। मणिकोंवर-फुलकोंवर-गीत, डाकवचन, तंत्र मंत्र आदि इस मौखिक साहित्य के कुछ रूप हैं।

सीमा की दृष्टि से असमिया क्षेत्र के पश्चिम में बँगला है। अन्य दिशाओं में कई विभिन्न परिवारों की भाषाएँ बोली जाती हैं। इनमें से तिब्बती, बर्मी तथा खासी प्रमुख हैं। इन सीमावर्ती भाषाओं का गहरा प्रभाव असमिया की मूल प्रकृति में देखा जा सकता है। अपने प्रदेश में भी असमिया एकमात्र बोली नहीं है। यह प्रमुखतः मैदानों की भाषा है।

बहुत दिनों तक असमिया को बँगला की एक उपबोली सिद्ध करने का उपक्रम होता रहा है। असमिया की तुलना में बँगला भाषा और साहित्य के बहुमुखी प्रसार को देखकर ही लोग इस प्रकार की धारणा बनाते रहे हैं। परंतु भाषावैज्ञानिक दृष्टि से बँगला और असमिया का समानांतर विकास आसानी से देखा जा सकता है। मागधी अपभ्रंश के एक ही स्रोत से निःसृत होने के कारण दोनों में समानताएँ हो सकती हैं, पर उनके आधार पर एक को दूसरी की बोली सिद्ध नहीं किया जा सकता।

असमिया लिपि मूलतः ब्राह्मी का ही एक विकसित रूप है। बँगला से उसकी निकट समानता है। लिपि का प्राचीनतम उपलब्ध रूप भास्करवर्मन का ६१० ई० का ताम्रपत्र है। परंतु उसके बाद से आधुनिक रूप तक लिपि में 'नागरी' के माध्यम से कई प्रकार के परिवर्तन हुए हैं।

असमिया भाषा का पूर्ववर्ती, अपभ्रंशमिश्रित बोली से भिन्न रूप प्रायः १४वीं शताब्दी से स्पष्ट होता है। भाषागत विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए असमिया के विकास के तीन काल माने जा सकते हैं :

(१) प्रारंभिक असमिया—१४वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी के अंत तक। इस काल को फिर दो युगों में विभक्त किया जा सकता है : (अ) वैष्णव-पूर्व-युग तथा (आ) वैष्णवयुग। इस युग के सभी लेखकों में भाषा का अपना स्वाभाविक रूप निखर आया है, यद्यपि कुछ प्राचीन प्रभावों से वह सर्वथा मुक्त नहीं हो सकी है। व्याकरण की दृष्टि से भाषा में पर्याप्त एकरूपता नहीं मिलती। परंतु असमिया के प्रथम महत्वपूर्ण लेखक शंकरदेव (जन्म—१४४९) की भाषा में ये त्रुटियाँ नहीं मिलतीं। वैष्णव-पूर्व-युग की भाषा की अव्यवस्था यहाँ समाप्त हो जाती है। शंकरदेव की रचनाओं में ब्रजबुलि प्रयोगों का बाहुल्य है।

(२) मध्य असमिया—१७वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी के प्रारंभ तक। इस युग में अहोम राजाओं के दरबार की गद्यभाषा का रूप प्रधान है। इन गद्यकर्ताओं को बुरंजी कहा गया है। बुरंजी साहित्य में इतिहास-लेखन की प्रारंभिक स्थिति के दर्शन होते हैं। प्रवृत्ति की दृष्टि से यह पूर्ववर्ती धार्मिक साहित्य से भिन्न है। बुरंजियों की भाषा आधुनिक रूप के अधिक निकट है।

(३) आधुनिक असमिया—१९वीं शताब्दी के प्रारंभ से। १८१९ ई० में अमरीकी बप्तिस्त पादड़ियों द्वारा प्रकाशित असमिया गद्य में बाइबल के अनुवाद से आधुनिक असमिया का काल प्रारंभ होता है। मिशन का केंद्र पूर्वी आसाम में होने के कारण उसकी भाषा में पूर्वी आसाम की बोली को ही आधार माना गया। १८४६ ई० में मिशन द्वारा एक मासिक पत्र 'अरुणोदय' प्रकाशित किया गया। १८४८ में असमिया का प्रथम व्याकरण छपा और १८६७ में प्रथम असमिया-अंग्रेजी शब्दकोश।

क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से असमिया के कई उपरूप मिलते हैं। इनमें से दो मुख्य हैं—पूर्वी रूप और पश्चिमी रूप। साहित्यिक प्रयोग की दृष्टि से पूर्वी रूप को ही मानक माना जाता है। पूर्वी की अपेक्षा पश्चिमी रूप में बोलीगत विभिन्नताएँ अधिक हैं। असमिया के इन दो मुख्य रूपों में ध्वनि, व्याकरण तथा शब्दसमूह इन तीनों ही दृष्टियों से अंतर मिलते हैं। असमिया के शब्दसमूह में संस्कृत तत्सम, तद्भव तथा देशज के अतिरिक्त विदेशी भाषाओं के शब्द भी मिलते हैं। अनार्य भाषापरिवारों से गृहीत शब्दों की संख्या भी कम नहीं है। भाषा में सामान्यतः तद्भव शब्दों की प्रधानता है। हिंदी उर्दू के माध्यम से फ़ारसी, अरबी तथा पुर्तगाली और कुछ अन्य यूरोपीय भाषाओं के भी शब्द आ गए हैं।

भारतीय आर्यभाषाओं की शृंखला में पूर्वी सीमा पर स्थित होने के कारण असमिया कई अनार्य भाषापरिवारों से घिरी हुई है। इस स्तर पर सीमावर्ती भाषा होने के कारण उसके शब्दसमूह में अनार्य भाषाओं के कई स्रोतों से लिए हुए शब्द मिलते हैं। इन स्रोतों में से तीन अपेक्षाकृत अधिक मुख्य हैं :

(१) ऑस्ट्रो-एशियाटिक—(अ) खासी, (आ) कोलारी, (इ) मलायन

(२) तिब्बती–बर्मी—बोडो

(३) थाई—अहोम

शब्दसमह की इस मिश्रित स्थिति के प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि खासी, बोडो तथा थाई तत्व तो असमिया में उधार लिए गए हैं, पर मलायन और कोलारी तत्वों का मिश्रण इन भाषाओं के मूलाधार के पारस्परिक मिश्रण के फलस्वरूप है। अनार्य भाषाओं के प्रभाव को असम के अनक स्थाननामों में भी देखा जा सकता है। ऑस्ट्रिक, बोडो तथा अहोम के बहुत से स्थाननाम ग्रामों, नगरों तथा नदियों के नामकरण की पृष्ठभूमि में मिलते हैं। अहोम के स्थाननाम प्रमुखतः नदियों को दिए गए नामों में हैं।

असमिया साहित्य

असमिया के शिष्ट और लिखित साहित्य का इतिहास पाँच कालों में विभक्त किया जाता है : (१) वष्णवपूर्वकाल : १२००-१४४९ ई०, (२) वैष्णवकाल : १४४९-१६५० ई०, (३) गद्य, बुरंजी काल : १६५०-१९२६ ई०, (४) आधुनिक काल : १९२६-१९४७ ई०, (५) स्वाधीनतोत्तरकाल : १९४७ ई०—।

(१) वैष्णवपूर्वकाल—अद्यतन उपलब्ध सामग्री के आधार पर हेम सरस्वती और हरिहर विप्र असमिया के प्रारंभिक कवि माने जा सकते हैं। हेम सरस्वती का 'प्रह्लादचरित्र' असमिया का प्रथम लिखित ग्रंथ माना जाता है। ये दोनों कवि कमतापुर (पश्चिम कामरूप) के शासक दुर्लभनारायण के आश्रित थे। एक तीसरा प्रसिद्ध कवि कविरत्न सरस्वती भी था, जिसने 'जयद्रथवध' लिखा। परंतु वैष्णवपूर्वकाल के सबसे प्रसिद्ध कवि माधव कंदली हुए, जिन्होंने राजा महामाणिक्य के आश्रय में रहकर अपनी रचनाएँ कीं। माधव कंदली के रामायण के अनुवाद ने विशेष ख्याति प्राप्त की। संस्कृत शब्दसमूह को असमिया में रूपांतरित करना कवि की विशेष कला थी। इस काल की अन्य फुटकर रचनाओं में कुछ

गीतिकाव्य उल्लेखनीय है। इन रचनाओं में तत्कालीन लोकमानस विशेष रूप से प्रतिफलित हुआ है। तंत्र मंत्र, मनसापूजा आदि के विधान इस वर्ग की कृतियों में अधिक चर्चित हुए हैं।

(२) वैष्णवकाल—इस काल की पूर्ववर्ती रचनाओं में विष्णु से संबद्ध कुछ देवताओं को महत्व दिया गया था। परंतु आगे चलकर विष्णु की पूजा की विशेष रूप से प्रतिष्ठा हुई। स्थिति के इस परिवर्तन में असमिया के महान् कवि और धर्मसुधारक शंकरदेव (१४४६–१५६८ ई०) का योग सबसे अधिक था। शंकरदेव की अधिकांश रचनाएँ भागवतपुराण पर आधारित हैं और उनके मत को भागवती धर्म कहा जाता है। असमिया जनजीवन और संस्कृति को उसके विशिष्ट रूप में ढालने का श्रेय शंकरदेव को ही दिया जाता है। इसीलिये कुछ समीक्षक उनके व्यक्तित्व को केवल कवि के रूप में ही सीमित नहीं करना चाहते। वे मूलतः उन्हें धार्मिक सुधारक के रूप में मानते हैं। शंकरदेव की भक्ति के प्रमुख आश्रय थे श्रीकृष्ण। उनकी लगभग तीस रचनाएँ हैं, जिनमें से 'कीर्तनघोषा' उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति है। असमिया साहित्य के प्रसिद्ध नाट्यरूप 'अंकीया नाटक' के प्रारंभकर्ता भी शंकरदेव ही हैं। उनके नाटकों में गद्य और पद्य का बराबर मिश्रण मिलता है। इन नाटकों की भाषा पर मैथिली का प्रभाव है। 'अंकीया नाटक' के पद्यांश को 'बरगीत' कहा जाता है, जिसकी भाषा प्रमुखतः ब्रजबुलि है।

शंकरदेव के अतिरिक्त इस युग के दूसरे महत्वपूर्ण कवि उनके शिष्य माधवदेव हुए। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी था। वे कवि होने के साथ-साथ संस्कृत के विद्वान्, नाटककार, संगीतकार तथा धर्मप्रचारक भी थे। 'नामघोषा' इनकी विशिष्ट कृति है। शंकरदेव के नाटकों में 'चोरधरा' अधिक प्रसिद्ध रचना है। इस युग के अन्य लेखकों में अनंत कंदली, श्रीधर कंदली तथा भट्टदेव विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। असमिया गद्य को स्थिरीकृत करने में भट्टदेव का ऐतिहासिक योग माना जाता है।

(३) बुरंजी, गद्य काल—आहोम राजाओं के असम में स्थापित हो जाने पर उनके आश्रय में रचित साहित्य की प्रेरक प्रवृत्ति धार्मिक न होकर लौकिक हो गई। राजाओं का यशवर्णन इस काल के कवियों का एक प्रमुख कर्तव्य हो गया। वैसे भी अहोम राजाओं में इतिहासलेखन की परंपरा पहले से ही चली आती थी। कवियों की यशवर्णन की प्रवृत्ति को आश्रयदाता राजाओं ने इस ओर मोड़ दिया। पहले तो अहोम भाषा के इतिहासग्रंथों (बुरंजियों) का अनुवाद असमिया में किया गया और फिर मौलिक रूप से बुरंजियों का सृजन होने लगा। 'बुरंजी' मूलतः एक टाइ शब्द है, जिसका अर्थ है 'अज्ञात कथाओं का भांडार'। इन बुरंजियों के माध्यम से असम प्रदेश के मध्ययुग का काफी व्यवस्थित इतिहास उपलब्ध है। बुरंजी साहित्य के अंतर्गत कामरूप बुरंजी, कछारी बुरंजी, आहोम बुरंजी, जयंतीय बुरंजी, बेलियार बुरंजी के नाम अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध हैं। इन बुरंजी ग्रंथों के अतिरिक्त राजवंशों की विस्तृत वंशावलियाँ भी इस काल में मिलती हैं। कुछ चरितग्रंथों की रचना भी इसी काल में हुई। उपयोगी साहित्य की दृष्टि से इस युग में ज्योतिष, गणित, चिकित्सा आदि विज्ञान संबंधी ग्रंथों का भी सृजन हुआ। कला तथा नृत्य विषयक पुस्तकें भी लिखी गईं। इस समस्त बहुमुखी साहित्यसृजन के मूल में राज्याश्रय द्वारा पोषित धर्मनिरपेक्षता की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

इस काल में हिंदी के दो सूफी काव्यों (कुतुबन की 'मृगावती' तथा मंझन की 'मधुमालती') के कथानकों के आधार पर दो असमिया काव्य लिखे गए। पर मूलतः यह युग गद्य के विकास का है।

(४) आधुनिक काल—अन्य अनेक प्रांतीय भाषाओं के साहित्य के समान असमिया में भी आधुनिक काल का प्रारंभ अंग्रेजी शासन के साथ जोड़ा जाता है। १८२६ ई० असम में अंग्रेजी शासन के प्रारंभ की तिथि है। इस युग में स्वदेशी भावनाओं के दमन तथा सामाजिक विषमता ने मुख्य रूप से लेखकों को प्रेरणा दी। इधर १८३८ ई० से ही विदेशी मिशनरियों ने भी अपना कार्य प्रारंभ किया और जनता में धर्मप्रचार का माध्यम असमिया को ही बनाया। फलतः असमिया भाषा के विकास में इन मिशनरियों द्वारा परिचालित व्यवस्थित ढंग के मुद्रण तथा प्रकाशन से भी एक स्तर पर सहायता मिली। अंग्रेजी शासन के युग में अंग्रेजी और यूरोपीय साहित्य के अध्ययन मनन से असमिया के लेखक प्रभावित हुए। कुछ पाश्चात्य आदर्श बँगला के माध्यम से भी अपनाए गए। इस युग के प्रारंभिक लेखकों में आनंदराम टेकियाल फुकन का नाम सबसे महत्वपूर्ण है। अन्य लेखकों में हेमचंद्र बरुआ, गुणाभिराम बरुआ तथा सत्यनाथ बोड़ा के नाम उल्लेखनीय हैं। असमिया साहित्य का मूल रूप प्रमुखतः तीन लेखकों द्वारा निर्मित हुआ। ये लेखक थे चंद्रकुमार अग्रवाल (१८५८-१९३८), लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ (१८५८-१९३८) तथा हेमचंद्र गोस्वामी (१८७२-१९२८)। कलकत्ता में रहकर अध्ययन करते समय इन तीन मित्रों ने १८८९ में 'जोनाकी' (जुगनू) नामक मासिक पत्र की स्थापना की। इस पत्रिका को केंद्र बनाकर धीरे धीरे एक साहित्यिक समुदाय उठ खड़ा हुआ जिसे बाद में जोनाकी समह कहा गया। इस वर्ग के अधिकांश लेखक अंग्रेजी रोमांटिसिज्म से प्रभावित थे। २०वीं सदी के प्रारंभ के इन लेखकों में लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ बहुमुखी प्रतिभासंपन्न थे। उनका 'असमिया साहित्येर चानेकी' नामक संकलन विशेष प्रसिद्ध है। असमिया साहित्य में उन्होंने कहानी तथा ललित निबंध के बीच के एक साहित्य रूप को अधिक प्रचलित किया। बेजबरुआ की हास्यरस की रचनाओं को काफी लोकप्रियता मिली। इसीलिये उसे 'रसराज' की उपाधि दी गई। इस युग के अन्य कवियों में कमलाकांत भट्टाचार्य, रघुनाथ चौधरी, नलिनीबाला देवी, अंबिकागिरि रायचौधुरी, नीलमणि फुकन आदि का कृतित्व महत्वपूर्ण माना जाता है। मफिजुद्दीन अहमद की कविताएँ सूफी धर्मसाधना से प्रेरित हैं।

गद्य, विशेष रूप से कथासाहित्य, के क्षेत्र में १९वीं शताब्दी के अंत में दो लेखक पद्मनाथ गोसाईं बरुआ तथा रजनीकांत बारदोलाई अपने ऐतिहासिक उपन्यासों तथा नाटकों के लिये महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। जोनाकी समुदाय के समानांतर जिन गद्यलेखकों ने साहित्यसृजन किया उनमें से वेणुधर राजखोवा तथा शरच्चंद्र गोस्वामी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शरच्चंद्र गोस्वामी की प्रतिभा वैसे तो बहुमुखी थी, पर उनकी ख्याति प्रमुखतः कहानियों को लेकर है। कहानी के क्षेत्र में लक्ष्मीधर शर्मा, बीना बरुआ, कृष्ण भुयान आदि ने प्रणय संबंधी नए अभिप्रायों के कुछ प्रयोग किए। लक्ष्मीनाथ फुकन अपनी हास्यरस की कहानियों के लिये स्मरणीय हैं। कथासाहित्य के अतिरिक्त नाटक के क्षेत्र में अतुलचंद्र हजारिका तथा ज्योतिप्रसाद अग्रवाल का कार्य अधिक महत्वपूर्ण है। समीक्षा तथा शोध की दृष्टि से अंबिकानाथ बरा, वाणीकांत काकती, कालीराम मेधी, विरंचि बरुआ तथा डिंबेश्वर नियोग का कृतित्व उल्लेखनीय है।

असमिया साहित्य के आधुनिक काल में पत्रपत्रिकाओं का माध्यम भी काफी प्रचलित हुआ। इनमें से 'अरुणोदय', 'जोनाकी', 'बाँही', 'आवाहन', 'जयंती' तथा 'पछोवा' ने विभिन्न क्षेत्रों में काफी उपयोगी कार्य किया है। नए प्रकार का साहित्यसृजन प्रमुखतः 'रामधेनु' को केंद्र बनाकर हुआ है।

(५) स्वाधीनतोत्तरकाल—इस युग में पाश्चात्य प्रभाव अधिक स्वस्थ तथा संतुलित रूप में आए हैं। इलियट तथा उनके सहयोगी अंग्रेजी कवियों से नए असमिया लेखकों को प्रमुखतः प्रेरणा मिली है। केवल कविता में ही नहीं, कथासाहित्य तथा नाटक में भी इन नए प्रयोगों की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दोनों ही प्रकार की समस्याओं को नए लेखकों ने उठाया है। उनके शिल्प संबंधी प्रयोग भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं।

प्राचीन असम की साहित्य-रुचि-संपन्नता का पता तत्कालीन ताम्रपत्रों से चलता है। इसी प्रकार वहाँ के पुस्तकोत्पादन के संबंध में भी एक प्राचीन उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार कुमार भास्करवर्मन (ईसा की सातवीं शताब्दी) ने अपने मित्र कन्नौजसम्राट् हर्षवर्धन को सुंदर लिपि में लिखी हुई अनेक पुस्तकें भेंट की थीं। इन पुस्तकों में से एक संभवतः तत्कालीन असम में प्रचलित कहावतों तथा मुहावरों का संकलन था।

बहुत प्राचीन काल से ही आसाम में संगीतप्रियता की परंपरा चलती आ रही है। इसके प्रमाणस्वरूप आधुनिक असम में अलिखित और अज्ञात

लेखकों द्वारा प्रस्तुत वस्तुतः अनेकानेक लोकगीत मिलते हैं, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक मौखिक परंपरा से सुरक्षित रह सके हैं। ये लोकगीत धार्मिक अवसरों, आचारों तथा ऋतुओं के परिवर्तनों से संबद्ध हैं। कुछ लोकगाथाओं में राजकुमार नायकों के आख्यान भी मिलते हैं। शिष्ट साहित्य के उद्भव के पूर्व इस काल में दार्शनिक डाक का महत्व असाधारण है। उसके कथनों को वेदवाक्य संज्ञा दी गई है। डाकवचनों की यह परंपरा बंगाल तथा बिहार तक मिलती है। असम के प्रायः प्रत्येक परिवार में कुछ समय पूर्व तक इन डाकवचनों का एक हस्तलिखित संकलन रहता था।

असम के प्राचीन नाम 'कामरूप' से प्रकट होता है कि वहाँ बहुत प्राचीन काल से तंत्र मंत्र की परंपरा रही है। इन गुह्याचारों से संबद्ध अनेक प्रकार के मंत्र मिलते हैं जिनसे भाषा तथा साहित्य विषयक प्रारंभिक अवस्था का कुछ परिचय मिलता है। 'चर्यापद' के लेखक सिद्धों में से कई का कामरूप से घनिष्ठ संबंध बताया जाता है, जो इस प्रदेश की तांत्रिक परंपरा को देखते हुए काफी स्वाभाविक जान पड़ता है। इस प्रकार चर्यापदों के समय से लेकर १३वीं शताब्दी के बीच का मौखिक साहित्य या तो जनप्रिय लोकगीतों और लोकगाथाओं का है या नीतिवचनों तथा मंत्रों का। यह साहित्य बहुत बाद में लिपिबद्ध हुआ।

सं०ग्रं०—विरंचिकुमार बरुआ : असमिया साहित्य की रूपरेखा; वाणीकांत काकती : असमीज, इट्स फ़ॉर्मेशन ऐंड डेवेलपमेंट।

[रा० स्व० च०]

असहयोग विदेशी अँगरेज सरकार को देश से निकालकर देश को आजाद करने का सबसे पहला उपाय जो महात्मा गांधी ने देश को बताया उसे उन्होंने 'असहयोग' या 'शांतिमय असहयोग' (नानवायलेंट नान कोआपरेशन) नाम दिया। कुछ दिनों बाद 'सत्याग्रह' शब्द का उपयोग भी होने लगा; किंतु यदि सही तौर पर देखा जाय तो महात्मा गांधी का सत्याग्रह असहयोग का ही एक विकसित और उन्नत रूप था। अंत में इसी उपाय से भारत ने स्वाधीनता प्राप्त की।

कुछ लोगों का कहना है कि दुनिया में कोई चीज नई नहीं होती। कम से कम असहयोग का विचार या उसकी कल्पना इस देश के राजनीतिक इतिहास में कोई नई चीज नहीं थी। राजनीति में अहिंसा का विचार भी इस देश में बिलकुल नया नहीं था। महात्मा गांधी से पचास वर्ष पहले पंजाब के नामधारी सिक्खों के गुरु गुरुरामसिंह जी ने खुले तौर पर अंग्रेजी राज के खिलाफ 'धर्मयुद्ध' यानी जेहाद का झंडा खड़ा किया था। वह अंग्रेज सरकार को भारत से निकालना अपना लक्ष्य बताते थे। पंजाब के उस समय के अंग्रेज लेफ्टिनेंट गवर्नर स्वयं भैणी साहब के गुरुद्वारे को देखने गए। गुरुद्वारे में उनकी गुरुरामसिंह से भेंट हुई। गुरुरामसिंह ने अंग्रेज शासक से स्पष्ट शब्दों में कहा कि "मैं आप लोगों को भारत से निकालने की तैयारी कर रहा हूँ।" जब उनसे पूछा गया कि आप अंग्रेजों को किस तरह निकालिएगा तो उन्होंने कहा कि "मैं १०८, १०८ गोलों की बहुत-सी तोपें तैयार करा रहा हूँ। जब अंग्रेज शासक ने तोप देखना चाहा तो गुरु जी ने अपने हाथ की १०८ दानों की सफेद ऊन की माला अंग्रेज शासक के सामने रख दी। 'अहिंसा' के अर्थों में वह पंजाबी 'छिमा' (क्षमा) शब्द का उपयोग किया करते थे। हिंसा के वह कट्टर विरोधी थे। अपने अनुयायियों को वह अंग्रेज सरकार के साथ पूर्ण असहयोग की सलाह देते थे। उनका उपदेश था कि कोई भारतवासी अपने बच्चों को अँग्रेजों के किसी सरकारी मदरसे में पढ़ने के लिये न भेजे; कोई, चाहे उसे कितना भी कष्ट क्यों न हो, अंग्रेजी अदालत का आश्रय न ले, न अंग्रेजी अदालत में जाय, कोई भारतवासी अंग्रेज सरकार की नौकरी न करे। वह अंग्रेजों की रेलों में बैठने और अंग्रेजी डाकखानों की मारफत चिट्ठी पत्री भेजने तक के विरुद्ध थे। कुछ बरसों तक पंजाब में यह आंदोलन खूब फैला। अंग्रेज सरकार के लिये उसे दमन करना आवश्यक हो गया। सन् १८७२ में गुरुरामसिंह को कैद करके रंगून भेज दिया गया, जहाँ कुछ समय बाद उनकी मृत्यु हो गई। पंजाब के अनेक जिलों से हजारों नामधारी सिक्खों को गिरफ्तार करके स्पेशल ट्रेनों में भर भरकर कहीं पूरब की तरफ भेज दिया गया। आज तक इस बात का पता न चला कि उन लोगों को सुंदरवन में ले जाकर मार डाला गया या बंगाल की खाड़ी में डुबो दिया गया। भारत में अंग्रेजी राज के खिलाफ शांतिमय असहयोग का वह पहला तजरबा था। सन् १९४७ तक अर्थात् भारत के स्वतंत्रता प्राप्त करने के दिन तक हजारों ही नामधारी सिक्ख ऐसे थे जो न अंग्रेजी स्कूल में अपने बच्चों को पढ़ने भेजते थे, न अंग्रेजी कचहरियों में जाते थे और न अंग्रेजों की नौकरी आदि करते थे। कुछ ऐसे भी थे जो न रेलगाड़ी में यात्रा करते थे और न सरकारी डाकखाने से अपनी चिट्ठी पत्री भेजते थे।

महात्मा गांधी की सत्याग्रह की कल्पना भी दुनिया में कोई नई कल्पना नहीं थी। स्वयं गांधी जी ने सन् १९१९ में प्रसिद्ध अमरीकी संत दार्शनिक थोरो की मशहूर किताब 'दि ड्यूटी ऑव सिविल डिसओबीडिएन्स' को छपवाकर उसका अंग्रेजी में और भारत की अनेक भाषाओं में खूब प्रचार कराया था। थोरो का उपदेश यही था कि स्वयं अहिंसात्मक रहते हुए किसी भी अन्यायी सरकार के कानूनों को भंग करके जेल जाना या मौत का सामना करना हर न्यायप्रेमी का कर्तव्य है। महात्मा गांधी से बहुत पहले यह वाक्य "जो सरकार किसी एक मनुष्य को भी न्याय के विरुद्ध जेल खाने में बंद कर देती है उस सरकार के अधीन हर न्यायप्रेमी मनुष्य के रहने की असली जगह जेलखाना ही है", सारी दुनिया में गूँज चुका था। २०वीं सदी के भारत के असहयोग आंदोलन और सत्याग्रह आंदोलन से पीढ़ियों पहले अमरीका और स्वयं यूरोप के कई देशों में अहिंसात्मक असहयोग और सत्याग्रह के तजरबे हो चुके थे। हम इस स्थान पर उन सब पहले के तजरबों के विस्तार में जाना नहीं चाहते।

महात्मा गांधी के आंदोलन की विशेषता यह थी कि उन्होंने एक इतने विशाल देश में, इतने बड़े पैमाने पर और इतनी शक्तिशाली सत्ता के विरुद्ध इस अहिंसात्मक हथियार का सफल प्रयोग करके दुनिया को दिखला दिया। दुनिया के इतिहास में यह सचमुच एक नई बात थी।

असहयोग का अर्थ बिलकुल साफ और सीधा है। इसम तीन बातें हैं। पहली यह कि किसी देश के लोग दूसरे देश के लोगों पर बिना शासित देश के लोगों की सहायता और उनके सहयोग के शासन नहीं कर सकते; दूसरे यह कि किसी भी अन्याय, आक्रमण, कुशासन या बुराई के साथ सहयोग करना यानी उसे मदद देना गुनाह है; तीसरी और अंतिम बात यह कि यदि किसी भी शासित देश के लोग विदेशी सरकार के साथ सहयोग करना बिलकुल बंद कर दें और इस असहयोग की सजा में हर तरह के कष्ट भोगने को तैयार हो जायँ तो कोई विदेशी सरकार उस देश पर देर तक शासन नहीं कर सकती। महात्मा गांधी के इस अनुपम आंदोलन ने करोड़ों भारतवासियों के अंदर वह जागृति, साहस, निर्भीकता, त्यागभावना, एकता और वह नई जान फूँक दी जिससे इस देश में विदेशी शासन का चल सकना सर्वथा असंभव हो गया और जिससे विवश होकर अंग्रेजों को, शासकों की हैसियत से, भारत छोड़कर चला जाना पड़ा।

असहयोग को पंजाबी में 'नामिलवर्तन' और उर्दू में 'अदमतआवुन' कहते थे। संभव है, भारत की किसी और भाषा में उसका कोई और नाम भी रखा गया हो, पर असहयोग नाम सारे भारत में प्रचलित था और अब तक है।

असहयोग आंदोलन शुरू होने से पहले देश की आजादी चाहनेवालों में मुख्यत: दो विचारों के लोग थे। एक वह जो केवल अरजी परचों के जरिए अंग्रेज सरकार की कृपा से धीरे धीरे राजनीतिक उन्नति करने की आशा करते थे और दूसरे वह जो हिंसात्मक क्रांति का रास्ता ढूँढ़ते थे। दोनों के अपने अपने प्रयत्न भी चल रहे थे। उनपर विचार करने की हमें यहाँ आवश्यकता नहीं है। जहाँ तक स्वाधीनताप्राप्ति का संबंध है, इन दोनों उपायों की निष्फलता साबित हो चुकी है। पहले महायुद्ध (१९१४-१९) ने देशवासियों के अंदर स्वाधीनता की प्यास को और अधिक बढ़ा दिया था। अंग्रेज शासक भी दमन के नए नए हथियार तैयार कर रहे थे। उस अपूर्व संकट के समय महात्मा गांधी के शांतिमय असहयोग कार्यक्रम ने भारत की सारी जनता के दिलों में एक नया उत्साह, नई उमंग और आशा की नई जोत जगा दी।

गांधी जी के असहयोग कार्यक्रम के मुख्य अंग ये थे : (१) स्कूलों और कालेजों का बहिष्कार, (२) सरकारी नौकरी का बहिष्कार, (३)

सरकारी अदालतों का बहिष्कार, (४) सरकारी खिताबों का बहिष्कार और (५) सरकार की उस समय की कौंसिलों या धारासभाओं का बहिष्कार। इन्हीं को गांधी जी पंचबहिष्कार कहा करते थे। गांधी जी का कहना था कि विदेशी सरकार स्कूलों और कालेजों की गलत तालीम के जरिए देश के बालकों में देशाभिमान को घटाती और एक दूसरे से द्वेष को बढ़ाती है; इन्हीं स्कूलों और कालेजों में वह विदेशी शासन के लिये कर्मचारी यानी उपयोगी यंत्र गढ़कर तैयार करती है। सरकारी स्कूलों और कालेजों को वह 'गुलामखाने' कहा करते थे। विदेशी सरकार की नौकरी को वह पाप कहते थे। विदेशी अदालतों को वह देशवासियों के चरित्र को गिराने, उन्हें मिटाने और उनमें फूट डालने का एक बहुत बड़ा साधन मानते थे। विदेशी सरकार के खिताब स्वीकार करने को वह देशाभिमान के विरुद्ध बताते थे और उस जमाने में जिस तरह की कौंसिलें अंग्रेजों ने बना रखी थीं उन्हें वह जनता के हित में सर्वथा निरर्थक और आम जनता तथा पढ़े लिखे नेताओं के बीच की खाई को बढ़ानेवाली मानते थे। पंचबहिष्कार के लिये यही उनकी खास दलीलें थीं।

इस असहयोग का ही एक और छठा अंग था, विदेशों की बनी हुई चीजों का बहिष्कार और गाँव की बनी चीजों, विशेषकर हाथ के कते सूत की हाथ की बुनी खद्दर का उपयोग। गांधी जी का कहना था कि अंग्रेज व्यापार द्वारा धन कमाने के लिये ही दूसरे देशों पर शासन करना चाहते हैं। अगर हम उनके यहाँ की बनी चीजों को खरीदना बंद कर दें तो एक बहुत बड़ा लोभ उनके रास्ते से हट जाय और दूसरों पर हुकूमत करने का उनका उद्देश्य भी एक बड़े दरजे तक जाता रहे। इसीलिये चरखे को गांधी जी स्वराज्यप्राप्ति की कुंजी मानते थे। जिन करोड़ों देशवासियों की जीविका विदेशियों ने अपने व्यापार द्वारा नष्ट कर दी थी उन्हें फिर से जीविका प्रदान करने और उनके घरों में खुशहाली लाने का उनके अनुसार यही एकमात्र साधन था। गांधी जी इसे बहुत अधिक महत्व देते थे और अपने असहयोग कार्यक्रम का एक अंग मानते थे। पर साथ ही वह इस प्रश्न को राजनीतिक दृष्टि की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से अधिक देखते थे और अंग्रेजी माल और दूसरे विदेशी माल में कोई फरक करना भी नहीं चाहते थे। खद्दर और ग्रामोद्योग का प्रश्न उनके लिये एक स्थायी प्रश्न था। इसीलिये उसे असहयोग के 'पंचबहिष्कारों' में शामिल नहीं किया जाता।

अपने इस कार्यक्रम को देश भर में फैलाने के लिये गांधीजी ने सारे देश का दौरा किया। उनके व्याख्यानों से सारे देश में एक बिजली सी दौड़ गई। सैकड़ों और हजारों उपदेशक गली गली और गाँव गाँव जाकर उनके उपदेशों और उनके सिद्धांतों का प्रचार करने लगे। देशभर में लाखों विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूलों और कालेजों से निकलकर स्वाधीनता आंदोलन में भाग लेना शुरू कर दिया। जगह जगह अनेक राष्ट्रीय विद्यालय भी खुल गए। जो नौजवान देश के आंदोलन में भाग लेना चाहते थे उनकी तैयारी के लिये जगह जगह 'आश्रम' खोले गए। हजारों ने सरकारी नौकरियों से इस्तीफा दे दिया। सरकारी अदालतों की जगह देश भर में हजारों आजाद पंचायतें कायम हो गईं। अनगिनत लोगों ने अपने खिताब वापिस कर दिए, जिनमें विशेष उल्लेखनीय घटना कविसम्राट् श्री रवींद्रनाथ ठाकुर का अपनी 'सर' की उपाधि वापिस करना थी। अनेक देशभक्तों ने सरकारी कौंसिलों में जाने से इनकार किया। देश के विस्तार और उसकी विशालता को देखते हुए गांधी जी का असहयोग कार्यक्रम केवल एक बहुत थोड़े अंश में ही सफल हो सका। फिर भी वह इतना सफल अवश्य हुआ कि कलकत्ते में ब्रिटिश सरकार के सबसे बड़े प्रतिनिधि अंग्रेज वायसराय ने खुले शब्दों में स्वीकार किया कि :

"गांधी जी के कार्यक्रम की सफलता में एक इंच की ही कसर रह गई थी। मैं हैरान था, मुझे कुछ सूझ नहीं रहा था।"

दमनचक्र जोरों के साथ चलना शुरू हुआ। गांधी जी गिरफ्तार कर लिए गए। लाखों कार्यकर्ता जेलों में डाल दिए गए। हिंदू मुसलमानों को लड़ाने के विधिवत् प्रयत्न किए गए। जगह जगह हिंदू मुसलमान दंगे कराए गए। स्वाधीनता का आंदोलन एक बार कुछ दबता दिखाई दिया, पर फिर उसने जोर पकड़ा। गांधी जी के नेतृत्व में उसने नए रूप धारण करने शुरू किए। गांधी जी के जेल में रहते हुए ही जबलपुर और नागपुर में झंडा सत्याग्रह हुआ, जिसमें उनके बनाए तिरंगे राष्ट्रीय झंडे के मान की रक्षा के लिये १६०० से ऊपर आदमी जेल गए और अंग्रेज सरकार को उस मामले में सोलह आने हार माननी पड़ी। गांधी जी के आने के बाद सुप्रसिद्ध 'नमक सत्याग्रह' हुआ। देश भर में लाखो आदमियों ने अंग्रेज सरकार का नमक कानून तोड़कर सत्याग्रह में हिस्सा लिया और लाखों ही जेल गए। राजद्रोह के कानून को तोड़कर खुले आम इस तरह की पुस्तकों का प्रकाशन और प्रचार किया गया जो देशभक्ति के भावों से भरी हुई थीं, पर जिन्हे सरकार ने राजद्रोही कहकर जब्त कर लिया था। और भी तरह तरह के न्यायविरुद्ध कानून तोड़े गए। दूसरा महायुद्ध शुरू हुआ तो गांधी जी की आज्ञा से यह आवाज सारे देश में गूँज गई कि "अंग्रेजों को इस युद्ध में किसी तरह की सहायता मत दो।" कुछ दिनों बाद आवाज उठी : "अंग्रेजो, भारत छोड़ो"। जगह जगह अंग्रेज सरकार को लगान न देने तक का आंदोलन चला। ध्यान से देखा जाय तो ये सब तरह तरह के 'सत्याग्रह' आंदोलन अहिंसात्मक असहयोग के ही विविध रूप थे।

गांधी जी 'अहिंसात्मक असहयोग' में 'सहयोग' शब्द से कहीं अधिक जोर 'अहिंसा' शब्द पर देते थे। ध्येय की अपेक्षा वह साधनों की पवित्रता को अधिक महत्व देते थे। सारे कार्यक्रम में उनकी सबसे बड़ी शर्त यह थी कि किसी अंग्रेज मर्द, औरत या बच्चे की जान या उसके माल को किसी तरह का भी नुकसान न पहुँचने पाए। यह शर्त उनकी इतनी बड़ी थी कि शुरू के असहयोग आंदोलन के दिनों में चौरीचौरा (उत्तरप्रदेश) में जब कुछ लोगो ने पुलिस चौकी को आग लगा दी और कुछ पुलिसवालों को मार डाला तो गांधी जी ने सारे देश के अंदर अपने आंदोलन को कुछ समय के लिये स्थगित कर दिया और जनता की उस गलती का प्रायश्चित्त स्वयं किया। शासकों के साथ सहयोग करने में उनकी साफ हिदायतें थीं कि किसी बीमार की सेवा शुश्रूषा करने में, किसी अंग्रेज स्त्री के बच्चा पैदा होने की सूरत में उसकी आवश्यक सहायता करने में कहीं किसी तरह की कमी न की जाय। उनकी कोई कोई बात मामूली आदमी की समझ से ऊपर होती थी। उदाहरण के लिये, दूसरे महायुद्ध के दिनों में, जब उन्होंने "अंग्रेजों को युद्ध में किसी तरह की मदद मत दो" की आवाज उठाई, उन्हीं दिनों उनकी यह भी हिदायत हुई कि अगर फौज के अंदर सिपाहियों को सर्दी के कारण कंबलों की आवश्यकता हो तो उन्हें कंबल देना हमारा फर्ज है। उनका कहना था कि अगर मैं घोड़ों की नाल लगाने का काम करता हूँ और फौज के घोड़े पास से जा रहे हों और उनकी नालें टूट गई हों तो मेरा धर्म है कि उनकी नालें लगा दूँ ताकि उनके पैर जख्मी न होने पाएँ। वह केवल उन कानूनों को तोड़ने की इजाजत देते थे जो न्याय और जनहित के विरुद्ध थे। सारे आंदोलन में दृढ़ता और आत्मबलिदान के साथ साथ अहिंसा, मानवता और सहृदयता उनके हर कार्यक्रम में साथ साथ चलती थीं। देश की आम जनता पर कम से कम कुछ समय के लिये इसका गहरा प्रभाव पड़ा। उदाहरण के लिये, पेशावर के सरहदी पठानों पर। एक बार फौजी अंग्रेज अफसर ने एक जुलूस को आगे बढ़ने से रोक दिया। जुलूस निहत्थी जनता का था। उसमें औरतें भी थीं, जिनमें से बहुतों की गोद में बच्चे थे। जुलूस ने पीछे हटने से इनकार कर दिया। फौजी गोरों ने बंदूकें तानकर उन्हें मार डालने की धमकी दी। दस दस करके निहत्थे पठानों के जत्थे आगे बढ़ते गए और सब अपनी छातियों पर गोलियाँ खाते गए। जब दस की लाशें हटा दी जाती थीं तब दस और बढ़ते थे और वहीं गोली खाकर गिर पड़ते थे। यहाँ तक कि पूरी ४०० लाशें, जिनमें बहुत सी गोद में बच्चा लिए औरतों की थीं, एक ही स्थान पर गिरीं और अंग्रेज फौजी अफसर को घबराकर अपना हुक्म वापस लाने पड़ा। पठान जनता में से न किसी आदमी का हाथ ऊपर उठा और न किसी के पैर पीछे हटे। इसी तरह के दृश्य देश के और अनेक भागों में भी दिखाई पड़े। गांधी जी के अनुयायियों में अहिंसा की दृष्टि से यदि किसी एक सबसे बड़े और सबसे पक्के अनुयायी का नाम लिया जा सकता है तो वह 'सरहदी गांधी' खान अब्दुल गफ्फार खाँ का।

अंत में इतना कह देना जरूरी है कि महात्मा गांधी के इस अनोखे आंदोलन ने देश की करोड़ों जनता के अंदर वह दृढ़ता, निर्भीकता, उमंग और संकल्पशक्ति पैदा कर दी कि उसी के फलस्वरूप १५ अगस्त, सन् १९४७ की आधी रात को बिना रक्तपात के हिंदुस्तान की हुकूमत अंग्रेजों के हाथों से निकलकर बाजाब्ता देशवासियों के हाथों में आ गई।

सं०ग्रं०—महात्मा गांधी: एक्सपेरिमेंट्स विथ ट्रुथ, हिंदस्वराज, नान वायलेंस इन पीस ऐंड वार (२ खंड); सत्याग्रह, सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका, अंटू दिस लास्ट; राजेंद्रप्रसाद : सत्याग्रह इन चंपारन; महादेव देसाई की डायरी (३ भाग); दि स्टोरी ऑव बारडोली; आर० बी० ग्रेग : ए डिसिप्लिन फॉर नान वायलेंस; प्यारेलाल : गांधियन टेकनीक्स इन दि मॉडर्न वर्ल्ड; विनयगोपाल राय : गांधियन एथिक्स, नॉन कोग्रापरेशन इन अदर लैंड्स; आत्मकथा (गांधी जी, हिंदी); गोखले : मेरे राजनीतिक गुरु गांधीजी। [सुं० ला०]

असामान्य मनोविज्ञान मनोविज्ञान की एक शाखा, जो मनुष्यों के असाधारण व्यवहारों, विचारों, ज्ञान, भावनाओं और क्रियाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करती है। असामान्य या असाधारण व्यवहार वह है जो सामान्य या साधारण व्यवहार से भिन्न हो। साधारण व्यवहार वह है जो बहुधा देखा जाता है और जिसको देखकर कोई आश्चर्य नहीं होता और न उसके लिये कोई चिंता ही होती है। वैसे तो सभी मनुष्यों के व्यवहार में कुछ न कुछ विशेषता और भिन्नता होती है जो एक व्यक्ति को दूसरे से भिन्न बतलाती है, फिर भी जबतक वह विशेषता अति अद्भुत न हो, कोई उससे उद्विग्न नहीं होता, उसकी ओर किसी का विशेष ध्यान नहीं जाता। पर जब किसी व्यक्ति का व्यवहार, ज्ञान, भावना या क्रिया दूसरे व्यक्तियों से विशेष मात्रा और विशेष प्रकार से भिन्न हो और इतनी भिन्न हो कि दूसरे लोगों को वह विचित्र सी जान पड़े तो उस क्रिया या व्यवहार को असामान्य या असाधारण कहते है। असामान्य मनोविज्ञान के कई प्रकार होते हैं :

(१) अभावात्मक, जिसमें किसी ऐसे व्यवहार, ज्ञान, भावना और क्रिया में से किसी का अभाव पाया जाय जो साधारण या सामान्य मनुष्यों में पाया जाता हो। जैसे किसी व्यक्ति में किसी प्रकार के इंद्रियज्ञान का अभाव, अथवा कामप्रवृत्ति अथवा क्रियाशक्ति का अभाव।

(२) किसी विशेष शक्ति, ज्ञान, भाव या क्रिया का ह्रास या मात्रा की कमी।

(३) किसी विशेष शक्ति, ज्ञान, भाव या क्रिया की अधिकता या मात्रा में वृद्धि।

(४) असाधारण व्यवहार से इतना भिन्न व्यवहार कि वह अनोखा और आश्चर्यजनक जान पड़े। उदाहरणार्थ कह सकते हैं कि साधारण कामप्रवृत्ति के असामान्य रूप का भाव, कामह्रास, कामाधिक्य और विकृत काम हो सकते हैं।

किसी प्रकार की असामान्यता हो तो केवल उसी व्यक्ति को कष्ट और दु:ख नहीं होता जिसमें वह असामान्यता पाई जाती है, बल्कि समाज के लिये भी वह कष्टप्रद होकर एक समस्या बन जाती है। अतएव समाज के लिये असामान्यता एक बड़ी समस्या है। कहा जाता है कि संयुक्त राज्य, अमरीका में १० प्रति शत व्यक्ति असामान्य हैं, इसी कारण वहाँ का समाज समृद्ध और सब प्रकार से संपन्न होता हुआ भी सुखी नहीं कहा जा सकता।

कुछ असामान्यताएँ तो ऐसी होती हैं कि उनके कारण किसी की विशेष हानि नहीं होती, वे केवल आश्चर्य और कौतूहल का विषय होती हैं, किंतु कुछ असामान्यताएँ ऐसी होती हैं जिनके कारण व्यक्ति का अपना जीवन दुखी, असफल और असमर्थ हो जाता है, पर उनसे दूसरों को विशेष कष्ट और हानि नहीं होती। उनको साधारण मानसिक रोग कहते हैं। जब मानसिक रोग इस प्रकार का हो जाय कि उससे दूसरे व्यक्तियों को भय, दु:ख, कष्ट और हानि होने लगे तो उसे पागलपन कहते हैं। पागलपन की मात्रा जब अधिक हो जाती है तो उस व्यक्ति को पागलखाने में रखा जाता है, ताकि वह स्वतंत्र रहकर दूसरों के लिये कष्टप्रद और हानिकारक न हो जाय।

उस समय और उन देशों में जब और जहाँ मनोविज्ञान का अधिक ज्ञान नहीं था, मनोरोगी और पागलों के संबंध में यह मिथ्या धारणा थी कि उनपर भूत, पिशाच या हैवान का प्रभाव पड़ गया है और वे उनमें से किसी के वश में होकर असामान्य व्यवहार करते हैं। उनको ठीक करने के लिये पूजा पाठ, मंत्र तंत्र और यंत्र आदि का प्रयोग होता था अथवा उनको बहुत मारपीट कर उनके शरीर से भूत पिशाच या शैतान भगाया जाता था।

आधुनिक समय में मनोविज्ञान ने इतनी उन्नति कर ली है कि अब मनोरोगी, पागलपन और मनुष्य के असामान्य व्यवहार के कारण, स्वरूप और उपचार को बहुत लोग जान गए हैं।

असामान्य मनोविज्ञान में इन विषयों की विशेष रूप से चर्चा होती है :

(१) असामान्यता का स्वरूप और उसकी पहचान।

(२) साधारण मानवीय ज्ञान, क्रियाओं, भावनाओं और व्यक्तित्व तथा सामाजिक व्यवहार के अनेक प्रकारों में अभावात्मक विकृतियों के स्वरूप, लक्षण और कारणों का अध्ययन।

(३) ऐसे मनोरोग जिनमें अनेक प्रकार की मनोविकृतियाँ उनके लक्षणों के रूप में पाई जाती हैं। इनके होने से व्यक्ति के आचार और व्यवहार में कुछ विचित्रता आ जाती है, पर वह सर्वथा निकम्मा और अयोग्य नहीं हो जाता। इनको साधारण मनोरोग कह सकते हैं। ऐसे किसी रोग में मन में कोई विचार बहुत दृढ़ता के साथ बैठ जाता है और हटाए नहीं हटता। यदा कदा और अनिवार्य रूप से वह रोगी के मन में आता रहता है। किसी में किसी असामान्य विचित्र और अकारण विशेष भय का यदा कदा और अनिवार्य रूप से अनुभव होता रहता है। जिन वस्तुओं से साधारण मनुष्य नही डरते, मानसिक रोगी उनसे भयभीत होता है। कुछ लोग किसी विशेष प्रकार की क्रिया को करने के लिये, जिसकी उनको किसी प्रकार भी आवश्यकता नहीं, अपने अंदर से इतने अधिक प्रेरित और बाध्य हो जाते हैं कि उन्हें किए बिना उनको चैन नहीं पड़ती।

(४) असामान्य व्यक्तित्व जिसकी अभिव्यक्ति नाना प्रकार के उन्मादों (हिस्टीरिया) में होती है। इस रोग में व्यक्ति के स्वभाव, विचारों, भावों और क्रियाओं में स्थिरता, सामंजस्य और परिस्थितियों के प्रति अनुकूलता का अभाव, व्यक्तित्व के गठन की कमी और अपनी ही क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं पर अपने नियंत्रण का ह्रास हो जाता है। द्विव्यक्तित्व अथवा व्यक्तित्व की तबदीली, निद्रावस्था में उठकर चलना फिरना, अपने नाम, वंश और नगर का विस्मरण होकर दूसरे नाम इत्यादि का ग्रहण कर लेना इत्यादि बातें हो जाती हैं। इस रोग का रोगी, अकारण ही कभी रोने, हँसने, बोलने लगता है; कभी चुप्पी साध लेता है। शरीर में नाना प्रकार की पीड़ाओं और इंद्रियों में नाना प्रकार के ज्ञान का अभाव अनुभव करता है। न वह स्वयं सुखी रहता है और न कुटुंब के लोगों को सुखी रहने देता है।

(५) भयंकर मानसिक रोग, जिनके हो जाने से मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन निकम्मा, असफल और दुखी हो जाता है और समाज के प्रति वह व्यर्थ भाररूप और भयानक हो जाता है; उसको और लोगों से अलग रखने की आवश्यकता पड़ती है। इस कोटि में ये तीन रोग आते हैं :

(अ) उत्साह-विषाद-मय पागलपन—इस रोग में व्यक्ति को एक समय विशेष शक्ति और उत्साह का अनुभव होता है जिस कारण उसमें असामान्य स्फूर्ति, चपलता, बहुभाषिता, क्रियाशीलता की अभिव्यक्ति होती है और दूसरे समय इसके विपरीत अशक्तता, खिन्नता, ग्लानि, चुप्पी, आलस्य और नाना प्रकार की मनोवेदनाओं का अनुभव होता है। पूर्व अवस्था में व्यक्ति जितना निरर्थक अतिकार्यशील होता है उतना ही दूसरी अवस्था में उत्साहहीन और आलसी हो जाता है। उसके लिये हाथ पैर उठाना और खाना पीना भी कठिन हो जाता है।

(आ) स्थिर भ्रमात्मक पागलपन—इस रोगवाले व्यक्ति के मन में कोई ऐसा भ्रम स्थिरता और दृढ़ता के साथ बैठ जाता है जो सर्वथा निर्मूल होता है; ऐसा असत्य होता है, किंतु उसे वह सत्य और वास्तविक समझता है। उसके जीवन का समस्त व्यवहार इस मिथ्या भ्रम से प्रेरित होता है अतएव दूसरे लोगों को आश्चर्यजनक जान पड़ता है। बहुधा दूसरों के लिये वह कष्टकारक और घातक भी हो जाता है। यह भ्रम बहुधा किसी प्रकार के बड़प्पन से संबंध रखता है जो वास्तव में उस व्यक्ति में नहीं होता। जैसे, कोई बहुत साधारण या पिछड़ा हुआ व्यक्ति अपने को बहुत बड़ा विद्वान्, आविष्कारक, सुधारक, पैगंबर, धनवान, समृद्ध, भाग्यवान, सर्वस्वी, बल्लभ,

भगवान् का अवतार, चक्रवर्ती राजा समझकर लोगों से उस प्रकार के व्यक्तित्व के प्रति जो आदर और संमान होना चाहिए उसकी आशा करता है। संसार के लोग जब उसकी आशा पूरी करते नहीं दिखाई देते तो ऐसे व्यक्ति के मन में इस परिस्थिति का समाधान करने के लिये एक दूसरा भ्रम उत्पन्न हो जाता है। वह सोचता है कि चूँकि वह अत्यंत महान् और उत्कृष्ट व्यक्ति है इसलिये दुनिया उससे जलती और उसका निरादर करती है तथा उसको दुःख और यातना देने एवं मारने को उद्यत रहती है। बड़प्पन का और यातना का दोनों भ्रम एक दूसरे के पोषक होकर ऐसे व्यक्ति के व्यवहार को दूसरे लोगों के लिये रहस्यमय और भयप्रद बना देते हैं।

(ई) मनोह्रास, व्यक्तित्वप्रणाश या आत्मनाश रोग में पागलपन की पराकाष्ठा हो जाती है। व्यक्ति का व्यक्तित्व सर्वथा नष्ट होकर उसके विचारों, भावनाओं और कामों में किसी प्रकार का सामंजस्य, ऐक्य, परिस्थिति-अनुकूलता, औचित्य और दृढ़ता नहीं रहती। अपनी किसी क्रिया, भावना या विचार पर उसका नियंत्रण नहीं रहता। देश, काल और परिस्थिति का ज्ञान लुप्त हो जाता है। उसकी सभी बातें अनर्गल और दूसरों की समझ में न आनेवाली होती हैं। वह व्यक्ति न अपने किसी काम का रहता है, न दूसरों के कुछ काम आ सकता है। ऐसे पागल सब कुछ खा लेते हैं; जो जी में आता है, बकते रहते हैं और जो कुछ मन में आता है, कर डालते हैं। न उन्हें लज्जा रहती है और न भय। विवेक का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

(६) अति उच्च प्रतिभाशाली और जन्मजात न्यून प्रतिभावाले व्यक्तियों का अध्ययन भी असामान्य मनोविज्ञान करता है। यद्यपि यह विश्वास बहुत पुराना है (देखिए उत्तररामचरित) कि प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिभा की मात्रा भिन्न होती है, पर कुछ दिनों से पाश्चात्य देशों में मनुष्य की प्रतिभा की मात्रा की भिन्नता (न्यूनता, सामान्यता और अधिकता) को निर्धारित करने की रीति का आविष्कार हो गया है। यदि सामान्य मनुष्य की प्रतिभा की मात्रा की कल्पना १०० की जाय तो संसार में २० से लेकर २०० मात्रा की प्रतिभावाले व्यक्ति पाए जाते हैं। इनमें से ९० से ११० तक की मात्रावालों को साधारण, ९० से कम मात्रावालों को निम्न और ११० से अधिक मात्रावालों को उच्च श्रेणी की प्रतिभावाले व्यक्ति कहना होगा। अतिनिम्न, निम्न और ईषत् निम्न तथा अति उच्च, उच्च और ईषत् उच्च मात्रावाले भी बहुत व्यक्ति मिलेंगे। इन विशेष प्रकार की प्रतिभावालों के ज्ञान, भाव और क्रियाओं का अध्ययन भी असामान्य मनोविज्ञान करता है।

(७) असामान्य मनोविज्ञान जाग्रत अवस्था से भिन्न स्वप्न, सुषुप्ति और समाधि, मूर्छा, संमोहित निद्रा, निद्राहीनता और निद्राभ्रमण आदि अवस्थाओं को भी समझने का प्रयत्न करता है और यह जानना चाहता है कि जाग्रत अवस्था से इनका क्या संबंध है।

(८) मनुष्य के साधारण जाग्रत व्यवहार में भी कुछ ऐसी विचित्र और आकस्मिक घटनाएँ होती रहती हैं जिनके कारणों का ज्ञान नहीं होता और जिनपर उनके करनेवालों को स्वयं विस्मय होता है। जैसे, किसी के मुंह से कुछ अद्वितीय, अवांछित और अनुपयुक्त शब्दों का निकल पड़ना, कुछ अनुचित बातें कलम से लिख जाना; जिनके करने का इरादा न होते हुए और जिनको करके पछतावा होता है; ऐसे कामों का कर डालना। इस प्रकार की घटनाओं का भी असामान्य मनोविज्ञान अध्ययन करता है।

(९) अपराधियों और विशेषतः उन अपराधियों की मनोवृत्तियों का भी असामान्य मनोविज्ञान अध्ययन करता है जो मन की दुर्बलताओं और मानसिक रुग्णता के कारण एवं अपने अज्ञात मन की प्रेरणाओं और इच्छाओं के कारण अपराध करते हैं।

उपर्युक्त विषयों का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन करना असामान्य मनोविज्ञान का काम है, इसपर कोई मतभेद नहीं है; पर इस विज्ञान में इस विषय पर बड़ा मतभेद है कि इन असामान्य और असाधारण घटनाओं के कारण क्या हैं। यह तो सभी वैज्ञानिक मानते हैं कि मनोविकृतियों की उत्पत्ति के कारणों में भूत, पिशाच, शैतान आदि के प्रभाव को मानना अनावश्यक और अवैज्ञानिक है। उनके कारण तो शरीर, मन और सामाजिक परिस्थितियों में ही ढूंढ़ने होंगे। इस संबंध में अनेक मत प्रचलित होते हुए भी तीन मतों को प्रधानता दी जा सकती है और उनमें समन्वय भी किया जा सकता है। वे ये हैं :

(१) शारीरिक तत्वों का रासायनिक ह्रास अथवा अतिवृद्धि। विषैले रासायनिक तत्वों का प्रवेश या अंतरुत्पादन और शारीरिक अंगों तथा अवयवों की, विशेषतः मस्तिष्क और स्नायुओं की, विकृति अथवा विनाश।

(२) सामाजिक परिस्थितियों की अत्यंत प्रतिकूलता और उनसे व्यक्ति के ऊपर अनुपयुक्त दबाव तथा उनके द्वारा व्यक्ति की पराजय। बाहरी आघात और साधनहीनता।

(३) अज्ञात और गुप्त मानसिक वासनाएँ, प्रवृत्तियाँ और भावनाएँ जिनका ज्ञान मन के ऊपर अज्ञात रूप से प्रभाव पड़ता है। इस दिशा में खोज करने में फ्रायड, एडलर और युंग ने बहुत कार्य किया है और उनकी बहुमूल्य खोजों के आधार पर बहुत से मानसिक रोगों का उपचार भी हो जाता है।

मानसिक असामान्यताओं और रोगों का उपचार भी असामान्य मनोविज्ञान के अंतर्गत होता है।

रोगों के कारणों के अध्ययन के आधार पर ही अनेक प्रकार के उपचारों का निर्माण होता है। उनमें प्रधान ये हैं :

(१) रासायनिक कमी की पूर्ति।

(२) संमोहन द्वारा निर्देश देकर व्यक्ति की सुप्त शक्तियों का उद्बोधन।

(३) मनोविश्लेषण, जिसके द्वारा अज्ञात मन में निहित कारणों का ज्ञान प्राप्त करके उनको दूर किया जाता है।

(४) मस्तिष्क की शल्यचिकित्सा।

(५) पुनःशिक्षण द्वारा बालकपन में बने हुए अनुपयुक्त स्वभावों को बदलकर दूसरे स्वभावों और प्रतिक्रियाओं का निर्माण इत्यादि।

अनेक प्रकार की विधियों का प्रयोग मानसिक चिकित्सा में किया जाता है।

सं०ग्रं०—कोंकलिन : प्रिंसिपल्स आॅव ऐबनार्मल साइकोलॉजी; ब्राउन : साइकोडायनमिक्स आॅव ऐबनार्मल बिहेवियर; फिशर : ऐबनार्मल साइकोलॉजी; पेज : ऐबनार्मल साइकोलॉजी; हार्ट : साइकोलॉजी आॅव इंसेनिटी; मर्फी : ऐन आउटलाइन आॅव ऐबनार्मल साइकोलॉजी।

[भी० ला० आ०]

असिक्रीड़ा

असिक्रीड़ा पहले जब तलवार से लड़ाई हुआ करती थी तब सभी योद्धाओं में तलवार से लड़ सकने की योग्यता आवश्यक थी। अब तलवार की नकली लड़ाई ही रह गई है जो भारत में मुहर्रम आदि त्योहारों पर दिखाई पड़ती है, परंतु विदेशों में यह नकली लड़ाई भी बढ़िया खेल के रूप में परिवर्तित हो गई है, जिसे अंग्रेजी में फ़ेंसिंग कहते हैं। यह शब्द वस्तुतः अंग्रेजी 'डिफेंस' से निकला है, जिसका अर्थ है रक्षा। पहले दो व्यक्तियों में गहरा मनमुटाव हो जाने पर न्याय के लिये वे इस विचार से तलवार से लड़ पड़ते थे कि ईश्वर उसकी रक्षा करेगा जिसके पक्ष में धर्म है। इस प्रकार का द्वंद्वयुद्ध (डुएल) तभी समाप्त होता था जब एक को घातक चोट लग जाती थी। परंतु प्रायः सभी देशों की सरकारों ने द्वंद्वयुद्ध को दंडनीय अपराध घोषित कर दिया। इसलिय फेंसिंग में लड़ने की रीतियाँ तो वे ही रह गईं जो द्वंद्वयुद्ध में प्रयुक्त होती थीं, परंतु अब प्रतिद्वंद्वी को असि (तलवार) से छू भर देना पर्याप्त समझा जाता है। प्रतिद्वंद्वी को असि से छू दिया जाय और स्वयं उसकी असि से बचा जाय, फेंसिंग का कुल खेल इतना ही है। इन दिनों भी फेंसिंग बहुत अच्छा खेल समझा जाता है और ओलंपिक खेलों में (उसे देखें) फेंसिंग प्रतियोगिता अवश्य होती है।

फेंसिंग में तीन तरह के यंत्रों का प्रयोग होता है। प्रत्येक की प्रतिद्वंद्विता अलग अलग होती है, और इनसे खेलने का ढंग भी बहुत कुछ भिन्न होता है। प्रत्येक शस्त्र के लिये अलग शिक्षा लेनी पड़ती है और अभ्यास करना पड़ता है। इन यंत्रों के नाम हैं फ्वायल (फ़ॉयल), एपे (*épée*) और सेबर। फ्वायल किरच की तरह का यंत्र है जिसका

फल पतला, लचीला और ३४ इंच लंबा होता है। कुल तौल ६ छटाँक होती है। यह कोंचने का यंत्र है, परंतु प्रतियोगिताओं में नोक पर बटन लगा दिया जाता है, जिसमें प्रतिद्वंद्वी घायल न हो। खेल में चकमा देना (निशाना कहीं और का लगाना तथा मारना कहीं और), विद्युद्गति से अचानक मारना, बचाव और प्रत्युत्तर (रिपोस्ट, ऐसी चाल कि प्रतिद्वंद्वी का वार खाली जाय और अपना उसे लग जाय) ये ही विशेष दाँव हैं। इस खेल में बड़ी फुरती और हाथ पैर का ठीक ठीक साथ चलाना इन्हीं दोनों की विशेष आवश्यकता रहती है; बल की नहीं। इसलिये इस खेल में स्त्रियाँ भी मर्दों को हराती देखी गई हैं। फ्वायल की नोक प्रतिद्वंद्वी को चौचक लगनी चाहिए। केवल धड़ पर चोट की जा सकती है। पाँच बार छू जाने पर व्यक्ति हार जाता है (स्त्रियों की प्रतियोगिता में चार बार पर्याप्त है)।

एपे (ए ह्रस्व, पे दीर्घ) तिकोना होता है, फ्वायल से भारी होता है और इसका मुष्टिका-संरक्षक बड़ा होता है। इसकी नोकवाले बटन पर लाल रंग में डुबाई हुई मोम की कीलें लगी रहती हैं जिनके लगते ही कपड़ा रँग जाता है। इससे निर्णायकों को सुगमता होती है। प्रतिद्वंद्वियों का श्वेत वस्त्र धारण करना अनिवार्य होता है। अब बहुधा एपे में विद्युत् तार लगा रहता है जिससे प्रतिद्वंद्वी के छू जाने पर घंटी बजती है और बत्ती जलती है; धड़, हाथ, पैर, सिर कहीं भी चोट की जा सकती है। तीन बार चोट खाने पर व्यक्ति हार जाता है।

असिक्रीड़ा (फेंसिंग)

चौकन्ना खड़ा होना।
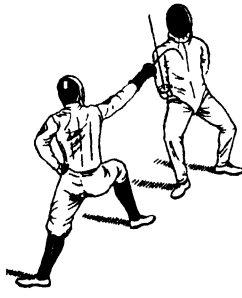
वह मारा !

यह सेबर की लड़ाई है। दाहिनी ओर के प्रतिद्वंद्वी ने अपने सेबर का प्रयोग करके अपने को बचाना चाहा, परंतु बचा न सका।
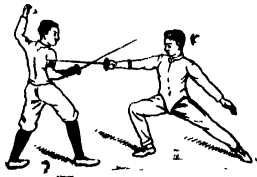
साफ बचा !

बाईं ओर के प्रतिद्वंद्वी ने अपने को बचा तो लिया, परंतु प्रत्युत्तर न दे सका।
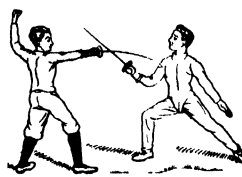
प्रत्युत्तर

बाईं ओर के खिलाड़ी ने अपने को बचा ही नहीं लिया, बचाने के साथ साथ प्रतिद्वंद्वी को मार भी दिया।

सेबर तलवार की तरह होता है। इससे कोंचते भी हैं, काटते भी हैं। यह फ्वायल से थोड़ा ही अधिक भारी होता है। इससे सिर, भुजाओं और धड़ पर चोट की जा सकती है। जो व्यक्ति पाँच बार प्रतिद्वंद्वी को पहले मार दे वह जीतता है, चाहे कोंचकर मारे, चाहे काटने की चाल से। इसका खेल अधिक दर्शनीय होता है। [श्री० गो० ति०]

असीरिया इराक की दजला (टाइग्रिस) और फरात (यूफ्रेटीज़) नदियों के बीच में जो भूमि है उसपर, प्राचीन काल में, दो राज्य, असीरिया तथा बैबिलोनिया थे। पश्चिम में मध्य मेसोपोटामिया का उजाड़ प्लेटो, पूर्व में कुर्दिस्तान का पहाड़ी भाग, उत्तर में आर्मीनिया तथा दक्षिण में बैबिलोनिया का राज्य असीरिया की सीमाएँ निर्धारित करते थे।

जहाँ असीरिया था वह पर्वतीय तथा पठारी देश है। इसके मध्य में मैदानी भाग तथा कुछ घाटियाँ हैं। जलवायु भूमध्यसागरीय है। यहाँ सिंचाई की समुचित व्यवस्था थी। असीरिया राज्य का विस्तार सीरिया की तरफ अधिक था। जहाँ आज शरकात नगर है, वहीं दजला नदी के पश्चिमी तट पर असुर नगर था जो देश की राजधानी था। निनेवेह नगर असुर से ६० मील उत्तर में स्थित था। कुछ समय के लिये कलाह ८वीं तथा ६वीं शताब्दी में देश की राजधानी था। अखेला, हरन आदि बहुत से नगर तथा उपनगर देश में थे, जिनके अवशेष अब भी मिलते हैं।

बर्बर आक्रमणों से अपनी रक्षा तथा अधिक कठिनाइयों का सामना करने के कारण यहाँ के लोग युद्धप्रिय तथा कठोर थे। यहाँ गेहूँ, जौ तथा फल बहुत पैदा होता था। यहाँ की सभ्यता ईसा से २,५०० ई० पू० की मानी जाती है। प्रारंभिक सुमेरी काल के इतिहास में यहाँ की सभ्यता का वर्णन पाया जाता है। यहाँ के नगर सुव्यवस्थित ढंग से बसे हुए थे, जिनमें विनोदस्थल, क्रीड़ाकेंद्र तथा उद्यान थे। नगरों के चारों तरफ अट्टालकयुक्त चौड़ी दीवारें थीं। [हृ० हृ० सिं०]

असुर शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में लगभग १०५ बार हुआ है। उसमें ६० स्थानों पर इसका प्रयोग शोभन अर्थ में किया गया है और केवल १५ स्थलों पर यह देवताओं के शत्रु का वाचक है। 'असुर' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है प्राणवंत, प्राणशक्ति से संपन्न (असुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति, निरुक्त ३।८) और इस प्रकार यह वैदिक देवों के एक सामान्य विशेषण के रूप में व्यवहृत किया गया है। विशेषतः यह शब्द इंद्र, मित्र तथा वरुण के साथ प्रयुक्त होकर उनकी एक विशिष्ट शक्ति का द्योतक है। इंद्र के तो यह वयक्तिक बल का सूचक है, परंतु वरुण के साथ प्रयुक्त होकर यह उनके नैतिक बल अथवा शासनबल का स्पष्टतः संकेत करता है। असुर शब्द इसी उदात्त अर्थ में पारसियों के प्रधान देवता 'अहुरमज्द' ('असुरः मेधावी') के नाम से विद्यमान है। यह शब्द उस युग की स्मृति दिलाता है जब वैदिक आर्यों तथा ईरानियों (पारसीकों) के पूर्वज एक ही स्थान पर निवास कर एक ही देवता की उपासना में निरत थे। अनंतर आर्यों की इन दोनों शाखाओं में किसी अज्ञात विरोध के कारण फूट पड़ गई। फलतः वैदिक आर्यों ने 'न सुरः असुरः' यह नवीन व्युत्पत्ति मानकर असुर का प्रयोग दैत्यों के लिये करना आरंभ किया और उधर ईरानियों ने भी देव शब्द का ('द एव' के रूप में) अपने धर्म के दानवों के लिये प्रयोग करना शुरू किया। फलतः वैदिक 'वृत्रघ्न' (इंद्र) अवस्ता में 'वेरेथ्रघ्न' के रूप में एक विशिष्ट दैत्य का वाचक बन गया तथा ईरानियों का 'असुर' शब्द पिप्रु आदि देवविरोधी दानवों के लिये ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ जिन्हें इंद्र ने अपने वज्र से मार डाला था (ऋक्० १०।१३८।३-४)। शतपथ ब्राह्मण (१३।८।२।१) में देव और असुर भ्रातृव्य तथा शत्रु माने गए हैं। इस ब्राह्मण की मान्यता है कि असुर देवदृष्टि से अपभ्रष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं (तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः)। पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' के पस्पशाह्निक में शतपथ के इस वाक्य को उद्धृत किया है। शबर स्वामी ने 'पिक,' 'नेम', 'तामरस' आदि शब्दों को असूरी भाषा का शब्द माना है। आर्यों के आठ विवाहों में 'आसुर विवाह' का संबंध असुरों से माना जाता है। पुराणों तथा अवांतर साहित्य में 'असुर' एक स्वर से दैत्यों का ही वाचक माना गया है।

सं० ग्रं०—मैकडॉनेल : दि वेदिक माइथालॉजी (स्ट्रासबर्ग,१६१२); कीथ : रेलिजन ऐंड फिलासॉफी ऑव वेद (भाग प्रथम) ; हारवर्ड ओरिएंटल सीरीज़ (ग्रंथसंख्या ३१, १६२५)। [ब० उ०]

असुर (अस्सुर, अस्सूर, अस्शुर, अस्शूर, अशुर, अशूर) उत्तरपूर्वी इराक में प्राचीन काल में बसनेवाली एक प्रबल विजयिनी सामी जाति, उसकी राजधानी और प्रधान देवता का नाम।

अपने समूचे देश की विजय कर असुर जाति ने निकट और दूर के देशों और जातियों पर भी अपना अधिकार स्थापित किया। उसके अपने देश का नाम ग्रीक और उत्तरवर्ती यूरोपीय साहित्य में असीरिया या अस्सीरिया पड़ा। उसी असुर की पूजा असुर महान् या अहुरमज्द के रूप में प्राचीन ईरानियों ने की। असुर जाति की अपनी धार्मिक परंपरा के अनुसार 'असुर' वह महान् देवता है जिसने पहले स्वयं अपने को सिरजा, पश्चात् चराचर को। संस्कृत (वैदिक) भाषा में भी पहले 'असुर' शब्द की व्युत्पत्ति 'असु: प्राणः र' शक्तिमान अर्थ में हुई। बाद में, संभवतः आर्यो—मितन्नी और मीदी (ईरानी आर्यों)—से प्राणांतक संघर्ष होने से, इस शब्द का अर्थ बिलकुल विपरीत सुरशत्रु (न सुरः इति असुरः) होने लगा।

असुरों की राजधानी अस्सुर का उल्लेख बाइबिल (सृष्टि २, १४) में भी हुआ है। यह प्राचीन असुरिया (असीरिया) का प्रधान नगर दजला के पश्चिमी तट पर उसके बड़ी ज़ाब से संगम के ३७ मील नीचे बसा था। हाल की खुदाइयों में इसके भवनों के महत्वपूर्ण खंडहर—समूची इमारतें और सड़कें—शरकत के निकट नदी की प्राचीन तलहटी में निकले हैं। ६०६ ई० पू० में असुरों की इस राजधानी का विध्वंस ईरानी आर्य उन मीदियों ने किया जिनके दारा आदि नामधारी राजाओं ने बाद में वह प्रबल ईरानी साम्राज्य कायम किया जिसकी एक सीमा भारत में पंजाब तक जा पहुँची, दूसरी नील नद और भूमध्यसागर तक, तीसरी दानूब और दक्षिणी रूस तक।

प्राचीन असुर प्रदेश या असूरिया आधुनिक इराक के उत्तरी भाग में दजला नदी के दोनों ओर वर्तमान सीरिया की पूर्वी सीमा और छोटी ज़ाब के बीच फैला हुआ था। स्वयं 'सीरिया' नाम उसी 'असूरिया' का अपभ्रंश है। उस प्राचीन असूरिया के उत्तर में आर्मीनिया (उरार्तू, अरारात पर्वत) और दक्षिण में बाबुल (बाबिलोनिया) थे तथा पूर्व में कुर्दिस्तान के पर्वत और पश्चिम में द्वाब की मरुभूमि थी। इसकी जलवायु ठंढी थी और बीच की भूमि पर जाड़ों में वर्षा भी पर्याप्त होती थी। पर इसका अधिकतर भाग पहाड़ी और रेतीला होने से निस्संदेह वहाँ आहार की कमी थी।

असुरों की पहली राजधानी, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, कलात शरक़त के पास अस्सुर था। उसके बाद असुरों के उत्तर-साम्राज्य-काल में राजधानी निनेवे आधुनिक कुयुंजिक, प्रायः ६० मील उत्तर, जहाँ उस महान् नगर के भग्नावशेष मिले हैं और जिसका विध्वंस ६१२ ई० पू० में हुआ था, बना। वैसे निनेवे नगर का निर्माण अस्सुर से भी पहले हो चुका था। निनेवे और अस्सुर दोनों के बीच आधुनिक निमरूद के पास क़ला था, असुरों की तीसरी राजधानी, उनके ९वीं-८वीं शताब्दी ई० पू० के साम्राज्य-काल की। निनेवे के पूर्वोत्तर वर्तमान खोर्साबाद में प्रबल असुर विजेता सारगोन (शर्रुकिन) की राजधानी, उसी के नाम पर, दुरशर्रुकिन था। इन नगरों की खुदाइयों में बड़े महत्व की पुरातात्विक और ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हुई है। असूरिया के नगरों में प्रधान दो और थे, अरबेला (वर्तमान अर्बिल) और हारान। अरबेला सिकंदर और दारा की युद्धभूमि होने से इतिहास में प्रसिद्ध हो गया है और हारान पश्चिमी द्वाब (मेसोपोतामिया) में असूरी साम्राज्य का केंद्र, उत्तरकाल में निनेवे के ध्वंस के बाद उसकी राजधानी था।

इतिहास—प्राचीन जातियों में आज किसी के इतिहास की सामग्री इतनी प्रभूत मात्रा में उपलब्ध नहीं जितनी असुरों के इतिहास की प्राप्त है। इस संबंध में असूरी तिथिक्रम की ओर संकेत कर देना अनिवार्य हो जाता है। प्राचीन काल की किसी सक्रिय जाति ने अपनी विरासत के रूप में उत्तरकालीन जनता के लिये इतने अभिलेख और ऐतिहासिक घटनाओं के वृत्तांत नहीं छोड़े। अति प्राचीन इतिहास के परिणामस्वरूप तबकी पुरातात्विक सामग्री और अभिलेख तो हैं ही, १०वीं और ७वीं शताब्दी ई० पू० के मध्यकाल के प्रायः प्रत्येक राजा और राजकर्मचारी की घटनाओं के संबंध में अभिलेख सुरक्षित हैं। ६४० ई० पू० से १०वीं ई० पू० के मध्य तक की प्रायः प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना की सही तिथि आज इन्हीं अभिलेखों के आधार पर दी जा सकती है। ७वीं शताब्दी ई० पू० के बीच हुए एक ग्रहण की तिथि से विद्वानों ने पिछली सदियों की भी प्रधान घटनाओं की सही तिथियाँ निर्धारित कर ली हैं जिनकी पुष्टि अन्य स्वतंत्र प्रमाणों से भी हो जाती है। इनमें से प्रधान तालेमी द्वारा प्रस्तुत ग्रीक में ज्योतिष संबंधी असूरी राजाओं की सूची है। बाइबिल की पुरानी पोथी के प्रमाण, उसके नबियों के असूरी सम्राटों की रक्तिम विजयों के विपरीत निर्भीक उद्गार उसी दिशा में ऐतिहासिक तथ्य को पुष्ट करते हैं। इसी प्रकार बाबुली और मिस्री सम्राटों के समसामयिक तिथिक्रमों से भी मिलान कर असूरी तिथिक्रम (लिम्मू) की सत्यता परखी जा चुकी है। द्वितीय सहस्राब्दी की १५वीं शताब्दी ई० पू० की घटनाएँ तो तिथिक्रम की दृष्टि से दस वर्ष आगे पीछे की सीमा में बाँधी जा चुकी हैं। खोर्साबाद (दुर शर्रुकिन) के खंडहरों से राजाओं की जो तालिका, उनके शासनवर्षांक के साथ, उपलब्ध हुई है वह द्वितीय सहस्राब्दी के आरंभ तक सही तिथियों की शृंखला प्रस्तुत कर देती है। फिर भी प्राचीनकालीन तिथिक्रम निकटतम मात्रा में ही सही हो सकता है और नीचे का असुर-इतिहास उसी संभावित सीमा के साथ दिया जा रहा है।

असुर—इतिहास का विभाजन प्रधानतः दो कालभागों—साम्राज्य-पूर्व और साम्राज्यकाल—में किया जा सकता है। साम्राज्यकाल का प्रारंभ अति प्राचीन काल में ही हो गया था। स्वयं साम्राज्यकाल के तीन युग किए गए हैं—प्राचीन, मध्य और उत्तर युग। पिछली खुदाइयों से विद्वानों ने अनुमान किया है कि ४७५० ई० पू० के लगभग असूरिया में गाँव बस चले थे। शीघ्र बाद ही, पहले चाहे पीछे, भांडों का आयात हुआ, फिर दक्षिण अर्थात् बाबुली दिशा से असुर ग्रामों ने धातु का उपयोग भी सीखा। बाबुली सभ्यता तब से असुर विचारों पर हावी हुई और उसका असूरिया में प्राधान्य अंत तक बना रहा। २३०० ई० पू० के आसपास राजनीतिक दृष्टि से भी असूरिया बाबुल-अक्काद का प्रांत बन गया। लिम्मू-अभिलेखों का प्रकाश असूरी तिथिक्रम को प्रायः १८ वीं शताब्दी ई० पू० मिलता है। वैसे खोर्साबाद की राजसूची के ३२ नामों में पिछले १७ ऐतिहासिक हैं। उनसे पहले के १५ राजाओं के नाम अद्भुत और पुराणपरक होने से उनको ऐतिहासिक व्यक्ति मानने में पुराविदों ने आपत्ति की है, यद्यपि मानवशृंखला चूँकि सदा जीवित रही है, उन्हें भी कामचलाऊ मानकर स्वीकार किया जा सकता है। उन पंद्रहों में दूसरे का नाम 'आदम' है जो इब्रानी मनु और इंसान के पूर्वज 'आदम' की याद दिलाता है।

प्राचीन साम्राज्ययुग—साम्राज्य के प्राचीन युग का आरंभ २००० ई० पू० के लगभग हुआ। पुजुर-असुर प्रथम, जिसने १९५० ई० पू० के आसपास राज किया, संभवतः असूरी साम्राज्य का पहला निर्माता और उन्नायक था। अगली दो सदियाँ असूरिया की समृद्धि और राजनीतिक ऐश्वर्य की थीं। तब देश के बाहर अन्य राज्यों (खत्तियों के) में अनेक असूरी आढ़तें और व्यापारिक केंद्र स्थापित हुए। असुरराज इलुशुम्मा (ल० १९०० ई० पू०) ने केवल पचास वर्ष बाद बाबुल को जीतकर असूरिया का करद प्रांत बना लिया और उसके उत्तराधिकारियो ने लघु एशिया से घना व्यापार किया, जैसा वहाँ के हजारों अभिलेखों से प्रकट है। इन्हीं दो सदियों के बीच एक पाश्चात्य सामी घुमक्कड़ जाति दक्षिण-पश्चिमी एशिया को जीतकर वहाँ बस गई। वह अमुर्रू (पाश्चात्य) जाति प्राचीन इब्रानी भाषा बोलती थी। उसी जाति के शम्शी-अदाद (प्रथम) नामक राजा ने असूरिया पर अधिकार कर उसके प्रभुत्व की सीमाएँ एक ओर भूमध्य सागर और पश्चिम-दक्षिणी ईरान में एलाम तक पहुँचा दी। उसका यह दावा इस भूखंड के विविध स्थानों से प्राप्त प्रमाणों से सिद्ध है। आधुनिक सीरिया और ईराक की मिली सीमा के उत्तर में मारी का प्रांत था जिसपर शम्शी-अदाद प्रथम और उसके पुत्र इश्मे-दागान के समय उनके पुत्रों ने प्रांतीय शासक के रूप में राज किया, जैसा वहाँ मिले सैकड़ों पत्रों से प्रमाणित है। इश्मे-दागान की मृत्यु के बाद देश में घोर अराजकता फैली और मारी, बाबुल आदि प्रांत स्वतंत्र हो गए। बाबुल तो इतना प्रबल हो गया कि उसके महत्वाकांक्षी इतिहासप्रसिद्ध सम्राट् हम्मुराबी ने तभी अपना प्रबल साम्राज्य स्थापित किया और असूरिया को उसका सूबा बना लिया। यह घटना १७०० ई० पू० के लगभग की है, यद्यपि कुछ पुराविद हम्मुराबी का शासन-काल प्रायः दो सदियों पहले मानते हैं। अगली दो सदियाँ (१७००–१५०० ई० पू०) फिर असूरी राजनीति के लिये घातक सिद्ध हुईं क्योंकि तभी असूरिया अनेक वीर और बर्बर जातियों की युद्धभूमि बन गया। खत्तियों ने पश्चिम से, हूर्रियों ने पूर्व से और मितन्नियों ने उत्तर से उसपर आक्रमण

ग्रसूरी सईस और घोड़े

(देखे 'ग्रसुर', पृष्ठ २९१)।

असूरी राजा का जलूस

(देखें 'असुर', पृष्ठ २९१)।

किए और इन्हीं का समय समय पर देश में प्राधान्य बना रहा। मितन्नी संभवतः भारतीय आर्य थे जो इंद्र, वरुण आदि ऋग्वैदिक देवताओं को पूजते थे और जिन्होंने खत्तियों के साथ अपनी बोगाज़-कोई की संधिपट्टिका पर इन्हीं भारतीय आर्य देवताओं का साक्ष्य घोषित किया था (ल० १४५० ई० पू०)।

मध्यसाम्राज्ययुग—प्रायः १५०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक असूरी साम्राज्य का मध्ययुग था। इस युग में अभिलेख फिर मिलने लगते हैं। इस युग का आरंभयिता असुर-निरारी प्रथम था। अगली सदी में बाबुल के नए कस्सी राजा असूरिया के साथ अधिपति का व्यवहार करते हैं और उनकी राजधानी निनेवे मितन्नी आर्यों के अधिकार में चली जाती है जिन्हें थुतमोस तृतीय और खत्ती परास्त कर वहाँ से निकालते हैं। १४वीं सदी ई० पू० के मध्य के लगभग असुर-उबल्लित प्रथम देश को नवजीवन और शक्ति देता है। वह बाबुल को भी पराभूत कर लेता है और उसके फराऊन इख़नातून के साथ किए पत्रव्यवहार (अमरना के पत्रों में सुरक्षित) तो प्राचीन अंतर्राष्ट्रीय संबंध के प्रतीक बन गए हैं।

अदाद-निरारी प्रथम (ल० १२९८-१२६६ ई० पू०), शालमानेज़ेर प्रथम (ल० १२६५-१२३६ ई० पू०) और तुकुल्ती-निरुर्ता प्रथम (ल० १२३५-११९९ ई० पू०) ने असूरी भूमि धीरे धीरे खत्तियों और फराऊनों से छीन ली और इनमें से अंतिम ने तो अपने साम्राज्य की सीमा उत्तर में अर्मीनिया के पर्वतों से दक्षिण में फारस की खाड़ी तक फैला दी। परंतु उसके पुत्र के शासनकाल में बाबुल ने फिर शक्ति संचित कर असूरिया को पराभूत कर दिया। अंत में असुर-रेश-इशी ने फिर बाबुल की विजय कर देश के पराभव का बदला लिया और उसके पुत्र तिगलाथ-पिलेज़ेर प्रथम (ल० १११६-१०७८ ई० पू०) के समय तो मध्यकालीन असूरी साम्राज्य ने अपने ऐश्वर्य की चोटी छू ली। उसने एक ओर तो आर्मीनिया से फ्रीगियाइयों को निकाल फ़िनीकिया और सीरिया विजय की और दूसरी ओर बाबुल पर अधिकार कर लिया। तिगलाथ पिलेज़ेर के राजप्रासाद से असूरी विधिव्यवस्था (कानून) प्राप्त हुई है जिससे तत्कालीन क्रूर दंडविधान पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है। उस यशस्वी विजेता के पश्चात् असूरी राजाओं के भाग्याकाश पर फिर मेघ घिर आए और आरामियों ने धीरे धीरे असुरों को निस्तेज कर दिया। अगली सदी असूरिया की शक्तिहीनता और दरिद्रता की साक्षी थी।

उत्तरसाम्राज्ययुग—१०वीं सदी ई० पू० के आरंभ से ही असूरी साम्राज्य का उत्कर्ष फिर से शुरू हो गया था। पिता पुत्र असुर-दान द्वितीय और अदाद-निरारी द्वितीय ने आरामियों की शक्ति तोड़ दी। तुकुल्ती निनुर्ता द्वितीय का बेटा असुर-नजीरपाल द्वितीय (८८३-८५९ ई० पू०) इस काल का सबसे महान् असुरसम्राट् था। उसने अपनी विजयों द्वारा असूरिया की काया पलट दी। उसके अभिलेखों में उसके क्रूर आक्रमणों की कथा लिखी है। असुर चढ़ाइयों की बर्बरता के जो उल्लेख अभिलेखों और साहित्य में मिलते हैं उन्हें इसी ने चरितार्थ किया। समूचे प्रांत की जनता को वह उखाड़कर अन्यत्र बसाता या बर्बाद कर देता, नगर जीतकर बच्चों, बूढ़ों तक को तलवार के घाट उतार देता और नगर जला देता। पर उसने अपने साम्राज्य की सीमाएँ निश्चय भूमध्यसागर तक फैला दीं। उसके बेटे शालमानेज़ेर तृतीय (८५८-८२४ ई० पू०) ने पिता का साम्राज्य बरकरार रखा, यद्यपि उसे संमिलित शत्रुओं के प्रबल संघ से लोहा लेना पड़ा। उस संघ में आरामी, फिनीकी, इज़रायली, अरब सभी शामिल थे। लड़ाई जमकर हुई और शालमानेज़ेर जीता भी, पर हानि उसे बड़ी उठानी पड़ी। शत्रुओं में भी फूट पड़ गई और संघ के नेता सीरिया के राजा हदाद एज़ेर (बेन हदाद द्वितीय) के मर जाने पर तो उसके बेटे हज़ाएल को अपनी राजधानी दमिश्क भी छोड़नी पड़ी, यद्यपि असुरराज भी उसे ले न सका। पर शालमानेज़ेर ने अन्यत्र अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया और बाबुल पर अधिकार कर लिया। उसके अंतिम दिनों में उसके एक पुत्र ने भी उससे विद्रोह कर दिया। पर शीघ्र उसका मनोनीत उत्तराधिकारी पुत्र शम्शी-अदाद पंचम असूरी गद्दी पर बैठा, यद्यपि उसके शासन से अनेक प्रांत निकल गए। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी यशस्विनी रानी सम्मुरामाई अपने बालक पुत्र अदाद-निरारी तृतीय (८१०-७८३ ई० पू०) की अभिभाविका बनी और उसकी ख्याति से पीछे का इतिहास भर गया। ग्रीक अनुश्रुतियों में उसका नाम सेमिरमिस् है। ख्यातों में लिखा है कि उसने पंजाब तक पर आक्रमण किया। स्वयं अदाद ने अपनी योग्यता का परिचय अपनी विजयों से दिया और कास्पियन सागर तक के प्रदेश जीत लिए। परंतु उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में असूरिया की शक्ति फिर क्षीण हो चली और उरार्तू (आर्मीनिया), सीरिया, फिलिस्तीन के स्वतंत्र राज्य प्रबल हो गए। इधर घर में भी विद्रोह होने लगे।

इस प्रकार के एक विद्रोह ने तिगलाथ-पिलेज़ेर तृतीय को ७४६ ई० पू० में ऊपर फेंका। संभवतः वह स्वच्छंद सामरिक था, असूरी राजकुल का न था। फिर असाधारण शक्ति अर्जित कर उसने असूरिया को उत्तर-साम्राज्ययुग में उत्कर्ष की चरम चोटी पर चढ़ा दिया। वह सेना लिए दक्षिण पहुँचा और बाबुल तथा उसके दक्षिणवर्ती प्रांतों को जीत वहाँ की मांडलिक सत्ता की प्राचीन परंपरा तोड़ अपने को बाबुल का राजा भी घोषित किया। फिर वह विद्युद्गति से उत्तर-पूर्व जा पहुँचा और उसने मीदियों की शक्ति तोड़ दी। फिर उरार्तू के फरात के तीर सफल लोहा लेता वह सीरियाइयों को धूल चटाता इज़रायल में गाज़ा जा पहुँचा और उस राज्य का अधिकांश अपने साम्राज्य में मिला उसने पीछे दमिश्क पर भी अधिकार कर लिया। उसके पुत्र के दुर्बल शासन के बाद सारगोन द्वितीय (शर्रुकिन) ने फिर ताकत की सरगर्मी दिखाई। उसने इज़राइल को उखाड़कर सीरिया को रौंद डाला और हमाथ तथा कारखेमिश की भी वही गति की। उरार्तू की शक्ति ने उसे फिर खींचा और उसने उत्तर की ओर अभियान कर उस देश के ऋद्ध प्रांतों को उजाड़ डाला। मरने से पहले उसने असूरिया की राजधानी क़ला से हटाकर अपने नाम की नगरी दुरशर्रुकिन में स्थापित की। उसके पुत्र सेनाखेरिब (७०४-६८१ ई० पू०) को लगातार विद्रोहों का सामना करना पडा। बाबुल, में, फ़िनीकिया में, फिलिस्तीन में, सर्वत्र विद्रोह हुए और सेनाखेरिब उन्हें कुचलता फिरा। जुदा के राजा हेज़ेकिया का आत्मसमर्पण कराता, उसके देश को रौंदता वह मिस्री सीमा तक जा पहुँचा। इसी बीच एलाम और बाबुल की संमिलित विद्रोही सेनाओं से दजला के पूर्व खलूले में जो उसकी मुठभेड़ हुई उसमें वह हार गया। इसका परिणाम यह हुआ कि पश्चिम ने भी सिर उठाया और फिलिस्तीन में फिर विद्रोह भड़क उठा। पर सेनाखेरिब पहले बाबुल की ओर बढ़ा और ६८९ ई० पू० में उसने उसे नष्ट कर दिया। फिर वह पश्चिम की ओर विद्रोहियों को दंड देने चला, पर उधर महामारी का प्रकोप हो जाने से उसे लौटना पड़ा। शीघ्र उसके दो बेटों ने उसकी हत्या कर दी। अपने हत्यारे भाइयों को उत्तर की ओर भगाकर एज़ारहद्दन (६८०-६६९ ई० पू०) पिता की गद्दी पर बैठा। उसका शासन अल्पकालिक रहा, पर उसी बीच उसने पिता का साम्राज्य मजबूत पायों पर रखा। बाबुल का फिर से निर्माण कर उसने उसे अपनी दूसरी राजधानी बनाया। फिर वह अरब और मीदिया को सर करता मिस्र जा पहुँचा और मेम्फिस उसने जीत लिया। उत्तर-पश्चिम से किमारी और कोहकाफ़ (काकेशस्) लाँघ शक उत्तरी असूरिया पर टूटने लगे थे, उनको उसने अपनी सीमाओं में बँधे रहने को बाध्य किया।

सेनाखेरिब के पुत्र असुरबनिपाल (अस्शुर-बन-अप्ली, ६६८-६३३ ई० पू०) ने असूरिया के इतिहास को एक नया सांस्कृतिक रुख दिया। वह पिछले असूरी साम्राज्यकाल का सबसे महान् सम्राट् था। उसने अपनी विजयों के बीच बीच बड़े बड़े सांस्कृतिक अभियान किए—लेखकों को बाबुल आदि प्राचीन नगरों को भेजा जहाँ से उन्होंने कीलनुमा अक्षरों में सुमेरी-अक्कादी साहित्य के अमोल रत्न खोज निकाले और उनकी नकलें अपने सम्राट् के पास भेजीं। लाखों ईंटों पर लिखे हजारों ग्रंथ असुरबनिपाल के निनेवे के संग्रहालय से मिले हैं जिनसे उस काल के इतिहास, साहित्य और जीवन पर प्रभूत प्रकाश पड़ा है। उस सम्राट् के शासनकाल में असूरियों ने कला के क्षेत्र में असाधारण उन्नति की। उसके भवनों के निर्माता असुर वास्तुकारों की सर्वत्र विदेशों में माँग होने लगी। सारगोन, सेनाखेरिब और असुरबनिपाल के शासनकाल कला के उत्कर्ष के थे। असुरबनिपाल तो संसार का पहला पुराविद और संग्रहकर्ता था।

राजनीतिक सक्रियता में भी असुरबनिपाल ने बड़ी ख्याति अर्जित की। अपने पराक्रम से उसने मिस्र जीत लिया। उसके पिता ने अपना साम्राज्य दोनों बेटों में बाँटकर बाबुल छोटे शमाश-शुम-उकिन को दे दिया था। उसने अब असुरबनिपाल से विद्रोह किया और जो युद्ध परिणामतः हुआ उसे

६४८ ई० पू० में जीत असुरबनिपाल ने बाबुलियों का भयानक संहार कर यह प्रदर्शित कर दिया कि उस दिशा में उसकी रुचि अन्य असुर राजाओं से भिन्न नहीं है। पर इसी बीच अन्य प्रांतों ने भी विद्रोह किया, मिस्र, अरब और एलाम ने। असुरबनिपाल ने एलामियों को परास्त कर एलाम का राज्य ही मिटा दिया। उस प्राचीन राज्य के नष्ट हो जाने से फारस में प्रतिष्ठित ईरानी आर्यों की शक्ति बढ़ी और उनका राज्य वहाँ स्थापित हुआ जो कालांतर में दाराओं का प्रसिद्ध साम्राज्य बना। उनके राजा कुरुष् प्रथम ने असूरी आधिपत्य स्वीकार कर एलाम पर अपना स्वत्व स्थापित किया। अंत में संघर्ष से टूटकर अरबों ने भी आत्मसमर्पण कर दिया। धीरे धीरे प्रायः सभी विद्रोहियों ने लीदिया और उरार्तू तक अधिपति असुरबनिपाल की सत्ता स्वीकार कर ली और वह सम्राट् सुख और शांतिपूर्वक ल० ६३३ ई० पू० के मरा।

उसके बाद की असूरिया की कहानी क्रमशः छीजती शक्ति और बढ़ती दरिद्रता की है। बाबुल के शासक नबोपोलास्सर ने मीदी क्षयार्षा के साथ संघ बना असूरिया पर आक्रमण किया। ६१४ ई० पू० में मीदियों ने प्राचीन राजधानी अस्शुर को नष्ट कर मिटा दिया और दो साल बाद निनेवे की भी वही गति हुई जब उसकी लपटों से भरे राजप्रासादों में असुरराज सिन-शार-इश्कुन जलकर भस्म हो गया। तब असुर-उबाल्लित द्वितीय राजा हुआ जिसने पश्चिमी मेसोपोतामिया में हार्रान अपनी राजधानी स्थापित की, पर उसे भी ६०८ और ६०६ई०पू० के बीच मीदी आर्यों ने नष्ट कर डाला। उधर मिस्री फराऊन ने फिलिस्तीन और सीरिया पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार असूरिया के प्रांत तथा करद राज्य उससे स्वतंत्र होते या शत्रुमित्रों के अधिकार में चले गए और उस रक्तरंजित क्रूर साम्राज्य का इतिहास से लोप हो गया।

असूरी सभ्यता—असूरिया प्राचीन सभ्यताओं का स्पार्ता था। उसकी समूची राजनीतिक व्यवस्था सैन्यसंगठन पर आधारित थी। उसके सम्राटों की एकमात्र महत्वाकांक्षा विजेता होने की थी, इसी से उन्होंने अपनी राजनीति को बल और सेना के पायों पर खड़ा किया। पठारों की असूरी जनता को उन्होंने सैनिक दृष्टि से संगठित किया। पहली बार विशेष महत्व से घुड़सवारों का उपयोग असुर राजाओं ने यंत्रों के साथ अपने युद्धों में किया, रथसेना कम से कम, अश्वसेना अधिक से अधिक। इसी से उनकी शत्रुता भी आपज्जनक थी; विरोध या विद्रोह करके उनके सामने जीवित रह जाना असंभव था। उनकी सामरिक नृशंसता इतनी कुख्यात हो गई थी कि उसने दूर दूर के साहित्यों पर अपनी स्मृतिछाप छोड़ी है। दूरस्थ भारतीय साहित्य में भी उनके इस रक्तरंजित इतिहास की स्मृति बनी है। सही, मूल रूप में संस्कृत में असवः प्राणाः के अर्थ में प्राणवान असुर की व्युत्पत्ति होती है, परंतु उनके पराक्रम से आरंभ होकर जो उनके नाम की व्याख्या दैत्य (न सुराः इति असुराः) के अर्थ में होने लगी वह उनकी प्रचंड क्रूरता का ही परिणाम था। भारतीय युद्धपरंपरा में 'धर्मविजयीनृप' वह था जो विजित पर केवल मानसिक आधिपत्य स्थापित करता था—कालिदास के रघुवंश के चौथे सर्ग में उसकी व्याख्या है, श्रियं जहार न तु मेदिनीम्—श्री वह विजित की हर लेता था पर संपत्ति, राज्य, सिंहासन लौटा देता था। उसके विपरीत 'असुरविजयीनृप' वह था जो असुरसम्राटों की भाँति विजित के राज्य को उखाड़ फेंकता था (उत्खाय तरसा)। असुर-सम्राटों का विजित जनता को तलवार के घाट उतार देना, नगरों को जला डालना, प्रजा को एक प्रांत से उखाड़कर दूसरे प्रांत में बसा देना प्रकृत बात थी।

असुरों का सुमेरी-बाबुलियों से पाए साहित्य के अतिरिक्त अपना निजी साहित्य न था। पर वे साहित्य को सीखकर उसकी रक्षा खूब करते थे। उन्होंने बाबुलियों से सुमेरियों की प्राचीन कीलनुमा लिपि सीखी और उसमें अपने हजारों व्यावसायिक और राजनीतिक अभिलेख तथा पत्र लिखे और प्राचीन साहित्य की प्रतिलिपियाँ प्रस्तुत कीं। असुरबनिपाल के निनेवे के संग्रहालय का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। असुरों का साहित्य चार प्रचार का है—१. व्यावसायिक अभिलेख और पत्र, २. प्राचीन ग्रंथों की नकलें, ३. राजाओं के सैनिक अभियानों और विजयों के विस्तृत वृत्तांत और ४. लिम्मू, राजकर्मचारियों द्वारा लिखे वार्षिक विवरण। इन्हीं असुरसम्राटों की संरक्षा से गिल्गमेश आदि प्राचीन सुमेरी-बाबुली वीरकाव्यों की रक्षा हो सकी है।

असुर सामी जाति के थे, परंतु अनेक जातियों के संधिस्थल पर बसने के कारण उनमें संमिश्रण भी प्रचुर मात्रा में हुआ था। उनके अधिकतर देवता भी बाबुलियों के देववर्ग से लिए हुए थे, अपना प्रधान और राष्ट्रीय देवता फिर भी उनका था, असुर, जिसे प्राचीन ईरानी आर्यों ने अहुरमज्द के रूप में पूजा और ऋग्वैदिक आर्यों ने अपने वरुण, इंद्र, अग्नि आदि देवताओं का शक्तिवाचक विशेषण बनाया। असुर ही जाति का नाम था, वही उनके प्रधान नगर और राजधानी का नाम था, उनके राजाओं का नामांश भी। उनके अन्य देवता अधिकतर बाबुलियों से लिए हुए निम्नलिखित थे : इया, बेल या बाल, नेस्रोख, नेबू, शमाश, सिन, नेर्गल, इश्तर।

परंतु असुरों की एक प्रतिभा अनुपम थी, उनका कलाप्रेम। उनके राजप्रासाद प्राचीन जगत् में अप्रतिम थे। उनके सिंहों और साँड़ों की सर्वतोभद्रिका (चारों ओर से कोरी) मूर्तियाँ अचरज के अभिप्राय थीं जो पहले दाराओं, पीछे अशोक के स्तंभों के आदर्श बनीं। पत्थर में उभारकर असुर कलावंतों द्वारा लिखे चित्र आज भी कलापारखियों को विस्मय में डाल देते हैं। असुरबनिपाल के प्रासाद का बाणबिद्ध सिंहनी का आखेट-चित्र सजीवता में बेजोड़ है। असुर शिल्पियों की सुरुचि और कला का तब ऐसा साका चला कि दूर दूर के देशों में उनकी माँग होने लगी और विदेशी साहित्यों और अनुश्रुतियों में उनका उल्लेख हुआ। भारतीय परंपरा में भी मय-असुर के शिल्प का बारबार उल्लेख हुआ है। महाभारत के युधिष्ठिर के स्थल में जल और जल में स्थल का आभास उत्पन्न करनेवाले राजप्रासाद के निर्माण का श्रेय भी उसी को दिया गया है। निनेवे, क़ला, अशुर आदि की खुदाइयों में जो कला संबंधी अनंत सामग्री मिली है उससे संसार के संग्रहालय भरे हैं। कुछ अजब नहीं जो असुरों की राजधानी क़ला से ही संस्कृत 'कला' शब्द की उत्पत्ति हुई हो। इस शब्द का संस्कृत में प्रयोग बहुत प्राचीन नहीं है, पाचवीं-छठी सदी ई० पू० से पहले तो कतई नहीं। वस्तुतः पहली बार शिल्पार्थ में कला का उपयोग वात्स्यायन ने 'कामसूत्रों' में तीसरी सदी ईसवी में किया है। किला शब्द की उत्पत्ति भी कला से ही हुई है, जो उस नगर के दुर्गनुमा परकोटों का परिचायक है।

मूर्तियों और उत्खचनों से प्रकट होता है कि असुर ऊँचे, प्राणवान् और शिराव्यंजित शरीरवाले होते थे। वे सिर के बाल लंबे और लंबी दाढ़ी रखते थे। तहमत और चोगा वे शरीर पर धारण करते थे। उनका फलित ज्योतिष में अटल विश्वास था और उनके सम्राट् प्रत्येक सैनिक अभियान के पहले शकुन बिचरवा लिया करते थे।

सं० ग्रं०—एच० आर० हाल : दि एंशेंट हिस्ट्री ऑव दि नियर ईस्ट; आर० डब्ल्यू रोजर्स : ए हिस्ट्री ऑव बैबिलोनिया ऐंड असीरिया, न्यूयार्क, १६१५; ए० टी० ओल्मस्टेड : हिस्ट्री ऑव असीरिया, न्यूयार्क, १६२३; कैंब्रिज एंशेंट हिस्ट्री, खंड १ और २, कैंब्रिज, १६२३-२४; एस० स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑव असीरिया, लंदन, १६२८; भ० श० उपाध्याय : दि एंशेंट वर्ल्ड, हैदराबाद, १६५४। [भ० श० उ०]

असुर बिहार राज्य में छोटा नागपुर क्षेत्र के निवासी कबीलों में से एक का नाम। असुर इनमें संभवतः सबसे अधिक पिछड़े हुए हैं। यद्यपि इनके पड़ोसी अन्य कबीलों के प्रामाणिक और तात्विक क्षेत्र-अध्ययन उपलब्ध हैं, तथापि असुर कबीले का विस्तृत अध्ययन अब तक नहीं हुआ है। इस कमी का एक कारण असुरों के भौगोलिक विवरण की अनिश्चितता है। एल्विन के मत में पश्चिम में मध्यभारत के होशंगाबाद और भंडारा जिले से पूर्व में बिहार के राँची और पलामू जिले तक छिटपुट पाए जानेवाले लोहा पिघलानेवाले सभी कबीलों को 'अगरिया' परिवार में रखना उचित है। इस वर्गीकरण के अनुसार बिहार के असुर भी इसी श्रेणी के हैं। पर लोहा पिघलानेवाले सब कबीलों का ऐसा एकीकरण उन कबीलों की सांस्कृतिक विषमताओं को दृष्टिगत करते हुए सही नहीं प्रतीत होता। छोटा नागपुर क्षेत्र में, विशेष रूप से राँची और पलामू जिलों की क्रमशः उत्तर-पश्चिमी और दक्षिण-पश्चिमी सीमा के पठारी प्रदेश में असुरों की संख्या सबसे अधिक है। कृष्ण वर्ण, मझोले कद, सीधे या घुँघराले बाल और चिपटी नाकवाले

असुर अपने पड़ोसी मुंडा, बिरहोर तथा उराँव कबीलों की भाँति ही 'प्रोटो आस्ट्रेलीय' प्रजातीय स्कंध के हैं। इनकी बोली भी मुंडारी भाषापरिवार की है। वर्तमान असुरों ने लोहा पिघलाने का धंधा छोड़ दिया है, किंतु आज भी वे कुशल लोहार हैं। उसके नाम 'असुर' और निकट भूत में लोहा पिघलाने के धंधे के आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि वर्तमान असुर कबीले के पूर्वज ऋग्वेद में वर्णित असुर रहे होंगे। इस मत को स्वीकार करना संभव नहीं। मुंडा लोककथाओं में भी मुंडाओं से पूर्व छोटा नागपुर प्रदेश में लोहा पिघलानेवाली असुर जाति के आधिपत्य का उल्लेख है जिन्हें बाद में 'सिंगबोंगा' की शक्ति और तेज द्वारा परास्त कर दिया गया था। किंतु इस क्षेत्र के अन्य कबीलों से असुरों की प्रजातीय, सांस्कृतिक और भाषागत समानता को ध्यान में रखते हुए यह मत निर्विवाद प्रतीत नहीं होता।

वर्तमान असुर कबीले का मुख्य धंधा कृषि है और इनकी मुख्य फसलें धान, मकई और जौ हैं। लोहारी के अतिरिक्त पशुपालन, आखेट, मधु-संचय आदि इनके मुख्य सहायक धंधे हैं। विनिमय अदला बदली द्वारा होता है, यद्यपि हाल में निकटवर्ती नगरों के महाजनों ने इन्हें मुद्रा व्यवस्था से भी परिचित करा दिया है। असुर सामाजिक संरचना में नातेदारी के संबंध (किनशिप रिलेशंस) अब भी महत्वपूर्ण हैं। दादा दादी, नाना नानी और नाती नातिन को आपस में हँसी ठट्ठा करने की विशेष छूट है। कुछ हास परिहास तो निश्चय ही हमारे आदर्शों के विचार से औचित्य और श्लीलता की सीमा का अतिक्रमण करनेवाले हैं। विवाह के मुख्य रूप क्रय विक्रय, सेवाविवाह और धरने का विवाह है। प्रथम प्रकार का विवाह 'लाठी टेकना' कहलाता है जिसमें वरपक्ष द्वारा वधू के मूल्य का भुगतान अनिवार्य होता है। यदि वर पक्ष वधू का मूल्य देने में असमर्थ हो तो विवाहोपरांत वर को घरजमाई के रूप में अनिश्चित अवधि तक अपने ससुर के घर काम करना पड़ता है। यह सेवाविवाह का ही एक रूप है। तीसरे प्रकार का विवाह वह है जिसमें अपने ससुर परिवार के विरोध की पर्वाह न करते हुए कन्या भावी पति के घर धरना दे देती है और कालांतर में सास ससुर को सेवा द्वारा प्रसन्न कर वैध पत्नी का पद ग्रहण करती है। संपूर्ण असुर कबीला बहुत से बहिर्विवाही कुलों (एक्ज़ोगैमस क्लैंस) में बँटा है। इनमें ऐंट, बेग, बुड़वा, ऐंदुवार, किरकिटा और खुसार विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रत्येक कुल 'टोटमी' है और कुल के सदस्यों के लिये 'टोटमी' पशु अथवा पक्षी का मांस खाना वर्जित है। असुर टोटमी कुलों के नाम मुंडा और उराँव कुलनामों के समान हैं। अन्य कबीलों की भाँति असुरों में भी कुलों का नामकरण परिवेश के पशुपक्षियों के आधार पर किया गया है। अविवाहित असुर नवयुवक और नवयुवतियों के परंपरागत शिक्षण आमोद प्रमोद और सहयोग के हेतु प्रत्येक गाँव में युवक और युवतियों के लिये पृथक् 'गितिओड़ा' या युवागृह होते हैं। कबीले में नृत्य, गीत और सामूहिक आखेट का आयोजन युवागृह के तत्वावधान में होता है। असुरों के सर्वोच्च देवता सिंगबोंगा या सूर्य देवता हैं। बलि द्वारा उग्र देवताओं का शमन, झाड़ फूँक द्वारा रोगों की चिकित्सा तथा महामारी आदि संकट से कबीले की रक्षा का कार्य गाँव के अनुभवी 'देउरी' के हाथ में होता है। हाल में अधिकांश असुर गाँवों के छोटे बालकों की प्राथमिक शिक्षा के लिये शासन द्वारा संचालित स्कूल खोले गए हैं। बाजारों तथा नागरिक व्यापारियों ने भी असुरों के संपर्क का क्षेत्र विस्तृत कर दिया है। भारतीय कबीलाई जनसंख्या द्वारा पर-संस्कृति-ग्रहण की प्रक्रिया के प्रसंग में असुरों की यह प्रगति निश्चय ही रोचक है। [र० जै०]

असुरनज़ीरपाल

(८८४–८५९ ई० पू०) यह असुर नृपति प्राचीन काल के प्रधानतम दिग्विजयी सम्राटों में से था। अपने पिता तुकुल्ती-निनुर्ता द्वितीय के निधन के पश्चात् वह असुरों की गद्दी पर बैठा और उसके प्रताप से असुर राज्य तत्कालीन सभ्य संसार का हर क्षेत्र में विधायक बन गया। प्राचीन भारतीय साहित्य में जो क्रूरकर्मा असुरों की रक्तिम विजयों का निर्देश मिलता है उनका उद्गम इसी असुरनज़ीरपाल के प्रयत्न हैं। वह न केवल राज्यों और देशों को जीतता था, अमानुषिक रक्तपात से नगरों को नष्ट और सूना कर देता था, जीवित शत्रुओं की खाल खिंचवा लिया करता था, बल्कि उसने अपनी दिग्विजयों में क्रूरता की एक नई रीति ही चला दी। वह देश या नगर को जीत उसकी समूची प्रजा को अपने पूर्व स्थान से उखाड़कर अपने साम्राज्य के दूसरे प्रदेशों में बसा देता था जिससे फिर वह विद्रोह न करे या उसके भीतर स्वदेश की रक्षा के लिये कोई भावना ही जीवित न रह जाय। अक्सर तो वह अपने विजित शत्रुओं के हाथ और कान कटवाकर उनकी आँखें निकलवा लेता, फिर उन्हें एक पर एक डाल अंबार खड़ा कर देता और भूखों मरने के लिये छोड़ देता। बच्चे जिंदा जला डाले जाते और राजाओं को असूरिया ले जाकर उनकी खाल खिंचवा ली जाती। असुरनज़ीरपाल की चलाई इस क्रूर प्रथा की परंपरा बाद के असुर राजाओं ने भी कायम रखी, यद्यपि धीरे धीरे उसका ह्रास होता गया।

असुरनज़ीरपाल दिग्विजय के लिये पहले पूर्व और उत्तर की ओर बढ़ा और दक्षिण अरमेनिया को सिलीशिया तक उसने रौंद डाला। अनेक राज्यों को जीतता वह प्राचीन प्रबल खत्तियों की राजधानी कारखेमिश पहुँचा और उसे जीत, फ़रात लाँघ, उत्तरी सीरिया की ओर चला। फिर लेबनान और फिनीकी नगरों का आत्मसमर्पण स्वीकार करता जब वह समुद्रतट से लौटता दमिश्क के सामने जा खड़ा हुआ तब उसकी गति की तीव्रता से सीरिया के राजा को काठ मार गया। उसको विनीत करता असुरसम्राट् जब राजधानी लौटा तब मर्दित मानवता बिलबिला रही थी और राह के विध्वस्त राज्य, नष्ट नगर, उजड़े और जले गाँव, असुर सेनाओं की गति की कथा कह रहे थे।

असुरनज़ीरपाल मात्र दिग्विजयी न था, अपूर्व सैन्यसंचालक और उसका संगठयिता भी था। रथों को कम कर घुड़सवारों की संख्या बढ़ा और पहली बार युद्ध में यंत्रों का प्रयोग कर उसने असूरी सेना का नया संगठन किया। अपनी राजधानी उसने असुरों की प्राचीन राजधानी 'असुर' से हटाकर कल्ख़ी में स्थापित की और वहीं उसने अनेक प्रासादों तथा मंदिरों का निर्माण कराया। प्राचीन साहित्य में जो मय आदि वास्तुकारों का उल्लेख मिलता है उनके शिल्प की प्रतिष्ठा विशेषतः असुरनज़ीरपाल के ही समय हुई थी। तत्कालीन सभ्यता के सारे देशों में तब असुर शिल्पियों और वास्तुकारों की माँग होने लगी। स्वयं असुरनज़ीरपाल की दिग्विजयों के वृत्तांत स्तंभों और शिलाखंडों पर लिख लिए गए और इस प्रकार उसका नाम इतिहास में भय और क्रूरता का पर्याय हो गया। [भ० श० उ०]

असुरबनिपाल

(६६९–६२३ ई० पू०) असुर (असूरियाई) जाति का प्रसिद्ध पुराविद् सम्राट्। असुरों ने अरमनी पहाड़ों के दक्षिण और दजला-फरात नदियों के उपरले द्वाब से उठकर समूचे द्वाब, नदियों के मुहानों तक बाबुल और प्राचीन सुमेर के नगरों पर अधिकार कर लिया था। असुरबनिपाल के पूर्वज तिगलाथ पिलेसर और असुरनज़ीरपाल की विजयों ने असुर साम्राज्य की सीमाएँ ईरान, कृष्ण और भूमध्यसागर तथा नील नद तक फैला दी थीं। असुरबनिपाल उसी साम्राज्य का अधिकारी हुआ और एसारहद्दन की मृत्यु के बाद निनेवे की गद्दी पर बैठा। उसके पिता ने अपना साम्राज्य दोनों बेटों में बाँट दिया था। छोटे बेटे शमश-शुम-उकिन को उसने बाबुल दिया था और बड़े बेटे असुरबनिपाल को शेष साम्राज्य, यद्यपि बाबुल को उसने निनेवे का सामंतराज्य घोषित किया।

असुरबनिपाल ने प्रायः आधी सदी राज किया। उसका शासनकाल घटनाओं से भरा था। गद्दी पर बैठते ही पहले वह मिस्र के विद्रोही फराऊन को दंड देने के लिये बढ़ा और उसे कारबानित में परास्त कर उसने उसकी राजधानी मेम्फिस पर अधिकार कर लिया। फिर उस देश के राजाओं को परास्त करता वह निनेवे लौटा, पर उसके लौटते ही मिस्र के राजाओं ने फिर सिर उठाया और उसे थीविज़ की ओर फिर लौटना पड़ा। राह के नगरों को जलाता और नष्ट करता वह थीविज़ पहुँचा और फराऊनों की उस प्राचीन राजधानी को उसने मटियामेट कर दिया। लौटते समय राह में उसने फिनीकिया जीता और सागर पार टूर के लीदिया से आए दूतमंडल की भेंट उसने स्वीकार की। असुरशक्ति उत्कर्ष की चोटी चमने लगी।

असुरबनिपाल की विजयों का तांता फिर नहीं टूटा। दक्षिणी ईरान में अवस्थित एलाम ने कभी बाबुल पर आक्रमण किया था। असुरबनिपाल ने उसका बदला लिया और उसकी चोट से एलामी राजा की सेनाएँ शूषा की ओर भागीं। असुरबनिपाल ने उनका पीछा किया। तूलिज के युद्ध में एलामी राजा ते-उम्मान को परास्त कर असुरबनिपाल ने एलाम का राज्य अपने विश्वासपात्र को दिया। यह घटना अभिलेख द्वारा अमर कर दी गई। पश्चात् असुरबनिपाल को भाई के षड्यंत्र से बाबुल, एलाम, फिलिस्तीन और फिनीकिया की संमिलित सेनाओं का सामना करना पड़ा। उसने बड़ी योग्यता से एक एक प्रतिद्वंदी का नाश किया और एलाम को इतिहास से मिटा दिया। फिर वह अरब, ईदोन और दमिश्क होता, राह में शत्रुओं को नष्ट करता, पत्नी के साथ निनेवे लौटा और ६३५ ई० पू० में उसने वहाँ अपनी दिग्विजयों का उत्सव मनाया। ईश्तर के मंदिर तक उसने जो अपना रथ हाँका उसे उसके बंदी राजाओं ने खींचा। इस शक्ति की कशमकश के बीच मिस्र निश्चय स्वतंत्र हो गया।

असुरबनिपाल का नाम उसकी विजयों से भी अधिक असूरी संस्कृति के साथ संलग्न है। वह संसार का पहला पुराविद् था, पहला संग्रहकर्ता। उसके शासनकाल में असुर लेखकों ने सुमेर और बाबुल से सीखी कीलनुमा लिखावट में हजारों ग्रंथ ईंटों पर लिख डाले। अभी हाल खोद निकाले निनेवे के ग्रंथागार में लाखों ईंटों पर लिखे हजारों ग्रंथ असुरबनिपाल ने संग्रह किए थे जिनमें से अनेक आज यूरोप और अमेरिका के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। जलप्रलय के वृत्तांत का संचालक, मानव जाति का पहला वीरकाव्य 'गिलगमेश' निनेवे में संग्रहीत असुरबनिपाल के इसी ग्रंथागार की ईंटों पर खुदा मिला है। [भ० श० उ०]

असूरी भाषा सामी परिवार की प्राचीन अक्कादी की, बाबुली की ही भाँति, एक शाखा। अक्कादी का यह नाम उस अक्काद नगर से पड़ा जो ई० पू० २४वीं सदी में प्रसिद्ध सम्राट् शर्रुकीन की राजधानी था। तभी अक्कादी को राजभाषा का पद मिला। कालांतर में अक्कादी, प्रदेश और काल के अनुसार, असूरी और बाबुली नामक जनबोलियों में विकसित होकर बँट गई। असूरी दजला नदी (इराक) की उपरली घाटी में और बाबुली दजला-फरात के सागरवर्ती दोआब में बोली जाती थी। कालक्रम से अक्कादी के तीन युग माने जाते हैं—१. प्राचीन काल (ल० २००० ई० पू०—ल० १५०० ई० पू०), २. मध्यकाल (ल० १५०० ई० पू०—ल० १००० ई० पू०) और ३. उत्तरकाल (ल० १००० ई० पू०—ल० ५०० ई० पू०)। स्वाभाविक ही यही कालक्रम असूरी और बाबुली जनबोलियों का भी अपनी विकासपरंपरा में होगा। ई० पू० ५०० के बाद भी असूरी और बाबुली बोली और लिखी जाती रहीं, पर साधारणतः तब उन इराकी नदियों के काँठे में प्रायः सर्वत्र आरामी का प्रचार हो गया था।

अक्कादी अथवा बाबुली-असूरी भाषाओं की लिपि गैरसामी सुमेरी कीलाक्षरों से निकली है। दक्षिण मेसोपोतामिया में बसनेवाले इन सुमेरियों से तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० में पहले बाबुलियों ने उनकी लिपि सीखी, फिर प्रायः हजार वर्ष बाद उत्तर के असूरियों अथवा असुरों ने। हजारो विचारसंकेतों को ध्वनित करनेवाले ६०० (लिपि) चिह्न सुमेरी में थे। इन चिह्नों में से कुछ केवल शब्दमूलक, कुछ इनके साथ साथ पदांश-मूल्यक भी थे। बाबुलियों ने आरंभ में इस लिपि के केवल पदांश चिह्नों का उपयोग किया। बाबुलियों और असुरों ने कालांतर में, जब सुमेरी भाषा का प्रयोग मंदिरों में बंद हो गया, सुमेरी चिह्नों और शब्दों की बृहत् सूचियाँ बना लीं। इनसे कई बोलियों को बड़ा बल मिला क्योंकि सुमेरी शब्दों के उनके लिपिचिह्नों के साथ बाबुली और असूरी में भी पर्याय प्रस्तुत हो गए। परिणाम यह हुआ कि असूरी में, इसके सामी होने और सामी भाषाओं से शब्दऋद्ध होने के बावजूद, सुमेरी शब्दों की बहुतायत हो गई और सुमेरी लिपि में लिखी जाने के कारण इसका उच्चारण भी पुरातन और असांप्रतिक हो गया।

सं०ग्रं०—आई० जे० गेल्ब : ओल्ड अकेडियन राइटिंग ऐंड ग्रामर (शिकागो, १९५२); सेटन लायड : फाउंडेशंस इन दि डस्ट (लंदन, १९४७)। [भ० श० उ०]

असेंशन ६ मील लंबा, तथा ६ मील चौड़ा एक छोटा द्वीप है जो दक्षिणी अंध (अटलांटिक) महासागर में सेंट हेलेना द्वीप से उत्तर-पश्चिम दिशा में ७०० मील की दूरी पर स्थित है। द्वीप ज्वालामुखी के उद्गार से निकले हुए लावा से बना है। मध्य में शंकु के समान उठा हुआ ग्रीन पर्वत है। समीपवर्ती पठारों की ऊँचाई १,२०० फुट से २,००० फुट तक है। ८° द० अक्षांश पर स्थित यह द्वीप दक्षिण-पूर्वी व्यापारिक हवाओं के मार्ग में पड़ता है। ढालों पर झाड़ियाँ तथा घास उगती हैं।

१५०१ ई० में जाओदो नोवा नामक पुर्तगाली ने इसका पता लगाया तथा १८१५ ई० में अंग्रेजों ने सर्वप्रथम यहाँ अपना अधिकार जमाया। आज यह द्वीप अपनी स्वास्थ्यवर्धक जलवायु के कारण अंग्रेजों का क्रीड़ा-केंद्र तथा जहाजों के ठहरने का स्थान है। १९२२ ई० से यह सेंट हेलेना का एक उपराज्य मान लिया गया है। यहाँ की जनसंख्या १६६ है (१९४१)। [ह० ह० सिं०]

अस्तित्ववाद (एक्ज़िस्टेंशियलिज़म) एक नवीन यूरोपीय दर्शन या विचारधारा का हिंदी पर्याय। वस्तुतः यह एक सुसंगत दर्शन न होकर कई विचारधाराओं का सामान्य नाम है, जो व्यक्ति के 'अस्तित्व' को प्रधानता देती है। उसके अनुसार कांट के बाद सब आदर्शवादी और भौतिकवादी दार्शनिक सैद्धांतिक रूप प्रमेयों की चर्चा करते रहे है, उनका विषय मनुष्य का 'सार' (मानवता) रहा है, परंतु मानव का यथार्थ 'अस्तित्व' नहीं। 'एक्ज़िस्टेंस प्रिसीड्स एसेंस'—इस साररूप गुणसामान्य से पहले जन्म मृत्यु के दो छोरों से सीमित मनुष्य का अस्तित्व है। अतः बुद्ध के दुःख-चरम-सत्य की भाँति अस्तित्ववाद मृत्यु को प्रधान मानकर, मनुष्य को अपने जीवन की दिशा का निदर्शन निर्णायक मानता है। व्यक्ति की यह चुनने की शक्ति, सार्थक क्षणों में से निर्णय करने की संकल्प विकल्प शक्ति ही मनुष्य की स्वतंत्रता की शर्त है। अन्यथा मौत तो अंत है ही। मनुष्य निरंतर अंत की ओर गिर रहा है, मनुष्य विवश, असमर्थ, असहाय और प्रवाहपतित की भाँति है। इस अवस्था का भान प्राचीन संतों ने भी बार बार कराया था। संत अगस्तिन, ड्यूस स्काटस्, पास्कल आदि सबने इसकी चर्चा की है। परंतु अस्तित्ववाद निराशामय नियतिवाद नहीं है। वह 'मानवी अवस्थिति' की इस चुनौती को स्वीकार करके चलता है। डेन तत्वज्ञ सरेन कीर्केगार्द (१८१३-५५) ने अपने ग्रंथ 'भीति की भावना', 'भय और कंप' आदि में इसकी चर्चा की। २०वीं शताब्दी के आरंभ से अब तक यास्पर्स और हाइडेगर में, जर्मनी में, शेस्तोव और बेदो येव में, रूस में, उनाम्युनो में, स्पेन में, फ्रांस में गात्वार, ग्रेनिए ज्यां पोल सार्त्र, केमुअ, व्यवोई, आंद्रे, मालरो आदि में अस्तित्ववादी दर्शन के लक्षण दिखाई देते हैं, यद्यपि इनमें से कई लेखक अपने को अस्तित्ववादी नहीं मानते।

दस्ताएवस्की और फ्रांज काफ़्का के उपन्यासों में भी अस्तित्ववादी दर्शन के लक्षण मिलते हैं। अब अस्तित्ववादी दार्शनिकों-लेखकों में भी दो दल हो गए हैं : एक ईश्वरवादी है और दूसरा अनीश्वरवादी। ईश्वरवादी या ईसाई अस्तित्ववादियों में गैब्रिएल मार्सल, कीर्कगार्द, यास्पर्स, एलेन आदि हैं। निरीश्वरवादियों में सार्त्र, कैमुअ आदि अन्य लेखक। यूरोप में अस्तित्ववाद का महत्व गत दो महायुद्धों की विभीषिका के बाद अधिक उभरकर सामने आया।

अस्तित्ववाद को मार्क्सवादियों और रोमन कैथोलिकों दोनों से घोर विरोध मिला है। मानव जीवन की क्षुद्रता पर जोर देने के कारण मार्क्सवादी इसे जंतुवादी और निराशावादी दर्शन कहते हैं। कैथोलिक तो इसे स्पष्टतः अनुत्तरदायी दर्शन मानते हैं। अस्तित्ववाद का कुछ क्षीण प्रभाव आधुनिक भारतीय साहित्य पर भी परिलक्षित होने लगा है। विशुद्ध अस्तित्ववाद की परिणति निराशावाद और शून्यवाद में हो रही है। वह एक सँकरा व्यक्तिवादी दर्शन है, ऐसा उसपर आरोप है।

सं०ग्रं०—ई० मोनिएर : इंट्रोडक्शन ऑव एक्ज़िस्टेंशियलिज़्म (१९४७); एच ई० रीड : एक्ज़िस्टेंशियलिज़्म, मार्क्सिज़्म ऐंड अना-

किज्म (१९४७); एल० जे० ब्लकहम : सिक्स ऐक्ज़िस्टेंशियलिस्ट थिंकर्स (१९५७); जे० पी० सर्की : ऐक्ज़िस्टेंशियलिज़्म ऐंड ह्यू मनिज़्म। [प्र० मा०]

अस्त्रशस्त्र से साधारणतः आक्रमणकारी और प्रतिरक्षात्मक उपकरण का बोध होता है। प्रतिरक्षा और प्रहार के साधनों के विकास तथा उन्नति का पारस्परिक संबंध अति घनिष्ट है। एक के विकास और उन्नति के प्रतिक्रियास्वरूप दूसरे का विकास और उन्नति अनिवार्य थी।

अस्त्रशस्त्र के विकास का इतिहास उतना ही पुराना है जितना मानव जाति के विकास का। मानव जीवन आदिकाल से संघर्षपूर्ण रहा है। जीवनरक्षा के लिये उसे भयानक और शक्तिशाली जीवजंतुओं से लड़ना पड़ा होगा। मनुष्य के पास न तो उन जीवजंतुओं के बराबर बल था, न उतना मोटा और कठोर चर्म और न तीव्र तथा घातक दाँत तथा नख ही थे। अपने अनुभवों तथा बुद्धि से मनुष्य ने प्रथम शस्त्रों का आविष्कार किया होगा। डंडे या लाठी का विकास बरछा, गदा, तलवार, बल्लम और आधुनिक संगीन में हुआ। इसी प्रकार फेंककर मारनेवाले साधारण पत्थर का विकास भाला, धनुष बाण, गुलेल, गोला, गोली तथा आधुनिक अणुबम में हुआ।
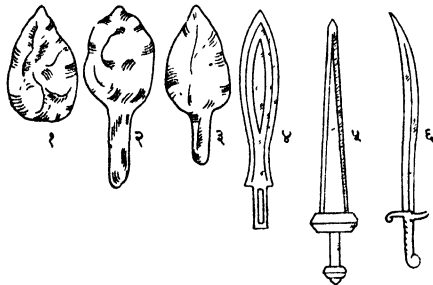
चित्र १. पाषाण तथा धातु युग के शस्त्र

पाषाण युग के : १. कुल्हाड़े का माथा जो लकड़ी में बाँधा जाता था; २. गदा; ३. छुरा; धातु युग के लोहे के बने (दसवीं शताब्दी के) : ४. छुरा; ५. तलवार; ६. तलवार।

शस्त्रों के विकास और बढ़ती शक्ति के साथ साथ प्रतिरक्षा के उपकरणों की आवश्यकता हुई और उनका आविष्कार हुआ। संभवतः चर्म को लकड़ी के डंडों में फँसाकर ढाल बनाने की कला बहुत पुरानी होगी। कालांतर में कवच और आधुनिक युग में आकर कवच-यान (टैंक) का आविष्कार हुआ। यह देखा गया है कि मनुष्य ने जब जब संहार के साधनों का निर्माण किया, उसके साथ साथ प्रतिरक्षा के साधनों का भी विकास हुआ।

अस्त्रशस्त्रों का वर्गीकरण साधारणतः उनके प्रयोग, विधि और विशेषताओं के आधार पर किया जाता है। इनके अनुसार पाषाणयुग से बारूद के आविष्कार तक के अस्त्रशस्त्रों का वर्गीकरण इस प्रकार है :

(१) वे शस्त्र जो फेंके नहीं जाते। इनके उपवर्गीकरण के अंतर्गत निम्नलिखित शस्त्र हैं : (अ) काटनेवाले शस्त्र; जैसे तलवार, परशु आदि; (आ) भोंकनेवाले शस्त्र, जैसे बरछा, त्रिशूल आदि; (इ) कुंद शस्त्र, जैसे गदा।

(२) वे अस्त्र जो फेंके जाते हैं। इनके अंतर्गत ये अस्त्र हैं : (अ) हाथ से फेंके जानेवाले अस्त्र, जैसे भाला; (आ) वे अस्त्र जो यंत्र द्वारा फेंके जाते हैं, जैसे बाण, गुलेल से फेंके जानेवाले पत्थर आदि।

पुरातत्ववेत्ताओं के मतानुसार समय के साथ साथ मनुष्य का ज्ञान बढ़ा और वह सोच समझकर इच्छानुसार पत्थर और लकड़ी के शस्त्र बनाने लगा। फिर इन्हीं शस्त्रों को घिसकर सपाट, सुडौल, तीव्र और चमकीला बनाना आरंभ किया। इस काल के मुख्य शस्त्र पत्थर के कुल्हाड़े, गदाएँ और छुरे थे (चित्र १)। सहस्रों वर्ष बाद उसने धनुष और भाले का भी निर्माण किया।

लगभग ४००० वर्ष ई० पू० तक मनुष्य धातु का पता पा चुका था। ताँबे और राँगे को मिलाकर उसने काँसा बनाना जाना और तब धीरे धीरे पत्थर के शस्त्रों का स्थान काँसे के शस्त्रों ने ले लिया (चित्र १)। इस काल के शस्त्रों में विशेषतः धनुषबाण, बरछी, छुरी, भाला, कुल्हाड़ा और गदा के तथा रक्षात्मक साधनों में केवल काँसे की ढाल के प्रमाण मिले हैं।

काँसे का स्थान प्रायः १००० वर्ष ई० पू० में लोहे ने लिया। वैदिक काल में अस्त्रशस्त्रों का वर्गीकरण इस प्रकार था :

(१) अमुक्ता—वे शस्त्र जो फेंके नहीं जाते थे।

(२) मुक्ता—वे शस्त्र जो फेंके जाते थे। इनके भी दो प्रकार थे—
(अ) पाणिमुक्ता, अर्थात् हाथ से फेंके जानेवाले, और
(आ) यंत्रमुक्ता, अर्थात् यंत्र द्वारा फेंके जानेवाले।

(३) मुक्तामुक्त—वह शस्त्र जो फेंककर या बिना फेंके दोनों प्रकार से प्रयोग किए जाते थे।

(४) मुक्तसंनिवृत्ती—वे शस्त्र जो फेंककर लौटाए जा सकते थे।

अग्नेयास्त्र (फायर-आर्म्स) का भी उल्लेख मिलता है, पर अधिक स्पष्ट नहीं। शरीर के विभिन्न अंगों की रक्षा का उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ शरीर के लिये चर्म तथा कवच का, सिर के लिये शिरस्त्राण और गले के लिये कंठत्राण इत्यादि का।

यूरोप में भी इसी प्रकार के शस्त्र बनते थे। १२वीं सदी का कवच लोहे की छोटी छोटी कड़ियों को गूँथकर बनता था। जिरहबख्तर (जालिका, चेन मेल) सुदर और सुविधाजनक अवश्य था, पर भारी शस्त्रों की चोट से पूर्णतया रक्षा नहीं कर सकता था। इसलिये १३वीं सदी ई० से यूरोप में लोहे की चादर के आवरण बनने लगे और उन्हें जालिका के ऊपर पहना जाने लगा। योद्धा अब सिर से पाँव तक पट्टकवच (प्लेट आरमर) से ढका रहता था। शरीर के अवयवों के सरल आंदोलन के लिये इन कवचों में जोड़ बने रहते थे। पीछे अश्व के लिये भी ऐसा ही कवच बनने लगा। जालिका भी अश्व तथा मनुष्य दोनों के लिये बनती थी (चित्र २ और ३)। सवार और अश्व के कवच का भार २०० से ३०० पाउंड तक होता था।
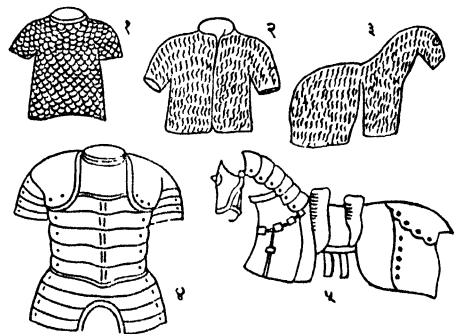
चित्र २. विविध प्रकार के कवच

ऊपर तीन शल्ककवचों के चित्र हैं : १. तथा २. योद्धा के लिये; ३. अश्व के लिये। नीचे, दो पट्ट-कवच : ४. योद्धा के लिये; ५, अश्व के लिये।

१३वीं शताब्दी में शस्त्रों की शक्ति में भी उन्नति हुई। अंग्रेजों का लंबा धनुष (लॉङ्ग बो) इतना शक्तिशाली होता था कि उससे चलाया बाण साधारण कवचों को भेद देता था। यह धनुष ६ फुट लंबा होता था और इसका ३ फुट का बाण २५० गज तक सुगमता से मार कर सकता था।

इसी प्रकार स्विट्ज़रलैंड का हैलबर्ड कुल्हाड़ा था। इसका दस्ता ८ फुट का था और कुल्हाड़े के साथ साथ इसमें बरछी और सवार को खींचकर गिराने के काम का एक टेढ़ा काँटा भी होता था (चित्र ४ में १)। दक्ष लड़ाका इसकी चोट से अच्छे कवच को भी काट सकता था।

बारूद के आविष्कार ने (१२६४ ई० में) मनुष्य के हाथ में एक ऐसी शक्ति दे दी जिसने युद्ध की रूपरेखा ही बदल दी। यह निश्चित है कि १४वीं शताब्दी के आरंभ में आग्नेयास्त्र बन चुके थे। प्रथम आग्नेयास्त्र तोप थी। यह मुख्यतः दो प्रकार की बनाई गई—एक छोटी नालवाली (मॉरटर) और दूसरी लंबी नालीवाली (बंबार्ड) (चित्र ५ और ६)।

ये तोपें पहले ताँबे और काँसे की बनीं और फिर लोहे की बनने लगीं। १५वीं शताब्दी में तोपें ३० इंच परिधि की होती थीं और १,२०० से १,५०० पाउंड भार के पत्थर के गोले चलाती थीं। आधुनिक हाविट्ज़र और भारी फ़ील्डगन मॉरटर और बंबार्ड के ही विकसित रूप हैं। इसी शताब्दी के अंत तक छोटी हाथ की तोपें बनीं (चित्र ८)। इनका स्थान १५वीं शताब्दी के आरंभ में हाथ की बंदूक ने लिया।
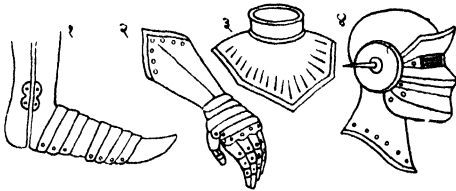
चित्र ३. अंगों के कवच

१. पादत्राण; २. हस्तत्राण; ३. वक्षत्राण; ४. शिरस्त्राण।

इसी का विकास धीरे धीरे मस्केट, मैचलॉक, फ़्लिंटलॉक और आधुनिक राइफल में हुआ। तीव्र गति से लगातार गोली चलानेवाली बंदूक बनाने की चेष्टा और इस संबंध के प्रयोग १६वीं शताब्दी से होने लगे थे और इसी के फलस्वरूप १८८४ में प्रथम सफल मशीनगन बनी। आज की मशीनगन एक मिनट में ३०० गोली तक चला सकती है। अन्य महत्वपूर्ण शस्त्रों का भी आविष्कार १४वीं से १६वीं शताब्दी में हुआ, जैसे हाथ का बम (१३८२ ई०), काँसे के विस्फोटक गोले, पिस्तौल (१४८३ ई०), दाहक गोले (१४८७ ई०), इत्यादि। शस्त्रों का अधिक विकास आधुनिक काल में हुआ। १६वीं शताब्दी तक आग्नेयास्त्र इतने प्रभावशाली तथा शक्तिशाली बन चुके थे कि मनुष्य के स्वरक्षात्मक कवच व्यर्थ थे। सन् १६१५ का मनुष्य आग्नेयास्त्र के सामने असहाय रहा, परंतु इसी वर्ष प्रथम कवचयान (टैंक) का निर्माण हुआ। मनुष्य अब इस्पात की मोटी मोटी चादरों से बनी इस गाड़ी में बैठकर हल्के आग्नेयास्त्र के प्रहार से बच सकता था।
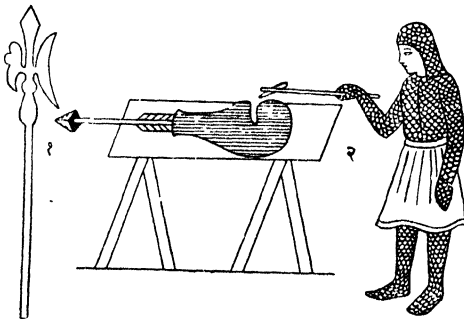
चित्र ४. १४वीं शताब्दी के दो शस्त्र

१. स्विस सैनिकों का बर्छा; २. तीर छोड़नेवाली तोप।
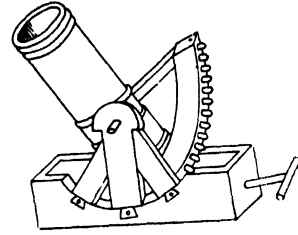
चित्र ५. शतघ्निका (मॉरटर)

ऊँचा गोला फेंकनेवाली छोटी नली की तोप (१४वीं शताब्दी)।

२०वीं शताब्दी के मध्य में मनुष्य ने अणुशक्ति को खोज निकाला। इस महान् शक्ति ने एक बार फिर युद्ध की रूपरेखा बदल दी। अणु की ध्वंसक शक्ति बारूद की शक्ति से सहस्रों गुना अधिक है और इसमें महान् गतिदायक शक्ति भी है। सन् १६४५ में प्रथम अणुबम ने हिरोशिमा
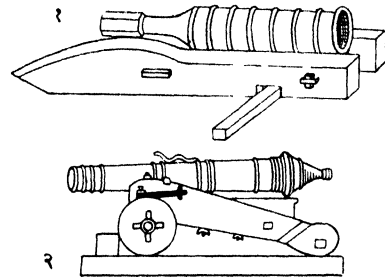
चित्र ६-७. प्राचीन तोप

ऊपर, १४वीं शताब्दी का बंबार्ड (एक प्रकार की भारी तोप जो पत्थर या अन्य अस्त्र प्रक्षिप्त करती थी)। नीचे, साधारण तोप।
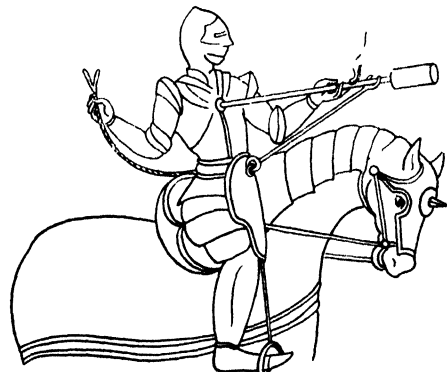
चित्र ८. घुड़सवार की तोप

शहर के लगभग ४ वर्ग मील को पूर्णतया नष्ट कर दिया था और १,६०,००० व्यक्तियों को प्रायः समाप्त कर दिया था। यह प्रथम अणुबम था और पूर्ण रूप से विकसित नहीं था। वैज्ञानिकों का मत है कि ऐसा बम एक सहस्रगुना अधिक शक्तिशाली बनाया जा सकता है। अणु अस्त्रों की इस भीषण शक्ति के संमुख मनुष्य एक बार फिर निरुपाय और निस्सहाय है।

[भ्रा० सिं० स०]

अस्थि श्वेत रंग का एक कठोर ऊतक है जिससे सारे कशेरुकी (रीढ़-वाले) जंतुओं के शरीर का कंकाल (ढाँचा) बनता है। अस्थि शरीर के आकार का आधार है। अस्थियों द्वारा ही शरीर गति करता है तथा भीतर के मुख्य अंग सुरक्षित रहते हैं। इन्हीं के कारण हमारे दैनिक कार्य संपन्न होते हैं।

अस्थि एक परिवर्तनशील ऊतक है और शरीर के बहुत से रासायनिक तथा जैव परिवर्तनों से उसका संबंध है। रक्त में होनेवाले रासायनिक परिवर्तनों तथा शरीर के अन्य भागों में अंतःस्रावी और आहारजन्य कारणों से स्वयं अस्थि में रचनात्मक परिवर्तन होने लगते हैं, और अस्थि भी इन परिवर्तनों का कारण होती है। आयुपर्यंत अस्थि का पुनर्निर्माण होता रहता है तथा उसकी रचना बदलती रहती है।

शरीर की अधिकतर अस्थियाँ लंबी होती हैं। इनमें एक दो चौड़े या फूले हुए शिरों के बीच लंबा कांड (खोखला बेलन) होता है। शिरों को वर्धक प्रांत कहते हैं, क्योंकि यहीं से अस्थि की वृद्धि होती है। अस्थि पर एक अत्यंत सूक्ष्म कला चढ़ी रहती है, जिसको अस्थ्यावरण कहते हैं। कांड के भीतर एक लंबी नलिका होती है जिसके बाहर ठोस अस्थि में दो भाग होते हैं। नलिका की ओर सुषिर भाग रहता है जो सछिद्र होता है। उसके बाहर संहृत भाग होता है जो घना और ठोस होता है। बीच की नलिका में अस्थि-मज्जा भरी रहती है। यहीं रक्त बनता है। अस्थिमज्जा ही रक्त की फैक्टरी है। रक्तनलिकाओं द्वारा अस्थि का पोषण होता है और उनमें नाड़ियों के सूत्र भी आते हैं। बहुत सी अस्थियों के प्रांतीय भागों पर हायलीन नामक उपास्थि चढ़ी रहती है। ये भाग संधियों के भीतर रहते हैं और उपास्थि के कारण ऐंठने नहीं पाते। इन प्रांतों पर अस्थि-ऊतक विशेषकर क्रियमाण होता है और यहीं नवीन अस्थिनिर्माण होता है। शरीर की लंबाई इसी प्रांत पर निर्भर रहती है। जब प्रांत और कांड आपस में संयुक्त हो जाते हैं तो अस्थि की लंबाई की वृद्धि रुक जाती है।

अस्थि—अस्थि अस्थिकोशिकाओं और कैलसियमयुक्त अंतर्कोशिकीय वस्तु की बनी रहती है। इस अंतर्कोशिकीय वस्तु में संयोजक ऊतक के तंतु कैलसियम कार्बोनेट और फास्फेट के साथ स्थित होते हैं जिससे वस्तु में कठोरता आ जाती है। अस्थि की कोशिकाएँ दो प्रकार की होती हैं : एक अस्थिनिर्माणक, जो अस्थि-ऊतक को बनाती और उसे कैलसियमयुक्त करती है और दूसरी अस्थिमंजक, जिसका काम अस्थि के सब अवयवों का पोषण करना है। अस्थि बनने तथा अस्थियों के जीवन में जो परिवर्तन होते हैं वे सब इन दोनों क्रियाओं के परिणामस्वरूप होते हैं और शरीर में होनेवाले रासायनिक तथा भौतिक या जैव परिवर्तन इनके निर्णायक या प्रारंभ करनेवाले हैं।

लंबी अस्थियों के अतिरिक्त शरीर में कुछ छोटी, चपटी तथा क्रमहीन अस्थियाँ भी पाई जाती हैं। इनके भीतर मज्जानलिका नहीं होती। इनके नाम से इनका प्रकार स्पष्ट है। कपाल की चपटी अस्थियों में दो स्तर होते हैं जिनके बीच में कुछ मज्जा रहती है। मणिबंध या प्रपाद की छोटी अस्थियाँ हैं। रीढ़ के कशेरुक क्रमहीन अस्थियाँ हैं, जिनका आकार विषम होता है। [म० कु० गो०]

अस्थिचिकित्सा शल्यतंत्र का वह विभाग है, जिसमें अस्थि तथा संधियों के रोगों और विकृतियों या विरूपताओं की चिकित्सा का विचार किया जाता है। अतएव अस्थि या संधियों से संबंधित अवयव, पेशी, कंडरा, स्नायु तथा नाड़ियों के तद्गत विकारों का भी विचार इसी में होता है।

यह विद्या अत्यंत प्राचीन है। अस्थिचिकित्सा का वर्णन सुश्रुतसंहिता तथा हिप्पोक्रेटीज के लेखों में मिलता है। उस समय भग्नास्थियों तथा च्युतसंधियों (डिस्लोकेशन) तथा उनके कारण उत्पन्न हुई विरूपताओं को हस्तसाधन, अंगों के स्थिरीकरण और मालिश आदि भौतिक साधनों से ठीक करना ही इस विद्या का ध्येय था। किंतु जब से एक्स-रे, निश्चेतन विद्या (ऐनेस्थिज़ीया) और शस्त्रकर्म की विशेष उन्नति हुई है तब से यह विद्या शल्यतंत्र का एक विशिष्ट विभाग बन गई है और अब अस्थि तथा अंगों की विरूपताओं को बड़े अथवा छोटे शस्त्रकर्म से ठीक कर दिया जाता है। न केवल यही, अपितु विकलांग शिशुओं और उन बालकों के, जिनके अंग टेढ़े-मेढ़े हो जाते हैं या जन्म से ही पूर्णतया विकसित नहीं होते, अंगों को ठीक करके उपयोगी बनाना, उपयोगी कामों को करने के लिय अभ्यस्त करना तथा बालक को शिक्षित करके उसका पुनःस्थापन (रीहैबिलिटेशन) करना, जिससे वह समाज का उपयोगी अंग बन सके और अपना जीविकोपार्जन कर सके, ये सब आयोजन और प्रयत्न इस विद्या के ध्येय हैं।

हस्तसाधन (मैनिप्युलेशन) और स्थिरीकरण (इम्मोबिलाइज़ेशन)—इन दो क्रियाओं से अस्थिभंग, संधिच्युति तथा अन्य विरूपताओं की चिकित्सा की जाती है। हस्तसाधन का अर्थ है टूटे हुए या अपने स्थान से हटे हुए भागों को हाथों द्वारा हिला डुलाकर उनकी स्वाभाविक स्थिति में ले आना। स्थिरीकरण का अर्थ है च्युत भागों को अपने स्थान पर लाकर अचल कर देना जिससे वे फिर हट न सकें। पहले लकड़ी या खपची (स्प्लिंट) या लोहे के कंकाल तथा अन्य इसी प्रकार की वस्तुओं से स्थिरीकरण किया जाता था, किंतु अब प्लास्टर ऑव पेरिस का उपयोग किया जाता है, जो पानी में सानकर छोप देने पर पत्थर के समान कड़ा हो जाता है। आवश्यक होने पर शस्त्रकर्म करके धातु की पट्टी और पेंचों द्वारा या अस्थि की कील बनाकर टूटे अस्थिभागों को जोड़ा जाता है और तब अंग पर प्लास्टर चढ़ा दिया जाता है।

इसी प्रकार आवश्यकता होने पर संधियों, नाड़ियों तथा कंडराओं को शस्त्रकर्म करके ठीक किया जाता है।

भौतिकी चिकित्सा (फिज़ियोथेरापी)—ऐसी चिकित्सा अस्थिचिकित्सा का विशेष महत्वपूर्ण अंग है। शस्त्रकर्म तथा स्थिरीकरण के पश्चात् अंग को उपयोगी बनाने के लिये यह अनिवार्य है। भौतिकी चिकित्सा के विशेष साधन ताप, उद्वर्तन (मालिश) और व्यायाम हैं।

जहाँ जैसा आवश्यक होता है वहाँ वैसे ही रूप में इन साधनों का प्रयोग किया जाता है। शुष्क सेंक, आर्द्र सेंक या विद्युत्किरणों द्वारा सेंक का प्रयोग हो सकता है। उद्वर्तन हाथों से या बिजली से किया जा सकता है। व्यायाम दो प्रकार के होते हैं—जिनको रोगी स्वयं करता है वे सक्रिय होते हैं तथा जो दूसरे व्यक्ति द्वारा बलपूर्वक कराए जाते हैं वे निष्क्रिय कहलाते हैं। पहले प्रकार के व्यायाम उत्तम समझे जाते हैं। दूसरे प्रकार के व्यायामों के लिये एक शिक्षित व्यक्ति की आवश्यकता होती है जो इस विद्या में निपुण हो।

पुनःस्थापन—यह भी चिकित्सा का विशेष अंग है। रोगी की विरूपता को यथासंभव दूर करके उसको कोई ऐसा काम सिखा देना जिससे वह जीविकोपार्जन कर सके, इसका उद्देश्य है। टाइपिंग, चित्र बनाना, सीना, बुनना आदि ऐसे ही कर्म हैं। यह काम विशेष रूप से समाजसेवकों का है, जिन्हें अस्थिचिकित्सा विभाग का एक अंग समझा जा सकता है।

[म० कु० गो०]

अस्थिसंध्यार्ति (ऑस्टियो-आर्थ्राइटिस) नामक रोग में दो प्रकार के परिवर्तन होते हैं : (१) अस्थियों के कुछ भाग गल जाते हैं और (२) बहिस्थ भाग में नई अस्थि बन जाती है। प्रायः मध्यस्थ भाग गलता है। जानुसंधि में अर्धचंद्र-उपास्थि के टूटे हुए भाग के रह जाने से ऐसा होता है। किंतु जहाँ किसी व्यक्ति में अनेक वर्षों में भी इस प्रकार के परिवर्तन नहीं होते, वहाँ दूसरे व्यक्ति में थोड़े ही समय में ऐसे परिवर्तन दिखाई देने लगते हैं। अस्वाभाविक प्रकार से बहुत समय तक संधि के अवयवों पर भार पड़ना तथा कुछ रोगविषों की क्रिया या संधि अथवा उसके समीप के अस्थिभाग का कुसंयोजित होना, पास की अस्थियों के रोग, स्नायुओं का ढीला पड़ जाना, संधि का अतिचलायमान हो जाना तथा इसी प्रकार के अन्य कारण, जिनसे चलने में संधि के अंतर्गत अस्थिभाग पर अनुचित दिशा में भार पड़ता है, उपर्युक्त परिवर्तनों के कारण होते हैं। किंतु परिवर्तनों की ठीक ठीक उत्पत्तिविधि का अभी तक ज्ञान नहीं हो सका है। [मु० स्व० व०]

अस्पताल या चिकित्सालय तथा औषधालय मानव सभ्यता के आदिकाल से ही बनते चले आए हैं। वेद और पुराणों के अनसार स्वयं भगवान् ने प्रथम चिकित्सक के रूप में अवतार लिया था। ५,००० वर्ष या इससे भी प्राचीन इतिहास में चिकित्सालयों के प्रमाण मिलते हैं, जिनमें चिकित्सक तथा शल्यकोविद (सर्जन) काम करते थे। ये चिकित्सक तथा सर्जन रोगियों को रोगमुक्त करने और उनके आर्तिनाशन तथा मानवता की

ज्ञानवृद्धि के भावों से प्रेरित होकर स्वयंसेवक की भाँति अपने कर्म में प्रवृत्त रहते थे। ज्यों ज्यों सभ्यता तथा जनसंख्या बढ़ती गई त्यों त्यों सुसज्जित चिकित्सालयों तथा सुसंगठित चिकित्सा विभाग की आवश्यकता भी प्रतीत होने लगी। अतएव ऐसे चिकित्सालय सरकार तथा सेवाभाव से प्रेरित जनसमुदाय की ओर से खोले जाने का प्रमाण इतिहास में मिलता है। हमारे देश में दूर दूर के गाँवों में भी कोई न कोई ऐसा व्यक्ति होता था, चाहे वह अशिक्षित ही हो, जो रोगियों को दवा देता और उनकी चिकित्सा करता था। इसके पश्चात् आधुनिक समय में तहसील तथा जिलों के अस्पताल, बने जहाँ अंतरंग (इंडोर) और बहिरंग (आउटडोर) विभागों का प्रबंध किया गया। आजकल बड़े बड़े नगरों में बड़े बड़े अस्पताल बनाए गए हैं, जिनमें भिन्न भिन्न चिकित्सा विभागों के लिये विशेषज्ञ नियुक्त किए गए हैं। प्रत्येक आयुर्विज्ञान (मेडिकल) शिक्षण संस्था के साथ बड़े बड़े अस्पताल संबद्ध हैं और प्रत्येक विभाग एक विशेषज्ञ के अधीन है, जो कालेज में उस विषय का शिक्षक भी होता है। आजकल यह प्रयत्न किया जा रहा है कि गाँवों में भी प्रत्येक पाँच मील के क्षेत्र में चिकित्सा का एक केंद्र अवश्य हो।

आधुनिक अस्पताल की आवश्यकताएँ अत्यंत विशिष्ट हो गई हैं और उनकी योजना बनाना भी एक विशिष्ट कौशल या विद्या है। प्रत्येक अस्पताल का एक बहिरंग विभाग और एक अंतरंग विभाग होता है, जिनका निर्माण वहाँ की जनता की आवश्यकताओं के अनुसार किया जाता है।

बहिरंग विभाग—बहिरंग विभाग में केवल बाहर के रोगियों की चिकित्सा की जाती है। वे ओषधि लेकर या मरहम पट्टी करवाकर अपने घर चले जाते हैं। इस विभाग में रोगी के रहने का प्रबंध नहीं होता। यह विभाग नगर के बीच में होना चाहिए जहाँ जनता का पहुँचना सुगम हो। इसके साथ ही एक आपात (इमरजेंसी) विभाग भी होना चाहिए जहाँ आपद्ग्रस्त रोगियों का, कम से कम, प्रथमोपचार तुरंत किया जा सके। आधुनिक अस्पतालों में इस विभाग के बीच में एक बड़ा कमरा, जिसमें रोगी प्रतीक्षा कर सकें, बनाया जाता है। उसमें एक ओर 'पूछताछ' का स्थान रहता है और दूसरी ओर अभ्यर्थक (रिसेप्शनिस्ट) का कार्यालय, जहाँ रोगी का नाम, पता आदि लिखा जाता है और जहाँ से रोगी को उपयुक्त विभाग में भेजा जाता है। अभ्यर्थक का विभाग उत्तम प्रकार से, सब सुविधाओं से युक्त, बनाया जाय तथा उसमें कर्मचारियों की पर्याप्त संख्या हो, जो रोगी को उपयुक्त विभाग में पहुँचाएँ तथा उसकी अन्य सब प्रकार की सहायता करें। बहिरंग विभाग में निम्नलिखित अनुविभाग होने चाहिए : १. चिकित्सा, २. शल्य, ३. व्याधिकी (पैथॉलोजी), ४. स्त्रीरोग, ५. विकलांग (ऑर्थोपीडिक), ६. शालाक्य (इयर-नोज़-थ्रोट), ७. नेत्र, ८. दंत, ९. क्षयरोग, १०. चर्म और रतिजरोग, ११. बाल रोग (पीडियेट्रिक्स) और १२. आपत्ति अनुविभाग। प्रत्येक अनुविभाग में एक विशेषज्ञ, उसका हाउस-सर्जन, एक क्लार्क, एक प्रविधिज्ञ (टेकनीशियन), एक कक्ष-बाल-सेवक (वार्ड-बॉय) और एक अर्दली होना चाहिए। प्रत्येक अनुविभाग निदानविशेष तथा चिकित्साविशेष के आवश्यक यंत्रों और उपकरणों से सुसज्जित होना चाहिए। व्याधिकी विभाग की प्रयोगशाला में नित्यप्रति की परीक्षाओं के सब उपकरण होने चाहिए, जिससे साधारण आवश्यक परीक्षाएँ करके निदान में सहायता की जा सके। विशेष परीक्षाओं तथा विशेषज्ञों द्वारा परीक्षा किए जाने के पश्चात् ही रोग का निदान हो सकता है और रोग निश्चित हो जान के पश्चात् ही चिकित्सा प्रारंभ होती है। अतएव रोगी को अधिक समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। फलतः उसके बैठने तथा उसकी अन्य सुविधाओं का उचित प्रबंध होना चाहिए।

चिकित्सा—चिकित्सा संबंधी कार्य दो भागों में विभक्त किए जा सकते हैं : (१) नुसखा के अनुसार ओषधि देकर रोगी को विदा करना, और (२) साधारण शस्त्रकर्म, उद्वर्तन, तापचिकित्सा आदि का आयोजन करना। इस कारण प्रत्येक बहिरंग विभाग में उत्तम, सुसज्जित, कुशल सहायकों तथा नर्सों से युक्त एक आपरेशन थिएटर होना चाहिए। उद्वर्तन, अन्य भौतिकी-चिकित्सा-प्रक्रियाओं तथा प्रकाश-चिकित्साओं के लिये उनके उपयुक्त विभागों का उचित प्रबंध होना चाहिए। इससे अंतरंग विभाग से रोगी को शीघ्र नीरोग करके मुक्त किया जा सकेगा और वहाँ विषम रोगियों की चिकित्सा के लिये अधिक स्थान और समय उपलब्ध होगा।

आपद्-अनुविभाग—बहिरंग विभाग का एक आवश्यक अंग आपद्-अनुविभाग है। इसमें अहर्निश २४ घंटे काम करने के लिये कर्मचारियों की नियुक्ति होनी चाहिए। निवासी-सर्जन (रेजिडेंट-सर्जन), नर्स, अर्दली, बालसेवक, मेहतर आदि इतनी संख्या में नियुक्त किए जायँ कि चौबीसों घंटे रोगी को उनकी सेवा उपलब्ध हो सके। इस विभाग में संक्षोभ (शॉक) की चिकित्सा विशेष रूप से करनी होगी। इस कारण इस चिकित्सा के लिये सब प्रकार के आवश्यक उपकरणों तथा ओषधियों से यह विभाग सुसज्जित होना चाहिए। इसकी तत्परता तथा दक्षता पर ही रोगी का जीवन निर्भर रहता है। अतएव यहाँ के कर्मचारी अपने कार्य में निपुण हों, तथा सभी प्रकार की व्यवस्था यहाँ अति उत्तम होनी चाहिए। ग्लूकोज़, प्लाज़्मा, रक्त, तापचिकित्सा के यंत्र, उत्तेजक ओषधियाँ, इंजेक्शन आदि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होने चाहिए। यहाँ एक्स-रे का एक चलयंत्र (मोबाइल प्लांट) भी होना चाहिए, जिससे अस्थिभंग, अस्थि और संधि संबंधी विकृतियाँ, फुफ्फुस के रोग या हृदय की दशा देखकर रोग का निश्चय किया जा सके। यंत्रों तथा वस्त्रों आदि के विसंक्रमण के लिये भी पूर्ण प्रबंध होना आवश्यक है। यदि यह विभाग किसी शिक्षासंस्था के अधीन हो तो वहाँ एक व्याख्यान या प्रदर्शन का कमरा होना आवश्यक है, जो इतना बड़ा हो कि समस्त विद्यार्थी वहाँ एक साथ बैठ सकें। शिक्षकों के विश्राम के निमित्त तथा शिक्षासामग्री रखने और रात्रि में काम करनेवाले कर्मचारियों के लिये भी अलग कमरे हों। सारे विभाग में उद्धावन-पद्धति द्वारा शोधित होनेवाला शौचस्थान होने चाहिए। ऐसे शौचस्थानों का कर्मचारियों तथा रोगियों के लिये पृथक् पृथक् होना आवश्यक है।

इस विभाग का संगठन करते समय वहाँ होनेवाले कार्य, कार्यकर्ताओं की संख्या, प्रत्येक अनुविभाग में चिकित्सार्थी रोगियों की संख्या, उनकी शारीरिक आवश्यकताएँ तथा भविष्य में होनेवाले अनुमित विस्तार, इन सब बातों का पूर्ण ध्यान रखना आवश्यक है। प्रतिदिन का अनुभव है कि जिस भवन का आज निर्माण किया जाता है वह थोड़े ही समय में कार्याधिक्य के कारण अपर्याप्त हो जाता है। पहले से ही इसका विचार कर लेना उचित है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि बहिरंग विभाग में बहुत अधिक व्यय करना पड़ता है। आधुनिक समय में चिकित्सा का सिद्धांत ही यह है कि कोई चाहे कितना ही निर्धन क्यों न हो, उसे उत्तम से उत्तम चिकित्सा के आयोजनों तथा ओषधियों से अपनी निर्धनता के कारण वंचित न होना पड़े। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कितने धन की आवश्यकता है इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। सरकार, देशप्रेमी और श्रीसंपन्न व्यक्तियों की सहायता से इस उद्देश्य की पूर्ति असंभव न होनी चाहिए।

अंतरंग विभाग—अंतरंग विभाग में विषम रोगों तथा रोगी की अवस्था को देखकर चिकित्सा करने का प्रबंध होता है। प्रांत, नगर या क्षेत्र की आवश्यकताओं और वहाँ उपलब्ध आर्थिक सहायता के अनुसार ही छोटे या बड़े विभाग बनाए जाते हैं। थोड़े (दस या बारह) रोगियों से लेकर सहस्र रोगियों को रखने तक के अंतरंग विभाग बनाए जाते हैं। यह सब पर्याप्त धनराशि और कर्मचारियों की उपलब्धि पर निर्भर है। बहुत बार धन उपलब्ध होने पर भी उपयुक्त कर्मचारी नहीं मिलते। हमारे देश और उत्तरप्रदेश में उपचारिकाओं (नर्सों) की इतनी कमी है कि कितने ही अस्पताल खाली पड़े हैं। इसका कारण है मध्यम श्रेणी के परिवारों की उपचार व्यवस्था में अरुचि। कुछ सामाजिक कारणों से उपचारिकाओं को बहुत अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता; यह नितांत भ्रममूलक है। जनता की ऐसी धारणाओं में तनिक भी औचित्य नहीं है।

अंतरंग विभाग में भर्ती किए जाने के पश्चात् रोगी की व्यथाओं का पूर्ण अन्वेषण विशेषज्ञ अपने सहायकों तथा व्याधिकी प्रयोगशाला, एक्स-रे विभाग आदि के सहयोग से करता है। इस कारण इन विभागों को नवीनतम उपकरणों से सुसज्जित रखना आवश्यक है। शल्य विभाग के लिये इसका महत्व विशेष रूप से अधिक है जहाँ कर्मचारियों का दक्ष होना और उनमें पारस्परिक सहयोग सफलता के लिये अनिवार्य है। कक्ष-बाल-सेवक से लेकर विशेषज्ञ सर्जन तक सबके सहयोग की आवश्यकता है। केवल एक नर्स की असावधानी से सारा शस्त्रकर्म असफल हो सकता है।

एक्स-रे तथा उत्तम आपरेशन थिएटर इस विभाग के अत्यंत आवश्यक अंग हैं।

उत्तम उपचार सारी संस्था की सफलता की कुंजी है; इसीसे अस्पताल का नाम या बदनामी होती है। अस्पताल तथा आधुनिक चिकित्सापद्धति का विशेष महत्वशाली अंग उपचारिकाएँ हैं। इस कारण उत्तम शिक्षित उपचारिकाओं को तैयार करने की आयोजना सरकार की ओर से की गई है।

अस्पताल का निर्माण—आधुनिक अस्पतालों का निर्माण इंजीनियरिंग की एक विशेष कला बन गई है। अस्पतालों के निर्माण के लिये राज्य के मेडिकल विभाग ने आदर्श मानचित्र (प्लान) बना दिए हैं, जिनमें अस्पताल की विशेष आवश्यकताओं और सुविधाओं का ध्यान रखा गया है। सब प्रकार के छोटे बड़े अस्पतालों के लिये उपयुक्त नकशे तैयार कर दिए गए हैं जिनके अनुसार अपेक्षित विस्तार के अस्पताल बनाए जा सकते हैं।

अस्पताल बनाने के पूर्व यह भली भाँति समझ लेना उचित है कि अस्पताल खर्च करनेवाली संस्था है, धनोपार्जन करनेवाली नहीं। आधुनिक अस्पताल बनाने के लिये आरंभ में ही एक बड़ी धनराशि की आवश्यकता पड़ती है; उसे नियमित रूप से चलाने का खर्च उससे भी बड़ा प्रश्न है। बिना इसका प्रबंध किए अस्पताल बनाना भूल है। धन की कमी के कारण आगे चलकर बहुत कठिनाई होती है और अस्पताल का निम्नलिखित उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता :

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानाम् प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

हमारा देश अति विस्तृत तथा उसकी जनसंख्या अत्यधिक है। उसी प्रकार यहाँ चिकित्सा संबंधी प्रश्न भी उतने ही विस्तृत और जटिल हैं। फिर जनता की निर्धनता तथा शिक्षा की कमी इस प्रश्न को और भी जटिल कर देती हैं। इस कारण चिकित्साप्रबंध की आवश्यकताओं के अध्ययन के लिये सरकार की ओर से कई बार कमेटियाँ नियुक्त की गई हैं। भोर कमेटी ने जो सिफारिशें की हैं उनके अनुसार प्रत्येक १० से २० सहस्र जनसंख्या के लिये ७५ रोगियों को रखने योग्य एक ऐसा अस्पताल होना चाहिए जिसमें ६ डाक्टर और ६ उपचारिकाएँ तथा अन्य कर्मचारी नियुक्त हों। यह प्राथमिक अंग कहलाएगा। ऐसे २० प्राथमिक अंगों पर एक माध्यमिक अंग भी आवश्यक है। यहाँ के अस्पताल में १००० अंतरंग रोगियों को रखने का प्रबंध हो। यहाँ प्रत्येक चिकित्साशाखा के विशेषज्ञ नियुक्त हों तथा परिचारिकाएँ और अन्य कर्मचारी भी हों। एक्स-रे, राजयक्ष्मा, सर्जरी, चिकित्सा, व्याधिकी, प्रसूति, अस्थिचिकित्सा आदि सब विभाग पृथक् पृथक् हों। माध्यमिक अंग से परे और उससे बड़ा, केंद्रीय या जिले का विभाग या अंग हो, जहाँ उन सब प्रकार की चिकित्साओं का प्रबंध हो, जिनका प्रबंध माध्यमिक अंग के अस्पताल में न हो। यहीं पर सबसे बड़ संचालक का भी स्थान हो।

इस आयोजन का समस्त अनुमित व्यय भारत सरकार की संपूर्ण आय से भी अधिक है। इस कारण यह योजना अभी तक कार्यान्वित नहीं हो सकी है।

विशिष्ट अस्पताल—आजकल जनसंख्या और उसी के अनुसार रोगियों की संख्या में वृद्धि होने से विशेष प्रकार के अस्पतालों का निर्माण आवश्यक हो गया है। प्रथम आवश्यकता छुतहे रोगों के पृथक् अस्पताल बनान की होती है, जहाँ केवल छुतहे रोगी रखे जाते हैं। इसी प्रकार राजयक्ष्मा के रोगियों के लिये पृथक् अस्पताल आवश्यक है। मानसिक रोग, अस्थिरोग, बालरोग, स्त्रीरोग, प्रसूतिगृह, विकलांगता आदि के लिये बड़े नगरों में पृथक् अस्पताल आवश्यक हैं। छोटे नगरों में एक ही अस्पताल में कम से कम भिन्न भिन्न अपेक्षित विभाग बनाना आवश्यक है। इन अस्पतालों का निर्माण भी उनके आवश्यकतानुसार भिन्न भिन्न प्रकार से करना होता है और उसी प्रकार वहाँ के कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती है। इन सब प्रकार के अस्पतालों के मानचित्र तथा वहाँ की समस्त आवश्यकताओं की सूची सरकार ने तैयार कर दी है, जिनके अनुसार सब प्रकार के अस्पताल बनाए जा सकते हैं।

विश्राम विभाग—बड़े नगरों में, जहाँ अस्पतालों की सदा कमी रहती है, उग्र अवस्था से मुक्त होने के पश्चात्, दुर्बल स्वास्थ्योन्मुख व्यक्तियों तथा अत्यधिक समयसाध्य चिकित्सावाले रोगियों के लिये पृथक् विभाग—रुग्णालय (इनफ़र्मरी)—बनाना आवश्यक है। इससे अस्पतालों की बहुत कुछ कठिनाई कम हो जाती है और उग्रावस्था के रोगियों को रखने के लिये स्थान सुगमता से मिल जाता है।

चिकित्सालय और समाजसेवक—आजकल समाजसेवा चिकित्सा का एक अंग बन गई है और दिन दिन चिकित्सालय तथा चिकित्सा में समाजसेवी का महत्व बढ़ता जा रहा है। औषधोपचार के अतिरिक्त रोगी की मानसिक, कौटुंबिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन करना और रोगी की तज्जन्य कठिनाइयों को दूर करना समाजसेवी का काम है। रोगी की रोगोत्पत्ति में उसकी पारिवारिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ कहाँ तक कारण थीं, उसकी रुग्णावस्था में उसके कुटुंब को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है तथा रोग से या अस्पताल से रोगी के मुक्त हो जाने के पश्चात् कौन सी कठिनाइयों का सामना उसको करना पड़ेगा, उनका रोगी पर क्या प्रभाव होगा आदि रोगी के संबंध की ये सब बातें समाजसेवी के अध्ययन और उपचार के विषय हैं। यदि रोगमुक्त होने के पश्चात् वह व्यक्ति अर्थसंकट के कारण कुटुंबपालन में असमर्थ रहा, तो वह पुनः रोगग्रस्त हो सकता है। रोगकाल में उसके कुटुंब की आर्थिक समस्या कैसे हल हो, इसका प्रबंध समाजसेवी का कर्तव्य है। इस प्रकार की प्रत्येक समस्या समाजसेवी को हल करनी पड़ती है। इससे समाजसेवी का चिकित्सा में महत्व समझा जा सकता है। उग्र रोग की अवस्था में उपचारक या उपचारिका की जितनी आवश्यकता है, रोगमुक्ति के पश्चात् उस व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा तथा जीवन को उपयोगी बनाने में समाजसेवी की भी उतनी ही आवश्यकता है।

आयुर्वैज्ञानिक शिक्षासंस्थाओं में अस्पताल—आयुर्वैज्ञानिक शिक्षासंस्थाओं (मेडिकल कालजों) में चिकित्सालयों का मुख्य प्रयोजन विद्यार्थियों की चिकित्सा संबंधी शिक्षा तथा अन्वेषण है। इस कारण ऐसे चिकित्सालयों के निर्माण के सिद्धांत कुछ भिन्न होते हैं। इनमें प्रत्येक विषय की शिक्षा के लिये भिन्न भिन्न विभाग होते हैं। इनमें विद्यार्थियों की संख्या के अनुसार रोगियों को रखने के लिये समुचित स्थान रखना पड़ता है, जिसमें आवश्यक शय्याएँ रखी जा सकें। साथ ही शय्याओं के बीच इतना स्थान छोड़ना पड़ता है कि शिक्षक और उसके विद्यार्थी रोगी के पास खड़े होकर उसकी परीक्षा कर सकें तथा शिक्षक रोगी के लक्षणों का प्रदर्शन और विवेचन कर सके। इस कारण ऐसे अस्पतालों के लिये अधिक स्थान की आवश्यकता होती है। फिर, प्रत्येक विभाग को पूर्णतया आधुनिक यंत्रों, उपकरणों आदि से सुसज्जित करना होता है। वे शिक्षा के लिये आवश्यक हैं। अतएव ऐसे चिकित्सालयों के निर्माण और संघटन में साधारण अस्पतालों की अपेक्षा बहुत अधिक व्यय होता है। शिक्षकों और कर्मचारियों की नियुक्ति भी केवल श्रेष्ठतम विद्वानों म से, जो अपन विषय के मान्य व्यक्ति हों, की जाती है। अतएव ऐसे चिकित्सालय चलाने का नित्यप्रति का व्यय अधिक होना स्वाभाविक है।

ऐसी संस्थाओं के निर्माण, सज्जा तथा कर्मचारियों का पूरा ब्योरा इंडियन मेडिकल काउंसिल ने तैयार कर दिया है। यही काउंसिल देश भर की शिक्षासंस्थाओं का नियंत्रण करती है। जो संस्था उसके द्वारा निर्धारित मापदंड तक नहीं पहुँचती उसको काउंसिल मान्यता प्रदान नहीं करती और वहाँ के विद्यार्थियों को उच्च परीक्षाओं में बठने के अधिकार से वंचित रहना पड़ता है। शिक्षा के स्तर को उच्चतम बनाने में इस काउंसिल ने स्तुत्य काम किया है।

ऐसे अस्पतालों में विशेष प्रश्न पर्याप्त स्थान का होता है। कमरों का आकार और संख्या दोनों को ही अधिक रखना पड़ता है। फिर, प्रत्येक विभाग की आवश्यकता, विद्यार्थियों और शिक्षकों की संख्या आदि का ध्यान रखकर चिकित्सालय की योजना तैयार करनी पड़ती है। [चं०भा० सिं०]

प्रमुख अस्पताल—भारत के प्रत्येक मुख्य नगर में सरकार तथा दानी सज्जनों द्वारा स्थापित अनेक अस्पताल हैं। नीचे केवल कुछ प्रमुख तथा विशिष्ट रोगों से पीड़ितों के लिये अस्पतालों के नाम दिए जाते हैं :—

अमृतसर (पू० पंजाब) : पंजाब मेंटल हास्पिटल (केवल मानसिक रोगों की चिकित्सा के लिये); पंजाब डेंटल हास्पिटल (केवल दंतरोग का चिकित्सा स्थान)।

इंदौर (मध्यप्रदेश) : इन्फ़ेक्शस डिज़ीज़ेज हास्पिटल (संक्रामक रोगों

की चिकित्सा के लिये); कल्याणमल नर्सिंग होम (रोगियों की देखभाल और उपचार के लिये विशिष्ट संस्था); लेपर असाइलम (कुष्ठरोगियों के लिये); मेंटल हास्पिटल (मानसिक रोगों का चिकित्सालय); टी० बी० क्लिनिक (क्षयरोग की चिकित्सा के लिये); टी० बी० सैनाटोरियम (क्षयरोग के रोगियों की देखभाल तथा चिकित्सा की संस्था)।

इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश) : कमला नेहरू हास्पिटल (मातृत्व संबंधी अस्पताल)।

उज्जैन (मध्यप्रदेश) : लेपर असाइलम (कुष्ठरोग से पीड़ितों के लिये); टी० बी० क्लिनिक (क्षयरोग की चिकित्सा का अस्पताल)।

कटक (उड़ीसा) : ए० सी० बी० मेडिकल कालेज हास्पिटल (कठिन रोगों की परीक्षा तथा चिकित्सा संस्थान)।

कलकत्ता (पश्चिमी बंगाल) : अल्बर्ट विक्टर लेपर हास्पिटल, १८, गोबरा रोड, एंताली (कुष्ठरोग का विशिष्ट चिकित्सालय); आर० जी० कार मेडिकल कालेज हास्पिटल, १, बेलगछिया रोड (कठिन रोगों के अध्ययन और चिकित्सा के लिये); कलकत्ता मेडिकल स्कूल और हास्पिटल, ३०१-३, अपर सरकुलर रोड (कठिन रोगों की परीक्षा और चिकित्सा की संस्था); कारमाइकेल हास्पिटल फ़ॉर ट्रापिकल डिज़ीज़ेज, सेंट्रल एवेन्यू, (उष्णप्रधान देशों के विशेष रोगविषयक अनुसंधान तथा चिकित्सासंस्थान); नीलरतन सरकार मेडिकल कालेज ऐंड हास्पिटल, सियालदह (रोगपरीक्षा तथा चिकित्सा का उत्तम प्रबंध); मेडिकल कालेज हास्पिटल, ८८, कालेज स्ट्रीट (यहाँ सब रोगों के साथ साथ दंतरोगों के अध्ययन तथा चिकित्सा का विशेष प्रबंध है); सेंट कैथरीन्स हास्पिटल, ६८, डाएमंड हारबर रोड, खिदिरपुर (यहाँ असाध्य रोगों से पीड़ितों के लिये निवास तथा चिकित्सा का प्रबंध है)।

कालिकट (मद्रास) : गवर्नमेंट विमेन ऐंड चिल्ड्रेंस हास्पिटल (स्त्रियों और बालकों की चिकित्सा के लिये)।

त्रिचूर (केरल) : एडवर्ड मेमोरियल मैटर्निटी हास्पिटल (मातृत्व संबंधी विशेष अस्पताल)।

त्रिवेंद्रम् (केरल) : विमेन ऐंड चिल्ड्रेंस हास्पिटल (स्त्रियों और बालकों के रोगों के लिये)।

दिल्ली : इन्फेक्शस् डिज़ीज़ेज हास्पिटल (संक्रामक रोगों का अस्पताल); इरविन हास्पिटल, दिल्ली गेट (सब रोगों के लिये प्रमुख अस्पताल); लेडी हार्डिंज मेडिकल कालेज ऐंड हास्पिटल, लेडी हार्डिंज रोड (रोगों के अध्ययन तथा चिकित्सा का प्रमुख अस्पताल); विलिंगडन हास्पिटल, इर्विन रोड (रोगियों के रहने के लिये विशेष अच्छा प्रबंध है); मिसेज़ जी० एल० मैटर्निटी हास्पिटल (मातृत्व संबंधी विशिष्ट अस्पताल)।

नूरनद (केरल) : लेप्रसी सैनाटोरियम (कुष्ठरोग का विशिष्ट अस्पताल)।

पटना (बिहार) : पटना मेडिकल कालेज हास्पिटल, बाँकीपुर (कर्कटरोग की विशिष्ट चिकित्सा यहाँ उपलब्ध है)।

बंगलोर (मैसूर) : मेंटल अस्पताल (मानसिक रोगों का चिकित्सालय); मिंटो ऑफ़्थैल्मिक हास्पिटल (चक्षुरोगों का विशिष्ट अस्पताल); लेपर असाइलम (कुष्ठरोग की चिकित्सासंस्था); एपिडेमिक डिज़ीज़ेज़ हास्पिटल (महामारीवाले रोगों की चिकित्सा का अस्पताल); गवर्नमेंट टी० बी० सैनाटोरियम (क्षयरोग चिकित्सालय); आइसोलेशन हास्पिटल (संक्रामक रोगों का चिकित्सासंस्थान); मैटर्निटी हास्पिटल (मातृत्व संबंधी कष्टों के निवारणार्थ)।

बंबई : इन्फ़ेक्शस डिज़ीज़ेज हास्पिटल, आर्थर रोड, जेकब सरकिल (संक्रामक रोगों की विशिष्ट चिकित्सा); एकवर्थ लेपर होम, माटुंगा (कुष्ठरोग चिकित्सालय); जमशेदजी जीजीभाई हास्पिटल, बाबुला टैंक रोड, बाइकला (इस अस्पताल में ४७८ रोगियों के निवास का प्रबंध है। जननेंद्रिय संबंधी रोगों का विभाग दिन और रात खुला रहता है); ताता मेमोरियल हास्पिटल, परेल (कर्कटरोग की चिकित्सा के लिये भारत का प्रमुख अस्पताल); बाई मोतीबाई ऐंड सर डी० एम० पेटिट हास्पिटल, मज़गाँव रोड, बाइकला (स्त्रियों के रोगों के लिये); बैरामजी जीजीभाई हास्पिटल फ़ॉर चिल्ड्रेन, मज़गाँव रोड, बाइकला (१२ वर्ष से कम आयु-वाले बच्चे सब प्रकार के रोगों की चिकित्सा के लिये भरती किए जाते हैं); म्युनिसिपल ग्रुप ऑव टी० बी० हास्पिटल्स, जेरबाई वाडिया रोड, सिवड़ी (क्षयरोगियों की विशिष्ट चिकित्सा के लिये; इस अस्पताल में ३०० रोगियों के निवास का प्रबंध है; यह सब प्रकार के आधुनिक यंत्रों से सुसज्जित है)।

मटनचेरी (केरल) : विमेन ऐंड चिल्ड्रेंस हास्पिटल (स्त्रियों और बालकों के रोगों का अस्पताल)।

मद्रास : गवर्नमेंट ऑफ़्थैल्मिक हास्पिटल, २० मारशैल रोड, एग्मोर (चक्षुरोगों की विशेष चिकित्सा के लिये); गवर्नमेंट जेनरल हास्पिटल (सब प्रकार के रोगों का प्रमुख चिकित्सालय); गवर्नमेंट मेंटल हास्पिटल, लोकाक गार्डन, किलयाक (मानसिक रोगों का चिकित्सालय); गवर्नमेंट स्टैनली हास्पिटल, ओल्ड जेल स्ट्रीट (मेडिकल कालेज से संबंधित, सर्वरोग चिकित्सा का प्रमुख संस्थान); गवर्नमेंट हास्पिटल फ़ॉर विमेन ऐंड चिल्ड्रेन, एग्मोर (स्त्रियों और बालकों के लिये विशेष चिकित्सालय); गवर्नमेंट टुबरकुलोसिस हास्पिटल, रोयापेट तथा गवर्नमेंट टुबरकुलोसिस इंस्टिट्यूट, स्पर टैंक रोड, एग्मोर (क्षयरोग चिकित्सा के विशिष्ट अस्पताल); कस्तूरबा गांधी हास्पिटल फ़ॉर विमेन ऐंड चिल्ड्रेन, ट्रिप्लिकेन (स्त्रियों और बालकों के लिये विशिष्ट चिकित्सालय)।

राँची (बिहार) : इंडियन मेंटल हास्पिटल (मानसिक रोगों का प्रसिद्ध अस्पताल)।

लखनऊ (उत्तर प्रदेश) : गांधी मेमोरियल हास्पिटल (सब कठिन रोगों की परीक्षा तथा चिकित्सा के लिय मेडिकल कालज से संबद्ध प्रमुख अस्पताल)।

वेलोर (उत्तरी आर्काड, मद्रास) : क्रिश्चियन मेडिकल कालेज ऐंड हास्पिटल, वेलोर (शल्यचिकित्सा का प्रमुख अस्पताल)।

शिलांग (आसाम) : रीड प्राविंशियल चेस्ट हास्पिटल (वक्ष संबंधी रोगों का विशेष अस्पताल)।

सतारा (दक्षिण) : मिशन हास्पिटल, मीरज (क्षयरोगों की विशिष्ट चिकित्सा); लेप्रसी सैनाटोरियम, मीरज (कुष्ठरोग का प्रमुख चिकित्सालय)।

हैदराबाद (आंध्र) : ओस्मानिया जेनरल हास्पिटल (सब रोगों की विशिष्ट चिकित्सा के लिये); लिंगमपल्लि आइसोलेशन हास्पिटल (संक्रामक रोगों से पीड़ितों के लिये)। [भ० दा० व०]

अस्पृश्य भारत का एक अछूत मानव परिवार, जिनके संस्पर्श से अशौच होता है, अस्पश्य कहलाते हैं। कुछ व्यक्तियों का स्पर्श कुछ सीमित काल के लिये ही निषिद्ध है; यथा, मृत्यु एवं जन्म के अवसर पर सपिंड और समानोदकों का अथवा रजस्वला स्त्रियों का। किंतु कुछ जातियाँ सर्वदा ही साधारणतः स्पर्श के द्वारा अशौच का कारण हैं और इन्हें ही अछूत अथवा अस्पृश्य (विष्णु-धर्मसूत्र, ५, १०४) कहा जाता है। (मनु० ४, ६१, वेदव्यास १, ११-१२) अंत्य (वसिष्ठ धर्मसूत्र १६। ३०) बाह्य (आपस्तंब १, २, ३६, १४) भी इनके अभिधान थे। अंत्यावसायी (गौतम २०। १; मनु० ४। ७६) इस कोटि में निम्नतम थे। मिताक्षरा (याज्ञ० ३। २८५) अंत्यजों का दो विभाग करती है—प्रथम उच्च अंत्यज और द्वितीय निम्न सात अंत्यावसायी जातियाँ—चांडाल, श्वपच, क्षत्ता, सूत, वैदेहिक, मागध और आयोगव। अंत्यज की सूचियाँ स्मृतियों में भिन्न भिन्न उपलब्ध होती हैं। किंतु चमार, धोबी, कैवर्त, मेद, भिल्ल, नट, कोलिक प्रायः सभी में पाए जाते हैं। इस सूची का समर्थन अलबेरूनी (सचाउ का भाषांतर १, पृ० १०१) भी करता है। उसके अनुसार अछूत की दो श्रेणियाँ थीं : पहली में केवल आठ जातियाँ—धोबी, चमार, बसोर, नट, कैवर्त, मल्लाह, जुलाहा और कवच बनानेवाले तथा दूसरी कोटि में—हाडी, डोम और बधतु आते हैं। आधुनिक काल में इनके लिये दलित (अं० डिप्रेस्ड), अनुसूचित (शिड्यूल्ड) और हरिजन नाम भी प्राप्त हुए हैं।

प्रतिलोम-प्रसूति, वैदिक परंपरा से बिलगाव, आरूढपतन (संन्यासी

का गृहस्थाश्रम में प्रवेश), देवलकवृत्ति, गोमांसभक्षरण, आदिम जातियों की सांस्कृतिक हीनता, हिंसक एवं अछूत व्यवसाय, कबीले से अलग हो जाना आदि अस्पृश्यता के कारण बतलाए गए हैं। किंतु इनमें से किसी को भी एकमेव कारण नहीं माना जा सकता। साधारणतः ऐसा प्रतीत होता है कि सांस्कृतिक हीनता, जातिगत विभिन्नता एवं अछूत व्यवसाय के त्रिविध तत्वों ने इसमें विशेष योग दिया।

वैदिक काल में अछूत प्रथा के अस्तित्व के प्रमाण नहीं मिलते। पौल्कस (वाजसनेयी, सं० ३०, २१,), बीभत्स एवं चांडाल और निषाद (वही, ३०, १७; मत्रायणी १६, ११) पुरुषमेध की बलि के योग्य समझे गए। छांदोग्य में शूकर तथा कुत्ते के समान ही चांडाल भी 'कपूय' माना गया। उपमन्यु के अनुसार निषाद पंचमवर्ण था, किंतु 'विश्वजित्' का याजक निषादों के बीच में तीन रोज तक निवास करता था (कौषीतिकी २५, १८)।

सूत्रकाल में यह प्रथा स्थिर हो गई थी। चांडाल के स्पर्श एवं संभाषण से क्रमशः सचैल स्नान और आचमन करने पर शुद्धि होती थी। चांडाली-संगमन से ब्राह्मण चांडाल हो जाता था एवं कठिन प्रायश्चित्त से शुद्ध होता था। वह 'अंत' अर्थात् ग्राम के अंत में रहता था। अन्य अंत्यजों की स्थिति अच्छी थी। क्रमशः धार्मिक पवित्रता की भावना बढ़ती गई और तदनुरूप ही अस्पृश्यता की प्रथा ने जोर पकड़ा। मनु० (१०।५०-५७) के अनुसार अछूतों को ग्रामनगरों के बाहर चैत्य वृक्षों के नीचे, श्मशान, पहाड़ों और जंगलों में रहना चाहिए। मृतकों के वस्त्र, फूटे हुए भांड और लोहे के अलंकार इनके उपयोज्य थे। प्रायः यही स्थिति बाद की स्मृतियों में है। लघुस्मृतियों के काल में अंत्यजों की सूची बन गई थी जिसमें ७ से लेकर १८ जातियाँ तक परिगणित की गई।

बौद्ध साहित्य में अस्पृश्यप्रथा—निम्नस्तरीय वर्ग के लिये 'हीन सिप्प' और 'हीन जाति' के उल्लेख मिलते हैं। 'हीन सिप्प' में बँसोर, कुंभकार, पेसकर (जुलाहा) चम्मकार (चमार), नहपित (नाई) तथा 'हीन जाति' में चांडाल, पुक्कलस, रथकार, वेणुकार और निषाद हैं। द्वितीय वर्गवालों की स्थिति अच्छी नहीं थी। वे 'बहिनगर' अथवा 'चांडालग्रामक' (जातक, ४।३७६) में निवास करते थे। चांडालों की तो अपनी अलग भाषा भी थी। चुल्लधम्मजातक के अनुसार वे पीत वस्त्र और रक्त माल तथा कंधे पर कुल्हाड़ी और हाथ में एक कटोरा रखते थे। चांडाल स्त्रियाँ जादू टोने में बहुत दक्ष थीं। बाँसुरी बजाना तथा शवदाह करना इनके प्रमुख कार्य थे। बौद्धपरंपरा में अस्पृश्यता अपेक्षाकृत कम थी। दिव्यावदान (पृ० ६५२) में बहुश्रुत धर्मज्ञ विद्वान् पुष्करसारी की पुत्री का विवाह चांडालराज त्रिशंकु के साथ वर्णित है। वज्रसूची (पृ० २) चांडाली से उत्पन्न विश्वामित्र और उर्वशी से जनित वसिष्ठ की ओर इंगित कर अस्पृश्य प्रथा पर आघात करती है। महापरिनिब्बानसुत्त के अनुसार कम्मारपुत्त छुंद का भोजन बुद्ध ने मृत्यु के पूर्व किया था। आनंद ने चांडाल-कन्यका के हाथ का जलपान किया था (दिव्यावदान, पृ० ६११)। 'शार्दूलकर्णावदान' का चांडालराज त्रिशंकु स्वयं तो वेद और इतिहास में पारंगत था ही, उसने अपने पुत्र शार्दूलकर्ण को वेद, वेदांग, उपनिषत्, निघंटु इत्यादि की शिक्षा दिलवाई थी। ब्राह्मण द्वारा प्रज्वलित श्रौताग्नि और चांडाल, व्याध आदि के द्वारा उत्पन्न साधारण अग्नि में कोई अंतर नहीं माना गया (अस्सलायनसुत्त, मज्झिमनिकाय)। बुद्ध का संदेश था—निर्वाण की प्राप्ति चांडाल, पुक्कस को भी हो सकती है—खत्तिया ब्राह्मण वेस्सा सुद्दा चंडाल पुक्कसा सब्बे सोरता दांता सब्बे वा परिनिब्बुता (जातक ४, पृ० ३०३)।

जैन वाङ्मय में अस्पृश्यप्रथा—आदिपुराण के अनुसार कारु (शिल्प) द्विविध हैं—स्पृश्य और अस्पृश्य। स्पृश्य कारु शालिक (जुलाहा), मालिक (माली), कुंभकार, तिलंतुद (तेली) और नापित हैं। अस्पृश्य शिल्प रजक, बढ़ई, अयस्कार और लौहकार हैं। डोंब, चांडाल और किरिणक इनसे भी नीचे थे। व्यवहार-सूत्र-भाष्य (,६४) में डोंब का कार्य गाना, सूप आदि बनाना बतलाया गया है।

तंत्र और अस्पृश्य—साधारणतः शाक्त तंत्रों में जात पांत और छूत छात के बंधन शिथिल थे। कुलार्णतंत्र (८,६६) के अनुसार 'प्राप्ते तु भैरवे चक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः'। स्मार्त शैव और स्मार्त वैष्णव स्पृश्यास्पृश्य का विचार रखते थे।

मध्यकालीन वैष्णव संतों ने जातिप्रथा और अस्पृश्यप्रथा का तिरस्कार किया। कबीर पंथ में अनेक शूद्र और कुछ अछूत वर्ग के संत थे। अन्य संतों में रविदास, नंदनर और चोखमेल उल्लेख्य हैं।

भारत के बाहर अस्पृश्यप्रथा—स्पर्श से होनेवाला अशौच विभिन्न स्तर का होता है। कभी कभी अशौच में केवल शारीरिक अशुचि की भावना रहती है और कभी उसके साथ ही साथ धार्मिक पवित्रता में क्षति और अभाव की धारणा। प्रस्तुत प्रसंग में अशौच से तात्पर्य अशुचि (अपवित्रता) और धार्मिक पवित्रता में क्षति पॉल्यूशन युगपत् दोनों अर्थों से है। इस प्रकार के स्पर्शाशौच की प्रथा मिस्र, फ़ारस, बर्मा, जापान इत्यादि देशों में भी थी। प्राचीन मिस्र में सुअर पालनेवाले अशुद्ध समझे जाते थे और उनका स्पर्श निषिद्ध था। वे मंदिरों में प्रविष्ट भी नहीं हो सकते थे। प्राचीन फारस का मज्द धर्म का पुजारी अन्य धर्मवालों के संपर्क से अशुद्ध हो जाता था और शुचिता प्राप्त करने के लिये उसे स्नान करना आवश्यक था। बर्मा में सात प्रकार के निम्नवर्गीय थे जिनमें 'संदल' (सं० चांडाल ?) अछूत माने जाते थे। जापान के 'एत' और 'हिन्न' वर्गीय व्यक्तियों का स्पर्श वर्जित था।

१९वीं शताब्दी ईसवी में राजा राममोहन राय और स्वामी दयानंद ने अछूतप्रथा के निवारण का प्रयत्न किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने १९१७ में अछूतप्रथा की समाप्ति का प्रस्ताव पास किया। महात्मा गांधी ने कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम में अछूतोद्धार को संमिलित कर इस कुत्सित प्रथा की ओर व्यक्तियों का ध्यान विशेष रूप से खींचा। हरिजनों के द्वारा जनपथ का व्यवहार और मंदिरप्रवेश का आंदोलन प्रारंभ हुआ। सन् १९३२ में महात्मा गांधी ने "कम्यूनल अवार्ड" में अछूतों को सवर्ण हिंदुओं से अलग करने के प्रयत्न के विरुद्ध अनशन किया जो 'पूना पैक्ट' होने पर टूटा। इस अनशन ने हरिजनों की स्थिति के संबंध में देशव्यापी लहर फैला दी। इसी समय 'हरिजन-सेवक-संघ' की स्थापना हुई। भारतीय संविधान के अनुसार करीब ४२९ वर्ग अछूत माने गए हैं। भंगी, चमार, बसोर, और माँग प्रायः सारे देश में अस्पृश्य माने जाते हैं। विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न वर्ग और व्यवसाय अनेक नामों से अछूतों में परिगणित होते हैं। इन अछूतों में उच्चावच स्तर का तारतम्य है और भोजन तथा विवाह के संबंध में वे एक दूसरे से अलग रहते हैं। इनके देवालय सवर्ण हिंदुओं के मंदिरों से अलग होते थे और ग्राम्य देवता तथा दुर्गाशक्ति के रूप ही प्रायः विविध स्वरूपों में पूज्य थे। किंतु अब इनमें संस्कृतीकरण—उच्च माने जानेवाले वर्गों की संस्कृति के अनुकरण—की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो रही है।

भारतीय संविधान ने अछूतप्रथा समाप्त कर दी है और किसी भी रूप में उसका पालन या आचरण निषिद्ध घोषित कर दिया है (धारा १७)। सार्वजनिक स्थानों—कुएँ, जलाशय, होटल, सामाजिक मनोरंजन के स्थानों—में उनका प्रवेश विहित माना गया (धारा १५) है। उनके व्यावसायिक और औद्योगिक स्वातंत्र्य की सुरक्षा की गई (धारा २९) है। इनके अतिरिक्त प्रायः सभी प्रदेशों ने अस्पृश्यतानिवारक कानून बना लिए हैं। इस प्रकार विधान ने अछूतों की सामाजिक, व्यावसायिक एवं औद्योगिक परंपरानुगत अयोग्यताओं को दूर कर दिया है। साथ ही साथ, लोकसभा और प्रादेशिक विधानसभाओं में जनसंख्या के अनुसार कुछ वर्षों तक विशेष प्रतिनिधि के निर्वाचन का अधिकार सुरक्षित रखा गया है (३३०, ३३२, ३३४ धाराएँ)। हरिजन सेवक संघ, भारतीय डिप्रेस्ड क्लासेज लीग, हरिजन आश्रम (प्रयाग) कुछ प्रमुख संस्थाएँ हैं जो हरिजनोद्धार में दत्तचित्त हैं। [वि० श० पा०]

अस्वान नगर मिस्र के अस्वान प्रांत की राजधानी है। नील नदी पर बने हुए अस्वान बाँध से ३½ मील दक्षिण, काहिरा (कायरो) से ५५२ मील की दूरी पर स्थित यह नगर यूरोपवासियों का शीतकालीन क्रीड़ाकेंद्र है। रेलवे स्टेशन के दक्षिण-पूर्व में स्थित २४६ ई० पू० के बने हुए मंदिर का भग्नावशेष, एलिफैंटाइन टापू का प्राचीन मंदिर तथा मिस्र की छठी राजसत्ता के बनवाए हुए चट्टानी मकबरे नगर की

प्राचीनता के द्योतक हैं। नगर प्राचीन एव तथा सेन नगरों के मिल जाने से बना है। रेल तथा सड़कों से यह देश के अन्य नगरों से संबद्ध है। तुक जाति के लोग यहाँ के आदिवासी हैं। यहाँ उत्तरोत्तर जनसंख्या की पर्याप्त वृद्धि हो रही है। १९३७ ई० में यहाँ २२,२३६ लोग रहते थे, किंतु १९४७ ई० में यहाँ की जनसंख्या २५,३९७ हो गई। [ह० ह० सिं०]

अस्सक, अश्मक दक्षिणापथ की एक जाति जिसे संस्कृत साहित्य में अश्मक कहा गया है। अस्सकों का निवास गोदावरी के तीर कहीं था। पोतलि अथवा पोतन उनका प्रधान नगर था। परंतु अंगुत्तरनिकाय की तालिका से ज्ञात होता है कि वे बाद में उत्तर की ओर जा बसे थे और संभवतः उनकी आवासभूमि मथुरा और अवंती के बीच थी। प्रगट है कि बुद्ध के समय दक्षिण में ही उनका निवास था। अंगुत्तरनिकाय-वाली तालिका निश्चय कुछ बाद की है जब वह जाति दक्षिण से उत्तर की ओर संक्रमण कर गई थी। पुराणों में महापद्मनंद द्वारा अश्मकों के पराभव की भी कथा लिखी है। सिकंदर के इतिहासकारों ने उसके आक्रमण के समय अस्सकेनोई नामक पराक्रमी जाति द्वारा २० हजार घुड़सवारों, ३० हजार पैदलों और ३० हाथियों के साथ उसकी राह रोकने की बात लिखी है। उनके पराक्रम की बात लिखते और उनके प्रति विजेता की अनुदारता प्रकाशित करते वे झिझकते नहीं। यदि यह अस्सकेनोई जाति, जिसके दुर्ग मस्सग के अमर युद्ध का वर्णन ग्रीक इतिहासकारों ने किया है,अश्मक ही है, तो इस जाति के शौर्य की कथा निस्संदेह अमर है। साथ ही यह एकीकरण यह भी प्रमाणित करता है कि अस्सकों या अश्मकों का गोदावरी तथा अवंती के निकटवर्ती जनपद के अतिरिक्त एक तीसरा निवास भी था। संभवतः उस जाति का पूर्वतम निवास पश्चिमी पाकिस्तान में, जिसकी विजय सिकंदर ने यूसफजयी इलाके के चारसद्दा में पुष्करावती की विजय से भी पहले की, था। [भ० श० उ०]

कूर्मपुराण तथा बृहत्संहिता (रचनाकाल ५०० ई० के आसपास) में अश्मक उत्तर भारत का अंग माना गया है। इन ग्रंथों के अनुसार पंजाब के समीप अश्मक प्रदेश की स्थिति थी। परंतु राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमांसा' (१७वाँ अध्याय) में इसकी स्थिति दक्षिण भारत के प्रदेशों में मानी है। राजशेखर के अनुसार माहिष्मती (इंदौर से चालीस मील दक्षिण नर्मदा के दाहिने किनारे बसे महेश नामक नगर) से आगे दक्षिण की ओर 'दक्षिणापथ' का आरंभ होता है जिसमें महाराष्ट्र, विदर्भ, कुंतल, क्रथकैशिक, सूर्पारक (सोपारा), कांची, केरल, चोल, पांड्य, कोंकण आदि जनपदों का समावेश बतलाया गया है। राजशेखर अश्मक जनपद को इसी दक्षिणापथ का अंग मानते हैं। ब्रह्मांडपुराण में यही स्थिति अंगीकृत की गई है। 'दशकुमारचरित' में दंडी ने, 'हर्षचरित' में बाणभट्ट ने तथा 'अर्थशास्त्र' की टीका में भट्टस्वामी ने भी इसे महाराष्ट्र प्रांत के अंतर्गत माना है। दशकुमारचरित' के अष्टम उच्छ्वास के अनुसार अश्मक के राजा ने कुंतल, कोंकण, वनवासि, मुरल, ऋचिक तथा नासिक के राजाओं को विदर्भनरेश से युद्ध करने के लिये भड़काया जिससे उन लोगों ने विदर्भनरेश पर एक साथ ही आक्रमण कर दिया। इससे स्पष्ट है कि अश्मक महाराष्ट्र का ही कोई अंग या समग्र महाराष्ट्र का सूचक था, विदर्भ प्रांत का किसी प्रकार अंग नहीं हो सकता, जैसा काव्यमीमांसा पर अंग्रेजी टिप्पणी में निर्दिष्ट किया गया है (दे० काव्यमीमांसा, पृ० २८२, बड़ोदा संस्करण)। [ब० उ०]

अहं (ईगो) अथवा 'मैं', अथवा 'स्व'। मनोविज्ञान में मानव की वे समस्त शारीरिक तथा मानसिक शक्तियाँ जिनके कारण वह 'पर' अर्थात् 'अन्य' से भिन्न होता है। मनोविश्लेषण में मनुष्य की वे शक्तियाँ जो उसको यथार्थता (रियलिटी प्रिंसिपल) के अनुसार व्यवहार करने के लिये प्रेरित करती हैं। मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि "अहम्" और "पर" का बोध तथा विकास साथ साथ होता है। (दे० अहंवाद)। [श्या० ना० मे०]

अहंकार मैं की भावना। सांख्य दर्शन में अहंकार पारिभाषिक शब्द है। प्रकृति-पुरुष-संयोग से 'महत्' उत्पन्न होता है। महत् से अहंकार की उत्पत्ति है। अहंकार से ही सूक्ष्म स्थूल सृष्टि उत्पन्न होती है। यह भौतिक तत्व है। इससे जीवन में अभियान उत्पन्न होता है तथा इसी में क्रिया होती है, पुरुष में नहीं। अहंकार के कारण पुरुष प्रकृति के कार्यों से तादात्म्य अनुभव करता है। अहंकार ही अनुभवों को पुरुष तक पहुँचाता है। इसके सत्व गुणप्रधान होने पर सत्कर्म होते हैं, रजःप्रधान होने पर पापकर्म होते हैं तथा तमःप्रधान होने पर मोह होता है। सात्विक अहंकार से मन, पंच ज्ञानेंद्रियों तथा पंच कर्मेंद्रियों की उत्पत्ति होती है। तामस अहंकार से पंच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। विज्ञानभिक्षु के अनुसार सात्विक अहंकार से मन, राजस से दस इंद्रियाँ तथा पंच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। अहंकार को दर्शनों में पतन का कारण माना गया है क्योंकि प्रायः सभी भारतीय दर्शन अनुभवगम्य आत्मा के रूप को आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं मानते। अतः 'मैं' की भावना से किया गया कार्य आत्मा के मिथ्या ज्ञान से प्रेरित है। पारमार्थिक जगत् में अहंकारमुक्त होना चाहिए किंतु व्यावहारिक जगत् में अहंकार के बिना निर्वाह संभव नहीं है। [रा० पां०]

अहंवाद (सॉलिप्सिज्म) अहंवाद उस दार्शनिक सिद्धांत को कहते हैं जिसके अनुसार केवल ज्ञाता एवं उसकी मनोदशाओं अथवा प्रत्ययों (आइडियाज) की सत्ता है, दूसरी किसी वस्तु की नहीं। इस मंतव्य का तत्वदर्शन तथा ज्ञानमीमांसा दोनों से संबंध है। तत्वदर्शन संबंधी मान्यता का उल्लेख ऊपर की परिभाषा में हुआ है। संक्षेप में वह मान्यता यही है कि केवल ज्ञाता अथवा आत्मा का ही अस्तित्व है। ज्ञानमीमांसा इस मंतव्य का प्रमाण उपस्थित करती है। दार्शनिक एफ० एच० ब्रैडले ने अहंवाद की पोषक युक्ति को इस प्रकार प्रकट किया है: "मैं अनुभव का अतिक्रमण नहीं कर सकता, और अनुभव मेरा अनुभव है। इससे यह अनुमान होता है कि मुझसे परे किसी चीज का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि जो अनुभव है वह इस आत्म की दशाएँ ही हैं।"

दर्शन के इतिहास में अहंवाद के किसी विशुद्ध प्रतिनिधि को पाना कठिन है, यद्यपि अनेक दार्शनिक सिद्धांत इस सीमा की ओर बढ़ते दिखाई देते हैं। अहंवाद का बीजारोपण आधुनिक दर्शन के पिता देकार्त की विचार-पद्धति में ही हो गया था। देकार्त मानते हैं कि आत्म का ज्ञान ही निश्चित सत्य है, बाह्य विश्व तथा ईश्वर केवल अनुमान के विषय हैं। जान लाक का अनुभववाद भी यह मानकर चलता है कि आत्म या आत्मा के ज्ञान का साक्षात् विषय केवल उसके प्रत्यय होते हैं, जिनके कारण भूत पदार्थों की कल्पना की जाती है। बार्कले का आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद अहंवाद में परिणत हो जाता है।

सं०ग्रं०—बाल्डविन : डिक्शनरी ऑव फिलॉसफी ऐंड साइकॉलॉजी; अप्पय दीक्षित : सिद्धांतलेशसंग्रह (दृष्टिसृष्टिवाद प्रकरण)। [दे० रा०]

अहग्गार पठार अफ्रीका के सहारा मरुस्थल के मध्य भाग में उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व को कर्णवत् फैला हुआ है। यह (आदिकल्प-पुराकल्प) चट्टानों से बना हुआ है। यहाँ ज्वालामुखीय उत्पत्ति की कई चोटियाँ हैं जिनकी ऊँचाई ८००० फुट से अधिक नहीं है। ये चोटियाँ समय समय पर बर्फ से ढक जाती हैं। यहाँ की जलवायु ठंढी है तथा तुषार भी पर्याप्त पड़ता है। यहाँ की मुख्य वनस्पति एक प्रकार का बबूल (अकेसिया टारटिला) है। यहाँ के निवासी टारेग जाति के हैं। ये चरागाहों में अपने पशु चराते तथा बंजारों का जीवन व्यतीत करते हैं। [न० ला०]

अहमद खाँ, सर सैयद दिल्ली में १८१७ ई० में पैदा हुए; पुरखे हेरात से शाहजहाँ के समय आए थे। सर सैयद की शिक्षा उनकी माँ ने की। १८३७ ई० में सरकारी नौकर हुए। मुसलमान कौम की उन्नति का विचार शुरू से था। सन् १८६१ ई० में एक स्कूल मुरादाबाद में और १८६४ ई० में एक स्कूल गाजीपुर में खोला जहाँ मुसलमान लड़कों को अंग्रेजी की शिक्षा दी जाती थी। सन् १८६९ ई० में इंग्लैंड गए और वहाँ से लौटने पर एक पत्रिका 'तहजीबुल इखलाक' निकाली जिसके द्वारा मुसलमानों में प्रगतिशील विचार फैले। नौकरी के बीच उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आसारउलसनादीद' लिखी। पेंशन के बाद सन् १८७७ ई० में उन्होंने अलीगढ़ कालेज कायम किया जिसकी नींव लार्ड लिटन के हाथों से रखी गई। सन् १८९८ ई० में सर सैयद का स्वर्गवास हो गया। अलीगढ़ विश्वविद्यालय में ही वे दफन हुए।

सर सैयद ने उर्दू भाषा की बड़ी सेवा की। वह सीधी सादी मगर अत्यंत जोरदार भाषा लिखते थे। उर्दू साहित्यिक निबंधलेखन की कला सर सैयद की बहुत बड़ी देन है। उर्दू गद्य में नए विचार और उनके लिये नित्य नए शब्द सर सैयद ने अत्यंत खूबी से गढ़े, चुने और संमिलित किए। [र०स०ज०]

अहमदनगर बंबई राज्य का एक जिला तथा नगर है (१९°५' उत्तरी अक्षांश, ७४° ५५' पूर्वी देशांतर), जो सीना नदी के बाएँ तट पर स्थित है। १४९७ में यह अहमद निजाम शाह द्वारा स्थापित किया गया। १६३६ में शाहजहाँ ने इसपर विजय प्राप्त की। १७९७ में मुख्य मराठा दौलतराव सिंधिया का इसपर अधिकार हो गया तथा १८१७ में पूना की संधि द्वारा यह अंग्रेजों के शासन में आ गया। यहाँ पर सूती तथा रेशमी वस्त्रों का बहुत बड़ा व्यापार होता है। प्रमुख उद्योग हाथ से कपड़ा बुनना, दरी बनाना तथा ताँबे और पीतल के बर्तन तैयार करना है। यहाँ कपड़े के कई कारखाने हैं। शिक्षा संस्थाओं में कला तथा विज्ञान के कालेज और आयुर्वेदिक महाविद्यालय मुख्य हैं। क्षेत्रफल २ वर्ग मील है, जनसंख्या १,०५,२७५ (१९५१)।

अहमदनगर जिले में (१८° २०' उ० अ० से २०° ०' उ० अ० और ७३° ४३' पू० दे० से ७४° ५१' पूर्व दे०) कई नदियाँ बहती हैं, जैसे गोदावरी तथा उसकी सहायक पारवारा और मूला, डोर, सेफानी भीमा तथा उसकी सहायक गोर। साल में वर्षा २०-२२ इंच होती है। मुख्य फसलें कपास, पटुआ, गन्ना, ज्वार, दाल तथा गेहूँ हैं। यहाँ पर चीनी के सात तथा चमड़ा बनाने के दो बड़े कारखाने हैं। मुख्य आयात टीन की चादरें, धातु, नमक और रेशम हैं तथा निर्यात चीनी, चमड़ा, अनाज और हाथ के बुने कपड़े हैं। जिले का क्षेत्रफल ६,४८२ वर्ग मील है और जनसंख्या १,४१०,८७३ है (१९५१)। [न० ला०]

अहमद बिन हंबल अब्दुल्लाह अहमदुश्शबानी

अहमद बिन हंबल का जन्म, पालन तथा अध्ययन बग़दाद में हुआ और यहीं इनकी मृत्यु हुई। यह इस्लामी विद्वानों के चार प्राचीन विचारों की ज्ञान-शालाओं में से एक के संस्थापक हैं। इसी प्रकार की एक अन्य शाला के संस्थापक इमाम शोफई के शिष्य थे। हदीस की आत्मा के साथ उसके शब्दों की पैरवी पर भी बल देते थे। यह मुअतजल: (अलग हुए) फ़िर्के की स्वच्छंद विचारधारा के विरुद्ध दृढ़ चट्टान माने जाते थे। खलीफ़ा मामूँ ने, जो स्वयं मुअतजली थे, इन्हें बहुत प्रकार के कष्ट दिए और उनके बाद खलीफ़ा अलमुअतासिम ने भी इन्हें कारागार में डाला, पर यह अपने मार्ग से तनिक भी नहीं हटे। सन् ८५५ ई० में इनकी मृत्यु पर लाखों स्त्री पुरुष इनके जनाज़े के साथ गए, जिससे ज्ञात होता है कि यह कितने जनप्रिय थे। इस्लामी विद्वन्मंडलियों के अन्य संस्थापकों की तरह इन्हें भी आज तक इमाम की संमानित पदवी से स्मरण किया जाता है। यह प्राचीन ज्ञान के अतिरिक्त हदीस के भी विद्वान् तथा प्रचारक थे। इन्होंने हदीस का संग्रह भी प्रस्तुत किया था जिसका नाम 'मुसनद' है और जिसमें लगभग चालीस सहस्र हदीसें संगृहीत हैं। धार्मिक बातों में कठोर होने के कारण अब इनके अनुयायियों की संख्या बहुत कम रह गई है और वह भी केवल इराक तथा शाम तक ही सीमित है। [आर० आर० श०]

अहमदशाह दुर्रानी अब्दाली फिरके के एक अफ़गान वंश का संस्थापक। १७२२ ई० में जन्म। पिता मुहम्मद जमाँ खाँ हेरात के निकट का एक सामान्य सरदार था। जब नादिरशाह ने हेरात पर आक्रमण (१७३१) किया तो अब्दालियों की शक्ति नष्ट हो गई और अन्य बहुत से अब्दालियों के साथ अहमद खाँ भी आक्रांता के हाथों पकड़ा गया। परंतु १७३७ ई० में वह स्वतंत्र हो गया और माजंदारान का शासक नियुक्त हुआ। समयांतर में वह नादिरशाह की सेना में एक ऊँचे पद पर नियुक्त हुआ। नादिरशाह की मृत्यु के उपरांत अहमद खाँ ने उसकी सेना का दमन करके अपनी सत्ता स्थापित कर ली। इस अवसर पर मुख्य अब्दाली मालिकों ने एक दरवेश के आदेशानुसार एकमत से उसको अपना बादशाह चुना। तब अहमद खाँ ने 'शाह' की पदवी ग्रहण की और अपना उपनाम, दुर्रे दुर्रानी (सर्वोत्तम मोती) रखा। तभी से अब्दाली फिरके का नाम भी दुर्रानी पड़ गया।

कंधार को केंद्र बनाकर अहमदशाह ने काबुल पर अधिकार किया। फिर पंजाब की अराजकता और मुगल सम्राट् की निर्बलता का लाभ उठाकर वह भारत पर हमला करने लगा। १७५५ में उसने दिल्ली का बड़ी निर्दयता से ४० दिन तक विध्वंस किया और मथुरा को खूब लूटा। लाहौर के मुसलमान सूबेदार ने अहमदशाह से अपनी रक्षा के लिये सिक्खों तथा मराठों से मित्रता कर ली। इसपर दुर्रानी एक बार फिर भारत पर चढ़ आया और अंत में १७६१ ई० में पानीपत के प्राचीन युद्धक्षेत्र में मराठों से उसका भारी युद्ध हुआ जिसमें मराठों की शक्ति सर्वथा नष्ट हो गई। अहमदशाह को पूरी सफलता प्राप्त हुई। किंतु उसके वापस लौटते ही सिक्खों ने विरोध खड़ा कर दिया। अहमदशाह ने उनको भी पूर्णतया परास्त किया और सरहिंद तथा पंजाब में लूट मार करता हुआ वापस लौटा। १७६७ में उसने अंतिम बार भारत की यात्रा की और सिक्खों से मैत्री करने का प्रयत्न किया, किंतु उसकी बहुत सी सेना उससे विमुख होकर उसे छोड़ गई। ऐसी परिस्थिति में सिक्खों ने उसका पीछा करके उसे बहुत परेशान किया। इस प्रकार यह योद्धा अपने अंतिम दिनों में कृश तथा हताश होकर १७७३ ई० में परलोक सिधारा। उसके बाद साम्राज्य का अधिकारी उसका बेटा तीमूर हुआ।

सं०ग्रं०—सुल्तान मुहम्मद खाँ, इब्न मूसा खाँ, दुर्रानी: तारीखे सुल्तानी (फ़ारसी), मुहम्मदी कारखाना, बंबई (१२९८ हि०, १८८० ई०); गंडासिंह: अहमदशाह दुर्रानी (लखनऊ)। सियरुल मुताख्खिरीन (फ़ारसी), सैय्यद गुलाम हुसेन तबातबाई, कलकत्ता (१८८२) [प० श०]

अहमदाबाद अहमदाबाद नगर (२३°१' उ० अ०, ७२°३७' पूर्व दे०) गुजरात राज्य में खंभात की खाड़ी से ५० मील तथा बंबई से ३०९ मील उत्तर साबरमती नदी के बाएँ तट पर स्थित राज्य का प्रथम तथा भारत का छठा बृहत्तम नगर और प्रमुख औद्योगिक, व्यापारिक तथा वितरणकेंद्र है।

साबरमतीतट पर एक भील सरदार के नाम पर असावल नामक रम्य स्थान था जो सामरिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण था। १४११ ई० में गुजरात के सुलतान अहमद प्रथम ने इसे अपनी राजधानी बना लिया और अहमदाबाद नामकरण किया। अहमदाबाद का इतिहास पाँच युगों से गुजरा है। १४११-१५११ ई० के बीच की शताब्दी में गुजरात के शक्तिशाली शासकों के अधीन नगर की उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। १५१२-७२ का द्वितीय साठवर्षीय काल अवनति का था, क्योंकि बहादुरशाह ने चंपानेर को अपनी राजधानी बना लिया था, पर इसके पश्चात् चार बड़े मुगल शासकों—अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ, औरंगजेब—का राजत्व काल (१५७३–१७०७) सर्वाधिक समुन्नतिशील था। धन-धान्य, विभिन्न उद्योगों—सोना, चाँदी, ताँबा, सूती रेशमी कपड़ों, जरी एवं दरेस (एक प्रकार का फूलदार महीन कपड़ा) के काम, व्यापार, शिल्प-चित्र-स्थापत्य आदि विभिन्न कलाकौशलों एवं सौंदर्य में हिंदुस्तान का शिरोमणि तथा तत्कालीन लंदन के तुल्य और वेनिस से बढ़कर था। शक्तिहीन मुगलों के चतुर्थ युग (१७०७–१८१७) में मराठों की लूटपाट, मनमाना कर वसूली एवं असुरक्षा आदि से अराजकता फैल गई थी और व्यापार उद्योग चौपट हो गया। अधिकांश निवासी नगर छोड़कर भाग गए। १८१७ ई० के बाद अँगरेजी शासन में पुनर्विकास प्रारंभ हुआ और तब से आज तक नगर निरंतर समुन्नतिशील है।

अहमदाबाद का आधुनिक औद्योगिक युग १८६१ ई० से प्रारंभ होता है, जब वहाँ प्रथम कपड़े की मिल खुली। आंतरिक स्थिति होने के कारण बंबई की अपेक्षा इसे सस्ता श्रम, सस्ती भूमि एवं सुविधापूर्ण बाजार प्राप्त हुआ; अतः आज वहाँ बंबई की अपेक्षा अधिक कपड़े के कारखाने हैं (७४:८४)। यहाँ रेशमी कपड़े के भी कारखाने हैं। यह क्षेत्रीय रेलों एवं राजमार्गों का केंद्र होने तथा उपजाऊ क्षेत्र में स्थित होने के कारण प्रमुख व्यापारिक नगर हो गया है। कांडला बंदरगाह के विकास से इसकी स्थिति सुदृढ़तर हो गई है।

अहमदाबाद की उद्योगप्रधान आधुनिक वेशभूषा में मध्यकालीन गौरव एवं ऐश्वर्य के निदर्शनरूप में विभिन्न स्थापत्यशैलियों में निर्मित

हजारों मस्जिदों, हिंदू-जैन-मंदिरों, स्मारकों तथा प्राचीरों के अवशेष विद्यमान हैं। साथ ही, अहमदाबाद की सबसे बड़ी विशेषता यहाँ के 'पोल' हैं जो जाति या सामाजिक स्तरविशेषवाले परिवारों की सर्वसुविधापूर्ण इकाईवाले छोटे नगर ही होते हैं। इनमें पोलपरिषद् का शासन भी चलता है। सड़क के दोनों ओर मकान रहते हैं और दो अन्य छोरों पर विशाल गोपुर जो रात्रि में बंद कर दिए जाते हैं। बड़े पोल की जनसंख्या दस हजार तक होती है। अहमदाबाद में गांधी जी का साबरमती का आश्रम है, जहाँ से उन्होंने प्रख्यात दांडी यात्रा की थी। यहीं पर गुजरात विश्वविद्यालय स्थित है।

अहमदाबाद की जनसंख्या बराबर बढ़ रही है। १८९१ (१,४४,४५१) एवं १९५१ (७,८८,३३३) के साठ वर्षों में जनसंख्या ४४६% बढ़ी है। ५२% लोग उद्योगों में तथा २१% लोग व्यापार में लगे हैं। प्रति हजार पुरुषों पर केवल ७७१ स्त्रियाँ हैं। [का० ना० सिं०]

अहल्या एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार अहल्या ब्रह्मदेव की आद्या स्त्रीसृष्टि थी जिसके सौंदर्य पर मोहित होकर इंद्र ने उसे अपनी सहधर्मिणी बनाने के लिये ब्रह्मा से माँगा, परंतु ब्रह्मा ने उसे गौतम ऋषि को विवाहार्थ दे दिया। इंद्र ने अपनी प्राचीन कामना के चरितार्थ उसके पातिव्रत का हरण किया। इस घटना के विषय में दो मत हैं। वाल्मीकि रामायण की कुछ प्रतियों के अनुसार अहल्या की संमति से इंद्र ने ऐसा किया, परंतु अधिक प्रचलित आख्यान के अनुसार इंद्र ने गौतम का रूप धारण कर अपनी अभिलाषा की सिद्धि की जिसमें गौतम ऋषि को असमय में प्रभात होने की सूचना देने का काम चंद्रमा ने मुर्गा बनकर किया। गौतम ने तीनों को शाप दिया। अहल्या शिला बन गई और जनकपुर जाते समय राम की चरणरज के स्पर्श से उसे फिर स्त्री का रूप प्राप्त हुआ और गौतम ने उसे फिर स्वीकार किया। शतानंद अहल्या के ही पुत्र थे (रामायण, बालकांड ४८-४९ सर्ग)। अहल्या की यह कथा वस्तुतः एक उदात्त रूपक है; कुमारिल भट्ट का यह दृढ़ मत है। वेदों में इंद्र के लिये विशेषण प्रयुक्त है—अहल्यायै जारः। इसी विशेषण के आधार पर यह कथा गढ़ी गई है। इंद्र सूर्य का प्रतीक है तथा अहल्या रात्रि का जिसका वह घर्षण किया करता है और उसे जीर्ण (वृद्ध; अंतर्हित) बना डालता है। शतपथ (३।३।४।१८), जैमिनि ब्रा० (२।७९) तथा षड्विंश (१।१) में उपलब्ध इस आख्यान का यही तात्पर्य है। [ब० उ०]

अहाब ओम्री का पुत्र और इसराइल का राजा (८७५ ई० पू०—८५२ ई० पू०)। उसे पिता द्वारा न केवल जोर्दन के पूर्व में गिलीद का राज्य मिला बल्कि मोब का राज्य भी उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ। अहाब का विवाह सीदान के राजा एशबाल की पुत्री जेज़ेबेल के साथ हुआ। जेज़ेबेल ने अपने देश की शासनप्रणाली और बाल देवता की पूजा प्रचलित करनी चाही। यहूदी केवल अपने राष्ट्रीय देवता एकमात्र यहवे की ही पूजा करते थे। उन्होंने पैगंबर एलिजा के नेतृत्व में बाल की पूजा के विरोध में विद्रोह किया। सीरियकों के साथ लड़ते हुए अहाब की मृत्यु हुई। [वि० ना० पां०]

अहिंसा हिंदू शास्त्रों की दृष्टि से 'अहिंसा' का अर्थ है सर्वदा तथा सर्वथा (मनसा, वाचा और कर्मणा) सब प्राणियों के साथ द्रोह का अभाव। (अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः—व्यासभाष्य, योगसूत्र २।३०)। अहिंसा के भीतर इस प्रकार सर्वकाल में केवल कर्म या वचन से ही सब जीवों के साथ द्रोह न करने की बात समाविष्ट नहीं होती, प्रत्युत मन के द्वारा भी द्रोह के अभाव का संबंध रहता है। योगशास्त्र में निर्दिष्ट यम तथा नियम अहिंसामूलक ही माने जाते हैं। यदि उनके द्वारा किसी प्रकार की हिंसावृत्ति का उदय होता है तो वे साधना की सिद्धि में उपादेय तथा उपकारक नहीं माने जाते। 'सत्य' की महिमा तथा श्रेष्ठता सर्वत्र प्रतिपादित की गई है, परंतु यदि कहीं अहिंसा के साथ सत्य का संघर्ष घटित होता है तो वहाँ सत्य वस्तुतः सत्य न होकर सत्याभास ही माना जाता है। कोई वस्तु जैसी देखी गई हो तथा जैसी अनुमित हो उसका उसी रूप में वचन के द्वारा प्रगट करना तथा मन के द्वारा संकल्प करना 'सत्य' कहलाता है, परंतु यह वाणी भी सब भूतों के उपकार के लिये प्रवृत्त होती है, भूतों के उपघात के लिये नहीं। इस प्रकार सत्य की भी कसौटी अहिंसा ही है। इस प्रसंग में वाचस्पति मिश्र ने 'सत्यतपा' नामक तपस्वी के सत्यवचन को भी सत्याभास ही माना है, क्योंकि उसने चोरों के द्वारा पूछे जाने पर उस मार्ग से जानेवाले सार्थ (व्यापारियों का समूह) का सच्चा परिचय दिया था। हिंदू शास्त्रों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय (न चुराना), ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह, इन पाँचों यमों को जाति, देश, काल तथा समय से अनवच्छिन्न होने के कारण समभावेन सार्वभौम तथा महाव्रत कहा गया है (योगसूत्र २।३१) और इनमें भी, सबका आधार होने से, 'अहिंसा' ही सबसे अधिक महाव्रत कहलाने की योग्यता रखती है। [ब० उ०]

जैन दृष्टि से सब जीवों के प्रति संयमपूर्ण व्यवहार अहिंसा है। अहिंसा का शब्दानुसारी अर्थ है, हिंसा न करना। इसके पारिभाषिक अर्थ विध्यात्मक और निषेधात्मक दोनों हैं। रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति न करना, प्राणवध न करना या प्रवृत्ति मात्र का निरोध करना निषेधात्मक अहिंसा है; सत्प्रवृत्ति, स्वाध्याय, अध्यात्मसेवा, उपदेश, ज्ञानचर्चा आदि आत्महितकारी व्यवहार विध्यात्मक अहिंसा है। संयमी के द्वारा भी अशक्य कोटि का प्राणवध हो जाता है, वह भी निषेधात्मक अहिंसा हिंसा नहीं है। निषेधात्मक अहिंसा में केवल हिंसा का वर्जन होता है, विध्यात्मक अहिंसा में सत्क्रियात्मक सक्रियता होती है। यह स्थूल दृष्टि का निर्णय है। गहराई में पहुँचने पर तथ्य कुछ और मिलता है। निषेध में प्रवृत्ति और प्रवृत्ति में निषेध होता ही है। निषेधात्मक अहिंसा में सत्प्रवृत्ति और सत्प्रवृत्यात्मक अहिंसा में हिंसा का निषेध होता है। हिंसा न करनेवाला यदि आंतरिक प्रवृत्तियों को शुद्ध न करे तो वह अहिंसा न होगी। इसलिये निषेधात्मक अहिंसा में सत्प्रवृत्ति की अपेक्षा रहती है, वह बाह्य हो चाहे आंतरिक, स्थूल हो चाहे सूक्ष्म। सत्प्रवृत्यात्मक अहिंसा में हिंसा का निषेध होना आवश्यक है। इसके बिना कोई प्रवृत्ति सत् या अहिंसा नहीं हो सकती, यह निश्चय दृष्टि की बात है। व्यवहार में निषेधात्मक अहिंसा को निष्क्रिय अहिंसा और विध्यात्मक अहिंसा को सक्रिय अहिंसा कहा जाता है।

जैन ग्रंथ आचारांगसूत्र में, जिसका समय संभवतः तीसरी-चौथी शताब्दी ई० पू० है, अहिंसा का उपदेश इस प्रकार दिया गया है: भूत, भावी और वर्तमान के अर्हत् यही कहते हैं—किसी भी जीवित प्राणी को, किसी भी जंतु को, किसी भी वस्तु को जिसमें आत्मा है, न मारो, न (उससे) अनुचित व्यवहार करो, न अपमानित करो, न कष्ट दो और न सताओ।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति, ये सब अलग जीव हैं। पृथ्वी आदि हर एक में भिन्न भिन्न व्यक्तित्व के धारक अलग अलग जीव हैं। उपर्युक्त स्थावर जीवों के उपरांत त्रस (जंगम) प्राणी हैं, जिनमें चलने फिरने का सामर्थ्य होता है। ये ही जीवों के छः वर्ग हैं। इनके सिवाय दुनिया में और जीव नहीं हैं। जगत् में कोई जीव त्रस (जंगम) हैं और कोई जीव स्थावर। एक पर्याय में होना या दूसरी में होना कर्मों की विचित्रता है। अपनी अपनी कमाई है, जिससे जीव त्रस या स्थावर होते हैं। एक ही जीव जो एक जन्म में त्रस होता है, दूसरे जन्म में स्थावर हो सकता है। त्रस हो या स्थावर, सब जीवों को दुःख अप्रिय होता है। यह समझकर मुमुक्षु सब जीवों के प्रति अहिंसा भाव रखे।

सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसलिये निर्ग्रंथ प्राणिवध का वर्जन करते हैं। सभी प्राणियों को अपनी आयु प्रिय है, सुख अनुकूल है, दुःख प्रतिकूल है। जो व्यक्ति हरी वनस्पति का छेदन करता है वह अपनी आत्मा को दंड देनेवाला है। वह दूसरे प्राणियों का हनन करके परमार्थतः अपनी आत्मा का ही हनन करता है।

आत्मा की अशुद्ध परिणति मात्र हिंसा है; इसका समर्थन करते हुए आचार्य अमृतचंद्र ने लिखा है: असत्य आदि सभी विकार आत्मपरिणति को बिगाड़नेवाले हैं, इसलिये वे सब भी हिंसा हैं। असत्य आदि जो दोष बतलाए गए हैं वे केवल "शिष्यबोधाय" हैं। संक्षेप में राग द्वेष का अप्रादुर्भाव अहिंसा और उनका प्रादुर्भाव हिंसा है। रागद्वेषरहित प्रवृत्ति से अशक्य कोटि का प्राणवध हो जाय तो भी नैश्चयिक हिंसा नहीं होती, रागद्वेषसहित प्रवृत्ति से, प्राणवध न होने पर भी, वह होती है। जो रागद्वेष की प्रवृत्ति करता है वह अपनी आत्मा का ही घात करता है, फिर चाहे दूसरे जीवों का घात करे या न करे। हिंसा से विरत न होना भी हिंसा है और हिंसा में परिणत होना भी हिंसा है। इसलिये जहाँ राग द्वेष की प्रवृत्ति है वहाँ निरंतर प्राणवध होता है।

अहिंसा की भूमिकाएँ : हिसा मात्र से पाप [कर्म का बंधन होता है। इस दृष्टि से हिंसा का कोई प्रकार नही होता। किंतु हिंसा के कारण अनेक होते हैं, इसलिये कारण की दृष्टि से उसके प्रकार भी अनेक हो जाते हैं। कोई जान बूझकर हिसा करता है, तो कोई अनजान में भी हिसा कर डालता है। कोई प्रयोजनवश करता है, तो कोई बिना प्रयोजन भी।

सूत्रकृताग मे हिंसा के पाँच समाधान बतलाए गए हैं : (१) अर्थदड, (२) अनर्थदड, (३) हिंसादड, (४) अकस्मात् दड, (५) दृष्टि-विपर्यासदड। अहिसा आत्मा की पूर्ण विशुद्ध दशा है। वह एक और अखड है, किंतु मोह के द्वारा वह ढकी रहती है। मोह का जितना ही नाश होता है उतना ही उसका विकास। इस मोहविलय के तारतम्य पर उसके दो रूप निश्चित किए गए हैं (१) अहिसा महाव्रत, (२) अहिसा अणुव्रत। इनमे स्वरूपभेद नही, मात्रा (परिमाण) का भेद है।

मुनि की अहिसा पूर्ण है, इस दशा मे श्रावक की अहिसा अपूर्ण। मुनि की तरह श्रावक सब प्रकार की हिसा से मुक्त नही रह सकता। मुनि की अपेक्षा श्रावक की अहिसा का परिमाण बहुत कम है। उदाहरणत मुनि की अहिसा बीस बिस्वा है तो श्रावक की अहिसा सवा बिस्वा है। (पूर्ण अहिसा के अश बीस है, उनमे से श्रावक की अहिसा का सवा अश है।) इसका कारण यह है कि श्रावक उन्नीस जीवो की हिसा को छोड सकता है, वादर स्थावर जीवो की हिसा को नही। इससे उसकी अहिंसा का परिमाण आधा रह जाता है—दस बिस्वा रह जाता है। इसमे भी श्रावक उन्नीस जीवो की हिसा का सकल्पपूर्वक त्याग करता है, आरभजा हिसा का नही। अत उसका परिमाण उसमे भी आधा अर्थात् पाँच बिस्वा रह जाता है। सकल्प-पूर्वक हिंसा भी उन्ही उन्नीस जीवो की त्यागी जाती है जो निरपराध हैं। सापराध त्रस जीवो की हिसा से श्रावक मुक्त नही हो सकता। इससे वह अहिसा ढाई बिस्वा रह जाती है। निरपराध उन्नीस जीवो की भी निरपेक्ष हिसा को श्रावक त्यागता है। सापेक्ष हिसा तो उससे हो जाती है। इस प्रकार श्रावक (धर्मोपासक या व्रती गृहस्थ) की अहिसा का परिमाण सवा बिस्वा रह जाता है। इस प्राचीन गाथा मे इसे सक्षेप मे इस प्रकार कहा है :

"जीवा सुहुमाथूला, सकप्पा, आरम्भाभवे दुविहा।
सावराह निरवराहा, सविक्खा चैव निरविक्खा॥"

(१) सूक्ष्म जीवहिसा, (२) स्थूल जीवहिसा, (३) सकल्प हिंसा, (४) आरभ हिसा, (५) सापराध हिसा, (६) निरपराध हिसा, (७) सापेक्ष हिसा, (८) निरपेक्ष हिसा। हिसा के ये आठ प्रकार हैं। श्रावक इनमे से चार प्रकार की (२, ३, ६, ८) हिसा का त्याग करता है। अत श्रावक की अहिसा अपूर्ण है। [मु० न०]

इसी प्रकार बौद्ध और ईसाई धर्मों मे भी अहिसा की बडी महिमा है। वैदिक हिसात्मक यज्ञो का उपनिषत्कालीन मनीषियो ने विरोध कर जिस परपरा का आरभ किया था उसी परपरा की पराकाष्ठा जैन और बौद्ध धर्मों ने की। जैन अहिसा सद्धातिक दृष्टि से सारे धर्मों की अपेक्षा असाधारण थी। बौद्ध अहिसा नि सदेह आस्था मे जैन धर्म के समान महत्व की न थी, पर उसका प्रभाव भी ससार पर प्रभूत पडा। उसी का यह परिणाम था कि रक्त और लूट के नाम पर दौड पडनेवाली मध्य एशिया की विकराल जातियाँ प्रेम और दया की मूर्ति बन गई। बौद्ध धर्म के प्रभाव से ही ईसाई भी अहिसा के प्रति विशेष आकृष्ट हुए, ईसा ने जो आत्मोत्सर्ग किया वह प्रेम और अहिसा का ही उदाहरण था। उन्होने अपने हत्यारो तक की सद्गति के लिये भगवान् से प्रार्थना की और अपने अनुयायियो से स्पष्ट कहा कि यदि कोई एक गाल पर प्रहार करे तो दूसरे को भी प्रहार स्वीकार करने के लिये आगे कर दो। यह हिंसा या प्रतिशोध की भावना नष्ट करने के लिये ही था। तोल्स्तोइ (टॉल्स्टॉय) और गाधी ईसा के इस अहिंसात्मक आचरण से बहुत प्रभावित हुए। गाधी ने तो जिस अहिसा का प्रचार किया वह अत्यत महत्वपूर्ण थी। उन्होने कहा कि उनका विरोध असत् से है, बुराई से नही। उनसे आवृत व्यक्ति सदा प्रेम का अधिकारी है, हिसा का कभी नही। अपने आदोलन के प्राय चोटी पर होते भी चौराचौरी के हत्याकाड से विरक्त होकर उन्होने आदोलन बद कर दिया था। [भ०श० उ०]

अहिच्छत्र

(सबसे प्राचीन लेख में अधिच्छत्र), 'सर्पों का छत्र', महाभारत के अनुसार उत्तर पाचाल की राजधानी अहिच्छत्र को कुरुओ ने वहाँ के राजा से छीनकर द्रोण को दे दिया था। कहा जाता है कि द्रोण ने द्रुपद को अपने शिष्यो की सहायता से हराकर प्रतिशोध लिया था और उसका आधा राज्य बाँट लिया था। अहिच्छत्र के पाचाल जनपद का इतिहास ई० पू० छठी शताब्दी से मिलता है। तब यह १६ जनपदो मे से एक था। मुद्राओ और लेखो से ज्ञात होता है कि ई० पू० पहली शताब्दी में मित्रवश के राजाओ ने अहिच्छत्र मे राज किया। कुछ विद्वानो ने इस वश को शुग राजाओ का वश सिद्ध करने का प्रयास किया है, पर वास्तव मे ये प्रातीय शासक थे, जैसा इस वश की लबी मुद्राकित नामो के आधार पर बनी तालिका से प्रतीत होता है। इसके बाद का इतिहास नही मिलता। गुप्तसाम्राज्य मे नि सदेह यह एक भुक्ति था। चीनी यात्री युवान च्वाग ने यहाँ पर १० बौद्ध विहार और ९ मदिर देखे थे। ११वी शताब्दी मे इसका राजनीतिक महत्व जाता रहा।

बरेली जिले के आँवला स्टेशन से कोई सात मील उत्तर प्राचीन अहिच्छत्र के अवशेष आज भी वर्तमान हैं। इनमे कोई तीन मील के त्रिकोणाकार घेरे मे ईंटो की किलेबदी के भीतर बहुत से ऊँचे ऊँचे टीले हैं। सबसे ऊँचा टीला ७५ फुट का है। कनिघम ने सबसे पहले वहाँ कुछ खुदाई कराई और बाद मे फ्यूरर ने उसका अनुसरण किया। १९४०-४४ मे यहाँ चुने हुए स्थानो की खुदाई हुई जिसमे भूरी मिट्टी के ठीकरे मिले। महाभारतकाल का तो कोई प्रमाण यहाँ नही मिला, पर शुग, कुषाण और गुप्तकाल की अनेक मुद्राएँ, पत्थर और मिट्टी की मूर्तियाँ मिली। बाद के काल के रहने के स्थान, सडके और मदिरो के अवशेष भी मिले हैं।

स०ग्रं०—कनिघम आर्केयोलाजिकल सर्वे ऑव इडिया, भाग १, बी० सी० लाहा पाचाल और उनकी राजधानी अहिच्छत्र (अग्रेजी मे), ए० घोष अहिच्छत्र के ठीकरे (अग्रेजी मे), के० सी० पाणिग्राही ऐशिएट इडिया, भाग १। [व्र० पु०]

अहिल्याबाई होल्कर

(१७२५–९५), इदौर के शासक मल्हरराव होल्कर के पुत्र खडेराव की पत्नी। उसने राजनीतिज्ञता, शासकीय दक्षता तथा धर्मपरायणता का यथेष्ट परिचय दिया, यद्यपि स्वय वह धर्मपरायणता को ही अपना मुख्य कर्तव्य तथा प्रेरक शक्ति मानती रही। तत्सामयिक स्वार्थ, अनाचार, पारस्परिक विग्रहो और युद्धो के विषाक्त वातावरण मे उसका प्रत्येक जाग्रत क्षण राजकीय समस्याओ के समाधान या धर्मकार्य मे ही व्यतीत होता था।

आरभ से ही मल्हरराव ने अपनी पुत्रवधू को शासकीय उत्तरदायित्व से अवगत कराना शुरू कर दिया था। युद्धक्षेत्र मे खडेराव की मृत्यु होने पर वृद्ध, शिथिलकाय मल्हरराव ने राज्यभार बहुत कुछ उसके कधा पर छोड दिया था। मल्हरराव की मृत्यु के उपरात अहिल्याबाई का क्रूरप्रकृति पुत्र मालीराव केवल नौ मास ही शासन कर सका। तब से राज्यसचालन का सपूर्ण उत्तरदायित्व अहिल्याबाई ने ही सँभाला। थोडे ही समय मे उसने राज्य मे शाति और व्यवस्था स्थापित कर दी। पडोसी राज्यो से मत्रीपूर्ण सबध स्थापित किए। युद्धक्षेत्र मे भी उसने तुकोजी के नायकत्व मे मदसौर मे राजपूतो के विरुद्ध सफलता प्राप्त की। शासनप्रबध में उसने विशेष यश अर्जित किया। बडे राज्य की रानी न होकर भी जितनी स्नेहसिक्त कीर्ति उसे प्राप्त हुई, उतनी ब्रिटिश भारत के इतिहास मे किसी राजवश के राजनीतिज्ञ को न मिली। यह कीर्ति उसके राजनीतिक कार्यों पर नही, वरन् उसकी चारित्रिक धवलता तथा दानशीलता पर आधारित थी। उसकी दानशीलता उसके राज्य की परिधि तक ही सीमित न थी, बल्कि समस्त देश के सुदूर तीर्थस्थानो—गगोत्री से विंध्याचल सरीखे दुरूह स्थानो तक—व्याप्त थी। यह दानशीलता केवल धार्मिक भावनाओ से प्रेरित न होकर, निर्धनो, असहायो तथा थके माँदे पथिको को सहायता देने की आतरिक मानवीय भावनाओ से सचारित थी। यही कारण है कि उसे अपनी जनता से तो आत्मज का सा स्नेह मिला ही, पडोसी राज्यो ने भी उसके प्रति समान और आदर प्रदर्शित किया और भविष्य मे भारतीय जनस्मृति मे आदर्श नारी के रूप मे उसकी गुणगाथा गाई गई। व्यक्तिगत रूप से उसके जीवन की सबसे प्रशसनीय बात यह थी कि दारुण कौटुबिक दु ख सहते हुए भी (उसने अपने पति, पुत्र, जामात और नाती की मृत्यु अपने सामने देखी तथा अपनी पुत्री मुक्तिबाई को सती होते देखा) उसने अपना मानसिक सतुलन विकृत न होने दिया और न राजनीतिक सकट ही उसे कभी विचलित कर सके। [रा० ना०]

अहुरमज़्द प्राचीन ईरान के पैगंबर ज़रथुस्त्र की ईश्वर (अहुर=स्वामी, मज़्द=चरम ज्ञान) को प्रदत्त संज्ञा। सर्वद्रष्टा, सर्वशक्तिमान्, सृष्टि के एक कर्ता, पालक एवं सर्वोपरि तथा अद्वितीय जिसे वंचना छू नहीं सकती और जो निष्कलंक है। पैगंबर की 'गाथाओं' अथवा स्तोत्रों में ईश्वर की प्राचीनतम, महत्तम एवं अत्यंत पवित्र भावना का समावेश मिलता है और उसमें प्राकृतिक शक्ति (ऐंथ्रापॉर्मफिक) पूजा का सर्वथा अभाव है जो प्राचीन आर्य और सामी देवताओं की विशेषता थी। धार्मिक नियमों में जिनका पालन करना प्रत्येक ज़रथुस्त्र मतावलंबी का कर्तव्य माना जाता है; उसे इस प्रकार कहना पड़ता है—"मैं अहुरमज़्द के दर्शन में आस्था रखता हूँ... मैं असत् देवताओं की प्रभुता तथा उनमें विश्वास रखनेवालों की अवहेलना करता हूँ।"

इस प्रकार प्रत्येक नवमतानुयायी प्रकाश का सैनिक होता है जिसका पुनीत कर्तव्य अंधकार और वासना की शक्तियों से धर्मसंस्थापन के लिये लड़ना है।

"ऐ मज़्द ! जब मैंने तुम्हारा प्रथम साक्षात् पाया", इस प्रकार पैगंबर ने एक सुप्रसिद्ध पद में कहा है, "मैंने तुम्हें केवल विश्व के आदि कर्ता के रूप में अभिव्यक्त पाया और तुमको ही विवेक का स्रष्टा (श्रेष्ठ, मिन्) एवं सद्धर्म का वास्तविक सर्जक तथा मानव जाति के समस्त कर्मों का नियामक समझा।"

अहुरमज़्द का साक्षात् केवल ध्यान का विषय है। पैगंबर ने इसीलिये केवल ऐसी उपमाओं और रूपकों का आश्रय लेकर ईश्वर के विषय में समझाने का प्रयास किया है जिनके द्वारा अनंत की कल्पना साधारण मनुष्य की समझ में आ पाए। वह ईश्वर से स्वयं वाणी में प्रकट होकर उपदेश करने के लिये आराधन करता है और इस बात का निर्देश करता है कि अपने चक्षुओं से सभी व्यक्त एवं अव्यक्त वस्तुओं को देखता है। इस प्रकार की अभिव्यंजनाएँ प्रतीकात्मक ही कही जायँगी।

[रु० म०]

अहोम ताई जाति की शाखा, जिसने आसाम में १३वीं सदी में बसकर उसे अपना नाम दिया। शीघ्र उसने ब्रह्मपुत्र के निचले काँठे पर भी कुछ काल के लिये अधिकार कर लिया। उस जाति के शासन में राजकर वैयक्तिक शारीरिक सेवा के रूप में लिया जाता था। अहोम पहले जीवजंतुओं की पूजा किया करते थे, पीछे हिंदू धर्म के प्रभाव से उन्होंने हिंदू देवताओं को अपनी आस्था दी। अहोमों का समाज जनों (खेल) में विभक्त है। उनकी भाषा असमी (दे० असमिया) है और लिपि देवनागरी से विकसित। प्राचीन अहोमी या असमी भाषा में ताड़पत्रों पर लिखी अनेक हस्तलिपियाँ आज उपलब्ध हैं।

[भ० श० उ०]

अह्रिमन् ज़रथुस्त्र धर्म में आगे चलकर वासना की प्रतीक अह्रिमन् संज्ञा हुई। गाथा साहित्य के अवेस्ता ग्रंथ में इस संज्ञा का मौलिक रूप 'अंग्र मैन्यु' (वैदिक मन्यु) एवं पहलवी में 'अह्रिमन्' है। जबसे धर्म के संसार में इस महा भयंकर राक्षस का आगमन हुआ, विनाश और प्रलय की सृष्टि हुई। इसमें तथा 'स्पेंत मैन्यु' में, जो कल्याणकारी शक्ति है, संघर्ष का बीज भी बो दिया गया। पैगंबर का अपने अनुयायियों के लिये अनुशासन इसी वासना की शक्ति से अनवरत लड़ते रहना है जिसका अंतिम परिणाम कल्याणकारी शक्ति की जीत एवं अह्रिमन् का पलायन एवं पाताल लोक में शरण लेना है।

[रु० म०]

आंगिलवर्त (मृत्यु ८१४) फ़्रैंक लातीनी कवि। शलमान का मंत्री। शार्लमान् की पुत्री बर्था का प्रेमी जिससे उसके दो बच्चे हुए। ७६० में वह सैं रिकुए का मठाध्यक्ष था। ८०० में वह शार्लमान् के साथ रोम गया और ८१४ में उसकी वसीयत का वह गवाह भी रहा। उसकी कविताओं में संसार के व्यवहारकुशल मनुष्यों की सुसंस्कृत रुचि परिलक्षित होती है। उसे राजकीय उच्च सामंतवर्ग के जीवन का पूरा ज्ञान था। सम्राट् की साहित्यगोष्ठी में वह 'होमर' कहलाता था।

[स० च०]

आंगेलस सिलोसेयस (१६२४–१६७७), जर्मन कवि। नाम जोहान शेफलर, पर उपनाम आंगेलस सिलोसेयस से विख्यात हुआ। पहले वटमबर्ग के ड्यूक का राजचिकित्सक था; १६५२ से धर्म की ओर अधिक झुका। १६६१ में बेसलौ के बिशप का सहकारी बन गया। आंगेलस ने बहुत से भजन लिखे जो आज भी जर्मन प्रोटेस्टेंट भजनावली में संकलित हैं। उसकी कविता अपनी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के लिये प्रसिद्ध है।

[स० च०]

आंग्ल-आयरी साहित्य अंग्रेजों द्वारा आयरलैंड विजय करने का कार्य हेनरी द्वितीय द्वारा १२वीं शताब्दी (११७१) में आरंभ हुआ और हेनरी अष्टम द्वारा १६वीं शताब्दी (१५४१) में पूर्ण हुआ। चार सौ वर्षों के संघर्ष के पश्चात् वह २०वीं शताब्दी (१९२२) में स्वतंत्र हुआ। इस दीर्घकाल में अंग्रेजों का प्रयत्न रहा कि आयरलैंड को पूरी तरह इंग्लैंड के रंग में रँग दें, उसकी राष्ट्रभाषा गैलिक को दबाकर उसे अंग्रेजीभाषी बनाएँ। इस कार्य में वे बहुत अंशों में सफल भी हुए। आंग्ल-आयरी साहित्य से हमारा तात्पर्य उस साहित्य से है जो अंग्रेजीभाषी आयरवासियों द्वारा रचा गया है और जिसमें आयर की निजी सभ्यता, संस्कृति और प्रकृति की विशेष छाप है। गैलिक अपने अस्तित्व के लिये १७वीं शताब्दी तक संघर्ष करती रही और स्वतंत्र होने के बाद आयर ने उसे अपनी राष्ट्रभाषा माना। फिर भी लगभग चार सौ वर्षों तक आयरवासियों ने जिस विदेशी माध्यम से अपने को व्यक्त किया है वह पैतृक दाय के रूप में उनकी अपनी राष्ट्रीय संपत्ति है। इसमें से बहुत कुछ इस कोटि का है कि वह अंग्रेजी साहित्य का अविभाज्य अंग बन गया है और उसने अंग्रेजी साहित्य को प्रभावित भी किया है, पर बहुत कम ऐसा है जिसमें आयर के हृदय की अपनी खास धड़कन नहीं सुनाई देती। इस साहित्य के लेखकों में हमें तीन प्रकार के लोग मिलते हैं: एक वे जो इंग्लैंड से जाकर आयर में बस गए पर वे अपने संस्कार से पूरे अंग्रेज बने रहे, दूसरे वे जो आयर से आकर इंग्लैंड में बस गए और जिन्होंने अपने राष्ट्रीय संस्कारों को भूलकर अंग्रेजी संस्कारों को अपना लिया, तीसरे वे जो मूलतः चाहे अंग्रेज हों चाहे आयरी, पर जिन्होंने आयर की आत्मा से अपने को एकात्म करके साहित्यरचना की। मुख्यतः इस तीसरी श्रेणी के लोग ही आंग्ल-आयरी साहित्य को वह विशिष्टता प्रदान करते हैं जिससे भाषा की एकता के बावजूद अंग्रेजी साहित्य में उसको अलग स्थान दिया जाता है। यह विशिष्टता उसकी संगीतमयता, भावाकुलता, प्रतीकात्मकता, काल्पनिकता, अतिमानव और अतिप्रकृति के प्रति आस्था और कभी कभी बलात् इन सबसे विमुख एक ऐसी बौद्धिकता और तार्किकता में है जो उद्धत और क्रांतिकारिणी प्रतीत होती है। यही है जो एक ही युग में विलियम बटलर यीट्स को भी जन्म देती है और जार्ज बरनार्ड शा को भी।

आंग्ल-आयरी साहित्य का आरंभ संभवतः लियोनेल पावर के संगीतविषयक लेख से होता है जो १३९५ में लिखा गया था; पर साहित्यिक महत्व का प्रथम लेख शायद रिचर्ड स्टैनीहर्स्ट (१५४७–१६१८) का माना जायगा जो आयर के इतिहास के संबंध में हालिनशेड के क्रानिकिल (१५७८) में संमिलित किया गया था।

१७वीं शताब्दी के कवियों में डेनहम, रासकामन, टेट; नाट्यकारों में ओरेनी और इतिहासकारों में सर जान टेंपिल के नाम लिए जायँगे।

१८वीं शताब्दी इंग्लैंड में गद्य के चरम विकास के लिये प्रसिद्ध है। वाग्मिता, नाटक, उपन्यास, दर्शन, निबंध सबमें अद्भुत उन्नति हुई। इसमें आयरियों का योगदान अंग्रेजों से किसी भी दशा में कम नहीं माना जायगा।

पार्लियामेंट में बोलनेवालों में एडमंड बर्क (१७२९–९७) का नाम सर्वप्रथम लिया जायगा। 'इंपीचमेंट आव वारेन हेस्टिंग्ज' की प्रत्याशा किसी अंग्रेज से नहीं की जा सकती थी; उसमें अंग्रेजों के आत्मनियंत्रण का भी अभाव है। पार्लियामेंट के अन्य वक्ताओं में फ़िलपाट क्यरन (१७५०-१८१७) और हेनरी ग्राटन (१७४६–१८२०) के नाम भी संमानपूर्वक लिए जायँगे, यद्यपि उनके विषय प्रायः आयर से संबद्ध और सीमित होते थे।

१८वीं शताब्दी उपन्यासों के उद्भव का काल है। सेंट्सबरी ने जिन चार लेखकों को उपन्यास के रथ का चार पहिया कहा है, उनमें एक

स्टर्न (१७१३–६८) हैं। ये आयरमूलक थे, और यद्यपि ये आजीवन इंग्लैंड में ही रहे, उनके उपन्यास ने इस प्रकार के चरित्र को जन्म दिया जो भावना के उद्वेग में पूरी तरह बहता है। दूसरे उपन्यासकार गोल्डस्मिथ (१७२८–७४) ने उपन्यास में सामान्य घरेलू जीवन की स्थापना की।

जोनाथान स्विफ्ट (१६६७–१७४५) ने सरल शैली में व्यंग्य लिखने में प्रसिद्धि प्राप्त की। उनका ग्रंथ 'गलिवर्स ट्रैवेल' मानवता पर सबसे बड़ा व्यंग है। उसे बालविनोद बनाकर लेखक ने मानवता पर व्यंग्य किया है। जार्ज बर्कले (१६८५–१७५३) ने यूरोपीय दर्शनशास्त्र में विचार के सूक्ष्म आधारों का सूत्रपात किया।

नाटयकारों में विलियम कांग्रीव (१६७०–१७२६), शेरिडन (१८५१-१८१६) और जार्ज फ़रक़ुहर (१६७८–१७०७) के नाम उल्लेखनीय हैं। इस शताब्दी में कोई प्रसिद्ध कवि नहीं हुआ।

आयर के इतिहास में १६वीं सदी राष्ट्रीयता, उदार मनोवृत्ति, क्रांति की विचारधारा, रूमानी उद्‌भावना और पुरातन के प्रति अनुराग के लिये प्रसिद्ध है। काव्य के क्षेत्र में, शारलट ब्रुक (१७४०–९३) ने गैलिक कविताओं के अनुवाद अंग्रेजी में किए थे; जे० जे० कोलनन (१७९५–१८२९) ने गैलिक कविताओं के आधार पर अंग्रजी में कविताएँ लिखीं। मौलिक कवियों में जेम्स क्लैरेंस मंगन (१८०३–४९), सैमुएल फ़रगुसन (१८१०–८६), आब्रे-डि-वियर (१८१४–१६०२) और विलियम एलिंगम (१८२४–८६) के नाम प्रसिद्ध हैं। सबसे अधिक प्रसिद्ध थॉमस मूर (१७७६–१८५२) हुए। उन्होंने आयरी लय में बहुत सी कविताएँ लिखीं। अपने समय में वे रूमानी कवियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध थे।

१९वीं शताब्दी में कई पत्रपत्रिकाएँ निकलीं जिनसे आयरलैंड के सांस्कृतिक आंदोलन को बड़ा बल मिला। इसमें 'यंग आयरलैंड' और 'दि नेशन' प्रमुख रहे। डबलिन युनिवर्सिटी मैगज़ीन में इस आंदोलन की कुछ स्थायी साहित्यिक सामग्री संगृहीत है।

इस शताब्दी के उपन्यासकारों में निम्नलिखित नाम प्रसिद्ध हैं: चार्ल्स मेट्यूरिन (१७८२–१८२४) जिनके 'मेलमाथ दि वांडरर' को यूरोपीय ख्याति मिली; मेरिया एजवर्थ (१७६७–१८४९) जिन्होंने समकालीन आयरी जीवन का चित्रण सफलता के साथ किया; जेरल्ड ग्रिफ़िन (१८०३–४०) जिन्होंने ग्रामीण जीवन की ओर ध्यान दिया। लघुकथालेखकों में हैमिल्टन मैक्सवेल (१७९२–१८५०) का नाम सर्वोपरि है। चार्ल्स लीवर (१८०६–७२) ने हास्य और व्यंग्य लिखने में प्रसिद्धि प्राप्त की। आयरी व्यंग्य अपने ही ऊपर आकर समाप्त होता है। लीवर पर अपनी ही जाति का मजाक उड़ाने का दोष लगाया गया। यही दोष आगे चलकर जे० एम० सिंज पर भी लगा।

इस शताब्दी के आलोचकों में एडवर्ड डाउडन (१८४३–१९१३) का नाम प्रसिद्ध है। शेक्सपियर पर लिखी उनकी पुस्तक आज भी मान्य है।

नाटक के क्षेत्र में इस शताब्दी के अंत में आस्कर वाइल्ड (१८५४–१९००) प्रसिद्ध हुए। वे आयरी थे, परंतु उन्होंने आयरी प्रभावों से मुक्त रहने का प्रयत्न किया था। उनमें जो कुछ आयरी प्रभाव है, उनके अवचेतन से ही आया जान पड़ता है।

१९वीं सदी के अंत में आयर में जो साहित्यिक पुनर्जागरण हुआ उसके केंद्र डब्ल्यू० बी० यीट्स (१८६५–१९३९) माने जाते हैं। कविता, नाटक, निबंध सभी क्षत्रों में उनकी ख्याति समान है। उन्होंने डबलिन में एबी थियेटर की स्थापना भी की। इससे प्रोत्साहित होकर कई अच्छे नाटककार आगे आए। इनमें लेडी ग्रिगोरी (१८५२–१९३२) और जे० एम० सिंज (१८७१–१९०९) अधिक प्रसिद्ध ह। दोनों ने आयर के ग्रामीण जीवन की ओर देखा। लेडी ग्रिगोरी ने भावुकता से, सिंज ने व्यंग्य से। डब्ल्यू० बी० यीट्स ने कई प्रकार के नाटक लिखे। जापान के 'नो' नाटकों से प्रभावित होकर उन्होंने प्रतीकात्मक नाटक लिखने में विशिष्टता प्राप्त की। कविता के क्षेत्र में आयरी प्रभाव को न छोड़ते हुए भी अपने समय में वे अंग्रेजी के प्रतिनिधि कवि माने जाते रहे। उनके मित्र जार्ज रसेल, जो ए० ई० के नाम से कविताएँ लिखते थे, थियोसॉफिकल विचारों से प्रभावित थे।

जार्ज बरनार्ड शा (१८५६–१९५०) का रुख आयर के संबंध में आस्कर वाइल्ड जैसा ही था। पर जिस प्रकार का व्यंग्य उन्होंने समकालीन समाज के हर पक्ष पर किया है, वह कोई आयरी ही कर सकता था।

यीट्स के समकालीन लेखकों में जार्ज मूर (१८५२–१९३३) का भी नाम लिया जायगा। वे कुछ समय तक आयर के सांस्कृतिक आंदोलन से संबद्ध रहे, पर बाद को अलग हो गए।

आधुनिक काल में जिस लेखक ने सारे संसार का ध्यान डबलिन और आयरलैंड की ओर अपनी एक रचना से ही खींच लिया वे हैं जेम्स ज्वाएस (१८८२–१९४१)। उनकी 'युलिसीज़' ने मानव मस्तिष्क की ऐसी गहराइयों को छुआ कि वह सारे संसार के लिये कौतूहल का विषय बन गई। ज्वाएस ने भाषा की अभिनव अभिव्यंजनाओं की संभावनाओं का भी पता लगाया।

स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद आयर में साहित्यिक शिथिलता के चिह्न दिखाई देते हैं। कारण शायद नई प्रेरणा का अभाव है; और संभवतः यह भी कि आयर की मनीषा गैलिक के पुनरुद्धार और प्रचार की ओर लग गई है और अंग्रेजी के साथ उसका भावात्मक संबंध ढीला हो रहा है।

[ह० ब०]

आंग्ल-नॉरमन साहित्य

रोमन विजय के बहुत पहले आर्यों के कुछ प्रारंभिक कबीले इंग्लैंड के दक्षिण एवं दक्षिण-पश्चिमी भागों में बस चुके थे। इन कबीलों में पहले तो गॉल तथा ब्राइटन आए, फिर रोमन आए। तत्पश्चात् सैक्सन और डेन आए और अंत में नॉर्मन आए।

इतिहास से हमें लोगों के स्थानांतरण की कथा मालूम पड़ती है। इन स्थानांतरणों के अनेक कारण हैं, लेकिन फिर भी हम उन्हें ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं और विश्लेषण के बाद हम ऐसे तथ्य पाते हैं जिनकी व्याख्या नहीं की जा सकती। जो लोग शताब्दियों से एक स्थान पर सुख दुःख झेलते हुए रहते आए हैं वे अचानक विचित्र आकांक्षाओं से प्रेरित होकर बड़े बड़े पहाड़ों, तीव्रगामी नदियों और वीरान रेगिस्तानों को पार करने के लिये कटिबद्ध हो जाते हैं। इसके पीछे आर्थिक एवं भौगोलिक (ऋतु संबंधी) कारण हैं, किंतु कुछ और भी बातें हैं जो इनसे भिन्न हैं। चंगेज खाँ की भाँति एक बड़ा नेता उठ खड़ा होता है और लोगों में एक नया जोश का दौर आ जाता है। उनमें अस्थिरता हो जाती है। वे अपने पुराने घरों में बैठे बैठे कुपित और विचलित हो उठते हैं।

यही बात जर्मनिक कबीले के साथ घटी थी। वे योद्धा थे। वे लंबे तड़ंगे, चौड़ी हड्डियों तथा नीली आँखोंवाले क्रूर व्यक्ति थे। वे रोमन सैन्य दल के विरुद्ध लोहा लेते रहे तथा शताब्दियों के कठिन संग्राम के बाद, अंत में, रोमन प्रतिरक्षा के कवच को भेदते हुए समस्त पश्चिमी यूरोप में फैल गए।

ये भयंकर विजेता तरंगों की भाँति अपने सुनसान और उजाड़ घरों से बाहर की ओर पश्चिम के हरे भरे संसार में आ निकले। जिन्होंने उनका प्रतिरोध किया वे नष्ट हो गए और जिन्होंने उनके प्रभुत्व को स्वीकार किया वे या तो दास थे या गँवार। इसके तुरंत बाद अपनी लंबी काली नावों पर सवार होकर इंगलिश चैनल नामक क्षुब्ध जलरेखा को उन्होंने पार किया और श्येनाक्ष कप्तानों के नेतृत्व में उत्तरी सागर में भी आगे बढ़े। फिर, विशष नरसंहार के पश्चात् इंग्लैंड की उस जनता पर अधिकार जमाया जो रोमनों के आने के बाद यत्र तत्र बड़ी असहाय स्थिति में रह गई थी। वे दक्षिण के समृद्ध भागों में, वहाँ के मूल निवासियों को मार भगाकर, जा बसे।

भयानक और हिंस्र होते हुए भी वे व्यवहारतः अपने में एक दूसरे के प्रति काफी निष्ठावान् थे। स्त्रियों के प्रति संमान की भावना रखते थे। वस्तुतः सैक्सन घरों में स्त्रियों को बहुत सी सुविधाएँ प्राप्त थीं और इस स्थिति को बदलने में सदियाँ लग गईं।

सैक्सन भूस्वामियों का जीवन अन्यदेशीय वीरयुग के भूस्वामियों के जीवन के पर्याप्त समान था। सायंकाल जब कबीलों के सरदार भवनों में बैठकर मोटी रोटियाँ मांस के साथ खाते रहते थे, उसी समय चारण आते और प्राचीन वीरों यथा विडिसिथ और बियोउल्फ की गाथाएँ गाकर सुनाते थे। बियोउल्फ एक शक्तिशाली योद्धा था जो साहसिक अभियानों का अन्वेषी था। राजा राथगर का वह कृपापात्र बना, क्योंकि उन दिनों

उसकी रियासत ग्रेंडेन नामक दैत्य से आक्रांत थी। इसका कोई साहित्यिक सौष्ठव नही था, किंतु इसमें एक शक्ति और अभिव्यक्ति की क्षमता थी तथा आदिम मानवो के गुहाचित्रों की सी स्पष्टता थी। होमर युग की अपेक्षा इसमें अधिक प्रारंभिकता थी। वन्य हिंसक कल्पना होते हुए भी इसमें यत्र तत्र बौद्धिक (स्टोइक) पूर्णता थी। सैक्सन जाति का यह वास्तविक चित्र माना जा सकता है—उस जाति का जो स्वभाव से मनहूस और क्रूरता से चिह्नित थी, जो हँस भी नही सकती थी। वे सभी अपने देश की अंधकारमय ठंढी शीत ऋतुओं की याद दिलाते हैं। बियोउल्फ तथा बिडसिथ दोनों उस जाति की महान् गाथाएँ है जिनमें कालांतर में अनेक प्रक्षिप्त अंश जुड़ते गए और अंत मे ईसाकाल में लिखित रूप में आए। इसीलिये इसपर ईसाई भावनाओं का हल्का रंग चढ़ा हुआ है।

कितु प्रथम आंग्ल-सैक्सन लेखक है एक साधु, केडमन। उसकी कविताएँ बाइबिल से अनूदित हैं। लेकिन उसमें पर्याप्त स्वच्छंदता बरती गई है, क्योंकि केडमन स्वयं लातीनी भाषा से अनभिज्ञ था।

इस समय जो भाषा विकसित हुई थी और जिसे हम आंग्ल सैक्सन कहते हैं वह जर्मनिक भाषा थी जो वास्तव में जूट्स और फ्रीलैंडर्स कबीलों की भाषा से थोड़ी ही भिन्न थी। केल्टिक भाषा तथा लातीनी और गिरजाघरों की लातीनी के संपर्क में आने पर ही इसमें कुछ परिवर्तन हुआ और शीघ्र ही इसकी संश्लेषणात्मक विशेषताओं में विश्लेषणात्मक विशेषताओं को स्थान देना आरंभ हुआ। इसमें मल धातुएँ तो ज्यों की त्यों रह गई, कितु उपसर्गादि बदलने आरंभ हो गए।

आंग्ल-सैक्सन साहित्य कविताओं से समृद्ध था जिनमें से अधिकतर मौखिक होने के कारण नष्ट हो गए और कुछ काल के थपेड़ों में बह गए, किंतु बची खुची कविताएँ अपनी विशेषताओं का परिचय देती हैं। इसमें केवल भव्यता थी, छंद संबंधी उसके प्रयोग बलाघातयुक्त एवं श्लेषात्मक होते थे। इसमे यौगिक शब्दों का प्रयोग होता था। किंतु इसमें एक दुर्लभ स्पष्टता एवं सादगी वर्तमान थी, यद्यपि वह गीतिमयता एवं भव्यता से रहित होती थी।

आंग्ल-सैक्सनों का अपना कुछ गद्य साहित्य भी था। यह मुख्यतः तथ्यकथन के रूप में था और राजा अलफ्रेड महान् की कृतियाँ भी इसमें सम्मिलित थीं। सन् १०६६ में एक घटना घटी जिसने इंग्लैड के भाग्य को बदल दिया। विजता विलियम, जो नार्मनों का सरदार तथा मूलतः जर्मनिक कबीले का था, अपने बंधुओं से विलग हो गया, क्योंकि उन्होंने लातीनी संस्कृति अपना ली थी। अतः वह सामने आया और इंग्लैड को जीत लिया। इनकी भाषा नॉर्मन-फ्रेंच थी और लगभग १४वीं सदी के अंत तक फ्रांसीसी कुलीनों एवं राजदरबारों की भाषा बनी रही। १५वी सदी के बाद तक अधिकतर अंग्रेज, जो संयुक्त रूप से उस समय नॉर्मन और सैक्सन थे, फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी दोनों का उपयोग करते थे।

१३०० से १४०० ई० तक अंग्रेजी भाषा में अनेक त्वरित परिवर्तन हुए। असभ्यों एवं बदमाशों की भाषा से बदलकर यह पार्लियामेंट की भाषा बनी और अंत में एलिजाबेथ युग के पूर्व में हुए महान् कवि चॉसर की भी यही भाषा थी। चॉसर को निश्चित रूप से कुछ साहित्यिक रूपों को अंतिम आकार देने का श्रेय है, यद्यपि ये रूप किसी न किसी रूप में वर्तमान थे। चॉसर ने कोई नई भाषा नही गढ़ी, केवल लंदन की भाषा पर अपनी निजी छाप लगा दी।

चॉसर-पूर्व-पद्यों की तिथि निश्चित करना कठिन है। उनमें से कुछ तो पांडुलिपियों के रूप में वितरित किए गए थे और कुछ स्मृति एवं मौखिक पाठ के आधार पर चल रहे थे। इससे कोई इतना सोच सकता है कि ये पद्य अधिकतर १३वीं सदी में और मुख्यतः उस सदी के उत्तरार्ध में लिखे गए थे। कभी कभी हम उसके अप्रत्याशित सौंदर्य के एक गीत में आश्चर्यजनक ताजगी का अनुभव करते हैं। जैसे

Summer is a-comen in-londe sing cuckoo
(कोयल गाती है कि धरती पर ग्रीष्म आ रहा है)

कुछ तो आंग्ल-सैक्सन कल्पना के निबिड़ अंधकार से बिलकुल ही भिन्न हैं। यही कुछ ऐसी वस्तु है जो नॉर्मनों ने इंग्लैंड को दी—वह था जीवनोल्लास और थी निरीक्षण एवं मूल्यांकन की क्षमता। केल्टिक कल्पना तथा रहस्यवाद से सैक्सन रीतिबद्धता और घनत्व का मेल और फिर नॉर्मनों की जीवन के शिवतत्वों के प्रति प्रेमभावना का अनुलेप—यही कुछ ऐसी चीजें हैं जो इंगलैंड के साहित्य को इतना महान् बना देती हैं। यह सब कुछ बहुत निष्प्राण रूप में आया है, फिर भी इसमें अंग्रेजों के स्वभाव के वे प्रमुख गुण अभिव्यक्त हैं जो उनके साहित्य में प्रतिबिंबित होते हैं।

नॉर्मनों तथा सैक्सनों के पारस्परिक विलयन की प्रारंभिक अवस्था में दोनों के साहित्य कुछ एक दूसरे से पृथक् थे अथवा कहा जा सकता है कि बड़े भद्दे तौर पर मिले थे। किंतु विलयन के पूर्ण होने के तुरंत बाद ही काफी संख्या में लंबी कविताएँ लिखी गईं। पुरानी केल्टिक गाथाएँ, जो राजा आर्थर से संबंधित थीं, फ्रांसीसी भाषा में महान् आर्थर संबंधी स्वच्छंदतावादी साहित्य बन गईं। सर गवायन और 'हरित योद्धा' (ग्रीन नाइट) जैसी रोमानी अथवा 'मोती' जैसी सुंदर कोमल विषयवस्तुवाली एवं करुणापूर्ण कविताएँ पढ़कर कोई भी यह अनुभव करता है कि इन कविताओंके, विशेषतः आर्थर संबंधी रोमानी कथाओं के माध्यम से एक नए ढंग की राष्ट्रीयता अभिव्यक्त की जा रही है। राजा आर्थर एक राष्ट्रनायक का रूप धारण कर लेता है। केवल राजा आर्थर के धुँधले राष्ट्रनायकत्व में ही हम कोमलता एवं गहराई की भावना से ओतप्रोत नहीं होते बल्कि रिचर्ड रोल के गीतों में भी हम एक नई जिंदादिली ग्रहण कर सकते हैं। रिचर्ड रोल इंग्लैंड के मध्यकालीन रहस्यवादियों में सबसे बड़ा था। वह १३५० में चल बसा।

अधिकांश लेखक उत्तर के अथवा मरसिया के थे। किंतु अब हम लंदन के अभ्युदय को धन्यवाद दिए बिना न रहेंगे। लंदन की भाषा प्रमुख हो चली और यहाँ इन कवियों के नाम उल्लेखनीय समझे जायँगे : लैंग्लैंड, गोवर और चॉसर। ये सभी समसामयिक थे। यद्यपि लैंग्लैंड अधिक वयस्क था, किंतु वह गोवर और चॉसर से अधिकतर मिलता रहा होगा, क्योंकि लंदन उस समय अल्प विस्तृत और घनी आबादीवाला प्रदेश था।

कवि के रूप में लैंग्लैंड ने बहुत कुछ खोया। उसकी मौलिक प्रतिभा एवं महानता लुप्त हो चुकी थी, क्योंकि जान पड़ता है, उसकी पांडुलिपियाँ बहुत हाथों में पड़ीं, इससे कविताओं के मौलिक रूप नष्ट हो गए और अब कोई बहुत दक्ष संपादक ही उनको अंतिम शुद्ध रूप देने की आशा कर सकता है, क्योंकि ध्यानपूर्वक पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि अपनी रचनाओं में सर्वांगपूर्ण था और उन पुनरुक्तियों और व्यर्थ की कवित्वहीन पंक्तियों से सर्वथा रहित था जिन्हें बाद को लोगों ने जोड़ दिया था।

दूसरा दोष यह था कि उसने आंग्ल सैक्सन छंदों को, उसकी श्लेषात्मकता और बलाघात के साथ ग्रहण कर लिया था। उसने ऐसा बहुत कम अनुभव किया कि आंग्ल-सैक्सन भाषा की प्राचीन विशेषताएँ मृतप्राय हो रही थीं इसलिये भाषा की रूपसज्जा में आपाततः परिवर्तन आवश्यक था। और यदि उनका साहित्य आज उतना नहीं पढ़ा जाता जितना कि पढ़ा जाना चाहिए (क्योंकि रुढ़िवादी आवरण के साथ उसमें तीक्ष्ण व्यंग्य है) तो उसका कारण केवल उनके छंद हैं जो पाठकों को अपनी सामान्य पहुँच के बाहर प्रतीत होते हैं। उनकी श्लेषात्मकता में गति भरने और गौरव लाने की शक्ति नहीं है।

गोवर में हमें ऐसी काव्यात्मकता का दर्शन होता है जो थोड़ी गंभीर है। लातीनी, फ्रांसीसी और अंग्रेजी, तीनों में इसकी अच्छी गति थी। ध्यान देने योग्य मुख्य बात यह है कि वह अपनी ही मातृभाषा अंग्रेजी में, जो कि उस समय इन तीनों में सबसे अशक्त थी, विश्वस्त नहीं प्रतीत होता है। यद्यपि इसकी अंग्रेजी शैली चॉसर की भाँति प्रसाद एवं लालित्यपूर्ण नहीं है तो भी सरल है और यदि वह 'नैतिक' धारणाओं से थोड़ा बहुत ग्रस्त होता तो वैसी ही अच्छी रचनाएँ दे सकता था।

फिर भी चॉसर का एक अलग ही संसार था। वह शायद लैंग्लैंड से बहुत छोटा था, किंतु लगता है कि वह एक अलग ही दुनिया में रहता था। लैंग्लैंड एक उत्प्रेरित मध्यकालीन कवि था और चॉसर में आधुनिक साहित्य की पहली वास्तविक आवाज थी। सचमुच यह एक दीर्घ प्रशिक्षणकाल था जिसमें उसने फ्रांसीसी पद्य के परंपरागत स्वच्छंदतावाद का अनुसरण किया। फ्रांसीसी कवियों, यथा ज्याँ द म्युंग, गिलेम द लारिस (Jean de Mung, Gullame de Lorris) को अनूदित किया। बोकाशियो,

पेत्रार्क और दाते जैसे महान् इतालीय साहित्यिको के पथ पर चला। किंतु इन औपचारिक रचनाओ में भी कुछ ऐसी बाते थी जो कवि की भावी महानता प्रकट करती थी। केवल इतना ही नही था कि वह फ्रासीसी पद्य के नमूने पर आठ मात्राओवाले पद्य सरलतापूर्वक गढ़ लेता था बल्कि यत्र तत्र किसी प्रकार का निरीक्षण अथवा बिंब यह भी बताते थे कि आगे कौन सी चीज विकसित होनेवाली है। लेकिन कैंटरबरी टेल्स की भाँति मूल्यवान् सामग्री इनमे अप्राप्य थी। यह आधुनिक काल की सर्वप्रथम प्रामाणिक चीज थी। उसका एक अश ही कवि की प्रतिभा का द्योतक है। कैंटरबरी की तीर्थयात्रा के लिये यात्रियो की एक दल में इकट्ठे होने जैसी एक सामान्य घटना बहुत साधारण भी प्रतीत होती है, जो मध्यकालीन अग्रेज तीर्थयात्रियो के लिये स्वाभाविक भी थी, किंतु ऐसे विषय का यह एक सुंदर चयन तथा उत्कृष्ट कला का उदाहरण है। केवल एक ही झोके में चॉसर अपने समसामयिको से आगे निकल जाता है। जैसे दाते ने ईसाइयो के शुद्धीकरण एव स्वर्ग की कल्पना को अपने काव्य के घेरे मे रखकर उसे सर्वांगरूपेण पुष्ट बनाया और भव्यता उत्पन्न की उसी प्रकार चॉसर ने मध्यकालीन इँग्लैड के जीवन का एक महत्वपूर्ण अश लेकर और उसमे स्वाभाविकता तथा नाटकीयता का नियोजन करते हुए आधुनिक युगीन ढग से अपनी निराली शैली मे उद्घाटित किया।

इसमे चॉसर ने बडा भव्य ससार चित्रित किया है। इन तीर्थयात्रियो मे ऐसे स्त्री पुरुष है जो अपनी एक सच्ची प्रतिकृति (टाइप) रखते है और वे स्वय अपने आप भी वैसी ही दृढता के साथ सच्चे है। यह एक आदर्श मिश्रण है जिसमे ससमानित योद्धा, सुशीला प्रियोरेस (Prioress), चालाक चिकित्सक, बाथ की बहुविवाहिता वाचाल पत्नी, बहस करनेवाला 'रसोइया', नीच अफसर (रीव), बदमाश क्षमादाता, घृणित 'सम्मन तामील करनेवाला', मस्त फ्रायर' अथवा आक्सेन फोर्ड का क्लार्क, सच्चे विश्वास से दीप्त निर्मल उद्वेग, सभी घुले मिले है। वैविध्य का कितना सुंदर सामजस्य है जो समस्त मध्यकालीन इँग्लैड के समाज को ऐसी स्पष्टता के साथ चित्रित करता है जो सदैव अमर रहेगा।

चॉसर की सफलता के कौन से कारण है? उत्तर मे कहा जायगा, उसकी महान् प्रतिभा। किंतु महान् प्रतिभा एक बडा गोलमोल शब्द है। इसमे असख्य गुणो का समावेश है जो हर नई पीढी के महान् प्रतिभा सबधी गुणो की कल्पना से एकदम उसी रूप मे मेल नही खाते। महान् प्रतिभा अपनी किरणे भविष्य के गर्भ मे फेकती है और उसका सदेश इस भाँति सप्रेषित होता है कि लोग उसे पूरे तौर से समझ नही पाते। इसलिये चॉसर ने अपने समसामयिको के विपरीत जनता की भाषा अपनाई, किंतु नए छद का चुनाव जनरुचि से विपरीत था। उसने सर्वप्रथम फ्रासीसी कवियो का अनुकरण किया और आठ मात्रावाली द्विपदियो को सरलतापूर्वक लिखा। किंतु उसे मालूम था कि यह अग्रेजी के अनुकूल नही पडता, क्योकि इस प्रकार की लघु माप फ्रासीसी भाषा की प्रतिभाओ के ही अनुकूल है, क्योकि उसकी ध्वनि मे सबद्धता तथा एक स्वर के लोप का आधिक्य है। किंतु आग्ल-सैक्सन पृष्ठभूमि के नाते अग्रेजी मे गति लाने के लिये कुछ अधिक स्थान की आवश्यकता रहती है। चॉसर ने पेंटामीटर नामक छद दिया जो अग्रेजी पद्य की बडी उपलब्धि है।

नॉर्मनो और सैक्सनो का पारस्परिक विलयन सर्वप्रथम चॉसर मे ही परिलक्षित होता है। वस्तुत यही अग्रेजी का आदिकवि है जिसने उस काल की नई भाषा अग्रेजी मे अपने गीत गाए। [र० ना० दे०]

आंजेलिको फ्रा

आंजेलिको फ्रा (१३८७–१४५५) मध्यकाल और पुनर्जागरण-काल के सधियुग का विख्यात इतालीय चित्रकार। उसका बप्तिस्मे का नाम गुइदो और धर्म का नाम जोवानी था। तुस्कानी के विचियो नगर में उसका जन्म हुआ था और युवावस्था मे ही वह पादडी हो गया था। पोप के आवाहन पर वह रोम गया। वहाँ उसे आर्चबिशप का पद प्रदान किया गया, पर उसने उसे अस्वीकार कर दिया। उसकी धार्मिक चेतना मे इतना ऊँचा पद धर्मेतर अलकरण मात्र था। आजेलिको निर्धनो और आर्तों का परम बधु था और उनके दुख से द्रवित हो वह रो दिया करता था।

आजेलिको का यह स्वभाव उसके चित्रणो के इतिहास मे भी परिलक्षित होता है। जब कभी वह ईसा के प्राणदड, शूली का चित्रण करता, रो पडता। इस प्रकार के उसके चित्रो की सख्या अनत है। उसने रोम, फ्लोरेंस आदि अनेक नगरो के गिरजाघरो मे भित्तिचित्रण किए। इनसे भिन्न उसके अनेक चित्र फ्लोरेस की उफ्फीजी गैलरी, पेरिस के लूव्र आदि के सग्रहालयो मे सुरक्षित है। उसका बनाया एक सुदर चित्र लदन में भी है। प्रसिद्ध इतालीय कलावत चरितकार वसारी और सर चार्ल्स होम्स ने उसकी भूरि भूरि प्रशसा की है। उसका 'कुमारी का अभिषेक' नामक चित्र असाधारण माना जाता है। खाकानवीसी मे वह असामान्य था और अनेक कलासमीक्षको की राय मे वर्णतत्व का ऐसा सफल सक्रिय जानकार दूसरा नही हुआ। कहते है, आजेलिको ने एक बार खिचे खाके मे रग भरकर फिर उस पर कूँची नही चलाई, उसे दोबारा छुआ नही। वह रोम मे ही १४५५ मे मरा।

सं० ग्रं०—दी तुमियाती फ्रा आजेलिको फ्लोरेस १८९७, आर० एल० डगलस फ्रा ऐंजेलिको, लदन १९०१, जी० विलियम्सन फ्रा ऐंजेलिको, लदन, १९०१। [भ० श० उ०]

आंटिलिया

आंटिलिया आटिलिया अथवा सात नगरोवाला द्वीप अध महासागर का एक पौराणिक द्वीप है। प्राचीन परपरागत कथानुसार पूर्वकाल में सात पुर्तगाली नेताओ मे से प्रत्येक ने इस द्वीप मे एक नगर बसाया तथा उसपर शासन किया था। [न० कि० प्र० सि०]

आंटीब्स

आंटीब्स आटीब्स दक्षिण फ्रास मे भूमध्यसागर के तट पर स्थित एक स्वास्थ्यकर नगर है, जहाँ शरत्काल मे बाहर से अनेक लोग आते है। जनसख्या १३,७७८ (सन् १९४६ ई०)। इसकी स्थापना यूनानियो द्वारा लगभग ३४० ई० पू० में हुई थी। इत्र एव चाकलेट के उद्योग के लिये विख्यात होने के अतिरिक्त यह फूल, सतरा, सूखे फल, जैतून (ऑलिव) तथा मछली का निर्यात करता है। शीतकालीन मिस्ट्रेल नामक उत्तरी-पश्चिमी वायु से सुरक्षित होने के कारण यह यूरोप के धनवानो का क्रीडास्थल है। यहाँ अनेक होटल, विनोदगृह, अद्भुत वाटिकाएँ तथा रम्य स्थान है। [न० कि० प्र० सि०]

आंडीजान

आंडीजान आडीजान सोवियत मध्यएशिया मे स्थित, उज़बेक सोवियत-समाजवादी-प्रजातत्र का एक विभाग है, जो फरगाना घाटी के पूर्व मे स्थित है। इसके अधिकाश मे सिचाई द्वारा रूई, रेशम तथा फलो की खेती होती है। द्वितीय विश्वयुद्ध मे यहाँ पर खनिज तेल की खानो का पता लगाया गया और तब से यह उज़बेकिस्तान का प्रमुख तेल एव गैस उत्पादक केंद्र बन गया। सन १९५० ई० मे इस विभाग की जनसख्या ६,००,००० थी।

आडीजान नामक एक नगर भी है जो आडीजान विभाग की राजधानी तथा प्रमुख नगर है। यहाँ के उद्योग धधो मे रूई की मिले, तेल की मिले, फल तथा तत्सबधी उद्योग और मशीन तथा ट्रैक्टर बनाने के कारखाने प्रमुख है। यह द्वितीय श्रेणी का रेलवे स्टेशन है और नवी शताब्दी से ही प्रसिद्ध नगर रहा है। पहले यह कोकद के खाँ लोगो के अधीन था, परतु १८७५ मे रूस मे मिला लिया गया। यहाँ पर भूचाल बहुत आते थे, जिनमे से अतिम १९०२ ई० मे आया था। सन् १९५० ई० मे यहाँ की जनसख्या ६,००० थी। [शि० म० सि०]

आंतरगुही

आंतरगुही जतु साम्राज्य की एक बडी निम्न कोटि की प्रसृष्टि (फाइलम, बडा समूह) है, जिसको लैटिन भाषा मे सिलेंटरेटा कहते है। इस प्रसृष्टि के सभी जीव जलप्राणी है। केवल प्रजीव (प्रोटोज़ोआ) तथा छिद्रिष्ठ (स्पज) ही ऐसे प्राणी है जो आतरगुही से भी अधिक सरल आकार के होते है। विकासक्रम मे ये प्रथम बहुकोशिकीय जतु है, जिनकी विभिन्न प्रकार की कोशिकाओ मे विभेदन तथा वास्तविक ऊतक-निर्माण दिखाई पडता है। इस प्रकार इनमे तत्रिकातत्र तथा पेशीतत्र का विकास हो गया है। परतु इनकी रचना मे न सिर का ही विभेदन होता है, न विखडन ही दिखाई पडता है। इनका शरीर खोखला होता है, जिसके भीतर एक बडी गुहा होती है। इसको आतरगुहा (सीलेंटेरॉन) कहते है। इसमें एक ही छेद होता है। इसको मुख कहते है, यद्यपि इसी छिद्र के द्वारा भोजन भी भीतर जाता है तथा मलादि का परित्याग भी होता है। शरीर की दीवार कोशिकाओ की दो परतो की बनी होती है—बाह्यस्तर (एक्टोडर्म) तथा अत स्तर (एडोडर्म)—और दोनो

के बीच बहुधा एक अकोशिकीय पदार्थ—मध्यश्लेष (मीसोग्लीया)—होता है। मुख के चारों ओर बहुधा कई लंबी स्पर्शिकाएँ होती हैं। इनका कंकाल, यदि हुआ तो, कैल्सियमयुक्त या सींग जैसे पदार्थ का होता है। जल में रहने तथा सरल संरचना के कारण इन में न तो परिवहनसंस्थान होता है, न उत्सजन या श्वसनसंस्थान। जननक्रिया अलैंगिक तथा लैंगिक दोनों ही विधियों से होती है। अलैंगिक जनन कोशिकाभाजन द्वारा होता है। लैंगिक जनन के लिये जननकोशिकाओं की उत्पत्ति बाह्यस्तर अथवा अंतःस्तर में स्थित जननांगों में होती है। इन जीवों में कई प्रकार के डिंभ (लार्वा) पाए जाते हैं और कई जातियों में पीढ़ियों का एकांतरण होता है। अधिकांश जातियाँ दो में से एक रूप में पाई जाती हैं—पालिप (पॉलिप) रूप में या मेडुसा रूप में, और जिनमें एकांतरण होता है उनमें एक पीढ़ी एक रूप की तथा दूसरी दूसरे रूप की होती है। कुछ जातियों में बहुरूपता का बहुत विकास देखा जाता है।

पालिप तथा मेडूसा—(१) पालिप रूप के आंतरगुही जलीयक (हाइड्रोज़ोआ) तथा पुष्पजीव (ऐंथोज़ोआ) वर्गों में पाए जाते हैं। पुष्पजीवों में उनके विकास की पराकाष्ठा दिखाई पड़ती है। सरल रूप का पालिप गिलास जैसा या बेलनाकार होता है। उसका मुख ऊपर की ओर तथा मुख की विपरीत दिशा पृथ्वी की ओर होती है। उपनिवेश (कॉलोनी) बनानेवाली जातियों में मुख की विपरीत दिशावाले भाग से पालिप उपनिवेश से जुड़ा रहता है। ऐसी जातियों में विभिन्न पालिपों की आंतरगुहाएँ एक दूसरे से शाखाओं की गुहाओं द्वारा संबंधित रहती हैं। ऐसी जातियों में अधिकांशतः सभी पालिप एक जैसे नहीं होते। उदाहरण के लिये कुछ मुखसहित होते हैं और भोजन ग्रहण करते हैं तो कुछ मुखरहित होते हैं और भोजन नहीं ग्रहण कर सकते। ये केवल जननक्रिया में सहायक होते हैं (नीचे देखिए बहुरूपता)। जलीयकों के पालिपों की आंतरगुहा सरल आकार की थैली जैसी होती है, किंतु पुष्पजीवों में कई खड़े परदे दीवार की भीतरी पर्त से निकलते हैं जो आंतरगुहा को अपूर्ण रूप से कई भागों में बाँट देते हैं। इनकी संख्या तथा व्यवस्था प्रत्येक जाति में निश्चित रहती है। समुद्रपुष्प तथा कई अन्य मूँगे की चट्टानों का निर्माण करनेवाले आंतरगुहियों में इन परदों तथा स्पर्शिकाओं की संख्या में विशेष संबंध होता है।
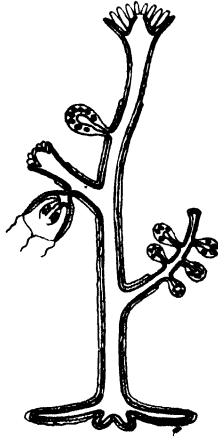
आंतरगुही, पालिप रूप

आंतरगुहियों में बीच में गुहा रहती है। अँतड़ी, फेफड़ा इत्यादि कोई अंग इनमें नहीं होते।

समुद्रपुष्प (सी ऐनिमोन) का नाम इसलिये पड़ा है कि वह कुछ कुछ फूल सा दिखाई पड़ता है। इसकी भी संरचना अन्य पालिपों की तरह होती है। खोखले बेलनाकार स्तंभ के ऊपर गोल टिकिया सी रहती है, जिसके बीच में मुँहवाला छेद होता है और स्पर्शिकाओं की एक या अधिक तह होती है। स्पर्शिकाएँ फूल की पँखुड़ियों सी जान पड़ती हैं। स्तंभ का निचला सिरा चिपटे पाँव की तरह होता है। इसी के सहारे समुद्रपुष्प विविध वस्तुओं में चिपकता है। परंतु वह स्थायी रूप से एक ही जगह नहीं चिपका रहता। समुद्रपुष्प चल सकता है, परंतु बहुत धीरे धीरे। बहुधा कई दिनों तक एक ही स्थानमें चिपका रह जाता है। समुद्र के तट के पास, छिछले पानी में, समुद्रपुष्प बहुत पाए जाते हैं। ये प्रायः सभी समुद्रों में पाए जाते हैं, परंतु उष्णदेशीय समुद्रों के समुद्रपुष्प बड़े होते हैं। ऐसे देशों में मूँगे की डूबी शैल मालाओं पर गज भर तक की टिकियावाले समुद्रपुष्प पाए जाते हैं। ये विविध रंगों के होते हैं और बहुधा इनपर सुंदर धारियाँ और ज्यामितीय चित्रकारी रहती है। ये मांसाहारी होते हैं और अपनी स्पर्शिकाओं से छोटे जीवों को पकड़कर खाते हैं।

(२) मेडूसा—उन आंतरगुहियों को जिन्हें लोग गिजगिजिया (अंग्रेजी में जेली फ़िश) कहते हैं, वैज्ञानिक भाषा में मेडूसा कहते हैं। पाश्चात्य परंपरा के अनुसार मेडूसा नाम की एक राक्षसी थी जिसे केश नहीं थे; केश के बदले में सर्प थे। इसी राक्षसी के नाम पर इन आंतरगुहियों का नाम मेडूसा पड़ा है। मेडूसा का शरीर छतरी के समान होता है और भीतर से, उस बिंदु पर जहाँ छतरी की डंडी लगनी चाहिए, मुख होता है; छतरी की कोर से स्पर्शिकाएँ निकली रहती हैं। छतरी के आकार का होने के कारण इन्हें हिंदी में छत्रिक कहा जाता है। इनका शरीर अत्यंत नरम होने के कारण इन्हें साधारण भाषा में गिजगिजिया कहते हैं।

समुद्रपुष्प (सी ऐनिमोन)

यह समुद्र की पेंदी पर चिपका रहता है। देखने में यह फूल सा लगता है, परंतु है यह प्राणी और अपनी स्पर्शिकाओं द्वारा छोटे जीवों को पकड़कर पचा डालता है।

गिजगिजिया बड़ी ही सुंदर होती हैं। इनका मनमोहक रूप देखकर मनुष्य आश्चर्यचकित रह जाता है। इनके शरीर की संरचना तंतुमय होती है, न बाहर हड्डी होती है और न भीतर। इनके भीतर बहुत सा जल रहता है। इसीलिये पानी के बाहर निकाले जाने पर वे चिचुक जाती हैं और उनकी सुंदरता जाती रहती है।

समुद्रतट पर खड़े होने से ये जंतु पानी में तैरते हुए कभी न कभी दिखाई पड़ ही जाते हैं। उनकी स्पर्शिकाएँ नीचे झूलती रहती हैं और ऊपर छतरी की तरह उनका शरीर फूला रहता है। जान पड़ता है कि ये लाचार हैं और पानी जिधर चाहे उधर उन्हें बहा ले जायगा, परंतु बात ऐसी नहीं होती। गिजगिजिया इच्छित दिशा में जा सकती है; हाँ, वह तेज नहीं तैर सकती। तैरने के लिये यह अपने छतरी जैसे अंगों को बार बार फुलाती चिपकाती है।

आंतरगुही, मेडूसा रूप

इन्हें छत्रिक और गिजगिजिया (जेली फ़िश) भी कहते हैं।

गिजगिजिया की कई जातियाँ होती हैं। कुछ में छतरी तीन फुट व्यास की होती है, परंतु अन्य जातियों में छतरियाँ छोटी होती हैं। गिजगिजियाँ विविध सुंदर रंगों की होती हैं, परंतु तैरनेवालों को उनसे बचा ही रहना चाहिए, क्योंकि उनकी बाहुओं में अनेक नलिकाएँ होती हैं, जो शत्रु के शरीर में डंक की तरह विष पहुँचाती हैं। बड़ी गिजगिजियों की स्पर्शिकाएँ कई गज लंबी होती हैं। एक की चपेट में आ जाने से मनुष्य को घंटों पीड़ा होती है। कभी कभी मृत्यु भी हो जाती है।

आंतरगुही की संरचना—ऊपर के संक्षिप्त वर्णन से पता चलेगा कि आंतरगुही की साधारण संरचना उच्च प्राणियों के भ्रूणवर्धन में एकभित्तिका (ब्लास्टुला) अवस्था के समान है (देखें **अपृष्ठवंशी भ्रूणतत्व**)। इस अवस्था में भ्रूण एक थैली के समान होता है, जिसके भीतर एक बड़ी गुहा होती है और इसमें बाहर से संपर्क के लिये एक ही छिद्र होता है। गुहा की दीवार कोशिकाओं के दो स्तरों की बनी होती है। वास्तव में ऐसा कोई आंतरगुही नहीं है जिसकी संरचना एकभित्तिका के समान सरल हो, किंतु आद्यजलीयक (प्रोटोहाइड्रा) नामक आंतरगुही और एकभित्तिका में केवल इतना ही अंतर है कि प्रथम की कोशिकाएँ कई प्रकार की होती हैं और दोनों स्तरों के बीच एक अकोशिकीय पदार्थ—मध्यश्लेष (मीज़ो-

ग्लीया)—होता है। अधिकांश आंतरगुही इससे कहीं अधिक जटिल होते हैं, किंतु सभी की इस सरल रूप से तुलना की जा सकती है। अधिकांश जातियों में मुख के चारों ओर खोखले या ठोस, अँगुली जैसे प्रवर्ध अथवा स्पर्शिकाएँ होती है। बहुधा उनमें त्रिज्यीय संमिति (रेडियल सिमेट्री) होती है, अर्थात यदि मुख को केंद्र मानकर आंतरगुही को किन्हीं दो भागों में विभक्त कर दिया जाय तो दोनों भाग समान होंगे। हाँ, पुष्पजीव (ऐंथोज़ोआ) नामक वर्ग में अवश्य ही प्राणी के ऐसे दो भाग एक विशेष रेखा पर ही हो सकते हैं, अर्थात् उनमें द्विपार्श्वीय संमिति होती है। अनेक आंतरगुहियों में मध्यश्लेष का विकास बहुत अधिक हो जाता है, जिससे ये जंतु दलदार हो जाते हैं, जैसा अनेक जातियों की जेली मछलियों में होता है। पालिप और मेडुसा की कोशिकाओं में पर्याप्त भेद होता है।

एक सुंदर छत्रिक

भ्रूणवर्धन तथा जीवन-इतिहास—आंतरगुहियों के विभिन्न वर्गों के भ्रूणवर्धन तथा जीवन-इतिहास में काफी अंतर है, किंतु लगभग सभी में किसी न किसी प्रकार का डिंभ (लारवा) अवश्य ही पाया जाता है। कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा। समुद्रपुष्प में अंडा जल में परित्यक्त किया जाता है और शरीर के बाहर ही उसका संसेचन होता है। बाद में संसेचित अंडा दो, चार, आठ या इससे अधिक कोशिकाओं में विभक्त होता है। कोशिकाएँ इस प्रकार व्यवस्थित होती हैं कि अंत में एक खोखला गोला बन जाता है। यह एकभित्तिका अवस्था है। इसमें बाहरी तल पर अनेक रोमिकाएँ निकल आती हैं। धीरे धीरे एकभित्तिका का एक सिरा धँसने लगता है जिससे गोले की भीतरी गुहा या एकभित्तिका का अंत हो जाता है और दो स्तरोंवाला स्यूतिभ्रूण (गैस्ट्रुला) बनता है। इसका मुख बाद में प्रौढ़ अवस्था के मुख में बदलता है तथा इसकी गुहा आंतरगुहा को जन्म देती है। रोमिकाओं के कारण इस अवस्था में ही भ्रूण बहुत कुछ तैर सकता है और अंत में समुद्र के तल पर रुककर क्रमशः प्रौढ़ अवस्था में परिवर्तित हो जाता है।

किसी प्रारूपिक जलीयक (हाइड्रोज़ोआ), जैसे सुकुमार प्रजाति (ओबिलिया) में, पालिप रूपवाली पीढ़ी उपनिवेश (कॉलोनी) बनाती है, जिसमें शाखाओं पर कुछ मुखयुक्त पालिप होते हैं, कुछ मुखरहित। मुखरहित पालिपों से कोशिकाभाजन के द्वारा कई अपरिपक्व स्वतंत्र छत्रिक (मेडुसा) जैसे जीव बनते हैं। ये परिपक्व होते हैं, तो इनमें प्रजननांग बनते हैं। नर तथा मादा छत्रिक अलग अलग होते हैं। नर से शुक्र-कोशिकाएँ निकलती हैं और वे मादा छत्रिक में जाकर मादा प्रजननांग को भेदकर अंडे का संसेचन करती हैं। प्रजननांग के भीतर ही पहले एकभित्तिका बनती है, फिर कुछ कोशिकाओं के स्तर त्यागकर उसके नीचे दूसरा स्तर बनाने से स्यूतिभ्रूण बनता है, किंतु इसमें मुख नहीं होता। बाहरी तल पर रोमिकाएँ बन जाती हैं और भ्रूण लंबा हो जाता है। अब भ्रूण प्रजननांग तोड़कर जल में स्वतंत्र रूप से तैरने के लिये निकल पड़ता है। यह एक डिंभ है, जिसको चिपिटक (प्लेनुला) कहते हैं। वास्तव में यह जलीयक का प्रारूपिक डिंभ है। कुछ समय के बाद चिपिटक किसी पत्थर या अन्य किसी ठोस वस्तु पर रुक जाता है। इसका एक सिरा पत्थर से चिपक जाता है। दूसरा लंबा हो जाता है। इस सिरे पर मख और चारों ओर स्पर्शिकाएँ बन जाती हैं। फिर उसके बेलनाकार शरीर से कोशिकाओं के द्वारा शाखाएँ बनती हैं।

छत्रिक वर्ग (स्काइफ़ोज़ोआ), जैसे स्वर्णछत्रिक (ऑरेलिया) का भ्रूणवर्धन इनसे भिन्न है। स्वर्णछत्रिक बड़े छत्रिक के रूप में होता है, जिसमें प्रजननांग होते हैं। सुकुमार (ओबीलिया) की भाँति इसमें भी चिपिटक डिंभ बनता है, जो धरातल पर रुकने के बाद चषमुख (स्काईफ़िस्टोया) नामक डिंभ में बदलता है।। चषमुख के पूर्ण निर्माण के बाद यह आड़े आड़े अनेक टुकड़ों में बँट जाता है। पूरी संरचना तश्तरियों के एक दूसरे पर रखे हुए बड़े ढेर जैसी लगती है। फिर प्रत्येक टुकड़ा या 'तश्तरी' अलग हो जाती है और उसका रूपांतरण प्रौढ़ में हो जाता है।

इनमें से सुकुमार का जीवन-इतिहास एक और तथ्य को भी स्पष्ट करता है। सुकुमार के जीवनचक्र में पालिप तथा मेडूसा दोनों रूपों के प्रौढ़ पाए जाते हैं। पालिप रूप बस्तियों में रहते हैं और इनकी संख्यावृद्धि अलैंगिक रीति से होती है। ये एक ही स्थान पर स्थिर रहते हैं। मेडूसा अकेले स्वतंत्र तैरनेवाले तथा लैंगिक प्रजनन करनेवाले होते हैं। जीवन चक्र में पालिप तथा मेडूसा पीढ़ियाँ एक के बाद एक आती हैं, अर्थात् इन दो पीढ़ियों के बीच एकांतरण होता है। अतः इसको पीढ़ियों का एकांतरण कहते हैं। स्वर्णछत्रिक में पालिप पीढ़ी अविकसित रह जाती है। वास्तव में चषमुखी को ही पालिप पीढ़ी का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। अतः स्वर्णछत्रिक में एकांतरण स्पष्ट नहीं होता। मेट्रीडियम नामक आंतरगुहियों में मेडूसा बिलकुल ही अविकसित होता है, अतः उसमें एकांतरण का आभास भी नहीं मिलता।

ऊतकी या विभिन्न प्रकार की कोशिकाएँ—कहा जा चुका है कि आंतरगुही का शरीर कोशिकाओं के दो ही स्तरों, बाह्यस्तर तथा अंतस्तर, का बना होता है, जिनके बीच विभिन्न मोटाई की एक अकोशिकीय परत होती है। बाह्यस्तर में प्रायः सात प्रकार की कोशिकाएँ होती हैं। इनमें सबसे बहुसंख्यक पेश्यभिच्छदीय (मस्कुलोएपीथिलियल) कोशिकाएँ होती हैं। ये बाहर की ओर चौड़ी और मध्यश्लेष की ओर कुछ नुकीली होती हैं। इसी ओर से इसमें कुछ प्रवर्ध निकलते हैं, जो मध्यश्लेष के ऊपर फैलकर पूरा स्तर बना लेते हैं।

भीतर की ओर सँकरी होने के कारण इन कोशिकाओं के बीच कुछ जगह छूट जाती है, जिसमें छोटी कोशिकाओं के समूह पाए जाते हैं। इनको अंतरालीय (इंटरस्टीशियल) कोशिकाएँ कहते हैं। वास्तव में इन छोटी कोशिकाओं के विभेदन से अन्य प्रकार की कोशिकाएँ बनती हैं।

पेश्यभिच्छदीय कोशिकाओं के बीच बीच कहीं कहीं कुछ विशेष प्रकार की कोशिकाएँ पाई जाती हैं जिनको दशघट (निडोब्लास्ट) कहते हैं। इनके भीतर एक बड़ी थैली जैसी संरचना होती है, जिसको सूच्यंग (निमैसिस्ट) कहते हैं। सूच्यंग कोशिका के बाहरी धरातल की ओर रहता है और उसी ओर उसमें एक खोखला दंशसूत्र होता है। सूत्र का निचला भाग कुछ मोटा होता है जिसे दंड कहते हैं। दंड पर कुछ नुकीले काँटे और छोटे छोटे शल्य होते हैं। निष्क्रिय अवस्था में सूत्र और दंड दोनों कोष के भीतर उलटकर कुंतलित अवस्था में पड़े रहते हैं। वास्तव में सूत्र कुछ उसी प्रकार उलटा रहता है जैसे झोले या मोजे को हम उलट सकते हैं। कोष के चारों ओर जीवद्रव्य होता है। उसमें एक केंद्रक होता है। जीवद्रव्य से कई सूक्ष्म संकोची धागे निकलकर कोष को चारों ओर से घेरे रहते हैं। जब सूत्र कोष के भीतर रहता है तब कोष का बाहरी मुख एक ढकने से बंद रहता है। धरातल पर कोष के मुख के निकट एक दंशोद्गामी रोम (नीडोसिल) होता है तथा कुछ तंत्रिका-कोशिकाओं के तंतुक कोशिका के जीवद्रव्य में फैले होते ह। किसी प्राणी द्वारा दंशोद्गामी रोम के उद्दीप्त हो जाने पर सूत्र एकाएक उलटकर कोष के बाहर विस्फोट की भाँति निकलता है और शिकार में धँस जाता है। इसमें से एक विषैला द्रव निकलने के कारण शिकार अवसन्न हो जाता है। इस क्रिया में बहुधा पूरा दंशकोष ही निकल पड़ता है। दंशकोषों के आकार, सूत्र की लंबाई, काँटों की संख्या आदि की विभिन्नता के कारण दंशकोषों के कई भेद किए जाते हैं।

पेश्यभिच्छदीय कोशिकाओं के बीच बीच कुछ संवेदी कोशिकाएँ होती हैं, जो पतली तथा ऊँची होती हैं और जिनके स्वतंत्र तल पर अनेक संवेदी रोम होते हैं।

जलीयक (हाइड्रोज़ोआ) वर्ग के बाह्य स्तर में जननकोशिकाएँ भी पाई जाती हैं, किंतु छत्रिक वर्ग (स्काइफोज़ोआ) तथा पुष्पजीव वर्ग (एंथोज़ोआ) में ये अंतस्तर में होती हैं। वृषणों में अनेक शुक्राणुओं का निर्माण होता है और अंडाशयों में केवल एक ही अंडकोशिका होती है।

अंतस्तर (एंडोडर्म) में प्रायः तीन ही प्रकार की कोशिकाएँ पाई जाती हैं। संख्या में सबसे अधिक पोषिकोशिकाएँ होती हैं। ये रंभाकार और ऊँची होती हैं तथा इनके स्वतंत्र तलो से कई कूटपाद निकलते हैं। इनके द्वारा ये उन भोजनकणों का अंतर्ग्रहण करती हैं जो समुद्र में पाए जाते हैं। मीठे (अलवण) पानी के आंतरगुहियों में बहुधा पोषिकोशिकाओं में शैवाल (एलजी) पाए जाते हैं। इनके साथ आंतरगुही का सहजीवन का सबंध होता है।

पोषिकोशिकाओं के बीच बीच में कुछ छोटी ग्रंथिकोशिकाएँ होती हैं, जिनमे पाचक रस उत्पन्न होकर आंतरगुहा में जाता है और कुछ सीमा तक भोजन के पाचन में सहायक होता है। संभवतः इसी रस के कारण जीवित शिकार अवसन्न भी होते हैं।

मध्यश्लेष (मीज़ोग्लिया) की रचना विभिन्न होती है। बहुधा यह पतले श्लेष्मक के स्तर जैसा होता है, कुछ में यह कड़ी उपास्थि जैसा होता है और कुछ में लगभग तरल। यह बिना कोशिका का ही होता है, किंतु बहुधा इसमे कुछ स्वतंत्र कोशिकाएँ पाई जाती हैं, जो बाह्य स्तर या अंतस्तर से इसमे आ जाती हैं। कुछ आंतरगुहियों में कोशिकाओं के अतिरिक्त अनेक तंतु भी पाए जाते हैं, जो कभी भी पेशीय प्रकृति के नहीं होते और जिनके कार्य के विषय मे निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है।

उपनिवेशों (कॉलोनीज) का निर्माण तथा बहुरूपता—जलीयक, स्वर्णछत्रिक, ओरेलिया, मेट्रीडियम तथा अन्य समुद्रफूल (ऐनिमोन) उन आंतरगुहियों में हैं जिनका प्रत्येक सदस्य स्वतंत्र, अर्थात् एक दूसरे से पृथक् होता है। किंतु सुकुमार (ओबीलिया) के पालिप मे कई जीव एक दूसरे से संबद्ध होकर रहते हैं। इनकी आंतरगुहाएँ एक दूसरे से संबंधित होती हैं; प्रतिक्रिया में भी कुछ सामंजस्य होता है और यही नही, प्राणियो के बीच थोडा श्रम का विभाजन भी होता है। मुखवाले पालिप भोजन करते हैं, छत्रिक निर्माण नही करते; मुखरहित पालिप भोजन नही ग्रहण करते, छत्रिक निर्माण करते ह। सुकुमार में छत्रिक भी इस जाति का एक अलग रूप है। इस प्रकार कम से कम तीन रूप या संरचनावाले सदस्य एक सुकुमार की ही जाति में हुए। किसी जाति में जब सदस्य एक से अधिक रूपों में पाए जाते हैं तो इसको बहुरूपता कहते हैं। छत्रिक तथा पालिप की बहुरूपता पीढ़ियो के एकांतरण से संबंधित है, पालिप तथा कुड्मसंजीव (ब्लास्टोस्टाइल) की बहुरूपता उपनिवेशनिर्माण के कारण है। कई जातियों में एक ही उपनिवेश में कई प्रकार के प्राणी होते हैं। जलीयक वर्ग के निनालधरगण (साइफोनोफोरा) में बहुरूपता का जो विकास देखने में आता है वह पूरे जंतुसंसार में कहीं और नहीं दिखाई पड़ता। उदाहरण के लिये समुद्रशालि (हैलिस्टेमा) वर्ग में कुछ सदस्य छोटे गुब्बारे के आकार के होते हैं, जो वायु से भरे होने के कारण हलके होते हैं और इन्हीं के कारण पूरी बस्ती उलटी तैरती है, कुछ पत्ती जैसे चपटे होते हैं, कुछ समुख होते हैं, कुछ में स्पर्शिकाएँ बहुत बड़ी होती हैं और बहुधा मुख नही होते, कुछ जननांगों से युक्त होते हैं, कुछ नहीं। इसी प्रकार अन्य निनालधरगण (साइफोनोफ़ोरा) में भी भिन्न-भिन्न रूप के सदस्य होते हैं। पुष्पजीवी (एंथोज़ोआ) या प्रवाल बनानेवाले आंतरगुहियों में बहुरूपता इस सीमा तक विकसित हो गई है कि कभी कभी यह संदेह होता है कि एक ही बस्ती के विभिन्न शारीरिक रचनावाल प्राणी वास्तव में अलग अलग सदस्य है या बहुविकसित अंग, जो मिलकर एक बहुविकसित सदस्य की रचना करते हैं। इस प्रकार निनालधरगण (साइफोनोफोरा) में बहु-अंग-सिद्धांत (अर्थात् ये विभिन्न रूप अंग है, सदस्य नही) तथा बहु-सदस्य-सिद्धांत (अर्थात् विभिन्न रूप सदस्य है, अंग नही) की समस्या का प्रारंभ हो गया है।

वर्गीकरण—आंतरगुही को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है: जलीयकवर्ग (हाइड्रोज़ोआ), छत्रिकवर्ग (स्काईफोज़ोआ) तथा पुष्पजीवी (ऐंथोज़ोआ या एक्टीनोज़ोआ)। जलीयकवर्ग के अंतर्गत जलीयक, सुकुमार तथा अनेक जीव आते हैं, जिनमें साधारणतः छत्रिक तथा पालिप दोनों रूप पाए जाते है। छत्रिकवर्ग में छत्रिक का विकास होता है, किंतु पालिप अविकसित रह जाता है। इसके अंतर्गत जेली मछलियाँ रखी जाती हैं। पुष्पजीवी में पालिप सुविकसित होता है, किंतु छत्रिक अनुपस्थित होता है। इस वर्ग में समुद्रफूल, प्रवाल निर्माण करनेवाले आंतरगुही आदि रखे जाते हैं। पहले इसमें एक चौथा वर्ग पक्षवाही (टीनोफ़ोरा) भी रखा जाता था, किंतु ये जंतु अन्य आंतरगुहियों से इतने भिन्न होते हैं कि इनको अब आंतरगुहियों से अलग एक पृथक् प्रसृष्टि में ही रखा जाता है। [उ० शं० श्री०]

आंतिगुआ द्वीप

पश्चिमी द्वीपपुंज का एक द्वीप है, जो बारबुडा तथा रिडोंडा सहित लीवार्ड द्वीपसमूह (ब्रिटिश) का एक प्रांत है। स्थिति १७° ६' उ० अ०; ६१° ४५' पू० दे०; क्षेत्रफल १०८७५ वर्ग मील; जनसंख्या ५४,२२८ (सन् १९५६ ई०)। इस द्वीप का पता सन् १६४३ ई० में कोलंबस ने पाया था। यहाँ की औसत वार्षिक वर्षा ४५'' है, परंतु अधिकांश समय तक प्रायः सूखा पड़ता है। सन् १९४० ई० में संयुक्त राज्य, अमरीका ने ब्रिटेन से यहाँ पर नौसेना एवं वायुसेना का एक अड्डा बनाने का अधिकार ९९ वर्ष के लिये प्राप्त किया। सेंट जॉन (जनसंख्या ११,०००) इसकी राजधानी है। इसका मुख्य निर्यात चीनी, छोआ, अननास तथा रुई है, जिसमें चीनी का अनुपात ९० प्रति शत है। [न० कि० प्र० सिं०]

आंतिगोनस कीक्लोप्स

(ई०पू० ३८२-३०१) सिकंदर का एक सेनापति जिसने युद्ध में एक आँख खोकर 'कीक्लोप्स' की उपाधि प्राप्त की। यह मकदुनिया का निवासी था और सिकंदर के साम्राज्यविभाजन से उसे फ्रिगिया, लीसिया और पैंफीलिया के प्रांत मिले। पर्दिकस की मृत्यु के पश्चात् उसे सुसीयाना भी मिल गया। यूमेनेस के विरुद्ध युद्ध म उसने आंतिपातर, आंतिगोनस तथा अन्य यूनानी सेनापतियों को हराया। पश्चिमी एशिया पर अधिकार होने पर उसे सिकंदर द्वारा लूटा हुआ ईरानी राजकोष सूसा में प्राप्त हुआ। इसकी बढ़ती हुई शक्ति को तालमी, सेल्यूकस तथा अन्य यूनानी सेनापतियों ने मिलकर रोकना चाहा। आंतिगोनस उसके विरुद्ध सफल हुआ और उसने सम्राट् की पदवी धारण की। ई० पू० ३०१ मे इप्सस के युद्ध में इसे वीरगति प्राप्त हुई। यह कला और साहित्य का प्रेमी था। इसका नाम मोनो कथाल्मस भी है।

सं०ग्रं०—केंब्रिज प्राचीन इतिहास, भाग ६। [बै० पु०]

आंतिगोनस गोनातस

(ल० ई० पू० ३१९-२३९) आंतिगोनस कीक्लोप्स का पौत्र और दिमेत्रियस का पुत्र जिसका जीवनकाल संघर्षमय रहा। ई० पू० २८३ में अपने पिता की मृत्यु पर उसने प्रजा का नेतृत्व किया और ई० पू० २७६ में पिरस गालवालों को हराकर अपना पतृक राज्य प्राप्त किया। दो वर्ष बाद फाइरस ने इसे छीन लिया, पर उसकी मृत्यु के पश्चात् आंतिगोनस को पुनः अपना राज्य मिल गया। पिरस के पुत्र सिकंदर के साथ इसका संघर्ष ई० पू० २६३ से २५५ तक चलता रहा और इसे कुछ समय के लिये अपने राज्य से हाथ धोना पड़ा, पर अंत में यह पुनः सफल हुआ। इसके जीवन के अंतिम दिन सुख और शांति से बीते। यह कलाप्रेमी होने के कारण विशेष प्रसिद्ध था।

सं०ग्रं०—केंब्रिज प्राचीन इतिहास, भाग ६; टार्न: आंतिगोनस गोनातस, केंब्रिज। [बै० पु०]

आंतिपातर

सिकंदर महान् का एक सेनापति और उसकी ओर से कार्यवाहक शासक। इसे अरस्तू से शिक्षा मिली थी। मकदुनिया के सम्राट् फिलिप का यह विश्वासपात्र था। यूनान से पूर्व की ओर प्रस्थान करते समय सिकंदर इसे मकदुनिया और यूनान का कार्यवाहक शासक नियुक्त कर गया था। इसन थ्रेस और स्पार्ता के विद्रोह को दबाया। सिकंदर की मृत्यु के बाद इसने मकदुनिया के शासन का पूर्ण भार अपने ऊपर ले लिया। लामियन के युद्ध में इसन यूनानियों को बुरी तरह हराया जो स्वतंत्र होने का प्रयास कर रहे थे। ई० पू० ३२१ में इसने अपने को शासक घोषित किया और दो वर्ष बाद ई० पू० ३१९ में इस की मृत्यु हो गई।

सं०ग्रं०—केंब्रिज प्राचीन इतिहास, खंड ६। [बै० पु०]

आंतियोकस इस नाम के १३ सिल्यूकसवशीय राजाओ ने प्राचीन सीरिया तथा निकटवर्ती प्रदेशो पर राज किया। आंतियोकस प्रथम अपने पिता के वध के पश्चात् ई० पू० २८१ मे सिहासन पर बैठा और उसने अपनी बिखरी राजनैतिक शक्ति का सचय करने का प्रयास किया। इसका मौर्यसम्राट् बिंदुसार के साथ राजनीतिक सपर्क था और इसने अपने राजदूत दियामाकस को पाटलिपुत्र भेजा था। मौर्यसम्राट् के लिये मीठी शराब तथा अजीर भी भेजे, पर यूनानी दार्शनिक भेजने मे अपनी असमर्थता प्रकट की। फिलिस्तीन के प्रश्न को लेकर इसे मिस्र के सम्राट् तालमी के साथ युद्ध करना पडा। इसके पुत्र आंतियोकस द्वितीय (ई० पू० २६१–२४६) ने मिस्र की राजकुमारी के साथ विवाह कर दोनो देशो को मैत्रीसूत्र मे बाँधा। इन दोनो सम्राटो का अशोक के अभिलेखो मे उल्लेख है। इसके समय बैक्ट्रिया और पार्थिया ने अपनी स्वतत्रता घोषित कर दी।

आंतियोकस तृतीय (ई० पू० २२३-१८७) 'महान्' इस देश का सबसे प्रतापी सम्राट् था। उसने अपने साम्राज्य को बढाना चाहा, पर यूनान मे थर्मापिली के युद्ध मे पराजित होकर उसे अपने देश वापस आना पडा। इसी देश के आंतियोकस चतुर्थ (ई० पू० १७६–१६४) ने मिस्रियो को हराकर फिलिस्तीन लेना चाहा, पर रोमनो की बढती हुई शक्ति के आगे इसे मिस्र छोडना पडा। आंतियोकस अष्टम (ई० पू० १३८–१२६) ने जुरूसलम पर अधिकार किया और पार्थवा से लडते हुए वीरगति प्राप्त की।

सं०ग्रं०—कैंब्रिज प्राचीन इतिहास, भाग ६। [बैं० पु०]

आंतिस्थेनीज (लगभग ई० पू० ४५५–३६०) एथेंस् के दार्शनिक। आरभ मे इन्होने गोर्गियास्, एक हिप्पियास् और प्रौदिकस् से शिक्षा प्राप्त की, पर अत मे ये सुकरात के भक्त बन गए। किनोसागस् नामक स्थान पर इन्होने अपना विद्यालय स्थापित किया जहाँ पर प्राय निर्धन लोगो को दर्शन की शिक्षा दी जाती थी। ये सुख का आधार सद्वृत्ति (अरेते) को और सद्वृत्ति का आधार ज्ञान को मानते थे। ये यह भी मानते थे कि सद्वृत्ति की शिक्षा दी जा सकती है और इसके लिये शब्दो के अर्थो का अनुसधान अपेक्षित है। ये अधिकाश सुखो को प्रवचक मानते थे। ये कहते थे कि केवल श्रमोत्पादित सुख स्थायी है। अतएव ये इच्छाओ को सीमित करने का उपदेश देते थे। ये एक लबादा पहने रहते थे और एक दड और खरी अपने पास रखते थे। इनके अनुयायी भी ऐसा ही करने लगे। [भो० ना० श०]

आंती दक्षिण पेरू की एक लडाकू जाति है, जो ऐंडीज़ पर्वत की पूर्वी ढाल पर उकायली नामक द्रोणी (बेसिन) के जगलो मे निवास करती है। ये लोग पहले क्रूर नरभक्षी थे, किंतु अब उनके पुरुषो ने धातु की कारीगरी तथा स्त्रियो ने कपडा बुनने का कार्य आरभ कर दिया है। इस जाति के लोग बलिष्ठ होते है। इनके लबे बाल कधो पर लटकते रहते है। शृगार के लिये ये लोग चिडियो के पख एव चोच की माला गले मे पहनते है। [न० कि० प्र० सि०]

आंतुंग मचूरिया का महत्व मे तीसरा बदरगाह है (४०° ६' उ० अ०, १२४° २३' पू० दे०)। यह कोरिया तथा मचूरिया की सीमा निर्धारित करनेवाली यालु नामक नदी के मुहान पर बसा है। रेशम के उद्योग और काष्ठ एव सोयाबीन के नि[र्या]त के लिये प्रसिद्ध है। जनसख्या २,२०,००० (१९५३ ई०) है। इसे यालु द्रोणी का द्वार कहा जा सकता है। यह बदरगाह वर्ष के चार महीने तक बर्फ के कारण बद रहता है तथा समुद्र के उथले होने के कारण १,००० टन से अधिक के जहाज इस बदर तक नही पहुँच पाते। यह आंतुग प्रात की राजधानी भी है। [न० कि० प्र० सि०]

आंतोनिनस पिअस (८६-११६१ ई०) कासुल ओरेलिएस फुलवस का बेटा, रोमन सम्राट्। पहले वह साम्राज्य के अनेक ऊँचे पदो पर रहा, फिर १३८ ई० मे सम्राट् हाद्रियन ने उसे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया। उसी साल हाद्रियन के मरने पर आंतोनिनस सम्राट् हुआ। अनेक पदो पर बुद्धिमानी से कार्य कर चुकने के कारण वह साम्राज्य की वास्तविक स्थिति से पूर्णत. परिचित था और प्रजा का हित हृदय से चाहता था। उसने शासन का भार अधिकतर रोमन सिनेट को सौपा और कानून में अनेक सुधार किए। उसने ब्रिटेन में फोर्थ से लेकर क्लाइड तक दीवार खडी की जो आज भी एक अश में वर्तमान है। [ओ० ना० उ०]

आंतोनियस, मार्कस (ल० ८३–३० ई० पू०) इसी नाम के पिता का पुत्र और पितामह का पौत्र था। वह रोम के प्रसिद्ध जनरल जूलियस सीज़र का बडा प्रिय और विश्वासपात्र था। वह स्वय रणकुशल सेनापति और असाधारण योद्धा था। दो दो बार सीज़र की अनुपस्थिति मे वह इटली का उपशासक (डेपुटी गवर्नर) हुआ। वह पहले त्रिब्यून, फिर सीजर के साथ कासुल रहा। जब षड्यत्रकारियो ने सिनेट मे सीज़र को मार डाला तब आंतोनी ने अपनी वक्तृता द्वारा जनता को अपनी ओर कर लिया और अब शक्ति उसके और सीज़र के मनोनीत अधिकारी ओक्तावियन के हाथ आ गई।

पर दोनो मे खूब सघर्ष चला। परिणामत आंतोनी को गॉल भागना पडा, पर वहाँ से वह लेपिदस के साथ एक बडी सेना लेक[र] रोम पर चढ आया। जो नया समझौता हुआ उससे गाल आंतोनी को मिला, स्पेन लेपिदस को ए[व] अफ्रीका, सिसिली और सार्दीनिया ओक्तावियन को। फिलिप्पी की लडाई मे उसने ब्रूतस और प्रजातत्रवादियो का बल नष्ट कर दिया। अब आंतोनी ग्रीस और लघु[ए]शिया की ओर बढा। इसी यात्रा में वह मिस्र की आकर्षक ग्रीक रानी क्लियोपात्रा के प्रणय के वशीभूत हो गया। जब होश मे आकर वह रोम लौटा, तब उसने देखा कि साम्राज्य का स्वामी ओक्तावियन हो गया है। वैमनस्य पर्याप्त बढा, पर ओक्तावियन ने अपनी बहन का उससे विवाह कर मित्रता पर पैबद लगाया। अब साम्राज्य का बँटवारा नए सिरे से हुआ—ओक्तावियन पश्चिम का स्वामी हुआ, आंतोनी पूर्व का। वह फिर क्लियोपात्रा के पास लौटा और विलास मे खो गया। उधर ओक्तावियन ने उसपर चढाई की और जब आक्तियम के युद्ध मे हारकर आंतोनियस मिस्र भागा तब पहली बार शत्रु ने उसकी पीठ देखी। अत मे उसने इस धोखे मे कि क्लियोपात्रा ने आत्महत्या कर ली है, स्वय उससे पहले ही आत्महत्या कर ली। वह साहित्यकारो के लिये बडा प्रिय नायक हो गया है। [भ० श० उ०]

आंतोनेलिया दा मोसेना (१४३०–१४७९) इटली के चित्रकार आंतोनेलियो दा आंतोनियो का जनप्रिय नाम। ज[न्म]स्थान मोसेना। इटली मे सर्वप्रथम तैलचित्र का प्रचलन आंतोनेलियो ने किया। शैली में इतालीय सौम्यता और सरलता तथा फिनलैंड की कुछ कुछ कोणाकार शैली का बडा सुदर समन्वय है। उसकी सर्वोत्तम कृति 'सेंट जेरोम अपने अध्ययन मे' लदन के नेशनल हाल मे सुरक्षित है। [स० च०]

आंतोफगास्ता चिली देश का एक मुख्य नगर एव बदरगाह है तथा आंतोफगास्ता प्रात की राजधानी है। स्थिति २३° ४८' द० अ०, ७०° ३६' प० दे०, जनसख्या ६२,२७२ (सन् १९५२ ई०)। इस नगर की स्थापना सन् १८७० ई० मे बोलिविया राज्य मे हुई थी, किंतु सन् १८७९ ई० मे चिली ने आक्रमण करके इसे अधिकृत कर लिया, तभी से यह चिली राज्य मे है। यह रेल का एक अतर्राष्ट्रीय केंद्र है। यहाँ चाँदी शुद्ध करने का कारखाना भी है। चिली के बदरगाहो मे इसका स्थान द्वितीय है। यह नाइट्रेट (शोरा) के निर्यात के लिये विश्वविख्यात है।

आंतोफगास्ता प्रात का क्षेत्रफल १,२३,०६३ वर्ग किलोमीटर है। जनसख्या १,८४,८२४ है। यह प्रात अटकामा मरुभूमि मे स्थित है तथा चाँदी, ताँबा, सीसा, सोहागा, नमक इत्यादि खनिजो में धनी है। [न० कि० प्र० सि०]

आंत्रज्वर और परांत्रज्वर दोनो 'साल्मोनैला टाईफोसिया" नामक जीवाणुओ के कारण उत्पन्न होते है। रोग की अवस्था मे तथा रोगमुक्त होने के पश्चात् भी कुछ व्यक्तियो के मल में ये जीवाणु पाए जाते है। ये व्यक्ति रोगवाहक

कहलाते हैं। मनुष्यों में रोग का संक्रमण भोजन और जल द्वारा होता है, जिनमें जीवाणु मक्खियों या रोगवाहकों के हाथों से पहुँच जाते हैं। आधुनिक स्वास्थ्यप्रद परिस्थितियों द्वारा रोग का बहुत कुछ नियंत्रण किया जा चुका है। पिछले कई वर्षों में इस रोग की कोई महामारी नहीं फैली है, किंतु अब भी जहाँ तहाँ, विशेषकर ऊष्ण प्रदेशों में, रोग होता है।

जीवाणु शरीर में प्रवेश करने के पश्चात् क्षुद्रांत में 'पायर के क्षेत्रों' में बस जाते हैं और वहाँ अतिगलन उत्पन्न करते हैं, जिसके कारण वहाँ व्रण बन जाता है। कुछ जीवाणु रक्त मे भी पहुँच जाते हैं जहाँ से उनका संवर्धन किया जा सकता है, विशेषकर पहले सप्ताह में। रुधिर में इस प्रकार जीवाणुओं के पहुँचने से अन्य क्षेत्रों में गौण संक्रमण उत्पन्न हो जाता है, उदाहरणात लसिका ग्रंथियां, यकृत, प्लीहा और अस्थिमज्जा में। पित्त-नलिका म संक्रमण अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि वहाँ से जीवाणु अधिकाधिक संख्या मे आंत्र मे पहुँचते हैं तथा नए नए व्रण उत्पन्न करते हैं और मल में अधिकाधिक जीवाणु जाते हैं।

प्रथम संक्रमण से १० से १४ दिन तक में रोग उभड़ता है।

लक्षण—इस रोग का लक्षण है मंद ज्वर जो धीरे धीरे बढ़ता है। आरंभ में बेचैनी या पेट में मंद पीड़ा, सिरदर्द, तबीयत भारी जान पड़ना, भूख न लगना, कफ और कोष्ठबद्धता। चार पाँच दिन बाद ज्वर अँतरिया सा हो जाता है और ताप १०२ से १०४ डिगरी फारनहाइट के बीच घटता बढ़ता है। लगभग सातवें दिन शरीर के विभिन्न भागों में आलपीन के सिर के बराबर गुलाबी दाने दिखाई पड़ते हैं। ये दाने विशेषकर वक्ष के सामने और पीछे की ओर दिखाई देते हैं। प्लीहा और यकृत भी कुछ बढ़ जाते हैं और रोगी कुछ बेहोश सा दिखाई देता है। नाड़ी इस अवस्था में प्रायः मंद रहती है। कुछ मानसिक लक्षण, जैसे बेचैनी, बिछौने की चादर को या नाक को नोचना और प्रलाप भी उत्पन्न हो जाते हैं। रोग की अवधि प्रायः ६ से ८ सप्ताह तक हुआ करती है। रोग के लक्षण उसी प्रकार कम होते हैं जिस प्रकार प्रारंभ में वे धीरे धीरे बढ़ते हैं।

विशिष्ट प्रतिजीवाणुक चिकित्सा के प्रारंभ के पूर्व इस रोग के ३० प्रति शत रोगियों की मृत्यु हो जाती थी, किंतु क्लारैफेनिकोल नामक ओषधि के प्रयोग से अब हम, यदि उपर्युक्त समय पर निदान हो जाय और उचित चिकित्सा प्रारंभ कर दी जाय, प्रत्येक रोगी को रोगमुक्त कर सकते हैं।

मृत्यु प्रायः ऐसे उपद्रवों के कारण होती है जैसे आंत्र में छिद्रण (छेद हो जाना), रक्तप्रवाह, असाध्य अतिसार तथा तीव्र कर्णपटहार्ति। मानसिक लक्षणों से कोई बुरे परिणाम नही होते, यद्यपि रोगी के संबंधी लोग उससे बहुत डर जाते हैं। मृत्यु का विशिष्ट कारण चर्म की रक्तवाहिनी केशिकाओं का प्रसार होता है, जो जीवाणु द्वारा उत्पन्न विषों का परिणाम होता है। इसके कारण भीतरी अंगों को, विशेषकर हृदय को, पर्याप्त रक्त नही मिल पाता। आजकल इस उपद्रव की भी संतोषजनक चिकित्सा की जा सकती है।

निदान—रोग की विशिष्ट प्रारंभ विधि से, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है, रोग का संदेह करना सरल है, किंतु वैज्ञानिक निदान के लिये जीवाणुओं का संवर्धन करना या प्रतिपिंडों का प्रचुर संख्या में देखा जाना आवश्यक है। प्रथम सप्ताह में रक्त से जीवाणु संवर्धित किए जा सकते हैं। वैज्ञानिक निदान का यही अचूक आधार है। रोग के १० दिन के पश्चात् मल और मूत्र से भी जीवाणुओं का संवर्धन किया जा सकता है। इस अवस्था में समूहक प्रतिक्रिया (अग्लूटिनेशन टेस्ट), जिसको विडल परीक्षण भी कहते हैं, प्रायः सकारात्मक मिलती है। जाँच के नकारात्मक होने का कोई मूल्य नहीं, क्योंकि दस से १५ प्रति शत रोगियों में यह जाँच रोग के पूर्ण काल भर नकारात्मक रहती है।

रोगरोधन—इस रोग की वैक्सीन (टी० ए० बी०) के प्रयोग से रोग में विशेष कमी हुई है, विशेषकर सैनिक विभाग में, जहाँ इसका प्रयोग अनिवार्य है और प्रत्येक सैनिक को इसके इंजेक्शन दिए जाते हैं। अब सभी देशों में इसका प्रयोग किया जाता है और इसमें संदेह नहीं है कि इससे रोगधमता उत्पन्न होती है, जो ६ मास से एक वर्ष तक रहती है। ०·२ से १ घन सेंटीमीटर वैक्सीन के, एक सप्ताह के अंतर से, तीन बार इंजेक्शन दिए जाते ह।

चिकित्सा—आंत्रिक ज्वर की चिकित्सा के लिये क्लोरैम्फेनिकौल ओषधि अत्यंत विशिष्ट प्रमाणित हुई है। रोग का निदान होते ही, शरीर-भार के प्रति किलोग्राम के लिये २५ से ३० मिलीग्राम के हिसाब से, रोगी को यह ओषधि खिलाना प्रारंभ कर देना चाहिए और ज्वर उतर जाने के तीन चार दिन पश्चात् तक खिलाते रहना चाहिए। इस चिकित्सा के बाद रोग का पुनराक्रमण कोई असाधारण बात नहीं है। इसलिये कुछ विद्वान् ज्वर उतरने के १० दिन पश्चात् तक ओषधि देने का परामर्श देते हैं। कुछ विद्वान् इस काल में वैक्सीन देने के पक्षपाती हैं। यदि उपद्रव के रूप में प्रांतिक (पेरिफेरल) रक्तावसाद हो जाय तो उसकी चिकित्सा ग्लूकोज तथा सैलाइन को रक्त में पहुँचाकर सफलतापूर्वक की जा सकती है। हृतकोची (सिस्टोलिक) रक्त दाब के ८० मिलीमीटर से कम हो जाने पर नौर-ऐड्रिनेलीन मिला देना चाहिए। रक्तस्राव होने पर रक्ताधान (ब्लड टैसफ्यूज़न) करना चाहिए। आंत्रछिद्रण होने पर शल्यकर्म आवश्यक है। अत्यंत उग्र दशाओं में स्टिराइडों का प्रयोग अपेक्षित है।

पैराटाइफाइडज्वर—यह इतना अधिक नहीं होता, जितना आंत्र ज्वर। पैराटाइफाइड-बी की अपेक्षा पैराटाइफाइड-ए अधिक होता है। यह रोग इतना तीव्र नहीं होता। क्लोरैफेनिकौल से लाभ होता है, किंतु टाइफाइड के समान नहीं। बहुत से रोगी सामान्य चिकित्सा और उचित उपचर्या से ही आरोग्यलाभ कर लेते हैं। [बी० भा० भा०]

आंथोनो, पादुआ का संत

(११९५–१२३१ ई०)। इनका जन्म लिस्बन में हुआ। पहले अगस्तिनीय संघ के सदस्य थे, किंतु १२२० ई० में उन्होंने फ्रांसिस्की संघ मे प्रवेश किया। १२२१ ई० में असीसी के संत फ्रांसिस से उनकी भेंट हुई। बाद में वह धर्मविद्या (थेऑलोजी) के अध्यापक हुए तथा उत्तरी इटली में उपदेशक के रूप में ख्याति प्राप्त करने लगे। उनका देहांत पादुआ (इटली) में हुआ। १२३२ ई० में उनको संत घोषित किया गया। वह काथलिक ईसाइयों के सर्वाधिक लोकप्रिय संतों में से हैं। उनका पर्व १३ जून को मनाया जाता है।

सं०ग्रं०—ओजिलियथ-स्मिथ, ई०: सेंट ऐंथनी ऑव पादुआ ऐकार्डिंग टु हिज़ कांटेंपोरेरीज, न्यूयार्क, १९२६। [का० बु०]

आंथोनी, संत

(२५०–३५६ ई०) ईसाई धर्म के सर्वप्रथम मठवासी। २७० ई० में एकांतवासी बनकर तपोमय जीवन व्यतीत करने लगे। बहुत से शिष्यों द्वारा अपना अनुकरण देखकर उन्होंने मठवासी जीवन के संगठन के विषय में बहुत कुछ लिखा है। उन्होंने आरियस का विरोध किया। उनका जन्म मध्य मिस्र में तथा देहांत वहाँ की मरुभूमि में हुआ था।

सं०ग्रं०—हर्टलिंग, एल० वान० : ऐंटोनियस डर आइनसीडलर, इंजब्रुक, १९२५। [का०बु०]

आंदोरा

पूर्वी पिरेनीज़ का अर्धसत्तासंपन्न राज्य है, जो फ्रांस तथा उर्गल के बिशप के संमिलित अधिकार में है। यह फ्रांस के एरिज़ विभाग तथा स्पेन के लेरिडा प्रांत के मध्य में स्थित है। इसका क्षेत्रफल १९१ वर्ग मील है। यहाँ के धरातल की ऊँचाई सागरतल से ६,५०० फुट से १०,००० फुट तक है। धरातल विषम तथा जलवायु कष्टकर है। यहाँ पर भेंड़ तथा उसके पालने के लिये लहलहाते हुए चरागाह हैं, अतएव यहाँ पशुपालन यथेष्ट उन्नति पर है। यहाँ के वस्त्र उद्योग तथा तंबाकू संबंधी उद्योग विश्वविख्यात हैं। फलद वृक्ष तथा लताएँ भी होती हैं। यहाँ के पर्वतों में लोहे एवं सीसे (धातु) की खुदाई होती है। यहाँ की जनसंख्या ५,२३१ तथा राजधानी अंदोरा है। [शि० मं० सिं०]

आंद्राक्लीज़

आंद्रोक्लुस, एक रोमन दास का नाम जो सम्राट् तिबेरियुस के समय हुआ। उसने अपने स्वामी की निर्दयता से तंग आकर, भागकर अफ्रीका में एक गुफा में शरण ली। कुछ समय पश्चात् इस गुफा में एक लँगड़ाते हुए शेर ने प्रवेश किया और आंद्राक्लीज़ ने उसके पंजे से एक बड़ा काँटा निकाल दिया। कुछ समय पश्चात् वह पकड़कर सर्कस में सिंह के सामने फेंक दिया गया। वह सिंह वही था

जिसकी आंद्राक्लीज़ ने सहायता की थी; सिंह ने, कहते हैं, इस कारण उसको नहीं खाया। इसपर आंद्राक्लीज़ को स्वतंत्र कर दिया गया।

सं०ग्रं०—जार्ज बर्नार्ड शॉ : आंद्रोक्लीज़ ऐंड दि लॉएन्, १६११। [भो० ना० श०]

आंद्रासी जूलियस, काउंट (१८२३–१८६०ई०)। हंगरी के इस राजनीतिज्ञ का जन्म स्लोवाकिया के कोचिरे नगर में हुआ था। वह हंगरी के संवैधानिक आंदोलन के नेताओं में से था। देश के अगले युद्धों में उसे अनेक बार भाग लेना पड़ा और फलस्वरूप अनेकानेक कठिनाइयाँ भी सहनी पड़ीं। कालांतर में वह हंगरी का प्रधान मंत्री हुआ और उसने सेना आदि के क्षेत्र में अनेक सुधार किए। आस्ट्रिया और रूस से उसे बराबर राजनीतिक लोहा लेते रहना पड़ा। रूस को वह स्वदेश का अत्यंत भीषण शत्रु मानता था और उसके हथकंडों के प्रतिकार के लिये उसने जीवन भर प्रयत्न किए। धीरे धीरे देश की रक्षा के लिये उसने ग्रेट ब्रिटेन, इटली, जर्मनी और रूस तक से मैत्री कर ली। यद्यपि वह तुर्कों के उत्तमान साम्राज्य को बनाए रखने के मत का था, परंतु यदि वह संभव न हो सका तो वह रूस के मुकाबले आस्ट्रिया-हंगरी का प्रभुत्व बाल्कन राज्यों में कायम रखना चाहता था। पूर्वी प्रश्न के संबंध में उसने बराबर इसी दृष्टि से प्रयत्न किए। आंद्रासी पहला मगयार राजनीतिज्ञ था जिसने अखिल यूरोपीय यश अर्जित किया। वह क्रांतिपूर्व हंगरी के राज्य का प्रधान निर्माता माना जाता है। [ओं० ना० उ०]

आंद्रिया इटली के आपूलिया प्रांत का एक नगर तथा एक कम्यून (प्रशासकीय विभाग) है। यह बारी नगर से ३१ मील पश्चिमोत्तर–पश्चिम दिशा में एक कृषिक्षेत्र में स्थित है। जनसंख्या ६३,१६६ (सन् १६४६ ई०)। इस नगर की स्थापना आंद्रिया के प्रथम नार्मन सामंत पीटर द्वारा सन् १०४६ ई० के लगभग हुई थी। यह सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय का प्रिय निवासस्थान था। यहाँ अनेक पुरानी इमारतें हैं, जिनमें १३वीं शताब्दी के कुछ गिरजाघर भी हैं। यह जैतून, गेहूँ तथा बादाम के व्यवसाय का एक प्रमुख केंद्र है। [न० कि० प्र० सिं०]

आंद्रिया देल सार्तो (१४८६–१५३० ई०) इटली का पुनर्जागरणकालीन प्रसिद्ध चित्रकार। उसका पिता आग्नोलो दर्जी था। अनेक स्थितियों में प्रारंभिक जीवन बिताकर आंद्रिया ने स्वतंत्र चितेरे की वृत्ति आरंभ की। फ्लोरेंस के अनंत्सियाता गिरजे में उसने संत फिलिप्पी बेनित्सी के जीवन की घटनाओं का भित्तिचित्रण किया। अपनी २३ वर्ष की आयु में ही चित्रण की तक्नीक में वह इटली का सर्वोत्तम चितेरा माना जाने लगा था। कुछ लोगों के विचार में तो रफेल भी उसका मुकाबिला नहीं कर सकता था। माइकेल ऐंजेलो के भित्तिचित्रण अभी प्रारंभिक अवस्था में ही थे। आंद्रिया की शैली शुद्ध और सादी थी। वह एक बार चित्रलिख कर फिर दूसरी बार उसपर ब्रुश कभी नहीं फेरता था। इन भित्तिचित्रों से उसकी इतनी ख्याति हुई कि सर्वत्र से उसका बुलावा आने लगा और काम की बाढ़ आ गई। उसका प्रधान आकर्षण आकृतिचित्रण था। भित्तिचित्रों में भी उसकी चिती आकृतियाँ कुशलतम चितेरों के जोड़ की हैं।

आंद्रिया के विशिष्ट भित्तिचित्र हैं—'कुमारी का जन्म', 'मागी का जलूस', 'बाप्तिस्त का भाषण,' 'श्रद्धा', 'दान', 'बाप्तिस्त का शिरश्छेद', 'हिरोद की कन्या का नृत्य', 'मादोना देल साच्चो', 'अंतिम भोज'। उसके आकृतिचित्र लंदन की नेशनल गैलरी, पेरिस के लुव्र, फ्लोरेंस के उफिफ़ी गैलरी आदि के संग्रहालयों में प्रदर्शित हैं। राजा फ्रांसिस प्रथम के निमंत्रण पर वह फ्रांस गया और वहाँ भी उसने अनक चित्र लिखे। पर बीच में ही पत्नी के बुलाने से वह स्वदेश लौट गया। उसकी पत्नी लुक्रेत्सिया अत्यंत रूपवती थी और आंद्रिया उसे देखते ही उसपर आसक्त हो गया था। तब वह अन्य की विवाहिता थी, पर पति शीघ्र ही मर गया और प्रेमियों ने तत्काल परस्पर विवाह कर लिया। इस पत्नी के सौंदर्य का आंद्रिया पर इतना गहरा प्रभाव था कि उसके बनाए मदोना (मरियम) के सारे चित्र लुक्रेत्सिया के रूप से ही प्रभावित थे। उसके लिखे अन्य आकृतिचित्रों में भी अधिकतर उसी की रूपरेखा उभर आई है। आंद्रिया अपने जन्म के नगर फ्लोरेंस में ही ४३ वर्ष की आयु में प्लेग से मरा। उसकी पत्नी विधवा होकर उसकी मृत्यु के ४० वर्ष बाद तक जीवित रही।

सं०ग्रं०—एच० गिन्नेस : आंद्रिया देल सार्तो, १८६६; एफ० नापः आंद्रिया देल सार्तो; बाइलेफेल्ड और लाइप्त्सिग, १६०७। [भ० श० उ०]

आंद्रेएव लियोनिद निकोलएविच (१८७१-१६१६) रूस के सुप्रसिद्ध नाट्यकार एवं उपन्यासलेखक जिनका रूसी कथासाहित्य में एक विशिष्ट स्थान है। आई० डब्ल्यू० इक्लोवस्की ने उनकी तुलना गोगोल से की है। उनकी सर्वप्रिय रचनाएँ 'दि रेड लाफ' (१६०४) 'दि लाइफ ऑव मैन' (१६०६) जो एक रूपक अथवा प्रतीक नाटक है, 'दि सेवेन दैट वेयर हैंग्ड' (१६०८) तथा 'ही हू गेट्स स्लैप्ड' हैं, जिनमें से अंतिम का शीर्षक जितना ही रोचक है उतना ही तत्कालीन सामाजिक जीवन के चित्रांकन में कटु है। [चं० म०]

आंद्रोनिकस प्रथम १२वीं सदी के मध्य पूर्वी साम्राज्य का सम्राट्। ११४१ ई० में तुर्कों ने उसे पकड़कर साल भर कैद रखा। अलेक्सिएस के मरने पर आंद्रोनिकस कोंस्तांतिनोपुल में सम्राट् हुआ और अपने अल्प काल के शासन में उसने सामंती संस्थाओं के विरुद्ध अनेक नियम बनाकर प्रजा का दुःख हरा, यद्यपि उससे उसके सामंत बिगड़ उठे। आभिजात्यों ने उससे विद्रोह किया और ११८५ में उसकी हत्या कर दी गई। [ओं० ना० उ०]

आंद्रोनिकस द्वितीय (१२६०-१३३२ ई०) रोमन सम्राट् मिखायल पालियोलोगस उसका पिता था जिसके मरने के बाद वह स्वयं पूर्वी रोमन साम्राज्य का सम्राट् हुआ। उसके शासनकाल में वेनिस और जेनोआ की कीर्ति बढ़ी और तुर्कों ने बिथीनिया साम्राज्य से छीन लिया। उनसे लड़ने के लिये सम्राट् ने रोगर दी फ्लोर नाम के एक स्पेनी सामरिक को नियत किया। रोगर ने तुर्कों को हरा तो दिया पर वह स्वयं सम्राट् के साथ मनमानी करने लगा। अंत में जो उसके सैनिकों ने विद्रोह किया तो एथेंस् और थीवीज़ साम्राज्य के हाथ से निकल गए। अंत में आंद्रोनिकस को साम्राज्य की गद्दी अपने पौत्र को दे देनी पड़ी। [ओं० ना० उ०]

आंध्र भारत का एक प्रदेश है। क्षेत्रफल १,०५,६६३ वर्ग मील। श्री रामुलु के आत्मबलिदान के पश्चात्, भारतीय संघ का यह प्रथम भाषानुसार बना राज्य है। इसकी स्थापना १ अक्टूबर, सन् १६५३ ई० को हुई। तत्पश्चात् १ नवंबर, सन् १६५६ ई० को हैदराबाद के तेलंगाना क्षेत्र के भी इसमें मिल जाने पर वर्तमान आंध्र प्रदेश का निर्माण हुआ। इस राज्य में श्रीकाकुलम्, विशाखापट्टनम्, पूर्वी गोदावरी, पश्चिमी गोदावरी, कृष्णा, गुंटूर, नेल्लोर, कड्डपा, कुर्नूल, अनंतपुर, चित्तूर, हैदराबाद, महबूबनगर, आदिलाबाद, निज़ामाबाद, मेडक, करीमनगर, वारंगल, खम्माम तथा नलगोंडा नामक बीस जिले हैं।

प्राकृतिक दशा—आंध्र प्रदेश का पूर्वी सागरतटीय भाग मैदान है, जो गोदावरी एवं कृष्णा के नदीमुख प्रदेशों में अधिक विस्तृत हो गया है। इस मदानी भाग का विस्तार नदीघाटियों के रूप में पश्चिम की ओर भी है। इसपर नदियों द्वारा लाई हुई उपजाऊ काँप मिट्टी बिछी हुई है। राज्य के पूर्वी भाग में पूर्वी घाट की पहाड़ियाँ, उत्तर से दक्षिण तक, फैली हुई हैं। युगों से गर्मी सर्दी तथा वर्षा सहने के कारण इनकी चोटियाँ कटकर चपटी हो गई हैं और नदियों ने इन्हें असंबद्ध कर दिया है। आंध्र का उत्तर-पश्चिमी भाग दक्षिणी सोपानाश्म (डेकन ट्रैप) से ढका है। पूर्वी भाग में नवीन तथा प्राचीन जलोढ़ (अलवियम) के निक्षेप हैं। इसका शेष भाग आद्यकल्प (आरकियन) के कणाश्म (ग्रैनाइट) तथा दलाश्म (नाइस) से बना हुआ है। इस राज्य का पठारी भाग सागरतल की अपेक्षा ५०० से २००० फुट तक ऊँचा है।

जलवायु—आंध्र प्रदेश उष्ण जलवायु प्रदेश के अंतर्गत है। यहाँ का जनवरी का औसत ताप ६५° फा० से ७५° फा० तथा जुलाई का औसत ताप ८५° फा० से ६५° फा० तक होता है। सागरीय प्रभाव के कारण पूर्वी

भाग की जलवायु पश्चिमी भाग की अपेक्षा अधिक सम है। इस राज्य की वार्षिक वर्षा का औसत ४२ इंच है जो ग्रीष्म के पावस (मानसून), अंतिम पावस तथा शीत ऋतु के मानसून से होती है। राज्य के पूर्वी भाग की वर्षा ५५ इंच तथा पश्चिमी भाग की ३५ इंच है।

मिट्टी—आंध्र प्रदेश में कई प्रकार की मिट्टियाँ पाई जाती हैं। समुद्रतटीय प्रदेश में उपजाऊ काँप मिट्टी तथा बलुई मिट्टी मिलती है। उत्तर-पश्चिम के सोपानाश्म क्षेत्र में काली तथा लाल मिट्टी पाई जाती है। यहाँ अनेक स्थानों पर भूरी मिट्टी भी मिलती है। अधिक वर्षा तथा असम धरातल के कारण यहाँ मिट्टी का अपक्षरण बहुत होता है।

वनस्पति—आंध्र प्रदेश में वनों का कुल क्षेत्रफल १,४६,१६,००० एकड़ है। यह आंध्र के कुल क्षेत्रफल का १६ प्र० श० है, जो संपूर्ण भारत के औसत (१५%) से अधिक है। सागौन, कुसुम, रोजवुड तथा बाँस यहाँ के वनों में बहुतायत से मिलते हैं। ये सब पतझड़वाले वृक्ष हैं।

आंध्र की मुख्य नदियाँ गोदावरी, कृष्णा तथा पेन्नार हैं। अनुमानतः ये सब १५ करोड़ एकड़ फुट पानी प्रतिवर्ष बंगाल की खाड़ी में डालती हैं। यहाँ की मुख्य बहुधंधी योजनाएँ तुंगभद्रा, नागार्जुनसागर, पेन्नार, पुलिचिंताला, कद्दाम, वामसद्रधा, कोइलसागर आदि हैं। आंध्र में सिंचाई के लिये विभिन्न प्रकार के साधनों का प्रयोग होता है। उनके द्वारा सिंचित क्षेत्रों का विवरण इस प्रकार है : राजकीय नहरें, ३०·३६ लाख एकड़; व्यक्तिगत नहरें, ६२,७२६ एकड़; तालाब, २५·६६ लाख एकड़; कुएँ, ७·५४ लाख एकड़; दूसरे साधन, २·५४ हजार एकड। सिंचाई के इतने साधन होते हुए भी इस राज्य के अधिकतर भाग को अनिश्चित एवं अनियमित पावस वर्षा पर निर्भर रहना पड़ता है।

कृषि—सन् १६५५-५६ में आंध्र का कुल बोया गया क्षेत्र २७० लाख एकड था; यह संपूर्ण भारत की कुल बोई गई भूमि का ६ प्र० श० था। ७२·३८ लाख एकड़ भूमि बंजर थी। कृषि के अतिरिक्त कामों में लाई गई भूमि ३३·३३ लाख एकड़ तथा चरागाहों के लिये उपयुक्त भूमि २८·७८ लाख एकड़ थी। विविध प्रकार की मिट्टी एवं वर्षा के कारण आंध्र के कृषि-उत्पादन भी विविध प्रकार के हैं। खाद्यान्न, तेलहन, तंबाकू, गन्ना, मूँगफली, अंडी तथा मसालों के उत्पादन में आंध्र प्रदेश का भारतीय संघ में महत्वपूर्ण स्थान है। यह निम्न तालिका से विदित है :

फसल	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)	उत्पादन (हजार टनों में)	कुल भारतीय उत्पादन का प्र० श०
धान	६३४६	३१६५	१३·२
ज्वार	६११८	१०८०	१२·६
दालें	३२६४	२८६०	२·७
मूँगफली	२८१४	६४६	२४·८
बाजरा	१७४५	३६४०	१०·३
मक्का	४७१	८०	२·७
रागी	८६५	३४५	१६·४
तंबाकू	३२१	१०७	४३·१
अंडी	६०५	६५	५८·८
कपास	१०३·४	१२७	२·६
गन्ना	१६४	४५६	८·२
मिर्च	३६७	१०३	२८·६
हल्दी	२३	३४	२८·०

आंध्र के अन्य उत्पादन केला, आम, नीबू, संतरा आदि हैं।

आंध्र में पशु महत्वपूर्ण हैं। १६५६ ई० में पशुओं की संख्या हजारों में इस प्रकार थी : भैंस १७२४४·१८, गाय ११२७६·१, बकरी ३६६३·४१।

खनिज पदार्थ—आंध्र खनिज पदार्थों का विशाल भांडार है। यहाँ के मुख्य खनिज पदार्थ मैंगनीज़, अभ्रक, कोयला, लोहा, चूने का पत्थर, क्रोमाइट, ऐसबेस्टस आदि हैं। यहाँ भारत का १० प्रति शत मैंगनीज़ निकलता है, जो मुख्यतया विशाखापट्टनम्, बेलारी, श्रीकाकुलम आदि क्षेत्रों से आता है। यहाँ का मुख्य अभ्रक-उत्पादक क्षेत्र नेल्लोर है। इस राज्य में भारत का १५% अभ्रक उत्पन्न होता है। कोयला मुख्यतया गोदावरी नदी की घाटी में स्थित सिंगरेनी, तंदूर आदि क्षेत्रों से आता है। आंध्र दक्षिणी भारत का सर्वप्रधान कोयला उत्पादक राज्य है। यह संपूर्ण भारत का ५% कोयला उत्पन्न करता है। यहाँ ऐसबेस्टस मुख्यतया कड्डपा क्षेत्र से आता है। नेल्लोर जिले की बालू में अणु खनिज भी मिलते हैं। भारतीय भूगर्भ सर्वेक्षण विभाग के अनुसार आंध्र के गुंटूर तथा नेल्लोर जिलों में ३८ करोड़ ६० लाख टन लोहा संरक्षित है।

उद्योग धंधे—अपार प्राकृतिक साधन होते हुए भी आंध्र प्रदेश औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा है। सूती कपड़े की १२ मिलें मुख्यतया हैदराबाद, औरंगाबाद, गुंटकल, एडोनी एवं गुलबर्गा में स्थित हैं। कागज की मिलें राजमहेंद्री तथा सीरपुर कागजनगर में हैं। इस राज्य में चीनी बनाने की ६ मिलें हैं जिनमें सर्वप्रधान बोधन मिल है। सीमेंट के कारखाने विजयवाड़ा, कृष्णा, पनियाम, नदीकोंडा आदि स्थानों पर हैं। सिगरेट बनाने के कारखाने हैदराबाद में तथा चमड़े के कारखाने वारंगल, विजयवाड़ा आदि स्थानों में हैं। गुदूर में चीनी मिट्टी के बर्तन तथा काँच के कारखाने हैं। जलयान निर्माण उद्योग का केंद्र विशाखापट्टनम् है। यहाँ कैलटेक्स कंपनी की एक बृहत् तैल-शोधन-शाला है।

गृह-उद्योग—आंध्र में करघा उद्योग अत्यंत उन्नत दशा में है। इसके मुख्य केंद्र मछलीपट्टम्, वारंगल तथा एलुरू हैं। फर्नीचर के लिये आदिलाबाद, सींग तथा हाथीदाँत के काम के लिये हैदराबाद और विशाखापट्टनम्, लाह के खिलौनों के लिये कोंडापल्ली, दियासलाई बनाने के लिये हैदराबाद और विजयवाड़ा, रेशम का कीड़ा पालने के लिये मदाकसीरा, हिंदूपुर, कुर्नूल, पूर्वी गोदावरी आदि प्रसिद्ध हैं।

आंध्र से निर्यात की जानेवाली वस्तुएँ तंबाकू, मूंगफली, तेलहन, चावल, कोयला आदि हैं। आयात की वस्तुएँ दाल, कपड़ा, पक्के माल हैं। यहाँ रेलों की लंबाई २,६०२ मील तथा सड़कों की लंबाई १४,४६६ मील है।

बंदरगाह—आंध्र का सागरतट यथेष्ट लंबा है और विशाखापट्टनम् यहाँ का एक अच्छा बंदरगाह है। सिंधिया कंपनी ने यहाँ पर जहाज बनाने का एक कारखाना स्थापित किया है। १६५८ तक इस कारखाने में २४ जहाज बने। इसका पूर्ण विकास होने पर यहाँ पर प्रति वर्ष चार जहाज बनेंगे। यहाँ जहाजों की मरम्मत भी होगी तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंत तक इसके विकास में अनुमानतः २·१५ करोड़ रुपया व्यय होगा। आंध्र के अन्य प्रमुख बंदरगाह कोकोनाडा तथा मछलीपट्टम हैं।

जनसंख्या—सन् १६५७ ई० में आंध्रप्रदेश की जनसंख्या लगभग ३,१२,६०,००० थी। यहाँ के प्रसिद्ध नगरों की जनसंख्या इस प्रकार थी : हैदराबाद १२,१८,८५३, विशाखापट्टनम् १,०८,०४२, विजयवाड़ा, १,६१,१६८, गुंटूर १,२५,२५५, वारंगल १,३३,१३०, राजमुंद्री १,०५,२७६।

आंध्र मे जनसंख्या का औसत घनत्व ३०० व्यक्ति प्रति वर्ग मील है। यहाँ की भाषा तेलुगू तथा राजधानी हैदराबाद है। [रा० लो० सिं०]

आंफिएरोस आइक्लेस् अपोलो (सूर्य) तथा हिपेर्मेस्त्रा का पुत्र एवं आर्गास् का राजा, जो द्रष्टा के रूप में विख्यात था। इसका विवाह अद्रास्तस् की बहन एरीफिले के साथ हुआ था जिसके आग्रह के कारण वह थेबस् के अभियान में संमिलित हुआ। ग्रीक पुराण कथाओं के अनुसार उसको पहले से ही मालूम था कि वह युद्ध में मारा जायगा, इसलिये उसने अपने पुत्रों को अपनी माता से बदला लेने का आदेश कर दिया था। थेबेस् के युद्ध से पराजित होकर भागते हुए वह सूर्य द्वारा प्रस्तुत किए भूविवर में रथ और घोड़ों के सहित समा गया।

सं०ग्रं०—एडिथ् हैमिल्टन : माइथॉलौजी, १६५४; राबर्ट ग्रेव्ज़ : दि ग्रीक मिथ्स्, १६५५। [भो०ना०श०]

आंफिक्त्योनी आंफिक्त्योनेइया, आंफिक्त्योनेस् प्राचीन यूनान की धर्म संबंधी परिषदों के नाम। इस शब्द का अर्थ है चारों ओर रहनेवाले (आंफि=अमितः, सब ओर+क्त्योनेस्=निवासी)। ये परिषदें मंदिरों, धर्मस्थानों, धार्मिक उत्सवों एवं मेलों की व्यवस्था किया करती थीं। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिषद् वह थी जो आरंभ

में थर्मोपिली के पास अंथेला नामक स्थान पर देमेतर (अन्न और कृषि की देवी) के मंदिर की व्यवस्था करती थी तथा जो आगे चलकर देल्फी में सूर्य देव अपोलो के मन्दिर का भी प्रबंध करने लगी थी। इसके प्राचीनतम रूप में यूनानियों के १२ कबीले (थेसालियन्, बियोतियन्, दोरियन्, इयोनियन् (सं० यवन), पैहिबियन्, दोलोपियन्, माग्नेती, लोक्रियन्, इनियाने, फ्थियोती, अकियन्, मालियन् और फोकियन्) संमिलित थे। समय समय पर इन कबीलों की संख्या घटती बढ़ती रही थी। इस परिषद् की बैठकें वर्ष में दो बार, बारी बारी से देल्फी और थर्मोपिली में, हुआ करती थीं, जिनमें प्रत्येक कबीले को दो मत प्राप्त थे। इसकी सपत्ति का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इसने अपना सिक्का भी चलाया था।

ग्रीक जगत् में इस परिषद् का राजनीतिक महत्व भी पर्याप्त था। विभिन्न नगरराष्ट्रों में बँटी हुई ग्रीक जाति में यह परिषद् एकता की दिशा में प्रभाव डालनेवाली थी। आपसी युद्धों में परिषद् ने नगरों को और नगरों की जल की व्यवस्था को नष्ट करने का निषेध कर दिया था। आगे चलकर इस परिषद् ने समस्त ग्रीक जाति पर एक समान लागू होनेवाले नियम बनाने की दिशा में भी प्रयत्न किया था और एक समान मुद्रा-प्रचलन का भी उद्योग किया था। परिषद् के नियमों का उल्लंघन करनेवालों के अभियोगों का निर्णय कबीलों के मताधिकारी प्रतिनिधियों के द्वारा किया जाता था जो 'हियेरोम्नेमोन्' कहलाते थे एवं अपराधियों के विरुद्ध धर्मयुद्ध तक की घोषणा कर सकते थे। पर बलशाली नगर-राष्ट्र इस परिषद् के आदेशों की उपेक्षा भी कर देते थे और कभी कभी इसका अपने कार्यों के साधने में भी प्रयोग करते थे। फेराए के यासन् और मकदूनिया के फिलिप् ने इसका उपयोग अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये किया था। कहते हैं कि इस परिषद् का प्रथम संस्थापक अम्फिक्त्योन् था जो देउकालिथोन् का पुत्र और हेलेन् का भाई था।

सं०ग्रं०—बुजोल्ट : ग्रीशिशे श्टाट्स्कुंडे, १९२६। कारस्टेट् : ग्रीशिशे श्टाट्स्रेख्ट्, १९२२। [भो० ना० श०]

आँबा हलदी या आमा हलदी को संस्कृत में आम्रहरिद्रा अथवा वनहरिद्रा तथा लैटिन में करकुमा ऐरोमैटिका कहते हैं।

यह वनस्पति विशेषकर बंगाल के जंगलों में और पश्चिमी प्रायद्वीप में होती है। इसकी जड़ें रंग में हल्दी की तरह और गंध में कचूर की तरह होती हैं। जड़ें बहुत दूर तक फैलती हैं। पत्ते बड़े और हरे तथा फूल सुगंधित होते हैं। इसे बागीचों में भी लगाते हैं।

आयुर्वेद में इसे शीतल, वात-रक्त और विष को दूर करनेवाली, वीर्यवर्धक, संनिपातनाशक, रुचिदायक, अग्नि का दीपन करनेवाली तथा उग्रव्रण, खाँसी, श्वास, हिचकी, ज्वर और चोट से उत्पन्न सूजन को नष्ट करनेवाली कहा गया है।

इसकी सुखाई हुई गाँठों का व्यवहार वातनाशक और सुगंध देनेवाले द्रव्य के समान किया जाता है। चोट तथा मोच में भी अन्य द्रव्यों के साथ पीसकर इसके गरम लेप का व्यवहार किया जाता है।

[भ० दा० व०]

आँबुर मद्रास प्रांत के अंतर्गत उत्तरी अर्काट जिले में वेलोर तालुके में एक नगर तथा दक्षिण रेलवे का एक स्टेशन है। यह पलार नदी के दक्षिणी किनारे पर वेलोर से ३० मील तथा मद्रास से ११२ मील दूर स्थित है (स्थिति: १२° ४८' उ० अक्षांश तथा ७८° ४३' पू० देशांतर)। पहले यह नील के व्यापार का केंद्र था; अब यहाँ से तेल, घी तथा अन्य खाद्य वस्तुएँ मद्रास भेजी जाती हैं। यहाँ की मुख्य व्यापारी जाति 'लबाई' है।

बहुत ऊँचा आंबुर मीनार ऐतिहासिक दृष्टि से प्रसिद्ध है। भूतकाल में यहाँ बहुत सी भयंकर लड़ाइयाँ लड़ी गई थीं। नगर की जनसंख्या १९०१ ई० में १५,९०३ थी, पर १९५१ ई० में यह ३६,९६२ हो गई जिसमें २०,३१२ महिलाएँ थीं। यहाँ उद्योग, व्यापार तथा नौकरियों में लगभग बराबर संख्या में लोग लगे हुए हैं। [ह० ह० सिं०]

आंब्रोज (३४०-३७१) मिलान के बिशप; जन्म त्रीव्ज में। प्राचीन ईसाई धर्म के आगस्तिन, जेरोम और ग्रेगरी महान् की श्रेणी के संत। इन्होंने धार्मिक भावना से ओतप्रोत पर सरल बोधगम्य भाषा में अनेक भजनों की रचना की जो बाद के भजनों के लिये आदर्श सिद्ध हुए। इनके पिता प्रीफेक्ट और माता विदुषी एवं दयावान स्त्री थीं। इन्हें रोम में शिक्षा मिली थी, तदुपरांत मिलान के बिशप हुए। अपना धन इन्होंने गरीबों में बाँटकर ईसाई धर्म के प्रचार में अपना जीवन लगा दिया।

[स० च०]

आंभी ३२६ ई० पू०, सिकंदर का समकालीन और तक्षशिला का राजा। सिकंदर ने जब सिंधुनद पार किया तब आंभी ने अपनी राजधानी तक्षशिला में चाँदी की वस्तुएँ, भेड़ें और बैल भेंट कर उसका स्वागत किया। चतुर विजेता ने उसके उपहारों को अपने उपहारों के साथ लौटा दिया जिसके फलस्वरूप आंभी ने आगे का देश जीतने के लिये उसे ५००० अनुपम योद्धा प्रदान किए। आंभी को उदार विजेता ने फिर झेलम और सिंधुनद के द्वाब का शासक नियुक्त किया।

[ओं० ना० उ०]

आँवला संस्कृत में इसे अमृता, अमृतफल, आमलकी, पंचरसा इत्यादि, अंग्रेजी में एंब्लिक माइराबालान तथा लैटिन में फ़िलैंथस एंबेलिका कहते हैं।

यह वृक्ष समस्त भारत के जंगलों तथा बाग बगीचों में होता है। इसकी ऊँचाई २० से २५ फुट तक, छाल राख के रंग की, पत्ते इमली के पत्तों जैसे, किंतु कुछ बड़े तथा फूल पीले रंग के छोटे छोटे होते हैं। फूलों के स्थान पर गोल, चमकते हुए, पकने पर लाल रंग के, फल लगते हैं, जो आँवला नाम से ही पुकारे जाते हैं। वाराणसी का आँवला सब से अच्छा माना जाता है। यह वृक्ष कार्तिक में फलता है।

आयुर्वेद के अनुसार हरीतकी (हड़) और आँवला दो सर्वोत्कृष्ट ओषधियाँ हैं। इन दोनों में आँवले का महत्व अधिक है। चरक के मत से शारीरिक अवनति को रोकनेवाले अवस्थास्थापक द्रव्यों में आँवला सबसे प्रधान है। प्राचीन ग्रंथकारों ने इसको शिवा (कल्याणकारी), वयस्था (अवस्था को बनाए रखनेवाला) तथा धात्री (माता समान रक्षा करनेवाला) कहा है।

इसके फल पूरा पकने के पहले ही व्यवहार में आते हैं। वे ग्राही (पेटभरी रोकनेवाले), मूत्रल तथा रक्तशोधक बताए गए हैं। कहा गया है कि ये अतिसार, प्रमेह, दाह, कँवल, अम्लपित्त, रक्तपित्त, अर्श, बद्धकोष्ठ, अजीर्ण, अरुचि, श्वास, खाँसी इत्यादि रोग को नष्ट तथा दृष्टि को तेज, वीर्य को दृढ़ और आयु की वृद्धि करते हैं। मेधा, स्मरणशक्ति, स्वास्थ्य, यौवन, तेज, कांति तथा सर्वबलदायक ओषधियों में इसे सर्वप्रधान कहा गया है। इसके पत्तों के क्वाथ से कुल्ला करने पर मुँह के छाले और क्षत नष्ट होते हैं। सूखे फलों को पानी में रात भर भिगोकर उस पानी से आँख धोने से सूजन इत्यादि दूर होती है। सूखे फल खूनी अतिसार, आँव, बवासीर और रक्तपित्त में तथा लोहभस्म के साथ लेने पर पांडुरोग और अजीर्ण में लाभदायक माने जाते हैं। आँवला के ताज फल, उनका रस या इनसे तैयार किया शरबत शीतल, मूत्रल, रेचक तथा अम्लपित्त को दूर करनेवाला कहा गया है। आयुर्वेद के अनुसार यह फल पित्तशामक है और संधिवात में उपयोगी है। ब्राह्म रसायन तथा च्यवनप्राश, ये दो विशिष्ट रसायन आँवले से तैयार किए जाते हैं। प्रथम मनुष्य को नीरोग रखने तथा अवस्थास्थापन में उपयोगी माना जाता है तथा दूसरा भिन्न भिन्न अनुपानों के साथ भिन्न भिन्न रोगों, जैसे हृदयरोग, वात, रक्त, मूत्र तथा वीर्यदोष, स्वर-क्षय, खाँसी और श्वासरोग में लाभदायक माना जाता है।

आधुनिक अनुसंधानों के अनुसार आँवला में विटैमिन सी प्रचुर मात्रा में होता है; इतनी अधिक मात्रा में कि साधारण रीति से मुरब्बा बनाने में भी सारे विटैमिन का नाश नहीं हो पाता। संभवतः आँवले का मुरब्बा इसीलिये गुणकारी है। आँवले को छाँह में सुखाकर और कूट पीसकर सैनिकों के आहार में उन स्थानों में दिया जाता है जहाँ हरी तरकारियाँ नहीं मिल पातीं। आँवले के उस अचार में जो आग पर नहीं पकाया जाता

विटैमिन सी प्रायः पूर्ण रूप से सुरक्षित रह जाता है, और यह अचार विटैमिन सी की कमी में खाया जा सकता है। [भ० दा० व०]

आँहवेई चीन देश का एक पूर्वी प्रांत है, जो यांगसीक्यांग की घाटी में स्थित है; क्षेत्रफल: ५६,००० वर्गमील; जनसंख्या ३,०३,४३,६३७ (१९५३ ई०)। यह प्रांत सन् १९३८ से १९४८ ई० तक जापान के अधीन रहा। चीन की राजनीतिक क्रांति के बाद इसके दो भाग किए गए, परंतु अगस्त, सन् १९५२ ई० में ये पुनः एक हो गए। आँहवेई दो प्राकृतिक भागों में विभक्त किया जा सकता है :

(१) उत्तरी आँहवेई, उत्तर चीन के मैदान का एक खंड है जो ह्वाईहो की द्रोणी में स्थित है। यह क्षेत्र जाड़े में अत्यधिक ठंढा और शुष्क तथा गर्मी में आर्द्र एवं उष्ण रहता है। यह जाड़े में गेहूँ और क्योलियांग की उपज के लिये प्रसिद्ध है।

(२) दक्षिणी आँहवेई, यांगसीक्यांग की घाटी में पहाड़ियों से घिरा, अधिक रम्य जलवायु तथा गेहूँ एवं चावल की उपज का क्षेत्र है। सन् १९५५ में आँहवेई का अन्न-उत्पादन १११·७ लाख टन अथवा चीन के अन्न-उत्पादन का ६% था। यह प्रांत अन्न के अतिरिक्त रुई, रेशम, चाय तथा खनिजों में कोयले और लोहे का भी उत्पादन करता है। इसके प्रमुख नगर पेंगपू (१९५३ ई० में जनसंख्या ३,००,०००), वुहू (जनसंख्या २,४२,०००), होफी (जनसंख्या २,००,०००) तथा ह्वाइनिंग हैं। होफी इसकी राजधानी है। [न० कि० प्र० सि०]

आइंस्टाइन प्रसिद्ध भौतिकी वैज्ञानिक और सापेक्षवाद के जन्मदाता ऐल्बर्ट आइंस्टाइनका जन्म १४ मार्च, सन् १८७९ को जर्मनी के वुर्टेमबर्ग प्रदेश के ऊल्म नामक नगर में हुआ था। इनके माता पिता यहूदी थे। इनका बचपन म्यूनिख में बीता था, जहाँ इनके पिता का बिजली के सामान का कारखाना था। सन् १८९४ मे इनका परिवार इटली में जा बसा और ऐल्बर्ट को स्विट्ज़रलैंड के आरू नामक नगर के एक विद्यालय में भरती करा दिया गया। इसके पश्चात् गणित तथा भौतिक शास्त्र पढ़ाकर जीविकोपार्जन करते हुए ये ज़्यूरिक में विद्याभ्यास करते रहे। सन् १९०१ में बर्न के पेटेंट कार्यालय में जाँचकर्ता नियुक्त हुए तथा १९०९ तक इसी पद पर रहे। इसी बीच इन्होंने ज़्यूरिक विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की डिग्री प्राप्त की तथा भौतिक शास्त्र संबंधी अपने आरंभिक लेख प्रकाशित किए। ये इतनी उच्च कोटि के समझे गए कि इन्हें ज़्यूरिक के विश्वविद्यालय में प्रोफेसर का पद दिया गया। एक ही वर्ष बाद, सन् १९१० में प्राग के जर्मन विश्वविद्यालय में ये सैद्धांतिक भौतिकी के प्रोफेसर नियुक्त हो गए। १९१२ में ये ज़्यूरिक के पालिटक्निक स्कूल में प्रोफेसर नियुक्त होकर इस नगर में लौट आए। सन् १९१३ में इन्होंने बर्लिन के प्रुशियन विज्ञान अकादमी में गवेषणा संबंधी पद के साथ बर्लिन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर का तथा भौतिकी के कैसर विलहेल्म इंस्टिट्यूट के संचालक का भी पद स्वीकार किया।

अब तक विज्ञान के क्षेत्र में इनकी असाधारण श्रेष्ठता इतनी सुस्पष्ट हो गई थी कि इन्हें राजकीय प्रुशियन विज्ञान-अकादमी का सदस्य चुन लिया गया और इनकी वृत्तिका नियत कर दी गई कि ये अपना समय स्वतंत्र रूप से केवल अनुसंधान में लगा सकें। जेनेवा, मैनचेस्टर, रॉस्टॉक तथा प्रिन्सटन विश्वविद्यालयों ने इन्हें डॉक्टरेट की संमानित उपाधियाँ अर्पित कीं तथा ऐम्स्टर्डैम (नीदरलैंड) और कोपेनहेगेन (डेनमार्क) की अकादमियों ने अपना संमानित सदस्य चुना। सन् १९२१ में ये इंग्लैंड की रायल सोसायटी के भी सदस्य चुने गए। इसी संस्था ने सन् १९२५ में इन्हें कोपली पदक से तथा सन् १९२६ में रॉयल ऐस्ट्रोनॉमिकल सोसायटी ने भी एक स्वर्णपदक से संमानित किया। सन् १९२१ में इन्हें संसार का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार नोबेल पुरस्कार मिला।

सन् १९३० में जर्मनी में विषम राजनीतिक परिस्थिति उत्पन्न हो गई। इस समय जर्मनी में विज्ञान तथा वैज्ञानिकों का भविष्य आइंस्टाइन को अति संकटमय जान पड़ा। उन्होंने यह देश छोड़ यूरोप, इंग्लैंड तथा संयुक्त राज्य (अमरीका) की यात्रा आरंभ की और अंत में अमरीका के प्रिन्सटन नगर में, उच्च अध्ययन के लिये स्थापित नई संस्था में प्रोफेसर का पद स्वीकार कर सन् १९३३ से वहीं बस गए।

आइंस्टाइन ने जो अनुसंधान किए हैं वे इतने उच्चस्तरीय गणित पर आधृत हैं तथा उनका क्षेत्र और फल इतने व्यापक है कि उन सबका ब्योरेवार वर्णन करना यहाँ संभव नहीं है। जिस खोज के कारण लोग उन्हें विशेषकर जानते हैं वह आपेक्षिता सिद्धांत है (उसे देखें)। इसके सीमित रूप का प्रकाशन इन्होंने सन् १९०५ में किया था। इस सिद्धांत ने उस समय की अनेक आधारभूत धारणाओं को उलट पलट दिया। पहले तो वैज्ञानिक इस सिद्धांत को कल्पना की उड़ान समझते थे, किंतु धीरे धीरे विश्व के वैज्ञानिकों ने इसे पूर्ण रूप से स्वीकार किया। सन् १९१५ में इन्होंने इसी का विस्तृत सिद्धांत प्रकाशित किया।

सन् १९०५ में ही इन्होंने "ब्राउनियन" गति, अर्थात् वायु तथा तरल पदार्थों में इधर उधर अनियमित रीति से तैरनेवाले सूक्ष्म कणों की चाल, के संबंध में एक सिद्धांत प्रस्तुत किया। इन कणों की गति को पिछले ८० वर्षों में चेष्टा करने पर भी वैज्ञानिक नहीं समझ पाए थे। धातु के तलों पर प्रकाश के आघात से विद्युद्धारा की उत्पत्ति के तथा विकीर्ण ऊर्जा से हुए रासायनिक परिवर्तन के कारणों पर भी आपने प्रकाश डाला।

सन् १९४९ में इन्होंने अपने उस नवीन सिद्धांत की घोषणा की जिसके द्वारा विद्युच्चुंबकीय घटनाएँ तथा गुरुत्वाकर्षण के फल एक सूत्र में आबद्ध हो गए। सन् १९५३ में इसी सिद्धांत का अधिक विस्तार कर इन्होंने उन आधारभूत, सर्वपरिवेष्टक नियमों का वर्णन किया जिनसे विश्व के सब कार्य संपादित होते हैं।

इस अपूर्व समझवाले महावैज्ञानिक की मृत्यु सन् १९५५ में ७६ वर्ष की आयु में हुई। अनेक विद्वानों का मत है कि पिछली कई शताब्दियों से ऐसे श्रेष्ठ वैज्ञानिक ने जन्म नहीं लिया था। [भ० दा० व०]

आइओला संयुक्त राज्य, अमरीका के कैन्सास राज्य का एक नगर है। यह समुद्रतल से ९५७ फुट की ऊँचाई पर न्यू शो नदी के तट पर स्थित है तथा रेलों द्वारा अचिसन, टोपेका, सेंटाफी, मिसौरी, कंसास तथा टेक्सास से संबद्ध है। कैंसास नगर इसके पूर्वोत्तर में १०९ मील की दूरी पर स्थित है। आइओला में चारो ओर से सड़कें आकर मिलती हैं। यहाँ एक हवाई अड्डा भी है। यह एक संपन्न कृषिक्षेत्र के बीच स्थित है, अतः यहाँ बहुत सी दुग्धशालाएँ हैं। ईंटें तथा सीमेंट, लोहे के सामान, मिट्टी का तेल तथा वस्त्रादि आइओला के प्रसिद्ध उद्योग हैं। इसकी स्थापना सन् १८५९ ई० में हुई थी। १८९३ ई० में इसके निकट प्राकृतिक गैस का पता चला। तब नगर की जनसंख्या में तीव्र वृद्धि आरंभ हो गई। इसकी जनसंख्या सन् १९५० ई० में ७,०९४ थी। [लें० रा० सिं० क०]

आइओवा यह संयुक्त राज्य, अमरीका के आइओवा राज्य का एक प्रसिद्ध नगर है, जो आइओवा नदी के तट पर ६८५ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यह शिकागो, शक द्वीप तथा प्रशांत महासागरीय तट से रेलों द्वारा संबद्ध है तथा डेस म्वाइंस से १२१ मील पूर्व में स्थित है। यहाँ एक हवाई अड्डा भी है। इसकी ख्याति विश्वविद्यालय के कारण है जो आइओवा राज्य की सबसे बड़ी शिक्षासंस्था है और जहाँ १०,२५४ विद्यार्थी तथा १,५३५ अध्यापक हैं। सन् १८३९ ई० में आइओवा नगर आइओवा राज्य की राजधानी चुना गया था, परंतु सन् १८५३ ई० में इसे पदच्युत करके डेस म्वाइंस को राजधानी बनाया गया। संप्रति राजधानी के पुराने कार्यालय में विश्वविद्यालय का कार्यालय स्थित है। सन् १९५० में इसकी जनसंख्या २७,२१२ थी। [लें० रा० सिं० क०]

आइक, जान फ़ान दूसरा नाम जान फ़ान ब्रुगे, (ल० १३७०-१४४०); हूबर्ट आइक का छोटा भाई। दोनों भाई चित्रकारी के इतिहास में प्रसिद्ध हो गए हैं। जान ने पहले भाई से ही चित्रण में शिक्षा ली, पर शीघ्र वह उससे उस कला में आगे निकल गया और उसकी असाधारण मेधा ने उसे अपने संसार के कलावंतों में अग्रणी बना दिया और आज उसकी गणना इतिहास के सर्वोत्तम चितेरों में है।

पहले दोनों भाइयों ने अनेक चित्रांकन संयुक्त रूप से किए। इस प्रकार का एक संयुक्त चित्रण गेंट के गिरजे में प्रसिद्ध 'मेमने की पूजा' है, जिसमें ३०० से अधिक आकृतियाँ चित्रित हैं और जो संसार के सर्वोत्तम चित्रों में गिना जाता है। यह चित्रण दीवार में जड़े लकड़ी के तख्ते पर

हुआ है, जिसके दोनों पार्श्वों में चितेरों और उसकी भगिनी की आकृतियाँ बनी हैं।

चित्रकला के इतिहास में जान आइक ने चित्रण की सामग्री में इतिहास के प्रयोग का आविष्कार कर एक क्रांति कर दी। यह आविष्कार दोनों भाइयों का संयुक्त था। वैसे, मूलतः इसके आविष्कार का श्रेय संभवतः उनको नहीं है। आइकों के पहले भित्तिचित्रण की परंपरा यह थी कि आकृतियाँ समतल स्वर्णाभ पृष्ठभूमि से आगे को बगैर गहराई (पर्स्पेक्टिव) के उभार ली जाया करती थीं। स्वयं फ़ान आइक ने भी पहले इसी तकनीक का अनुसरण किया। पर जैसे जैसे उसका कलाविषयक अभ्यास और सूझ बढ़ती गई वह ग्रूप का अंकन अधिक स्वाभाविक करता गया। पहले जल के साथ मिश्रित रंगों की पृष्ठभूमि चिटख जाया करती थी, पर अब तेल की स्निग्धता से वह जमी रहने लगी। इससे चित्रण की शैली ने एक नया डग भरा।

अपनी चिती आकृतियों में पर्स्पेक्टिव या गहराई देने के लिये उसने जिस उपाय का आविष्कार किया उससे अनेक कलासमीक्षकों ने उसे आधुनिक चित्रण का जनक घोषित किया है; कारण, अपनी नई शैली से उसने चित्रण के तकनीक को एक नई दिशा दी जिसने आनेवाली पीढ़ी को नेदरलैंड और इटली के पुनर्जागरणकालीन कलाधुरीणों की कृतियों को अमर कर दिया। फ़ान आइक की खोजों का उपयोग उन्होंने ही किया। काँच पर किए अपने चित्रणों में उसने जिस तकनीक का उपयोग किया वह उसका निजी था। उसके रंग बड़े हलके मिले होते थे पर इस प्रकार चिपक जाते थे कि उनका मिटना असंभव हो जाता था। अब तक पच्चीकारी में रंग डालने के बजाय छोटे छोटे शीशे के विभिन्न रंगों के टुकड़े जोड़ लिए जाते थे। यह सही है कि काया की कुछ भावभंगियों को अभिव्यक्त करने में यह तकनीक सदा सफल नहीं हो पाती थी, विशेषकर नग्नाकृतियों के आकलन में, परंतु आइक द्वारा अनुष्ठित शैली में चेहरे, वसनों तथा कलाकृतियों का अंकन और प्रकाश तथा छाया का प्रक्षेपण अपेक्षाकृत कहीं सुंदर होने लगा। इसका प्रमाण स्वयं उसके और उसके शिष्यों के अंकन हैं। फ़ान आइक के अनेक चित्र आज भी सुरक्षित हैं—गिरजाघरों में, संग्रहालयों और निजी संग्रहों में। जान फ़ान आइक मसाइक में जनमा और ब्रुग्स (नेदरलैंड्स्) में मरा।

सं०ग्रं०—जी० एफ़० वागेन : ह्यूबर्ट ऐंड जोहान फ़ान आइक, १८२२; मार्टिन कात्वे: दि फ़ान आइक्स ऐंड देयर फ़ालोअर्स, १९२१; एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, खड ६, १९५६। [भ० श० उ०]

आइज़नहावर, ड्वाइट डेविड

(१८९०) संयुक्त राज्य अमरीका के ३४ वें राष्ट्रपति। इन्होंने १९११ में सेना में प्रवेश किया और निरंतर उन्नति करते चले गए। पहले महायुद्ध में भी इन्होंने भाग लिया था और दूसरे महायुद्ध के समय तो ये विख्यात जनरल ही हो गए थे। दूसरे महायुद्ध से पहले ही १९३५ ई० में जनरल मैक आर्थर ने आइज़नहावर को फिलिप्पाइंस में सेना का उपपरामर्शदाता नियुक्त कर दिया था। दूसरे महायुद्ध में जनरल आइज़नहावर ने अनेक प्रशंसनीय कार्य किये। जनरल मांटगोमरी और जनरल आइज़नहावर ने ब्रिटिश और अमरीकी सेनाओं का उल्लेखनीय संचालन किया।

युद्ध से लौटने के बाद आइज़नहावर अमरीका में अत्यंत लोकप्रिय हो गए थे और जब वे न्यूयार्क सिटी में पहुँचे तब करीब ४० लाख जनता ने उनका स्वागत किया। १९५५ के चुनाव में आइज़नहावर रिपब्लिकन (प्रजातंत्रीय) दल की ओर से अमरीका के प्रेसिडेंट चुन लिए गए। दूसरी बार भी वे वहाँ के प्रेसिडेंट चुने गए। उनका विशेष प्रयास अधिक से अधिक पश्चिमी मित्र राष्ट्रों को रूस के मुकाबले प्रबल बनाना रहा है जिससे शक्ति के संतुलन के फलस्वरूप विश्व में शांति बनी रहे। [ओं० ना० उ०]

आइसक्रीम

(एक प्रकार की मलाई की कुल्फी) दूध, क्रीम, चीनी और सुगंध के मिश्रण को ठंढा करके जमा देने से बनती है। खाने में यह अति स्वादिष्ट होती है और स्वच्छता से बनाई जाने पर यह स्वास्थ्यप्रद आहार है। यूनाइटेड स्टेट्स (अमरीका) में लगभग ८ करोड़ मन आइसक्रीम प्रति वर्ष खपती है।

घर पर आइसक्रीम बनाने के लिये जमानेवाली मशीनों का प्रयोग किया जाता है, जिन्हें फ़्रीज़र कहते हैं। यह लोहे की कलईदार चादर का, ढक्कनदार, बेलनाकार डिब्बा होता है जो काठ की बालटी में रखा रहता है। मशीन का हैंडिल घुमाने से डिब्बा नाचता है और इसके भीतर लगे लकड़ी के फल उलटी ओर घूमते हैं। डिब्बे में दूध तथा अन्य वस्तुओं का संमिश्रित घोल रहता है, बाहर बर्फ और नमक का मिश्रण। बर्फ और नमक का मिश्रण बर्फ से कहीं अधिक ठंढा होता है और उसकी ठंढक से बरतन के भीतर का दूध जमने लगता है। पहले पहल बरतन की दीवार पर दूध जमता है। उसे भीतर घूमनेवाली लकड़ियाँ खुरचकर दूध में मिला देती हैं। इस प्रकार दूध थोड़ा थोड़ा जमता चलता है और शेष दूध में मिलता जाता है। कुछ समय में सारा दूध जम जाता है, परंतु भीतरी लकड़ी के घूमते रहने से वह पूरा ठोस नहीं हो पाता। इस अवस्था के बाद हैंडिल घुमाना बेकार है।

आइसक्रीम जमाने की घरेलू मशीन

बीच के फलदार दंड से दूध आदि का मिश्रण मथ उठता है। इसकी अगल बगल लगे काठ छटककर बरतन के भीतरी पृष्ठ पर से जमी आइसक्रीम को खुरच लेते हैं, जिससे दूध के नए अंश को जमने का अवसर मिलता है।
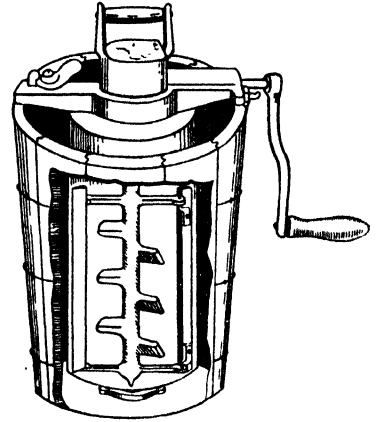
बढ़िया आइसक्रीम के लिये निम्नलिखित अनुपात में वस्तुएँ मिलाई जा सकती हैं: ८ छटाँक क्रीम, ४ छटाँक दूध, ४ छटाँक संघनित दुग्ध (कंडेंस्ड मिल्क) या उसके बदले में उतनी ही रबड़ी (अर्थात् उबालकर खूब गाढ़ा किया हुआ दूध), ३ छटांक चीनी और इच्छानुसार सुगंध (गुलाबजल या वैनिला एसेंस या स्ट्रॉबेरी एसेंस आदि) तथा मेवा, पिस्ता, बादाम या काजू अथवा फल। यदि पूर्वोक्त ४ छटाँक दूध में एक चुटकी अरारोट (पहले अलग थोड़े से दूध में मसलकर) मिला लिया जाय और उस मिश्रण को उबाल लिया जाय तो अधिक अच्छा होगा। स्मरण रहे कि संघनित दूध के बदले रबड़ी डालने से स्वाद उतना अच्छा नहीं होता। ठंढा होने पर सब पदार्थों को एक में मिलाकर सुगंध डालनी चाहिए। (क्रीम वह वस्तु है जिससे मक्खन निकलता है; दूध को क्रीम निकालनेवाली मशीन में डालकर मशीन को चालू करने पर मक्खनरहित दूध अलग हो जाता है और क्रीम अलग।) डेयरी से क्रीम खरीदी जा सकती है। क्रीम न मिले तो उबले दूध को कई घंटे स्थिर छोड़कर ऊपर से निकाली गई मलाई और चिकनाई से काम चल सकता है, परंतु स्वाद में अंतर पड़ जाता है।

बाहरी बालटी के लिये बर्फ को नुकीले काँटे और हथौड़ों से छोटे छोटे टुकड़ों में तोड़ डालना चाहिए (या काठ के हथौड़े से चूर करना चाहिए)। टुकड़े आधा इंच या पौन इंच के हों; कोई भी एक इंच से बड़ा न रहे। दो भाग बर्फ में एक भाग पिसा नमक पड़ता है। थोड़ी बर्फ, तब थोड़ा नमक, फिर बर्फ और नमक, इसी प्रकार अंत तक पारी पारी से नमक और बर्फ डालते रहना चाहिए। ध्यान रहे कि दूधवाले बरतन में नमक न घुसने पाए। बर्फ और नमक के गलने से ही ठंढक उत्पन्न होती है।

बड़े पैमाने पर आइसक्रीम बनाने के लिये मशीनों का प्रयोग किया जाता है। इसमें सात आठ इंच व्यास की एक नली होती है, जिसके भीतर खुरचनेवाली लकड़ियाँ लगी रहती हैं। इस नली में एक ओर से दूध आदि का मिश्रण घुसता है, दूसरी ओर से तैयार आइसक्रीम, जिसमें केवल

मेवा आदि डालना रहता है, निकलती है; कारण यह है कि बर्फ बनाने की मशीन में नली के ऊपर एक खोल रहता है और खोल तथा नली के बीच के स्थान में अत्यंत ठंढी की गई अमोनिया या अन्य गैस बहती रहती है।

विदेशों में अरारोट के बदले साधारणतः जिलेटिन का उपयोग किया जाता है। इसका उद्देश्य होता है कि दूध के पानी से बर्फ के रवे न बन जायँ और मथने के कारण क्रीम से मक्खन अलग न हो जाय (यदि आइसक्रीम को जमाने समय खूब मथा न जाय तो वह पर्याप्त वायुमय न बन पाएगी और इसलिये स्वादिष्ट न होगी)। जमाने के पहले मिश्रण को आधे घंटे तक १५५° फारेनहाइट ताप तक गरम करके तुरंत खूब ठंढा किया जाता है जिससे रोग के जीवाणु मर जायँ। इस क्रिया को पैस्ट्युराइज़ेशन कहते हैं। मिश्रण को बहुत बारीक छेद की चलनी में डालकर और बहुत अधिक दबाव का प्रयोग करके (लगभग २,५०० पाउंड प्रति वर्ग इंच का) छाना जाता है। इससे दूध में चिकनाई के कण बहुत छोटे (प्राकृतिक नाप के अष्टमांश) हो जाते हैं। इससे आइसक्रीम अधिक चिकनी और स्वादिष्ट बनती है।

जमानेवाली मशीन से निकलने के बाद आइसक्रीम को ठंढी कोठरी में, जो बर्फ से भी अधिक ठंढी होती है, कई घंटे तक रखते हैं। इससे आइसक्रीम कड़ी हो जाती है। फिर ग्राहकों के यहाँ (होटल और फेरीवालों के पास) विशेष मोटरलारियों में उसे भेजते हैं। जबतक वह बिक नहीं जाती, लारियों में वह साधारणतः प्रशीतकों (रेफ्रीजरेटरों) या गरमी न घुसने देनेवाली पेटियों में रखी जाती है। [मा० जा०]

आइसबर्ग अथवा हिमप्लवा हिम का बहता हुआ पिंड है जो किसी हिमनदी या ध्रुवीय हिमस्तर से विच्छिन्न हो जाता है। इसे हिमगिरि भी कहते हैं। हिमगिरि समुद्री धाराओं के अनुरूप प्रवाहित होते हैं। ये प्रायः ध्रुवी देशों से बहकर आते हैं और कभी कभी इन प्रदेशों से बहुत दूर तक पहुँच जाते हैं। जब हिमनदी समुद्र में प्रवेश करती है तब उसका खंडन हो जाता है और हिम के विच्छिन्न खंड हिमगिरि के रूप में बहने लगते हैं। इन हिमगिरियों का केवल १/६ भाग जल के ऊपर दृष्टिगोचर होता है। शेष पानी के भीतर रहता है। हिमगिरि प्रायः अपने साथ शिलाखंडों को भी ले चलते हैं और पिघलने पर इन्हें समुद्रनितल पर निक्षेपित करते हैं।

हिमगिरियों की अत्यधिक बहुलता ४२° ४५′ उ० अक्षांश और ४७° ५२′ प० देशांतर पर है जहाँ लैब्रेडोर की ठंढी धारा गल्फस्ट्रीम नामक उष्ण धारा से मिलती है। गर्म और ठंडी धाराओं के संगम से यहाँ अत्यधिक कुहरा उत्पन्न होता है, जिससे समुद्री यातायात में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। हिमगिरि बहुधा अत्यंत विशालकाय होते हैं और उनसे जहाज का टकराना भयावह होता है। लगभग पूर्वोक्त स्थान पर अप्रैल, १९१२ ई० में टाइटैनिक नामक बहुत बड़ा और एकदम नया जहाज एक विशाल हिमगिरि को छूता हुआ निकल गया, जिससे जहाज का पार्श्व चिर गया और कुछ घंटों में जहाज जलमग्न हो गया। [रा० ना० मा०]

आइसलैंड (१९५६ में जनसंख्या १,६२,७००) उत्तरी ऐटलांटिक महासागर में स्थित एक द्वीप है जिसका विस्तार ६३° १२′ उ० अक्षांश से ६६° ३३′ उ० अक्षांश तथा १३° २२′ प० देशांतर से २४° ३५′ प० देशांतर तक है। इसका कुल क्षेत्रफल लगभग ३९,७०१ वर्ग मील है। संपूर्ण द्वीप ज्वालामुखी चट्टानों द्वारा निर्मित पठार है जिसका केवल १/१४ भाग अपेक्षाकृत नीचा है। आइसलैंड के अधिकांश लोग इसी निचले भाग में बसे हुए हैं।

द्वीप का करीब १३ प्रति शत भाग हिमाच्छादित रहता है जिसमें लगभग १२० हिमनदियाँ (ग्लेशियर) पाई जाती हैं। यहाँ के सबसे बड़े ग्लेशियर 'वट्नाजोकुल' का क्षेत्रफल १५० से २०० वर्ग मील तक है।

आइसलैंड में बहुत सी झीलें हैं। इनमें से कुछ ग्लेशियरों द्वारा निर्मित हुई हैं और कुछ ज्वालामुखी के क्रेटर में पानी भर जाने के कारण। सबसे बड़ी झीलों में थिंगवालवत एवं थोरिसरत मुख्य हैं। इनमें से प्रत्येक का क्षेत्रफल २७ वर्ग मील है।

यह द्वीप संसार के उन ज्वालामुखी प्रदेशों में से है जहाँ तृतीयक काल से अब तक लगातार उद्गार होते आए हैं। एक सौ से अधिक ज्वालामुखी पर्वत तथा हजारों क्रेटर इस द्वीप में फैले हुए हैं, जिनसे निर्मित लावा प्रदेश का क्षेत्रफल लगभग ४,६५० वर्ग मील है। इन उद्गारों के कारण यहाँ प्रायः भूचाल आया करता है। गरम पानी के अनेक सोते तथा फव्वारे (गाइसर) भी इसी कारण यहाँ मिलते हैं।

आइसलैंड की जलवायु गल्फस्ट्रीम नामक गरम धारा के प्रभाव से उसी अक्षांश में स्थित अन्य देशों की अपेक्षा अधिक गर्म है। यहाँ का साधारण वार्षिक ताप ३९.४° फा० है। शीतकाल के अत्यधिक ठंढे मास (जनवरी) का औसत ताप ३४.२° फा० तथा गर्मी की ऋतु के अधिकतम उष्ण मास (जुलाई) का ताप ५१.६° फा० है। यहाँ के निचले मैदानों की औसत वार्षिक वर्षा ५१ इंच तथा ऊँचे भागों की औसत वर्षा ७९.७ इंच है।

यहाँ की वनस्पतियाँ पश्चिमी यूरोपीय प्रदेश तथा आर्कटिक प्रदेश की वनस्पतियों के समान हैं। घास तथा छोटे पौधे (३ फुट से १० फुट तक के) ही अधिक उगते हैं। भूर्ज वृक्ष (बर्च) यहाँ का मुख्य पौधा है। जीवजंतु कम मिलते हैं। ध्रुव प्रदेशीय रीछ, लोमड़ी आदि जानवर कहीं कहीं दिखाई पड़ जाते हैं। परंतु आस पास के समुद्रों में सील, ह्वेल, कॉड, हेरिंग आदि मछलियाँ अधिक मिलती हैं। मछली पकड़ना यहाँ का मुख्य उद्यम है। निर्यात की वस्तुओं में मछली तथा मछली से बनी वस्तुएँ, विशेषकर कॉड एवं शार्क लिवर आयल, मुख्य हैं।

जून, सन् १९४४ से यह देश पूर्ण स्वतंत्र बना दिया गया है, इसकी राजधानी रेकजाविक (१९५१ ई० में जनसंख्या ५७,५१४) है।

अपनी विशेष स्थिति के कारण इसका सामरिक महत्व बढ़ता जा रहा है और यह अमरीका का एक प्रमुख सैनिक अड्डा बन गया है। [उ० सिं०]

आईन-ए-अकबरी (अकबर के विधान; समाप्तिकाल १५९८ ई०) अबुलफ़ज्ल-ए-अल्लामी द्वारा फ़ारसी भाषा में प्रणीत, बृहत् इतिहासपुस्तक अकबर-नामा का तृतीय तथा अधिक प्रसिद्ध भाग है। यह एक बृहत्, पृथक् तथा स्वतंत्र पुस्तक है। सम्राट् अकबर की प्रेरणा, प्रोत्साहन तथा आज्ञा से, असाधारण परिश्रम के फलस्वरूप पाँच बार शुद्ध कर इस ग्रंथ की रचना हुई थी। यद्यपि अबुलफ़ज्ल ने अन्य पुस्तकें भी लिखी हैं, किंतु उसे स्थायी और विश्वव्यापी कीर्ति आईन-ए-अकबरी के आधार पर ही उपलब्ध हो सकी। स्वयं अबुलफ़ज्ल के कथनानुसार उसका ध्येय महान् सम्राट् की स्मृति को सुरक्षित रखना तथा जिज्ञासु का पथप्रदर्शन करना था। मुगलकाल के इस्लामी जगत् में इसका यथेष्ट आदर हुआ; किंतु पाश्चात्य विद्वानों को, और उनके द्वारा भारतीयों को, इस अमूल्य निधि की चेतना तब हुई जब सर्वप्रथम वारेन हेस्टिंग्स के काल में ग्लैडविन ने इसका आंशिक अनुवाद किया; तत्पश्चात् ब्लाकमैन (१८७३) और जैरेट (१८९१, १८९४) ने इसका संपूर्ण अनुवाद किया। ग्रंथ पाँच भागों में विभाजित है तथा सात वर्षों में समाप्त हुआ था। प्रथम भाग में सम्राट् की प्रशस्ति तथा महली और दरबारी विवरण है। दूसरे भाग में राज्यकर्मचारी, सैनिक तथा नागरिक (सिविल) पद, वैवाहिक तथा शिक्षा संबंधी नियम, विविध मनोविनोद तथा राज दरबार के आश्रित प्रमुख साहित्यकार और संगीतज्ञ वर्णित हैं। तीसरे भाग में न्याय तथा प्रबंधक (एक्ज़ीक्यूटिव) विभागों के कानून, कृषि शासन संबंधी विवरण तथा बारह सूबों की ज्ञातव्य सूचनाएँ और आँकड़े संकलित हैं। चौथे विभाग में हिंदुओं की सामाजिक दशा और उनके धर्म, दर्शन, साहित्य और विज्ञान का (संस्कृत से अनभिज्ञ होने के कारण इनका संकलन अबुलफ़ज्ल ने पंडितों के मौखिक कथनों का अनुवाद कराकर किया था), विदेशी आक्रमणकारियों और प्रमुख यात्रियों का तथा प्रसिद्ध मुस्लिम संतों का वर्णन है और पाँचवें भाग में अकबर के सुभाष्य संकलित हैं एवं लेखक का उपसंहार है। अंत में लेखक ने स्वयं अपना जिक्र किया है। इस प्रकार सम्राट्, साम्राज्यशासन तथा शासित वर्ग का आईन-ए-अकबरी में अत्यंत सूक्ष्म दिग्दर्शन है। इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि युद्धों, षड्यंत्रों तथा वंशपरिवर्तनों के पचड़ों को प्राधान्य देने की अपेक्षा शासित वर्ग को समुचित स्थान प्रदान किया गया है। एक

प्रकार से यह आधुनिक भारत का प्रथम गज़ेटियर है। इसकी सर्वाधिक महत्ता यह है कि कट्टरता और धर्मोन्माद के विरोध में हिंदू समाज, धर्म और दर्शन को विशद गुणग्राही स्थान देकर प्रगतिशील और उदात्त दृष्टिकोण की स्थापना की गई है। अबुलफ़ज्ल ऐसा प्रकांड विद्वान् अन्य काल में भी संभव था, किंतु आईन-ए-अकबरी जैसा ग्रंथ अकबर के काल में ही संभव था, क्योंकि असाधारण विद्वान् (इसीलिये वह अल्लामी के विभूषण से प्रतिष्ठित हुआ) और असाधारण सम्राट् का बौद्धिक स्तर पर उदात्त भावनाओं की प्रेरणा से पूर्ण समन्वय संभव हो सका था। आईन-ए-अकबरी पर सम्राट् की प्रशस्ति में मुख्यतः अतिशयोक्ति का दोष लगाया जाता है, किंतु ब्लाकमैन के कथनानुसार "...वह (अबुलफ़ज्ल) प्रशंसा करता है, क्योंकि उसे एक सच्चा नायक मिल गया है"। और यह निर्विवाद है कि अकबर-कालीन राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक इतिहास के अध्ययन के लिये आईन-ए-अकबरी एक कोश का महत्व रखता है। अकबर के व्यक्तित्व और इतिहास को तौलने के लिये वह तराजू में बाट के समान है। [रा० ना०]

आउग्सबर्ग- जर्मनी के पश्चिमी भाग में बवेरिया का एक शहर है। यह म्यूनिख से ३५ मील उत्तर-पश्चिम में वेरटाख तथा लेख नदी के संगम पर १५०० फुट की ऊँचाई पर बसा है। १४ ई० पू० में आगस्टस बादशाह द्वारा रोमन साम्राज्य की चौकी (आउटपोस्ट) के रूप में इसकी स्थापना हुई थी। आउग्सबर्ग यूरोप का एक महत्वपूर्ण तथा संपन्न शहर था, क्योंकि यह उत्तरी तथा दक्षिणी यूरोप को मिलानेवाले मार्ग पर था। १२७६ ई० में यह एक सुंदर साम्राज्यवादी शहर बन गया। १७०३ ई० में निर्वाचित बवेरिया राज्य द्वारा बमों से नष्ट किया गया तथा १८०३ की लड़ाई में भी बहुत कुछ नष्ट हुआ। यहाँ का रेनेसाँ टाउनहाल, जिसमें गोल्डन हाल नामक सभा भवन भी है, जर्मनी में सबसे अच्छा है। यह भवन १७३ फुट लंबा, ५६ फुट चौड़ा तथा ५३ फुट ऊँचा है। अप्रैल, १९५४ ई० में संयुक्त राज्य की फौज ने इसको अपने अधिकार में कर लिया। यह नगर मध्ययुग में व्यावसायिक तथा व्यापारिक केंद्र के रूप में प्रसिद्ध था, परंतु आज औद्योगिक रूप में प्रसिद्ध है। सूती उद्योग, कलपुर्जे, रासायनिक वस्तुएँ, यंत्र, कागज की वस्तुएँ, चमड़े के सामान, इंजन तथा सोने चाँदी के सामान यहाँ बनाए जाते हैं। द्वितीय महायुद्ध में यह पोत के डीजल इंजिन बनाता था। १९५० में इसकी जनसंख्या १,८५,१८३ थी। [नृ० कु० सिं०]

आक (ऑक) बत्तक के समान, छोटा, समुद्रीय, टिट्टिभ (कारैड्रिइफ़ॉर्मीज) वर्ग का पक्षी है। इसका शरीर गठा हुआ, पंख छोटे और सँकरे, १२ से १८ परों की छोटी नाम तथा शरीर के पिछले भाग में आपस में झिल्ली से जुड़, कुल तीन अँगुलियोंवाले, पर होते हैं। पैरों की स्थिति शरीर के पिछले भाग में होने के कारण आक भूमि पर सीधे होकर चलता है। साधारणतः इसके शरीर के ऊपरी भाग का रंग काला और निचले का श्वेत होता है।
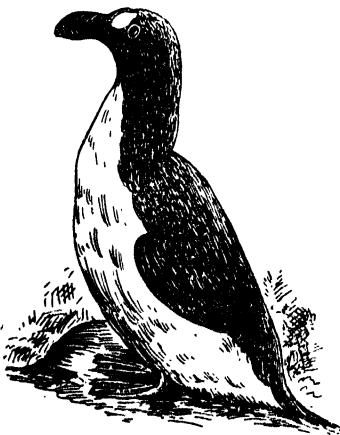
आक पक्षी

यह अंध तथा प्रशांत महासागरों के उत्तरी भागों और ध्रुव महासागरों में पाया जाता है।

आक अनेक जातियों के होते हैं। इनका निवास अंध तथा प्रशांत महासागरों के उत्तरी भागों और ध्रुव महासागरों में सीमित है। वर्ष के अधिक भाग को ये तट के पासवाले समुद्र में बिताते हैं। केवल शीत ऋतु में ये दक्षिण की ओर चले जाते हैं। इनका भोजन मुख्यतः मछली तथा कठिनि (क्रस्टेशियन) वर्ग के जीव, जैसे केकड़े, झींगा, महाचिंगट (लॉब्स्टर) इत्यादि होते हैं। इन्हें ये जल में गोता मारकर पकड़ते हैं। टापुओं और समुद्रतटीय पहाड़ियों में ये संतानोत्पत्ति के लिये बस जाते हैं। इनकी प्रायः सब जातियाँ घोसला नहीं बनातीं तथा एक जाति को छोड़कर बाकी सब जातियों के आक वर्ष में केवल एक अंडा देते हैं। अंडे से बाहर निकलने पर बच्चे काले रोएँदार परों से ढके रहते हैं। समुद्र में तो आक मौन रहते हैं, पर संतानोत्पत्ति के लिये बसे उपनिवेशों में ये विचित्र प्रकार के स्वर निकालते हैं।

भीमकाय आक ३० इंच लंबा होता था। परों के लिये अंधाधुंध शिकार किए जाने के कारण उनकी जाति १९वीं सदी में लुप्त हो गई। [कैं० जा० डा०

आकलैंड न्यूज़ीलैंड का सबसे बड़ा नगर है। यह प्रायद्वीप के बहुत सँकरे भाग में स्थित है। इस कारण दोनों तटों पर इसका अधिकार है, परंतु उत्तम बंदरगाह पूर्वी तट पर है। आस्ट्रेलिया से अमरीका जानेवाले जहाज, विशेषकर सिडनी से वैंकूवर जानेवाले, यहाँ ठहरते हैं। यह आधुनिक बंदरगाह है। यहाँ पर विश्वविद्यालय, कलाभवन तथा एक निःशुल्क पुस्तकालय है जो सुंदर चित्रों से सजा है। इस नगर के आस पास न्यूटन, पार्नेल, न्यू मार्केट तथा नौथकोट उपनगर बसे हैं। आकलैंड की आबादी दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है। इसका मुख्य कारण दुग्ध, उद्योग तथा अन्य धंधे हैं। आकलैंड जहाज द्वारा आस्ट्रेलिया, प्रशांतद्वीप, दक्षिणी अफ्रीका, ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमरीका से संबद्ध है और रेलों द्वारा न्यूज़ीलैंड के दूसरे भागों से। यहाँ का मुख्य उद्योग जहाज़ बनाना, चीनी साफ करना तथा युद्धसामग्री बनाना है। इसके सिवाय यहाँ लकड़ी तथा भोजनसामग्री इत्यादि का कारबार भी होता है। यहाँ से लकड़ी, दूध के बने सामान, ऊन, चमड़ा, सोना और फल बाहर भेजा जाता है। १९५२ में यहाँ की जनसंख्या ३,३७,१०० थी। [नृ० कु० सिं०]

आकांक्षा अभाव से उत्पन्न इच्छा। साहित्यशास्त्र, व्याकरण तथा दर्शन में इस शब्द का एक विशिष्ट अर्थ है। वाक्य से अर्थज्ञान करने के लिये वाक्य में आए हुए शब्दों का परस्पर संबंध होना चाहिए। यह संबंध ही ऐसा तत्व है जिससे वाक्य की एकता बनी रहती है। अलग शब्द का प्रयोग करने पर उस शब्द के बारे में उत्सुकता होती है और तभी इसका समाधान होता है जब उस शब्द को सुसंबंधित वाक्य का अंग बना देते हैं। अतः अपूर्ण प्रयोग से श्रोता के मन में जो उत्सुकता होती है उसे आकांक्षा कहते हैं और जिस शब्द से आकांक्षा उत्पन्न होती है उसे साकांक्ष कहते हैं। साकांक्ष शब्दों से पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती और निराकांक्ष शब्दों के समूह से सार्थक वाक्य नहीं बनता। अतः वाक्य साकांक्ष शब्दों का एक निराकांक्ष समूह कहा जा सकता है। [रा० पां०]

आकारिकी अथवा आकार विज्ञान [अंग्रेजी में मॉरफ़ॉलाजी : मॉरफ़े (=आकार)+लोगस (=विवरण)] शब्द वनस्पति विज्ञान तथा जंतु विज्ञान के अंतर्गत उन सभी अध्ययनों के लिये प्रयुक्त होता है जिनका मुख्य विषय जीवपिंड का आकार और रचना है। पादप आकारिकी में पादपों के आकार और रचना तथा उनके अंगों (मूल, स्तंभ, पत्ती, फूल आदि) एवं इन अंगों के परस्पर संबंध और संपूर्ण पादप से उसके अंगों के संबंध का विचार किया जाता है। आकार विज्ञान का अध्ययन जनन तथा परिवर्धन के विभिन्न स्तरों पर जीवपिंड के इतिहास के तथ्यों का केवल निर्धारण मात्र हो सकता है। परंतु आजकल, जैसा सामान्यतः समझा जाता है, आकारिकी का आधार अधिक व्यापक है। इसका उद्देश्य विभिन्न पादपवर्गों के आकार में निहित समानताओं का पता लगाना है। इसलिये यह तुलनात्मक अध्ययन है जो उद्विकासात्मक परिवर्तन और परिवर्धन के दृष्टिकोण से किया जाता है। इस प्रकार आकारिकी पादपों के वर्गीकरण की स्थापना और उनके विकासात्मक अथवा जातिगत इतिहास के पुनर्निर्माण में सहायक है। आकारिकीय अध्ययन की निम्नलिखित पद्धतियाँ हैं :

(१) जीवित पादपों के प्रौढ़ आकारों की तुलना, (२) पुरोद्भिदी अर्थात् जीवों के अवशिष्टों (फ़ॉसिल) के अध्ययन के आधार पर प्राचीन, लुप्त, निश्चित आकारों के साथ जीवित पादपों की तुलना, (३) प्रत्येक पादप के परिवर्धन का निरीक्षण।

आकार विज्ञान के प्रायः दो उपविभाग किए जाते हैं—बाह्य आकार विज्ञान, जिसका संबंध पादप-अंगों के सापेक्ष स्थान तथा बाह्य आकार से है और शरीररचना (अनैटोमी), जो पादपों की बाह्य और आंतरिक संरचना का अध्ययन है। कौशिकी अथवा कोशाध्ययन, जिसका संबंध आंतरिक रचना से है, आकार विज्ञान के उपविभाग के रूप में विकसित हुआ, किंतु अब यह जीवविज्ञान की ही एक स्वतंत्र शाखा माना जाता है।

आकार विज्ञान का अध्ययन कुछ विशिष्ट रूप भी धारण कर सकता है। जैसे, इसका संबंध किसी पादप के प्रारंभिक विकास से, आकार और संरचना के निर्णायक कारणों से अथवा पादप के उन भागों से, जो कुछ विशिष्ट कार्य करनेवाले समझे जाते हैं, हो सकता है। आकार विज्ञान के इन खंडों को क्रमानुसार भ्रूण विज्ञान (एमब्रिऑलोजी), आकारजनन (मॉर्फ़ोजेनेसिस) तथा अंगवर्णना (ऑर्गैनोग्रैफ़ी) कहते हैं। पीढ़ियों के एकांतरण की क्रिया पादप आकारिकी की इतनी प्रमुख और महत्वपूर्ण विशेषता है कि बहुत वर्षों तक यह आकार विज्ञान के अध्ययन का प्रधान लक्ष्य बनी रही। शरीररचना (अनैटॉमी) का संबंध स्थूल और सूक्ष्म, बाह्य और आंतरिक बनावट से है। शरीररचना का एक विशिष्ट विषय है औतिकी (हिस्टॉलोजी) जिसका संबंध जीवपिंड की सूक्ष्म रचना से है।

प्राणि आकारिकी—यद्यपि आकार विज्ञान में (जिसका संबंध प्राणी के सामान्य आकार और उसके अंगों की संरचना से है) तथा शरीररचना में (जिसका संबंध स्थूल और सूक्ष्म रचनात्मक विस्तार से है) भेद किया जा सकता है, तो भी वास्तविक व्यवहार में प्राणिशास्त्री इन दोनों शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची रूप में करते हैं। अतएव प्राणिशास्त्री आकार विज्ञान शब्द के व्यावहारिक अर्थ में शरीररचना विषयक समस्त अध्ययन को भी संमिलित करते हैं।

प्राणियों के आकार के विभिन्न प्रकार और उनके रूपांतर प्राणि आकारिकी के अध्ययन के विषय हैं। आकार मुख्यतया शरीर की सममिति पर निर्भर है। सममिति के प्रकारों के अध्ययन से पता चलता है कि शीर्ष-प्राधान्य (सेफ़लाइज़ेशन), जो अग्र तंत्रिकाओं तथा संवेदी रचनाओं की सघनता के कारण सिर का उत्तरोत्तर भेद-करण है, शरीर की द्विपार्श्विक सममिति के साथ साथ होता है। ज्यों ज्यों हम रचना की संश्लिष्टता (जटिलता) के क्रम में ऊपर चढ़ते जाते हैं, शीर्षप्राधान्य की क्रिया अधिकाधिक स्पष्ट होती जाती है और मस्तिष्क के अत्यधिक परिवर्धन के साथ वानर तथा मनुष्य में पहुँचकर पूर्णता को प्राप्त होती है। सममिति में अंतर परिवर्धन के समय अन्य अक्षों की अपेक्षा एक अक्ष के अनुदिश अधिक वृद्धि होने से होता है। आकार के रूपांतरों में परिस्थिति के अनुकूल चलने की विशेषता होती है। रचना संबंधी समानता के लिये सधर्मता (होमोलॉजी) शब्द का व्यवहार होता है और कार्य संबंधी या दैहिक समानता के लिये कार्य सादृश्य (अनैलोजी) का। सधर्मता शरीर-रचना संबंधी अंतर्निहित समानता है जिससे समान विकासात्मक उत्पत्ति ज्ञात होती है, परंतु कार्यसादृश्य (अनैलोजी) में इस तरह की कोई विशेषता नहीं है।

प्रयोगात्मक भ्रूणतत्व इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करता है कि किसी प्राणी के शरीर के अंतिम आकार या रचना का अस्तित्व अंडे में उसी रूप में पहले से ही होता है अथवा वे परिवर्धन के समय पर्यावरण के तत्वों पर निर्भर हैं और इन तत्वों द्वारा ये दोनों परिवर्तित किए जा सकते हैं।

[पं० म० तथा वि० प्र० सिं०]

आकाश

पंच महाभूतों में अन्यतम भूत द्रव्य। वैशेषिक दर्शन के अनुसार आकाश नव द्रव्यों में से एक विशिष्ट द्रव्य है। इसका विशेष गुण शब्द है। इसकी सिद्धि परिशेषानुमान से होती है। वैशेषिकों की संमति में शब्द न तो स्पर्शवान् द्रव्यों (जैसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु) का गुण हो सकता है और न आत्मा, मन, काल तथा दिक् का ही। इस प्रकार आठ द्रव्यों का गुण न होने के कारण बाकी बचे हुए द्रव्य (आकाश) का ही यह गुण सिद्ध होता है। प्रशस्तपादभाष्य में पूर्व अनुमान की सिद्धि का प्रकार दिखलाया गया है। किसी द्रव्य के बाह्य प्रत्यक्ष के लिये उसमें दो गुणों का अस्तित्व नितांत आवश्यक होता है। उस पदार्थ में महत् परिमाण रहना चाहिए और उद्भूत रूप भी। आकाश न तो कोई सीमित पदार्थ है और न वह किसी रूप को ही धारण करता है। इसलिये आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रत्युत शब्दगुण धारण करने से वह अनुमान से सिद्ध माना जाता है। आकाश गुणवान् (अर्थात् शब्दवान्) होने से द्रव्य है और निरवयव तथा निरपेक्ष होने से नित्य है। आकाश की एकता सिद्ध करने के लिये कणाद की युक्ति यह है कि आकाश की सत्ता का हेतु बननेवाला शब्द सर्वत्र समान ही पाया जाता है। रूप, रस, गंध तथा स्पर्श के समान उसमें प्रकारभेद नहीं पाए जाते। शब्द की ध्वनियों में जो भेद मालूम पड़ता है, वह निमित्त कारण के भेद से है। फलतः शब्द की एकता होने से आकाश भी एक ही माना जाता है (वैशेषिक सूत्र २।१।३०)। आकाश विभु द्रव्य है अर्थात् वह सर्वव्यापक और अनंत है। घट के द्वारा अवच्छिन्न होनेवाला घटाकाश तथा मठ के द्वारा सीमित होनेवाला मठाकाश आदि भेद उपाधिजन्य ही हैं। आकाश वस्तुतः एक अच्छेद्य तथा अभेद्य द्रव्य है। भाट्ट मीमांसकों के मत में आकाश का प्रत्यक्ष भी होता है (मानमेयोदय पृ० १८८, अड्यार सं०)। आकाश का परिमाण 'परम महत्' है और यह परिमाण सबसे बड़ा माना गया है। शब्द की ग्राहक इंद्रिय (श्रोत्र) भी आकाश होती है, क्योंकि कान के भीतर जो आकाश रहता है, उसी के द्वारा शब्द का ज्ञान हमें होता है।

[ब० उ०]

आकाश

भौतिकी के अनुसार पृथ्वी को घेरे हुए जो गोलाकार गुंबज दिखाई पड़ता है उसी को आकाश अथवा गगन, नभ, व्योम, नक्षत्रलोक, दिव्यलोक, स्वर्गलोक आदि कहते हैं।

विस्तार—पृथ्वी पर जिधर भी हम अपने चारों ओर दृष्टि दौड़ाते हैं वहीं यह गुंबज धरातल से मिलता हुआ जान पड़ता है। इस चतुर्दिक् विस्तृत बृहत् संमिलनवृत्त को क्षितिज कहते हैं। समुद्र के बीच जहाज पर बैठे हुए हमें जहाज इस विशाल गुंबज के केंद्र पर स्थित जान पड़ता है, किंतु ज्यों ज्यों जहाज आगे बढ़ता है त्यों त्यों यह गुंबज क्षितिज के साथ आगे सरकता जाता है। यही अनुभव हमें थल पर भी होता है। पृथ्वी की परिक्रमा चाहे हम जलमार्ग से करें अथवा स्थलमार्ग से, यह आकाश हमें सर्वत्र इसी रूप में दिखाई पड़ता है। इससे सिद्ध होता है कि यह खगोल हमारी पृथ्वी के ऊपर चतुर्दिक् आच्छादित है। प्रश्न उठता है कि क्या यह आकाश कोई वास्तविक पदार्थ है। ऊपर देखने से हमें एक पर्दे का आभास होता है, किंतु वास्तव में आकाश कोई पर्दा नहीं है। सूर्य, चंद्र, ग्रह तथा नक्षत्र, पृथ्वी के परिभ्रमण तथा घूर्णन के कारण अथवा अपनी निजी गति के कारण विभिन्न आपेक्षिक गतियों से इसी पर्दे पर चलते दिखाई पड़ते हैं। रात्रि में जहाज के ऊपर अथवा मरुस्थल के बीच यह गुंबज तारों और ग्रहों से आच्छादित दिखाई पड़ता है। हम एक साथ इस गुंबज का आधा ही देख पाते हैं; दूसरा गोलार्ध पृथ्वी के ठीक दूसरी ओर पहुँचने पर दिखाई पड़ता है। आकाश निर्मल रहने पर कृष्ण पक्ष की रात्रि में एक चौड़ी मेखला पर तारे अधिक संख्या में दिखाई पड़ते हैं। यह मेखला क्षितिज के एक किनारे से निकलकर हमारे ऊपर से होती हुई क्षितिज की ठीक दूसरी ओर जाकर मिलती जान पड़ती है और यही दृश्य पृथ्वी की दूसरी ओर पहुँचने पर भी दिखाई पड़ता है। इससे ज्ञात होता है कि यह मेखला एक पूर्ण, विशाल चक्र के समान पृथ्वी को घेरे हुए है। इसे आकाशगंगा कहते हैं (देखें **आकाशगंगा**; अन्य आकाशीय पिंडों के लिये देखें **ज्योतिष**)।

यद्यपि चंद्रमा की दूरी केवल २ लाख ३९ हजार मील है, जिसे तय करने में प्रकाश को कुल सवा सेकंड लगता है और नीहारिकाओं की दूरियाँ इतनी अधिक हैं कि उनसे चलकर पृथ्वी तक पहुँचने में प्रकाश को सैकड़ों अथवा हजारों वर्ष लगते हैं, तो भी सब आकाशीय पिंड हमें आकाश के ही पर्दे पर दिखाई पड़ते हैं और ऐसा जान पड़ता है कि सब पृथ्वी से एक ही दूरी पर हैं।

इन तारों और नक्षत्रों से भरे हुए आकाश को देखकर हमें आकाश की शून्यता पर विश्वास नहीं होता, किंतु पूरे आकाश के पद्म भाग में केवल एक

भाग को तारों ने ले रखा है; इसीलिये आकाश को नभ (शून्य) भी कहा गया है। शेष स्थान में नाक्षत्र धूलि और कण विद्यमान हैं, परंतु ये भी बहुत बिखरी हुई अवस्था में हैं। एक घन सेंटीमीटर में हाइड्रोजन का केवल १ परमाणु और एक घन मील में संभवतः १०० अन्य कण विद्यमान हैं, जब कि पृथ्वी पर साधारण ताप और दाब पर साधारण गैसों में $१०^{१९}$ अणु प्रति घन सेंटीमीटर में पाए जाते हैं।

आकाश नीला क्यों?—आकाश की नीलिमा प्रकाश की रश्मियों के विक्षेपण (बिखरने) द्वारा उत्पन्न होती है। रात्रि में प्रकाश नहीं रहता तो वही गगनमंडल काला अर्थात् प्रकाशरहित हो जाता है। हमारी पृथ्वी को घेरे हुए वायुमंडल है जो हमें दिखाई तो नहीं पड़ता, किंतु इस वायु-सागर में हम लोग उसी तरह रहते हैं और इसका उपयोग करते हैं जैसे मछलियाँ जलसागर में रहती हैं। वायु का घनत्व पृथ्वी के तल पर सबसे अधिक होता है और ऊपर की ओर क्रमशः घटता जाता है। लगभग $१०^{-५}$ सेंटीमीटर दाब पर वायु १००० मील से भी ऊपर तक पाई जाती है। इस वायुमंडल में नाइट्रोजन, आक्सिजन, कार्बन-डाई-आक्साइड तथा अन्य गैसें होती हैं। इनके अतिरिक्त जलवाष्प और धूलि के कण भी विद्यमान हैं। प्रकाश की रश्मियाँ इन्हीं गैसोंके अणुओं द्वारा तथा धूलि और जल के कणों द्वारा विक्षिप्त होती हैं। विक्षिप्त प्रकाश की तीव्रता **प्र** तरंगदैर्घ्य **त** के चतुर्थ घात की विलोमी होती है, अर्थात्

$$प्र \propto \frac{१}{त^४}।$$

कण के अल्पतम विस्तार के लिये लार्ड रैले ने सिद्ध किया है कि नीली रश्मियाँ, जिनका तरंगदैर्घ्य लाल रश्मियों के तरंगदैर्घ्य का आधा होता है, लगभग १० गुना अधिक विक्षिप्त होती हैं। यदि कण इन रश्मियों के तरंगदैर्घ्य से बहुत बड़े होते हैं तो किरणों का परावर्तन नियमित रूप में नहीं होता और प्रकाश श्वेत दिखाई पड़ता है। धूलि के हल्के कण आँधी में बहुत ऊपर चले जाते हैं। इनके द्वारा पीली रश्मियाँ विक्षिप्त होती हैं और आकाश पीला दिखाई पड़ता है। आकाश का ऐसा ही रंग ज्वालामुखी उद्गार के बाद दिखाई पड़ता है। वायुमंडल निर्मल रहने पर विक्षेपण केवल वायु तथा जल के अणुओं द्वारा होता है। इससे बहुत अधिक मात्रा में छोटी तरंगवाली नीली रश्मियाँ विक्षिप्त होती हैं और उन्हीं के रंग के अनुसार ऊपरी शून्य स्थान नीला दिखाई पड़ता है। गर्मी के दिनों में जब वायु में धूलि के कण अधिक होते हैं तो इन बड़े कणों से प्रकाश की अन्य बड़े तरंग-दैर्घ्य की रश्मियाँ भी विक्षिप्त होती हैं जिससे आकाश का रंग उतना नीला नहीं रह जाता, कुछ भूरा हो जाता है। जब आँधी आदि के कारण धूलि की मात्रा और अधिक हो जाती है तो बड़े बड़े कणों द्वारा किरणों के अनियमित परावर्तन से आकाश श्वेत दिखाई पड़ता है। पहाड़ों की चोटी से आकाश पूर्णतः नीला मालूम पड़ता है। विमानों में अथवा राकेट प्लेन में, जो बहुत ऊँचाई से जाते हैं, आकाश काला दिखाई पड़ता है; क्योंकि अधिक ऊँचाई पर वायु के तत्वों के अणु बहुत ही कम रह जाते हैं और किरणों का विक्षेपण बहुत क्षीण हो जाता है, जिससे ऊपरी शून्य भाग प्रकाशरहित अर्थात् काला दिखाई पड़ता है।

प्रातः और सायंकाल, जब सूर्य की किरणें धरातल के लगभग समांतर आती हैं, उन्हें वायुमंडल के भीतर तिरछी दिशा में अधिक चलना पड़ता है। आँख पर बड़े तरंगदैर्घ्य की लाल रश्मियाँ सीधी आ पड़ती हैं, किंतु अन्य छोटी रश्मियाँ विक्षिप्त होकर नीचे की ओर तथा अगल बगल मुड़ जाती हैं, जिसके कारण आकाश लाल दिखाई पड़ता है। सूर्य जितना ही क्षितिज के पास नीचे रहता है लालिमा उतनी ही अधिक देखी जाती है।

[नं० ला० सिं०]

आकाशगंगा

आकाशगंगा असंख्य तारों का समूह है जो अँधेरी रात में, विशेषकर जाड़े की स्वच्छ रात में, आकाश के बीच से जाते हुए अर्धचक्र के रूप में और झिलमिलाती सी मेखला के समान दिखाई पड़ता है। यह मेखला वस्तुतः एक पूर्ण चक्र का अंग है, जिसका क्षितिज के नीचे का भाग नहीं दिखाई पड़ता। इसके मंदाकिनी, स्वर्गंगा, स्वर्नदी, सुरनदी, आकाशनदी, देवनदी, नागवीथी, हरिताली आदि नाम भी हैं। अंग्रेजी में इसे मिल्की वे, गैलैक्सी आदि कहते हैं। इसकी चौड़ाई और चमक सर्वत्र समान नहीं है। धनु (सैजिटेरियस) तारामंडल में यह सबसे अधिक चौड़ी और चमकीली है। दूरदर्शी से देखने पर आकाशगंगा में असंख्य तारे दिखाई पड़ते हैं। विभिन्न चमक के तारों की संख्या गिनकर, उनकी दूरी की गणना कर और उनकी गति नापकर ज्योतिषियों न आकाशगंगा के वास्तविक रूप का बहुत अच्छा अनुमान लगा लिया है। यदि आकाश में दिखाई पड़नेवाले रूप के बदले त्रिविस्तारी अवकाश (स्पेस) में आकाशगंगा के रूप पर विचार किया जाय तो पता चलता है कि आकाशगंगा लगभग समतल वृत्ताकार पहिए के समान है जिसकी धुरी के पास का भाग कुछ फूला हुआ है। चित्र में आकाशगंगा का बगल से चित्र दिखाया गया है (ऊपर से देखने पर आकाशगंगा पूर्ण वृत्ताकार दिखाई पड़ेगी)। इस पहिए का व्यास लगभग एक लाख प्रकाशवर्ष है (१ प्रकाशवर्ष $=५.९ \times १०^{१२}$ मील या पृथ्वी से सूर्य की दूरी का ६३ हजार गुना) और मोटाई ३,००० से ६,००० प्रकाशवर्ष के बीच है। केंद्र के पास की मोटाई लगभग १५,००० प्रकाशवर्ष है। आगामी पंक्तियों में त्रिविस्तारी अवकाश (स्पेस) में आकाशगंगा का उल्लेख 'मंदाकिनी संस्था' के नाम से किया जायगा और आकाशगंगा से वह रूप समझा जायगा जो हमें पृथ्वी से दिखाई पड़ता है। हमारी मंदाकिनी संस्था के समान विश्व में अनेक संस्थाएँ हैं। बहुधा उन्हें भी मंदाकिनी संस्था (गैलैक्सी) ही कहा जाता है। जहाँ भ्रम की आशंका रहती है वहाँ 'हमारी मंदाकिनी संस्था' कहकर उस संस्था का बोध कराया जाता है जिसमें हम हैं। हमारी मंदाकिनी संस्था में तारे समान रूप से वितरित नहीं हैं। बीच बीच में अनेक तारागुच्छ हैं और इसकी भी संभावना है कि देवयानी (ऐंड्रोमीडा) नीहारिका के समान हमारी मंदाकिनी संस्था में भी सर्पिल कुंडलियाँ (स्पाइरल आर्म्स) हों (देखें **नीहारिका**)। तारों के बीच में सूक्ष्म धूलि और गैस फैली हुई हैं, जो दूर के तारों का प्रकाश क्षीण कर देती हैं। धूलि और गैस का घनत्व संस्था के मध्यतल में अधिक है। कहीं कहीं धूलि के घने बादल हो जाने से काली नीहारिकाएँ बन गई हैं। कहीं गैस के बादल पास के तारों के प्रकाश से उद्दीप्त होकर चमकती नीहारिका के रूप में दिखाई पड़ते हैं। हमारी मंदाकिनी संस्था का द्रव्यमान सूर्य के द्रव्यमान का लगभग एक खरब ($१०^{११}$) गुना है। इसमें से प्रायः आधा तो तारों का द्रव्यमान है और आधा धूलि और गैस का।

हमारी मंदाकिनी संस्था के केंद्र के पास तारे संख्या में अधिक घने हैं और किनारे की ओर अपेक्षाकृत बिखरे हुए हैं। सभी तारे केंद्र की परिक्रमा कर रहे हैं, केंद्र के निकटवाले तारे अधिक गति से और दूरवाले कम गति से। हमारा सूर्य केंद्र से लगभग ३०-३५ हजार प्रकाशवर्ष दूर है और आकाशगंगा के मध्य-तल में है। इसी कारण अपनी मंदाकिनी संस्था हमें वैसी मेखला की तरह दिखाई पड़ती है जिसका ऊपर वर्णन किया गया है। पृथ्वी से मंदाकिनी संस्था का केंद्र धनु तारामंडल की ओर है। इसीलिये आकाशगंगा धनु की ओर हमें अधिक चमकीली लगती है। सूर्य भी मंदाकिनी संस्था के केंद्र की परिक्रमा करता है। इस परिक्रमा में उसका वेग १५० मील प्रति सेकंड है। इस वेग से भी पूरी परिक्रमा में सूर्य को २० करोड़ वर्ष लग जाते हैं।

कुछ तीव्र गतिवाले तारे और गोलीय तारागुच्छ (ग्लोब्यूलर क्लस्टर) हमारी मंदाकिनी संस्था की सीमा के बाहर हैं, किंतु ये भी हमारी मंदाकिनी संस्था से संबद्ध हैं

हमारी मंदाकिनी

हमारी मंदाकिनी बीच में फूली हुई वृत्ताकार पूड़ी के समान है। चित्र में उसका काट (सेक्शन) दिखाया गया है। सू से सूचित वृत्त के भीतर ही वे सब तारे हैं जो हमें आकाश में पृथक् पृथक् दिखाई पड़ते हैं।
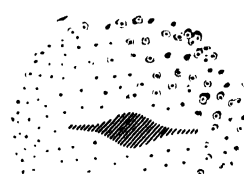
मंदाकिनी का वातावरण

हमारी मंदाकिनी के चारों ओर बहुत दूर तक तारे और तारागुच्छ विरलता से फैले हुए हैं।

और उसी के अंग माने जाते हैं (चित्र देखें) लगभग १०० गोलीय तारागुच्छ ज्ञात हैं। इनका वितरण गोलाकार है। इन तारागुच्छों के वितरण से आकाशगंगा का केंद्र ज्ञात किया जा सकता है। तारों की गति नापने से भी केंद्र की गणना में सहायता मिलती है। रूप और विस्तार में आकाशगंगा बहुत सी अगांग (एक्स्ट्रा गैलक्टिक) नीहारिकाओं से (अर्थात् उन मंदाकिनियों से जो हमारी मंदाकिनी संस्था से पूर्णतया बाहर हैं) मिलती जुलती है।

सं०ग्रं०—गोरखप्रसाद : नीहारिकाएँ (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्); बोक एवं बोक : दि मिल्की वे (१९४५)। [चं० प्र०]

आकाशवाणी (ऑल इंडिया रेडियो) आकाशवाणी शब्द भारतवर्ष के केंद्रीय सरकार द्वारा संचालित, बेतार से कार्यक्रम प्रसारित करनेवाली राष्ट्रीय, देशव्यापक अखिल भारतीय संस्था के लिये व्यवहार में लाया जाता है। ८ जून, सन् १९३६ में इस संस्था की स्थापना के अवसर पर इसका अंग्रेजी नामकरण ऑल इंडिया रेडियो हुआ। किंतु इससे पूर्व ही सन् १९३५ में तत्कालीन देशी रियासत मैसूर में एक अलग रेडियो स्टेशन की स्थापना की गई थी जिसे मैसूर सरकार ने आकाशवाणी की संज्ञा दी थी। भारतवर्ष के स्वतंत्र हो जाने के कुछ समय बाद जब देशी रियासतों के रेडियो स्टेशन आल इंडिया रेडियो में संमिलित कर लिए गए, तब आल इंडिया रेडियो के लिये भारतीय नाम 'आकाशवाणी', मैसूर रेडियो स्टेशन के नामानुसार, अपना लिया गया। इस समय अंग्रेजी में 'ऑल इंडिया रेडियो' और भारतीय भाषाओं में 'आकाशवाणी' शब्द का व्यवहार होता है।

आकाशवाणी की स्थापना सन् १९३६ में हुई, यद्यपि भारतवर्ष में रेडियो कार्यक्रमों का सिलसिलेवार प्रसारण २३ जुलाई, १९२७ से ही प्रारंभ हो गया था। 'आकाशवाणी' केंद्रीय सरकार के प्रसार और सूचना मंत्रालय के अधीनस्थ एक विभाग है। केंद्रीय सूचना तथा प्रसारमंत्री और उनके मंत्रालय द्वारा संसद (पार्लियामेंट) आकाशवाणी पर अपना नियंत्रण रखती है। इसके प्रमुख अधिकारी महानिर्देशक (डाइरेक्टर जनरल) हैं जिनके नीचे देश के विभिन्न क्षेत्रों में स्थित २८ रेडियो स्टेशन, ६० ट्रांसमिटर और कतिपय अन्य प्रकार के केंद्र और कार्यालय हैं, यथा समाचारविभाग, विदेशी कार्यक्रम विभाग, दूरदर्शन केंद्र (टेलिविजन), इंस्टालेशन विभाग इत्यादि। इन सब केंद्रों और कार्यालयों को एक सूत्र में बाँधनेवाला एक केंद्रीय दफ्तर है जिसके इंजीनियरिंग अंग के प्रमुख चीफ़ इंजीनियर हैं और जिसके कार्यक्रम, शासकीय और निरीक्षण शाखाओं में उप-महानिर्देशक (डिप्टी डाइरेक्टर जनरल) नियुक्त हैं। कुल मिलाकर आकाशवाणी में (१९६० ई०) नौ हजार व्यक्ति काम कर रहे हैं। आकाशवाणी का प्रधान कार्यालय नई दिल्ली के प्रसार भवन (ब्राडकास्टिंग हाउस) और आकाशवाणी भवन में स्थित है।

आकाशवाणी का उद्देश्य रेडियो का जनसाधारण की शिक्षा, जानकारी और मनोरंजन के लिये उपयोग करना है। अपने २८ रेडियो स्टेशनों से आकाशवाणी भारतवासियों के लिये १६ मुख्य भाषाओं, २९ आदिवासी भाषाओं तथा ४८ उप-भाषाओं में विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम प्रसारित करती है। कार्यक्रम के प्रथम वर्ग में क्षेत्रीय भाषाओं के वे कार्यक्रम हैं जो विभिन्न स्टेशनों से प्रसारित होते हैं और जिनमें संगीत, वार्ताओं, नाटक और सामान्य समाज से संबद्ध अन्य प्रकार के कार्यक्रम आते हैं। दूसरे वर्ग हैं राष्ट्रीय कार्यक्रमों के, यानी संगीत, वार्ताओं, नाटक इत्यादि के वे कार्यक्रम जो दिल्ली से प्रसारित होने पर अन्य सभी स्टेशनों द्वारा 'रिले' किए जाते हैं अथवा जिनकी मूल पांडुलिपि (मास्टर कापी) के आधार पर अन्य भाषाओं में एक समान कार्यक्रम प्रसारित किए जाते हैं। इन राष्ट्रीय कार्यक्रमों द्वारा देश में सांस्कृतिक आदान प्रदान बढ़ा है। तीसरा वर्ग है समाचार बुलेटिन, समाचारदर्शन और तद्विषयक कार्यक्रमों का। आकाशवाणी की सभी ४७ बुलेटिनें जो १६ भाषाओं में प्रसारित होती हैं दिल्ली में संपादित होकर अलग अलग भाषाक्षेत्रों के स्टेशनों से रिले की जाती हैं। इनके अतिरिक्त प्रदेशों में स्थानीय समाचार भी प्रसारित किए जाते हैं। चौथा वर्ग है विविध भारती के कार्यक्रमों का जो हल्के फुल्के मनोरंजन चाहनेवाले श्रोताओं के लिये केंद्रीय रूप से संपादित होकर कुछ शक्तिशाली ट्रांसमिटरों पर प्रति दिन प्रसारित किए जाते हैं और सारे देश में सुने जा सकते हैं। पाँचवाँ वर्ग, जो एक तरह से पहले वर्ग में ही शामिल है, विशिष्ट श्रोताओं के लिये कार्यक्रमों का है, यथा ग्रामीण जनता के लिये, औद्योगिक क्षेत्रों, विद्यालयों, विश्वविद्यालयों, सैनिक दलों, महिलाओं और बच्चों के लिये। इन पाँचों वर्गों के अंतर्गत कुल मिलाकर आकाशवाणी वर्ष भर में एक लाख से अधिक घंटों के कार्यक्रम प्रसारित करती है जिसमें लगभग ४८ प्रति शत संगीत के कार्यक्रम होते हैं, २२ प्रति शत समाचार के और शेष वार्ता, नाटक इत्यादि अन्य प्रकार के।

विदेशों के लिये आकाशवाणी का एक अलग विभाग है, जो १६ भाषाओं में प्रतिदिन २० घंटे कार्यक्रम प्रसारित करता है। इसका उद्देश्य प्रधानतः भारतीय नीति तथा भारतीय संस्कृति से विदेशी जनता और प्रवासी भारतीयों को परिचित कराना है।

इस समय (१९६०) आकाशवाणी के विभिन्न ट्रांसमिटरों द्वारा देश के लगभग ३७ प्रति शत क्षेत्र में कुल मिलाकर देश की ५५ प्रति शत जनता रेडियो कार्यक्रमों को भली भाँति सुन सकती है, किंतु कुछ विघ्नों के साथ ४५ प्रति शत क्षेत्र में ६५ प्रति शत तक जनता इन कार्यक्रमों को सुन सकती है। १९४७ के बाद १९६० तक रेडियो स्टेशनों की संख्या ६ से बढ़कर २८ हो गई। रेडियो सेटों की संख्या १९४७ में २,७६,००० थी और १९५९ में १७,२५,००० हो गई। फिर भी देश की जनसंख्या और आकाशवाणी के रेडियो स्टेशनों के विस्तार को देखते हुए रेडियो सेटों की संख्या में अभिवृद्धि की आवश्यकता है। इस समय आकाशवाणी के लगभग साढ़े पाँच करोड़ वार्षिक व्यय में से लगभग ६० प्रति शत रेडियो सेटों की लाइसेंस फीस से आता है। साधारण लाइसेंस फीस १५ रुपया वार्षिक है, किंतु फीस की दरें कुछ विशेष प्रकार के रेडियो सेटों के लिये अलग अलग भी हैं।

अपने निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति करते समय आकाशवाणी देश को एक सांस्कृतिक सूत्र में बाँधने का प्रयास भी करती रही है। शास्त्रीय और उपशास्त्रीय संगीत को आकाशवाणी के कार्यक्रम ने प्रोत्साहन दिया है और लगभग १० हजार संगीत कलाकार इन कार्यक्रमों में प्रति वर्ष भाग लेते रहे हैं। लोकसंगीत के रेकार्डों का एक विशाल संग्रह भी तैयार किया गया है और नए प्रकार के सुगम संगीत और वाद्यवृंद की आयोजना भी की गई है। साहित्यसमारोह, राष्ट्रीय कविसभा, संगीतसंमेलन, गौरव ग्रंथमाला इत्यादि कार्यक्रम विभिन्न प्रादेशिक संस्कृतियों से अनेक श्रोताओं को परिचित कराते हैं। आकाशवाणी द्वारा सर्वाधिक सेवा ग्रामीण जनता के लिये हो रही है। लगभग ७० हजार रेडियो सेट ग्रामीण केंद्रों में बाँटे गए हैं और दैनिक ग्रामीण कार्यक्रम लोकप्रिय और शिक्षाप्रद साबित हुए हैं। ग्रामीण-श्रोता-मंडलों की स्थापना से देहाती जनता में नवचेतना का प्रादुर्भाव देखा जा रहा है। इन सब दिशाओं में प्रगति करते समय आकाशवाणी को न केवल संगीतज्ञों और साहित्यिकों का सहयोग प्राप्त हुआ है बल्कि अनेक प्रकार की परामर्श समितियों का भी, जिन्हें सूचना और प्रसार मंत्रालय नियुक्त करता है। दूरदर्शन (टेलिविजन) का भी प्रारंभ एक प्रयोग के रूप में १९५९ के सितंबर मास से दिल्ली में किया गया है।

[ज० चं० मा०]

आकाशीय रज्जुमार्ग ऊँची नीची, पर्वतीय अथवा पंकिल भूमि को पार कर नियत स्थान पर सामग्री पहुँचाने के लिये रज्जुमार्ग (एईरियल रोपवेज़) अद्वितीय साधन है। कारखानों तथा बनते हुए बाँधों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर कच्चा सामान ले जाने के लिये इनका बहुत उपयोग होता है।

रज्जुमार्ग दो प्रकार के होते हैं : एकल रज्जु (मोनो केबुल) तथा द्विरज्जु (बाइकेबुल)। प्रथम में एक ही अछोर रज्जु होती है जो अनवरत चलती रहती है। यह अपने साथ खाली या भरे हुए डोलों (बाल्टियों) को अपने गंतव्य स्थान पर ले जाती है। ये डोल इसी रज्जु में अपने वाहक के साथ बँधे रहते हैं (देखिये चित्र १)।

चित्र क में इस्पात का एक कंकाल या अट्टालक दिखाया गया है। इसी पर रज्जु टिकी रहती है, जिसमें डोल अपने वाहक सहित काठी के फाँसों (सैडिल क्लिप्स) द्वारा बाँधा रहता है। रज्जु निरंतर चलती रहती है और अपने साथ डोलों को भी लिए चलती है।

रज्जुमार्ग के दोनों छोरों पर घूमती हुई घिरनियाँ रहती हैं, जिनपर रज्जु चढ़ी रहती है। चित्र ख में लादने का स्थान दिखाया गया है। प्रत्येक छोर पर एक अपनयन पटरी (शंट रेल) रहती है, जिसपर भार लादने या खाली करने के लिये डोल चढ़ जाता है। काम पूरा हो जाने पर डोल विभाजक स्टेशन बना दिया जाता है, जहाँ डोल पहली रज्जुप्रणाली को छोड़ देते हैं और उनके पहिए स्थिर पटरियों पर चढ़ जाते हैं। तब वे दूसरे भाग की रज्जु पर चढ़ने के लिये आगे की ओर ठेल दिए जाते हैं।

यदि रज्जुमार्ग में दिशापरिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है तो परिवर्तन
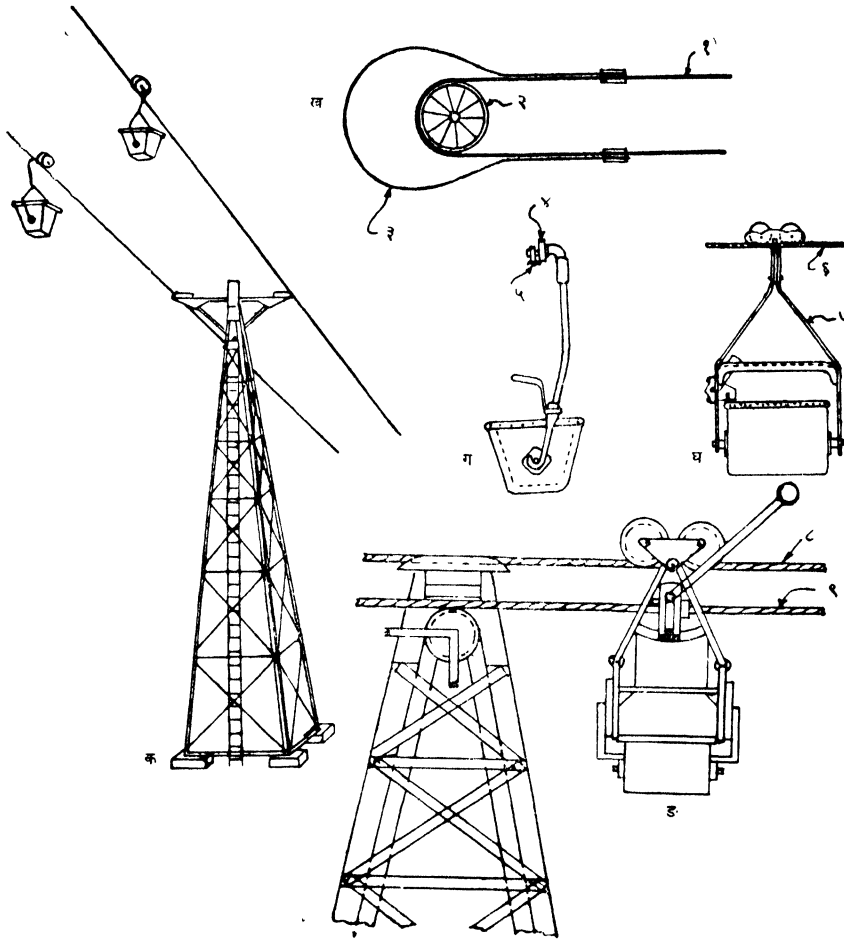
आकाशीय रज्जुमार्ग

क. अट्टालक; रज्जु और डोल, कार्यकरण स्थिति में; ख. लादने का स्थान : १. गतिमान रज्जु; २. घूमती हुई घिरनी; ३. अपनयन पटरी (शंट रेल); ग. डोल (पार्श्व दृश्य); ४. अपनयन पटरी पर चलनेवाला पहिया; ५. रस्सी; घ. डोल (संमुख दृश्य); ६. गतिमान रज्जु; ७, डोल लटकाने का कंकाल; ङ. द्वि-रज्जु-प्रणाली; ८. स्थिर रज्जु; ९. गतिमान रज्जु।

को फिर रज्जु पर ठेल दिया जाता है। अप नयन पटरी तथा रज्जुकी स्थिति में इस प्रकार का प्रबंध रहता है कि डोल को एक से दूसरे पर भेजने में बड़ी सुगमता होती है और रज्जु पर रंच मात्र भी झटका नहीं पड़ता; यह रज्जु के टिकाऊ (दीर्घजीवी) होने के लिये बहुत आवश्यक है।

चित्र ग-घ में डोल, वाहक, अपनयन पटरियों पर चलनेवाले पहियों और काठी की फाँस के (जो रस्सी को पकड़ती है) दो दृश्य दिखाए गए हैं। वाहक से डोल इस प्रकार संबद्ध रहता है कि बोझ लादने या खाली करनेवाले छोर पर वह सरलता से उलटा जा सके।

यदि रज्जुमार्ग अधिक लंबा होता है तो प्रत्येक तीन या चार मील पर के स्थान पर एक प्लैटफार्म बना दिया जाता है जिसमें दो क्षैतिज (हॉरिज़ॉन्टल) घिरनियाँ रहती हैं। रज्जु इन घिरनियों पर से होकर जाती है और सरलता से उसकी दिशा बदल जाती है।

रज्जु का चुनाव—रज्जु इस्पात के तारों को बटकर बनी रहती है। उसके चुनाव में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है: (१) एक एक डोल में कितना बोझ लदेगा। (२) बोझ लादने तथा उतारने के लिये कितना समय मिलेगा और (३) रज्जुमार्ग का वेग कितना रहेगा। इन्हीं बातों पर विचार करके रज्जुमार्ग की कार्यक्षमता निश्चित की जाती है, अर्थात् यह स्थिर किया जाता है कि प्रति घंटा कितना बोझ वहन

हो सकेगा। प्राय: बोझ लादने का समय बीस से तीस सेकंड तक ही होता है। आवश्यकतानुसार एक या इससे अधिक डोल एक साथ भरे जा सकते हैं। रज्जु का वेग रज्जुमार्ग की ढाल पर भी निर्भर रहता है। साधारणतया इसकी चाल दो से पाँच मील प्रति घंटा रखी जाती है, किंतु यह सात मील प्रति घंटा तक भी जा सकती है। परंतु स्मरण रखना चाहिए कि गति में जितनी ही तीव्रता होगी उतनी ही अधिक इसमें परिवर्तन-स्थल पर झटके लगने की भी संभावना रहेगी। अतएव अधिक दूरी तथा अधिक क्षमता के लिये द्विरज्जु प्रणाली का ही उपयोग उचित होता है।

इस प्रकार रज्जु की मोटाई क्रमागत अट्टालकों के बीच की दूरी, उनके बीज की रज्जु पर एक साथ आनेवाले अधिकतम बोझ की मात्रा और प्रति इंच मोटाई के अनुसार रज्जु की मजबूती पर निर्भर है। मोटाई में रज्जु ½" से 1½" तक के व्यास की होती है। रज्जु पहले इतनी ही तानी जाती है कि वितस्ति (स्पैन, अर्थात् एक अट्टालिका से क्रमागत अट्टालिका तक की दूरी) के केंद्र पर उसकी नति अधिक से अधिक वितस्ति की १/२० हो। इसलिये अचल बोझ, वायु की दाब, झटकों और कंपनों के प्रभाव आदि, को ध्यान में रखकर ही रज्जुमार्ग का अंतिम रूप निश्चित किया जाता है। अचल भार, दाब आदि को कुल भार का २५ प्रति शत मान लिया जा सकता है।

आवश्यक शक्ति—रज्जु को पूर्वनिश्चित गति के अनुसार चलाने के लिये इंजन की आवश्यकता होती है और उसकी शक्ति रज्जु की ढाल (ग्रडिएंट) पर निर्भर है। कभी कभी माल लादने का स्टेशन उतारनेवाले स्टेशन की अपेक्षा इतनी अधिक ऊँचाई पर होता है कि गुरुत्वाकर्षण के कारण लदे हुए डोल न केवल स्वयं नीचे उतरते हैं, वरन् उनसे उत्पन्न फालतू शक्ति अन्य कार्यों में भी सहायक हो सकती है। साधारण अनुमान के लिये इतना कहा जा सकता है कि बोझ लादने और उतारने के स्टेशनों पर घर्षण के कारण ४ से ५ अश्वसामर्थ्य (हॉर्स पावर) तक की आवश्यकता हो सकती है। अट्टालकों पर और रज्जु पर के घर्षण के लिये सा × ल/१२ अश्वसामर्थ्य चाहिए, जहाँ सा प्रति घंटा प्रति टन में रज्जुमार्ग की क्षमता है और ल मार्ग की लंबाई मीलों में है। संचालक चक्रों में भी कुछ शक्ति का ह्रास होता है, जो पूर्वोक्त घर्षण के २५ प्रति शत के लगभग हो सकता है।

अट्टालिकाओं के निर्माण में इनकी क्रमिक दूरी के साथ अन्य बातों का भी ध्यान रखना पड़ता है, जैसे (१) स्थायी भार, (२) अट्टालिका, रज्जु और डोल पर वायु की दाब, (३) नीचे की दिशा में रज्जु के तनाव का विघटित अंश (रिज़ॉल्ड पार्ट), (४) अट्टालिका की घिरनी के फँस जाने पर, एक ओर की रज्जु पर बोझ और दूसरी ओर कुछ न रहने से, दोनों ओर की रज्जुओं के क्षैतिज तनावों का अंतर और (५) एक ओर की रज्जु टूट जाने पर अट्टालिका पर क्षैतिज तनाव और ऐंठन-घूर्ण (टार्शनल मोमेंट)।

द्विरज्जु-प्रणाली—दोहरी रज्जुप्रणाली में एक मार्गदर्शी रज्जु (ट्रैक रोप) रहती है, जो डोलवाहकों का बोझ सँभालती है और उन्हें ठीक मार्ग से विचलित नहीं होने देती। दूसरी रज्जु चलती रहती है और वही डोलों को घसीट ले चलती है, जैसा चित्र ङ में दिखाया गया है।

घसीटनेवाली रज्जु ठीक उसी प्रकार की होती है जैसी एकल-रज्जु-प्रणाली में। इन दोनों प्रणालियों में कौन सी प्रणाली चुननी चाहिए यह बताना बहुत कठिन है। द्विरज्जु-प्रणाली में आरंभ में अधिक खर्च अवश्य बैठता है, पर अधिक दूरी तक तथा अधिक ढाल पर अधिक बोझ के यातायात के लिये यही प्रणाली अधिक उपयुक्त ठहरती है। एकल-रज्जु-प्रणाली अधिक सरल है और हल्के तथा अस्थायी कामों के लिये अवश्य ही अपेक्षाकृत सस्ती है।

रेलमार्ग की अपेक्षा सुविधाएँ—पर्वतीय प्रदेशों में रेलमार्ग में अधिक से अधिक तीन प्रति शत ढाल रखी जा सकती है, परंतु रज्जुमार्ग ४० प्रति शत ढाल तक पर काम कर सकता है। यदि किसी पर्वतीय प्रदेश में दो बिंदुओं के तलों का अंतर २,६४० फुट है और वे एक दूसरे से दो मील पर हैं तो दो मील के ही रज्जुमार्ग से काम चल जायगा; परंतु २½ प्रति शत की ढाल के रेलमार्ग की लंबाई २० मील रखनी पड़ेगी। फिर, रेल के लिये मार्ग के बीहड़ नालों को पार करने और स्थान स्थान पर पुल, तटबंध तथा पुश्तवान बनाने की कठिनाइयाँ भी अत्यधिक हो सकती हैं। [ज० कृ०]

आकृति

पतंजलि तथा गौतम ने 'आकृति' की परिभाषा समान शब्दों में की है—आकृतिग्रहणा जातिः (महाभाष्य); आकृतिर्जातिलिंगाख्या (न्यायसूत्र), जिसका अर्थ यह है कि आकृति या आकार का तात्पर्य अवयव के संस्थानविशेष से है और जाति का निर्णय आकृति के द्वारा ही होता है। सास्ना (गलकंबल), लांगूल, खुर, विषाण आदि गोत्व जाति के लिंग माने जाते हैं। उन्हें देखकर किसी पशु को हम गाय मानने के लिये बाध्य होते हैं। शब्द के शक्य अर्थ के विचारप्रसंग में कतिपय आचार्य आकृति को ही शब्द का अर्थ मानते थे। महाभाष्य में इसका उल्लेख है। गौतम ने व्यक्ति तथा जाति के समान ही आकृति को वाक्यार्थ माननेवालों के मत का खंडन कर इन तीनों के समुच्चय को ही पद का अर्थ माना है (जात्याकृतिव्यक्तयस्तु पदार्थाः; न्यायसूत्र—२।२।६३)। [ब० उ०]

आक्रियुस (अथवा अत्तियुस्) लुकियुस्

लातीनी भाषा का दुखांत नाटकों का रचयिता कवि। इसका जन्म उंब्रिया के पिसौरूम नामक स्थान पर हुआ था। इसका समय ई० पू० १७० से ई० पू० ८५ तक है। युवावस्था में यह रोम नगर में आकर बस गया था और ई० पू० १४० में दुःखांत नाटकों (ट्रैजेडी) का विख्यात लेखक माना जाने लगा। इसके ४५ नाटकों के नाम और इसकी रचनाओं की लगभग ७०० पंक्तियाँ इस समय उपलब्ध हैं। अपने नाटकों को इसने यूनानी नाटकों के आदर्शों के अनुसार लिखा था। नाटकों के अतिरिक्त इसने गद्य और पद्य में और भी रचनाएँ प्रस्तुत की थीं जिनमें यूनानी और लातीनी साहित्य का इतिहास भी था। यह लातीनी भाषा का प्रथम महान् वैयाकरण भी था। [भो० ना० श०]

आक्ता दिउरना

प्राचीन रोम का गजट जिसमें नित्य की प्रधान घटनाओं का अधिकारियों द्वारा प्रकाशन होता था। इसमें राजकीय घोषणाओं के अतिरिक्त प्रधान व्यक्तियों के पुत्रों के जन्मादि का उल्लेख हुआ करता था। आक्ता का आरंभ जूलियस सीज़र ने ही किया था। सफेद तख्ते पर घटनाएँ लिखकर दिन भर के लिये सार्वजनिक स्थान पर तख्ता टाँग दिया जाता था, फिर उसे उठाकर राजकीय लेखागार में रख लेते थे। आक्ता दिउरना का प्रकाशन साम्राज्य के विभाजन तक चलता रहा। [ओं० ना० उ०]

आक्सनार्ड

नगर संयुक्त राज्य, अमरीका, के कैलीफोर्निया राज्यांतर्गत वेंट्युरा जिले में, सेंटा बारबरा चैनल के तट के समीप, लास ऐंजिल्स नगर से पश्चिमोत्तर-पश्चिम दिशा में ५० मील की दूरी पर स्थित है। यह सदर्न पैसिफिक रेलमार्ग पर है। यहाँ का मुख्य व्यवसाय चुकंदर से चीनी बनाना है। यहाँ का फल व्यापार भी महत्वपूर्ण है। यह नगर १८६८ ई० में स्थापित हुआ था। कुल जनसंख्या २१,५६७ है (१९५०)। [रा० ना० मा०]

आक्सफोर्ड

इंग्लैड के ऑक्सफोर्डशायर का मुख्य नगर है। यहाँ विश्वविख्यात आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय है। यह लंदन से पश्चिमोत्तर–पश्चिम दिशा में रेल और सड़क मार्गों से क्रमानुसार ६३¾ मील और ५१ मील की दूरी पर, टेम्स नदी और उसकी सहायक चारवेल नदी के बीच के कंकड़ीले मैदान में स्थित है। कुल जनसंख्या ९८,६७५ है (१९५१) और क्षेत्रफल १३·१४ वर्ग मील है।

पूर्वकाल में यह नगर एक दीवार से घिरा था। इस दीवार के अवशेष न्यू कालेज के उद्यान में विद्यमान हैं। यहाँ का बोडलियन पुस्तकालय भवन देखने योग्य है। रैडक्लिफ कैमरा, क्लैरेंडन भवन और शैलडोनियन व्याख्यानभवन, जिसमें ४,००० व्यक्तियों के बैठने का प्रबंध है, अन्य

महत्वपूर्ण भवन हैं। इस नगर के अनेक विद्यालयभवनों में क्राइस्ट चर्च, मर्टन कालेज, न्यू कालेज, माडलिन कालेज, आल सोल्स कालेज और सेंट जोन्स उल्लेखनीय हैं।

ऑक्सफोर्ड नगर में उद्योग धंधे अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं। शराब, बिजली का सामान, दस्ताने, कागज और साइकिल उद्योग उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त विश्वविद्यालय से संबंधित उद्योगों में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस महत्वपूर्ण है। इसके छपाई विभाग में ९०० से ऊपर कर्मचारी हैं [रा० ना० मा०]

आक्साइड किसी तत्व के साथ आक्सिजन के यौगिक हैं। ये सर्वत्र बहुतायत से मिलते हैं। हाइड्रोजन का आक्साइड पानी (हा$_2$औ) पृथ्वी पर बहुत बड़ी मात्रा में है। इसके अतिरिक्त हवा में कई प्रकार के गैसीय आक्साइड हैं, जैसे कारबन डाइ आक्साइड, सल्फर डाइ आक्साइड आदि। खनिजों, चट्टानों और धरती की ऊपरी तह में भी विभिन्न आक्साइड हैं। आक्सिजन कुछ तत्वों को छोड़कर लगभग सभी तत्वों से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष क्रिया करता है। इससे अनेक आक्साइड उपलब्ध हैं।

आक्साइड बनाने के लिये वैसे तो बहुत सी विधियाँ हैं, परंतु साधारणतया निम्नांकित विधियों का प्रयोग होता है :

आक्सिजन के सीधे संयोग से—सोडियम, फासफोरस, लोहा, कारबन, गंधक, मैग्नीशियम इत्यादि हवा या आक्सिजन में गरम करने पर आक्साइड बनाते हैं। इनमें कुछ तो साधारण ताप पर ही धीरे धीरे आक्सिजन से क्रिया करते हैं, जैसे सोडियम, फास्फोरस आदि।

पानी की क्रिया द्वारा—मोरचा लगने से अथवा गरम लोहे पर भाप की क्रिया से लोहे का आक्साइड प्राप्त होता है। कुछ धातुओं के नाइट्रेट या कारबोनेट को अधिक गरम करने पर (लवण के विघटन से) आक्साइड प्राप्त होता है, जैसे कापर नाइट्रेट या कल्सियम कारबोनेट से क्रमानुसार ताँबे तथा नाइट्रोजन के और कैल्सियम तथा कारबन के आक्साइड। इसी विधि से कुछ हाइड्रॉक्साइड (जैसे फेरिक हाइड्रॉक्साइड) भी आक्साइड देते हैं।

रासायनिक गुण अथवा आक्सिजन के अनुपात के अनुसार इन आक्साइडों को क्रम से रखने पर प्रत्येक समूह के प्रतिनिधि आक्साइड धा$_2$औ या धा औ इत्यादि होते हैं (यहाँ धा=कोई धातु, औ=आक्सिजन)। परंतु कुछ तत्व कई आक्साइड बनाते हैं, जिनमें आक्सिजन की मात्राएँ भिन्न होती हैं।

रासायनिक गुण के विचार से आक्साइड निम्नांकित वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं :

अम्लीय आक्साइड—ये पानी से मिलकर अम्ल बनाते हैं अथवा क्षार या क्षारीय आक्साइड से लवण; जैसे कारबन डाइ आक्साइड, सल्फर डाइ आक्साइड। कुछ आक्साइड मिश्रित ऐनहाइड्राइड होते हैं, जैसे नाइट्रोजन पराक्साइड पानी के साथ नाइट्रस और नाइट्रिक अम्ल दोनों बनाता है।

क्षारीय आक्साइड—ये पानी से मिलकर क्षार बनाते हैं अथवा अम्ल या अम्लीय आक्साइड से लवण; जैसे सोडियम, पोटैशियम, कैलसियम के आक्साइड।

उदासीन आक्साइड—इनकी क्रिया से न लवण ही बनता है और न क्षार अथवा अम्ल; जैसे नाइट्रस आक्साइड, कारबन मोनोक्साइड। वैसे तो नाइट्रस आक्साइड हाइपोनाइट्रस अम्ल का ऐनहाइड्राइड है, परंतु पानी से मिलकर अम्ल नहीं बनाता।

उभयधर्मी (ऐंफ़ोटरिक) आक्साइड—ये अम्ल से क्षारीय आक्साइड के सदृश तथा क्षार से अम्लीय आक्साइड के सदृश क्रिया करते हैं, जैसे ज़िंक आक्साइड अम्ल तथा क्षार दोनों से लवण देता है।

पराक्साइड—इनमें साधारण से अधिक आक्सिजन होता है। ऐसे (क्षारीय) पराक्साइड पानी अथवा अम्ल से हाइड्रोजन पराक्साइड बनाते हैं (जैसे सोडियम या बेरियम पराक्साइड)। इनमें भी दो प्रकार हैं, पहला सुपर आक्साइड तथा दूसरा बहु (पॉली) आक्साइड।

दोहरे या मिश्रित आक्साइड—कुछ धातु के ऐसे दो आक्साइड, जिनमें से एक में आक्सिजन की मात्रा कम है तथा दूसरी में अधिक, मिलकर मिश्रित आक्साइड देते हैं। जैसे लोऔ तथा लो$_2$औ$_3$ से लो$_3$औ$_4$ (लो=लोहा या लौह)।

आक्साइड के नामकरण में आक्सिजन की मात्रा के अनुसार मोनो (एक), डाई (द्वि) सेस्क्वी (अध्यर्द्ध) इत्यादि का प्रयोग होता है।

आक्साइडों का उपयोग बहुत तरह के रासायनिक यौगिकों के बनाने में होता है। कई प्रकार के उत्प्रेरकों (कैटालिस्टों) तथा उनके उन्नायकों (प्रोमोटर्स) में आक्साइड का बहुत उपयोग होता है।

सं०ग्रं०—जे० डब्ल्यू० मेलर : ए कॉम्प्रिहेंसिव ट्रीटिज ऑन इनॉर्गैनिक ऐंड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री (१९२२); जे० आर० पारटिंगटन : टेक्स्ट बुक ऑव इनॉर्गैनिक केमिस्ट्री। [वि० वा० प्र०]

आक्सिजन रंग, स्वाद तथा गंधरहित एक गैस है। इसकी खोज, प्राप्ति अथवा प्रारंभिक अध्ययन में जे० प्रीस्टले और सी० डब्ल्यू शेले ने महत्वपूर्ण कार्य किया है।

आक्सिजन पृथ्वी के अनेक पदार्थों में रहता है और वास्तव में अन्य तत्वों की तुलना में इसकी मात्रा सबसे अधिक है। आक्सिजन वायुमंडल में स्वतंत्र रूप में मिलता है और आयतन के अनुसार उसका लगभग पाँचवाँ भाग है। यौगिक रूप में पानी, खनिज तथा चट्टानों का यह महत्वपूर्ण अंश है। वनस्पति तथा प्राणियों के प्रायः सब शारीरिक पदार्थों का आक्सिजन एक आवश्यक तत्व है।

कई प्रकार के आक्साइडों (जैसे पारा, चाँदी इत्यादि के) अथवा डाइआक्साइडों (लेड, मैंगनीज़, बेरियम के) तथा आक्सिजनवाले बहुत से लवणों (जैसे पोटैशियम नाइट्रेट, क्लोरेट, परमैंगनेट तथा डाइक्रोमेट) को गरम करने से आक्सिजन प्राप्त हो सकता है। जब कुछ पराक्साइड पानी के साथ प्रक्रिया करते हैं तब भी आक्सिजन उत्पन्न होता है। अतः सोडियम पराक्साइड तथा मैंगनीज़ डाइआक्साइड या चूने के क्लोराइड का चूर्णित मिश्रण (अथवा इसी प्रकार के अन्य मिश्रण भी) आक्सिजन उत्पादन के लिये प्रयुक्त होते हैं। हाइपोक्लोराइट अथवा हाइपोब्रोमाइट (जैसे ब्लीचिंग पाउडर) के विघटन से या गंधक के अम्ल तथा मैंगनीज़ डाइआक्साइड या पोटैशियम परमैंगनेट की क्रिया से भी आक्सिजन मिलता है। गैस की थोड़ी मात्रा तैयार करने के लिये हाइड्रोजन पराक्साइड, अकेले अथवा उत्प्रेरक के साथ अधिक उपयुक्त है।

जब बेरियम आक्साइड को तप्त किया जाता है (लगभग ५००° सें० तक) तब वह हवा से आक्सिजन लेकर पराक्साइड बनाता है। अधिक तापक्रम (लगभग ८००° सें०) पर इसके विघटन से आक्सिजन प्राप्त होता है तथा पुनः उपयोग के लिये बेरियम आक्साइड बच रहता है। औद्योगिक उत्पादन के लिये ब्रिन विधि इसी क्रिया पर आधारित थी। आक्सिजन प्राप्त करने के विचार से कुछ अन्य आक्साइड भी (जैसे ताँबा, पारा आदि के आक्साइड) इसी प्रकार उपयोगी हैं। हवा से आक्सिजन अलग करने के लिये अब द्रव हवा का अत्यधिक उपयोग होता है, जिसके प्रभाजित आसवन से आक्सिजन प्राप्त किया जाता है। पानी के विद्युद्विश्लेषण (इलेक्ट्रॉलिसिस) से हाइड्रोजन के उत्पादन में आक्सिजन भी उपजात (बाइप्रॉडक्ट) के रूप में मिलता है।

आक्सिजन का घनत्व १·४२९० ग्राम प्रति लीटर है (०° सें०, ७६० मिलीमीटर दाब पर) और वायु की अपेक्षा यह गैस १·१०५२७ गुना भारी है। इसका विशिष्टताप (स्थिर दाब पर) ०·२१७८ कैलोरी प्रति ग्राम, १५° सें० पर, है तथा स्थिर आयतन के विशिष्ट ताप से इसका अनुपात (१५° सें० पर) १·४०१ है। आक्सिजन के द्रवीकरण में विशेषज्ञों को विशेष कठिनाई हुई थी, क्योंकि इसका क्रांतिक (क्रिटिकल) ताप — ११८·८° सें०, दाब ४९·७ वायुमंडल तथा घनत्व ०·४३० ग्राम/सेंटीमीटर^3 है। द्रव आक्सिजन

हल्के नीले रंग का होता है। इसका क्वथनांक—१८३° सें० तथा ठोस आक्सिजन का द्रवणांक—२१८·४° सें० है। १५° सें० पर संगलन तथा वाष्पायन उष्माएँ क्रमानुसार ३·३० तथा ५०·६ कैलोरी प्रति ग्राम है।

आक्सिजन पानी में थोड़ा घुलनशील है, जो जलीय प्राणियों के श्वसन के लिये उपयोगी है। कुछ धातुएँ (जैसे पिघली हुई चाँदी) अथवा दूसरी वस्तुएँ (जैसे कोयला) आक्सिजन का शोषण बड़ी मात्रा में कर लेती है।

बहुत से तत्व आक्सिजन से सीधा संयोग करते हैं। इनमें कुछ (जैसे फासफोरस, सोडियम इत्यादि) तो साधारण ताप पर ही धीरे धीरे क्रिया करते हैं, परंतु अधिकतर, जैसे कार्बन, गंधक, लोहा, मैग्नीशियम इत्यादि, गरम करने पर। आक्सिजन से भरे बर्तन में ये वस्तुएँ दहकती हुई अवस्था में डालते ही जल उठती हैं और जलने से आक्साइड बनता है। आक्सिजन में हाइड्रोजन गैस जलती है तथा पानी बनता है। यह क्रिया इन दोनों के गैसीय मिश्रण में विद्युत् चिनगारी से अथवा उत्प्रेरक की उपस्थिति में भी होती है।

आक्सिजन बहुत से यौगिकों से भी क्रिया करता है। नाइट्रिक आक्साइड, फेरस तथा मैंगनस हाइड्राक्साइड का आक्सीकरण साधारण ताप पर ही होता है। हाइड्रोजन फास्फाइड, सिलीकन हाइड्राइड तथा जिंक इथाइल से तो क्रिया में इतना ताप उत्पन्न होता है कि संपूर्ण वस्तुएँ ही प्रज्वलित हो उठती हैं। लोहा, निकल इत्यादि महीन रूप में रहने पर और लेड सल्फाइड तथा कार्बन क्लोराइड सूर्य के प्रकाश में क्रिया करते हैं। इन क्रियाओं में पानी की उपस्थिति, चाहे यह सूक्ष्म मात्रा में ही क्यों न रहे, बहुत महत्वपूर्ण है।

जीवित प्राणियों के लिये आक्सिजन अति आवश्यक है। इसे वे श्वसन द्वारा ग्रहण करते हैं। द्रव आक्सिजन तथा कार्बन, पेट्रोलियम, इत्यादि का मिश्रण अति विस्फोटक है। इसलिये इनका उपयोग कड़ी वस्तुओं (चट्टान इत्यादि) के तोड़ने में होता है। लोहे की मोटी चद्दर काटने अथवा मशीन के टूटे भागों को जोड़ने के लिये आक्सिजन तथा दहनशील गैस को ब्लो पाइप में जलाया जाता है। इस प्रकार उत्पन्न ज्वाला का ताप बहुत अधिक होता है। साधारण आक्सिजन के साथ हाइड्रोजन या ऐसिटिलीन जलाई जाती है। इसके लिये ये गैसें इस्पात के बेलनों में अति संपीडित अवस्था में बिकती हैं। आक्सिजन सिरका, वार्निश इत्यादि बनाने तथा असाध्य रोगियों के साँस लेने के लिये भी उपयोगी है।

दहकते हुए तिनके के प्रज्वलित होने से आक्सिजन की पहचान होती है (नाइट्रस आक्साइड से इसकी भिन्नता नाइट्रिक आक्साइड के उपयोग से जानी जा सकती है)। आक्सिजन की मात्रा क्यूप्रस क्लोराइड, क्षारीय पायरोगैलोल के घोल, ताँबा अथवा इसी प्रकार की दूसरी उपयुक्त वस्तुओं द्वारा शोषित कराने से ज्ञात की जाती है।

सं०ग्रं०—जे० डब्लू० मेलर : ए कॉम्प्रिहेंसिव ट्रीटाइज ऑन इनआर्गेनिक ऐंड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री (१६२२); जे० आर० पार्टिंगटन : ए टेक्स्ट बुक ऑव इनआर्गेनिक केमिस्ट्री। [वि० वा० प्र०]

आक्सिम ऐलडिहाइडों तथा कीटोनों पर हाइड्रॉक्सिल-ऐमिन की प्रतिक्रिया से जो यौगिक प्राप्त होते हैं उन्हें आक्सिम कहते है। ऐलडिहाइडों से बने यौगिक ऐलडॉक्सिम तथा कीटोनों से बने यौगिक कीटॉक्सिम कहलाते हैं। इनके सूत्र निम्नलिखित है :

```
मू—का>औ+हा₂नाऔहा = मू—का>नाऔहा+हा₂औ
   |                    |
   हा                   हा
ऐलडिहाइड              ऐलडॉक्सिम

मू—का>औ+हा₂नाऔहा = मू—का>नाऔहा+हा₂औ
   |                    |
   मू′                  मू′
 कीटोन                कीटॉक्सिम
```
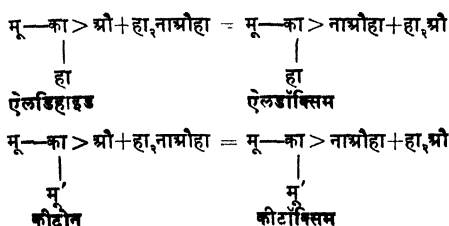
सबसे पहला आक्सिम विक्टर मेयर ने सन् १८७८ ई० में बनाया था। इसके बाद ऐलडिहाइड तथा कीटोनों के शुद्धीकरण तथा उनकी पहचान में आक्सिमों के महत्व के कारण तथा इन यौगिकों की विन्यास-समावयवता के कारण, रसायनज्ञों ने इनके अध्ययन में विशेष रुचि दिखलाई, जिसके फलस्वरूप इनसे संबद्ध अनेक महत्वपूर्ण अनुसंधान हुए।

ऐलडिहाइडों तथा कीटोनों के शुद्धीकरण तथा पहचान में इनके उपयोग का विशेष कारण यह है कि आक्सिम ठोस अवस्था में मणिभीय तथा जल में अविलेय होते हैं; अतः इनको शुद्ध अवस्था में प्राप्त किया जा सकता है। हाइड्रोक्लोरिक या गंधकाम्ल के विलयन के साथ गरम करने से आक्सिमों का जलविश्लेषण हो जाता है। इसके फलस्वरूप ऐलडिहाइड या कीटोन स्वतंत्र अवस्था में पुनः प्राप्त हो जाते है।

आक्सिमों के अपचयन से प्राथमिक ऐमिन प्राप्त होते हैं, अतः >का>औ को >का—नाहा में परिवर्तित करने में इनका प्रयोग होता है। ऐलडाक्सिम ऐसिड क्लोराइड द्वारा निर्जलित किए जा सकते हैं जिससे

```
मू—का>ना—औहा
   |
   हो
```
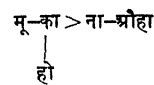
यौगिक मू—का≡ना में परिवर्तित हो जाते हैं।

कुछ आक्सिम, धात्वीय तत्वों के साथ संयुक्त होकर, स्थायी सवर्ग (कोऑरडिनेट) यौगिक बनाते है। लगभग एक समान गुणवाले और संबंधित विविध तत्वों से इस प्रकार बननेवाले यौगिकों की विलेयता एक दूसरे से भिन्न होती है। इस कारण, वैश्लेषिक रसायन में, इन आक्सिमों का बड़ा महत्व है। सैलिसिल ऐलडाक्सिम अनेक धातुओं से इस प्रकार के यौगिक बनाता है, परंतु ताँबे के साथ बने यौगिक को छोड़कर अन्य धातुओं से बने सभी यौगिक तनु (डाइल्यूट) ऐसीटिक अम्ल में विलेय हैं। ताँबे के साथ बना यौगिक हरिताभ-पीत रंग का एक चूर्ण सा होता है और इसे ११०° सें० पर सुखाकर स्थायी रखा जा सकता है। अतः इफ्रेम ने इस आक्सिम का अन्य तत्वों से ताँबे के पृथक्करण तथा उसके परिमापन के लिये उपयोग करना अच्छा बतलाया है। इसी प्रकार डाईमेथिल ग्लाइक्सिम, जो डाइकीटोन-डाई-ऐसिटिल का डाइ-आक्सिम है, अनेक धातुओं के साथ संकीर्ण यौगिक बनाता है, जिनमें से केवल निकल तथा पलेडियम से बने यौगिक तनु अम्लों तथा तनु क्षार विलयनों में अविलेय होते हैं। अतः निकल तथा पलेडियम के परिमापन तथा निकल को कोबल्ट से पूर्णतः पृथक् करने में इस आक्सिम का बहुत उपयोग होता है। बीटा नैप्थोक्वीनोन का एक आक्सिम कोबल्ट के साथ इसी प्रकार का अविलेय यौगिक बनाता है, जिससे कोबल्ट के परिमापन में इसका उपयोग होता है।

आक्सिमों की विन्यास-समावयवता—विन्यास-रसायन के विकास में आक्सिमों का महत्व कुछ कम नहीं है। सन् १८८३ ई० में हान्स गोल्डस्मिट ने ज्ञात किया कि बेंजिल का द्वि-आक्सिम दो रूपों में पाया जाता है, फिर सन् १८८६ ई० में विक्टर मेयर ने एक तीसरा रूप भी ज्ञात किया। उसी वर्ष बेकमैन ने बताया कि बेंजैलडीहाइड का आक्सिम भी दो रूपों में पाया जाता है। वांट हाफ ने >का=का′< वाले यौगिकों की ज्यामितीय समावयवता पूर्ण रूप से सिद्ध कर दी थी; अतः आर्थर हान्स तथा ऐल्फ्रेड वर्नर ने इन सिद्धांतों को >का=ना— वाले यौगिकों में लगाकर यह दिखलाया कि आक्सिमों के समावयव ज्यामितीय समावयव हैं। उनके अनुसार ऐल्डीहाइडों तथा असममितीय कीटोनों के आक्सिम दो रूपों में पाए जायँगे जिन्हें इस प्रकार लिख सकते हैं :
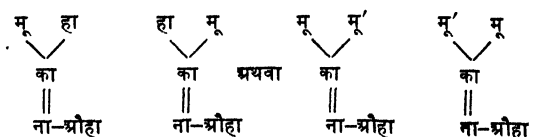
यह समावयवता ठीक उसी प्रकार की है जैसी मैलिक तथा फ्यूमेरिक अम्ल की >का=का< पर। कीटोनों में यह केवल असममितीय कीटोनों

में संभव है, क्योंकि मू तथा मू' के एक हो जाने से फिर इन दो रूपों में कोई अंतर नहीं रह जाता। इसके आधार पर बेंजिल द्वि-आक्सिम के रूप भी लिखे जा सकते हैं।
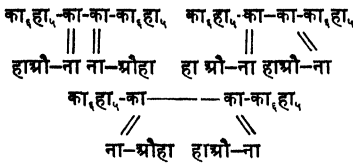
कीटोनों के आक्सिमों की फासफोरस पेंटाक्साइड के साथ ईथर में प्रतिक्रिया करने से जो पदार्थ मिलता है उसपर जल की प्रतिक्रिया से प्रतिस्थापित ऐसिड-ऐमाइड प्राप्त होते हैं। इस क्रिया को बेकमैन का रूपांतरण कहते हैं। इस क्रिया में मूलकों का परिवर्तन होता है। जो मूलक पहले कार्बन के साथ संयुक्त था, अब वह नाइट्रोजन के साथ संयुक्त मूलक से स्थानांतरण कर लेता है।

मू-का=ना-ओहा → हाओ-का=नामू → ओ=का-नाहामू
| | |
मू' मू' मू'

कीटॉक्सिम **प्रतिस्थापित ऐसिड-ऐमाइड**
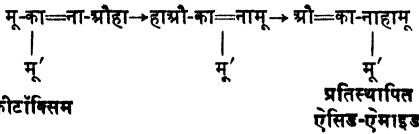
यह स्पष्ट है कि दो समावयवी आक्सिमों में से तो

मू-का-मू'
||
हाओ-ना

मू'काओनाहामू मिलेगा, परंतु

मू-का-मू'
||
ना-ओहा
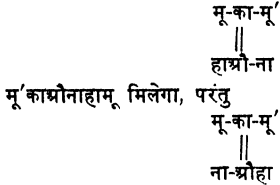
से मूकाओनाहामू' मिलेगा। इन पदार्थों का इस प्रकार बेकमैन रूपांतरण के फलस्वरूप बनना इस बात की पुष्टि करता है कि समावयवयी आक्सिमों की संरचना तो एक सी है, परंतु उसकी समावयवता मूलकों के तल में विभिन्न प्रकार से स्थित होने के कारण होती है।

इसके बाद इन बातों की पुष्टि करने के लिये हान्स, वर्नेर, डब्ल्यू० एच० मिल्स, माइसेनहाइमर, टी० डब्ल्यू० जे० टेलर तथा एल० एफ० सटन आदि रसायनज्ञों ने अनेक प्रयोगों के आधार पर समय समय पर अपने विचार प्रकट किए हैं, किंतु आक्सिमों के संबंध में अभी तक बहुत सी बातें नहीं निश्चित हो पाई हैं।

सं०ग्रं०—सिडविक : केमिस्ट्री ऑव नाइट्रोजन कंपाउंड्स; जे० सी० थॉर्प : डिक्शनरी ऑव ऐप्लाएड केमिस्ट्री।

टिप्पणी : ओ=आक्सिजन, का=कार्बन, ना=नाइट्रोजन, हा=हाइड्रोजन, मू=मूलक (रैडिकल), मू'=अन्य मूलक। [रा० दा० ति०]

आक्सैलिक अम्ल

पोटैसियम और कैल्सियम लवण के रूप में बहुत से पौधों में पाया जाता है। लकड़ी के बुरादे को क्षार के साथ २४०° से २५०° सें० के बीच गरम करके आक्सैलिक अम्ल, (काओओहा)२, बनाया जा सकता है। इस प्रतिक्रिया में सेल्यूलोस की—काहाओहा—काहाओहा की इकाई आक्सीकृत होकर (काओओहा)२ का रूप ग्रहण कर लेती है। आक्सैलिक अम्ल को औद्योगिक परिमाण में बनाने के लिये सोडियम फ़ार्मेट को सोडियम हाइड्राक्साइड या कार्बोनेट के साथ गरम किया जाता है। आक्सैलिक अम्ल का कार्बोक्सिल समूह दूसरे कार्बोक्सिल समूह पर प्रेरण प्रभाव डालता है, जिससे इनका आयनीकरण अधिक होता है। आक्सैलिक अम्ल में शक्तिशाली अम्ल के गुण हैं।

पेनिसीलियम और एस्पेंगिलस फफूंदें शर्करा से आक्सैलिक अम्ल बनाती हैं। यदि कैल्सियम कार्बोनेट डालकर विलयन का पीएच ६-७ के बराबर रखा जाय तो लगभग ९० प्रति शत शर्करा, कैल्सियम आक्सैलेट में बदल जाती है।

ऐसीटिक अम्ल दो प्रकारों से आक्सैलिक अम्ल में परिवर्तित होता है जैसा अंत में दी गयी सारणी में दिखाया गया है।

आक्सैलिक अम्ल पोटैसियम परमैंगनेट द्वारा शीघ्र आक्सीकृत हो जाता है। इस आक्सीकरण में दो अति आक्सीकृत कार्बन के परमाणुओं के बीच का दुर्बल संबंध टूट जाता है और कार्बन डाइ-आक्साइड और पानी बनता है। यह प्रतिक्रिया नियमित रूप से होती है और इसका उपयोग आयतनमितीय (वॉल्युमेट्रिक) विश्लेषण में होता है। आक्सैलिक अम्ल के इस अवकारी (रेड्यूसिंग) गुण के कारण इसका उपयोग स्याही के धब्बे छुड़ाने के लिये तथा अन्य अवकारक के रूप में होता है।

आक्सैलिक अम्ल को गरम करने पर यह फार्मिक अम्ल, कार्बन डाइ-आक्साइड, कार्बन मोनोक्साइड और पानी में विच्छेदित हो जाता है। सांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल द्वारा यह विच्छेदन कम ताप पर ही होता है और इस दशा में बना फार्मिक अम्ल, कार्बन मोनोक्साइड और पानी में विच्छेदित हो जाता है।

आक्सैलिक अम्ल आठ भाग पानी में विलेय है। १५०° सें० तक गरम करने पर इसका मणिभ जल (वाटर ऑव क्रिस्टैलाइज़ेशन) निकल जाता है। जलयोजित अम्ल का गलनांक १०१° सें० और निर्जलीकृत अम्ल का गलनांक १८९° सें० है। नार्मल ब्यूटाइल ऐलकोहल के साथ आसुत (डिस्टिल) करने पर ब्यूटाइल एस्टर बनता है, जिसका क्वथनांक २४३° सें० है। आक्सैलिक अम्ल के पैरा-नाइट्रोबेंजाइल एस्टर का क्वथनांक २०४° सें०, ऐनिलाइड का गलनांक २४५° सें० और पैरा-टोल्यूडाइड का गलनांक २६७° सें० है। [कृ० ब०]

आक्सैलिक अम्ल की संरचना
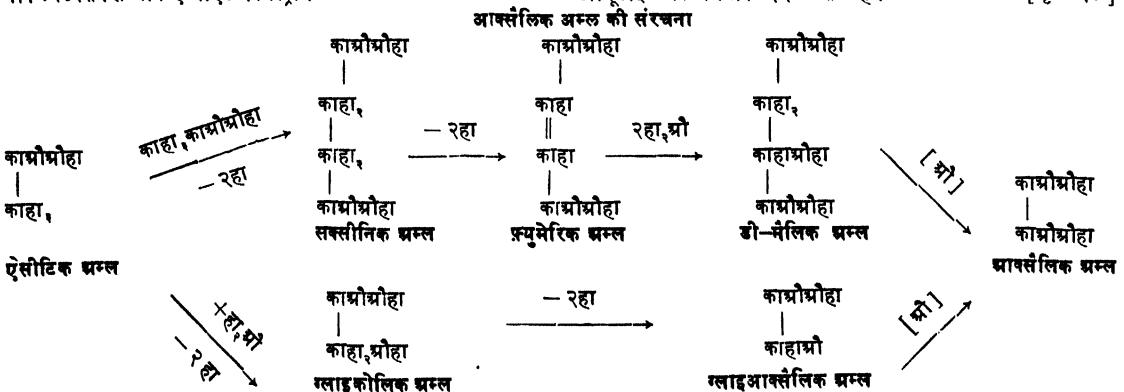
टिप्पणी : ओ=आक्सिजन; का=कार्बन; हा=हाइड्रोजन।

आखिया खारस (अथवा अहिकार) अस्सीरिया के राजा सिनाख़िरीब् को परामर्श देनेवाला एक प्राचीन मनीषी। इसकी जीवनकथा तथा सूक्तियाँ सीरिया, अरब, इथियोपिया, आर्मेनिया, रूमानिया और तुर्की की प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध हैं। इसने अपने भतीजे नादान को दत्तक पुत्र के रूप में रख लिया था। पर नादान ने उसका विनाश करने का प्रयत्न किया, किंतु वह भूमिगृह में छिपकर किसी प्रकार बच गया। वह प्रकट तब हुआ जब राजा को उसके परामर्श की आवश्यकता पड़ी। अतः उसने अपने प्रभाव को पुनः प्राप्त कर लिया। उसने अधर में प्रासाद का निर्माण करके तथा बालू की रस्सी बटकर मिस्र के सम्राट् को संतुष्ट किया। इसके पश्चात् उसने नादान को समुचित दंड दिया और उसकी लगातार भर्त्सना की। आखिया खारस् की कथा ई० पू० ५वीं शताब्दी से भी अधिक पुरानी है।

सं०ग्रं०—कोनीबियर इत्यादि: स्टोरी ऑव अहिकार। [भो०ना०श०]

आखेटिपतंग (इक्नुमन फ़्लाइ) छोटे, बहुधा चटकीले रंगोंवाले, क्रियाशील कीट (इंसेक्ट) हैं। चीटिया, मधुमक्खियों तथा बर्रों से इनका निकट संबंध है। प्राय. इन्हे धूप से प्रेम होता है। इनके पूर्वोक्त संबंधियों और इनमें यह भेद है कि प्रौढ़ होने पर ही ये स्वतंत्र जीवन व्यतीत करते हैं। अपरिपक्व अवस्था में ये पूर्णतः परजीवी होते हैं। तब तक विविध प्रकार के कीटों के शरीर के ऊपर या भीतर रहकर, उन्ही से भोजन और आश्रय पाते हैं तथा अंत मे उनके प्राण ले लेते हैं। प्रौढ स्त्री आखेटिपतंग अंडे या तो आश्रयदाता कीट के शरीर के ऊपर देती है या अपने अंडरोपक (ओविपॉज़िटर) की सहायता से इन्हें उसकी त्वचा के नीचे घुसेड़ देती है। अंडरोपक एक प्रकार का रूपांतरित डंक होता है जो आश्रय देनेवाले कीट की चमड़ी को छेदकर उसके भीतर अंडे डालने में सहायता देता है। आश्रय देनेवाले कीट के शरीर के भीतर आखेटिपतंग के डिंभ (लार्वी) प्रायः सैकड़ों की संख्या में होते हैं। ये शनैः शनैः उसके शरीर के कोमल पदार्थ को खा जाते हैं तथा अंत में केवल उसकी खाल रह जाती है और इस तरह वह मर जाता है। इन डिंभो में प्रायः टाँगें नही होतीं तथा ये श्वेत या पीले रंग के होते हैं। जब ये पूरे बड़े हो जाते हैं तो आश्रय देनेवाले जीव की मृत देह पर अपने चारों ओर एक रेशमी कोवा (कोकून) बना लेते हैं तथा आखेटिपतंग बनकर निकलने के पूर्व वे शंखी (प्यूपा) की अवस्था में रहते हैं।
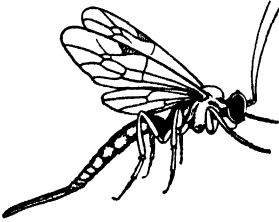
आखेटिपतंग

यह कृषि के हानिकारक कीडों के शरीर में अडे देता है, जिससे वे शीघ्र ही मर जाते हैं।

आखेटिपतंग अनेक प्रकार के कीटों की अपरिपक्वावस्था में ही उन पर आश्रित होना आरंभ कर देते हैं, विशेषकर तितलियों और पतंगों की इल्लियो (कैटरपिलर्स) पर, गुबरैलों (कोलिओप्टरा) के जातकों (ग्रब्स) पर, मक्खियों (डिप्टेरा) के ढोलों (मैगॉट्स) पर तथा मकड़ियों और कूटबिच्छुओं (फ़ाल्स स्कॉरपियंस) पर। इनमें से पैनिस्कस जाति के समान कुछ आखेटिपतंग तो बाह्य परजीवी हैं, परंतु अन्य जातियों के आखेटिपतंग अधिकतर आंतरिक परजीवी होते हैं। आखेटिपतंग साधारणतया पृथ्वी के प्रत्येक भाग में पाए जाते हैं। समस्त भूमंडल पर अभी तक इनकी २,००० जातियाँ ज्ञात हुई है, जो २४ वर्गों में विभाजित की गई हैं। भारत, ब्रह्मदेश (बर्मा), लंका तथा पाकिस्तान में पाई जानेवाली इनकी लगभग ७०० जातियों का वर्णन अभी तक किया गया है। यूरोप तथा अमरीका में ग्रैवनहार्स्ट, वेसमील और ऐशमीड के समान अनेक कीट-वैज्ञानिकों ने इन कीटों का अध्ययन किया है। इनकी अधिकांश भारतीय जातियों का वर्णन यूरोप के लिनीअस, फ़ाब्रिशिअस, वाकर, कैमरन तथा मॉरली ने किया है। अंतिम लेखक ने भारत के स्वतंत्र होने के पूर्व भारत के सेक्रेटरी ऑव स्टेट द्वारा प्रकाशित "फ़ॉना ऑव ब्रिटिश इंडिया" (ब्रिटिश भारत के प्राणी) नामक पुस्तकमाला में एक संपूर्ण पुस्तक इन कीटों के वर्णन को अर्पित कर दी है।

बहुत से कीट, जिनपर परजीवी आखेटिपतंग आक्रमण करते हैं, बहुधा खेती और जंगलों को हानि पहुँचानेवाले हैं। इसलिये आखेटिपतगों को मनुष्य का हितकारी मानने के लिये बाध्य होना पड़ता है। ये उन हानिकारक इल्लियों, गुबरैलों, ढोलों इत्यादि को, जो हमारी खेती नष्ट करने के सिवाय जंगल के वृक्षों की पत्तियाँ खा जाते या उनकी बहुमूल्य लकड़ी के भीतर छेद कर देते हैं, बड़ी संख्या में नष्ट कर डालते हैं।

एवानिआ नामक आखेटिपतंग काले रंग का होता है, जो बहुधा घरों में पाया जाता है। यह साधारणतया घरों में पाए जानेवाले घृणित तिलचट्टे (कॉकरोच) के अंडधानों (एगसैक) की तत्परता से खोज कर उन्ही मे अपने अंडे रख देता है। एवानिआ के डिंभ तिलचट्टे के अंडों को खा जाते हैं। पीतपीटिका (ज़ैथोपिंप्ला) पीला और काले धब्बोंवाला एक अन्य आखेटिपतंग है, जो सुगमता से मिलता है, यह अनेक हानिकारक इल्लियो का परजीवी है। माइक्रोब्रैकन लेफ़ोई नामक आखेटिपतंग भारत और मिस्र में पाए जानेवाले रुई के कुख्यात कर्पासकीट (बोलवर्म) की इल्लियों का प्रसिद्ध परजीवी है और इसलिये हमारा हितकारी है।

कुछ जातियों को, जैसे माइक्रोब्रैकन जिलीकिआ को, प्रयोगशालाओं मे बड़ी संख्या मे प्रजनित करा और पालकर भारत तथा संयुक्त राज्य, अमरीका मे आलू को हानि पहुँचानेवाली कंदपतंग की इल्लियों (ट्यूबर मॉथ कैटरपिलर) की रोक के लिये खेतो और भांडारों में छोड़ दिया जाता है। ओपिअस जाति की अनेक उपजातियाँ बहुमूल्य फलो को नष्ट करनेवाली फलमक्खियों के ढोलो पर आक्रमण करती हैं। इसलिये अमरीका ने अपने फलों की रक्षा के लिये भारत से इन आखेटिपतंगों का आयात किया है। [म० सु० म० श०]

आखेन (स्थिति: ५०°४७' उ० ६°५' पू०) आरडेनीज़ पठार के उत्तरांचल मे कोलोन-ब्रूसेल्स की प्रधान रेलवे पर कोलोन से ४४ मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित पश्चिमी जर्मनी का प्राचीन नगर है। सीमांत भौगोलिक स्थिति तथा तज्जन्य युद्धो के कुप्रभावों के कारण इसका क्रमिक ह्रास हो रहा है। जनसंख्या १,६५,७१० (सन् १९३९), १,२९,९६७ (सन् १९५०)। द्वितीय महायुद्ध में इसे पूर्णतया जला दिया गया था। स्थानीय कोयले की प्राप्ति के कारण यहाँ काच, कपड़ा एवं लोहे के कारखाने है। [का० ना० सि०]

आख्यान इतिहासमूलक कथानक। आख्यानों की सत्ता का प्रमाण ऋग्वेद की संहिता में ही हमें उपलब्ध होता है। अथर्ववेद में (१०।७।२६) इतिहास तथा पुराण का उल्लेख मौखिक साहित्य के रूप में न होकर लिखित ग्रंथ के रूप में किया गया मिलता है। वेदों की व्याख्याप्रणाली के विभिन्न संप्रदायों में यास्क ने ऐतिहासिकों के संप्रदाय का अनेक बार उल्लेख किया है जिनके अनुसार 'वृत्र' त्वाष्ट्र असुर की संज्ञा है और देवों के अधिपति इंद्र के साथ उसके घोर संघर्ष और तुमुल संग्राम का वर्णन ऋग्वेद के मंत्रों में किया गया है। इस संप्रदाय के व्याख्याकारों की संमति में वेदों में महत्वपूर्ण आख्यान विद्यमान हैं। ऋग्वेद में आख्यानों की संख्या कम नहीं है। इनमें से कुछ आख्यान तो वैयक्तिक देवता के विषय में हैं और कुछ किसी सामूहिक घटना को लक्ष्य कर प्रवृत्त होते हैं। ऋग्वेद में इंद्र तथा अश्विन के विषय में भी अनेक आख्यान मिलते हैं जिनमें इन देवों की वीरता, पराक्रम तथा उपकार की भावना स्पष्ट अंकित की गई है। ऋग्वेद के भीतर ३० आख्यानों का स्पष्ट निर्देश किया गया है जिनमें से कतिपय प्रख्यात आख्यान ये हैं—शुनःशेप (१।२४), अगस्त्य और लोपामुद्रा (१।१७९), गृत्समद (२।१२), वसिष्ठ और विश्वामित्र (३।५३, ७।३३ आदि), सोम का अवतरण (३।४३), त्र्यरुण और वृशजान (५।२), अग्नि का जन्म (५।११), श्यावाश्व (५।३२), बृहस्पति का जन्म (६।७१), राजा सुदास (७।१८), नहुष (७।९५), अपाला (८।९१), नाभानेदिष्ठ (१०।६१।६२), वृषाकपि (१०।८६), उर्वशी और पुरूरवा (१०।९५), सरमा और पणि (१०।१०८), देवापि और शंतनु (१०।९८),

नचिकेता (१०।१३५)। इनके अतिरिक्त दानस्तुतियों में अनेक राजाओं के नाम उपलब्ध हैं जिनसे दान पाकर अनेक ऋषियों को उनकी स्तुति में मंत्र लिखने की प्रेरणा मिली। इन स्तुतियों में भी कतिपय आख्यानों की ओर स्पष्ट संकेत विद्यमान हैं।

ऋग्वेद से भिन्न वैदिक ग्रंथों में भी आख्यानों का विवरण दिया गया है। इनमें से कतिपय आख्यान तो एकदम नवीन हैं, परंतु कुछ ऋग्वेद में संकेतित आख्यानों के ही परिबृंहित रूप हैं। ऋग्वेद से संबद्ध 'अनुक्रमणी साहित्य' में, विशेषतः बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी में, निरुक्त, नीतिमंजरी और सायण भाष्य में इन आख्यानों की विस्तृत घटनाओं का भी वर्णन हुआ है। पुराणों में भी ये आख्यान वर्णित हैं, परंतु इनकी घटनाओं में कहीं ह्रास और कहीं परिबृंहण दृष्टिगोचर होता है। ब्राह्मण तथा श्रौतसूत्र भी इनके विकास के अध्ययन के लिये आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ सोभरि काण्व का आख्यान जो ऋग्वेद के अनेक सूक्तों (८।१९,२०,२१,२२) में संकेतित है, भागवत में विस्तार से वर्णित है (भागवत ९ स्कंध, अ० ६।३८-५५)। श्यावाश्व आत्रेय का आख्यान ऋग्वेद में (५।६१) उल्लिखित होने के अतिरिक्त सांख्यायन श्रौतसूत्र (१६।११।१६) में भी निर्दिष्ट है। च्यवान (पुराणों में 'च्यवन') भार्गव तथा सुकन्या मानवी का आख्यान ऋग्वेद के अनेक सूक्तों (१।११६, ११७, ११८; १०।३९) में संकेतित होकर तांड्य ब्राह्मण (१४।६।११), निरुक्त (४।१९), शतपथ ब्राह्मण (कांड ४) तथा श्रीमद्भागवत पुराण (९।३) में विस्तार के साथ वर्णित है। इस प्रकार वैदिक आख्यानों के विकास की विपुल सामग्री रामायण, महाभारत और पुराणों के भीतर रोचक विस्तार के साथ उपलब्ध होती है।

आख्यानों का तात्पर्य क्या है इस प्रश्न के उत्तर के संबंध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। अमरीकी विद्वान् डा० ब्लूमफील्ड ने उन विद्वानों के मत का खंडन किया है जिन्होंने इन आख्यानों की रहस्यवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ ये रहस्यवादी विद्वान् पुरूरवा के आख्यान के भीतर एक गंभीर रहस्य का दर्शन करते हैं। उनकी दृष्टि में पुरूरवा सूर्य और उर्वशी उषा है। उषा और सूर्य का परस्पर संयोग क्षणिक ही होता है। उनके वियोग का काल बड़ा ही दीर्घ होता है। वियोगी होने पर सूर्य उषा की खोज में दिन भर घूमा करता है, तब कहीं जाकर फिर दूसरे दिन प्रातःकाल दोनों का समागम होता है। प्राचीन भारत के वैदिकों (कुमारिल भट्ट, सायण आदि) की व्याख्या का यही रूप था। परंतु आख्यानों को उनके मानवीय मूल्य से वंचित रखना न्याय्य और उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

इन आख्यानों के अनुशीलन के विषय में दो तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक है : (क) ऋग्वेदीय आख्यान ऐसे विचारों को अग्रसर करते हैं और ऐसे व्यापारों का वर्णन करते हैं जो मानव समाज के कल्याणसाधन के नितांत समीप हैं। इनका अध्ययन मानव मूल्य के दृष्टिकोण से ही करना चाहिए। ऋग्वेदीय ऋषि मानव की कल्याणसिद्धि के लिये उपादेय तत्वों का समावेश इन आख्यानों के भीतर करते हैं। (ख) उसी युग के वातावरण को ध्यान में रखकर इनका मूल्य और तात्पर्य निर्धारित करना चाहिए जिस युग में इन आख्यानों का आविर्भाव हुआ था। अर्वाचीन तथा नवीन दृष्टिकोण से इनका मूल्यनिर्धारण करना इतिहास के प्रति अन्याय होगा। इन तथ्यों की आधारशिला पर आख्यानों की व्याख्या समुचित और वैज्ञानिक होगी।

आख्यानों की शिक्षा मानव समाज के सामूहिक कल्याण तथा विश्वमंगल की अभिवृद्धि के निमित्त है। भारतीय संस्कृति के अनुसार मानव और देव दोनों परस्पर संबद्ध हैं। मनुष्य यज्ञों में देवों के लिये आहुति देता है, जो प्रसन्न होकर उसकी अभिलाषा पूर्ण करते हैं और अपने प्रसादों की वृष्टि उनके ऊपर निरंतर करते हैं। इंद्र तथा अश्विन विषयक आख्यान इसके विशद दृष्टांत हैं। यजमान के द्वारा दिए गए सोमरस का पान कर इंद्र नितांत प्रसन्न होते हैं और उसकी कामना को सफल बनाते हैं। अवर्षण के दैत्य (वृत्र) को अपने वज्र से छिन्न भिन्न कर वे सब नदियों को प्रवाहित करते हैं। वृष्टि से मानव आप्यायित होते हैं। संसार में शांति विराजने लगती है। कालिदास ने इस वैदिक तथ्य को बड़ी सुंदरता से अभिव्यक्त किया है (रघुवंश, चतुर्थ सर्ग)।

प्रत्येक आख्यान के अंतस्तल में मानवों के शिक्षणार्थ तथ्य अंतर्निहित हैं। अपाला आत्रेयी (ऋग्वेद ८।९१) का आख्यान नारीचरित्र की उदात्तता तथा तेजस्विता का विशद प्रतिपादक है। राजा त्र्यरुण त्रैवृष्ण और वृशजान का आख्यान (ऋ० ५।२; तांड्य ब्राह्मण १३।३।१२; ऋग्विधान १२।५२; बृहद्देवता ५।१४।२३) वैदिक कालीन पुरोहित की महत्ता और गरिमा का स्पष्ट संकेत करता है। सोभरि काण्व का आख्यान (ऋ० ८।१९, ८।८१; निरुक्त ४।१५; भागवत ९।६) संगति के महत्व का प्रतिपादन करता है। उषस्ति चाक्रायण (छांदोग्य,प्रथम प्रपाठक, खंड १०-११) का आख्यान अन्न के सामूहिक प्रभाव तथा गौरव की कमनीय कथा है। श्यावाश्व आत्रेय की कथा (ऋ० ५।६१) ऋषि के गौरव को, प्रेम की महिमा को तथा कवि की साधना को बड़ी सुंदर रीति से अभिव्यक्त करती है। ऋग्वेदीय युग की यह प्रख्यात प्रणय कहानी है, जिसमें प्रेम की सिद्धि के लिए श्यावाश्व तपस्या के बल पर मंत्रद्रष्टा ऋषि बन जाते हैं। दध्यङ् आथर्वण का आख्यान (ऋ० १।११६।१२३; शतपथ १४।४।५।१३; बृहदारण्यक २।५; भागवत पुराण ६।१०) राष्ट्र के मंगल के लिये अपने जीवनदान की शिक्षा देकर हमें क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठने का और राष्ट्र का कल्याण करने का गौरवमय उपदेश देता है। पुराण में इन्हीं का नाम ऋषि दधीचि है, जिन्होंने वृत्र को मारने के लिये इंद्र को अपनी हड्डियाँ वज्र बनाने के लिये देकर आर्य सभ्यता की रक्षा की थी। अनधिकारी को रहस्यविद्या के उपदेश का विषम परिणाम इस वैदिक आख्यान में दिखलाया गया है। इन सब आख्यानों के पीछे उपदेश है—ईश्वर में अटूट श्रद्धा तथा मानव से घनिष्ठ प्रेम।

कतिपय ऋषियों की चारित्रिक त्रुटियों तथा अनैतिक आचरणों का भी वर्णन वैदिक तथा उनका अनुसरण करनेवाले महाभारत और पुराणों में पाए जानेवाले आख्यानों में उपलब्ध होता है। ये कथानक अनैतिकता के गर्त में गिरने से बचाने के लिये ही निर्दिष्ट हैं।

पुराणों में भी ये ही आख्यान बहुशः वर्णित हैं, परंतु इनके रूप में वैषम्य है। तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि अनेक आख्यान कालांतर में परिवर्तित मनोवृत्ति अथवा विभिन्न सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थिति के कारण अपने विशुद्ध वैदिक रूप से नितांत विकृत रूप धारण कर लेते हैं। विकास की प्रक्रिया में अनेक अवांतर घटनाएँ भी उस आख्यान के साथ संश्लिष्ट होकर उसे एक नया रूप प्रदान करती हैं, जो कभी कभी मूल आख्यान के नितांत विरुद्ध सिद्ध होता है। शुनःशेप तथा वसिष्ठ विश्वामित्र के कथानकों का अनुशीलन इस सिद्धांत के प्रदर्शन में दृष्टांत प्रस्तुत करता है। ऋग्वेद में निर्दिष्ट शुनःशेप का यह आख्यान ऐतरेय ब्राह्मण में नए रूप में, नवीन घटनाओं से संवलित होकर उपलब्ध होता है। अब यहाँ यह आख्यान आरंभ में राजा हरिश्चंद्र के पुत्र रोहिताश्व के साथ तथा कथांत में ऋषि विश्वामित्र के साथ संबद्ध होकर एक नवीन रूप धारण कर लेता है। उसके अन्य दो भाइयों की सत्ता, उसके पिता का दारिद्र्य, उसके विक्रय आदि की समस्त घटनाएँ कथानक में रोचकता लाने के लिये पीछे से गढ़ी गई प्रतीत होती हैं। 'शुनःशेप' का अर्थ भी कुत्ते से कोई अर्थ नहीं रखता। 'शुन' का अर्थ है सुख, कल्याण तथा 'शेप' का अर्थ है स्तंभ या खंभा। अतः 'शुनःशेप' का अर्थ ही है 'सौख्य का स्तंभ'। इस प्रकार यह कथानक वरुण के पाश से मुक्ति का संदेश देता हुआ कल्याण के मार्ग को प्रशस्त बनाता है।

वसिष्ठ विश्वामित्र का आख्यान ऋग्वेद में स्वतः संकेतित है। ये दोनों ऋषि संभवतः भिन्न भिन्न समय में राजा सुदास के पुरोहित थे। ये उस युग के ऋषि हैं जो चातुर्वर्ण्य के क्षेत्र से बाहर माना जा सकता है। दोनों में परम सौहार्द तथा मैत्री की भावना का साम्राज्य विराजता है। दोनों तपस्या से पूत, तेज के पुंज तथा अलौकिक शक्तिशाली महापुरुष हैं। परंतु अवांतर ग्रंथों—रामायण, पुराण, बृहद्देवता आदि—में दोनों के बीच एक महान् संघर्ष, वैमनस्य तथा विरोध दिखलाया गया है। विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण बनने के लिये लालायित और वसिष्ठ के द्वारा अंगीकृत न होने पर उनके पुत्रों के विनाशक के रूप में चित्रित किए गए हैं।

सं०ग्रं०—हरियप्पा : ऋग्वेदिक लीजेंड्स थ्रू दि एजेज, पूना, १९५३; बलदेव उपाध्याय : वैदिक साहित्य और संस्कृति, काशी, १९५८; मैक्डोनल्ड : दि वैदिक माइथोलाजी (स्ट्रासबर्ग, १९१८)।

प्रख्यात आख्यान शुनःशेपका का आख्यान ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में (१।२४,२५) बहुशः संकेतित होने से सत्य घटना के ऊपर आश्रित प्रतीत होता है। ऐतरेय ब्राह्मण (७।३)में यह आख्यान बहुत विस्तार के साथ वर्णित है, जिसके आदि में राजा हरिश्चंद्र का और अंत में विश्वामित्र का संबंध जोड़कर इसे परिवर्धित किया गया है। वरुण की कृपा से ऐक्ष्वाकु नरेश हरिश्चंद्र को पुत्र उत्पन्न होना, समर्पण के समय उसका जंगल में भाग जाना, हरिश्चंद्र को उदररोग की प्राप्ति, रास्ते मे अजीगर्त के मध्यम पुत्र शुनःशेप का क्रय करना, देवताओं की कृपा से उसका वध्यपशु होने से बच जाना, विश्वामित्र के द्वारा उसका कृतक-पुत्र बनाया जाना, आदि घटनाएँ प्रख्यात हैं।

उर्वशी और पुरूरवा का आख्यान वैदिक युग की एक रोमांचक प्रणय गाथा है। देवी होने पर भी उर्वशी का राजा पुरूरवा के प्रणयपाश में बद्ध होना, पृथ्वीतल पर महारानी के रूप में निवास तथा अंत में राजा को अपने विरह से संतप्त कर अंतर्धान होना आदि घटनाएँ नितात प्रख्यात हैं। ऋग्वेद के प्रख्यात सूक्त (१०।९५) में पुरूरवा और उर्वशी का कथनोपकथन मात्र है; परंतु शतपथ ब्राह्मण (११।१।५।१) में यह कथानक रोचक विस्तार के साथ निबद्ध किया गया है तथा इस प्रणय-कथा के अंकन में साहित्यिक सौंदर्य का भी परिचय मिलता है। विष्णुपुराण (४।६), मत्स्यपुराण (अध्याय २४) तथा भागवत (९।१४) में इसी कथा का रोचक विवरण हम पाते हैं। कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीय' त्रोटक में इस कथानक को नितांत मंजुल नाटकीय रूप प्रदान किया है। इस आख्यान के विकास में एक विशेष तथ्य की सत्ता मिलती है। पुराणों ने मत्स्यपुराण का आधार लेकर इसे प्रणयगाथा के रूप में ही अंकित किया है। परंतु वैदिक आख्यान में पुरूरवा पागल प्रेमी न होकर यज्ञ का प्रचारक नरपति है। वह पहला व्यक्ति है जिसने श्रौत अग्नि (आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि नामक मेधा अग्नि) की स्थापना का रहस्य जानकर यज्ञ संस्था का प्रथम विस्तार किया। पुरूरवा के इस परोपकारी रूप की अभिव्यक्ति वैदिक आख्यान का वैशिष्ट्य है।

च्यवन भार्गव तथा **सुकन्या मानवी** का आख्यान भारतीय नारी-चरित्र का एक नितांत उज्ज्वल दृष्टांत उपस्थित करता है। यह कथा ऋग्वेद के अश्विन से संबद्ध अनेक सूक्तों में संकेतित है (१।११६ तथा १।११७ आदि)। यही कथा तांडय ब्राह्मण (१४।६।११) में, निरुक्त (४।१९) में, शतपथ (कांड ४) में तथा भागवत (स्कंध ९, अध्याय ३) में भी विस्तार से दी गई है। च्यवन का वैदिक नाम 'च्यवान' है। सुकन्या की वैदिक कहानी उसकी पौराणिक कहानी की अपेक्षा कहीं अधिक उदात्त और आदर्शमयी है। पुराण में सुकन्या ऋषि की चमकती हुई आँखों को छेदकर स्वयं अपराध करती है और इसके लिये उसे दंड मिलना स्वाभाविक ही है। परंतु वेद में उसका त्याग उच्च कोटि का है। सैनिक बालकों द्वारा किए गए अपराध के निवारण के लिये सुकन्या वृद्ध च्यवन ऋषि को आत्मसमर्पण करती है। उसके दिव्य प्रेम से प्रभावित होकर अश्विनों ने च्यवन को वार्धक्य से मुक्त कर दिया और उन्हें नूतन यौवन प्रदान किया। [ब० उ०]

आगम

यह शास्त्र साधारणतया 'तंत्रशास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध है। निगमागममूलक भारतीय संस्कृति का आधार जिस प्रकार निगम (=वेद) है, उसी प्रकार आगम (=तंत्र) भी है। दोनों स्वतंत्र होते हुए भी एक दूसरे के पोषक हैं। निगम कर्म, ज्ञान तथा उपासना का स्वरूप बतलाता है तथा आगम इनके उपायभूत साधनों का वर्णन करता है। इसीलिये वाचस्पति मिश्र ने 'तत्ववैशारदी' (योगभाष्य की व्याख्या) में 'आगम' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है: आगच्छंति बुद्धिमारोहंति अभ्युदयनिःश्रेयसोपाया यस्मात्, स आगमः। आगम का मुख्य लक्ष्य 'क्रिया' के ऊपर है, तथापि ज्ञान का भी विवरण यहाँ कम नहीं है। 'वाराहीतंत्र' के अनुसार आगम इन सात लक्षणों से समन्वित होता है : सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्म (=शांति, वशीकरण, स्तंभन, विद्वेषण, उच्चाटन तथा मारण), साधन तथा ध्यान योग। 'महानिर्वाण' तंत्र के अनुसार कलियुग में प्राणी मेध्य (पवित्र) तथा अमेध्य (अपवित्र) के विचारों से बहुधा हीन होते हैं और इन्हीं के कल्याणार्थ महादेव ने आगमों का उपदेश पार्वती को स्वयं दिया। इसीलिये कलियुग में आगम की पूजापद्धति विशेष उपयोगी तथा लाभदायक मानी जाती है—**कलौ आगमसम्मतः**। भारत के नाना धर्मों में आगम का साम्राज्य है। मन धर्म में मात्रा में न्यून होने पर भी आगमपूजा का पर्याप्त समावेश है। बौद्ध धर्म का 'वज्रयान' इसी पद्धति का प्रयोजक मार्ग है। वैदिक धर्म में उपास्य देवता की भिन्नता के कारण इसके तीन प्रकार हैं : **वैष्णव आगम** (पांचरात्र तथा वैखानस आगम), शैव आगम (पाशुपत, शैवसिद्धांती, त्रिक आदि) तथा शाक्त आगम। द्वैत, द्वैताद्वैत तथा अद्वैत की दृष्टि से भी इनमें तीन भेद माने जाते हैं। अनेक आगम वेदमूलक हैं, परंतु कतिपय तंत्रों के ऊपर बाहरी प्रभाव भी लक्षित होता है। विशेषतः शाक्तागम के कौलाचार के ऊपर चीन या तिब्बत का प्रभाव पुराणों में स्वीकृत किया गया है। आगमिक पूजा विशुद्ध तथा पवित्र भारतीय है। 'पंच मकार' के रहस्य का अज्ञान भी इसके विषय में अनेक भ्रमों का उत्पादक है।

सं०ग्रं०—आर्थर एवेलेन : शक्ति ऐंड शास्त्र, गणेश ऐंड कं०, मद्रास, १९५२; चटर्जी : काश्मीर शैविज्म, श्रीनगर, १९१६; बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, काशी, १९५७। [ब० उ०]

जैन आगम—जैन दृष्टिकोण से भी आगमों पर विचार कर लेना समीचीन होगा। जैन साहित्य के दो विभाग हैं, आगम और आगमेतर। केवल ज्ञानी, मनपर्यव ज्ञानी, अवधि ज्ञानी, चतुर्दश पूर्व के धारक तथा दशपूर्व के धारक मुनियों को आगम कहा जाता है। कहीं कहीं नवपूर्व के धारक को भी आगम माना गया है। उपचार से इनके वचनों को भी आगम कहा गया है। जब तक आगम बिहारी मुनि विद्यमान थे, तब तक इनका इतना महत्व नहीं था, क्योकि तब तक मुनियों के आचार व्यवहार का निर्देशन आगम मुनियों द्वारा मिलता था। जब आगम मुनि नहीं रहे, तब उनके द्वारा रचित आगम ही साधना के आधार माने गए और उनमें निर्दिष्ट निर्देशन के अनुसार ही जैन मुनि अपनी साधना करते हैं।

आगम साहित्य भी दो भागों में विभक्त है : अंगप्रविष्ट और अंग-बाह्य। अंगों की संख्या १२ है। उन्हें गणिपिटक या द्वादशांगी भी कहा जाता है :

१—आचारांग	५—भगवती	९—अनुत्तरोपपातिकदशा
२—सूत्रकृतांग	६—ज्ञाता	१०—प्रश्न व्याकरण
३—स्थानांग	७—उपासक दशांग	११—विपाक
४—समवायांग	८—अंतकृत् दशा	१२—दृष्टिवाद

इनमें दृष्टिवाद का पूर्णतः विच्छेद हो चुका है। शेष ग्यारह अंगों का भी बहुत सा अंग विच्छिन्न हो चुका है। उपलब्ध ग्रंथों का अंश-परिमाण इस प्रकार है :

१—आचारांग — श्रुतस्कंध (२), अध्ययन (२५), उद्देशक (५१), चूलिका (३), श्लोक (२५००)
(जिसमें सातवें 'महापरिज्ञा' नामक अध्ययन का विच्छेद हो चुका है।)

२—सूत्रकृतांग — श्रुतस्कंध (२), अध्ययन (२३), उद्देशक (१५), श्लोक (२१००)

३—स्थानांग — स्थान (१०), उद्देशक (२८), श्लोक (३७७०)

४—समवायांग — श्रुतस्कंध (१), अध्ययन (१), उद्देशक (१), श्लोक (१६६७)

५—भगवती — शतक (४०), उद्देशक (१९२३), श्लोक (१५७५२)

६—ज्ञाता — श्रुतस्कंध (२), वर्ग (१०), उद्देशक (२२५), श्लोक (१५७५२)

७—उपासक दशांग — अध्ययन (१०), श्लोक (८१२)

८—अंतकृत् दशा — श्रुतस्कंध (१), वर्ग (८), उद्देशक (९०), श्लोक (९००)

९—अनुत्तरोपपातिक-दशांग — वर्ग (३), अध्ययन (३३), श्लोक (१२९२)

१०–प्रश्न व्याकरण	श्रुतस्कंध (२)	अध्ययन (१०)	श्लोक (१२५०)
११–विपाक	श्रुतस्कंध (२)	अध्ययन (२०)	श्लोक (१२१६)

अंगबाह्य—इसके अतिरिक्त जितने आगम हैं वे सब अंगबाह्य हैं; क्योंकि अंगप्रविष्ट केवल गणधरकृत आगम ही माने जाते हैं। गणधरों के अतिरिक्त आगम कवियों द्वारा रचित आगम अंगबाह्य माना जाता है। उनके नाम, अध्ययन, श्लोक आदि का परिमाण इस प्रकार है :

उपांग	१	औपपातिक	अधिकार (३)		श्लोक (१२००)
	२	राजप्रश्नीय			श्लोक (२०७८)
	३	जीवाभिगम	प्रतिपाति (९)		श्लोक (४७००)
	४	प्रज्ञापना	पद (३६)		श्लोक (७७८७)
	५	जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति	अधिकार (१०)		श्लोक (४१८६)
	६	चंद्रप्रज्ञप्ति	प्राभृत (२०)		श्लोक (२२००)
	७	सूर्यप्रज्ञप्ति	प्राभृत (२०)		श्लोक (२२००)
	८	कल्पिका	अध्ययन (१०)		
	९	कल्पावंतसिका	(१०)		
	१०	पुष्पिका	(१०)		
	११	पुष्पचूलिका	(१०)		
	१२	वंह्निदशा	(१०)		

(इन पाँचों उपांगों का संयुक्त नाम 'निरयावलिका' है। श्लोक ११०९)

च्छेद	१	निशीथ	उद्देशक (२०)	श्लोक (८१५)	
	२	महानिशीथ	अध्ययन (७)	चूलिका (२)	श्लोक (४५००)
	३	बृहत्कल्प	उद्देशक (६)	श्लोक (४७३)	
	४	व्यवहार	उद्देशक (१०)	श्लोक (६००)	
	५	दशाश्रुतस्कंध	अध्ययन (१०)	श्लोक (१८३५)	
			अध्ययन	चूलिका	श्लोक
मूल	१	दशवैकालिक	(१०)	(२)	(९०१)
	२	उत्तराध्ययन	(२६)	(२०००)	
	३	नंदी		(७००)	
	४	अनुयोगद्वार		(१६००)	
	५	आवश्यक	(६)	(१२५)	
	६	ओघानिर्युक्ति		(११७०)	
	७	पिंडनिर्युक्ति		(७००)	
प्रकीर्णक	१	चतुःशरण	(१०)	(६३)	
	२	आतुर प्रत्याख्यान	(१०)	(६४)	
	३	भक्त प्रत्याख्यान	(१०)	(१७२)	
	४	संस्तारक	(१०)	(१२२)	
	५	तंदुल वैचारिक	(१०)	(४००)	
	६	चंद्रवैध्यक	(१०)	(३१०)	
	७	देवेंद्रस्तव	(१०)	(२००)	
	८	गणिविद्या	(१०)	(१००)	
	९	महाप्रत्याख्याम	(१०)	(१३४)	
	१०	समाधिमरण	(१०)	(७२०)	

आगमों की मान्यता के विषय में भिन्न भिन्न परंपराएँ हैं। दिगंबर आम्नाय में आगमेतर साहित्य ही है, वे आगम लुप्त हो चुके, ऐसा मानते हैं। श्वेतांबर आम्नाय में एक परंपरा चौरासी आगम मानती है, एक परंपरा उपर्युक्त पैंतालीस आगमों को आगम के रूप में स्वीकार करती है तथा एक परंपरा महानिशीथ ओघनिर्युक्ति, पिंडनिर्युक्ति तथा दस प्रकीर्ण सूत्रों को छोड़कर शेष बत्तीस को स्वीकार करती है।

विषय के आधार पर आगमों का वर्गीकरण :

भगवान् महावीर से लेकर आर्यरक्षित तक आगमों का वर्गीकरण नहीं हुआ था। प्रवाचक आर्यरक्षित ने शिष्यों की सुविधा के लिये विषय के आधार पर आगमों को चार भागों में वर्गीकृत किया।

१—चरणकरणानुयोग
२—द्रव्यानुयोग
३—गणितानुयोग
४—धर्मकथानुयोग

चरणकरणानुयोग—इसमें आचार विषयक सारा विवेचन दिया गया है। आचार प्रतिपादक आगमों की संज्ञा चरणकरणानुयोग की गई है। जैन दर्शन की मान्यता है कि "नाणस्स सारो आयारो" ज्ञान का सार आचार है। ज्ञान की साधना आचार की आराधना के लिये होनी चाहिए। इस पहले अनुयोग में आचारांग, दशवैकालिक आदि आगमों का समावेश होता है।

द्रव्यानुयोग—लोक के शाश्वत द्रव्यों की मीमांसा तथा दार्शनिक तथ्यों की विवेचना करनेवाले आगमों के वर्गीकरण को द्रव्यानुयोग कहा गया है।

गणितानुयोग—ज्योतिष संबंधी तथा भंग (विकल्प) आदि गणित संबंधी विवेचन इसके अंतर्गत आता है। चंद्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति आदि आगम इसमें समाविष्ट होते हैं।

धर्मकथानुयोग—दृष्टांत उपमा कथा साहित्य और काल्पनिक तथा घटित घटनाओं के वर्णन तथा जीवन-चरित्र-प्रधान आगमों के वर्गीकरण को धर्मकथानुयोग की संज्ञा दी गई है।

इन आचार और तात्विक विचारों के प्रतिपादन के अतिरिक्त इसके साथ साथ तत्कालीन समाज, अर्थ, राज्य, शिक्षा व्यवस्था आदि ऐतिहासिक विषयों का प्रासंगिक निरूपण बहुत ही प्रामाणिक पद्धति से हुआ है।

भारतीय जीवन के आध्यात्मिक, सामाजिक तथा तात्विक पक्ष का आकलन करने के लिये जैनागमों का अध्ययन आवश्यक ही नहीं, किंतु दृष्टि देनेवाला है। [मु० सु०]

आगरा (अ० २७° १०' उ० और दे० ७८° ३' पू०; ज० सं० १९५१ ई० में ३,७५,६६५) यमुना के दाएँ किनारे पर स्थित उत्तर प्रदेश का एक प्रसिद्ध नगर है।

प्राचीन आगरा कदाचित् यमुना के बाएँ किनारे पर बसा था, पर उसका कोई चिह्न नहीं मिलता। इसका कारण नदी का मार्गपरिवर्तन बताया जाता है। वर्तमान आगरा से १० या ११ मील दक्षिण-पूर्व यमुना की एक प्राचीन छाड़न (पुरानी तलहटी) मिलती है जिसके किनारे पर संभवतः प्राचीन हिंदू नगर की स्थिति रही होगी। वर्तमान आगरा मुसलमानों की ही कृति है।

नगर का क्रमबद्ध इतिहास लोदीकाल से प्रारंभ होता है। सिकंदर लोदी तथा इब्राहीम लोदी दोनों ने आगरा को ही राजधानी बनाया। सन् १५२६ ई० में यह नगर मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर के हाथ में चला गया। परंतु इसकी उन्नति उसके पोते अकबर के काल से प्रारंभ हुई, जिसने १५७१ ई० में आगरे के किले का निर्माण आरंभ किया और उसका नाम अकबराबाद रखा। परंतु किले की अधिकांश इमारतें जहाँगीर तथा शाहजहाँ द्वारा निर्मित हुई हैं। इस काल में नगर की दशा अच्छी बताई जाती है। उस समय नगर चहारदीवारी से घिरा था जिसमें १६ प्रवेशद्वार तथा अनेक गुंबज एवं परकोटे थे। नगर का क्षेत्रफल लगभग ११ वर्ग मील था।

औरंगजेब के काल में, जब साम्राज्य की राजधानी दिल्ली हटा दी गई, आगरा की अवनति प्रारंभ हो गई। १८वीं शताब्दी के अंतिम काल में जाट, मरहठा, मुसलमान आदि कई वर्गों ने नगर पर अपना आधिपत्य रखने का प्रयत्न किया। अंत में १८०३ ई० में आगरा ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ मे चला गया। जब उत्तरी भारत में अंग्रेजी राज्य का विस्तार बढ़ गया, आगरा को उत्तरी-पश्चिमी सूबे (नॉर्थ वेस्टर्न प्राविंसेज़) की राजधानी बनाया गया। परंतु सन् १८५७ ई० के गदर के पश्चात् इस प्रदेश की राजधानी इलाहाबाद बनी और तब से फिर आगरा को अपना प्राचीन गौरव प्राप्त न हो सका।

आगरा 'ताजमहल का नगर' कहलाता है, परंतु यहाँ अन्य कई विशाल एवं भव्य इमारतें भी हैं जिनसे मुगलकालीन वास्तुकला की महत्ता प्रकट होती है। आगरे का किला १½ मील के वृत्त में है, जिसमें स्थित मोती मसजिद तथा जहाँगीरी महल बहुत सुंदर इमारतें हैं। यमुना के उस पार एतमादउद्दौला का मकबरा सुंदरता में ताजमहल से होड़ लेता है। नगर से पाँच मील पश्चिम सिकंदराबाद में अकबर महान् का मकबरा है। इस इमारत का प्रारंभ अकबर के जीवनकाल में ही हो गया था जिसे जहाँगीर ने पूर्ण किया। परंतु यहाँ की सबसे असाधारण वस्तु ताजमहल है जिसमें शाहजहाँ तथा उसकी पत्नी मुमताज बेगम की कब्रें हैं। पूरी इमारत संगमरमर की बनी हुई है जिसकी छटा शरत्पूर्णिमा को देखते ही बनती है।

आगरा पश्चिमी उत्तर प्रदेश का सबसे बड़ा शिक्षाकेंद्र है। यहाँ का आगरा कालेज (१८२३ ई० में स्थापित) प्रदेश के प्राचीनतम विद्यालयों में से एक है। अन्य शिक्षासंस्थाओं में सेंट जॉन्स कालेज तथा बलवंत राजपूत कालेज के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रारंभ में इन विद्यालयों का संबंध कलकत्ता तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालयों से था, परंतु १९२७ ई० में आगरा विश्वविद्यालय की स्थापना के पश्चात् ये संस्थाएँ स्थानीय विश्वविद्यालय का अंग बन गई हैं। आगरा विश्वविद्यालय अभी तक एक परीक्षक संस्था ही है। आगरा के निकट दयालबाग उपनगर राधास्वामी संप्रदाय का मुख्य केंद्र है। आगरा की बनी दरियाँ एवं कालीन भारत भर में विख्यात हैं। चमड़े का काम भी यहाँ अच्छा होता है। [उ० सिं०]

आगस्ता संयुक्त राज्य, अमरीका के जार्जिया राज्य का एक नगर है जो सवाना नदी के किनारे सके मुहाने से २०१ मील ऊपर बसा है और एक भीतरी बंदरगाह है। आगस्ता का औसत ताप जनवरी में ४०° फा० और जुलाई में ८१° फा० रहता है। इस नगर का विकास कृषिकौशल, उद्योग और उत्तम केम्रोलिन तथा चिकनी मिट्टी के आधिक्य के कारण हुआ है। इस क्षेत्र में कपास, अनाज, फल, सब्जी इत्यादि पैदा होती हैं तथा लुगदी और मांस तैयार किए जाते हैं। यहाँ जाड़े की ऋतु समशीतोष्ण रहती है। यहाँ की आबादी १९५० में ७१,५०७ थी। [नृ० कु० सिं०]

आग़ा ख़ाँ आग़ा ख़ाँ, प्रथम (१८००-१८८१), वास्तविक नाम हसन अलीशाह; फ़ारस में जन्म; हज़रत अली तथा उनकी पत्नी, हज़रत मोहम्मद की पुत्री आएशा के वंशज थे। उन्हें आग़ा ख़ाँ की पदवी फ़ारस के राजदरबार से मिली थी जो बाद में वंशरंपरागत हो गई। हसन अलीशाह के पूर्वज फ़ारस और मिस्र के राजवंश से संबंधित थे। स्वयं उनका विवाह फ़ारस की राजकुमारी से हुआ था। फ़ारस छोड़ने के पूर्व वे केरमान के गवंनर-जनरल थे; किंतु सम्राट् के रोषवश उन्हें जन्मभूमि त्याग भारत में अँगरेज सरकार का आश्रय ग्रहण करना पड़ा था। अफ़गानिस्तान तथा सिंध में अँगरेज सरकार का प्रभुत्व स्थापित कराने में उन्होंने बहुत बड़ी सहायता की। सिंध में उनका धार्मिक प्रभाव भी यथेष्ट मात्रा में स्थापित हो गया था। भारत सरकार ने उन्हें इस्लाम के इस्माइलिया संप्रदाय का इमाम स्वीकार कर उन्हें पेंशन प्रदान की थी। स्पष्टतः यह हसन अलीशाह के धार्मिक प्रभाव की स्वीकृति का ही नहीं, बल्कि अँगरेजों की प्रदत्त सहायता का भी परिणाम था। वे अंत तक भारत में अँगरेजी राज्य के प्रबल समर्थक बने रहे। उत्तर पश्चिमी सीमांत प्रदेश पर, तथा सन् १८५७ की क्रांति में भी उन्होने अंगरेजों की यथेष्ट सहायता की। अंततः उन्होंने बंबई को अपना निवासस्थान बना लिया जहाँ उन्होंने घुड़दौड़ के अभिभावक के रूप में यथेष्ट ख्याति प्राप्त की। मृत्युपर्यंत वे भारत के इस्माइलियों का ही नहीं, वरन् अफगानिस्तान, खुरासान, अरब, मध्य एशिया, सीरिया, मोरक्को आदि देशों के इस्माइली अनुयायियों का धार्मिक मार्गप्रदर्शन करते रहे। उनका व्यक्तित्व योद्धा राजनीतिज्ञ, धार्मिक नेता तथा खेलाड़ी का अद्भुत संमिश्रण था।

आग़ा ख़ाँ द्वितीय—आग़ा अलीशाह (मृत्यु १८८५) आग़ा ख़ाँ प्रथम के ज्येष्ठ पुत्र थे। १८८१ में वे आग़ा ख़ाँ द्वितीय घोषित किए गए; किंतु १८८५ में उनकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार एक प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का असामयिक निधन हो गया। वे बंबई काउंसिल के सदस्य भी थे।

आग़ा ख़ाँ तृतीय—वास्तविक नाम मोहम्मद शाह, (१८७७-१९५७), अपने पिता के इकलौते पुत्र थे। आठ वर्ष की अवस्था में वे आग़ा ख़ाँ घोषित हुए। नौ वर्ष की अवस्था में भारत सरकार द्वारा उन्हें एक हजार रुपए मासिक की आजीवन पेंशन तथा 'हिज़ हाइनेस' की पदवी प्रदान की गई। अपनी विदुषी माता की देखरेख में उनकी प्रारंभिक शिक्षा पूर्ण हुई। पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा का भी उन्हें पूर्ण अनुभव प्राप्त हुआ। युवावस्था में ही उन्होंने देश की राजनीति मे भाग लेना आरंभ कर दिया था। १९०६ में उन्होंने मुस्लिम प्रतिनिधिमंडल के प्रमुख की हैसियत से वाइसराय लार्ड मिंटो के संमुख मुस्लिम समाज के भारतीय राजनीति में अधिकाधिक भाग लेने के लिये प्रोत्साहित करने के निमित्त आवेदनपत्र प्रस्तुत किया था। वे अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के सभापति भी निर्वाचित किए गए थे। वे अंग्रेजी राज्य के प्रबल समर्थक थे। प्रत्येक ऐसे अवसर पर जब ब्रिटिश साम्राज्य—तुर्की-इतालवी युद्ध से लेकर द्वितीय महायुद्ध तक—संकटग्रस्त हुआ, आग़ा ख़ाँ ने अंग्रेजों की मौखिक और सक्रिय सहायता की तथा मुसलमानों को, विशेष रूप से अपने अनुयायियों को, अंग्रेज़ों का पक्ष ग्रहण करने के लिये प्रेरित किया। मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़, की संस्थापना का आग़ा ख़ाँ को बहुत बड़ा श्रेय है। १९१९ में इंडिया ऐक्ट के अंतिम रूपनिर्माण में उनका हाथ था। १९३०-३१ की इंग्लैंड में आयोजित राउंड टेबुल कांफ्रेंस में वे ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधिमंडल के प्रमुख थे। १९३२ की अखिल विश्व निरस्त्रीकरण कांफ्रेंस के सदस्य थे। १९३७ में वे जिनीवा स्थित राष्ट्रसंघ की असेंब्ली के सभापति निर्वाचित हुए थे। इस प्रकार राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय राजनीति में आग़ा ख़ाँ ने प्रमुख भाग लिया था। किंतु उनकी विचार या कार्यप्रणाली में धार्मिक कट्टरता, असहिष्णुता तथा देश के प्रति उदासीनता का लेश न था। मुस्लिम समाज पर उन्होंने हमेशा शांतिवादी प्रभाव डालने का ही प्रयत्न किया। तभी देश के संमाननीय राजनीतिज्ञों में उनकी गणना हुई। आग़ा ख़ाँ के बहुमुखी व्यक्तित्व का एक रोचक प्रसंग यह भी है कि घोड़े पालने तथा घुड़दौड़ के अभिभावक के नाते उन्होंने विश्वख्याति अर्जित की। उनका अस्तबल संसार के सर्वश्रेष्ठ अस्तबलों में गिना जाता था और संसार की सर्वश्रेष्ठ घुड़दौड़ प्रतियोगिताओं में उनके घोड़ों ने अनेक बार विजय प्राप्त की। स्विट्ज़रलैंड में ११ जुलाई, १९५७ को उनकी मृत्यु हुई।

आग़ा ख़ाँ चतुर्थ (१९३६–) आग़ा ख़ाँ तृतीय की मृत्यु के बाद उनके वसीयतनामे के अनुसार, उनके पुत्र राजकुमार अली ख़ाँ को उत्तराधिकार अस्वीकृत कर, अली ख़ाँ के पुत्र करीम अल् हुसैनी को आग़ा ख़ाँ घोषित किया गया (१३ जुलाई १९५७)। इनकी शिक्षा दीक्षा इंग्लैंड तथा अमरीका में संपन्न हुई है। [रा० ना०]

आगासी प्रसिद्ध प्रकृतिवादी, विख्यात भूशास्त्री तथा आदर्शवादी शिक्षक जीन लुई रोडोल्फ आगासी का जन्म स्विट्ज़रलैंड में मोराट झील के तट पर २० मई, १८०७ को हुआ था। बचपन से ही आपकी अभिरुचि प्राणिशास्त्र के अध्ययन में थी। लोज़ान में प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद आपने ज़ूरिक, हाइडलबर्ग और म्यूनिख विश्वविद्यालयों में अध्ययन किया। हाइडलबर्ग से आपने 'डॉक्टर ऑव फिलॉसफी' की उपाधि प्राप्त की। १८३० में आपको म्यूनिख विश्वविद्यालय से डॉक्टर ऑव मेडिसिन की उपाधि मिली।

तत्पश्चात् आगासी पेरिस गए। वहाँ आपको क्यूवियर के साथ

काम करने का अवसर मिला। शीघ्र ही आपकी नियुक्ति न शाटेल नगर में प्रोफेसर के पद पर हो गई। १८४६ में आपको बोस्टन के लोवेल-इंस्टीट्यूट में भाषणमाला देने का निमंत्रण मिला। इस कार्य में आपको अभूतपूर्व सफलता मिली और शीघ्र ही दूसरी भाषणमाला देने के लिये आपको चार्ल्सटन जाना पड़ा। आपकी ख्याति चारो ओर फैल गई। हार्वर्ड विश्वविद्यालय ने १८४८ में प्राणिशास्त्र विज्ञान में प्रोफेसर के पद पर आपकी नियुक्ति की। तब से जीवनपर्यंत आपने तन, मन, धन से इस विश्वविद्यालय की सेवा की।

आपका सबसे महान् ग्रंथ 'रिसर्च सु ले प्वासों फ़ोसिल' सन् १८३३ से १८४२ के बीच पाँच भागों में प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ में पुराजीव, मछलियों तथा अन्य परिमृत (एक्सटिंक्ट) जीवों का वर्णन दिया गया है। इसके अतिरिक्त आपकी अन्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं :

सिलेक्टा जेनेरा ए स्पिसीज़ पिसियम; हिस्ट्री ऑव दि फ्रेश वाटर फ़िशेज़ ऑव सेंट्रल यूरोप; एतूद सु ले ग्लासिए; कंट्रिब्यूशंस टु दि नैचुरल हिस्ट्री ऑव युनाइटेड स्टेट्स; मेथड्स ऑव स्टडी इन नैचुरल हिस्ट्री; जिऑलॉजिकल स्केचेज़; दि स्ट्रक्चर ऑव ऐनिमल लाइफ; ए जर्नी टु ब्रैज़ील; ऐन एसे इन क्लासिफ़िकेशन।

१२ दिसंबर, १८७३ को आपकी मृत्यु हो गई। [म० ना० मे०]

आचारशास्त्र (एथिक्स) आचारशास्त्र को व्यवहारदर्शन, नीतिदर्शन, नीतिविज्ञान आदि नाम भी दिए जाते हैं। मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन अनेक शास्त्रों में अनेक दृष्टियों से किया जाता है। मानवव्यवहार, प्रकृति के व्यापारों की भाँति, कार्य-कारण-शृंखला के रूप में होता है और उसका कारणमूलक अध्ययन एवं व्याख्या की जा सकती है। मनोविज्ञान यही करता है। किंतु प्राकृतिक व्यापारों को हम अच्छा या बुरा कहकर विशेषित नहीं करते। रास्ते में अचानक वर्षा आ जाने से भीगने पर हम बादलों को कुवाच्य नहीं कहने लगते। इसके विपरीत साथी मनुष्यों के कर्मों पर हम बराबर भले बुरे का निर्णय देते हैं। इस प्रकार निर्णय देने की सार्वभौम मानवीय प्रवृत्ति ही आचारदर्शन की जननी है। आचारशास्त्र में हम व्यवस्थित रूप से चिंतन करते हुए यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि हमारे अच्छाई बुराई के निर्णयों का बुद्धिग्राह्य आधार क्या है। कहा जाता है कि आचारशास्त्र नियामक अथवा आदर्शान्वेषी विज्ञान है, जब कि मनोविज्ञान यथार्थान्वेषी शास्त्र है। निश्चय ही शास्त्रों के इस वर्गीकरण में कुछ तथ्य है, पर वह भ्रामक भी हो सकता है। उक्त वर्गीकरण यह धारणा उत्पन्न कर सकता है कि आचारदर्शन का काम नैतिक व्यवहार के नियमों का अन्वेषण अथवा उद्घाटन नहीं है, अपितु कृत्रिम ढंग से वैसे नियमों को मानव समाज पर लाद देना है। किंतु यह धारणा गलत है। नीतिशास्त्र जिन नैतिक नियमों की खोज करता है वे स्वयं मनुष्य की मूल चेतना में निहित हैं। अवश्य ही यह चेतना विभिन्न समाजों तथा युगों में विभिन्न रूप धारण करती दिखाई देती है। इस अनेकरूपता का प्रधान कारण मानव प्रकृति की जटिलता तथा मानवीय श्रेय की विविधरूपता है। विभिन्न देशकालों के विचारक अपने अपने समाजों के प्रचलित विधिनिषेधों में निहित नैतिक पैमानों का ही अन्वेषण करते हैं। हमारे अपने युग में ही, अनेक नई पुरानी संस्कृतियों के संमिलन के कारण, विचारकों के लिये यह संभव हो सकता है कि वे अनगिनत रूढ़ियों तथा सापेक्ष्य मान्यताओं के ऊपर उठकर वस्तुत: सार्वभौम नैतिक सिद्धांतों के उद्घाटन की ओर अग्रसर हों।

नीतिशास्त्र का मूल प्रश्न क्या है, इस संबंध में दो महत्वपूर्ण मत पाए जाते हैं। एक मंतव्य के अनुसार नीतिशास्त्र की प्रधान समस्या यह बतलाना है कि मानव जीवन का परम श्रेय (समम बोनम) क्या है। परम श्रेय का बोध हो जाने पर हम शुभ कर्म उन्हें कहेंगे जो उस श्रेय की ओर ले जानेवाले हैं; विपरीत कर्मों को अशुभ कहा जायगा। दूसरे मंतव्य के अनुसार नीतिशास्त्र का प्रधान कार्य शुभ या धर्मसंमत (राइट) की धारणा को स्पष्ट करना है। दूसरे शब्दों में नीतिशास्त्र का कार्य उस नियम या नियमसमूह का स्वरूप स्पष्ट करना है जिस या जिनके अनुसार अनुष्ठित कर्म शुभ अथवा धार्मिक होते हैं। ये दो मंतव्य दो भिन्न कोटियों की विचारपद्धतियों को जन्म देते हैं।

परम श्रेय की कल्पना अनेक प्रकार से की गई है; इन कल्पनाओं अथवा सिद्धांतों का वर्णन हम आगे करेंगे। यहाँ हम संक्षेप में यह विमर्श करेंगे कि नैतिकता के नियम—यदि वैसे कोई नियम होते हैं तो—किस कोटि के हो सकते हैं। नियम या कानून की धारणा या तो राज्य के दंडविधान से आती है या भौतिक विज्ञानों से, जहाँ प्रकृति के नियमों का उल्लख किया जाता है। राज्य के कानून एक प्रकार के शासकों की न्यूनाधिक नियंत्रित इच्छा द्वारा निर्मित होते हैं। वे कभी कभी कुछ वर्गों के हित के लिये बनाए जाते हैं, उन्हें तोड़ा भी जा सकता है और उनके पालन से भी कुछ लोगों को हानि हो सकती है। इसके विपरीत प्रकृति के नियम अखंडनीय होते हैं। राज्य के नियम बदले जा सकते हैं, किंतु प्रकृति के नियम अपरिवर्तनीय हैं। नीति या सदाचार के नियम अपरिवर्तनीय, पालनकर्ता के लिये कल्याणकर एवं अखंडनीय समझे जाते हैं। इन दृष्टियों से नीतिशास्त्र के नियम स्वास्थ्यविज्ञान के नियमों के पूर्णतया समान होते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मनुष्य अथवा मानव प्रकृति दो भिन्न कोटियों के नियमों के नियंत्रण में व्यापृत होती है। एक ओर तो मनुष्य उन कानूनों का वशीवर्ती है जिनका उद्घाटन या निरूपण भौतिक विज्ञान, रसायनशास्त्र, प्राणिशास्त्र, मनोविज्ञान आदि तथ्यान्वेषी (पाज़िटिव) शास्त्रों में होता है और दूसरी ओर स्वास्थ्यविज्ञान, तर्कशास्त्र आदि आदर्शान्वेषी विज्ञानो के नियमों का, जिनसे वह बाध्य तो नहीं होता, पर जिनका पालन उसके सुख तथा उन्नति के लिये आवश्यक है। नीतिशास्त्र के नियम इस दूसरी कोटि के होते हैं।

नीतिशास्त्र की समस्याओं को हम तीन वर्गों में बाँट सकते हैं : (१) परम श्रेय का स्वरूप क्या है? (२) परम श्रेय अथवा शुभ अशुभ के ज्ञान का स्रोत या साधन क्या है? (३) नैतिक आचार की अनिवार्यता के आधार (सैंक्शंस) क्या हैं? परम श्रेय के बारे में पूर्व और पश्चिम में अनेक कल्पनाएँ की गई हैं। भारत में प्राय: सभी दर्शन यह मानते हैं कि जीवन का चरम लक्ष्य सुख है, किंतु उनमें से अधिकांश की सुख संबंधी धारणा तथाकथित सौख्यवाद (हेडॉनिज़्म) से नितांत भिन्न है। इस दूसरे या प्रचलित अर्थ में हम केवल चार्वाक दर्शन को सौख्यवादी कह सकते हैं। चार्वाक के नतिक मंतव्यों का कोई व्यवस्थित वर्णन उपलब्ध नहीं है, किंतु यह समझा जाता है कि उसके सौख्यवाद में स्थूल ऐंद्रिय सुख को ही महत्व दिया गया है। भारत के दूसरे दर्शन जिस आत्यंतिक सुख को जीवन का लक्ष्य कहते हैं उसे अपवर्ग, मुक्ति या मोक्ष अथवा निर्वाण से समीकृत किया गया है। न्याय तथा सांख्य दर्शनों में जिस अपवर्ग या मुक्ति की कल्पना की गई है, उसे भावात्मक सुखरूप नहीं कहा जा सकता, किंतु उपनिषदों तथा वेदांत की मुक्तावस्था आनंदरूप कही जा सकती है। वेदांत की मुक्ति तथा बौद्धों का निर्वाण, दोनों ही उस स्थिति के द्योतक हैं जब व्यक्ति की आत्मा सुख दु:ख आदि द्वंद्वों से परे हो जाती है। यह स्थिति जीवनकाल में भी आ सकती है; जिसे भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ कहा गया है वह एक प्रकार से जीवन्मुक्त ही कहा जा सकता है। पाश्चात्य दर्शनों में परम श्रेय के संबंध में अनेक मतवाद पाए जाते हैं : (१) सौख्यवादी सुख को जीवन का ध्येय घोषित करते हैं। सौख्यवाद के दो भेद हैं, व्यक्तिपरक सौख्यवाद तथा सार्वभौम सौख्यवाद। प्रथम के अनुसार व्यक्ति के प्रयत्नों का लक्ष्य स्वयं उसका सुख है। दूसरे के अनुसार हमें सबके सुख अथवा 'अधिकांश मनुष्यों के अधिकतम सुख' को लक्ष्य मानकर चलना चाहिए। कुछ विचारकों के अनुसार सुखों में सिर्फ मात्रा का भेद होता है; दूसरों के अनुसार उनमें घटिया बढ़िया का, अर्थात् गुणात्मक अंतर भी रहता है। (२) अन्य विचारकों के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य एवं परम श्रेय पूर्णत्व है, अर्थात् मनुष्य की विभिन्न क्षमताओं का पूर्ण विकास। (३) कुछ अध्यात्मवादी अथवा प्रत्ययवादी चिंतकों ने आत्मलाभ (सेल्फ रियलाइज़ेशन) को जीवन का ध्येय माना है। उनके अनुसार आत्मलाभ का अर्थ है आत्म के बौद्धिक एवं सामाजिक अंगों का पूर्ण विकास तथा उपभोग। (४) कुछ दार्शनिकों के मत में परम श्रेय कर्तव्यरूप या धर्मरूप है; नैतिक क्रिया का लक्ष्य स्वयं नैतिकता या धर्म ही है।

हमारे परम श्रेय अथवा शुभ अशुभ के ज्ञान का साधन या स्रोत क्या है, इस संबंध में भी विभिन्न मतवाद हैं। अधिकांश प्रत्ययवादियों के मत में भलाई बुराई का बोध बुद्धि द्वारा होता है। हेगेल, ब्रेडले आदि का मत यही

है और कांट का मंतव्य भी इसका विरोधी नहीं है। कांट मानते हैं कि अंततः हमारी कृत्यबुद्धि (प्रैक्टिकल रीज़न) ही नैतिक आदेशों का स्रोत है। अनुभववादियों के अनुसार हमारे शुभ अशुभ के ज्ञान का स्रोत अनुभव ही है। यह मत नैतिक सापेक्ष्यतावाद (एथिकल रिलेटिविटिज़्म) को जन्म देता है। तीसरा मत प्रतिभानवाद अथवा अपरोक्षतावाद (इंटुइशनिज़्म) है। इस मत के अनुसार हमारे भीतर एक ऐसी शक्ति है जो साक्षात् ढंग से शुभ अशुभ को पहचान या जान लेती है। प्रतिभानवाद के अनेक रूप हैं। शेफ्ट्सबरी और हचेसन नामक ब्रिटिश दार्शनिकों का विचार था कि रूप रस आदि को ग्रहण करनेवाली इंद्रियों की ही भाँति हमारे भीतर एक नैतिक इंद्रिय (मॉरल सेंस) भी होती है जो सीधे भलाई बुराई को देख लेती है। बिशप बटलर नाम के विचारक के मत में हमारे अंदर सदसद्बुद्धि (कांश्यंस) नाम की एक प्रेरक वृत्ति होती है जो स्वार्थ तथा परार्थ के बीच उठनेवाले द्वंद्व का समाधान करती हुई हमें औचित्य का मार्ग दिखलाती है। हमारे आचरण की अनेक प्रेरक वृत्तियाँ हैं; एक वृत्ति आत्मप्रेम (सेल्फ लव) है, दूसरी पर-हित-आकांक्षा (बेनीवोलेंस)। सदसद्बुद्धि का स्थान इन दोनों से ऊपर है, वह इन दोनों के ऊपर निर्णायक रूप में प्रतिष्ठित है। जर्मन विचारक कांट की गणना प्रतिभानवादियों में भी की जाती है। प्रतिभानवादी नैतिक सिद्धांतों का एक सामान्य लक्षण यह है कि वे किसी कार्य की भलाई बुराई के निर्णय के लिये उसके परिणामों पर ध्यान देना आवश्यक नहीं समझते। कोई कर्म इसलिये शुभ या अशुभ नहीं बन जाता कि उसके परिणाम एक या दूसरी कोटि के हैं। किसी कार्य के समस्त परिणामों की पूर्वकल्पना वैसी ही कठिन है जैसा कि उनपर नियंत्रण कर सकना। कर्म की अच्छाई बुराई उसकी प्रेरणा (मोटिव) से निर्धारित होती है। जिस कर्म के मूल में शुभ प्रेरणा है वह सत् कर्म है, अशुभ प्रेरणा में जन्म लेनेवाला कर्म असत् कर्म या पाप है। कांट का कथन है कि शुभ संकल्पबुद्धि (गुडविल) एक ऐसी चीज है जो स्वयं श्रेयरूप है, जिसका श्रेयत्व निरपेक्ष एवं निश्चित है; शेष सब वस्तुओं का श्रेयत्व सापेक्ष होता है। केवल शुभ संकल्पशक्ति ही अपनी श्रेयरूप ज्योति से प्रकाशित होती है।

नैतिक शुभ अशुभ के ज्ञान का स्रोत क्या है, इस संबंध में भारतीय विचारकों ने भी कई मत प्रकट किए हैं। मीमांसा दर्शन के अनुसार श्रुति द्वारा प्रेरित आचार ही धर्म है और श्रुति या वेद द्वारा निषिद्ध कर्म अधर्म। इस प्रकार धर्म एवं अधर्म श्रुतियों के विधि-निषेध-मूलक हैं। भगवद्गीता में निष्काम कर्मयोग की शिक्षा के साथ साथ यह बतलाया गया है कि कर्तव्या-कर्तव्य की जानकारी के लिये शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्र के अंतर्गत श्रुति तथा स्मृति दोनों का परिगणन होता है। हिंदू धर्म में प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम के लिये अलग अलग कर्तव्यों का निर्देश किया गया है; इन कर्तव्यों का विशद विवेचन धर्मसूत्रों तथा स्मृतिग्रंथों में मिलता है। इस कोटि के कर्तव्यों के अतिरिक्त सामान्य धर्म अथवा सार्वभौम धर्मनियमों के बोध के लिये अंतरात्मा को भी प्रमाण माना गया है। सज्जनों के आचार को भी पथप्रदर्शक रूप में स्वीकार किया गया है।

नैतिक आचरण की अनिवार्यता के आधार भी अनेक रूपों में कल्पित हुए हैं। मनुष्य के इतिहास में नैतिकता का सबसे महत्वपूर्ण नियामक धर्म (रिलीजन) रहा है। हमें नैतिक नियमों का पालन करना चाहिए, क्योंकि वैसा ईश्वर या धर्मव्यवस्था को इष्ट है। सदाचार की दूसरी नियामक शक्ति राज्य है। लोगों को अनैतिक कार्यों से विरत करने में राजाज्ञा एक महत्वपूर्ण हेतु होती है। इसी प्रकार समाज का भय भी नैतिक नियमों को शक्ति देता है। कांट के अनुसार हमें स्वयं धर्म के लिये धर्म करना चाहिए; कर्तव्यपालन स्वयं अपने में इष्ट या साध्य वस्तु है। जो विचारक कर्तव्या-कर्तव्य को परमश्रेय की अपेक्षा से रक्षित करते हैं, वे कह सकते हैं कि नैतिक आचरण की प्रेरणा मूलतः आत्मोन्नति की प्रेरणा है। हम शुभ कर्म करते हैं, क्योंकि वैसा करने से हम अपने परम श्रेय की ओर प्रगति करते हैं।

कर्तृस्वातंत्र्य बनाम निर्धारणवाद : नीतिशास्त्र की एक महत्वपूर्ण समस्या यह है कि क्या मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है? जब हम एक व्यक्ति को उसके किसी कार्य के लिये भला बुरा कहते हैं, तब स्पष्ट ही उसे उस कार्य के लिये उत्तरदायी मान लेते हैं, जिसका मतलब होता है यह प्रच्छन्न विश्वास कि वह व्यक्ति विचाराधीन कार्य करने न करने के लिये स्वतंत्र था। कांट कहते हैं : चूँकि मुझे करना चाहिए, इसलिये मैं कर सकता हूँ। तात्पर्य यह कि कर्ता की स्वतंत्रता को माने बिना नैतिक जीवन एवं नैतिक मूल्यांकन की व्यवस्था संभव नहीं दीखती। हम प्रकृति के व्यापारों को भला बुरा नहीं कहते, केवल मनुष्य के कर्मों पर ही वैसा निर्णय देते हैं; इससे जान पड़ता है कि प्राकृतिक तथा मानवीय व्यापारों में कुछ अंतर है। यह अंतर मनुष्य की स्वतंत्रता के कारण है। किसी क्रिया के अनुष्ठान को इच्छा का विषय बनाने न बनाने में मनुष्य की संकल्पबुद्धि (विल) स्वतंत्र है।

निर्धारणवाद (डिटरमिनिज़्म) के पोषकों को उक्त मत ग्राह्य नहीं है। भौतिक विज्ञान बतलाता है कि विश्वब्रह्मांड में सर्वत्र कार्य-कारण-नियम का अखंड शासन है। प्रत्येक वर्तमान घटना का निर्धारण अतीत हेतुओं (कंडिशंस) से होता है। संपूर्ण विश्व एक बृहत् कार्य-कारण-परंपरा है। सब प्रकार की घटनाएँ अखंड नियमों के अधीन हैं। ऐसी दशा में यह कैसे माना जा सकता है कि मनुष्य के संकल्प विकल्प तथा व्यापार अकारण एवं नियमहीन होते हैं? मनुष्य के क्रियाकलापों को विश्व के घटनासमूह में अपवादरूप नहीं माना जा सकता। यदि अनेक अवसरों पर हम मानवीय व्यापारों के संबंध में सफल भविष्यवाणी नहीं कर सकते तो इसका कारण हमारी उन व्यापारों के नियामक नियमों की अपूर्ण जानकारी है, न कि उन व्यापारों की नियमहीनता।

निर्धारणवाद के सिद्धांत को भौतिक शास्त्रों से बल मिला है; उसे प्रकृतिजगत् की यंत्रवादी व्याख्या से भी अवलंब मिलता है। किंतु इसका यह मतलब नहीं कि निर्धारणवाद एक भौतिकवादी सिद्धांत है। कहा गया है कि स्पिनोज़ा तथा हेगेल के दर्शनों में व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिये कोई स्थान नहीं है। सांख्य दर्शन में पुरुष को निर्गुण तथा निष्क्रिय माना गया है। समस्त कर्मों को बुद्धि में आरोपित किया गया है और बुद्धि को तीन गुणों से संचालित बतलाया गया है। गीता में लिखा है—सारे कार्य प्रकृति के तीन गुणों द्वारा किए जाते हैं; अहंकारवश मनुष्य अपने को कर्ता मान लेता है। गीता में ही प्रत्येक कर्म के सांख्यसंमत पाँच कारण गिनाए गए हैं, अर्थात् अधिष्ठान, कर्ता, करण, विविध चेष्टाएँ और दैव; ऐसी दशा में केवल मनुष्य कर्म के लिये उत्तरदायी नहीं कहा जा सकता।

मैकेंज़ी आदि कुछ विचारक उक्त दोनों मतों से भिन्न आत्मनिर्धारणवाद (सेल्फ़ डिटरमिनेशन) के सिद्धांत को मानते हैं। जहाँ मनुष्य स्वतंत्रता की भावना से कर्म करता है, वहाँ कर्म स्वयं उसके व्यक्तित्व में निहित शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। इस अर्थ में मनुष्य स्वतंत्र है। बुरे काम के बाद उत्पन्न होनेवाली पश्चात्ताप की भावना कर्ता की स्वतंत्रता सिद्ध करती है।

सं०ग्रं०—हेनरी सिजविक : आउटलाइंस आव दि हिस्ट्री आव एथिक्स; सुशीलकुमार मैत्र : एथिक्स ऑव दि हिंदूज़। [दे० रा०]

आचारशास्त्र का इतिहास

यद्यपि आचारशास्त्र की परिभाषा तथा क्षेत्र प्रत्येक युग में मतभेद के विषय रहे हैं, फिर भी व्यापक रूप से यह कहा जा सकता है कि आचारशास्त्र में उन सामान्य सिद्धांतों का विवेचन होता है जिनके आधार पर मानवीय क्रियाओं और उद्देश्यों का मूल्यांकन संभव हो सके। अधिकतर लेखक और विचारक इस बात से भी सहमत हैं कि आचारशास्त्र का संबंध मुख्यतः मानदंडों और मूल्यों से है, न कि वस्तुस्थितियों के अध्ययन या खोज से, और इन मानदंडों का प्रयोग न केवल व्यक्तिगत जीवन के विश्लेषण में किया जाना चाहिए वरन् सामाजिक जीवन के विश्लेषण में भी।

नैतिक मतवादों का विकास दो विभिन्न दिशाओं में हुआ है। एक ओर तो आचारशास्त्रज्ञों ने 'नैतिक निर्णय' का विश्लेषण करते हुए उचित अनुचित संबंधी मानवीय विचारों के मूलभूत आधार का प्रश्न उठाया है। दूसरी ओर उन्होंने नैतिक आदर्शों तथा उन आदर्शों की सिद्धि के लिये अपनाए गए मार्गों का विवेचन किया है। आचारशास्त्र का पहला पक्ष चिंतनशील है, दूसरा निर्देशनशील। इन दोनों को हमें एक साथ देखना होगा, क्योंकि प्रत्यक्षरूप में दोनों संलग्न और अविभाज्य हैं।

पश्चिमी जगत् में आचारशास्त्र के सिद्धांत जिस तरह कालक्रमानुसार, एक के बाद एक, सामने आए उस तरह का क्रमबद्ध विकास पौर्वात्य दर्शन

के इतिहास में नहीं मिलता। पूर्व में विभिन्न नैतिक दृष्टिकोण और कभी कभी तो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण भी, साथ साथ विकसित होते रहे। अतः पूर्व और पश्चिम में आचारशास्त्र के इतिहास का अलग अलग अध्ययन करना सुविधाजनक होगा।

भारत—भारतीय दर्शनप्रणालियों में आचरण संबंधी प्रश्नों को महत्व-पूर्ण स्थान दिया गया है। किसी न किसी रूप में प्रत्येक दर्शन ने मुक्ति या मोक्ष को सामने रखा है और मुक्तिलाभ के लिये सदाचार के नियमों की समीक्षा आवश्यक हो जाती है। इस बात पर वैदिक और अवैदिक परंपराओं में किसी हद तक सामंजस्य है। आचरण संबंधी शास्त्र (स्मृतियाँ और धर्म-शास्त्र) आचरण को भारत में दिशा देते हैं।

जैन दर्शन में जीवात्मा को उसकी मौलिक विशुद्धावस्था प्राप्त कराना ही जीवन का लक्ष्य बताया गया है। इस मार्ग की सबसे बड़ी रुकावट यह है कि कर्मों ने जीवात्मा को जड़ तत्व से कलुषित कर दिया है। जिस तरह बादलों से सूर्यकिरणों का प्रकाश मंद हो जाता है, वैसे ही 'पुद्गल' या जड़ तत्व के परमाणु जीव के चैतन्य को अपवित्र कर देते हैं। इस परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिये कर्म के 'आस्रव' को रोकना आवश्यक है'। यह तभी संभव है,जब सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र तीनों की उपलब्धि हो। जैन धर्म में आचरण के उन नियमों की विस्तृत चर्चा है जिनके द्वारा ये 'त्रिरत्न' प्राप्त किए जा सकते हैं। इनमें अहिंसा मुख्य है।

चार्वाक दर्शन का दृष्टिकोण पूर्णतया भौतिकवादी है। मनुष्य की सत्ता उसका शरीर है। चैतन्य शरीर का एक विशिष्ट गुण मात्र है। जीवन का लक्ष्य सुखसंपादन है। मत्यु के बाद व्यक्तित्व का कोई भी पक्ष शेष नहीं रहता, इसलिये परलोक की चिंता व्यर्थ है। सुख के साथ दुःख मिश्रित है, लेकिन केवल इसलिये सुखों का त्याग करना मूखता है। प्रत्यक व्यक्ति को अपने ही सुख की साधना करनी चाहिए, न कि दूसरों के।

बौद्ध दर्शन के विभिन्न संप्रदायों में ज्ञानमीमांसा तथा आदितत्व के स्वरूप के विषय में तीव्र मतभेद है। वैभाषिक और सौत्रांतिक दर्शन वास्तववादी हैं, योगाचार विज्ञानवादी और माध्यमिक शून्यवादी। लेकिन आचरण के प्रश्न पर सभी बौद्ध विचारकों ने गौतम बुद्ध के आदि उपदेशों को स्वीकार किया है। 'चार आर्य सत्यों' में चौथा, अर्थात् 'दुःख-निरोध-मार्ग' आचारशास्त्र का आधार है। इसका व्यावहारिक रूप 'मध्यम प्रतिपदा' अथवा मध्यम मार्ग है। एक ओर व्यर्थ आत्मोत्पीडन, दूसरी ओर क्षणिक सुखों की आराधना, इन दोनों 'अतियों' का परिहार ही सदाचरण है। मध्यम मार्ग का अवलंबन करके कार्य-कारण-शृंखला (प्रतीत्य समुत्पाद) का अंत किया जा सकता है। जन्म मृत्यु के अनवरत चक्र से छुटकारा निर्वाण है।

महायान संप्रदाय ने निर्वाण की अधिक सकारात्मक व्याख्या की। व्यक्ति को अपने निर्वाण से ही संतुष्ट नहीं होना चाहिए। बोधिसत्व का आदर्श यह है कि स्वयं संबोधि प्राप्त करने के बाद दूसरों के कल्याण के लिये लगातार यत्न किया जाय। प्रेम, सहानुभूति, अनुकंपा और प्राणिमात्र के प्रति मैत्री की भावना, इन सद्गुणों पर बौद्ध आचरणशास्त्र में विशेष जोर दिया गया है।

हिंदू दर्शन के सभी संप्रदायों ने, जहाँ तक आचरणशास्त्र का संबंध है, उपनिषदों और भगवद्गीता के मुख्य सिद्धांतों को स्वीकार किया है। उपनिषदों ने जहाँ एक ओर परम तत्व के गहन प्रश्न को उठाया है और ब्रह्मज्ञान को ही दर्शन का यथार्थ लक्ष्य माना है, वहाँ दूसरी ओर आत्मसाधना और 'शील' के व्यावहारिक पक्ष पर भी ध्यान दिया है। भगवद्गीता तत्व-ज्ञान की अपेक्षा आचारशास्त्र की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र का समन्वय कराने के उद्देश्य से निष्काम कर्म का आदर्श गीता में प्रतिपादित किया गया है। अकर्मण्यता न तो स्वतंत्रता का लक्ष्य है, न आध्यात्मिक ज्ञान का। कर्मसंन्यास से श्रेयस्कर है फलासक्ति त्याग-कर कर्तव्य करते रहना। सदाचार के लिये धैर्य, मानसिक संतुलन और आत्मबुद्धि अनिवार्य है। ईश्वरभक्ति और ज्ञान से भी मनुष्य का जीवन परिष्कृत होकर कर्मयोग में सहायता मिलती है।

शंकराचार्य के अनुसार गीता का मूल दर्शन अद्वैतवादी है। मुक्ति का एकमेव साधन ज्ञान है। ज्ञान और कर्म में विरोध है और दोनों का समन्वय असंभव है। फिर भी शंकराचार्य ने यह स्वीकार किया कि आत्मशुद्धि की प्रारंभिक मंजिलों में कर्मों का भी मूल्य है।

रामानुज ने भक्तिमार्ग की महत्ता को ही उपनिषदों और गीता का मुख्य संदेश माना। मध्ययुग के भारतीय आचारशास्त्र पर, अद्वैत वेदांत की तुलना में, भक्तिमार्ग से प्रेरणा लेनेवाली वैष्णव परंपरा का ही अधिक प्रभाव पड़ा। इस्लाम के सूफी मत से इस प्रवृत्ति को बल मिला। व्यापक रूप से यह कहा जा सकता है कि मध्ययुगीन आचारशास्त्र, जिसका प्रतिबिंब दार्श-निक ग्रंथों की अपेक्षा संतकाव्य में अधिक स्पष्ट रूप से मिलता है, मानवता-वाद है।

आधुनिक काल में गांधीवाद में भारतीय आचारशास्त्र की सभी स्वस्थ परंपराओं का समन्वय मिलता है। उपनिषदों की आत्मसाधना, जैनों की 'अहिंसा', बुद्ध की अनुकंपा और प्रेम, गीता का कर्मयोग, इस्लाम का विश्व-बंधुत्व, इन सभी के लिये गांधीवाद में स्थान है। और चूंकि इन आदर्शों को राष्ट्रीय स्वाधीनता के ठोस प्रश्न के संदर्भ में सामने रखा गया, इसलिये महात्मा गांधी का आचारशास्त्र, देशकालातीत समस्याओं को उठाते हुए भी, भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है।

चीन—आचारशास्त्र को दर्शन और धर्मशास्त्र से पृथक् करना सभी प्राचीन सभ्यताओं के अध्ययन में कठिन है, लेकिन पश्चिमी जगत् की अपेक्षा पूर्वी जगत् के सांस्कृतिक इतिहास में यह कठिनाई और भी तीव्रता से सामने आती है।

चीन के दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक मूल्यों के दो आदि-स्रोत हैं: 'ताओवाद और कन्फूचीवाद'। इनमें आपसी विरोध होते हुए भी इन दोनों का समन्वय ही, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, चीनी विचारकों का लक्ष्य रहा है। आगे चलकर एक तीसरी विचारधारा ने चीन में पदा-र्पण किया, जिसे व्यापक रूप से बौद्ध विचारधारा कहा जा सकता है।

लाओत्सू (ल० ५७० ई० पू०)—ताओ के अनुसार प्रकृति से सामंजस्य स्थापित करना ही 'शुभ' है। इसके लिये आवश्यक सद्गुण है सरलता, मृदुलता, सौंदर्यप्रेम और शांतिप्रियता। मानव को अपना जीवन स्वाभाविक और ऋजु बनाना चाहिए। इस ताओमार्ग का प्रवर्तक लाओ-त्सू था।

कन्फूशस (५५१ से ४७६ ई० पू०)—कन्फूशस का दृष्टिकोण इससे मूलतया भिन्न है। इनके अनुसार जीवन की पूर्णतम साधना ही मनुष्य का कर्तव्य है। यह कर्तव्य उसे समाज के सदस्य की हैसियत से ही निभाना है। कार्यसिद्धि और पुरुषार्थ ही वास्तविक 'शुभ' है। सदाचार का आधार है संतुलित जीवन और संतुलित जीवन के दो सिद्धांत हैं: 'चुंग' का सिद्धांत अर्थात् अपने व्यक्तित्व की उच्चतम माँगों को संतुष्ट करते रहो और 'शू' का सिद्धांत, अर्थात् विश्व से समस्वरता निर्माण करते हुए जीवन व्यतीत करो। अरस्तू के 'सुनहरे मध्यम मार्ग' की तरह कन्फूशस का आचारशास्त्र भी अतिरेकविरोधी है।

मेंशियस (३७१ से २८६ ई०पू०)—मेंशियस का आचारशास्त्र कन्फू-शस के सिद्धांत पर ही आधारित है, परंतु उसमें समाजकल्याण की अपेक्षा मानववाद पर अधिक जोर दिया गया है।

अनेक चीनी दार्शनिक 'ताओ' के रहस्यवाद और अतिव्यक्तिवाद से भी असंतुष्ट थे और कन्फूशस के परंपराप्रधान, औपचारिक उपदेशों से भी। इसलिये बहुत से ऐसे पंथों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने या तो सम-झौते का मार्ग अपनाया या जीवन के किसी विशिष्ट पक्ष को लेकर एक नए आचारदर्शन की सृष्टि की। उदाहरणस्वरूप 'मोत्सू' का पंथ उपयोगिता-वादी था। सदाचरण का मापदंड 'अधिकतम उपयोग' है, परंतु इसका साधन है प्रेम या मैत्री। संघर्ष इसलिये अनैतिक है कि वह अनुपयोगी और 'अपव्ययशील' बन जाता है। 'फाशिया' पंथ ने आचारशास्त्र को राजनीति के समीप पहुँचा दिया और कहा कि राजसत्ता तथा विधान से ही सदाचार की रक्षा की जा सकती है।

'ताओ' और कन्फूशसवाद का समन्वय कराने का उत्कट प्रयास

'यिन-यांग' सिद्धांत में देखा जा सकता है। विश्व में दो शक्तियाँ लगातार काम करती रहती हैं—'यांग', जो क्रियाशील, सकारात्मक, 'पुरुषोचित' है, और 'यिन', जो निष्क्रिय, नकारात्मक, 'स्त्रियोचित' है। प्रत्येक वस्तु, संस्था और संबंध में ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ प्रतिबिंबित हैं। इनका उचित मात्रा में वास्तव्य ही 'शुभ' परिस्थिति है। और ऐसी परिस्थिति के निर्माण में हाथ बटाना मानव का कर्तव्य है।

मध्ययुगीन चीनी आचारशास्त्र पर बौद्ध विचारों की स्पष्ट छाप है। थेरवाद की अपेक्षा महायान का, और विशेषतः माध्यमिक दर्शन का, चीन में अधिक तेजी से विकास हुआ। परंतु नागार्जुन के 'शून्यवाद' को परंपरागत 'व्यावहारिकता' के साँचे में ढालकर चीनी विचारकों ने बौद्ध जीवन-दर्शन को एक नई दिशा प्रदान की। इस नए दर्शन का नारा है: 'समग्र में एक और एक में समग्र'।

मिंग युग (१५वीं से १६ वीं सदी) १२वीं और १३वीं शताब्दी के आचारदर्शन में संदेहवाद और अतिभौतिकवाद के स्पष्ट चिह्न हैं, लेकिन 'मिंग' युगीन सांस्कृतिक पुनरुत्थान के बाद चीनी विचारधारा फिर बुद्धिवाद की ओर झुकी। तब से आधुनिक युग तक चीन का आचार-दर्शन मुख्य रूप से बुद्धिवादी ही रहा है।

ईरान-ज़रथुस्त्रवाद में आचारसिद्धांतों को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। स्वयं ज़रथुस्त्र के विषय में निश्चित रूप से कुछ कम कहा जा सकता है। 'गाथाओं' में उसका व्यक्तित्व ऐतिहासिक लगता है, परंतु 'अवेस्ता' में वह काल्पनिक पौराणिक बन जाता है। ज़रथुस्त्रधर्म मुख्यतः द्वैतवादी है। 'अवेस्ता' में 'अहुर' को एकमेव परम सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है और यह कहा गया है कि 'अहुर' की अभिव्यक्ति दो दिशाओं में होती है। एक ओर आलोक है, दूसरी ओर अंधकार; एक ओर जड़ भौतिक वस्तु, दूसरी ओर अध्यात्म। लेकिन 'अहुर' का एकत्व केवल औपचारिक है।

मानी (जन्म २१५ ई० पू०)—आगे चलकर मानी ने खुले आम ज़रथुस्त्रवाद को पूर्णतया द्वैतवादी बना दिया। उसके अनुसार भौतिक वस्तु एक स्वतंत्र शक्ति है जिसका अध्यात्मशक्ति के साथ लगातार संघर्ष चलता रहता है। मानव व्यक्तित्व के दो विभाग है: एक आत्मा जो आलोक-मय है और दूसरा शरीर जो अंधकारमय है। संकल्पशक्ति इन दोनों के बीच में है और किसी भी ओर झुक सकती है। प्रत्यक्ष आचरण में मानव स्वतंत्र है। यदि वह चाहे तो रचनात्मक आलोकशक्ति की ओर अपने आपको ले जा सकता है। पार्थिव सुखों को त्यागकर विनाशात्मक अंध-कारशक्ति से मुक्तिलाभ संभव है। भविष्य में आलोक की संपूर्ण विजय निश्चित है। उस विजयक्षण को समीप लाना अंशतः मानव आचरण पर निर्भर है।

यूनान—मानवीय आचरण का वैज्ञानिक ढंग से परीक्षण सबसे पहले सोफ़िस्त दार्शनिक ने किया। ई० पू० ७वीं शताब्दी से ही यूनान में दर्शन की स्वस्थ परंपराएँ बन चुकी थीं, परंतु प्रोतागोरस के पहले विचारकों ने मुख्यतः बाह्य जगत् पर ही ध्यान दिया था। थेलीज़ से अनक्सागोरस तक सभी दार्शनिक विश्व के आदितत्व की खोज करते रहे। सोफ़िस्तपंथियों ने दर्शन के लक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन किया तथा मानव जीवन की प्रत्यक्ष समस्याओं को दार्शनिक दृष्टि से आँकने का यत्न किया।

प्रोतागोरस (जन्म ४८०ई०पू०)—'मनुष्य ही प्रत्येक वस्तु की कसौटी है'—प्रोतागोरस की इस उक्ति में सोफ़िस्त आचारशास्त्र के अच्छे और बुरे दोनों अंग प्रतिबिंबित हैं। जहाँ एक ओर इस कथन से आचारशास्त्र ठोस समस्याओं की ओर झुकता है वहाँ दूसरी ओर वह व्यक्तिगत और सापेक्ष भी बन जाता है।

गोर्जियस (जन्म ४८३ ई० पू०)—गोर्जियस के संपर्क से प्रोतागोरस का मानववाद निरे संदेहवाद में परिणत हो गया और इस संदेहवाद से, दार्शनिक स्तर पर, अतिस्वार्थवाद और सुखवाद को बल मिला।

सुकरात (४६९ से ३९९ ई० पू०)—इन विकृतियों के विरुद्ध सुकरात ने सर्वप्रथम एक ऐसे आचारशास्त्र का निर्माण किया जो आदर्शवादी होते हुए भी यथार्थ परिस्थितियों पर आधारित था। सुकरात का दृष्टिकोण बुद्धिवादी है। 'ज्ञान ही सदाचार है'। जिसे उचित कर्मों का वास्तविक ज्ञान है, उसका आचरण ठीक होना ही पड़ेगा; और अज्ञान की परिणति दुराचार में होना भी उतना ही अनिवार्य है। सोफ़िस्तपंथी 'न्याय', 'नियम', 'संयम' आदि शब्दों का प्रयोग अवश्य करते थे, पर इनकी सूक्ष्म व्याख्या उन्होंने कभी नहीं की। सुकरात ने इस बात पर जोर दिया कि व्यक्तिनिरपेक्ष नैतिक आदर्शों का आधार ज्ञानमीमांसा ही है। जो अंतर 'ज्ञान' और 'जानकारी' में है, वही नियमबद्ध आचारशास्त्र और प्रथाजन्य नैतिक धारणाओं में है। सभी का लक्ष्य समान है—'भलाई'। परंतु ज्ञान द्वारा ही 'भलाई' और परम शुभ में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। और इस सामंजस्य का सामाजिक रूप केवल ऐसे राज्य में मिल सकता है जहाँ शासकगण अच्छे जीवन को एक कला समझकर उसे आत्म-सात् करने का यत्न करते रहें।

अफ़लातून (४२७ से ३४७ ई० पू०)—सुकरात के उदात्त आदर्शवाद के प्रति सच्ची निष्ठा बरतते हुए अफ़लातून ने उनके उपदेशों को परिष्कृत रूप में रखा और उन्हें दार्शनिक मतवाद का सहारा दिया। अफ़लातून के आचारशास्त्र का एक पहलू विशुद्ध तात्विक है। भौतिक जगत् की वस्तुओं की तथाकथित 'सत्ता' छाया मात्र है। वास्तविक सत्ता केवल भावों या प्रयत्नों की है, क्योंकि प्रत्यय ही नित्य और स्वसंपूर्ण है। इनमें सबसे शुद्ध और उच्च श्रेणी का प्रयत्न है 'शुभ'। इस तरह सदाचार का आधार आदिसत्ता का शुभत्व है।

लेकिन अफ़लातून के आचारदर्शन का एक दूसरा, यथार्थवादी पक्ष भी है। इसमें मानव स्वभाव का सूक्ष्म विश्लेषण मिलता है। मानव स्वभाव के—अफ़लातून के शब्दों में मानव 'आत्मा' के—तीन विभाग हैं। इन्हें इच्छा, संवेग और बुद्धि से संचालन मिलता है। पहले दो विभागों पर तीसरे का प्रभुत्व ही सदाचार का आधार है। व्यक्ति में न केवल मानवीय प्रवृत्ति, अर्थात् विवेकशीलता है, वरन् उसमें 'पशवीय' और 'वनस्पतीय' प्रवृत्तियाँ भी हैं जो उसे जैविक और दैहिक स्तर से ऊपर उठने से रोकती है। बुद्धि का उद्देश्य इन प्रवृत्तियों का विनाश नहीं, उनका शासन और नियंत्रण है।

इस उद्देश्य की सही व्याख्या केवल सामाजिक स्तर पर हो सकती है, न कि व्यक्तिगत स्तर पर। समाज में मानव स्वभाव के तीन अंगों के अनुरूप तीन वर्ग हैं—श्रमिक, योद्धा और शासक। यह वर्गविभाजन प्राकृतिक है और वर्गहीन समाज की कल्पना न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि न्याय का आधार अंततः प्राकृतिक नियम ही है। आदर्श व्यवस्था वह है जिसमें प्रत्येक वर्ग के लोग अपने अपने सद्गुणों की साधना करते रहें। शासक विवेकशील हों, योद्धा वीर और श्रमिक मेहनती तथा विनम्र। ये सद्गुण परस्पर पूरक हैं और इनका उचित मात्रा में प्रयोग ही 'नैतिक परिस्थिति' है। ऐसी परिस्थिति अंततोगत्वा तीसरे वर्ग के लोगों पर ही निर्भर है, क्योंकि ऐच्छिक और संवेगात्मक प्रवृत्तियों को बुद्धि ही काबू में रख सकती है। शासक वर्ग का दृष्टिकोण पूर्णतया दार्शनिक, बुद्धिवादी होना चाहिए और इसके लिये उचित शिक्षाप्रणाली नितांत आवश्यक है।

अरस्तू (३८४ से ३२२ ई० पू०)—सुकरातवादी परंपरा की परिणति अरस्तू के आचारशास्त्र में मिलती है। अरस्तू ने विश्लेषण और प्रयोग करते हुए आचरण के विभिन्न पहलुओं की वैज्ञानिक ढंग से समीक्षा की। आचारदर्शन का स्वतंत्र 'शास्त्र' के रूप में विकास अरस्तू के 'नाइकोमे-कियाई एथिक्स' से ही आरंभ होता है।

अरस्तू के अनुसार 'शुभ' की अभिव्यक्ति दो दिशाओं में होती है। पहली दिशा वह है, जिसमें अभ्यास और प्रयत्न द्वारा मानव अपनी निम्नतर प्रवृत्तियों को उच्चरित शक्ति के—अर्थात् बुद्धि के—नियंत्रण में लाता है। इस प्रयास के फलस्वरूप जिन सद्गुणों की सृष्टि होती है वे हैं 'नैतिक सद्गुण'। लेकिन शुभत्व का एक दूसरा माध्यम भी है—अर्थात् बुद्धि द्वारा विशुद्ध सत्ता या चरम सत्य की खोज। इस ज्ञान और मनन से 'बौद्धिक सद्गुणों' की सृष्टि होती है। आदर्श जीवन तो ऐसे ही मनन का जीवन है ('थिओरिया')।

परंतु आचारशास्त्र का प्रत्यक्ष संबंध बौद्धिक सद्गुणों की अपेक्षा नैतिक सद्गुणों से अधिक घनिष्ठ है। नैतिक सद्गुणों का आधार है मध्यम मार्ग का सिद्धांत। एक ओर अतिरेक और दूसरी ओर अभाव,

इन दोनों त्रुटियों से बचकर ही सदाचार संभव है। उदाहरणस्वरूप, 'साहस' एक नैतिक सद्गुण है। इसका अतिरेक है 'असावधानी' और इसकी न्यूनता है 'कायरता'। इसी तरह प्रत्येक नैतिक सद्गुण की सीमाएँ स्थिर की जा सकती हैं।

एरिस्तिपस (जन्म ४३५ ई० पू०)—अरस्तू के बाद ग्रीक आचारशास्त्र की धारा दो विरोधी दिशाओं में विभक्त हो गई। एक ओर एपिक्यूरस ने सुखवाद को और दूसरी ओर ज़ीनो ने संन्यासवाद को आदर्श के रूप में सामने रखा। वास्तव में इन दोनों के बीज सुकरात युग में ही पड़ चुके थे। एपिक्यूरस के सुखवाद का मूल स्रोत है 'साइरेनेइक्' आचार-दर्शन और ज़ीनो की 'स्तोइक' प्रणाली का आधार है 'सिनिक' पंथ का सुखवादविरोधी दर्शन। साइरेनेइक् पंथ का प्रवर्तक एरिस्तिपस था और सिनिक पंथ की स्थापना सुकरात के शिष्य अंतिस्थिनीज़ (४३६ ई० पू०) ने की थी।

एपिक्यूरस (३४१ से २७० ई० पू०)—एपिक्यूरीय आचारशास्त्र ज्ञान और विवेक को साधन मात्र समझकर संतोष या समाधान को जीवन का लक्ष्य मानता है। सुख के प्रति खिंचाव और दुःख का वर्जन स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं। 'साइरेनेइक्' दृष्टिकोण मूलतः उचित था, परंतु उसमें सुख की व्याख्या संकीर्ण है। केवल क्षणिक सुख को सर्वस्व समझना मूर्खता है। हमारा ध्येय जीवन को समग्र रूप से सुखमय बनाना है। इस क्रिया में विशिष्ट सुखों को कभी कभी त्यागना पड़ता है। सुखों की तीव्रता केवल एक पक्ष है, उनके स्थायित्व पर भी ध्यान देना है। मानसिक शांति शारीरिक इच्छापूर्ति से अधिक सुखमय है, क्योंकि वह हमें अधिक समय तक संतुष्ट रख सकती है। सर्वोच्च सद्गुण 'सावधानी' है, क्योंकि वह एक सीमा तक हमें दुःख दर्द से बचाता है।

ज़ीनो (३४० से २६५ ई० पू०)—स्तोइकवाद का सिद्धांत इसके बिलकुल विपरीत है। ज़ीनो के अनुसार विवेक ही सर्वस्व है। सुखप्राप्ति का अपनी जगह पर कोई महत्व नहीं है, यद्यपि विवेकशील जीवनक्रम में यदि सुख भी मिले तो उसे जबर्दस्ती ठुकराना जरूरी नहीं है, जैसा कि 'सिनिकपंथी' करते थे। संवेदजन्य सुखों को गौण और तुच्छ समझना काफी है। 'प्रकृति के अनुसार जीवन' का मतलब है विवेकशील जीवन, क्योंकि मानव के लिये चेतन, क्रियाशील विवेकशक्ति ही 'प्राकृतिक' है। सदाचार का आधार है आत्मनियंत्रण, कर्तव्यपरायणता और स्वार्थ-त्याग। नैतिक विकास के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट है असंयम। 'स्तोइक' विचारधारा में संन्यासवृत्ति काफी प्रबल होते हुए भी ज़ीनो और उसके अनुयायियों ने 'सिनिक' पंथ के विकृत व्यक्तिवाद से बचने का भी यथेष्ट प्रयत्न किया। मध्ययुगीन जीवनमूल्यों पर स्तोइक आचार-दर्शन का गहरा प्रभाव पड़ा। सेनेका और सम्राट् मार्क्स ओरिलियस (१२० से १८० ई०) ने इस दर्शन का समर्थन किया।

प्लोतिनस (२०५ से २७० ई०)—मध्ययुगीन आचारशास्त्र मुख्यतः धार्मिक या अध्यात्मवादी है। रोमन साम्राज्य के पतन से पहल ही ईसाई धर्मतत्व के संदर्भ में ग्रीक दर्शन का पुनर्मूल्यांकन किया जाने लगा था। इस तरह का पहला महत्वपूर्ण प्रयास नवअफ़लातूनवाद में देखा जा सकता है। सुकरात-अफ़लातून-अरस्तू की विचारपरंपरा में जो रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ निहित थीं उन्हें प्लोतिनस के दर्शन में उभारा गया है। मानव जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य है 'एक' अथवा 'परम सत्' का अपरोक्ष ज्ञान। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हमें अपने आपको 'योग्य' बनाना है और इसके लिये सदाचार आवश्यक है। इस तरह प्लोतिनस के लिये आचार-दर्शन का महत्व सीमित और सापेक्ष है। नवअफ़लातूनवाद के अन्य प्रमुख प्रतिनिधि हैं फाइलो और पोरफिरी।

आगस्तिन (३५४ से ४३० ई०)—संत आगस्तिन का 'पैत्रिस्तिक' दर्शन भी ईश्वरानुभूति को चरम लक्ष्य मानता है। ईश्वरप्रेम ही वास्तविक नैतिकता का आधार हो सकता है। आगस्तिन ने यह कहकर कि ईश्वर-केंद्रित जीवन में ही 'अधिकतम इच्छापूर्ति' संभव है, अप्रत्यक्ष रूप से सुखवाद के सिद्धांत को एक सीमा तक स्वीकार किया।

थोमस एक्वाइनस (१२२५ से १२७४)—मध्ययुगीन आचारदर्शन का सबसे विकसित रूप संत थोमस एक्वाइनस की दर्शनप्रणाली में है। एक्वाइनस ने ईसाई धर्मतत्व को अफ़लातूनवाद से अरस्तूवाद की ओर ले जाने का यत्न किया। सत्य और शुभ का अनुसंधान दो मार्गों से संभव है—विश्वास और विवेक। ये दोनों स्वतंत्र हैं, परंतु इनमें कोई मूलभूत विरोध नहीं है। विवेकशक्ति की उच्चतम सफलता है अरस्तूदर्शन। 'विश्वास' की सबसे उदात्त सिद्धि है ईसामसीह का 'यथार्थसंगत अध्यात्मवाद'। लेकिन इनसे निम्नतर स्तर पर जो 'विवेक' और 'विश्वास' की सफलताएँ हैं उनसे भी नैतिक जीवन में प्रेरणा मिल सकती है। ईश्वरज्ञान ही परम शुभ है।

एक्वाइनस के बाद 'स्कोलैस्टिक' विचारधारा धीरे धीरे गतिहीन और संकीर्ण बन गई। आचारशास्त्र का स्वतंत्र अस्तित्व करीब करीब समाप्त हो गया और नैतिक प्रश्नों का विवेचन ईसाई धर्मशास्त्र की कुछ वादग्रस्त समस्याओं में शाब्दिक ऊहापोह तक ही सीमित रह गया।

आधुनिक युग—आचारशास्त्र का आधुनिक युग १५वीं-१६वीं शताब्दियों के धर्मनिरपेक्ष दर्शन से आरंभ होता है। इस दर्शन का एक पक्ष वैज्ञानिक और प्रकृतिवादी है जिसका स्वस्थ रूप बेकन और विकृत रूप हाब्ज़ में झलकता है। आचारशास्त्र की दृष्टि से हाब्ज़ बेकन से अधिक महत्वपूर्ण है।

हाब्ज़ (१५८८ से १६७९)—हाब्ज़ का दृष्टिकोण भौतिकवादी है। वस्तुओं और गति का ही अस्तित्व वह मानता है और मानव आचरण को 'वस्तु' और 'गति' के ही दायरे में देखता है। चूँकि वस्तुजगत् से मानव का संबंध संवेदन द्वारा ही संभव है इसलिये संवेदन ही मानव जीवन का 'मुख्य संचालक' है। सुख की इच्छा और दुःख के प्रति विमुखता ही मानवीय व्यवहार का आधार है। व्यक्ति का कर्तव्य केवल एक है—अपने लिये सुख अर्जन करना। स्वार्थपरता स्वाभाविक है, स्वार्थत्याग कृत्रिम। सामाजिक संगठन का आधार 'प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्येक अन्य व्यक्ति से भय' है। सुखों को वर्तमान की तरह भविष्य में भी प्राप्त करने के लिये 'अधिकार' और 'शक्ति' आवश्यक हैं। इसलिये अधिकारप्रेम भी प्राकृतिक है और आचरण का निर्देशन करता है। व्यवहार का आंतरिक मानदंड स्वार्थ है, बाह्य मानदंड राजकीय अथवा सामाजिक अधिकार है।

क्लार्क (१६७५ से १७२९)—हाब्ज़ के स्वार्थपरक सुखवाद के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया होनी अनिवार्य थी। यह प्रतिक्रिया 'सहजज्ञानवादी आचरणशास्त्र' में व्यक्त हुई।

कडवर्थ (१६१७ से १६८८)—इस प्रवृत्ति के प्रमुख प्रतिनिधि हैं क्लार्क, कडवर्थ, शैफ्ट्सबरी, हचीसन और बटलर। इनमें आपसी मतभेद होते हुए भी व्यापक रूप से इस बात पर सहमति है कि नैतिक नियम 'स्वतःसिद्ध सत्य' है।

शैफ़्ट्सबरी (१६७१ से १७१३)—शैफ़्ट्सबरी ने आचारशास्त्र में पहली बार 'नैतिक विवेकशक्ति' (मारल सेंस) का सिद्धांत सामने रखा। बटलर का भी कहना है कि नैतिक नियमों का सहज ज्ञान इसलिये संभव है कि प्रकृति ने—या 'ईश्वर' ने इस प्रकार के ज्ञान के लिये हमें एक विशेष साधन प्रदान किया है।

बटलर (१६९२ से १७५२)—इस साधन को 'बटलर' 'सदसद्विवेकक्षमता' (कांशेंस) कहता है। यह क्षमता ही मनुष्य की वास्तविक आत्मा है, उसके व्यक्तित्व का केंद्रबिंदु है।

ह्यूम (१७११ से १७७६)—ह्यूम का आचरणशास्त्र फिर एक बार संवेदनवाद की ओर झुकता है। ह्यूम का विश्वास है कि आचरण का यथार्थ विश्लेषण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही संभव है। मनोविज्ञान का इस विषय में एक ही निष्कर्ष हो सकता है। वह यह कि सुख दुःख ही आचरण के निर्णायक हैं। हमारे नैतिक निर्णय कुछ ऐसे प्राकृतिक सत्यों पर आधारित हैं जिनका, अपने मूल स्वरूप में, कोई नैतिक महत्व नहीं है।

कांट (१७२४ से १८०४)—कांट का प्रसिद्ध ग्रंथ 'व्यावहारिक विवेक की आलोचना' आधुनिक विवेकवादी आचारशास्त्र के आधारस्तंभों में है। कांट ने पूर्ववर्ती विचारकों के एकांगी सिद्धांतों को संतुलित रूप देकर उन्हें एक समन्वयात्मक आचरणदर्शन में सूत्रबद्ध करने का प्रयत्न किया। 'कर्तव्य' और 'स्वार्थ' ये दोनों बिलकुल अलग अलग प्रेरणाएँ हैं। इनमें से कर्तव्य को ही प्रधान मानकर जीवन संगठित किया जाय तो अधिकतम कल्याणसंपादन किया जा सकता है। कर्तव्य की व्याख्या 'शुभ संकल्प' द्वारा ही संभव है। शुभ संकल्प ही एकमात्र ऐसा शुभ है जिसका मूल्य निरपेक्ष है। अन्य सभी 'अच्छाइयाँ', जैसे सुख, योग्यता, सुविधा इत्यादि

सापेक्ष हैं। उनका महत्व यहीं तक सीमित है कि शुभ संकल्प को क्रियमाण बनाने में उनसे सहायता मिल सकती है।

कांट ने इस बात पर जोर दिया कि नैतिक नियम विश्वव्यापी और पूर्णतया अनिवार्य हैं। प्रत्येक परिस्थिति में और प्रत्येक व्यक्ति के प्रति वह लागू होता है। इस नियम का आदेश है कि हम मानवता को अपने में और अन्य लोगों में सर्वदा साध्य के रूप में स्वीकार करें, न कि साधन के रूप में। नैतिक कर्तव्य को किसी भी बाह्य दबाव की उत्पत्ति समझना गलत है, चाहे वह बाह्य शक्ति 'ईश्वर' हो या 'सुखवर्धक' परिस्थिति। विवेकशील व्यक्ति जिस नियम के अधीन है उसका निर्माण स्वयं विवेक ही करता है।

फ़िश्टे (१७६२ से १८१४)—फ़िश्टे का आचरणशास्त्र अतिबुद्धिवादी है। वह व्यक्ति को स्वतंत्र मानता है, पर उसके अनुसार आचरण की स्वाधीनता ज्ञान पर निर्भर है। कांट की भूल यह थी कि उसने विवेक के सैद्धांतिक और व्यावहारिक अंगों के बीच विरोध खड़ा किया।

हीगेल (१७७०–१८३१)—शेलिंग के दर्शन में आचारशास्त्र विशुद्ध तत्वज्ञान का अंग बन जाता है। हीगेल-दर्शन की भित्ति भी 'परमसत्' (ऐब्सोल्यूट) की कल्पना है, लेकिन हीगेल के 'परमवाद' का उसकी 'द्वंद्वात्मक पद्धति' (डाइलेक्टिक्स) से अविश्लेष्य संबंध है। भाव-जगत् में विरोधी शक्तियों के संघर्ष से, और उच्चतर स्तर पर उनके समन्वय से, विकास होता है। नैतिक धारणाओं के प्रति भी यही नियम लागू होता है। आचारशास्त्र का लक्ष्य उन मंजिलों का अध्ययन है जिनके बीच, संघर्ष और समन्वय से गुजरते हुए, नैतिक मूल्यों का विकास हुआ है।

डार्विन (१८०१–१८८२)—विकासवादी दृष्टिकोण के वैज्ञानिक पक्ष का डार्विनवाद के माध्यम से आचारशास्त्र पर गहरा प्रभाव पड़ा।

स्पेंसर (१८२०–१९०३)—डार्विन के 'प्राकृतिक चुनाव के नियम से' प्ररणा लेकर हर्बर्ट स्पेंसर ने एक नया विकासात्मक सुखवाद प्रस्तुत किया। जीवन का आधार है व्यक्ति का परिवेश से सफल अनुकलन (अडेप्टेशन)। यह नियम मानव के लिये उतना ही वास्तविक है जितना अन्य प्राणियों के लिये, यद्यपि मानव जीवन में सामाजिक और सांस्कृतिक परंपराओं का निर्माण हुआ है। 'सफल अनुकलन' का लक्षण है एक ऐसे प्रगतिशील समाज का संगठन जिसमें व्यक्तिगत सुखों का लाभ समग्र जाति के कल्याण-संपादन से संलग्न हो।

बेंथम (१७४८–१८४२) **मिल** (१८०६–१८७३)—स्पेंसर के सुखवाद पर बेंथम और मिल के 'उपयोगितावाद' का स्पष्ट प्रभाव है। मिल का दर्शन उस सशक्त 'अनुभववादी' परंपरा पर आधारित है जिसकी बुनियाद बेकन-हाब्ज़-लाक-ह्यूम ने रखी थी। बेथम का प्रसिद्ध सूत्र (फारमूला 'अधिक से अधिक लोगों का अधिक-से-अधिक सुख)' मिल के संपर्क से उच्चतर उपयोगितावाद का एक साधन बन गया। मिल ने इस बात पर जोर दिया था कि जीवन के सांस्कृतिक और बौद्धिक मूल्यों को ध्यान में रखते हुए ही 'सुख' की व्याख्या करनी चाहिए।

'उपयोगिता' को प्राधान्य देनेवाली अन्य विचारधाराओं में कोंत का मानववाद और विलियम जेम्स का प्रत्यक्ष परिणामवाद आचारशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

कांत (१७९८–१८५७) कांत ने मानव इतिहास को तीन युगों में विभाजित किया—धार्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक। इनमें से अंतिम, अर्थात् वैज्ञानिक युग ही वास्तव में 'सकारात्मक' है। इसी युग में मानव-केंद्रित आचरणशास्त्र का निर्माण हो सकता है। भविष्य का धर्म 'मानवता धर्म' होगा जिसमें नैतिक, धार्मिक और अन्य पक्षों का निर्देशन समाजविज्ञान द्वारा होगा। मानवता एकमात्र आराध्य वस्तु होगी और जातिकल्याण ही व्यवहार का मानदंड होगा। ऐसी परिस्थिति में आचारशास्त्र का समाजशास्त्र में विलीन होना अनिवार्य है।

जेम्स (१८४२–१९१०)—विलियम जेम्स ने यूरोप की भाववादी दार्शनिक परंपरा का विरोध किया। विशुद्ध तात्त्विक स्तर पर सत्य की खोज व्यर्थ है। सत्य 'बना बनाया' नहीं है, मानव के जीवन में, उसके आचरण और विभिन्न प्रयासों में, सत्य का निर्माण होता है। सत्य की कसौटी उसका प्रत्यक्ष परिणाम है।

ड्यूई (१८५९–१९५०)—इस दृष्टिकोण को जो प्रैगमेटिज्म के नाम से प्रसिद्ध है, जान ड्यूई ने आगे बढ़ाया। ड्यूई के अनुसार 'प्रत्यक्ष परिणाम' की व्याख्या राजनीतिक और सामाजिक प्रगति के संदर्भ में की जानी चाहिए। ड्यूई ने अपने आचारशास्त्र में प्रजातंत्रवाद, समानता और सामाजिक स्वास्थ्य के आदर्शों को महत्वपूर्ण माना है।

शोपेनहावर (१७८८–१८६०)—उधर जर्मनी में हीगेल के बाद शोपेनहावर, नीत्शे और मार्क्स ने तीन अलग अलग मार्ग अपनाये। शोपेनहावर का दृष्टिकोण निराशावादी है। समस्त इतिहास को वह 'जीवन-संकल्प' की अभिव्यक्ति मानता है। यह अभिव्यक्ति जिस संघर्ष के बीच होती है वह दुःख और क्लेश से परिपूर्ण है। प्राणियों के 'सुख' काल्पनिक और क्षणिक हैं, उनसे लालायित होकर 'संकल्प' और भी तेजी से जीवन-धारा को आगे बढ़ाता है और इस तरह और भी अधिक क्लेश उत्पन्न होते हैं। वैसे तो जीवमात्र का अस्तित्व दुःखमय है, परंतु मानव जीवन में यह क्लेश चरम सीमा तक पहुँच जाता है। शारीरिक कष्टों के अलावा अब मानसिक वेदना का भी प्रादुर्भाव होता है। आचरणशास्त्र का कटु कर्तव्य है मनुष्य को यह समझाना कि जीवनसंकल्प के विनाश से ही उसके दुःख का अंत हो सकता है। इसके लिये जीवन के सभी तथाकथित सुखमय अनुभवों को ठुकराना होगा, और सबसे पहले उस 'सुख' को जिसके कारण मानव जाति कायम है। मनुष्य का आदिपाप यह है कि वह जन्म ग्रहण करता है।

हार्टमान (१८४२–१९०६)—निकोलाई हार्टमान का निराशावाद शोपेनहावर से भी एक कदम आगे है। जहाँ शोपेनहावर व्यक्ति का यह कर्तव्य बताता है कि वह अपने जीवनसंकल्प का विनाश करे, वहाँ हार्टमान की यह माँग है कि संपूर्ण विश्व में जीवनी शक्ति को खत्म करने में हमें योग देना चाहिए।

नीत्शे (१८८८–१९००)—नीत्शे का आचारशास्त्र भी परंपरागत नैतिक मान्यताओं को ठुकराता है। नीत्शे का सिद्धांत है 'मूल्यों का निर्मूल्यीकरण'। उसकी शिकायत है कि ईसाई धर्म से प्रेरित होकर जो नैतिक सिद्धांत सामने आए हैं वे दुर्बलों के लिये है बलवानों के लिये नहीं। ऐसा आचारशास्त्र 'करुणा का आचारशास्त्र है।' वास्तव में केवल एक मूल्य ऐसा है जिसपर मानव गर्व कर सकता है—शक्ति। जिससे भी शक्ति का प्रसार होता है वह उचित है और जिस कर्म से शक्ति की महत्ता घटती है वह त्याज्य है। श्रेष्ठ पुरुष की श्रेष्ठताभावना एकमेव अच्छाई है। अनुकलन (एप्टेशन) का आदर्श श्रेष्ठ मानव का आदर्श नहीं हो सकता, क्योंकि अनुकलन का अर्थ है परिवेश के सामने हथियार डाल देना। मानवता का लक्ष्य है अतिमानव का निर्माण—यह सत्य केवल कुछ इने गिने लोग ही समझ सकते हैं और उन्हीं के हाथ में मानव जाति का भविष्य है। अतिमानव के लिये किसी नैतिक नियम की कल्पना नहीं की जा सकती। वह अच्छे बुरे के मतभेद से परे है।

मार्क्स (१८१८–१८८३)—मार्क्स ने हीगेल के द्वंद्ववाद को भौतिक रूप दिया और कहा कि मानव जीवन में आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों के स्वगत विरोध से ही आचरण को दिशा मिलती है। आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन समाज की सबसे महत्वपूर्ण क्रिया है। उत्पादन के साधन जिस वर्ग के हाथ में होते हैं वही वर्ग राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त कर लेता है। यही नहीं, अनिवार्य रूप से धार्मिक संस्थाओं, शिक्षाप्रणाली और सांस्कृतिक साधनों पर भी शासक वर्ग कब्जा कर लेता है। अपने हितों की रक्षा के लिये इस वर्ग के लोग कुछ नैतिक मान्यताओं की रचना करते हैं और उन्हें अटल, विश्वव्यापी तथा नित्य बताते हैं। वास्तव में मानव स्वभाव परिवर्तनशील है और नैतिक नियम भी अटल नहीं हो सकते। जो समान वर्गों में विभाजित है उसमें शासक वर्ग और शोषित वर्ग के 'कर्तव्य' समान नहीं हैं। प्रागैतिहासिक 'कबीले के समाज' के पतन से लेकर अबतक नैतिक मूल्यों में लगातार वर्गसंघर्ष प्रतिबिंबित हुआ है। जब दुनिया भर में साम्यवादी समाज की स्थापना होगी और वर्गविभाजन का अंत होगा तभी ऐसे आचारशास्त्र का निर्माण हो सकेगा जिसमें नैतिक सिद्धांत समस्त मानव जाति के वास्तविक कल्याण पर आधारित होंगे।

२०वीं शताब्दी में दर्शन के कुछ अन्य अंगों की तुलना में आचारशास्त्र की उपेक्षा हुई है। आचारशास्त्र की कोई नई प्रणाली इधर प्रस्तुत नहीं की

गई। इसका मतलब यह नहीं कि नैतिक प्रश्नों को दार्शनिकों ने गौण समझा है। क्रोचे, बेर्गसाँ, रसेल और अन्य आधुनिक दार्शनिकों ने नैतिक निर्णय के स्वरूप को अपने अपने दृष्टिकोण से समझने का यत्न किया है। परंतु 'शुभाशुभविवेक' को एक स्वतंत्र विज्ञान का विषय माननेवाले विचारक आज अधिक नहीं हैं। इसका कारण यह है कि आचारशास्त्र पर विभिन्न दिशाओं से दबाव पड़ रहा है—समाजशास्त्र की ओर से और मनोविज्ञान की ओर से। एक ओर तो सामाजिक जीवन की बढ़ती हुई जटिलता हमें इस बात के लिये बाध्य करती है कि आचरण के नैतिक पक्ष को राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक समस्याओं के संदर्भ में ही देखें। दूसरी ओर फ्रायड-वाद ने मानव मन की जिन अचेतन क्रियाओं की ओर ध्यान दिलाया है उनकी समीक्षा भी आवश्यक हो गई है। आचरण का 'विशुद्ध नैतिक मूल्यांकन' कठिन हो चला है, क्योंकि नैतिक धारणाओं के पीछे अब कुछ ऐसी अचेतन शक्तियों का आभास मिला है जिन्हें अभी समझना है।

सं०ग्रं०—एच० सिजविक : हिस्ट्री आव एथिक्स (१९६०); जे० ई० एर्ड्मान : हिस्ट्रीज़ आव फिलासफ़ी; जे० एस० मैकेंज़ी : मैनुएल (१९२४); जे० एच० म्योर हेड : एलिमेंट्स आव एथिक्स (१८९२) डब्ल्य० वुन्ड्ट : एथिक्स (१८९७)। [वि० श्री० न०]

आचार्य प्राचीन काल में आचार्य एक शिक्षा संबंधी पद था। उपनयन संस्कार के समय बालक का अभिभावक उसको आचार्य के पास ले जाता था। विद्या के क्षेत्र में आचार्य का स्थान बहुत ऊँचा था। अतः यह धारणा बन गई थी कि आचार्य के पास गए बिना विद्या, श्रेष्ठता और सफलता की प्राप्ति नहीं होती (आचार्याद्धि विद्या विहिता साधिष्ठं प्रापयतीति। छांदोग्य ४–९–३)। उच्च कोटि के अध्यापकों में आचार्य, गुरु एवं उपाध्याय होते थे, जिनमें आचार्य का स्थान सर्वोत्तम था। मनुस्मृति (२–१४१) के अनुसार उपाध्याय वह होता था जो वेद का कोई भाग अथवा वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद तथा ज्योतिष) विद्यार्थी को अपनी जीविका के लिये शुल्क लेकर पढ़ाता था। गुरु अथवा आचार्य विद्यार्थी का संस्कार करके उसको अपने पास रखता था तथा उसके संपूर्ण शिक्षण और योगक्षेम की व्यवस्था करता था (मनु: २–१४०)। 'आचार्य' शब्द के अर्थ और योग्यता पर सविस्तर विचार किया गया है। निरुक्त (१-४) के अनुसार उसको आचार्य इसलिये कहते हैं कि वह विद्यार्थी से आचार-शास्त्रों के अर्थ तथा बुद्धि का आचयन (ग्रहण) कराता है। आपस्तंब धर्मसूत्र (१. १. १. ४) के अनुसार उसको आचार्य इसलिये कहा जाता है कि विद्यार्थी उससे धर्म का आचयन करता है। आचार्य का चुनाव बड़े महत्व का होता था। 'वह अंधकार से घोर अंधकार में प्रवेश करता है जिसका उपनयन अविद्वान् करता है। इसलिये कुलीन, विद्यासंपन्न तथा सम्यक् प्रकार से संतुलित बुद्धिवाले व्यक्ति को आचार्य पद के लिये चुनना चाहिए। (आप० ध० सू० १. १. १. ११–१३)। यम (वीरमित्रोदय, भाग १, पृ० ४०८) ने आचार्य की योग्यता निम्नलिखित प्रकार से बतलाई है: 'सत्यवाक्, धृतिमान्, दक्ष, सर्वभूतदयापर, आस्तिक, वेदनिरत तथा शुचियुक्त, वेदाध्ययन-संपन्न, वृत्तिमान्, विजितेंद्रिय, दक्ष, उत्साही, यथावृत्त, जीवमात्र से स्नेह रखनेवाला आदि' आचार्य कहलाता है। आचार्य आदर तथा श्रद्धा का पात्र था। श्वेताश्वतरोपनिषद् (६–२३) में कहा गया है: जिसकी ईश्वर में परम भक्ति है, जैसे ईश्वर में वैसे ही गुरु में, क्योंकि इनकी कृपा से ही अर्थों का प्रकाश होता है। शारीरिक जन्म देनेवाले पिता से बौद्धिक एवं आध्यात्मिक जन्म देनेवाले आचार्य का स्थान बहुत ऊँचा है (मनु० २. १४६)।

आजमगढ़ गंगा के उपजाऊ मैदान में स्थित पूर्वी उत्तर प्रदेश का एक जिला है। अधिकांश जनसंख्या का उद्यम खेती है। मुख्य फसलें चावल, जौ, गेहूँ और गन्ना हैं। इस जिले का मुख्य नगर आजमगढ़ है जो २६°३′ उ० अक्षांश और ८३° १३′ पू० देशांतर पर स्थित है। यह नगर गंगा नदी की सहायक टोंस नदी के सर्पिल घुमाओं द्वारा तीन ओर से घिरा हुआ है। बाढ़ से रक्षा के लिये ऊँचा बाँध बनाया गया है। पर कभी कभी बाँध तोड़कर नदी का पानी फैल जाता है और नगर को पर्याप्त क्षति पहुँचती है। औसत वार्षिक वर्षा ४२·०५ इंच है। नगर की कुल जनसंख्या २६,६३२ है (१९५१)। यह पूर्वोत्तर रेलवे की मऊ से शाहगंज जानेवाली शाखा पर स्थित है और पक्की तथा कच्ची सड़कों द्वारा समीपवर्ती क्षेत्रों से संबद्ध है। यह बनारस से दोहरीघाट होते हुए गोरखपुर जानेवाले मोटर मार्ग पर पड़ता है। इस नगर की स्थापना १६६५ ई० में आजम खाँ द्वारा हुई थी। इसके पूर्व यह भूमि एलवल के बिसेन राजपूतों के अधीन थी। इस समय यहाँ दो डिग्री कालेज हैं। शिबली मंज़िल तथा हरिऔध-कला-भवन विशेष उल्लेखनीय भवन हैं। [रा० ना० मा०]

आज़ाद अबुलकलाम अहमद मुहीयुद्दीन (१८८८–१९५८ ई०) एक बड़े विद्वान् घराने में पैदा हुए। जन्म मक्का में हुआ और किशोरावस्था के कई वर्ष वहीं बीते। अरबी फ़ारसी अपने पिता से पढ़ी और बाल्यावस्था में ही असाधारण ज्ञान प्राप्त कर लिया। अभी केवल १२ वर्ष के थे कि एक पत्रिका कलकत्ते से निकाल दी और १९०२ ई० से पत्रपत्रिकाओं में इनके लेख छपने लगे। १९०२ ई० में कलकत्ते से ही एक साहित्यिक पत्रिका 'लिसानुस–सिदक' निकाली। १९०५ ई० में लखनऊ की प्रसिद्ध पत्रिका 'अन-नदवा' के संपादक नियुक्त हुए। दो वर्ष बाद अमृतसर चले गए और वहाँ 'वकील' के संपादक हो गए।

१९१२ ई० में कलकत्ते से स्वयं अपना साप्ताहिक 'अल हिलाल' निकाला। उर्दू में ऐसी उच्च कोटि का कोई साप्ताहिक इससे पहले नहीं निकला था। १९१६ ई० में अपने राजनीतिक विचारों के कारण राँची में नजरबंद कर दिए गए। यहाँ इन्होंने अपने पूर्वजों के बारे में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'तज़केरा' लिखी और 'क़ोरान शरीफ़' का उर्दू अनुवाद टीका सहित आरंभ कर दिया। १९१९ ई० में वहाँ से छूटे, किंतु १९२१ ई० में फिर बंदी बना दिए गए। १९२३ ई० में कांग्रेस के सभापति चुने गए। १९३० ई० में अंग्रेजी राज्य ने सभी नेताओं के साथ मौलाना आज़ाद को भी बंदी बना दिया। १९३९ में फिर कांग्रेस के सभापति नियुक्त किए गए और १९४६ तक इसका नेतृत्व करते रहे। १९४२ ई० में अंतिम बार कैद किए गए। स्वतंत्रता मिलने पर केंद्र में जो राष्ट्रीय मंत्रिमंडल बना, मौलाना आज़ाद उसमें शिक्षामंत्री बनाए गए। इसी बीच ईरान, तुर्की, इंग्लैंड और फ्रांस की यात्रा की। २२ फरवरी, १९५८ ई० को देहली में देहांत हुआ।

आज़ाद ने वैसे कुछ कविताएँ भी लिखीं किंतु उनके गद्य ने उन्हें उर्दू साहित्यकारों में बहुत ऊँचा स्थान दिया। उनके लेखों में भी उनके व्याख्यानों की शक्ति पाई जाती है।

मौलाना आज़ाद की रचनाओं में 'तज़केरा', 'तरजुमानुल कोरान', 'गुब्बारे–ख़ातिर', 'कौले-फ़ैसल,' 'दास्ताने करबला', 'इंसानियत मौत के दरवाज़े पर', 'मज़ामीने अल हिलाल', 'मज़ामीने आज़ाद', 'खुतबाते आज़ाद' इत्यादि हैं।

सं०ग्रं०—अबुल कलाम आज़ाद : तज़केरा; अबुल कलाम आज़ाद : इंडिया; जोश मलीहाबादी : आज़ाद की कहानी; काजी अब्दुल गफ्फ़ार : आसारे-अबुल-कलाम; अबू सईद अज़मी : अबुल कलाम आज़ाद विन्स फ्रीडम। [सै० ए० हु०]

आज़ाद शमसुल उलमा मौलाना मुहम्मद हुसेन (१८३३–१९१० ई०)। मौलाना सैयद मुहम्मद बाकर दिल्ली के एक बहुत बड़े विद्वान् और धार्मिक नेता थे जिन्होंने उर्दू अखबार के नाम से १८३६ ई० में पहला गंभीर उर्दू समाचारपत्र निकाला। इस पत्रिका में अंग्रेजों के विरोध में विचार प्रकट किए जाते थे। १८५७ ई० के आंदोलन में अवसर मिलते ही अंग्रेजों ने मौलाना बाक़र को गोली से उड़ा दिया। आज़ाद उन्हीं के पुत्र थे। पिता ने पुत्र को फ़ारसी, अरबी पढ़ाई, दिल्ली कालेज में पढ़ने के लिये भेजा, प्रेस का काम सिखाया और कविता और भाषा के मर्म की जानकारी प्राप्त करने के लिये उस समय के प्रसिद्ध कवि शेख मुहम्मद इब्राहिम 'ज़ौक़' के हाथ में सौंप दिया। पिता ने इस प्रकार आज़ाद को ऐसा बना दिया था कि वह संसार में अपनी जगह बना सकें, परंतु १८५७ के आंदोलन ने इन्हें बेघर कर दिया और कई वर्ष तक ये लखनऊ, मद्रास और बंबई में मारे मारे फिरते रहे। छोटी छोटी नौकरियाँ कीं और बच्चों के लिये पाठ्यक्रम के अनुसार पुस्तकें लिखीं। इसी बीच काश्मीर और मध्य एशिया भी हो आए। १८६९ ई० में लाहौर गवर्नमेंट कालेज में अरबी के अध्यापक नियुक्त हुए और वहीं कुछ अंग्रेज और हिंदुस्तानी विद्वानों के साथ

मिलकर "अंजुमने पंजाब" बनाई जिससे नई प्रकार की कविताएँ लिखन की परंपरा आरंभ हुई। १८७४ ई० में लाहौर में जो नए मुशायरे हुए उनमें ख्वाजा 'हाली' ने भी भाग लिया और वास्तव में उसी समय से आधुनिक उर्दू साहित्य का विकास आरंभ हुआ। १८८५ ई० में 'आजाद' ने ईरान की यात्रा की और जब वहाँ से लौटे तब अपना सारा समय और सारी शक्ति साहित्यरचना में लगाने के लिये नौकरी से भी अलग हो गए। १८८८ ई० में कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं कि आज़ाद की मानसिक दशा बिगडने लगी और दो एक वर्ष बाद वे बिलकुल पागल हो गए। इसमें भी जब कभी मौज आ जाती, लिखने पढ़ने में लग जाते। १६०६ में इनका स्वास्थ्य एकदम नष्ट हो गया और २२ जनवरी, १६१० ई० को ये परलोक सिधार गए।

अपने विस्तृत ज्ञान से सुंदर भावपूर्ण शैली और नवीन विचारों के कारण आज़ाद वर्तमान साहित्य के जन्मदाताओं में गिने जाते हैं। उनकी अनेक रचनाओं में से निम्नलिखित विशेष प्रसिद्ध हैं :

"सुखनदाने-फार्स", "निगारिस्ताने-फार्स," "आबे-हयात", "नैरगे-खयाल", "दरबारे-अकबरी", "कससे-हिंद", "कायनाते-अरब", "जानवरिस्तान", "नज्मे-आज़ाद" इत्यादि।

सं०ग्रं०—पंडित कैफी : मनशूरात; जहाँ बानू : मुहम्मद हुसेन आज़ाद, मुहम्मद यहया तन्हा : सियहल—मुसन्नफीन; हामिद हसन कादिरी : दास्तान-तारीखे-उर्दू; अब्दुल्ला, डा० एस० एन० : स्पिरिट ऐंड सब्स्टैंस ऑव उर्दू प्रोज़ अंडर दि इन्फ्लुएंस ऑव सर सैयद।

[सै० ए० हु०]

आजीविक आजीविक शब्द के अर्थ के विषय में विद्वानों में विवाद रहा है किंतु 'आजीविक' के विषय मे विशेष विचार रखनेवाले श्रमणों के एक वर्ग को यह अर्थ विशेष मान्य रहा है। वैदिक मान्यताओं के विरोध में जिन अनेक श्रमणसंप्रदायों का उत्थान बुद्धपूर्वकाल में हुआ उनमें आजीविक संप्रदाय भी था। इस संप्रदाय का साहित्य उपलब्ध नहीं है, किंतु बौद्ध और जैन साहित्य तथा शिलालेखों के आधार पर ही इस संप्रदाय का इतिहास जाना जा सकता है। बुद्ध और महावीर के प्रबल विरोधियों के रूप में आजीविकों के तीर्थंकर मक्खली गोसाल (मस्करी गोशाल) का उल्लेख जैन-बौद्ध-शास्त्रों मे मिलता है। यह भी उन शास्त्रों से ही ज्ञात होता है कि उस समय आजीविकों का संप्रदाय प्रतिष्ठित और समादृत था। गोसाल अपने को चौबीसवाँ तीर्थंकर कहते थे। इस जैन उल्लख को प्रमाण न भी माना जाय तब भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि गोसाल से पहल भी यह संप्रदाय प्रचलित रहा। गोसाल से पहले के कई आजीविकों का उल्लेख मिलता है। शिलालेखों और अन्य आधारों से यह सिद्ध है कि यह संप्रदाय समग्र भारत में प्रचलित रहा और अंत में मध्यकाल में अपना पार्थक्य इस संप्रदाय ने खो दिया। आजीविक श्रमण नग्न रहते और परिव्राजकों की तरह घूमते थे। भिक्षाचर्या द्वारा जीविका चलाते थे। ईश्वर या कर्म मे उनका विश्वास नही था। किंतु वे नियतिवादी थे। पुरुषार्थ, पराक्रम, वीर्य से नही, किंतु नियति से ही जीव की शुद्धि या अशुद्धि होती है। संसारचक्र नियत है, वह अपने क्रम में ही पूरा होता है और मुक्तिलाभ करता है। आश्चर्य तो यह है कि आजीविकों का दार्शनिक सिद्धांत ऐसा होते हुए भी आजीविक श्रमण तपस्या आदि करते थे और जीवन मे कष्ट उठाते थे।

सं०ग्रं०—बॉशम, ए० एल० : हिस्ट्री ऐंड डाक्ट्रिंस ऑव दि आजीविकाज्।

[द० मा०]

आटाकामा दक्षिणी अमरीका के पश्चिमी भाग में शुष्क और खारा मरुस्थल है। यह चिली देश के आटाकामा तथा अंटाफैगास्टा प्रदेश के अधिकतर भाग और अरजेनटीना के लौस ऐंडीज़ प्रदेश में फैला है। इसके ऊँचे भाग 'पूना डी अटाकामा' कहे जाते हैं। यह विच्छिन्न पर्वतीय भाग है। जगह जगह ज्वालामुखी पर्वत है तथा अन्य भागों में शोरा मिलता है। यह मरुस्थल ऐंडीज पर्वत तथा समुद्रतट के बीच में पड़ता है। ऊँचाई ३,००० से ५,००० फुट तक है। इसका क्षेत्रफल १,०८४ वर्गमील है। पूर्वी भाग में कभी कभी वर्षा हो जाती है जिससे हिमाच्छादित ऊँची चोटियों से सोते निकलकर कुछ उर्वरापन ला देते हैं। यों अधिकतर भाग पठारी है जो जाड़े में शुष्क और अत्यधिक ठंढा रहता है तथा गरमी में वर्षा और आँधी से प्रभावित होता है। पश्चिमी ढाल पर विस्तृत, छिछले स्थल तथा सीढ़ीनुमा ढालें मिलती हैं जो तट पर बालू में मिल जाते हैं। यह भाग शोरा के लिये बहुत प्रसिद्ध है। यह ३-४ शताब्दी पहले तक शुष्क तथा बेकार समझा जाता था, परंतु अब यहाँ खनिज पदार्थों का भांडार पाया गया है। यहाँ ताँबा, चाँदी, सीसा, कोबल्ट, निकेल तथा बोरैक्स मिलते हैं। यहाँ पर खानों में काम करनेवाले लोगों की काफी बस्तियाँ हैं। यहाँ की ताँबा और चाँदी की खानें विश्वप्रसिद्ध हैं।

[नृ० कु० सिं०]

आड़ू या सतालू (अंग्रेजी नाम : पीच; वानस्पतिक नाम : प्रूनस पर्सिका; प्रजाति : प्रूनस; जाति : पर्सिका; कुल : रोज़ेसी) का उत्पत्तिस्थान चीन है। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि यह ईरान में उत्पन्न हुआ। यह पर्णपाती वृक्ष है। भारतवर्ष के पर्वतीय तथा उपपर्वतीय भागों में इसकी सफल खेती होती है। ताजे फल खाए जाते हैं तथा फल से फलपाक (जैम), जेली और चटनी बनती है। फल में चीनी की मात्रा पर्याप्त होती है। जहाँ जलवायु न अधिक ठंढी, न अधिक गरम हो, १५° फा० से १००° फा० तक के तापवाले पर्यावरण में, इसकी खेती सफल हो सकती है। इसके लिये सबसे उत्तम मिट्टी बलुई दोमट है, पर यह गहरी तथा उत्तम जलोत्सरणवाली होनी चाहिए।

भारत के पर्वतीय तथा उपपर्वतीय भागो मे इसकी सफल खेती होती है।

आड़ू दो जाति के होते हैं—(१) देशी; उपजातियाँ : लार्ज आगरा, पेशावरी तथा हरदोई; (२) विदेशी; उपजातियाँ : बिडविल्स अर्ली, डबल फ्लावरिंग, चाइना फ्लैट, डाक्टर हाग, फ्लोरिडाज़ ओन, अलबर्टा आदि। प्रजनन कलिकायन द्वारा होता है। आड़ू के मूल वृत्त पर रिंग बडिंग अप्रैल या मई मास में किया जाता है। स्थायी स्थान पर पौधे १५ से १८ फुट की दूरी पर दिसंबर या जनवरी के महीने में लगाए जाते हैं। सड़े गोबर की खाद या कंपोस्ट ८० से १०० मन तक प्रति एकड़ प्रति वर्ष नवंबर या दिसंबर में देना चाहिए। जाड़े में एक या दो तथा ग्रीष्म ऋतु में प्रति सप्ताह सिंचाई करनी चाहिए। सुंदर आकार तथा अच्छी वृद्धि के लिये आड़ू के पौधे की कटाई तथा छँटाई प्रथम दो वर्ष भली भाँति की जाती है। तत्पश्चात् प्रति वर्ष दिसंबर में छँटाई की जाती है। जून में फल पकता है। प्रति वृक्ष ३० से ५० सेर तक फल प्राप्त होते हैं। स्तंभछिद्रक (स्टेम बोरर), आड़ू अंगमारी (पीच ब्लाइट) तथा पर्णपरिकुंचन (लीफ कर्ल) इसके लिये हानिकारक कीड़े तथा रोग हैं। इन रोगों से इस वृक्ष की रक्षा कीटनाशक द्रव्यों के छिड़काव (स्प्रे) द्वारा सुगमता से की जा सकती है। [ज० रा० सिं०]

आतानक विश्लेषण (टेंसर ऐनालिसिस) का मुख्य उद्देश्य ऐसे नियमों की रचना और अध्ययन है, जो साधारणतया सहचर (कोवैरिएंट) रहते हैं, अर्थात् यदि हम नियामकों की एक संहति से दूसरी में जायँ तो ये नियम ज्यों के त्यों बने रहते हैं। इसीलिये अवकल ज्यामिति के लिये यह विषय महत्वपूर्ण है।

इस विषय के पुराने विचारकों में गाउस, रीमान और क्रिस्टॉफ़ेल के नाम उल्लेखनीय हैं। किंतु इस विषय को व्यवस्थित रूप रिची और लेवी चिविता ने दिया। इन्होंने इस विषय का नाम बदलकर **निरपेक्ष कलन कलन** (ऐब्सोल्यूट डिफरेंशियल कैल्कुलस) कर दिया। इस विषय का प्रयोग अनुप्रयुक्त गणित की बहुत सी शाखाओं में होता है।

मान लीजिए, एक त्रिविस्तारी अवकाश (स्पेस) **अ**$_3$ है जिसके प्रत्येक बिंदु **पा** के नियामक तीन वास्तविक राशियों $\text{य}_1, \text{य}_2, \text{य}_3$ पर आश्रित हैं। मान लीजिए, **पा** के निकट ही **फा** एक दूसरा बिंदु है जिसके नियामक ($\text{य}_1+\text{ताय}_1, \text{य}_2+\text{ताय}_2, \text{य}_3+\text{ताय}_3$) हैं, तो इस अवकल कुलक (सेट ऑव डिफरेंशियल्स)

$$\text{ताय}_1, \quad \text{ताय}_2, \quad \text{ताय}_3$$

को एक सदिश (वेक्टर) कहते हैं; या यों कहिए कि बिंदुयुग्म **पा, फा** को एक सदिश कहते हैं।

मान लीजिए कि हम **य**, $\text{य}_1, \text{य}_2, \text{य}_3$ को एक दूसरी नियामक पद्धति $\text{य}_1', \text{य}_2', \text{य}_3'$ में परिवर्तित करते हैं, जो ऐसी है कि पहले नियामक दूसरे नियामकों के सतत फलन हैं। इसके अतिरिक्त अवकल गुणक

$$\frac{\text{तय}_1}{\text{तय}_1'}, \frac{\text{तय}_2}{\text{तय}_2'}, \frac{\text{तय}_3}{\text{तय}_3'}, \frac{\text{तय}_1}{\text{तय}_2'}, \frac{\text{तय}_2}{\text{तय}_2'},$$

भी सतत हैं (जहाँ त = θ) और जैकोबियन

$$\text{त}\,(\text{य}_1, \text{य}_2, \text{य}_3)$$

$$\text{त}\,(\text{य}_1', \text{य}_2', \text{य}_3')$$

परिमित है, पर शून्य नहीं है, तो हमारे परिवर्तनसूत्र इस प्रकार के होंगे:

$$\text{ताय}_1' = \frac{\text{तय}_1'}{\text{तय}_2}\text{ताय}_2$$

अब मान लीजिए, **का**^{1}, **का**^{2}, **का**^{3} तीन राशियाँ हैं, तो इनका रूपांतर इस प्रकार के सूत्रों से होगा:

$$\text{का}_1' = \frac{\text{तय}_1'}{\text{तय}_2}\text{का}^2\text{।}$$

तो इस राशि कुलक **का**^{1}, **का**^{2}, **का**^{3} को **पदवी** एक के **प्रतिचल आतानक** (कंट्रावेरिऐंट टेंसर ऑव रैंक वन) कहेंगे और राशियाँ **का**^{1}, **का**^{2}, **का**^{3} उक्त आतानक के ३ संघटक कहलाएँगी। साधारणतया आतानकों में उच्च प्रत्यय लगाए जाते हैं।

इसके अतिरिक्त, यदि $\text{का}_1, \text{का}_2, \text{का}_3$ तीन राशियाँ हों, जिनके परिवर्तनसूत्र इस प्रकार के हों:

$$\text{का}_2' = \frac{\text{तय}_1}{\text{तय}_2'}\text{का}_1,$$

तो उनके कुलक को **सहचर आतानक** (कोवेरिएँट टेंसर) कहते हैं। इन राशियों के लिये निम्नलिखित प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है।

पदवी १ के इन दोनों प्रकार के आतानकों को सदिश (वेक्टर) भी कहते हैं।

इसी प्रकार, यदि **स**^{3} राशियाँ $\text{का}_{\text{चछ}}$ हों, जिनका परिवर्तनसूत्र

$$\text{का}'_{\text{चछ}} = \left(\frac{\text{तय}_{\text{अ}}}{\text{तय}'_{\text{च}}}\right)\left(\frac{\text{तय}_{\text{इ}}}{\text{तय}'_{\text{छ}}}\right)\text{का}_{\text{अइ}}$$

हो तो वे भी एक सहचल का सृजन करती हैं और जो राशियाँ $\text{का}^{\text{चछ}}$ हों, जिनका परिवर्तनसूत्र

$$\text{का}'^{\text{छ}}_{\text{च}} = \left(\frac{\text{तय}_{\text{अ}}}{\text{तय}'_{\text{च}}}\right)\left(\frac{\text{तय}'_{\text{छ}}}{\text{तय}_{\text{इ}}}\right)\text{क}^{\text{इ}}_{\text{अ}}$$

हो, तो वह पदवी २ के एक प्रतिचल का सृजन करती हैं। स्पष्ट है कि हम इन परिभाषाओं का किसी भी पदवी तक विस्तार कर सकते हैं। पदवी ० के आतानक को अदिश भी कहते हैं। यह **य** का एकाकी फलन होता है, जो नियामकों के किसी भी परिवर्तन **फ**$'$=**फ** के लिये निश्चल (इन्वेरिऐंट) रहता है।

सं०ग्रं०—एल० पी० आइज़ेनहार्ट : कंटिन्युअस ग्रुप्स ऑव ट्रैंसफॉर्मेशंस (१९३३); ओ० वेब्लेन : इन्वेरिऐंट्स ऑव क्वाड्रैटिक डिफरेंशियल फ़ार्म्स (१९२७); ए० डी० माइकेल : मैट्रिक्स ऐंड टेंसर कैलक्युलस विद ऐप्लिकेशन्स टु मेकैनिक्स, इलैस्टिसिटी ऐंड एअरोनॉटिक्स (१९४६)। [ब्र० मो०]

आतिश, ख्वाजा हैदर अली

(१७७८–१८४७ ई०) ये दिल्ली के ख्वाजा अलीबख्श के पुत्र थे जो बाद में फैजाबाद चले आए थे। पिता के मर जाने के कारण आतिश ने ठीक से शिक्षा प्राप्त नहीं की। उस समय फैजाबाद अवध का सैनिक केंद्र था। आतिश सैनिकों के समीप रहकर तलवार चलाना सीख गए और एक नवाब के यहाँ नौकर हो गए। नवाब कवि भी थे इसलिये आतिश को फैजाबाद में ही कविताएँ लिखने की प्रेरणा मिली और जब १८१५ ई० के लगभग लखनऊ आए तो यहाँ का वातावरण ही कविताओं से भरा हुआ दिखाई दिया। आतिश यहाँ आकर मुसहफ़ी को अपनी कविताएँ दिखाने लगे और कविसंमेलनों में संमिलित होकर बड़े बड़े कवियों से टक्कर लेने लगे। कम पढ़े लिखे होने पर भी उनकी भाषा बड़ी सरस और भावपूर्ण होती थी। वह किसी राजदरबार से कोई संबंध नहीं रखते थे; बिल्कुल स्वतंत्र थे और सूफ़ी दृष्टि रखते थे। इसलिये उनकी कविता में बड़ी जान थी। उस समय लखनऊ में एक बड़े कवि नासिख भी थे जो केवल शब्दों के शुद्ध प्रयोग और अलंकारों से काम लेने को कविता जानते थे। उर्दू कविता का वह युग उनसे बहुत प्रभावित हुआ, आतिश भी इससे बच नहीं सके थे, परंतु उनके स्वतंत्र स्वभाव, तथा भावपूर्ण विचारों ने उनको बहुत ऊँचा कर दिया था और लखनऊ के रंग में रँगा हुआ होने पर भी वह भावपूर्ण कविताएँ लिखते थे। उन्होंने केवल गज़लें लिखी हैं और उन्हीं में अपने नैतिक और धार्मिक विचारों तथा भावों को प्रकट किया है।

उनके शिष्यों में पंडित दयाशंकर "नसीम" और "रिंद" बहुत प्रसिद्ध हुए। आतिश के केवल दो संग्रह "कुल्लियाते आतिश" के नाम से मिलते हैं।

सं०ग्रं०—मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' : आबे-हयात; मुसहफ़ी : तज़किरए-हिंदी; शेफ़्ता : गुलशने बेखार; अबुल लैस : लखनऊ का दबिस्ताने-शायरी। [सै० ए० हु०]

आतिशबाजी

उन युक्तियों का सामूहिक नाम है जिनसे अग्नि द्वारा प्रकाश, ध्वनि या धुएँ का अनुपम प्रदर्शन होता है। इनका उपयोग मनोरंजन के अतिरिक्त सेना तथा उद्योग में भी होता है। साधारण जलने में ईंधन को आवश्यक ऑक्सिजन हवा से मिलता है, परंतु आतिशबाजी में ईंधन के साथ कोई ऑक्सिजनप्रद पदार्थ मिला रहता है। फिर, ईंधन भी शीघ्र जलनेवाला होता है। इसी से अधिक ताप या प्रकाश या ध्वनि उत्पन्न होती है।

प्राचीन समय में ऑक्सिजन के लिये शोरे (पोटैसियम नाइट्रेट) का उपयोग किया जाता था, परंतु १७८८ में बरटलो ने पोटैसियम क्लोरेट का आविष्कार किया जो शोरे से अच्छा पड़ता है। लगभग १८६५ में और फिर १८९४ में क्रमानुसार मैगनीसियम और ऐल्युमिनियम का आविष्कार हुआ, जो जलने पर तीव्र प्रकाश उत्पन्न करते हैं। इनके उपयोग से आतिशबाजी ने बड़ी उन्नति की।

कुछ प्रकार की आतिशबाजी में उद्देश्य यह रहता है कि जलती हुई गैसें बड़े वेग से निकलें। इनमें बारूद का प्रयोग किया जाता है जो गंधक, काठकोयला और शोरे का महीन मिश्रण होता है। विशेष वेग के लिय इन पदार्थों को बहुत बारीक पीसकर मिलाया जाता है। महताबी आदि में उद्देश्य यह रहता है कि चटक प्रकाश हो। सफेद प्रकाश के लिये ऐंटिमनी या आरसेनिक के लवण रहते हैं, परंतु इस रंग की महताबियाँ कम बनाई जाती हैं। रंगीन महताबियों में पोटैसियम क्लोरेट के साथ विभिन्न धातुओं के लवणों का प्रयोग किया जाता है, जैसे लाल रंग के लिये स्ट्रांशियम का नाइट्रेट या अन्य लवण; हरे के लिये बेरियम का नाइट्रेट या अन्य लवण; पीले के लिये सोडियम कारबोनेट आदि; नीले के लिये ताँबे का कारबोनेट या अन्य लवण, जिसमें थोड़ा मरक्यूरस क्लोराइड मिला दिया जाता है। चमक के लिये मैगनीसियम या ऐल्युमिनियम का अत्यंत महीन चूर्ण मिलाया जाता है। बहुधा स्पिरिट में लाह (लाख) का घोल, या पानी में गोंद का घोल या तीसी (अलसी) का तेल मिलाकर अन्य सामग्री को बाँध दिया जाता है। अधिकांश रंगीन ज्वाला देनेवाली आतिशबाजी में क्लोरेट और रंग उत्पन्न करनेवाले पदार्थों के अतिरिक्त गंधक तथा कुछ साधारण ज्वलनशील पदार्थ भी रहते हैं, जैसे लाह, कड़ी चर्बी, खनिज

मोम, चीनी, इत्यादि। उदाहरणस्वरूप दो योग नीचे दिए जाते हैं—

लाल महताबी के लिये :

पोटैसियम परक्लोरेट	२	भाग
स्ट्रांशियम नाइट्रेट	६	भाग
गंधक	२	भाग
लाह	२	भाग

हरी महताबी के लिये :

पोटैसियम परक्लोरेट	६	भाग
बेरियम नाइट्रेट	३०	भाग
गंधक	३	भाग
लाह	२	भाग

आतिशबाजी के लिये खोल साधारणतः कागज का बनता है। मजबूत खोल के लिये कागज पर लेई या सरेस पोतकर उसे गोल डंडे पर लपेटा जाता है। मुँह सँकरा करने के लिये गीली अवस्था में ही एक ओर डोर कसकर बाँध दी जाती है। जिन खोलो को बारूद का बल नहीं सहन करना पडता उनको बिना लेई के ही लपेटते है। अंतिम परत पर जरा सी लेई लगा देते है। जो मसाला भरा जाता है उसे कूट कूटकर खूब कस दिया जाता है और अंत में पलीता (शीघ्र आग पकड़नेवाली डोर, जो पानी में गाढ़ी सनी बारूद में डुबाने और निकालकर सुखाने से बनती है) लगा दिया जाता है।

बाणों के लिये खूब पुष्ट खोल बनाया जाता है। जली गैसो के नीचे-मुंह जोर से निकलने के कारण ही बाण ऊपर चढ़ता है। इसलिय आवश्यक है कि बाण के भीतर बारूद जोर से जले। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये बाण में भरी बारूद के बीच में एक पोली शंक्वाकार जगह छोड़ दी जाती है जिससे बारूद का जलता हुआ क्षेत्रफल अधिक रहे। जलती गैसों के निकलने के लिये मिट्टी की टोंटी लगाई जाती है जिसमें खोल स्वयं न जलने लगे। बाण के माथे पर, जो सबसे अंत में जलता है, एक टोप लगा दिया जाता है, जिसमें रंगबिरंगी फुलझड़ियाँ रहती है।

फुलझड़ियाँ अलग भी बनती और बिकती है। इनमें अन्य मसालों के अतिरिक्त लोहे की रेतन रहती है। इस्पात की रेतन से फूल अधिक श्वेत होते है। काजल डालने से बड़े फूल बनते है। जस्ते तथा ऐल्यमिनियम का भी प्रयोग किया जाता है। एक नुसखा यह है :

पोटैसियम परक्लोरेट	३०	भाग
बेरियम नाइट्रेट	५	भाग
ऐल्युमिनियम	२२	भाग
लाह	३	भाग

चर्खी में बाँस का ऐसा ढाँचा रहता है जो अपनी धुरी पर नाच सके और इसकी परिधि पर आमने सामने बाण की तरह बारूद-भरी दो नलिकाएँ रहती है।

बाँस के ढाँचे पर बँधी महताबियों से सभी प्रकार के चित्र और अक्षर बनाए जा सकते हैं।

सं०ग्रं०—ए० सेंट एच० ब्रॉक : पायरोटेकनिक्स (१९२२)।

आत्बारा मिस्र की नील नदी की अंतिम सहायक नदी है जो अबिसीनिया पठार से निकलकर १,२६६ किलोमीटर बहने के पश्चात् नील में आकर मिलती है। स्वयं इसकी भी अनेक सहायक नदियाँ हैं जिनमें कुछ पर्याप्त बड़ी भी हैं। इन नदियों में जुलाई तथा अगस्त के महीनों में वर्षा के पानी से बहुत बाढ़ आ जाती है, परंतु अक्टूबर के पश्चात् इनका पानी बहुत कम हो जाता है। आत्बारा अपन साथ लगभग १,००,००,००० से १,५०,००,००० मेट्रिक टन रेत नील में लाकर गिराती है। [न० ला०]

आत्मकथा अपनी कहानी। आपबीती लिखना आसान नहीं है। कुछ लोगों का यह विचार है कि केवल उन्हीं की आत्मकथाएँ होनी चाहिए जिनका जीवन पर्याप्त घटनाबहुल रहा हो या महान् अथवा आदर्श हो। आत्मकथा के लिये आवश्यक गुण है (१) उत्तम स्मृति, (२) अपने प्रति तटस्थता, (३) स्पष्टवादिता, (४) अति आत्मसमर्थन अथवा अति संकोच, दोनों प्रकार की मानसिक स्थितियों से मुक्त होना, (५) अपने जीवन की घटनाओं को चुनते समय, कौन सी घटनाएँ सार्वजनिक महत्व की होंगी, इसका विवेक, अर्थात् कलात्मक दृष्टि और (६) आकर्षक निवेदनशैली। जीवन में ऐसी कई घटनाएँ होती हैं, और महान् व्यक्तियों के जीवन में तो वे और भी तीव्रता से अनुभव की जाती है, जो कथनीय होती हैं, जिनमें किसी प्रकार के रागद्वेष का अतिरेक होता है अथवा काम क्रोधादि वृत्तियों का निरंकुश प्रदर्शन होता है। उन्हें टालकर जो जीवनियाँ लिखी जाती हैं, वे बनावटी जान पड़ती है, उनमें सहजता का लोप हो जाता है। उन्हें पूरी तरह कहने का नैतिक साहस बहुत कम व्यक्तियों में होता है। क्योंकि तब तो एक ओर आत्मनिरीक्षण और आत्मविश्लेषण तथा दूसरी ओर आत्मप्रेम के बीच द्वंद्व पैदा होता है। इस कशमकश को संसार की कुछ महानतम आत्मकथाओं में बराबर उत्कटता से अनुभव किया गया और व्यक्त भी किया गया है। ये आत्मकथाएँ साहित्य की अभिराम रचनाएँ और कलाकृतियाँ बन गई हैं।

इसके विपरीत कई आत्मकथाएँ केवल घटनाओं की तालिका या बाह्य व्यावहारिक जीवन के नीरस विवरणों की सूची मात्र हो जाती हैं। उनमे बहुत कम ऐसे अंश पाए जाते है जिनमें पाठक भी उतना ही रसोद्बोधन अनुभव कर सकें। परंतु इस प्रकार के ग्रंथों का ऐतिहासिक मूल्य होना है। वे हमारी जानकारी तो बढ़ाती ही हैं। इब्नबतूता, युवानच्वाँग, अलबेरूनी, फ़ाहियान, निकोलाओ मानूची, निकितिन, नैनसिंग, तेनसिंग आदि के यात्रा या अभियानवर्णन इस प्रकार की आत्मकथाओं और संस्मरणों के उत्तम उदाहरण है। पत्रों और डायरियों के संग्रह भी इसी कोटि मे आते है। यद्यपि उनमे आत्मीयता अधिक होती है। गेटे ने इसीलिये अपनी जीवनी का नाम रखा था 'डिश्टुग उंड वाहहीट' (कविता और सत्य)। पेप्स ने अंग्रेजी में डायरियाँ बड़ी सुदर लिखीं।

विदेशी लेखकों की श्रेष्ठ आत्मकथाओं में एक साहित्यविधा आत्मस्वीकृति के साहित्य की होती है। इसी के अंतर्गत संत अगस्तिन (३५४–४३० ई०) के 'कन्फेशंस', रूसो के 'कन्फेशस' (उसकी मृत्यु के बाद १७८१–८८ में प्रकाशित), डी क्विन्सी की १८२१ में प्रकाशित 'एक अँग-रेज अफ़ीमची की आत्मकथा' (कन्फेशंस ऑव ऐन ओपियम ईटर) आदि आत्मकथाएँ आती है। अल्फ्रे दि मुसे की प्रसिद्ध फ्रेंच आत्मजीवनी, आस्कर वाइल्ड की 'डी प्रोफंडिस', लियो तोल्स्तोइ की आत्मकथा के रूप में लिखित डायरी, आंद्रे ज़ीद के जूर्नाल, एथिल मैनिन के 'कन्फेशंस ऐंड इंप्रेशंस' इसी कोटि में आते हैं। इनके तीन प्रकार संभव होते हैं : (१) ऐसी कथाएँ जो एक कमरे में इकट्ठा लोगों को कोई आदमी पूर्वसंस्मरणों के रूप में कहे; (२) ऐसी बातें कहना जो केवल मित्रों से एकांत में कही जा सकें; (३) ऐसी बातें जिन्हें मित्रों से भी कहने में लज्जा अनुभव हो। कुछ आत्मकथाएँ इसलिये मनोरंजक होती हैं कि उनके द्वारा किसी व्यक्ति के आत्मिक अनुभव प्रकट होते है, यथा जार्ज फाक्स क्वेकर या प्रिस क्रोपात्कन या कार्डिनल निवमैन या स्टीवेन स्केंडर की आत्मकथाएँ। कुछ आत्मकथाएँ इसलिये प्रसिद्ध होती हैं कि वे किसी प्रसिद्ध व्यक्ति की या उनसे संबंधितों की होती हैं, यथा बाबरनामा (१४८३–१५३०), हिटलर का 'मीन कांफ', मादमोज़ेल द रेमूसेत (नेपोलियन की प्रेयसी), चर्चिल, जार्ज सैंड, अन्ना पावलोवा, मेरी बाशकीर्तसेफ, बोदलेयर, सोमरसेट माम आदि के संस्मरण, डायरियाँ, नोटबुक इत्यादि।

यूरोप की प्राचीन आत्मकथाओं में प्रसिद्ध आत्मकथा रोमन विजेता जूलियस सीज़र की है। आधुनिक काल की रोचक आत्मकथाओं में जर्मन सम्राट् विलहेम कैसर की आत्मकथा है जिसके पहले अध्याय का शीर्षक है 'दस आइ डिसमिस बिस्मार्क' (मैंने बिस्मार्क को बर्खास्त कर दिया)।

हिंदी के प्राचीन साहित्य में आत्मकथात्मक सामग्री यत्र तत्र ही मिलती है। जैन कवि बनारसीदास की 'अर्धकथा' हिंदी की प्रथम क्रमबद्ध आत्मकथा मानी जाती है, यद्यपि यह पद्यात्मक है। भारतेंदु हरिश्चंद्र, स्वामी दयानंद, अंबिकादत्त व्यास, स्वामी श्रद्धानंद, महावीरप्रसाद द्विवेदी, गुलाबराय की आत्मकथाएँ इस धारा की प्रारंभिक और प्रयोगात्मक रचनाएँ मानी जा सकती हैं। संबद्ध रूप से लिखी गई हिंदी की आत्म-

कथाओं में श्यामसुंदर दास की 'मेरी आत्मकहानी' तथा राजेंद्रप्रसाद की 'आत्मकथा' प्रमुख हैं।

भारत के विशिष्ट महापुरुषों की प्रसिद्ध आत्मकथाओं में महात्मा गांधी की 'सत्य के प्रयोग', जो मूल रूप में गुजराती में लिखी गई थी तथा अंग्रेजी में लिखी गई जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी' उल्लेखनीय हैं। भारत की समस्त भाषाओं में आत्मचरित संबंधी साहित्य मिलता है, उदाहरणार्थ रवींद्रनाथ ठाकुर की बँगला में लिखी 'जीवनस्मृति', मराठी में सावरकर की 'माझी जन्मठेप', धोंडो केशव कर्वे की 'आत्मकथा', रमाबाई रानडे की 'आमच्या आयुष्यांतील काहीं आठवणी', धर्मानंद कोसंबी का 'निवेदन', गुजराती में काका कालेलकर की 'आतेराती दीवालो' और 'हिंडलगानुं प्रसाद' तथा क० मा० मुंशी की 'सीधी चढ़ान' और 'स्वप्रसिद्धि की खोज में', मलयालम में सरदार पणिक्कर की आत्मकथा, उर्दू में 'मौलाना आज़ाद की कहानी उनकी ज़बानी', बंगाल में कई क्रांतिकारियों की और सुभाषचंद्र बोस की आत्मजीवनियाँ पठनीय हैं। [प्र० मा०]

आत्मवाद

१—आत्मवाद क्या है? दार्शनिक विवेचन का उद्देश्य तत्व का ज्ञान प्राप्त करना है। सत्य ज्ञान में संदेह का अंश नहीं होता। पर क्या ऐसे ज्ञान की संभावना भी है? देकार्त ने व्यापक संदेह से आरंभ किया, परंतु शीघ्र ही उसे रुकना पड़ा। स्वयं संदेह के अस्तित्व में संदेह नहीं कर सका। संदेह चेतना है, इसलिये चेतना असंदिग्ध तथ्य है। चेतना में चेतन और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय, का संपर्क होता है। कुछ लोग कहते हैं कि ऐसा कहने में हम चेतना के दो पक्षों को स्वतंत्र द्रव्यों का पद दे देते हैं, और इसका हमें अधिकार नहीं। इसके विपरीत, द्रव्यवाद ज्ञान के साथ ज्ञाता और ज्ञेय को भी तत्व का पद देता है।

द्रव्यवादियों में ज्ञाता और ज्ञान विषय की स्थिति के संबंध में तीव्र मतभेद है। प्रकृतिवादियों के विचारानुसार यहाँ सत्ता केवल प्रकृति की है, चेतना और चेतन इसके विकास में प्रकट हो जाते हैं। आत्मवाद के अनुसार सारी सत्ता अभौतिक है, प्राकृत पदार्थ चेतनावस्थाएँ ही हैं। जो विचारक बाह्य जगत् की सत्ता को स्वीकार करते हैं, उनमें भी कुछ कहते हैं कि स्व-इतर स्व में प्रविष्ट नहीं हो सकता, ज्ञाता का ज्ञान उसका अपनी अवस्थाओं तक ही सीमित रहता है। दोनों दशाओं में चेतन की प्राथमिकता आत्मवाद की मौलिक धारणा है।

२—आत्मवाद और प्रकृतिवाद : दृष्टिकोणों का भेद—१—प्रकृतिवाद के लिय मौलिक सत्ता दृष्ट वस्तुओं की है, आत्मवाद दृष्ट के साथ, बल्कि इससे अधिक, अदृष्ट को महत्व देता है। 'चतना है', 'मैं हूँ'—यह तथ्य दृष्ट आकार नहीं रखते, परंतु चेतना और चेतन की सत्ता में संदेह नहीं हो सकता। इनके साथ ही 'सत्य' की सत्ता भी असंदिग्ध है। २—प्रकृतिवाद के लिये इंद्रियजन्य ज्ञान सत्य ज्ञान का नमूना है, अन्य सब ज्ञान इसी पर आधारित होते हैं। आत्मवाद बुद्धि को इंद्रियों से बहुत ऊँचा पद देता है। इंद्रियाँ तो प्रकटनों के क्षेत्र से परे देख नहीं सकतीं, सत्ता का ज्ञान बुद्धि की क्रिया है। ३—प्रकृतिवाद तथ्यों की दुनिया में रहता है, इसके लिये 'मूल्य' का कोई अस्तित्व नहीं। आत्मवाद 'मूल्य' को विशेष महत्व देता है। प्रकृतिवाद घटनाओं के रंग रूप की बात बताता है, आत्मवाद उनके मूल्य की जाँच करता है। ४—प्रकृतिवाद के अनुसार जो कुछ जगत् में हो रहा है, प्राकृत नियम के अनुसार हो रहा है, आत्मवाद रचना में 'प्रयोजन' को देखता है। यंत्रवाद प्रकृतिवाद का मान्य सिद्धांत है, आत्मवाद दृष्ट जगत् के समाधान के लिये आरंभ की ओर नहीं, अपितु इसके अंत की ओर देखता है। ५—प्रकृतिवाद के लिये मानव जीवन कालक्रम मात्र है, आत्मवाद के लिये जीवन का उद्देश्य कालक्रम में नहीं, अपितु इसके बाहर, इससे ऊपर है। जीवन की सफलता इसकी 'लंबाई और चौड़ाई' में ही नहीं, अपितु, इसकी 'गहराई' में भी है।

३—आत्मवाद के रूप—प्राचीन यूनान में पोर्मेनाइडीस ने पहले पहल दार्शनिक विवेचन में 'द्रव्य' और 'आभास', 'सत्' और 'असत्' के भेद में प्रवेश किया। इसके साथ ही बुद्धि और इंद्रियों के भेद ने भी महत्व प्राप्त किया। अफ़लातून ने इन भेदों की नींव पर अपने दर्शन का निर्माण किया। अफ़लातून से पहले, कुछ विचारक एकरस सत् में विश्वास करते थे, कुछ प्रवाह में ही सत्ता का रूप देखते थे। अफ़लातून ने इन दोनों विचारधाराओं को मिलाने का यत्न किया और कहा कि दृष्ट जगत् के पदार्थों की स्थिति तो आभास या छायामात्र है, वास्तविक सत् प्रत्ययों की दुनिया है। हम कोई निर्दोष सीधी रेखा नहीं खींच सकते, इसपर भी रेखागणित का अस्तित्व तो है ही। संसार में पूर्ण न्याय विद्यमान नहीं, इसपर भी नीति में न्याय के प्रत्यय पर विचार हो सकता है।

अफ़लातून ने अंतिम सत्ता को परलोक में रखा था, आधुनिक आत्मवादी इसे पृथ्वी पर ले आए। इनमें जार्ज बर्कले, फीख़टे और हेगल के नाम प्रसिद्ध हैं। बर्कले से पहले जान लाक ने प्रधान और अप्रधान गुणों में भेद किया था और अप्रधान गुणों को मान की स्थिति दी थी। बर्कले ने दोनों प्रकार के गुणों के भेद को मिटाकर प्रकृति के स्वतंत्र अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया। उसके अनुसार सारी सत्ता चेतन आत्माओं और उनके बोधों की है। इन बोधों में उपलब्ध परमात्मा की क्रिया का फल है। फीख़टे ने एक डग और भरा और कहा कि हम ही अपनी मानसिक क्रिया के लिये बाह्य जगत् की रचना कर लेते हैं। यह विचार 'मानवी आत्मवाद' (सब्जेक्टिव आईडियलिज़्म) कहलाता है। 'वस्तुगत आत्मवाद' (ऑब्जेक्टिव आईडियलिज़्म') के अनुसार हम जगत् को नहीं बनाते, बाह्य जगत् हमें बनाता है। सारी सत्ता व्यापक चेतना की है। चेतना का जितना भाग किसी विशेष क्षेत्र में अपने आपको सीमित कर लेता है, उसे जीवात्मा कहते हैं। आधुनिक आत्मवादियों में सबसे प्रमुख नाम हेगल का है। उसका सिद्धांत 'निरपेक्ष आत्मवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। हेगल के विचार में कुर्सी के प्रत्यय का अस्तित्व उतना ही असंदिग्ध है जितना कुर्सी का है; उसके लिये 'विचारयुक्त' और 'वास्तविक' अभिन्न हैं। स्पीनोज़ा की तरह हेगल ने भी एक ही मूल तत्व को माना, परंतु जहाँ स्पीनोज़ा ने इसे द्रव्य (सब्स्टेंस) के रूप में देखा, वहाँ हेगल ने इसे मन (सब्जैक्ट) के रूप में देखा। हेगल का निरपेक्ष चेतनारूप है। निरपेक्ष अपने आपको तीन मंजिलों में अभिव्यक्त करता है। पहली मंजिल में यह जड़ जगत् (नेचर) का रूप धारण करता है, दूसरी मंजिल में जीवन प्रकट होता है और अंत में, मनुष्य के रूप में, आत्मचेतन प्रकट होता है। इस प्रगति में 'विरोध' महत्वपूर्ण भाग लेता है। प्रत्येक वस्तु में उसके विरोध का अंश विद्यमान होता है, विरोधी अंशों का 'समन्वय' सारी उन्नति का तत्व है।

४—एकवाद और अनेकवाद—संख्या की दृष्टि से आत्मवाद एकवाद और अनेकवाद में विभक्त होता है। हेगल एकवादी है। लाइबनित्स के अनुसार सारी सत्ता चिद्विंदुओं से बनी है। प्रत्येक प्रकृत पदार्थ असंख्य चिद्विंदुओं का समूह है जिन्हें एक दूसरे का पता नहीं। मनुष्य में एक केंद्रीय चिद्विंदु भी विद्यमान है जिसे जीवात्मा कहते हैं। परमात्मा समग्र का केंद्रीय चिद्विंदु है।

'वैयक्तिक आत्मवाद' (पर्सनल आईडियलिज़्म) प्रत्येक जीव को नित्य और स्वाधीन तत्व का पद देता है।

५—कांट का अध्यात्मवाद—कांट ने तत्वज्ञान के स्थान में ज्ञानमीमांसा को अपने विवेचन का विषय बनाया। उससे पहले प्रमुख प्रश्न यह था—"अनुभव हमें क्या बताता है?" कांट ने पूछा—"अनुभव बनता कैसे है?" उसके विचार में अनुभव की सामग्री बाहर से प्राप्त होती है, सामग्री को विशेष आकृति देना मन की क्रिया है। अनुभव की बनावट में ही चेतन की प्राथमिकता प्रकट होती है।

तत्वज्ञान में कांट वस्तुवादी था, ज्ञानमीमांसा में अध्यात्मवादी था।

सं०ग्रं०—लेटो : संवाद; बर्कले : मानव ज्ञान के नियम,; हेगल आत्मा का तत्वज्ञान। [दी० चं०]

आत्महत्या

आत्महत्या का अर्थ जान बूझकर किया गया आत्मघात होता है। वर्तमान युग में यह एक गर्हणीय कार्य समझा जाता है, परंतु प्राचीन काल में ऐसा नहीं था; बल्कि यह निंदनीय की अपेक्षा संमान्य कार्य समझा जाता था। हमारे देश की सतीप्रथा तथा युद्धकालीन जौहर इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। मोक्ष आदि धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर भी लोग आत्महत्या करते थे।

आत्महत्या के लिये अनेक उपायों का प्रयोग किया जाता है जिनमें मुख्य ये हैं : फाँसी लगाना, डूबना, गला काट डालना, तेजाब आदि द्रव्यों का प्रयोग, विषपान तथा गोली मार लेना। उपाय का प्रयोग व्यक्ति की निजी स्थिति तथा साधन की सुलभता के अनुसार किया जाता है।

विभिन्न देशों में तथा स्त्री पुरुषों द्वारा अपनाए जानेवाले आत्महत्या के विविध साधनों में प्रचुर मात्रा में अंतर पाया जाता है। उदाहरणार्थ, भारत में डूबकर तथा इंग्लैंड में फाँसी लगाकर की जानेवाली आत्महत्याओं की संख्या सबसे अधिक होती है। उसी प्रकार भारत में स्त्रियाँ, सात में छः, डूबकर आत्महत्या का मार्ग अपनाती हैं जब कि पुरुषों में डूबने तथा फाँसी लगाने की संख्या प्रायः समान है।

जीवन में रुचि का अभाव, पारस्परिक विद्वेष, गृहकलह, निराश्रय, शारीरिक या मानसिक उत्पीडन तथा आर्थिक संकट आत्महत्या के प्रमुख कारण होते हैं। स्त्रियों में आत्महत्या का कारण अधिकांश रूप में द्वेष या कलह पाया जाता है।

आत्महत्या का प्रयत्न—भारतीय दंडविधान की धारा ३०९ के अंतर्गत आत्महत्या का प्रयत्न दंडनीय अपराध है जिसको तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—(१) घोर मानसिक या शारीरिक यंत्रणा की स्थिति में आत्महत्या का प्रयत्न, (२) बिना किसी अभिप्राय या उद्देश्य के एकाएक भावावेश में किया गया प्रयत्न तथा निश्चित भावना से विषपान द्वारा आत्महत्या का प्रयत्न। अंतिम प्रयत्न विशेष रूप से दंडनीय है। [श्री० अ०]

आत्मा स्वरूप ही आत्मा है। भारतीय दार्शनिकों में चार्वाक अथवा लोकायत संप्रदाय देह को ही आत्मा समझते हैं, अर्थात् भौतिक देह के अतिरिक्त आत्मा नामक किसी पृथक् पदार्थ की सत्ता वे नहीं मानते। इस संप्रदाय में बृहस्पतिप्रणीत एक प्राचीन सूत्रग्रंथ था, जिसके विभिन्न सूत्रों का उद्धरण अति प्राचीन विभिन्न सांप्रदायिक दार्शनिक ग्रंथों में मिलता है। उसमें आत्मा के विषय में सूत्र है—"चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः", अर्थात् चैतन्यविशिष्ट शरीर ही आत्मा है। उसमें यह भी लिखा है कि चतन्य या विज्ञान मदशक्तिवत् पृथ्वी आदि भूतों के संघर्ष से उद्भूत होता है। इस मत के अनुसार स्थूल देह की निवृत्ति, अर्थात् मृत्यु ही 'अपवर्ग' नाम से प्रसिद्ध है। चार्वाक संप्रदाय के अनुरूप भिन्न भिन्न दार्शनिक संप्रदाय थे, जिनका मत या सिद्धांत बृहस्पति के सिद्धांत के अनुरूप था। ये भी लोकायत संप्रदाय के अंतर्गत थे। इनमें से किसी के मत के अनुसार इंद्रिय ही आत्मा है, किसी के मत के अनुसार प्राण आत्मा है और किसी के मत में मन आत्मा है। इन मतों के अनुसार आत्मा अनित्य अर्थात् उत्पत्तिविनाशशील पदार्थ है।

न्यायवैशेषिक मत के अनुसार आत्मा नित्य पदार्थ है और देह, इंद्रिय तथा मन से पृथक् है। ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सुखदुःख, धर्माधर्म और भावनाख्य संस्कार आत्मा के विशेष गुण हैं। इस मत में आत्मा नित्य और विभु-द्रव्य-विशेष है। मन नित्य और अणु-द्रव्य-विशेष है। आत्माएँ बहुत हैं और मन भी बहुत हैं। प्रत्येक आत्मा के साथ निज-निज पृथक् मनों का अनादिकालीन 'अजसंयोग' नाम का संबंध है। प्रत्येक आत्मा में और प्रत्येक मन में विशेष (वैशेषिक मतानुसार) है। यह विशेष ही इनका परस्पर व्यावर्तक धर्म है। विलक्षण आत्ममनः-संयोग से ज्ञानादि क्रिया का उद्भव होता है। इसके मूल में है मन की क्रिया। उसके भी मूल में धर्माधर्मात्मक अदृष्ट का व्यापार है। आत्मज्ञान के उदय से धर्माधर्म के विनष्ट हो जाने पर विलक्षण आत्ममनः-संयोग होने नहीं पाता। हाँ, अनादि संयोग रह जाता है। उस समय आत्मा मुक्त हो जाती है एवं उसमें ज्ञानादि विशेष गुणों का आत्यंतिक उपरम हो जाता है। आपात दृष्टि से यह स्थिति शिलाशकलवत् प्रतीत होती है, परंतु वास्तव में ऐसा है नहीं। इस सिद्धांत के अनुसार आत्मा सत् मात्र है, अनित्य नहीं है। शून्यवत् प्रतीत होने पर भी यह शून्य नहीं है।

सांख्य मत के अनुसार आत्मा या पुरुष नित्य चित्स्वरूप द्रष्टा या साक्षिमात्र है। वह अपरिणामी या कूटस्थ है। परंतु प्रकृति त्रिगुणात्मिका और नित्य परिणामशीला है। प्रकृति में सदृश परिणाम निरंतर चल रहा है। सृष्टिकाल में गुणवैषम्य के कारण विसदृश परिणाम भी चलता है। आत्मा अनादिकाल से अविवेकवश प्रकृति के जाल में फँसी है। स्वयं गुणत्रय से स्वरूपतः पृथक् होने पर भी अपने को पृथक् नहीं समझती। इस अविवेक का नाम है अज्ञान।

विवेकख्याति होने पर इस अज्ञान की निवृत्ति होती है। संप्रज्ञात समाधियों में अंतिम अस्मिता नाम की जो समाधि है वही ऐश्वर्य की अवस्था है। इसके पश्चात् विवेकख्याति के साथ साथ क्रमशः निरोध-भूमि में प्रवेश होता है। विवेकख्याति पूर्ण होने पर पुरुष या आत्मा स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है और सत्त्व अव्यक्त या प्रलीन होता है। सत्त्व प्रलीन न होकर पुरुष के बराबर शुद्धि लाभ भी कर सकता है, परंतु यह वैकल्पिक स्थिति है। साधारण जीवों के लिये यह स्थिति नहीं है। लौकिक व्यवहार में आत्मा अस्मितामात्र रूप है, परंतु वस्तुतः आत्मस्वरूप में अस्मिता नहीं है। आत्मा विशुद्ध चिन्मात्र है। देश, काल, आकार आदि से इसका परिच्छेद नहीं होता।

मीमांसा मतानुसार आत्मा अहंप्रतीति का विषय है और यह सुख-दुःख उपाधियों से विरहितस्वरूप नित्य वस्तु है। किसी किसी वेदांत-प्रस्थान में प्राण ही आत्मा कहा गया है। अभाव ब्रह्मवादी 'असदेव इदमग्र आसीद्', इस प्रकरण के अनुसार आत्मा को असत्स्वरूप समझते हैं। यह एक प्रकार से देखा जाय तो शून्य भूमि की बात है। पांचरात्रगण जो कुछ कहते हैं उससे किसी किसी का मत है कि पांचरात्र के अनुसार आत्मा अव्यक्त तत्व है, पराप्रकृति ही वासुदेव है, जीवसमुदाय उनके स्फुलिंगवत् कण हैं। पराप्रकृति का परिणाम स्वीकृत होने के कारण यह मत किसी अंश में अव्यक्त का ही प्रतिपादक मालूम होता है। किसी किसी वेदांतविद् विद्वान् के अनुसार 'सदेव इदमग्र आसीत्', इस श्रौत वचन के अनुसार आत्मा सत् शब्दवाच्य है। वैयाकरण लोग आत्मा को पश्यंती-रूप शब्दब्रह्म मानते हैं। षोडश कलात्मक पुरुष में यह पश्यंती अमृत-कला या षोडशीकला कही जाती है। उसका स्वरूपसाक्षात्कार होने पर ही अधिकार की निवृत्ति होती है। विज्ञानवादी बौद्ध मत से क्षणिक विज्ञान सन्तान ही आत्मा है। बौद्ध मत नैरात्म्यप्रतिपादक होने के कारण उसमें उपचार से चित्त को ही आत्मा कहा जाता है। अनादि काल से निर्वाणकालपर्यंत स्थायी एक प्रवाह में पड़ी हुई विज्ञान की धारा ही वैभाषिक दृष्टि से आत्मपदवाच्य है। योगाचार मत में यह चित्त अथवा आत्मा आलय-विज्ञानात्मक है।

वैभाषिक मत में चित्त या विज्ञान अहंकार का आश्रय होने से आत्मपद-वाच्य है। विज्ञानस्कंध का तात्पर्य है प्रवाहपतित विज्ञानों की समष्टि। चाक्षुष आदि पाँच प्रकार तथा मानस अर्थात् प्रात्यक्षिक निर्विकल्प विज्ञान की धारा चित्त या आत्मा के नाम से प्रथित है। स्फुटार्था में है—'अहंकारसंनिश्रय आत्मा इति आत्मवादिनः संकल्पयंति। चित्तमहंकार-निश्रय आत्मेति उपचर्यते।'

तंत्र मत में आत्मा विश्वोत्तीर्ण प्रकाशात्मक है। किसी किसी आम्नाय के अनुसार (कुलाम्नाय) आत्मा विश्वमय है। त्रिकादि दार्शनिक दृष्टि-कोण के अनुसार आत्मा विश्वोत्तीर्ण होकर भी विश्वमय है। वे लोग कहते हैं कि एक ही चिदात्मरूपी परमेश्वर के स्वातंत्र्य से भिन्न भिन्न दार्श-निक भूमियाँ अवभासित हुई हैं। भूमिगत वचित्र्य के मूल में स्वातंत्र्य के प्रच्छादन तथा उन्मीलन का तारतम्य है। वस्तुतः सर्वत्र आत्मा की व्याप्ति अखंडित ही है। जिन लोगों की दृष्टि परिच्छिन्न है वे परमात्मा की इच्छा से ही तत्तदंश में अभिमानविशिष्ट होते हैं। जब तक पर-शक्तिपात या पूर्ण अनुग्रह न हो तब तक महाव्याप्ति नहीं होती और अखंडताबोध भी नहीं आता।

शांकर वेदांत के दृष्टिकोण से एकजीववाद तथा नानाजीववाद दोनों का ही विवरण मिलता है। एकजीववाद के अनुसार अविद्याशबल ब्रह्म ही जीव है। यह जीव सब शरीरों में एक ही है, तथापि एक व्यक्ति के अनुभव के विषय में दूसरे व्यक्ति का अनुसंधान नहीं होता। इसका कारण है अविद्या का वैचित्र्य। 'एक एव हि भूतात्मा' इत्यादि वचन एकजीववाद

में प्रमाण माने जाते हैं। एकजीववाद दृष्टि सृष्टिवाद नाम से भी परिचित है। प्रकाशानंद का वेदांतसिद्धांतमुक्तावली एकजीववाद का एक उत्तम प्रकरण ग्रंथ है। नानाजीववाद की दृष्टि से जीव अंतःकरणावच्छिन्न चैतन्य माना जाता है। वेदांतपरिभाषा में नानाजीववाद का ही प्रतिपादन हुआ है।

यादवप्रकाश के अनुसार जीवात्मा ब्रह्म का अंश है। ब्रह्म सगुण है और प्रपंच सत्य है। परंतु भास्कर के मतानुसार सोपाधिक ब्रह्मखंड ही जीव है। इस मत में भी ब्रह्म सगुण तथा प्रपंच सत्य है। भास्कर के मतानुसार जीव और ब्रह्म स्वभावतः अभिन्न हैं। परंतु दोनों में देव-मनुष्यादिकृत भेद औपाधिक है। अचित तथा ब्रह्म का भेद स्वाभाविक है। उनमें जो अभेद है वह भी स्वाभाविक है। यादव के मत में जीव और ब्रह्म में भेदाभेद स्वाभाविक है, क्योंकि मुक्ति में भेद रहता है और 'तत्वमसि,श्रुति के अनुसार अभेद तो सिद्ध ही है।

श्रीवैष्णव संप्रदाय ने इन दोनों मतों का खंडन किया है। भास्कर मत में उपाधि और ब्रह्म को छोड़कर अन्य वस्तु न रहने से ब्रह्म में उपाधिसंसर्गनिमित्तक जितने औपाधिक दोष होते हैं उनमें से किसी के भी निवारण का उपाय नहीं है। इसीलिये श्रुतिप्रसिद्ध ब्रह्म के अपहत पाप्मत्वादि विशेषण व्यर्थ होते हैं। यादव के मतानुसार जीव और ब्रह्म के भेद के तुल्य अभेद भी माना जाता है। इसी से ब्रह्म को ही स्वरूपतः देवता, मनुष्य, तिर्यक्, स्थावर आदि भेदों से अवस्थित होने के कारण जीव मानना पड़ता है। इसी से जीवगत सर्व दोष ब्रह्म में आ पड़ते हैं। रामानुजीयों का अपना सिद्धांत यह है कि जीव प्रत्यक् चेतन आत्मा कर्ता इत्यादि है। ईश्वर भी ठीक उसी प्रकार का है। प्रत्यक् शब्द का यह तात्पर्य है कि आत्मा और ईश्वर दोनों ही अपने आप भासमान हैं। चेतन शब्द का यह तात्पर्य है कि यह ज्ञान का आश्रय है अर्थात् यह धर्मी है, इसमें धर्मभूत ज्ञान आश्रित रहता है। 'आत्मा' शब्द से समझा जाता है कि यह शरीर प्रतिसंबंधी है। कर्ता शब्द का तात्पर्य है—संकल्प का आश्रय। इस दृष्टि से जीवात्मा तथा परमात्मा में भेद नहीं है। परंतु जीवात्मा चेतन होने पर भी अणु है और ईश्वर महान् है। जीव चेतन होने पर भी ईश्वर की स्वेच्छा के अधीन अर्थात् नियोज्य है, परंतु ईश्वर नियोक्ता है। जीव आधेय या आश्रित है, परंतु ईश्वर आश्रय है। जीव विधेय या नियम्य है, परंतु ईश्वर नियामक है। रामानुज के अनुसार आत्मा बद्ध, मुक्त और नित्य, तीन प्रकार का है।

आर्हत मत में आत्मा जीवतत्व का ही नाम है। जीव का स्वभाव पाँच प्रकार का है—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। प्रत्येक में अवांतर भेद हैं। [गो० क०]

आदत (स्वभाव)

मनुष्य की अर्जित प्रवृत्ति पशुओं में भी विभिन्न आदतें पाई जाती हैं। मनुष्य की कुछ आदतें (जैसे मादक वस्तुओं का सेवन) ऐसी हो सकती हैं जो पूर्वानुभव की प्राप्ति के लिये उसे आतुर बना सकती हैं। आदत मनुष्य के मानसिक संस्कार का रूप ले सकती है। आदत का बनाना व्यक्ति के स्वभाव पर निर्भर होता है। मेरुदंड के वाहक तंतुओं में एक संबंध स्थापित हो जाने से आदत पड़ती है। आदत चेतन प्राणी की स्वेच्छा का फल होती है। प्रयोजनवाद और मनोविश्लेषणवाद के अनुसार आदत रुचि के आधार पर बनती है। आदत की विलक्षणताएँ हैं एकरूपता, सुगमता, रोचकता और ध्यानस्वातंत्र्य।

आदत के आधार पर हमारे बहुत से कार्य चलते हैं। आदतों का दास न होकर हमें उनका स्वामी होना चाहिए। संकल्प की दृढ़ता, कार्यशीलता, संलग्नता तथा अभ्यास से आदत डाली जा सकती है। मारने पीटने से आदतें और दृढ़ हो जाती हैं। बुरी आदतों को छुड़ाने के लिये उनसे संबद्ध विकृत संवेग को नष्ट करके भावनाग्रंथियों को खोलना आवश्यक है। [स० प्र० चौ०]

आदम

बाइबिल के प्रथम पृष्ठों पर (दे० उत्पत्ति ग्रंथ) कहा गया है कि ईश्वर ने प्रथम मनुष्य आदम को अपना प्रतिरूप बनाया था। इब्रानी भाषा में 'आदामा' का अर्थ है—लाल मिट्टी में बना हुआ। मनुष्य का शरीर मिट्टी से बनता है और अंत में मिट्टी में ही मिल जाता है, अतः प्रथम मनुष्य का नाम आदम ही रखा गया। आदम की सृष्टि कब, कहाँ और कैसे हुई इसके विषय में बाइबिल कोई निश्चित सूचना नहीं देती। आधुनिक विज्ञान इसके संबंध में निरंतर नई धारणाओं का प्रतिपादन करता रहता है। आदम के पूर्व उपमनुष्य या अर्ध मनुष्य थे अथवा नहीं, इसके संबंध में भी बाइबिल में कोई लेख नहीं मिलता। इतना ही ज्ञात होता है कि आदम की आत्मा किसी भौतिक तत्व से नहीं बनी और आजकल जितने भी मनुष्य पृथ्वी पर हैं वे सबके सब आदम केवं शज हैं। प्राचीन मध्यपूर्वी शैली के अनुसार बाइबिल सृष्टि के वर्णन में प्रतीकों का सहारा लेती है। उन प्रतीकों को अक्षरशः समझने से भ्रांति उत्पन्न होगी। बाइबिल का दृष्टिकोण वैज्ञानिक न होकर धार्मिक है। आदम ने ईश्वर के आदेश का उल्लंघन किया और ईश्वर की मित्रता खो बैठा। प्रतीकात्मक भाषा में इसके विषय में कहा गया है—आदम ने वर्जित फल खाया और इसके फलस्वरूप उसे अदन की वाटिका से निर्वासित किया गया (दे० आदिपाप)। ईसा ने मनुष्य और ईश्वर की मित्रता का पुनरुद्धार किया, अतः बाइबिल में ईसा को नवीन अथवा द्वितीय आदम कहा गया है।

सं०ग्रं०—कैथोलिक कमेंटरी ऑव होली स्क्रिप्चर, लंडन, १९५३; ब्रूस वाटर : ए पाथ थ्रू जेनेसिस, लंडन, १९५५। [का० बु०]

आदम्स पीक

(स्थिति : ६°५५′ उ०, ८०° ३०′ पू०) कोलंबो से ४५ मील पूर्व लंका द्वीप का द्वितीय सर्वोच्च पर्वतशिखर है। प्रस्तुत शंक्वाकार शिखर समुद्रतल से ७,३६० फुट ऊँचा है। शिखरतल पर एक पदचिह्न अंकित है जिसे हिंदू, बौद्ध एवं मुसलमान अपने अपने इष्ट देवताओं—शिव, बुद्ध, आदम—का पुनीत पदचिह्न मानकर पूजते हैं। उक्त पुण्यस्थली बौद्धों की देखरेख में है। इस पर्वत का दृश्य भी अत्यंत मनोहर है। [का० ना० सिं०]

आदम्स ब्रिज

लंका के मन्नार द्वीप तथा भारतीय तट के रामेश्वर द्वीप के मध्य दक्षिण-पश्चिम में मन्नार की खाड़ी और उत्तर-पूर्व में पाक के मुहाने से जुड़ी हुई लगभग ३० मील लंबी बालुकाराशि है जिसे पौराणिक मर्यादा पुरुषोत्तम राम का सेतुबाँध भी कहते हैं। इसका कुछ भाग सर्वदा सूखा रहता है और बढ़े हुए जल में भी इस जल की गहराई तीन चार फुट से अधिक नहीं रहती। अतः समुद्री यान इस रास्ते न आकर लंका के दक्षिण से घूमकर जाते हैं। भूगर्भिक प्रमाणों के अनुसार उक्त खंड एक स्थलडमरुमध्य के द्वारा जुड़ा हुआ था, परंतु १८४० की प्रचंड आँधी से असंबद्ध हो गया। भूवैज्ञानिक खोजों के अनुसार यहाँ प्रवालीय कृमियाँ कालांतरिक भूतलोन्नयन के कारण विनष्ट हो गई और अब प्रवालशिलाओं के रूप में विद्यमान हैं। १८३८ में इसे समुद्रीय परिवहन के योग्य बनाने के लिये खोदाई आरंभ की गई, परंतु जहाजों के काम का यह न बन सका। अब भारतीय सरकार तदर्थ सक्रिय है।

रामायण के अनुसार अयोध्या के निर्वासित राजकुमार श्री रामचंद्र जी ने अपनी पत्नी सीता को प्राप्त करने के लिये लंकाधिपति रावण पर आक्रमणार्थ यह सेतु बँधवाया था, जिसके अवशेष इस बालुकाराशि के रूप में विद्यमान हैं। सुप्रसिद्ध रामेश्वरम् मंदिर राम के विजय-अभियान का स्मारक है। [का० ना० सिं०]

आदर्शवाद

१. प्रत्यय और आदर्श—कुछ विचारकों के अनुसार मनुष्य और अन्य प्राणियों में प्रमुख भेद यह है कि मनुष्य प्रत्ययों का प्रयोग कर सकता है और अन्य प्राणियों में यह क्षमता विद्यमान नहीं। कुत्ता दो मनुष्यों को देखता है, परंतु २ को उसने कभी नहीं देखा। प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं—वैज्ञानिक और नैतिक, संख्या, गुण, मात्रा आदि। वैज्ञानिक प्रत्ययों का अस्तित्व तो असंदिग्ध है, परंतु नैतिक प्रत्ययों का अस्तित्व विवाद का विषय बना रहा है। हम कहते हैं—'आज मौसम बहुत अच्छा है।' यहाँ हम अच्छेपन का वर्णन करते हैं और इसके साथ अच्छाई के अधिक न्यून होने की ओर संकेत करते हैं। इसी प्रकार का भेद कर्मों के संबंध में भी किया जाता है। नैतिक प्रत्यय को आदर्श भी कहते हैं। आदर्श एक ऐसी स्थिति है, जो (१) वर्तमान में विद्यमान नहीं, (२) वर्तमान स्थिति की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् है, (३) अनुकरण करने के योग्य है और (४) वास्तविक स्थिति का मूल्य जाँचने के लिये मापक का काम देती

है। आदर्श के प्रत्यय में मूल्य का प्रत्यय निहित है। मूल्य के अस्तित्व की बाबत हम क्या कह सकते हैं ?

कुछ लोग मूल्य को मानव कल्पना का पद ही देते हैं। जो वस्तु किसी कारण से हमें आकर्षित करती है, वह हमारी दृष्टि में मूल्यवान् या भद्र है। इसके विपरीत अफ़लातून के विचार में प्रत्यय या आदर्श ही वास्तविक अस्तित्व रखते हैं, दृष्ट वस्तुओं का अस्तित्व तो छाया मात्र है। एक तीसरे मत के अनुसार, जिसका प्रतिनिधित्व अरस्तू करता है, आदर्श वास्तविकता का आरंभ नहीं, अपितु 'अंत' है। 'नीति' के आरंभ में ही वह कहता है कि सारी वस्तुएँ आदर्श की ओर चल रही हैं।

मूल्यों में उच्च और निम्न का भेद होता है। जब हम कहते हैं कि क ख से उत्तम है, तब हमारा आशय यही होता है कि सर्वोत्तम से ख की अपेक्षा क का अंतर थोड़ा है। मूल्य की तुलना का आधार सर्वोत्तम है। इसे निःश्रेयस कहते हैं। प्राचीन यूनान और भारत के लिये निःश्रेयस या सर्वश्रेष्ठ मूल्य के स्वरूप को समझना ही नीति में प्रमुख प्रश्न था।

२. निःश्रेयम का स्वरूप--निःश्रेयस का सर्वोच्च आदर्श के स्वरूप के संबंध में सभी इससे सहमत हैं कि यह चेतना से सबद्ध है, परंतु ज्योंही हम जानना चाहते हैं कि चेतना में कौन सा अंश साध्यमूल्य है, त्योंही मतभेद प्रस्तुत हो जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि सुख का उपभोग ऐसा मूल्य है। कुछ ज्ञान, बुद्धिमत्ता, प्रेम या शिवसंकल्प को यह पद देते हैं। कुछ इस विकल्प में एकवाद को छोड़कर अनेकवाद की शरण लेते हैं और कहते हैं कि एक से अधिक वस्तुएँ साध्यमूल्य हैं। किसी वस्तु के साध्यमूल्य होने या न होने का निर्णय करने के लिये डाक्टर मूर ने निम्नलिखित सुझाव दिया है : "कल्पना करो कि दो विकल्पों में पूर्ण समानता है, सिवाय इस भेद के कि एक विशेष वस्तु एक विप्लव में विद्यमान है और दूसरे में नहीं या एक में दूसरे की अपेक्षा अधिक मात्रा में विद्यमान है। इन दोनों विप्लवों में तुम्हारी बुद्धि किसके अस्तित्व को अधिक उपयुक्त समझती है ? जो वस्तु ऐसी स्थिति में एक विप्लव को दूसरे से अधिक उपयुक्त बनाती है, वह साध्यमूल्य है।"

३. आदर्शवाद की मान्य धारणाएँ--मूल्यों का अस्तित्व, उनमें श्रेष्ठता का भेद और सर्वश्रेष्ठ मूल्य का अस्तित्व आदर्शवाद की मौलिक धारणा है। इससे संबद्ध कुछ अन्य धारणाएँ भी आदर्शवादियों के लिये मान्य हैं। इनमें से हम यहाँ तीन पर विचार करेंगे : (१) सामान्य का पद विशेष से ऊँचा है। प्रत्येक बुद्धिवंत बुद्धिवंत होने के नाते भद्र में भाग लेने का अधिकारी है। (२) आध्यात्मिक भद्र का मूल्य प्राकृतिक भद्र से अधिक है। (३) बुद्धिवंत प्राणी (मनुष्य) में भद्र को सिद्ध करने की क्षमता है। मनुष्य स्वाधीन कर्ता है।

इन तीनों धारणाओं पर तनिक विचार की आवश्यकता है।

(१) स्वार्थ और सर्वार्थ--सामान्य और विशेष का भेद स्वार्थवाद और सर्वार्थवाद के विवाद में प्रकट होता है। भोगवाद (सुखवाद) ने स्वार्थ से आरंभ किया, परंतु शीघ्र ही इसके ध्येय में सर्वार्थ ने स्थान प्राप्त कर लिया। मनुष्य का अंतिम उद्देश्य अधिक से अधिक संख्या का अधिक से अधिक उपभोग है। दूसरी ओर कांट ने भी कहा कि निरपेक्ष आदेश की दृष्टि में सारे मनुष्य एक समान साध्य हैं, कोई मनुष्य भी साधन मात्र नहीं। मृत्यु की तरह नैतिक जीवन सभी भेदों को मिटा देता है। कोई मनुष्य कर्तव्य से ऊपर नहीं, कोई अधिकारों से वंचित नहीं।

(२) आध्यात्मिक और प्राकृतिक मूल्य--इस विषय में कांट का कथन प्रसिद्ध है : 'जगत् में और इसके परे भी हम शिवसंकल्प के अतिरिक्त किसी वस्तु का भी चिंतन नहीं कर सकते, जो बिना किसी शर्त के शुभ या भद्र हो।' जान स्टुअर्ट मिल जैसे सुखवादी ने भी कहा, तृप्त सुअर से अतृप्त सुकरात होना उत्तम है। मिल ने यह नहीं देखा कि इस स्वीकृति में वह अपने सिद्धांत से हटकर आदर्शवाद का समर्थन कर रहे हैं। सुकरात में ऐसा आध्यात्मिक अंश है जो सुअर में विद्यमान नहीं।

टामस हिल ग्रीन ने विस्तार से यह बताने का यत्न किया है कि आधुनिक नैतिक भावना प्राचीन यूनान की भावना से इन दो बातों में बहुत आगे बढ़ी है--मनुष्य और मनुष्य में भेद कम हो गया है, और जीवन में आध्यात्मिक पक्ष अग्रसर हो रहा है।

(३) नैतिक स्वाधीनता--कांट के विचार में मानव प्रकृति में प्रमुख अंश 'नैतिक भावना' का है, वह अनुभव करता है कि कर्तव्यपालन की माँग शेष सभी माँगों से अधिक अधिकार रखती है, नैतिक आदेश 'निरपेक्ष आदेश' है। इस स्वीकृति के साथ नतिक स्वाधीनता की स्वीकृति भी अनिवार्य हो जाती है। 'तुम्हे करना चाहिए, इसलिये तुम कर सकते हो।' योग्यता के अभाव में उत्तरदायित्व का प्रश्न उठ ही नही सकता।

४. श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम--यहाँ एक कठिन स्थिति प्रस्तुत हो जाती है : नैतिक आदर्श श्रेष्ठतम की सिद्धि है या उसकी ओर चलते जाना है ? जिस अवस्था को हम श्रेष्ठतम समझते हैं, उसे प्राप्त करने पर उसे श्रेष्ठतम ही पाते हैं। जहाँ कहीं भी हम पहुँचे, त्रुटि और अपूर्णता बनी रहती है। स्वयं कांट ने कहा है कि हमारा अंतिम उद्देश्य पूर्णता है, और इसकी सिद्धि के लिये अनंत काल की आवश्यकता है। कुछ विचारक तो कहते हैं कि अपूर्णता का कुछ अंश रहना ही चाहिए। सोर्टो अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'नैतिक मूल्य' में कहता है : 'कल्पना करो कि सारे मूल्यो की सिद्धि हो गई है। ऐसा होने पर नीति का क्या बनेगा ? आगे बढ़ने के लिये कोई आदर्श रहेगा ही नहीं। सफलता सारे प्रयत्न का अंत कर देगी और इस तरह सिद्धिप्राप्त नैतिक आदर्श नैतिक जीवन को पूर्ण करने में समाप्त कर देगा। इस कठिनाई के कारण ब्रैडले ने कहा कि नैतिक जीवन में आंतरिक विरोध है : सारे नैतिक प्रयत्न का अंत इसकी अपनी हत्या है।

सं०ग्रं०--प्लेटो : रिपब्लिक; अरस्तू : एथिक्स; कांट : मेटाफिज़िक्स ऑव एथिक्स; मूर : एथिक्स। [दी० चं०]

आदिग्रंथ सिखों का पवित्र धर्मग्रंथ जिसे उनके पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने सन् १६०४ ई० में संगृहीत कराया था और जिसे सिख धर्मानुयायी 'गुरुग्रंथ साहिब जी' भी कहते एवं गुरुवत् मानकर संमानित किया करते हैं। 'आदिग्रंथ' के अंतर्गत सिखों के प्रथम पाँच गुरुओं के अतिरिक्त उनके नवें गुरु और १४ 'भगतों' 'शेखों' की बानियाँ आती हैं। ऐसा कोई संग्रह संभवतः गुरु नानकदेव के समय से ही तैयार किया जाने लगा था और गुरु अमरदास के पुत्र मोहन के यहाँ प्रथम चार गुरुओं के पत्रादि सुरक्षित भी रहे, जिन्हें पाँचवें गुरु ने उनसे लेकर पुनः क्रमबद्ध किया तथा उनमें अपनी और कुछ 'भगतों' की भी बानियाँ संमिलित करके सबको भाई गुरुदास द्वारा गुरुमुखी में लिपिबद्ध करा दिया। भाई बन्नो ने फिर उसी की प्रतिलिपि कर उसमें कतिपय अन्य लोगों की भी रचनाएँ मिला देनी चाही जो पीछे स्वीकृत न हो सकीं और अंत में दसवें गुरु गोविंदसिह ने उसका एक तीसरा 'बीड़' (संस्करण) तैयार कराया जिसमें, नवम गुरु की कृतियों के साथ साथ, स्वयं उनके भी एक 'सलोक' को स्थान दिया गया। उसका यही रूप आज भी वर्तमान समझा जाता है। इसकी केवल एकाध अंतिम रचनाओं के विषय में ही यह कहना कठिन है कि वे कब और किस प्रकार जोड़ दी गई।

'ग्रंथ' की प्रथम पाँच रचनाएँ क्रमशः (१) 'जपुनीसाणु' (जपुजी), (२) 'सोदरु' महला १, (३) 'सुणिबड़ा' महला १, (४) 'सो पुरखु,' महला ४ तथा (५) सोहिला महला १ के नामों से प्रसिद्ध हैं और इनके अनंतर 'सिरीराग' आदि ३१ रागों में विभक्त पद आते हैं जिनमें पहले सिखगुरुओं की रचनाएँ उनके (महला १ महला २ आदि के) अनुसार संगृहीत है। इनके अनंतर भगतों के पद रखे गए हैं, किंतु बीच बीच में कहीं कहीं 'बारहमासा', 'थिती', 'दिनरैणि', 'घोडीआँ', 'सिद्ध गोष्ठी' 'करहले', 'बिरहडे', 'सुखमनी' आदि जसी कतिपय छोटी बड़ी विशिष्ट रचनाएँ भी जोड़ दी गई हैं जो साधारण लोकगीतों के काव्यप्रकार उदाहृत करती हैं। उन रागानुसार क्रमबद्ध पदों के अनंतर सलोक सहस कृती, 'गाथा' महला ५, 'फुनहे' महला ५, चउबोलें महला ५, सवैए सीमुख बाक् महला ५ और मुदावणी महला ५ को स्थान मिला है और सभी के अंत में एक रागमाला भी दे दी गई है। इन कृतियों के बीच बीच में भी यदि कहीं कबीर एवं शेख फरीद के 'सलोक' संगृहीत हैं तो अन्यत्र किन्हीं ११ पदों द्वारा निर्मित वे स्तुतियाँ दी गई हैं जो सिख गुरुओं की प्रशंसा में कही गई हैं और जिनकी संख्या भी कम नहीं है। 'ग्रंथ' में संगृहीत

रचनाएँ भाषावैविध्य के कारण कुछ विभिन्न लगती हुई भी, अधिकतर सामजस्य एव एकरूपता के ही उदाहरण प्रस्तुत करती है।

आदिग्रथ को कभी कभी 'गुरुबानी' मात्र भी कह देते है, किंतु अपने भक्तो की दृष्टि में वह सदा शरीरी गुरुस्वरूप है। अत गुरु के समन उसे स्वच्छ रेशमी वस्त्रो मे वेष्ठित करके चाँदनी के नीचे किसी ऊँची गद्दी पर 'पधराया' जाता है, उसपर चँवर ढलते है, पुष्पादि चढाते है, उसकी आरती उतारते हैं तथा उसके सामने नहा धोकर जाते और श्रद्धापूर्वक प्रणाम करते है। कभी कभी उसकी शोभायात्रा भी निकाली जाती है तथा सदा उसके अनुसार चलने का प्रयत्न किया जाता है। ग्रथ का कभी साप्ताहिक तथा कभी अखड पाठ करते है और उसकी पक्तियो का कुछ उच्चारण उस समय भी किया करते है जब कभी बालको का नामकरण किया जाता है, उसे दीक्षा दी जाती है तथा विवाहादि के मगलोत्सव आते हैं अथवा शवसस्कार किए जाते हैं। विशिष्ट छोटी बडी रचनाओ के पाठ के लिये प्रात काल, सायकाल, शयनवेला जैसे उपयुक्त समय निश्चित है और यद्यपि प्रमुख सगृहीत रचनाओ के विषय प्रधानत दार्शनिक सिद्धात, आध्यात्मिक साधना एव स्तुतिगान से ही सबध रखते जान पडते है, इसमे सदेह नही कि 'आदिग्रथ' द्वारा सिखो का पूरा धार्मिक जीवन प्रभावित है। गुरु गोविदसिह का एक सग्रहग्रथ 'दसवाँ ग्रथ' नाम से प्रसिद्ध है जो 'आदिग्रथ' से पृथक् एव सर्वथा भिन्न है।

स०ग्र०—डकन ग्रीनलेस दि गॉस्पेल ऑव दि गुरु ग्रथसाहब, खुशवतसिह 'दि सिक्ख्स', परशुराम चतुर्वेदी उत्तरी भारत की सत परपरा। [प० च०]

आदित्य प्रथम चोड यह चोडराज विजयपाल का पुत्र था जो ८७५ ई० के लगभग सिहासनारूढ हुआ। ८९० ई० के लगभग उसने पल्लवराज अपराजितवर्मन् को परास्त कर तोडमडलम् को अपने राज्य मे मिला लिया और इस प्रकार पल्लवो का अत हो गया। आदित्य परम शैव था और उसने शिव के अनेक मदिर बनाए। उसके मरने तक उत्तर मे कलहस्ती और मद्रास तथा दक्षिण में कावेरी तक का सारा जनपद चोडो के शासन मे आ चुका था। [ओ० ना० उ०]

आदित्यवर्धन यह थानेश्वर के भूति वश का राजा था, श्रीकठ (थानेश्वर) के राजवश के प्रतिष्ठाता नरवर्धन का पौत्र। आदित्यवर्धन ने मगधराज दामोदर गुप्त की पुत्री महासेना गुप्ता को ब्याहा जिससे वर्धनो की मर्यादा बढी। आदित्यवर्धन के सबध मे इससे अधिक कुछ पता नही। उसके बाद उसका पुत्र और हर्ष का पिता प्रभाकरवर्धन थानेश्वर का राजा हुआ। विद्वानो का अनुमान है कि आदित्यवर्धन ने छठी स०ई० के अत मे राज किया होगा। [ओ०ना०उ०]

आदित्यसेन राजा माधवगुप्त का पुत्र, उत्तर गुप्तो मे सभवत सबसे शक्तिमान्। हर्ष के जीवनकाल मे तो वह चुपचाप सामत ही बना रहा, पर उसके मरते ही उसने अपनी स्वतत्रता घोषित कर सम्राटो के विरुद्ध शस्त्रास्त्र धारण किए। उसके अश्वमेध के अनुष्ठान से प्रकट है कि उसने कुछ भूमि भी निश्चय जीती होगी, और लेख में उसे "आसमुद्र पृथ्वी का स्वामी" कहा भी गया है। उसका शासनकाल तो निश्चित नही है, पर कम से कम ६७२ ई० तक वह निश्चय जीवित रहा। आदित्यसेन की मृत्यु के बाद उत्तरकालीन गुप्तो की राजधानी विचलित हो चली। [ओ० ना० उ०]

आदिपाप ईसाई धर्म का एक मूलभूत सिद्धात है कि सब मनुष्य रहस्यात्मक रूप से प्रथम मनुष्य आदम के पाप के भागी बनकर 'ओरिजिनल सिन' अर्थात् आदिपाप की दशा में जन्म लेते हैं, जिससे वे अपने ही प्रयत्न द्वारा मुक्ति प्राप्त करने मे असमर्थ है। ईसा ने आदम के उस पाप का तथा मानव जाति के अन्य सब पापो का प्रायश्चित्त करके मुक्ति का द्वार खोल दिया।

बाइबिल के प्रथम ग्रथ में इसका वर्णन किया गया है। आदम ने ईश्वर के आदेश का उल्लघन किया और फलस्वरूप ईश्वर की मित्रता खो बैठा। इसी कारण मानव जाति की दुर्गति हुई और ससार मे मृत्यु, दुःख और विषयवासना का प्रवेश हुआ (दे० आदम)। फिर भी यहूदी धर्म मे आदिपाप की शिक्षा नही मिलती। इसका सर्वप्रथम प्रतिपादन बाइबिल के उत्तरार्ध मे हुआ है (दे० रोमियो के नाम सत पौल्स का पत्र, अध्याय ५)। आदिपाप का तत्व इसमे है कि आदम के पाप के कारण समस्त मानव जाति ईश्वर की मित्रता से वचित हुई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य मृत्यु, दुख और विषयवासना के शिकार बन गए, यद्यपि कैथोलिक गिरजा उन लोगो का विरोध करता है जो लूथर, कैलविन आदि के समान सिखलाते है कि आदिपाप के फलस्वरूप मनुष्य का स्वभाव पूर्ण रूप से दूषित हुआ है।

स०ग्र०—जे० फ्यूडोर्फर एर्बसुडे यूनिट एर्ब्तोद फीम एपोस्टल पौल्स, मस्टर, आइ० डबल्यू०, १९२७। [का० बु०]

आदिपुराण जैनधर्म का एक प्रख्यात पुराण। जैनधर्म के अनुसार ६३ महापुरुष बडे ही प्रतिभाशाली, धर्मप्रवर्तक तथा चरित्रसपन्न माने जाते हैं और इसीलिये ये 'शलाकापुरुष' के नामसे विख्यात है। ये २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव तथा ९ बलदेव (या बलभद्र) है। इन शलाकापुरुषो के जीवनप्रतिपादक ग्रथो को श्वेताबर लोग 'चरित्र' तथा दिगबर लोग 'पुराण' कहते है। आचार्य जिनसेन ने इन समग्र महापुरुषो की जीवनी काव्यशैली में सस्कृत मे लिखने के विचार से इस 'महापुराण' का आरभ किया, परतु ग्रथ की समाप्ति से पहले ही उनकी मृत्यु हो गई। फलत अवशिष्ट भाग को उनके शिष्य आचार्य गुणभद्रने समाप्त किया। ग्रथ के प्रथम भाग में ४८ पर्व और १२ सहस्र श्लोक है जिनमें आद्य तीर्थकर ऋषभनाथ की जीवनी निबद्ध है और इसलिये 'महापुराण' का प्रथमार्ध 'आदिपुराण' तथा उत्तरार्ध उत्तरपुराण के नाम से विख्यात है। आदिपुराण के भी केवल ४२ पर्व पूर्ण रूप से तथा ४३वे पर्व के केवल तीन श्लोक आचार्य जिनसेन की रचना है और अतिम पर्व (१६२० श्लोक) गुणभद्र की कृति है। इस प्रकार आदिपुराण के १०,३८० श्लोको के कर्ता जिनसेन स्वामी हैं। हरिवश पुराण के रचयिता जिनसेन आदिपुराण के कर्ता से भिन्न तथा बाद के है, क्योकि इन्होने जिनसेन स्वामी की स्तुति अपने ग्रथ के मगलश्लोक मे की है।

आदिपुराण कवि की अतिम रचना है। जिनसेन का लगभग श० स० ७७० (=८४८ ई०) मे स्वर्गवास हुआ। राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (प्रथम) का वह राज्यकाल था। फलत आदिपुराण की रचना का काल नवी शताब्दी का मध्य भाग है। यह ग्रथ काव्य की रोचक शैली मे लिखा गया है।

स०ग्र०—नाथूराम प्रेमी जैन साहित्य और इतिहास, बबई, १९४२, डा० विटरनित्स हिस्ट्री ऑव इडियन लिटरेचर, द्वितीय खड, कलकत्ता, १९३३। [ब० उ०]

आदिवराह 'वराह' शब्द का उल्लेख ऋग्वेद (१।६१।७, ८।७७।१०) तथा अथर्ववेद (८।७।२३) मे हुआ है। एक मत्र में रुद्र को स्वर्ग का वराह कहा गया है (ऋ० १।११४।५)। विभव या अवतार का प्रथम निर्देश तैत्तिरीय सहिता तथा शतपथ ब्राह्मण मे मिलता है, जहाँ प्रजापति के मत्स्य, कूर्म तथा वराह रूप धारण करने का स्पष्ट उल्लेख है। ऋग्वेद के अनुसार विष्णु ने सोमपान कर एक शत महिषो को तथा क्षीरपाक को ग्रहण कर लिया जो वस्तुत 'एमुष्' नामक वराह की सपत्ति थे। इद्र ने इस वराह को भी मार डाला (ऋक् ८।७७।१०)। शतपथ के अनुसार इसी 'एमुष्' नामक वराह ने जल के ऊपर रहनेवाली पृथ्वी को ऊपर उठा लिया (१४।१।२।११)। तैत्तिरीय सहिता के अनुसार यह वराह प्रजापति का और पुराणो के अनुसार विष्णु का रूप था। इस प्रकार वराह अवतार वैदिक निर्देशो के ऊपर स्पष्टत आश्रित है।

भारतीय कला मे वराह की मूर्ति दो प्रकार की मिलती है—विशुद्ध पशुरूप मे तथा मिश्रित रूप में। मिश्रण केवल सिर के ही विषय मे मिलता है तथा अन्य भाग मनुष्य के रूप मे ही उपलब्ध होते है। पशुमूर्ति का नाम केवल वराह या आदिवराह है तथा मिश्रित रूप का नाम नृवराह है। उत्तर-भारत में पशुमूर्ति या आदिवराह की मूर्ति अनेक स्थानो पर मिलती है। इनमे सबसे प्रख्यात तोरमाण द्वारा निर्मित 'एरण' में लाल पत्थर की वराहमूर्ति मानी जाती है। मानवाकृति मूर्ति के ऊपर कभी कभी छोटे छोटे मनुष्यो के भी रूप उत्कीर्ण मिलते हैं, जो देव, असुर तथा ऋषि के प्रतिनिधि

माने जाते हैं एवं पृथ्वी वराह के दाँतों से लटकती हुई चित्रित की गई है। नृवराह का सबसे प्राचीन तथा सुंदर निदर्शन विदिशा के पास उदयगिरि की चतुर्थ गुफा में उत्कीर्ण मिलता है। यह चंद्रगुप्त द्वितीय कालीन ५वीं शताब्दी का है। वराह की अन्य दो मूर्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं (१) **यज्ञ-वराह** (सिंह के आसन पर ललितासन में उपविष्ट मूर्ति, लक्ष्मी तथा भूदेवी के साथ), (२) **प्रलयवराह** (वही मुद्रा, पर केवल भूदेवी के संग में) इन मूर्तियों से आदिवराह की मूर्ति सर्वथा भिन्न होती है।

सं०ग्रं०—बैनर्जी : डेवेलपमेंट ऑव हिंदू आइकोनोग्रैफी 'द्वितीय सं०' कलकत्ता, १९५५; गोपीनाथ राव : हिंदू आइकोनोग्रैफी, मद्रास्। [ब० उ०]

आदिवासी

आदिवासी (ऐबोरिजिनल) सामान्यतः 'आदिवासी' शब्द का प्रयोग किसी क्षेत्र के मूल निवासियों के लिये किया जाना चाहिए, परंतु संसार के विभिन्न भूभागों में जहाँ अलग अलग धाराओं में अलग अलग क्षेत्रों से आकर लोग बसे हों उस विशिष्ट भाग के प्राचीनतम अथवा प्राचीन निवासियों के लिये भी इस शब्द का उपयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, 'इंडियन' अमरीका के आदिवासी कहे जाते हैं और प्राचीन साहित्य में दस्यु, निषाद आदि के रूप में जिन विभिन्न प्रजातीय समूहों का उल्लेख किया गया है उनके वंशज समसामयिक भारत में आदिवासी माने जाते हैं।

अधिकांश आदिवासी संस्कृति के प्राथमिक धरातल पर जीवनयापन करते हैं। वे सामान्यतः क्षेत्रीय समूहों में रहते हैं और उनकी संस्कृति अनेक दृष्टियों से स्वयंपूर्ण रहती है। इन संस्कृतियों में ऐतिहासिक जिज्ञासा का अभाव रहता है तथा ऊपर की थोड़ी ही पीढ़ियों का यथार्थ इतिहास क्रमशः किंवदंतियों और पौराणिक कथाओं में घुल मिल जाता है। सीमित परिधि तथा लघु जनसंख्या के कारण इन संस्कृतियों के रूप में स्थिरता रहती है, किसी एक काल में होनेवाले सांस्कृतिक परिवर्तन अपने प्रभाव एवं व्यापकता में अपेक्षाकृत सीमित होते हैं। परंपराकेंद्रित आदिवासी संस्कृतियाँ इसी कारण अपने अनेक पक्षों में रूढ़िवादी सी दीख पड़ती हैं। उत्तर और दक्षिण अमरीका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, एशिया तथा अनेक द्वीपों और द्वीपसमूहों में आज भी आदिवासी संस्कृतियों के अनेक रूप देखे जा सकते हैं।

भारत में अनुसूचित आदिवासी समूहों की संख्या २९२ है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार आदिवासियों की संख्या १,९१,११,४९८ है। देश की जनसंख्या का ५.३६ प्रति शत भाग आदिवासी स्तर का है।

प्रजातीय दृष्टि से इन समूहों में नीग्रिटो, प्रोटो-आस्ट्रेलायड और मंगोलायड तत्व मुख्यतः पाए जाते हैं, यद्यपि कतिपय नृतत्ववेत्ताओं ने नीग्रिटो तत्व के संबंध में शंकाएँ उपस्थित की हैं। भाषाशास्त्र की दृष्टि से उन्हें आस्ट्रो-एशियाई, द्रविड़ और तिब्बती-चीनी-परिवारों की भाषाएँ बोलनेवाले समूहों में विभाजित किया जा सकता है। भौगोलिक दृष्टि से आदिवासी भारत का विभाजन चार प्रमुख क्षेत्रों में किया जा सकता है : उत्तर-पूर्वीय क्षेत्र, मध्य क्षेत्र, पश्चिमी क्षेत्र और दक्षिणी क्षेत्र।

उत्तर-पूर्वीय क्षेत्र के अंतर्गत हिमालय अंचल के अतिरिक्त तिस्ता उपत्यका और ब्रह्मपुत्र की यमुना-पद्मा-शाखा के पूर्वी भाग का पहाड़ी प्रदेश आता है। इस भाग के आदिवासी समूहों में गुरूंग, लिंबू, लेपचा, आका, डाफला, अबोर, मिरी, मिशमी, सिंगपो, मिकिर, रामा, कचारी, गारो, खासी, नागा, कुकी, लुशाई, चकमा आदि उल्लेखनीय हैं।

मध्यक्षेत्र का विस्तार उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले के दक्षिणी और राजमहल पर्वतमाला के पश्चिमी भाग से लेकर दक्षिण की गोदावरी नदी तक है। संथाल, मुंडा, उराँव, हो, भूमिज, खड़िया, बिरहोर, जुआँग, खोंड, सवरा, गोंड, भील, बैगा, कोरकू, कमार आदि इस भाग के प्रमुख आदिवासी हैं।

पश्चिमी क्षेत्र में भील, ठाकुर, कटकरी आदि आदिवासी निवास करते हैं। मध्य-पश्चिम राजस्थान से होकर दक्षिण में सह्याद्रि तक का पश्चिमी प्रदेश इस क्षेत्र में आता है। गोदावरी के दक्षिण से कन्याकुमारी तक दक्षिणी क्षेत्र का विस्तार है। इस भाग में जो आदिवासी समूह रहते हैं उनमें चेंचू, कोंडा, रेड्डी, राजगोंड, कोया, कोलाम, कोटा, कुरूंबा, बडागा, टोडा, काडर, मलायन, मुशुवन, उराली, कनिक्कर आदि उलेखनीय हैं।

नृतत्ववेत्ताओं ने इन समूहों में से अनेक का विशद शारीरिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अध्ययन किया है। इस अध्ययन के आधार पर भौतिक संस्कृति तथा जीवनयापन के साधन, सामाजिक संगठन, धर्म, बाह्य संस्कृति, प्रभाव आदि की दृष्टि से आदिवासी भारत के विभिन्न वर्गीकरण करने के अनेक वैज्ञानिक प्रयत्न किए गए हैं। इस परिचयात्मक रूपरेखा में इन सब प्रयत्नों का उल्लेख तक संभव नहीं है। आदिवासी संस्कृतियों की जटिल विभिन्नताओं का वर्णन करने के लिये भी यहाँ पर्याप्त स्थान नहीं है।

यद्यपि प्राचीन काल में आदिवासियों ने भारतीय परंपरा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया था और उनके कतिपय रीति रिवाज और विश्वास आज भी थोड़े बहुत परिवर्तित रूप में आधुनिक हिंदू समाज में देखे जा सकते हैं, तथापि यह निश्चित है कि वे बहुत पहले ही भारतीय समाज और संस्कृति के विकास की प्रमुख धारा से पृथक् हो गए थे। आदिवासी समूह हिंदू समाज से न केवल अनेक महत्वपूर्ण पक्षों में भिन्न है, वरन् उनके इन समूहों में भी कई महत्वपूर्ण अंतर हैं। समसामयिक आर्थिक शक्तियों तथा सामाजिक प्रभावों के कारण भारतीय समाज के इन विभिन्न अंगों की दूरी अब क्रमशः कम हो रही है।

आदिवासियों की सांस्कृतिक भिन्नता को बनाए रखने में कई कारणों का योग रहा है। मनोवैज्ञानिक धरातल पर उनमें से अनेक में प्रबल 'जन-जाति-भावना' (ट्राइबल फीलिंग) है। सामाजिक-सांस्कृतिक-धरातल पर उनकी संस्कृतियों में अनेक एसी संस्थाएँ हैं जो हिंदू समाज की संस्थाओं से भिन्न हैं, परंतु जिनका आदिवासियों की संस्कृतियों के गठन में केंद्रीय महत्व है। असम के नागा आदिवासियों की नरमुंडप्राप्ति प्रथा बस्तर के मुरियों की घोटुल संस्था, टोडा समूह में बहुपतित्व, कोया समूह में गोबलि की प्रथा आदि का उन समूहों की संस्कृति में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। परंतु ये संस्थाएँ और प्रथाएँ भारतीय समाज की प्रमुख प्रवृत्तियों के अनुकूल नहीं हैं। आदिवासियों की संकलन-आखेटक-अर्थव्यवस्था तथा उससे कुछ अधिक विकसित अस्थिर और स्थिर कृषि की अर्थव्यवस्थाएँ अभी भी परंपरा-स्वीकृत प्रणाली द्वारा चलाई जाती हैं। परंपरा का प्रभाव उन पर नए आर्थिक मूल्यों के प्रभाव की अपेक्षा अधिक है। धर्म के क्षेत्र में जीववाद, जीविवाद, पितृपूजा आदि हिंदू धर्म के समीप लाकर भी उन्हें भिन्न रखते हैं।

आज के आदिवासी भारत में पर-संस्कृति-प्रभावों की दृष्टि से आदिवासियों के चार प्रमुख वर्ग दीख पड़ते हैं। प्रथम वर्ग में पर-संस्कृति-प्रभावहीन समूह हैं, दूसरे में पर-संस्कृतियों द्वारा अल्पप्रभावित समूह, तीसरे में पर-संस्कृतियों द्वारा प्रभावित, किंतु स्वतंत्र सांस्कृतिक अस्तित्ववाले समूह और चौथे वर्ग में ऐसे आदिवासी समूह आते हैं जिन्होंने पर-संस्कृतियों का स्वीकरण इस मात्रा में कर लिया है कि केवल नाममात्र के लिये आदिवासी रह गए हैं।

सं०ग्रं०—गुह, बी०एस०: दि रेशल एलिमेंट्स इन इंडियन पापुलेशन (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३९); एल्विन, वेरियर : द एबारिजिनल्स (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रस, १९३८); दुबे, श्यामाचरण : मानव और संस्कृति (राजकमल, १९५९)। [श्या० दु०]

आद्यपक्षी

आद्यपक्षी पक्षियों के विकास का इतिहास अन्य सभी जंतुसमूहों के विकास के इतिहास से अधिक दुर्बोध है। जिस काल तक भूविज्ञान पहुँच सका है उसमें आद्यपक्षी का कोई उपयुक्त प्रमाण प्राप्त नहीं है। प्रादिनूतन के प्रारंभिक भाग के (अब से लगभग करोड़ वर्ष पूर्व के) पक्षियों के जीवाश्म (फ़ॉसिल) बहुत कम प्राप्त हुए हैं। खटीयुग (क्रेटेशस युग) के बाद केवल आठ प्रतिनिधि मिले हैं, परंतु सब आदर्शभूत नहीं हैं और अपूर्ण भी हैं।

इनमें सबसे अच्छा अवशेष हैस्पौरनिस नामक पक्षी का है। यह तैरनेवाली चिड़िया थी। इसके पंख छोटे थे। इसकी उरोस्थि (स्टर्नम) पर कूट (अंग्रेजी में कील) था। इक्थियोर्निस नामक पक्षी का अवशेष भी अच्छा है। यह कबूतर के बराबर एक छोटी उड़नेवाली चिड़िया थी, जिसका उरकूट (कील) बड़ा था। इन दोनों चिड़ियों के जबड़ों पर पूर्णतया विकसित दाँत थे। परंतु इन दोनों के जीवाश्मों में से कोई एक भी पक्षियों के विकास पर प्रकाश नहीं डालता। इनसे यह पता अवश्य चला है कि उड़ना इनसे पहले प्रारंभ हो चुका था। पक्षियों के विकास के अध्ययन के लिये पुरानी चट्टानों का अध्ययन आवश्यक है।

पूर्वी जर्मनी के सोलनहाफ़न नामक स्थान पर महासरट (जुरासिक) काल की महीन दानेवाली चूने की चट्टानें हैं। किसी समय में यह पत्थर लीथो की छपाई के लिये खोदा जाता था। इन पत्थरों का पूरा निरीक्षण किया जाता था, इसलिये इनपर अंकित सभी चिह्नों की जाँच होती रहती थी। सन् १८६१ के प्रारंभ में एक पत्थर में पर (फ़ेदर) की एक छाप मिली। इससे कर्मचारी बहुत चकित हुए। इसके कुछ समय बाद ही पंखो से सुसज्जित एक प्राणी का कंकाल पत्थर के बीच में मिला। यह पापनहाइम नामक गाँव के पास लांगेनलथाइमर हार्ट में मिला। पापनहाइम में डाक्टर अर्न्स्ट हाबर्लाइन रहते थे। उन्होने अपने संग्रह के लिये दोनों शिलाएँ ले ली। तत्पश्चात् हरमन फ़ॉन मेयर ने परवाली छाप का नाम आर्कियोप्टेरिक्स लिथोग्राफ़िका रखा। इस नाम का अर्थ है 'लिथो के पत्थर का पुराना पर'। दूसरी शिला पर अंकित जो कंकाल सहित पर का चिह्न था वह किसी दूसरे आद्यपक्षी का था। उसमें खोपड़ी स्पष्ट नही थी, परंतु पंख और पूँछ की छाप बहुत अच्छी थी।

यह दूसरी छाप एक पहेली बन गई। इससे ज्ञात हुआ कि प्राणी कौए की नाप का रहा होगा। इसका कंकाल सरीसृप के ढंग का था, जबड़ो में दाँत थे तथा अँगुलियो में नख थे; परंतु हाथ के बदले निश्चित रूप से पर थे। वैज्ञानिकों ने उसे आद्यपक्षी के अवशेष के रूप में पहचाना। इससे कम विकसित पक्षी का कोई चिह्न इससे पहले नहीं मिला था। इस पत्थर को बाद में ब्रिटिश म्यूज़ियम ने प्राप्त कर लिया।

सन् १८७७ में आर्कियोप्टेरिक्स का एक दूसरा प्रतिरूप एक पत्थर निकालने की खान में मिला, जो पहले स्थान से लगभग दस मील दूर थी। इस स्थान का नाम ब्लूमनबर्ग था। इस छाप में, जो दो पत्थरों में सुरक्षित है, खोपड़ी का चिह्न भी है और सब बातों में यह लंदनवाले नमूने से अच्छी है। इन पत्थरों को बर्लिन के नाटुरकुंडे म्यूज़ियम ने खरीद लिया।

आर्कियोप्टेरिक्स के पत्थरों की प्राप्ति के पश्चात् इनका अध्ययन प्रारंभ हुआ। इनके अध्ययन के लगभग ३६ प्रयास अब तक हो चुके हैं। अंतिम प्रयास ब्रिटिश म्यूज़ियम (नैचुरल हिस्ट्री विभाग) के संचालक सर गैविन डी बियर ने सन् १९४५ में किया। उन्होने इस अध्ययन के लिय एक्स-रे तथा अल्ट्रावायलेट किरणो का भी प्रयोग किया।

सर गैविन के अध्ययन ने निम्नलिखित बातो की पुष्टि की है: १. लंदन म्यूज़ियम के जीवाश्मो की करोटि (खोपड़ी) में अब तक जितनी हड्डियो की गणना की गई थी उससे वे अधिक है; २. इस अविकसित पक्षी का मस्तिष्क बहुत कुछ सरीसृप के मस्तिष्क की तरह था, ३. इसके कशेरुक (वर्टेब्री) के सिरे या तो चपटे है या छिछले प्याले के आकार के, अर्थात् उभयावतल (ऐंफ़िसीलस) है; ४. उरोस्थि नाव के आकार की और कट (कील)-विहीन है; कही मांसपेशियो के जुड़न के चिह्न भी नही है। यदि पंख आधुनिक उड़नेवाली चिड़ियों की भाँति होते तो उनमें उरकूट होता, या मांसपेशियों के जुड़ने के लिये उभरे निशान होते। इससे पता चलता है कि आर्कियोप्टेरिक्स उड़नेवाली चिड़िया नही थी, केवल सरकनेवाली चिड़िया थी।

आद्यविहंग

पत्थरों के भीतर प्राप्त हड्डियों के जीवाश्म। आद्यविहंग (आर्किऑर्निस) आद्यपक्षी (आर्कियोप्टेरिक्स) का निकट संबंधी था। ये दोनों सरीसृपो तथा पक्षियो के बीच की कड़ी है। (ब्रिटिश म्यूज़ियम से)

आर्कियोप्टेरिक्स के सरीसृपीय लक्षण निम्नलिखित है: १. इसकी हड्डियाँ खोखली या वायुमय नहीं हैं, २. कशेरुका की बनावट तथा जोड़ दोनों सरीसृप जैसे हैं, ३. पूँछ लंबी है और २० कशेरुकों की बनी है, ४. अगले और पिछले पैरों की रचना सरीसृप के पैरों जैसी है और अँगुलियो में नख हैं, ५. जबड़ों में दाँत हैं, ६. पसलियाँ पतली है और उनमें अंकुश प्रवर्ध (अंसिनेट प्रोसेसेज़) नहीं होते।

आर्कियोप्टेरिक्स के पक्षीवाले लक्षणों में निम्नलिखित प्रमुख हैं: १. पर; २. विशाखक (फ़रकुला) नामक अस्थि उपस्थित है; ३. पैर की पहली अँगुली पीछे की ओर है और अन्य तीन इसके विरोध में दूसरी ओर हैं, जैसा

अन्य चिड़ियों में होता है; ४. श्रोणिमेखला (पेल्विक गर्डल) की भगास्थि (प्यूबिक बोन) पीछे की ओर मुड़ी है; ५. कर्पर (क्रेनियम) की अनेक हड्डियाँ आधुनिक चिड़ियों की हड्डियों की भाँति जुड़ी हैं।

ये मिले जुले लक्षण सिद्ध करते हैं कि आर्कियोप्टैरिक्स आधुनिक पक्षी और सरीसृप के विकास के बीच की योजक कड़ी है। इसका अर्थ यह नहीं कि यह आधा सरीसृप और आधा पक्षी है, किंतु यह है कि यह एक ऐसा सरीसृप था, जिसने पक्षी की ओर विकसित होना प्रारंभ कर दिया था; अर्थात् यह आद्यपक्षी है।

अब प्रश्न यह उठता है कि आर्कियोप्टैरिक्स ने किस मूल कुटुंब से जन्म लिया था। इसका आकार उड़नेवाले सरीसृप अर्थात् टेरोडैक्टाइल से मिलता है। परंतु टेरोडैक्टाइल के उड़ने का ढंग भिन्न था और उसकी हड्डियाँ भी भिन्न प्रकार की थीं। दो छोटे पैरों पर चलनेवाले कुछ डायनोसौर भी रचना में चिड़ियों के निकट आते हैं। ये अपने अगले पैरों को पृथ्वी से ऊपर उठाए पिछले पैरों पर दौड़ते थे। दौड़ने का यह ढंग तथा उनके शरीर की रचना यह सिद्ध करती है कि सरीसृप तथा आर्कियोप्टैरिक्स दोनों की पितृश्रेणी एक है।

यह भली भाँति ज्ञात हो चुका है कि आर्कियोप्टैरिक्स भली भाँति उड़नेवाला पक्षी नहीं था। घने जंगलों के बड़े बड़े वृक्ष इसे उड़ने का अवसर नहीं देते रहे होंगे। यह केवल एक ऊँचे वृक्ष पर चढ़कर दूसरे तक विसर्पण (ग्लाइड) करता रहा होगा। पीछे के लंबे पैर, लंबी दुम और चपटे सिरवाली कशेरुकाएँ उड़ने में बिलकुल सहायक नहीं थीं, किंतु विसर्पण में पूर्णतया सहायक थीं।

संसार के जीवाश्मों में आर्कियोप्टैरिक्स के जीवाश्मों का स्थान महत्वपूर्ण है। [स० ना० प्र०]

आद्योद्भिद (प्रोटोफ़ाइटा) ऐसे एक या बहुकोशिकी जीव हैं जो पौधों की तरह अपना भोजन तरल रूप में ही ग्रहण करते हैं। इनको देखने से अनुमान किया जा सकता है कि वानस्पतिक सृष्टि का आदिरूप कैसा रहा होगा। कुछ सामान्य शैवाल (ऐलजी) भी इसी वर्ग में आते हैं। शैवाल और एककोशिकी प्रजीव (प्रोटोज़ोआ) दोनों एक साथ एक-कोश-जीव (प्रोटिस्टा) वर्ग में रखे जाते हैं। ये संपूर्ण जीवन-सृष्टि के आदिरूप माने जाते हैं। एककोशिनों के कई वर्ग हैं, कुछ ऐसे हैं जो तरल रूप में भोजन लेते हैं, कुछ ऐसे हैं जो प्राणियों की तरह ठोस रूप में तथा कुछ ऐसे भी होते हैं जो दोनों प्रकार से भोजन प्राप्त कर सकते हैं। अंतिम रूपवाले जीव विचारक के सुविधानुसार पौधों या जंतुओं दोनों में से किसी भी श्रेणी में रखे जा सकते हैं। अभी तक इनकी कोई भी परिदृढ़ परिभाषा संभव नहीं हो पाई है।

आद्योद्भिद वर्ग में कार्बन-संश्लेषण (फ़ोटोसिंथेसिस) क्रिया होती है। यह क्रिया इन पौधों में पर्ण-हरिम और कभी कभी अन्य रंगों की सहायता से होती है। इस क्रिया में कार्बन डाइ-आक्साइड और पानी से धूप की उपस्थिति में जटिल कारबनिक यौगिक (जैसे स्टार्च, वसा इत्यादि) बनते हैं। आद्योद्भिद के वर्ग अपने अपने रंगों के आधार पर पहचाने जा सकते हैं। एककोशिक आद्योद्भिद चर (गतिशील, मोटिल) होते हैं तथा इनके पक्ष्म होते हैं। पक्ष्मों की संख्या और उनका विन्यास प्रत्येक वर्ग के लिये निश्चित होता है। प्रायः प्रत्येक वर्ग में अचर रूप भी होते हैं, जो एक या बहुकोशिकीय होते हैं।

आद्योद्भिद में प्रजनन अत्यंत साधारण रीति से होता है। बहुधा एककोशिका के, चाहे वह चर अवस्था में ही क्यों न हो, दो भाग हो जाते हैं। स्थायी रूपों में प्रजनन चर-बीजाणु (ज़ूस्पोर्स) से भी होता है। मिक्सोफ़ाइसी वर्ग में लैंगिक भेद नहीं होता, परंतु अधिकतर वर्गों के प्रायः अधिक विकसित रूपों में लैंगिक भेद होता है। क्लोरोफ़िसिई में विषम लैंगिक प्रजनन होता है। आद्योद्भिद की बहुत सी प्रजातियाँ, जो क्लोरोफ़िसिई, ज़ैंथोफ़िसिई, मिक्सोफ़िसिई आदि में शामिल हैं, स्थायी होती हैं और इन्हें सामान्य रूप से शैवाल ही कहा जाता है। इसके विपरीत, शैवालों में कुछ ऐसे भी आकार हैं जो आद्योद्भिद रूप से अधिक विकसित हैं और इनके प्राचीन रूपों का पता भी नहीं मिलता। आद्योद्भिद के ऐसे रूप जो स्वचालित होते हैं तथा जिनमें कोशिका-भित्ति नहीं होती, शैवालों से पृथक् वर्ग में रखे जाते हैं। इस वर्ग को कशांग वर्ग (फ़्लैजेलेटा) कहते हैं (कश=चाबुक)। ये प्रजीव (प्रोटोज़ोआ) के निकट हैं, परंतु ऐसा विभाजन कृत्रिम तथा अनुचित प्रतीत होता है।

सं०ग्रं०—एफ़० ई० फ़िट्ज़ : प्रेसिडेंशियल ऐड्रेस टु सेक्शन के, ब्रिटिश ऐसोसिएशन फ़ॉर ऐडवांसमेंट ऑव साइंस (१९२७)। [भी० शं० त्रि०]

आधर्षण अटेंडर; अंग्रेजी विधि प्रणाली में सामान्य कानून के अंतर्गत, मृत्युदंडादेश के पश्चात् जब यह प्रत्यक्ष हो जाता था कि अपराधी जीवित रहने योग्य नहीं है तब उसको (अटेंड) कहा जाता था और इस कार्यवाही को अटेंडर कहते थे। अटेंडर का अर्थ है आधर्षण। आधर्षण की कार्यवाही मृत्युदंडादेश के पश्चात् अथवा मृत्युदंडादेशतुल्य परिस्थिति में हुआ करती थी। निर्णय के बिना केवल दोषसिद्धि के आधार पर आधर्षण नहीं हो सकता था।

आधर्षण के परिणाम स्वरूप अपराधी की समस्त चल या अचल संपत्ति का राज्य द्वारा अपहरण हो जाता था; वह संपत्ति के उत्तराधिकार से स्वयं तो वंचित हो ही जाता था, उसके उत्तराधिकारी भी उसकी संपत्ति नहीं पा सकते थे। इसको रक्तभ्रष्टता कहते थे। परंतु सन् १८७० के 'फॉरफीचर ऐक्ट' के अंतर्गत आधर्षण अथवा संपत्ति अपहार या रक्तभ्रष्टता वर्जित हो गई और अब अटेंडर सिद्धांत का कोई विशेष महत्व नहीं रहा।

बिल्स ऑव अटेंडर—आधर्षण विधेयक द्वारा संसद न्यायप्रशासन का कार्य करता था। कार्यवाही अन्य विधेयकों के समान ही होती थी। अंतर इतना था कि इसमें वे पक्ष जिनके विरुद्ध विधेयक होता था, संसद के समक्ष वकील द्वारा उपस्थित हो सकते तथा साक्ष्य प्रस्तुत कर सकते थे। प्रथम आधर्षण विधेयक सन् १४५९ ई० में पारित हुआ था और अंतिम विधेयक सन् १७९८ ई० में। [श्री० अ०]

आनंद बुद्ध की निजी सेवाओं में तल्लीन स्थविर आनंद उनके निकटतम शिष्यों में से थे। वे अपनी तीव्र स्मृति, बहुश्रुतता तथा देशना-कुशलता के लिये सारे भिक्षुसंघ में अग्रगण्य थे। बुद्ध के जीवनकाल में उन्हें एकांतवास कर समाधिभावना के अभ्यास में लगने का अवसर प्राप्त न हो सका। महापरिनिर्वाण के बाद उन्होंने ध्यानाभ्यास कर अर्हत् पद का लाभ किया और जब बुद्धवचन का संग्रह करने के लिये वैभार पर्वत की सप्तपर्णी गुहा के द्वार पर भिक्षुसंघ बैठा तब स्थविर आनंद अपने योगबल से, मानो पृथ्वी से उद्भूत हो, अपने आसन पर प्रकट हो गए। बुद्धोपदिष्ट धर्म का संग्रह करने में उनका नेतृत्व सर्वप्रथम था। [भि० ज० का०]

आनंदगिरि अद्वैत वेदांत के एक मान्य आचार्य। इनका व्यक्तित्व अभी तक पूर्णतया प्रकाशित नहीं हुआ है। इनके अनेक नाम मिलते हैं, जैसे आनंदतीर्थ, अनंतानंदगिरि, आनंदज्ञान, आनंदज्ञानगिरि, ज्ञानानंद आदि। अभी तक ठीक पता नहीं चलता कि ये विभिन्न अभिधान एक ही व्यक्ति के हैं अथवा भिन्न भिन्न व्यक्तियों का एकत्र संमिश्रण है। आनंदगिरि की एक प्रख्यात प्रकाशित रचना है 'शंकर दिग्विजय', जिसमें आदिशंकर के जीवनचरित का वर्णन बड़े विस्तार से नवीन तथ्यों के साथ किया गया है। परंतु ग्रंथ की पुष्पिका में ग्रंथकार का नाम सर्वत्र 'अनंतानंदगिरि' दिया हुआ है। फलतः ये आनंदगिरि से भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं। इस दिग्विजय में आचार्य शंकर का संबंध कामकोटि पीठ के साथ दिखलाया गया है और इसलिये अनेक विद्वान् इसे शृंगेरी पीठ की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा को देखकर कामकोटि पीठ के अनुयायी किसी संन्यासी की रचना मानते हैं। आनंदगिरि (आनंदज्ञान) का 'बृहत् शंकरविजय' प्राचीनतम तथा प्रामाणिक माना जाता है, जो इससे सर्वथा भिन्न है। यह ग्रंथ अप्राप्य है। धनपति सूरि ने माधवीय शंकरदिग्विजय की अपनी टीका में इस ग्रंथ से लगभग १३५० श्लोक उद्धृत किए हैं।

आनंदज्ञान का ही प्रख्यात नाम आनंदगिरि है। इन्होंने शंकराचार्य की गद्दी सुशोभित की थी। कामकोटि पीठवाले इन्हें अपने मठ का अध्यक्ष बतलाते हैं, उधर द्वारिका पीठवाले अपने मठ का। इनका आविर्भावकाल १२वीं शताब्दी माना जाता है। ये अद्वैत को लोकप्रिय तथा सुबोध बनानेवाले आचार्य थे और इसीलिये इन्होंने शंकराचार्य के प्रमेयबहुल भाष्यों पर अपनी सुबोध व्याख्याएँ लिखीं। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की इनकी टीका 'न्यायनिर्णय' नाम से प्रसिद्ध है। शंकर के गीताभाष्य पर भी इनकी व्याख्या नितांत लोकप्रिय है। सुरेश्वर के 'बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक' के ऊपर

आनंदगिरि की टीका इनके प्रौढ़ पांडित्य का निदर्शन है। इन्होंने आचार्य के उपनिषद्‌भाष्यों पर भी अपनी टीकाएँ निर्मित की हैं। इस प्रकार अद्वैत वेदांत के इतिहास में शंकराचार्य के साथ व्याख्याता रूप में आनंदगिरि का नाम अमिट रूप से संबद्ध है। [ब० उ०]

आनंदपाल शाहिय नृपति प्रसिद्ध जयपाल का पुत्र। जयपाल ने महमूद गजनी से हारकर, बेटे को गद्दी सौंप, ग्लानिवश अग्निप्रवेश किया था। आनंदपाल भी चैन से राज न कर सका और महमूद की चोटें उसे भी सहनी पड़ीं। १००८ई० में महमूद ने भारत पर फिर आक्रमण किया। पिता ने महमूद से लड़ते समय देश की विदेशियों से रक्षा के लिये हिंदू राजाओं को सेनासहित आमंत्रित किया था। वही नीति इस संकट के समय आनंदपाल ने भी अपनाई। उसने देश के राजाओं को आमंत्रित किया, उनकी सेनाएँ आईं भी, पर महमूद के असाधारण सैन्यसंचालन के सामने वे टिक न सकीं और मैदान हमलावर के हाथ रहा। इस पराजय के बाद भी आनंदपाल छः वर्ष तक प्राचीन शाहियों की गद्दी पर रहा, पर गजनी के हमलों से शीघ्र ही उसका राज्य टूक टूक हो गया। उसके बेटे त्रिलोचनपाल और पोते भीमपाल ने भी महमूद से लोहा लिया, पर शाहियों की शक्ति निरंतर क्षीण होती गई और भीमपाल की युद्ध में मृत्यु के बाद उस प्रसिद्ध शाही राजकुल का १०२६ ई० में अंत हो गया जिसने गुप्त सम्राटों द्वारा मालवा और गुजरात से विदेशी कहकर निकाल दिए जाने पर भी हिंदूकुश और काबुल के सिंहद्वार पर सदियों भारत की रक्षा की थी।

[ओं० ना० उ०]

आनंदवर्धन अलंकारशास्त्र के प्रसिद्ध आलोचक आनंदवर्धन काश्मीर के निवासी थे। 'देवीशतक' के उल्लेखानुसार इनके पिता का नाम 'नोण' था। कल्हण के कथनानुसार ये काश्मीर के राजा अवंतिवर्मा (८५५ ई०–८८४ ई०) के सभापंडितों में मुख्य थे। राजशेखर (९००–ई० ९२५ ई०) के द्वारा 'काव्यमीमांसा' में निर्दिष्ट किए जाने से भी इनका समय नवीं शताब्दी का मध्यकाल निश्चित किया जाता है। इनकी प्रख्यात रचनाएँ, जिनका निर्देश इन्होंने स्वयं किया है, चार हैं—(१) **देवीशतक** भगवती त्रिपुरसुंदरी की स्तुति में निबद्ध एक शतक काव्य; (२) **अर्जुनचरित** अर्जुन के शौर्य का वर्णनपरक महाकाव्य; (३) **विषमबाण लीला** प्राकृत में निबद्ध कामदेव की लीलाओं का वर्णन करनेवाला काव्य; और (४) **ध्वन्यालोक** जिसने संस्कृत के आलोचनाजगत् में युगांतर प्रस्तुत कर दिया। आनंदवर्धन की संस्कृत साहित्यशास्त्र को महती देन है काव्य में 'ध्वनि' सिद्धांत का उन्मीलन तथा प्रतिष्ठापन। इनकी मान्यता है कि काव्य में वाच्य अर्थ के अतिरिक्त एक सुंदरतम अर्थ की भी सत्ता रहती है जो 'प्रतीयमान' अर्थ के नाम से अथवा स्फोटवादी वैयाकरणों की परंपरा के अनुसार 'ध्वनि' नाम से व्यवहृत होता है। इसी ध्वनि के स्वरूप का तथा प्रभेदों का विवेचन ध्वन्यालोक का मुख्य उद्देश्य है। इस ग्रंथ के तीन भाग हैं—पद्यबद्ध कारिका, गद्यमयी वृत्ति तथा नाना छंदों में निबद्ध उदाहरण। उदाहरण तो निश्चित रूप से प्राचीन कवियों के काव्य से तथा लेखक की साहित्यिक रचनाओं से उद्धृत किए गए हैं, परंतु कारिका तथा वृत्ति के लेखक के व्यक्तित्व के विषय में आलोचकों में गहरा मतभेद है। कतिपय नव्य आलोचक आनंदवर्धन को केवल वृत्ति का रचयिता तथा 'सहृदय' नामक किसी अज्ञात लेखक को कारिका का निर्माता मानकर वृत्तिकार को कारिकाकार से भिन्न मानते हैं, परंतु संस्कृत की मान्य प्राचीन परंपरा, राजशेखर, कुंतक, महिम भट्ट, क्षेमेंद्र तथा हेमचंद्र के प्रामाण्य पर, आनंदवर्धन को ही कारिका और वृत्ति दोनों का रचयिता माना जाता रहा है। आलोचकों का बहुमत भी इसी पक्ष की ओर है। अलंकारशास्त्र के इतिहास में आनंदवर्धन ने सर्वप्रथम इस शास्त्र को युक्ति तथा तर्क के आधार पर व्यवस्था प्रदान की और व्यंजना जैसी नवीन वृत्ति की कल्पना कर काव्य के अंतस्तत्व का मार्मिक विश्लेषण किया। इसीलिये संस्कृत के आलोचकवृंद आनंद को 'साहित्य-सिद्धांत-सरणि का प्रतिष्ठापक' मानते हैं।

सं०ग्रं०—पी० वी० काणे; हिस्ट्री आव अलंकारशास्त्र, बंबई, १९५५; बलदेव उपाध्याय: भारतीय साहित्यशास्त्र (दो भाग), काशी, सं० २००७; एस० के० दे०: हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोएटिक्स (दो भाग), कलकत्ता।

आनंदवाद उस विचारधारा का नाम है जिसमें आनंद को ही मानव जीवन का मूल लक्ष्य माना जाता है। विश्व की विचारधारा में आनंदवाद के दो रूप मिलते हैं। प्रथम विचार के अनुसार आनंद इस जीवन में मनुष्य का चरम लक्ष्य है और दूसरी धारा के अनुसार इस जीवन में कठोर नियमों का पालन करने पर ही भविष्य में मनुष्य को परम आनंद की प्राप्ति होती है।

प्रथम धारा का प्रधान प्रतिपादक ग्रीक दार्शनिक एपिक्यूरस (३४१-२७० ई० पू०) था। उसके अनुसार इस जीवन में आनंद की प्राप्ति सभी चाहते हैं। व्यक्ति जन्म से ही आनंद चाहता है और दुःख से दूर रहना चाहता है। सभी आनंद अच्छे हैं, सभी दुःख बुरे हैं। किंतु मनुष्य न तो सभी आनंदों का उपभोग कर सकता है और न सभी दुःखों से दूर रह सकता है। कभी आनंद के बाद दुःख मिलता है और कभी दुःख के बाद आनंद। जिस कष्ट के बाद आनंद मिलता है वह कष्ट उस आनंद से अच्छा है जिसके बाद दुःख मिलता है। अतः आनंद को चुनने में सावधानी की आवश्यकता है। आनंद के भी कई भेद होते हैं जिनमें मानसिक आनंद शारीरिक आनंद से श्रेष्ठ है। आदर्श रूप में वही आनंद सर्वोच्च है जिसमें दुःख का लेश भी न हो, किंतु समाज और राज्य द्वारा निर्धारित नियमों की अवहेलना करके जो आनंद प्राप्त होता है वह दुःख से भी बुरा है, क्योंकि मनुष्य को उस अवहेलना का दंड भोगना पड़ता है। सदाचारी और निरपराध व्यक्ति ही अपनी मनोवृत्ति को संयमित करके आचरण के द्वारा सच्चा आनंद प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से एपिक्यूरस का आनंदवाद विषयोपभोग की शिक्षा नहीं देता, अपितु आनंदप्राप्ति के लिये सद्‌गुणों को अत्यावश्यक मानता है। एपिक्यूरस का यह मत कालांतर में हेय दृष्टि से देखा जाने लगा क्योंकि इसके माननेवाले सद्‌गुणों की उपेक्षा करके विषयोपभोग को ही प्रधानता देने लगे। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में जान लाक् (१६३२-१७०४), डेविड ह्यूम (१७११-१७७६), बेंथम (१७३९-१८३२) तथा जान स्टुअर्ट मिल (१८०६-१८७३) इस विचारधारा के प्रबल समर्थकों में से थे। मिल के उपयोगितावाद के अनुसार वह आनंद जिससे अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक लाभ हो, सर्वश्रेष्ठ है। केवल परिमाण के अनुसार ही नहीं, अपितु गुण के अनुसार भी आनंद के कई भेद हैं। मूर्ख और विद्वान् के आनंद में गुणगत भेद है, परिमाणगत नहीं। पा का आनंद सद्‌गुणी के आनंद से हीन है अतः लोगों को सद्‌गुणी बनक सच्चा आनंद प्राप्त करना चाहिए।

भारत में चार्वाक दर्शन ने परलोक, ईश्वर आदि का खंडन करते हुए इस संसार में ही उपलब्ध आनंद के पूर्ण उपभोग को प्राणिमात्र का कर्तव्य माना है। काम ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है। सभी कर्तव्य काम की पूर्ति के लिये किए जाते हैं। वात्स्यायन ने धर्म और अर्थ को काम का सहायक माना है। इसका तात्पर्य यह है कि सामाजिक आचरणों के सामान्य नियमों (धर्म) का उल्लंघन न करते हुए काम की तृप्ति करना ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।

दूसरी विचारधारा के अनुसार संसार के नश्वर पदार्थों के उपभोग से उत्पन्न आनंद नाशवान् है। अतः प्राणी को अविनाशी आनंद की खोज करनी चाहिए। इसके लिये हमें इस संसार का त्याग करना पड़ तो वह भी स्वीकार होगा। उपनिषदों में सर्वप्रथम इस विचारधारा का प्रतिपादन मिलता है। मनुष्य की इंद्रियों को प्रिय लगनेवाला आनंद (प्रेय) अंत में दुःख देता है। इसलिये उस आनंद की खोज करनी चाहिए जिसका परिणाम कल्याणकारी हो (श्रेय)। आनंद का मूल आत्मा मानी गयी है और आत्मा को आनंदरूप कहा गया है। विद्वान् संसार में भटकने की अपेक्षा अपने आपमें स्थित आनंद को ढूंढ़ते हैं। आनंदावस्था जीव की पूर्णता है। अपनी शुद्ध आत्मा को प्राप्त करने के बाद आनंद अपने आप प्राप्त हो जाता है। उपनिषदों के दर्शन को आधार मानकर चलनेवाले सभी धार्मिक और दार्शनिक संप्रदायों में आनंद को आत्मा की चरम अभिव्यक्ति माना गया है। शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ, निंबार्क, चैतन्य और तांत्रिक संप्रदाय तथा अरविंद दर्शन किसी न किसी रूप में आनंद को आत्मा की पूर्णता का रूप मानते हैं।

बौद्ध दर्शन में संसार को दुःखमय माना गया है। दुःखमय संसार को त्यागकर निर्वाणपद प्राप्त करना प्रत्येक बौद्ध का लक्ष्य है। निर्वाणावस्था को आनंदावस्था और महासुख कहा गया है। जैन संप्रदाय में भी

शरीर घोर कष्ट देने के बाद नित्य 'ऊर्ध्वगमन' करता हुआ असीम आनंदोपलब्धि करता है। पूर्वमीमांसा में सांसारिक आनंद को 'अनर्थ' कहकर तिरस्कृत किया गया है और उस धर्म के पालन का विधान है जो वेदों द्वारा विहित है और जिसका परिणाम आनंद है।

अफ़लातून के अनुसार सद्गुणी जीवन पूर्णानंद का जीवन है, यद्यपि आनंद स्वयं व्यक्ति का ध्येय नहीं है। अरस्तू के अनुसार वे सभी कर्म जिनसे मनुष्य मनुष्य बनता है, कर्तव्य के अंतर्गत आते हैं। इन्हीं कर्मों का परिणाम आनंद है। एडिमोनिज्म स्तोइक दर्शन में सांसारिक आनंद को आत्मा का रोग माना गया है। इस रोग से मुक्त रहकर सद्गुणों का निरपेक्ष भाव से सेवन करने पर आध्यात्मिक आनंद प्राप्त करना ही मनुष्य का सच्चा लक्ष्य है। नव्य अफ़लातूनी दर्शन में सांसारिक विषयों की अपेक्षा ईश्वर और जीव की अभेदावस्था से उत्पन्न आनंद को उच्च माना गया है। ईसाई दार्शनिक ऑगस्तिन (३५३-४३०) ने बड़े जोरदार शब्दों में ईश्वर-साक्षात्कार से उत्पन्न आनंद की तुलना में सांसारिक आनंद को मरे व्यक्ति का आनंद माना है। स्पिनोज़ा (१६३२-१६७७) ने कहा, 'नित्य और अनंत तत्व के प्रति जो प्रेम उत्पन्न होता है वह ऐसा आनंद प्रदान करता है जिसमें दुःख का लेश भी नहीं है।' इमानुएल कांट (१७२४-१८०४) का कहना है कि सर्वोत्तम श्रेय (गुड) इस संसार में नहीं प्राप्त हो सकता, क्योंकि यहाँ लोग अभाव और कामनाओं के शिकार होते हैं। आचार के अनुल्लंघनीय नियमों को (एथिकल इंपरेटिव) पहचानकर चलने पर मनुष्य अपनी इंद्रियों की भूख का दमन कर सकता है। मनुष्य की इच्छा स्वतंत्र है। उसका कुछ कर्तव्य है, अतः वह करता है। कर्तव्य कर्तव्य के लिये है। कर्तव्य का अन्य कोई लक्ष्य नहीं है। निर्विकार भाव से कर्तव्यपथ पर चलनेवाले व्यक्ति को सच्चे आनंद की प्राप्ति होनी चाहिए, किंतु इस संसार में कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को आनंद की प्राप्ति आवश्यक नहीं है। अतः कांट के अनुसार भी वास्तविक आनंद सांसारिक नहीं, कर्तव्यपालन से उत्पन्न पारमार्थिक आनंद ही पूर्ण आनंद है।

सं०ग्रं०—महाभारत, शांतिपर्व; उपनिषद्; शंकर, रामानुज, वल्लभ तथा निंबार्क के ग्रंथ; तंत्रालोक; माधव: सर्वदर्शनसंग्रह; अफ़लातून के 'लाज़' और 'रिपब्लिक'; ज़ेलर: ग्रीक दर्शन; मिल: यूटिलिटेरियनिज़्म।[रा०पां०]

ग्रान (१७०३-१७४६); रूस की सम्राज्ञी, महान् पीटर के भाई ईवान पंचम की पुत्री। मास्को के निकटस्थ इसमाइलोवों में मा के पास प्राचीन रीति रस्मों के बीच बचपन उपेक्षा और घृणा में बीता। बाद में पीटर ने इसकी संरक्षकता ग्रहण की। १७१० में कूरलैंड के ड्यूक फ्रेडरिक विलियम से विवाह हुआ लेकिन पति लेनिनग्राड से घर जाते हुए रास्ते में मर गया। विधवा ग्रान को कूरलैंड की शासिका बनाकर वहाँ रहने के लिये बाध्य किया गया। काउंट पीटर वेस्टटूवे रूसी रेजीडेंट बनाया गया। यह इसके प्रेमियों में से एक था। बाद में वीरेन रेजीडेंट नियुक्त किया गया। पीटर द्वितीय के मरने पर ग्रान रूस की सम्राज्ञी हुई (३० जनवरी, १७३०)।

२६ फरवरी को ग्रान ने मास्को में प्रवेश किया। ६ मार्च को राज्य में विप्लव हुआ और प्रिवी कौंसिल (सरदार परिषद्) का अंत कर उसने अपने को 'ऑटोक्राट' घोषित किया।

ग्रान वासना और क्रूरता की पुतली थी। हजारों को फाँसी दी गई और हजारों साइबेरिया को निर्वासित कर दिए गए। बौनों को दरबार में रखा और बागों और उद्यानों में हर किस्म के जानवर रखे, जिनपर राजमहल की खिड़की से यह गोली चलाती थी। लेकिन सरदारों पर से एक-एक करके प्रतिबंध उठ गए। 'कोर ऑव पाजेज' की स्थापना की गई, जिसमें सरदारों तथा सामंतों के लड़के साधारण लोगों से पृथक् उच्च सैनिक शिक्षा पाते थे। सैनिक सेवा की अवधि भी आजन्म की जगह पच्चीस वर्ष कर दी गई।

किंतु विदेशी संबंधों में ग्रान को सफलता मिली और रूस की प्रतिष्ठा भी बढ़ी। क्रीमिया युद्ध (१७३६-३९) साढ़े चार साल चला और अजोन शहर लेकर ही संतोष करना पड़ा, पर इससे उत्तमान साम्राज्य की अजेयता का विश्वास लुप्त हो गया। तातार लुटेरों का अंत हो गया। 'स्टेपे' में सफलता मिलने से रूस की प्रतिष्ठा बढ़ी और इसके कारण यूरोप के मामले में रूस की बात ध्यान से सुनी जाने लगी।

२८ अक्तूबर, १७४० को इसकी मृत्यु हुई। इससे पहले इसने अपने चचेरे दौहित्र इवान षष्ठ को अपना उत्तराधिकारी बनाया और वोरेन को उसका रीजेंट नियुक्त किया। [प्र० कु० वि०]

ग्रानाकोंडा संयुक्त राज्य (अमरीका) के मोंटाना राज्य का एक नगर है। यहाँ के ताँबा, सोना, चाँदी, सीसा, फासफेट आदि तैयार करने के उद्योग विश्वप्रसिद्ध हैं। संपूर्ण संयुक्त राष्ट्र अमरीका का ६० प्रतिशत मैंगनीज़ यहाँ तैयार होता है। यहाँ पर जूनियर तथा सीनियर सार्वजनिक विद्यालय हैं। यह नगर सुंदर तथा आनंददायक प्राकृतिक दृश्यों के बीच में स्थित है। मोंटाना के ताँबा उद्योग के जनक मार्किस डेली के समस्त उद्योगों का केंद्र यहीं है। उन्हीं की ग्रानाकोंडा नामक खान के नाम पर इस नगर का नाम ग्रानाकोंडा पड़ा है। सन् १९५० ई० में यहाँ की जनसंख्या ११,२५८ थी। [शि० मं० सिं०]

ग्रानुंत्सियो, गाब्रिएल दे (१८६३-१९३८ ई०) प्रसिद्ध इतालीय साहित्यकार, पत्रकार, योद्धा और राजनीतिज्ञ ग्रानुंत्सियो का जीवन बहुत घटनापूर्ण रहा। वह विलास और वैभव का प्रेमी था। यूरोपीय रोमांसकालीन परवर्ती साहित्य की प्रवृत्तियों के समन्वय की अपूर्व क्षमता ग्रानुंत्सियो की रचनाओं में मिलती है। भाषा की दृष्टि से उसे अलंकारवादी कहा जा सकता है। कविता, नाटक, उपन्यास, गद्यकाव्य सभी कुछ उसने लिखा।

इसकी प्रारंभिक रचनाएँ प्रीमो बेटे (कविताएँ) में संगृहीत हैं। अन्य काव्यकृतियों में 'कांतो नीवो', 'इंतरमेज्जो दी रीमे', 'एलेजिए रोमाने', 'ईसोतिग्रो ए ला कीमेरा', 'पोएमा पारादीसियाको', 'ले लाउदी' हैं। प्रसिद्ध उपन्यासों में 'इल प्याचे लरे', 'इंतोचेले', 'इल फुवाको' आदि हैं। नाट्यकृतियों में 'फ्रांचेस्का दा रीमिनी', 'ला फील्या दी योरियो', 'ला नावे' आदि हैं। 'ले नोवेल्ले देल्ला पेस्कारा' उसकी कहानियों का प्रसिद्ध संग्रह है। आत्मकथात्मक गद्यकाव्य की दृष्टि से 'कोतेंपलात्सियोने देल्ला मोर्ते' तथा 'लीवरो सेग्रेतो' उल्लेखनीय हैं।

सं०ग्रं०—लेखक की संपूर्ण कृतियों का राष्ट्रीय संस्करण—रोम से १९२७-३६ तथा १९३१ में निकला; पी० पाक्रात्सी : स्तुदी सुल द', ग्रानुंत्सियो तूरिन, १९३९; इतालीय साहित्य का इतिहास, जिल्द ३, नातालीनो सापेन्यो आदि। [रा० सिं० तो०]

ग्रानुपातिक प्रतिनिधान ग्रानुपातिक प्रतिनिधान शब्द का अभिप्राय उस निर्वाचन प्रणाली से है जिसका उद्देश्य लोकसभा में जनता के विचारों की एकताओं तथा विभिन्नताओं को गणित रूपी यथार्थता से प्रतिबिंबित करना है। १९वीं शताब्दी के संसदीय अनुभव ने परंपरागत प्रतिनिधित्व की प्रणाली के कुछ स्वाभाविक दोषों पर प्रकाश डाला। सरल बहुमत तथा अपेक्षाकृत मताधिकीय पद्धति (सिंपुल मेजारिटी ऐंड रिलेटिव मेजारिटी सिस्टम) के अंतर्गत प्रत्येक निर्वाचनक्षेत्र में एक या अनेक सदस्य बहुमत के आधार पर चुने जाते हैं। अर्थात् इस प्रणाली में इस बात को कोई महत्व नहीं दिया जाता कि निर्वाचित सदस्यों के प्राप्त मतों तथा कुल मतों में क्या अनुपात है।

बहुधा ऐसा देखा गया है कि अल्पसंख्यक जातियाँ प्रतिनिधान पाने में असफल रह जाती हैं तथा बहुसंख्यक अधिकाधिक प्रतिनिधित्व पा जाती हैं। कभी कभी अल्पसंख्यक मतदाता बहुसंख्यक प्रतिनिधियों को भेजने में सफल हो जाते हैं। प्रथम महायुद्ध के उपरांत इंग्लैंड में हाउस ऑव कामन्स के निर्वाचन के इतिहास से हमें इसके कई दृष्टांत मिलते हैं; उदाहरणार्थ, सन् १९१८ के चुनाव में संयुक्त दलवालों (कोलीशनिस्ट) ने अपने विरोधियों से चौगुने स्थान प्राप्त किए जब कि उन्हें केवल ४८ प्रति शत मत मिले थे। इसी प्रकार १९३५ में सरकारी दल ने लगभग एक करोड़ मतों से ४२८ स्थान प्राप्त किए जब कि विरोधी दल

६०.६ लाख मत पाकर भी केवल १८४ स्थान ही प्राप्त कर सका। इसी तरह १९४५ के चुनाव में मजूर दल को १.२ करोड़ मतों द्वारा ३९२ स्थान मिले, जब कि अनुदार दल (कंजरवेटिव्ज़) को ८०.५ लाख मतों द्वारा केवल १८९। इसके अतिरिक्त यदि हम उन व्यक्तियों की संख्या गिनें (क) जो केवल एक ही उम्मीदवार के खड़े होने के कारण अपने मताधिकार का उपयोग नहीं कर सके; (ख) जिनका प्रतिनिधि निर्वाचन में हार गया और उनके दिए हुए मत व्यर्थ गए; (ग) जिन्होंने अपने मत का उपयोग इसलिये नहीं किया कि कोई ऐसा उम्मीदवार नहीं मिला जिसकी नीति का वे समर्थन करते; (घ) जिन्होंने अपना मत किसी उम्मीदवार को केवल इसलिये दिया कि उसमें सबसे कम दोष थे, तो यह प्रतीत होगा कि वर्तमान निर्वाचन-प्रणाली वास्तव में जनता को प्रतिनिधित्व देने में अधिकतर असफल रहती है। इन्हीं दोषों का निवारण करने के लिये आनुपातिक प्रतिनिधान की विभिन्न विधियाँ प्रस्तुत की गई हैं।

आनुपातिक प्रतिनिधान का सामान्य विचार १९वीं शताब्दी के मध्य में उत्पन्न हुआ, जब कि उपयोगितावाद के प्रभाव के अंतर्गत सुधारकों ने यांत्रिक उपायों द्वारा लोकसंस्थाओं को अधिक सफल बनाने का प्रयास किया। आनुपातिक प्रतिनिधान का विचार पहले पहल १७५३ में फ्रांसीसी राष्ट्र-विधान-सभा में प्रस्तुत किया गया। परंतु उस समय इस दिशा में कोई कदम नहीं उठाया गया। १८२० में फ्रांसीसी गणितज्ञ गरगौन (Gorgonne) ने राजनीतिक गणित पर एक लेख 'निर्वाचन तथा प्रतिनिधान' के शीर्षक से ऐनल्स ऑव मैथेमेटिक्स में छापा। उसी वर्ष इंग्लैंड निवासी टामस राइट हिल नामक एक अध्यापक ने एकल संक्रमणीय प्रणाली (सिंगिल ट्रांसफरेबिल वोट) से मिलती जुलती एक योजना प्रस्तुत की और उसका एक गैरसरकारी संस्था के चुनाव में प्रयोग भी हुआ। १८३९ में इस विधि का सार्वजनिक प्रयोग दक्षिणी आस्ट्रेलिया के नगर एडिलेड में हुआ था। स्विट्ज़रलैंड में १८४२ में जिनीवा की राज्यसभा के संमुख विक्तोर कानसिदेराँ ने सूचीप्रणाली (लिस्ट सिस्टम) का प्रस्ताव रखा।

१८४४ में संयुक्त राज्य, अमरीका में टामस गिलपिन ने 'लघुसंख्यक जातियों का प्रतिनिधान' (आन दि रिप्रेजेंटेशन ऑव माइनारिटीज़ टु ऐक्ट विद दि मेजारिटी इन एलेक्टेड असेंबलीज़) नाम की एक पुस्तिका प्रकाशित की, जिसमें उन्होंने भी आनुपातिक प्रतिनिधान की सूचीप्रणाली का वर्णन किया। १२ वर्ष के उपरांत डेनमार्क में वहाँ के अर्थमंत्री कार्ल आंड्रे के द्वारा आयोजित निर्वाचनप्रणाली के आधार पर मतपत्र का प्रयोग करते हुए एकल संक्रमणीय पद्धति के आधार पर प्रथम सार्वजनिक निर्वाचन हुआ। परंतु सामान्यतः यह प्रणाली टामस हेयर के नाम से जोड़ी जाती है। टामस हेयर इंग्लैंड निवासी थे जिन्होंने अपनी दो पुस्तकों अर्थात् मशीनरी ऑव गवर्नमेंट (१८५६) तथा ट्रीटाइज़ आन दि एलेक्शन ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव्ज़ (१८५९) में विस्तारपूर्वक इस प्रणाली का उल्लेख किया। और जब जान स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक रिप्रेज़ेंटेटिव गवर्नमेंट में इस प्रस्तुत प्रणाली की 'राज्यशास्त्र तथा राजनीति में सबसे महत्वपूर्ण सुधार' कहकर प्रशंसा की तब विश्व के राजनीतिज्ञों का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट हुआ। टामस हेयर के मौलिक आयोजन में समय समय पर विभिन्न परिवर्तन होते रहे हैं।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व विभिन्न रूपों में अपनाया गया है, तथापि इन सबमें एक समानता अवश्य है, जो इस प्रणाली का एक अनिवार्य अंग भी है कि इस प्रणाली का प्रयोग बहुसदस्य निर्वाचनक्षेत्रों (मल्टी-मेंबर कांस्टीटुएंसी) के बिना नहीं हो सकता।

आनुपातिक प्रतिनिधान प्रणाली के दो मुख्य रूप हैं, अर्थात् सूची-प्रणाली तथा एकल संक्रमणीय मतप्रणाली। सूचीप्रणाली कुछ हेर फेर के साथ यूरोप के अधिकतर देशों में प्रचलित है। सामान्यतः इस प्रणाली के अंतर्गत विभिन्न राजनीतिक दलों की सूचियों को उनके प्राप्त किए गए मतों के अनुसार सदस्य दिए जाते हैं। इस प्रणाली की व्याख्या सबसे उत्तम रूप से जर्मनी के १९२० के वाइमार विधान के अंतर्गत जर्मन संसद के निम्न सदन रीष्टाग की निर्वाचन पद्धति से की जा सकती है जिसे बाडेन आयोजना के नाम से संबोधित किया जाता है। इस आयोजन के अनुसार रीष्टाग की कुल संख्या नियत नहीं थी वरन् निर्वाचन में डाले गए मतों की कुल संख्या के अनुसार घटती बढ़ती रहती थी। प्रत्येक ६०,००० मतों पर, जिसे कोटा कहते थे, एक प्रतिनिधि चुना जाता था। जर्मनी को ३५ चुनाव-क्षेत्रों में बाँट दिया गया था और इनको मिलाकर १७ चुनाव भागों में। प्रत्येक राजनीतिक दल को तीन प्रकार की सूचियाँ प्रस्तुत करने का अधिकार था: स्थानीय सूची, प्रदेशीय सूची तथा राष्ट्रीय सूची। प्रत्येक मतदाता अपना मत प्रतिनिधि को न देकर किसी न किसी राजनीतिक दल को देता था। प्रत्येक निर्वाचनक्षेत्र में मतगणना के उपरांत प्रत्येक राजनीतिक दल को स्थानीय सूची के ऊपर प्रथम उम्मीदवार से उतने प्रतिनिधि दे दिए जाते थे जितने कुल प्राप्त मतों के अनुसार कोटा के आधार पर मिलें; तदुपरांत प्रत्येक प्रदेश में स्थानीय क्षेत्रों के शेष मतों को जोड़कर फिर प्रत्येक दल को प्रदेशीय सूची से विशेष सदस्य दे दिए जाते थे और इसी प्रकार सारे प्रदेशीय क्षेत्रों के शेष मतों को फिर जोड़कर राष्ट्रसूची से कोटा के अनुसार विशष सदस्य और इसपर भी यदि शेष मत रह जायें तो ३०,००० मतों से अधिक पर एक विशेष सदस्य उस दल को और मिल जाता था। इस प्रकार बाडेन-प्रणाली ने आनुपातिक प्रतिनिधान के इस सिद्धांत को कि 'कोई भी मत व्यर्थ न जाना चाहिए' का तार्किक निष्कर्ष तक पालन किया। इस प्रणाली की सबसे बड़ी कमी यह है कि मतदाताओं को प्रतिनिधियों के चुनाव में व्यक्तिगत स्वतंत्रता नहीं होती।

एकल संक्रमणीय मत या हेयर प्रणाली के अनुसार प्रतिनिधियों का निर्वाचन सामान्य सूची द्वारा होता है, निर्वाचन के समय प्रत्येक मतदाता, उम्मीदवारों के नाम के आगे अपनी रुचि के अनुसार १, २, ३, ४ इत्यादि संख्या लिख देता है। गणना से प्रथम चरण कोटा का निष्कर्ष करना है। कोटा को प्राप्त करने के लिये डाले गए मतों की कुल संख्या को निर्वाचन-क्षेत्र के नियत सदस्यों की संख्या में एक जोड़कर, भाग करके, तदुपरांत परिणामफल में एक जोड़ दिया जाता है, अर्थात्:

$$\text{कोटा} = \frac{\text{मतों की कुल संख्या}}{\text{नियत प्रतिनिधि संख्या} + 1}$$

सबसे पहले उन उम्मीदवारों को निर्वाचित घोषित किया जाता है जो कोटा प्राप्त कर लेते हैं। यदि इससे समस्त स्थानों की पूर्ति नहीं होती तब पूर्व-निर्वाचित सदस्यों के कोटा से अधिक मतों को उनके मतदाताओं में उनकी रुचि के अनुसार बाँट दिया जाता है। यदि इसपर भी स्थानों की पूर्ति नहीं होती, तब कम से कम मत पाए हुए उम्मीदवार के मतों को तब तक बाँटते रहते हैं जब तक कुल स्थानों की पूर्ति नहीं हो जाती। अनुभव से प्रतीत होता है कि एकल संक्रमणीय प्रणाली मतदाताओं को निर्वाचन में स्वतंत्रता तथा प्रत्येक समूह को संख्या के अनुसार प्रतिनिधित्व प्रदान करती है। इसकी यह भी विशेषता है कि राजनीतिक दल निर्वाचन में अनुचित लाभ नहीं उठा सकते, परंतु आलोचकों का कहना है कि यह निर्वाचन सामान्य मतदाताओं की बुद्धि के परे है।

अपने गुणों के कारण आनुपातिक प्रतिनिधित्व का बड़ी शीघ्रता से प्रचार हुआ है। प्रथम महायुद्ध से पहले भी यूरोप के बहुत से देशों में सूची-प्रणाली का लोकसभाओं के निर्वाचन में अधिकतर प्रयोग होने लगा था। डेनमार्क में तो १८५५ में ही संसद के उच्च भवन के निर्वाचन के लिये इसका प्रयोग आरंभ हो गया था। तदुपरांत १८९१ में स्विट्ज़रलैंड ने प्रादेशिक संसदों के लिये इसे अपनाया और १८९५में बेलजियम ने स्थानीय चुनावों के लिये तथा १८९९ में संसद के लिये। स्वीडेन ने १९०७ में, डेनमार्क ने १९१५ में, हालैंड ने १९१७ में, स्विट्ज़रलैंड ने १९१८ में और नार्वे ने १९१९ में इस प्रणाली को पूर्ण रूप से सब चुनावों के लिये लागू कर दिया। प्रथम महायुद्ध के उपरांत यूरोप के समस्त नए विधानों में किसी न किसी रूप में आनुपातिक प्रतिनिधान को स्थान दिया गया।

अंग्रेजी भाषी देशों में अधिकतर एकल संक्रमणीय प्रणाली का प्रयोग हुआ है। ब्रिटेन में यह प्रणाली १९१८ से पार्लमेंट के विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधियों के निर्वाचन में इस्तेमाल होती रही है और इंग्लैंड के गिर्जे की राष्ट्रसभा के लिये, स्काटलैंड में १९१९से शिक्षा संबंधी संस्थाओं के लिये, उत्तरी आयरलैंड में १९२० से पार्लमेंट के दोनों सदनों के सदस्यों के चुनाव के लिये। आयरलैंड के विधान के अनुसार सारे चुनाव इसी प्रणाली द्वारा होते हैं। दक्षिणी अफ्रीका में इसका प्रयोग सिनेट तथा कुछ स्थानीय चुनावों में होता है। कैनेडा में भी स्थानीय चुनाव इसी आधार पर होते हैं। संयुक्त-

राज्य,अमरीका में अभी तक इस प्रणाली का प्रयोग स्थानीय चुनावों के अतिरिक्त अन्य चुनावों में नहीं हो पाया है।

द्वितीय महायुद्ध ने इस आंदोलन को और आगे बढ़ाया; उदाहरणार्थ, फ्रांस के चतुर्थ गणतंत्रीय विधान ने सामान्य सूची को अपनी निर्वाचन-विधि में स्थान दिया। तदुपरांत सीलोन, बर्मा और इंडोनेशिया के नए विधानों ने एकल संक्रमणीय मतप्रणाली को अपनाया है। भारतवर्ष में लोक-प्रतिनिधान-अधिनियमों तथा नियमों (पीपुल्स रिप्रेज़ेंटेशन ऐक्ट्स ऐंड रेगुलेशंस) के अंतर्गत लगभग सारे चुनाव एकल संक्रमणीय मतप्रणाली द्वारा ही होते हैं। आनुपातिक प्रतिनिधान प्रणाली के पक्ष और विपक्ष में बहुत से तर्क वितर्क दिए जा सकते हैं। इसमें तो संदेह नहीं कि सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से यह प्रणाली यदि यथार्थ रूप में लागू की जाय तो अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त कर सकती है। निस्संदेह यह समाज के सभी प्रमुख समूहों (ग्रूप्स) के प्रतिनिधित्व की रक्षा करती है। ऐसे देशों में जहाँ जातीय तथा सामाजिक अल्पसंख्यक समूह हैं, इस प्रणाली का विशेष महत्व है।

आलोचकों का यह कथन कि यह प्रणाली अधिक उलझी हुई है, कुछ तर्कयुक्त नहीं प्रतीत होता। प्रथम तो यह प्रणाली स्वयं ही एक प्रकार की राजनीतिक शिक्षा का साधन है, और जहाँ तक उलझन तथा विषमता का प्रश्न है, उसको निपुण तथा सुयोग्य चुनाव अधिकारी की नियुक्ति से दूर किया जा सकता है। आनुपातिक प्रतिनिधान की एक आलोचना यह भी है कि यह राजनीतिक दलों की संख्या में वृद्धि को प्रोत्साहन देती है, परिणामस्वरूप संसद में किसी एक दल का बहुसंख्यक होना कठिन हो जाता है, जिससे अधिकांश मंत्रिमंडल संयुक्तदलीय तथा फलस्वरूप अस्थायी होते हैं। परंतु बेलजियम तथा स्विट्ज़रलैंड जैसे देशों के राजनीतिक अनुभवों से यह तर्क निराधार प्रतीत होता है, क्योंकि किसी देश की राजनीतिक दलपद्धति इतनी उस देश की निर्वाचनपद्धति पर निर्भर नहीं करती जितनी उस देश की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, जातीय, भाषा संबंधी तथा राजनीतिक परिस्थितियों पर।

सं०ग्रं०—कामन्स, जे० आर० : प्रोपोर्शनल रिप्रेज़ेंटेशन; फिनर, एच० द केस अगेंसट पी० आर०; होग, सी० जीऐंड : जी०एच० हैलेट प्रोपोर्शनल रिप्रेज़ेंटेशन; हारविल, जी०पी० आर० : रिप्रेज़ेंटेशन, इट्स डेंजर्स ऐंड डिफ़ेक्ट्स; हमफ्रीज़, जे० एच० : प्रोपोर्शनल रिप्रेज़ेंटेशन।

[अ० ला० लुं०]

आनुवंशिक तत्व (जेनेटिक्स) जीवविज्ञान का वह विभाग है जिसका उद्देश्य आनुवंशिकता (हेरेडिटी) और विभेद (वेरिएशन) के विषय में ज्ञान प्राप्त करना है। वास्तव में जीवविकास (आर्गेनिक एवोल्यूशन) और भ्रूणतत्व (एंब्रिऑलोजी) आनुवंशिक तत्व से पृथक् विषय हैं, किंतु इनमें इतना घनिष्ठ संबंध है कि ये अलग नहीं किए जा सकते।

आनुवंशिक तत्व का मुख्य लक्ष्य यह ज्ञात करना है कि जो प्राणी जन्म के कारण एक दूसरे से संबंधित हैं उनमें सादृश्य तथा विभिन्नता की उत्पत्ति क्यों और कैसे होती है। यह तो सभी जानते हैं कि संतान और माता पिता में सादृश्य होता है, किंतु इस सादृश्य (और साथ ही साथ विभिन्नता) का संतान में बँटवारा किस नियम के अधीन है, इसका ज्ञान सर्वप्रथम मेंडेल के प्रयोगों और उनकी व्याख्या से हुआ, जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन दूसरे स्थान पर दिया गया है (देखिए **आनुवंशिकता**)।

दूसरा महत्वपूर्ण अनुसंधान जोहान्नसेन ने किया, जिसके प्रयोगों के कारण आनुवंशिक (हेरेडिटरी) और अनानुवंशिक विभिन्नता के अंतर का यथेष्ट ज्ञान पहली बार हुआ।

पित्रागत विभिन्नता का एकमात्र कारण उत्परिवर्तन (म्यूटेशन) है, यह एक तीसरा महत्वपूर्ण सिद्धांत है जो अनेक अवलोकनों और प्रयोगों पर आश्रित है। सटन और मॉरगन तथा उसके सहयोगियों ने यह सिद्ध कर दिखाया कि पित्रागत पदार्थ (वह पदार्थ जिसके कारण माता पिता के गुण-दोष संतान में उत्पन्न होते हैं) केंद्रकसूत्रों (क्रोमोसोमों) में होता है। यह चौथा महत्वपूर्ण सिद्धांत है।

आनुवंशिक तत्व और केंद्रकसूत्रीय कोशिकातत्व में घनिष्ठ पारस्परिक संबंध है। पित्रैक (जीन) का पुन: संयोजन मेंडेल ने प्रथम बार बताया और फिर यह ज्ञात हुआ कि केंद्रकसूत्रों में परोपगमन (क्रॉसिंग ओवर) के कारण यह पुनःसंयोजन होता है। [मु० ला० श्री०]

आनुवंशिकता (अंग्रेजी में हेरेडिटी) माता पिता तथा अन्य पूर्वजों से संतति में रूप, रंग, स्वभाव तथा अन्य लक्षणों के आने को कहते हैं। वनस्पतियों तथा प्राणियों दोनों में आनुवंशिकता महत्वपूर्ण है। प्रत्येक व्यक्ति के कुछ लक्षण आनुवंशिक होते हैं, कुछ वातावरण तथा परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होते हैं। परिस्थितिजनित लक्षणों का एक उदाहरण है अस्थिदौर्बल्य (रिकेट्स)। माता पिता में यह रोग गरीबी, निकृष्ट आहार, अस्वास्थ्यकर रहन सहन से हो सकता है और ये ही परिस्थितियाँ बच्चे में भी वही रोग उत्पन्न कर सकती हैं। कभी कभी यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि कोई विशेष लक्षण आनुवंशिक है अथवा परिस्थितिजनित।

कोशिकाओं का पता लगने के बाद से आनुवंशिकता का कारण कुछ समझ में आने लगा। वनस्पतियाँ और प्राणी केवल एक कोशिका से जीवन आरंभ करते हैं। कोशिका में जीवद्रव्य (प्रोटोप्लाज़्म) रहता है और साधारणत: यह एक अति सूक्ष्म झिल्ली से घिरी रहती है। इसके भीतर एक केंद्रक (न्यू-क्लिअस) होता है। माता के गर्भ में जो नन्हाँ सा अंड बनता है वह केवल एक कोशिका है। पुरुष का शुक्राणु भी अपना जीवन केवल एक कोशिका से प्रारंभ करता है। अंड और शुक्राणु के मिलने से ही नया प्राणी बनता है। दोनों के मिलने को निषेचन (फ़र्टिलाइज़ेशन) कहते है।

उन पौधों में, जिनमें नर और मादा पृथक् होते हैं, बीजांड और पराग के संयोग को निषेचन कहते हैं और इसी से नए पौधे का प्रारंभ होता है। वनस्पतियों में बीजांड और पराग अथवा प्राणियों में जीवांड और शुक्राणु के संयोग से केवल एक कोशिका बनती है। यह बढ़कर दो कोशिकाओं में विभक्त हो जाती है। इनमें से प्रत्येक कोशिका बढ़कर स्वयं दो टुकड़ों में विभाजित होती है और यह क्रिया लगातार चलती रहती है। प्रत्येक कोशिका में माता पिता से प्राप्त लक्षणों के समस्त उत्पादक वर्तमान रहते हैं। इन उत्पादकों को पित्रैक (जीन) कहते हैं। ये इतने छोटे होते हैं कि सूक्ष्मदर्शी द्वारा भी नहीं दिखाई पड़ते। अनुमान किया गया है कि साधारण प्रोटीन अणु की अपेक्षा एक पित्रैक का व्यास दसगुने से अधिक न होता होगा (देखें **अणु**)। अब सभी मानते हैं कि ये पित्रैक अलग नहीं रहते (जैसे बालू में उसके कण रहते हैं उस प्रकार नहीं); वे कुछ सूत्रों (तागों) की कोशिकाओं में रहते हैं (जैसे इमली में उसके बीज)। ये सूत्र केंद्रकसूत्र (क्रोमोसोम) कहलाते हैं, क्योंकि ये व्यक्ति की कोशिका के केंद्रक के प्रमुख भाग हैं। प्रत्येक पौधे या प्राणी के लिये इन सूत्रों की संख्या अचल रहती है। जब अंडाणु और शुक्राणु के संयोग के बाद नया प्राणी बनता है तभी से उसमें केंद्रकसूत्रों की संख्या ठीक वही हो जाती है जो उस जाति के प्राणियों के लिये अचल है। अधिकांश प्राणियों के केंद्रकसूत्र इतने बड़े होते हैं कि वे सूक्ष्मदर्शी में दिखाई पड़ते हैं।

अंडाणु और शुक्राणु (अथवा बीजाणु और पराग) के बनने में पित्रैकों का विशेष हेर फेर होता है, जिससे संगत लड़ियों के कुछ टुकड़ों में अदल बदल हो जाता है। इस क्रिया की ब्योरेवार चर्चा **कोशिकातत्व** शीर्षक लेख में मिलेगी। परंतु जो केंद्रकसूत्र बनते हैं उनमें पित्रैकों की संख्या पूरी रहती है। वास्तव में प्रत्येक केंद्रकसूत्र दोहरा रहता है; प्रत्येक आधे को हम यदि एक लड़ी कहें तो इन दो लड़ियों में पित्रैकों की स्थितियाँ समान रहती हैं। यदि एक लड़ी में एक पित्रैक व्यक्ति की ऊँचाई का नियंत्रण करता है तो दूसरी लड़ी में उसका जोड़ीदार पित्रैक भी ऊँचाई का नियंत्रण करता है, यद्यपि यह संभव है कि एक सूत्र में पित्रैक व्यक्ति को लंबा बनानेवाला हो और दूसरे में नाटा बनानेवाला।

नए प्राणी की प्रारंभिक कोशिका में आधे केंद्रकसूत्र माता से आते हैं, आधे पिता से। स्वयं माता पिता को अपने माता पिता से पित्रैक मिले रहते हैं। इसलिये नए प्राणी को कौन कौन से पित्रैक मिलेंगे और फलत: उसका

रूप, रंग, स्वभाव आदि आनुवंशिकता द्वारा कैसा होगा, यह अचानक (दैवात्) निश्चित होता है; यहाँ तक कि माता पिता के गुणों से संतति के बड़े समूहों के बारे में संभाविता सिद्धांत (थ्योरी ऑव प्रॉबैबिलिटीज) के आधार पर कई बातें पहले से बताई जा सकती हैं। वस्तुत: यह सब ज्ञान पीछे प्राप्त हुआ। आनुवंशिकता के नियमों का पता विभिन्न प्रकार के मटरों को अनेक बार बोकर मेंडेल नामक पादरी (सन् १८२२-८४) ने लगाया।

मेंडेल के सफल होने का कारण यह था कि उसने मूल प्रश्नों का उत्तर जानने के लिये बड़े सरल प्रयोगों की योजना की और परीक्षित प्राणी की समस्त आनुवंशिकता समझने की अपेक्षा इनी गिनी कुछ विशेषताओं पर ध्यान दिया। मेंडेल ने अपने उद्यान में मटर पर प्रयोग आरंभ किए। मटर के ये पौधे अधिकांश पाइसम सेटाइवम जाति के थे, जो अपनी विभिन्न विशेषताओं के आधार पर कई उपजातियों में विभाजित किए जाते हैं। मेंडेल ने देखा कि (१) कुछ पौधों के बीज गोल होते हैं और कुछ के सिकुड़े हुए; (२) कुछ के बीजों के बीजपत्र (कॉटिलेडन) पीले निकलते हैं और कुछ के हरे; (३) कुछ के बीजों के छिलके श्वेत होते हैं और कुछ के भूरे; (४) कुछ की फलियाँ सब जगह फूली हुई रहती हैं और कुछ की फलियाँ दानों के बीच में संकुचित; (५) कुछ की कच्ची फलियाँ हरी हैं और कुछ की पीली; (६) कुछ के फूल पूरे तने पर सब जगह लगे रहते हैं और कुछ के समस्त फूल शिखा पर एकत्रित रहते हैं; (७) कुछ के तने लंबे होते हैं और कुछ के नाटे। सामान्यत: पाइसम सेटाइवम में स्वयंनिषेचन पाया जाता है और इस कारण उसकी सभी उपजातियों की विशेषताएँ पीढ़ी प्रति पीढ़ी बनी रहती हैं।

मेंडेल ने एक लंबे पौधे को एक नाटे पौधे से अपरनिषेचित (क्रॉस फ़र्टिलाइज़ड) किया। इस काम के लिये एक पौधे के पुंकेसर (स्टैमेंस) काटकर फेंक दिए जाते हैं, और अन्य पौधे से परागकण (पॉलेन ग्रेंस) लेकर इस पौधे के वर्तिकाग्र (स्टिग्मा) पर छिड़क दिए जाते हैं, जिससे दो पृथक् पौधों के पराग और बीजांड (ओव्यूल) का संयोग हो जाता है। किस प्रकार के पौधे का पराग था और किसका बीजांड, इसका कोई प्रभाव इस प्रथम प्रयोग के परिणाम पर नहीं पाया गया। मेंडेल ने देखा कि लंबी और नाटी जाति के पौधों के अपरनिषेचन से जो बीज उत्पन्न हुए वे उगने पर सबके सब लंबे पौधे हुए। इन पौधों के स्वयंनिषेचन से जो बीज पैदा हुए वे उगने पर या तो लंबे हुए या नाटे, एक पौधा भी मझोली ऊँचाई का नहीं हुआ। इन सब पौधों को पृथक् पृथक् गिनने पर मेंडेल ने पाया कि लंबे पौधे गिनती में नाटे पौधों के तीन गुने थे। स्वयंनिषेचन के पश्चात् नाटे पौधों के बीज से उगने पर सदैव नाटे पौधे ही बनते रहे; किंतु लंबे पौधों के बीज से उगने पर नाटे और लंबे दोनों प्रकार के पौध बन जाते थे। एक एक को गिनने पर मेंडेल को यह पता चला कि लंबे पौधों में एक तिहाई पौधे तो ऐसे थे जिनके स्वयंनिषेचन के बीज से उगने पर केवल लंबे पौधे प्राप्त हुए, किंतु दो तिहाई लंबे पौधे ऐसे थे जिनसे स्वयंनिषेचन के पश्चात् दोनों प्रकार के बीज पैदा हुए, अर्थात् कुछ से लंबे पौधे उगे और कुछ से नाटे। यह बात हर पीढ़ी में पाई गई। ये बातें साथ की सारणी में स्पष्ट रूप से दिखाई गई हैं, जिसमें यही नियम मेंडेल ने
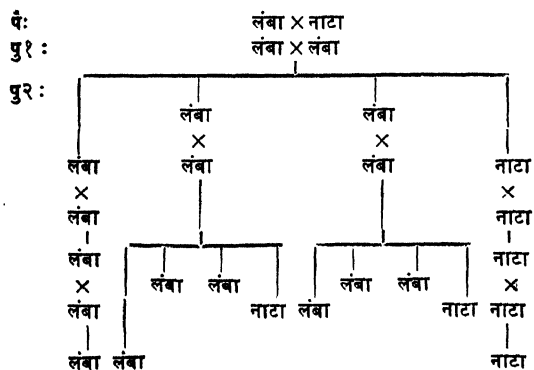
[पै = पैतृक पीढ़ी, पु १ = पहली पुत्रीय पीढ़ी तथा पु२ = दूसरी पुत्रीय पीढ़ी है।]

पौधे के अन्य लक्षणों के लिये भी ठीक पाया। मनुष्यों, अन्य प्राणियों तथा पौधों के लिये भी यही नियम ठीक पाया जाता है। विशेष अचरज की बात यह जान पड़ती है कि पहली पुत्रीय पीढ़ी के समान लक्षणवाले माता पिता से (ऊपर के उदाहरण में दो लंबे पौधों से) आगामी पीढ़ी में कुछ संतानें एक तरह की होती हैं और शेष दूसरी तरह की (ऊपर के उदाहरण में कुछ पौधे लंबे और कुछ नाटे)। यही प्रश्न अधिक उग्र रूप में तब उपस्थित होता है जब देखा जाता है कि गोरे माता पिता के कुछ बच्चे काले होते हैं।

अपने प्रयोगों के आधार पर मेंडेल ने दो नियम बनाए और उनके ठीक होने का कारण भी बताया। आधुनिक भाषा में मेंडेल की व्याख्या निम्नलिखित प्रकार से समझाई जा सकती है, परंतु स्मरण रखना चाहिए कि ये नियम दो चार व्यक्तियों पर लागू नहीं होते। जब कहा जाता है कि चार संतान में से एक नाटी होगी तब अर्थ यह रहता है कि यदि हजारों संतानों की परीक्षा की जाय तो उनमें से लगभग एक चौथाई नाटी होगी।

व्याख्या यह है कि पीढ़ी प्रति पीढ़ी लंबे उत्पन्न होनेवाले पौधों के प्रत्येक परागकण में या बीजाणु में दो पित्रैक ऐसे होते हैं जो पौधे को लंबा करते हैं। इसी प्रकार पीढ़ी प्रति पीढ़ी नाटे उगनेवाले पौधों में दो पित्रैक नाटा करनेवाले होते हैं। जब इस प्रकार के एक लंबे और एक नाटे पौधे के संयोग से संतान उत्पन्न होती है तो उनमें से प्रत्येक में एक पित्रैक लंबा करनेवाला होता है और एक नाटा करनेवाला (इसका कारण आगे चलकर बताया जायगा)। परंतु दोनों पित्रैक समान बल के नहीं होते। एक पित्रैक दूसरे को दबा देता है। ऊपर के उदाहरण में लंबा करनेवाला पित्रैक तिरोधायक (बलवान) है, नाटा करनेवाला पित्रैक तिरोहित है (अर्थात् उसका प्रभाव छिपा रहता है)। परिणाम यह होता है कि यद्यपि प्रथम पुत्रीय पीढ़ी के व्यक्तियों में एक पित्रैक लंबा करनेवाला रहता है (सुविधा के लिये इसका नाम लं रख लें) और दूसरा नाटा करनेवाला (नाम ना) तो भी व्यक्ति लंबे ही रहेंगे। अब यदि इस पीढ़ी के दो दो पौधों के योग से अनेक नए पौधे उगाए जायँ तो परिणाम क्या होगा? इन पौधों की जोड़ी में से एक को हम पिता कह सकते हैं (जिससे पराग लिया जाता है) और दूसरे को माता। अब देखना चाहिए कि जब माता और पिता दोनों में एक लं तथा एक ना विद्यमान है तो इस प्रकार के माता पिता की संतान को कौन कौन से पित्रैक मिलेंगे। (१) किसी को माता से लं मिलेगा और पिता से भी लं; (२) किसी को यद्यपि माता से लं मिलेगा, परंतु पिता से ना; (३) किसीको माता से ना मिलेगा, परंतु पिता से लं०; (४) किसी को माता से भी ना मिलेगा और पिता से भी ना। बस ये ही चार प्रकार के परिणाम हो सकते हैं।

इनमें से दो लं वाले पौधे अवश्य लंबे होंगे, क्योंकि लं नाम का पित्रैक पौधों को लंबा करता है। फिर, दो ना वाले पौधे अवश्य नाटे होंगे। रही लं ना और ना लं वाले पौधों की बात। ये सभी लंबे ही होंगे, क्योंकि लं तिरोधायक है, वह ना को दबा देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चार पौधों में से तीन लंबे और एक नाटा होगा। मेंडेल के भी प्रयोगों में यही बात निकली थी। इस प्रकार हम सुगमता से समझ जाते हैं कि दो लंबे पौधों की संतान नाटी कैसे हो सकती है।

पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि इन लं लं, लं ना, ना लं और ना ना पित्रैकवाले पौधों में यदि परस्पर निषेचन कराया जाय तो उनकी संतानों में किन किन प्रकारों से पित्रैकों का बँटवारा हो सकता है। इस बँटवारे के आधार पर उन्हें यह भी ज्ञात हो जायगा कि तीसरी पुत्रीय पीढ़ी में कितने लंबे और कितने नाटे पौधे होंगे, जिसका पता मेंडेल ने वर्षों के वास्तविक प्रयोग के बाद पाया था। इसके अनंतर मेंडेल ने इसपर प्रयोग किया कि लंबाई अथवा नाटेपन के अतिरिक्त कोई और गुण भी साथ में हो, जैसे गोल तथा सिकुड़े बीज का विकल्प, तो संतति में क्या होगा। मेंडेल के एक प्रयोग में पीले तथा हरे में विकल्प था और साथ ही गोल बीज तथा सिकुड़े बीज का। उसने देखा कि अपरनिषेचन के अभाव में पीले और साथ ही गोल बीजवाले पौधों की संतति में पीढ़ी प्रति पीढ़ी इसी प्रकार के बीज होते हैं; इसी प्रकार हरे और साथ ही सिकुड़े बीजवाले पौधों की संतति में सदा उसी प्रकार के बीज होते हैं। मेंडेल ने प्रयोग से देख लिया कि पीले तथा हरे रंगों में पीला तिरोधायक होता है, वह हरे को दबा देता है। उसने यह भी देखा कि गोल और सिकुड़े रूपों में गोल तिरोधायक होता है। अब उसने पीले तथा साथ ही गोल बीजवाले पौधों तथा हरे और साथ ही सिकुड़े बीजवाले

पौधों से संकर संतति उत्पन्न की, इत्यादि। इन प्रयोगों से पता चला कि इन सब पौधों में पीले और हरे रंगों के लिये वही नियम लागू होता है जो गोल और सिकुड़े रूपों का झमेला न रहने से होता। इसी प्रकार उसने देखा कि गोल और सिकुड़े बीजों पर वही नियम लागू होता है जो रंगों का झमेला न रहने से होता। यदि पीला रंग उत्पन्न करनेवाले पित्रैक का नाम पी रखा जाय, हरावाले के लिये ह, गोल के लिये गो और सिकुड़े के लिये सि, तो माता पिता में से एक में, मान लें पिता में, सिद्धांत के अनुसार (आगे देखें) पी, पी, गो, गो रहेंगे और माता में ह, ह, सि, सि। इनमें से १६ प्रकार के चयन हो सकते है। द्वितीय पुत्रीय पीढ़ी में ये सब चयन विद्यमान रहेंगे, अवश्य ही कोई कम संख्या में, कोई अधिक संख्या में। प्रत्येक चयन के लिये पित्रैक के तिरोधायक और तिरोहित होने पर ध्यान देकर हम बता सकते हैं कि पौधे में बीज का रंग और रूप कसा होगा। नीचे की सारणी में दिखाया गया है कि प्रथम पुत्रीय पीढ़ी के पीले गोल बीजवाले पौधों के स्वयंनिषेचन से किस प्रकार के पौधे कितने उत्पन्न होते हैं।

पीले और गोल बीज वाला पौधा X हरे और सिकुड़े बीजवाला पौधा

९ : ३ : ३ : १ का अनुपात संभाविता-सिद्धांत (थ्योरी ऑव प्रॉबेबिलिटीज़) से अपेक्षित भी है। गोले और सिकुड़े आकार के बीजवाले पौधे पु२ में ३ :१ के अनुपात में प्रकट होते हैं और पीले और हरे बीजवाले पौधे भी इसी ३ : १ के अनुपात में उत्पन्न होते हैं। तो संभावना के नियम के अनुसार ये दोनों जोड़ेवाले प्राणी (३ : १) (३ : १)=९ : ३ : ३ : १ के अनुपात में प्रकट होंगे, जिनमें ९ पौधों में दोनों तिरोधायक लक्षण (पीला और गोल) होंगे, ३ पौधों में एक तिरोधायक और दूसरा तिरोहित गुण (पीला और सिकुड़ा) होगा, ३ में भी इसका उलटा एक तिरोधायक और दूसरा तिरोहित गुण होगा (हरा और गोल) और १ में दोनों लक्षण तिरोहित (हरा और सिकुड़ा) होंगे।

ऊपर बताया जा चुका है कि मेंडेल के नियम केवल तभी ठीक होते हैं जब पौधों (या व्यक्तियों) की संख्या पर्याप्त बड़ी हो। बड़ी संख्याओं की आवश्यकता को हम एक उदाहरण से समझा सकते हैं। सभी जानते हैं कि एक रुपए को बार बार उछालने पर लगभग आधी बार यह पट गिरता है आधी बार चित, परंतु इससे यह तो नहीं कहा जा सकता कि केवल दो उछाल में एक में पट गिरेगा, एक में चित। हाँ, यदि एक हज़ार बार उछाला जाय तो इनमें से लगभग आधी बार पट और आधी बार चित आने की पूरी संभावना है। यह देखना रोचक होगा कि मेंडेल ने किन संख्याओं पर अपने नियम बनाए। कुछ प्रयोगों की वास्तविक संख्याएँ ये हैं :

लक्षण	तिरोधायक		तिरोहित		योग
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	
बीज का रूप	५४७४	(७४·७४)	१८५०	(२५·२६)	७३२४
बीजपत्र का रंग	६०२२	(७५·०६)	२००१	(२४·९४)	८०२३
बीज के छिलके और फूलों का रंग	७०५	(७५·८९)	२२४	(२४·११)	९२९
फली का रूप	८८२	(७४·६८)	२९९	(२५·३२)	११८१
फली का रंग	४२८	(७३·७९)	१५२	(२६·२१)	५८०
फलियों की जगह	६५१	(७५·८७)	२०७	(२४·१३)	८५८
तने की ऊँचाई	७८७	(७३·९६)	२७७	(२६·०४)	१०६४
योग	१४,९४९	(७४·९०)	५०१०	(२५·१०)	१९९५९

इस सारणी से निम्नलिखित अनुपात प्राप्त होते हैं :

पीला और गोल	हरा और गोल	पीला और सिकुड़ा	हरा और सिकुड़ा
३१५	१०८	१०१	३२

स्पष्ट है कि यह अनुपात ९ : ३ : ३ : १ के बहुत निकट है।

परंतु मेंडेल के बाद शीघ्र ही जननविज्ञों को यह ज्ञात हुआ कि मेंडेल का दूसरा सिद्धांत प्रत्येक दो जोड़ी लक्षणों के लिये ठीक नहीं है। मीठे मटर (लेथाइरस ओडोरेटस) में यह देखा गया कि फूल का बैंगनी रंग तिरोधायक है और लाल तिरोहित, तथा इनके पित्रैक दूसरी पुत्रीय पीढ़ी में ३ : १ के अनुपात में पाए जाते हैं। इसी तरह लंबा पराग तिरोधायक और गोल पराग तिरोहित है तथा इन लक्षणोंवाले प्राणी भी द्वितीय पुत्रीय पीढ़ी में ३ : १ के अनुपात में मिलते हैं, परंतु जब ये दोनों पित्रैकयुग्म एक साथ रहते हैं तो द्वितीय पुत्रीय पीढ़ी में ९ : ३ : ३ : १ का अनुपात नहीं मिलता। बेटसन और पैनट को अपने प्रयोगों में निम्नलिखित अनुपात मिला :

बैंगनी और लंबा	बैंगनी और गोल	लाल और लंबा	लाल और गोल
१५२८	१०६	११७	३८१

जो ९ : ३ : ३ : १ से बहुत भिन्न है।

इसका कारण मॉरगन (१९११) और उसके सहयोगियों के प्रयोगों से ज्ञात हुआ। इन जननविज्ञों ने सामान्य कदलीमक्षी (ड्रौसोफ़िला मेलानोगैस्टर) पर प्रयोग किया। उन्होंने यह देखा कि सब पित्रैक चार समूहों में बँटे हुए हैं। एक समूह का कोई पित्रैक अन्य समूहों के पित्रैकों के साथ पूर्ण स्वतंत्रता से पुराने और नए संयोजन में युक्त अथवा वियुक्त होता है, परंतु एक समूह के कोई दो पित्रैक वियुक्त होने में एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं होते। इसका कारण यह बताया गया कि केंद्रकसूत्रों पर पित्रैकों की स्थिति निश्चित रहती है और संतति में एक ही केंद्रकसूत्र पर स्थित दो पित्रैकों के साथ पहुँच जाने की संभावना अधिक रहती है और इस प्रकार संतति में इन पित्रैकों के पहुँचने में पूर्ण स्वतंत्रता नहीं रहती। केवल पूर्ण स्वतंत्रता रहने पर ही ९ : ३ : ३ :१ का मेंडलीय अनुपात प्राप्त होता है। इतना ही नहीं, एक ही केंद्रकसूत्र पर स्थित पित्रैक एक दूसरे के जितना ही निकट रहेंगे उतना ही संतति में उनके एक साथ पहुँचने की संभावना अधिक होगी। यह सिद्धांत यहाँ तक विश्वसनीय निकला कि इसके आधार पर मानचित्र भी बनाया जा सका कि केंद्रकसूत्र पर विविध गुणवाले पित्रैक किस क्रम में आते हैं। एक सूत्र पर रहनेवाले पित्रैक ग्रथित-पित्रैक (लिंक्ड जीन्स) कहलाते हैं।

पित्रैकों का केंद्रकसूत्रों पर रहना निम्नलिखित रीति से जाना गया। कदलीमक्षी के सब पित्रैक (जिनका जननविज्ञों को ज्ञान था) आनुवंशिकता के विचार से चार समूहों में विभाजित पाए गए और इस मक्षी में चार जोड़े केंद्रकसूत्र (क्रोमोसोम्स) देखे गए। इसके अतिरिक्त यह भी पाया गया कि केंद्रकसूत्रों पर मेंडल के दोनों नियम लागू होते हैं। इससे यह परिणाम निकाला गया है कि पित्रैक केंद्रकसूत्र पर स्थित रहते हैं। यह आनुवंशिकता का केंद्रकसूत्र सिद्धांत है जिसको मौरगन और उसके सहकारियों ने स्थापित किया।

मातापिता के संयोग से लड़का उत्पन्न होगा या लड़की, अर्थात् संतति का लिंग (सेक्स) क्या होगा और लिंग के संबंध में आनुवंशिकता के नियम क्या हैं, इसपर भी बहुत खोज हुई है और कुछ महत्वपूर्ण बातें ज्ञात हुई हैं। लिंग संबंधी कुछ गुण विशेष केंद्रकसूत्रों में रहते हैं जिन्हें लिंग केंद्रकसूत्र कहते हैं और सुविधा के लिये जिन्हें x (एक्स) से सूचित किया जाता है। प्राणियों के कई समूहों में (स्तनधारियों और कई कीटों में) दो एक्स केंद्रकसूत्रों से स्त्री उत्पन्न होती है, एक से नर। इस प्रकार स्त्री xx होती है, नर x। संतति में स्त्री से साधारण नियम के अनुसार एक x आता है, परंतु आधा x संतति में जा नहीं सकता। इसलिये संतति में किसी में पिता से एक समूचा x पहुँच जाता है, किसी में एक भी नहीं। इस प्रकार संतति में किसी के हिस्से में xx पड़ता है और वह स्त्री होती है, किसी के हिस्से में केवल x पड़ता है और वह नर होता है। पिता के शुक्राणु वस्तुतः दो प्रकार के होते हैं, लगभग आधे में x रहता है, शेष में नहीं। माता से बने सभी अंडाणुओं में x रहता है। संभाविता सिद्धांत के अनुसार ऐसा होगा कि अंडाणु से आधी बार x वाला शुक्राणु मिलेगा, आधी बार x-रहित शुक्राणु मिलेगा। अर्थात् लगभग आधे पुत्र उत्पन्न होंगे, आधी कन्याएँ। संसार में ऐसा होता भी है और यह नियम सभी प्राणियों और पौधों पर लागू होता है। यदि किसी दंपति को सात कन्याएँ उत्पन्न हों और पुत्र एक भी नहीं, तो यह न समझना चाहिए कि पति या पत्नी में कोई दोष है; यह केवल संयोग की बात है कि प्रत्येक बार कन्या उत्पन्न हुई। संभाविता सिद्धांत के अनुसार २^{७} अर्थात्

१२८ दंपतियों में, जिनके सात सात संतान हों, साधारणतः एक को सात लड़कियाँ होने की संभावना है, एक को सात पुत्र।

कुछ समूहों में (जैसे पक्षियों, फतिंगों इत्यादि में) पूर्वोक्त संबंध उलट जाता है। इनके नर में दो x होते हैं, स्त्री में एक; परंतु इन समूहों में भी पुत्रों और कन्याओं की संख्याएँ पूर्वोक्त कारण से ही लगभग बराबर होती हैं।

लिंगों के बनने का कारण और कुछ पित्रैकों के ग्रथित होने की बात समझ लेने से यह भी समझ में आ जाता है कि कुछ गुण क्यों विशेष रूप से लिंग से संबद्ध रहते हैं। अवश्य ही उन गुणों के पित्रैक लिंगसूत्र में ग्रथित होंगे। इन गुणों को लिंगग्रथित (सेक्स लिंक्ड) गुण कहते हैं। उदाहरणतः कुछ प्रकार की वर्णांधताएँ (लाल और हरे में अंतर न दिखाई पड़ना) अथवा अधिरक्तस्राव (रुधिर के न जम सकने का रोग, हेमोफ़िलिया) मेंडिलीय रीति से आनुवंशिक नहीं है। उनकी आनुवंशिकता निम्नलिखित प्रकार की है: रोगी व्यक्ति से रोग उसके लड़के लड़कियों तथा पोतियों में नहीं पहुँचता, परंतु आधे पोतों में पहुँचता है। स्थानाभाव के कारण इसे यहाँ ब्योरेवार नहीं समझाया जा सकता।

आनुवंशिकता का एक रोचक उदाहरण अभिन्न यमजों (एक समान जुड़वाँ बच्चों) में दिखाई पड़ता है। यमजों में दो जातियाँ होती है: भ्रात्रीय और एकसम (फ़्रेटर्नल और आइडेंटिकल)। जब माता के दो अंडाणुओं में से प्रत्येक पृथक् शुक्राणु से निषेचित होता है तब जो बच्चे उत्पन्न होते हैं वे भ्रात्रीय होते हैं, वे उतने ही असमान हो सकते हैं जितने दो बार में अलग अलग जनमे बच्चे। एकसम यमज एक ही शुक्राणु से निषेचित एक ही अंडाणु से, उसके विभाजित होकर अलग हो जाने से, उत्पन्न होते हैं। अमरीका के डाइओन परिवार में उत्पन्न हुई पाँच जुड़वाँ बहनें इस प्रकार के यमजों की प्रसिद्ध उदाहरण हैं। रूप, रंग आदि में ये बहनें प्रायः एक सी लगती थीं। ऐसी संतति से यह अध्ययन करने का अच्छा अवसर मिलता है कि व्यक्ति पर केवल परिस्थितियों का क्या प्रभाव पड़ता है। [मु० ला० श्री०]

आनुवंशिकता और रोग

में बहुधा कोई न कोई संबंध रहता है। अनेक रोग दूषित वातावरण तथा परिस्थितियों से उत्पन्न होते हैं, किंतु अनेक ऐसे रोग भी होते हैं जिनका कारण माता पिता से जन्मना प्राप्त कोई दोष होता है। ये रोग आनुवंशिक कहलाते हैं। कुछ ऐसे रोग भी हैं जो आनुवंशिकता तथा वातावरण दोनों के प्रभावों के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं।

जीवों में नर के शुक्राणु तथा स्त्री की अंडकोशिका के संयोग से संतान की उत्पत्ति होती है। शुक्राणु तथा अंडकोशिका दोनों में केंद्रकसूत्र रहते हैं। इन केंद्रकसूत्रों में स्थित पित्रैक (जीन्स) के स्वभावानुसार संतान के मानसिक तथा शारीरिक गुण और दोष निश्चित होते हैं (विस्तृत व्याख्या के लिये देखें **आनुवंशिकता**)। पित्रैकों में से एक या कुछ के दोषोत्पादक होने के कारण संतान में वे ही दोष उत्पन्न हो जाते हैं। कुछ दोषों में से कोई रोग उत्पन्न नहीं होता, केवल संतान का शारीरिक संगठन ऐसा होता है कि उसमें विशेष प्रकार के रोग शीघ्र उत्पन्न होते हैं। इसलिये यह निश्चित जानना कि रोग का कारण आनुवंशिकता है या प्रतिकूल वातावरण, सर्वदा साध्य नहीं है। आनुवंशिक रोगों की सही गणना में अन्य कठिनाइयाँ भी हैं। उदाहरणतः बहुत से जन्मजात रोग अधिक आयु हो जाने पर ही प्रकट होते हैं। दूसरी ओर, कुछ आनुवंशिक दोषयुक्त बच्चे जन्म लेते ही मर जाते हैं।

तिरोधायक तथा तिरोहित पित्रैकों का वर्णन पूर्वगामी (**आनुवंशिकता** शीर्षक) लेख में किया जा चुका है। तिरोधायक रोगकारक पित्रैक के उपस्थित रहने पर इनके प्रभाव से रोग प्रत्येक पीढ़ी में प्रकट होता है, किंतु तिरोहित पित्रैकों के कारण होनेवाले रोग वंश की किसी संतान में अनायास उत्पन्न हो जाते हैं, जैसा कि मेंडेल के आनुवंशिकता विषयक नियमों से स्पष्ट है। कुछ रोग लड़कियों से कहीं अधिक संख्या में लड़कों में पाए जाते हैं।

आनुवंशिक रोगों के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं:

चक्षुरोग—तिरोधायक पित्रैक के दोष से मोतियाबिंद (आँख के ताल का अपारदर्शक हो जाना), अति निकटदृष्टि (दूर की वस्तु का स्पष्ट न दिखाई देना), ग्लॉकोमा (आँख के भीतर अधिक दाब और उससे होनेवाली अंधता), दीर्घदृष्टि (पास की वस्तु स्पष्ट न दिखाई पड़ना) इत्यादि रोग होते हैं। तिरोहित पित्रैक के कारण विवर्णता (संपूर्ण शरीर के चमड़े तथा बालों का श्वेत हो जाना), ऐस्टिग्मैटिज्म (एक दिशा की रेखाएँ स्पष्ट दिखाई पड़ना और लंब दिशा की रेखाएँ अस्पष्ट), केराटोकोनस (आँख के डले का शंकुरूप होना), इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं। लिंगग्रथित पित्रैकजनित चक्षुरोगों में, जो पुरुषों में अधिक होते हैं, वर्णांधता (विशेषकर लाल और हरे रंगों में भेद न ज्ञात होना) दिनांधता (दिन में न दिखाई देना), रतौंधी (रात को न दिखाई देना) इत्यादि रोग हैं।

चर्मरोग—इनमें एक सौ से अधिक आनुवंशिक रोगों की गणना की गई है। इनमें सोरिएसिस (जीर्ण चर्मरोग जिसमें श्वेत रूसी छोड़नेवाले लाल चकत्ते पड़ जाते हैं), इक्थिआसिस (जिसमें चमड़ी में मछली के छिलकों के समान पपड़ी पड़ जाती है), केराटोसिस (जिसमें चमड़ी सींग के समान कड़ी हो जाती है) इत्यादि प्रमुख हैं।

विकृतांग—अधिकांगुलता (अँगुलियों का छः या इससे अधिक होना), युक्तांगुलता (कुछ अँगुलियों का आपस में जुड़ा होना), कई प्रकार का बौनापन, अस्थियों का उचित रीति से न विकसित होना, जन्म से ही नितंबास्थि का उखड़ा रहना इत्यादि।

पेशिक अपुष्टता—पेशियों का दुर्बल होना, कुछ प्रकार के अनन्वय (अंगों का मिलकर कार्य करने की अयोग्यता), अतिवृद्धि के कारण तंत्रिकाओं (नर्व्ज़) का सूज जाना इत्यादि।

रक्तदोष—हेमोफ़ीलिआ (रक्तस्राव का न रुकना), विशेष प्रकार की रक्तहीनता इत्यादि।

चयापचय रोग—मधुमेह (मूत्र में शर्करा का निकलना, डायबिटीज़), गठिया, चेहरे का विकृत तथा भयानक हो जाना इत्यादि।

मानसिक रोग—सनक, मिर्गी, अल्पबुद्धिता इत्यादि का भी कारण आनुवंशिकता हो सकती है। विविध रोग, जैसे बहरापन, गूंगापन, कटा होंठ (हेयरलिप), विदीर्ण तालु (क्लेफ़्ट पैलेट) आदि भी आनुवंशिकता से प्रभावित होते हैं। इनके सिवाय आनुवंशिकता यक्ष्मा, उच्च रक्तचाप, कर्कट (कैंसर) इत्यादि रोगों की ओर झुकाव उत्पन्न कर देती है।

[दे० सिं०]

आन्वीक्षिकी

न्यायशास्त्र का प्राचीन अभिधान। प्राचीन काल में आन्वीक्षिकी विचारशास्त्र या दर्शन की सामान्य संज्ञा थी और यह त्रयी (वेदत्रयी), वार्ता (अर्थशास्त्र), दंडनीति (राजनीति) के साथ चतुर्थ विद्या के रूप में प्रतिष्ठित थी (आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दंडनीतिश्च शाश्वती। विद्या ह्येताश्चतस्रस्तु लोकसंसृतिहेतवः) जिसका उपयोग लोक के व्यवहारनिर्वाह के लिये आवश्यक माना जाता था। कालांतर में इस शब्द का प्रयोग केवल न्यायशास्त्र के लिये संकुचित कर दिया गया। वात्स्यायन के न्यायभाष्य के अनुसार अन्वीक्षा द्वारा प्रवृत्त होने के कारण ही इस विद्या की संज्ञा 'आन्वीक्षिकी' पड़ गई। अन्वीक्षा के दो अर्थ हैं: (१) प्रत्यक्ष तथा आगम पर आश्रित अनुमान तथा (२) प्रत्यक्ष और शब्दप्रमाण की सहायता से अवगत होनेवाले विषयों का अनु (पश्चात्) ईक्षण (पर्यालोचन, अर्थात् ज्ञान), अर्थात् अनुमिति। न्यायशास्त्र का प्रधान लक्ष्य तो है प्रमाणों के द्वारा अर्थों का परीक्षण (प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः—न्यायभाष्य १।१।१), परंतु इन प्रमाणों में भी अनुमान का महत्वपूर्ण स्थान है और इस अनुमान द्वारा प्रवृत्त होने के कारण तर्कप्रधान 'आन्वीक्षिकी' का प्रयोग न्यायभाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने न्यायदर्शन के लिये ही उपयुक्त माना है।

दूसरी धारा में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द, इन चार प्रमाणों का गंभीर अध्ययन तथा विश्लेषण मुख्य उद्देश्य था। फलतः इस प्रणाली को 'प्रमाणमीमांसात्मक' (एपिस्टोमोलाजिकल) कहते हैं। इसका प्रवर्तन गंगेश उपाध्याय (१२वीं शताब्दी) ने अपने प्रख्यात ग्रंथ 'तत्वचिंतामणि' में किया। 'प्राचीन न्याय' (प्रथम धारा) में पदार्थों की मीमांसा मुख्य विषय है, 'नव्यन्याय' (द्वितीय धारा) में प्रमाणों का विश्लेषण मुख्य लक्ष्य है। नव्यन्याय का उदय मिथिला में हुआ, परंतु इसका अभ्युदय बंगाल में संपन्न हुआ। मध्ययुगीन बौद्ध तार्किकों के साथ घोर संघर्ष होने से खंडन मंडन के द्वारा यह शास्त्र विकसित होता गया। प्राचीन

न्याय के मुख्य आचार्य हैं गौतम, वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, जयंत भट्ट, भा सर्वज्ञ तथा उदयनाचार्य। नव्यन्याय के आचार्य हैं गंगेश उपाध्याय, पक्षधर मिश्र, रघुनाथ शिरोमणि, मथुरानाथ, जगदीश भट्टाचार्य तथा गदाधर भट्टाचार्य। इन दोनों धाराओं के मध्य बौद्ध न्याय तथा जैन न्याय के अभ्युदय का काल आता है। बौद्ध नैयायिकों में वसुबंधु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति के नाम प्रमुख हैं।

सं०ग्रं०—डा० विद्याभूषण: हिस्ट्री ऑव लाजिक, कलकत्ता, १६२५। [ब० उ०]

आपत्तिखंडन (अपोलोजेटिक्स) ईसाई धर्मशास्त्र में धार्मिक सिद्धांतों या विश्वासों के समर्थन में लिखे गए निबंधों को सामूहिक रूप में 'अपोलोजेटिक्स' का नाम दिया गया। इस शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक 'अपोलोजेटिकोस्' से है जिसका अर्थ है समर्थन के योग्य वस्तु'। ग्रेट ब्रिटेन में इस प्रकार के धार्मिक साहित्य को 'एविडेन्सेज ऑव रेलिजन' (धर्म के प्रमाण) भी कहते हैं, परंतु अधिकतर ईसाई देशों में अपोलोजेटिक्स शब्द ही सामान्यत: प्रचलित है।

वैसे तो किसी भी धर्म के अपौरुषेय अंग की हिमायत 'अपोलोजेटिक्स' के क्षेत्र में आती है, लेकिन धार्मिक साहित्यपरंपरा में कथोलिक सिद्धांतों के समर्थन में ही इस शब्द का प्रयोग किया गया है। आधुनिक युग में जर्मनी के अतिरिक्त किसी अन्य देश में यह परंपरा सशक्त नहीं रही। इस तरह के साहित्य का अब निर्माण नहीं होता और न उसकी आवश्यकता ही रह गई है। रोमन नागरिकों, अधिकारियों तथा लेखकों द्वारा ईसा मसीह के उपदेशों के विरुद्ध की गई आपत्तियों का खंडन करना ही 'अपोलोजेटिक्स' का उद्देश्य था। इस उद्देश्य से ईसाई धर्मपंडितों ने लंबे 'पत्र' लिखे जिनमें से अधिकतर तत्कालीन रोमन सम्राटों को संबोधित किए गए। इस प्रकार के पत्र को 'अपोलोजी' कहते थे।

सबसे पहली 'अपोलोजी' क्वाद्रेतस ने सम्राट् हाद्रियन (११७ से १३८ ई० तक) के नाम लिखी, उसके बाद परिस्टिडीज़ और जस्तिन ने सम्राट् अंतोनाइनस (सन् १३८ से १६१ तक) के नाम ऐसे ही पत्र लिखे। इनमें जस्तिन की अपोलोजी सबसे अधिक ख्यातिप्राप्त है। यद्यपि इसमें ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक अशुद्धियाँ हैं, फिर भी ईसाई धर्म के अनेक विवादग्रस्त सिद्धांतों का इसमें प्रभावशाली समर्थन मिलता है। सम्राट् मार्कस ओरिलियस (सन् १६६ से १७७ तक) के शासनकाल में, मेलितो तथा एपोलिनेरिस की रचनाओं में, 'अपोलोजेटिक्स' का चरम विकास हुआ। इसके बाद भी सदियों इस तरह के लेख लिखे गए, परंतु उनका विशेष महत्व नहीं है। मध्ययुगीन अपोलोजेटिक्स में कृत्रिमता और शाब्दिक ऊहापोह तर्क की अपेक्षा अधिक है।

जिन ऐतिहासिक पुस्तकों में 'अपोलोजेटिक्स' का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है उनमें यूसीबिअस का ग्रंथ 'क्रिश्चियन चर्च का इतिहास' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। [वि० श्री० न०]

आपस्तंब ये सूत्रकार हैं; ऋषि नहीं। वैदिक संहिताओं में इनका उल्लेख नहीं पाया जाता। आपस्तंबधर्मसूत्र में सूत्रकार ने स्वयं अपने को 'अवर' (परवर्ती) कहा है (१. २. ५. ४)। इनके नाम से कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का आपस्तंबकल्पसूत्र पाया जाता है। यह ग्रंथ ३० प्रश्नों में विभाजित है। इसके प्रथम २४ प्रश्नों को आपस्तंबश्रौतसूत्र कहते हैं जिनमें वैदिक यज्ञों का विधान है। २५वें प्रश्न में परिभाषा, प्रवरखंड तथा हौत्रक मंत्र हैं, इसके २६वें और २७वें प्रश्नों को मिलाकर आपस्तंब गृह्यसूत्र कहा जाता है जिनमें गृह्यसंस्कारों और धार्मिक क्रियाओं का वर्णन है। कल्पसूत्र के २८वें और २९वें प्रश्न आपस्तंबधर्मसूत्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। ३०वाँ प्रश्न शुल्वसूत्र कहलाता है। इसमें यज्ञकुंड और वेदिका की माप का वर्णन है। रेखागणित और वास्तुशास्त्र का प्रारंभिक रूप इसमें मिलता है।

समाजशास्त्र, शासन और विधि की दृष्टि से आपस्तंबधर्मसूत्र विशेष महत्व का है। यह दो प्रश्नों में और प्रत्येक प्रश्न ११ पटलों में विभक्त है। प्रथम प्रश्न में निम्नलिखित विषयों का वर्णन है: धर्म के मूल—वेद तथा वेदविदों का शील; चार वर्ण और उनका वरीयताक्रम; आचार्य; उपनयन का समय और उसकी अवहेलना के लिये प्रायश्चित्त; ब्रह्मचारी का कर्तव्य; ब्रह्मचर्यकाल—४८, ३६, २५ अथवा १२ वर्ष; ब्रह्मचारी की जीवनचर्या, दंड, मेखला, अजिन, भिक्षा, समिधाहरण, अग्न्याधान; ब्रह्मचारी के व्रत, तप; आचार्य तथा विभिन्न वर्णों को प्रणाम करने की विधि; ब्रह्मचर्य समाप्त होने पर गुरुदक्षिणा; स्नान और स्नातक; वेदाध्ययन तथा अनध्याय; पंचमहायज्ञ—भूतयज्ञ, नृयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ तथा ऋषियज्ञ; सभी वर्णों के साथ शिष्टाचार; यज्ञोपवीत; आचमन; भोजन तथा पेय, निषेध; ब्राह्मण के लिये आपद्धर्म—वणिक्कर्म, कुछ पदार्थों का विक्रय वर्जित; पतनीय—चौर्य, ब्रह्महत्या अथवा हत्या; भ्रूणहत्या; निषिद्ध संबंध में योनिसंबंध, सुरापान आदि; आध्यात्मिक प्रश्न—आत्म, ब्रह्म, नैतिक साधन और दोष; क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की हत्या की क्षतिपूर्ति; ब्राह्मण, गुरु एवं श्रोत्रिय के वध के लिये प्रायश्चित्त; गुरु-तल्प-गमन, सुरापान तथा सुवर्णचौर्य के लिये प्रायश्चित्त; पक्षी, गाय तथा साँड़ के वध के लिये प्रायश्चित्त; गुरुजनों को अपशब्द कहने के लिये प्रायश्चित्त; शूद्रा के साथ मैथुन तथा निषिद्ध भोजन के लिये प्रायश्चित्त; कृच्छ्रव्रत; चौर्य; पतित गुरु तथा माता के साथ व्यवहार; गुरु-तल्प-गमन के लिये प्रायश्चित्त पर विविध मत; पति-पत्नी के व्यभिचार के लिये प्रायश्चित्त; भ्रूण (विद्वान् ब्राह्मण)-हत्या के लिये प्रायश्चित्त; आत्मरक्षा के अतिरिक्त शस्त्रग्रहण ब्राह्मण के लिये निषिद्ध; अभिशस्त के लिये प्रायश्चित्त; छोटे पापों के लिये प्रायश्चित; विद्यास्नातक, व्रतस्नातक तथा विद्याव्रतस्नातक के संबंध में विविध मत और स्नातकों के व्रत तथा आचार।

द्वितीय प्रश्न के विषय निम्नांकित हैं: पाणिग्रहण के उपरांत गृहस्थ के व्रत; भोजन, उपवास तथा मैथुन; सभी वर्ण के लोग अपने कर्तव्यपालन से उपयुक्त तथा न पालन से निम्न योनियों में जन्म लेते हैं; प्रथम तीन वर्णों को नित्य स्नान कर विश्वेदेव यज्ञ करना चाहिये; शूद्र किसी आर्य के निरीक्षण में अन्य वर्णों के लिये भोजन पकावे; पक्वान्न की बलि; प्रथम अतिथि तथा पुन: बाल, वृद्ध, रुग्ण तथा गर्भिणी को भोजन; वैश्वदेव के अंत में आए किसी आगंतुक को भोजन के लिये प्रत्याख्यान नहीं; अविद्वान् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र अतिथि का स्वागत; गृहस्थ के लिये उत्तरीय अथवा यज्ञोपवीत; ब्राह्मण के अभाव में क्षत्रिय अथवा वैश्य आचार्य; गुरु के आगमन में गृहस्थ का कर्तव्य; गृहस्थ के लिये अध्यापन तथा अन्य कर्तव्य; अज्ञात वर्ण और शील के अतिथि का स्वागत; अतिथि; मधुपर्क; षड्वेदांग; वैश्वदेव के पश्चात् श्वान तथा चांडाल को भी भोजन; दान, भृत्य और दास को कष्ट देकर नहीं; स्वयं, स्त्री तथा पुत्र को कष्ट देकर दान; ब्रह्मचारी, गृहस्थ, परिव्राजक आदि को भोजन; आचार्य, विवाह, यज्ञ, मातापिता का पोषण, व्रतपालन आदि भिक्षा के अवसर; ब्राह्मण आदि वर्णों के कर्तव्य; युद्ध के नियम; पुरोहित की नियुक्ति; दंड; ब्राह्मण की अदंडयता और अवध्यता; मार्ग के नियम; वर्ण का उत्कर्ष और अपकर्ष; पहली पत्नी (संतानवती एवं सुशीला) के रहते दूसरा विवाह निषिद्ध; विवाह के नियम; विवाह के छ: प्रकार—ब्राह्म, आर्ष, दैव, गांधर्व, आसुर और राक्षस; विवाहित दंपती के कर्तव्य; विविध प्रकार के पुत्र; संतान की अदेयता और अविक्रेयता; दाय तथा विभाजन; पति पत्नी में विभाजन निषिद्ध; वेदविरुद्ध देशाचार और कुलाचार अनुकरणीय नहीं; मरणाशौच; दान; श्राद्ध; चार आश्रम; परिव्राजकधर्म; राजधर्म; राजधानीसभा; अपराधनिर्मूलन; दान; प्रजा-रक्षण; कर तथा कर से मुक्ति; व्यभिचारदंड; अपशब्द तथा नरहत्या; विविध प्रकार के दंड; वाद (अभियोग); संदेहावस्था में अनुमान तथा दिव्य प्रमाण; स्त्रियों तथा सामान्य जनता से विविध धर्मों का ज्ञान।

प्राचीनता में आपस्तंबधर्मसूत्र गौतमधर्मसूत्र और बौधायनधर्मसूत्र से पीछे का तथा हिरण्यकेशी और वसिष्ठधर्मसूत्र के पहले का है। इसके संग्रह का समय ५०० ई० पू० के पहले रखा जा सकता है। आपस्तंबधर्मसूत्र (२. ७. १७. १७) में औदीच्यों (उत्तरवालों) के आचार का विशेष रूप से उल्लेख है। इसपर कई विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि आपस्तंब दाक्षिणात्य (संभवत: आंध्र) थे। परंतु सरस्वती नदी के उत्तर का प्रदेश उदीची होने से यह अनुमान केवल दक्षिण पर ही लागू नहीं होता। यह सच है कि आपस्तंबीय शाखा के ब्राह्मण नर्मदा के दक्षिण में पाए जाते हैं, परंतु

उनका यह प्रसार परवर्ती काल का है। आपस्तंबधर्मसूत्र पर हरदत्त का उज्ज्वलावृत्ति नामक भाष्य प्रसिद्ध है।

सं०ग्रं०—आपस्तंबीयधर्मसूत्रम्, डॉ० जॉर्ज ब्यूहलर द्वारा संपादित, तृतीय संस्करण, १९३२, बांबे संस्कृत सीरीज, सं० ४४ तथा ५०; पी० वी० काणे : हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, जिल्द १, पृ० ३२-४६। [रा० ब० पां०]

आपतुरिया ग्रीक जाति में मनाया जानेवाला एक त्यौहार जो प्यानौप्सियॉन् (अक्टूबर नवंबर) मास में मनाया जाता था। यह उत्सव तीन दिन चलता था। पहला दिन दौर्पिया (सांध्यभोज), दूसरा दिन अनार्रूसिस् (जीवबलि) तथा तीसरा दिन कूरियोतिस् (मुंडन) कहलाता था। इस त्यौहार में पिछले वर्ष में उत्पन्न हुए बच्चे, युवा लोग और नवविवाहिता पत्नियाँ बिरादरियों में (जो ग्रीक भाषा में 'फ्रात्री' कहलाती थीं) प्रविष्ट हुआ करती थीं और उनको समाज में नवीन उत्तरदायित्व और अधिकार प्राप्त होते थे। दोरियाई जाति में इसीके सदृश आपेलाइ नामक त्यौहार मनाया जाता था। [भो० ना० श०]

आपियानी आंद्रिया (१७५४–१८१७) अपने युग का सर्वश्रेष्ठ भित्तिचित्रकार; जन्म मिलान। नेपोलियन ने उसे इटली राज्य का राजचित्रकार नियुक्त किया। १८१४की घटनाओं के बाद पतन और घोर दरिद्रता। उसकी सर्वोत्तम कृतियाँ मिलान के राजभवन और सांता मारिया के गिरजे में हैं जो उसके गुरु केरेगियो की कृतियों से भी अधिक श्रेष्ठ हैं। [स० च०]

आपुलेइयस् लूकियस् रोमन दार्शनिक और कथाकार। इसका जन्म नुमिदिया प्रदेश के मदौरा नामक स्थान पर लगभग १२५ ई० में हुआ और इसने कार्थेज और एथेंस में शिक्षा पाई। कुछ समय रोम में वकालत करने के पश्चात् इसने त्रिपोली में एक धनी विधवा इमीलिया से विवाह कर लिया। उसके संबंधियों ने इसपर अभियोग चलाया। उसका शेष जीवन साहित्यरचना में व्यतीत हुआ। इसकी साहित्यिक कीर्ति का आधार 'रूपांतर अथवा सुनहरा गधा' है। इस कथा का नायक गधे के रूप में नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त करता हुआ अंत में ईसिस् देवी की कृपा से पुनः मानवाकृति प्राप्त कर लेता है और उसी देवी का पुजारी बन जाता है। यह हास्यरस की अत्यंत रोचक रचना है। आपुलेइयस् की अन्य रचनाएँ अफ़लातून और सुकरात के दर्शन से संबंध रखती हैं। [भो० ना० श०]

आपूलिया इटली राज्य का एक प्रदेश है जो प्रायद्वीप के दक्षिण-पूर्वी भाग में एपिनाइन पर्वत के पूर्व गरगानो पर्वत से सांता मेरिया डी ल्यूका अंतरीप तक फैला है। इसके अंतर्गत फोगिया, बारी, ब्रिंडिसी, टारंटो तथा लेसे नामक जिले हैं। क्षेत्रफल १९,३४७ वर्ग किलोमीटर; जनसंख्या ३२,२०,४८५ (१९५१)। चूने के पत्थरों से बना हुआ यह सूखा पठारी क्षेत्र अत्यधिक उर्वर है। यहाँ इटली का सर्वोत्कृष्ट कोटि का गेहूँ उपजाया जाता है। जलाभाव को दूर करने के लिये पश्चिम बहनेवाली सिले नदी को ऐपिनाइन पर्वत के पार सात मील लंबी एक सुरंग से ले जाकर पूर्व की ओर आपूलिया में प्रवाहित किया गया है, जहाँ इसके जल से सिंचाई की जाती है। साथ ही फोगिया जिले के दलदलों को जलनिष्कासनयोजनाओं द्वारा कृषियोग्य बनाया गया है। यह कृषिप्रधान प्रदेश है, जिसकी मुख्य उपज गेहूँ, जौ, मक्का, जैतून, अंगूर, बादाम तथा अंजीर है। जैतून तथा अंगूर की कृषि तटीय मैदानी भागों में की जाती है। यहाँ भेड़ पालने की प्रथा रोमन लोगों के समय से ही प्रचलित है। बारी (जनसंख्या २,७५,०००), जो इटली का मुख्य आकाशवाणी केंद्र है, इसी प्रदेश में स्थित है। टारंटो (जनसंख्या १,६६,०००) तथा ब्रिंडिसी (जनसंख्या ६२,०००) इस प्रदेश के अन्य मुख्य नगर एवं बंदरगाह हैं। प्राचीन काल में आपूलिया मिट्टी के बर्तनों पर की जानेवाली चित्रकारी के लिये प्रसिद्ध था। [न० कि० प्र० सिं०]

आपेक्षितावाद (रिलेटिविटी थ्योरी) संक्षेप में यह है कि 'निरपेक्ष' गति तथा 'निरपेक्ष' त्वरण का अस्तित्व असंभव है, अर्थात् 'निरपेक्ष गति' एवं 'निरपेक्ष त्वरण' शब्द वस्तुतः निरर्थक हैं। यदि 'निरपेक्ष गति' का अर्थ होता तो वह अन्य पिंडों की चर्चा किए बिना ही निश्चित हो सकती। परंतु सब प्रकार से चेष्टा करने पर भी किसी पिंड की 'निरपेक्ष' गति का पता निश्चित रूप से प्रयोग द्वारा प्रमाणित नहीं हो सका है और अब तो आपेक्षितावाद बताता है कि ऐसा निश्चित करना असंभव है। आपेक्षितावाद से भौतिकी में एक नए दृष्टिकोण का प्रारंभ हुआ। भौतिकी के कतिपय पुराने सिद्धांतों का दृढ़ स्थान आपेक्षितावाद से डिग गया और अनेक मौलिक कल्पनाओं के विषय में सूक्ष्म विचार करने की आवश्यकता दिखाई देने लगी। विज्ञान में सिद्धांत का कार्य प्रायः ज्ञात फलों को व्यवस्थित रूप से सूत्रित करना होता है और तत्पश्चात् उस सिद्धांत से नए फलों का अनुमान करके प्रयोग द्वारा उन फलों की परीक्षा की जाती है। आपेक्षितावाद इन दोनों कार्यों में सफल रहा है।

१९वीं शताब्दी के अंत तक भौतिकी का विकास न्यूटन प्रणीत सिद्धांतों के अनुसार हो रहा था। प्रत्येक नए आविष्कार अथवा प्रायोगिक फल को इन सिद्धांतों के दृष्टिकोण से देखा जाता था और आवश्यक नई परिकल्पनाएँ बनाई जाती थीं। इनमें सर्वव्यापी ईथर का एक विशिष्ट स्थान था। ईथर के अस्तित्व की कल्पना करने के दो प्रमुख कारण थे। प्रथम तो विद्युत्-चुंबकीय तरंगों के कंपन का एक स्थान से दूसरे स्थान तक प्रसरण होने के लिये ईथर जैसे माध्यम की आवश्यकता थी। द्वितीय, यांत्रिकी में न्यूटन के गति तथा त्वरण विषयक समीकरणों के लिये, और जिस पार्श्वभूमि पर ये समीकरण आधारित थे उसके लिये भी, एक प्रामाणिक निर्देशक (स्टैंडर्ड ऑव रेफ़रेंस) की आवश्यकता थी। प्रयोगों के फलों का यथार्थ आकलन होने के लिये ईथर पर विशिष्ट गुणधर्मों का आरोपण किया जाता था। ईथर सर्वव्यापी समझा जाता था और संपूर्ण दिशाओं में तथा पिंडों में भी उसका अस्तित्व माना जाता था। इस स्थिर ईथर में पिंड बिना प्रतिरोध के भ्रमण कर सकते हैं, ऐसी कल्पना थी। इन गुणों के कारण ईथर को निरपेक्ष मानक समझने में कोई बाधा नहीं थी। प्रकाश की गति ३×१०^{१०} सेंटीमीटर प्रति सेकेंड है, यह ज्ञात हुआ था और प्रकाश की तरंगें 'स्थिर' ईथर के सापेक्ष इस गति से विकीरित होती हैं, ऐसी कल्पना थी। यांत्रिकी में गति त्वरण, बल इत्यादि के लिये भी ईथर निरपेक्ष मानक समझा जाता था।

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ईथर का अस्तित्व तथा उसके गुण धर्म स्थापित करने के अनेक प्रयत्न प्रयोग द्वारा किए गए। इनमें माइकेलसन-मॉर्ले का प्रयोग विशेष महत्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय है (देखें **माइकेलसन-मॉर्ले का प्रयोग**)। पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा ईथर के सापेक्ष जिस गति से करती है उस गति का यथार्थ मापन करना इस प्रयोग का उद्देश्य था। किंतु यह प्रयत्न असफल रहा और प्रयोग के फल से यह अनुमान निकाला गया कि ईथर के सापेक्ष पृथ्वी की गति शून्य है। इसका यह भी अर्थ हुआ कि ईथर की कल्पना असत्य है, अर्थात् ईथर का अस्तित्व ही नहीं है। यदि ईथर ही नहीं है तो निरपेक्ष मानक का भी अस्तित्व नहीं हो सकता। अतः गति केवल सापेक्ष ही हो सकती है। भौतिकी में सामान्यतः गति का मापन करने के लिये अथवा फल व्यक्त करने के लिये किसी भी एक पद्धति का निर्देश (रेफ़रेंस) देकर कार्य किया जाता है। किंतु इन निर्देशक पद्धतियों में कोई भी पद्धति 'विशिष्टतापूर्ण' नहीं हो सकती, क्योंकि यदि ऐसा होता तो उस 'विशिष्टतापूर्ण' निर्देशक पद्धति को हम विश्रांति का मानक समझ सकते। अनेक प्रयोगों से ऐसा ही फल प्राप्त हुआ।

इन प्रयोगों के फलों से केवल भौतिकी में ही नहीं, प्रत्युत विज्ञान तथा दर्शन में भी गंभीर अशांति उत्पन्न हुई। २०वीं शताब्दी के प्रारंभ में (१९०४ में) प्रसिद्ध फ्रेंच गणितज्ञ एच० पॉइन्कारे ने आपेक्षिता का प्रनियम प्रस्तुत किया। इसके अनुसार भौतिकी के नियम ऐसे स्वरूप में व्यक्त होने चाहिए कि वे किसी भी प्रेक्षक (देखनेवाले) के लिये वास्तविक हों। इसका अर्थ यह है कि भौतिकी के नियम प्रेक्षक की गति के ऊपर अवलंबित न रहें। इस प्रनियम से दिक् तथा काल की प्रचलित धारणाओं पर नया प्रकाश पड़ा। इस विषय में आइंस्टाइन की विचारधारा, यद्यपि वह क्रांतिकारक थी, प्रयोगों के फलों को समझाने में अधिक सफल रही। आइंस्टाइन ने गति, त्वरण, दिक्, काल इत्यादि मौलिक शब्दों का और उनसे संयुक्त प्रचलित धारणाओं का विशेष विश्लेषण किया। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हुआ कि न्यूटन के सिद्धांतों पर आधारित तथा प्रतिष्ठित भौतिकी में त्रुटियाँ हैं। आइंस्टाइन प्रणीत आपेक्षितावाद के दो विभाग हैं : (१) विशिष्ट आपे-

क्षितावाद और (२) व्यापक आपेक्षितावाद। विशिष्ट आपेक्षितावाद में भौतिकी के नियम इस स्वरूप में व्यक्त होते हैं कि वे किसी भी अत्वरित प्रेक्षक के लिये समान होंगे। व्यापक आपेक्षितावाद में भौतिकी के नियम इस प्रकार व्यक्त होते हैं कि वे प्रेक्षक की गति से स्वतंत्र या अबाधित होंगे। विशिष्ट आपेक्षितावाद का विकास १९०५ में हुआ और व्यापक आपेक्षितावाद का विकास १९१५ में हुआ।

विशिष्ट आपेक्षितावाद—विशिष्ट आपेक्षितावाद समझना सरल होने के कारण उसपर विचार पहले किया जायगा। नित्य व्यवहार में किसी नए पदार्थ का स्थान निश्चित करने के लिये हम ज्ञात पदार्थों का निर्देश करते हैं और उनके सापेक्ष नए पदार्थ का स्थान सूचित करते हैं। इसी प्रकार गति का निश्चय होता है, किंतु गति के निश्चय के लिये उसकी दिशा तथा वेग ज्ञात करने की आवश्यकता होती है। रेलगाड़ी या विमान का वेग पृथ्वी को स्थिर समझकर निश्चित किया जाता है। किंतु पृथ्वी स्थिर नहीं है, वह अपने अक्ष पर घूमती रहती है और साथ ही सूर्य का परिभ्रमण करती रहती है। सूर्य भी स्थिर नहीं है, अन्य तारों के सापेक्ष वह अपनी ग्रहसंस्था के साथ विशिष्ट वेग से भ्रमण कर रहा है। विमान, पृथ्वी, सूर्य इत्यादि पदार्थों की गति स्पष्ट करने के लिये हमने जिस पदार्थ को स्वेच्छा से 'स्थिर' समझा है वह हो सकता है, अन्य निर्देशकों के सापेक्ष 'स्थिर' हो या न हो। क्षण मात्र के लिये यदि हम कल्पना करें कि आकाश में केवल एक ही पिंड है और कहीं भी कोई अन्य पदार्थ नही है, तो ऐसे पदार्थ के लिये 'विश्रांति' तथा 'गति' की धारणा निरर्थक है। अतः गति अथवा विश्रांति की धारणाएँ केवल सापेक्ष ही हो सकती है। इसी प्रकार विमान या रेलगाड़ी की 'निरपेक्ष गति' निकालना असंभव है। विशिष्ट आपेक्षिता सिद्धांत एक अन्य रूप में भी व्यक्त किया गया है: प्रकाश की गति सब प्रेक्षकों के लिये (वस्तुतः केवल ऐसे प्रेक्षकों के लिये जिनके ऊपर कोई भी बल कार्य न कर रहा हो) अचर है, अर्थात् उतनी ही रहती है, बदलती नहीं।

विशिष्ट आपेक्षितावाद इस प्रकार सरल ही दिखाई देता है, परंतु भौतिकी के भिन्न भिन्न क्षेत्रों में इसका उपयोग करने के पश्चात् जो फल प्राप्त होते हैं, वे नित्य व्यवहार के फलों की तुलना में अत्यंत आश्चर्यजनक हैं। नित्य व्यवहार में जो वेग हमारे सामने आते हैं, वे प्रकाश के वेग की तुलना में उपेक्षणीय होते हैं और ऐसे वेगों के लिये न्यूटन के (अर्थात् प्रतिष्ठित भौतिकी के) सिद्धांत तथा नियम उपयुक्त हैं। जब प्रकाश के वेग के समीप के वेगों का प्रश्न आता है, तभी न्यूटन के नियम लागू नही होते और उनके स्थान पर आपेक्षिता सिद्धांत के अनुसार प्राप्त हुए नियमों तथा फलों की आवश्यकता होती है। आपेक्षितावाद से भौतिकी में जो क्रांति हुई उसका यथार्थ ज्ञान होने के लिये केवल सामान्य गणित ही नहीं, किंतु उच्च गणित की आवश्यकता होती है, जिसमें दिक् तथा काल की भी मिथः क्रिया होती है। बिना पूरा गणित दिए विशिष्ट आपेक्षितावाद से प्राप्त हुए थोड़े से फल यहाँ दिए जाते हैं:

आपेक्षिता और समक्षणिकता—निर्वात प्रदेशों में प्रकाश का वेग 3×10^{10} सेंटीमीटर प्रति सेकेंड होता है। प्रकाश के सब वर्णों के लिय यह वेग समान होता है। जिस स्थान या उद्गम से प्रकाश निकलता है उसके वेग पर प्रकाश का वेग अवलंबित नहीं होता। इस प्रकार प्रकाश का (तथा सब विद्युच्चुंबकीय तरंगों का) वेग निर्वात में उतना ही रहता है। प्रकाश के इस गुण के परिणाम महत्वपूर्ण होते हैं। उदाहरणतः, हम कल्पना करेंगे कि एक प्रेक्षक पृथ्वी पर खड़ा है और उसके ऊपर से एक विमान पश्चिम से आकर पूर्व दिशा की ओर वेग व से जा रहा है। जिस समय विमान प्रेक्षक के मस्तक के ऊपर आता है ठीक उसी समय प्रेक्षक से समान अंतर पर दो विद्युत् की बत्तियाँ जला दी गई, जिनमें एक बत्ती पूर्व दिशा में दूरी ब पर है और दूसरी पश्चिम दिशा में दूरी ब पर ही है। पृथ्वी पर स्थित प्रेक्षक के लिये दोनों बत्तियों का जलना समक्षणिक (एक ही क्षण पर होनेवाला) दिखाई पड़ेगा, किंतु विमान म भी यदि कोई प्रेक्षक हो, तो उसके लिये दोनों बत्तियों का जलना समक्षणिक नहीं दिखाई पड़ेगा। क्योंकि विमान पूर्व दिशा की ओर वेग व से जा रहा है, इसलिये पूर्व दिशावाली बत्ती का प्रकाश पहले दिखाई पड़ेगा और पश्चिम दिशा की बत्ती का प्रकाश कुछ क्षण बाद दिखाई पड़ेगा। इसका अर्थ यह है कि एक घटना किसी प्रेक्षक के लिये समक्षणिक हो तो उसके सापेक्ष गतियुक्त अन्य प्रेक्षक के लिये वही घटना समक्षणिक नहीं रहेगी। अतः समक्षणिकता निरपेक्ष नहीं, किंतु आपेक्षिक है। इस परिणाम को व्यापक रूप से देखने पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि समय भी निरपेक्ष नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक निर्देशपिंड के लिये अपनी अपनी स्वतंत्र समयगणना होती है और दो निर्देशपिंडों पर, जो एक दूसरे के सापेक्ष एक समान (यूनिफ़ॉर्म) वेग से गतिमान हों, समयगणनाएँ भिन्न होंगी। इन दोनों समयगणनाओं के परस्पर संबंध से आपेक्षिक वेग व का भी संबंध होगा। अतः समय के विषय में हमारी जो व्यावहारिक धारणा है उसमें आपेक्षितावाद के अनुसार परिवर्तन करना पड़ेगा।

आपेक्षिता और लंबाई तथा समय—(१) आपेक्षितावाद के अनुसार 'निरपेक्ष' गति का यदि अस्तित्व नहीं है, तो 'निरपेक्ष' विश्रांति का भी अस्तित्व नहीं है। भौतिकी में मापन करने के लिये पहले किसी एक मानक की आवश्यकता होती है और उस मानक का निर्देश करके मापन किए जाते हैं। स्वेच्छा से हम किसी एक परिस्थिति को प्रामाणिक समझ सकते हैं। अब हम यह कल्पना करेंगे कि एक विमान पृथ्वी से एक विशेष ऊँचाई पर रुका है और उसमें लंबाई ल का एक दंड है, अर्थात् इस दंड की लंबाई का यथार्थ मापन एक मापनी की सहायता से हो सकता है। अब यदि वह विमान वेग व से जाने लगे तो आपेक्षितावाद के अनुसार उस दंड की माप में कितना परिवर्तन होगा? इस फल को प्राप्त करने के लिये हम दो प्रेक्षकों की कल्पना करेंगे। एक प्रेक्षक क विमान में बैठा है; अतः उसका वेग पृथ्वी के सापेक्ष व है, किंतु विमान के सापेक्ष शून्य है। दूसरा प्रेक्षक ख पृथ्वी पर (विमान के पूर्व स्थान पर) खड़ा है, अर्थात् पृथ्वी के सापेक्ष उसका वेग शून्य है। विमान का वेग व होने के कारण उसमें बैठे हुए प्रेक्षक क का तथा दंड का वेग प्रेक्षक ख के सापेक्ष व होगा। यदि जिस समय विमान निश्चल था उस समय दंड की लंबाई ल रही हो, तो प्रेक्षक क के लिये वह लंबाई सदा ल ही रहेगी, कारण, उसके सापेक्ष दंड सदा विश्रांति में ही रहेगा। किंतु प्रेक्षक ख के लिये दंड वेग व से गतियुक्त है। इसलिये आपेक्षितावाद के अनुसार उसकी लंबाई में परिवर्तन होगा और नवीन लंबाई $ल\sqrt{(1-व^2/प्र^2)}$ होगी, जहाँ प्र=प्रकाश की निर्वात में गति है, अर्थात् क और ख प्रेक्षकों के लिये एक ही दंड की लंबाई भिन्न भिन्न होगी।

लंबाई के विषय में आपेक्षितावाद का यह फल हम व्यापक रूप में निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं: किसी दंड या पदार्थ की लंबाई मापने पर प्रयोग का जो फल आता है उसको हम लंबाई ल कहते हैं। भौतिकी की दृष्टि से वस्तुतः यह लंबाई ल यथार्थ नहीं है, वरन् $ल\sqrt{(1-व^2/प्र^2)}$ है, जहाँ व दंड की लंबाई की दिशा में प्रेक्षक का दंड के सापेक्ष वेग है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उस दंड में आकुंचन हो रहा है। लंबाई उस दंड का मौलिक गुण नहीं है, वरन् उस दंड के संबंध में हमारी एक धारणा है और इस धारणा को हम ल तथा व के एक फलन (फ़ंकशन) के रूप में व्यक्त करते हैं। जैसे जैसे व में वृद्धि होती है वैसे वैसे यह फलन घटता है। लंबाई की सर्वसाधारण परिभाषा यदि इस स्वरूप में दी जाय तो भौतिकी में प्रयोगों के फल समझने में कठिनाई नहीं रहती और माईकेलसन-मॉर्ले के प्रयोग का अथवा केन्नेडी-थॉर्नडाइक के प्रयोग का सरलता से अर्थ बताया जा सकता है।

भौतिकी में गणित की तरह ही स्थान अथवा वेग निश्चित करने के लिये कार्तिसीय (कार्टिसियन) निर्देशांक-पद्धति का उपयोग किया जाता है। इस पद्धति में एक मूल बिंदु म से तीन परस्पर लंब रेखाएँ खींची जाती हैं, जो अक्ष कहलाती हैं। प्रत्येक दो अक्षों से एक समतल मिलता है और बिंदु क की इन समतलों से दूरियाँ क के निर्देशांक होती हैं। यदि ये दूरियाँ य, र, ल हों तो कहा जाता है कि बिंदु क की स्थिति (य, र, ल) है।

चित्र १ चित्र २
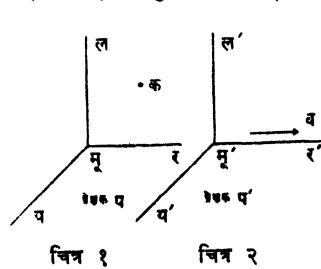
अब हम कल्पना करेंगे कि एक दूसरी ऐसी ही अक्ष-पद्धति है, जिसके अक्ष पुराने अक्षों के समांतर हैं और उसके सापेक्ष, य अक्ष के समांतर, एकसमान वेग व से गतियुक्त हैं (चित्र २)। यदि इन पद्धतियों में से प्रत्येक में प्रेक्षक हो, तो प्रेक्षक प' प्रेक्षक प के

सापेक्ष वेग व से य-अक्ष की दिशा में जा रहा है। मान लें कि किसी बिंदु क के निर्देशांक प्रेक्षक प की पद्धति में (य, र, ल) हैं और प्रेक्षक प की पद्धति में (य', र', ल')। यह भी मान लें कि जिस क्षण बिंदु मू' बिंदु मू पर था उस क्षण से समय की गणना का प्रारंभ हुआ। समय स के पश्चात् मू से मू' की दूरी वस होगी। इसलिये समय ट पर

$$\left.\begin{aligned} य' &= य - व \times स \\ र' &= र \\ ल' &= ल \end{aligned}\right\} \quad \cdots\cdots (१)$$

किंतु आपेक्षितावाद के अनुसार इस संबंध में परिवर्तन करना पड़ता है। निर्देशांक मापन में जिस एकक का हम पद्धति प में उपयोग करेंगे उसकी लंबाई केवल य की दिशा में पद्धति प' में $\sqrt{(१-व^२/प्र^२)}$ होगी। इसलिये पूर्वोक्त समीकरणों के बदले निम्नलिखित समीकरण ठीक होंगे :

$$\left.\begin{aligned} य' &= \frac{य - व \times स}{\sqrt{(१-व^२/प्र^२)}} \\ र' &= र \\ ल' &= ल \end{aligned}\right\} \quad \cdots\cdots (२)$$

समीकरण (२) को 'रूपांतरण समीकरण' कहते हैं।

(२) समय की गणना करने के जो उपकरण होते हैं उनमें यांत्रिकी के साधनों का उपयोग किया जाता है और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से हमारी समयगणना दिक् अथवा लंबाई की गणना पर अवलंबित रहती है। अत: आपेक्षितावाद के अनुसार यदि लंबाई के मापन में वेग के कारण परिवर्तन होता है तो वेग के कारण समय के मापन में भी परिवर्तन होना आवश्यक है।

ऊपर निर्दिष्ट रूपांतरण समीकरण (२) केवल क्षणिक-बिंदुओं के लिये यथार्थ होते हैं, किंतु किसी भी स्थान के लिये समय से स्वतंत्र नहीं होते। इसका अर्थ यह हुआ कि इन समीकरणों में जो समय का क्षण स आता है उसका वास्तविक स्वरूप एक निर्देशांक जैसा है। किसी स्थान को निश्चित करने के लिये जिस प्रकार (य, र, ल) इन तीन निर्देशांकों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार किसी घटना को निश्चित करने के लिये समय की आवश्यकता होती है; अत: इन तीन निर्देशांकों के साथ समय स भी युक्त करना पड़ेगा। यदि पद्धति प में किसी घटना के निर्देशांक (य, र, ल, स) हों तो पद्धति प' में उनके संगत निर्देशांक (य', र', ल', स') होंगे, जिनमें क्रमानुसार य', र', ल' के य, र, ल से संबंध समीकरण (२) द्वारा प्राप्त होते हैं। स तथा स' का परस्पर संबंध निकालने के लिये पुन: आपेक्षितावाद की सहायता लेनी होगी। माइकेलसन-मॉल के प्रयोग का फल मूलभूत समझकर चलना अधिक सरल होगा। माइकेलसन-मॉर्ले के प्रयोग के अनुसार प्रकाश की गति सर्वनिर्देशांक-पद्धतियों में (उदाहरणार्थ पूर्वोक्त पद्धतियों प, प' में) समान होती है।

हम कल्पना करेंगे कि समय स = ० पर मू तथा मू' (चित्र १) अभिन्न थे और ठीक उसी समय पर प्रकाश की एक किरण य-अक्ष की दिशा में निकलती है। पद्धति प' पद्धति प के सापेक्ष य-अक्ष की दिशा में समान वेग व से जा रही है, अत: कुछ समय पश्चात् यह किरण जिस स्थान पर पहुँचेगी उसके निर्देशांक इस प्रकार के होंगे —

पद्धति प' में : (य', र', ल') समय स' के पश्चात्।
पद्धति प में : (य, र, ल) समय स के पश्चात्।

माइकेलसन-मॉर्ले के प्रयोगानुसार इन दोनों पद्धतियों में प्रकाश का वेग समान होगा। अत:

$$प्र^२ = \frac{य^२}{स^२} = \frac{य'^२}{स'^२}.$$

अर्थात् $\quad प्र^२ \times स^२ - य^२ = प्र^२ \times स'^२ - य'^२$।

समीकरण (२) के अनुसार य के स्थान पर $\dfrac{य - व \times स}{\sqrt{(१-व^२/प्र^२)}}$ प्रतिस्थापित करने के पश्चात् निम्नलिखित समीकरण मिलता है :

$$स' = \frac{स - वय/प्र^२}{\sqrt{(१-व^२/प्र^२)}} \quad \cdots (३)$$

इस समीकरण में स तथा स' का जो परस्पर संबंध निश्चित होता है उसमें व भी आता है। अब समीकरण (२) तथा (३) को एकत्रित करने से, दिक् के तीन निर्देशांक और समय, इन चारों, के संबंध के लिये निम्नलिखित चार समीकरण मिलते हैं :

$$\left.\begin{aligned} य' &= \frac{य - व \times स}{\sqrt{(१-व^२/प्र^२)}} \\ र' &= र \\ ल' &= ल \\ स' &= \frac{स - वय/प्र^२}{\sqrt{(१-व^२/प्र^२)}} \end{aligned}\right\} \quad \cdots (४)$$

समीकरण (४) को लोरेंट्ज़ का रूपांतरण समीकरण अथवा सूत्र कहते हैं। लोरेंट्ज़ के समीकरण आपेक्षितावाद के पहल ही प्राप्त किए गए थे, किंतु उनका पूरा महत्व उस समय लोगों ने नहीं समझा था।

(३) लोरेंट्ज़ के रूपांतरण समीकरणों से डाप्लर परिणाम (डॉप्लर एफ़ेक्ट), प्रकाशविपथन इत्यादि अन्य फल प्रमाणित किए जा सकते हैं। फिर फ़ीज़ो ने प्रवाहित पानी में प्रकाश का जो वेग प्रयोग से नापा था, उसके मान का समर्थन आपेक्षितावाद से सरलता से होता है। वेग तथा त्वरण के लिये भी रूपांतरण सूत्रों की आवश्यकता होती है। लोरेंट्ज़ के रूपांतरण समीकरणों से ये सूत्र सरलता से प्राप्त हो सकते हैं।

आपेक्षितावाद में द्रव्यमान तथा ऊर्जा—यांत्रिकी में आपेक्षितावाद का उपयोग करने से एक और महत्वपूर्ण फल मिलता है। दिक् तथा समय के साथ साथ भौतिकी में द्रव्यमान का भी महत्वपूर्ण स्थान है। वेग तथा समय आपेक्षिक हैं और उनके संबंध समीकरण (४) से प्राप्त होते हैं। आपेक्षितावाद के मूल तत्वों का यांत्रिकी में उपयोग करने से (विशषत: ऐसे प्रयोगों में जहाँ द्रव्यमान का संबंध आता है—उदाहरणार्थ, दो आदर्श प्रत्यास्थ गोलों के संघात में) यह फल प्राप्त होता है कि जैसे लंबाई वेग पर निर्भर है वैसे ही द्रव्यमान भी वेग पर निर्भर है। किसी एक निर्देशपद्धति के सापेक्ष विश्रांति स्थिति में एक पिंड का द्रव्यमान यदि $म_०$ हो, तो जब वह पिंड वेग व से चलता रहता है तब उसके द्रव्यमान में निम्नलिखित समीकरण के अनुसार वृद्धि होती है :

$$म_व = \frac{म_०}{\sqrt{(१-व^२/प्र^२)}}\text{।} \quad \cdots (५)$$

समीकरण (५) से यह स्पष्ट है कि द्रव्यमान पिंड का अचर गुण नहीं है, क्योंकि उसमें वेग के अनुसार परिवर्तन होता है। आपेक्षितावाद के पहले द्रव्यमान के विषय में जो धारणा थी उसमें गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता समीकरण (५) से उत्पन्न हुई।

इस विचारधारा को आगे बढ़ाने से द्रव्यमान तथा ऊर्जा के संबंध में भी विलक्षण परिणाम मिलता है। यांत्रिकी के अनुसार यदि द्रव्यमान म का पिंड वेग व से गतियुक्त हो तो उसकी गतिज ऊर्जा $\frac{१}{२}मव^२$ होती है। सापेक्षतावाद के अनुसार वेग के कारण द्रव्यमान में वृद्धि होती है और साथ साथ समानुपाती गतिज ऊर्जा भी प्राप्त होती है। इस धारणा को गणित की सहायता से विस्तृत करने पर यह फल प्राप्त होता है कि जिस पिंड का द्रव्यमान म है उसकी संपूर्ण ऊर्जा $म \times प्र^२$ होती है, अर्थात्

$$ऊ = म.\ प्र^२ \quad \cdots\cdots (६)$$

द्रव्यमान तथा ऊर्जा का परस्पर संबंध समीकरण (६) से स्पष्ट होता है। अत: द्रव्यमान तथा ऊर्जा ये एक ही वस्तु के केवल दो विभिन्न स्वरूप हैं और द्रव्यमान का ऊर्जा में अथवा ऊर्जा का द्रव्यमाल में परिवर्तन हो सकता है। किसी पदार्थ से ऊर्जा का विकिरण होता हो तो समीकरण (६) के अनुरूप उसका द्रव्यमान घटता जायगा (उदाहरणार्थ सूर्य का)। किसी भौतिक घटना में केवल द्रव्यमान की अविनाशिता अथवा केवल ऊर्जा की अविना-

शिता मानना अपूर्ण होगा, किंतु समीकरण (६) का उपयोग करके घटना के पूर्व और घटना के पश्चात् उसकी संपूर्ण ऊर्जा अथवा संपूर्ण द्रव्यमान अविनाशिता के नियम के अनुसार समान रहेगा।

द्रव्यमान में वेग के कारण जो परिवर्तन होता है वह सामान्य वेगों के लिये अत्यंत उपेक्षणीय होता है; अतः नित्य व्यवहार में यह परिवर्तन अनुभव में नहीं आता है। ऊर्जा तथा द्रव्यमान की समानता भी नित्य व्यवहार के के लिये निरुपयोगी है। जहाँ विशाल वेगों का संबंध आता है, केवल वहीं समीकरण (५) और (६) का उपयोग हो सकता है। जब द्रव्यमान में न्यूनता होती है तब समीकरण (६) के अनुसार इस नष्ट द्रव्यमान से इतनी प्रचंड ऊर्जा प्राप्त होती है कि अवशिष्ट द्रव्यमान को विशाल गति मिलती है (देखिए **परमाण्वीय ऊर्जा**)।

आपेक्षितावाद के परिणामों के प्रायोगिक तथा अन्य प्रमाण—माइकेलसन-मॉर्ले के प्रयोग के फल का आकलन तथा स्पष्टीकरण करने के लिये आपेक्षितावाद प्रस्तुत किया गया था। किंतु इस वाद को विस्तृत करने के पश्चात् समीकरण (४), (५) एवं (६) के अनुसार जो अतिरिक्त फल मिलते हैं उनको प्रमाणित करने के लिये विशेष प्रयोगों की आवश्यकता थी। उपकरणों के निर्माण में जैसे जैसे प्रगति हुई वैसे वैसे यथार्थ मापन के लिये उचित उपकरण उपलब्ध होने लगे। ऐसे उपकरणों द्वारा किए गए प्रयोगों से समीकरण (४), (५) और (६) यथार्थता से प्रमाणित हुए और आपेक्षितावाद को अधिक पुष्टि मिली। भौतिकी में, विशेषतः नाभिकीय भौतिकी में, कतिपय प्रयोगों के फल आपेक्षितावाद के दृष्टिकोण से ही सुस्पष्ट होते ह। आपेक्षितावाद के अपवाद का एक भी उदाहरण वर्तमान काल तक भौतिकी में नहीं मिला है। केवल डी० सी० मिलर के प्रयोगों में ईथर के सापेक्ष पृथ्वी की गति का आभास मिलता है। ये प्रयोग माइकेलसन-मॉर्ले के प्रयोग के समान थे। परंतु मिलर के प्रयोग के फल वैज्ञानिकों में सर्वमान्य नहीं हैं।

समीकरण (४) के अनुसार लंबाई तथा समय दोनों वेगसंबद्ध हैं। इन समीकरणों का प्रत्यक्ष फल नापने के लिये वेग **व** प्रकाश के वेग **प्र** से तुलनीय होना चाहिए। जैसा पहले बताया गया है, व्यवहार के सामान्य वेगों के लिये लंबाई तथा समय में जो परिवर्तन होता है वह उपेक्षणीय है। परमाणु-भौतिकी में आधुनिक काल में जो प्रगति हुई और प्रचंड ऊर्जा प्राप्त करने का आविष्कार हुआ, उनकी सहायता से **प्र** से तुलनीय वेग प्रयोगशाला में अब मिल सकता है। इसी प्रकार पृथ्वी पर विश्वकिरणों (कॉस्मिक रेज) की जो वर्षा होती है, उसमें प्रचंड वेग तथा ऊर्जा के कण होते हैं। इनमें एक विशेष प्रकार के कण, मेसान, होते हैं जो आकाश में पृथ्वी से १० किलोमीटर की ऊँचाई पर निर्मित होते हैं। इनका जीवन काल लगभग ३×१०^{-६} सेकेंड होता है। सामान्य गणना के अनुसार पृथ्वी पर पहुँचने के लिये इनका वेग **प्र** से बहुत अधिक होगा, किंतु विशिष्ट आपेक्षितावाद के अनुसार यह असंभव है। यदि विशिष्ट आपेक्षितावाद का यहाँ उपयोग किया जाय तो यह जीवन-काल प्रत्येक मेसान के साथ उसके ही वेग से चलनेवाली घड़ी का समय है। पृथ्वी पर के प्रेक्षक के लिये यह घड़ी विलंबित (मंद गति से) चलेगी। अतः समय के सूत्र में उचित संशोधन करने पर इन मेसानों का वेग ०·९९ **प्र** आता है और जीवनकाल भी ठीक आता है। द्रव्यमान का वेग के ऊपर अवलंबन (समीकरण ५) तो अनेक प्रयोगों में प्रमाणित हुआ है। इलेक्ट्रान को प्रचंड विभव (पोटेंशियल) से त्वरित करने पर उसकी गति **प्र** से तुलनीय हो सकती है और उसका प्रत्यक्ष पथ निकालने के लिये उसके द्रव्यमान की गणना समीकरण (५) के अनुसार करनी पड़ती है। द्वितीय विश्वयुद्ध को जिसने शीघ्र समाप्त किया और वर्तमान काल में ऊर्जा का एक नवयुग प्रस्थापित किया, वह परमाणु बम ऊर्जा-समीकरण (६) का ही फल है। यदि **म** ग्राम द्रव्यमान नष्ट हो तो **मप्र**² अर्ग ऊर्जा मिलती है। युरेनियम-२३५ का केवल ०·१ प्रति शत द्रव्यमान नष्ट होने से परमाणु बम जैसा महास्त्र तैयार होता है (देखिए **परमाण्वीय ऊर्जा**)। इससे अधिक द्रव्यमान नष्ट हो तो अधिक ऊर्जा प्राप्त होगी और अधिक शक्तिशाली महास्त्र प्राप्त होगा, उदाहरणतः, हाइड्रोजन बम। जिस समय अति प्रचंड ताप में हाइड्रोजन के परमाणु एकत्रित होते हैं और हीलियम के नए परमाणु बनते हैं, उस समय अधिक द्रव्यमान नष्ट होने के कारण परमाणु बम से सहस्रगुनी अधिक ऊर्जा उत्पन्न होती है। सूर्य अनेक कोटि शताब्दियों से सतत प्रचंड उष्मा (ऊर्जा का ही एक स्वरूप) देता आ रहा है। सूर्य की इस शक्ति का रहस्य भी समीकरण (६) से स्पष्ट होता है। अतः भौतिकी की वर्तमान प्रगति से हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि विशिष्ट आपेक्षितावाद के सब फल प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से प्रमाणित हो चुके हैं और उनकी यथार्थता में कोई संदेह नहीं रहा है।

व्यापक आपेक्षितावाद (जनरल रिलेटिविटी थ्योरी)—व्यापक आपेक्षितावाद (१) आपेक्षिता नियम और (२) गुरुत्वाकर्षणीय तथा जड़ता (इनर्शिया) पर आश्रित द्रव्यमानों की समानता, इन दो परिकल्पनाओं पर आधारित है। लंबाई, दिक्, काल, संहति, ऊर्जा इत्यादि के विषय में भौतिकी में जो धारणाएँ थीं उनमें विशिष्ट आपेक्षितावाद ने सुधार किया। इनके अतिरिक्त भौतिकी के क्षेत्र में अन्य विषय हैं जो उतने ही महत्वपूर्ण हैं, किंतु उनका समावेश विशिष्ट आपेक्षितावाद में नहीं है। बल तथा विद्युच्चुंबकीय क्षेत्रों में विशिष्ट आपेक्षितावाद का जैसा उपयोग हो सकता है वैसा गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र में नहीं हो सकता। गुरुत्वाकर्षण भौतिकी का एक अत्यंत महत्वपूर्ण विभाग है, अतः विशिष्ट आपेक्षितावाद को व्यापक बनाने की आवश्यकता स्पष्ट है।

द्रव्यमान का संबंध भौतिकी में दो प्रकार से आता है। किसी पिंड पर जब बल कार्य करता है तब पिंड का स्थान बदलता है और उसका वेग भी भी बदलता है। जब तक बल कार्य करता है तब तक पिंड को त्वरण मिलता है। यांत्रिकी के नियमों के अनुसार बल (**प**), पिंड का द्रव्यमान (**म**) और और त्वरण (**फ**) में निम्नलिखित संबंध है :

$$प = म \times फ। \qquad \ldots. \quad (७)$$

समीकरण (७) में जो द्रव्यमान **म** है उसको जड़ता या आश्रित (अथवा अवस्थितित्वीय) द्रव्यमान कहते हैं। द्रव्यमान का दूसरा संबंध न्यूटन के गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र में आता है। न्यूटन प्रणीत गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत के अनुसार यदि दो द्रव्यमान, **म′** तथा **म″**, दूरी **द** पर हों, तो उनके बीच में निम्नलिखित गुरुत्वाकर्षणीय बल **प′** काम करेगा :

$$प' = \frac{ग \times म' \times म''}{द^2}। \qquad \ldots. \quad (८)$$

समीकरण (८) में **ग** गुरुत्वाकर्षणीय स्थिरांक है। यदि हम **म′** को पृथ्वी का द्रव्यमान समझें और **म″** को समीकरण (७) में के किसी पिंड का द्रव्यमान समझें तो समीकरण (८) द्रव्यमान म″ का भार व्यक्त करेगा। न्यूटन की यांत्रिकी में गतिविज्ञान तथा गुरुत्वाकर्षण स्वतंत्र और भिन्न ह, किंतु दोनों में ही द्रव्यमान का संबंध आता है। द्रव्यमान के इन दो स्वतंत्र तथा भिन्न विभागों में प्रयुक्त कल्पनाओं का एकीकरण आइंस्टाइन ने अपने व्यापक आपेक्षितावाद में किया। यह ज्ञात था कि जड़ता पर आश्रित द्रव्यमान (समीकरण ७) और गुरुत्वाकर्षणीय द्रव्यमान (समीकरण ८) समान होते हैं। आइंस्टाइन ने द्रव्यमान की इस समानता का उपयोग करके गतिविज्ञान और गुरुत्वाकर्षण को एकरूप किया और सन् १९१५ ई० में व्यापक आपेक्षितावाद प्रस्तुत किया।

व्यापक आपेक्षितावाद को गणित में सूत्रित करने की जो पद्धति है वह अन्य पद्धतियों से भिन्न है। इसमें विशेष ज्यामिति का उपयोग किया जाता है, जो यूक्लिड के त्रि-आयामीय ज्यामिति से भिन्न है। मिकोस्की ने यह बताया कि यदि विशिष्ट आपेक्षितावाद में दिक् के तीन आयाम तथा समय का चतुर्थ आयाम, इन चारों आयामों को लेकर एक 'चतुरायाम सतति' (फ़ोर डाइमेंशनल कॉनटिनुअम) की कल्पना की जाय तो आपेक्षितावाद अधिक सरल हो जाता है। समक्षणिकता निरपेक्ष नहीं है, यह प्रमाणित किया जा चुका है। इससे न्यूटन प्रणीत दिक् तथा समय की निरपेक्षिता और स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। अतः भौतिक घटना व्यक्त करने के लिये दिक् तथा समय की एक चतुरायाम सतति अधिक स्वाभाविक है। रीमान ने 'चतुरायाम दिक्' की कल्पना करके उसकी ज्यामिति का जो विकास किया था उसका आइंस्टाइन ने अधिक उपयोग किया। दिक् तथा समय की इस चतुरायाम सतति में भौमिकी के सिद्धांत ज्यामितीय रूप से व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत में रखे गए। इस चतुरायाम सतति का (अथवा 'विश्व' का) यूक्लिड के तीन आयाम के दिक् से साम्य है। तीन आयाम की सतति में

($य$, $र$, $ल$) इन तीन निर्देशांकों से (अथवा आयामों से) जिस प्रकार बिंदु अथवा एक स्थान निश्चित होता है, वैसे ही दो बिंदु, ($य_१$, $र_१$, $ल_१$) और ($य_२$, $र_२$, $ल_१$) के बीच की लंबाई भी निश्चित होती है। चतुरायाम सतति में दिक् के ($य$, $र$, $ल$) इन तीन आयामों के साथ जब समय भी जोड़ा जाता है तब समय का आयाम रूप $\sqrt{(-१)}$ स प्र आता है, जहाँ स=समय और प्र= प्रकाश का वेग है। एक प्रेक्षक के लिये एक विश्वघटना के निर्देशांक ($य$, $र$, $ल$, $स$) हों तो उस प्रेक्षक के सापेक्ष गतिमान् दूसरे प्रेक्षक के लिये उसी घटना के निर्देशांक ($य'$, $र'$, $ल'$, $स'$) होंगे। लोरेंट्ज़ के रूपांतरण नियम यदि यथार्थ हों तो सिद्ध किया जा सकता है कि

$$य'^२ र'^२ ल'^२ - प्र^२ स^२ = य^२ र^२ ल^२ - प्र^२ स^२ । \quad (६)$$

समीकरण (६) में चतुर्थ निर्देशांक $\sqrt{(-१)}$ **प्रस**, आता है जिसमें $\sqrt{(-१)}$ काल्पनिक संख्या है।

समीकरण (६) का विकास करके किसी भी प्रकार की गति के लिये इसी प्रकार की किंतु अत्यधिक संमिश्र पदसंहतियाँ मिलती हैं। इसके लिये निश्चलों (इन्वेरिएंट्स) और आतानकों (टेन्सर्स) के सिद्धांतों की आवश्यकता होती है। मौलिक कल्पनाओं का इस रीति से विस्तार करने पर व्यापक आपेक्षिता सिद्धांत में गुरुत्वाकर्षण स्वभावतः आता है। उसके लिये विशिष्ट परिकल्पनाओं की आवश्यकता नहीं होती है।

व्यापक आपेक्षितावाद के फलों का प्रमाण—अनेक घटनाओं के फल आइंस्टाइन प्रणीत व्यापक आपेक्षितावाद के अनुसार तथा न्यूटन प्रणीत प्रतिष्ठित यांत्रिकी के अनुसार समान ही होते हैं। किंतु ज्योतिष में जब व्यापक आपेक्षितावाद का उपयोग किया गया तब तीन घटनाओं के फल प्रतिष्ठित यांत्रिकी के अनुसार निकले फलों से कुछ भिन्न रहे। इन तीन फलों से व्यापक आपेक्षितावाद की कसौटी का काम ले सकते हैं। ये तीन फल इस प्रकार हैं :

(१) अनेक वर्षों से यह ज्ञात था कि बुध ग्रह की प्रत्यक्ष कक्षा न्यूटन के सिद्धांतों के अनुसार नहीं रहती। गणना के पश्चात् यह प्रमाणित हुआ कि व्यापक आपेक्षितावाद के क्षेत्र-समीकरणों के अनुसार बुध ग्रह की जो कक्षा आती है वह प्रेक्षित कक्षा के अनुरूप है। उसी प्रकार पृथ्वी की प्रत्यक्ष कक्षा भी न्यूटन के सिद्धांतों के अनुसार नहीं है, किंतु पृथ्वी की कक्षा में त्रुटि बुध ग्रह की कक्षा की त्रुटि से बहुत कम है। तो भी कहा जा सकता है कि पृथ्वी की कक्षा की गणना में भी व्यापक आपेक्षितावाद सफल रहा। अतः इन विशाल मापक्रम की घटनाओं में जहाँ प्रतिष्ठित यांत्रिकी असफल थी वहाँ व्यापक आपेक्षितावाद सफल रहा।

(२) व्यापक आपेक्षितावाद की दूसरी कसौटी प्रकाश की वक्रीयता है। प्रकाश की किरणें जब तीव्र गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र में से होकर जाती हैं, तब व्यापक आपेक्षितावाद के अनुसार उनका पथ अल्प मात्रा में वक्र हो जाता है। प्रकाश ऊर्जा का ही एक स्वरूप है। अतः ऊर्जा एवं द्रव्यमान के संबंध के अनुसार (समीकरण ६) प्रकाश में भी द्रव्यमान होता है और द्रव्यमान को आकर्षित करना गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र का गुण होने के कारण प्रकाशकिरण का पथ ऐसी स्थिति में स्वल्प मात्रा मे टेढ़ा हो जाता है। इस फल की परीक्षा केवल सर्व सूर्यग्रहण के समय हो सकती है। किसी तारे का प्रकाश सूर्य के निकट से होकर निकले तो प्रकाश के मार्ग को अल्प मात्रा में वक्र हो जाना चाहिए और इसलिये तारे की आभासी स्थिति बदल जानी चाहिए। व्यापक आपेक्षिता के इस फल को नापने का प्रयत्न १९१९, १९२२, १९२७, १९४७ इत्यादि वर्षों में सर्व सूर्यग्रहणों के समय किया गया। पता चला कि प्रकाश-किरण के पथ की मापित वक्रता और व्यापक आपेक्षितावाद के अनुसार निकली वक्रता में इतना सूक्ष्म अंतर है कि हम यह कह सकते हैं कि ये प्रेक्षण व्यापक आपेक्षितावाद का समर्थन करते हैं।

(३) व्यापक आपेक्षितावाद की तीसरी परीक्षा गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र के कारण वर्ण-क्रम-रेखाओं (स्पेक्ट्रॉस्कोपिक लाइंस) का स्थानांतरण है। इस वाद के अनुसार जो तारे तीव्र गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र में हैं उनके किसी विशेष तत्व के परमाणुओं से निकले प्रकाश का तरंगदैर्घ्य पृथ्वी के उसी तत्व के परमाणुओं के प्रकाश-तरंग-दैर्घ्य से अधिक होगा। अतः तारे के किसी एक तत्व के प्रकाश के वर्णक्रम और प्रयोगशाला में प्राप्त उसी तत्व के वर्णक्रम की तुलना से तरंगदैर्घ्य के परिवर्तन का मापन हो सकता है। अनेक निरीक्षणों के फल व्यापक आपेक्षितावाद के अनुरूप हैं, यद्यपि कुछ प्रेक्षकों (फ्रॉएंडलिख आदि) के अनुसार सब फल व्यापक आपेक्षितावाद के अनुरूप नहीं हैं।

व्यापक आपेक्षितावाद के अन्य फल और विस्तार—आपेक्षिता सिद्धांत को और आगे बढ़ाकर आइंस्टाइन ने १९१७ में यह प्रमाणित किया कि आपेक्षिता-क्षेत्र-समीकरणों में यदि एक अधिक पद (विश्व संबंधी पद) जोड़ दिया जाय तो उनके परिणामों में एक फल ऐसा होगा जिसमें संपूर्ण विश्व का संबंध आता है। इस आधार पर आइंस्टाइन ने विश्व की एक कल्पना बनाई। उसी वर्ष डब्ल्यू० डी० सिटर ने दूसरा उत्तर निकालकर दूसरी कल्पना बनाई। यहाँ से विश्ववाद (कॉस्मॉलोजी) का प्रारंभ हुआ और वर्तमान काल में वह भौतिकी का एक अत्यंत महत्वपूर्ण और रोचक विभाग हो गया है। विशाल व्यास के दूरदर्शी यंत्रों द्वारा हमारी दृष्टि अधिक दूरी तक जाने लगी है और अज्ञात विश्व वैज्ञानिकों के दृष्टिपथ में आने लगा है। दूरस्थ विश्व की मापों से विश्व के संबंध में हमारा ज्ञान बढ़ता गया है और नवीन सिद्धांतों एवं नियमों की आवश्यकता पड़ने लगी है। अनेक नीहारिकाओं के प्रेक्षण से यह फल मिला है कि नीहारिकाएँ अपने अपने विशिष्ट वेगों से एक दूसरी से दूर जा रही हैं (देखिए **नीहारिका**)। यह पाया गया है कि नीहारिका की दूरी जितनी अधिक रहती है उतना ही उसका वेग भी अधिक होता है। इसको हबल का नियम कहते हैं। किसी भी विश्ववाद में हबल का नियम, विश्व का घनत्व, विश्व की आयु, विश्व का विस्तार इत्यादि विषयों का समावेश होना आवश्यक है। इस विषय में फ़्रीडमन, एडिंग्टन, ला मैत्रे, राबर्टसन इत्यादि वैज्ञानिकों न गवेषणा की है। यद्यपि हमारा संपूर्ण विश्व संबंधी ज्ञान बहुत कुछ अधूरा है, तथापि जितना उपलब्ध है उससे इतना स्पष्ट है कि विश्व की समस्या अत्यंत जटिल है। आपेक्षितावाद से इन जटिलताओं पर यद्यपि थोड़ा बहुत प्रकाश डाला जाता है, तथापि अनेक जटिलताएँ अभी हल होनी हैं और नवीन कठिनाइयों के संमुख आने की संभावना है।

आपेक्षितावाद ने यांत्रिकी तथा गुरुत्वाकर्षण को एकीकृत किया, किंतु विद्युच्चुंबकीय बल, नाभिकीय बल इत्यादि अनेक बल अभी भी पृथक् हैं और उनके विषय में आपेक्षितावाद से सहायता नहीं मिल सकती है। आदर्श सिद्धांत वही होगा जिसमें समस्त ज्ञात घटनाओं का समावेश होगा। आइंस्टाइन ने स्वयं गुरुत्वाकर्षणीय बल, विद्युच्चुंबकीय बल तथा नाभिकीय बल इन तीनों को एकसूत्रित करके दिक्काल सतति में प्रतिबिंबित करने के प्रयत्न किए, किंतु इस प्रकार का सिद्धांत प्रतिपादित करने के सब प्रयत्न असफल रहे।

सं०ग्रं०—ऐल्बर्ट आइंस्टाइन : रिलटिविटी, स्पेशल ऐंड दि जेनरल थ्योरी; ऐल्बर्ट आइंस्टाइन : दि मीनिंग ऑव रिलेटिविटी; सर आर्थर एडिंग्टन : दि मैथिमैटिकल थ्योरी ऑव रिलेटिविटी; सी० मोलर : दि थ्योरी ऑव रिलेटिविटी। [दे० र० भ०]

आपेलीज़

आपेलीज़ प्राचीन पश्चिमी जगत् का संभवतः सबसे महान् चित्रकार। वह चौथी शताब्दी ई० पू० में हुआ और फिलिप तथा सिकंदर (पिता पुत्र) का समकालीन था, मकदूनिया का दरबारी कलाकार। वज्रधारी सिकंदर का उसका चित्र लिसिपस द्वारा कोरी मल्लधारी सिकंदर की मूर्ति से कम महत्व का नहीं था। उसके मकदूनिया में बनाए अनेक चित्रों के नाम और असामान्य प्रशंसा प्राचीन इतिहासों में सुरक्षित है, यद्यपि इनमें से किसी एक की भी असल या नकल प्रति आज उपलब्ध नहीं।

[भ० श० उ०]

आप्तप्रमाण

आप्तप्रमाण आप्त पुरुष द्वारा किए गए उपदेश को 'शब्द' प्रमाण मानते हैं। (आप्तोपदेशः शब्दः; न्यायसूत्र १।१।७)। आप्त वह पुरुष है जिसने धर्म के और सब पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को भली भाँति जान लिया है, जो सब जीवों पर दया करता है और सच्ची बात कहने की इच्छा रखता है। न्यायमत में वेद ईश्वर द्वारा प्रणीत ग्रंथ है और ईश्वर सर्वज्ञ, हितोपदेष्टा तथा जगत् का कल्याण करनेवाला है। वह सत्य का परम आश्रय होने से कभी मिथ्या भाषण नहीं कर सकता और इसलिये ईश्वर सर्वश्रेष्ठ आप्त पुरुष है। ऐसे ईश्वर द्वारा मानवमात्र के मंगल के निमित्त निर्मित, परम सत्य का प्रतिपादक वेद आप्तप्रमाण या शब्दप्रमाण

की सर्वोत्तम कोटि है। गौतम सूत्र (२।१।५७) में वेद के प्रामाण्य को तीन दोषों से युक्त होने के कारण भ्रांत होने का पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया गया है। वेद में नितांत मिथ्यापूर्ण बातें पाई जाती हैं, कई परस्पर विरुद्ध बातें दृष्टिगोचर होती हैं और कई स्थलों पर अनेक बातें व्यर्थ ही दुहराई गई हैं। गौतम ने इस पूर्वपक्ष का खंडन बड़े विस्तार के साथ अनेक सूत्रों में किया है (२।१।५८–६१)। वेद के पूर्वोक्त स्थलों के सच्चे अर्थ पर ध्यान देने से वेद-वचनों का प्रामाण्य स्वतः उन्मीलित होता है। पुत्रेष्टि यज्ञ की निष्फलता इष्टि के यथार्थ विधान की न्यूनता तथा यागकर्ता की अयोग्यता के ही कारण है। 'उदिते जुहोति' तथा 'अनुदिते जुहोति' वाक्यों में भी कथमपि विरोध नहीं है। इनका यही तात्पर्य है कि यदि कोई इष्टिकर्ता सूर्योदय से पहिले हवन करता है, तो उसे इस नियम का पालन जीवन भर करते रहना चाहिए। समय का नियमन ही इन वाक्यों का तात्पर्य है। बुद्ध तथा जैन के आगम को नैयायिक लोग वेद के समान प्रमाण कोटि में नहीं मानते। वाचस्पति मिश्र का कथन है कि ऋषभदेव तथा बुद्धदेव कारुणिक सदुपदेष्टा भले ही हों, परंतु विश्व के रचयिता ईश्वर के समान न तो उनका ज्ञान ही विस्तृत है और न उनकी शक्ति ही अपरिमित है। जयंत भट्ट का मत इससे भिन्न है। वे इनको भी ईश्वर का अवतार मानते हैं। अतएव इनके वचन तथा उपदेश भी आगम कोटि में आते हैं। अंतर इतना ही है कि वेद का उपदेश समस्त मानवों के कल्याणार्थ है, परंतु बौद्ध और जैन आगम कम मनुष्यों के लाभार्थ हैं। इस प्रकार आप्त प्रमाण के विषय में एकवाक्यता प्रस्तुत की जा सकती है। [ब० उ०]

आफ्रोदीती प्रणय और विवाह की ग्रीक देवी, भारतीय रति की समानांतर। ग्रीक पौराणिक कथाओं के अनुसार उसकी उत्पत्ति समुद्र के नील फेन से हुई। पुनर्जागरणकाल के प्रसिद्ध इतालीय चित्रकार बोतीचेली का एक अत्यंत सुंदर चित्र आफ्रोदीती के इस सागरजन्म को अभिव्यक्त करता है। सागर से जन्म लेने के कारण ही देवी नाविकों की विशेष आराध्या बन गई थी। उसी का रोम की संस्कृति में वीनस नाम पड़ा। पहले उसका संबंध युद्ध से भी रहा था, इससे उसकी कुछ प्राचीनतम मूर्तियाँ सामरिक वेशभूषा में निर्मित हैं।

आफ्रोदीती को मेष, अज और कबूतर बड़े प्रिय हैं और उसका प्रतिनिधान वे ही अनेक बार पौराणिक कथाओं में करते हैं। देवी की मेखला विशेष चमत्कारी मानी जाती थी और उसे वह अपने प्रणयियों को अपना प्रसाद घोषित करने के लिये जब तब दे दिया करती थी। उसके प्रणयी अनेकानेक देव तो थे ही, अपने प्रेमदान से उसने मानवों को भी भाग्यवान् किया। उसके संबंध की असंख्य कथाओं में एक उस गड़ेरिए अदोनिस् की कथा है जिसे आफ्रोदीती ने अपने प्रणय का अधिकारी बनाया था। अदोनिस् को एक दिन आखेट के समय वन्य शूकर ने मार डाला, फिर तो आफ्रोदीती ने उसके लिये इतना विलाप किया कि देवताओं का हिया भी पसीज गया और उन्होंने उसके प्रिय को नवजीवन दान दिया। निश्चय यह हुआ कि अदोनिस् वसंत आदि ऋतुओं में छः महीने आफ्रोदीती के साथ स्वर्ग में रहेगा, शेष मास वह पाताल में बिताएगा। यह कथा मदनदहन, सतीविलाप और कामदेव के पुनर्जीवन का ग्रीक रूपांतर सा प्रस्तुत करती है।

आफ्रोदीती की कथा और पूजा का आरंभ विद्वान् फिनीकी देवी अस्तार्ते से मानते हैं जो एशियाई धर्मों से संबंध रखती थी और जिसका प्रचार फिनीकी सौदागरों ने पीछे ग्रीस के तटवर्ती द्वीपों में किया। कला में इस देवी का अनेकधा निरूपण हुआ है; उसकी अनेक अद्भुत मूर्तियाँ आज उपलब्ध हैं। सबसे सुंदर और विख्यात मूर्ति प्रोक्सितीलिज़ की बनाई कारिया में क्नीदस् के मंदिर में प्राचीन काल में स्थापित हुई थी। [भ० श० उ०]

आबनर बाइबिल के पुराने अहदनामे के अनुसार आबनर साल का चचेरा भाई और प्रधान सेनापति था। साल की मृत्यु के बाद इसराइल दो दलों में विभक्त हो गया। एक दाऊद के अधीन दक्षिण का दल और दूसरा ट्रांसजार्डन का, जो साल के बेटे और उत्तराधिकारी इशबाल के प्रति वफादार रहा। इशबाल दुर्बलमना व्यक्ति था इसलिये समस्त सत्ता आबनर के हाथों में केंद्रित हो गई। व्यक्तिगत लड़ाई में आबनर जोब के हाथों मारा गया। [वि० ना० पां०]

आबू पर्वत भारतवर्ष के राजस्थान राज्य में अरावली पर्वत का सर्वोच्च शिखर, जैनियों का प्रमुख तीर्थस्थान तथा राज्य का ग्रीष्मकालीन शैलावास है। स्थिति: (२४° ४०' उ० अ०, ७२° ४५' पू० दे०)। अरावली श्रेणियों के अत्यंत दक्षिण-पश्चिम छोर पर ग्रेनाइट शिलाओं के एकल पिंड के रूप में स्थित आबू पर्वत पश्चिमी बनास नदी की लगभग सात मील सँकरी घाटी द्वारा अन्य श्रेणियों से पृथक् हो जाता है। पर्वत के ऊपर तथा पार्श्व में अवस्थित एतिहासिक स्मारकों, धार्मिक तीर्थमंदिरों एवं कलाभवनों में शिल्प-चित्र-स्थापत्य कलाओं की स्थायी निधियाँ हैं। यहाँ की गुफा में एक पदचिह्न अंकित है जिसे लोग भृगु का पदचिह्न मानते हैं। पर्वत के मध्य में संगमरमर के दो विशाल जैनमंदिर हैं। [का० ना० सिं०

आबेल, नील्स हेनरिक (१८०३-१८२९ ई०) नार्वे के गणितज्ञ थे। इनका जन्म २५ अगस्त, १८०३ ई० को हुआ। इनकी शिक्षा क्रिस्टिआनिया विश्वविद्यालय (ऑसलो) में हुई। १८२५ ई० में राजकीय छात्रवृत्ति पाकर ये गणिताध्ययन के लिय जर्मनी और फ्रांस गए, परंतु आर्थिक कारणों से १८२७ ई० में इन्हें नार्वे लौटना पड़ा और वहीं पर ६ अप्रैल, १८२९ ई० को केवल २६ वर्ष की आयु में इनकी मृत्यु हो गई। इतने अल्प समय में भी गणित को आबेल ने अपूर्व देन दी है। समीकरणों के सिद्धांत में इन्होंने पंचघातीय व्यापक समीकरण के हल की असंभवता सिद्ध की; यह ज्ञात किया कि बीजगणित की सहायता से कौन कौन से समीकरण हल किए जा सकते हैं और उस समीकरण को हल करने की विधि प्रदान की जिसे अब आबेल का समीकरण कहा जाता है। फलनों के सिद्धांत में इन्होंने दीर्घवृत्तीय तथा अब आबेल के फलन कहे जानेवाले फलनों पर अनेक महत्वपूर्ण अनुसंधान किए। चल-राशि-कलन (इनटेग्रल कैलकुलस) में इनकी प्रसिद्ध देन वे अनुकल हैं जो अब आबेल के अनुकल कहलाते हैं। आबेल के प्रति दीर्घवृत्तीय अनुकल इन्हीं के विशिष्ट रूप हैं।

सं०ग्रं०—सी० ए० ब्यर्कनेस : नील्स हेनरिक आबेल—ताब्लो द सा वी ए सोन आक्स्यों सियांतिफिक, १८८५। [रा० कु०]

आभासवाद त्रिक दर्शन की दार्शनिक दृष्टि का अभिधान। काश्मीर का त्रिक दर्शन अद्वैतवादी है। इसके अनुसार परम शिव (जो 'अनुत्तर', 'संविद्' आदि अनेक नामों से प्रख्यात हैं) अपनी स्वातंत्र्यशक्ति से (जो उनकी इच्छाशक्ति का ही अपर नाम है) अपने भीतर स्थित होनेवाले पदार्थसमूह को इदं रूप से बाहर प्रकट करते हैं। इस प्रकार जो कुछ वस्तु है, अर्थात् जो वस्तु किसी प्रकार सत्ताधारण करती है, जिसके विषय में किसी भी प्रकार का शब्द प्रयोग किया जा सकता है, चाहे वह विषयी हो, विषय हो, ज्ञान का साधन हो या स्वयं ज्ञानरूप ही हो, वह 'आभास' कहलाती है। ईश्वर और जगत् के संबंध को समझाने के लिये अभिनवगुप्त ने दर्पण की उपमा प्रस्तुत की है। जिस प्रकार निर्मल दर्पण में ग्राम, नगर, वृक्ष आदि पदार्थ प्रतिबिंबित होने पर वस्तुतः अभिन्न होने पर भी दर्पण से और आपस में भी भिन्न प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार इस विश्व की दशा है। यह परमेश्वर में प्रतिबिंबित होने पर वस्तुतः उससे अभिन्न ही है, परंतु घट पट आदि रूप से वह भिन्न प्रतीत होता है। इस आभास या प्रतिबिंब के सिद्धांत को मानने के कारण त्रिक दर्शन का दार्शनिक मत 'आभासवाद' के नाम से पुकारा जाता है। इस विषय में एक वैचित्र्य भी है जिसपर ध्यान देना आवश्यक है। लोक में प्रतिबिंब की सत्ता बिंब पर आश्रित रहती है। मुकुर के सामने मुख रहने पर ही उसका प्रतिबिंब उसमें पड़ता है, परंतु अद्वैतवादी त्रिक दर्शन में इस प्रतिबिंब का उदय बिंब के अभाव में भी स्वतः होता है और इसे परमेश्वर की स्वतंत्र शक्ति की महिमा माना जाता है। इस प्रकार इस दर्शन में अद्वैत भावना वास्तविक है। द्वैत की कल्पना नितांत कल्पित है। [ब० उ०]

आभीर (हिंदी अहीर) एक घुमक्कड़ जाति थी जो शकों की भाँति बाहर से हिंदुस्तान में आई। इस जाति के लोग काफी संख्या में हिंदुस्तान आए तथा यहाँ के पश्चिमी, मध्यवर्ती और दक्षिणी हिस्सों में बस गए। इनकी देहयष्टि सीधी-खड़ी होती है और ये उन्नतनास होते हैं। जाति से शक्तिमान् हैं, शरीर से नितांत पुष्ट और सशक्त। जातीय

रूप से इनमें नृत्य होता है, जिसमें पुरुष स्त्री दोनों ही भाग लेते हैं। जातीय नृत्य का प्रचलन भारत की प्रकृत जातियों में नहीं है। अहीर नारियों में पर्दा भी कभी नहीं रहा। दक्षिण में उत्तरी कोंकण और उसके आसपास के प्रदेशों में इनका जोर था। आगे चलकर आभीरों ने हिंदू धर्म स्वीकार कर लिया तथा वे सुनार, बढ़ई और ग्वाले आदि उपजातियों में बँट गए। कई जगह तो वे अपने को ब्राह्मण मानकर जनेऊ भी पहनने लगे।

सर्वप्रथम पतंजलि के महाभाष्य में आभीरों का उल्लेख मिलता है। महाभारत में शूद्रों के साथ आभीरों का उल्लेख है। विनशन नामक स्थान में ये जातियाँ निवास करती थीं, जहाँ राजस्थान के रेगिस्तान में सरस्वती नदी विलुप्त हो गई है। दूसरे ग्रंथों में आभीरों को अपरांत का निवासी बताया गया है जो भारत का पश्चिमी अथवा कोंकण का उत्तरी हिस्सा माना जाता है। पेरिप्लस और तोलेमी के अनुसार सिंधु नदी की निचली घाटी और काठियावाड़ के बीच के प्रदेश को आभीर देश माना गया है।

आभीरों को म्लेच्छों की कोटि में रखा गया है। मनुस्मृति में ब्राह्मण पिता और अंबष्ठ (ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री के संयोग से उत्पन्न) माता से आभीरों की उत्पत्ति बताई गई है। आभीर देश जैन श्रमणों के विहार का केंद्र था। अचलपुर (वर्तमान एलिचपुर, बरार) इस देश का प्रमुख नगर था जहाँ कण्हा (कन्हन) और बेण्णा (बेन) नदियों के बीच ब्रह्मद्वीप नाम का एक द्वीप था। तगरा (तेरा, जिला उस्मानाबाद) इस देश की सुंदर नगरी थी। आभीरपुत्र नाम के एक जैन साधु का उल्लेख भी जैन ग्रंथों में मिलता है।

आभीरों का उल्लेख अनेक शिलालेखों में पाया जाता है। शक राजाओं की सेनाओं में ये लोग सेनापति के पद पर नियुक्त थे। आभीर राजा ईश्वर-सेन का उल्लेख नासिक के एक शिलालेख में मिलता है। ईस्वी सन् की चौथी शताब्दी तक आभीरों का राज्य रहा।

आजकल की अहीर जाति ही प्राचीन काल के आभीर हैं। अहीरवाड (संस्कृत में आभीरवार; भिलसा और झाँसी के बीच का प्रदेश) आदि प्रदेशों के अस्तित्व से आभीर जाति की शक्ति और सामर्थ्य का पता चलता है।

सं०ग्रं०—आर० जी० भंडारकर: कलेक्टेड वर्क्स (१९३३, १९२८ १९२७, १९२९); वी० वेंकट कृष्णराव: अर्ली डाइनेस्टीज़ आव आंध्र देश (१९४२); अभिधानराजेंद्र कोश, भाग दो (१९१०)। [ज० चं०जै०]

आभीरी १. आभीर की स्त्री, अहीरिन। प्राचीन जैन कथासाहित्य में आभीर और आभीरियों की अनेक कहानियाँ आती हैं। २. आभीरों से संबंध रखनेवाला अपभ्रंश भाषा का एक मुख्य भेद। अपभ्रंश के ब्राचड, उपनागर, आभीर और ग्राम्य आदि अनेक भेद बताए गए हैं। आभीर जाति लड़ाकू ही नहीं थी, बल्कि इस देश की भाषा को समृद्ध बनाने में भी इस जाति ने योगदान दिया था। ईसवी सन् की दूसरी-तीसरी शताब्दी में अपभ्रंश भाषा आभीरी के रूप में प्रचलित थी जो सिंधु, मुलतान और उत्तरी पंजाब में बोली जाती थी। छठी शताब्दी तक अपभ्रंश आभीर तथा अन्य लोगों की बोली मानी जाती रही। आगे चलकर नवीं शताब्दी तक आभीर, शबर और चांडालों का ही इस बोली पर अधिकार नहीं रहा, बल्कि शिल्पकार और कर्मकार आदि सामान्य जनों की बोली हो जाने से अपभ्रंश ने लोकभाषा का रूप धारण किया और क्रमशः यह बोली सौराष्ट्र और मगध तक फैल गई।

सं०ग्रं०—पी० डी० गुने: भविसयत्त कहा, भूमिका (१९२३)। [ज० चं० जै०]

आम अत्यंत उपयोगी, दीर्घजीवी, सघन तथा विशाल वृक्ष है, जो भारत में दक्षिण में कन्याकुमारी से उत्तर में हिमालय की तराई तक (३००० फुट की ऊँचाई तक) तथा पश्चिम में पंजाब से पूर्व में आसाम तक, अधिकता से होता है। अनुकूल जलवायु मिलने पर इसका वृक्ष ५०-६० फुट की उँचाई तक पहुँच जाता है। वनस्पतिवैज्ञानिक वर्गीकरण के अनुसार आम ऐनाकार्डियेसी कुल का वृक्ष है। आम के कुछ वृक्ष बहुत ही बड़े होते हैं। डाक्टर एम० एस० रांधवा (१९४९) के अनुसार बुड़नगाँव (चंडीगढ़) में 'छप्पर' नामक आम के एक वृक्ष के तने का घेरा ३२ फुट है, अनेक शाखाएँ ५ से लेकर १२ फुट तक मोटी और ७० से ८० फुट तक लंबी हैं। छप्पर २,७०० वर्ग गज स्थान घेरे हुए है और उसके फल की औसत वार्षिक उपज ४५० मन है।

आम का वृक्ष बड़ा और खड़ा अथवा फैला हुआ होता है; ऊँचाई ३० से ९० फुट तक होती है। छाल खुरदरी तथा मटमैली या काली, लकड़ी कठीली और ठस होती है। इसकी पत्तियाँ सादी, एकांतरित, लंबी, प्रासाकार (भाले की तरह) अथवा दीर्घवृत्ताकार, नुकीली, ५ से १६ इंच तक लंबी, १ से ३ इंच तक चौड़ी, चिकनी और गहरे हरे रंग की होती हैं; पत्तियों के किनारे कभी कभी लहरदार होते हैं। वृंत (डंठल) एक से ४ इंच तक लंबे, जोड़ के पास फूले हुए होते हैं। पुष्प-क्रम संयुत-एकवर्ध्यक्ष (पैनिकिल), प्रशाखित और लोमश होता है। फूल छोटे, हलके बसंती रंग के या ललछौंह, भीनी गंधमय और प्रायः डंठलरहित होते हैं; नर और उभयलिंगी दोनों प्रकार के फूल एक ही बौर (पैनिकिल) पर होते हैं। बाह्यदल (सेपल) लंबे अंडे के रूप के, अवतल (कॉनकेव); पँखुड़ियाँ बाह्यदल की अपेक्षा दुगुनी बड़ी, अंडाकार, ३ से ५ तक उभड़ी हुई नारंगी रंग की धारियों सहित; बिंब (डिस्क) मांसल, ५ भागशील (लॉब्ड); १ परागयुक्त (फ़र्टाइल) पुंकेसर, ४ छोटे और विविध लंबाइयों के बंध्य पुंकेसर (स्टैमिनोड); पराग-कोश कुछ कुछ बैंगनी और अंडाशय चिकना होता है। फल सरस, मांसल, अष्ठिल, तरह तरह की बनावट एवं आकारवाला, ४ से २५ सेंटीमीटर तक लंबा तथा १ से १० सेंटीमीटर तक घेरेवाला होता है। पकने पर इसका रंग हरा, पीला, जोगिया, सिंदुरिया अथवा लाल होता है। फल गूदेदार, फल का गूदा पीला और नारंगी रंग का तथा स्वाद में अत्यंत रुचिकर होता है। इसके फल का छिलका मोटा या कागजी तथा इसकी गुठली एकल, कठीली एवं प्रायः रेशेदार तथा एकबीजक होती है। बीज बड़ा, दीर्घवत्, अंडाकार होता है।

उद्यान में लगाए जानेवाले आम की लगभग १,४०० जातियों से हम परिचित हैं। इनके अतिरिक्त कितनी ही जंगली और बीजू किस्में भी हैं। गंगोली आदि (सन् १९५५) ने २१० बढ़िया कलमी जातियों का सचित्र विवरण दिया है। विभिन्न प्रकार के आमों के आकार और स्वाद में बड़ा अंतर होता है। कुछ बेर से भी छोटे तथा कुछ, जैसे सहारनपुर का हाथीझूल, भार में दो ढाई सेर तक होते हैं। कुछ अत्यंत खट्टे अथवा स्वादहीन या चेप से भरे होते हैं, परंतु कुछ अत्यंत स्वादिष्ट और मधुर होते हैं। फ़ायर (सन् १६७३) ने आम को आड़ू और खूबानी से भी रुचिकर कहा है और हैमिल्टन (सन् १७२७) ने गोवा के आमों को सबसे बड़े, स्वादिष्ट तथा संसार के फलों में सबसे उत्तम और उपयोगी बताया है। भारत के निवा-सियों में अति प्राचीन काल से आम के उपवन लगाने का प्रेम है। यहाँ की उद्यानी कृषि में काम आनेवाली भूमि का ७० प्रति शत भाग आम के उपवन लगाने के काम आता है। स्पष्ट है कि भारतवासियों के जीवन और अर्थ व्यवस्था का आम से घनिष्ठ संबंध है। इसके अनेक नाम जैसे सौरभ, रसाल, चुवत, टपका, सहकार, आम्र, पिकवल्लभ आदि भी इसकी लोकप्रियता के प्रमाण हैं। इसे 'कल्पवृक्ष' अर्थात् मनोवांछित फल देनेवाला भी कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण में आम की चर्चा इसकी वैदिक कालीन तथा अमरकोश में इसकी प्रशंसा इसकी बुद्धकालीन महत्ता के प्रमाण हैं। मुगल सम्राट् अकबर ने 'लालबाग' नामक एक लाख पेड़ोंवाला उद्यान दरभंगा के समीप लगवाया था, जिससे आम की उस समय की लोकप्रियता स्पष्ट है। भारतवर्ष में आम से संबंधित अनेक लोकगीत, आख्यायिकाएँ आदि प्रचलित हैं और हमारी रीति, व्यवहार, हवन, यज्ञ, पूजा, कथा, त्योहार तथा सभी मंगलकार्यों में आम की लकड़ी, पत्ती, फूल अथवा एक न एक भाग प्रायः काम आता है। आम के बौर की उपमा वसंतदूत से तथा मंजरी की मन्मथतीर से कवियों ने दी है। उपयोगिता की दृष्टि से आम भारत का ही नहीं वरन् समस्त उष्ण कटिबंध के फलों का राजा है और इसका बहुत तरह से उपयोग होता है। कच्चे फल से चटनी, खटाई, अचार, मुरब्बा आदि बनाते हैं। पके फल अत्यंत स्वादिष्ट होते हैं और इन्हें लोग बड़े चाव से खाते हैं। ये पाचक, रेचक और बलप्रद होते हैं।

आम लक्ष्मीपतियों के भोजन की शोभा तथा गरीबों की उदरपूर्ति का अति उत्तम साधन है। पके फल को तरह तरह से सुरक्षित करके भी रखते हैं। रस को थाली, चकले, कपड़े इत्यादि पर पसार, धूप में सुखा

'ग्रमावट' बनाकर रख लेते हैं। यह बड़ी स्वादिष्ट होती है और इसे लोग बड़े प्रेम से खाते हैं। कहीं कहीं फल के रस को अंडे की सफेदी के साथ मिलाकर अतिसार और आँव के रोग में देते हैं। पेट के कुछ रोगों में छिलका तथा बीज हितकर होता है। कच्चे फल को भूनकर पना बना, नमक, जीरा, हींग, पोदीना इत्यादि मिलाकर पीते हैं, जिससे तरावट आती है और लू लगने का भय कम रहता है। ग्राम के बीज में गैलिक अम्ल अधिक होता है और यह खूनी बवासीर और प्रदर में उपयोगी है। ग्राम की लकड़ी गृहनिर्माण तथा घरेलू सामग्री बनाने के काम आती है। यह ईंधन के रूप में भी अधिक बरती जाती है। ग्राम की उपज के लिये कुछ कुछ बालूवाली भूमि, जिसमें आवश्यक खाद हो और पानी का निकास ठीक हो, उत्तम होती है। ग्राम की उत्तम जातियों के नए पौधे प्राय: भेंट-कलम द्वारा तैयार किए जाते हैं (देखें **उद्यानविज्ञान**)। कलमों और मुकुलन (बडिंग) द्वारा भी ऐसी किस्में तैयार की जाती हैं। बीजू ग्रामों की भी अनेक बढ़िया जातियाँ हैं, परंतु इनमें विशेष असुविधा यह है कि इस प्रकार उत्पन्न ग्रामों में वांछित पैत्रिक गुण कभी आते हैं, कभी नहीं (देखें **आनुवंशिकता**); इसलिये इच्छानुसार उत्तम जातियाँ इस रीति से नहीं मिल सकतीं। ग्राम की विशेष उत्तम जातियो में बनारस का लँगड़ा, बंबई का अलफांजो तथा मलीहाबाद और लखनऊ के दशहरी तथा सफेदा उल्लेखनीय हैं।

ग्राम का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। डी कैंडल (सन् १८८४) के अनुसार ग्राम्र प्रजाति (मैंजीफ़ेरा जीनस) संभवत: बर्मा, स्याम तथा मलाया में उत्पन्न हुई; परंतु भारत का ग्राम, मैंजीफ़ेरा इंडिका, जो यहाँ, बर्मा और पाकिस्तान में जगह जगह स्वयं (जंगली अवस्था में) होता है, बर्मा-ग्रासाम अथवा ग्रासाम में ही पहले पहल उत्पन्न हुआ होगा। भारत के बाहर लोगों का ध्यान ग्राम की ओर सर्वप्रथम संभवत: बुद्धकालीन प्रसिद्ध यात्री, हुयेनत्सांग (सन् ६३२-४५), ने आकर्षित किया।
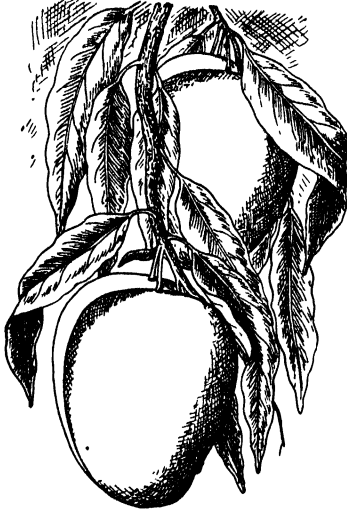
ग्राम

बनारस का लँगड़ा।

ग्राम के अनेक शत्रु हैं। इनमें ऐनथ्रैकनोस, जो कवकजनित रोग है और आर्द्रताप्रधान प्रदेशों में अधिक होता है, पाउडरी मिल्डिउ, जो एक अन्य कवक से उत्पन्न होनेवाला रोग है तथा ब्लैक टिप, जो बहुधा ईंट चूने के भट्ठों के धुएँ के संसर्ग से होता है, प्रधान हैं। अनेक कीड़े मकोड़े भी इसके शत्रु हैं। इनमें मैंगो हॉपर, मैंगो बोरर, फ्रूट फ्लाई और दीमक मुख्य हैं। जल-चूना-गंधक-मिश्रण, सुर्ती का पानी तथा संखिया का पानी इन रोगों में लाभकारी होता है। [शि० कं० पा०]

आयुर्वेदिक मतानुसार ग्राम के पंचांग (पाँच अंग) काम आते हैं। इस वृक्ष की अंतर्छाल का क्वाथ प्रवर, खूनी बवासीर तथा फेफड़ों या आँत से रक्तस्राव होने पर दिया जाता है। छाल, जड़ तथा पत्ते कसैले, मलरोधक, वात, पित्त तथा कफ का नाश करनेवाले होते हैं। पत्ते बिच्छू के काटने में तथा इनका धुआँ गले की कुछ व्याधियों तथा हिचकी में लाभदायक है। फूलों का चूर्ण या क्वाथ अतिसार तथा संग्रहणी में उपयोगी कहा गया है। ग्राम का मौर शीतल, वातकारक, मलरोधक, अग्निदीपक, रुचिवर्धक तथा कफ, पित्त, प्रमेह, प्रदर और अतिसार को नष्ट करनेवाला है। कच्चा फल कसैला, खट्टा, वात पित्त को उत्पन्न करनेवाला, आँतों को सिकोड़नेवाला, गले की व्याधियों को दूर करनेवाला तथा अतिसार, मूत्रव्याधि और योनिरोग में लाभदायक बताया गया है। पका फल मधुर, स्निग्ध, वीर्यवर्धक, वातनाशक, शीतल, प्रमेहनाशक तथा व्रण, श्लेष्म और रुधिर के रोगों को दूर करनेवाला होता है। यह श्वास, अम्लपित्त, यकृतवृद्धि तथा क्षय में भी लाभदायक है।

आधुनिक अनुसंधानों के अनुसार ग्राम के फल में विटामिन ए और सी पाए जाते हैं। अनेक वैद्यों ने केवल ग्राम के रस और दूध पर रोगी को रखकर क्षय, संग्रहणी, श्वास, रक्तविकार, दुर्बलता इत्यादि रोगों में सफलता प्राप्त की है। फल का छिलका गर्भाशय के रक्तस्राव, रक्तमय काले दस्तों में तथा मुँह से बलगम के साथ रक्त जाने में उपयोगी है। गुठली की गरी का चूर्ण (मात्रा २ माशा) श्वास, अतिसार तथा प्रदर में लाभदायक होने के सिवाय कृमिनाशक भी है। [भ० दा० व०]

सं०ग्रं०—डी० कैंडोल, ए० : ओरिजिन ऑव कल्टिवेटेड प्लैंट्स (केगान पाल ट्रेंच ऐंड कं०, लंदन, १८८४); गांगुली, एस० आर० आदि: दि मैंगो (इंडियन कांउसिल ऑव ऐग्रिकल्चरल रिसर्च, नई दिल्ली, १९५७); मुकर्जी, एस० के० : दि ओरिजिन ऑव मैंगो (इंडियन जरनल ऑव जेनेटिक्स ऐंड प्लैंट ब्रीडिंग, १९५१); मुकर्जी, एस० के० : दि मैंगो, इट्स बॉटैनी, कल्टिवेशन ऐंड फ़्यूचर इंप्रूवमेंट, स्पेशली ऐज ऑब्ज़र्व्ड इन इंडिया (इकॉनोमिक बॉट० ७ (२) : १३२-१६२ : एप्रिल-जून); रांधवा, एम० एस० : ए जाएंट मैंगो ट्री; वैविलॉव, एन० आई० : दि ओरिजिन, वेरिएशन, इम्म्युनिटी ऐंड ब्रीडिंग ऑव कल्टिवेटेड प्लैंट्स (क्रौनिका बोटैनिका, १३ (१।६) १९४९-५०)।

ग्रामवातज्वर

ग्रामवातज्वर (रूमैटिक ज्वर) का कारण आजकल स्टैफिलोकोकस (एक प्रकार के रोगाणु) समूह का विलंबित संक्रमण समझा जाता है, परंतु इसमें पूयोत्पादन नही होता (पीब नहीं बनती)। अब तक इसका बहुत कुछ प्रमाण मिल चुका है कि रक्तद्रावक स्टैफिलोकोकस जीवाणु की उपस्थिति से रोग प्रकट होता है। पहले श्वासमार्ग के ऊपरी भाग का संक्रमण, फिर एक से दो सप्ताह का गुप्तकाल, तत्पश्चात् रूमैटिक ज्वर का उत्पन्न होना, यह क्रम रोग में इतनी अधिक बार पाया जाता है कि उससे इन अवस्थाओं के आपस में संबंधित होने की बहुत अधिक संभावना जान पड़ती है। किंतु इस संबंध की सभी बातों का अभी तक ठीक ठीक पता नही चल सका है। बहुत से विद्वान् परिवर्तित ऊतक प्रतिक्रिया को इसका कारण मानते हैं।

रूमैटिक ज्वर में शरीर के सौत्रिक ऊतकों में विशेष परिवर्तन होते हैं; उनमें छोटी गाँठें निकल आती हैं, जिनको 'ऐशॉफ़ पिंड' कहते हैं। यह रोग सारे संसार में होता है। शीत प्रदेशों में, जहाँ आर्द्रता अधिक होती है, रोग विशेष कर होता है और अस्वच्छ दशाओं में रहनेवाले व्यक्तियों में अधिक पाया जाता है। यह २ से १५ वर्ष के, अर्थात् स्कूल जानेवाले बालकों को विशेष कर होता है।

पुस्तकों में वर्णित लक्षण, शीत के साथ ज्वर आना, १०० से १०२ डिग्री तक ज्वर, एक के पश्चात् दूसरे जोड़ में शोथ होना तथा संधियों में पीड़ा और सूजन, पसीना अधिक आना आदि बहुत कम रोगियों में पाए जाते हैं। अधिकतर अंगों तथा जोड़ों में पीड़ा, मंदज्वर, थकान और दुर्बलता, ये ही लक्षण पाए जाते हैं। इसी प्रकार के मंद रोगक्रम में हृदय तथा मस्तिष्क आक्रांत हो जाते हैं।

युवावस्था में हुए उग्र आक्रमणों में रोग शीघ्रता से बढ़ता है। ज्वर १०३ से १०४ डिग्री तक हो जाता है। संधिशोथ भी तीव्र होता है, किंतु हृदय और मस्तिष्क अपेक्षाकृत बच जाते हैं। उचित चिकित्सा से ज्वर और संधिशोथ शीघ्र ही कम हो जाते हैं और रोगी आरोग्यलाभ करता है।

हृदर्ति—बालक का अकस्मात् नीलवर्ण हो जाना, श्वास लेने में कठिनाई होना, हृद्वेग का बढ़ जाना, नवीन संधि के आक्रांत न होने पर भी ज्वर का बढ़ना, ये लक्षण हृदय के आक्रांत होने के द्योतक हैं। इस दशा में विशिष्ट चिह्न ये हैं—परिहृच्छदीय (पेरिकार्डियल) घर्षण ध्वनि, हृद्गति में क्रमहीनता, विशेष कर हृदयरोध (हार्ट ब्लॉक), हृदय की त्वरित-गति (गैलप रिद्म), हृदय के शिखर पर हृत्संकोची तीव्र मर्मर ध्वनि, हृदय के महाधमनी क्षेत्र में संकोची मृदु मर्मर और विस्तारीयकाल

के बीच में गड़गड़ाहट की ध्वनि। इन लक्षणों की अनुपस्थिति में हृदय के आक्रांत हो जाने का निश्चय करना कठिन हो जाता है। यदि पी० आर० अंतःकाल बढ़ा हुआ हो, टी तरंगों का विपर्यय हो अथवा क्यू० टी० अंतःकाल परिवर्तित हो, तो ऐसी दशा में इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम से सहायता मिल सकती है।

कोरिया—यह रूमैटिक ज्वर का दूसरा रूप है, जो विशेषकर बच्चों में पाया जाता है। पश्चिमी शीतप्रधान देशों में ५० प्रति शत बच्चों को यह रोग होता है, किंतु उष्ण प्रदेशों में इतना अधिक नहीं होता। यह लक्षण देर से प्रकट होता है तथा इसका आरंभ अप्रकट रूप से हो जाता है। इसमें बेचैनी, मानसिक उद्विग्नता और अंगों में अकारण, अनियमित तथा बिना इच्छा के गति होती रहती है। हलके रोग में इसको पहचानने के लिये बहुत सावधानी की आवश्यकता है।

अधश्चर्म गुमटे (नोड्यूल)—ये रूमैटिक ज्वर के विशिष्ट लक्षण हैं, किंतु अज्ञात कारणों से उष्ण देशों में नहीं पाए जाते। ये गुमटे नाप में एक से दो सेंटीमीटर तक होते हैं और कलाइयों, कोहनियों, घुटनों तथा रीढ़ की हड्डी पर और सिर के पीछे उभड़ते हैं।

प्रयोगात्मक जाँच की अनुपस्थिति में केवल लक्षणों से ही निदान करना पड़ता है और इसलिये बहुत सावधानी से निरीक्षण करना आवश्यक है।

इसकी विशिष्ट चिकित्सा सैलीसिलेटों, ऐसिटिल सैलिसिलिक ऐसिड और स्टेरायडों की ऊंची मात्राओं से होती है। हृदय के आक्रांत होने पर पुनराक्रमणों को रोकने के लिये बहुत दिनों तक विश्राम तथा सावधानी से शुश्रूषा आवश्यक है तथा इसी उद्देश्यसे पेनिसिलिन तथा सल्फोनामाइड मुख से देने की परीक्षा हो रही है। [वी० भा० भा०]

आमवातीय संध्यार्ति

(रूमैटॉयड आर्थ्राइटिज़) एक ऐसी चिरकालिक व्याधि है जो साधारणतः धीरे धीरे बढ़ती ही जाती है। अनेक संधिजोड़ों का विनाशकारी और विरूपकारी शोथ इसका विशेष लक्षण है। साथ ही शरीर के अन्य संस्थानों पर भी इस रोग का प्रतिकूल प्रभाव होता है। मुख्यतः पेशी, त्वचाधर, ऊतक (सबक्यूटेनियस टिशू), परिणाह तंत्रिका (पेरिफ़ेरल नर्व्स), लसिका संरचना (लिंफ़ैटिक स्ट्रक्चर) एवं रक्त संस्थानों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अंत में अवयवों का नीलापन अथवा हथेली तथा उँगलियों की पोरों की कोशिकाओं (कैपिलरीज़) का विस्फारण (डाइलेटेशन) और हाथ पावों में अत्यधिक स्वेद इस रोग की उग्रता के सूचक हैं।

यह व्याधि सब आयु के व्यक्तियों को ग्रसित कर सकती है, पर २० से ४० वर्ष तक की अवस्था के लोग इससे अधिक ग्रस्त होते हैं।

२० वीं शताब्दी के मध्य तक इस रोग का कारण नहीं जाना जा सका था। वंशानुगत अस्वाभाविकता, अतिहृषता (ऐलर्जी), चयापचय विक्षोभ (मेटाबोलिक डिसऑर्डर) तथा शाकाणुओं में इसके कारणों को खोजा गया, किंतु सभी प्रयत्न असफल रहे। १७ हाइड्रॉक्सी, ११ डी हाइड्रो-कॉर्टिको-स्टेरान (केंडल का E यौगिक) तथा ऐड्रनो कॉर्टिकोट्रोफ़िक हारमोनों की खोज के बाद देखा गया कि ये इस व्याधि से मुक्ति देते हैं। अतएव इस रोग के कारण को हारमोन उत्पत्ति की अनियमितताओं में खोजने का प्रयत्न किया गया, किंतु अभी तक इस रोग के मूल कारणों का पता नहीं चल सका है।

चिकित्सक साधारणतः इसे श्लेषजन (कोलाजेन) व्याधि बताते हैं। यह इंगित करता है कि आमवातीय संध्यार्ति योजी ऊतक (कनेक्टिव टिशु), अस्थि तथा कास्थि (कार्टिलेज) के श्वेत तंतुओं के श्वेति (अल्ब्युमिनॉएड) पदार्थों में हुए उपद्रवों के कारण उत्पन्न हो सकता है।

आमवातीय संध्यार्ति के दो प्रकार होते हैं:

पहला—जब रोग का आक्रमण मुख्यतः हाथ पाँव की संधियों पर होता है, इसे परिणाह (पेरिफ़ेरल) प्रकार कहते हैं।

दूसरा—जब रोग मेरुशोथ के रूप में हो, इसे स्टुंपेल की व्याधि अथवा बेख्ट्र्यू की व्याधि कहते हैं।

इस रोग का तीसरा प्रकार पहले दोनों प्रकारों के संमिलित आक्रमण के रूप में हो सकता है। पहला प्रकार महिलाओं तथा दूसरा पुरुषों को विशेष रूप से ग्रसित करता है।

दोनों प्रकार के रोगों का आक्रमण प्रायः एकाएक ही होता है। तीव्र दैहिक लक्षण, जैसे कई संधियों की कठोरता तथा सूजन, श्रांति, भार में कमी, चलने में कष्ट एवं तीव्र ज्वर के रूप में प्रकट होते हैं। संधियाँ सूजी हुई दिखाई पड़ती हैं एवं उनके छूने मात्र से ही पीड़ा होती है। कभी कभी उनमें नीली विवर्णता भी दृष्टिगत होती है। कई अवसरों पर प्रारंभ में कुछ ही संधियों पर आक्रमण होता है, किंतु अधिकतर अनेक संधियों पर सममित रूप (सिमेट्रिकल पैटर्न) में रोग का आक्रमण होता है। उदाहरण के लिये दोनों हाथों की उँगलियाँ, कलाइयाँ, दोनों पावों की पादशलाका-अंगुलि-पर्वीय संधियाँ (मेटाटार्सो फ़ैलैंजियल जॉएंट्स), कुहनी तथा घुटने आदि।

रोग के क्रम में अधिकतर शीघ्र प्रगति होती है एवं तीव्र लक्षण उत्पन्न होते हैं, किंतु इसके पश्चात् स्वास्थ्य अपेक्षाकृत अच्छा होकर फिर खराब हो जाता है और भली तथा बुरी अवस्थाएँ एकांतरित होती रहती हैं। कभी कभी रोग के लक्षण पूर्ण रूप से लुप्त हो जाते हैं और रोगी अच्छे स्वास्थ्य की दशा में वर्षों तक रहता है। रोग का आक्रमण पुनः भी हो सकता है। कुछ अवसरों पर रोग इतना अधिक बढ़ जाता है कि रोगी विरूप एवं अपंग हो जाता है। साथ ही मांसपेशियों का क्षय हो जाता है तथा अपुष्टिताजनित विभिन्न चर्मविकार उत्पन्न हो जाते हैं।

रोग के हलके आक्रमणों में रक्त-कोष-गणना तथा शोणवर्तुलि (हीमोग्लोबिन) के आगणन से परिमित रक्तहीनता पाई जाती है। तीव्र आक्रमणों में अत्यंत रक्तहीनता उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार हलके आक्रमणों में लोहिताणुओं (एरिथ्रोसाइट्स) का प्लाविका (प्लाज़्मा) में तलछटीकरण (सेडिमेंटेशन) अपेक्षाकृत शीघ्र होता है, किंतु तीव्र आक्रमणों में यह तलछटीकरण और भी शीघ्र हो जाता है।

रोग का तीव्र आक्रमण होने पर रक्त में लसीश्वेति (सीरम ऐल्ब्युमिन) की अपेक्षा लसीआवर्तुलि (सीरम ग्लोबुलिन) की बढ़ती दिखाई पड़ती है। यह बढ़ती कभी कभी इतनी अधिक हो जाती है कि रक्त में दोनों यौगिकों का अनुपात ही उलटा हो जाता है।

इस रोग में कभी कभी रोगी के हृदय की मांसपेशियों तथा हृत्कपाटों में दोषग्रस्त होने के चिह्न तथा लक्षण मिलते हैं। इस रोग के लगभग ५० प्रति शत रोगियों में हृदय पर आक्रमण पाया जाता है।

मूल कारणों के ज्ञान के अभाव में लक्षणों के निवारण हेतु ही चिकित्सा की जाती है। पीड़ा को दूर करने के लिये पीड़ानिरोधक ओषधियाँ दी जाती हैं। साथ ही शरीर के क्षय का निवारण करने के लिये आवश्यक भोजन तथा पूर्ण विश्राम कराया जाता है। संधियों की मालिश भी की जाती है। स्वर्ण के लवणों का प्रभाव इस रोग पर अनुकूल होता है, किंतु इनके अधिक प्रयोग से विषैले प्रभाव भी देखे गए हैं। केंडल के यौगिक एफ़ तथा ई के साथ पोषग्रंथि (पिट्यूटरी ग्लैंड) के हारमोन ऐड्रीनो-कॉर्टिको-ट्रोफ़िक का प्रयोग भी इस रोग में लाभकारी है।

सं०ग्रं०—बॉअर, डब्ल्यू० : रूमैटॉएड आर्थ्राइटीज़; जे० ए० एम० ए०, १३८, ३६७, १९४८; रूमैटिज़्म ऐंड आर्थ्राइटीज़ : रिव्यू ऑव अमेरिकन ऐंड इंगलिश लिटरेचर ऑव रीसेंट इयर्स; (टेंथ रूमैटिज़्म रिव्यू) भाग १, ऐनाल्स इंटरनेशनल मेडिसिन, ३९ : ४९८, १९५३, भाग २, वही, ३९ : ७५७, १९५३; वार्ड, एल० ई० तथा हेंच, पी० एस० : कॉर्टिसोन इन ट्रीटमेंट ऑव रूमैटाएड आर्थ्राइटीज़; जे० ए० एम० ए०, १५२ : ११९, १९५३; सेसिल तथा लोव : टेक्स्टबुक ऑव मेडिसिन, १९५५ का संस्करण।
[दे० सिं०]

आमाशय तथा ग्रहणी के व्रण

(पेप्टिक व्रण) एक अघातक परिमित व्रण होता है, जो पाचन प्रणाली के उन भागों में पाया जाता है जहाँ अम्ल और पेपसिन युक्त आमाशयिक रस भित्ति के संपर्क में आता है, जैसे ग्रासनलिका का निम्न प्रांत, आमाशय और ग्रहणी। इन व्रणों का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में भी मिलता है। इनके कारण हुए रक्तस्राव का वर्णन हिप्पोक्रेटीज़ ने ४६० ई० पू० में किया है, किंतु सभ्यता के आधुनिक संघर्षमय वातावरण में यह रोग बहुत अधिक पाया जाता है। शवपरीक्षा के आँकड़ों के अनुसार संसार के १० प्रति शत व्यक्ति ऐसे व्रणों से आक्रांत रहते हैं।

लक्षरा—सामान्यतः यह व्रण २० से ५० वर्ष की आयु में होता है। आमाशय व्रण की अपेक्षा पक्वाशय में व्रण अल्प वय में होता है और स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में चार गुना अधिक पाया जाता है। यह प्रायः साधारण अपक्षरण के समान होता है, जो कुछ व्यक्तियों में चिरस्थायी रूप ले लेता है। इसका क्या कारण है, यह अभी तक ज्ञात नहीं हुआ है, किंतु यह माना जाता है कि आमाशय में अम्ल की अधिकता, आमाशय के ऊतकों की प्रतिरोधक शक्ति का ह्रास और मानसिक उद्विग्नता व्रणों की उत्पत्ति में विशेष भाग लेते हैं।

आमाशय, ग्रहणी तथा पाचक नाल के अन्य अंग

१. मुंह; २. ग्रसनी; ३. ग्रासनली; ४. पित्तवाहनी; ५. यकृत; ६. ग्रहणी; ७. बृहदांत्र; ८. क्षुद्रांत्र तथा बृहदात्र की संधि; ९. अंधांत्र; १०. परिशेषिका; ११. कंठ; १२. मध्यच्छदा (डायाफ़ाम); १३. आमाशय; १४. क्लोम; १५ अनुप्रस्थबृहदांत्र; १६. अवरोही बृहदांत्र; १७ क्षुद्रात्र; १८. श्रोणिगा बृहदांत्र; १९. मलाशय; २०. गुदा; २१. मलद्वार।

रोग का सामान्य लक्षरा—भोजन के पश्चात् उदर के उपरिजठर प्रांत में पीड़ा होती है, जो वमन होने से या क्षार देने से शांत या कम हो जाती है। रोगी को समय समय पर ऐसे आक्रमण होते रहते हैं, जिनके बीच वह पीड़ा से मुक्त रहता है। कुछ रोगियों में पीड़ा अत्यधिक और निरंतर होती है और साथ में वमन भी होते हैं, जिससे पित्तजनित शूल का संदेह होने लगता है। मुँह से अधिक लार टपकना, आम्लिक डकारों का आना, गैस बनने के कारण बेचैनी या पीड़ा, वक्षोस्थि के पीछे की ओर जलन और कोष्ठबद्धता, कुछ रोगियों को ये लक्षण प्रतीत होते हैं। आमाशय से रक्तस्राव के निरंतर या अधिक मात्रा में होने के कारण रक्ताल्पता हो सकती है। दूसरे उपद्रव जो उत्पन्न हो सकते हैं वे ये हैं :(१) निच्छिद्रण (परफोरेशन),(२) जठरनिर्गम (पाइलोरस) की रुकावट (ऑब्सट्रक्शन) तथा (३) आमाशय और अन्य अंगों का जुड़ जाना।

निदान—रोगी की व्यथा के इतिहास से रोग का संदेह हो जाता है, किंतु उसका पूर्ण निश्चय मल में अदृश्य रक्त की उपस्थिति, अम्लता की परीक्षा तथा एक्स-रश्मि द्वारा परीक्षणों से होता है। बेरियम खिलाकर एक्स-रश्मि चित्र लिए जाते हैं तथा आमाशयदर्शक द्वारा व्रण को देखा जा सकता है।

चिकित्सा—उपद्रवमुक्त रोगियों की ओषधियों द्वारा चिकित्सा करके साधारणतया स्वस्थ दशा में रखना संभव है। चिकित्सा का विशेष सिद्धांत रोगी की मानसिक उद्विग्नता और समस्याओं को दूर करना और आमाशय में अम्ल को कम करना है। अम्ल की उत्पत्ति को घटाना और उत्पन्न हुए अम्ल का निराकरण, दोनों आवश्यक हैं। इनसे व्रणों के अच्छे होने और रोगी के पुनः स्थापन में बहुत सहायता मिलती है तथा व्रण फिर से नहीं उत्पन्न होते। तंबाकू, मद्य, चाय और कहवा, मसाले और मिर्चों का प्रयोग छोड़ना भी आवश्यक है। अधिक परिश्रम और रात को देर तक जागने
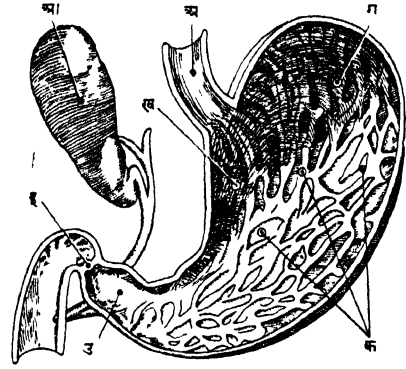
आमाशय

क, ख. आमाशय की श्लेष्मल कला की सिलवटें; ग. आमाशय का ऊर्ध्वांश; अ. ग्रासनली द्वार; आ. पित्ताशय; इ. ग्रहणी का द्वार; उ. आमाशय का दक्षिणांश, भोजन इसी भाग में मथा जाता है।

से भी हानि होती है। निच्छिद्रण, अतिरिक्त स्राव, क्षुद्रांत्रबद्धता तथा ओषधिचिकित्सा से असफलता होने पर शल्यकर्म आवश्यक होता है।

[वी० भा० भा०]

आमाशयार्ति

आमाशयार्ति (गैस्ट्राइटिज) में आमाशय की श्लेष्मिक कला का उग्र या जीर्ण शोथ हो जाता है।

उग्र आमाशयार्ति किसी क्षोभक पदार्थ, जैसे अम्ल या क्षार या विष अथवा अपच्य भोजन-पदार्थों के आमाशय में पहुँचने से उत्पन्न हो जाती है। अत्यधिक मात्रा में मद्य पीने से भी यह रोग उत्पन्न हो सकता है। आंत्रनाल के उग्र शोथ में आमाशय के विस्तृत होने से भी रोग उत्पन्न हो सकता है।

रोग के लक्षण अकस्मात् आरंभ हो जाते हैं। रोगी के उपरिजठर प्रदेश (एपिगैस्ट्रियम) में पीड़ा होती है, जिसके पश्चात् वमन होते हैं, जिनमें रक्त मिला रहता है। अधिकतर रोगियों में कारण दूर कर देने पर रोग शीघ्र ही शांत हो जाता है।

जीर्ण रोग के बहुत से कारण हो सकते हैं। मद्य का अतिमात्रा में बहुत समय तक सेवन रोग का सबसे मुख्य कारण है। अधिक मात्रा में भोजन करना, गाढ़ी चाय (जिसमें टैनिन अधिक होती है) अधिक पीना, मिर्च तथा अन्य मसालों का अति मात्रा में प्रयोग, अति ठंढी वस्तुएँ, जैसे बरफ, आइसक्रीम, आदि खाना, अधिक धूमपान तथा बिना चबाया हुआ भोजन, ये सब कारण रोग उत्पन्न कर सकते हैं। जीर्ण आमाशयार्ति उग्र आमाशयार्ति का परिणाम हो सकती है और आमाशय में अर्बुद बन जाने पर, शिराओं की रक्ताधिक्यता (कॉनजेस्चन) में, जैसे हृद्रोग में अथवा यकृत के कड़ा हो जाने (सिरौसिस) में, दुष्ट रक्तक्षीणता अथवा ल्यूकीमिया के समान रक्तरोगों में तथा कैंसर या राजयक्ष्मा में भी यही दशा पाई जाती है। इस रोग में विशेष विकृति यह होती है कि आमाशय में श्लेष्मिक कला से श्लेष्मा का अधिक मात्रा में स्राव होने लगता है, जो आमाशय में एकत्र होकर समय समय पर वमन के रूप में निकला करता है। आगे चलकर श्लेष्मिक कला की अपुष्टता (एट्रोफ़ी) होने लगती है।

रोगी प्रायः प्रौढ़ अवस्था का होता है, जिसका मुख्य कष्ट अजीर्ण होता है। भूख न लगना, मुँह का स्वाद खराब होना, अम्लपित्त, बार बार हवा खुलना, प्यास की अधिकता, खट्टी डकार आना या वमन जिसमें श्लेष्मा और आमाशय का तरल पदार्थ निकलता है, विशेष लक्षण होते हैं। अधिजठर प्रांत में प्रसृत वेदना (टेंडरनेस) के सिवाय और कोई लक्षण नहीं होता। खाद्य की आंशिक जाँच (फ़ैक्शनल मील टेस्ट) से श्लेष्मा की अत्यधिक मात्रा का पता लगता है। मुक्त अम्ल (फ़्री ऐसिड) की मात्रा कम अथवा बिलकुल नहीं होती। जठरनिर्गम (पाइलोरस) के पास के भाग में रोग होने से

पक्वाशय के व्रण (डुओडेनल अलसर) के समान लक्षण हो सकते हैं। आहार के नियंत्रण से तथा श्लेष्मा को घोलने के लिये क्षार के प्रयोग से रोगी की व्यथा कम होती है। [शि० श० मि० तथा स० प्र० गु०]

आमियानस मार्सेलिनस (जन्म ल० ३२५-३० ई०) रोमन इतिहासकार, संभ्रांत ग्रीक वंश का था। रोम के शासकों और जेनरलों के साथ वह अनेक एशियाई युद्धों में शामिल हुआ। एकाध बार तो उसे ईरानियों से लड़ते समय जान के लाले तक पड़ गए। अपने जन्म का नगर अंतियोक छोड़ बाद में वह रोम में ही बस गया और वहीं उसने अपना 'रेरम गेस्तारूम ३१' नामक प्रसिद्ध इतिहास लातीनी में लिखा, जिसमें ९६-३७८ ई० तक की घटनाएँ समाविष्ट हुई और जो तासितस के इतिहास का उपसंहार बना। उसी पर आमियानस का यश प्रतिष्ठित हुआ। उसकी शैली अधिकतर अस्पष्ट और अमधुर है। लिवी और तासितस दोनों इतिहासकारों से वह अधिक उदारचेता है। [भ० श० उ०]

आमीन् एक प्राचीन इब्रानी शब्द जिसे न केवल यहूदी, वरन् ईसाई और कुछ अंश तक मुसलमान भी अपनी उपासना में प्रयुक्त करते हैं। यूनानी अनुवाद के अनुसार इसका अर्थ है—'ऐसा ही हो', किंतु वास्तविक रूप में इसका अर्थ है—'ऐसा ही है' अथवा 'ऐसा ही होगा'। साधारण प्रयोग में इसका अर्थ है 'हो'। उपासना की समाप्ति कर उपस्थित व्यक्ति धर्माचार्य की कामना के समर्थन में 'आमीन्' शब्द का प्रयोग करते हुए उस कामना के प्रति अपना समर्थन व्यक्त करते हैं। [वि० ना० पां०]

आमुंसन रोआल्ड (१८७२-१९२८) नारवे का एक साहसी समन्वेषक (अनजान देशों की खोज करनेवाला) था। उसका जन्म देहात में हुआ था, परंतु उसने शिक्षा क्रिस्चियाना में, जिसका नाम अब ओसलो है, पाई थी। सन् १८९० में उसने बी०ए० पास किया और आयुर्विज्ञान (मेडिसिन) पढ़ना आरंभ किया, परंतु मन न लगने से उसे छोड़ उसने जहाज पर नौकरी कर ली। सन् १९०३-६ में वह ग्योआ नामक नाव या छोटे जहाज में अपने ६ साथियों के साथ उत्तर ध्रुव की खोज करता रहा और उत्तर चुंबकीय ध्रुव का पता लगाया। १९१०-१२ में वह दक्षिण ध्रुव की खोज करता रहा और वही पहला व्यक्ति था जो दक्षिण ध्रुव तक पहुँच सका। प्रथम विश्वयुद्ध के कारण उसे कई वर्षों तक चुपचाप बैठना पड़ा। १९१८ में उसने फिर उत्तर ध्रुव पहुँचने की चेष्टा की, परंतु सफलता न मिली। तब उसन नॉर्ज नामक नियंत्रित गुब्बारे (डिरिजिबिल) में उड़कर दो बार उत्तर ध्रुव की प्रदक्षिणा की और ७१ घंटे में २,७०० मील की यात्रा करके सफलतापूर्वक फिर भूमि पर उतरा। जब जेनरल नोबिल का हवाई जहाज उत्तर ध्रुव से लौटते समय मार्ग में दुर्घटनाग्रस्त हो गया तो आमुंसन ने बड़ी बहादुरी से उसको खोजने का बीड़ा उठाया। १७ जून, १९२८ को उसने इस काम के लिये हवाई जहाज में प्रस्थान किया, परंतु फिर उसका कोई समाचार संसार को प्राप्त न हो सका।

आमूर १. उत्तर-पूर्वी एशिया की एक नदी तथा एक प्रदेश का नाम। इस नदी की उत्पत्ति साइबेरिया की नदी शिलका तथा मंचूरिया की नदी अर्गुन के ५३° उत्तर अक्षांश तथा १२१° पूर्व देशांतर पर मिलने से होती है। १७७० मील लंबी यह नदी सखालीन द्वीप के सामने तातार जलडमरुमध्य में गिरती है। अपनी २०० सहायक नदियों के साथ ७,१०,००० वर्ग मील की वर्षा को लती हुई यह नदी विश्व की १०वीं तथा सोवियत रूस की चौथी सबसे बड़ी नदी है। चीनी इसे काली राक्षसी कहते हैं। इसके किनारे पर निराली प्राकृतिक छटावाले वन, पर्वत, घास के मैदान तथा दलदल हैं। वसंत ऋतु में हिम पिघलने के कारण आमूर में बाढ़ आ जाती है और संपूर्ण नदी नौकावहन योग्य होकर, सुदूरपूर्व सोवियत भूमि के यातायात का प्रमुख साधन बन जाती है। अनाज, नमक एवं औद्योगिक वस्तुएँ मुहाने की ओर तथा मछली एवं लकड़ी उद्गम की ओर जाती हैं। सुंगरी तथा उसूरी आमूर की मुख्य सहायक नदियाँ हैं।

२. आमूर प्रदेश की जनसंख्या सन् १९५० ई० में ६,००,००० थी। इस प्रदेश में आमूर दलदल एवं वन्य अर्धऊसर (स्टेप) हैं। यहाँ शरद् ऋतु में शीत तथा ग्रीष्म में गर्मी एवं वर्षा होती है। यहाँ के मैदान कृषि एवं चरागाहों के लिये अत्यंत उपयुक्त हैं। अनाज, सोयाबीन, सन फ्लावर तथा आलू आमूर प्रदेश के मुख्य कृषि उत्पादन हैं। सोने तथा कोयले की खुदाई, आखेट, मछली मारना तथा लकड़ी का काम, यहाँ के मुख्य उद्योग हैं। ट्रांस-साइबेरियन रेलवे आमूर प्रदेश से होकर जाती है। ब्लागोवेशचेंस्क यहाँ की राजधानी है। [शि० मं० सिं० तथा स० प्र० गु०]

आमोय नामक द्वीप पर स्थित आमोय नगर, जिसे सुमिंग भी कहते हैं, ६ मील लंबा है। जनसंख्या २,२०,००० (१९४५ ई०)। यह चीन देश का एक प्रमुख बंदरगाह है तथा फुकिन प्रांत का द्वितीय सर्वप्रधान नगर है। एक पर्वतश्रेणी इसे दो भागों में विभाजित करती है। इनमें से एक आंतरिक नगर है तथा दूसरा बाह्य नगर। दक्षिण फुकिन तट का सर्वश्रेष्ठ बंदरगाह अंबाय अपने आँचल में बड़े बड़े सागरीय पोतों को ले सकता है। यहाँ पर सुंदर शुष्क नौनिवेश (ड्राइ डॉक्स) भी हैं। आमोय चाय, कागज तथा तंबाकू का प्रमुख निर्यातकेंद्र है। यहाँ चावल, रुई, कपड़ा, लौह वस्तुओं तथा दूसरी औद्योगिक वस्तुओं का आयात होता है। यहाँ का तटीय व्यापार भी यथेष्ट महत्वपूर्ण है तथा यहाँ के प्रमुख व्यापारी और धनी चीन के कुबेर समझे जाते हैं। १८वीं शताब्दी के अंतिम चरण में आमोय को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में यथेष्ट ख्याति मिली और चाय के व्यापार में स्वर्ण की वर्षा होने लगी। १८४१ ई० में ब्रिटिश चीनी अफीम युद्ध में यह नगर ब्रिटेन के अधिकार में आ गया तथा १८४२ ई० की संधि के पश्चात् चीन के चार अन्य बंदरगाहों के साथ यह भी अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये खुल गया। फुकिन अभियान के समय जापानियों ने आमोय को ध्वस्त कर दिया। १९४५ ई० तक यह उनके अधिकार में रहा। [शि० मं० सिं०]

आमोस (लगभग ७५० ई० पू०)। आमोस के उपदेशों का संग्रह बाइबिल में सुरक्षित है और आमोस का ग्रंथ कहलाता है। ये बारह गौण नबियों में से हैं। ईश्वर की प्रेरणा से उन्होंने मूर्तिपूजा के कारण यहूदी के नाश की नबूवत की थी; इसलिये इनको 'सर्वनाश का नबी' कहा गया है। ये साधारण शिक्षाप्राप्त एवं स्पष्टवादी ग्रामीण थे। इन्होंने अन्याय, धनिकों द्वारा दरिद्रों के शोषण तथा धर्म में निर्जीव कर्मकांड की निंदा की है।

सं०ग्रं०—थेईज, जे०: देर प्राफेट आमोस, बॉन, १९३७। [का० बु०]

आम्रकार्दव चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य (ल० ३७५-४१४ ई०) का सेनापति। वह बौद्ध था और साँची के एक अभिलेख से प्रमाणित है कि उसने २५ दीनार और एक गाँव वहाँ के आर्यसंघ (बौद्ध-संघ) को दान में अर्पित किए थे। आम्रकार्दव का नाम विशेषतः गुप्तों की धार्मिक सहिष्णुता के प्रमाण में उद्धृत किया जाता है। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य परम भागवत, परम वैष्णव थे, परंतु सेनापति के पद पर इस बौद्ध को नियुक्त करने में उन्हें आपत्ति नहीं हुई। [ओं० ना० उ०]

आयकर भारतवर्ष में आयकर का इतिहास बहुत प्राचीन है, यद्यपि इसके आधुनिक अर्थ में इसका सूत्रपात पहली बार इंग्लैंड में सन् १८०३ ई० में हुआ। भूमिराजस्व के रूप में तो इसका प्रारंभ इंग्लैंड में सन् १६९२ ई० में हुआ था, किंतु भारत में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष आयकर की विशद व्यवस्था सबसे पहले कौटिल्य के अर्थशास्त्र (ल० ई० पू० तीसरी-चौथी शताब्दी) में उपलब्ध है। सिक्के के रूप में जो कर राजकोष में दिया जाता था, उसके रूपिक, व्याजी, परीक्षिका, परिघ आदि अनेक नाम और प्रकार थे। पराधीन राज्यों अथवा आश्रित राजाओं से जो चौथ ली जाती थी, केवल उसी को 'कर' की संज्ञा चाणक्य ने दी है। इसके अतिरिक्त भी अनेक प्रत्यक्ष तथा परोक्ष आयकर तत्कालीन (उत्तरी) भारत में प्रचलित थे; यथा: पिंडकर (जिनकी राशि एक बार निश्चित कर दी जाती थी; अर्थात् जो आयराशि से निरपेक्ष थे); षड्भाग (अनाज की पैदावार का छठा भाग, जो भूमिकर के रूप में लिया जाता था); सेनाभुक्ति (जनता द्वारा सेना के पोषणार्थ दिया जानेवाला कर); बलि (धार्मिक कृत्यों के लिये लिया जानेवाला कर); उत्संग (राजा के पुत्र की उत्पत्ति पर वसूल किया जानेवाला कर); औपायनिक (राजा के दर्शनार्थ (अनिवार्य) भेंट); कौष्ठेयक (राजसरोवरों, तड़ागों, जलाशयों के समीपस्थ भूमि का लगान)

आदि। जो कर शेष रह जाते थे, उनको 'उपस्थान' कहते थे और जो भूल से रह जाते थे अथवा विशिष्ट परिस्थितियों में आरोपित होते थे (जैसे विगत महायुद्धों के युद्धकोष), उन्हें 'अन्यजात' कहा जाता था। सिंचित भूमि पर सिंचाई की प्रणाली के अनुसार कर लगाया जाता था; यथा, हाथों से उलीचकर सिंचाई करने पर उपज का पाँचवाँ भाग (उदकभागम्); कंधों पर पानी (सींचने के लिये) लाने पर उपज का चौथा भाग; पानी खींचकर (स्रोतोयंत्रप्रावर्तिमम्) लगाने से उपज का तीसरा भाग और इतना ही भाग नदी, झील, सरोवर, कूप (नदीसरसतडाककूपोद्घाटम्) से सिंचाई करने पर लगता था। आयात-निर्यात-संबंधी तथा अनेक प्रकार के अन्य कर भी थे, जिनका ब्योरा यहाँ अभीष्ट नहीं है। लगभग २५०० वर्ष पूर्व भारत में भूमिराजस्व तथा अन्यान्य आयकर की इतनी विधिवत् व्यवस्था अवश्य ही विलक्षण है।

औद्योगिक क्रांति के पश्चात् फ्रांस से युद्धरत होने पर सभी प्रकार की प्रति पौंड आय पर चार शिलिंग का कर सन् १६६२ ई० में इंग्लैंड में लगाया गया था। नाविक और सैनिक वर्गों को छोड़कर शेष सभी प्रकार के वेतन-भोगियों पर भी यह कर लागू था। नेपोलियन से अनेक युद्ध होने पर सन् १७९९ ई० में विलियम पिट के मंत्रित्वकाल में दो सौ पौंड तथा अधिक आय पर पुनः दस प्रति शत कर लगाया गया। किंतु सन् १८०२ ई० में आमिया की संधि के उपरांत आयकर समाप्त कर दिया गया। सन् १८०३ ई० में पुनः युद्ध छिड़ने पर आयकर लगाया गया। आय के अर्जन को पाँच बृहद् वर्गों में विभाजित किया गया और वसूली आय के उद्गम पर की जाने लगी। परिणामस्वरूप आयकर की राशि लगभग दूनी हो गई, यद्यपि दर घटाकर पाँच प्रति शत कर दी गई थी। इन्हीं दो सिद्धांतों पर आधुनिक आयकर की भी व्यवस्था की गई है। वाटरलू के युद्ध के बाद यह आयकर समाप्त कर दिया गया और सन् १८४२ ई० में सर राबर्ट पील ने इसे पुनः लगा दिया। सन् १९१८ ई० में संगठित आयकर विधेयक बनते बनते अनेक परिवर्तन इस आयकर व्यवस्था में हुए। सन् १९२० ई० में प्रचलित आयकर व्यवस्था का आमूल परीक्षण करने के लिये रायल कमीशन नियुक्त किया गया, जिसने अपनी रिपोर्ट में आयकर में छूट देने और कर के क्रमवर्धी निर्धारण के नवीन नियम निरूपित किए।

भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन ने सर्वप्रथम प्रत्यक्ष आयकर गदर (सन् १८५७ ई०) से उत्पन्न शासन के आर्थिक संकट के कारण ३१ जुलाई, सन् १८६० ई० को पाँच वर्ष के लिये लगाया। यह इंग्लैंड के पूर्वोक्त सन् १८४२ ई० के आयकर विधान के अनुरूप था। इस कर में ६०० रुपये से अधिक लगानवाली खेती की आय भी संमिलित कर ली गई थी। इस दृष्टि से भी भारत के अनेक प्रदेशों में वर्तमान कृषि आयकर एकदम नया नहीं है। सन् १८६२ ई० में 'लायसेंस टैक्स' के रूप में फिर व्यापारों और व्यवसायों की वार्षिक आय पर कर लगाया गया। इसके अनुसार वेतनभोगियों के मासिक वेतन से ही, अर्थात् उद्गम पर, कर की कटौती हो जाती थी। सन् १८६७ ई० में 'सर्टिफिकेट टैक्स' लगाया गया, जो 'लायसेंस टैक्स' से गुणात्मक रूप में भिन्न था। दोनों ही प्रकार के करों की देय राशियों की सीमा निर्धारित कर दी गई, किंतु इस बार कृषि आय इन दोनों ही प्रकार के आयकरों से मुक्त रही।

सन् १८६९ ई० में 'सार्टिफिकेट टैक्स' को सामान्य आयकर में परिवर्तित कर दिया गया, जिसमें कृषि आयकर फिर संमिलित कर लिया गया। सन् १८७३ ई० में शासन की वित्तीय स्थिति सुधरने पर आयकर उठा लिया गया।

किंतु सन् १८७७ ई० में दुर्भिक्ष (सन् १८७६-१८७८ ई०) के कारण प्रत्यक्ष आयकर पुनः लगाया गया। यह कर व्यापारिक वर्ग पर 'लायसेंस टैक्स' और कृषक वर्ग पर लगान के रूप में लगा। इस आयकर से दुर्भिक्ष-निवारण-कोष संचित किया गया। किंतु यह संपूर्ण भारत में समान रूप से लागू नहीं था। बंगाल, मद्रास, बंबई और पंजाब की विधानसभाओं ने अपने लिये अलग अलग आयकर विधेयक बनाए। सन् १८८६ ई० तक इन सभी, केंद्रीय तथा प्रांतीय, आयकर विधेयकों में कुल मिलाकर तेईस संशोधन हुए।

सन् १८८६ ई० में जो आयकर विधेयक बना, वह भारत के आयकर के इतिहास में महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसका मूल ताना बाना प्रायः आज तक चला आता है। इसमें सबसे पहले 'कृषि-आय' को परिभाषित किया गया, जो परिभाषा बहुत कुछ अभी तक मान्य है। इसी में कृषि आयकर में छूट देने के नियम बनाए गए, जो अब सभी प्रकार के प्रत्यक्ष करों में छूट देने के लिये सिद्धांत जैसे बन गए हैं। जीवन बीमा की किस्त देनेवालों की आय के (अधिक से अधिक) छठे भाग को पहली बार इसी विधेयक द्वारा करमुक्त किया गया था। यह छूट ठीक इसी रूप में आज भी विद्यमान है। यह ऐतिहासिक विधेयक ३२ वर्ष, अर्थात् सन् १९१८ ई० तक, लागू रहा। इसमें आय आँकने के लिये कोई ब्योरेवार नियम नहीं बनाए गए थे। यह कार्य गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल पर छोड़ दिया गया था; किंतु सन् १९१६ ई० में इसमें संशोधन करके आयकर की क्रमवर्ती दरें निर्धारित की गई थीं। इससे व्यक्तिगत करदाताओं की आय आँकने और करनिर्धारण में अनेक विषमताएँ उत्पन्न हो गईं। अतएव सन् १९१८ ई० में इस करव्यवस्था को आमूल संशोधित किया गया। फलस्वरूप करनिर्धारण के लिये करदाताओं के विभिन्न साधनों से प्राप्त आय और लाभ का समंजन किया गया। पहले तो विगत वर्ष की आय को ही करनिर्धारण का आधार बनाया जाता था। अब वर्तमान वर्ष की निर्बल आय पर वाजिब कर का विगत वर्ष की आय पर पूर्वनिर्धारित कर से समंजन किया जाने लगा। यह कर ब्रिटिश भारत में अर्जित छः प्रकार की आय पर लगाया गया, यथा (१) वेतन, (२) प्रति-भूतियों पर व्याज की आय, (३) भवनसंपत्ति से प्राप्त आय, (४) व्यापारिक आय, (५) व्यावसायिक आय और (६) अन्यान्य साधनों से प्राप्त आय।

सन् १९२१ ई० में अखिल भारतीय आयकर समिति ने पूर्वोक्त विधेयक का परीक्षण कर जो सुझाव दिए, उनके अनुसार सन् १९२२ ई० में वर्तमान आयकर विधेयक बना। तब से सन् १९३९ ई० तक इस विधेयक में बीस बार संशोधन हुए और सन् १९३९ ई० के संशोधन विधेयक ने तो इसमें महत्व-पूर्ण परिवर्तन कर दिए।

सन् १९२२ ई० के विधेयक में आय-अतिकर को भी मिला लिया गया, जब कि इससे पूर्व यह अतिरिक्त शुल्क सन् १९१७ ई० के आय-अतिकर विधेयक (जिसका संशोधन सन् १९२० ई० में हुआ) के अंतर्गत अलग से लगाया जाता था। दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि सन् १९२२ के विधेयक में आयकर की क्रमवर्धी दरों को निर्धारित करने की प्रथा बंद कर दी गई। दरनिर्धारण का कार्य एकांत रूप से वार्षिक वित्तीय विधेयकों के लिये छोड़ दिया गया, जो प्रथा अब तक चली आती है। संमिलित हिंदू परिवार के किसी भी सदस्य की व्यक्तिगत धनप्राप्ति को भी आयकर से मुक्त कर दिया गया। आय के अनेक साधनों में से यदि किन्हीं में घाटा हो और किन्हीं में लाभ, तो लाभ और घाटे को मिलाकर यदि कोई लाभ बच रहे, तो अब उसी पर आयकर लगने लगा। यदि कोई करनिर्धारित व्यापारी किसी कारण न रहे, तो उसके प्रति अंकित आयकर को अदा करने का दायित्व उसके उत्तरा-धिकारी पर रख दिया गया। किंतु यदि निर्धारित वर्ष में व्यापार किसी समय बंद हो जाय, तो कर में आनुपातिक छूट दी जाती थी। सन् १९३५ ई० में एक आयकर विशेषज्ञ समिति की नियुक्ति हुई, जिसने दिसंबर, सन् १९३६ ई० में अपने सुझाव प्रस्तुत किए। तदनुसार सन् १९३९ ई० का आयकर विधेयक बना, जिसके अंतर्गत ब्रिटिश भारत में 'निवसित' व्यक्तियों की सब प्रकार की विदेशी आय पर भी कर लगा दिया गया। इसके अतिरिक्त आयकर से बचने का जाल करनेवालों की अनेक चतुर युक्तियों की काट भी इस विधेयक में रखी गई। साथ ही निवल हानि को अगले ६ वर्षों तक की आय में समंजित करने की छूट भी व्यापारियों को दी गई। सन् १९४५ ई० में अर्जित आय पर विशेष छूट दी गई और सन् १९४७ में पूंजीगत लाभकर भी इस विधेयक में संमिलित कर लागू किया गया। किंतु यह कर सन् १९४९ ई० में उठा लिया गया।

द्वितीय महायुद्ध के कारण व्यापारियों द्वारा अनायास उपार्जित विपुल लाभराशियों पर अतिलाभकर लगाया गया, जो १ सितंबर, सन् १९३९ ई० से ३१ मार्च, सन् १९४६ ई० तक लागू रहा। यह कर ३६,००० रुपए से अधिक लाभ पर लगाया गया था। तत्पश्चात् १ अप्रैल, सन् १९४६ ई० से ३१ मई, सन् १९४८ ई० तक व्यापार-लाभकर-विधेयक (जो सन् १९४७ ई० में बना) लगा रहा, जिसमें करनिर्धारण की विधि और दर अतिलाभ-कर विधेयक की अपेक्षा क्रमशः कम जटिल और न्यून थी।

भारत के स्वतंत्र होने तथा २६ जनवरी, सन् १९५० ई० को सार्वभौम गणतंत्र घोषित होने पर और साथ ही ६०० छोटे-बड़े देशी राज्यों के इस सत्ता में समाविष्ट होने के उपरांत १ अप्रैल, सन् १९५० ई० से केंद्रीय वित्त-

विधेयक (सन् १९५० ई०) द्वारा आयकर विधेयक जम्मू और काश्मीर को छोड़ समस्त देश पर लागू हो गया। तब से इस विधेयक में परिस्थितियों तथा आवश्यकता के अनुसार समय समय पर संशोधन एवं परिवर्तन होते रहते हैं। देश के शासन की आर्थिक व्यवस्था के संचालन एवं संतुलन के निमित्त आयकर एक स्थायी विधान है।

आयकर वसूल करने की शासकीय व्यवस्था का इतिहास भी संक्षेप में जान लेना आवश्यक है। जब तक आयकर अप्रत्याशित वित्तीय विपत्तिकाल में यदा कदा लगाया जाता रहा, तब तक यह शासकीय व्यवस्था का एक अस्थायी अंग रहा। अतएव कोई स्थायी विभाग इसकी वसूली के प्रबंध के लिये नहीं खोला गया और प्रांतीय राजस्व विभागों को ही यह कार्य सौंपा जाता रहा। इस कार्य के लिये ये विभाग अस्थायी कर्मचारी नियुक्त कर लेते थे, जिनके भ्रष्टाचार तथा अयोग्यता के कारण आयकरनिर्धारण तथा संग्रह करने के काम भली भाँति संपन्न नहीं होते थे। सन् १८८६ ई० के पश्चात् भी केवल कलकत्ता, बंबई और मद्रास में ही स्थायी आयकर अधिकारी थे। अखिल भारतीय आयकर समिति (सन् १९२१ ई०) के सुझाव पर सन् १९२४ ई० में भारत सरकार ने एक विधेयक द्वारा केंद्रीय राजस्व बोर्ड की स्थापना की, जिसके अंतर्गत आयकर संग्रह की अखिल भारतीय स्थायी व्यवस्था की गई। सन् १९२२ ई० के आयकर विधेयक के अंतर्गत प्रत्येक प्रांत में एक आयकर आयुक्त नियुक्त किया गया था, जिसके नियंत्रण में आयकर उपायुक्त तथा आयकर अधिकारी होते थे। सन् १९३९ ई० से पूर्व आयकर उपायुक्त तत्संबंधी शासकीय व्यवस्था के अतिरिक्त करनिर्धारण की अपील भी सुनता था, किंतु सन् १९३९ ई० के बाद इन दो कार्यों के लिये अलग अलग उपायुक्त नियुक्त किए गए। सन् १९४१ ई० से अपील सुननेवाले आयकर उपायुक्त के निर्णय से असंतुष्ट करनिर्धारण की दूसरी अपील करने का अधिकार दिया गया और ऐसी अपीलें सुनने के लिये दो सदस्यों का एक विशेष आयकर न्यायमंडल (इनकम टैक्स अपेलांट ट्राइब्यूनल) स्थापित किया गया, जिसे विधि (कानून) संबंधी विवादास्पद विषयों में प्रादेशिक उच्च न्यायालयविशेष से निर्णायक परामर्श लेने का भी अधिकार है।

सं०ग्रं०—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका; रा० शामशास्त्री द्वारा अनूदित अंग्रेजी भाषा में कौटिल्य का अर्थशास्त्र; श्री ए० सी० संपत द्वारा संपादित इंडियन इन्कम टैक्स ऐक्ट, दूसरा भाग; भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय द्वारा प्रकाशित अर्थशास्त्रशब्दावली। [का० चं० सौ०]

आयडिन दक्षिण-पश्चिमी तुर्की का एक प्रमुख नगर है, जो स्मरना से पूर्व-दक्षिण-पूर्व दिशा में ७० मील पर स्थित है। यहाँ से होकर स्मरना-दिनेर रेलमार्ग जाता है। १३वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यह नगर आयडिन तथा मेंतेश नामक सेल्जुक जाति के तुर्कों द्वारा अधिकृत कर लिया गया था। सन् १३९० ई० के आसपास यह इसोबे द्वारा शासित था। सेल्जुक काल में यह प्रादेशिक राजधानी तिरेह के अंतर्गत द्वितीय श्रेणी का नगर था। १७वीं शताब्दी में यह मनीसा के करासमैंस के अधिकार में था तथा सन् १८२० ई० तक उसी स्थिति में रहा। समीपस्थ ऊँचे भाग पर प्राचीन नगर ट्रालेस के अवशेष विद्यमान हैं। आयडिन को यूनान-तुर्की-युद्ध (१९१९-१९२२) में अत्यधिक क्षति उठानी पड़ी थी। इसकी जनसंख्या लगभग १८,००० है। [श्या० सुं० श०]

आयतन ये बारह होते हैं—छः भीतर के और छः बाहर के। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन—ये छः भीतर के आयतन हैं। इन्हें आध्यात्मिक आयतन भी कहते हैं। रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श और धर्म—ये छः बाहर के आयतन हैं। इन्हें बाह्यायतन भी कहते हैं। प्राणी की सारी तृष्णाओं के घर यही बारह हैं। इसी से उन्हें आयतन कहते हैं। आधुनिक विज्ञान में किसी पिंड का आयतन वह स्थान है जो पिंड छेंकता है और इसे घन एककों में नापा जाता है, जैसे घन इंचों या घन सेंटीमीटरों में। [भि० ज० का०]

आयरन पर्वत संयुक्त राज्य (अमरीका) के मिसौरी राज्य के पूर्वी भाग में स्थित सेंट फ्रांको पर्वत के दक्षिणी भाग का एक शिखर है (ऊँचाई १,०७७ फुट)। मिसिसिपी नदी यहाँ से पूर्व की ओर लगभग ३८ मील की दूरी पर है।

आयरन पर्वत हैमेटाइट नामक लोहे के अयस्क का अनुपम भंडार है। यह कच्चा लोहा संपूर्ण संयुक्त राज्य में अपनी विशुद्धता में सर्वप्रथम है। यहाँ खोदाई का कार्य सर्वप्रथम १८४५ ई० में आरंभ हुआ। उस समय एक पातालतोड़ कुआँ (आर्टीजियन वेल) १५२ फुट की गहराई तक खोदा गया, जिसमें प्राप्त शिलास्तर भूपृष्ठ से नीचे की ओर इस प्रकार हैं: मिट्टी मिश्रित कच्चा लोहा १६ फुट; बालुकाश्म (सैंडस्टोन) ३४ फुट; मैगनीसियम चूने का पत्थर (मैग्नीसियन लाइमस्टोन) ७½ इंच; भूरा बालुकाश्म ७½ इंच; कठोर नीली शिला ३७ फुट; विशुद्ध हैमेटाइट शिला ५ फुट; पॉरफिरिटिक शिला ७ फुट और हैमेटाइट शिला ५० फुट से लेकर अंत तक। इससे यह विदित होता है कि संपूर्ण क्षेत्र चुंबकीय कच्चे लोहे का ही बना है। [रा० ना० मा०]

आयरनटन संयुक्त राज्य, अमरीका के ओहायो राज्य के लारेंस जिले का मुख्य नगर है। ओहायो नदी पर स्थित यह नगर औद्योगिक और व्यापारिक केंद्र है। प्रधान उद्योग धातु की ढलाई, कोक और ग्रैफाइट से निर्मित पदार्थ, पोर्टलैंड सीमेंट, रासायनिक पदार्थ, इस्पात, बिजली के सामान, मोटर गाड़ी के पुर्जे इत्यादि हैं। रेलमार्गों द्वारा यह समीपवर्ती क्षेत्रों से संबद्ध है। यहाँ नदी यातायात भी महत्वपूर्ण है। यह नगर वायुमार्ग पर स्थित है। कुल जनसंख्या १६,३३३ है (१९५०)। [रा० ना० मा०]

आयरनवुड संयुक्त राज्य, अमरीका के मिशिगन राज्य में गौजेबिक जिले का एक नगर है। यह प्रायद्वीपीय मिशिगन में मांट्रियल नदी के किनारे, समुद्रतल से १,५०५ फुट की ऊँचाई पर स्थित है तथा रेलमार्गों द्वारा समीपवर्ती क्षेत्रों से संबद्ध है। इस नगर में कच्चा लोहा और लकड़ी बहुत आती है तथा यह प्रमुख व्यापारिक केंद्र है। यहाँ के दुग्धशाला उद्योग तथा मांस उद्योग भी महत्वपूर्ण हैं।

कच्चे लोहे का पता यहाँ सर्वप्रथम जे० एल० नौरी ने १८८४ ई० में लगाया और इसी सन् में नगर की स्थापना भी हुई। कुल जनसंख्या ११,४६६ है (१९५०)। [रा० ना० मा०]

आयरलैंड ग्रेट ब्रिटेन के पश्चिम में एक बड़ा द्वीप है जो ५१°२६′ उ० अक्षांश से ५५° २१′ उ० अक्षांश तक और ५°२५′ पश्चिमी देशांतर से १०° ३१′ पश्चिमी देशांतर तक विस्तृत है।

धरातल—इस द्वीप का उत्तरी एवं दक्षिणी भाग पहाड़ी है, मध्य में एक चौड़ा निचला मैदान है। पर्वतमालाओं का क्रम घाटियों, निचले मैदानों तथा नीची भूमि के कारण स्थान स्थान पर टूट गया है। अतः द्वीप का धरातल भिन्न भिन्न भौगोलिक इकाइयों में विभाजित है, जिनकी भूरूपता में विभिन्नता मिलना स्वाभाविक है।

हिमकालीन युग में कुछ ऊँचे पहाड़ी स्थलों को छोड़कर संपूर्ण आयरलैंड बर्फ से ढका था, अतः साधारणतया ढोंके मिश्रित चिकनी मिट्टी (बोल्डर क्ले), हिम-नदी-जनित बजरी (ग्लेशियल ग्रेवेल) आदि मध्य के मैदान में हर स्थान पर मिलती हैं। पहाड़ों के चारों ओर हिमोढ (मोरेंस) मिलते हैं। इस प्रकार समुद्रतल से १२०० फुट तक की दो तिहाई भूमि हिमनद (ग्लेशियर) द्वारा निर्मित है।

मध्य का मैदान चुनहे पत्थर (लाइमस्टोन) का बना हुआ है; यह इतना नीचा तथा समतल है कि स्थान स्थान पर जलतल (वाटर टेबुल) धरातल तक पहुँच जाता है; फलस्वरूप अनेक बड़ी बड़ी झीलें निर्मित हो गई हैं। कभी कभी इन झीलों का जलभांडार इतना अधिक हो जाता है कि आसपास की कई एक झीलें मिलकर निकटवर्ती मैदानी भाग को ढँक लेती हैं। साधारणतया आयरलैंड का ⅐ भाग जलमग्न रहता है जिसमें सड़ी घास के दलदल मिलते हैं। औसत रूप में आयरलैंड के ⅐ क्षेत्रफल में पीट मिलता है। पहाड़ों पर तो पीट हर एक स्थल पर मिलता है। आयरलैंड जैसे वृक्षविहीन एवं कोयलाविहीन देश के लिये पीट अत्यंत आवश्यक वस्तु है। हर एक घर में इसका उपयोग ईंधन के रूप में होता है।

जलवायु—यहाँ की जलवायु पश्चिमी यूरोपीय प्रकार की है; समुद्र के प्रभाव के कारण जाड़े एवं गर्मी के ताप में बहुत अंतर नहीं होता। उदाहरणस्वरूप वार्लेशिया का ताप जनवरी में ४४°.६ फा० तथा जून में ५९° फा० के लगभग रहता है। वर्षा वर्ष भर होती है, ऊँचे पहाड़ों पर ८०″ तक तथा मैदानों में ३०″ से ४०″ तक।

उद्यम एवं उत्पादन—प्रकृति ने आयरलैंड को पशुपालन के लिये अधिक उपयुक्त बनाया है, अतः १८वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही इस देश ने कृषि की अपेक्षा पशुपालन को अधिक महत्व दिया। १८५० ई० से १९१४ ई० तक जोतवाली भूमि का क्षेत्रफल ३०,६५,७७० एकड़ से १२,४७,८६५ एकड़ गिर गया तथा चरागाह का क्षेत्रफल ८७,५२,५६५ एकड़ से १,२४-५६,७५२ एकड़ बढ़ गया। इसी प्रकार १८४१ ई० में पशुओं की संख्या प्रति हजार मनुष्य पीछे २२५ थी, १९४७ ई० में यह संख्या ११५४ तक पहुँच गई। फसलों में जई एवं आलू मुख्य हैं। जई की खेती घोड़ों को खिलाने के निमित्त प्रत्येक किसान करता है। आलू यहाँ की मुख्य खाद्य वस्तु है। जौ तथा फ्लेक्स (सनई की तरह का पौधा) सीमित क्षेत्रों में ही बोए जाते हैं।

ग्रामीण जीवन—आयरलैंड सदैव से छोटे छोटे कृषकों का देश रहा है। यद्यपि खेतों की नाप को बढ़ाने का बार बार प्रयत्न हुआ है, किंतु आज भी दो तिहाई खेतों का क्षेत्रफल ३० एकड़ से अधिक नहीं है। ग्रामीण जनता पूर्णतः खेती पर निर्भर तथा अपेक्षाकृत निर्धन है। अनेक लोगों का विदेश जाकर जीवननिर्वाह करना आवश्यक हो जाता है; १९वीं शताब्दी में लाखों व्यक्ति प्रति वर्ष देश छोड़ते थे। अब प्रवासी व्यक्तियों की संख्या अपेक्षाकृत कम हो गई है। अतः आयरलैंड की समस्या जनसंख्या की वृद्धि नहीं; ह्रास है।

नागरिक जीवन—ग्रामीण क्षेत्रों में जीवननिर्वाह के साधनों की कमी के कारण अधिकतर जनता समुद्रतट के बड़े बड़े नगरों तथा बंदरगाहों में निवास करती है। आयरलैंड के ६ बड़े बड़े नगरों डबलिन (जनसंख्या ५,३७,८७८), बेलफास्ट (जनसंख्या ४,४३,९००), कार्क (जनसंख्या ७६,६४५), लिमरिक (जनसंख्या ५०,८६६), लन्दनडेरी (जनसंख्या ५१,५००) तथा वाटरफोर्ट में देश की पंचमांश जनता निवास करती है। भीतरी भाग के नगर आकार में प्रायः छोटे हैं और उनकी जनसंख्या १०,००० से अधिक नहीं है।
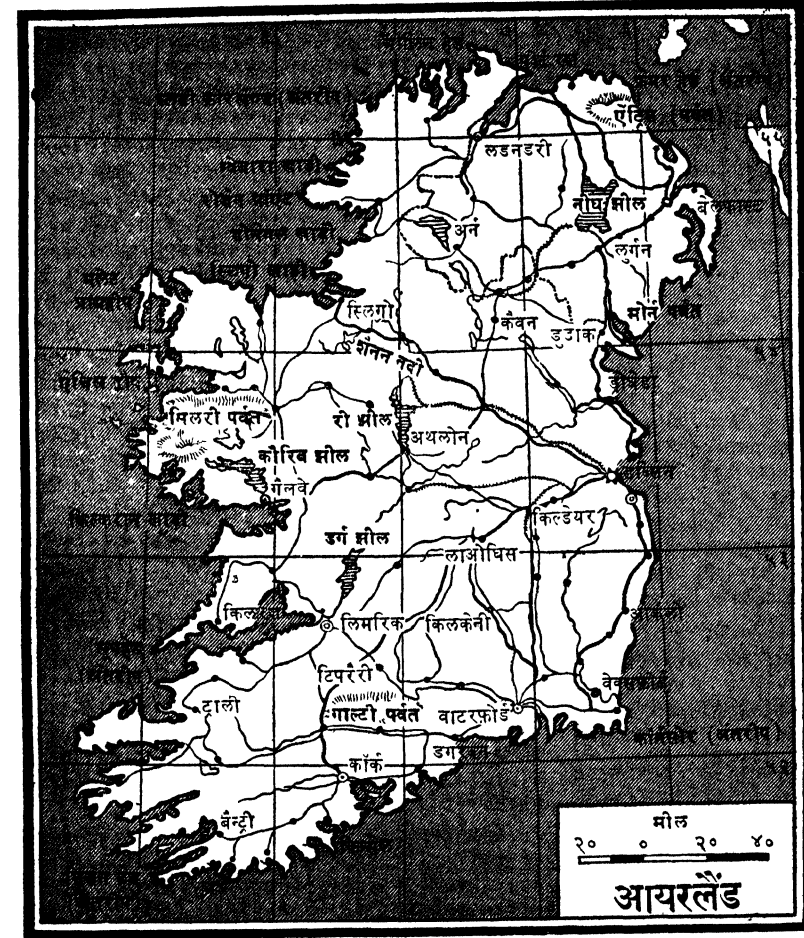
व्यापार—आयरलैंड का व्यापारिक जीवन ब्रिटिश द्वीपसमूह से अधिक संबद्ध है। यहाँ की राष्ट्रीय संपत्ति अंग्रेजी बाजार के चढ़ाव उतार के अनुसार बढ़ती घटती है। आयरलैंड ग्रेट ब्रिटेन को पशु तथा उनसे उत्पन्न वस्तुएँ—मक्खन, पनीर, संघनित दुग्ध,—अंडे, आलू, सूअर का मांस आदि भेजता है। यहाँ के आयात में ग्रेट ब्रिटेन का करीब ८० प्र० श० भाग रहता है। वहाँ से कोयला, कपड़ा, आटा, खाद तथा मशीनें आदि आती हैं।

आइरिश फ्री स्टेट एवं उत्तरी आयरलैंड—आयरलैंड राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से ग्रेट ब्रिटेन का एक अविच्छिन्न भाग था, परंतु सदियों से चलते हुए राष्ट्रीय आंदोलन के फलस्वरूप १९२१ ई० में आइरिश फ्री स्टेट का जन्म हुआ जिसकी राजधानी डबलिन है। इसका वर्तमान क्षेत्रफल २६,६०० वर्ग मील तथा जनसंख्या २९,६०,५९३ (१९५१) है। उत्तरी आयरलैंड का उत्तरी-पूर्वी भाग (क्षेत्रफल ५,२३८ वर्गमील; जनसंख्या १३,७०,९२१ सन् १९५१ में) अब भी ग्रेट ब्रिटेन का राजनीतिक अंग है। बेलफास्ट इसकी राजधानी है। आयरलैंड के राष्ट्रीय आंदोलन के पीछे धार्मिक भावना मुख्य थी। यहाँ के अधिकांश लोग (९३·४ प्र० श०) रोमन कैथोलिक हैं। उत्तरी आयरलैंड के कुछ भागों में भी कैथोलिकों की संख्या अधिक है। इन भागों को भी फ्री स्टेट अपनी सीमा के अंतर्गत मिलाने की माँग करती है। [उ० सिं०]

आयरिश

आयरिश आयरलैंड की भाषा तथा साहित्य को 'आयरिश' नाम से पुकारा जाता है। आयरलैंड में अंग्रेजों के प्रभुत्वकाल में तो अंग्रेजी की ही प्रधानता रही, पर देश की स्वाधीनता के बाद वहाँ की अपनी भाषा आयरिश (गैली) को फिर से महत्व दिया गया। गैली का साहित्य पाँचवीं शताब्दी ई० तक का मिलता है। आयरिश भारत-यूरोपीय कुल की केल्टिक शाखा के गोइडेली वर्ग से संबद्ध मानी जाती है। विकास की दृष्टि से आयरिश भाषा के इतिहास को तीन कालों में विभक्त किया जाता है—(१) प्राचीन आयरिश ७वीं सदी से ९वीं सदी के मध्य तक; (२) मध्यकालीन आयरिश ९वीं से १२वीं सदी तक तथा (३) आधुनिक १३वीं सदी के उपरांत। आधुनिक आयरिश को पुनः दो कालों में बाँटते हैं—१७वीं सदी से पूर्व तथा १७वीं सदी के बाद। राष्ट्रीय पुनर्जागरण के फलस्वरूप आयरिश को

देश में फिर से स्थापित तो किया गया, परंतु आधुनिक आयरिश का कोई एक स्थिरीकृत रूप नहीं बन सका है। आयरिश की कई बोलियाँ अब भी महत्व की स्थिति लिए हुए हैं। प्रमुखतः आयरिश बोली जानेवाले क्षेत्रों में १९४६ की गणना के अनुसार १,९२,९६३ आयरिश भाषाभाषी बताए गए थे, जब कि संपूर्ण आयरलैंड में यह संख्या ५,८८,७२५ थी। इस संख्या में काफी बड़ा समूह ऐसे लोगों का है जो अंग्रेजी का प्रयोग भी समान सुविधा और इच्छा से करते हैं।

प्रारंभिक आयरिश साहित्य में शौर्यगाथाओं की प्रधानता रही है जो गद्य तथा पद्य के मिले जुले रूप में लिखी गई थीं। ऐसे गाथाचक्रों में 'अल्स्टर' का नाम विशेष महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त आदिकालीन आयरिश कविता में गीत तत्व की भी प्रधानता थी। ऐसा काव्य प्रमुखतः धार्मिक तथा प्रकृति संबंधी प्रेरणाओं की पृष्ठभूमि में लिखा गया था। इन धार्मिक गीतों में सेंट पैट्रिक का गीत तथा उल्टान का सेंट ब्रिजिट के प्रति गीत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ९वीं तथा १०वीं सदी के आसपास ऐतिहासिक आभास देनेवाले साहित्य का सर्जन हुआ। धार्मिक साहित्य के अंतर्गत उपदेश, संतों के चरित्र तथा इलहाम आदि आते हैं। इस वर्ग के लेखकों में माइकेल ओ' क्लेरे (१७वीं सदी) का नाम महत्वपूर्ण है। फिर इस युग में ऐतिहासिक रचनाएँ भी लिखी गई।

प्रारंभिक आधुनिक आयरिश साहित्य को क्लैसिकल युग कहकर भी अभिहित किया जाता है। १३वीं से १७वीं शताब्दी के बीच प्रमुखतः दरबारों में लिखा गया काव्य ऐसे कवियों द्वारा प्रस्तुत किया गया जिन्हें पेशेवर कहा जा सकता है। इन कवियों ने अपनी कुछ रचनाएँ गद्य में भी लिखीं। १७वीं सदी के अंत तक यह चारणकाव्य समाप्त हो जाता है। नए काव्यसंप्रदाय में स्वराघात पर आधारित छंदयोजना प्रचलित हुई। इस युग के प्रमुख कवि थे ईगन ओ' राहिली (१८वीं सदी का पूर्व) तथा धार्मिक कवि ताग गैले ओ सुइलयां। रिवाइवलिस्ट आंदोलन के प्रमुख लेखकों में हैं—थॉमस ओ' क्रिओमथाँ (मृत्यु—१९३७), थॉमस ओ' सुइलयाँ, पैप्लेट ओ' कोनर तथा माहरे।

आयरिश पुनर्जागरण का एक सशक्त रूप अंग्रेजी साहित्य में भी व्यक्त हुआ है जहाँ आयरलैंड के अंग्रेजी लेखकों ने अपनी रचनाओं में आयरिश लोकतत्व, शब्दविधान तथा प्रतीकयोजना के अत्यंत सफल प्रयोग किए हैं। इस आंदोलन को आयरिश या केल्टिक पुनर्जागरण के नाम से जाना जाता है।

[रा० स्व० च०]

आयलर संख्याएँ

आयलर (ऑयलर) संख्याओं का नाम जर्मन गणितज्ञ लियोनार्ड ऑयलर के नाम पर रखा गया है। ये संख्याएँ आयलर बहुपदों (पॉलीनोमियल्स) से उत्पन्न होती हैं :

यदि $$\text{ई}^{\text{यव}} = \sum_{\text{न}=0}^{\infty} \frac{\text{व}^{\text{न}}}{\text{न}!} \text{आ}^{(0)}_{\text{न}} (\text{य}),$$

जहाँ **ई** नेपरीय लघुगणकों का आधार है और

$$\text{आ}^{\circ}_{\text{न}}(\text{य}) = \text{य}^{\text{न}},$$

तो $\text{आ}^{\circ}_{\text{न}}$ (**य**) को घात **न** और वर्ण (ऑर्डर) शून्य का आयलर बहुपद कहते हैं।

वर्ण **स** के आयलर बहुपदों की परिभाषा यह है :

$$\frac{२^{\text{स}}\ \text{ई}^{\text{यव}}}{(\text{ई}^{\text{व}}+१)^{\text{स}}} = \sum_{\text{न}=0}^{\infty} \frac{\text{व}^{\text{न}}}{\text{स}!} \text{आ}_{\text{न}}^{(\text{स})} (\text{य})।$$

$\text{य} = \frac{१}{२}\text{स}$ रखने से $२^{\text{न}}\ \text{आ}_{\text{न}}^{(\text{स})}(\text{य})$ के जो मान प्राप्त होते हैं, उन्हें वर्ण **स** की आयलर संख्याएँ $\text{आ}_{\text{न}}^{(\text{स})}$ कहते हैं। विषम प्रत्यय (सफ़िक्स) की समस्त आयलर संख्याएँ शून्य हो जाती हैं।

इस प्रकार $\text{आ}_{\text{न}}^{(\text{स})} = २^{\text{न}}\ \text{आ}_{\text{न}}^{(\text{स})} (\frac{१}{२}\text{स})$।

$\text{आ}_{\text{न}}^{(१)}(\text{स})$ के लिये हम $\text{आ}_{\text{न}}(\text{स})$ लिखते हैं।

हम जानते हैं कि

$$\frac{२}{\text{ई}^{\text{व}}+\text{ई}^{-\text{व}}} = \sum_{\text{न}=0}^{\infty} \frac{\text{व}^{\text{न}}}{\text{न}!} \text{आ}_{\text{न}} = \text{अव्युको व}।$$

अतः $$\text{व्युको व} = १ - \frac{\text{व}^{२}}{२!} + \text{आ}_{२} \frac{\text{व}^{४}}{४!} \text{आ}_{४} - \ldots$$

प्रसार $$\frac{\pi}{४\ \text{कोज्या}\ \frac{१}{२}\pi\text{य}} = \sum_{\text{न}=0}^{\infty} \frac{(-१)^{\text{न}}(२\text{न}+१)}{(२\text{न}+१)^{२}-\text{य}^{२}}$$

का पुनर्विन्यास करके $\text{य}^{२\text{प}}$ के गुणांक को श्रेणी $\frac{१}{४}\pi$ व्युको $\frac{१}{२}\pi\text{य}$ के पद $\text{य}^{२\text{प}}$ के गुणांक के समान रखने से हमें यह प्राप्त होगा :

$$(-१)^{\text{प}} \frac{\text{आ}_{२\text{प}}}{२^{२\text{प}+१}(२\text{प})!} \pi^{२\text{प}+१} = १ - \frac{१}{३^{२\text{प}+१}} + \frac{१}{५^{२\text{प}+१}} - \frac{१}{७^{२\text{प}+१}} + \ldots।$$

इस संबंध से स्पष्ट है कि आयलर संख्याएँ बराबर बढ़ती जाती हैं और प्रत्येक संख्या का चिह्न बदलता जाता है, अर्थात् वे क्रमानुसार धनात्मक और ऋणात्मक होती हैं।

$(-१)^{\text{स}} \frac{\text{आ}_{२\text{स}}}{२\text{स}!}$ का मान सारणिक के रूप में

$$\begin{vmatrix} \frac{१}{२!} & १ & 0 & 0 & \cdots & 0 \\ \frac{१}{४!} & \frac{१}{२!} & १ & 0 & \cdots & 0 \\ \frac{१}{६!} & \frac{१}{४!} & \frac{१}{४!} & १ & \cdots & 0 \\ \frac{१}{(२\text{स})!} & \frac{१}{(२\text{स}-२)!} & \frac{१}{(२\text{स}-४)!} & \frac{१}{(२\text{स}-६)!} & \cdots & \frac{१}{२!} \end{vmatrix}$$

होता है।

बर्नूली संख्याओं की भाँति आयलर संख्याएँ भी सांख्यिकी (स्टैटिस्टिक्स) में अंतर्वेशन (इंटरपोलेशन) में प्रयुक्त होती हैं।

सं०ग्रं०—मिल्न-टॉमसन : कैल्क्युलस ऑव फ़ाइनाइट डिफ़रेंसेज़।

[ना० गो० श०]

आयस्टर बे

संयुक्त राज्य (अमरीका) के न्यूयार्क राज्य में नासाउ जिले का एक गाँव है, जो लांग द्वीप के उत्तरी समुद्रतट पर न्यूयार्क नगर की सीमा से १३ मील पूर्व स्थित है। यह लांग द्वीप रेलमार्ग पर है और यात्रियों के लिये ग्रीष्मकालीन विहारस्थल है। यहाँ १७४० ई० में निर्मित रेनहाम भवन स्थित है, जहाँ ऐतिहासिक स्मारकों का संग्रह है। यह प्रचलित धारणा है कि आयस्टर बे राष्ट्रपति थियोडोर रूज़वेल्ट का निवासस्थान था, परंतु वास्तव में उनका निवासस्थान समीपवर्ती कोवनेक गाँव में सॉगोमोर हिल था। नगर की कुल जनसंख्या ४२,५९४ (सन् १९५० ई०) है।

[रा० ना० मा०]

आयाम

(डाइमेंशन) यह शब्द चित्रकला और शिल्पकला से आयात हुआ और साहित्य समालोचना में आधुनिक काल में प्रयुक्त होता है। संस्कृत में इस शब्द का अर्थ तन्वन, विस्तार, संयमन, प्रलंबन है। चित्र और शिल्प में मूल अंग्रेजी शब्द 'डाइमेंशन' का अर्थ 'सिम्त' होता था; जैसे भित्तिचित्र में गहराई नहीं होती, किंतु छाया आदि के साथ गोलाई इत्यादि का आभास उत्पन्न किया जाता था। प्राचीन साहित्य में और आरंभिक उपन्यासों में एकदम काले या सफेद दुर्गुणों या सद्गुणों की खान, 'टाइप' जैसे पात्रों की पुष्टि होती थी। अब मनोविज्ञान के नवीन शोधों ने ऐसे टाइपों की यथार्थता पर संदेह किया है। इस कारण नवीन उपन्यासों में अब इस प्रकार की मन की गहराई पात्रों में देखी जाती है। कोई भी साहित्यिक कलाकृति कितने काल तक प्रभावशाली रहती है, कितने देश-देशांतरों को प्रभावित करती है, इसके साथ ही साथ वह बार बार पढ़ी जाने पर भी वैसा ही आनंद दे सकती है या नहीं, यह तीसरा परिमाण या आयाम अब साहित्यालोचन में परखा जाने लगा है। ल्युकैक्स ने 'स्टडीज इन वेस्टर्न रियलिज़म' में 'दार्शनिक-धार्मिक आयाम' कह-

कर चौथे मापदंड की चर्चा की है। उसी के सहारे साहित्य में उदात्त तत्व की, 'महात्मता' की प्रतिस्थापना हो सकती है।

शिल्पकला के क्षेत्र में यह माना जाता है कि भारतीय मूर्तिकला त्रिआयामात्मक बहुत कम है। वह अधिकतर अर्धोत्कीर्ण (महाबलिपुरम्) या तीन चौथाई उत्कीर्ण (कैलास, एलोरा) जैसी शिल्पकृति है। आधुनिक शिल्पकला में पाश्चात्य शिल्पकला की यह त्रिआयामात्मक पद्धति स्वीकार की गई तो आरंभ मे पुतलों, अर्धपुतलों, अश्वारूढ़ प्रतिमाओं के रूप में। म्हात्रे, फड़के, करमकर आदि ने ऐसी कई मूर्तियाँ बनाई। देवीप्रसाद रायचौधुरी के 'श्रम की महत्ता', सन् '४२ में विद्यार्थियों के बलिदान या रामकिंकर बैज के 'संथाल परिवार' जैसे शिल्प भी ऐसी ही यथार्थ घटनाओं या वस्तुओं की शिल्पानुकृतियाँ हैं। परंतु उनसे आगे बढ़कर अरूप भावनाओं को शुद्ध आकारों में रूपायित करनेवाले नए शिल्पकार, जैसे शंखो चौधरी, धनराज भगत आदि त्रिआयामात्मक शिल्पकलामें अरूप सृष्टि की ओर बढ़ रहे हैं। इसे अंग्रेजी में थ्री डाइमेंशनल ऐब्सट्रैक्ट स्कल्पचर कहते हैं।

सिनेमा सृष्टि में भी त्रिआयामात्मक छायाचित्रण का निर्माण हाल में हुआ है जिसके द्वारा वस्तुओं की असली गहराई दिखाई जाती है और एक खास तरह का चश्मा पहनकर देखने से लगता है कि पर्दे से फेंकी हुई चीज अपने ऊपर ही चली आ रही है। यह वस्तुतः एक दिग्भ्रम है जो छायाचित्रण से निर्मित किया जाता है। [प्र० मा०]

आयु जीवनकाल को आयु कहते हैं, यद्यपि वय, अवस्था या उम्र को भी बहुधा आयु ही कह दिया जाता है।

विभिन्न प्राणियों की आयुओं में बड़ी विभिन्नता है। एक प्रकार की मक्खी की आयु कुछ घंटों की ही होती है। उधर कछुए की आयु दो सौ वर्षों तक की होती है। आयु की सीमा मोटे हिसाब से शरीर की तौल के अनुपात में होती है, यद्यपि कई अपवाद भी हैं। कुछ पक्षी कई स्तनधारियों से अधिक जीवित रहते हैं। कुछ मछलियाँ १५० से २०० वर्षों तक जीवित रहती हैं, किंतु घोड़ा ३० वर्ष में मर जाता है। वृक्षों की रचना भिन्न होने से उनकी आयु की कोई मर्यादा नहीं है। अमरीका में कुछ वृक्षों को गिराने के बाद उनके वार्षिक वलयों से पता लगा कि वे २००० वर्षों से भी कुछ अधिक वय के थे।

मृत्यु पर अर्थात् जीवन के अंत पर, अमीबा तथा अन्य प्रोटोज़ोआ ने विजय प्राप्त कर ली है। एक से दो में विभक्त होकर प्रजनित होने से इन्होंने आयु की सीमा को लाँघ लिया है (देखें **अमीबा**)। इनकी अबाध जीवधारा के कारण इन्हें अमर भी कहा जाता है। परंतु उन्नत वर्ग के प्राणियों में जीवन का अंत टालना असंभव है; इसलिये उन सभी की आयु सीमाबद्ध है। यह देखकर कि किसी प्राणी को प्रौढ़ होने में कितने वर्ष लगते हैं, उसकी पूरी आयु का अनुमान लगाया जा सकता है। मनुष्य का जीवनकाल १०० वर्ष आँका गया है।

पिछले कई वर्षों में कई कारणों से मनुष्य का महत्तम काल तो अधिक नहीं बढ़ पाया है, किंतु औसत आयु बहुत बढ़ गई है। यह वृद्धि इसलिये हुई है कि बच्चों को मृत्यु से बचाने में आयुर्विज्ञान (मेडिकल सायंस) ने बड़ी उन्नति की है। बुढ़ापे के रोगों में, विशेषकर धमनियों के कड़ी हो जाने की चिकित्सा में, विशेष सफलता नहीं मिली है। आनुवंशिकता और पर्यावरण का आयु पर बहुत प्रभाव पड़ता है। खोजों से पता चला है कि यदि प्रसव के समय की मृत्युओं की गणना न की जाय तो पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक समय तक जीवित रहती हैं। यह भी निर्विवाद है कि दीर्घजीवी माता पिता की संतान साधारणतः दीर्घजीवी होती है। स्वस्थ वातावरण में प्राणी दीर्घजीवी होता है। जीव की जन्मजात बलशाली जीवनशक्ति बाहर के दूषित वातावरण के प्रभाव से प्राणी की बहुत कुछ रक्षा करती है, परंतु अधिक दूषित वातावरण रोगों के माध्यम से आयु पर प्रभाव डालता है। इसके अतिरिक्त देखा गया है कि चिंता, अनुचित आहार तथा अस्वास्थ्यकारी पर्यावरण आयु घटाते हैं। दूसरी ओर, प्रतिदिन की मानसिक या शारीरिक कार्यशीलता बुढ़ापे के विकृत रूप को दूर रखती है। अंगों के जीर्ण शीर्ण हो जाने की आशंका की अपेक्षा अकार्यता से बेकार होने की संभावना अधिक रहती है। विश्व के अनेक लेखक और चित्रकार दीर्घजीवी हुए हैं और अंत तक वे नए ग्रंथ और नए चित्र की रचना करते रहे हैं। अनियमित आहार, अति सुरापान और अति भोजन आयु को घटाता है। सौ वर्ष से अधिक काल तक जीनेवाले व्यक्तियों में से अधिकांश लघु आहार करनेवाले रहे हैं। अधिक भोजन करने से बहुधा मधुमेह (डायाबिटीज़) या धमनी, हृदय या वृक्क (गुरदे) का रोग हो जाता है। बुढ़ापा स्वस्थ और सुखद हो सकता है अथवा रोगग्रस्त, पीड़ामय और दुःखद। स्वस्थ बुढ़ापे में क्रियाशीलता कम हो जाती है और कुछ दुर्बलता आ जाती है, परंतु मन शांत रहता है। मानसिक दृष्टिकोण साधारणतः व्यक्ति के पूर्वगामी दृष्टिकोण पर निर्भर रहता है, जिससे कुछ व्यक्ति सुखी और दयालु रहते हैं, कुछ निराशावादी और छिद्रान्वेषी। श्टाइनाख और वोरोनॉफ़ ने बंदर की ग्रंथियों को मनुष्य में आरोपित करके अल्पकालीन युवावस्था कुछ लोगों में ला दी थी, परंतु उनकी रीतियों को अब कोई पूछता भी नहीं। उनकी शल्यक्रिया से मनुष्य का जीवन बढ़ नहीं सका।

कुछ रोगों से मनुष्य समय के बहुत पहले ही बुड्ढा लगने लगता है। प्रोजीरिया नामक रोग में तो बच्चे भी बुड्ढों की आकृति के हो जाते हैं, परंतु सौभाग्यवश यह रोग बहुत कम होता है। कुछ रोग विशेषकर बुड्ढों में होते हैं। इनमें से प्रधान रोग हैं मधुमेह (डायाबिटीज़), कर्कट (कैंसर) और हृदय, धमनी तथा वृक्क के रोग। बचपन और युवावस्था के रोगों में से न्यूमोनियाँ बहुधा बूढ़ों को भी हो जाता है और साधारणतः उनका प्राण ही ले लेता है।

भेषज-वैधिक (मेडिको–लीगल) कार्यों में यथार्थ वय का आगणन बड़े महत्व की बात है। वयनिर्धारण में दाँत, बाल, मस्तिष्क तथा अस्थि की परीक्षा की जाती है और एक्स-किरणों आदि की सहायता भी ली जाती है। परंतु २५ वर्ष के ऊपर वय की निश्चित गणना ठीक से नहीं हो सकती।

सं०ग्रं०––ए० जी० बेल : दि ड्यूरेशन ऑव लाइफ़ ऐंड दि कंडिशंस ऐसोशिएटेड विद लांजेविटी; लुई आई० डबलिन तथा एच० एच० मार्क्स : इनहेरिटेंस ऑव लांजेविटी; ए० जी० लोटका : लेंथ ऑव लाइफ़ ऐंड स्टडी ऑव लाइफ टेबुल्स; ई० सी० काउदी : प्राब्लेम ऑव एजिंग; टेलर तथा मोदी : मेडिकल जुरिसप्रुडेंस। [दे० सि०]

कानून में आयु––आयुएँ से समय की अवधि की ओर संकेत मिलता है। शरीरविज्ञानवेत्ता मनुष्य के विकास की अवस्था के अर्थ में 'आयु' शब्द का प्रयोग करते हैं; जैसे शैशव ५ वर्ष की आयु तक, बचपन १४ वर्ष तक, तरुणावस्था २१ वर्ष तक, वयस्क ५० वर्ष तक और इसके बाद वृद्धावस्था। विकास की अवस्था के लिये प्रयुक्त आयु का तात्पर्य शारीरिक आयु से होता है।

कानून संबंधी विविध कार्यों के लिये विभिन्न आयुएँ सरकार की ओर से निश्चित की जाती है, जैसे मतदान के लिये कहीं १८ वर्ष और कहीं २१ वर्ष की आयु निर्धारित है। कुछ पदों के लिये भी आयु की एक सीमा बना दी जाती है। कुछ संस्थाएँ अपनी सदस्यता के लिये आयु की किसी निश्चित सीमा पर अधिक बल देती है।

२०वीं शताब्दी के प्रारंभ में 'मानसिक आयु' (मेंटल एज) का प्रयोग किया गया है। यद्यपि इस शब्दावली की ओर सन् १८८७ ई० में भी संकेत किया गया था, परंतु इसका श्रेय फ्रांस के मनोवैज्ञानिक अल्फ्रेड बीने (१८५७-१९११) को दिया जाता है। मानसिक आयु का तात्पर्य कुछ समान आयुवाले बालकों की औसत मानसिक योग्यता से है। इससे बालक की साधारण मानसिक योग्यता का अनुमान मिलता है। मानसिक आयु बढ़ती है और परिपक्व होती है। सामान्यतः इसकी परिपक्वता का समय १४ से २२ वर्ष की आयु के भीतर कभी भी आ सकता है। कुछ लोगों में इसकी परिपक्वता २२ वर्ष के बाद भी आ सकती है। [स० प्र० चौ०]

आयुध उन यंत्रों को कहते हैं जिनका प्रयोग युद्ध में होता है। इस प्रकार तीर तलवार से लेकर बड़ी बड़ी तोपों तक सभी यंत्र आयुध है। छोटे यंत्रों, तीर, तलवार आदि का वर्णन अस्त्र-शस्त्र शीर्षक लेख में मिलेगा। इस लेख में तोप आदि पर विशेष ध्यान दिया जायगा।

बंदूक, राइफल और तोपों के कार्यकरण का सिद्धांत एक ही है। किसी तीन ओर दृढ़ता से बंद पात्र में बारूद (उसे देखें) रखी जाती है और इसके बाद छर्रा, गोली या गोला रखकर चौथी ओर से पात्र को अस्थायी रूप से बंद

कर दिया जाता है। फिर बारूद में किसी युक्ति से आग लगा दी जाती है। तब बारूद तुरंत जलकर गैसो में परिवर्तित हो जाती है। अत्यंत कम स्थान में उत्पन्न होने के कारण ये गैसें बहुत संपीडित (दबी हुई) रहती है। इसलिये छर्रे, गोली या गोले को वे बहुत बलपूर्वक दबाती हैं। गोला जब तक यंत्र के नाल में चलता रहता है तब तक उस पर दाब पड़ती रहती है और उसका वेग बढ़ता रहता है। इस प्रकार उसमें बहुत अधिक वेग उत्पन्न हो जाता है। नाल के कारण उसकी दिशा भी निर्धारित हो जाती है; इसलिये नाल को घुमा-फिराकर गोले को इच्छानुसार लक्ष्य पर मारा जा सकता है।

सन् १३१३ ई० से यूरोप में तोप के प्रयोग का पक्का प्रमाण मिलता है। भारत में बाबर ने पानीपत की लड़ाई (सन् १५२६ ई०) में तोपों का पहले पहल प्रयोग किया।

पहले तोपें काँसे की बनती थीं और उनको ढाला जाता था। परंतु ऐसी तोपें पर्याप्त पुष्ट नहीं होती थीं। उनमें अधिक बारूद डालने से वे फट जाती थी। इस दोष को दूर करने के लिये उनके ऊपर लोहे के छल्ले तप्त करके खूब कसकर चढा दिए जाते थे। ठंढा होने पर ऐसे छल्ले सिकुडकर बड़ी दृढता से भीतरी नाल को दबाए रहते है, ठीक उसी प्रकार जैसे बैलगाडी के पहिए के ऊपर चढ़ी हाल पहिए को दबाए रहती है। अधिक पुष्टता के लिये छल्ले चढ़ाने के पहले नाल पर लबाई के अनुदिश भी लोहे की छड़ें एक दूसरी से सटाकर रख दी जाती थी। इस समय की एक प्रसिद्ध तोप मॉन्स मेग है, जो अब एडिनबरा के दुर्ग पर शोभा के लिये रखी है। इसके बाद लगभग २०० वर्षों तक तोप बनाने में कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। इस युग में नालो का सछिद्र (बोर) चिकना होता था। परतु लगभग सन् १५२० में जर्मनी के एक तोप बनानेवाले ने संछिद्र में सर्पिलाकार खाँचे बनाना आरंभ किया। इस तोप मे गोलाकार गोले के बदले लंबोतर 'गोले' प्रयुक्त होते थे। संछिद्र में सर्पिलाकार खाँचो के कारण प्रक्षिप्त पिड वेग से नाचने लगता है। इस प्रकार नाचता (घर्णन करता) पिंड वायु के प्रतिरोध से बहुत कम विचलित होता है और परिणामस्वरूप लक्ष्य पर अधिक सच्चाई से पडता है।
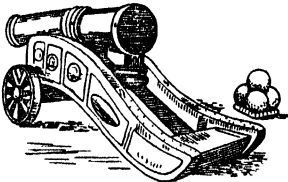
चित्र १. मॉन्स मेग

१८५५ ई० में लार्ड आर्मस्ट्रांग ने पिटवाँ लोहे की तोप का निर्माण किया, जिसमे पहले की तोपों की तरह मुंह की ओर से बारूद आदि भरी जाने के बदले पीछे की ओर से ढक्कन हटाकर यह सब सामग्री भरी जाती थी। इसमें ४० पाउंड के प्रक्षिप्त भरे जाते थे।

चित्र २. पैदल सेना का ३ इंचवाला मॉर्टर

साधारण तोपों में प्रक्षिप्त बड़े वेग से निकलता है और तोप की नाल को बहुत ऊँची दिशा में नही लाया जा सकता है। दूसरी ओर छोटी नाल की तोपें हल्की बनती है और उनसे निकले प्रक्षिप्त में बहुत वेग नहीं होता, परंतु इनमें यह गुण होता है कि प्रक्षिप्त बहुत ऊपर उठकर नीचे गिरता है और इसलिये इससे दीवार, पहाड़ी आदि के (चित्र २) पीछे छिपे शत्रु को भी मार सकते हैं (चित्र ३)। इन्हें मॉर्टर कहते है। मझोली नाप की नालवाली तोप को हाउविट्ज़र कहते है। जैसे जैसे तोपों के बनाने में उन्नति हुई तैसे तैसे मॉर्टरों और हाउविट्ज़रों के बनाने मे भी उन्नति हुई।

चौड़े मुंह की तोपों को, जिनकी नाल अपेक्षाकृत बहुत छोटी होती हैं, मॉर्टर कहते है।

प्राय: सभी देशों में एक ही प्रकार से तोपों के निर्माण में उन्नति हुई, क्योंकि बराबर होड़ लगी रहती थी। जब कोई एक देश अधिक भारी, अधिक शक्तिशाली या अधिक फुर्ती से गोला दागनेवाली तोप बनाता तो बात बहुत दिनों तक छिपी न रहती और प्रतिद्वंद्वी देशों की चेष्टा होती कि उससे भी अच्छी तोप बनाई जाय। १८९८ ई० में फ्रांसवालों ने एक ऐसी तोप बनाई जो उसके बाद बननेवाली तोपो की पथप्रदर्शक हुई। उससे निकले प्रक्षिप्त का वेग अधिक था; उसका आरोपण सराहनीय था; दागने पर
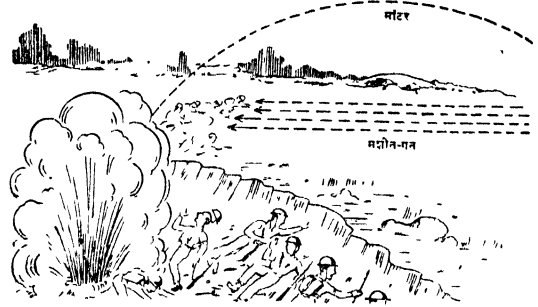
चित्र ३. मॉर्टर से दागा गया बम

यह दीवार के पीछे छिपे सैनिको को भी मार सकता है।

पूर्णतया स्थिर रहता था, क्योंकि आरोपण में ऐसे डैने लगे थे जो भूमि में धँसकर तोप को किसी दिशा में हिलने न देते थे। सभी तोपें दागने पर पीछे हटती है। इस धक्के (रिकॉयल) के वेग को घटाने के लिये द्रवो का प्रयोग किया गया था। इसके प्रक्षिप्त पतली दीवार के बनाए गए थे। इनमें से प्रत्येक की तौल लगभग १२ पाउंड थी और उसमें लगभग साढ़े तीन पाउंड उच्च विस्फोटी बारूद रहती थी। प्रक्षिप्त मे विशेष रसायनो से युक्त एक टोपी भी रहती थी, जिससे लक्ष्य पर पहुँचकर प्रक्षिप्त फट जाता था और टुकड़े बड़े वेग से इधर उधर छटककर शत्रु को दूर तक घायल करते थे।

प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४-१८) में जर्मनों ने बिग बर्था नामक तोप बनाई, जिससे उन्होंने पेरिस पर ७५ मील की दूरी से गोले बरसाना आरंभ किया। इस तोप में कोई नया सिद्धांत नहीं था। तोप केवल पर्याप्त बड़ी और पुष्ट थी। परंतु हवाई जहाजो तथा अन्य नवीन यंत्रों के आविष्कार से ऐसी तोपें अब लुप्तप्राय हो गई हैं।

आरोपण--आरंभ में तोपें प्राय: किसी भी दृढ़ चबूतरे अथवा चौकी पर आरोपित की जाती थीं, परंतु धीरे धीरे इसकी आवश्यकता लोग अनुभव करने लगे कि तोपों को सुदृढ गाडियों पर आरोपित करना चाहिए, जिसमें वे सुगमता से एक स्थान से दूसरे पर पहुँचाई जा सकें और प्राय: तुरंत गोला दागने के लिये तैयार हो जायँ। गाडी के पीछे भूमि पर घिसटनेवाली पूंछ के समान भाग भी रहता था, जिसमें धक्के से गाड़ी बहुत पीछे न भागे। सुगमता से खींची जा सकनेवाली तोप की गाड़ियाँ सन् १६८० से बनने लगी। सन् १८६७ में डाक्टर सी० डब्ल्यू सीमेंस ने सुझाव दिया कि धक्के को रोकने के लिये तोप के साथ ऐसी पिचकारी लगानी चाहिए जिसमें पानी निकलने का मुँह सूक्ष्म हो (अथवा आवश्यकतानुसार छोटा बड़ा किया जा सके)। पीछे यही काम कमानियो से लिया जाने लगा। गाड़ियाँ भी इस्पात की बनने लगीं।

विशेष तोपें--वायुयानों को मार गिराने के लिये तोपें १९१४ तक नहीं बनी थीं। पहले बहुत छोटी तोपें बनीं, फिर १३ पाउंड के प्रक्षिप्त मारनेवाली तोपें बनने लगी, जो ३ टन की मोटर लारियों पर आरोपित रहती थीं। अब इनसे भी भारी तोपें पहले से भी दृढ़ ट्रॉलियों अथवा इस्पात के बने टैंकों पर आरोपित रहती है (चित्र ४)।

टैंक-भेदी तोपो को बहुत शक्तिशाली होना पडता है। टैंक इस्पात की मोटी चादरो की बनी गाडियाँ होते है (चित्र ५)। इनके भीतर बैठा योद्धा
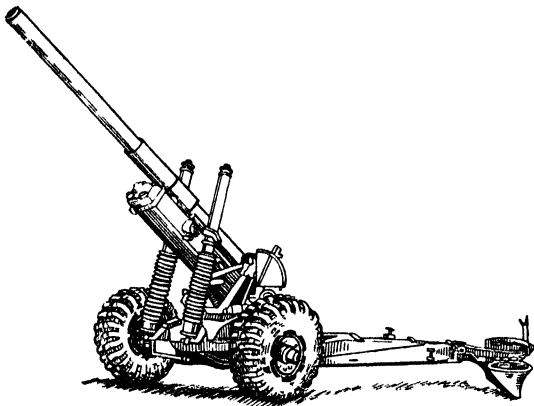
चित्र ४ वायुयानघातक तोप
५.५ इच व्यास का यत्र।

टैंक पर लदी तोप से शत्रु को मारता रहता है और स्वय बहुत कुछ सुरक्षित रहता है। सन् १९४१ की टैंक-भेदी तोपे १७ पाउड के गोले दागती थी। कवचित यान (आर्मर्ड कार) के भीतर का सिपाही केवल साधारण बदूक और राइफल से सुरक्षित रहता है (चित्र ६)।

हवाई जहाजो पर २५ पाउड के गोले दागनेवाली तोपे, ३.७ इच व्यास के हाउविट्ज़र और ४.२ इच व्यास के मॉर्टर द्वितीय विश्वयुद्ध मे प्रयुक्त हो रहे थे।
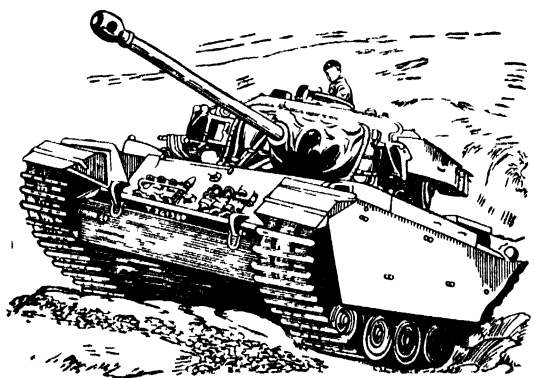
चित्र ५ टैंक
इसके भीतर बैठे सैनिक शत्रु पर तोप चला सकते है, परतु स्वय उसके साधारण अस्त्र-शस्त्र से बचे रहते है।

बिना धक्के की तोपे, कमानी के बदले, इस प्रकार की भी बनाई गई कि कुछ गैस पीछे से निकल जाय, परतु ये तोपे लोकप्रिय नही हो सकी, क्योकि वे पर्याप्त शक्तिशाली नही पाई गई।

यांत्रिक वाहन—सन् १९०९ मे इग्लैड के युद्धकार्यालय (वार आफिस) ने ७,५०० रुपए का पारितोषिक ऐसे ट्रैक्टर (गाडी) के लिये घोषित किया जो ८ टन के बोझ को लेकर २०० मील बिना ईंधन या उपस्नेहक (ल्युब्रिकेटिंग आयल) लिए चल सके। तभी से तोपवाहक यात्रिक गाडियो का जन्म हुआ। अब ऐसी गाडियाँ उपलब्ध है जो बिना सडक के ही खेत आदि में सुगमता से चल सकती हैं। इनके पहियो पर शृखलाओ का पट्टा (टैंक)
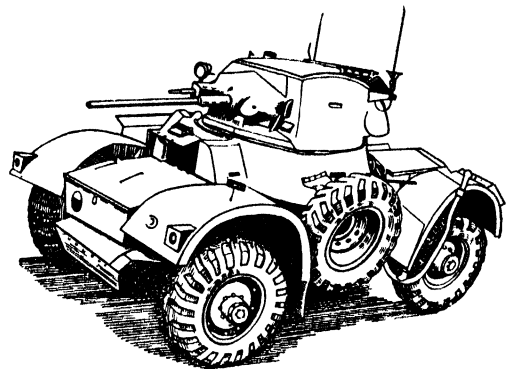
चित्र ६ कवचित यान (आर्मर्ड कार)
इसके भीतर बैठा सैनिक बदूक और राइफल की गोली से सुरक्षित रहता है।

चढा रहता है (चित्र ४)। इसके कारण ये गाडियाँ ऊबड-खाबड भूमि पर चल सकती है। इन गाडियो का वेग तीस-पैंतीस मील प्रति घटा होता है, परतु शृखला-पट्टा लगभग डेढ हज़ार मील के बाद खराब हो जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध मे चार अथवा छ पहियो के तोप-ट्रैक्टर बने, जिनमे साधारण मोटरकारो की तरह, परतु विशेष भारी, हवा भरे रबर के पहिए रहते थे। इनमे लगभग १०० अश्वसामर्थ्य के इजन रहते थे और इन पर नौ-दस टन भार तक की तोपे लद सकती थी।

नाविक तोप—टॉरपीडो (उसे देखे) के आविष्कार के पहले तोपे ही जहाजो के मुख्य आयुध होती थी। अब तोप, टारपीडो और हवाई जहाज ये तीन मुख्य आयुध है। १८वी शताब्दी मे २,००० टन के बोझ लाद सकनेवाले जहाजो मे १०० तोपे लगी रहती थी। इनमे से आधी भारी गोले (२४ से ४२ पाउड तक के) छोडती थी और शेष हलके गोले (६ से १२ पाउड तक के), परतु आधुनिक समय मे तोपा की सख्या तथा गोलो का भार कम कर दिया गया है और गोलो का वेग बढा दिया गया है। उदाहरणत सन् १९१५ मे बने रिवेज नामक ड्रेडनॉट जाति के जहाज मे ८ तोपे १५ इच भीतरी व्याम की पीछे लगी थी। एसी ही ४ तोपे आगे और ८ बगल मे थी। इनके अतिरिक्त १२ छोटी तोपे ६ इच (भीतरी व्यास की) थी।

तोपों का निर्माण—तोपो, हाउविट्ज़रो और मॉर्टरो की आकल्पनाओ (डिजाइनो) मे अतर रहता है। मुख्य अतर सछिद्र के व्यास और इस व्यास तथा लबाई के अनुपात मे रहता है। यत्र मे जितनी ही अधिक बारूद भरनी हो यत्र की दीवारो को उतना ही अधिक पुष्ट बनाना पडता है। इसी लिये तोप उसी नाप के सछिद्रवाले हाउविट्ज़र से भारी होती है। अब तो उच्च आतति (हाइटेसाइल) इस्पातो के उपलब्ध रहने के कारण पुष्ट तोपो का बनाना पहले जैसा कठिन नही है, परतु अब बारूद की शक्ति भी बढ गई है। अब भी तोपो की नाले ठढी नालो पर तप्त और कसे खोल चढाकर बनाई जाती है, या उन पर इस्पात का तप्त तार कसकर लपेटा जाता है और इस तार के ऊपर एक बाहरी नाल तप्त करके चढा दी जाती है। भीतरी नाल अति तप्त इस्पात मे गुल्ली (अवश्य ही बहुत बडी गुल्ली) ठोककर बनाई जाती है और नाल को ठोक पीटकर उचित आकृति का किया जाता है। इसके बदले वेग से घूर्णन करते हुए साँचे में भी कुछ नालें ढाली जाती है। इनमे द्रव इस्पात छटककर बडे वेग से साँचे की दीवारो पर पडता है। यह विधि केवल छोटी तोपो के लिये प्रयुक्त होती है। नाल के बनने के बाद उसे बडे सावधानीपूर्वक तप्त और ठढा किया जाता है, जिसमे उस पर पानी चढ जाय (अर्थात् वह कडी हो जाय), और फिर उसका पानी थोडा उतार दिया जाता है (कडापन कुछ कम कर दिया जाता है), जिसमें ठोकर खाने से उसके टूटने का डर न रहे। तप्त और ठढा करने के काम मे बहुधा दो सप्ताह तक समय लग सकता है, क्योकि आधुनिक नाल ६० फुट तक लबी और ६० टन तक भारी होती है। सब काम का पूरा ब्योरा लिखा जाता है, जिसमे

भविष्य में अनुभव से लाभ उठाया जाय। लोहे से टुकड़े काट काटकर उसकी जाँच बार बार होती रहती है। अंत में नाल को मशीन पर चढ़ाकर खरादते हैं। फिर संछिद्र में लंबे सर्पिल काटे जाते हैं। इस क्रिया को 'राइफलिंग' कहते है। बड़ी तोप की राइफलिंग में दो-तीन सप्ताह लग जाते हैं।

पश्चखंड--सब आधुनिक तोपों में पीछे की ओर से बारूद भरी जाती है। इसलिये उधर कोई ऐसी युक्ति रहती है कि नाल बंद की जा सके। इसकी दो विधियाँ हैं--या तो ढक्कन में खंडित पेंच रहता है, जिसे नाल में डालकर थोड़ा सा घुमाने पर ढक्कन कस जाता है अथवा ढक्कन एक बगल से खिसककर अपने स्थान पर आ जाता है और नाल को बंद कर देता है। इस उद्देश्य से कि संधि से बारूद के जलने पर उत्पन्न गैसें निकल न पाएँ या तो बारूद और गोला धातु के कारतूस (कार्टिज) में बंद रहता है या संधि के पास नरम गद्दी रहती है, जो गैसों की दाब से संधि पर कसकर बैठ जाती है।

दागने की क्रिया या तो बिजली से होती है (बहुत कुछ उसी तरह जैसे मोटर गाड़ियों में पेट्रोल और वायु का मिश्रण बिजली से जलता है) या एक 'घोड़ा' (वस्तुतः हथौड़ा) विशेष जलनशील टोपी को ठोंकता है (बहुत कुछ उस प्रकार जैसे साधारण बंदूकों के कारतूस दागे जाते हैं)।

पश्चभाग में ये सब युक्तियाँ पश्चवलय (ब्रीच-रिंग) द्वारा जुड़ी रहती हैं। निर्माण की सुविधा के लिये इस वलय को अलग से बनाया जाता है और नाल पर बनी चूडी पर कस दिया जाता है। इस विचार से कि काम करते करते यहाँ का पेंच ढीला न पड़ जाय, पश्चवलय को नाममात्र छोटा बनाकर और तप्त करके कसा जाता है। ठंढा होने पर यह भाग इतना कस उठता है कि खुल नहीं सकता।

अग्निवाण (रॉकेट)--अग्निवाण उसी सिद्धांत पर चलते हैं जिस पर दीपावली पर छोड़े जानेवाले बारूद भरे वाण। द्वितीय विश्वयुद्ध के अंतिम वर्ष में अग्निवाण बहुत कार्यकारी सिद्ध हुए। अग्निवाण-प्रक्षेपक में ३० अग्निवाण तीन तीन इंच व्यास के लगे रहते थे और प्रत्येक में कॉर्डाइट नामक विस्फोटक भरा रहता था। प्रत्येक के सिर का भार २९ पाउंड था। दागने पर प्रत्येक अग्निवाण ३,९०० से ८,००० गज तक जा सकता था। प्रत्येक बिजली के स्विच से दागा जाता था। इन स्विचों को या तो इस प्रकार व्यवस्थित किया जा सकता था कि अग्निवाण आध आध सेकेंड पर अपने आप छूटते रहें या इच्छानुसार कई अग्निवाण या कुल अग्निवाण एक साथ ही छूटें। उच्च विस्फोटक के इस एकाएक धमाके से शत्रु की सेना को भारी क्षति पहुँचती थी और वह अत्यंत भयभीत हो जाया करती थी।

दीर्घ-परास-अग्निवाण--द्वितीय महायुद्ध के अंत में जर्मनों ने बिना मानवी संचालक के और बहुत दूर तक पहुँचनेवाले अग्निवाण बनाए, जिनका नाम वी-एक और वी-दो पड़ा। देखने में वी-एक छोटे वायुयान के समान होता था। इसमें १३० गैलन पेट्रोल आता था और मशीन का भार लगभग १ टन रहता था। उड़ते समय इसका वेग लगभग ३५० मील प्रति घंटा हो जाता था और चलने में यह भयानक ध्वनि उत्पन्न करता था। साथ में वी-दो का चित्र दिखाया गया है। इसमें ऐल्कोहल और द्रव आक्सिजन का प्रयोग होता था। प्रत्येक वाण में लगभग ३ टन ऐल्कोहल और ५ टन द्रव आक्सिजन भरा रहता था। इसका महत्तम वेग लगभग ३,००० मील प्रति घंटा था। यंत्र की आकृति सिगार की तरह होती थी और ईंधन बिना भार लगभग १ टन।

राडार--वायुयान इतने वेग से चलते रहते हैं कि उनको तोप से मार गिराना कठिन ही होता था, परंतु अमरीकी वैज्ञानिकों ने **राडार** (उसे देखें) और वायुयानघातक तोपों का ऐसा संबंध जोड़ा कि तोप अपने आप वायुयान पर सधी रहती थी। सन् १९४४ के उड़न-बमों पर विजय इसी से मिली, क्योंकि ये राडार-युक्त तोपें लगभग ७० प्रति शत ऐसे बमों को मार गिराती थीं।

चित्र ८. भूमि में गाड़े हुए बम (माइन) का पता लगाना

बम के पास पहुँचने पर यंत्र से ध्वनि निकलती है।

विविध--रात को शत्रु के वायुयानों को प्रकाशित करने के लिये गत महायुद्ध में ९० सेंटीमीटर व्यास के और २० करोड़ किरणावलि-वर्त्ति-शक्ति (बीम-कैंडिल-पावर) के प्रकाश-यंत्रों का उपयोग किया जाता था। वायु के स्वच्छ रहने पर कई मील तक इनका प्रकाश पहुँचता था। भूमि में
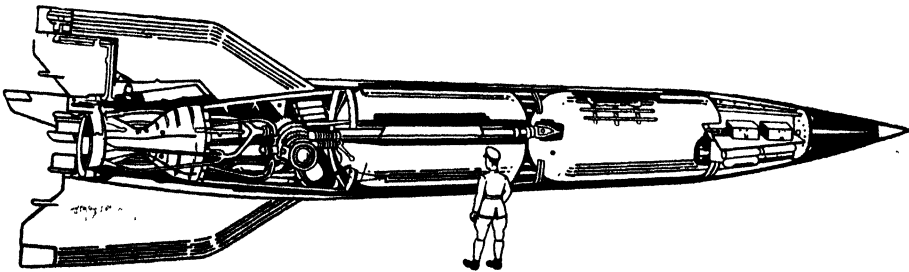
चित्र ७. वी-दो अग्निवाण।

ये ऐल्कोहल और द्रव आक्सिजन के जलने से चलते थे और जर्मनी से छोड़े जाने पर लंदन तक पहुँचते थे।

ऐसे विस्फोटक बम, जिन्हें निस्फोट (माइन) कहते हैं, बहुधा छिपा दिए जाते हैं। इन पर भार पड़ते ही विस्फोट होता है और दूर तक के लोग घायल हो जाते हैं। इन विस्फोटों का पता एक ऐसे यंत्र से लगाया जाता है जो माइन के निकट आते ही ध्वनि करने लगता है (चित्र ८)। समुद्रों में भी निस्फोट लगाए जाते हैं जो जहाजों को विशेष क्षति पहुँचाते हैं (देखें **निस्फोट**)।

[श्री० गो० ति०]

आयुर्विज्ञान विज्ञान की वह शाखा है जिसका संबंध मानव शरीर को नीरोग रखने, रोग हो जाने पर रोग से मुक्त करने अथवा उसका शमन करने तथा आयु बढ़ाने से है। आयुर्विज्ञान का जन्म भारत में कई हजार वर्ष ईसा पूर्व में हुआ, परंतु पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि वैज्ञानिक आयुर्विज्ञान का जन्म ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में यूनान में हुआ और लगभग ६०० वर्ष बाद उसकी मृत्यु रोम में हुई। इसके लगभग १५०० वर्ष पश्चात् विज्ञान के विकास के साथ उसका पुनर्जन्म हुआ। यूनानी आयुर्वेद का जन्मदाता हिप्पोक्रेटीज़ था जिसने उसको आधिदैविक रहस्यवाद के अंधकूप से निकालकर अपने उपयुक्त स्थान पर स्थापित किया। उसने बताया कि रोग की रोकथाम तथा उससे मुक्ति दिलाने में देवी-देवताओं का हाथ नहीं रहता। उसने तांत्रिक विश्वासों और वैसी चिकित्सा का अंत कर दिया। उसके पश्चात् गत शताब्दियों में समय समय पर अनेक अन्वेषण-कर्ताओं ने नवीन खोजें करके इस विज्ञान की उन्नति की जिससे आयुर्विज्ञान की उन्नति होती रही (देखें **आयुर्वेद का इतिहास** शीर्षक लेख)। हमारे देश में आयुर्वेद, यूनानी तथा होमियोपैथी चिकित्सा पद्धतियाँ भी प्रचलित हैं। किंतु वे शताब्दियों से वैसी ही चली आ रही हैं। उनमें कोई अनुसंधान नहीं हुआ, न किन्हीं नवीन ओषधियों की खोज हुई। आज भी वे वहीं हैं जहाँ शताब्दियों पूर्व थीं।

प्रारंभ में आयुर्विज्ञान का अध्ययन जीवविज्ञान की एक शाखा की भाँति किया गया और शरीर-रचना-विज्ञान (अनैटोमी) तथा शरीर-क्रिया-विज्ञान (फिज़िऑलोजी) को इसका आधार बनाया गया। शरीर में होनेवाली क्रियाओं के ज्ञान से पता लगा कि उनका रूप बहुत कुछ रासायनिक है और ये घटनाएँ रासायनिक क्रियाओं के फल हैं। ज्यों ज्यों खोजें हुईं त्यों त्यों शरीर की घटनाओं का रासायनिक रूप सामने आता गया। इस प्रकार रसायनविज्ञान का इतना महत्व बढ़ा कि वह आयुर्विज्ञान की एक पृथक् शाखा बन गया, जिसका नाम जीवरसायन (बायोकेमिस्ट्री) रखा गया। इसके द्वारा न केवल शारीरिक घटनाओं का रूप स्पष्ट हुआ, वरन् रोगों-की उत्पत्ति तथा उनके प्रतिरोध की विधियाँ भी निकल आईं। साथ ही भौतिक विज्ञान ने भी शारीरिक घटनाओं को भली भाँति समझने में बहुत सहायता दी। यह ज्ञात हुआ कि अनेक घटनाएँ भौतिक नियमों के अनुसार ही होती हैं। अब जीव-रसायन की भाँति जीवभौतिकी (बायोफ़िज़िक्स) भी आयुर्विज्ञान का एक अंग बन गई है और उससे भी रोगों की उत्पत्ति को समझने में तथा उनका प्रतिरोध करने में बहुत सहायता मिली है। विज्ञान की अन्य शाखाओं से भी रोगरोधन तथा चिकित्सा में बहुत सहायता मिली है और इन सबके सहयोग से मनुष्य जाति के कल्याण में बहुत प्रगति हुई है, जिसके फलस्वरूप जीवनकाल बढ़ गया है।

शरीर, शारीरिक घटनाओं और रोग संबंधी आंतरिक क्रियाओं का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करने में अनेक प्रकार की प्रायोगिक विधियों और यंत्रों से, जो समय समय पर बनते रहे हैं, बहुत सहायता मिली है। किंतु इस गहन अध्ययन का फल यह हुआ कि आयुर्विज्ञान अनेक शाखाओं में विभक्त हो गया और प्रत्येक शाखा में इतनी खोज हुई है, नवीन उपकरण बने हैं तथा प्रायोगिक विधियाँ ज्ञात की गई हैं कि कोई भी विद्वान् या विद्यार्थी उन सब से पूर्णतया परिचित नहीं हो सकता। दिन-प्रति-दिन चिकित्सक को प्रयोगशालाओं तथा यंत्रों पर निर्भर रहना पड़ रहा है और यह निर्भरता उत्तरोत्तर बढ़ रही है।

आयुर्विज्ञान की शिक्षा—प्रत्येक शिक्षा का ध्येय मनुष्य का मानसिक विकास होता है, जिससे उसमें तर्क करके समझने और तदनुसार अपने भावों को प्रकट करने तथा कार्यान्वित करने की शक्ति उत्पन्न हो जाय। आयुर्विज्ञान की शिक्षा का भी यही उद्देश्य है। इसके लिये सब आयुर्विज्ञान के विद्यालयों में विद्यार्थी को उपस्नातक के रूप में पाँच वर्ष बिताने पड़ते हैं। इन मेडिकल कॉलेजों (आयुर्विज्ञानविद्यालयों) में विद्यार्थियों को आधार-विज्ञानों का अध्ययन करके उच्च माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने पर भरती किया जाता है। तत्पश्चात् प्रथम दो वर्ष विद्यार्थी शरीररचना तथा शरीर-क्रिया नामक आधारविज्ञानों का अध्ययन करता है जिससे उसको शरीर की स्वाभाविक दशा का ज्ञान हो जाता है। इसके पश्चात् तीन वर्ष रोगों के कारण इन स्वाभाविक दशाओं की विकृतियों का ज्ञान पाने तथा उनकी चिकित्सा की रीति सीखने में व्यतीत होते हैं। रोगों को रोकने के उपाय तथा भेषज-वैधिक का भी, जो इस विज्ञान की नीति संबंधी शाखा है, वह इसी काल में अध्ययन करता है। इन पाँच वर्षों के अध्ययन के पश्चात् वह स्नातक बनता है। इसके पश्चात् वह एक वर्ष तक अपनी रुचि के अनुसार किसी विभाग में काम करता है और उस विषय का क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त करता है। तत्पश्चात् वह स्नातकोत्तर शिक्षण में डिप्लोमा या डिग्री लेने के लिये किसी विभाग में भरती हो सकता है।

सब आयुर्विज्ञान विद्यालय (मेडिकल कॉलेज) किसी न किसी विश्वविद्यालय से संबंधित होते हैं जो उनकी परीक्षाओं तथा शिक्षणक्रम का संचालन करता है और जिसका उद्देश्य विज्ञान के विद्यार्थियों में तर्क की शक्ति उत्पन्न करना और विज्ञान के नए रहस्यों का उद्घाटन करना होता है। आयुर्विज्ञान विद्यालयों (मेडिकल कालेजों) के प्रत्येक शिक्षक तथा विद्यार्थी का भी उद्देश्य यही होना चाहिए तथा उसे रोगनिवारक नई वस्तुओं की खोज करके इस आर्तिनाशक कला की उन्नति करने की चेष्टा करनी चाहिए। इतना ही नहीं, शिक्षकों का जीवनलक्ष्य यह भी होना चाहिए कि वह ऐसे अन्वेषक उत्पन्न करें।

चिकित्साप्रणाली—चिकित्सापद्धति का केंद्रस्तंभ वह सामान्य चिकित्सक (जेनरल प्रैक्टिशनर) है जो जनता या परिवारों के घनिष्ठ संपर्क में रहता है तथा आवश्यकता पड़ने पर उनकी सहायता करता है। वह अपने रोगियों का मित्र तथा परामर्शदाता होता है और समय पर उन्हें दार्शनिक सांत्वना देने का प्रयत्न करता है। वह रोगसंबंधी साधारण समस्याओं से परिचित होता है तथा दूरवर्ती स्थानों, गाँवों इत्यादि, में जाकर रोगियों की सेवा करता है। यहाँ उसको सहायता के वे सब उपकरण नहीं प्राप्त होते जो उसने शिक्षणकाल में देखे थे और जिनका प्रयोग उसने सीखा था। बड़े नगरों में ये बहुत कुछ उपलब्ध हो जाते हैं। आवश्यकता पड़ने पर उसको विशेषज्ञ से सहायता लेनी पड़ती है या रोगी को अस्पताल में भेजना होता है। आजकल इस विज्ञान की किसी एक शाखा का विशेष अध्ययन करके कुछ चिकित्सक विशेषज्ञ हो जाते हैं। इस प्रकार हृद्‌रोग, मानसिक रोग, अस्थिरोग, बालरोग आदि में विशेषज्ञों द्वारा विशिष्ट चिकित्सा उपलब्ध है।

आजकल चिकित्सा का व्यय बहुत बढ़ गया है। रोग के निदान के लिये आवश्यक परीक्षाएँ, मूल्यवान् ओषधियाँ, चिकित्सा की विधियाँ और उपकरण इसके मुख्य कारण हैं। आधुनिक आयुर्विज्ञान के कारण जनता का जीवनकाल भी बढ़ गया है, परंतु ओषधियों पर बहुत व्यय होता है। खेद है कि वर्तमान आर्थिक दशाओं के कारण उचित उपचार साधारण मनुष्य की सामर्थ्य के बाहर हो गया है।

आयुर्विज्ञान और समाज—चिकित्साविज्ञान की शक्ति अब बहुत बढ़ गई है और निरंतर बढ़ती जा रही है। आजकल गर्भनिरोध किया जा सकता है। गर्भ का अंत भी हो सकता है। पीड़ा का शमन, बहुत काल तक मूर्छावस्था में रखना, अनेक संक्रामक रोगों की सफल चिकित्सा, सहज प्रवृत्तियों का दमन और वृद्धि, ओषधियों द्वारा भावों का परिवर्तन, शल्यक्रिया द्वारा व्यक्तित्व पर प्रभाव आदि सब संभव हो गए हैं। मनुष्य का जीवनकाल अधिक हो गया है। दिन प्रति दिन नवीन ओषधियाँ निकल रही हैं; रोगों का कारण ज्ञात हो रहा है; उनकी चिकित्सा ज्ञात की जा रही है। समाजवाद के इस युग में इस बढ़ती हुई शक्ति का इस प्रकार प्रयोग करना उचित है कि इससे राज्य, चिकित्सक तथा रोगी तीनों को लाभ हो। सरकार के स्वास्थ्य संबंधी तीन मुख्य कार्य हैं। पहले तो जनता में रोगों को फैलने न देना; दूसरे, जनता की स्वास्थ्यवृद्धि, जिसके लिये उपयुक्त भोजन, शुद्ध जल, रहने के लिये उपयुक्त स्थान तथा नगर की स्वच्छता आवश्यक हैं; तीसरे, रोगग्रस्त होने पर चिकित्सा संबंधी उपयुक्त और उत्तम सहायता का उपलब्ध करना। इन तीनों उद्देश्यों की पूर्ति में चिकित्सक का बहुत बड़ा स्थान और उत्तरदायित्व है।

राकेटयुग में चिकित्साविज्ञान---आयुर्विज्ञान अंतर्देशीय स्तर पर बहुत समय पूर्व पहुँच चुका था और जान पड़ता है कि अब वह अंतर्ग्रहीय अवस्था पर पहुँचनेवाला है। आकाशयात्रा का शरीर पर जो प्रभाव पड़ता है उसका विशेष अध्ययन हो रहा है। आगे चलकर यह अत्यंत उपयोगी प्रमाणित हो सकता है। इस संबंध के अनेक प्रश्नों का अभी संतोपजनक उत्तर पाना है। ब्रह्मांड की (कॉस्मिक) रश्मियों का शरीर पर प्रभाव, गुरुत्वाकर्षणरहित अवस्था का मनुष्य की प्रतिक्षेप (रिफ्लेक्स) क्रियाओं पर प्रभाव, अभारता (वेटलेसनेस) के मंडल में बहुत समय तक निवास करने और शारीरिक क्रियाओं में संबंध आदि अनेक ऐसे प्रश्न हैं जिनपर खोज हो रही है। [शि० श० मि०तथा स० प्र० गु०]

आयुर्विज्ञान का इतिहास

सूत्रबद्ध विचारव्यंजन के हेतु आयुर्विज्ञान (मेडिसिन) के क्रमिक विकास को लक्ष्य में रखते हुए इसके इतिहास के तीन भाग किए जा सकते हैं:

(१) आदिम आयुर्विज्ञान,
(२) प्राचीन आयुर्विज्ञान,
(३) अर्वाचीन आयुर्विज्ञान।

आदिम आयुर्विज्ञान---मानव की सृष्टि हुई। आहार, विहार तथा स्वाभाविक एवं सामाजिक परिस्थितियों के कारण मानव जाति पीड़ित होने लगी। उस पीड़ा की निवृत्ति के लिये उपायों के अन्वेषणों से ही आयुर्विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ।

पीड़ा होने के कारणों के संबंध में लोगों की निम्नलिखित धारणाएँ थीं :

(१) शत्रु द्वारा मूठ (जादू, टोना) का प्रयोग या भूत पिशाचादि का शरीर में प्रवेश।
(२) अकस्मात् विषाक्त पदार्थ खा जाना अथवा शत्रु द्वारा जान बूझकर मारक विष का प्रयोग।
(३) स्पर्श द्वारा किसी पीड़ित से पीड़ा का संक्रमण।
(४) इंद्रियविशेष का तत्सदृश अथवा तन्नामधारी वस्तु के प्रति आकर्षण या सहानुभूति।
(५) किन्हीं क्रियाओं,पदार्थों अथवा मनुष्यों में विद्यमान रोगोत्पादक शक्ति।

इन्हीं सामान्य विचारों को भिन्न भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न भिन्न प्रकार से अनेक देशों में दर्शाया।

उस समय चिकित्सा त्राटक (योग की एक मुद्रा), प्रयोग अथवा अनुभव के आधार पर होती थी, जिसके अंतर्गत शीतल एवं उष्ण पदार्थों का सेवन, रक्तनिःसारण, स्नान, आचूषण तथा स्नेहमर्दन आदि आते थे। पाषाणयुग से ही वेधनक्रिया सदृश विस्मयकारी शल्यक्रियाएँ प्रचलित थीं। निर्मित भेषजों में वमनकारी और विरेचनकारी योगों तथा भूत पिशाचादिके निस्सारण के लिये तीव्र यातनादायक द्रव्यों का उपयोग होता था। इस प्रकार आदिम आयुर्विज्ञान तत्कालीन संस्कृति पर आधारित था, किंतु विभिन्न देशों में संस्कृतियाँ स्वयं विभिन्न थीं।

भारतीय आयुर्विज्ञान---यह अत्यंत प्राचीन समय में भी समुन्नत दशा में था। आज भी इसका कुशल रूप से प्रयोग होता है। आयुर्विज्ञान के उद्गम वेद हैं (समय के लिये देखें **वेद**)। वेदों में, विशेषतः अथर्ववेद में, शरीरविज्ञान, औषधिविज्ञान, चिकित्साविज्ञान, कीटाणुविज्ञान, शल्यविज्ञान आदि की ऋचाएँ उपलब्ध हैं। चरक एवं सुश्रुत (सुश्रुत के लैटिन अनुवादक हेसलर के अनुसार समय लगभग १००० वर्ष ईसा पूर्व) में इसके पृथक् पृथक्, शल्य एवं कायचिकित्सा के रूप में, दो भेद हो गए हैं। सुश्रुत शल्यचिकित्सा-प्रधान एवं कायचिकित्सा में गौण तथा चरक कायचिकित्सा में प्रधान एवं शल्यचिकित्सा में गौण माने जाते हैं। पाँच भौतिक तत्वों (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) के आधार पर वात, पित्त, कफ इन तीनों को रोगोत्पादक कारण माना गया। कहा गया कि शरीर में इनकी विषमता ही रोग है एवं समता आरोग्य। अतः विषम दोषों को सम करने के उपाय को चिकित्सा कहते थे। इसके आठ अंग माने गए : काय, शल्य, शालाक्य, बाल, ग्रह, विष, रसायन एवं बाजीकरण। निदान में दोषों के साथ ही साथ कीटाणुसंक्रमण को भी रोगों का कारण माना गया था। प्रसंग, गात्रसंस्पर्श, सहभोज, सहशय्यासन, माल्यधारण, गंधानुलेपन आदि के द्वारा प्रतिश्याय (जुकाम), यक्ष्मादि रोगों के एक व्यक्ति से दूसरे में संक्रमण का निर्देश सुश्रुत में है। उसमें प्रथम निदान पर, तत्पश्चात् चिकित्सा पर भी जोर दिया गया है।

त्रिदोषों के संचय, प्रकोप, प्रसार, स्थान, संस्रय (मेल), व्यक्ति और भेद के अनुसार रोगों की चिकित्सा का निर्देश किया गया है। अनुचित बाह्य पदार्थों के प्रयोग से शरीर में दोषों का संचय न हो, इस विचार से भोजन-निर्माण-काल में ही, अथवा भोजन करने के समय ही, भोज्य पदार्थों में उनके वृद्धिनिवारक भेषजतत्वों का प्रयोग किया जाय, जैसे बैंगन की भाजी बनाते समय हींग एवं मेथी का प्रयोग और ककड़ी के सेवनकाल के पूर्व उसमें काली मिर्च एवं लवण का योग आदि, क्योंकि विश्वास था कि हींग, मिर्च आदि के साथ बैंगन और ककड़ी के शरीर में प्रवेश करने पर इन भाजियो से उत्पन्न दोषों का अवरोध हो जाता है। यह प्रथम चिकित्साकाल समझा जाता था। संचय के अवरोध के लिये पहले से ही उपाय न करने पर दोषों का प्रकोप माना जाता था। इस अवस्था में भी चिकित्सा न हो तो उनका प्रसार होना माना गया। सिद्धांत यह था कि फिर भी यदि चिकित्सा न की जाय तो दोष घर कर लेते हैं। इसके पश्चात् विशिष्ट दोषों से विशिष्ट स्थानों में विभिन्न लक्षणों की उत्पत्ति होती है। तत्पश्चात् भी चिकित्सा में अवहेलना से रोग गंभीर होता है और असाध्य कोटि का हो जाता है। अतः परिवर्जन (परहेज) मुख्यतः प्रारंभिक चिकित्सा मानी गई। आयुर्वेद में निदान चिकित्सा का प्रारंभिक अंग है। देश की विशालता एवं जलवायु की विषमता होने से यहाँ औषधविज्ञान का भी बड़ा विकास हुआ। अतः एक ही प्रकार के ज्वर के लिये भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न ओषधियों के प्रयोग निर्णीत किए गए। इसी से निघंटु में ओषधियों की बहुलता एवं भेषज-निर्माण-ग्रंथों में प्रयोग की बहुलता दृष्टिगोचर होती है। रक्तपरिभ्रमण, श्वसन, पाचन आदि शारीरिक क्रियाओं का ज्ञान भारत में हजारों वर्ष पूर्व ही हो गया था। शल्यचिकित्सा में यह देश प्रधान था। प्रायः सभी अवयवों की चिकित्सा शल्य और शालाक्य (चीर फाड़) द्वारा होती थी। प्लास्टिक सर्जरी, शिरावेध, सूचीवेध आदि सभी सूक्ष्म कार्य होते थे। बाल को खड़ा चीर सकनेवाले शस्त्र थे। अस्थियों का स्थानभ्रंश, क्षति आदि का भिन्न भिन्न भग्नास्थिबंधों (स्प्लिंट्स) द्वारा उपचार होता था। अतः भारतीय आयुर्विज्ञान अपने समय में सर्वगुणसंपन्न था।

ईजिप्ट का आयुर्विज्ञान—यह अति प्राचीन काल के परंपरागत अभ्यासों तथा इंद्रजाल पर अवलंबित था। इसके चिकित्सक मंदिरों के पुरोहित या कुछ अभ्यस्त व्यक्ति ही होते थे। ये स्वास्थ्यविज्ञान, आहारनियम, विरेचन, वस्तिकर्म आदि पर ध्यान देते थे, परंतु ये पर्याप्त सफल नहीं हुए। अनुलेप, प्रलेप तथा अंतर्ग्राह्य भेषजों का भी प्रयोग होता था। मधु, क्षार, देवदारुतैल, अंजीरत्वचा, तूतिया, फिटकिरी तथा प्राणियों के यकृत, हृदय, रक्त और सींग आदि का प्रयोग होता था। इन सबसे अच्छे चिकित्सकों के उत्पन्न होने में भी प्रगति हुई। इम्होटेप (समय खृष्टाब्द के ३००० वर्ष पूर्व) राजा जोसर का राजवैद्य था और ईश्वरतुल्य पूजा जाता था। उसके नाम से मंदिर भी बने हैं। ईजिप्ट के प्राचीन लेखों (पैपिराई) में आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में शरीरविज्ञान और शल्यविज्ञान का यत्किंचित् उल्लेख है।

मेसोपोटेमिया का आयुर्विज्ञान— इसमें यकृत शरीर का प्रधान अंग माना जाता था और इसकी स्थिति से फलानुमान किया जाता था। शरीर में प्रेतादि का प्रकोप रोग का मुख्य कारण या व्याधिशास्त्र का आधार समझा जाता था तथा प्रेतादिकों का निःसरण, पूजा पाठ आदि उनके उपचार थे। शल्यचिकित्सा श्रेष्ठ मानी जाती थी। अतः शरीरविज्ञान का ज्ञान भी आवश्यक समझा जाता था। ओषधिक्षेत्र में सैकड़ों खनिज एवं जीवजात भेषजों का उपयोग भी होता था। तारपीन, देवदारु, हिंगु, सरसों, लोबान, एरंड, तैल, खसखस, अंजीर तथा कुछ विषैली वनस्पतियों का भी प्रयोग होता था।

प्राचीन आयुर्विज्ञान— एक प्रकार से उस वैज्ञानिक आयुर्विज्ञान की उत्पत्ति ग्रीस में हुई जिससे आधुनिक पाश्चात्य आयुर्विज्ञान निकला। ईसा से ५०० वर्ष पूर्व से लेकर रोम राज्य के उत्थान तक यह इसी देश में सीमित था; इसके पश्चात् इसका विकास मध्य एशिया, एथेंस, इटली आदि ग्रीस के अधिराज्यों में भी हुआ। इसमें तत्कालीन सभी प्रचलित पद्धतियाँ संमिलित थीं। प्राचीन क्रीट, मेसोपोटेमिया, ईजिप्ट, पर्शिया तथा भारत की चिकित्सापद्धतियों के सिद्धांत इसमें समाविष्ट थे। अतः एक संमिलित वैज्ञानिक आयुर्विज्ञान का प्रादुर्भाव यहाँ से हुआ। ईसा से लगभग ४०० वर्ष

पूर्व ग्रीस देश के हिपोक्रेटीज़ ने इसके विकास में योग दिया। हिपोक्रेटीज़ ने वैद्यों के लिये जिस शपथ का निर्देश किया था वह प्रभावशाली थी, यथा—"मैं आयुर्विज्ञान के गुरुजनों का अपने पूज्य गृहजनों के समान आदर करूँगा। उनकी आवश्यकताओं पर उपस्थित रहूँगा। उनकी संतति में भ्रातृभाव रखूँगा और यदि वे चाहेंगे तो उन्हें यह विज्ञान सिखाऊँगा तथा इस विज्ञान के विकास के लिये सतत प्रयत्नशील रहूँगा। रोगियों की भलाई के लिये ओषधिप्रयोग करूँगा, किसी के घात अथवा गर्भपात के लिये नहीं। रुग्णों की गुप्त बातों तथा व्यवहारों को गुप्त रखूँगा इत्यादि।"

हिपोक्रेटीज़ का शिरोव्रण नामक ग्रंथ उल्लेखनीय है। उसमें शिरोभेद का उल्लेख तथा शिरोस्थिभंग का उपचार तथा अन्य अवयवों का शल्योपचार भी पाया जाता है। उस काल में अन्य अस्थिभंग तथा अस्थिभ्रंश के भी सफल उपचार होते थे।

उस काल में किसी विशेष रोग के विशेषज्ञ नहीं होते थे। सभी सब प्रकार के रोगियों को देखते थे। जहाँ शल्यचिकित्सा संभव नहीं होती थी वहाँ वे शरीर को पुष्ट रखने का उपाय करते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि शरीर में स्वयं व्रणरोधक शक्ति है। इसके अतिरिक्त रोगी की बाह्य चिकित्सा, सेवा शुश्रूषा आदि का भी उल्लेख पाया जाता है। हिपोक्रेटीज़ की "सूत्र" नामक पुस्तक भी बड़ी सफल हुई। इस पुस्तक में दर्शाए कुछ विचार निम्नलिखित हैं :

(१) वृद्धावस्था में उपवास का सहन सरल होता है।

(२) अकारण थकावट रोग की द्योतक होती है।

(३) उत्तम भोजन के पश्चात् भी शरीर का शुष्क रहना व्याधि निर्देशित करता है।

(४) वृद्धावस्था में व्याधियाँ कम होती हैं, परंतु यदि कोई व्याधि दीर्घकाल तक रह जाती है तो असाध्य ही हो जाती है।

(५) घाव के साथ आक्षेपक (शरीर में ऐंठ) होना अच्छा लक्षण नहीं है।

(६) क्षय लगभग १८ से ३५ वर्ष की आयु के बीच होता है।

इस तरह के इनके कई उल्लेख आज भी अकाट्य हैं। हिपोक्रेटीज़ ने निदानविज्ञान एवं रोगों के भावी परिणाम विषयक ज्ञान का भी विकास किया।

अरिस्टॉटिल (३८४–३२२ ई० पू०) ने प्राणिशास्त्र को महत्व देते हुए आयुर्विज्ञान के विषय में अपने वक्तव्य में कहा कि उष्ण एवं शीत, आर्द्र एवं शुष्क ये चार प्रारंभिक गुण हैं। इनके भिन्न भिन्न मात्राओं में संयोग से चार पदार्थों का निर्माण हुआ जिन्हें तत्व कहते हैं। ये तत्व पृथ्वी, वायु, अग्नि एवं जल हैं। इस विचार का हिपोक्रेटीज़ के आयुर्विज्ञान से समन्वय कर इन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि शरीर मुख्य चार द्रवों (ह्यूमर्स) से निर्मित है, जिन्हें रक्त, कफ, कृष्ण पित्त (ब्लैक बाइल) एवं पीत पित्त (यलो बाइल) कहते हैं और इन्हीं द्रवों में आरोग्यावस्था के अनुपात से भिन्नता रोगोत्पादक होती है। इस तरह द्रव-व्याधि-शास्त्र (ह्यूमरल पैथॉलॉजी) का उदय हुआ। भारत के प्राचीन त्रिदोषसिद्धांत से यह इतना मिलता जुलता है कि प्रश्न उठता है कि क्या यह ज्ञान ग्रीस में भारत से पहुँचा। कई पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों का मत है कि अवश्य ही यह ज्ञान वहाँ भारत से गया होगा (कारणों तथा पूरे ब्योरे के लिये देखें महेंद्रनाथ शास्त्री कृत 'आयुर्वेद का संक्षिप्त इतिहास')।

अरिस्टौटिल की मृत्यु के पश्चात् उसी के देश के हिरोफिलस तथा एरासिसट्राटस (समय लगभग ३०० वर्ष ईसा पूर्व) ने अपने नए संघ का निर्माण किया जिसे ऐलेक्जैंड्रियन संप्रदाय कहते हैं। हिरोफिलस ने नाड़ी, धमनी एवं शिराओं के गुणों का वर्णन कर शरीरशास्त्र को जन्म दिया। इसीलिये वह शरीरशास्त्र का जनक माना गया। एरासिसट्राटस ने श्वसनक्रिया का अध्ययन कर प्रथम बार वायु एवं शरीर में संबंध स्थापित करने का प्रस्ताव किया। उसका मत था कि वायु में एक अदृष्ट शक्ति है, जो शक्ति एवं कंपन स्थापित करती है। इसने यह भी कहा कि अवयवों का निर्माण नाड़ी, धमनी तथा शिरा से है, जो विभाजित होते होते अत्यंत सूक्ष्म हो जाती हैं। मस्तिष्क का भी अध्ययन कर इसने इसके विभिन्न भागों को दर्शाया। रक्त की अधिकता को कई व्याधियों, जैसे मिरगी, न्यूमोनिया, रक्तवमन इत्यादि, का कारण बताया एवं इनके शमन के हेतु नियमित व्यायाम, पथ्य, वाष्पस्नानादि विहित किए।

रोम राज्य के अंतर्गत आयुर्विज्ञान—ग्रीस के विज्ञान तथा संस्कृति के विकास के समय आयुर्विज्ञान के विकास का भी आरंभ हुआ, किंतु दीर्घ काल तक यह सुषुप्त रहा। ग्रीक ऐस्क्लेपियाडीज़ ने ४० वर्ष ईसा से पूर्व हिपोक्रेटीज़ के प्रकृति पर भरोसा करनेवाले उपचार का खंडन कर शीघ्र प्रभावकारी उपचार का अनुमोदन किया। शनैः शनैः इसका विकास होता गया तथा डियोस्कोरिडीज़ ने एक आयुर्वैज्ञानिक निघंटु की रचना की।

सन् ३०ईसवी में सेल्सस् ने पुनः आयुर्विज्ञान को सुसंगठित किया। उसने स्वच्छता (सैनिटेशन) तथा जनस्वास्थ्य का भी विकास किया। औषधालयपद्धति का आरंभ रोम से हुआ, किंतु दीर्घकाल तक यह प्रयोग सेना तक ही सीमित रहा; पीछे जनसाधारण को भी यह सुविधा उपलब्ध हुई।

गैलन (१३०-२०० ई०) ने अपने वक्तव्य में दर्शाया कि मुख्यतः तीन शक्तियों का जीवन से घनिष्ठ संबंध है :

(१) प्राकृतिक शक्ति (नैचुरल स्पिरिट), जो यकृत में निर्मित होकर शिराओं द्वारा शरीर में विस्तारित होती है।

(२) दैवी शक्ति (वाइटल स्पिरिट), जो हृदय में बनकर धमनियों द्वारा प्रसारित होती है।

(३) पाशव शक्ति (ऐनिमल स्पिरिट), जो मस्तिष्क में बनकर नाड़ियों द्वारा प्रसारित होती है। गलन ने कहा कि पाशव शक्ति का संबंध स्पर्श तथा कार्यसंचालन से है। प्राकृतिक शक्ति हृदय में और दैवी शक्ति मस्तिष्क में पाशव शक्ति में परिणत हो जाती है।

भेषजशास्त्र की उन्नति में भी गैलन ने बड़ा योग दिया, किंतु इसकी मृत्यु के पश्चात् इसके प्रयासों को प्रोत्साहन न मिल सका।

आधुनिक आयुर्विज्ञान—१६वीं शताब्दी में क्षेत्रविस्तार तथा उच्च कोटि की उपलब्ध सुविधाओं द्वारा आयर्विज्ञान में नवीन स्फूर्ति प्रस्फुटित हुई। संक्रामक व्याधियों की अधिकता से इनकी ओर भी ध्यान आकर्षित हुआ। ऐंड्रियस विसेलियस (१५१४-१५६४ई०) ने पैडुआ में शरीरशास्त्र का पुनः आरंभ से अध्ययन किया। तदुपरांत पैडुआ नगर शिक्षा का उत्तम केंद्र बन गया। शरीरशास्त्र के विकास से शल्यचिकित्सा को भी प्रोत्साहन मिला। इस क्षेत्र में फ्रांस के शल्यचिकित्सक ऑब्राज पारे (१५१७-९० ई०) के कार्य उल्लेखनीय हैं। परंतु इस काल में शरीर-क्रिया-विज्ञान में विकास न होने से भेषजचिकित्सा उन्नति न कर सकी। रोग-निदान-शास्त्र में १६वीं एवं १७वीं शताब्दी में सराहनीय कार्य हुए, परंतु इसमें हिपोक्रेटीज़ तथा गैलन की कृतियों से बराबर सहायता ली जाती थी। पृथ्वी के अज्ञात भागों की खोज के बाद ओषधि क्षेत्र में भी विकास हुआ, क्योंकि कई नई ओषधियाँ प्राप्त हुई, जैसे कुड़की (इपिकाकुआन्हा), कुनैन और तंबाकू। वनस्पति शास्त्र का भी विस्तार हुआ। संक्रामक रोगों के विषय में अधिक जानकारी हुई। सन् १५४६ ई० में वेरोना के फ्राकास्टोरो ने रोगाक्रमणों पर प्रकाश डाला। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप कीटाणुजगत् के विषय का भी आभास हुआ। उपदंश, मोतीझिरा, कुकरखाँसी, आमवात, गठिया तथा खसरा आदि रोगों पर प्रकाश डाला जा सका। १५वीं शताब्दी में उपदंश महामारी के रूप में फैला और इस रोग के संबंध में अनुसंधान हुआ, किंतु अनेक भिन्न मत होने से कोई निश्चित अनुमान नहीं लगाया जा सका।

शरीर-क्रिया-विज्ञान का विकासकाल—१६वीं तथा १७वीं शताब्दियों में शरीर-क्रिया-विज्ञान, भौतिकी तथा चिकित्साविज्ञान का विकास समांतर रीति से हुआ। इसी समय पैडुआ (इटली) के सेक्टोरियस (सन् १५६१-१६३६) ने शरीर की ताप-संतुलन-क्रिया को समझाते हुए तापमापी यंत्र की रचना की और उपापचय (मेटाबॉलिज्म) की नींव डाली। पैडुआ के शिक्षक जेरोम फाब्रिशियस (सन् १५३७-१६१९) ने भ्रूणविज्ञान एवं रक्तसंचरण पर कार्य किया। तदुपरांत उसके शिष्य हार्वी (सन् १५७८-१६५७) ने इन परिणामों का अध्ययन कर आयुर्विज्ञानजगत् की बड़ी समृद्धि की। उसी ने रुधिरपरिवहन का पता लगाया, जो आधुनिक आयुर्विज्ञान का आधार है। इसी काल में शरीरशास्त्र तथा शरीर-क्रिया-विज्ञान का आधुनिक रूप प्राप्त हुआ। सूक्ष्मदर्शक यंत्र (माइक्रॉस्कोप) के आविष्कार ने भी कई कठिनाइयों को हल करने में सहायता दी तथा कई भ्रम दूर किए। १७वीं शताब्दी से इस यंत्र के कारण कई बातों का पता चला।

शरीर रसायन—राबर्ट बाएल (सन् १६२७-९१) ने प्राचीन आधारहीन धारणाओं को नष्ट कर आयुर्विज्ञान को आधुनिक रूपरेखा दी। १६६२

ई० में रेने डेकार्ट ने शरीर-क्रिया-विज्ञान पर डिहोमीन नामक प्रथम पाठ्यपुस्तक रची। क्षार पर लाइडेन (निदरलैंड) के सिलवियस (सन् १६१४-७२) का कार्य भी बहुत सराहनीय रहा। इन्होंने सर्वप्रथम वैज्ञानिक तरीकों से पाचक रसों का विश्लेषण किया। हरमान बूरहावे (सन् १६६८-१७३८) ने १८वीं शताब्दी में शरीररसायन पर उल्लेखनीय कार्य किया। बूरहावे को उस समय आयुर्विज्ञान में सर्वोच्च पद प्राप्त था। इन्होंने प्रयोगशालाओं का निर्माण किया तथा प्रायोगिक शिक्षा की ओर ध्यान आकर्षित किया। उचित रूप की वैज्ञानिक शालाओं को जन्म देने में इनका बड़ा सहयोग था। इन्होंने एडिनबरा के आयुर्विज्ञान विद्यालय को जन्म दिया। स्विट्ज़रलैंड के अलब्रेख्ट फोन हालर (सन् १७०८-७७) ने श्वसनक्रिया, अस्थि-निर्माण-क्रिया, भ्रूणवृद्धि तथा पाचनक्रिया, मांसपेशियों के कार्य एवं नाड़ीतंतुओं का सूक्ष्म अध्ययन किया। इन सबका वर्णन इन्होंने अपनी "शरीर-क्रिया-विज्ञान के तत्व" नामक पुस्तक में किया। पाचन क्रिया एवं भोजन के जारण की क्रिया पर सिलवियस के पश्चात् फ्रेंच वैज्ञानिक रेओम्यूर (सन् १६८३-१७५७), इटली के स्पालानज़ानी (सन् १७२९-९९) तथा इंग्लैंडवासी प्राउट (सन् १७८५-१८५०) का कार्य सराहनीय है। प्राणिविद्युत् के क्षेत्र में इटालियन गैलवैनी (सन् १७३७-९८), स्कॉटलैंड निवासी ब्लैक (सन् १७२८-९९) एवं अंग्रेज प्रीस्टले (सन् १७३३-१८०४) ने कार्य किया। १७९१ ई० में गैलवैनी ने दिखाया कि विद्युद्धारा से मांसपेशियों में संकोच होता है। १८वीं शताब्दी में रसायनशास्त्र के विस्तार के साथ साथ शरीररसायन भी प्रगति कर सका। आक्सिजन का आविष्कार तथा प्राणियों से उसका संबंध फ्रांस के रासायनिक लेवाज़्ये (सन् १७४३-९४) ने स्थापित किया।

विकृत शरीर एवं निदानशास्त्र—१८वीं शताब्दी के आरंभ में कुछ मरणोत्तर-शवपरीक्षाओं द्वारा शरीरों का अध्ययन हुआ। व्याधि संबंधी ज्ञान में आशातीत उन्नति हुई। अवयवों का सूक्ष्म निरीक्षण कर इनका व्याधि से संबंध स्थापित किया गया। पैडुआ (इटली) में ५६ वर्ष तक अध्यापन करनेवाले मोरगान्यि (सन् १६८२-१७७१) का कार्य इस क्षेत्र में सर्वोच्च रहा।

निदान के लिये इस युग में नाड़ीपरीक्षा को महत्व दिया गया एवं तापमापक यंत्र की भी रचना की गई। वायना में लियोपोल्ड औएनब्रूगर (सन् १७२२ से १८७०) ने अभिताडन (परकशन) विधि तथा आर० टी० एच० लेनेक (सन् १७८१-१८२६) ने संश्रवणक्रिया (ऑस्कुलेशन) का आविष्कार १८वीं शताब्दी के अंत में किया। लेनेक ने १८१९ ई० में प्रथम उरश्श्रवणयंत्र (स्टिथस्कोप) की रचना कर निदानशास्त्र को सुसज्जित किया।

इसी युग से निदान में रोगियों का अवलोकन, स्पर्श, अभिताडन तथा अवयवों के श्रवण आदि क्रियाओं का प्रचार हुआ। इस अध्ययन के पश्चात् भेषजशास्त्र तथा शल्यचिकित्सा में बड़ा विकास हुआ।

शल्य तथा स्त्रीरोगचिकित्सा—१८वीं शताब्दी में स्वस्थ तथा व्याधिकीय शरीर-रचना-विज्ञान के विकास ने इस शल्यचिकित्सा की उन्नति में भी अधिक योग दिया। कई शल्ययंत्रों का निर्माण हुआ। प्रसूति में चिकित्सक विलियम हंटर (सन् १७१८-८३) ने प्रथम बार संदंशिका (फ़ॉरसेप्स) का उपयोग किया। इनके भाई जान हंटर ने इस क्षेत्र में अन्य सराहनीय कार्य किए और आयुर्विज्ञान के संग्रहालयों का निर्माण कर उनका महत्व दर्शाया। सर विलियम पेटी (सन् १६२३-८७) द्वारा आयुर्विज्ञान के अन्वेषणों को दर्शित करने का नवीन मार्ग बताया गया और जन्म, मृत्यु तथा विविध रोगों से पीड़ितों की संख्याओं का पता लगाया गया। इसे जीवनांक (वाइटल स्टैटिस्टिक्स) नाम दिया गया। इसी काल से जीवन और मरण का ब्योरा बनाया जाने लगा। इस तरह के अध्ययन ने व्याधिरोधक कार्यों की सफलता पर बहुत प्रकाश डाला। सर्वप्रथम इस कार्य का प्रारंभ इंग्लैंड में बंदियों से हुआ; तदुपरांत जब इसकी महत्ता का ज्ञान हुआ, तब इसका विस्तार जनसाधारण में भी हो सका। सर जान प्रिंगिल (सन् १७०७-८२) एवं जेम्स लिंड (सन् १७१६-९४) ने मोतीझिरा तथा उष्ण देशों में होनेवाली व्याधियों का अध्ययन किया।

जनस्वास्थ्य में सुधार—विज्ञान एवं संस्कृति की उन्नति के साथ साथ यंत्रयुग में कारखानों तथा श्रमिकों के विकास से श्रमिकों के स्वास्थ्य पर भी ध्यान दिया जाने लगा और मलेरिया (जूड़ी) आदि कई व्याधियों से छुटकारा पाने के उपाय खोज निकाले गए।

इंग्लैंड में सन् १७९२ ई० में जो विधान बने उनके कारण बड़े नगरों में स्वच्छता आदि पर पर्याप्त ध्यान दिया जाने लगा।

औषधालयों का विकास—चिकित्सा की आवश्यकताओं के कारण वैज्ञानिक रूप से स्वच्छता पर ध्यान रखते हुए उत्तम अस्पतालों का निर्माण १८वीं शताब्दी के मध्य से होना आरंभ हुआ। परिचारिकाओं की व्यवस्था से भी अस्पताल बहुत जनप्रिय बन गए और विशेष उन्नति कर सके।

रोगप्रतिरोध के लिये टीके का विकास—यह कार्य १८वीं शताब्दी से आरंभ हुआ। सर्वप्रथम १७९६ ई० में एडवर्ड जेनर ने चेचक की बीमारी का अध्ययन कर उसके प्रतिरोध के हेतु टीके का आविष्कार किया। धार्मिक एवं अन्य बाधाओं के कारण कुछ समय तक इसका प्रचार न हो सका, किंतु इसके पश्चात् टीके की व्याधिरोधक शक्ति पर सबका ध्यान गया और धीरे धीरे टीका लगवाने की प्रथा बढ़ी। फ्रांस के लुई पास्चर (सन् १८२२-९५), लार्ड लिस्टर (सन् १८२७-१९१२), राबर्ट कोख (सन् १८४३-१९१०), एमिल फान बेरिंग (सन् १८५४-१९१७) आदि वैज्ञानिकों का कार्य इस क्षेत्र में सराहनीय रहा।

१९वीं तथा २०वीं शताब्दी में शरीरविज्ञान के सूक्ष्म अध्ययन की प्रेरणा मिली तथा तंतुओं की रचना पर भी प्रकाश डाला गया।

जर्मनों ने १९वीं शताब्दी में शरीर-क्रिया-विज्ञान के क्षेत्र में कई उल्लेखनीय कार्य किए। फ्रांस ने भी इस कार्य में सहयोग दिया। इस देश के विद्वान् क्लाड बरनार्ड (सन् १८१३-७८) के कार्य इस क्षेत्र में सराहनीय रहे। उसने शरीर को एक यंत्र मानकर उसके विभिन्न अवयवों के कार्यों का, जैसे यकृत के कार्यों तथा रक्तसंचालन एवं पाचनक्रिया संबंधी कार्यों का, सूक्ष्म अन्वेषण किया। इसी क्षेत्र में मुलर (सन् १८०१-५८) ने एक पाठ्यपुस्तक की रचना की, जिससे इस शास्त्र की उन्नति में बहुत सहायता मिली।

फान लीबिग (सन् १८०३-७३) ने शरीररसायन में आविष्कार किए। उनकी खोजों में यूरिया को पहचानने तथा मापन की विधि, पदार्थ की परिभाषा, जारणक्रिया तथा उससे उत्पन्न ताप, नेत्रजनचक्र आदि प्रमुख हैं।

१८४० ई० में शरीर की कोशिकाओं (सेल्स) का पता चला। जीवद्रव्य (प्रोटोप्लाज्म) पर भी बहुत खोज हुई। रूडोल्फ फिर्शो (सन् १८२१-१९०२) ने रक्त के श्वेत कणों के कार्यों पर प्रकाश डाला। इसने कैंसर आदि व्याधियों के संबंध में भी बहुत अन्वेषण किए।

कीटाणु तथा व्याधि—१९वीं शताब्दी के प्रारंभ में यह आभास हुआ कि कुछ व्याधियाँ कीटाणुओं के आक्रमणों से संबंध रखती हैं। फ्रांस के लुई पास्चर (सन् १८२२-९५) ने इसकी पुष्टि के हेतु कई उल्लेखनीय प्रयोग किए। राबर्ट कोख (सन् १८४३-१९१०) ने कीटाणुशास्त्र को अस्तित्व देकर इस क्षेत्र में बड़ा कार्य किया। यक्ष्मा, हैजा आदि के कीटाणुओं का अन्वेषण किया तथा अनेक प्रकार के कीटाणुओं को पालन की विधियों तथा उनके गुणों का अध्ययन किया। भारत की इंडियन मेडिकल सर्विस के सर रोनाल्ड रॉस (सन् १८५७-१९३२) ने मलेरिया पर सराहनीय कार्य किया। इस रोग के कीटाणुओं के जीवनचक्र का ज्ञान प्राप्त किया तथा उसके विस्तारक ऐनोफेलीज़ मच्छड़ का अध्ययन किया। सन् १८९३ में अत्यंत सूक्ष्म विषाणुओं (वाइरस) का ज्ञान हुआ। तदुपरांत इस क्षेत्र में भी आशातीत उन्नति हुई। विषाणुओं से उत्पन्न अनेक व्याधियों, उनके लक्षणों और उनकी रोकथाम के उपायों का पता लगाया गया तथा इन रोगों का सामना करनेवाली शारीरिक शक्ति की रीति भी खोजी गई। फान बेरिंग (सन् १८५४-१९१७) का कार्य इस क्षेत्र में सराहनीय रहा।

गत पचीस वर्षों में जीवाणुद्वेषी द्रव्यों (ऐंटीबायोटिक्स), जैसे सल्फ़ानिलैमाइड, सल्फ़ाथायाज़ोल इत्यादि तथा पेनिसिलिन, स्ट्रेप्टोमाइसिन आदि से फुफ्फुसार्ति (न्यूमोनिया), रक्तपूतिता (सेप्टिसीमिया), क्षय (थाइसिस) आदि भयंकर रोगों पर भी नियंत्रण शक्य हो गया है।

उपसंहार—आयुर्विज्ञान के इतिहास के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि इसका प्रादुर्भाव अति प्राचीन है। निरंतर मनुष्य व्याधियों तथा उनसे मुक्त होने के उपायों पर विचार तथा अन्वेषण करता आया है। विज्ञान एवं उसकी विभिन्न शाखाओं के विकास के साथ साथ आयुर्विज्ञान भी अपनी दिशा में द्रुत गति से आगे की ओर बढ़ता चल रहा है।

सं०ग्रं०—अथर्ववेदसंहिता, स्वाध्यायमंडल, औंध (१९४३); चरकसंहिता, गुलाब कुँवर बा आयुर्वेदिक सोसायटी, जामनगर (१९४९); सुश्रुतसंहिता, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस; गिरींद्रनाथ मुखोपाध्याय : हिस्ट्री ऑव इंडियन मेडिसिन, कलकत्ता विश्वविद्यालय (१९२३); ई०बी० क्रुमभार : ए हिस्ट्री ऑव मेडिसिन (१९४७); महेंद्रनाथ शास्त्री: आयुर्वेद का संक्षिप्त इतिहास (हिंदी ज्ञानमंदिर लिमिटेड, बंबई, १९४८); सी० सिंगर : शॉर्ट हिस्ट्री ऑव मेडिसिन (१९४४)। [दे० सिं०]

आयुर्विज्ञान में भौतिकी

प्रयोगों से पता चलता है कि भौतिकी (फ़िज़िक्स) के नियमों का पालन मानव शरीर में भी होता है। उदाहरणत:, मनुष्यों को विशेष उष्मामापी में रखकर जब यह नापा गया कि शरीर में कितनी गरमी उत्पन्न होती है और हिसाब लगाया गया कि आहार का जितना अंश पचता है उतने को जलाने से कितनी गरमी उत्पन्न हो सकती थी और जब इसपर भी ध्यान रखा गया कि पसीना सूखने में कितनी ठंढक उत्पन्न हुई होगी, तब स्पष्ट पता चला कि शरीर की सारी ऊर्जा (गरमी और काम करने की शक्ति) आमाशय और आंत्र में आहार के पाचन तथा उपचयन (ऑक्सिडाइज़ेशन) से उत्पन्न होती है; शरीर में ऊर्जा का कोई गुप्त भांडार नहीं है।

विविध पदार्थों के घोलों का गुण उनमें वर्तमान हाइड्रोजन आयनों की सांद्रता पर निर्भर रहता है। अम्लता और क्षारता भी इन्हीं आयनों पर निर्भर हैं। यदि रुधिर में इन आयनों की सांद्रता बहुत घट बढ़ जाय तो शारीरिक क्रियाओं में बहुत अंतर पड़ जायगा। परंतु प्रयोगों से पता चलता है कि रुधिर में वर्तमान कारबोनेटों और फास्फेटों के कारण अम्ल अथवा क्षार अधिक आ जाने पर भी रुधिर में हाइड्रोजन आयनों की सांद्रता नहीं बदलती और इसलिये शरीर की क्रियाएँ अति विभिन्न दशाओं में भी ठीक होती रहती हैं।

मनुष्य का शरीर विविध प्रकार की नन्हीं नन्हीं कोशिकाओं (सेलों) से बना है। प्रयोगों से पता चलता है कि इन कोशिकाओं के आवरण को नमक, ग्लूकोज़ आदि नहीं पार कर सकते। यदि ऐसा न होता तो उनके बाहर के द्रव में नमक, ग्लूकोज़ आदि की कमी बेशी होने पर कोशिकाएँ भी फूलती पिचकती रहतीं।

साधारण घोलों की अपेक्षा कलिल (कलॉयडल) घोलों का प्रभाव शरीर पर बहुत धीरे धीरे पड़ता है। इस बात के आधार पर कलिल घोल के रूप में ऐसी ओषधियाँ बनी हैं जो एक बार शरीर में प्रवृष्ट होने पर बहुत समय तक अपना काम करती रहती हैं।

मांसपेशियों और स्नायुओं को शरीर से बाहर नमक के घोलो में रखकर उनपर अनेक प्रयोग किए गए हैं। उनपर बिजली की न्यून मात्राओं का प्रभाव नापा गया है। उनके जीवित रहने की परिस्थितियों का पता भी लगाया गया है। यह सिद्ध हो चुका है कि मांसपेशियाँ और स्नायुओं के जीवित रहने के लिये उपचयन (आक्सिजन से संयोग) आवश्यक है। यह भी सिद्ध हुआ है कि स्नायुओं में उत्तेजना का संचलन विद्युतीय घटना है।

भौतिकी में विविध प्रकार की विद्युत्तरंगों का अध्ययन होता है। उत्तरोत्तर घटती तरंग के अनुसार ये हैं रेडियो तरंगें, अवरक्त (इन्फ़ारेड) रश्मियाँ, प्रकाश, पराकासनी (अल्ट्रावायलेट) रश्मियाँ, एक्स-किरण और रेडियम से निकलनेवाली रश्मियाँ। इनमें से अनेक प्रकार की तरंगों का उपयोग आयुर्विज्ञान में किया गया है। कुछ से केवल सेंकने का काम लिया जाता है, कुछ से त्वचा के रोग अच्छे होते हैं, कुछ उचित मात्रा में दी जाने पर शरीर के भीतर घुसकर अवांछनीय जीवाणुओं का नाश करती हैं, यद्यपि अधिक मात्रा में दी जाने पर वे शरीर की कोशिकाओं को भी नष्ट कर सकती हैं।

भौतिकी के उपयोग के अन्य उदाहरण **शरीर-क्रिया-विज्ञान, स्वास्थ्य-विज्ञान और एक्स-रे चिकित्सा** शीर्षक लेखों में मिलेंगे। [मु० स्व० व०]

आयुर्विज्ञान-शिक्षा

ऐब्रैहम फ्लेक्सनर का कथन है कि प्राचीन काल से आयुर्विज्ञान में अंधविश्वास, प्रयोग तथा उस प्रकार के निरीक्षण का जिससे अंत में विज्ञान का निर्माण होता है, विचित्र मिश्रण रहा है। ये तीनों सिद्धांत आज भी कार्य कर रहे हैं, यद्यपि उनका अनुपात अब बदल गया है।

उत्तर-वैदिक-काल (६०० ई० पू० से सन् २०० ई० तक) के भारत के लिखित इतिहास से पता चलता है कि आयुर्विज्ञान की शिक्षा तक्षशिला तथा नालंद के महाविद्यालयों में दी जाती थी। पीछे ये महाविद्यालय नष्ट हो गए और राजनीतिक अवस्था में परिवर्तन होने के साथ यूनानी तथा पश्चिमी (यूरोपीय) आयुर्वैज्ञानिक रीतियों का इस देश में प्रवेश हुआ।

ब्रिटिश भारत में सर्वप्रथम आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय सन् १८२२ में स्थापित हुआ। इसके पश्चात् सन् १८३५ में दो आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय, एक कलकत्ता में तथा दूसरा मद्रास में, स्थापित हुए। इंग्लैंड के रॉयल कालेज ऑव सर्जन्स ने सन् १८४५ में इन्हें पहले पहल मान्यता दी। इस समय से लेकर सन् १९३३ तक आयुर्विज्ञान की शिक्षा का विकास जेनरल मेडिकल काउंसिल ऑव युनाइटेड किंग्डम की देखरेख में होता रहा।

सन् १९३३ में भारतीय संसद ने "इंडियन मेडिकल काउंसिल ऐक्ट" स्वीकार किया। इसके अनुसार भारत के सब प्रांतों के लिये आयुर्विज्ञान में उच्च योग्यता के एकसमान, अल्पतम मानक स्थिर करने के विशिष्ट उद्देश्य से मेडिकल काउंसिल ऑव इंडिया का संगठन हुआ।

सन् १९३५ के सुझावों के अनुसार जीवविज्ञान (बाइऑलोजी) के साथ इंटरमीडिएट परीक्षा में उत्तीर्ण होने के अनंतर आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय में पाँच वर्ष तक अध्ययन का समय नियत किया गया। इसके अंतिम तीन वर्षों को रुग्णालयों में जाकर रोगियों की परीक्षा आदि में व्यतीत करने का निर्देश था। सन् १९५२ के प्रस्तावों ने जीवविज्ञान के साथ इंटरमीडिएट परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् विद्यालय में अध्ययन करने के कुल समय को बढ़ाकर साढ़े पाँच वर्ष कर दिया है। इसमें से डेढ़ वर्ष तो रुग्णालयों के कार्यक्रम के परिचय के साथ साथ आधारभूत वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन के लिये है तथा तीन वर्ष रुग्णालयों में क्रियात्मक कार्य के लिये। अंतिम परीक्षा के पश्चात् १२ मास के लिये परीक्षोत्तर शिक्षा की विशेष व्यवस्था की गई है। इस अवधि में विद्यार्थी को विश्वविद्यालय अथवा मेडिकल काउंसिल से मान्यताप्राप्त मेडिकल अधिकारी या डाक्टर की अधीनता में कार्य करना पड़ता है। इस एक वर्ष के काल में तीन मास लोकस्वास्थ्य (पब्लिक हेल्थ) के कार्यों में, अधिकतर देहात में, बिताना पड़ता है।

रुग्णालय विषयक अध्ययनकाल में, अर्थात् तीसरे, चौथे तथा पाँचवें वर्षों में, प्रत्येक विद्यार्थी को कम से कम पाँच रोगियों के कुल ब्योरों का लेखा तैयार करने अथवा शल्यचिकित्सा के उपरांत पट्टी बाँधने के कार्य का संपूर्ण उत्तरदायित्व उठाना पड़ता है।

जैसा उचित है, काउंसिल ने शिक्षणकाल में उपदेशात्मक व्याख्यानों की तुलना में क्रियात्मक (व्यावहारिक) शिक्षा पर अधिक बल दिया है। सन् १९५६ के इंडियन मेडिकल काउंसिल अधिनियम ने काउंसिल को स्नातकोत्तर आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा के संबंध में अधिक वैधानिक शक्ति प्रदान की है तथा स्नातकोत्तर आयुर्वैज्ञानिक शिक्षासमिति (पोस्ट ग्रैजुएट मेडिकल एडुकेशन कमिटी) की स्थापना का निर्देश भी किया है।

वर्तमान काल में भारत में लगभग ५४ आयुर्वैज्ञानिक (मेडिकल) कालेज हैं, जो ५,००० से अधिक विद्यार्थियों को प्रति वर्ष बैचलर ऑव मेडिसिन तथा बैचलर ऑव सर्जरी (एम० बी० बी० एस०) की उपाधि के लिये शिक्षा देते हैं। अनेक आयुर्वैज्ञानिक कॉलेजों में डॉक्टर ऑव मेडिसिन (एम० डी०), मास्टर ऑव सर्जरी (एम० एस०) तथा अन्य उपाधियों के लिये स्नातकोत्तर शिक्षा की सुविधाएँ भी हैं।

इन संस्थाओं के अतिरिक्त इसका भी प्रयत्न किया गया है कि आयुर्विज्ञान की प्राचीन भारतीय प्रणाली की उन्नति की जाय। प्राचीन भारतीय पद्धति की प्रथम पाठशाला सन् १९२४ में मद्रास में स्थापित की गई। वर्तमान समय में इस देश में ७५ से कुछ अधिक विद्यालय हैं जो विविध प्राचीन आयुर्वैज्ञानिक पद्धतियों की शिक्षा देते हैं। परंतु विद्यार्थियों को इन विद्यालयों की शिक्षाप्रणाली के प्रति बहुत असंतोष है। इस त्रुटि को दूर करने के लिये काशी हिंदू विश्वविद्यालय ने एम० बी० बी० एस० का एक नवीन पाठ्यक्रम निर्धारित किया है जो जीवविज्ञान लेकर इंटरमीडियेट परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद छः वर्षों तक चलेगा। इस प्रणाली में आयुर्वेद (प्राचीन भारतीय पद्धति) का भी कुछ आवश्यक परिचय दिया जायगा। इस नवीन पाठ्यक्रम का प्रभाव देश की आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा पर बहुत बड़ी मात्रा में

पड़ेगा। इसका उद्देश्य यह है कि आयुर्विज्ञान की भारतीय और पाश्चात्य दोनों प्रणालियों का फलप्रद एकीकरण हो।

भारत में आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा के क्षेत्र में अभी बहुत कुछ करना शेष है और यदि हम प्राचीन आयुर्विज्ञान का नवीन वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने की चेष्टा शीघ्र करें तो हम आयुर्विज्ञान के ज्ञान में संभवतः महत्वपूर्ण वृद्धि कर सकते हैं।

यूनाइटेड किंगडम (इंग्लैंड, स्कॉटलैंड आदि)—ग्रेट ब्रिटेन की जेनरल मेडिकल काउंसिल (व्यापक आयुर्वैज्ञानिक परिषद्) १८५८ ई० के आयुर्वैज्ञानिक विनियम (ऐक्ट) के अनुसार स्थापित की गई थी। उस समय चिकित्सकों के मन में यह भ्रांति थी कि आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा का ध्येय 'अहानिकर, सामान्य चिकित्सक' उत्पन्न करना था। २०वीं शताब्दी में ग्रेट ब्रिटेन में आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा का ध्येय धीरे धीरे बदलकर ऐसा "मौलिक (बेसिक) चिकित्सक" उत्पन्न करना हो गया, जिसमें यह योग्यता हो कि वह इच्छानुसार आयुर्विज्ञान की किसी भी शाखा में विशेषज्ञ बन सके। यूनाइटेड किंगडम में मौलिक उपाधि एम० बी० बी० एस० की है, जिसका अर्थ है मेडिसिन (भेषजविज्ञान) का स्नातक और सर्जरी (शल्यचिकित्सा) का स्नातक। इसके बदले एल० आर० सी० पी० और एम० आर० सी० एस० की भी वैकल्पिक उपाधियाँ हैं। इन अक्षरों का अर्थ है चिकित्सकों अथवा शल्यशास्त्रियों के रॉयल कॉलेज (राजविद्यालय) का उपाधिप्राप्त (लाइसेंशियेट) अथवा सदस्य (मेंबर)। यूनाइटेड किंगडम में स्नातकोत्तर उपाधियाँ एम० डी० (चिकित्सापंडित) अथवा एम० एस० (शल्य-चिकित्सा-पंडित) और एफ़० आर० सी० एस० (शल्यचिकित्सकों के रॉयल कॉलेज का सदस्य) अथवा एम० आर० सी० पी० (चिकित्सकों के रॉयल कॉलेज का सदस्य) हैं।

अमरीका के संयुक्त राज्य—अमरीकन मेडिकल ऐसोसियेशन (अमरीकी आयुर्वैज्ञानिक संघ) सन् १८४७ में स्थापित हुआ था। इसका उद्देश्य आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा के स्तर का उत्थान था। आज वहाँ ७८ पूर्ण सज्जित आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय हैं जिनमें २८,७४८ छात्र पढ़ते हैं और ६,८४५ चिकित्सक प्रति वर्ष उत्तीर्ण होते हैं। चिकित्सकों और जनता का अनुपात संयुक्त राज्य (अमरीका) में लगभग १ : १००० है। विश्व में अमरीका के आयुर्वैज्ञानिक विद्यालयों की बड़ी ख्याति है। चिकित्सकों की शिक्षा में विज्ञान को समुचित महत्व दिया जाता है। विद्यार्थी अपने मन का विषय स्वतंत्रता से चुन सकता है। विद्यालय में भरती होने के पहले उसे विज्ञान का स्नातक होना आवश्यक है। शिक्षा के अंत पर सबको एम० डी० (चिकित्सापंडित) की उपाधि मिलती है। स्नातकोत्तर उपाधियाँ एफ़० ए० सी० एस० और एफ़० ए० सी० पी० हैं। ये उपाधियाँ विशेषज्ञों के विद्यालयों द्वारा दी जाती हैं।

रूस—रूस (यूनियन ऑव सोशल ऐंड सोवियट रिपब्लिक्स) में आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा का विकास वस्तुतः सी० पी० एस० यू० (बी) के १७ वें अधिवेशन के संमुख स्टैलिन के प्रसिद्ध व्याख्यान के बाद हुआ। १९४५ ई० में रूस की आयुर्वैज्ञानिक परिषद् (ऐकेडेमी) स्थापित हुई। इसके पहले सन् १९३४ से विज्ञानपंडित और विज्ञानजिज्ञासु की उपाधियाँ थीं। वर्तमान समय में वहाँ ८० से कुछ ऊपर ही आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय हैं, जहाँ हजारों विद्यार्थी और विद्यार्थिनियाँ पढ़ती हैं। आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय में भरती होने के लिये मैट्रिकुलेशन का प्रमाणपत्र आवश्यक है। सब विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति मिलती है। दूर से आए विद्यार्थियों के लिये छात्रावास में रहने का भी प्रबंध रहता है। सन् १९४५ तक आयुर्वैज्ञानिक पाठ्यक्रम पाँच वर्षों में समाप्त होता था, परंतु उसके बाद से छः वर्ष तक पढ़ाई होने लगी। क्रियात्मक अनुभव पर विशेष ध्यान दिया जाता है। प्रत्येक विद्यार्थी को प्रति वर्ष एक निश्चित कार्यक्रम दिया जाता है, जिसे अस्पतालों और रुग्णालयों में अनुभवी विशेषज्ञों की देखरेख में उसे पूरा करना पड़ता है। वर्तमान समय में रूस में लगभग दो लाख डाक्टर और कई लाख सहायक हैं जिन्हें 'फ़ेल्डशर' कहा जाता है।

चीन—यहाँ ध्येय यह है कि कम समय में अधिक डाक्टर तैयार हों। आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा की अवधि यहाँ पाँच वर्ष है। आयुर्वैज्ञानिक विद्यालयों की संख्या ३५ है और इनमें लगभग ८,५०० विद्यार्थी प्रति वर्ष भरती होते हैं। वर्तमान समय में आयुर्विज्ञान की पाश्चात्य प्रणाली के ७०,००० डाक्टर हैं और देश की प्राचीन प्रणाली के लगभग ३,००,००० चिकित्सक हैं। प्राचीन प्रणाली के इन चिकित्सकों को छूतवाले रोगों से बचने की आधुनिक रीतियों की शिक्षा दे दी गई है। रूस की ही भाँति चीन के आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय विश्वविद्यालयों से पूर्णतया विभिन्न हैं। आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा अत्यंत प्राविधिक शिक्षा हो चली है। चीन का विद्यार्थी आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय में १७ वर्ष की आयु में भरती होता है और इसके पहले उसे भौतिकी, रसायन, समाजशास्त्र, चीनी साहित्य और राजनीतिविज्ञान में सरकारी परीक्षा उत्तीर्ण करनी पड़ती है। पीकिंग के विद्यालयों में छात्राओं की संख्या कुल की ४४ प्रति शत बताई जाती है। कहा जाता है कि ८० प्रति शत परीक्षा मौखिक होती है और केवल २० प्रति शत लिखित।

अंत में इसपर बल देना आवश्यक है कि सारे विश्व में आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा में बराबर अनेक परिवर्तन होते रहते हैं और अब यह नितांत आवश्यक हो गया है कि भारत भी विज्ञान के इस शक्तिशाली क्षेत्र में समुचित कार्य करे। [क० न० उ०]

आयुर्वेद और आयुर्विज्ञान दोनों ही चिकित्साशास्त्र हैं, परंतु व्यवहार में प्राचीन भारतीय ढंग को आयुर्वेद कहते हैं और ऐलोपैथिक (जनता की भाषा में 'डाक्टरी') प्रणाली को आयुर्विज्ञान का नाम दिया जाता है। आयुर्वेद का अर्थ प्राचीन आचार्यों की व्याख्या और इसमें आए हुए 'आयु और वेद' इन दो शब्दों के अर्थों के अनुसार बहुत व्यापक है। आयुर्वेद के आचार्यों ने 'शरीर, इंद्रिय, मन तथा आत्मा के संयोग' को आयु कहा है। अर्थात् जब तक इन चारों का संयोग रहता है उस काल को आयु कहते हैं। इन चारों की संपत्ति (साद्गुण्य) या विपत्ति (वैगुण्य) के अनुसार आयु के अनेक भेद होते हैं, किंतु संक्षेप में प्रभावभेद से इसे चार प्रकार का माना गया है : (१) सुखायु : किसी प्रकार के शारीरिक या मानसिक विकार से रहित होते हुए, ज्ञान, विज्ञान, बल, पौरुष, धन, धान्य, यश, परिजन आदि साधनों से समृद्ध व्यक्ति को 'सुखायु' कहते हैं। (२) इसके विपरीत समस्त साधनों से युक्त होते हुए भी, शारीरिक या मानसिक रोग से पीड़ित अथवा नीरोग होते हुए भी साधनहीन या स्वास्थ्य और साधन दोनों से हीन व्यक्ति को 'दुःखायु' कहते हैं। (३) हितायु : स्वास्थ्य और साधनों से संपन्न होते हुए या उनमें कुछ कमी होने पर भी जो व्यक्ति विवेक, सदाचार, सुशीलता, उदारता, सत्य, अहिंसा, शांति, परोपकार आदि गुणों से युक्त होते हैं और समाज तथा लोक के कल्याण में निरत रहते हैं उन्हें हितायु कहते हैं। (४) इसके विपरीत जो व्यक्ति अविवेक, दुराचार, क्रूरता, स्वार्थ, दंभ, अत्याचार आदि दुर्गुणों से युक्त और समाज तथा लोक के लिये अभिशाप होते हैं उन्हें अहितायु कहते हैं। इस प्रकार हित, अहित, सुख और दुःख, आयु के ये चार भेद हैं। इसी प्रकार कालप्रमाण के अनुसार भी दीर्घायु, मध्यायु और अल्पायु, संक्षेप में ये तीन भेद होते हैं। वैसे इन तीनों में भी अनेक भेदों की कल्पना की जा सकती है।

'वेद' शब्द के भी सत्ता, लाभ, गति, विचार, प्राप्ति और ज्ञान के साधन, ये अर्थ होते हैं, और आयु के वेद को आयुर्वेद (नॉलेज ऑव सायन्स ऑव लाइफ़) कहते हैं। अर्थात् जिस शास्त्र में आयु के स्वरूप, आयु के विविध भेद, आयु के लिये हितकारक और अहितकारक आहार, आचार, चेष्टा आदि विषयों का, आयु के प्रमाण और अप्रमाण तथा उनके ज्ञान के साधनों का एवं आयु के उपादानभूत शरीर, इंद्रिय, मन और आत्मा, इनमें सभी या किसी एक के विकास के साथ हित, सुख और दीर्घ आयु की प्राप्ति के साधनों का तथा इनके बाधक विषयों के निराकरण के उपायों का विवेचन हो उसे आयर्वेद कहते हैं। किंतु आजकल आयुर्वेद 'प्राचीन भारतीय चिकित्सापद्धति' इस संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होता है।

प्रयोजन या उद्देश्य—आयर्वेद के दो उद्देश्य होते हैं :

(१) स्वस्थ व्यक्तियों के स्वास्थ्य की रक्षा करना : इसके लिये अपने शरीर और प्रकृति के अनुकूल देश काल आदि का विचार कर नियमित आहार विहार, चेष्टा, व्यायाम, शौच, स्नान, शयन, जागरण आदि गृहस्थ जीवन के लिये उपयोगी शास्त्रोक्त दिनचर्या, रात्रिचर्या एवं ऋतुचर्या का पालन करना, संकटमय कार्यों से बचना, प्रत्येक कार्य विवेकपूर्वक करना,

मन और इंद्रिय को नियंत्रित रखना, देश काल आदि परिस्थितियों के अनुसार अपने शरीर आदि की शक्ति और अशक्ति का विचार कर कोई कार्य करना, मल मूत्र आदि के उपस्थित वेगों को न रोकना, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, अहंकार आदि से बचना, समय समय पर शरीर में संचित दोषों को निकालने के लिये वमन विरेचन आदि के प्रयोगों से शरीर की शुद्धि करना, सदाचार का पालन करना और दूषित वायु, जल, देश और काल के प्रभाव से उत्पन्न महामारियों (जनपदोद्ध्वंसनीय व्याधियों, एपिडेमिक डिजीज़ेज) में विज्ञ चिकित्सकों के उपदेशों का समुचित रूप से पालन करना, स्वच्छ और विशोधित जल, वायु, आहार आदि का सेवन करना और दूसरों को भी इसके लिये प्रेरित करना, ये स्वास्थ्यरक्षा के साधन हैं।

(२) रोगी व्यक्तियों के विकारों को दूर कर उन्हें स्वस्थ बनाना : इसके लिये प्रत्येक रोग के हेतु (कारण), लिंग—रोग परिचायक विषय, जैसे पूर्वरूप, रूप (साइंस ऐंड सिंप्टम्स), संप्राप्ति (पैथोजेनिसिस) तथा उपशयानुपशय (थिराप्युटिक टेस्ट्स)—और औषध का ज्ञान परमावश्यक है। ये तीनों आयुर्वेद के 'त्रिस्कंध' (तीन प्रधान शाखाएँ) कहलाते हैं। इसका विस्तृत विवेचन आयुर्वेद ग्रंथों में किया गया है। यहाँ केवल संक्षिप्त परिचय मात्र दिया जायगा। किंतु इसके पूर्व आयु के प्रत्येक संघटक का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है, क्योंकि संघटकों के ज्ञान के बिना उनमें होनेवाले विकारों को जानना संभव न होगा।

शरीर—समस्त चेष्टाओं, इंद्रियों, मन और आत्मा के आधारभूत पांचभौतिक पिंड को शरीर कहते हैं। मानव शरीर के स्थूल रूप में छः अंग हैं; दो हाथ, दो पैर, शिर और ग्रीवा एक तथा अंतराधि (मध्यशरीर) एक। इन अंगों के अवयवों को प्रत्यंग कहते हैं, जैसे—मूर्धा (हेड), ललाट, भ्रू, नासिका, अक्षिकूट (ऑर्बिट), अक्षिगोलक (आइबॉल), वर्त्म (पलक), पक्ष्म (बरुनी), कर्ण (कान), कर्णपुत्रक (ट्रैगस), शष्कुली और पाली (पिन्ना ऐंड लोब ऑव इयर्स), शंख (माथे के पार्श्व, टेंपुल्स), गंड (गाल), ओष्ठ (होंठ), सृक्कणी (मुख के कोने), चिबुक (ठुड्डी), दंतवेष्ट (मसूड़े), जिह्वा (जीभ), तालु, उपजिह्विका (टॉसिल्स), गलशुंडिका (यवुला), गोजिह्विका (एपीग्लॉटिस), ग्रीवा (गरदन), अवटुका (लैरिंग्ज़), कंधरा (कंधा), कक्षा (ऐक्सिला), जत्रु (हँसुली, कालर), वक्ष (थोरैक्स), स्तन, पार्श्व (बगल), उदर (बेली), नाभि, कुक्षि (कोख), वस्तिशिर (ग्रॉयन), पृष्ठ (पीठ), कटि (कमर), श्रोणि (पेल्विस), नितंब, गुदा, शिश्न या भग, वृषण (टेस्टीज़), भुज, कूर्पर (केहुनी), बाहुपिंडिका या अरत्नि (फ़ोरआर्म), मणिबंध (कलाई), हस्त (हथेली), अंगुलियाँ और अंगुष्ठ, ऊरु (जाँघ), जानु (घुटना), जंघा (टाँग, लेग), गुल्फ (टखना), प्रपद (फुट), पादांगुलि, अंगुष्ठ और पादतल (तलवा)। इनके अतिरिक्त हृदय, फुप्फुस (लंग्स), यकृत (लिवर), प्लीहा (प्लीन), आमाशय (स्टमक), पित्ताशय (गाल ब्लैडर), वृक्क (गुर्दा, किडनी), वस्ति (यूरिनरी ब्लैडर), क्षुद्रांत (स्मॉल इंटेस्टिन), स्थूलांत्र (लार्ज इंटेस्टिन), वपावहन (मेसेंटेरी), पुरीषाधार, उत्तर और अधरगुद (रेक्टम), ये कोष्ठांग हैं और सिर में सभी इंद्रियों और प्राणों के केंद्रों का आश्रय मस्तिष्क (ब्रेन) है।

आयुर्वेद के अनुसार सारे शरीर में ३०० अस्थियाँ हैं, जिन्हें आजकल केवल गणनाक्रमभेद के कारण दो सौ छः (२०६) मानते हैं तथा संधियाँ (ज्वाइंट्स) २००, स्नायु (लिगामेंट्स) ९००, शिराएँ (ब्लड वेसेल्स, लिंफ़ैटिक्स ऐंड नर्व्ज़) ७००, धमनियाँ (क्रेनियल नर्व्ज़) २४ और उनकी शाखाएँ २००, पेशियाँ (मसल्स) ५०० (स्त्रियों में २० अधिक) तथा सूक्ष्म स्रोत ३०,९५६ हैं।

आयुर्वेद के अनुसार शरीर में रस (बाइल ऐंड प्लाज़्मा), रक्त, मांस, मेद (फ़ैट), अस्थि, मज्जा (बोन मैरो) और शुक्र (सीमेन), ये सात धातुएँ हैं। नित्यप्रति स्वभावतः विविध कार्यों में उपयोग होने से इनका क्षय भी होता रहता है, किंतु भोजन और पान के रूप में हम जो विविध पदार्थ लेते रहते हैं उनसे न केवल इस क्षति की पूर्ति होती है, वरन् धातुओं की पुष्टि भी होती रहती है। आहाररूप में लिया हुआ पदार्थ पाचकाग्नि, भूताग्नि और विभिन्न धात्वग्नियों द्वारा परिपक्व होकर अनेक परिवर्तनों के बाद पूर्वोक्त धातुओं के रूप में परिणत होकर इन धातुओं का पोषण करता है। इस पाचनक्रिया में आहार का जो सार भाग होता है उससे रस धातु का पोषण होता है और जो किट्ट भाग बचता है उससे मल (विष्ठा) और मूत्र बनता है। यह रस हृदय से होता हुआ शिराओं द्वारा सारे शरीर में पहुँचकर प्रत्येक धातु और अंग को पोषण प्रदान करता है। धात्वग्नियों से पाचन होने पर रस आदि धातु के सार भाग से रक्त आदि धातुओं एवं शरीर का भी पोषण होता है तथा किट्ट भाग से मलों की उत्पत्ति होती है, जैसे रस से कफ; रक्त से पित्त; मांस से नाक, कान और नेत्र आदि के द्वारा बाहर आनेवाले मल; मेद से स्वेद (पसीना); अस्थि से केश तथा लोम (सिर के और दाढ़ी, मूँछ आदि के बाल) और मज्जा से आँख का कीचड़ मलरूप में बनते हैं। शुक्र में कोई मल नहीं होता, उसके सार भाग से ओज (बल) की उत्पत्ति होती है।

इन्हीं रसादि धातुओं से अनेक उपधातुओं की भी उत्पत्ति होती है, यथा रस से दूध, रक्त से कंडराएँ (टेंडंस) और शिराएँ, मांस से वसा (फ़ैट), त्वचा और उसके छः या सात स्तर (परत), मेद से स्नायु (लिगामेंट्स), अस्थि से दाँत, मज्जा से केश और शुक्र से ओज नामक उपधातुओं की उत्पत्ति होती है।

ये धातुएँ और उपधातुएँ विभिन्न अवयवों में विभिन्न रूपों में स्थित होकर शरीर की विभिन्न क्रियाओं में उपयोगी होती हैं। जब तक ये उचित परिमाण और स्वरूप में रहती हैं और इनकी क्रिया स्वाभाविक रहती है तब तक शरीर स्वस्थ रहता है और जब ये न्यून या अधिक मात्रा में तथा विकृत स्वरूप में हो जाती हैं तो शरीर में रोग की उत्पत्ति होती है।

प्राचीन दार्शनिक सिद्धांत के अनुसार संसार के सभी स्थूल पदार्थ पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच महाभूतों के संयुक्त होने से बनते हैं। इनके अनुपात में भद होने से ही उनके भिन्न भिन्न रूप होते हैं। इसी प्रकार शरीर की प्रत्येक धातु, उपधातु और मल पांचभौतिक है। परिणामतः शरीर के समस्त अवयव और अंततः सारा शरीर पांचभौतिक है। ये सभी अचेतन हैं। जब इनमें आत्मा का संयोग होता है तब उसकी चेतनता से इनमें भी चेतना आती है।

उचित परिस्थिति में शुद्ध रज और शुद्ध वीर्य का संयोग होने और उसमें आत्मा का संचार होने से माता के गर्भाशय में शरीर का आरंभ होता है। इसे ही गर्भ कहते हैं। माता के आहारजनित रक्त से अपरा (प्लैसेंटा) और गर्भनाड़ी के द्वारा, जो नाभि से लगी रहती है, गर्भ पोषण प्राप्त करता है। यह गर्भोदक में निमग्न रहकर उपस्नेहन द्वारा भी पोषण प्राप्त करता है तथा प्रथम मास में कलल (जेली) और द्वितीय में घन होता है। तीसरे मास में अंग प्रत्यंग का विकास आरंभ होता है। चौथे मास में उसमें अधिक स्थिरता आ जाती है तथा गर्भ के लक्षण माता में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगते हैं। इस प्रकार यह माता की कुक्षि में उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ जब संपूर्ण अंग, प्रत्यंग और अवयवों से युक्त हो जाता है, तब प्रायः नवें मास में कुक्षि से बाहर आकर नवीन प्राणी के रूप में जन्म ग्रहण करता है।

इंद्रिय—शरीर में प्रत्येक अंग या उसके किसी भी अवयव का निर्माण उद्देश्यविशेष से ही होता है, अर्थात् प्रत्येक अवयव के द्वारा विशिष्ट कार्यों की सिद्धि होती है, जैसे हाथ से पकड़ना, पैर से चलना, मुख से खाना, दाँत से चबाना आदि। कुछ अवयव ऐसे हैं जिनसे कई कार्य होते हैं और कुछ हैं जिनसे एक विशेष कार्य ही होता है। जिनसे कार्यविशेष ही होता है उनमें उस कार्य के लिये शक्तिसंपन्न एक विशिष्ट सूक्ष्म रचना होती है। इसी को इंद्रिय कहते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन बाह्य विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये क्रमानुसार कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये अवयव इंद्रियाश्रय अवयव (विशेष इंद्रियों के अंग) कहलाते हैं और इनमें स्थित विशिष्ट शक्तिसंपन्न सूक्ष्म वस्तु को इंद्रिय कहते हैं। ये क्रमशः पाँच हैं—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण। इन सूक्ष्म अवयवों में पंचमहाभूतों में से उस महाभूत की विशेषता रहती है जिसके शब्द (ध्वनि) आदि विशिष्ट गुण हैं; जैसे शब्द के लिये श्रोत्र इंद्रिय में आकाश, स्पर्श के लिये त्वक् इंद्रिय में वायु, रूप के लिये चक्षु इंद्रिय में तेज, रस के लिये रसनेंद्रिय में जल और गंध के लिये घ्राणेंद्रिय में पृथ्वी तत्व। इन पाँचों इंद्रियों को ज्ञानेंद्रिय कहते हैं। इनके अतिरिक्त विशिष्ट कार्यसंपादन के लिये पाँच कर्मेंद्रियाँ भी होती हैं, जैसे गमन के लिये पैर, ग्रहण के लिये हाथ, बोलने के लिये जिह्वा (गोजिह्वा), मलत्याग के लिये गुदा और मूत्रत्याग तथा संतानोत्पादन के लिये शिश्न (स्त्रियों में भग)। आयुर्वेद दार्शनिकों की भाँति इंद्रियों को आहंकारिक नहीं, अपितु भौतिक मानता है। इन इंद्रियों की

अपने कार्यों में मन की प्रेरणा से ही प्रवृत्ति होती है। मन से संपर्क न होने पर ये निष्क्रिय रहती हैं।

मन—प्रत्येक प्राणी के शरीर में अत्यंत सूक्ष्म और केवल एक मन होता है। यह अत्यंत द्रुत गतिवाला और प्रत्येक इंद्रिय का नियंत्रक होता है। किंतु यह स्वयं भी आत्मा के संपर्क के बिना अचेतन होने से निष्क्रिय रहता है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में सत्व, रज और तम, ये तीनों प्राकृतिक गुण होते हुए भी इनमें से किसी एक की सामान्यत: प्रबलता रहती है और उसी के अनुसार व्यक्ति सात्विक, राजस या तामस होता है, किंतु समय समय पर आहार, आचार एवं परिस्थितियों के प्रभाव से दूसरे गुणों का भी प्राबल्य हो जाता है। इसका ज्ञान प्रवृत्तियों के लक्षणों द्वारा होता है, यथा राग-द्वेष-शून्य यथार्थद्रष्टा मन सात्विक, रागयुक्त, सचेष्ट और चंचल मन राजस और आलस्य, दीर्घसूत्रता एवं निष्क्रियता आदि युक्त मन तामस होता है। इसीलिये सात्विक मन को शुद्ध,सत्व या प्राकृतिक माना गया है और रज तथा तम उसके दोष कहे गए हैं। आत्मा से चेतनता प्राप्त कर प्राकृतिक या सदोष मन अपने गुणों के अनुसार इंद्रियों को अपने अपने विषयों में प्रवृत्त करता है और उसी के अनुरूप शारीरिक कार्य होते हैं। आत्मा मन के द्वारा ही इंद्रियों और शरीरावयवों को प्रवृत्त करता है, क्योंकि मनही उसका करण (इंस्ट्रुमेंट) है। इसीलिये मन का संपर्क जिस इंद्रिय के साथ होता है उसी के द्वारा ज्ञान होता है, दूसरे के द्वारा नहीं। क्योंकि मन एक और सूक्ष्म होता है, अत: एक साथ उसका अनेक इंद्रियों के साथ संपर्क संभव नहीं है। फिर भी उसकी गति इतनी तीव्र है कि वह एक के बाद दूसरी इंद्रिय के संपर्क में शीघ्रता से परिवर्तित होता है, जिससे हमें यही ज्ञात होता है कि सभी के साथ उसका संपर्क है और सब कार्य एक साथ हो रहे हैं, किंतु वास्तव में ऐसा नहीं होता।

आत्मा—आत्मा पंचमहाभूत और मन से भिन्न, चेतनावान्, निर्विकार और नित्य है तथा साक्षी स्वरूप है, क्योंकि स्वयं निर्विकार तथा निष्क्रिय है। इसके संपर्क से सक्रिय किंतु अचेतन मन, इंद्रियों और शरीर में चेतना का संचार होता है और वे सचेष्ट होते हैं। आत्मा में रूप, रंग, आकृति आदि कोई चिह्न नहीं है, किंतु उसके बिना शरीर अचेतन होने के कारण निश्चेष्ट पड़ा रहता है और मृत कहलाता है तथा उसके संपर्क से ही उसमें चेतना आती है। तब उसे जीवित कहा जाता है और उसमें अनेक स्वाभाविक तथा अस्वाभाविक क्रियाएँ होने लगती हैं; जैसे श्वासोच्छ्‌वास, छोटे से बड़ा होना और कटे हुए घाव का भरना आदि, पलकों का खुलना और बंद होना, जीवन के लक्षण, मन की गति, एक इंद्रिय से हुए ज्ञान का दूसरी इंद्रिय पर प्रभाव होना (जैसे आँख से किसी सुंदर, मधुर फल को देखकर मुंह में पानी आना), विभिन्न इंद्रियों और अवयवों को विभिन्न कार्यों में प्रवृत्त करना, विषयों का ग्रहण और धारण करना, स्वप्न में एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचना, एक आँख से देखी वस्तु का दूसरी आँख से भी अनुभव करना। इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख, प्रयत्न, धैर्य, बुद्धि, स्मरण शक्ति, अहंकार आदि शरीर में आत्मा के होने पर ही होते हैं; आत्मारहित मृत शरीर में नहीं होते। अत: ये आत्मा के लक्षण कहे जाते हैं, अर्थात् आत्मा का पूर्वोक्त लक्षणों से अनुमान मात्र किया जा सकता है। मानसिक कल्पना के अतिरिक्त किसी दूसरी इंद्रिय से उसका प्रत्यक्ष करना संभव नहीं हैं।

यह आत्मा नित्य, निर्विकार और व्यापक होते हुए भी पूर्वकृत शुभ या अशुभ कर्म के परिणामस्वरूप जैसी योनि में या शरीर में, जिस प्रकार के मन और इंद्रियों तथा विषयों के संपर्क में आती है वैसे ही कार्य होते हैं। उत्तरोत्तर अशुभ कार्यों के करने से उत्तरोत्तर अधोगति होती है तथा शुभ कर्मों के द्वारा उत्तरोत्तर उन्नति होने से, मन के राग-द्वेष-हीन होने पर, मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा तो निर्विकार है, किंतु मन, इंद्रिय और शरीर में विकृति हो सकती है और इन तीनों के परस्पर सापेक्ष्य होने के कारण एक का विकार दूसरे को प्रभावित कर सकता है। अत: इन्हें प्रकृतिस्थ रखना या विकृत होने पर प्रकृति में लाना या स्वस्थ करना परमावश्यक है। इससे दीर्घ सुख और हितायु की प्राप्ति होती है, जिससे क्रमश: आत्मा को भी उसके एकमात्र, किंतु भीषण, जन्म मृत्यु और भवबंधन-रूप रोग से मुक्ति पाने में सहायता मिलती है, जो आयुर्वेद में नैष्ठिकी चिकित्सा कही गई है।

रोग और स्वास्थ्य—चरक ने संक्षेप में रोग और आरोग्य का लक्षण यह लिखा है कि वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों का सम मात्रा (उचित प्रमाण) में होना ही आरोग्य और इनमें विषमता होना ही रोग है। सुश्रुत ने स्वस्थ व्यक्ति का लक्षण विस्तार से दिया है: "जिसके सभी दोष सम मात्रा में हों, अग्नि सम हो, धातु, मल और उनकी क्रियाएँ भी सम (उचित रूप में) हों तथा जिसकी आत्मा, इंद्रिय और मन प्रसन्न (शुद्ध) हों उसे स्वस्थ समझना चाहिए"। इसके विपरीत लक्षण हों तो अस्वस्थ समझना चाहिए। रोग को विकृति या विकार भी कहते हैं। अत: शरीर, इंद्रिय और मन के प्राकृतिक (स्वाभाविक) रूप या क्रिया में विकृति होना रोग है।

रोगों के हेतु या कारण (इटियॉलोजी)—संसार की सभी वस्तुएँ साक्षात् या परंपरा से शरीर, इंद्रियों और मन पर किसी न किसी प्रकार का निश्चित प्रभाव डालती हैं और अनुचित या प्रतिकूल प्रभाव से इनमें विकार उत्पन्न कर रोगों का कारण होती है। इन सबका विस्तृत विवेचन कठिन है, अत: संक्षेप में इन्हें तीन वर्गों में बाँट दिया गया है: (१) प्रज्ञापराध: अविवेक (धीभ्रंश), अधीरता (धृतिभ्रंश) तथा पूर्व अनुभव और वास्तविकता की उपेक्षा (स्मृतिभ्रंश) के कारण लाभ हानि का विचार किए बिना ही किसी विषय का सेवन या जानते हुए भी अनुचित वस्तु का सेवन करना। इसी को दूसरे और स्पष्ट शब्दों में कर्म (शारीरिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाओं) का हीन, मिथ्या और अति योग भी कहते हैं। (२) असात्म्येंद्रियार्थसंयोग: चक्षु आदि इंद्रियों का अपने अपने रूप आदि विषयों के साथ असात्म्य (प्रतिकूल, हीन, मिथ्या और अति) संयोग इंद्रियों, शरीर और मन के विकार का कारण होता है; यथा आँख से बिलकुल न देखना (अयोग), अति तेजस्वी वस्तुओं को देखना और बहुत अधिक देखना (अतियोग) तथा अति सूक्ष्म, संकीर्ण, अति दूर में स्थित तथा भयानक, बीभत्स एवं विकृतरूप वस्तुओं को देखना (मिथ्यायोग)। ये चक्षुरिंद्रिय और उसके आश्रय नेत्रों के साथ मन और शरीर में भी विकार उत्पन्न करते हैं। इसी को दूसरे शब्दों में अर्थ का दुर्योग भी कहते हैं। ग्रीष्म, वर्षा, शीत आदि ऋतुओं तथा बाल्य, युवा और वृद्धावस्थाओं का भी शरीर आदि पर प्रभाव पड़ता ही है, किंतु इनके हीन, मिथ्या और अतियोग का प्रभाव विशेष रूप से हानिकर होता है।

पूर्वोक्त कारणों के प्रकारांतर से अन्य अनेक भेद भी होते हैं; यथा (१) विप्रकृष्ट कारण (रिमोट कॉज), जो शरीर में दोषों का संचय करता रहता है और अनुकूल समय पर रोग को उत्पन्न करता है, (२) संनिकृष्ट कारण (इम्मीडिएट कॉज़), जो रोग का तात्कालिक कारण होता है, (३) व्यभिचारी कारण (अबॉर्टिव कॉज़) जो परिस्थितिवश रोग को उत्पन्न भी करता है और नहीं भी करता तथा (४) प्राधानिक कारण (स्पेसिफ़िक कॉज़), जो तत्काल किसी धातु या अवयवविशेष पर प्रभाव डालकर निश्चित लक्षणोंवाले विकार को उत्पन्न करता है, जैसे विभिन्न स्थावर और जांतव विष।

प्रकारांतर से इनके अन्य दो भेद होते हैं—(१) उत्पादक (प्रीडिस्पोज़िंग), जो शरीर में रोगविशेष की उत्पत्ति के अनुकूल परिवर्तन कर देता है; (२) व्यंजक (एक्साइटिंग), जो पहले से रोगानुकूल शरीर में तत्काल विकारों को व्यक्त करता है।

शरीर पर इन सभी कारणों के तीन प्रकार के प्रभाव होते हैं:

(१) **दोषप्रकोप**—अनेक कारणों से शरीर के उपादानभूत आकाश आदि पाँच तत्वों में से किसी एक या अनेक में परिवर्तन होकर उनके स्वाभाविक अनुपात में अंतर आ जाना अनिवार्य है। इसी को ध्यान में रखकर आयुर्वेदाचार्यों ने इन विकारों को वात, पित्त और कफ इन वर्गों में विभक्त किया है। पंचमहाभूत एवं त्रिदोष का अलग से विवेचन ही उचित है, किंतु संक्षेप में यह समझना चाहिए कि संसार के जितने भी मूर्त (मैटीरियल) पदार्थ हैं वे सब आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी इन पाँच तत्वों से बने हैं। ये पृथ्वी आदि वे ही नहीं है जो हमें नित्यप्रति स्थूल जगत् में देखने को मिलते हैं। ये पिछले सब तो पूर्वोक्त पाँचो तत्वों के संयोग से उत्पन्न पांचभौतिक हैं। वस्तुओं में जिन तत्वों की बहुलता होती है वे उन्हीं नामों से वर्णित की जाती हैं। इसी प्रकार हमारे शरीर की धातुओं में या उनके संघटकों में जिस तत्व की बहुलता रहती है वे उसी श्रेणी के गिने जाते हैं।

इन पाँचों में आकाश तो निर्विकार है तथा पृथ्वी सबसे स्थूल और सभी का आश्रय है। जो कुछ भी विकास या परिवर्तन होते हैं उनका प्रभाव इसी पर स्पष्ट रूप से पड़ता है। शेष तीन (वायु, तेज और जल) सब प्रकार के परिवर्तन या विकार उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। अतः तीनों की प्रचुरता के आधार पर, विभिन्न धातुओं एवं उनके संघटकों को वात, पित्त और कफ की संज्ञा दी गई है। सामान्य रूप से ये तीनों धातुएँ शरीर की पोषक होने के कारण विकृत होने पर अन्य धातुओं को भी दूषित करती हैं। अतः दोष तथा मल रूप होने से मल कहलाती हैं। रोग में किसी भी कारण से इन्ही तीनो की न्यूनता या अधिकता होती है, जिसे दोषप्रकोप कहते हैं।

(२) **धातुदूषण**—कुछ पदार्थ या कारण ऐसे होते हैं जो किसी विशिष्ट धातु या अवयव में ही विकार करते हैं। इनका प्रभाव सारे शरीर पर नहीं होता। इन्हें धातुप्रदूषक कहते हैं।

(३) **उभयहेतु**—वे पदार्थ जो सारे शरीर में वात आदि दोषों को कुपित करते हुए भी किसी धातु या अंगविशेष में ही विशेष विकार उत्पन्न करते हैं, उभयहेतु कहलाते हैं। किंतु इन तीनों में जो भी परिवर्तन होते हैं वे वात, पित्त या कफ इन तीनों में से किसी एक, दो या तीनों में ही विकार उत्पन्न करते हैं। अत. ये ही तीनों दोष प्रधान शरीरगत कारण होते हैं, क्योंकि इनके स्वाभाविक अनुपात में परिवर्तन होने से शरीर की धातुओं आदि में भी विकृति होती है। रचना में विकार होने से क्रिया में भी विकार होना स्वाभाविक है। इस अस्वाभाविक रचना और क्रिया के परिणामस्वरूप अतिसार, कास आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं और इन लक्षणों के समूह को ही रोग कहते है।

इस प्रकार जिन पदार्थों के प्रभाव से वात आदि दोषों में विकृतियाँ होती हैं तथा वे वातादि दोष, जो शारीरिक धातुओं को विकृत करते हैं, दोनों ही हेतु (कारण) या निदान (आदिकारण) कहलाते है। अंततः इनके दो अन्य महत्वपूर्ण भेदों का विचार अपेक्षित है : (१) निज (इडियोपैथिक)—जब पूर्वोक्त कारणों से क्रमशः शरीरगत वातादि दोष में, और उनके द्वारा धातुओं में, विकार उत्पन्न होते हैं तो उनको निज हेतु या निज रोग कहते हैं। (२) आगंतुक (ऐक्सिडेंटल)—चोट लगना, आग से जलना, विद्युत्प्रभाव, साँप आदि विषैले जीवों के काटने या विषप्रयोग से जब एकाएक विकार होते हैं तो उनमें भी वातादि दोषों का विकार होते हुए भी, कारण की भिन्नता और प्रबलता से, वे कारण और उनसे उत्पन्न रोग आगंतुक कहलाते है।

लिंग (लीजंस)—पूर्वोक्त कारणों से उत्पन्न विकारों की पहचान जिन साधनों द्वारा होती है उन्हे लिंग कहते है। इसके चार भेद है : पूर्वरूप, रूप, संप्राप्ति और उपशय।

पूर्वरूप—किसी रोग के व्यक्त होने के पूर्व शरीर के भीतर हुई अत्यल्प या आरंभिक विकृति के कारण जो लक्षण उत्पन्न होकर किसी रोगविशेष की उत्पत्ति की संभावना प्रकट करते हैं उन्हें पूर्वरूप (प्रोडामेटा) कहते हैं।

रूप (साइंस ऐंड सिंप्टम्स)—जिन लक्षणों से रोग या विकृति का स्पष्ट परिचय मिलता है उन्हें रूप कहते है।

संप्राप्ति (पैथोजेनेसिस) : किस कारण से कौन सा दोष स्वतंत्र रूप में या परतंत्र रूप में, अकेले या दूसरे के साथ, कितने अंश में और कितनी मात्रा में प्रकुपित होकर, किस धातु या किस अंग में, किस स्वरूप का और कितना विकार उत्पन्न करता है, इनके निर्धारण को संप्राप्ति कहते हैं। चिकित्सा में इसी की महत्वपूर्ण उपयोगिता है। वस्तुतः इन परिवर्तनों से ही ज्वरादि रूप में रोग उत्पन्न होते हैं, अतः इन्हें ही वास्तव में रोग भी कहा जा सकता है और इन्हीं परिवर्तनों को ध्यान में रखकर की गई चिकित्सा भी सफल होती है।

उपशय और अनुपशय (थेराप्यूटिक टेस्ट)—जब अल्पता या संकीर्णता आदि के कारण रोगों के वास्तविक कारणों या स्वरूपों का निर्णय करने में संदेह होता है, तब उस संदेह के निराकरण के लिये संभावित दोषों या विकारों में से किसी एक के विचार से उपयुक्त आहार विहार और औषध का प्रयोग करने पर जिससे लाभ होता है उसे उपशय तथा जिससे हानि होती है उसे अनुपशय कहते हैं। इस उपशय के विवेचन में आयुर्वेदाचार्यों ने छः प्रकार से आहार विहार और औषध के प्रयोगों का सूत्र बतलाते हुए उपशय के १८ भेदों का वर्णन किया है। ये सूत्र इतन महत्व के हैं कि इनमें से एक एक के आधार पर एक एक चिकित्सापद्धति का उदय हो गया है; जैसे, (१) हेतु के विपरीत आहार विहार या औषध का प्रयोग करना। (२) व्याधि, वेदना या लक्षणों के विपरीत आहार विहार या औषध का प्रयोग करना। स्वयं ऐलोपैथी की स्थापना इसी पद्धति पर हुई थी [ऐलोज़ (विपरीत)+पैथोज़ (वेदना)=ऐलोपैथी]। (३) हेतु और व्याधि, दोनों के विपरीत आहार विहार और औषध का प्रयोग करना। (४) हेतुविपरीतार्थकारी, अर्थात् रोग के कारण के समान होते हुए भी उस कारण के विपरीत कार्य करनेवाले आहार आदि का प्रयोग; जैसे, आग से जलने पर सेंकने या गरम वस्तुओं का लेप करने से उस स्थान का रक्तसंचार बढ़कर दोषों का स्थानांतरण होता है तथा रक्त का जमना रुकने से पाक के रुकने पर शांति मिलती है। (५) व्याधिविपरीतार्थकारी, अर्थात् रोग या वेदना को बढ़ानेवाला प्रतीत होते हुए भी व्याधि के विपरीत कार्य करनेवाले आहार आदि का प्रयोग [होमियोपैथी से तुलना करें : होमियो (समान)+पैथोज़ (वेदना)=होमियोपैथी]। (६) उभयविपरीतार्थकारी, अर्थात् कारण और वेदना दोनों के समान प्रतीत होते हुए भी दोनों के विपरीत कार्य करनेवाले आहार विहार और औषध का प्रयोग।

उपशय और अनुपशय से भी रोग की पहचान में सहायता मिलती है। अत. इनको भी प्राचीनों ने 'लिंग' में ही गिना है। हेतु और लिंगों के द्वारा रोग का ज्ञान प्राप्त करने पर ही उसकी उचित और सफल चिकित्सा (औषध) संभव है। हेतु और लिंगों से रोग की परीक्षा होती है, किंतु इनके समुचित ज्ञान के लिये रोगी की परीक्षा करनी चाहिए। रोगी की परीक्षा के साधन चार हैं—आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति।

आप्तोपदेश—योग्य अधिकारी, तप और ज्ञान से संपन्न होने के कारण, शास्त्रतत्वों को रागद्वेषशून्य बुद्धि से असंदिग्ध और यथार्थ रूप से जानते और कहते हैं। ऐसे विद्वान्, अनुसंधानशील, अनुभवी, पक्षपातहीन और यथार्थवक्ता महापुरुषों को आप्त (अथॉरिटी) और उनके वचनों या लेखों को आप्तोपदेश कहते हैं। आप्तजनों ने पूर्ण परीक्षा के बाद शास्त्रों का निर्माण कर उनमें एक एक रोग के संबंध में लिखा है कि अमुक कारण से, इस दोष के प्रकुपित होने और इस धातु के दूषित होने तथा इस अंग में आश्रित होने से, अमुक लक्षणोंवाला अमुक रोग उत्पन्न होता है, उसमें अमुक अमुक परिवर्तन होते हैं तथा उसकी चिकित्सा के लिये इन आहार विहार और अमुक ओषधियों के इस प्रकार उपयोग करने से तथा चिकित्सा करने से शांति होती है। इसलिये प्रथम योग्य और अनुभवी गुरुजनों से शास्त्र का अध्ययन करने पर रोग के हेतु, लिंग और औषधज्ञान में प्रवृत्ति होती है। शास्त्रवचनों के अनुसार ही लक्षणों की परीक्षा प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति से की जाती है।

प्रत्यक्ष—मनोयोगपूर्वक इंद्रियों द्वारा विषयों का अनुभव प्राप्त करने को प्रत्यक्ष कहते हैं। इसके द्वारा रोगी के शरीर के अंग प्रत्यंग में होनेवाले विभिन्न शब्दों (ध्वनियों) की परीक्षा कर उनके स्वाभाविक या अस्वाभाविक होने का ज्ञान श्रोत्रेंद्रिय द्वारा करना चाहिए। वर्ण, आकृति, लंबाई, चौड़ाई आदि प्रमाण तथा छाया आदि का ज्ञान नेत्रों द्वारा, गंधों का ज्ञान घ्राणेंद्रिय तथा शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध एवं नाड़ी आदि के स्पंदन आदि भावों का ज्ञान स्पर्शेंद्रिय द्वारा प्राप्त करना चाहिए। रोगी के शरीरगत रस की परीक्षा स्वयं अपनी जीभ से करना उचित न होने के कारण, उसके शरीर या उससे निकले स्वेद, मूत्र, रक्त, पूय आदि में चींटी लगना या न लगना, मक्खियों का आना और न आना, कौए या कुत्ते आदि द्वारा खाना या न खाना, प्रत्यक्ष देखकर उनके स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है।

अनुमान—युक्तिपूर्वक तर्क (ऊहापोह) के द्वारा प्राप्त ज्ञान अनुमान (इनफ़रेंस) है। जिन विषयों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता या प्रत्यक्ष होने पर भी उनके संबध में संदेह होता है वहाँ अनुमान द्वारा परीक्षा करनी चाहिए; यथा, पाचनशक्ति के आधार पर अग्निबल का, व्यायाम की शक्ति के आधार पर शारीरिक बल का, अपने विषयों को ग्रहण करने या न करने से इंद्रियों की प्रकृति या विकृति का तथा इसी प्रकार भोजन में रुचि, अरुचि तथा प्यास एवं भय, शोक, क्रोध, इच्छा, द्वेष आदि मानसिक भावों के द्वारा विभिन्न

शारीरिक और मानसिक विषयों का अनुमान करना चाहिए। पूर्वोक्त उपशयानुपशय भी अनुमान का ही विषय है।

युक्ति—इसका अर्थ है योजना। अनेक कारणों के सामुदायिक प्रभाव से किसी विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति को देखकर, तदनुकूल विचारों से जो कल्पना की जाती है उसे युक्ति कहते हैं। जैसे खेत, जल, जुताई, बीज और ऋतु के संयोग से ही पौधा उगता है। धुएँ का आग के साथ सदैव संबंध रहता है, अर्थात् जहाँ धुआँ होगा वहाँ आग भी होगी। इसी को व्याप्तिज्ञान भी कहते हैं और इसी के आधार पर तर्क कर अनुमान किया जाता है। इस प्रकार निदान, पूर्वरूप, रूप, संप्राप्ति और उपशय इन सभी के सामुदायिक विचार से रोग का निर्णय युक्तियुक्त होता है। योजना का दूसरी दृष्टि से भी रोगी की परीक्षा में प्रयोग कर सकते हैं। जैसे किसी इंद्रिय से यदि कोई विषय सरलता से ग्राह्य न हो तो अन्य यंत्रादि उपकरणों की सहायता से उस विषय का ग्रहण करना भी युक्ति में ही अंतर्भूत है।

परीक्ष्य विषय—पूर्वोक्त लिंगों के ज्ञान के लिये तथा रोगनिर्णय के साथ साध्यता या असाध्यता के भी ज्ञान के लिये आप्तोपदेश के अनुसार प्रत्यक्ष आदि परीक्षाओं द्वारा रोगी के सार, सत्व (डिसपोजिशन), संहनन (उपचय), प्रमाण (शरीर और अंग प्रत्यंग की लंबाई, चौड़ाई, भार आदि), सात्म्य (अभ्यास आदि, हैबिट्स), आहारशक्ति, व्यायामशक्ति तथा आयु के अतिरिक्त वर्ण, स्वर, गंध, रस और स्पर्श ये विषय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शेंद्रिय, सत्व, भक्ति (रुचि), शौच, शील, आचार, स्मृति, आकृति, बल, ग्लानि, तंद्रा, आरंभ (चेष्टा), गुरुता, लघुता, शीतलता, उष्णता, मृदुता, काठिन्य आदि गुण, आहार के गुण, पाचन और मात्रा, उपाय (साधन), रोग और उसके पूर्वरूप आदि का प्रमाण, उपद्रव (कांप्लिकेशंस), छाया (लस्टर), प्रतिच्छाया, स्वप्न (ड्रीम्स), रोगी को देखने को बुलाने के लिये आए दूत तथा रास्ते और रोगी के घर में प्रवेश के समय के शकुन और अपशकुन, ग्रहयोग आदि सभी विषयों का प्रकृति (स्वाभाविकता) तथा विकृति (अस्वाभाविकता) की दृष्टि से विचार करते हुए परीक्षा करनी चाहिए। विशेषतः नाड़ी, मल, मूत्र, जिह्वा, शब्द (ध्वनि), स्पर्श, नेत्र और आकृति की सावधानी से परीक्षा करनी चाहिए। आयुर्वेद में नाड़ी की परीक्षा अति महत्व का विषय है। केवल नाड़ीपरीक्षा से दोषों एवं दूष्यों के साथ रोगों के स्वरूप आदि का ज्ञान अनुभवी वैद्य प्राप्त कर लेता है।

औषध—जिन साधनों के द्वारा रोगों के कारणभूत दोषों एवं शारीरिक विकृतियों का शमन किया जाता है उन्हें औषध कहते हैं। ये प्रधानतः दो प्रकार की होती हैं : अद्रव्यभूत और द्रव्यभूत।

अद्रव्यभूत औषध वह है जिसमें किसी द्रव्य का उपयोग नहीं होता, जैसे उपवास, विश्राम, सोना, जागना, टहलना, व्यायाम आदि। बाह्य या आभ्यंतर प्रयोगों द्वारा शरीर में जिन बाह्य द्रव्यों (ड्रग्स) का प्रयोग होता है वे द्रव्यभूत औषध हैं। ये द्रव्य संक्षेप में तीन प्रकार के होते हैं : (१) जांगम (ऐनिमल ड्रग्स), जो विभिन्न प्राणियों के शरीर से प्राप्त होते हैं, जैसे मधु, दूध, दही, घी, मक्खन, मट्ठा, पित्त, वसा, मज्जा, रक्त, मांस, पुरीष, मूत्र, शुक्र, चर्म, अस्थि, शृंग, खुर, नख, लोम आदि; (२) औद्भिद (हर्बल ड्रग्स), जो पेड़ पौधे आदि से प्राप्त होते हैं, जैसे विविध अन्न, फल, फूल, पत्ते, जड़ें, छालें, गोंद, डंठल, स्वरस, दूध, भस्म, क्षार, तैल, कंटक, कोपलें और कंद आदि; (३) पार्थिव (खनिज, मिनरल ड्रग्स), जैसे सोना, चाँदी, सीसा, राँगा, ताँबा, लोहा, चूना, खड़िया, अभ्रक, संखिया, हरताल, मैनसिल, अंजन (ऐंटिमनी), गेरू, नमक आदि।

शरीर की भाँति ये सभी द्रव्य भी पांचभौतिक होते हैं, इनके भी वे ही संघटक होते हैं जो शरीर के हैं। अतः संसार में कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं है जिसका किसी न किसी रूप में किसी न किसी रोग के किसी न किसी अवस्थाविशेष में औषधरूप में प्रयोग न किया जा सके। किंतु इनके प्रयोग के पूर्व इनके स्वाभाविक गुण धर्म, संस्कारजन्य गुण धर्म, प्रयोगविधि तथा प्रयोगमार्ग का ज्ञान आवश्यक है। इनमें कुछ द्रव्य दोषों का शमन करते हैं, कुछ दोष और धातु को दूषित करते हैं और कुछ स्वस्थवृत्त में, अर्थात् धातुसाम्य को स्थिर रखने में उपयोगी होते हैं। इनकी उपयोगिता के समुचित ज्ञान के लिये द्रव्यों के पांचभौतिक संघटकों में तारतम्य के अनुसार स्वरूप (कंपोजिशन), गुरुता, लघुता, रूक्षता, स्निग्धता आदि गुण, रस (टेस्ट ऐंड लोकल ऐक्शन), वपाक (मेटाबोलिक चेंजेज़), वीर्य (फिज़िओलॉजिकल ऐक्शन), प्रभाव (स्पेसिफ़िक ऐक्शन) तथा मात्रा (डोज़) का ज्ञान आवश्यक होता है।

भैषज्यकल्पना : सभी द्रव्य सदैव अपने प्राकृतिक रूपों में शरीर में उपयोगी नहीं होते। रोग और रोगी की आवश्यकता के विचार से शरीर की धातुओं के लिये उपयोगी एवं सात्म्यकरण के अनुकूल बनाने के लिये, इन द्रव्यों के स्वाभाविक स्वरूप और गुणों में परिवर्तन के लिये, विभिन्न भौतिक एवं रासायनिक संस्कारों द्वारा जो उपाय किए जाते हैं उन्हें 'कल्पना' (फ़ार्मेसी या फ़ार्मास्युटिकल प्रोसेस) कहते हैं। जैसे—स्वरस (जूस), कल्क या चूर्ण (पेस्ट या पाउडर), शीत क्वाथ (इनफ़्यूज़न), क्वाथ (डिकॉक्शन), आसव तथा अरिष्ट (टिंक्चर्स), तैल, घृत, अवलेह आदि तथा खनिज द्रव्यों के शोधन, जारण, मारण, अमृतीकरण, सत्वपातन आदि।

चिकित्सा (ट्रीटमेंट) : चिकित्सक, परिचारक, औषध और रोगी, ये चारों मिलकर शारीरिक धातुओं की समता के उद्देश्य से जो कुछ भी उपाय या कार्य करते हैं उसे चिकित्सा कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है : (१) निरोधक (प्रिवेंटिव) तथा (२) प्रतिषेधक (क्योरेटिव); जैसे शरीर के प्रकृतिस्थ दोषों और धातुओं में वैषम्य (विकार) न हो तथा साम्य की परंपरा निरंतर बनी रहे, इस उद्देश्य से की गई चिकित्सा निरोधक है तथा जिन क्रियाओं या उपचारों से विषम हुई शारीरिक धातुओं में समता उत्पन्न की जाती है उन्हें प्रतिषेधक चिकित्सा कहते हैं।

पुनः चिकित्सा तीन प्रकार की होती है : (१) सत्वावजय (साइकोलॉजिकल) : इसमें मन को अहित विषयों से रोकना तथा हर्षण, आश्वासन आदि उपाय हैं। (२) दैवव्यपाश्रय (डिवाइन) : इसमें ग्रह आदि दोषों के शमनार्थ तथा पूर्वकृत अशुभ कर्म के प्रायश्चित्तस्वरूप देवाराधन, जप, हवन, पूजा, पाठ, व्रत तथा मणि, मंत्र, यंत्र, रत्न और ओषधि आदि का धारण, ये उपाय होते हैं। (३) युक्तिव्यपाश्रय (मेडिसिनल अर्थात् सिस्टमिक ट्रीटमेंट) : रोग और रोगी के बल, स्वरूप, अवस्था, स्वास्थ्य, सत्व, प्रकृति आदि के अनुसार उपयुक्त औषध की उचित मात्रा, अनुकूल कल्पना (बनाने की रीति) आदि का विचार कर प्रयुक्त करना। इसके भी मुख्यतः तीन प्रकार हैं : अंतःपरिमार्जन, बहिःपरिमार्जन और शस्त्रकर्म।

अंतःपरिमार्जन (ओषधियों का आभ्यंतर प्रयोग) : इसके भी दो मुख्य प्रकार हैं : (१) अपतर्पण या शोधन या लंघन; (२) संतर्पण या शमन या बृंहण (खिलाना)। शारीरिक दोषों को बाहर निकालने के उपायों को शोधन कहते हैं, उसके वमन, विरेचन (पर्गेटिव), वस्ति (निरूहण), अनुवासन और उत्तरवस्ति (एनिमेटा तथा कैथेटर्स का प्रयोग), शिरोविरेचन (स्नफ़् आदि) तथा रक्तमोक्षण (वेनिसेक्शन या ब्लड लेटिंग), ये पाँच उपाय हैं।

शमन—लाक्षणिक चिकित्सा (सिंप्टोमैटिक ट्रीटमेंट) : विभिन्न लक्षणों के अनुसार दोषों और विकारों के शमनार्थ विशेष गुणवाली ओषधि का प्रयोग, जैसे ज्वरनाशक, छर्दिघ्न (वमन रोकनेवाला), अतिसारहर (स्तंभक), उद्दीपक, पाचक, हृद्य, कुष्ठघ्न, बल्य, विषघ्न, कासहर, श्वासहर, दाहप्रशामक, शीतप्रशामक, मूत्रल, मूत्रविशोधक, शुक्रजनक, शुक्रविशोधक, स्तन्यजनक, स्वेदल, रक्तस्थापक, वेदनाहर, संज्ञास्थापक, वयःस्थापक, जीवनीय, बृंहणीय, लेखनीय, मेदनीय, रूक्षणीय, स्नेहनीय आदि द्रव्यों का आवश्यकतानुसार उचित कल्पना और मात्रा में प्रयोग करना।

इन ओषधियों का प्रयोग करते समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए : "यह ओषधि इस स्वभाव की होने के कारण तथा अमुक तत्वों की प्रधानता के कारण, अमुक गुणवाली होने से, अमुक प्रकार के देश में उत्पन्न और अमुक ऋतु में संग्रह कर, अमुक प्रकार सुरक्षित रहकर, अमुक कल्पना से, अमुक मात्रा से, इस रोग की, इस इस अवस्था में तथा अमुक प्रकार के रोगी को इतनी मात्रा में देने पर अमुक दोष को निकालेगी या शांत करेगी। इसके अभाव में इसी के समान गुणवाली अमुक ओषधि का प्रयोग किया जा सकता है। इसमें यह यह उपद्रव हो सकते हैं और उसके शमनार्थ ये उपाय करने चाहिए।"

बहिःपरिमार्जन (एक्स्टर्नल मेडिकेशन)—जैसे अभ्यंग, स्नान, लेप, धूपन, स्वेदन आदि।

शस्त्रकर्म—विभिन्न अवस्थाओं में निम्नलिखित आठ प्रकार के शस्त्रकर्मों में से कोई एक या अनेक करने पड़ते हैं : १. छेदन—काटकर दो फाँक करना या शरीर से अलग करना (एक्सिज़न), २. भेदन—चीरना (इंसिज़न), ३. लेखन—खुरचना (स्क्रेपिंग या स्कैरिफ़िकेशन), ४. वेधन—नुकीले शस्त्र से छेदना (पंक्चरिंग), ५. एषण (प्रोबिंग), ६. आहरण—खींचकर बाहर निकालना (एक्स्ट्रैक्शन), ७. विस्रावण—रक्त, पूय आदि को चुवाना (ड्रेनेज), ८. सीवन—सीना (स्यूचरिंग या स्टिचिंग)। इनके अतिरिक्त उत्पाटन (उखाड़ना), कुट्टन (कुचकुचाना, प्रिकिंग), मंथन (मथना, ड्रिलिंग), दहन (जलाना, कॉटराइज़ेशन) आदि उपशस्त्रकर्म भी होते हैं। शस्त्रकर्म (ऑपरेशन) के पूर्व की तैयारी को पूर्वकर्म कहते हैं, जैसे रोगी का शोधन, यंत्र (ब्लंट इंस्ट्रुमेंट्स), शस्त्र (शार्प इंस्ट्रुमेंट्स) तथा शस्त्रकर्म के समय एवं बाद में आवश्यक रुई, वस्त्र, पट्टी, घृत, तेल, क्वाथ, लेप आदि की तैयारी और शुद्धि। वास्तविक शस्त्रकर्म को प्रधान कर्म कहते हैं। शस्त्रकर्म के बाद शोधन, रोहण, रोपण, त्वक्स्थापन, सवर्णीकरण, रोमजनन आदि उपाय पश्चात्कर्म हैं।

शस्त्रसाध्य तथा अन्य अनेक रोगों में क्षार या अग्निप्रयोग के द्वारा भी चिकित्सा की जा सकती है। रक्त निकालने के लिये जोंक, सींगी, तुंबी, प्रच्छान तथा शिरावेध का प्रयोग होता है।

इस प्रकार आयुर्वेद की तीन स्थूल शाखाओं (हेतु, लिंग और औषध) का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। विस्तृत विवेचन, विशेष चिकित्सा तथा सुगमता आदि के लिये आयुर्वेद को आठ भागों में विभक्त किया गया है :

(१) कायचिकित्सा (जेनरल मेडिसिन) : इसमें सामान्य रूप से औषधिप्रयोग द्वारा रोगों की चिकित्सा की जाती है।

(२) शल्यतंत्र (सर्जरी) : शल्य का अर्थ काँटा है, यह शस्त्र का निर्देशक है; अर्थात् शस्त्रसाध्य रोगों की चिकित्साविधि इस अंग में वर्णित है।

(३) शालाक्यतंत्र (डिज़ीज़ेज़ ऑव आई, ईयर, नोज़ ऐंड थ्रोट) : गले के ऊपर के अंगों की चिकित्सा में बहुधा शलाका (सलाई) सदृश यंत्रों और शस्त्रों का प्रयोग होने से इसे शालाक्यतंत्र कहते हैं।

(४) कौमारभृत्य (मिडवाइफ़री, गायनिकॉलोजी तथा पीडिऐट्रिक्स) : बच्चों, स्त्रियों, विशेषतः गर्भिणी स्त्रियों और विशेष स्त्रीरोग के साथ गर्भविज्ञान का वर्णन इस तंत्र में है।

(५) अगद या विषतंत्र (टॉक्सिकॉलोजी) : इसमें विभिन्न स्थावर, जंगम और कृत्रिम विषों, उनके लक्षणों तथा उनकी चिकित्सा का वर्णन है।

(६) भूतविद्या : इसमें देवादि ग्रहों द्वारा हुए विकारों और उनकी चिकित्सा का वर्णन है।

(७) रसायनतंत्र (रीजुविनेशन) : चिरकाल तक वृद्धावस्था के लक्षणों से बचते हुए उत्तम स्वास्थ्य, बल, पौरुष और दीर्घायु की प्राप्ति एवं वृद्धावस्था के कारण हुए विकारों को दूर करने के उपाय इस तंत्र में वर्णित हैं।

(८) बाजीकरण : लौकिक दृष्टि से गृहस्थाश्रम में रहते हुए उसके उचित उपयोग के साथ शुक्र की उत्पत्ति, शुद्धि और पुष्टता तथा शुक्र-क्षयजन्य विकारों की चिकित्सा एवं उत्तम और स्वस्थ संतान के उत्पादन के उपाय इस तंत्र में वर्णित हैं।

मानस रोग (मेंटल डिज़ीज़ेज़)—मन भी आयु का उपादान है। मन के पूर्वोक्त रज और तम इन दो दोषों से दूषित होने पर मानसिक संतुलन बिगड़ने का इंद्रियों और शरीर पर भी प्रभाव पड़ता है। शरीर और इंद्रियों के स्वस्थ होने पर भी मनोदोष से मनुष्य के जीवन में अस्तव्यस्तता आने से आयु का ह्रास होता है। उसकी चिकित्सा के लिये मन के शरीराश्रित होने से शारीरिक शुद्धि आदि के साथ ज्ञान, विज्ञान, संयम, मनःसमाधि, हर्षण, आश्वासन आदि मानस उपचार करन चाहिए, मन को क्षोभक आहार विहार आदि से बचाना चाहिए तथा मानस-रोग-विशेषज्ञों से उपचार कराना चाहिए।

इंद्रियाँ—ये आयुर्वेद में भौतिक मानी गई हैं। ये शरीराश्रित तथा मनोनियंत्रित होती हैं। अतः शरीर और मन के आधार पर ही इनके रोगों की चिकित्सा की जाती है।

आत्मा को पहले ही निर्विकार बताया गया है। उसके साधनों (मन और इंद्रियों) तथा आधार (शरीर) में विकार होने पर इन सबकी संचालक आत्मा में विकार का हमें आभास मात्र होता है। किंतु पूर्वकृत अशुभ कर्मों के परिणामस्वरूप आत्मा को भी विविध योनियों में जन्मग्रहण आदि भवबंधनरूपी रोग से बचाने के लिये, इसके प्रधान उपकरण मन को शुद्ध करने के लिये, सत्संगति, ज्ञान, वैराग्य, धर्मशास्त्रचिंतन, व्रत, उपवास आदि करना चाहिए। इनसे तथा यम नियम आदि योगाभ्यास द्वारा स्मृति (तत्वज्ञान) की उत्पत्ति होने से कर्मसंन्यास द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसे नैष्ठिकी चिकित्सा कहते हैं। क्योंकि संसार द्वंद्वमय है, जहाँ सुख है वहाँ दुःख भी है, अतः आत्यंतिक (सतत) सुख तो द्वंद्वमुक्त होने पर ही मिलता है और उसी को कहते हैं मोक्ष। [य० उ०]

आयुस् चंद्रवंशी सम्राटों में पुरूरवा के पुत्र। उनकी माता का नाम उर्वशी था। पुरूरवा और उर्वशी की कहानी शतपथब्राह्मण में दी हुई है। उनके संयोग से आयुस् का जन्म हुआ। आयुस् की वंशपरंपरा को आगे ले चलनेवाले राजा नहुष छात्रवृद्ध थे। [चं० म०]

आयूथिया (अयोध्या) १३५० ई० से १७६७ ई० तक स्याम की राजधानी था। यह मिनाम चो फिया और लोयबरी नदियों के संगम पर एक द्वीप में बैंकाक से ४२ मील की दूरी पर स्थित है। परंतु इस समय यहाँ के अधिकांश मनुष्य इस द्वीप के समीप मिनाम चो फिया नदी के किनारे रेलमार्ग के समीप निवास करते हैं। इस नगर का विध्वंस १५५५ में और फिर १७६७ ई० में बर्मी सेनाओं द्वारा हुआ था। १७६७ ई० के आक्रमण में बहुमूल्य ऐतिहासिक लेख, निवासस्थान और राजभवन नष्ट हो गए। राजभवन के अवशेषों को वर्तमान राजधानी बैंकाक के भवनों के निर्माण में लगाया गया।

आयूथिया विश्व के एक महत्वपूर्ण चावल निर्यातक क्षेत्र के मध्य में स्थित है। यहाँ ५० इंच वार्षिक वर्षा होती है, जो चावल की उपज के लिये पूर्णतः अनुकूल है। आयूथिया का 'चंगवत' (प्रांत) स्याम के कुल ७० चंगवतों में चावल के उत्पादन में प्रथम है। यहाँ का मत्स्य उद्योग भी महत्वपूर्ण है। यहाँ स्थित सैकड़ों नहरें यातायात के मुख्य साधन हैं। बहुत से निवासी नौकाओं पर वास करते हैं। शीघ्रगामिनी मोटर नौकाएँ मिनाम नदी द्वारा इस नगर का संबंध बैंकाक और अन्य नगरों से स्थापित करती हैं। आयूथिया चावल और सागौन (टीक) की लकड़ी का व्यापारिक केंद्र है। कुल जनसंख्या लगभग १७,००० है (१९५१)। [रा० ना० मा०]

आयोडीन रसायनशास्त्र में एक तत्व है। इसके रवे चमकदार तथा गाढ़े नीले काले रंग के होते हैं और वाष्प बैंगनी होता है। इस नए तत्व का अन्वेषण बर्नार्ड कूर्टवा ने किया और जे० एल० गे लुसक ने इसके गुणों के अध्ययन से (१८१३) इसमें तथा क्लोरीन में समानता तथा इसकी तात्विक प्रकृति को स्पष्ट किया। इसके बैंगनी रंग के कारण उसने इसका नाम आयोडीन रखा। हंफ्री डेवी ने इसके गुणों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया।

आयोडीन यौगिक रूप में बहुत सी वस्तुओं में पाया जाता है। इनमें इसका अनुपात साधारणतया कम होता है। समुद्री जल, वनस्पतियों तथा जीवों में इसके यौगिक मिलते हैं। कई खनिज पदार्थों में, कुछ झरनों के जल तथा वायु में भी आयोडीन का पता लगा है। चिली देश के अशुद्ध शोरे में इसकी मात्रा कुछ अधिक होती है और व्यापारिक स्तर पर इसका उपयोग होता है। मनुष्य के शरीर के कई भागों में भी आयोडीन कार्बनिक यौगिक के रूप में मिलता है, विशेषकर थाइरायड, लिवर, त्वचा, केश आदि में। मछली के तेल में भी आयोडीन रहता है। पेट्रोलियम के कुओं के नमकीन घोल में भी आयोडीन मिलता है।

आयोडाइडों से किसी भी दूसरी हैलोजन द्वारा आयोडीन प्राप्त किया जा सकता है। परंतु हैलोजन की मात्रा अधिक होने पर स्वयं आयोडीन का उस हैलोजन से यौगिक बनता है। पोटैसियम आयोडाइड से क्लोरीन गैस आयोडीन देती है, परंतु आयोडाइड से आयोडीन प्राप्त करने के लिये

साधारणतया मैंगनीज़ डाईआक्साइड तथा गंधक के अम्ल का ही अधिक प्रयोग होता है। गंधक अथवा शोरे के सांद्र अम्ल या विविध आक्सीकारक वस्तुएँ भी, इसी प्रकार काम में लाई जा सकती हैं। प्राप्त आयोडीन का बैंगनी वाष्प ठंडी सतह पर चमकदार काले रवों में जम जाता है।

समुद्री पौधों से पर्याप्त आयोडीन निम्नलिखित विधि द्वारा प्राप्त होता है: पवन से ये तृण किनारे पर आ जाते हैं, जिन्हें इकट्ठा कर और सुखाकर जला लिया जाता है। राख से, जिसे केल्प कहते हैं, आयोडीन तथा पोटैसियम प्राप्त होते हैं। राख को गरम पानी में घोलकर अघुलनशील वस्तुएँ छान ली जाती हैं। फिर घोल को गरम कर गाढ़ा बना लेने पर घुले हुए बहुत से लवण रवा बनाने के लिये रख दिए जाते हैं। मातृद्रव रवों से अलग कर फिर गाढ़ा किया जाता है, जिससे अन्य घुले हुए लवण रवों के रूप में अलग किए जा सकते हैं। इस क्रिया को कई बार करने से गाढ़े घोल में आयोडीन का अनुपात बहुत बढ़ जाता है। घोल से पालीसल्फाइड तथा थायोसल्फेट गंधक के अम्ल की क्रिया द्वारा हटा लिए जाते हैं। देर तक रख देने पर अघुलनशील वस्तुएँ नीचे बैठ जाती हैं तथा गाढ़े घोल से क्लोरीन की क्रिया द्वारा आयोडीन प्राप्त होता है। मैंगनीज़ डाईआक्साइड तथा गंधक का अम्ल, फेरिक क्लोराइड, नाइट्रिक अम्ल इत्यादि आक्सीकारक की क्रिया से भी गाढ़े द्रव से आयोडीन मिलता है अथवा तूतिया के प्रयोग से कापर आयोडाइड बनाकर उससे फिर आयोडीन प्राप्त किया जाता है।

चिली देश के शोरे में सोडियम नाइट्रेट अलग करने पर मातृद्रव में कुछ सोडियम के नाइट्रेट, क्लोराइड, सल्फेट तथा आयोडेट और मैग्नीशियम सल्फेट बचा रहता है। द्रव में सोडियम बाइसल्फेट की क्रिया से आयोडीन मिलता है जिसे पानी से साफ कर सुखा लिया जाता है।

आयोडीन को शुद्ध करने के लिये रवों को गरम कर, वाष्प को ठंडी सतह पर जमा लिया जाता है। इस प्रकार के ऊर्ध्वपातन (सब्लिमेशन) की क्रिया में सूखे आयोडीन के साथ पोटैशियम आयोडाइड के चूर्ण के उपयोग से बहुत शुद्ध आयोडीन प्राप्त होता है। इस मिश्रण से प्राप्त शुद्ध आयोडीन आगे कैल्सियम क्लोराइड की सहायता से सुखाया जा सकता है।

आयोडीन के रवों में धातु सी चमक होती है। यद्यपि साधारण तापक्रम पर इसका वाष्पदाब कम है, तो भी अपनी विशेष गंध तथा रंग से यह सरलता से पहचाना जा सकता है। आयोडीन का घनत्व ४·९४ ग्राम प्रति घन सेंटीमीटर (२०° सें० पर) है। आयोडीन का द्रवणांक ११३·७° सें० तथा क्वथनांक १८४·३५° सें० है। ७००° सें० से ऊपर गरम करने पर वाष्प का घनत्व घटता है और १७००° सें० पर आधा रह जाता है।

आयोडीन का विघटन आ$_{२}$ ⇌ २आ तापक्रम पर निर्भर है; कम तापक्रम पर आ$_{२}$ तथा अधिक पर आ रहता है। वाष्पदाब ताप के साथ बढ़ता है:

वाष्पदाब:	१	१०	४०	१००	४००	७६०	मिलीमीटर
ताप:	३८·७	७३·२	९७·५	११६·५	१५९·८	१८३	डिग्री सें०

आयोडीन पानी में कम घुलनशील है तथा घोल का रंग हल्का पीला या भूरा होता है। १०० घन सेंटिमीटर ठंढे पानी में ०·०२९ ग्राम आयोडीन घुलता है। संतृप्त घोल में आयोडीन की मात्रा, पानी में कुछ लवण अथवा अम्ल के रहने पर, बहुत निर्भर है। सोडियम और पोटैशियम के सल्फेट या नाइट्रेट के उपस्थित रहने से यह घटती है, परंतु इन्हीं के क्लोराइड, ब्रोमाइड या आयोडाइड की उपस्थिति से बढ़ जाती है। अतः ओषधियों के निमित्त आयोडीन का घोल बनाने के लिये पोटैशियम आयोडाइड का उपयोग होता है। फास्फोरिक, ऐसीटिक तथा टैनिक अम्लों में आयोडीन घुलनशील है। गंधक के अम्ल में आयोडीन के घोल का रंग पानी की मात्रा पर निर्भर है। कुछ लवणों में (जैसे आरसेनिक क्लोराइड) तथा दूसरी वस्तुओं में (जैसे द्रव सल्फर डाईआक्साइड या ट्राई आक्साइड, कार्बन डाईआक्साइड और अमोनिया में) भी आयोडीन घुल जाता है। कार्बन डाईसल्फाइड, कार्बन टेट्राक्लोराइड, बेंजीन, टॉलूईन, मिट्टी के तेल इत्यादि कार्बनिक द्रवों में आयोडीन की बड़ी मात्रा घुल जाती है। इन घोलों का रंग घोलक की प्रकृति पर निर्भर है। साधारणतया इनका रंग नीला, बैंगनी अथवा भूरा होता है। कुछ ठोस पदार्थ (जैसे कार्बन) आयोडीन सोख लेते हैं।

आयोडीन के रासायनिक गुण फ्लोरीन, क्लोरीन तथा ब्रोमीन के गुणों से मिलते हैं। हैलोजन के इस समूह में आयोडीन सबसे भारी है तथा अन्य हैलोजन से भी इसके यौगिक बनते हैं, जैसे आक्लो, आक्लो, तथा आब्रो। हाइड्रोजन के साथ गरम करने पर तथा आक्सिजन के साथ मूक (साइलेंट) विद्युद्विसर्जन होने पर आयोडीन क्रिया करता है। कुछ धातुओं से भी आयोडीन संयुक्त होता है; यथा सोने के साथ गरम करने पर, पारे से साधारण ताप पर सरलता से और पोटैसियम से धड़ाके के साथ क्रिया होती है, जिसमें धातु का आयोडाइड बनता है। आयोडीन का ऐलकोहल में घोल अमोनिया से क्रिया करता है, जिसमें प्रतिस्थापन-उत्पाद-पदार्थ (सब्स्टिट्यूशन प्रॉडक्ट) और नाइट्रोजन आयोडाइड बनते हैं। नाइट्रिक अम्ल के साथ उबालने पर नाइट्रोजन परॉक्साइड प्राप्त होता है। ऐंटिमनी तथा फास्फोरस से भी आयोडीन क्रिया करता है।

कुछ लवण भी आयोडीन से क्रिया करते हैं। सिल्वर नाइट्रेट से सिल्वर आयोडाइड मिलता है। पोटैसियम आयोडाइड के घोल में आयोडीन से पोटैसियम पॉलीआयोडाइड बनता है। सोडियम थायो-सलफेट की क्रिया से आयोडीन, आयोडाइड बनाता है, जिससे आयोडीन के घोल का रंग समाप्त हो जाता है। यह क्रिया घोल में स्वतंत्र आयोडीन की मात्रा ज्ञात करने के लिये उपयोगी है। स्टार्च के साथ आयोडीन नीले रंग की वस्तु देता है। अतः आयोडीन अल्प मात्रा में रहने पर भी स्टार्च संकेतक द्वारा पहचाना जा सकता है।

आयोडीन विविध रूपों में दवाओं में, विशेष कर बाह्य उपयोग के लिये प्रतिदोषरोधी (ऐंटीसेप्टिक) के रूप में प्रयुक्त होता है, जैसे टिंक्चर आयोडीन; लिकर आयोडाइ; आयोडाइज्ड रुई, शराब या पानी; आयडोफार्म; एथिल आयोडाइड; आयोडोल आदि। फोटोग्राफी में तथा विविध प्रकार के रंग बनाने में भी इसका उपयोग होता है।

सं०ग्रं० :—जे० डब्ल्यू० मेलर : ए कॉम्प्रिहेंसिव ट्रीटिज़ ऑन इनॉर्गैनिक ऐंड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री (१९२२); जे० आर० पारटिंगटन : ए टेक्स्ट बुक ऑव इनॉर्गैनिक केमिस्ट्री; चार्ल्स डी० हॉजमैन : हैंड बुक ऑव केमिस्ट्री ऐंड फिज़िक्स। [विं० वा० प्र०]

आरंभवाद कार्य संबंधी न्यायशास्त्र का सिद्धांत। कारणों से कार्य की उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति के पहले कार्य नहीं होता। यदि कार्य उत्पत्ति के पहले रहता तो उत्पादन की आवश्यकता ही न होती। इसी सार्वजनीन अनुभव के आधार पर न्यायशास्त्र में उत्पन्न कार्य को उत्पत्ति के पहले असत् माना जाता है। बहुत से कारण (कारण-सामग्री) एकत्र होकर किसी पहले से असत् कार्य का निर्माण आरंभ करते हैं। इसी असत् कार्य के निर्माण के सिद्धांत को आरंभवाद कहा जाता है। इस सिद्धांत के विपरीत सत् कार्यवादी दर्शन में चूँकि कार्य उत्पत्ति के पहले सत् माना गया है, वहाँ कार्य का नए सिरे से आरंभ नहीं माना जाता। केवल दिए हुए कार्य को स्पष्ट कर देना ही कार्य की उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि सांख्य, वेदांत आदि दर्शनों में आरंभवाद का विरोध किया गया है और परिणामवाद या विवर्तवाद की स्थापना की गई है। भूतार्थवादी न्यायदर्शन को उत्पत्ति के पूर्व कार्य की स्थिति मानना हास्यास्पद लगता है। यदि तेल पहले से विद्यमान है तो तिल को पेरने का कोई प्रयोजन नहीं। यदि तिल को पेरा जाता है तो सिद्ध है कि तेल पहले नहीं था। यदि मान भी लिया जाय कि तिल में तेल छिपा था, पेरने से प्रकट हो गया तो भी आरंभवाद की ही पुष्टि होती है। उपभोग योग्य तेल पहले नहीं था और पेरने के बाद ही उस तेल की उत्पत्ति हुई। अतः न्याय के अनुसार कार्य सर्वदा अपने कारणों से नवीन होता है। [रा० पां०]

आरज़ू, अनवर हुसेन आरज़ू का खानदान हिरात से हिंदुस्तान आया और अजमेर में रहा। अजमेर से ये लोग लखनऊ गए और वहाँ १८७५ में आरज़ू का जन्म हुआ। यहीं शिक्षा प्राप्त की और १२ साल की अवस्था से काव्यरचना करने लगे। ये प्रायः गजलें लिखते थे लेकिन नज्में, रुबाइयाँ, मसनवियाँ इत्यादि भी लिखीं। आरज़ू साहब सिर्फ शेर ही नहीं कहते थे बल्कि वे सफल नाट्यकार भी थे। आपने 'मतवाली जोगन', 'दिलजली बैरागन', 'शराराए हुस्न' नाटक लिखे। आप पहले उर्दू शायर हैं जिन्होंने फिल्म के वास्ते

सिनेरियो' और गाने इत्यादि लिखे। न्यू थिएटर्स (कलकत्ता) के साथ आपने काम किया। फिर बंबई चले गए और वहाँ बहुत सी फिल्मों में गाने और संवाद लिखे।

आपकी सर्वप्रियता का सबसे बड़ा कारण यह है कि गजलों में भी आप बहुत कम फारसी और अरबी शब्दों का प्रयोग करते थे। आपके दो संग्रह हैं 'जहाने आरजू' और 'फुगाने आरजू'; और एक संग्रह है 'सुरीली-बाँसुरी' जिसमें आपके खालिस बोलचाल की भाषा में लिखे हुए शेर हैं। मरने के कुछ समय पूर्व आप कराची चले गए थे जहाँ १९५१में आपका देहांत हुआ। [र० स० ज०]

आरण्यक वेद का एक प्रधान व्याख्यात्मक गद्य भाग। वेद मंत्र तथा ब्राह्मण का संमिलित अभिधान है। मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् (आपस्तंबसूत्र)। ब्राह्मण के तीन भागों में आरण्यक अन्यतम भाग है। सायण के अनुसार इस नामकरण का कारण यह है कि इन ग्रंथों का अध्ययन अरण्य में किया जाता था। आरण्यक का मुख्य विषय यज्ञभागो का अनुष्ठान न होकर तदंतर्गत अनुष्ठानों की आध्यात्मिक मीमांसा है। वस्तुतः यज्ञ का अनुष्ठान एक नितांत रहस्यपूर्ण प्रतीकात्मक व्यापार है और इस प्रतीक का पूरा विवरण आरण्यक ग्रंथों में दिया गया है। प्राणविद्या की महिमा का भी प्रतिपादन इन ग्रंथों में विशेष रूप से किया गया है। संहिता के मंत्रों मे इस विद्या का बीज अवश्य उपलब्ध होता है, परंतु आरण्यको मे इसी को पल्लवित किया गया है। तथ्य यह है कि उपनिषदें आरण्यक मे संकेतित तथ्यों की विशद व्याख्या करती है। इस प्रकार संहिता से उपनिषदों के बीच की शृंखला इस साहित्य द्वारा पूर्ण की जाती है। आरण्यकों के मुख्य ग्रंथ निम्नलिखित हैं : (क) **ऐतरेय** तथा (ख) **शांखायन** आरण्यक जिनका संबंध ऋग्वेद से है। ऐतरेय के भीतर पाँच मुख्य अध्याय (आरण्यक) हैं जिनमें प्रथम तीन के रचयिता ऐतरेय, चतुर्थ के आश्वलायन तथा पंचम के शौनक माने जाते हैं। डाक्टर कीथ इसे निरुक्त की अपेक्षा अर्वाचीन मानकर इसका रचनाकाल षष्ठ शताब्दी विक्रमपूर्व मानते हैं, परंतु वस्तुतः यह निरुक्त से प्राचीनतर है। ऐतरेय के प्रथम तीन आरण्यकों के कर्ता महिदास हैं इससे उन्हें ऐतरेय ब्राह्मण का समकालीन मानना न्याय्य है।

शांखायन ऐतरेय आरण्यक के समान है तथा पंद्रह अध्यायों में विभक्त है जिसका एक अंश (तीसरे अ० से छठ अ० तक) कौषीतकि उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है। (ग) **तैत्तिरीय** आरण्यक दस परिच्छेदो (प्रपाठकों) में विभक्त है, जिन्हें 'अरण' कहते हैं। इनमें सप्तम, अष्टम तथा नवम प्रपाठक मिलकर 'तैत्तिरीय उपनिषद्' कहलाते हैं। (घ) **बृहदारण्यक** वस्तुतः शुक्ल यजुर्वेद का एक आरण्यक ही है, परंतु आध्यात्मिक तथ्यों की प्रचुरता के कारण यह उपनिषदो में गिना जाता है। सामवेद से संबद्ध एक ही आरण्यक है। (ङ) **तवलकार** (आरण्यक) जिसमें चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में कई अनुवाक। चतुर्थ अध्याय के दशम अनुवाक में प्रख्यात तवलकार (या केन) उपनिषद् है। अथर्ववेद का कोई आरण्यक उपलब्ध नहीं है।

सं०ग्रं०—भगवद्दत्त : वैदिक साहित्य का इतिहास, लाहौर १९३५; मैक्डानेल : हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, लंदन, १८९९; बलदेव उपाध्याय : वैदिक साहित्य और संस्कृति, काशी, १९५८।

[ब० उ०]

आरबेला उत्तरी-पूर्वी मेसोपोटेमिया (ईराक) की तलहटी में, मोसूल से ४८ मील दक्षिण-पूर्व (३६° उत्तरी अक्षांश, ४४° पूर्वी देशांतर) स्थित एक नगर है। यह नगर गेहूँ के बहुत ही उपजाऊ क्षेत्र में, छोटी और बड़ी जाब नदियों के बीच, पर्वत के किनारे पर बसा है। इस प्रदेश में अनाज की अच्छी उपज होती है और इसका व्यापार टाइग्रिस नदी द्वारा बगदाद तक होता है। यह मोसूल, बगदाद तथा मोसूल-रोवांदुज कारवाँमार्गों पर पड़ता है। मोसूल से एक रेलवे शाखा आरबेला तक जाती है। यहाँ की आबादी करीब २५,००० है और अधिकतर इसमें कुर्द जाति के लोग हैं। [नृ० कु० सिं०]

आरांथा पेड्रो पाबलो आबार्का थ बोलिया (१७१९-९८), काउंट, स्पैनिश सेनापति और मंत्री। अरागान के अंतर्गत ह्यूएस्का के समीप ऐत्ता दो किले में १ अगस्त, १७१९ को पैदा हुआ। जीवन का पहला भाग यात्रा, सेना और राजनीति में बीता। इसने स्पैनी सेना में प्रशियाई प्रणाली की कवायद चलाई। सैनिक ठेकेदारों को दंड न देने पर रुष्ट होकर इसने डाइरेक्टर-जनरल के पद से इस्तीफा दे दिया लेकिन चार्ल्स तृतीय का कृपापात्र बना रहा। कास्तिल कौंसिल का अध्यक्ष बनाया गया। यहाँ इसने अनेक सुधार किए।

यह अनथक परिश्रमी और लोकप्रिय, किंतु साथ ही अभिमानी और असहिष्णु भी था। फाकलैंड द्वीप के मामले में स्पेन को नीचा देखना पड़ा और इस अपमान के लिये यही जिम्मेदार ठहराया गया। अतः राजदूत बनाकर पेरिस भेजा गया जहाँ १७७७ तक रहा। चार्ल्स चतुर्थ के समय १७९२ में अल्प काल के लिये प्रधान मंत्री बना। इसका स्वभाव बहुत उग्र हो गया था। क्रोध अनियंत्रित था। राजा तक से मजाक करता था फलतः कैद किया गया। ९ जनवरी, १७९८ को इसका स्वर्गवास हो गया। [अ० कु० वि०]

आरा भारत के बिहार प्रांत के शाहाबाद जिले का प्रमुख नगर तथा व्यापारिक केंद्र है। (स्थिति : २५° ३४′ उ० अ० और ८४° ४०′ पू० दे०।) यह नगर वाराणसी से १३६ मील पूर्व-उत्तर-पूर्व, पटना से ३७ मील पश्चिम, गंगा नदी से १४ मील दक्षिण और सोन नदी से ८ मील पश्चिम में स्थित है। यह पूर्वी रेलवे की प्रधान शाखा तथा आरा-सासाराम रेलवे लाइन का जंक्शन है। डिहरी से निकलनेवाली सोन की पूर्वी नहर की प्रमुख 'आरा नहर' शाखा भी यहाँ से होकर जाती है।

आरा अति प्राचीन ऐतिहासिक नगर है। इसकी प्राचीनता का संबंध महाभारतकाल से है। पांडवो ने भी अपना गुप्त वासकाल यहाँ बिताया था। जेनरल कनिंघम के अनुसार युवानच्वांग द्वारा उल्लिखित कहानी का संबंध, जिसमें अशोक ने दानवों के बौद्ध होने के संस्मरणस्वरूप एक बौद्ध स्तूप खड़ा किया था, इसी स्थान से है। आरा के पास के मसार ग्राम में प्राप्त जैन अभिलेखों में उल्लिखित 'आरामनगर' नाम भी इसी नगर के लिये आया है। पुराणो में लिखित मोरध्वज की कथा से भी इस नगर का संबंध बताया जाता है। बुकानन ने इस नगर के नामकरण मे भौगोलिक कारण बताते हुए कहा कि गंगा के दक्षिण ऊँचे स्थान पर स्थित होने के कारण, अर्थात् आड़ या अरार में होने के कारण, इसका नाम 'आरा' पड़ा। १८५७ के प्रथम भारतीय स्वतंत्रतायुद्ध के प्रमुख सेनानी कुँवरसिंह की कार्यस्थली होने का गौरव भी इस नगर को प्राप्त है।

गंगा और सोन की उपजाऊ घाटी में स्थित होने के कारण यह अनाज का प्रमुख व्यापारिक क्षेत्र तथा वितरणकेंद्र है। यहाँ दो स्नातक विद्यालय (डिगरी कालेज) हैं। रेलों और पक्की सड़कों द्वारा यह पटना, वाराणसी, सासाराम आदि से संबद्ध है।

नगर षड्भुजाकार है और इसका क्षेत्रफल ६ वर्ग मील है। नगर के आकार पर धरातल का प्रभाव अधिक है। बहुधा सोन नदी की बाढ़ों से अधिकांश नगर क्षतिग्रस्त हो जाता है। सन् १९५१ में इसकी जनसंख्या ६४,२०५ थी। प्राशासनिक केंद्र होने के कारण यहाँ की ४० प्रति शत जनसंख्या वकालत, डाक्टरी, नौकरी एवं प्राशासनिक कार्यों में लगी है। २२·२ प्रति शत लोग व्यापार से तथा २४·३ प्रति शत कृषि से जीविकोपार्जन करते हैं। उद्योग धंधे में लगे लोगों की संख्या अपेक्षाकृत बहुत ही कम है। [नृ० कु० सिं०]

आराकान बर्मा का एक प्रांत, चटगाँव तथा बंगाल की खाड़ी के पूर्व और लुशाई एवं चिन पहाड़ियों के दक्षिण में स्थित है। इसके अंतर्गत अक्याब, उत्तर आराकान, क्योकप्यू तथा संडोवे नामक चार जिले हैं। क्षेत्रफल लगभग १६,००० वर्ग मील; जनसंख्या ११,८६,७३८ (१९४१ ई०)। यह पहाड़ी प्रांत उत्तर से दक्षिण तक ५०० मील लंबा है। इसकी चौड़ाई उत्तर में ९० मील है, जो दक्षिण में सँकरी होकर केवल १५ मील रह जाती है। कालादान, लम्रो, मायू इत्यादि यहाँ की मुख्य

नदियाँ हैं। इस क्षेत्र की औसत वर्षा १२०'' से १३०'' तक है। यहाँ की घाटियों में मलेरिया का विशेष प्रकोप हो जाता है। आराकान के जंगलों में बाँस एवं बेत की प्रचुरता है तथा अक्याब इनके व्यापार का केंद्र है। इस प्रांत में केवल १० प्रति शत भाग में कृषिकार्य होता है। चावल, रुई एवं तंबाकू मुख्य उपज है। यहाँ के उद्योगों में सूती तथा रेशमी कपड़े बुनना और टोकरी तथा मिट्टी के बर्तन बनाना प्रधान हैं। इस क्षेत्र की आदिवासी जातियाँ (कामीस्, आस, चिन, चांगथा) लड़ाकू हैं। ये चावल, मछली, जमींकंद, लौकी तथा बाँस के अंकुर का भोजन करते हैं। आमिष भोजन भी ये कभी कभी करते हैं। [न० कि० प्र० सिं०]

आराकान योमा भारत तथा बर्मा की सीमा निर्धारित करनेवाली एक पर्वतश्रेणी जो आसाम की 'लुशाई' पहाड़ियों के दक्षिण तथा पूर्वी पाकिस्तान के चटगाँव नामक पहाड़ी क्षेत्र के पूर्व में स्थित है। इसका विक्टोरिया नामक सर्वोच्च शिखर १०,०१८ फुट ऊँचा है। [न० कि० प्र० सिं०]

आरारत आस्ट्रेलिया के विक्टोरिया राज्य का एक नगर है। स्थिति : (३७° १५' द० अ०, १४३° ०' पू० दे०)। यह पश्चिमी 'विक्टोरियन हाइलैंड्स' के पश्चिमी भाग में १०३० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। जनसंख्या १९४७ ई० में ५,९५७ थी। यह सोने की खानों के लिये प्रसिद्ध है। यहाँ वर्षा २४ इंच के लगभग होती है। इस क्षेत्र की मुख्य उपज गेहूँ तथा अंगूर है। भेड़ों की चराई भी की जाती है। [न० कि० प्र० सिं०]

आरारत पूर्वी तुर्की के आर्मीनिया पठार के एक पर्वत का भी नाम है। यह पर्वत ज्वालामुखी चट्टान (ऐंडीसाइट) द्वारा बना है तथा इसके दो शिखर हैं—बड़ा 'आरारत' (१६,९१६ फुट ऊँचा) तथा छोटा 'आरारत' (१२,८४० फुट ऊँचा)। यहाँ १४,००० फुट के ऊपर अनेक छोटी हिमनदियाँ मिलती हैं। परंपरागत किंवदंती के अनुसार यह "नूह की नौका" का विश्रामस्थान था। सन् १८२९ ई० में पहली बार इस पर्वत पर आरोहण कर विजय प्राप्त की गई थी। [न० कि० प्र० सिं०]

आरास आर्मीनिया की एक नदी है जो अरज़ेरुम के दक्षिण, फरात (यूफ्रेटीज़) के उद्गम स्थान के समीप बिज्यूलदाग पर्वत से निकलकर पूर्व की ओर लगभग ६३५ मील प्रवाहित हो स्वतंत्र रूप से कैस्पियन सागर में गिरती है। सन् १८९७ ई० के पहले यह कुरा नदी की सहायक थी। तीव्रगामी होने के कारण यह नदी नाव चलाने योग्य नहीं है, किंतु सूखे क्षेत्रों के बीच बहने के कारण इससे सिंचाई होती है। [न० कि० प्र० सिं०]

आरिओस्तो, लूदोविको (१४७४-१५३३) पुनर्जागरणकाल के प्रसिद्ध इतालीय वीरकाव्य ओरलांदो फूरिओसो के रचयिता लूदोविको आरिओस्तो का जन्म १४७४ में रेज्जो एमीलिया में एक संभ्रांत परिवार में हुआ। विद्यार्थी जीवन में साहित्य में उनकी बड़ी रुचि थी, किंतु पिता की मृत्यु के पश्चात् उन्हें अपने छोटे भाई बहनों की देखरेख तथा संपत्ति सँभालने का भार लेना पड़ा और आर्थिक आवश्यकता के कारण नौकरी करनी पड़ी। वह कार्डिनल इप्पोलीतो द ऐस्ते के यहाँ १५०३ में पहुँचे और पंद्रह वर्ष तक उनके साथ कार्य किया। इसी कार्यालय में आरिओस्तो पोप जूलियो द्वितीय और लेओने दसवें के यहाँ कार्डिनल के राजदूत होकर गए। हंगरी में कार्डिनल इप्पोलीतो के साथ जाना उन्होंने स्वीकार नहीं किया और सन् १५१७ में उनकी नौकरी छूट गई। उसके बाद ड्यूक आल्फोंसो के यहाँ नौकरी की जिन्होंने आरिओस्तो को १५२२ में गार्फान्याना (तोस्काना) में अपना राजदूत बनाकर भेजा। आरिओस्तो को यह कार्य भी पसंद नहीं था, वह स्वतंत्र रहकर अध्ययन करना चाहते थे। उन्होंने योग्यतापूर्वक कार्य किया, किंतु उनके कार्य की उचित सराहना नहीं की गई और १५२५ में वह फेरारा लौट आए। यहाँ उन्होंने एक छोटा घर और खेत खरीदा और शांतिपूर्वक अपना जीवन यहीं बिताया, अपनी कृतियों की रचना की और यहीं १५३३ में स्वर्गवासी हुए।

आरिओस्तो ने प्रारंभ में कुछ कविताएँ लातीनी में तथा कुछ लातीनी अपभ्रंश में लिखीं। इसके अतिरिक्त सात व्यंगकविताएँ तथा पाँच कमेडियाँ (सुखांत नाट्यकृतियाँ) लिखीं। पहले पहल इतालीय साहित्य में इस प्रकार की नाट्यकृतियाँ लिखने का श्रेय आरिओस्तो को ही है। आरिओस्तो की सर्वश्रेष्ठ कृति है 'ओरलांदो फूरिओसो'। पुनर्जागरणकाल की विशेषताओं से युक्त इतालीय साहित्य की यह सर्वोत्तम काव्यकृतियों में से एक है। इस कृति को लिखने की प्रेरणा आरिओस्तो को बोइआर्दो की असमाप्त कृति ओरलांदो इन्नामोरातो से मिली। जहाँ बोइआर्दो की कथा रह गई थी, वहीं से आरिओस्तो ने अपनी कृति प्रारंभ की है। कथा का निर्वाह, पात्रों का चित्रण, रस का परिपाक, सभी दृष्टियों से यह बहुत सफल रचना है। आंजेलिका के लिये ओरलांदो का प्रेम, पेरिस के निकट ईसाइयों तथा सारासेनों में युद्ध और रुज्जेरो तथा ब्रादामांते का प्रेम इस कृति की प्रधान कथाएँ हैं। पहली घटना का अच्छा विस्तार किया गया है और उत्कर्ष पर कथा वहाँ पहुँचती है जहाँ ओरलांदो प्रेम में पागल हो जाता है। इन तीन प्रधान घटनाओं से संबंधित कृति में और भी छोटी मोटी घटनाएँ कवि ने ग्रथित की हैं। कृति की वस्तु पुरानी कथाओं, प्राचीन काव्यकृतियों तथा लोककथाओं से ली गई है। कृति के प्रधान भाव प्रेम, सौंदर्य और शृंगारपरक उत्साह हैं। कवि के जीवनकाल में ही यह कृति लोकप्रिय हो गई थी। फ्रांसीसी में इसका अनुवाद गद्य में १५४३ तथा पद्य में १५५५ में हो गया था; अंग्रेजी में १५९१ में और स्पेनिश में १५४९ में हुआ। कृति पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं और वह चित्रों से सज्जित की गई। १६वीं सदी में पूरे यूरोप में ओरलांदो फूरिओसो प्रसिद्ध हो गया था। दांते की कमेडी के पश्चात् ओरलांदो की कृति कदाचित् सबसे अधिक लोकप्रिय रही है।

सं०ग्रं०—जू कार्दूच्ची : ला जोवेंतू दी लु० आ० ए० ला० पोइसिया लातीना ओपेरे ग्रंथावली, भाग १५; लीरिका : संपादक जू० फातीनी, बारी, १९२४; लेरीमे : संपा० जू फातीनी, तूरिंग, १९३४; सतीरे : संपा० जू तंबारा, सीवोरनो, १९०३; कमेदिए : संपा० एम० कातालानो, बोलोन, १९३३ तथा १९४०; ओरलांदो फूरिओसो, संपा० देबेनेदेत्ती, वारी, १९२८; कोमे लावोरावा : ल० आ०जी० कोंतीनी, फ्लोरेंस, १९३९; आ० पर इतालीय में अनेक ग्रंथ हैं : जू० पेत्रोनियो, नेपल्स, १९३४; ना० सापेन्यो, मिलान, १९४०; बिन्नी, फ्लोरेंस, १९४२; फ्रांचेस्को दे सांक्टीस, स्तोरियाद, लेत्तेरात्तूरा, अध्याय १३ इत्यादि। [रा० सिं० तो०]

आरियन (एरियन, फ्लावियस आरियानस), बिथीनिया में निकोमेदिया का ग्रीक निवासी। जन्म ल० ९६ ई० में, मृत्यु ल० १८० ई० में। इतिहासकार और दार्शनिक जो हाद्रियन, आंतोनियस पियस और मार्कस ओरिलियस नामक रोमन सम्राटों का समकालीन था। सम्राट् हाद्रियन उसका बड़ा आदर करता था और उसने उसे कप्पादोशिया का शासक बना दिया। इतना उच्च पद तब तक किसी ग्रीक को न मिला था। उसने अधिकतर लेखनकार्य शासन से अवकाश प्राप्त करने पर किया। वह एपिक्तेतस का शिष्य और मित्र रहा था। उसके दर्शन के संबंध में उसने अनेक विचारात्मक निबंध लिखे। पर अधिक विख्यात आरियन इतिहासकार के रूप में है। उसके ऐतिहासिक वृत्तांत पर्याप्त प्रामाणिक हैं। इतिहास तो उसने अनेक लिखे पर सिकंदर संबंधी सबसे अधिक विख्यात है। सिकंदर के राज्यारोहण से लेकर उसकी मृत्यु तक की सभी घटनाएँ उसमें अंकित हैं जिन्हें उसने तोलेमी आदि सिकंदर के सेनापतियों की आँखों देखी घटनाओं के आधार पर लिखा। अतः यह वृत्तांत सिकंदर का समकालीन होने से प्रामाणिक हो जाता है। उससे सिकंदर की पंजाब विजय पर भी प्रभूत प्रकाश पड़ता है। आरियन ने भारत के संबंध में एक और ग्रंथ भी लिखा—'इंदिका', जिसमें सिकंदरकालीन भारतीय इतिहासादि के संबंध में सामग्री भरी पड़ी है। भारत के पश्चिमी संसार के साथ सागरीय व्यापार संबंधी एक प्रसिद्ध ग्रंथ, 'इरिथ्रियन सागर का पेरिप्लस', भी बहुत काल तक उसी का लिखा माना जाता था, परंतु अब प्रायः प्रमाणित हो गया है कि उस ग्रंथ को किसी और ने उसके बाद लिखा। [भ० श० उ०]

आरियस (२५६-३३६ई०) का जन्म लिबिया में तथा पौरोहित्याभिषेक सिकंदरिया में हुआ था। गिरजे के इतिहास में इनका स्थान अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इन्होंने ईसाई विश्वास के एक मूल सिद्धांत का विरोध किया था तथा अपनी धारणाओं के सफल प्रचार द्वारा समस्त ईसाई संसार में अशांति फैला दी थी। ३२५ ई० में सम्राट् कोंस्तांतीन ने ईसाई धर्मपंडितों की एक महासभा बुलाई जिसमें आरियस की शिक्षा को दूषित ठहराया गया। तीन साल बाद सम्राट् ने आरियस को अपने दरबार में बुलाया तथा सिकंदरिया के बिशप और आरियस के विरोधी, संत अथानासियस को निर्वासित किया। आरियस के मरण के बाद सम्राट् के पुत्र कोंस्तांतियस ने सब कैथोलिक बिशपों को निर्वासित कर दिया, इससे आरियस के अनुयायी कुछ समय तक सर्वोपरि रहे। किंतु अथानासियस के प्रयत्नों के फलस्वरूप वे एक एक करके कैथोलिक परिवार में लौटे तथा कुस्तुंतुनियाँ की महासभा (३८१ ई०) में आरियस के सिद्धांतों का पुनः विरोध हुआ जिससे यूनानी संसार में आरियस का प्रभाव लुप्त हो गया।

आरियस की शिक्षा त्रित्व (ट्रिनिटी) से संबंध रखती है। ईसाई विश्वास के अनुसार एक ही ईश्वर में, एक ही ईश्वरीय तत्व में तीन व्यक्ति हैं—पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा। तीनों समान रूप से अनादि, अनंत, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान हैं, वे तत्वतः एक हैं (दे० त्रित्व)। आरियस के अनुसार पिता ने शून्य से पुत्र की सृष्टि की है, अतः पिता और पुत्र तत्वतः एक नहीं हैं। पुत्र न तो अनादि है और न पूर्णतः ईश्वर है, इसलिये ईसा (प्रभु के अवतार) पूर्ण रूप से ईश्वर नहीं है।

सं०ग्रं०—जे० एच० न्यूमन : आरियस ऑव दि फोर्थ सेंचुरी, लंदन, १८८८; जे० बी० किर्श : किर्शेगेसशिस्ते, प्रथम खंड, १९३१। [का० बु०]

आरिस्तीदिज् (ल० ई० पू० ५२० से ई० पू० ४६८) एथेंस-निवासी यूनानी राष्ट्र-नीति-विशारद और योद्धा, जो अपने उच्च कोटि के आचरण के कारण न्यायी कहलाते थे। यह लीसीमाकस के पुत्र थे और इन्होंने अपनी न्यायप्रियता, देशप्रेम एवं संयताचार के कारण अत्यधिक ख्याति प्राप्त की थी। माराथॉन् के अभियान में यह एक सेनापति थे और तत्पश्चात् ई० पू० ४८९-४८८ में वत्सराभिधानी शासक (आर्कोन् ऐपोनियम्) बने। परंतु थेमिस्तोक्लेस से विरोध हो जाने के कारण इनको ई० पू० ४८३ में निर्वासित कर दिया गया। जब इनके निर्वासन के संबंध में मतदान हो रहा था तब इनको न जाननेवाले एक कृषक ने स्वयं इनसे निर्वासन के पक्ष में मत देने को कहा। उससे पूछने पर कि आरिस्तीदिज् ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, उसने उत्तर दिया कि उनको सर्वत्र 'न्यायी' कहा जाना मुझे अखरता है। दो वर्ष पश्चात् उनको क्षमा कर दिया गया और वह एथेंस लौट आए। सालामिस् के युद्ध में उन्होंने विशेष पराक्रम दिखलाया और प्लातेइया के युद्ध में वह प्रधान सेनाध्यक्ष थे। देलॉस् का संघ बनने पर विविध राष्ट्रों के अनुदान का निर्णय इन्होंने किया था। स्पार्ता के विरोध करने पर भी एथेंस की दीवारों को इन्होंने बनवाया। अरस्तू के अनुसार इन्होंने जनतंत्रात्मक राष्ट्रीय समाजवाद की नीति का प्रतिपादन किया। इनकी मृत्यु अत्यंत निर्धनता में हुई।

सं०ग्रं०—अरस्तू का एथेंस का संविधान, १९५६; अरस्तू की राजनीति (दोनों ग्रंथों का हिंदी अनुवाद) १९५६। [भो० ना० श०]

आरिस्तीदिज् ईलियस् (११७ या १२९ से १८९ ई० तक) यूनानी वाक्कलाविद् (रेतोरीशियन्) और शिक्षक। इन्होंने पेरगमिम् और एथेंस में शिक्षा पाई। मिस्र की यात्रा के उपरांत इन्होंने लघु एशिया और रोम में शिक्षणकार्य किया। इनके व्याख्यान, पत्र और गद्यस्तुतियाँ अत्तिक शैली (एथेंस के श्रेष्ठ युग की शैली) के अनुकरण पर रची गई थीं। इस शैली में इनकी ५५ रचनाएँ उपलब्ध हैं। वाक्कलासंबंधी जिन रचनाओं को पहले इनकी कृति माना जाता था, अब वे अन्य लेखकों की रचनाएँ सिद्ध हो चुकी हैं, पर इनकी प्रामाणिक रचनाएँ भी वाक्यसंघटन, आलंकारिकता एवं भावाभिव्यंजन की दृष्टि से श्लाघ्य हैं। [भो० ना० श०]

आरिस्तीयस सूर्यदेव अपोलो और लापिथाए के राजा हिपुसेयस् की पुत्री कीरेने के पुत्र। ये पशुओं और फलों के वृक्षों की रक्षा करनेवाले देवता माने जाते थे। ख्याति है कि इन्होंने एक बार ऑर्फेयस् की पत्नी यूरीदिके का पीछा किया और वह इनसे बचने के लिये भागती हुई सर्प के काटने से मर गई। इसपर अप्सराओं ने रुष्ट होकर इनको शाप दिया जिससे इनकी पालतू मधुमक्खियाँ नष्ट हो गईं। तब इन्होंने अपनी माता और प्रौतियस् नामक जलदेवता के परामर्श से अप्सराओं को पशुबलि दी। नौ दिन पश्चात् इन पशुओं के कंकाल में से मधुमक्खियाँ पुनः उत्पन्न हो गईं। आरंभ में इनकी पूजा थेसाली में होती थी, बाद केयॉस् और बियोतिया में भी होने लगी। [भो० ना० श०]

आरिस्तोबुलस (१६० ई० पू०) कुछ विद्वानों के अनुसार तोलेमी दशम और कुछ के अनुसार तोलेमी द्वितीय के समकालीन; सिकंदरिया के उन प्रारंभिक यहूदी दार्शनिकों में से जो यूनानी दर्शन और यहूदी धर्म दोनों के मध्य सामंजस्य पैदा करना चाहते थे। उन्होंने यह स्थापित करने का प्रयत्न किया कि यूनानी दार्शनिकों ने यहूदी धर्मग्रंथों से अपने दर्शन के लिये प्रोत्साहन प्राप्त किया। उनकी रचनाओं में से एक 'मूसा के धर्मग्रंथ की टीका' के कुछ अंश अब तक प्राप्त हैं। [वि० ना० पां०]

आरीका यह उत्तरी चिली के टरपाका प्रांत का प्रधान नगर और विख्यात पोताश्रय है। यह मोर्रो पहाड़ की तराई में बसा हुआ है तथा बोलविया की राजधानी ला पाज से रेलमार्ग द्वारा, जिसका निर्माण सन् १९१२ ई० में हुआ था, संबद्ध है। यह बोलविया के आयात निर्यात का प्रधान केंद्र है। वास्तव में यह एक अंतर्राष्ट्रीय पोताश्रय है। सन् १८६८ ई० में भयंकर भूकंपजनित उच्च ज्वार के कारण नगर और पोताश्रय नष्ट हो गए। सन् १८८३ ई० में चिलीवासियों ने इस नगर को खूब लूटा और चलते समय आग भी लगा दी। सन् १८८३ ई० की अंकोन की संधि के अनुसार सन् १८९४ ई० में यह नगर पेरू को वापस मिल जाना चाहिए था, परंतु ऐसा नहीं हो सका। सन् १९०६ ई० में यह नगर भूकंप से ध्वस्त हो गया।

यह तटीय मरुस्थल में बसा है। इसके आसपास न कुछ उपजता है और न कोई खनिज पदार्थ ही मिलता है। फिर भी यहाँ से प्रचुर मात्रा में राँगा, ताँबा, गंधक, सोहागा, अल्पाके का ऊन आदि निर्यात किए जाते हैं। ये सारी वस्तुएँ बोलविया और पेरू से उपलब्ध होती हैं। सन् १९४० ई० की गणना के अनुसार यहाँ की जनसंख्या १४,१४३ थी। [श्या० सुं० श०]

आरीकिया रोम के दक्षिण-पूर्व जानेवाली विया-आप्पिया सड़क पर लातियम का नगर। उसके खंडहर रोम से १६ मील पर आज भी देखे जा सकते हैं। आरीकिया लातियम के प्राचीनतम नगरों में से था और जब रोम में राजशासन को हटाकर प्रजातंत्र की घोषणा हुई तब आरीकिया ने उसका बड़ा विरोध किया। ३३८ ई० पू० में भी मीनियस ने उसे जीत लिया पर शीघ्र उसे नागरिक अधिकार लौटा दिए गए। आरीकिया जनपद अपनी शराब और तरकारियों के लिये प्रसिद्ध है।

[ओं० ना० उ०]

आरू आस्ट्रेलिया और न्यूगिनी के बीच उथले आरागुरा समुद्र में द्वीपों का एक समूह है। यह तनवेसर नामक एक बड़े द्वीप तथा ९० छोटे छोटे द्वीपों को मिलाकर बना है। ये द्वीप ५° १८' द० अ० से ७° ५' द० अ० और १३४° पू० दे० से १३५° पू० दे० के बीच स्थित है। इन द्वीपों का क्षेत्रफल ३,२४४ वर्ग मील है। तनवेसर तीन सँकरी शाखाओं द्वारा बँटा हुआ है। सभी द्वीपों की ऊँचाई कम है। ये द्वीप मूँगे के बने हैं और जंगलों से ढके हुए हैं। तटीय भाग दलदली है। यहाँ की वनस्पति मुख्यतः केतकी (स्क्रू पाइन), नारियल और ताड़ के पेड़ हैं। यहाँ की उपज साबूदाना, नारियल, ईख, मक्का, तंबाकू तथा सुपारी है। यहाँ पर मोती निकालना तथा शार्क मछली का शिकार भी मुख्य पेशे हैं। इस द्वीपसमूह का पता १६०६ ई० में डच लोगों को लगा और १६२३ ई० में इसपर उन लोगों ने अधिकार किया। यह सन् १९४७ ई० के चेरीलून समझौते के अनुसार इंडोनेशिया के अधिकार में आ गया है। यहाँ की राजधानी तथा बंदरगाह डोबो है। १९४९ ई० में इसकी आबादी १८,१७६ थी। [नृ० कु० सिं]

आरेंज फ्री स्टेट दक्षिण अफ्रीकी संघ का एक राज्य। इसके उत्तर एवं उत्तर-पश्चिम में ट्रांसवाल, दक्षिण तथा दक्षिण पूर्व में केप कालोनी तथा पूर्व में बसूतोलैंड और नैटाल हैं। इसका क्षेत्रफल ४६,६४७ वर्ग मील तथा जनसंख्या ८,७६,०७१ है। ब्लूमफांटेन यहाँ की राजधानी है। राज्य का अधिकतर भाग कहीं ऊँचा, कहीं नीचा मैदान है। समुद्रतट की अपेक्षा ऊँचाई ४,००० से ५,००० फुट तक घटती बढ़ती है। वर्ष भर जलप्लावित रहनेवाली मुख्य नदियाँ वाल तथा आरेंज हैं, किंतु झरनों तथा उथलेपन के कारण ये यातायात के लिये उपयोगी नहीं हैं। वैसे तो देश स्वास्थ्यप्रद है, परंतु ग्रीष्म ऋतु में भीषण आँधियाँ आती हैं। शीत ऋतु बहुत ठंढी रहती है। नदियों के किनारे उच्च भूमि पर झाऊ (विलो) के जंगल मिलते हैं। यहाँ के पशु अफ्रीका के वेल्ट भाग के पशुओं के ही समान हैं।

हीरे जवाहरात तथा जिप्सम के उत्पादन में इस राज्य का स्थान संघ में द्वितीय तथा कोयले के उत्पादन में तृतीय है। यहाँ पर कोयले का संचित कोष (रिजर्व) १,००,००,००,००० टन का है। उत्तरी तथा पूर्वी भागों में बलुआ पत्थर और ग्रेनाइट भरा पड़ा है। सन् १९४६ ई० में ओडेंडाल जिले में सोने की खानों का भी पता चला।

राज्य का मुख्य धंधा कृषि एवं पशुपालन है। यहाँ पर अंगोरा भेड़, घोड़े, गाय, खच्चर तथा गधे पाले जाते हैं। मक्का यहाँ की मुख्य उपज है, दूसरे शस्य जौ, ओट, राई, गेहूँ, आलू और मूंगफली हैं। बड़े उद्योग धंधे यहाँ कम उन्नति पर हैं जिनमें मुख्य मांस उद्योग तथा दियासलाई आदि के उद्योग है।

श्वेत मानव के आने से पहले आरेंज नदी के उत्तर का भाग जुलू, बेचुआना तथा बुशमैन इत्यादि आदिवासियों के अधीन था। १९०० ई० में यह ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया गया तथा अंततोगत्वा दक्षिणी अफ्रीकी संघ का एक राज्य बन गया। [शि० मं० सिं०]

आरेंजबर्ग संयुक्त राज्य (अमरीका) के दक्षिणी कैरोलिना राज्य में आरेंजबर्ग जिले का मुख्य नगर है। यह नगर उत्तरी एडिस्टो नदी पर कोलंबिया नगर से ४७ मील दक्षिण-पूर्व और समुद्रतल से २६४ फुट की ऊँचाई पर अटलांटिक समुद्रतटीय मैदान में स्थित है। यह सड़क और रेलमार्गों द्वारा समीपवर्ती क्षेत्रों से संबद्ध है। यह संयुक्त राज्य के एक महत्वपूर्ण कृषीय जिले का व्यापारिक और औद्योगिक केंद्र है। मुख्य उपज कपास, इमारती लकड़ी, अंडा और तरकारी है। यहाँ सूती कपड़े बुनने, कपास से बिनौले निकालने, वनस्पति तेल बनाने तथा लकड़ी चीरने इत्यादि के कारखाने हैं। यहाँ ५५ एकड़ क्षेत्रफल पर स्थित एडिस्टो उद्यान दर्शनीय है। यहाँ क्लैफिन विश्वविद्यालय (१८६९ में स्थापित) और राजकीय कृषि तथा शिल्प विद्यालय (१८९६ में स्थापित) दोनों नीग्रो लोगों के लिये हैं। इस नगर की स्थापना लगभग १७०० ई० में आरेंज के राजकुमार विलियम के नाम पर हुई। कुल जनसंख्या १५,३१५ है (१९५०)। [रा० ना० मा०]

आरेकीपा पेरू देश का तीसरा शहर तथा इसी नाम के प्रदेश की राजधानी है। यह समुद्रतल से ७,६०० फुट की ऊँचाई पर बसा है और मोलेंडो बंदरगाह से १०० मील दूर है। यह रायोचीली नदी की घाटी में दोनों किनारे पर बसा हुआ है तथा इसके पास ही एलमिस्ती नामक ज्वालामुखी पर्वत (ऊँचाई १९,१६७ फुट) है। १८६८ ई० के भूकंप में इस नगर को बहुत क्षति पहुँची। यह अपनी प्राकृतिक सुंदरता के लिये प्रसिद्ध है तथा गोरी स्पेनिश जातिवालों की यहाँ बस्तियाँ हैं। यहाँ की जलवायु शुष्क है। गर्मी में ५-६ इंच वर्षा होती है। धार्मिक तथा व्यावसायिक दृष्टि से दक्षिणी पेरू का यह मुख्य केंद्र है। यहाँ का विश्वविद्यालय १८२८ ई० में स्थापित हुआ था, जिसका नाम युनिवर्सिडैड नेशनल डसैन आगस्टिन है। यहाँ ऊन साफ किया जाता तथा बाहर भेजा जाता है। यहाँ ऊन तथा कपास के सामान, चाकलेट और बिस्कुट के कारखाने, आटे की चक्कियाँ तथा मशीन बनाने के कारखाने हैं। पैन अमरीकी कंपनी के हवाई जहाज इसको लीमा, प्यूनो, मौलेंडो तथा अफ्रीका से संबद्ध करते हैं। यह अपने ठंढे तथा गर्म सोतों के लिये प्रसिद्ध है। १९३० ई० में इसकी आबादी ७९,१८५ थी। [नृ० कु० सिं०]

आरेत्जो इटली देश के आरेत्जो प्रदेश की राजधानी है। यह फ्लोरेंस से ५४ मील दक्षिण-पूर्व में है। इसका पुराना नाम आर्टियम था और उस समय यह इटली के उन्नतिशील नगरों में से एक था। ३-४ ई० पूर्व में यह रोम के विरुद्ध था, परंतु हैनिबैल के आक्रमण में इसने रोमवासियों की सहायता की। गाल्स के आक्रमण के समय यह चीनी मिट्टी के बरतनों के लिये प्रसिद्ध था। यह नगर बहुत से महान् पुरुषों का जन्मस्थान रहा है; जैसे पेट्रकिटी लियोनार्डो, आरेटिनो, सीएलपिनो, पोप जूलियस द्वितीय, मासकारी इत्यादि। आज भी यह नगर आकर्षण का केंद्र है। यहाँ की चौड़ी तथा चिकनी सड़कें, संग्रहालय, पुस्तकालय और १३वीं सदी में बना एक बड़ा गिरजाघर देखने लायक है। यह एक उपजाऊ मैदान के बीच में स्थित है। इसके चारों ओर के प्रदेश में अनाज, जैतून और फल उत्पन्न होते हैं। यहाँ मदिरा बनाई जाती है। यहाँ की जलवायु भूमध्यसागरीय है। जनसंख्या २५,००० के लगभग है। यह एक पहाड़ी के ऊपर बसा हुआ है। यहाँ से सड़कें चारों ओर जाती हैं। यहाँ पर रेशमी कपड़े, चमड़े के सामान तथा सूती कपड़ों की मिलें हैं। इस शहर के पास ही आर्नो नदी बहती है। [नृ० कु० सिं०]

आरेलैस दक्षिण-पूर्व फ्रांस का एक शहर तथा बूश-दु रोन जिला की राजधानी है। रेल से यह मार्सेल्स से ५४ मील उत्तर-पश्चिम में पड़ता है। यह नगर नहर द्वारा बंदरगाह से मिला हुआ है तथा लियों-मार्सेल्स रेलमार्ग पर पड़ता है। जूलियस सीज़र के काल में यह आरलेट के नाम से प्रसिद्ध था। १०वीं शताब्दी में यह आर्ले राज्य की राजधानी बना। १२वीं शताब्दी तक यह एक सुंदर नगर बन गया। यहाँ की सड़कें सँकरी तथा टेढ़ीमेढ़ी हैं। नगर के केंद्र में होटल-डि-ला-विये है जहाँ पुस्तकालय, संग्रहालय तथा एक प्राचीन गाँथिक गिरजाघर है। यह एक चूने के पत्थर के पहाड़ पर स्थित है। इस नगर का कोई व्यावसायिक महत्व नहीं है। यहाँ का मुख्य उद्योग रेशम का कपड़ा, मदिरा, जैतून का तेल इत्यादि बनाना है। १९४६ में यहाँ की जनसंख्या ३५,०१७ थी। [नृ० कु० सिं०]

आरेस ज्यूस और हेरा के पुत्र; यूनानियों में युद्ध के देवता माने जाते थे। ये युद्ध की भावना अथवा आवेश के प्रतीक थे तथा इनको युद्धों को भड़काने में आनंद आता था। युद्ध छिड़ जाने पर वे कभी एक पक्ष और कभी दूसरे को ग्रहण कर लेते थे; पर प्रायः विदेशियों अथवा लड़ाकू लोगों का साथ देते थे। वे सर्वदा विजयी रहे हों ऐसा नहीं है; उनको दो बार अथीनी ने पराजित किया था और एक बार तो उनको १३ मास तक बंदी रहना पड़ा। अनेक स्त्रियों से इनके बहुत सी संतानें उत्पन्न हुई थीं। अस्कलाफस्, दियोमेदेस्, किक्नस्, मेलेयागर और फ्लेगियास् इनके पुत्र एवं हार्मोनिया और अल्किप्पे इनकी पुत्रियाँ थीं। पोसेइदन् के पुत्र हालिरोथियस् ने अल्किप्पे के साथ बलात्कार किया तो आरेस ने उनकी हत्या कर दी। इस कारण इनपर हत्या का अभियोग चला जिसमें इनको अपराधमुक्त घोषित किया गया। जिस न्यायालय में यह अभियोग चलाया गया था वह ओरथोपागस् कहलाया। आरेस की पूजा ग्रीस देश के उत्तर और पश्चिम की जातियों में अधिक प्रचलित थी। इनकी पूजा में स्त्रियाँ अधिक भाग लेती थीं। यह कोई उच्च आचरणवाले देवता नहीं थे। अनेक स्त्रियों, विशेषकर अफ्रोदीती के साथ इनका अवैध प्रेम था। इनके लिये कुत्तों की बलि दी जाती थी। इनका रोमन नाम मार्स है। [भो० ना० श०]

आरो (आर्रो) यहूदियों के पुरोहित वर्ग के संस्थापक और अध्यक्ष। हज़रत मूसा के साथ उन्होंने यहूदियों का मिस्र से मुक्त होने में नेतृत्व किया। पेंततुख के वर्णन के अनुसार आरो का चार घटनाओं से संबंध था : (१) मूसा के साथ यहूदियों का नेतृत्व करने में, (२) रेफ़ीदिम के संग्राम में मूसा की सहायता करने में, (३) यहूदियों के पूजाचिह्न सोने का बछड़ा बनाने में और (४) अपनी बहन मिरिअम के साथ मूसा के विरुद्ध इस आधार पर विद्रोह करने में कि मूसा ने एक विदेशी स्त्री को अपनी पत्नी बनाया। यहूदियों के निर्वासनकाल के पूर्व यहूदी पुरोहित 'जादोक' वंश के होते थे, किंतु निर्वासन के पश्चात् पुरोहितों की गद्दी आरो के वंश में आ गई। [वि० ना० पां०]

आरोग्य आश्रम (सैनाटोरियम या सैनीटेरियम) उन संस्थाओं को कहते हैं जहाँ लोग स्वास्थ्य की उन्नति के लिये भरती किए जाते हैं। दीर्घकालीन रोगों की विशेष चिकित्सा करनेवाली संस्थाओं को भी बहुधा यह नाम दिया जाता है; जैसे टी०बी०सैनाटोरियम।

साधारणतः किसी ठंढे स्थान में, जहाँ स्वाभाविक रूप से स्वास्थ्य अच्छा रहता है, आरोग्य आश्रम खोले जाते हैं। प्रकृति की गोद में, नगरो के दूषित वातावरण और कोलाहल से दूर, जहाँ सीलन (आर्द्रता) न हो, शीतल मंद समीर उपलब्ध हो, इस प्रकार की आरोग्यप्रद संस्थाएँ अधिकतर स्थापित की गई हैं। जो व्यक्ति इस प्रकार के मँहगे आश्रमों में नहीं जा सकते, उनके लिये बड़े नगरों के समीप उपयुक्त स्थान पर आरोग्य सदनों की व्यवस्था होनी चाहिए।

कई बार रोगी और उसके संबंधी भी आरोग्य आश्रम की उपयोगिता और महत्व को नहीं समझ पाते और घर में ही रहने की इच्छा प्रकट करते हैं। यह हो सकता है कि आश्रम में घर जैसी सुविधाएँ न मिलें, किंतु घरों की अपेक्षा इन स्वास्थ्यगृहों में रोगी बड़ी संख्या में शीघ्र अच्छे होते पाए गए हैं। इनमें सफल उपचार की अचूक सिद्धि के लिये सभी सामग्री उपलब्ध रहती है।

अच्छे आरोग्य आश्रमों में रोगी सुदर और स्वास्थ्यप्रद व्यवस्था में, आठों पहर कुशल परिचारिकाओं और चिकित्सकों की देखभाल में, रहता है। वहाँ मिलने जुलनेवाले व्यक्ति चाहे जिस समय आकर तंग नही करने पाते। भेंट करने का समय निश्चित रहता है। व्यर्थ का हल्ला गुल्ला नही होता और रोगी अनावश्यक सतर्कता के तनाव से मुक्त रहकर शांति पाता है।

आरोग्य आश्रम में परीक्षा के लिये प्रयोगशाला, एक्स-किरण-कक्ष और उपचार की अन्य सुविधाएँ तो रहती ही है, उनके साथ मनोरंजन, चित्रकला, संगीत और लेखनकला आदि मनबहलाव द्वारा चिकित्सा का प्रबंध रहता है। इससे बहुत संतोषजनक प्रगति होती देखी गई है। इस बात का ध्यान रखा जाता है कि रोगी को पूर्ण विश्राम दिया जाय, परंतु उसका समय खाली न रहे। आसपास कई मरीजों को अच्छा होते तथा कुछ काम धंधा करते देखकर रोगी को आत्मबल और ढाढ़स प्राप्त होता है जिससे उसका स्वास्थ्य शीघ्र सुधरता है। [दे० सि०]

आर्कटिक प्रदेश जल और स्थल के उस क्षेत्र को कहते हैं जो उत्तरी ध्रुव से चारों ओर लगभग आर्कटिक वृत्त (६६°३०′ अक्षांश) तक फैला हुआ है। इसके अंतर्गत नारवे, स्वीडन और फिनलैंड के उत्तरी भाग, रूस का टुड्रा प्रदेश, अलास्का का उत्तरी भाग, कनाडा का टुड्रा प्रदेश और आर्कटिक सागर में स्थित अनेक द्वीप हैं; जैसे ग्रीनलैंड, स्पिट्जबर्गन, फ्रैंज जोजेफलैंड, नोवा ज़ेम्लिया, सेवर्ना ज़ेम्लिया, न्यू साईबेरियन द्वीप, उत्तरी कनाडा के द्वीप; जैसे एल्समेअर, बैफिन इत्यादि।

इतिहास—जहाँ तक ज्ञात हो सका है, नारवे के लोगों ने पहले पहल आर्कटिक प्रदेशों के कुछ भागों पर अपना अधिकार जमाया। उनकी पौराणिक कथाओं में वहाँ का वर्णन मिलता है। सन् ८६७ ई० में नारवे के नार्समन लोगो ने आइसलैंड द्वीप की खोज की और सन् ८७४ ई० से अपने उपनिवेश वहाँ स्थापित किए जिनमें आज भी उनकी संतति बसी हुई है। सन् ९८२ ई० के लगभग एरिक दि रेड नामक एक नार्समैन ने ग्रीनलैंड द्वीप की खोज की और वहाँ भी उपनिवेशों की स्थापना हुई, परंतु कुछ समय पश्चात् प्रतिकूल भौगोलिक परिस्थितियों के फलस्वरूप वे नष्ट हो गए। ग्रीनलैंड से और पश्चिम चलकर नार्समैन उत्तरी अमरीका तक पहुँच गए। संभवतः एरिक दि रेड के पुत्र लीफ ने सन् १,००० ई० के लगभग उत्तरी अमरीका के काड अंतरीप और लैब्रेडोर के बीच स्थित समुद्रतट के कुछ भाग की यात्रा की थी।

उत्तरी-पश्चिमी यूरोप में वाणिज्य की वृद्धि होने पर अंग्रेज और डच लोग सुदूर पूर्व पहुँचने के लिये यूरेशिया या अमरीका महाद्वीप के उत्तर से होकर एक नए मार्ग की खोज में लग गए। इन लोगों ने सुदूर पूर्व पहुँचने के लिये दो विभिन्न मार्गों का अनुसरण किया, अर्थात् उत्तर-पूर्वी मार्ग और उत्तर-पश्चिमी मार्ग। उत्तर-पूर्वी मार्ग द्वारा सुदूर पूर्व पहुँचने का प्रयास सन् १५५३ ई० में सैबिस्टियन कैबट के प्रोत्साहन से आरंभ हुआ। सन् १५९७ ई० तक इन अन्वेषणों द्वारा यूरोपीय रूस के आर्कटिक समुद्रतट और समीपस्थ द्वीपों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो गया था। इस उत्तर-पूर्वी मार्ग का अनुसरण १७वीं शताब्दी में भी जारी रहा, परंतु इससे भौगोलिक ज्ञान में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। सन् १७६० ई० से रूसी नाविकों ने भी इस मार्ग को अपनाया और संपूर्ण रूस के आर्कटिक प्रदेश और समीपस्थ द्वीपों के ज्ञान की वृद्धि में विशेष योग दिया। अंत में सन् १९३२ ई० में साईबिरियाकोव नामक एक रूसी बर्फ तोड़नेवाले जलयान ने उत्तर-पूर्वी मार्ग की यात्रा सफलतापूर्वक संपन्न की। सन् १९३५ ई० से इस मार्ग पर व्यापारिक जलयानो का चलना प्रारंभ हुआ।

उत्तर-पश्चिमी मार्ग द्वारा ग्रीनलैंड और उत्तरी अमरीका महाद्वीप के मध्य से होकर सुदूर पूर्व पहुँचने का प्रयास सर्वप्रथम ७ जून, १५७६ को मार्टिन फ्रौबिशर द्वारा प्रारंभ हुआ और अंत में आर० आमुसन ने पहली बार १९०३-१९०५ में अपने जलयान ग्योआ से उत्तर-पश्चिमी मार्ग की यात्रा सफलतापूर्वक संपन्न की। इन अन्वेषणों द्वारा ग्रीनलैंड द्वीप और कनाडा के आर्कटिक प्रदेशो के ज्ञान में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई।

इधर उत्तरी ध्रुव पहुँचने का प्रयास १९वीं शताब्दी के आरंभ से ही चल रहा था। इस दिशा में फ्रिटौफ नैनसन का प्रयास विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने सन् १८९३ ई० में अपने जहाज फ्रैम में उत्तरी ध्रुव के लिये प्रस्थान किया और जहाज हिम के बहाव के सहारे उत्तर की ओर बढ़ता गया। ठोस हिम से जहाज की प्रगति रुकने से पहले ही नैनसन जहाज छोड़ अपने साथी जोहानसेन के साथ पैदल बढ़ने लगे। वे ८ अप्रैल, १८९३ को उत्तरी ध्रुव से केवल ३°४८′ की दूरी पर रह गए थे जब प्रतिकूल परिस्थितियो ने उन्हे लौटने पर बाध्य कर दिया। इस प्रकार जलयानो द्वारा उत्तरी ध्रुव पहुँचने के प्रयासों का क्रम चलता रहा और अंत में ६ अप्रैल, १९०९ को आर० ई० पैरी ने उत्तरी ध्रुव पर विजय प्राप्त कर ली। वायुयान द्वारा उत्तरी ध्रुव पहुँचने का श्रेय सर्वप्रथम आर० ई० बर्ड को मई, १९२६ में प्राप्त हुआ और पनडुब्बी जहाज में बर्फ के नीचे चलकर उत्तरी ध्रुव पहुँचने का श्रेय सर्वप्रथम 'नॉटिलस' जहाज को ३ अगस्त, १९५८ को प्राप्त हुआ।

भूतत्व—आर्कटिक प्रदेशों में विभिन्न कल्पों की चट्टानें मिलती हैं, जैसे कनाडा के आर्कटिक प्रदेश और ग्रीनलैंड में प्राचीनतम कल्पीय शिलाओं की अधिकता है, जब कि केवल यूरेशिया के आर्कटिक प्रदेश में ही पुराकल्पीय तथा और नवीन काल की शिलाएँ मिलती हैं। इस समय आर्कटिक प्रदेश में ज्वालामुखी क्रिया अधिक महत्वपूर्ण नहीं है और जाग्रत ज्वालामुखियों में जॉन मेयन द्वीप में स्थित बीरेनबर्ग ज्वालामुखी पर्वत ही विशेष उल्लेखनीय है। बुडबे और स्पिट्ज़बर्गन द्वीपों में गरम सोते स्थित हैं। पूर्वकालीन ज्वालामुखीक्रिया के चिह्न ग्रीनलैंड, स्पिट्ज़बर्गन, फ्रैंज़ जोज़ेफलैंड और न्यू साईबेरियन द्वीपों की तृतीयक कल्पीय शिलाओं में विद्यमान है। वर्तमान समय की तुलना में तृतीयक कल्प में आर्कटिक प्रदेश में कही अधिक उष्ण जलवायु के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं, परंतु प्रातिनूतन हिम युग में जलवायु अधिक ठंडी हो गई थी और संभवतः कनाडा के आर्कटिक द्वीपों को छोड़कर अधिकांश आर्कटिक प्रदेश हिमाच्छादित थे।

आर्कटिक सागर—यह स्थलखंडों द्वारा घिरा है, परंतु इसके बीच उत्तरी ध्रुव की स्थिति केंद्रवर्ती नहीं है। ग्रीनलैंड और नारवेजियन समुद्रों सहित इसका क्षेत्रफल लगभग ५४,००,००० वर्ग मील है। आर्कटिक सागर की एक महत्वपूर्ण विशेषता इसका विस्तृत महाद्वीपीय निधाय है, जिसपर सैकड़ों द्वीप और द्वीपसमूह, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है, स्थित हैं। वास्तव में ये द्वीप पूर्वकाल के एक अधिक विशाल स्थलखंड के अवशेष मात्र हैं और सामान्यतः समीपस्थ महाद्वीपीय खंडों से भौमिकीय संबंध प्रदर्शित करते है। अणुशक्ति द्वारा संचालित 'नॉटिलस' पनडुब्बी जहाज के अन्वेषणों द्वारा (जुलाई-अगस्त, १९५८ में) यह ज्ञात हुआ है कि उत्तरी ध्रुव पर जल की गहराई १३,४१० फुट है और यहाँ जल के ऊपर हिमस्तरों की औसत मोटाई १२ फुट है।

जलवायु—आर्कटिक प्रदेश विश्व के अति शीत प्रदेशों में हैं और यहाँ समुद्र से दूर स्थित क्षेत्रों में – ९०° फा० तक के न्यूनतम ताप अंकित होने के प्रमाण मिले हैं। ग्रीष्मकाल में यहाँ ८०° फा० से भी ऊँचे ताप अंकित हुए हैं।
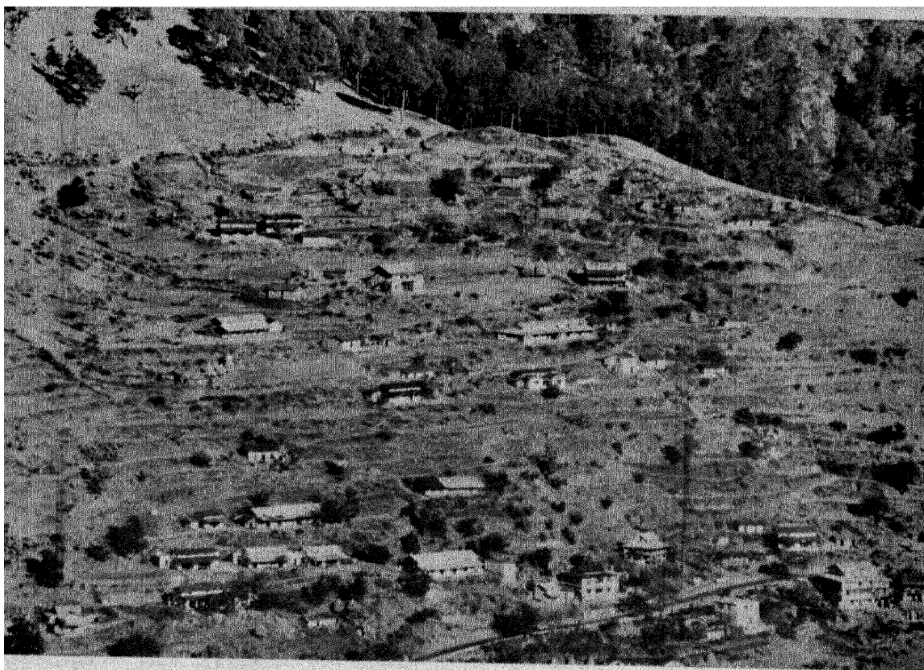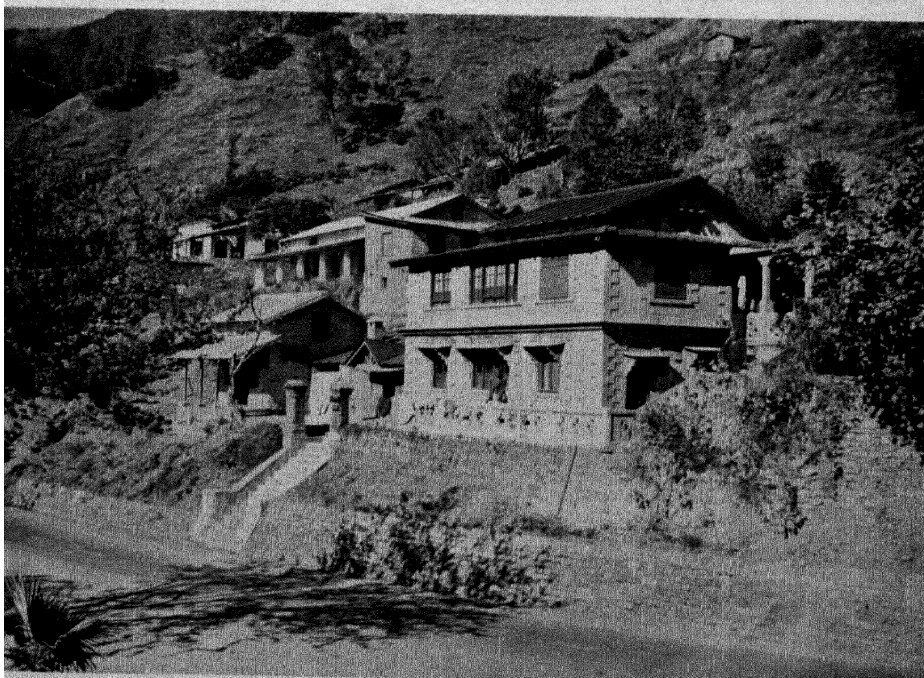
प्रभाकर द्विवेदी

आरोग्य आश्रम

ऊपर भुवाली आरोग्य आश्रम का विहगम दृश्य, नीचे आरोग्य आश्रम का एक भवन (देख पाठ ३९८)।

रोगी पर शल्यकर्म

प्रभाकर द्विवेदी
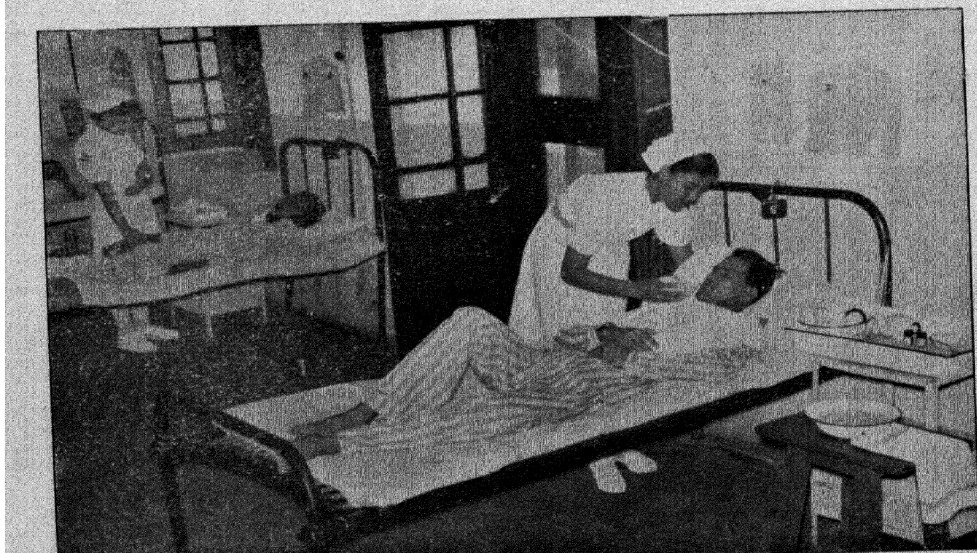
रोगी की परिचर्या

ये विश्व के अत्यधिक शुष्क प्रदेश हैं, जिससे इन्हें शीत मरुस्थल भी कहते हैं। औसत वार्षिक वृष्टि लगभग १० इंच है जो मुख्यतः हिम के रूप में होती है। वर्ष के अधिकांश समय ठंढी ध्रुवी हवाएँ अति तीव्र गति से चलती रहती हैं।

प्राकृतिक संपत्ति—यहाँ के खनिज पदार्थों की खोज की ओर अभी तक अधिक ध्यान आकर्षित नहीं हुआ है। मुख्यतः पत्थर का कोयला, मिट्टी का तेल, लोहा और ताँबा इत्यादि खनिजों का ही कुछ मात्रा में उत्खनन हुआ है और सोना, चाँदी प्लैटिनम और टिन इत्यादि की केवल उपस्थिति ही ज्ञात हुई है। आर्कटिक वनस्पति मुख्यतः फर्न, लाइकेन और मॉस है। इनके अलावा ग्रीष्मकाल में छोटे छोटे रंग बिरंगे फूलोंवाले पौधे और छोटी छोटी बेर की झाड़ियाँ उग आती हैं। ये प्रदेश लगभग वृक्षहीन हैं, केवल दक्षिणी भागों में नदियों के किनारे छोटे कद के बर्च इत्यादि तथा कोणधारी वृक्ष उगते हैं। कुछ भागों मे अनाज और शाक उत्पादन की संभावनाएँ हैं और इस हेतु विशेष रूप से प्रयत्न किए जा रहे हैं। आर्कटिक प्रदेशों में विविध प्रकार के जीव जंतु पाए जाते हैं, जैसे कस्तूरीवृष (मस्क ऑक्स), लोमड़ी, कैरिबू, भेड़िया, लेमिंग, खरगोश, ध्रुवीय भालू इत्यादि। रोएँदार पशुओं में बीवर, ऑटर, लिंक्स तथा सेबुल मुख्य हैं। पालतू जानवरों में यूरेशिया के आर्कटिक प्रदेश में पाया जानेवाला पशु रेनडियर है। यहाँ के जलक्षेत्रों में मुख्यतः सील, ह्वेल और वालरस पाए जाते हैं।

मनुष्य तथा व्यवसाय—आर्कटिक प्रदेशों के निवासियों का मुख्य उद्योग शिकार करना तथा मछली पकड़ना है। कृषि के अभाव में इनकी भोजन, वस्त्र, आश्रय, यातायात इत्यादि की आवश्यकताओं की पूर्ति पशुओं द्वारा होती है। संपूर्ण यूरेशिया के आर्कटिक प्रदेश के लिये रेनडियर बहुत बड़ी देन है, जिसके द्वारा भोजन के लिये मांस और दूध, वस्त्र और तंबुओं के लिये खाल, अस्त्रशस्त्रों के लिये हड्डी और सींग तथा जलाने और प्रकाश के लिये चरबी मिलती है। यहाँ यातायात का मुख्य साधन बिना पहिएवाली स्लेज गाड़ी है जिसे रेनडियर खींचते हैं। यूरेशिया के आर्कटिक प्रदेश के निवासियों को लैप्स, फिन्स, आस्टेक्स, यूरियट्स, सैमोयड तथा याकूत कहते हैं। ये सब अस्थिरवासी (खानाबदोश) हैं जो भोजन की खोज में इधर उधर घूमते फिरते हैं। ये अधिकतर चमड़े के तंबुओं में निवास करते हैं जिन्हें चूम कहते हैं।

उत्तरी अमरीका के आर्कटिक प्रदेशों और ग्रीनलैंड में एस्किमो जाति के लोग निवास करते हैं। यहाँ के प्राकृतिक साधन यूरेशिया के आर्कटिक प्रदेश से मिलते जुलते हैं इसलिये रहन सहन की दशाओं में भी समानता पाई जाती है। परंतु यहाँ का मुख्य जानवर पालतू रेनडियर न होकर जंगली करिबू है। अब कुछ स्थानों में रेनडियर पाला जाने लगा है जो यूरेशिया से लाया गया है। यहाँ के निवासी मुख्यतः समुद्रतटों पर रहते हैं और सील, ह्वेल और वालरस का शिकार करके मांस, तेल, हड्डी, खाल इत्यादि प्राप्त करते हैं। शीतकाल में बर्फ के अंदर छेद करके हारपून (भाले) से मछली पकड़ते हैं और बर्फ के घरों में, जिन्हें इग्लू कहते हैं, निवास करते हैं। ग्रीष्मकाल में रहने के लिये तंबुओं और लट्ठों की झोपड़ियों का प्रयोग करते हैं। ये यातायात के लिये नावों का उपयोग करते हैं। छोटी नाव कायक और बड़ी नाव उमियक कहलाती है। शक्तिशाली कुत्तों द्वारा खींची जानेवाली स्लेज गाड़ी का भी उपयोग होता है।

इस प्रकार आर्कटिक प्रदेशों के निवासियों का जीवन प्रकृति से निरंतर संघर्ष में व्यतीत होता है। आशा है, भविष्य में यहाँ उपस्थित पत्थर का कोयला, मिट्टी का तेल तथा अन्य खनिज पदार्थों के बढ़ते हुए उत्पादन के साथ साथ ये प्रदेश भी आर्थिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हो जायँगे और इसके साथ ही यहाँ के निवासियों का जीवनस्तर भी ऊँचा उठ सकेगा। उत्तरी ध्रुव से होकर वायुयानसंचालन का महत्व बढ़ जाने से भी इन प्रदेशों की आर्थिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। [रा० ना० मा०]

आर्कन

प्राचीन एथेंस में मुख्य पुरशासक (मैजिस्ट्रेट) संस्था या उसके सदस्य का पद। यह संस्था प्राचीन राजाओं का प्रतिनिधान करती थी, जिनकी निरंकुश शक्ति शनैः शनैः कम होती जा रही थी तथा केवल धार्मिक कार्यों को छोड़ तीन संस्थाओं—पोलीमार्क, आर्कन तथा थेसमोथेतायी—के बीच बँट गई थी।

आर्कन में नौ सदस्य होते थे। आरंभ में यह पद उच्च कुल के व्यक्तियों के ही हाथ में था। सोलन ने इसे प्रजातांत्रिक रूप दिया। विधान के अनुसार बिना झगड़े के सबको समान अवसर प्रदान करने के लिये पहले चारों वर्ग दस दस व्यक्तियों का चुनाव करते थे, फिर उन व्यक्तियों में से नौ आर्कनों का चुनाव होता था। सदस्यों का चुनाव एक वर्ष के लिये उन व्यक्तियों में से होता था जिनकी अवस्था ३० वर्ष से ऊपर हो। जब तक सब नागरिकों की बारी न आ जाय तब तक कोई व्यक्ति चुनाव के लिये दुबारा नहीं खड़ा हो सकता था। पदग्रहण करने से पूर्व सदस्य को योग्यता की परीक्षा में उत्तीर्ण होना आवश्यक था। सफल व्यक्ति को जनता के संमुख ईमानदारी की शपथ लेनी पड़ती थी।

कार्यावधि के पश्चात् सत्यनिष्ठ सदस्य ऐरियोपागस सभा के सदस्य बन जाते थे। यह संस्था कानून की रक्षा करती थी तथा आर्कन के कार्यों पर दृष्टि रखती थी। जनता के साथ दुर्व्यवहार करने पर आर्कन पर महाभियोग लगाया जा सकता था। अरस्तू के अनुसार आर्कन का सामुदायिक उत्तरदायित्व सोलन के समय आरंभ हुआ।

सोलन के समय आर्कन कानूनी विषयों पर अंतिम निर्णय भी देती थी, केवल प्राथमिक सुनवाई ही नहीं करती थी। ४८७ ई० पू० से इसका महत्व कम होता गया तथा कार्य नियमित मात्र ही रह गए।

सं०ग्रं०—एव्रीमैन्स एन्साइक्लोपीडिया, प्रथम भाग; इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, द्वितीय भाग; एल० ह्वीबले : कंपैनियन टु ग्रीक स्टडीज़; अरीस्टोटल : एथीनीयन कांस्टीटयूशन। [ता० म०]

आर्कनी द्वीप

स्कॉटलैंड के उत्तरी समुद्रतट के समीप स्थित द्वीपों का एक समूह है जिसका कुल क्षेत्रफल ३७५·५ वर्ग मील है। आर्कनी शब्द संभवतः नॉर्स भाषा के आरकन (सील मछली) तथा ई (द्वीप) शब्दों से संबद्ध है। ये द्वीप लगभग छः मील चौड़ी पेंटलैंड फर्थ द्वारा स्थलखंड से पृथक् हैं। इसके अंतर्गत ६७ द्वीप हैं (छोटे छोटे चट्टानी द्वीपों को छोड़कर)। इनमें से केवल आधे द्वीप ही आबाद हैं। ये सब द्वीप आर्कनी जिले के अंतर्गत आते हैं। इस जिले की राजधानी किर्कवाल है जो विशालतम द्वीप पमोना में स्थित है। ये द्वीप पूर्णतः प्राचीन लाल बालुकाश्म (रेड सैंड-स्टोन) द्वारा निर्मित और वृक्षहीन हैं। ये नीचे द्वीप हैं जिनकी समुद्रतल से अधिकतम ऊँचाई १,००० फुट से अधिक नहीं है। द्वीपों की तटरेखा अत्यधिक कटी फटी है। हिमनदी के प्रभावचिह्न स्पष्ट रूप में विद्यमान हैं। कुल जनसंख्या २१,२५८ है (१९५१)। लगभग आधी जनसंख्या का व्यवसाय कृषि है। इसके अतिरिक्त मत्स्य उद्योग महत्वपूर्ण है। [रा० ना० मा०

आर्कलाउस, कपादोशिया का

रोमन राजा नीरो का समकालीन व्याख्याता और टीकाकार था। तत्कालीन व्यंग्य और हास्य रस के प्रसिद्ध लेखक और कवि लुसीलियस का मित्र। वेत्तिअस फीलोकोमस् की तरह यह भी लुसीलियस की रचनाओं का एक व्याख्याता, टीकाकार और समालोचक था। [अ० कि० ना०]

आर्कादियस

(३७८–४०८ ई०), रोमन सम्राट् जो ३९५ ई० में रोम की गद्दी पर बैठा। उसी के समय रोमन साम्राज्य के दो भाग कर दिए गए। पश्चिमी साम्राज्य (गॉल और इटली) उसके भाई होनोरियस को मिला और पूर्वी साम्राज्य, जिसकी राजधानी विजांतियम बनी, स्वयं उसे मिला। दोनों भाइयों के बीच काफी दुर्भाव रहा और उसका लाभ गोथों ने खूब उठाया। उनके सरदार अलारिक ने ग्रीस को रौंद डाला। प्रसिद्ध पादड़ी जान क्रिसोस्तम, जिसने भारत के संबंध में भी लिखा है, तब पूर्वी साम्राज्य की राजधानी कोंसतांतिनोपुल में ही था जहाँ से उसे सम्राज्ञी के विरोध के कारण चला जाना पड़ा। [ओं० ना० उ०]

आर्कितस

इटली के दक्षिण में तारेंतम् नामक प्राचीन नगर के निवासी। इनका समय ई० पू० चतुर्थ शताब्दी का पूर्वार्ध है। ये अफ़लातून के समकालीन थे और प्राचीन काल में इनकी बड़ी ख्याति थी। अफ़लातून के साथ इनका साक्षात्कार और पत्रव्यवहार हुआ था। एक ओर

ये अपने नगर के सेनाध्यक्ष थे और अनेक संग्रामों में विजयी हुए थे, दूसरी ओर महान् गणितज्ञ और विज्ञानवेत्ता थे। पेच और घिर्री के आविष्कार का श्रेय इन्हीं को दिया जाता है। किसी घन को द्विगुणित करने की समस्या का भी इन्होंने दो अर्धरंभों (या बेलनों) द्वारा समाधान किया था। हरात्मक श्रेणी के रूप का निर्धारण भी इन्होंने किया और स्वरग्रामों में स्वरों के पारस्परिक अनुपात को भी खोज निकाला। दर्शनप्रस्थान में यह पिथागोरस के अनुयायी थे। [भो० ना० श०]

आर्किमीदिज़ (२८७-२१२ ई० पू०), विश्व के महान् गणितज्ञ, का जन्म सिसली के सिराक्युज़ नामक स्थान में खगोलशास्त्री फ़ाइडियाज़ के घर २८७ ई० पू० में हुआ था। इन्होंने गणित का अध्ययन संभवतः अलैक्ज़ैंड्रिया में किया। गणित को इनकी देन अपूर्व है। इन्होंने यांत्रिकी के 'उत्तोलक (लिवर) के नियमों' का अविष्कार किया। चपटे तलों और भिन्न भिन्न आकृतियों के ठोसों के क्षेत्रफल एवं गुरुत्वकेंद्र निकालने में ये सफल हुए। इन्हीं ने प्रायः समस्त द्रवस्थिति-विज्ञान का आविष्कार किया और इसका प्रयोग अनेक प्रकार के प्लवमान पिंडों की साम्य-स्थिति ज्ञात करने में किया। इनके अतिरिक्त इन्होंने वक्रीय समतल-आकृतियों के क्षेत्रफल एवं वक्रतल से सीमित ठोसों के घनफल निकालने की व्यापक विधियों की भी खोज की। इनकी विधियों में २००० वर्ष पश्चात् आविष्कृत कलन (कैल्क्युलस) की विधियों की झलक थी। इन्होंने युद्धोपयोगी अनेक शस्त्रों की भी रचना की जिनसे २१२ ई० पू० के सिराक्युज़ के घेरे के समय रोमनिवासियों को अति क्षति पहुँची। अंत में विजेताओं द्वारा इनका वध कर दिया गया, परंतु सेनानायक मार्सेलुस ने इनकी अपूर्व बुद्धि से प्रभावित होकर इनकी एक समाधि का निर्माण कराया, जिसके ऊपर इनके पूर्व-इच्छानुसार बेलन के अंतर्गत खींचे गए एक गोले का चित्र अंकित किया गया था। [रा० कु०]

ग्रीक भाषा में आर्किमीदिज़ की निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध हैं: (१) पैरी स्फैरास् कै कीलिन्द्रू (गोला और रंभ), (२) कीक्लू मैत्रेसिस् (वृत्त की माप), (३) पैरी कोनोइदेग्रान् कै स्फैरोइदेग्रोन् (आ-शंकु और आ-गोल), (४) पैरी एलीकोन (कुंतल), (५) पैरी ऐपीपैदोन् इसोरोइग्रोन् ए केंत्रा बारोन् ऐपीपेदोन् (समतल समतौल और आकर्षणकेंद्र), (६) तेत्रागोनिस्मस् पराबोलेस् (परवलय का क्षेत्रफल), (७) पैरी ओखूमैनोन् (प्लावी काय), (८) प्साम्मितेस् (बालुकाकणों की गणना), (९) मेथोदस् (वैज्ञानिक अनुसंधान की पद्धति), (१०) लेम्माता (भूमिति संबंधी प्रस्थापनाओं का संग्रह)। इनके अतिरिक्त उनकी कुछ अन्य रचनाओं के केवल नाममात्र उपलब्ध होते हैं। उनकी एक रचना का नाम पशुसमस्या भी है। आर्किमीदिज़ की सभी रचनाएँ मौलिक और प्रसादगुण से युक्त हैं। वह चलराशिकलन (इंटेग्रल कैल्कुलस) के आविष्कार के समीप तक पहुँच चुके थे। वृत्त की माप के संबंध में भी उनके परिणाम बहुत कुछ संतोषप्रद थे। यद्यपि उन्होंने बहुत से यंत्रों का निर्माण किया था, तथापि उनकी रुचि सैद्धांतिक गवेषणा की ओर अधिक थी।

सं०ग्रं०—मूल रचनाएँ, हाईबर्ग का संस्करण (लातीनी अनुवाद सहित); टी० एल० हीथ: दि वर्क्स ऑव आर्किमीदिज़; ई० टी० बेल: मेन ऑव मैथेमेटिक्स। [भो० ना० श०]

आर्किलोकस् पारोस् द्वीपनिवासी कुलीन गृहस्थ तैलेसिक्लेस और उनकी दासी के पुत्र थे जो आगे चलकर अत्यंत उच्च कोटि के कवि हुए। उनके स्थितिकाल के संबंध में पर्याप्त विवाद है। कुछ आलोचक उनका समय ई० पू० ७५३ से ७१६ तक और दूसरे उनका समय ई० पू० ६५० के आसपास मानते हैं। उनके जीवन के संबंध में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। उपनिवेश स्थापित करने में, युद्ध में और प्रणयव्यापार में उनको सर्वत्र ही असफलता का मुख देखना पड़ा। धनाभाव के कारण उनकी वाग्दत्ता प्रेयसी ने ओबुले उन्हें प्राप्त न हो सकी। इसपर उन्होंने उसके और उसके पिता के प्रति इतनी कटु परिहासात्मक कविताएँ लिखीं कि पिता और पुत्री दोनों स्वयं फाँसी लगाकर मर गए। कुछ आलोचक इस परंपरागत कथा को संदिग्ध मानते हैं। आर्किलोकस् का प्राणांत युद्ध करते हुए हुआ। इस समय उनकी रचना का अंशमात्र उपलब्ध है। इयांबिक और ऐलिजियाक छंदों की पूर्ण संभावनाओं को उनकी रचना ने प्रकट किया। घृणा और कटुता की अभिव्यक्ति के कारण उन्हें 'वृश्चिकजिह्व' कहा गया है, पर अन्य गुणों के कारण उनका स्थान होमर के पश्चात् माना गया है।

आर्केंजिल उत्तररूस का एक नगर है जो ड्वीना नदी के डेल्टा के सिरे पर स्थित है। यह श्वेत सागर का प्रमुख नगर तथा बंदरगाह है। रूसी भाषा में इस नगर का नाम अरखानगेलिस्क है। यहाँ का सबसे छोटा दिन ३ घंटा १२ मिनट का तथा सबसे लंबा २१ घंटा ४८ मिनट का होता है। श्वेत सागर के कुल व्यापार का ८२ प्रति शत आर्केंजिल के द्वारा होता है। यह दक्षिण से रेल, नहर तथा नदी द्वारा संबद्ध है। यहाँ का मुख्य निर्यात लकड़ी, कोलतार, सन, तीसी तथा चमड़ा है, परंतु कुल निर्यात का ८० प्रति शत लकड़ी होती है। लकड़ी चीरना यहाँ का मुख्य उद्योग है। इसकी आबादी १९५६ ई० में २,३८,००० थी। [नृ० कु० सिं०]

आर्केंसैस अमरीका के संयुक्त राज्यों में से एक, जो ३३°उ० से ३६° ३०' उ० अक्षांशों तथा ८९° ४०' प० से ९४° ४२' प० देशांतरों के बीच में है। इसके उत्तर में मिसौरी, पूर्व में मिसीसिपी, दक्षिण में लूइसियाना तथा पश्चिम में टेक्सास और ओकलाहोमा हैं। इसका क्षेत्रफल ५३,१०२ वर्ग मील है और १९५१ में जनसंख्या २१,१०,३१४ थी। इसकी जनसंख्या १८१० में १०६२ और १९१० में १५,७४,४४९ तथा १९४० में १९,४९,३८७ थी। १९४० में जनसंख्या का घनत्व ३७·० प्रति वर्ग मील था और नागरिक जनसंख्या २२·८ प्रति शत तथा ग्रामीण ७७·८ प्रति शत थी। यह मिसीसिपी की द्रोणी में स्थित है। अन्य राज्यों की अपेक्षा यहाँ की भौतिक रचना अधिक भिन्न है। इसको हम चार प्राकृतिक विभागों में बाँट सकते हैं: दो ऊँचे पठार, एक नदी की घाटी तथा एक पहाड़ी विभाग। मेक्सिको की खाड़ी के प्रभाव से यहाँ की जलवायु दक्षिणी है। जाड़ा, वसंत, गर्मी तथा बरसात का निम्नतम ताप क्रमानुसार ४·६°, ६१·१°, ७८·८° तथा ६१·२° रहता है। पूर्वोक्त ऋतुओं में औसत वर्षा क्रमानुसार ११·७'', १४·५'', १०·५'' और १०·२'' होती है। यहाँ वनस्पति तथा जंतु अधिकता से मिलते हैं। राज्य का १/४ भाग जंगलों से ढका है। कृषि यहाँ का मुख्य उद्यम है तथा कपास मुख्य उपज। कपास की उपज १९३५ में ८,९०,००० गाँठ तथा १९४० में १५,४५,००० गाँठ थी। कपास तथा कपास के बने पक्के माल का मूल्य कृषि की संपूर्ण उपज के मूल्य का लगभग आधा रहता है। १९०४ ई० के लगभग यहाँ चावल उद्योग भी विकसित हुआ। फलों के उत्पादन में भी इस राज्य का स्थान ऊँचा है। पशु उद्योग तथा दूध से बने पदार्थों के उद्योग पर अब अधिक ध्यान दिया जा रहा है। यहाँ का काष्ठ उद्योग भी महत्वपूर्ण है। खनिज उद्योग में पेट्रोलियम का स्थान १९४० तक सर्वोच्च रहा। इस राज्य में रेल तथा सड़क द्वारा यातायात के साधन सुविकसित हैं।

आर्केंसैस कोलरेडो राज्य में रॉकी पर्वतश्रेणियों (२९°२०' उ० अ०—१०६° ५' प० दे०) से निकलकर २००० मील के प्रवाह के अनंतर मिसीसिपी-मिसौरी नदी में मिल जाती है। मिसीसिपी-मिसौरी प्रणाली में यह सबसे बड़ी नदी है। कैनियन नामक कंदर के कुछ ऊपर ही यह रॉकी पर्वत को छोड़ देती है। नदी के किनारे पर १३०० मील तक बलुआ, चिकनी तथा दोमट मिट्टी पाई जाती है। गर्मी में इस नदी में भयंकर बाढ़ आ जाया करती है।

आर्केंसैस नगर आर्केंसैस और मिसीसिपी राज्य की सीम पर मिसीसिपी नदी के किनारे बसा है। [नृ० कु० सिं०]

आर्केलाउस सुकरात के पूर्ववर्ती यूनानी दार्शनिक। इनका समय ई० पू० ५वीं शताब्दी है। इनके जन्मस्थान के संबं में मतभेद है। कोई इनको मिलेतस् का निवासी मानते हैं, कोई एथेंस का। यह अनाक्सागोरस के शिष्य तथा सुकरात के गुरु माने जाते हैं। इनके मत में आद्य मिश्रण से शीत और उष्ण की उत्पत्ति हुई और शीत तथा उष्ण से समस्त प्रजनन और विकास की प्रक्रिया उत्पन्न हुई। पवन भी इनके मत में अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व है। ये जीवों की उत्पत्ति कीचड़ से मानते थे। आर्केलाउस दार्शनिक चिंतन को इयोनिया से एथेंस ले आए। ये अंतिम प्रकृतिवादी थे, सुकरात के साथ आचारवादी दर्शन का श्रीगणेश हुआ। [भो० ना० श०]

आर्केलाउस हेरोद महान् के पुत्र और जूदा राज्य के उत्तराधिकारी। हेरोद ने पहले अपने दूसरे पुत्र ऐंतीपास को अपना उत्तराधिकारी बनाया था, किंतु अपनी अंतिम वसीयत द्वारा उन्होंने आर्केलाउस को वे सब अधिकार दे दिए जो ऐंतीपास को दिए थे। सेना ने उन्हें राजा घोषित कर दिया, किंतु उस समय तक उन्होंने राजा बनना स्वीकार नहीं किया जब तक रोम के सम्राट् ओगुस्तस उनके इस दावे को स्वीकार न करें। रोम की यात्रा से पूर्व उन्होंने बड़ी निर्दयता से फारसियों के विद्रोह का दमन किया और तीन हजार विद्रोहियों को मौत के घाट उतार दिया। ओगुस्तस द्वारा मान्यता प्राप्त होने पर उन्होंने और अधिक दमन के साथ शासन प्रारंभ किया। यहूदी धर्म के नियमों का उल्लंघन करने के कारण सन् ७ ई० में वे पदच्युत करके निर्वासित कर दिए गए। [वि०ना०पां०]

आर्केसिलाउस (अथवा सिसरो या किकरोके अनुसार आर्केसिलास्) एक यूनानी दार्शनिक जो संदेहवादी अकादेमी के प्रवर्तक थे। इनका समय ई० पू० ३१५ से ई० पू० २१४-५ तक है। इनका जन्मस्थान पिताने नगर था। एथेंस में आकर प्रथम यह अरस्तू के लीकियुम् में थियोफ़ास्तस् के शिष्य बने, पर क्रांतर नामक विद्वान् इन्हें प्लातोन की अकादेमी में ले आया। ई०पू० २६८–५ के लगभग ये अपनी प्रतिभा के कारण अकादेमी के अध्यक्ष बन गए। इनकी कोई भी रचना नहीं मिलती। इन्होंने स्तोइक (विरक्तिवादी) दार्शनिकों के 'विश्वासोत्पादक प्रत्यक्ष' का खंडन कर संदेहवाद का प्रतिपादन किया और सुकरात की विवेचना-पद्धति को पुन: प्रतिष्ठित किया। पर यह समझ में नहीं आता कि इस संदेहवाद की संगति अकादमी के संस्थापक प्लातोन के विचारों के साथ कैसे संभव हुई। [भो० ना० श०]

आर्गन एक रंगहीन, गंधहीन गैसीय तत्व (एलिमेंट) है, जो वायु में तथा ज्वालामुखी पर्वतों से निकली गसों में मिलता है। सन् १७८५ ई० में हेनरी कैवेंडिश ने वायु में विद्युत्स्फुलिंग द्वारा निर्मित नाइट्रोजन आक्साइडों को कास्टिक सोडा विलयन में अवशोषित कराया। इसके पश्चात् और आक्सिजन प्रविष्ट करके उक्त क्रिया कई बार दुहराई गई। सभी गैसों के अवशोषण के पश्चात् एक बुलबुला शेष रह गया जो अनवशोषित रह गया। इन प्रयोगों से कैवेंडिश ने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि वायुमंडल के नाइट्रोजन का कोई भी अंश उसके शेषांश से भिन्न है और नाइट्रस अम्ल में परिवर्तित नहीं होता, तो वह पूरी वायु के १/१२० वें अंश से अधिक नहीं है।

सन् १८९२ ई० में लार्ड रैले ने प्राउट के सिद्धांत की परीक्षा करने के लिये हाइड्रोजन, आक्सिजन तथा नाइट्रोजन जैसी प्रमुख गैसों के घनत्व ज्ञात किए। वायुमंडल के नाइड्रोजन का घनत्व १·२५७१८ निकला और अमोनिया या नाइट्रिक आक्साइड से प्राप्त रासायनिक नाइट्रोजन का घनत्व १·२५१०७ देखा गया। इस प्रकार वायुमंडल के नाइट्रोजन का घनत्व ०·४७ प्रति शत अधिक पाया गया। इस नाइट्रोजन में न किसी प्रकार की अशुद्धियाँ पाई गईं और न आठ मास तक रखे रहने पर उसके घनत्व में किसी प्रकार का परिवर्तन ही देखा गया।

दो विभिन्न स्रोतों से प्राप्त नाइट्रोजन के घनत्वों के बीच इस प्रकार के अंतर को समझाने के लिये केवल प्रायोगिक त्रुटियाँ हीं पर्याप्त नहीं थीं, अतः वायुमंडल के नाइट्रोजन में नाइट्रोजन के भारी समस्थानिक ($ना_{३}$) की उपस्थिति अथवा रासायनिक नाइट्रोजन में थोड़ी मात्रा में हाइड्रोजन की उपस्थिति की संभावना बताई गई। किंतु रैमजे (सन् १८९४ ई०) ने इस प्रकार के अनुमानों को निराधार सिद्ध करते हुए उसमें एक अज्ञात, भारी गैस की उपस्थिति बताई। उन्होंने वायु में से कार्बन डाईआक्साइड, आर्द्रता, आक्सिजन तथा नाइट्रोजन को हटाने के पश्चात् इस गैस को पृथक् करके इसका नाम आर्गन रखा। आर्गन ग्रीक शब्द से निकला जिसका अर्थ होता है निष्क्रिय या सुस्त। हाइड्रोजन के सापेक्ष इसका घनत्व २० के निकट था और रासायनिक रूप में बिलकुल निष्क्रिय होने के कारण किसी प्रकार के यौगिक बनाने का सामर्थ्य इसमें नहीं पाया गया। इसके पश्चात् रैले, रैमजे तथा अन्य लोगों की खोजों के फलस्वरूप निष्क्रिय गैसों की पूरी श्रृंखला निकल आई, जिसमें हीलियम, नियन, आर्गन, क्रिप्टन, ज़ेनन तथा रैडन मिलकर आवर्तसारणी के शून्य समूह में आते हैं।

उपस्थिति—वायुमंडल की वायु में आयतन के अनुसार १०० भागों में आर्गन का ०·९३२ भाग तथा भार के अनुसार १·२८५ भाग वर्तमान है। खनिजीय झरनों में भी आर्गन उपस्थित रहता है।

निर्माण—आर्गन गैस के निर्माण में तीन प्रमुख विधियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं: (१) वायु में से रासायनिक विधियों द्वारा अन्य सभी गैसों का बहिष्करण, (२) तरल वायु का प्रभाजन तथा (३) डेवार की विधि, अर्थात् लकड़ी के कोयले द्वारा अवशोषण।

(१) कैवेंडिश द्वारा प्रयुक्त रासायनिक विधि का परिष्कार रैले और रैमज़े ने किया। उन्होंने वायु में से कार्बन डाईआक्साइड को सोडा, लाइम तथा पोटाश के विलयन द्वारा हटाकर, आक्सिजन को लाल गर्म तांबे में अवशोषित कराकर तथा नाइट्रोजन को लाल गर्म मैगनीशियम की प्रतिक्रिया से मैगनीशियम नाइट्राइड बनाकर पृथक् किया। शुद्धता के लिय इस विधि को कई बार दुहराया गया। बाद में निष्क्रिय गैसों का पृथक्करण द्रवण तथा प्रभाजन द्वारा किया गया।

फिशर, रिंज और क्रोमेलिन ने अपने अपने प्रयोगों में ९० प्रति शत कैलसियम कार्बाइड तथा १० प्रति शत कैलसियम क्लोराइड के मिश्रण को लोहे के मुंहबंद बर्तन में वायु के साथ गरम करके वायु में से आक्सिजन तथा नाइट्रोजन को दूर किया।

(२) औद्योगिक स्तर पर निष्क्रिय गैसों का उत्पादन तरल वायु के प्रभाजन द्वारा किया जाता है। लिंडे, क्लाडे तथा दूसरों ने इस प्रकार की सफल विधियों को विकसित किया है। निष्क्रिय गैसों के क्वथनांकों के एक दूसरे से अत्यंत निकट होने के कारण विशेष प्रकार के स्तंभों का प्रयोग किया जाता है। वायु की तरलीभवन प्रक्रिया में अधिकांश आर्गन तरल आक्सिजन के साथ रहता है और इन स्तंभों में नीचे गिरती धारा में से आर्गन एक विशेष विधि से अलग किया जाता है। आक्सिजन और नाइट्रोजन के अंतिम अंशों को रासायनिक विधि से पृथक् किया जाता है।

(३) डेवार विधि में वायु से प्राप्त मिश्रित निष्क्रिय गैसों को एक बल्ब में, जिसमें नारियल का कोयला भरा रहता है, प्रविष्ट किया जाता है और उसे एक शीत अवगाह में रख दिया जाता है। आधे घंटे के पश्चात् अवशोषित गैसों को अलग किया जाता है। जब १००° सें० पर आर्गन, क्रिप्टन तथा जेनन गैसें, अवशोषित दशा में, तरल वायु के ताप पर ठंढे किए गए एक दूसरे कोयले के संपर्क में, रखी जाती हैं तो आर्गन इस कोयले में विसरित होकर चली जाती है। कोयले को गर्म करके आर्गन को मुक्त कर लिया जाता है।

आर्गन रंगविहीन, स्वादरहित तथा गंधरहित गैस है, जिसका घनत्व १९·९७ (हाइड्रोजन=१), परमाणुभार ३९·९४४, परमाणुसंख्या १८, क्वथनांक –१८५·८१° सें०, गलनांक –१८९·६° सें०, क्रांतिक ताप –१२२·४° तथा क्रांतिक दाब ४७·९९ वायुमंडल है। यह जल में १२° सें० ताप पर ४ प्रति शत अथवा नाइट्रोजन से २॥ गुना अधिक विलेय है। वर्षा के जल में विलयित गैसों में आर्गन का अनुपात अधिक रहता है। आर्गन का वर्तनांक वायु से ०·९६१ गुना है और श्यानता १·२१ (वायु की तुलना में) है। इसके समस्थानिक आरगन४० ($आ_{ग}^{४०}$) तथा आरगन३६ ($आ_{ग}^{३६}$) एक प्रति शत मात्रा में पाए जाते हैं। रासायनिक निष्क्रियता के कारण इसका परमाणुभार नहीं निकाला जा सका है, किंतु कुंट तथा वारबुर्ग ने विशिष्ट उष्माओं के अनुपात से ($उ_{स}/उ_{आ}$=स्थिर दाब पर विशिष्ट उष्मा/स्थिर आयतन पर विशिष्ट उष्मा=१·६५) इसकी परमाणुकता निश्चित की है।

आर्गन के वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) में अनेक रेखाएँ रहती हैं, किंतु उनमें से एक भी अद्वितीय नहीं है। अब नील वर्णक्रम का कारण आयनीकृत अणु बताया जाता है। अन्य निष्क्रिय गैसों की भाँति आर्गन भी नारियल के कोयले द्वारा शोषित होता है।

यौगिक—बर्थेलो ने (सन् १८९५ ई० में) सूचित किया कि जब बेंजीन और आर्गन के मिश्रण में विद्युत्स्फुलिंग का विसर्जन किया जाता है तो उनका संकुचन होता है, किंतु इस परिणाम का पुष्टीकरण नहीं किया जा

सका। आर्गन के वातावरण में जलवाष्प प्रविष्ट करने से न्यून ताप पर एक निश्चित हाइड्रेट आ$_{ग}$.६हा$_{२}$औ बनता है, किंतु यह अत्यंत अस्थायी होता है और –२४·८° सें० पर विघटित हो जाता है। बूथ और विल्सन (सन् १९३५ ई०) ने आर्गन और बोरन फ्लोराइड के मिश्रण के हिमांक वक्रों के अध्ययन के फलस्वरूप निम्न तापों पर (आ$_{ग}$)$_{न}$बोफ्लो$_{३}$, न=१, २, ३, ६, ८ तथा १६, जैसे यौगिकों की उत्पत्ति सिद्ध की, किंतु वे अत्यंत अस्थायी होने के कारण अपने गलनांकों के पूर्व ही विघटित हो जाते हैं।

(यहाँ आ$_{ग}$=आर्गन, हा=हाइड्रोजन, औ=आक्सिजन, बो=बोरन, फ्लो=फ्लोरीन)।

प्रयोग––आर्गन गैस का प्रयोग विद्युद्विसर्जन नलिकाओं, दीपकों, रेडियो वाल्वों तथा रेक्टिफायरों में प्रदीप्त करने के लिये होता है।

सं०ग्रं०––जी० डी० पार्क्स तथा जे० डब्ल्यू० मेलर : माडर्न इनआर्गेनिक केमिस्ट्री (१९४७); पी० सी० एल० थार्न तथा ई० आर० रॉबर्ट्स : इनआर्गेनिक केमिस्ट्री (१९४९); ज० अमे० केमि० सोसा० १९३५; ५७; २२७३। [ब० बि० ला० स०]

आर्गोस प्राचीन ग्रीस का एक प्रसिद्ध नगर। यह आरगिव खाड़ी के सिरे पर मैदानी भाग में बसा है। मैदान बहुत उपजाऊ है तथा यहाँ यातायात की सुविधा है। यहाँ से मार्ग पश्चिम में आरकेडिया तक जाता है। ग्रीक किंवदंतियाँ इसकी पुरानी सभ्यता की कहानी बताती हैं जिससे पता चलता है कि यहाँ मिस्र, लीशिया और अन्य देशों से आदान प्रदान होता था। आरंभिक चतुर्थ शताब्दी में यह नगर जनसंख्या तथा संपन्नता की दृष्टि से बहुत उन्नत दशा में था। १८५४ ई० में अमरीकी पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा इसका पूरा अन्वेषण हुआ और उन लोगों को एक पुराने मंदिर का अवशेष मिला जिसमें ११ पृथक् भवन थे। इनका संमिलत क्षेत्रफल ६७५ × ३२५ वर्ग फुट था। [नृ० कु० सिं०]

आर्च चांसलर पवित्र रोमन साम्राज्य में सबसे बड़े पद का अधिकारी। मध्यकालीन यूरोप में यह उपाधि उसको मिलती थी जो बड़े बड़े अफसरों के काम की देखभाल किया करता था। प्रथम लूथर के एक फर्मान में, जो ८४४ई० में निकला था, आलिगमार को उस पद से विभूषित किया गया था। इसके अतिरिक्त कई और स्थानों पर भी इसका वर्णन पाया जाता है। जर्मनी में महान् आऊ के राज्यकाल में भी इसका नाम आता है। ११वीं शताब्दी में इटली के आर्च चांसलर का पद कोलोन के आर्च बिशप (बड़े पादरी) के हाथों में था। १३५६ ई० में चौथे चार्ल्स के राज्यकाल में आर्च चांसलर के पद के तीन भाग हुए जो गोल्डेन बिलवाले कागजों में मिलते हैं। [मु० अ० अं०]

आर्च ड्यूक आस्ट्रिया के राजपरिवार का नाम। मध्यकालीन यूरोप में यह उपाधि बहुत ही कम लोगों को मिली। आर्च ड्यूक पालातीन की उपाधि सबसे पहले ड्यूक रेडोल्फ चतुर्थ ने धारण की। उन्होंने यह पद अपनी मुहरों पर खुदवाया और अपने फर्मानों में भी लिखा। वे इस उपाधि का प्रयोग उस समय तक करते रहे जब तक चार्ल्स चतुर्थ ने उन्हें मना नहीं कर दिया। कानून के अनुसार यह पद हैब्सबर्ग के राजपरिवार को उस समय मिला जब १४५३ ई० में फ्रेडरिक तृतीय ने अपने पुत्र मैक्समिलन और उसके वंशजों को आस्ट्रिया के आर्चड्यूक का पद दिया। [मु० अ० अं०]

आर्च बिशप ईसाई गिरजों में किसी प्रांत के मुख्य धर्माधिकारी को बिशप अथवा धर्माध्यक्ष की उपाधि दी जाती है (दे० **बिशप**)। चौथी शताब्दी ई० में बड़े नगरों के बिशप आर्च बिशप, अर्थात् महाधर्माध्यक्ष कहे जाने लगे। आज तक रोमन कैथोलिक, आरथोडाक्स ऐंग्लिकन तथा एकाध लूथरन गिरजों में आर्च बिशप की उपाधि का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ इंग्लैंड के चर्च में केवल दो आर्च बिशप होते हैं––कैंटरबरी और यार्क में। भारत के रोमन कैथोलिक चर्च में निम्नलिखित शहरों में आर्च बिशप रहते हैं––दिल्ली, कलकत्ता, बंबई, मद्रास, आगरा, नागपुर, बैंगलोर, हैदराबाद, मदुराई, पांडीचेरी, वेरापोली, राँची, एरणाकुलम् और त्रिवेंद्रम्। [का० बु०]

आर्जुनायन प्राचीन भारत का एक प्रख्यात गण। गुप्तनरेश समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति में गुप्तकालीन अन्य गणों के साथ आर्जुनायनों का भी उल्लेख मिलता है–– "मालवार्जुनायनयौधेयमाद्रकाभीरप्रार्जुनसनकानीककाकखरपरिकादिभिश्च सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषितप्रचंडशासनस्य (समुद्रगुप्तस्य)" जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आर्जुनायनों ने सब प्रकार के करों के दान से तथा आज्ञा स्वीकार कर समुद्रगुप्त के प्रचंड शासन को संतुष्ट किया था। इनमें गणतंत्र राज्यप्रणाली द्वारा शासन होता था। ये मध्यदेश की प्रत्यंत सीमा पर बसे थे। इनके ताँबे के सिक्के मथुरा, भरतपुर तथा अलवर में पाए गए हैं जिनपर 'आर्जुनायनानां जयः' लेख है। उनके एक ओर खड़ा हुआ ककुद्मान् वृषभ है और दूसरी ओर पुरुषमूर्ति है। ये सिक्के यौधेय गणों के सिक्कों से मिलते हैं। समुद्रगुप्त के पूर्वोक्त शिलालेखों में आर्जुनायनों के अनंतर ही यौधेयों का उल्लेख दोनों की संभवतः समीपस्थ स्थिति का परिचायक माना जा सकता है। काशिकाकार ने भी पाणिनि के एक सूत्र के उदाहरण में आर्जुनायनों का उल्लेख किया है––अब्रुच इञः प्राच्यभरतेषु (अष्टाध्यायी २।४।६६), पर पतंजलि ने 'औद्दालकि' और 'औद्दालकायन' उदाहरण दिए हैं, परंतु काशिकाकार ने इन्हें बदलकर अपने समकालीन 'आर्जुनि' और 'आर्जुनायन' उदाहरण रखे हैं। आर्जुनायन गण की स्थापना लगभग शुंगकाल में हुई और समुद्रगुप्त के साम्राज्य में वे निस्तेज हो गए। काशिका का पूर्वोक्त निर्देश इस बात का साक्षी है कि इनकी स्मृति छठी शती में भी जागरूक थी। [ब० उ०]

आर्जेंटीना दक्षिण अमरीका का एक देश है। स्थिति : २२° अ० द० से ५५° अ० द०, ५४° २०' दे० प० से ७३° ३०' दे० प०; क्षेत्रफल : ११,५३,११९ वर्ग मील; जनसंख्या : १,५८,९३,८२७ (सन् १९४७ में)। इस देश के उत्तरी भाग में उष्ण प्रदेशीय घास के मैदान एवं वन हैं, मध्य में पंपास का हरा भरा कृषिप्रदेश और दक्षिण में पटगोनिया की उदास मरुभूमि। इस देश में नूतन पुरातन का समन्वय है। बस्ती के विचार से यह देश प्राचीन, किंतु आर्थिक विकास में नवीन है। यद्यपि यहाँ का सर्वप्रधान नगर बुएनस एरिज चमक दमक एवं नवीनता में लंदन, न्यूयार्क तथा पेरिस के समकक्ष है तथापि शेष आर्जेंटीना आज भी ग्रामीण है।

प्राकृतिक दशा––इस प्रजातंत्र के पश्चिमी एवं एक तिहाई उत्तरी भाग में ऐंडीज पर्वत एवं तत्संबंधित पर्वतीय प्रदेश है, उत्तर में ब्राजील के पठार का एक भाग एवं दक्षिण में पटगोनिया की उच्च भूमि है। देश का शेष भाग मैदान सा है। दक्षिणी अमरीका की रीढ़, ऐंडीज, के पर्वतीय क्षेत्र में अवसादी (सेडिमेंटरी) चट्टानें धरातल पर मिलती हैं। आयु में ऐंडीज नया है। इसका उत्थान तृतीयक (टरशियरी) कल्प में हुआ था जब रूपद (प्लैस्टिक) आग्नेय पदार्थ में मोड़ (भंज, फोल्डिंग) आ गया था। इस भाग में हिमयुगों के अवशेष भी मिलते हैं। प्लाटा नदी के उत्तर तथा अंधमहासागर के किनारे का भाग कैलीडोनियन उत्थान के समय बना था और दक्षिणी भाग हरसीनियन उत्थान के समय। अब आयु में नवीन ऐंडीज ही ऊँचा रह गया है, शेष भाग कटकर समतल हो गए हैं।

पराना, परागुए तथा उरुगुए, आर्जेंटीना की तीन प्रमुख नदियाँ हैं। इनके मिलने से पाटा नदी बनती है। रियो डि ला प्लाटा एक बड़ा सागरसंगम (एस्चुएरी) है और बुएनस एरिज का बंदरगाह इसी पर स्थित है। यों तो इस देश में कई झीलें हैं, पर पटगोनिया प्रदेश की झीलें अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें मुख्य नाहुयलहुपी, सान मार्टिन, वियडामा आदि हैं।

जलवायु तथा वर्षा––देश के उत्तरी भाग में उष्ण कटिबंधीय जलवायु ने अपने सभी अवगुणों का प्रभाव मानव संस्कृति तथा सभ्यता पर डाल रखा है। देश का मध्य भाग, जो पंपास कहलाता है, अत्यंत स्वास्थ्यप्रद है। यहाँ पर यथेष्ट धूप, यथेष्ट वर्षा तथा अधिक जनसंख्या है। यहाँ पूर्व की अपेक्षा पश्चिम में ताप कुछ बढ़ जाता है, किंतु वर्षा अधिक घट जाती है। पश्चिमी भाग में, ऐंडीज द्वारा रोके जाने के कारण, प्रशांत महासागरीय वायु अधिक वर्षा नहीं कर पाती। यह निम्नांकित तालिका से विदित होता है :

	पूर्व में (बुएनस एरिज)	पश्चिम में (कारडोबा)
औसत तापक्रम	६१·१°	६२·४°
औसत वर्षा	३७·९"	२७·०"

समुद्री धाराओं ने इस देश की जलवायु पर बहुत प्रभाव डाला है। विषुवत रेखीय उष्ण धारा ने पटगोनिया तथा टियरा डेल फ्यूगो की शीतल जलवायु को सुधारकर बसने तथा भेड़ पालने योग्य बना दिया है।

वनस्पति---आर्जेंटीना एक विश्ववाटिका के समान है, क्योंकि यहाँ पर उष्ण से लेकर ध्रुवप्रदेश तक की सब प्रकार की वनस्पतियाँ मिलती हैं। उत्तर में उष्ण प्रदेशीय वन तथा घास के मैदान हैं, उसके दक्षिण में पंपास प्रदेश में यथेष्ट भूमि पर खेती होती है तथा शेष भाग घास से ढका है। इसके दक्षिण-पश्चिम में पटगोनिया का अधिकतर भाग बंजर है तथा कंटीली झाड़ियों से ढका है, केवल ऐंडीज़ तलहटी की जलसेवित घाटियों में ही कृषि एवं मेषपालन होता है।

जलवायु, वनस्पति तथा आर्थिक कार्यों के अनुसार आर्जेंटीना के पाँच प्राकृतिक विभाग किए जा सकते हैं :

१. चाको अथवा उत्तरी समभूमि, जिसमें आर्द्र, अर्ध-उष्ण-कटिबंधीय वन मिलते हैं तथा गन्ना चावल आदि उत्पन्न किया जाता है।

२. मैसोपोटामिया, जो कि पराना, परागुए आदि नदियों से घिरा है और पशुओं के लिये प्रसिद्ध है।

३. ऐंडीज़ प्रदेश, जिसमें शहतूत, अंगूर तथा अन्य फल होते हैं।

४. पंपास प्रदेश, जो आर्जेंटीना का आर्थिक हृदय है; यहाँ पशु तथा अनाज बहुतायत से होते हैं।

५. पटगोनिया प्रदेश, जहाँ मुख्यतया भेड़ें पाली जाती हैं।

खनिज उद्योग---भवननिर्माण के लिये उपयोगी पदार्थों को छोड़कर मिट्टी का तेल ही आर्जेंटीना का मुख्य खनिज है जो मुख्यतया पटगोनिया प्रदेश से आता है। सब मिलाकर १६० लाख बैरल तेल प्रति वर्ष उत्पन्न होता है।

जलशक्ति---आर्जेंटीना में कुल मिलाकर ५४,००,००० अश्वसामर्थ्य की जलशक्ति है। इसमें से लगभग ६७,००० अश्वसामर्थ्य ही अभी उपयोग में लाया जा रहा है।

कृषि---आर्जेंटीना की जनता का मुख्य उद्यम कृषि अथवा तत्संबंधी उद्योग है। यहाँ का मुख्य अनाज गेहूँ है और विश्व के गेहूँ निर्यात करनेवाले देशों में इसका तृतीय स्थान है। यहाँ की गेहूँ की भूमि अर्धचंद्राकार रूप में बाहियाब्लांका नगर से सांटाफी तक फैली है। यहाँ की जलवायु, मिट्टी तथा पानी का बहाव गेहूँ के लिये अत्यंत उपयुक्त है। गेहूँ मई जून में बोया जाता है तथा नवंबर में काटा जाता है। अतएव यह यूरोप के बाजारों में ऐसे समय में पहुँचता है जब इसकी वहाँ विशेष आवश्यकता रहती है, क्योंकि तब उत्तरी गोलार्ध में गेहूँ बोया जाता है। देश में उत्पन्न कुल गेहूँ का ६० प्रति शत भाग यहाँ से निर्यात होता है। यहाँ का द्वितीय मुख्य अनाज मक्का है। विश्व में मक्का उत्पादन में इस देश का स्थान द्वितीय तथा निर्यात में प्रथम है। मक्के का ८० प्रति शत भाग यहाँ से निर्यात होता है। मुख्य उत्पादन-क्षेत्र उत्तर-पश्चिमी बुएनस एरिज़ राज्य, दक्षिणी सांटा फी तथा पूर्वी कारडोबा की १२० मील लंबी पट्टी में है। अन्य फसलों में अलसी, रुई, गन्ना, यरबामाते (एक प्रकार की चाय) तथा अंगूर, सेब आदि फल मुख्य हैं। पशुपालन यहाँ का मुख्य धंधा है तथा दूध, मांस, ऊन यहाँ के मुख्य उत्पादन है।

उद्योगधंधे---यहाँ पर कपड़ा, बिजली तथा रासायनिक उद्योग उन्नति पर है। कपड़े की मिलें अधिकतर बुएनस एरिज़ तथा फेडरल प्रदेश में स्थित हैं। चीनी की मिलें अधिकतर टुकुमान, साल्टा आदि में स्थित हैं। अंगूरी दिमरा की मिलें अधिकतर मेंडोजा तथा सैन जुआन में स्थित हैं। आटा पीसने की मिलें फेडरल सांटा फी, कारडोबा, बुएनस एरिज़ आदि प्रदेशों में स्थित है। चमड़ा सिझाने के सामान का उद्योग अधिकतर चाको प्रदेश में स्थित है।

यातायात---संपूर्ण दक्षिणी अमरीका की लगभग ४१ प्रति शत रेलें आर्जेंटीना में ही हैं। बुएनस एरिज़ प्रदेश में तो रेलों का जाल बिछा हुआ है। पर्वतीय प्रदेश तथा पटगोनिया में रेलें कम हैं। यहाँ की अंतर्राष्ट्रीय सड़कें ऐंडीज़ पर्वत को पार करके चिली, बोलविया आदि को जाती है। वायुयानों का प्रयोग अब इस देश में बढ़ रहा है। यहाँ से अधिक निर्यात होने के कारण विश्व के अधिकतर देशों से यहाँ जलयान जाते आते हैं।

बुएनस एरिज़ यहाँ का एक प्रमुख नगर तथा बंदरगाह है। यह देश शिक्षा एवं संस्कृति में पर्याप्त उन्नतिशील है। [शि० मं० सिं०]

आर्टेल्ट प्रोफेसर वाल्टर आर्टेल्ट, जर्मन डाक्टर, का जन्म सन् १८९८ ई० में जर्मनी के डार्मस्टेड नामक नगर में हुआ। प्रारंभिक शिक्षा पाने के बाद ये बर्लिन इंस्टीटयूट के हिस्ट्री ऑव मेडिसिन के अध्यक्ष प्रोफेसर डिपेगन के सहायक के रूप में कार्य करते रहे। इनकी रुचि दंत-चिकित्सा-विज्ञान में थी, किंतु प्रोफेसर डिपेगन के इतिहास संबंधी भाषणों को सुनकर इनका झुकाव इस ओर हो गया और उनके साथ काम करके इन्होंने डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद बर्लिन विश्वविद्यालय में इन्हें अपने प्रबंध (थीसिस) पर 'मेडिकल डाक्टर' की उपाधि प्राप्त हुई। प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध में इन्होंने सेना में रहकर घायल सैनिकों की सेवा की। तदुपरांत फ्रैंकफर्ट-ऑन-मेन के विश्वविद्यालय में "चिकित्साशास्त्र के इतिहास" के अध्यक्ष नियुक्त हुए एवं आजकल भी उसी पद को सुशोभित करते है।

सन् १९४५ ई० से सन् १९४८ ई० के बीच प्रोफेसर आर्टेल्ट के इंस्टीटयूट से चिकित्साशास्त्र तथा चिकित्साशास्त्र के इतिहास से संबंधित प्रकाशित पुस्तकों, ग्रंथों तथा लेखों के सूचीपत्र तथा कई अनुसूचियाँ प्रकाशित हुई हैं। इस प्रकार चिकित्साशास्त्र के इतिहास के क्षेत्र में प्रोफेसर वाल्टर आर्टेल्ट लब्धप्रतिष्ठ तथा माने हुए विद्वान् हैं। ये चिकित्साविज्ञान की जर्मन इतिहास-परिषद् और प्राकृतिक विज्ञान तथा टेकनीक नामक संस्था के भी अध्यक्ष हैं। [शि० क० ख०]

आर्डिमोर संयुक्त राज्य (अमरीका) के ओक्लाहोमा राज्य के दक्षिणी भाग तथा ओक्लाहोमा नगर से १०० मील दक्षिण स्थित एक शहर है। यह समुद्र की सतह से ८७६ फुट की ऊँचाई पर बसा है। यह नगर तेल एवं कृषि क्षेत्रों के बीच में पड़ता है और थोक तथा फुटकर व्यापार का केंद्र है। यहाँ से एक दैनिक पत्र निकलता है तथा यह आकाशवाणी का केंद्र है। यहाँ पर तेल शोधने का एक कारखाना, कपास से बिनौला अलग करने तथा बिनौले से तेल निकालने के कारखाने, आटे की चक्की आदि उद्योग हैं। यहाँ कार्टर सेमिनरी नामक एक पाठशाला अमरीकी आदिवासी लड़कियों के लिये है। नगर के पास ही एक उपवन, जिसका क्षेत्रफल २०,००० एकड़ है, तथा आरबुकल नामक एक पर्वतमाला है। इस नगर की स्थापना १८८७ ई० में हुई थी। यहाँ पर सांता फे एवं फ्रिस्को रेल की लाइनें हैं तथा जस्ता और कोयले की खानें हैं। यहाँ की जनसंख्या १७,८९० (सन् १९५०) है। [नृ० कु० सिं०]

आर्डेनीज फ्रांस की उत्तरी सीमा पर एक जिला है। इसमें म्यूज़ नदी की घाटी और पेरिस द्रोणी के कुछ भाग आते हैं। यहाँ प्राचीन पर्वतों के अवशेष हैं जो अधिकतर घिसकर बराबर हो गए हैं, परंतु दक्षिण-पूर्व की तरफ से उठे हुए हैं। उत्तर-पश्चिम में गिवेट प्रदेश की तरफ खुला मैदान है। उत्तर में रेविन नगर में एक किला है। यह फ्रांस की सीमा की एक चौकी है। इधर का देश अपेक्षाकृत शुष्क है। दक्षिणी-पश्चिमी निचले मैदान में विशेष सरदी नहीं पड़ती। वहाँ औसत वर्षा ३१·५" या कम होती है और साधारणत: खेती होती है, परंतु ऊँची भूमि पर काफी ठंढक पड़ती है और वर्षा ३९·४" तक होती है। नदी के किनारे चरागाह मिलते हैं। यहाँ के लोग स्लेट पत्थर तथा लोहे की खानों में काम करके जीविकानिर्वाह करते हैं। मेजीर्स-चार्लविल प्रसिद्ध रेलवे जंकशन है। आर्डेनीज़ का क्षेत्रफल २,०२८ वर्ग मील है और १९३६ में इसकी जनसंख्या २,८८,६३२ थी। [नृ० कु० सिं०]

आर्णी (स्थिति : १२° ४१' उ० अक्षांश एवं ७९° १७' पूर्वी देशांतर) मद्रास राज्य के उत्तर आर्काड जिले में आर्णी इसी नाम के तालुके का प्रधान नगर है। यह नगर ब्रिटिश काल में बहुत बड़ा सैनिक केंद्र था और अब भी वहाँ सैनिकों के निवास के कमरों की पंक्तियाँ दिखलाई देती हैं, जिनमें से कुछ तालुके के प्राशासनिक कार्यालयों के रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं। यहाँ एक वर्गाकार प्राचीन किला तथा मंदिर भी है। नगर में रेशमी एवं सूती कपड़े का व्यवसाय प्रमुख है। १९०१ में

इसकी जनसंख्या ६,२९९ थी, जो धीरे धीरे बढ़कर १९५१ ई० में २४,५६७ हो गई। नगर का प्रशासन पंचायत द्वारा होता है और ५० प्रति शत से अधिक लोग व्यापार एवं उद्योगधंधों में लगे हैं। [का० ना० सिं०]

आर्तव स्त्रियों की जननेंद्रिय द्वारा लगभग प्रति मास रक्तमिश्रित द्रव निकलने को आर्तव, मासिक धर्म, रजस्राव, ऋतुप्रवाह या ऋतुस्राव (अंग्रेजी में मेंस्ट्रुएशन) कहते हैं। परंपरागत विश्वास यह है कि रजोदर्शन प्रति चांद्र मास होता है—मासिक धर्म नाम इसीलिये पड़ा है। परंतु साधारणतः एक स्राव के आरंभ से दूसरे स्राव के आरंभ तक की अवधि २७ से ३० दिन की होती है और केवल दस बारह प्रति शत स्त्रियों में यह अवधि ठीक एक चांद्र मास की होती है। फिर, एक ही स्त्री में यह अवधि घटती बढ़ती भी रहती है। इस अवधि पर मौसम का भी प्रभाव पड़ता रहता है। कुछ स्त्रियों में यह अवधि प्रायः स्थिर रहती है, परंतु अधिकांश स्त्रियों में यह अवधि कभी कभी २१ दिन तक छोटी या ३५ दिन तक लंबी हो जाती है। इससे कम या अधिक की अवधि को रोग का लक्षण माना जाता है।

शीतोष्ण देशों में जब आर्तव पहले पहल आरंभ होता है तब लड़कियों की आयु १३ और १५ वर्ष के बीच रहती है। गरम देशों में आर्तव कुछ पहले और ठंढे देशों में कुछ देर में आरंभ होता है, परंतु कई कारणों से प्रथम रजोदर्शन के समय की आयु बदल सकती है। नौ वर्ष की लड़कियों में आर्तव का आरंभ होना देखा गया है और कुछ में १८ वर्ष में इसका आरंभ हुआ है। ४५ से ५० वर्ष की आयु हो जाने पर आर्तव साधारणतः बंद हो जाता है, यद्यपि कुछ स्त्रियों में इसके बंद होने में दो तीन वर्ष और भी लग जाते हैं। कुछ स्त्रियों में आर्तव एकाएक बंद होता है, परंतु अधिकांश स्त्रियों में आर्तव की अवधि अनियमित होकर और स्राव की मात्रा घटते घटते वर्ष दो वर्ष में आर्तव बंद होता है। इस समय में बहुधा स्त्री समय समय पर एकाएक गर्मी अनुभव करती है; नाड़ी अनियमित गति से चलने लगती है; निद्रानाश तथा उदासी आदि लक्षण भी प्रकट हो सकते हैं; परंतु रजोनिवृत्ति (मेनोपॉज़) के पश्चात् स्वास्थ्य अच्छा हो जाता है और वर्षों तक स्फूर्ति बनी रहती है।

लड़कियों में जब आर्तव का होना आरंभ होता है तब कुछ वर्षों तक आर्तव थोड़ा बहुत अनियमित समयों पर होता है। आर्तव का आरंभ युवावस्था का आरंभ है। इसके साथ साथ शरीर में कई निश्चित परिवर्तन होते हैं, यथा स्तनों का बढ़ना, उसके भीतर की दुग्ध-ग्रंथियों का विकास, अंडाशय की वृद्धि, गर्भाशय तथा बाह्य जननांगों का विकास इत्यादि। साथ ही स्त्रीत्व और परिपक्वता के अन्य लक्षण भी, शारीरिक तथा मानसिक दोनों, उत्पन्न होते हैं।

आर्तव का औसत काल चार दिन है, परंतु एक सप्ताह तक भी चल सकता है। आरंभ में स्राव कम होता है, तब एक या दो दिन स्राव अधिक होता है, फिर धीरे धीरे घटकर मिट जाता है। स्राव में केवल रक्त नहीं रहता। स्राव रक्त के समान जमता भी नहीं। स्राव में लगभग आधा या दो तिहाई रक्त होता है, शेष में अन्य स्राव (श्लेष्मा) और कोशिकाओं के क्षत विक्षत अंश रहते हैं। कुल रक्त लगभग एक छटाँक जाता है, परंतु दुगुने या कभी कभी तिगुने तक जा सकता है। इससे अधिक स्राव होने को रोग समझना चाहिए।

आर्तव के समय स्त्री के सारे शरीर में थोड़ा बहुत परिवर्तन होता है, परंतु अनेक स्त्रियों को आर्तव से कोई पीड़ा या बेचैनी नहीं होती और उनके दैनिक जीवन में कोई अंतर नहीं पड़ता। साधारणतः पाचनशक्ति कुछ कम हो जाती है, शरीरताप कुछ कम हो जाता है और शरीर की कोशिकाओं से रक्त निकलने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। अधिकांश स्त्रियों में आर्तव के समय पीड़ा और उदासी होती है। पेट के निचले भाग में भारीपन और कमर में पीड़ा का अनुभव होता है। कुछ को सिरदर्द, शिथिलता, थकावट, पेट फूलना, मूत्राशय में जलन, छाती में भारीपन इत्यादि की शिकायत रहती है। ये सब लक्षण आर्तव का आरंभ होने पर मिट जाते हैं। सदा स्वास्थ्य के नियमों का पालन करने से आर्तव के समय कष्ट कम होता है। जब स्त्री गर्भवती रहती है तब आर्तव बंद रहता है और प्रसव के बाद भी कई महीनों तक बंद रहता है।

प्रत्येक दो आर्तवों के अंतःकाल के लगभग मध्य में एक बार डिंबक्षरण होता है, अर्थात् एक डिंब डिंबग्रंथि से निकलकर गर्भाशय में आता है। यदि उस डिंब का निषेचन हो जाता है, अर्थात् पुरुष के वीर्य के एक शुक्राणु से उसका संयोग हो जाता है, तो गर्भ स्थापित हो जाता है, नहीं तो डिंब नष्ट हो जाता है और आर्तवस्राव के साथ निकल जाता है। विद्वानों का विचार है कि गर्भाशय की अंतःकला पर डिंबग्रंथि में बने हुए हारमोन का जो प्रभाव पड़ता है वही आर्तव का कारण है। संभव है, अंतःकला में भी कुछ ऐसे विष बनते हों जिनके कारण कला की केशिकाएँ फट जाती हों।

आर्तव संबंधी रोग—गर्भाधान, अधिक आयु के कारण आर्तव का मिटना या कम आयु में आर्तव के आरंभ में देर, इन तीन कारणों को छोड़कर अन्य किसी कारण से आर्तव के रुकने को रुद्धार्तव (एमेनोरिया) कहते हैं। यह रक्तक्षीणता (अनीमिया), क्षय अथवा तंत्रिकाओं की अत्यंत अधिक थकावट में उत्पन्न होता है। अत्यार्तव (मेनोरेजिया) उस दशा को कहते हैं जब साधारण से बहुत अधिक स्राव होता है। इस दशा में विश्राम करने से लाभ होता है। कष्टार्तव (डिसमेनोरिया) में साधारण से अधिक पीड़ा होती है। असामयिक आर्तव (मेट्रोरेजिया) में आर्तव का समय आए बिना ही स्राव होता है। इन दशाओं में चिकित्सक से राय लेना उचित होगा। [क० गु०]

आर्तेमिस् अथवा आर्तामिस्, ग्रीस देश में सर्वत्र पूजी जानेवाली देवी। यह ज्यूस् (सं० द्यौस्) और लैतो की पुत्री तथा अपोलो की बहन मानी जाती थीं। पर संभवतया उनकी पूजा और सत्ता हेलेविक जाति से भी अधिक पुरानी थी। उन्होंने अपने पिता से अनेक वरदान प्राप्त किए थे। आर्तेमिस् चिरकुमारी एवं आखेट की देवी थीं एवं उनकी सेविकाएँ भी कुमारिकाएँ ही थीं। जिसने भी उनसे प्रेम करना चाहा, उसको देवी के कोप का भाजन बनना पड़ा। छोटे शिशुओं और अल्पायु प्राणियों पर उनकी विशेष कृपा रहती थी। प्रसववेदना में स्त्रियाँ उनका स्मरण किया करती थीं। स्वयं उनको जन्म देते समय उनकी माता को पीड़ा नहीं हुई थी, अतएव आम विश्वास था कि उनका स्मरण और पूजन करनेवाली प्रसूतिकाओं को भी पीड़ा नहीं होती। पर यदि किसी स्त्री की मृत्यु अचानक और बिना पीड़ा के हो जाती थी तो उसका कारण भी आर्तेमिस् को ही माना जाता था। किंतु मुख्यतः तो वह आखेटिका ही थीं और अपनी सेविकाओं तथा शिकारी कुत्तों के साथ पर्वतों और वनों में शिकार खेलना उनको सबसे अधिक भाता था। वह धनुष बाण धारण कर आखेट करती थीं।

उन्होंने अपने पिता से एक नगर माँगा था, पर उन्होंने उनको पूरे तीस नगर और अन्य अनेक नगरों के भाग प्रदान किए। इसका अर्थ यह है कि उनके मंदिर और पूजास्थान समस्त ग्रीक नगरों में थे। इन मंदिरों में छोटे पशुओं, पक्षियों और विशेषकर बकरों की बलि आर्तेमिस् को अर्पित की जाती थी। कुछ स्थानों पर कुमारिकाएँ केसरिया कपड़े पहनकर उनके समक्ष नृत्य करती थीं। हलाए नामक नगर में आर्तेमिस् के समक्ष नरबलि का दिखावा भी किया जाता था और खड्ग द्वारा मनुष्य की गरदन से रक्त की कुछ बूंदें निकाली जाती थीं। फोकाइया स्थान पर यथार्थ नरबलि का होना भी कहा जाता है।

ग्रीक और रोमन इतिहास में आर्तेमिस् के अनेक रूपांतर घटित हुए और अनेक अन्य देवियों के साथ उनका तादात्म्य स्थापित हुआ। वह चंद्रा (सेलेने), कृष्णाकुहू (हेकाते), मधुरा (ब्रितोमार्तिस्) आदि अनेक नामों से परिचित हैं।

सं०ग्रं०—फार्नेल् : कल्ट्स ऑव दि ग्रीक स्टेट्स, १९२१; एडिथ हेमिल्टन : माइथॉलोजी, १९५४; रॉबर्ट् ग्रेव्ज़ : दि ग्रीक मिथ्स, १९५५। [भो० ना० श०]

आर्थर चेस्टर एलेन (१८३०-१८८६)—संयुक्त राज्य अमरीका के २१वें प्रेसिडेंट। उनके पिता आयरीय और उनकी माता अमरीकी थीं। शिक्षा प्राप्त कर उन्होंने अध्यापन का कार्य किया, फिर वकालत में नाम कमाया। राजनीति में वे आरंभ से ही प्रजातांत्रिक दल के समर्थक थे और अमरीका के गृहयुद्ध में उन्होंने अपने दल की ओर से अनेक लड़ाइयाँ लड़ीं। प्रेसिडेंट गारफील्ड की हत्या के बाद

आर्थर को संयुक्त राज्य अमरीका के अध्यक्ष की गद्दी मिली और उन्होंने देश के विरोध के बावजूद अध्यक्षपद ग्रहण किया। धीरे धीरे अपनी वक्तृताओं और कार्यों द्वारा उन्होंने जनता का भय दूर कर दिया। उनके शासनकाल में अनेक बड़ी रेल लाइनें बनीं और सामाजिक सुधार हुए, साथ ही मेक्सिको और संयुक्त राज्य के बीच सीमा भी निर्धारित हुई। आर्थर उन अप्रिय राजनीतिज्ञों में से थे जो अपने कार्यों द्वारा जनता का भय दूर कर उसका सौहार्द्र प्राप्त करते हैं। [ओं० ना० उ०]

आर्थरीय किंवदंतियाँ और आर्थर

अंग्रेजी साहित्य की मध्ययुगीन अनुपम देन हैं। इनके केंद्रबिंदु हैं कैमलाट नगर के आदर्श शासक तथा योद्धा 'किंग आर्थर' और उनके दरबार के द्वादश वीर जो मानव शौर्य के सर्वोत्तम प्रतीक समझे जाते थे और 'राउंड टेबुल' के उज्ज्वल रत्न थे। आर्थर के व्यक्तित्व में ऐतिहासिक तथ्य के साथ साथ कल्पना का गहरा समन्वय है। वास्तव में वह केल्ट जाति के विशिष्ट नायक थे जो संभवतः ५वीं सदी के अंत में हुए; परंतु कालांतर में इंग्लैंड तथा फ्रांस के कवियों ने उनके चतुर्दिक् किंवदंतियों का सुनहला अलंकार बिछा दिया। इन किंवदंतियों को क्रमबद्ध करने का श्रेय अनेक लेखकों को है जिनमें ज्युफरी ऑव मानमाउथ तथा मैलोरी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मैलोरी के अमर ग्रंथ 'मार्टे ड आर्थर' में ये कथाएँ शृंखलाबद्ध होकर अंग्रेजी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हुई और अंग्रेजी साहित्य के लिये अनुपम वरदान सिद्ध हुई। इन किंवदंतियों में मध्यकालीन विचारधारा के मूल तत्वों, अर्थात् ईसाई धर्म, रोमांटिक प्रेम, धार्मिक युद्ध तथा सैनिक जीवन के उच्च आदर्श और विचित्र अंधविश्वासों का गहरा पुट है। मैलोरी के मार्टे ड आर्थर की ख्याति १६वीं शताब्दी के उदय के साथ ही आरंभ हुई, जब कैक्सटन ने इसे प्रकाशित किया, और वह आज तक अक्षुण्ण बनी हुई है। एलिज़ाबेथ युग के प्रसिद्ध कवि स्पेंसर ने अपने महाकाव्य 'फेअरीक्वीन' में किंग आर्थर तथा मरलिन—दो मुख्य पात्रों का समावेश किया और तभी से उस सर्वप्रिय काव्य की ख्याति के साथ साथ इन कथाओं का प्रभाव भी बढ़ता गया और अंत में विक्टोरियन युग के प्रतिनिधि कवि लार्ड टेनिसन ने इनको अपने महाकाव्य 'ईडिल्स ऑव दि किंग' में कविता का रंग बिरंगा बाना पहनाया और इन कथाओं में निहित नैतिक तथ्यों की ओर भी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया। यूरोप के अन्य देशों के साहित्य पर भी इनका प्रभाव स्पष्ट है।

सं०ग्रं०—मैलोरी, सर टामस : मार्टे ड आर्थर; टेनिसन, लार्ड : ईडिल्स ऑव दि किंग; मारगरेट, ज० सी० रीड : दि आर्थूरियन लीजेंड्स, १९३३। [वि० रा०]

आर्थिक भौमिकी

भौमिकी की वह शाखा है जो पृथ्वी की खनिज संपत्ति के संबंध में बृहत् ज्ञान कराती है। पृथ्वी से उत्पन्न समस्त धातुओं, पत्थर, कोयला, भूतैल (पेट्रोलियम) तथा अन्य अधातु खनिजों का अध्ययन तथा उनका आर्थिक विवेचन आर्थिक भौमिकी द्वारा ही होता है। प्रत्येक देश की समृद्धि वहाँ की खनिज संपत्ति पर बहुत कुछ निर्भर रहती है और इस दृष्टि से आर्थिक भौमिकी का अध्ययन और भी महत्वपूर्ण हो जाता है।

यद्यपि भारतवर्ष प्राचीन समय से ही अपनी खनिज संपत्ति के लिये प्रसिद्ध रहा है, तथापि कुछ कारणों से यह देश अत्यंत समृद्ध नहीं कहा जा सकता। भारत में आर्थिक महत्व के ४० से अधिक खनिज पाए जाते हैं जिनमें से लगभग १६ खनिज प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। इनमें विशेष कर लौह-अयस्क, मैंगनीज़, अभ्रक, बॉक्साइट, इल्मेनाइट, पत्थर के कोयले, जिप्सम, चूना पत्थर (लाइम स्टोन), सिलीमेनाइट, कायनाइट, कुरबिंद (कोरंडम), मैग्नेसाइट, मृत्तिकाओं आदि के विशाल भांडार हैं, किंतु साथ ही साथ सीसा, ताँबा, जस्ता, राँगा, गंधक तथा भूतैल आदि अत्यंत न्यून मात्रा में हैं। भूतैल का उत्पादन तो इतना अल्प है कि देश की आंतरिक खपत का केवल ७ प्रति शत ही उससे पूरा हो पाता है। इस्पात उत्पादन के लिये सारे आवश्यक खनिज पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। सीसा, जस्ता तथा राँगा जिन उद्योगों में प्रयोग किए जाते हैं उनमें इन धातुओं के अभाव के कारण कुछ हल्की धातुएँ, जैसे ऐल्युमिनियम इत्यादि तथा उनकी मिश्र धातुएँ उपयोग में लाई जा सकती हैं।

भारत में खनन उद्योग का विकास—सन् १९०६ में भारत के संपूर्ण खनिज उत्पादन का मूल्य केवल १० करोड़ रुपया था। उस समय पाकिस्तान तथा बर्मा भी भारतीय साम्राज्य के ही भाग थे। इसके पश्चात् खनिज उद्योग निरंतर वृद्धि करता रहा तथा इसकी गति स्वतंत्रता के उपरांत और भी अधिक हो गई। यहाँ इस तथ्य को नहीं भूलना चाहिए कि २०वीं शताब्दी के प्रारंभ से इसके मध्यकाल तक खनिज के मूल्य में कई गुनी वृद्धि हुई है। सन् १९४८ में उत्पादित खनिजों का मूल्य ६४ करोड़ रुपए तक पहुँचा। वास्तव में भारत के खनिज संसाधनों का व्यवस्थित योजना द्वारा विकास राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के साथ ही हुआ और जैसे जैसे समय बीतता गया, इस दिशा में महान् प्रगति के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे तथा १९५३ में ११२.७८ करोड़ रुपए मूल्य के खनिज का उत्पादन हुआ।

किसी भी देश के संसाधनों का उचित और पूर्ण उपयोग करने के लिये गवेषणाकार्य अत्यंत आवश्यक है। सौ वर्ष से अधिक समय बीता, जब भारतीय भौमिकीय सर्वेक्षण विभाग की स्थापना हुई। इसका मुख्य कार्य देश के खनिज पदार्थों का अन्वेषण और अनुसंधान तथा भूतात्विक दृष्टि से संपूर्ण देश की समीक्षा और विस्तृत ज्ञान करना था। स्वतंत्रता के पश्चात् खनिज उद्योग के लिये भारत सरकार की जागरूक नीति के परिणामस्वरूप सन् १९४८ में भारतीय खनिज विभाग (इंडियन ब्यूरो ऑव माइन्स) की स्थापना हुई। इसका कार्य एक सुनिश्चित योजना के अंतर्गत विभिन्न खनिजों के भांडारों की खोज एवं निर्धारण, खननपद्धतियों के सुधार, अधिक ठोस आधार पर आँकड़ों का संग्रह तथा खनिजों के समुचित उपयोग के लिये गवेषणा की व्यवस्था है। यह संस्था देश में खनन उद्योग की समस्याओं का निराकरण तथा नवीन उपयोगी सुझाव देकर उद्योग की वृद्धि करने में भी सहायक सिद्ध हुई है। इस संस्था में कई प्रभाग हैं। परमाणु-शक्ति-आयोग (ऐटॉमिक एनर्जी कमिशन) के अंतर्गत भी 'परमाणु-शक्ति-खनिज-प्रभाग' स्थापित किया गया है। भारत में मृत्तैल का अत्यंत अभाव है। अतः भारत सरकार ने इस ओर पूर्ण रूप से विशेष रुचि दिखाई है। यद्यपि देश मृत्तैल के लिये अपने ही पर संभवतः कभी निर्भर न हो सकेगा, तथापि तैल के कुछ अन्य भांडार प्राप्त होने की संभावना को पूर्णतः निर्मूल नहीं समझा जा सकता। इस कार्य को विशाल स्तर पर संचालित करने, देश में संभावित स्थानों पर समान्वेषण करने तथा उसके संबंध में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिये भारत सरकार के 'प्राकृतिक साधन और वैज्ञानिक अनुसंधान' मंत्रालय (मिनिस्ट्री ऑव नैचुरल रिसोर्सेज़ ऐंड साइंटिफिक रिसर्च) ने एक तैल एवं प्राकृतिक गैस आयोग नामक संस्था को जन्म दिया है। पत्थर के कोयले से भी वाणिज्य के स्तर पर संश्लेषित भूतैल (सिंथेटिक पेट्रोलियम) निर्माण करने की योजनाओं पर विचार चल रहा है। हाल में खंबात (गुजरात) में प्राकृतिक भूतैल मिला है।
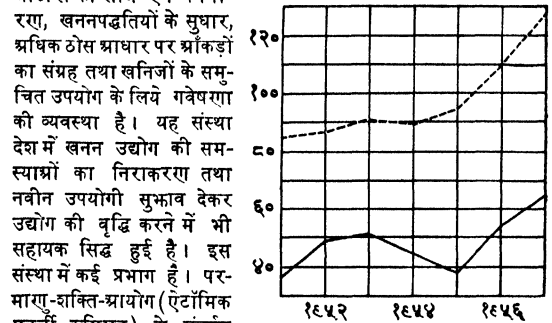
भारत का खनिज उत्पादन तथा निर्यात

उत्पादन बिंदुमय रेखा से तथा निर्यात सतत रेखा से करोड़ रुपयों में दिखाए गए हैं।

खनिजों का आयात एवं निर्यात—भारत को अलौह धातुओं, गंधक, पोटाश, ग्रैफाइट आदि की आवश्यकता की पूर्ति के लिये आयात पर निर्भर रहना पड़ता है। सन् १९५७ में लगभग दो अरब रुपया खनिजों के आयात में व्यय हुआ। यदि इसमें खनिज तथा ईंधन तैल आदि के आयात का मूल्य संमिलित किया जाय तो यह तीन अरब साढ़े सात करोड़ रुपए से भी अधिक हो जायगा, जो संपूर्ण आयात का ३० प्रति शत है। कुछ महत्वपूर्ण खनिज, जैसे मैंगनीज़-अयस्क, लौह अयस्क, पत्थर का कोयला, अभ्रक, इल्मेनाइट, कायनाइट, सिली मेनाइट तथा लवण आदि, विदेशों को निर्यात किए जाते हैं। खनिजों के निर्यात द्वारा सन् १९५७ में ६४ करोड़ १० लाख रुपया प्राप्त हुआ था। [वि० सा० दु०]

आर्द्रता वर्षा, बादल, कुहरा, ओस, ओला, पाला आदि से ज्ञात होता है कि पृथ्वी को घेरे हुए वायुमंडल में जलवाष्प सदा न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहता है। प्रति घन सेंटीमीटर हवा में जितना मिलीग्राम जलवाष्प विद्यमान है, उसका मान हम रासायनिक आर्द्रतामापी से निकालते हैं, किंतु अधिकतर वाष्प की मात्रा को वाष्पदाब द्वारा व्यक्त किया जाता है। वायु-दाब-मापी से जब हम वायुदाब ज्ञात करते हैं तब उसी में जलवाष्प का भी दाब संमिलित रहता है।

आपेक्षिक आर्द्रता—वायु के एक निश्चित आयतन में किसी ताप पर जितना जलवाष्प विद्यमान होता है और उतनी ही वायु को उसी ताप पर संतृप्त करने के लिये जितने जलवाष्प की आवश्यकता होती है, इन दोनों राशियों के अनुपात को आपेक्षिक आर्द्रता कहते हैं; अर्थात् ताप **ता**° पर आपेक्षिक आर्द्रता= एक घन सें०मी० वायु में **ता**° सेंटीग्रेड पर प्रस्तुत जलवाष्प ÷ एक घन सेंटीमीटर वायु में **ता**° सेंटीग्रेड पर संतृप्त जलवाष्प। बॉएल के अनुसार यदि आयतन स्थायी हो तो किसी गैस की मात्रा उसी के दाब की अनुपाती होती है। अतः

$$\text{आपेक्षिक आर्द्रता} = \frac{\text{प्रस्तुत जलवाष्प की दाब}}{\text{उसी ताप पर जलवाष्प की संतृप्त दाब}}$$

जलवाष्प की दाब, ओसांक ज्ञात करने पर, रेनो की सारणी से निकाला जाता है (देखिए आर्द्रतामापी)।

आर्द्रता से लाभ—वायु की नमी से बड़ा लाभ होता है। स्वास्थ्य के लिये वायु में कुछ अंश जलवाष्प का होना परम आवश्यक है। हवा की नमी से पेड़ पौधे अपनी पत्तियों के द्वारा जल प्राप्त करते हैं। ग्रीष्म ऋतु में नमी की कमी से वनस्पतियाँ कुम्हला जाती हैं। हवा में नमी अधिक रहने से हमें प्यास कम लगती है, क्योंकि शरीर के अनगिनत छिद्रों से तथा श्वास लेते समय जलवाष्प भीतर जाता है और जल की आवश्यकता की पूर्ति बहुत अंश में हो जाती है। शुष्क हवा में प्यास अधिक लगती है। बाहर की शुष्कता के कारण त्वचा के छिद्रों से शरीर के भीतरी जल का वाष्पन अधिक होता है, जिससे भीतरी जल की मात्रा घट जाती है। गरमी के दिनों में शुष्कता अधिक होती है और जाड़े में कम, यद्यपि आपेक्षिक आर्द्रता जाड़े में कम और गरमी में अधिक पाई जाती है। वाष्पन हवा के ताप पर भी निर्भर रहता है।

चित्र १. रासायनिक आर्द्रतामापी

ऐसे यंत्र द्वारा आर्द्रता का पता बड़ी सूक्ष्मता से लगाया जा सकता है, परतु परिणाम प्राप्त करने में समय लगता है। १. शुष्क वायु; २. फास्फोरस पेंटाक्साइड; ३. कैल्सियम क्लोराइड; ४. वायु।

रुई के उद्योग धंधों के लिये हवा में नमी का होना परम लाभकर होता है। शुष्क हवा में धागे टूट जाते हैं। अच्छे कारखानों में वायु की आर्द्रता कृत्रिम उपायों से सदा अनुकूल मान पर रखी जाती है। हवा की नमी से बहुत से पदार्थों के विस्तार तथा अन्य गुणों में परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन पदार्थ की भीतरी रचना पर निर्भर है। झिल्लीदार पदार्थ नमी पाकर फैल जाते हैं और सूखने पर सिकुड़ जाते हैं। रेशेदार पदार्थ नमी खाकर लंबाई की अपेक्षा मोटाई में अधिक बढ़ते हैं। इसी कारण रस्सियाँ और धागे भिगो देने पर छोटे हो जाते हैं। चरखे की डोरी ढीली हो जाने पर भिगोकर कड़ी की जाती है। नया कपड़ा पानी में भिगोकर सुखा देने के बाद सिकुड़ जाता है, किंतु रूखा बाल नमी पाकर बड़ा हो जाता है। बाल की लंबाई में १०० प्रति शत आर्द्रता बढ़ने पर सूखी अवस्था की अपेक्षा २·५ प्रति शत वृद्धि होती है। बाल के भीतर प्रोटीन के अणुओं के बीच जल के अणुओं की तह बन जाती है, जिसकी मोटाई नमी के साथ बढ़ती जाती है। इन तहों के प्रसार से पूरे बाल की लंबाई बढ़ जाती है (देखिए **आर्द्रतामापी** में सौसुरे का आर्द्रता-दर्शक)।

आर्द्रतायुक्त वायुमंडल पृथ्वी के ताप को बहुत कुछ सुरक्षित रखता है। वायुमंडल की गैसें सूर्य की रश्मियों में से अपनी अनुनादी रश्मियों को चुनकर सोख लेती हैं। जलवाष्प द्वारा शोषण अन्य गैसों के शोषणों के योग की अपेक्षा लगभग दूना होता है। ताप के घटने पर वही जलवाष्प धुआँ, धूल तथा गैसों के अणुओं पर संघनित होता है और कुहरे, बादल आदि की रचना होती है। ऐसे संघनित जलवाष्प द्वारा रश्मियों का शोषण बहुत अधिक होता है। जलवाष्प १० म्यू तरंगदैर्घ्य की रश्मियों के लिये पारदर्शक होता है, किंतु ०·१ मिलीमीटर मोटी जलवाष्प की तह इनके केवल १/१०० भाग को पार होने देती है [१ म्यू=१ माइक्रॉन =१०,००० ऐं° (एंगस्ट्राम) और १ ऐं°=$१०^{-८}$ सेंटीमीटर]। अतः बादल और कुहरा, जिनकी मोटाई ४-६ मीटर होती है, काले पिंड के समान पूर्ण शोषक तथा विकीर्णक होते हैं। सूर्य के पृष्ठ का ताप ६०००° सेंटीग्रेड होता है। वीन के द्वितीय नियम के अनुसार अन्य रश्मियों के साथ ०·५ म्यू तरंगदैर्घ्यवाली रश्मियाँ उच्चतम तीव्रता से विकीर्ण होती हैं। वीन का नियम है:

$$त = अ/ता_प°,$$

जहाँ तप्त पिंड से विकीर्ण रश्मि का तरंगदैर्घ्य **त** है, स्थिरांक **अ**=२६४० और $ता_प$° परमताप है।

यदि वायुमंडल में बादल न हो तो सभी छोटी रश्मियाँ पृथ्वी पर चली आती हैं। यदि बादल अथवा घना कुहरा रहता है तो ८० प्रति शत भाग परावर्तित होकर ऊपर चला जाता है, केवल २० प्रति शत भाग पृथ्वी पर पहुँचता है। इन रश्मियों से धरातल का ताप बढ़कर २०° से ३०° सेंटीग्रेड, अर्थात् लगभग ३००° परमताप हो जाता है। वीन के पूर्वोक्त नियम के अनुसार १० म्यू के आसपास की रश्मियाँ अधिक तीव्रता से विकीर्ण होती हैं। इन रश्मियों को बादल और कुहरा परावर्तित कर ऊपर नहीं जाने देते और इस प्राकृतिक विधान से धरातल तथा वायुमंडल का ताप घटने नहीं पाता। कंबलरूपी वायुमंडल काचगृह के समान ताप को सुरक्षित रखता है। यही कारण है कि जाड़े के दिनों में कुहरा रहने पर ठंढक अधिक नहीं लगती। बदली होने पर गरमी बढ़ जाती है तथा निर्मल आकाश रहने पर ठंढक बढ़ जाती है। [नं० ला० सि०]

आर्द्रतामापी वायुमंडल की आर्द्रता नापने के साधनों को 'आर्द्रतामापी' (हाइग्रोमीटर) कहते हैं। बहुत से ऐसे पदार्थ है, जैसे सल्फ्यूरिक अम्ल, कैल्सियम क्लोराइड, फासफोरस पेंटाक्साइड, साधारण नमक आदि, जो जलवाष्प के शोषक होते हैं। इनका उपयोग करके रासायनिक आर्द्रतामापी बनाए जाते हैं, जिनके द्वारा वायु के एक निश्चित आयतन में विद्यमान जलवाष्प की मात्रा ग्राम में ज्ञात की जाती है। एक बोतल में फासफोरस पेंटाक्साइड और दो तीन नलियों में कैल्सियम-क्लोराइड भरकर तौल लेते हैं। फिर इस बोतल को एक वायु-चूषक (ऐस्पिरेटर) की शृंखला में जोड़ देते हैं। चूषक चालू कर देने पर जल गिरता है और रिक्त स्थान में हवा बोतल तथा नलियों के भीतर

से होकर आती है। पूर्वोक्त रासायनिक पदार्थ वायु के जलवाष्प को सोख लेते हैं और सूखी वायु चूषक में एकत्र हो जाती है। बोतल तथा नलियाँ रासायनिक पदार्थों सहित फिर तौली जाती है। पहली तौल को इसमें से घटाकर जलवाष्प की मात्रा, जो एकत्रित वायु के भीतर थी, ज्ञात हो जाती है।

अन्य आर्द्रतामापी डाइन, डेनियल या रेनो के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा हम ओसांक ज्ञात करते हैं। फिर इस ओसांक और वायु के ताप पर वाष्पदाब का मान, रेनो की सारणी देखकर, आपेक्षिक आर्द्रता ज्ञात कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त वायु में किसी समय नमी की तात्कालिक जानकारी के लिये गीले और सूखे बल्बवाले आर्द्रतामापी (वेट ऐंड ड्राइ बल्ब हाइग्रोमीटर) का निर्माण किया गया है। इसे साइक्रोमीटर भी कहते हैं। इस उपकरण में दो समान तापमापी एक ही तख्ते पर जड़े रहते हैं। एक तापमापी के बल्ब पर कपड़ा लपेटा रहता है, जो सदा भीगा रहता है। इसके लिये कपड़े का एक छोर नीचे रखे हुए बर्तन के पानी में डूबा रहता है। कपड़े के जल का वाष्पीभवन होता रहता है, जो वायु की आर्द्रता पर निर्भर रहता है। जब वायु में नमी की कमी होती है तो वाष्पीभवन अधिक और जब वायु में नमी की अधिकता होती है तो वाष्पीभवन कम होता है। वाष्पीभवन के अनुसार गीले बल्बवाले तापमापी का पारा नीचे उतर आता है और दोनों तापमापियों के पाठों में अंतर पाया जाता है। उनके पाठों में यह अंतर वायु की नमी की मात्रा पर निर्भर रहता है। यदि वायु जलवाष्प से संतृप्त हो तो दोनों तापमापियों के पाठ एक ही रहते हैं। रेनो की सारणी में विभिन्न तापों पर इस अंतर के अनुकूल जलवाष्प का दाब दिया हुआ है, अतः दोनों तापमापियों का पाठ लेकर आपेक्षिक आर्द्रता तथा ओसांक का मान ज्ञात किया जाता है।
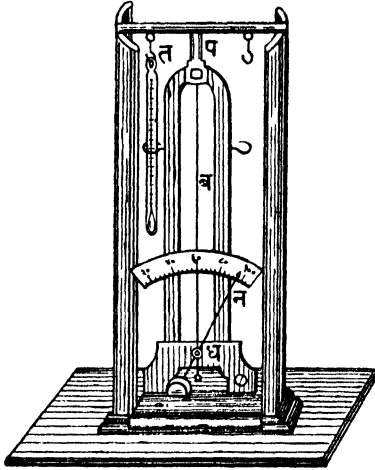
चित्र २. डी सोस्यूर का आर्द्रतामापी

इसका मुख्य अंग एक बाल (केश) होता है, जो न्यूनाधिक आर्द्रता के अनुसार घटता बढ़ता है। त. तापमापी; प. पेच जिसके द्वारा बाल का सिरा जकड़ा रहता है; ब. बाल; न. मापनी; ध. संकेतक।

तापमापियों पर वायु बदलती रहे, इस उद्देश्य से कुछ साइक्रोमीटरों को एक चाल से घुमाने का आयोजन किया रहता है। तख्ती मोटर द्वारा प्रति सेकंड चार बार घुमाई जाती है, जिससे वायु सदा बदलती रहती है। ऐसे साइक्रोमीटरों के लिये आपेक्षिक आर्द्रता की सारणी इसी परिभ्रमण संख्या ४ के अनुकूल बनाई जाती है। परिभ्रमण से पारे की सतह हिलती रहती है। इस दोष को दूर करने के लिये और शुद्ध मापन के लिये अन्य उपाय का प्रयोग किया गया है। एक प्रकार के यंत्र में दोनों तापमापियों को धातु की दोहरी नली के भीतर स्थिर रखा जाता है और नली के भीतर की हवा एक छोटे बिजली के पंखे द्वारा बदलती रहती है। ऐसी दोहरी दीवाल की नली से विकिरणों का भी प्रभाव नहीं पड़ने पाता।

किंतु इन आर्द्रतामापियों से आर्द्रता का मान शीघ्र नहीं ज्ञात किया जा सकता। इसके अतिरिक्त वायु में नमी की मात्रा क्षण क्षण पर बदलती रहती है तथा हमें क्षण प्रति क्षण नमी का पता पूरे दिन भर का जानना आवश्यक होता है। पूर्वोक्त यंत्रों द्वारा हम वायुमंडल के ऊपरी भाग की आर्द्रता का अध्ययन भी नहीं कर सकते। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये बाल (केश) की लंबाई पर नमी के प्रभाव को देखकर सर्वप्रथम डी सोस्यूर ने एक आर्द्रतादर्शक का निर्माण किया। इस आर्द्रतादर्शक में एक रूखा स्वच्छ बाल रहता है। बाल का एक सिरा धातु के टुकड़े के बारीक छिद्र में पेंच द्वारा जकड़ा रहता है (चित्र २)। नीचे की ओर बाल का एक फेरा एक घिरनी पर लपेट दिया जाता है। तब बाल के सिरे को घिरनी की बारी (रिम) में पेंच द्वारा जकड़ दिया जाता है। घिरनी की धुरी पर एक संकेतक लगा रहता है। बाल की लंबाई बढ़ने पर एक कमानी के कारण घिरनी एक ओर और घटने पर दूसरी ओर घूमती है और उसी के साथ संकेतक वृत्ताकार मापनी पर चलता है। मापनी का अंशांकन आर्द्रतामान में किया रहता है, अतः संकेतक के स्थान से मापनी पर आर्द्रता का मान प्रति शत तुरंत पढ़ा जा सकता है। इसी के आधार पर स्वलेखी आर्द्रतामापी बनाए गए हैं, जिनके द्वारा ग्राफ पर २४ घंटे अथवा पूरे सप्ताह के प्रत्येक क्षण की आर्द्रता का मान अंकित किया जाता है। किंतु एक बाल से इतनी पुष्टता नहीं आती कि घिरनी के संकेतक से ग्राफ लिखवाया जा सके, विशेषकर जब ऐसा उपकरण गुब्बारे अथवा विमान में ऊपरी वायुमंडल के अध्ययन के लिये लगाया जाता है। पुष्टता के लिये बालों के गुच्छे अथवा रस्सी का उपयोग किया जाता है, परंतु इससे आर्द्रतामापी की यथार्थता घट जाती है। देखा गया है कि घोड़े का एक बाल मनुष्य के बालों की रस्सी से अधिक उपयोगी होता है। इसलिये इसका प्रयोग किया जाता है, परंतु एक अन्य दोष के कारण शीत प्रदेशों में इसका उपयोग नहीं हो सकता। ताप घटने से जलवाष्प के प्रति बाल की चेतनता क्षीण हो जाती है। तब उपकरण बहुत समय के बाद नमी से प्रभावित होता है। —४०° सेंटीग्रेड पर तो बाल बिलकुल कुंठित हो जाता है।

अब कुछ ऐसे विद्युच्चालक पदार्थों का पता चला है जिनके वैद्युत अवरोध में जलवाष्प के कारण परिवर्तन होता है। डनमोर ने ऐसे आर्द्रतामापी का निर्माण ऊपरी वायुमंडल के अध्ययन के लिये किया है। इसमें लीथियम फ्लोराइड की पतली परत होती है जिसका वैद्युत अवरोध जलवाष्प के कारण बदलता है। यह परत विद्युतपरिपथ (इलेक्ट्रिक सरकिट) में लगी रहती है। अवरोध के परिवर्तन से धारा घटती बढ़ती है, अतः धारामापी की मापनी पर आर्द्रतामान पढ़ा जा सकता है। धारामापी के संकेतक को स्वलेखी बनाकर आर्द्रता का मान ग्राफ पर अंकित भी किया जा सकता है। गुब्बारे और वायुयानों में प्रायः ऐसे ही आर्द्रतामापी लगे रहते हैं। [न० ला० सिं०]

आर्नहेम नगर नीदरलैंड के गेल्डरलैंड प्रदेश की राजधानी है। यह राइन नदी के दाहिने किनारे पर बसा है। यहाँ पीपे का पुल तथा रेलवे जंक्शन है। यह यूट्रेक्ट से ३६ मील दक्षिण-पूर्व में जर्मनी की सीमा के निकट स्थित है। यह स्थान अपनी सुंदरता तथा ऐतिहासिकता के लिये प्रसिद्ध है। ट्राम द्वारा यह यूट्रेक्ट और जूटफेन से मिला है तथा स्टीमर द्वारा अमस्टरडाम, रोटरडाम तथा कोलोन से संबद्ध है। द्वितीय विश्वयुद्ध में यह पूर्ण रूप से नष्ट हो गया था। १५ अप्रैल, १९४५ को यह पुनः मित्रराष्ट्रों के अधिकार में आ गया। जनसंख्या १९५० में १,०१,००० थी। यह एक प्रमुख व्यवसायकेंद्र है। यहाँ पर ऊनी कपड़े, कृत्रिम रेशम तथा सिगार बनते हैं। [नृ० कु० सिं०]

आर्नो इटली की एक नदी है। यह फाल्टरोना पहाड़ (ऊँचाई ४,२६५ फुट) से निकलती है, जो फ्लोरेंस से २५ मील उत्तर-पूर्व में है। यह टसकनी को दो भागों में बाँटती है तथा अरेज्जो होती हुई पीसा से ७ मील नीचे लिगूरियन समुद्र में गिरती है। प्राचीन काल में पीसा इसी नदी के मुहाने पर बसा था। इस नदी की लंबाई १५५ मील है और बड़ी बड़ी नावें फ्लोरेंस तक जाती हैं। नदी में सदा बाढ़ आने का भय रहता है। कई जगहों पर नदी के किनारों पर रक्षात्मक बाँध बनाए गए हैं। [नृ० कु० सिं०]

आर्न्ड्ट, एर्न्स्ट मोरित्स (१७६९–१८६०) आस्ट्रिया का प्रसिद्ध जनवादी कवि। मोरित्स का जन्म आस्ट्रिया के रूजेन प्रदेश के शोरित्स नामक स्थान में २६ दिसंबर,

१७६९ को हुआ था। वे पराधीन आस्ट्रिया के विद्रोही कवि के रूप में विख्यात हैं जिनके गीतों ने उनके देश को स्वाधीन बनाने में सहायता दी और एक प्रकार से जनता में आशा तथा उत्साह का संचार किया। वे इतिहास के प्रोफेसर भी रहे, किंतु राष्ट्रकवि के ही रूप में अधिक विख्यात हैं। राष्ट्रकवि मोरित्स के भावपूर्ण गीतों और उत्साह भरे व्याख्यानों ने आस्ट्रिया को क्रांति का सच्चा स्वरूप समझाने में अत्यंत सहायता दी। [चं० म०]

आर्मघ आयरलैंड का एक प्रांत है। इसके उत्तर में लौगनिघ, पूर्व में डाउन, दक्षिण में लुथ तथा पश्चिम में मोनाघन और टाइरॉन प्रांत पड़ते है। इसका क्षेत्रफल ४८९ वर्ग मील है। इस प्रांत की मिट्टी काली है। ओट (जई), आलू, गेहूँ, फल तथा शलजम यहाँ की मुख्य पैदावार और लिनेन बनाना मुख्य उद्योग है। गलीचा, रस्सी और कपड़े भी बनते हैं। इस प्रांत के मुख्य नगर आर्मघ, लुरगन तथा पोर्टडाउन है। उत्तर के निचले मैदान में तृतीयक (टर्शियरी) बैसाल्ट मिलते हैं तथा दक्षिण में ग्रैनाइट के पहाड़। सर्वप्रथम समुद्रतट पर लोग बसे। ताम्रकाल में निचले मैदानों में भी लोग बसे। उत्तरी मैदान उपजाऊ है तथा दक्षिणी भाग पहाड़ी तथा बंजर। जनसंख्या १९५१ में १,१४,२२६ थी। [नृ० कु० सिं०]

आर्मस्ट्रांग विलियम जार्ज आर्मस्ट्रांग बैरन (१८१०–१९००), अंग्रेज आविष्कारक तथा तोप आदि बनाने के कारखाने का मालिक था। सन् १८३३ से १८४० तक वह वकील था, परंतु उसका मन यांत्रिक और वैज्ञानिक खोजों में लगा रहता था। सन् १८४१-४३ में उसने कई खोजपत्र प्रकाशित किए जिनमें बरतनों से निकली भाप की विद्युत् पर अन्वेषण किया गया था। उसका ध्यान इस ओर आकर्षित होने का कारण यह था कि उससे एक इंजन चालक ने पूछा कि भाप में हाथ रखकर बायलर को छूने से झटका क्यों लगता है। पीछे उसने समुद्रतट पर जहाजों से भारी माल उठाने के लिये जलचालित क्रेन का आविष्कार किया। आर्मस्ट्रांग ने एल्सविक का कारखाना इसी यंत्र के निर्माण के लिये स्थापित किया, परंतु शीघ्र ही उसका ध्यान तोप बनाने की ओर आकर्षित हुआ। उसकी बनाई तोपों में विशेषता यह थी कि पुष्टता लाने के लिये इस्पात के नल के ऊपर धातु के तप्त छल्ले चढ़ाए जाते थे, जो ठंढे होने पर सिकुड़ कर भीतर की नाल को खूब दबाए रहते थे, जिससे नाल फटने नहीं पाती थी। नाल के भीतर पेच कटा रहता था और गोल गोलों के बदले इसमें आधुनिक ढंग के लंबे गोले दागे जाते थे जो नाल के पेच के कारण अपनी धुरी पर तीव्रता से नाचते हुए निकलते थे। इससे गोला दूर तक पहुँचता था और लक्ष्य पर सच्चा जा बैठता था। इन गुणों के अतिरिक्त तोप में गोला मुँह की ओर से न डालकर पिछाड़ी से डाला जाता था। इन सब सुविधाओं के कारण आर्मस्ट्रांग की तोपें खूब चलीं, यद्यपि बीच में कुछ वर्षों तक ब्रिटिश सेना ने इनको अयोग्य ठहरा दिया था। सन् १८८७ में ब्रिटिश सरकार ने आर्मस्ट्रांग को बैरन की पदवी प्रदान करके संमानित किया। अपने खोजपत्रों के अतिरिक्त आर्मस्ट्रांग ने दो पुस्तकें भी लिखी हैं : ए विज़िट टु ईजिप्ट और इलेक्ट्रिक मूवमेंट्स इन एअर ऐंड वाटर।

आर्मिनियस याकोबस (१५६०–१६०९ ई०) एक प्रोटेस्टैंट पादरी जो हालैंड के लाइडेन विश्वविद्यालय में धर्मविज्ञान के प्रोफेसर थे। कैलविन के अनुसार ईश्वर अनादि काल से मनुष्यों को दो वर्गों में विभक्त करता है—एक वर्ग मुक्ति पाता है और दूसरा वर्ग नरक जाता है। आर्मिनियस ने ईश्वरीय पूर्वविधान के इस सिद्धांत का विरोध करते हुए मनुष्य की स्वतंत्रता तथा मुक्तिप्राप्ति में उसके संयोग की आवश्यकता का प्रतिपादन किया। आर्मिनियस के सिद्धांतों का इंग्लैंड में, विशेषतया मेथोडिस्त संप्रदाय पर प्रभाव पड़ा। हालैंड में उनके अनुयायियों ने एक स्वतंत्र संप्रदाय स्थापित किया जो रेमांस्टैंट चर्च कहलाता है। [का० बु०]

आर्मीनिया उत्तरी-पूर्वी एशिया माइनर तथा ट्रांसकाकेशिया का एक प्राचीन देश था, जिसके विभिन्न भाग अब ईरान, टर्की तथा रूस देश में संमिलित हैं। इसके उत्तर में जार्जिया, पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम में टर्की और पूर्व में ऐजरबैजान है। इसका क्षेत्रफल ३,८६३ वर्ग मील और जनसंख्या १५,००,००० (१९५०) है। इसका अधिकतर भाग पठारी है (उँचाई ६,००० से ८००० फुट तक) जिसमें छोटी छोटी श्रेणियाँ तथा ज्वालामुखी पहाड़ियाँ है। जाड़े में कड़ाके की सर्दी पड़ती है। जलवायु अत्यंत शुष्क है। लेनिनाकन नगर में जनवरी का औसत ताप १२° फा०, जुलाई में ६५° फा० और वार्षिक वर्षा १६·२ इंच है। अरास तथा उसकी सहायक जंगा यहाँ की मुख्य नदियाँ है। अरास नदी की घाटी में कपास, शहतूत (रेशम के लिये), अंगूर, खूबानी तथा अन्य फलों, चावल और तंबाकू की खेती होती है। सिंचाई की सुविधा का विकास हो रहा है और फलों का उत्पादन तथा उद्योग बढ़ रहे है। पर्वतीय क्षेत्रों में पशु उद्योग, दूध के बने पदार्थ तथा वन्य उद्योग होते हैं। ऊँट प्रमुख भारवाही पशु हैं। कटारा नामक स्थान में ताँबे की खानें हैं। अधिकांश क्षेत्रों में जीवनस्तर बहुत ही निम्न है। यहाँ के निवासी आर्मीनी, रूसी तथा तुर्की तातार जाति के हैं। यहाँ की सभ्यता मुख्यतः आर्मीनी है। सभ्यता तथा संस्कृति के विकास में यहाँ की प्राकृतिक भूरचना का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। यह भूभाग पूर्व तथा पश्चिम के मध्य यातायात का मुख्य साधन है। पुरातत्व संबंधी अन्वेषणों के अनुसार मानव सभ्यता के आदि विकास में आर्मीनिया का महत्वपूर्ण योग रहा है। [नृ० कु० सिं०]

आर्मीनी भाषा भारत-यूरोपीय परिवार की यह भाषा मेसोपोटैमिया तथा काकेशस पर्वत की मध्यवर्ती घाटियों और काले सागर के दक्षिणी-पूर्वी प्रदेश में बोली जाती है। यह प्रदेश आर्मीनी सोवियट जार्जिया तथा सोवियट अज़रबैजान (उत्तर-पश्चिमी ईरान) में पड़ता है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ३४ लाख है। आर्मीनी भाषा को पूर्वी और पश्चिमी भागों में विभाजित करते हैं। गठन की दृष्टि से इसकी स्थिति ग्रीक और हिंद-ईरानी के बीच की है। पुराने समय में आर्मीनिया का ईरान से घनिष्ठ संबंध रहा है और ईरानी के प्रायः दो हजार शब्द आर्मीनी भाषा में मिलते हैं। इन्हीं कारणों से बहुत दिनों तक आर्मीनी को ईरानी की केवल एक शाखा मात्र समझा जाता था। पर अब इसकी स्वतंत्र सत्ता मान्य हो गई है।

आर्मीनी भाषा में ५वीं शताब्दी ई० के पूर्व का कोई ग्रंथ नहीं मिलता। इस भाषा का व्यंजनसमूह मूल रूप से भारोपीय और काकेशी समूह की जार्जी भाषा से मिलता जुलता है। प् त् क् व्यंजनों का ब् द् ग् से परस्पर व्यत्यय हो गया है। उदाहरणार्थ, संस्कृत वश के लिये आर्मीनी में तस्न शब्द है। संस्कृत पितृ के लिये आर्मीनी में ह्यर है। आदिम भारोपीय भाषा से यह भाषा काफी दूर जा पड़ी है। संस्कृत द्वि और त्रि के लिये आर्मीनी में एर्कु और एरेख शब्द है। इसी से दूरी का अनुमान हो सकता है। व्याकरणात्मक लिंग प्राचीन आर्मीनी में भी नहीं मिलता। संस्कृत गौ के लिये आर्मीनी में केव् है। ऐसे शब्दों से ही आदिम आर्यभाषा से इसकी व्युत्पत्ति सिद्ध होती है। आर्मीनी अधिकतर बोलचाल की भाषा रही है। ईरानी शब्दों के अतिरिक्त इसमें ग्रीक, अरबी और काकेशी के भी शब्द हैं।

आर्मीनी का जो भी प्राचीन साहित्य था उसे ईसाई पादरियों ने चौथी और ५वीं ई० शताब्दियों में नष्ट कर दिया। कुछ ही समय पूर्व अशोक का एक अभिलेख आर्मीनी भाषा में प्राप्त हुआ है जो संभवतः आर्मीनी का सबसे पुराना नमूना है। आर्मीनी की एक लिपि पाँचवीं ईसवी शताब्दी में गढ़ी गई जिसमें इंजील का अनुवाद और अन्य ईसाई धर्मप्रचारक ग्रंथ लिखे गए। ५वीं शताब्दी में ही ग्रीक के भी कुछ ग्रंथों का अनुवाद हुआ। इसी शताब्दी में लिखा हुआ फाउसतुस नामक एक ग्रंथ चौथी शताब्दी की आर्मीनी परिस्थिति का सुंदर चित्रण करता है। इसमें आर्मीनिया के छोटे छोटे नरेशों के दरबारों, राजनीतिक संगठन, जातियों के परस्पर युद्ध और ईसाई धर्म के स्थापित होने का इतिहास अंकित है। ऐलिसएउस वर्दपैत ने वर्दन का एक इतिहास लिखा जिसमें आर्मीनियों ने सासानियों से जो धर्मयुद्ध किया था उसका वर्णन है। खौरैन के मोज़ेज़ ने आर्मीनिया का एक इतिहास लिखा जिसमें ४५० ईसवी तक का वर्णन है। यह ग्रंथ संभवतः ७वीं शताब्दी में लिखा गया। ८वीं शताब्दी से बराबर आर्मीनिया के ग्रंथ मिलते हैं। इनमें से अधिकांश इतिहास और धर्म से संबंध रखते हैं।

१९वीं शताब्दी के मध्यभाग में आर्मीनिया के रूसी और तुर्की जिलों में एक नई साहित्यिक प्रेरणा निकली। इस साहित्य की भाषा प्राचीन भाषा से व्याकरण में यथेष्ट भिन्न है, यद्यपि शब्दावली प्रायः पुरानी है। इस नवीन प्रेरणा के द्वारा आर्मीनी साहित्य में काव्य, उपन्यास, नाटक, प्रहसन आदि

यथेष्ट मात्रा में पाए जाते हैं। आर्मीनी में पत्रपत्रिकाएँ भी पर्याप्त संख्या में निकलती हैं। सोवियट संघ में प्रवेश कर इस प्रदेश की भाषा और साहित्य ने बड़ी तेजी से उन्नति की है।

सं०ग्रं०—मेइए ले लाँग दु माँद (पेरिस); बाबूराम सक्सेना : सामान्य भाषाविज्ञान (प्रयाग)। [बा० रा० स०]

आर्य शब्द का प्रयोग प्रायः चार अर्थों में होता है : (१) आर्य प्रजाति, (२) आर्य भाषापरिवार, (३) आर्य धर्म और संस्कृति तथा (४) श्रेष्ठ, शिष्ट अथवा सज्जन।

(१)—**आर्य प्रजाति**—पृथ्वी पर बसनेवाले मानवसमूहों को प्रजातिशास्त्रियों ने कई प्रजातियों में विभक्त किया है जिनमें मुख्य हैं आर्य (श्वेत, गौर अथवा गोधूम), सामी तथा हामी, किरात (मंगोल), आग्नेय (आस्ट्रिक), हब्शी (नीग्रो) आदि। इनके भी अनेक भेद और उपभेद हैं। मानव प्रजातियों के अद्यतन वर्गीकरण में 'आर्य' शब्द का प्रयोग कम हो रहा है। इसके बदले भारोपीय (इंडो-यूरोपियन, इंडो-जर्मन), काकेशियाई (काकेस्वायड्स) आदि का प्रयोग अधिक हो रहा है। इसके प्रमुख उपभेद हैं. (१) नॉर्दिक (उत्तर यूरोपीय), (२) आल्पाइन (मध्य यूरोपीय) और (३) मेडिटेरेनियन (भूमध्यसागरीय)। एम० एफ० ऐशले मांटेगू (१९४५) ने काकेशियाई के आठ उपभेद किए हैं : (१) भारतीय, (२) भूमध्यसागरीय, (३) आल्पाइन, (४) आर्मीनियन, (५) नार्दिक, (६) दिनारिक, (७) पूर्वबालटिक और (८) पॉलिनेशियन। भूमध्यसागरीय के भी तीन उपभेद माने गए हैं : (१) अतलांतिकीय–भूमध्यसागरीय, (२) आधारिक (मध्य) भूमध्यसागरीय तथा (३) ईरानी–भारतीय। इन उपजातियों का परस्पर बहुत मिश्रण हुआ है और उनकी शारीरिक रचना और रंग में स्थानीय तथा वंशगत भेद हैं। तथापि मोटे तौर पर इनकी कुछ शारीरिक विशेषताएँ सर्वतोनिष्ठ हैं। मानुषमिति (ऐंथ्रॉपोमेट्री) के अनुसार वे निम्नलिखित प्रकार से रखी जा सकती हैं :

(१) **वर्ण अथवा रंग**—श्वेत, गौर (गोधूम, भूरा और कहीं अधिक मिश्रण से श्याम भी)।

(२) **ऊँचाई**—१७० सेंटीमीटर (५ फुट ७ इंच) से प्रायः ऊँचा और कहीं मध्यम ऊँचाई (५ फुट ५ इंच या ५ फुट ३ इंच तक)।

(३) **कपाल**—प्रायः दीर्घ कपाल (डालिकोसिफैलिक अर्थात् कपाल की लंबाई चौड़ाई का अनुपात १०० : ७७.७ से कम), परंतु कहीं कहीं मध्यकपाल (मेसेटिसिफैलिक अर्थात् अनुपात १०० : ८०) और किन्हीं स्थानों में वृत्तकपाल (ब्रेचिसिफैलिक, अर्थात् अनुपात १०० : ८० से ऊपर) भी पाए जाते हैं।

(४) **नासिकामान**—अधिकांश आर्य उन्नतनास अथवा सुनास (लेप्टोर्राइन) होते हैं (अर्थात् उनकी नाक की लंबाई और चौड़ाई का अनुपात १०० : ७० से कम होता है)। कहीं कहीं मध्यनास और अपवादस्वरूप पृथुनास भी इस उपजाति में मिलते हैं।

(५) **नाटमान** (आरबिटो-नैसल इंडेक्स)—आर्य प्रजाति के व्यक्ति का चेहरा प्रणाट अथवा मध्यनाट होता है। इसके विपरीत किरात (मंगोल) प्रजाति का व्यक्ति अवनाट अथवा चिपटनाट होता है।

(६) **हनुमान**—आर्य प्रजाति का मानव समहनु (आर्थोग्नैट्रिक) होता है, अर्थात् उसका हनु कपाल की सीध से आगे नहीं निकला होता। इससे विपरीत को प्रहनु (प्राग्नैट्रिक) कहते हैं।

यद्यपि शारीरिक सादृश्य और भाषासंबंध होने के कारण बृहद् आर्य परिवार में यूरोप की श्वेत जातियों की गणना की जाती है, किंतु यह सर्वांशतः परंपरामानित और सत्य नहीं है। परंपरा से भारत-ईरानी (गौर अथवा गोधूम) लोगों को ही आर्य कहते थे। इसीलिये ग्रियर्सन ने अपनी रिपोर्ट ऑव दि लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया, जिल्द १, पृ० ९६ (१९२७) में लिखा है : "भारोपीय मानवस्कंध से उत्पन्न भारत-ईरानी अपने को वास्तविक अर्थ में साधिकार आर्य कह सकते हैं, किंतु हम अंग्रेजों को अपने को आर्य कहने का अधिकार नहीं है।" प्रजाति, भाषा और संस्कृति में स्पष्ट भेद रखना आवश्यक है। 'माइंड ऑव प्रिमिटिव मैन' (१९११) में फ्रांज बोआस का का मत है;"कोई मानवसमूह अपनी प्रजाति और भाषा को बहुत दिनों तक स्थायी रख सकता है, किंतु उसकी संस्कृति बदल सकती है। यह भी संभव है कि उसकी प्रजाति स्थायी हो सकती है, परंतु उसकी भाषा बदल जाय। फिर यह भी संभव है कि उसकी भाषा स्थायी हो, किंतु प्रजाति और संस्कृति में ही परिवर्तन हो जाय।" इसलिये "आर्य-भाषा-परिवार" का अनुसंधान करनेवाले भाषाविज्ञानियों ने बराबर चेतावनी दी है कि प्रजाति और भाषा एक दूसरे से अभिन्न नहीं हैं।

(२) **आर्य-भाषा-परिवार**—आर्य-मानव-परिवार (प्रजाति) की भाँति आर्य-भाषा-परिवार की कल्पना भी की गई है। उत्तर भारत से लेकर आयरलैंड तक की भाषाओं में आंतरिक संबंध और परस्पर तारतम्य पाया जाता है। इसलिये भारतीय-जर्मन (इंडो-जर्मनिक) अथवा भारोपीय (इंडो-यूरोपियन) आर्य-भाषा-परिवार की प्रस्थापना हुई। इसके दो प्रमुख भेद शतं (सेंटम) और कतं (केंटम) हैं। इसके निम्नांकित उपभेद माने गए हैं :

(१) **शुद्ध आर्य अथवा भारत-ईरानी**—इसके भी दो प्रभेद हैं : प्रथम भारतीय आर्य–वैदिक, पैशाची, संस्कृत, मूल प्राकृत और गौण प्राकृत (अपभ्रंश, हिंदी, बँगला, असमिया, उड़िया, पंजाबी, गुजराती, मराठी आदि)। दूसरे ईरानी जिनके अंतर्गत ज़ेंद, प्राचीन फारसी और आधुनिक फारसी संमिलित हैं।

(२) आर्मीनियाई (काकेशस के निकटस्थ प्रदेशों में बोली जानेवाली भाषाएँ)।

(३) यूनानी, जिसके अंतर्गत आयोनियाई, ऐतिक, दोरिक और अन्य कई प्रसिद्ध बोलियाँ हैं।

(४) अलबानियाई (दक्षिण-पूर्व यूरोप की भाषाओं में से एक)।

(५) इतालीय, जिसके भीतर लातीनी, ओस्कन, अंब्रियन आदि हैं।

(६) केलटिक, जिसके अंतर्गत बरतानी (ब्रिटेनिक) और गाली (गैलिक-आइरिश-स्काटिश) हैं।

(७) जर्मन (गाथिक), नार्स (आइसलैंडी, नारवेई, स्वीडी तथा डेनी), पश्चिम जर्मन, एंग्लो-सैक्सन (एंग्लो-सैक्सन, फ्रीज़ियाई, अधो-जर्मन, अधोफ्रैंकिश)।

(८) बालटिक—स्लावी अथवा लिथु-स्लावी (इसमें प्राचीन प्रशियाई, लिथुआनियाई, लेटिक, रूसी, बुलगेरियाई, चेक, स्लोवाकियाई आदि संमिलित हैं)।

जैसा ऊपर कहा गया है, कुछ आवश्यक नहीं कि इन भाषाओं के बोलनेवाले मूलतः आर्यवंश या प्रजाति के हों। भाषा का जातीय आधार अनिवार्य नहीं। संपर्क, सांनिध्य, आरोप, अनुकरण आदि से भाषाओं का परित्याग और ग्रहण होता आया है।

(३) **आर्य धर्म और संस्कृति**—आर्य धर्म से प्राचीन आर्यों का धर्म और श्रेष्ठ धर्म दोनों समझे जाते हैं। प्राचीन आर्यों के धर्म में प्रथमतः प्राकृतिक देवमंडल की कल्पना है जो भारत, ईरान, यूनान, रोम, जर्मनी आदि सभी देशों में पाई जाती है। इसमें द्यौस् (आकाश) और पृथ्वी के बीच में अनेक देवताओं की सृष्टि हुई है। भारतीय आर्यों का मूल धर्म ऋग्वेद में अभिव्यक्त है, ईरानियों का अवेस्ता में, यूनानियों का उलिसीज़ और ईलियद में। देवमंडल के साथ आर्य कर्मकांड का विकास हुआ जिसमें मंत्र, यज्ञ, श्राद्ध (पितरों की पूजा), अतिथिसत्कार आदि मुख्यतः संमिलित थे। आर्य आध्यात्मिक दर्शन (ब्रह्म, आत्मा, विश्व, मोक्ष आदि) और आर्य नीति (सामान्य, विशेष आदि) का विकास भी समानांतर हुआ। शुद्ध नैतिक आधार पर अवलंबित परंपरा विरोधी अवैदिक संप्रदायों–बौद्ध, जैन आदि–ने भी अपने धर्म को आर्य धर्म अथवा सद्धर्म कहा।

सामाजिक अर्थ में 'आर्य' का प्रयोग पहले संपूर्ण मानव के अर्थ में होता था। कभी कभी इसका प्रयोग सामान्य जनता विश के लिये ('अर्य' शब्द से) होता था। फिर अभिजात और श्रमिक वर्ग में अंतर दिखाने के लिये आर्य वर्ण और शूद्र वर्ण का प्रयोग होने लगा। फिर आर्यों ने अपनी सामाजिक व्यवस्था का आधार वर्ण को बनाया और समाज चार वर्णों में वृत्ति और श्रम के आधार पर विभक्त हुआ। ऋक्संहिता में चारो वर्णों की उत्पत्ति और कार्य का उल्लेख इस प्रकार है :

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥१०।९०।१२॥

(इस विराट् पुरुष के मुँह से ब्राह्मण, बाहु से राजन्य (क्षत्रिय), ऊरु (जंघा) से वैश्य और पद (चरण) से शूद्र उत्पन्न हुआ।) आजकल की भाषा में ये वर्ग बौद्धिक, प्रशासकीय, व्यावसायिक तथा श्रमिक थे। मूल में इनमें तरलता थी। एक ही **परिवार** में कई वर्णों के लोग रहते और परस्पर **विवाहादि** संबंध और भोजन, पान आदि होते थे। क्रमशः ये वर्ग परस्पर वर्जनशील होते गए। ये सामाजिक विभाजन आर्य मानवपरिवार की प्रायः सभी शाखाओं में पाए जाते हैं, यद्यपि इनके नामों और सामाजिक स्थिति में देशगत भेद मिलते हैं।

प्रारंभिक आर्य परिवार पितृसत्तात्मक था, यद्यपि आदित्य (अदिति से उत्पन्न), दैत्य (दिति से उत्पन्न) आदि शब्दों में मातृसत्ता की ध्वनि वर्तमान है। दंपती की कल्पना में पति पत्नी का गृहस्थी के ऊपर समान अधिकार पाया जाता है। परिवार में पुत्रजन्म की कामना की जाती थी। दायित्व के कारण कन्या का जन्म परिवार को गंभीर बना देता था, किंतु उसकी उपेक्षा नहीं की जाती थी। घोषा, लोपामुद्रा, अपाला, विश्ववारा आदि स्त्रियाँ मंत्रद्रष्टा ऋषिपद को प्राप्त हुई थीं। विवाह प्रायः युवावस्था में होता था। पति पत्नी को परस्पर निर्वाचन का अधिकार था। विवाह धार्मिक कृत्यों के साथ संपन्न होता था, जो परवर्ती ब्राह्म विवाह से मिलता जुलता था।

प्रारंभिक आर्य संस्कृति में विद्या, साहित्य और कला का ऊँचा स्थान है। भारोपीय भाषा ज्ञान के सशक्त माध्यम के रूप में विकसित हुई। इसमें काव्य, धर्म, दर्शन आदि विभिन्न शास्त्रों का उदय हुआ। आर्यों का प्राचीनतम साहित्य वेद भाषा, काव्य और चिंतन, सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। ऋग्वेद में ब्रह्मचर्य और शिक्षणपद्धति के उल्लेख पाए जाते हैं, जिनसे पता लगता है कि शिक्षणव्यवस्था का संगठन प्रारंभ हो गया था और मानव अभिव्यक्तियों ने शास्त्रीय रूप धारण करना शुरू कर दिया था। ऋग्वेद में कवि को ऋषि (मंत्रद्रष्टा) माना गया है। वह अपनी अंतर्दृष्टि से संपूर्ण विश्व का दर्शन करता था। उषा, सवितृ, अरण्यानी आदि के सूक्तों में प्रकृतिनिरीक्षण और मानव की सौंदर्यप्रियता तथा रसानुभूति का सुंदर चित्रण है। ऋग्वेदसंहिता में पुर और ग्राम आदि के उल्लेख भी पाए जाते हैं। लोहे के नगर, पत्थर की सैकड़ों पुरियाँ, सहस्रद्वार तथा सहस्रस्तंभ अट्टालिकाएँ निर्मित होती थीं। साथ ही सामान्य गृह और कुटीर भी बनते थे। भवननिर्माण में इष्टका (ईंट) का उपयोग होता था। यातायात के लिये पथों का निर्माण और यान के रूप में कई प्रकार के रथों का उपयोग किया जाता था। गीत, नृत्य और वादित्र का संगीत के रूप में प्रयोग होता था। वाण, क्षोणी, कर्करि प्रभृति वाद्यों के नाम पाए जाते हैं। पुत्रिका (पुत्तलिका, पुतली) के नृत्य का भी उल्लेख मिलता है। अलंकरण की प्रथा विकसित थी। स्त्रियाँ निष्क, अञ्जि, वासी, वक्, रुक्म आदि गहने पहनती थीं। विविध प्रकार के मनोविनोद में काव्य, संगीत, द्यूत, घुड़दौड़, रथदौड़ आदि संमिलित थे।

(४) **श्रेष्ठ, शिष्ट अथवा सज्जन**—नैतिक अर्थ में 'आर्य' का प्रयोग महाकुल, कुलीन, सभ्य, सज्जन, साधु आदि के लिये पाया जाता है। (महाकुलकुलीनार्यसभ्यसज्जनसाधवः। (अमर० ७।३)। सायणाचार्य ने अपने ऋग्भाष्य में 'आर्य' का अर्थ विज्ञ, यज्ञ का अनुष्ठाता, विज्ञ स्तोता, विद्वान्, आदरणीय अथवा सर्वत्र गंतव्य, उत्तम वर्ण, मनु, कर्मयुक्त और कर्मानुष्ठान से श्रेष्ठ आदि किया है। आदरणीय के अर्थ में तो संस्कृत साहित्य में आर्य का बहुत प्रयोग हुआ है। पत्नी पति को आर्यपुत्र कहती थी। पितामह को आर्य (हिं० आजा) और पितामही को आर्या (हिं० आजी, ऐया, अइया) कहने की प्रथा रही है। नैतिक रूप से प्रकृत आचारण करनेवाले को आर्य कहा गया है :

> कर्तव्यमाचरन् कार्यमकर्तव्यमनाचरन्।
> तिष्ठति प्रकृताचारे स आर्य इति उच्यते॥

प्रारंभ में 'आर्य' का प्रयोग प्रजाति अथवा वर्ण के अर्थ में भले ही होता रहा हो, आगे चलकर भारतीय इतिहास में इसका नैतिक अर्थ ही अधिक प्रचलित हुआ जिसके अनुसार किसी भी वर्ण अथवा जाति का व्यक्ति अपनी श्रेष्ठता अथवा सज्जनता के कारण आर्य कहा जाने लगा।

आर्य प्रजाति की आदिभूमि के संबंध में अभी तक विद्वानों में बहुत मतभेद है। भाषावैज्ञानिक अध्ययन के प्रारंभ में प्रायः भाषा और प्रजाति को अभिन्न मानकर एकोद्भव (मोनोजेनिक) सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ और माना गया कि भारोपीय भाषाओं के बोलनेवालों के पूर्वज कहीं एक ही स्थान में रहते थे और वहीं से विभिन्न देशों में गए। भाषावैज्ञानिक साक्ष्यों की अपूर्णता और अनिश्चितता के कारण यह आदिभूमि कभी मध्य एशिया, कभी पामीर-काश्मीर, कभी आस्ट्रिया-हंगरी, कभी जर्मनी, कभी स्वीडन-नार्वे और आज दक्षिण रूस के घास के मैदानों में ढूंढी जाती है। भाषा और प्रजाति अनिवार्य रूप से अभिन्न नहीं। आज आर्यों की विविध शाखाओं के बहूद्भव (पॉलिजेनिक) होने का सिद्धांत भी प्रचलित होता जा रहा है जिसके अनुसार यह आवश्यक नहीं कि आर्या-भाषा-परिवार की सभी जातियाँ एक ही मानववंश की रही हों। भाषा का ग्रहण तो संपर्क और प्रभाव से भी होता आया है, कई जातियों ने तो अपनी मूल भाषा छोड़कर विजातीय भाषा को पूर्णतः अपना लिया है। जहाँ तक भारतीय आर्यों के उद्गम का प्रश्न है, भारतीय साहित्य में उनके बाहर से आने के संबंध में एक भी उल्लेख नहीं है। कुछ लोगों ने परंपरा और अनुश्रुति के अनुसार मध्यदेश (स्थूण) (स्थाण्वीश्वर) तथा कजंगल (राजमहल की पहाड़ियाँ) और हिमालय तथा विंध्य के बीच का प्रदेश अथवा आर्यावर्त (उत्तर भारत) ही आर्यों की आदिभूमि माना है। पौराणिक परंपरा से विच्छिन्न केवल ऋग्वेद के आधार पर कुछ विद्वानों ने सप्तसिंधु (सीमांत एवं पंजाब) को आर्यों की आदिभूमि माना है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने ऋग्वेद में वर्णित दीर्घ अहोरात्र, प्रलंबित उषा आदि के आधार पर आर्यों की मूलभूमि को ध्रुव-प्रदेश में माना था। बहुत से यूरोपीय विद्वान् और उनके अनुयायी भारतीय विद्वान् अब भी भारतीय आर्यों को बाहर से आया हुआ मानते हैं।

सं०ग्रं०—गॉर्डन चाइल्ड : दि एरियन्स (लंदन, १९२६); एच० एच० बेंडर : दि होम आव दि इंडो-यूरोपियन्स (ऑक्सफोर्ड, १९२२); बेन्स : एथनोग्राफी (स्ट्रैसबर्ग, १९१२); एफ० बोआज़ : जेनरल ऐंथ्रोपालोजी (न्यूयार्क, १९३९); इ० सेपिर : लैंग्वेज, रेस ऐंड कल्चर (न्यूयार्क, १९३१); सुनीतिकुमार चटर्जी : भारतीय आर्य भाषा और हिंदी (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५४); अ० च० दास : ऋग्वैदिक इंडिया कैंब्रे ऐंड को० (कलकत्ता, १९२५); संपूर्णानंद : आर्यों का आदि देश; बी० एस० गुह : ऐन आउटलाइन ऑव रेशल एथनोलॉजी ऑव इंडिया, (कलकत्ता, १९३७); हिंदी विश्वकोश, भाग १, कलकत्ता १९१७; एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, भाग २, शिकागो—लंडन—टोरंटो। [रा० ब० पां०]

आर्य आष्टांगिक मार्ग

भगवान् बुद्ध ने बताया कि तृष्णा ही सभी दुःखों का मूल कारण है। तृष्णा के कारण संसार की विभिन्न वस्तुओं की ओर मनुष्य प्रवृत्त होता है; और जब वह उन्हें प्राप्त नहीं कर सकता अथवा जब वे प्राप्त होकर भी नष्ट हो जाती हैं तब उसे दुःख होता है। तृष्णा के साथ मृत्यु प्राप्त करनेवाला प्राणी उसकी प्रेरणा से फिर भी जन्म ग्रहण करता है और संसार के दुःखचक्र में पिसता रहता है। अतः तृष्णा का सर्वथा प्रहाण करने का जो मार्ग है वही मुक्ति का मार्ग है। इसे दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा कहते हैं। भगवान् बुद्ध ने इस मार्ग के आठ अंग बताये हैं : सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। इस मार्ग के प्रथम दो अंग प्रज्ञा के और अंतिम दो समाधि के हैं। बीच के चार शील के हैं। इस तरह शील, समाधि और प्रज्ञा इन्हीं तीन में आठो अंगों का संनिवेश हो जाता है। शील शुद्ध होने पर ही आध्यात्मिक जीवन में कोई प्रवेश पा सकता है। शुद्ध शील के आधार पर मुमुक्षु ध्यानाभ्यास कर समाधि का लाभ करता है और समाधिस्थ अवस्था में ही उसे सत्य का साक्षात्कार होता है। इसे प्रज्ञा कहते हैं, जिसके उद्बुद्ध होते ही साधक को सत्ता मात्र के अनित्य, अनात्म और दुःखस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। प्रज्ञा के आलोक में इसका अज्ञानांधकार नष्ट हो जाता है। इससे संसार की सारी तृष्णाएँ चली जाती हैं। वीततृष्ण हो वह कहीं भी अहंकार ममकार नहीं करता और सुख दुःख के बंधन से ऊपर उठ जाता है। इस जीवन के अनंतर, तृष्णा के न होने के कारण, उसके फिर जन्म ग्रहण करने का कोई हेतु नहीं रहता। इस प्रकार, शील-समाधि-प्रज्ञावाला मार्ग आठ अंगों में विभक्त हो आर्य आष्टांगिक मार्ग कहा जाता है। [भि० ज० का०]

आर्यदेव

लंका के महाप्रज्ञ एकचक्षु भिक्षु जो अपनी ज्ञानपिपासा शांत करने के लिये नालंदा के आचार्य नागार्जुन के पास पहुँचे। आचार्य ने उनकी प्रतिभा की परीक्षा करने के लिये उनके पास

स्वच्छ जल से पूर्ण एक पात्र भेज दिया। आर्यदेव ने उसमें एक सुई डालकर उसे इन्हीं के पास लौटा दिया। आचार्य बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें शिष्य के रूप में स्वीकार किया। जलपूर्ण पात्र से उनके ज्ञान की निर्मलता और पूर्णता का संकेत किया गया था और उसमें सुई डालकर उन्होंने निर्देश किया कि वे उस ज्ञान के तल में पहुँचना चाहते हैं। आर्यदेव ने कई महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे जिनमें सर्वप्रधान 'चतु:शतक' है। [भि० ज० का०]

आर्य पुद्गल प्रधानतः चार होते हैं : (१) श्रोतापन्न, अर्थात् वह मुमुक्षु योगी जो इस अवस्था को प्राप्त हो चुका है, जिसका मुक्त होना निश्चित है और जिसका च्युत होना असंभव है। अधिक से अधिक वह सात जन्म ग्रहण करता है। इसी के भीतर वह निर्वाण प्राप्त कर लेता है, (२) सकृदागामी, जो मरणोपरांत इस लोक में एक बार और जन्म ग्रहण कर मुक्ति का लाभ करता है, (३) अनागामी, वह जो मरणोपरांत किसी ऊँचे लोक में पैदा होता है और बिना इस लोक में जन्म ग्रहण किए वहीं अर्हत् हो जाता है और (४) अर्हत् जिसने अविद्या का सर्वथा अंत कर परम मुक्ति का लाभ कर लिया है। इन चार आर्य पुद्गलों के दो दो भेद होते हैं—एक उस अवस्था के जब उन्हें उन पदों की प्राप्ति हो जाती है, दूसरे उस अवस्था के जब उन्हें उस पद की प्राप्ति का ज्ञान हो जाता है। पहले को 'मार्गस्थ' और दूसरे को 'फलस्थ' कहते हैं। इस प्रकार आर्य पुद्गल के आठ भेद हुए। [भि० ज० का०]

आर्यभट प्रथम बड़े ही प्रतिभाशाली ज्योतिषी थे। इन्होंने कुसुमपुर (आधुनिक पटना) में प्रचलित स्वयंभू सिद्धांत के आधार पर और प्राचीन ग्रंथों को अपने अनुभवों से शोधकर अपने आर्यभटीय ग्रंथ की रचना की। अब इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिल गया है कि आर्यभट ने दो ग्रंथों की रचना की थी। एक में दिन का आरंभ आधी रात से और दूसरे में दिन का आरंभ सूर्योदय से माना गया था। यह प्रमाण महाभास्करीय नामक ग्रंथ से मिलता है जिसकी हस्तलिखित प्रतियाँ भारतवर्ष के कई पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। इस पुस्तक की रचना भास्कर नामक ज्योतिषी ने की थी जो आर्यभट के अनुयायी थे और सिद्धांतशिरोमणि के रचयिता प्रसिद्ध भास्कराचार्य से भिन्न थे। इस पुस्तक में पहले औदयिक सिद्धांत से गणना करने के ध्रुवांक दिए गए हैं, फिर अर्धरात्रिक सिद्धांत से। आर्यभटीय की रचनापद्धति बहुत ही वैज्ञानिक और भाषा बहुत ही संक्षिप्त तथा मँजी हुई है। आर्यभटीय में कुल १२१ श्लोक हैं जो चार खंडों में विभाजित है : १. गीतिकापाद, २. गणितपाद, ३. कालक्रियापाद और ४. गोलपाद।

गीतिकापाद सबसे छोटा, केवल १३ श्लोकों का है, परंतु इसमें बहुत सी सामग्री भर दी गई है। इसके लिये इन्होंने अक्षरों द्वारा संक्षेप में संख्या लिखने की स्वनिर्मित एक अनोखी रीति का व्यवहार किया है, जिसमें व्यंजनों से सरल संख्याएँ और स्वरों से शून्यों की गिनती सूचित की जाती थी। उदाहरणतः—

ख्युघृ=४३,२०,००० में ख् २ के लिये लिखा गया है और य् ३० के लिये। दोनों अक्षर मिलाकर लिखे गए हैं और इनमें उ की मात्रा लगी है, जो १०,००० के समान है; इसलिये ख्यु का अर्थ हुआ ३,२०,०००; घृ के घ् का अर्थ है ४ और ऋ का १०,००,०००, इसलिये घृ का अर्थ हुआ ४०,००,०००। इस तरह ख्युघृ का उपर्युक्त मान हुआ।

संख्या लिखने की इस रीति में सबसे बड़ा दोष यह है कि यदि अक्षरों में थोड़ा सा भी हेर फेर हो जाय तो बड़ी भारी भूल हो सकती है। दूसरा दोष यह है कि ल् में ऋ की मात्रा लगाई जाय तो इसका रूप वही होता है जो लृ स्वर का, परंतु दोनों के अर्थों में बड़ा अंतर पड़ता है। इन दोषों के होते हुए भी इस प्रणाली के लिये आर्यभट की प्रतिभा की प्रशंसा करनी ही पड़ती है। इसमें उन्होंने थोड़े से श्लोकों में बहुत सी बातें लिख डाली हैं; सचमुच, गागर में सागर भर दिया है। आर्यभटीय के प्रथम श्लोक में ब्रह्मा और परब्रह्म की वंदना है एवं दूसरे में संख्याओं को अक्षरों से सूचित करने का ढंग। इन दो श्लोकों में कोई क्रमसंख्या नहीं है, क्योंकि ये प्रस्तावना के रूप में हैं। इसके बाद के श्लोक की क्रमसंख्या १ है जिसमें सूर्य, चंद्रमा, पृथ्वी, शनि, गुरु, मंगल, शुक्र और बुध के महायुगीय भगणों की संख्याएँ बताई गई हैं। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि आर्यभट ने एक महायुग में पृथ्वी के घूर्णन की संख्या भी दी है, क्योंकि उन्होंने पृथ्वी का दैनिक घूर्णन माना है। इस बात के लिये परवर्ती आचार्य ब्रह्मगुप्त ने इनकी निंदा की है। अगले श्लोक में ग्रहों के उच्च और पात के महायुगीय भगणों की संख्या बताई गई है। तीसरे श्लोक में बताया गया है कि ब्रह्मा के एक दिन (अर्थात् कल्प) में कितने मन्वंतर और युग होते हैं और वर्तमान कल्प के आरंभ से लेकर महाभारत युद्ध की समाप्तिवाले दिन तक कितने युग और युगपाद बीत चुके थे। आगे के सात श्लोकों में राशि, अंश, कला आदि का संबंध, आकाशकक्षा का विस्तार, पृथ्वी, सूर्य, चंद्र आदि की गति, अंगुल, हाथ, पुरुष और योजन का संबंध, पृथ्वी के व्यास तथा सूर्य, चंद्रमा और ग्रहों के बिंबों के व्यास के परिमाण, ग्रहों की क्रांति और विक्षेप, उनके पातों और मंदोच्चों के स्थान, उनकी मंदपरिधियों और शीघ्रपरिधियों के परिमाण तथा ३ अंश ४५ कलाओं के अंतर पर ज्याखंडों के मानों की सारणी है। अंतिम श्लोक में पहले कही हुई बातों के जानने का फल बताया गया है। इस प्रकार प्रकट है कि आर्यभट ने अपनी नवीन संख्या-लेखन-पद्धति से ज्योतिष और त्रिकोणमिति की कितनी ही बातें तेरह श्लोकों में भर दी हैं।

गणितपाद में ३३ श्लोक हैं, जिनमें आर्यभट ने अंकगणित, बीजगणित और रेखागणित संबंधी कुछ सूत्रों का समावेश किया है। पहले श्लोक में अपना नाम बताया है और लिखा है कि जिस ग्रंथ पर उनका ग्रंथ आधारित है वह (गुप्तसाम्राज्य की राजधानी) कुसुमपुर में मान्य था। दूसरे श्लोक में संख्या लिखने की दशमलवपद्धति की इकाइयों के नाम हैं। इसके आगे के श्लोकों में वर्गक्षेत्र, घन, घनफल, वर्गमूल, घनमूल, त्रिभुज का क्षेत्रफल, त्रिभुजाकार शंकु का घनफल, वृत्त का क्षेत्रफल, गोले का घनफल, समलंब चतुर्भुज क्षेत्र के कर्णों के संपात से समांतर भुजाओं की दूरी और क्षेत्रफल तथा सब प्रकार के क्षेत्रों की मध्यम लंबाई और चौड़ाई जानकर क्षेत्रफल बताने के साधारण नियम दिए गए हैं। एक जगह बताया गया है कि परिधि के छठे भाग की ज्या उसकी त्रिज्या के समान होती है। एक श्लोक में बताया गया है कि यदि वृत्त का व्यास २०,००० हो तो उसकी परिधि ६२,८३२ होती है। इससे परिधि और व्यास का संबंध चौथे दशमलव स्थान तक शुद्ध आ जाता है। दो श्लोकों में ज्या खंडों के जानने की विधि बताई गई है, जिससे ज्ञात होता है कि ज्याखंडों की सारणी (टेबुल ऑव साइन-डिफ़रेंसेज़) आर्यभट ने कैसे बनाई थी। आगे वृत्त, त्रिभुज और चतुर्भुज खींचने की रीति, समतल धरातल के परखने की रीति, ऊर्ध्वाधर के परखने की रीति, शंकु और छाया से छायाकर्ण जानने की रीति, किसी ऊँचे स्थान पर रखे हुए दीपक के प्रकाश के कारण बनी हुई शंकु की छाया की लंबाई जानने की रीति, एक ही रेखा पर स्थित दीपक और दो शंकुओं के संबंध के प्रश्न की गणना करने की रीति, समकोण त्रिभुज के कर्ण और अन्य दो भुजाओं के वर्गों का संबंध (जिसे पाइथागोरस का नियम कहते हैं, परंतु जो शुल्वसूत्र में पाइथागोरस से बहुत पहले लिखा गया था), वृत्त की जीवा और शरों का संबंध, दो श्लोकों में श्रेढी गणित के कई नियम, एक श्लोक में एक एक बढ़ती हुई संख्याओं के वर्गों और घनों का योगफल जानने का नियम, $(\text{क}+\text{ख})^{2}-(\text{क}^{2}+\text{ख}^{2})=२\,\text{कख}$, दो राशियों का गुणनफल और अंतर जानकर राशियों को अलग अलग करने की रीति, ब्याज की दर जानने का एक नियम जो वर्गसमीकरण का उदाहरण है, त्रैराशिक का नियम, भिन्नों को एकहर करने की रीति, बीजगणित के सरल समीकरण और एक विशेष प्रकार के युगपत् समीकरणों पर आधारित प्रश्नों को हल करने के नियम, दो ग्रहों का युतिकाल जानने का नियम और कुट्टक नियम (सोल्यूशन ऑव इनडिटर्मिनेट इक्वेशन ऑव दि फ़र्स्ट डिगरी) बताए गए हैं।

जितनी बातें तैंतीस श्लोकों में बताई गई हैं उनको यदि आजकल की परिपाटी के अनुसार विस्तारपूर्वक लिखा जाय तो एक बड़ी भारी पुस्तक बन सकती है।

कालक्रियापाद—इस अध्याय में २५ श्लोक हैं और यह कालविभाग और काल के आधार पर की गई ज्योतिष संबंधी गणना से संबंध रखता है। पहले दो श्लोकों में काल और कोण की इकाइयों का संबंध बताया गया है। आगे के छः श्लोकों में योग, व्यतीपात, केंद्रभगण और बार्हस्पत्य वर्षों की परिभाषा दी गई है तथा अनेक प्रकार के मासों, वर्षों और युगों का संबंध बताया गया है। ९वें श्लोक में बताया गया है कि युग का प्रथमार्ध उत्सर्पिणी और उत्तरार्ध अवसर्पिणी काल है और इनका विचार चंद्रोच्च से किया जाता है।

परंतु इसका अर्थ समझ में नहीं आता। किसी टीकाकार ने इसकी संतोषजनक व्याख्या नहीं की है। दसवें श्लोक की चर्चा पहले ही आ चुकी है, जिसमें आर्यभट ने अपने जन्म का समय बताया है। इसके आगे बताया है कि चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से युग, वर्ष, मास और दिवस की गणना आरंभ होती है। आगे के २० श्लोकों में ग्रहों की मध्यम और स्पष्ट गति संबंधी नियम हैं।

गोलपाद—यह आर्यभटीय का अंतिम अध्याय है। इसमें ५० श्लोक हैं। पहले श्लोक से प्रकट होता है कि क्रांतिवृत्त के जिस बिंदु को आर्यभट ने मेषादि माना है वह वसंत-संपात-बिंदु था, क्योंकि वह कहते हैं कि मेष के आदि से कन्या के अंत तक अपमंडल (क्रांतिवृत्त) उत्तर की ओर हटा रहता है और तुला के आदि से मीन के अंत तक दक्षिण की ओर। आगे के दो श्लोकों में बताया गया है कि ग्रहों के पात और पृथ्वी की छाया का भ्रमण क्रांतिवृत्त पर होता है। चौथे श्लोक में बताया गया है कि सूर्य से कितने अंतर पर चंद्रमा, मंगल, बुध आदि दृश्य होते हैं। ५वां श्लोक बताता है कि पृथ्वी, ग्रहों और नक्षत्रों का आधा गोला अपनी ही छाया से अप्रकाशित है और आधा सूर्य के संमुख होने से प्रकाशित है। नक्षत्रों के संबंध में यह बात ठीक नहीं है। श्लोक ६-७ में पृथ्वी की स्थिति, बनावट और आकार का निर्देश किया गया है। ८वें श्लोक में यह विचित्र बात बताई गई है कि ब्रह्मा के दिन में पृथ्वी की त्रिज्या एक योजन बढ़ जाती है और ब्रह्मा की रात्रि में एक योजन घट जाती है। श्लोक ९ में बताया गया है कि जैसे चलती हुई नाव पर बैठा हुआ मनुष्य किनारे के स्थिर पेड़ों को विपरीत दिशा में चलता हुआ देखता है वैसे ही लंका (पृथ्वी की विषुवत रेखा पर एक कल्पित स्थान) से स्थिर तारे पश्चिम की ओर घूमते हुए दिखाई पड़ते हैं। परंतु १०वें श्लोक में बताया गया है कि ऐसा प्रतीत होता है मानो उदय और अस्त करने के बहाने ग्रहयुक्त संपूर्ण नक्षत्रचक्र, प्रवह वायु से प्रेरित होकर, पश्चिम की ओर चल रहा हो। श्लोक ११ में सुमेरु पर्वत (उत्तरी ध्रुव पर स्थित पर्वत) का आकार और श्लोक १२ में सुमेरु और बड़वामुख (दक्षिण ध्रुव) की स्थिति बताई गई है। श्लोक १३ में विषुवत् रेखा पर नब्बे नब्बे अंश की दूरी पर स्थित चार नगरियों का वर्णन है। श्लोक १४ में लंका से उज्जैन का अंतर बताया गया है। श्लोक १५ में बताया गया है कि भूगोल की मोटाई के कारण खगोल आधे भाग से कितना कम दिखाई पड़ता है। १६वें श्लोक में बताया गया है कि देवताओं और असुरों को खगोल कैसे घूमता हुआ दिखाई पड़ता है। श्लोक १७ में देवताओं, असुरों, पितरों और मनुष्यों के दिन रात का परिमाण है। श्लोक १८ से २३ तक खगोल का वर्णन है। श्लोक २४-३३ में त्रिप्रश्नाधिकार के प्रधान सूत्रों का कथन है, जिनसे लग्न, काल आदि जाने जाते हैं। श्लोक ३४ में लंबन, ३५ में आक्षदृक्कर्म और ३६ में आयनदृक्कर्म का वर्णन है। श्लोक ३७ से ४७ तक सूर्य और चंद्रमा के ग्रहणों की गणना करने की रीति है। श्लोक ४८ में बताया गया है कि पृथ्वी और सूर्य के योग से सूर्य के, सूर्य और चंद्रमा के योग से चंद्रमा के तथा चंद्रमा और ग्रहों के योग से सब ग्रहों के मूलांक जाने गए हैं। श्लोक ४९ और ५० में आर्यभटीय की प्रशंसा की गई है।

प्रचार—आर्यभटीय का प्रचार दक्षिण भारत में विशेष रूप से हुआ। इस ग्रंथ का पठन पाठन १६वीं १७वीं शताब्दी तक होता रहा है, जो इसपर लिखी गई टीकाओं से स्पष्ट है। दक्षिण भारत में इसी के आधार पर बने हुए पंचांग आज भी वैष्णव धर्मवालों को मान्य होते हैं। खेद है कि हिंदी में आर्यभटीय की कोई अच्छी टीका नहीं है। अंग्रेजी में इसके दो अनुवाद हैं, एक श्री प्रबोधचंद्र सेनगुप्त का और दूसरा श्री डब्ल्यू० ई० क्लार्क का। पहला १९२७ ई० में कलकत्ते से और दूसरा १९३० ई० में शिकागो से प्रकाशित हुआ था।

आर्यभट के दूसरे ग्रंथ का प्रचार उत्तर भारत में विशेष रूप से हुआ, जो इस बात से स्पष्ट है कि आर्यभट के तीव्र आलोचक ब्रह्मगुप्त को वृद्धावस्था में अपने ग्रंथ खंडखाद्यक में आर्यभट के ग्रंथ का अनुकरण करना पड़ा। परंतु अब खडखाद्यक का ही प्रचार काश्मीर और नेपाल तक दृष्टिगोचर होता है, आर्यभटीय का नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि खंडखाद्यक के व्यापक प्रचार के सामने आर्यभट के ग्रंथ का पठन पाठन कम हो गया और वह धीरे धीरे लुप्त हो गया।

आर्यभट द्वितीय

आर्यभट द्वितीय गणित और ज्योतिष दोनों विषयों के अच्छे आचार्य थे। इनका बनाया हुआ महासिद्धांत ग्रंथ ज्योतिषसिद्धांत का अच्छा ग्रंथ है। इन्होंने भी अपना समय कहीं नहीं लिखा है। डाक्टर सिंह और दत्त का मत है (हिस्ट्री ऑव हिंदू मैथिमैटिक्स, भाग २, पृष्ठ ८९) कि ये ९५० ई० के लगभग थे, जो शककाल ८७२ होता है। दीक्षित लगभग ८७५ शक कहते हैं। आर्यभट द्वितीय ब्रह्मगुप्त के पीछे हुए हैं, क्योंकि ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट की जिन बातों का खंडन किया है वे आर्यभटीय से मिलती हैं, महासिद्धांत से नहीं। महासिद्धांत से तो प्रकट होता है कि ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट की जिन जिन बातों का खंडन किया है वे इसमें सुधार दी गई है। कुट्टक की विधि में भी आर्यभट प्रथम, भास्कर प्रथम तथा ब्रह्मगुप्त की विधियों से कुछ उन्नति दिखाई पड़ती है। इसलिये इसमें संदेह नहीं कि आर्यभट द्वितीय ब्रह्मगुप्त के बाद हुए हैं।

ब्रह्मगुप्त और लल्ल ने अयनचलन के संबंध में कोई चर्चा नहीं की है, परंतु आर्यभट द्वितीय ने इसपर बहुत विचार किया है। अपने ग्रंथ मध्यमाध्याय के श्लोक ११-१२ में इन्होंने अयनबिंदु को एक ग्रह मानकर इसके कल्पभगण की संख्या ५,७८,१५९ लिखी है जिससे अयनबिंदु की वार्षिक गति १७३ विकला होती है जो बहुत ही अशुद्ध है। स्पष्टाधिकार में स्पष्ट अयनांश जानने के लिये जो रीति बताई गई है उससे प्रकट होता है कि इनके अनुसार अयनांश २४ अंश से अधिक नहीं हो सकता और अयन की वार्षिक गति भी सदा एक सी नहीं रहती। कभी घटते घटते शून्य हो जाती है और कभी बढ़ते बढ़ते १७३ विकला हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि आर्यभट द्वितीय का समय वह था जब अयनगति के संबंध में हमारे सिद्धांतों में कोई निश्चय नहीं हुआ था। मुंजाल के लघुमानस में अयनचलन के संबंध में स्पष्ट उल्लेख है, जिसके अनुसार एक कल्प में अयनभगण १,९९,६६९ होता है, जो वर्ष में ५९·९ विकला होता है। मुंजाल का समय ८५४ शक या ९३२ ईस्वी है, इसलिये आर्यभट का समय इससे भी कुछ पहले होना चाहिए। इसलिये मेरे मत से इनका समय ८०० शक के लगभग होना चाहिए।

महासिद्धांत—इस ग्रंथ में १८ अधिकार हैं और लगभग ६२५ आर्या छंद हैं। पहले १३ अध्यायों के नाम वे ही हैं जो सूर्यसिद्धांत या ब्राह्मस्फुट सिद्धांत के ज्योतिष संबंधी अध्यायों के हैं, केवल दूसरे अध्याय का नाम है पराशरमताध्याय। १४ वें अध्याय का नाम गोलाध्याय है जिसमें ११ श्लोक तक पाटीगणित या अंकगणित के प्रश्न हैं। इसके आगे के तीन श्लोक भूगोल के प्रश्न हैं और शेष ४३ श्लोकों में अहर्गण और ग्रहों की मध्यम गति के संबंध में प्रश्न हैं। १५ वें अध्याय में १२० आर्या छंद हैं, जिनमें पाटीगणित, क्षेत्रफल, घनफल आदि विषय हैं। १६ वें अध्याय का नाम भुवनकोश प्रश्नोत्तर है जिसमें खगोल, स्वर्गादि लोक, भूगोल आदि का वर्णन है। १७वां प्रश्नोत्तराध्याय है, जिसमें ग्रहों की मध्यमगति संबंधी प्रश्न हैं। १८वें अध्याय का नाम कुट्टकाध्याय है, जिसमें कुट्टक संबंधी प्रश्नों पर ब्राह्मस्फुट सिद्धांत की अपेक्षा कहीं अधिक विचार किया गया है। इससे भी प्रकट होता है कि आर्यभट द्वितीय ब्रह्मगुप्त के पश्चात् हुए हैं।

[म० प्र० श्री०]

आर्यशूर संस्कृत के प्रख्यात बौद्ध कवि। साधारणतः ये अश्वघोष से अभिन्न माने जाते हैं, परंतु दोनों की रचनाओं की भिन्नता के कारण आर्यशूर को अश्वघोष से भिन्न तथा पश्चाद्वर्ती मानना ही युक्तिसंगत है। इनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'जातकमाला' की प्रख्याति भारत की अपेक्षा भारत के बाहर बौद्धजगत् में कम न थी। इसका चीनी भाषा में अनुवाद १०वीं शताब्दी में किया गया था। ईत्सिंग ने आर्यशूर की कविता की ख्याति का वर्णन अपने यात्राविवरण में किया है (८वीं शताब्दी)। अजंता की दीवारों पर 'जातकमाला' के शांतिवादी, शिवि, मैत्रीबल आदि जातकों के दृश्यों का अंकन और परिचयात्मक पद्यों का उत्खनन छठी शताब्दी में इसकी प्रसिद्धि का पर्याप्त परिचायक है। अश्वघोष के द्वारा प्रभावित होने के कारण आर्यशूर का समय द्वितीय शताब्दी के अनंतर तथा ५वीं शताब्दी से पूर्व मानना न्यायसंगत होगा। इनका मुख्य ग्रंथ 'जातकमाला' चंपूशैली में निर्मित है। इसमें संस्कृत के गद्य पद्य का मनोरम मिश्रण है। ३४ जातकों का सुंदर काव्यशैली तथा भव्य भाषा में वर्णन हुआ है। इसकी दो टीकाएँ संस्कृत में अनुपलब्ध होने पर भी तिब्बती अनुवाद में सुरक्षित हैं। आर्यशूर की दूसरी काव्यरचना 'पारमितासमास' है जिसमें छहों पार-

मिताओं (दान, शील, क्षांति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा पारमिताओं) का वर्णन ६ सर्गों तथा ३६४१ श्लोकों में सरल सुबोध शैली में किया गया है। दोनों काव्यों का उद्देश्य अश्वघोषीय काव्यकृतियों के समान ही रूखे मनवाले पाठकों को प्रसन्न कर बौद्ध धर्म के उपदेशों का विपुल प्रचार और प्रसार है (रूक्ष-मनसामपि प्रसादः)। कवि ने अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये बोलचाल की व्यावहारिक संस्कृत का प्रयोग किया है और उसे अलंकार के व्यर्थ आडंबर से प्रयत्नपूर्वक बचाया है। पद्यभाग के समान गद्यभाग भी सुश्लिष्ट तथा सुंदर है।

सं०ग्रं०—विंटरनित्स : हिस्ट्री आव इंडियन लिटरेचर, भाग २ (कलकत्ता १९२५); बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास (पंचम सं०, काशी, १९५८)। [ब० उ०]

आर्यसत्य बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धांत; आर्यसत्य चार हैं। दुःख आर्यसत्य, समुदय आर्यसत्य, निरोध आर्यसत्य और मार्ग आर्यसत्य। प्राणी जन्म भर विभिन्न दुःखों की शृंखला में पड़ा रहता है, यह दुःख आर्यसत्य है। संसार के विषयों के प्रति जो तृष्णा है वही समुदय आर्यसत्य है। जो प्राणी तृष्णा के साथ मरता है, वह उसकी प्रेरणा से फिर भी जन्म ग्रहण करता है। इसीलिये तृष्णा को समुदय आर्यसत्य कहते हैं। तृष्णा का अशेष प्रहाण कर देना निरोध आर्यसत्य है। तृष्णा के न रहने से न तो संसार की वस्तुओं के कारण कोई दुःख होता है और न मरणोपरांत उसका पुनर्जन्म होता है। बुझ गए प्रदीप की तरह उसका निर्वाण हो जाता है। और, इस निरोध की प्राप्ति का मार्ग आर्य आष्टांगिक मार्ग है। इसके आठ अंग हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। इस आर्यमार्ग को सिद्ध कर वह मुक्त हो जाता है। [भि० ज० का०]

आर्यसमाज भारतवर्ष की आधुनिक काल की प्रगतिशील सुधार संस्थाओं में आर्यसमाज का विशेष स्थान है। आर्यसमाज की स्थापना १० अप्रैल, १८७५ ई० (चैत्र शुक्ल ५, १९३२ वि०) को स्वामी दयानंद सरस्वती (जन्म सं० १८८१ वि०, टंकारा, गुजरात, देहावसान सं० १९४० वि० कार्तिक अमावस्या, अजमेर, राजस्थान) के द्वारा बंबई में हुई थी। इस समय भारतवर्ष में तथा ब्रह्मदेश, थाईलैंड, मलाया, अफ्रीका, पश्चिमी द्वीपसमूह (ट्रिनिडाड) आदि में लगभग ३००० समाज हैं जहाँ इसके सदस्यों की संख्या ५० लाख से अधिक है। आर्यसमाज का कार्यक्षेत्र सार्वभौमिक है, क्योंकि इसके संस्थापक और कार्यकर्ताओं का प्रस्तावित उद्देश्य यह है कि विश्व भर में बिना जन्म, जाति, देश या रंग की अपेक्षा के वैदिक धर्म का प्रचार किया जाय।

आर्यसमाज की स्थापना का विचार इस प्रकार आरंभ हुआ था : बालक मूलशंकर ने घर छोड़, संन्यास ग्रहण कर स्वामी दयानंद सरस्वती के नाम से सत्य की खोज करना आरंभ किया और प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानंद से मथुरा में व्याकरण और वैदिक शास्त्रों का अध्ययन शुरू किया। अपने अध्ययन और अनुसंधान से उन्होंने देखा कि प्रचलित हिंदू धर्म प्रायः सनातन वैदिक धर्म से अनेक सिद्धांतों में बहुत भिन्न हो गया है और मनुष्य जाति का कल्याण इसी में है कि वर्तमान पौराणिक धर्म को त्यागकर प्राचीन वेदों की शिक्षा का प्रचार किया जाय। गुरु विरजानंद के आदेश पर स्वामी दयानंद ने आर्यसमाज की स्थापना इसी उद्देश्य से की थी।

सन् १८८३ ई० तक स्वामी दयानंद ने समस्त भारतवर्ष की विस्तृत यात्रा कर अनेक मुख्य नगरों में आर्यसमाज स्थापित किए और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित कीं—सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदभाष्यभूमिका, ऋग्वेदभाष्य (७वें मंडल तक), यजुर्वेदभाष्य तथा अन्य कतिपय छोटे बड़े ग्रंथ। स्वामी दयानंद की मृत्यु के पश्चात् आर्यसमाज ने शिक्षा के प्रचार और समाजसुधार में बड़ी लगन से कार्य किया है। इस संस्था द्वारा स्थापित स्कूलों, कालेजों, गुरुकुलों, संस्कृत पाठशालाओं तथा कन्यापाठशालाओं, विधवाश्रमों, अनाथालयों का उत्तरी भारत तथा अन्य प्रदेशों में जाल सा बिछा हुआ है। इन कार्यों में आर्यसमाज को समस्त शिष्ट जनता की सहानुभूति प्राप्त है।

प्रचलित हिंदू धर्म से आर्यसमाज के सिद्धांतों में निम्नलिखित मुख्य अंतर हैं : आर्यसमाज केवल वेदों के मंत्रभाग को ही ईश्वरकृत और स्वतः-प्रमाण मानता है तथा ब्राह्मण, उपनिषद् आदि को मनुष्यकृत तथा परतः-प्रमाण; राम, कृष्ण आदि को ईश्वर का अवतार न मानकर महापुरुष मानता है; मूर्तिपूजा को अवैदिक तथा पाप गिनता है; जन्म से जातिभेद नहीं मानता; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चार वर्णों को गुणकर्मानुसार और परिवर्तनशील मानता है, अर्थात् किसी देश या वर्ण का मनुष्य अपने गुण, कर्म और स्वभावानुसार वैदिक धर्म को ग्रहण कर सकता और उसी वर्ण में गिना जा सकता है; स्त्रियों को विवाह आदि सामाजिक विषयों के समान अधिकार देता है और स्त्रियों तथा दलित जातियों के उद्धार के लिये प्रयत्नशील रहता है। आर्यसमाज के समस्त विधान की आधारशिला निम्नलिखित दस नियम हैं :

(१) सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

(२) ईश्वर सच्चिदानंदस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनंत, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वांतर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है तथा उसी की उपासना करने योग्य है।

(३) वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।

(४) सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

(५) सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य का विचार कर करना चाहिए।

(६) ससार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

(७) सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिए।

(८) अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

(९) प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिए, अपितु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

(१०) सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्वहितकारी नियमपालन में परतंत्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें। [गं० प्र० उ०]

आर्यावर्त आर्यों का निवासस्थान। ऋग्वेद में आर्यों का निवासस्थल 'सप्तसिंधु' प्रदेश के नाम से अभिहित किया जाता है। ऋग्वेद के नदीसूक्त (१०।७५) में आर्यनिवास में प्रवाहित होनेवाली नदियों का एकत्र वर्णन है जिनमें मुख्य ये ह—कुभा (काबुल नदी), क्रुमु (कुर्रम), गोमती (गोमल), सिंधु, परुष्णी (रावी), शुतुद्री (सतलज), वितस्ता (झेलम), सरस्वती, यमुना तथा गंगा। यह वर्णन वैदिक आर्यों के निवासस्थल की सीमा का निर्देशक माना जा सकता है। ब्राह्मण ग्रंथों में कुरु पांचाल देश आर्य संस्कृति का केंद्र माना गया है जहाँ अनेक यज्ञ-यागों के विधान से यह भूभाग 'प्रजापति की नाभि' कहा जाता था। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि कुरु पांचाल की भाषा ही सर्वोत्तम तथा प्रामाणिक है। उपनिषद्कालमें आर्य सभ्यता की प्रगति काशी तथा विदेह जनपदों तक फैली। फलतः पंजाब से मिथिला तक का विस्तृत भूभाग आर्यों का पवित्र निवास उपनिषदों में माना गया। धर्मसूत्रों में आर्यावर्त की सीमा के विषय में बड़ा मतभेद है। वसिष्ठधर्मसूत्र (१।८-९) में आर्यावर्त की यह प्रख्यात सीमा निर्धारित की गई है कि यह आदर्श (विनशन; सरस्वती के लोप होने का स्थान) के पूर्व, कालक वन (प्रयाग) के पश्चिम, पारियात्र तथा विंध्य के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में है। अन्य दो मतों का भी यहाँ उल्लेख है कि (क) आर्यावर्त गंगा और यमुना के बीच का भूभाग है और (ख) उसमें कृष्ण मृग निर्बाध संचरण करता है। बौधायन (धर्मसूत्र १।१।२७), पतंजलि (महाभाष्य २।४।१० पर) तथा मनु (मनुस्मृति २।१७) ने भी वसिष्ठोक्त मत को ही प्रामाणिक माना है। मनु की दृष्टि में आर्यावर्त मध्यदेश से बिलकुल मिलता है और उसके भीतर 'ब्रह्मावर्त' नामक एक छोटा, परंतु पवित्रतम भूभाग है, जो सरस्वती और दृषद्वती नदियों के द्वारा

सीमित है और जहाँ का परंपरागत आचार सदाचार माना जाता है। आर्यावर्त की यही प्रामाणिक सीमा थी और इसके बाहर के देश म्लेच्छ देश माने जाते थे, जहाँ तीर्थयात्रा के अतिरिक्त जाने पर इष्टि या संस्कार करना आवश्यक होता था। बौधायनधर्मसूत्र (१।१।३१) में अवंति, अंग, मगध, सुराष्ट्र, दक्षिणापथ, उपावृत्, सिंधु-सौवीर आदि देश म्लेच्छ देशों में गिनाए गए हैं। परंतु आर्यों की संस्कृति और सभ्यता ब्राह्मणों के धार्मिक उत्साह के कारण अन्य देशों में भी फैली जिन्हें आर्यावर्त का अंश न मानना सत्य का अपलाप होगा। मेधातिथि का इस विषय में मत बड़ा ही युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। उनका कहना है कि "जिस देश में सदाचारी क्षत्रिय राजा म्लेच्छों को जीतकर चातुर्वर्ण्य की प्रतिष्ठा करे और म्लेच्छों को आर्यावर्त के चांडालों के समान व्यवस्थित करे, वह देश भी यज्ञ के लिये उचित स्थान है, क्योंकि पृथ्वी स्वतः अपवित्र नहीं होती, बल्कि अपवित्रों के संसर्ग से ही दूषित होती है" (मनु २।२३ पर मेधातिथिभाष्य)। ऐसे विजित म्लेच्छ देशों को भी मेधातिथि आर्यावर्त के अंतर्गत मानने के पक्षपाती हैं। संस्कृति की प्रगति की यह माँग ठुकराई नहीं जा सकती। तभी तो महाभारत पंजाब को, जो कभी आर्य संस्कृति का वैदिक कालीन केंद्र था, दो दिन भी ठहरने लायक नहीं मानता (कर्णपर्व ४३।५-८), क्योंकि यवनों के प्रभाव के कारण शुद्धाचार की दृष्टि से उस युग में यह नितांत आचारहीन बन गया था। आर्यावर्त ही गुप्तकाल में कुमारी द्वीप के नाम से प्रसिद्ध था। पुराणों में आर्यावर्त 'भारतवर्ष' के नाम से ही विशेषतः निर्दिष्ट है (विष्णुपुराण २।३।१, मार्कडेयपुराण ५७।५९ आदि)। [ब० उ०]

आर्रेनियस स्वांटे आगस्ट आर्रेनियस (१८५९-१९२७) प्रसिद्ध रसायनज्ञ थे। इनकी शिक्षा अपसाला, स्टाकहोम तथा रीगा में हुई थी। इनकी बुद्धि बहुत ही प्रखर तथा कल्पनाशक्ति तीक्ष्ण थी। केवल २४ वर्ष की आयु में ही इन्होंने वैद्युत विच्छेदन (इलेक्ट्रोलिटिक डिसोसिएशन) का सिद्धांत उपस्थित किया। अपसाला विश्वविद्यालय में इनकी डाक्टरेट की थीसिस का यही विषय था। इस नवीन सिद्धांत की कड़ी आलोचना हुई तथा उस समय के बड़े बड़े वैज्ञानिकों ने, जैसे लार्ड केल्विन इत्यादि ने, इसका बहुत विरोध किया। इसी समय एक दूसरे वैज्ञानिक वांट हॉफ ने पतले घोल के नियमों का अध्ययन कर गैस के नियमों से उसकी समानता पर जोर दिया। इस खोज से तथा ओस्टवाल्ट के समर्थन से आर्रेनियस के सिद्धांत की मान्यता में बहुत सहयोग मिला। ओस्टवाल्ट ने अपनी नई निकली हुई पत्रिका 'साइट्श्रिफ्ट फूर फिजिकलीशे केमी' में आर्रेनियस का लेख प्रकाशित किया और अपने भाषणों तथा लेखों में भी इस सिद्धांत का समर्थन किया। अंत में इस सिद्धांत को वैज्ञानिक मान्यता प्राप्त हुई।

सन् १८९१ में लेक्चरर तथा १८९५ में प्रोफेसर के पद पर, स्टाकहोम में, आर्रेनियस की नियुक्ति हुई। १९०२ में उन्हें डेवी मेडल तथा १९०३ में नोबेल पुरस्कार मिला। १९०५ से मृत्युपर्यंत वे स्टाकहोम में नोबेल इंस्टिट्यूट के डाइरेक्टर रहे। बाद में उन्होंने दूसरे विषयों पर भी अपने विचार प्रकट किए। ये विचार उनकी पुस्तक 'वर्ल्ड्स इन दि मेकिंग' तथा 'लाइफ ऑन दि यूनिवर्स' में व्यक्त हैं।

सं०ग्रं० :—एच० एम० स्मिथ : टॉर्च बेयरर्स ऑव केमिस्ट्री; जे० आर० पारटिंगटन : ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑव केमिस्ट्री (१९५१)। [वि० वा० प्र०]

आर्लबर्ग आस्ट्रिया की एक सुरंग है जो आर्लबर्ग रेलवे का एक भाग है। इसका उद्घाटन १८८४ ई० में हुआ था। यह ६ मील लंबी है तथा इसकी अधिकतम ऊँचाई ४,३०० फुट है। इसके बनाने में १५,००,००० पाउंड लगे थे। १९२३ ई० में इसका विद्युतीकरण किया गया। [नृ० कु० सिं०]

आर्लिंगटन संयुक्त राज्य (अमरीका) के मैसाचुसेट्स राज्य का एक नगर है। यह बोस्टन से छः मील उत्तर-पश्चिम में बसा हुआ है। यह एक ऐतिहासिक भाग में पड़ता है, जहाँ पर लेक्सिंगटन की लड़ाई हुई थी। यह राजकीय सड़क पर है तथा रेल द्वारा बोस्टन और मेन से संबद्ध है। इसका क्षेत्रफल ५$\frac{1}{2}$ वर्ग मील है और जनसंख्या १९५० में ४४,३५३ थी। यह फल और सब्जी की खेती, पियानो की काया और चित्रों के चौखटे बनाने के लिये प्रसिद्ध है। सर्वप्रथम १६३० में यह कैंब्रिज (अमरीका) के एक भाग के रूप में बसा था। पश्चिमी कैंब्रिज के रूप में १८०७ में यह नगरनियम बना। १८६८ में इसका यह नया नाम पड़ा। [नृ० कु० सिं०]

आर्लिंग्टन, हेनरी बेनेट, अर्ल (१६१८-८५), गृहयुद्धकालीन अंग्रेज राजनीतिज्ञ। वह राजा की ओर से लड़ा था और राजा के शिरश्छेदन के बाद राजपरिवार के साथ ही विदेश चला गया था। चार्ल्स द्वितीय के स्वदेश लौटने और राज्यारोहण के बाद आर्लिंग्टन राजकीय धनसचिव हुआ और क्लेयरेंडन मंत्रिमंडल के पतन के बाद 'केबल' मंत्रिमंडल का सदस्य और वैदेशिक मंत्री हुआ। फ्रांस के लुई चतुर्दश के साथ जो चार्ल्स द्वितीय की डोवर की गुप्तसंधि हुई उसका रहस्य राजा के अतिरिक्त बस दो व्यक्ति और जानते थे, विलफर्ड और आर्लिंग्टन। आर्लिंग्टन चार्ल्स के सभी धन संबंधी कुकृत्यों का सहायक था जिसके लिये उसे राजा ने 'अर्ल', 'गार्टर के वीर' आदि की उपाधियाँ दीं। आर्लिंग्टन नितांत स्वार्थपर व्यक्ति था। उसे दल परिवर्तित करते देर नहीं लगती थी। फलतः वह सभी दलों का विश्वास खो बैठा और उसके प्रबल शत्रु बकिंघम ने उसपर पार्लमेंट में मुकदमा चलाया। मुकदमा तो वह जीत गया, पर अपने पद से उसने इस्तीफा दे दिया। उसे पद बराबर मिलते गए, पर उसके प्रभाव का अंत हो गया। देशप्रेम उसे छू तक न गया था और लाभ तथा सुख ही उसके उपास्य थे। उसे अपने देश के संविधान तक का ज्ञान न था, पर उसकी सफलता का रहस्य उसका संमोहक व्यक्तित्व और आकर्षक वार्तालाप था। उसे यूरोप की अनेक भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान था।

सं०ग्रं०:—लाडरडेल पेपर्स ; ओरिजिनल लेटर्स ऑव सर आर० फैन्शा, १७२५। [भ० श० उ०]

आर्सेनिक रसायन की आवर्तसारणी के पंचम मुख्य समूह का एक तत्व है। इसकी स्थिति फासफोरस के नीचे तथा ऐंटिमनी के ऊपर है। आर्सेनिक में अधातु के गुण अधिक और धातु के गुण कम विद्यमान हैं। इस धातु को उपधातु (मेटालॉयड) की श्रेणी में रखा जाता है। आर्सेनिक से नीचे ऐंटिमनी में धातुगुण अधिक है तथा उससे नीचे बिस्मथ पूर्णरूपेण धातु है। पंचम मुख्य समूह में नीचे उतरने पर धातुगुण में वृद्धि होती है।

आर्सेनिक की कुछ विशेषताएँ निम्नांकित हैं :—

संकेत : आ, (अंग्रेजी में As; संस्कृत में इसका नाम नैपाली है)

परमाणु अंक : ३३

परमाणु भार : ७४·९१

आ,$^{+++}$ आयतन का अर्द्धव्यास : ०·६९ × १०$^{-८}$ सेंटीमीटर

गलनांक : ८२०° सेंटीग्रेड (३६ वायुमंडल दाब पर)

विद्युत्प्रतिरोधकता : ३·५ × १०$^{-५}$ (ओह्म-सेंटीमीटर) २०° सें० पर

आर्सेनिक सल्फाइड का पता बहुत पहले लग चुका था। कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में इसका वर्णन किया है। उसमें इस अयस्क का नाम हरिताल है। प्राचीन काल में इसका उपयोग हस्तलिखित पुस्तकों में अशुद्ध लेख को मिटाने के लिये किया जाता था। यूनानियों ने आसनिक सल्फाइड का अध्ययन ईसवी से चौथी शताब्दी पूर्व किया। १३वीं शताब्दी में प्रसिद्ध कार्यकर्ता ऐलबर्ट्स मैगनस ने सलफाइड अयस्क को साबुन के साथ गर्म करके एक धातु से मिलता जुलता पदार्थ बनाया। सन् १७३३ ई० में ब्रैंट ने यह सिद्ध किया कि आर्सेनिक एक तत्व है। सन् १८१७ ई० में स्वीडन देश के प्रसिद्ध वैज्ञानिक बर्जीलियस ने इसका परमाणुभार निकाला।

उपस्थिति—यौगिक अवस्था में आर्सेनिक पृथ्वी पर अनेक स्थानों में पाया जाता है। ज्वालामुखी के वाष्पों में, समुद्र तथा अनेक खनिजीय जलों में यह मिश्रित रहता है। आर्सेनिक के मुख्य अयस्क आक्साइड तथा सल्फाइड हैं। कहीं कहीं यह तत्व अन्य धातुओं के साथ यौगिक रूप में मिलता है, मुख्यतः रजत, ऐंटिमनी, ताम्र, लोह और कोबाल्ट के साथ आर्सेनिक यौगिक बनाता है।

गुणधर्म—साधारण ताप पर आर्सेनिक के दो भिन्न भिन्न अपर रूप होते हैं, एक धूसर रंग का आर्सेनिक तथा दूसरा पीला आर्सेनिक।

धूसर रंग का आर्सेनिक अपारदर्शी है। इसके मणिभ षट्कोणीय, कठोर, भंगुर तथा धातु की चमक लिए होते हैं। इसका आपेक्षिक घनत्व ५.७ है। यह आर्सेनिक तत्व का स्थायी रूप है।

पीला आर्सेनिक पारदर्शी होता है। इसके मणिभ घनाकार तथा नम्र होते हैं। इसका आपेक्षिक घनत्व २.० है। यह अस्थायी अपर रूप है। कार्बन द्विसल्फाइड में आर्सेनिक विलयन से पीला आर्सेनिक मणिभीकृत किया जाता है। पीले अपर रूप को गर्म करने या प्रकाश में रखने से वह धूसर रूप में परिणत हो जाता है। कुछ उत्प्रेरक पीले अपर रूप को भूरे अपर रूप में परिवर्तित कर देते हैं।

आर्सेनिक के अणु ८००° सेंटीग्रेड तक आ$_4$ तथा १७००° सेंटीग्रेड पर आ$_2$ रूप में रहते हैं :

आर्सेनिक तत्व में उपचायक (आक्सिडाइजिंग) तथा अपचायक (रिड्यूसिंग) दोनों ही गुण विद्यमान हैं। यह आक्सीजन, फ्लोरीन, क्लोरीन, ब्रोमीन, आयोडीन, गंधक, पोटैसियम क्लोरेट तथा नाइट्रेट द्वारा उपचयित (आक्सीकृत) हो जाता है। इसके विपरीत सोडियम, पोटैसियम तथा अन्य क्षारीय धातुएँ आर्सेनिक को अपचयित करती है। जिन अवस्थाओं में वह यौगिक बनाता है उनके अनुसार आर्सेनिक की दो, तीन तथा पाँच संयोजकताएँ है, हाइड्रोजन के साथ आ$_1$ हा$_3$ यौगिक बनता है, जो साधारण ताप पर गैसीय, रंगहीन, विषैला तथा अस्थायी होता है। आ$_1$ हा$_3$ अथवा आर्सेनिक हाइड्राइड एक शक्तिशाली अपचायक है। यह ताप या प्रकाश द्वारा विघटित हो जाता है।

क्षार, क्षारीय मृदाएँ (ऐल्कैलाइन अर्थ्स) तथा कुछ अन्य धातुएँ जैसे यशद, ऐल्युमीनियम आदि आर्सेनिक के साथ यौगिक बनाती हैं। ये प्रतिक्रियाएँ आर्सेनिक के अधातु गुणधर्म की पुष्टि करती हैं।

आर्सेनिक अम्ल का सूत्र आ$_1$(ओहा)$_3$ अथवा हा$_3$आ$_1$ओ$_3$ है। क्षार द्वारा इस अम्ल के क्रियात्मक लवण आर्सेनाइट कहलाते हैं। आर्सेनिक आक्साइड अथवा संखिया का सूत्र आ$_4$ओ$_6$ है। यह यौगिक कई अपर रूपों में मिलता है और शक्तिशाली संचयी (अक्युम्युलेटिव) विष है।

क्लोरीन, ब्रोमीन तथा आयोडीन के साथ आर्सेनिक त्रिसंयोजकीय यौगिक बनाता है। इन यौगिकों का विघटन बहुत कम होता है। इस कारण इनमें लवण के गुण नहीं हैं।

आर्सेनिक के पाँच प्रधान यौगिक आक्साइड आ$_2$ओ$_5$, आर्सेनिक अम्ल हा$_3$आ$_1$ओ$_4$ तथा उससे बने आर्सिनेट सलफाइड आ$_2$ग$_5$, और फ्लोराइड आ$_1$फ्लो$_5$ हैं।

आर्सेनिक के कार्बनिक व्युत्पन्न भी बनाए गए हैं, जिनमें (काहा$_3$)$_3$आ$_1$, (काहा$_3$)$_4$आ$_1$ क्लो, (काहा$_3$)$_2$आ$_1$-आ$_1$(काहा$_3$)$_2$, और (काहा$_3$)$_2$ आ$_1$ओओहा मुख्य हैं।

गुणात्मक विश्लेषण में आर्सेनिक को सल्फाइड के रूप में पारद, वंग (राँगा), ऐंटिमनी आदि के साथ अलग करते हैं। आर्सेनिक के यौगिक अधिकतर विषैले होते हैं। इसलिये इसकी सूक्ष्म मात्रा में उपस्थिति की पहचान करना, विलयन तथा गैस दोनों रूपों में, आवश्यक हो सकता है। आर्सेनाइट का विलयन ताँबे द्वारा अपचयित हो जाता है। ताँबे के टुकड़े को विलयन में डालने से उसपर आर्सेनिक की काली परत छा जाती है। आ$_1$ हा$_3$ अथवा आर्सीन का वाष्प सिल्वर नाइट्रेट को अपचयित कर देता है। आर्सीन का वाष्प गर्म नली में आर्सेनिक की काली तह जमा देता है; इस परीक्षा को मार्श की परीक्षा कहा जाता है।

उपयोग—आर्सेनिक आक्साइड आर्सेनिक का सबसे उपयोगी यौगिक है। यह ताँबे, सीसे तथा अन्य धातुओं के अयस्क से सहजात के रूप में निकाला जाता है। आर्सेनिक आक्साइड अन्य आर्सेनिक यौगिकों के निर्माण में काम आता है। इसका उपयोग काच बनाने तथा चमड़े की वस्तुएँ सुरक्षित करने में होता है। इस काम में लेड आर्सेनाइट, कैल्सियम आर्सेनाइट और ताँबे के कार्बनिक आर्सेनाइट का विशेष उपयोग होता है। आर्सेनिक के कुछ अन्य यौगिक वर्णकों (रंगों) के लिये विशेष उपयोगी होते हैं।

आर्सेनिक का उपयोग मिश्र धातुओं के निर्माण में भी होता है। सीसे में एक प्रतिशत आर्सेनिक डालने से उसकी पुष्टता बढ़ जाती है। इस मिश्रण का उपयोग छर्रे बनाने में होता है। ताँबे के साथ थोड़ी मात्रा में आर्सेनिक मिलाने पर उसका आक्सीकरण तथा क्षरण रुक जाता है।

आर्सेनिक के यौगिक प्रायः विषैले होते हैं। वे शरीर की कोशिकाओं में पक्षाघात (पैरालिसिस) पैदा करते है तथा अँतड़ियों और ऊतकों को हानि पहुँचाते हैं। आर्सेनिक खाने पर सिरपीड़ा, चक्कर तथा वमन आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। कुछ व्यक्तियों का विचार है कि आर्सेनिक सूक्ष्म मात्रा में लाभकारी होता है। अतः उसके अनेक कार्बनिक तथा अकार्बनिक यौगिक रक्ताल्पता, तंत्रिकाव्याधि, गठिया, मलेरिया, प्रमेह तथा अन्य रोगों के उपचार में प्रयुक्त होते हैं। विशेषकर प्रमेह के उपचार में सालवारसन का उपयोग होता है, जो आर्सेनिक का कार्बनिक यौगिक आर्सफिनामीन हाइड्रोक्लोराइड है। इसकी संरचना निम्नलिखित है :
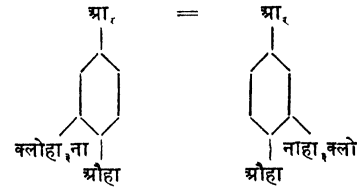
आर्सेनिक यौगिक उदरविष होते हैं। इस कारण वे पत्तियाँ खानेवाले कीटाणुओं को नष्ट करने में उपयोगी होते हैं। कैलसियम आर्सिनेट टमाटर के कीड़े को नष्ट करता है। लेड आर्सिनेट फल, फूल तथा अन्य हरी तरकारियों के कीड़ों को नष्ट करता है। उन फलों तथा तरकारियों को, जिनपर आर्सेनिक यौगिकों का छिड़काव हुआ हो, अच्छे प्रकार से धोकर खाना चाहिए।

उत्पादन—आर्सेनिक आक्साइड को कोक (तपाया हुआ पत्थर का कोयला) द्वारा अपचयित करके आर्सेनिक तत्व बनाया जाता है। कुछ आर्सेनिक यौगिकों को गर्म करने पर विघटन हो जाता है। इस प्रकार भी आर्सेनिक तत्व रूप में बनाया जाता है। अच्छा तथा शुद्ध मणिभ आर्सेनिक पाने के लिये ताप का नियंत्रण आवश्यक है। [र० चं० क०]

आलंबन बौद्ध दर्शन के अनुसार आलंबन छः होते हैं—रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श और धर्म। इन छः के ही आधार पर हमारे चित्त की सारी प्रवृत्तियाँ उठती हैं और उन्हीं के सहारे चित चैत्तसिक संभव होते हैं। ये आलंबन चक्षु आदि इंद्रियों से गृहीत होते हैं। प्राणी के मरणासन्न अंतिम चित्तक्षण में जो स्वप्न छायावत् आलंबन प्रकट होता है उसी के आधार पर मरणांतर दूसरे जन्म में प्रथम चित्तक्षण उत्पन्न होता है। इस तरह, चित्त कभी निरालंब नहीं रहता।
[भि० ज० का०]

आलवार तमिल भाषा के इस शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—अध्यात्म ज्ञान के समुद्र में गोता लगानेवाला व्यक्ति। आलवार तमिल देश के प्रसिद्ध वैष्णव संत थे। इनका हृदय नारायण की भक्ति से आप्लावित था और ये लक्ष्मीनारायण के सच्चे उपासक थे। इनके जीवन का एक ही उद्देश्य था—विष्णु की प्रगाढ़ भक्ति में स्वतः लीन होना और अपने उपदेशों से दूसरे साधकों को लीन करना। इनकी मातृभाषा तमिल थी जिसमें इन्होंने सहस्रों सरस और भक्तिस्निग्ध पदों की रचना कर सामान्य जनता के हृदय में भक्ति की मंदाकिनी बहा दी। इन विष्णुभक्तों की संख्या पर्याप्त रूप से अधिक थी, परंतु उनमें से १२ भक्त ही प्रधान और महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इनका आविर्भावकाल सप्तम शतक और दशम शतक के अंतर्गत माना जाता है। इन आलवारों में गोदा स्त्री थी, कुलशेखर केरल के राजा थे और शेष भक्तों में कई अछूत तथा चोरी डकती कर जीवनयापन करनेवाले व्यक्ति भी थे। आलवारों के दो प्रकार के नाम मिलते हैं—एक तमिल, दूसरे संस्कृत नाम। इनकी स्तुतियों का संग्रह नालायिरप्रबंधम् (चार हजार पद्य) के नाम से विख्यात

है जो भक्ति, ज्ञान, प्रेम, सौंदर्य तथा आनंद से ओतप्रोत अध्यात्मज्ञान का दिव्य मानसरोवर है। पवित्रता तथा आध्यामिकता की दृष्टि से यह संग्रह 'तमिलवेद' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

श्रीवैष्णव आचार्य पराशर भट्ट ने इन भक्तों के संस्कृत नामों का एकत्र निर्देश इस प्रख्यात पद्य में किया है :

भूतं सरश्च महदाह्वय-भट्टनाथ-
श्रीभक्तिसार-कुलशेखर-योगिवाहान् ।
भक्तांघ्रिरेणु-परकाल-यतींद्रमिश्रान्
श्रीमत्पराकुशमुनिं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥

आलवारों के दोनों प्रकार के नाम ये हैं—(१) सरोयोगी (पोयगै आलवार), (२) भूतयोगी (भूतत्तालवार), (३) महत्‌योगी (पेय आलवार), (४) भक्तिसार (तिरुमडिसै आलवार), (५) शठकोप या परांकुश मुनि (नम्म आलवार), (६) मधुर कवि, (७) कुलशेखर, (८) विष्णुचित्त (परि आलवार), (९) गोदा या रंगनायकी (आंडाल), (१०) विप्रनारायण या भक्तपदरेणु (तोंडर डिप्पोलि), (११) योगवाह या मुनिवाहन (तिरुप्पन), (१२) परकाल या नीलन् (तिरुमंगैयालवार)। इनमें प्रथम तीनों व्यक्ति अत्यंत प्राचीन और समकालीन माने जाते हैं। इनके बनाए तीन सौ भजन मिलते है जिन्हें श्रीवैष्णव लोग ऋग्वेद का सार मानते हैं। आचार्य शठकोप अपनी विपुल रचना, पवित्र चरित्र तथा कठिन तपस्या के कारण आलवारों में विशेष प्रख्यात हैं। इनकी ये चारों कृतियाँ श्रुतियों के समकक्ष अध्यात्ममयी तथा पावन मानी जाती हैं: (क) **तिरुविरुत्तम्**, (ख) **तिरुवाशिरियम्**, (ग) **पेरिय तिरुवंताति** तथा (घ) **तिरुवायमोलि**। वेदांतदेशिक (१२६९ ई०–१३६९ ई०) जैसे प्रख्यात आचार्य ने अंतिम ग्रंथ का उपनिषदो के समान गूढ़ तथा रहस्यमय होने से 'द्रविडोपनिषत्' नाम दिया है और उसका संस्कृत में अनुवाद भी किया है। तमिल के सर्वश्रेष्ठ कवि **कंबन्** की रामायण रंगनाथ जी को तभी स्वीकृत हुई, जब उन्होंने शठकोप की स्तुति ग्रंथ के आरंभ में की। इस लोकप्रसिद्ध घटना से इनका माहात्म्य तथा गौरव आँका जा सकता है। कुलशेखर केरल देश के राजा थे, जिन्होंने राजपाट छोड़कर अपना अंतिम समय श्रीरंगम् के आराध्यदेव श्रीरंगनाथ जी की उपासना में बिताया। इनका **मुकुंदमाला** नामक संस्कृत स्तोत्र नितांत प्रख्यात है। आंडाल आलवार विष्णुचित्त की पोष्य पुत्री थी और जीवन भर कौमार्य धारण कर वह रंगनाथ को ही अपना प्रियतम मानती रही। उसे हम तमिल देश की 'मीरा' कह सकते हैं। दोनों के जीवन में एक ही प्रकार की माधुर्यमयी निष्ठा तथा स्नेहमय जीवन इस समता का मुख्य आधार है।

आलवारों के पद भाषा की दृष्टि से भी ललित और भावपूर्ण माने जाते हैं। भक्ति से स्निग्ध हृदय के ये उद्गार तमिल भाषा की दिव्य संपत्ति हैं तथा भक्ति के नाना भावों में मधुर रस की भी छटा इन पदों में, विशेषतः नम्म आलवार के पदो में, कम नहीं है।

सं०ग्रं०—हूपर : हिम्स ऑव दि अलवारस, कलकत्ता, १९२९; बलदेव उपाध्याय : भागवत संप्रदाय, काशी, सं० २०१०। [ब० उ०]

आलारकालाम

गृहत्याग करने के बाद सत्य की खोज में घूमते हुए बोधिसत्व सिद्धार्थ गौतम विख्यात योगी आलारकालाम के आश्रम में पहुँचे। आलारकालाम रूपावचर भूमि से ऊपर उठ अपने समकालीन योगी उद्दक रामपुत्त की भाँति अरूपावचर भूमि की समापत्ति प्राप्त कर विहार करते थे। उस काल वह वैशाली में विराज रहे थे। सिद्धार्थ गौतम ने उस योगप्रक्रिया में शीघ्र ही सिद्धिलाभ कर लिया और उसके ऊपर की बातें जाननी चाहीं। जब वह और कुछ न बता सके तब सिद्धार्थ ने उनका साथ छोड़ दिया। बुद्धत्व लाभ करने के बाद भगवान् बुद्ध ने सर्वप्रथम उद्दक रामपुत्त और आलारकालाम को उपदेश देने का संकल्प किया, किंतु तब वे जीवित न थे। [भि० ज० का०]

आलिव पहाड़ी

जेरूसलम नगर के पूर्व में स्थित एक ऐतिहासिक पहाड़ी है और उस नगर से जेहोशफात की घाटी और किडरोन नदी द्वारा पृथक् है। इस पहाड़ी के शिखर की ऊँचाई समुद्रतल से २,७३७ फुट है। बाइबिल संबंधी अनेक घटनाओं का स्थल होने के कारण यह पहाड़ी महत्वपूर्ण है। इस पहाड़ी की चार शाखाएँ हैं जिनके नाम उत्तर से दक्षिण की ओर क्रमानुसार गैलिली अथवा वारी गैलिली, असंशन की पहाड़ी, प्राफेट्स और आफेंस की पहाड़ी हैं। इन चारों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण असंशन की पहाड़ी है। इसके निचले भाग में गेथसीमेन का उद्यान स्थित था। इस पहाड़ी का उल्लेख बाइबिल के पुराने भाग (ओल्ड टेस्टामेंट) में चार स्थानों पर आया है। [रा० ना० मा०]

आलिवाल

पूर्वी पंजाब के लुधियाना जिले में सतलज नदी के तट पर स्थित एक ऐतिहासिक ग्राम है। प्रथम सिक्ख-युद्ध (१८३५-४६) में अंग्रेजों एवं सिक्खों के मध्य यहाँ भीषण युद्ध हुआ था। यहाँ खालसा नायक रणजोधसिंह मजीठिया ने २१ जनवरी, १८४६ को हेनरी स्मिथ नामक अंग्रेजी सेनापति को हराया और फिर सतलज पार क्षेत्र में अपनी स्थिति दृढ़ करने लगा। अतः २८ जनवरी को हेनरी स्मिथ ने फिर आक्रमण किया और मुंदरी तथा आलिवाल में घमासान युद्ध हुआ। यद्यपि इस बार सिक्खों ने अंग्रेजी फौज के छक्के छुड़ा दिए, तो भी अंत में वे हार गए। इस युद्ध से अंग्रेजों का क्षेत्रीय प्रभाव बढ़ गया। यह युद्ध सिक्खों का प्रथम स्वातंत्र्य युद्ध था। [का० ना० सिं०]

आलू

(अंग्रेजी नाम : पोटेटो, वानस्पतिक नाम : सोलेनम ट्यूबरोसम, प्रजाति : सोलेनम, जाति : ट्यूबरोसम, कुल : सोलेनेसी) की उत्पत्ति दक्षिणी अमरीका के पेरू तथा चिली प्रांत से हुई है। इस कुल की प्रत्येक जाति में एक रासायनिक पदार्थ 'सोलेनिन' होता है। कुछ वैज्ञानिकों का विश्वास है कि आलू की खेती अमरीका के आविष्कार के पहले से ही वहाँ के निवासी करते थे। मानव जाति के भोजन में आलू की प्रधानता इस सीमा तक है कि इसे तरकारियों का सम्राट् कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। इसकी मसालेदार तरकारी, पकौड़ी, चाट, चॉप, पापड़ इत्यादि अनेक स्वादिष्ट पकवान बनाए जाते हैं। इससे डेक्स्ट्रीन, ग्लूकोज, ऐलकोहल इत्यादि
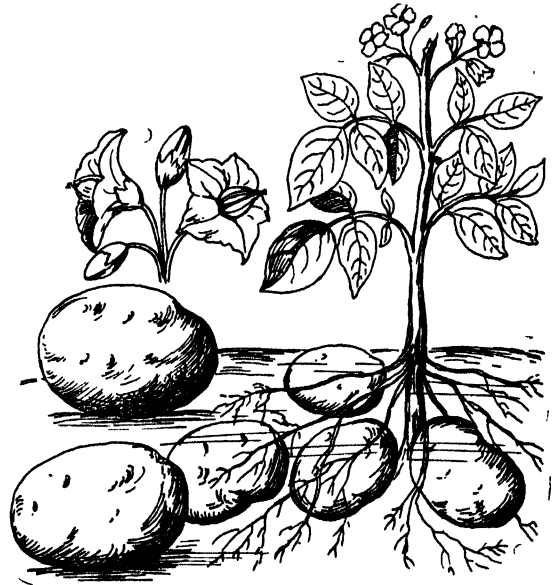
आलू
ऊपर बाएँ कोने में आलू का फूल अलग दिखाया गया है।

पदार्थ तैयार किए जाते हैं। इसमें प्रोटीन उच्च कोटि की, परंतु कम मात्रा में होती है। स्टार्च, विटामिन 'सी' तथा 'बी' अधिक मात्रा में होते हैं। भारतवर्ष में इसकी खेती १७वीं शताब्दी के पहले नहीं होती थी, परंतु वर्तमान समय में यह प्रत्येक ग्राम में प्रति दिन उपलब्ध है। संसार में इसकी

उपज चावल की दुगुनी तथा गेहूँ की तिगुनी है। भारतवर्ष में आलू की खेती लगभग ७,१५,००० एकड़ में होती है, जिसमें लगभग ७,६५,००,००० मन आलू पैदा होता है। उत्तर प्रदेश में लगभग ३,८०,००० एकड़ में आलू की खेत होती है जिसमें ४,६०,००,००० मन आलू की उपज होती है। भारतवर्ष में आलू की औसत उपज १११ मन प्रति एकड़ है, जब कि यूरोपीय देशों में २२५ मन प्रति एकड़ है।

आलू की खेती भिन्न भिन्न प्रकार की जलवायु में की जा सकती है। समुद्रपृष्ठ से लेकर ६,००० फुट की ऊँचाई तक इसकी खेती हो सकती है परंतु सफल खेती के लिये उपयुक्त जलवायु प्रधान है। इंग्लैंड, आयरलैंड, स्काटलैंड तथा उत्तरी जर्मनी में आलू की सर्वाधिक उपज का मुख्य कारण उन स्थानों में आलू की उचित वृद्धि के लिये ठंढी ऋतु है। इसकी वृद्धि के लिये सर्वोत्तम ताप ६०°-७५° फा० है। अधिक वर्षावाले क्षेत्र में भी इसकी उपज अच्छी नहीं होती। कम वर्षा, परंतु सिंचाई के साधन से युक्त क्षेत्र अधिक उपयुक्त होते हैं। भारतवर्ष में पहाड़ों पर ग्रीष्म ऋतु में तथा मैदानों में जाड़े में इसकी खेती होती है। आलू की सफल खेती के लिये जलवायु के बाद मिट्टी का महत्व है। आलू के लिये मिट्टी की उपयुक्तता की माप आलू की उपज, उसकी शीघ्र परिपक्वता, भोजनोचित गुण तथा सुरक्षित रहने की अवधि इत्यादि गुणों द्वारा ही होती है। इसके लिये वही मिट्टी सर्वोत्तम है जो उपजाऊ, मध्यम आकार के कणोंवाली, भुरभुरी तथा गहरी हो और जो अधिक क्षारीय न हो। इन बातों का ध्यान रखते हुए आलू के लिये सबसे उत्तम मिट्टी पाँस (ह्यूमस) से परिपूर्ण हल्की दुमट है। मिट्टी में अधिक आर्द्रता का आलू पर बहुत कुप्रभाव पड़ता है।

मिट्टी को कई बार जोतकर भली भाँति भुरभुरी तथा गहरी कर लेना चाहिए। मिट्टी जितनी ही अधिक गहरी, खुली तथा भुरभुरी होगी उतनी ही वह आलू की अच्छी उपज के लिये उपयुक्त होगी। मिट्टी की तैयारी का विशेष महत्व इसलिये है कि मिट्टी की रचना, आर्द्रता, ताप, वायुसंचालन तथा प्राप्य खनिजों से भोज्य तत्वों का आलू के पौधों द्वारा ग्रहण प्रधानतः मिट्टी की जोत पर ही निर्भर है। इन कारणों का प्रभाव आलू के आकार, गुण तथा उपज पर पड़ता है। अतः ९-१० इंच गहरी जुताई करना उत्तम है। एक ही खेत से लगातार आलू की फसल लेना दोषपूर्ण है। अधिक भोज्यग्राही फसल के बाद भी आलू बोना अनुचित है। आलू की जड़ें अधिक गहराई तक नहीं जातीं और तीन चार महीने में ही इतनी अधिक उपज देकर उन्हें जीवन समाप्त कर देना पड़ता है। इसलिये यह आवश्यक है कि खाद अधिक मात्रा में ऊपर की मिट्टी में ही मिश्रित की जाय जिससे पौधे सुगमतापूर्वक शीघ्र ही उसे प्राप्त कर सकें। सड़े गोबर की खाद प्रति एकड़ ४०० मन तथा १० मन अंडी अथवा नीम की खली का चूर्ण आलू बोने के दो सप्ताह पहले मिट्टी में भली भाँति मिलाना चाहिए। जिन मेड़ों में आलू बोना हो उनमें पूर्वोक्त खाद के अतिरिक्त अमोनियम सल्फेट तीन मन तथा सुपर फास्फेट ६ मन प्रति एकड़ के हिसाब से छिड़ककर मिट्टी में मिला दें। तत्पश्चात् उन्हीं मेड़ों में आलू बोया जाय। अन्य खाद देते समय यह ध्यान रहे कि कम से कम १५० पाउंड नाइट्रोजन प्रति एकड़ मिट्टी में प्रस्तुत हो जाय।

आलू की खेती भारतवर्ष के मैदानी तथा पहाड़ी दोनों भागों में होती है। मैदान में बोए जानेवाले आलू तीन वर्गों में विभाजित किये जाते हैं :

(क) शीघ्र पकनेवाली किस्में थोड़े समय (६०-९० दिनों) में तैयार हो जाती हैं, परंतु इनकी उपज अधिक नहीं होती। ये किस्में निम्नलिखित हैं : (१) साठा—छोटे आकार के ये आलू ६० से ७५ दिनों में तैयार हो जाते हैं, (२) गोला—यह एक मिश्रित किस्म है जिसमें दो अन्य किस्में भी मिली रहती हैं। इनकी खेती अधिक नहीं होती, क्योंकि मिश्रण होने से किसान इन्हें पसंद नहीं करते। यह भी लगभग ६० दिनों में तैयार हो जाती है।

(ख) मध्यम किस्म का आलू जो तीन से चार महीने में तैयार होता है : (१) अपटुडेट—यह अत्यंत सुंदर किस्म है। आलू सफेद तथा अच्छे आकार के होते हैं; (२) द्विजाति (हाइब्रिड)—हाइब्रिड ४५, २०८, २०६, २२३६ तथा हाइब्रिड ओ० एन० २१८६ इत्यादि। ये द्विजाति किस्में केंद्रीय आलू अनुसंधान केंद्र में पैदा की जा रही हैं, जिसमें वहाँ से अन्य स्थानों में खेती करने के लिये उनका वितरण हो सके।

(ग) अधिक समय में तैयार होनेवाले आलू जो चार से पाँच महीने में तैयार होते हैं; इनकी उपज अधिक होती है : (१) फुलवा—यह मैदानी भाग में सर्वत्र बोया जाता है। पौधे फूलते हैं और आलू सफेद होता है; उपज अधिक होती है; (२) दार्जिलिंग लाल—यह फुलवा से कुछ पहले तैयार होता है। आलू लाल रंग का होता है, परंतु फुलवा की तरह यह अधिक समय तक सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। रखने के लिये फुलवा सबसे अच्छा है। पहाड़ी भाग में पैदा होनेवाली किस्में मार्च तथा अप्रैल में बोई जाती हैं : (१) अपटुडेट, (२) क्रेग्स डिफायेंस, (३) हाइब्रिड ६ तथा २०६० और (४) ग्रेट स्टॉक।

आलू की सफल खेती के लिये बीज का चुनाव अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसमें त्रुटि होने से जो हानि होती है उसकी पूर्ति खाद देकर या अन्य किसी उपाय से नहीं हो सकती। कितना बीज और कितनी दूरी पर बोया जाय यह सब आलू की किस्म, आकार तथा मिट्टी की उर्वरता पर निर्भर है। एक पंक्ति से दूसरी पंक्ति की दूरी १½ फुट से २½ फुट तक तथा पंक्ति में बीज से बीज की दूरी ६ से १२ इंच होनी चाहिए। बीज से तात्पर्य है आलू या उसके किसी टुकड़े से, जो बोने के लिये प्रयुक्त हो। बड़े आलू काटकर तथा छोटे बिना काटकर बोए जाने चाहिए, परंतु प्रत्येक टुकड़े में आँख (अंकुर) अवश्य रहे। प्रति एकड़ चार मन से १५ मन तक आलू बोया जाता है। बीज कितना बड़ा हो, यह आलू की किस्म पर निर्भर है। फुलवा, दार्जिलिंग और साठा के बीज एक इंच तथा अन्य किस्में १½ इंच से १¾ इंच व्यास की होनी चाहिए। मैदान में सितंबर, अक्टूबर तथा नवंबर तक और पहाड़ों पर फरवरी से जून तक ये बोए जाते हैं। बीज को मेड़ पर या कूंड़ में बोते हैं, परंतु प्रत्येक दशा में तीन चार इंच से अधिक गहराई पर बीज नहीं बोना चाहिए।

आलू पंद्रह दिन में जम जाता है। मेड़ों के बीच की नालियों में पानी देते हैं। दस बारह दिन के अंतर पर सिंचाई करते रहना चाहिए। पौधे बढ़ते जाते हैं तो उनकी शाखाओं को ढँकने के लिये मिट्टी चढ़ाते रहना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि इन्हीं ढँकी हुई शाखाओं के सिरों पर आलू बनते हैं। मिट्टी के बाहर, प्रकाश में आ जाने से ये शाखाएँ हरी हो जाती हैं और उनपर आलू नहीं बनते। अस्तु, दो या तीन बार मिट्टी चढ़ाई जाती है। जब पौधों की पत्तियाँ पीली होने लगें तो आलू की खुदाई करनी चाहिए। शीघ्र तैयार होनेवाली किस्मों की उपज ८० मन से १५० मन तथा देर से तैयार होनेवाली किस्मों की उपज १५० मन से ४०० मन प्रति एकड़ होती है।

आलू में अनेक हानिकारक कीड़े तथा रोग लगते है। (१) सफेद कीड़ा (ह्वाइट ग्रब)—यह आलू के गूदे को खाता है, जिससे आलू में सड़न पैदा होने लगती है। इससे बचने के लिये खेत में डी० डी० टी० छिड़कना चाहिए। (२) पत्ती खानेवाला कीड़ा (एपीलैक्ना बीट्ल) पत्तियाँ खाता है। इसे ३-५ प्रति शत डी० डी० टी० छिड़ककर मारना चाहिए। (३) पोटैटो मॉथ (थार्मियाँ ओपरक्यूलेला) के कीड़े आलू में छेद करके गूदा खाते हैं। ये गोदाम में अधिक हानि पहुँचाते हैं। गोदाम में आलुओं को बालू या लकड़ी के कोयले के चूर्ण से ढककर रखना चाहिए या ५ प्रति शत डी० डी० टी० का छिड़काव करना चाहिए। (४) पोटैटो ब्लाइट एक फफूँदी (फंगस) की बीमारी है, जिससे पत्तियों तथा तनों पर काले धब्बे पड़ जाते हैं। बीमारी का संदेह होते ही बोर्डो मिक्स्चर अथवा बरगंडी मिक्स्चर का एक प्रति शत घोल छिड़कना चाहिए। (५) पोटेटो स्कब की बीमारी सूक्ष्म जीवों द्वारा फैलती है, जिससे आलू पर भूरे रंग के धब्बे पड़ जाते हैं। (६) रिंग रॉट की बीमारी फैलाने के प्रधान कारण सूक्ष्म जीवाणु (बैक्टीरिया) हैं। इनसे आलू के भीतर भूरे या काले रंग का वृत्ताकार चिह्न बन जाता है। (७) लीफ रोल में आलू की पत्तियाँ किनारों की ओर मुड़ जाती हैं। यह एक वायरस का रोग है। (८) पोटेटो मोज़ैइक एक प्रकार का कोढ़ है जो वायरस का रोग है। अन्य रोग, जैसे स्टिपल-स्ट्रीक, क्रिंक्ल, ड्राइ रॉट ऑव पोटेटो तथा पोटेटो वार्ट इत्यादि भी आलू को अधिक हानि पहुँचा सकते हैं।

बीज के लिये आलू को सर्वदा शुष्क तथा ठंढे स्थान में रखना चाहिए। उसे प्रशीतित घर (कोल्ड स्टोर) में रखना अति उत्तम है। [ज० रा० सि०]

आलूबुखारा यह आलूचा नामक वृक्ष का फल है, जो गढ़वाल, हिमाचल प्रदेश, काश्मीर, अफगानिस्तान इत्यादि में होता है और वहीं से सुखाकर आता है। बुखारा प्रदेश का फल सबसे अच्छा होता है, इसीलिये इसका उपर्युक्त नाम है। फल नाप में आँवले के बराबर और आकार में आड़ू जैसा तथा स्वाद में खटमीठा होता है।

आयुर्वेद के मतानुसार यह हृदय को बल देनेवाला, गरम, कफ-पित्त-नाशक, पाचक, मधुर तथा प्रमेह, गुल्म, बवासीर और रक्तवात में उपयोगी है; दस्तावर है तथा ज्वर को शांत करता है। इसके वृक्ष का गोंद खाँसी तथा फेफड़े और छाती की पीड़ा में लाभदायक तथा गुर्दे और मूत्राशय की पथरी को तोड़कर निकालनेवाली है। इसे भोजन के पहले खाने से पित्त-विकार मिटते हैं तथा मुँह में रखने से प्यास कम लगती है। इसका चूर्ण घाव पर भुरभुराने से या इसके पानी से घाव धोने से भी लाभ होता है। [भ० दा० व०]

आल्किबिआदिज़ (ल० ४५०-४०४ ई० पू०) एथेंस के जेनरल और राजनीतिज्ञ। संभ्रांत, सुदर्शन और धनाढ्य। विलासी और अमितव्ययी। सुकरात के प्रशंसक, यद्यपि आचरण में उनके उपदेशों के विरोधी। राजनीति में उन्होंने एथेंस का दूसरे नगरों से सद्भाव कर स्पार्ता का विरोध किया, यद्यपि एथेंस ने उनकी नीति का पूर्णतः निर्वाह नहीं किया। आल्किबिआदिज़ को नगर ने जेनरल नहीं बनाया और स्पार्ता ने एथेंस के साझेदार नगरों को संघयुद्ध में छिन्न भिन्न कर दिया। सिसिली को जानेवाले पोतसमूह के वे आंशिक अध्यक्ष भी बने पर स्वदेश लौटने पर उन्होंने देखा कि उनके विरुद्ध शत्रुओं ने अभियोग खड़ा कर दिया है, अतः वे अपनी जान बचाकर स्पार्ता भागे। उनकी सलाह से स्पार्ता ने एथेंस के विरुद्ध अपनी जो नई नीति अख्तियार की उससे एथेंस प्रायः नष्ट हो गया। तब आल्किबिआदिज़ लघु एशिया जा पहुँचे। पर शीघ्र वे स्पार्ता का विश्वास भी खो बैठे और उन्होंने अब एथेंस में प्रवेश करने के उपाय ढूँढ निकाले। एथेंस की ओर से उन्होंने स्पार्ता के जहाजी बेड़े को बार बार पराजित किया। उनकी विजयों से प्रसन्न होकर एथेंस ने उन्हें स्वदेश लौटने की अनुमति दे दी। परंतु उनकी विजय चिरस्थायी न रह सकी और जब उन्हें नोतियस के युद्ध में अपने मुँह की खानी पड़ी तब उन्होंने फ्रीगिया में शरण ली, जहाँ स्पार्ता के कुचक्र से उनकी हत्या कर डाली गई। आल्किबिआदिज़ असाधारण आकर्षण और अनंत गुणों के व्यक्ति थे, परंतु उनके आचरण का कोई सिद्धांत नहीं था। स्वार्थपर कारणों से कभी वे स्वदेश के हितों के अनुकूल मत देते, कभी विरुद्ध। फलतः एथेंस के नागरिक कभी उन पर विश्वास न कर सके। [ओं० ना० उ०]

आल्कीयस् गीतिकाव्यों की रचना करनेवाले अत्यंत प्राचीन ग्रीक कवि। इनका जन्म लेस्वस् के मितीलेने नगर में लगभग ई० पू० ६२० में हुआ था और यह सुविख्यात कवयित्री साप्फो के समकालीन थे। युवावस्था में इन्होंने युद्धों में भी भाग लिया था तथा एक युद्ध में इनको भागना पड़ा था। अपने नगरराष्ट्र के तानाशाह पित्ताकस् से इनका कलह हुआ था जिसके परिणामस्वरूप इनको मिस्र में प्रवास करना पड़ा। आल्कीयस् के काव्य के विषय विविध प्रकार के थे। स्तोत्र, पानगीत, प्रेमगीत, सूक्तियाँ सभी इनकी रचनाओं में मिलती हैं। इनकी भाषा ग्रीक भाषा की उपभाषा इओलिक है। इनके नाम से आल्कीय छंद का भी प्रचलन हुआ था। इस नाम के दो अन्य कवि भी ई० पू० ४०० और ई० पू० २०० में हुए हैं।

सं० ग्रं० —मरे : ए हिस्ट्री ऑव ऐंशेंट ग्रीक लिटरेचर, १९३७। नौर्वुड : दि राइटर्स ऑव ग्रीस, १९३५; बाउरा : एंशेंट ग्रीक लिटरेचर, १९४५। [भो० ना० श०]

आल्कोफोरादो मारियाना (१६४०-१७२३) भिक्षुणी के पत्र की विख्यात पुर्तगाली लेखिका; पुर्तगाल और स्पेन के परस्पर युद्ध के समय सुरक्षा और शिक्षा के विचार से मारियाना को विधुर पिता ने एक कानवेंट में रख दिया। १६ साल की अवस्था में मारियाना भिक्षुणी हो गई। २५ साल की उम्र में फ्रांस के मार्गन मार्क्विस दि कैंमिली से मारियाना की भेंट हुई जिससे वह प्रेम करने लगी। चर्चा फैली, अफवाह उड़ी। परिणाम से डरकर वह फ्रांस भाग गया। इस समय भग्नहृदय मारियाना ने जो पाँच पत्र लिखे वे साहित्य की अक्षय निधि बन गए। वे मनोवैज्ञानिक आत्मविश्लेषण के अपूर्व उदाहरण हैं। इनमें प्रेमिका के विश्वास, निराशा और संदेह का अद्भुत वर्णन है। पत्रों के यथार्थ चित्रण, वेदना की गहरी अनुभूति, सहृदयता और पूर्ण आत्मसमर्पण की प्रशंसा मदाम द सविन्य, ग्लेटस्टन, टेनर, मारिया जैसे उच्च कोटि के लेखकों ने की है। अनेक भाषाओं में उनके अनुवाद भी हुए हैं। मारियाना का शेष जीवन कठोर तप और यंत्रणा में बीता। रूसो जैसे कुछ लेखकों का कहना था कि ये पत्र मूलतः किसी पुरुष के लिखे हैं, पर अब लेखिका मारियाना की वास्तविकता सिद्ध हो चुकी है। [स० च०]

आल्गार्दी आलेसांद्रो (१६०२-१६५४) इतालियन शिल्पकार। अध्ययन करासी स्कूल में। १६४४ में पेनफिली वंश के इन्नोसेंत १०वें का पोप का पद प्राप्त करना उनके भाग्योदय का कारण हुआ। पोप के भतीजे केमिलो पेनफिली ने विलादोरिया पेनफिली के निर्माण में उनकी नियुक्ति की जिसके सुंदर निर्माण से उनकी ख्याति फैली। सबसे अधिक सफलता उन्हें वहाँ मूर्तियाँ और बालसमूह बनाने में मिली। [स० च०]

आल्प्स यूरोप की एक विशाल पर्वतप्रणाली है जो पश्चिम में जेनोआ की खाड़ी से लेकर पूर्व में वियना तक फैली हुई है। यह प्रणाली उत्तर में दक्षिणी जर्मनी के मैदान और दक्षिण में उत्तरी इटली के मैदान से घिरी हुई है। प्रणाली लगातार ऊँचे पहाड़ों से नहीं बनी है, प्रत्युत बीच बीच में गहरी घाटियाँ हैं। पर्वत उत्तर की ओर उत्तल है। अधिकांश घाटियों की दिशा पूर्व-पश्चिम या उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम की ओर है। कुछ गहरी घाटियाँ पर्वतश्रृंखलाओं को काटती हैं, जिससे इस पर्वत के दोनों ओर स्थित मनुष्यों, जंतुओं और वनस्पतियों का आवागमन संभव हो सका है। आल्प्स शब्द की उत्पत्ति अनिश्चित है। इसका उच्चतम शिखर पश्चिमी आल्प्स में स्थित मांट ब्लैंक है (ऊँचाई १५,७८१ फुट)।

आल्प्स की सीमाएँ—उत्तर में यह पर्वत बेसिल से कांस्टैंस झील तक राइन नदी द्वारा और सैल्ज़बर्ग से वियना तक बवेरिया के मैदान तथा निचली पहाड़ियों द्वारा घिरा है। दक्षिण में इसकी सीमा टयूरिन से ट्रिएस्ट तक पीडमांट, लोंबार्डी और वेनीशिया के विशाल मैदान द्वारा निर्धारित होती है। इसका पश्चिमी सिरा ट्यूरिन से आरंभ होकर दक्षिण में काल डी टेंडा तक और फिर पूर्व की ओर मुड़कर काल डी आलटेयर तक चला गया है।

प्राकृतिक विभाग—आल्प्स के तीन मुख्य विभाग हैं : पश्चिमी आल्प्स, काल डी टेंडा से सिंपलन दर्रे तक; मध्य आल्प्स, सिंपलन दर्रे से रेशने शिडेक दर्रे तक और पूर्वी आल्प्स, रेशन शिडेक दर्रे से राड्स्टाडर टैवर्न मार्ग तक।

भूविज्ञान और संरचना—आल्प्स पर्वत उस विशाल भंजित क्षेत्र का एक छोटा सा भाग है जो अनेक वक्राकार क्रमों में मोरक्को के रिफ पर्वत से आरंभ होकर हिमालय के आगे तक फैला हुआ है। आल्प्स एक भूद्रोणी (जिओसिनक्लाइन) में स्थित है। यह भूद्रोणी अंतिम कार्बनप्रद युग से आरंभ होकर संपूर्ण मध्यकल्प में रहकर तृतीयक कल्प के मध्यनूतन युग तक विद्यमान थी। यह भूद्रोणी उत्तर में यूरेशियन और दक्षिण में अफ्रीकी स्थलपिंडों से घिरी हुई थी। ज्यूस और अन्य वैज्ञानिकों ने इस द्रोणी में स्थित लुप्त सागर को टेथिस सागर की संज्ञा दी है। कार्बनप्रद युग से आरंभ होकर इसमें अवसादों के मोटे स्तरों का निक्षेपण हुआ और साथ ही साथ भूद्रोणी नितल धँसता गया। इस प्रकार अवसादों का निक्षेपण लगातार समुद्रतल के नीचे लगभग एक ही गहराई पर होता रहा। इसके बाद विरोधी दिशाओं से दाब पड़ने के कारण द्रोणी के दोनों किनारे समीप आ गए, जिसके परिणामस्वरूप एकत्रित अवसादों में भंज पड़ गया। अनुमानतः अफ्रीकी पृष्ठप्रदेश (हिंटरलैंड) उत्तर में यूरोपीय अग्रप्रदेश (फोरलैंड) की ओर गतिशील हुआ। आरगैंड तथा उसके सहयोगी अनुसंधानकर्ता इस धारणा से सहमत हैं। इसके विपरीत, कोबर के मतानुसार आल्प्स का भंजन दो अग्रप्रदेशों के एक दूसरे की ओर बढ़ने से हुआ है।

आल्प्स का अधिकांतर भाग जलज शिलाओं द्वारा निर्मित है। ये शिलाएँ रक्ताश्म युग से लेकर मध्यनूतन युग तक की हैं। परंतु इनसे अधिक प्राचीन चट्टानें भी, विशेषकर पूर्वी आल्प्स में, पाई जाती हैं (जैसे गिरियुग, कार्बनप्रद युग, मत्स्ययुग, प्रवालादि युग और कब्रियन युग की चट्टानें)। मणिभीय नाइस और शिस्ट तथा आग्नेय शिलाएँ भी मिलती हैं। कुछ चट्टानों का महत्व केवल स्थानीय है, जैसे मोलास, नागलफ्लू और फ्लिश। ये सब नवकल्पीय हैं।

हिमनदियाँ—अनुमानतः आल्प्स में हिमनदियाँ और नेवे (दानेदार हिम) क्षेत्रों की संख्या कुल मिलाकर १,२०० है। इसकी विशालतम हिमनदी आलेश है, जिसकी लंबाई १६ मील और नेवे सहित प्रवाहक्षत्र का विस्तार ५० वर्ग मील है। हिमनदियों की समुद्रतल से निम्नतम ऊँचाई भिन्न भिन्न है। यह ग्रिंडेलवाल्ड पर समुद्रतल से केवल ३,२०० फुट की ऊँचाई पर है। हिमरेखा ८,००० से लेकर ६,५०० फुट के बीच स्थित है। प्रधान पर्वत पर हिमनदियों और नेवों की संख्या इसके अंतर्गत पर्वतमालाओं की तुलना में अधिक है। तथापि, आल्प्स की तीन विशालतम हिमनदियाँ, अर्थात् आलेच, ऊँटरार और वीशर (अंतिम दोनों दस मील लंबी) बर्नीज़ ओबरलैंड में स्थित हैं। प्रधान पर्वतमाला की विशालतम हिमनदियाँ मर डी ग्लेस और गोरनर हैं जिनमें से प्रत्येक ६½ मील लंबी है।

झीलें—आल्प्स की झीलें विभिन्न प्रकार की हैं। ज्यूरिख झील हिमनदियों द्वारा निक्षिप्त हिमोढ़ (ढोंके, रोड़े आदि) नदीघाटी के आरपार इकट्ठा हो जाने से बनी है। मैंटमार्क झील भी एक पार्श्विक हिमोढ के बाँध का रूप धारण करने से बनी है। मार्जलिन झील एक हिमानी द्वारा नदी का प्रवाह अवरुद्ध हो जाने से बनी है। भूपर्पटी की गतियों से बनी झीलों में जूस और फालेन झीलें उल्लेखनीय हैं। चूने के चट्टानी प्रदेश में पत्थर के घुल जाने से बनी झीलों में डोबन, मुटेन और सीवाली झीलें महत्वपूर्ण हैं। [रा० ना० मा०]

आल्फांसो प्रथम

(१९०४-११३४) अरागान का राजा, लेओन और कास्तिलो का ७वाँ राजा तथा एक विख्यात योद्धा। मूरों और ईसाइयों से इसने जीवन में २६ लड़ाइयाँ लड़ीं। दो राज्यों को मिलाने और उनको युद्ध में योग्य सेनानायक देने के विचार से आल्फांसो षष्ठ द्वारा बरगंडी की रेमोड की विधवा ऊर्राका के साथ उसका विवाह किया गया। ऊर्राका कास्तिल की रानी थी। लेकिन उसके साध्वी न होने से आल्फांसो प्रथम के लिये यह विवाह सुखकर नहीं हुआ। पति पत्नी परस्पर खूब लड़ते थे। यह लड़ाई घर तक ही सीमित नहीं रही। दोनों की सेनाओं के मध्य भी लड़ाई हुई और इसमें आल्फांसो विजयी हुआ।

ऊर्राका आल्फांसो प्रथम की रिश्ते में चचेरी बहिन लगती थी। अतः पोप ने यह शादी रद्द कर दी। इससे राजा की चर्च से लड़ाई छिड़ गई। आर्च बिशप बर्नाड को इसने राज्य से निर्वासित कर दिया। पत्नी के राज्य के लोगों ने इसको राजा नहीं माना, इसलिये सेना से भी वह लड़ा। किंतु इसे अपनी पत्नी के पुत्र को पत्नी का राज्य देना पड़ा।

आल्फांसो जीवन भर लड़ता रहा। लड़ने में ही वह आनंद मानता था। १११८ में मूरों की सेना को सारागोसा में, पुनः ११२५-२६ में वालोशिया और गांवड़ा में हराया। लेकिन मृत्यु से पहले आगाम में मूरों से एक बार उसे हारना पड़ा। [अ० कु० वि०]

आल्फांसो प्रथम

(कैथोलिक) स्पेन का राजा (७३९-७५७)। आल्फांसो का पिता रिकार्दो के वंशज कातात्रिया का ड्यूक पेउरु था। आल्फांसो ने १८ साल तक राज किया, जिस अवधि में पहले की अपेक्षा अधिक तेजी से ईसाइयों ने स्पेन की पुनर्विजय प्रारंभ की। आल्फांसो ने अपने अस्टूरियाज के राज्य में पूर्व में लेबना और बारडूलिया तथा पश्चिम में गैलिसिया जीतकर मिला लिया। संभवतः उसी ने दक्षिण-पश्चिम में लेओन शहर की भी विजय की। इसको बाद के ऐतिहासिकों ने 'कैथोलिक' लिखा है। [अ० कु० वि०]

आल्फांसो द्वादश

स्पेन का राजा; जन्म २८ नवंबर, १८५७; मृत्यु २४ नवंबर, १८८५। रानी इसाबेला का इकलौता पुत्र। विद्रोह के कारण रानी देश छोड़ने को विवश हुई तो यह भी अपनी माँ के साथ ही १८६८ में स्पेन छोड़ गया। दो साल बाद रानी इसाबेला ने इसके पक्ष में राजगद्दी का त्याग कर दिया। १८७४ में यह मारदिजे दी कंपोज द्वारा स्पेन का राजा घोषित किया गया। १८७५ में इसने स्पेन की राजधानी माद्रिद में प्रवेश किया। मारदिज दी कंपोज और कानोवास देल कास्तिलियो की सहायता से विद्रोह को शांत किया गया। [अ० कु० वि०]

आल्फांसो त्रयोदश

स्पेन का अंतिम राजा; जन्म माद्रिद में १७ मई, १८८६ को; मृत्यु रोम में २८ फरवरी, १९४१ ई० को। पिता की मृत्यु के बाद पैदा होते ही स्पेन का राजा हो गया। इसकी माँ इस समय रीजेंट (राजप्रतिनिधि) थी। १७ मई, १९०२ को यह राजसिंहासन पर बैठा।

१९०९ में फ्रांसिस्के फेरेरे को क्रांति करने का षड्यंत्र करने के आरोप में फाँसी दी गई। कैथोलिक धर्म का विरोधी राज्य स्थापित करने का भी इसपर आरोप था। इससे यह जनता की दृष्टि में काफी गिर गया। १९१३ में अनेक राजबंदियों को क्षमा प्रदान कर पुनः जनप्रिय हो गया। १९१४-१८ के युद्ध में स्पेन को इसने तटस्थ रखा। इससे इसकी लोकप्रियता बढ़ गई। महायुद्ध के बाद स्पेन की आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति बहुत खराब हो गई जिसके कारण प्रीमो दी रिवेरा (१९२३-३०) वहाँ अधिनायक बन गया। इसमें राजा की भी सहमति है, यह विश्वास जनता में फैल जाने से यह बहुत अप्रिय हो गया। लाचार होकर १४ अप्रैल, १९३१ को यह राजकीय अधिकारों और सत्ता का परित्याग करने तथा देश छोड़ने को विवश हुआ। स्पेन में गणराज्य की स्थापना हुई। १९३६-३९ के लोमहर्षक गृहयुद्ध के बाद जनरल फ्रैंको ने घोषित कर दिया कि स्पेन को आल्फांसो की आवश्यकता नहीं। यह देश के लिये अवांछनीय है। [अ० कु० वि०]

आल्बी

दक्षिण-पश्चिमी फ्रांस में टूलोज़ नगर से ४२ मील उत्तर-पूर्व पठार एवं मैदानी भाग की संगमस्थली पर, टार्न नदी के तट पर स्थित, छोटा सा नगर तथा टार्न विभाग की राजधानी है। यहाँ गली-रोमनवंशी राजाओं तथा टूलोज के जागीरदारों की राजधानी रहने के कारण मध्यकालीन गिरजे तथा भवन आदि हैं। यहाँ आटा, रंग, सिमेंट, शीशा, कृत्रिम रेशमी कपड़े, मोजा, बनियाइन आदि तथा कृषियंत्र बनाने के कारखाने और कई व्यापारिक संस्थान भी हैं। इसकी जनसंख्या १९४६ में ३०,२९३ थी। [का० ना० सि०]

आल्बीनोवानस् पेदो

एक रोमन कवि जो संभवतः सम्राट् तिबेरियुस् के समय में जीवित और सेनापति गेर्मानिकुस् की सेना में नौकर थे। सेनापति गेर्मानिकुस् के उत्तरीय सागर के अभियान के संबंध में इन्होंने एक महाकाव्य की रचना की थी जिसके खंडित अंश अब भी मिलते हैं। इनकी सूक्तियों की प्रशंसा मार्तियाल् तक ने की है। एक थेसेइस् नामक काव्य भी इन्होंने लिखा था। कहते हैं, ये अत्यंत रोचक कथाकार भी थे। उदाहरणस्वरूप इन्होंने अपने एक वाचाल पड़ोसी की हास्यपूर्ण कथा में कहा था कि वह अपने नाद से रात्रि को दिन में बदल देता था।

सं० ग्रं०—मैकेल : लैटिन लिटरेचर; डफ़ : दि राइटर्स ऑव रोम।
[भो० ना० श०]

आल्बुकर्क, आल्फोंजोथ

(१४५५-१५१५ ई०) भारत में द्वितीय पुर्तगाली वाइसराय, शासक एवं पुर्तगाली साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक। पुर्तगाल से चलकर पूर्वी अफ्रीका के अरब नगरों पर आक्रमण कर एशिया के विख्यात व्यावसायिक केंद्र ओर्मुज़ को अधिकृत करता जब आल्बुकर्क वाइसराय का पद ग्रहण करने भारत पहुँचा तब तत्कालीन वाइसराय आल्मेईदा द्वारा बंदी बना लिया गया। बंदीगृह से विमुक्त होने पर उसने अपने आपको वाइसराय घोषित कर दिया। कठोर युद्ध के पश्चात् गोआ हस्तगत कर उसे अपना प्रमुख केंद्र बनाया। फिर उसने स्याम, चीन आदि से संपर्क स्थापित करने

का प्रयत्न किया। मलक्का पर तो उसने अधिकार स्थापित कर लिया, किंतु अदन को हस्तगत करने में वह असफल रहा। ओर्मुज पर पुनरधिकार उसकी अंतिम सफलता थी। वहाँ से लौटते समय जब मार्ग में उसे अपने व्यक्तिगत शत्रु सोरीज़ के वाइसराय नियुक्त होने का समाचार मिला तो शोकावेग से उसकी मृत्यु हो गई। राजाज्ञा से वह गोआ में ही इस विचार से दफनाया गया कि जब तक उसकी कब्र भारतवासियों के संमुख रहेगी, भारत में पुर्तगाली शासन बना रहेगा।

मुसलमानों के प्रति कठोर रहते हुए भी आल्बुकर्क अपनी सहृदयता तथा न्यायप्रियता के लिये जनता में लोकप्रिय प्रमाणित हुआ। [रा० ना०]

आल्मक्विस्ट, कार्ल जोनास लुडविग (१७९३-१८६६)

स्वीडन के लेखक। पहला उपन्यास गुलाब का काँटा १८३२-३५ में प्रकाशित हुआ जिससे ख्याति फैल गई। इन्होंने कविता, उपन्यास, लेख, भाषण, मीमांसा आदि अनेक विषयों पर लेखनी चलाई और सभी में सफल हुए। अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा और उत्कृष्ट शैली के कारण ये स्वीडन के पहले लेखक कहे जाते हैं। इनका जीवन अस्थिर बीता; एक के बाद एक अनेक नौकरियाँ छोड़ीं, बाद में लेखक हुए।

१८५१ में जालसाजी और हत्या के अभियोग से बचने के लिये स्वीडन से भाग गए। बहुत दिनों तक कुछ भी पता न लगा, पर लोगों का विश्वास है कि वह अमरीका चले गए और वहीं पर बस गए। [स० च०]

आल्मेइदा, थोम फ्रांसिस्कोथ (१४५०-१५१० ई०)

भारत में पुर्तगाली वाइसराय। उसके नेतृत्व में किल्वा, मोजांबिक, आंजेदिवा, कनानोर तथा कोचीन में पुर्तगाली दुर्गों का निर्माण हुआ। मलक्का और लंका से प्रथम संपर्क स्थापित हुए। मिस्र तथा गुजरात के संयुक्त आक्रमण के फलस्वरूप पुर्तगालियों की पराजय हुई और आल्मेइदा के पुत्र तथा प्रमुख सहकारी लोरेंको को वीरगति प्राप्त हुई। तभी वाइसराय का स्थान ग्रहण करने आल्बुकर्क का भारत आगमन हुआ। किंतु पुत्र के प्रतिशोध के लिये आल्मेइदा ने राजाज्ञा का उल्लंघन किया, शत्रु को भीषण दंड दिया तथा दिव के निकट पूर्ण विजय प्राप्त की। अंततः पदत्याग करने पर बाध्य होने पर वह स्वदेश लौटा। मार्ग में साल्दान्हा की खाड़ी में उसकी हत्या हो गई। समुद्र पर पुर्तगाली शक्ति का एकाधिकार स्थापित करने तथा पुर्तगाली व्यवसाय को संगठित करने में उसे यथेष्ट सफलता मिली। [रा० ना०]

आल्वा, फेरनान्यो पतोलेयो (१५०७-८२)

स्पेनी सेनापति, राजनीतिज्ञ और ड्यूक। जन्म पीएद्राहिटा में; मृत्यु थोमर में। इसके दादा फ्रेद्रिक ने इसको शिक्षा दी। सात साल की आयु में दादा के साथ नवर्रा की लड़ाई में गया। १६ साल की आयु में स्पेनी सेना में भरती हुआ। इसने फूएनतारिया जीता और उसका गवर्नर बनाया गया। १५२६-१५३२ में सम्राट् चार्ल्स पंचम के साथ इटली में रहा। हंगरी में तुर्कों से लड़ा और यश कमाया। १५३५ में त्यूनीशिया की विजय को भेजी सेना का सेनापति बनाया गया और सफल हुआ। १५३६ में मार्सेई के घेरे में भाग लिया, पर विफल रहा। लेकिन दुर्दांत महत्वाकांक्षा के कारण ऊँचा ही उठता गया। अल्जीरिया विजय के लिये जा रही स्पेनी सेना का सेनापति बना, किंतु यहाँ इसको अपयश ही मिला। सेना का इसने पुनस्संगठन किया।

प्रायः अजेय होकर भी वह अदूरदर्शी, अयोग्य और असहिष्णु शासक एवं राजनीतिज्ञ था। फलतः इसकी विजयें व्यर्थ हो गईं। लूथरीय सेनाओं के साथ उसने जो बर्बरता बरती उससे जर्मनी और नेदरलैंड में स्पेनियों के प्रति घृणा हो गई।

रक्तपरिषद् (कौंसिल ऑव ब्लड) ने राजद्रोह के संदेह मात्र में और प्रोटेस्टेंटों से सहानुभूति रखने के आरोप में ही पाँच सालों में १८०० को फाँसी दी, १०,००० को देश से निर्वासित कर दिया। परंतु कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट का भेद न कर सब पर समान रूप से 'एलक्यूबेला' (एक स्पेनी कर) लगाया। इससे हालैंड और जीलैंड में असंतोष की ज्वाला भड़क उठी और स्पेनी शासन के प्रतिरोध की भावना उग्र हो गई। इसी समय स्पेनी बेड़ा भी नष्ट हो गया। इससे भी इसकी शक्ति कम हो गई। स्वास्थ्य नष्ट हो जाने के कारण स्पेन वापस बुलाने की माँग की, जो मान ली गई।

इटली में पोप की राजनीतिक सत्ता का फ्रांस की मदद के बावजूद अंत करने का (१५५६) श्रेय आल्वा को ही है। फिलिप द्वितीय का यह आठ साल परराष्ट्रमंत्री रहा। लेकिन राजा की इच्छा के प्रतिकूल अपने पुत्र के विवाह में मदद देकर राजकोप भी भोगा और १५७६ में निर्वासित कर दिया गया। उजेदो के किले में जब वह दिन बिता रहा था, तब पुर्तगाल में विद्रोह हो गया। इसको दबाने के लिये १५८० में उसको बुलाना पड़ा। आठ सप्ताहों में पुर्तगाल की उसने विजय कर ली। दो साल बाद १५८२ में मर गया। [अ० कु० वि०]

आल्हा

एक वीरतापूर्ण लोकमहाकाव्य है जो लगभग समस्त उत्तर भारत में दिल्ली से बिहार तक पेशेवर अल्हैतों द्वारा जनता के बीच गाया जाता है। लोकप्रियता की दृष्टि से तुलसीदास के रामचरितमानस के बाद आल्हा का ही नाम लिया जाता है। इसमें बावन लड़ाइयों का वर्णन है और इन लड़ाइयों के वीर योद्धा आल्हा और ऊदल लोकजीवन में अपनी वीरता के लिये इतने प्रिय हैं कि उनका व्यक्तित्व बहुत कुछ अतिमानवीय बन गया है। साहित्य में इस काव्य को आल्हखंड कहा जाता है, परंतु लोक में आल्हा नाम ही प्रचलित है।

लोककाव्य होने के कारण आल्हखंड के विविध रूपांतर मिलते हैं— खड़ीबोली, कन्नौजी, बुंदेली, बैसवाड़ी, अवधी, भोजपुरी और संभवतः मगही आल्हखंड मुख्य हैं। बोली के भेद के अलावा इनमें कथाखंडों का भी यत्र तत्र अंतर है। आधुनिक हिंदीवाला पाठ, जो आजकल विशेष प्रचलित है, पहले पहल चौधरी घासीराम द्वारा संपादित होकर मेरठ के ज्ञानसागर प्रेस से प्रकाशित हुआ था। कन्नौजी पाठ का संग्रह १८६५ ई० में पहली बार फर्रुखाबाद के कलक्टर चार्ल्स इलियट ने अल्हैतों से सुनकर करवाया था जो श्रीठाकुरदास द्वारा फतेहगढ़ से प्रकाशित हुआ। इसके कुछ अंशों का अंग्रेजी पद्यानुवाद डब्ल्यू० वाटरफील्ड ने कलकत्ता रिव्यू (१८७५-७६ ई०) में प्रकाशित करवाया था। आल्हखंड के भोजपुरी रूपांतर के अध्ययन का श्रेय ग्रियर्सन को है। उन्होंने १८८५ ई० में इंडियन ऐंटिक्वेरी (खंड १४) में इसके कुछ अंशों का अंग्रेजी गद्यानुवाद छपवाया था। बुंदेली रूपांतर के कुछ अंश 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया' (खंड ६, भाग १) में हैं जिनका संग्रह विन्सेंट स्मिथ ने किया था।

आल्हखंड के कुछ प्राचीन हस्तलिखित रूपांतर भी मिलते हैं। एक तो सं० १६२५ वि० में लिपिबद्ध 'महोबासमय' है जो चंदकृत पृथ्वीराजरासो से संबद्ध है और दूसरा सं० १८४६ वि० में लिपिबद्ध 'महोबाखंड' है जिसका संपादन डा० श्यामसुंदरदास ने 'परमालरासो' (काशी नागरीप्रचारिणी सभा) नाम से किया है। वस्तुतः ये दोनों ग्रंथ लोकप्रचलित आल्हखंड के साहित्यिक रूपांतर हैं और आकार में काफी छोटे हैं।

इस प्रकार आल्हखंड के दो रूप प्राप्त हैं: एक साहित्यिक काव्य और दूसरा लोककाव्य। साहित्यिक आल्हखंड के रचयिता जगनिक नामक एक भाट माने जाते हैं जो कालिंजर के राजा परमर्दिदेव (परमाल) (१३वीं सदी) के राजकवि थे। विद्वानों का अनुमान है कि आल्हखंड मूलतः १३वीं सदी में रचित एक कवि की साहित्यिक रचना था जो आगे चलकर एक ओर अल्हैतों द्वारा लोककाव्य की मौखिक परंपरा में परिवर्धित और विकसित होता रहा और दूसरी ओर चारणों और भाटों द्वारा साहित्य की लिखित परंपरा में भी रूपांतरित होता चला गया।

आल्हखंड मध्ययुगीन सामंती शौर्य का रोमांस काव्य है जिसमें प्रेम और युद्ध के अनेक गाथाचक्र घटनासूत्र में जुड़े हुए हैं। इसमें नैनागढ़ की लड़ाई सबसे रोचक और लोकप्रिय है तथा सोना के हरण की कथा सबसे प्रसिद्ध है। यों तो इसके नाम से आल्हा के ही कथानायक होने का आभास होता है, परंतु इस काव्य का सबसे आकर्षक वीर ऊदल है जो आल्हा का छोटा भाई है। बड़े भाई आल्हा का चरित्र महाभारत के युधिष्ठिर की तरह अधिक मर्यादापूर्ण है, जब कि छोटे भाई ऊदल के चरित्र में अर्जुन की तरह एक रोमांस काव्य के चरितनायक के गुण अधिक हैं। परंतु संपूर्ण आल्हखंड में किसी एक वीर की वीरता इतनी प्रधान नहीं है जितनी उनके

वंश—बनाफर—की वीरता। इसीलिये यह काव्य तत्कालीन अन्य राजप्रशस्तियों से भिन्न है और इसकी अत्यधिक लोकप्रियता का कारण भी संभवतः यही है कि इसमें किसी राजा का गुणगान न करके साधारण परिवार में उत्पन्न होनेवाले लोकवीरों का चरित गाया गया है।

संपूर्ण आल्हखंड 'वीरछंद' में है जो आल्हखंड से संबद्ध हो जाने के बाद से लोक में आल्हा छंद कहलाता है। इस छंद में विषयानुरूप ओजपूर्ण गेयता है।

सं० ग्रं०—शंभूनाथसिंह : हिंदी महाकाव्य का स्वरूपविकास (१९५६ ई०); उदयनारायण तिवारी : वीरकाव्य (१९४८ ई०)। [ना० सिं०]

आवर्त नियम जब रासायनिक तत्वों को उनके परमाणुभारों के क्रम में रखा जाता है तब देखा जाता है कि नियमित अंतरों के बाद पड़नेवाले तत्वों के गुणों में विशेष समानता रहती है, अर्थात् तत्वों के गुण बहुत कुछ आवर्ती होते हैं। इसी को आवर्त नियम (पीरिऑडिक लॉ) कहते हैं।

इतिहास—भारत, अरब और यूनान के समान पुराने देशों में चार या पाँच तत्व माने जाते थे—छिति-जल-पावक-गगन-समीरा (तुलसी), अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश। पर बॉयल (१६२७-९१) ने तत्वों की एक नई परिभाषा दी, जिससे रसायनज्ञों को रासायनिक परिवर्तनों और प्रतिक्रियाओं के समझने में बड़ी सहायता मिली। साथ ही साथ बॉयल ने यह भी बताया कि तत्वों की संख्या सीमित नहीं मानी जा सकती। इसका फल यह हुआ कि शीघ्र ही नए नए तत्वों की खोज होने लगी और १८ वीं सदी के अंत तक तत्वों की संख्या ६० से अधिक पहुँच गई। इनमें से अधिकांश तत्व ठोस थे; ब्रोमीन और पारद के समान कुछ तत्व साधारण ताप पर द्रव भी पाए गए और हाइड्रोजन, आक्सिजन आदि तत्व गैस अवस्था में थे। ये सभी तत्व धातु और अधातु दो वर्गों में भी बाँटे जा सकते थे, पर कुछ तत्वों, जैसे बिसमथ और ऐंटिमनी, के लिये यह कहना कठिन था कि ये धातु हैं या अधातु।

रसायनज्ञों ने इन तत्वों के संबंध में ज्यों ज्यों अधिक अध्ययन किया, उन्हें यह स्पष्ट होता गया कि कुछ तत्व गुणधर्मों में एक दूसरे से बहुत मिलते जुलते हैं, और इन समानताओं के आधार पर उन्होंने इनका वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया। डाल्टन का परमाणुवाद प्रतिपादित होने के अनंतर ही इन तत्वों के परमाणुभार भी निकाले गए थे। सन् १८२० में डोबेराइनर ने यह देखा कि समान गुणोंवाले तत्व तीन तीन के समूहों में पाए जाते हैं जिन्हें त्रिक (ट्रायड) कहा गया। ये त्रिक दो प्रकार के थे—पहले प्रकार के त्रिकों में तीनों तत्वों के परमाणुभार लगभग परस्पर बराबर थे, जैसे लोह (५५·८४), कोबल्ट (५८·९४) और निकेल (५८·६९) में अथवा ऑसमियम (१९०·२), इरीडियम (१९३·१) और प्लैटिनम (१९५·२५) में। दूसरे प्रकार के त्रिकों में बीचवाले तत्व का परमाणुभार पहले और तीसरे तत्वों के परमाणुभारों का मध्यमान या औसत था, जैसे क्लोरीन (३५·५), ब्रोमीन (८०) और आयोडीन (१२७) में ब्रोमीन तत्व का परमाणुभार क्लोरीन और आयोडीन के परमाणुभारों के जोड़ के आधे के लगभग है।

तत्वों के वर्गीकरण का एक नया प्रयास न्यूलैंड्स ने सन् १८६१ के लगभग किया। उसने तत्वों को परमाणुभार के क्रमों के अनुसार वर्गीकृत करना आरंभ किया। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि परमाणुभार के क्रम से रखने पर तत्वों के गुणों में क्रमशः कुछ विषमताएँ बढ़ती जाती हैं, पर सात तत्वों के बाद ८वाँ तत्व ऐसा आता है जिसके गुण पहले तत्व से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। इसे सप्तक का सिद्धांत (लॉ ऑव ऑक्टेव्ज़) कहा गया, जैसे मानो हारमोनियम के स रे ग म प ध नि स' रे' ग' म' प' ध' नि' आदि स्वर हों, जिसमें सात स्वरों के बाद स्वर की फिर आवृत्ति होती है। न्यूलैंड्स के वर्गीकरण की तीन पंक्तियाँ निम्नांकित प्रकार की थीं :

हा	लि	बे	बो	का	ना	औ
१	७	९	११	१२	१४	१६
फ्लो	सो	मैग्नि	ऐ	सि	फा	गं
१९	२३	२४	२७	२८	३१	३२
क्लो	पो	कै	क्रो	टा	मैं	लो
३५·५	३९	४०	५२	४८	५५	५६

जैसे जैसे सप्तक नियम और आगे चलाया गया, इसकी सफलता में संदेह होने लगा और न्यूलैंड्स के वर्गीकरण से रसायनज्ञों को संतोष नहीं हुआ। न्यूलैंड्स के समय में ही सन् १८६२ के लगभग डि-चैंकोर्टो ने भी परमाणुभार के क्रम से तत्वों को सर्पकुंडली की भाँति सजाने का प्रयत्न किया था। यह प्रयत्न भी यह व्यक्त करता था कि परमाणुभार के क्रम और तत्वों के गुणों में आवर्तन का संबंध है।

सन् १८६९ में रूसी रसायनज्ञ मेंडलीफ (द्मित्री आइवनोविच मेंडेलेएफ़) ने पहली बार आवर्त नियम स्पष्ट शब्दों में घोषित किया। उसने कहा कि तत्वों के भौतिक और रासायनिक गुण उनके परमाणुभारों के आवर्तफलन हैं। आवर्त अथवा आवृत्ति शब्द का अर्थ लौटना या बार बार आना है। अंकगणित की आवर्त-संख्याओं से सभी को परिचय है, जैसे $\frac{1}{13}$ = ·०७६९२३०७६-९२३... अथवा ·०̇७६९२३̇, अर्थात् दशमलव बनाने में ०७६९२३ ये छः अंक बार बार आते हैं। इसी प्रकार यदि हम परमाणुभार के क्रम से तत्वों को सजाएँ तो बार बार एक से ही गुणधर्मवाले तत्व एक से ही स्थानों पर पाए जायँगे। इसी को गणित की भाषा

तत्वों की आवर्त सारणी

यह जूलियस टामसेन द्वारा निर्मित की गई थी और यहाँ कुछ संशोधित रूप में दी गई है। प्रत्येक स्तंभ एक आवर्त प्रदर्शित करता है। समान गुणधर्म के तत्वों को रेखाओं से संबंधित किया गया है।

मेंडलीफ की आवर्त सारणी का वर्तमान रूप

समूह→ आक्साइड→ हाइड्राइड→	०	१ त$_2$ऑ क) तह (ख	२ तऑ क) तह$_2$ (ख	३ त$_2$ऑ$_3$ क) तह$_3$ (ख	४ तऑ$_2$ क) तह$_4$ (ख	५ त$_2$ऑ$_5$ क) तह$_3$ (ख	६ तऑ$_3$ क) तह$_2$ (ख	७ त$_2$ऑ$_7$ क) तह (ख	८ तऑ$_4$
काल १		१ हा १ ००८							
२	२ ही ४ ००३	३ लि ६ ९४	४ बे$_{ग}$ ९ ०२	५ बो १० ८२	६ का १२ ००	७ ना १४ ००८	८ ऑ १६ ००	९ फ्लो १९ ००	
३	१० नी २० १८३	११ सो २२ ९९७	१२ मै$_{ग}$ २४ ३२	१३ ऐ २६ ९७	१४ सि २८ ०६	१५ फा ३० ९८	१६ ग ३२ ०७	१७ क्लो ३५ ४६	
४	१८ आ$_{ग}$ ३९ ९४	१९ पो ३९ १ २९ ता ६३ ५७	२० क ४० ०८ ३० य ६५ ३८	२१ स्कै ४५ १ ३१ गै ६९ ७२	२२ टा$_{इ}$ ४८ १ ३२ ज$_{म}$ ७२ ६	२३ वै ५० ९६ ३३ आ$_{र}$ ७४ ९६	२४ क्रो ५२ ०१ ३४ मि$_{ल}$ ७८ ९६	२५ मै ५४ ९३ ३५ ब्रो ७९ ९२	२६ लो ५५·८४ २७ को ५८·९४ २८ नि ५८·६९
५	३६ क्रि ८३ ७	३७ रु$_{ब}$ ८५ ४४ ४७ र १०७ ८८	३८ स्ट्रौं ८७ ६३ ४८ कै$_{ड}$ ११२ ४१	३९ इ$_{ट}$ ८८ ९२ ४९ इ$_{ड}$ ११४ ७६	४० ज$_{क}$ ९१ २ ५० व ११८ ७	४१ ना$_{य}$ ९३ ५ ५१ ऐ$_{ट}$ १२१ ७६	४२ मो ९६ ०० ५२ टे$_{ल}$ १२७ ६१	४३ टे$_{क}$ ५३ आ १२६ ९२	४४ रु$_{थ}$ १०१ ७ ४५ रो १०२ ९ ४६ पै १०६·७
६	५४ जी १३१ ३	५५ सी$_{ज}$ १३२ ९१ ७९ स्व १९७ २	५६ बे १३७ ३७ ८० पा २०० ६	५७-७१ विरल पार्थिव ८१ थै २०४ ३९	७२ है १७८ ६ ८२ सी २०७ २१	७३ टैं १८१ ५ ८३ बि २०९	७४ ट १८३ ९२ ८४ पो$_{ल}$ २१०	७५ रे$_{न}$ १८७ ८५ ऐं$_{स}$	७६ आ$_{स}$ १९० ९ ७७ इ १९३·१ ७८ प्लै १९५·२३
७	८६ रे$_{ड}$	८७ फा ..	८८ रे २२६ ०	८९-९९					

लैंथनाइड	५७ लै	५८ सी$_{र}$	५९ प्रे	६० न्यो	६१ प्रो$_{म}$	६२ स	६३ यू$_{र}$	६४ गै$_{ड}$	६५ ट$_{र}$	६६ डि	६७ हो	६८ ए$_{र}$	६९ थू	७० इ$_{ब}$	७१ ल्यू
ऐक्टिनाइड	८९ ऐ$_{क}$	९० थो	९१ प्रो$_{ट}$	९२ यू	९३ ने$_{प}$	९४ प्लू	९५ अ	९६ क्यू	९७	९८	९९	१००	—	—	—

तत्वों की सूची

संकेत		तत्व का नाम	परमाणु-संख्या	परमाणु-भार
अ	Am	अमरीकियम	९५	—
आ$_इ$	En	आइन्स्टियम	९९	—
औ	O	आक्सिजन	८	१६·००
आ	I	आयोडीन	५३	१२६·९२
आ$_ग$	A	आर्गन	१८	३९·९४
आ$_र$	As	आर्सेनिक	३३	७४·९६
आ$_स$	Os	आस्मियम	७६	१९०·९
इं$_ड$	In	इंडियम	४९	११४·७६
इ$_र$	Yb	इर्टबियम	७०	१७३·५
इ$_ट$	Y	इट्रियम	३९	८८·९२
इ	Ir	इरीडियम	७७	१९३·१
एं$_ट$	Sb	एंटिमनी	५१	१२१·७६
ए$_ब$	Eb	एर्बियम	६८	१६७·२
ऐं$_क$	Ac	ऐक्टिनियम	८९	२२७·०
ऐ	Al	ऐल्यूमिनियम	१३	२६·९७
ऐं$_स$	At	एस्टैटीन	८५	—
का	C	कार्बन	६	१२·००
कै$_ड$	Cd	कैडमियम	४८	११२·४१
कै$_फ$	Cf	कैलिफोर्नियम	९८	—
कै	Ca	कैल्सियम	२०	४०·०८
को	Co	कोबल्ट	२७	५८·९४
क्यू	Cm	क्यूरियम	९६	—
क्रि	Kr	क्रिप्टान	३६	८३·७
क्रो	Cr	क्रोमियम	२४	५२·०१
क्लो	Cl	क्लोरीन	१७	३५·४६
गं	S	गंधक	१६	३२·०७
गै$_ड$	Gd	गैडोलिनियम	६४	१५७·३
गै	Ga	गैलियम	३१	६९·७२
ज$_क$	Zr	जर्कोनियम	४०	९१·२२
ज$_म$	Ge	जर्मेनियम	३२	७२·६
जी	Xe	जीनान	५४	१३१·३
टं	W	टंग्स्टन	७४	१८३·९२
ट$_र$	Tb	टर्बियम	६५	१५९·२
टा$_इ$	Ti	टाइटेनियम	२२	४८·१

संकेत		तत्व का नाम	परमाणु-संख्या	परमाणु-भार
ट$_क$	Tc	टेक्नीशियम	४३	—
टे$_ल$	Te	टेल्यूरियम	५२	१२७·६१
टै	Ta	टैंटेलम	७३	१८१·५
डि	Dy	डिस्प्रोशियम	६६	१६२·५
ता	Cu	ताम्र	२९	६३·५७
थू	Tm	थूलियम	६९	१६९·४
थै	Tl	थैलियम	८१	२०४·३९
थो	Th	थोरियम	९०	२३२·१२
ना	N	नाइट्रोजन	७	१४·००८
ना$_य$	Nb	नायोबियम	४१	९३·५
नि	Ni	निकल	२८	५८·६९
नी	Ne	नीआन	१०	२०·१८३
ने$_प$	Np	नेप्च्यूनयिम	९३	—
न्यो	Nd	न्योडियम	६०	१४४·३
पा	Hg	पारद	८०	२००·६
पै	Pd	पैलेडियम	४६	१०६·७
पो	K	पोटैसियम	१९	३९·१
पो$_ल$	Po	पोलोनियम	८४	२१०
प्रे	Pr	प्रेजीओडिमियम	५९	१४०·९२
प्रो$_ट$	Pa	प्रोटोऐक्टिनियम	९१	—
प्रो$_म$	Pm	प्रोमीथियम	६१	—
प्लू	Pu	प्लूटोनियम	९४	—
प्लै	Pt	प्लैटिनम	७८	१९५·२३
फा	P	फास्फोरस	१५	३०·९८
फ्रां	Fr	फ्रांसियम	८७	—
फ्लो	F	फ्लोरीन	९	१९·००
ब	Bk	बर्केलियम	९७	—
बि	Bi	बिसमथ	८३	२०९
बे	Ba	बेरियम	५६	१३७·३७
बे$_र$	Be	बेरीलियम	४	९·०२
बो	B	बोरन	५	१०·८२
ब्रो	Br	ब्रोमीन	३५	७९·९२
मैं	Mn	मैंगनीज	२५	५४·९३
मै$_ग$	Mg	मैग्नीशियम	१२	२४·३२

संकेत		तत्व का नाम	परमाणु-संख्या	परमाणु-भार
मो	Mo	मोलिब्डीनम	४२	९६·००
य	Zn	यशद	३०	६५·३८
यू	U	यूरेनियम	९२	२३८·२
यू$_र$	Eu	यूरोपियम	६३	१५२·०
र	Ag	रजत	४७	१०७·८८
रु$_थ$	Ru	रुथेनियम	४४	१०१·७
रु$_ब$	Rb	रुबीडियम	३७	८५·४४
रे$_ड$	Rn	रेडन	८६	—
रे	Ra	रेडियम	८८	२२६·०
रे$_न$	Re	रेनियम	७५	१८७
रो	Rh	रोडियम	४५	१०२·९
लि	Li	लिथियम	३	६·९४
लै	La	लैथेनम	५७	१३८·९२
लो	Fe	लोह	२६	५५·८४
ल्यू	Lu	ल्यूटीशियम	७१	१७४·९९
वं	Sn	वंग	५०	११८·७
वै	V	वैनेडियम	२३	५०·९६
स	Sm	समेरियम	६२	१५०·४३
सि	Si	सिलिकन	१४	२८·०६
सि$_ल$	Se	सिलीनियम	३४	७८·९६
सी$_ज$	Cs	सीजियम	५५	१३२·९१
सी$_र$	Ce	सीरियम	५८	१४०·१३
सी	Pb	सीस	८२	२०७·२१
सें	Ct	सेंटियम	१००	—
सो	Na	सोडियम	११	२२·९९७
स्कै	Se	स्कैंडियम	२१	४५ १०
स्ट्रों	Sr	स्ट्रौंशियम	३८	८७·६३
स्व	Au	स्वर्ण	७९	१९७·२
हा	H	हाइड्रोजन	१	१·००८१
ही	He	हीलियम	२	४·००३
है	Hf	हैफ़नियम	७२	१७८·६
हो	Ho	होलमियम	६७	१६४·९४

में हम कहते हैं कि तत्वों के गुण परमाणुभारों के आवर्त-फलन हैं।

जिस समय रूस में मेंडलीफ तत्वों के इस प्रकार के वर्गीकरण का प्रयास कर रहा था, लोथरमायर ने भी (१८७० में) आवर्त नियम की दूसरी तरह से अभिव्यक्ति की। उसने विभिन्न तत्वों के परमाणु-आयतन निकाले, अर्थात् तत्वों के परमाणुभारों को उनके घनत्वों से विभाजित करके जो संख्याएं प्राप्त की उन्हें उसने तत्वों का परमाणु-आयतन कहा। फिर उसने तत्वों के परमाणुभार और परमाणु-आयतन के हिसाब से एक वक्र खींचा। ऐसा करने पर उसे एक आवर्तवक्र प्राप्त हुआ और उसने देखा कि समान गुण धर्मवाले तत्व इस वक्र पर एक सी ही स्थिति पर हैं।

मेंडलीफ के समय तक सब तत्वों की खोज नहीं हो पाई थी, फिर भी अपनी आवर्त सारणी को मेंडलीफ ने इतनी सावधानी से रचा कि उसके आधार पर उसने कई अज्ञात तत्वों के गुणधर्मों की भविष्यवाणी की, जो अब स्कैंडियम, गैलियम और जर्मेनियम कहलाते हैं। उसने जिस संभावित तत्व का नाम एका-बोरान दिया उसका पता सन् १८७९ में चला और उसे स्कैंडियम कहा गया। उसने जिसे एका-ऐल्यूमिनियम कहा उसका नाम १८७६ में गैलियम पड़ा और मेंडलीफ का एका-सिलिकन १८७६ में आविष्कृत होने पर जर्मेनियम नाम से विख्यात हुआ। मेंडलीफ ने अपने आवर्त नियम के आधार पर बहुत से तत्वों के प्रचलित परमाणुभारों को भी संशोधित किया और बाद के प्रयोगों ने मेंडलीफ के संशोधनों की पुष्टि की।

मेंडलीफ के समय के बाद से उसकी आवर्त सारणी में बहुत से परिवर्तन और सुधार हुए। सन् १९१३ में मोसले ने यह बताया कि प्रत्येक तत्व की एक निश्चित परमाणुसंख्या है। यह परमाणु-संख्या परमाणुभार से भी अधिक महत्व की है, क्योंकि एक ही तत्व कई अलग अलग परमाणुभारों का तो हो सकता है, पर तत्व की परमाणुसंख्या स्थिर है, बदलती नहीं। मोसले के समय से आवर्त नियम परमाणुभार की अपेक्षा से नहीं, प्रत्युत परमाणुसंख्या की अपेक्षा से व्यक्त किया जाने लगा। अब तत्वों को आवर्त सारणी में परमाणुसंख्या के क्रम से सज्जित किया जाता है, न कि परमाणुभार के क्रम से। परमाणुभार के क्रम से सज्जित करने में कभी कभी वर्गीकरण में दोष आ जाते थे और मेंडलीफ भी इन दोषों से अवगत था। उसने अपनी सारणी में परमाणुभारों के क्रम की कई स्थलों पर उपेक्षा की है, जैसे टेल्यूरियम को आयोडीन के पहले स्थान दिया है, यद्यपि टेल्यूरियम का परमाणुभार आयोडीन से अधिक है। इसी प्रकार परमाणु-भार के क्रम की अवहेलना करके निकेल को कोबल्ट के बाद स्थान दिया है। परमाणुसंख्या का क्रम देने पर ये दोष मिट जाते हैं।

मेंडलीफ के समय में वायुमंडल की हीलियम, नीआन, आर्गन, क्रिप्टन आदि गैसें ज्ञात न थीं। जब रैमज़े ने इनका आविष्कार किया और रसायनज्ञों ने देखा कि इन तत्वों के यौगिक नहीं बनते और इस अर्थ में ये अक्रिय हैं, तो इन्हें सारणी में एक अलग समूह में रखा गया। इसका नाम शून्य-समूह पड़ा। विद्युदधनात्मक और विद्युदृणात्मक प्रवृत्तियों के तत्वों के समूहों को संयुक्त करनेवाला शून्य विद्युत्प्रवृत्ति का एक समूह होना ही चाहिए था।

मेंडलीफ की आवर्त सारणी—मेंडलीफ की आवर्त सारणी में नौ समूह हैं जिन्हें क्रमशः शून्य, प्रथम, द्वितीय...अष्टम समूह कहते हैं। ये समूह उन तत्वों की संयोजकताओं के भी द्योतक हैं। प्रत्येक समूह में दो उप-समूह हैं—क और ख। बाई ओर से दाईं ओर को जानेवाली दस पंक्तियाँ हैं, जिन्हें काल कहते हैं। वस्तुतः काल सात हैं, पर चौथे, पाँचवें और छठे कालों में से प्रत्येक में दो दो श्रेणियाँ हैं। इस प्रकार कुल पंक्तियाँ दस हुईं। लोथरमायर के वक्र में भी ये सातों काल स्पष्ट हैं।

जब तत्वों के परमाणुओं के इलेक्ट्रान-विन्यास का पता चला, तब आवर्त नियम का महत्व और भी अधिक स्पष्ट हो गया। तत्वों की परमाणु-संख्या यह भी बताती है कि उस तत्व में विभिन्न परिधियों पर चक्कर लगानेवाले कितने इलेक्ट्रान हैं (देखें **परमाणु**)। तत्वों के विन्यास में कई कक्षाएं या परिधियाँ हैं और इन कक्षाओं या परिधियों में कितने इले-क्ट्रान आ सकते हैं, यह संख्या भी निश्चित है। इन कक्षाओं अथवा परि-धियों पर अधिक से अधिक मशः २, ८, १८, ३२,... इलेक्ट्रान रह सकते हैं। साथ ही साथ यह भी नियम है कि सबसे बाहरी परिधि पर ८ से अधिक नहीं रहेंगे और उससे पीछे वाली पर १८ इलेक्ट्रान से अधिक नहीं। इस नियम ने यह स्पष्ट कर दिया कि कुछ कालों में क्यों १८ और कुछ में क्यों ३२ तत्व हैं। इसने यह भी व्यक्त किया कि दुष्प्राप्य पार्थिव तत्व (लैंथेनम के बाद परमाणुसंख्या ५८ से ७१ तक) क्यों १४ ही हो सकते हैं।

जूलियस टामसेन ने इलेक्ट्रान-विन्यास के हिसाब से जो आवर्त वर्गीकरण दिया, वह भी महत्वपूर्ण है। यह वर्गीकरण बताता है कि आवर्तन २, ८, १८, ३२,... परमाणुसंख्याओं पर होता है (चित्र देखें)।

यूरेनियम की परमाणुसंख्या ९२ है। आवर्त वर्गीकरण में सबसे पहला तत्व अब हाइड्रोजन नहीं, बल्कि न्यूट्रान माना जाता है, जिसकी परमाणुसंख्या शून्य (०) है। हाइड्रोजन से लेकर यूरेनियम तक के ९२ तत्व भूस्तर पर प्रकृति में पाए जाते हैं, शेष नहीं; पर अब तो कृत्रिम विधि से यूरेनियम के बाद के भी सात आठ तत्व बनाए जा सके हैं—नेप्च्यूनियम (९३), प्लूटोनियम (९४), अमरीकियम (९५), क्यूरियम (९६), बर्केलियम (९७), कैलिफोर्नियम (९८), आइंस्टियम (९९), शतम् (१००) आदि। इन्हें ऐक्टिनाइड कहा जाता है। जैसे लैथेनम (५७) के बाद १४ विरल पार्थिव तत्व हैं, उसी प्रकार ऐक्टीनियम (८९) के बाद भी १४ तत्वों का होना, जिनका अभी पता नहीं है, असंभव बात नहीं है। इन नए तत्वों का अस्तित्व आवर्त नियम के सर्वथा अनुकूल है।

तत्वसूची और परमाणुभार—पिछले पृष्ठ पर एक सारणी दी गई है जिसमें रासायनिक तत्वों की परमाणुसंख्याएँ दी गई हैं। परमाणु-भार भी दिखाए गए हैं।

सं०ग्रं०—जे० डब्ल्यू० मेलर: ए कॉम्प्रिहेंसिव ट्रीटिज़ ऑन इनॉर्गेनिक ऐंड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री (१९२२); ई० रैबिनोविट्श और ई० थिलो: पीरिओडिशेस सिस्टेम (स्टुटगार्ट, १९३०)। [स० प्र०]

आवर्न

आवर्न पूर्वकाल में फ्रांस का एक प्रांत था, परंतु अब कैंटल, पुई-डी-डोम और हौट ल्वायर विभागों के अंतर्गत है। इसकी प्राचीन और वर्तमान राजधानियाँ क्रमशः क्लेरमांट और क्लेरमांट-फेरंड हैं। 'आवर्न' शब्द की उत्पत्ति आवर्नी से हुई है। आवर्नी रोमन काल में एक जातिसमुदाय था, जिसकी प्रभुता अक्वीटानिया के अधिकांश पर फली हुई थी। इस समुदाय ने जूलिएस सीज़र के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया था। आवर्न १५३२ ई० में स्थायी रूप से फ्रांसीसी राजसत्ता के आधीन आ गया।

यहाँ स्थित पर्वत अधिकतर ज्वालामुखी हैं। महत्वपूर्ण पर्वतशिखर मांट डोर (ऊँचाई ६,१८८ फुट), प्लंब डी कैंटल (ऊँचाई ६,०९६ फुट) और पुई-डी-डोम (ऊँचाई ४,८०६ फुट) हैं। यहाँ के सुप्त ज्वालामुखियों की संख्या लगभग ३०० है। यहाँ विस्तृत चरागाह और औषधीय सोते (धाराएँ) भी हैं। [रा० ना० मा०]

आवा

आवा ब्रह्मा (बर्मा) राज्य की प्राचीन राजधानी है जो ईरावदी नदी पर सागैंग नगर के संमुख विपरीत किनारे पर स्थित है। इसका प्राचीन नाम यदनपुर, अर्थात् 'बहुमूल्य पत्थरों का नगर' है। इस नगर की स्थापना ध्वस्त पगान नगर के उत्तराधिकारी नगर के रूप में १३६४ ई० में थाडोमिन पाया द्वारा हुई थी। यहाँ निर्मित अनेक धार्मिक भवन पगान स्थित धार्मिक भवनों के ही समान हैं। आवा नगर लगभग चार शताब्दियों तक राजकीय केंद्र था। इस काल में ३० शासकों द्वारा राजसिंहासन सुशोभित हुआ। १८३९ ई० के भूकंप में नगर खंडहर हो गया। परिषद्भवन और राजकीय भवन के कुछ भागों के अवशेष अब भी विद्यमान हैं। अधिकांश धार्मिक भवन (बौद्ध) ध्वस्त अवस्था में हैं। [रा० ना० मा०]

आविष्कार एवं उपज्ञा

आविष्कार एवं उपज्ञा साधारणतः किसी ऐसे नवीन यंत्र आदि के बनाने को उपज्ञा (इनवेंशन) कहते हैं जिस प्रकार का यंत्र पहले कभी नहीं बना था और आविष्कार (डिसकवरी) किसी पूर्वविद्यमान देश, नियम आदि का पता लगाने को कहते हैं, जिसका ज्ञान या पता पहले किसी को नहीं था। आविष्कार अथवा

उपज्ञा की यथातथ्य परिभाषा संभव नहीं है। आविष्कार और उपज्ञा में जो भेद प्रायः किया जाता है वह तर्कसंमत नहीं है, क्योंकि अधिकांश उपज्ञाओं की प्रगति में उपज्ञा तथा आविष्कार दोनों के तत्व पाए जाते हैं।

अधिकांश देशों के एकस्व संबंधी कानूनों के अंतर्गत उपज्ञा की परिभाषा में तीन आधारभूत बातों का समावेश रहता है : नवीनता, उपयोगिता और विधि का क्रियासाध्य होना।

पशुओं ने भी उपज्ञाएँ की हैं; उदाहरण के लिये, घोंसलों का निर्माण, औजारों का अति अकुशल उपयोग और भाषा संबंधी आरंभिक प्रगति। मानव इतिहास में अधिकांश आधारभूत उपज्ञाएँ लिखित इतिहास के पूर्व हुई हैं।

मनुष्य की सबसे अधिक महत्वपूर्ण उपज्ञा और आविष्कार बीज से पौधे उगाने की क्रिया का ज्ञान है जो कृषि का आधार बना। इसके पश्चात् आग पर नियंत्रण तथा मिट्टी के बर्तनों का उपयोग आता है। चौथा स्थान लेखनकला का और पाँचवाँ नाप तौल, समय तथा धन संबंधी प्रमापों का है।

अन्य दो महान् उपज्ञा-आविष्कार आधुनिक हैं। इनमें एक है रोग का कीटाणुसिद्धांत, जिसकी कल्पना पास्तर ने की थी और दूसरा है डिब्बा-बंद खाद्य का उपयोग। उपर्युक्त जितने भी उपज्ञा अथवा आविष्कार हुए हैं, उनमें रोगों के कीटाणुसिद्धांत के उपज्ञाता पास्तर के सिवाय अन्य उपज्ञाता अज्ञात हैं।

अन्य महत्वपूर्ण उपज्ञाओं की सूची में हैं वाणी, पशुओं को पालतू बनाना, रोगोपचार, शस्त्रों की उपज्ञा, शासन के विभिन्न रूपों का विकास, भवन-निर्माण आदि।

इन उपर्युक्त उपज्ञाओं के अतिरिक्त प्रागैतिहासिक काल में यांत्रिकी, जलविज्ञान, धातुविज्ञान, नौपरिवहन, रसायन और साथ ही चित्रकला, वास्तुकला आदि अनेक कलाओं का प्रारंभ हुआ। प्रागैतिहासिक काल के यंत्रज्ञों को उत्तोलक (लीवर), स्फान (वेज), आरी और संभवतः घिरनी और रस्सी की उपज्ञा का श्रेय प्राप्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि चक्र की महत्वपूर्ण उपज्ञा प्रागैतिहासिक काल के उत्तरांश में हुई।

जलविज्ञान का प्रथम व्यावहारिक उदाहरण बैबिलोनिया में मिलता है, जहाँ सिंचाई के लिये नहरों का निर्माण हुआ। पर संभवतः एशिया के लोगों को सिंचाई के लिये कुओं और नहरों का ज्ञान बहुत पहले से था। निस्संदेह जलप्राप्ति के लिये कुओं की खुदाई मनुष्य की एक महान् उपज्ञा थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य को सर्वप्रथम लोहा पृथ्वी पर गिरी उल्का से प्राप्त हुआ। संभवतः धातुओं में ताँबा ही सर्वप्रथम उसके अयस्क को अग्नि से तप्त करके प्राप्त हुआ। मिस्र और बैबिलोनिया, इन दोनों देशों के निवासी आज से छः हजार वर्ष पूर्व ताँबे के धातुविज्ञान से परिचित थे।

प्रागैतिहासिक काल की रसायन से प्राप्त वस्तुओं में मिट्टी के बर्तनों में दी जानेवाली लुक (चमक), सोने और अन्य धातुओं के लिये प्रयुक्त होनेवाले द्रावक और माला के मणियों (गुटिकाओं) के निर्माण में काम आनेवाला अपारदर्शी काच है।

नौवाहन के संबंध में ऐसा प्रतीत होता है कि इसका ज्ञान लकड़ी या लट्ठे को पानी में बहता देखकर हुआ और इसका विकास संभवतः विभिन्न स्थानों और कालों में विभिन्न प्रकार और स्वतंत्र रूप से हुआ।

अंत में प्रागैतिहासिक काल की उपज्ञाओं में दीपक और वस्त्र का उल्लेख भी आवश्यक है। इसका ज्ञान हो जाने के पश्चात् मनुष्य अपने को कुछ अंश तक अँधेरे के बंधन और ठंढ के कष्ट से मुक्त करने में सफल हुआ।

वर्तमान शताब्दी का स्वरूप प्रौद्योगिकीय है। इसे कभी कभी यंत्रयुग भी कहा जाता है। यह आधुनिक सभ्यता पुरानी सभी संस्कृतियों से भिन्न है। यह भिन्नता पाँच मौलिक आविष्कारों या खोजों पर आधारित मानी जा सकती है। इनमें काल और महत्व दोनों के विचार से सर्वप्रथम स्थान कोयले का ईंधन के रूप में प्रयोग किया जाना है। इसी का परिणाम था कि व्यवहारयोग्य वाष्प इंजन का आविष्कार हुआ। वाष्प इंजन के सिद्धांत का ज्ञान सत्तर सौ वर्ष पूर्व हो गया था। जब कोयले का ईंधन के रूप में प्रयोग होने लगा तो इस सिद्धांत को व्यावहारिक रूप देना संभव हो गया। ईंधन के रूप में कोयले के प्रयोग के बाद लोहा तथा इस्पात संबंधी धातुविज्ञान की उन्नति का स्थान है। तीसरा स्थान विद्युत् शक्ति की खोज और विकास का है, जिसका प्रारंभ अर्स्टेड, ऐंपियर, हेनरी और फैराडे द्वारा संपादित भौतिक गवेषणाओं से होता है और जिसके विकसित रूप में हमारे समक्ष आधुनिक डायनमो, मोटरें, रेडियो और दूरवीक्षण यंत्र (टेलीविजन) हैं। चौथा प्रधान आविष्कार अंतर्दह इंजन (इंटर्नल कंबस्चन इंजन) है, जिसका उपयोग मोटरकारों, मोटर नौकाओं, विमानों और अन्य प्रकार के यानों में होता है। पाँचवाँ मुख्य आविष्कार सीमेंट है। कुछ पर्यवेक्षक इस सूची में कई अन्य आविष्कारों का नाम जोड़ना चाहेंगे, जैसे टेलीफोन, सस्ता ऐल्यूमी-नियम, विमान और छपाई, किंतु इस संबंध में यह आपत्ति की जा सकती है कि ये आधुनिक प्रौद्योगिकी के उपासंग तथा जीवन की सुखसुविधाओं में उन्नति मात्र हैं। ये ऐसे आधारभूत आविष्कार नहीं हैं जो आधुनिक सभ्यता के मूल कहे जायँ। अब हमने अणु को तोड़ने की रीति का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इससे एक ओर तो ऐसे अणुबमों का निर्माण हुआ है जो जगत् का ध्वंस करने की शक्ति रखते हैं और दूसरी ओर इस रीति का उपयोग मानव कल्याण के लिये होने की अत्यधिक संभावना हमारे समक्ष प्रस्तुत है।

आधुनिक जगत् की एक अन्य अत्यंत मूलभूत और महत्वपूर्ण ऐसी उपज्ञा का उल्लेख करना उचित होगा जिसका संबंध एक अन्य क्षेत्र से है। यह आविष्कार है संयुक्त पूँजी और सीमित देयतावाली (जॉएंट-स्टॉक ऐंड लिमिटेड लायबिलिटी) कंपनियों का, जिसका सामान्य रूप आधुनिक निगम (कॉरपोरेशन) है। मानव इतिहास की अन्य किसी सामाजिक युक्ति ने व्यापारिक नीतियों अथवा औद्योगिक उपक्रमों को मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के संभावी संकटों से इतनी सफलता के साथ पृथक् नहीं कर दिया है और न इसी कुशलता से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक जानकारी तथा अनुभव के हस्तांतरण की संभावना ही उत्पन्न की है।

२०वीं शताब्दी के प्रारंभ से अमरीका के संयुक्त राष्ट्र में और वर्तमान युग के सोवियत रूस में आविष्कार और अनुसंधान की एक ऐसी पद्धति का विकास हुआ है जिसमें क्रांतिकारी परिणाम निहित हैं। इस पद्धति को 'संगठित गवेषणा' कहते हैं। अमरीका के बड़े बड़े निगमों (कॉरपोरेशनों) ने सुसज्जित प्रयोगशालाएँ स्थापित की हैं, जिनमें प्रामाणिक योग्यता के इंजीनियर और वैज्ञानिक काम करते हैं। इसमें यह विचार काम करता है कि दरिद्र उपज्ञाताओं तथा परिमित उपकरण और अल्प पूँजीवाले एकाकी वैज्ञानिकों की अपेक्षा सुसज्जित प्रयोगशालाओं में काम करनेवाले विशेषज्ञों के दल के संगठित और सहकारी प्रयास से वैज्ञानिक गवेषणा और आविष्कार अथवा अनुसंधान की प्रगति अधिक और तीव्र की जा सकती है।

अभी मनोवैज्ञानिक यह स्पष्ट नहीं कर सके है कि आविष्कारी बुद्धि के उपादान क्या हैं। आविष्कारक का मानसिक प्रक्रम दो विभिन्न रीतियों का होता है। इनमें से एक को प्रसिद्ध उपज्ञाता एडिसन के नाम पर एडिसन की रीति कहते हैं (देखें **एडिसन** शीर्षक लेख)। इसमें आविष्कारक सभी संभव विधियों का परीक्षण एक के बाद एक करता रहता है। दूसरे प्रक्रम को साधारणतया प्रतिभा की दमक कहा जाता है। इसमें सूझ एकाएक उत्पन्न होती है जिसमें उपज्ञा का बीज रहता है। ऊपर से देखने पर यह अप्रत्याशित प्रतीत होती है, किंतु इस सूझ के पीछे आविष्कारक का अभीष्ट उपज्ञा के संबंध में किया गया लंबा चिंतन और संपरीक्षण होता है। अतः कदाचित् किसी भी उपज्ञा के प्रक्रम की सबसे आवश्यक वस्तु उपज्ञाता द्वारा उन तथ्यों को संयोजित करने की योग्यता है जिनके पारस्परिक संबंध पहले सुस्पष्ट नहीं होते और जिनके संयोजन का काम उपज्ञाता व्यावहारिक स्तर अथवा कल्पना के स्तर पर करता है। [न० ला० गु०]

आवृत्तिदर्शी एक यंत्र है जिससे चलते हुए किसी पिंड को स्थिर रूप में देखा जा सकता है। इसकी क्रिया दृष्टिस्थापकत्व (परसिस्टैंस ऑवविज़न) पर निर्भर है। हमारी आँख के कृष्णपटल (रेटिना) पर किसी वस्तु का प्रतिबिंब वस्तु को हटा लेने के लगभग १/१६ सेकेंड से

लेकर १/१० सेकेंड बाद तक बना रहता है। साधारण आवृत्तिदर्शी में एक वृत्ताकार पत्र या चक्र (डिस्क) होता है, जिसकी बारी के समीप बराबर दूरियों पर एक अथवा दो तीन वृत्ताकार पंक्तियों में छिद्र बने रहते हैं। वृत्ताकार पत्र को एक चाल से घुमाया जाता है और छिद्रों के समीप आँख लगाकर गतिमान वस्तु का निरीक्षण किया जाता है। जब छिद्र वस्तु के सामने आता है तभी वस्तु दिखाई पड़ती है। यदि किसी आवृत्तिदर्शी को ऐसी गति से घुमाया जाय कि मशीन की प्रत्येक आवृत्ति में मशीन का वही भाग घूमते पत्र के एक छिद्र के सामने बराबर आता रहे तो दृष्टिस्थापकत्व के कारण चलती हुई मशीन हमें स्थिर, किंतु सामान्य प्रकाश में धुँधली, दिखाई पड़ेगी। स्पष्ट निरीक्षण के लिये मशीन को अत्यंत तीव्र प्रकाश में रहना चाहिए। यदि एकसमान तीव्र प्रकाश के बदले मशीन को प्रकाश की तीव्र दमकों (फ्लैशेज़) द्वारा प्रकाशित किया जाय और यदि दमकों की आवृत्तिसंख्या इतनी हो कि एक दमक मशीन पर इसके ठीक एक परिभ्रमण पर पड़े तो मशीन स्थिर दिखाई पड़ेगी। इस आयोजन से मशीन के किसी भाग का फोटो लिया जा सकता है, उसका निरीक्षण किया जा सकता है और मशीन का कोणीय वेग ज्ञात किया जा सकता है। किसी दोलनीय वस्तु, जैसे कंपित स्वरित्र (ट्यूनिंग फ़ॉर्क) की भी आवृत्तिसंख्या निकाली जा सकती है।

आवृत्तिदर्शी द्वारा ट्यूनिंग फॉर्क की आवृत्तिसंख्या निकालना — आवृत्तिदर्शी आ (देखें चित्र १) को विद्युत् मोटर मो द्वारा घुमाया जाता है। मोटर की गति इच्छानुसार घटा बढाकर आवृत्तिदर्शी की परिभ्रमणसंख्या ठीक की जा सकती है और परिभ्रमणसंख्या का मान मोटर की धुरी पर लगे हुए गणक से ज्ञात किया जा सकता है। दूरदर्शी दू आवृत्तिदर्शी के छिद्र पर सधा रहता है। इस दूरदर्शी और आवृत्तिदर्शी के बीच विद्युत्स्वरित्र स्व क्षैतिज स्थिति में रखा जाता है जिसमें स्वरित्र की दोनों भुजाओं के मध्य से आवृत्तिदर्शी के छिद्र दूरदर्शी में दिखाई पड़ते रहें। स्वरित्र की दोनों भुजाओं में ऐल्यूमीनियम की एक एक पत्ती लगा दी जाती है। इनमें से एक पत्ती में एक छिद्र ऐसा बना रहता है कि वह दूसरी भुजा की पत्ती द्वारा स्वरित्र की स्थिरावस्था में पूरा ढका रहे और दोलन करते समय जब भुजाएँ

चित्र १. स्वरित्र की आवृत्तिसंख्या ज्ञात करना।

फैल जायँ तो छिद्र खुल जाय। इस भाँति पत्तियों के बीच का छिद्र एक सेकंड में उतनी बार खुलता और बंद होता है जितनी स्वरित्र की आवृत्तिसंख्या होती है। इसके बाद आवृत्तिदर्शी को चलाकर स्वरित्र को विद्युत् द्वारा दोलित करते हैं। विद्युत् के प्रभाव से स्वरित्र का दोलन स्थायी बना रहता है। दूरदर्शी में आवृत्तिदर्शी के छिद्र पहले धुँधले, फिर मोटर की गति बढ़ने के साथ फैलकर पूर्ण वृत्ताकार हो जाते हैं। गति अधिक बढ़ने पर छिद्र अलग अलग स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। यह तभी संभव होता है जब स्वरित्र के दोलनकाल में आवृत्तिदर्शी का एक छिद्र निकटवर्ती दूसरे छिद्र के स्थान पर घूमकर आ जाता है। यदि चक्र की गति तनिक कम कर दी जाती है तो छिद्र पीछे की ओर धीरे धीरे घूमते हुए जान पड़ते हैं और यदि गति तनिक बढ़ाई जाती है तो छिद्र आगे की ओर धीरे धीरे बढ़ते प्रतीत होते हैं। जब छिद्र स्पष्ट स्थिर दिखाई पड़ते हैं तो आवृत्तिदर्शी की भ्रमणसंख्या देखकर स्वरित्र की आवृत्तिसंख्या ज्ञात की जा सकती है। यदि चक्र के वृत्त पर स छिद्र हैं और चक्र एक सेकंड में म परिभ्रमण करता है तो स्वरित्र की आवृत्तिसंख्या स $\times$ म होती है।

आवृत्तिदर्शी की गति इसकी ठीक दूनी अथवा तिगुनी, चौगुनी इत्यादि होने पर भी छिद्र इसी प्रकार स्थिर दिखाई पड़ते हैं। इस कारण प्रयोग में आवृत्तिदर्शी की गति प्रारंभ में कम रखकर धीरे धीरे बढ़ाई जाती है।

आवृत्तिदर्शी प्रभाव — आजकल घरों में और सड़कों पर रोशनी ट्यूबलाइट द्वारा की जाती है। इनमें प्रकाश उच्च आवृत्तिसंख्या के प्रत्यावर्ती विद्युद्विसर्जन से उत्पन्न होता है। ऐसे प्रकाश में यदि मेज का पंखा चलाया जाता है अथवा बिजली काटकर जब उसे बंद किया जाता है, तो बढ़ती अथवा घटती चाल में पंखे के ब्लेड कभी रुकते हुए, फिर उलटी दिशा में चलते, फिर रुकते और सीधा चलते दिखाई पड़ते हैं, अर्थात् ब्लेड उलटा सीधा चलते और बीच बीच में रुकते जान पड़ते हैं। यह आवृत्तिदर्शी प्रभाव ट्यूबलाइट के प्रकाशविसर्जन की आवृत्तिसंख्या पर निर्भर रहता है। यदि पंखे पर एकदिश धारा के बल्ब का प्रकाश पड़ता हो तो हमें ऐसा अनुभव नहीं होता। इसी भाँति चलचित्र (सिनेमा) में चलता हुआ गाड़ी का डिब्बा जब रुकता हुआ दिखाया जाता है तो तीलीदार पहिया पहले कभी रुककर उलटी दिशा में घूमता और फिर रुककर सीधा घूमता जान पड़ता है। यह दृश्य भी चलचित्र के पर्दे पर खंडित प्रकाश से उत्पन्न होता है।

आवृत्तिदर्शी प्रभाव का कारण निम्नलिखित प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है। बड़े श्वेत वृत्ताकार पत्र च पर (देखें चित्र २) काले वृत्त और बिंदु
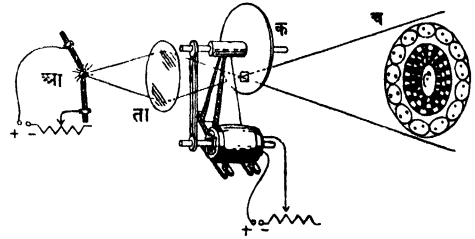
चित्र २. आवृत्तिदर्शी का सिद्धांत

बनाए गए हैं। इसपर आर्क आ का प्रकाश ताल ता द्वारा पड़ता है। ताल और वृत्ताकार पत्र के बीच एक दूसरा वृत्ताकार पत्र क है, जिसमें एक लंबा छेद बना हुआ है। वृत्ताकार पत्र भिन्न भिन्न गतियों से अलग अलग घुमाए जाते हैं। मान लीजिए वृत्ताकार पत्र क एक सेकंड में १३ चक्कर लगाता है, तो इसके छिद्र से पत्र च का कोई भाग एक सेकंड में १३ बार प्रकाशित होता है। यदि च एक सेकंड में केवल एक ही चक्कर उसी दिशा में लगाए और चित्र के अनुसार यदि पहली दमक वृत्त १ पर पड़े तो इस वृत्त के दोनों बिंदु एक दूसरे के ठीक ऊपर नीचे दिखाई पड़ेंगे। दूसरी दमक के पहुँचते ही वृत्त १ के स्थान पर वृत्त २ आ जायगा और बिंदु दक्षिणावर्त दिशामें मुड़े जान पड़ेंगे। तीसरे स्फुरण के आते ही वृत्त ३ आकर वृत्त १ के स्थान पर पड़ेगा और बिंदु अधिक मुड़े दिखाई पड़ेंगे। वृत्त सब एक समान हैं और

चित्र ३. पूर्वगामी चित्र का वृत्त च, बड़े पैमाने पर

सब बारी बारी से स्थान १ पर आते हैं, जहाँ प्रकाश की दमकें पड़ती हैं। अत: वृत्त स्थिर और उनके भीतर के बिंदु दक्षिणावर्त घमते दिखाई पड़ेंगे। पत्र च के केंद्र के समीप तीन खानेदार वृत्त बनाए गए हैं, जिनमें एकांतरक्रम से सफेद काले खाने बने हुए हैं। मध्यवर्ती वृत्त में १३ सफेद और १३ काले खाने हैं। भीतरी वृत्त में १२ सफेद और १२ काले खाने हैं और बाहरी वृत्त में प्रत्येक प्रकार के १४ ऐसे खाने हैं। च और क इन दोनों पत्रों की आपेक्षिक गतियों के ऐसे संतुलन पर कि परिधि के वृत्त स्थिर जान पड़ें, इन तीनों केंद्रीय खानेदार वृत्तों में बीचवाला वृत्त स्थिर, बाहरी दक्षिणावर्त और भीतरी वामावर्त घूमता दिखाई पड़ेगा।

एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए। यदि प्रकाश की दमक एक सेकंड में १३ से कम कर दी जाय, तो प्रकाशित चकती च की सतह पर झिलमिलाहट या कँपकँपी (फ़्लिकरिंग) दिखाई पड़ती है। यदि प्रकाश की दमकों की प्रति सेकंड संख्या चक्र च के वेग को बढ़ाकर पर्याप्त अधिक कर दी जाय तो कँपकँपी दूर हो जाती है और सतह की दीप्ति स्थायी जान पड़ती है। ऐसा दीप्तिभास हमारी आँखों की दृष्टिविलंबना के कारण होता है, जैसा सिनेमा के पर्दे पर चित्रों को प्रति सेकंड १३ से अधिक बार डालकर पात्रों के नाच, दौड़ आदि, सभी गतिविधियों को स्वाभाविक रीति में देख पाते हैं। यदि चलचित्रों की संख्या प्रति सेकंड १३ से कम हो तो पर्दे पर कँपकँपी आने लगती है। आजकल बोलते चित्रों में २४ चित्र प्रति सेकंड पर्दे पर डाले जाते हैं, जिससे कँपकँपी बिलकुल नहीं आती। कँपकँपी पूर्णतया निर्मूल करने के लिये प्रति चित्र के मध्य में प्रकाश एक बार काट दिया जाता है, अर्थात् प्रति सेकंड २४ चित्र चलाते समय ४८ दमकें बराबर समयांतरों पर पड़ती हैं।

आजकल आवर्तदर्शी के साथ कार्य करनेवाले इतने अद्भुत् फोटोग्राफी के कैमरे बनाए गए हैं कि उड़ती चिड़िया, तीव्रगामी हवाई जहाज तथा जेट प्लेन आदि के किसी भाग का फोटो उतारा जा सकता है। छोटे बड़े बमों के फूटने के तुरंत बाद, अर्थात् १/(१० लाख) सेकंड में तथा तदनंतर विस्फोटनक्रिया का फोटो लेकर अध्ययन किया जा सकता है। ऐसे आवृत्तिदर्शी में तापायन कपाट (थर्मआयोनिक वाल्व) के द्वारा दमक की आवृत्तिसंख्या लाख से भी अधिक प्रति सेकंड होती है और दमक की ज्योति सूर्य के प्रकाश से भी प्रबल होती है। इसका श्रेय प्रोफेसर एगर्टन को है। मैसाचूसेट्स इंस्टिट्यूट ऑव टेकनॉलोजी (अमरीका) में अपने साथियों के साथ प्रो० एगर्टन लगभग ३० वर्षों तक इस अनुसंधान में संलग्न रहे। इस आवृत्तिदर्शी की क्रिया पूर्वोक्त आवृत्तिदर्शी के समान ही होती है, किंतु प्रकाश की तीव्रता बढ़ाने के लिये प्रबल इलेक्ट्रॉनिक परिपथ (सर्किट) की व्यवस्था रहती है और उसके खोलने और बंद करने के लिये गैस से भरी एक नलिका होती है, जो विद्युत् परिपथ में संघनक (कंडेंसर) का काम करती है। इसमें लगे वाल्व को ठीक साधने पर, विद्युत् दमक एक सेकंड के दस लाखवें भाग के समयांतर पर हो सकती है। दमक की दीप्ति इतनी प्रबल होती है कि ५-७ मील गहरे समुद्र की पेंदी का भी चित्र खींचा जा सकता है। ऐसे आवृत्तिदर्शी द्वारा ऐसी सूक्ष्म वस्तुओं तक का निरीक्षण संभव हो सका है जो हमें दिखाई भी नहीं पड़तीं। [नं० ला० सिं०]

आवोगाड्रो, अमाडियो

(१७७६-१८५६ ई०) इटैलियन वैज्ञानिक थे। प्रारंभ में उन्होंने कानून तथा दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया और १७९६ में कानून में डाक्टरेट प्राप्त किया। बहुत समय पश्चात् उन्होंने भौतिक शास्त्र का अध्यापन प्रारंभ किया। उन्हें ट्यूरिन विश्वविद्यालय में १८०२ में प्रोफेसर का पद मिला, जो राजनीतिक कारणों से १८२२ तक ही रहा। परंतु कुछ वर्षों के बाद उसी पद पर पुनः उनकी नियुक्ति हुई। उनका महत्वपूर्ण लेख 'जर्नल दा फिज़ीक' (१८११) में छपा। उनकी विशेष वैज्ञानिक देन वह नियम है जो अब आवोगाड्रो की परिकल्पना (आवोगाड्रोज़ हाइपॉथेसिस) के नाम से प्रसिद्ध है।

लोगों को इस परिकल्पना का ठीक ज्ञान कैनी जारो के स्पष्टीकरण से बहुत बाद में हुआ। उसके पहले इस परिकल्पना तथा उसके सिद्धांत पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। १८१४ में फ्रांस के वैज्ञानिक ऐंपेअर ने वे ही विचार व्यक्त किए जो तीन वर्ष पहले आवोगाड्रो की परिकल्पना में थे। मोलिक्यूल (अणु) शब्द का वैज्ञानिक प्रयोग तथा उसके अर्थ का स्पष्टीकरण भी आवोगाड्रो ने ही किया था।

सं०ग्रं०—सर विलियम ए० टिल्डेन : फ़ेमस केमिस्ट्स (१९३०); जे० आर० पार्टिंगटन : ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑव केमिस्ट्री (१९५१)। [विं० वा० प्र०]

आस्खाबाद

रूसी तुर्कमानिस्तान देश का एक जिला है। इसका क्षेत्रफल ७५,२८९ वर्ग मील तथा १९३९ में आबादी २,३७,५७० थी। यह जिला अक्काल नखलिस्तान के उपजाऊ भाग में है तथा इसमें कोपेट डाघ की कई पहाड़ी नदियाँ बहती हैं। जलवायु विशेष गर्म नहीं है तथा कभी कभी बर्फ गिर जाती है। यहाँ अंगूर पैदा होता है और मदिरा बनाई जाती है।

इसी जिले में तुर्कमानिस्तान नाम का शहर भी है। यहाँ सूती कपड़े की मिलें हैं। [नृ० कु० सिं]

आश्रम

प्राचीन भारत में सामाजिक व्यवस्था के दो स्तंभ थे—वर्ण और आश्रम। मनुष्य की प्रकृति—गुण, कर्म और स्वभाव—के आधार पर मानवमात्र का वर्गीकरण चार वर्णों में हुआ था। व्यक्तिगत संस्कार के लिये उसके जीवन का विभाजन चार आश्रमों में किया गया था। ये चार आश्रम थे—(१) ब्रह्मचर्य, (२) गार्हस्थ्य, (३) वानप्रस्थ और (४) संन्यास। अमरकोश (७.४) पर टीका करते हुए भानुजी दीक्षित ने 'आश्रम' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है : आश्राम्यन्त्यत्र। अनेन वा। श्रमु तपसि। घञ्। यद्वा आ समंताछ्रमोऽत्र। स्वधर्मसाधनक्लेशात्। अर्थात् जिसमें सम्यक् प्रकार से श्रम किया जाय वह आश्रम है अथवा आश्रम जीवन की वह स्थिति है जिसमें कर्तव्यपालन के लिये पूर्ण परिश्रम किया जाय। आश्रम का अर्थ 'अवस्थाविशेष', 'विश्राम का स्थान', 'ऋषिमुनियों के रहने का पवित्र स्थान' आदि भी किया गया है।

आश्रमसंस्था का प्रादुर्भाव वैदिक युग में हो चुका था, किंतु उसके विकसित और दृढ़ होने में काफी समय लगा। वैदिक साहित्य में ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य अथवा गार्हपत्य का स्वतंत्र विकास हुआ, किंतु वानप्रस्थ और संन्यास, इन दो अंतिम आश्रमों के स्वतंत्र विकास का उल्लेख नहीं मिलता। इन दोनों का संयुक्त अस्तित्व बहुत दिनों तक बना रहा और इनको वैखानस, परिव्राट्, यति, मुनि, श्रमण आदि से अभिहित किया जाता था। वैदिक काल में कर्म तथा कर्मकांड की प्रधानता होने के कारण निवृत्तिमार्ग अथवा संन्यास को विशेष प्रोत्साहन नहीं था। वैदिक साहित्य के अंतिम चरण उपनिषदों में निवृत्ति और संन्यास पर जोर दिया जाने लगा और यह स्वीकार कर लिया गया था कि जिस समय जीवन में उत्कट वैराग्य उत्पन्न हो उस समय से वैराग्य से प्रेरित होकर संन्यास ग्रहण किया जा सकता है। फिर भी संन्यास अथवा श्रमण धर्म के प्रति उपेक्षा और अनास्था का भाव था।

सूत्रयुग में चार आश्रमों की परिगणना होने लगी थी, यद्यपि उनके नामक्रम में अब भी मतभेद था। आपस्तंब धर्मसूत्र (२.९.२१.१) के अनुसार गार्हस्थ्य, आचार्यकुल (=ब्रह्मचर्य), मौन तथा वानप्रस्थ चार आश्रम थे। गौतमधर्मसूत्र (३.२) में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु और वैखानस चार आश्रम बतलाए गए हैं। वसिष्ठधर्मसूत्र (७.१.२) में गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा परिव्राजक चार आश्रमों का वर्णन है। बौधायनधर्मसूत्र (२.६.१७) ने वसिष्ठ का अनुसरण किया है, किंतु आश्रम की उत्पत्ति के संबंध में बतलाया है कि अंतिम दो आश्रमों का भेद प्रह्लाद के पुत्र कपिल नामक असुर ने इसलिये किया था कि देवताओं को यज्ञों से प्राप्य अंश न मिले और वे दुर्बल हो जायँ (६.२९-३१)। इसका संभवतः यह अर्थ हो सकता है कि कायक्लेशप्रधान निवृत्तिमार्ग पहले असुरों में प्रचलित था और आर्यों ने उनसे इस मार्ग को अंशतः ग्रहण किया, परंतु फिर भी ये आश्रम उनको पूरे पसंद और ग्राह्य न थे।

बौद्ध तथा जैन सुधारणा ने आश्रम का विरोध नहीं किया, किंतु प्रथम दो आश्रमों—ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य—की अनिवार्यता नहीं स्वीकार की। इसके फलस्वरूप मुनि अथवा यतिवृत्ति को बड़ा प्रोत्साहन मिला और समाज में भिक्षुओं की अगणित वृद्धि हुई। इससे समाज तो दुर्बल हुआ ही, अपरिपक्व संन्यास अथवा त्याग से भ्रष्टाचार भी बढ़ा। इसकी प्रतिक्रिया और प्रतिसुधारणा ई० पू० दूसरी सदी अथवा शुंगवंश की स्थापना से हुई। मनु आदि स्मृतियों में आश्रमधर्म का पूर्ण आग्रह और संघटन दिखाई पड़ता है। पूरे आश्रमधर्म की प्रतिष्ठा और उनके क्रम की अनिवार्यता भी स्वीकार की गई। 'आश्रमात् आश्रमं गच्छेत्,' अर्थात् एक आश्रम से दूसरे आश्रम को जाना चाहिए, इस सिद्धांत को मनु ने दृढ़ कर दिया।

स्मृतियों में चारों आश्रमों के कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन मिलता है। मनु ने मानव आयु सामान्यतः एक सौ वर्ष की मानकर उसको चार बराबर भागों में बाँटा है। प्रथम चतुर्थांश ब्रह्मचर्य है। इस आश्रम में गुरु-

कुल में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करना कर्तव्य है। इसका मुख्य उद्देश्य विद्या का उपार्जन और व्रत का अनुष्ठान है। मनु ने ब्रह्मचारी के जीवन और उसके कर्तव्यों का वर्णन विस्तार के साथ किया है (अध्याय २, श्लोक ४१–२४४)। ब्रह्मचर्य उपनयन संस्कार के साथ प्रारंभ और समावर्तन के साथ समाप्त होता है। इसके पश्चात् विवाह करके मनुष्य दूसरे आश्रम गार्हस्थ्य में प्रवेश करता है। गार्हस्थ्य समाज का आधारस्तंभ है। "जिस प्रकार वायु के आश्रय से सभी प्राणी जीते हैं उसी प्रकार गृहस्थ आश्रम के सहारे अन्य सभी आश्रम वर्तमान रहते हैं" (मनु० ३७७)। इस आश्रम में मनुष्य ऋषिऋण से वेद के स्वाध्याय द्वारा, देवऋण से यज्ञ द्वारा और पितृऋण से संतानोत्पत्ति द्वारा मुक्त होता है। इसी प्रकार नित्य पंचमहायज्ञों—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ तथा भूतयज्ञ—के अनुष्ठान द्वारा वह समाज एवं संसार के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करता है। मनुस्मृति के चतुर्थ एवं पंचम अध्याय में गृहस्थ के कर्तव्यों का विवेचन पाया जाता है। आयु का दूसरा चतुर्थांश गार्हस्थ्य में बिताकर मनुष्य जब देखता है कि उसके सिर के बाल सफेद हो रहे हैं और उसके शरीर पर झुर्रियाँ पड़ रही हैं तब वह जीवन के तीसरे आश्रम—वानप्रस्थ—में प्रवेश करता है (मनु० ५, १६६)। निवृत्ति मार्ग का यह प्रथम चरण है। इसमें त्याग का आंशिक पालन होता है। मनुष्य सक्रिय जीवन से दूर हो जाता है, किंतु उसके गार्हस्थ्य का मूल पत्नी उसके साथ रहती है और वह यज्ञादि गृहस्थधर्म का अंशतः पालन भी करता है। परंतु संसार का क्रमशः त्याग और यतिधर्म का प्रारंभ हो जाता है (मनु० ६,)। वानप्रस्थ के अनंतर शांतचित्त, परिपक्व वयवाले मनुष्य का पारिव्राज्य (संन्यास) प्रारंभ होता है (मनु० ६, ३३)। जैसा पहले लिखा गया है, प्रथम तीन आश्रमों और उनके कर्तव्यों के पालन के पश्चात् ही मनु संन्यास की व्यवस्था करते हैं: "एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाकर, जितेंद्रिय हो, भिक्षा (ब्रह्मचर्य), बलिवैश्वदेव (गार्हस्थ्य तथा वानप्रस्थ) आदि से विश्राम पाकर जो संन्यास ग्रहण करता है वह मृत्यु के उपरांत मोक्ष प्राप्त कर अपनी (पारमार्थिक) परम उन्नति करता है (मनु० ६, ३४)। "जो सब प्राणियों को अभय देकर घर से प्रव्रजित होता है उस ब्रह्मवादी के तेज से सब लोक आलोकित होते हैं" (मनु० ६, ३६)। "एकाकी पुरुष को मुक्ति मिलती है, यह समझता हुआ संन्यासी सिद्धि की प्राप्ति के लिये नित्य बिना किसी सहायक के अकेला ही विचरे; इस प्रकार न वह किसी को छोड़ता है और न किसी से छोड़ा जाता है" (मनु० ६, ४२)। "कपाल (भग्न मिट्टी के बर्तन के टुकड़े) खाने के लिये, वृक्षमूल रहने के लिये, कुचैल (फटे वस्त्र) पहनने के लिये, असहाय (अकेले) विचरने के लिये तथा सभी प्राणियों में समता व्यवहार के लिये मुक्त पुरुष (संन्यासी) के लक्षण हैं" (मनु० ६, ४४)।

आश्रमव्यवस्था का जहाँ शारीरिक और सामाजिक आधार है, वहाँ उसका आध्यात्मिक अथवा दार्शनिक आधार भी है। भारतीय मनीषियों ने मानव जीवन को केवल प्रवाह न मानकर उसको सोद्देश्य माना था और उसका ध्येय तथा गंतव्य निश्चित किया था। जीवन को सार्थक बनाने के लिये उन्होंने चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—की कल्पना की थी। प्रथम तीन पुरुषार्थ साधनरूप से तथा अंतिम साध्यरूप से व्यवस्थित था। मोक्ष परम पुरुषार्थ, अर्थात् जीवन का अंतिम लक्ष्य था, किंतु वह अकस्मात् अथवा कल्पनामात्र से नहीं प्राप्त हो सकता है। उसके लिये साधना द्वारा क्रमशः जीवन का विकास और परिपक्वता आवश्यक है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये भारतीय समाजशास्त्रियों ने आश्रम संस्था की व्यवस्था की। आश्रम वास्तव में जीव का शिक्षणालय अथवा विद्यालय है। ब्रह्मचर्य आश्रम में धर्म का एकांत पालन होता है। ब्रह्मचारी पुष्टशरीर, बलिष्ठबुद्धि, शांतमन, शील, श्रद्धा और विनय के साथ युगोंसे उपार्जित ज्ञान, शास्त्र, विद्या तथा अनुभव को प्राप्त करता है। सुविनीत और पवित्रात्मा ही मोक्षमार्ग का पथिक हो सकता है। गार्हस्थ्य में धर्मपूर्वक अर्थ का उपार्जन तथा काम का सेवन होता है। संसार में अर्थ तथा काम के अर्जन और उपभोग के अनुभव के पश्चात् ही त्याग और संन्यास की भूमिका प्रस्तुत होती है। संयमपूर्वक ग्रहण के बिना त्याग का प्रश्न उठता ही नहीं। वानप्रस्थ आश्रम में अर्थ और काम के क्रमशः त्याग के द्वारा मोक्ष की पृष्ठभूमि तैयार होती है। संन्यास में संसार के सभी बंधनों का त्याग कर पूर्णतः मोक्षधर्म का पालन होता है। इस प्रकार आश्रम संस्था में जीवन का पूर्ण उदार, किंतु संयमित नियोजन था।

शास्त्रों में आश्रम के संबंध में कई दृष्टिकोण पाए जाते हैं जिनको तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है: (१) समुच्चय, (२) विकल्प और बाध। समुच्चय का अर्थ है सभी आश्रमों का समुचित समाहार, अर्थात् चारों आश्रमों का क्रमशः और समुचित पालन होना चाहिए। इसके अनुसार गृहस्थाश्रम में अर्थ और काम संबंधी नियमों का पालन उतना ही आवश्यक है जितना ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास में धर्म और मोक्षसंबंधी धर्मों का पालन। इस सिद्धांत के सबसे बड़े प्रवर्तक और समर्थक मनु (अ० ४ तथा ६) हैं। दूसरे सिद्धांत विकल्प का अर्थ यह है कि ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् व्यक्ति को यह विकल्प करने की स्वतंत्रता है कि वह गार्हस्थ्य आश्रम में प्रवेश करे अथवा सीधे संन्यास ग्रहण करे। समावर्तन के संदर्भ में ब्रह्मचारी दो प्रकार के बताए गए हैं: (१) उपकुर्वाण, जो ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता था और (२) नैष्ठिक, जो आजीवन गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहता था। इसी प्रकार स्त्रियों में ब्रह्मचर्य के पश्चात् सद्योद्वाहा (तुरंत विवाहयोग्य) और ब्रह्मवादिनी (आजीवन ब्रह्मोपासना में लीन) होती थीं। यह सिद्धांत जाबालोपनिषद् तथा कई धर्मसूत्रों (वसिष्ठ तथा आपस्तंब) और कतिपय स्मृतियों (याज्ञ०, लघु, हारीत) में प्रतिपादित किया गया है। बाध का अर्थ है सभी आश्रमों के स्वतंत्र अस्तित्व अथवा क्रमको न मानना अथवा आश्रम संस्था को ही न स्वीकार करना। गौतम और बौधायनधर्मसूत्रों में यह कहा गया है कि वास्तव में एक ही आश्रम—गार्हस्थ्य है। ब्रह्मचर्य उसकी भूमिका है; वानप्रस्थ और संन्यास महत्व में गौण (और प्रायः वैकल्पिक) हैं। मनु ने भी सबसे अधिक महत्व गार्हस्थ्य का ही स्वीकार किया है, जो सभी कर्मों और आश्रमों का उद्गम है। इस मत के समर्थक अपने पक्ष में शतपथ ब्राह्मण का वाक्य (एतद्वै जरामर्यसत्रं यदग्निहोत्रम्=जीवनपर्यंत अग्निहोत्र आदि यज्ञ करना चाहिए। शत० १२, ४, १, १), ईशोपनिषद् का वाक्य (कुर्वन्नेवेहि कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। ईश० २) आदि उद्धृत करते हैं। गीता का कर्मयोग भी कर्म का संन्यास नहीं अपितु कर्म में संन्यास को ही श्रेष्ठ समझता है। आश्रम संस्था को सबसे बड़ी बाधा परंपराविरोधी बौद्ध एवं जैन मतों से हुई जो आश्रमव्यवस्था के समुच्चय और संतुलन को ही नहीं मानते और जीवन का अनुभव प्राप्त किए बिना अपरिपक्व संन्यास या यतिधर्म को अत्यधिक प्रश्रय देते हैं। मनु० (६, ३५) पर भाष्य करते हुए सर्वज्ञ नारायण ने उपर्युक्त तीनों मतों में समन्वय करने की चेष्टा की है। सामान्यतः तो उनको समुच्चय का सिद्धांत मान्य है। विकल्प में वे अधिकारभेद मानते हैं, अर्थात् जिसको उत्कट वैराग्य हो वह ब्रह्मचर्य के पश्चात् ही संन्यास ग्रहण कर सकता है। उनके विचार में बाध का सिद्धांत उन व्यक्तियों के लिये ही है जो अपने पूर्वसंस्कारों के कारण सांसारिक कर्मों में आजीवन आसक्त रहते हैं और जिनमें विवेक और वैराग्य का यथासमय उदय नहीं होता।

सुसंघटित आश्रम संस्था भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। किंतु इसका एक बहुत बड़ा सार्वभौम और शास्त्रीय महत्व है। यद्यपि ऐतिहासिक कारणों से इसके आदर्श और व्यवहार में अंतर रहा है, जो मानव स्वभाव को देखते हुए स्वाभाविक है, तथापि इसकी कल्पना और आंशिक व्यवहार अपने आप में गुरुत्व रखते हैं। इस विषय पर डॉयसन (एनसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐंड एथिक्स—'आश्रम' शब्द) का निम्नांकित मत उल्लेखनीय है: "मनु तथा अन्य धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित आश्रम की प्रस्थापना से व्यवहार का कितना मेल था, यह कहना कठिन है; किंतु यह स्वीकार, करने में हम स्वतंत्र हैं कि हमारे विचार में संसार के मानव इतिहास में अन्यत्र कोई ऐसा (तत्व या संस्था) नहीं है जो इस सिद्धांत की गरिमा की तुलना कर सके।"

सं० ग्रं०—मनुस्मृति (अध्याय ३, ४, ५ तथा ६); पी० वी० काणे: हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, भाग २, खड १, पृ० ४१६-२६; भगवानदास: सायंस ऑव सोशल आर्गेनाइजेशन, भाग १; राजबली पांडेय: हिंदू संस्कार, धार्मिक तथा सामाजिक अध्ययन, चौखंभा भारती भवन, वाराणसी; हेस्टिंग्ज: एनसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐंड एथिक्स, 'आश्रम' शब्द।

[रा० ब० पां०]

आश्रव बौद्ध अभिधर्म के अनुसार आश्रव चार होते हैं—कामाश्रव, भवाश्रव, दृष्ट्याश्रव और अविद्याश्रव। ये प्राणी के चित्त में आ पड़ते हैं और उसे भवचक्र में बाँधे रहते हैं। मुमुक्षु योगी इन आश्रवों से छूटकर अर्हत् पद का लाभ करता है।

भारतीय दर्शन की दूसरी परंपराओं में भी आत्मा को मलिन करनेवाले तत्व आश्रव के नाम से पुकारे गए हैं। उनके स्वरूप के विस्तार में भेद होते हुए भी यह समानता है कि आश्रव चित्त के मल हैं जिनका निराकरण आवश्यक है। [भि० ज० का०]

आश्वलायन ऋग्वेद की २१ शाखाओं में से आश्वलायन अन्यतम शाखा है जिसका उल्लेख 'चरणव्यूह' में किया गया है। इस शाखा के अनुसार न तो आज ऋक्संहिता ही उपलब्ध है और न कोई ब्राह्मण ही, परंतु कवींद्राचार्य (१७वीं शताब्दी) की ग्रंथसूची में उल्लिखित होने से इन ग्रंथों के अस्तित्व का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। इस शाखा के समग्र कल्पसूत्र ही आज उपलब्ध हैं—आश्वलायन श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। आश्वलायन श्रौतसूत्र में बारह अध्याय हैं जिनमें होता के द्वारा प्रतिपाद्य विषयों की ओर विशेष लक्ष्य कर यागों का अनुष्ठान विहित है। इसमें पुरोऽनुवाक्या, याज्या तथा तत्तत् शास्त्रों के अनुष्ठान प्रकार, उनके देश, काल और कर्ता का विधान, स्वर-प्रतिगर-न्यूंख-प्रायश्चित्त आदि का विधान विशेष रूप से वर्णित है। नरसिंह के पुत्र गार्ग्य नारायण द्वारा की गई इस श्रौतसूत्र की व्याख्या नितांत प्रख्यात है।

आश्वलायनगृह्यसूत्र में गृह्य कर्म और षोडश संस्कारों का वर्णन किया गया है। ऋग्वेदियों की गृह्यविधि के लिये यही गृह्यसूत्र विशेष लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध है। इसकी व्यापकता का कुछ परिचय इसकी विपुल व्याख्यासंपत्ति से भी लगता है। इसके प्रख्यात टीकाग्रंथों में मुख्य ये हैं: (१) अनाविला (हरदत्त द्वारा रचित; रचनाकाल १२०० ई० के आसपास); (२) दिवाकर के पुत्र नैध्रुवगोत्रीय नारायण द्वारा रचित वृत्ति (११०० ई०); (३) देवस्वामी रचित गृह्यभाष्य (११वीं सदी का पूर्वार्ध), (४) जयंतस्वामीरचित विमलोदयमाला (८वीं सदी का अंत)। आश्वलायनगृह्य को अनेक ग्रंथकारों ने कारिका के रूप में निबद्ध किया है जो 'आश्वलायन-गृह्यकारिका' के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसे ग्रंथकारों में कुमारिल स्वामी (कुमारस्वामी ?), रघुनाथ दीक्षित तथा गोपाल मुख्य हैं। इस गृह्यसूत्र के प्रयोग, पद्धति तथा परिशिष्ट के विषय में भी अनेक ग्रंथों का समय समय पर निर्माण किया गया है। कुमारिल की गृह्यकारिका में आश्वलायनगृह्य की नारायणवृत्ति तथा जयंतस्वामी का निर्देश उपलब्ध होता है। 'आश्वलायनधर्मसूत्र' (२२ अध्यायों में विभक्त) अभी तक अप्रकाशित है। 'आश्वलायनस्मृति' के भी अभी तक हस्तलेख ही उपलब्ध हैं। यह ११ अध्यायों में विभक्त और लगभग दो सहस्र पद्योंवाला ग्रंथ है जिसके उद्धरण हेमाद्रि तथा माधवाचार्य ने अपने ग्रंथों में दिए है।

सं०ग्रं०—बलदेव उपाध्याय: वैदिक साहित्य और संस्कृति (काशी); पी० वी० काणे: हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, प्रथम खंड (पूना)। [ब० उ०]

आसंदीवंत उत्तर वैदिककाल का एक प्रसिद्ध नगर जो पश्चात्‌कालीन कुरुओं की राजधानी था। प्रधान और प्रथम कुरुराज परीक्षित का उल्लेख अथर्ववेद में अत्यंत श्लाघनीय रूप में हुआ है। परीक्षित की राजधानी आसंदीवंत बताया गया है। इस संबंध में विद्वानों का मतैक्य नहीं है कि पहली राजधानी आसंदीवंत था या हस्तिनापुर। एक परंपरा के अनुसार कुरुओं की राजधानी पहले आसंदीवंत होना चाहिए। कुरु पंचाल दो निकटवर्ती क्षत्रिय शाखाएँ थीं जिनमें से पंचाल गंगा यमुना के द्वाब में रहते थे और उनकी राजधानी कांपिल्य या कंपिला थी। [ओं०ना०उ०]

आसज्जा (रेडीनेस): 'आसज्जा' शब्द का प्रयोग साधारणतया सिद्धता के अर्थ में किया जाता है। इसका अनुमान मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धिपरीक्षाओं के आधार पर किया है। किसी भी कार्य का आरंभ करने के लिये यह आवश्यक माना गया है कि उसकी परीक्षा करके देख लिया जाय कि वह अमुक कार्य करने के लिये उपयुक्त है। इसके लिये यह आवश्यक है कि बौद्धिक स्तर मालूम किया जाय, उसके पिछले कार्यों का फल जान लिया जाय, स्वास्थ्य तथा उसका सामाजिक और भाषा संबंधी ज्ञान नाप लिया जाय।

बालकों के पढ़ने की आसज्जा पर मनोवैज्ञानिकों ने विशेष कार्य किया है। अमरीका में गेट्स तथा बेंड ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस अध्ययन का प्रयोग बालकों की प्रारंभिक शिक्षा तथा सामग्री को उचित रूप देने में किया गया है। जो लड़के पढ़ने लिखने में असफल रहे हैं उनकी शिक्षा दीक्षा में इसके द्वारा विशेष लाभ हुआ है। 'पायग्नोरिस ऐंड रेमेडिअल टीचिंग' के विषय में इस देश में भी कुछ कार्य हो रहा है तथा कई स्थानों पर विषयों के अध्ययन की आसज्जा से संबंधित परीक्षाएँ प्रमाणित की जा रही हैं। इस प्रकार की एक परीक्षा राजकीय सेंट्रल पेडागाजिक इंसटीट्यूट में हिंदी के संबंध में चलाई गई है। [शं० ना० उ०]

आसन (बैठना, बैठने का आधार, बैठने की विशेष प्रक्रिया) योगदर्शन में आसन अष्टांगयोग का तीसरा अंग माना गया है। चित्त की एकाग्रता प्राप्त करने के लिये शरीर को 'प्रयत्नपूर्वक शिथिल' करके स्थिर होना अत्यंत आवश्यक है। इस स्थिरता के बिना समाधि की अवस्था तक पहुँचना असंभव है। किंतु स्थिरता प्राप्त करने के बाद जब तक सुख का अनुभव नहीं होगा तब तक स्थिरता में मन नहीं लगेगा। अतः आसन स्थिरता तथा सुख से युक्त शरीर की अवस्था को कहते हैं। योगसूत्र में विविध आसनों का वर्णन नहीं है, किंतु व्याख्याताओं ने अनेक आसनों का वर्णन किया है जिनमें पाँच मुख्य हैं: १—पद्मासन, २. भद्रासन, ३—वज्रासन, ४—वीरासन तथा ५—स्वस्तिकासन। हठयोग में आसनों की संख्या चौरासी तक पहुँच गई है।

कामशास्त्र के अनुसार रतिक्रिया में प्रयुक्त आसनों का कामसिद्धि में महत्व है। उनकी संख्या भी चौरासी है, किंतु इनके नामों तथा प्रकारों में बहुत भेद मिलता है।

बैठने की प्रक्रिया के अलावा बैठने के आधार को भी आसन कहते हैं और इनका भी यौगिक साधना में महत्व है। गीता में 'चैलाजिनकुशोत्तरम्' आसन को ध्यान का साधक बतलाया गया है। तांत्रिक साधना में भी कामना के अनुसार आसनों का सिद्धि में महत्व है। अर्थशास्त्र में आसन शब्द पारिभाषिक है। जब दो राजा एक दूसरे का बल देखकर अपना बल बढ़ाते हुए चुपचाप अवसर की ताक में बैठे रहते हैं उस अवस्था को भी आसन कहा गया है। यह आसन राजा के षड्गुणों में से एक गुण है।

सं०ग्रं०—योगसूत्र (व्यासभाष्य); हठयोगप्रदीपिका; रतिरहस्य; भगवद्गीता; वरिवस्यारहस्य; शुक्रनीति। [रा० पां०]

आसनसोल पश्चिमी बंगाल राज्य के बर्द्धमान जिले में आसनसोल नाम का उपविभाग तथा इसी नाम का एक प्रमुख नगर है। (स्थिति २३°४१' उ० अक्षांश एवं ८६° ५९' पूर्वी देशांतर) कलकत्ता से १३२ मील उत्तर-पश्चिम में स्थित यह नगर पूर्वी रेलवे की प्रमुख लाइन ग्रैंड कार्ड तथा आसनसोल-खड़गपुर लाइन का बड़ा जंक्शन है। बिहार बंगाल के कोयले के क्षेत्र में स्थित होने एवं बड़ा जंक्शन होने के कारण यह कोयले के व्यापार का सबसे बड़ा केंद्र हो गया है। जमशेदपुर-आसनसोल क्षेत्र लौह, इस्पात, प्रमुख रासायनिक उद्योगों एवं अन्य संबद्ध उद्योगों के लिये भारत में सर्वप्रमुख हो गया है। दामोदर द्रोणी (बेसिन) में आसनसोल सबसे बड़ा नगर है। १९०१ में इसकी जनसंख्या केवल १४,९०६ थी, परंतु १९५१ ई० में बढ़कर ७६,२७७ हो गई। [का० ना० सिं०]

आसफ़उद्दौला (शासनकाल १५७५-१५९८), अवध का नवाब वज़ीर शुजाउद्दौला और उम्मुतुल जौहर का ज्येष्ठ पुत्र। पिता ने पुत्र को शिक्षित तथा सुसंस्कृत बनाने में संपूर्ण प्रयत्न किए, किंतु वह प्रकृति से विलासी और आमोदप्रिय निकल गया। गद्दीनशीन होते ही उसने अनुभवी पदाधिकारियों को पदच्युत कर अपने कृपापात्रों को पदासीन कर दिया, जिससे शासन की दुरवस्था प्रारंभ हो गई। अपनी माता के अनुशासन से बचने के लिये उसने राजधानी फैजाबाद से लखनऊ स्थानांतरित कर दी, जिसे उसने पूरे मनोयोग से सँवारा, और शीघ्र ही लखनऊ अवध की कला और संस्कृति का प्रमुख केंद्र बन गया। किंतु दरबारी कुमंत्रणाओं को और अधिक छूट मिलने लगी। उसने अपनी

शक्ति और उत्तरदायित्व पहले अपने प्रथम मंत्री मुर्तजा खाँ, जिसकी हत्या कर दी गई, और फिर अपने चौथे मंत्री हैदरअली बेग को, ज. वारेन हेस्टिंग्ज के पूर्ण प्रभाव में था, अर्पित कर दी। नवाब का ईस्ट इंडिया कंपनी से संपर्क तथा तज्जनित परिणाम उसके शासनकाल की विशिष्ट घटना थी। गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज का अवध की बेगमों के साथ दुर्व्यवहार इतिहासप्रसिद्ध है, विशेषरूप से इसलिये भी कि हेस्टिंग्ज के इस अनैतिक आचरण की उस समय ब्रिटिश पार्लमेंट में बड़ी कटु आलोचना हुई। अपने दुर्व्यसनों के कारण आसफउद्दौला पर ईस्ट इंडिया कंपनी का ऋण बढ गया। उधर कंपनी की आर्थिक दशा भी संकटाकीर्ण हो गई। अस्तु, हेस्टिंग्ज ने कंपनी की आर्थिक दशा सुधारने के लिये बेगमों से उनका निजी धन हस्तगत करने का निश्चय किया। इसके लिये इकरारनामे के विरुद्ध उसने आसफउद्दौला को बेगमों का अतिरिक्त धन अपहृत करने के लिये विवश किया तथा बेगमों और उनके नौकरों के साथ घृणित व्यवहार किया। सामर्थ्यहीन नवाब के शासन में हेस्टिंग्ज के विस्तृत हस्तक्षेप के फलस्वरूप तथा परोक्ष और अपरोक्ष रूप में अंग्रेजी प्रभुत्व और अंग्रेज साहसिकों के आधिक्य के कारण शासकीय अव्यवस्था और भी विशृंखल हो गई। किंतु आसफउद्दौला ने निस्संदेह संस्कृति, साहित्य तथा कला को विशेष रूप से स्थापत्य को अमित प्रोत्साहन दिया। लखनऊ की साजसज्जा ने दिल्ली को भी मात कर दिया। उसने प्राय चार सौ उद्यान तथा अनेक इमारतों का निर्माण किया जिनमें बड़ा इमामबाड़ा प्रमुख है। उसकी उदारता 'जिसको न दे मौला, उसको दे आसफउद्दौला' के कथन के रूप में जनस्मृति का अंश बन गई, यद्यपि वह दयाशीलता की भावना से उत्पन्न न होकर उसकी अहमन्यता, सनकीपन तथा फिजूलखर्ची का ही परिचायक थी। [रा० ना०]

आसवन आजकल आसवन शब्द पुराने अर्थ की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। भभके में वाष्पवान् द्रव्य को उड़ाना और उड़ी हुई भाप को ठंढा करके फिर चुआ लेना, यह सबकी सब प्रक्रिया आसवन कहलाती है। आसवन का उद्देश्य किसी वाष्पवान् अंश को अन्य अवाष्पवान् अंशों से पृथक् कर लेना है। विभिन्न क्वथनांकवाले वाष्पवान् द्रव्य इस विधि द्वारा एक दूसरे से पृथक् किए जा सकते हैं। पुराने समय में आसवन की इस विधि का उपयोग केवल आसवों अर्थात् मदिरा के समान पेय तैयार करने में किया जाता था, पर आजकल आसवन द्वारा अनेक रासायनिक द्रव्यों का शोधन किया जाता है। आसवन की एक साधारण परिभाषा यह है कि विलयन में से विलायक को भाप बनाकर उड़ाना और फिर उसे संघनित कर लेना। इस परिभाषा के भीतर साधारण आसवन और प्रभाजित आसवन, दोनों संमिलित हैं। आसवन से मिलती जुलती एक विधि का नाम ऊर्ध्वपातन है। ऊर्ध्वपातन में वाष्पवान् ठोस पदार्थ भभके में गरम करके उड़ाया जाता है और फिर उस भाप को ठंढा करके ठोस शुद्ध पदार्थ प्राप्त कर लिया जाता है।

लोकसाहित्य में "आसव" शब्द सुरा या मदिरा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। द्राक्षासव, उशीरासव आदि आसव आयुर्वेद ग्रंथों में प्रसिद्ध हैं। सौत्रामणी के प्रकरण में आसुता सुरा का सबसे पुराना उल्लेख यजुर्वेद के १९वें अध्याय में मिलता है। सुराधानी कुंभी वह पात्र था जिसमें तैयार की हुई सुरा रखी जाती थी। अंकुर निकले हुए धान और जौ से सुरा बनाने में सोंठ, पुनर्नवा, पिप्पली आदि ओषधियों का प्रयोग किया जाता था। लगभग तीन रात तक ये पदार्थ पानी में सड़ते रहते थे और फिर उबाल और छानकर सुरा तैयार की जाती थी।

प्रकृति में आसवन का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण समुद्र के खारे पानी में से पानी की भाप का उठना, फिर भाप का वायुमंडल के ठंढे भाग में पहुँचकर ठंढा होना और शुद्ध जल के रूप में बरसना है। वर्षा का जल एक प्रकार से शुद्ध आसुत जल है, परंतु बरसते समय यह साधारण वायुमंडल से अपद्रव्य का शोषण कर लेता है।

प्रयोगशालाओं और कारखानों में आसवन के निमित्त जिस उपकरण का प्रयोग किया जाता है उसके मुख्यतया तीन अंग होते हैं : (१) भभका, (२) संघनित्र और (३) ग्राही। भभके में वह मिश्रण रखा जाता है जिसमें से वाष्पवान् अंश पृथक् करना रहता है। ये भभके उपयोगानुसार काच, ताँबे, लोहे अथवा मिट्टी के बने होते हैं। शराब बनाने के कारखानों में बहुधा ताँबे के बने भभकों का प्रयोग होता है और प्रयोगशालाओं में काच के भभकों का। भभके के नीचे भट्ठी या गरम करने के निमित्त किसी उपयोगी साधन का प्रयोग किया जाता है। भभके में से उड़ी हुई भाप संघनित्र में पहुँचती है। संघनित्र अनेक प्रकार के प्रचलित हैं। सभी संघनित्रों का उद्देश्य यह होता है कि भाप शीघ्र से शीघ्र और भली भाँति ठंढी हो जाय। यह आवश्यक है कि संघनित्र में अधिक से अधिक पृष्ठ उस हवा या पानी के संपर्क में आए जिसके द्वारा भाप को ठंढा होना है। ताँबा गरमी का अच्छा चालक है। इसकी नलिकाएँ (पाइप) यथेष्ट पतली बन सकती हैं, अत कारखानों में अधिकतर ताँबे के ही संघनित्रों का व्यवहार किया जाता है, है। वस्तुत संघनित्र वह उपकरण है जिसमें गरम भाप एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुँचते पहुँचते ठंढी हो जाय। ठंढा करने का यह कार्य हवा अथवा पानी से लिया जाता है। जिन द्रव्यों के क्वथनांक बहुत ऊँचे हैं, उनकी भाप हवा से ठंढी की जा सकती है। इसके लिये वायुसंघनित्र काम में लाए जाते हैं। ऐल्कोहल, बेंजीन, ईथर आदि द्रवों की भापों को ठंढा करने के लिये ऐसे संघनित्रों का प्रयोग होता है जिनमें पानी के प्रवाह का प्रबंध हो। आसवन उपकरण का तीसरा अंग ग्राही है। यह वह पात्र है जिसमें भाप के ठंढा हो जाने पर बना हुआ द्रव इकट्ठा किया जा सके। ग्राही भी सुविधानुसार अनेक प्रकार के होते हैं।

संघनित्र और ग्राही
ऊपर, प्रयोगशाला के लिये उपयुक्त संघनित्र, मध्य में, ऐसा जो तीन चार गैलन जल प्रति घंटा आसवित कर सकता है [१. ठंढा करनेवाले जल की निकासी, २ स्रुत जल की निकासी, ३ गैस (ईंधन) आने की नली, ४ जल आने की नली, ५ भाप-दाब-मापी], नीचे, प्रभाजित आसवन के लिये उपयुक्त ग्राही।

तीन प्रकार के आसवन महत्वपूर्ण माने जाते हैं—प्रभाजित आसवन,

निर्वात आसवन और भंजक आसवन। **प्रभाजित आसवन** द्वारा विलयन, अर्थात् मिश्रण, में से उन द्रवों को पृथक् किया जा सकता है जिनके क्वथनांक पर्याप्त भिन्न हों। द्रवों का वाष्प प्रभाजित आसवन के संघनित्रों में इस प्रकार क्रमशः ठंढा किया जा सकता है कि ग्राही में पहले वे द्रव ही चुएँ जो सापेक्षतः अधिक वाष्पवान् हों। इस काम के लिये जिन भभकों का उपयोग किया जाता है उनमें ताप धीरे धीरे बढ़ता है।

निर्वात आसवन के लिये ऐसा प्रबंध किया जाता है कि भभके और संघनित्र के भीतर की वायु पंप द्वारा बहुत कुछ निकल जाय। विलयन के ऊपर वायु की दाब कम होने पर विलायकों का क्वथनांक भी कम हो जाता है और वे सापेक्षतः अति न्यून ताप पर ही आसवित किए जा सकते हैं।

प्रभंजक आसवन एक प्रकार का शुष्क आसवन होता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण कोयले का आसवन है। पत्थर के कोयले में पानी का अंश तो कम ही होता है, पर जब वह अधिक तप्त किया जाता है तो उसके प्रभंजन (टूटने) द्वारा अनेक पदार्थ बनते हैं जिन्हें भाप बनाकर उड़ाया और फिर ठंढा करके ठोस या द्रव किया जा सकता है। प्रभंजन में कुछ ऐसी भी गैसें बन सकती है जो ठंढी होने पर द्रव या ठोस तो न बनें, पर गैस रूप में ही जिनकी उपयोगिता हो; उदाहरणतः, संभव है, इन गैसों का उपयोग हवा के साथ जलाकर प्रकाश अथवा उष्मा पैदा करने में किया जा सकता हो। पत्थर के कोयले से प्रभंजक आसवन से इस प्रकार की गैसों के अतिरिक्त क्रियोज़ोट, नैफ्थैलीन आदि पदार्थ प्राप्त किए जा सकते हैं। मिट्टी के तेल का भी प्रभंजक आसवन किया जा सकता है।

साधारण आसवन का उपयोग इत्र तैयार करने में भी किया जाता है। (**इत्र, ऐल्कोहल** आदि शीर्षक लेख भी इस संबंध में देखिए)। इत्र तैयार करने में भाप, आसवन का प्रयोग किया जाता है। पानी की भाप के साथ साथ इत्र उड़ाए जाते हैं और संघनित्र में ठंढा करके पानी और इत्र का मिश्रण ग्राही में प्राप्त किया जाता है।

सं०ग्रं० :—थॉर्प की "डिक्शनरी ऑव एप्लाइड केमिस्ट्री"; इंटर सायंस इन्साइक्लोपीडिया, न्यूयार्क, द्वारा प्रकाशित, "इन्साइक्लोपीडिया ऑव केमिकल टेक्नॉलोजी"। [स० प्र०]

आसाम अथवा असम, गणतंत्र भारत का एक राज्य है, जो देश के उत्तर-पूर्वी सिरे पर स्थित है। आसाम का कुल क्षेत्रफल, पहाड़ी और वनजातियों के प्रदेशों को लेकर, ८५,०१२ वर्गमील है। वनजाति प्रदेश को छोड़कर आसाम की जनसंख्या सन् १९५१ में ९०,४३,७०७ थी। अनुमानतः वनजाति प्रदेश में ५,००,००० व्यक्ति रहते हैं। भौगोलिक दृष्टि से आसाम को तीन प्राकृतिक भागों में बाँटा जा सकता है: (१) उत्तर में हिमालय पर्वत की पूर्वी श्रेणियाँ। यह भाग मुख्यतः हिमालय की निचली श्रेणियों से बना हुआ है। इस भाग में १५,००० फुट से अधिक ऊँची कई चोटियाँ हैं। सबसे ऊँची चोटी नेमचाबेरवा (ऊँचाई २५,४४५ फुट) है। (२) पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व का पहाड़ी प्रदेश, जो मुख्यतः गारो, खासी, जैंतिया और उत्तरी कछार आदि पहाड़ों से बना है, हिमालय और ब्रह्मा (बर्मा) की पर्वतश्रेणियों से बने कोण में स्थित है। इन पहाड़ों के नाम वहाँ की रहनेवाली जातियों के नाम पर रखे गए हैं। इन पहाड़ों में की सबसे ऊँची चोटी 'शिलांग चोटी' है जो ६,४५० फुट ऊँची है। इस भाग को मेघालय भी कहा जाता है, क्योंकि यहाँ संसार में सबसे अधिक वर्षा होती है। (३) ब्रह्मपुत्र नदी की घाटी आसाम का मुख्य प्रदेश है और लगभग ६० मील चौड़ी है। इसके दोनों ओर ऊँचे पर्वत हैं। पूर्व और दक्षिण-पूर्व की पर्वतशृंखलाएँ आसाम और ब्रह्मा के बीच सीमा हैं। इन पर्वतों को वहाँ पर रहनेवाली नागा जाति के नाम पर नागा पर्वत कहते हैं। इन पर्वतों की सबसे ऊँची 'जाप्वो' चोटी लगभग १०,००० फुट ऊँची है।

नदियाँ—आसाम की प्रमुख नदी ब्रह्मपुत्र है। यह आसाम घाटी के उत्तरी भाग में कई सहायक नदियों का जल ग्रहण करती है, जिनमें दिबंग प्रमुख है, जो तिब्बत में सांग-पो कहलाती है। इसका उद्गम उच्च हिमालय के दूसरी ओर पश्चिम में है जहाँ यह हिमालय पर्वतश्रेणी के समांतर सैकड़ों मील बहती हुई एक खड्ढ से होकर कई जलप्रपात और तीव्र धाराएँ बनाती हुई आसाम की घाटी में आती है। दूसरी सहायक नदियाँ सुबनसिरि, बूढ़ी दिहिंग, दिसांग, घनश्री और कालांग हैं। घनश्री और कालांग की घाटियाँ मिकिर तथा रेगमाँ पर्वतों को दक्षिणी पर्वतसमूह से अलग कर देती हैं। ब्रह्मपुत्र नदी हिमालय के खड्ढों (गार्ज) से निकलकर मैदान में प्रवेश करती है तथा पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम दिशाओं में बहती है। यह गारो पहाड़ी के समीप आकर दक्षिण की ओर बहने लगती है। वर्षा ऋतु में ब्रह्मपुत्र का पाट कई मील चौड़ा हो जाता है तथा कई स्थानों पर तो सागर का सा रूप ले लेता है। उस समय इसकी विशालता देखने योग्य रहती है।

भूविज्ञान—भूविज्ञान की दृष्टि से आसाम के पर्वत की संरचना हिमालय और बर्मा दोनों की पर्वतश्रेणियों की संरचनाओं से भिन्न है। आसाम की पर्वतशृंखलाओं का अधिकतम भाग दलाश्म (नाइस) और सुभाजा (शिस्ट) से बना हुआ है। ये भाग खटी युग के स्तरों द्वारा, जो मुख्यतः कोयला युक्त बलुआ पत्थर है, ढकी हुई हैं। ये संरचनाएँ उत्तर की ओर उसी प्रकार पतली होती गई हैं जैसे समुद्रतट की ओर जल की गहराई कम होती है। ये संरचनाएँ क्रमानुसार तृतीयक चट्टानों से ढकी हुई हैं जिनमें नाणकाश्म (न्युम्युलाइट नामक जीवों के अवशेषों से बने न्यूम्युलिटिक) स्तर और कोयला युक्त चट्टानें भी हैं। इन चट्टानों में न तो हिमालयभंज है, न बर्माभंज। उत्तरी भाग में ये चट्टान समतल हैं, परंतु दक्षिणी भाग में ये एकाएक दक्षिण की ओर नीचे झुक गई हैं।

आसाम में भूकंप बहुत आते हैं। इसका मुख्य कारण यहाँ की चट्टानों तथा स्तरों का नवीन और अस्थायी होना है। सबसे बड़ा भूकंप सन् १८९७ में आया था जिसकी नाभि खासी और गारो पर्वतों में थी। इसके कारण रेल की लाइनें नष्ट भ्रष्ट हो गईं, नदियों के बहाव बदल गए, अनेक स्थानों पर भूस्खलन हुए और लगभग १,५५० व्यक्तियों की मृत्यु हुई। दूसरे मुख्य भूकंप सन् १८६९, १८८८, १९३०, १९३४ और १९५० में आए थे।

खनिज पदार्थ—आसाम में मुख्य खनिज पदार्थ कोयला और मिट्टी का तेल है। सन् १९४९ में कोयले का उत्पादन लगभग ३,५०,००० टन था। माकुम और नाजिरा से कोयला निकाला जाता है, परंतु उत्पादन घटता जा रहा है। मिट्टी का तेल उत्पन्न करनेवाले प्रमुख स्थान डिगबोई, नाहरकोटिया तथा मोरान हैं जो शिवसागर तथा लखीमपुर जिले में हैं। यहाँ से ६५० लाख गैलन तेल वार्षिक निकाला जाता है। आसाम में कोरंडम (पत्थर), मकान बनाने का पत्थर, चिकनी मिट्टी, सोना, चूने का पत्थर, नमक और सिलिमेनाइट भी कुछ मात्रा में पाए जाते हैं।

जलवायु—आसाम की जलवायु मानसूनी है और जून से सितंबर तक सबसे अधिक वर्षा होती है। वसंत ऋतु में बिजली चमकने के साथ आँधियाँ आती हैं। साधारणतः वार्षिक वर्षा ७५" होती है, यद्यपि इसमें घट बढ़ होती रहती है। खासी और जैंतिया पर्वतों की दक्षिणी ढालों पर स्थित चेरापूंजी में वर्षा का औसत ४००" से भी अधिक है। वर्ष भर सापेक्ष आर्द्रता अधिक रहती है। इसका औसत मार्च में ७६ प्रतिशत और दिसंबर में ९१ प्रतिशत रहता है। जाड़ों में पहाड़ों पर कोहरा पड़ता है। मैदान में निम्नतम ताप जनवरी में ५१° फा० और जुलाई में उच्चतम ताप ७७° फा० औसतन रहता है। इस काल में अन्य स्थानों में उच्च ताप का औसत ७४° से ८९° फा० के बीच रहता है।

जंगल—सन् १९४८-४९ में आसाम में २१,००० वर्ग मील जंगल था जिसमें ६,००० वर्गमील संरक्षित जंगल था। निचले भागों में साखू और बाँस प्रमुख हैं जिनमें साखू (साल) इन जंगलों की सबसे बहुमूल्य लकड़ी है। ऊँचे भागों में ओक और चीड़ (पाइन) बहुत है। लकड़ी, लाख, रबर तथा मसाले इत्यादि जंगल की मुख्य संपत्ति हैं।

जीवजंतु—आसाम की निचली पर्वतश्रेणियों और ब्रह्मपुत्र की घाटी में जंगली हाथी बहुतायत से पाए जाते हैं। सरकार द्वारा संचालित खेदा से हाथी पकड़े जाते हैं। साधारण व्यक्तियों को हाथी मारने या पकड़ने के लिये नीलाम द्वारा अधिकार दिए जाते हैं। ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे दलदली भाग में एक सींगवाले गैंड़े भी पाए जाते हैं। बाघ, चीते और भालू

भी बहुतायत से मिलते हैं। एक दूसरा बलशाली जानवर जंगली भैंसा या गौर मिलता है, जो कद और शक्ति में बहुत बड़ा और भयानक होता है। तरह तरह के जानवर और पक्षियों, जैसे तीतर, चकोर, पनडुब्बी आदि, ने शिकारियों के लिये आसाम को सुहावना क्रीडास्थल बना दिया है।

मिट्टी—मैदानी भाग में मिट्टी प्राचीन और नवीन जलोढ़ मृदा (अल्यूवियम) से बनी है। यह साधारणतः बलुआ प्रमृदा (लोम) है, यद्यपि चिकनी मिट्टी (क्ले) भी मिलती है। पर्वतीय मृदा में प्राणिज वस्तुएँ अधिक हैं। वयन (टेक्सचर) में मिट्टी प्रमृदा से चिकनी तक बदलती रहती है। मैदानी और पहाड़ी दोनों मिट्टियों में नाइट्रोजन और फौसफेट की पर्याप्त मात्रा रहती है, परंतु पोटाश की मात्रा कम है। अम्लीयता प्राचीनतम जलोढ़ का गुण है। आसाम घाटी का अधिकतम भाग बाढ़ से सुरक्षित और कृषीय है; वहाँ चावल, पटसन तथा चाय की खेती होती है। ऊपरी आसाम में चाय के बड़े बड़े उद्यान (प्लैटेशन, बागान) हैं। कई जगह विस्तृत रेत के मैदान है जो वर्षाकाल में पानी में डूब जाते हैं और इसलिये उनपर थोड़ी मिट्टी पड़ जाती है। तब वे चरागाह हो जाते हैं। कई जगह सीढ़ीनुमा घाट (टेरेस) हैं, जो बाढ़ से ऊपर रहते हैं।

कृषि—आसाम कृषिप्रधान प्रांत है और कृषि में स्वसंपन्न है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार ६० लाख एकड़ में फसलें उगाई जाती हैं जिसमें ९१·६ प्रति शत मैदानी, ८·३ प्रति शत पहाड़ी होती हैं। १३·३ प्रति शत में एक से अधिक फसल पैदा की जानेवाली और केवल १·६६ प्रति शत सिंचाई-वाली भूमि है। प्रमुख फसलें (लाख एकड़ों में) ये हैं : चावल ४०, फल और तरकारी ६, चाय ४, सरसों ३, दूसरे अनाज २·५ और पटसन (जूट) २। निचली ढालों पर रुई तथा तंबाकू उगाया जाता है। अब फल और तरकारी का उत्पादन पर्याप्त बढ़ गया है और इनका निर्यात आसाम के ब्रह्मपुत्र तथा सुरमा की घाटी से कलकत्ता बंदरगाह द्वारा किया जाता है।

चाय के उद्यान—आसाम चाय के उद्यानों के लिये, जिन्हें बागान भी कहते हैं, प्रख्यात है। चाय ही यहाँ की मुख्य व्यापारिक फसल है और यही आसाम की समृद्धि का मुख्य कारण है। सन् १९५६ में लगभग ८०० चाय के उद्यान थे जिनमें ५,००,००० से ऊपर व्यक्ति काम करते थे। १९५७ में ६८,००,००० पाउंड चाय तैयार की गई। इनमें से बड़े बड़े उद्यान यूरोपियनो के अधिकार में हैं। कुछ चाय के उद्यान सुरमा की घाटी में भी स्थित हैं। उद्यानों में काम करने के लिये मजदूर अन्य प्रदेशों से लाए जाते हैं और उनकी रक्षा के लिये सरकारी नियम बने हुए हैं।

यातायात—लामडिंग आसाम का बड़ा रेलकेंद्र है और यहाँ से चारों ओर रेलें गई हैं। उ० पू० सीमांत रेल प्रमुख लाइन है जो गोहाटी से लामडिंग होती हुई लीडो तक जाती है। यहाँ एक लाइन दक्षिण में चटगाँव से करीमगंज होती हुई आकर मिलती है। सन् १९५१ में रेल की कुल लंबाई १३०० मील थी। ये सब रेलें छोटी लाइन (मीटर गेज) की हैं। आसाम में एक प्रमुख सड़क (आसाम ट्रंक रोड) मैदानी भाग में है और पहाड़ी भागों में इसकी कुछ ही शाखाएँ जाती हैं। सन् १९५१ में सड़क की कुल लंबाई ३८०० मील थी। ब्रह्मपुत्र नदी में डिब्रूगढ़ तक पानी के जहाज चलते हैं।

उद्योग व्यापार—यातायात की कठिनाइयों के कारण आसाम में उद्योग व्यापार का विकास पूर्ण रूप से नहीं हो सका है। चाय के अतिरिक्त दूसरे कल-कारखानों के उद्योग कम महत्वपूर्ण हैं। रुई और रेशम (मूगा) का सूत हाथ से कातना ही मुख्य कुटीर उद्योग है। आसाम का अधिकतम व्यापार वहाँ के जलमार्गों द्वारा किया जाता है, यद्यपि रेल यातायात भी धीरे धीरे बढ़ रहा है। किंतु आजकल हवाई यातायात द्वारा भी काफी माल मँगाया तथा भेजा जाता है। ७० प्रतिशत व्यापार कलकत्ता से होता है, क्योंकि यह रेल, जल तथा हवाई जहाज यातायात से संबंधित है। अंतःप्रांतीय व्यापार सबसे अधिक बंगाल से होता है।

निवासी—आसाम की जनसंख्या अधिकतर ग्रामीण है (९८·५ प्र० श०)। प्रमुख नगर शिलांग (जनसंख्या ५३,७५६) है, जो राज्य की राजधानी तथा स्वास्थ्यवर्धक नगर है। दूसरे मुख्य नगर गौहाटी (४३,-६१५), डिब्रूगढ़ (३७,९९१), सिलचर (३४,०५९), नौगाँव (२८,२५७) तथा जोरहाट (१६,१६४) हैं। आसाम के लोग कई जाति और धर्म के हैं और कई भाषाएँ बोलते हैं। सन् १९४१ में दो मुख्य धर्म, हिंदू (४० लाख) और मुसलमान (३५ लाख) थे। सन् १९४७ से मुसलमानों की संख्या मुसलमान प्रधान सिलहट जिले के पाकिस्तान में चले जाने से बहुत कम हो गई। कुछ भागों में सन् १९४९ से प्रारंभिक शिक्षा अनिवार्य हो गई है। सन् १९५१ में प्राथमिक और माध्यमिक पाठशालाओं में ८,७५,००० विद्यार्थी थे और गौहाटी विश्वविद्यालय में ७,९०० विद्यार्थियों के नाम लिखे गए थे। आसाम की भाषा आसामी कहलाती है। यह संस्कृत से निकली भाषाओं में से एक है और बँगला से बहुत मिलती है, परंतु इसमें अनेक शब्द तिब्बती और बर्मी के भी हैं। यह भाषा बहुत प्राचीन है। १५वीं शताब्दी में इस भाषा में बहुत साहित्य लिखा गया था जो बुरांजी, अर्थात् इतिहास के नाम से प्रख्यात है। सन् १८७३ से आसामी आसाम की राज्यभाषा रही है। [रा० लो० सिं०]

आसाम की जातियाँ—आसाम की आदिम जातियाँ संभवतः भारत-चीनी जत्था के विभिन्न अंश हैं। भारत-चीनी जत्थे की जातियाँ कई समूहों में विभाजित की जा सकती हैं। प्रथम खासी हैं जो आदिकाल में उत्तर-पूर्व से आए हुए निवासियों के अवशेष मात्र हैं। दूसरे समूह के अंतर्गत दिमासा (अथवा पहाड़ी कचारी), बोदों (या मैदानी कचारी), रामा, कारो, लालूग तथा पूर्वी उपहिमालय में दफ्ला, मिरी, अबोर, अप्पाटानी तथा मिश्मी जातियाँ हैं। तीसरा समूह लुशाई तथा कुकी जातियों का है, जो दक्षिण से आकर बसी हैं तथा मैनपुरी और नागा जातियों में मिल गई हैं। कचारी, रामा तथा बोदो हिमालय के ऊँचे घास के मैदानों में निवास करते हैं। कोच, जो मंगोल जाति के हैं, आसाम के निचले भागों में रहते हैं। गोपाल-पारा में ये राजवंशी के नाम से प्रसिद्ध हैं। सालोई कामरूप की प्रसिद्ध जाति है। नदियाल या डोम यहाँ की मछली मारनवाली जाति है। नवशाखा जाति के सदस्य तेली, ग्वाला, नापित (नाई), बरई, कुम्हार तथा कमार (लोहार) हैं। आधुनिक युग में यहाँ पर चाय के बाग में काम करनेवाले बंगाल, बिहार, उड़ीसा तथा अन्य प्रांतों से आए हुए कुलियों की संख्या प्रमुख हो गई है। [न० ला०]

आसीर

आसीर पश्चिमी अरब का एक प्रदेश है जो १७° ३१′ से २१° ०′ उत्तर अक्षांश तक तथा ४०° ३०′ से ४५° ०′ पूर्व देशांतर तक फैला हुआ है। इसके उत्तर में हेजाज, पश्चिम में लाल समुद्र, दक्षिण में यमन तथा पूर्व में नेज्द प्रदेश है। इस प्रदेश के दो भाग किए जा सकते हैं। पहला तो समुद्रतटीय मैदान, जो लगभग २५ मील चौड़ा है। इसकी पूर्वी सीमा पर भूमि धीरे धीरे पहाड़ों में परिणत हो जाती है। दूसरा पठार, जो इन पहाड़ों से आरंभ होकर नेज्द प्रदेश तक चला गया है। आसीर की लंबाई लगभग २३० मील और चौड़ाई १८० मील है।

इस प्रदेश के मुख्य बंदरगाह जिज़ान और मैदी है। जिज़ान समुद्र-तटीय मैदान की, जिसे तिहामा कहते है, राजधानी है और पर्वतीय प्रदेश की राजधानी आभा है। पठार के पूर्वी भाग में बिशा, रान्या और तुराबा नामक घाटियाँ हैं जो घनी बसी हैं। पश्चिमी भाग की मुख्य घाटियों में खामिस मुशैत तथा वादी शहराँ है। पहाड़ों के निवासी स्वतंत्रताप्रमी तथा कष्टसहिष्णु हैं। ये इस्लाम धर्म के वहाबी संप्रदाय के कट्टर अनु-यायी है। पूर्वी भाग में कहतान नाम की जाति बसती है जिसका मुख्य निवास रान्या की घाटी है।

सन् १९१४ ई० के पूर्व यह प्रदेश तुर्की के अधिकार में था, यद्यपि पहाड़ी भागों के लोग प्रायः स्वतंत्र थे। सन् १९२६ ई० में यह वहाबी संरक्षकता में आ गया और अंत में १९३३ में यह सऊदी अरब के राज्य में मिला लिया गया। एक वर्ष पश्चात् यमन और सऊदी अरब में युद्ध आरंभ हो गया जिसका अंत तैफ की संधि से हुआ। इस संधि के अनुसार नज़रा के मरू-द्यान सहित आसीर प्रदेश सऊदी अरब का एक भाग हो गया।

[न० कि० प्र० सिं०]

आसेन ईवर

आसेन ईवर (१८१३-९६) नार्वे के भाषावैज्ञानिक; जन्म सैंडमोर (नार्वे) में। वहाँ के लोकजीवन, साहित्य और गीतों का ईवर ने गहरा अध्ययन किया था। उसी लोकभाषा को कुछ हेरफेर कर एक नई लोकभाषा को इन्होंने जन्म दिया जो अत्यंत लोकप्रिय हुई। बाद के सभी लोकजीवन पर लिखनेवाले विद्वानों ने इसी

को अपनाया। कुछ उत्साही वर्ग इसी को राजभाषा बनाने के पक्ष में थे। साहित्य के इतिहास में ग्रासेन ही ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने एक ऐसी नवीन भाषा का निर्माण किया जो इतनी जनप्रिय भी हुई। [सि० च०]

ग्रास्टिन यह टेक्सास राज्य की राजधानी तथा प्रमुख नगर है। यह हाउहस्टन से ७६ मील उत्तर-पूर्व में, ५०२ फुट से ७०० फुट तक की ऊँचाई पर, कोलरैडो नदी के किनारे बसा है। इसके पश्चिम में ऊँची पहाड़ियाँ हैं जो पूरब की तरफ ढालुग्राँ हैं। यह राष्ट्रीय सड़क पर पड़ता है तथा यहाँ से मोटरों, बसों ग्रौर ट्रकों से चारों ग्रोर जाने के साधन हैं। यहाँ की जलवायु समशीतोष्ण है। यह कृषिक्षेत्र में पड़ता है जहाँ ग्रनाज, कपास, चारा, पशुग्रों को खिलाए जानेवाले ग्रनाज, फल तथा सब्जी की खेती होती है ग्रौर गाय, भेड़, बकरी ग्रौर कुक्कुट पाले जाते हैं।

ग्रास्टिन थोक व्यापार तथा उद्योग धंधों का एक प्रमुख व्यावसायिक केंद्र है। यहाँ मांस को डब्बे में बंद करना, चूना-पत्थर खोदना, मकानों के लिये बने पत्थर, ईंट ग्रौर खपड़े, लकड़ी के सामान, कंक्रीट के पाइप, डीजल इंजन, खाने के तथा चमड़े के सामान इत्यादि प्रमुख व्यवसाय हैं। यहाँ शिक्षा तथा ग्रामोद प्रमोद की सुविधाएँ हैं। इस शताब्दी के शुरू से इस नगर ने बहुत प्रगति की है। इसकी जनसंख्या १८५० में ६२६, १९०० में २२,२५० तथा १९५० में १,३१,९६४ थी। [नृ० कु० सिं०]

ग्रास्टिन, जॉन एक ग्रंग्रेज न्यायज्ञ; जन्म ३ मार्च, सन् १७९० ई० को इंग्लैंड के इप्सविच नामक स्थान में; माता-पिता के ज्येष्ठ पुत्र। जॉन सेना में भरती हुए ग्रौर सन् १८१२ ई० तक वहाँ रहे। फिर सन् १८१८ ई० में वकील हुए ग्रौर नारफोक सरकिट में प्रवेश किया।

जॉन ने सन् १८२५ ई० में वकालत छोड़ दी। उसके बाद लंदन विश्वविद्यालय की स्थापना होने पर वह न्यायशास्त्र के शिक्षक नियुक्त हुए। विधिशिक्षा की जर्मन प्रणाली का ग्रध्ययन करने के लिये वह जर्मनी गए। वह ग्रपने समय के बड़े बड़े विचारकों के संपर्क में ग्राए जिनमें सविग्नी, मिटरमायर एवं श्लेगल भी थे। ग्रास्टिन के विख्यात शिष्यों में जॉन स्टुग्रर्ट मिल थे। सन् १८३२ ई० में उन्होंने ग्रपनी पुस्तक 'प्राविंस ग्रॉव जूरिसप्रूडेन्स डिटरमिंड' प्रकाशित की। सन् १८३४ ई० में ग्रास्टिन ने इनर टेंपिल में न्यायशास्त्र के साधारण सिद्धांत एवं ग्रंतर्राष्ट्रीय विधि पर व्याख्यान दिए। दिसंबर, सन् १८५९ ई० में ग्रपने निवासस्थान वेब्रिज में मरे।

ग्रॉस्टिन ने एक ऐसे संप्रदाय की स्थापना की जो बाद में विश्लेषणीय संप्रदाय कहा जाने लगा। उनकी विधिसंबंधी धारणा को कोई भी नाम दिया जाय, वह निस्संदेह विशुद्ध विधि विधान के प्रवर्तक थे। ग्रास्टिन का मत था कि राजनीतिक सत्ता कुलीन या संपत्तिमान् व्यक्तियों के हाथों में पूर्णतया सुरक्षित रहती है। उन का विचार था कि संपत्ति के ग्रभाव में बुद्धि ग्रौर ज्ञान ग्रकेले राजनीतिक क्षमता नहीं दे सकते। ग्रास्टिन के मूल प्रकाशित व्याख्यान प्रायः भूले जा चुके थे जब सर हेनरी मेन ने, इनर टेंपिल में न्यायशास्त्र पर दिए गए ग्रपने व्याख्यानों से उनके प्रति पुनः ग्रभिरुचि पैदा की। मेन इस विचार के पोषक थे कि ग्रास्टिन की देन के ही फलस्वरूप विधि का दार्शनिक रूप प्रकट हुग्रा, क्योंकि ग्रास्टिन ने विधि तथा नीति के भेद को पहचाना था ग्रौर उन मनोभावों को समझाने का प्रयास किया था जिनपर कर्तव्य, ग्रधिकार, स्वतंत्रता, क्षति, दंड ग्रौर प्रतिकार की धारणाएँ ग्राधारित थीं। ग्रास्टिन ने राजसत्ता के सिद्धांत को भी जन्म दिया तथा वस्त्वधिकार ग्रौर व्यक्तिगत ग्रधिकार के ग्रंतर को समझाया। [वा० मु०]

ग्रास्टिन, जेन ग्रंग्रेजी कथासाहित्य में ग्रास्टिन का विशिष्ट स्थान है। इनका जन्म सन् १७७५ ई० में इंग्लैंड के स्टिवेंटन नामक छोटे से गाँव में हुग्रा था। माँ बाप के सात बच्चों में ये सबसे छोटी थीं। इनका प्रायः सारा जीवन ग्रामीण क्षेत्र के शांत वातावरण में ही बीता। सन् १८१७ में इनकी मृत्यु हुई। प्राइड ऐंड प्रेजुडिस, सेंस ऐंड सेंसिबिलिटी, नार्देंजर ग्रबी, एमा, मैंसफील्ड पार्क तथा परसुएशन इनके छः मुख्य उपन्यास हैं। कुछ छोटी मोटी रचनाएँ वाट्संस, लेडी सूसन, सडिशन ग्रौर लव ऐंड फ्रेंडशिप उनकी मृत्यु के सौ वर्ष बाद सन् १९२२ ग्रौर १९२७ के बीच छपीं।

जेन ग्रास्टिन के उपन्यासों में हमें १८वीं शताब्दी की साहित्यिक परंपरा की ग्रंतिम झलक मिलती है। विचार एवं भावक्षेत्र में संयम ग्रौर नियंत्रण, जिनपर हमारे व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन का संतुलन निर्भर करता है, इस क्लासिकल परंपरा की विशेषताएँ थीं। ठीक इसी समय ग्रंग्रेजी साहित्य में इस परंपरा के विरुद्ध रोमानी प्रतिक्रिया बल पकड़ रही थी। लेकिन जेन ग्रास्टिन के उपन्यासों में उसका लेशमात्र भी संकेत नहीं मिलता। फ्रांस की राज्यक्रांति के प्रति भी, जिसका प्रभाव इस युग के ग्रधिकांश लेखकों की रचनाग्रों में परिलक्षित होता है, ये सर्वथा उदासीन रहीं। इंग्लैंड के ग्रामीण क्षेत्र में साधारण ढंग से जीवनयापन करते हुए कुछ इने गिने परिवारों की दिनचर्या ही उनके लिये पर्याप्त थी। दैनिक जीवन के साधारण कार्यकलाप, जिन्हें हम कोई महत्व नहीं देते, उनके उपन्यासों की ग्राधारभूमि हैं। ग्रसाधारण या प्रभावोत्पादक घटनाग्रों का उनमें कतई समावेश नहीं।

जेन ग्रास्टिन की रचनाएँ कोरी भावुकता पर मधुर व्यंग्य से ग्रोतप्रोत हैं। स्त्री-पुरुष-संबंध उनके उपन्यासों का केंद्रबिंदु है, लेकिन प्रेम का विस्फोटक रूप वे कहीं भी नहीं प्रदर्शित करतीं। उनके नारी पात्रों का दृष्टिकोण इस विषय में पूर्णतया व्यावहारिक है। उनके ग्रनुसार प्रेम की स्वाभाविक परिणति विवाह एवं सुखी दांपत्य जीवन में ही है।

शिक्षा देने या समाजसुधार की प्रवृत्ति जेन ग्रास्टिन में बिलकुल नहीं थी। ग्रपने ग्रासपास के साधारण जीवन की कलात्मक ग्रभिव्यक्ति ही उनका ध्येय थी। ग्रन्य दृष्टिकोणों से भी उनका क्षेत्र सीमित था। फिर भी उनके उपन्यासों में मानव जीवन की नैसर्गिक ग्रनुभूतियों का व्यापक दिग्दर्शन मिलता है। कला एवं रूपविधान की दृष्टि से भी उनके उपन्यास उच्च कोटि के हैं।

सं०ग्रं०—डेविड सेसिल, लॉर्ड : जेन ग्रास्टिन; कॉर्निश, फ्रांसिस वारेन : जेन ग्रास्टिन (इंग्लिश मेन ग्रॉव लेटर्स सीरीज); स्मिथ, गोल्डविन : लाइफ ग्रॉव जेन ग्रास्टिन; सीमूर, बीट्रिस बीन : जेन ग्रास्टिन; स्टडी फार ए पोर्ट्रेट; लैसेल्स, मेरी : जेन ग्रास्टिन ऐंड हर ग्रार्ट। [तु० ना० सिं०]

ग्रास्ट्राखाँ यूरोपीय रूस का एक नगर जो वोल्गा नदी के बाएँ किनारे, डेल्टा के सिरे पर, समुद्रतल से ५० फुट नीचे बसा है (४६° २२′ उ० ग्र०; ४८° ६′ पू० दे०)। साल में तीन से लेकर चार महीने तक यहाँ का पानी जमकर बर्फ हो जाता है। यह कैस्पियन सागर पर स्थित बंदरगाह तथा ताब्रीज से रेलवे द्वारा संबद्ध है। ताब्रीज यहाँ से दक्षिण-पश्चिम में १४५ मील दूर है। ग्रास्ट्राखाँ का मुख्य निर्यात मछली (कैवियर), तरबूजा तथा शराब है। ग्रनाज, नमक, धातु, कपास तथा ऊनी सामान भी बाहर भेजा जाता है। भेड़ों के नवजात मेमनों के चमड़े, जिन्हें इस नगर के नाम पर ग्रास्ट्राखाँ कहते हैं, यहाँ से निर्यात किए जाते हैं। शहर तीन भागों में विभाजित है : (१) 'क्रेम्ल' या पहाड़ी किला, जहाँ ईंटों का एक कथीड्रल (गिरजाघर) है, (२) 'ह्वाइट टाउन', जिसमें प्रशासकीय ग्रॉफिस तथा बाजार है ग्रौर (३) उपनगरी, जिसमें लकड़ी के मकान तथा टेढ़ मेढ़े रास्ते हैं। १९१९ ई० में यहाँ विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। यहाँ पर प्राविधिक विद्यालय, संग्रहालय, खुले स्थान तथा सर्वसाधारण के लिये उद्यान हैं। पहले यह नगर तातार राज्य की राजधानी था ग्रौर वर्तमान स्थिति से ७ मील उत्तर में स्थित था, परंतु तैमूर द्वारा १३९५ में नष्ट किए जाने पर ग्राधुनिक स्थान पर बसा। ईवान चतुर्थ ने तातारों को १५५६ ई० में निष्कासित कर दिया। १८वीं शताब्दी में यह नगर ईरानियों द्वारा लूटा गया था। कई बार इस नगर में भीषण ग्राग लगी, १८३६ ई० में हैजे द्वारा बड़ी क्षति हुई ग्रौर १९२१ में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। इसकी ग्राबादी १९५६ ई० में २,७६,००० थी। [नृ० कु० सिं०]

ग्रास्ट्रियन साहित्य जर्मन साहित्य से मूल का नाता होते हुए भी ग्रास्ट्रियन साहित्य की निजी जातिगत विशेषताएँ हैं; जिनके निरूपण में ग्रास्ट्रिया की भौगोलिक तथा ऐतिहासिक परि-

स्थितियों के अतिरिक्त काउंटर रिफ़र्मेशन (१६वीं शताब्दी के प्रोटेस्टेंट ईसाइयों के सुधारवादी आंदोलन के विरुद्ध यूरोप में ईसाई धर्म के कैथॉलिक संप्रदाय के पुनरुत्थान के लिए हुआ आंदोलन) और पड़ोसी देशों से घनिष्ठ, किंतु विद्वेषपूर्ण संबंधों का भी हाथ रहा। इसके साथ साथ आस्ट्रिया पर इतालीय तथा स्पेनी संस्कृतियों का भी गहरा प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप यह देश एक अति अलंकृत साहित्य एवं संस्कृति का केंद्र बन गया।

काउटर रिफ़र्मेशन काल में वीनीज़ जनता का राष्ट्रीय स्वभाव एवं मनोवृत्तियाँ सजग होकर निखर आई थीं। इस नवचेतना ने आस्ट्रियाई साहित्य के जर्मन चोले को उतार फेंका। भावुक, हास्यप्रिय एवं सौंदर्यप्रेमी वीनीज़ जनता प्रकृति, संगीत तथा सभी प्रकार की दर्शनीय भव्यता की पुजारी है। उसकी कलादृष्टि बहुत पैनी है। जीवन की दुःखदायी परिस्थितियों से वह दूर भागती है। उसके आकर्षण और तन्मयता के केंद्र हैं जीवन के सुखद राग रंग। आत्मा परमात्मा, जीवन मरण, लोक परलोक के गंभीर दार्शनिक विवेचन से वह विरक्त है। फिर भी वह अतिशयोक्ति से दूर रहकर समन्वय और संतुलन में आस्था रखती है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व और उपरांत जीवन के प्रति यह घोर आसक्ति आस्ट्रिया के साहित्य में प्रवाहित थी, किंतु द्वितीय महायुद्ध ने उसे बहुत कुछ चकित और कुंठित कर दिया है। फिर भी आस्ट्रियाई साहित्य आज तक भी उदारमना और मानवतावादी है।

मध्ययुग मे आस्ट्रिया के कैरिंथिया और स्टायर प्रदेशों में भजन और वीरकाव्य साहित्य में प्रमुख रहे। वीरकाव्य को विएना के राजदरबार में प्रश्रय मिला। किंतु काव्य दरबारी नहीं हुआ। मध्यकालीन राष्ट्रीय महाकाव्यों के निर्माण में आस्ट्रिया प्रमुख के साथ साथ स्टायर तथा टीरोल प्रदेशों ने भी विशेष योग दिया। वाल्तेयर फ़ॉन डेयर फ़ोगलवीड और नीथार्ट इस युग के महारथी महाकाव्यकार हुए। मध्ययुगीन महाकाव्य के काल को सम्राट् माक्सीमिलियन प्रथम (मृत्यु सन् १५१९ ई०) ने अनावश्यक रूप से विलंबित किया, यद्यपि साहित्य में मानवतावाद की चेतना जगाने का श्रेय भी उसी को है। मध्ययुग का अंत होते न होते आस्ट्रियाई साहित्य पर यथार्थवाद और व्यंग्य का भी रंग चढ़ने लगा था।

निरंतर धार्मिक संघर्षों, आंतरिक तथा विदेशी राजनीतिक कठिनाइयों के कारण आस्ट्रियाई साहित्य में निष्क्रियता के एक दीर्घयुग का सूत्रपात हुआ। तत्पश्चात् अलंकृत शैली के युग ने जन्म लिया जो दक्षिण जर्मनी की देन थी और जो साहित्य, स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत आदि सभी ललित कलाओं पर छा गई। धार्मिक क्षेत्र में यह जेसुइट्स की प्रभुता का युग था और राजनीतिक क्षेत्र में सम्राटों के कट्टर स्वेच्छाचारी शासन का काल। यह स्थिति स्पेन के प्रभाव के परिणामस्वरूप हुई। नाटक पर इतालीय प्रभाव पड़ा जो १९वीं शताब्दी तक रहा। इसी प्रभाव के कारण आस्ट्रियाई नाटक प्रथम बार अपने साहित्यिक रूप में उभरकर आया।

१८वीं शताब्दी के मध्य में आफ़क्लेयरुंग (ज्ञानोदय) आंदोलन आस्ट्रिया में प्रविष्ट हुआ, जिसने उत्तरी और दक्षिणी जर्मनी के काउंटर रिफ़र्मेशन से चले आए साहित्यिक मतभेदों को कम किया। इस समन्वयवादी प्रवृत्ति का ऐतिहासिक प्रतिनिधि जोननफ़ेल्स (सन् १७३३-१८१७ ई०) है, जिसके साहित्य में स्थायी तत्व का अभाव होते हुए भी उसकी सदाशयता महत्वपूर्ण है। इस आंदोलन का एक अन्य महत्वपूर्ण परिणाम सन् १७७६ ई० में 'बुर्ग थियेटर' की स्थापना है जिसका प्रसिद्ध नाटककार कॉलिन हुआ।

आस्ट्रियाई साहित्य का स्वर्ण युग 'फ़ारम्येर्ज़' (रोमानी) आंदोलन से प्रारंभ हुआ जिसके प्रवर्तक श्लेगेल बंधु हैं। यह रोमानी आंदोलन अंग्रेजी तथा अन्यान्य यूरोपीय साहित्यों में बाद को शुरू हुआ। बानर्नफ़ेल्ड, रैंमड, नैस्ट्राय, ग्रुइन, लेनाफ़, स्टल्ज़हामर आदि इस युग के अन्य मान्य लेखक हैं। स्टिफ़लर (सन् १८६८ ई०) और विश्वविख्यात ग्रिलपार्ज़र (सन् १८७२ ई०) रोमानी युग तथा आनेवाले स्वाभाविक उदारतावादी युग को मिलानेवाली कड़ी थे। आस्ट्रिया में प्रवसित जर्मन हैबल, लाउबे, बिलब्रांड तथा आस्ट्रियाई क्विन ब्यर्गर, शींडलर, हामरलिंग, एबनेयर, ऐशिनबाख़, सार, रोज़ेग्येर, आज़िनग्रूबर आदि स्वाभाविक उदारतावादी प्रवृत्ति के प्रमुख लेखक हुए।

आधुनिक आस्ट्रियाई साहित्य का प्रादुर्भाव नवरोमानी प्रवृत्ति को लेकर सन् १८८० ई० में हुआ। इस नवीन प्रवृत्ति का प्राबल्य सन् १९०० ई० तक ही रहा, किंतु इस युग ने सर्वतोमुखी प्रतिभासंपन्न महान् लेखक हेयरमान ब्हार को जन्म दिया।

सन् १९०० से १९१९ ई० तक यथार्थवाद तथा रोमांसवाद के समन्वय का युग रहा। सन् १९१९ ई० में अभिव्यक्तिवाद का प्रादुर्भाव हुआ। पूर्वोक्त तीनों प्रवृत्तियाँ समकालीन जर्मन साहित्य से प्रभावित थीं। किंतु आस्ट्रियाई यथार्थवाद सहज और सौम्य था, जर्मन यथार्थवादी होल्ज़ तथा श्लाफ़ के साहित्य की भाँति उग्र नहीं।

आस्ट्रियाई गीतिकाव्य के 'प्रौढ़ आधुनिक' कवियों में ह्यूगो हाफ़मांसठाल सर्वश्रेष्ठ गीतिकार हुए। यह राइनलैंडर स्टीफ़न ग्यार्ग (सन् १८०९-१९०२ ई०) प्रणीत उग्र यथार्थवाद के विरोधी स्कूल के प्रमुख कवि थे। आंग्ल कवि स्विनबर्न से इनकी तुलना की जा सकती है। दिन-प्रति-दिन के जीवन के प्रति आभिजात्यसुलभ उदासीनता, जटिल असामान्य आध्यात्मिक तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिये व्याकुल अधीरता और सूक्ष्म सौंदर्य की खोज इनके काव्य की विशेषताएँ हैं। यह भव्य कल्पना एवं संपन्न भाषा के धनी थे। अपनी शैली के यह राजा थे। सम्यक् दृष्टि से इनकी तुलना हिंदी के महान् कवि श्री सुमित्रानंदन पंत से की जा सकती है। इनसे प्रभावित गीतिकारों में स्टीफ़ेन ज़्विग, व्लाडीमीर. हार्टलीब, हांस फ्लूलर, अल्फ़ेड गुडवाल्ड, ओटोहांसर, फ़ेलिक्स ब्राउन, पाउल व्यर्टहाइमर, मार्क्स मैल और भावोन्मादी कवि आंटोन वील्डगांस सुप्रसिद्ध हैं।

अभिव्यक्तिवादी वर्ग के अल्बर्ट ऐहरेंस्टीन, फ्रांज व्यर्फ़ेल, ग्योर्ग, ट्राक्ल, कार्ल शासलाइटनर, फ़ेड्रिख श्वेफ़ोग्ल आदि कवियों ने जहाँ छंदों के बंधनों और तर्क की कारा को तोड़ा, वहाँ समस्त विश्व और मानवता के प्रति अपने काव्य में असीम प्रेम भी अभिव्यक्त किया, वाल्ट ह्विटमैन तथा फ्रांसीसी सर्वस्वीकृतिवादियों की भाँति प्रबल व्यंग्यकार कवि कार्ल क्राउस, चित्रकार कवि यूरिल बिर्नबाउम, श्रमिक कवि आलफ़ोन्ज़ पैट्शील्ड और पीटर आल्टेनब्यर्ग (जिसके लघु 'गीतगद्य' अनिर्वचनीय सौंदर्य तथा बालसुलभ बुद्धिमत्ता से ओतप्रोत हैं और जो अपने जीवन और कला में अत्यंत मौलिक भी हैं—'युगवाणी' के गीतगद्यकार पंत जी के समान ही) के काव्य वस्तुचिंतन में पूर्वोक्त कविसमूह से बहुत समानता मिलती है।

पूर्वोक्त वादों से स्वतंत्र अस्तित्व रखनेवाले, किंतु पुराने रोमांसवादियों के अनुयायी कवियों में रिचर्ड क्रालिक, कार्ल फ़ॉन गिज़के, रिचर्ड शाकल, धार्मिक कवयित्री ऐनरिका हांडिल माज़ेटी, श्रीमती ऐरिका स्पान राइनिश और टिरोलीज़ कवि आर्थर वालपाख़, कार्ल डोलागो तथा हाइनरिश शूलर्न महत्वपूर्ण हैं।

स्वाभाविकतावादी उपन्यासकारों में आर्थर श्नित्ज़लर (सन् १८६२-१९३१ ई०) तथा जैकब वासरमान (सन् १८७३-१९३४ ई०) अद्वितीय और अमर हैं। महानगरों का आधुनिक जीवन ही उनकी कथावस्तु है। किंतु जहाँ श्नित्ज़लर मात्र व्यक्तिगत समस्याओं का कलाकार था, वहाँ वासरमान सामाजिक प्रश्नों का भी चितेरा है।

आस्ट्रियाई उपन्यास का दूसरा चरण सन् १९०८ ई० में श्निज़लर के विरोध में 'केलयार्ड' आंदोलन के रूप में उठा। इस वर्ग के उपन्यासकारों ने नगरों से अपनी दृष्टि हटाकर कस्बों और ग्रामों में रहनेवाले जनसाधारण पर केंद्रित की। स्टायर प्रांत का निवासी रोडाल्फ़ हांस बार्ट्श इस नवीन दल का महान् उपन्यासकार हुआ। कविश्रेष्ठ हाफ़मांसठाल के समान ही बार्ट्श भी प्रचुर कल्पना और भव्य शैली का स्वामी था, प्राकृतिक दृश्यों के शब्दचित्रांकन में तो यह उपन्यासकार आस्ट्रियाई साहित्य में अनुपम है।

घोर स्वाभाविकतावादियों के कारण आस्ट्रिया में ऐतिहासिक उपन्यास अनाथ रहा। परंतु प्रथम महायुद्ध से किंचित् पहले दार्शनिक लेखकद्वय, इर्विन कोलबनहेयर तथा ऐमिल लूका ने इस विषय पर अपनी अपनी लेखनी उठाई। विचारों की गहराई, जगमगाती चित्रात्मक शैली और कथावस्तु की कुशल संयोजना ने इसके ऐतिहासिक उपन्यासों को महान् साहित्य की कोटि में ला रखा है। जर्मन 'गाईस्ट' (राष्ट्रीय आत्मा) के ऐतिहासिक विकास पर एक सफल उपन्यासमाला होलबाउम ने लिखी।

प्रथम महायुद्ध तथा परवर्ती उपन्यासकार जीवन के प्रति क्लांत उदासीनता, उत्तेजक नकारात्मकता अथवा प्राणशक्ति की प्रबल स्वीकारोक्ति आदि विविध परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के पोषक हैं। धार्मिक, आध्यात्मिक तथा रहस्यवादी विषय पुन: उपन्यास की कथावस्तु बन गए। आतंक तथा वेल्सवाद (प्रसिद्ध आंग्ल उपन्यासकार एच०जी०वेल्स की समस्त दु:खदोषों से मुक्त अति आदर्श मानव समाज की परिकल्पना) से पूर्ण उपन्यास भी रचे जाने लगे। ओट्टो सोयक्का, फ़ाज, स्पुंडा, राउल बूसोन आदि उपन्यासकार इसी वर्ग के हैं। किंतु इसी युग में रूडोल्फ क्रेउत्ज़ भी हुआ जिसने युद्ध के नितांत विनाश तथा शांति का प्रतिपादन किया। इस दृष्टि से हम क्रेउत्ज़ को लियो ताल्स्ताय की परंपरा का अति आधुनिक उपन्यासकार कह सकते हैं।

आस्ट्रियाई नाटक साहित्य में दो दल स्पष्ट रहे। प्रथम तो स्वाभाविकतावादी श्नित्ज़लर का था, जिसके प्रधान उपकरण नवरोमांसवाद अथवा हॉफ़मांसठाल की नवालंकृत शैली थे और जो उच्च तथा उच्च मध्यवर्गीय समाज की शृंगारिक समस्याओं पर सुखद मनोरंजक नाटक रचते थे। ब्हार, साल्टिन, मूलर, वर्टहाइमर, साइगफ़ाइड, ट्रेबित्श और कुर्त फ़ाइब्यर्गर इसी दल के प्रतिष्ठित नाटककार हुए। दूसरा दल आदिम शक्तिमत्ता में आस्था रखता था और अति यथार्थवादी नाटकों की रचना करता था। इसके नेता कार्ल शूनहेयर हुए।

हाफ़मांसठाल के नाटक 'प्रत्येक व्यक्ति' (सन् १९१२ ई०) से प्रभावित होकर नाटककार म्यल और ग्योर्ग ने मध्ययुगीन 'नैतिकतावादी' नाटक को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया।

क्रूर स्वाभाविकातावाद के विरोधी वाइल्डगांस के नाटक आनंदित अभिव्यक्तिवाद के जनक थे और यद्यपि युद्धपूर्वकाल में प्रारंभ हुए थे, तथापि आस्ट्रियन साम्राज्यवादी व्यवस्था का ह्रास होने के बाद भी युद्धोत्तरकाल में लोकप्रिय रहे। रचनाकार के अहं को उच्चासीन करके वाइल्डगांस ने आस्ट्रियाई नाटक को रूप-वस्तु-विषयक रूढ़ियों की शृंखला से मुक्त कर दिया। व्यर्फल इस नवीन धारा के सबसे महान् मौलिक नाटककार स्वीकृत हुए। जिस 'वीन बुर्गथियाटर' ने जर्मन नाटकसाहित्य तथा मंच कला का नेतृत्व किया, उसका प्रबल प्रतिद्वंद्वी 'डेयर जोसफ़स्टाड' स्थित माक्स राइनहार्ड का थियेटर सिद्ध हुआ। राइनहार्ड के ही प्रयत्नों के फलस्वरूप आज साल्ज़बुर्ग में वार्षिक नाटकोत्सव होता है जो आस्ट्रियाई साहित्य तथा संस्कृति का गौरव है। [कां० चं० सौ०]

आस्ट्रिया मध्य यूरोप के दक्षिणी-पूर्वी भाग में एक छोटा गणतांत्रिक राज्य है। स्थिति: १०° १′ पूर्वी से १६° ४०′ पूर्वी देशांतर तथा ४६° ३२′ उ० से ४८° ५५′ उत्तरी अक्षांश के बीच। क्षेत्रफल: ३२,३६६ वर्ग मील (जिसमें ६२·३ प्रति शत भूमि पर्वतीय है।) जनसंख्या: ६९,३३,९०५ (१९५१ ई०)।

देश के उत्तर में जर्मनी तथा चेकोस्लोवाकिया, दक्षिण में यूगोस्लाविया तथा इटली, पूर्व में हंगरी और पश्चिम में स्विट्ज़रलैंड के देश हैं।

आस्ट्रिया में पूर्वी आल्प्स की श्रेणियाँ फैली हुई हैं। इस पर्वतीय देश का पश्चिमी भाग विशेष पहाड़ी है जिसमें ओट्ज़लरस्टुवाई, जिलरतुल आल्प्स (१२४६ फुट) आदि पहाड़ियाँ हैं। पूर्वी भाग की पहाड़ियाँ अधिक ऊँची नहीं हैं। देश के उत्तर-पूर्वी भाग में डैन्यूब नदी पश्चिम से पूर्व को (२१७ मील लंबी) बहती है। ईन, द्रवा आदि देश की सारी नदियाँ डैन्यूब की सहायक हैं। उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर स्थित कांस्टैंस, दक्षिण-पूर्व में स्थित न्यूडिलर तथा अतर अल्फ गैंग, आसे आदि झीलें देश की प्राकृतिक शोभा बढ़ाती हैं।

आस्ट्रिया की जलवायु विषम है। यहाँ गर्मियों में कुछ अधिक गर्मी तथा जाड़ों में अधिक ठंढक पड़ती है। यहाँ पछुआ तथा उत्तर-पश्चिमी हवाओं से वर्षा होती है। आल्प्स की ढालों पर पर्याप्त तथा मध्यवर्ती भागों में कम पानी बरसता है।

यहाँ की वनस्पति तथा पशु मध्य यूरोपीय जाति के हैं। यहाँ देश के ३८ प्रति शत भाग में जंगल है जिनमें ७१ प्रति शत चीड़ जाति के, १९ प्रति शत पतझड़वाले तथा १० प्रति शत मिश्रित जंगल हैं। आल्प्स के भागों में
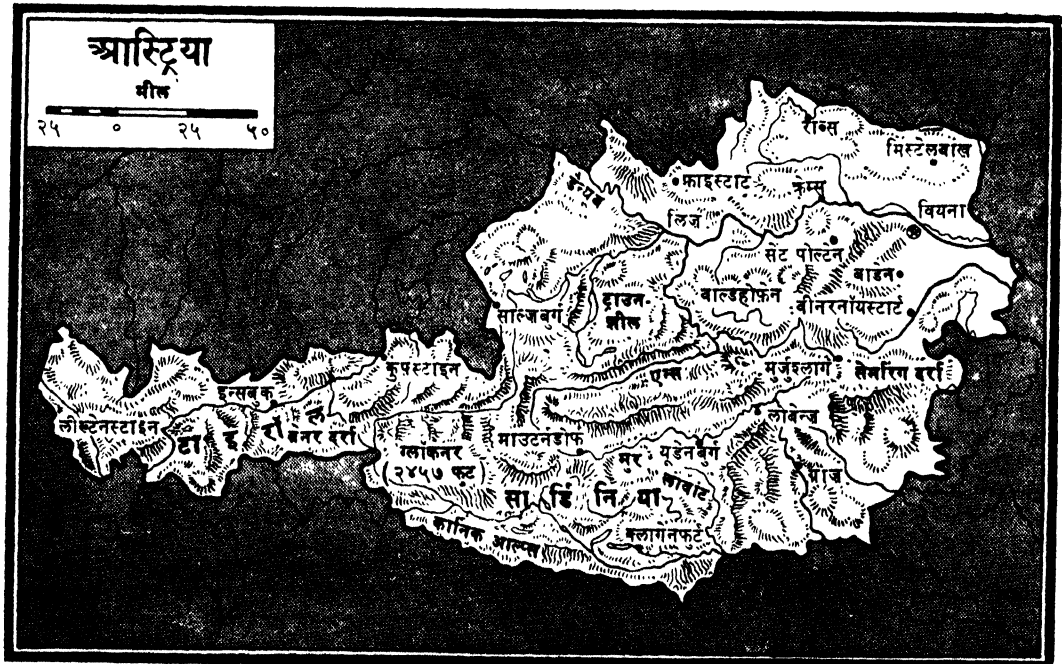
स्प्रूस (एक प्रकार का चीड़) तथा देवदारु के वृक्ष तथा निचले भागों में चीड़, देवदारु तथा महोगनी आदि जंगली वृक्ष पाए जाते है। ऐसा कहा जाता है कि आस्ट्रिया का प्रत्येक दूसरा वृक्ष सरो है। इन जंगलों में हिरन, खरगोश, रीछ आदि जंगली जानवर पाए जाते हैं।

देश की संपूर्ण भूमि के २८ प्रति शत पर कृषि होती है तथा ३० प्रति शत पर चरागाह है। जंगल देश की बहुत बड़ी संपत्ति है, जो शेष भूमि को घेरे हुए है। १९५३ ई० में लकड़ी निर्यात करनेवाले देशों में आस्ट्रिया का छठा स्थान था और यहाँ से संसार के कुल काष्ठनिर्यात का ५·३ प्रति शत निर्यात हुआ था।

ईर्जबर्ग पहाड़ के आसपास लोहे तथा कोयले की खानें हैं। शक्ति के साधनों में जलविद्युत् ही प्रधान है। खनिज तैल १९५२ ई० में लगभग ३०,००,००० टन निकाला गया था। यहाँ नमक, ग्रैफाइट तथा मैगनेसाइट पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। मैगनेसाइट तथा ग्रैफाइट के उत्पादन में आस्ट्रिया का संसार में क्रमानुसार दूसरा तथा चौथा स्थान है। ताँबा जस्ता तथा सोना भी यहाँ पाया जाता है। इन खनिजों के अतिरिक्त अनुपम प्राकृतिक दृश्य भी देश की बहुत बड़ी संपत्ति हैं।

आस्ट्रिया की खेती सीमित है, क्योंकि यहाँ केवल ४·५ प्रति शत भूमि मैदानी है, शेष ९२·३ प्रति शत पर्वतीय है। सबसे उपजाऊ क्षेत्र डैन्यूब की पार्श्ववर्ती भूमि (विना का दोआबा) तथा र्बाजनलैंड है। यहाँ की मुख्य फसलें राई, जई (ओट), गेहूँ, जौ तथा मक्का हैं। आलू तथा चुकंदर यहाँ के मैदानों में पर्याप्त पैदा होते हैं। नीचे भागों में तथा ढालों पर चारेवाली फसलें पैदा होती हैं। इनके अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों में तीसी, तेलहन, सन तथा तंबाकू पैदा किया जाता है। पर्वतीय फल तथा अंगूर भी यहाँ होता है। पहाड़ी क्षेत्रों में पहाड़ों को काटकर सीढ़ीनुमा खेत बने हुए हैं। उत्तरी तथा पूर्वी भागों में पशुपालन होता है तथा यहाँ से वियना आदि शहरों को दूध, मक्खन तथा पनीर पर्याप्त मात्रा में भेजा जाता है। जोरारलबर्ग देश का बहुत बड़ा संघीय पशुपालन केंद्र है। यहाँ बकरियाँ, भेड़ें तथा सुअर पर्याप्त पाले जाते हैं जिनसे मांस, दूध तथा ऊन प्राप्त होता है।

आस्ट्रिया की औद्योगिक उन्नति महत्वपूर्ण है। उद्योग धंधों में, १९३७ ई० से १९५२ ई० तक देश में १० गुना उन्नति हुई है। यहाँ लोहा, इस्पात तथा सूती कपड़ों के कारखाने देश में फैले हुए हैं जिनमें ७,००० से अधिक लोग लगे हुए हैं। रासायनिक वस्तुएँ बनाने के बहुत से कारखाने हैं। यहाँ धातुओं के छोटे छोटे सामान, घड़ियाँ, सुई, कैंची, चाकू, साइकिल तथा मोटर साइकिल बनाने के कारखाने मुरमुज की घाटी में हैं। वियना में विविध प्रकार की मशीनें तथा कल पुर्जे बनाने के कारखाने हैं। लकड़ी के सामान, कागज की लुग्दी, कागज एवं वाद्ययंत्र बनाने के कारखाने यहाँ के अन्य बड़े धंधे हैं। जलविद्युत् का विकास खूब हुआ है। देश को पर्यटकों से भी पर्याप्त लाभ होता है।

पहाड़ी देश होने पर भी यहाँ सड़कों (५५,२२७ मील) तथा रेलवे लाइनों (६,००६ मील) का जाल बिछा हुआ है। वियना यूरोप के प्रायः सभी नगरों से संबद्ध है। यहाँ छः हवाई अड्डे हैं जो वियना, लिंज सैल्वर्ग, ग्रेज, क्लागेनफर्ट तथा इंसब्रुक में है। आस्ट्रिया का व्यापारिक संबंध जर्मनी, इटली, ब्रिटिश द्वीपसमूह, स्विट्ज़रलैंड, संयुक्त राज्य (अमरीका) ब्राज़ील, अर्जेंटीना, तुर्की, भारत तथा आस्ट्रेलिया से है। यहाँ से निर्यात होनेवाली वस्तुओं में इमारती लकड़ी का बना सामान, लोहा तथा इस्पात, रासायनिक वस्तुएँ और काच मुख्य हैं। देश में निरक्षरता नहीं है। प्रारंभिक शिक्षा निःशुल्क तथा अनिवार्य है। विभिन्न विषयों की उच्चतम शिक्षा के लिये आस्ट्रिया का बहुत महत्व है। वियना, ग्रेज तथा इंसब्रुक में संसार-प्रसिद्ध विश्वविद्यालय हैं।

आस्ट्रिया में गणतंत्र राज्य है। यूरोप के ३६ राज्यों में, विस्तार के अनुसार, आस्ट्रिया का स्थान १९वाँ है। यह ९ प्रांतों में विभक्त है। वियना प्रांत में स्थित वियना नगर देश की राजधानी है। आस्ट्रिया की संपूर्ण जनसंख्या का ⅓ भाग वियना में रहता है जो संसार का २२वाँ सबसे बड़ा नगर है। यहाँ की जनसंख्या १५,००,००० (१९४६ ई०) है। अन्य बड़े नगर ग्रेज (२,२६,४५३), लिंज (१,८४,६८५), सैल्जबर्ग (१,०२,९२७) इंसब्रुक (९५,०५५) तथा क्लाजेनफर्ट (६२,७८२) हैं।

अधिकांश आस्ट्रियावासी काकेशीय जाति के हैं। कुछ आलेमनों तथा बवेरियनों के वंशज भी हैं। देश सदा से एक शासक देश रहा है, अतः यहाँ के निवासी चरित्रवान् तथा मैत्रीपूर्ण व्यवहारवाले होते हैं। यहाँ की मुख्य भाषा जर्मन है जो, केवल २,००,००० लोगों के अतिरिक्त, सभी बोलते हैं।

आस्ट्रिया का इतिहास बहुत पुराना है। लौहयुग में यहाँ इलिरियन लोग रहते थे। सम्राट् आगस्टस के युग में रोमन लोगों ने देश पर कब्जा कर लिया था। हूण आदि जातियों के बाद जर्मन लोगों ने देश पर कब्जा कर लिया था (४३५ ई०)। जर्मनों ने देश पर कई शताब्दियों तक शासन किया, फलस्वरूप आस्ट्रिया में जर्मन सभ्यता फैली जो आज भी वर्तमान है। १९१९ ई० में आस्ट्रियावासियों की प्रथम सरकार हैप्सबर्ग राजसत्ता को समाप्त करके, समाजवादी नेता कार्ल रेनर के प्रतिनिधित्व में बनी। १९३८ ई० में हिटलर ने इसे महान् जर्मन राज्य का एक अंग बना लिया। द्वितीय विश्वयुद्ध में इंग्लैंड आदि देशों ने आस्ट्रिया को स्वतंत्र करने का निश्चय किया, किंतु देश को वास्तविक स्वतंत्रता २७ जुलाई, १९५५ ई० को प्राप्त हुई।

[ह० ह० सिं०]

आस्ट्रिया का इतिहास

प्रारंभिक रूपरेखा : आस्ट्रिया के इतिहास का वर्णन करते समय यूरोप के कई देशों का इतिहास सामने आ जाता है। मुख्य रूप से जिनका इस संबंध में पूर्ण वर्णन होता है वे हैं इटली, चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड, हंगरी, रोमानिया, यूगोस्लाविया और रूस आदि। कारण इसका यह है कि हैब्सबर्ग जैसे महान् परिवार ने एक लंबे अरसे तक इनपर राज्य किया है।

आस्ट्रिया देश इतिहास के प्रारंभकाल से ही मनुष्यों द्वारा आबाद रहा है। इसकी प्राचीन सभ्यता के चिह्न हालटाल में पाए जाते हैं। ईसा से चार सौ वर्ष पूर्व आस्ट्रिया देश में कबीलों की बस्ती रही। इन कबीलों ने बोहिमिया, हंगरी और आल्प्स की पहाड़ियों पर अपना अधिकार जमा लिया। पहली शताब्दी में रोमनों ने आल्प्स की पहाड़ी पार की और इसको अपने पैरों से रौंद डाला। ४८७ ई० में हूणों ने उसपर आक्रमण किया, इसके पश्चात् स्लाव तथा जर्मन कबीलों ने अधिकार जमाया। शार्लमान ने इसको फिर अपने राज्य में संमिलित किया। यह काल ८११ ई० का था। इस प्रकार यह एक शताब्दी तक जर्मन राज्य में रहा। ९७६ ई० में यहाँ बैबिनबर्ग परिवार का प्रभाव बढ़ा। यहीं से आस्ट्रिया का राजनीतिक इतिहास जन्म लेता है। इस परिवार का राज्यकाल १२४६ तक रहा और छठे ल्यूपोल्ड के पुत्र द्वितीय फ्रेडरिक की मृत्यु के पश्चात् इस परिवार का अंत हो गया।

१२७३ से आस्ट्रिया देश पर हैब्सबर्ग परिवार का प्रभाव पड़ा जो १९१८ तक बना रहा। इस बड़े अर्से में यह भिन्न भिन्न रूप धारण करता रहा, जिसके कारण इसका इतिहास बड़ा ही वैचित्र्यपूर्ण एवं रोमांटिक हो गया है। आस्ट्रिया की महत्ता एक इसी बात से जानी जा सकती है कि जिस समय आस्ट्रिया के राजकुमार की हत्या हुई उस समय यूरोप में तहलका मच गया और इसी कारण प्रथम महायुद्ध की नींव पड़ी।

राजगद्दी के लिये लड़ाई—१७४० ई० में छठे चार्ल्स का देहांत हो गया। प्रशा के फ्रेडरिक ने अवसर पाकर उसके उत्तरीय भाग पर आक्रमण कर दिया। चार्ल्स की इस बात से सबकी आँखें खुल गईं। फ्रांस ने यह देखा तो प्रशा के साथ मिल गया। ब्रिटेन ने मेरिया थेरेसा की सहायता करने का वायदा कर लिया। इधर प्रशा और फ्रांस ने चार्ल्स के खूब कान भरे।

अंत में वही परिणाम हुआ और लड़ाई छिड़ गई। मेरिया थेरेसा के सैनिकों ने बड़ी वीरता दिखाई, मगर साइलेशिया में उनको मुंह की खानी पड़ी हंगरी की भी सहायता उन्हें समय पर मिल गई, जिसके कारण वे आस्ट्रिया की ओर से लड़े। फ्रांसीसियों ने बड़ी मुश्किल से अपनी जान बचाई।

आस्ट्रिया और फ्रांस की शत्रुता यूरोप भर में प्रसिद्ध रही। फिर भी यह शत्रुता समय की कठिनाई देखकर मित्रता में बदल गई। इधर फ्रांस और आस्ट्रिया एक हुए और उधर ब्रिटेन और प्रशा के राजा फ्रेडरिक एक हो गए। इस प्रकार अलग अलग दल पदा हो गए। बड़ी बड़ी शक्तियोंवाले इस बागी दल ने यूरोप भर में हलचल मचा दी। इसने फिर एक संकट और संघर्ष का रूप धारण कर लिया जिसने यूरोप में तीस वर्षीय युद्ध को जन्म दिया।
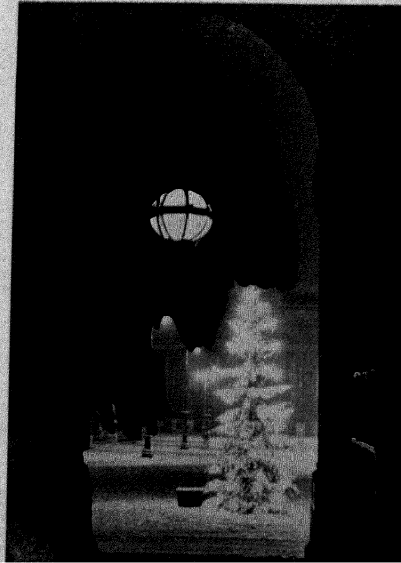
ग्रास्ट्रिया के कुछ प्रसिद्ध स्थान

ऊपर बाईं ग्रोर बैडगैस्टाइन नामक नगर की एक सडक, ऊपर दाहिनी ग्रोर "बर्ग थियेटर" नामक प्रसिद्ध नाट्यशाला का एक गलियारा, नीचे बाईं ग्रोर वियेना मे सम्राट के प्रासाद का प्रागरण, नीचे दाहिनी ग्रोर क्रिसमस का दृश्य वियेना की नगर-महाशाला (टाउनहॉल) के सामने का खुला स्थान (ग्रास्ट्रिया के दूतावास के सौजन्य से)।
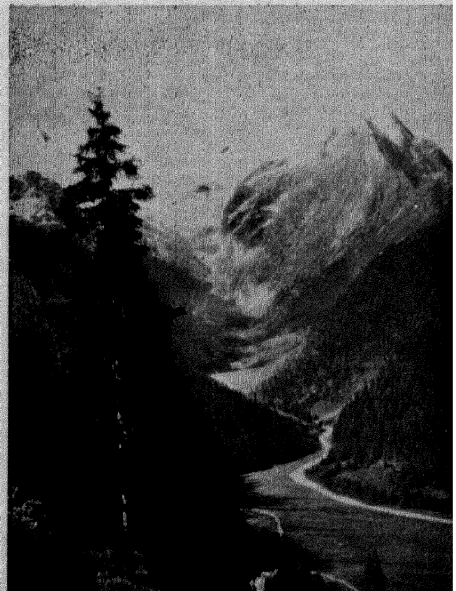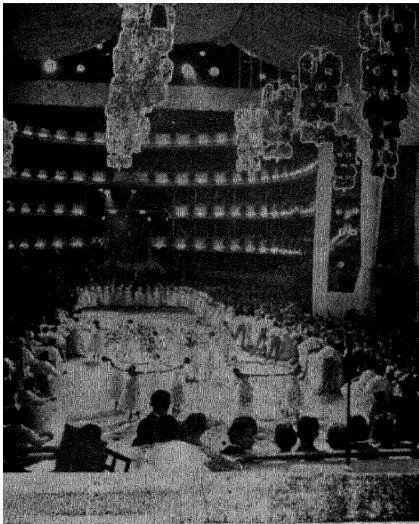
आस्ट्रिया के कुछ दृश्य

ऊपर बाईं ओर वियना की राज्य-संगीत-नाट्यशाला, ऊपर दाहिनी ओर अपने राष्ट्रीय पहिनावे में आस्ट्रिया के किसान, नीचे बाईं ओर वियना की राज्य-संगीत-नाट्यशाला का गोष्ठी-कक्ष, नीचे दाहिनी ओर लीसन घाटी (आस्ट्रिया के दूतावास के सौजन्य से)

आस्ट्रिया और पुरुषा—आस्ट्रिया और पुरुषा का संयुक्त मोर्चा भी यूरोप के इतिहास में बड़ी ही महत्ता रखता है। इन्होंने मिलकर फ्रांस पर आक्रमण किया। इनकी सेना की बागडोर ड्यूक आव ब्रंजविक के हाथों में थी। फ्रांस ने मार खाई और सरहदी इलाके इनके कब्जे में आ गए, मगर विशेष रूप से कोई सफलता नहीं हुई। अभी वे आरगोंस की पहाड़ियों के करीब ही थे कि ड्यूकमोरीज़ जिस सेना का नायकत्व कर रहे थे उससे वाल्मी के स्थान पर लड़ाई हुई। इस बीच ब्रांस्विक की सेना बीमार पड़ गई, उसने सुलह की बातचीत की और जर्मनी की सरहद से गुजरकर राइन पार कर ली। इस लड़ाई का कोई विशेष परिणाम नहीं हुआ, फिर भी नैपोलियन के लिये उसने रास्ते खोल दिए।

आस्ट्रिया और फ्रांस—धीरे धीरे ऐसा मालूम हुआ कि फ्रांस के विरोध में जो संयुक्त मोर्चा बना है, वह टूट गया। १७९४ ई० की फ्रांसीसी सफलता ने पुरुषा की आँखें खोल दीं और १७९५ में बैसेल की संधि हुई जिसमें पुरुषा की शक्ति उत्तरीय जर्मनी में मान ली गई। स्पेन भी अलग हो गया और अब केवल ब्रिटेन और आस्ट्रिया रह गए। अब फ्रांसीसियों ने अपनी सारी शक्ति आस्ट्रिया की ओर लगा दी।

एक सेना वायना की ओर दानूब होती हुई बढ़ी और दूसरी आस्ट्रिया के इटलीवाले हिस्से की तरफ चली। नैपोलियन ने अपनी सारी शक्ति खर्च कर दी। उसने सारदीनिया के राजा को मजबूर कर दिया कि वह आस्ट्रिया के दल से निकल आए। उसके पश्चात् उसने मिलान पर कब्जा कर लिया। इटली के लोगों ने उसका अभिनंदन किया और आस्ट्रिया राज्य के विरोधी हो गए। इसके पश्चात् नैपोलियन ने मैंटुआ नगर पर भी कब्जा कर लिया जहाँ आस्ट्रिया का दुर्ग था। पाँच भिन्न भिन्न सेनाएँ दुर्ग को बचाने के लिये भेजी गईं, परंतु सबकी हार हुई। रीवोली स्थान पर जनवरी, १७९७ की इस हार से आस्ट्रिया के पैर उखड़ गए। इस महीने फ्रांसीसियों का अधिकार मैंटुआ पर भी हो गया। लेकिन नैपोलियन ने अपनी स्थिति सुरक्षित न देखकर एक संधि की जो अक्टूबर, १७८७ की ट्रीटी ऑव कैंप फारमिस के नाम से विख्यात है। इसमें आस्ट्रिया को वीनिस का राज्य दे दिया गया। फिर भी यह मित्रता बहुत दिनों तक न चल सकी क्योंकि आस्ट्रियन और उनके साथी इटली के उत्तरी भाग पर अपना कब्जा किए हुए थे। नैपोलियन ने १७९९ में इटली पर आक्रमण करने की सोची जिसमें जेनरल मोरिए दानूब की ओर से आस्ट्रिया पर आक्रमण करनेवाला था। अंत में नैपोलियन विजयी हुआ। उसन मिलान पर अधिकार जमा लिया और जेनोवा की ओर बढ़ा। जून में मेरेज नामक स्थान पर लड़ाई छिड़ी। यह देखकर आस्ट्रिया ने संधि का संदेश भेजा। फरवरी, १८०१ में ल्यूनेवाइक की संधि हुई और उसकी शर्त के अनुसार आस्ट्रिया अपने इटलीवाले इलाकों से हाथ धो बैठा।

इसके पश्चात् २ दिसंबर, १८०५ को नैपोलियन ने फिर आस्ट्रेलिट्ज़ की लड़ाई में आस्ट्रिया को हराया और वाइना उसके अधिकार में आ गया। आस्ट्रिया दिसंबर, १९०५ में प्रेसवर्ग की संधि करने पर विवश हो गया। इस प्रकार आस्ट्रिया की लगातार हार से पवित्र रोम साम्राज्य का भी अंत हो गया जो ओटो के काल, अर्थात् दसवीं शताब्दी से चला आ रहा था। इसके बाद सारदीनिया के राजा चार्ल्स अल्बर्ट की लड़ाई आस्ट्रियन जेनरल रादेज़की से हुई। अंत में वह हार गया। जुलाई, १८१८ में उसकी हार कस्टोजा नामक स्थान पर हुई। इसीलिये आस्ट्रिया को अपने इटली के इलाके वापिस मिल गए।

आस्ट्रिया और हंगरी—आस्ट्रिया और हंगरी की समस्या भी बड़ी महत्ता रखती है। इन दोनों के बीच यह बात हमेशा रही कि दोनों के बीच मतदान किस प्रकार हो। बहुत सोचने के बाद १९०७ में एक बिल पास हुआ जिससे आस्ट्रिया के रहनेवालों को, जिनकी आयु २४ वर्ष से अधिक थी, मताधिकार दिया गया। फलस्वरूप जर्मनों को अधिक सीटें मिलीं और चेक बहुत थोड़ी संख्या में आए। इसीलिये चेकों को बोहीमिया में और पोलों को गैलीसिया में यह अधिकार दिया गया। परंतु राष्ट्रीय समस्या अपने स्थान पर न रही। हंगरी की यही इच्छा थी कि मगयार राष्ट्र की महत्ता छोटी कौम पर बनी रहे, परंतु यह भी न हो पाया।

आस्ट्रिया और तुर्की—आस्ट्रिया का संबंध तुर्क राष्ट्र के साथ भी रहा है। राजनीतिज्ञों की दृष्टि में बलकान की बड़ी महत्ता है। रूस और आस्ट्रिया इसके पड़ोसी होने के नाते इसमें दिलचस्पी रखते थे और ब्रिटेन अपने व्यापार के कारण रूम के महासागर में दिलचस्पी रखता था। ये देश आपस में मिले और १८७७ में रूस ने तुर्की को चेतावनी दे दी। अंत में लड़ाई हुई और तुर्की अपनी वीरता के बावजूद भी हार गया। फलस्वरूप सैटिफनों की संधि हुई और रोमानिया, मांटीनिगरो तथा सर्बिया स्वतंत्र देश हो गए और बास्नियाँ, हर्जीगोविना आदि आस्ट्रिया के अधीन हो गए।

प्रथम महायुद्ध की नींव भी आस्ट्रिया ने ही डाली। २८ जून, १९१४ में आस्ट्रिया की राजगद्दी पर बैठनेवाला राजकुमार सेराजेवो में मार डाला गया। रूस स्लोवानिक देशों का बलकान में निरीक्षक था। इसीलिए वह आस्ट्रिया को रोकने के लिये तैयार बैठा था। जर्मनी आस्ट्रिया की सहायता करने लगा। फ्रांस रूस से मुलाहिजे में बँधा था, इसीलिए अलग भी नहीं हो सकता था। यही कारण प्रथम महान् युद्ध का बना।

आस्ट्रिया और इटली—आस्ट्रिया का इतिहास इटली के इतिहास से भी संबंधित है।१९१६ का काल इटली के इतिहास में उसकी हार जीत की कहानी है। आस्ट्रिया ने पहले इटलीवालों को ट्रेनटीनो तक ढकेल दिया, परंतु बाद में स्वयं ही पीछे हट गए। इसी वर्ष अगस्त में जेनरल कोडर्ना ने बैनिसेज के एक भाग पर अधिकार जमा लिया और बहुत से लोगों को बंदी बना लिया। परंतु इनका नुकसान अधिक हुआ। आस्ट्रिया न यह कमजोरी देखते हुए जनरल केडोरना पर सेपारेट नामक स्थान पर हमला किया। इटली की हार हुई। आस्ट्रिया ने इस लड़ाई में २,५०,००० आदमी बंदी बनाए और वेनिस तक चढ़ आया। ब्रिटेन और फ्रांस की समय पर सहायता पहुँच जाने से वेनिस हाथ से नहीं जाने पाया।

आस्ट्रिया का पतन—१८६६ से जर्मनी की जो महत्ता बनी चली आ रही थी, उसका पतन हो गया। जो नई सरकार बनी उसने ११ नवंबर, १९१८ में सुलह के पैगाम भेजे। आस्ट्रिया की शक्ति उस समय तक खत्म हो गई थी। इटली अब फिर विजयी हो चुका था। अक्टूबर में जेनरल डेज़ ने इस पर आक्रमण किया और आस्ट्रियन भाग खड़े हुए। हजारों की संख्या में बंदी इटली के हाथ पड़े। इस प्रकार इनका पतन हो गया।

आस्ट्रिया के महान् राष्ट्र का अंत—१९१८ के बाद इस बड़े राज्य का बिलकुल ही अंत हो गया। इतना बड़ा राज्य संसार के नकशे पर से देखते देखते उड़ गया। हैप्सबर्ग परिवार, जो आस्ट्रिया, हंगरी, यूगोस्लाविया, रोमानिया, पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया जैसे बड़े राज्यों पर हुकूमत करता चला आ रहा था, समाप्त हो गया। [मु० अ० अं०]

आस्ट्री भाषाएँ

आस्ट्री भाषाएँ श्मित आदि कुछ भाषाविज्ञानियों ने प्रशांत महासागर के द्वीपों में बोली जानेवाली कुछ भाषाओं को एक परिवार में रखा है और उस परिवार को यह नाम दिया है। इसमें वे निम्नलिखित भाषाओं को संमिलित मानते हैं : मोन, ख्मेर, जावी, मलय और इनके पूर्व में मलेनेशियाई और पॉलीनेशियाई परिवार, पश्चिम में बर्मी का कुछ भाग, असम प्रदेश की कुछ भाषाएँ और मुंडा भाषाएँ।

[बा० रा० स०]

आस्ट्रेलिया

आस्ट्रेलिया संसार के महाद्वीपों में सबसे छोटा महाद्वीप है। यूरोपियनों को इसका पता डचों द्वारा लगा। १७वीं शताब्दी के आरंभ में डच लोग इसके पश्चिमी तट पर पहुँचने लगे। उन्होंने इसको 'न्यू हालैंड' नाम दिया। सबसे महत्वपूर्ण यात्रा १६४२ ई० में एबिल टसमान ने की थी जो डच द्वीपसमूह के गवर्नर वान डी मैन के आदेशानुसार इस महाद्वीप की जानकारी के लिये निकला था। उसकी यात्रा से लगभग यह निश्चित हो गया कि 'न्यू हालैंड' एक द्वीप है। टसमान के न्यूज़ीलैंड पहुँच जाने के कारण उसे महाद्वीप के महत्वपूर्ण पूर्वी तट का पता नहीं लग सका। लगभग १३० वर्ष पश्चात् (१७७० ई०) अंग्रेज यात्री जेम्स कुक कई वैज्ञानिकों सहित महाद्वीप के पूर्वी तट का पता लगाने में सफल हुआ। उसने ही हौवे अंतरीप से टारेस जलडमरुमध्य तक के तट की खोज की। परंतु महाद्वीप की पहली आबादी की नींव १७८८ ई० में रखी गई, जब कप्तान फिलिप ७५० कैदियों को लेकर बाटनी खाड़ी पर उतरे। यह आबादी पोर्ट जैक्सन पर, जहाँ अब सिडनी है, बसाई गई थी। महाद्वीप की खोज करनेवाले यात्रियों में फ्लिडर्स का कार्य महत्वपूर्ण है

जिसने १८०२ ई० में महाद्वीप के चारों ओर इनवेस्टिगटर नामक जहाज में चक्कर लगाया। जलवायु और धरातल की दृष्टि से पूर्वी तट के अतिरिक्त अन्य भाग गोरे लोगों के अनुकूल नहीं हैं। इस कारण बहुत समय तक कहीं और नई आबादी न बस सकी। पूर्वी पहाड़ी श्रेणियों को पार करने में कठिनाई होने के कारण महाद्वीप के भीतरी भाग की भी विशेष जानकारी न हो सकी। १८१३ ई० में लासन, ब्लैक्सलैंड और वेंटवर्थ नामक व्यक्तियों ने इन पर्वतश्रेणियों को पार कर पश्चिमी मैदानों की खोज की। १८२८ ई० में कप्तान स्टवार्ट ने डार्लिंग नदी की खोज की। महाद्वीप की जनसंख्या आरंभ में बहुत ही धीरे धीरे बढ़ी। १८५१ ई० में स्वर्ण मिलने के पूर्व महाद्वीप की जनसंख्या लगभग ४,००,००० थी। आस्ट्रेलिया के राजनीतिक विभाग निम्नलिखित हैं:

न्यूसाउथ वेल्स, विक्टोरिया, क्वींसलैंड, दक्षिणी आस्ट्रेलिया, पश्चिमी आस्ट्रेलिया एवं तस्मानिया। इनके अतिरिक्त उत्तरी प्रदेश (नॉर्दर्न टेरिटरी) एक केंद्रशासित राजनीतिक विभाग है।

आस्ट्रेलिया महाद्वीप ११३° ९′ पूर्व से १५३° ३९′ पूर्व देशांतरों और १०° ४१ तथा ४३° ३९′ दक्षिण अक्षांश के मध्य स्थित है। इसके पूर्व में प्रशांत महासागर, पश्चिम में हिंद महासागर और दक्षिण में दक्षिण महासागर है। तस्मानिया द्वीप सहित महाद्वीप का क्षेत्रफल २९,७४,५८१ वर्ग मील है। पूर्व से पश्चिम इसकी अधिकतम लंबाई २,४०० मील और उत्तर से दक्षिण की चौड़ाई २,००० मील है। इसका तट १२,२१० मील लंबा है और विशेष कटा छँटा नहीं है। उत्तर-पूर्वी तट के निकट मूँगे की चट्टानें बड़ी दूर तक फैली हुई है जो 'ग्रेट बैरियर रीफ़' के नाम से प्रसिद्ध है।

आस्ट्रेलिया महाद्वीप की प्राकृतिक संरचना अन्य महाद्वीपों से भिन्न है। यहाँ का अधिकतर भाग प्राचीन मणिभ (रवेदार) चट्टानों का बना हुआ है। तृतीयक काल की विशाल पर्वत-रचनात्मक-शक्तियों का आस्ट्रेलिया पर प्रभाव नहीं पड़ा है जिसके कारण महाद्वीप में कोई भी ऐसी पर्वतश्रेणी नहीं है जो दूसरे महाद्वीपों की हजारों फुट ऊँची श्रृंखलाओं की बराबरी कर सके। यहाँ का सर्वोच्च पर्वतशिखर केवल ७,३२८ फुट ऊँचा है। यही नहीं कि यहाँ के पर्वत अधिक ऊँचे नहीं हैं, यहाँ का मैदानी भाग भी संपूर्ण भमि का केवल एक चौथाई है।

महाद्वीप के तीन प्रमुख प्राकृतिक विभाग हैं:

१. **पश्चिमी पठार**—यह महाद्वीप का लगभग ३⁄५ भाग घेरे हुए है। मुख्य रूप से इसमें १३५° पूर्वी देशांतर के पश्चिम का भाग आता है। यहाँ की अधिकांश चट्टानें पुराकल्पिक तथा प्रारंभिक काल की और बड़ी ही कठोर हैं। यद्यपि यहाँ की औसत ऊँचाई लगभग १,००० फुट है, तो भी कुछ पहाड़ियों, जैसे हैमर्सले रेंज, माउंट ऊड्राफ, मैक्डॉनेल एवं जेम्स रेंज आदि ३,००० फट से अधिक ऊँची हैं। अधिक शुष्क होने के कारण इसका अधिकांश मरुस्थल है। तट के निकट पठार की ढाल अधिक है।

२. **मध्यवर्ती मैदान**—पश्चिमी पठार के पूर्व मध्यवर्ती मैदान स्थित है, जो दक्षिण की इंकाउंटर की खाड़ी के उत्तर कार्पेंट्रिया खाड़ी तक विस्तृत है। इसमें मोडॉर्लिंग द्रोणी (बेसिन) या रीवरीना (आयर झील की द्रोणी और कार्पेंट्रिया के निम्न भूभाग) संमिलित हैं। दक्षिण-पश्चिम के भाग सागरतल से भी नीचे हैं। आयर झील द्रोणी की नदियाँ सागर तक नहीं पहुँचतीं और उनमें पानी का सदैव अभाव रहा करता है। ग्रीष्मकाल में तो वे सर्वथा शुष्क हो जाती हैं। मध्य उत्तरी भाग ग्रेट आरटीजियन द्रोणी कहलाता है। वहाँ पातालतोड़ कुओं द्वारा पानी प्राप्त होता है। मरे डार्लिंग द्रोणी विशेष उपजाऊ है।

३. **पूर्वी उच्च भाग**—यह पूर्वी तट के समांतर यार्क अंतरीप से विक्टोरिया प्रदेश तक विस्तृत है। यह तट से सीधे उठकर मध्यवर्ती निम्न भाग की ओर क्रमशः ढालू होता गया है। यहाँ की श्रेणियाँ अधिक ऊँची नहीं हैं। यद्यपि इनको ग्रेट डिवाइडिंग रेंज कहते हैं, तो भी विभिन्न भागों में इनके विभिन्न नाम हैं। न्यू साउथ वेल्स में ये लगभग ३,०००-४,००० फुट ऊँची और ब्लू माउंटेन के नाम से प्रसिद्ध हैं। दक्षिण-पूर्व में महाद्वीप का सर्वोच्च शिखर कोसिम्रोस्को है जो ७,३२८ फुट ऊचा है। विक्टोरिया में ये श्रेणियाँ पूर्व से पश्चिम की ओर फैली हुई हैं। ये पश्चिम की ओर नीची होती जाती हैं। महाद्वीप की अधिकांश नदियाँ इन्हीं पर्वतों से निकलती हैं।

खनिज पदार्थ—धातुएँ अधिकतर प्राचीन कैंब्रियनपूर्व पुराकल्पिक (पैलियोज़ोइक) चट्टानों में मिलती हैं। ये चट्टानें महाद्वीप के अधिकांश भागों में या तो धरातल के ऊपर हैं अथवा उसके बहुत निकट आ गई हैं। बहुत से भागों में ये बालू और अन्य अवसादों से ढँकी हुई हैं। कैंब्रियनपूर्व चट्टानें यूक्ला बेसिन के पश्चिम, उत्तर और पूर्व में मिलती हैं। पुराकल्पिक चट्टानें लगभग २६० मील चौड़ी एक मेखला के रूप में महाद्वीप के पूर्व में उत्तर से दक्षिण को फैली हुई हैं। तस्मानियाँ द्वीप में भी ये ही चट्टानें मिलती हैं। यद्यपि ताँबे का उत्पादन दक्षिणी आस्ट्रेलिया में १८४० ई० के लगभग कपुडा और बुरबुरा की खानों से आरंभ हो गया था, तो भी मुख्य रूप से खनिज उत्पादन १८५१ ई० से आरंभ हुआ जब एडवर्ड आरग्रीस ने बाथरर्ट से २० मील उत्तर अपने खेत में सोना पाया। उसके शीघ्र ही बाद मेलबोर्न, बाथर्स्ट एवं बेंडिगो में भी सोना मिलना आरंभ हो गया। पश्चिमी आस्ट्रेलिया में सोना १८८६ ई० में मिला, परंतु आजकल वहीं सोने का सर्वाधिक उत्पादन होता है। महाद्वीप के अधिकांश खनिज पदार्थ कुछ ही स्थानों से निकाले जाते है जिनमें मुख्यतः कालगुर्ली आर क्यू (सोना) पश्चिमी आस्ट्रेलिया में, वलारू, मुंटा, कर्पूडा (ताँबा), आयरनाब (लोहा) दक्षिणी आस्ट्रेलिया में, ब्रोकेन हिल (सीसा, जस्ता और चाँदी) न्यू साउथ-वेल्स में, माउंट ईसा (सीसा, जस्ता और ताँबा) क्वींसलैंड में है।

इनके अतिरिक्त पुराकल्पिक चट्टानों में धातुएँ—हर्बर्टन में (ताँबा), चार्टर्स टावर में सोना, माउंट मार्गन में ताँबा, कोबार में ताँबा, बाथर्स्ट में सोना और बेंडिगो, बलारेट तथा तस्मानिया के पश्चिमी भाग में स्थित माउंट जीहन में सीसा और जस्ता, माउंट लायल में ताँबा और माउंट बिस्चाफ में राँगा—मुख्य रूप से मिलती हैं। १९४८ ई० में इस महाद्वीप के मुख्य खनिजों का उत्पादन और उनका मूल्य निम्नलिखित आँकड़ों से स्पष्ट है:

खनिज		उत्पादन (हजार टनों में)	मूल्य (हजार पाउंडों में)
कोयला	काला	१४,७८१	१७,४९८
	भूरा	६,६९२	१,१८८
ताँबा		१२	१,८५४
लोहा		२,०४२	२,३६६
सीसा		२०८	१,६६३
राँगा		३	१०२
जस्ता		१७७	४,७०८
चाँदी		४,४८,८६१ आउंस	७०७
सोना		८,८८,५६० आउंस	६,५६३

इस महाद्वीप के खनिजों में सोने का महत्व बहुत गिर गया। १९४८ ई० में सोने का उत्पादन १९०३ ई० की अपेक्षा, जिस वर्ष महाद्वीप में सर्वाधिक सोना प्राप्त हुआ, एक चौथाई से भी कम था। १९५१ ई० में इस महाद्वीप न संसार भर के सोने के उत्पादन का केवल ३·६ प्रति शत उत्पादन किया। फिर भी संसार के देशों में इसका चौथा स्थान था। उसी वर्ष चाँदी में इस महाद्वीप का स्थान संसार में पाँचवाँ (६·२ प्रति शत) था, सीसा के उत्पादन में द्वितीय (१३·५ प्रति शत) तथा जस्ता में चतुर्थ (८·८ प्रति शत था)। इस महाद्वीप में कोयले का प्रचुर भांडार है और काला तथा भूरा दोनों प्रकार का कोयला विद्यमान है। काले कोयले का भांडार न्यू साउथ वेल्स और क्वींसलैंड में तथा भूरे कोयले का सर्वाधिक भांडार विक्टोरिया में है। सर्वाधिक उत्पादन न्यूकैसिल के कोयला क्षेत्र में होता है। इसका क्षेत्रफल लगभग १६,५५० वर्गमील है। समुद्रतट के समीप होने के कारण यह क्षेत्र अधिक महत्वपूर्ण है।

जलवायु—मकर रेखा इस महाद्वीप के लगभग मध्य से होकर जाती है। इस कारण इसके उत्तर का भाग सदा उष्ण रहता है और दक्षिण का भाग ऊँचे क्षेत्रों के अतिरिक्त अन्य कहीं भी अधिक ठंढा नहीं रहता। यद्यपि महाद्वीप चारों ओर समुद्र से घिरा हुआ है, फिर भी उसका प्रभाव वहाँ की जलवायु को समान रखने में बहुत कम पड़ता है। इसका मुख्य कारण पूर्वी पहाड़ी श्रेणियाँ हैं जो समुद्र के प्रभाव को देश के भीतरी भागों में नहीं पहुँचने

आस्ट्रेलिया
मील
० १०० २०० ३०० ४००
इंडोनीशिया
टीमोर सागर
आराफ़ूरा सागर
बृहत् आस्ट्रेलियन खाड़ी
(कोरल सी)
कारपेंटेरिया
की खाड़ी
यॉर्क अंतरीप
मेलविल
मेलविल अंतरीप
लंडनडेरी अंतरीप
डारविन
कैथरिन
विडहम
हैन पर्वत
(२,८०० फुट)
डर्बी
ला ग्रांज
उत्तरी प्रदेश
पाविल क्रीक
बर्कटाउन
बारटल फ्रेयर पर्वत
(५,४८८ फुट)
कुक टाउन
पोर्ट डगलस
बृहत् परातट प्रवाली
(ग्रेट बैरियर रीफ़)
प्रवाल सागर
टाउन्सविल
क्लॉनकरी
ह्यूगेंदेन
डलरिपुल पर्वत
(४,१९० फुट)
प्रशांत महासागर
बृहत् मरुभूमि
बैरो क्रीक
रूबोर्न
ब्रूस पर्वत
(४,०२४ फुट)
गिब्सन मरुभूमि
क्वीन्स लैंड
विटन
एमरल्ड
यारावा
रॉकहैंप्टन
ग्लैडस्टोन
पश्चिमी आस्ट्रेलिया
शारलॉट वाटर्स
जैदिनिया
मीकाठर्रा
वेल्स झील
गिलेन झील
वुडरॉफ़ पर्वत
(४,९७० फुट)
उदनादत्ता
रोमा
चार्लविल
ब्रिसबेन
सर सैमुएल
वग्गा झील
फॉरेस्ट झील
नुरारी झील
दक्षिणी
आस्ट्रेलिया
कुन्नामुल्ला
हंगरफ़ोर्ड
मोरी तुवूबा
अजाना
बार्लो झील
लैवर्टन
बृहत् विक्टोरिया मरुभूमि
फ़ारिना
बेवारिना
वालगेट
डॉंगारा
मिंगेनिउ
रॉलिन्ना
पेनांग
आयर
ब्रोकन हिल
बूर्क
टैमवर्थ
पर्थ
नॉर्समैन
पीटरबरो
न्यू साउथ वेल्स
सीविउ पर्वत
(३,५७० फुट)
पोर्ट माक्वेरी
नेरॉगिन
होपटाउन
पैसली अंतरीप
(ग्रेट आस्ट्रेलियन बाइट)
पोर्ट लिंकन
रोटो
बेनानी
न्यूकासल
बायर्स्ट
सिडनी
अल्बेनी
एडिलेड
कैनबेरा
पश्चिमी हाउ अंतरीप
कंगेरू द्वीप
बेंडिगो
बोबाला
जाफ़ा अंतरीप
नरकर्रा
विक्टोरिया
पोर्टलैंड
मेलबर्न
हाउ अंतरीप
ताज़्मान सागर
हिंद महासागर
विल्सन अंतरीप
मूडसाइड
ताज़्मेनिया
लॉनसेस्टन
होबर्ट
साउथवेस्ट अंतरीप

देतीं। उष्ण कटिबंध में स्थित रहने के कारण उत्तरी भाग में ग्रीष्म ऋतु में मानसून हवाओं द्वारा वर्षा होती है। तट के निकटवर्ती भागों में 'विली-विलीज़' नामक चक्रवात हवाओं का भी प्रभाव पड़ता है। ३०° दक्षिणी अक्षांश के दक्षिण का भाग शीतकाल में पश्चिमी हवाओं के मार्ग में आ जाता है। इन हवाओं से वर्षा भी होती है। इस मेखला के दक्षिण-पश्चिमी भाग में रूमसागरीय जलवायु पाई जाती है। पूर्वी किनारे पर वर्षा लगभग साल भर होती रहती है, परंतु महाद्वीप का मध्य भाग अधिक उष्ण है और वर्षा भी १०'' से कम होती है। इस कारण यह भाग मरुस्थल बन गया है। संसार के किसी भी महाद्वीप में जल का इतना अभाव नहीं है जितना आस्ट्रेलिया में। दक्षिण-पश्चिमी भाग और आर्नहेमलैंड के अतिरिक्त पूर्वी आस्ट्रेलिया ही ऐसा भाग है जहाँ वर्षा २५'' या उससे भी अधिक होती है। बैलेंडनकेर हिल्स में, जो ५,००० फुट से अधिक ऊँची है, महाद्वीप की सर्वाधिक वर्षा होती है।

दक्षिणी गोलार्ध में स्थित होने के कारण आस्ट्रेलिया में जनवरी फरवरी गर्मी के महीने हैं। ताप का अधिकतम मान मार्वुलवार (पश्चिमी आस्ट्रेलिया) में १२१° फा० तक जनवरी में होता है; न्यूनतम मान होवार्ट नगर (तस्मानिया) में ४५·३° फा० तक जुलाई में जाता है।

प्राकृतिक वनस्पति—प्राकृतिक वनस्पति वर्षा पर निर्भर रहती है। आरंभ में महाद्वीप के दक्षिण-पूर्वी और दक्षिण-पश्चिमी भाग सदाबहार वनों से ढँके हुए थे, जहाँ अधिकांश नाना प्रकार के यूक्लिप्टस के वृक्ष थे। पर्थ के दक्षिण में स्वार्नलैंड कार्री नामक वृक्ष संसार के विशेष लंबे वृक्षों में से हैं। महाद्वीप के भीतरी भागों में वर्षा बड़ी शीघ्रता के साथ कम होती जाती है, इस कारण वनों के बदले वहाँ घास के मैदान पाए जाते हैं। दक्षिण में जलाभाव के कारण ग्रेट आस्ट्रेलियन बाइट के तटीय प्रदेशों में माली नामक झाड़ियाँ पाई जाती हैं। मध्य भाग अधिकांश मरुस्थल है और काँटेदार झाड़ियों इत्यादि से भरा है।

आस्ट्रेलिया महाद्वीप का अधिक समय तक अन्य भूभागों से संपर्क नहीं था, इस कारण वहाँ के पशु पक्षी भी अन्य महाद्वीपों से अधिक भिन्न हैं। इनमें मुख्य कंगारू और वालाबी हैं। कंगारू घास के मैदानों में और वालाबी पहाड़ी झाड़ियों में रहता है। डिंगो के अतिरिक्त, जो एक जंगली जानवर है, कोई जानवर मनुष्य का शत्रु नहीं है। खरगोश, जिसको आरंभ में महाद्वीप में बाहर से लाया गया, संख्या में अधिक बढ़ गए हैं और वनस्पति तथा कृषि को बड़ी हानि पहुँचाते हैं।

कृषि—महाद्वीप में केवल दो करोड़ तीस लाख एकड़ (लगभग १ प्रति शत) भूमि पर खेती बारी होती है। कृषि योग्य भूमि आवश्यकता पड़ने पर बढ़ाई जा सकती है और उनपर सघन खेती की जा सकती है। खेतीबारी में सबसे अधिक महत्व गेहूँ का है जिसकी खेती लगभग एक करोड़ तीस लाख एकड़ भूमि (जोतवाली भूमि के लगभग ६० प्रति शत) पर होती है। गेहूँ को अधिक वर्षा की आवश्यकता नहीं होती, इसी कारण महाद्वीप में इसकी उपज अधिकांशतः दक्षिणी भागों में होती है, जहाँ वर्षा जाड़े की ऋतु में होती है। लाचलन एवं मरे का दोआब और स्वानलैंड गेहूँ की उपज के लिये विशेष महत्वपूर्ण है। उत्पादन का ऋतु से गहरा संबंध है। जब वर्षा उचित समयों पर होती है तो कृषक को पर्याप्त लाभ होता है, परंतु जब अनुकूल समयों पर वर्षा नहीं होती तब बड़ी हानि होती है। महाद्वीप में लगभग १५ करोड़ मन गेहूँ प्रति वर्ष पैदा होता है, परंतु १९४४-४५ ई० में ऋतु अनुकूल न होने के कारण केवल ५·३ करोड़ मन गेहूँ पैदा हुआ था। १९४७-४८ ई० में, जब ऋतु अनुकूल थी, गेहूँ की उत्पत्ति २२ करोड़ बुशेल हुई। खेती का कार्य बहुत कम व्यक्ति करते हैं। श्रमिकों का अभाव है और खेती में मशीनों का उपयोग अधिक होता है। गेहूँ के विशाल समतल खेत मशीनों के प्रयोग के लिये उपयुक्त हैं। १९४६ ई० में लगभग ५९,००० ट्रैक्टर कृषि में लगे हुए थे। महाद्वीप से लगभग ६ करोड़ मन गेहूँ और २ करोड़ टन आटा प्रति वर्ष अन्य देशों को निर्यात होता है। आटा तथा गेहूँ के निर्यात की दृष्टि से आस्ट्रेलिया का संसार के देशों में तृतीय स्थान है। आस्ट्रेलिया की विशेषता यह है कि उत्तरी गोलार्ध के देशों को ऐसे समय में वह गेहूँ निर्यात करता है जब उनकी अपनी फसल तैयार नहीं रहती।

अन्य खाद्य पदार्थों में जई एवं मक्का मुख्य हैं। जई ठंढे दक्षिणी भागों में होती है और मक्का मुख्य रूप से क्वींसलैंड और न्यू साउथ वेल्स के तटीय भागों में उपजाया जाता है। क्वींसलैंड के पूर्वी तट पर केअर्न्स एवं मैके नगरों के मध्य भाग में महाद्वीप का अधिकांश गन्ना उपजाया जाता है। इस प्रदेश को 'चीनी तट' कहते हैं। यहाँ की भूमि उपजाऊ है और वर्षा अधिक होती है। श्रमिक गोरी जाति के ही लोग हैं और सरकार इसकी खेती को प्रोत्साहित करती है। सरकार की नीति ऐसी है कि अन्य जातियों के लोग यहाँ नहीं बसने पाते। प्रति वर्ष लगभग २० करोड़ मन गन्ना तीन लाख एकड़ भूमि पर उपजाया जाता है। प्रत्येक खेत लगभग ५० एकड़ का होता है। इस गन्ने के क्षेत्र में उष्ण कटिबंधीय फल भी उपजाए जाते हैं, जैसे केला और अनन्नास। जलवायु की भिन्नता के कारण इस महाद्वीप में नाना प्रकार के फल होते हैं। तस्मानिया की नम तथा मृदु ऋतुवाली सुरक्षित घाटियों में निर्यात के लिये सेब उपजाए जाते हैं। न्यूयॉर्क के निकट और डर्वेंट की घाटी में नाशपाती, बेर, आड़, खूबानी और मुख्यतः सेब पैदा होते हैं। विक्टोरिया, न्यू साउथ वेल्स और दक्षिणी आस्ट्रेलिया में भी, जहाँ सिंचाई की सुविधा है, नाशपाती, खूबानी और आड़ू उत्पन्न होते हैं तथा डिब्बों में बंद करके यूरोप को भेजे जाते हैं। रूमसागरीय जलवायुवाले दक्षिणी भागों में, मुख्य रूप से विक्टोरिया, न्यू साउथ वेल्स, दक्षिणी आस्ट्रेलिया और कुछ पश्चिमी आस्ट्रेलिया में, अंगूर की उपज होती है। दक्षिणी आस्ट्रेलिया शराब बनाने में बहुत प्रसिद्ध है। विक्टोरिया से सूखे फलों का निर्यात किया जाता है। संतरे सिडनी के निकट पारामाटा भाग में अधिक उत्पन्न होते हैं।

मवेशी उद्योग—महाद्वीप की आर्थिक व्यवस्था पर पशुपालन का सर्वाधिक प्रभाव है। देश की निर्यातवाली वस्तुओं में ऊन सबसे महत्वपूर्ण है। देशवासियों का कथन है कि महाद्वीप के आर्थिक भार को भेड़ें ही अपने कंधों पर सँभाले हुए हैं। १९४८-४९ ई० में निर्यात की वस्तुओं के कुल मूल्य का ४२ प्रति शत से अधिक केवल ऊन ही था। यही नहीं, बल्कि आस्ट्रेलिया संसार में सबसे अधिक ऊन उत्पन्न करता है और यहाँ की भेड़ों की संख्या लगभग सारे संसार की भेड़ों का छठा भाग है। संसार का लगभग एक चौथाई ऊन यहाँ उत्पन्न होता है। महाद्वीप में लगभग १२ करोड़ भेड़ें हैं, परंतु यह संख्या सूखावाले वर्षों में बहुत कम हो जाती है। १९४८ ई० में केवल १०·२ करोड़ भेड़ें थीं। भेड़ें अधिकांश १५ इंच से २५ इंच वर्षावाले क्षेत्रों में पाली जाती हैं। अधिक ताप भी इनके लिये हानिकारक होता है। इसलिये भेड़ें मरे-डार्लिंग नदी के मैदानों में तथा आर्टीशियन द्रोणी में सबसे अधिक पाली जाती हैं। १९४८ में भेड़ों की संख्या (हजारों में) निम्नलिखित आँकड़ों के अनुसार थी।

न्यू साउथवेल्स	४६,०६५
विक्टोरिया	१७,९००
क्वींसलैंड	१६,७००
पश्चिमी आस्ट्रेलिया	१०,४००
दक्षिणी आस्ट्रेलिया	९,०००
तसमानिया	२,०००
उत्तरी टेरिटरी	१९
कैपिटल टेरिटरी	२१५
योग :	१,०२,२९९ हजार

लगभग एक तिहाई भेड़ें गेहूँ के क्षेत्रों में पाई जाती हैं। भेड़ें मुख्य रूप से ऊन के लिये पाली जाती हैं और इसलिये ७० प्रति शत से अधिक भेड़ें मेरिनो नस्ल की हैं। ऊन का व्यापार अधिकांशतः ब्रिटेन, फ्रांस, संयुक्त राज्य (अमरीका) इटली और बेल्जियम से होता है। ऊन के अतिरिक्त भेड़ों का मांस भी निर्यात किया जाता है, जो पूर्णतः ब्रिटेन को भेजा जाता है।

पशु—महाद्वीप में भेड़ों के बाद गाय बैलों का दूसरा स्थान है। इन पशुओं की संख्या डेढ़ करोड़ से अधिक है, जिनमें से ४८ लाख दुधपशु हैं, शेष सब मांस के लिये पाले जाते हैं। मांस के पशुओं में से लगभग आधे क्वींसलैंड में हैं और न्यूसाउथ वेल्स में २० प्रति शत, उत्तरी टेरिटरी में १० प्रति शत और विक्टोरिया तथा पश्चिमी आस्ट्रेलिया, प्रत्येक में ७ प्रति शत। पशु अधिकतर वर्षावाले भागों में पाए जाते हैं। पूर्वीय तट के भागों में और विक्टोरिया में, जहाँ अच्छे प्रकार के चरागाह हैं और जहाँ दुधपशुओं की आवश्यकता भी अधिक है, वे विशेष रूप से पाले जाते हैं। सवाना घास के

मैदानों में और आर्टीजियन कूपों की द्रोणी में विशेषकर मांसवाले पशु ही पाले जाते हैं, जो तीन वर्ष के होने पर न्यू साउथ वेल्स और विक्टोरिया में हृष्ट पुष्ट करने के लिये भेजे जाते हैं। वे वहीं काटे जाते हैं। क्वींसलैंड में टाउंसवैल राकहैंपटन, बॉवेन, ग्लैड्स्टन और ब्रिस्बेन नामक स्थानों में मांस तैयार करने के कारखाने हैं। मांस के निर्यात का अधिकांश भाग ब्रिटेन को जाता है।

उद्योग धंधे—यद्यपि आस्ट्रेलिया सौ से अधिक वर्षों तक किसानों और सोना निकालनेवालों का प्रदेश रहा है, तथापि अब खनिजों एवं अन्य कच्चे मालों पर निर्भर उद्योगों की उन्नति दिन प्रति दिन होती जा रही है। सबसे महत्वपूर्ण उद्योग लोहा तथा इस्पात एवं उससे संबंधित भारी रासायनिक उद्योगों के हैं। ये मुख्य रूप से कोयले की खानों के निकट स्थित हैं। इस्पात का प्रथम कारखाना लिथगो में, न्यूकैसिल नामक कोयला क्षेत्र पर, १९०७ में खोला गया, परंतु आधुनिक ढंग का प्रथम कारखाना १९१५ में खुला। सबसे बड़ा कारखाना सन् १९३७-४१ में वायला में खुला, जहाँ पर अब पानी के जहाज बनाने का एक बड़ा कारखाना भी है। १९४१ में आस्ट्रेलिया के कारखानों ने १५·४ लाख टन लोहा और १६·२ लाख टन इस्पात पैदा किया। हंटर घाटी आस्ट्रेलिया का उद्योगकेंद्र है, जहाँ न्यूकैसिल का इस्पात कारखाना और कोयला संबंधी रासायनिक उद्योग धंधे, जैसे कोलतार, बेंजोल एवं सल्फ्यूरिक ऐसिड आदि उद्योग चल रहे हैं।

महाद्वीप के अन्य उद्योग धंधे अधिकतर प्रांतों की राजधानियों में हैं, जिनमें ऊनी, सूती और रेशम के कपड़ बुनने के उद्योग, हल्की कलें, मोटर, ट्रैक्टर, वायुयान, बिजली के सामान, खेती के औजार और यंत्र, रासायनिक वस्तुएँ, मदिरा और अन्य वस्तुएँ बनाने के उद्योग हैं। इनके अतिरिक्त आटा पीसन और दुग्धपदार्थों के उद्योग गेहूँ और पशुपालन क्षेत्रों में स्थापित हैं। क्वींसलैंड में मांस और शक्कर के अधिकांश कारखाने हैं। वर्तमान समय में लगभग १० लाख व्यक्ति महाद्वीप के ३५ हजार कारखानों में कार्य करते हैं। अधिकांश कारखाने छोटे ही हैं।

जनसंख्या—मुख्यत: जलवायु अनुकूल न होने के कारण आस्ट्रेलिया एक विशाल महाद्वीप होते हुए भी जनसंख्या की दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ है। इसमें लगभग उतने ही मनुष्य बसते हैं जितने केवल न्यूयार्क नगर में हैं। आस्ट्रेलिया की औसत जनसंख्या (तीन व्यक्ति प्रति वर्ग मील) संसार की औसत आबादी (५० व्यक्ति प्रति वर्ग मील) से कहीं कम है। महाद्वीप की अधिकांश जनसंख्या समुद्रतट के निकट ही रहती है तथा केवल पूर्वी तट और दक्षिण के ठंढे स्थानों में घनी है। नगरवासियों की संख्या ग्रामवासियों की अपेक्षा दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है और कुल जनसंख्या के लगभग ७० प्रति शत लोग नगरों में निवास करते हैं। १९४६ ई० में प्रांतों की राजधानियों की जनसंख्या (हजारों में) निम्नलिखित थी :

केनबेरा	१७
सिडनी	१,५५०
मेलबोर्न	१,२८८
ब्रिस्बेन	४३०
एडीलेड	४०७
पर्थ	२६४
होबार्ट	८१
डार्विन	८

महाद्वीप की वर्तमान अनुमित जनसंख्या लगभग ६० लाख है। आस्ट्रेलिया में गोरी जाति के लोगों के पहुँचने के समय लगभग तीन लाख आदिवासी थे, परंतु अब उनकी संख्या घटकर लगभग ५० हजार रह गई है। डारविन के पूर्व आर्नहेमलैंड अब आदिवासियों का क्षेत्र घोषित कर दिया गया है।

परिवहन—१९वीं शताब्दी के मध्य के पूर्व से, जब रेलें नहीं थीं, महाद्वीप में परिवहन के मुख्य साधन घोड़े, ऊँट और नावें थीं। परंतु आज ऊँट और नदियों का कोई स्थान नहीं है, रेलें और मोटरें सबसे महत्वपूर्ण साधन हैं। आस्ट्रेलिया के भीतरी भागों के विकास में उनका अधिक महत्व है। महाद्वीप की पहली रेल की पटरी सिडनी और पारामाटा के बीच १८५० ई० में बिछाई गई थी जो १५ मील लंबी थी। १८८१ से रेलमार्गों में बड़ी शीघ्रता से वृद्धि हुई। महाद्वीप की ट्रांस-कांटिनेंटल रेलवे, पोर्ट पीरी से कालगुर्ली तक, १९१७ में बिछाई गई थी। १९३१ तक रेलमार्गों की लंबाई २७,७०० मील हो गई। अनियमित वृद्धि के कारण रेलमार्ग तीन भिन्न माप के हैं, जिनके कारण अंत:प्रदेशीय परिवहन में काफी कठिनाई होती है। अधिकांश रेलमार्ग बंदरगाहों को स्वतंत्र रूप से भीतरी भागों से मिलाते हैं। वर्तमान समय में रेलों की अपेक्षा मोटरकार, ट्रक और वायुयान का महत्व अधिक हो गया है। जनसंख्या से मोटरकारों और ट्रकों का अनुपात यहाँ लगभग वही है, जो संयुक्त राष्ट्र (अमरीका) में है। साथ ही आस्ट्रेलियानिवासी संसार में वायुयान का सबसे अधिक प्रयोग करते हैं।

व्यापार—आस्ट्रेलिया एक बड़ा व्यापारी महाद्वीप है। यह कच्चा माल और खाद्य पदार्थ बड़ी मात्रा में अन्य देशों को निर्यात करता है। इनमें प्रमुख स्थान ऊन का है और इन दिनों बढ़े हुए मूल्य के कारण ऊन का मूल्य संपूर्ण निर्यात वस्तुओं का लगभग ६० प्रति शत है। १९५०-५१ में संपूर्ण पशु पदार्थों का निर्यात कुल निर्यातमूल्य का लगभग ७० प्रतिशत था। खेती संबंधी वस्तुएँ, जैसे गेहूँ, आटा, शक्कर, जौ, फल, अचार मुरब्बा एवं शराब का द्वितीय स्थान था। इसके पश्चात् कारखानों में बनी वस्तुएँ और तत्पश्चात् मक्खन, पनीर, अंडे एवं मुर्गी आदि के निर्यात का स्थान है। ब्रिटेन से इसका सबसे घनिष्ठ व्यापारिक संबंध है। [आ० स्व० जौ०]

आस्ट्रेलियाई भाषाएँ इस परिवार की भाषाएँ आस्ट्रेलिया महाद्वीप के सभी प्रदेशों में मूलनिवासियों द्वारा बोली जाती हैं और एक ही स्रोत से निकली हैं। ये अंत में प्रत्यय जोड़नेवाली, योगात्मक, अश्लिष्ट प्रकृति की हैं, इस कारण कुछ लोग इन्हें द्राविड़ भाषाओं से संबद्ध समझते थे। इस परिवार की टस्मेनिया भाषा अब समाप्त हो चुकी है। अन्य भाषाएँ भी जंगली जातियों की हैं। समस्त आस्ट्रेलिया महाद्वीप की जनसंख्या ८०/–१ लाख है। इसमें ये मूलनिवासी केवल पचास साठ हजार रह गए हैं।

इन भाषाओं में महाप्राण व्यंजनों को छोड़कर कवर्ग, तवर्ग और पवर्ग के तीन तीन व्यंजन हैं। चारों अंतस्थ (य, र, ल, व) भी हैं। स्वरों में इ, ई, उ, ऊ, ए, ए, ओ, ओ विद्यमान हैं। एकवचन, द्विवचन और बहुवचन का प्रयोग होता है। कहीं कहीं त्रिवचन भी है। क्रिया की प्रक्रिया जटिल है जिसमें सर्वनाम जुड़ जाता है। संज्ञा की कर्तृ, कर्म, संप्रदान, संबंध, अपादान आदि विभक्तियाँ भी हैं। [बा० रा० स०]

आस्तिक (दर्शनशास्त्र में) वह कहलाता है जो ईश्वर, परलोक और धार्मिक ग्रंथों के प्रामाण्य में विश्वास रखता हो। भारत में यह कहावत प्रचलित है: "नास्तिको वेदनिन्दक:," अर्थात् वेद की निंदा करनेवाला नास्तिक है। इसलिये भारत के नौ दर्शनों में से वेद का प्रमाण माननेवाले छ: दर्शन—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तर-मीमांसा, (वेदांत)—आस्तिक दर्शन कहलाते हैं और शेष तीन दर्शन—बौद्ध, जैन और चार्वाक—इसलिये नास्तिक कहलाते हैं कि वे वेदों को प्रमाण नहीं मानते। बौद्ध और जैन दर्शन अपने को आस्तिक दर्शन इसलिये कहते हैं कि वे परलोक, स्वर्ग, नरक और मृत्यूपरांत जीवन में विश्वास करते हैं, यद्यपि वेदों और ईश्वर में विश्वास नहीं करते। वेदों को प्रमाण मानने के कारण आस्तिक कहलानेवाले सभी भारतीय दर्शन जगत् की सृष्टि करनेवाले ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते। यदि ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करनेवाले दर्शनों को ही आस्तिक कहा जाय तो केवल न्याय, वैशेषिक, योग और वेदांत ही आस्तिक दर्शन कहे जा सकते हैं। पुराने वैशेषिक दर्शन (कणाद के सूत्रों) में भी ईश्वर का कोई विशेष स्थान नहीं है। प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में ही ईश्वर के कार्य का संकेत किया है। योग का ईश्वर भी सृष्टिकर्ता ईश्वर नहीं है। सांख्य और पूर्वमीमांसा सृष्टिकर्ता ईश्वर को नहीं मानते। यदि भौतिक और नाशवान् शरीर के अतिरिक्त तथा शरीर के गुण और धर्मों के अतिरिक्त और भिन्न गुण और धर्मवाले किसी प्रकार के आत्मतत्व में विश्वास रखनेवाले को आस्तिक कहा जाय तो केवल चार्वाक दर्शन को छोड़कर भारत के प्राय: सभी दर्शन आस्तिक हैं, यद्यपि बौद्ध दर्शन में आत्मतत्व को भी क्षणिक और संघातात्मक माना गया है। बौद्ध लोग भी शरीर को आत्मा नहीं मानते।
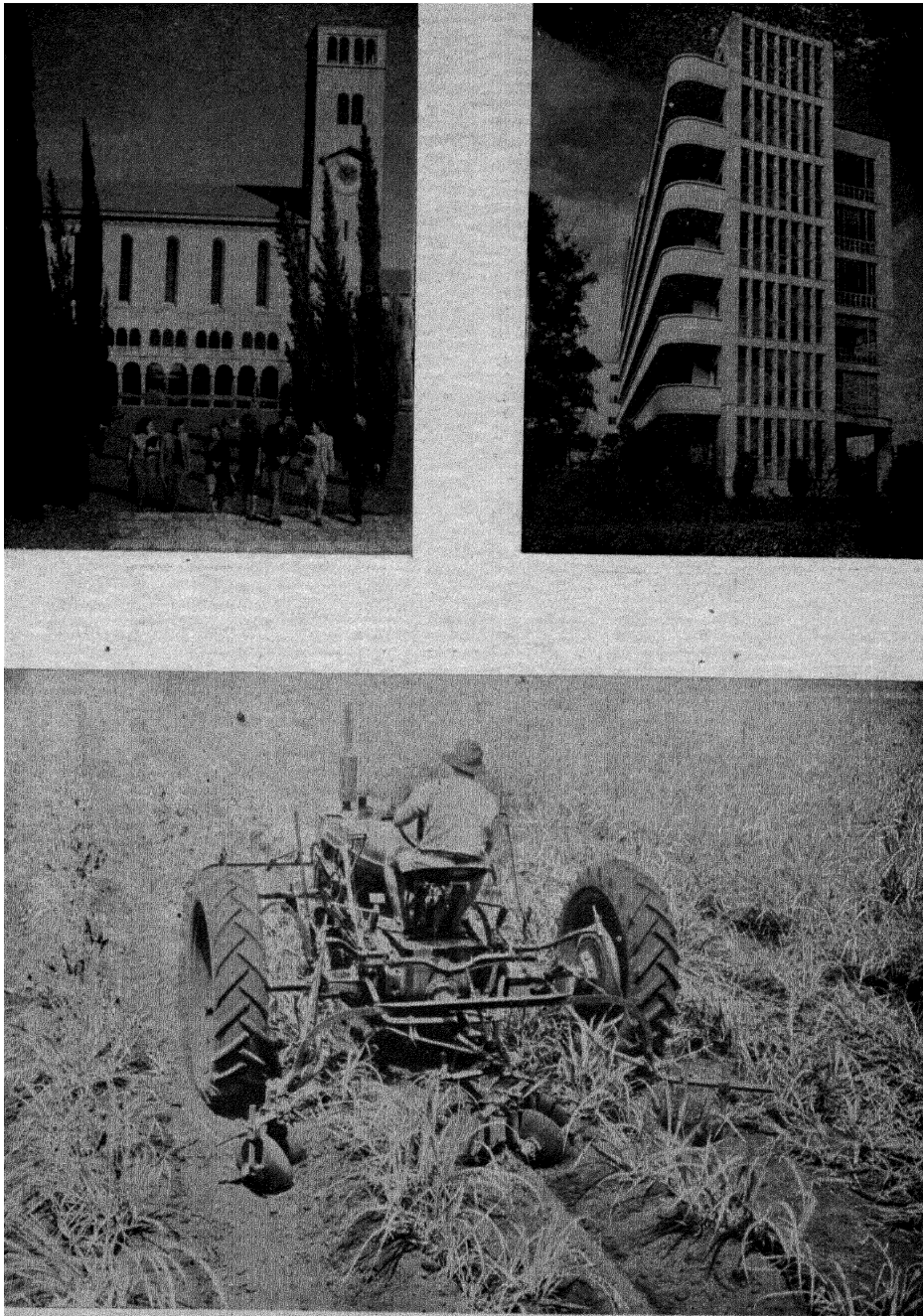
आस्ट्रेलिया के कुछ दृश्य

ऊपर, बाई ओर पर्थ नगर मे पश्चिमी आस्ट्रेलिया के विश्वविद्यालय का एक हॉल। ऊपर, दाहिनी ओर विक्टोरिया प्रात की राजधानी मेलबर्न के उपनगर मे छोटे किराएदारो के लिये भवन। नीचे, ट्रैक्टर मे गन्ने की खेती।
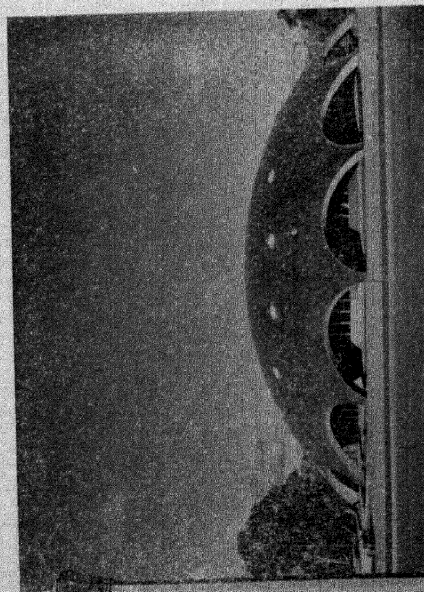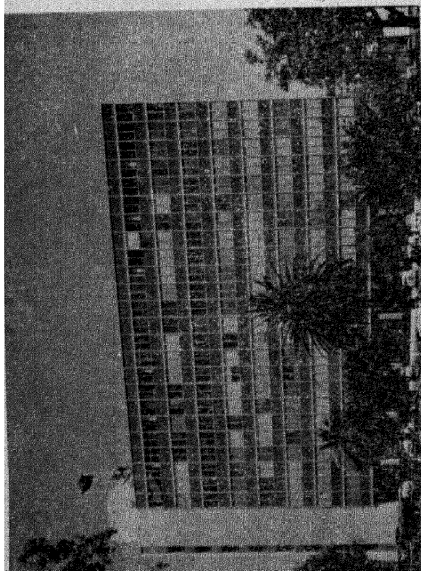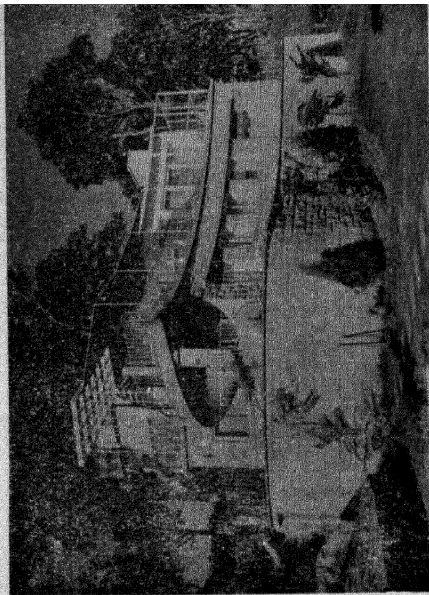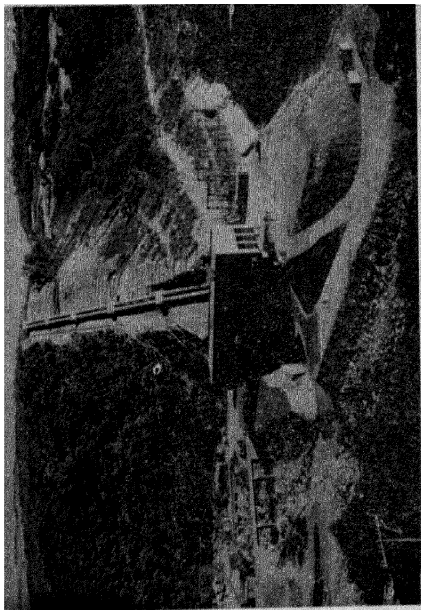
आस्ट्रेलिया के कुछ दृश्य

ऊपर, बाईं ओर सिडनी में इंपीरियल केमिकल इंडस्ट्रीज़ का ११ तल्ले का कार्यालय। ऊपर दाहिनी ओर आस्ट्रेलिया की स्नोई नदी पर बना बिजलीघर। नीचे बाईं ओर कैनबेरा में विज्ञान अकादमी (व्यास १५६ फुट), नीचे दाहिनी ओर आधुनिक शैली का व्यक्तिगत भवन।
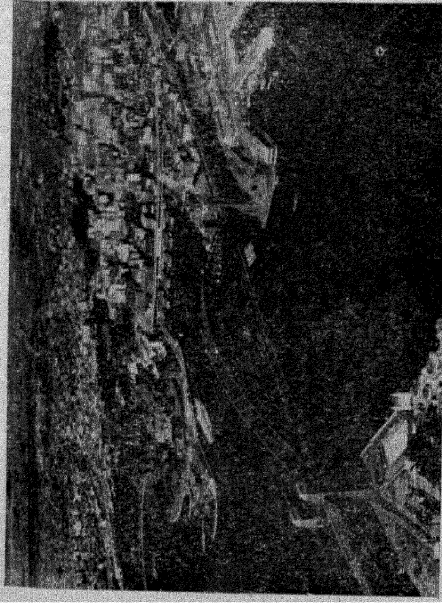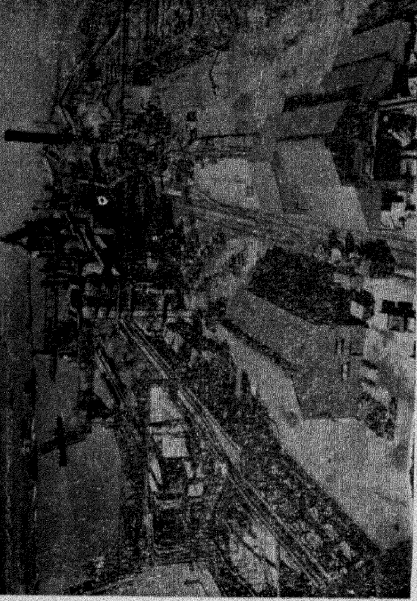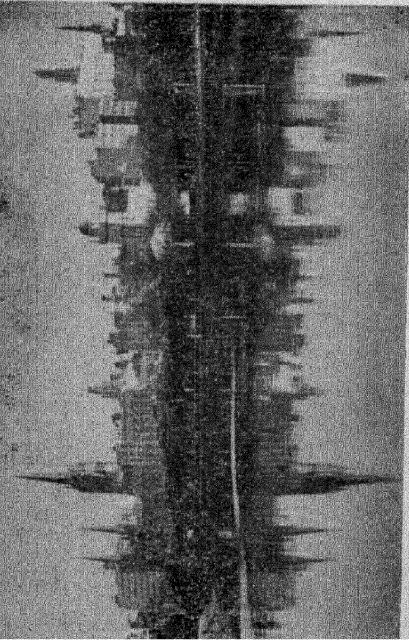
आस्ट्रालया के कुछ दृश्य

ऊपर बाई ओर यारा नदी के किनारे बसा मेलबर्न (जनसख्या लगभग १७ लाख), ऊपर दाहिनी ओर न्यूकैसल मे लोहे का कारखाना जिसमे ७,००० मनुष्य काम करते हैं। नीचे बाई ओर वायुयान मे सिडनी (जनसख्या २० लाख) नीचे दाहिनी ओर चिकित्सा सेवा (रोगी को वायुयान पर ले जा रहे है)।

आस्ट्रेलिया के कुछ जंतु

ऊपर कैंगरू, उत्पन्न होने के समय मूँगफली के बराबर किंतु बड़ा होने पर ६ फुट ऊँचा। मध्य में टाज़मेनिया द्वीप का डेविल (शैतान) नामक भयानक जंगली जंतु जो लगभग १ गज

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में आस्तिक उसे कहते हैं जो जीवन के उच्चतम मूल्यों, अर्थात् सत्य धर्म और सौंदर्य के अस्तित्व और प्राप्यत्व में विश्वास करता हो। पाश्चात्य देशों में आजकल कुछ ऐसे मत चले हैं जो केवल दृष्ट (ज्ञात अथवा ज्ञातव्य) पदार्थों में ही विश्वास करते हैं और आत्मा, परलोक, ईश्वर और जीवन से परे के मूल्यों में नहीं करते। वे समझते हैं कि विज्ञान द्वारा ये सिद्ध नहीं किए जा सकते। ये केवल दार्शनिक कल्पनाएँ हैं और वास्तविक नहीं हैं; केवल मृगतृष्णा के समान मिथ्या विश्वास हैं। उनके अनुसार आस्तिक (पोज़िटिविस्ट) वही है जो ऐहिक और लौकिक सत्ता में विश्वास रखता हो और दर्शन की मिथ्या कल्पनाओं से मुक्त हो। इस दृष्टि से तो भारत का केवल एक दर्शन—चार्वाक—ही आस्तिक है।

[भी० ला० आ०]

आस्तिकता (थीज़्म)—भारतीय दर्शन में ईश्वर, ईश्वराज्ञा, परलोक, आत्मा आदि अदृष्ट पदार्थों के अस्तित्व में, विशेषतः ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास का नाम आस्तिकता है। पाश्चात्य दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व में, विश्वास का ही नाम थीज़्म है। संसार के विश्वासों के इतिहास में ईश्वर की कल्पना अनेक रूपों में की गई है और उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये अनेक युक्तियाँ दी गई हैं। उनमें मुख्य ये हैं :

(१) **ईश्वर का स्वरूप**—मानवानुरूप व्यक्तित्वयुक्त ईश्वर (परसनल-गाड)। इस संसार का उत्पादक (स्रष्टा), संचालक और नियामक, मनुष्य के समान शरीरधारी, मनोवृत्तियों से युक्त परम शक्तिशाली परमात्मा है। वह किसी एक स्थान (धाम) पर रहता है और वहीं से सब संसार की देख-भाल करता है, लोगों को पाप पुण्य का फल देता है एवं भक्ति और प्रार्थना करने पर लोगों के दुःख और विपत्ति में सहायता करता है। अपने धाम से वह इस संसार में सच्चा धार्मिक मार्ग सिखाने के लिये अपने बेटे पैगंबरों, ऋषिमुनियों को समय समय पर भेजता है और कभी स्वयं ही किसी न किसी रूप में अवतार लेता है। दुष्टों का दमन और सज्जनों का उद्धार करता है। इस मत को पाश्चात्य दर्शन में थीज़्म कहते हैं।

(२) **सृष्टिकर्ता मात्र ईश्वरवाद**—(डीज़्म) कुछ दार्शनिक यह मानते हैं कि ईश्वर तो सृष्टिकर्ता मात्र है और उसने ऐसी सृष्टि रच दी है कि वह स्वयं अपने नियमों से चल रही है। उसको अब इससे कोई मतलब नहीं। जैसे घड़ी बनानेवाले को अपनी बनाई हुई घड़ी से, बनने के पश्चात्, कोई संबंध नहीं रहता। वह चलती रहती है। इस मत की कुछ झलक वैष्णवों की इस कल्पना में मिलती है कि भगवान् विष्णु क्षीरसागर में सोते रहते हैं और शैवों की इस कल्पना में कि भगवान् शंकर कैलास पर्वत पर समाधि लगाए बैठे रहते हैं और संसारका कार्य चलता रहता है।

(३) **"सर्वं खलु इदं ब्रह्म"**—यह समस्त संसार ब्रह्म ही है (पैंथीज़्म), इस सिद्धांत के अनुसार संसार और भगवान् कोई अलग अलग वस्तु नहीं है। भगवान् और संसार एक ही हैं। जगत् भगवान् का शरीर मात्र है जिसके कण कण में वह व्याप्त है। ब्रह्म=जगत् और जगत्=ब्रह्म। इसको अद्वैत-वाद भी कहते हैं। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार के मत का नाम पैंथीज़्म है।

(४) **ब्रह्म जगत् से परे** भी है। इस मतवाले, जिनको पाश्चात्य देशों में 'पैन एन थीस्ट' कहते हैं, यह मानते हैं कि जगत् में भगवान् की परि-समाप्ति नहीं होती। जगत् तो उसके एक अंश मात्र में है। जगत् सांत है, सीमित है और इसमें भगवान् के सभी गुणों का प्रकाश नहीं है। भगवान् अनादि, अनंत और अचिंत्य हैं। जगत् में उनकी सत्ता और स्वरूप का बहुत थोड़े अंश में प्राकट्य है। इस मत के अनुसार समस्त जगत् ब्रह्म है, पर समस्त ब्रह्म जगत् नहीं है।

(५) **अजातवाद, अजातिवाद अथवा जगद्रहित शुद्ध ब्रह्मवाद**—(अकास्मिज़्म) इस मत के अनुसार ईश्वर के अतिरिक्त और कोई सत्ता ही नहीं है। सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म है। जगत् नाम की वस्तु न कभी उत्पन्न हुई, न है और न होगी। जिसको हम जगत् के रूप में देखते हैं वह कल्पना मात्र, मिथ्या भ्रम मात्र है जिसका ज्ञान द्वारा लोप हो जाता है। वास्तविक सत्ता केवल विकाररहित शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्म की ही है जिसमें सृष्टि न कभी हुई, न होगी।

आस्तिकता के अंतर्गत एक यह प्रश्न भी उठता है कि ईश्वर एक है। अथवा अनेक। कुछ लोग अनेक देवी देवताओं को मानते हैं। उनको बहुदेववादी (पोलीथीस्ट) कहते हैं। वे एक देव को नहीं जानते। कुछ लोग जगत् के नियामक दो देवों को मानते हैं—एक भगवान् और दूसरा शैतान। एक अच्छाइयों का स्रष्टा और दूसरा बुराइयों का। कुछ लोग यह मानते हैं कि बुराई भले भगवान् की छाया मात्र है। भगवान् एक ही है, शैतान उसकी मायाशक्ति का नाम है जिसके द्वारा संसार में सब दोषों का प्रसार है, पर जो स्वयं भगवान् के नियंत्रण में रहती है। कुछ लोग माया-रहित शुद्ध ब्रह्म की सत्ता में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार संसार शुद्ध ब्रह्म का प्रकाश है, उसमें स्वयं कोई दोष नहीं है। हमारे अज्ञान के कारण ही हमको दोष दिखाई पड़ते हैं। पूर्ण ज्ञान हो जाने पर सबको मंगलमय ही दिखाई पड़ेगा। इस मत को शुद्ध ब्रह्मवाद कहते हैं। इसी को अद्वैतवाद अथवा ऐक्यवाद (मोनिज़्म) कहते हैं।

आस्तिकता के पक्ष में युक्तियाँ—पाश्चात्य और भारतीय दर्शन में आस्तिकता को सिद्ध करने में जो अनेक युक्तियाँ दी जाती हैं उनमें से कुछ ये हैं :

(१) मनुष्यमात्र के मन में ईश्वर का विचार और उसमें विश्वास जन्मजात है। उसका निराकरण कठिन है, अतएव ईश्वर वास्तव में होना चाहिए। इसको आंटोलॉजिकल, अर्थात् प्रत्यय से सत्ता की सिद्धि करने-वाली युक्ति कहते हैं।

(२) संसारगत कार्य-कारण-नियम को जगत् पर लागू करके यह कहा जाता है कि जैसे यहाँ प्रत्येक कार्य के उपादान और निमित्त कारण होते हैं, उसी प्रकार समस्त जगत् का उपादान और निमित्त कारण भी होना चाहिए और वह ईश्वर है (कास्मोलॉजिकल, अर्थात् सृष्टिकारण युक्ति)।

(३) संसार की सभी क्रियाओं का कोई न कोई प्रयोजन या उद्देश्य होता है और इसकी सब क्रियाएँ नियमपूर्वक और संगठित रीति से चल रही हैं। अतएव इसका नियामक, योजक और प्रबंधक कोई मंगलकारी भगवान् होगा (टिलियोलोजिकल, अर्थात् उद्देश्यात्मक युक्ति)।

(४) जिस प्रकार मानव समाज में सब लोगों को नियंत्रण में रखने के लिये और अपराधों का दंड एवं उपकारों और सेवाओं का पुरस्कार देने के लिये राजा अथवा राजव्यवस्था होती है उसी प्रकार समस्त सृष्टि को नियम पर चलाने और पाप पुण्य का फल देनेवाला कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्ति-मान् और न्यायकारी परमात्मा अवश्य है। इसको मॉरल या नैतिक युक्ति कहते हैं।

(५) योगी और भक्त लोग अपने ध्यान और भजन में निमग्न होकर भगवान् का किसी न किसी रूप में दर्शन करके कृतार्थ और तृप्त होते दिखाई पड़ते हैं (यह युक्ति रहस्यवादी, अर्थात् मिस्टिक युक्ति कहलाती है)।

(६) संसार के सभी धर्मग्रंथों में ईश्वर के अस्तित्व का उपदेश मिलता है, अतएव सर्व-जन-साधारण का और धार्मिक लोगों का ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास है। इस युक्ति को शब्दप्रमाण कहते हैं।

नास्तिकों ने इन सब युक्तियों को काटने का प्रयत्न किया है (दे० अनीश्वरवाद)।

सं०ग्रं०—बावने : थीज़्म; फ्लिंट : थीज़्म; हाकिंग : दि मीनिंग ऑव गॉड इन ह्यूमन एक्सपीरिएंस; फ्रेज़र : फिलासफ़ी ऑव थीज़्म; विलियम जेम्स : दि विल टु बिलीव; फिस्के : थ्रू नेचर टु गॉड; उद-यन : न्यायकुसुमांजलि।

[भी० ला० आ०]

आस्मियम प्लैटिनम समूह की छः धातुओं में से एक है और इन सबसे अधिक दुष्प्राप्य है। इसको सबसे पहले टेनांट ने १८०४ में आस्मिइरीडियम से प्राप्त किया। आस्मिइरीडियम को सोडियम क्लो-राइड के साथ क्लोरीन गैस की धारा में पिघलाने पर आस्मियम टेट्राक्लो-राइड (आ${}_{०}$क्लो${}_{४}$) बनता है जो उड़कर एक जगह एकत्र हो जाता है। इसकी

अमोनियम क्लोराइड के साथ प्रतिक्रिया कराने पर $(\text{नाहा}_{४})_{२}\text{आ}_{स}\text{क्लो}_{६}$ बन जाता है, जिसको वायु की अनपस्थिति में तप्त करने पर आस्मियम धातु प्राप्त होती है (संकेत $\text{आ}_{स}$; परमाणभार १९०; परमाणुसंख्या ७६)।

इसके मुख्य प्राप्तिस्थान रूस, टैसमेनिया तथा दक्षिण अफ्रीका हैं। यह ज्ञात पदार्थों में सबसे भारी है। इसका आपेक्षिक घनत्व २२·५ है तथा यह २७००° सें० पर पिघलती है। यह अत्यंत कठोर धातु है और विकर की कठोरता की नाप के अनुसार इसकी कठोरता लगभग ४०० है। इसकी विद्युतीय विशिष्ट प्रतिरोधकता ८·८ है। शुद्ध धातु न गर्म अवस्था में और न ठंढी में व्यवहारयोग्य है। हवा में गर्म करने पर इसका उड़नशील आक्साइड $\text{आ}_{स}\text{औ}_{४}$ बन जाता है। इस धातु पर किसी अवकारक अम्ल का कोई प्रभाव नहीं होता तथा अम्लराज भी साधारण ताप पर इसपर कोई प्रतिक्रिया नहीं करता। यह प्लैटिनम, इरीडियम तथा रुथेनियम धातुओं के साथ बड़ी सुगमता से मिश्रधातु बना लेती है जो अत्यधिक कठोर होती है। इसको प्लैटिनम में ८ प्रति शत तक मिलाकर काम में लाया जा सकता है। इन मिश्रणों से वस्तुएँ चूर्ण-धातुकार्मिकी (पाउडर मेटलर्जी) की रीतियों से निर्मित की जाती हैं। आस्मियम की संयोजकता २, ३, ४, ६, तथा ८ होती है। इसके यौगिक $\text{आ}_{स}\text{क्लो}_{३}$, $\text{आ}_{स}\text{क्लो}_{४}$, $\text{आ}_{स}\text{क्लो}_{६}$ तथा $\text{आ}_{स}\text{क्लो}_{८}$ बनाए जा सकते हैं। $\text{आ}_{स}\text{औ}_{४}$ बहुत ही उड़नशील तथा विषाक्त पदार्थ है।

यह धातु सर्वप्रथम साधारण विद्युत् बल्बों (इनकैंडिसेंट इलेक्ट्रिक बल्बों) में प्रयुक्त की गई, परंतु यह बहुत ही मूल्यवान् थी और इससे एक वाष्प निकलती थी। इसलिये शीघ्र ही इसकी जगह सस्ती और अधिक लाभदायक धातुओं का उपयोग होने लगा। अति सूक्ष्म विभाजित धातु उत्प्रेरक का काम करती है। $\text{आ}_{स}\text{औ}_{४}$ इस धातु का सबसे महत्वपूर्ण यौगिक है। यह औतिक अभिरंजक (हिस्टोलॉजिकल स्टेन) के तथा उँगली की छाप लेने के काम आता है। परक्लोरेट की उपस्थिति में क्लोरेट को निकालने में भी इसका प्रयोग होता है। इस धातु का उपयोग सबसे कठोर मिश्रधातुओं के बनाने में होता है। ये मिश्रधातुएँ बहुमूल्य औजारों के भारु (बेयरिंग) बनाने में और आस्मियम-इरीडियम मिश्रधातु फाउंटेनपेन की निब बनाने में काम आती है।

($\text{आ}_{स}$=आस्मियम; औ=आक्सिजन; क्लो=क्लोरीन; ना=नाइट्रोजन; हा=हाइड्रोजन) [स० प्र०]

आहवमल्ल, सोमेश्वर प्रथम

प्रसिद्ध चालुक्यराज जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल का पुत्र जो १०४२ ई० में सिंहासन पर बैठा। पिता का समृद्ध राज्य प्राप्त कर उसने दिग्विजय करने का निश्चय किया। चोल और परमार दोनों उसके शत्रु थे। पहले वह परमारों की ओर बढ़ा। राजा भोज धारा और मांडू छोड़ उज्जैन भागा और सोमेश्वर दोनों नगरों को लूटता उज्जैन पर जा चढ़ा। उज्जैन की भी वही गति हुई, यद्यपि भोज सेना तैयार कर फिर लौटा और उसने खोए हुए प्रांत लौटा लिए। कुछ दिनों बाद जब अन्हिलवाड के भीम और कलचुरी लक्ष्मीकर्ण से संघर्ष के बीच भोज मर गया तब उसके उत्तराधिकारी जयसिंह ने सोमेश्वर से सहायता माँगी। सोमेश्वर ने उसे मालवा की गद्दी पर बैठा दिया और स्वयं चोलों से जा भिड़ा। १०५२ ई० में कृष्णा और पंचगंगा के संगम पर कोप्पम के प्रसिद्ध युद्ध में चोलों को परास्त किया। बिल्हण के 'विक्रमांकदेवचरित' के अनुसार तो सोमेश्वर एक बार चोल शक्ति के केंद्र कांची तक जा पहुँचा था। सोमेश्वर ने दक्षिण और निकट के राजकुलों से सफल लोहा लेकर अब अपना रुख उत्तर की ओर किया। मध्यभारत में चंदेलों और कछवाहों को रौंदता वह गंगा जमुना के द्वाब की ओर बढ़ा और कन्नौजराज ने डरकर कंदराओं की शरण ली। उसकी शक्ति इस प्रकार बढ़ती देख लक्ष्मीकर्ण कलचुरी ने उसकी राह रोकी, पर उसे हारकर मैदान छोड़ना पड़ा। इसी बीच सोमेश्वर के बेटे विक्रमादित्य ने मिथिला, मगध, अंग, बंग और गौड़ को रौंद डाला। तब कहीं कामरूप (आसाम) पहुँचने पर वहाँ के राजा रत्नपाल ने चालुक्यों की बाग रोकी और सोमेश्वर कोशल की राह घर लौटा। हैदराबाद में कल्याणी नाम का नगर उसी का बसाया हुआ प्राचीन कल्याण है जिसे उसने अपनी राजधानी बनाया था। १०२८ ई० में बीमार पड़ने पर जब सोमेश्वर ने अपने बचने की आशा न देखी तब वह तुंगभद्रा में स्वेच्छा से डूबकर मर गया। [ओं० ना० उ०]

आहार और आहारविद्या

आहार जीवन का आधार है। प्रत्येक प्राणी के जीवन के लिये आहार आवश्यक है। अत्यंत सूक्ष्म जीवाणु से लेकर बृहत्काय जंतुओं, मनुष्यों, वृक्षों तथा अन्य वनस्पतियों को आहार ग्रहण करना पड़ता है। वनस्पतियाँ अपना आहार पृथ्वी और वायु से क्रमशः अकार्बनिक लवण और कार्बन डाइआक्साइड के रूप में ग्रहण करती हैं। सूर्य के प्रकाश में पौधे इन्हीं से अपने भीतर उपयुक्त कार्बोहाइड्रेट, वसा और अन्य पदार्थ तैयार कर लेते हैं।

मनुष्य तथा जंतु अपना आहार वनस्पतियों तथा जांतव शरीरों से प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उनको बना बनाया आहार मिल जाता है, जिसके अवयव उन्हीं अकार्बनिक मौलिक तत्वों से बने होते हैं जिनको वनस्पतियाँ पृथ्वी तथा वायु से ग्रहण करती हैं। अतएव जांतव वर्ग के लिये वृक्ष ही भोजन तयार करते हैं। कुछ वनस्पतियों का ओषधियों के रूप में भी प्रयोग होता है।

आहार या भोजन के तीन उद्देश्य हैं: (१) शरीर को अथवा उसके प्रत्येक अंग को क्रिया करने की शक्ति देना, (२) दैनिक क्रियाओं में ऊतकों के टूटने फूटने से नष्ट होनेवाली कोशिकाओं का पुनर्निर्माण और (३) शरीर को रोगों से अपनी रक्षा करने की शक्ति देना।

अतएव स्वास्थ्य के लिये वही आहार उपयुक्त है जो इन तीनों उद्देश्यों को पूरा करे।

मनुष्य के आहार में छः विशिष्ट अवयव पाए जाते हैं: (१) प्रोटीन, (२) कार्बोहाइड्रेट, (३) स्नेह या वसा, (४) खनिज पदार्थ, (५) विटामिन और (६) जल। जंतुओं और मनुष्यों के शरीर भी इन्हीं पदार्थों से बने होते हैं। उनके रासायनिक विश्लेषण से ये ही अवयव उनमें उपस्थित मिलते हैं। अतएव आहार में इन अवयवों को यथोचित मात्रा में रहना चाहिए।

१. **प्रोटीन**—प्रोटीन विशेषकर अनाज, दूध, मांस, मछली और अंडे में मिलते हैं। प्रोटीन पचने पर ऐमिनो-अम्ल में परिवर्तित हो जाते हैं। इन ऐमिनो-अम्लों का फिर से संश्लेषण करके शरीर अपने लिये अन्य उपयुक्त प्रोटीन तैयार करता है। मनुष्य का शरीर कुछ ऐमिनो-अम्ल तो आहार से बना लेता है, किंतु कतिपय अन्य ऐसे अम्लों को वह नहीं बना सकता। ये ऐमिनो-अम्ल मनुष्य वनस्पति और जंतुओं के शरीर से प्राप्त करता है। कुछ प्रोटीन शरीर के लिये अत्यावश्यक होते हैं। उनको श्रेष्ठ या प्रथम श्रेणी का प्रोटीन कहा जाता है। ये प्रोटीन विशेषकर जंतुओं से प्राप्त होते हैं। इनमें प्रथम स्थान दूध का है। अंडा, मांस, मछली में भी प्रथम श्रेणी के प्रोटीन हैं। इनका काम शरीर के अवयवों को बनाना है। इनका कुछ भाग शरीर को शक्ति और गर्मी भी प्रदान करता है।

२. **कार्बोहाइड्रेट**—यह अवयव मुख्यतः वनस्पति से प्राप्त होता है। चीनी या शर्करा शुद्ध कार्बोहाइड्रेट है। ग्लूकोज़, लेव्युलोज़, मालटोज़ और लैकटोज़ शर्करा के ही प्रकार हैं, अतएव ये भी शुद्ध कार्बोहाइड्रेट हैं। ग्लाइकोजेन तथा श्वेतसार (स्टार्च) भी संपूर्ण कार्बोहाइड्रेट हैं। सब प्रकार के कार्बोहाइड्रेट पाचनक्रिया द्वारा अंत में ग्लूकोज़ में परिवर्तित हो जाते हैं। सेल्यूलोज़ पर पाचक रसों की क्रिया नहीं होती। ग्लूकोज़ शरीर में ईंधन का काम करता है। इसकी उसे प्रत्येक क्षण आवश्यकता रहती है, क्योंकि पेशियों में सदा ही संकोच तथा शिथिलता होती रहती है। जो ग्लूकोज़ बच जाता है, वह पेशियों और यकृत में ग्लाइकोजेन के रूप में संचित हो जाता है और पेशियों के काम करने के समय फिर से ग्लूकोज़ में परिवर्तित होकर, भिन्न भिन्न प्रकिण्वों (एनज़ाइमों) और आक्सिजन की सहायता से ताप उत्पन्न करता है और शक्ति के रूप में पेशियों को काम करने के योग्य बनाता है। शक्ति ताप ही का दूसरा रूप है।

३. **वसा**—तेल, घी, मक्खन इत्यादि शुद्ध वसा हैं। मांस और अंडे तथा वानस्पतिक पदार्थों में भी वसा रहती है, विशेषकर शुष्क फलों में,

जैसे बादाम, अखरोट, काजू और मूंगफली आदि में । वसा का कार्य भी शरीर में ताप और शक्ति पैदा करना है। कारबोहाइड्रेट की अपेक्षा वसा में ढाई गुनी अधिक शक्ति होती है। वसा कुछ विशिष्ट अम्लों और ग्लिसरीन के संयोग से बनती है। कुछ वसा-अम्ल शारीरिक पोषण के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। वे 'नितांत आवश्यक वसा-अम्ल' कहलाते हैं।

४. खनिज पदार्थ--कुछ खनिज तो शरीर में प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं और कुछ अल्प मात्रा में। कैल्सियम और फासफोरस शरीर में प्रचुर मात्रा में उपस्थित हैं। इन्हीं से अस्थियाँ बनती हैं। इसी श्रेणी में लोह, सोडियम और पोटैसियम भी हैं। लोह रक्त का विशेष अंग है। सोडियम और पोटैसियम शरीर के ऊतकों की प्रक्रिया का नियंत्रण करते हैं जिसपर सारे शरीर का भरण पोषण निर्भर है। इनके असंतुलित होने से रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

दूसरी श्रेणी के खनिज, जो अल्प मात्रा में शरीर में पाए जाते हैं, ताँबा, कोबल्ट, आयोडीन, फ्लोरीन, मैंगनीज और यशद हैं। ये भी शरीर के लिये आवश्यक हैं। ऐल्यूमिनियम, आर्सेनिक, क्रोमियम, सिलीनियम, लीथियम, मौलिब्डीनम, सिलिकन, रजत, स्ट्रौंशियम, टेल्यूरियम, टाइटेनियम और वैनेडियम भी जंतुओं के शरीर में पाए जाते हैं। किंतु शरीर में इनका कोई उपयोग है या नहीं, यह अभी तक निश्चित नहीं हो सका है।

५. विटामिन--ये कार्बनिक द्रव्य हैं जो खाद्य वस्तुओं में उपस्थित रहते हैं। इनकी भी शारीरिक प्रक्रियाओं के लिये आवश्यकता है, यद्यपि इनकी अल्प मात्रा ही पर्याप्त होती है। ये न तो शक्तिप्रदायक तत्व हैं और न ह्रासपूरक ही। ये पोषक पदार्थों के उपयोग में सहायता देते हैं। इनकी कार्यविधि उत्प्रेरक, प्रकिण्व (एनज़ाइम) और सहायक प्रकिण्वों के समान है। प्रायः सभी विटामिन आजकल प्रयोगशालाओं में संश्लेषण से तैयार किए जाते हैं। इनके रासायनिक संघटन तथा सूत्र ज्ञात किए जा चुके हैं। इनके संबंध का ज्ञान हाल का ही है और बढ़ता जा रहा है। दो प्रकार के विटामिन पाए जाते हैं। एक प्रकार के जल में घुल जाते हैं और दूसरे वसा में घुलनेवाले होते हैं। वसा में घुलनेवाले विटामिन 'ए', 'डी', 'ई' और 'के' हैं। 'बी'-समुदाय के विटामिन और 'सी' तथा 'पी' विटामिन जल में घुलते हैं। बी समुदाय में बी$_1$, बी$_2$, बी$_{पी. पी.}$ (नियासिन), बी$_6$, पेंटाथोनिक अम्ल, फोलिक अम्ल और बी$_{12}$ हैं।

६. जल--आहार के ठोस और अर्धठोस पदार्थों में पानी का अंश ७० प्रति शत रहता है। शरीर में भी जल का अनुपात यही है। जल इन वस्तुओं में खनिजमिश्रित रूप में रहता है। मनुष्य प्रति दिन एक से तीन सेर तक ऊपर से भी जल पीता है। भोजन के बिना मनुष्य सप्ताहों तक जीवित रह सकता है, किंतु जल के बिना कुछ दिन भी जीना कठिन है। शरीर के ऊतकों और कोशिकाओं में पोषक तत्वों को ले जाने और उन विश्लेषण प्रक्रियाओं द्वारा उत्पन्न, जो इन कोशिकाओं में होती रहती हैं, विषैले अवयवों को शरीर से बाहर निकालने में जल का बहुत महत्व है। ये दूषित पदार्थ मूत्र, मल और स्वेद द्वारा ही शरीर का परित्याग करते हैं।

इन छः खाद्यांशों के अतिरिक्त मनुष्य न पचनेवाले पदार्थ, जैसे सेलुलोज़ (अर्थात् अनाज और तरकारियों का वह अक्रियाशील भाग जो लकड़ी की तरह होता है), मसाले और भिन्न भिन्न प्रकार के पेयों का भी अपने भोजन के संग प्रयोग करता है। सेलुलोज़ से कोष्ठबद्धता दूर होती है, क्योंकि यह पचता नहीं, ज्यों का त्यों मल में निकल जाता है। मसाला भोजन को स्वादिष्ट बनाता है और इसलिये एक सीमा तक पाचन में भी सहायता देता है। जल के अतिरिक्त अन्य पेयों का तो मनुष्य अपने स्वभाव से, अपनी प्रसन्नता या रसना के लिये, आहार के साथ प्रयोग करता है। आदिकाल से वह इन पदार्थों का व्यवहार करता आया है। निस्संदेह इनका रूप बदलता रहा है। आजकल चाय और कौफी का विशेष व्यवहार किया जाता है। कुछ देशों में कुछ मात्रा में मदिरा का भी व्यवहार होता है। किसी समय भारत में सोमरस का व्यवहार होता था।

आहारविद्या--आहारविद्या बताती है कि मनुष्य का आहार क्या होना चाहिए और आहार के भिन्न भिन्न तत्वों को किस अवस्था में तथा किस मात्रा में खाया जाय, जिसमें शारीरिक और मानसिक पोषण उत्तम हो। बाल्यकाल से लेकर १८ वर्ष तक की अवस्था वृद्धि की है। युवावस्था और प्रौढ़ावस्था में शारीरिक वृद्धि नहीं होती। शरीर सुदृढ़ और परिपक्व होता रहता है। वृद्धावस्था में ह्रास प्रारंभ होता है। इनमें से प्रत्येक अवस्था में शारीरिक और मानसिक क्रियाओं के लिये ईंधन की आवश्यकता होती है। ईंधन से केवल ताप और ऊर्जा उत्पन्न होती है। परंतु शारीरिक ऊतकों की टूट फूट भी होती रहती है। इसकी पूर्ति तथा शारीरिक वृद्धि के लिये प्रोटीन की आवश्यकता होती है। कार्य करने की शक्ति या ऊर्जा की उत्पत्ति कारबोहाइड्रेट और वसा से होती है। श्रेष्ठ प्रोटीन पाचनक्रियाओं के पश्चात् अंत में ऐमिनो-अम्लों में विभाजित हो जाते हैं, जो नितांत आवश्यक और सामान्य दो प्रकार के होते हैं। वृद्धि के लिये दोनों प्रकार के प्रोटीन आवश्यक हैं। अतएव भोजन में दोनों प्रकार के प्रोटीनों की उपस्थिति आवश्यक है। मनुष्य को प्रत्येक अवस्था में कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन और वसा इन तीनों अवयवों की आवश्यकता रहती है। गर्भस्थ शिशु की वृद्धि के लिये गर्भवती को इनकी अत्यंत अपेक्षा रहती है। शिशु को माता के दूध से प्रोटीन मिलता है जो उसके लिये अत्यंत आवश्यक है। बाल्यकाल में भी उत्तम ऐमिनो-अम्लोंवाले प्रोटीन बालक को दूध से मिलते हैं। इनकी कमी से शारीरिक और मानसिक विकास नहीं होते। युवावस्था में मनुष्य को शक्तिदायक द्रव्यों की आवश्यकता होती है। वृद्धावस्था में इन क्रियाओं में कमी हो जाती है। इसलिये इस अवस्था में उपर्युक्त दोनों प्रकार के द्रव्यों की कम मात्रा में आवश्यकता पड़ती है। इनके कम होने से आवश्यक विटामिन की मात्रा में कमी हो जाती है। अतएव वृद्धावस्था में इस न्यूनता को कृत्रिम विटामिन से पूरा किया जाता है।

२०वीं शताब्दी के गत वर्षों को आहारविद्या की दृष्टि से पाँच कालोंमें बाँटा जा सकता है : (१) कैलोरीकाल, (२) विटामिनकाल, (३) प्रोटीनकाल, (४) संतुलित भोजनकाल और (५) जल और लवण-संतुलन-काल।

१. कैलोरीकाल--इस शताब्दी के प्रारंभ में उपयुक्त भोजन की माप कलोरियों से की जाती थी और इसपर विशेष बल दिया जाता था कि प्रत्येक को आवश्यक कैलोरियाँ अवश्य मिलें। एक कलोरी वह ऊष्मा है जो एक ग्राम जल के ताप को एक डिगरी सेंटीग्रेड बढ़ा देती है। शारीरिक कार्य के अनुसार एक प्रौढ़ व्यक्ति के भोजन में २,००० से ३,००० कैलोरियोंवाली सामग्री प्रति दिन मिलनी चाहिए। प्रोटीन अथवा कार्बोहाइड्रेट के एक ग्राम से ४ कलोरियाँ प्राप्त होती हैं और एक ग्राम वसा से ८ कैलोरी। किसी विशेष आहार से जितनी कैलोरियाँ प्राप्त हो सकती हैं उन्हीं पर आहार की गणना निर्भर है। (विशेष परिचय के लिये **पोषण** शीर्षक लेख देखें)।

२. विटामिनकाल--१९१२ से इस काल का आरंभ होता है। इस समय यह जानकारी होने लगी थी कि पूर्ण कैलोरियोंवाला आहार करने पर भी शारीरिक पोषण ठीक न होने की संभावना रहती है। पता चला कि साथ साथ सब विटामिनों को आवश्यक मात्रा में विद्यमान रहना चाहिए। विटामिन की हीनता से बरीबरी, वल्कचर्म (पेलाग्रा), बालवक्रास्थि (रिकेट्स) आदि रोग उत्पन्न होते हैं। विटामिनों की हीनता से शरीर में रोग के अनेक लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। अब यह निर्णय हो चुका है कि मनुष्य को कौन कौन से विटामिनों का और प्रति दिन कितनी कितनी मात्राओं में मिलना आवश्यक है और यह भी कि किन किन आहारों में ये कितनी कितनी मात्राओं में उपस्थित रहते हैं। प्रति दिन के संतुलित आहार से साधारणतः ये यथेष्ट परिमाण में मिलते रहते हैं। भोजन संतुलित न होने से शरीर में विटामिन की कमी के चिह्न प्रकट होने लगते हैं। (विशेष परिचय के लिये **विटामिन** शीर्षक लेख देखें)।

३. प्रोटीनकाल--द्वितीय विश्वसंग्राम की अवधि में भिन्न भिन्न प्रकार के आहार की कमी के साथ साथ प्रोटीन की भी कमी हुई। इससे संसार के प्रत्येक देश में साधारण जनता को उत्तम प्रोटीनयुक्त भोजन मिलना दुर्लभ हो गया। इससे अनेक प्रकार के रोग होने लगे, क्योंकि शरीर की रक्षक शक्ति का ह्रास हो गया। इससे स्पष्ट हो गया कि भोजन में उत्तम प्रोटीनों का पर्याप्त मात्रा में रहना परमावश्यक है। इस कारण वैज्ञानिकों ने उत्तम प्रोटीनों की खोज आरंभ की। देखा गया कि दूध, मांस, मछली और अंडा के अतिरिक्त यीस्ट और सोयाबीन के प्रोटीन भी अति उत्तम हैं। इन दोनों में नितांत आवश्यक ऐमिनो-अम्ल भी वर्तमान रहते हैं। मांस के

प्रोटीन में जो गुणकारी ऐमिनो-अम्ल होते हैं, वे सब इनमें भी है। इस काल में अनुसंधान से यह ज्ञात हुआ कि सब प्रकार के ऐमिनो-अम्ल की प्राप्ति के लिये मनुष्य के आहार में भिन्न भिन्न प्रकार के प्रोटीनों का रहना आवश्यक है, जो भिन्न भिन्न पदार्थों से मिलते हैं। इसका भी अन्वेषण किया गया कि यीस्ट और सोयाबीन को किस प्रकार बनाया जाय कि वे स्वादिष्ट हो जायँ। आजकल ऐमिनो-अम्ल मनुष्य के अन्य आहारों में मिलाकर मिश्रण भी तयार किया जाता है। ऐसे मिश्रण की गंध साधारणतः बहुत बुरी होती है। इस गंध को मारन और मिश्रित आहार को रुचिकर बनाने के लिये भी यथेष्ट प्रयत्न चल रहे है।

४. **संतुलित भोजन-काल**—इस काल में यह पाया गया कि स्वास्थ्य या शरीरवृद्धि के लिये भोजन के सब अवयवों, प्रोटीन, कार्बोहाइड्रट, वसा, विटामिन, लवण आदि का उपयुक्त अनुपातों में आहार में वर्तमान रहना आवश्यक है। अनुपातों में थोडी बहुत विभिन्नता से हानि नहीं होती, परंतु अधिक कमी बेशी रहने पर स्वास्थ्य ठीक नही रहता। भारतीय आहारों मे अच्छे प्रोटीन की विशेष कमी रहती है, क्योंकि बहुत से लोग मांस आदि नहीं खाते और महँगा होने के कारण दूध, दही का भी सेवन नहीं कर पाते। परंतु कई प्रकार के अच्छे प्रोटीनों का खाद्य में होना आवश्यक है। संभव हो तो इन्हें दूध, अंडा, मांसादि भिन्न भिन्न पदार्थों से प्राप्त करना चाहिए।

अपर्याप्त और असंतुलित भोजन

इस भोजन का अधिक भाग चावल है। इतने भोजन से कुल १,७५० कैलोरियाँ प्राप्त होती है, जो स्वस्थ मनुष्य के निमित्त एक दिन के लिये यथेष्ट नहीं है।

पर्याप्त और संतुलित भोजन

इस भोजन में चावल की एक तिहाई के बदले बाजरा या गेहूँ रख दिया गया है। दूध, दाल, तरकारी, हरा शाक, वसा और फल की मात्राएँ बढ़ा दी गई हैं। इससे सभी आवश्यक पदार्थ शरीर को पर्याप्त मात्रा में मिलते है। इतने भोजन से २,६०० कैलोरियाँ प्राप्त होती है जो एक दिन के लिये यथेष्ट है।

५. **जल और लवण-संतुलन-काल**—शारीरिक प्रक्रिया के लिये पानी और भिन्न भिन्न लवणों का भी बहुत अधिक महत्व है। पाचन के पश्चात् आहार के अवयव जल द्वारा ही शरीर के भिन्न भिन्न भागों में पहुँचते है। लवण जल द्वारा ही कोशिकाओं तथा अंतःकोषीय स्थानों में पहुँचते है। रक्त की द्रवता भी जल के ही कारण बनी रहती है। भिन्न भिन्न स्थानों में लवणों की भिन्न भिन्न मात्रा उपस्थित रहती है। इस मात्रा की थोड़ी बहुत न्यूनता या अधिकता से शारीरिक प्रक्रियाओं में कोई विकृति नहीं उत्पन्न होती, किंतु विशेष कमी होने से तरह तरह के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। ये लवण भी शरीर के लिये बहुत महत्व के हैं। शरीर से विशेष मात्रा में लवण निकल जाने से, जैसे पसीना द्वारा या पतले दस्तों द्वारा, हाथ पाँव की पेशियों में शिथिलता और ऐंठन आने लगती है। यदि इन लवणों की पूर्ति कुछ काल तक न की जाय तो मृत्यु तक हो सकती है।

सं०ग्रं०—चार्ल्स हर्बर्ट बेस्ट तथा नार्मन बर्क टेयलर : दि फ़िज़िओलॉजिकल बेसिस ऑव मेडिकल प्रैक्टिस (नवीन संस्करण) (बलिअर टिंडाल ऐंड कॉक्स, लंदन); सैमसन राइट: ऐप्लाएड फिज़िऑलोजी (ऑक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन); एम० जी० वील : डाइटोथरापी, (डब्ल्यू० बी० सॉण्डर्स कंपनी, फिलाडेल्फिआ और लंदन)। [ब० ना० प्र०]

इंका दक्षिण अमरीका के रेड इंडियन जाति की एक गौरवशाली उपजाति थी। सन् ११०० ई० तक इंका लोग अपने पूर्वजों की भाँति अन्य पड़ोसियों जैसा ही जीवन व्यतीत करते थे, परंतु लगभग सन् ११०० ई० में कुछ परिवार कुज़को घाटी में पहुँचे जहाँ उन्होंने आदिम निवासियों को परास्त करके कुज़को नामक नगर का शिलान्यास किया। यहाँ उन्होंने लामा नामक पशु के पालन के साथ साथ कृषि भी आरंभ की। कालांतर में उन्होंने टीटीकाका झील के दक्षिण-पश्चिम में अपने राज्य को प्रशस्त किया। सन् १५२८ ई० तक उन्होंने पेरू, इक्वेडर, चिली तथा पश्चिमी अर्जेंटीना पर भी कब्जा कर लिया। परंतु यातायात के साधनों के अभाव में तथा गृहयुद्ध के कारण इंका साम्राज्य छिन्न विच्छिन्न हो गया।

इंका प्रशासन के संबंध में विद्वानों का ऐसा मत है कि उनके राज्य में सच्चा राजकीय समाजवाद (स्टेट सोशियलिज़्म) था तथा सरकारी कर्मचारियों का चरित्र अत्यंत उज्वल था। इंका लोग कुशल कृषक थे। इन्होंने पहाड़ियों पर सीढ़ीदार खेती का प्रादुर्भाव करके भूमि के उपयोग का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया था। आदान प्रदान का माध्यम द्रव्य नहीं था, अतः सरकारी करोंका भुगतान शिल्प की वस्तुओं तथा कृषीय उपजों में किया जाता था। ये लोग खानों से सोना निकालते थे, परंतु उसका मंदिरों आदि में सजावट के लिये ही प्रयोग करते थे। ये लोग सूर्य के उपासक थे और ईश्वर में विश्वास करते थे। [ले० रा० सिं० क०]

इंग्लिश चैनल (रोमन नाम : मारे ब्रिटैनिकम; फ्रेंच नाम : ला मांश) अटलांटिक महासागर की भुजा है, जो डोवर जलडमरुमध्य द्वारा उत्तरी सागर से मिली हुई है। यह इंग्लैंड और

फ्रांस को पृथक् किए हुए है। अटलांटिक महासागर से डोवर जलडमरूमध्य तक इसकी अधिकतम लंबाई ३५० मील है, सेंट मार्लो (फ्रांस) तथा सिडमाउथ (इंग्लैंड) के बीच अधिकतम चौड़ाई १४० मील तथा डोवर जलडमरूमध्य में न्यनतम चौड़ाई २० मील है। इसका कुल क्षेत्रफल लगभग ३०,००० वर्ग मील है। इसमें इंग्लैंड के ८,००० वर्ग मील तथा फ्रांस के ४१,००० वर्ग मील क्षेत्र का जल आ गिरता है। इसके पश्चिमी आधे भाग की औसत गहराई ३०० फुट तथा अधिकतम ५०० फुट है। इसके पूर्वी आधे भाग की गहराई केवल २०० फुट है तथा डोवर में ६ से १२० फुट तक ही है। इसके उत्तरी तट की लंबाई ३६० मील तथा दक्षिणी तट की लंबाई ५७० मील है। इसकी मुख्य खाड़ियाँ फालमाउथ, प्लाइमाउथ, लाइम, वेमाउथ, स्पिटहेड और सालवेंट (इंग्लैंड में) तथा सेन, सेंत बरीयें और देमांत सेंत माइकेल (फ्रांस में) हैं। इसके मुख्य द्वीप वाइट द्वीप, चैनेल द्वीप, सिली द्वीप तथा अशांत हैं। इसके मुख्य बंदरगाह फालमाउथ, प्लाइमाउथ, साउथैंपटन, पोर्ट्समाउथ, ब्राइटन, फोकस्टोन तथा डोवर (इंग्लैंड के तट पर) और शरबुर्ग, हेवर, दीप, बोलोन तथा कैले (फ्रांस के तट पर) हैं।

इसके दोनों तटों की भौगर्भिक संरचना बहुत कुछ मिलती जुलती है जिससे ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि भूगर्भीय इतिहास में इंग्लिश चैनेल का अस्तित्व दीर्घकालीन नहीं है। विद्वानों का ऐसा मत है कि प्रातिनूतन (प्लाइस्टोसीन) युग में यूरोपीय महाद्वीप तथा इंग्लैंड के बीच स्थलीय संबंध विच्छिन्न हो गया और इंग्लिश चनेल की उत्पत्ति हो गई।

यहाँ साल भर पश्चिमी सततवाहिनी हवाएँ चला करती है। अक्टूबर से जनवरी तक बहुधा आँधियाँ आती हैं जो ज्वार के साथ उग्र रूप धारण कर लेती हैं तथा नौपरिवहन में बाधा डालती हैं। बहुधा कुहरे के कारण परिस्थिति और भी गंभीर हो जाया करती है। इन्हीं कारणों से चैनेल में बहुत से प्रकाशस्तंभ (लाइट हाउस) हैं, जिनमें इड्स्टिोन का प्रकाशस्तंभ सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

सहस्रों वर्ष पूर्व प्रकृति ने जिस स्थलीय संबंध का विच्छेद करके इंग्लैंड को यरोपीय महाद्वीप से पृथक् कर दिया था, २०वीं शताब्दी के विज्ञानयुग में मनुष्य ने उसे पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। इस संबंध में अंग्रेज तथा फ्रांसीसी इंजीनियरों की प्रथम योजना यह थी कि डोवर जलडमरूमध्य के ऊपर २४ मील लंबे विशाल पुल का निर्माण किया जाय जिसमें १२० स्तंभ हों तथा उनके बीच से बड़ से बड़ जलयान सुगमतापूवक निकल जा सक। द्वितीय योजना यह थी कि इंग्लैंड तथा फ्रांस को एक सुरंग द्वारा जोड़ दिया जाय। दूसरी योजना को ही मान्यता प्राप्त हुई, अतः दोनों तटों पर खुदाई का कार्य आरंभ कर दिया गया। इंग्लैंड में शेक्सपियर नामक चट्टान के निकट १६४ फुट की गहराई में सात फुट व्यास वाली २३,००० गज लंबी सुरंग भी खुद गई, परंतु दोनों राष्ट्रों के मतैक्य के अभाव में विशेष प्रगति न हो सकी और कार्य अधूरा ही रह गया। अब ऐसी योजना की विशेष आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि द्रुतगामी जलयानों तथा वायुयानों से संतोषप्रद काम हो रहा है। [ले० रा० सिं० क०]

इंग्लिश बाजार पश्चिमी बंगाल के मालदा जिले में महानंदा नदी के दाहिने किनारे पर स्थित नगर है। (स्थिति २५°०' उ० अक्षांश, ८६° ६' पू० देशांतर।) जिले के प्रमुख कार्यालय यहीं पर हैं। नदी के तट पर, अच्छी उँचाई पर तथा शहतूत उत्पादक क्षेत्र में स्थित होने के कारण अंग्रेजों ने इसको रेशम उद्योग का केंद्र चुना। इसे अंग्रेजाबाद भी कहते हैं। ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा संचालित रेशम का कारखाना १७वीं शताब्दी के अंत तक पर्याप्त उन्नति कर गया था। १७७० ई० में अंग्रेजों ने इसे व्यापार की बहुत बड़ी मंडी बनाया। १८६९ ई० में यहाँ नगरपालिका का प्रशासन हो गया। अब भी यहाँ गल्ले तथा रेशम का अच्छा व्यापार होता है। बड़ी सरकारी इमारतों में कचहरी तथा कमर्शियल रेजीडेंसी उल्लेखनीय है। शहर की सुरक्षा के लिये महानंदा पर बाँध बना दिया गया है। जनसंख्या १९०१ ई० में १३,६६६ थी, किंतु अब लगभग तिगुनी हो गई है। [ह० ह० सिं०]

इंग्लैंड ग्रेट ब्रिटेन नामक टापू का दक्षिणी भाग है। (क्षेत्रफल ५०,८७०वर्ग मील, जनसंख्या १९५१ ई०में ४,११,५६,२१३) यह दक्षिण में ४९° ५७' ३०'' उ० अक्षांश (लिजार्ड प्वाइंट) से उत्तर में ५५° ४६' उत्तर अक्षांश (ट्वीड के मुहाने) तक तथा पूर्व में १° ४६' पूर्वी देशांतर (लोवेस्टाफ) से पश्चिम में ५° ४३' पश्चिमी देशांतर (लैंड्स एंड) तक फैला हुआ है।

भूविज्ञान—इंग्लैंड के धरातल की संरचना का इतिहास बड़ी ही उलझन का है। यहाँ मध्यनूतन (मायोसीन) युग को छोड़कर प्रत्येक युग की चट्टानें मिलती है जिनसे स्पष्ट है कि इस भाग ने बड़े भूवैज्ञानिक उथल पुथल देखे हैं। आयरलैंड का ग्रेट ब्रिटेन से अलग होना अपेक्षाकृत नवीन घटना है। इंग्लैंड का डोवर जलडमरुमध्य द्वारा महाद्वीप से अलग होना और भी नई बात है, जो मानव-जीवन-काल में घटित कही जाती है।

धरातल की विभिन्नता के विचार से इंग्लैंड को दो मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है: (१) ऊँचे पठारी भाग, (२) मैदानी भाग। ऊँचे पठारी भाग इंग्लैंड के उत्तर-पश्चिमी भाग में मिलते हैं, जो प्राचीन चट्टानों द्वारा निर्मित हैं। हिमयुग में हिम से ढके रहने के फलस्वरूप यहाँ के पठार घिसकर चिकन हो गए है। दूसरी ओर मैदानी भाग नर्म चट्टानों, बलुआ पत्थर, चूना पत्थर तथा चिकनी मिट्टी (क्ले) के बने हैं। चूना पत्थर से नीची गोलाकार पहाड़ियाँ निर्मित हो गई हैं, खड़िया (चाक) से पर्वतीय ढाल। नीचे के मैदानी भाग प्रायः 'क्ले' मिट्टी के बने हैं।

जलवायु—इंग्लैंड उत्तर-पश्चिमी यूरोपीय प्रदेश के समशीतोष्ण एवं आर्द्र जलवायु के क्षेत्र में पड़ता है। इस प्रदेश का वार्षिक औसत ताप ५०° फा० है, जो क्रमशः दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व की ओर घटता जाता है। शीतकाल में इंग्लैंड के सभी भागों का औसत ताप ४०° फा० से ऊपर रहता है, पश्चिम से पूर्व की ओर क्रमशः घटता जाता है। पश्चिमी भाग गल्फस्ट्रीम नामक गर्म जलधारा के प्रभाव से प्रत्येक ॠतु में पूर्वी भाग की अपेक्षा अधिक गर्म रहता है। वर्षा उत्तर-पश्चिमी भागों तथा ऊँचे पठारों पर ३०'' से ६०'' तथा पूर्वी मैदानी भागों में ३०'' से भी कम होती है। लंदन की औसत वार्षिक वर्षा २५·१'' है। वर्ष भर पछुवाँ हवा की पेटी में पड़ने के कारण वर्षा बारहो मास होती है। आकाश साधारणतया बादलों से छाया रहता है, जाड़े में बहुधा कुहरा पड़ता है तथा कभी कभी बर्फ भी पड़ती है।

भौगोलिक दृष्टि से इंग्लैंड को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है: (१) उत्तरी इंग्लैंड, (२) मध्य के देश (३) दक्षिण-पूर्वी इंग्लैंड।

उत्तरी इंग्लैंड—पेनाइन तथा उसके आस पास के नीचे मैदान इस प्रदेश में संमिलित है। पेनाइन कटा फटा पठार है जो समुद्र के धरातल से २,००० से ३,००० फुट तक ऊँचा है। यह पठार इंग्लैंड के उत्तरी भाग के मध्य में रीढ़ की भाँति उत्तर से दक्षिण १५० मील लंबाई तथा ५० मील की चौड़ाई में फैला हुआ है। यह पठारी क्रम कार्बनप्रद (कार्बोनिफेरस) युग में चट्टानों के मुड़ने से निर्मित हुआ, परंतु इसकी ऊपरी चट्टानें कटकर बह गई हैं, जिसके फलस्वरूप कोयले की तहें भी जाती रहीं। अब कोयले की खदानें इसके पूर्वी तथा पश्चिमी सिरों पर ही मिलती हैं। कृषि एवं पशुपालन के विचार से यह भाग अधिक उपयोगी नहीं है।

पेनाइन के पूर्व नार्थंबरलैंड तथा डरहम की कोयले की खदानें हैं। यहाँ दो प्रकार की खदानें पाई जाती हैं: (१) प्रकट (छिछली) खदानें तथा (२) अप्रकट (गहरी) खदानें। प्रथम प्रकार की खदानें दक्षिण में टाइन नदी के मुहाने से उत्तर में कॉक्वेट नदी के मुहाने तक पेनाइन तथा समुद्रतट के बीच फैली हुई हैं। अप्रकट खदानें दक्षिण की ओर चूने के पत्थर के नीचे मिलती हैं। टीज़ नदी के निचले भाग में नमक की भी खदानें मिलती हैं। उसके दक्षिण लोहा प्राप्त होता है।

अतः इन प्रदेशों में लोहे तथा रासायनिक वस्तुओं के निर्माण के बहुत से कारखाने बन गए हैं। यहाँ के बने लोहे एवं इस्पात के अधिकांश की खपत यहाँ के पोतनिर्माण (शिप बिल्डिंग) उद्योग में हो जाती है। टाइन तथा वियर नदियों की घाटियाँ पोतनिर्माण के लिये जगत्प्रसिद्ध हैं। टाइन के दोनों किनारों पर न्यू कैसिल से १४ मील की दूरी तक लगातार पोत-निर्माण-प्रांगण (शिप बिल्डिंग यार्ड) हैं। न्यू कैसिल यहाँ का मुख्य नगर

है। पोतनिर्माण के अतिरिक्त यहाँ पर काच, कागज, चीनी तथा अनेक रासायनिक वस्तुओं के कारखाने हैं।

उपर्युक्त प्रदेश के दक्षिण में इंग्लैंड की सबसे बड़ी कोयले की खदानें यार्क, डरबी एवं नाटिंघम की खदानें हैं। ये उत्तर में आयर नदी की घाटी से दक्षिण में ट्रेंट की घाटी तक ७० मील की लंबाई मे तथा १० से २० मील की चौड़ाई मे फैली हुई हैं। इस प्रदेश के निकट ही, लिंकन तथा सभी पवर्ती भागों में, लोहा भी निकलता है। अतः यहाँ के कोयले के व्यवसाय पर आश्रित तीन व्यावसायिक प्रदेश हैं: (१) कोयले की खदानो के उत्तर में पश्चिमी रेडिग के ऊनी वस्त्रोद्योग के क्षेत्र, (२) मध्य में लोहे तथा इस्पात के प्रदेश तथा (३) डरबी और नाटिंघम प्रदेश के विभिन्न व्यवसायवाले प्रदेश ऊनी वस्त्रोद्योग मुख्यतया आयर नदी की घाटी में विकसित हैं। लीड्स (जनसंख्या ५,०५,२१६) यहाँ का मुख्य नगर है जो सिले हुए कपड़ों का मुख्य केंद्र है। ब्रैडफर्ड इस क्षेत्र का दूसरा महत्वपूर्ण नगर है। हैलीफैक्स कालीन बुनने का प्रधान केंद्र है। लोहे एवं इस्पात के व्यवसाय शेफील्ड (जनसंख्या ५,१२,८५०) में प्राचीन काल से होते आ रहे हैं। चाकू, कैंची बनाना यहाँ का प्राचीन व्यवसाय है। आज शेफील्ड तथा डानकैस्टर के बीच की डान की घाटी इस्पात का मुख्य प्रदेश बन गई है। यार्क-डरबी एवं नाटिंघम की कोयले की खदानो के दक्षिणी सिरे की ओर विभिन्न प्रकार के व्यवसाय होते हैं जिनमें सूती, ऊनी, रेशमी तथा नकली रेशम के उद्योग मुख्य हैं।

पेनाइन के पूर्व में उत्तरी सागर के तट तक नीचा मैदान है जिसमें यार्क, यार्कशायर एवं लिंकनशायर के पठार तथा घाटियाँ भी संमिलित हैं। यार्कशायर घाटी इंग्लैंड का एक बहुत उपजाऊ प्रदेश है जिसमें गेहूँ की अच्छी खेती होती है। यार्कशायर के पठारों एवं घाटीवाले प्रदेशों में पशुपालन तथा खेती होती है। गेहूँ, जौ तथा चुकंदर यहाँ की मुख्य फसलें हैं। हल इस प्रदेश का महत्वपूर्ण नगर तथा इंग्लैंड का तीसरा बड़ा बंदरगाह है। यहाँ के आयात में दूध, मक्खन, तेलहन, बाल्टिक सागरी प्रदेशों से लकड़ी के लट्ठे और स्वीडन से लोहा मुख्य हैं। निर्यात की जानेवाली वस्तुओं में ऊनी वस्त्र और लोहे तथा इस्पात के सामान मुख्य हैं। लिंकनशायर के पठारों पर भेड़ चराने का कार्य और घाटी में खेती तथा पशुपालन दोनों होते हैं। चुकंदर की खेती पर आश्रित चीनी की कई मिलें भी यहाँ स्थापित हो गई है। लिंकन इस प्रदेश का मुख्य नगर है, जो कृषियंत्रों के निर्माण का मुख्य केंद्र है।

दक्षिणी-पूर्वी लंकाशायर की कोयले की खदानों पर आश्रित लंकाशायर का विश्वविख्यात वस्त्रोद्योग है। यह व्यवसाय लंकाशायर की सीमा पार कर डरबीशायर, चेशायर तथा यार्कशायर प्रदेशों तक फैला हुआ है। यहाँ पर सूती वस्त्रोद्योग के दो प्रकार के नगर हैं: एक प्रेस्टन, ब्लैकबर्न, एक्रिंग्टन तथा बर्नले जैसे नगर हैं जिनमें अधिकतर कपड़े बुनने का कार्य होता है और दूसरे बोल्टनबरी, राचडेल, ओल्डम, ऐश्टन, स्टैलीब्रिज, हाइड तथा स्टाकपोर्ट जैसे वे नगर हैं जिनमे सूत कातने का कार्य मुख्य रूप से होता है। सूती वस्त्रोद्योग के प्रधान केंद्र मैंचेस्टर (जनसंख्या ७,०३,०८२) को ये नगर विभिन्न दिशाओं में घेरे हुए हैं। मैंचेस्टर शिप-कनाल द्वारा लिवरपूल (जनसंख्या ७,८८,६५६) बंदरगाह से संबंधित होने के कारण विदेशों से रुई मँगाकर अन्य नगरों को भेजता है तथा उनके तैयार माल का निर्यात करता है। लंकाशायर के अन्य उद्योगों में कागज, रासायनिक पदार्थ तथा रबर की वस्तुओं का निर्माण मुख्य है।

उत्तरी स्टैफर्डशायर की कोयले की खदानों तथा प्रादेशिक मिट्टी पर आश्रित चीनी मिट्टी के व्यवसाय लांगटन, फेंटन तथा स्टोक में स्थापित हैं। लंकाशायर के निचले मैदान हिमपर्वतों की रगड़ एवं जमाव के कारण बने हुए हैं। अतः वे कृषि की अपेक्षा गोपालन के लिये अधिक उपयुक्त हैं।

मध्य का मैदान——इंग्लैंड के मध्य में एक त्रिभुजाकार नीचा मैदान है जिसकी तीन भुजाओं के समांतर तीन मुख्य नदियाँ, उत्तर में ट्रेंट, पूर्व में ऐवान तथा पश्चिम में सेवर्न बहती हैं। भौतिक दृष्टि से यह मैदान लाल बलुए पत्थर तथा चिकनी मिट्टी (क्ले) का बना है। भूमि के अधिकतर भाग का यहाँ स्थायी चरागाह के रूप में उपयोग किया जाता है, फलतः गोपालन मुख्य उद्यम है। परंतु यह प्रदेश उद्योग धंधे के लिये अधिक प्रसिद्ध है। मध्यदेशीय कोयले की खदानों, पूर्वी शापशायर, दक्षिणी स्टैफर्डशायर तथा वारविकशायर की खदानों पर आश्रित अनेक उद्योग धंधे इस प्रदेश में होते हैं। दक्षिणी स्टैफर्डशायर की कोयले की खदानों के निकट व्यावसायिक नगरों का एक जाल सा बिछ गया है जिनकी संमिलित जनसंख्या ४० लाख से भी अधिक है। इस प्रदेश के मुख्य नगर बर्रमिंघम की जनसंख्या ही १० लाख से अधिक (११,१२,६८५) है। कल कारखानों की अधिकता, कोयले के अधिक उपयोग, नगरों के लगातार क्रम तथा खुले स्थलों की न्यूनता के कारण इस प्रदेश को प्रायः 'काला प्रदेश' की संज्ञा दी जाती है। प्रारंभ में इस प्रदेश में लोहे का ही कार्य अधिक होता था, परंतु अब यहाँ ताँबा, सीसा, जस्ता, ऐल्यूमिनियम तथा पीतल आदि की भी वस्तुएँ बनने लगी हैं। समुद्रतट से दूर स्थित होने के कारण इस प्रदेश ने उन वस्तुओं के निर्माण में विशष ध्यान दिया है जिनमें कच्चे माल की अपेक्षा कला की विशेष आवश्यकता पड़ती है, उदाहरणस्वरूप, घड़ियाँ, बंदूकें, सिलाई की मशीनें, वैज्ञानिक यंत्र आदि। मोटरकार के उद्योग के साथ साथ रबर का उद्योग भी यहाँ स्थापित हो गया है।

अन्य उद्योग धंधों में पशुपालन पर आश्रित चमड़े का उद्योग, बिजली की वस्तुओं का निर्माण और काच उद्योग मुख्य हैं।

दक्षिण-पूर्वी इंग्लैंड——मध्य के मैदान के पूर्व में चूने पत्थर के पठार तथा फेन का मैदानी भाग है। पठारों पर पशुपालन तथा नदियों की घाटियों में खेती होती है। परंतु विलिंगबरो की लोहे की खदान के कारण यहाँ पर कई नगर बस गए हैं। फेन के मैदान में गेहूँ का उत्पादन मुख्य है, परंतु कुछ समय से यहाँ आलू तथा चुकंदर की खेती विशेष होने लगी है। फेन के दक्षिण 'चाक' प्रदेश में गोपालन मुख्य पेशा है और यह भाग लंदन की दूध की माँग की पूर्ति करनेवाले प्रदेशों में प्रधान है।

पूर्वी ऐंग्लिया इंग्लैंड का मुख्य कृषिप्रधान क्षेत्र है। यहाँ गेहूँ, जौ, तथा चुकंदर अधिक उत्पन्न होता है। यहाँ के उद्योग धंधे यहाँ की उत्पन्न वस्तुओं पर आश्रित हैं। कैटले तथा ईप्सविक में चुकंदर की चीनी मिलें, वारविक में कृषियंत्र तथा शराब बनाने के कारखाने स्थापित हैं।

इस प्रदेश के दक्षिण-पश्चिम में टेम्स द्रोणी (बेसिन) है। टेम्स नदी काट्सवोल्ड की पहाड़ियों से निकलकर आक्सफोर्ड की घाटी को पार करती हुई समुद्र में गिरती है। यह घाटी 'आक्सफोर्ड क्ले वेल' के नाम से प्रसिद्ध हैं जहाँ कृषि एवं गोपालन उद्योग अधिक विकसित हैं। विश्वविख्यात प्राचीन आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय इस घाटी के मध्य में स्थित है। आक्सफोर्ड नगर के बाहरी भागों में मोटर निर्माण का कार्य होता है। लंदन की महत्ता के कारण निचली आक्सफोर्ड द्रोणी को लंदन द्रोणी नाम दिया गया है। लंदन के आसपास की भूमि (केंट, सरे तथा ससेक्स) राजधानी की फल तरकारियों तथा दूध आदि की माँग की पूर्ति के लिये अधिक प्रयुक्त होती है। लंदन नगर कदाचित् रोमन काल में टेम्स नदी के किनारे उस स्थल पर बसाया गया था जहाँ नदी सरलतापूर्वक पार की जा सकती थी। बाद में उस स्थल पर पुल बन जाने से नगर का विकास होता गया। आज लंदन संसार का सबसे बड़ा नगर (१९५१ ई० में जनसंख्या ८३,४८,०२३ थी) है। इसकी उन्नति के मुख्य कारण हैं टेम्स में ज्वार के साथ बड़े बड़े जलयानों का नगर के भीतरी भाग तक प्रवेश करने की सुविधा, रेल एवं सड़कों का जाल, यूरोपीय महाद्वीप के संमुख टेम्स के मुहाने की स्थिति, जिससे व्यापार में अत्यधिक सुविधा होती है, लंदन का अधिक काल तक देश एवं साम्राज्य की राजधानी बना रहना तथा अनेक व्यवसायों और रोजगारों का यहाँ खुलना।

लंदन द्रोणी के समान ही हैंपशायर द्रोणी है जिसमें साउथैंपटन तथा पोर्ट्स्माउथ नगर स्थित हैं। पहला यात्रियों का महत्वपूर्ण बंदरगाह तथा दूसरा नौसेना का मुख्य केंद्र है।

इंग्लैंड के दक्षिण-पूर्व में 'आइल ऑव वाइट' नाम का एक छोटा सा द्वीप है (क्षेत्रफल १४७ वर्गमील)। गर्मी की ऋतु में यहाँ पर लोग स्वास्थ्य-लाभ और मनोरंजन के लिये आते हैं।

इंग्लैंड का धर्म——देखें **ऐंग्लिकन समुदाय**। [उ० सि०]

इंग्लैंड का इतिहास

पूर्वरोमनकालीन ब्रिटेन——सभ्यता के एक स्तर तक पहुँचे हुए इंग्लैंड के प्राचीनतम निवासी केल्टिक जाति के थे जिनमें पश्चात् के देशांतरवासी आयथन या ब्रिटन कहलाए, जिससे 'ब्रिटेन' संज्ञा निकली। केल्टिक अथवा उसके पूर्व की जातियों के आगमन के कोई लिखित प्रमाण नहीं मिलते। आयरलैंड के द्वीप में, जो पहले आइरन और स्कोशिया नाम से विदित था, एक और जाति के लोग, स्कॉट्स थे। ये ५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कैलेडोनिया अथवा उत्तरी ब्रिटेन में बसे। यह उन्हीं के नाम से स्काटलैंड कहलाया। प्राचीन ब्रिटेन अपने जातीय नियम, हस्तशिल्प, धातुशस्त्रास्त्र, कृषि, युद्धकला तथा धर्म (ड्रयूडवाद) से परिचित थे। गाल प्रदेश के केल्टी स्वजातियों से तथा ग्रीक से इनके व्यापारिक संबंध थे। ३३० ई० पू० के आस पास पैथियास तथा, दो शताब्दी उपरांत, पोसीदोनियस व्यापारोद्देश्य से निकले ग्रीक व्यक्तियों में से थे।

रोमनक्षेत्र——५५ई०पू० में रोमन सेनानी जूलियस सीज़र के आक्रमणों ने ब्रिटेन को अशांत कर दिया। ४३ ई० पू० में सम्राट् क्लादियस के शासन में ब्रिटेन पर विजय की नियमित योजना बनाई गई तथा आगामी चालीस वर्षों में स्केपुला, पालिनियस और अग्रीकोला इत्यादि रोमन क्षत्रपों के अंतर्गत उसे पूरा किया गया। ब्रिटेन का बृहत् क्षेत्र ४१० ई० तक रोमन प्रांत रहा तथा इस युग में इस प्रदेश की दीक्षा रोमन संस्कृति में हुई। सड़कों का निर्माण हुआ। उनसे संबंधित नगरों का उदय हुआ। रोमन विधिसंहिता वहाँ प्रचलित हुई। खानों की खुदाई शुरू हुई। नियम और व्यवस्था लाई गई। ब्रिटेन को अनाज का निर्यातप्रधान देश बनाने के लिये कृषि को महत्व मिला और लंदीनियम (आधुनिक लंदन) प्रमुख व्यापारिक नगर बन गया। रोमन साम्राज्य में, ईसाई सभ्यता के प्रसार के कारण, ब्रिटेन में भी उसके प्रचारार्थ चौथी शताब्दी के प्रारंभ में एक मार्ग ढूंढा गया और कुछ कालोपरांत इसका पौधा वहाँ भी लग गया। ब्रिटेन में रोमन सभ्यता फिर भी कृत्रिम और बाह्य ही रही। जनता उससे प्रभावित न हो सकी। उसके अवशेष विशेषतः वास्तु से ही संबंधित रहे। ५वीं शताब्दी के आरंभ में रोम को विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध घर में संघर्ष करना पड़ा और ४१० ई० में अपनी सेना इंग्लैंड से खींच लेनी पड़ी।

इंग्लिश विजय——रोमनों के चले जाने पर ब्रिटेन कुछ समय के लिये बर्बर आक्रमणों का लक्ष्य बना। उत्तर से पिक्ट, पश्चिम से स्काट तथा पूर्व से समुद्री लुटेरे सैक्सन और जूट आए। सैक्सन त्यूतन जाति के थे जिसमें ऐंगल, जूट और शुद्ध सैक्सन भी संमिलित थे। ब्रिटेन ने जूटों की सहायता माँगी। जटों ने ४४९ ई० में ब्रिटेन में प्रवेश कर, पिक्टों को परास्त कर, केंट प्रदेश में अपनी सत्ता स्थापित की। इसके उपरांत सैक्सन जत्थों ने ब्रिट्नों को जीत ससेक्स, वेसेक्स और एसेक्स के प्रदेश में प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अंत में ऐंग्लों ने उत्तर और मध्य से देश पर आक्रमण किया और ऐंग्लीय व्यवस्था स्थापित की। ये तीनों विजेता जातियाँ सामान्यतः इंग्लिश नाम से प्रसिद्ध हुईं। ऐंग्लोसैक्सन विजय की यह प्रक्रिया लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक चली जिसमें अधिकांश ब्रिट्नों का दमन हुआ और एक नई सभ्यता आरोपित हुई।

ऐंग्लोसैक्सन विजयोपरांत सात राज्यों का सप्तशासन, केंट, ससेक्स, वेसेक्स, एसेक्स, नार्थंब्रिया, पूर्वीय ऐंग्लिया और मर्सिया पर स्थापित हुआ। ये राज्य सतत पारस्परिक युद्धों में निरत रहे और तीन राज्य (मर्सिया, नार्थंब्रिया तथा वेसेक्स) अपनी विजयों के कारण अधिक शक्तिशाली हुए। अंत में वेसेक्स ने सर्वोपरि शक्ति अर्जित की। सप्तशासन के प्रमुख राजाओं में केंट के एथेलबर्ट, नार्थंब्रिया के एडविन, मर्सिया के पेडा तथा वेसेक्स के इतनी प्रसिद्ध हैं। यही वह समय है जब अोगस्तीन के प्रयास से (५९७ ई०)

इंग्लैंड ने ईसाई धर्म की दीक्षा ली और ओगस्तीन कैंटरबरी के प्रथम आर्च बिशप नियुक्त हुए। केंट, नार्थंब्रिया और मर्सिया ने क्रम से नया धर्म अंगीकार किया। उधर सेंत पात्रिक तथा सेंत कोलंबा क्रमशः आयरलैंड और स्काट्लैंड में समान कार्य में निरत थे। इंग्लैंड के इस धर्मपरिवर्तन ने राष्ट्रीय एकता का मार्ग प्रशस्त किया।

वेसेक्स का उत्कर्ष——प्राचीन १५ सैक्सन राजाओं की पंक्ति का प्रारंभ एग्बर्ट (८०२-३९) से तथा अंत लौहपुरुष एडमंड (१०१७) के शासन से होता है। इन दो शताब्दियों में नार्थमैनों अथवा डेनों के आक्रमण हुए और इसकी पराकाष्ठा अलफ्रेड महान् के शासन (८७१-९०१) में हुई जिसने ८७८ ई० में एथेनडन के युद्धक्षेत्र में इनको परास्त किया। अलफ्रेड का शासन युद्ध और शांति की सफलताओं से उल्लेखनीय है। उसने वेसेक्स को व्यवस्थित किया, सैनिक सुधार किए, जलसेना स्थापित की, नियमों में संशोधन किए और ज्ञान को प्रोत्साहन दिया। ऐंग्लोसैक्सन वृत्तांत का संग्रह इसी के शासन में हुआ। इस युग का एक और प्रसिद्ध व्यक्ति, कैंटरबरी का आर्च बिशप, डंस्टन हुआ, जो अल्फ्रेड के उत्तराधिकारियों की छत्रछाया में राष्ट्रनायक और धर्मसुधारक के रूप में विख्यात हुआ। सैक्सन राजकुल लगभग चौथाई शताब्दी के लिये एथेलरेड की अदूरदर्शी नीति के कारण सत्ताहीन कर दिया गया। अंततः डेन अपना निरंकुश राजतंत्र कैन्यूट की अध्यक्षता में स्थापित करने में १०१७ ई० में सफल हुए।

डेन व्यवस्था तथा सैक्सन पुनरावृत्ति——१०१७ से १०४२ ई० तक इंग्लैंड तीन डेन राजाओं द्वारा शासित हुआ। कैन्यूट, जिसने १८ वर्ष शासन किया, इंग्लैंड, डेनमार्क तथा नारवे का राजा था। शासन का प्रारंभ बर्बरता से कर, उसने इंग्लैंड में नियमव्यवस्था पुनः स्थापित की, डेनों और स्थानीय जनता को समदृष्टि से देखा और रोम की तीर्थयात्रा की, जहाँ उसने इंग्लिश यात्रियों को सुविधाएँ दिलाईं। उसके अयोग्य पुत्रों के शासन में डेन साम्राज्य का अंत हो गया।

एडवर्ड (दोषस्वीकारक) के व्यक्तित्व में वेसेक्स का पुनरुद्धार हुआ। एडवर्ड विदेशी प्रभावों का दास हो गया था। वेसेक्स के अर्ल गाडविन के नेतृत्व में इस प्रभाव के विरुद्ध एक राष्ट्रीय आंदोलन हुआ। एडवर्ड का शासन (१०४२-६६) उसी आंदोलन या संघर्ष के लिये प्रसिद्ध है। उसकी मृत्यु पर गाडविन का पुत्र हैरोल्ड शासक चुना गया, किंतु गद्दी का दावेदार नार्मंडी का ड्यूक विलियम हो गया था जो १०६६ ई० में हेस्टिंग्ज के युद्धक्षेत्र में इंग्लैंड पर आक्रमण करने के उपरांत, हैरोल्ड को उखाड़ फेंक चुका था। सैक्सन राज्यतंत्र समाप्त हुआ और विलियम इंग्लिश सिंहासन पर आरूढ़ हुआ।

नार्मन पुनर्निर्माण——विलियम प्रथम (विजेता) का शासनकाल (१०६६-८७) पुनर्निर्माण तथा व्यवस्थानिरत था। उसने अपनी स्थिति नई सामंतनीति से इंग्लिश और नार्मन प्रजा को समान रीति से दबाकर तथा धार्मिक सुधारों से सुदृढ़ कर ली। लेन फ्रैंक की पोपविरोधी सहायता से उसने अपनी स्वाधीनता स्थापित की। भूमि का लेखा, डूम्स्डे बुक, तैयार किया। उसके पुत्र विलियम द्वितीय (रूफ़स) का शासन (१०८७-११००) शठता और दुर्व्यवस्था का परिचायक है। उसके शासनकाल की प्रमुख घटनाएँ हैं, कैंटरबरी के ऊपर राजा और एन्सेम का संघर्ष तथा प्रथम धर्मयुद्ध (क्रूसेड) जिसमें उसका भाई रूबर्ट युद्धसंचालन के लिये नार्मंडी को गिरवी रखकर संमिलित हुआ था। ११०० ई० में विजेता का सबसे छोटा बेटा हेनरी प्रथम (११००-११३५) गद्दी पर बैठा और ११०६ ई० में नार्मंडी को, रूबर्ट को हराकर, पुनः प्राप्त किया। उसके प्रशासकीय सुधार, जिनमें कुरिया रेजिस या राजा द्वारा न्यायालय की स्थापना भी संमिलित है, उसे न्याय का सिंह की पदवी दिलाने में सहायक हुए। हेनरी की पुत्री मैटिल्डा का वैवाहिक संबंध आँजू के काउंट ज्योफ़ी प्लैंटेजनेट के साथ हो जाने के कारण प्लैंटेजनेट वंश की स्थापना हुई। आगामी वर्षों में स्टिफ़ेन (११३५-११५४) के शासन में मैटिल्डा के नेतृत्व में एक उत्तराधिकार का युद्ध तब तक चलता रहा जब तक यह निर्णय न हो सका कि स्टिफ़ेन के उपरांत मैटिल्डा का पुत्र नवयुवक हेनरी गद्दी का अधिकारी होगा। नार्मन राजाओं ने इंग्लैंड की राज्यशक्ति को केंद्रित किया, सामंतवादी व्यवस्था का स्वरूप परिवर्तित कर उसे नई सामाजिक व्यवस्था तथा नूतन राजनीतिक एकता दी।

प्लैंटेजनेट शासक——हेनरी द्वितीय का शासन (११५४-८९) इंग्लिश इतिहास में घोर गर्भस्थिति में था। इसके शासन की विशषताओं में प्रधान थीं इंग्लैंड और स्काटलैंड के संबंधों में सामीप्य, राजकीय व्यवस्था का एक्सचेकर और न्याय पर आधारित दृढ़ीकरण, क्यूरिया रेजिस का उदय, सामान्य इंग्लिश नियम का आविर्भाव तथा स्वायत्त शासन एवं ज्ञान की परंपराओं का विकास। उसके क्लेरेंडन विधान (११६४) ने राजा और चर्च के संबंधों का निर्धारण किया। हेनरी तथा कैंटरबरी के आर्च बिशप टामस बेकेट में चर्चनीति पर परस्पर संघर्ष तथा बेकेट के वध ने इस चर्चनीति को असफल कर दिया और चर्च के विरुद्ध राजा का पक्ष क्षतिग्रस्त हो गया। हेनरी का पुत्र रिचार्ड, जिसका शासन (११८९-१२१९) तृतीय धर्मयुद्ध के संचालन तथा सलादीन के विरुद्ध फिलिस्तीन की उसकी विजयों के लिये प्रसिद्ध है, सदैव ही अनुपस्थित शासक रहा। उसका शासनकाल राबिनहुड के कार्यों से संबंधित है। उसकी मृत्यु के उपरांत उसका भाई जान गद्दी पर बैठा, जिसका शासन नृशंस अत्याचार तथा विश्वासघात का प्रतीक है। फ्रांस के फिलिप द्वितीय से झगड़कर नार्मंडी तथा उसका सतत अधिकार उसने खो दिया और पोप से झगड़कर उसे घोर लज्जा का सामना करना पड़ा। उसके बैरनों से संघर्ष का अंत इंग्लिश स्वाधीनता की नींव महान् परिपत्र (मैग्नाकार्टा—१२१५) पर हस्ताक्षर के साथ हुआ।

हेनरी तृतीय (१२१६–७२) के दीर्घ शासन को साइमन डी मांटफर्ट के नेतृत्व में बैरनों की अशांति तथा १२५८ की आक्सफोर्ड की धाराओं द्वारा राजा पर लादे गए नियंत्रण का सामना करना पड़ा। इसके उपरांत राजा और साइमन के नेतृत्व में सर्वप्रिय दल के बीच गृहयुद्ध छिड़ा जिसमें हेनरी की हार हुई। यह शासन अंग्रेजी संस्थाओं के विकास के लिये प्रसिद्ध है। १२६५ ई० में मांटफ़ोर्ट ने पार्लियामेंट में नगरों और बरों के प्रतिनिधि आमंत्रित कर हाउस ऑव कामंस का शिलान्यास किया। एडवर्ड प्रथम (१२७२-१३०७) की अध्यक्षता में वेल्स की विजय पूर्ण की गई। इसका शासन, अंग्रेजी कानून, न्याय और सेना में सुधार तथा १२९५ की माडल पार्लमिंट के द्वारा पार्लमिंट को राष्ट्रीय संस्था बना देने के प्रयत्न के लिये, महत्वपूर्ण है। अप्रिय तथा शिथिल एडवर्ड द्वितीय (१३०७-२७) की मृत्यु पर उसका पुत्र एडवर्ड तृतीय (१३२७-७७) जिसका शासन घटनापूर्ण था, गद्दी पर बैठा। स्काटलैंड से हुए एक युद्ध के उपरांत इंग्लैंड और फ्रांस के बीच शतवर्षीय युद्ध का सूत्रपात हुआ जो १४५३ ई० तक पाँच अंग्रेज शासकों को विक्षिप्त किए हुए था। उसके शासन की दूसरी घटनाएँ, पार्लमिंट का दो सदनों में विभाजन, १३४८ की 'काली मृत्यु' तथा वीक्लिफ़ के उपदेश आदि हैं। वीक्लिफ़ ने बाइबिल का अंग्रेजी में अनुवाद कर सुधार आंदोलन का आभास दे दिया था। रिचार्ड द्वितीय के शासन (१३७७-९९) में कृषक विद्रोह के रूप में सामाजिक क्रांति की प्रथम पीड़ा की अनुभूति इंग्लैंड ने की और अंग्रेजी साहित्य के आरभयिता चासर ने कैंटरबरी टेल्स लिखी। प्लैंटेजनेट शासन की प्रमुख सफलताएँ पार्लमिंट का विकास, साधारण जनता का विद्रोह, चर्च अधिकार का पतन तथा राष्ट्रीय भावना का उदय है।

लंकास्टर तथा यार्क वंश : गुलाबों का युद्ध——लंकास्टर वंश के तीनों हेनरियों (चतुर्थ से षष्ठ तक) का शासन १३९९ ई० से १४६१ ई० तक आंतरिक दृष्टि से, केवल लोलाडों अथवा वीक्लिफ़ के अनुयायियों के दमन को छोड़, कोई घटनात्मक महत्व नहीं रखता। बाह्य दृष्टि से हेनरी पंचम के शासन में शतवर्षीय युद्ध की पुनरावृत्ति, अगिन कोर्ट की १४१५ की विजय, रोएँन का बंदी होना तथा १४२० की ट्रायस की संधि सहायक हुई। हेनरी षष्ठ (१४२२-६१) के शासन में शतवर्षीय युद्ध सफलतापूर्वक चलता रहा, जब तक फ्रांस को कृषककुमारी उस आर्क की जोन के व्यक्तित्व में त्राणकर्ता नहीं मिला, जिसके जोशीले नेतृत्व के सामने अंग्रेज हतप्रभ हो गए और १४५३ ई० में एक कैले को छोड़ अपने सारे फ्रेंच प्रदेश गँवा बैठे। किंतु इस शासन में गृहयुद्ध–गुलाबों का युद्ध (१४५५-१४८५)—हुआ जो शासनसत्ता के हस्तांतरण के लिये लंकास्टर तथा यार्कवंश में लड़ा गया। पक्षों का नेतृत्व क्रमशः हेनरी षष्ठ तथा रिचार्ड ने किया। अंतिम विजयों ने राजमुकुट यार्कवंश के एडवर्ड को दिया जिसने संसद की स्वीकृति से १४६१ ई० में एडवर्ड चतुर्थ के नाम से राज्यारोहण किया। १४८५ ई० में यार्कवंशीय सामंत रिशमांड के अर्ल हेनरी ने वासवर्थ के युद्ध में रिचार्ड को परास्त कर

हेनरी सप्तम के नाम से, यार्कवंशीय राजकुमारी एलिजाबेथ को ब्याह, इंग्लैंड का राजमुकुट ले ट्यूडरवंश की स्थापना की।

लंकास्टर युग की कुछ युगांतरकारी घटनाएँ ये थीं : संसदीय शक्तियों का विकास, लोकसभा की स्वातंत्र्य विजय, गुलाबों के युद्धोंके सामंती घरानों के विध्वंस के साथ राष्ट्रीय भावना का प्रोत्साहन तथा राजसत्ता की वृद्धि, पोप के अधिकारों का क्रमिक ह्रास और कैक्सटन के छापेखाने के आविष्कार से जनित साहित्य में बढ़ती हुई अनुरक्ति।

ट्यूडर युग—यद्यपि ट्यूडर युग का आविर्भाव मध्ययुग का अंत और आधुनिक युग का प्रारंभ करता है, फिर भी यह कई दृष्टियों से मध्ययुगीन प्रवृत्तियों के विस्तार को ही सिद्ध करता है। साथ ही यह अंग्रेजी इतिहास के महान् परिवर्तनों एवं रचनाओं का युग था, जब इंग्लैंड ने वह स्थिति ग्रहण की जो आगामी इतिहास में पूर्ववत् बनी रही। नए ज्ञान, भौगोलिक खोजों, आविष्कारों, नूतन राष्ट्रवाद, सुधार आंदोलन तथा सामाजिक शक्तियों ने इंग्लड के स्वरूप में पूर्णतः परिवर्तन कर दिया। हेनरी सप्तम (१४८५-१५०६) नूतन राजतंत्र तथा छलपूर्ण निरंकुशता का विधाता था। यह राजशक्ति किसी औपचारिक वैधानिक परिवर्तन के कारण नहीं, जनता के विश्वास, समय की आवश्यकताओं तथा राजाओं की दूरदर्शिता के परिणामस्वरूप पैदा हुई थी। ट्यूडर शासकों ने सामंतवादी सत्ता को दबाया तथा सार्वजनिक स्वीकृति पर आधारित सामंतसत्ता के भग्नावशेष पर दृढ़ राजतंत्र स्थापित किया। ट्यूडर शासकों ने एक सहायक संसद के सहयोग से, जो राजेच्छा का साधन बन गई थी, शासन किया। किंतु संसद का अधिकार सिद्धांततः भी समाप्त नहीं किया गया; वरन् संसद के कार्यों को प्रोत्साहन दिया गया जिसके फलस्वरूप युग के अंत तक संसदीय शक्तियों की वृद्धि हुई। राजाओं की लिप्सा ने उन्हें आर्थिक दृष्टि से स्वाधीन कर दिया था।

धार्मिक व्यवस्था इन शासकों की महान् सफलता थी। हेनरी अष्टम (१५०६-४७) के नतृत्व में रोम से जो संबंधविच्छेद एक विधानमाला के द्वारा हुआ, वह एडवर्ड षष्ठ के शासन में (१५४७-५३) भी चला। यद्यपि कुछ समय के लिये मेरी ट्यूडर के शासन में (१५५३-५८) वह व्यवस्था भंग हुई थी, फिर भी एलिजाबेथ प्रथम (१५५८-१६०३) के शासन में उसकी पूर्णता की ओर प्रगति हुई और ऐंग्लिकन धर्मव्यवस्था की स्थापना हुई। ट्यूडर शासकों की वैदेशिक नीति, केवल एलिजाबेथ के युग को छोड़, जब शासक को प्रतिरोध आंदोलन के अनुयायियों के विरुद्ध संघर्ष तथा मेरी स्टुअर्ट की फाँसी के फलस्वरूप स्पेन से युद्ध करना पड़ता था, अधिकतर शांति और इंग्लैंड को सुदृढ़ करने में लगी थी। इस नीति की एक अभिव्यक्ति राजवंशीय विवाहों में हुई। इनके शासकों के दृढ़ शासन में आयरलैंड का विघटन कर स्काटलैंड को पहले वैवाहिक, फिर धार्मिकबंधन में इंग्लैंड से बाँधकर ब्रिटेन की एकता को क्रियात्मक संज्ञा दी गई।

यह युग, जान तथा कैबेट की भौगोलिक खोजों, चांसलर, विलगबी, फ्राबिशर, ड्रेक तथा हाकिन्स के व्यापारिक मार्गस्थापन, छापाखाना, बारूद और कुतुबनुमा के आविष्कार, व्यापारिक कंपनियों की रचना (जिसमें ईस्ट इंडिया कंपनी भी थी) तथा अमरीकी प्रमुख स्थल पर वर्जीनिया ऐसे उपनिवेशों की स्थापना आदि के लिये महत्वपूर्ण है। ब्रिटेन की नाविककला की सर्वोच्चता भी तभी प्रतिष्ठित हुई जिससे वाणिज्य और कृषि का विकास हुआ। व्यापारिक परिवर्तनों ने मध्य वर्ग को जन्म दिया जो सामाजिक अधिनियमन की आवश्यकता का संकेतक सिद्ध हुआ। ट्यूडर शासक एक ऐसे स्वायत्त शासन के रचयिता थे जो १६वीं शताब्दी तक प्रचलित रहा। निर्धनों को नियमित ढंग से लाभान्वित करने का प्रयत्न १६०१ के निर्धन कानून से हुआ। सुख और सभ्यता का भौतिक स्तर भी ऊँचा उठा। नवजागृति को मजबूत आधार मिला और बुद्धि एवं संस्कृति के क्षेत्र में इसका प्रमाण मिला। एजिलाबेथ के शासन में साहित्य को बड़ा प्रोत्साहन मिला। तब नाटकों की परिणति शेक्सपियर तथा मार्लो ने, कविता का विकास स्पेन्सर ने और नूतन गद्य हूकर तथा बेकन ने किया।

प्रारंभिक स्टुअर्ट शासक, गृहयुद्ध, राजतंत्र का पुनःस्थापन तथा क्रांति—१६०३ ई० में जेम्स प्रथम के राज्यारोहण से इंग्लैंड और स्काटलैंड के राजमुकुट एक हो गए तथा इंग्लैंड में वैदेशिक स्काट वंश की स्थापना प्रारंभ हुई। ट्यूडर निरंकुश व्यवस्था तथा संसद से सामंजस्य की आवश्यकता के समाप्त हो जाने से इंग्लैंड की बाह्य और आंतरिक स्थिति में एक नए युग का आविर्भाव हुआ। स्टुअर्ट शासक विकासमान राष्ट्र की शक्तियों से संघर्ष कर बैठे जिसके परिणाम गृहयुद्ध, गणतंत्रीय अनुभव, राजतंत्र का पुनःस्थापन तथा क्रांतिकारी व्यवस्था हुए। राष्ट्र का विकास, राजाओं का चरित्र, स्टुअर्ट शासकों की दैवी अधिकारजन्य राजनीति में रूढ़िवादी आस्था तथा उग्र प्यूरीटनवाद इत्यादि का सामूहिक परिणाम हुआ राजा और संसद के बीच एक महान् वैधानिक संघर्ष। यह संघर्ष जेम्स प्रथम (१६०३-२५) तथा चार्ल्स प्रथम (१६२५-४६) के शासन की प्रधान घटना है। राजा के विशेषाधिकारों की पृष्ठभूमि से उत्पन्न इस संघर्ष के प्रधान पक्ष धर्म, अर्थ तथा वैदेशिक नीति थे। १६२८ ई० में लोकसभा अपने अधिकारों का परिपत्र प्राप्त करने में सफल हुई। किंतु चार्ल्स फिर स्वेच्छापूर्ण शासन पर दृढ़ हो गया और संसद के दीर्घ अधिवेशन के उपरांत घटनाचक्रों ने राजा तथा संसद के दलों के बीच गृहयुद्ध को द्रुतगामी कर दिया। १६४८ ई० तक राजा के पक्षपाती उखाड़ फेंके गए तथा दूसरे वर्ष चार्ल्स पर अभियोग लगाकर उसे फाँसी दे दी गई।

गणतंत्रीय विष्कंभक (१६४६-६०) में इंग्लैंड को गणतंत्र घोषित किया गया और ओलिवर क्रामवेल ने महान् संरक्षकपद से १६५८ तक शासन किया। आंतरिक दृष्टि से यह युग सैनिक शासनस्थापना, घोर प्यूरिटनवादी प्रयोग तथा कई वैधानिक योजनाओं के लिये उल्लेखनीय है। क्रामवेल की वैदेशिक नीति के परिणामस्वरूप डच और स्पेन से युद्ध हुए तथा इंग्लैंड को जल और स्थल दोनों युद्धों में यश मिला। उसका प्रधान उद्देश्य ब्रिटिश व्यापार तथा प्यूरिटन मत की वृद्धि करना था। उसे इंग्लैंड, स्काटलैंड तथा आयरलैंड की एकता के प्रयत्न में सफलता मिली। किंतु आंतरिक शासन में जनतंत्र को समाप्त कर देने के कारण राजतंत्र फिर से स्थापित करने के पक्ष में एक राष्ट्रीय प्रतिक्रिया हुई और क्रामवेल की मृत्यु के उपरांत उसके पुत्र रिचार्ड के शासनकाल में सारे देश पर अराजकता छा गई। परिणामस्वरूप १६६० ई० में स्टुअर्ट राजतंत्र पुनः स्थापित हुआ।

१६६० ई० की व्यवस्था ने राजतंत्र तथा पार्लामेंट दोनों को पुनः स्थापित किया। चार्ल्स द्वितीय के शासन (१६६०-८५) ने क्लैरेंडन संहिता के अंतर्गत ऐंग्लिन धर्मव्यवस्था स्थापित की, परंतु चार्ल्स द्वितीय न कैथोलिकों को भी धार्मिक सहिष्णुता देनी चाही। बहिष्कार-नियम-(एक्सक्ल्यूजन बिल) जन्य संघर्ष ने इंग्लैंड में दो दल, क्रमशः पेटीशनर तथा अभोरर, पैदा किए जो आगे चलकर ह्विग और टोरी कहलाए। उस शासन की विशेषता वैधानिक प्रगति तथा नैतिक हीनता में है। १६६५ ई० में ताऊन का प्रकोप हुआ तथा १६६६ में भीषण अग्निकांड। अपनी वैदेशिक नीति का आरंभ चार्ल्स द्वितीय ने फ्रांस से मैत्रीपूर्ण व्यवहार, स्पेन से शत्रुता तथा डचों से युद्ध से किया। उसके शासन (१६८५-८८) में राजा और पार्लामेंट का संघर्ष फिर अपने प्रारंभिक विंदु पर पहुँचा। उसने कथोलिक मत के प्रति सहिष्णुता, स्थायी सेना तथा फ्रेंच मैत्री पर आधारित स्टुअर्ट निरंकुशता को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया। उसका रोमन मत का सार्वजनिक प्रतिपादन, राजशक्ति का प्रयोग, धर्म-स्वातंत्र्य-घोषणा का प्रकाशन, तथा इसी से मिश्रित उसके पुत्र हो जाने के कारण कैथोलिक मत के भावी सुनहरे अवसर, सामूहिक रूप से १६८८ ई० की तथाकथित गौरवशाली क्रांति में परिलक्षित हुए। परिणामतः विलियम तृतीय एवं मेरी का राजतिलक हुआ।

क्रांतिपरवर्ती युग—विलियम तृतीय और मेरी (१६८६-६४) के संमिलित तथा विलियम तृतीय (१६६४-१७०२) के अकेले शासन में १६८८ की क्रांति द्वारा अर्जित सफलताओं का सम्यक् प्रतिपादन हुआ। १६८६ का अधिकारों का प्रस्ताव तथा उसके उपरांत १७०२ ई० के व्यवस्था कानून ने अंग्रेजी स्वाधीनता के क्षेत्र को और भी व्यापक कर दिया। तब भूमि में संसदीय सरकार के बीज डाले गए, धार्मिक सहिष्णुता तथा प्रेस स्वातंत्र्य प्राप्त हुआ और आर्थिक सुधारों को कार्यान्वित किया गया। वैदेशिक क्षेत्र में प्रमुख घटनाएँ लुई चतुर्दश के विरुद्ध इंग्लिश उत्तराधिकार का युद्ध तथा स्पेन के उत्तराधिकार के प्रश्न को सरल कर देने के

उद्देश्य से की गई विभाजनसंधियाँ थी, जिन्होंने इंग्लैंड को फ्रांस से द्वितीय युद्ध करने के लिये बाध्य किया। विलियम के उपरांत रानी एन (१७०२-१४) के शासन में मार्लबरो की विजयों के कारण प्रसिद्ध स्पेन के उत्तराधिकार का युद्ध तथा १७१३ की उट्रैक्ट की संधि हुई। देश की प्रमुख घटनाएँ राजनीतिक दलगत सरकार की रचना तथा १७०७ के एकता कानून के द्वारा इंग्लैंड और स्काटलैंड का एक राष्ट्र में विलयन है।

स्टुअर्ट कालीन इंग्लैंड की विशेषता व्यापारिक प्रसार, वेस्ट इंडीज तथा उत्तरी अमरीका के उपनिवेशीकरण और भारत तथा अमरीका में व्यापारिक केंद्रों की स्थापना थी। व्यापार से धन में वृद्धि हुई और समुद्र में डच और फ्रांसीसियो को परास्त कर ब्रिटेन जल का स्वामी बन गया। इसी काल हुई इंग्लैंड के बैंक की स्थापना विशेष महत्व रखती है। सांस्कृतिक और बौद्धिक उन्नति भी पर्याप्त मात्रा में हुई। विख्यात व्यक्तियों में अंग्रेजी क्रांति तथा गृहयुद्ध के लेखक क्लेरेंडेन, कविता में जान मिल्टन, महान् आलंकारिक लेखकों में जान बन्यन, व्यंग्यलेखकों में जान ड्राइडेन, दार्शनिकों में जान लाक तथा गणितज्ञों एवं भौतिकी दार्शनिकों में आइज़क न्यूटन आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रारंभिक हैनोवर शासक—जार्ज प्रथम (१७१४-२७) ने एक शांतिपूर्ण युग का आरंभ किया जो केवल १७१५ के स्काटलैंड के जैकोबस संबंधी विद्रोह के कारण कुछ समय के लिये भंग हुआ था। वैधानिक दृष्टिकोण से राजा के मंत्रियो की बैठक में संमिलित न होने के कारण मन्त्रिमंडल- (कबिनट) प्रणाली के विकास की दृष्टि से इस शासन का महत्व है। पहले कोई प्रधान मंत्री नही होता था, किंतु जब १७२१ ई० में वालपोल ने मंत्रिपद का कायभार सँभाला, उसने अपनी सर्वोच्चता कैबिनट में प्रतीत करा दी और व्यावहारिक रीति से प्रथम प्रधान मंत्री बना। वालपोल तथा उसके उत्तराधिकारियों के शासन में भी ह्विग मंत्रिमंडल कार्यभार सँभाले रहा। १७०२ ई० मे दक्षिणी सागर की बबूला नाम की व्यापारिक बरबादी घटित हुई। जार्ज द्वितीय (१७२७-६०) के भी शासन मे १७३९ तक शांति रही तथा १७४२ तक वालपोल मंत्रिमंडल चलता रहा। वालपोल गृह-समृद्धि तथा वैदेशिक शांति में आस्था रखता था। उसकी आर्थिक नीति का लक्ष्य व्यापार का प्रसार था। १७३९ ई० में स्पेन के अमरीकी उपनिवेशों में व्यापारिक अधिकार के प्रश्न पर ब्रिटेन का स्पेन से युद्ध हुआ, तदुपरांत मारिया थेरिसा के पक्ष में फ्रांस और प्रशा के विरुद्ध इंग्लैंड को आस्ट्रिया-उत्तराधिकार-युद्ध में प्रवेश करना पड़ा। १७४५ ई० मे अंतिम स्टुअर्ट विद्रोह हुआ जो तत्क्षण दबा दिया गया। १७५६ ई० में सप्तवर्षीय युद्ध फ्रांस और ब्रिटेन में छिड़ा जिसका संचालन चैथम के अर्ल विलियम पिट ने बड़ी कुशलता से किया। वेसेली के नेतृत्व में मेथोडिस्ट चर्च का उदय और विकास इंग्लैंड के धार्मिक इतिहास में महत्वपूर्ण घटना है।

जार्ज तृतीय (१७६०-१८२०)—इसका शासन इंग्लैंड के इतिहास के अत्यधिक घटनापूर्ण युगों में से है। इसके प्रथम भाग में सप्तवर्षीय युद्ध का पेरिस की संधि (१७६३) द्वारा अंत हुआ। कनाडा परइंग्लैंड का अधिकार भी इसी बीच हुआ और साथ ही इसी काल की वे घटनाएँ है जिनका अत अमरीका के युद्ध तथा १७८३ में उसकी स्वाधीनता में हुआ। ग्रेट ब्रिटेन के नेतृत्व में आयरलैंड को अधिनियमन की स्वाधीनता (१७८२) मिल गई। भारत में वारेन हेस्टिंग्ज़ की अध्यक्षता में ब्रिटिश सत्ता सुदृढ़ हुई तथा आस्ट्रेलिया का उपनिवेशीकरण प्रारंभ हुआ। आंतरिक दृष्टि से जार्ज तृतीय ने राजा के विलुप्त विशेषाधिकारों को पुनः जीवित करना चाहा तथा लार्ड नार्थ (१७७०-८२) के मंत्रित्वकाल में उस लक्ष्य की सिद्धि हुई। औद्योगिक क्रांति के प्रमुख आविष्कार, जिन्होंने शारीरिक श्रम के स्थान पर मशीन तथा जलतरण के स्थान पर भाप का इंजन दिया, इसी युग की देन हैं। १७८३ ई० से १८०१ ई० तक विलियम (पुत्र) पिट का मंत्रिकाल है जिसके प्रथम दस वर्ष शांति, आर्थिक सुधार तथा फ्रांस की राज्यक्रांति के प्रति ब्रिटेन के सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण के लिये उल्लेखनीय हैं। क्रांति के युद्धों के १७९३ ई० में प्रारंभ हो जाने तथा प्रथम राष्ट्रमंडल गुट के उद्घाटन के कारण ब्रिटेन का फ्रांस से युद्ध हुआ। क्रांति के सिद्धांतों से गृहव्यवस्था के आतंकित हो जाने के कारण पिट की प्रतिक्रियावादी नीति तथा टोरी दल प्रभावशाली हुए। १८०० ई० में एकता का आयरीय विधान पास किया गया।

नैपोलियन के युद्ध, जो व्यापारिक संघर्ष, द्वीपीय युद्ध तथा वाटरलू के १८१५ के निर्णय से संबंधित थे, उस शासन के अंतिम भाग के हैं। संयुक्त राष्ट्र (अमरीका) से १८१२ का युद्ध नेपोलियन से इंग्लैंड के संघर्षों का परिणाम था। इसके उपरांत यूरोप की पुनर्रचना तथा यूरोपीय संगठन का प्रादुर्भाव हुआ जो यूरोपीय कनसर्ट के नाम से विख्यात है और जिसमें इंग्लैंड का प्रमुख भाग रहा। गृह की दृष्टि से यह व्यापारिक नाश, आर्थिक अशांति और तज्जन्य हिंसा का युग था। औद्योगिक क्रांति ने लंबे डग भरे थे तथा स्टीमर और रेलवे इंजनो के आविष्कार किए थे। मानवतावादी प्रगति का अनुमान विलबर फोर्स के दासता-उन्मूलन-आंदोलन, हावर्ड के जल संबंधी सुधार तथा १८०२ के प्रथम कारखाना कानून से लगाया जा सकता है। जार्ज चतुर्थ (१८२०-३०) तथा विलियम चतुर्थ (१८३०-३७) के शासन में गृह की दुर्व्यवस्था जारी रही और अनेक दंगों को उसने जन्म दिया। यह सुधारों का युग था, जिसमें १८२९ का आयरलैंड के कैथोलिकों के त्राण का कानून, इसके व्यापारिक सुधार, पील के दंडविधान के सुधार, १८३२ का प्रथम सुधार कानून, १८३३ के फैक्टरी तथा शिक्षासुधार तथा १८३५ का स्थानीय कारपोरेशन कानून उल्लेखनीय है। आक्सफोर्ड आदोलन का जन्म १८३३ ई० में हुआ। वैदेशिक क्षेत्र में, कैनिंग द्वारा मैटेर्निक की अनुदार नीति का विरोध, ग्रीक स्वाधीनता संग्राम, फ्रांस की १८३० की क्रांति तथा पामस्टन काल का उदय तब की विशेष घटनाएँ हैं।

विक्टोरिया काल—रानी विक्टोरिया का दीर्घ शासन (१८३७-१९०१) लार्ड मेलबोर्न के संरक्षण में प्रारंभ हुआ। उसने उसे वैधानिक सिद्धांतों की शिक्षा दी तथा उसका विवाह सैक्सकोबर्ग के अलबर्ट से करा दिया जो उसका सलाहकार बना। उसके प्रारंभिक शासन की प्रमुख घटनाएँ चार्टिस्ट आंदोलन, अनाज कानून का १८४६ ई० मे विघटन, १८४४ का बैंक चार्टर कानून तथा १८४७ का फैक्टरी कानून है। पील ने अनुदार दल का पुनः संघटन किया और दल के दृष्टिकोण को और उदार किया। आयरलैंड में ओ' कानल के नेतृत्व में विघटन आदोलन छिड़ा तथा नवयुवक आयरलैंड दल की रचना से इस आंदोलन को और भी प्रश्रय मिला तथा १८४८ का विद्रोह हुआ। इसी युग में १८३७ का कनाडा विद्रोह तथा कनाडा उपनिवेश में उत्तरदायी शासन का जन्म हुआ। न्यूज़ीलैंड साम्राज्य में मिला लिया गया और आस्ट्रेलिया का विकास हुआ। चीनी युद्ध (१८४०-४२) के उपरांत हांगकांग की प्राप्ति हुई और भारतीय साम्राज्य का दृढ़ीकरण हुआ। विक्टोरिया के शासन के मध्य १८६५ ई० तक गृहनीति में पामर्स्टन का व्यक्तित्व प्रधान रूप से कर्मण्य रहा। पश्चात् डिज़रेली और ग्लड्स्टन की राजनीतिक प्रतिस्पर्धा का युग आया। गृहशासन की दिशा में १८६७ का द्वितीय सुधार कानून, १८७० का शिक्षा कानून, १८७३ का न्यायविधान, १८६७ और ७८ के फैक्टरी कानून बने तथा ट्रेड यूनियन का विकास हुआ। आयरलैंड की धर्मव्यवस्था पुनः स्थापित हुई तथा वहाँ की भूव्यवस्था का विधान पास हुआ। १८६७ ई० में कनाडा को डोमिनियन तथा विक्टोरिया को भारत की सम्राज्ञी घोषित किया गया। वैदेशिक क्षेत्र में जो घटनाएँ घटीं उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं : १८५४ ई० का रूस से क्रीमिया के लिये युद्ध, १८५७ का भारतीय विद्रोह, इटली की स्वतंत्रताप्राप्ति, १८५७ का द्वितीय चीनी युद्ध, अमेरिका का गृहयुद्ध (१८६१–६५) तथा वे घटनाएँ जो १८७८ की बर्लिन कांग्रेस की जन्मदात्री थीं।

विक्टोरिया के शासन के अंत में तृतीय सुधार कानून (१८८४), पुनर्विभाजन कानून (१८८५) तथा स्वायत्त शासन कानून (१८८८) के निर्माण से जनतंत्र में प्रभूत प्रगति हुई। उदार दल के विघटन (१८८६) ने शत्रुओं को शासन की दीर्घ अवधि दे दी थी। १९०० ई० में श्रमदान की स्थापना हुई। आयरलैंड की समस्या का अंतिम निदान ढूँढ़ने के उद्देश्य से प्रस्तुत ग्लैड्स्टन के १८८६ और १८९३ ई० के होमरूल प्रस्ताव असफल रहे। १८७८ के बाद ब्रिटेन क्रमशः द्वितीय अफ़ग़ान युद्ध (१८७८-८०), प्रथम बोअर युद्ध (१८८१) तथा मिस्र पर अधिकार करने में लगा रहा। आस्ट्रेलिया कामनवेल्थ की स्थापना १९०० ई० में हुई। वैदेशिक मामले में यह गौरवशाली तटस्थता का युग था।

२०वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्ष—एडवर्ड सप्तम का शासन (१९०१-१०) श्रम की कठिनाइयों से, जो बहुधा हड़ताल की जन्मदात्री थीं, प्रारंभ हुआ। १९०६ ई० में उदार दल के कार्यभार सँभालने से ऐसे कानूनों का जन्म हुआ जो साम्यवादी भावना से प्रेरित थे और जिनपर मजदूर दल के उत्थान की छाप थी। इन कानूनों में वृद्धावस्था की पेन्शन (१९०८) और स्वास्थ्य तथा बेरोजगारी की राष्ट्रीय बीमा योजना (१९०९) अपनी विशेषता रखती हैं। १९०९ ई० में दक्षिण अफ्रीका संघ कानून तथा भारतीय प्रतिनिधि नियम पास किए गए। वैदेशिक क्षेत्र में जर्मनी की औपनिवेशिक तथा समुद्री महत्वाकांक्षाओं ने ब्रिटिश दृष्टिकोण संदेहास्पद कर दिया और ब्रिटेन तटस्थता का त्याग करने के लिये बाध्य हो गया। १९०२ की आंग्ल जापानी, १९०४ की आंग्ल फ्रांसीसी, तथा १९०७ की आंग्ल रूसी संधियाँ अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में जर्मनी, आस्ट्रिया तथा इटली के गुट को प्रतिसंतुलन देने लगीं। जार्ज पंचम के शासन (१९१०-३६) में १९१२ का संसदीय कानून पास होकर उच्च सदन को आर्थिक शक्तियों से रहित करने में समर्थ हो सका। अब राजमुकुट के प्रति अंग्रेजी विधान में अपार संमान पैदा हुआ। आयरलैंड का प्रश्न सर्वोपरि था जिससे होमरूल कानून १९१५ ई० में पास हुआ। जर्मनी की महत्वाकांक्षाओं के कारण यूरोपीय स्थिति शंकाकुल हो गई तथा मोरक्को की कठिनाइयों एवं बाल्कन युद्धों ने विस्फोट की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। १९१४ ई० में प्रथम विश्वव्यापी युद्ध छिड़ा और बेलजियम पर आक्रमण होने से लंदन संधि की हत्या देखकर ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्धघोषणा कर दी तथा १९१८ ई० तक ब्रिटेन स्थल और जलयुद्धों में व्यस्त रहा।

विश्वव्यापी युद्धों के बीच ब्रिटेन—यद्यपि युद्ध से ब्रिटेन को औपनिवेशिक लाभ अधिक हुए, तथापि उसके उद्योग और व्यापार को भीषण आघात पहुँचा जिससे उसकी समृद्धि और प्रभाव क्षीण हुए। युद्ध ने ब्रिटेन के सामाजिक स्वरूप को परिवर्तित कर दिया। ब्रिटेन में स्त्रियों का त्राण, बड़े राज्यों का विघटन, नगरों के समीपवर्ती प्रदेशों की प्रगति तथा वैज्ञानिक एवं कला संबंधी विकास हुए। शांतिपूर्ण युग की आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकता ने ब्रिटेन को औद्योगिक विकास की ओर द्रुत गति से अग्रसर किया जिसके फलस्वरूप श्रम की समस्या की अभिव्यक्ति १९२६ की साधारण हड़ताल में हुई। इसके उपरांत १९३१ ई० में बाजारों में वस्तुओं की दर गिर गई जिससे आर्थिक और औद्योगिक संकट उत्पन्न हो गया। उत्पादन-वृद्धि के उपाय ढूंढ़े जाने लगे और अनियंत्रित व्यापार के सिद्धांत का परित्याग कर दिया गया। व्यय में कमी, श्रममूल्य की कटौती तथा करों की वृद्धि आदि से स्थिति में सुधार किया गया। समाजवादी सिद्धांत तथा समाजवादी कार्यों को प्रोत्साहन मिला। १९३६ में एडवर्ड अष्टम के राज्यत्याग की समस्या ने राष्ट्र का ध्यान कुछ समय के लिये केंद्रित कर रखा था और जार्ज षष्ठ के राजतिलक में सहायक हुआ।

साम्राज्यवादी इतिहास में ब्रिटिश राष्ट्रसंघ को जन्म देनेवाला १९३१ का वेस्टमिन्स्टर विधान, १९३७ के विधान से आयरलैंड का सार्वभौम जनतंत्र राज्य, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की १९४७ के स्वाधीन राष्ट्र में परिणति इत्यादि महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं। वैदेशिक क्षेत्र में ब्रिटिश नीति १९३६ ई० तक, जबतक शनैः शनैः पुनःशस्त्रीकरण प्रारंभ नहीं हुआ, अंतर्राष्ट्र संघ से बँधी हुई थी। १९३७ ई० में नेविल चेंबरलेन की राष्ट्रीय सरकार की, जिसके जर्मनी को प्रसन्न करने के सारे प्रयत्न असफल रहे, रचना हुई। हिटलर की एक के बाद एक राष्ट्र हड़प लेने की नीति पहली सितंबर, १९३९ ई० को पोलैंड पर आक्रमण करने को बढ़ी, तब ब्रिटेन भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में कूद पड़ा। मई, १९४० में चेंबरलेन को विन्स्टन चर्चिल के लिये प्रधान मंत्री का स्थान रिक्त करना पड़ा। चर्चिल के सतत प्रयत्न और रूस की असाधारण क्षमता तथा बलिदानों ने युद्ध को १९४५ ई० में सफलता की सीमा पर पहुँचाया। उसी वर्ष साधारण निर्वाचन में पार्लमेंट में क्लेमेंट ऐटली समाजवादी बहुसंख्यक दल के साथ, सामाजिक उत्थान, सुरक्षा एवं अनिवार्य उद्योगों और सेवाओं के राष्ट्रीयकरण की व्यापक नीति लिए अपना मंत्रिमंडल बनाने में सफल हुए।

सं०ग्रं०—एस० आर० गार्डिनर : इंग्लैंड का इतिहास; टी० एफ० टाउट : ग्रेट ब्रिटेन का बृहत् इतिहास; रैम्सेक्योर : ब्रिटिश कामनवेल्थ का संक्षिप्त इतिहास; ट्रेवेलियन : इंग्लैंड का इतिहास; एफ० जे० सी० हर्नशा : ब्रिटिश प्रायद्वीपों के इतिहासों की रूपरेखा; जी० स्मिथ : इंग्लैंड का इतिहास; हालवी : इंग्लिश जाति का इतिहास। [गि०शं० मि०]

इंजील

एक यूनानी शब्द 'इवंजेलियन का' विकृत रूप है। इसका अर्थ सुसमाचार (गॉस्पेल) है, जो बाइबिल का एक अंग मात्र है। (दे० बाइबिल) [का०बु०]

इंटरलाकेन

स्विट्ज़रलैंड के बर्न प्रदेश (कैंटन) का एक नगर है जो आर नदी के बाएँ तट पर समुद्रतल से १८६४ फुट की ऊँचाई पर बसा हुआ है। यह बर्न से लगभग २६ मील दक्षिण-पूर्व में स्थित है। यह थुन तथा ब्रींज झीलों के बीच में स्थित होने के कारण ही इंटरलाकेन कहलाता है। यहाँ एक प्राचीन दुर्ग भी है। इसकी होहेवेग (=ऊँची सड़क) नामक सड़क पर उच्च कोटि के होटलों की पंक्तियाँ दर्शनीय हैं। निकटवर्ती युंगफ्राउ (=कुमारी) शिखर (ऊँचाई १३,६६९ फुट) की दिव्य झाँकी के लिये ग्रीष्मकाल में यहाँ बहुत चहल पहल हो जाती है। इसकी जनसंख्या सन् १९०० ई० में २,९३२ थी तथा अब लगभग ३,७५० है। [लें० रा० सिं०]

इंडियन, उत्तर अमरीकी

इंडियन उत्तर और दक्षिण अमरीका के प्राचीनतम निवासी हैं। वे मंगोलायड प्रजाति की एक शाखा माने जाते हैं। नृशास्त्रियों का अनुमान है कि वे इस भूखंड पर प्रायः २०,००० से १५,००० वर्ष पूर्व आए थे।

कोलंबस की भूल के कारण बाह्य जगत् उन्हें 'इंडियन' नाम से जानता है। भारत की खोज में चले कोलंबस ने अमरीका को ही भारत जान लिया था और १४९३ में लिखे गए अपने एक पत्र में उसने यहाँ के निवासियों का उल्लेख 'इंडियोस' के रूप में किया था। इस भूभाग पर गोरी जातियों की सत्ता का विस्तार इंडियन समूहों की जनसंख्या के एक बड़े भाग के नाश का तथा सामान्य रूप से उनकी संस्कृतियों के ह्रास का कारण हुआ। उनके छोटे छोटे समूह इस विस्तृत भूभाग के विभिन्न क्षेत्रों में अब भी पाए जाते हैं, यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम रह गई है। उनमें संस्कृति के कई धरातल ह और वे कई भिन्न परिवारों की भाषाएँ बोलते हैं। समवर्ती गोरी जातियों के व्यापक सांस्कृतिक प्रभावों के कारण उनकी प्राचीन संस्कृति में बड़ी तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे हैं। उन्हें विनष्ट होने से बचाने के लिये पिछले कुछ दशकों में शासन की ओर से विशेष प्रयत्न किए गए हैं।

अमरीकी इंडियनों की उत्पत्ति के संबंध में समय समय पर अनेक संभावनाएँ, कल्पनाएँ और मान्यताएँ उपस्थित की गई हैं। कुछ लोगों का अनुमान था कि वे इज़रायल की दस खोई हुई जातियों के वंशज हैं और कुछ लोग उन्हें सिकंदर की जलसेना के भटके हुए बेड़ों के नाविकों की संतान मानते हैं। उनके संबंध में यह धारणा भी थी कि वे किंवदंतियों में वर्णित 'एटलांटिस महाद्वीप' अथवा प्रशांत महासागर के 'मू' नामक काल्पनिक द्वीप के मूल निवासियों की संतान हैं। मध्य अमरीका की माया इंडियन जाति और प्राचीन मिस्र की स्थापत्यकला में समता दृष्टिगत होने के कारण यह अनुमान भी किया गया कि इंडियन मिस्र अथवा मिस्र-संस्कृति से प्रभावित देशों से अमरीका आए। इस संदर्भ में यह जानना आवश्यक है कि जिस काल में माया इंडियनों ने मंदिरों का निर्माण प्रारंभ किया उसके कई हजार वर्ष पहले ही मिस्र की प्राचीन स्थापत्यशैली का ह्रास हो चुका था। अमरीका में प्राचीन मानव संबंधी वैज्ञानिक खोजें होने के पहले यह संभावना भी थी कि इंडियनों के पूर्वज इस भूमि पर मानव जाति की एक स्वतंत्र शाखा के रूप में विकसित हुए हों, परंतु अब यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अमरीकी महाद्वीपों पर मानव जाति की कोई शाखा स्वतंत्र रूप से विकसित नहीं हुई। प्राणिजगत् की प्राइमेट शाखा के विकासक्रम में इस भूभाग पर केवल लीमर, टारसियर और कतिपय जातियों के बंदरों के प्रस्तरीकृत अवशेष ही मिले हैं। प्राचीन मानव जातियों के अध्येता परिश्रमपूर्वक खोज करने पर भी निकटमानव वानर अथवा प्राचीन मानव के कोई अवशेष

यहाँ नहीं पा सके हैं। इस तरह यह कहा जा सकता है कि यहाँ मानव जाति की किसी शाखा के स्वतंत्र विकास की संभावना नहीं थी और यहाँ के प्राचीनतम निवासियों के पूर्वज संसार के किसी अन्य भाग से आकर ही यहाँ बसे होंगे।

विशेषज्ञों का मत है कि मानव इस भाग में बेरिंग स्ट्रेट के मार्ग से एशिया से आया। शारीरिक विशेषताओं की दृष्टि से इंडियन असंदिग्ध रूप से एशिया की मंगोलायड प्रजाति की एक शाखा माने जा सकते हैं। एशिया से अलास्का के मार्ग द्वारा इंडियनों के जो पूर्वज अमरीका आए थे निश्चित रूप से वे आधुनिक मानव अथवा 'होमो सेपियंस' के स्तर तक विकसित हो चुके थे। वे अपने साथ अपनी मूल एशियाई संस्कृति के अनेक तत्व भी अवश्य लाए होंगे। वे संभवतः अग्नि के उपयोग से परिचित थे और उन्होंने प्रस्तरयुगीन संस्कृति के अस्त्र शस्त्रों और उपकरणों का निर्माण और उपयोग भी सीख लिया था। मार्ग में जिस कठिन शीत का सामना करते हुए वे इस भूमि पर आए उससे सहज ही यह अनुमान भी किया जा सकता है कि वे किसी न किसी प्रकार के परिधान से अपने शरीर को अवश्य ढकते होंगे और संभवतः अस्थायी गृह-निर्माण-कला से भी परिचित रहे होंगे। यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने उस समय तक भाषा का कोई प्राथमिक रूप विकसित कर लिया होगा।

एशिया से कई हजार वर्षों तक अलग अलग दलों में मानवसमूह अमरीका की भूमि पर आते रहे। कई सौ वर्षों तक इन समूहों को बर्फ से ढके स्थलमार्ग से ही आना पड़ा; परंतु यह संभव है कि बाद में आनेवाले समूह आंशिक रूप से नावों मे भी यात्रा कर सके हों। प्राचीन इंडियनों के प्राप्त अवशेषों के अध्ययन से यह धारणा निश्चित की गई है कि जो दल पहले यहाँ आए उनमें आस्ट्रेलायड-मंगोल प्रजाति की शारीरिक विशेषताएँ अधिक थीं और बाद में आनेवाले समूहों में मंगोलायड प्रजाति के तत्वों की प्रधानता थी। कालांतर में इन समूहों के पारस्परिक मिश्रण से इंडियनों में मंगोलायड प्रजाति की शारीरिक विशेषताएँ प्रमुख हो गईं। ये आदि-इंडियन अपने अपने साथ नव-प्रस्तर-युग के पहले की संस्कृतियों के कुछ तत्व इस भूमि पर लाए। क्रोबर ने उनकी मौलिक संस्कृति की पुनर्रचना का प्रयत्न करते हुए उन संस्कृति तत्वों की सूची बनाई है जो संभवतः आदि-इंडियनों के साथ अमरीका आए थे। दबाव द्वारा या घिसकर बनाए हुए पत्थर के औजार, पालिश किए हुए हड्डी और सींग के उपकरण, आग का उपयोग, जाल और टोकरे बनाने की कला, धनुष और भाला फेंकने के यंत्र और पालतू कुत्ते संभवतः इंडियनों की मूल संस्कृति के मुख्य तत्व माने जा सकते हैं।

एशिया से अमरीका आकर इंडियनों के पूर्वज अपनी मूल एशियाई शाखा से एकदम अलग हो गए अथवा उन्होंने उससे किसी प्रकार का संबंध बनाए रखा, इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है। इस प्रकार के संबंधों को बनाए रखने में जो भौतिक कठिनाइयाँ थी उनके आधार पर सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि यदि इन भूभागों में संबंध था भी तो वह अपने विस्तार और प्रभाव में अत्यंत सीमित रहा होगा। कालांतर में सांस्कृतिक विकास की जो दिशाएँ इन समूहों ने अपनाई वे बाह्य संस्कृतियों से प्रभावित नहीं हुई। नव-प्रस्तर-युग की संस्कृति का विकास इन समूहों ने स्वतंत्र रूप से किया। उन्होंने अल्पाका, लामा और टर्की आदि नए प्राणियों को पालतू बनाया। साथ ही, मक्का, कोको, मेनियोक या कसावा, तंबाकू और कई प्रकार की सेमों आदि वनस्पतियों की खेती उन्होंने पहले पहल आरंभ की। यह आश्चर्य का विषय है कि नव-प्रस्तर-युगीन माया इंडियनों ने ऐसे अनेक संस्कृतितत्वों का आविष्कार कर लिया जो यूरोप तथा संसार के अन्य भागों में ताम्र-कांस्य-युग की अपेक्षाकृत विकसित संस्कृतियों में आविष्कृत हुए। धातुयुग इस भाग में देर से आया, परंतु काँसे का उपयोग करने के बहुत पहले ही इज़ टेक और माया इंडियन सोने और चाँदी को गलाने की कला सीख चुके थे। लौह संस्कृति इन समूहों में पश्चिम के प्रभाव से आई।

इंडियन संस्कृतियों की समताओं और भिन्नताओं के आधार पर नृतत्ववेत्ताओं ने अमरीका को नौ संस्कृतिक्षेत्रों में विभाजित किया है। यहाँ इन संस्कृतिक्षेत्रों में मुख्य समूहों की सांस्कृतिक विशेषताओं की ओर संकेत मात्र ही दिया जायगा।

(१) **आर्कटिक क्षेत्र**—बरफ से ढके इस क्षेत्र में एस्किमो रहते हैं। शीतकाल में वे बरफ को काटकर विशेष रूप से बनाए गए घरों में रहते हैं। इन घरों को इग्लू कहते हैं। गरमी की ऋतु में वे थोड़े समय के लिये चमड़े के तंबुओं में रह सकते हैं। अधिकांशतः वे समुद्री स्तनपायी प्राणियों और मछलियों का मांस खाते हैं, ग्रीष्मकाल में उन्हें ताजे पानी की मछलियाँ भी मिल जाती हैं। उनका सामाजिक संगठन सरल है। एस्किमो जाति अनेक छोटे छोटे स्वतंत्र समूहों में विभाजित है। प्रत्येक समूह का एक प्रधान होता है, किंतु वह अधिक शक्तिशाली नहीं होता। सरल सामाजिक संगठनवाले इन समूहों का धार्मिक संगठन बड़ा जटिल है। व्यक्तियों की अपनी दैवी रक्षक शक्तियाँ होती हैं। व्यक्ति और अदृश्य जगत् की शक्तियों में मध्यस्थता का काम शामन करते हैं। सामाजिक वर्जनाओं के उल्लंघन के प्रायश्चित्त के लिये अपराध की सार्वजनिक स्वीकृति आवश्यक होती है। उनकी भौतिक संस्कृति के मुख्य तत्व हैं, चमड़े की नावें, धनुष, हार्पून, कुत्तों द्वारा खींची जानेवाली स्लेज गाड़ियाँ, बरफ काटने के चाकू और चमड़े के वस्त्र। वे हाथीदाँत को कोरकर छोटी छोटी मूर्तियाँ बनाते हैं।

(२) **उत्तर-पश्चिम तट**—इस क्षेत्र के मुख्य समूह हैं उत्तर में लिंजित, हैदा और सिमशियन, मध्य भाग में क्वाकिउट्ल और बेल्ला-कूला तथा दक्षिण में सालिश नूटका चिनूक। उनकी जीविका का अधिकांश समुद्रों से खाद्यप्राप्ति के विभिन्न साधनों द्वारा उपलब्ध किया जाता है। वनों में शिकार से और फलों के संकलन से भी उन्हें कुछ भोजन की प्राप्ति होती है। वे वर्गाकार मकानों में रहते हैं जो लकड़ी के तख्तों से बनाए जाते हैं। उनके सामाजिक संगठन में श्रेणीभेद का बड़ा महत्व है। उनके तीन प्रमुख वर्ग हैं: उच्च कुलीन श्रेणी, सामान्य श्रेणी और दास श्रेणी। उनमें पॉटलेन नामक प्रथा प्रचलित है जिसमे सामाजिक संमान बढ़ाने के लिये संपत्ति का अपव्यय अथवा नाश सार्वजनिक रूप से किया जाता है। इन समूहों में परिवारों की अपनी दैवी रक्षक शक्तियाँ होती हैं। आवश्यक धार्मिक नृत्य के रूप में पौराणिक कथाओं को वे नाट्य के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। लकड़ी की खुदाई का काम उनकी भौतिक संस्कृति की विशेषता है। वे मिट्टी के बर्तन नहीं बनाते।

(३) **केलिफ़ोर्निया**—इस क्षेत्र में युरोक, करोक, हूपा, शास्ता, पोमो, मिवोक, मोनो, सेरेनो आदि समूह रहते हैं। उत्तर में उनके मकान लकड़ी के तख्तों से बनाए जाते हैं, दक्षिण में घरो के रूप में अधिक विविधता रहती है। खाद्य के लिये ये समूह अन्न पर अधिक अवलंबित हैं, शिकार और मछली पर कम। उनमें आनुवंशिक प्रधान होते हैं, परंतु समूह की शासनव्यवस्था सशक्त नही होती। उत्तर में श्रेणी और स्थितिभेद की भावना प्रबल है, दक्षिण मे नही। उनमें उच्च देव की कल्पना पाई जाती है। उत्तरी भाग में लकड़ी पर खुदाई होती है और मध्य तथा दक्षिणी भाग में टोकरे बनाए जाते हैं।

(४) **मेकेंजी-युकोन क्षेत्र**—यहाँ के मुख्य समूह हैं कोहोटाना, कुटचिन, यलोनाइफ़ डोगरिब, स्लेव, केरियर, सर्सी आदि। ये केरिबाऊ, जंगल के छोटे जानवरों, ताजे पानी की मछलियों और जंगली फलों का उपयोग खाद्य के रूप में करते हैं। इनके मकान वायु अवरोधक छड़ियों मात्र से लेकर तख्तों और वृक्षों के तनों तक से बने होते हैं। पश्चिमी भाग में उनका सामाजिक संगठन शक्तिहीन गोत्रविभाजन और सामाजिक श्रेणियों पर आश्रित रहता है, पूर्व में उभयपक्षीय परिवार पर। राजकीय संगठन अधिक शक्तिशाली नहीं है। धर्म के क्षेत्र में व्यक्तिगत दैवी रक्षक शक्तियों में विश्वास तथा शामन लोगों का अस्तित्व पाया जाता है। वृक्षों की छाल का उपयोग इन समूहों की संस्कृति में मिलता है। इस सामग्री से छोटी छोटी नावें और बर्तन आदि बनाए जाते हैं। वे चर्मवस्त्रों का प्रयोग करते हैं। उनमें कला का कोई विशेष रूप विकसित नहीं हुआ।

(५) **बेसिन-प्लेटो क्षेत्र**—इस क्षेत्र की संस्कृतियों को दो मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है। बेसिन क्षेत्र के मुख्य समूह हैं—शोशोन, गोशियूट, पाइयूट और पेविओस्टो। कोलंबिया पठार पर थामसन, कुशवेय, फ्लैटहेड, नेज़-पर्से और उत्तरी शोशान समूह रहते हैं। दोनों भागों में मरुस्थली संस्कृति के तत्वों का प्राधान्य है। अर्थव्यवस्था सेकलम और

शिकार पर आश्रित है। पहले भाग में वायु-अनुरोधक टट्टियों और प्यूबलो शैली के मकान बनाए जाते हैं। प्रागैतिहासिक काल में जमीन खोदकर रहने का स्थान बनाया जाता था। दूसरे भाग में भूमिगत घरों का प्राधान्य है। दोनों भागों में समाज अनेक उभयपक्षीय दलों में विभाजित है, जिनमें प्रत्येक दल का एक प्रधान होता है। राजकीय संगठन का इन समूहों में अभाव है। धर्म शामन और दैवी रक्षक शक्तियों पर आश्रित रहता है। भौतिक संस्कृति का अल्प विकास और कला के किसी भी रूप का अभाव इन समूहों में दीख पड़ता है।

(६) **समतल क्षेत्र**—इस क्षेत्र के कुछ समूह, जैसे मंडान, हिदास्ता, एरिकारा, पोंका, आयोवा, ओमाहा और पवनी स्थायी ग्रामों में रहते हैं तथा ब्लैकफुड, ग्रोस वेंचर एसिनी बोइन, क्रो चेयिनी, डाकोटा, अरापाहो, कियोवा, कोमांचे आदि घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करते हैं।

स्थायी ग्रामों में रहनेवाले समूह वृक्षों के तनों से बने बड़े मकानों में रहते हैं। समाज गोत्र और गोत्रसमूहों में विभाजित है। इन समूहों के शक्तिशाली जातीय संगठन हैं। धार्मिक उत्सव ये बड़े सुव्यवस्थित रूप से मनाते हैं। व्यक्तिगत रक्षक शक्तियों में विश्वास के अतिरिक्त इनमें अनेक प्रकार से दैवी संकेत पाने के लिये यत्न किए जाते हैं। इन समूहों में चर्मवस्त्रों का प्रचलन है। सिर पर तरह तरह के पंख लगाए जाते हैं। मिट्टी के बर्तन, टोकरे आदि इनमें नहीं बनाए जाते। कला की दो सुनिश्चित शैलियाँ इनमें प्रचलित हैं। वे चमड़े पर यथार्थवादी शैली में चित्र अंकित करते है और विभिन्न प्रकार की डिजाइनें भी बनाते हैं।

घुमक्कड़ समूह चमड़े के बने टिपी नामक तंबुओं में रहते है और शिकार से अपनी जीविका अर्जित करते हैं। उत्तर और पूर्व में उनमें गोत्रविभाजन पाया जाता है, दक्षिण और पश्चिम में नहीं। राजकीय संगठन प्रजातंत्रीय प्रणाली का है। कोमांचे समूह के अतिरिक्त अन्य समूहों में जातीय संगठन है। युद्ध और शांति के नेता अलग होते हैं। इन समूहों में अनेक प्रकार की सैनिक तथा धार्मिक समितियाँ संगठित हैं। इनमें भी रक्षक शक्तियों में विश्वास पाया जाता है। सूर्य नृत्य तथा सामूहिक धार्मिक कृत्य इन समूहों की दृष्टि से ये प्रथम भाग के समकक्ष हैं।

(७) **उत्तर-पश्चिम क्षेत्र**—यह भाग तीन उपसंस्कृति क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है।

प्यूब्लो समूह में ताओस, सांटा क्लारा, कोचिटी, सेंटो डोमिनगो, सेन फेलिपी, सिया, जेमेज, लागुंत, एकोमा, जूनी और होबी जातियाँ मुख्य हैं। आर्थिक व्यवस्था कृषि और पशुपालन पर आश्रित है। प्यूब्लो समूह पत्थरों से बने अनक मंजिलोंवाले सामुदायिक घरों में रहते हैं। जातीय शासनव्यवस्था में धार्मिक अधिकारियों की सजा होती है। समाज में अनेक धार्मिक समितियाँ संगठित हैं। अनेक धार्मिक कृत्य सूर्य और पूर्वजों से संबंधित हैं। सामूहिक नाट्य नृत्य इन समूहों के धार्मिक संगठन की एक प्रमुख विशेषता माने जा सकते हैं। भौतिक संस्कृति के क्षेत्र में वे मिट्टी के बर्तन बनाने और कपड़ा बुनने में दक्ष हैं। टोकरे बनाने की कला अधिक विकसित नहीं है। कला के मुख्य रूप हैं बर्तनों पर चित्रों का अंकन और कंबलों में आकर्षक डिजाइनें बुनना।

दूसरा भाग तवाहों और एवाचे आदि समूहों का है जो स्थायी रूप से एक स्थान पर नहीं रहते। ये अधिकांशतः बाजरे की खेती करते हैं। आधुनिक काल में इनमें भेड़ पालना भी प्रारंभ किया गया है। नवाहो लकड़ी और मिट्टी के बने मकानों में रहते हैं, एपाचे चमड़े के तंबुओं में। दोनों समूहों में केंद्रीय शासकीय व्यवस्था का अभाव है। समूह छोटे छोटे दलों में विभाजित हैं। प्रत्येक दल का एक प्रधान होता है, पर उसकी शक्ति अधिक नहीं होती। धर्मव्यवस्था में पुजारियों और धार्मिक गायकों का स्थान महत्वपूर्ण होता है। रोगियों की चिकित्सा धार्मिक क्रियाओं और गायन से की जाती है। इन समूहों में बुनाई का कौशल विकसित रूप में दीख पड़ता है। भौतिक संस्कृति के अन्य पक्ष अधिक उन्नत नहीं हैं। दोनों समूहों में कंबलों में तरह तरह की डिजाइनें बुनी जाती हैं और बालुकाचित्रांकन किया जाता है। नवाहो चाँदी का काम करते हैं और एपाचे मनकों का।

तीसरे भाग में कोलोराडो-गिला क्षेत्र में मोहावे, यूमा, पिमा, पपागो आदि समूह आते हैं। इनका सामाजिक संगठन बहुत कुछ नवाहो, एपाचे आदि के संगठनों से मिलता जुलता है। धर्म का सामूहिक पक्ष अविकसित है, व्यक्ति और परिवार धार्मिक संगठन की स्वतंत्र इकाइयाँ माने जा सकते हैं। इनकी भौतिक संस्कृति के मुख्य तत्व हैं टोकरे बनाना और कपड़े बुनना। कला का विकास इनमें बहुत कम हुआ है।

(८) **उत्तर-पूर्व का वनक्षेत्र**—इस क्षेत्र के मुख्य समूह हैं क्री, ओजिबवे, इरोक्वाई, मोहिकन, विनेबागो, फाक्स, साऊक आदि। ये वनाच्छादित प्रदेश में रहते हैं जहाँ कठिन शीत पड़ता है। ये समूह खेती के साथ बड़े पैमाने पर शिकार भी करते हैं। झीलों में मछलियाँ पकड़ी जाती हैं और जंगली धान की खेती होती है। समाज का विभाजन गोत्रों में होता है जिनके अपने गोत्रचिह्न (टोटेम) होते हैं। उत्तरी भाग को छोड़कर शेष क्षेत्र में सशक्त तथा सुसंगठित शासनव्यवस्था है। इरोक्वाई समूहों ने तो अपना स्वतंत्र राज्यसंघ बना लिया था जिसका विधान उल्लेखनीय था। इन समूहों में व्यक्ति की दैवी रक्षक शक्तियों में विश्वास किया जाता है। भौतिक संस्कृति के मुख्य तत्व हैं धनुष, युद्ध की गदाएँ, लकड़ी को खोदकर बनाई गई और वृक्षों की छाल की नावें, चमड़े के वस्त्र, बरफ में पहनने के जूते और मिट्टी के बर्तन। इन समूहों में मनकों का कलापूर्ण काम किया जाता है। इरोक्वाई लकड़ी के चेहरे भी बनाते हैं।

(९) **दक्षिण-पूर्व का वनक्षेत्र**—शावनी, चेरोकी, क्रीक, नाबेज़ आदि समूह इस क्षेत्र में निवास करते हैं। आर्थिक व्यवस्था में कृषि और शिकार का समान महत्व है। वर्गाकार और वृत्ताकार, दोनों प्रकार के घर इन समूहों में बनाए जाते हैं। समाज गोत्र और गोत्रसमूहों में संगठित है। वर्गभेद के साथ सशक्त राजकीय संगठन भी इन समूहों में विकसित हुआ है। सूर्य और अग्नि को केंद्र बनाकर अनेक धार्मिक क्रियाएँ की जाती हैं। ये समूह मंदिरों का निर्माण भी करते हैं। पुजारी और शामन, दोनों शक्तिशाली होते हैं। चमड़े और वृक्षों की छाल के वस्त्रों का उपयोग किया जाता है। विशेष प्रकार की चटाइयाँ और टोकरे बनाना तथा बेंत का उपयोग इन समूहों की भौतिक संस्कृति की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। इनकी कला पर मध्य अमरीका के अनेक प्रभाव लक्षित होते हैं।

इंडियन समूहों में बड़ी तीव्र गति से संस्कृतिपरिवर्तन हो रहा है। उनके जीवन के प्रत्येक पक्ष में अमरीका की नव संस्कृति के व्यापक प्रभाव सहज ही देखे जा सकते हैं।

सं०ग्रं०—कालिगर, जान : द इंडियन ऑव दि अमेरिकाज, न्यूयार्क, नार्टन ऐंड कंपनी, १९४७; वर्टेन, ई० (संपादक) : द इंडियन्स ऑव नार्थ अमेरिका, न्यूयार्क, हार्कोर्ट प्रेस ऐंड कंपनी, १९२७; क्रोबर, ए० एल० : कल्चरल ऐंड नेचुरल एरियाल ऑव नेटिव नार्थ अमेरिका, बर्कले, युनिवर्सिटी ऑव केलिफोर्निया प्रेस, १९४६; लिटन, राल्फ : द ट्री ऑव कल्चरल न्यूयार्क, एल्फ्रेड ए० कनाफ़, १९५५। [श्या० दु०]

इंडियन रोड्स कांग्रेस दिसंबर, १९३४ में स्थापित हुई। इसका मुख्य उद्देश्य था सड़कों के निर्माण एवं सुप्रबंध के विज्ञान और कला की उन्नति तथा प्रोत्साहन और भारत की सड़कों के इंजीनियरों की सड़क संबंधी समस्याओं पर सामूहिक विचाराभिव्यक्ति का उपयुक्त माध्यम होना। इस कांग्रेस में १९५८ में प्रायः १,६०० सदस्य थे जिनमें इंग्लैंड, आयरलैंड, ब्रिटिश वेस्ट इंडीज, कनाडा, पाकिस्तान, लंका, बर्मा आदि देशों के निवासी भी संमिलित थे।

यह कांग्रेस प्रति वर्ष एक महाधिवेशन करती है जिसमें देश भर से २५० से अधिक प्रतिनिधि विचारार्थ आमंत्रित किए जाते हैं। अपने २५ वर्षों के अब तक के जीवनकाल में इस कांग्रेस ने निम्नलिखित कार्य किए हैं :

(१) अपने सामान्य अधिवेशनों में टेकनिकल विषयों पर लिखे गए २०० से अधिक ऐसे निबंधों पर विचारविमर्श किया जो भारतीय सड़कों के विकास संबंधी विविध पहलुओं से संबंध रखते हैं।

(२) सड़क निर्माण एवं सड़कों की सुरक्षाविषयक ज्यामितीय तथा अन्य प्रकार की विशेषताओं के स्थिर प्रतिमान भी सुनिश्चित किए।

(३) सड़कों की प्राविधिक (टेकनिकल) तथा प्रशासन संबंधी समस्याओं पर विवेचन करने के लिये उसने २२ वार्षिक अधिवेशन तथा ५२ साधारण सभाएँ कीं।

(४) प्राविधिक समस्याओं के विभिन्न पहलुओं के विस्तृत अध्ययनार्थ बहुत सी समितियाँ नियुक्त कीं।

इस कांग्रेस का प्राविधिक कार्य मुख्यतः इसकी समितियाँ एवं उपसमितियाँ करती हैं। उनकी बैठकें समान्य अधिवेशनों पर और यदि संभव हुआ तो अन्य अवसरों पर भी होती हैं।

मुख्य समितियाँ इस प्रकार है : ब्योरा और प्रतिमान-निर्धारण-समिति, पुल समिति (इस समिति ने पुलों के लिये प्रतिमानों का ब्योरा एवं रचना के नियम तयार किए), प्राविधिक समिति (जिसने कलकत्ता में परीक्षण के लिये बनी सड़कों की सभी प्रकार की जाँचों की व्यवस्था की थी और जो सामान्यतः सड़कों के संबंध में अनुसंधान करती है) तथा मृत्तिका-अनुसंधान-समिति। अन्य समितियों के कार्यक्षेत्र में सड़कों के इंजीनियरों का शिक्षण, व्यावसायिक इंजीनियरिंग, सड़कों की वास्तुकला की दृष्टि से व्यवस्था, यातायात की समस्याएँ, सड़क निर्माण के लिये यंत्रों के कारखानें, सड़क बनाने के कार्यों को यंत्रों द्वारा कराना, विभिन्न प्रकार की सड़कों आदि का आर्थिक दृष्टि से अध्ययन इत्यादि कर्तव्य समाविष्ट हैं। काउंसिल इस कांग्रेस का मुख्य संचालक अंग है। यह सामान्य अधिवेशनों में रखे गए एवं समितियों द्वारा प्रस्तुत सुझावों पर विचार करती है तथा राज्य एवं केंद्रीय सरकार को इस संबंध में उचित परामर्श देती है।

कांग्रेस के दो नियिमित प्रकाशन चलते हैं : 'जरनल' तथा 'ट्रांसपोर्ट-कम्युनिकेशंस मंथली रिव्यू'। 'जरनल' त्रैमासिक प्रकाशन है जिसमें प्राविधिक निबंध, विचारविमर्श, अनुसंधानों के विवरण आदि रहते हैं। इनके अतिरिक्त इस कांग्रेस द्वारा सड़कों से संबंध रखनेवाली सामयिक विवरणिकाएँ (बुलेटिन्स) भी प्रकाशित की जाती हैं। कांग्रेस द्वारा इंजीनियरिग विषयक साहित्य के एक पुस्तकालय की भी व्यवस्था की गई है जिसमें सड़क, पुल, यातायात आदि विषयों से संबद्ध पुस्तकों को प्राप्त करने पर अधिक ध्यान दिया जाता है। सदस्यों तथा इंजीनियरों द्वारा सड़कों के संबंध में पूछे गए प्रश्नों का उत्तर भी दिया जाता है।

यह कांग्रेस सरकार के परिवहन एवं संचरण मंत्रालय के घनिष्ठ सहयोग से अपना कार्य संपन्न करती है। सड़क-विकास संबंधी भारत सरकार के परामर्शदाता इंजीनियर इसके स्थायी कोषाध्यक्ष हैं। इसका सचिवालय जामनगर हाउस, शाहजहाँ रोड, नई दिल्ली में स्थित है और इसका प्रबंध इंडियन रोड्स कांग्रेस के एक सचिव के हाथ में है।

इंडियन (भारतीय) रोड्स कांग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्षों के नाम निम्नलिखित हैं :

डी० बी० मिचल्, सी० एस० आई०; सी० आई० ई०, आइ० सी० एस० (१९३४); रायबहादुर छुट्टनलाल (१९३५-३६); एम० जी० स्टब्स, सी० बी० ई०, आई० एस० ई० (१९३६-३८); सर केनेथ मिचल्, के० सी० आई० ई०, सी० आई० ई०, आई० एस० ई० (१९३९-४२); जे० वसुगर, आई० एस० ई० (१९४३-४५); सर आर्थर डीन, सी० आई० ई०, एम० सी०, ई० डी० (१९४५-४६); एल० ए० फीक, आई० एस० ई० (१९४६); जे० चेंबर्स, सी० आई० ई०, एम० सी०, ओ० बी० ई०, आई० एस० ई० (१९४६-४७); सी० जी० काले, सी० आई० ई०, आई० एस० ई० (१९४७-४८); एस० एन० चक्रवर्ती, आई० एस० ई० (१९४८-४९); रायबहादुर बृजमोहनलाल, आई० एस० ई० (१९४९-५०); रायबहादुर ए० सी० मुकर्जी, आई० एस० ई० (१९५०-५१); जी० एम० मैक्केल्वी, सी० आई० ई०, ओ० बी० ई०, आई० एस० ई० (१९५१-५२); टी० मित्र, आई० एस० ई० (१९५२-५३); आर० के० वात्रा, आई० एस० ई० (१९५३-५४); एच० पी० मथरानी, आई० एस० ई० (१९५४-५५); के० के० मांबियार (१९५५-५६); पी० एल० वर्मा (१९५६-५७); एम० एस० विष्ट (१९५७-५८); डब्ल्यू० एक्स० मैस्कारेन्हास् (१९५८-५९)। [अ० जु० डि० को०]

इंडियानापोलिस संयुक्त राज्य (अमरीका) के इंडियाना राज्य की राजधानी है तथा उसके हृदयस्थल में ह्वाइट नदी के तट पर बसा हुआ है। इसे अमरीका का चौराहा कहते हैं, क्योंकि यहाँ शिकागो, सेंटलुई, लुईजविल, सिनसिनाटी, कोलंबस, न्यूयार्क आदि को जानेवाले रेलवे मार्ग तथा कई पक्की सड़कें मिलती हैं। यहाँ एक बड़ा हवाई अड्डा भी है। केंद्रीय भौगोलिक स्थिति, प्रमुख कोयला क्षेत्रों के सामीप्य तथा यातायात के साधनों के बाहुल्य ने इसे बहुत बड़ा औद्योगिक केंद्र बना दिया है। इसके मुख्य उद्योग खाद्य पदार्थ तथा वस्त्र, हवाई जहाजों के इंजिन, बैटरी, रेडियो, रेफ्रीजरेटर, कागज, चमड़े का सामान आदि हैं। यह एक बड़ा सांस्कृतिक केंद्र भी है। इसकी शिक्षासंस्थाओं में बटलर विश्वविद्यालय का नाम उल्लेखनीय है। सन् १८२४ ई० में यह इंडियाना राज्य की राजधानी चुन लिया गया तथा कालांतर में इसे अमरीका के अन्य प्रमुख नगरों से संबद्ध कर दिया गया। इसकी जनसंख्या सन् १९०० ई० में केवल, १,६९,१६४ थी, सन् १९५७ ई० में जनसंख्या ४,५५,९७० हो गई। [श्या० सुं० श०]

इंदुमती काकुत्स्थवंशी अज की पत्नी एवं विदर्भराज भोज की छोटी बहन। ऐसी पौराणिक आख्यायिका है कि तृणविंदु का तप भंग करने के लिये हरिणी नाम की एक अप्सरा भेजी गई थी जिसे शापवश ऋथकैशिक अथवा विदर्भ के राजकुल में जन्म लेना पड़ा और जिसका विवाह अज के साथ हुआ। परंतु वह दीर्घकाल तक उनके साथ न रह पाई। नारद की वीणा से गिरी माला की चोट से मूर्छित हो उसने प्राण त्याग दिए। [चं० म०]

इंदौर भारत के मध्यप्रदेश राज्य में स्थित एक नगर है। इंदौर नगर इसी नाम की विघटित रियासत की राजधानी था। यह नगर खान (शिप्रा की सहायक) तथा सरस्वती नदियों के संगम पर बंबई से ४४० मील की दूरी पर उत्तरपूर्व में स्थित है। (स्थिति अक्षांश २२° ४३' उत्तर और देशांतर ७५° ५४' पूर्व)। नगर समुद्र की सतह से १,७३८ फुट की ऊँचाई पर है और ५ वर्ग मील में फैला हुआ है। यह नगर सन् १७१५ ई० में कंपाल (इंदौर से १६ मील पूर्व) के एक जमीदार द्वारा एक ग्राम के रूप में बसाया गया था। सन् १७४१ ई० में यहाँ इंद्रेश्वर के मंदिर की स्थापना की गई और इन्हीं इंद्रेश्वर से नगर का नाम इंदौर पड़ा। यह मध्यप्रदेश राज्य का एक प्रमुख व्यापारिक नगर है तथा यहाँ कई प्रकार के उद्योग धंधे हैं। यहाँ बहुत से रुई दबाने तथा कपड़े के कारखाने हैं। नगर आसपास के प्रदेश का वितरणकेंद्र भी है। यहाँ के सुंदर राजमहल तथा उद्यान देखने योग्य हैं। नगर से तीन मील पूर्व की ओर एक विद्यालय डैली कालेज है जो संगमरमर का बना है। यहाँ पहले केवल राजकुमारों के लिये ही शिक्षा का प्रबंध था। नगर की जनसंख्या १९५१ में ३,१०,८५९ थी। [ले० रा० सिं०]

इंद्र महत्वशाली प्रख्यात वैदिक देवता। ऋग्वेद में २५० सूक्त स्वतंत्र रूप से इंद्र की स्तुति में प्रयुक्त हैं और लगभग ५० सूक्तों में यह विष्णु, मरुत्, अग्नि आदि विभिन्न देवताओं के साथ निर्दिष्ट तथा प्रशंसित है। इस प्रकार ऋग्वेद के लगभग चतुर्थांश में इंद्र की प्रशस्त स्तुति इसके विपुल महत्व, महनीय उत्कर्ष तथा व्यापक प्रभाव की द्योतक है। इंद्र के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास ऋग्वेद के सूक्तों में उपलब्ध होता है। उसके सिर, बाहु, हाथ तथा विस्तृत उदर है जिसको वह सोम पीकर भर देता है। उसके दीर्घ तथा बलिष्ठ हाथ में 'वज्र' चमकता है। 'वज्री' इंद्र का ही निजी पर्याय है। वह युद्ध करने के लिये रथ पर चढ़कर समरांगण में जाता है जिसे साधारणतया दो, लेकिन कभी कभी एक हजार या ग्यारह सौ घोड़े खींचते हैं। इंद्र का जन्म अन्य वीरों के समान ही रहस्यमय है। उसके पिता त्वष्टा या द्यौः हैं और उसकी माता शवसी कही जाती है, क्योंकि इंद्रबल का पुत्र है (शवस्=बल)। उसकी पत्नी का नाम इंद्राणी है और पुराणों में निर्दिष्ट

'शची' इंद्र के लिये प्रयुक्त वैदिक विशेषण 'शचीपति' शब्द (शची=बल, पति=स्वामी) के आधार पर कल्पित की गई है। इंद्र सोमपान का इतना अभ्यासी है कि 'सोमप' में उसका विशिष्ट गुणावाचक नाम निर्दिष्ट है और ऋग्वेद का एक पूरा सूक्त (१०।११६) सोमपान से उत्पन्न इंद्र के आनंदोल्लास का कवित्वमय उद्गार है। उसकी शक्ति अतुलनीय है और समस्त देवताओं में वीर्य तथा बल से संपन्न होने के कारण शक्र, शचीवंत, शचीपति तथा शतक्रतु (सौ शक्तियों से संपन्न या सौ यज्ञों का कर्ता) आदि विशेषणों का प्रयोग इंद्र के लिये ही किया जाता है।

इंद्र आर्यों का दस्युओं या दासों के ऊपर विजय प्राप्त करानेवाला प्रमुख देवता है। 'दास' अपार्थिव शत्रु के लिये भी प्रयुक्त है, परंतु यह मुख्यतः आर्यों के उन कृष्णकाय, चिपटी नाकवाले आदिवासी शत्रुओं के लिये आता है जो आर्यों का विस्तार रोकते थे तथा मिट्टी के बने किलों में रहकर उनसे लड़ा करते थे। इन दस्युओं के अनेक नेता थे जिनमें शंबर प्रमुख था। वह पर्वतों में छिपकर भागा फिरता था और इंद्र ने बड़ी दौड़ धूप के बाद चालीसवें वर्ष में (चत्वारिंश्यां शरदि) उसे खोज निकाला और अपने विकट वज्र से छिन्न भिन्न कर दिया (ऋग्० २।१२।११)। ऋग्वेद कहता है कि इंद्र की कृपा से ही आर्यों के विपुल पराक्रम के आगे दासों को पराजित होना और पर्वतों के भीतर छिपना पड़ा। (दासं वर्णमधरं गुहाकः २।१२।४)। इंद्र के अन्य महत्वशाली कार्यों में वृत्र की पराजय प्रमुख स्थान रखती है। वृत्र (आवरणकर्ता) से अभिप्राय उस अकाल और दुर्भिक्ष के दानव से है जो बादलों को घेरकर उन्हें पानी बरसाने से रोकता है। वृत्र अहि (=साँप) के रूप में चित्रित किया गया है। इंद्र उसे अपने वज्र से मार डालता है और छल से छिपाई गायों को गुफाओं से बाहर निकालता है। वृत्र के प्रभाव से नदियों की जो धारा रुक गई थी वह अब प्रवाहित होने लगती है। सप्तसिंधु की सातों नदियों में बाढ़ आ जाती है (यो हत्वाहिमरिणात् सप्तसिंधून्) और देश में सर्वत्र सौख्य विराजने लगता है।

इस प्रकार इंद्र वृष्टि और तूफान का देवता है। परंतु उसके वास्तविक भौतिक आधार के विषय में प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों के विविध मत हैं। (क) निरुक्त में निर्दिष्ट ऐतिहासिकों के मत में इंद्र-वृत्र-युद्ध एक वस्तुतः ऐतिहासिक घटना है। (ख) लोकमान्य तिलक के मत में वृत्र हिम का प्रतिनिधि है तथा इंद्र सूर्य का। हिलेब्रांट के मत में भी वृत्र उस हिमानी का संकेत है जो शीत के कारण जल को बर्फ बना डालती है। परंतु दो पत्थरों (मेघों) के बीच अग्नि (विद्युत्) उत्पन्न करनेवाले इंद्र को (अश्मनोरन्तरग्नि जजान, २।१२।३) वृष्टि का देवता मानना ही उचित है।

सप्तसिंधु प्रदेश को ही अनेक विद्वानों ने इंद्र का उदयस्थान माना है, परंतु इनकी कल्पना प्राचीनतर प्रतीत होती है। बोगाजकोई शिलालेख के अनुसार मितन्नी जाति के देवताओं में वरुण, मित्र एवं नासत्यों (अश्विन्) के साथ इंद्र का भी उल्लेख मिलता है (१४०० ई०पू०)। ईरानी धर्म में इंद्र का स्थान है, परंतु देवतारूप में नहीं, दानवरूप में। वेरेथ्रघ्न वहाँ विजय का देवता है, जो वस्तुतः 'वृत्रघ्न' (वृत्र को मारनेवाला) का ही रूपांतर है। इस कारण डा० कीथ इंद्र को भारत-पारसीक-एकता के युग में वर्तमान मानते हैं।

सं०ग्रं०—मैकडानेल : वैदिक माइथॉलॉजी, स्ट्रासबुर्ग, १६१६; कीथ: रेलीजन ऐंड फिलॉसफी ऑव दि वेद, लंदन, १६२५; हिलेब्रांट : वेदिश माइथॉलॉजी (तीन खंड), जर्मनी, १६१२। [ब० उ०]

इंद्रजाल जादू का खेल। कहा जाता है कि इसमें दर्शकों को मंत्रमुग्ध करके उनमें भ्रांति उत्पन्न की जाती है। फिर जो ऐंद्रजालिक चाहता है वही दर्शकों को दिखाई देता है। अपनी मंत्र-माया से वह दर्शकों के वास्ते दूसरा ही संसार खड़ा कर देता है। मदारी भी बहुधा ऐसा ही काम दिखाता है, परंतु उसकी क्रियाएँ हाथ की सफाई पर निर्भर रहती हैं और उसका क्रियाक्षेत्र परिमित तथा संकुचित होता है। इंद्रजाल के दर्शक हजारों होते हैं और दृश्य का आकार प्रकार बहुत बड़ा होता है।

वर्षा का वैभव इंद्र का जाल मालूम होता है। ऐंद्रजालिक भी छोटे पमाने पर कुछ क्षण के लिये ऐसे या इनसे मिलते जुलते दृश्य उत्पन्न कर देता है। शायद इसीलिये उसका खेल इंद्रजाल कहलाता है।

प्राचीन समय में ऐसे खेल राजाओं के सामने किए जाते थे। पचास साठ वर्ष पहले तक कुछ लोग ऐसे खेल करना जानते थे, परंतु अब यह विद्या नष्ट सी हो चुकी है। कुछ संस्कृत नाटकों और गाथाओं में इन खेलों का रोचक वर्णन मिलता है। जादूगर दर्शकों के मन और कल्पनाओं को अपने अभीष्ट दृश्य पर केंद्रीभूत कर देता है। अपनी चेष्टाओं और माया से उनको मुग्ध कर देता है। जब उनकी मनोदशा और कल्पना केंद्रित हो जाती है तब वह उपयुक्त ध्वनि करता है। दर्शक प्रतीक्षा करने लगते हैं कि अमुक दृश्य आनेवाला है या अमुक घटना घटनवाली है। इसी क्षण वह ध्वनिसंकेत और चेष्टा के योग से सूचना देता है कि दृश्य आ गया या घटना घट रही है। कुछ क्षण लोगों को वैसा ही दीख पड़ता है। तदनंतर इंद्रजाल समाप्त हो जाता है।

सं०ग्रं०—इंद्रजाल; रत्नावली। [म० ला० श०]

इंद्रजौ या इंद्रयव एक फली के बीज का नाम है। संस्कृत, बँगला तथा गुजराती में भी बीज का यही नाम है। परंतु इस फली के पौधे को हिंदी में कोरैया या कुड़ची, संस्कृत में कुटज या कलिंग, बँगला और अंग्रेजी में कुड़ची तथा लैटिन में होलेरहेना एटिडिसेंटेरिका कहते हैं।

इसके पौधे ४ फुट से १० फुट तक ऊँचे तथा छाल आध इंच तक मोटी होती है। पत्ते ४ इंच से ८ इंच तक लंबे, शाखा पर आमने सामने लगते हैं। फूल गुच्छेदार, श्वेत रंग के तथा फलियाँ १ से २ फुट तक लंबी और चौथाई इंच मोटी, दो दो एक साथ जुड़ी, लाल रंग की होती हैं। इनके भीतर बीज कच्चे रहने पर हरे और पकने पर जौ के रंग के होते हैं। इनकी आकृति भी बहुत कुछ जौ की सी होती है, परंतु ये जौ से लगभग ड्योढ़े बड़े होते हैं।

इस पौधे की दो जातियाँ हैं—काली और श्वेत। ऊपर जिस पौधे का वर्णन किया गया है वह काली कोरैया और उसके बीज कड़वा इंद्रजौ कहलाते हैं। दूसरे प्रकार के पौधे को लैटिन में राइटिया टिंक्टोरिया तथा उसके बीज को हिंदी में मीठा इंद्रजौ कहते हैं। काला पौधा समस्त भारत में पाया जाता है।

काले पौधे की छाल, जड़ और बीज प्राचीन काल से अति उपयोगी ओषधि माने जाते हैं। छाल विशेष लाभदायक होती है। आयुर्वेदिक मतानुसार यह कड़वी, शुष्क, गरम और कृमिनाशक तथा रक्तातिसार, आमातिसार इत्यादि अतिसारों में बड़ी लाभदायक है। मरोड़ के दस्त के रोग में, जिसमें रक्त भी जाता है, इसे आशीर्वादस्वरूप कहा है। बवासीर के खून को भी बंद करती है। जूड़ी (मलेरिया), अँतरिया तथा मीयादी बुखार में इसका सत्व, प्रमेह और कामला में शहद के साथ इसका स्वरस तथा प्रदर में इसका चूर्ण लोहभस्म के साथ देने का विधान है।

रासायनिक विश्लेषण से इसकी छाल में कोनेसीन, कुर्चीन और कुर्चिसीन नामक तीन उपक्षार (ऐल्कलॉएड) पाए गए हैं, जिनका प्रयोग ऐलोपैथिक उपचार में भी होता है।

आयुर्वेद के अनुसार इस पौधे की जड़ और बीज, अर्थात् इंद्रजौ में भी पूर्वोक्त गुण होते हैं। ये ग्राही और शीतल तथा आँतों की ऐसी व्याधि में, जिसमें रक्त गिरने के साथ ज्वर भी रहता है, मठे के साथ अति लाभदायक कहे गए हैं। स्तंभन के साथ इनमें आँव के पाचन का भी गुण होता है।

इस जाति के श्वेत पौधे के फूलों में एक प्रकार की सुगंध होती है जो काले पौधे के फूलों में नहीं होती। श्वेत पौधे की छाल लाल रंग लिए बादामी तथा चिकनी होती है। फलियों के अंत में बालों का गुच्छा सा होता है। यह पौधा ओषधि के काम में नहीं आता। [भ० दा० व०]

इंद्रधनुष आकाश में संध्या समय पूर्व दिशा में तथा प्रातःकाल पश्चिम दिशा में, वर्षा के पश्चात् लाल, नारंगी, पीला, हरा, आसमानी नीला तथा बैंगनी वर्णों का एक विशालकाय वृत्ताकार वक्र कभी कभी दिखाई देता है। यह इंद्रधनुष कहलाता है। वर्षा अथवा बादल में पानी की सूक्ष्म बूंदों अथवा कणों पर पड़नेवाली सूर्यकिरणों का विक्षेपण (डिस्पर्शन) ही इंद्रधनुष के सुंदर रंगों का कारण है। इंद्रधनुष सदा दर्शक की पीठ के पीछे सूर्य होने पर ही दिखाई पड़ता है। पानी के फुहारे पर दर्शक के पीछे से सूर्यकिरणों के पड़ने पर भी इंद्रधनुष देखा जा सकता है।
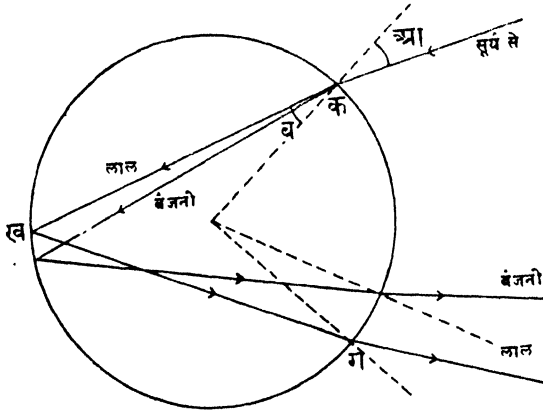
चित्र १. पानी की बूंदों द्वारा विक्षेपण ।

चित्र १ में स्पष्ट है कि सूर्यकिरणों का पानी की बूंदों के भीतर बिंदु **क** पर वर्तन (रिफ्रैक्शन), **ख** पर संपूर्ण परावर्तन (टोटल रिफ्लेक्शन) तथा पुनः **ग** पर वर्तन होता है। प्रकाश के नियमानुसार क पर श्वेत सूर्यकिरणों में मिश्रित विभिन्न तरंगदैर्घ्यों की प्रकाशतरंगें विभिन्न दिशाओं में बूंद के भीतर प्रवेश करती हैं।

चित्र में स्पष्ट है कि लाल वर्ण की प्रकाशकिरणें कम तथा बैंगनी की अत्यधिक मुड़ जाती हैं।

यदि **क** पर किरण का आपात कोण आ तथा वर्तन कोण व हो तो गणित द्वारा सिद्ध किया जा सकता है कि जब विचलन कोण वि न्यूनतम होता है तब

$$\text{कोज्या आ} = \sqrt{\left(\frac{\mu^2 - 1}{3}\right)},$$

जहाँ μ वर्तनांक (इंडेक्स ऑव रिफ्रैक्शन) है, अर्थात्

$$\mu = \frac{\text{ज्या आ}}{\text{ज्या व}}।$$

यदि उक्त समीकरण में μ का मान लालवर्ण के लिये १.३२९ रख दें तो कोण **आ** का मान ५९.६° तथा कोण **व** का मान ४०.५° प्राप्त होता है। यदि μ का मान बैंगनी रंगों के लिये १.३४३ लें तो **आ** = ५८.८° तथा **व** = ३९.६° है। इसके अतिरिक्त लाल तथा बैंगनी रंगों का न्यूनतम विचलन (डीविएशन) क्रमानुसार १३७.२° तथा १३९.२° होता है। अन्य वर्णों के विचलनों का मान इन दोनों के बीच रहता है। यह भी सिद्ध है कि आपात किरण के समांतर प्रत्येक रंग की समस्त किरणें, पानी की बूंद से बाहर आने पर भी, संनिकटतः समांतर बनी रहती हैं, क्योंकि विचलन न्यूनतम होने के कारण आपात कोण में थोड़ा परिवर्तन होने पर भी विचलन कोण में विशेष अंतर नहीं होता।

चित्र २ में कल्पना करें कि दर्शक **द** पर खड़ा है तथा सूर्य की किरणें दिशा **स द** में आ रही है। $प_1$, $प_2$, $प_3$ पानी की तीन बूंदें ऊर्ध्वाधर रेखा पर हैं। यदि किरणें बूंदों से निकलकर **द** पर पहुँचती हैं तो स्पष्ट है कि उनकी ओर देखने पर दर्शक को रंग दिखाई पड़ेंगे। $प_1$ से वे लाल किरणें आयेंगी
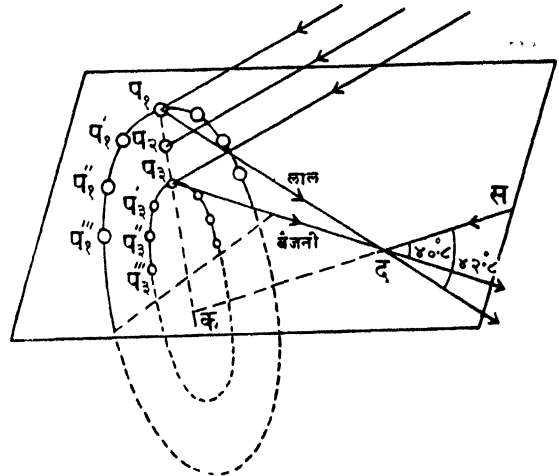
चित्र २. विभिन्न बूंदों से विक्षिप्त रंगीन प्रकाश के कारण द्रष्टा द को इंद्रधनुष दिखाई पड़ता है।

जिनका विचलन कोण १३७°.२ है तथा $प_3$ से वे बैंगनी किरणें आयेंगी जिनका विचलन कोण १३९°.२ है। अतः ऊपर की ओर लाल तथा नीचे की ओर बैंगनी रंग दिखाई पड़ेगा। इस भाँति इंद्रधनुष बनता है, जिसमें लाल तथा बैंगनी वृत्तों की कोणीय त्रिज्याएँ क्रमानुसार १८०° − १३७°.२ = ४२°.८ तथा १८०° − १३९°.२ = ४०°.८ होती हैं।
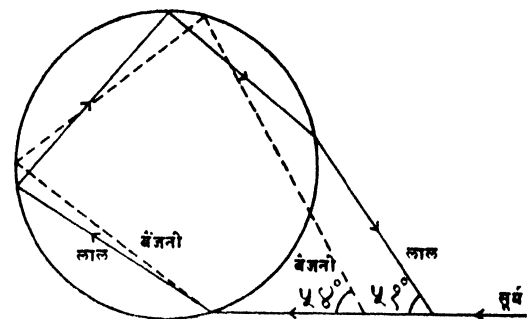
चित्र ३. द्वितीयक इंद्रधनुष का सिद्धांत।

यदि बूंद के भीतर किरणों का दो बार परावर्तन हो, जैसा चित्र ३ में दिखाया गया है, तो लाल तथा बैंगनी किरणों का न्यूनतम विचलन क्रमानुसार २३१° तथा २३४° होता है। अतः एक इंद्रधनुष ऐसा भी बनना संभव है जिसमें वक्र का बाहरी वर्ण बैंगनी रहे तथा भीतरी लाल। इसको द्वितीयक (सेकंडरी) इंद्रधनुष कहते हैं।

जैसा चित्र २ से स्पष्ट है, दर्शक के नेत्र में पहुँचनेवाली किरणों से ही इंद्रधनुष के रंग दिखाई देते हैं। अतः दो व्यक्ति ठीक एक ही इंद्रधनुष नहीं देख सकते—प्रत्येक द्रष्टा को एक पृथक् इंद्रधनुष दृष्टिगोचर होता है।

तीन अथवा चार आंतरिक परावर्तन से बने इंद्रधनुष भी संभव हैं, परंतु वे बिरले अवसरों पर ही दिखाई देते हैं। वे सदैव सूर्य की दिशा में

बनते हैं तथा तभी दिखाई पड़ते हैं जब सूर्य स्वयं बादलों से छिपा रहता है। इंद्रधनुष की क्रिया को सर्वप्रथम दे कार्ते नामक फ्रेंच वैज्ञानिक ने उपर्युक्त सिद्धांतों द्वारा समझाया था। इनके अतिरिक्त कभी कभी प्रथम इंद्रधनुष के नीचे की ओर अनेक अन्य रंगीन वृत्त भी दिखाई देते हैं। ये वास्तविक इंद्रधनुष नहीं होते। ये जल की बूँदों से ही बनते हैं, किंतु इनका कारण विवर्तन (डिफ्रैक्शन) होता है। इनमें विभिन्न रंगों के वृत्तों की चौड़ाई जल की बूँदों के बड़ी या छोटी होने पर निर्भर रहती है। [अ० मो०]

इंद्रप्रस्थ वर्तमान दिल्ली के समीप इंदरपत गाँव का प्राचीन नाम। यह नगर शक्रप्रस्थ, शक्रपुरी, शतक्रतुप्रस्थ तथा खांडवप्रस्थ आदि अन्य नामों से भी अभिहित किया गया है। इसके उदय और अभ्युदय का रोचक वर्णन महाभारत (आदिपर्व, २०७ अ०) के अनेक स्थलों पर किया गया है। द्रौपदी को स्वयंवर में जीतकर जब पांडव हस्तिनापुर में आने लगे तब धृतराष्ट्र ने अपने पुत्रों के साथ उनके भावी वैमनस्य तथा विद्रोह की आशंका से विदुर के हाथों युधिष्ठिर के पास यह प्रस्ताव भेजा कि वह इंद्रवन या खाण्डववन को साफ कर वहीं अपनी राजधानी बनाएँ। युधिष्ठिर ने इस प्रस्ताव को मानकर इंद्रवन को जलाकर यह नगर बसाया। महाभारत के अनुसार मय असुर ने चौदह महीनों तक परिश्रम कर यहीं पर उस विचित्र लंबी चौड़ी सभा का निर्माण किया था जिसमें दुर्योधन को जल में स्थल का और स्थल में जल का भ्रम हुआ था। इस सभा के चारों ओर का घेरा दस सहस्र किस्कु (८,७५० गज) था। ऐसी रूपसंपन्न सभा न तो देवों की सुधर्मा ही थी और न अंधक वृष्णियों की सभा ही। इसमें आठ हजार किंकर या गुह्यक चारों ओर उत्कीर्ण थे जो अपने मस्तकों पर उसे ऊपर उठाए हुए प्रतीत होते थे। राजा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ का विधान इसी नगर में किया (महाभारत, सभापर्व, ३०-४२ अध्याय) जिसमें कौरवों ने भी अपना सहयोग दिया था। एसी समृद्ध नगरी पर पांडवों को गर्व तथा प्रेम होना स्वाभाविक था और इसीलिये उन लोगों ने दुर्योधन से अपने लिये जिन पाँच गाँवों को माँगा उनमें इंद्रप्रस्थ ही प्रथम नगर था :

इंद्रप्रस्थं वृकप्रस्थं जयंतं वारणावतम्।
देहि मे चतुरो ग्रामान् पंचमं किंचिदेव तु॥

आज इस महनीय नगरी की राजनीतिक गरिमा फिर से दिल्ली और नई दिल्ली की भारतीय राजधानी में संचित हुई है। पद्मपुराण ने इंद्रप्रस्थ में यमुना को अतीव पवित्र तथा पुण्यवती माना है :

यमुना सर्वसुलभा त्रिषु स्थानेषु दुर्लभा।
इंद्रप्रस्थे प्रयागे च सागरस्य च संगमे॥

यहाँ यमुना के किनारे 'निगमोद्‌बोध' नामक तीर्थ विशेष प्रसिद्ध था। इस नगर की स्थिति दिल्ली से दो मील दक्षिण की ओर उस स्थान पर थी जहाँ आज हुमायूँ द्वारा बनवाया 'पुराना किला' खड़ा है।

सं० ग्रं०—पारसनीसकृत दिल्ली अथवा इंद्रप्रस्थ (मराठी)। [ब० उ०]

इंद्राणी देवराज इंद्र की पत्नी जिसके दूसरे नाम शची और पौलोमी भी हैं। ऋग्वेद की देवियों में वह प्रधान है, इंद्र को शक्ति प्रदान करनेवाली, स्वयं अनेक ऋचाओं की ऋषि। शालीन पत्नी की वह मर्यादा और आदर्श है और गृह की सीमाओं में उसकी अधिष्ठात्री। उस क्षेत्र में वह विजयिनी और सर्वस्वामिनी है और अपनी शक्ति की घोषणा वह ऋग्वेद के मंत्र (१०,१५६,२) में इस प्रकार करती है—अहं केतुरहं मूर्धा अहमुग्राविवाचिनी—मैं ही विजयिनी ध्वजा हूँ, मैं ही ऊँचाई की चोटी हूँ, मैं ही अनुल्लंघनीय शासन करनेवाली हूँ। ऋग्वेद के एक अत्यंत सुंदर और शक्तिम सूक्त (१०,१५६) में वह कहती है कि 'मैं असपत्ना हूँ, सपत्नियों का नाश करनेवाली हूँ, उनकी नश्यमान शालीनता के लिय ग्रहणस्वरूप हूँ—उन सपत्नियों के लिये जिन्होंने मुझे कभी ग्रसना चाहा था' उसी सूक्त में वह कहती है कि मेरे पुत्र शत्रुहंता हैं और मेरी कन्या महती है—"मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्"। [भ० श० उ०]

इंद्रायन का नाम बँगला तथा गुजराती में भी यही है। संस्कृत में इसे चित्रफल, इंद्रवारुणी, मराठी में कडु इंद्रावण, अंग्रेजी में कॉलोसिंथ या बिटर ऐपल तथा लैटिन में सिट्रलस कॉलोसिंथस कहते हैं। अन्य दो वनस्पतियों को भी इंद्रायन कहते हैं। उनका वर्णन भी नीचे किया गया है।

इंद्रायन की बेल मध्य, दक्षिण तथा पश्चिमोत्तर भारत, अरब, पश्चिम एशिया, अफ्रीका के उच्च भागों तथा भूमध्यसागर के देशों में भी पाई जाती है। इसके पत्ते तरबूज के पत्तों के समान, फूल नर और मादा दो प्रकार के तथा फल नारंगी के समान २ इंच से ३ इंच तक व्यास के होते हैं। ये फल कच्ची अवस्था में हरे, पश्चात् पीले हो जाते हैं और उनपर बहुत सी श्वेत-धारियाँ होती हैं। इसके बीज भूरे, चिकने, चमकदार, लंबे, गोल तथा चिपटे होते हैं। इस बेल का प्रत्येक भाग कड़वा होता है।

इसके फल के गूदे को सुखाकर ओषधि के काम में लाते हैं। आयुर्वेद में इसे शीतल, रेचक और गुल्म, पित्त, उदररोग, कफ, कुष्ठ तथा ज्वर को दूर करनेवाला कहा गया है। यह जलोदर, पीलिया और मूत्र संबंधी व्याधियों में विशेष लाभकारी तथा धवलरोग (श्वेतकुष्ठ), खाँसी, मंदाग्नि, कोष्ठबद्धता, रक्ताल्पता और श्लीपद में भी उपयोगी कहा गया है।

यूनानी मतानुसार यह सूजन को उतारनेवाला, वायुनाशक तथा स्नायु संबंधी रोगों में, जैसे लकवा, मिरगी, अधकपारी, विस्मृति इत्यादि में लाभदायक है। यह तीव्र विरेचक तथा मरोड़ उत्पन्न करनेवाला है, इसलिये दुर्बल व्यक्ति को इसे न देना चाहिए। इसकी मात्रा डेढ़ से ढाई माशे तक की होती है। इसका चूर्ण तीन माशे तक बबूल की गोंद, खुरासानी अजवायन के सत्व इत्यादि के साथ, जो इसकी तीव्रता को घटा देते हैं, गोलियों के रूप में दिया जाता है।

रासायनिक विश्लेषण से इसमें कुछ उपक्षार (ऐल्कलॉइड) तथा कॉलोसिंथिन नामक एक ग्लूकोसाइड, जो इस ओषधि का मुख्य तत्व है, पाए गए हैं।

इंद्रायन की बेल

ब्रिटिश मटेरिया मेडिका के अनुसार इससे ज्वर उतरता है। इसका उपयोग तीव्र कोष्ठबद्धता, जलोदर, ऋतुस्राव तथा गर्भस्राव में भी किया जा सकता है।

लाल इंद्रायन का लैटिन नाम ट्रिकोसैंथस पामाटा है। इसे संस्कृत तथा बँगला में महाकाल कहते हैं। इसकी बेल बहुत लंबी तथा पत्ते दो से छः इंच के व्यास के, त्रिकोण से सप्तकोण तक होते हैं। फूल नर और मादा तथा श्वेत रंग के, फल कच्ची अवस्था में नारंगी रंग के, किंतु पकने पर लाल तथा १० नारंगी धारियोंवाले होते हैं। फल का गूदा हरापन लिए काला होता है तथा फल में बहुत से बीज होते हैं। इस पौधे की जड़ बहुत गहराई तक जाती है और इसमें गाँठें होती हैं।

रासायनिक विश्लेषण से इसके फल के गूदे में कॉलोसिंथिन से मिलता जुलता ट्रिकोसैंथिन नामक पदार्थ पाया गया है। लाल इंद्रायन भी तीव्र विरेचक है। आयुर्वेद में इसे श्वास और फुफ्फुस के रोगों में लाभदायक कहा गया है।

जंगली या छोटी इंद्रायन को लैटिन में क्युक्युमिस ट्रिगोनस कहते हैं। इसकी बेल और फल पूर्वोक्त दोनों इंद्रायनों से छोटे होते हैं।

इसके फल में भी कॉलोसिंथिन से मिलते जुलते तत्व होते हैं। इसका हरा फल स्वाद में कड़वा, अग्निवर्धक, स्वाद को सुधारनेवाला तथा कफ और पित्त के दोषों को दूर करनेवाला बताया गया है। [भ० दा० व०]

इंद्रायुध यह कन्नौज में हर्ष और यशोवर्मन् के बाद होनेवाले आयुधकुल का राजा था। जैन 'हरिवंश' से प्रमाणित है कि इंद्रायुध ७८३-८४ ई० में राज कर रहा था। संभवतः उसी के शासनकाल में कश्मीर के राजा जयापीड विजयादित्य ने कन्नौज पर चढ़ाई कर उसे जीता था। इंद्रायुध को अनेक चोटें सहनी पड़ीं और विजयादित्य के लौटते ही उसे ध्रुव राष्ट्रकूट का सामना करना पड़ा जिसने उसे परास्त कर अपने

राजचिह्नों में गंगा और यमना की धाराएँ भी अंकित कराईं। पाल नरेश धर्मपाल इंद्रायुध की यह दुर्बलता न सह सका और राष्ट्रकूट राजा के दक्षिण लौटते ही वह भी कन्नौज पर जा टूटा। इंद्रायुध को उसने गद्दी से उतारकर उसकी जगह चक्रायुध को बठाया। [ओं० ना० उ०]

इंद्रिय के द्वारा हमें बाहरी विषयों—रूप, रस, गंध, स्पर्श एवं शब्द—का तथा आभ्यंतर विषयों—सुःख दुख आदि—का ज्ञान प्राप्त होता है। इंद्रियों के अभाव में हम विषयों का ज्ञान किसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिये तर्कभाषा के अनुसार इंद्रिय वह प्रमेय है जो शरीर से संयुक्त, अतींद्रिय (इंद्रियों से ग्रहीत न होनेवाला) तथा ज्ञान का करण हो (शरीरसंयुक्तं ज्ञानं करणमतींद्रियम्)। न्याय के अनुसार इंद्रियाँ दो प्रकार की होती हैं: (१) बहिरिंद्रिय—घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् तथा श्रोत्र (पाँच) और (२) अंतरिंद्रिय—केवल मन (एक)। इनमें बाह्य इंद्रियाँ क्रमशः गंध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द की उपलब्धि की साधन होती हैं। सुख दुःख आदि भीतरी विषय हैं। इनकी उपलब्धि मन के द्वारा होती है। मन हृदय के भीतर रहनेवाला तथा अणु परिमाण से युक्त माना जाता है। इंद्रियों की सत्ता का बोध प्रमाण, अनुमान से होता है, प्रत्यक्ष से नहीं। सांख्य के अनुसार इंद्रियाँ संख्या में एकादश मानी जाती हैं जिनमें ज्ञानेंद्रियाँ तथा कर्मेंद्रियाँ पाँच पाँच मानी जाती हैं। ज्ञानेंद्रियाँ पूर्वोक्त पाँच हैं, कर्मेंद्रियाँ मुख, हाथ, पैर, मलद्वार तथा जननेंद्रिय हैं जो क्रमशः बोलने, ग्रहण करने, चलने, मल त्यागने तथा संतानोत्पादन का कार्य करती हैं। संकल्प-विकल्पात्मक मन ग्यारहवीं इंद्रिय माना जाता है। [ब० उ०]

इंद्रोत शौनक महाभारतकाल के एक विशिष्ट शौनककुलोत्पन्न ऋषि। शतपथ ब्राह्मण (१३।५।३।५) के निर्देशानुसार इनका पूरा नाम इंद्रोतदैवाप शौनक था जिन्होंने राजा जनमेजय का अश्वमेध यज्ञ कराया था। ऐतरेय ब्राह्मण (८।२१) तुरकावषेय नामक ऋषि को यह गौरव प्रदान करता है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में इंद्रोत श्रुत के शिष्य बतलाए गए हैं। वंश ब्राह्मण में भी इनका नाम निर्दिष्ट किया गया है। ऋग्वेद में निर्दिष्ट देवापि के साथ इनका कोई संबंध नहीं प्रतीत होता। महाभारत (शांतिपर्व, अ० १५२) इनके विषय में एक नूतन तथ्य का संकेत करता है, वह यह कि जनमेजय नामक एक राजा को ब्रह्महत्या लगी थी जिसके निवारण के लिये उसने अपने पुरोहित से प्रार्थना की। प्रार्थना को पुरोहित ने नहीं माना। तब राजा इस ऋषि की शरण आया। ऋषि ने राजा से अश्वमेध यज्ञ कराया तथा उसकी ब्रह्महत्या का पूर्णतया निवारण कर उसे स्वर्ग भेज दिया। [ब० उ०]

इंपोरिया संयुक्त राज्य (अमरीका) के कैंसास राज्य का एक नगर है जो समुद्रतल से १,१३३ फुट की ऊँचाई पर न्यूशो तथा काटनवुड नदियों के संगम पर कैंसास नगर से १२३ मील दक्षिण में स्थित है। अचिसन, टोपेका तथा सैंटा फी एवं मिसौरी, कैंसास तथा टेक्सास के रेलमार्ग इंपोरिया से गुजरते हैं। यहाँ नगरपालिका का हवाई अड्डा भी है। इंपोरिया एक प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र है, जो पूर्वी बाजारों के मांस, अंडे तथा मुर्गियों की माँग की पूर्ति करता है तथा इन्हीं से संबद्ध अन्य उद्योगों में भी संलग्न है। यह शिक्षा का भी एक बड़ा केंद्र है जहाँ कालेज ऑव इंपोरिया तथा कसास स्टेट टीचर्स कालेज जैसी प्रसिद्ध शिक्षासंस्थाएँ हैं। यहाँ के पीटर पैन पार्क में एक प्राकृतिक रंगभूमि है जहाँ ग्रीष्मकाल में प्रत्येक वर्ष नाटक खेले जाते हैं। इंपोरिया टाउन कंपनी ने इस नगर का शिलान्यास सन् १८५७ ई० में किया था। सन् १९५० में इसकी जनसंख्या १५,६६९ थी। [ले० रा० सिं०]

इंफाल नगर मनीपुर राज्य के मध्य, इंफाल घाटी में इंफाल तथा नंबूल नदियों के बीच, समुद्र की सतह से २,६०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। (२४° ५०′ उ० अक्षांश तथा ९४° ०′ पू० देशांतर)। यह मनीपुर राज्य की राजधानी है। घनी ग्रामीण बस्तियों के मध्य स्थित इस स्थान की सर्वप्रथम ख्याति स्थानीय राजा के गढ़ के कारण थी, किंतु सन् १८९१ ई० में अंग्रेजी राज्य स्थापित होने के पश्चात् इसको नगर का रूप मिला। सन् १९४१ के जनगणनानुसार इस नगर की जनसंख्या १,२८,६०८ थी।

सैनिक दृष्टि से इसकी स्थिति इतनी महत्वपूर्ण है कि द्वितीय विश्व-महायुद्ध में यह नगर जगद्विख्यात हो गया। नगर के मुख्य धंधों में कपड़े बुनने का गृह-उद्योग तथा दस्तकारी हैं। अपनी विशिष्ट तथा कुशल कारीगरी के कारण यहाँ के बने हुए कपड़ों की माँग भारत में ही नहीं, विदेशों में भी है। शिक्षा के क्षेत्र में भी यह नगर पर्याप्त उन्नतिशील है। यहाँ छः महाविद्यालय हैं, जिनमें से एक में केवल मनीपुरी नृत्यकला की शिक्षा दी जाती है। नगर के गढ़-प्रकोष्ठ में सैनिक छावनी (चौथी आसाम राइफल्स) स्थित है। यह छावनी सुरक्षार्थ तीन ओर से खाईं तथा एक ओर से इंफाल नदी द्वारा आवृत है। यहाँ पोलो (चौगान) खेलने का एक सुंदर मैदान है। यह नगर भारत के अन्य भागों तथा ब्रह्मा से पक्की सड़क और वायुमार्ग द्वारा संबद्ध है। यहाँ से निकटतम रेलवे स्टेशन (मनीपुर रोड) १३४ मील पर है। यहाँ से कपड़े, चावल, मिर्च, मसाले, मोम, हाथीदाँत तथा चूने के पत्थर का निर्यात होता है। यहाँ की जलवायु स्वास्थ्यवर्धक है। चारों ओर स्थित वनस्पति-युक्त पहाड़ियों से घिरे होने के कारण नगर अति मनोरम लगता है। इस नगर की गणना भारत के कतिपय स्वच्छतम नगरों में की जा सकती है। यहाँ की भाषा मनीपुरी है। [श्या० सुं० श०]

इंवरनेस स्काटलैंड के 'हाईलैंड्स' का मुख्य नगर तथा इंवरनेस-शायर काउंटी की राजधानी है। यह ग्लेनमोर के सुदूर उत्तर-पूर्वी कोने में नेस नदी के मुहाने पर स्थित है। यह हाईलैंड रेलवे का एक प्रसिद्ध स्टेशन है तथा अबर्डीन से १०९ मील दूर पश्चिमोत्तर-पश्चिम में बसा हुआ है। इंवरनेस प्राचीन नगर है जो कभी पिकटिश लोगों की राजधानी था। विलियम दि लायन ने सन् १२१४ ई० में इस नगर को प्रथम राजपत्र प्रदान किया था जिससे नगर को विशेष अधिकार मिले। सन् १४२७ ई० में जेम्स प्रथम ने यहाँ पार्लियामेंट का अधिवेशन भी किया था। इतना प्राचीन नगर होते हुए भी इसकी चौड़ी गलियों, सुरम्य कुंजों तथा सुंदर उपनगरों में आधुनिकता का अद्भुत परिचय मिलता है। यह रिनिंग्स स्कूल, रॉयल अकैडमी, कैथीड्रल, वेधशाला तथा विक्टोरिया पार्क आदि दर्शनीय स्थान हैं। यह हाईलैंड्स का मुख्य वितरणकेंद्र है। यहाँ के मुख्य उद्योग जहाज बनाना तथा लोहे की ढलाई का काम, चर्मकार्य, ऊनी वस्त्र, साबुन तथा काष्ठोद्योग आदि हैं। इसकी जनसंख्या लगभग २१,००० है। [ले० रा० सिं०]

इंशा अल्लाह खाँ, सैयद (१७५६-१८१७ ई०), इंशा के पिता हकीम माशा अल्लाह देहली से मुर्शिदाबाद चले गए थे। वहीं इंशा का जन्म हुआ। अभी वह बच्चे ही थे कि बाप के संग फैजाबाद आ गए। एक विद्वान् कुल में पैदा होने के कारण शिक्षा अच्छी प्राप्त की। मुगल बादशाह शाहआलम के युग में (१७५६-१८०६) इंशा देहली चले आए और अपने ज्ञान, बुद्धि की तीव्रता तथा काव्यरचना के सहारे राजदरबार में आदर के पात्र बन गए। उस समय देहली में कविसंमेलनों की बड़ी चर्चा थी। बादशाह से लेकर जनसाधारण तक उनमें संमिलित होते थे। इंशा भी उनमें जाते और अपने चंचल स्वभाव के कारण दूसरे कवियों पर चोटें करते। इसके फलस्वरूप वहाँ के कई प्रमुख कवियों से उनकी अनबन हो गई। दिल्ली की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। शाहआलम अंधे किए जा चुके थे। ईस्ट इंडिया कंपनी का दबाव बढ़ रहा था। अवध में नई रोशनी देख पड़ती थी, इंशा भी १७९१ ई० में लखनऊ चले आए जहाँ कविता का एक नया केंद्र बन रहा था।

लखनऊ में शाहआलम के एक पुत्र सुलेमाँ शिकोह ने अपना एक राजदरबार अलग बना रखा था। वहाँ कवियों की बड़ी पूछ थी, इसलिये इंशा भी वहाँ पहुँचे। वह कई भाषाएँ जानते थे और अपनी हास्यपूर्ण बातों से सबको मुग्ध कर लेते थे। कविता राजदरबार के वातावरण में लड़ाई झगड़े का विषय बन गई थी। उस समय लखनऊ में बहुत से कवि एकत्र हो गए थे जो कविसंमेलनों में एक दूसरे को नीचा दिखाकर दरबार में उच्च स्थान प्राप्त करने की चेष्टा करते थे। उन कवियों में 'जुरअत' और 'मुसहफी' भी थे जिनके बहुत से चेले थे। इंशा इनसे पीछे कैसे रहते। इनके आने से शेर ओ शायरी का रंग चमक उठा, मुकाबिले और चोटें होने लगीं। हास्य बढ़कर निंदा और व्यंग्य में परिवर्तित हो गया। इंशा भी इनमें पूर्णतया डूब

गए। लखनऊ के जीवन में भोग और विलास की जो भावनाएँ उत्पन्न हुई थीं उनका प्रभाव उस समय की सारी कविताओं पर देखा जा सकता है।

जब इंशा की ख्याति बहुत बढ़ी तो उन्हें नवाब सम्रादत अली खाँ ने अपने यहाँ बुला लिया। पहले तो उनका बहुत आदर संमान हुआ, परंतु बाद में दरबारी जीवन की बाधाओं ने उन्हें परास्त कर दिया। नवाब उनसे और वह नवाब से घबराने लगे। इसी बीच इंशा का जवान पुत्र मर गया। ऐसी बातों ने एकत्र होकर उनको पागल बना दिया। वह जीवन में जितना हँसते हँसाते थे, अंतिम अवस्था में उतने ही दुःखी रहे।

इंशा ने उर्दू फारसी गद्य और पद्य में बहुत सी रचनाएँ छोड़ी हैं जिनमें से निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं और प्रकाशित हो चुकी हैं : 'दरियाए लताफ़त'; फारसी भाषा में भाषाविज्ञान और उर्दू व्याकरण; अलंकार और काव्यशास्त्र पर एक महत्वपूर्ण रचना जिसका उर्दू रूपांतर प्रकाशित हो चुका है; 'रानी केतकी और कुँवर उदयभान की कहानी' (शुद्ध हिंदी में गद्य रचना); 'सिलके गोहर' एक कथा गद्य में है जिसमें उर्दू फ़ारसी के उन अक्षरों का प्रयोग नहीं किया गया है जिनपर बिंदी होती है। ऐसी कई रचनाएँ पद्य में भी हैं। 'लतायफुस्सआदत' में वे हास्यजनक चुटकुले हैं जो इंशा ने सम्रादतअली खाँ के दरबार में कहे। 'कुलयाते इंशा' इंशा की फ़ारसी और उर्दू कविताओं का संग्रह।

सं०ग्रं०—फ़रहतुल्लाह बेग : इंशा; मिर्ज़ा मुहम्मद असकरी : कलामे इंशा; आमिना खातून : तहक़ीकी नवादिर; आमिना खातून : लतायफुस्सआदत; मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' : आबेहयात; कुदरतुल्लाह कासिम : मजमूवे नग्ज़। [सै० ए० हु०]

इंसब्रुक आस्ट्रिया के टिरोल प्रदेश का एक रमणीक नगर है जो ईन नदी की घाटी में आर्लबुर्ग तथा ब्रेनर रेलवे मार्गों के संगम पर स्थित है। यह एक बड़े पर्वतीय दर्रे के मुख पर विकसित होनेवाले नगर का श्रेष्ठतम उदाहरण है। यहाँ एक हवाई अड्डा भी है। इंसब्रुक में सौंदर्य की एक अलौकिक झाँकी मिलती है। इसके उत्तर में नार्ड केटिल नामक ७,००० फुट ऊँची चोटी है जिसकी पुष्पाच्छादित गोद में नगर की छटा देखते ही बनती है। अतएव इंसब्रुक बड़ा ही आकर्षक क्रीडाकेंद्र बन गया है जहाँ देश देशांतर के लोग आमोद प्रमोद के हेतु एकत्र होते हैं। भ्रमणकेंद्र होने के नाते यह एक सांस्कृतिक तथा औद्योगिक केंद्र भी बन गया है। वियना की भाँति यहाँ भी विदेशी दूतावास हैं। आज यह आस्ट्रिया का चौथा बड़ा नगर है। सन् १९५१ में इसकी जनसंख्या ९५,०५५ थी। [ले० रा० सिं०]

इंस्टिट्यूशन ऑव इंजीनियर्स (इंडिया) भारत में इंजीनियरी विज्ञान के विकास के लिये एक संस्था की आवश्यकता समझकर ३ जनवरी, १९१९ को प्रस्तावित 'भारतीय इंजीनियर समाज' (इंडियन सोसाइटी ऑव इंजीनियर्स) के लिये सर टामस हालैंड की अध्यक्षता में कलकत्ते में एक संघटन समिति बनाई गई। सन् १९१३ के भारतीय कंपनी अधिनियम के अंतर्गत १३ सितंबर, १९२० को इस समाज का जन्म इंस्टिट्यूशन ऑव इंजीनियर्स (इंडिया) (भारतीय इंजीनियर संस्था) के नए नाम से मद्रास में हुआ। फिर २३ फरवरी, १९२१ को इसका उद्घाटन बड़े समारोह से कलकत्ता नगर में भारत के वाइसराय लॉर्ड चेम्सफोर्ड द्वारा किया गया। नवजात संस्था को सुदृढ़ बनाने का काम धीरे धीरे होता रहा।

तदनंतर स्थानीय संस्थाओं का जन्म होने लगा। सन् १९२० में जहाँ इस संस्था की सदस्यसंख्या केवल १३८ थी वहाँ सन् १९२९ में हजार पार कर गई। सन् १९२१ से संस्था ने एक त्रैमासिक पत्रिका निकालना आरंभ किया और जून, १९२३ से एक त्रैमासिक बुलेटिन (विवरणपत्रिका) भी उसके साथ निकलने लगा। सन् १९२८ से इस संस्था ने अपनी ऐसोशिएट मेंबरशिप (सहयोगी सदस्यता) के लिये परीक्षाएँ लेनी आरंभ की, जिनका स्तर सरकार ने इंजीनियरी कालेज की बी०एस-सी०डिग्री के बराबर माना।

१९ दिसंबर, १९३० को तत्कालीन वाइसराय लार्ड इरविन ने इसके अपने निजी भवन का शिलान्यास ८, गोखले मार्ग, कलकत्ता में किया। १ जनवरी, १९३२ को संस्था का कार्यालय नई इमारत में चला आया। ९ सितंबर, १९३५ को सम्राट् पंचम जार्ज ने इसके संबंध में एक राजकीय घोषणापत्र स्वीकार किया। घोषणापत्र के द्वितीय अनुच्छेद में इस संस्था के कर्तव्य संक्षेप में इस प्रकार बताए गए हैं :

"जिन लक्ष्यों और उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भारतीय इंजीनियर संस्था का संघटन किया जा रहा है, वे हैं इंजीनियरी तथा इंजीनियरी विज्ञान के सामान्य विकास को बढ़ाना, भारत में उनको कार्यान्वित करना तथा इस संस्था से संबद्ध व्यक्तियों एवं सदस्यों को इंजीनियरी संबंधी विषयों पर सूचना प्राप्त करने एवं विचारों का आदान प्रदान करने में सुविधाएँ देना।"

इस संस्था की शाखाएँ धीरे धीरे देश भर में फैलने लगीं। समय समय पर मैसूर, हैदराबाद, लंदन, पंजाब और बंबई में इसके केंद्र खुले। मई, १९४३ से एसोशिएट मेंबरशिप की परीक्षाएँ वर्ष में दो बार ली जाने लगीं। प्राविधिक कार्यों के लिये सन् १९४४ में इसके चार बड़े विभाग स्थापित किए गए। सिविल, मिकैनिकल (यांत्रिक), इलेक्ट्रिकल (वैद्युत) और जेनरल (सामान्य) इंजीनियरी। प्रत्येक विभाग के लिये अलग अलग अध्यक्ष तीन वर्ष की अवधि के लिये निर्वाचित किए जाने लगे।

सन् १९४५ में कलकत्ते में इसकी रजत जयंती मनाई गई। सन् १९४७ में बिहार, मध्यप्रांत, सिंध, बलूचिस्तान और तिरुवांकुर, इन चार स्थानों में नए केंद्र खुले। भारत के राज्यपुनर्गठन के पश्चात् अब प्रत्येक राज्य में एक केंद्र खोला जा रहा है।

प्रशासन—संस्था का प्रशासन एक परिषद् करती है, जिसका प्रधान संस्था का अध्यक्ष होता है। परिषद् की सहायता के लिये तीन मुख्य स्थायी समितियाँ हैं : (क) वित्त समिति (इसी के साथ १९५२ में प्रशासन समिति संमिलित कर दी गई), (ख) आवेदनपत्र समिति और (ग) परीक्षा समिति। प्रधान कार्यालय का प्रशासन सचिव करता है। सचिव ही इस संस्था का वरिष्ठ अधिकारी होता है।

सदस्यता—सदस्य मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं : (क) कॉर्पोरेट (आंगिक) और (ख) नॉन-कॉर्पोरेट (निरांगिक)। पहले में सदस्यों एवं सहयोगी सदस्यों की गणना की जाती है। द्वितीय प्रकार के सदस्यों में आदरणीय सदस्य, बंधु (कंपनियन), स्नातक, छात्र, संबद्ध सदस्य और सहायक (सब्स्क्राइबर) की गणना होती है। प्रथम प्रकार के सदस्य राजकीय घोषणापत्र के अनुसार 'चार्टर्ड इंजीनियर' संज्ञा के अधिकारी हैं। प्रथम प्रकार की सदस्यता के लिये आवेदक की योग्यता मुख्यतः निम्नलिखित बातों पर स्थिर की जाती है : समुचित सामान्य एवं इंजीनियरी शिक्षा का प्रमाण; इंजीनियर रूप में समुचित व्यावहारिक प्रशिक्षण; एक ऐसे पद पर होना जिसमें इंजीनियर के रूप में उत्तरदायित्व हो और साथ ही व्यक्तिगत ईमानदारी। सन् '५७-'५८ के अंत तक सदस्यों की संख्या २० हजार से अधिक हो चुकी थी, जिसमें प्रथम प्रकार के सदस्यों की संख्या ६,७२३ और छात्रों की १२,८०७ थी।

परीक्षाएँ—इस संस्था की ओर से वर्ष में दो बार परीक्षाएँ ली जाती हैं—एक मई महीने में और दूसरी नवंबर महीने में। एक परीक्षा छात्रों के लिये होती है और दूसरी सहयोगी सदस्यता के लिये। संघीय लोकसेवा आयोग (यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन) ने सहयोगी सदस्यता परीक्षा को अच्छी इंजीनियरी डिग्री परीक्षा के समकक्ष मान्यता दे रखी है। इतना ही नहीं, जिन विश्वविद्यालयों की उपाधियों तथा अन्यान्य डिप्लोमाओं को संस्था अपनी सहयोगी सदस्यता के लिये मान्यता प्रदान करती है उन्हीं को संघीय लोकसेवा आयोग केंद्रीय सरकार की इंजीनियरी सेवाओं के लिये उपयुक्त मानता है। अधिकतर राज्य सरकारें तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाएँ भी ऐसा ही करती हैं। नई उपाधि अथवा डिप्लोमा को मान्यता प्रदान करने के लिये संस्था ने निम्नलिखित कार्यविधि स्थिर कर रखी है। पहले विश्वविद्यालय अथवा संस्था के अधिकारी की ओर से मान्यता के लिये आवेदनपत्र आता है। तदनंतर परिषद् एक समिति नियुक्त करती है जो शिक्षास्थान पर जाकर पाठ्यक्रम का स्तर एवं उसकी उपयुक्तता, परीक्षाएँ, अध्यापक, साधन एवं अन्यान्य सुविधाओं की जाँच कर अपनी रिपोर्ट परिषद् को देती है। उसके बाद ही परिषद् मान्यता संबंधी अपना निर्णय देती है।

प्रकाशन—'जर्नल' और 'बुलेटिन' संस्था के मुख्य प्रकाशन हैं, जो मई, १९५५ से मासिक हो गए हैं। जर्नल के पहले अंक में सिविल और सामान्य

इंजीनियरी के लेख होते हैं और दूसरे में यांत्रिक और विद्युत् इंजीनियरी के। ये लेख संबंधित विभाग के अध्यक्ष की स्वीकृति पर छापे जाते हैं और इनसे देश में इंजीनियरी की प्रत्येक शाखा की प्रगति का आभास मिलता है। सितंबर, १९४९ में जर्नल में एक हिंदी विभाग भी खोला गया, जो अब सुदृढ़ हो गया है। इसका संपूर्ण श्रेय अवैतनिक संपादक श्री एन० एस० जोशी (सदस्य) और (मार्च, १९५४ से) श्री ब्रजमोहनलाल (सदस्य) को है।

'बुलेटिन' का प्रकाशन १९३९ में बंद कर दिया गया था, किंतु १९५१ से वह फिर प्रकाशित हो रहा है। इस पत्रिका में सामान्य लेख, संस्था की गतिविधियों का लेखा जोखा, संपादकीय टिप्पणियाँ आदि प्रकाशित होती हैं। इसके अलावा समय समय पर संस्था की ओर से विभिन्न विषयों पर पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित की जाती हैं। इस प्रकार प्रकाशन का कार्य नियमित रूप से चलता रहता है। प्रति वर्ष जर्नल में प्रकाशित उत्कृष्ट लेखों के लेखकों को पारितोषिक भी दिए जाते हैं।

अन्यान्य संस्थाओं में प्रतिनिधित्व—इस संस्था का एक लक्ष्य यह भी है कि यह उन विश्वविद्यालयों एवं अन्यान्य शिक्षाधिकारियों से सहयोग करे जो इंजीनियरी की शिक्षा को गति प्रदान करने में संलग्न रहते हैं। विश्वविद्यालयों तथा अन्य शिक्षासंस्थाओं की प्रबंध समितियों में भी इस संस्था का प्रतिनिधित्व रहता है। ५० से अधिक सरकारी समितियों में इसका प्रतिनिधित्व है। यह संस्था 'कान्फ़रेंस ऑव इंजीनियरिंग इंस्टिटयूशन्स ऑव दि कॉमनवेल्थ' से भी संबद्ध है।

वार्षिक अधिवेशन—प्रत्येक स्थानीय केंद्र का वार्षिक अधिवेशन दिसंबर मास में होता है। मुख्य संस्था का वार्षिक अधिवेशन बारी बारी से प्रत्येक केंद्र में, उसके निमंत्रण पर, जनवरी या फरवरी मास में होता है, जिसमें सारे देश के सब प्रकार के सदस्य संमिलित होते हैं और जर्नल में प्रकाशित महत्वपूर्ण लेखों पर वाद विवाद होता है। संस्था प्राचीन संस्कृत वाङमय के वास्तुशास्त्र संबंधी मुद्रित और हस्तलिखित ग्रंथों और उनसे संबंधित अर्वाचीन साहित्य का संग्रह भी नागपुर केंद्र में कर रही है।

इस प्रकार यह संस्था देश के विविध इंजीनियरी व्यवसायों में लगे इंजीनियरों को एक सामाजिक संगठन में बाँधकर इंजीनियरी विज्ञान के विकास का भरसक प्रयत्न करती है। [बा० कृ० शे०]

इंस्ट्रुमेंट ऑव गवर्नमेंट

(१६५३) इंग्लैंड के उस संविधान का नाम जिसको राजतंत्र की समाप्ति के चार वर्ष बाद कुछ प्रमुख सैनिक अधिकारियों ने प्रस्तुत किया था। इस संविधान में विधिनिर्माण और प्रशासन के लिये दो पृथक् परिषदों—पार्लमेंट और कौंसिल—तथा प्रमुख अधिकारी लार्ड प्रोटेक्टर की व्यवस्था थी। लार्ड प्रोटेक्टर और पार्लमेंट विधिनिर्माण के सर्वोच्च अधिकारी थे। प्रशासन का प्रमुख अधिकारी लार्ड प्रोटेक्टर था। प्रशासनकार्य में उसकी सहायता के लिये १३ से लेकर २१ सदस्यों तक की कौंसिल की व्यवस्था संविधान में थी। लार्ड प्रोटेक्टर और पहली कौंसिल के सदस्यों का नामोल्लेख भी संविधान में था। इंग्लैंड और आयरलैंड तीनों देशों के लिये वेस्टमिंस्टर (लंदन) में ४६० सदस्यों की एक सदनात्मक पार्लमेंट की व्यवस्था थी। पार्लमेंट का कार्यकाल, सदस्यों और निर्वाचकों की योग्यता, सेना का व्यय, आय के साधन, धर्मव्यवस्था, लार्ड प्रोटेक्टर के अधिकार, राज्य के मौलिक सिद्धांत आदि का भी उल्लेख था। आरंभ से ही इस संविधान का विरोध हुआ और पाँच वर्ष में ही इसका जीवन समाप्त हो गया। यह इंग्लैंड का प्रथम और एकमात्र लिखित संविधान है। [त्रि०पं०]

इक़बाल, डाक्टर मुहम्मद

इक़बाल (१८७६-१९३८ ई०) के पूर्वज काश्मीरी ब्राह्मण थे जिन्होंने सियालकोट में बसकर कुछ पीढ़ी पूर्व इसलाम धर्म स्वीकार कर लिया था। इक़बाल के पिता फ़ारसी, अरबी जानते थे और सूफी विचारों से प्रभावित थे। इक़बाल ने पहले सियालकोट में शिक्षा प्राप्त की और वहाँ के मौलवी सैयद मीर हसन से बहुत प्रभावित हुए। उसी समय से कविताएँ लिखना आरंभ कर दिया था और दिल्ली के प्रसिद्ध कवि नवाब मिर्जा दाग़ को अपनी कविताएँ दिखाते थे। जब उच्च शिक्षा के लिये लाहौर पहुँचे तो यहाँ कविसंमेलनों में आने जाने लगे। गवर्नमेंट कालेज, लाहौर में उस समय टामस आर्नल्ड दर्शनशास्त्र पढ़ाते थे, वह इकबाल को बहुत पसंद करने लगे और कुछ समय बाद इक़बाल उन्हीं की सहायता से उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये यूरोप गए। एम० ए० पास करके इकबाल कुछ समय के लिये ओरियंटल कालेज और उसके पश्चात् गवर्नमेंट कालेज, लाहौर में अध्यापक नियुक्त हो गए। १९०५ ई० में इन्हें गवेषणापूर्ण अध्ययन के लिये इंगलैंड और जर्मनी जाने का अवसर प्राप्त हुआ। १९०८ ई० में डाक्टरी और बैरिस्टरी पास करके लाहौर लौट आए। आते ही गवर्नमेंट कालेज में फिर नियुक्त हो गए, परंतु दो ही वर्ष बाद वहाँ से अलग होकर वकालत करने लगे। १९२२ ई० में 'सर' हुए और १९२६ ई० में कौंसिल के मेंबर। १९२८ ई० में मद्रास, मैसूर, हैदराबाद में रिकंस्ट्रक्शन ऑव रेलिजस थाट इन इस्लाम पर भाषण दिए। १९३० में प्रयाग में मुस्लिम लीग के सभापति चुने गए, जहाँ उन्होंने पाकिस्तान की प्रारंभिक योजना प्रस्तुत की। १९३४ ई० से ही बीमार रहने लगे और अप्रैल १९३८ ई० को लाहौर में देहांत हो गया।

उर्दू कवियों में इकबाल का नाम १९वीं शताब्दी के अंत ही से लिया जाने लगा था और जब वह भारत से बाहर गए तो बहुत प्रसिद्ध हो चुके थे। लंदन में इकबाल ने उर्दू छोड़कर फारसी में लिखना आरंभ किया। कारण यह था कि इस भाषा के साधन से वह सभी मुसलमान देशों में अपने विचारों का प्रचार करना चाहते थे। इसीलिये फारसी में उर्दू से अधिक उनकी रचनाएँ प्राप्त होती हैं।

इक़बाल की कविता में दार्शनिक, नैतिक, धार्मिक और राजनीतिक धाराएँ बड़े कलात्मक ढंग से मिल गई हैं। उनकी विचारधारा कुछ धार्मिक नेताओं और कुछ दार्शनिकों के गहरे ज्ञान से मिलकर बनी है। इकबाल ने जब लिखना आरंभ किया तो उनके विचार राष्ट्रीय भावों से भरे हुए थे परंतु धीरे धीरे वह एक प्रकार की दार्शनिक संकीर्णता की ओर बढ़ते गए और अंत में उनका यह विश्वास हो गया कि मुसलमान भारतवर्ष में अलग ही रहकर सुखी रह सकते हैं। वैसे उन्होंने मनुष्य की आत्मशक्ति, मानव ज्ञान, सर्वगुणसंपन्न अलौकिक पुरुष, प्रकृति पर मनुष्य की विजय, व्यक्ति और समाज, पूर्व और पश्चिम के सांस्कृतिक संबंधों पर बहुत सी कविताएँ लिखी हैं, किंतु उनके पढ़नेवाले को यह अनुभव अवश्य होता है कि वह खुले हृदय से समस्त जनजातियों को एक सूत्र में बाँधने के लिये उत्सुक नहीं थे, वरन् संसार में मुसलमानों का बोलबाला चाहते थे। इसलिये उनके दार्शनिक विचारों में जटिल प्रतिकूलता मिलती है। उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ ये हैं :

उर्दू में : 'बाँगेदरा', 'बाले जिबरील', 'ज़र्बेकलीम' और फारसी में : 'असरारे खुदी', 'रमूज़े बेखुदी', 'पयामे मशरिक', 'ज़बूरे अज़म', 'जावेदनामा', 'मुसाफिर', 'पस चे बायद कर्द'।

अंग्रेजी में : लेक्चर्स ऑन रिकंस्ट्रक्शंस ऑव रेलिजस थॉट इन इस्लाम, डेवलपमेंट ऑव मेटाफिज़िक्स इन पर्शियन।

सं०ग्रं०—सालिक : जिक्रे इकबाल; यूसुफ हुसेन खाँ : रूहे इकबाल; खलीफ़ा अब्दुल हकीम : फ़लसफ़ए इकबाल; मुहम्मद ताहिर; सीरते इकबाल; खलीफ़ा अब्दुल हकीम : फ़िक्रे इक़बाल; के० जी० सय्यदेन : इक़बाल्स एजुकेशनल फिलॉसफी; ए० गनी ऐंड नूर इलाही : बिब्लियोग्राफी ऑव इकबाल; मजहरुद्दीन : इमेज ऑव वेस्ट इन इकबाल। [सै० ए० हु०]

इकीटोस

(१) पेरू राज्य में मारानोन नदी के बाएँ तट पर लोरेटो प्रदेश में निवास करनेवाली दक्षिणी अमरीका की एक आदिम जाति है। यह प्रदेश 'रीओ नापा' के मुहाने से ७५ मील उत्तर है। ईसाई धर्मप्रचारकों के अथक प्रयत्न करने पर भी ये असभ्य ही रह गए हैं। ये शिलाओं पर अंकित पशु पक्षियों के चित्रों को पूजते हैं। ये कुछ व्यापार भी करते हैं और व्यापार में आयात की मुख्य वस्तुएँ रबर से बदली जाती हैं। २०वीं सदी के प्रारंभ में इनकी कुल संख्या १२,००० थी।

(२) इकीटोस पेरू राज्य में ऊपरी अमेज़न के बाएँ तट पर स्थित एक नगर तथा नदी-बंदरगाह है। यह लोरेटो प्रदेश की राजधानी है। इकीटोस समुद्र की सतह से प्रायः ४०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यहाँ की जलवायु गरम तथा आर्द्र है। नगर सन् १८६३ ई० में बसाया गया था। यहाँ के घर प्रायः फूस तथा खपरैलों से छाए हुए हैं। नगर की मुख्य व्यापारिक वस्तु रबर है। निर्यात के अन्य सामान तंबाकू, रुई, मोम, कछुए का तेल, सोना

तथा पनामा हैट है। इस नगर की जनसंख्या १९५७ ई० में ५१,७३० थी।
[ले० रा० सिं०]

इक्वितीज़ प्रारंभ में रोमन सेना का घुड़सवार अंग, बाद में राजनीतिक दल। समूचे प्रजातंत्र में इस सेना का बोलबाला रहा और २२० ई० पू० के बाद तो रोम में सबसे पहले मताधिकार उसी का होता था। इस सेना के सैनिकों का चुनाव अत्यंत अभिजात कुलों से होता था। धनी परिवारों के अभिजात कुमार बड़े उत्साह से इस घुड़सवार सेना में भरती होते थे। एक समय तो रोमन विधान द्वारा विशेष आय के व्यक्तियों को इक्वीतीज़ में भरती होना अनिवार्य कर दिया गया। धीरे धीरे इस सेना के तीन वर्ग हो गए : पात्रीशियम, प्लेबेग्रन और मिश्रित। प्रजातंत्र का अंत हो जाने पर इनका भी अंत हो गया, पर सम्राट् ओगुस्तस ने फिर एक बार इनका संगठन किया और ये साम्राज्य की सेना के विशिष्ट अंग बन गए।

रोमन साम्राज्य के विस्तार के बाद इक्वितीज़ का सैनिक रूप नष्ट हो गया। वे रोम में ही संभ्रांत और समृद्ध नागरिक होकर रह गए और उनका स्थान साधारण घुड़सवार सेना ने ले लिया। धीरे धीरे इनका दल धनवान् होने से रोम में अत्यंत सामर्थ्यवान् हो गया। इनके दल में वे सभी लोग संमिलित हो सकते थे जो चार लाख रोमन मुद्राओं के स्वामी थे। साम्राज्य के विस्तार के साथ इनके सैनिक बल का ह्रास तो निश्चय हुआ, पर उसकी राजधानी में रहने के कारण और धनाढ्य होने से इनकी शक्ति रोम में इतनी बढ़ी कि ये वहाँ संकट बन गए। प्रांतों की गवर्नरियों के क्रय विक्रय से लेकर सिनेटरों के पदों तक की बागडोर इनके हाथ में रहने लगी। समूचे साम्राज्य की अर्थशक्ति और अर्थनीति इन्हीं के हाथों में थी और ये सम्राटों के उत्थान पतन के भी अनेक बार अभिभावक बन गए। प्रसिद्ध सम्राट् ओगुस्तस ने इनका घुड़सवार सेना के रूप में फिर से संगठन किया, परंतु वह आंशिक रूप में ही सफल हो सका, क्योंकि शक्ति की तृष्णा समृद्ध आभिजात्यों में इतनी थी कि वे नए विधान को पूर्णतया स्वीकार न कर सके। इक्वितीज़ का अंत साम्राज्य के साथ ही हुआ। [ओं० ना० उ०]

इक्वेडोर पश्चिमी दक्षिण अमरीका का एक देश है (क्षेत्रफल : ९९,२३२ वर्ग मील, लगभग; जनसंख्या ३२,०२,७५७ (१९५०); राजधानी : कुइटो, जनसंख्या २,०९,९३२)।

इसके उत्तर में कोलंबिया, पूर्व तथा दक्षिण में पेरू तथा पश्चिम में प्रशांत महासागर स्थित है।

प्राकृतिक दशा—उत्तर-दक्षिण फैला हुआ ऐंडीज़ इक्वेडोर को दो भागों में विभाजित करता है। इस देश में इसकी दो पर्वतश्रेणियाँ हैं जिनके मध्य में ऊँचे पठार हैं। भूतकाल एवं वर्तमान काल में संभवतः यही भूभाग, अमरीका में ज्वालामुखी से सर्वाधिक प्रभावित रहा है। इस समय यहाँ के चिंबोरज़ो (२०,५७५ फुट) तथा कोटोपैक्सी (१९,३३९ फुट) संसार के सर्वोच्च ज्वालामुखी पर्वतशिखर हैं। खनिज तथा उष्ण स्रोत देश के संपूर्ण ज्वालामुखी प्रदेश में बिखरे हुए हैं। यहाँ की नदियाँ नौकावहन के योग्य नहीं हैं।

जलवायु—इक्वेडोर का समुद्रतटीय प्रदेश उष्ण और आर्द्र है। यहाँ का औसत ताप ७५° फा० से ८०° फा० तक है। आंतरिक प्रदेशों में घाटियों का ताप लगभग ६०° फा० तथा उच्च पठारों का केवल ५०° फा० रहता है।

वनस्पति—ऐंडीज के उच्च पठारों तथा प्रशांत महासागर तट के शुष्क प्रदेश को छोड़कर समस्त इक्वेडोर सघन वनों से ढका है। यहाँ के वनों में डाईवुड (एक लकड़ी जिससे रंग निकलता है), सिनकोना (जिससे क्वीनीन निकलती है) तथा बलसा उड (एक अत्यंत हल्की लकड़ी) बहुतायत से मिलते हैं।

उत्पादन—पूँजी, यातायात के साधन तथा प्रशिक्षित श्रमिकों की कमी के कारण कृषि ही यहाँ का मुख्य उद्यम है। यहाँ के लोग सागरतटीय प्रदेश तथा निम्न धरातल की नदीघाटियों में उष्णप्रदेशीय वस्तुएँ और उच्च घाटियों तथा पर्वतीय ढालों पर अनाज, फल, तरकारी आदि शीतोष्ण प्रदेशीय वस्तुएँ उत्पन्न करने के साथ पशुपालन भी करते हैं। यहाँ की ४·५ प्रति शत भूमि पर कृषि तथा ४·१ प्रति शत भूमि पर पशुपालन होता है। ७४·१ प्रति शत पर वन हैं। १५·९ प्रति शत भूमि कृषि योग्य नहीं है। १·४ प्रति शत को कार्ययोग्य बनाया जा सकता है।

कोको यहाँ का प्रधान कृषि उत्पादन है। कहवा, चावल, केला, चीनी, रुई, मक्का, आलू, संतरा, नीबू एवं पशु यहाँ के अन्य मुख्य उत्पादन हैं।

यहाँ का महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ पेट्रोलियम है जिसका वार्षिक उत्पादन २९,६७,००० बैरल है। सोना, ताँबा, चाँदी, गंधक यहाँ के अन्य मुख्य खनिज हैं।

हाल में यहाँ पर उद्योग धंधों में कुछ प्रगति हुई है। कताई बुनाई यहाँ का मुख्य उद्योग है। दवा, बिस्कुट, रबर की वस्तुएँ, नकली रेशम, सिमेंट आदि उद्योग यहाँ प्रगति पर हैं। यहाँ के अन्य उद्योग चीनी, जूता, लकड़ी, ऐल्कोहल, तंबाकू, दियासलाई बनाना आदि हैं।

इक्वेडोर कच्चे मालों का निर्यात तथा पक्के मालों का आयात करता है। संपूर्ण निर्यात की हुई वस्तुओं की ९० प्रति शत खनिज एवं कृषिज वस्तुएँ हैं। प्रमुखता के क्रमानुसार निर्यात की हुई वस्तुएँ कोको, कहवा, केला, चावल, कच्चा पेट्रोलियम तथा बलसा वुड है।

यहाँ की सरकार संसद (सिनेट) तथा मंत्रिमंडल द्वारा बनी है। राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति चार वर्षों के लिये निर्वाचित होते हैं। यहाँ पर प्रारंभिक शिक्षा निःशुल्क तथा अनिवार्य है। सन् १९५० में इक्वेडोर की दस वर्ष से ऊपर आयुवाली जनसंख्या का ४३·७ प्रति शत निरक्षर था।
[शि० मं० सिं०]

इक्ष्वाकु पौराणिक परंपरा के अनुसार विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र वैवस्वत मनु के तनय। पौराणिक कथा इक्ष्वाकु को अमैथुनी सृष्टि द्वारा मनु की छींक से उत्पन्न बताती है। वे सूर्यवंशी राजाओं में पहले माने जाते हैं। राजधानी उनकी कोसल में अयोध्या थी। उनके सौ पुत्र बताए जाते हैं जिनमें ज्येष्ठ विकुक्षि था। इक्ष्वाकु के एक दूसरे पुत्र निमि ने मिथिला राजकुल स्थापित किया। साधारणतः बहुवचनांतक इक्ष्वाकुओं का तात्पर्य इक्ष्वाकु से उत्पन्न सूर्यवंशी राजाओं से होता है, परंतु प्राचीन साहित्य में उससे एक इक्ष्वाकु जाति का भी बोध होता है। इक्ष्वाकु का नाम, केवल एक बार, ऋग्वेद में भी प्रयुक्त हुआ है जिसे मैक्समूलर ने राजा की नहीं। बल्कि जातिवाचक संज्ञा माना है। इक्ष्वाकुओं की जाति जनपद में उत्तरी भागीरथी की घाटी में संभवतः कभी बसी थी। उत्तर-पश्चिम के जनपदों से भी कुछ विद्वानों के मत से उनका संबंध था। सूर्यवंश की शुद्ध अशुद्ध सभी प्रकार की वंशावलियाँ देश के अनेक राजकुलों में प्रचलित हैं। उनमें वयक्तिक राजाओं के नाम अथवा स्थान में चाहे जितने भेद हों, उनका आदि राजा इक्ष्वाकु ही है। इससे कुछ अजब नहीं जो वह सुदूर पूर्वकाल में कोई ऐतिहासिक व्यक्ति रहे हों। [ओं० ना० उ०]

इखनातून मिस्र का फराऊन। काल, ई० पू० १४वीं सदी का प्रथम चरण। इखनातून धर्म चलानेवाले राजाओं में पहला था। उसका नाम मेधावी सम्राटों—सुलेमान, अशोक, हारूँ अल् रशीद और शार्लमान—के साथ लिया जाता है।

इखनातून शालीन पिता आमेनहेतेप तृतीय और प्रसिद्ध माता तीई का पुत्र था। पिता की नसों में संभवतः सीरिया के मितन्नी आर्यों का रक्त बहता था और माता तीई की नसों में वन्य जातियों का रुधिर प्रवाहित था। तीई के जोड़ की रानी शक्ति और शालीनता में संभवतः मानव राजनीति के इतिहास में नही। ऐसे माता पिता के तनय की आत्मा की बेचैनी स्वाभाविक थी। इस प्रकार दो शक्तियाँ समन्वित होकर बालक में जाग उठीं और उसने अपने देश के धर्म की काया पलट दी। इखनातून जब पिता की गद्दी पर बैठा तब वह केवल सात आठ वर्ष का था। पंद्रह वर्ष की आयु में उसने अपना वह इतिहासप्रसिद्ध धर्म चलाया जो बाइबिल के प्राचीन नबियों के लिये आश्चर्य बन गया। छब्बीस सत्ताईस वर्ष की छोटी आयु थी, जब उसके तूफानी जीवन का अंत हो गया। किंतु केवल तेरह वर्ष के इस लघु काल में उसने वह किया जो आधी आधी सदी तक राज करनेवाले सम्राट् भी न कर सके।

इखनातून ने पहले मिस्र के प्राचीन इतिहास का ज्ञान प्राप्त किया और अपने पुरखे फराऊन के जीवन और शासन की घटनाओं पर विचार किया। देवताओं की भीड़ और उनके पुजारियों की शक्ति से दबे अपने पूर्वजों की दयनीय स्थिति से उसे बड़ी व्यथा हुई। जब जब वह अपने सपनों के सूत सुलझाता, देवताओं की भीड़ उसे बौखला देती और उनकी अनेकता की

अराजकता में, वह चाहता, एक व्यवस्था बन जाय। अपने पूर्वजों की राजनीति में उत्तरी अफ्रीका के स्वतंत्र इलाकों को, दूर पश्चिमी एशिया के चार राज्यों को उसने मिस्री फराऊनों की छाया में सिकुड़ते और शासन के एक सूत्र में बँधते देखा था और उससे उसने अपने मन में एक नई व्यवस्था की नींव डाली। उसने कहा—जैसे नील नद के उद्गम से फिलिस्तीन और सीरिया तक एक फराऊन का साम्राज्य है, क्यों नहीं वैसे ही देवताओं की संख्यातीत भीड़ के बदले फराऊनी साम्राज्य की सीमाओं तक बस एक देवता का साम्राज्य व्यापे, मात्र एक की पूजा हो? और इस चिंतन के समय उसकी दृष्टि देवताओं की भीड़ पार कर सूर्य के बिंब से जा टकराई। उस दह्यशील प्रकाशमान वर्तुल अग्निपिंड ने उसके नेत्र चौधिया दिए। दृष्टि फिर उस चमक के परे न जा सकी। इख़नातून ने अपने चिंतन और प्रश्न का उत्तर पा लिया—उसने सूर्य को अपना इष्टदेव बनाया।

प्राचीन जातियों के विश्वास में सूरज के गोले ने बार बार एक कुतूहल पैदा किया था और उसे जानने का प्रयत्न सभी जातियों ने समय समय पर किया। ग्रीकों का प्रोमेथियस् उसी की खोज में उड़ा, हिंदू पुराणों में जटायु का भाई संपाती उसी अर्थ सूर्य की ओर उड़ा और अपने पंखों को झुलसाकर पृथ्वी पर लौटा। और इन उड़ानों का परिणाम हुआ अग्नि का ज्ञान और उसका उपयोग। परंतु यह किसी ने न जान पाया कि सूर्य के पीछे की शक्ति क्या है, यद्यपि लगा सबको ही कि शक्ति है कोई उसके पीछे, केवल वे उसे जानते भर नहीं। ऐसा ही भारतीय उपनिषदों के चिंतकों को भी पीछे लगा और उन्होंने सूर्य के बिंब को ब्रह्म का नेत्र कहा।

इख़नातून को भी कुछ ऐसा ही लगा कि सूर्य के बिंब के पीछे कोई शक्ति है निश्चय, यद्यपि वह उसे जानता नहीं। फिर इख़नातून ने निश्चय किया कि प्रकृति का सबसे महान्, सबसे सत्तावान्, सबसे सारवान् सत्य सूर्य के बिंब के पीछे की वह शक्ति है जिसे हम नहीं जानते। किंतु न जानना सत्ता के अभाव का प्रमाण नहीं है, अव्यक्त की पूजा तो हो ही सकती है, चाहे उसकी मूर्ति न बन सके। और सत्ता जितनी ही अमूर्त होती है, जितनी ही ज्ञान के घेरे में नहीं समा पाती, उतनी ही अधिक व्यापक होती है, उतनी ही महान्। और जिस अज्ञात और अज्ञेय शक्ति तक हमारी मेधा नहीं पहुँच पाती, उसका प्रकाश उस प्रज्वलित अग्निखंड सूर्य के रूप में तो सदा हम तक पहुँचता रहता है, प्रकट ही है। वही सूर्यबिंब के पीछे की शक्ति इख़नातून के विश्वास की दैवी शक्ति बनी। उसी को उसने पूजा।

परंतु देवता या शक्ति का बोध हो जाना एक बात है, उसका विचार सर्वथा दूसरी बात। सत्य का जब दर्शन होता है तब प्रश्न उठता है कि उसकी सत्यता का ज्ञान अपने तक ही सीमित रखा जाय या अपने से भिन्न जनों को भी उसका साक्षात्कार कराया जाय। बुद्ध ने जब ज्ञान पाया तब यही प्रश्न उनके मन में उठा और उन्होंने अपना देखा सत्य दूसरों में बाँटने का निश्चय किया। जो पाता है वह देकर ही रहता है। इख़नातून ने पाया था और पाई वस्तु को अपने तक ही सीमित रखना उसे स्वार्थपर लगा और उसने तय किया कि वह देकर ही रहेगा। किंतु मिस्री साम्राज्य की सीमाओं तक सत्य को पहुँचाना कुछ सरल नहीं था। सामने अंधविश्वासों की, परंपराओं की, उनके शक्तिमान् पुजारियों की लौह दीवार खड़ी थी। पर वैसी ही अटूट आस्था इख़नातून की भी थी, उतना ही दृढ़ उसका संकल्प भी था। और उसने अपने सत्य के प्रचार का दृढ़ निश्चय कर लिया। यह नवीन का प्राचीन के विरुद्ध विद्रोह था। नवीन और प्राचीन में घमासान छिड़ गया।

इस युद्ध में इख़नातून की सी ही महाप्राण उसकी भगिनी और पत्नी नेफ़ेतेते के सहयोग से उसे बड़ा बल मिला। आत्माओं और नरक के देवता ओसिरिस और उसकी पत्नी ईसिस, प्तेह और सेत, रा और आमेन आदि देवताओं की लंबी पंक्ति को सूर्य के पीछे की शक्तिवाले व्यापक देवता के ज्ञान से इख़नातून ने बेधना चाहा। वह कार्य और कठिन इस कारण हो गया कि रा और आमेन सूर्य के ही नाम थे जिनकी पूजा सदियों पहले से मिस्र में होती आई थी और इसी कारण सूर्य के नए देवता 'अतोन' को पुराने रा और आमेन के भक्तों का समझ पाना तनिक कठिन था। यह बता पाना और कठिन था कि सूर्य का बिंब अतोन स्वयं वह विश्वव्यापी देवता नहीं है, उसके पीछे की शक्ति वह हस्ती है जिसका सूचक सूर्य का बिंब है, और जो स्वयं संसार की हर वस्तु में रम रहा है, जो अकेला है, मात्र अकेला और जिसके परे अन्य कुछ नहीं है, जो अपने ही प्रकाश से प्रकाशित है, जो चराचर का स्रष्टा है। शंकराचार्य के अद्वैत ब्रह्म का निरूपण, बाइबिल की पुरानी पोथी के नबियों के एकेश्वरवाद, मुहम्मद के एक अल्लाह के इलहाम होने के सदियों पहले इख़नातून इन महात्माओं के विचारों के बीज का आदि रूप में प्रचार कर चुका था। और तब वह केवल पंद्रह वर्ष का था। तीस वर्ष की आयु में सिकंदर ने समकालीन संसार जीता, तीस वर्ष की आयु में आचार्य शंकर ने अपने वेदांत से भारत की दिग्विजय की; उनकी आधी आयु—पंद्रह वर्ष—में इख़नातून ने अपने अतोन के एकेश्वरवाद की महिमा गाई। एक भगवान् को समूचे चराचर के आदि और अंत का कारण माननेवाला इतिहास में यह पहला एकेश्वरवादी धर्म था जिसका इख़नातून ने प्रचार किया।

प्राचीन देवताओं के पुरोहितों ने विद्रोह किया। प्राचीन राजाओं की राजधानी थीविज़ थी। इख़नातून ने सूर्य के नाम पर अपनी नई राजधानी बसाई और उस राजधानी के बाहर वह कभी नहीं निकला। उस राजधानी का नाम आखेतातेन था। उसके लिये राजधानी के प्राचीरों के पीछे बने रहना इसलिये और भी संभव हो सका कि उसने अशोक से हजार साल पहले यह निश्चय कर लिया था कि वह देश जीतने और युद्ध करने के लिये अपनी नगरी से बाहर नहीं जायगा। वह गया भी नहीं बाहर। दूर के प्रांतों ने करवट ली, पर वह नहीं हिला। अपने नए धर्म का प्रचार वहीं से करता रहा। प्राचीन देवताओं के पुरोहितों ने कुफ्र का फतवा दिया और उसने जवाब में उनकी माफ़ी छीन ली, उनकी दौलत ले ली, उनके देवताओं की लोकोत्तर संपत्ति ज़ब्त कर ली। इस संबंध में इख़नातून ने पर्याप्त कठोरता से कार्य किया। प्राचीन देवताओं की पूजा उसने साम्राज्य में बंद कर दी, उनके मंदिर वीरान कर दिए। उसने अपने देवता अतोन के शत्रु देवता आमेन के अभिलेखों में जहाँ जहाँ नाम लिखे थे, सर्वत्र मिटवा दिए। उसके पिता का नाम आमेनहेतेप था जिसका एकांश शब्द 'आमेन' निर्मित करता था। परिणाम यह हुआ कि जहाँ जहाँ पिता का नाम लिखा था उस प्राचीन देवता का नाम होने के कारण पिता का नामांश भी वहाँ वहाँ मिटा देना पड़ा।

पंद्रह वर्ष के उस बालक इख़नातून का यह एकेश्वरवाद तो निश्चय तेरह वर्ष के बाद, उसके मरने पर, उसके शत्रुओं ने मिटा दिया, पर धर्म और दर्शन के इतिहास में दोनों अमर हो गए—इख़नातून भी, उसके धर्म के सिद्धांत भी। इख़नातून के इस प्रचार के लिये उसे पागल की उपाधि मिली, उसके शत्रुओं ने उसे "अतोन का अपराधी" घोषित किया। परंतु इख़नातून न तो पागल था और न, जैसा प्रायः हो जाया करता था, वह हत्यारे के छुरे से मरा। पर वह धर्म का दीवाना जरूर था और दीवाना ही शायद वह मरा भी।

इख़नातून की मेधावी सूझ से बढ़कर अपने नए धर्म के प्रचार की क्रांति की भावना थी, और उससे भी बढ़कर उस प्रचार के लिये प्रीति भरे शब्दों का उसने व्यवहार किया। वह कवि भी था और अपने देवता की शक्ति जिन पंक्तियों में उसने व्यक्त की है वे उपनिषद् के उद्गारों से कम चमत्कारी नहीं हैं। अशोक के शब्दों की ही भाँति उसके हृदय से निकलकर सुनने और पढ़नेवालों के हृदय में वे बैठ जाती थीं। तेल-एल-अमरना की चट्टानों पर खुदी इख़नातून की सूर्यशक्ति की स्तुति में बनाई कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:

जब तू पच्छिमी आसमान के पीछे डूब जाता है,
जगत् अँधेरे में डूब जाता है, मृतकों की तरह;
हर सिंह तब अपनी माँद से निकल पड़ता है,
साँप अपने बिलों से निकल पड़ते हैं, डसने लगते हैं;
अंधकार का राज फैल चलता है,
सन्नाटा दुनिया पर अपना साया डालता चला जाता है।

:: :: ::

चमक उठती है धरा जब तू क्षितिज से निकल पड़ता है,
जब तू आसमान की चोटी पर अतोन की आँख से दिन में देखता है,
अँधेरे का लोप हो जाता है।

जब तेरी किरनें पसरने लगती हैं, इंसान मुस्करा उठता है,
जाग पड़ता है, अपने पैरों पर खड़ा हो जाता है, तू ही उसे जगाता है।
अपने अंगों को वह धो डालता है, लेबास को पहन लेता है;
फिर उगते हुए तुम्हारे लाल गोले को हाथ उठाकर पूजता है,
तुमको माथा टेकता है।

:: :: ::

नावें नील की धारा में चल पड़ती हैं, धारा के अनुकूल भी, विपरीत भी ।
सड़कें और पगडंडियाँ खुल पड़ती हैं, कि तू उग चुका है ।
तुम्हारी किरनों को परसने के लिये नदी की मछलियाँ उछल पड़ती हैं ;
और तुम्हारी किरनें फैले समुंदर की छाती में कौंध जाती हैं ।
तू ही माँ के गर्भ में शिशु को सिरजता है ,
आदमी में आदमी का बीज रखता है ,
तू ही कोख में शिशु को प्यार से रखता है जिससे वह रो न पड़े ,
धाय सिरजता है तू ही कोख के बालक के लिये ।
और तू ही जिसे सिरजता है उसमें साँस डालता है ,
और जब वह माँ की कोख से धरा पर गिरता है, (तू ही)
उसके कंठ में आवाज डालता है ,
उसकी जरूरतें पूरी करता है ।

:: :: ::

तेरे कामों को भला गिन कौन सकता है ?
और तेरे काम हमारी नजर से ओझल हैं, नजर से परे ।
ओ मेरे देवता, मेरे मात्र देवता, जिसकी शक्ति का कोई दावेदार नहीं,
तू ने ही यह जमीन सिरजी, अपने मन के मुताबिक ।

:: :: ::

तू मेरे हिए में बसा है, मुझे कोई दूसरा जानता भी नहीं,
अकेला मैं, बस मैं तेरा बेटा इखनातून, जान पाया हूँ तुझे ।
और तूने मुझे इस लायक बनाया है कि मैं तेरी हस्ती को जान लूँ ।

[भ० श० उ०]

इच्छलकरनजी बंबई राज्य के कोल्हापुर जिले में, पंचगंगा नदी के पास, कोल्हापुर नगर से १८ मील दूर, जिले का दूसरा बड़ा नगर है (स्थिति १६° ४१′ उ० अक्षांश तथा ७४° ३१′ पू० देशांतर)। १६०१ ई० में इस स्थान की जनसंख्या १२,६२० थी जो १६२१ ई० में क्रमश: घटकर १०,२११ हो गई। पुन: नगर का क्रमिक गति से विकास हुआ है और १६५१ की जनगणना के समय यहाँ की जनसंख्या २७,४२३ थी। यहाँ उद्योग धंधे बढ़ रहे हैं और संपूर्ण जनसंख्या के ४० प्रति शत से अधिक लोग उद्योग धंधों में लगे हैं। यहाँ की जलवायु स्वास्थ्यप्रद है, परंतु कुओं का जल खारा है; अत: पेय जल नल द्वारा पंचगंगा नदी से लाया जाता है। कोल्हापुर राज्य के आराध्य देव श्री वेंकटेश जी के उपलक्ष्य में यहाँ प्रति वर्ष एक बड़ा मेला लगता है। [का० ना० सिं०]

इज़रायल दक्षिण-पश्चिम एशिया का एक स्वतंत्र यहूदी राज्य है, जो १४ मई, १६४८ ई० को पैलेस्टाइन से ब्रिटिश सत्ता के समाप्त होने पर बना। यह राज्य रूम सागर के पूर्वी तट पर स्थित है। इसके उत्तर तथा उत्तर-पूर्व में लेबनान एवं सीरिया, पूर्व में जार्डन, दक्षिण में अकाबा की खाड़ी तथा दक्षिण-पश्चिम में मिस्र है (क्षेत्रफल २०,७०० वर्ग किलोमीटर; जनसंख्या १६५८ ई० में १६,७६,०००, जिसमें यहूदी १७,६०,०००; मुसलमान १,४४,५००; ईसाई ४५,००० तथा ड्रूज़ २०,०००)। जनसंख्या के ७१ प्रति शत लोग नगरों में रहते हैं तथा २१ प्रति शत उद्योग में लगे हैं। जेरूसलम, जिसकी जनसंख्या १,५४,००० है, इसकी राजधानी है तथा तेल अवीव (जनसंख्या ३,७१,०००) एवं हैफा (जनसंख्या १६,०००) इसके अन्य मुख्य नगर हैं। राजभाषा इब्रानी है।

इज़रायल के तीन प्राकृतिक भाग हैं जो एक दूसरे के समांतर दक्षिण से उत्तर तक फैले हैं: (१) रूमतटीय 'शैरों' तथा फिलिस्तिया का मैदान जो अत्यधिक उर्वर है तथा मक्का जो सब्जियों, संतरों, अंगूरों एवं केलों की उपज के लिये प्रसिद्ध है। (२) गैलिली, समारिया तथा जूडिया का पहाड़ी प्रदेश जो तटीय मैदान के पूर्व में २५ से लेकर ४० मील तक चौड़ा है। इज़रायल का सर्वोच्च पर्वत अट्ज़मान (ऊँचाई ३, ६६२ फुट) यहीं स्थित है। जज़रील घाटी गैलिली के पठार को समारिया तथा जूडिया से पृथक् करती है और तटीय मैदान को जार्डन की घाटी से मिलाती है। गैलिली का पठार एवं जज़रील घाटी समृद्ध कृषिक्षेत्र हैं जहाँ गेहूँ, जौ, जैतून तथा तंबाकू की खेती होती है। समारिया का क्षेत्र जैतून, अंगूर एवं अंजीर के लिये प्रसिद्ध है। (३) जार्डन रिफ्ट घाटी, जो केवल १०-१५ मील चौड़ी तथा अत्यधिक शुष्क है। इसके दक्षिण में 'मृत सागर' है जो समुद्रतल से १,२८६ फुट नीचा है। यह जगत् के स्थलखंड का सबसे नीचा भाग है। जार्डन नदी के मैदान में केले की खेती होती है।

इज़रायल के दक्षिणी भाग में नेजेव नामक मरुस्थल है, जिसके उत्तरी भाग में सिंचाई द्वारा कृषि का विकास किया जा रहा है। यहाँ जौ, सोरघम, गेहूँ, सूर्यमुखी, सब्जियाँ एवं फल होते हैं। सन् १६५५ ई० में नेजेव के हेलेट्ज़ नामक स्थान पर इज़रायल में सर्वप्रथम खनिज तेल पाया गया। इस राज्य के अन्य खनिज पोटाश, नमक इत्यादि हैं।

प्राकृतिक साधनों के अभाव में इज़रायल की आर्थिक स्थिति विशेषत: कृषि तथा विशिष्ट एवं छोटे उद्योगों पर आश्रित है। सिंचाई के द्वारा सूखे क्षेत्रों को कृषियोग्य बनाया गया है। अत: कृषि का क्षेत्रफल, जो सन् १६४८ ई० में केवल ४,१३,००० एकड़ था, सन् १६५४ ई० में बढ़कर ६,२५,००० एकड़ हो गया।

टेल-अवीव इज़रायल का प्रमुख उद्योगकेंद्र है जहाँ कपड़ा, काष्ठ, ओषधि, पेय तथा प्लास्टिक आदि उद्योगों का विकास हुआ है। हैफा क्षेत्र में सिमेंट, मिट्टी का तेल, मशीन, रसायन, काच एवं विद्युत् वस्तुओं के कारखाने हैं। जेरूसलम हस्तशिल्प एवं मुद्रण उद्योग के लिये विख्यात है। नथन्या जिले में हीरा तराशने का काम होता है।

हैफा तथा टेल-अवीव रूम सागर तट के पत्तन (बंदरगाह) हैं। इलाथ अकाबा की खाड़ी का पत्तन है। मुख्य निर्यात सूखे एवं ताजे फल, हीरा, मोटरगाड़ी, कपड़ा, टायर एवं ट्यूब हैं। मुख्य आयात मशीन, अन्न, गाड़ियाँ, काठ एवं रासायनिक पदार्थ हैं।

अरब राज्यों से इज़रायल की अनबन उसकी स्थापना के समय से ही है। इसके बीच प्रथम बार सन् १६४८–४६ ई० में युद्ध हुआ। सन् १६५७ ई० में इजरायल ने पुन: ब्रिटेन तथा फ्रांस से मिलकर स्वेज़ की लड़ाई में गाजा क्षेत्र पर अधिकार कर लिया, परंतु संयुक्त राष्ट्रसंघ के आज्ञानुसार उसे इस भाग को छोड़ना पड़ा। [न० कि० प्र० सिं०]

इज़रायल का इतिहास संसार के यहूदी धर्मावलंबियों के प्राचीन राष्ट्र का नया रूप। इज़रायल का नया राष्ट्र १४ मई, सन् १६४८ को अस्तित्व में आया। इज़रायल राष्ट्र प्राचीन फ़िलिस्तीन अथवा पैलेस्टाइन का ही एक बृहत् भाग है।

यहूदियों के धर्मग्रंथ 'पुराना अहदनामा' के अनुसार यहूदी जाति का निकास पैग़ंबर हज़रत अबराहम (इब्राहिम) से शुरू होता है। अबराहम का समय ईसा से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व है। अबराहम के एक बेटे का नाम इसहाक और पोते का याकूब था। याकूब का ही दूसरा नाम इज़रायल था। याकूब ने यहूदियों की १२ जातियों को मिलाकर एक किया। इन सब जातियों का यह संमिलित राष्ट्र इज़रायल के नाम के कारण 'इज़रायल' कहलाने लगा। आगे चलकर इबरानी भाषा में इज़रायल का अर्थ हो गया—"ऐसा राष्ट्र जो ईश्वर का प्यारा हो"।

याकूब के एक बेटे का नाम यहूदा अथवा जूदा था। यहूदा के नाम पर ही उसके वंशज यहूदी (जूदा-ज्यूज़) कहलाए और उनका धर्म यहूदी धर्म (जूदाईज़्म) कहलाया। प्रारंभ की शताब्दियों में याकूब के दूसरे बेटों की औलाद इज़रायल या 'बनी इज़रायल' के नाम से प्रसिद्ध रही। फ़िलिस्तीन और अरब के उत्तर में याकूब की इन संततियों की 'इज़रायल' और 'जूदा' नाम की एक दूसरी से मिली हुई किंतु अलग अलग दो छोटी छोटी सल्तनतें थीं। दोनों में शताब्दियों तक गहरी शत्रुता रही। अंत में दोनों मिलकर एक हो गईं। इस संमिलन के परिणामस्वरूप देश का नाम इज़रायल पड़ा और जाति का यहूदी।

यहूदियों के प्रारंभिक इतिहास का पता अधिकतर उनके धर्मग्रंथों से मिलता है जिनमें मुख्य बाइबिल का वह पूर्वार्ध है जिसे 'पुराना अहदनामा' (ओल्ड टेस्टामेंट) कहते हैं। पुराने अहदनामे में तीन ग्रंथ शामिल हैं। सबसे प्रारंभ में 'तौरेत' (इबरानी थोरा) है। तौरेत का शाब्दिक अर्थ वही है जो 'धर्म' शब्द का है, अर्थात् धारण करने या बाँधनेवाला। दूसरा ग्रंथ 'यहूदी पैगंबरों का जीवनचरित' और तीसरा 'पवित्र लेख' है। इन तीनों ग्रंथों का संग्रह 'पुराना अहदनामा' है। पुराने अहदनामे में ३६ खंड या पुस्तकें

हैं। इसका रचनाकाल ई० पू० ४४४ से लेकर ई० पू० १०० के बीच है। पुराने अहदनामे में सृष्टि की रचना, मनुष्य का जन्म, यहूदी जाति का इतिहास, सदाचार के उच्च नियम, धार्मिक कर्मकांड, पौराणिक कथाएँ और यह्वे के प्रति प्रार्थनाएँ शामिल हैं।

यहूदी जाति के आदि संस्थापक अबराहम को अपने स्वतंत्र विचारों के कारण दर दर की खाक छाननी पड़ी। अपने जन्मस्थान ऊर (सुमेर का प्राचीन नगर) से सैकड़ों मील दूर निर्वासन में ही उनकी मृत्यु हुई। अबराहम के बाद यहूदी इतिहास में सबसे बड़ा नाम मूसा का है। मूसा ही यहूदी जाति के मुख्य व्यवस्थाकार या स्मृतिकार माने जाते हैं। मूसा के उपदेशों में दो बातें मुख्य हैं: एक—अन्य देवी देवताओं की पूजा को छोड़कर एक निराकार ईश्वर की उपासना और दूसरी—सदाचार के दस नियमों का पालन। मूसा ने अनेकों कष्ट सहकर अपने ईश्वर के आज्ञानुसार जगह जगह बँटी हुई अत्याचारपीड़ित यहूदी जाति को मिलाकर एक किया और उन्हें फ़िलिस्तीन में लाकर बसाया। यह समय ईसा से प्रायः डेढ़ हजार वर्ष पूर्व का था। मूसा के समय से ही यहूदी जाति के बिखरे हुए समूह स्थायी तौर पर फ़िलिस्तीन में आकर बसे और उसे अपना देश समझने लगे। बाद में अपने इस नए देश को उन्होंने 'इज़रायल' की संज्ञा दी।

अबराहम ने यहूदियों का उत्तरी अरब और ऊर से फ़िलिस्तीन की ओर संक्रमण कराया। यह उनका पहला संक्रमण था। दूसरी बार जब उन्हें मिस्र छोड़ फ़िलिस्तीन भागना पड़ा तब उनके नेता हज़रत मूसा थे (प्रायः १६वीं सदी ई० पू०)। यह यहूदियों का दूसरा संक्रमण था जो 'महान् बहिरागमन' (ग्रेट एग्ज़ोडस) के नाम से प्रसिद्ध है।

अबराहम और मूसा के बाद इज़रायल में जो दो नाम सबसे अधिक आदरणीय माने जाते हैं वे दाऊद और उसके बेटे सुलेमान के हैं। सुलेमान के समय दूसरे देशों के साथ इज़रायल के व्यापार में खूब उन्नति हुई। सुलेमान ने समुद्रगामी जहाजों का एक बहुत बड़ा बेड़ा तैयार कराया और दूर दूर के देशों के साथ तिजारत शुरू की। अरब, एशिया कोचक, अफ्रीका, यूरोप के कुछ देशों तथा भारत के साथ इज़रायल की तिजारत होती थी। सोना, चाँदी, हाथीदाँत और मोर भारत से ही इज़रायल आते थे। सुलेमान उदार विचारों का था। सुलेमान के ही समय इबरानी यहूदियों की राष्ट्रभाषा बनी। सैंतीस वर्ष के योग्य शासन के बाद सन् ९३७ ई० पू० में सुलेमान की मृत्यु हुई।

सुलेमान की मृत्यु से यहूदी एकता को बहुत बड़ा धक्का लगा। सुलेमान के मरते ही इज़रायल और जूदा (यहूदा) दोनों फिर अलग अलग स्वाधीन रियासतें बन गईं। सुलेमान की मृत्यु के बाद पचास वर्ष तक इज़रायल और जूदा के आपसी झगड़े चलते रहे। इसके बाद लगभग ८८४ ई० पू० में उमरी नामक एक राजा इज़रायल की गद्दी पर बैठा। उसने फिर दोनों शाखों में प्रेमसंबंध स्थापित किया। किंतु उमरी की मृत्यु के बाद यहूदियों की ये दोनों शाखें सर्वनाशी युद्धों में उलझ गईं।

यहूदियों की इस स्थिति को देखकर असुरिया के राजा शुलमानु अशरिद पंचम ने सन् ७२२ ई० पू० में इज़रायल की राजधानी समरिया पर चढ़ाई की और उसपर अपना अधिकार कर लिया। अशरिद ने २७,२९० प्रमुख इज़रायली सरदारों को कैद करके और उन्हें गुलाम बनाकर असुरिया भेज दिया और इज़रायल का शासनप्रबंध असूरी अफ़सरों के सिपुर्द कर दिया। सन् ६१० ई० पू० में असुरिया पर जब खल्दियों ने आधिपत्य कर लिया तब इज़रायल भी खल्दी सत्ता के अधीन हो गया।

सन् ५५० ई० पू० में ईरान के सुप्रसिद्ध हखामनी राजवंश का समय आया। इस कुल के सम्राट् कुरु ने जब बाबुल की खल्दी सत्ता पर विजय प्राप्त की तब इज़रायल और यहूदी राज्य भी ईरानी सत्ता के अंतर्गत आ गए। आसपास के देशों में उस समय ईरानी सबसे अधिक प्रबुद्ध, विचारवान् और उदार थे। अपने अधीन देशों के साथ ईरानी सम्राटों का व्यवहार न्याय और उदारता का होता था। प्रजा के उद्योगधंधों को वे संरक्षा देते थे। समृद्धि उनके पीछे पीछे चलती थी। उनके धार्मिक विचार उदार थे। ईरानियों का शासनकाल यहूदी इतिहास का कदाचित् सबसे अधिक विकास और उत्कर्ष का काल था। जो हजारों यहूदी बाबुल में निर्वासित और दासता में पड़े थे उन्हें ईरानी सम्राट् कुरु ने मुक्त कर अपने देश लौट जाने की अनुमति दी। कुरु ने जुरूसलम के मंदिर के पुराने पुरोहित के एक पौत्र योशुना और यहूदी बादशाह दाऊद के एक निर्वासित वंशज जेरुब्बाबल को जुरूसलम की वह सब संपत्ति देकर, जो लूटकर बाबुल लाई गई थी, वापस जुरूसलम भेजा और अपने खर्च पर जुरूसलम के मंदिर को फिर से निर्माण कराने की आज्ञा दी। इज़रायल और यहूदा के हजारों घरों में खुशियाँ मनाई गईं। शताब्दियों के पश्चात् इज़रायलियों को साँस लेने का अवसर मिला।

यही वह समय था जब यहूदियों के धर्म ने अपना परिपक्व रूप धारण किया। इससे पूर्व उनके धर्मशास्त्र एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को जबानी प्राप्त होते रहते थे। अब कुछ स्मृति के सहारे, कुछ उल्लेखों के आधार पर धर्मग्रंथों का संग्रह प्रारंभ हुआ। इनमें से थोरा या तौरेत का संकलन ४४४ ई० पू० में समाप्त हुआ।

दोनों समय का हवन, जिसमें लोहबान जैसी सुगंधित चीजें, खाद्य पदार्थ, तेल इत्यादि के अतिरिक्त किसी मेमने, बकरे, पक्षी या अन्य पशु की आहुति दी जाती थी, यहूदी ईश्वरोपासना का आवश्यक अंग था। ऋग्वेद के 'आहिताग्नि' पुरोहितों के समान यहूदी पुरोहित इस बात का विशेष ध्यान रखते थे कि वेदी पर की आग चौबीस घंटे किसी तरह बुझने न पाए।

इज़रायली धर्मग्रंथों में शायद सबसे सुंदर पुस्तक 'दाऊद के भजन' हैं। पुराने अहदनामे की यह सबसे अधिक प्रभावोत्पादक पुस्तक समझी जाती है। जिस प्रकार दाऊद के भजन भक्तिभावना के सुंदर उदाहरण हैं उसी प्रकार सुलेमान की अधिकांश कहावतें हर देश और हर काल के लिये कीमती हैं और सचाई से भरी हैं। एक तीसरा यहूदी धर्मग्रंथ 'प्रचारक' (एक्लज़िएस्टेस) इन ग्रंथों के बाद का लिखा हुआ है।

सन् ३३० ई० पू० में सिकंदर ने ईरान को जीतकर वहाँ के हखामनी साम्राज्य का अंत कर दिया। सन् ३२० ई० पू० में सिकंदर के सेनापति तोलेमी प्रथम ने इज़रायल और यहूदा पर आक्रमण कर उसपर अपना अधिकार कर लिया। बाद में सन् १९८ ई० पू० में एक दूसरे यूनानी परिवार सेल्यूकस राजवंश का इज़रायल पर अधिकार हो गया। सन् १७५ ई० पू० में सेल्यूकस वंश का अंतिओकस चतुर्थ यहूदियों के देश का अधिराज बना। जुरूसलम के बलवे से रुष्ट होकर अंतिओकस ने उसके यहूदी मंदिर को लूट लिया और हजारों यहूदियों का वध करवा दिया, शहर की चहारदीवारी को गिराकर जमीन से मिला दिया और शहर यूनानी सेना के सिपुर्द कर दिया।

अंतिओकस ने यहूदी धर्म का पालन करना इज़रायल और यहूदा दोनों जगह कानूनी अपराध घोषित कर दिया। यहूदी मंदिरों में यूनानी मूर्तियाँ स्थापित कर दी गईं और तौरेत की जो भी प्रतियाँ मिलीं आग के सिपुर्द कर दी गईं।

यह स्थिति सन् १४२ ई० पू० तक चलती रही। सन् १४२ ई० पू० में एक यहूदी सेनापति साइमन ने यूनानियों को हराकर राज्य से बाहर निकाल दिया और यहूदा तथा इज़रायल की राजनीतिक स्वाधीनता की घोषणा कर दी। यहूदियों की यह स्वाधीनता १४१ ई० पू० से ६३ ई० पू० तक बराबर बनी रही।

यह वह समय था जब भारत से बौद्ध भिक्षु और भारतीय महात्मा अपने धर्म का प्रचार करते हुए पश्चिमी एशिया के देशों में फैल गए। इन भारतीय प्रचारकों ने यहूदी धर्म को भी प्रभावित किया। इसी प्रभाव के परिणामस्वरूप यहूदियों के अंदर एक नए 'एस्सेनी' नामक संप्रदाय की स्थापना हुई। हर एस्सेनी ब्राह्म मुहूर्त में उठता था और सूर्योदय से पहले प्रातःक्रिया, स्नान, ध्यान, उपासना आदि से निवृत्त हो जाता था। सुबह के स्नान के अतिरिक्त दोनों समय भोजन से पहले स्नान करना हर एस्सेनी के लिये आवश्यक था। उनका सबसे मुख्य सिद्धांत था—अहिंसा। एस्सेनी हर तरह की पशुबलि, मांसभक्षण या मदिरापान के विरुद्ध थे। हर एस्सेनी को दीक्षा के समय प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी:

"मैं यह्वे अर्थात् परमात्मा का भक्त रहूँगा। मैं मनुष्य मात्र के साथ सदा न्याय का व्यवहार करूँगा। मैं कभी किसी की हिंसा न करूँगा और न किसी को हानि पहुँचाऊँगा। मनुष्यमात्र के साथ मैं अपने वचनों का पालन करूँगा। मैं सदा सत्य से प्रेम करूँगा।" आदि।

उसी समय के निकट हिंदू दर्शन के प्रभाव से इज़रायल में एक और विचारशैली ने जन्म लिया जिसे 'क़ब्बालह' कहते हैं। क़ब्बालह के थोड़े से सिद्धांत ये हैं—"ईश्वर अनादि, अनंत, अपरिमित, अचिंत्य, अव्यक्त और अनिर्वचनीय है। वह अस्तित्व और चेतना से भी परे है। उस अव्यक्त से किसी प्रकार व्यक्त की उत्पत्ति हुई और अचिंत्य से चिंत्य की। मनुष्य परमेश्वर के केवल इस दूसरे रूप का ही मनन कर सकता है। इसी से सृष्टि संभव हुई।"

क़ब्बालह की पुस्तकों में योग की विविध श्रेणियों, शरीर के भीतर के चक्रों और अभ्यास के रहस्यों का वर्णन है।

यहूदियों की राजनीतिक स्वाधीनता का अंत उस समय हुआ जब सन् ६६ ई० पू० में रोमी जनरल पांपे ने तीन महीने के घेरे के पश्चात् जुरूसलम के साथ साथ सारे देश पर अधिकार कर लिया। इतिहासलेखकों के अनुसार हजारों यहूदी लड़ाई में मारे गए और बारह हजार यहूदी कत्ल कर दिए गए।

इसके बाद सन् १३५ ई० में रोम के सम्राट् हाद्रियन ने जुरूसलम के यहूदियों से रुष्ट होकर एक एक यहूदी निवासी को कत्ल करवा दिया। वहाँ की एक एक ईंट गिरवा दी और शहर की समस्त जमीन पर हल चलवाकर उसे बराबर करवा दिया। इसके पश्चात् अपने नाम एलियास हाद्रियानल पर ऐलिया कावितोलिना नामक नया रोमी नगर उसी जगह निर्माण कराया और आज्ञा दे दी कि कोई यहूदी इस नए नगर में कदम न रखे। नगर के मुख्य द्वार पर रोम के प्रधान चिह्न सुअर की एक मूर्ति कायम कर दी गई। इस घटना के लगभग दो सौ वर्ष बाद रोम के पहले ईसाई सम्राट् कोंस्तांतीन ने नगर का जुरूसलम नाम फिर से प्रचलित किया।

छठी ई० तक इज़रायल पर रोम और उसके पश्चात् पूर्वी रोमी साम्राज्य बीज़ोंतीन का प्रभुत्व कायम रहा। खलीफ़ा अबूबक्र और खलीफ़ा उमर के समय अरब और रोमी सेनाओं में टक्कर हुई। सन् ६३६ ई० में खलीफ़ा उमर की सेनाओं ने रोम की सेनाओं को पूरी तरह पराजित करके फ़िलिस्तीन पर, जिसमें इज़रायल और यहूदा शामिल थे, अपना कब्जा कर लिया। खलीफ़ा उमर जब यहूदी पैगंबर दाऊद के प्रार्थनास्थल पर बने यहूदियों के प्राचीन मंदिर में गए तब उस स्थान को उन्होंने कूड़ा कर्कट और गंदगी से भरा हुआ पाया। उमर और उनके साथियों ने स्वयं अपने हाथों से उस स्थान को साफ किया और उसे यहूदियों के सुपुर्द कर दिया।

इज़रायल और उसकी राजधानी जुरूसलम पर अरबों की सत्ता सन् १०९९ ई० तक रही। सन् १०९९ ई० में जुरूसलम पर ईसाई धर्म के जाँनिसारों ने अपना कब्जा कर लिया और बोलोन के गाडफ़े को जुरूसलम का राजा बना दिया। ईसाइयों के इस धर्मयुद्ध में ५,६०,००० सैनिक काम आए, किंतु ८८ वर्षों के शासन के बाद यह सत्ता समाप्त हो गई।

इसके पश्चात् सन् ११४७ ई० से लेकर सन् १२०४ तक ईसाइयों ने धर्मयुद्धों (क्रूसेडों) द्वारा इज़रायल पर कब्जा करना चाहा, किंतु उन्हें सफलता नहीं मिली। सन् १२१२ ई० में ईसाई महंतो ने पचास हजार किशोरवयस्क बालक और बालिकाओं की एक सेना तैयार करके ५वें धर्मयुद्ध की घोषणा की। इनमें से अधिकांश बच्चे भूमध्यसागर में डूबकर समाप्त हो गए। इसके बाद इस पवित्र भूमि पर आधिपत्य करने के लिये ईसाइयों ने चार असफल धर्मयुद्ध और किए।

१३वीं और १४वीं शताब्दी में हुलाकू और उसके बाद तैमूर लंग ने जुरूसलम पर आक्रमण करके उसे नेस्तनाबूद कर दिया। इसके पश्चात् १९वीं शताब्दी तक इज़रायल पर कभी मिस्री आधिपत्य रहा और कभी तुर्क। सन् १९१४ में जिस समय पहला विश्वयुद्ध हुआ, इज़रायल तुर्की के कब्जे में था।

सन् १९१७ में ब्रिटिश सेनाओं ने इसपर अधिकार कर लिया। २ नवंबर, सन् १९१७ को ब्रिटिश वैदेशिक मंत्री लार्ड बालफ़ोर ने यह घोषणा की कि इज़रायल को ब्रिटिश सरकार यहूदियों का धर्मदेश बनाना चाहती है जिसमें सारे संसार के यहूदी यहाँ आकर बस सकें। मित्रराष्ट्रों ने इस घोषणा की पुष्टि की। इस घोषणा के बाद से इज़रायल में यहूदियों की जनसंख्या निरंतर बढ़ती गई। लगभग २१ वर्ष (दूसरे विश्वयुद्ध) के पश्चात् मित्रराष्ट्रों ने सन् १९४८ में एक इज़रायल नामक यहूदी राष्ट्र की विधिवत् स्थापना की।

५ जुलाई, सन् १९५० में इज़रायल की पार्लामेंट ने एक नया कानून बनाया जिसके अनुसार संसार के किसी कोने से यहूदियों को इज़रायल में आकर बसने की स्वतंत्रता मिली। यह कानून बन जाने के ७ वर्षों के अंदर इज़रायल में सात लाख यहूदी बाहर के देशों से आकर बसे। इज़रायल में जनतंत्री शासन है। वहाँ एक संसदीय पार्लामेंट है जिसे 'सेनेट' कहते हैं। इसमें १२० सदस्य सानुपातिक प्रतिनिधान की चुनाव प्रणाली द्वारा प्रति चार वर्षों के लिये चुने जाते हैं। इज़रायल का नया जनतंत्र एक ओर आधुनिक वैज्ञानिक साधनों के द्वारा देश को उन्नत बनाने में लगा हुआ है तो दूसरी ओर पुरानी परंपराओं को भी उसने पुनर्जीवन दिया है, जिनमें से एक है—शनिवार को सारे कामकाज बंद कर देना। इस प्राचीन नियम के अनुसार आधुनिक इज़रायल में शनिवार के पवित्र 'सैबथ' के दिन रेलगाड़ियाँ तक बंद रहती हैं।

यहूदियों ने ही पश्चिमी धर्मों में नबियों और पैगंबरों तथा इलहामी शासनों का आरंभ और प्रचार किया। उनके नबियों ने, विशेषकर छठी सदी ई० पू० के नबियों ने जिस साहस और निर्भीकता से श्रीमानों और असुरी सम्राटों को धिक्कारा है और जो बाइबिल की पुरानी पोथी में आज भी सुरक्षित है, उसका संसार के इतिहास में सानी नहीं। उन्होंने ही नेबुखदनेज्ज़ार की अपनी बाबुली कैद में बाइबिल के पुराने पाँच खंड (पेंतुतुख) प्रस्तुत किए। इसी से बाबुल के संबंध से ही संभवतः बाइबिल का यह नाम पड़ा।

सं०ग्रं०—बाइबिल (पुराना अहदनामा); एंश्येंट कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, जिल्द २, ३; हेस्टिंग्ज : एनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एंड एथिक्स, भाग ९; जूइश एनसाइक्लोपीडिया; जूइश क्रानिकल एंड जूइश वर्ल्ड की जिल्दें; एच० बी० ट्रिसट्रेम : लैंड ऑव इज़रायल (१८६५); ई० आर० बेवन : जुरूसलम अंडर दि हाई प्रीस्ट (१९१२); सी० बेंजमैन : ट्रायल एंड एरर (१९४९); विश्वंभरनाथ पांडेय : विश्व का सांस्कृतिक इतिहास (१९५५)। [वि० ना० पां०]

इजेकियल

इजेकियल ५९८ ई० पू० में बाबुल की सेना ने जुरूसलम नगर पर आक्रमण करके उसे लगभग नष्ट भ्रष्ट कर दिया। वहाँ के महल, सुलेमान के बनाए विशाल मंदिर और प्रायः समस्त सुंदर भवनों में आग लगा दी। शहर की चहारदीवारी को गिराकर जमीन से मिला दिया। प्रधान यहूदी पुरोहित और शहर के सब मुख्य व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया और हजारों यहूदियों को निर्वासित बंदी के रूप में बाबुल पहुँचाकर बसा दिया। यहूदी जाति के दुःख भरे इतिहास में यह घटना एक विशेष सीमा-चिह्न समझी जाती है। निर्वासित यहूदी बंदियो में यहूदी जाति के पैगंबर इजेकियल भी थे। इतिहास लेखको के अनुसार इजकियल न चबर नदी के किनारे तेल अबीब में निर्वासित जीवन बिताया।

निर्वासित यहूदी इजेकियल को बहुत आदर और संमान की दृष्टि से देखते थ और उनसे मार्गदर्शन की आशा रखते थ। पगंबर इजकियल के ग्रंथ 'इजेकियल' के अनुसार इजेकियल ने अपन निर्वासित धर्मावलंबियों में राष्ट्रीय और धार्मिक भावनाओं को निरंतर जगाए रखा। अत्यंत मर्मस्पर्शी शब्दों में उन्होंन एक एसे इज़रायल राष्ट्र की कल्पना निर्वासितों के सामने रखी जिसका कभी अंत नहीं हो सकता और जिसका भविष्य सदा उज्ज्वल और ऐश्वर्य से भरा होगा। इजेकियल के उपदेश गद्य और पद्य दोनो में प्राप्त हैं।

इजेकियल की शिक्षा—मानव प्राणियों पर ईश्वर कठोर हाथों से शासन करता है। यह्वे, अर्थात् ईश्वर की सत्ता परम पवित्र और सार्वभौम है। यह्वे का कोई प्रतिस्पर्धी नहीं। यहूदियों को अभक्तिपूर्ण व्यवहार के लिये यह्वे दंड देगा। अपनी प्रभुसत्ता को दृढ़ करने के लिये ही यह्वे दंड और वरदान देता है।

बाबुली शासकों ने जिन अन्यदेशीय लोगों को फ़िलिस्तीन ले जाकर बसाया था वे सब मनुष्यस्वभाव के अनुसार अपने अपने देवी देवताओं के साथ यह्वे की पूजा करने लगे थे और यहूदी जनसामान्य ने भी यह्वे के साथ साथ आगंतुकों के देवताओं की पूजा आरंभ कर दी थी। फ़िलिस्तीन में यहूदियों की इस वृत्ति से इजेकियल को बड़ी मानसिक पीड़ा पहुँची। अपने उपदेशों में उन्होंने उन्हें अभिशाप दिया। उनकी आशाएँ निर्वासित यहूदियों पर ही केंद्रित थीं। इजेकियल के अनुसार उन्हीं के ऊपर यहूदी धर्म का भविष्य निर्भर था।

पैगबर की भविष्यवाणियो में इजेकियल की शिक्षाओ का महत्वपूर्ण स्थान है। शताब्दियो तक इजेकियल की शिक्षाएँ यहूदी धार्मिक जगत् को प्रभावित करती रही।

स०ग्र०—सी० एच० टाय इजेक्यिल (१९२४), जी० टी० बेट्-टानी हिस्ट्री ग्रॉव जूडाइज्म (१८९२)। [वि० ना० पा०]

इटली यूरोप के दक्षिणवर्ती तीन बडे प्रायद्वीपो मे बीच का प्रायद्वीप है जो भूमध्यसागर के मध्य मे स्थित है। प्रायद्वीप के पश्चिम, दक्षिण तथा पूर्व मे क्रमश तिरहेनियन, ग्रायोनियन तथा एड्रियाटिक सागर हैं और उत्तर में ग्राल्प्स पहाड की श्रेणियाँ फैली हुई है। इटली ४७° ७' उत्तर से ३६° ३८' उत्तर अक्षाश एव ६° ३७' पूर्वी से १८° ३२' पूर्वी देशातर के बीच स्थित है। सिसली, सार्डीनिया तथा कॉर्सिका (जो फ्रास के अधिकार मे है), ये तीन बडे द्वीप तथा लिग्यूरियन सागर मे स्थित अन्य टापुग्रो के समुदाय वस्तुत इटली से सबद्ध हैं। प्रायद्वीप का ग्राकार एक बडे बूट (जूते) के समान है जो उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व को भूमध्यसागर में घुसा हुआ है। देश की लबाई लगभग ७०० मील तथा चौडाई ८० मील से १५० मील तक है। सुदूर दक्षिण मे चौडाई ३५ मील से २० मील तक है।

प्राकृतिक दशा—इटली पर्वतीय देश है जिसके उत्तर में ग्राल्प्स पहाड तथा मध्य में रीढ की भाँति अपेनाइन पर्वत की श्रृखलाएँ फैली हुई है (देखें **अपेनाइंस**)। अपेनाइन पहाड जेनोआ तथा नीस नगरो के मध्य से प्रारभ होकर दक्षिण-पूर्व दिशा में एड्रियाटिक समुद्रतट तक चला गया है और मध्य तथा दक्षिणी इटली में रीढ की भाँति दक्षिण की तरफ फैला हुआ है।

प्राकृतिक भूरचना की दृष्टि से इटली निम्नलिखित चार भागो में बाँटा जा सकता है

(१) ग्राल्प्स की दक्षिणी ढाल, जो इटली के उत्तर मे स्थित है।

(२) पो तथा वेनिस का मैदान, जो पो ग्रादि नदियो की लाई हुई मिट्टी से बना है।

(३) इटली प्रायद्वीप का दक्षिणी भाग, जिसमे सिसली भी समिलित है। इस सपूर्ण भाग मे अपेनाइन पर्वतश्रेणी प्रतिप्रमुख है।

(४) सार्डीनिया, कॉर्सिका तथा अन्य द्वीपसमूह।

किंतु वनस्पति, जलवायु तथा प्राकृतिक दृष्टि से यह प्रायद्वीप तीन भागो में बाँटा जा सकता है—१ उत्तरी इटली, २ मध्य इटली तथा ३ दक्षिणी इटली।

उत्तरी इटली—यह इटली का सब से घना बसा हुआ मैदानी भाग है जो तुरीय काल मे समुद्र था, बाद में नदियो की लाई हुई मिट्टी से बना। यह मदान देश की १७ प्रति शत भूमि घेरे हुए ह जिसमे चावल, शहतूत तथा पशुग्रो के लिये चारा बहुतायत से पैदा होता है। उत्तर में ग्राल्प्स पहाड की ढाल तथा पहाडियाँ है जिनपर चरागाह, जगल तथा सीढीनुमा खेत है। पर्वतीय भाग की प्राकृतिक शोभा कुछ झीलो तथा नदियो से बहुत बढ गई है। उत्तरी इटली का भौगोलिक वर्णन पो नदी के माध्यम से ही किया जा सकता है। पो नदी एक पहाडी सोतेके रूप मे माउट वीज़ो पहाड (ऊँचा ६,००० फुट) से निकलकर २० मील बहने के बाद सैलुजा के मैदान मे प्रवेश करती है। सोसिया नदी के सगम से ३३७ मील तक इस नदी मे नौपरिवहन होता है। समुद्र में गिरने के पहले नदी दो शाखाग्रो (पो डेल मेस्ट्रा तथा पो डि गोरो) में विभक्त हो जाती है। पो के मुहाने पर २० मील चौडा डेल्टा है। नदी की कुल लबाई ४२० मील है तथा यह २६,००० वर्ग मील भूमि के जल की निकासी करती है। ग्राल्प्स पहाड तथा अपेनाइस से निकलनेवाली पो की मुख्य सहायक नदियाँ क्रमानुसार टिसिनो, अद्दा, ग्रोगलियो ग्रौर मिन्सिग्रो तथा टेनारो, टेविया, टारो, सेचिया ग्रौर पनारो हैं। टाइबर (२४४ मील) तथा एड्रिज (२२० मील) इटली की दूसरी तथा तीसरी सबसे बडी नदियाँ है। ये प्रारभ में सँकरी तथा पहाडी हैं, किंतु मैदानी भाग में इनका विस्तार बढ़ जाता है ग्रौर बाढ ग्राती है। ये सभी नदियाँ सिंचाई तथा विद्युत् उत्पादन की दृष्टि से परम उपयोगी है, किंतु यातायात के लिये अनुपयुक्त। ग्राल्प्स, अपे-नाइस तथा एड्रियाटिक सागर के

मध्य में स्थित एक सँकरा समुद्रतटीय मैदान है। उत्तरी भाग में पर्वतीय ढालों पर मूल्यवान् फल, जैसे जैतून, अंगूर तथा नारंगी बहुत पैदा होती है। उपजाऊ घाटी तथा मैदानों में घनी बस्ती है। इनमें अनेक गाँव तथा शहर बसे हुए हैं। अधिक ऊँचाइयों पर जंगल हैं।

मध्य इटली—मध्य इटली के बीच में अपेनाइंस पहाड़ उत्तर-उत्तर-पूर्व से दक्षिण-दक्षिण-पश्चिम की दिशा में एड्रियाटिक समुद्रतट के समांतर फैला हुआ है। अपेनाइंस का सबसे ऊँचा भाग ग्रैनसासोडी इटैलिया (९,५६० फुट) इसी भाग में है। यहाँ पर्वतश्रेणियों का जाल बिछा हुआ है, जिनमें अधिकांश नवंबर से मई तक बर्फ से ढकी रहती हैं। यहाँ पर कुछ विस्तृत, बहुत सुंदर तथा उपजाऊ घाटियाँ हैं, जैसे एटरनो की घाटी (२,३८० फुट)। मध्य इटली की प्राकृतिक रचना के कारण यहाँ एक ओर अधिक ठंढा, उच्च पर्वतीय भाग है तथा दूसरी ओर गर्म तथा शीतोष्ण जलवायु-वाली ढाल तथा घाटियाँ हैं। पश्चिमी ढाल एक पहाड़ी ऊबड़ खाबड़ भाग है। दक्षिण में टस्कनी तथा टाइबर के बीच का भाग ज्वालामुखी पहाड़ों की देन है, अतः यहाँ शंक्वाकार पहाड़ियाँ तथा झीलें हैं। इस पर्वतीय भाग तथा समुद्र के बीच में काली मिट्टीवाला एक उपजाऊ मैदानी भाग है जिसे कांपान्या कहते हैं। मध्य इटली के पूर्वी तट की तरफ पहाड़ी श्रेणियाँ समुद्र के बहुत निकट तक फैली हुई है, अतः एड्रियाटिक सागर में गिरनेवाली नदियों का महत्व बहुत कम है। यह विषम भाग फलों के उद्यानों के लिये बहुत प्रसिद्ध है। यहाँ जैतून तथा अंगूर की खेती होती है। यहाँ बड़े शहरों तथा बड़े गावों का अभाव है; अधिकांश लोग छोटे छोटे कस्बों तथा गावो में रहते हैं। खनिज संपत्ति के अभाव के कारण यह भाग औद्योगिक विकास की दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। फुसिनस, ट्रेसिमेनो तथा चिडसी यहाँ की प्रसिद्ध झीलें हैं। पश्चिमी भाग की झीलें ज्वालामुखी पहाड़ों की देन है।

दक्षिणी इटली : यह संपूर्ण भाग पहाड़ी है जिसके बीच में अपेनाइंस रीढ़ की भाँति फैला हुआ है तथा दोनों ओर नीची पहाड़ियाँ है। इस भाग की औसत चौड़ाई ५० मील से लेकर ६० मील तक है। पश्चिमी तट पर एक सँकरा 'तेरा डी लेवोरो' नाम का तथा पूर्व में आपूलिया का चौड़ा मैदान है। इन दो मैदानों के अतिरिक्त सारा भाग पहाडी है और अपेनाइंस की ऊँची नीची शृंखलाओं से ढका हुआ है। पोटेंजा की पहाड़ी दक्षिणी इटली की अंतिम सबसे ऊँची पहाड़ी (पोलिनों की पहाड़ी) से मिलती है। सुदूर दक्षिण में ग्रेनाइट तथा चूने के पत्थर की, जंगलों से ढकी हुई पहाड़ियाँ तट तक चली गई है। लीरी तथा गेटा आदि एड्रियाटिक सागर में गिरनेवाली नदियाँ पश्चिमी ढाल पर बहनेवाली नदियों से अधिक लंबी हैं। ड्रिनगो से दक्षिण की ओर गिरनेवाली विफरनो, फोरटोरे, सेरवारो, आंटो तथा ब्रैडानो मुख्य नदियाँ हैं। दक्षिणी इटली में पहाड़ों के बीच में स्थित लैगोडेल-मोटेसी झील है।

इटली के समीप स्थित सिसली, सार्डीनिया तथा कॉर्सिका के अतिरिक्त एल्बा, कैप्रिया, गारगोना, पायनोसा, मांटीक्रिस्टो, जिग्लिको आदि मुख्य मुख्य द्वीप है। इन द्वीपों में इस्चिया, प्रोसिदा तथा पोंजा, जो नेपुल्स की खाड़ी के पास हैं, ज्वालामुखी पहाड़ों की देन हैं। एड्रियाटिक तट पर केवल ड्रिमिटी द्वीप है।

जलवायु तथा वनस्पति : देश की प्राकृतिक रचना, अक्षांशीय विस्तार (१०° २९′) तथा भूमध्यसागरीय स्थिति ही जलवायु की प्रधान नियामक है। तीन ओर समुद्र से तथा उत्तर में उच्च आल्प्स से घिरे होने के कारण यहाँ की जलवायु की विविधता पर्याप्त बढ़ जाती है। यूरोप के सबसे अधिक गर्म देश इटली में जाड़े में अपेक्षाकृत अधिक गर्मी तथा गर्मी में साधारण गर्मी पड़ती है। यह प्रभाव समुद्र से दूरी बढ़ने पर घटता जाता है। आल्प्स के कारण यहाँ उत्तरी ठंढी हवाओं का प्रभाव नहीं पड़ता है। किंतु पूर्वी भाग में ठंढी तथा तेज बोरा नामक हवाएँ चला करती हैं। अपेनाइंस पहाड़ के कारण अंध महासागर से आनेवाली हवाओं का प्रभाव तिर हीनियन समुद्रतट तक ही सीमित रहता है।

उत्तरी तथा दक्षिणी इटली के ताप में पर्याप्त अंतर पाया जाता है। ताप का उतार चढ़ाव ५२° फा० से ६६° फा० तक होता है। दिसंबर तथा जनवरी सबसे अधिक ठंढे तथा जुलाई और अगस्त सबसे अधिक गर्म महीने हैं। पो नदी के मैदान का औसत ताप ५५° फा० तथा ५०० मील दूर स्थित सिसली का औसत ताप ६४° फा० है। उत्तर के आल्प्स के पहाड़ी क्षेत्र में औसत वार्षिक वर्षा ८०″ होती है। अपेनाइंस के ऊँचे पश्चिमी भाग में भी पर्याप्त वर्षा होती है। पूर्वी लोंबार्डी के दक्षिण-पश्चिमी भाग में वार्षिक वर्षा २४″ होती है, किंतु उत्तरी भाग में उसका औसत ५०″ होता है तथा गर्मी शुष्क रहती है। आल्प्स के मध्यवर्ती भाग में गर्मी में वर्षा होती है तथा जाड़े में बर्फ गिरती है। पो नदी की द्रोणी में गर्मी में अधिक वर्षा होती है। स्थानीय कारणों के अतिरिक्त इटली की जलवायु भूमध्यसागरीय है जहाँ जाड़े में वर्षा होती है तथा गर्मी शुष्क रहती है।

जलवायु की विषमता के कारण यहाँ की वनस्पतियाँ भी एक सी नहीं है। मनुष्य के सतत प्रयत्नों से प्राकृतिक वनस्पतियाँ केवल उच्च पहाड़ों पर ही देखने को मिलती हैं जहाँ नुकीली पत्तीवाले जंगल पाए जाते है। इनमें सरो, देवदारु चीड़ तथा फर के वृक्ष मुख्य हैं। उत्तर के पवतीय ठंढे भागों में अधिक ठंढक सहन करनेवाले पौधे पाए जाते हैं। तटीय तथा अन्य निचले मैदानों में जैतून, नारंगी, नीबू आदि फलों के उद्यान लगे हुए हैं। मध्य इटली में अपेनाइंस पर्वत की ऊँची श्रेणियों को छोड़कर प्राकृतिक वनस्पति अन्यत्र नहीं है। यहाँ जतून तथा अंगूर की खेती होती है। दक्षिणी इटली में तिरहीनियन तटपर जैतून, नारंगी, नीबू, शहतूत, अंजीर आदि फलों के उद्यान हैं। इस भाग में कंदों से उगाए जानेवाले फूल भी होते हैं। यहाँ ऊँचाई पर तथा तटीय भूमि में ओक के तथा सदाबहार जंगल पाए जाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि पूरे इटली को आधुनिक किसानों ने फलों, तरकारियों तथा अन्य फसलों से भर दिया है, केवल पहाड़ों पर ही जंगली पेड़ तथा झाड़ियाँ पाई जाती हैं।

कृषि : इटली-वासियों का सबसे बड़ा व्यवसाय खेती है। संपूर्ण जन-संख्या का ½ भाग खती से ही अपनी जीविका प्राप्त करता है। जलवायु तथा प्राकृतिक दशा की विभिन्नता के कारण इस छोटे से देश में यूरोप में पैदा होनेवाली सारी चीजें पर्याप्त मात्रा में पैदा होती ह, अर्थात् राई से लेकर चावल तक, सेब से लेकर नारंगी तक तथा अलसी से लेकर कपास तक। संपूर्ण देश मे लगभग ७,०५,००,००० एकड़ भूमि उपजाऊ है, जिसमें १,८३,७४,००० एकड़ में अन्न, २८,६२,००० एकड़ में दाल आदि फसलें, ७,७२,००० एकड़ में औद्योगिक फसलें, १४,६०,००० एकड़ में तरकारियाँ, २३,८६,००० एकड़ में अंगूर, २०,३३,००० एकड़ में जैतून, २,१६,००० एकड़ में चरागाह और चारे की फसलें तथा १,४४,५८,००० एकड़ में जंगल पाए जाते है। यहाँ की खती प्राचीन ढंग से ही होती है। पहाड़ी भूमि होने के कारण आधुनिक यंत्रों का प्रयोग नहीं हो सका है।

जनसंख्या : पूर्व ऐतिहासिक काल में यहाँ की जनसंख्या बहुत कम थी। जनवृद्धि का अनुपात द्वितीय विश्वयुद्ध के पहल पर्याप्त ऊँचा था (१९३१ ई० में वार्षिक वृद्धि ०·८७ प्रति शत थी), किंतु अब यह दर घट रही है।

पर्वतीय भूमि तथा सीमित औद्योगिक विकास के कारण जनसंख्या का घनत्व अन्य यूरोपीय देशों की अपेक्षा बहुत कम है। अधिकांश लोग गाँवों में रहते है। १९४६ ई० में देश में ५०,००० से ऊपर जनसंख्यावाल नगरों की संख्या ७० थी जिनम सारी जनसंख्या का २७·५ प्रति शत निवास करता था। यहाँ अधिकांश लोग रोमन कैथोलिक धर्म माननेवाले हैं। १९३१ ई० की जनगणना के अनुसार ९९.६ प्रति शत लोग कैथोलिक थे, ०·३४ प्रति शत लोग दूसरे धर्म के थे तथा ·०६ प्रति शत ऐसे लोग थे जिनका कोई विशेष धर्म नहीं था। शिक्षा तथा कला की दृष्टि से इटली प्राचीन काल से अग्रणी रहा है। रोम की सभ्यता तथा कला इतिहासकाल में अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई थी (देखें रोम)। यहाँ के कलाकार और चित्रकार विश्वविख्यात थे। आज भी यहाँ शिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा है। निरक्षरता नाम मात्र की भी नहीं है। देश में १०५ दनिक पत्र प्रकाशित होते ह। छवि-गृहों की संख्या लगभग १३,२०० है (१९५६ ई०)।

खनिज तथा उद्योग धंधे—इटली में खनिज पदार्थ अपर्याप्त हैं, केवल पारा ही यहाँ से निर्यात किया जाता है। यहाँ सिसली (काल्टानिसेटा), टस्कनी (अरेंजो, फ्लोरेंस तथा ग्रासेटो), सार्डीनिया (कैगलिआरी, ससारी तथा इंग्लेसियास), लोंबार्डी (बर्गमो तथा ब्रेसिया) एवं पिडमांट क्षेत्रों में ही खनिज तथा औद्योगिक विकास भली भाँति हुआ है। १९५६ ई० में कोयला १४,७९,५०९ मेट्रिक टन, खनिज तैल ५,६७,३०२ मे० टन, खनिज

लौह १६,५४,७६६ मे० टन, मैंगनीज ४६,०१५ मे० टन; राँगा ८१,८४ मे० टन और जस्ता २,४६,५६६ मे० टन उत्पन्न हुआ था।

देश का प्रमुख उद्योग कपड़ा बनाने का है। यहाँ १६५७ ई० में सूती कपड़े बनाने के ८६१ कारखाने थे। रेशम का व्यवसाय पूरे इटली में होता है, किंतु लोंबार्डी, पिडमांट तथा वेनेशिया मुख्य सिल्क उत्पादक क्षेत्र हैं। १६५७ में गृहउद्योग को छोड़कर रेशमी कपड़े बनाने के २४ तथा ऊनी कपड़े बनाने के ३०४ कारखाने थे। रासायनिक वस्तु बनाने के तथा चीनी बनाने के भी पर्याप्त कारखाने हैं। देश में मोटर, मोटर साइकिल तथा साइकिलें बनाने का बहुत बड़ा उद्योग है। १६५६ ई० में २,८८,७८६ मोटरें बनाई गई थीं जिनमें से ८८,१७६ मोटरें निर्यात की गई थीं। अन्य मशीनें तथा औजार बनान के भी बहुत से कारखाने हैं। जलविद्युत् पैदा करने का बहुत बड़ा धंधा यहाँ होता है। यहाँ १५,८८,०३१ कारखाने हैं, जिनमें ६८,००,६७३ व्यक्ति काम करते हैं (१६५१)। इटली का व्यापारिक संबंध यूरोप के सभी देशों से तथा अर्जेंटीना, संयुक्त राज्य (अमरीका) एवं कैनाडा से है। मुख्य आयात की वस्तुएँ कपास, ऊन, कोयला और रासायनिक पदार्थ हैं तथा निर्यात की वस्तुएँ फल, सूत, कपड़े, मशीनें, मोटर, मोटरसाइकिलें एवं रासायनिक पदार्थ हैं। इटली का आयात निर्यात से अधिक होता है।

नगर : संपूर्ण देश १६ क्षेत्रों तथा ६२ प्रांतों में बँटा हुआ है। १६वीं शताब्दी के मध्य से नगरों की संख्या काफी बढ़ी है। अतः प्रांतीय राजधानियों का महत्व बढ़ा तथा लोगों का झुकाव नगरों की तरफ हुआ। देश में एक लाख के ऊपर जनसंख्या के कुल २६ नगर हैं। ५,००,००० से अधिक जनसंख्या के नगर रोम (इटली की राजधानी, जनसंख्या १५,७३,६६४), मिलान (१२,६७,५५०), नेपुल्स (६,७७,६४६), तूरिन (७,१२,६८३) तथा जेनेवा (६,४६,३६७) हैं।

इटली यूनान के बाद यूरोप का दूसरा प्राचीनतम राष्ट्र है। रोम की सभ्यता तथा इटली का इतिहास देश के प्राचीन वैभव तथा विकास का प्रतीक है। आधुनिक इटली १८६१ ई० में राज्य के रूप में गठित हुआ था। देश की धीमी प्रगति, सामाजिक संगठन तथा राजनीतिक उथल पुथल इटली के २५०० वर्ष के इतिहास से संबद्ध है। देश में पूर्वकाल में राजतंत्र था जिसका अंतिम राजघराना सेवाय था। जून, सन् १६४६ से देश एक जनतांत्रिक राज्य में परिवर्तित हो गया है। [हि० ह० सिं०]

इटली का इतिहास

सन् १६४६ में इटली की जनता ने मतदान द्वारा इटली को गणतंत्र घोषित किया। सन् १६४७ में इटली की असेंबली ने गणतंत्र का एक नया विधान बनाया जो १ जनवरी, सन् १६४८ से लागू है। इस विधान में एक केंद्रीय सरकार, पार्लमेंट के दो सदन, एक राष्ट्रपति जिसकी पदावधि सात वर्ष है, और वयस्क मताधिकार की व्यवस्था है। १०६ एकड़ की वातिकन सिटी, अर्थात् पोप की नगरी सन् १६२६ से ही संसार का सबसे छोटा स्वाधीन राज्य है। उसके अपने सिक्के, अपने डाक टिकट हैं; पोप उसके प्रधान हैं।

इटली को मुख्य लाभ विदेशी यात्रियों से होता है। सन् १६५६ में ७० लाख विदेशी यात्री सैर सपाटे के लिये इटली पहुँचे थे। इन यात्रियों से इटली को एक खरब, चौअन अरब लीरो का लाभ हुआ था।

इटली में अनेकों क्षेत्रीय बोलियाँ प्रचलित हैं। इन क्षेत्रीय बोलियों के अतिरिक्त वहाँ आदान प्रदान की मुख्य भाषा साहित्यिक इतालियाई है। मूल रूप से वह इटली के एक प्रांत तुस्कानी की भाषा थी जिसे अनेक लेखकों और कवियों ने सँवारकर उत्कृष्ट बनाया और जिसमें दाँते ने अपनी रचनाएँ लिखीं।

सभ्यता का फूलना फलना कला की प्रगति से बहुत संबंध रखता है और कला पर उस देश की जलवायु का बहुत गहरा असर पड़ता है। यूरोप के किसी दूसरे देश ने आज तक कला और विशेषकर चित्रकला में इतनी कीर्ति प्राप्त नहीं की जितनी इटली ने। इसका कारण यह है कि इटली में सदा साफ नीले आसमान, खिली हुई धूप और छिटकी हुई चाँदनी के दर्शन होते हैं। इटलीवालों का रंग वैसा ही होता है, जैसा जरा गोरे रंग के भारतवासियों का। उनकी आँखें और बाल भारतीयों की ही तरह काले होते हैं।

प्राचीन इतिहास के अनुसार ६वीं सदी ई० पू० में एशिया कोचक की एक रियासत लीदिया के राजा अत्ती का बेटा तिरहेन लीदिया की आधी जनसंख्या के साथ जहाजों में बैठकर इटली के पश्चिमी किनारे पर उतरा। अपने सरदार के नाम पर ये आगंतुक अपने को 'तिरहेनी' कहने लगे। इन लोगों न समुद्र के किनारे किनारे कई बस्तियाँ बसाईं। तिरहेनी उसी नस्ल के थे जिस नस्ल के वैदिक आय थे। तिरहेनियों की भाषा और संस्कृत भाषा में काफी साम्य पाया जाता है। तिरहेनी धीरे धीरे बढ़ते हुए इटली के लातियम प्रांत में, समुद्र से १६-१७ मील दूर, तीबेर नदी के किनारे तीन छोटी छोटी पहाड़ियों पर बसे हुए एक छोटे से गाँव रोमा या रोम में पहुँचे। तिरहेनियों के अधीन धीरे धीरे रोम इटली का एक बड़ा नगर बनने लगा। आगे चलकर इस शहर ने इतिहास में वह नाम पाया जो आज तक यूरोप के और किसी दूसरे देश को नसीब नहीं हुआ। तिरहेनियों ने रोम में जूपितर (वैदिक=द्यौसुपितर) का एक विशाल मंदिर बनाया।

इतिहास के लेखकों के अनुसार तीसरी सदी ई० पू० में पहली बार पूरे देश का नाम इतालिया पड़ा। इतालिया से ही आजकल का इताली या इटली शब्द बना। इतालिया नाम एक इतालियाई शब्द के यूनानी रूप 'वाइतालिया से' लिया गया है जिसका अर्थ है 'चरागाह'। यूनानी इटली को 'इतालियम्' अर्थात् 'चरागाह' कहते थे।

इटली की जनसंख्या में से ६७·१२ प्रतिशत लोग ईसाई धर्म की रोमन कैथलिक शाखा के अनुयायी हैं। १६०१ की जनसंख्या के अनुसार इटली में प्रोटेस्टेंट संप्रदाय के लोगों की संख्या केवल ६५,००० थी।

इटली में जूलियस सीज़र की बहिन के पोते और रोमन साम्राज्य के पहले सम्राट् ओगुस्तन सीज़र का शासनकाल स्वर्णयुग कहलाया। उससे कुछ कुछ पहले पीछे और समकालीन लातीनी के प्रमुख कवि लूक्रेती, वर्जिल, होरेस और ओविद हुए। लूक्रेती ने मृत्यु के बाद के जीवन को धोखा बताया है और धार्मिक रूढ़ियों का उपहास उड़ाया है। वर्जिल का काव्य 'ईनिद' इटली का राष्ट्रीय महाकाव्य समझा जाता है। इटली की प्रशंसा करते हुए वर्जिल अपने इस महाकाव्य की पंक्तियों में लिखता है :

> 'ईरान अपने सुंदर और घने वनों सहित,
> अथवा गंगा अपनी जलप्लावित लहरों सहित,
> अथवा हरमुश नदी, जिसके कणों में सोना मिलता है,
> इनमें से कोई इटली की समता नहीं कर सकते,
> इटली, जहाँ सदा वसंत रहता है,
> जहाँ भेंड़ें वर्ष में दो बार बच्चे देती हैं और
> जहाँ वृक्ष वर्ष में दो बार फल देते हैं।

जूलियस सीज़र के समय के इतालियाई गद्यलेखकों में सिसरो का नाम बहुत प्रसिद्ध है। सिसरो की भाषा में यूनानी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। सीज़र की हत्या के बाद सिसरो की भी हत्या कर दी गई।

रोमन साम्राज्य का असर इटली पर पड़ना स्वाभाविक था। पहली सदी ई० के लगभग इटली में स्वतंत्र नागरिकों की अपेक्षा गुलामों की संख्या कई गुना बढ़ गई थी। दूसरी सदी में मारकस औरीलियस के शासनप्रबंध से इटली का राजनीतिक और सांस्कृतिक ह्रास कुछ दिनों के लिये रुका, किंतु उसकी मृत्यु के बाद तीसरी सदी ई० का एक इतिहासकार लिखता है—"साम्राज्य भर में और स्वयं इटली में शांति और समृद्धि नाम की कोई चीज नहीं रह गई थी। लड़ाइयों, महामारियों और आए दिन के दुष्कालों ने इटली की जनसंख्या को बेहद कम कर दिया था। जमीन की पैदावार घट गई थी। खेतियाँ वीरान पड़ी थीं। शहर और कस्बे उजड़ते जा रहे थे। टैक्सों का बोझ दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा था। मारकस औरीलियस की मृत्यु के २०० वर्ष के अंदर न केवल रोमन साम्राज्य के बल्कि स्वयं इटली के टुकड़े टुकड़े हो गए थे।" पर वह कहानी रोमन साम्राज्य की है।

रोमन साम्राज्य के पतन के बाद से आधुनिक समय तक राष्ट्र की हैसियत से इटली में न तो कभी राजनीतिक एकता रही, न स्वाधीनता और न संगठित राष्ट्र। सन् ४७६ ई० में इटली में नया राजनीतिक परिवर्तन हुआ। गौथ और वंडल कौमों के लोगों ने इटली की फौजों और रोम के दरबार

तक पर कब्जा कर रखा था। सन् ४७५ ई० में एक छोटा सा बलवा हुआ। अंतिम रोमी सम्राट् जूलियस नेपो गद्दी से उतार दिया गया। उसकी जगह इटली में गौथों की हुकूमत कायम हो गई। लगभग सौ वर्षों के शासन के बाद सन् ५६५ ई० में गौथिक शासन समाप्त होकर इटली में लोंबार्दियों का शासन प्रारंभ हुआ।

सन् ७७४ ई० में चार्ल्स महान् (शार्लमान) अपने श्वशुर अंतिम लोंबार्द नरेश देसीदरिअस को पदच्युत कर स्वयं इटली का सम्राट् बन गया। चार्ल्स ने लोंबार्दी की बड़ी बड़ी जमींदारियाँ समाप्त करके उन्हें छोटी छोटी जमींदारियोंमें बाँट दिया और ईसाई धर्माध्यक्षों के अधिकारों को बढ़ा दिया। इस चार्ल्स राजकुल के आठ नरेशों ने सन् ८८८ ई० तक इटली पर शासन किया। १०वीं शताब्दी में मगयार कबीले की सेनाओं ने उत्तरी इटली पर आक्रमण कर उसके उपजाऊ प्रदेशों को वीरान बना दिया। मगयारों के आक्रमणों के बाद इटली पर निरंतर उत्तर से हूणों के और दक्षिण से अरबों के आक्रमण होते रहे। १०वीं शताब्दी के अंत में इटली के धर्माचार्यों के आग्रह पर जर्मनी के सैक्सन सम्राट् ओट्टो ने इटली पर विधिवत् जर्मन सत्ता की घोषणा कर दी। तब से १५वीं शताब्दी के अंत तक जर्मनी के बदलते हुए राजघरान इटली के सम्राट् बनते रहे।

१५वीं शताब्दी के अंत में अल्प काल के लिये इटली विदेशी शासन से मुक्त हुआ, किंतु १६वीं शताब्दी के आरंभ में वह फिर यूरोपीय राजनीति के शिकंजे में जकड़ गया। स्पेनी सत्ता अपने चरम उत्कर्ष पर थी। फ्रांस के साथ उसके युद्ध चल रहे थे। स्पेन, फ्रांस और आस्ट्रिया तीनों में रोम के प्रदेशों पर अधिकार करने के लिये प्रतिस्पर्धा चलने लगी। यह स्थिति नैपोलियन के आक्रमण के समय तक बनी रही।

१८ मई, सन् १८०४ ई० में नैपोलियन ने इटली के ऊपर अपने आधिपत्य की घोषणा की और २६ मई, सन् १८०५ ई०को मिलान के गिरजाघर में नैपोलियन ने इटली के लोंबार्द नरेशों का लौहमुकुट धारण किया।

इटली के ऊपर नैपोलियन का शासन यद्यपि क्षणिक रहा, फिर भी नैपोलियन के शासन ने इटलीवालों में एक राष्ट्र की ऐसी भावना भर दी और उनमें ऐसा संगठन और अनुशासन पदा कर दिया जो उन्हें निरंतर स्वाधीन होने की प्रेरणा देता रहा। नई संधि के अनुसार इटली के ऊपर आस्ट्रिया का संरक्षण लाद दिया गया। अंदर ही अंदर इस संरक्षण को हटाने के प्रयत्न होते रहे।

सन् १८३१ ई० में इटली के प्रसिद्ध देशभक्त जोसफ़ मात्सीनी ने मार्सेई में निर्वासित इतालियाई देशभक्तों की एक 'जिओवाने इतालिआ' (नौजवाने इतालिआ) नामक संस्था का निर्माण किया जिसका उद्देश्य इटली को स्वाधीन करना था।

मात्सीनी की स्वाधीनता की घोषणा को अप्रैल, सन् १८४६ में जनरल गारीबाल्दी ने मूर्त रूप दिया। गारीबाल्दी के नेतृत्व में हजारों नौजवानों ने फ्रेंच, स्पेनी, आस्ट्रियाई और नेपुल्सी सेनाओं का वीरता के साथ सामना किया। यद्यपि देशभक्तों की सेना चार चार विदेशी सेनाओं के सामने न ठहर सकी और गारीबाल्दी को मातृभूमि छोड़ अमरीका में शरण लेनी पड़ी, फिर भी इस असफल स्वाधीनतासंग्राम ने इतालियाई जनता की देशभक्ति की आकांक्षा अत्यधिक बढ़ा दी।

१० वर्ष बाद ११ मई, सन् १८५६ को गारीबाल्दी चुने हुए देशभक्तों के साथ अमरीका से अपनी मातृभूमि लौटा। उसने जनता की सहायता से पहले सिसली पर अधिकार किया। सिसली विजय के बाद २० हजार सेना के साथ गारीबाल्दी ने दक्षिण इटली में प्रवेश किया। १८ फरवरी, सन् सन् १८६० को इटली की नई पार्लामेंट की बैठक हुई और विधिवत् विक्टर इमानुअल को इटली का राजा घोषित कर दिया गया।

सन् १६१४-१८ के विश्वयुद्ध में इटली मित्रराष्ट्रों के पक्ष में अगस्त, सन् १६१६ में युद्ध में शरीक हुआ। उस पहले विश्वयुद्ध में इटली के ६ लाख सनिक मैदान में काम आए और लगभग १० लाख बुरी तरह जख्मी हुए। महायुद्ध के बाद राजनीतिक परिस्थितियों ने ऐसा रूप धारण किया कि ३० अक्तूबर, सन् १६२२ को इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में फासिस्त सत्ता के मंत्रिमंडल की स्थापना हो गई।

दूसरे विश्वयुद्ध में इटली ने धुरीराष्ट्रों का साथ दिया। मित्रराष्ट्रों की विजय के पश्चात् इटली से फासिस्त सत्ता का अंत हुआ। सन् १६४८ के नए विधान के अनुसार इटली ने वैधानिक राजतंत्र को समाप्त कर अपने को गणतंत्र घोषित कर दिया है।

सं०ग्रं०—डब्ल्यू० डब्ल्यू० फाउलर : रोम; जे० ट्रेवेलियन : ए शार्ट हिस्ट्री ऑव दि इटलियन पीपुल (१६३६); जे० ए० साइमंड : रेनेसाँ इन इटली (१८७५); डब्लू० आर० थेयर : डान ऑव इटैलियन इंडिपेंडेंस (१८६३); बोल्टन किंग : हिस्ट्री ऑव इटैलियन यूनिटी (१८६६); एल० विलारी : दि अवेकनिंग ऑव इटली (१६२४); एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (लेख—इटली) आदि। [वि० ना० पां०]

इटारसी मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले एवं तहसील में मध्य रेलवे की मुख्य लाइन (इलाहाबाद-बंबई) पर बंबई से ४६४ मील उत्तर-पूर्व में स्थित प्रगतिशील नगर है। (स्थिति २२° ३७′ उ० अक्षांश एवं ७७° ४७′ पूर्वी देशांतर)। यहाँ कानपुर और आगरा जानेवाली रेलवे लाइनों का भी जंकशन है। यहाँ से दिल्ली-मद्रास ग्रैंड ट्रंक रेलमार्ग गुजरता है। अतः यह मध्य रेलवे का एक प्रसिद्ध जंकशन है। १६०१ ई० में इस स्थान की जनसंख्या ५,७६६ थी, जो १६११ ई० में घटकर ४,४३० रह गई। क्रमिक गति से विकसित होकर १६४१ ई० में यह पुनः १४, २६६ हो गई तथा तीव्र गति से बढ़कर १६५१ ई० में यह २४,७६५ तक पहुँच गई। कुल जनसंख्या का लगभग ३० प्रति शत यातायात के धंधे में लगा है तथा २५ प्रति शत से भी अधिक लोग उद्योग धंधों से जीविकोपार्जन करते हैं। इटारसी न केवल होशंगाबाद जिले का ही,प्रत्युत बेतूल जिले का भी अधिकांश आयात, निर्यात एवं वस्तुवितरण करता है। अतः नगर का व्यापारिक एवं औद्योगिक महत्व तीव्र गति से बढ़ रहा है। यहाँ प्रति सप्ताह पशुओं का बड़ा मेला लगता है। यहाँ काठ, कोयला, लकड़ी एवं गल्ले के बड़े बड़े व्यापारी एवं अढ़तिए रहते हैं। [का० ना० सिं०]

इटावा उत्तर प्रदेश का एक जिला है, जो दक्षिण-पश्चिमी भाग में है। इसके उत्तर में फर्रुखाबाद तथा मैनपुरी, पश्चिम में आगरा, पूर्व में कानपुर तथा दक्षिण में जालौन और मध्य प्रदेश स्थित हैं। सन् १६५१ई० में इसका क्षेत्रफल १६७० वर्ग मील तथा जनसंख्या ६.७ लाख (ग्रामीण ८.७ लाख, नागरिक १.०१ लाख) थी। इसमें चार तहसीलें हैं: बिधुना (उ० पू०), औरैया (द०), भर्थना (केंद्र) तथा इटावा (प०)। यों तो यह जिला गंगा यमुना के द्वाबे का ही एक भाग है, परंतु इसे पाँच उपविभागों में बाँटा जा सकता है: (१) 'पछार'—यह सेंगर नदी के पूर्वोत्तर का समतल मैदान है जो लगभग आधे जिले में फैला हुआ है; (२) 'घार' सेंगर तथा यमुना का द्वाबा है जो अपेक्षाकृत ऊँचा नीचा है; (३) 'खरका'—इसमें यमुना के पूर्वकालीन भागों तथा नालों के भूमिक्षरण के स्पष्ट चिह्न विद्यमान हैं, (४) यमुना-चंबल-द्वाबा—एकमात्र बीहड़ प्रदेश है जो खेती के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है; (५) चंबल के दक्षिण की पेटी—यह एक पतली सी बीहड़ पेटी है जिसमें केवल कुछ ग्राम मिलते हैं; इसकी भूस्थिति यमुना-चंबल के द्वाबे से भी कठिन है। 'पछार' तथा 'घार' में दोमट और मटियार तथा 'भूड़' और 'झाबर' में 'चिक्का' मिट्टी पाई जाती है। अंतिम तीनों भागों में 'पाकड़' नामक कंकरीली मिट्टी भी मिलती है। दक्षिण में यत्रतत्र लाल मिट्टी मिलती है। इसकी जलवायु गर्मियों में गर्म तथा जाड़ों में ठंढी रहती है। वर्षा का वार्षिक औसत लगभग ३४·१५″ है।

इसकी कुल कृषीय भूमि ६०.३ प्रति शत है,वन केवल ३.६ प्रति शत है। सिंचाई के मुख्य साधन नहरें, कुएँ, नदियाँ तथा तालाब आदि हैं जिनमें नहरें ८५.३ प्रति शत, कुएँ १३.१ प्रति शत तथा अन्य साधन १.६ प्रति शत हैं। खरीफ रबी से अधिक महत्वपूर्ण है, खरीफ की मुख्य फसल बाजरा तथा रबी की चना है।

इटावा नगर इटावा जिले का केंद्र है जो यमुना के बाएँ किनारे पर बसा हुआ है। यह उत्तरी रेलवे का एक बड़ा स्टेशन है और फर्रुखाबाद-ग्वालियर तथा आगरा-इलाहाबाद जानेवाली पक्की सड़कें भी यहाँ मिलती हैं। यह आगरा से ७० मील पर दक्षिण-पूर्व में तथा इलाहाबाद से २०६ मील पर

उत्तर-पश्चिम में स्थित है। इस नगर में नालों की संख्या अधिक है अतः इसकी जल निकासी बहुत अच्छी है। यहाँ की जामा मस्जिद बहुत प्रसिद्ध है। कहा जाता है, पूर्वकाल में यह एक हिंदू मंदिर था जिसे मुसलमानों ने मस्जिद में परिणत कर दिया। चौहान राजाओं के प्राचीन दुर्ग के भग्नावशेष भी इटावा की गौरवगाथा के परिचायक हैं। हिंदूकाल में यह एक प्रसिद्ध नगर था, परंतु महमूद गजनवी तथा शहाबुद्दीन की लूट मार ने इस नगर के वैभव को मिट्टी में मिला दिया। मुगलकाल में इसका जीर्णोद्धार हुआ, परंतु मल्हारराव होल्कर ने सन् १७५० ई० के लगभग इस नगर को फिर लूटा। आजकल यह गल्ले तथा घी की बड़ी मंडी है और यहाँ का सूती उद्योग (विशेषकर दरी उद्योग) उन्नतिशील अवस्था में है। [ले० रा० सि० क०]

इडाहो प्रपात संयुक्त राज्य (अमरीका) के इडाहो राज्य का तीसरा बड़ा नगर तथा बानविल काउंटी की राजधानी है। यह स्नेक नदी के किनारे समुद्रतल से ४,७०९ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यह यूनियन पैसिफिक रेलवे का एक स्टेशन है। इसके अधिकांश उद्योग कृषि से संबंधित हैं। यहाँ चुकंदर की शक्कर के कारखाने, दुग्धशालाएँ तथा आलू के गोदाम हैं। इसकी जलविद्युत् मशीन बहुत बड़ी है। इसकी जनसंख्या सन् १९५० ई० में १९,२१८ थी। [ले० रा० सि० क०]

इतागाकी ताइसूके (१८३७-१९१९) जापानी राजनीतिज्ञ। जन्म तोसा में। प्रारंभिक ख्याति राजनीतिक सिपाही के रूप में जिसने सामंतवाद का उन्मूलन कर प्राशासनिक शक्ति राजसत्ता के हाथ में एकत्र करने में योग दिया। नवीन विधान में उसे मंत्री का पद मिला (१८७३)। सरकार की सामरिक नीति से मतभेद होने के कारण उसने त्यागपत्र दे दिया। अपने घर पर जनता को जनतंत्र शासन की प्रशिक्षा देने के उद्देश्य से स्कूल खोले जो बहुत जनप्रिय हुए। देखादेखी ऐसे अनेक प्रशिक्षण केंद्र खोले गए। इतागाकी "जापान के रूसो" के नाम से विख्यात हुए।

१८८१ में इतागाकी की अध्यक्षता में जापान का जिऊ-तो नामक पहला राजनीतिक दल बना जिसने देश में संसदीय शासन के प्रचलन में योग दिया। इतागाकी ने अपना सारा जीवन इस दल के संगठन में लगा दिया। १८८२ में एक हत्यारे ने इतागाकी पर वार किया, पर वे बच गए और हत्यारे को संबोधित करके उन्होंने कहा—"इतागाकी को मार सकते हो; स्वतंत्रता अमर है।" १८८७ में उन्हें एक बार फिर से मंत्रिपद और काउंट की उपाधि मिली। [स० च०]

इतालवी भाषा, आधुनिक इतालीय गणतंत्र की भाषा इतालवी है, किंतु कोर्सिका (फ्रांसीसी), त्रियेस्ते (यूगोस्लाविया) के कुछ भाग तथा सानमारीनो के छोटे से प्रजातंत्र में भी इतालवी बोली जाती है। इटली में अनेक बोलियाँ बोली जाती हैं जिनमें से कुछ तो साहित्यिक इतालवी से बहुत भिन्न प्रतीत होती हैं। इन बोलियों में परस्पर इतना भेद है कि उत्तरी इटली के लोंबार्द प्रांत का निवासी दक्षिणी इटली के कालाब्रिया की बोली शायद ही समझ सकेगा या रोम में रहनेवाला केवल साहित्यिक इतालवी जाननेवाला विदेशी रोमानो बोली (रोम के त्राएतेवेरे मुहल्ले की बोली) को शायद ही समझ सकेगा। इतालवी बोलियों के नाम इतालवी प्रांतों की सीमाओं से थोड़े बहुत मिलते हैं। स्विट्ज़रलैंड से मिले हुए उत्तरी इटली के कुछ भागों में लादीन वर्ग की बोलियाँ बोली जाती हैं—जो रोमांस बोलियाँ हैं; स्विट्ज़रलैंड में भी लादीनी बोली जाती है। वेनत्सियन बोलियाँ इटली के उत्तरी-पश्चिमी भाग में बोली जाती हैं, वेनिस नगर इसका प्रतिनिधि केंद्र कहा जा सकता है। पीमोंते, लिगूरिया, लोंबार्दिया तथा एमीलिया प्रांतों में इन्हीं नामों की बोलियाँ बोली जाती हैं जो कुछ कुछ फ्रांसीसी बोलियों से मिलती हैं। लातीनी के अंत्य स्वर का इनमें लोप हो जाता है—उदाहरणार्थ फात्तो (तोस्कानो), फेत (पीमोतेसे) ओत्तो, ओत (आठ)। तोस्काना प्रांत में तोस्काना वर्ग की बोलियाँ बोली जाती हैं। साहित्यिक इतालवी का आधार तोस्काना प्रांत की, विशेषकर फ्लोरेंस की बोली (फियोरेंतीवो) रही है। यह लातीनी के अधिक समीप कही जा सकती है। कंठ्य का महाप्राण उच्चारण इसकी प्रमुख विशेषता है—यथा कासा, कहासा (घर)। उत्तरी और दक्षिणी बोलियों के क्षेत्रों के बीच में होने के कारण भी इसमें दोनों वर्गों की विशेषताएँ कुछ कुछ समन्वित हो गईं। उत्तरी कोर्सिका की बोली तोस्कानो से मिलती है। लात्सिओ (रोम केंद्र), ऊंब्रिया (पेरूज्या केंद्र) तथा मार्के की बोलियों को एक वर्ग में रखा जा सकता है और दक्षिण की बोलियों में अब्रूज्जी, कांपानिया (नेपल्स प्रधान केंद्र), कालाब्रिया, पूल्या और सिसिली की बोलियाँ प्रमुख हैं—इनकी सबसे प्रमुख विशेषता लातीनी के संयुक्त व्यंजन ण्ड के स्थान पर न्न, म्ब के स्थान पर म्म, ल्ल के स्थान पर ड्ड का हो जाना है। सार्देन्या की बोलियाँ इतालवी से भिन्न हैं।

एक ही मूल स्रोत से विकसित होते हुए भी इतनी भिन्नता इन बोलियों में कदाचित् लातीनी के भिन्न प्रकार से उच्चारण करने से आ गई होगी। बाहरी आक्रमणों का भी प्रभाव पड़ा होगा। इटली की बोलियों में सुंदर ग्राम्य गीत हैं जिनका अब संग्रह हो रहा है और अध्ययन भी किया जा रहा है। बोलियों में सजीवता और व्यंजनाशक्ति पर्याप्त है। नापोलीतानो के लोकगीत तो काफी प्रसिद्ध हैं।

साहित्यिक भाषा—९वीं सदी के आरंभ की एक पहेली 'इंदोवीनेल्लो वेरोनेसे' (वेरोना की पहेली) मिलती है जिसमें आधुनिक इतालवी भाषा के शब्दों का प्रयोग हुआ है। उसके पूर्व के भी लातीनी अपभ्रंश (लातीनो वोल्गारे) के प्रयोग लातीनी में लिखे गए हिसाब के कागजपत्रों में मिलते हैं जो आधुनिक भाषा के प्रारंभ की सूचना देते हैं। ७वीं और ८वी सदी में लिखित पत्रों में स्थानों के नाम तथा कुछ शब्दों के रूप मिलते हैं जो नवीन भाषा के द्योतक हैं। साहित्यिक लातीनी और जनसामान्य की बोली में धीरे धीरे अंतर बढ़ता गया और बोली की लातीनी से ही आधुनिक इतालवी का विकास हुआ। इस बोली के अनेक नमूने मिलते हैं। सन् ९६० में मोंतेकास्सीनो के मठ की सीमा की पंचायत के प्रसंग में एक गवाही का बयान तत्कालीन बोली में मिलता है; इसी प्रकार की बोली तथा लातीनी अपभ्रंश में लिखित लेख रोम के संत क्लेमेंते के गिरजे में मिलता है। ऊंब्रिया तथा मार्के में भी ११वीं १२वीं शदी की भाषा के नमूने धार्मिक स्वीकारोक्तियों के रूप में मिलते हैं। १२वीं सदी का तोस्कानो भाषा का नमूना मसखरे के गीत 'रीत्मो ज्यूल्लारेस्को तोस्कानो' में मिलता है। ऐसे ही अन्य महत्वपूर्ण नमूने भी मिलते हैं, किंतु इतालवी भाषा की पद्यबद्ध रचनाओं के उदाहरण सिसिली के सम्राट् फ़ेडरिक द्वितीय (१३वीं सदी) के दरबारी कवियों के मिलते हैं। ये कविताएँ सिसिली की बोली में रची गई होंगी। शृंगार ही इन कविताओं का प्रधान विषय है। पिएर देल्ला विन्या, याकोपो द अक्वीनो आदि अनेक पद्यरचयिता फ़ेडरिक के दरबार में थे। वह स्वयं भी कवि था।

वेनेवेंत्तो के युद्ध के पश्चात् साहित्यिक और सांस्कृतिक केंद्र सिसिली के बजाय तोस्काना हो गया जहाँ शृंगारविषयक गीतिकाव्य की रचना हुई, गुइत्तोने देल वीवा द आरेज्जो (मृत्यु १२९४ ई०) इस धारा का प्रधान कवि था। फ्लोरेंस, पीसा, लूक्का तथा आरेज्जो में इस काल में अनेक कवियों ने तत्कालीन बोली में कविताएँ लिखीं। बोलोन (इता० बोलोन्या) में साहित्यिक भाषा का रूप स्थिर करने का प्रयास किया गया। सिसिली और तोस्काना काव्यधाराओं ने साहित्यिक इतालवी का जो रूप प्रस्तुत किया उसे अंतिम और स्थिर रूप दिया 'दोल्चे स्तील नोवो' (मीठी नवीन शैली) के कवियों ने। इन कवियों ने कलात्मक संयम, परिष्कृत रुचि तथा परिमार्जित समृद्ध भाषा का ऐसा रूप रखा कि आगे की कई सदियों के इतालवी लेखक उसको आदर्श मानकर इसी में लिखते रहे। दांते अलीमिएरी (१२६५-१३२१) ने इसी नवीन शैली में, तोस्काना की बोली में, अपनी महान् कृति 'दिवीना कोमेदिया' लिखी। दांते ने 'कोन्वीविओ' में गद्य का भी परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया और गुइदो फाबा तथा गुइत्तोने द आरेज्जो की कृत्रिम तथा साधारण बोलचाल की भाषा से भिन्न स्वाभाविक गद्य का रूप उपस्थित किया। दांते तथा 'दोल्चे स्तील नोवो' के अन्य अनुयायियों में अग्रगण्य हैं फ्रोंचेस्को, पेत्रार्का और ज्योवान्नी बोक्काच्यो। पेत्रार्का ने फ्लोरेंस की भाषा को परिमार्जित रूप प्रदान किया तथा उसे व्यवस्थित किया। पेत्रार्का की कविताओं और बोक्काच्यो की कथाओं ने इतालवी साहित्यिक भाषा का अत्यंत सुव्यवस्थित रूप सामने रखा। पीछे के लेखकों ने दांते, पेत्रार्का और बोक्काच्यो की कृतियों से सदियों तक प्रेरणा ग्रहण की। १५वीं सदी में लातीनी के प्राचीन साहित्य के प्रशंसकों ने लातीनी को चलाने की चेष्टा की और प्राचीन सभ्यता के अध्ययनवादियों (मानवता-

वादी—ह्यूमैनिस्ट) ने नवीन साहित्यिक भाषा बनाने की चेष्टा की, किंतु यह लातीनी प्राचीन लातीनी से भिन्न थी। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप साहित्यिक भाषा का रूप क्या हो, यह समस्या खड़ी हो गई। एक दल विभिन्न बोलियों के कुछ तत्व लेकर एक नई साहित्यिक भाषा गढ़ने के पक्ष में था, एक दल तोस्काना, विशेषकर फ्लोरेंस की बोली को यह स्थान देने के पक्ष में था और एक दल जिसमें पिएतरो बेंबो (१४७०-१५८७) प्रमुख था, चाहता था कि दांते, पेत्रार्का और वोक्काच्यो की भाषा को ही आदर्श माना जाय। मैकिया-वेली ने भी फियोरेंतीनो का ही पक्ष लिया। तोस्काना की ही बोली साहित्यिक भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो गई। आगे सन् १६१२ में क्रूस्का अकादमी ने इतालवी भाषा का प्रथम शब्दकोश प्रकाशित किया जिसने साहित्यिक भाषा के रूप को स्थिर करने में सहायता प्रदान की। १८वी सदी में एक नई स्थिति आई। इतालवी भाषा पर फ्रेंच का अत्यधिक प्रभाव पड़ना शुरू हुआ। फ्रेंच विचारधारा, शैली, शब्दावली तथा वाक्यांशों से और मुहावरों के अनुवादों से इतालवी भाषा की गति रुक गई। फ्रांसीसी बुद्धिवादी आंदोलन उसका प्रधान कारण था। इतालवी भाषा के अनेक लेखकों—आल्गारोत्ती, वेर्री, बेक्कारिया—ने निःसंकोच फ्रेंच का अनुसरण किया। शुद्ध इतालवी के पक्षपाती इससे बहुत दुःखित हुए। मिलान के निवासी अलेस्सांद्रो मांजोनी (१७७५-१८७३) ने इस स्थिति को सुलझाया। राष्ट्र की एकता के लिये वे एक भाषा का होना आवश्यक मानते थे और फ्लोरेंस की भाषा को वे उस स्थान के उपयुक्त समझते थे। अपने उपन्यास 'ई प्रोमेस्सी स्पोसी' (सगाई हुई) में फ्लोरेंस की भाषा का साहित्यिक आदर्श रूप उन्होंने स्थापित किया और इस प्रकार तोस्काना की भाषा ही अंतिम रूप से साहित्यिक भाषा बन गई। इटली के राजनीतिक एकता प्राप्त कर लेने के बाद यह समस्या निश्चित रूप से हल हो गई।

सं०ग्रं०—भा० स्क्याफफीनी : मोमेंती दी स्तोरिया देल्ला लिंगुआ इतालियाना, बारी, १९५२; ज्याकोमो देवोतो-प्रोफीलो दी स्तोरिया लिंगु : इस्तीका इतालियाना, फीरेंजे, १९५३; आंजेलो मोंतेवेरदी : मानुआले दी आव्वियामेंतो आल्यी स्तूदी रोमांजी, मिलानो, १९५२; ना० सापेन्यो : कांपेंदिओ दी स्तोरिया देल्ला लेत्तेरातूरा इतालियाना, ३ भाग, फीरेंज, १९५२। [रा० सिं० तो०]

इतालीय साहित्य

इटली में मध्ययुग में जिस समय मोंतेकास्सीनो जैसे केंद्रों में लातीनी में अलंकृत शैली में पत्र लिखने, अलंकृत गद्य लिखने (आर्तेस दिक्तांदी, अर्थात् रचना कला) की शिक्षा दी जा रही थी उस समय विशेष रूप से फ्रांस में तथा इटली में भी नवीन भाषा में कविता की रचना होने लगी थी। अलंकृत लययुक्त मध्य-युगीन लातीनी का प्रयोग धार्मिक क्षेत्र तथा राजदरबारों तक ही सीमित था, किंतु रोमांस बोलियों में रचित कविता लोक में प्रचलित थी। चार्ल्स मान्य तथा आर्थर की वीरगाथाओं को लेकर फ्रांस के दक्षिणी भाग (प्रोवेंसाल) में १२वीं सदी में प्रोवेंसाल बोली में पर्याप्त काव्यरचना हो चुकी थी। प्रोवेंसाल बोली में रचना करनेवाले दरबारी कवि (त्रोवातोरी) एक स्थान से दूसरे स्थान पर आश्रयदाताओं की खोज में घूमा करते थे और दरबारों में अन्य राजाओं का यश, यात्रा के अनुभव, युद्धों के वर्णन, प्रेम की कथाएँ आदि नाना विषयों पर कविताएँ रचकर यश, धन एवं संमान की आशा में राजा रईसों के यहाँ उन्हें सुनाया करते थे। इतालवी राजदरबार से संबंध रखनेवाला पहला दरबारी कवि (त्रोवातोरे) रामवाल्दो दे वाकेइरास कहा जा सकता है जो प्रोवेंसा (फ्रांस) से आया था। इस प्रकार के कवियों के समान उसकी कविता में भी प्रेम, हर्ष, वसंत तथा हरे भरे खेतों और मैदानों का चित्रण है तथा भाषा मिश्रित है। सावोइया, मोंफेरांतो, मालास्पीना, एस्ते और रावेन्ना के रईसों के दरबारों में ऐसे कवियों ने आकर आश्रय ग्रहण किया था। इटली के कवियों ने भी प्रोवेंसाल शैली में इस प्रकार की काव्यरचना की। सोरदेल्लो दी गोइतो (मृत्यु १२७० ई०), लांफाको क्वीगाला, पेरचेवाल दोरिया जैसे अनेक इतालीय त्रोवातोरी कवि हुए। दी गोइतो का तो दांते ने भी स्मरण किया है। इतालीय काव्य का आरंभिक रूप त्रोवातोरी कवियों की रचनाओं में मिलता है।

धार्मिक, नैतिक तथा हास्यप्रधान लोकगीत—इतालीय साहित्य के प्राचीनतम उदाहरण पद्यबद्ध ही मिलते हैं। १२वीं १३वीं सदी की धार्मिक पद्यबद्ध रचनाएँ तत्कालीन लोकरुचि की परिचायक हैं। धार्मिक आंदोलनों में आसीसी के संत फ्रांचेस्को (११८२-१२२६) के व्यक्तित्व ने जनसामान्य के हृदय का स्पर्श किया था। ऊंब्रिया की बोली में रचित उनका सरल भावुकतापूर्ण गीत इल-कांतीको दी फ्राते सोले (सूर्य का गीत) तथा उनके अनुयायी ज्याकोमीको दा वेरोना की पद्यरचना दे जेरूसलेम चेलेस्ती (स्वर्गीय जेरुसलेम) तथा १३वीं सदी में रचित लाउदे (धार्मिक नाटकीय संवाद) इन सबमें लोकरुचि की धार्मिक भावना से युक्त कविता का स्वरूप मिलता है। उत्तरी इटली के ऊगोच्योने दा लोदी की धार्मिक नैतिक कृति लीब्रो (पुस्तक), गेरारदो पेतेग का सुभाषित संग्रह (नोइए), वोनवेसीन देल्ला रीवा (मृत्यु १३१३ ई० के लगभग) का नैतिक पद्यसंग्रह कोंत्रास्ती (विषमताएँ), आतातो देई मेसी (महीनों का परिचय—बारहमासा जैसा), लीब्रो देल्ले त्रे स्क्रीत्तूरे (तीन लेखों की पुस्तक) प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। इतालीय साहित्य को लययुक्त पद्य इसी धारा ने प्रदान किया। इस काल के लोक-गीत तथा मसखरों की पद्यबद्ध हल्के हास्य से युक्त रचनाएँ भी इतालीय साहित्य के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। विवाहादि विभिन्न अवसरों पर गाए जानेवाले लोकनृत्य-नाट्य का अच्छा उदाहरण बोलोन का अवावील का गीत है। लोक में प्रचलित इस काव्यधारा ने शिष्ट कवियों के लिये काव्य के नमूने प्रस्तुत किए। इसी प्रकार का एक रूप ज्यूल्लारी (मसखरे, अंग्रेजी जोस्लर) लोगों की रचनाओं में मिलता है। ज्यूल्लारी राजा रईसों के दरबारों में घूमा करते थे और स्वरचित तथा दूसरों की हास्यप्रधान रचनाओं को सुनाकर मनोरंजन किया करते थे। ऐसी रचनाओं में तोस्काना का साल्वा लो वेस्कोवो सेनातो (१२वीं सदी, पीसा के आर्कबिशप की प्रशंसा) इतालीय साहित्य के प्राचीनतम उदाहरणों में से माना जाता है। सिएना के मसखरे (भाँड़) रूज्येरी अपूलिएसे (१३वीं सदी का पूर्वार्ध) की रचनाएँ वांतो (अभिमान), व्यंग्यकविता पास्स्योने उल्लेखयोग्य हैं। लोककाव्य और शिष्ट साहित्यिक कविता के बीच की कड़ी मसखरों की कविताएँ तथा धार्मिक नैतिक पद्यबद्ध रचनाएँ प्रस्तुत करती हैं। किंतु इतालीय साहित्य का वास्तविक आरंभ सिसिली के सम्राट् फेदेरीको द्वितीय के राजदरबार के कवियों से हुआ।

सिचिलीय (सिसिलीय) और तोस्कन काव्यधारा—फेदेरीको द्वितीय (११९४-१२५०) तथा मानफ्रेदी (मृत्यु १२६६ई०) के राजदरबारों में कवियों तथा विद्वानों का अच्छा समागम था। उनके दरबारों में इटली के विभिन्न प्रांतों से आए हुए अनेक कवि, दार्शनिक, संगीतज्ञ तथा नाना शास्त्रविशारद थे। इन कवियों के सामने प्रोवेंसाल भाषा तथा त्रोवातोरी कवियों के नमूने थे। उन्हीं आदर्शों को सामने रखकर इन कवियों ने सिसिली की तत्कालीन भाषा में रचनाएँ कीं। विषय, व्यक्त करने का ढंग, प्रवृत्तियों आदि अनेक प्रकार की समानताएँ इन कवियों की कविताओं में मिलती हैं। इनमें से पिएर देल्ला विन्या, आर्रीगो तेस्ता (आरेज्जोनिवासी), याकोपो मोस्ताच्ची, गुइदो देल्ले कोलोन्ने, याकोपो द'अक्वीनो (जेनोवा निवासी), ज्याकोमो दा लेंतीनो तथा सम्राट् के पुत्र एंजो के नाम प्रसिद्ध हैं। इन्होंने साहित्यिक भाषा को एकरूपता दी। वेनवेंतो के युद्ध (१२६६) के पश्चात् सिसिली से साहित्यिक केंद्र उठकर तोस्काना पहुँचा। फ्लोरेंस का राजनीतिक महत्व भी इसके लिये उत्तरदायी था। वहाँ प्रेमपूर्ण विषयों के गीतिकाव्य की रचना पहले से ही प्रचलित थी। त्रोवातोरी कवियों का प्रभाव पड़ चुका था। फ्लोरेंस की काव्यधारा में सबसे प्रधान कवि गुइत्तोने द'आरेज्जो (१२२५-९४) है। इसने अनेक कवियों को प्रभावित किया। बोनाज्यूंतां दा लूका, क्यारो दावांजाती आदि इस धारा के कवियों ने फ्लोरेंस में काव्य की ऐसी भूमि तैयार की जिस-पर आगे चलकर सुंदर काव्यधारा प्रवाहित हुई। इस युग की रुचि पर प्रभाव डालनेवाला लेखक ब्रुनेत्तो लातीनी (१२२०-१२९३) था जिसका स्मरण दांते ने अपनी कृति में किया है। उनकी रूपक काव्यकृति तेसोरेत्तो (खजाना) में अनेक विषयों पर विचार किया गया है।

प्रेम की भावना से प्रेरित होकर कोमल पदावली में लिखनेवाले कवियों की काव्यधारा को दांते ने 'दोल्चे स्तील नुओवो' (मीठी नई शली) नाम दिया। इस काव्यधारा का प्रभाव आगे की कई पीढ़ियों के कवियों पर पड़ता रहा। इस नई काव्यधारा के प्रवर्तक बोलोन के गुइदो गुइनीचेल्ली (१२३०-१२७६) माने जाते हैं। गुइदो कावाल्कांती (१२५२-

१३००) का गीत दोन्ना मे प्रेगा पेर्के इग्रो वोल्या दीरे (महिला मेरी प्रार्थना क्यों करती है, मैं कहना चाहता हूँ) इस काव्यधारा का उत्कृष्ट उदाहरण माना जाता है। कावालकांती वास्तव में प्रेम-काव्य-धारा का दांते के पूर्व सबसे बड़ा प्रतिनिधि कवि है। लापो ज्यान्नी, ज्यान्नी ग्राल्फानी, चीनो दा पिस्तोइया (१२७०-१३३६), दीनो फ्रेस्कोबाल्दी (मृत्यु १३१६ ई०) इस धारा के अन्य कवि हैं।

१३वीं सदी में कविता की प्रधानता रही। गद्य अपेक्षाकृत कम लिखा गया। सिएना के हिसाबखातों में प्रयुक्त गद्य के उदाहरण तथा कुछ व्यापारिक पत्रों के अतिरिक्त मार्को पोलो की यात्राओं का विवरण इल मिलियोने, कहानीसंग्रह नोवेल्लीनो तथा धार्मिक और नैतिक विषयों पर लिखे गए पत्रों–ले-लैत्तेरे–का संग्रह, कथासंग्रह लीब्रोदेई सेत्ते सावी आदि उल्लेखनीय गद्यरचनाएँ हैं। इन रचनाओं में लोक में प्रचलित सहज गद्य तथा कृत्रिम गद्यशैली दोनों रूप मिलते हैं।

नई मीठी शैली काव्यधारा के साथ ही एक और धारा प्रवाहित हो रही थी जिसमें साधारण श्रेणी के लोगों के मनोरंजन की विशेष सामग्री थी। खेलों, नृत्यों, साधारण रीति रिवाजों को ध्यान में रखकर ये कविताएँ लिखी जाती थीं। फोल्गोरे दा सान जिमीनियानो (दरबारी कवि) ने दिनों, महीनों, उत्सवों को लक्ष्य करके कई सॉनेट लिखे हैं। ऐसा ही कवि चेक्को ग्रॉजियोलिएरी है, इसका प्रसिद्ध सॉनेट है—स'इ' फोस्से फोको, ग्ररदेरेइ ल' मोंदो (अगर मैं आग होता तो संसार को जला देता)। इसी धारा में बुद्धिवादी उपदेशक कवि बोनवेसीन दा रीवा आदि रखे जा सकते हैं। धार्मिक साहित्य की दृष्टि से याकोपोने दा तोदी भी स्मरणीय है।

दांते, पेत्रार्का, बोक्काच्यो—मीठी नई शैली का पूर्णतम विकास तथा इतालीय साहित्य का बहुमुखी विकास इन तीन महान् साहित्यकारों की कृतियों में मिलता है। इतालीय साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं दांते अलिघिएरी (१२६५-१३२१)। दांते की प्रतिभा अपने समकालीन साहित्यकारों में ही नहीं, विश्वसाहित्य के सब समय के काव्यों में बहुत ऊँची है। समकालीन संस्कृति को आत्मसात् करके उन्होंने ऐसे मौलिक सार्वभौम रूप में रखा कि इतालीय साहित्य को उन्होंने एक नया मोड़ दिया। उनका जीवन काफी घटनापूर्ण रहा। उनकी कविता का प्रेरणास्रोत उनकी प्रेमिका बेग्रात्रीचे थी। वीता नोवा (नया जीवन) के अनेक गीत प्रेमविषयक हैं। यह प्रेम आदर्शवादी प्रेम है। बेग्रात्रीचे की मृत्यु के बाद दांते का प्रेम जैसे एक नवीन कल्पना और सौंदर्य से युक्त हो गया था। वीता नोवा के गीतों में कल्पना, संगीत, आश्चर्य सबका सुंदर समन्वय है। इसी के समान अप्रौढ़ कृति इल कोंवीवियो (सहपान) है जिसमें इतालीय गद्य का प्रथम सुंदर उदाहरण मिलता है। इस कृति में दांते ने कुछ गीतों की व्याख्या की है, वे अलग भी ले रीमे में मिलते हैं। इतालीय भाषा पर लातीनी में दांते की कृति दे वुल्गारी एलोक्वेंतिया है। दांते की राजनीतिक विचारधारा का परिचय उनकी लातीनी कृति मोनार्किया में मिलता है। इन छोटी कृतियों के साथ ही उनके पत्रों–ले एपीस्तोले–आदि का भी उल्लेख किया जा सकता है। किंतु दांते और इतालीय साहित्य की सबसे श्रेष्ठ कृति कोम्मेदिया (प्रहसन) है। कृति के इन्फेर्नो (नरक), पुरगातोरिग्रो (शुद्धिलोक) और पारादीसो (स्वर्ग), तीन खंडों में १०० कांती (गीत) हैं। कोम्मेदिया एक प्रकार से शाश्वत मानव भावों के इतिहास का महाकाव्य है। दांते ने अपना परिचित सारा ऐतिहासिक, धार्मिक, दार्शनिक जगत् उसमें रख दिया है। इतिहास, कल्पना, धर्म आदि क्षेत्रों के व्यक्ति कोम्मेदिया में मिलते हैं। रसों और भावों की दृष्टि से उसमें मानव की सभी स्थितियाँ मिलती हैं। कोमल, परुष, करुण, नम्र, भयानक, गर्व, अभिमान, दर्प, हास्य, हर्ष, विषाद आदि सभी भाव कोम्मेदिया में मिलते हैं और साथ ही अत्यंत उत्कृष्ट काव्य। मानव संस्कृति का यह एक अत्यंत उच्च शिखर है। इतालीय भाषा का इस कृति के द्वारा दांते ने रूप स्थिर कर दिया। कृति के प्रति श्रद्धा के कारण उसके साथ दिवीना (दिव्य) नाम जोड़ दिया गया। दिवीना कोम्मेदिया का प्रभाव इतालीय जीवन पर अभी भी बहुत है।

फ्रांचेस्को पेत्रार्का (१३०४-१३७४) को इटली का पहला मानवतावादी तथा नवीन धारा का पहला गीतिकवि कहा जा सकता है। प्राचीन लातीनी साहित्य का उसने गंभीर अध्ययन और यूरोप के अनेक देशों का भ्रमण किया था। अपने समय के अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों से उसका परिचय था। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में जिस प्रकार पेत्रार्का प्राचीनता का पक्षपाती था, राजनीति के क्षेत्र में भी प्राचीन रोम के वैभव का वह प्रशंसक था। प्राचीन लातीनी कवियों की शैली पर पेत्रार्का ने अनेक ग्रंथ लातीनी में लिखे—ल'आफ्रीका लातीनी में लिखा प्रधान काव्य है। लातीनी गद्य में भी पेत्रार्का ने प्रसिद्ध पुरुषों की जीवनियाँ—दे वीरीस इलुस्त्रीबुस, धार्मिक प्रवचन—इल सेक्रेतुम तथा अन्य अनेक ग्रंथ लिखे। पेत्रार्का की इतालीय भाषा में लिखित गीति लेरीमे, कॉजोनिएरे तथा ई त्रियोंफी हैं। लाउरा नामक एक युवती पेत्रार्का की प्रेयसी थी। इस प्रेम ने पेत्रार्का को अनेक गीत लिखने की प्रेरणा प्रदान की। कांजोनिएरे को पेत्रार्का के प्रेम का इतिहास कहा जा सकता है। रीमे में प्रेम, राजनीति, मित्रों तथा प्रशंसकों के विषय में कविताएँ हैं। त्रियोंफी रूपक काव्य है जिसे पेत्रार्का अंतिम रूप नहीं दे सका। प्रेम, मृत्यु, यश, काल, शाश्वतता जैसे विषयों पर रचनाएँ की गई हैं। पेत्रार्का की रचनाओं में सतर्क कलाकार के दर्शन होते हैं। बाह्य रूप को सजाकर रखने में वह अद्वितीय कवि है। उसकी समस्त गीतिरचनाएँ अपनी आत्मा से ही जैसे बातचीत का रूप हों। वास्तविकता या वर्णनात्मकता का उनमें प्रायः अभाव है। भाषा का रूप ऐसा सजाकर रखा है कि उनकी भाषा आधुनिक प्रतीत होती है।

ज्योवान्नी बोक्काच्यो (१३१३-१३७५) भी प्राचीनता का प्रशंसक और लातीनी का अच्छा ज्ञाता था। पेत्रार्का को बोक्काच्यो बड़ी श्रद्धा और प्रेम से देखता था। दोनों बड़े मित्र थे किंतु पेत्रार्का के समान विद्वान् तथा गंभीर विचारक बोक्काच्यो नहीं था। उसने गद्य पद्य दोनों में अच्छी रचना की। इतालीय गद्य साहित्य की प्रथम गद्यकथा फीलोकोलो में स्पेन के राजकुमार फ्लोरिग्रो और ब्यांचीफियोरे की प्रेमकथा है। फीलोस्त्रातो (प्रेम की विजय) पद्यबद्ध कथाकृति है। तेसेइदा पहली इतालीय पद्यबद्ध प्रेमकथा है जिसमें प्रेम के साथ युद्धवर्णन भी है। निन्फाले द' अमेतो गद्य काव्य है जिसमें बीच बीच में पद्य भी हैं। इसमें पशुचारक अमेतो की कल्पित प्रेमकहानी है जिसे रूपक का रूप दे दिया गया है। इसे पहली इतालीय पशुचारक प्रेमकथा कहा जा सकता है। फियामेत्ता भी एक छोटी प्रेमकथा है जिसमें नायिका उत्तम पुरुष में अपनी प्रेमकथा कहती है। इस गद्यकृति में बोक्काच्यो ने प्रेम की वेदना का बड़ा सूक्ष्म चित्रण किया है। लघु कृतियों में निन्फाले फिएसोलानो सुंदर काव्यकृति है। बोक्काच्यो की सर्वप्रसिद्ध तथा प्रौढ़ कृति देकामेरोन (दस दिन) है। कृति में सौ कहानियाँ हैं, जो दस दिनों में कही गई हैं। फ्लोरेंस की महामारी के कारण सात युवतियाँ और तीन युवक शहर से दूर एक भग्न प्रासाद में ठहरते हैं और इन कहानियों को कहते सुनते हैं। ये कहानियाँ बड़े ही कलात्मक ढंग से एक दूसरी से जुड़ी हुई हैं। कृति में सुंदर वर्णन है। प्रत्येक कहानी कला का सुंदर नमूना कही जा सकती है। कुछ कहानियाँ बहुत शृंगारपूर्ण हैं। भाषा, वर्णन, कला आदि की दृष्टि से देकामेरोन् अत्यंत उत्कृष्ट कृति है। इतालीय साहित्य में बहुत दिनों तक दिवीना कोम्मेदिया तथा देकामेरोन् के अनुकरण पर कृतियाँ लिखी जाती रहीं। बोक्काच्यो ने लातीनी में भी अनेक कृतियाँ लिखी हैं तथा वह इटली का पहला इतिहासलेखक कहा जा सकता है। दांते का वह बड़ा प्रशंसक था; दांते की प्रशंसा में लिखी कृति त्रात्तातेल्लो इन लाउदे दी दांते (दांते की प्रशंसा में प्रबंध) तथा इल कोमेंते (टीका) दांते को समझने के लिये अच्छी कृतियाँ हैं।

१४वीं सदी के अन्य साहित्यकारों में राजनीति से संबंधित पद्यरचयिता तथा गीतिकार फाज्यो देल्यी ऊबेरती अपने प्रबंधात्मक काव्य दीत्तामोंदो (संसारनिर्देश) के लिये प्रसिद्ध है। प्रेमादि भावों को लकर कविता करनेवाले अंतोनियो बेक्कारी, सीमोने सेरदीनी, सॉनेटों के रचयिता अंतोनियो पुच्ची तथा कवि और कहानीकार फ्रांको साक्केत्ती (१३३०-१४००), धार्मिक धारा में किसी अज्ञात लेखक की कृति ई फियोरेत्ती दी सान फ्रांचेस्को (संत फ्रांसिस की पुष्पिकाएँ) तथा याकोपो पासावांती की कृतियाँ, सांता कातेरीना दा सिएना (१३४७-१३८०) के धार्मिक पत्र उल्लेखनीय हैं। समसामयिक परिस्थिति पर प्रकाश डालनेवाले विवरणों के लेखकों में दीनो कांपायी (१२५५-१३२४) तथा ज्योवान्नी विल्लानी (मृत्यु १३४८ ई०) प्रसिद्ध हैं। विल्लानी ने अपने समय की अनेक रोचक सूचनाएँ दी हैं।

१५वीं सदी में मानववाद के प्रभाव के कारण इतालीय साहित्य के स्वच्छंद विकास में बाधा पड़ गई। पेत्रार्का के पहले ही प्राचीन युग के

अध्येता अल्बेरतीनो मूस्सातो मानववाद की नींव डाल चुके थे। इनका मत था कि मानव आत्मा के सबसे अधिकारी अध्येता प्राचीन थे, उन प्राचीनों की कृतियों का अध्ययन मानववाद है। इस परंपरा के कारण प्राचीन लातीनी रचनाओं, इतिहास आदि का अध्ययन, भाषाओं का अध्ययन तो हुआ, लेकिन इतालीय के स्थान पर लातीनी में रचनाएँ होने लगीं जिनमें मौलिकता बहुत कम रह गई। सभी लेखक प्राचीन मूल साहित्य की ओर मुड़ गए और उसकी शैली की नकल करने लगे। पेत्रार्का से प्रभावित कोलूच्यो सालूताती, ग्रीक और लातीनी रचनाओं के अध्येता, संग्रहकर्ता नीक्कोलो निक्कोली, दार्शनिक प्रबंध और पत्रलेखक पोज्जो ब्राच्योलीनी भाषा, दर्शन, इतिहास पर लिखनेवाले लोरेंजो वाल्ला आदि प्रमुख लेखक हैं। इटली से यह नई धारा यूरोप के अन्य देशों में भी पहुँची और देशानुकूल इसमें परिवर्तन भी हुए। साहित्य के नए आदर्शों का भी मानववादियों ने प्रचार किया। फ्रांचेस्को फीलेल्फो (१३९८-१४८१) इस नए साहित्यिक समाज का १५वीं सदी का अच्छा प्रतिनिधि कहा जा सकता है। मानववादी धारा के कवियों का आदर्श प्राचीन लातीनी कवियों की रचनाएँ ही थीं, प्रकृति या समसामयिक समाज का इनके लिये कोई महत्व नहीं था, किंतु १५वीं सदी के उत्तरार्ध में अनेक साहित्यिक व्यक्तित्व हुए जिनमें से जीरोलामो सावोनारोला (१४५२-१४९८) कवि, लूइजी पुलची (१४३२-१४८४) सामान्य श्रेणी के हैं। पुलची का नाम उनकी वीरगाथात्मक कृति मोर्गांते के कारण अमर है। पुलची की कृति के समान ही मांतेओ मारिआ बोइ-यार्दो (१४४१-१४९४) की कृति ओरलांदो इन्नामोरातो (आसक्त ओर-लांदो) है। यद्यपि कृति में प्राचीनता की जगह जगह छाप है, तथापि उसमें पर्याप्त प्रवाह और सजीवता है। अपनी सदी का यह सबसे उत्तम प्रेम-गीति-काव्य है। कार्लोमान्यो (चार्लीमैग्ना) से संबंधित कथाप्रवादों से कृति का विषय लिया गया है। कृति अधूरी रह गई थी जिसे आरिओस्तो ने पूरा किया। ओरलांदो और रिनाल्दो दो वीर योद्धा थे जो कार्लोमान्यो की सेना में थे। वे दोनों आंजेलिका नामक सुंदरी पर अनुरक्त हो जाते हैं। यही प्रेमकथा नाना अन्य प्रसंगों के साथ कृति का विषय है। फ्लोरेंस का रईस लोरेंजो दे' मेदीची उपनाम इल मान्यीफिको (भव्य) (१४४९-१४९२) इस आधी सदी का महत्वपूर्ण व्यक्तित्व है। राजनीति तथा साहित्यजगत् दोनों में ही उसने सक्रिय भाग लिया। उसने स्वयं अनेक कृतियाँ लिखीं तथा अनेक साहित्यिकों को आश्रय दिया। उनकी कृतियों में गद्य में लिखी प्रेमकथा कोमेंतो, पद्यबद्ध प्रेमकथाएँ—सेल्वे द' अमोरे (प्रेम का वन), आम्ब्रा, आखेटविषयक कविता काच्चा कोल फाल्कोने (गीध के साथ शिकार), आमोरी दी वेनेरे ए दी मारते (वेनस तथा मार्स का प्रेम) तथा बेओनी काव्यप्रसिद्ध कृतियाँ हैं। मान्यीफिको की प्रतिभा बहुमुखी थी। आंजेलो आंब्रोजीनी उपनाम पोलीत्सियानो (१४५४-१४९४) ने ग्रीक और लातीनी में भी रचनाएँ कीं। इतालीय रचनाओं में स्तांजे पेर ला ज्योस्त्रा (फ्लोरेंस के ज्योस्त्रा उत्सव की कविताएँ), संगीत-नाट्य-कृति ओरफेओ तथा कुछ कविताएँ प्रधान हैं। पोलित्सियानो की सभी कृतियों का वातावरण प्राचीनता की याद दिलाता है। गद्यलेखकों में लेओन बातीस्ता आल्बेरती, लेओनारदो द' विंची (१४५२-१५१९), वेस्पासियानो द' विस्तीच्ची, मांतेओ पाल्मिएरी तथा गद्यकाव्य के क्षेत्र में याकोपो साम्नाज्जारो प्रधान हैं। उसकी कृति आर्कादिया की प्रसिद्धि सारे यूरोप में फैल गई थी। इस सदी में बुद्धि-वादी आंदोलन के फलस्वरूप इटली में फ्लोरेंस, रोम, नेपल्स में अकाद-मियों की स्थापना हुई। मानववादी धारा के ही फलस्वरूप वास्तव में पुनर्जागरण (रिनेशाँ) का विकास इटली में हुआ। अरस्तू के पोएटिक्स के अध्ययन के कारण साहित्य और कला के प्रति दृष्टिकोण कुछ कुछ बदला।

१६वीं सदी में इटली की स्वाधीनता चली गई, किंतु साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से यह सदी पुनर्जागरण के नाम से विख्यात है। लातीनी और ग्रीक तथा प्राचीन साहित्य एवं इतिहास की खोज और अध्ययन करनेवाले पिएर वेत्तोरी, विचेंलो बोरघीनी, ओनोफ्रियो पानवीनियो जैसे अनेक विद्वान् विभिन्न केंद्रों में कार्य कर रहे थे। लातीनी में साहित्यरचना भी इस सदी के पूर्वार्ध में होती रही, किंतु उसका वेग कम हो गया था। भाषा का स्वरूप भी बेंबो, कास्तील्योने, माक्यावेल्ली आदि ने फिर स्थिर कर दिया था। कविता, राजनीति, कला, इतिहास, विज्ञान सभी क्षेत्रों में एक नवीन स्फूर्ति १६वीं सदी में मिलती है। सदी के उत्तरार्ध में कुछ ह्रास के चिह्न अवश्य दिखने लगते हैं। पुनर्जागरण की प्रवृत्तियों की सबसे अच्छी अभिव्यक्ति लुदोविको आरिओस्तो (१४७४-१५३३) की कृति ओरलांदो फूरिओसो में हुई है। युद्धों और प्रणय का अद्भुत एवं आकर्षक ढंग से कृति में निर्वाह किया गया है। ओरलांदो का आंजेलिका के लिये प्रेम, उसका पागलपन और फिर शांति का जैसा वर्णन इस कृति में मिलता है वैसा शायद ही किसी अन्य इतालवी कवि ने किया हो। मध्ययुगीन वीरगाथाओंसे कवि ने कथा-वस्तु ली होगी। कल्पना और कविता का बहुत ही सुंदर समन्वय इस कृति में मिलता है। सातीरे (व्यंग्य) आदि छोटी कृतियाँ आरिओस्तो की कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं हैं। जिस प्रकार १६वीं सदी के काव्य का प्रतिनिधि ओरलांदो फूरिओसो है उसी प्रकार पुनर्जागरण युग की मौलिक, स्वतंत्र, खुली तथा मानव प्रकृति के यथार्थ चित्रण से युक्त विचारधारा नीक्कोलो माक्यावेल्ली (१४६९-१५२७) की कृतियों में मिलती है। नवीन राजनीतिविज्ञान की स्थापना माक्यावेल्ली ने 'प्रिंचीपे' (युवराज) तथा 'दिस्कोर्सी' (प्रवचन) कृतियों द्वारा की। बहुत ही स्पष्टतापूर्वक तार्किक पद्धति से इन कृतियों में व्यवहारवादी राजनीतिक आदर्शों का विवेचन किया गया है। इन दो कृतियों में जिन सिद्धांतों का माक्यावेल्ली ने प्रति-पादन किया है उन्हीं की एक प्रकार से व्याख्या अन्य कृतियों में की है। 'देल्लार्ते देल्ला ग्वेरी' (युद्ध की कला) में प्रायः उन्हीं सामरिक सैनिक बातों की विस्तार से चर्चा है जिनका पहली दो कृतियों में संकेत किया जा चुका है। 'ला वीता दी कास्त्रूच्यो (कास्त्रूच्यो का जीवन) भी ऐतिहासिक चरित्र है जैसा कि 'प्रिंचीपे' में राजा का आदर्श बताया गया है। इस्तोरिए फियोरेंतीने (फ्लोरेंस का इतिहास) में इटली तथा फ्लोरेंस का इतिहास है। माक्यावेल्ली की विशुद्ध साहित्यिक कृतियों की भाषा तथा शैली भिन्न है। रूपक कविता असीनो द'ओरो (सोने का गधा), कहानी बेल्फागोर तथा प्रसिद्ध नाट्य कृति मांद्रागोला की शैली साहित्यिक है। मांद्रागोला पाँच अंकों में समाप्त १६वीं सदी की प्रसिद्धतम (कोमेदी) नाटक कृति है और लेखक की महत्वपूर्ण रचना है। माक्यावेल्ली के सिद्धांतों को सामने रखकर यूरोप में बहुत चर्चा हुई। इतालिया में इतिहास और राजनीति के उन सिद्धांतों को आधार बनाकर इतिहास लिखनेवालों में सर्वश्रेष्ठ फ्रांचेस्को ग्विच्च्यार्दीनी (१४८३-१५४०) हैं। उन्होंने तटस्थता और यथार्थ, सूक्ष्म पर्यवेक्षणदृष्टि का अपनी कृतियों—स्तोरिया द इतालिया तथा ई रिकोर्दी (संस्मरण)—में ऐसा परिचय दिया है कि इस काल के वे श्रेष्ठतम इतिहास लेखक माने जाते हैं। ई रिकोर्दी में उनके विस्तृत और गहन अनुभव का परिचय मिलता है। लेखक ने अनेक व्यक्तियों पर निर्णय तथा अनेक घटनाओं पर अपना मत दिया है। इसी तरह स्तोरिया द' इतालिया में पुनर्जागरणकाल की इटली की विचारधारा की सबसे परिपक्व अभि-व्यक्ति मिलती है। ग्विच्यार्दीनी सक्रिय राजदूत, कूटनीतिज्ञ और शासक थे। अपने जीवन से संबंधित दियारियो देल वियाज्जे इन स्पान्या (स्पेन यात्रा की डायरी), रेलात्सियोने दी स्पान्या (स्पेन का विवरण) जैसी अनेक कृतियाँ लिखी हैं। उल्लेखयोग्य इतिहास और राजनीति-विषयक अन्य साहित्यरचयिताओं में इस्तोरिए फियोरेंतीने (फ्लोरेंस का इतिहास) का लेखक बेनेदेत्तो वार्की, बेर्नार्दो सेन्यी, स्तोरिया द' एउरोपा (यूरोप का इतिहास) का लेखक ज्याँबूल्लारी हैं। प्रसिद्ध कलाकारों की जीवनी लिखनेवालों में ज्योर्ज्यो वासारी (१५११-१५७४) का स्थान महत्वपूर्ण है। अत्यंत सुंदर आत्मकथात्मक ग्रंथ लिखनेवालों में वेनवेनूतो चेल्लीनी का स्थान श्रेष्ठ है। इस सदी की प्रतिनिधि कृति बाल्दास्सार कास्तील्योने (१४७८-१५२९) की कोर्तेज्यानो (दरबारी) भी है जिसमें तत्कालीन आदर्श दरबारी जीवन तथा रईसी का चित्रण है। उच्च समाज में भद्रता-पूर्ण व्यवहार की शिक्षा देनेवाली ज्योवान्नी देल्ला कासा की कृति गाला-तेओ भी सुंदर है। पिएतरो अरेतीनो (१४९२-१५५६) अपनी अश्लील शृंगाररचना राजिओनामेंनी के कारण इस सदी के बदनाम लेखक हैं। स्त्रियों के आदर्श सौंदर्य का वर्णन आन्योलो फीरेंजुओला (१४९३-१५४३) ने देल्ले वेल्लेज्जे देल्ले दोन्ने (स्त्रियों के सौंदर्य के विषय में) में किया है।

पुनर्जागरणकाल में इस प्रकार सभी के आदर्श रूपों के प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ। काव्य, विशेषकर गीतिकाव्य का मौलिक रूप बहुत कम कवियों में मिलता है। ज्योवान्नी देल्ला काता, पिएतरो, प्रसिद्ध कलाकार

मीकेलांजेलो बुग्रोनारोती (१४७५-१५६४), लुइजी लासींल्लो (१५१०-१५६८) की गीतिरचनाओं में इस काल की विशेषताएँ मिलती हैं। व्यंग्यपूर्ण तथा आत्मपरिचयात्मक कविता के प्रसंग में फ्रांचेस्को बेरनी (१४९८-१५३५), कथा और वर्णनकाव्यों के प्रसंग में आन्नीवाल कारो तथा नाटककारों में ज्यांबातीस्ता जीराल्दी, पिएतरो अरेतीनो तथा कथा-साहित्य के क्षेत्र में आंयोलो फीरेंजुओला, मांतेओ बांदेलो तथा बनावटी भाषा में कविता लिखनेवाले तेओफीलो फोलेन्गो (१४९१-१५४४) उल्लेखनीय साहित्यिक हैं। पुनर्जागरणकाल की अंतिम महान् साहित्यिक विभूति तोरक्वातो तास्सो (१५४४-१५९५) है। तास्सो की प्रारंभिक कृतियों में १२ सर्गों का प्रेम-वीर-काव्य रिनाल्दो, चरवाहे अमिता और अप्सरा सिल्विया की प्रेमकथा से संबंधित काव्य अमिता तथा विभिन्न विषयों से संबंधित पद्य 'रीमे' हैं। तास्सो को महत्व प्रदान करनेवाली उनकी सबसे प्रसिद्ध कृति 'जेरूसलेम्मे लीबेराता' (मुक्त जेरूसलेम) है। कृति में गोफ्रेदो दी बूल्योने के सेनापतित्व मे ईसाई सेना द्वारा जेरूसलेम को विजय करने की कथा है। यह एक प्रकार का धार्मिक भावना लिए हुए वीरकाव्य है। तास्सो की लघुकृतियों 'दियालोगी' (कथोपकथन) तथा लेत्तेरे (पत्र) में से पहली में नाना विषयों पर तर्कपूर्ण शैली में विचार किया गया है तथा दूसरी में लगभग १७०० पत्रों में दार्शनिक और साहित्यिक विषयों पर विचार किया गया है। अंतिम कृतियों में जेरूसलेमे कोंक्विस्ताता, तोरितिमोंदो (दु:खांत नाटक) तथा काव्यकृति मोंदोक्रेआतो हैं।

इस काल के उत्तरार्ध में प्रसिद्ध दार्शनिक लेखक ज्योर्दानो ब्रूनो (१५४८-१६००), तोमास्सो कांपानेल्ला, प्रसिद्ध वैज्ञानिक गालीलेओ गालीलेई (१५६४-१६४२) वैज्ञानिक गद्य के लिये तथा राजनीति इतिहास को नया दृष्टिकोण प्रदान करने की दृष्टि से पाओलो सारपी उल्लेखनीय है।

१७वीं सदी इतालीय साहित्य का ह्रासकाल है। १६वीं सदी के अंत में ही काव्य में ह्रास के लक्षण दिखने लगे थे। नैतिक पतन तथा उत्साहहीनता ने उस सदी में इटली को आक्रांत कर रखा था। इस काल को बारोक्को काल कहते हैं। तर्कशास्त्र में प्रयुक्त यह शब्द साहित्य और शिल्प के क्षेत्र में अति सामान्य, भद्दी रुचि का प्रतीक है। इस युग में साहित्य के बाह्य रूप पर ही विशेष ध्यान दिया जाता था, ग्रीक रोमन कृतियों का भद्दा अनुकरण हो रहा था, कविता में मस्तिष्क की प्रधानता हो गई थी, अलंकारों के भार से वह बोझिल हो गई थी, एक प्रकार का शब्दों का खिलवाड़ ही प्रधान अंग हो गया था एवं कहने के ढंग ने ही प्रधान स्थान ले लिया था। इस काल के कवियों पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा ज्यांबातीस्ता मारीनो (१५६९-१६२५) का; इसी कारण इस धारा के अनेक कवियों को मारीनिस्ती तथा काव्यधारा को कभी कभी मारीनिज्म कहा जाता है। मारीनो ने प्राचीन काव्य से बिल्कुल संबंध नहीं रखा, प्राचीन परंपरा से संबंध एकदम तोड दिया और ग्वारीनी तथा तास्सो जैसे कवियों से प्रेरणा प्राप्त की। कविता को मारीनो बौद्धिक खेल समझता था। मारीनो की कृतियों में विविध विषयों से संबंधित कविताओं का संग्रह लीरा तथा बारोक युग का प्रतिनिधि काव्य अादोने है। यह कृति लंबे लंबे २० सर्गों में समाप्त हुई है। कृति में वेनेरे और चीनीरो की अलंकृत शैली में प्रेमकथा कही गई है। समसामयिकों ने इसे अदोने की कला का अद्भुत नमूना कहकर स्वागत किया और अनेक कवियों को इस कृति ने प्रभावित किया। कवियों में गाब्रिएल्लो-क्याबरेरा (१५५२-१६३८), फुलियो नेस्ती, फ्रांचेस्को ब्राच्योलीनी (१५६६-१६४५) तथा कथासाहित्य और नाट्यसाहित्य के क्षेत्र में फेदेरीको देल्ला वाल्ले (मृत्यु १६२८), ज्योवान्नी देल्फ़ीनो (मृत्यु १६१६) आदि मुख्य हैं। इस सदी में बोलियों में भी काव्यरचना हुई। रोमानो में ज्यूसेपे बेरनेरी आदि ने तथा हास्य-व्यंग्य-काव्य की ज्यांबातीस्ता बासीले (१५७५-१६३२) ने अच्छी रचनाएँ कीं। १७वीं सदी के अंतिम वर्षों तथा १८वीं के आरंभिक वर्षों में इटली की सांस्कृतिक विचारधारा में परिवर्तन हुआ, उसपर यूरोप की विचारधारा का प्रभाव पड़ा। बेकन, देकार्त की विचारधारा का प्रभाव पड़ा। किंतु इस विचारधारा के साथ इतालीय विचारकों की अपनी मौलिकता भी साथ में थी। १७वीं सदी के साहित्यिक ह्रास के प्रति इटली के विचारक स्वयं सतर्क थे। अत: नवीन विचारधारा को लेकर काफी वाद विवाद चला। काव्यरुचि को लेकर ज्यूसेफे ओरसी, आंतोन मारिया साल्वीनी, एयूस्ताकियो मांफ्रेदी आदि ने नवीन रुचि की स्थापना का प्रयत्न किया। ज्यान विंचेसो ग्रावीना (१६६४-१७१८), लुदोविको आंतोनियो मूरालोरी, आंतोनियो कोंती (१६७०-१७४९) आदि ने काव्यसमीक्षा पर ग्रंथ लिखकर नवीन मोड़ देने का प्रयत्न किया। इन्होंने यूरोप की तत्कालीन विचारधारा को इतालीय प्राचीन परंपरा के साथ समन्वित करने का यत्न किया। इसी प्रकार इतिहास का भी नवीन दृष्टि से अध्ययन किया गया। साहित्य, इतिहास और काव्यसमीक्षा को नया मोड़ देनेवालों में इस सदी के सबसे प्रमुख विचारक ज्यांबातीस्ता वीको (१६६८-१७४४) हैं। उनकी बेजोड़ कृति प्रिंचिपी दी शिएंजा नोवा (नए विज्ञान के सिद्धांत) में उनके गूढ़ विचार और गहन अध्ययन, चिंतन के परिणाम व्यक्त हुए हैं। कविता के लिये कल्पना आदि जिन आवश्यक तत्वों की उन्होंने चर्चा की उनका काव्यसमीक्षा तथा कवियों पर काफी प्रभाव पड़ा।

१७वीं सदी की कुरुचि को दूर करने के लिये रोम में कुछ लेखक और विद्वानों ने मिलकर 'आर्कादिया' (ग्रीस के रमणीय स्थान आर्कादिया के नाम पर) नामक एक अकादमी की सन् १६९० में स्थापना की। आर्कादिया धीरे धीरे इटली की बहुत प्रसिद्ध अकादमी हो गई और उस समय के सभी कवि और लेखक उससे संपर्क रखते थे। परंपरा के भार से लदी कविता को आर्कादिया के कवियों ने एक नई चेतना प्रदान की। अनेक छोटे बड़े कवि आर्कादिया ने बनाए जिनमें एयूस्ताकियो मानफ्रेदी (१६७४-१७३९), फेरनांदो आंतोनियो गेदीनी (१६८४-१७६७), फ्रांचेस्को मारिया जानोत्ती (१६९२-१७७७), ज्यांबातीस्ता ज़ापी (१६६७-१७१९), पाओलो रोल्ली, लुदोविको सावियोली, याकोपो वीतोरेल्ली आदि प्रमुख हैं। यद्यपि आर्कादिया ने कोई महान् कवि उत्पन्न नहीं किया, किंतु फिर भी इस अकादमी ने ऐतिहासिक महत्व का यह सबसे बड़ा कार्य किया कि १७वीं सदी की काव्यसुरुचि को बदल दिया। आर्कादिया काल के प्रसिद्धतम लेखक पिएतरो मेतास्तासियो (१६९८-१७८२) ने इटली के रंगमंच को ऐसी कृतियाँ दीं जो कविता के बहुत समीप हैं। १८वीं सदी इटली में नाटक साहित्य की दृष्टि से बहुत समृद्ध है। मेतास्तासियो ने अपने नाटकों के विषय इतिहास, लोककथा एवं ग्रीस रोम की धार्मिक अनुश्रुतियों से चुने। प्रेम और वीरता इसके नाटकों के प्रिय भाव हैं। अन्य लेखकों में दु:खांत नाटकों के रचयिता ज्याग्रावीना, पिएर याकोपो मारतेल्लो तथा सुखांत नाटकों के लिये याकोपो नेल्ली तथा साहित्य में ज्याबांतीस्ता कास्ती, पिएतरो क्यारी तथा विविध विषयों की सूचना से समन्वित संस्मरण लिखनेवाले प्रसिद्ध ज्याकोमो कासानोवा (१७२५-१७९८) उल्लेखनीय है। कासानोवा अपने **मेम्वायर्स** (संस्मरण) के लिये सारे यूरोप में प्रसिद्ध हैं। बोलियों में कविता लिखनेवालों में ज्योवान्नी मेली (१७४०-१८१५) की बूकोलिका प्रसिद्ध कृति है।

१८वीं सदी के उत्तरार्ध में इतालीय साहित्य पर यूरोपीय विचारधारा—विशेषकर फ्रांसीसी—का प्रभाव पड़ा; इसको इलूमिनिस्तिक विचारधारा नाम दिया गया है। फ्रांस से इलूमिनिस्म (बुद्धिवादी) धारा सारे यूरोप में फैली। इटली में नवीन भावधारा के दो प्रधान केंद्र नेपल्स और मिलान थे। मिलान का केंद्र इटली की विशेष परिस्थितियों के समन्वय का भी पक्षपाती था। पिएतरो वेर्री (१७२८-१७९७) ने अपनी अनेक कृतियों द्वारा इस नवीन विचारधारा की व्याख्या की। इस विचारधारा की प्रवृत्तियों को लेकर काफ्फे नामक एक पत्र निकला जिसमें चेसारे बेस्कारिया (१७३८-१७९४) आदि इलूमिनिस्म के सभी प्रसिद्ध साहित्यकारों ने सहयोग दिया। इस धारा के प्रसिद्ध लेखक व्याख्याता फ्रांचेस्को आल्गारोत्ती (१७१२-१७६४), गास्पारे रयाकार्लो गोज्जी, सावेरियो बेत्तीनेल्ली (१७१८-१८०८) तथा जूसेप्पे बारेत्ती (१७१९-१७८९) हैं। नई काव्यधारा के विषय में इन सभी ने कृतियाँ लिखीं। फ्रांसीसी बुद्धिवाद के अनुकरण का इतालीय भाषा और शैली पर भी बुरा प्रभाव पड़ा। फ्रांसीसी शब्दों, मुहावरों, वाक्यगठन आदि का अंधानुकरण होने के कारण इतालीय भाषा का स्वाभाविक प्रवाह रुक गया जिसकी आगे चलकर प्रसिद्ध कवि फोस्कोलो, लेयोपारदी, कारदूच्ची आदि सभी ने भर्त्सना की। आर्कादिया और इलूमिनिस्तिक धारा को जोड़नेवाले मध्यममार्गी सुप्रसिद्ध नाटककार कार्लो गोल्दोनी (१७०७-१७९३) हैं। मेतास्तिसियो के प्रहसनप्रधान नाटकों से भिन्न गोल्दोनी की नाट्यकृतियाँ गंभीर कलापूर्ण हैं तथा उनसे भी महत्वपूर्ण उनका सुधारवादी दृष्टिकोण है। उनकी अनेक रचनाओं

में से कुछ रोसमुंदा, ग्रीसेल्दा, गोंदोलिएरे वेनेत्सियान्यो, बोतेगा देल काफ्फे, बुज्यार्दो, फामील्या देल्लांतीक्वारियो, रूस्तेगी हैं। मेम्बायर्स (संस्मरण) में उन्होंने रंगमंच आदि के संबंध में अपने विचार प्रकट किए हैं।

ज्यूसेप्पे पारीनी (१७२६-१७६१) की रचनाओं में नैतिक स्वर की प्रधानता है। अपने युग से वे बहुत प्रसन्न नहीं थे और उसकी आलोचना उन्होंने अत्यंत साहसपूर्वक की है। अपने समय के रईसों की पतित अवस्था पर उन्होंने अपनी दो काव्यकृतियों—मात्तीनो (प्रभात) और मेज्जोज्योरनो (दोपहर)—में कटु व्यंग्य किया है। पारीनी ने प्रसिद्ध गीत भी लिखे हैं—ल'इंपोस्तूरा, इल वीसोन्यो। उनके प्रसिद्ध ओदों (ओड्स) में से ला वीता रूस्तीका, इल दोनो, आसिल्विया आदि हैं। व्यंग्यकाव्य का अच्छा उदाहरण इल ज्योर्नो (दिन) है जिसमें एक निठल्ले राजकुमार पर व्यंग्य किया गया है। इस सदी का सबसे बड़ा कवि तथा नाटककार वीत्तोरियो आल्फिएरी (१७४६-१८०३) है। आल्फिएरी एक ओर तो फ्रांसीसी बुद्धिवादियों से प्रभावित था, दूसरी ओर उसका हृदय स्वच्छंदतावादी भावना से भरा हुआ था। उसके राजनीतिक विचारों का परिचय उसकी प्रारंभिक कृति देल्लातीराभीदे से मिलता है। अन्य प्रारंभिक कृतियों में एत्रूरिया वेंदीकाता, सातीरे, मीसोगाल्लो हैं। रीमे में कवि की प्रायः सभी विशेषताएँ मिलती हैं। आल्फिएरी की दुःखांत नाटक कृतियों में उसके समय की विशेषताएँ तथा उसके व्यक्तिगत उत्साहभाव मिलते हैं। साउल, मीर्रा, आगामेम्नोने, ओत्ताविया, मेरोपे, अंतीगोने, ओरेस्ते आदि प्रमुख रचनाएँ हैं। उसकी कृतियों में कार्य मंथर गति से बढ़ता है तथा प्रगीति तत्व की प्रधानता मिलती है। वास्तव में वह प्रधान रूप से कवि था और इसी रूप में उसने आगे के कवियों को प्रभावित किया।

१६वीं सदी के प्रारंभ में इतालीय साहित्य में राष्ट्रीय चेतना के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। प्राचीन कृतियों का प्रकाशन बिब्लियोतेका दे'क्लास्सीची इतालियानी (१८०४-१४) तथा इतालीय विचारधारा को समझने का प्रयास हो रहा था। इस कार्य का केंद्र मिलान था जो इटली के हर भाग के कवियों, लेखकों तथा विचारकों का कार्यकेंद्र था। माक्यावेल्ली, सारपी, वीको की विचारधारा का मंथन किया जा रहा था और साहित्यिक तथा राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र इटली की नींव डाली जा रही थी। इन विचारकों में फांचेस्को लोमोनाको (१७७२-१८१०), विचेंसो कुओको (१७७०-१८२३), दोमेनीको रोमान्योसी (१७६१-१८३५) प्रमुख हैं। काव्यसमीक्षा के क्षेत्र में अभिनव प्राचीन (नेओक्लासिक) रुचि स्थापित की जा रही थी जिसमें आसन्न स्वच्छंदतावाद के बीज भी दिखते हैं। कविता के अतिरिक्त कलात्मक गद्य लिखने की परिपाटी का सूत्रपात आंतोनियो चेसारी (१७६०-१८२८) कर रहा था जिसने प्राचीन इतालीय साहित्य से शब्द छाँट छाँटकर अपनी कृति बेल्लेज्जे दी दांते (दांते का सौंदर्य) रची, क्रूस्का के कोश का पुनः संपादन किया तथा इसी शैली में अनेक अन्य कृतियाँ लिखीं। विचेंसो मोंती तथा उसके सहयोगियों ने तथा जूलियो पेरतीकारी (१७७६-१८३२) ने भी भाषा शैली को विशुद्ध रूप देने का प्रयास किया। शैलीकार के रूप में पिएतरो ज्योर्दानी (१७७४-१८४८) का स्थान ऊँचा है। उसकी शैली में ओज तथा राष्ट्रीय महानता की गूँज है। सारे जीवन वह गद्य का सरल तथा उत्कृष्ट रूप देने का प्रयास करता रहा। नेओक्लासिक पीढ़ी का प्रतिनिधि कवि विचेंसो मोंती (१७५४-१८२८) है। मोंती की विचारधारा बदलती रही, पोप के यहाँ रहते हुए उसने बास्वील्लीयाना नामक कृति लिखी जिसमें नरेशवाद की ओर झुकाव है। मिलान में रहते हुए नेपोलियन की विजय से उत्साहित हो प्रोमेतेओ लिखी। मोंती कल्पना और श्रुतिमधुर शब्दों का कवि है। हृदयपक्ष गौण है। होमर की कृति इलियड का मोंती ने स्वतंत्र अनुवाद भी किया था। इस धारा के अन्य छोटे कवियों में चेसारे अरीची तथा फीलीपो पान्नाती का उल्लेख किया जा सकता है।

सारे यूरोप और विशेषकर इटली में साहित्यिक क्षेत्र में जब एक प्रकार की अनिश्चितता का वातावरण फैला था उस समय उगो फोस्कोलो (१७७८-१८२७) की प्रतिभा ने सभी महत्वपूर्ण और अच्छे पक्षों को ग्रहण करके भविष्य के लिये अच्छी परंपरा तैयार की। इतालीय काव्य को फोस्कोलो ने नवीन स्फूर्ति, नई गीतिकविता तथा नई दृष्टि प्रदान की। कवि, पत्रकार, लेखक सभी रूपों में फोस्कोलो ने अपनी छाप छोड़ी है। उसने यूरोपीय स्वच्छंदतावाद की विशेषताओं को आत्मसात् किया तथा इतालीय सांस्कृतिक परंपरा से भी संबंध बनाए रखा। सॉनेट, ओड, सेपोल्क्री, ग्राज़िए फोस्कोलो की काव्यकृतियाँ हैं। इतालीय काव्यसाहित्य में सेपोल्क्री का नई भाषा, हृदय स्पर्श करने की शक्ति, व्यंजना, प्रस्तुत अप्रस्तुत का स्वाभाविक संबंध आदि अनेक दृष्टियों से ऊँचा स्थान है। गद्य रचनाओं में कथाकृतियाँ आर्तीस और लाउरा प्रसिद्ध हैं।

स्वच्छंदतावाद (रोमांटिसिज्म) के सिद्धांतों का प्रवेश इटली में उन्नीसवीं सदी के दूसरे तीसरे दशकों में हुआ। इसका प्रधान केंद्र उत्तरी इटली, विशेष रूप से मिलान था। लुदोवीको दी ब्रेमे (१७८०-१८२०), बेरशेत, बोरसिएरी, मांजोनी, मात्सीनी के लेखों द्वारा स्वच्छंदतावाद का प्रारंभ हुआ। काफ्फे, कोंचिलियातोरे पत्रों में अनेक लेख इस धारा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए निकले। ज्यूसेफे मात्सीनी (१८०५-१८७२) सबसे अधिक इस धारा से प्रभावित हुए। उनके व्यक्तित्व और विचारों का इटली के पुनरुत्थान आंदोलन पर तथा कला के क्षेत्र में भी बहुत प्रभाव पड़ा। उनके साहित्यिक लेखों—देल्ल' आमोर पात्रियो दी दांते (दांते का मातृभूमि-प्रेम), दी उना लेत्तेरातूरा इउरोपा (एक योरोपीय साहित्य पर)—से बहुत साहित्यिक प्रभावित हुए। इतिहास को राष्ट्रीय दृष्टि से लिखनेवालों ने भी इतालीय एकता की राष्ट्रीय भावना को जगाया। चेस्तरे बाल्दो जीनो काप्पोनी आदि इसी प्रकार के लेखक हैं। इतालीय साहित्य का नवीन दृष्टि से इतिहास लिखनेवाले फ्रांचेस्को दे सांक्टीस की कृति स्तोरिया देल्ला लेत्तेरातूरा इतालियाना महत्वपूर्ण है। साहित्य को समाज का प्रतिबिंब समझने का दृष्टिकोण तथा अनेक साहित्यिक समस्याओं को नए ढंग से परखने का नवीन प्रयास दे सांक्टीस की कृति में मिलता है। इसी प्रकार का दृष्टिकोण लूइजी सेतेंबरीनी की कृति लेत्सियोनी दी लेत्तेरातूरा इतालियाना में भी मिलता है। पुनरुत्थानयुग की कृतियों में सिल्वीको पेल्लीको (१७८६-१८५४) की कृति मिए प्रिज्योनी भी उल्लेखनीय है जिसमें उस युग की आशा निराशाओं का वर्णन है। मास्सीमो दाजेल्यो के संस्मरण इ मिएई रिकोर्दी भी रोचक हैं।

स्वच्छंदतावादी धारा में अनेक भावुकताप्रधान गद्य पद्य कृतियाँ लिखी गई। इन साधारण कवियों में अलेआरदो आलेआरदी (१८१२-१८७८) की कृतियाँ मोंते चीरचेल्लो, ले प्रीमे स्तोरिए तथा ऐतिहासिक उपन्यासों में तोमास्सो ग्रोसी का मार्को वीस्कोंती, दाजेल्यो का एत्तोरे फिएरामोस्का तथा ज्योवान्नी बेरशेत (१७८३-१८५१) की गीतिकविताएँ सुंदर हैं। नीकोलो तोम्मासेओ के शब्दकोश, दांते की कृति की टीका तथा आत्मकथात्मक दियारियो इंतीमो, पद्यबद्ध कथा उना सेरवा तथा ग्रीक के अनुवाद उसे महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। अन्य कवियों में बोलियों में रचना करनेवाले कारलो पोर्ता तथा जी० जी० बेल्ली उल्लेखनीय हैं। इतालीय रोमांटिक संस्कृति युग के दो महान् साहित्यकार हैं मांजोनी तथा लियोपार्दी। दोनों ही १७वीं सदी के फ्रांसीसी वातावरण से प्रभावित इलुमिनिस्टिक युग में पलकर क्रमशः रोमांटिक अर्थों में भावुक तथा धार्मिक अनुभूतियों से प्रभावित होने गए। मांजोनी उदार कैथोलिक धार्मिक प्रवृत्ति का था। लियोपार्दी में सृष्टि के प्रति खिन्नता की प्रवृत्ति दिखती है। दोनों ही नवीन काव्यधारा से प्रभावित थे और उसके आधारभूत सिद्धांतों को स्वीकार करते हैं। मांजोनी में लोंबार्द प्रांत की सजीव उन्मुक्त प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। लियोपार्दी प्रतिक्रियावादी रूढ़िवादी वातावरण में पले थे अतः इसकी छाप उनमें मिलती है। मांजोनी की कृतियों में वर्णन की पूर्णता, वास्तविक कविता, नई उन्मुक्त भाषा तथा अधिक प्रेषणीयता मिलती है। लियोपार्दी अपनी अपार करुणा के लिये अकेले हैं। आलेसांद्रो मांजोनी (१७७५-१८७३) ने अनेक ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे। काव्यशास्त्र पर भी उसकी कृतियाँ हैं। उसने गीति कविताएँ और नाटक लिखे। उसकी एक महत्वपूर्ण कृति उसका उपन्यास **ई प्रोमेस्सी स्पोस्सी** है जिसमें मिलान के जीवन का चित्रण है तथा जो इतालीय भाषा का बहुत ही सुंदर आदर्श रूप प्रस्तुत करता है। ज्याकोमो लियोपार्दी (१७६८-१८३०) ने स्तोरिया देल्ल अस्त्रोनोमिया, पुराने लोगों की भ्रांतियों पर निबंध, भारतीय गुण तथा इजिप्ट में पंपियो, दार्शनिक वार्ताएँ आदि नाना विषयों पर गद्य कृतियाँ लिखीं जिनमें १८वीं सदी की रुचि दिखती है। किंतु धीरे धीरे उसका स्वभाव बदला और वह

काल्पनिक कविता छोड़ अनुभूतिप्रधान कविता करने लगा। आसिल्विया (सिल्विया से), सेरा देल दी दि फेस्ता (उत्सव के दिन की संध्या), अला लूना (चंद्र से) उसकी सुंदर कविताएँ हैं। जीवाल्दोने में उसकी अनेक प्रकार की गद्य कृतियाँ संगृहीत हैं। मांजोनी और लियोपार्दी ने इतालीय भाषा को नवीन अभिव्यक्ति प्रदान की। दोनों ही लेखक यूरोपीय प्रसिद्धि के लेखक हैं। इन दोनों ने इतालीय साहित्य को समय के साथ पहुँचा दिया।

१९वीं सदी के उत्तरार्ध में मांजोनी और लियोपार्दी से प्रभावित होकर रचनाएँ होती रहीं तथा कुछ लोग स्वच्छंदतावाद को हल्के अर्थ में लेकर रचनाएँ करते रहे। स्वतंत्र व्यक्तित्ववाले महत्वपूर्ण कवियों में जोसूए कारदूच्ची (१८३५-१९०६) का स्थान ऊँचा है, किंतु मांजोनी की तुलना में उनका व्यक्तित्व भी प्रांतीय जैसा लगता है। उनकी काव्य-कृतियों में से कुछ ज्याबी एद एपोदी, रीमे नुओवे, ओदी बारबारे, नोस्ताल्जिया, सान मारतीनो, सुई काम्मी दी मारेंगो, आले फोंती देल क्लितुम्नो है। कारदूच्ची की भाषा व्यक्तिगत छाप लिए हुए है। मृत्यु से कुछ समय पहले उन्हें नोबेल पुरस्कार मिला था। मांजोनी का अनुसरण करते हुए गद्य पद्य लिखनेवालों में एदमोंदो दे अमीचीस दी ओनेल्या (१८४६-१९०८), शिशुओं के लिये प्रसिद्ध कृति पिनोक्यो के लेखक कोल्लोदी फोगाज्जारो तथा स्वतंत्र कथा साहित्य लिखनेवालों में ज्योवान्नी वेरगा (१८४०-१९२२) प्रसिद्ध हैं। वेरगा की प्रसिद्ध कृतियाँ वीतादेई कांपी, मालावोल्या, नोवेल्ले रूस्तीकाने तथा नाटक कावाल्लेरिया रूस्तीकाना हैं। सामान्य जनसमूह को लेकर वेरगा ने अपनी यथार्थवादी कृतियाँ लिखी हैं। अनेक उपन्यासों तथा काव्यग्रंथों की रचना करनेवाली नोबेल पुरस्कार प्राप्त करनेवाली सारदेन्या की महिला ग्रात्सिया देलेद्दा (१८७१-१९३६) की रचनाओं में स्थानीय रंग बहुत मिलता है।

२०वीं सदी के प्रारंभ में इतालीय संस्कृति के सामने एक संकट की स्थिति उपस्थित थी। अशांति, नवीन योजनाओं, अति आधुनिक यूरोपीय विचारधाराओं का उसे सामना करना पड़ा। वह अपनी संकीर्ण प्रांतीयता से बाहर निकलने के लिये उत्सुक थी; उच्च मध्यवर्ग की रुचि से वह जैसे ऊबी हुई थी। काव्य के क्षेत्र में भी एक प्रकार की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति दिखती थी। किंतु एक दूसरी धारा आधुनिक संस्कृति के निकट भी थी। उस स्थिति को समझकर बेनेदेत्तो क्रोचे (१८६६-१९५२) ने अपनी एस्तेतीका कृति द्वारा पथप्रदर्शन किया। एस्तेतीका १९०२ में प्रकाशित हुई, तब से लेकर १९४३ तक इतालीय दर्शन और साहित्य का वह पथप्रदर्शन करती रही। क्रोचे की साहित्यिक गवेषणाओं का संपूर्ण इतालीय साहित्य पर प्रभाव पड़ा—लेत्तेरात्तूरा देल्ला नुओवा इतालिया (नई इटली का साहित्य) जैसी महत्त्वपूर्ण कृति के फलस्वरूप संपूर्ण साहित्यकी नई दृष्टि से समीक्षा की गई। आज के साहित्यसमीक्षक काव्य के इतिहास की समीक्षा करते समय क्रोचे के सिद्धांतों का सहारा लिए बिना नहीं रह सकते। इतिहास, दर्शन, साहित्य, तीनों के क्षेत्र में उनके सिद्धांत समान महत्व रखते हैं। इस सदी के अनेक लेखकों में दोनों सदियों की विशेषताएँ मिलती हैं।

गाब्रिएले द' अनुंजियो (१८६३-१९३८) में अनेक विशेषताओं का समन्वय मिलता है। द' अनुन्जियो की प्रसिद्धि बहुत है, किंतु उसकी रचनाएँ उतनी प्रिय नहीं हैं। उसकी प्रसिद्धि का कारण उसके जीवन की साहसिक घटनाएँ भी हैं। वह बहादुर सिपाही तथा योद्धा था। उसकी कृतियों—कांतो नोवो, तेर्रा वेरजीने—पर कारदुच्ची तथा वेरगा का प्रभाव लक्षित होता है। पोएमा पारादीस्याको पर यूरोप की काव्यधारा का प्रभाव तथा उपन्यास कृतियों—ज्योवान्नी एपीसकोपो आदि—पर रूसी कथा साहित्य का प्रभाव प्रतीत होता है। दानुंजियो ने प्रायः सभी साहित्यरूपों में रचनाएँ की हैं। उसकी शैली बहुत बोझिल है; बाह्य रूप पर वह बहुत ध्यान देता था।

सरल भाषाशैली, नवीन यथार्थ भावना से प्रेरित, सीधी, हृदयस्पर्शी कविता करनेवालों में आर्तूरो ग्राफ (१८४८-१९१३), एनरीको थोवेज (१८६९-१९२५), ज्योवान्नी पास्कोली (१८५५-१९१२) प्रधान हैं। पास्कोली की मिरीके में संगृहीत कविताएँ इतालीय साहित्य में अपने ढंग की मौलिक कविताएँ हैं। उसकी कविताओं में प्रकृतिचित्रण का नया रूप मिलता है। लूइजी पीरांदेल्लो (१८६७-१९३८) का यश सारे यूरोप तथा संसार के साहित्यिक क्षेत्र में फैला। कहानी, उपन्यास लिखने के बाद पीरांदेलो ने नाटकरचना प्रारंभ की। विषयों की मौलिकता, दृश्यसंगठन, टेकनीक, सभी दृष्टियों से पीरांदेलो के नाटक उत्कृष्ट हैं। निम्न मध्यम वर्ग के समाज से इसने विषय चुने। पीरांदेल्लो की कहानियाँ और उपन्यास २४ जिल्दों में तथा नाटक कई बड़ी बड़ी जिल्दों में प्रकाशित हुए हैं। पीरांदेल्लो को नोबेल पुरस्कार भी मिला था। कथासाहित्य के क्षेत्र में इतालो स्वेत्तो (१८६१-१९२८) का नाम भी उल्लेखनीय है। अन्य आधुनिक कथा-साहित्य-लेखकों में ज्योवान्नी पापीनी (१८८१-१९५७), रिक्कार्दो बाक्केल्ली, (१८९१-) आल्दो पाल्लाजेस्की (१८८५-), आल्बेरतो मारोविया (१९०७-), इन्यात्सियो सीलोने (१९००-), कार्लो एमीलियो गाद्दा (१८९३-), ज्यानी स्तूपारिक (१८९१-), वास्को प्रातोलीनी (१९१३-), चेस्तरे पावेसे (१९०८-१९५०), आदि प्रमुख हैं। आधुनिक काल के कवियों में दीनो कांपाना (१८८५-१९३२), आर्तूरो ओनोफ्री (१८८५-१९२८), उम्बेरतो साबा (१८८३-१९५८), ज्यूसेप्पे उँगारेत्ती (१८८८-), एऊजेनियो मोंताले (१८९६-), साल्वातोरे क्वासीमोदो (१९०१-) (१९५९ में नोबल पुरस्कार से संमानित), आलफोन्सो गात्तो (१९०९-), दिएगो वालेरी (१८८७-) आदि प्रमुख हैं। अनेक साहित्यिक पत्रों ने भी इतालीय साहित्य में अनेक नवीन काव्यधाराओं का प्रतिनिधित्व किया है। इसमें 'वोचे', 'रोंदा', 'फिएरा लितेरारिया' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

सं०ग्रं०—फ्रांचेस्को दे सांक्टीस कृत तथा बेनेदेत्तो क्रोचे द्वारा संपादित : स्तोरिया देल्ला लेत्तेरात्तूरा इतालियाना, दो भाग, बारी १९४९; ना० सापेन्यो : कांपेदियो दी स्तोरिया देल्ला लेत्तेरात्तूरा इतालियाना, तीन भाग, फ्लोरेंस, १९५२; फ्रांचेस्को फ्लोरा : स्तोरिया देल्ला लेत्तेरात्तूरा इतालियाना, पाँच भाग, मोंदादोरी मिलान-रोम, १९५६; गूइदो सज्जोनी : स्तोरिया लेत्तेरारिया द' इतालिया ओत्तोचेंतो, दो भाग, मिलान, १९५६; आल्फ्रेदो गाल्लेत्ती : स्तोरिया लेत्तेरारिया द' इतालिया—नोवेचेंतो] मिलान, १९५७। [रा०सिं०तो०

इतिहास

'इतिहास' शब्द का प्रयोग विशेषतः दो अर्थों में किया जाता है। एक है प्राचीन अथवा विगत काल की घटनाएँ और दूसरा उन घटनाओं के विषय में धारणा। इतिहास शब्द (इति+ह+आस) का तात्पर्य है 'यह निश्चय था'। ग्रीस के लोग इतिहास के लिये 'हिस्तरी' शब्द का प्रयोग करते थे। 'हिस्तरी' का शाब्दिक अर्थ 'बुनना' था। अनुमान होता है कि ज्ञात घटनाओं को व्यवस्थित ढंग से बुनकर ऐसा चित्र उपस्थित करने की कोशिश की जाती थी जो सार्थक और सुसंबद्ध हो।

इतिहास के मुख्य आधार युगविशेष और घटनास्थल के वे अवशेष हैं जो किसी न किसी रूप में प्राप्त होते हैं। जीवन की बहुमुखी व्यापकता के कारण स्वल्प सामग्री के सहारे विगत युग अथवा समाज का चित्रनिर्माण करना दुःसाध्य है। सामग्री जितनी ही अधिक होती जाती है उसी अनुपात से बीते युग तथा समाज की रूपरेखा प्रस्तुत करना साध्य होता जाता है। पर्याप्त साधनों के होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि कल्पनामिश्रित चित्र निश्चित रूप से शुद्ध या सत्य ही होगा। इसलिये उपयुक्त कमी का ध्यान रखकर कुछ विद्वान् कहते हैं कि इतिहास की संपूर्णता असाध्य सी है, फिर भी यदि हमारा अनुभव और ज्ञान प्रचुर हो, ऐतिहासिक सामग्री की जाँच पड़ताल की हमारी कला तर्कप्रतिष्ठित हो तथा कल्पना संयत और विकसित हो तो अतीत का हमारा चित्र अधिक माननीय और प्रामाणिक हो सकता है। सारांश यह कि इतिहास की रचना में पर्याप्त सामग्री, वैज्ञानिक ढंग से उसकी जाँच, उससे प्राप्त ज्ञान का महत्व समझने के विवेक के साथ ही साथ ऐतिहासिक कल्पना की शक्ति तथा सजीव चित्रण की क्षमता की आवश्यकता है। स्मरण रखना चाहिए कि इतिहास न तो साधारण परिभाषा के अनुसार विज्ञान है और न केवल काल्पनिक दर्शन अथवा साहित्यिक रचना है। इन सबके यथोचित संमिश्रण से इतिहास का स्वरूप रचा जाता है।

लिखित इतिहास का आरंभ पद्य अथवा गद्य में वीरगाथा के रूप में हुआ। फिर वीरों अथवा विशिष्ट घटनाओं के संबंध में अनुश्रुति अथवा लेखक की पूछताछ से गद्य में रचना आरंभ हुई। इस प्रकार के लेख खपड़ों, पत्थरों, छालों और कपड़ों पर मिलते हैं। कागज का आविष्कार होने से लेखन और पठन पाठन का मार्ग प्रशस्त हो गया। लिखित सामग्री को अन्य प्रकार की सामग्री—जैसे खंडहर, शव, बरतन, धातु, अन्न, सिक्के,

खिलौने तथा यातायात के साधनों आदि के द्वारा ऐतिहासिक ज्ञान का क्षेत्र और कोष बढ़ता चला गया। उस सब सामग्री की जाँच पड़ताल की वैज्ञानिक कला का भी विकास होता गया। प्राप्त ज्ञान को सजीव भाषा में गुंफित करने की कला न आश्चर्यजनक उन्नति कर ली है, फिर भी अतीत के दर्शन के लिये कल्पना कुछ तो अभ्यास, किंतु अधिकतर व्यक्ति की नैसर्गिक क्षमता एवं सूक्ष्म तथा क्रांत दृष्टि पर आश्रित है। यद्यपि इतिहास का आरंभ एशिया में हुआ, तथापि उसका विकास यूरोप में विशेष रूप से हुआ।

इतिहास न्यूनाधिक उसी प्रकार का सत्य है जैसा विज्ञान और दर्शनों का होता है। जिस प्रकार विज्ञान और दर्शनों में हेरफेर होते हैं उसी प्रकार इतिहास के चित्रण में भी होते रहते हैं। मनुष्य के बढ़ते हुए ज्ञान और साधनों की सहायता से इतिहास के चित्रों का संस्कार, उनकी पुनरावृत्ति और संस्कृति होती रहती है। प्रत्येक युग अपने अपने प्रश्न उठाता है और इतिहास से उनका समाधान ढूँढ़ता रहता है। इसीलिये प्रत्येक युग, समाज अथवा व्यक्ति इतिहास का दर्शन अपने प्रश्नों के दृष्टिबिंदुओं से करता रहता है। यह सब होते हुए भी साधनों का वैज्ञानिक अन्वेषण तथा निरीक्षण, कालक्रम का विचार, परिस्थिति की आवश्यकताओं तथा घटनाओं के प्रवाह की बारीकी से छानबीन और उनसे परिणाम निकालने में सतर्कता और संयम की अनिवार्यता अत्यंत आवश्यक है। उनके बिना ऐतिहासिक कल्पना और कपोलकल्पना में कोई भेद नहीं रहेगा।

इतिहास की रचना में यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि उससे जो चित्र बनाया जाय वह निश्चित घटनाओं और परिस्थितियो पर दृढ़ता से आधारित हो। मानसिक, काल्पनिक अथवा मनमाने स्वरूप को खड़ा कर ऐतिहासिक घटनाओं द्वारा उसके समर्थन का प्रयत्न करना अक्षम्य दोष होने के कारण सर्वथा वर्जित है। यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि इतिहास का निर्माण बौद्धिक रचनात्मक कार्य है अतएव अस्वाभाविक और असंभाव्य को प्रमाणकोटि में स्थान नहीं दिया जा सकता। इसके सिवा इतिहास का ध्येयविशेष यथावत् ज्ञान प्राप्त करना है। किसी विशेष सिद्धांत या मत की प्रतिष्ठा, प्रचार या निराकरण अथवा उसे किसी प्रकार का आंदोलन चलाने का साधन बनाना इतिहास का दुरुपयोग करना है। ऐसा करने से इतिहास का महत्व ही नहीं नष्ट हो जाता, वरन् उपकार के बदले उससे अपकार होने लगता है जिसका परिणाम अंततोगत्वा भयावह होता है।

इतिहास का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। प्रत्येक व्यक्ति, विषय, अन्वेषण, आंदोलन आदि का इतिहास होता है, यहाँ तक कि इतिहास का भी इतिहास होता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक, वैज्ञानिक आदि अन्य दृष्टिकोणों की तरह ऐतिहासिक दृष्टिकोण की अपनी निजी विशेषता है। वह एक विचारशैली है जो प्रारंभिक पुरातन काल से और विशेषतः १७वीं सदी से सभ्य संसार में व्याप्त हो गई। १९वीं सदी से प्रायः प्रत्येक विषय के अध्ययन के लिये उसके विकास का ऐतिहासिक ज्ञान आवश्यक समझा जाता है। इतिहास के अध्ययन से मानव समाज के विविध क्षेत्रों का जो व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है उससे मनुष्य की परिस्थितियों को आँकने, व्यक्तियों के भावों और विचारों तथा जनसमूह की प्रवृत्तियों आदि को समझने के लिये बड़ी सुविधा और अच्छी खासी कसौटी मिल जाती है।

इतिहास प्रायः नगरों, प्रांतों तथा विशेष देशों के या युगों के लिखे जाते हैं। अब इस ओर चेष्टा और प्रयत्न होने लगे हैं कि यदि संभव हो तो सभ्य संसार ही नहीं, वरन् मनुष्य मात्र के सामूहिक विकास या विनाश का अध्ययन भूगोल के समान किया जाय। इस ध्येय की सिद्धि यद्यपि असंभव नहीं, तथापि बड़ी दुस्तर है। इसके प्राथमिक मानचित्र से यह अनुमान होता है कि विश्व के संतोषजनक इतिहास के लिये बहुत लंबे समय, प्रयास और संगठन की आवश्यकता है। कुछ विद्वानों का मत है कि यदि विश्व-इतिहास की तथा मानुषिक प्रवृत्तियों के अध्ययन से कुछ सर्वव्यापी सिद्धांत निकालने की चेष्टा की गई तो इतिहास समाजशास्त्र में बदलकर अपनी वैयक्तिक विशेषता खो बैठेगा। यह भय इतना चिंताजनक नहीं है, क्योंकि समाजशास्त्र के लिये इतिहास की उतनी ही आवश्यकता है जितनी इतिहास को समाजशास्त्र की। वस्तुतः इतिहास पर ही समाजशास्त्र की रचना संभव है।

एशियाइयों में चीनियों, किंतु उनसे भी अधिक इस्लामी लोगों को, जिनको कालक्रम का महत्व अच्छे प्रकार ज्ञात था, इतिहासरचना का विशेष श्रेय है। मुसलमानों के आने के पहले हिंदुओं की इतिहास के संबंध में अपनी अनोखी धारणा थी। कालक्रम के बदले वे सांस्कृतिक और धार्मिक विकास या ह्रास के युगों के कुछ मूल तत्वों को एकत्रित कर और विचारों तथा भावनाओं के प्रवर्तकों और प्रतीकों का सांकेतिक वर्णन करके तुष्ट हो जाते थे। उनका इतिहास प्रायः काव्यरूप में मिलता है जिसमें सब कच्ची पक्की सामग्री मिली जुली, उलझी और गुथी पड़ी है। उसके सुलझाने के कुछ कुछ प्रयत्न होने लगे हैं, किंतु कालक्रम के अभाव में भयंकर कठिनाइयाँ पड़ रही हैं।

वर्तमान सदी में यूरोपीय शिक्षा में दीक्षित हो जाने से ऐतिहासिक अनुसंधान की हिंदुस्तान में उत्तरोत्तर उन्नति होने लगी है। इतिहास की एक नहीं, सहस्रों धाराएँ हैं। स्थूल रूप से उनका प्रयोग राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में अधिक हुआ है। इसके सिवा अब व्यक्तियों में सीमित न रखकर जनता तथा उसके संबंध का ज्ञान प्राप्त करने की ओर अधिक रुचि हो गई है। [रा० प्र० त्रि०]

इतो, हिरोबुमि, प्रिंस

(१८४१-१९०९) जापानी राजनीतिज्ञ जो पहले प्रबल सामंत छाशू का सैनिक था। आरंभ में जिस राजनीतिक कार्य में स्वामी ने इतो को नियुक्त किया उससे स्वयं इतो और जापान दोनों का बड़ा हित सधा। इतो ने देखा कि पाश्चात्य तोपों और बंदूकों के सामने जापानी तीरंदाजों का टिक सकना असंभव है, इससे उसने कुछ मित्रों के साथ यूरोप में जाकर सैनिक साज सज्जा सीखने का निश्चय किया। पर तबके जापानी कानून के अनुसार विदेश जानेवालों को प्राणदंड मिला करता था। सो इतो और उसके साथियों ने जानपर खेलकर यूरोप की राजधानियों की राह ली। जापान और पाश्चात्य देशों के बीच तनातनी के कारण उसे स्वदेश लौटना पड़ा।

कालांतर में प्रिंस इतो हिमोगो का शासक नियत हुआ, फिर वित्त का उपमंत्री। १८७१ ई० में वह इवाकुरा के साथ सैनिक सलाहकारों की खोज में फिर यूरोप गया। उसी द्वारा प्रस्तुत यूरोपीय संविधानों के फलस्वरूप जापान का नया संविधान बना और जापान यूरोपीय राज्यों द्वारा समपदस्थ स्वीकृत हुआ। नई जापानी राज्यशक्ति के निर्माण में इतो का बड़ा हाथ था। एक कोरियाई हत्यारे ने उसकी हत्या कर दी।

[ओं० ना० उ०]

इत्रुस्की

जाति और भाषा। इत्रुस्की किस जाति के थे यह निश्चयपूर्वक आज नहीं कहा जा सकता। संभवतः इनमें रासेना, तिरहेनियाई, लीदियाई आदि सभी जातियाँ शामिल थीं। इटली की तुस्कानी के अधिकतर भाग में इत्रुस्की बसे थे, इसी से वह प्रदेश इत्रूरिया कहलाने लगा। इत्रूरिया में कालांतर में इत्रुस्कियों के १२ प्रधान नगरराज्य खड़े हुए। इन नगरराज्यों के प्रधान 'लुकुमोनिज' कहलाते थे जो शांति के समय पुरोहित और युद्ध के समय सेनानी के कार्य भी संपन्न करते थे। देश के शासन के अर्थ ये वाल्तुम्ना के मंदिर में अपनी संयुक्त बैठकें किया करते थे। नगरों की राजनीतिक व्यवस्था अभिजाततंत्रीय थी।

ई० पू० ११वीं सदी में इत्रुस्की जाति की शक्ति इटली में विशेष बढ़ी और उसने रोम पर भी अधिकार कर लिया। छठी सदी ई०पू० में इत्रुस्कियों ने अपनी शक्ति की चोटी छू ली, जब ग्रीकों और फिनीकियों के साथ उनकी प्रभुता भी भूमध्यसागरवर्ती व्यापार में स्थापित हुई। ई० पू० ५वीं सदी के तीसरे चरण के अंत में सीराकूज़ के ग्रीकराज हिएरो प्रथम ने उनका समुद्री बेड़ा नष्ट कर उनकी शक्ति क्षीण कर दी और तब से इत्रुस्कियों का ह्रास शीघ्रगामी हो चला। उत्तरी इत्रुस्कियों पर गॉलों ने ई० पू० ३९६ में चोट कर उन्हें नष्ट कर दिया और दक्षिणी शाखाओं ने ई० पू० ३५१ में रोमनों को आत्मसमर्पण कर दिया। राजसत्ता के रूप में तीसरी सदी ई० पू० तक इत्रुस्की इतिहास से मिट गए थे, यद्यपि उनका सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक प्रभाव रोमनों पर फिर भी बना रहा।

इत्रुस्की जाति के देवी देवता अधिकतर उसी लातीनी-साबीनी देवपरिवार के थे जिस परिवार के रोमनों के देवी देवता थे। वेलिना (लातीनी

जूपितर), क्रुप्रा (ला० जूनो), मेनेर्फ़ा (मिनर्वा), सेथ्लान (वल्कन), तुर्म (मर्करी), अप्लू (अपोलो) आदि को पूजते थे। इन देवताओं के अपने अपने मंदिर भी थे जिनमें उनकी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित थीं। मूर्तिकला में इत्रुस्कियों ने प्रभूत उन्नति कर ली थी और उनकी अनेकानेक मूर्तियाँ आज इटली आदि यूरोपीय देशों के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। मिट्टी के उनके बर्तन अपनी निर्माणकला के लिये तो प्रसिद्ध हैं ही, धातुकार्य में भी इत्रुस्की असाधारण विख्यात थे। उनके अभिजात श्रीमान् तो कला, भोजन, वसन आदि संबंधी अपनी फजूलखर्ची के लिये प्राचीन काल में बदनाम थे।

इत्रुस्की भाषा के संबंध में हमारी जानकारी बहुत ही कम है। जो इत्रुस्की अभिलेख अधिकतर समाधियों अथवा मृतकवेष्टनो से प्राप्त हुए है उनसे उस भाषा के परिवार का पता नही चलता। उसका संबंध ग्रीक, केल्टी, जर्मन, सामी आदि भाषाओं से करने के जो प्रयत्न हुए है, सभी असफल सिद्ध हुए है। लेखों की वर्णमाला निश्चय प्राचीन ग्रीक की एक शाखा है जो इत्रुस्कियों ने स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त की है। कुछ आश्चर्य नही जो इन इत्रुस्कियों ने ही अपने फिनीकी सानिध्य से उनसे इब्रानी मूल लिपि सीखी हो, फिर ग्रीको को भी सिखा दी हो। परंतु इस प्रसंग में कोई अंतिम निर्णय कर सकना अभी संभव नही है, विशेषतः इस कारण कि इत्रुस्कियों के फ़िनीकी संबंध के प्रायः समांतर काल में ही प्राचीन ग्रीकों का संबंध भी फ़िनीकियों से स्थापित हो चुका था।

सं०ग्रं०—जी० डेनिस : दि सिटीज़ ऐंड सिमेटरीज़ ऑव इट्रुरिया; एफ० पोल्सेन : इट्रस्कन् टूंब पेटिंग्स; डी० रैंडल-मैकूईवर : विलैनोवांस् ऐंड अर्ली इट्रस्कंस्; आर० ए० फ़ेल : इट्रूरिया ऐंड रोम।

[भ० श० उ०]

इत्सिंग (ईच-चिङ) भारत में आनेवाले तीन बड़े चीनी यात्रियों में से एक, यह सबसे बाद में आया। इसका जन्म ६३५ में सन-यंग मे ताई-त्सुग के शासनकाल मे हुआ। ताई पर्वत पर स्थित मंदिर में शन-यू और हुई-उसी से इसने ७ वर्ष की अवस्था से शिक्षा प्राप्त की। शन-यू की मृत्यु के पश्चात् सांसारिक विषयों को छोड़कर इसने बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन आरंभ किया। १४ वर्ष की आयु में इसे प्रव्रज्या मिल गई और १८ वर्ष की आयु में इसने भारतयात्रा का संकल्प किया जो लगभग २० वर्ष बाद ही पूरा हो सका। इसने विनयसूत्र का अध्ययन हुई-उसी की देख-रेख मे किया और अभिधर्मपिटक से संबंधित असंग के दो शास्त्रों का अध्ययन करने के लिये वह पूर्व की ओर चला। फिर पश्चिमी राजधानी सी-अन-फूयांग-आन शेन सी पहुँच उसने वसुबंधुकृत 'अभिधर्मकोश' और धर्मपालकृत 'विद्या-मात्र-सिद्धिका' का गहरा अध्ययन किया। चेन-अन में कदाचित् ह्वेन-त्सांग के संमान और यश से प्रभावित होकर उसने अपनी भारतयात्रा का पूरा संकल्प किया जिसका वर्णन इसने स्वयं किया है।

इत्सिग का कथन है कि यह ६७० ई० में पश्चिमी राजधानी (यंग-अन) मे अध्ययन कर व्याख्यान सुन रहा था। उस समय इसके साथ चिंग-यू निवासी धर्म का उपाध्याय चू-इ, लै-चोऊ निवासी शास्त्र का उपाध्याय हुंग-इ और दो तीन दूसरे भदंत थे। उन सबने गृद्धकूट जाने की इच्छा प्रकट की। त्सिन-चोऊ के शन-हिंग नामक एक युवा भिक्षु के साथ इसने भारत के लिये प्रयाण किया। पर्यटन मे यह सहस्रों विश्रामस्थानो से गुजरा। ६७८ ई० में श्रृंगतुग नगर आया। यहाँ से दक्षिण की यात्रा के लिये एक ईरानी जहाज के स्वामी से मिलने की तिथि निश्चय की। छः मास की यात्रा के पश्चात् यह श्रीभोज (श्रीविजय) पहुँचा। यहाँ छः मास ठहरकर शब्द-विद्या सीखता रहा। राजा ने इसे आश्रय देकर मलय देश भेज दिया। वहाँ से यह पूर्वी भारत के लिये जहाज पर चला और ६७३ ई० के दूसरे मास में ताम्रलिप्ति पहुँचा। वहाँ इसे ता-तेंग-तेंग (ह्वेन-त्सांग का शिष्य) मिला। प्रायः २६ वर्ष यह उसके पास ठहरा और संस्कृत सीखी तथा शब्द-विद्या का अभ्यास किया। वहाँ से कई सौ व्यापारियों के साथ यह मध्य-भारत के लिये चला और क्रमशः बोधगया, नालंदा, राजगृह, वैशाली, कुशी-नगर, मृगदाव (सारनाथ), कुक्कुटगिरि की यात्रा की। यह अपने साथ पाँच लाख श्लोकों की पुस्तकें ले गया। लगभग २५ वर्ष (६७१-६९५) के लंबे काल में इसने तीस से अधिक देशों का पर्यटन किया और ६९५ में चीन वापस पहुँच गया। इसने ७०० से ७१२ ई० के बीच २३० भागों में ५६ ग्रंथों का अनुवाद किया जिनका मूल सर्वास्तिवादी मत से संबंध है। ७१३ ई० में ७९ वर्ष की अवस्था में इसका देहांत हो गया।

सं०ग्रं०—ज तककुसू : इत्सिंग; संतराम : इत्सिंग की भारतयात्रा, इलाहाबाद, १९२५।

[बै० पु०]

इथाका संयुक्त राज्य (अमरीका) के न्यूयार्क राज्य का नगर तथा टेपकिंस काउंटी की राजधानी है। यह कायूगा झील के दक्षिणी तट पर इल्मीरा से २८ मील पूर्वोत्तर स्थित है। यों तो अधिकांश नगर समतल घाटी में है, परंतु दक्षिण-पूर्व तथा पश्चिम के भाग अपेक्षाकृत ऊँची भूमि पर हैं; अतः समुद्रतल से इसकी ऊँचाई ३८९-८१० फुट है। यहाँ चारों ओर से रेलें तथा सड़कें आकर मिलती है और एक हवाई अड्डा भी है। कायूगा झील द्वारा यह न्यूयार्क स्टेट की नौका नहरो से भी संबद्ध है। इथाका के निकट ही कई प्रपात हैं जिनमे टौगनक फाल्स (२१५ फुट) सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इस प्रकार नगर का प्राकृतिक वातावरण बड़ा ही आकर्षक है; अतः इथाका एक सुदर पर्यटककेंद्र बन गया है। यहाँ कार्नेल विश्वविद्यालय तथा इथाका कालेज जैसी बड़ी शिक्षा संस्थाएँ भी है। इसके मुख्य उद्योग शक्तिसंचालन की चेनें, नमक, सिमेंट, चमड़े का सामान, कागज बनाने की मशीनें तथा वस्त्रादि बनाना है। इसका शिलान्यास सन् १७८७ ई० में हुआ था तथा सन् १८०६ ई० में साइमन डी विट ने इसका नाम इथाका रखा था। सन् १८८८ ई० में इसे नगर की श्रेणी प्राप्त हुई। इसकी जन-संख्या सन् १९५० में २९,२५७ थी।

[लें० रा० सिं०]

इथोपियाई साहित्य यह केवल धर्मग्रंथो का साहित्य है और बाइबिल के अनुवादो तक सीमित है। इसमे ४६ अनुवाद 'ओल्ड टेस्टामेंट' के और ३५ 'न्यू टेस्टामेंट' के हुए। सबसे पहले ईसा के जीवनचरित और उपदेशों के अनुवाद पश्चिमी आर्मीनियाई भाषा से सन् ५०० ई० मे हुए थे। इथोपियाई भाषा को गीज़ कहते है। साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिये गीज़ का प्रयोग अबिसीनिया में ईसाई धर्म के आगमन से कुछ ही पहले प्रारंभ हुआ। जनभाषा के रूप में इसका प्रयोग कब बंद हो गया, यह अज्ञात है।

ईसाई धर्म के आगमन से पूर्व इथोपिया में प्रकृतिपूजा प्रचलित थी। प्राचीन इथोपियाई धर्म और संस्कृति प्राचीन मिस्र से आई प्रतीत होती है। तीन प्राचीन शाही शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। उनमें से दो डी० एच० म्यूलर द्वारा जे० टी० बेंट की पुस्तक 'इथोपियनों का पवित्र नगर' में सन् १८९३ ई० में प्रकाशित किए गए और तीसरा, जो मतरा में प्राप्त हुआ था, सी० सी० रोज़िनी की पुस्तक 'रेंडीकोंटी अकाद् लिनसी' में सन् १८९६ में प्रकाशित हुआ। ये शाही शिलालेख हाइरोग्लिफ़िक लिपि (जो प्राचीन मिस्र की चित्रमय पवित्र लिपि है) और मिस्री भाषा में उत्कीर्ण हैं। इर्गा-मेनिस काल के आसपास एक जनबोली भी शिलालेखों में प्रयुक्त होने लगी। इसकी लिपि में २३ संकेतों की विशिष्ट वर्णमाला थी, हाइरोग्लिफ़िक चित्र-संकेतो के समांतर धारावाहिक रूप में दाईं से बाईं ओर लिखी जाती थी, मिस्री पद्धति के विपरीत, जिसमे चित्रो के मुख की दिशा में लिखा जाता था। किंतु इन संकेतों के रूप और अर्थ अधिकांश में मिस्री भाषा के ही थे। इतना होते हुए हुए भी यह भाषा न तो आज तक पढ़ी जा सकी है और न यही कहा जा सकता है कि किस भाषापरिवार से इसका नाता है।

गीज़ भाषा में लिखित साहित्य को दो कालों में विभाजित किया जाता है: (१) ५वीं शताब्दी के आसपास ईसाई धर्म के आगमन से सातवीं शताब्दी तक और (२) सन् १२६९ ई० में सलोमन वंशी राज की पुनः स्थापना से लेकर अब तक। प्रथम काल में ग्रीक भाषा से अनुवाद हुए और दूसरे में अरबी भाषा से।

गीज़ साहित्य की अब तक उपलब्ध पांडुलिपियों की संख्या लगभग १२०० है जिनकी सूची रोज़िनी ने सन् १८९९ ई० में प्रकाशित की। इनमें से अधिकांश पांडुलिपियाँ ब्रिटिश म्यूज़ियम, लंदन में और शेष यूरोप के प्रमुख संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। अनेक पांडुलिपियाँ अबिसीनिया में और लोगों के निजी पुस्तकालयों में भी हैं। आर० ई० लिटमान ने अपनी पुस्तक 'ज़ीत्शरिफ्ट फ्यूर असीरियोलॉजी' में कहा है कि दो बड़े संग्रह जेरूसलम में भी है, जिनमें से एक में २८३ पांडुलिपियाँ हैं। रोज़िनी के अनुसार ३५ हस्तलिखित ग्रंथ चेरेन के कैथोलिक मिशन में सुरक्षित हैं।

बाइबिल के गीज़ भाषा में कुछ अंशों के अतिरिक्त सन् १८९३ ई० से अब तक ४० से अधिक इथोपियाई साहित्य की पुस्तकें यूरोप में मुद्रित भी हो चुकी हैं (देखिए बिबलियोथिका इथोपियका; लेखक एल० गोल्डश्मिड्), किंतु प्रथम अथवा द्वितीय श्रेणी का एक भी साहित्यकार आज तक गीज़ भाषा ने उत्पन्न नहीं किया। [का० चं० सौ०]

इदरिसी (पूरा नाम अबू अब्दुल्ला मुहम्मद इब्न मुहम्मद इब्न अब्दुल्ला इब्न इदरिसी, लगभग सन् १०९९-११५४ ई०) अरब भूगोलविद् था। उसके दादा उस शाही खानदान के थे जो उत्तर-पश्चिम अफ्रीका पर राज्य करता था। इदरिसी का जन्म सन् १०९९ ई० में सेउटा (उत्तर-पश्चिम मोरक्को) में हुआ। कारदोवा में उसने शिक्षा पाई और दूर दूर देशों में पर्यटन किया। सिसिली के राजा रोजर (रॉजर) द्वितीय ने उसे सन् ११२५ और ११५० ई० के बीच किसी समय आमंत्रित किया और इदरिसी वहाँ जाकर राजभूगोलविद् हुआ। राजा की आज्ञा से कई व्यक्ति दूर दूर के देशों में गए और उनकी लाई सूचनाओं के आधार पर इदरिसी ने नया भूगोल लिखा। यह पुस्तक सन् ११५४ ई० में पूर्ण हुई और इसका नाम इदरिसी ने अपने आश्रयदाता के नाम पर "अल रोजरी" रखा। इसमें उस समय तक लेखक को ज्ञात देशों का पूरा विवरण था। वह बहुत उदार विचारों का था, पृथ्वी को गोलाकार मानता था और अनेक देशों का तथा पहले के लेखकों के ग्रंथों का उसे विस्तृत ज्ञान था। उसने सारे संसार का मानचित्र भी तैयार किया। इसमें त्रुटियाँ अवश्य थीं, परंतु यह उस समय का सर्वोत्तम मानचित्र था। पूर्वोक्त ग्रंथ के अतिरिक्त इदरिसी ने एक और ग्रंथ लिखा था जिसका उल्लेख एक पीछे के लेखक ने किया है, परंतु अब यह अप्राप्य है। इदरिसी की पुस्तक अल रोजरी की हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ आक्सफोर्ड और पेरिस के पुस्तकालयों में हैं। कई नकशे भी हैं। १८३६-१८४० में इदरिसी के पूरे भूगोल का फ्रेंच अनुवाद पेरिस की भूगोलपरिषद् ने छपाया था। उसके विशिष्ट खंडों का अनुवाद अन्य भाषाओं में भी छापा गया है।

इनफ्लुएंजा एक विशेष समूह के वायरस के कारण मानव समुदाय में होनेवाला एक संक्रामक रोग है। इसमें ज्वर और अति दुर्बलता विशेष लक्षण हैं। फुफ्फुसों के उपद्रव की इसमें बहुत संभावना रहती है। यह रोग प्रायः महामारी के रूप में फैलता है। बीच बीच में जहाँ तहाँ रोग होता रहता है।

यह रोग बहुत प्राचीन काल से होता आया है। गत चार शताब्दियों में कितनी ही बार इसकी महामारी फैली है, जो कभी कभी संसारव्यापी तक हो गई है। सन् १८८९-९२ और १९१८-२० में संसारव्यापी इनफ्लुएंजा फैला। १९५७ में यह एशिया भर में फैला था।

सन् १९३३ में स्मिथ, ऐंड्रू और लेडलो ने इनफ्लुएंजा के वायरस-ए का पता पाया। फ्रांसिस और मैगिल ने १९४० में वायरस-बी का आविष्कार किया और सन् १९४८ में टेलर ने वायरस-सी को खोज निकाला। इनमें से वायरस-ए ही इनफ्लुएंजा के रोगियों में सबसे अधिक पाया जाता है। ये वायरस गोलाकार होते हैं और इनका व्यास १०० म्यू के लगभग होता है (१ म्यू = $\frac{1}{१०००}$ मिलीमीटर)। रोग की उग्रावस्था में श्वसनतंत्र के सब भागों में यह वायरस उपस्थित पाया जाता है। श्लेष्मा (बलगम) और नाक से निकलनेवाले स्राव में तथा थूक में यह सदा उपस्थित रहता है, किंतु शरीर के अन्य भागों में नहीं। नाक और गले के प्रक्षालनजल में प्रथम से पाँचवें और कभी कभी छठे दिन तक यह वायरस मिलता है। इन तीनों प्रकार के वायरसों में उपजातियाँ भी पाई जाती हैं।

इनफ्लुएंजा की प्रायः महामारी फैलती है जो स्थानीय (एकदेशीय) अथवा अधिक व्यापक हो सकती है। कई स्थानों, प्रदेशों या देशों में रोग एक ही समय उभड़ सकता है। कई बार सारे संसार में यह रोग एक ही समय फैला है। इसका विशेष कारण अभी तक नहीं ज्ञात हुआ है।

रोग की महामारी किसी भी समय फैल सकती है, यद्यपि जाड़े में या उसके कुछ आगे पीछे अधिक फैलती है। इसमें आवृत्तिचक्रों में फैलने की प्रवृत्ति पाई गई है, अर्थात् रोग नियत कालों पर आता है। वायरस-ए की महामारी प्रति दो तीन वर्ष पर फैलती है। वायरस-बी की महामारी प्रति चौथे या पाँचवें वर्ष फैलती है। वायरस-ए की महामारी बी की अपेक्षा अधिक व्यापक होती है। भिन्न भिन्न महामारियों में आक्रांत रोगियों की संख्या १-५ प्रति शत से लेकर २०-३० प्रति शत तक रही है। स्थानों की तंगी, गंदगी, खाद्य और जाड़े में वस्त्रों की कमी, निर्धनता आदि दशाएँ रोग के फैलने और उसकी उग्रता बढ़ाने में विशेष सहायक होती हैं। सघन बस्तियों में रोग शीघ्रता से फैलता है और शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। दूर दूर बसी हुई बस्तियों में दो से तीन मास तक बना रहता है। रोगी के गले और नासिका के स्राव में वायरस रहता है और उसी से निकले छींटों द्वारा फैलता है (ड्रॉपलेट इनफ़ेक्शन से रोग होता है)। इन्हीं अंगों में रोग का वायरस घुसता भी है। रोगवाहक व्यक्ति नहीं पाए गए हैं, न रोग के आक्रमण से रोग-प्रतिरोध-क्षमता उत्पन्न होती है। छः से आठ महीने पश्चात् फिर उसी प्रकार का रोग हो सकता है।

रोग का उद्भवकाल एक से दो दिन तक का होता है। रोग के लक्षणों में कोई विशेषता नहीं पाई जाती। केवल ज्वर और अति दुर्बलता ही इस रोग के लक्षण हैं। इनका कारण वायरस से उत्पन्न हुए जैवविष (टॉक्सिन) जान पड़ते हैं। भिन्न भिन्न महामारियों में इनकी तीव्रता विभिन्न पाई गई है। ज्वर और दुर्बलता के अतिरिक्त सिरदर्द, शरीर में पीड़ा (विशेषकर पिंडलियों और पीठ में), सूखी खाँसी, गला बैठ जाना, छींक आना, आँख और नाक से पानी बहना और गले में क्षोभ मालूम होना, आदि लक्षण भी होते हैं। ज्वर १०१ से १०३ डिगरी तक निरंतर दो या तीन दिन से लेकर छः दिन तक बना रह सकता है। नाड़ी ताप की तुलना में द्रुत गतिवाली होती है। परीक्षा करने पर नेत्र लाल और मुख तमतमाया हुआ तथा चर्म उष्ण प्रतीत होता है। नाक और गले के भीतर की कला लाल शोथयुक्त दिखाई देती है। प्रायः वक्ष या फुफ्फुस में कुछ नहीं मिलता। रोग के तीव्र होने पर ज्वर १०५° से १०६° तक पहुँच सकता है।

इस रोग का साधारण उपद्रव ब्रोंको न्यूमोनिया है जिसका प्रारंभ होते ही ज्वर १०४° तक पहुँच जाता है। श्वास का वेग बढ़ जाता है, यह ५०-६० प्रति मिनट तक हो सकता है। नाड़ी ११० से १२० प्रति मिनट हो जाती है, किंतु श्वासकष्ट नहीं होता। सपूय श्वासनलिकार्ति (प्युरुलेंट ब्रॉनकाइटिस) भी उत्पन्न हो सकती है। खाँसी कष्टदायक होती है। श्लेष्मा झागदार, श्वेत अथवा हरा और पूययुक्त तथा दुर्गंधयुक्त हो सकता है। रक्त-मिश्रित होने से वह भूरा या लाल रंग का हो सकता है। फुप्फुस की परीक्षा करने पर विशेष लक्षण नहीं मिलते। किंतु छाती ठोंकने पर विशेष ध्वनि, जिसे अंग्रेजी में राल कहते हैं, मिल सकती है।

इस रोग का आंत्रिक रूप भी पाया जाता है जिसमें रक्तयुक्त अतिसार, वमन, जी मिचलाना और ज्वर होते ह।

रोग के अन्य उपद्रव भी हो सकते हैं। स्वस्थ बालकों और युवाओं में रोगमुक्ति की बहुत कुछ संभावना होती है। रोगी थोड़े ही समय में पूर्ण स्वास्थ्यलाभ कर लेता है। अस्वस्थ, अन्य रोगों से पीड़ित, दुर्बल तथा वृद्ध व्यक्तियों में इतना पूर्ण और शीघ्र स्वास्थ्यलाभ नहीं होता। उनमें फुप्फुस संबंधी अन्य रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

रोगरोधक चिकित्सा—महामारी के समय में अधिक मनुष्यों का एक स्थान पर एकत्र होना अनुचित है। ऐसे स्थान में जाना रोग का आह्वान करना है। गले को पोटास परमैंगनेट के १ : ४००० के घोल से प्रातः सायं दोनों समय गरारा करके स्वच्छ करते रहना आवश्यक है। इनफ्लुएंजा वायरस की वैक्सीन का इंजेक्शन लेना उत्तम है। इससे रोग की प्रवृत्ति कम हो जाती है। २ से १२ महीने तक यह क्षमता बनी रहती है। किंतु यह क्षमता निश्चित या विश्वसनीय नहीं है। वैक्सीन लिए हुए व्यक्तियों को भी रोग हो सकता है।

इस रोग की कोई विशेष चिकित्सा अभी नहीं ज्ञात हुई है। चिकित्सा लक्षणों के अनुसार होती है और उसका मुख्य उद्देश्य रोगी के बल का संरक्षण होता है। जब किसी अन्य संक्रमण का भी प्रवेश हो गया हो तभी सल्फा तथा जीवाणुद्वेषी (ऐंटिबायोटिक) ओषधियों का प्रयोग करना चाहिए। [शि० श० मि० तथा स० प्र० गु०]

इनास यूनान का एक प्राचीन नगर है जिसका स्पष्ट संकेत होमर के 'इलियड' में भी मिलता है। इसका प्राचीन नाम ऐनोस था। यह मर्तिजा नदी के मुहाने पर एजियन तट पर बसा हुआ है। यह

ऐड्रियानोपुल से, जो उत्तर-पूर्व में लगभग ७० मील की दूरी पर है, मर्तिजा के ही प्राकृतिक जलमार्ग द्वारा संबद्ध है। पूर्वकाल में यह एक प्रसिद्ध पत्तन था, परंतु कालांतर में मर्तिजा नदी का तल पट जाने, मुहाने पर दलदल हो जाने तथा परिणामस्वरूप जलवायु के बिगड़ने के कारण इसका आकर्षण घटने लगा। देदियागैच के निकटवर्ती पत्तन की प्रतिस्पर्धा से, जो ऐड्रियानोपुल से रेल द्वारा संबद्ध है, इसे बड़ा धक्का पहुँचा है। अतः अब निर्यात में इसका स्थान नगण्य है। यहाँ अधिकांशतः छोटे छोटे तटीय व्यापारिक जहाज तथा मछुए शरण लेते हैं। सन् १६०५ ई० में इसकी जनसंख्या ८,००० थी, परंतु अब ७,००० से भी कम है।

[ले० रा० सिं०]

इनेसिदेमस एक यूनानी दार्शनिक जिसका जन्म शायद ई० पू० प्रथम शताब्दी में क्नोसस् में हुआ था। इसका दृष्टिकोण संदेहवादी था। वह सत्य और कार्य-कारण-भाव में विश्वास नहीं करता था। जीवधारियों के प्रत्यक्षों की सापेक्षिकता के कारण सत्य का स्वरूप निरपेक्ष नहीं हो सकता। यही बात कारण के संबंध में भी लागू होती है। फिर कार्य और कारण का संबंध भी अचिंत्य है। इनेसिदेमस की युक्तियाँ आधुनिक संदेहवादियों की युक्तियों के साथ विलक्षण समानता रखती हैं। दियोगेनेस लीएर्तियस् की 'दार्शनिकों के जीवनचरित' नामक पुस्तक में उसकी चार रचनाओं के नाम मिलते हैं। [भो० ना० श०]

इनैमल धातु पर पिघलाकर चढ़ाई गई काच (अथवा काच के समान पदार्थ) की तह को इनैमल कहते हैं। धातुपदार्थों के ऊपर काचीय परत जमाने की कला बड़ी पुरानी है। परंतु साधारण बोलचाल में किसी भी वस्तु के ऊपर की चमकदार तह को इनैमल कहा जाता है। साइकिल और मोटरकार पर चढ़ा सेलूलोज़ रंग या दाँतों की ऊपरी प्राकृतिक परत प्राविधिक रूप से इनैमल नहीं है। प्राविधिक दृष्टिकोण से इनैमल अकार्बनिक काचीय परत है जो पिघलाकर किसी सतह पर जमाई जाती है। मुख्यतः काच, चीनी मिट्टी के पात्र, धातु और खनिज पदार्थों की सतहों पर इनैमल किया जाता है। वस्तुतः इनैमल कम ताप पर द्रवित होनेवाला काच है। सोने और चाँदी पर (कभी कभी ताँबे पर भी) किए काम को हिंदी में साधारणतः मीना या मीनाकारी (इनैमल) कहते हैं।

इतिहास---इनैमल कला का कहाँ और कब आविष्कार हुआ, यह बताना अति कठिन है। अधिक संभावना यही है कि इनैमल कला का आविष्कार, काच कला के समान, पश्चिमी एशिया में हुआ। प्राचीन समय के इनैमल-सुसज्जित स्वर्ण, रजत, ताम्र और मिट्टी के पात्र उपलब्ध हुए हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि इनैमल कला का ज्ञान प्राचीन मिस्र, ग्रीस और बाइज़ैंटाइन साम्राज्य के लोगों को भी था।

इंग्लैंड की सभ्यता के पूर्व आयरलैंड निवासी भी यह कला जानते थे। मार्को पोलो के भ्रमण के पश्चात् चीन और जापान में भी इस कला का प्रसार हुआ। मिस्र की प्राचीन समाधियों में मीनाकृत आभूषण प्राप्त हुए हैं। उस समय स्वर्ण, रजत और ताम्र धातुओं पर कई प्रकार की सुंदर मीनाकारी की जाती थी। भारत में लखनऊ तथा जयपुर की १७वीं शताब्दी की मीनाकारी बहुत प्रसिद्ध थी जिसमें पारदर्शी मीना के पृष्ठ पर उत्कीर्णन (नक्काशी) रहता था। ऐसे काम को अंग्रेजी में बासटेय (छिछला उत्कीर्णन) कहते हैं।

इनैमल मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं :

(१) कठोर इनैमल---यह नरम इस्पात और ढलवाँ लोहे पर सुरक्षा और सजावट के लिये चढ़ाया जाता है।

(२) मृदु इनैमल---यह मंद ताप पर द्रवित होता है और स्वर्ण, रजत तथा ताम्र पर सुंदरता और सजावट के लिये लगाया जाता है। मीनाकारी इसी जाति का इनैमल है।

स्वच्छ करना---इनैमल करने के पहले वस्तुओं को पूर्णतया स्वच्छ करना आवश्यक है। इसकी रीति निम्नलिखित है :

नरम इस्पात---इसकी सतह इनैमल करने के पूर्व पूर्ण रूप से स्वच्छ कर ली जाती है। वस्तुविशेष को बंद भट्टी (मफ़ल फ़र्नेस) के भीतर ६००-७००° सेंटीग्रेड पर तप्त करने से मोरचा ढीला होकर झड़ जाता है और तेल, वसा इत्यादि अशुद्धियाँ जलकर नष्ट हो जाती हैं। अशुद्धियों को पूर्ण रूप से निकाल देने के लिये तापन के पश्चात् अम्लशोधन का सर्वदा प्रयोग किया जाता है। इस रीति में धातु की वस्तुओं को तनु (फीके) सलफ्युरिक या हाइड्रोक्लोरिक अम्ल में डुबा दिया जाता है। साधारणतः ६-१० प्रति शत तप्त सलफ्युरिक अम्ल का प्रयोग किया जाता है। १० प्रति शत हाइड्रोक्लोरिक अम्ल बिना गर्म किए ही प्रयुक्त हो सकता है। अम्लशोधन की क्रिया १५ मिनट से लेकर आधे घंटे तक की जाती है। इससे लौह वस्तु पर मोरचा और अन्य सब अशुद्धियाँ पूर्णतया नष्ट हो जाती है। इसके पश्चात् वस्तु को स्वच्छ जल के हौज में डुबोकर छोड़ दिया जाता है। फिर धुली वस्तुओं को सोडा के १ प्रति शत विलयन में डुबाने के पश्चात् उन्हें निकालकर सुखा लिया जाता है। लौह वस्तुओं पर क्षार की पतली परत जम जाने से मोरचा नहीं लगता है।

ढलवाँ लोहा---इस प्रकार के लोहे की वस्तुओं का अम्लशोधन नहीं किया जाता है। ऐसे लोहे की सतहों को तापन और बालुकाप्रक्षेपण (सैंडब्लास्टिंग) द्वारा साफ किया जाता है। ८००° सें० तक तप्त करने से तेल, वसा, फासफोरस, गंधक इत्यादि अशुद्धियाँ जलकर नष्ट हो जाती हैं। बालुकाप्रक्षेपण के लिये वायु की दाब ७० या ८० पाउंड प्रति वर्ग इंच रखी जाती है और करकराती, शुष्क और महीन बालू ढलवाँ लोहे की सतह को स्वच्छ करके चमका देती है।

स्वर्ण, चाँदी और ताम्र---इन धातुओं की सतहों को स्वच्छ करने के लिये इनको भी तप्त किया जाता है और तनु सल्फ्युरिक अम्ल में उबाला जाता है। जल से धोने के पश्चात् इनको सोडा विलयन में डुबाया जाता है और तदुपरांत सुखा लिया जाता है।

इनैमल करना---विविध धातुओं पर इनैमल करने की रीति नीचे दी जाती है :

इस्पात---इनैमल तैयार करने के लिये वे ही कच्चे पदार्थ प्रयुक्त होते हैं जो काचनिर्माण में काम आते हैं। इनैमल में मुख्यतः क्षार के लिये अल्युमिना के बोरोसिलिकेट प्रयुक्त होते हैं। कुछ इनैमलों में सीसा (लेड) भी मिला रहता है। कुछ ऐसे रासायनिक पदार्थ भी मिलाए जाते हैं जिनसे इनैमल में कुछ विशेष भौतिक गुण आ जायँ। उदाहरणतः इनैमल में यदि कोबल्ट, निकल और मैंगनीज़ के आक्साइड उपस्थित रहते हैं तो प्रसरणगुणांक में भिन्नता होते हुए भी इस्पात पर यह इनैमल दृढ़ता से जम जाता है। इस्पात की वस्तुओं पर पहले उपयुक्त आक्साइडोंवाले इनैमल की परत चढ़ा दी जाती है। इस परत को अस्तर (ग्राउंड कोट इनैमल) कहा जाता है। चुने सूत्र के अनुसार आवश्यक पदार्थों को मिलाकर और उन्हें अग्निसह मिट्टी की घरिया या कुंड में रखकर भट्ठी में तप्त करके द्रवित किया जाता है और द्रव को शीतल जल में उड़ेल दिया जाता है। इस क्रिया से द्रवमिश्रण भुरभुरे कणों में परवर्तित हो जाता है। इन कणों को "काचिक" (फ्रिट) कहा जाता है। यह सुगमता से पीसकर चूर्ण किया जा सकता है। इसको पात्रपेषणी (पॉट मिल) में बेंटोनाइट जैसी सुघट्य मिट्टी और जल के साथ मिलाकर पीसा जाता है। मिट्टी के कारण काचिक जल में निलंबित हो जाता है और इसको इनैमल घोला (स्लिप) कहा जाता है। इनैमल घोला लगाने के कुछ पूर्व सुहागा, अमोनियम कार्बोनेट, इपसम लवण, मैगनीशिया इत्यादि जैसे पदार्थ (·१-·५ प्रति शत) मिला देने से घोला गाढ़ा हो जाता है।

इनैमल घोला लगाने की कई विधियाँ हैं जो वस्तु की आकृति, नाप, ढाँचे और भार पर निर्भर हैं :

(१) खोखली वस्तुओं को घोला में डुबाकर शीघ्र निकाल लिया जाता है। (२) साइनबोर्ड आदि में घोला एक ही तरफ तैराकर कूर्च (ब्रश) द्वारा लगाया जाता है। (३) भारी या छिद्रयुत वस्तुओं और कई रंग में बननेवाले साइनबोर्डों या अन्य वस्तुओं पर घोला प्रक्षेपयंत्र (वायुकूर्च) द्वारा भी छिड़का जा सकता है। इन यंत्रों में वायु की दाब ३०-४० पाउंड प्रति वर्ग इंच होती है। घोला लगाने के उपरांत उसे सुखा लिया जाता है।

द्रावरण—कोमल इस्पात के ऊपर लगे प्रारंभिक इनैमल-घोला की परत के सूखने के बाद वस्तु को बंद भट्ठी में, जिसका ताप प्राय: ६००° सें० होता है, कुछ मिनटों तक रखकर परत को द्रवित किया जाता है।

एक लोहे के ढाँचे पर बहुत सी नुकीली लोहे की कीलें होती हैं और प्रत्येक वस्तु तीन कीलों की नोकों पर आधारित रहती है। वस्तुओं समेत यह ढाँचा बंद भट्ठी में डाल दिया जाता है और ३-४ मिनट पश्चात् बाहर निकाल लिया जाता है। ठंढा होते ही वस्तु की सतह पर इनैमल की कठोर चमकदार परत जम जाती है। प्रारंभिक इनैमल परत जमाने के पश्चात् उसी परत पर सफेद या रंगदार इनैमल का घोला लगाया जाता है और इस घोले के सूखने पर स्टेंसिलों का प्रयोग करके चित्र या अक्षर बनाए जाते हैं। अनावश्यक शुष्क घोला ब्रुश द्वारा सावधानी से पृथक् कर दिया जाता है। फिर वस्तु को भट्ठी में डालकर सूखे घोले को द्रवित कर लिया जाता है।

इनैमल के सूत्रों के कुछ उदाहरण :

प्रारंभिक इनैमल-काचिक			पात्रपेषणी के लिये घोला	
सुहागा	२८·५	प्रति शत	काचिक	१०० भाग
फेल्स्पार	३१·२	,, ,,	सुघट्य मिट्टी	६ ,,
फ्लोरस्पार	६·०	,, ,,	जल	४० ,,
क्वार्ट्ज़	२०·०	,, ,,		
कोबल्ट आक्साइड	०·३५	,, ,,		
मैंगनीज़ डाइ-आक्साइड	०·६५	,, ,,		
सोडा	६·०	,, ,,		
सोडियम नाइट्रेट	४·०	,, ,,		
	१००·०			

प्रयोग के एक घंटे पूर्व घोला में १ प्रति शत सुहागा मिलाया जाता है।

श्वेत इनैमल काचिक			पात्रपेषणी के लिये घोला	
सुहागा	२८·३	प्रति शत	काचिक	१०० भाग
क्वार्ट्ज़	१५·३	,,	मिट्टी	६ ,,
फेल्स्पार	३४·०	,,	बंग आक्साइड	५ ,,
क्रायोलाइट	१६·३	,,	मैगनीशियम आक्साइड	०·२५ ,,
पोटशियम नाइट्रेट (शोरा)	६·१	,,	अमोनियम कार्बोनेट	०·१२५ ,,
	१००·०	,,	जल	३०·० ,,

श्वेत या दूधिया रंग का इनैमल ऐंटिमनी आक्साइड अथवा जिरकोनियम से भी बनाया जाता है। कुछ इनमल सुहागा रहित भी होते ह और कुछ मे सिंदूर (रेड लड) का उपयोग होता है। इन इनैमलों का द्रवणांक प्रारंभिक इनैमल के द्रवणांक से कम होता है।

ढलवाँ लोहा—इस प्रकार के लोहे के लिये इनैमल की संरचना में कुछ भिन्नता होती है और ये कम ताप पर द्रावित होते हैं। इस लोहे की छोटी, चिपटी और साधारण वस्तुओं पर प्रारंभिक इनैमल की परत की आवश्यकता नहीं होती है। इनकी सतहों को स्वच्छ करने के पश्चात् इनपर डुबाकर या छिड़ककर इनैमल लगा दिया जाता है। उच्च कोटि की वस्तुओं के लिये प्रारंभिक इनैमल परत की आवश्यकता होती है। बड़ी और जटिल आकारवाली वस्तुओं पर इनैमल-घोला 'शुष्क रीति' (ड्राइ प्रोसेस) से लगाया जाता है। प्रारंभिक इनैमल-काचिका में कोबल्ट या निकेल के आक्साइड नहीं होते। प्रारंभिक इनैमल-घोला की बहुत पतली परत कूर्च (ब्रुश) से या प्रक्षेपण द्वारा चढ़ा दी जाती है और परत के सूखने पर वस्तु को बंद भट्ठी में तप्त किया जाता है जिससे प्रारंभिक परत गलकर ढलवाँ लोहे के छिद्रों में समा जाती है और लोहे की सतहों पर चिपचिपाहट आ जाती हैं। वस्तु को तब भट्ठी के बाहर निकाला जाता है और एक लंबे बेंटवाली (दस्तादार) चलनी से सफेद या रंगीन इनैमल घोला का शुष्क किया हुआ महीन चूर्ण चिपचिपी सतह पर समान रूप से छिड़क दिया जाता है और वस्तु को पुन: भट्ठी में डाल दिया जाता है जिससे इनैमल द्रवित होकर वस्तु की सतह पर जम जाता है। इस क्रिया को दुहराया भी जा सकता है जिससे इनैमल की परत मोटी हो जाय।

प्रारंभिक इनैमल काचिक			पात्रपेषणी के लिये घोला	
सुहागा	३२	प्रति शत	काचिक	१०० भाग
फ़ेल्स्पार	६४	,,	मिट्टी	१ भाग
सिंदूर (रेड लेड)	४	,,	जल	३५ भाग
	१००	,,		

प्रयोग के समय १ प्रति शत सुहागा मिला लेना चाहिए। रंगीन या सफेद इनैमलों के सूत्र इस्पात इनैमलों के ही समान होते हैं।

स्वर्ण, रजत और ताम्र—जैसा ऊपर बताया गया है, इन धातुओं पर लगाए जानेवाले इनैमल को 'मीना' कहते हैं। यह अत्यंत कम ताप पर गलनेवाला काच होता है और इसकी संरचना लोह इनैमल के समान ही होती है। इनैमल को कूटकर महीन चूर्ण कर लिया जाता है। स्वच्छ की हुई धातु को रुज़ (फेरिक आक्साइड) से पालिश किया जाता है। फिर इसको जल से धोकर इसकी सतह पर मोम की पतली परत लगाकर मीनाकारी का आकल्पन (नकशा) बनाया जाता है और तदुपरांत कलाकार उपयुक्त हस्तयंत्रों से उत्कीर्णन और नक्काशी करते हैं और महीन तारों को टाँके से जोड़ते हैं जिसमें आकल्पन के अनुसार भिन्न भिन्न भागों में भिन्न भिन्न प्रकार का मीना किया जा सके। मीनाकारी की कई विधियाँ हैं, जैसे चैंपलीव, क्लाइसोन, बासटेय, लिमोजेस, प्लाक ए जूर इत्यादि। संक्षेप में, इनैमल का गाढ़ा लेप रिक्त स्थान में रख दिया जाता है और सुखाने के पश्चात् भट्ठी में या फुँकनी द्वारा पिघला दिया जाता है। फिर वस्तु का अम्लशोधन कर और उसे खूब स्वच्छ करके, अतिरिक्त इनैमल को कुरंड (कोरंडम) से रगड़कर निकाल दिया जाता है। अंत में प्यूमिस से पालिश करने पर मीना में चमक आ जाती है।

सं०ग्रं०—लारेंस आर० मेरनाथ : इनैमल्स (१६२८); जे० ई० हैंसन : पोर्सलेन इनमलिंग (१६३७); लुई एफ़० डे : इनैमलिंग (१६०७); ग्रेटा पैंक : जूएलरी ऐंड इनैमलिंग (१६४५); जे० ग्रीनवाल्ड : इनैमलिंग ऑन आयरन ऐंड स्टील (१६१६); जे० ई० हैंसन : टेकनीक ऑव विट्रिरयस इनैमलिंग (१६२७); ए० आई० ऐंड्रूज : इनैमल लेबोरेटरी मैनुअल (१६४१)। [र० च०]

इपिकाकुआना

"सिफैलिस इपीकाकुआना" की सूखी जड़ का नाम है। इसमें मुख्यत: एमेटीन तथा सिफैलीन ये दो ऐल्कलॉएड होते हैं। अंशत: पेट तथा अंशत: वामक केंद्र पर प्रभाव डालने के कारण यह बड़ी मात्रा में शक्तिशाली वमनकारक है। एमेटीन एक शक्तिशाली अमीबा नाशक है। इपीकाकुआना का प्रयोग वमन कराने तथा कफ का उत्सारण बढ़ाने के लिये होता है। सूखी खाँसी में यह अधिक ढीला कफ उत्पन्न करके आराम पहुँचाती है। एमेटीन अमीबी आमातिसार के लिये अचूक ओषधि है। एमेटीन अंत:पेशीय इंजेक्शन द्वारा दी जाती है तथा तीव्र आमातिसार अथवा यकृत्कोप में आश्चर्यजनक लाभ दिखाती है। इसकी मात्रा एक ग्रेन प्रति दिन के हिसाब से १२ दिन तक है। इतने दिन रोगी को बिस्तर पर से उठना न चाहिए।

इपीकाकुआना का चूर्ण कफ बढ़ाने के लिये १/२ से २ ग्रेन तक तथा वमन कराने के लिये १५ से ३० ग्रेन तक की मात्रा में प्रयुक्त होता है।

[मो० ला० गु०]

इप्सविच

इंग्लैंड के सफ़ोक प्रदेश में ओरवेल नदी के तट पर स्थित एक नगर तथा बंदरगाह (नदी पर) है। यह नगर हारविच से १० मील और लंदन से ६८ मील उत्तर-पूर्व में है। सन् १६५१ ई० में इस नगर का क्षेत्रफल ८,७४६ एकड़ था। नगर के प्राचीन भाग की सड़कें बहुत ही सँकरी तथा टेढ़ी मेढ़ी हैं। इस भाग के कुछ भवन विचित्र पच्चीकारियों से अलंकृत हैं। यहाँ गिरिजाघरों का बाहुल्य है। रोमन काल में यह रोमनों की एक बस्ती रहा है जिसके भग्नावशेष विद्यमान हैं। सन् ६६१ और १,००० ई० में डेनों द्वारा यह नष्ट भ्रष्ट किया गया। आधुनिक नगर एक अच्छा औद्योगिक केंद्र है जहाँ रेलों के पुर्जे, कृषि के यंत्र तथा औजार, बिजली के सामान, धातु, चीनी इत्यादि का उत्पादन होता है। नगर की जनसंख्या सन् १६५१ ई० में १,०४,७८८ थी। सन् १६५७ ई० में अनुमानित जनसंख्या १,११,६०० रही। [श्या० सु० श०]

इप्सस का युद्ध यह युद्ध 'राजाओं का युद्ध' कहलाता है जो सिकंदर के मरने के बाद उसके उत्तराधिकारियों में ३०१ ई० पू० में हुआ था। सिकंदर के कोई संतान न थी इसलिये उसका विशाल साम्राज्य बाबुल में उसके मरते ही उसके सेनापतियों में बँट गया और उनमें युद्ध तब तक बराबर चलता रहा जब तक अंतिगोनस का नाश नहीं हो गया। इसी बीच सीरिया के सेल्यूकस ने भारत के चंद्रगुप्त से हारकर संधि में उससे अपने चार प्रांतो के बदले ५०० हाथी पाए थे। उन्हीं हाथियों का इस युद्ध में उसने उपयोग किया। अंतिगोनस के बेटे देमेत्रियस ने जब थेसाली में कसांदर को जा घेरा तब कसांदर ने अपनी प्रतिभा का एक अद्भुत् चमत्कार दिखाया। अपने पास बहुत थोड़ी संख्या में सेना रख उसने अपने मित्र राजा लेसीमाखस को लघु एशिया पर हमला करने को भेजा और सेल्यूकस को बाबुल की ओर से अंतिगोनस पर पीछे से हमला करने के लिये संवाद भेजा। उसकी चाल चल गई। देमेत्रियस को ग्रीस छोड़ पिता की मदद को दौड़ना पड़ा और पिता पुत्र की सेनाएँ लेसीमाखस और सेल्यूकस की सेनाओं से फ्रीगिया में इप्सस के मैदान में गुथ गईं। अंतिगोनस के पास ७० हजार पैदल, १० हजार घुड़सवार और ७५ हाथी थे। उधर सेल्यूकस के पास ६४ हजार पैदल, १० हजार ५ सौ घुड़सवार और ४८० हाथी थे। इस युद्ध में हाथियों ने जीत का पासा पलट दिया वरना देमेत्रियस का हमला शत्रुओं की सँभाल का न था। पहली और आखिरी बार पश्चिमी एशिया की लड़ाई में हाथियों का इस्तेमाल इतना लाभकर सिद्ध हुआ। परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य टुकड़ों में बँट गया और पूव का भाग सेल्यूकस के हाथ आया। ग्रीक साम्राज्य का केंद्रीकरण न हो सका। उस केंद्रीकरण का स्वप्न देखनेवाला अंतिगोनस इप्सस के युद्ध में ही मारा गया। [ओं० ना० उ०]

इफोद (इब्रानी शब्द जिसका अर्थ अनिश्चित है।) यहूदी पुरोहितों द्वारा पूजा के समय व्यवहार में लाया जानेवाला जड़ाऊ वस्त्र था। इसी वस्त्र पर पुरोहित के धार्मिक चिह्न लटकते रहते थे। एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि इफोद पवित्र पूजा के समय ही पहना जाता था और मख्य पुरोहित ही इसे पहनते थे। कुछ यहूदी पैंगंबरों ने इसके पहने जाने का वि ोध किया। वे इसे याह्वे की सच्ची पूजा के विरुद्ध समझते थे, किंतु इस विरोध के होते हुए भी यहूदी पुरोहितों में इसके पहनने का चलन जारी रहा। बाइबिल की 'साम' पुस्तक में इस बात का उल्लेख आता है कि नाब के पुरोहित की हत्या करने के बाद पुरोहित अबी अथर ने उसका इफोद लाकर दाऊद को भेंट किया। इसका अर्थ यह है कि यहूदी इतिहास के उस काल में पुरोहित वर्ग के लिये इफोद का वही महत्व था जो राजकुलों के लिये मुकुट का होता है। बाइबिल के एक दूसरे उल्लेख के अनुसार गिदियन ने सोने का इफोद बनाकर ओफरा में रखा। इन्ही उल्लेखों से यह भी स्पष्ट है कि यहूदी जाति के निर्वासनकाल के पूर्व और पश्चात्, दोनों ही समय इफोद उपयोग में आता था। बाइबिल की साम पुस्तक में इस बात का भी उल्लेख है कि जब पैगंबर नूह की नौका ने जेरूसलम में प्रवेश किया तो दाऊद ने सूती इफोद पहनकर खुशी में उसके आगे नृत्य किया। कुछ लोगों के अनुसार इफोद एक छोटी धोती या लँगोटी की तरह होता था जो पूजागृह में प्रवेश के समय पहना जाता था। [वि० ना० पां०]

इबादान पश्चिमी अफ्रीका के नाइजीरिया राज्य का सबसे बड़ा नगर है। यह लागौस से रेल द्वारा १२५ मील पर पूर्वोत्तर में स्थित है। यह नगर एक पहाड़ी की ढाल पर बसा हुआ तथा नीचे ओना नदी की घाटी तक फैला हुआ है। इबादान एक मिट्टी की चहारदीवारी से घिरा हुआ है जिसकी परिधि लगभग १८ मील है। यहाँ बहुत सी मस्जिदें हैं तथा यूरोपीय ढंग की इमारतें बहुत कम हैं। नगर की अधिकांश जनसंख्या का भरण पोषण कृषि से होता है, परंतु यहाँ बहुत से कुटीर धंधे भी हैं। इबादान पश्चिम प्रांतीय सरकार की राजधानी है, अतः इसका आर्थिक संगठन बहुत कुछ ठीक है। यहाँ सन् १९४७ ई० में एक युनिवर्सिटी कालेज की स्थापना की गई जो संघीय राज्य के अंतर्गत है। इसके स्नातकों को लंदन विश्वविद्यालय से कला, विज्ञान, चिकित्सा तथा कृषि में उपाधियाँ मिलती हैं। सन् १९५३ ई० में इसकी जनसंख्या ४,५९,००० थी। [ले० रा० सिं०]

इब्न बत्तूता अरब यात्री, विद्वान् तथा लेखक। उत्तर अफ्रीका के मोरक्को प्रदेश के प्रसिद्ध नगर तांजियर में १४ रजब, ७०३ हि० (२४ फरवरी, १३०४ ई०) को इसका जन्म हुआ था। इसका पूरा नाम था—मुहम्मद बिन अब्दुल्ला इब्न बत्तूता। इसके पूर्वजों का व्यवसाय काजियों का था। इब्न बत्तूता आरंभ से ही बड़ा धर्मानुरागी था। उसे मक्के की यात्रा (हज) तथा प्रसिद्ध मुसलमानों का दर्शन करने की बड़ी अभिलाषा थी। इस आकांक्षा को पूरा करने के उद्देश्य से वह केवल २१ बरस की आयु में यात्रा करने निकल पड़ा। चलते समय उसने यह कभी न सोचा था कि उसे इतनी लंबी देशदेशांतरों की यात्रा करने का अवसर मिलेगा। मक्के आदि तीर्थस्थानों की यात्रा करना प्रत्येक मुसलमान का एक आवश्यक कर्तव्य है। इसी से सैकड़ों मुसलमान विभिन्न देशों से मक्का आते रहते थे। इन यात्रियों की लंबी यात्राओं को सुलभ बनाने में कई संस्थाएँ उस समय मुस्लिम जगत् में उत्पन्न हो गई थीं जिनके द्वारा इन सबको हर प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होती थी और उनका पर्यटन बड़ा रोचक तथा आनंददायक बन जाता था। इन्हीं संस्थाओं के कारण दरिद्र से दरिद्र 'हाजी' भी दूर दूर देशों से आकर हज करने में समर्थ होते थे।

इब्न बत्तूता ने इन संस्थाओं की बार बार प्रशंसा की है। वह उनके प्रति अत्यंत कृतज्ञ है। इनमें सर्वोत्तम वह संगठन था जिसके द्वारा बड़े से बड़े यात्री दलों की हर प्रकार की सुविधा के लिये हर स्थान पर आगे से ही पूरी पूरी व्यवस्था कर दी जाती थी एवं मार्ग में उनकी सुरक्षा का भी प्रबंध किया जाता था। प्रत्येक गाँव तथा नगर में खानकाहें (मठ) तथा सराएँ उनके ठहरने, खाने पीने आदि के लिये होती थीं। धार्मिक नेताओं की तो विशेष आवभगत होती थी। हर जगह शेख, काजी आदि उनका विशेष सत्कार करते थे। इस्लाम के भातृत्व के सिद्धांत का यह संस्था एक ज्वलंत उदाहरण थी। इसी के कारण देशदेशांतरों के मुसलमान बेखटके तथा बड़े आराम से लंबी लंबी यात्राएँ कर सकते थे। दूसरी सुविधा मध्यकाल के मुसलमानों को यह प्राप्त थी कि अफ्रीका और भारतीय समुद्रमार्गों का समूचा व्यापार अरब सौदागरों के हाथों में था। ये सौदागर भी मुसलमान यात्रियों का उतना ही आदर करते थे।

भ्रमणवृत्तांत : इब्न बत्तूता दमिश्क और फिलिस्तीन होता एक कारवाँ के साथ मक्का पहुँचा। यात्रा के दिनों में दो साधुओं से उसकी भेंट हुई थी जिन्होंने उससे पूर्वी देशों की यात्रा के सुख सौदर्य का वर्णन किया था। इसी समय उसने उन देशों की यात्रा का संकल्प कर लिया। मक्के से इब्न बत्तूता इराक, ईरान, मोसुल आदि स्थानों में घूमकर १३२६ (७२६ हि०) में दुबारा मक्का लौटा और वहाँ तीन बरस ठहरकर अध्ययन तथा भगवद्भक्ति में लगा रहा। बाद उसने फिर यात्रा आरंभ की और दक्षिण अरब, पूर्वी अफ्रीका तथा फारस के बंदरगाह हुर्मुज से तीसरी बार फिर मक्का गया। वहाँ से वह क्रीमिया, खीवा, बुखारा होता हुआ अफगानिस्तान के मार्ग से भारत आया। भारत पहुँचने तक इब्न बत्तूता बड़ा वैभवशाली एवं संपन्न हो गया था।

भारतप्रवेश : भारत के उत्तर-पश्चिमी द्वार से प्रवेश करके वह सीधा दिल्ली पहुँचा, जहाँ तुगलक सुल्तान मुहम्मद ने उसका बड़ा आदर सत्कार किया और उसे राजधानी का काजी नियुक्त किया। इस पद पर पूरे सात बरस रहकर, जिसमें उसे सुल्तान को अत्यंत निकट से देखने का अवसर मिला, इब्न बत्तूता न हर घटना को बड़े ध्यान से देखा सुना। १३४२ में मुहम्मद तुगलक ने उसे चीन के बादशाह के पास अपना राजदूत बनाकर भेजा, परंतु दिल्ली से प्रस्थान करने के थोड़े दिन बाद ही वह बड़ी विपत्ति में पड़ गया और बड़ी कठिनाई से अपनी जान बचाकर अनेक आपत्तियाँ सहता वह कालीकट पहुँचा। ऐसी परिस्थिति में सागर की राह चीन जाना व्यर्थ समझकर वह भूमार्ग से यात्रा करने निकल पड़ा और लंका, बंगाल आदि प्रदेशों में घूमता चीन जा पहुँचा, किंतु शायद वह मंगोल खान के दरबार तक नहीं गया। इसके बाद उसने पश्चिम एशिया, उत्तर अफ्रीका तथा स्पेन के मुस्लिम स्थानों का भ्रमण किया और अंत में टिंबकटू आदि होता हुआ वह १३५४ के आरंभ में मोरक्को की राजधानी 'फेज' लौट गया।

इब्न बत्तूता मुसलमान यात्रियों में सबसे महान् था। अनुमानतः उसने लगभग ७५००० मील की यात्रा की थी। इतना लंबा भ्रमण उस युग के शायद ही किसी अन्य यात्री ने किया हो। 'फेज' लौटकर उसने अपना भ्रमणवृत्तांत सुल्तान को सुनाया। सुल्तान के आदेशानुसार उसके सचिव मुहम्मद

इब्न जुजैय ने उसे लेखबद्ध किया। इब्न बतूता का बाकी जीवन अपने देश में ही बीता। १३७७ (७७६ हि०) में उसकी मृत्यु हुई। इब्न बतूता के भ्रमणवृत्तांत को 'तुहफ़तअल नज्ज़ार फ़ी गरायब अल अमसार व अजायब अल अफ़सार' का नाम दिया गया। इसकी एक प्रति पेरिस के राष्ट्रीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। उसके यात्रावृत्तांत में तत्कालीन भारतीय इतिहास की अत्यंत उपयोगी सामग्री मिलती है।

सं०ग्रं०—पेरिस की हस्तलिपि को दे फ़ेमरी तथा सांगिनेती ने संपादित किया। यह हस्तलिपि तांजियर में १८३६ के लगभग प्राप्त हुई थी। इन्हीं संपादकों ने इसका पूरा अनुवाद फ्रेंच भाषा में किया था। यह ग्रंथ चार खंडों में १८५३ से १८५६ तक पेरिस से प्रकाशित हुआ। इसके बाद दो और संस्करण पेरिस तथा कैरो से प्रकाशित हुए। 'ईलियट और डाउसन' के इतिहास के तीसरे खंड में इसके कुछ संदर्भों का अंग्रेजी अनुवाद हुआ। 'ब्राडवे ट्रैवलर्स' में एच० ए० आर० गिब्ब द्वारा संक्षिप्त अनुवाद, एक प्रस्तावना सहित, लंदन से १९२९ में प्रकाशित हुआ। इसके दूसरे तथा तीसरे संस्करण १९३९ तथा १९५३ में छपे। [प० श०]

इब्न सिना इनका नाम अबूअली अल् हुसेन इब्न सिना था, इब्रानी में अवेन सीना तथा लातीनी में अविचेन्ना था। इनका जन्म सन् ३७० हि० (सन् ९८० ई०) में बुखारा के पास अफ़शनः में हुआ था और यह सन् ४२८ हि० (सन् १०३७ ई०) में हमदान में मरे। इनके माता पिता ईरानी वंश के थे। इनके पिता खरमैंतः के शासक थे। इब्न सिना ने बुखारा में शिक्षा प्राप्त की। आरंभ में कुरान तथा साहित्य का अध्ययन किया। शरअ की शिक्षा के अनंतर इन्होंने तर्क, गणित, रेखागणित तथा ज्योतिष में योग्यता प्राप्त की। शीघ्र ही इनकी बुद्धि इतनी परिपक्व तथा उन्नत हो गई कि इन्हें किसी गुरु की अपेक्षा नहीं रह गई और इन्होंने निजी स्वाध्याय से भौतिक विज्ञान, पारभौतिक दर्शन तथा वैद्यक में योग्यता प्राप्त कर ली। हकीमी सीखते समय से ही इन्होंने उसका व्यवसाय भी आरंभ कर दिया जिससे यह उस विषय में पारंगत हो गए। दर्शनशास्त्र से इनका वास्तविक संबंध अल्फराबी की रचनाओं के अध्ययन से हुआ। अल्फराबी के पारभौतिक दर्शन तथा तर्कशास्त्र की नींव नव-अफ़लातूनी व्याख्याओं तथा अरस्तू की रचनाओं के अरबी अनुवादों पर थी। उन्होंने इब्न सिना की कल्पनाओं की दिशा निर्धारित कर दी। इस समय इनकी अवस्था १६-१७ वर्ष की थी। सौभाग्य से इब्न सिना को बुखारा के सुलतान नूह बिन मंसूर की दवा करने का अवसर मिला जिससे वह अच्छा हो गया। इसके फलस्वरूप इनकी पहुँच सुलतान के पुस्तकालय तक हो गई। इनकी स्मरण तथा धारणाशक्ति बहुत तीव्र थी इसलिये इन्होंने थोड़े ही समय में उस पुस्तकालय की सहायता से अपने समय तक की कुल विद्याओं का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया। इन्होंने २१ वर्ष की अवस्था से लिखना आरंभ किया। इनकी लेखनशैली साधारणतः स्पष्ट तथा प्रख्यात है।

इब्न सिना ने अपने पिता की मृत्यु पर अपना जीवन बड़े असंयम के साथ व्यतीत किया जो विद्या संबंधी कार्यों, भोग विलास तथा निराशाओं से भरा था। बीच में कुछ समय तक जुर्जान, रई, हमदान तथा इस्फहान के दरबारों में सुखी जीवन भी बिताते रहे। इसी काल इन्होंने कई बड़ी पुस्तकें लिखीं जिनमें अधिकतर अरबी में तथा कुछ फारसी भाषा में थीं। इनमें विशेष रूप से वर्णनीय फिलसफा का कोश 'किताबुल् शफ़ा', जो सन् १३१३ ई० में तेहरान से छपा था, और तिब (वैद्यक) पर लिखा ग्रंथ 'अलक़ानून फ़ीउल् तिब' है जो सन् १२८४ ई० में तेहरान से, सन् १५९३ ई० में रूम से और सन् १९२४ई० में बलाक से छपा है। 'किताबुल् शफा' अरस्तू के विचारों पर केंद्रित है, जो नव-अफ़लातूनी विचारों तथा इस्लामी धर्म के प्रभाव से संशोधित परिवर्तित हो गए थे। इसमें संगीत की भी व्याख्या है। इस ग्रंथ के १८ खंड हैं और इसे पूरा करने में बीस महीने लगे थे। इब्न सिना ने इस ग्रंथ का संक्षेप भी 'अलनजात' के नाम से संकलित किया था। 'अलक़ानून फ़ीउल्तिब' में यूनानी तथा अरबी वैद्यकों का अंतिम निचोड़ उपस्थित किया गया है। इब्न सिना ने अपनी बड़ी रचनाओं के संक्षेप तथा विभिन्न विषयों पर छोटी छोटी पुस्तिकाएँ भी लिखी हैं। इनकी रचनाओं की कुल संख्या ९९ बतलाई जाती है। इनका एक कसीदः बहुत प्रसिद्ध है जिसमें इन्होंने आत्मा के उच्च लोक से मानव शरीर में उतरने का वर्णन किया है। मंतिक (तर्क या न्याय) में इनकी श्रेष्ठ रचना 'किताबुल् इशारात व अल्तबीहात' है। इन्होंने अपना आत्मचरित भी लिखा था जिसका संकलन इनके प्रिय शिष्य अल्जुर्जानी ने किया। इनकी वास्तविक श्रेष्ठता तथा प्रसिद्धि ऐसे विद्वान् तथा दार्शनिक के रूप में है जिसने भविष्य में आनेवाली कई शताब्दियों के लिये विद्या तथा दर्शन की एक सीमा और प्रमाण स्थापित कर दिए थे। इसी कारण शताब्दियों तक इन्हें 'अल्शेख अल्रईस' की गौरवपूर्ण उपाधि से स्मरण किया जाता रहा और अब तक भी अनेक पूर्वी देशों में किया जाता है।

मंतिक में इब्न सिना बहुत दूर तक अल्फराबी का अनुगमन करते हैं। यह इसको एक ऐसी विद्या मानते हैं जो दर्शन तक पहुँचने का द्वार है। फिलसफा नज़रयाती (प्रकृत दर्शन) या अमली (व्यावहारिक) होगा। यह नज़रयाती फिलसफा को तबीआत (भौतिक), रियाज़ी (गणित आदि) तथा माबादुल्तबीआत (पारभौतिक दर्शन) में विभाजित करते हैं और अमली फिलसफा को इख़लाकियात (सदाचार), मआशियात (जीवनक्रम) तथा सियासियात (शासन) में। समष्टिरूप में इनकी तबीआत की नींव अरस्तू की विचारधारा पर स्थित है यद्यपि उसमें नव-अफ़लातूनी प्रभाव भी पाए जाते हैं। बुद्धि संबंधी इनके विचार भी नव-अफ़लातूनी फिलसफा से प्रभावित हैं।

इब्न सिना ने पूर्व तथा पश्चिम को अपने वैद्यक के द्वारा सबसे अधिक प्रभावित किया है। इनके ग्रंथ 'अलक़ानून फीउल्तिब' का अनुवाद लातीनी भाषा में १२वीं सदी ईसवी में हो गया था और यह पुस्तक यूरोप में वैद्यक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में ले ली गई थी। इसका अनुवाद अंग्रेजी भाषा में भी हुआ है।

इब्न सिना ने अरस्तू के माबादुल् तबीआत को एक ओर नव-अफ़लातूनी नज़रियात (प्राकृतिक दर्शन) से तथा दूसरी ओर इस्लामी दीनियात (संप्रदाय के सिद्धांतों) से मिलाने का प्रयत्न किया है। बुद्धि तथा तत्व या खुदा तथा दुनिया की द्वयता इनके यहाँ अल्फराबी से अधिक स्पष्ट दिखलाई पड़ती है और व्यक्तिगत आत्मा के अमरत्व का इन्होंने अधिक सुचारु रूप से वर्णन किया है। इन्होंने तत्व को संभाव्य अस्तित्व कहा है और इनके यहाँ सृष्टि के इस संभाव्य अस्तित्व को वास्तविक अस्तित्व में परिणत करने का नाम है, किंतु यह कार्य नित्य है। मूलतः वास्तविक अस्तित्व केवल खुदा का है और उसके सिवा जो कुछ है वह सब संभाव्य है। खुदा का अस्तित्व अनिवार्य है और वही सब वस्तुओं का कारण है, जो नित्य है। इसलिये उसके फल, अर्थात् जगत् को भी नित्य होना चाहिए। जगत् स्वतः संभाव्य अस्तित्व ही है, किंतु ईश्वरीय कारण के आधार से उसका अस्तित्व अनिवार्य है। आत्मा के संबंध में इस माबादुल् तबीआत के सिद्धांत ने इब्न सिना को सूफी ढंग की रहस्यपूर्ण विचारधारा की ओर उभाड़ा और इन्होंने इन विचारों को कविता के रूप में ढाल दिया। इसमें यह ईरानी तसव्वुफ़ से भी प्रभावित हैं। पर यह वर्णनशैली इनमें कहीं कहीं मिलती है।

इब्न सिना के दर्शन में प्रेम को बहुत उच्च स्थान प्राप्त है। यह सौंदर्य के मूल्यांकन के द्वारा मानवोत्कर्ष के माननेवाले हैं और इनके यहाँ सौंदर्य कमाल (पूर्णता) तथा खैर (कल्याण) का नाम है। वस्तुएँ (जगत्) या तो पूर्णता प्राप्त कर चुकी हैं या उसके लिये प्रयत्नशील हैं और इस प्रयत्न में पूर्ण वस्तुओं से सहायता की इच्छुक हैं। इसी प्रयत्न का नाम प्रेम है। सारा विश्व इस प्रेमशक्ति से प्रभावित होकर उच्चतम सौंदर्य (खुदा) की ओर अग्रसर होता है जो नितांत पूर्ण तथा सर्वश्रेष्ठ कल्याणकारी है। कुल वस्तुएँ अनस्तित्व से घृणा करती हैं। तत्व स्वतः निर्जीव है, पर प्रेम उसके द्वारा विभिन्न रूप धारण करता है। इस प्रकार उत्कर्ष की शृंखला जड़ प्रस्तर आदि, वृक्ष आदि, पशु तथा मानव के जीवनों से होती हुई उन उच्चतर तथा पूर्णतर जीवनों तक पहुँचती है जिनके संबंध में हम कुछ नहीं जानते। [रि० र० शे०]

इब्रानी भाषा और साहित्य सामी (सेमेटिक) परिवार की भाषाओं में से एक जो यहूदियों की प्राचीन सांस्कृतिक भाषा है। इसी में उनका धर्मग्रंथ (बाइबिल

का पूर्वार्ध) लिखा हुआ है, अत इब्रानी का ज्ञान मुख्यतया बाइबिल पर निर्भर है।

'सामी' शब्द, व्युत्पत्ति की दृष्टि से, नौह के पुत्र सेम से सबध रखता है। सामी भाषाओ की पूर्वी उपशाखा का क्षेत्र मेसोपोटेमिया था। वहाँ पहले सुमेरियन भाषा बोली जाती थी, फलस्वरूप सुमेर की भाषा ने पूर्वी सामी भाषाओं को बहुत कुछ प्रभावित किया है। प्राचीनतम सामी भाषा अक्कादीय की दो उपशाखाएँ हैं, अर्थात् असूरी और बाबुली। सामी परिवार की दक्षिणी उपशाखा मे अरबी, हब्शी (इथोपियाई) तथा साबा की भाषाएँ प्रधान है। सामी वर्ग की पश्चिमी उपशाखा की मुख्य भाषाएँ इस प्रकार हैं उगारितीय, कनानीय, आरमीय और इब्रानी। इनमे से उगारितीय भाषा (१५०० ई० पू०) सबसे प्राचीन है, इसका तथा कनानीय भाषा का गहरा सबध है। जब यहूदी लोग पहले पहल कनान देश मे आकर बसने लगे तब वे कनानीय से मिलती जुलती एक आरमीय उपभाषा बोलते थे, उससे उनकी अपनी इब्रानी भाषा का विकास हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'इब्रानी' शब्द हपिरू से निकला है, हपिरू (शब्दार्थ 'विदेशी') उत्तरी अरबी मरुभूमि की एक यायावर जाति थी, जिसके साथ यहूदियों का सबध माना जाता था। बाबीलोन के निर्वासन के बाद (५३६ ई० पू०) यहूदी लोग दैनिक जीवन मे इब्रानी छोड़कर आरमीय भाषा बोलने लगे। इस भाषा की कई बोलियाँ प्रचलित थी। ईसा भी आरमीय भाषा बोलते थे, किंतु इस मूल भाषा के बहुत कम शब्द सुरक्षित रह सके।

अन्य सामी भाषाओ की तरह इब्रानी की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं। धातुएँ प्राय त्रिव्यजनात्मक होती हैं। धातुओ मे स्वर होते ही नही और साधारण शब्दो के स्वर भी प्राय नही लिखे जाते। धातुओ के सामने, बीचोबीच और अत मे वर्ण जोडकर पद बनाए जाते हैं। प्रत्यय और उपसर्ग द्वारा पुरुष तथा वचन का बोध कराया जाता है। क्रियाओ के रूपातर अपेक्षाकृत कम हैं। साधारण अर्थ मे काल नही होते, केवल वाच्य होते हैं। वाक्यविन्यास अत्यत सरल है, वाक्याश प्राय 'और' शब्द के सहारे जोडे जाते हैं। इब्रानी में अर्थ के सूक्ष्म भेद व्यक्त करना दु साध्य है। वास्तव मे इब्रानी भाषा दार्शनिक विवेचना की अपेक्षा कथासाहित्य तथा काव्य के लिये कही अधिक उपयुक्त है।

प्रथम शताब्दी ई० मे यहूदी शास्त्रियो ने इब्रानी भाषा को लिपिबद्ध करने की एक नई प्रणाली चलाई जिसके द्वारा बोलचाल में शताब्दियो से अप्रयुक्त इब्रानी भाषा का स्वरूप तथा उसका उच्चारण भी निश्चित किया गया। ८वी १०वी सदी मे उन्होंने समस्त इब्रानी बाइबिल का इसी प्रणाली के अनुसार सपादन किया है। यह मसोरा का परपरागत पाठ बतलाया जाता है और पिछली दस शताब्दियो से इब्रानी बाइबिल का यह सबसे प्रचलित पाठ है। इसका सर्वाधिक प्रसिद्ध सस्करण बेन ह्यीम का है जो १५२४ ई० मे वेनिस मे प्रकाशित हुआ था। सन् १९४७ ई० मे फिलिस्तीन के कुमराम नामक स्थान पर इब्रानी बाइबिल तथा अन्य साहित्य की अत्यत प्राचीन हस्तलिपियाँ मिल गई। इनका लिपिकाल प्राय दूसरी शताब्दी ई० पू० माना जाता है। विद्वानो को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि बाइबिल की ये प्राचीन पोथियाँ मसोरा के पाठ से अधिक भिन्न नही हैं। पश्चिम के विश्वविद्यालयो मे आजकल इब्रानी का अध्ययन अपेक्षाकृत लोकप्रिय है।

मध्यकाल मे एक विशेष इब्रानी बोली की उत्पत्ति हुई थी जिसे जर्मनी के वे यहूदी बोलते थे जो पोलैंड और रूस मे जाकर बस गए थे। इस बोली को 'यहूदी जर्मन' अथवा 'यिद्दिश' कहकर पुकारा जाता है। वास्तव में यह एक जर्मनी बोली है जो इब्रानी लिपि मे लिखी जाती है और जिसमे बहुत से आरमीय, पोलिश तथा रूसी शब्द भी समिलित हैं। इसका व्याकरण अस्थिर है, किंतु इसका साहित्य समृद्ध है।

प्रथम महायुद्ध के बाद फिलिस्तीन की जो यहूदियो का इज़रायल नामक नया राज्य है राजभाषा आधुनिक इब्रानी है। सन् १९२५ ई० मे जेरूसलम का इब्रानी विश्वविद्यालय स्थापित हुआ जिसके सभी विभागो मे इब्रानी ही शिक्षा का माध्यम है। इजरायल राज्य मे कई दैनिक पत्र भी इब्रानी मे निकलते है।

साहित्य

(१) **बाइबिल**---रचनाकाल की दृष्टि से बाइबिल का प्रामाणिक रूप इब्रानी भाषा का प्राचीनतम साहित्य है। इसका दृष्टिकोण मुख्यतया साहित्यिक न होकर धार्मिक ही है, कलात्मक अभिव्यंजना की अपेक्षा शिक्षा का प्रतिपादन या उपदेश इसका प्रधान उद्देश्य है (दे० **बाइबिल**)।

(२) **अप्रामाणिक धार्मिक साहित्य**---दूसरी शताब्दी ई०पू० से लेकर दूसरी शताब्दी ई० तक बहुत से ऐसे ग्रथो की रचना हुई थी जिनका उद्देश्य है बाइबिल मे प्रतिपादित विषयो की व्याख्या अथवा उनका विस्तार। इनमें प्राय बाइबिल के प्रमुख पात्रो की भविष्य सबधी उक्तियो का समावेश है। उदाहरणार्थ, आदम और हौवा की जीवनी। इन रचनाओ को बाइबिल में स्थान नही मिला। इन्हे अप्रामाणिक साहित्य कहा जाता है। इस प्रकार के साहित्य की मूल भाषा प्राय इब्रानी थी, किंतु आजकल यह केवल आरमीय अथवा परवर्ती अनुवादो मे ही मिलता है।

(३) **शास्त्रीय साहित्य**---ईसाई धर्म के प्रवर्तन के पश्चात् यहूदी शास्त्री (इब्रानी मे इनका नाम रब्बी है), जो ईसाई धर्म स्वीकार करते थे, एक अत्यत विस्तृत साहित्य की रचना करने लगे। यह शास्त्रीय साहित्य के नाम से विख्यात है। इसका तीन वर्गों मे विभाजन किया जा सकता है

(**अ**) **मिश्ना**—यह पर्व, सस्कार, पूजा, कानून आदि के विषय में यहूदियो के यहाँ प्रचलित मौखिक परपराओ का सग्रह है जिसे दूसरी शताब्दी ई० में यूदाह हनासी ने सकलित किया था। 'तोसेफ्ता' इसका अर्वाचीन परिशिष्ट है।

(**आ**) **तलमूद**—यह मिश्ना की व्याख्या है जो स्थानीय परिस्थितियो के अनुसार विभिन्न रूप धारण कर लेती है। जेरूसलम के शास्त्रियो ने अपना जेरूसलमी तलमूद तीसरी चौथी शताब्दी ईसवी में लिखा है। बाबीलोनिया के तलमूद का नाम बब्ली अथवा गेमारा है, इसका रचनाकाल चौथी छठी शताब्दी ईसवी है। बब्ली तलमूद सबसे विस्तृत (१०,००० पृ०) तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। तलमूद की भाषा इब्रानी तथा आरमीय है।

(**इ**) **मिद्रशीम**—ये मूसा के नियम की व्यावहारिक तथा उपदेशात्मक व्याख्याएँ हैं। गौण मिद्रशीम सन् ५०० ई० के हैं, उनमें से मेखिलता सिफ्रा तथा सिफ्रे उल्लेखनीय हैं। परवर्ती मिद्रशीम (रब्बोत) अपेक्षाकृत विस्तृत हैं। उनकी रचना छठी शताब्दी से लेकर १२वी शताब्दी तक होती रही।

(४) **मध्यकालीन साहित्य**---विभिन्न देशो मे बसनेवाले यहूदियो मे कई सप्रदाय उत्पन्न हुए जिनका इब्रानी साहित्य अब तक सुरक्षित है। बाबिलोनिया के सूरा नामक स्थान पर ६०० ई० से लेकर गेओनीम सप्रदाय है जिसका कानून, मिना तथा बाइबिल विषयक साहित्य विस्तृत है। इसके प्रमुख विद्वान् सदियाह ९४२ ई० मे चल बसे। करा-वादी ८वी शताब्दी ई० का यहूदी शास्त्रियो का एक सप्रदाय है जिसका साहित्य मुख्यतया बाइबिल की व्याख्या है।

९वी शताब्दी ई० मे स्पेन मुसलमानी और यहूदी सस्कृति का केंद्र बना, वहाँ विशेषकर व्याकरण, बाइबिल की व्याख्या तथा अरस्तू के दर्शन पर साहित्य की सृष्टि हुई। इस सबध मे मूसा इब्न एज्रा (११४० ई०) तथा जूदाह हल्लेवी (११४० ई०) उल्लेखनीय हैं, किंतु उस समय के सबसे महान् यहूदी दार्शनिक मैमोनीदेस (११३५-१२०४ ई०) है। मैमोनीदेस ने अरस्तू की कुछ रचनाओ के अरबी अनुवाद का विशेष अध्ययन करने के बाद धार्मिक विश्वास तथा बुद्धि के समन्वय की आवश्यकता दिखलाने का प्रयत्न किया। यहूदियो ने इब्नसिना (१०३७ ई०) तथा इब्न रूस (११९८ ई०) जैसे अरबी विद्वानो की रचनाएँ मध्यकालीन यूरोप तक पहुँचाकर अरबी तथा यूनानी ज्ञान विज्ञान के प्रचार में महत्वपूर्ण योग दिया है।

(५) **आधुनिक साहित्य**---मूसा मेंदेलसोन (१७२९-१७८६) के बुद्धिवाद से प्रभावित होकर इब्रानी साहित्य का दृष्टिकोण उत्तरोत्तर उदार तथा साहित्यिक होता जाता रहा है। १९वी शताब्दी में एक नवीन राष्ट्रवादी धारा उत्पन्न हुई जो बाद में सिओनवादी (ज़िओनिस्ट) आंदोलन में परिणत हुई। यह फिलिस्तीन देश को पुन. यहूदी जाति का सांस्कृतिक केंद्र बनाना चाहती है। आधुनिकतम इब्रानी साहित्य में प्रतिभा, कलात्मकता तथा विद्वत्ता का भांडार है; उसका विश्वसाहित्य तथा विश्वव्यापी आंदोलनो के साथ गहरा संबंध है। एलिएजेरबेन यहूदाह (१९२३) अपना 'इब्रानी भाषा का कोश' (१० खंड) लिखकर विश्वविख्यात बन गए

जेरूसलम के इब्रानी विश्वविद्यालय की ओर से एक सुविस्तृत इब्रानी विश्वकोश का संपादन सन् १९५० ई में प्रारंभ हुआ है। द्वितीय महायुद्ध के बाद इब्रानी साहित्यिक जीवन का केंद्र पूर्वी यूरोप से हटकर पश्चिमी यूरोप, अमरीका तथा इज़रायल में आ गया है।

इब्रानी भाषा के स्वरूप के वर्णन में यिद्दिश का ऊपर उल्लेख हो चुका है। अब्रामोविच के यिद्दिश उपन्यास प्रसिद्ध हैं। इधर शोलेम आश के बहुत से ऐतिहासिक उपन्यास अंग्रेजी में अनूदित हो चुके हैं। आइ० एल० पेरेज़ एक आधुनिक रहस्यवादी लेखक तथा मारिस रोसेनफेल्द एक लोकप्रिय कवि हैं। सन् १८९७ ई० में अब्राहम कहान ने अमरीका में यिद्दिश पत्रकारिता का प्रारंभ किया था।

सं०ग्रं०—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका खंड ११; हिब्रू लैंग्वेज, लिटरेचर; जे० ब्रोकेलमैन : कंपरेटिव ग्रामर ऑव सेमेटिक लैंग्वेजेज, बर्लिन १९१२; ज० हेंपेल : आल्ट हेब्रेश्चे लिटरेट्योर, पॉट्सडैम, १९३४; ए० लॉड्स : इस्त्वार दे ला लिटरेट्योर हेब्रेक ए ज्यूई, पेरिस १९५०। [ऑ०वे०]

इब्सन, हेनरिक जब नार्वे में नाटक का प्रचलन प्रायः नहीं के बराबर था, इब्सन (१८२८-१९०६) ने अपने नाटकों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की और शॉ जैसे महान् नाटककारों तक को प्रभावित किया। पिता के दिवालिया हो जाने के कारण आपका प्रारंभिक जीवन गरीबी में बीता। शुरू से ही आप बड़े हठी और विद्रोही स्वभाव के थे। अपने युग के संकीर्ण विचारों का आपने आजीवन विरोध किया।

आपका पहला नाटक 'कैटीलाइन' १८५० में ओसलो में प्रकाशित हुआ जहाँ आप डाक्टरी पढ़ने गए हुए थे। कुछ समय बाद ही आपकी रुचि डाक्टरी से हटकर दर्शन और साहित्य की ओर हो गई। अगले ११ वर्षों तक रंगमंच से आपका घनिष्ठ संपर्क, पहले प्रबंधक और फिर निर्देशक के रूप में रहा। इस संपर्क के कारण आगे चलकर आपको नाट्यरचना में विशेष सहायता मिली।

अपने देश के प्रतिकूल साहित्यिक वातावरण से खिन्न होकर आप १८६४ में रोम चले गए जहाँ दो वर्ष पश्चात् आपने 'ब्रैंड' की रचना की जिसमें तत्कालीन समाज की आत्मसंतोष की भावना एवं आध्यात्मिक शून्यता पर प्रहार किया गया है। यह नाटक अत्यंत लोकप्रिय हुआ। परंतु आपका अगला नाटक 'पियर गिंट' (१८६७), जो चरित्रचित्रण तथा कवित्वपूर्ण कल्पना की दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट है, इससे भी अधिक सफल रहा।

इसके बाद के यथार्थवादी नाटकों में आपने पद्य का बहिष्कार करके एक नई शैली को अपनाया। इन नाटकों में पात्रों के अंतर्द्वंद्व तथा बाह्य क्रियाकलाप दोनों का बोलचाल की भाषा में अत्यंत वास्तविक चित्रण किया गया है। 'पिलर्स ऑव सोसाइटी' (१८७७) में आपके आगामी अधिकांश नाटकों की विषयवस्तु का सूत्रपात हुआ। प्रायः सभी नाटकों में आपका उद्देश्य यह दिखलाना रहा है कि आधुनिक समाज मूलतः झूठा है और कुछ असत्य परंपराओं पर ही उसका जीवन निर्भर है। जिन बातों से उसका यह झूठ प्रकट होने का भय होता है उन्हें दबाने की वह सदैव चेष्टा किया करता है। 'ए डॉल्स हाउस' (१८७९) और 'गोस्ट्स' (१८८१) ने समाज में बड़ी हलचल मचा दी। 'ए डॉल्स हाउस' में, जिसका प्रभाव शॉ के 'कैंडिडा' में स्पष्ट है, इब्सन ने नारीस्वातंत्र्य तथा जागृति का समर्थन किया। 'गोस्ट्स' में आपने यौन रोगों को अपना विषय बनाया। इन नाटकों की सर्वत्र निंदा हुई। इन आलोचनाओं के प्रत्युत्तर में 'एनिमीज़ ऑव दि पीपुल' (१८८२) की रचना हुई जिसमें विचारशून्य 'संगठित बहुमत' ('कंपैक्ट मेजॉरिटी') की कड़ी आलोचना की गई है। 'दि वाइल्ड डक' (१८८४) एक लाक्षणिक काव्यनाटिका है जिसमें आपने मानव भ्रांतियों एवं आदर्शों का विश्लेषण करके यह प्रतिपादित किया है कि सत्यवादिता साधारणतया मानव जाति के सौख्य की विधायक होती है। 'रोमरशाम' (१८८६) तथा 'हेडा गैब्लर' (१८९०) में आपने नारीस्वातंत्र्य का पुनः प्रतिपादन किया। हेडा का चरित्र-चित्रण इब्सन के नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है। 'दि मास्टर बिल्डर' (१८९२) और 'ह्वेन वी डेड अवेकेन' (१८९९) आपके अंतिम नाटक हैं। लाक्षणिकता तथा आत्मचरित्रिक वस्तु के अत्यधिक प्रयोग के कारण इनका पूरा आनंद उठाना कठिन हो जाता है।

इब्सन की विशेषता है पुरानी रूढ़ियों का परित्याग और नई परंपराओं का विकास। आपने अपने नाटकों में ऐसे प्रश्नों पर विचार किया जिन्हें पहले कभी नाट्य साहित्य में स्थान नहीं प्राप्त हुआ था। अनंतकालीन तथा विश्वजनीन समस्याओं, अर्थात् व्यक्ति और समाज, तथ्य और भ्रम तथा सत्य और असत्य आदर्श की परस्पर विरोधी भावनाओं पर व्यक्त किए गए विचार ही विश्वसाहित्य को इब्सन की महानतम देन हैं। [प्र० कु० स०]

इमर्सन, राल्फ वाल्डो प्रसिद्ध निबंधकार, वक्ता तथा कवि इमर्सन (१८०३-१८८२) को अमरीकी नव जागरण का प्रवर्तक माना जाता है। आपने मेलविल, ह्विटमैन तथा हाथार्न जैसे अनेक लेखकों और विचारकों को प्रभावित किया। लोकोत्तरवाद के, जो एक सहृदय, धार्मिक, दार्शनिक एवं नैतिक आंदोलन था, आप नेता थे। आप व्यक्ति की अनंतता, अर्थात् दैवी कृपा से जाग्रत् उसकी आध्यात्मिक व्यापकता के पक्ष के पोषक थे। आपकी दार्शनिकता के मुख्य आधार पहले प्लेटो, प्लोटाइनस, बर्कले, फिर वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, गेटे, कार्लाइल, हर्डर, स्वेडनबोर्ग, और अंत में चीन, ईरान और भारत के लेखक थे।

१८२६ में आप बोस्टन में पादरी नियुक्त हुए जहाँ आपने ऐसे धर्मोपदेश दिए जिनसे निबंधकार के आपके भावी जीवन का पूर्वाभास मिलता है। १८३२ में आपने इस कार्य से त्यागपत्र दे दिया, कुछ तो इस कारण कि आप बहुसंख्यक जनता तक अपने विचार पहुँचाना चाहते थे और कुछ इसलिए कि उस गिरजे में कुछ ऐसी पूजाविधियाँ प्रचलित थीं जिन्हें आप प्रगतिवादी, उदार ईसाइयत के विरुद्ध समझते थे। इसके उपरांत वर्ड्सवर्थ, कोलरिज तथा कार्लाइल से मिलने और लंदन देखने की इच्छा से आपने यूरोप की यात्रा की। वापस आकर बहुत दिनों तक आपने सार्वजनिक वक्ता का जीवन व्यतीत किया।

१८३४ में आप कंकार्ड में बस गए जो आपके कारण साहित्यप्रेमियों के लिये तीर्थस्थान बन गया है। अपनी पहली पुस्तक 'नेचर' (१८३६) में आपने थोथी ईसाइयत तथा अमरीकी भौतिकवाद की कड़ी आलोचना की। इसमें उन सभी विचारों के अंकुर वर्तमान हैं जिनका विकास आगे चलकर आपके निबंधों और व्याख्यानों में हुआ। पुस्तक के अंतिम अध्याय में आपने मानव के उस उज्ज्वल भविष्य की ओर इंगित किया है जब उसकी अंतर्हित महत्ता धरती को स्वर्ग बना देगी। १८३७ में आपने हार्वर्ड विश्वविद्यालय की 'फ़ाई-बीटा-काप्पा' सोसाइटी के समक्ष 'अमेरिकन स्कॉलर' नामक व्याख्यान दिया जिसमें आपने साहित्य में अनुकरण की प्रवृत्ति का विरोध किया और इंग्लैंड की साहित्यिक दासता के विरुद्ध अमरीकी साहित्य के स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा की। आपने बताया कि साहित्यिक व्यक्ति का प्रशिक्षण मूलतः प्रकृति के अध्ययन पर आधारित होना चाहिए तथा उसके उपरांत जीवनसंघर्ष में भाग लेकर अनुभव द्वारा उसे परिपक्व बनाना चाहिए। १८३८ में दिए गए 'डिविनिटी स्कूल ऐड्रेस' के नवीन धार्मिक दृष्टिकोण ने हार्वर्ड में एक आंदोलन खड़ा कर दिया। इस व्याख्यान में आपने निर्भीकतापूर्वक रूढ़िवादी ईसाई धर्म तथा उसमें प्रतिपादित ईसा के ईश्वरत्व की कड़ी आलोचना की। इसमें आपने अपने उस अध्यात्मदर्शन का सार भी प्रस्तुत किया जिसकी विस्तृत व्याख्या 'नेचर' में पहले ही हो चुकी थी।

यद्यपि कुछ कट्टरपंथियों ने आपका विरोध किया, फिर भी आपके श्रोताओं की संख्या निरंतर बढ़ती रही और शीघ्र ही आप कुशल व्याख्याता के रूप में प्रसिद्ध हो गए। लगातार तीस वर्ष तक कंकार्ड ही आपके कार्य का प्रधान केंद्र रहा। वहीं आपका परिचय हाथार्न और थोरो से हुआ। कुछ काल तक आपने वहाँ की प्रगतिवादी पत्रिका 'दि डायल' का संपादन भी किया। इसके उपरांत आपकी निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हुईं :

'एसेज, फ़र्स्ट सीरीज़' (१८४१), 'एसेज़, सेकंड सीरीज़' (१८४४), 'पोएम्स' (१८४७), 'नेचर, ऐड्रेसेज़ ऐंड लेक्चर्ज़' (१८४९), 'रिप्रेज़ेंटेटिव मेन' (१८५०), 'इंग्लिश ट्रेट्स' (१८५६), 'दि कांडक्ट ऑव लाइफ़' (१८६०), 'सोसाइटी ऐंड सोलिट्यूड' (१८७०) तथा अंग्रेजी और अमरीकी कविताओं का संग्रह 'पर्नासस' (१८७४)। 'लेटर्स ऐंड सोशल एम्स' के संपादन में आपने जेम्स इलियट केबट की सहायता ली। आपकी मृत्यु के उपरांत 'लेक्चर्स ऐंड बायोग्राफ़िकल स्केचेज़', 'मिसलेनीज़' और

'नेचुरल हिस्ट्री ऑव दि इंटलेक्ट' का प्रकाशन भी केबट की देखरेख में ही हुआ।

१८५७ में प्रकाशित आपकी 'ब्रह्म' नामक कविता भारतीय पाठकों के लिये विशेष महत्व रखती है। इसमें तथा अन्य रचनाओं में आपके गीता, उपनिषद् एवं पूर्वी देशों के अन्य धर्मग्रंथो के अध्ययन की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। परंतु आपका जीवनदर्शन शृंखलित नहीं है, वरन् वह आत्मानुभूत सत्यों का एक वैयक्तिक स्वप्न सा है जिसे पूर्व के श्रेष्ठतम ज्ञान ने और भी दृढ कर दिया है। इमर्सन के विचारों का केंद्रविंदु तथा आधार उन्हीं का गढ़ा हुआ शब्द 'ओवरसोल' है। 'ओवरसोल' विश्वव्यापी तथ्य है और केवल 'एक' है, यह सारा संसार उसी 'एक' का अंशमात्र है। इसी को आगे चलकर आपने 'चराचर की आत्मा', 'मौन चेतना' तथा ऐसा 'विश्वसौंदर्य' बताया है जिससे जगत् का प्रत्यक अणु परमाणु समान रूप से संबंधित है। वह विश्वात्मा न केवल आत्मनिर्भर तथा पूर्ण है, अपितु स्वय ही चाक्षुष कृत्य, दृश्य वस्तु, दर्शक तथा दृश्यमान है। इन विचारों का गीता तथा उपनिषदों के विचारों के साथ सादृश्य स्पष्ट ही है। [प्र० कु० स०]

इमली वनस्पति, शमीधान्यकुल (लेग्युमीनोसी), प्रजाति टैमेरिंडस इंडिका लिन्न। भारत का यह सर्वप्रिय पेड़ उष्ण भागों के वनों में स्वयं उत्पन्न होने के अतिरिक्त गाँवो और नगरों में बागो और कुंजो को वृक्षाच्छादित और शोभायमान बनाने के लिये बोया भी जाता है। बहुत सूखे और अत्यंत गरम स्थानों को छोड़कर अन्यत्र यह पेड़ सदा हरा रहनेवाला, ३० मीटर तक ऊँचा, ४·५ मीटर से भी अधिक गोलाईवाला और फैलावदार, घना शिखरयुक्त होता है। इसकी पत्तियाँ छोटी, १ सेंटीमीटर के लगभग लंबी और ५-१२·५ सेंटीमीटर लंबी डंठी के दोनों ओर १० से २० तक जुड़ी होती हैं। फूल छोटे, पीले और लाल धारियो के होते है। फली ७·५-२० सेंटीमीटर लंबी, १ सेंटीमीटर मोटी, २·५ सेंटीमीटर चौडी, कुरकुरे छिलके से ढकी होती है। पकी फलियों के भीतर कत्थई रंग का रेशेदार, खट्टा गूदा रहता है। नई पत्तियाँ मार्च अप्रैल में, फूल अप्रैल जून में और गुद्देदार फल फरवरी अप्रैल में निकल आते है। वृक्ष की छाल गहरा भूरा रंग लिए मोटी और बहुत फटी सी होती है। लकड़ी ठस और कड़ी होने के कारण धान की ओखली, तिलहन और ऊख पेरन के यंत्र, साजसज्जा का सामान तथा औजारो के दस्ते बनाने और खरादने के काम में विशेषतया उपयुक्त होती है। फलियो के भीतर चमकदार खोलीवाल, चपटे और कड़े ३-१० बीज रहते हैं। बंदर इन फलियो को बहुत शौक से खाकर बीजो को इधर उधर बनों में फेंककर इन पेडो के संवर्धन मे सहायक होते है। इस पेड़ की पत्ती, फूल, फली की खोली, बीज, छाल, लकड़ी और जड़ का भारतीय ओषधों में उपयोग होता है। स्तंभक, रेचक, स्वादिष्ट, पाचक और टारटरिक अम्लप्रधान होने से इसकी फलियाँ सबसे अधिक आर्थिक महत्व की हैं। इन फलियों के गुद्दे का निरंतर उपयोग भारतीय खाद्य पदार्थों में विविध प्रकार से किया जाता है। वन अनुसंधानशाला, देहरादून, के रसायनज्ञों ने इमली के बीजों में से टी० के० पी० (टैमैरिंड सीड करनल पाउडर) नामक माड़ी बनाकर कपड़ा, सूत और पटसन के उद्योग की प्रशंसनीय सहायता की है [देखिए भारतीय मानक १८६ (१६५६) और भारतीय मानक ५११ (१६५४)]। आज देश में २०,००० टन के लगभग इस माड़ी का प्रति वर्ष प्रयोग हो रहा है।

सं०ग्रं०—आर० एस० ट्रूप : दि सिलवीकल्चर ऑव इंडियन ट्रीज, आक्सफोर्ड भाग २, पृ० ३६२-६६, १६२१; के० आर० कीर्तिकर और बी० डी० बसु : इंडियन मेडिसिनल प्लांट्स, प्रयाग, भाग २, पृ० ८८७-६०। [स०]

आयुर्वेद में इमली—इमली को संस्कृत में अम्ल, तिंत्राणि, चिंचा इत्यादि, बँगला में तेंतुल, मराठी में चिंच, गुजराती में आमली, अंग्रेजी में टैमैरिंड तथा लैटिन में टैमैरिंडस इंडिका कहते है। आयुर्वेद के अनुसार इमली की पत्ती कर्ण, नेत्र और रक्त के रोग, सर्पदंश तथा शीतला (चेचक) में उपयोगी है। शीतला में पत्तियों और हल्दी से तैयार किया पेय दिया जाता है। पत्तियों के क्वाथ से पुराने नासूरों को धोने से लाभ होता है। इसके फूल कसैले, खट्टे और अग्निदीपक होते हैं तथा वात, कफ, और प्रमेह का नाश करते है। कच्ची इमली खट्टी, अग्निदीपक, मलरोधक, वातनाशक तथा गरम होती है, किंतु साथ ही साथ यह पित्तजनक, कफकारक तथा रक्त और रक्तपित्त को कुपित करनेवाली है।

इमली
फली, फूल और पत्तियाँ

इमली का फूल
बाईं ओर फूल और दाहिनी ओर फूल का काट दिखाया गया है।
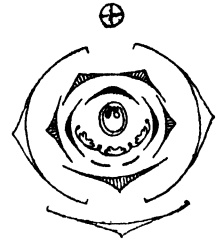
पक्की इमली मधुर, हृदय को शक्तिदायक, दीपक, वस्तिशोधक तथा कृमिनाशक बताई गई है। इमली स्कर्वी को रोकने और दूर करने की मूल्यवान् ओषधि है। इमली के बीजों के ऊपर का लाल छिलका अतिसार, रक्तातिसार तथा पेचिश की उत्तम ओषधि है। बीजों को उबाल और पीसकर बनाई गई पुल्टिस फोड़ो तथा प्रादाहिक सूजन में विशेष उपयोगी है। [भ० दा० व०]

इमाम शब्द का अरबी अर्थ है नेता या निर्देशक। इस्लामी संप्रदायों की शब्दावली में इमाम शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है :

(१) सुन्नी मुसलमान इमाम या पेश इमाम शब्द का प्रयोग सामूहिक प्रार्थनाओं के नेता के लिये करते हैं।

(२) सुन्नी कानून की पुस्तकों में इमाम शब्द का प्रयोग राज्य के स्वामी के लिये हुआ है।

(३) सुन्नी मुसलमान इमाम शब्द का प्रयोग अपनी न्यायपद्धति के महान् अधिष्ठाताओं के लिये भी करते हैं। ये प्रमुख न्यायशास्त्री महान् अब्बासी खलीफाओं के समय (७५०-८४२ ई०) में अवतरित हुए थे, तथापि शिष्टाचारवश इमाम की पदवी से कभी कभी इन लोगों के बाद के प्रमुख न्यायवेत्ताओं को भी विभूषित कर दिया जाता है।

(४) अस्ना अशरी शीया इमाम शब्द का प्रयोग अपने बारह पवित्र इमामों के लिये करते हैं जिनके नाम ये हैं : (१) हजरत अली, (२) हसन, (३) हुसैन, (४) अली जैनुल आब्दीन, (५) मुहम्मद बाकर, (६) जाफर सादिक, (७) मूसा काजिम, (८) अलीरज़ा, (६) मुहम्मद तक़ी, (१०) अली नकी, (११) हसन असकरी और (१२) मुहम्मद

अल मुतज़र (इमाम मेहदी)। इन बारह में से अंतिम इमाम मेहदी अपने बाल्यकाल में ही एक गुफा में जाकर अदृश्य हो गए और शीया तथा सुन्नी दोनों ही वर्गों की मान्यता है कि वे वापस आएँगे। शीया मुसलमान अपने इमामों के तीन अधिकार मानते हैं—(अ) ये पैगंबर के राज्य के अधिकृत उत्तराधिकारी थे और इनको इस अधिकार से अनुचित रूप से वंचित कर दिया गया, (ब) इमामों ने अत्यंत पवित्र और पापरहित जीवन व्यतीत किया, तथा (स) उनको समस्त जाति को निर्देश देने का अधिकार है। निदेश का यह अधिकार मुजतहिदों को भी प्राप्त है। शीया मुजतहिद उस धार्मिक अध्यापक को कहते हैं जिसके पास मूलतः किसी इमाम द्वारा प्रदत्त प्रमाणपत्र हो।

(५) शीया मुसलमानों के इस्माइली दल के लोग इमाम को एक अवतार या ईश्वरीय व्यक्तित्व के रूप में स्वीकार करते हैं। वह कुरान में प्रतिपादित आस्था को तो समाप्त नहीं कर सकता, किंतु वह कुरान के कानून को पूर्णतः या आंशिक रूप से समाप्त या परिवर्तित कर सकता है। इस अधिकार के पक्ष में दिया जानेवाला तर्क यह है कि कानून में देश और काल के अनुसार परिवर्तन आवश्यक है और इमाम, जो एक अवतार है, इस परिवर्तन को कार्यान्वित करने के लिये एकमात्र उपयुक्त व्यक्ति है। इस प्रकार इस्माइली लोग अपने इमाम को पैगंबर से भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। इस्माइली धार्मिक शीयाओं के केवल प्रथम छः इमामों को मानते हैं। छठे इमाम जाफर सादिक ने अपने पुत्र इस्माइल को उत्तराधिकार से वंचित कर दिया, किंतु इस्माइली लोग इसको उत्तराधिकार के ईश्वरीय नियमों में अवैधानिक हस्तक्षेप मानते हैं।

मध्ययुग में धर्मपरायण मुसलमानों ने इस्माइलियों का अत्यंत निर्दयता से विनाश किया। प्रत्युत्तर में इस्माइलियों ने गुप्त आंदोलन प्रारंभ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि लोगों ने इस्माइलियों के अनेक सिद्धांतों को गलत समझा और व्यक्त किया। इस्माइली इमाम सर्वविदित (अलनी) भी हो सकता है, जैसे मिस्र के फ़ातिमी खलीफ़ा (९१०-११७१ ई०) तथा ईरान में अलमुत के इमाम (११६४-१२५६), और अप्रकट या गुह्य (मखफ़ी) भी। गुह्य इमाम की स्थिति केवल उसके प्रतिनिधि (दाई) को ज्ञात होती है। यह प्रतिनिधि इमाम की ओर से कार्यसंचालन करता है, किंतु इसको इस्लामी संस्थाओं में परिवर्तन करने का अधिकार नहीं होता। इस्माइली मुसलमानों के अनेक दलों में, जैसे भारत के दाउदी और सुलेमानी बोहरे, शताब्दियों से केवल इमाम के प्रतिनिधि (दाई) ही अवतरित हुए हैं।

सं०ग्रं०—ब्रेनर लीविस : इस्माइलिज्म; इवोनोफ़ : कलम-ए-पीर, (फारसी के मूल तथा अनुवाद सहित, बंबई); ओ लीयरी : द फ़ाटिमैट कलिफ़ैट। [मु० ह०]

इमामबाड़ा का सामान्य अर्थ है वह पवित्र स्थान या भवन जो विशेष रूप से हज़रत अली (हज़रत मुहम्मद के दामाद) तथा उनके बेटों, हसन और हुसेन, के स्मारक के रूप में बनाया जाता है। इमामबाड़ों में शिया संप्रदाय के मुसलमानों की मजलिसें और अन्य धार्मिक समारोह होते हैं। 'इमाम' मुसलमानों के धार्मिक नेता को कहते हैं। मुस्लिम जनसाधारण का पथप्रदर्शन करना, मस्जिद में सामूहिक नमाज़ का अग्रणी होना, खुत्बा पढ़ना, धार्मिक नियमों के सिद्धांतों की अस्पष्ट समस्याओं को सुलझाना, व्यवस्था देना इत्यादि इमाम के कर्तव्य हैं। इस्लाम के दो मुख्य संप्रदायों में से 'शिया' के हज़रत मुहम्मद के बाद परम वंदनीय इमाम उपर्युक्त हज़रत अली और उनके दोनों बेटे हुए। वे विरोधी दल से अपने जन्मसिद्ध स्वत्वों के लिये संग्राम करते हुए बलिदान हुए थे। उनकी पुनीत स्मृति में शिया लोग हर वर्ष मुहर्रम के महीने में उनके घोड़े 'दुलदुल' के प्रतीक, एक विशेष घोड़े की पूजा करके और उन नेताओं की याद करके बड़ा शोक मनाते हैं तथा उनके प्रतीकस्वरूप ताजिए बनाकर उनका जुलूस निकालते हैं। ये ताजिए या तो कर्बला में गाड़ दिए जाते हैं या इमामबाड़ों में रख दिए जाते हैं। इसी अवसर पर इमामबाड़ों में उन शहीदों की स्मृति में उत्सव किए जाते हैं।

भारत में सबसे बड़े और हर दृष्टि से प्रसिद्ध इमामबाड़े १८वीं सदी में अवध के नवाबों ने बनवाए थे। इनमें सर्वोत्तम तथा विशाल इमामबाड़ा हुसेनाबाद का है जो अपनी भव्यता तथा विशालता में भारत में ही नहीं, शायद संसार भर में अद्वितीय है। इस इमामबाड़े को अवध के चौथे नवाब वज़ीर आसफुद्दौला ने १७८४ के घोर दुर्भिक्ष में दुःखी, दरिद्र जनता की रक्षा करने के हेतु बनवाया था। कहा जाता है कि बहुत से उच्च घरानों के लोगों ने भी वेश बदलकर इस भवन के बनानेवाले मजूरों में शामिल होकर अपने प्राणों की रक्षा की थी। आसफुद्दौला की मृत्यु होने पर उसे इसी इमामबाड़े में दफनाया गया था।

वास्तुशिल्प की दृष्टि से यह इमामबाड़ा अत्यंत उत्तम कोटि का है। तत्कालीन अवध के वास्तु पर, विशेषतया अवध के नवाबों के भवनों पर यूरोपीय अपभ्रंशकाल के वास्तु का ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा था कि स्थापत्य के प्रकांड पंडित फर्गुसन महोदय ने प्रायः इन सब भवनों को सर्वथा निकृष्ट, भोंड़ा और कुरूप बतलाया है। किंतु 'इमामबाड़े' हुसेनाबाद को उन्होंने इन स्मारकों में अपवाद माना है और उसकी उत्कृष्ट तथा विलक्षण निर्माणविधि एवं दृढ़ता की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। आधुनिक भवनों की अपेक्षा इस इमामबाड़े की अखंडनीय दृढ़ता का प्रमाण उस समय मिला जब १८५७ के भारतीय स्वाधीनता संग्राम के दिनों में पाँच महीने तक इस भवन पर निरंतर गोलाबारी होती रही और उसकी दीवारें गोलियों से छिद गईं, फिर भी उस भवन को कोई हानि नहीं पहुँची। उसके समकालीन तथा पीछे के भवनों के बहुत से भाग धराशायी हो चुके हैं, पर इस महाकाय भवन की एक ईंट भी आज तक नहीं हिली है। १८५७ ई० के बाद विजयी अंग्रेजों ने अत्यंत निर्दयता तथा निर्लज्जता से इस इमामबाड़े को बहुत दिनों तक सैनिक गोला-बारूदघर के तौर पर प्रयुक्त किया, तो भी इसकी कोई हानि नहीं हुई।

यह इमामबाड़ा मच्छीभवन के अंदर स्थित है। इसका मुख्य अंग एक अति विशाल मंडप है जो १६२ फुट लंबा और ५३ फुट ५ इंच चौड़ा है। इसके दोनों ओर बरामदे हैं। इनमें एक २६ फुट ६ इंच और दूसरा २७ फुट, ३ इंच चौड़ा है। मंडप के दोनों टोकों पर अष्टकोण कमरे हैं जिनमें प्रत्येक का व्यास ५३ फुट है। इस प्रकार समूचे भवन की लंबाई २६८ फुट और चौड़ाई १०६ फुट ९ इंच है। परंतु इसकी सबसे बड़ी विशेषता है इस मंडप का एकछाज आच्छादन या छत।

यह अत्यंत स्थूल छत एक विचित्र युक्ति से बनाई गई है और अपनी दृढ़ता के कारण आज तक नई के समान विद्यमान है। ईंट गारे का एक भारी ढूला बनाकर उसके ऊपर छोटी मोटी रोड़ियों और चूने के मसाले का कई फुट मोटा लदाव कर एक बरस तक सूखने के लिये छोड़ दिया गया। जब सूखकर समूचा लदाव एकजान होकर एक शिला के समान हो गया, तब नीचे से ढूले को निकाल दिया गया। इस छत के विषय में फर्गुसन का कहना है कि समूची छत एक शिला के समान हो जाने से, वह बिना किसी बाहरी सहारे अथवा दोसाही (एबटमेंट) के, ठहरी हुई है और निस्संदेह यह योरोपीय गॉथिक छतों की अपेक्षा, जो वास्तु के नियमों पर बनी हैं, अधिक पायेदार है। इसकी विशेषता यह भी है कि गॉथिक छतों से इसका निर्माण बहुत सुगम एवं सस्ता होता है, और यह किसी भी आकार में ढाली जा सकती है। इस इमामबाड़े पर १० लाख रुपए व्यय हुए थे। इसके स्थपति किफायतुल्ला ने नवाब की इस शर्त को पूरा किया कि यह भवन संसार भर में अनुपम हो।

सं०ग्रं०—डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ऑव लखनऊ; जेम्स फर्गुसन : ए हिस्ट्री ऑव इंडियन ऐंड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, खंड २; एनसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम। [प० श०]

इयंबिचस सीरिया के नव्य अफ़लातूनवाद का प्रमुख समर्थक। जन्म सीरिया के एक संपन्न परिवार में हुआ था। रोम में पोर्फ़ेरी का शिष्य रहा, पश्चात् सीरिया में अध्यापन करता रहा। अफ़लातून और अरस्तू पर उसकी टीकाएँ अपने समग्र रूप में तो अप्राप्य हैं, पर कुछ खंड इधर उधर मिलते हैं।

यथार्थतः दर्शनशास्त्र को इयंबिचस की अपनी मौलिक देन नहीं के बराबर है। अपनी कृतियों में जिन दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन उसने किया है उनमें नवीन अफ़लातूनवाद का एक परिष्कृत रूप ही मिलता है। पूर्वसिद्धांतों में वर्णित आकारगत विभाजन के नियमों तथा पिथागोरस के संख्यात्मक प्रतीकवाद की बहुत ही सुव्यवस्थित व्याख्या उसकी कृतियों में मिलती है।

संसार की उत्पत्ति तथा विकास में तीन प्रकार की दैवी शक्तियों का उल्लेख उसने किया है। उसके अनुसार संसार में नाना प्रकार की आधिभौतिक शक्तियों का अस्तित्व है जो भौतिक जगत् की प्रक्रियाओं को प्रभावित करती रहती है, जिन्हे भविष्य का ज्ञान होता है और जो यज्ञ, पूजन आदि द्वारा प्रसन्न की जा सकती है। इयंबिचस के अनुसार जीवात्मा का स्थान चित् और प्रकृति के बीच मे है। एक आवश्यक नियम के अनुसार आत्मा अपने स्थान से शरीर मे प्रविष्ट होती और फिर विभिन्न योनियो मे भ्रमण करती हुई सत्कर्मों के प्रभाव से पुनः अपने शाश्वत स्थान को प्राप्त करती है।

इयंबिचस की कृतियाँ निम्नांकित है. (१) आन दि पाइथागोरियन लाइफ; (२) दि एक्जोर्टेशन टु फिलासॉफी; (३) ट्रीटिज आन दि जेनरल साएस आॅव मैथेमैटिक्स, (४) दि बुक आन दि ऐरिथमेटिक आॅव नाइकोविएशियन; (५) दि थियोलॉजिकल प्रिंसिपुल आॅव ऐरिथमेटिक। [श्री० स०]

इय्योब (अय्यूब, योब) बाइबिल के अनुसार अब्राहम के समकालीन कोई अरबनिवासी गैरयहूदी कुलपति थे। लगभग ५३० ई० पू० मे एक यहूदी कवि ने उन्ही को नायक बनाकर इय्योब नामक ग्रथ की रचना की थी जो गांभीर्य तथा काव्यात्मक सौदर्य की दृष्टि से विश्वसाहित्य के ग्रंथरत्नो मे से एक है। इसमे सदाचारी मनुष्य के दुर्भाग्य की समस्या नाटकीय ढंग से, अर्थात् इय्योब तथा उनके चार मित्रो के सवाद के रूप में, प्रस्तुत की गई है। यहूदियो की परंपरागत धारणा के अनुसार चारों मित्रो का विचार है कि इय्योब अपने पापो के कारण ही दु ख भोग रहे है। इय्योब पापी होना स्वीकार करते है, किंतु वे अपने पापो तथा अपनी घोर विपत्तियो मे समनुपात नही पाते। फिर भी सब कुछ ईश्वर के हाथ से ग्रहण करते हुए इय्योब कहते है कि मनुष्य ईश्वर का विधान समझने में असमर्थ है। सवाद के अत मे स्वर्ग की ओर से सकेत मिलता है कि सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् विधाता ने पापो के कारण इय्योब को दंड देने के लिये नही, प्रत्युत उनकी परीक्षा लेने तथा उनको परिशुद्ध करने के उद्देश्य से उनको विपत्तियो का शिकार बना दिया है। इय्योब इस परीक्षा में उत्तीर्ण होकर ईश्वर से अपना पूर्व वैभव प्राप्त कर लेते हैं। प्रस्तुत समस्या पर ईसा आगे चलकर नया प्रकाश डालकर सिद्ध करेंगे कि दूसरों के पापो के लिये प्रायश्चित्त करने के उद्देश्य से भी दुःख भोगा जा सकता है।

सं०ग्रं०—ई० जे० किस्साने : दि बुक आॅव जॉब, डबलिन, १९३९; जी० होल्शर : दास बुख हियोब, तुबिंगेन, १९३७; लार्शेर : लि लिवरे दी जॉब, पेरिस, १९५०। [का० बु०]

इरकूटस्क रूस के साइबेरिया प्रदेश में अक्षांश ५२° ३६′ उत्तर तथा देशांतर १०४° १०′ पूर्व में स्थित एक नगर है। यह येनीसी की सहायक अंगारा नदी के दाहिने किनारे पर, समुद्र से १,४६० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। इसका उपनगर ग्लाजकोवस्को नदी के बाएँ तट पर है तथा इन दोनों के बीच ६३० गज लंबा पुल है। इरकूटस्क नगर का नामकरण इरकुट नदी के आधार पर हुआ है जो अंगारा में बाईं ओर से मिलती है। उचित भौगोलिक स्थिति के कारण ही नगर चीन, अमूर प्रदेश, लीना की स्वर्णखदानो तथा समूर क्षेत्रो से होनेवाले व्यापार का केंद्र बना हुआ है। इसी कारण यह साइबेरिया प्रदेश का प्रमुख नगर है। इसकी जनसख्या सन् १९५६ ई० मे ३,१४,००० थी। यहाँ का औसत ताप जनवरी मे ५.४° फा०, जुलाई मे ६५.१° फा० तथा औसत वार्षिक वर्षा १४.५ इंच है। यहाँ के मुख्य उद्योग धंधे लकड़ीचिराई, आटा, चमड़ा, ऊर्णाजिन (फ़र) तैयार करना, भेड़ की खाल के कोट तथा मद्य बनाना आदि हैं। नगर सुदर ढंग से बसा हुआ है। [श्या० सु० श०]

इराक दक्षिण-पश्चिम एशिया का एक स्वतंत्र राज्य है जो प्रथम महायुद्ध के बाद मोसुल, बगदाद एव बसरा नामक आटोमन् साम्राज्य के तीन प्रातो को मिलाकर १९१९ ई० में वरसाई की संधि द्वारा स्थापित हुआ तथा अंतर्राष्ट्रीय परिषद् द्वारा ब्रिटेन को शासनार्थ सौंपा गया। सन् १९२१ ई० मे हेजाज के राजा हुसेन का तृतीय पुत्र फैजल जब इराक का राजा घोषित किया गया तब यह एक सावैधानिक राजतंत्र बन गया।
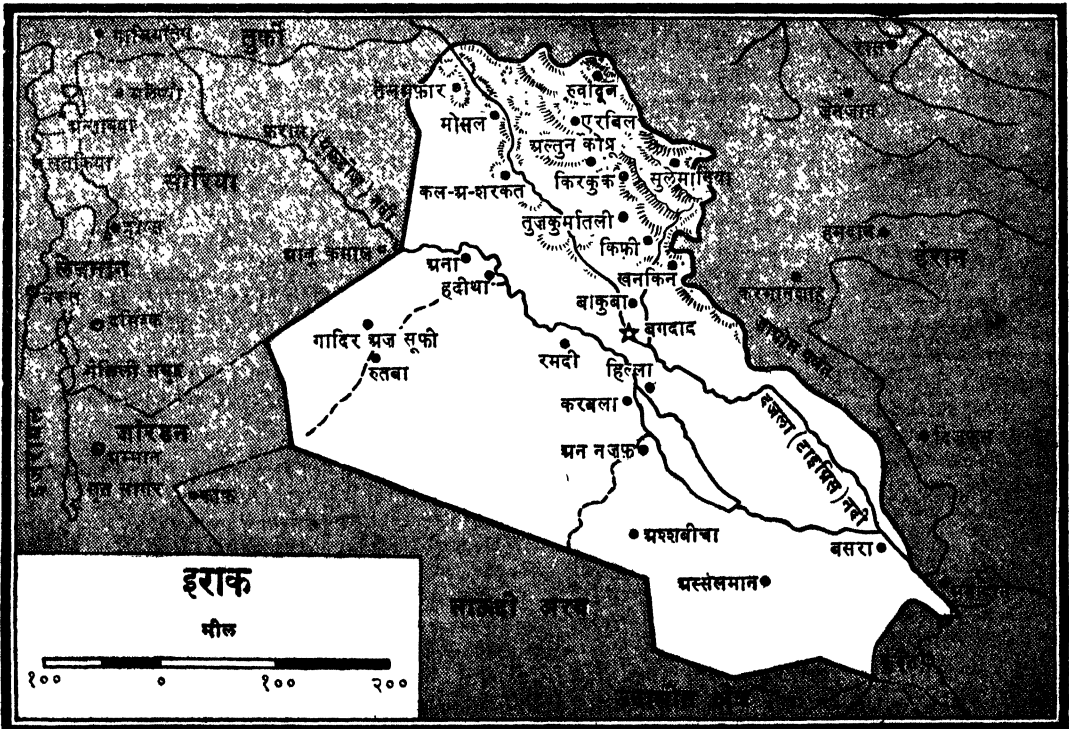
अक्तूबर, १९३२ ई० को ब्रिटेन की शासनावधि समाप्त होने पर यह राज्य पूर्णतः स्वतंत्र हो गया। हाल में ही (जुलाई, १९५९ ई० में) सैनिक क्रांति के बाद यह एक गणतंत्र घोषित किया गया है। सैनिक क्रांति के पूर्व यह राज्य बगदाद-सैनिक-संधि द्वारा ब्रिटेन, संयुक्त राज्य (अमरीका), तुर्की, जॉर्डन, ईरान एवं पाकिस्तान से संबद्ध था, किंतु क्रांति के बाद यह स्वतंत्र एवं तटस्थ नीति का अनुसरण करने लगा है। इसके उत्तर में तुर्की, उत्तर-पश्चिम में सीरिया, पश्चिम में जॉर्डन, दक्षिण-पश्चिम में सऊदी अरब, दक्षिण में फारस की खाड़ी एवं कुवैत हैं। निनेवे एवं बैबिलोन के भग्नावशेष आज भी इसके प्राचीन वैभव के प्रतीक हैं। क्षेत्रफल १,७१,६१६ वर्ग मील है और जनसंख्या ३६,६५,००० । बगदाद (जनसंख्या ७,३०,५४६) प्रमुख नगर एवं राजधानी है। बसरा (जनसंख्या १,५६,३५५), मोसूल (जनसंख्या १,४०,२४५), किरकक (जनसंख्या ८६,६१७) तथा नजफ (जनसंख्या ७४,०००) अन्य मुख्य नगर हैं। जनसंख्या के ६६ प्रति शत लोग इस्लाम धर्म को मानते हैं जिनमें शीया मतानुयायी आधे से कुछ अधिक हैं। राज्यभाषा अरबी है।

इराक तीन भौगोलिक खंडों में विभक्त है :

(ज) कुर्दिस्तान (इराक के उत्तर-पूर्व का पर्वतीय भाग) जिसके शिखर इराक-ईरान सीमा पर लगभग १०,००० फुट ऊँचे हैं। इसके अंतर्गत अल-सुलेमानियाँ का उर्वर एवं ऊँचा मैदान है। यहाँ के निवासी कुर्द लोग बड़े उपद्रवी हैं।

(२) मेसोपोटेमिया का उर्वर मैदान : मेसोपोटेमिया फरात एवं दजला नदियों की देन है। ये नदियाँ आर्मीनिया के पठार से निकलती हैं तथा क्रमशः १४६० एवं ११५० मील तक प्रवाहित हो शत-अल-अरब के नाम से फारस की खाड़ी में गिरती हैं। १०,०००-५,००० ई० पूर्व में ये नदियाँ अलग अलग फारस की खाड़ी में गिरती थीं। इसका दक्षिणी भाग, बगदाद से बसरा तक, जो लगभग ३०० मील लंबा है, ऐतिहासिक काल में प्राकृतिक कारणों से निर्मित हुआ है। यह भाग दलदली है। यहाँ की मुख्य उपज चावल एवं खजूर है। शत-अल-अरब के दोनों तटों पर एक से दो मील चौड़े क्षेत्र में खजूर के सघन वन मिलते हैं। मेसोपोटेमिया के उत्तरी भाग में गेहूँ, जौ एवं फल की खेती होती है।

(३) स्टेप्स एवं मरुस्थली खंड, जो दक्षिण-पश्चिम में ५० से १०० फुट के तीव्र ढाल द्वारा मेसोपोटेमिया के मैदान से पृथक् है।

इराक की जलवायु शुष्क है। यहाँ का दैनिक एवं वार्षिक तापांतर अधिक तथा औसत वर्षा केवल १०" है। कुर्दिस्तान के पर्वतीय भाग में अल्पाइन जलवायु मिलती है जहाँ वर्षा २५" से ३०" तक होती है। फरात एवं दजला की घाटी में रूमसागरीय जलवायु मिलती है तथा फारस की खाड़ी के समीप दुनिया का एक बहुत ही उष्ण भाग स्थित है। इसके दक्षिण-पश्चिम में उष्ण मरुस्थलीय जलवायु है। बगदाद का उच्चतम ताप १२३° फा० तथा न्यूनतम ताप १९° फा० तक पाया गया है। यहाँ वर्षा केवल ६" होती है। उत्तरी मेसोपोटेमिया में वर्षा १५" तथा दक्षिण-पश्चिम के मरुस्थल में ५" से भी कम होती है।

उत्तरी इराक में रूमसागरीय वनस्पति मिलती है। इसके अधिक भाग वृक्षविहीन हैं। यहाँ चिनार, अखरोट एवं मनुष्यों द्वारा लगाए गए अन्य फलों के पेड़ मिलते हैं। दक्षिणी इराक के कम वर्षावाले भाग में केवल कँटीली झाड़ियाँ मिलती हैं। नदियों की घाटियों एवं सिंचित क्षेत्र में ताड़, खजूर एवं चिनार के पेड़ मिलते हैं।

इराक कृषिप्रधान एवं पशुपालक देश है जिसके ९० प्रति शत निवासी अपनी जीविका के लिये भूमि पर आश्रित हैं। फिर भी इसके केवल ३ प्रति शत भाग में कृषि की जाती है। इसकी मिट्टी अत्यधिक उर्वरा है, किंतु अधिकांश क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ सिंचाई के बिना कृषि संभव नहीं है। सिंचाई नहर, डीजल इंजन द्वारा चालित पंप आदि साधनों द्वारा की जाती है। लगभग ७४,५०,००० एकड़ भूमि सिंचित है। जाड़े में जौ एवं गेहूँ तथा गर्मी में धान, मक्का एवं ज्वार, बाजरा की खेती होती है। मक्का एवं ज्वार बाजरा मध्य इराक की मुख्य उपज है। अंजीर, अखरोट, नाशपाती, खरबूजे आदि फल विशेष रूप से शत-अल-अरब के क्षेत्र में होते हैं। इराक संसार का ९० प्रति शत खजूर उत्पन्न करता है। यहाँ लगभग ६४० लाख खजूर के पेड़ हैं जिनसे लगभग ३,५०,००० टन खजूर प्रति वर्ष प्राप्त होता है। कुछ रूई नदियों की घाटियों में तथा तंबाकू एवं अंगूर कुर्दिस्तान की तलहटी में होता है।

यहाँ की खानाबदोश एवं अर्ध खानाबदोश जातियाँ ऊँट, भेंड़ तथा बकरे चराती हैं। दुग्धपशु फरात एवं दजला के मैदान में, भेंड़ जजीरा एवं कुर्दिस्तान में, बकरे उत्तर-पूर्व की पहाड़ियों में तथा ऊँट दक्षिण-पश्चिम के मरुस्थल में पाले जाते हैं।

खनिज तेल के लिये इराक जगत्प्रसिद्ध है। सन् १९५६ में खनिज तेल का उत्पादन ३०६ लाख टन था। यहाँ तेल के तीन क्षेत्र हैं : (१) बाबा-गुजर, किरकक के निकट, जो तेल का अत्यधिक धनी क्षेत्र है; (२) नफ्त-खाना, ईरान की सीमा के निकट, खानकिन से ३० मील दक्षिण; (३) ऐन ज़लेह, मसूल के उत्तर। बगदाद के निकट दौरा तथा मसूल जिले में गय्याराह नामक स्थानों में तेल साफ करने के कारखाने हैं। सन् १९५५ ई० में इराक को तेल कंपनियों द्वारा ७,३७,४०,००० इराकी डालर राज्यकर के रूप में मिला। खनिज तेल के अतिरिक्त भूरा कोयला (लिग्नाइट) किफ्री में तथा नमक एवं जिप्सम अन्य स्थानों में प्राप्त होता है।

इराक में केवल छोटे उद्योगों का विकास हुआ है। १९५४ ई० में औद्योगिक श्रमिकों की जनसंख्या ९०,००० थी। बगदाद में ऊनी कपड़े एवं दरी बुनने के अतिरिक्त दियासलाई, सिगरेट, साबुन तथा वनस्पति घी के उद्योग हैं। मोसूल में कृत्रिम रेशम एवं मद्य के कारखाने हैं। इराक के मुख्य निर्यात खनिज तेल, खजूर, जौ, कच्चा चमड़ा, ऊन एवं रूई हैं तथा आयात कपड़ा, मशीन, मोटरगाड़ियाँ, लोहा, चीनी एवं चाय हैं। [न० कि० प्र० सिं०]

इराक का इतिहास

इराक अथवा मेसोपोतामिया को संसार की अनेक प्राचीन सभ्यताओं को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त है। परंपराओं के अनुसार इराक में वह प्रसिद्ध नंदन वन था जिसे इंजील में 'ईदन का बाग' की संज्ञा दी गई है और जहाँ मानव जाति के पूर्वज हज़रत आदम और आदिमाता हव्वा विचरण करते थे। इराक को 'साम्राज्यों का खंडहर' भी कहा जाता है क्योंकि अनेक साम्राज्य यहाँ जन्म लेकर, फूल फलकर धूल में मिल गए। संसार की दो महान् नदियाँ दजला और फ़रात इराक को सरसब्ज बनाती हैं। ईरान की खाड़ी से सौ मील ऊपर इनका संगम होता है और इनकी संमिलित धारा 'शत्तल अरब' कहलाती है।

इराक की प्राचीन सभ्यताओं में सुमेरी, बाबुली, असूरी और ख़ल्दी सभ्यताएँ दो हजार वर्ष से ऊपर तक विद्याबुद्धि, कलाकौशल, उद्योग व्यापार और संस्कृति की केंद्र बनी रहीं। सुमेरी सभ्यता इराक की सबसे प्राचीन सभ्यता थी। इसका समय ईसा से ३५०० वर्ष पूर्व माना जाता है। लैंगडन के अनुसार मोहनजोदड़ो की लिपि और मुहरें सुमेरी लिपि और मोहरों से मिलती हैं। सुमेर के प्राचीन नगर ऊर में भारत के चूने मिट्टी के बने बर्तन मिले हैं। हाथी और गैंडे की उभरी आकृतिधारी सिंध सभ्यता की एक गोल मुहर इराक के प्राचीन नगर एश्नुन्ना (तेल अस्मर) में मिली है। मोहनजोदड़ो की उत्कीर्ण वृषभ की एक मूर्ति सुमेरियों के पवित्र वृषभ से मिलती है। हड़प्पा में प्राप्त सिंगारदान की बनावट ऊर में प्राप्त सिंगारदान से बिल्कुल मिलती जुलती है। इस प्रकार की मिलती जुलती वस्तुएँ यह प्रमाणित करती हैं कि इस अत्यंत प्राचीन काल में सुमेर और भारत में घनिष्ट संबंध था।

प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता लिओनर्ड वूली के अनुसार—"वह समय बीत चुका जब समझा जाता था कि यूनान ने संसार को ज्ञान सिखाया। ऐतिहासिक खोजों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यूनान के जिज्ञासु हृदय ने लीदिया से, खत्तियों से, फ़ीनीकिया से, क्रीत से, बाबुल और मिस्र से अपनी ज्ञान की प्यास बुझाई; किंतु इस ज्ञान की जड़ें कहीं अधिक गहरी जाती हैं। इस ज्ञान के मूल में हमें सुमेर की सभ्यता दिखाई देती है।"

२१७० ई० पू० में ऊर के तीसरे राजकुल की समाप्ति के साथ सुमेरी सभ्यता भी समाप्त हो गई और उसी के खंडहर से बाबुली सभ्यता का उभार हुआ। बाबुल के राजकुलों ने ईसा से १००० वर्ष पूर्व तक देश पर शासन किया तथा ज्ञान और विज्ञान की उन्नति की। इन्हीं में सम्राट् हम्मुराबी था जिसका स्तंभ पर लिखा विधान संसार का सबसे प्राचीन विधान माना जाता है।

बाबुली सत्ता की समाप्ति के बाद उसी जाति की एक दूसरी शाखा ने असूरी सभ्यता की बुनियाद डाली। असूरिया की राजधानी निनेवे पर अनेक प्रतापी असूरी सम्राटो ने राज किया। ६०० ई० पू० तक असूरी सभ्यता फली फूली। उसके बाद खल्दी नरेशों ने फिर एक बार बाबुल को देश का राजनीतिक और सांस्कृतिक केंद्र बना दिया। नगरनिर्माण, शिल्प कला और उद्योग धंधो की दृष्टि से खल्दी सभ्यता अपने समय की संसार की सबसे उन्नत सभ्यता मानी जाती थी। खल्दियों के समय निर्मित 'आकाशी उद्यान' संसार के सात आश्चर्यों में गिना जाता है। खल्दियों के समय नक्षत्र विज्ञान ने भी आश्चर्यजनक उन्नति की।

६०० ई० पू० में खल्दियो के पतन के बाद इराकी रंगमंच पर ईरानियों का प्रवेश होता है किंतु तीसरी शताब्दी ई० पू० मे सिकंदर की यूनानी सेनाएँ ईरानियो को पराजित कर इराक पर अधिकार कर लेती है। इसके बाद तेजी के साथ इराक मे राजनीतिक परिवर्तन होते हैं। यूनानियो के बाद पार्थव, पार्थवो के बाद रोमन और रोमनो के बाद फिर सासानी ईरानी इराक पर शासनारूढ़ होते हैं।

सातवी स० ई० में इसलाम की स्थापना के बाद ईरानियों और अरबों की टक्करों के फलस्वरूप इराक पर अरब के खलीफाओ की हुकूमत कायम हो जाती है। इराक के पुराने नगर नष्ट हो चुके थे। अरबो ने जिन कई नए शहरो की दागबेल डाली उनमे कूफा (६३८ ई०), बसरा और दजला के तट पर बगदाद (सन् ७६२ ई०) मुख्य है। हजरत अली जब इसलाम के खलीफा थे, उन्होने कूफा को अपनी राजधानी बनाया। अब्बासी खलीफाओ के जमाने मे बगदाद अरब साम्राज्य की राजधानी बना। खलीफा हारूँ रशीद के समय बगदाद ज्ञान विज्ञान, कला कौशल, सभ्यता और संस्कृति का एक महान् केंद्र बन गया। ज्ञानी और पंडित, दार्शनिक और कवि, साहित्यिक और कलाकार एशिया, यूरोप और अफ्रीका से आ आकर बगदाद में जमा होने लगे।

अंतिम अब्बासी खलीफा मुतास्सिम के समय, सन् १२५८ ई० में, चंगेज़ खाँ के पौत्र हलाकू खाँ के नेतृत्व में मंगोलो ने बगदाद पर आक्रमण किया तथा सभ्यता और संस्कृति के उस महान् केंद्र को नष्ट कर दिया। हलाकू के इस आक्रमण ने अब्बासियों के शासन का सदा के लिये अंत कर दिया।

इराक में ही करबला का प्रसिद्ध मैदान है जहाँ सन् ६८० ई० में पैगंबर के नवासे हुसैन का ओमइया खलीफाओं के शासको द्वारा सपरिवार वध कर दिया गया था। करबला में आज भी हर साल हजारों शिया मुसलमान संसार के कोने कोने से आकर हजरत हुसैन की स्मृति में आँसू बहाते है। इराक मे शिया संप्रदाय का दूसरा तीर्थस्थान नजफ़ है। इराक की अधिकांश जनसंख्या शिया मुसलमानों की है। सांस्कृतिक दृष्टि से इराक अरब और ईरान का मिलन-केंद्र रहा है किंतु नस्ल की दृष्टि से इराक निवासी अधिकांशतः अरब है।

अब्बासियों के पतन के बाद इराक मंगोलों, तातारियों, ईरानियों, खुर्दों और तुर्कों की आपसी प्रतिस्पर्धा का शिकारगाह बना रहा। इराक पर तुर्कों का विधिवत् शासन सन् १८३१ ई० में प्रारभ हुआ। इराक को तुर्कों ने तीन विलायतों अथवा प्रातों में बाँट दिया था। ये प्रांत थे— मोसल विलायत, बगदाद विलायत और बसरा विलायत। यही तीनों विलायतें आधुनिक इराक में १४ लिवों या कमिश्नरियों में बाँट दी गई है।

सन् १९१४ ई० में तुर्की जब प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी के पक्ष में शामिल हुआ तब अंग्रेजी सेनाओं ने इराक में प्रवेश कर २२ नवबर, सन् १९१४ को बसरा पर और ११ मार्च, सन् १९१७ को बगदाद पर अधिकार कर लिया। इस आक्रमण से अंग्रेजों का उद्देश्य एक ओर अबादान में स्थित ऐंग्लो-पर्शियन आयल कंपनी की रक्षा करना और दूसरी ओर मोसल में तेल के अटूट भंडार पर अधिकार करना था। युद्ध की समाप्ति के बाद इराक अंग्रेजों का प्रभावक्षेत्र बन गया। अंग्रेजों ने २३ अगस्त, सन् १९२१ को अपनी ओर से एक कठपुतली अमीर फ़ैजल को इराक का राजा घोषित कर दिया।

सन् १९३० में इराक और ग्रेट ब्रिटेन के बीच एक विधिवत् पच्चीस वर्षीय संधि हुई जिसकी एक शर्त यह भी थी कि यथासंभव शीघ्र ही ग्रेट ब्रिटेन इराक को राष्ट्रसंघ में शामिल किए जाने की सिफारिश करेगा। संधि की इस धारा के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन की सिफ़ारिश पर इराक के ऊपर से उसका मैंडेट ४ अक्टूबर, सन् १९३२ को समाप्त हो गया और एक स्वतंत्र राष्ट्र की हैसियत से इराक राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया। इराक के आग्रह पर ऐंग्लो-इराकी संधि की अवधि अक्तूबर, सन् १९५७ तक बढ़ा दी गई। २६ जून, सन् १९५४ को इराक संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया और अरब राष्ट्र के संघ की स्थापना में उसने महत्वपूर्ण भाग लिया।

इराक मध्यपूर्व सुरक्षायोजना के बगदाद पैक्ट गुट का प्रमुख सदस्य था किंतु हाल की राजनीतिक क्रांति के परिणाम स्वरूप वहाँ से राजतंत्र समाप्त हो गया है। इराक ने बगदाद पैक्ट गुट के देशों से भी अपने को पृथक् कर लिया है।

सं० ग्रं०—एस० लैंगडन : सुमेरियन लाज (१८९६); जे० डेलापोर्ट : मेसोपोटामियन सिविलिज़ेशन (१९१०); सर लिओनार्ड वूली : डिगिंग अप दी पास्ट (१९३८); रिचर्ड कोक : दि हार्ट ऑव दि मिडिल ईस्ट (१९२५); एस० एच० लांगरिज : फ़ोर सेंचुरीज़ ऑव माडर्न इराक (१९२५); एस० लायड : फ़ाउंडेशन इन दि डस्ट (१९३१); एच० आर० हाल : मेसोपोटामिया (१९२५)। [वि० ना० पां०]

इरीडियम

(संकेत : इ ; परमाणुभार : १९३.१ ; परमाणु संख्या : ७७) धातुओ के प्लैटिनम समूह का एक सदस्य है। सबसे पहले तेंना ने १८०४ मे ऑस्मीइरीडियम नामक मिश्रण से इसको प्राप्त किया। यह बहुत ही कठोर धातु है, लगभग २,४५०° सेंटीग्रेड पर पिघलती है और इसका आपेक्षिक घनत्व २२.४ है। इसका विशिष्ट विद्युतीय प्रतिरोध ४.९ है जो प्लैटिनम का लगभग आधा है। इससे तार, चादर इत्यादि बनाना बडा ही कठिन है। रासायनिक प्रतिक्रिया में यह धातुओ में सबसे अधिक अक्रियाशील है, यहाँ तक कि अम्लराज भी साधारण ताप पर इसपर क्रिया करने में असफल रहता है।

इरीडियम फाउंटेनपेन की निबों की नोक, आभूषण, चुंबकीय संपर्क स्थापित करनेवाले यंत्र, पोली सुई (इंजेक्शन लगाने की सुई) तथा बहुत ही बारीक फ़्यूज तार बनाने मे काम आता है।

इरीडियम बहुत से यौगिक बनाता है, जिनमें १,२,३,४ तथा ६ तक संयोजकता होती है। इसके मुख्य यौगिक $इक्लो_2$, $इक्लो_3$, $इक्लो_4$, $इब्रो_3$, $इओ_3$, $इओ_4$, $हा_2इक्लो_6$, $इ_2ओ_3$, $इओ_2$, $इगं$, $इ_2गं_3$ इत्यादि हैं। इसमें जटिल यौगिक बनाने की भी प्रवृत्ति पाई जाती है, जैसे $सो_3इ(नाओ_2)_6$ और साथ ही यह दूसरी धातुओ से मिलकर, विशेषकर प्लैटिनम के साथ, बड़ी सुगमता से मिश्रधातु बनाता है। ये मिश्रधातुएँ बड़ी कठोर होती है।

(यहाँ इ=इरीडियम; क्लो=क्लोरीन; ब्रो=ब्रोमीन; आ=आयोडीन; हा=हाइड्रोजन; ओ=ऑक्सिजन; सो=सोडियम तथा गं=गंधक है।) [स०प्र०]

इरोद

मद्रास राज्य के कोयंबटूर जिले का एक नगर है जो मद्रास से २४३ मील दूर, कावेरी नदी के दाहिने तट पर स्थित है। (स्थिति : ११° २१' उ० अक्षांश तथा ७७° ४३' पू० देशांतर)। यह नगर दक्षिण रेलवे का एक जंकशन है। १७वीं शताब्दी के प्रारंभ में यह छोटा सा कस्बा था, परंतु हैदरअली के समय में नगर की पर्याप्त उन्नति हुई तथा यहाँ की जनसंख्या १५,००० हो गई। समय के फेर तथा राजनीतिक उथल पुथल के कारण १८वीं शताब्दी के अंत में यह नगर मराठा, मैसूर राज्य तथा अंग्रेजों की विभिन्न चढ़ाइयों के कारण पूर्ण रूप से ध्वस्त हो गया। १७९२ ई० में टीपू सुल्तान तथा अंग्रेजों में संधि हुई, फलस्वरूप लोग फिर आकर यहाँ बसे तथा एक ही वर्ष में यहाँ की जनसंख्या २०,००० हो गई।

इरोद अब मद्रास का एक बहुत अच्छा नगर हो गया है। १८७१ ई० से यहाँ की व्यवस्था नगरपालिका द्वारा हो रही है। नगर पूर्ण रूप से विकसित तथा सभी सुविधाओं से संपन्न है। यहाँ दो बहुत प्राचीन मंदिर हैं जिनपर तमिल भाषा में लिखे हुए ऐतिहासिक महत्व के भित्तिलेख हैं। इरोद अपने क्षेत्र का प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र है। यहाँ कपास का व्यवसाय मुख्य रूप से होता है। १९२१ में यहाँ की जनसंख्या ५७,५७६ थी। यहाँ व्यापार में लगभग १६,००० लोग लगे हुए हैं। [हृ० ह० सिं०]

कमला नेहरू अस्पताल, इलाहाबाद
यह प्रसूति-कल्याण-चिकित्सालय है।

बच्चों की शुश्रुषा

सिनेट हाल (प्रयाग विश्वविद्यालय), इलाहाबाद

आनंद भवन, इलाहाबाद
पंडित जवाहरलाल नेहरू का निजगृह।

इला ऋग्वेद में 'अन्न की अधिष्ठातृ' मानी गई हैं, यद्यपि सायण के अनुसार उन्हें पृथिवी की अधिष्ठातृ मानना अधिक उपयुक्त है। वैदिक वाङ्मय में इला को मनु को मार्ग दिखलानेवाली एवं पृथिवी पर यज्ञ का विधिवत् नियमन करनेवाली कहा गया है। इला के नाम पर ही जंबूद्वीप के नवखंडों में एक खंड 'इलावृत वर्ष' कहलाता है। महाभारत तथा पुराणों की परंपरा में इला को बुध की पत्नी एवं पुरूरवा की माता कहा गया है। [चं० म०]

इलायची, छोटी को संस्कृत में एला, तीक्ष्णगंधा इत्यादि और लैटिन में एलेटेरिम्रा कार्डामोमम कहते हैं।

इसका पौधा सदा हरा तथा ५ फुट से १० फुट तक ऊँचा होता है। इसके पत्ते बर्छे की आकृति के तथा २ फुट तक लंबे होते हैं। यह बीज और जड़ दोनों से उगता है। ३,४ वर्ष में फसल तैयार होती है तथा इतने ही काल तक इसमें गुच्छों के रूप में फल लगते हैं। सूखे फल ही बाजार में छोटी इलायची के नाम से बिकते हैं। पौधे का जीवनकाल १० से लेकर १२ वर्ष तक का होता है। समुद्र की हवा और छायादार भूमि इसके लिये आवश्यक है। इसके बीज छोटे और कोनेदार होते हैं। मैसूर, मंगलोर, मालाबार तथा लंका में इलायची बहुतायत से होती है।

भारत में इसके बीजों का उपयोग अतिथिसत्कार, मुखशुद्धि तथा पकवानों को सुगंधित करन के लिये होता है। ये पाचनवर्धक तथा रुचिवर्धक होते हैं।

आयुर्वेदिक मतानुसार इलायची शीतल, तीक्ष्ण, मुख को शुद्ध करनेवाली, पित्तजनक तथा वात, श्वास, खाँसी, बवासीर, क्षय, वस्तिरोग, सुजाक, पथरी, खुजली, मूत्रकृच्छ तथा हृदयरोग में लाभदायक है।

इन बीजों में एक प्रकार का उड़नशील तैल (एसेंशियल ऑएल) होता है।

बड़ी इलायची का नाम संस्कृत में एला, कांता इत्यादि, मराठी में वेलदोड़े, गुजराती में मोटी एलची तथा लैटिन में ऐमोमम कार्डामोमम है।

इसके वृक्ष ३ से ५ फुट तक ऊँचे भारत तथा नेपाल के पहाड़ी प्रदेशों में होते हैं। फल तिकोने, गहरे कत्थई रंग के और लगभग आधा इंच लंबे तथा बीज छोटी इलायची से कुछ बड़े होते हैं।

आयुर्वेद तथा यूनानी उपचार में इसके बीजों के लगभग वे ही गुण कहे गए हैं जो छोटी इलायची के बीजों के। परंतु बड़ी इलायची छोटी से कम स्वादिष्ट होती है। [भ० दा० व०]

इलावारा आस्ट्रेलिया के न्यू-साउथ-वेल्स का एक उपजाऊ जिला है। यह सिडनी के ३३ मील दक्षिण से आरंभ होकर, समुद्रतट के साथ साथ दक्षिण की ओर ४० मील सोम्राल हेवन तक फैला हुआ है तथा भीतरी पठार से खड़ी एवं १,००० फुट ऊँची चट्टानों द्वारा अलग है। यह एक अल्पजनसंख्यक क्षेत्र है एवं सिडनी की दूध संबंधी आवश्यकताएँ पूरी करता है। यहाँ कोयले की बहुत सी खदानें हैं। बैसाल्ट, अग्निरोधक मिट्टी एवं पत्थर यहाँ अत्यधिक मात्रा में विद्यमान हैं। जिले के मुख्य नगर बुली, वोलनमांग, पोर्ट केमब्ला, कियामा तथा गेरिंगगोड हैं।

इसी जिले में ईलावारा नामक एक खारी झील भी है जो ९ मील लंबी तथा ३ मील चौड़ी है। यह पहाड़ों से घिरी हुई तथा समुद्र से एक धारा द्वारा संबंधित है। इसमें काफी मात्रा में मछलियाँ तथा जंगली चिड़ियाँ पकड़ी जाती है। [श्या० सुं० श०]

इलाहाबाद प्राचीन प्रयाग, (अक्षांश २५° २५,' देशांतर ८२° पूर्व, १९५१ ई० में जनसंख्या ३,३२,२९५) गंगा और यमुना के संगम पर दोनों नदियों के बीच में बसा हुआ है। एक तीसरी नदी सरस्वती के भी यहाँ मिलने की कल्पना की जाती है, यद्यपि इसका कोई चिह्न यहाँ नहीं प्रकट होता। प्रयाग की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान हमें युवान् च्वाङ (६४४ ई०) के वर्णन में भी मिलता है। उस समय नगर कदाचित् संगम के अति निकट बसा हुआ था। इसके पश्चात् लगभग ८वीं शताब्दी तक प्रयाग का इतिहास अंधकार में है।

अकबरनामा, आईने अकबरी तथा अन्य मुगलकालीन ऐतिहासिक पुस्तकों से ज्ञात होता है कि अकबर ने सन् १५८४ ई० के लगभग यहाँ पर किले की नींव डाली तथा एक नया नगर बसाया जिसका नाम उसने 'इलाहाबाद' रखा। इससे बरबस ही यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यदि यहाँ अकबर द्वारा नए नगर की स्थापना हुई तो प्राचीन प्रयाग का क्या हुआ। कदाचित् किले के निर्माण के पूर्व ही प्रयाग गंगा की बाढ़ के कारण नष्ट अथवा बहुत छोटा हो गया होगा। इस बात की पुष्टि वर्तमान भूमि के अध्ययन से भी होती है। वर्तमान प्रयाग रेलवे स्टेशन से भारद्वाज आश्रम, गवर्नमेंट हाउस, गवर्नमेंट कालेज तक का ऊँचा स्थल अवश्य ही गंगा का एक प्राचीन तट ज्ञात होता है, जिसके पूरब की नीची भूमि गंगा का पुराना कछार रही होगी जो सदैव नहीं तो बाढ़ के दिनों में अवश्य जलमग्न हो जाती रही होगी। संगम पर बने किले की रक्षा के हेतु बेनी तथा बक्सी नामक बाँधों को बनाना भी अकबर के लिये आवश्यक रहा होगा। इन बाँधों द्वारा कछार का अधिकांश भाग सुरक्षित हो गया। वर्तमान खुसरो बाग तथा उसमें स्थित मकबरे जहाँगीर के काल के बने बताए जाते हैं। मुसलमानी शासन के अंतिम काल में नगर की दशा कदाचित् अच्छी नही थी और उसका विस्तार (ग्रैंड ट्रंक रोड के दोनों ओर) बाढ़ से रक्षित भूमि तक ही सीमित था। सन् १८०१ ई० में नगर अंग्रेजो के हाथ आया, तब उन्होंने यमुनातट पर किले के पश्चिम अपनी छावनियाँ बनाईं। फिर बाद में, वर्तमान ट्रिनिटी चर्च के आसपास भी इनके बँगले तथा छावनियाँ बनीं।

सन् १८५७ ई० के गदर में ये छावनियाँ नष्ट कर दी गईं तथा नगर को बहुत क्षति पहुँची। गदर के पश्चात् १८५८ ई० में इलाहाबाद को उत्तरी पश्चिमी प्रांतों (नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज) की राजधानी बनाया गया। वर्तमान सिविल लाइंस की योजना १८६० ई० में बनी और १८७५ तक वह पर्याप्त बस गई। यद्यपि इलाहाबाद और कानपुर तक की रेलवे लाइन गदर के पूर्व बन चुकी थी, तो भी नगर का व्यापारिक महत्व १८६५ ई० में यमुना पर पुल बनने के पश्चात् बढ़ा। गत शताब्दी के अंत तक नगर में कई महत्वपूर्ण इमारतें तथा संस्थाएँ निर्मित हुईं जिनमें मेयो हाल, म्योर कालेज, गवर्नमेंट प्रेस तथा हाईकोर्ट मुख्य हैं। चौक के घुगीघर तथा पास के बाजार का निर्माण भी इसी समय हुआ।

गत ५० वर्षों में नगर का विस्तार अधिक हुआ है। जार्ज टाउन, लूकरगंज तथा अन्य नए महल्ले बसाए गए। इलाहाबाद-फैजाबाद रेलवे लाइन १९०५ ई० में तथा झूसी से सिटी (रामबाग) स्टेशन तक की रेलवे लाइन १९१२ में बनी। इलाहाबाद इंप्रूवमेंट ट्रस्ट द्वारा नगर के बहुत से भागों में कई छोटी छोटी बस्तियाँ भी बसाई गईं तथा नई सड़कों का निर्माण हुआ। परंतु उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ चली जाने से इस नगर की उन्नति रुक गई। अब यहाँ यूनिवर्सिटी और हाईकोर्ट होने के कारण तथा इसके तीर्थस्थान होने के कारण ही नगर का महत्व है। यमुना के उस पार नैनी में एक व्यावसायिक उपनगर बसाने का प्रयत्न हो रहा है। [उ० सिं०]

इलियट, जार्ज जार्ज इलियट (१८१९–८०) की गणना अंग्रेजी के महान् उपन्यासकारों में की जाती है। आपका वास्तविक नाम मेरी ऐन ईवेन्स था। आपका पालन पोषण तो एक कट्टर 'मेथोडिस्ट' परिवार में हुआ किंतु २२ वर्ष की आयु में ब्रे व हेनेल के प्रभाव ने आपके दृष्टिकोण में क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिया। धार्मिक प्रश्नों में तर्कपूर्ण एवं निष्पक्ष वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनानेवालों में आपका स्थान अपने युग में सर्वप्रथम है। परंतु आपकी सभी रचनाओं में एक दृढ़ नैतिक भावना विद्यमान है जिसके कारण आपने कर्तव्यपालन और कर्मफल के सिद्धांतों को सर्वोपरि स्थान दिया है।

आपका प्रथम साहित्यिक प्रयास स्ट्रॉस की 'लाइफ़ ऑव जीसस' का अनुवाद (१८४८) था। १८५१ में आप 'वेस्टमिन्स्टर रिव्यू' की सहायक संपादिका नियुक्त हुईं, जिससे आपको फ्राउड, मिल, कार्लाइल, हरबर्ट स्पेन्सर तथा 'दि लीडर' के संपादक जी०एच० लिविस जैसे सुविख्यात व्यक्तियों के संपर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ। लिविस की ओर आप विशेष आकर्षित हुईं, जो उस समय अपनी पत्नी से अलग रह रहे थे। समाज की पूर्ण

अवहेलना करके वे दोनों पति पत्नी की भाँति रहने लगे। यह संबंध लिविस के मृत्युपर्यंत कायम रहा।

लिविस की प्रेरणा से ही आप दर्शन छोड़कर उपन्यासरचना की ओर आकर्षित हुई। आपकी पहली तीन कथाएँ 'सीन्स फ्रॉम क्लेरिकल लाइफ़' के नाम से १८५८ में प्रकाशित हुई। इसके उपरांत 'ऐडम बीड' (१८५६), 'दि मिल ऑन दि फ्लॉस' (१८६०) और 'साइलस मारनर' (१८६१) लिखे गए। ये तीनों रचनाएँ ग्राम्य जीवन पर आधारित हैं जिससे वे भली भाँति परिचित थीं। इनमें हमें दीनहीनों के प्रति आपकी गहरी समवेदना के दर्शन होते हैं। 'रोमोला' (१८६३) को लिखने में आपने सर्वाधिक परिश्रम किया, परंतु उसे सजीवता प्रदान करने में आप पूर्णतः सफल न हो सकीं। फिर भी इस उपन्यास में टीटो मिलीमा का चरित्रचित्रण विशेष उल्लेखनीय है। 'फ़ेलिक्स होल्ट' (१८६६) की कथा १८३२ के सुधारवादी आंदोलन पर आधारित है। 'मिडिल मार्च' (१८७२) में, जो आपका सर्वोत्तम उपन्यास है, प्रांतीय जीवन का पूर्ण और सफल चित्रण मिलता है। व्यापकता की दृष्टि से इसकी तुलना बालज़ाक और टाल्सटाय की रचनाओं से की जाती है। आपकी अंतिम रचना 'डेनियल डेरोंडा' (१८७६) यहूदी जीवन पर आधारित है।

दीर्घकालीन उपेक्षा के अनंतर जार्ज इलियट की रचनाएँ पाठकों तथा आलोचको दोनो का ध्यान पुनः आकृष्ट करने लगी है। [प्र०कु०स०]

इलियट, टी०एस० १९४८ के नोबेल-पुरस्कार-विजेता टी०एस० इलियट (१८८८—) आधुनिक युग की महानतम साहित्यिक विभूतियों में से है। २६ वर्ष की आयु में आप अपनी मातृभूमि अमरीका छोड़कर इंग्लैंड में बस गए और १९२७ में ब्रिटिश नागरिक बन गए। आपने नाटक, कविता और आलोचना तीनों क्षेत्रों में महान् ख्याति प्राप्त की है तथा आधुनिक युग के प्रायः सभी प्रसिद्ध लेखकों को प्रभावित किया है। वह स्वयं डन, एज़रा पाउंड तथा फ्रांसीसी प्रतीकवादी कवि लॉफोर्ज द्वारा सबसे अधिक प्रभावित हुए हैं।

यद्यपि आपका पहला काव्यसंग्रह 'प्रूफ़ॉक ऐंड अदर ऑब्जरवेशंस' १९१७ में प्रकाशित हुआ, तथापि आपको वास्तविक ख्याति 'दि वेस्टलैंड' (१९२२) द्वारा प्राप्त हुई। मुक्त छंद में लिखे तथा विभिन्न साहित्यिक संदर्भों एवं उद्धरणों से पूर्ण इस काव्य में समाज की तत्कालीन परिस्थिति का अत्यंत नैराश्यपूर्ण चित्र खीचा गया है। इसमें कवि ने जान बूझकर अनाकर्षक एवं कुरूप उपमानों का प्रयोग किया है जिससे वह पाठकों की भावना को ठेस पहुँचाकर उन्हें समाज की वास्तविक दशा का ज्ञान करा सके। उसके मत में संसार एक 'मरुभूमि' है—आध्यात्मिक दृष्टि से अनुर्वर तथा भौतिक दृष्टि से अस्त व्यस्त। इसके बाद की रचनाओं में हमें एक दूसरा ही दृष्टिकोण मिलता है जो धार्मिकता की भावना से पूर्ण है और जिसका चरम विकास 'ऐश वेन्सडे' (१९३०) और 'फ़ोर क्वार्टेट्स' (१९४४) में हुआ।

आलोचना के क्षेत्र में आपका सबसे महत्वपूर्ण कार्य १७वीं शताब्दी के लेखकों, विशेषकर डन तथा ड्राइडेन की खोई हुई प्रतिष्ठा का पुनःसंस्थापन तथा मिल्टन एवं शेली की भर्त्सना करना रहा है। दाते की भी आपने नई व्याख्या की है। वैसे तो आपने कई सौ आलोचनाएँ लिखी हैं, परंतु 'दि सैक्रेड वुड' (१९२०), 'दि यूस ऑव पोएट्री ऐंड दि यूस ऑव क्रिटिसिज़्म' (१९३३) तथा 'आन पोएट्री ऐंड पोएट्स' (१९५७) विशेष उल्लेखनीय है।

आपने अभी तक निम्नलिखित पाँच नाटकों की रचना की है: 'मर्डर इन दि कैथीड्रल' (१९३५), 'फ़ैमिली रियूनियन' (१९३९), 'दि काकटेल पार्टी' (१९५०), 'दि कान्फ़िडेन्शल क्लार्क' (१९५५), 'दि एल्डर स्टेट्समैन' (१९५८)। ये सभी पद्य में लिखे गए हैं एवं रंगमंच पर लोकप्रिय हुए हैं। 'मर्डर इन दि कैथीड्रल' की फ़िल्म भी बन चुकी है। [प्र० कु० स०]

इलियट, सर हेनरी मेयर्स प्रसिद्ध इतिहासज्ञ तथा लेखक। जन्म १८०८: पिता जॉन इलियट, कमांडेंट, वेस्ट-मिन्स्टर। १८२६ में भारत आगमन। कई जिलों के कलेक्टर आदि रहकर १८४७ में कंपनी सरकार के वैदेशिक सचिव। अत्यंत तीव्रबुद्धि तथा अध्ययनशील। बहुमूल्य राजकीय सेवाओं के लिये के० सी० बी० की उपाधि प्राप्त।

२३१ फ़ारसी और अरबी के इतिहासग्रंथों का संकलन एवं संपादन किया, किंतु केवल एक खंड प्रकाशित हो पाया। १८५३ में मृत्यु हुई। उनकी एकत्रित सामग्री का प्रोफ़ेसर जॉन डाउसन ने संपादन किया जो आठ खंडों में 'ए हिस्ट्री ऑव इंडिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स्' के नाम से १८६६ से १८७७ तक प्रकाशित हुई। अन्य कृतियाँ: 'ग्लोसरी ऑव इंडियन जुडीशल ऐंड रेवेन्यू टर्म्स' (१८४५, द्वि० सं० १८६०), 'मेमॉयर्स ऑव दी हिस्ट्री, फ़ोकलोर ऐंड डिस्ट्रिब्यूशन ऑव दी रेसेज ऑव नार्थवेस्टर्न प्रोविन्सेज' जिसे जॉन बीम्स ने संपादित करके १८६९ में प्रकाशित किया।

सं०ग्रं०—इलियट ऐंड डाउसन के प्रथम खंड; वाल्स डिक्शनरी ऑव यूनीवर्सल बायोग्रफ़ी; ; डिक्शनरी ऑव नेशनल बायोग्रैफ़ी। [प० श०]

इलीरिया संयुक्त राज्य (अमरीका) के ओहायो राज्य का एक प्रमुख नगर है। यह ब्लैक नदी के तट पर समुद्रतल से ७३० फुट की ऊँचाई पर बसा हुआ है। यह न्यूयार्क सेंट्रल रेलवे का एक प्रसिद्ध स्टेशन है तथा ईरी झील से आठ मील दक्षिण स्थित है। यहाँ एक हवाई अड्डा भी है। इलीरिया कृषीय प्रदेश के हृदयस्थल में स्थित होने के कारण खाद्यान्नों तथा फलों की बड़ी मंडी रहा है, परंतु आज यह बड़ा औद्योगिक केंद्र भी है जहाँ कृषीय मशीनें, भट्ठियाँ, नल, रासायनिक द्रव्य, चमड़े के सामान, मोजे, बनियाइनें तथा खिलौने आदि बनाए जाते हैं। यहाँ बहुत सी सांस्कृतिक संस्थाएँ हैं जो शिक्षा, समाजसेवा तथा मनोरंजन के कार्यों में संलग्न हैं। इनमें गेट्स मेमोरियल अस्पताल का नाम उल्लेखनीय है। यहाँ का कासकेड पार्क अपनी प्राकृतिक सुषमा के लिये प्रसिद्ध है। इसे सन् १८१७ ई० में हेमान इली ने बसाया था, अतः उन्ही के नाम पर नगर का नाम इलीरिया पड़ गया। सन् १८९२ ई० में इसे नगर की श्रेणी प्राप्त हो गई थी। सन् १९५६ में इसकी जनसंख्या ३६,५१० थी। [ले० रा० सि० क०]

इलेक्ट्रान परमाणु का एक अंग है। पदार्थ अणुओं (मालेक्यूलों) से बने हैं और अणु को टुकड़े टुकड़े करने से उन टुकड़ों में पदार्थ के गुण न रहेंगे (देखें **अणु**)। यह भी निश्चित है कि अणु स्वयं परमाणुओं (ऐटमों) से बने रहते हैं; उदाहरणतः, पानी के अणु में दो परमाणु हाइड्रोजन के और एक परमाणु आक्सिजन का रहता है। पहले विश्वास था कि परमाणु के टुकड़े नहीं किए जा सकते, परंतु २०वी शताब्दी के आरंभ में पक्का प्रमाण मिला कि परमाणु में भी कई प्रकार के कण होते हैं, जिनमें सबसे छोटा कण इलेक्ट्रान है। आधुनिक विचार के अनुसार प्रत्येक परमाणु में एक नाभिक (न्यूक्लियस) होता है और उसके चारों ओर एक या अधिक इलेक्ट्रान चक्कर लगाते रहते हैं। नाभिक में एक या अधिक प्रोटान रहते हैं; उसमें न्यूट्रान भी रहते हैं, जिनकी संख्या प्रायः प्रोटान के बराबर ही होती है। परमाणु के विविध अंगों में से इलेक्ट्रान का ही पता सर्वप्रथम चला।

ऋणाग्र किरणों के अध्ययन से संकेत मिला कि परमाणु से भी छोटे कण होते हैं (देखें **ऋणाग्र किरण**)। १९वीं शताब्दी के अंतिम भाग में इसपर बड़ा विवाद छिड़ा था कि ऋणाग्र किरणें वस्तुतः कणों की बौछार है अथवा तरंग। तब जे० जे० टामसन तथा अन्य वैज्ञानिकों के कार्य ने सिद्ध कर दिया कि ये ऐसे कणों की बौछार है जिनका द्रव्यमान हाइड्रोजन परमाणु के द्रव्यमान का कुल १/१,८३७ होता है। इन्हीं कणों को इलेक्ट्रान कहा गया। देखा गया कि ये अनेक पदार्थों से निकल सकते हैं और सब पदार्थों से निकले इलेक्ट्रान एक ही प्रकार के होते हैं।

सन् १९२७ तक सब प्रेक्षण इस कल्पना के अनुकूल थे कि इलेक्ट्रान नन्हें नन्हें कण हैं जिनपर वैद्युत आवेश रहता है। उनकी नाप का भी आभास मिल गया, परंतु १९२७ में पता चला कि इलेक्ट्रान किरणावलियों का मणियों के पृष्ठ पर व्याभंग (डिफ़्रैक्शन) होता है, जो तभी समझाया जा सकता है जब इलेक्ट्रान-किरणावलि तरंगजनित हो (देखें **इलेक्ट्रान व्याभंग**)। इस समस्या का हल क्वांटम-यांत्रिकी से प्राप्त हुआ। मोटे हिसाब से परिणाम यह है कि किसी भी पदार्थ के वर्णन के लिये उसमें कण तथा तरंग दोनों के गुणों का समावेश करना आवश्यक है। इलेक्ट्रान में आवेश भी है, द्रव्यमान भी, तरंगदैर्घ्य भी और घूर्णन (स्पिन) भी।

आवेश आदि—यदि हम दो विद्युदग्रों (इलेक्ट्रोडों) को एक ऐसी बंद नली में रखें जिसमें से हवा निकाल दी गई हो (दाब पारे का $१०^{-१}$ मि०मी०) तो, विभव (पोटेंशियल) लगाने पर, ऋणाग्र में से प्राय: एक नीली सी धारा निकलती दिखाई पड़ती है। यदि नली को चुंबकीय अथवा वैद्युत क्षेत्र में रखें तो यह धारा इधर उधर मोड़ी जा सकती है। मोड़ की दिशा से पता चलता है कि यह धारा ऋण आवेश (नेगेटिव चार्ज) के कणों की बनी हुई है। जैसा ऊपर बताया गया है, इन कणों को इलेक्ट्रान कहते हैं। वास्तव में, यदि इन क्षेत्रों का परिमाण ज्ञात हो तो, धारा का विक्षेप नापने से इन कणों के आवेश तथा द्रव्यमान ज्ञात हो सकते हैं। इन प्रयोगों का परिणाम यह है कि इलेक्ट्रान के आवेश आदि निम्नलिखित के अनुसार हैं :

आवेश (**आ**) $=(१\cdot६०२०३_{१}\pm०\cdot०००३४)\times१०^{-२०}$ निरपेक्ष वैद्युत चुंबकीय एकक,
$=(४\cdot८०२५_{१}\pm०\cdot००१०)\times१०^{-१०}$ निरपेक्ष स्थिर वैद्युत एकक,
विशिष्टावेश (**आ/द्र**) $=(१\cdot७५९२\pm०\cdot००५)\times१०^{७}$ नि० वैचु०/ग्रा,
$=(५\cdot२७६६\pm०\cdot००१५)\times१०^{१७}$ नि०स्थि०/ग्रा,
द्रव्यमान (**द्र**) $=(९\cdot१०६६_{०}\pm०\cdot००३२)\times१०^{-२८}$ ग्रा,
जहाँ **ग्रा**=ग्राम।

क्वांटम यांत्रिकी के विख्यात सिद्धांतों के अनुसार इलेक्ट्रान के साथ हम एक तरंग का भी अनुमान कर सकते हैं। यदि इलेक्ट्रान का संवेग **सं** है तो उसका तरंगदैर्घ्य **दै**=**प्ल/सं** होगा (**क्वांटम यांत्रिकी** देखें), जहाँ **प्ल** प्लांक का नियतांक है। अत: प्रकाश अथवा एक्सरश्मि की जगह हम इलेक्ट्रान का भी प्रयोग कर सकते हैं। इस आधार पर इलक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी बने हैं, जो वैज्ञानिक अन्वेषणों में बहुत लाभकारी सिद्ध हुए है (देखें **इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी**)। साधारण तालों की जगह इनमें वैद्युत तथा चुंबकीय क्षेत्रों का प्रयोग होता है।

वर्तमान शताब्दी के वैज्ञानिक तथा औद्योगिक विकास में इलेक्ट्रान का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। पिछले वर्षों में और भी बहुत से कण मिले हैं, पर वे अस्थायी हैं।

डिरैक समीकरण—इलेक्ट्रान के विवरण के लिये डिरैक समीकरण का उपयोग आवश्यक है (देखें **डिरैक**)। जैसा क्वांटम यांत्रिकी में कहा गया है, आपेक्षिकतानुकूल समीकरणों में सबसे सरल समीकरण निम्नलिखित है :

$$\left(\frac{१}{\text{प्र}^{२}}\frac{\text{त}^{२}}{\text{तस}^{२}}-\nabla^{२}+\frac{\text{द्र}^{२}\text{प्र}^{२}}{\text{हे}^{२}}\right)\text{सा}=०,$$

जहाँ **प्र**=प्रकाश का वेग; **स**=समय; **त/तय**=$\partial/\partial x$; **हे**=एक नियतांक; सा=ψ=इलेक्ट्रान का तरंगफलन (वेव फ़ंक्शन)।

यदि इस समीकरण को कारक **त/तस** और $\overrightarrow{\text{त/तय}}$ में एकघातीय (लीनियर) बनाएँ तो इसका रूप निम्नलिखित हो जायगा :

$$\left(\frac{१}{\text{प्र}}\frac{\text{त}}{\text{तस}}+\text{क:}_{\text{य}}\frac{\text{त}}{\text{तय}}+\text{क:}_{\text{र}}\frac{\text{त}}{\text{तर}}+\text{क:}_{\text{ल}}\frac{\text{त}}{\text{तल}}-\text{श्र}\,\frac{\text{द्रप्र}}{\text{हे}}\text{ख:}\right)\text{सा}=०,$$

जहाँ **श्र**$=\sqrt{(-१)}$।

समीकरण (२) से पुन: (१) पाने के लिये यह आवश्यक है कि $\text{क:}_{\text{य}}$, $\text{क:}_{\text{र}}$, $\text{क:}_{\text{ल}}$, **ख:** साधारण संख्याएँ नहीं, किंतु प्रबंधिनियां (मैट्रिसें) हों जो निम्नलिखित दिक्परिवर्तन (कम्युटेशन) नियम का प्रतिपालन करें :

$$\left.\begin{array}{l}\text{क:}_{\text{य}}^{२}=\text{क:}_{\text{र}}^{२}=\text{क:}_{\text{ल}}^{२}=\text{ख:}^{२}=१,\\ \text{क:}_{\text{य}}\text{क:}_{\text{र}}+\text{क:}_{\text{र}}\text{क:}_{\text{य}}=\text{क:}_{\text{र}}\text{क:}_{\text{ल}}+\text{क:}_{\text{ल}}\text{क:}_{\text{र}}=\text{क:}_{\text{ल}}\text{क:}_{\text{य}}+\text{क:}_{\text{य}}\text{क:}_{\text{ल}}=०\end{array}\right\}\quad(३)$$

तब **सा** को भी स्तंभ-प्रबंधिनी (कॉलम मैट्रिक्स) लेना होगा :

$$\text{सा}=\begin{pmatrix}\text{सा}_{१}\\ \text{सा}_{२}\\ \text{सा}_{३}\\ \text{सा}_{४}\end{pmatrix}\quad . \; . \; . \quad(४)$$

रेखात्मक समीकरण (२) का समावेश करते समय डिरैक ने जो तर्क दिए थे वे अब पूर्णतया न्यायसंगत नहीं माने जाते, परंतु इसमें संदेह नहीं कि इलेक्ट्रान के लिये (२) ही उचित समीकरण है। भौतिकज्ञों को आजकल इसकी सत्यता में इतना ही गंभीर विश्वास है जितना मैक्सवेल के विद्युच्-चुंबकीय समीकरणों की सत्यता में।

प्रबंधिनियाँ $\text{क:}_{\text{य}}$, $\text{क:}_{\text{र}}$, $\text{क:}_{\text{ल}}$, **ख:** प्रकट रूप से इस प्रकार लिखी जा सकती हैं :

$$\text{क:}_{\text{य}}=\begin{pmatrix}० & ० & ० & १\\ ० & ० & १ & ०\\ ० & १ & ० & ०\\ १ & ० & ० & ०\end{pmatrix},\quad \text{क:}_{\text{र}}=\begin{pmatrix}० & ० & ० & -\text{श्र}\\ ० & ० & \text{श्र} & ०\\ ० & -\text{श्र} & ० & ०\\ \text{श्र} & ० & ० & ०\end{pmatrix},$$

$$\text{क:}_{\text{ल}}=\begin{pmatrix}० & ० & १ & ०\\ ० & ० & ० & -१\\ १ & ० & ० & ०\\ ० & -१ & ० & ०\end{pmatrix},\quad \text{ख:}=\begin{pmatrix}१ & ० & ० & ०\\ ० & १ & ० & ०\\ ० & ० & -१ & ०\\ ० & ० & ० & -१\end{pmatrix}\quad(५)$$

प्रत्यक्ष है कि समीकरण (२) वास्तव में चार युगपत (साइमल्टेनियस) समीकरणों के तुल्य है। **सा** के घटक (कंपोनेंट) परावर्तन (रिफ़्लेक्शन) तथा घूर्णन (रोटेशन) रूपांतरों के प्रति किसी बहुदिष्ट (टेंसर) की तरह आचरण नहीं करते, किंतु आवतकों (स्पिनरों) की तरह करते हैं।

ग:-प्रबंधिनियाँ और संकेतन (लेखनपद्धति)—यदि $\text{क:}_{\text{य}}$, $\text{क:}_{\text{र}}$, $\text{क:}_{\text{ल}}$, **ख:** की जगह हम $\text{ग:}^{\text{म}}$ (**म**=१, २, ३) का समावेश करें, जहाँ

$$\text{ग:}^{०}=\text{ख:},\ \text{ग:}^{१}=\text{ख:क:}_{\text{य}},\ \text{ग:}^{२}=\text{ख:क:}_{\text{र}},\ \text{ग:}^{३}=\text{ख:य:}_{\text{ल}},\qquad(६)$$

तो (२) को **श्रख:** से गुणा करने पर उसे इस प्रकार लिख सकते है :

$$\text{श्रग:}^{\text{म}}\frac{\text{तस}}{\text{तय}^{\text{म}}}+\frac{\text{द्रप्र}}{\text{हे}}\text{सा}=०।\quad . \; . \quad(७)$$

यहाँ अनुबंधनों (सफ़िक्सों) पर योग का प्रचलित नियम (समेशन कनवेंशन) बरता गया है : यदि कोई अनुबंध एक बार नीचे आए और एक बार ऊपर तो उसपर योग होगा। हम विसर्गयुक्त अनुबंधों का ० से ३ तक मान देने के लिये प्रयोग करेंगे और साधारण अनुबंधों को १ से ३ तक मान देने के लिये। (७) में

$$\text{य}^{०}=\text{प्रस},\ \text{य}^{१}=\text{य},\ \text{य}^{२}=\text{र},\ \text{य}^{३}=\text{ल}।\quad . \; . \quad(८)$$

अनुबंधों को ऊपर नीचे मापनी (मेट्रिक) $\text{ज}_{\text{मन}}$ की सहायता से करेंगे :

$$\text{ज}_{००}=१,\ \text{ज}_{११}=\text{ज}_{२२}=\text{ज}_{३३}=-१,\ \text{ज}_{\text{मन}}=०\ (\text{म}\neq\text{न})।\qquad(९)$$

समीकरणों को सरल बनाने के लिये हम **हे** और **प्र** दोनों को इकाई के बराबर मान लेंगे। तब (७) हो जायगा :

$$\text{श्रग:}^{\text{म}}\frac{\text{तसा}}{\text{तय}^{\text{म}}}+\text{द्रसा}=०।\quad . \; . \; . \quad(१०)$$

निरूपण (५) से स्पष्ट है कि **ख:**, $\text{क:}_{\text{य}}$ इत्यादि हर्मीटियन प्रबंधिनियाँ हैं (**क्वांटम यांत्रिकी** देख) :

$$\text{ख:}^{*}=\text{ख},\ \text{क:}_{\text{य}}^{*}=\text{क:}_{\text{य}},\ \text{क:}_{\text{र}}^{*}=\text{क:}_{\text{र}},\ \text{क:}_{\text{ल}}^{*}=\text{क:}_{\text{ल}}।\qquad(११)$$

(६) से परिभाषित ग:-प्रबंधिनियों में **ग:** हर्मीटियन है, किंतु $\text{ग:}^{१}$, $\text{ग:}^{२}$, $\text{ग:}^{३}$ विपरीत हर्मीटियन (एँटी-हर्मीटियन) हैं :

$$\text{ग:}^{०*}=\text{ग:}^{०},\ \text{ग:}^{१*}=-\text{ग:}^{१},\ \text{ग:}^{२*}=-\text{ग:}^{२},\ \text{ग:}^{३*}=-\text{ग:}^{३}।\qquad(१२)$$

$\text{ग:}^{\text{म}}$ के दिक्परिवर्तन नियम हैं :

$$\text{ग:}^{\text{म}}\text{ग:}^{\text{न}}+\text{ग:}^{\text{न}}\text{ग:}^{\text{म}}=२\text{ज}^{\text{मन}},\quad . \; . \; . \quad(१३)$$

जहाँ $\text{ज}^{\text{मन}}$ प्रबंधिनी $\text{ज}_{\text{मन}}$ की प्रतिलोम (इनवर्स) है।

यदि हम (१०) पर बाईं ओर से कारक

$$-\text{श्रग:}^{\text{म}}\frac{\text{त}}{\text{तय}^{\text{म}}}+\text{द्र}$$

द्वारा क्रिया करें और (१३) बरतें तो हम पाएँगे कि **सा** के सब घटक दूसरे घात (आर्डर) के समीकरण (१) को मानते हैं।

आपेक्षिकतानुकूल अचरता (रिलेटिविस्टिक इनवेरियेंस)—समीकरण (१०) को आपेक्षिकतानुकूल सिद्ध करने के लिये हम दिखाएँगे कि यदि हम $\text{य}^{\text{म}}$ का रूपांतर

$$य^{म'} = क^{म}_{न}\, य^{न} \quad . . . (१४)$$

$$ज_{मन}\, क^{म}_{क:}\, क^{न}_{ख:} = ज_{क:ख:} \quad . . . (१५)$$

करें तो साथ ही हम एक ऐसी प्रबंधिनी, ला:, भी ज्ञात कर सकते है जो नए अक्षों के तरंगफलन सा′ को पुराने फलन से समीकरण

$$सा' = ला:सा \quad . . . (१६)$$

द्वारा संबंधित करे और सा′ वैसा ही समीकरण संतुष्ट करे जैसा सा,

अर्थात् $$अग:^{म}\frac{तसा'}{तय^{म'}} + ब्रसा' = ०। \quad . . . (१७)$$

यदि (१०) में हम रूपांतरण (१४) और (१६) करें तो वह

$$अक^{म}_{न}\, ग:^{न}\frac{त}{तय^{म'}}(ला:^{-१} सा') + ब्रला:^{-१} सा' = ०$$

हो जायगा। या

$$अक^{म}_{न}(ला:ग:^{न}ला^{-१})\frac{तसा'}{तय^{म'}} + ब्रसा' = ०$$

(ला: द्वारा बाईं ओर को गुणा करने पर)।

यहाँ हमने यह माना है कि ला: निर्देशांक $य^{म'}$ पर निर्भर नहीं है। यह समीकरण (१७) के समान तब होगा जब

$$क^{म}_{न}\, ला:ग:^{न}ला:^{-१} = ग:^{म}। \quad . . . (१८)$$

$क_{न}^{क:}$ से गुणा और (१५) का उपयोग करने पर यह हो जायगा

$$ला:ग:^{क:}ला:^{-१} = ग:^{ख:}\, क_{ख:}^{क:}। \quad . . . (१९)$$

यदि (१४) की जगह सूक्ष्म रूपातर (इनफिनिटेसिमल रूपांतर)

$$क^{म}_{न} = ड^{म}_{न} + ह^{म}_{न}, \quad . . . (२०)$$

$$ह^{मन} = -ह^{नम},$$

करें तो ला: को तुरंत ही ज्ञात कर सकते है। ऐसे रूपांतरो के लिये हम ला: को यों लिख सकते है:

$$ला: = १ + \frac{१}{२}ह_{मन}\, टा^{मन}, \quad . . . (२१)$$

$$टा^{मन} = -टा^{नम}।$$

तब (१९) से

$$\frac{१}{२}ह_{मन}(टा^{मन}ग:^{क:} - ग:^{क:}टा^{मन}) = ग:^{ख:}ह_{ख:}^{क:},$$

अर्थात् $$\frac{१}{२}ह_{मन}(टा^{मन}ग:^{क:} - ग:^{क:}टा^{मन} - ज^{क:न}ग:^{म} + ज^{क:म}ग:^{न}) = ०,$$

अर्थात् $$टा^{मन}ग:^{क:} - ग:^{क:}टा^{मन} = ज^{क:न}ग:^{म} - ज^{क:म}ग:^{न} \quad (२२)$$

यदि हम $$टा^{मन} = \frac{१}{४}(ग:^{म}ग:^{न} - ग:^{न}ग:^{म}) \equiv \frac{१}{२}ग:^{[मन]} \quad (२३)$$

रख दें तो (२२) संतुष्ट हो जायगा। क्योंकि सतत रूपांतर बहुत से सूक्ष्म रूपांतरों को जोड़कर बनाए जा सकते है, इसलिये स्पष्ट है कि डिरैक समीकरण (१०) आपेक्षितानुकूल रूपांतर (१४) के प्रति अचर है। यह भी स्पष्ट है कि सा का रूपांतर (१६) बहुदिष्टो के रूपांतर से भिन्न है।

बहुदिष्ट (टेंसर)—समीकरण (१०) से हम सा के हर्मीटियन संबंध, सा*, के लिये समीकरण ज्ञात कर सकते है। (१२) का उपयोग करने पर

$$-अ\frac{तसा^*}{तय^०}ग:^० + अ\sum_{क=१}^{३}\frac{तसा^*}{तय^{क}}ग:^{क} + ब्रसा^* = ०$$

वह होगा। यदि दाईं ओर ग:° से गुणा करें और सा* की जगह

$$सा^† = सा^*\, ग:^० \quad . . . (२४)$$

काम में लाएँ, तो सा† यह समीकरण संतुष्ट करेगा:

$$-अ\frac{तसा^†}{तय^{म}}ग:^{म} + ब्रसा^† = ०। \quad . . . (२५)$$

यदि रूपांतर (१४) और (१६) करने पर सा†

$$सा^{†'} = सा^†\, ला:^{-१} \quad . . . (२६)$$

हो जाय, तो समीकरण (२५) अचर रहेगा।

(१६) और (२६) को गुणा करने पर हम देखते हैं कि

$$सा^{†'}सा' = सा^†सा। \quad . . . (२७)$$

अतः सा†सा अचर है।

यदि (१८) की बाईं ओर को सा†′ द्वारा और दाईं ओर को सा′ द्वारा गुणा करें तथा (१६) और (२६) के अनुसार ला:⁻¹सा′ की जगह सा और सा†′ ला: की जगह सा† रख दें तो हमें मिलेगा:

$$क^{म}_{न}\, सा^†ग:^{न}सा = सा^{†'}ग:^{म}सा'।$$

इससे स्पष्ट है कि $सा^†ग:^{म}सा$ एकदिष्ट है।

$ग:^{र:}$ के लिये वैसे ही संबंध (१८) को

$$क^{र:}_{स:}\, ला:ग:^{स:}ला:^{-१} = ग:^{र:}$$

से गुणा करने पर हमें मिलेंगे:

$$क^{र:}_{स:}\, क^{म}_{क:}\, ला:ग:^{स:}ग:^{क:}ला:^{-१} = ग:^{र:}ग:^{म}।$$

इससे विदित है कि (२८) की तरह फिर

$$क^{र:}_{क:}\, क^{म}_{ख:}\, सा^†ग:^{क:}ग:^{ख:}सा = सा^{†'}ग:^{र:}ग:^{म}सा' \quad (२९)$$

अतः $सा^†ग:^{क:}ग:^{ख:}सा$ दूसरी श्रेणी (रैंक) का बहुदिष्ट है। उसे हम एक सममित (सिमेट्रिकल) और एक असममित (ऐंटीसिमेट्रिकल) भागों में विभाजित कर सकते हैं:

$$ग:^{क:}ग:^{ख:} = \frac{१}{२}(ग:^{क:}ग:^{ख:} + ग:^{ख:}ग:^{क:}) + \frac{१}{२}(ग:^{क:}ग:^{ख:} - ग:^{ख:}ग:^{क:})$$

$$= ज^{क:ख:} + ग^{[क:ख:]} \quad . . . (३०)$$

[देखिए (१३) और (२३)]। इनमें $ज^{क:ख:}$ तुच्छ है; अतः $सा^†ग:^{[ख:क:]}सा$ ही महत्वपूर्ण असममित बहुदिष्ट है।

भौतिकी में ये बहुदिष्ट अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इसलिये हम इस प्रकार की सब संभावनाओं को यहाँ लिखे देते हैं:

अदिष्ट $श = सा^†सा$,

एकदिष्ट $भ^{म} = सा^†ग:^{म}सा$,

दूसरी श्रेणी का बहुदिष्ट $मा^{मन} = असा^†ग:^{[मन]}सा$,

तीसरी श्रेणी का बहुदिष्ट (या मिथ्या एकदिष्ट) $बा^{मनच} = सा^†ग:^{[मनच]}सा$

चौथी श्रेणी का बहुदिष्ट (या मिथ्यादिष्ट)

$$पा^{मनचछ} = असा^†ग:^{[मनचछ]}सा। \quad (३१)$$

$$ग:^{[मनच]} = \frac{१}{६}(ग:^{म}ग:^{न}ग:^{च} - ग:^{न}ग:^{म}ग:^{च} + ग:^{न}ग:^{च}ग:^{म} - ग:^{च}ग:^{न}ग:^{म} + ग:^{च}ग:^{म}ग:^{न} - ग:^{म}ग:^{च}ग:^{न}),$$

$$ग:^{[मनचछ]} = \frac{१}{२४}(ग:^{म}ग:^{न}ग:^{च}ग:^{छ} - ग:^{न}ग:^{म}ग:^{च}ग:^{छ} + इत्यादि)$$

$$\sim ग:^{(५)}।$$

विद्युच्चुंबकीय अंतःप्रभाव—यदि इलेक्ट्रान और विद्युच्चुंबकीय क्षेत्र के बीच अंतःप्रभाव भी (१०) में संमिलित करें तो वह

$$अग:^{म}\left(\frac{त}{तय^{म}} + अआका_{म}\right)सा + ब्रसा = ०, \quad . . . (३२)$$

अर्थात् $$अग:^{म}\frac{तसा}{तय^{म}} + ब्रसा = आग:^{म}का_{म}सा \quad . . . (३३)$$

हो जायगा। यहाँ $का_{म}$ विद्युच्चुंबकीय क्षेत्र के विभव है:

$$फा_{मन} = \frac{तका_{न}}{तय^{म}} - \frac{तका_{म}}{तय^{न}}। \quad . . . (३४)$$

यदि (३३) पर बाईं ओर से $\left(-अग:^{न}\frac{त}{तय^{न}} + ब्र\right)$ द्वारा क्रिया करें तो वह हो जायगा

$$(\square^{२} + ब्र^{२})सा = आ\left(-अग:^{न}\frac{त}{तय^{न}} + ब्र\right)ग:^{म}का_{म}सा$$

$$= आ\left[-अग:^{न}ग:^{म}\left(\frac{तका_{म}}{तय^{न}}सा + का_{म}\frac{तसा}{तय^{न}}\right) + ब्रग:^{म}का_{म}सा\right]$$

$$= आका_{म}\left[-अ\left(२ज^{मन} - ग:^{न}ग:^{म}\right)\frac{तसा}{तय^{न}} + ब्रग:^{म}सा\right]$$

$$-\text{अआ}\left(\text{ज}^{\text{मन}}+\text{ग:}^{[\text{मन}]}\right)\frac{\text{तका}_{\text{न}}}{\text{तय}^{\text{म}}}\text{सा}\ [\text{देखें (३०)}]$$

$$=-२\,\text{अआक}^{\text{म}}\frac{\text{तसा}}{\text{तय}^{\text{म}}}+\text{आका}_{\text{म}}\text{ग:}^{\text{न}}\left(\text{अग:}^{\text{म}}\frac{\text{तसा}}{\text{तय}^{\text{न}}}+\text{इसा}\right)$$

$$-\text{अआ}\frac{\text{तका}_{\text{म}}}{\text{तय}_{\text{म}}}\text{सा}-\tfrac{१}{२}\,\text{अआग:}^{[\text{मन}]}\,\text{फा}_{\text{मन}}\,\text{सा}$$

$$=-२\text{अआका}^{\text{म}}\frac{\text{तसा}}{\text{तय}^{\text{म}}}+\text{आ}^{२}\text{का}_{\text{न}}\,\text{ग:}^{\text{न}}\text{का}_{\text{म}}\,\text{ग:}^{\text{म}}\text{सा}-\text{अआ}\frac{\text{तका}_{\text{म}}}{\text{तय}_{\text{म}}}$$

$$+\tfrac{१}{२}\text{अआग:}^{[\text{मन}]}\text{फा}_{\text{मन}}\,\text{सा}\qquad[\text{देखें (३३)}]$$

$$=-२\,\text{अआका}^{\text{म}}\frac{\text{तसा}}{\text{तय}^{\text{म}}}+\text{आ}^{२}\text{का}_{\text{म}}\text{का}^{\text{म}}\,\text{सा}-\text{अआ}\frac{\text{तका}_{\text{म}}}{\text{तय}_{\text{म}}}\text{स}$$

$$+\tfrac{१}{२}\,\text{ग:}^{[\text{मन}]}\,\text{फा}_{\text{मन}}\,\text{सा}\qquad(३५)$$

(३५) में दाईं ओर पहले तीन पद ऐसे हैं जो आपेक्षिकतानुकूल समीकरण

$$\left(\frac{\text{त}}{\text{तय}_{\text{म}}}+\text{अआका}_{\text{म}}\right)\left(\frac{\text{त}}{\text{तय}_{\text{म}}}+\text{अआका}^{\text{म}}\right)\text{सा}+\text{द्र}^{२}\,\text{सा}=०\qquad(३६)$$

से भी प्राप्त हो सकते हैं। (३५) के प्रथम पद को हम आवेश अंतःप्रभाव कह सकते हैं। द्वितीय पद दूसरे घात का है। यदि हम प्रतिबिंब

$$\frac{\text{तका}_{\text{म}}}{\text{तय}_{\text{म}}}=०$$

लगाएँ तो तृतीय पद शून्य हो जायगा। चतुर्थ पद एक नया प्रभाव निर्दिष्ट करता है जो (३६) से नहीं आ सकता। यह विद्युच्चुंबकीय क्षेत्र की तीव्रता, $\text{फा}_{\text{मन}}$, का समानुपाती है। अतः हम इसको इलेक्ट्रान के चुंबकीय घूर्ण (मैगनेटिक मोमेंट) के साथ अंतःप्रभाव का अर्थ दे सकते हैं। यह सच है कि इस पद में न केवल चुंबकीय, किंतु वैद्युत क्षेत्र भी संमिलित है। चुंबकीय और वैद्युत क्षेत्रों का साथ साथ आना आपेक्षिकतानुकूल सिद्धांत का अनिवार्य फल है। डिरैक समीकरण में यह गुण है कि उससे स्वयं ही इलेक्ट्रान का चुंबकीय घूर्ण भी निकल आता है।

समाप्ति—इलेक्ट्रान के गुण-धर्म-वर्णन के लिये डिरैक समीकरण का उपयोग अनिवार्य है। आजकल जितने परीक्षण हुए हैं सबके परिणाम इस समीकरण के अनुकूल हैं। दुबारा क्वांटीकरण पर (**क्वांटम यांत्रिकी** देखें) यह समीकरण अत्यंत शक्तिशाली हो जाता है।

सं०ग्रं०—इसी विश्वकोश में क्वांटम यांत्रिकी शीर्षक लेख; डब्ल्यू० पाउली तथा जीमन, फ़रहांडलिगन मार्टिनस नाइहोफ़, पृ० ३१-४३ (१६३५); हांडबुख़ डर फ़िज़ीक, द्वितीय श्रेणी, खंड २४, पृ० २५१-२७२ (एडवर्ड ब्रदर्स, मिशिगन, द्वारा पुनर्मुद्रित, १६४७)। [वा०]

इलेक्ट्रान नली

एक ऐसी युक्ति है जो पूर्ण अथवा आंशिक शून्य में इलेक्ट्रान धारा का नियंत्रण करती है। इस प्रकार की नलियों का उपयोग रेडियो-आवृत्ति-शक्ति (रेडियो फ़्रीक्वेंसी पावर) उत्पन्न करने में किया जाता है जिसका उपयोग रेडियो संग्राही (रिसीवर) तथा रेडियो प्रेषी (ट्रैंसमिटर) में किया जाता है। इन नलियों का उपयोग क्षीण संकेतों के प्रवर्धन (ऐंप्लिफ़िकेशन), ऋजुकरण (रेक्टिफ़िकेशन) तथा परिचयप्राप्तकरण (डिटेक्शन) में होता है। यह कहा जा सकता है कि साधारण इलेक्ट्रान नली की खोज ने ही रेडियो टेलीफोन, ध्वनिचित्र (बोलता सिनेमा), दूरवीक्षण (टेलिविज़न), रेडियो आदि को जन्म दिया है।

इलेक्ट्रान नलियाँ कई प्रकार की होती हैं। सरलतम नली द्विध्रुवी (डाइओड) है, फिर त्रिध्रुवी (ट्राइओड), चतुर्ध्रुवी (टेट्रोड), पुंजशक्ति-नली (बीम पावर ट्यूब), पंचध्रुवी (पेंटोड), षड्ध्रुवी इत्यादि हैं। इनके अतिरिक्त क्लाइस्ट्रान, मैगनाट्रान, प्रगामी तरंग नली (ट्रैवेलिंग वेव ट्यूब) इत्यादि विशेष प्रकार की नलियाँ भी हैं जिनका प्रयोग उच्च आवृत्ति पर होता है। ऋणाग्र किरण नलियों (कैथोड रे ट्यूब्स) में इलेक्ट्रान पुंज का प्रयोग प्रकाश उत्पन्न करने में होता है और इस प्रकार वैद्युत शक्ति से दृष्टि संबंधी (विज़ुअल) परिणाम प्राप्त हो सकते हैं। साधारण ऋणाग्र किरण नली का विशेष रूप ओर्थिकान नली है जिसका प्रयोग दूरवीक्षण में किया जाता है। प्रकाशविद्युत् नलियों (फ़ोटो इलेक्ट्रिक ट्यूब) में प्रकाश का प्रयोग वैद्युत प्रभाव उत्पन्न करने में किया जाता है। कभी कभी निर्वात नलियों में थोड़ी सी गैस छोड़ दी जाती है जिससे उनके लाक्षणिक (कैरैक्टरिस्टिक) वक्रों में परिवर्तन हो जाय और वे कुछ विशिष्ट कार्यों में लाई जा सकें।

साधारणतया इलेक्ट्रान नली धातु के दो अथवा अधिक विद्युदग्रों (इलेक्ट्रोड्स) की बनी होती है जो काच अथवा धातु के बने निर्वात कक्ष में बंद रहते हैं। ध्रुव एक दूसरे से पृथक्कृत होते हैं। एक ध्रुव को ऋणाग्र (कैथोड) कहते हैं जिसका कार्य इलेक्ट्रानों का उत्पादन है। दूसरे ध्रुव को धनाग्र (ऐनोड) अथवा पट्टिका (प्लेट) कहते हैं जो ऋणाग्र की अपेक्षा धन विभव पर रखा जाता है। इस प्रकार इलेक्ट्रान नली में स्थापित विद्युत्क्षेत्र में इलेक्ट्रान ऋणात्मक ध्रुव से धनात्मक ध्रुव की ओर चलते हैं और ध्रुवों के अंतर्गत एक इलेक्ट्रान धारा बहने लगती है। एक साधारण परिपथ (सर्किट), जिसमें ऐसी नली का उपयोग किया गया है, आकृति १ में दिखाया गया है। बाह्य परिपथ में इलेक्ट्रान धनाग्र से विभवस्रोत (वोल्टेज सोर्स) से होकर ऋणाग्र में जाते हैं।
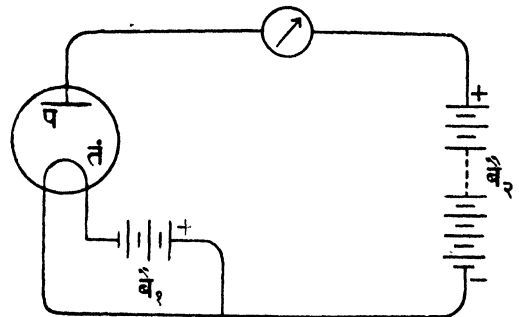
चित्र १

ऐसी समान विशिष्टतावाली नली, जिसमें दो ध्रुव होते हैं, द्विध्रुवी कहलाती है। कुछ नलियों में एक और ध्रुव लगा देते हैं जिसे ग्रिड कहते हैं। ग्रिड-विभव का उचित नियंत्रण करने पर नली में विद्युद्धारा का नियंत्रण एवं विशेष परिवर्तन किया जा सकता है। पहले पहल प्रयोग में लाई जानेवाली नलियों में इस ध्रुव की अपनी एक विशेष बनावट थी और इसी बनावट के कारण इसे ग्रिड कहते हैं। आजकल प्रयोग में लाई जानेवाली नलियों में इस प्रकार के अनेक ध्रुव होते हैं और इन नलियों का नाम इन ध्रुवों की संख्या पर पड़ जाता है, जैसे त्रिध्रुवी जिसमें तीन ध्रुव होते हैं, चतुर्ध्रुवी जिसमें चार ध्रुव होते हैं, पंचध्रुवी जिसमें पाँच ध्रुव होते हैं, इत्यादि।

अधिकतर इलेक्ट्रान प्राप्त करने के लिये ऋणाग्र को तप्त किया जाता है। इस प्रकार की नलियों को ऊष्मायनिक नलियाँ (थर्मिआयोनिक ट्यूब) (देखें **ऊष्मायन**) कहते हैं। परंतु कुछ विशेष प्रकार की ऐसी नलियाँ होती हैं जिनको तप्त करने की आवश्यकता नहीं होती। उनको शीत ऋणाग्र नलियाँ (कोल्ड कैथोड ट्यूब) कहते हैं, उदाहरण के लिये गैस फोटो नली (गैस फोटो ट्यूब), विभव नियंत्रक नली (वोल्टेज रेग्युलेटर ट्यूब) इत्यादि का उल्लेख किया जा सकता है।

द्विध्रुवी—प्रथम ऊष्मायनिक नली को फ्लेमिंग ने सन् १६०४ में बनाया था जिसे द्विध्रुवी कहते हैं। जैसा पहले ही लिखा जा चुका है, द्विध्रुवी में दो ध्रुव होते हैं। एक ध्रुव इलेक्ट्रान का निस्सारण करता है और दूसरा पहले ध्रुव की अपेक्षा धन विभव पर रखा जाता है, तब विद्युद्धारा प्रवाहित होती है। परंतु यह धारा एकदिश (यूनि-डाइरेक्शनल) होती है।

यदि पट्टिका को ऋणाग्र की अपेक्षा धन विभव पर रखा जाय तो, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, इलेक्ट्रान धारा प्रवाहित हो जाती है। परंतु यदि विभव को दूसरी दिशा में लगाया जाय अर्थात् यदि पट्टिका ऋणाग्र की अपेक्षा ऋण विभवपर हो, तो इलेक्ट्रान धारा एकदम नहीं प्रवाहित होगी,

क्योंकि बिना पट्टिका को गरम किए पट्टिका से इलेक्ट्रान नही निकलेंगे। इस कारण नली में इलेक्ट्रान धारा केवल एक ही दिशा में प्रवाहित की जा सकती है। यदि प्रत्यावर्ती (ऑल्टरनेटिंग) धारा के स्रोत को एक द्विध्रुवी और विद्युतीय भार (इलेक्ट्रिकल लोड) के, जैसे किसी प्रतिरोधक (रेजिस्टर) के, श्रेणीसंबंध (कबिनेशन) के आर पार लगाया जाय तो धारा केवल एक ही दिशा मे बहेगी और प्रत्यावर्ती के आधे चक्र में कोई धारा नही प्रवाहित होगी। इन दशाओं मे नली प्रत्यावर्ती धारा के बदले विद्युत् को भार में केवल एक दिशा में चलने देती है।

चित्र २ में पट्टिक धारा तथा पट्टिक वोल्टता का सबंध दिखाया गया है। पहले पट्टिक धारा धीरे धीरे बढ़ती है, फिर कुछ शीघ्रता से और
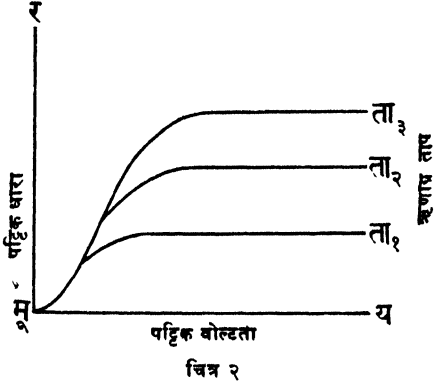
चित्र २

अंत में स्थिर हो जाती है, जिसे संतृप्त धारा (सैचुरेटेड करेंट) कहते हैं। यह संतृप्ति अंतरण-आवेश (स्पेस चार्ज) के कारण हो जाती है, जो भटके हुए इलेक्ट्रानों के कारण ऋणाग्र के निकट प्रकट हो जाता है।

द्विध्रुवी में पट्टिक धारा निम्नलिखित समीकरण द्वारा प्रदर्शित की जा सकती है :

$$\text{धा}_{\text{छ}} = \text{क}\,\text{वो}_{\text{छ}}^{\frac{3}{2}} \quad \ldots \quad (१)$$

इसमे धा$_{\text{छ}}$=द्विध्रुवी मे पट्टिक धारा; क=वह नियतांक जो नली की ज्यामिति (आकृति) पर निर्भर रहता है; वो$_{\text{छ}}$=द्विध्रुवी की पट्टिक वोल्टता।

द्विध्रुवी के उपयोग—जैसा ऊपर बताया जा चुका है, द्विध्रुवी में विद्युद्धारा केवल एक ही दिशा में प्रवाहित होती है। इस कारण इस नली का उपयोग प्रत्यावर्ती धारा के ऋजुकरण में किया जाता है। इससे प्रत्यावर्ती धारा दिष्ट धारा (डाइरेक्ट करेंट) में परिवर्तित हो जाती है। इसको 'अर्ध तरंग ऋजुकरण' (हाफ़ वेव रेक्टिफ़िकेशन) कहते है। उन द्विध्रुवियो को, जो उच्च विभव-प्रत्यावर्ती धारा के ऋजुकरण मे प्रयुक्त होते हैं, केनाट्रान कहते है।

गैसयुक्त द्विध्रुवी का उपयोग शक्तिशाली धारा के ऋजुकरण में किया जाता है, उदाहरणतः संचायक बैटरियो (एक्युम्युलेटर्स) को आवेष्टित (चार्ज) करने में "टंगर" ऋजुकारी एक गैसयुक्त ऋजुकारी है।

त्रिध्रुवी—लीबेन ने जर्मनी में और ली द फ़ॉरेस्ट ने अमरीका में एक महत्वपूर्ण खोज की। उन्होंने द्विध्रुवी के दोनों ध्रुवों के मध्य एक अतिरिक्त ध्रुव लगा दिया और यह पाया कि इस प्रकार की नली, जिसे त्रिध्रुवी कहते हैं, बहुत ही लाभकारी है।

इस तृतीय ध्रुव की अनुपस्थिति में, जैसा पहले बताया जा चुका है, नली में उष्मायनिक धारा तभी प्रवाहित होती है जब धनाग्र ऋणाग्र की अपेक्षा धन विभव पर होता है। इसको पट्टिक धारा कहते है। यह पट्टिक वोल्टता के साथ साथ तब तक बढ़ती है जब तक अंतरण-आवेश प्रकट नहीं होता। उसके प्रकट हो जाने पर यह स्थिर हो जाती है, अर्थात् पट्टिक धारा पट्टिक वोल्टता के बढ़ने पर नहीं बढ़ती। जब तीसरे ध्रुव को नली के दो ध्रुवों के बीच में लगा दिया जाता है तो वह इस "अंतरण-आवेश" का नियंत्रण करने लग जाता है। इस कारण ग्रिड को अंतरण-आवेश-नियंत्रक कह सकते है। यदि ग्रिड विभव ऋणाग्र विभव से कम रहता है तो ग्रिड इलेक्ट्रानों को पीछे की ओर फेंक देती है और पट्टिक धारा कम हो जाती है। यदि ग्रिड विभव ऋणाग्र विभव से अधिक रहता है तो पट्टिक धारा बढ़ जाती है। फिर, पट्टिक धारा में ग्रिड धारा अथवा ग्रिड वोल्टता के साथ का परिवर्तन एक अन्य लाभकारी गुण है। ग्रिड धारा अथवा ग्रिड वोल्टता में थोड़ा ही परिवर्तन पट्टिक धारा में पर्याप्त परिवर्तन ला सकता है। इस युक्ति का उपयोग प्रवर्धकों मे करते है।

पट्टिक धारा तीन स्वतंत्र चरो (इंडिपेंडेंट वेरियेबुल्स) पर निर्भर रहती है। वे हैं पट्टिक वोल्टता, ग्रिड वोल्टता तथा ऋणाग्र को गरम करने के लिये प्रयुक्त वोल्टता। जब उष्मा वोल्टता को इतना अधिक बढ़ा दिया
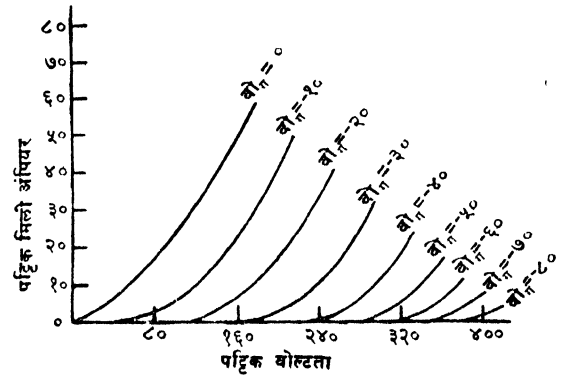
चित्र ३

जाता है कि पर्याप्त उत्सर्जन होने लगे, तो धारा केवल अंतरण-आवेश से नियंत्रित होती है। तब पट्टिक वोल्टता केवल दो स्वतंत्र चरो का फलन (फ़ंक्शन) रह जाती है। वे ह वो$_{\text{छ}}$ और वो$_{\text{ग}}$ (ग्रिड वोल्टता)। इस फलन को एक समतल में किसी वक्र से प्रदर्शित नही कर सकते। यह त्रि-आयमिक (थ्री-डाइमेंशनल) सतह मे ही प्रदर्शित किया जा सकता है। यद्यपि इस
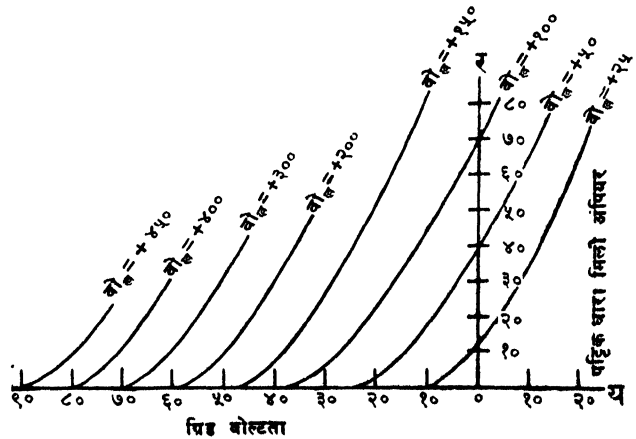
चित्र ४

प्रकार की वक्र रेखा से विशेष सूचना प्राप्त की जा सकती है, तो भी इसको प्रदर्शित करने में बहुत असुविधा है। इस कारण इसको तीन प्रकार की

वक्र रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है जिन्हें स्थिर लाक्षणिक (स्टैटिक कैरेक्टरिस्टिक्स) कहते हैं। इस प्रकार की वक्र रेखाओं का एक समूह चित्र ३ में प्रदर्शित किया गया है जिसमें निर्देशांक (कोआर्डिनेट्स) $धा_प$ (पट्टिक धारा) और $वो_प$ (पट्टिक वोल्टता) हैं। इन वक्र रेखाओं के समूह को पट्टिक लाक्षणिक (प्लेट कैरेक्टरिस्टिक्स) कहते हैं। वक्र रेखाओं का एक दूसरा समूह चित्र ४ में प्रदर्शित किया गया है, जिसमें निर्देशांक पट्टिक धारा और ग्रिड वोल्टता हैं। इस लाक्षणिक को 'स्थानांतर लाक्षणिक' (ट्रैंसफ़र कैरेक्टरिस्टिक्स) कहते हैं। पट्टिक धारा के परिवर्तन को निम्नलिखित समीकरण द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है :

$$धा_प = क\left(वो_ग + \frac{वो_प}{प्र}\right)^{\frac{3}{2}} = क'(प्रवो_ग + वो_प)^{\frac{3}{2}}। \qquad (२)$$

इसमें प्र=प्रवर्धन गुणनखंड (ऐंप्लिफ़िकेशन फ़ैक्टर) है और क तथा क' विभिन्न अचर (नियतांक) हैं।

त्रिध्रुवी के उपयोग—जैसा बताया जा चुका है, त्रिध्रुवी का मुख्य उपयोग प्रवर्धकों में होता है। इसका प्रयोग दोलक, ऋजुकारी, परिचायक तथा मूर्च्छक (माड्युलेटर) के रूपों में भी किया जाता है।

इलेक्ट्रान नली के गुणांक (इलेक्ट्रान ट्यूब कोइफ़िशेंट्स)—ऊपर लिखी बातों से यह विदित है कि पट्टिक धारा विभिन्न ध्रुवों के विभव का एक फलन है। इस कारण पट्टिक धारा को निम्नलिखित समीकरण द्वारा प्रदर्शित कर सकते हैं :

$$धा_प = फ(वो_ग,\ वो_प), \qquad (३)$$

जिसमें फ $(वो_ग, वो_प)$, $वो_ग$ तथा $वो_प$ का एक फलन है। यद्यपि पट्टिक धारा उष्मक के ताप पर भी निर्भर रहती है, तो भी ताप विचाराधीन फलन में नहीं रखा गया है, क्योंकि अधिकतर वह एक निर्धारित मान पर ही रहता है।

यदि ग्रिड वोल्टता को बदला जाय और पट्टिक धारा को स्थिर रखा जाय, तो ग्रिड वोल्टता के साथ पट्टिक वोल्टता के परिवर्तन को नई वक्र रेखाओं के एक समूह द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। इस प्रकार की वक्र रेखाओं का समूह चित्र ५ में दिखाया गया है। ये वक्र रेखाएँ पट्टिक विभव का वह परिवर्तन दिखलाती हैं जो ग्रिड विभव के साथ होता है, परंतु यह
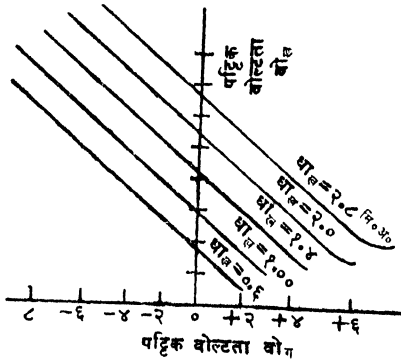
चित्र ५

देखा जा चुका है कि ये दोनों विभव एक दूसरे से प्रवर्धन गुणनखंड द्वारा संबंधित हैं। अतः प्रवर्धन गुणनखंड का विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है : एक स्थिर पट्टिक धारा पर ग्रिड विभवों के परिवर्तनों के अनुपात को प्रवर्धन गुणनखंड कहते हैं। गणित की भाषा में इसको इस प्रकार लिखा जा सकता है

$$प्र = -\left(\frac{तवो_प}{तवो_ग}\right), \qquad (४)$$

जहाँ त=∂। यदि पट्टिक धारा स्थिर रहती है तो ग्रिड विभव घटाने से पट्टिक विभव बढ़ जाता है। इसीलिये ऊपर दिए गए समीकरण में ऋणात्मक चिह्न का प्रयोग किया गया है।

पट्टिक धारा के परिवर्तन पर विचार करने के लिये समीकरण ३ को टेलर के प्रमेय के अनुसार विस्तारित करना होगा। परंतु ऐसा करने के लिये यह मानना पड़ेगा कि परिवर्तन थोड़ा है और विस्तार के केवल प्रथम दो पदों से निरूपित किया जा सकता है। इन विचारों को ध्यान म रखते हुए हम लिख सकते हैं कि

$$\triangle धा_प = \left(\frac{तधा_प}{तवो_ग}\right)_{वो_प} \triangle वो_ग + \left(\frac{तधा_प}{तवो_प}\right) \triangle वो_प। \qquad (५)$$

यह व्यंजक दिखाता है कि पट्टिक तथा ग्रिड विभवों के परिवर्तन पट्टिक धारा में परिवर्तन ला देते हैं।

राशि $(तवो_प/तधा_प)$ स्थिर ग्रिड वोल्टता पर पट्टिक धारा तथा पट्टिक वोल्टता के परिवर्तनों का अनुपात है। इस अनुपात का एकक (इकाई) प्रतिरोधक का एकक है। इसलिये इस अनुपात को नली प्रतिरोध (ट्यूब रेजिस्टैंस) कहते हैं और इसका संकेत $रो_प$ है। यह स्पष्ट है कि आकृति ३ में दी गई पट्टिक लाक्षणिक की यह प्रवणता (ढाल, स्लोप) है।

राशि $(तधा_प/तवो_ग)$ स्थिर वोल्टता पर पट्टिक धारा की तथा ग्रिड वोल्टता की संगत वृद्धि का अनुपात है। इस अनुपात का एकक चालक का एकक है। इसलिये इसे अन्योन्य चालकता (म्युचुअल कंडक्टैंस) कहते हैं और इसका संकेत $ग_म$ है। यह आकृति ४ में दी गई वक्र रेखाओं की प्रणवता है।

संक्षेप में नलियों के निम्नलिखित गुणांक हैं :—

$\left(\frac{तवो_प}{तधा_प}\right)_{वो_ग} = रो_प$, पट्टिक प्रतिरोधक;

$\left(\frac{तधा_प}{तवो_ग}\right)_{वो_प} = ग_म$, अन्योन्य चालकता;

$-\left(\frac{तवो_प}{तवो_ग}\right)_{धा_प} = प्र$, प्रवर्धन गुणनखंड।

यह सरलता से दिखाया जा सकता है कि प्र, $रो_प$ तथा $ग_म$ में निम्नलिखित संबंध है :

$$प्र = रो_प ग_म।$$

आधुनिक रेडियो तकनीक में प्रयुक्त अतिरिक्त वाल्व चतुर्ध्रुवी :

चतुर्ध्रुवी—उच्च आवृत्ति-प्रवर्धन-क्रिया में त्रिध्रुवी के प्रयोग से यह हानि होती है कि पट्टिक और ग्रिड के बीच के मध्यध्रुवी (इंटर इलेक्ट्रोड) धारित्र (कपैसिटेंस) के कारण दोनों के परिपथ युग्मित हो जाते हैं। इस कारण उच्च आवृत्ति पर त्रिध्रुवी का कार्य अस्थिर हो जाता है। इस युग्मन के कारण वाल्व दोलन उत्पन्न करने लगता है, जिससे बेसुरी ध्वनि आने लगती है। इस विघ्नकारी अंश को चतुर्ध्रुवी में धनाग्र और ग्रिड के बीच में एक और ग्रिड लगाकर दूर किया जाता है। इस ग्रिड को धन विभव पर रखते हैं। यह विभव पट्टिक के विभव से कम होता है। इस ग्रिड की उपस्थिति में धनाग्र परिपथ तथा ग्रिड परिपथ युग्मित नहीं होते और दोलन नहीं उत्पन्न होता। इस ग्रिड को आवरण ग्रिड (स्क्रीन ग्रिड) कहते हैं।

आवरण ग्रिड की उपस्थिति से एक और लाभ होता है। त्रिध्रुवी की अपेक्षा धनाग्र इलेक्ट्रान-बहाव के नियंत्रण में कम सुचेतन होता है, क्योंकि आवरण ग्रिड धनाग्र की अपेक्षा ऋणाग्र के अधिक पास होने के कारण अधिक प्रभावशील होता है। इससे प्रवर्धन बढ़ जाता है।

चतुर्ध्रुवी में त्रिध्रुवी के समान ही नियंत्रण ग्रिड (कंट्रोल ग्रिड) और ऋणाग्र स्थापित होते हैं। इसलिये दोनों ही नलियों में ग्रिड-पट्टिक-चालकता प्रायः समान होती है, परंतु चतुर्ध्रुवी में पट्टिक प्रतिरोध त्रिध्रुवी की अपेक्षा पर्याप्त अधिक होता है। इसका कारण, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, पट्टिक वोल्टता पर पट्टिक धारा का न्यूनतम प्रभाव है। इन प्रभावों को चित्र ६ में अंकित किया गया है।

निम्नांकित पट्टिक वोल्टता खंड में एक ऐसी विशेषता है जो इस नली को कुछ कार्यों के लिये उपयोगी बना देती है। चित्र ६ में अंकित किए गए वक्रों में बिंदु क तथा ख के बीच पट्टिक-लाक्षणिक-वक्र की प्रवणता ऋणात्मक है। इस खंड में पट्टिक वोल्टता के बढ़ने पर पट्टिक धारा कम हो जाती है। दूसरे शब्दों में इसका तात्पर्य यह है कि नली का पट्टिक प्रतिरोध ऋणात्मक है। इसलिये जब चतुर्ध्रुवी को समस्वरित परिपथ (ट्यूड सरकिट) से युग्मित किया जाता है तो यह समस्वरित परिपथ के दोलन का सहायक हो जाता है। इस प्रकार के चतुर्ध्रुवी के उपयोग में नली को डाइनाट्रान कहते हैं।
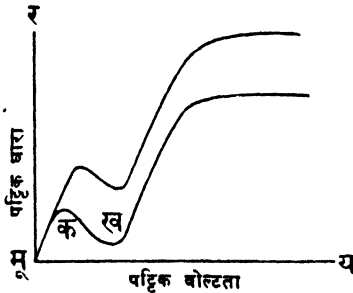
चित्र ६

इसके अतिरिक्त चतुर्ध्रुवी नलियों का विशेष उपयोग उच्च शक्ति-प्रवर्धक में होता है।

पंचध्रुवी—चतुर्ध्रुवी के उपयोग में एक दोष है। यह है पट्टिक का गौण उत्सर्जन। पट्टिक से जब अत्यंत वेगगामी उष्मायनिक इलेक्ट्रान टकराते हैं तो पट्टिक से गौण उत्सर्जन होने लगता है। इस क्रिया का पूर्ण विवेचन **उष्मायन** शीर्षक के अंतर्गत किया गया है।

पट्टिक से गौण इलेक्ट्रानों के उत्सर्जन द्वारा और उनके आवरण की ओर आकर्षित हो जान के कारण धनाग्र लाक्षणिक में एक ऐंठन आ जाती है। इस ऐंठन के कारण नली मे विकृति तथा अस्थिरता आ जाती है। इसको दूर करने के लिये एक तृतीय ग्रिड, आवरण ग्रिड तथा धनाग्र के बीच में, लगा देते है। इस ग्रिड को दमनकारी ग्रिड (सप्रेसर ग्रिड) कहते हैं तथा इस नली को, जिसमें पाँच ध्रुव होते हैं, पंचध्रुवी कहते हैं। दमनकारी ग्रिड ऋणाग्र से प्रायः अंत.संबंधित रहता है। इसका कार्य गौण उत्सर्जन-इलेक्ट्रान को दबाना है। मुख्य इलेक्ट्रान धारा पर दमनकारी ग्रिड की उपस्थिति का कोई विशेष प्रभाव नही पड़ता। यह केवल गौण उत्सर्जन का अवरोध करता है। इस दमनकारी ग्रिड की उपस्थिति के कारण जो प्रभाव पट्टिक लाक्षणिक पर होता है उसे चित्र ७ में अंकित किया गया है।

पंचध्रुवी का उपयोग अधिकतर उच्च आवृत्ति पर विकृतिरहित प्रवर्धन में होता है। इस नली ने प्रायः रेडियो-आवृत्ति-विभव-प्रवर्धक में चतुर्ध्रुवी के उपयोग को विस्थापित कर दिया है। इसका कारण यह है कि पंचध्रुवी के उपयोग से मध्यम-पट्टिक-विभव पर उच्च विभवप्रवर्धन होता है।

पंचध्रुवी तथा चतुर्ध्रुवी में कभी कभी नियंत्रक ग्रिड को एक विशेष अभिप्राय से एक समान नहीं बनाते। दोनों सिरों पर ग्रिड-तारों के अंतराल को कम कर देते हैं। इस प्रकार की नली बहुत सी नलियों के समांतर समूह के रूप में कार्य करती है और इन नलियों के भिन्न भिन्न प्रवर्धन गुणन खंड होते हैं। जैसे ही ग्रिड वोल्टता को ऋणात्मक कर देते हैं, वैसे ही ग्रिड के उच्च प्रवर्धन-गुणनखंड के भाग कट जाते हैं और उनमें इलेक्ट्रान धारा नहीं वाहित होती, किंतु अन्य भागों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि ग्रिड ऋणात्मक है तो इस भाग से भी इलेक्ट्रान धारा बह सकती है। इसलिये इलेक्ट्रान धारा प्रायः स्थिर रहती है और प्रवर्धन गुणनखंड में परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार की नली को चर प्र-नली (वेरियेबुल म्यू ट्यूब) कहते हैं। इसका उपयोग अधिकतर स्वतः चालित उद्घोषतानियंत्रक (आटोमैटिक वॉल्यूम कंट्रोल) के परिपथों में होता है।
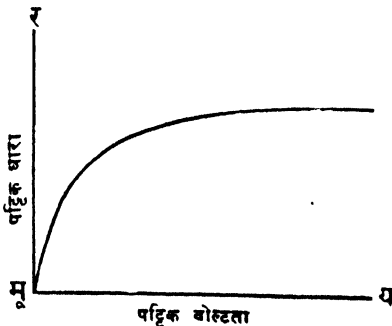
चित्र ७

पुंजशक्ति नली: चतुर्ध्रुवी तथा पंचध्रुवी बनाने के उपरांत यह बोध हुआ कि आवरण ग्रिड तथा पट्टिक के बीच के अंतरण-आवेश (स्पेस चार्ज) का उपयोग गौण उत्सर्जन के बाधक के रूप में किया जा सकता है। पुंजशक्ति नली में अंतरण-आवेश का उपयोग इसीलिये करते हैं।

हेलिकल नियंत्रक ग्रिड तथा आवरण ग्रिड के तारत्व को समान रखा जाता है और उनके तारों को इस प्रकार लगाया जाता है कि उन इलक्ट्रानों को एक बेलनाकार सतह में एकत्र कर दें जो पट्टिक तथा आवरण ग्रिड के बीच में हों। इस कारण यह बेलनाकार सतह ऋणाग्र के विभव पर होती है और पट्टिक से उत्सर्जित इलेक्ट्रानो को पीछे की ओर फेंक देती है। इस प्रकार यह गौण उत्सर्जन को रोकने में सफल होती है। कभी कभी कुछ विशष पुजशक्ति नलियों में एक और दमनकारी ग्रिड लगा देते हैं, परंतु अंतरण-आवेश द्वारा बनाई गई बेलनाकार सतह गौण उत्सर्जन को रोकने में विशेष प्रभावशाली होती है। एक पुजशक्ति नली का पट्टिक लाक्षणिक चित्र ८ में दिखाया गया है।

चित्र ८ में अंकित वक्र रेखा में यह विशेषता है कि वह अधिक तीक्ष्णता से मुड़ती है। इस कारण पुंजशक्ति नली एक पंचध्रुवी से उत्तम है। वक्ररेखा का मोड़ बहुत ही तीक्ष्ण है और इसके पश्चात् वह प्रायः सीधी है। वक्ररेखा का क्षैतिज भाग पट्टिक वोल्टता के परिवर्तन के यथेष्ट भाग के साथ है। इस कारण इस नली का उपयोग करने से अधिक शक्ति मिलती है। तारों को इस विशेष प्रकार से लगाने के कारण पुजशक्ति नलियों में पंचध्रुवी की अपेक्षा आवरण-ग्रिड-धारा पट्टिक धारा से कम होती है।

चित्र ८
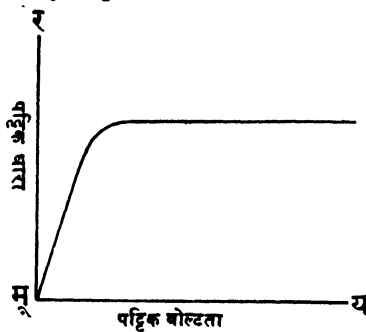
अन्य बहुध्रुवी-इलेक्ट्रान-नलियाँ—द्विध्रुवी, त्रिध्रुवी, चतुर्ध्रुवी तथा पंचध्रुवी के विभिन्न मेल जब एक ही कक्ष में बनाए जाते हैं तो उन्हें बहु-इकाई नली कहते हैं। इस प्रकार की बहुध्रुवी अथवा बहु-इकाई नलियों के लाक्षणिक उन लाक्षणिकों से बहुत भिन्न नहीं हैं जिनका अध्ययन अभी किया गया है। तथापि ऐसी भी बहुध्रुवी नलियाँ हैं जिनमें केवल एक ही ऋणाग्र तथा केवल एक ही धनाग्र रहता है, परंतु ग्रिड तीन से अधिक रहते हैं। ऐसी नलियों में दो नियंत्रक ग्रिड होते हैं और पट्टिक धारा का नियंत्रण दोनों ही वोल्टता के मेल से होता है। दूसरे ग्रिडों का कार्य या तो आवरण का होता है या पट्टिक से गौण उत्सर्जन को दबाने का होता है, जैसा चतुर्ध्रुवी तथा पंचध्रुवी में होता है। कभी कभी एक ग्रिड का कार्य, जो धन विभव पर रहता है, सहायक पट्टिक के रूप में होता है। इस पट्टिक की धारा किसी एक नियंत्रक ग्रिड की वोल्टता पर निर्भर रहती है।

यदि इस प्रकार की नली में दो नियंत्रक ग्रिड हों और दोनों की ही वोल्टताएँ बदलती हों तो पट्टिक धारा का परिवर्तन दोनों ग्रिडों की वोल्टता के परिवर्तन के उभयनिष्ठ गुणनखंड के समानुपात में होता है। इस गुणनक्रिया ने इस प्रकार की नलियों को उन परिपथों में उपयोगी बना दिया है जहाँ विशेष प्रकार के मूर्च्छक की आवश्यकता होती है।

बहुध्रुवी इलेक्ट्रान नलियों का मुख्य उपयोग आवृत्तिपरिवर्तन में होता है, अर्थात् एक आवृत्ति की वोल्टता को दूसरी आवृत्ति की वोल्टता

में परिवर्तित करने में। इसका उदाहरण एक पंचग्रिड मिश्रक (पेंटा-ग्रिड मिक्सर) है।

इसके अतिरिक्त बहुध्रुवी नलियों का उपयोग विशेषतया स्वतः चालित उद्घोषतानियंत्रण तथा उद्घोषताप्रसारक (वॉल्यूम एक्सपैंडर) में किया जा रहा है जिसमें एक नियंत्रक ग्रिड में लगाई वोल्टता का नियंत्रण दूसरे नियंत्रक ग्रिड में लगाई गई वोल्टता के द्वारा होता है।

गैसनलियाँ, गैसद्विध्रुवी नली—इन नलियों में थोड़ी सी गैस डाल दी जाती है। अधिकतर जो गसें प्रयोग में लाई जाती हैं, वे हैं पारदवाष्प, आरगन, नियन आदि। गसनली में ये १ से ३०×१०$^{-3}$ मिलीमीटर दबाव पर रहती हैं।

जैसे जैसे धनाग्र की वोल्टता शून्य से बढ़ाई जाती है, पट्टिक धारा निर्वात नलियों के समान इन नलियों में भी बढ़ने लगती है। तथापि जब वोल्टता गस के आयनीकरण विभव पर (जो १० से १५ वोल्ट तक होता है) पहुँच जाती है, तो मुठभड़ के द्वारा आयनीकरण हो जाता है। पट्टिक धारा अपने पूर्ण मान पर पहुँच जाती है और फिर पट्टिक वोल्टता को अधिक बढ़ाने का उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस परिणाम को चित्र ६ में दिखाया गया है। ऐसा इस कारण होता है कि मुठभेड़ के द्वारा जो धनात्मक आयन पैदा हो जाते हैं, वे पूर्ण रूप से अंतरण-आवेश के प्रभाव को हटा देते हैं, तभी इलेक्ट्रान धारा पर इसका नियंत्रण समाप्त हो जाता है और पूर्ण इलेक्ट्रान धारा प्रवाहित होने लगती है।

जैसा पहले ही बताया जा चुका है, इन गैस-द्विध्रुवी का उपयोग ऋजुकरण में किया जाता है, जहाँ अधिक शक्ति की आवश्यकता होती है; उदाहरणतः प्रेषी के शक्तिस्रोत (पावर सप्लाई) में।

चित्र ६
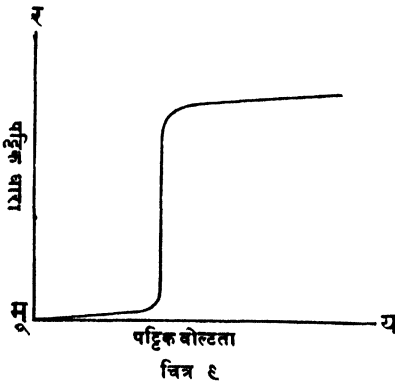
ग्रिडनियंत्रित गैस त्रिध्रुवी (थाइरेट्रान)—ये वे गैस द्विध्रुवी हैं जिनमें पट्टिक और ऋणाग्र के बीच एक नियंत्रक ग्रिड लगा दिया जाता है। इस नियंत्रक ग्रिड का कार्य भी लगभग निर्वात नली के ग्रिड-नियंत्रण सा ही है, परंतु एक बहुत बड़ी विभिन्नता दोनों के नियंत्रण में है। यदि इस ग्रिड के विभव को ऋणात्मक मान से धीरे धीरे बढ़ाया जाय तो यह देखा जायगा कि जसे ही उसका मान उस बिंदु तक आ जाता है जिसपर धारा प्रवाहन आरंभ हो जाता है, तैसे ही धारा एकदम न्यून से अपने पूर्ण मान पर प्रवाहित होने लगती है। जैसे ही पूर्ण धारा प्रवाहित होने लगती है, नियंत्रक ग्रिड पर धारा का किसी प्रकार का प्रभाव नहीं रह जाता। उसके बाद चाहे ग्रिड में कितना ही ऋणात्मक विभव लगा दिया जाय, पट्टिक धारा का प्रवाहन नहीं रुक सकता। केवल पट्टिक वोल्टता को आयनीकरण-विभव से कम करके पट्टिक धारा के प्रवाहन को रोका जा सकता है। इसका कारण यह है कि जैसे ही विद्युद्धारा प्रवाहित होती है, धन आयन ऋणात्मक ग्रिड को ढक लेते हैं और ग्रिड के विभव का कोई प्रभाव धाराप्रवाहन में नहीं रह जाता।

इस प्रकार की नलियों का उपयोग योजना तथा 'ट्रिगर' के रूपों में किया जाता है जिसका बहुत ही महत्वपूर्ण उपयोग आजकल के इलेक्ट्रानिक उपकरणों में किया जा रहा है।

ऋणाग्र-किरण-नली (कैथोड रे टयूब) का वर्णन **ऋणाग्र किरण** शीर्षक लेख में मिलेगा।

सूक्ष्म तरंग नली (माइक्रोवेव ट्यूब), क्लाइस्ट्रान, मैगनिट्रान तथा प्रगामी तरंग नली (ट्रैवेलिंग वेव ट्यूब)—इन नलियों में सबसे अधिक उपयोगी क्लाइस्ट्रान है, जो अति सूक्ष्म तरंग के लिये दोलक तथा प्रवर्धक के रूप में काम में लाई जाती है। मैगनिट्रान अधिक शक्तिशाली, अति सूक्ष्म तरंग के उत्पादन कार्य में लाई जाती है, जिसका उपयोग राडार में किया जाता है। प्रगामी तरंग नली अति उच्च आवृत्ति पर विस्तीर्ण-पट्ट-प्रवर्धक (वाइड बैंड ऐंप्लिफ़ायर) के रूप में बहुत ही अधिक उपयोगी है। इन नलियों में उच्च-आवृत्ति-विद्युत-क्षेत्र की प्रतिक्रिया इलेक्ट्रानों के साथ होती है। इस प्रतिक्रिया में इलेक्ट्रान कुछ ऊर्जा उच्च आवृत्ति दोलन के रूप में दे देते हैं। इस प्रकार उच्च आवृत्ति दोलक की ऊर्जा बढ़ जाती है। यह ऊर्जा प्रवर्धक के रूप में कार्य करती है। [ग० प्र० श्री०]

इलेक्ट्रान व्याभंग

(इलेक्ट्रान-डिफ़्रैक्शन)। जब एक बिंदु से चला प्रकाश किसी अपारदर्शक वस्तु की कोर को प्रायः छूता हुआ जाता है तो एक प्रकार से वह टूट जाता है जिससे छाया तीक्ष्ण नहीं होती; उसमें समांतर धारियाँ दिखाई पड़ती हैं। इस घटना को व्याभंग कहते हैं।

जब इलेक्ट्रानों की संकीर्ण किरणावलि को किसी मणिभ (क्रिस्टल) के पृष्ठ से टकराने दिया जाता है तब उन इलेक्ट्रानों का व्याभंग ठीक उसी प्रकार से होता है जैसे एक्स-किरणों (एक्स-रेज़) की किरणावलि का। इस घटना को इलेक्ट्रान व्याभंग कहते हैं और यह मणिभ विश्लेषण, अर्थात् मणिभ की संरचना के अध्ययन की एक शक्तिशाली रीति है।

१६२७ ई० में डेविसन और जरमर ने इलेक्ट्रान बंदूक द्वारा उत्पादित इलेक्ट्रान किरणावलि को निकल के एक बड़े तथा एकल मणिभ से टकराने दिया तो उन्होंने देखा कि भिन्न भिन्न विभवों (पोटेंशियलों) द्वारा त्वरित इलक्ट्रान किरणावलियों का व्याभंग भिन्न भिन्न दिशाओं में हुआ (इलेक्ट्रान बंदूक इलेक्ट्रानों की प्रबल और फोकस की हुई किरणावलि उत्पन्न करने की एक युक्ति है)। एक्स-किरणों की तरह जब उन्होंने इन इलक्ट्रानों के तरंगदर्घ्यों को समीकरण २ **दू** ज्या **थ**=**क्र बै** के आधार पर निकाला (जहाँ **दू**=मणिभ में परमाणुओं की क्रमागत परतों के बीच की दूरी; **थ**=रश्मियों का आपात-कोण, अर्थात् वह कोण जो आनेवाली रश्मियाँ मणिभ के तल से बनाती हैं; **क्र**=वर्णक्रम का क्रम (ऑर्डर); **बै**=तरंग-दैर्घ्य), तब उन्हें ज्ञात हुआ कि इन तरंगदैर्घ्यों **बै** के मूल्य ठीक उतने ही निकलते हैं जितने कि डी ब्रोगली का समीकरण **बै**=**प्ल**/**द्रवे** देता है। यहाँ **प्ल** प्लैंक का नियतांक है, **द्र** इलेक्ट्रान का द्रव्यमान (मास) और **वे** इसका वेग। यह प्रथम प्रयोग था जिसने इलेक्ट्रानों के उन तरंगीय गुणों को सिद्ध किया जिनकी भविष्यवाणी एल० डी० ब्रोगली ने १६२४ ई० में गणित के सिद्धांतों के आधार पर की थी और जिनके अनुसार एक इलेक्ट्रान का तरंगदैर्घ्य

$$\text{बै} = \frac{\text{प्ल}}{\text{द्रवे}} = \sqrt{\left(\frac{१५०}{\text{वो}}\right)} \text{ ऐंग्स्ट्रॉम} = \frac{१२\cdot२७}{\sqrt{\text{वो}}} \times १०^{-८} \text{ सें०मी०},$$

जहाँ **वो** वह विभव है जिसके द्वारा इलेक्ट्रान को त्वरित किया गया हो।

डेविसन और जरमर के प्रयोग लगभग ५० वोल्ट द्वारा त्वरित मंदगामी इलेक्ट्रानों से किए गए थे। १६२८ ई० में जी० पी० टामसन ने इस समस्या का अन्वेषण दूसरी ही रीति से किया। उसने अपने अनुसंधान में १० हजार से लेकर ५० हजार वोल्ट तक से त्वरित अत्यंत वेगवान् इलेक्ट्रानों का प्रयोग एक दूसरी रीति से किया। यह रीति डेबाई और शेरर की चूर्ण रीति से, जिसका प्रयोग उन्होंने एक्स-किरणों द्वारा मणिभ के विश्लेषण में किया था, मिलती जुलती थी। उसके उपकरण का वर्णन नीचे किया जाता है :

ऋणाग्र किरणों की एक आवलि को ५० हजार वोल्ट तक त्वरित किया जाता है और फिर उसको एक तनुपट नलिका (डायाफ़ाम टयूब) में से निकालकर इलेक्ट्रानों की एक संकीर्ण किरणावलि से परिवर्तित किया जाता है। इलेक्ट्रान की इस किरणावलि को सोने की एक बहुत ही पतली पन्नी पर गिराते हैं, जिसकी मोटाई लगभग १०$^{-5}$ सें०मी० होती है। सारे उपकरण के भीतर अतिनिर्वात (हाई वैक्युअम) रखा जाता है और प्रकीर्णित (स्कैटर्ड) इलेक्ट्रानों को एक प्रतिदीप्त (फ़्लुओरेसेंट) परदे अथवा फोटो पट्टिका पर पड़ने दिया जाता है। पट्टिका को डिवेलप करने पर एक सममित अभिलेख मिला, जिसमें स्पष्ट, तीक्ष्ण और एककेंद्रीय (कॉनसेंट्रिक) वलय थे

और उनके केंद्र पर एक चित्ती (बिंदु) थी। यह सब बहुत कुछ उस तरह का था जैसा चूर्णित मणिभ रीति में एक्स-रश्मियों में उत्पन्न होता है और कारण भी वही था। महीन पन्नी में धातु के सूक्ष्म मणिभ होते है, जिनमें से वे, जो उपयुक्त कोण पर होते हैं, इलेक्ट्रानों का प्रकीर्णन करते है।
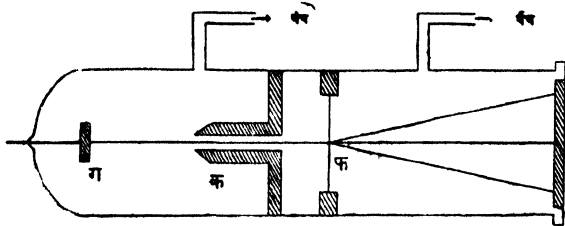
इलेक्ट्रान व्याभंग चित्रांकन
ग=इलेक्ट्रानों का उद्गम; क=तनुपट नलिका; फ=सोने की पन्नी; प=फोटो पट्टिका।

ब्रैग के नियमानुसार २द ज्या थ=कवे। पूर्वोक्त वृत्त व्याभंग शंकुओं की पट्टिका अथवा परदे पर प्रतिच्छेद (इंटरसेक्शन) हैं। यह भी देखा गया कि ज्यों ज्यों इलेक्ट्रानों का वेग बढ़ता है त्यों त्यो इन वृत्तों का व्यासार्ध घटता है, जिससे स्पष्ट है कि इलेक्ट्रान का तरंगदैर्घ्य वेग के बढ़ने से घटता है, क्योंकि ऐसी व्याभंग आकृतियाँ केवल तरंगों द्वारा ही बन सकती है, न कि किरणों द्वारा, अतः यह प्रयोग पूर्णतया सिद्ध करता है कि इलेक्ट्रान तरंगों के सदृश व्यवहार करते हैं।

१९२८ ई० में किकुची ने जापान में उच्च वोल्टवाले इलेक्ट्रानों को पतले अभ्रक की पन्नियों से टकराने देकर सुंदर व्याभंग आकृतियाँ प्राप्त कीं। पूर्वोक्त प्रयोगों ने इलेक्ट्रान के तरंगीय गुण को निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया है और अब हमारे पास इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं कि इलेक्ट्रान अपने कुछ गुणो में तरंग की तरह और कुछ में द्रव्यकणों की तरह व्यवहार करते हैं।

ठोस पदार्थों के परीक्षणों में $१०^{-६}$ सें०मी०वाली पतली पन्नियों को इलेक्ट्रान किरणावलि के मार्ग मे इस प्रकार रखा जाता है कि इलेक्ट्रान उनको पार कर दूसरी ओर निकल जायँ और जो अधिक मोटी होती है उनको इस प्रकार स्थापित किया जाता है कि इलेक्ट्रान उनकी सतह से टकराकर बहुत छोटे कोण (लगभग २ अंश) पर परावर्तित (रिफ़्लेक्टेड) हो जायँ। इन परीक्षणों ने मणिभ के अंदर परमाणुओं के क्रम पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। लोह, ताम्र, वंग जैसी धातुओं की चमकीली सतहों से प्राप्त इलेक्ट्रान-व्याभंग-आकृतियों के अध्ययन से यह महत्वपूर्ण तथ्य निकलता है कि इनके पृष्ठ पर अमणिभ धातु या उनके आक्साइड की महीन तह होती है। इलेक्ट्रान-व्याभंग-वृत्तों का अत्यंत धुंधलापन यह प्रकट करता है कि वे परावर्तन द्वारा ऐसे पृष्ठ से प्राप्त हुए हैं जो अमणिभ या लगभग अमणिभ था। इलेक्ट्रान-व्याभंग-विधि बहुत से गैसीय अवस्था में रहनेवाले पदार्थों के अध्ययन में भी बहुत लाभप्रद हुई है। इसमें जो रीति अपनाई गई है वह इस प्रकार है : गैस अथवा वाष्प को प्रधार (जेट) के रूप में इलेक्ट्रान किरणावलि के मार्ग में छोड़ा जाता है, जिसमें इलेक्ट्रान उससे टकराने के बाद ही फोटो-पट्टिका पर गिरें। इस पट्टिका पर इलेक्ट्रानों का वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा प्रकाश का। इन पदार्थों की विशेष व्याभंग-आकृतियाँ फोटो-पट्टिका पर कुछ ही सेकेंडों में अंकित हो जाती हैं, जब कि एक्स-किरणों को बहुधा कई घंटों की आवश्यकता पड़ती है। व्याभंग-आकृतियों से कार्बन-क्लोरीन के बंधन में परमाणुओं के बीच की दूरी १.७६×१०^{-८} सें०मी० के बराबर निकली है। यह मान उस मान के पर्याप्त अनुकूल है जो अधिकांश संतृप्त कार्बनिक क्लोराइडों में कार्बन-क्लोरीन के बंधन में देखा गया है।

व्यवहारिक प्रयोग—इलेक्ट्रान व्याभंग की क्रिया का प्रयोग पदार्थों के, विशेष कर महीन झिल्लिकाओं एवं जटिल अणुओं के, आंतरिक ढाँचे के अध्ययन में किया जाता है। इसका प्रयोग चर्बी, तैल, ग्रैफाइट आदि द्वारा घर्षण कम करने की जाँच में किया गया है। संक्षारण, विद्युल्लेपन, संधान (वेल्डिंग) आदि क्षेत्रों में यह अत्यंत महत्वपूर्ण हो गया है। इन विभिन्न उपयोगों के कारण इलेक्ट्रान-व्याभंग उपकरण आधुनिक इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी के साथ अधिकतर जोड़ दिए जाते हैं।

सं०ग्रं०—जी० पी० टामसन और डब्ल्यू० काकरेन : थ्योरी ऐंड प्रैक्टिस ऑव इलेक्ट्रान डिफ़्रैक्शन, १९३९; आर० बीचिंग : इलेक्ट्रान डिफ़्रैक्शन, १९५०; जी० पिंस्कर : इलेक्ट्रान डिफ़्रैक्शन, १९५३; जे० बी० राजम : ऐटोमिक फिज़िक्स, १९५८। [दा० वि० गो०]

इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी

सूक्ष्मदर्शी उस यंत्र को कहते हैं जिसके द्वारा सूक्ष्म वस्तुओं के उच्च आवर्धनवाले प्रतिबिंब प्राप्त किए जाते हैं। इसमें तथा साधारण (प्रकाशवाले) सूक्ष्मदर्शी में दो मुख्य अंतर है : (१) प्रकाशकिरणों के स्थान में, जिनका प्रयोग साधारण सूक्ष्मदर्शी मे होता है, इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी में इलेक्ट्रान प्रयोग में लाए जाते हैं। ये लघुतम तरंग के सदृश काम करते हैं; (२) साधारण सूक्ष्मदर्शी में काच के ताल प्रकाश की किरणों को फोकस करते हैं। इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी में इलक्ट्रान किरणावलि को फोकस करने के लिये विद्युत् एवं चुबकीय तालो का प्रयोग किया जाता है।

इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता तथा आवर्धनक्षमता अच्छे से अच्छे साधारण सूक्ष्मदर्शी से कहीं अधिक है। इसका प्रयोग अब गवेषणा के लिये भौतिकी, रसायन, जीवशास्त्र एव सबधित क्षेत्रों में होता है, क्योकि इसके द्वारा उन सूक्ष्म कणो और आकारो के ब्योरो का निरीक्षण करना तथा फोटो लेना संभव हो गया है जो इतने छोटे होते है कि अन्य किसी प्रकार से देखे ही नही जा सकते।

सक्षिप्त इतिहास—मानवनेत्र स्वयं बिना किसी यंत्र की सहायता के ३० सें०मी० की दूरी पर एक दूसरे से ०.०१ सें०मी० की दूरी पर स्थित दो बिदुओ को पृथक् पृथक् देख सकता है। यह कोरी आँख की (बिना किसी उपकरण की सहायता लिए) विभेदनक्षमता (रिज़ॉल्विग पावर) है। आवर्धक ताल (सरल सूक्ष्मदर्शी) ने, जिसका आविष्कार सन् १००० ई० में हुआ था, इस विभेदनक्षमता को ०.००१ सें०मी० तक बढ़ा दिया। इसके बाद १६५० ई० मे साधारण (यौगिक) सूक्ष्मदर्शी ने विभेदनक्षमता को ०.००००२५ सें०मी०, अर्थात् ०.२५ माइक्रॉन तक पहुँचा दिया, जिसके फलस्वरूप एक दूसरी से ०.००००२५ सें०मी० पर रखी दो वस्तुएँ पृथक् पृथक् देखी जा सकती है। विभेदनक्षमता उस प्रकाश के तरंगदैर्घ्य पर निर्भर है जो देखी जानेवाली वस्तु पर पडे। अतः यदि हम दृष्टिगोचर, अर्थात् साधारण प्रकाश से अधिक छोटे तरंगदैर्घ्यवाले विकिरण का उपयोग करें, उदाहरणतः पारजंबु (अल्ट्रा-वॉयलेट) किरणों से फोटो लें, तो इतने समीप रखी वस्तुओ को भी पृथक् पृथक् देखा जा सकता है जिनके बीच की दूरी केवल ०.१ माइक्रान अथवा $१०^{-५}$ सें०मी० हो। इस पारजंबु सूक्ष्मदर्शी का, जिसका निर्माण १९०४ ई० में हुआ था, प्रयोग करके ५×१०^{-६} सें०मी० के आकार के कणों तक को दीप्त विवर्तनमंडलकों (ल्यूमिनस डिफ़्रैक्शन डिस्क) के रूप में देखा जा सका है।

१९२४ ई० में लुई डी ब्रोगली ने इलेक्ट्रानों के तरंगीय गुणधर्म की भविष्यवाणी की और दिखाया कि इलेक्ट्रान का तरंगदैर्घ्य=प्ल/द्रवे, जिसमें प्ल प्लांक नियतांक है, द्र इलेक्ट्रान द्रव्यमान (मास) और वे उसका वेग।

डी ब्रोगली के इस प्रस्तावित समीकरण का आधार वह सिद्धांत था जिसको डेवीसन और जरमर ने १९२७ ई० में और जी० पी० टामसन न १९२८ ई० में प्रयोग द्वारा स्थापित किया। तदनुसार $१०^{४}$ इलेक्ट्रान वोल्ट ऊर्जावाले इलेक्ट्रानों का तरंगदैर्घ्य ०.१२२७ ऐंस्ट्रम अथवा ०.१२२७×१०^{-८} सें०मी० होगा जो वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) के दृष्टिगोचर रक्त भाग के तरंगदैर्घ्य का ५०,०००वाँ भाग है। आशा हुई कि यदि इतने तीव्रगामी इलेक्ट्रानों के पुंज का प्रयोग सूक्ष्मदर्शी में साधारण प्रकाश के स्थान में किया जाय तो बहुत ही अधिक विभेदनक्षमता प्राप्त की जा सकती है। १९२७ ई० के लगभग बुश ने इलेक्ट्रान ताल (लेंज) का सिद्धांत बताया। तब स्थिर विद्युत्-बलक्षेत्रों एवं चुंबकीय कुंडलियों के फोकस करने के गुणधर्मों के अनेक परीक्षण १९३० ई० तक किए गए और सफलता प्राप्त की गई। इस प्रकार १९३० ई० तक यह निश्चित रूप से सिद्ध हो

गया कि तीव्रगामी इलेक्ट्रान लघुतम तरंगदैर्घ्यवाले प्रकाश-किरण-पुंज के सदृश ही आचरण करते हैं, जिसके फलस्वरूप वे वैद्युत अथवा चुंबकीय बलक्षेत्रों द्वारा सुगमता से फोकस किए जा सकते हैं (इन बलक्षेत्र-उत्पादकों को इलेक्ट्रान-लेंज कहते हैं)। इस प्रकार १९३२ ई० में इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी के प्रायोगिक रूप का विकास हुआ।

विभेदनक्षमता—किसी सूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता की माप वस्तु पर उन दो निकटतम विंदुओं की दूरी है, जो इसके द्वारा प्राप्त प्रतिबिंब में पृथक् पृथक् दिखाई दें। प्रकाशसूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता **क्ष** निम्नलिखित सुविख्यात समीकरण से मिलती है :

क्ष=**वै**/२**व** ज्या **वृ**,

जिसमें **वै** प्रयोग में लाए गए प्रकाश का तरंगदैर्घ्य है, **व** उस माध्यम (बहुधा वायु) का, जिसमें सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखी जानेवाली वस्तु स्थित है, वर्तनांक है और **वृ** अभिदृश्य ताल के अपर्चर का अर्धकोण है। वस्तु को अभिदृश्य ताल के अत्यंत निकट रखकर **वृ** को लगभग एक समकोण के बराबर और तेल या किसी दूसरे उपयुक्त द्रव में वस्तु को डुबाकर वर्तनांक **व** को लगभग १·६ के बराबर किया जा सकता है। अतः प्रकाशसूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता का अधिकतम मान प्रयोग में लाए हुए प्रकाश के तरंगदैर्घ्य के लगभग एक तिहाई के बराबर निकलता है। दृष्टिगोचर वर्णक्रम के मध्य के लिये, जिसका **वै**=५००० ऐंग्स्ट्रम (अर्थात् ५×१०^{-११} सें०मी०), विभेदनक्षमता **क्ष**=$१·६ \times १०^{-५}$ सें०मी० और पारजंबु प्रकाश के लिये (जिसका **वै**=३×१०^{-११} सें०मी०) **क्ष**=$१०^{-५}$ सें०मी० के लगभग। यह वह न्यूनतम दूरी है जिसका विभेदन उत्तम प्रकाशसूक्ष्मदर्शी कर सकता है। अतः कोई भी प्रकाशसूक्ष्मदर्शी वस्तु पर के ऐसे दो बिंदुओं को, जिनके बीच की दूरी प्रयोग में लाए गए प्रकाश के तरंगदैर्घ्य के एक तिहाई से कम हो, प्रतिबिंब में पृथक् नहीं दिखा सकता। परंतु जब प्रकाशकिरणों के स्थान पर इलेक्ट्रानों का प्रयोग किया जाता है, तब डी ब्रागलीवाले तरंगदैर्घ्य का मान घटाकर विभेदनक्षमता को, यदि इलेक्ट्रानों का वेग अधिक कर दिया जाय, अत्यधिक बढ़ाया जा सकता है। ऐसा उस वोल्टता को, जिसके द्वारा इलेक्ट्रान को त्वरित किया जाता है, बढ़ाकर सुगमता से किया जा सकता है। यह निम्नांकित समीकरण से प्रकट है :

वै=प्ल/द्रवे=१२·२७/$\sqrt{}$**वो** ऐंग्स्ट्रम=$१०^{-७}$/$\sqrt{}$**वो** सें०मी०,

जहाँ **वो** त्वरक वोल्टता का मूल्य है। यदि हम मान लें कि इलेक्ट्रान-सूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता भी प्रकाशसूक्ष्मदर्शी के समान **वै**/२ **व** ज्या **वृ** के बराबर होती है तो हम **वो** का उपयुक्त मूल्य लेकर, **वै** को जितना छोटा करना चाहें, कर सकते हैं और इस प्रकार विभेदनक्षमता को चाहे जितना अधिक बढ़ाया जा सकता है। हाइसेनबर्ग के अनिर्धार्यता के सिद्धांत पर (उसे देखें) निर्धारित समीकरण का उपयोग करके सुगमता से दिखाया जा सकता है कि पूर्वोक्त कल्पना सत्य है।

यदि हम तप्त ऋणाग्र में उत्पन्न किए गए इलेक्ट्रानों का प्रयोग करें और उनको ६०,००० वोल्ट से त्वरित करें तो उनका तरंगदैर्घ्य लगभग $०·०५ \times १०^{-८}$ सें०मी० होगा, जो दृष्टिगोचर वर्णक्रम के मध्य के तरंगदैर्घ्य

चित्र १

(५×१०^{-११} सें०मी०) का $१०^{-५}$ वाँ भाग है। तरंगदैर्घ्य के इतना कम होने के कारण विभेदनक्षमता लगभग $१०^{५}$ गुनी हो जानी चाहिए। परंतु वास्तव में विभेदनक्षमता का इतना अधिक बढ़ना संभव नहीं है, क्योंकि अपर्चर बहुधा छोटा होता है; तब भी यह १०० गुना तो अवश्य ही बढ़ जाती है। इस तरह इलेक्ट्रान-सूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता साधारण सूक्ष्मदर्शी की अपेक्षा कहीं अधिक होती है (कम से कम १०० गुनी)।

आवर्धनक्षमता—नेत्र की विभेदनक्षमता लगभग ०·०१ सें०मी० (=१/२५० इंच) की होती है, अर्थात् नेत्र उन दो चिह्नों को, जिनके बीच की दूरी लगभग ०·०१ सें०मी० हो, पृथक् पृथक् देख सकता है। किसी वस्तु के आकार में न्यूनतम अंशों को देखने के लिये हमें उन्हें ०·०१ सें०मी० तक आवर्धित करना पड़ेगा। जैसा हम अभी ऊपर देख चुके हैं, वह न्यूनतम दूरी जिसका विभेदन सूक्ष्मदर्शी कर सकता है, $१०^{-५}$ सें०मी० है और इसका आवर्धन $१०^{-२}$ सें०मी० तक आवश्यक है। ऐसा करने के लिये १००० का आवर्धन होना चाहिए और जब पारजंबु प्रकाश का प्रयोग किया जाय, यह उपयोगी आवर्धन की सीमा है। दृष्टिगोचर वर्णक्रम के मध्य के लिये सूक्ष्मदर्शी की विभेदनसीमा $१·६ \times १०^{-५}$ सें०मी० है। अतः जब ५×१०^{-११} सें०मी० के तरंगदैर्घ्यवाले प्रकाश का प्रयोग किया जाय, तो हमें ६२५ गुना आवर्धन करना चाहिए जो उपयोगी आवर्धन की सीमा होगी।

नेत्रों पर अधिक बल पड़ने से बचने के लिये यह उचित होगा कि आवर्धन को ५ गुना और बढ़ाया जाय और तब पारजंबु तथा दृष्टिगोचर प्रकाश के लिये आवर्धन क्रमानुसार लगभग ५००० और ३००० होगा। किसी सूक्ष्मदर्शी के उपयोगी आवर्धन को निकालने का सुविधाजनक नियम यह है—
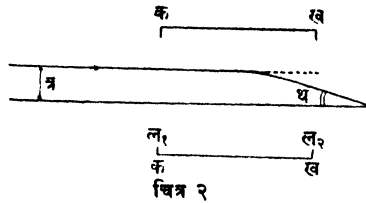
चित्र २

सूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता **क्ष** और उसके उपयोगी आवर्धन का गुणनफल नेत्र की विभेदनक्षमता के, अर्थात् ०·०१ सें०मी० के, बराबर होता है।

सिद्धांत की दृष्टि से आवर्धन को हम कई पदों में जितना चाहें उतना बढ़ा सकते हैं। परंतु पूर्वोक्त नियम से अधिक बढ़ाने से कोई लाभ नहीं होगा, क्योंकि बिना पर्याप्त विभेदन के उच्च आवर्धन वैसा ही व्यर्थ है जैसा इस आशा से कि चित्र के आंशिक विवरण और अधिक स्पष्ट हो जायँगे, अस्पष्ट फोटो का आवर्धन करना। जिस प्रकार इलेक्ट्रान-सूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता प्रकाशसूक्ष्मदर्शी की अपेक्षा बहुत अधिक है उसी प्रकार इसका वास्तविक आवर्धन भी बहुत अधिक है। १,००,००० के स्पष्ट आवर्धन प्राप्त किए जा चुके हैं।

फोकस की गहराई—किसी सूक्ष्मदर्शी के फोकस की गहराई उस दूरी से नापी जाती है जिसके भीतर फोटो-पट्टिका (अथवा प्रतिदीप्त परदे) को अक्ष के अनुदिश आगे पीछे, बिना उसपर प्राप्त प्रतिबिंब को धुँधला किए, हटाया जा सकता है। यह फोकस की गहराई ग=**वै**/(१—कोज्या **वृ**), जिसमें **वृ** अभिदृश्य ताल के अपर्चर का अर्धकोण है। इस कोण को इलेक्ट्रान-सूक्ष्मदर्शी में इसलिये बहुत कम रखा जाता है कि गोलीय एवं वार्णिक (क्रोमैटिक) त्रुटियों का प्रभाव कम हो। अतः इस यंत्र की फोकस की गहराई प्रकाशसूक्ष्मदर्शी की अपेक्षा कहीं अधिक होती है।

चित्र ३
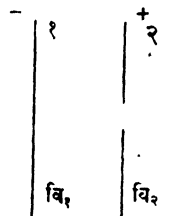
इलेक्ट्रान ताल—उपयुक्त स्थिर-विद्युत् अथवा चुंबक-बलक्षेत्र से प्रभावित कर इलेक्ट्रान किरणावलि को परदे पर उसी प्रकार फोकस किया जा सकता है जैसे ऋणाग्र-किरण-दोलन-लेखी (कथोड-रे ऑसिलोग्राफ़) में। वैद्युत तथा चुंबकीय बलक्षेत्रों को इस प्रकार व्यवस्थित किया जा सकता है कि वे इलेक्ट्रान किरणावलि के लिये ताल के सदृश ठीक उसी प्रकार व्यवहार करें जैसा काच का ताल प्रकाश की किरणों के लिये करता है। इस प्रकार के वैद्युत अथवा चुंबकीय क्षेत्रों की व्यवस्था को इलेक्ट्रान ताल कहते हैं।

स्थिर-विद्युत्-ताल : समांतर धातुपट्टिकाओं का क्रम, जिनके समरेख केंद्रों पर गोल छेद हों और जिन्हें उपयुक्त विभवों पर स्थिर किया गया हो, अपने भीतर से जानेवाले इलेक्ट्रानों के लिये स्थिर-विद्युत्-ताल का काम करता है। ऐसे ताल के संगमांतर के लिये व्यंजक सुगमता से प्राप्त किया जा सकता है।

एक इलेक्ट्रान किरणावलि पर विचार करें जो एक बेलन (सिलिंडर) (चित्र १) के अक्ष की दिशा में जा रही है और एक स्थिर-विद्युत्-बल-क्षेत्र द्वारा प्रभावित की जाती है। यदि बेलन की लबाई $\triangle$ल तथा उसके अनुप्रस्थ काट की त्रिज्या त्रि है और बलक्षेत्र उसके अक्ष के सममित है (इलेक्ट्रान-सूक्ष्मदर्शियो में स्थिर-विद्युत् और चुबक-बल-क्षेत्र अक्ष के सममित ही रखे जाते है) और यदि वि तथा वि विद्युत्-बल-क्षेत्र के क्रमानुसार त्रिज्य और अक्षीय घटक हो और यह मान लिया जाय कि $वि_{त्र}$ का ल के साथ परिवर्तन बहुत कम होता है, तो गाउस के प्रमेयानुसार

$$\pi त्र^2 [वि_{त्र} + (तवि_{त}/तल)\triangle ल - वि_{ल}] + 2\pi त्र \triangle ल\, वि_{त्र}$$

अथवा, $$वि_{त्र} = -\tfrac{1}{2} त्र (तवि_{त}/तल),$$

इसी प्रकार $$क्षे_{त्र} = -\tfrac{1}{2} त्र (तक्षे/तल)।$$

मान लें कि बलक्षेत्र कख के आसपास है (चित्र २)। त्रिज्य सवेग (रेडियल मोमेंटम) $स_{त्र}$, जिसे बलक्षेत्र मे होकर जाने से इलेक्ट्रान प्राप्त करता है, इस प्रकार मिलता है

$$स_{त्र} = \int - ई\, वि_{त्र}\, तास = \tfrac{1}{2} ईत्र \int_{ल_1}^{ल_2} \frac{तवि_{त}}{तल} \frac{ताल}{ल'},$$

जिसमें ल$'$=ल-अक्ष के अनुदिश वेग

$$= \sqrt{\left(\frac{2ईवो}{द्र}\right)}, \text{ क्योकि } \tfrac{1}{2} द्रल'^2 = ईवो,$$

अर्थात् $$स_{त्र} = -\tfrac{1}{2} ईत्र \left(\frac{द्र}{2ई}\right)^{1/2} \int_{ल_1}^{ल_2} \frac{वो''}{\sqrt{वो}} ताल।$$

अब, थ=त्र/अं=$सं_{त्र}/सं_{ल}$, जिसमें अ सगमातर है और $सं_{ल}$ उस समय का सवेग ल-अक्ष की दिशा मे है जब इलेक्ट्रान बलक्षेत्र के बाहर निकलने लगता है।

$$सं_{ल} = द्रल' = (2ईद्रवो_{ल})^{1/2}$$

और $$1/अ = थ/त्र = सं_{त्र}/(2ईद्रवो_{ल})^{1/2}\, त्र,$$

जब $सं_{त्र}$ धन होता है तो अ धन होता है और स्थिर विद्युत्-बल-क्षेत्र अवतल (कॉनकेव) ताल के सदृश व्यवहार करता है। जब $स_{त्र}$ ऋण होता है तब अ ऋण हो जाता है और बलक्षेत्र उत्तल (कॉनवेक्स) ताल के सदृश व्यवहार करता है।

ऊपर के समीकरण मे $सं_{त्र}$ का मूल्य रखने पर हमें

$$\frac{1}{अ} = -\frac{1}{4\, वो_{ल}^{1/2}} \int_{ल_1}^{ल_2} \frac{वो''}{\sqrt{वो}} ताल$$

प्राप्त होता है।

सूचीछिद्र ताल (पिन-होल ताल)—यदि ऋणाग्र से निकले हुए इलेक्ट्रानो को एक निश्चित विभव पर रखी पट्टिका (चित्र ३) के सूचीछिद्र में से होकर जाने दिया जाय तो यह मानते हुए कि सूचीछिद्र में से निकलने के पहले और बाद विभव लगभग एक समान रहा, हमें ज्ञात होता है कि

$$\frac{1}{अ} = -\frac{1}{4वो}\int_{ल_1}^{ल_2} वो''ताल = -\frac{1}{4वो}\left[वो_2' - वो_1'\right]$$

$$= -\frac{1}{4वो}\left[वि_1 - वि_2\right] = \frac{1}{4वो}\left[वि_2 - वि_1\right]।$$

चित्र ३ (क) तथा ३ (ख) के अनुसार पट्टिकाओ को रखकर $वि_2$=० अथवा $वि_1$=० कर देने से, हम अवतल अथवा उत्तल ताल बना सकते है।

वि₁ | वि₂=० | वि₁=० | वि₂

चित्र ३ (क) चित्र ३ (ख)
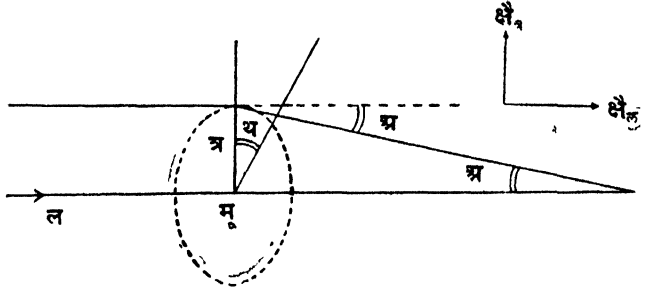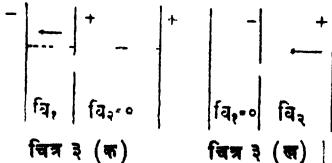
चित्र ४

चुबकीय ताल—तार की ऐसी कुडली, जिसमे विद्युद्धारा प्रवाहित होती है, चुबकीय बलक्षेत्र उत्पन्न करती है और इस प्रकार अपने भीतर से जानेवाले इलेक्ट्रानो के लिये चुबकीय ताल का काम करती है। ऐसे चुबकीय ताल का फोकस कुडली की विद्युद्धारा को बदलकर बदला जा सकता है। अत केवल कुडलीताल की धारा को बदलकर प्रतिबिब को सरलता से फोकस किया जा सकता है। चुबकीय ताल को आगे पीछे नही करना पडता, जैसा काच के तालो मे किया जाता है। चुबकीय ताल का सगमातर इस प्रकार निकाला जा सकता है

यदि धारा धा को धारण किए तार की वृत्ताकार कुडली में से इलेक्ट्रान होकर जा रहे हो और $क्षे_{त्र}$ और $क्षे_{ल}$ चुबकीय बलक्षेत्र के क्रमानुसार त्रिज्य और अक्षीय घटक हो तो इलेक्ट्रान की गति के समीकरण इस प्रकार होगे

$$द्र(त्र'' - त्रथ'^2) = -(ई/गे)\, त्रथ' क्षे_{ल}$$
$$द्र(त्रथ'' + 2त्र'थ') = -(-ई/गे)त्र' क्षे_{ल} + (-ई/गे)ल' क्षे_{त्र}।$$

क्योकि ल$'$ की अपेक्षा त्र$'$ बहुत छोटा है, इसलिये

$$त्रथ'' = \tfrac{1}{2}(ई/गे)ल'(ताक्षे/ताल),$$

जो सकलन कर नेपर निम्नलिखित सबध देता है

$$त्रथ' = \frac{ई}{2गे}\int_0^{स} \frac{ताक्षे_{ल}}{ताल}\frac{ताल}{तास}तास,$$

अर्थात् $$थ' = ई\, क्षे_{ल}/2द्रगे।$$

फिर $$त्र'' = -(ई/गेद्र)\, त्रथ' क्षे_{ल} + त्रथ'^2$$
$$= त्रथ'\{-(ई/गेद्र)क्षे_{ल} + (ई/2गेद्र)क्षे_{ल}\}$$
$$= -\tfrac{1}{4} त्र (ई^2/द्र^2गे^2)(क्षे_{ल}^2/व)(ताल/तास),$$

जिसमें $$व = ताल/तास$$

इसका सकलन करने पर,

$$त्र' = -\tfrac{1}{4}(त्रई^2/द्र^2गे^2व)\int क्षे_{ल}^2 ताल,$$

अर्थात् $$त्र'/व = वृ = त्र/अं = -\frac{त्रई^2}{4द्र^2गे^2व^2}\int क्षे_{ल}^2 ताल।$$

अत सगमातर अं

$$= -4\left(\frac{द्रगे}{ई}\right)^2 व^2 \div \int क्षे_{ल}^2 ताल।$$

धारा धा अपिम्रर को धारण किए तार की व्यासार्ध क की एकवृत्तीय कुडली के लिये

$$क्षे_{ल} = 2\pi धाक^2/10(क^2+ल^2)^{3/2}$$

और $$\int क्षे_{ल}^2 ताल = \frac{4\pi^2(धा)^2}{10^2}\int_{-\infty}^{+\infty}\frac{क^4 ताल}{(क^2+ल^2)^3}$$

इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी और उससे लिए गए कुछ चित्र

१ इलक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी २ स्नाय के रेशे (× ८ ०००) ३ टमैटो के पत्ता म रोगोत्पादक विषाणु (× ५०,०००) ४ कृत्रिम रबर के कण (× ४० ०००) ५ शारीरिक मयाजी ऊतक के रेशे (६ ०००), ६ जीवाणुभक्षको का जीवाणुओ पर आक्रमण (१०,०००), ७ टटे
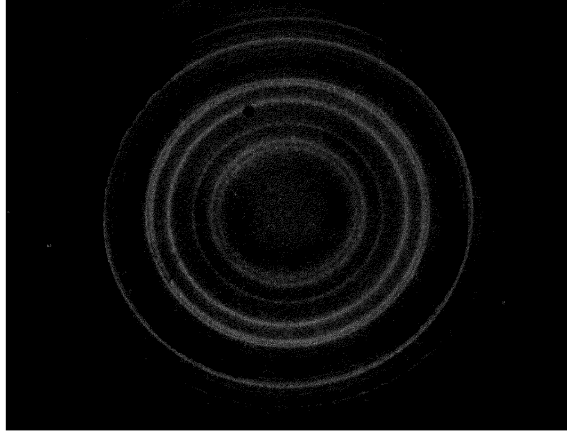
भारतीय राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला

इलेक्ट्रान व्याभंग

इलेक्ट्रान धाराओं में भी उसी प्रकार का व्याभंग होता है जैसा प्रकाश में (देख पृष्ठ ४९९)।
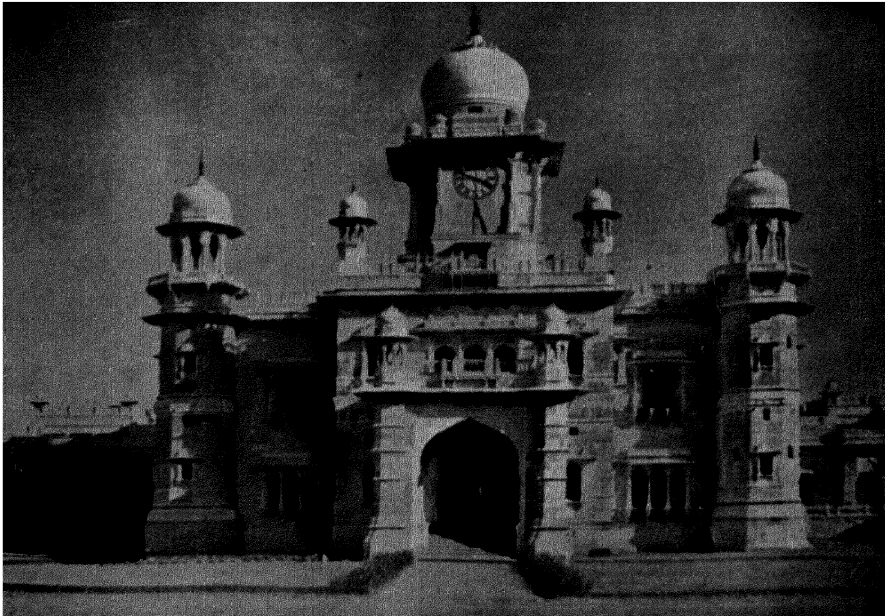
भगवान दास वर्मा

डेली कालेज, इंदौर

यह उक्त कालेज का सिंहद्वार है।

ल=क स्प थ रखकर संकलन करने पर,

$$\int \text{क्षे}_{\text{ल}}^{२}\ \text{ताल} = ३\pi^{२}(\text{मधा})^{२}/२०० \text{ क}$$

और $$\text{अं} = ८०० \text{ क}(\text{सं}_{०}/\text{मधा})^{२}/३\pi^{२}$$

जिसमें $$\text{सं}_{०} = \text{द्रगेष}/\text{ई}\ ।$$

अं के लिये पूर्वोक्त व्यंजक स्पष्टतया प्रकट करते हैं कि चुंबकीय ताल का संगमांतर ऋण है, अतः यह उत्तल ताल के सदृश काम करता है।

यह रुचिकर होगा कि अं के अंतिम व्यंजक की तुलना उससे की जाय जो एक लंबी परिनालिका (सॉलेनॉएड) को कुंतल-संगमित-करण (हेलिकल फोकसिंग) में आवश्यक होती है। जब इलेक्ट्रान ऐसी परिनालिका में से होकर जाते हैं तो वे अक्ष के इधर उधर सर्पिल वक्र में चलते हैं (चित्र ५)।
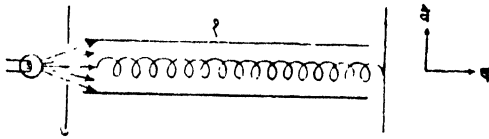
चित्र ५

इलेक्ट्रान द्वारा बनाए गए पथ की वक्रता-त्रिज्या क्र देनेवाला समीकरण यह है :

$$\text{द्रवे}^{२}/\text{क्र} = \text{क्षेईवे}/\text{ग},$$

और एक वृत्त चलने में लगनेवाला समय स

$$= २\pi\text{क्र}/\text{वे} = २\pi\text{द्रग}/\text{क्षेई}\ ।$$

इस प्रकार इलेक्ट्रान जो दूरी अक्ष के अनुदिश चलेगा वह

$$\text{घस} = २\pi\text{सं}_{०}/\text{क्षे}$$

होगी। यदि इस दूरी को हम अं से प्रकट करें तो

$$\text{अं} = ५\ \text{सं}_{०}\ \text{बा}/\text{मधा},$$

जिसमें बा परिनालिका की लंबाई है और म उसके कुल चक्रों की संख्या है, धा धारा अंपियरों में है और परिनालिका के भीतर का चुबकीय बलक्षेत्र क्ष है, जो इस प्रकार प्राप्त होता है :

$$\text{क्षे} = ४\pi\ \text{मधा}/१०\ \text{बा}\ ।$$

इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी की संरचना एवं प्रयोग—इस यंत्र में इलेक्ट्रानों का स्रोत धातु का एक तप्त तंतु होता है (चित्र ६)। यही ऋणाग्र है। इन इलेक्ट्रानों को एक उच्च विभव द्वारा त्वरित कर धनाग्र (ऐनोड) के बीच में के एक छोटे छिद्र में से निकाला जाता है—यह धनाग्र एक पट्टिका अथवा बेलन (सिलिंडर) होता है जिसे एक उपयुक्त विभव पर रखा जाता है। एक उत्तल ताल ता१, जो वैद्युत धारा धारण किए चुंबकीय बलक्षेत्र उत्पन्न करनेवाली कुंडली होती है, इन इलेक्ट्रानों की लगभग समानांतर संकीर्ण किरणावलि बना देती है जिसे निरीक्षण की जानेवाली वस्तु कख से टकराने दिया जाता है। यह वस्तु इन इलेक्ट्रानों का प्रकीर्णन (बिखरना) अपनी संरचना के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार से करती है। जिन वस्तुओं का साधारणतः निरीक्षण किया जाता है वे हैं कीटाणु तथा उनका आंतरिक ढाँचा, बड़े कलिल (कलॉयड) आदि। वस्तु एक बहुत महीन झिल्ली के रूप में होती है और उसे एक सूक्ष्म आवरण में रखा जाता है जिसमें उसे बंद करने की व्यवस्था होती है। तब आती है अभिदृश्य ताल कुंडली ता२ जो वस्तु द्वारा विकीर्ण इलेक्ट्रानों को फोकस करती है और वस्तु के वास्तविक प्रतिबिंब प्र१ का प्रक्षप करती है; यही आवर्धन का प्रथम चरण है। प्रक्षपी ताल कुंडली ता३ द्वारा अंतिम से पहल बना प्रतिबिंब का एक भाग क१ख१ का और आवर्धन किया जाता है और यह अंतिम प्रतिबिंब के रूप में प्रतिदीप्त (फ़्लुओरेसेंट) परदे अथवा फोटो पट्टिका पर पड़ता है। सारे उपकरण को निर्वात अवस्था में रखा जाता है और ऐसी व्यवस्था होती है कि निर्वात में बिना विघ्न डाले वस्तु एवं कैमरा यंत्र में रखा जा सके। प्रकाशदर्शन (एक्सपोज़र) के समय चुंबकीय तालों ता१, ता२, ता३ में धारा को पूर्णतया स्थिर रखा जाता है, अन्यथा संगमांतर में परिवर्तन के कारण प्रतिबिंब में धुँधलापन आ जायगा।
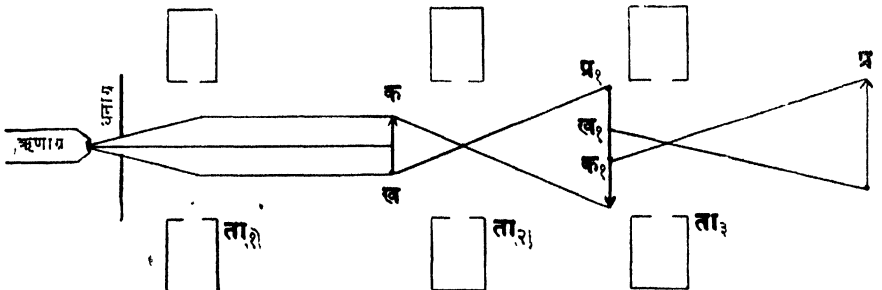
चित्र ६

प्रकाशसूक्ष्मदर्शी से तुलना—इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी एक प्रकार से प्रकाशसूक्ष्मदर्शी का ही प्रतिरूप है जिसकी तुलना के हेतु चित्र ७ द्रष्टव्य है। इस (प्रकाश) सूक्ष्मदर्शी में एक पर्याप्त शक्तिशाली प्रकाशस्रोत से आनेवाली किरणें उत्तल ताल ता१ द्वारा वस्तु कख पर फोकस की जाती हैं। वस्तु से निकली किरणों को अभिदृश्य ताल ता२ द्वारा प्रतिबिंब प्र१ के रूप में फोकस की जाती हैं, जो आवर्धन का प्रथम चरण है। इस बीच के प्रतिबिंब के एक भाग क१ख१ का प्रक्षेपी ताल ता३ द्वारा और आवर्धन कर उसे वास्तविक और आवर्धित प्रतिबिंब के रूप में एक प्रतिदीप्त परदे अथवा फोटो पट्टिका पर फोकस किया जाता है। साधारण सूक्ष्मदर्शी में अभिनेत्र ताल ता३ दृष्टिगोचर वर्णक्रम के प्रकाश से प्रभासित वस्तु का प्रतीयमान (वर्चुअल) एवं आवर्धित प्रतिबिंब बनाता है। किंतु जब वस्तु को दृष्टिगोचर के बदले पारजंबु प्रकाश में रखा जाता है तो प्रक्षेपी ताल ता३ को ऐसे स्थान पर रखा जाता है कि वह वास्तविक एवं आवर्धित प्रतिबिंब प्रदीप्त परदे अथवा फोटो पट्टिका पर बनाए।

इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी की जातियाँ—जैसा ऊपर वर्णन किया गया है, इलेक्ट्रान किरणावलियों को फोकस करने के लिये स्थिर वैद्युत ताल अथवा चुंबकीय ताल प्रयोग में लाए जा सकते हैं। जिन यंत्रों में स्थिर वैद्युत तालों का प्रयोग होता है उन्हें स्थिर वैद्युत इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी कहते हैं और जिनमें चुंबकीय तालों का प्रयोग होता है उन्हें चुंबकीय इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी कहते हैं। इन दो प्रकार के इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शियों की भी दो श्रेणियाँ हैं : (१) उत्सर्जन (एमिशन) जाति की और (२) पारगमन (ट्रैंसमिशन) जाति की। उत्सर्जन जाति के इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी की रचना सबसे पहले की गई थी। इस सूक्ष्मदर्शी में आवर्धन की जानेवाली वस्तु ही इलेक्ट्रानों का स्रोत होती है जिनको बहुधा वैद्युत विकिरण द्वारा प्राप्त किया जाता है। पारगमन जाति के इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी सबसे अधिक सफल एवं सबसे अधिक उपयोगी इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी हैं। इनसे जिन वस्तुओं की जाँच की जाती हैं उन्हें महीन झिल्लियों के रूप में लेकर उनके पार इलेक्ट्रान भेजे जाते हैं

और इस सूक्ष्मदर्शी में आवर्धित प्रतिबिंब उस वस्तु की प्रतिलिपि होती है जिसको ऋणाग्र और फोटो पट्टिका अथवा पर्दे के बीच रखा जाता है।

इसके अतिरिक्त इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी की दो और जातियाँ हैं: विदुप्रेक्षी (स्कैनिंग) इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी और प्रतिच्छाया (शैडो) इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी। किंतु विभिन्न कारणों से ये साधारणतया प्रयोग में नहीं लाए जाते।

चित्र ७

आधुनिक इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी अधिकतर चुंबक-पारगमन जाति का होता है, क्योंकि इसके द्वारा बहुत छोटे संगमांतर के चुंबकीय तालों का प्रयोग करके उत्सर्जन जाति के सूक्ष्मदर्शियों की अपेक्षा कहीं अधिक आवर्धन प्राप्त हो सकता है।

व्यावहारिक प्रयोग—इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी का व्यावहारिक प्रयोग विभिन्न क्षेत्रों में होता है। प्रकाशसूक्ष्मदर्शी की अपेक्षा अति उच्च विभेदनक्षमता तथा आवर्धनक्षमता एवं कहीं अधिक फोकस की गहराई के कारण यह अधिक उपयोगी और महत्वपूर्ण यंत्र बनता जा रहा है। आधुनिक अन्वेषणक्षेत्रों में, जैसे धातुविज्ञान, चिकित्साशास्त्र, शरीरविज्ञान, पारमाणविक संरचना आदि में इसके बिना काम नहीं चलता। औद्योगिक क्षेत्र में इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी के आने से अनेकानेक सूचनाएँ प्राप्त करना अत्यंत सुलभ हो गया है, जैसे अयस्कों (ओर्स) का चयन और निष्कर्षण, अज्ञात पदार्थों एवं अपद्रव्यों का विश्लेषण, अदह (ऐस्बेस्टस) तथा कपड़ा बुनने के तंतुओं की जाँच, कागज, तैलरंग और प्लैस्टिक की बनावट का अध्ययन इत्यादि। रुई के रेशे के सूक्ष्म भाग के अति आवर्धित चित्र से यह पता लग सकता है कि उसमें किस प्रकार की तहों का संग्रह है। प्रकाशसूक्ष्मदर्शी में अपेक्षाकृत बड़े कीटाणु भी बिंदु या तिनके जैसे दिखाई देते हैं जब कि इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी से उनका वास्तविक आकार और बहुधा उनकी बनावट का ब्योरा भी दिखाई देता है।
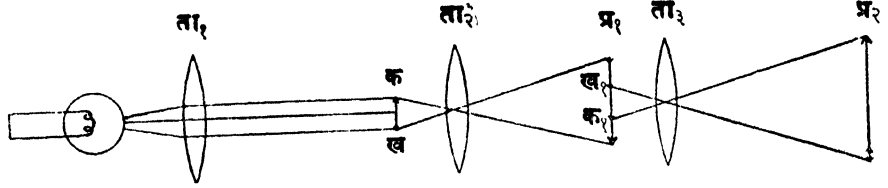
अवगुण—इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी के कुछ अवगुण निम्नलिखित हैं:

(१) इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी में इलेक्ट्रानों की तीव्र बौछार के कारण निरीक्षण की जानेवाली वस्तु के बहुधा नष्ट हो जाने की संभावना रहती है।

(२) सूक्ष्मदर्शी के लिये आवश्यक अतिनिर्वात (हाई वैकुअम) में सूखने एवं वाष्पन के कारण निरीक्षण की जानेवाली वस्तु में परिवर्तन होने की संभावना रहती है।

सं०ग्रं०—सी० ई० हॉल : इंट्रोडक्शन टु इलेक्ट्रान माइक्रॉस्कोपी (१९५३); जे० बी० राजम : ऐटोमिक फ़िज़िक्स (१९५८); आइ० एम० मेग्रर : इलेक्ट्रान ऑप्टिक्स। [दा० वि० गो०]